

गुजरीश्वर-सिद्धराजे गुजरातना पाटनगर पाटण शहेरमा “श्रीसिद्धहेमचन्द्र  
शब्दानुशासनम्” महाव्याकरण ग्रन्थरत्ने हस्ति-रत्न उपर  
पधरावीने सन्मानपूर्वक करेल-स्वागत ।

स्वपरसिद्धान्त-सिन्धुमन्थनमन्दरायमाणशब्दाऽवतारकलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्र-

सूरीश्वरविरचितं स्वोपज्ञतत्त्वप्रकाशिकासुशोभितं पन्त्यासप्रवरश्रीचन्द्र-

सागरगणीन्द्रविनिर्मिताऽऽनन्दबोधिनीवृत्तिविभूषितम्

## ॥ श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् ॥

तस्याऽयं

संज्ञा-सन्धि-नाम-कारकपर्यन्तः प्रथमो विभागः ।

संशोधकः सम्पादकः श्रीआनन्दबोधिनीवृत्तिकारश्च

पन्त्यासप्रवर-श्रीचन्द्रसागरगणीन्द्रः ।

प्रकाशयित्री—

‘श्रीसिद्धचक्रसाहित्यप्रचारकसमिति’ इति संस्था.

२५-२७, धनजी-स्ट्रीट, मुंबई नं. ३

तस्याः प्रधानसंचालकः—

रूपचन्द्रात्मजः पानाचन्द्रः झव्हेरी

मूल्य ५०/-

वीरसंवत्-२४७२ ]

प्रथमाऽऽवृत्तिः—१००० प्रतयः

[ विक्रमसंवत्-२००२



श्रीवर्द्धमान जैन-आगममन्दिर-संस्थापकाः आगमोद्धारकाः



आचार्यदेवेश श्रीआनन्दसागरसूरीश्वराः



प्रातःस्मरणीय-परमवन्दनीय-पूज्यपादाना श्रीदेवसूरतपागच्छसरक्षकाणा श्रीजैनागमोदयसमिति-श्रीवर्द्धमान-  
 जैनागममन्दिरसंस्थासंस्थापकाना सकल-गीतार्थसार्वभौमेश्वराणा शासनप्रभावकमण्डलाधिपानामाद्य-  
 प्रावचनिकाना वर्तमानकालीनसम्पूर्णबहुश्रुतधराणामागमाद्युद्धरणैकवद्वकक्षागमोद्धारका-  
 णामस्मद्गुरुवर्याणामाचार्यश्रीआनन्दसागरसूरीश्वराणां सर्वज्ञकथितस्याद्वाद-  
 सिद्धान्तमुद्रामुद्रिताऽऽगमस्थितमहाप्रभावशालिविविधसूत्रार्थरहस्यानि  
 द्रव्य-क्षेत्रकालभावोत्सर्गादितलस्पर्शीयरीत्या ज्ञात्वा ज्ञापयित्वा  
 च विश्वविश्वविख्यातवर्तमानकालीनगीतार्थसार्वभौमता  
 सम्पूर्णबहुश्रुतताऽऽद्यप्रावचनिकता च विद्वज्जनजैन-  
 जैनेतरहृद्यहृद्यान्धौ विनेयप्रविनेयविनीत-  
 हृदयवारिधौ च पुनः पुनः  
 परिस्फुटी भवन्ति ।

विशेषतो वादिसर्पदर्पमर्दनचण्डप्रचण्डभूजदण्डमयूराणां श्रीमतामागमोद्धारकाणा गुरुवर्याणा पूज्यपादाना  
 पवित्रकरकमले तरुप्रकाशिकावृत्त्या भवन्नामसार्थकीभूताऽऽनन्दबोधिनीवृत्त्या च विभूषित शब्दा-  
 वतारकलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरविनिर्मितश्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनस्य सज्ञा-  
 सन्धि-नाम-कारकादिप्रकरणसमावेशितप्रथम-विभागरूपमिदं 'श्रीहेमचन्द्राऽऽ-  
 नन्दग्रन्थाब्धि'नामग्रन्थरत्नाकरस्य द्वितीय ग्रन्थरत्न भवतामविस्मरण-  
 शीलानेकानेकोपकारोपकृतोऽहमनृणीकृतार्थं बहुमानप्रणतिपुरस्सरं  
 मया समर्प्यत इति शुभम् ।

भवस्वरणारविन्दचञ्चरीकः—

चन्द्रसागरः ।

## ॥ सम्पादकानां संस्मरणीय-शासनहितवर्द्धककार्याणि ॥

१	‘श्रीमुन्वईवर्द्धमान-तप-आयंवीलखातुं-’ इतिव्यवस्थितसंस्थानमादिस्थापना वि० सं०	१९७९
२	‘श्रीसिद्धचक्राराधक-समाज’ मुंबई.                      ”                      ”                      ”	१९८०
३	‘श्रीवर्द्धमान-जैन-पाठशाला’ मुंबई.                      ”                      ”                      ”	१९८१
४	‘श्रीनवपदाराधक-समाज’ मुंबई                      ”                      ”                      ”	१९८४
५	‘श्रीचाणस्मा-वर्द्धमानतपआयंवीलखातुं’                      ”                      ”                      ”	१९८६
६	‘श्रीसिद्धचक्रसाहित्यप्रचारकसमिति’ मुंबई. ”                      ”                      ”	१९८८
६	‘श्रीरतलाम-वर्द्धमानतपआयंवीलखातुं’                      ”                      ”                      ”	१९९३
७	‘श्रीऋषभदेवजी छगनीरामजी की पेढी-’ उज्जैन                      ”                      ”                      ”	१९९३
८	‘श्रीहेमचन्द्रानन्दग्रन्थाब्धिः’ मुंबई इति साहित्यप्रकाशनसंस्था                      ”                      ”                      ”	१९९८
९	‘श्रीवर्द्धमानतपसहायकसमिति’ अमदावाद                      ”                      ”                      ”	१९९८
१०	‘श्रीहेमचन्द्रकृतिकुसुमावली’ इति ग्रन्थसम्पादनम्                      ”                      ”                      ”	१९९८
११	‘श्रीसिद्धहेमचन्द्रवृहद्वृत्त्यवचूर्णिः’ इति                      ”                      ”                      ”	१९९८
१२	श्रीसूत्रकृताङ्ग-द्वितीयाङ्गम्                      ”                      ”                      ”	१९९८
१३	श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्                      ”                      ”                      ”	१९९८
१४	श्रीआनन्दबोधिनीवृत्तिग्रन्थनम् ।                      ”                      ”                      ”	१९९८
१५	‘श्रीआनन्द-चन्द्र-किरणावलि’ उज्जैन इति साहित्यप्रकाशनसंस्था.                      ”                      ”                      ”	१९९८
१६	‘अखिलभारतवर्षीय-श्रीवर्द्धमान-तपसहायकसमिति’ मुंबई ”                      ”                      ”	२०००
१७	‘श्रीहेमचन्द्राचार्यसाहित्यप्रचारकसमिति-’ मुंबई                      ”                      ”                      ”	२००१
१८	‘श्रीवर्द्धमानतपोमाहात्म्यम्’ इति ग्रन्थलेखनम् ।                      ”                      ”                      ”	२००२

# ॥ श्रीहेमचन्द्राऽऽनन्दग्रन्थाविधिः ॥

स्थापना—राजनगरे, वि० सं० १९९८

सर्वाधिकार—संरक्षितः ।

सस्थापकः सशोधकः सम्पादकश्च

श्रीसिद्धचक्राराधनतीर्थोद्धारक-पन्थासप्रवरश्रीचन्द्रसागरगणीन्द्रः ।

अस्मिन्मूल्यग्रन्थरत्नाकरे 'श्रीहेमचन्द्राऽऽनन्दग्रन्थाविधिः' इत्यभिधानविभूषिते विशेषतः शब्दावतार-कलिकाल-सर्वज्ञश्रीहेमचन्द्रसूरिपुरन्दरविरचितानि गौरवशालिग्रन्थरत्नानि शासनमान्यपूज्यवर्याऽऽचार्याऽऽदिगुम्फिताऽमोघरत्नानि च नवीनसशोधात्मकसाहित्यप्रकाशनरीत्या सम्पादकेन सम्पाद्यन्ते, तदनन्तरं प्रकाशकेन प्रकाश्यन्ते चेति ।

नवपदपीयूषपानोद्यतभव्यभावभावोद्बोधसूर्योदय-श्रीसिद्धचक्र-नवपदाराधकसमाज-श्रीवर्द्धमानतप-आचामास-संस्था-श्रीवर्द्धमानतपसहायकसमिति-श्रीसिद्धचक्राऽऽराधन-तीर्थ-सप्तक्षेत्रसरक्षणेकतत्परीभूत-श्रीऋषभदेवजी छगनीराम-जी की पेढी-उज्जैन' इत्यादिनामधेयानां संस्थानां कलिकालसर्वज्ञविरचितसाहित्यसशोधन-संपादन-प्रकाशन-प्रचारकाऽऽदि-कुशलकार्यैकबद्धकक्षीभूत—'श्रीहेमचन्द्रानन्दग्रन्थाविधि'- 'श्रीहेमचन्द्राचार्यसाहित्यप्रचारकसमिति'- 'श्रीआनन्दचन्द्र-किरणावल्या'दीनां प्रकाशनप्रचारिकाणां सकलसमीहित-पूरकसकलयन्त्र-तन्त्र-सम्प्राधिराजराजेश्वरश्रीसिद्धचक्राराधनतीर्था-द्युद्धरणानां चाऽनुक्रमेण शासनमान्यसंस्थापकत्वं, तीर्थोद्धारकत्वं, सशोधकत्वं, सम्पादकत्वं, प्रचारकत्वं च सफली भवन्ति ।

प्रथम ग्रन्थरत्नम्—श्रीहेमचन्द्रकृतिकुसुमावली ।

द्वितीय ,, श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् ( सज्ञा-सन्धि-नाम-कारकपर्यन्तः प्रथमविभागः ) ।

तृतीय ,, श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् ( द्वितीयविभागः-निर्णयसागर-प्रेसमा ) ।

## ग्रन्थ-प्राप्तिस्थानानि—

१ श्रीहेमचन्द्राचार्यसाहित्यप्रचारकसमिति ।

ठि श्वेरी जमनादास मोनजी, बुलीयन  
एक्सचेन्ज, श्वेरीबजार, मुम्बई नं २

३ श्रीऋषभदेवजी छगनीरामजी की पेढी ।

ठि श्रीसिद्धचक्राराधनतीर्थ, खाराकूआ, उज्जैन ।



२ श्रीसिद्धचक्रसाहित्यप्रचारकसमिति ।

ठि. श्वेरी पानाचन्द रूपचन्द, २५-२७,  
धनजी स्ट्रीट, मुम्बई नं. ३ ।



४ श्रीमेघराज-जैनपुस्तकमण्डार ।

ठि. पायधुनी, गोडीजीनी चाल, मुम्बई नं ३

## ॥ प्रस्तावनाना पुनीत-प्रकरणो ॥

- अ मानवजीवननी दुर्लभता अने सहकारिसयोगीनी दुर्लभता ॥ १ ॥  
 आ मार्गदर्शक साहित्यखजानो ॥ २ ॥  
 आ साहित्यसंरक्षण ॥ ३ ॥  
 ई पठन-पाठन अने परिशीलननी जरूरत ॥ ४ ॥  
 , भाषाज्ञाननी व्यवस्था करनार व्याकरण ॥ ५ ॥  
 उ साह्योपाद्ग सस्कृतभाषाज्ञाननी अनिवार्य जरूरत ॥ ६ ॥  
 ऊ सस्कृतभाषानु प्राथमिक पठन-पाठन थवु ज जोडए ॥ ७ ॥  
 ऋ प्रेरणात्मक प्रार्थनाए प्रकटावेल प्रधानतम व्याकरण ॥ ८ ॥  
 ॠ अखिलभारतवर्षनु प्रधानतम व्याकरण ॥ ९ ॥  
 ए त्रिविधदोषोथी दूषित शब्दानुशासनसमूह ॥ १० ॥  
 ओ अनुकरणरूपे रचायेली सिद्धान्तकौमुदी ॥ ११ ॥  
 औ प्रधानतम-व्याकरण प्रति अनादृताना मुख्य कारणो ॥ १२ ॥  
 अः ग्रन्थप्रकाशनसम्बन्धी पुनीत विचार ॥ १३ ॥  
 क प्रकाशन अंगे रसायलो जरूरपूरतो विवेक ॥ १४ ॥  
 का प्रकाशनना पुनीतकार्यमा श्रीसङ्गतो सहकार ॥ १५ ॥  
 , ग्रन्थनु सम्पादनादि काम कोण करे ? ॥ १६ ॥  
 कि आनन्दबोधिनी-वृत्तिनी पूर्वावस्था ॥ १७ ॥  
 कु अनेकविध सामग्रीओना सचयरूप आनन्दबोधिनी ॥ १८ ॥  
 कू सूत्र-वृत्तिना प्रतिविम्ब छतां अनुकरण तो नथी ज ॥ १९ ॥  
 के सिद्धान्तना रहस्यनु प्रतिविम्ब होवा छता पण अनुकरण तो नथी ज ॥ २० ॥  
 कै श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासननामनी यथार्थ गुणनिष्पन्नता ॥ २१ ॥  
 , प्रधानतम व्याकरण-ग्रन्थरचनासमय ॥ २२ ॥  
 कौ ग्रन्थरचयितानी आछी जीवनचर्या ॥ २३ ॥  
 कः कलिकालसर्वज्ञ विरुदनी यथार्थता ॥ २४ ॥  
 ख परम्पराए प्राप्त थयेल पुनीत सस्कृतवारसो ॥ २५ ॥  
 खु आ प्रधानतम व्याकरणमां मददगार थयेल सयोगो अने सामग्रीओ ॥ २६ ॥  
 खै उभरातां रत्नोथी भरपूर प्रधानतम व्याकरण श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन ॥ २७ ॥  
 ग्वः अभ्यासको माटे मार्गसूचन ॥ २८ ॥  
 नि मङ्गलसूत्र-रहस्यम् ॥ २९ ॥  
 नी अधिकारसूत्र-रहस्यम् ॥ ३० ॥  
 गू सज्ञासूत्र-रहस्य ॥ ३१ ॥  
 गै सन्धिप्रकरण० ॥ ३२ ॥  
 गो नामप्रकरण० ॥ ३३ ॥  
 गौ कारकप्रकरण ॥ ३४ ॥  
 घा परिशिष्टोनी समज ॥ ३५ ॥  
 घि प्रकाशनना प्रासङ्गिक मददगारो ॥ ३६ ॥

Shrī Hemachandrānandagrānthābdhi No. 2

# ŚRĪ SIDDHAHEMACHANDRAŚABDĀNUŚĀSANAM (PART I)

BY

KALIKĀLASARVAJNA ŚRĪ HEMACHANDRASURI

with Hemachandrasūri's Tattvaparakāśikā and Pannyāsappravara Śrī  
Chandrasāgaragani's Ānanda-bodhini

EDITED BY

PANNYASAPRAVARA ŚRĪ CHANDRASĀGARAGANI.

author of the Ānandabodhini, compiler of Śrī Siddhahemachandrasabdānus'āsana-brihadvṛityavachurni,  
founder of Hemachandrānandagrānthābdhi-Bombay, Shrī Hemachandrāchārya sāhityaprachārak-  
samiti-Bombay, Navapadārādhaksamāja-Bombay, Akhil Bhāratavarshiya Shrī Vardhamānatap-  
sahayaka-samiti-Bombay, Ānandachandrakīranāvali-Ujjain, Malava, etc., etc.,

PUBLISHED BY

JHAVERI PANACHAND RUPCHAND,

HON SECRETARY,

SIDDHACHAKRASAHITYA PRACHARAKSAMITI,

25-27, Dhanji Street, BOMBAY

Vira Samvat 2472

Vikrama Samvat 2002

A. D 1946

First Edition ]

Price Rs 30.

[ 1000 Copies.



## ॥ प्रस्तावनाना पुनीत-प्रकरणो ॥

- अ मानवजीवननी दुर्लभता अने सहकारिसंयोगोनी दुर्लभता ॥ १ ॥
- आ मार्गदर्शक साहित्यखजानो ॥ २ ॥
- आ साहित्यसरक्षण ॥ ३ ॥
- ई पठन-पाठन अने परिशीलननी जरूरत ॥ ४ ॥
- ” भाषाज्ञाननी व्यवस्था करनार व्याकरण ॥ ५ ॥
- उ साङ्गोपाङ्ग संस्कृतभाषाज्ञाननी अनिवार्य जरूरत ॥ ६ ॥
- ऊ संस्कृतभाषानु प्राथमिक पठन-पाठन थवु ज जोड़ए ॥ ७ ॥
- ऋ प्रेरणात्मक प्रार्थनाए प्रकटावेल प्रधानतम व्याकरण ॥ ८ ॥
- लृ अखिलभारतवर्षनु प्रधानतम व्याकरण ॥ ९ ॥
- ए त्रिविधदोषोथी दूषित शब्दानुशासनसमूह ॥ १० ॥
- ओ अनुकरणरूपे रचायेली सिद्धान्तकौमुदी ॥ ११ ॥
- औ प्रधानतम-व्याकरण प्रति अनादरताना मुख्य कारणो ॥ १२ ॥
- अः ग्रन्थप्रकाशनसम्बन्धी पुनीत विचार ॥ १३ ॥
- क प्रकाशन अगे रखायलो जरूरपूरतो विवेक ॥ १४ ॥
- का प्रकाशनना पुनीतकार्यमां श्रीसद्गुरु सहकार ॥ १५ ॥
- ” ग्रन्थनु सम्पादनादि काम कोण करे ? ॥ १६ ॥
- कि आनन्दबोधिनी-वृत्तिनी पूर्वावस्था ॥ १७ ॥
- कु अनेकविध सामग्रीओना सचयरूप आनन्दबोधिनी ॥ १८ ॥
- कू सूत्र-वृत्तिना प्रतिविम्ब छतां अनुकरण तो नथी ज ॥ १९ ॥
- के सिद्धान्तना रहस्यनु प्रतिविम्ब होवा छता पण अनुकरण तो नथी ज ॥ २० ॥
- कै श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासननामनी यथार्थ गुणनिष्पन्नता ॥ २१ ॥
- ” प्रधानतम व्याकरण-ग्रन्थरचनासमय ॥ २२ ॥
- कौ ग्रन्थरचयितानी आछी जीवनचर्या ॥ २३ ॥
- कः कलिकालसर्वज्ञ विरुदनी यथार्थता ॥ २४ ॥
- ख परम्पराए प्राप्त थयेल पुनीत संस्कृतवारसो ॥ २५ ॥
- खु आ प्रधानतम व्याकरणमां मददगार थयेल संयोगो अने सामग्रीओ ॥ २६ ॥
- खै उभराता रत्नोथी भरपूर प्रधानतम व्याकरण श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन ॥ २७ ॥
- खः अभ्यासको माटे मार्गसूचन ॥ २८ ॥
- गि मङ्गलसूत्र-रहस्यम् ॥ २९ ॥
- गी अधिकारसूत्र-रहस्यम् ॥ ३० ॥
- गू सज्ञासूत्र-रहस्य ॥ ३१ ॥
- गै सन्धिप्रकरण० ॥ ३२ ॥
- गो नामप्रकरण० ॥ ३३ ॥
- गौ कारकप्रकरण ॥ ३४ ॥
- घा परिशिष्टोनी समज ॥ ३५ ॥
- घि प्रकाशनना प्रासङ्गिक मददगारो ॥ ३६ ॥

*Shrī Hemachandrānandagranthābdhi No. 2*

# ŚRĪ SIDDHAHEMACHANDRAŚABDĀNUŚĀSANAM ( PART I )

BY

KALIKĀLASARVAJNA ŚRĪ HEMACHANDRASURI

with Hemachandrasūri's Tattvapraṇāśikā and Pannyāsapravara Śrī  
Chandrasāgaragani's Ānanda-bodhinī

EDITED BY

PANNYASAPRAVARA ŚRĪ CHANDRASĀGARAGANI.

author of the Ānandabodhinī, compiler of Śrī Siddhahemachandrasabdānusāsana-bṛhadvṛtyavachurnī,  
founder of Hemachandrānandagranthābdhi-Bombay, Śrī Hemachandrāchārya sāhityapraṇāśak-  
samitī-Bombay, Navapadārādhakṣamājā-Bombay, Akhil Bhāratavarshiya Śrī Vardhamānatap-  
sahayaka-samitī-Bombay, Ānandachandrakīranāvalī-Ujjain, Malava, etc, etc.,

PUBLISHED BY

JHAVERI PANACHAND RUPCHAND,

HON SECRETARY,

SIDDHACHAKRASAHITYA PRACHARAKSAMITI,

25-27, Dhanji Street, BOMBAY.

Vira Samvat 2472

Vikrama Samvat 2002

A. D. 1946

First Edition ]

Price Rs 30.

[ 1000 Copies.

## PREFACE

The Siddha-Hemachandra Sabdanusasanam was Composed by Kalikalarvajna Shri Hemachandrasuri at the request of Siddharaja (A D 1094 to 1143) and was very popular in the time of Siddharaja and Kumarapala (A D 1143 to 1174) but has fallen in disuse, at present for various reasons, Firstly—the published work was printed from a palm-leaf manuscript with the financial help of Sheth Mansukhbhai Bhagubhai in V S 1962 (A D 1905-6), but the quality of paper on which it was printed was low, and so the readers had to experience great difficulty Secondly—it was not edited by a learned scholar to render it as free from errors as possible Thirdly—there is a dearth of qualified persons to undertake the teaching of this grammar Fourthly—most of the Jain monks and nuns enter the priestly order at an advanced age, and therefore, have no inclination to study this grammar A few who want to study it do not get the required facility and have to rest Content with the study of the Siddhanta-Kaumudi Fifthly the Jains are mostly businessmen and have not as much regard for the study of Sanskrit as the Brahmins Sixthly, Sanskrit is a dead language, and so the general public is not as much interested in the study of this work as in that of other works

In order to stimulate the study of this grammar and to help those who study it, I undertook the work of editing it in V S 1997 (A D 1941) For the Convenience of the readers, the work is printed on excellent paper, in bold type

In this part, I have given Sañjāprakarana, Sandhi-prakarana, Nāmaprakarana, Kāraṇaprakarana with *Ānandbodhini* and fifteen appendices

In the second part, along with the text, I shall give introduction together with a life-sketch of Hemachandrasuri To the same, a learned paper on the life of Hemachandrasuri will also be Contributed by Chimanlal Bhailal Sheth, M A, LL B, Research Scholar, University of Bombay.

In fine, I acknowledge the financial help given by Sheth Kantilal Ishvarlal, Chumilal Laxmichand & Seth Jamnadas Monji and others in publishing this work *Muni-shri Punyavijayaji*, Seth Mulchand Bulakhidas, Mohanlal Dipchand, Hiralal Amratlal, Babalchand Keshavlal Modi, Bhaichand Nagimbhai and Saubhagyachand Umedchand have taken great pains to secure for manuscripts

Karamchanda Jain Poshadhashala,  
VILE PARLE,  
Bombay No 24  
1-1-46

*Panniyas Pravara—*  
Shree Chandrasāgara Ganivar.



## માનવજીવનની દુર્લભતા અને સહકારિસંયોગોની દુર્લભતા ।

આધિ-વ્યાધિ-ઉપાધિ અને જન્મ-જરા-મરણાદિ અનેકવિધ દુઃખાનુભવકારક અતિગહન-ગુંચોથી ગુંચાયેલો આ ચાતુર્ગતિક સંસાર છે ।

આજની ભૌગોલિકદૃષ્ટિ દેશતાં દરિયાઓનો અને શાસ્ત્રસુપ્રસિદ્ધ લવણસમુદ્ર-સ્વયંભૂરમણસમુદ્ર વિગેરેનો પાર પામવો મુશ્કેલ લાગે છે, છતાં તેના કરતાં પણ અતિદુર્ગમ વિસ્તૃત એવા આ સંસારસમુદ્રનો પાર પામવો અત્યંત મુશ્કેલ છે એ બુદ્ધિ-માનની બુદ્ધિને બંધબેસતો વિષય છે ।

દેવ-મનુષ્ય-તિર્યંચ અને નરક-ગતિરૂપ ચાતુર્ગતિક સંસારસમુદ્રનો પાર પામવા માટે મનુષ્યગતિ એ મહાન્ નૌકાસમાન છે, અને તેથી જ દરેક શાસ્ત્રકારોએ સર્વ દુઃખોનો અન્ત કરવામાં તથા સર્વ સુખોની પ્રાપ્તિ કરવામાં માનવ જીવનને અતિશ્રેષ્ઠ-તમ સાધનરૂપે સ્વીકારેલું છે । 'કિંમતિ સાધનની પ્રાપ્તિ અતિ દુર્લભ હોય છે' એ કથનાનુસાર મનુષ્યપણુ પ્રાપ્ત કરવું દુર્લભ છે ।

કરોડોની કમાણીથી ઉમરાતી રિયાસતના રાજ્યસિંહાસનોપર આવી ચઢેલા નવીન રાજકુમારોને, અથવા સૂના પહેલાં સિંહાસનોના સત્તાધીશ બનેલા શાળા રાજવીઓને રાજ્ય પ્રાપ્તિની દુર્લભતા સમજાતી નથી, તેવીજ રીતે માનવજીવન પામી ગયેલા મનુષ્યોને મનુષ્યપણાની દુર્લભતા યુવાવસ્થાની શરૂઆતથી વૃદ્ધાવસ્થાપર્યંતના આ જીવનમાં પણ સમજાતી નથી એ અતિ-સ્વેદનો વિષય છે !!! ।

સ્વાવા-પીવા માટે, પહેરવા-ઓઢવા માટે, રંગ-રાગ ઉઢાવવા માટે, મનમાનિતી મોજ-શોખની વૃત્તિ કરવા માટે, અગર તેથી આગલ વધીને પાંચે ઇન્દ્રિયોના ત્રેવીસ વિષયોમાં અને દીડાં વધતાં બસેં બાવન વિકારોમાં મસ્ત બનીને વિલાસીજીવન મોગવવાજ માટે આ મનુષ્ય-જીવનની દુર્લભતાના યશોગાન કોઈ પણ શાસ્ત્રકારે ગાયાં જ નથી, એટલું જ નહિ પણ સુંદર સ્ત્રીઓના સમાગમ કરવા માટે, કુટુંબ પરિવારને વધારવા માટે, સ્થાવર-જંગમ મિલ્કતોના હચમચી ગયેલા પાયાઓને સંગીન અને સુદૃઢ બનાવવા માટે; અને કામની કારમી વાસનાઓની પરિપૂર્ણતા માટે આર્થિકયોજનાના પ્રબન્ધ ઘડવા માટે આ માનવ જીવનની દુર્લભતા સ્વીકારી નથી । પરંતુ સ્વ-પરકલ્યાણાર્થે આ માનવ-જીવનને જીવી જાળવા માટેની દુર્લભતા સ્વીકારી છે, એ નિઃસંદેહનિર્ણયને હૃદયપટપર હર-હંમેશ માટે અક્તિ કરવો જરૂરીનો છે ।

સ્વ-પર-કલ્યાણના અર્થિઆત્માઓને મનુષ્યપણુ મેલ્લવું એ જેટલું દુર્લભ છે, તેટલું અગર તેથીએ વિશેષપણે પ્રાપ્ત થયેલા મનુષ્યપણાને સફળ કરવામાં છે ।

મનુષ્યપણું મેલ્લ્યા માત્રથી ધારેલી ધારણાઓ, વિચારેલી વિચારણાઓ, આરંભેલી આશાઓ અને વારંવાર ઇચ્છેલી ઇચ્છાઓ સફળ થતી નથી તેથી જ માનવ-જીવનની સફળતા માટે સાનુકૂળ સયોગોના સહકાર અવશ્યમેવ જરૂરીના છે ।

જમીનમાં વાવેલા બીજને વૃક્ષ બનીને ફલરૂપે દેખવામાં જેવી રીતે જમીન-સ્વાતર-પાણી-હવા-તાપ, અને નકામા ઘાસ વગેરેનું ઝનમૂલન અને વાહ-રક્ષણાદિ સયોગોની અનિવાર્ય આવશ્યકતા છે, તેવીજ રીતે માનવજીવનને સાફલ્ય કરવા માટે સાનુકૂળ સયોગોની પ્રાપ્તિને અત્યંત દુર્લભરૂપે દરેક શાસ્ત્રકારોએ સ્વીકારી છે ।

તે સાનુકૂળસયોગો પૈકી સત્કારિત મુક્તેષ, ઉત્તમકુળ, અનુપમજાતિ, દીર્ઘાયુષ્ય, પાંચ ઇન્દ્રિયોની પટ્ટતા, નિરોગિ શરીર સન્માર્ગદર્શક વડીલો-ગુરુવર્યો, તેઓશ્રીના વચનોની વિનયપૂર્વક ઉપાસના, ઘર્મોપદેશાદિકનું શ્રવણ-પઠન-પાઠન અને પરિશીલન, શ્રવણાદિ સાથે વૃદ્ધિ પામતો વિવેક, વિશિષ્ટવિવેકપૂર્વક હેય-ઉપાદેયવિભાગની યથાશક્તિ નિવૃત્તિ અને પ્રવૃત્તિ, નિવૃત્તિ અને પ્રવૃત્તિના અવસરે આવતા વિદ્યોને નિરસ્થા અને નિવારવાનું બુદ્ધિ-કૌશલ્ય અને ધૈર્યપૂર્વકનું સામર્થ્ય, શરૂ કરેલા સત્કાર્યની સિદ્ધિમાટે અપૂર્વ શ્રદ્ધાબલ અને કાર્યબલ, શ્રદ્ધાબલ અને કાર્યબલના વધતા વેગથી પ્રાપ્ત થયેલ સત્કાર્યની સિદ્ધિ અને તે સિદ્ધિનું અન્યને પ્રેમપૂર્વકનું પ્રદાન કરવું, તથા પ્રાપ્ત થયેલ સિદ્ધિપ્રદાનની પુનિત પરંપરાઓ અસ્થલિતપણે વશા કરે તે સારું

યોગ્ય પ્રવંધ અને અવિરત ઉદ્યમ, આ વધા ઉત્તરોત્તર સંયોગોના સહકારથી માનવ-જીવનને સફળ કરાય છે, અન્યથા કોઈ સફળ કર્યું નથી, વર્તમાનમા કોઈ સફળ કરતો હોય એમ નજરે જણાતું નથી, અને ભવિષ્યમા કોઈ સફળ કરશે એ કલ્પનાને લેશ અવકાશ પણ નથી । દુર્લભ માનવ-જીવનસાથે અતિ દુર્લભ સહકારિસંયોગો પણ પુણ્યવાનને અલ્પ પ્રયત્ને પણ સાધ્ય છે ।

મનુષ્યમાત્રના હૃદયમન્દિરમા અહોનિશ ઉઠતી ઝર્મિઓ-વિચારો-અભિલાષાઓ-મનોરથો-વાછાઓ અને ઇચ્છાઓનું વર્ગીકરણ કરીએ તો તેના ઓછામા ઓછા ચાર વિભાગો થાય અને તે ચારે વિભાગોમા સમગ્ર સંકેતો સમાઈ જાય છે-વહેંચાઈ જાય છે ।

આ ચાર વિભાગો ધર્મ-અર્થ-કામ અને મોક્ષ એ ચાર પુરુષાર્થ તરીકે જગત્મા સુપ્રસિદ્ધ છે । કોઈપણ સ્થળે કોઈપણ સંયોગોમા કોઈ પણ ક્ષણે આર્થિક-અર્થ-અભિલાષાદિને ચોક્કસાદિપૂર્વક તપાસશે તો તે અભિલાષને આ ચાર વિભાગીય પુરુષાર્થના કોઈપણ વિભાગમા દાખલ કરવોજ પડશે ।

### \* માર્ગદર્શકસાહિત્ય-સ્વજાનો ।

વારિકાઈથી તપાસતા આ ચારે પુરુષાર્થમા એક ધર્મપુરુષાર્થ જ એવો છે કે જે બાકીના-અર્થ-કામ અને મોક્ષ એ-ત્રણ પુરુષાર્થને અનુક્રમે પ્રાપ્ત કરાવવામા, ટકાવવામા, વધારવામા પ્રાપ્તપદાર્થોને ભોગવવામા, ભોગવતા ન ચૂટે તેવા બનાવવામા અને ઉત્તરોત્તર જન્માન્તરે વધુને વધુ પ્રાપ્તિ-ટકાવાદિમા સંપૂર્ણ જવાબદાર પુરુષાર્થ છે, એટલું જ નહિ પણ જે ધર્મની-ધર્મપુરુષાર્થની આરાધનાદ્વારા અક્ષય-અન્યાચાલ અન્તિમ-સાધ્યની સિદ્ધિ થઈ શકે છે । અને તેથી જ કોટિ કામ-વાસનારૂપ કામપુરુષાર્થ અને તેની પૂર્તિના સાધનરૂપ અર્થપુરુષાર્થના અભિલાષાઓ માટે તથા આધિ-વ્યાધિ-ઉપાધિ-જન્મ-જરા-મરણાદિ દુઃખોથી રહિત અને જે સ્થળે કોઈ રાજાની આજ્ઞા પ્રવર્તતી નથી એવા સુદર શાશ્વત પ્રદેશરૂપ સ્વદેશ-મોક્ષ પ્રાપ્તિ માટે આ એક ધર્મ જ જવાબદાર અને જોશમદાર રહ્યો છે, રહે છે અને રહેશે તે નિર્વિવાદ સત્ય છે ।

જવાબદાર ધર્મપુરુષાર્થની સેવના માટે સહકારિસંયોગસાથે માનવ-જીવનનો સદુપયોગ કરવો એ માણસમાત્રનું અવશ્યમેવ કર્તવ્ય છે । તે ધર્મપુરુષાર્થની પ્રાપ્તિના ધોરીમાર્ગમાં ગમન-કરનારાઓ માટે પ્રાતઃસ્મરણીય પરમોપકારિ પુણ્યપુરુષોના પુનિત સાહિત્ય-ગ્રંથો માર્ગદર્શક છે ।

વિના સકોચે કહેવું પડશે કે અભિનવ-અભિલાષના અર્થો માટે અને સર્વક્રેશના-નિવારણાર્થે જૈનદર્શનનું વિદ્યમાન સાહિત્ય પણ એક અનુપમ સાધન છે, એટલું જ નહિ પણ સમસ્તવિશ્વના સમગ્રપ્રાણીઓને સફળજીવન જીવવા માટે સર્વજ્ઞસર્જિત સાહિત્ય એ એક અનુપમ આધારમૂલ પરમ આશીર્વાદરૂપે માર્ગદર્શક બનીને પૂર્વકાળે રહ્યું હતું, વર્તમાનમા રહ્યું છે અને ભવિષ્યમા રહેશે એમા લેશમર શકાને સ્થાનજ નથી ।

વિશેષમા શાશ્વત સુખશાન્તિ અને આનન્દની પ્રાપ્તિના અમોઘ કારણરૂપ તે સાહિત્ય છે એમ જૈનો કહે છે એટલું જ નહિ પરંતુ જૈનેતર વિદ્વાનો પણ કહી ગયા છે અને કહી રહ્યા છે ।

ત્રિકાલાવાધિત અવિચ્છિન્નપ્રભાવમય સ્યાદ્વાદસુદ્રાથી સુદ્રિત, રાગદ્વેષાદિ દુષ્ટદુઃસ્મનોથી સદાય અજિત શ્રીજૈનશાસનના પરમપ્રભાવક પ્રાતઃસ્મરણીય પૂજ્યપાદ શાસનસ્તમરૂપ શાસનસંરક્ષક પુણ્યપુરુષોએ અસ્થિલવિશ્વને એકાન્ત હિતકારી અને જૈનસમાજને પરમપ્રાણાધારમૂલ સર્વોત્તમ-સગીન-સર્વાંગસુદર તે સાહિત્ય-વારસો શ્રીસઘને સમર્પણ કરેલો છે । અમૂલ્ય સ્વજાનારૂપ તે વારસો ભયંકર ભવાટવીમા મૂલા પડેલાઓ માટે માર્ગદર્શક છે ।

### \* સાહિત્યસંરક્ષણ ।

શ્રીસઘને સમર્પિત થયેલ અતીવ હિતકર સાહિત્યનું સર્વદા-સર્વત્ર-સર્વથા-સંરક્ષણ કરવા તન-મન અને ધનથી કટિબદ્ધ થવું એ જૈનસમાજ-ચતુર્વિધસંઘની અગ્રગણ્ય દરેકે દરેક વ્યક્તિની અનિવાર્ય ફરજ છે ।

સંરક્ષણકરનારાઓએ હસ્તલિખિત કાગળની પ્રતો, તાલપત્રીય ગ્રંથો અને લેખનાદિ સર્વસામગ્રીને સાચવવાના સંરક્ષણ-નિયમોને નાના મોટા દરેક જ્ઞાનમંદિર-જ્ઞાનમંડારમા જાહેરસ્વરૂપે એવા સ્થળે ગોઠવવા કે તે સ્થાનની મુલાકાત લેનારાઓની નજર તુરત જ તે ઉપર પડે ।

૧ હસ્તલિખિત સમગ્રગ્રંથોને આગ તથા સઘળી ઉઠે તેવા પદાર્થ વિગેરેના ભયથી બચાવી શકીએ તેવાં સ્થાન, અને હવા, મેજ, ડાઈઝ વિગેરેથી બચાવી શકીએ તેવા સાધન પસંદ કરવા, તેવા સ્થાન તથા સાધન ન હોય તો શ્રીસંઘે તે માટે તાકીદે પ્રયત્ન કરવો ઘટે છે ।

૨ તે સ્થાનમાં વીડી પીંચાંતી, દીવો રાખવાની અને સઘળી ઉઠે એવા પદાર્થો રાખવાની સસ્ત-મનાઈ હોવીજ જોઈએ ।

૩. શ્રીશ્રુતપંચમી-જ્ઞાનપંચમી-સૌમાન્યપંચમીથી શરુ કરીને મૌન એકાદશી સુધીમાં દરેકેદરેક ગ્રન્થોને એકવાર સૂર્યનો તાપ જરુર રાખવાનો અને દરેક પ્રતોને સોલીને ફરીથી વાધવાનો રિવાજ શરુ કરવો જ જોઈએ કે જેથી કરીને ઉધ્ધ-હવા-મેજ-ઉંદર-વાદા વિગેરે બીજાં જાતુઓના ઉપદ્રવથી બચાવી શકાય ।
૪. તાહપત્રીય ગ્રન્થની પ્રતિના માપસરના આગળ-પાછળ મઢીને બે પાટીયાં હોવા જોઈએ, પ્રતિને છોટતા વાધતાં વધુ જ કાઠજી રાખવી કે, જેથી કરીને તાહપત્રનો આગળ-પાછળનો ભાગ સ્થિર નહિ, પ્રતિની આસપાસ કાગળ ભેટવો અને સોલવાના અવસરે પ્રતિના માપસરના સાધનપર જમાવીને સોલવી, પ્રતિને પાછી મૂકતા તેની ઉપર ટોરી એવી રીતે વાધવી કે જેથી પ્રતિને નુકશાન ન થાય ।
૫. દરેક પ્રતિના કવર ઉપર ગ્રન્થનું નામ, પત્રસંખ્યા, ગ્રન્થકારનું નામ, માપા, વિષય, લિપિ, રચનાસવત્, લેખનસવત્ અને લેખકનું નામ વિગેરે સપાદનોપયોગી વિગતો-વાંચતો લખેલી હોય તો તે વિગતમાટે વારંવાર પ્રતિઓના તેજ પાનાઓને ફેરવવાં પડે નહિ ।
૬. કાગળની પ્રતિની બન્ને બાજુએ જાડા પુઠા અગર હાલમાં વપરાતી પાટલિઓ હોવી જ જોઈએ ।
૭. પ્રતિઓના જીર્ણ થઈ ગયેલા પાનાઓને પારદર્શક-કાગળોના કવર કરાવીને રાખવા જોઈએ ।
૮. જીર્ણ થવા માંડેલી પ્રતિઓને ફરીથી લખાવી લેવી અને તેવી પ્રાચીનપ્રતિઓના ચિત્રો અને પ્રશસ્તિઓનાં પ્રતિવિંબ-પોટા લેઈ રાખવાથી ભવિષ્યમાં તે સાહિત્યવારસો ભવિષ્યની જનતાને આશીર્વાદદાયક બનશે ।
૯. વધારાનું દેવદ્રવ્ય જેમ જીર્ણોદ્ધારમાં ઉપયોગી અને છે, તેવી રીતે જ્ઞાનદ્રવ્યને એકતું કરી વધારવા કરતા પ્રાચીન ગ્રન્થોને રાખાવા અને સાંચવવામાં તે દ્રવ્યનો સદ્વ્યય કરવો જરુરીનો છે ।

તા.૦૬—કોઈ પણ પ્રાચીનગ્રન્થના સંપાદકને તે ગ્રન્થની હસ્તલિખિત પ્રતિ મેળવવામાં ઘણીજ મુશ્કેલી નિવારણાર્થે દરેક જ્ઞાનમંડારના કાર્યવાહકોએ ટુરંત પ્રવચ્ચ કરવો જોઈએ, અલગત ગ્રન્થના રક્ષણપૂરતી જોગવાઈ રાખીને લેવડદેવડ ચાલુ રાખાય તો ગ્રન્થનું ગૌરવ દિન પ્રતિદિન વધે છે એ વિના વિસારવા જેવી નથી ।

સંરક્ષણ કેરનારાઓએ અંધાપિ પર્યંત તાહપત્રીય ગ્રન્થો, મોજપત્રીય ગ્રન્થો, હસ્તલિખિત ગ્રન્થો, ગેંડી (ગ્રન્થી), કચ્છપી, મુદ્રિ અને સ્પાટિ-આદિ અનેકવિધ આકારના પુસ્તકો, નકશાઓ, ગ્રન્થ લખવાના અનેકવિધ સાધનોને સુરક્ષિત રાખવા માટે બનતું કર્યું છે અને હજુ પણ કરે છે ।

સુરક્ષિત સાધનો પૈકી આગથી બચે તેવા જ્ઞાનમંડારો-જ્ઞાનમંદિરો, ઉદર-વાદા વિગેરેના બચાવમાટે પેટી-પટારા અને ઢામઢાઓ, ઉધ્ધ અને હવાથી પુસ્તકનું આયુષ્ય ન ઘટે તેથી વસ્ત્રાચ્છાદન-સ્માલ વિગેરે સંરક્ષણના સાધનો છે, આટલું સંરક્ષણ કર્યા છતાં પણ જ્ઞાનપંચમીના દિવસે દર્શનાર્થે વધુ પુસ્તક બહાર કાઢવાનો રીવાજ જૈનશાસન-પ્રણાલિકામાં અંધાપિ પર્યંત નજરે જણાય છે । ચોમાસામાં વર્ષાદને લીધે અગર મેજવાલી હવાથી પુસ્તકોને ક્ષતિ પહોંચી ગઈ હોય તેવા પુસ્તકોને બહાર કાઢી સારો તાપ અપાય તો લિખિત ગ્રન્થોનું આયુષ્ય વૃદ્ધિ પામે, અને સાથે સાથે દર્શનાર્થે આવનારાઓનું લક્ષ્ય ગ્રન્થપ્રત્યે જાય તો જીર્ણ-થયેલ, અર્ધજીર્ણ-થયેલ, પ્રાય જીર્ણ થયેલ ગ્રન્થો રાખવા-રખાવવાની ઊર્મિઓ જાગે કે જેથી કરીને શ્રુતજ્ઞાનના સાધનોના સંરક્ષણ સાથે અભિવૃદ્ધિ થયા જ કરે ।

કહેવું પડશે કે રાખવા-રખાવવાની પુનિત પદ્ધતિએ આઠસો-નવસો વર્ષ ઉપરાંતના અમૂલ્ય સાહિત્યોના દર્શન કરવા કરાવવાને આપણને આજે આ દુઃખમાલમાં મામ્યશાલી બનાવ્યા છે એ ઓછા આનંદનો વિષય નથી ।

પાઠ્ય-સ્વમાત વિગેરેના જ્ઞાનમંડારોમાંથી તાહપત્રીયગ્રન્થો અને હસ્તલિખિતગ્રન્થો તે તે મંડારના ધારાધોરણને અનુસરીને મઢી શકે છે, પરંતુ પૂનાના માળદારકર પ્રાચ્યવિદ્યાસંશોધનમંદિરમાંથી તાહપત્રીયગ્રન્થો મઢી શકતાજ નથી, તેનું વાસ્તવિક કારણ સામલ્લંગપ્રમાણે આ છે કે—તાહપત્રીયગ્રન્થને સોલવાની, જોવાની, વાંચીને મુકવાની, સાંચવવાની અને રક્ષણ કરવાની રીતનો અજાણ સંપાદક હમારા સાહિત્યનો લગભગ નાશ ન કરી શકે—અર્થાત્ નાશ થતો અટકે તે હેતુથીજ હમારી સંસ્કૃત્ય કાર્ય કરવાજ તે પ્રતોની લેવડ-દેવડ કરીએ છીએ અન્યથા નહિ ।

આ ઉપરથી સંપાદકો યથાયોગ્ય જોઈતું ધ્યાન નહિ રાંખે તો ભવિષ્યમાં મંડારના ઉદાર કાર્યકર્તાઓને પણ લેવડ-દેવડનો રસ્તો વધ કરવો ન પડે તે માટે સંપાદકોને સાવધાન થવાની અવશ્યમેવ જરુર છે ।

૧. એ લેખ્યન્તિ જિનશાસનપુસ્તકાનિ, વ્યાખ્યાનયન્તિ ચ પઠન્તિ ચ પાઠયન્તિ ।

શ્રવ્યન્તિ રક્ષણવિધૌ ચ સમાદ્રિયન્તે, તે દેવમર્ત્યશિવશર્મ નરા લબન્તે ॥ ૧ ॥

અર્થ—શ્રીજિનશાસનના ગ્રન્થોને જેઓ લખાવે છે, વ્યાખ્યાનકરીને લોકોને સમજાવે છે, પોતે મળે છે, બીજાને મળાવે છે, પોતે સામઠે છે અથવા રક્ષણ કરવામાં આદરપ્રયત્ન કરે છે તે મનુષ્યો દેવલોકના, મનુષ્યલોકના અને દેવલોકના મુખોને પ્રાપ્ત કરે છે । ઉપદેશતરંગિણી—પૃ. ૧૩૯ ।

૨. આ વધા ગમ્મી વિગેરે મેદો ધીરશૈવકાલિક અને શ્રીઅનુયોગદ્વાર આદિ જૈનાગમગ્રન્થોમાં સ્પષ્ટપણે મઢી આવે છે ।



માણ્ડારકર પ્રાચ્યવિદ્યાસંશોધનમન્દિરના કાર્યકર્તાઓ પાસેથી લાગવગ અને અમુક શરતોએ અમેરિકાના અને યુરોપના વિદ્વાનો કાગળની પ્રતોની માફક તાડપત્રીયગ્રન્થો પણ મેલવતા હશે, પરંતુ હમારા અનુભવપ્રમાણે તો હસ્તલિખિતગ્રન્થો જે રીતિએ મેલવી શકાય છે તેટલી સહેલાઈથી તાડપત્રીયગ્રન્થો ત્યાંથી પણ મેલવી શકાતા નથી ।

દટલુ કહેવું જરૂરીનું છે કે સંરક્ષણના ધારાધારણને અનુસરીને તેમજ સાથે આવરુદાર બે વ્યક્તિઓને જવાબદાર રાખીને પણ મેલવવા ધારેલ તાડપત્રીય-પ્રતિ જો નહિજ મળે તો તે સાહિત્યની તેના અર્થોનો વધ્ધિત રહે માટે તેવું ન થવું જોઈએ વલ્લે વીજો કોઈ વલ્લો માર્ગ કાઢીને પણ તાડપત્રીય-ગ્રન્થોની લેવડ દેવડ સારા પ્રમાણમાં થતી રહે તેમ કરવુંજ જોઈએ એ જરૂરીનું છે ।

ઉપરના સંરક્ષણનિયમો અગર સંરક્ષણાર્થે ઈથી પણ વધુ નિયમો યોજવાની જરૂર પડે તો તેવો પ્રવન્ધ કરીને પણ સંરક્ષણ કરવું અને સાથે સાથે અમૂલ્ય સાહિત્ય વારસાનું લેખન-સંશોધન-પઠન-પાઠન વિગેરે પ્રવૃત્તિઓનો સુદર વેગ વધે તે સારું સંરક્ષકોએ હુચ્છતા-સંકોચતાને દેશવટો દહ ઉદારતાને આગલ કરીને એકાન્ત કલ્યાણાર્થે મઝેલ વારસાનો ઉત્તરોચર લાભ અર્થોનો મલ્લ્યાજ કરે તેવો પ્રવન્ધ કરવો જરૂરીનો છે ।

સાથે સાથે મારું એ નમ્ર-નિવેદન છે કે વર્તમાનમાં તદ્દન મન્દ પડી ગયેલ લલ્લવા-લલ્લાવવાની પુનીત પદ્ધતિને શાસનની અગ્રગણ્ય વ્યક્તિઓએ અપનાવવાની વધુ જરૂર છે । હસ્તલિખિત સાહિત્યનું સંરક્ષણ સુવ્યવસ્થાપૂર્વકનું થતું હોય તો તેનું દીર્ઘ-યુષ્ય જેટલું સમવી શકે છે તેટલું સુદ્રિત થયેલ ગ્રન્થોનું સમવતું નથી, આ બાવતમા સાહિત્યરસિક વિદ્વાનોના પણ બે મત નથી ।

દરેક વર્ષે-મહિને-દિવસે અને દીઝગે જીર્ણપ્રાય થતા ગ્રન્થોને સુદ્રિત કરવા-કરાવવાદ્વારા એ તન-મન-ધનથી યથાશક્તિ ઉદ્યમ થઈ રહ્યો છે, પરંતુ લલ્લવા-લલ્લાવવાની ભાવનાઓને નવપલ્લવિત કરીને પ્રાચીન પુનીત પદ્ધતિને વેગપૂર્વક વધારવી જોઈએ કે જેથી ભાવિ-સમાજ પણ હજારો વર્ષે આ પુનીત સાહિત્યના દર્શન કરી શકે અને અન્તરના આશીર્વાદ સમર્પી શકે ।

સુદ્રણકલાની શરૂઆત પૂર્વે નવદીક્ષિત સાધુઓ અભ્યાસ કરવાની શરૂઆતમા ગાથા કે શ્લોક, સ્તોત્ર કે સ્તવન, પ્રકરણ કે અધ્યયન, નાનો ગ્રન્થ કે મોટો ગ્રન્થ વિનયપૂર્વક પૂજ્ય શુરુવર્ચો પાસેથી વિધિપૂર્વક મળતા અને સ્વહસ્તે જ પ્રાયઃ લલ્લતા હતા ।

સત્તરમી સદી સુધી તો ‘અમુક શિષ્ય કે અમુક શિષ્યા માટે વાચવા-મળવા માટે આ પુસ્તક લલ્લું અથવા લલ્લાવ્યુ, એવી જાતનું લલ્લાણ વર્તમાન હસ્તલિખિત ઘણી સ્તરી પ્રતોના અન્ત્યમાગમા નજરે પડે છે ।

પૂર્વે થઈ ગયેલ ગ્રન્થરચનારાઓને આપણે નજરે દેલ્લ્યા નથી, પરંતુ તેઓના રચેલા સાહિત્યોમાથી આજે રચનારાઓ સઘી રચનાસમય, સુદ્ધિવૈભવ, કાર્યદક્ષતા, જીવનપ્રમાવ, તત્કાલીન ઇતિહાસ વિગેરે વિગેરે ઘણુ ઘણુ સમજાવી શકાય, અને વર્તમાન જીવન જીવનારાઓની સાતે ધાતુઓમા પ્રેરકતત્ત્વો પુરી શકાય એવું ઘણુ ઘણું મઝી આવે છે; તે વધો પ્રતાપ પુનિત લેખનપદ્ધતિથી લલ્લાયેલ અને સુરક્ષિત રહેલ તે સાહિત્યનો જ છે ।

### \* પઠન-પાઠન અને પરિશીલનની જરૂર ।

અસુદ્રિત અને જીર્ણપ્રાય થતા ગ્રન્થોને સંશોધન-સંપાદનાદિ-કરવા માટેનો જે વેગ વધી રહ્યો છે તે પણ સંરક્ષણતાનું એક અંગ છે, પરંતુ દટલેથી ઇતિકર્તવ્યતા માનનારાઓ પ્રતિ મારા હૃદયગત અભિપ્રાય સાથે મારું એ મન્તવ્ય છે કે અભ્યાસ-યોગ્ય ગ્રન્થનું સંપાદનકાર્ય હાથ ધરતા સંશોધનપૂર્વક પઠન-પાઠનની સંપૂર્ણ સામગ્રીઓ સાથે પ્રકાશન કરવું, અને પ્રકાશિત થયેલ ગ્રન્થોનું પઠન-પાઠન પૂર્ણવેગથી વધારવા સારું અનેકવિધ આર્થિકાદિ પ્રબન્ધો મોઠવીને નિર્જીવ-સ્થાવર-સાહિત્યને સજીવ-જગમ-સાહિત્ય બોલતા-સાહિત્યરૂપે બનાવવા કટિબદ્ધ થવું એજ પૂર્વાચાર્ય ગુમ્ફિત સાહિત્યની સંપૂર્ણ સેવા વજાવી ગણાશે । દટલું જ નહિ પણ તે તે સાહિત્યો ઉત્તરોચર વધુ ફલદ્રુપ બની નવનવીન રીતે વિકાસ પામશે એ નિઃસંદેહ સત્ય સ્વીકારવા લાયક છે ।

પઠન-પાઠન યોગ્ય સાહિત્યનું પઠન-પાઠન થવું જ જોઈએ, પઠન-પાઠનની પદ્ધતિ પૂર્ણવેગથી શરૂ રહેશે તો તે સાહિત્યના પારક્ષતો મઝી આવશે । ક્રમે ક્રમે સાહિત્યપારક્ષતોનો વધારો થતા તેઓ નવનવીન સાહિત્યસૃષ્ટિના સર્જનો પણ કર્યા જ કરશે, એ દષ્ટિએ વિચારતા માલુમ પડે છે કે એક દિવસ એવો આવશે કે પઠન-પાઠન અને પરિશીલનમા સુકાયેલ તે સાહિત્ય સાહિત્યની સૃષ્ટિમાં સર્વોપરિસત્તા મોગવતું હશે ।

જે ઉદ્દેશથી જે સાહિત્યની રચના રચિતાઓએ કરી છે તે ઉદ્દેશને તે રીતિએ પહોંચવા માટે પઠન-પાઠનની પ્રણાલિ-કોનો વેગ વધારવા પાઠલ તન-મન-ધન સમર્પણ કરવા યથાશક્તિ ઉદ્યમ ચાલુ જ રાલ્લવો એ જ એક શ્રેયસ્કર માર્ગ છે ।

### \* ભાષાજ્ઞાનની વ્યવસ્થા કરનાર વ્યાકરણ ।

શ્વેરાતનો વહેપાર શ્વેરીની નજરને અલભ્બે છે, શ્વેરાતના તેજ-કિમ્મત અને તોલને સમજ્યા વગરનો શ્વેરી જેમ શ્વેરા-તના વહેપાર માટે નકામો છે તેમ સાહિત્યની રચના, વિષયની સ્પષ્ટતા, અનન્તર-પરમ્પર લામાદિને જાળવા-જોવા, સમજવા

અને સમજાવવાની શક્તિવગરનો મનુષ્ય સાહિત્યના સુદર મૂલ્યાંકન આકી શકતો નથી તેથીજ તે નકામો ઠરે છે । તે માટે તે તે સાહિત્યના શ્રેષ્ઠ મૂલ્યાંકન અને સુંદરતા સમજવા માટે સાહિત્યરસિકોને ભાષાજ્ઞાનરૂપ મન્ય નજરની અવશ્યમેવ જરૂર છે ।

માનવજીવન જીવનારાઓ પાસે એક એવી અનુપમ-અમૂલ્ય-અચિન્ત્ય સપત્તિ છે કે જેના દ્વારા પોતાના અભિપ્રાયોને બોલી શકે છે અને લખી શકે છે । તે અમૂલ્ય સંપત્તિ એ ભાષાજ્ઞાન છે, તે બોલતી-લખાતી ભાષાને અગર ભાષાજ્ઞાનને જૈનદર્શન શ્રુતજ્ઞાનના આશિકવિભાગની પ્રાપ્તિ થઈ એમ કહે છે । શ્રુતજ્ઞાનાવરણીયના ક્ષયોપશમદ્વારા આ જ્ઞાન પ્રાપ્ત થાય છે, અને જેટલી ભાષા શુદ્ધ અને વ્યવસ્થિત હોય તેટલીજ સ્વ-પરહિતકર પ્રવૃત્તિ લાભદાયી નિવડી શકે છે । ભાષામા વપરાતા શબ્દોને એકસરખી રીતિએ વ્યવસ્થિત રાખનાર અને દરેકે દરેકને વ્યવસ્થિત રીતિએ બોલવા-લખવાની ફરજ પાડનાર તે તે ભાષાનું વ્યાકરણ છે ।

દરેકે દરેક ભાષાને વ્યવસ્થિત રાખનાર વ્યાકરણોમા ઓછાવત્તારૂપે સુધારાઓ પ્રવેશ કર્યો છે, અને સાથે સાથે કાંઈક અંશે અવ્યવસ્થાએ પણ પ્રવેશ કરી દીધો છે; પરંતુ લખાતી અને બોલાતી સંસ્કૃતભાષાની સુવ્યવસ્થા અને સુનિયમિતતા અઘાપિ પર્યંત જઠ્ઠાઈ રહ્યા છે । આ ભાષાની સુવ્યવસ્થાએ અને નિયમિતતાએ દુનિયાભરની સમગ્રભાષાઓ પર વિજય મેઠ્ઠ્યો છે એ નિર્મોઢ સત્ય છે ।

એક વિદ્વાન્ પોતાના પુત્રને હિતશિક્ષા આપે છે કે—હે પુત્ર ! બધી ભાષાઓના પારક્રમ વનવું તે તો શ્રેયસ્કર છે જ, તથાપિ બધી ભાષાઓનો પાર પામી ન શકે તો પણ સંસ્કૃત ભાષાનો પાર પામવા માટે અવશ્યમેવ તે ભાષા તો મળવીજ જોઈએ, કારણ કે મહર્ષિઓના મોંઘા અને અળમોલાં સિદ્ધાન્તો તે ભાષાથી મરપૂર છે, તે માટે તે શિક્ષાપદ બોલીને પુત્રને મળવા માટે ઉત્તેજિત કરે છે.—

“યદ્યપિ બહુ નાઽર્ધપિ, તથાપિ ચ ત્વં પઠ પુત્ર ! વ્યાકરણમ્ ।

સ્વજનઃ શ્વજનો મા મૃત્, સકલં શકલં સકૃચ્છકૃત્ ॥ ૧ ॥”

અર્થ—હે પુત્ર ! જો તું બહુ ગ્રંથો ન મળે તો પણ એક વ્યાકરણ તો જરૂર મળ કે જેથી કરીને સ્વજન (સવન્ધિવર્ગ), સકલ (સર્પૂર્ણ); અને સકૃત્ (એકવાર) ને વદલે અનુક્રમે શ્વજન (કુતરાનો સમુદાય), શકલ (ટુકડો), અને શકૃત્ (વિષ્ટા) એ પ્રમાણે લખાઈ કે બોલાઈ જાય નહિ, કારણ કે દન્ય સકારને વદલે તાલ્લવ્ય શકાર બોલાઈ લખાઈ જાય તો અર્થનો અનર્થ થઈ જાય છે, એ અનર્થથી વચાવનાર વ્યાકરણ જ છે એવો એ શ્લોકનો ભાવર્થ છે ।

વ્યાકરણ મળવાની આવશ્યકતાને લીલાવતીકાર-માસ્કરાચાર્યે પણ પોતાના સિદ્ધાન્ત-શિરોમણિનામના ગ્રંથમાં ભાષાજ્ઞાનની પ્રાપ્તિને સ્વીકારી છે,—

“શબ્દાત્ પદપ્રસિદ્ધિઃ, પદસિદ્ધેરર્થનિર્ણયો ભવતિ ।

અર્થાત્તત્ત્વજ્ઞાન, તત્ત્વજ્ઞાનાત્ પરં શ્રેયઃ ॥ ૧ ॥”

અર્થ—શબ્દથી-શબ્દના જ્ઞાનથી પદોની પ્રસિદ્ધિ-પ્રકટતા સમજાય છે, પદોની સિદ્ધિથી અર્થનો નિર્ણય થાય છે, અર્થના નિર્ણયથી તત્ત્વોનું જ્ઞાન થાય છે, અને તત્ત્વોના જ્ઞાનથી પરમ કલ્યાણની પ્રાપ્તિ થાય છે ।

ઉપરના પદ્યથી સિદ્ધાન્તટીકાકાર પરમપદની પ્રાપ્તિને માટે શબ્દાનુશાસનની યથાસ્થિત વ્યવસ્થા અને નિયમિતતા જણાવે છે, તથા આદરણીયરૂપે સ્વીકારવા મલામળ કરે છે એવો એ શ્લોકનો ધ્વનિ છે ।

સત્ય બોલવાના અવસરે નામ-આસ્ત્યાત વિગેરે વ્યાકરણની રીતિએ યથાર્થ ઉપયોગપૂર્વક બોલવાનું મગવાન્ શ્રીમહા-વીરદેવે જૈનાગમોમા ઠામઠામ ફરમાવેલું છે । તેજ આગમ ગ્રંથોમા તથા તે ગ્રંથોની ટીકામા બાર પ્રકારના સત્યના સ્પષ્ટીકરણને અવસરે પ્રાકૃત-સંસ્કૃત-માગધી-પૈશાચી-શૌરસેની અને અપભ્રંશ એ છ ભાષાના ગદ્ય અને પદ્ય બન્ને વિભાગને મેઠ્ઠવતા બાર વિભાગ થાય, આ બારે વિભાગો યથાર્થ જ્ઞાતા થયા વગર કોઈ પણ મનુષ્ય સત્ય બોલી શકતો નથી । સત્યની દરકાર રાખનાર માટે સંસ્કૃતભાષાનું નિયમન સાત અધ્યાયના ૨૮ પાદમાં, અને બાકીની પાંચ ભાષાઓના પ્રયોગોની વ્યવસ્થા અને નિયમન આઠમા અધ્યાયના ૪ પાદમા કરીને એ છ ભાષાનો સર્પૂર્ણજ્ઞાતા બનવાને માટે કલિકાલસર્વજ્ઞ-મગવન્તે શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુ-શાસન એ નામના આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણની અત્યંત સુદર રચના કરીને આપણી ઉપર ઘણો જ ઉપકાર કર્યો છે ।

**\* સાક્ષોપાદ્ધ સંસ્કૃતભાષાજ્ઞાનની અનિવાર્ય જરૂરીયાત ।**

સુરક્ષિત રહેલ સાહિત્ય ચાર વિભાગમા વહેંચાયેલું છે—૧ દ્રવ્યાનુયોગ, ૨ ગણિતાનુયોગ, ૩ ધર્મકથાનુયોગ અને ૪ ચરણકરણાનુયોગ । આ ચારે અનુયોગની રચના કયા ક્ષેત્રમા, કયા કાલમા, અને કયા સયોગોમા કોણે કરી, રચના થતાની સાથે જ લખાતી ગદ્ય કે સ્પરણ-પથમાં રચાતી ગદ્ય, રચિતાએ સ્વતંત્રપણે કે પરતંત્રપણે રચના કરી, વિગેરે વિગેરે અનેક પદે તે નિ શંક વીના સમજવા જેવી છે ।

આ ચારે અનુયોગના હૃદયને જાણવા માટે સંસ્કૃત માપાની અનિવાર્ય જરૂર છે । મૂલકારોણ, સૂત્રકારોણ, માપ્યકારોણ, નિર્ણયકારોણ, ચૂર્ણિકાકારોણ, સમ્રહકારોણ, અને સંક્ષેપકારોણ પોતાના હાર્દિક-અનુભવગમ્ય મરપૂર માવથી ઉમરાતાં અનેક અભિપ્રાયોને ઉચ્ચારેલા છે અને લખેલા છે, તે આજે પણ ઉદ્યમપ્રધાન પુરુષોને જરૂર દૃષ્ટિગોચર થાય છે । દૃષ્ટિગોચર કરનારા વિદ્વાનો દેશતાની સાથે ઊરના આનન્દપૂર્વક સ્તુત્યવચનો ઠાલવતા જાય છે, એથી પણ સર્વેશ સાહિત્યની મહત્ત્વતા સિદ્ધ થાય છે એ જૈનસાહિત્યની શોભાની સુરમ્ય સુવાસનાઓ છે ।।। ।

સંસ્કૃત માપાનો સાક્ષોપાઙ્ગ અભ્યાસ કર્યા વગર અને તે અભ્યાસને પઠન-પાઠન-વાચન મનન અને પરિશીલનપૂર્વક પુન પુન પ્રવૃત્તિરૂપે પરિણમાવ્યા વગર અને સાથે સાથે પ્રાકૃત માપાના પારાવાર સાહિત્યના અલ્પાન્દ-ઝડા અભ્યાસી વન્યા વગર સંસ્કૃત-પ્રાકૃત-માષાવદ્ધ સાહિત્યના સશોધન-સપાદનમા હાથ નાલ્લવો, માપાન્તર કરવું અને તે સવન્ધી અભિપ્રાયોદિ ઉચ્ચારવા કે લખવા તે પૂર્વકાલીન મહાપુરુષોના રચિત પુનિત સિદ્ધાન્તને અન્યાય આપવા જેવું છે ।

શબ્દરૂપાવલી, ધાતુરૂપાવલી, સમાસચક્ર કે સમાસપ્રકરણ, માળ્ડારકરની એક અગર વે વૂકનો ઉપલક્ષદૃષ્ટિ અભ્યાસ કરીને અને પરીક્ષાના વિષયમા ઉત્તીર્ણ થવા પૂરતી તૈયારી કરીને વિદ્વાન્-પ્રોફેસર-લેલ્લક અને વક્તાની પક્ષિમાં વેસવાની અમિલાષાથી વહાર પહેલા કહેવાતા વિદ્વાનો-પ્રોફેસરો-લેલ્લકો અને વક્તાઓ લોલવા-લ્લવાદિ ક્રિયાદ્વારા પૂર્વ-કાલીન મહાપુરુષોના અજોડ અને અતુટ સિદ્ધાન્તોને જે અન્યાય આપ્યો છે અને હજુ પણ આપી રહ્યા છે, તે અનિર્વચનીય અને અનિર્લેલ્લનીય છે, તેમા પણ માષામા વપરાયલા અને વપરાતા શબ્દોમા શાલ્લિક અને આર્થિક-યથાર્થ-અનુભવની ગેર-હાજરી જ જવાવદાર ગણી શકાય ।

પોતાના હાથે થયેલ અધમ અન્યાયો અને અનેકવિધ મૂલોનુ યથાર્થ અલોલ્લન કરી પ્રાયશ્ચિત્તપૂર્વક પ્રોડ-વિદ્વજ્જન-માન્ય-સન્માર્ગે વિહરવાની અમિલાષા રાલ્લનારાઓ તો જરૂર સંસ્કૃતમાષાનો સાક્ષોપાઙ્ગ અભ્યાસ સપૂર્ણ કરવો એજ કહેવું સ્વંત્ર પ્રાસંગિક છે ।

સંસ્કૃતમાષામા વંધારણરૂપે ઘડાયેલા સૂત્રો, પૂર્વ-પર-વિધિ-નિષેધ-નિયમ-અપવાદાદિક-ન્યાયપૂર્વક તે સૂત્રોની ળ્હેચળ, માષામા વપરાયેલા શબ્દો કયા સૂત્રથી કેવી રીતે વનેલા છે, મવિષ્યમા લોલવા-લ્લવાના કાઝ્મા પણ શબ્દો વાપરવા માટે કેવા ઉપયોગની જરૂર છે, શબ્દરચનાકાઠે શબ્દ પ્રત્યે જેટલું લક્ષ્ય કેન્દ્રિત કરવાની જરૂર છે તેટલુંજ વલ્લકે તેથી વધારે અર્થ-કાઠે લક્ષ્ય દેવું જરૂરી છે, આ વધુ સમજ્યા છતાં સાહચર્ય-સંવન્ધ-કાઠ-પ્રકરણ-વિષયાદિને વિચાર્યા વગર અર્થ કરનારા પણ કેવા અલ્લે રલ્લે ચઢી જાય છે તે નીચેની સામાન્ય વીનાથી સમજી શકાશે ।

વજારમા લેટલા સરાપો-લૈસાની લેવડ-દેવડ કરનારા પરસ્પર કહે છે કે હાલમા નાળાની એટલી વધી લૂટ છે કે લે રામે પણ પૈસા કોઈ રાલ્લતું નથી ।

દિલ્લિહ, આગ્રાના એક વજારમા એક વહેપારીની ઢુકાને એક ગ્રાહક માલ લેવા લેટો કે તુરત પાછલ્લથી લલાલી કર-વારા એક માળસે આવીને વહેપારીને રામ રામ એમ કલ્લુ, વહેપારીનું ધ્યાન તે તરફ ન હતું અને વહેપારી માલ કહેવા જતો હતો એટલામા ગુમાસ્ટા એ કલ્લુ કે આ માળસે તમને લે વલ્લત રામ રામ કલ્લા તે તમે સામલ્લ્યા કે નહિ ? ।

રામે મુલ્લેલી વગર લકા લહ લીધી, રામે પૃથ્વીને ઘળી વાર લ્લત્રિય વગરની કીધી, લૈધે દર્દીની નાઢી જોઈ-તપાસીને કલ્લુ કે હલે થોડા ટાહમના મહેમાન છે, ધારવા પ્રમાણે એકાદ કલાકમા રામ રમી જશે ।

ઉપરના દૃષ્ટાન્તમા અનુક્રમે લે રામે=લે આના વ્યાજે, રામ રામ=લે ટકા લલાલી, રામે=લશરથના પુત્રે, રામે=પરશુરામે, રામ રમી જશે=મરી જશે, એ રીતે પ્રસંગાનુસાર જૂદા જૂદા અર્થો એક રામ-શબ્દનાજ થાય છે, ઉપરના વધા પ્રસંગોમા પૂર્વા-પરના વાક્ય-સવન્ધ-પ્રકરણ-વિષય વિગેરેને સમજ્યા વગરનો કોઈ માળસ દરેક સ્થલે રામ-શબ્દનો એકજ અર્થ કરે તો જરૂર મુંઝવળમા મુકાય ।

આ ઉપરથી સંસ્કૃતમાષામા પણ વપરાતા શબ્દોની નિષ્પત્તિ અને યથાર્થ જ્ઞપ્તિ થવા વગર પૂર્વકાલીન મહાપુરુષોના મહાન્ માલોને જાળી શકાતા નથી, માટેજ સંસ્કૃતમાષાના સાક્ષોપાઙ્ગ અલ્પાન્દ અભ્યાસની અનિવાર્ય આવશ્યકતા છે ।

### \* સંસ્કૃતમાષાનું પ્રાથમિક પઠન-પાઠન થવું જ જોઈએ ।

પૂર્વે વિચારી ગયા કે પૂર્વમહર્ષિપ્રણીત સાહિત્ય સંસ્કૃતમાષામા અને પ્રાકૃતમાષામા છે, જ્યારે લલે માષામા છે તો પઢી કેવલ સંસ્કૃતમાષાને જ વધુ લેગ આપવાનું પ્રયોજન શુ ? , આ શક્કાના સમાધાનમા એટલું સમજવું જરૂરીનું છે કે સંસ્કૃતમાષાના સાક્ષોપાઙ્ગ સપૂર્ણ અભ્યાસ કર્યા વગર પ્રાકૃતમાષામા પ્રલેશ કરવો તે પારાવાર-પ્રાકૃતમાષાન્ત ગદ્ય-પદ્ય સાહિત્યને અન્યાય આપ-વાની ઉતાવલ કરવા જેવું છે ।

एटला माटे ज सस्कृतभाषांना साङ्गोपाङ्ग-साहित्याना सर्वोत्तम स्रष्टा कलिकालसर्वज्ञ-भगवान्-श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरजीए पण सस्कृतभाषांना नियमन माटे क्रमशः सज्ञा-सन्धि-नाम-कारकादि अनेकविध विषयोथी भरपूर सात अध्यायरूप ३५६६ सूत्रोनी रचना करी । सिंहावलोकनदृष्टिए विचारिए तो पाचमा अध्यायना बीजा पादना अतमा आवेल—“उणादयः” ॥५॥२॥९॥ ए सूत्रनी पूरवणीरूपे सात अध्यायना सूत्रोथी नहि निष्पन्न थता शब्दोनी निष्पत्ति माटे उणादिना १००६ सूत्रोनी रचना करी । तेवी ज रीते प्रथम अध्यायना प्रथमपादमा आवेल—“पुस्त्रियो. स्यमौजस्” ॥१॥१॥२॥ ए सूत्रनी पूरवणीरूपे पुलिङ्गस्त्री-लिङ्गादिनी व्यवस्था जाणवा माटे १३८ श्लोकप्रमाणना लिङ्गानुशासननी रचना करी । शब्दस्वरूपना निर्णय माटे धातुज्ञाननी जरूर छे ते हेतुथी सर्व-धातुओनु सपूर्ण ज्ञान जेनाथी थइ शके एवा धातुपारायणनी पण रचना करी । यदाहु—“कलिकाल-सर्वज्ञा”—“शब्दस्वरूपनिर्णय इति तत्राऽपि धातुमूलत्वमेव” पृ० १-१०, इति धातुपारायणग्रन्थे ।

आ वधा सस्कृतसाहित्याना अगोपागने जाण्या वाद प्राकृतभाषामा प्रवेश करवो उचित छे ।

कलिकालसर्वज्ञ भगवान् प्राकृतादिभाषा माटे आठमा अध्यायनी शरुआतमा ज—“अथ प्राकृतम्” ॥ ८॥ १॥ १॥ ए प्रमाणेना प्रथम सूत्रनी रचना करीने ते सूत्रनी वृत्तिमा पण लख्यु छे के—सस्कृतभाषांनो पार पाम्या पछी ज प्राकृतभाषा भणवी उन्नित छे, यदाहु—“कलिकालसर्वज्ञाः—अथशब्द आनन्तर्यार्थोऽधिकारार्थश्च × × × सस्कृतानन्तरं प्राकृतमधिक्रियते । इत्यादिना × × । प्राकृते च प्रकृति-प्रत्यय-लिङ्ग-कारक-समास-सज्ञादयः सस्कृतवद्वेदितव्या ।

आ उपरथी एटलो निर्णय थयो के प्रथम सस्कृतभाषांनु पठन-पाठन करवुज उचित छे ।

वर्तमानकाळे सस्कृतभाषांनो पार पामवा माटे सकल सामग्रीओथी भरपूर जो कोइ पण व्याकरण होय तो लेश पण अतिशयोक्ति बगर कहेवु पड्छे के श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन ज छे । आ ग्रन्थमा उभराती अनेकविध सामग्रीओ कइ कइ छे ते—‘ग्रन्थनी अनेकविध सामग्री’नामना आगळतां प्रकरणमा पूर्णप्रेमथी अवलोकन करशु, हाल तो अनेक व्याकरणो मौजुद छतां आ महान् व्याकरणनी रचना कया संयोगमा कइ रीतिए थइ ते तपासीए ।

### \* प्रेरणात्मक-प्रार्थनाए प्रकटावेल प्रधानतम-व्याकरण ।

आ ग्रन्थनी विशिष्टता सर्वश्रेष्ठतया समजाय तो अखिल भारतवर्षनुं प्रधानतम व्याकरण कहेवामा विद्वानोने लेश पण संकोच थवोज न जोइए ।।

आ ग्रन्थनी विशिष्टता समजवा माटे पूर्वकालीन-महापुरुषोए आपणी उपर न विसरी शकाय एवो अनहद उपकार कयों छे । ते ते महापुरुषो पैकी श्रीसोमप्रभाचार्य श्रीकुमारपालप्रतिबोध वि० स० १२४१ मा रच्यो छे, श्रीप्रभाचन्द्रसूरीजीए श्रीप्रभावकचरित्र वि० स० १३३४ मा रच्यु छे, श्रीमेरुतुङ्गाचार्य श्रीप्रबन्धचिन्तामणि वि० स० १३६१ मा रच्यो छे, विविधतीर्थसन्धि उल्लेखमय ग्रन्थ—श्रीविविधतीर्थकल्प वि० स० १३८९ मा रच्यो छे, श्रीराजशेखरसूरीश्वरजीए श्रीप्रबन्धकोष वि० स० १४०५ मा रच्यो छे, श्रीजिनमण्डनगणिए श्रीकुमारपालचरित्र वि० स० १४९२ मा रच्यु छे, श्रीचारित्रसुंदरगणिए श्रीकुमारपालप्रबन्ध वि० स० १६०१ मा रच्यो छे । ओछावचा प्रमाणमा मळी आवती वर्णनरूप आ वधी रचनाओमा श्रीप्रभावकचरित्रना रचयिता पूज्य श्रीप्रभाचन्द्रसूरीजीए वि० स० १३३४ ना चैत्र शुदि ७ शुक्रवासरे रचेल प्रभावकचरित्र आपणने परम आधाररूप छे । कारण के सविस्तर वर्णन तेमाथी मळे छे, ते सविस्तर वर्णनमा अतिशयोक्तिरूप असंभवित वचनो दृष्टिप्रथमा आवता नथी, तेथी ऐतिहासिक दृष्टिए अवलोकन-करनाराओ माटे आ रचनामा कथन करेलु सर्व कथन जरूर आदरणीय छे, आज वातने समर्थन करनारो सिंधी जैन ग्रन्थमाला. ग्रन्थाङ्क—१३ श्रीप्रभावकचरित्रना ‘प्रास्ताविक वक्तव्य’ पृ० ६ ना बीजा परेआफमा सपादके पोतानो अभिप्राय हिन्दीभाषामा प्रगट कयों छे के—“रचनाकी दृष्टिसे भी यह ग्रन्थ उच्च कोटिका है । इसकी भाषा प्रावाहिक हो कर प्रासादिक है । वर्णन सुसबद्ध और सुपरिमित है । कहीं भी अतिशयोक्ति या असंभवोक्ति दृष्टिगोचर नहीं होती । महाकवि और प्रभावशाली धर्माचार्योंका ऐतिहासिक वर्णन करनेवाला इसकी कोटिका और कोई दूसरा ग्रन्थ समग्र सस्कृत साहित्यमें उपलब्ध नहीं है ।”

श्रीसिद्धमूढद्वन्द्वे, राजपाटिकया चरन् । हेमचन्द्र प्रभुं वीक्ष्य, तटस्थविपणौ स्थितम् ॥ ६५ ॥

निरुध्य टिम्बकासन्ने, गजप्रसरमङ्कुशात् । किञ्चिद्गणिष्यतेत्याह, प्रोवाच प्रभुरप्यथ ॥ ६६ ॥

कारय प्रसरं सिद्ध !, हस्तिराजमशङ्कितम् । त्रस्यन्तु दिग्मजा किं तैर्मूत्स्ववैवोद्धृता यत ॥ ६७ ॥

श्रुत्वेति मूपति प्राह, दृष्टिपुष्टः सुधीश्वर । मध्याह्ने मे प्रमोदायाऽऽगन्तव्य भवता सदा ॥ ६८ ॥

तत्पूर्वं दर्शन तस्य, जज्ञे कुत्राऽपि सत्क्षणे । आनन्दमन्दिरे राज्ञा, यत्राऽर्ज्यमभूत्प्रभो ॥ ६९ ॥

१ सिंधीजैनग्रन्थमाला-ग्रन्थाङ्क १३, विषयाङ्क २२ श्रीहेमचन्द्रचरित पृ० १८५ थी १८६, श्लो० ६५ थी ११५ सुधीनी पद्यवन्ध रचना छे, आगळ पाळल्लो सचन्ध वाक्चापी विशेष खुलासो यशे । अत्र चालू-प्रकरणमा तो ते श्लोकोमाथी सक्षित सारांश ज आयो छे ।

अन्यदा सिद्धराजोऽपि, जित्वा मालवमण्डलम् । समाजगाम तसौ चाऽऽशिषं दर्शनिनो दत्  
तत्र श्रीहेमचन्द्रोऽपि, सूरिभूरिकलानिधिः । उवाच काव्यमव्यग्रमतिश्रव्यनिदर्शनम् ॥ ७१ ॥

तथा हि—

भूमिं कामगवि ! स्वगोमयरसैरासिञ्च रत्नाकरा !, मुक्तास्वस्तिकमातनुध्वमुद्भुप ! त्वं पूर्णकुम्भो भव  
धृत्वा कल्पतरोर्दलानि सरलैर्दिग्दारणास्तोरणा-न्याधत्त स्वकरैर्विजित्य जगतीं नन्वेति सिद्धाधिपः ॥  
व्याख्याविभूषिते वृत्ते, वृत्ते इव विमोस्ततः । आजुहावाऽवनीपालः, सूरि सौधे पुनः पुनः ॥ ७३ ॥  
अन्यदाऽवन्तिकोशीयपुस्तकेषु नियुक्तकैः । दर्शयमानेषु भूपेन, प्रैक्षि लक्षणपुस्तकम् ॥ ७४ ॥  
किमेतदिति पप्रच्छ, स्वामी तेऽपि व्यजिज्ञपन् । भोजव्याकरण ह्येतच्छब्दशास्त्रं प्रवर्तते ॥ ७५ ॥  
असौ हि मालवाधीशो, विद्वच्चक्रशिरोमणिः । शब्दालङ्कारदैवज्ञतर्कशास्त्राणि निर्ममे ॥ ७६ ॥  
चिकित्सा—राजसिद्धान्त-रस-वास्तूदयानि च । अङ्ग-शाकुनकाध्यात्म-स्वप्न-सामुद्रिकान्यपि ॥ ७७ ॥  
ग्रन्थान्निमित्तव्याख्यान-प्रश्नचूडामणीनिह । विवृतिं चायसद्भावेऽर्धकाण्डं मेघमालया ॥ ७८ ॥  
भूपालोऽप्यवदत् किं नास्तत्कोशे शास्त्रपद्धतिः । विद्वान् कोऽपि कथं नास्ति, देशे विश्वेऽपि गूजरे ॥ ७९ ॥  
सर्वे सम्भूय विद्वांसो, हेमचन्द्रं व्यलोकयन् । महाभक्त्या च राज्ञाऽसावभ्यर्च्य प्रार्थितः प्रभुः ॥ ८० ॥  
शब्दव्युत्पत्तिकृच्छास्त्रं, निर्मायाऽस्मन्मनोरथम् । पूरयस्व महर्षे ! त्वं, विना त्वामत्र कः प्रभुः ॥ ८१ ॥  
सक्षिप्तश्च प्रवृत्तोऽयं, समयेऽस्मिन् कलापकः । लक्षणं तत्र निष्पत्तिः, शब्दानां नास्ति तादृशी ॥ ८२ ॥  
पाणिर्निर्लक्षण वेदस्याऽङ्गमित्यत्र च द्विजाः । अवलेपादसूयन्ति, कोऽर्थस्तैरुन्मनायितैः ॥ ८३ ॥  
यशो मम तव ख्यातिः, पुण्यं च मुनिनायक ! । विश्वलोकोपकाराय, कुरु व्याकरणं नवम् ॥ ८४ ॥  
इत्याकर्ण्योऽभ्यधात् सूरिहेमचन्द्रः सुधीनिधिः । कार्येषु न किलोक्तिर्वि, स्मरणायैव केवलम् ॥ ८५ ॥  
परं व्याकरणान्यद्यौ, वर्तन्ते पुस्तकानि च । तेषां श्रीभारतीदेवीकोश एवाऽस्ति ध्रुवम् ॥ ८६ ॥  
आनाययतु काश्मीरदेशात्तानि स्वमानुषैः । महाराजो यथा सम्यक्, शब्दशास्त्रं प्रतन्यते ॥ ८७ ॥  
इति तस्योक्तिमाकर्ण्य, तत्क्षणादेव भूपतिः । प्रधानपुरुषान् प्रैषीद्, वाग्देवीदेशमध्यतः ॥ ८८ ॥  
प्रवराख्यपुरे तत्र, प्राप्तास्ते देवता गिरम् । वन्दनादिभिरभ्यर्च्य, तुष्टुवुः पाठनस्तवैः ॥ ८९ ॥  
समादिक्षत्तत्स्तुष्टा, निजाधिष्ठायकान् गिरा । मम प्रसादवित्तः श्रीहेमचन्द्रः सिताम्बर ॥ ९० ॥  
ततो मूर्त्यन्तरस्येव, मदीयस्याऽयं हेतवे । समर्प्य प्रेष्यता प्रेष्यवर्गः पुस्तकसञ्चयम् ॥ ९१ ॥  
ततः सत्कृत्य तान् सम्यग्, भारतीसचिवा नरान् । पुस्तकान्यर्पयामासुः, प्रैषुश्चोत्साहपण्डितम् ॥ ९२ ॥  
अचिरान्नगरं स्वीय, प्रापुर्देवीप्रसादिताः । हर्षप्रकर्षसम्पन्नपुलकाङ्कुरपूरिताः ॥ ९३ ॥  
सर्वं विज्ञपयामासुर्भूपालाय गिरोदिता । निष्ठानिष्ठे प्रमौ हेमचन्द्रे तोषमहादरम् ॥ ९४ ॥  
इत्याकर्ण्य चमत्कारं, धारयन् वसुधाधिपः । उवाच धन्यो महेशोऽहं च यत्रेदृशः कृती ॥ ९५ ॥  
श्रीहेमसूरयोऽप्यत्राऽऽलोक्य व्याकरणव्रजम् । शास्त्रं चक्रुर्नव श्रीमत्, सिद्धहेमाख्यमद्भुतम् ॥ ९६ ॥  
द्वात्रिंशत्पादसम्पूर्णमष्टाध्यायमुणादिमत् । धातुपारायणोपेतं, रङ्गलिङ्गानुशासनम् ॥ ९७ ॥  
सूत्रसङ्घट्टितमन्त्राममालानेकार्थसुन्दरम् । मौलिं लक्षणशास्त्रेषु, विश्वविद्वद्भिराहतम् ॥ ९८ ॥—त्रिभिर्विशेषकम् ।  
आदौ विस्तीर्णशास्त्राणि, नहि पाठ्यानि सर्वतः । आयुषा सकलेनाऽपि, पुमर्थस्वलनानि तत् ॥ ९९ ॥  
सकीर्णानि च दुर्बोधदोषस्थानानि कानिचित् । एतत्प्रमाणितं तस्माद्, विद्वद्भिरधुनातनैः ॥ १०० ॥  
श्रीमूलराजप्रभृति राजपूवर्जभूमृताम् । वर्णवर्णनसम्बद्धं, पादान्ते श्लोकमेककम् ॥ १०१ ॥  
तच्चतुष्कं च सर्वान्ते, श्लोकैश्चिद्विद्वद्भिरुद्धता । पञ्चाधिकैः प्रशस्तिश्च, विहिताऽवहितैस्तदा ॥ १०२ ॥—गुणम् ।  
राज्ञः पुरः पुरोगैश्च, विद्वद्भिर्वाचितं ततः । चक्रे लक्षणत्रयं वर्षे, राज्ञा पुस्तकलेखने ॥ १०३ ॥  
राजादेशानियुक्तैश्च, सर्वस्थानेभ्य उद्यतैः । तदा चाऽऽहूय सच्चके, लेखकानां शतत्रयम् ॥ १०४ ॥  
पुस्तकाः समलेख्यन्तः, सर्वदर्शनिना ततः । प्रत्येकमेवादीयन्ताध्येतृणां सुखमस्पृशाम् ॥ १०५ ॥—विशेषकम् ।  
अङ्गवङ्गकलिङ्गेषु, लटकण्ठाटकुङ्गणे । महाराष्ट्रसुराष्ट्रासु, वत्से कच्छे च मालवे ॥ १०६ ॥  
सिन्धुसौवीरनेपाले, पारसीकसुरह्वयोः । गङ्गापारे हरिद्वारे, काशिचेदिगयासु च ॥ १०७ ॥  
कुस्तक्षेत्रे कन्यकुङ्गजे, गौडश्रीकामरूपयोः । सपादलक्षवज्जालन्वरे च खसमध्यतः ॥ १०८ ॥

श्री सिद्धहेमचन्द्र गद्दानुशामन तत्त्वप्रकाशिका गृह्यवृत्ति  
आनन्दबोधिनी टीका समेत



(COPYRIGHTS M. NAWAB)

(व्लाक मारामाई नवाबना सौजन्य से)

नाट्यपत्रीय प्रत-उपर श्री सिद्धहेमव्याकरणनी इस्ति उपर स्थापना ।  
नीच मलिकालमयज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्यन श्री जयमिहदेवनी व्याकरण रत्नवा भाटे प्राथना॥



સિંહલેડ્ય મહાબોધે, ચૌ(ગૌ)ડે માલવકૈશિકે । હત્યાદિ વિશ્વદેશેષુ, શાસ્ત્રં વ્યસ્તાર્યત સ્ફુટમ્ ॥ ૧૦૯ ॥

—ચતુર્ભિઃ કલાપકમ્ ।

અસ્ય સોપનિબન્ધાનાં, પુસ્તકાના ચ વિંશતિઃ । પ્રાહીયત નૃપેન્દ્રેણ, કાશ્મીરેષુ મહાદરાત્ ॥ ૧૧૦ ॥  
 એતત્તત્ર ગતં શાસ્ત્રં, સ્વીયકોશે નિવેશિતમ્ । સર્વોં નિર્વાહયેત્ સ્વેનાડ્ડહતં દેવ્યાસ્તુ કા કથા ॥ ૧૧૧ ॥  
 કાકલો નામ કાયસ્થકુલકલ્યાણશેખરઃ । અષ્ટવ્યાકરણાડ્ડ્યેતા, પ્રજ્ઞાવિજિતમોગિરાત્ ॥ ૧૧૨ ॥  
 પ્રમુસ્તં દૃષ્ટમાત્રેણ, જ્ઞાતતત્ત્વાર્થમસ્ય ચ । શાસ્ત્રસ્ય જ્ઞાપકં ચાડ્ડ્યુ, વિદધેડ્ડ્યાપકં તદા ॥ ૧૧૩ ॥  
 પ્રતિમાસ સ ચ જ્ઞાનપદ્મન્યા પૃચ્છના દધૌ । રાજા ચ તત્ર નિર્વ્યૂદાન્, કઠ્ઠણૈઃ સમભૂષયત્ ॥ ૧૧૪ ॥  
 નિપ્પન્ના અત્ર શાસ્ત્રે ચ, દુક્કૂલસ્વર્ણમૂષ્ણૈ । સુખાસનાતપત્રૈશ્ચ, તે ભૂપાલેન યોજિતાઃ ॥ ૧૧૫ ॥

આ ચરિત્રમા ઉપરના શ્લોકોમાથી નીચેની બિનાઓપર ધ્યાન દેવાથી ગ્રન્થની વિશિષ્ટતા નજર સન્મુખ તરી આવે છે, આ વધા શ્લોકો અને તેનું સારાશરૂપે માપાન્તર વાચવાથી આ ગ્રન્થની મહત્ત્વતા સ્પષ્ટ મालુમ પડે છે ।

એકદા મહારાજા સિદ્ધરાજે માલવદેશ જિતીને પાટળમા પ્રવેશ કર્યો, તે અવસરે ધારાનગરીની સમગ્ર ઋદ્ધિ-સમ્પદા સાથે શ્રીમોજરાજાનો ગ્રન્થમળ્હાર પળ લાવવામા આવ્યો હતો । વિજયવન્ત સિદ્ધરાજાનુ પાટળમા શુભાગમન સામઢીને આશીર્વચન દેવા અનેક પષ્ઠિતો સાથે ભગવાન્ શ્રીહેમચન્દ્રસૂરીશ્વરજી પળ આવ્યા, પૂજ્ય સૂરીશ્વરજીએ નીચે લખેલ શ્લોકવડે આશીર્વાદ આપ્યો—‘મૂર્ધ્નિ કામગવિ ! સ્વગોમયરસૈરાસિદ્ધિ’ શ્લો ૭૨ હત્યાદિ—આશીર્વચન સામઢી મહારાજાએ વચ્ચતો-વચ્ચત પધારવાની વારંવાર નમ્ર પ્રાર્થના કરી । સિદ્ધરાજના ગ્રન્થમળ્હાર-રક્ષકો મોજરાજાના આવેલા મળ્હારાનુ નિરીક્ષણ કરતા હતા । તે અવસરે શ્રીહેમચન્દ્રસૂરીજી પળ આવેલા હતા તેઓની વિધમાનતામાજ મળ્હારિઓએ લક્ષણ નામનો ગ્રન્થ રાજાને બતાવ્યો, તે જોઈને રાજા સૂરીશ્વરજીને પૂછે છે, અને સૂરીશ્વરજી જેના જવાબમા ‘મોજવ્યાકરણ’નામનુ શબ્દશાસ્ત્ર છે એમ કહે છે । વિશેષમા કહ્યું કે માલવદેશનો મહારાજા વિદ્વદ્વન્દ-શિરોમણિ હતો, તેણે શબ્દશાસ્ત્ર અલઢ્ઢારશાસ્ત્રાદિ અનેકવિધ શાસ્ત્રો રચ્યા હતાં । આ વધુ સામઢીને સિદ્ધરાજ બોલ્યો કે શુ અમારા મળ્હારમા સુદર રચનાબદ્ધ શાસ્ત્રો નથી ?, અલ્લિલ ગુર્જરદેશમા આવો કોઈ સર્વશાસ્ત્રનિપુણ વિદ્વાન્ નથી તેનુ શુ કારણ ?—શ્લો ૭૦-૭૧-૭૨-૭૩-૭૪-૭૫-૭૬-૭૭-૭૮-૭૯ ઉપરની વિનાનો સર્વ માવ આ શ્લોકોમા છે । તેજ અવસરમા—

“સર્વે સમ્મૂય વિદ્વાસો, હેમચન્દ્ર વ્યલોકયન્ । મહામત્ત્યા ચ રાજાડ્ડસાવમ્યર્ચ્ય પ્રાર્થિતઃ પ્રમુઃ ॥ ૮૦ ॥

શબ્દવ્યુત્પત્તિકૃચ્છાશ્લં, નિર્માયાડ્ડસન્મનોરથમ્ । પૂરયસ્ત મહર્ષે ! ત્વં વિના ત્વામત્ર કઃ પ્રમુઃ ? ॥ ૮૧ ॥”

અર્થ—સર્વ વિદ્વાનોએ આચાર્ય હેમચન્દ્રસૂરીજી પ્રતિ મીઢી નજરે જોયુ, અવસરમા જાળકાર-મહારાજાએ સૂરીશ્વરજીને અત્યન્ત મક્તિમાવથી વિનતી કરી કે હે મહર્ષે ! આપ શબ્દવ્યુત્પત્તિકર-શાસ્ત્રને રચીને અમારા મનોરથને પૂર્ણ કરો, આ કાર્ય કરવા માટે આપના વિના વીજા કોળ સમર્થ છે ?, અર્થાત્ આપના શિવાય વીજો કોઈ રચી શકે તેમ નથી । શ્લો ૮૦-૮૧ ।

આ સમયે આપણો દેશ સક્ષિત કલાપક-કાતત્ર-વ્યાકરણમા પ્રવૃત્તિશીલ છે, પ્રવૃત્તિ કર્યા છતા પળ પ્રવૃત્તિ કરનારને શબ્દવ્યુત્પત્તિનુ જ્ઞાન બરાબર થતું નથી ॥ શ્લો ૮૨ ॥ ।

અને પાણિનિનુ વ્યાકરણ વેદાઢ્ઢ છે એ હેતુ આગઢ ધરીને બ્રાહ્મણો વિદ્યાર્થીઓની અવગળના કરે છે, કદાચ તે વિપ્રો ઁંચા મનવાઢા થાય અને દરેક અવસરે ટકોર કર્યા કરે તેનો અર્થ શુ ?, અર્થાત્ આથી તો નવીન વ્યાકરણની રચના કરવી શ્રેયસ્કર છે ॥ શ્લો ૮૩ ॥

અને તેથી જ મોજરાજાની પાષ્ઠિત્ય-કીર્તિપર વિજય મેઢ્ઢવવા માટે મહત્ત્વાડ્ડકાઢ્ઢા ઉત્પન્ન થઈ અને તે વિજય મેઢ્ઢવવા માટે યોગ્ય વ્યક્તિ દેખીને વાર્તાલાપના અન્તમા સિદ્ધરાજે જળાવી દીધુ કે—

યશો મમ તવ ત્યાતિ, પુણ્ય ચ મુનિનાયક ! ।

વિશ્વલોકોપકારાય, કુરુ વ્યાકરણ નવમ્ ॥ ૮૪ ॥

અર્થ—હે મુનિવૃન્દશિરોમણિ ! જગત્ના સર્વજનોના ઉપકારાર્થે એક નવીન વ્યાકરણની રચના કરો કે જેથી મને યશ અને આપને કીર્તિ તથા પુણ્યની પ્રાપ્તિ થાય ॥ ૮૪ ॥

સિદ્ધરાજ-જયસિંહે મોજરાજાનો મળ્હાર જોયો, તેમા મોજરાજાના નામથી અઢ્ઢિત મોજવ્યાકરણને જોયું, તથા તે વ્યાકરણ શિવાય વીજા પળ ઘળા ગ્રન્થોની રચના મોજરાજાએ કરી છે એમ સામઢ્યુ તે વચ્ચતે તેણે વિચાર્યું હશે કે—મારા ગુજરાતમા વૈમવ છે, તેને મોગવવાના વિલાસસ્થાનો છે, સપત્તિઓની સરિતાઓ છે, લક્ષ્મીના લતાકુંજો છે, વિદ્યાપ્રાપ્તિના વિદ્યાભવનો અને વિદ્યાધામો છે, વિદ્યાના અમ્યાસિઓ છે, વિદ્વાનો છે, ધર્મ છે, ધર્મપ્રાપ્તિના સ્થાનકો છે, ધર્મના સાધનો છે, દેવગુરુધર્મને પૂજનારા ધર્મિઓ છે, દેવગુરુધર્મના સ્વરૂપને સમજાવનારા ધર્મધુરંધર ધર્મોપદેશકો પળ છે, અરે ! વધુ એ છે, ના ! ના !, વધું એ છે

પણ આ નથી,—મારો દેશ પરાયા સાહિત્યપર જીવે છે, પરાયા પાણિડત્યપર ગાજે છે, માટે એ પરાયા સાહિત્યની શૃંગ્ખલાઓને છેદી-ભેદીને મારો દેશ પોતાના સાહિત્યથી જીવે અને ગાજે તેવું બધું કરવું જોઈએ । રાજવીઓ જશે, રાજસત્તાઓ જશે, રાજ્યાધિકારીઓ જશે, રાજ્યકાયદાઓ જશે, રાજસપત્તિ વૈમવ અને વિલાસોનો વિલય થશે અને સર્વવિનાશિસાધનોનો વિનાશ થશે અર્થાત્ જતા જતા બધું એ જશે પણ સંસ્કૃતિ અને સાહિત્ય રહી જશે, રહી ગયેલા સાહિત્યો અને સંસ્કૃતિઓ મૂતકાઢના મળ્યે હતિ-હાસોના સર્જન કરશે અને રસિક રચનાઓને રચશે અને ગુજરાતના ગૌરવને ગજવશે । ઇટલુંજ નહિ પણ સૂર્ય-ચન્દ્રના તેજની માફક ગુજરાતના યશો ગાન દિગાન્તવ્યાપી વનશે । ગુર્જરેશની આ મહત્ત્વાકાંક્ષાએ ભગવાન્-શ્રીહેમચન્દ્રસૂરીજીને પ્રેર્યા, તે મહત્ત્વાકાંક્ષા અને પ્રેરણાના પુનીત સગમે ભગવાન્-શ્રીહેમચન્દ્રસૂરીના રોમે રોમમાં રચનાત્મક રસ ઉત્પન્ન કર્યો અને તે રસે શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રવ્યાકરણનું અક્ષર દેહસ્વરૂપ ધારણ કર્યું ।

### \* અખિલભારતવર્ષનું પ્રધાનતમ-વ્યાકરણ \*

આ પ્રેરણાત્મક પ્રાર્થનાથી પ્રેરાયેલ શ્રીહેમચન્દ્રસૂરીશ્વરજીએ અખિલ-ભારતવર્ષનો આશીર્વાદ સપાદન કરી શકે તેવી આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણની રસિક રચના કરી ।

આ નવીન રચના કરવાની માવનાથી ભાવિત થયેલા ગુર્જરેશ્વરના આશયને સ્પષ્ટ કરતા પૂજ્ય સૂરીશ્વરજી શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્ર-શબ્દાનુશાસનની પ્રશસ્તિમા જણાવે છે કે—

“તેનાઽતિવિસ્તૃતદુરાગમવિપ્રકીર્ણશબ્દાનુશાસનસમૂહકદર્થિતેન ।

અમ્યર્થિતો નિરવમ વિધિવદ્ વ્યવચ્ચ, શબ્દાનુશાસનમિદ મુનિહેમચન્દ્ર ॥ ૩૫ ॥”

અર્થ—અતિવિસ્તૃત=અતિવિસ્તારવાળા—લંબાણપૂર્વક વિવેચનવાળા, દુરાગમ=દુરે લેવાની જાણી શકાય એવા, અને વિપ્રકીર્ણ=હુટા છવાયા—વિસ્તારાયેલા અપૂર્ણપ્રાય. પ્રકરણ-વિષય-દૃષ્ટાત-સૂત્રવિવેચનાદિથી મરપૂર એવા, શબ્દાનુશાસનસમૂહ=વ્યાકરણોના સમૂહથી, કદર્થિત=અત્યંત મુશ્કેલીથી ગુર્જરેશ્વર શ્રીસિદ્ધરાજે સર્વાંગસુદર અને પરિપૂર્ણ નૂતન વ્યાકરણ રચવાની શ્રીહેમચન્દ્રસૂરીશ્વરજીને પ્રાર્થના કરી અને તે મુજબ શ્રીહેમચન્દ્રસૂરીશ્વરજીએ વિધિવત્=વિધિપૂર્વક-બ્રહ્મા એ જેમ સૃષ્ટિની રચના કરી તેવી રીતે અથવા અમ્યાસિઓને અત્યંત અનુકૂળ પડે તેવી પદ્ધતિએ આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણની રચના કરી ॥ ૩૫ ॥

ઉપરના શ્લોકમા કદર્થિતેન એ સિદ્ધરાજનું વિશેષણ છે । પૂર્વ પ્રકરણમાં ૮૪ માં શ્લોકના ‘યશો મમ x x x’ ઇત્યાદિ પદના આશય સાથે અત્ર અનુસન્ધાન કરતા સ્પષ્ટ-ધ્વનિ નીચે મુજબના તરી આવે છે ।

૧. માલવાધિપતિ મોજરાજા એક વ્યાકરણકાર હતો, પોતાના દેશમાં પોતાનાજ વ્યાકરણનો પ્રચાર કરાવતો હતો । મોજવ્યાકરણ ગુજરાતની વિદ્યાભૂમિને ગજવતું હોય આથી પણ યશના અર્થી રાજાને પોતાના દેશમા પોતાના વ્યાકરણની જલ્લીયાતરૂપ મુજવણ મુજવતી હોય ।

૨. પૂર્વે ૭૯ માં શ્લોકમા રાજાનો એવો માવ જણાય છે કે—અમારા મળ્દારમા આવી શાસ્ત્રરચનાઓ નથી । વર્તમાન સમયે મિત્ર મિત્ર દેશમાં વસનારા વિદ્વાનોએ મિત્ર મિત્ર વ્યાકરણો રચ્યાં છે, અને તેનોજ પ્રચાર ચાલ્યા કરે છે, માટેજ ગુર્જરદેશમાં જન્મેલા વિદ્વાને સર્વાંગસુંદર શાસ્ત્ર રચ્યું હોય અને ગુર્જરભૂમિમા વસનારાઓ તે રચનાથી અમિમાન લઈ શકે એવી વ્યાપક-વ્યથાથી વ્યથિત થયો હોય ।

૩. માલવદેશ જેમ ધન-ધાન્ય-ઋદ્ધિ-સિદ્ધિ વિગેરેથી સમૃદ્ધશાલી હતો તેમ અનેકવિધશાસ્ત્રની રચના અને રચયિતાઓથી પણ મરપૂર હતો તો મારો દેશ પણ જેમ સ્થાવર-જગમલક્ષ્મીથી સમૃદ્ધ બનેલો છે તેમ સાહિત્ય અને સાહિત્યકારોથી પણ સમૃદ્ધ કેમ ન બને એ અભિલાષની અકલામળથી અકલાયો હોય ।

૪. ગુજરાતના વિદ્યાર્થીઓ વિદ્યા-સપાદન-કાળે પરાયા-દેશના સાહિત્યથી પરાધીનપણે પોતાનું જીવન નમાવતા જોઈને, અને ક્ષણમજૂર-આયુષ્ય-પાસકાઠમા અતિવિસ્તારવાળા અધૂરા અને મહેનત કરવા છતાં પણ પૂર્ણવોધ-દેવામા કૃપણ સાહિત્યના અમ્યાસથી ત્રાસ પામેલા વિદ્યાર્થીઓના ત્રાસને દેશવટો દેવા માટે વિદ્યાવિલાસિ-રાજાએ ગુર્જરદેશના ગૌરવને વધારી શકે એ હેતુથી હૃદયના આદોલનોમા અટવાયો હોય । કદર્થિતેન એ પદમા આ વધા અર્થો અત્યંત ગૂઢપણે છુપાયા છે, ઇટલુંજ નહિ પણ નવીન સાહિત્ય નિર્માણ માટે રાજાની પ્રેરણામાથી લક્ષ્મીસમૃદ્ધ દેશને સાહિત્યસમૃદ્ધ બનાવવાની સુંદર માવનાઓ સાથે ગુજરાતના પ્રદેશને, અને ગુજરાતિઓને ગૌરવશાલિપણે જીવન-જીવવાના અનેકવિધ સત્યો નોતરી આવે છે કે જેથી કરીને તેનાં જેટલાયે નિર્મલ યશોગાન ગાઈએ તેટલા ઓછા છે ।

આગળ પાછળના સવન્ધ વિચારીને આ શ્લોકના માવાર્થને ધ્યાનમા લેતા ઉપર મુજબના અને તે સિવાયના અનેકવિધ ધ્વનિત અર્થો નિકળી આવે છે । પરન્તુ પ્રશસ્તિમા લખેલ ત્રણ દોષોને દૂર કરવા માટે અર્થાત્ ત્રણ દોષને સર્વથા દેશવટો દેવા માટેજ આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણની રચના થઈ છે, એ અર્થ વિશેષપણે વધ વેસતો છે એ નિ.સદેહ નમ, સત્ સ્ત્રીકાર્યા વગર ચાલે તેમ નથી ।

પ્રાર્થનાના પ્રેરણાત્મક-પ્રેમવલ્લા વેગમાટે ઉપરના વધા અર્થો સજ્જતરૂપ છે, પરંતુ આજથી સાઠી આઠસો વર્ષ પહેલાના કાલમા રચાયેલા આ મહાન્ ગ્રંથને સાધ્યન્ત પઠન-પાઠન-મનન અને પરિશીલનરૂપે અવલોકવામા આવે તો અવલોકન કરનાર અમ્યાસી એકજ અમિપ્રાય આપે કે ત્રણ દોષના ઉદ્ધારપૂર્વક પરિમિત-પૂર્ણસકલના-વદ્ધ-સહેલાઈથી બોધ થઈ શકે તેવી સર્વાન્ન-સુંદર પરિપૂર્ણ રચનાથી આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણ રચાયું છે ।

વર્તમાનકાલીન સકલવ્યાકરણોનો સમૂહ અતિવિસ્તૃત-દુરાગમ અને વિપ્રકીર્ણ આદિ દોષોથી દૂષિત છે અને સર્વાન્નસુંદર નથી પણ અપૂર્ણ છે એમ પૂરવાર થતું હોય તો વિના સકોચે આ વ્યાકરણને ‘અસ્થિલભારતવર્ષનું પ્રધાનતમ વ્યાકરણ’ કહેવામા લેશ પણ અતિશયોક્તિ નથી, એટલું જ નહિ પણ કર્તાની વિદ્વદ્બોધ્યકૃતિની શ્રેષ્ઠતા પિછાળીને અને કાર્યદક્ષતાની કદર કરીને ગુણજ્ઞવિદ્વત્સમાજે કલિકાલસર્વજ્ઞ એવી યથાર્થ ઉપાધિથી વ્યાકરણ વિરચયિતાને વિમૂષિત કરીને પોતાના ગુણજ્ઞપણાને પ્રકટ કર્યું છે । અસદિગ્ધવાતને લોકો આ સસારમા જોરશોરથી ઉચારે છે, યદાહ—‘અસન્દિગ્ધ હિ લોકેડસિન્ધુચૌર્નિર્મયમુચ્યતે’ इति माप्ये । ‘અસ્થિલભારતવર્ષનું પ્રધાનતમ વ્યાકરણ’ આ અસદિગ્ધ કથન માટે જુઓ વિંસં ૧૨૬૪ મા શ્રીજયાનન્દસૂરિના શિષ્ય અમરચન્દ્રસૂરિજીએ રચેલી શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસન ઉપર વૃહત્-અવચૂર્ણ દે० લા० જૈન પુ० ૫૦૫૬ તરફથી પ્રકાશિત થયેલ ગ્રન્થાદ્ય ૯૨, પૃ ૩, પક્તિ ૧૮ થી ૨૦—इत्यादि ‘શબ્દાનુશાસનજાતમસ્તિ તસ્માન્ન કથમિદ પ્રશસ્યતરમિતિ १, उच्यते—तद्धि अतिविस्तीर्णं विप्रकीर्णं च । कातत्रं तर्हि साधु भविष्यतीति चेन्न, तस्य सकीर्णत्वात्, इदं तु सिद्धहेमचन्द्राभिधानं शब्दानुशासनं नाऽतिविस्तीर्णं, न विप्रकीर्णं, न च सकीर्णमिति । अनेनैव शब्दव्युत्पत्तिर्भवतीति । इति मौलोऽर्थः प्रतीत एव’ ।

આ પ્રસ્તાવનાના આગલના પ્રકરણમા ચાલુ વ્યાકરણોના અતિવિસ્તૃતાદિ દોષો સંક્ષેપથી જણાવવામા આવ્યા છે । સ્થાલી-પુલકન્યાયે વાચવાથી માલ્લમ પદ્ધતિ કે ભારતવર્ષના પ્રધાનતમ વ્યાકરણ થવાની યોગ્યતા જો કોઈ પ્રાપ્ત કરી હોય તો કેવલ શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસનેજ પ્રાપ્ત કરી છે । સર્વ-દોષે કરીને રહિત સર્વગુણે કરીને સહિત શ્રીસિદ્ધ-હેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસન છે, અને તેથીજ પ્રધાનતમપણે વર્તવાનો સઘલો થે યશ આ કૃતિને ફાલે જાય છે ।

### \* ત્રિવિધ દોષોથી દૂષિત શબ્દાનુશાસનસમૂહ ।

શરીર નાશવત છે, આયુષ્ય વિદ્યુદ્વેગ જેવું ચપલ છે માટે અતિવિસ્તારવાળા સૂત્ર-વિષય-વિવેચનાદિથી મરપૂર પ્રકરણોનો પાર પામી શકાતો નથી । જે પ્રકરણમા વિષયને સ્પષ્ટ કરવા એકાદ વે સૂત્રથી નમી જતું હોય ત્યાં સૂત્રોનો ઢગલો કરી દેવો તે કાર્યદક્ષતા નથી, તેથી જ આ પ્રધાનતમ રચના સિવાયના વ્યાકરણ રચનાના વિષયવિભાગમા અતિવિસ્તૃત દોષ ઠામ ઠામ નજરે પડે છે । વ્યાકરણની રચનામા અર્ધમાત્રાગૌરવને દોષરૂપે ગણવામા આવે છે, તેથી જ દરેક વૈયાકરણો એ દોષથી બચવાનો પ્રયત્ન પોતપોતાની બુદ્ધિ અનુસાર અવશ્યમેવ કરતા હોવાથી ‘અર્ધમાત્રાલાઘવમપિ પુત્રોત્સવાય મન્યન્તે વૈયાકરણા’ એવી ઉક્તિ લોકોમાં-વૈયાકરણોમાં પ્રચલિત થયેલી જણાય છે ।

સંક્ષેપતયા લખવા છતાં પૂરું સમજી શકાતું ન હોય તો તે સંક્ષેપતા ગુણકારી નિવડતી નથી, આથી જ સક્ષિપ્ત પરિમિત અક્ષરો અને વચનોથી મરપૂર પ્રકરણો-વિષયો અને સૂત્રો રચ્યા હોય અને તેનાથી વધુ જ સમજી શકાતું હોય અને કહેવાનું ન રહી જતું હોય તો તે રચના ગુણકારી નિવડે છે અને અતિવિસ્તૃત દોષને હઠાવવામા કાર્યસાધક નિવડે છે ।

દુઃખે કરીને બોધ થઈ શકે તેવા સક્ષિપ્તવચનોથી મરપૂર પ્રકરણો લખ્યા હોય પરંતુ તેથી અતિવિસ્તૃતદોષને હઠાવવા જતા દુરાગમ દોષ ઉપસ્થિત થઈ જતો હોય તો કહેવું પડશે કે આતો ‘બકરુ કાઢતા ઊટ પેસી ગયું ।’

સૂત્રોની રચના કઠિણ શબ્દોમા કરી હોય, સૂત્રોનું વ્યાખ્યાન કઠિણ શબ્દોમા અને કઠિણ શૈલીથી કર્યું હોય, વાચવા-વિચારવા છતાં વિષય સમજાય નહિ તેવું લખાણ લખ્યું હોય, સૂત્રોના અર્થને સમજાવવા વૃત્તિ લખી હોય અને તેજ ચિત્તિને સમજવા જતા અનેકવિધ સદિગ્ધતાઓ ઊભી થતી હોય, જે વિષય સહેલાઈથી સમજી શકાય ત્યાં કઠિણતા કરી હોય, અને કઠિણતા હોય તેને સ્પર્શજ કર્યો ન હોય તો આવી અનેકવિધ અગવડોથી વ્યાકરણ દુરાગમ દોષથી દૂષિત થયું છે એમ કહેવું યોગ્ય છે, આ દોષના ઉદ્ધાર માટે સરલ શૈલીથી વાચવા સાથે બોધ થઈ શકે તેવું, કઠિણ વિષય પ્રસંગને પણ સરલ વાતો દે એવું એ વિગેરે વિનાઓ લક્ષ્ય રાખી રચના કરી હોય તો તે રચના દુરાગમ દોષને દૂર કરી સહેલાઈથી બોધ કરવામા સફળતા પ્રાપ્ત કરે છે । અસ્પષ્ટવિષયને પણ વેને વે ચારની માફક સમજી શકાય તેવી તે રચના બને એમા શક્તિને સ્થાનજ નથી ।

દરેક વિષયને સ્પષ્ટ કરવા માટે સૂત્રરચનાઓ સકલનાચદ્ધ સાકલના અકોહાની માફક ચાલી આવે, સૂત્રવ્યાખ્યાન અવસરે પૂર્વ સૂત્રોમાથી આવતા પદો અગર અધિકાર-સૂત્રોથી આવતા પદો સહેલાઈથી હાજરી આપી શકે, સૂત્રસ્થિત પદોને સ્પષ્ટ કરનારા ઉદાહરણો ગજાના પ્રવાહની માફક અસ્થલિતપણે આવીને ચાલુ પ્રકરણમા વિષયને સ્પષ્ટ કરી દે, સૂત્રનો અર્થ-પ્રદેશ આટલીજ ગમ્યાએ વ્યાપક છે તે સિવાય વીજે નથી તેનું માન કરાવનારા પ્રત્યુદાહરણો ક્રમસર આવીને પદપ્રયોજનની પારમાર્થિકતા સમજાવી દે, ઉદાહરણ અને પ્રત્યુદાહરણની સમજાવટ સાથે કાર્ય પ્રદેશનું બોધદાયક નિયમન કરીને સીધી કે

આઢકતરી રીતિે ધ્વનિત-ૅતિહાસિક વિગેરે અનેકવિષયોનું જ્ઞાન કષ્ટવગર સપાદન કરાવી દે, ઇટલ્લજ નહિં પળ પઢન-પાઠનકાલે અભ્યાસિઓ વિષયને રસમર સમજી શકે તેવુ જે રીતિે જોઈએ તેવુ અને તેટલુ યોગ્ય સગૃહીત થયુ હોય કે જેથી સતોષ ઉપર સતોષ મેલ્લવતા જાય, આ બધું આ પ્રધાનતમવ્યાકરણમા સપૂર્ણપણે ભરી દીધુ છે । પરન્તુ વિષયસ્પષ્ટીકરણના સ્થાને વિષયાન્તરનુ સ્પષ્ટીકરણ કરે, સન્ધિ અવસરે સન્ધિવિધાયક સૂત્રના સ્થાને સમાસવિધાયક-સૂત્રો આવે, નામપ્રકરણાવસરે નામોપ-યોગિસૂત્રોને બદલે કારકવ્યવસ્થાપક-સૂત્રો આવે, અને કારકપ્રસંગે ષ્ત્વ-ળત્વ-સમાસવિધાયક સૂત્રો ચાલ્યા આવે, ત્યારે અભ્યાસિઓને મૂલમૂલામળી જેવો ગુચવાડો જરૂર ઉભો થાય એ સમજમા આવે એવી સ્પષ્ટ વિના છે ।

હવે દરેક વ્યાકરણમા ઉપર જણાવ્યા મુજબના ઓછા વત્તા પ્રમાણમા દોષો દૃષ્ટિગોચર થાય છે, તે તરફ પળ જરા નજર કરી લઈએ,—પાણિનિના વ્યાકરણમા અભ્યાસિને અનુકૂલ પડે તેવો ક્રમ સચવાયો નથી, નામપ્રકરણને અનુસરતા બધા જ સૂત્રો એક સાથે નામપ્રકરણમા આવવા જોઈએ તેને બદલે બીજા છઠ્ઠા અને સાતમા અધ્યાયમાથી છુટા છુટા સૂત્રો આવેલા છે, આ એક નામપ્રકરણમા જ આમ થયુ છે એમ નથી, પરંતુ દરેક પ્રકરણમા પ્રાયઃ એવુ જ થયુ છે કે જેથી સ્થલે સ્થલે વિપ્રકીર્ણદોષની બહુલતા નજરે પડે છે । આ વિનાને વિસ્તારથી જણાવવાનું કાર્ય ‘તુલનાત્મક દૃષ્ટિે પ્રધાનતમ વ્યાકરણ’ નામના લેખમા જણાવાશે ।

પાણિનીય વ્યાકરણમા અતિવિસ્તૃત દોષ તો ઠામ ઠામ નજરે પડે છે—“ઉપદેશેઽનુનાસિક ઇત્” ॥ ૧ । ૩ । ૨ ॥, “હલ્ન્યમ્” ॥ ૧ । ૩ । ૩ ॥, “અદર્શન લોપ ॥ ૧ । ૧ । ૬૦ ॥”, “તસ્ય લોપઃ ॥ ૧ । ૩ । ૯ ॥”, આ ચાર સૂત્રોથી પાણિનીય વ્યાકરણ જેટલુ કાર્ય કરે છે, તેટલુ જ કાર્ય આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણ “અપયોગીત્ ॥ ૧ । ૧ । ૩૭ ॥” એ એક જ સૂત્રથી કાર્યસિદ્ધિ કરે છે । આ સવધમા વિસ્તારથી સ્પષ્ટીકરણ તેજ સૂત્રની આ૦ બો૦ વૃત્તિમા પત્તિ ૪૬ થી ૪૮ સુધીમા કરવામા આવ્યુ છે તે દરેક અભ્યાસિે વાચવા-વિચારવા માટે જરૂરુ છે ।

આગલ ચાલતા કારકપ્રકરણમા પળ પાણિનિે “ધ્રુવમપાયેઽપાદાનમ્ ॥ ૧ । ૪ । ૨૪ ॥” આ સૂત્રથી અપાદાનકાર-કની વ્યવસ્થા અધુરી રહેતી હતી તેની પૂર્તિ માટે નીચે જણાવેલા બીજા પળ સૂત્રો તેમને રચવા પડ્યાં, તથાપિ પૂર્તિ નહિ થવાથી વાર્તિકકારને વાર્તિકો રચવા પડ્યા, તે રચાયેલા વાર્તિક-સૂત્રો નીચે જણાવવામા આવે છે,—“જુગુપ્સાવિરામપ્રમાદાર્થાનામુપ-સંસ્થ્યાનમ્”—વાર્તિકમ્ । “યતશ્ચાઽધ્વકાલનિર્માણ તત્ર પચ્ચમી”—વાર્તિકમ્ । “મીત્રાર્થાના મયહેતુ.” ॥ ૧ । ૪ । ૨૫ ॥, “પરાજેરસોદ ” ॥ ૧ । ૪ । ૨૬ ॥, “વારણાર્થાનામીપ્સિત ” ॥ ૧ । ૪ । ૨૭ ॥, “અન્તર્થો યેનાઽદર્શનમિચ્છતિ” ॥ ૧ । ૪ । ૨૮ ॥ “જનિકર્તુ પ્રકૃતિ.” ॥ ૧ । ૪ । ૩૦ ॥, “મુવઃ પ્રમવ.” ॥ ૧ । ૪ । ૩૧ ॥, “પચ્ચમી વિમક્તે” ॥ ૨ । ૩ । ૪૨ ॥, આ બધા સૂત્રો અને વાર્તિકોની જગ્યાએ આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણમા “અપાયેઽવધિરપાદાનમ્ ॥ ૨ । ૨ । ૨૯ ॥” એ એક જ સૂત્રથી સર્વ પ્રયોગોની વ્યવસ્થા કરવામા આવી છે ।

આ વ્યવસ્થાને પાતજ્ઞલ-મહાભાષ્યકાર પળ સમ્મત છે, કારણ કે પાણિનીય વ્યા૦ને વધારાના સૂત્રો અને વાર્તિકો રચવાની જરૂર નથી એમ ભાષ્યકાર જણાવે છે, યદાહુ —“અયમપિ યોગ. શક્યોઽવક્તુમ્” ઇત્યાદિ વચનોથી વધારાના સૂત્રો અને વાર્તિકોની જરૂર જ ન હતી એમ મારપૂર્વક ભાષ્યકાર ભગવાન્ જણાવે છે—જુઓ પા૦ મહાભાષ્ય પૃ૦ ૩૬૫ થી ૩૬૮ ।

આ વ્યવસ્થાનું વિશેષત સ્પષ્ટીકરણ “અપાયેઽવધિરપાદાનમ્” આ સૂત્રની આનન્દવોધિનીમા અભ્યાસિને માલુમ પડે છે ।

વઠી દુરાગમદોષની ચર્ચામા ઉતરીએ તો પાણિનીય વ્યાકરણમા નીચેની બાબતો જણાઈ આવે છે । નવીન રચનામા નવીનતા લાવવા માટે પૂર્વપરમ્પરાગત, સાર્થક અને ગુણનિષ્પન્ન સજ્ઞાઓને તિલાંજલિ દઈ અપરિચિત સજ્ઞાઓનુ સર્જન કરવું, બુદ્ધિ અને સ્મૃતિને પોષક રચનાક્રમ છોડીને એક જ અધ્યાયમા નામ ક્રિયાપદ અને કૃદન્તને લગતા અનેકવિધ સૂત્રોનુ મિશ્રણ કરી દેવું, ઇટલું જ નહિ પળ દુરાગમદોષથી દૂષિત પાણિનીય વ્યાકરણના અષ્ટાધ્યાયિક્રમને મટ્ટોજી દીક્ષિતે ફેરવીને દુરાગમ-દોષનો યત્નિકિત્ ઉદ્ધાર કર્યો છે । કહેવુ પડશે કે કલિકાલસર્વજ્ઞ ભગવાન્ શ્રીહેમચન્દ્રસૂરીશ્વરજીની આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણ-રચના નિહાલીને તે રચનાનુ અનુકરણ કૌમુદીકારે સિદ્ધાન્તકૌમુદીમા કર્યુ છે ।

કૌમુદીકારે સિદ્ધાન્તકૌમુદીની રચના કરીને લગભગ વિપ્રકીર્ણ અને દુરાગમ એ બે દોષોનુ યથાશક્તિ નિવારણ કરવા છતા આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણની સરસાઈને તે રચના પહોંચી શકી નથી, કારણ કે અતિવિસ્તૃત દોષ તો તેની તેજ અવસ્યામાં હજુ પળ કાયમ રહ્યો છે ।

આ ઉપરથી કેવલ પાણિનીય વ્યાકરણનો અષ્ટાધ્યાયિક્રમ અને તે ઉપર કાશિકાવૃત્તિ કહો કે સિદ્ધાન્તકૌમુદી કહો તે પળ ઉક્તદોષોથી દૂષિત છે, ઇટલું જ નહિ પળ ચાન્દ્રવ્યાકરણ, જૈનેન્દ્રવ્યાકરણ, શાક્ટાયન-વ્યાકરણ અને તત્કાલીન બધા વ્યાકરણો લગભગ તે ક્રમને અનુસરીનેજ રચાયેલા છે અને ઓછા વત્તા દોષોથી દૂષિત છે ।

તે તે વ્યાકરણકારોએ વ્યાકરણો રચીને વિદ્યાર્થીઓને માટે ફિટતા ઓછી કરી નથી । ફિટતા ઓછી કરવાનું અને ઋણ દોષોથી અલિપ્ત રહેવાનો સઘડોયે યશ આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણને વિના સકોચે પ્રાપ્ત થાય છે, એ કહેવું લેશપણ અસ્યાને નથી ।

### \* અનુકરણરૂપે રચાયેલી-સિદ્ધાન્તકૌમુદી ।

પાણિનીયવ્યાકરણનો અષ્ટાધ્યાયિક્રમ જે ઋણ દોષોથી દૂષિત હતો તે વાત પૂર્વના પ્રકરણમા વિચારી ગયા, તે ઋણ દોષોની અતિગાઢ ગુચવણને ડોકલવા સિદ્ધાન્તકૌમુદીકારે યથાશક્તિ પ્રયત્ન કર્યો છે, તે સિદ્ધાન્તકૌમુદીને દેશતા સ્પષ્ટ માલુમ પડે છે । આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણની રચના નિહાળીને છૂટા-છવાયા સૂત્રોને પ્રક્રિયાક્રમે તેમણે ગોઠવ્યા છે, આજે પણ પ્રક્રિયાક્રમે ગોઠવાયેલી અને રચનારૂપે સિદ્ધાન્તકૌમુદી મળવાય છે । અનુકરણરૂપે રચાયેલી રચના જગતમા આદરણીયરૂપ વની છે તેનો સઘડોયે યશ કલિકાલસર્વજ્ઞ-મગવાન-દેમચન્દ્રસૂરીશ્વરજીને ફાળે જાય છે ।

સાથે સાથે એ વાત લક્ષ્યમા લેવા જેવી છે કે પૂર્વકથિત ઋણ દોષોથી દૂષિત પાણિનીયવ્યાકરણ હવું તેથી જ પ્રક્રિયા-ક્રમ ગોઠવીને વિદ્યાર્થીઓને સરલતા કરી આપી ને કૌમુદીકારે યથાશક્તિ તે દોષોનો ઉદ્ધાર કર્યો છે, પરન્તુ રચનાકાળે કૌમુદીકારે પ્રક્રિયારૂપે ગુચ્છીનો જે પ્રયાસ કર્યો છે તે સ્તુત્ય છે પણ કલિકાલસર્વજ્ઞની આ મહાન્ કૃતિને પહોંચી શકે તેમ તો નથી જ, અનુકરણ કરવા છતાં કલિકાલસર્વજ્ઞની સર્વદેશીયતાને, સર્વસપ્રાહિતાને, સકલ મતની છળવટને, અને પ્રમાણોપેત ઉદાહરણ-પ્રત્યુદાહરણાદિની પૂર્તિને પૂરી કરવામા અનુકરણ કરનાર કૌમુદીકાર કલિકાલસર્વજ્ઞની આ પ્રધાનતમ-કૃતિની સરસાદ્દમા આવી શક્યા નથી, એ વાત હાથ કંકળને આરીસા જેવી છે ।

આ પ્રકરણ વાચનારાઓને એમ લાગશે કે આદરણીય બનેલી આ રચનાને ઉતારી પાડવા અગર તો કલિકાલસર્વજ્ઞની રચનાને આગલ લાવવા માટે આ પ્રયત્ન કરાયો છે, પરન્તુ આ વાબતમા નીચેની વિના વાચવાથી તેઓને સ્પષ્ટ માલુમ પડશે કે જે કહેવાયું છે તે તદ્દન નમ્મ સત્યજ છે ।

કલિકાલસર્વજ્ઞની આ કૃતિના રચના-સમયથી લગભગ ચારસો વર્ષ પછીના સમયમા કૌમુદીકાર મટ્ટોજી દીક્ષિત થયેલા છે, તેઓશ્રીના જોવામા આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણ આવ્યું હોય અને એ મહાન્ કૃતિને જોઈનેજ પરાપૂર્વથી ઉતરી આવેલા પાણિનિના ક્રમને ફેરવવાનો પ્રયાસ કર્યો હોય એવું અનુમાન થાય છે, કેમ કે બંનેનો રચનાક્રમ લગભગ સરસોજ છે ।

#### ૧ કલિકાલસર્વજ્ઞનો રચનાક્રમ ।

- ૧ સંજ્ઞાપ્રકરણમ્ ।
- ૨ સ્વરસન્ધિપ્રકરણમ્ ।
- ૩ વ્યંજનસન્ધિપ્રકરણમ્ ।
- ૪ નામપ્રકરણમ્ ।
- ૫ કારકપ્રકરણમ્ ।
- ૬ ષત્વૈત્ત્વ " "
- ૭ સ્ત્રીપ્રત્યય " "
- ૮ સમાસ " "
- ૯ આસ્ત્યાત " "
- ૧૦ કૃદન્ત " "
- ૧૧ તદ્ધિત " "

#### ૨ મટ્ટોજીદીક્ષિતનો રચનાક્રમ ।

- ૧ સંજ્ઞાપ્રકરણમ્ ।
- ૨ અચૂસન્ધિપ્રકરણમ્ ।
- ૩ હલ્સન્ધિ " "
- ૪ વિસર્ગસન્ધિ " "
- ૫ સ્વાદિસન્ધિ " "
- ૬ અજન્તપુલ્લિપ્રકરણમ્ ।
- ૭ અજન્તસ્ત્રીલિપ્ત " "
- ૮ અજન્તનપુસકલિપ્ત " "
- ૯ હલન્તપુલ્લિપ્ત " "
- ૧૦ હલન્તસ્ત્રીલિપ્ત " "
- ૧૧ હલન્તનપુસકલિપ્ત " "
- ૧૨ સ્ત્રીપ્રત્યયપ્રકરણમ્ ।
- ૧૩ કારકપ્રકરણમ્ ।
- ૧૪ સમાસ " "
- ૧૫ તદ્ધિત " "
- ૧૬ તિહન્ત " "
- ૧૭ કૃદન્ત " "

૧ આ રચનામા અનુકરણ અને રચનાની ફિટતાને દર્શાવતો એક લેખ 'પુરાતત્ત્વ' પુસ્તક-૪ થામા 'શુજરાતનુ અધાન વ્યાકરણ' એ નામનો છપાઈ ગયેલો છે, તે લેખના લેખકે જણાવ્યું છે કે—“પાણિનિના વ્યાકરણમા અષ્ટાધ્યાયીનો ક્રમ છે, એ ક્રમ મળે કોઈ વિશેષ ધારણાથી રચાયો હોય પણ અભ્યાસિને માટે તો એ ફિટ છે ।” તેજ લેખકે અનુકરણ સવન્ધિ ઉલ્લેખ કરીને આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણની મહત્વતા, નિર્દોષતા, સરલતા, સુસજ્જતા વિગેરે ગુણોનુ ચર્ચાપર્મ સીતિપ્ત યશોમાન ગાવાનો પણ પ્રયત્ન કર્યો છે તે અતિ પ્રશ્નસનીય છે ।

૨ 'શુજરાતનુ પ્રધાનવ્યાકરણ' નામના લેખમા તેના લેખકે આ વિનાને સક્ષેપથી જણાવી છે ।

‘ઉપર મુજબના’ પ્રકરણો તેપાસતા પ્રકરણવિભાગ લાગભગ ‘કલિકાલસર્વજ્ઞ’ રચિત પ્રકરણવિભાગને મળ્લો છે । પાણિનીયના સૂત્રો સિદ્ધાન્તકૌમુદીમાં હોવાથી તે સૂત્રોના સબન્ધમાં અને પ્રકરણોના સબન્ધમાં કલિકાલસર્વજ્ઞ જે કાર્ય એક નામપ્રકરણથી સુદરરીતિપરિસમાપ્ત કરે છે, તે જ કાર્યને કૌમુદીકાર સ્વરાન્ત વ્યજ્ઞનાન્ત અને એ વચ્ચેના પુલિઙ્ગ સ્ત્રીલિઙ્ગ નપુસકલિઙ્ગ એ રીતિ એ ત્રણ ત્રણ વિભાગ કરી કુલ છ વિભાગમાં નામપ્રકરણ પૂરું કરે છે, એટલે સૂત્રની જેમ પ્રકરણવિભાગમાં પણ અતિવિસ્તૃતાદિ દોષો માટે કહેવાનું રહેતું નથી । એટલું જ નહિ પણ વૃત્તિમાં વિસ્તાર થયેલો સ્પષ્ટ માહુમ પડે છે ।

પ્રથમ અધ્યાયના ત્રીજા પાદમાં કલિકાલ સર્વજ્ઞ ભગવાન્ વ્યજ્ઞનસન્ધિપ્રકરણ સમાપ્ત કરે છે, જ્યારે કૌમુદીકાર એક વ્યજ્ઞન-સન્ધિપ્રકરણને જ ત્રણ પ્રકરણમાં વહેંચીને વિસ્તારપૂર્વકની રચના કરે છે ।

નામપ્રકરણમાં અકારાન્તાદિ નામો પછી તે પુલિઙ્ગ-સ્ત્રીલિઙ્ગ કે નપુસકલિઙ્ગના હોય તે વધા નામોનો અનુક્રમે ચોથા અને પાંચમા પાદમાં એક જ પ્રકરણમાં કલિકાલસર્વજ્ઞે સમાવેશ કર્યો છે, જ્યારે કૌમુદીકારે અજન્ત (સ્વરાન્ત) પુ. સ્ત્રી. ન. અને હલન્ત (વ્યજ્ઞનાન્ત) પુ. સ્ત્રી. ન. એ પ્રમાણે એક પ્રકરણના છ વિભાગ કર્યા છે । આ ઉપરથી પ્રકરણની રચનામાં પણ અતિ-વિસ્તૃતદોષને નિવારવાનું લક્ષ્યમાં રાખ્યું નથી ।

પાણિનીના વ્યાકરણમાં કોઈ પણ પ્રકારનો પ્રકરણવિભાગ નથી, તેવી રીતે શાકટાયન અને જૈનેન્દ્રવ્યાકરણમાં પણ પ્રકરણ-વિભાગ યથાર્થરીતિપરિસમાપ્ત નથી । પાણિનીએ વિધાનક્રમને લક્ષ્યમાં રાખી સૂત્ર રચના કરી છે, શાકટાયન અને જૈનેન્દ્રવ્યાકરણની રચના પણ લાગભગ તે જ ક્રમને અનુસરીને કરાયેલી છે । કલિકાલસર્વજ્ઞે કેવળ આઠમા અધ્યાયમાં જ લોકોપયોગી પ્રાકૃત-અપ-અશાદિમાધાનું નિયમન કર્યું છે, જ્યારે પાણિનીએ આઠે અધ્યાયમાં યત્ર તત્ર વૈદિકમાધાનું નિયમન કર્યું છે, અર્થાત્ એકદેશીય ઉપકાર અને સર્વદેશીય ઉપકારની લાભદાયક કક્ષાનો વિવેક વિચારવા યોગ્ય હોવા છતાં તે પણ લક્ષ્યમાં લેવાયું નથી ।

શ્રીપૂજ્યપાદ=શ્રીદેવનન્દિકૃત-જૈનેન્દ્રવ્યાકરણને પ્રતિયાક્રમમાં ગોઠવવા પ્રયત્ન કર્યો છે, પરંતુ તે ગ્રન્થ જોતા પઠન-પાઠનકાળે વિદ્યાર્થીઓની ક્ષિપ્રતા દૂર કરવાનો યથાશક્તિ પ્રયત્ન પણ થયેલો જણાતો નથી ।

આ ઉપરથી અનુકરણરૂપે રચાયેલી સિદ્ધાન્તકૌમુદીની રચના કલિકાલસર્વજ્ઞની મહાન્ કૃતિની રચનાની બરોબરી કરી શકી નથી, તે છતાં જગતમાં આજે પણ તેનો (સિદ્ધાન્તકૌમુદીનો) જે આદર છે તે કલિકાલસર્વજ્ઞની કૃતિનું યથાશક્તિ અનુકરણ કર્યું છે તેને જ આભારી છે । વિશેષમાં આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણની રચના શબ્દકોષની માફક છે તેથી આ મહાન્ વ્યાકરણનો રચનાક્રમ પ્રતિયાક્રમને તિલાંજલિ આપી દે એવો અપૂર્વ વિશિષ્ટક્રમ છે । આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણની રચનાના ક્રમની યથાર્થતા સમજાવવા પ્રતિયાક્રમે ગોઠવવા જવું તે મહાન્ કૃતિનું અનુકરણ કરનાર કૌમુદીકારનું અનુકરણ કરવા જવા જેવું છે, એટલું જ નહિ પણ આગળ વધીને કહેવામાં આવે તો કષ-તાપ અને છેદની પરીક્ષામાં સંપૂર્ણતયા ઉત્તીર્ણ થયેલ પ્રધાનતમકૃતિરૂપ આ મહાન્ વ્યાકરણમાં અર્થાત્ સો ટંચના શુદ્ધ સુવર્ણમાં શકા કરવા જેવું છે ।

પાણિનીયના સૂત્રોનો પ્રતિયાક્રમ જેવી રીતે કૌમુદીકારે ગોઠવ્યો છે, તેવી જ રીતે આ મહાન્ વ્યાકરણનો પ્રતિયાક્રમ મહોપાધ્યાય શ્રીમેષવિજયજીએ હૈમકૌમુદી અપરનામ ચન્દ્રપ્રમાવ્યાકરણમાં ગોઠવ્યો છે, એમ તેઓ પોતે જ પ્રશસ્તિમાં નીચેના શ્લોકાર્થથી જણાવે છે—‘શ્રીસિદ્ધહૈમાનુગતા વ્યધાયિ સૈવાઽઽશ્રિતા માનુવિમોદયાય । હૈ. કૌ. પ્રશ. શ્લો. ।

એ જ રીતિપરિસમાપ્ત મહોપાધ્યાય શ્રીમેષવિજયજીકૃત હૈમશબ્દચન્દ્રિકા, હૈમપ્રતિયા, દેવાતન્દકૃત સિદ્ધસારસ્વત, ડ. વિનયવિજયજીકૃત હૈમલઘુપ્રતિયા, હૈમલઘુપ્રતિયાન્યાસ (હૈમપ્રકાશ), બાલમાપાવ્યાકરણસૂત્રવૃત્તિ, હૈમવૃહત્પ્રતિયા, હૈમપ્રમા અને સિદ્ધપ્રમા વિગેરે વ્યાકરણો આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણરૂપ રત્નાકરમાં પ્રવેશ કરવાને માટે નૌકાસમાન સહાયક થાય એ ઉદ્દેશને અનુસરીને જ રચાયેલ છે, અન્યથા કલિકાલસર્વજ્ઞભગવાન્ની ત્રુટિઓ કે ન્યૂનતાને પરિપૂર્ણ કરવાને કોઈ પણ પ્રયાસ કર્યો જ નથી ।

#### \* પ્રધાનતમ વ્યાકરણ પ્રતિ અનાદરતાના મુખ્ય કારણો ।

અનુકરણરૂપે રચાયેલી રચનાનો આદર આજે જગતમાં વ્યાપક વ્યવસ્થા છે, જ્યારે મૂલસ્વરૂપે સચવાયેલી અને વિદ્યાર્થીઓને એકાન્ત-લાભદાયી આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણની રસિક રચનાનો આદર અત્ય પ્રમાણમાં પણ નજરે પડતો નથી તેનું વાસ્તવિક કારણ શું ?

આ પ્રશ્નનું સમાધાન પૂર્વે પ્રેરણાત્મક પ્રાર્થનાએ પ્રકટાવેલ પ્રધાનતમ વ્યાકરણરચનાના પેરેગ્રાફમાં વિસ્તારથી જોવાઈ ગયું છે તેનું તેજ સમાધાન અહીં પણ સમજવાનું છે ।

આ મહાન્ કૃતિના વિરહકાળમાં વ્યાકરણાદિપઠન-પાઠનકાળે જૈનો પ્રતિ ર્પિયા-અસૂયા અને પ્રસંગોપાત્તકોર કરનારા જૈનેતરો તો વક્તવ્યથી જ વિલોકતા હતા, તથાપિ કલિકાલસર્વજ્ઞના સમયમાં આ વ્યાકરણનું પઠન-પાઠન ખૂબ પ્રસરેલું હતું,



તેનું કારણ તે વ્યક્તે સંયોગ-સામગ્રી અનુકૂળ હતા । ગુર્જરેશ્વર-સિદ્ધરાજના સમયમા આ વ્યાકરણનું પઠન-પાઠન આદરપૂર્વક જેટલા પ્રમાણમા થતુ હતુ તેટલાજ અથવા તેથી પણ વધુ પ્રમાણમા આ વ્યાકરણનું પઠન-પાઠન દયાવારાનિધિ પરમાર્હત કુમારપાઠ-રાજાના સમયમાં પણ થતુ હતુ । આ વધા પ્રસન્નોએ જૈનો પ્રતિ જૈનેતરોને વધુ ને વધુ નમ્ર અને માયાહુ બનાવ્યા ।

ત્રીજુ સમાધાન એ છે કે હસ્તલિખિત પ્રત ઉપરથી આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણને સૌથી પ્રથમ વિ० સં ૧૯૬૨ મા સ્વ० શેઠ મનસુખભાઈ મગુભાઈની આર્થિક મદદથી શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસનમ્ (બૃહદ્વૃત્તિ અને લઘુન્યાસ સાથે) મુદ્રિત કરવામા આવ્યુ, પરન્તુ તેમા ઘણાજ હલકા કાગળો વાપરેલા હોવાથી તે પ્રતિ ઉપરથી વાચનાર-મળનારને વહુ પ્રતિકૂલતા વેઠવી પડતી હતી, અને કોઈ સારા પण्डितદ્વારા તેનુ સશોધન કારાયલુ ન હોવાની તેમજ મળવા યોગ્ય સામગ્રીઓના અભાવને લીધે પણ મળનારને પ્રતિકૂલ પડવાથી કમશ. આ વ્યાકરણનુ પઠન-પાઠન મદ પડી ગયુ । એવી રીતે આ વ્યાકરણના મળનારાઓની સંખ્યા ઘટી ગઈ અને આ વ્યાકરણના મળનારને સતોષપૂર્વક સાગોપાગ અભ્યાસ કરાવી વિદ્યાર્થીઓની સંખ્યામા વધારો કરી શકે એવા પण्डितની તો સુદુર્લભતા પ્રથમથીજ હતી । આવા સંયોગોમા પઠન-પાઠનની પ્રણાલિકા નષ્ટપ્રાય. થવાથી આવા સર્વોત્તમ વ્યાકરણ ઉપરથી સંસ્કૃત શિક્ષનારાઓનો આદર ઘટતો જાય એ તો સ્વાભાવિકજ છે । કદાચિત્ કોઈ આ મહાન્ વ્યાકરણનો રસીયો આજ વ્યાકરણને મળવાનો પ્રયત્ન કરે તો સિદ્ધાન્તકૌમુદીને મળેલા પण्डितો આ વ્યાકરણની આધુનિક શૈલિએ મુદ્રિત થયેલ પ્રતિનો અમાવ, સાક્ષોપાક્ષ મળાવી શકે એવા પण्डितનો પણ અમાવ વગેરે કારણો જણાવી આ વ્યાકરણને મળવાના ઉત્સાહનુજ ઉન્મૂલ્ન કરી નાંખે છે, અને વિશેષમા જણાવે કે-‘હાલમા જે જે પण्डितો જોવામા આવે છે તે વધા સિદ્ધાન્તકૌમુદીજ મળેલા છે માટે જો તમારે પण्डित થવુ હોય તો સિદ્ધાન્તકૌમુદીને મળો, સિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસનને મળાવી શકે એવો પण्डितજ તમને પ્રાયઃ મળશે નહિ, છતાં તમે હટ પકડીને એ વ્યાકરણને મળવામાજ પ્રયત્ન કરશો તો તમારો સમય અને પ્રયત્ન એ બન્ને વ્યર્થ જશે એમ અમારું માનવુ છે’ ।

આ રીતિએ જે ગ્રન્થના મળનાર-મળાવનારને અભાવે પઠન-પાઠનપ્રણાલિકાજ વધ થઈ જાય તે ગ્રન્થ ભવિષ્યમા ગ્રન્થરૂપે મળે રહે, પરન્તુ રચિતાનો ઉદ્દેશ સફળ થતો નથી તો પછી ગ્રન્થનુ કે પ્રથકારનુ મહત્ત્વ તો જગતની જાણમાં આવેજ ક્યાથી ? ।

રચિતાએ જે ઉદ્દેશથી ગ્રન્થની રચના કરી હોય, અત્યંત પ્રયત્ન સેવીને ગ્રન્થમા જે સામગ્રીઓ મેળી કરી હોય, ક્ષિપ્રતાને સ્પર્શ્યા વગર અભ્યાસ થઈ શકે તેવી ગુન્થની ગુંથી હોય, સ્મૃતિને માર દીધા વગર સૂત્ર-વૃત્તિ-ઉદાહરણ અને પ્રત્યુદાહરણાદિ ચિરકાલ યાદ રહી શકે તેવી સુદર રચનાનો-શૈલીનો સ્વીકાર કરેલો હોય, એવા અનેક કારણોને અવલંબીને કારણે રચનાને કાર્યસિદ્ધિમા પરિણામવા માટે ગ્રન્થના પઠન-પાઠન-મનન અને પરિશીલનને વેગ મળતો રહે તેવા પ્રબન્ધની અતિ આવશ્યકતા છે ।

ત્રીજું સમાધાન એ છે કે સંસ્કૃત-પ્રાકૃત ભાષાબદ્ધ-જૈનસાહિત્યમાં પ્રવેશ કરવા માટે આ વ્યાકરણને મળવા-મળવવાની મુખ્ય અને અનિવાર્ય ફરજ જૈન સાધુઓની તથા સાધ્વીઓની છે, પરન્તુ તેઓમા મોટી ઉમ્મરે દીક્ષિત-થયેલાઓ તો વહુવા વ્યાકરણ મળ્યા વિના ભાષાન્તરોચીજ કામ ચલાવી લેતા જણાય છે । આ વ્યાકરણને લઘુવૃત્તિ કે બૃહદ્વૃત્તિ સહિત મળી શકે એવી ઉમ્મરના દીક્ષિતોમાથી ઘણાસરા તો માણ્ડારકરની બે બૂકોની અથવા પૂર્વાર્ધ-સારસ્વત અને ઉત્તરાર્ધ-ચન્દ્રિકાનો અભ્યાસ કરીને પોતાનુ કામ ચલાવી લેનારા હોય છે । બાકી રહેલા દીક્ષિતોમાથી જૈનશાસનની પ્રમાવના કરવાની આકાહ્વાવાળા કેટલાક સાધુ-સાધ્વીઓ તલસ્પર્શીય જ્ઞાન મેળવવા માટેના પ્રયત્નો પ્રારંભ કરે ત્યા શરુઆતમા પ્રથમકવાલે મક્ષિકાની પેટે સિદ્ધહેમ-ચન્દ્રશબ્દાનુશાસનબૃહદ્વૃત્તિ સહિતની મુદ્રિત થયેલી પ્રતિ પોતાના રૂપરગ-આકૃતિ અને ક્ષણજીવિતાદિથી મળનારની ઘર્ષોત્કણ્ટાને તો ઉઢાડીજ મૂકે છે, અને તેવા પ્રકારની પ્રતિથી પણ અભ્યાસ કરવા ઇચ્છનારની બાકી રહેલી અર્ધી ઉત્કણ્ટા સાક્ષોપાક્ષ મળાવી શકનારની દુર્લભતાથી સ્વયમેવ નષ્ટ થઈ જાય છે, એટલે નિરુપાયે સાધુ-સાધ્વીઓ આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણની લઘુવૃત્તિ મળવાનો પ્રારંભ કરે છે । તેમા વઢી તે મળાવનાર લઘુવૃત્તિ કે બૃહદ્વૃત્તિને સાક્ષોપાક્ષ અને યથાર્થ રીતિએ મળાવી શકતો ન હોય, અને મળનારને ઉત્સાહને વડે મુજવળ થતી હોય, ત્યારે તે પण्डित પોતાની અનાવડતને ગોપવીને આ વ્યાકરણના અવગુણો જણાવી કરેલા પ્રયત્ન અને સમયને નિષ્ફળ કરાવી આ વ્યાકરણને પડતુ મુકાવી સિદ્ધાન્તકૌમુદીનુ શ્રીમળેશાય નમઃ કરાવે છે, તેથી કરીને આ વ્યાકરણની મહત્ત્વતા કે વિશિષ્ટતા તો તેઓના સમજવામા આવતીજ નથી । પૂર્વના દૃષ્ટાન્તો વર્તમાનકાલે બનેલા પણ અનુભવગોચર થયેલા છે, તો પછી મૂતકાલમા તો ઘણાજ બન્યા હશે એમ માનવામા લેશ પણ શંકા નથી । આ મહાન્ ગ્રન્થ પ્રતિ લોકોનો આદર વધવાને વડે ઘટવામા મુખ્ય કારણ તો ઉપર દર્શાવ્યુ તેજ હોવુ જોઈએ એમ અમારું માનવુ છે ।

ત્રીજુ સમાધાન એ છે કે ત્રાક્ષણસમાજ મૂલથી જ સંસ્કૃતભાષાદિ-સાહિત્યરસિક છે, અને જૈનસમાજનો શ્રમણોપાસક-વર્ગ વ્યાપારરસિક છે, તેથી કરીને કોઈપણ કાલે તપાસ કરવામા આવે તો સંસ્કૃતાદિભાષાના રસિકો અને પારજ્ઞતો જેટલી સંખ્યામાં ત્રાક્ષણો મળશે તેટલા તો શુ પણ તેથી અઢધી સંખ્યામા પણ જૈનો મળવા દુર્લભ છે । ।

ઉપર મુજવના પ્રકરણો તપાસતા પ્રકરણવિભાગ લગભગ કલિકાલસર્વજ્ઞ રચિત પ્રકરણવિભાગને મળ્યો છે । પાણિનીયના સૂત્રો સિદ્ધાન્તકૌમુદીમા હોવાથી તે સૂત્રોના સચન્ધમા અને પ્રકરણોના સચન્ધમા કલિકાલસર્વજ્ઞ જે કાર્ય એક નામપ્રકરણથી હુદરરીતિ પરિસમાપ્ત કરે છે, તે જ કાર્યને કૌમુદીકાર સ્વરાન્ત વ્યજ્ઞનાન્ત અને એ વચ્ચેના પુલિદ્ધ સ્ત્રીલિદ્ધ નપુસકલિદ્ધ એ રીતિ એ ત્રણ ત્રણ વિભાગ કરી કુલ છ વિભાગમા નામપ્રકરણ પૂરુ કરે છે, એટલે સૂત્રની જેમ પ્રકરણવિભાગમા પણ અતિવિસ્તૃતાદિ દોષો માટે કહેવાનું રહેતું નથી । એટલું જ નહિ પણ વૃત્તિમા વિસ્તાર થયેલો સ્પષ્ટ માહુમ પડે છે ।

પ્રથમ અધ્યાયના ત્રીજા પાદમા કલિકાલ સર્વજ્ઞ ભગવાન વ્યજ્ઞનસન્ધિપ્રકરણ સમાપ્ત કરે છે, જ્યારે કૌમુદીકાર એક વ્યજ્ઞન-સન્ધિપ્રકરણને જ ત્રણ પ્રકરણમા વહેંચીને વિસ્તારપૂર્વકની રચના કરે છે ।

નામપ્રકરણમાં અકારાન્તાદિ નામો પછી તે પુલિદ્ધ-સ્ત્રીલિદ્ધ કે નપુસકલિદ્ધના હોય તે વધા નામોનો અનુક્રમે ચોથા અને પાંચમા પાદના એક જ પ્રકરણમા કલિકાલસર્વજ્ઞે સમાવેશ કર્યો છે, જ્યારે કૌમુદીકારે અજન્ત (સ્વરાન્ત) પુ० સ્ત્રી० ન० અને હલન્ત (વ્યજ્ઞનાન્ત) પુ० સ્ત્રી० ન० એ પ્રમાણે એક પ્રકરણના છ વિભાગ કર્યા છે । આ ઉપરથી પ્રકરણની રચનામા પણ અતિ-વિસ્તૃતદોષને નિવારવાનું લક્ષ્યમા રાહ્યું નથી ।

પાણિનીના વ્યાકરણમા કોઈ પણ પ્રકારનો પ્રકરણવિભાગ નથી, તેવી રીતે શાકટાયન અને જૈનેન્દ્રવ્યાકરણમા પણ પ્રકરણ-વિભાગ યથાર્થરીતિએ કાર્યો નથી । પાણિનીએ વિધાનક્રમને લક્ષ્યમા રાખી સૂત્ર રચના કરી છે, શાકટાયન અને જૈનેન્દ્રવ્યાકરણની રચના પણ લગભગ તે જ ક્રમને અનુસરીને કાર્યલી છે । કલિકાલસર્વજ્ઞે કેવળ આઠમા અધ્યાયમા જ લોકોપયોગી પ્રાકૃત-અપ-અશાદિમાધાનું નિયમન કર્યું છે, જ્યારે પાણિનીએ આઠે અધ્યાયમા યત્ર તત્ર વૈદિકમાધાનું નિયમન કર્યું છે, અર્થાત્ એકદેશીય ઉપકાર અને સર્વદેશીય ઉપકારની લાભદાયક કક્ષાનો વિવેક વિચારવા યોગ્ય હોવા છતાં તે પણ લક્ષ્યમા લેવાયું નથી ।

શ્રીપૂજ્યપાદ=શ્રીદેવનન્દિકૃત-જૈનેન્દ્રવ્યાકરણને પ્રક્રિયાક્રમમા ગોઠવવા પ્રયત્ન કર્યો છે, પરંતુ તે અન્ધ જોતા પઠન-પાઠનકાળે વિદ્યાર્થીઓની ક્ષિપ્તા દૂર કરવાનો યથાશક્તિ પ્રયત્ન પણ થયેલો જણાતો નથી ।

આ ઉપરથી અનુકરણરૂપે રચાયેલી સિદ્ધાન્તકૌમુદીની રચના કલિકાલસર્વજ્ઞની મહાન્ કૃતિની રચનાની વરોવરી કરી શકી નથી, તે છતાં જગતમા આજે પણ તેનો (સિદ્ધાન્તકૌમુદીનો) જે આદર છે તે કલિકાલસર્વજ્ઞની કૃતિનું યથાશક્તિ અનુકરણ કર્યું છે તેને જ આમારી છે । વિશેષમા આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણની રચના શબ્દકોષની માફક છે તેથી આ મહાન્ વ્યાકરણનો રચનાક્રમ પ્રક્રિયાક્રમને તિલાંજલિ આપી દે એવો અપૂર્વ વિશિષ્ટક્રમ છે । આ પ્રધાનતમવ્યાકરણની રચનાના ક્રમની યથાર્થતા સમજ્યાવગર પ્રક્રિયાક્રમે ગોઠવવા જવું તે મહાન્ કૃતિનું અનુકરણ કરનાર કૌમુદીકારનું અનુકરણ કરવા જવા જેવું છે, એટલું જ નહિ પણ આગળ વધીને કહેવામા આવે તો કપ-તાપ અને છેદની પરીક્ષામા સપૂર્ણતયા ઉત્તીર્ણ થયેલ પ્રધાનતમકૃતિરૂપ આ મહાન્ વ્યાકરણમાં અર્થાત્ સૌ ટચના શુદ્ધ સુવર્ણમા શકા કરવા જેવું છે ।

પાણિનીયના સૂત્રોનો પ્રક્રિયાક્રમ જેવી રીતે કૌમુદીકારે ગોઠવ્યો છે, તેવી જ રીતે આ મહાન્ વ્યાકરણનો પ્રક્રિયાક્રમ મહોપાધ્યાય શ્રીમેઘવિજયજીએ હૈમકૌમુદી અપરનામ ચન્દ્રપ્રમાવ્યાકરણમા ગોઠવ્યો છે, એમ તેઓ પોતે જ પ્રશસ્તિમા નીચેના શ્લોકાર્થથી જણાવે છે-  
\*શ્રીસિદ્ધહૈમાનુગતા વ્યધાયિ સૈવાઽઽશ્રિતા માનુવિમોદયાય । હૈં કૌં પ્રશં શ્લોં ।

એ જ રીતિએ રચાયેલા મહોપાધ્યાય શ્રીમેઘવિજયજીકૃત હૈમશબ્દચન્દ્રિકા, હૈમપ્રક્રિયા, દેવાનન્દકૃત સિદ્ધસારસ્વત, ૩૦ વિનયવિજયજીકૃત હૈમલઘુપ્રક્રિયા, હૈમલઘુપ્રક્રિયાન્યાસ ( હૈમપ્રકાશ ), બાલભાષાવ્યાકરણસૂત્રવૃત્તિ, હૈમવૃહત્પ્રક્રિયા, હૈમપ્રમા અને સિદ્ધપ્રમા વિગેરે વ્યાકરણો આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણરૂપ રત્નાકરમા પ્રવેશ કરવાને માટે નૌકાસમ્માન સહાયક થાય એ ઉદ્દેશને અનુસરીને જ રચાયેલા છે, અન્યથા કલિકાલસર્વજ્ઞભગવાનની શ્રુતિઓ કે ન્યૂનતાને પરિપૂર્ણ કરવાને કોઈ પણ પ્રયાસ કર્યો જ નથી ।

### \* પ્રધાનતમ વ્યાકરણ પ્રતિ અનાદરતાના મુખ્ય કારણો ।

અનુકરણરૂપે રચાયેલી રચનાનો આદર આજે જગતમા વ્યાપક બન્યો છે, જ્યારે મૂલસ્વરૂપે સચવાયેલી અને વિદ્યાર્થી-ઓને એકાન્ત-લાભદાયી આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણની રસિક રચનાનો આદર અલ્પ પ્રમાણમા પણ નજરે પડતો નથી તેનું વાસ્તવિક કારણ શું ?

આ પ્રશ્નનું સમાધાન પૂર્વે પ્રેરણાત્મક પ્રાર્થનાએ પ્રકટાવેલ પ્રધાનતમ વ્યાકરણરચનાના પેરેઆપમા વિસ્તારથી જે અપાઈ ગયું છે તેનું તેજ સમાધાન અહીં પણ સમજવાનું છે ।

આ મહાન્ કૃતિના વિરહકાલમા વ્યાકરણાદિપઠન-પાઠનકાળે જૈનો પ્રતિ ર્ઈર્પ્યા-અસૂયા અને પ્રસંગોપાત્ત-ટકોર કરનારા જૈનેતરો તો વ્રકદષ્ટિથી જ વિલોકતા હતા, તથાપિ કલિકાલસર્વજ્ઞના સમયમા આ વ્યાકરણનું પઠન-પાઠન ખૂબ પ્રસરેલું હતું,

તેનું કારણ તે વચ્ચે સયોગ-સામગ્રી અનુકૂળ હતા । ગુર્જરેશ્વર-સિદ્ધરાજનાં સમયમાં આ વ્યાકરણનું પઠન-પાઠન આદરપૂર્વક જેટલા પ્રમાણમાં થતું હતું તેટલાજ અથવા તેથી વધુ પ્રમાણમાં આ વ્યાકરણનું પઠન-પાઠન, દયાવારાનિધિ પરમાર્હત કુમારપાલ-રાજાના સમયમાં પણ થતું હતું । આ બધા પ્રસન્નોએ જૈનો પ્રતિ જૈનેતરોને વધુ ને વધુ નમ્ર અને માયાલુ બનાવ્યા ।

વીજુ સમાધાન ૬ છે કે હસ્તલિખિત પ્રત ઉપરથી આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણને સૌથી પ્રથમ વિ० સં ૧૯૬૨ માં સ્વ० શેઠ મનસુખભાઈ મગુભાઈની આર્થિક મદદથી શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશંકરશાસ્ત્રી (વૃહદ્વૃત્તિ અને લઘુન્યાસ સાથે) મુદ્રિત કરવામાં આવ્યું, પરંતુ તેમાં ઘણાજ હલકા કાગળો વાપરેલા હોવાથી તે પ્રતિ ઉપરથી વાંચનાર-મળનારને વધુ પ્રતિકૂળતા વેઠવી પડતી હતી, અને કોઈ સારા પण्डितદ્વારા તેનું સંશોધન કરાવ્યું ન હોવાની તેમજ મળવા યોગ્ય સામગ્રીઓના અમાવને લીધે પણ મળનારને પ્રતિકૂળ પડવાથી ક્રમશઃ આ વ્યાકરણનું પઠન-પાઠન મદ પડી ગયું । એવી રીતે આ વ્યાકરણના મળનારાઓની સંખ્યા ઘટી ગઈ અને આ વ્યાકરણના મળનારને સતોષપૂર્વક સાગોપાગ અભ્યાસ કરાવી વિદ્યાર્થીઓની સંખ્યામાં વધારો કરી શકે એવા પण्डितની તો સુદુર્લભતા પ્રથમથીજ હતી । આવા સયોગોમાં પઠન-પાઠનની પ્રણાલિકા નષ્ટપ્રાય થવાથી આવા સર્વોચ્ચ વ્યાકરણ ઉપરથી સંસ્કૃત શિક્ષનારાઓનો આદર ઘટતો જાય ૬ તો સ્વામાવિકજ છે । કદાચિત્ કોઈ આ મહાન્ વ્યાકરણનો રસીયો આજ વ્યાકરણને મળવાનો પ્રયત્ન કરે તો સિદ્ધાન્તકૌમુદીને મળેલા પण्डितો આ વ્યાકરણની આધુનિક શૈલી ૬ મુદ્રિત થયેલ પ્રતિનો અમાવ, સાક્ષોપાક્ષ મળાવી શકે એવા પण्डितનો પણ અમાવ વગેરે કારણો જણાવી આ વ્યાકરણને મળવાના ઉત્સાહનુંજ ઉન્મૂલન કરી નાંચે છે, અને વિશેષમાં જણાવે કે—‘હાલમાં જે જે પण्डितો જોવામાં આવે છે તે વધા સિદ્ધાન્તકૌમુદીજ મળેલા છે માટે જો તમારે પण्डિત થવું હોય તો સિદ્ધાન્તકૌમુદીને મળો, સિદ્ધહેમચન્દ્રશંકરશાસ્ત્રીના મળાવી શકે એવો પण्डિતજ તમને પ્રાયઃ મળશે નહિ, છતાં તમે હઠ પકડીને ૬ વ્યાકરણને મળવામાંજ પ્રયત્ન કરશો તો તમારો સમય અને પ્રયત્ન ૬ બંને વ્યર્થ જશે ૬મ અમારું માનવું છે’ ।

આ રીતેજ જે ગ્રન્થના મળનાર-મળાવનારને અમાવે પઠન-પાઠનપ્રણાલિકાજ વધ થઈ જાય તે ગ્રન્થ મવિખ્યમાં ગ્રન્થરૂપે મળે રહે, પરંતુ રચયિતાનો ઉદ્દેશ સફળ થતો નથી તો પછી ગ્રન્થનું કે ગ્રંથકારનું મહત્ત્વ તો જગતની જાણમાં આવેજ ક્યાથી ? ।

રચયિતા ૬ જે ઉદ્દેશથી ગ્રન્થની રચના કરી હોય, અત્યંત પ્રયત્ન સેવીને ગ્રન્થમાં જે સામગ્રીઓ ભેગી કરી હોય, ક્ષિપ્તતાને સ્પર્શ્યા વગર અભ્યાસ થઈ શકે તેવી ગુન્યની ગુંથી હોય, સ્મૃતિને માર દીધા વગર સૂત્ર-વૃત્તિ-ઉદાહરણ અને પ્રત્યુદાહરણાદિ ચિરકાલ યાદ રહી શકે તેવી સુદર રચનાનો—શૈલીનો સ્વીકાર કરેલો હોય, એવા અનેક કારણોને અવલંબીને કરાવેલી રચનાને કાર્યસિદ્ધિમાં પરિણામવા માટે ગ્રન્થના પઠન-પાઠન-મનન અને પરિશીલનને વેગ મળતો રહે તેવા પ્રબન્ધની અતિ આવશ્યકતા છે ।

વીજુ સમાધાન ૬ છે કે સંસ્કૃત-પ્રાકૃત ભાષાબદ્ધ-જૈનસાહિત્યમાં પ્રવેશ કરવા માટે આ વ્યાકરણને મળવા-મળવવાની મુખ્ય અને અનિવાર્ય ફરજ જૈન સાધુઓની તથા સાધ્વીઓની છે, પરંતુ તેઓમાં મોટી ઉમ્મરે દીક્ષિત-થયેલાઓ તો વધુ વ્યાકરણ મળ્યા વિના ભાષાન્તરોથીજ કામ ચલાવી લેતા જણાય છે । આ વ્યાકરણને લઘુવૃત્તિ કે વૃહદ્વૃત્તિ સહિત મળી શકે એવી ઉમ્મરના દીક્ષિતોમાંથી ઘણાંસરા તો માણ્ડારકરની બે બૂકોની અથવા પૂર્વાર્ધ-સારસ્વત અને ઉત્તરાર્ધ-ચન્દ્રિકાનો અભ્યાસ કરીને પોતાનું કામ ચલાવી લેનારા હોય છે । બાકી રહેલા દીક્ષિતોમાંથી જૈનશાસનની પ્રમાવના કરવાની આકાંક્ષાવાળા કેટલાંક સાધુ-સાધ્વીઓ તલસ્પર્શીય જ્ઞાન મેળવવા માટેના પ્રયત્નો પ્રારંભ કરે ત્યાં શરૂઆતમાં પ્રથમકવલે મક્ષિકાની પેટે સિદ્ધહેમ-ચન્દ્રશંકરશાસ્ત્રીના વૃહદ્વૃત્તિ સહિતની મુદ્રિત થયેલી પ્રતિ પોતાના રૂપરંગ-આકૃતિ અને ક્ષણજીવિતાદિથી મળનારની અર્ધોત્ક્રાંતાને તો ઉઢાડીજ મૂકે છે, અને તેવા પ્રકારની પ્રતિથી પણ અભ્યાસ કરવા ઇચ્છનારની બાકી રહેલી અર્ધી ઉત્ક્રાંતા સાક્ષોપાક્ષ મળાવી શકનારની દુર્લભતાથી સ્વયમેવ નષ્ટ થઈ જાય છે, ૬ત્તે નિરુપાયે સાધુ-સાધ્વીઓ આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણની લઘુવૃત્તિ મળવાનો પ્રારંભ કરે છે । તેમાં વળી તે મળાવનાર લઘુવૃત્તિ કે વૃહદ્વૃત્તિને સાક્ષોપાક્ષ અને યથાર્થ રીતે મળાવી શકતો ન હોય, અને મળનારને ઉત્સાહને વડે મુશ્કેલ થતી હોય, ત્યારે તે પण्डિત પોતાની અનાવડતને ગોપવીને આ વ્યાકરણના અવગુણો જણાવી કરેલા પ્રયત્ન અને સમયને નિષ્ફળ કરાવી આ વ્યાકરણને પડતું મુકાવી સિદ્ધાન્તકૌમુદીનું શ્રીગણેશાય નમઃ કરાવે છે, તેથી કરીને આ વ્યાકરણની મહત્ત્વતા કે વિશિષ્ટતા તો તેઓના સમજવામાં આવતીજ નથી । પૂર્વના દૃષ્ટાન્તો વર્તમાનકાળે બનેલા પણ અનુભવગોચર થયેલા છે, તો પછી મૂતકાઝમાં તો ઘણાજ બન્યા હશે ૬મ માનવામાં લેશ પણ શંકા નથી । આ મહાન્ ગ્રન્થ પ્રતિ લોકોનો આદર વધવાને વડે ઘટવામાં મુખ્ય કારણ તો ઉપર દર્શાવ્યું તેજ હોવું જોઈ ૬મ અમારું માનવું છે ।

ચોથું સમાધાન ૬ છે કે બ્રાહ્મણસમાજ મૂઠથીજ સંસ્કૃતભાષાદિ-સાહિત્યરસિક છે, અને જૈનસમાજનો શ્રમણોપાસક-વર્ગ વ્યાપારરસિક છે, તેથી કરીને કોઈપણ કાળે તપાસ કરવામાં આવે તો સંસ્કૃતભાષાના રસિકો અને પ્રારક્ષતો જેટલી સંખ્યામાં બ્રાહ્મણો મળશે તેટલા તો શુ પણ તેથી અઢધી સંખ્યામાં પણ જૈનો મળવા દુર્લભ છે ।

पाचसुं समाधान लोकोने व्यावहारिक कार्यमा अने आर्थिकसयोगोमा ङगले ने पगले जेवी व्यावहारिक भाषाजाननी जरूरीयात होय छे तेथी शताशे पण आ सस्कृतादि भाषानी जरूरीयात पडती नथी, तेथी पण आ भाषा प्रति लोकोने अनादर होय ए स्वाभाविक छे । आथी आ भाषाना रसिको वधु उत्साही बने ते हेतुथी आर्थिक अनुसन्धानो योजवानी अनिवार्य जरूर छे ।

उपरोक्त कारणोथी आविर्भाव थयेल अनादरने दूर करी आ प्रधानतम व्याकरणनो पठन-पाठन क्रम वेगपूर्वक वधारवा माटे ग्रन्थनु बाह्य-अभ्यन्तरदर्शन पण विद्यार्थिओने उत्कण्ठित करे, एवा प्रकारनी आधुनिक सर्वोत्तम मुद्रणकलाए मुद्रित करावी आ ग्रन्थने सौथी प्रथम प्रकट करवामा आवे, अने तयार पछी आ व्याकरण अने वीजा पण अनेक ग्रन्थोनी जैनीयपाटित्य-प्राप्तकरावनारी पचवर्षीय-परीक्षानो क्रम योजी वर्षो वर्ष परीक्षा लेवामा आवे अने उत्तीर्ण थनाराओने हजारो रुपीयाना इनामो आपवामा आवे, अने भविष्यमा पाच वर्षे तैयार थयेलओने योग्य पद अने योग्य वेतन आपवानो प्रबन्ध थाय तो शुरुआतमा आ व्याकरणने भणनारा अने आगळ उपर भणावनारा सख्यावद्ध मळी आवे ए नि सदेह छे ।

भट्टोजी दीक्षिते कौमुदी कण्ठस्थ करनारने सेंकडो रुपीयानी दक्षिणा अपाववानो प्रबन्ध राजाओ पासे वर्षो सुधी कराव्यो हतो, वर्षो सुधी चाल्ल रखावेला तेवा प्रबन्धथी कौमुदी भणेलओनी सख्या हजारोनी यह गह, आर्थिक अनुसन्धान बगर कौमुदीनु पठन-पाठन वधशे नहि एवो अनुभव थवाथी तेमणे दक्षिणानो प्रबन्ध कराववो पढ्यो ए जगप्रसिद्ध घटना छे ।

आ बावतमा उपरना कारणो तो अमे अगुलि-निर्देशरूपे जणाव्या छे, परन्तु आ ग्रन्थ प्रतिना अनादरने घटाडवा अने आदरने वधारवा माटे साहित्यनी अपूर्व सेवाना रसिकोए आ विषयमा व्यवस्थित-कारणो दर्शाववापूर्वक एक स्वतंत्र निबध लखवानी जरूर छे ।

आ व्याकरणना प्रचार माटे पठन-पाठन करनाराओने आर्थिक अनुसन्धानरूप इनामोनी योजना करवानी सौथी पहेली जरूर छे, तेम कर्या बगर अर्थात् इनामोनी लालच अने भविष्यमा भारे वेतन साथे योग्य पद अने योग्य स्थान आप्या बगर आ ग्रन्थना पठन-पाठननी अभिरुचि अने आदर वधवाना नथी, माटे भारे इनामोनी योजना करी आ ग्रन्थना पठन-पाठन अने परिशीलननी प्रणालिका सतत चाल्या करे एवो प्रबन्ध करवा माटे जैनसमाजे पोताना तन-मान अने धनने समर्पण करवा हर-हमेश तत्पर रहेवुं जोइए ।

### \* ग्रन्थप्रकाशनसंबन्धी पुनीत विचार ।

आ प्रधानतम व्याकरणनो प्रचार वधारवाना मुख्य बे उपायो जणाय छे, एक तो पठन-पाठनने सर्वथा अनुकूल आवे एवु आधुनिक पद्धतिए आ ग्रन्थनु मुद्रण कराववु जोइए, अने वीजा उपाय तरीके मुद्रित थया पछी इनामोनी जाहेरात करी, पास थयेलओने भारे लाम आपवा पूर्वक भणनाराओनी सख्या वधारी तेओने अभ्यास करवाना साधनोनी तथा अभ्यासमा उत्तीर्ण थयेलओने पदप्रदानपूर्वक योग्य वेतन साथे योग्य स्थाने गोठववानी जोगवाइ करी आपवी जोइए ।

उपर जणावेल् बे उपायमाथी पहेला उपायने मूर्तस्वरूप शी रीते आपी शक्या ते संबन्धी पण आ स्थळे काइक जणावी देवु योग्य छे ।

श्रीविजयदेवसूरगच्छ-सङ्घना मुबई शहरमा पायधुनी उपर आवेला श्रीगोडीपार्श्वनाथ-जैनमन्दिरनी पेदीना अग्रगण्य श्रावको अने श्रीसधनी आग्रहमरी दिनन्तिथी अने प्रातःसरणीय-पूज्यपाद-आगमोद्धारक-आचार्यदेव-श्रीआनन्दसागरसूरी-श्वरजीनी आज्ञाथी नव साधु-साथे साथे म्हारु वि० स० १९९७ नु चातुर्मास श्रीगोडीपार्श्वनाथ-जैन-उपाश्रयमा थयु । ते चातुर्मासमा सदुपदेशद्वारा अनेकविध शासनहितकारक-कार्यो थया । शासनहितकारक-कार्यो पैकी पठन-पाठनने सर्वथा अनुकूल थइ पडे एवी आधुनिक सशोधन पद्धतिथी सारा कागळमा सुदर टाइपोथी श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासननु प्रकाशन करवानो पुनीत विचार लगभग चाल्ल चातुर्मासनी श्रा० सु० पञ्चमीए थयो ।

आ पुनीत विचारनी पीठिकानो पायो तो आजथी आठ वर्ष उपर नखाइ गयो हतो । स० १९८४ ना वैशाख वद ६ ना-तीर्थाधिराज श्रीशत्रुजय उपर तीर्थपतिना गादीनशीनना-दिवसे अमदावादमा न्हारी दीक्षा थइ अने पहेल्ल चातुर्मास पण पूज्य गुरुदेवनी साथे अमदावादमा थयु । श्रमणयोग्य आवश्यक क्रियाना सूत्रो शिखी लइने गृहस्थाश्रममा संस्कृत बे वूकोनो अभ्यास करेलो होवाथी संस्कृत व्याकरण भणवानी भावनाने बदले जैनागमोनो अभ्यास करवानी तीव्र उत्कण्ठा हती । ते उत्कण्ठांनी पूर्तिने माटे पूज्यगुरुदेवने प्रार्थना करवामा आवी, तयारे पूज्यश्रीए जणाव्यु के आगमोना साङ्गोपाङ्ग अभ्यासने माटे तथा तेना रहस्य-तात्पर्यने जाणवा माटे उत्तमप्रकारनु भाषाज्ञान होवु जोइए, अने भाषाज्ञान माटे बे वूकोनो अभ्यास

પૂરતો નથી માટે પહેલાં વ્યાકરણનો અભ્યાસ કરવો યોગ્ય છે । પૂજ્ય ગુરુદેવની હિતશિક્ષાને માન્ય કરી પૂજ્ય ગુરુદેવ-ગુપ્તિત 'શ્રીસિદ્ધપ્રભાવ્યાકરણ' મળવાની શરૂઆત કરી, ગમે તે કારણથી મળવામાં ઉત્સાહ નહિ આવવાથી એકાદ વે વાર તો તે વ્યાકરણને પઢતુ મુકવાનો વિચાર થયેલો છતાં પૂજ્ય ગુરુદેવના પ્રોત્સાહનથી છેવટે તે વ્યાકરણ પૂર્ણ તો કર્યું, પરંતુ જોડેજ તેવો ઘોષ થયો નહિ । આગામી ગ્રંથ વાંચવાની તીવ્ર ઉત્કણ્ઠા હતી છતાં તેને રોકીને વિ.સં.૧૯૮૭ માં સમ્ભાત શહેરમાં પ્રાકૃત વ્યાકરણના અભ્યાસની શરૂઆત કરી અને પૂર્ણતા પૂર્ણ કરી । ત્યાર પછી સં. ૧૯૮૮ ના મુંબઈના ચાતુર્માસમાં પૂજ્ય ગુરુદેવની તવીયત અવર નવર નરમ રહેવાથી વ્યાખ્યાન વાંચવાનો પ્રસન્ન આવવા માલ્યો, છતાં પૂજ્ય ગુરુદેવના સાહિત્ય અને ન્યાયનો અભ્યાસ તો ચાલુ જ રહેતો, પરંતુ સશસ્ત્ર હૃદયવાળાની માફક મારા મનમાં કોઈક વસ્તુ સ્વેદ થયા કરે કે ત્રણ વર્ષ લગાતાર વ્યાકરણમાં ગાલ્યા છતાં જોડેજ તેવો લામ થયો નહિ, આ વાત પૂજ્ય ગુરુદેવના જાણવામાં આવવાથી તેઓશ્રીએ વિ.સં. ૧૯૮૯ માં સુરત શહેરમાં કલિકાલસર્વજ્ઞ-વિરચિત-શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસન-બૃહદ્વૃત્તિ(તત્ત્વપ્રકાશિકા)નો અભ્યાસ કરવાનું જણાવ્યું, તે વાત માન્ય કરીને પરિશીલનપૂર્વક એક અધ્યાયનો અભ્યાસ કરવાથી અને મળવામાં રસ આવવાથી તથા ઉત્સાહમાં વધારો થવાથી હૃદયમાં નિર્ણય થયો કે વ્યાકરણ મળવાનું યથાર્થ ફલ હવે જરૂર પ્રાપ્ત થશે । સાથેના સહાધ્યાયીઓ ગ્રંથ વાંચવામાં જોડાયા, મને એમ થયા કરતું હતું કે વ્યાકરણમાં પાંચ વર્ષ તો ગયા અને હજી વીજા પાંચ વર્ષ જશે તો પછી આગમો અને વીજું જૈનસાહિત્ય ક્યારે વાંચી શકાશે ?, આ વાત પૂજ્ય ગુરુદેવને જણાવતાં તેઓશ્રીએ જણાવ્યું કે 'ભાષાજ્ઞાનનો વિવેક સુન્દર રીતે થઈ ગયા પછી મળવા કે વાંચવા પાછળની પરાધીનતા ભોગવવી નહિ પડે, પરંતુ વાંચતાની સાથે અર્થ અને રહસ્ય યથાર્થરીતે સમજવામાં આવી જશે' એમ જણાવીને આગમ વાંચનની ઉત્કટ ઉત્કણ્ઠાને શાન્ત પાડવા માટે પૂજ્ય ગુરુદેવે અનુયોગદ્વાર સૂત્રની વાંચના આપવા માહી, અનુયોગદ્વારસૂત્ર પૂર્ણ થયા વાદ સ્થાનાન્નસૂત્રની વાંચના શરૂ થઈ, આ પ્રમાણે આગમશાસ્ત્રના અભ્યાસ સાથે શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસનનો અભ્યાસ પણ ચાલુ રહ્યો । જેમ જેમ આ વ્યાકરણનો અભ્યાસ વધતો ગયો તેમ તેમ એની મહત્ત્વતા સમજાવા લાગી, સાથે સાથે એવી શક્તિ ઉત્પન્ન થઈ કે આવા સુન્દર વ્યાકરણનું પઠન-પાઠન (વીજા સમાજની વાત તો દૂર રહી) પણ અમારા જૈન સમાજમાં-અને તેથી વધુ કહું તો અમારા જૈન સાધુ સમુદાયમાં કેમ પ્રચલિત નથી ?, મળનાર અને મળાવનારનો સર્વત્ર દુષ્કાલ જ કેમ નજરે પડે છે ?; ઉપરના બંને પ્રશ્નોનું સમાધાન નહિ થવાથી છેવટે એવી અમિલ્લાષા ઉત્પન્ન થઈ કે જ્યારે શાસનદેવની કૃપાથી અનુકૂલ સંયોગો પ્રાપ્ત થાય ત્યારે આ મહાન્ ગ્રંથને સર્વાન્નસુન્દરતયા પ્રકટ કરવા માટે, તથા ત્યાર પછી તેના પઠન-પાઠનના પ્રચાર માટે શ્રીજૈનસંઘને સતત ઉપદેશ આપી પ્રવચન કરાવવા પ્રયત્ન કરું । તે વસ્તુના આ વિચારોને આજે આઠ વર્ષે યત્કિશ્ચિત્ મૂર્તસ્વરૂપ આપવા જે માન્યશાળી થયો છું તેનો સંબોધે યશ પૂજ્ય ગુરુદેવને જ છે, એટલું જ નહિ પણ તે પૂજ્ય ગુરુદેવની અસીમ કૃપાનું જ ફલ સમજું છું । કારણકે વ્યાકરણ મળવાની નિષ્પ્રાય-આશાઓને નવપલ્લવિત રાખવાની, નિરુત્સાહિત બનેલ ઇચ્છાઓને પ્રોત્સાહનપૂર્વક ટકાવી રાખવાની, અને કાઠજી રાખી મને આટલી હદે પહોંચાડવામાં જે પ્રયત્ન તેઓશ્રીએ કર્યો છે, તથા વીજા પણ અનેકવિધ અસીમ-ઉપકારો મારા ઉપર પૂજ્ય ગુરુમહારાજે કર્યા છે તે વધારે વધારે યથાર્થરીતે વાંચી શકાય એમ ન હોવાથી તેઓશ્રીનો તો હું સદાય ઋણી છું । શાસ્ત્રોના માવોને-રહસ્યોને જાણવા-જણાવવાની તથા બોલવા-લેખવાની જે કદ યત્કિશ્ચિત્ શક્તિ પ્રાપ્ત થઈ છે તે પણ તેઓશ્રીની અસીમ કૃપાનું જ પ્રતિબિંબ છે ।

### \* પ્રકાશન અંગે રવાયલો જરૂરીનો વિવેક ।

આ અમૂલ્ય ગ્રંથનું પ્રકાશન કેવળ પ્રકાશનદૃષ્ટિએ થયેલ નથી, પરંતુ પઠન-પાઠન-મનન અને પરિશીલન કરવામાં અભ્યાસીઓને સર્વથા અનુકૂલ પડે એ દૃષ્ટિએ પ્રકાશન કરવામાં આવેલું છે । હાલના રૂઢાઈના સંયોગોને લીધે કાગળનો વપરાશ ઉપર કટોર તથા માવોમાં બેહદ વધારો હોવા છતાં પણ મુદ્રણકલાની શોભાને ક્ષતિ પહોંચાડે એવી રીતે કાગળમાં કરકસર અગર તો પુસ્તકના આયુષ્યમાં ઘટાડો કરે એવા હલકા કાગળનો ઉપયોગ કરવામાં આવ્યો જ નથી । ગ્રંથ પ્રકાશનમાં દેશનારને દેશતાની સાથે આકર્ષક, વાંચનારને વાંચતાની સાથે અર્થ-બોધાદિજનક, પઠન-પાઠન કાળે પ્રકરણ-સૂત્ર-ઉદાહરણ-પ્રત્યુદાહરણ, સૂત્રરહસ્ય, વૃત્તિરહસ્ય અને મતમતાન્તર મિત્ર મિત્ર રીતે નજર તલે તરી આવે એવી રીતે નાના મોટા ટાઇપોમાં રહસ્યાદિજનક; એટલું જ નહિ પણ મુદ્રણકલાથી મુદ્રિત આવા મહાન્ ગ્રંથનું સંપાદન તથા પ્રકાશન વારંવાર થઈ શકતું નથી, તેથી આ ગ્રંથ જેમ વધુ દીર્ઘજીવી બને તેવા ઉત્તમજાતિના બહુમૂલ્ય કાગળોમાં તથા છપાઈ વગેરેમાં અધિક દ્રવ્યનો વ્યય થતો હોવા છતાં પણ મુદ્રણકલામાં લઘુપ્રતિષ્ઠ-પ્રેસમાં છપાવીને પ્રકાશન કરવાની જરૂરીયાતને સ્વીકારી છે ।

ઉપરની સર્વ વિનાને ધ્યાનમાં રાખીને આ મહાન્ ગ્રંથનું મુદ્રણ અલિલમારતવર્ષમાં સુપ્રસિદ્ધ-મુમ્બાપુરીમાં આવેલ નિર્ણયસાગરપ્રેસમાં વિવિધપ્રકારના તદ્દન નવીન ટાઇપોથી બાહોશ-કપાડીટોદ્ધારા વિદ્વાન્ પંડિતોની નજરતલે કરાવવામાં આવ્યું છે ।



प्रथम मुद्रित थयेली आ व्याकरणनी प्रति हालमां दुष्प्राप्य छै, तथापि प्रयत्न करतां कदाच मळी जाय तो ते पुस्तकमा एवी जातना हलका कागळो वापरवामा आव्या छे के भणती वखते पाना ने फेरवता ते प्रति पत्रचूर्णनी वर्षानो विद्यार्थिने साक्षात्कार करावे छे, भणनारने ग्रन्थ पूरो थतां सुधी दशोक प्रति मळी शके तो पण ओछी पडे अने ग्रन्थ पूरो भणी शकय नहि एटली तथी प्रथमावृत्तिनी नाजुक अवस्था छे। आ आवृत्तिमा तेवु न बने ए हेतुथी क्रोक्षली लायन ब्राड लेक्षर पेपरमां, सुपररोयल-क्राऊन जेवी चालु साइझमा छपाववानो विचार होवा छता ते साइझना सारा कागळो नहि मळी शकवाथी फुल्लकेप साइझना विशाल आकारमां, लगभग अठ्ठाशी ( ८८ ) फारमना दळदार कदमां, पाका पुठानी सुदर ( वाइन्डीगनी ) बांधकामनी सुबद्ध अवस्थामा, ताडपत्रीय प्राचीन-अर्वाचीन प्रत उपरथी लेवरावेल रगवेरंगी सुदर चित्रोथी सुशोभित बनावेल, आ महान् ग्रन्थने पठन-पाठन-वाचन-मनन अने परिशीलन करता, लेता मूकता अने तपासता पण दीर्घायुपी बनी रहे ते वाक्तनी पूरती काळजी राखवामा आवेली छे ।

### \* प्रकाशनना पुनीत-कार्यमां श्रीसङ्गनो सहकार ।

आ प्रधानतमव्याकरणने तत्त्वप्रकाशिका-टीकासहित सशोधन अने संपादननी दृष्टि ए कोइ पण जातनी स्वामी न रहे ए रीति ए छपाववानो बहु विचार करीने निर्णय करवामा आव्यो, सद्गृहस्थोने ते निर्णय जणावी ते कार्यमा रु० आठेक हजारनो खर्च थवानु जणावता ए खर्चने पहोंची बळवामा तेओ उत्साहित थया । १ जामनगर-निवासि-संधवी चुनीलाल लक्ष्मी-चन्द, २ राधनपुर निवासि रावसाहेब कान्तिराल ईश्वरलाल जे. पी., तथा ३ जामनगर-निवासि-झवेरी जमनादास मोनजीभाई ए त्रणे लक्ष्मीवन्तो ए साडीबारसो साडीबारसो रु० नी मदद आपवानु जाहेर करी दीपनी शरुआत करावी । ए प्रमाणे आ ग्रन्थना प्रकाशनकार्यनी जाण थता तुरतज शरुआतमा बीजा मदद आपनारना नामो टपोटप लखाइ गया । तेओना सुवारक नामो आ ग्रन्थमा मददनी दीपनी शरुआत करावनारा उपर जणावेल त्रण सखी गृहस्थोना चित्रोनी पाछळ प्रकाशित करवामा आवेलां छे । ज्ञानदानना अजब रंगथी रंगायेला मुम्बापुरीना जैनसमाजे मदद माटे धारेली रकम पर्युषणपर्वनी शरुआत पहेलाज पूर्ण करी आपी । आ ग्रन्थना प्रकाशन-कार्यमा लोकनो उत्साह घणोज होवाथी धारेली रकम पूर्ण थया पछी पण दीपमा मदद नोंधाववा आवनाराओने निराश करवा पड्या । आ प्रसङ्गे कहेवुं जरूरीनु छे के आ आखा ग्रन्थने तत्त्व-प्रकाशिकासहित बे ज भागमा बहार पाडवानो हतो । परन्तु कद मोटु थइ जवाथी पठन-पाठनमा उपयोगी नहि थइ शके एम जणायाथी अने पठन-पाठन-उपयोगि-बिनाओनी गेरहाजरी होवाथी शरुआतथी सूत्रनी, उपपत्ति, नवीन सूत्र रचनानी जरूरीयात, वृत्तिस्थ-पदोना पूर्वापरसंबन्ध, उदाहरण-प्रत्युदाहरणनी यथार्थ योजना विगेरेने यथार्थ समजण आपी शके तेवी नानी सरखी वृत्ति साथे कारक सुधीना विभागनेज विद्यार्थिओनी अनुकूलता माटे प्रथम भाग तरीके प्रकाशित करवामा आव्यो छे, आज रीति ए आगळना ग्रन्थना लगभग सात विभागो पाडी क्रमशः बहार पाडवानी अभिलाषा छे ।

टीपमा मरायला नाणा भरपाइ थया पहेला ज प्रथम मुद्रित प्रतिना जेवो अनुभव न थाय, अने लडाइना सयोगोनो लहने विलम्ब थशे तो कदाच जोइए तेवा कागळो मळी शकशे नहि, एम जणायाथी सरकारी ओफीसोमा वपराता कागळो पैकीना क्रोक्षली लायन ब्राड पेपर जल्दी खरीद करावी लीषा । आवा कार्यो श्रीसंधना सहकार बगर थता नथी अने जे कार्यथी तात्कालिक लाम देखाय ते कार्यमा पोताना संपत्ति-साधनोने समर्पण करवामा अने पुण्यना भण्डार-भरवामा श्रीसङ्ग जरा पण विलम्ब करतो नथी एम उपरनी बिना वाचनारना लक्ष्यमा आव्या बिना रहेशे नहि ।

### ग्रन्थनुं सम्पादनादि काम कोण करे ? ।

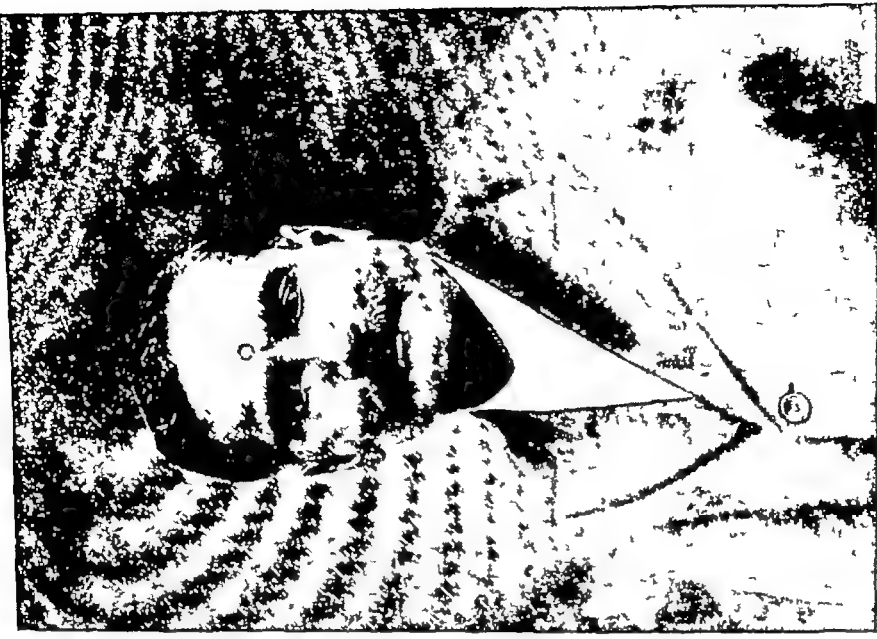
आ ग्रन्थनु मारी धारणा मुजबनु सम्पादन करी शके तेवा त्रणेक जैन पण्डितोना नाम सामळवामा आव्या, तेमाना बे पण्डितोना तो केवळ नामोज सामळ्या हता, परन्तु तेओनो अङ्गत परिचय न हतो । त्रीजा पण्डित तरीकेनो अङ्गत परिचय थयेलो होवाथी तेओनी साथे सम्पादन सम्बन्धी बाटाघाट चलावीने छेवटे नक्की कर्तु के सम्पादन कार्य माटे प्राचीन ताडपत्रीय प्रतो, हस्तलिखित प्रतो, महाभाष्य, वाक्यपदीय, निरुक्त, शाकटायन अने तेनी वृत्तिओ पैकी अमोषावृत्ति-चिन्तामणि वगेरे ग्रन्थो म्हारे मेळवी आपवा अने मारा तरफथी आपेली सूचनाओ अनुसारनुं सम्पादन कार्य तेमणे करवुं । ते प्रमाणे तेमणे कबुल कर्तु पछी वधारामा में तेओने जणाव्युं के आ सम्पादन कार्य केवळ द्वितीयावृत्ति तरीकेज करवानु नथी, परन्तु सशोधनावसरे पाठा-न्तरो-स्थलनिर्देश विगेरे जणाववा पूर्वक आधुनिक ढबथी पठन-पाठन काळे अत्यन्त उपयोगी थइ पडे एवी परिशिष्टादि सामग्रीसहितनुं करवानु छे, एम जणावीने तेओने जोइतु साहित्य ता० ९-९-४१ ना रोज सोंपवामा आव्युं । सम्पादन कार्य तेमणे तेमना मुकामे अमदावादमा करवानु हतु, एटले छपाववानु काम पण अमदावादमाना ज कोइ प्रेसने सोंपवामा आवे तो अनुकूलता आवे अने काम पण जल्दी थाय, ए हेतुथी शारदाप्रेसना कार्यवाहके अमारी मागणी मुजबना निर्णय-सागरीय तद्द नवा दइपोमा काम करवानु स्वीकार्यथी भाव नक्की करीने, सम्पादन कार्य त्रीजा पण्डित पासे कराववानु अने



श्रीष्ठिवर्य श्रीजमनादास मोनजी झवेरी.



रावसाहेब कान्तीलाल ईश्वरभाई जे. पी.



श्रीष्ठिवर्य श्रीचुनीभाई लक्ष्मीचंद संघवी.



વિં. સં. ૧૯૯૭ ના શ્રી મુંબઈ મુકામે શ્રીગોડીજી-પાર્શ્વનાથજી મન્દિરના ઉપાશ્રયમાં ચાતુર્માસ વિરાજમાન પૂ. પં. પ્રવર શ્રીચન્દ્રસાગરજી ગણિવરજીની છત્રછાયામાં શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્ર-શબ્દાનુશાસનના પ્રકાશન અંગે અંગાઉથી રકમ આપનાર સહી ગૃહસ્થોની મુવારક નામાવલિ.

૭૨૧૧

૧૨૫૦ શ્રેષ્ઠિ કાન્તીલાલ ईश्वरदास जे पी  
 ૧૨૫૦ „ જુનીલાલ લક્ષ્મીચંદ સઘવી,  
 ૧૨૫૦ „ જમનાદાસ મોનજી જ્ઞવેરી  
 ૫૦૧ સ્વ. જુલાહીદાસ નાનચંદ હ મુલ્લચંદભાઈ  
 ૫૦૧ શ્રેષ્ઠિ મોહનલાલ મગનલાલ શ્વાહુ  
 ૫૦૧ „ મનુભાઈ મુલ્લચંદ  
 ૨૫૧ „ મગનલાલ લાલજી હરજીભાઈ  
 ૨૫૧ „ સાકરચંદ જુગાલદાસ જ્ઞવેરી  
 ૨૫૧ „ છોટાલાલ મીલાભાઈ, સુરત  
 ૨૫૧ „ વાડીલાલ દોલતરામ માળસા  
 ૨૦૧ „ દલજીભાઈ હીરાલાલ હ મોહનભાઈ લખાત  
 ૨૦૧ „ વીમનલાલ મોહનલાલ માળસા  
 ૨૦૧ „ વીમનલાલ જુનીલાલ  
 ૨૦૦ „ જ્ઞવેરી મોતીચંદ મગનલાલ, સુરત  
 ૧૫૧ „ પ્રેમજીભાઈ નાગરદાસ માગરોલ

૧૫૦ શ્રેષ્ઠિ ગુલાબચંદ નગીનદાસ ઉસ્તાદ.  
 ૧૦૧ „ મોહનલાલ હેમચંદ જ્ઞવેરી  
 ૧૦૧ „ ચતુરચંદ રાયચંદ  
 ૧૦૧ „ ગગલભાઈ દલજીરામ  
 ૧૦૧ „ માળેકલાલ જોટાલાલ  
 ૧૦૧ „ તલકચંદ કેવલદાસ.  
 ૧૦૧ „ મગનલાલ દલીચંદ  
 ૧૦૧ „ જીવાભાઈ દલજીભાઈ  
 ૧૦૧ „ વિઠ્ઠલદાસ કાઠીદાસ  
 ૧૦૧ „ શાન્તીલાલ મગનલાલ  
 ૧૦૧ „ વરધીલાલ કચરાભાઈ  
 ૫૧ „ માળેકલાલ કેવલદાસ  
 ૫૧ „ મીલાભાઈ રવચંદ જોટાળા, હ મળીલાલ  
 ૫૧ „ નટવરલાલ મગલદાસ જોટાળા  
 ૧૫ „ ગોપાલદાસ „

૭૨૧૧

૮૫૩૯

તા. ૦ ક. ૦ ટીપ કરવાના અવસરે શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્ર-શબ્દાનુશાસન-તત્ત્વપ્રકાશિકા સાથે જે ભાગમા છાપવાનું વિચાર્યું હતું, પરંતુ પઠન-પાઠનમાં ઉપયોગી નીવડે એ હેતુથી અને પ્રશ્ન પ્રવેશમાં યથાર્થ મદદગાર બની શકે તે કારણથી આનન્દબોધિનીવૃત્તિ અને પરિશિષ્ટો સાથે છપાદ-કારક પર્યતનો પ્રથમભાગ બહાર પડે છે. પ્રશ્નપૂર્ણાવૃત્તિ સાતભાગ ઉપર થવા સમ્ભવ છે, અને ધારવા કરતા દશવારગણુ સ્વર્ચ થવા સમ્ભવ છે.

લિ  
 પ્રેકાશક.

મુદ્રણકાર્ય શોરદાપ્રેસમાં કરાવવાનું નહીં કર્યું । આ ગ્રન્થના સ્થલ-નિર્દેશ માટે વ્યાકરણ-સાહિત્ય અને ન્યાય એ ત્રણે વિષયમાં આચાર્ય થયેલા એક બીજા પંડિતને હમારા ચાતુર્માસિક સ્થંભે રોકવામાં આવ્યા, પરંતુ ધાર્યા પ્રમાણેનું કાર્ય તેઓ પૂર્ણ કરી શક્યા નહિ એટલે તા. ૨૪-૯-૪૧ થી શરૂ કરાવેલું કાર્ય એકઝ માસ લગભગ ચલાવીને બંધ કરાવવું પડ્યું ।

**\* સંશોધન-સમ્પાદનનું કાર્ય મારે જાતેજ કરવું, અને મુદ્રણકાર્ય નિર્ણયસાગરમાંજ કરાવવું ।**

આ ગ્રન્થનું કામ જે પ્રેસને સોંપ્યું છે તે પ્રેસ આ ગ્રન્થના મુદ્રણ માટે યોગ્ય નથી, પ્રેસના સાધનો પરિમિત હોવાથી અવસરે અવસરે નવીન ટાઇપો પુરા પાડી શકશે નહિ, તેવીજ રીતે સમ્પાદનકાર્ય જેને સોંપેલું છે તે પૂર્ણ કાર્ય પુરું કરી શકશે નહિ, કદાચ કરશે તો પણ તમારી ધારણા મુજબનું સુંદર કાર્ય થશે નહિ; આવી રીતની અનેકવિધ વાતો ભળકારારૂપે અને પત્રરૂપે સર્વેદિશામાંથી મારી પાસે આવવા લાગી । સમ્પાદન કરનારને વિદ્વાનોએ એવી સલાહ આપી કે-સૂત્રોના પૂર્વાપરના સમ્બન્ધ, પૂર્વસૂત્રમાંથી આવતાં અનુવૃત્ત પદો, અધિકારથી આવતાં પદો, ઉત્થાન પામતી નવનવીન પદ્ધિઓના ભાવો, મતમતાન્તરો અને સ્થલ-નિર્દેશની ચોક્કસ કરવામાં નહિ આવશે તો આ પ્રકાશન પઠન-પાઠનમાં ઉપયોગી નિવડશે નહિ । આ વધી વાવતોને લક્ષ્યમાં લેતાં અને તે ઉપર યુક્ત વિચાર કરવાથી એમ સમજાયું જે આ મહાન વ્યાકરણના પઠન-પાઠનનો વેગ યુક્ત વેધે એ હેતુથીજ પ્રકાશનનું કાર્ય હાથ ધર્યું છે, પ્રકાશિત થઈને જ્ઞાનમન્દિરોના કવાટોમાં ગોટવાદ જઈને કવાટોની શોભામાં વૃદ્ધિ કરે એટલા માટે કાંઈ આ કાર્ય હાથ ધર્યું નથી, માટે આપણો ધ્યેયો હવે પાર પાડવા માટે કેવી જાતનો પ્રયત્ન કરવો જોઈએ? એવી જાતના વિચાર-તરંગોમાં સૌથી પહેલાં તો સમ્પાદનકાર્ય કરનાર પંડિતને અમદાવાદ પત્ર લખીને સમ્પાદનકાર્ય સોંપતી વખતે આપેલી સૂચનાઓને યાદ દેવરાવીને પરીથી જણાવ્યું જે તમને સોંપવામાં આવેલું કાર્ય અગાઉ પ્રકટ થયેલ પ્રતિની દ્વિતિયાદ્યરૂપે કરવાનું નથી, પરંતુ પઠન-પાઠન અને પરિશીલન કરનાર દરેક વ્યક્તિને આ ગ્રન્થ નિર્જીવ છતાં સજીવની માફક ઉત્સાહિત કરે એવા અચેતન પ્રકારની આધુનિક રીતિ છતાં સચેતન શૈલીએ સર્વાશ્ચસુંદર બને તેવી દરેક સામગ્રીઓનો આ સમ્પાદનકાર્યમાં સમાવેશ થવો જોઈએ ।

સપાદકસાથેના પત્રવ્યવહારમાં ઉત્તર પ્રત્યુત્તર લેવા-દેવામાં લગભગ છ મહિના વીતી ગયા, તેમાં છેલ્લા પત્રમાં જવાબ આવ્યો કે આ સંપાદનનું કાર્ય મારા એકલથી થશે નહિ, જે ત્રણ વિદ્વાનોની જરૂરીયાત રહેશે તેની ગોઠવણ આપ કરી અપતા હો તો આપનો ધારણા મુજબનું કાર્ય થઈ શકશે, વળી જે પ્રેસમાં કામ કરાવવાનું નહીં કર્યું છે તે પ્રેસની પાસે પરિમિત સાધનો હોવાથી આપને જોઈતા દરેક જાતના ટાઇપો તે પ્રેસ પુરા પાડી શકશે નહિ માટે બીજા કોઈ પ્રેસની સગવડ પૂર્ણ કરી લેવાની છે; આવા પ્રકારનાં જવાબનું તાત્પર્ય એ નીકળ્યું કે આપની ધારણા મુજબના કાર્ય માટે બીજા સપાદકની અને બીજા પ્રેસની ગોઠવણ કરી લેશો । આમ છતાં પણ પ્રતિઓની મેલવણી કરી યાદાન્તરાદિ ગોંધવાનું કામ સમ્પાદકને ચાલુ રાખ્યું તેથી સંપાદન કરનાર પંડિતને તે કામ માટે યાદગ સાહિત્યરસિક મુનિશ્રીપુણ્યવિજયજી પાસે મોકલ્યા । ત્યાં થળા દિવસ રહી પ્રતિઓની મેલવણી કરી પાછા અમદાવાદ આવ્યા અને મને લખ્યું કે આ કાર્ય માટે યાદગ રહેવામાં, વિદ્વાનોના અભિપ્રાય મેલવવામાં સ્વર્ચ ઘણો લાગશે, જેના જવાબમાં સ્વર્ચની બાજતમાં બેઠીકર રહી આપણું કાર્ય જેમ સુંદર થાય તેમ કરવાનું મેં જણાવ્યું તો પણ તેમણે કામ કરી શકવાની અશક્તિ જણાવી અર્થાત્ મારી માગણીઓને મૂર્તસ્વરૂપ આપવામાં સમ્પાદકને ઘણી મુશ્કેલીઓ જણાઈ ।

ત્યાર પછી શ્રીસિદ્ધચક્રારાધકસમાજ તરફથી કરાવાતી આરોધના પ્રસન્ને પાનસર જવા માટે સુંબઈથી સાધુસમુદાય સાથે મારો વિહાર થયો, અમદાવાદ મહોંચીને છ મહિનામાં થયેલા સપાદન-કાર્યને તપાસ્યું તો મારી ધારણાને સફળતા મળે તેવું કાર્ય હતું નહિ, તેથી સંપાદનનું કાર્ય બંધ રાખી તેમને આપેલી પ્રતો વિગેરે સામગ્રી પાછી લઈ લીધી । સંશોધન-સંપાદનનું કાર્ય મારે જાતે જ કરવાનો નિશ્ચય કરી, મુદ્રણકાર્ય માટે નિર્ણયસાગરપ્રેસ સાથે નહીં કર્યું । સર્વાશ્ચસુંદર સમ્પાદનના કાર્યમાં સહાયક થઈ શકે એવા સહાયકોની નિમણૂક કરીને “આપ સમાન વ્રઢ નહિ ને મેધ સમાન જઢ નહિ”, તથા “કામ સુધારવું હોય તો જાતે જ મહેનત કરો”, એ ઉક્તિઓને ચરિતાર્થ કરવા હું પ્રયત્નવાન થયો ।

**\* આનન્દબોધિની-વૃત્તિની પૂર્વાવસ્થા ।**

અનુપમ ધારણાઓની સિદ્ધિમાટે અનુપમ સાધનો મળે તો જ ફલ્લ બેસી શકે । અનુપમ સામગ્રીઓથી સરપૂર સપાદનમાં સહાયક થાય તેવા વર્તમાનકાલીન દરેક વ્યાકરણોના સારી રીતે જાણકાર અને આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણના અનુરાગી એવા એક વ્રાહ્મણ પંડિતની શોધ કરતાં સ. ૧૯૨૫માં ક્ષાપટાની પોઠમાં ચાતુર્માસ રહીને જે પંડિતપાસે આ વ્યાકરણનો કારકાદિસુધીનો વિમાગ ઘળી સરસ રીતિએ હું અપ્યો હતો, તે કાશી-વનારસના વ્યાકરણાચાર્ય અને વ્યાકરણોના સમય ગ્રન્થોના નિષ્ણાત પંડિતનો અચાનક મેટાળ થયો । તેઓને આ સપાદન કાર્યમાં સહાયક થવાનું જણાવીને જે પદ્ધતિએ કાર્ય કરવાનું છે તે વધી

हकीकत तेमने जणावतां कार्य करवामां सहायक थवानी तेमणे तत्परता जणावी तेथी काम करवानी बाबतमां केटलीक समजुती आपीने तेमने जोइती ग्रन्थ-विगेरेनी सामग्रीनी गोठवण करावी आपी कामनी शरुआत करावी दीधी ।

त्यार पछी सं. १९९८ ना चैत्र मासनी ओळीनुं आराधन डामलानिवासी शेठ सोमचंद लालचंद तरफ्थी पानसरतीर्थमां रखायलु हतुं । त्या जवाने माटे अमारो विहार थयो, पानसरमा अमारी स्थिरता होवाथी दोढेक मासमां करेलु काम वताववा ते पण्डितजी पानसर आव्या, तेमणे करेलु काम जोता सतोष थयो नहि तेथी तेओने जणाव्युं के आ साल्लु मारुं चातुर्मास अमदावाद थवानु छे तो चातुर्मासमा तमे मारी पासे रही शकता हो, आ प्रधानतम व्याकरणमां आवती भाष्यादिनी पक्तिओ तथा वाक्यपदीय वगेरेनी उक्तिओ समजावी शकता हो, तेम ज भिन्नभिन्न ग्रन्थोमांथी आवता श्लोको-वाक्यो वगेरे जे जे ग्रन्थमांथी लीधेला होय ते बघा शोधी शकता हो, आ सपादनकार्य माटे तमारुं बीजुं बहु काम छोडीने मारी पासे रही शकता हो तो राखवानी मारी इच्छा छे, आ वात सामळीने ते पण्डितजीए रहेवानी इच्छा जणावी तेथी ताडपत्रीय वगेरे हस्तलिखित ग्रन्थोनी मेळवणी करवा तथा प्रेस कॉपी करवा बीजा एक मास्तरने पण राखवामा आव्या अने चातुर्मास पहेला मारा विचारोने मूर्च्छस्वरूप आपवा ते पण्डितजीने पुस्तकादि जोइती सामग्री मेळवी आपीने कामनी शरुआत करावी । चातुर्मास वेसवाने हजी चार हती तेथी पानसरनी नजीकना मेसाणा-जोटाणा-श्रीशङ्खेश्वरतीर्थादि क्षेत्रोमा मारो विहार चालु रखो त्यार पछी अमदावाद आववानु थयु, अने चातुर्मासनो प्रारंभ थयो । मारी धारणाओने लक्ष्यमा लहने पण्डितजीए आ व्याकरण उपर विभा-नामनी एक नानी सरखी वृत्ति बनाववा माडी हती ते वृत्ति सूत्र-वृत्ति-उदाहरण अने प्रत्युदाहरणने समर्थन करवाने बदले स्वतंत्र विषय स्पष्ट करनारी जणाइ एटले ते पण कार्यसाधक बनी शकी नहि, ए रीते मुबईना चातुर्मासनी शरुआतथी अमदावादना चातुर्मासनी शरुआत सुधीमा सम्पादनने सर्वाङ्गसुन्दर बनाववाना 'श्रीगणेशाय नमः'माज बार मास वीती गया । आ वखते अमदावादमा कर्पुर् ओर्डर चालु हतो तेथी लोकोनी अवर जवर ओळी होवाथी कंइ पण कार्य करवु होय तो समय घणो अनुकूल हतो, पर्युषणपर्वनी समाप्ति सुधी तो सम्पादननी दिशामा संशोधननुं ज कार्य चालतुं हतुं तेथी बीजु काइ बनी शक्युं नहि । परन्तु पर्युषणनी समाप्ति थताज भादरवा सुद ५ नो रोज सकल-विन्न विनाशक-श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथनी तथा सकल-समीहित-पूरक-श्रीसिद्धचक्रनी स्तुतिरूप भाववाही वे श्लोको बनावीने मारी धारणा मुजबना बघा भावोमरीने आनन्दबोधिनी नामनी वृत्ति बनाववानो में प्रारम्भ कर्यो । कलिकालसर्वज्ञ भगवाननी हार्दिक स्तुति श्लोकना पादमा उतरी अने पद्यरचना पूरी थइ एटले मार्गदर्शन थयुं के आ कार्य आ रीतिए ज करवु ए विद्यार्थीओ माटे श्रेयस्कर छे ।

पठन-पाठननी सर्व सामग्रीओ के जे आनन्दबोधिनी नामना प्रकरणमा जणावी छे ते बधी सामग्रीओ पीरसवानु मन ते दिवसथी थयुं । अमदावाद मुकामे सं० १९९८ ना भादरवा सुद ५ ना शरुआत करेली ते छ पादनी आनन्दबोधिनीनी रचना खम्भातमां सं० २००० ना माह सुदी ५ ने दिवसे पूरी थइ । आ प्रकाशनना छ पादमा आवेला मेटरनु सौथी पहेला काडु लखाण तैयार करवुं, पछी तेमा सुधारो वधारो करी प्रेस कॉपी करावी मुद्रणकार्य शरु राखवु, अने तेमां त्रण वखतनां मुफ तपासी चोथी वखत तपासीने छापवानी रजा आपवामा केटलो काळ व्यतीत थाय ते आवा उच्च कोटिना मुद्रणकार्य माटे अनुभव लइ चुकेलाओने समजावुं पडे तेम नथी ।

दरेक पादनी आनन्दबोधिनीनी रचना कया संयोगोमा अने कया क्षेत्रमा थइ, ते बधी हकीकत प्रशस्तिमां जणावेली छे । आ छ पादनी आनन्दबोधिनीना रचनाकाळमा अमदावादथी उपधाननी माळने प्रसङ्गे उज्झा, उज्झाथी जैनागममन्दिरनी प्रतिष्ठा प्रसङ्गे पालीताणा, पालीताणाथी सामुदायिक-श्रीसिद्धचक्र-नवपदाराधन-प्रसङ्गे कपडवज, अने कपडवजथी चातुर्मासिक निमित्ते खम्भात सुधीनो लगभग ५०० माइलनो विहार थयो हतो । त्यार पछी खम्भातथी सामुदायिक-श्रीसिद्धचक्र-नवपदाराधन-प्रसङ्गे उज्जैन, उज्जैनथी इन्दोर थइने प्रतिष्ठा प्रसङ्गे कानवन, धार अने धारथी राजगढ-माडवगढ-तारापुरतीर्थ, सीरपुर-धुळीया-मालेगाम अने नासिक थइने चातुर्मास-निमित्ते मुंबई ( घाटकोपर ) सुधीना लगभग १५०० माइलना लावा विहारमा शासनहितना कार्यो करवा-कराववा उपरात जे टाइम मळी शकतो ते टाइममा आगळी आनन्दबोधिनीनी रचनानुं, आवता मुफोने सुधारवानु, तथा रही गयेली त्रुटिओनी पूरवणीनु काम चालुज रहेतुं हतु ।

आ प्रथम विभाग प्रकट थया पहेला तो एने माटे मुंबईमा थयेली टीपना नाणां खर्चाइ गया, छता पण वचमाना-मुबई-अमदावाद-खम्भात अने घाटकोपरना-चातुर्मासमा ते ते स्थळना चातुर्मास करावनार ज्ञानरसिक सज्जनो-श्रावको तरफ्थी पण प्रसङ्गे प्रसङ्गे मदद मळती रहेवाथी आ प्रथमभागनुं प्रकाशन विना सकोचे थइ शक्युं छे ।

आनन्दबोधिनीनी रचना करवामा मद पडता उत्साहने प्रोत्साहन आपीने तथा आनन्दबोधिनीना आ प्रथम विभागनुं कार्य सफलता पूर्वक पूर्ण करवामा प्रसङ्गानुसार जोइती सामग्रीओ पुरी पाडवामा सहायक थनार मारी साक्षियमा रहेला व्याकरणाचार्य-पण्डितवर्यनी सहायता मने अतीव उपकारक निवडी छे । आनन्दबोधिनीनी रचना करवामा महार्णवन्यास,

महाभाष्य, वाक्यपदीय; अने शेट दे० ला० जैन पु० फण्ड तरफथी छेला ग्रन्थाङ्क तरीके छपाती श्रीसिद्धहेमचन्द्र०वृहद्भूति अवचूर्णिनी मुख्यतया सहायता लेवामा आवेली छे ।

### \* अनेकविध-सामग्रीओना संचयरूप आनन्दबोधिनी ।

संपादननुं कार्य जेने प्रथम सौंप्यु हतु तेमनाथी नहि थइ शके एम जणायाथी तेमने सौंपेछुं काम पाछुं लेवा विगेरेमां लामग एक वर्ष बीती गयु तेथी मनमा खेद तो थयो, परन्तु अन्ते दृढ निश्चय कयों के भले मोडुं थयुं पण आ प्रकाशन एवी उच्चकक्षानुं करवुं के पठन-पाठन-मनन अने परिशीलननो वेग बध्या ज करे । ए रीते “मोडुं थयु ते गेला माटे”, अने “लोडु थयु ते सारा माटे” एवी वे उक्तिओना अवलवनथी मन सुप्रसन्न रहेवा लाग्यु ।

ऐतिहासिक दृष्टि ए अवलोकनाराओ ऐतिहासिक दृष्टि ए अपूर्वताने अवलोके, पठन-पाठन करनाराओ पठन-पाठन दृष्टि ए प्रेमपूर्वक पेखे, मनन करनाराओ मानसिक विचारणापूर्वक मनन करे, अने साहित्यकारो साहित्यनी सर्वदेशीय-दृष्टि ए साक्षात्कार करे तेवी अनेकविध सामग्रीओरूप नवनवीन-नवीनताओनु दिग्दर्शन करावे एवा प्रकारनु संपादन थवुं ज जोइए आवी विचारणा हृदयमा अनेकवार आवती हती ।

उच्चारणकाळे, प्रयोगसिद्धिकाळे, उदाहरणोनी सफलीभूत योजनाकाळे, प्रत्युदाहरणोना यथायोग्य न्यायकाळे, मतमतान्तरोनी स्पष्टता प्रतिपादनकाळे, सूत्ररचनाना रहस्य-निरूपणकाळे,—सर्वरीति ए सुंदर रचनाथी सुबद्धसूत्रोनु स्पष्टीकरण थवुं होय, सूत्रना तत्त्वने स्वरूपादि त्रितयव्याख्याद्वारा समजावीने अने सूत्रार्थप्रदेश नियत उदाहरणो पूरतो ज छे परन्तु प्रत्युदाहरणो पूरतो नथी ज ए रीते तत्त्वोनु पूर्ण प्रकाशन करनारी तत्त्वप्रकाशिकानु साङ्गोपाङ्ग शिक्षण अपातु होय, विविधप्रकरणो अने विषयो केवी रीते अनुस्यूत संकलनावद्ध छे ते समजनुं सुंदर दान देवातु होय, सूत्रथी प्रगट थतो अर्थ अने वृत्तिथी प्रगट थतो अर्थ ए बलेनो भेदाभेद केटलो छे, अने कयी अपेक्षाए एक ज छे ते समजवा माटे आ सूत्रनो पूर्वोपरसूत्र साथेनो सवन्ध अने अनुवर्तन पदो, अधिकारथी आवता पदो केम आवे छे ते अनुभव अमृत पीरसातु होय, सूत्रो साथे सीधा अने आडकतरी रीति ए थता संबन्धो अने नवीन सूत्रोत्थाननी अनिवार्य जरूरीयातो जणावाती होय, सूत्रानुक्रमने साचववाथी थता फायदा अने सूत्रानुक्रमनी परिपाटीने बदलवाथी थता गेरफायदानु दिग्दर्शन करावातुं होय, अनेकसूत्रोना भावने एक सूत्रमा निवेश केवी रीते कयों छे ते समजावातु होय, सूत्रार्थमा तरी आवती त्रितय-व्याख्याओ विचाराती होय, उत्सर्ग-अपवाद-अतरङ्ग-बहिरङ्गादि न्यायोनी छणावट थती होय, प्रत्येकपदनुं समर्थन करनारा उदाहरणो तेमज प्रत्येकपदनी यथार्थता समजावनारां प्रत्युदाहरणो अपाता होय, मतमतान्तरोना भन्तव्य अने स्थलनिर्देश, सूत्रवृत्तिनुं अन्तिम रहस्य, अन्यशाब्दिकोना आधारयुक्त प्रमाणो, अन्य वैयाकरणोना नामनिर्देश, महाभाष्य—महार्णवन्यास अने वाक्यपदीयादि ग्रन्थोनी उक्तिओनु प्रसंगे प्रसंगे स्पष्टीकरण करातुं होय तो ज पठन-पाठननी सर्वोत्तमसामग्रीओ संपूर्णपणे संपादनना सर्व-श्रेष्ठ-थालमा पीरसी कहेवाय । एटलु ज नहि पण तुलनात्मक दृष्टि ए गौरव-लाघव-अतिविस्तृत-दुरागम अने विप्रकीर्णादि दोषोनी तुलना करीने आ प्रधानतम व्याकरणनी निर्दोषता सिद्ध करी होय अने साथे साथे कारकपर्यन्तना आ प्रथम भागने भणनाराने प्रासङ्गिक अनेकविध लामो-जेवा के बीजा अध्यायना त्रीजा पादनी शुरुआतथी सातमा अध्यायना चौथा पाद पर्यन्तना घणा सूत्रोना भाव, घणा खरा उणादि सूत्रोना भाव, अने पाणिनीय-शाकटायन-चान्द्र अने जैनेन्द्र व्याकरणना घणा खरा सूत्रोना भाव जणावाता होय, अने साथे साथे धातुओना प्रयोगोनुं ज्ञान अपातु होय तो कहेवुं ज पडशे के आ संपादन पठन-पाठननी दृष्टि ए सर्वाङ्गसुंदर थयेछुं छे ।

उपर जणावेली बधी सामग्रीओ मरचक मरी शकय तो ज पठन-पाठनकाळे आ संपादनकार्य सुंदर गणाय । एटला माटे लगभग बधी सामग्रीओना संचयरूप, आनन्दोत्पादनपूर्वक यथार्थबोध दइ शके अने भणनारना क्लेशने सदाकाळ देशवटो आपी शके तेवा हेतुथी ज आ आनन्दबोधिनी-नामकवृत्तिने यथायोग्यकाळे जन्म आपवामा जाव्यो छे एम कहेवुं ए सर्वथा उचितज गणाशे ।

संज्ञा-सन्धि-नाम अने कारकपर्यन्तना आ प्रकाशनमा आवेला छ पादना सूत्रोने तत्त्वप्रकाशिकानामकवृहद्भूति अने आनन्दबोधिनी-नामकलघुवृत्ति सहित भणनार विद्यार्थी महाभाष्य—महार्णवन्यास अने वाक्यपदीय जेवा महान् ग्रन्थोमां अल्प-प्रयासे प्रवेश करवानी शक्तिने प्राप्त करशे एम अमार्ह मानवु छे ।

रसदायक सामग्रीओथी भरपूर, क्लेशरहितपणे आनन्दने उत्पन्न करनारी यथार्थनामवती आ आनन्दबोधिनी छे, एम कहेवा करता दरेक अभ्यासिने आ ग्रन्थनो अभ्यास करती वखते उपर जणावेली बात स्वयमेव समजाइ जशे ए नि.सन्देह बीना छे । पोताना खरा उत्साहथी अगर तो अन्य कोई निमित्तने लहने पण आ प्रथमसागनु अध्ययन करनाराओ द्विगुणित उत्साहथी फलिकालसर्वज्ञना आ प्रधानतम सम्पूर्ण व्याकरणनु अध्ययन करे, अने संस्कृत व्याकरणशास्त्रना पारङ्गत बने ए एक ज इच्छाथी आ आनन्दबोधिनी-वृत्तिने रचवानो प्रयास कयों छे ।

\* सूत्रवृत्तिना प्रतिबिम्ब छतां अनुकरणं तो नथी जे ।

વિશ્વપ્રસિદ્ધ ભાષાની વ્યવસ્થા અને નિયમન કરનાર વ્યાકરણ શાસ્ત્ર છે, એમાં પ્રકરણ-વિષયક-શબ્દસિદ્ધિમાં નવીનતા હોતી નથી; પરંતુ વ્યાકરણની રચનામા આગેલી સરલતા કે કઠિનતાની, અને સર્વ-સંદ્ધાહિતા કે એકદેશીયતાની નવીનતા અથવા વિશેષતા પ્રત્યેક વ્યાકરણમા થોડે ઘણે અંશે રહેલી હોય છે ।

આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણમાં કેવા પ્રકારની નવીનતા આગેલી છે †, અને કયા વ્યાકરણનું પ્રતિવિમ્બ વિશેષતયા ઉતારેલું છે †, એ વે વાવતોનું અંવલોકન કરતાં આ વ્યાકરણના સૂત્રમાં અને વૃત્તિમાં વિશેષતયા શાકટાયન વ્યાકરણનું અને સંક્ષેપતયા જૈનેન્દ્ર વ્યાકરણનું પ્રતિવિમ્બ ઉતારેલું જણાય છે, છતાં અનુકરણ તો નથી જ ।

સૂત્ર અને વૃત્તિની રચના ગમ્भीરતા પૂર્વક એવી અજબ રીતિએ કરેલી છે કે શાકટાયન અને મહામાય્ય એ બંનેના વિસ્તૃત-વિષયો પણ અલ્પ-શબ્દોમા યોગ્ય રીતિએ સંમ્પૂર્ણપણે સમજાઈ જાય છે, ઇટલુજ નહિ પણ વલોણા ચઢતે માત્સ્યની જેમ ગહનવિષયને પણ અલ્પશબ્દોમા લૂલવાનું કૌશલ્ય અને રચનાકાળે અતિવિસ્તૃતાદિ દોષથી રહિત સૂત્ર અને વૃત્તિ રચવાનું મહદ્ભાગ્ય તેઓશ્રીનેજ પ્રાપ્ત થયેલું છે ।

શાકટાયન વ્યાકરણના પ્રથમાધ્યાયના પ્રથમપાદમાથી અર્ધમાત્રાના પળ ફેરફાર વગર અક્ષરશઃ નીચેના ૨૦ સૂત્રો આ પ્રધાનતમ-વ્યાકરણમાં લીધેલા છે—

न०	श्रीशाकटायन० सूत्राङ्कः ।	श्रीसिद्धहेमचन्द्र० सूत्राङ्कः ।
१	अप्रयोगीत् ॥ १ । १ । ५ ॥	॥ १ । १ । ३७ ॥
२	आसन्नः ॥ १ । १ । ७ ॥	॥ ७ । ४ । १२० ॥
३	सम्बन्धिना सम्बन्धे ॥ १ । १ । ८ ॥	॥ ७ । ४ । १२१ ॥
४	बहुगणं भेदे ॥ १ । १ । १० ॥	॥ १ । १ । ४० ॥
५	कसमासेऽध्यर्धः ॥ १ । १ । ११ ॥	॥ १ । १ । ४१ ॥
६	क्रियार्थो घातुः ॥ १ । १ । २२ ॥	॥ ३ । ३ । ३ ॥
७	गत्यर्थवदोच्छ ॥ १ । १ । ३० ॥	॥ ३ । १ । ८ ॥
८	तिरोऽन्तर्धौ ॥ १ । १ । ३१ ॥	॥ ३ । १ । ९ ॥
९	स्वान्येऽधिः ॥ १ । १ । ३४ ॥	॥ ३ । १ । १३ ॥
१०	प्राध्व बन्धे ॥ १ । १ । ३८ ॥	॥ ३ । १ । १६ ॥
११	परः ॥ १ । १ । ४४ ॥	॥ ७ । ४ । ११८ ॥
१२	स्पर्धे ॥ १ । १ । ४६ ॥	॥ ७ । ४ । ११९ ॥
१३	नं क्ये ॥ १ । १ । ६३ ॥	॥ १ । १ । २२ ॥
१४	मनुर्नभोऽङ्गिरो वति ॥ १ । १ । ६७ ॥	॥ १ । १ । २४ ॥
१५	स्वैरस्वैर्यक्षौहिण्याम् ॥ १ । १ । ८५ ॥	॥ १ । २ । १५ ॥
१६	वौष्टौतौ समासे ॥ १ । १ । ८८ ॥	॥ १ । २ । १७ ॥
१७	इन्द्रे ॥ १ । १ । ९७ ॥	॥ १ । २ । ३० ॥
१८	सम्राट् ॥ १ । १ । ११३ ॥	॥ १ । ३ । १६ ॥
१९	सुचो वा ॥ १ । १ । १७० ॥	॥ २ । ३ । १० ॥
२०	समासेऽसमस्तस्य ॥ १ । १ । १७३ ॥	॥ २ । ३ । १३ ॥

श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनमा उपर जणावेला वीस सूत्रो शाकटायन व्याकरणना वीस सूत्रो साथे अक्षरश मळता छे । शाकटायनना चारज अध्याय छे, तेना कुल सोळ पादमाथी फक्त प्रथम अध्यायना प्रथम पादमाथीज एटला अक्षरश मळता सूत्रो उपलब्ध थाय छे । जो मात्राना, अक्षरना अने अर्थना काइक फारफेरवाळा सूत्रोनी तारवणी करीए तो ए पहेला अध्यायना बीजा पादमाथी षणा सूत्रो मळी आवे, परन्तु अहीनो मात्र प्रतिबिम्बितपणुं जणाववा पूरतोज आ प्रयास कर्यो छे । जो चारें अध्यायना सोळे पादमाथी तारवणी करवामा आवे तो एक तुलनात्मक ग्रन्थ तैयार थइ जाय । आ वधु तपासी जोता शाकटायननुं प्रतिबिम्बितपणुं सावीत थाय छे, तो पछी तेनुंज अनुकरण करेल्ल छे एम केम नहि कहेवाय<sup>२</sup>, तेना समाधानमा जणाववानु के सूत्ररचना समान होवा छता विषयप्रकरणमा लघुता-सुन्दरता लाववी, झिझता दूर करवी, वृत्तिमा

કુશલતા દેસાહવી, ઉદાહરણોનાં ચાતુર્યતાનુ દર્શન કરાવવું, ઇટલુંજ નહિ પણ પૂર્વામર પ્રસન્નનું અને વ્યાકરણના મૌલિક-સિદ્ધાન્તનું પ્રતિપાદન કરવાની અનુપમ શૈલી-પ્રતિમા અને બુદ્ધિવૈભવ વગેરે દરેક વ્યાકરણકાર કરતાં, ચઢીઆતાં જણાયા વિના રહેતાં નથી એજ તેઓશ્રીની અપૂર્વતા છે, અર્થાત્ અનુકરણ તો નથીજ ।

સિદ્ધહેમચન્દ્રશંકરનુશાસનની તત્ત્વપ્રકાશિકાવૃત્તિની સાથે શાકટાયન-અમૌઘાવૃત્તિની તુલના કરતાં-શાકટાયનમા-અપ્રયોગીત્ ॥ ૧ । ૧ । ૫ ॥, બહુગળં મેદે ॥ ૧ । ૧ । ૧૦ ॥, અને કસમાસેઽધ્યર્થઃ ॥ ૧ । ૧ । ૧૧ ॥ એ ત્રણ સૂત્રો અક્ષરશઃ લીધા હોવા છતાં અને વૃત્તિના શબ્દો પણ લગભગ એક સરખા હોવા છતાં વૃત્તિનો પરમાર્થ સ્પષ્ટ કરી આપવામાં તેઓ-શ્રીએ તત્ત્વપ્રકાશિકાદ્વારા કેટલી બધી કુશલતા દર્શાવી છે તે નીચે જણાવેલી વચ્ચે વૃત્તિને તપાસી જોનાર સ્વયમેવ સમજી શકશે ।

અ૦ વૃત્તિઃ—હહ શાસ્ત્રે ઉપદિશ્યમાનો વર્ણ સમુદાયો વા લૌકિકશબ્દપ્રયોગે ન દૃશ્યતે સ ઇત્સંજો ભવતિ । અત એવ ાઽસ્ય પ્રયોગામાવઃ સિદ્ધઃ । ઉપદેશસ્તુ કાર્યાર્થઃ । ઇધિ ઇષતે । × × × ॥ ૫ ॥

ત૦ વૃત્તિઃ—હહ શાસ્ત્રે ઉપદિશ્યમાનો વર્ણસત્સમુદાયો વા યો લૌકિકે શબ્દપ્રયોગે ન દૃશ્યતે સ ઇતિ—અપગચ્છતીતિ ઇત્સંજો ભવતિ । અપ્રયોગિત્વાનુવાદેનેત્સંજાવિધાનાઽસ્ય પ્રયોગામાવઃ સિદ્ધઃ । ઉપદેશસ્તુ—ધાતુનામપ્રત્યયવિકારોઽઽગમેષુ કાર્યાર્થઃ । ધાતૌ ‘ઇધિ’, ઇષતે ॥ ૩૭ ॥

અ૦ વૃત્તિઃ—બહુગળ ઇત્યેતૌ શબ્દૌ મેદે વર્તમાનૌ સર્યાવદ્ભવતઃ । મેદો નાનાત્વમેકત્વપ્રતિયોગિ । બહુક. બહુધા બહુકૃત્વ । × × × । મેદે કિ ઇ,—વૈપુલ્યે સદ્ધે ચ સર્યાકાર્ય મા મૃત્ । બહુગળનાઽત્યન્તાય સચક્ષતે ઇતિ વચનમ્ । અત એવ મૂર્યાદીતિ નિવૃત્તિઃ ॥ ૧૦ ॥

ત૦ વૃત્તિઃ—બહુગળ ઇત્યેતૌ શબ્દૌ મેદે વર્તમાનૌ સર્યાવદ્ભવતઃ । મેદો નાનાત્વમેકત્વપ્રતિયોગિ । બહુકઃ, બહુધા; બહુકૃત્વઃ । × × × । મેદ ઇતિ કિમ્ ઇ,—વૈપુલ્યે સદ્ધે ચ સંર્યાકાર્ય મા મૃત્ । બહુગળૌ ન નિયતાવધિમેદામિધાયકાવિતિ સર્યાપ્રસિદ્ધરમાવાદ્વચનમ્ । અત એવ મૂર્યાદિનિવૃત્તિઃ ॥ ૪૦ ॥

ઉપર પ્રમાણે સૂત્રોની રચના સમાન હોવા છતાં વૃત્તિના સ્પષ્ટીકરણમા કેટલી બધી કુશલતા જણાવી છે તે અમ્યાસિને સમજાવવું પડે તેમ નથી । તેવી રીતે કસમાસે૦ એ સૂત્રમા પણ સમજી લેવું ।

અર્થમાં સમાનતા હોવા છતાં પ્રકરણ-વિષયને લક્ષ્યમા રાखીને અક્ષર માત્રાદિકના ફારફેરવાળી સૂત્રરચના કરીને ક્ષિપ્રતા-અર્થ સંદિગ્ધતાને દૂર કરવામા કેટલી બધી સફળતા પ્રાપ્ત કરી છે, તે નીચે જણાવેલા સૂત્રોને તુલનાત્મક દૃષ્ટિએ જોનારના સ્યાલમા આવ્યા વિના રહેશે નહિ—

### શા૦ સૂત્રાણિ ।

- ૧ પ્રાદિર્નાઽપ્રત્યયે ॥ ૧ । ૧ । ૨૪ ॥
- ૨ કળેમનઃ શ્રદ્ધોચ્છેદે ॥ ૧ । ૧ । ૨૮ ॥
- ૩ નિત્યં હસ્તે પાળૌ સ્ત્રીકૃતૌ ॥ ૧ । ૧ । ૩૬ ॥
- ૪ હસ્તો વાઽપદે ॥ ૧ । ૧ । ૭૪ ॥
- ૫ પ્રસોદોદયૈર્હૈવૈષ્યે ॥ ૧ । ૧ । ૮૪ ॥
- ૬ ઇવેઽનિયોગે ॥ ૧ । ૧ । ૮૭ ॥
- ૭ ચાદેરચોઽનાહ ॥ ૧ । ૧ । ૧૦૧ ॥
- ૮ સૌ વેતૌ ॥ ૧ । ૧ । ૧૦૩ ॥
- ૯ અબ્યૌ ચોદન્વાન્ ॥ ૧ । ૨ । ૯૯ ॥

### સિ૦ સૂત્રાણિ ।

- ૧ ન પ્રાદિરપ્રત્યયઃ ॥ ૩ । ૩ । ૪ ॥
- ૨ કળેમનસ્તૃતૌ ॥ ૩ । ૧ । ૬ ॥
- ૩ નિત્યં હસ્તેપાણાબુદ્ધાદે ॥ ૩ । ૧ । ૧૫ ॥
- ૪ હસ્તોઽપદે વા ॥ ૧ । ૨ । ૨૨ ॥
- ૫ પ્રસૈષૈષ્યોદોદયહે સ્વરેણ ॥ ૧ । ૨ । ૧૪ ॥
- ૬ અનિયોગે હુગેવે ॥ ૧ । ૨ । ૧૬ ॥
- ૭ ચાદિ સ્વરોઽનાહ ॥ ૧ । ૨ । ૩૬ ॥
- ૮ સૌ નવેતૌ ॥ ૧ । ૨ । ૩૮ ॥
- ૯ ઉદન્વાનબ્યૌ ચ ॥ ૨ । ૧ । ૯૭ ॥

ઉપર પ્રમાણે શાકટાયનસૂત્ર-વૃત્તિના પ્રતિવિમ્બો સ્થળે સ્થળે માલમ્ પડે છે તેથી અનુકરણ લેશમર નથી, પરન્તુ લાઘવતા, સરલતા, કુશલતા, ચાતુર્યતા, પ્રતિભાની ઓજસિતા, અને બુદ્ધિવૈભવના વિકાસો પગલે પગલે માલમ્ પડે છે, તેથી જ સૂત્ર-વૃત્તિના પ્રતિવિમ્બ હોવા છતાં પણ અનુકરણ તો નથી જ એમ બુદ્ધિમાનોને સમજાવવું પડે તેમ નથી ।

\* સિદ્ધાન્તના રહસ્યનું પ્રતિવિમ્બ હોવા છતાં પણ અનુકરણ તો નથી જ ।

આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણમા પ્રયોગ-સિદ્ધિકાળે અને પ્રયોગ-વ્યવસ્થાપનકાળે સિદ્ધાન્ત પ્રતિપાદન કરવામા મહામાખ્ય-કારની ઉક્તિઓના માવ સ્થળે સ્થળે માલમ્ પડે છે, છતાં અનુકરણતો નથીજ ।



સિદ્ધાન્ત પ્રતિપાદનકાલે મહામાપ્યકારના સિદ્ધાન્તના વિસ્તારનો સમ્પૂર્ણ ભાવ સમજવામાં આવી જાય એવી રીતે અરુપ-શબ્દોમાં કહી દેવું, કહ્યા છતાં કહેવાનું વાકી નહિ રહેવા દેવું અને યોગ્ય રીતિએ સમજાઈ જાય એવી અજબ શક્તિથી સમજાવી દેવું એ તેઓશ્રીની પરાકાષ્ઠાએ પરિપૂર્ણ-પહોંચેલી-પ્રતિમાનું પૂર્ણ સામ્રાજ્ય છે, એમ કહ્યા વગર ચાલે તેમ નથી ।

અપાદાન(કારક)વિપયક પ્રયોગોની વ્યવસ્થા કરવા માટે મહર્ષિ પાણિનિએ “ધ્રુવમપાયેડપાદાનમ્” વગેરે સૂત્રો રચેલા છે, તે સૂત્રોથી અપાદાનની સમ્પૂર્ણ વ્યવસ્થા થઈ શકતી ન હોવાથી મહર્ષિ પાણિનિને અને કાત્યાયનને અનેક સૂત્રો અને વાર્તિકોની રચના કરવી પડી છે । એ વધા સૂત્રો અને વાર્તિકોની આવશ્યકતાજ નથી, એમ “ધ્રુવમપાયેડપાદાનમ્” એ સૂત્રના અમે પૂર્તિ માટે રચેલા સૂત્રો અને વાર્તિકોના માપ્યમાં માપ્યકારે વિસ્તારથી જણાવી દીધું છે ।

એ વધાં સૂત્રો અને વાર્તિકોરૂપ દર્હીમાથી નવનીતની માફક તારવીને “અપાયેડવધિરપાદાનમ્ ॥ ૨ । ૨ । ૨૯ ॥” એવા એકજ સૂત્રની કલિકાલસર્વજ્ઞ-ભગવાન્ શ્રીહેમચન્દ્રસૂરિજીએ રચના કરીને એ સૂત્રમાથી નિકળી શકતા અર્થદ્વારા માપ્યકારના અભિપ્રાયરૂપ અમૃતને યુક્તિ દૃષ્ટાન્તાદિ પ્રદર્શનપૂર્વક વૃત્તિમા સમાવી દીધું છે એ કહી ઓછું કૌશલ્ય ન કહેવાય ।

સિદ્ધાન્ત અને માવાર્થ માપ્યકારને મળતા હોય તેવું પ્રતિબિંબ છતાં અનુકરણ તો નથીજ, કારણ કે સૂત્ર-વૃત્તિ અને પ્રયોગોને પ્રશસનીય રીતિએ સમજાવનારી કલિકાલસર્વજ્ઞની વિશિષ્ટતાઓ અને નવીનતાઓનું પગલે પગલે દર્શન થાય છે ।

અમ્યાસકોની બુદ્ધિનો ઉત્કર્ષ થવા માટે જે જે સૂત્રની વૃત્તિમા શક્ષ્કાઓનું ઉત્થાન કરીને તેનું વિસ્તારપૂર્વક સમાધાન કરવામા કલિકાલસર્વજ્ઞે સૈદ્ધાન્તિકમાપ્યનું આલેખન કરતા તે માપ્યના ભાવોને સૂત્ર-વૃત્તિમા જે રીતિએ ગુપ્ત્યા છે, તે આલેખન અને ગુપ્તગીનું તુલનાત્મક દૃષ્ટિએ વિવેચન કરવામા આવે તો એક સ્વતંત્ર નિબંધ જ તૈયાર થઈ જાય । છતાં પણ કલિકાલસર્વજ્ઞે આ વ્યાકરણના સાતે અધ્યાયમા પ્રસંગે પ્રસંગે માપ્યકારોના ભાવોને કેવી રીતે શ્લોકાવ્યા છે તે વિસ્તારપૂર્વક જણાવવાની ભાવનાને બનતા સુધી આ ગ્રન્થના અન્તિમભાગમા સફળ કરવામાં આવશે ।

મતમતાન્તરોનું સ્પષ્ટીકરણ કરવામા માપ્યકારના સિદ્ધાન્તને અનુસરીનેજ સૂત્ર-વૃત્તિ-ઉદાહરણ તથા પ્રત્યુદાહરણાદિની છળવટ અને ચોલવટ કરેલી છે, દરેક જગ્યાએ માપ્યકાર પ્રત્યે બહુમાન દર્શાવ્યું છે । અને તેઓશ્રીથી વિરુદ્ધ પ્રતિપાદન કર્યું હોય તેવું આ કારકપર્યન્તના પ્રથમ ભાગમા પ્રાયઃ જોવામા આવ્યું નથી ।

આ ઉપરથી સિદ્ધાન્તના ભાવો પ્રતિબિંબિત થયેલા હોવા છતાં અનુકરણ તો કર્યું જ નથી એ સમજાઈ જાય એવી સ્પષ્ટ વાત છે ।

### \* શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસનનામની યથાર્થ-ગુણનિષ્પન્નતા ।

આ મહાન્ વ્યાકરણનું શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસન એવું નામ રાખવામા આવ્યું છે, તે શબ્દાર્થગુણનિષ્પન્ન નામ હોવાથી યથાર્થજ રાસ્યું છે, એમ નીચે જણાવેલા નામાન્તર્ગત-શબ્દાર્થના સ્પષ્ટીકરણને મનન પૂર્વક વાચતા વાચનારાઓ સ્વીકાર કર્યા વિના રહેશે નહિ ।

શ્રીસિદ્ધ=દ્રવ્ય અને માવ અથવા બાહ્ય અને અભ્યંતર શોભાએ કરીને પ્રતિષ્ઠા પ્રાપ્ત કરેલી હોવાથી—શ્રીસિદ્ધ, કષ-તાપ અને છેદરૂપ ત્રિવિધ પરીક્ષામા ઉત્તીર્ણ થયેલ સુવર્ણસમ-સૂત્રોથી શોભાયમાન હોવાથી—હેમ, તત્ત્વપ્રકાશિકાવડે સૂત્રોના સમસ્ત-તત્ત્વો પ્રકાશિત થઈને ચન્દ્રના કિરણોની પેટે આહ્વાદોત્પાદક હોવાથી—ચન્દ્ર; અથવા—રાજ્યાદિક શ્રી ષ્ટલે લક્ષ્મી તથા શોભાએ કરીને સંયુક્ત એવા સિદ્ધરાજ નામના ગુર્જરધરાધિપતિએ આગ્રહપૂર્વક પ્રાર્થના કરીને રચાવેલ હોવાથી—શ્રીસિદ્ધ, હેમચન્દ્રસૂરી-શ્રવજીએ રચેલું હોવાથી—હેમચન્દ્ર, તથા શબ્દસમૂહનું અનુશાસન-વ્યવસ્થા અને નિયમન-કરનારું આ વ્યાકરણ હોવાથી—શબ્દા-નુશાસન, એ રીતે શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસન એ નામમા આવેલા શબ્દોના અર્થનું સ્પષ્ટીકરણ થતું હોવાથી નામકરણની યથાર્થતા સમજાઈ જાય છે ।

### \* પ્રધાનતમ-વ્યાકરણ-ગ્રન્થરચના સમય ।

આ મહાન્ ગ્રન્થની રચનાનો સમય ગ્રન્થકારે આ ગ્રન્થમા તો જણાવ્યો નથી, પરંતુ પોતાના રચેલા દ્વયાશ્રયમહાકાવ્યાદિ વીજા અનેક ગ્રન્થોમા પણ એ સવન્ધી કાઢી પણ ઉલ્લેખ કરેલો જણાતો નથી, અને શ્રીસિદ્ધરાજ તથા કલિકાલસર્વજ્ઞ શ્રીહેમચન્દ્રાચાર્યના સવન્ધમા અનેક ઉલ્લેખો જેમા મઠી આવે છે એવા ૧ પ્રભાવકચરિત્ર, ૨ પ્રવન્ધચિન્તામણિ, ૩ કુમારપાલપ્રબોધ અને ૪ કુમારપાલચરિત્રમા પણ તે તે ગ્રન્થકારોએ આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણની રચનાનો સમય જણાવનાર કોઈ પણ ઉલ્લેખ સ્પષ્ટપણે જણાવેલો નથી ।

ઉપર જણાવ્યા પ્રમાણે આ વ્યાકરણની રચનાનો સમય કોઈ પણ સ્થળે સ્પષ્ટપણે જણાતો નથી, તથાપિ તે સવન્ધમા મઠી આવતાં અન્યાન્ય સાધનો વડે રચનાના સમયનો નિર્ણય કરી શકાય તેમ છે ।

આ સમ્બન્ધમાં ઐતિહાસિક વિષયથી અનભિજ્ઞ-મનુષ્યોને રચનાના સમયનો નિર્ણય-કરવાથી લાભ શો છે? અને રચના એકાદ વર્ષમાં અગર તો ચાર પાંચ વર્ષમાં પૂરી કરી છે, અથવા થઈ છે તે જાણવાથી પણ લાભ શો છે?; એવા અનેકવિધ વિકલ્પો થાય એ સ્વાભાવિક છે, છતાં તેના સમાધાનમાં એક સમાધાન તો એ છે કે આવા અનુપમ-ગ્રન્થનું અલ્પ-સમયમાં સર્જન થયેલ જાણીને વિદ્યાર્થીઓને રચયિતાની પ્રતિમા, પ્રતિપાદન શક્તિ અને ગ્રન્થની ગુન્થળી-સમ્બન્ધ-કૌશલ્યાદિ અનેકાનેક ગુણો પ્રત્યે જરૂર વહુમાન થાય છે, વીજુ આ ગ્રન્થને લગતા સર્વસાહિત્યો ગ્રન્થકર્તાએ વાચ્યા ક્યારે?; વિચાર્યા ક્યારે?; તે ઉપર મનન અને પરિશીલન કર્યું ક્યારે?; અને તે વધાનુ મન્થન-દોહન કરીને મતમતાન્તરોના નિર્દેશ સહિત આવા ઉચ્ચકોટિના ગ્રન્થનું નિર્માણ કર્યું શી રીતે?; આ બધી વાવતો વિચારનારા-વિદ્યાર્થીઓને ગ્રન્થકારના પરિશ્રમ, અપ્રમત્તતા, વિષય-સદ્ગ્રાહિતા અને બુદ્ધિવૈમવાદિ ગુણો આશ્ચર્યમુગ્ધ બનાવી દે છે, ઇટલુજ નહિ પણ તે કૃતિદ્વારા ઘણુ ઘણુ મેલ્લી શકીશુ એવા અનેકવિધ ડમગો ડઠી આવે છે, ઇટલા માટે મઠ્ઠી-શકતા સાધનોથી ગ્રન્થ-રચનાના સમયનો નિર્ણય કરવો એ પણ એક પ્રસ્તાવનાનો આવશ્યકીય વિષય ગણાય છે ।

આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણની રચનાના સમયનો નિર્ણય કરવા માટે એના રચયિતાએ રચેલા સમગ્ર સાહિત્યનો પૌર્વાપર્યક્રમ પ્રથમ નક્કી કરવો જરૂરીનો છે, અને તે ક્રમ નક્કી કરવા માટે તેઓશ્રીના સમગ્ર-સાહિત્યસાગરમાં પર્યાપ્ત-અવગાહન-કરવું જોઈએ, એમ કાર્યથીજ તે ક્રમ વિશ્વસનીય અને માનનીય થઈ શકે । પરન્તુ એ ક્રમ તૈયાર કરવાના પૂરતા સાધનો ઉપલબ્ધ થતા ન હોય તો પણ વિદ્વાનોએ જેટલા સાધનો ઉપલબ્ધ થાય તેટલા સાધનોથી પૌર્વાપર્યક્રમની સફલતા કરીને દરેક ગ્રન્થની રચનાના સમયનો ન્યાયપૂર્વકનો નિર્ણય કરવો જોઈએ, ઇટલા માટે ચાલુ પ્રસંગમાં આ ગ્રન્થની રચનાના સમયનો નિર્ણય કરવાના ઉપલબ્ધ-સાધનોને તપાસી જોઈએ—

અ—એક લેખક ક. સ. શ્રીહેમચન્દ્રાચાર્યજીના જીવનચરિત્રમાં લખે છે, તેનો સારાશ એ છે કે,—‘યશોવર્માએ વિ. સ. ૧૧૯૨ ના માહ સહિનામાં કોઈને જમીનનું દાન દીધું હતું, તે વખતે તે માલવાનો સ્વતંત્ર મહારાજા હતો એમ લાગે છે । દાનના પ્રસન્ન પછી તરતજ શ્રીસિદ્ધરાજે યશોવર્મા ઉપર જીત મેલ્લી હશે, અને તે વખતે યુદ્ધ માટે ચોમાસા સિવાયનો કાલ અનુકૂળ ગણાતો હોવાથી ચોમાસા પહેલાં જીત મેલ્લીને પાટણમાં પ્રવેશ પણ કર્યો હશે, આ ઉપરથી માલવાનો વિજય, પાટણમાં વિજયપ્રવેશ અને વિજયમહોત્સવાદિ કાર્યો સ. ૧૧૯૨ ના શ્રાવણ માસ લગભગ સમાપ્ત થયા હશે અને તે જ અરસામાં તેણે પ્રાર્થના કરીને આ પ્રધાનતમ-વ્યાકરણની રચનાનો પ્રારંભ કરાવ્યો હશે ।

આ—માલવદેશના ઝજ્જન-નગરમાં આવેલી માધવ-કોલેજના વિશાલ-ચોગાનમાં વિ. સ. ૧૧૯૫ ના જેઠ વદ ૧૪ ને ગુરુવારે લક્ષ્મણ એક શિલાલેખમાં નીચેનું સારમૂત વૃત્તાન્ત જણાવેલ છે કે ‘તે વખતમાં અળાહિલ-પાટણમાં મહારાજાધિરાજ-પરમેશ્વર-જયસિંહદેવ રાજ્ય કરતા હતા, તેઓ ૧ ત્રિમુવનગણ્ડ, ૨ સિદ્ધચક્રવર્તી, ૩ અવન્તીનાથ, અને ૪ વર્વેરિકજિષ્ણુ એવા ચાર વિરુદ્ધ-વિશેષણો-ને ધારણ કરનારા હતા ।’

૬—દોહદમાં મઠ્ઠી આવેલા વિ. સ. ૧૧૯૬ ની સાલના શિલાલેખમાં અને કેટલાએક-પ્રબન્ધોમાં ‘સિદ્ધરાજે માલવાના રાજા સાથે વાર-વર્ષ-પર્યન્ત યુદ્ધ કરીને છેવટે તે રાજાને જીતી લઈ કેદ કરીને માલવા દેશને ગુજરાત દેશની સાથે મેલ્લી દીધો’ એમ જણાવેલ છે । આ અને ૬ વિભાગના શિલાલેખોના સર્વત્ર પૂર્વકાલીન-ઘટનાને ચારીકાઈથી અવલોકવા મલામળ કરે છે ।

૭—માલવાના રાજા નરવર્મા ઉપર ગુજરાતના રાજા સિદ્ધરાજે અનેકવાર ચઢાઈ કરી, પરન્તુ નરવર્માનું બઠ વધારે હોવાથી સિદ્ધરાજે વિજય મલ્યો નહિ, છતાં માલવાનો વિજય પ્રાપ્ત-કરવાના-નિશ્ચયને છોડ્યો પણ નહિ । તે નિશ્ચયને અમલમાં મેલ્લીવાની તક જોતા જોતા છેવટે સિદ્ધરાજે નરવર્માના અવસાન પછી ગાદી પર આવેલા તેના (નરવર્માના) પુત્ર યશો-વર્માની ઉપર ચઢાઈ કરી, તેમાં ઘણા કઠને વેઠીને આખરે વિ. સ. ૧૧૯૨ માં યશોવર્માને હરાવીને (કેદવાનમાં નાખી દીધા પછી) માલવાને ગુજરાત સાથે મેલ્લી દીધો । પોતાના પૂર્વજોની (માલવાને જીતીને ગુજરાતમાં મેલ્લીવાની) અપૂર્વ આકાંક્ષાને પૂર્ણ-કરી ત્યારથી સિદ્ધરાજે પોતાને અવન્તીનાથ એવું વિરુદ્ધ લગાડવાનું શરૂ કર્યું હોય એમ તે વખતના-આસપાસના પ્રસન્નો ઉપરથી જણાય છે ।

૮—માલવાના રાજા યશોવર્માએ વિ. સ. ૧૧૯૧ ના કાર્તિક સુદ ૬ ને દિવસે એક દાનપત્ર આપેલ છે તેની ઉપરથી, તથા વિ. સ. ૧૧૯૨ ના માગ વદ ૩ નો લખેલો એક તામ્રલેખ મઠ્ઠી આવ્યો છે તેની ઉપરથી, એ બન્નેમાં જણાવેલા સમયની નજીકના સમયમાં યશોવર્માની હાર થયેલી હોય એમ માની શકાય છે, અર્થાત્ માનવાને ઘણા કારણો મોજુદ છે ।

ૐ—કાઠિયાવાડમા આવેલા પ્રાગધ્રાસ્ટેટના ગાઢા-નામના ગામમાથી વિ૦ સ૦ ૧૧૯૩ ના વૈશાખ વદ ૧૪ ને દિવસે લખાયેલો એક શિલાલેખ મળ્યો છે, તેમા સિદ્ધરાજને અવન્તીનાથ એવુ વિશેષણ લગાડેલુ હોવાથી વિ સ. ૧૧૯૩ પહેલા સિદ્ધરાજે માઢવા ઉપર જીત મેલ્લેલી હતી એમ માન્યા વિના કોહને પળ ચાલે એમ નથી ।

ઉપર જણાવેલા ૬ ઐતિહાસિક પ્રમાણોમાથી અ-ઈ-ઝ-અને ઐ વાઢા પ્રમાણોને વારિકાઈથી અવલોકન કર્યા પછી પૂર્વાપર સબન્ધની વિચારણા કરીએ તો વિ૦ સ૦ ૧૧૯૨ ના માગસર માસ પછી અને ૧૧૯૩ ના વૈશાખ માસ પહેલા સિદ્ધરાજે માઢવા દેશને સર કર્યો હશે એમ ચોક્કસ જણાય છે, પરન્તુ વિશેષ સાધનોના અભાવે વર્ષ-માસ અને દિવસનો ચોક્કસ નિર્ણય કરી શકાતો નથી । માઢવા દેશનો વિજય પ્રાપ્ત થયા પછી જ સિદ્ધરાજે આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણને રચવાની પ્રાર્થના કરી અને તે પ્રાર્થનાનો સ્વીકાર કરીને કલિકાલસર્વજ્ઞ-ભગવાન્ શ્રીહેમચન્દ્રસૂરિજીએ રચના કરી એમ તે કાઢના અને ત્યાર પછીના વર્તમાનકાલીન વધા ગ્રન્થકારો એક મતે માનતા આવ્યા છે ।

આ વ્યાકરણની પ્રશસ્તિના શ્લોક ૧૯ થી ૨૯ સુધીના ૧૧ શ્લોકમા કલિકાલસર્વજ્ઞે સિદ્ધરાજે પ્રાપ્ત કરેલા માઢવાના વિજયનુ ઉત્કર્ષરૂપે વર્ણન કરેલુ છે, અને સ્વરચિત-વ્યાકરણના “લ્ખ્યાતે દૃશ્યે” ॥ ૫ । ૨ । ૮ ॥ સૂત્રના ઉદાહરણમા ‘અરુણત્ સિદ્ધરાજોઽવન્તીમ્’ સિદ્ધરાજે અવન્તીને ઘેરો ઘાલ્યો હતો એવુ ઉદાહરણ આપ્યુ છે તે માઢવાના વિજય સાથે ઘણુ જ સુસગત છે ।

ગુર્જરેશ્વર-સિદ્ધરાજ સાથે પ્રથમ પરિચય થયા પછી ઉત્તરોત્તર (તે પરિચય) વધતા વધતા માઢવાનો વિજય પ્રાપ્ત કર્યો ત્યા સુધીમા તો તે ઘણો જ વધી ગયો હતો એમ કહેવામા લેશ પળ અતિશયોક્તિ નથી, કારણ કે વિ૦ સ૦ ૧૧૮૧ ના વૈશાખ માસની પૂર્ણિમાના દિવસે વાદિ-દેવૈસૂરિ અને કુસુદચન્દ્રનો શાસ્ત્રાર્થ સિદ્ધરાજના પ્રસુત્વપણામા પાટળમા થયો હતો, તે અવસરે ક૦ સ૦ શ્રીહેમચન્દ્રસૂરિની પળ હાજરી હતી, તે પ્રસન્નથી જાણી શકાય છે કે—‘સૂરિશ્વરજીનો ગુર્જરેશ્વરની સાથેનો આછો પરિચય પળ સ૦ ૧૧૮૧ થી પહેલાનો છે’ ।

માલવદેશની જીત મેલ્લીને ગુર્જરેશ્વર-સિદ્ધરાજે પોતાની રાજધાની-પાટળમા ઘણા જ આઢમ્બરથી પ્રવેશ કર્યા પછી અલ્પ સમયમા જ મોજવ્યાકરણથી મોજરાજાની દીર્ઘકાલવ્યાપિની-નામનાને અનુલક્ષીને પોતાની નામના પળ દીર્ઘકાલવ્યાપિની થાય એવા હેતુથી એક અત્યન્ત-સુન્દર-નવીન-વ્યાકરણ રચવાને માટે યોગ્ય વ્યક્તિ તરીકે કલિકાલસર્વજ્ઞ શ્રીહેમચન્દ્રસૂરિજીને જાણીને તેમને અત્યન્ત વિનમ્રપણે પ્રાર્થના કરી, આ વિનાને વધા પળિટતો નિર્વિવાદપણે માન્ય રાલે છે । નગરપ્રવેશમહોત્સવ અને વ્યાકરણ રચવા માટેની પ્રાર્થના એ બન્ને પ્રસંગો લગભગ એકસાથે સ૦ ૧૧૯૩ ની પૂર્વે બન્યા હતા । કોઈ શુભમુહૂર્તમા સિદ્ધરાજની થયેલી પ્રાર્થનાનો સૂરિજીએ સહર્ષ સ્વીકાર કરવાથી ગુર્જરેશ્વરને માઢવાના વિજયથી પ્રાપ્ત થયેલા આનન્દથી પળ વિશેષ આનન્દ થયો । ત્યાર પછી કાશ્મીરદેશથી પુસ્તકો મગાવતા થયેલા કાલ-ક્ષેપને ગળવામા આવે તો પળ આ વ્યાકરણની રચનાનો પ્રારમ્ભ વિ૦સં૦ ૧૧૯૩ ના પ્રારમ્ભમાં જ થયો હશે, અને તે જ વર્ષના અન્તમાં અગર તો વિ૦સં૦ ૧૧૯૪ માં સંમાપ્તિ થઈ હશે; ઇટલે એક વર્ષ યા સવા વર્ષમા જ આ વ્યાકરણની રચના થયેલી છે । એ વાતમાં પ્રબન્ધચિન્તામણિમાં-‘શ્રી-હેમચન્દ્રાચાર્યૈઃ શ્રીસિદ્ધહેમાભિધાનમભિનવં પચ્ચાઢ્ઢમપિ વ્યાકરણં સપાદલક્ષપ્રમાણં સંવત્સરેણ રચયાઞ્ચક્રે’ એવો ઉલ્લેખ કરવામા આવેલો છે ।

અન્ય-વ્યાકરણ-સમૂહને પ્રાપ્ત-કરવામા તથા તે વધાનુ અવલોકન કરવામા વીતેલા કાઢને વાદ કરીએ તો કલિકાલ-સર્વજ્ઞ ભગવાન્ ને આ વ્યાકરણની રચના કરવામા એક વર્ષથી વધારે કાઢ વીત્યો હોય એમ સંભવતુ નથી । આ વાતમા કેટલાએક લેલ્લકોનો એવો અભિપ્રાય છે કે ‘આ વ્યાકરણના સૂત્રો અને લઘુવૃત્તિની રચના એક વર્ષમા થઈ હશે અને વાકીના અગોની રચના ત્યાર પછી કરીને સ૦ ૧૧૯૪ મા અથવા સં૦ ૧૧૯૫ ના પ્રારમ્ભમા સમ્પૂર્ણ ગ્રન્થની રચના કરેલી હશે’ । આ વિના ઐતિહાસિક-સત્યને યથાર્થ રીતિએ સ્પર્શતી નથી ।

આ આલ્લા પ્રકરણને વિચારતા આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણના સૂત્રો-લઘુવૃત્તિ-વૃહદ્વૃત્તિ-લિઙ્ગાનુશાસન-ઉણાદિપ્રકરણ-ઘાતુપારાયણ-આદિદરેક-અગની રચના કલિકાલસર્વજ્ઞે ક્યારે અને કેટલા સમયમા કરી તેના નિર્ણયને માટે ઘણા સાહિત્યના અવલોકનની આવશ્યકતા હોવાથી આગઢ ઉપર કોહક પ્રસંગે વિગતવાર જણાવવાનો યથાશક્તિ પ્રયત્ન કરવામા આવશે ।

### \* ગ્રન્થરચયિતાની આઢી-જીવનચર્યા ।

કલિકાલસર્વજ્ઞ ભગવાન્ શ્રીહેમચન્દ્રાચાર્ય જેવા મહાપ્રમાવક મહાપુરુષના વ્યક્તિત્વનુ મૂલ્યાકન સપૂર્ણતયા કરી શકાઉં નથી, તથાપિ આ મહાપુરુષે સર્જન-કરેલા-સાહિત્યના અવલોકન ઉપરથી એઓશ્રીના વ્યક્તિત્વની આઢી રૂપરેલાઓનુ મૂલ્યાકન કરી શકાય એમ છે ।

૧—પુરાતત્ત્વ પુ૦ ૪ ધુ પોપ-ચૈત્ર-૫૦ ૧૭-૨૧ । ૨—હેમસમીઢા-૫૦ ૨૭ । ૩—સિંધી પ્ર૦ ૧૩ વાદિવે૦ ૫૦ ૧૭૮ થી શરૂ । ૪—સુઝો-દે૦ લા૦ પ્રસ્તા૦ ૫૦ ૬-૧૦, તથા બુદ્ધિપ્રકાશ પુ૦ ૮૨ અ૦ ૧ લો જાન્યૂ૦ થી માર્ચ-૫૦ ૫૭ થી ૬૬ ।

- આજથી આઠસો-પંચાવન-વર્ષ-પૂર્વે થઈ ગયેલા આ મહાપ્રભાવક-મહાપુરુષના ૧ જન્મકાળને, ૨ વાલ્યકાળને, ૩ દીક્ષાકાળને, ૪ વિદ્યાઽધ્યયનકાળને, ૫ સૂરિપદપ્રાપ્તિકાળને, ૬ ગુર્જરેશ્વરસમ્મિલનકાળને, ૭ વિવિધસાહિત્યસર્જનકાળને, ૮ કુમારપાઠપ્રતિબોધન તથા સર્વોત્કૃષ્ટજીવદયા-પ્રચારાદિ શાસન-સેવાકાળને, ૯ કલિકાલસર્વજાદિ-વિરુદ્ધપ્રાપ્તિકાળને, અને ૧૦ અન્તિમ-સર્વસ્વ-સમર્પણપૂર્વકના સ્વર્ગગમનકાળને, શ્રદ્ધાલુઓએ શ્રદ્ધાના જોરે, વક્તાઓએ વક્તૃત્વકલાના જોરે વાણીરૂપ-વર્ણના ઘોધમારે, વિદ્વાનોએ વિદ્વત્તાના વિશુદ્ધ વઢે અને લેખકોએ લેખો નિવંધો, નવલિકાઓ અને જીવનચરિત્રો લખીને લેખ-નશક્તિ વઢે મઠી આવેલા સાધનોદ્વારા જગજ્ઞનતાને નવનવીન-નવનીત પીરસીને આ દશે વિભાગોના યશોગાન આજ પૂર્વે ગાયા છે, ગવરાવ્યા છે, લખ્યા છે, લખાવ્યા છે, કથન કર્યા છે, કથન કરાવ્યા છે, પ્રચાર્યા છે અને પ્રચારાવ્યા છે। ઇટલુજ નહિ પણ આ ચાલુ વર્તમાન કાલમા પણ એ વધા કાર્યો પાઠલ જૈન-જૈનેતરોનો પ્રયત્ન તન-મન અને ધન દ્વારા ચાલુજ રહેલો છે, ઇટલે એ સમ્યન્ધમા મારે કાઢે પણ લખવું તે પિટ્તપેપણ કરવા જેવું છે, કારણકે એ દશે વિભાગના ન્યૂનાધિક સ્વરૂપને જણાવનારા ઘણા મુક્તકો પ્રગટ થઈ ચુકેલા છે, હજુ પણ જાણવાની જિજ્ઞાસાવાલાઓને તે તે સાહિત્યો પ્રયત્ને પણ પ્રાપ્ત થઈ શકે છે।

સાગરસમી લોકપ્રિય થઈ પડેલી સર્વાન્ગસુન્દર-કૃતિઓમા કરેલી સૂત્ર ગુન્થણી, વિષય-ઝેંચણી અને વિષય-વિવેચનાદિ અનેકવિધ સામગ્રીઓના મહત્ત્વનું સમ્પૂર્ણતયા દિગ્દર્શન કરાવવાનો પ્રયત્ન કરવો તે વે હાથ પહોળા કરીને મહાસાગરના વિસ્તારને જણાવવાનો પ્રયત્ન કરવા સમાન છે। છતાં આ પ્રસન્ને શાસનમાન્ય-અષ્ટમપ્રભાવક-પરદુ સ્ખમજન-વિક્રમાદિત્યપ્રતિબોધક-શ્રીસિદ્ધસેન દિવાકરસૂરિજીની (કલ્યાણમન્દિરસ્તોત્રમાં કથન કરેલ) ઉક્તિનું સ્મરણ થાય છે-‘વાલોડપિં કિં ન નિજવાહુયુગ વિતત્યં’।

પ્રાતઃકાલમા પ્રકાશિત થયેલા કિરણોવઢે સુશોભિત થયેલા સૂર્યની, તથા પૂર્ણિમાની રાત્રિએ પરિપૂર્ણ સ્ત્રીલેલ ચન્દ્રની ઓઢાણ કરાવવી એ નિર્ઘર્ષક હોવા છતાં પણ સાહિત્ય-સસારમા અનેક સ્થલે આવી પડેલા ચન્દ્ર-સૂર્યના પ્રસન્નમા જરૂરીયાત પૂરતું વર્ણન કરવાનું કવિઓ ઉચિત જ સમજે છે, તદનુસાર આ શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસનના કર્તા-કલિકાલસર્વજન-મગવાન શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રસૂરીશ્વરજીની ઓઢાણ કરાવવાનું ઉચિત જાણીને આ સ્થલે યત્કિશ્ચિત્ પ્રયત્ન કરવામા આવે છે।

ગુર્જરદેશના માલ-નામક પ્રદેશની સમીપમા આવેલ ઘણુકા-નામનું નગર આ મહાપુરુષના જન્મથી જગમશહૂર થયું હતું।

શાશ્વતપ્રાય ગણાતા શ્રીશત્રુજયાદિ-મહાતીર્થોની યાત્રાની શરૂઆત થતી હોવાથી અખિલ જૈનસમાજના આનન્દનો જે દિવસે પાર ન હતો, અને એકજ સ્થાનમા રહેતા ઘણા દિવસો થઈ ગયા હોવાથી સ્થાનાન્તર કરવાની અને સાથે સાથે વિહાર કરીને બીજા ગ્રામ-નગરના લોકને ઉપદેશ આપીને સન્માર્ગે મુકવાની કેટલા એક દિવસોથી ઉત્પન્ન થયેલી ઉત્કટ અમિલાપા ફઠીમૂત થવાથી શ્રમણ-ભગવન્તોના સસુદાયોના આનન્દનો પણ જે દિવસે પાર ન હતો એવા વિં સં ૧૧૪૫ ની કાર્તિકી-પૂર્ણિમાના પવિત્ર-દિવસે આ મહાપુરુષનો જન્મ થયો હતો।

વિં સં ૧૧૪૩ મા જન્મેલા સિદ્ધરાજથી વે વર્ષ નાના અને વિં સં ૧૧૪૯ મા જન્મેલા કુમારપાઠથી ચાર વર્ષ મોટા, અને મહાપ્રભાવશાલી આ મહાપુરુષની પ્રમાણ તેજસ્વિ-કિરણોને શ્રીલીને દિગ્ગન્તવ્યાપી બનાવવાને માટે જ જાણે આ મહાપુરુષના જન્મકાલની નજીકના જ કાલમા એ વઢે ગુર્જરેશ્વરોનો પણ જન્મ થયો ન હોય એવું અનુમાન રહેજે થઈ જાય એવી આ એક અપૂર્વ ઘટના છે।

આ મહાપુરુષની દીક્ષા સ્તમનતીર્થે વિં સં ૧૧૫૦ ના માઘ શુક્લા ૪ શનીવાસરે, અને પ્રભાવકચરિત્રાનુસારે વિં સં ૧૧૫૪ ના માઘ શુક્લા ચતુર્દશ્યા શનીવાસરે થયેલ છે, આ સંવત્સરોને અનુસરીને પાંચ વર્ષે અથવા નવ વર્ષે દીક્ષા થઈ એમ માની શકાય। વિસવાદિ-પ્રશ્નનો નિર્ણય કેવલ-જ્ઞાનિયો સિવાય થઈ શકતો નથી, ઇટલુંજ જાણવું જરૂરીનું છે।

દીક્ષા લીધા પછી દરેક વિષયના શાસ્ત્રોનો અભ્યાસ કરવામા લગભગ સોઢ વર્ષ અથવા તો વાર વર્ષ વીત્યા વાદ દરેક વિષયમા પારંગત થયેલા જાણીને શાસનપ્રભાવક ગુરુમહારાજે વિં સં ૧૧૬૬ ના વૈશાખ માસની અક્ષય તૃતીયાને દિવસે મહોત્સવપૂર્વક તેઓશ્રીને અળહિલપુર-પાટણ પાસેના શહેરમા આચાર્યપદવીથી વિમૂષિત કરીને દીક્ષા સમયના સોમચન્દ્ર-મુનિને હવે શ્રીહેમચન્દ્રસૂરિવર નામથી અલકૃત કર્યા।

શ્રીહેમચન્દ્રાચાર્યે સૂરિપદની પ્રાપ્તિ થયા પહેલાં સરસ્વતીની આરાધનાની શરૂઆત કરેલી તે સૂરિપદ પ્રાપ્ત થયા પછી પણ ચાલુ જ હતી, એમ દેવવોધિના પ્રસંગ વગેરેથી જાણી શકાય છે।

આ મહાપુરુષના જીવનના ઘણા પ્રસંગો વ્યવસ્થિતરૂપે મઠી શકતા નથી એ આપણું દુર્ભાગ્ય છે। આવા સતતપરિશ્રમી વિદ્વાને આટલો વધો અભ્યાસ શી રીતે, અને કોની પાસે કર્યો, તેઓશ્રીના અભ્યાસનો ક્રમ કેવા પ્રકારનો હતો, અન્ય લખવા-લખાવવાની શરૂઆત ક્યારે અને કેવા સયોગોમા કરી, જુદા જુદા વિષયના અન્યો લખવા માટે અનેક લહિયાઓને સન્મુક્ત

વેસાડીને પોતે દરેક લહિયાને લખાવવા માટેલા ગ્રન્થના વિષયને ધારાપ્રવાહથી લખાવતા હતા એવી કિં-વદન્તીમા કેટલું સત્ય છે ?; આવા પ્રકારના ઉપસ્થિત-થતા-ઢગલાવન્ધ-પ્રશ્નોનું સમાધાન થઈ શકે એવા સાધનો મળી શકતાં નથી, જો મળી શકતા હોત તો તેઓનું અગાધ-પાઠ્ઠદર્શનીયજ્ઞાન, અનેક વિષયના ગ્રન્થોની એકસાથે રચના કરવાની અપૂર્વ શક્તિ, અને અનેક સ્ત્રોતથી આકર્ષિત કરેલા વિષયોની ક્રમવદ્ધ-ગુથળી કરીને ગ્રન્થરચના-કરવામા લીધેલા અહોરાત્રના પરિશ્રમને જાણીને આપણે વધા આશ્ચર્યમુગ્ધ થયા વિના રહેતે નહિ, ઇટલુંજ નહિ પણ તેઓશ્રી પ્રત્યે હૃદયપૂર્વકની ભક્તિ-વહુમાનમા વધારો પણ થયા વિના રહેતે નહિ !

મહાપુરુષોના હાથે ઘડાયેલી મહાકૃતિઓના નિરીક્ષણ અવસરે પૂર્વજન્મના સસ્કાર, જન્મપ્રદેશથી ઉતરી આવેલ વારસા-રૂપે સંસ્કૃતિ-પરંપરાઓ અને સયોગો જોવાય છે । કારણ કે તે કૃતિઓના અનેકવિધ-વિષયોમા સસ્કાર, સંસ્કૃતિ અને સુસયોગો વિવેકપૂર્વકના વળાઈ ગયેલા માલ્લમ પડે છે ।

જે પ્રદેશમા આ મહાપુરુષો જન્મ થયો છે તે પ્રદેશ સારસ્વતપ્રદેશ તરીકે ઓલ્ખાય છે । ત્રીજા સૈકાની શરૂઆતથી વારમા સૈકા સુધીમા તો સરસ્વતીના સુધા-શ્વરણને ગુજરાતના પ્રતિભાશાલી પુરુષોએ શ્રીલ્યા છે, સ્ત્રીલ્યાં છે, અને તેનો ફાલ્તો ફુલ્યો ફાઠ તેઓશ્રી તરફથી પેઢીપરંપરામા વારસારૂપે ઉતરી આવેલો જણાય છે ।

આચાર્ય-પદારૂઢ થયા પછી લગભગ સત્તાવીસ વર્ષ જેટલા લાંબા સમય બાદ આલેખન કરેલા આ મહાન્ વ્યાકરણ-ગ્રન્થની લેખિનીનો દીર્ઘકાલ પર્યન્ત અભ્યાસ કરવામા આવે તો અનેક પ્રકારની નવનવીન સામગ્રીઓ સંશોધકોને અને બોધકોને મળી આવે તેમ છે । સર્વ સામગ્રીઓ પૈકી કલિકાલસર્વજ્ઞ-વિરુદ્ધની યથાર્થતા સમજીને પછી પરંપરાએ પ્રાપ્ત થયેલ પુનીત વારસાના પ્રકરણને સમજવા પ્રયત્ન કરીએ ।

### \* કલિકાલસર્વજ્ઞ-વિરુદ્ધની યથાર્થતા ।

‘વર્તમાનકાલમા મનગમતા વિરુદ્ધો લગાડવાની પ્રથા જેમ ચાલી રહેલી છે તેમ પ્રાચીન કાલમા પણ ચાલતી જ હશે’ એવી કલ્પનાને આગઠ કરીને કલિકાલ-સર્વજ્ઞના વિરુદ્ધ માટે શંકાશીલ બનનારાઓના સવન્ધમા હમારું એક જ કથન છે કે તેઓએ તેઓશ્રીના વિસ્તૃત-સાહિત્યનો વિશેષતયા પરિચય કર્યો જ નથી ।

શબ્દ-શાસ્ત્રોમા શોર-બકોર કરનારા શાબ્દિકો ત્યા સુધી જ ગર્વને ધારણ કરી શકે છે, સાહિત્યસૃષ્ટિનું સર્જન કરનારા સાહિત્યકારો ત્યા સુધી જ ગૌરવને ટકાવી શકે છે, અને કર્કશ-યુક્તિ-પ્રયુક્તિ તથા દલીલોના દરોડા પાઠનારા તર્કવાદિઓ ત્યાં સુધી જ તર્કાવલમ્બન કરે છે, કે જ્યાં સુધી હેમચન્દ્રસૂરીજીની વાણીનો પૂરો પરિચય તેઓને થયો ન હોય ।

તેઓશ્રીએ રચેલી દરેક-કૃતિ સર્વપ્રાણી ઇટલે સર્વજનોપયોગી જ છે । સંસ્કૃત, પ્રાકૃત અને અપભ્રંશ-ભાષારૂપક્ષેત્રને સ્ત્રૂવ સ્ત્રેહીને ગદ્ય-પદ્યરૂપ લોક-ભોગ્ય પ્રચુર-પાક-પકવીને જનતા ઉપર મહોપકાર કર્યો છે । જે જે વિષયોની છળવટ કરી છે તે સંપૂર્ણ, સ્પષ્ટ અને સરલ કરી છે । મન્દ, મધ્યમ અને તીવ્રબુદ્ધિવાળાને સમાનરીતિએ લાભ થઈ શકે એવી રીતિએ સાહિત્યના દરેક વિભાગોનું સર્જન કર્યું છે । કોઈ પણ વિષયના લક્ષણની શરૂઆત કર્યા પછી તે વિષયને પૂરો કરતા કરતા કોઈ સ્થળે મુશ્કવણ આવી પડી હોય એવું એક પણ પ્રમાણ પ્રાપ્ત થતું નથી, દરેક વિષયને દરેક અભ્યાસી સહેલાઈ-સરલતાથી ગ્રહણ કરી શકે એવો સરલ બનાવવાનો તેઓશ્રીનો ઉદ્દેશ સર્વત્ર સફળ થયેલો જ જણાય છે ।

આ ઉપરથી વર્તમાનકાલે તેઓશ્રીના ઉપલબ્ધ થતા સમગ્ર સાહિત્યનું પઠન-પાઠન-પરિશીલન-પૂર્વક અવલોકન કરનાર કોઈ પણ મનુષ્ય તેઓશ્રી કલિકાલસર્વજ્ઞ-વિરુદ્ધને સર્વથા લાયક જ હતા એમ સ્વીકાર્યા વિના રહી શકે એમ નથી । કલિકાલ-સર્વજ્ઞ ઇટલે તેઓશ્રીની હયાતિમા આ કલિકાલ-કલિયુગના સર્વસાહિત્યનું સંપૂર્ણજ્ઞાન ધરાવનાર, —અર્થાત્ તત્કાલિન સમગ્ર સાહિત્યના સર્વોચ્ચ જ્ઞાણકાર એવો અર્થ થાય છે, ઇટલા જ માટે તેઓશ્રીના સાહિત્યનો પૂર્ણતયા પરિચય-કરનારા અન્યાન્ય ગ્રન્થકારોએ પોતપોતાના ગ્રન્થમા તેઓશ્રીને કલિકાલ-સર્વજ્ઞ, સર્વસમ્રાટ, વાગીશ્વર, સર્વવિદ્યાપારંગત, પण्डितप्रवर, ज्ञानमहापूज्य, शब्दावतार અને शब्दाम्बोनिधि વિગેરે વિગેરે યથાર્થ વિશેષણો લગાડેલા ઠામ ઠામ નજરે પડે છે ।

મગવાન્ શ્રીહેમચન્દ્રસૂરીશ્વરજીએ આજીવન કરેલી અદ્વિતીય-વાઙ્મય-ઉપાસનાના પાઠ તરીકે ઉપલબ્ધ-થતા સમગ્રસાહિત્યનું આકર્ષણ અશ્વિલ વિશ્વમા ઇટલુ વધુ વ્યાપક વનેલું છે, કે ઉપર જણાવેલા વિશેષણો ઉપરાંત કોષમયી મઢી આવતા વીજા પણ એવા એવા જેટલા વિશેષણો તેઓશ્રીને લગાડીએ તેટલા ઓછા જ છે ।

અશ્વિલ ભારતવર્ષના નાના-મોટા-ગામકે શહેરમા આવેલા નાના-મોટા-જૈનજ્ઞાનમન્દિરો-જૈનગ્રન્થમળારો અથવા જૈનપુસ્ત્ર-કાલ્યો હાલના સમયમાં પણ હજારોની સંખ્યામા વિદ્યમાન છે । તેમાના કોઈ પણ મળારની મુલાકાત લેવામા આવે તો અન્યાન્ય ગ્રન્થોની સાથે કલિકાલ-સર્વજ્ઞની પ્રાય એક જ નહિ પણ અનેક કૃતિઓના દર્શન થયા વિના રહે નહિ ! ઇટલું જ નહિ પરન્તુ સુરોપાદિ-દેશના ગ્રન્થ-સંપ્રદાયલોમા પણ આ મહાપુરુષની અનેક કૃતિઓ સંગ્રહાયેલી જોવામાં આવે છે । એ ઉપરથી સમજી

શકાય છે કે કલિકાલ-સર્વજ્ઞના સાહિત્યમાં જે સર્વાંગિ-સુન્દરતા અને સર્વપ્રાહિતા ઠસોઠસ મરેલી છે તેવી પ્રાયઃ વીંજા કોઈના સાહિત્યમાં હશે જ નહિ, અને એ જ કારણને લઈને એઓશ્રીના સાહિત્યનું પઠન-પાઠન અને પરિશીલન કરતા કરતા જૈનેતરો પણ એઓશ્રીના અનેક ગુણોના યશોગાન ગાવામાં લયલીન થઈ જાય છે એજ તેઓશ્રીની રચનાનો અજવ ચમત્કાર છે । સામ્પ્ર-દાયિક તીવ્ર દુરાગ્રહતાનો અથવા તો મોહાન્ધતાનો જગતના દરેક વિદ્યાર્પીઠોમાં અને વિદ્યાના દરેક-ધામોમાં જો પ્રવેશ થયો ન હોત તો તે દરેક સ્થલોમાં તેઓશ્રીના સાહિત્યનું પઠન-પાઠન નિરન્તર પૂર્વે ચાલુ રહ્યું હોત, અને વર્તમાનમાં ચાલતું જ હોત ।

જૈનદર્શનમાં કલિકાલસર્વજ્ઞ-મગવાન્ શ્રીહેમચન્દ્રસૂરીશ્વરજીની પૂર્વે પણ શ્રીગૌતમસ્વામી અને શ્રીસુધર્મસ્વામી આદિ ગણ-ધર મગવતો, શ્રીમદ્રવાહુસ્વામી આદિ શ્રુતકેવલિઓ, મહારાજા-વિક્રમાદિત્ય-પ્રતિવોધક-શ્રીસિદ્ધસેન-દિવાકરસૂરિજી, ચૌદ-સોને ચુમ્માલીસ-ગ્રન્થના પ્રણેતા-મગવાન્-હરિમદ્રસૂરિજી, જૈનસિદ્ધાન્તના સારભૂત-સૂત્રસમૂહકાર અને તત્ત્વાર્થાધિગમસૂત્રના પ્રણેતા ઉમાસ્વાતિ-વાચકવર્ય-મહારાજ, જૈનાગમાદિ ગ્રન્થોને પુસ્તકારૂઢ-કરાવનાર-દેવર્ધિગણિક્ષમાશ્રમણ આદિ અનેક પૂર્વગરો, પ્રૌઢ-મીતાર્યો, વિદ્વાન્-આચાર્યો અને મહાપ્રમાવક-મહાત્માઓ થઈ ગયા છે, છતાં જૈનેતર-દર્શનોમાં આ મહાપુરુષનું અને એમના સાહિત્યનું જે રીતિએ જેટલું સ્થાન છે તે રીતિએ તેટલું સ્થાન અન્ય કોઈ જૈનાચાર્યનું જણાતું નથી । જૈનેતરદર્શનોના પૂર્વે થઈ ગયેલા અને હાલના વિદ્વાનોને કોઈ પણ કારણસર જૈનસાહિત્યના સંવન્ધમાં આવવાનું થાય તો તેઓની દૃષ્ટિ સૌથી પ્રથમ આ મહાપુરુષ-ગુપ્તિત-સાહિત્ય ઉપરજ પડતી હતી અને પડે છે । બારમી સદીની શરુઆતથી આજ સુધીમાં થઈ ગયેલા સર્વથેષ્ટ સાહિત્ય-કારોની ગણનાનો પ્રારંભ જો કોઈ પોતાની આગલીના ટેરવા ઉપર કરવા માહે તો પણ તેમાં આ મહાપુરુષનું નામ તો પ્રથમ જ આવીને ઉમ્મુ રહે એમ કહેવામાં લેશમર અતિશયોક્તિ નથી ।

આવા સર્વાંગસુન્દર પરિપૂર્ણ વ્યાકરણ અને લોકપ્રસિદ્ધ-સર્વમાપાને સરહત્તાથી પી શકે તેવું જૈન-જૈનેતરોપયોગિ સાહિત્ય પુરુ પાડનાર કલિકાલસર્વજ્ઞ મગવાન્તો વિદ્વત્સમાજ સદાકાલ ઝગ્ગી જ હતો, અને રહેશે । તો પણ કાંઈક અશે સુક્ત થવા માટે એ મહાપુરુષ પ્રત્યે હૃદયમાં વહુમાન ધારણ કરીને તેઓશ્રીએ કરેલા ઉપકારો સંબન્ધી યથાશક્તિ વોલતું, લખતું લખાવતું અને પ્રચારતું તે સર્વ-સાહિત્યોપાસકોની પ્રથમ પરજ છે ।

કલિકાલસર્વજ્ઞ મગવાન્ના રચેલા સાહિત્યની મદદથી જેઓ સામાન્યતયા બોલતા-લખતાં-સમજતા અને સમજાવતા શિસ્ત્યા અગર તો વિશેષતયા ગ્રન્થકે નિવન્ધનું આલેખન કરતા આગલ ઘણા, તથા હજારોની મેદિનીમાં વ્યાખ્યાન કરતા શિસ્ત્યા, તેઓને જ મહોપકારિ-કલિકાલસર્વજ્ઞ મગવાન્ના સદ્ગુણો સંબન્ધી અને તેઓશ્રીના વિરચિત-વિશાલ-સાહિત્ય-સંબન્ધિ બોલવા કે લખ-વાનો કોઈક પ્રસન્ન આવી પડે ત્યારે તે તે કહેવાતા વિદ્વાનોમાંથી કેટલાપક શબ્દશાસ્ત્રના દરિદ્રનારાયણો રૂપે દેસાઈ આવે છે, ત્યારે તેઓ ઉપકારીના ઉપકારને મૂલી જવામાં કંઈ જાતનું ગૌરવ સમજે છે તે બુદ્ધિમાનોની સમજમાં પણ આવી શકતું નથી । ઘોડીઆ-પારણામાં રમતા બાલકને રમાડવા આવનારાઓ જેવી ચેષ્ટા કરે તેવી ચેષ્ટાઓ વિદ્વાનોના ફાકો રાક્ષનારાઓ કલિકાલસર્વજ્ઞના રચેલા સાહિત્ય પ્રત્યે કરે તો તે સર્વજ્ઞ-સર્વથા-સર્વદા અનુચિત જ ગણાતું જોઈએ, એમ કહેવામાં લેશ પણ સોદુ નથી, જાતિવાન્ બલ્લદો માટે જેમ હસારાની જરૂર છે તેમજ અહીં પણ એજ રીતિએ સમજી લેવું જરૂરનું છે ।

કલિકાલસર્વજ્ઞ-વિશેષણની સાર્થકતા સમજાવવા માટે શરૂ કરેલા અહીંના પ્રસન્નને અનુસરીને લેવેલું ઉપરનું લંઘાણ પર્યાપ્ત જ છે । દરેકે દરેક પ્રસન્નને અવલંબીને એ વિશેષણની સમ્પૂર્ણતયા યથાર્થતા સમજાવવાને માટે તો એક આલો જુદો જ નિવન્ધ લખવામાં આવે તો જ સમજાવી શકાય ।

તે કાલ્પના સંસ્કૃતમાષાના કેન્દ્ર ગણાતા ધારાનગરી, કાઝ્મીરદેશ અને કાઝ્મીપુરી વિગેરેના ઉત્કટ વિદ્વાનોની વિદ્વત્તાની હરિફાઈમાં સર્વથા અગ્રેસર થઈ શકે એવા વિવિધ વિષયના સર્વાંગ સુન્દર સાહિત્યનું સર્જન કરીને આ મહાપુરુષે પોતાના કલિકાલસર્વજ્ઞ-વિરુદ્ધને ચરિતાર્થ કરેલ છે ।

કલિકાલસર્વજ્ઞનું નામ શ્રવણ થતા અગર તેઓશ્રીની કૃતિપર નજર પડતા આઠસો ઉપરાત વર્ષો પહેલાના બનાવને આજે પણ જીવન્તપ્રસંગ જેવો જોઈ શકીએ છીએ અને જાણી શકીએ છીએ એ આપણું મહદ્ભાગ્ય છે ।

ત્રિકાલ વન્દન છે એ સાહિત્યાવતારને !, ત્રિકાલ નમસ્કાર છે એ શબ્દાવતારને !!, ડરના અનન્ત અભિનન્દન છે એ શ્રીકલિકાલસર્વજ્ઞને !!!, કે જેઓશ્રીના સ્વર્ગગમન વાદ-તેઓશ્રીનો યશોદેહ યદ્યપિ અમર હોવા છતાં પણ-વૈદુષ્ય સર્વથા આશ્રય રહિત-નિરાધાર થઈ ગયાનું કવિઓ એ કાવ્યદ્વારા જણાવેલું છે, તે યયોચિત છે એમ કહેવું એ અસ્થાને નથી ।

**\* પરમ્પરાએ પ્રાપ્ત થયેલ પુનીત સંસ્કૃતિ-વારસો ।**

પૂર્વ-જન્મના પુનીત સત્કારો લઈને જન્મેલા કલિકાલસર્વજ્ઞને સાહિત્યસર્જનમાં લખવા-લખાવવામાં અને અપનાવવામાં



જનમપ્રદેશ-કાર્યપ્રદેશ અને પ્રચારપ્રદેશ એ ત્રણ-સ્થાનો એકલાં જ કાર્યસાધક નથી, પણ પરમ્પરાએ ઉતરી આવેલી સંસ્કૃતિ અને તત્કાલીન સયોગો પણ છે, એ જણાવવાને માટે આ પ્રકરણમાં પરમ્પરાનો વારસો અને સયોગો કહી રીતે મદદગાર બને છે તે વિચારવું જરૂરીનું છે । માપાની ઉત્પત્તિ, વપરાશ અને વિકાસ, લેખનકાળ અને લિપિવદ્ધગ્રન્થો, પ્રાન્તીયભાષા, જ્ઞાતિવારભાષા, બોલાતા પ્રયોગો અને લેખાતા પ્રયોગોનો સમ્પૂર્ણ વિચાર કરવામાં આવે તો આ વધા ઐતિહાસિક તત્ત્વો જરૂર પૂરા પાડે છે ।

વિ० સં० ૧૩૪ થી ૪૫૪ સુધીના કાળમાં ગુજરાત અને સૌરાષ્ટ્ર-પર ક્ષત્રપોનું શાસન હતું । ક્ષત્રપ-રુદ્રદામા નામનો રાજા શક્કરપન્થનો અનુયાયી હશે એવી કલ્પના રાજાના નામના લીધે થાય છે । રુદ્રદામાનો શિલાલેખ નિહાળતા તે કાળમાં સંસ્કૃત-ભાષાનું સામ્રાજ્ય અત્યન્ત ઉન્નત હશે એમ જણાય છે । ગુજરાત અને સૌરાષ્ટ્રમાં તે સમયમાં બૌદ્ધગુરુઓ અને જૈનાચાર્યોએ પોત-પોતાના સિદ્ધાન્તો, અનુદ્યાનો, અને આચાર-વિચારોથી તત્કાલીન-પ્રજાના માનસને રમી દીધા હતા ।

ધર્મસત્તાધીશો ધર્મસત્તાના જોરે અને રાજ્યસત્તાધીશો રાજ્યસત્તાના પાયા ઉઠા અને અચળ રહી શકે એવા કાયદા-કાનુ-નોના જોરે પ્રજાવર્ગ ઉપર બાહ્ય-અભ્યન્તર-શાસન ચલાવે એ નિર્વિવાદ વાત છે । આ બન્ને પ્રકારના શાસનથી પ્રજાના પ્રાણમૂત્ત જીવન સંસ્કારવાળા બને છે, તે બન્નેમાં જે સિદ્ધાન્તોનું પરિણામ દીર્ઘકાલીન ફલદાયક દેખાય તે તરફ પ્રજાના જીવન વેગીલા બને તે સ્વાભાવિક છે । ઇટલુજ નહિ પણ ધાર્મિક વિચાર-વાણી-વર્તનરૂપ ત્રિવેણિસગમમાં પ્રજા પૂર્ણ પ્રેમથી ફીલ્યા કરે છે ।

વ્યાકરણ વગેરે શાસ્ત્રોનું સર્જન અને વિજ્ઞાન જગતના સર્વદેશો કરતા આ ભારતવર્ષમાં પ્રાચીન કાળથી જ ફુલ્યું-ફાલ્યું જણાય છે, તેથી જ આ દેશમાં વિપુલસંસ્થામાં મઠી આવતા વૈયાકરણો, સેંકડોની સંસ્થામાં મઠી આવતા ગ્રન્થ-ટીકાકારો અને હજારોની સંસ્થામાં મઠી આવતા સાહિત્યસર્જનકારોથી આ ભારતવર્ષ જાણે ઉમરાતો ન હોય એમ જણાતું હતું ।

કલ્પનાધીશ-કવિકાલીદાસ વગેરે કવિઓએ આ આર્યાવર્તની સંસ્કૃતિ ઉચ્ચ કક્ષાએ પહોંચેલી હતી એમ અનેક સ્થળે જણાવેલું છે । પશ્ચિમ આર્યાવર્તની રાજધાની ઝર્જાયિની હતી । ઝર્જાયિની નગરીમાં ઉમરાતા સંસ્કૃતિના પ્રતિબિંબો, સમૃદ્ધિના સ્થાનો, બુદ્ધિના નિધાનો અને કલ્પનાના સાગરોની કમનીય મૂર્તિઓ ઠામ ઠામ નજરે પડતી હતી । સર્વાંગસુંદરતાને ધારણ કરનારી તે નગરીનું અવલોકન કરનાર હરકોઈ પરદેશવાસીને રૂપિયા ઉત્પન્ન થયા વિના ન રહે એવું તેનું બાહ્ય અને આભ્યન્તર સ્વરૂપ હતું ।

વિના સંકોચે કહેવું પડે છે કે ઝર્જાયિની નગરી પોતાના સર્વોત્તમ સૌરભથી સમસ્ત ગુજરાત દેશનું આકર્ષણ કરી રહી હતી, તે આકર્ષણ કરવામાં સંસ્કૃતિની અસ્થલિતધારાથી ભરપૂર એવી ધારાનગરી પણ તેની અદ્વિતીય સહાયિકા હતી એમ કહ્યા વિના પણ ચાલે તેમ નથી । અથવા સંક્ષેપમાં કહીએ તો ગુજરાતની સંસ્કૃતિ ઉપર આજના માર્કલવેશની સંસ્કૃતિની જે અસર થયેલી છે તે પરમ્પરાએ તપાસવામાં આવે તો છઠ્ઠી-શતાબ્દિની શરૂઆતથી ચૌલુક્યોના શાસન પર્યન્ત અસર થતી રહી છે એમ જણાયા વિના રહેશે નહિ ।

શ્રીમહાવીરપ્રભુએ પ્રભુપેલા જૈનાગમોને તથા પૂર્વધરોએ રચેલા શાસ્ત્રોને પૂર્વકાળના જૈનાચાર્યો આદિ શ્રમણસંઘ કળ્પસ્ય કરીનેજ ધારી રાખતો હતો, પરંતુ કાલક્રમે યાદશક્તિની મન્દતા થવાથી (હવે જો સઘળા શાસ્ત્રોને કળ્પસ્ય જ રાખવામાં આવશે તો શાસ્ત્રો વિચ્છેદ થવા માંડશે એવું જણાયાથી) જૈનશાસનના-સ્તમ્ભસમાન-મહોપકારી પૂજ્ય શ્રીદેવદ્વિગણિ-ક્ષમાશ્રમણના નેતૃત્વ નીચે શ્રમણ મગવન્તોએ જૈનસિદ્ધાન્તોને લગભગ વિ० સં० ૫૧૦ માં પુસ્તકારૂઢ કર્યા । સકલ-જૈનશાસ્ત્રોને પુસ્તકારૂઢ કરવા માટે વલ્લમીપુર (હાલના માવનગરસ્ટેટમાં આવેલા વલ્લા નામના ગામ) માં સ્થવિરોનો સમુદાય ભેગો થયો હતો । વાઢના અજ્ઞાતમાં અદ્વિતીય-મહા તરીકે જૈનશાસનમાં જેની પ્રસિદ્ધિ છે તે શ્રીમહાવાદીએ પણ પોતાની શાસનસેવાદ્વારા વલ્લમીપુરને ઉન્નત બનાવ્યું હતું । અનુક્રમે વિ० સં० આઠમાં સૈકાની આસપાસ વલ્લમીનું પતન થયું, ત્યારે વલ્લમીનો-વલ્લમીમાં રહેલા મોમાં-દાર વ્યક્તિઓનો અને બહુમૂલ્ય પદાર્થોનો મુખ્ય મુખ્ય વારસો અણહિલપુરપાટણ જઈ પહોંચ્યો અર્થાત્ તેને મળ્યો ।

મિલ્લ અને માલ નામની જગલી પ્રજાઓની વહુલતાને લઈને જે નગરનું નામ મિલ્લમાલ હતું, અથવા કાલ્પાન્તરે મિલ્લ-માલ થયેલું છે, તે નગરનું શ્રીમાલ એવું ત્રીજું નામ પણ પ્રસિદ્ધ છે । એ મિલ્લમાલનગરમાં થઈ ગયેલા રાજાઓ પ્રાય ગુર્જરો હતા, શ્રીશિશુપાલવધ-નામના મહાકાવ્યના રચયિતા પશ્ચિમ માધકવિનો જન્મ, તથા શ્રીઉપમિતિમવપ્રપાકૈયાના રચયિતા શ્રીસિદ્ધર્ષિગણિનો જન્મ આ નગરમાં થયો હતો । એ બન્ને સાહિત્યકારોએ ઉપર જણાવેલી ગ્રન્થરચના પણ આજ નગરમાં કરી

૧—પરદુ રામજન, વિક્રમસવત્સરપ્રવર્તક, સિદ્ધસેન દિવાકરસૂરિ-પ્રતિબુદ્ધ-વીર-વિક્રમાદિલ્લ માર્કલવેશનો મહારાજા હતો । અને તેના શામનમાં જૈનધર્મની અપૂર્વ જાહોજલાલી હતી । તેણે શ્રીસિદ્ધગિરિની યાત્રાએ છઠ્ઠી પાઠનો ચતુર્વિધ શ્રીસઘ કાઢ્યો હતો, તેની રાજધાની ઝર્જાયિનીમાંથી શ્રીસઘ પ્રયાણ કર્યું ત્યારે તે સઘમાં પાંચ હજાર જૈનાચાર્યો હતા, તેઓનો પાંચસો ગુણો શિષ્યપરિવાર હતો, શિષ્યપરિવારથી ધ્રુવગુણી સાધ્વીઓ હતી અને લાલો શ્રાવકોના કુટુંબો હતા । એ વગેરે શ્રીસઘના સમ્પૂર્ણ-વિસ્તારની હકીકત પર્યુપણપર્વમાંમાહાત્મ્યાદિ અનેક ગ્રન્થોમાં વર્ણવેલી છે, તે ઉપરથી રાજા વિક્રમાદિલ્લની તથા ઝર્જાયિનીની મહત્વતાનું અનુમાન કરી શકાય છે । ૨—હુઓ કન્યસૂત્ર-મંત્રાના મહાવીરના તિર્થાંગ પઠી ૯૮૦ વર્ષ અને પાઠ-ભેદે ૯૯૩ વર્ષ વલ્લમીપુરમાં યાત્રાના થઈ, ઇટલે વી० તિ० ૯૮૦ ના પાઠભેદે વિ० સં० ૫૧૦ ગણતો, અને વી० તિ० ૯૯૩ ના પાઠભેદે વિ० સં० ૫૨૩ ગણતો । ૩—સિ० હે० શ્વે ૧૧૨૧૩૧૧ અનુ મહાવાદિન તાર્કિકા । ૮—વિ० સં० ૯૬૦ માં રચના થઈ હોય એવી સંમાવના છ ।



હતી । ચૌદસોને જુમ્માલીસ ગ્રન્થના પ્રણેતા-મગવાન્-હરિમદ્સૂરીશ્વરજીના પવિત્ર-ચરણ-કમલથી એ નગરની ભૂમિ ઘણી વાર પવિત્ર થઈ હતી, તે સૂરીશ્વરજીની અમોઘ દેશનારૂપ સુધાવૃષ્ટિથી ઓસવાલ, પોરવાડ (પ્રાગ્વાદ), અને શ્રીમાલ એ ત્રણે જ્ઞાતિના વણિકો પણ ધર્મારાધનમા ઓતપ્રોત-લયલીન થઈ ગયા હતા એવા ऐतिहासिक कथन दृष्टिगोचर થાય છે ।

તે વચ્ચે એ નગરમા બૌદ્ધ વગેરે વીજા ધર્મોનો પણ આછો પ્રચાર હતો । વિદ્યાના ધામ, સમૃદ્ધિઓના ઠામ તથા સાહિત્ય-ધર્મશાસ્ત્ર-સ્વગોળશાસ્ત્ર અને વિજ્ઞાનશાસ્ત્રના અધ્યયન-અધ્યાપન અને પરિશીલન માટેના અદ્વિતીયસ્થાન-સમા તે શ્રીમાલનગરની જાહોજલાલીનો મધ્યાહ્નકાલ ઇતિહાસિકદૃષ્ટિએ અગીયારમી શતાબ્દિસુધી સંપૂર્ણ હતો, ત્યાર પછી પતનના વાયરા શરૂ થયા । મિત્રમાલના પતન પછી સાહસિકતા-શૌર્ય-બુદ્ધિવૈભવ-પ્રતિભા-ગૌરવ-પ્રતાપ અને મનોહરતાના અદ્વિતીય પ્રતિવિમ્બરૂપ ગુજરાતને ઓસવાલ, પોરવાડ અને શ્રીમાલજ્ઞાતિના શ્રીમાનોએ અને ધીમાનોએ દીપાવ્યું તથા અપનાવ્યું છે । ત્યાર પછી ગુજરાતદેશ પણ ચૂંવ ફાલ્યો-ફુલ્યો અર્થાત્ તેણે વાસ્તવ્યતા છોડીને યુવાનીના મરચાઉંવનરૂપ-જાહોજલાલીમા પ્રવેશ કર્યો ।

વિ. સં. ૮૦૨ ની આસપાસ અણહિલપુરપાટણની સ્થાપના વનરાજ ચાવડાને હાથે થઈ. ચાવડા-વંશના ઐતિહાસિક ઉલ્લેખો હુય-ચવાયા જૂન-જાન નજરે પડે છે. ચાવડાવંશની અસ્ત-થવાની તૈયારીમાં સોલંકીવંશનો આધપુરુષ-મહત્ત્વાકાંક્ષી અને મહાપરાક્રમી મૂલરાજ નામનો અણહિલપુરપાટણનો રાજા થયો. ચાવડા-વંશના છેલ્લા રાજા સામન્તસિંહની વેન લીલાવતીનું આ મૂલરાજ નામના સોલંકીવંશના આઘરાજાને જન્મ આપ્યો હતો.

રાજ્યપ્રાપ્તિની શરૂઆતમાં મૂલરાજનીપાસે અલ્પ પ્રદેશ હતો, પરંતુ માલવદેશના ઉમરાતા સાહિત્ય-સ્થાપત્ય-સંસ્કારિત-અજ્ઞોપાક્ર અને સમૃદ્ધિઓ देखीने पोताना प्रदेशने साम्राज्यनी कक्षामा मूकवाना कोड थया । केवल ईर्ष्याधी सम्राट् थवानुं नथी पण दरेक कार्यमा स्पर्धानो वेग वधारवो जोइए। ईर्ष्याने दूर करी स्पर्धामा उतरवानो निश्चय करीने जगतभरना मानव-हृदयने जीतवानो प्रयत्न करवा माळ्यो, परन्तु साधनोनी ओछाश અને जीवनमा जे गुणो खीलवा जोइये ते नहि खीलेला होवार्थी माळवाना राजा जुंजनी बराबरी तेनाथी थइ सकी नहि । गुर्जेरेश्वरोने माळवेश्वरो साथेनी तीव्रतम स्पर्धामा श्रीगणेशजी स्थापना खरु कहिये तो मूलराजने हाथे ज थइ । माग्या करता सवाया दान देवा, सदाचार-नीति-न्यायने व्यवहार बनाववां, भीमगुण वडे दुर्जनोने दबाववा અને डराववा, मायाळुताथी सज्जनोने सन्तोषवा અને पारितोषिकादिना दानपूर्वक विद्वानोनुं बहुमान करवु इत्यादि अनेक रीतिए प्रतिपक्षिओनी प्रतिस्पर्धानो सामनो करी गुजरात देशने गौरववन्तो बनावी साम्राज्यनी कक्षामा मूकवारूप प्रासादनो पायो मूलराजना पुनीत हस्ते नखायो, अथवा गुजरातनी गौरवभरी सस्कृतिनो सूर्योदय मूलराजना समयमां शुरू थयो, पोताना तेजस्वी किरणोथी दशे दिशामा व्यापक वनेला ते संस्कृतिरूप-सूर्यनो सिद्धराजना समयमां मध्याह्नकाळ थयो ।

સિદ્ધરાજના હૃદયમા માલવા વગેરે અનેક દેશોને જીતવાની અને ગુજરાતને સર્વાંગસુન્દર સામ્રાજ્ય બનાવવાની અમિલાષા તો વશપરમ્પરાના વારસામા જ મઠેલી હતી ।

ઘરાણિપતિ મુજ અને ભોજ વિદ્યાવિલાસી અને વિદ્વાન્ હતા, તેથી સિદ્ધરાજને પણ ગુજરાતને વિદ્યાનુ ધામ બનાવવાની અમિલાષા નવપલ્લવિત થઈ । ઇટલુજ નહિ પણ દિન પ્રતિદિન વધવા લાગી ।

વહામીપુર અને મિત્રમાલના પતનની વાત પૂર્વે જણાવી દીધી છે, છતાં પણ તે વચ્ચે નગરોમાની વિવિધ પ્રકારની સમૃદ્ધિ-ઓનો આ નગરમા સાક્ષાત્કાર થતો હોવાથી તે વચ્ચે નગરોપ પોતાના વિનાશને અતે એક્ય સાધીને જાણે અળહિલપુરપાટળરૂપે નવો જન્મ ધારણ ન કર્યો હોય પૂર્વી કલ્પના તે કાલના વિદ્વાનોના હૃદયમા વારંવાર ઉત્પન્ન થતી હતી ।

સોલ્કીઓના સમયમા ગુજરાતની સંસ્કૃતિ ઉપર જૈનાચાર્યોની અને જૈનધર્મની જવરદસ્ત અસર પડી હતી, કારણ કે તે સમયમા ગુજરાતની રાજધાનીમા ધણા સમર્થ-જૈનાચાર્યોનું આવાગમન અને સ્થિરતા થવાથી તેઓના આચાર-વિચાર અને તાત્વિક ઉપદેશની અસર પડ્યા વિના ન જ રહે ૫ સ્વાભાવિક છે ।

મુલરાજના સમયમા જૈનધર્મનો પ્રચાર ગુજરાત કરતા મરુઝમિમા વિરોધ હતો, ત્યાર પછી દુર્લભરાજના સમયમા શ્રીહરિ-મદ્દસૂરિવિરચિત-અષ્ટક પ્રકરણની વૃત્તિના કર્તા શ્રીજિનેશ્વરસૂરિ અને બુદ્ધિસાગરનામક વ્યાકરણના કર્તા શ્રીબુદ્ધિસાગરસૂરિનું પાટળ શહેરમા આવા ગમન થયું. ઘણા પ્રતિકુલ સંયોગોને માળખે પડીને તે તે તે

૧—સોલકીવંશના ઇતિહાસ માટે ડુગ્લો-શાહિદુર્ગા ૦ ગૂ. ૦ મ. ૦ સ. ૬૦ । ૨—ગુર્જરેશ્વરોમાંના સોલકીઓનો રાજ્યકાલ મૂલરાજથી ૪-દુર્લભરાજનો વર્ષ ૧૨ । ૫-મીમદેવનો વર્ષ ૪૨ । ૬-કર્ણદેવનો વર્ષ ૩૦ । ૭-સિદ્ધરાજનો વર્ષ ૪૯ । અને ૮-કુમારપાલનો વર્ષ ૩૧ લગભગ સમયના નસાયા, કુમારતોના જનતરની શરૂઆત સિદ્ધરાજના સમયમાં થઈ અને કુમારપાલના સમયમાં સમાપ્તિ થઈ એમ કહેવામાં આવે તો તેમાં ભેદ નહોતો નથી તેમ અતિશયોક્તિ પણ નથી । ૩—ડુગ્લો-રાજપુતાનાનો મધ્યકાલીન ઇતિહાસ ભાગ-૧ છો તથા મો. ૦ ૬૦ દેસાઈકૃત જૈન સા. ૦

જન્મપ્રદેશ-કાર્યપ્રદેશ અને પ્રચારપ્રદેશ એ ત્રણ-સ્થાનો એકલા જ કાર્યસાધક નથી, પણ પરમ્પરાએ ઉતરી આવેલી સંસ્કૃતિ અને તત્કાલીન સયોગો પણ છે, એ જણાવવાને માટે આ પ્રકરણમા પરમ્પરાનો વારસો અને સયોગો કહી રીતે મદદગાર બને છે તે વિચારવું જરૂરીનું છે । માપાની ઉત્પત્તિ, વપરાશ અને વિકાસ, લેખનકાળ અને લિપિવદ્યગ્રન્થો, પ્રાન્તીયભાષા, જાતિવારભાષા, બોલાતા પ્રયોગો અને લખાતા પ્રયોગોનો સમ્પૂર્ણ વિચાર કરવામા આવે તો આ વધા ઐતિહાસિક તત્ત્વો જરૂર પૂરા પાડે છે ।

વિ० સં ૧૩૪ થી ૪૫૪ સુધીના કાલમા ગુજરાત અને સૌરાષ્ટ્ર-પર ક્ષત્રપોનું શાસન હતું । ક્ષત્રપ-રુદ્રદામા નામનો રાજા શક્ત્યપન્થનો અનુયાયી હશે એવી કલ્પના રાજાના નામના લીધે થાય છે । રુદ્રદામાનો ઝિલાલેખ નિહાળતા તે કાલમા સંસ્કૃત-ભાષાનું સામ્રાજ્ય અત્યંત ઉન્નત હશે એમ જણાય છે । ગુજરાત અને સૌરાષ્ટ્રમા તે સમયમા વૌદ્ધગુરુઓ અને જૈનાચાર્યોએ પોત-પોતાના સિદ્ધાન્તો, અનુષ્ઠાનો, અને આચાર-વિચારોથી તત્કાલીન-પ્રજાના માનસને રમી દીધા હતા ।

ધર્મસત્તાધીશો ધર્મસત્તાના જોરે અને રાજ્યસત્તાધીશો રાજ્યસત્તાના પાયા ઉઠા અને અચળ રહી શકે એવા કાયદા-કાનુ-નોના જોરે પ્રજાવર્ગ ઉપર બાહ્ય-અભ્યન્તર-શાસન ચલાવે એ નિર્વિવાદ વાત છે । આ બન્ને પ્રકારના શાસનથી પ્રજાના પ્રાણમૂત્ત જીવન સંસ્કારવાળા બને છે, તે બન્નેમા જે સિદ્ધાન્તોનું પરિણામ દીર્ઘકાલીન ફલદાયક દેખાય તે તરફ પ્રજાના જીવન વેગીલા બને તે સ્વાભાવિક છે । એટલુંજ નહિ પણ ધાર્મિક વિચાર-વાણી-વર્તનરૂપ ત્રિવેણિસગમમા પ્રજા પૂર્ણ પ્રેમથી ઝીલ્યા કરે છે ।

વ્યાકરણ વગેરે શાસ્ત્રોનું સર્જન અને વિજ્ઞાન જગતના સર્વદેશો કરતા આ ભારતવર્ષમા પ્રાચીન કાલથી જ ફુલ્યુ-ફાલ્યુ જણાય છે, તેથી જ આ દેશમા વિપુલસંખ્યામા મઠી આવતા વૈયાકરણો, સેનકડોની સંખ્યામા મઠી આવતા ગ્રન્થ-ટીકાકારો અને હજારોની સંખ્યામા મઠી આવતા સાહિત્યસર્જનકારોથી આ ભારતવર્ષ જાણે ઉમરાતો ન હોય એમ જણાતું હતું ।

કલ્પનાધીશ-કવિકાલીદાસ વગેરે કવિઓએ આ આર્યાવર્તની સંસ્કૃતિ ઉચ્ચ-કક્ષાએ પહોંચેલી હતી એમ અનેક સ્થલે જણાવેલું છે । પશ્ચિમ આર્યાવર્તની રાજધાની ઉર્જાચિની હતી । ઉર્જાચિની નગરીમા ઉમરાતા સંસ્કૃતિના પ્રતિવિમ્બો, સમૃદ્ધિના સ્થાનો, બુદ્ધિના નિધાનો અને કલ્પનાના સાગરોની કમનીય મૂર્તિઓ ઠામ ઠામ નજરે પડતી હતી । સર્વાંગસુંદરતાને ધારણ કરનારી તે નગરીનું અવલોકન કરનાર હરકોઈ પરદેશવાસીને રૂપિયા ઉત્પન્ન થયા વિના ન રહે એવું તેનું બ્રાહ્મ અને આભ્યન્તર સ્વરૂપ હતું ।

વિના સંકોચે કહેવું પડે છે કે ઉર્જાચિની નગરી પોતાના સર્વોત્તમ સૌરભથી સમસ્ત ગુજરાત દેશનું આકર્ષણ કરી રહી હતી, તે આકર્ષણ કરવામા સંસ્કૃતિની અસ્થલિતધારાથી ભરપૂર એવી ધારાનગરી પણ તેની અદ્વિતીય સહાયિકા હતી એમ કહ્યા વિના પણ ચાલે તેમ નથી । અથવા સંક્ષેપમા કહિએ તો ગુજરાતની સંસ્કૃતિ ઉપર આજમા માર્કવદેશની સંસ્કૃતિની જે અસર થયેલી છે તે પરમ્પરાએ તપાસવામા આવે તો છઠ્ઠી-શતાબ્દિની શરૂઆતથી ચૌલુક્યોના શાસન પર્યન્ત અસર થતી રહી છે એમ જણાયા વિના રહેશે નહિ ।

શ્રીમહાવીરપ્રમુખ પ્રભુપેલા જૈનાગમોને તથા પૂર્વધરોએ રચેલા શાસ્ત્રોને પૂર્વકાળના જૈનાચાર્યો આદિ શ્રમણસંઘ કળ્પસ્થ ક્રીનેજ ધારી રાખતો હતો, પરંતુ કાલક્રમે યાદશક્તિની મન્દતા થવાથી (દેવે જો સઘળા શાસ્ત્રોને કળ્પસ્થ જ રાખવામા આવશે તો શાસ્ત્રો વિચ્છેદ થવા માંડશે એવું જણાયાથી) જૈનશાસનના-સ્તમ્ભસમાન-મહોપકારી પૂજ્ય શ્રીદેવદર્શિગણ-ક્ષમાશ્રમણના નેતૃત્વ નીચે શ્રમણ મગવન્તોએ જૈનસિદ્ધાન્તોને લગભગ વિ० સં ૫૧૦ માં પુસ્તકારૂઢ કર્યા । સકલ-જૈનશાસ્ત્રોને પુસ્તકારૂઢ કરવા માટે વલ્લમીપુર (હાલના માવનગરસ્ટેટમા આવેલા વલ્લા નામના ગામ) મા સ્થવિરોનો સમુદાય મેળો થયો હતો । વાદના અજાણમા અદ્વિતીય-મઠ તરીકે જૈનશાસનમાં જેની પ્રસિદ્ધિ છે તે શ્રીમલ્લવાદીએ પણ પોતાની શાસનસેવાદ્વારા વલ્લમીપુરને ઉન્નત બનાવ્યું હતું । અનુક્રમે વિ० સં ૫૮૦મા સૈકાની આસપાસ વલ્લમીનું પતન થયું, ત્યારે વલ્લમીનો-વલ્લમીમા રહેલા મોમા-દાર વ્યક્તિઓનો અને બહુમૂલ્ય પદાર્થોનો મુખ્ય મુખ્ય વારસો અળહિલપુરપાટણ જઈ પહોંચ્યો અર્થાત્ તેને મળ્યો ।

મિલ્લ અને માલ નામની જગલી પ્રજાઓની બહુલતાને લઈને જે નગરનું નામ મિલ્લમાલ હતું, અથવા કાલાન્તરે મિત્ર-માલ થયેલું છે, તે નગરનું શ્રીમાલ એવું ત્રીજું નામ પણ પ્રખ્યાત છે । એ મિત્રમાલનગરમા થઈ ગયેલા રાજાઓ પ્રાયઃ ગુર્જરો હતા, શ્રીશિશુપાલવધ-નામના મહાકાવ્યના રચયિતા પંડિત માધકવિનો જન્મ, તથા શ્રીઉપમિતિમવપ્રપચાર્કેધાના રચયિતા શ્રીસિદ્ધર્ષિગણિનો જન્મ આ નગરમા થયો હતો । એ વખતે સાહિત્યકારોએ ઉપર જણાવેલી ગ્રન્થરચના પણ આજ નગરમા કરી

૧—પરદુ સ્વમજન, વિક્રમસવત્સરપ્રવર્તક, સિદ્ધસેન દિવાકરસૂરિ-પ્રતિબુદ્ધ-વીર-વિક્રમાદિલ્ય માર્કવદેશનો મહારાજા હતો । અને તેના શાસનમા જૈનધર્મની અપૂર્વ જાહોજલાલી હતી । તેણે શ્રીસિદ્ધગિરિની યાત્રાએ છઠ્ઠી પાઠતો ચતુર્વિધ શ્રીસઘ કાલ્યો હતો, તેની રાજધાની ઉર્જાચિનીમાથી શ્રીસઘે પ્રયાગ કર્યું ત્યારે તે સઘમા પાંચ હજાર જૈનાચાર્યો હતા, તેઓનો પાંચસો ગુણો શિષ્યપરિવાર હતો, શિષ્યપરિવારથી ત્રણગુણી સાધ્વીઓ હતી અને લાખો શ્રાવકોના કુટુંબો હતા । એ વગેરે શ્રીસંઘના સમ્પૂર્ણ-વિસ્તારની હકીકત પર્યુપણપર્વમાહાત્મ્યાદિ અનેક ગ્રન્થોમા વર્ણવેલી છે, તે ઉપરથી રાજા વિક્રમાદિલ્યની તથા ઉર્જાચિનીની મહત્ત્વતાનું અનુમાન કરી શકાય છે । ૨—જુઓ કલ્પસૂત્ર-મગવાન મહાવીરના નિર્વાણ પછી ૧૮૦ વર્ષે અને પાઠ-મેદે ૧૧૩ વર્ષે વલ્લમીપુરમા વાચના થઈ, એટલે વી० ત્રિ० ૧૮૦ ના પાઠમેદે વિ० સં ૫૧૦ ગણવો, અને વી० ત્રિ० ૧૧૩ ના પાઠમેદે વિ० સં ૫૨૩ ગણવો । ૩—સિ० હે० શં ૧૦ સૂત્ર ૧૨૧૨૧૧ અનુ મલ્લવાદિન તાર્કિકા । ૪—વિ० સં ૧૬૨ માં રચના થઈ હોય એવી સંભાવના છે ।



પ્રમાવથી જૈનધર્મેનું મહત્ત્વ વધાર્યું । વિ.સ.૧૦૮૦ માં બુદ્ધિસાગરસૂરિ ૮૦૦૦ શ્લોક પ્રમાણ બુદ્ધિસાગર વ્યાકરણની, જિનેશ્વરસૂરિ પ્રમા-લક્ષણ-નામક-ન્યાયશાસ્ત્રની અને તેમના શિષ્ય-નવાઙ્ગીવૃત્તિકાર-અમ્ભયદેવસૂરિ સન્મતિ-તર્કની વૃત્તિની રચના કરી, આ ત્રણે રચનાઓ મીમદેવના સમયમાં રચાયેલી છે । મીમદેવના દરવારમાં કવીન્દ્ર-વાદિચક્રવર્તિ શ્રીશાન્તિસૂરિનું ઘણું ગૌરવ હતું । સરસ્વતી-વિરુદ્ધધારી ધનપાલ કવિએ વનાવેલી તિલકમઝરીનું સશોધન મુંજરાજાએ શ્રીશાન્તિસૂરીશ્વરજી પાસે કરાવ્યું હતું । મીમદેવના વે મામાઓમાંથી એક દ્રોણાચાર્ય તરીકે અને વીજા સુરાચાર્ય તરીકે પ્રસિદ્ધ હતા । તે બન્ને આચાર્યોની વિદ્વત્તાએ મોજરાજાને અતિ મુશ્કેલવળમાં નાચી દીધો હતો ।

મીમદેવના સમયમાં એક તો સર્વાન્ગિ-સાહિત્ય પ્રવૃત્તિનો વેગ ઘટ્યો વધો વધવા લાગ્યો કે ગુજરાતની સંસ્કૃતિની સૌરમ વશે દિશામાં વ્યાપક વનવા લાગી । મીમદેવે પોતાના રાજ્યપ્રદેશની સમીપના પ્રદેશોને જીતી જીતીને પોતાના રાજ્યની સીમાને વધારવા માઢી, એમ કરતા કરતા માઢવાના મોજરાજા ઉપર પળ તેણે અનેકવાર ચઢાઈ કરી । તેમાં જો કે તેને (મીમરાજને) પાવટ ન આવી, પરન્તુ માઢવા ઉપર વિજય મેઢવવા માટેના સિદ્ધરાજના માર્ગમાં નઢનારા કેટલાએક કટકોનો વિનાશ કરી આપવાનો-અર્થાત્ માર્ગને નિષ્કટક કરી આપવાનો સઘઢો યશ મીમરાજને પ્રાપ્ત થયો ।

ચારમી સદીના સુવર્ણ યુગમાં થયેલા પુણ્યપુરુષોએ ગુજરાતના ગૌરવમાં યૂવ વધારો કર્યો છે, તથા ગુજરાતના ઇતિહાસમાં ઘણા મહત્ત્વના પ્રકરણોનો ઉમેરો કર્યો છે, અને કરાવ્યો છે ।

પૂર્વાપરના ઇતિહાસનું અવલોકન કરીએ તો સિદ્ધરાજ અને કુમારપાઢના સમયની જાઢોજલાલીરૂપ જગમશહૂર ઇમારતોનો પાયો નાચનાર તો મીમદેવ જ હતો । મીમદેવના સમયથી આરમ્મીને સિદ્ધરાજના શરૂઆતના સમય પર્યન્ત માઢવા અને ગુજરાતના પરસ્પર સઘર્ષણો ઓઢ્યા વત્તા પ્રમાણમાં ચાલ્યાજ કરતા હતા । વિ.સ. ૧૧૫૦ માં સિદ્ધરાજના પિતા કર્ણનું અવસાન થયું હતું । કર્ણના સમયમાં પ્રમાણનયતત્ત્વ-લોકાલઢ્કારના રચયિતા-વાદિ-દેવસૂરીશ્વરજીની અને નવાઙ્ગીવૃત્તિકાર-શ્રીઅમ્ભયદેવસૂરી-શ્વરજીની ઘણીજ પ્રસિદ્ધિ માઢવા અને ગુર્જરદેશમાં યુગે યુગે પ્રસરી રહી હતી ।

જ્યારે સિદ્ધરાજની રાજ્યારોહણક્રિયા થઈ ત્યારે તેની ઉમ્મર આઠ વર્ષની હતી, પૂર્વે જળાબ્યા પ્રમાણે ગુર્જરેશ્વર-સિદ્ધરાજ જ્યારે આઠ વર્ષના હતા ત્યારે એનાથી વે વર્ષ નાના અને કુમારપાઢથી ચાર વર્ષ મોટા શ્રીહેમચન્દ્રસૂરીશ્વરજી હતા ।

ઉમ્મરની અપેક્ષાએ સિદ્ધરાજ અને કુમારપાઢ એ બન્ને રાજાઓની મધ્યમાં શોભતા ઉમ્મરમાં-દેશાવમાં નાના પળ બુદ્ધિવૈમવમાં મોટા જળાતા આ સૂરિવર પોતાની કાર્યદક્ષતાથી સંસ્કૃતિ અને સાહિત્યના સિંહાસનોની રચના કરે છે । અને ઉમ્મરની અપેક્ષાએ કંઢક મોટા કંઢક નાના પોતાની બન્ને વાજુએ રહેલા સંસ્કારી નરેશ્વરો પોતાના તન-મન-ધન સમર્પણ કરીને તે સિંહાસનોના દર્શનની ઇચ્છના-કરનારા-જળતાના મનુષ્યોને સંસ્કૃતિ અને સાહિત્યદ્વારાએ આકર્ષે છે । ગુણવન્તી-ગરવી-ગુજરાતની સ્થાવર-જંગમ સમ્પત્તિઓના પૂર ઓસરી ગયા છતાં તેનાં સંસ્કૃતિ અને સાહિત્ય તો શાશ્વત ધામની પેટે અમરજ રહ્યાં । એ સંસ્કૃતિ અને સાહિત્યમાંથી પ્રેરણાત્મક સુધાપાન કરનારાઓ સ્વર્ગવાસિસૂરિવરનો આજે પળ સાક્ષાત્કાર કરી રહ્યા છે । ધન્ય છે સંસ્કૃતિ અને સાહિત્યના સમર્પક એ સૂરિવરને !!!

આ આચુ પ્રકરણ વાચતા આ ગ્રન્થના રચયિતા કલિકાલસર્વજ્ઞનો જન્મપ્રદેશ, કાર્યપ્રદેશ અને પ્રચારપ્રદેશ પરમ્પરાથી ઉતરી આવેલી સંસ્કૃતિના સુન્દર ધામરૂપ હતા, અને સંસ્કૃતિને સમ્પૂર્ણ ઉન્નતિના શિખરે પહોંચાડવાના સુન્દરતમ સંયોગરૂપ હતા ।

અહિંસા-સયમ અને તપોરૂપધર્મપાલનની અમોઘ-ઉદ્ઢોષળા કરાવી કરાવીને ગુણવન્તી-ગુર્જરમૂમિના નિવાસિયોના હૃદયોને અહિંસા-સયમ-તપોરૂપ ધર્મને સ્વમાવગત બનાવી દીધા । ઇટલુ જ નહિ પળ તે ઉદ્ઢોષળાની સફલતાને માટે સમગ્ર મારતવર્ષની પ્રજાના દિલ સદા સર્વત્ર નવપલ્લવિત રહે તેટલા માટે અપૂર્વ સાહિત્યવારસો વિશાઢરૂપમાં સમર્પણ કરતા ગયા ।

પ્રાચીન અને અર્વાચીન વિદેશીય વિદ્વાનો પળ પ્રજાની સ્વમાવગત બની ગયેલી રહેણી-કહેણી ઉપરથી આજની વર્તમાન-કાલીન પ્રજાની સંસ્કૃતિનું માપ કાઢી શકે છે । આ પ્રકરણને સાઘન્ત વાચતા માઢસ પડરો કે સાહિત્યસર્જન અને પરીપકારાદિ કાર્યો કરવામાં પરમ્પરાએ ઉતરી આવેલી સંસ્કૃતિનો વારસો અને મદદગાર સંયોગો પરમ કારણરૂપ હોય છે ।

કલિકાલસર્વજ્ઞ-શ્રીહેમચન્દ્રાચાર્યના જન્મની સાથે શ્રીહેમચન્દ્રાચાર્યને મહાન્ વનાવવાની માવનાનો જન્મ પળ તેઓશ્રી-સુત્તવર્ચના હૃદયમાં અપૂર્વરીતિએ ઉત્પન્ન થયો હતો । તે એવી રીતે કે-શાસનની થઈ રહેલી નિસ્તેજદશા ઉપર દૃષ્ટિપાત કરતા તે-ઓએ વિચાર્યું કે શ્રીવજ્રસ્વામીજી, પાદલિપ્તસૂરીશ્વરજી, વપ્પમઢ્ઢિસૂરીશ્વરજી અને સિદ્ધસેનાદિવાકરસૂરીશ્વરજી આદિ મહાપ્રમાવક શાસનધુરન્ધર જૈનાચાર્યો પૂર્વે ઘળા થઈ ગયા કે જેઓએ પોતાની ત્રિવિધ-શક્તિના જોરે વિષમી રાજાઓને અને

પ્રજાઓને જૈનધર્મી બનાવ્યાં હતાં, પરંતુ હાલના સમયમાં હમારા જેવા ઘણા જૈનાચાર્યો હોવા છતાં જનધર્મના થઈ રહેલા પરા-મવને અમારી સગી આવે અને કાને દેખવો પડે છે અને સામઝ્યો પડે છે એ ઓછું દુઃખ નથી । છતાં કેવળ સ્વેદ ધારણ કરીને વેસી નહિ રહેતા યથાશક્તિ ઉદ્યમ કરવો જોઈએ, એવો નિશ્ચય કરીને સૂરિમંત્રની ઉપાસના કરવાનો પ્રારંભ કર્યો । ઉપાસના પુરી થતાં જ અધિષ્ઠાયક-દેવીએ પ્રત્યક્ષ થઈને જણાવ્યું જે-‘ધન્ધુકાનગરીમા પાહિણીનામની શ્રાવિકા પોતાના વાઙ્કને લઈને આપને વન્દન કરવા આવશે તે વસ્તે તે વાઙ્ક આપના આસન ઉપર વેસી જશે એ નિશાની ઉપરથી આપને જણાવું છું કે તે જ વાઙ્ક આપની પાસે દીક્ષા લઈને શાસનનો મહાપ્રભાવક થશે’ ।

આ ઉપરનું કારણ હેમચન્દ્રાચાર્યનો શાસનપ્રભાવના માટેની પૂર્વપીઠિકાનો પ્રારંભકાળ છે, તેની સાથે મહા-અમાત્ય ઉદા-યનની મુત્સદ્દીગિરી, સિદ્ધરાજની (મોજરાજાના સાહિત્યદર્શનથી ઉત્પન્ન થયેલી) સાહિત્યસર્જનની મહત્ત્વાકાંક્ષા, અને સ્વદેશાભિમાનને ટકાવી રાખવાની મહત્ત્વાકાંક્ષાના જોરે નવીન વ્યાકરણ રચવાની ધેરણાત્મક-પ્રાર્થના, તથા દીક્ષાનું અને આચાર્યપદ-પ્રદાનનું શુભમુહૂર્ત એ બધા પળ ચલવત્તર નિમિત્તો છે ।

### \* આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણમાં મદદગાર થયેલા સંયોગો અને સામગ્રિઓ ।

આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણમા આવેલા વૈયાકરણોના નામ અને સ્પષ્ટીકરણો જોવાયી માલસ પડે છે કે કલિકાલસર્વજ્ઞ-મગવન્તે વ્યાકરણ વિગેરે પૂર્વકાલીન સાહિત્યનું અવલોકન ઘણી સારી રીતે કર્યું હશે, તે માટે વ્યાકરણ-સૂટ્રિના સૌકર્યને પહેલા તપાસી જોઈએ, કે જેથી કરીને મદદગાર સંયોગ-સામગ્રીની પિછાળ થાય ।

પાણિનિના વ્યાકરણમા આપિશલિ, કાશ્યપ, ગાર્ગ્ય, ગાલ્વ, ચાક્રવાળી, ભારદ્વાજ, શાકટાયન, શાકલ્ય, સેનક, સ્ફોટાયન અને યાસ્કમુનિ વગેરેના નામો અને ઉલ્લેખો મળી આવે છે । એ વધા વૈયાકરણો પાણિનિના પહેલાના માની શકાય । પાણિનિના વ્યાકરણમા ૪૦૦૦ સૂત્રો છે । તે વ્યાકરણમા ઝુટિઓની પૂર્તિ વાર્તિકકાર, ભાષ્યકાર, ઉગાદિસૂત્રકાર, ધાતુપાઠ-સચયકાર અને પરિમાણસમ્રહકાર વગેરે કરેલી છે । પાણિનિના લગભગ વારસો ઉપરાન્ત સૂત્રોપર વાર્તિકો રચીને વાર્તિકકારે તે વધા સૂત્રોમા રહી ગયેલી ઝુટિઓ જણાવી છે, અને એમ માનવામા ભાષ્યકારનું-‘ઘણાં જણો વાર્તિકોની રચના નિરર્થક કરેલી છે’ આવું કથન આડે આવે છે, છતાં ઇટલ તો ચોક્કસ છે કે કેટલાંક વાર્તિકોની જરૂરીયાત ભાષ્યકારે પણ સ્વીકારેલી છે, ઇટલે પાણિનિના વ્યાકરણમાની ઝુટિઓને દૂર કરવાનું માન વાર્તિકકાર વરુચિ કાત્યાયનને ઘટે છે । મહર્ષિ પત્તજ્ઞલિએ પાણિનીય વગેરે પૂર્વકાલીન વધા વ્યાકરણોનો અભ્યાસ મનન અને પરિશીલન-પૂર્વક કરીને પાણિનિના લગભગ ૧૭૦૦ ઉપરાન્ત સૂત્રો ઉપર વિસ્તારપૂર્વક શકા-સમાધાનો દર્શાવીને પ્રૌઢભાષામા મહાભાષ્યની રચના કરી છે, માટે સંસ્કૃત ભાષાની વ્યવસ્થા અને નિયમન કરનારા પાણિનીયના સૂત્રોના ગૌરવને વધારવાનો સઘળોયે યશ મહાભાષ્યકારને ફાળે જાય છે । પાણિનિના વ્યાકરણ પર કાશિકા નામની એક ઘૃતિ થયેલી છે, તેના કર્તા વામન અને જયાદિત્ય છે, તેઓ ૬૦ સં ની સાતમી સદીમા થયા હશે એમ માની શકાય ।

મહાભાષ્યકાર પછી લગભગ ત્રણસો વર્ષ સુધી વ્યાકરણ પ્રદેશને સ્વેદનાર ઇતિહાસમા કોઈ શોધ્યો જડે એમ નથી । ત્યાર પછી સર્વવર્માએ કાત્યવ્રનામના વ્યાકરણની રચના લગભગ ૧૪૦૦ સૂત્રોમા પૂર્ણ કરી છે । વહુ પ્રચલિત પ્રયોગોની જ સિદ્ધિ કરનારા આ વ્યાકરણની થોડા સૂત્રોમા રચના થયેલી હોઈ સંક્ષેપ હોવા છતાં સંપૂર્ણ એવા તે વ્યાકરણને જલ્દી મળી શકાય તેવું હોવાથી કાત્યવ્ર-વ્યાકરણ લોકપ્રિય થઈ પડ્યું હતું । ત્યાર વાદ ચાન્દ્રનામના વ્યાકરણની રચના ચન્દ્રગોમિનામના બૌદ્ધાચાર્યે કરેલી છે, તેઓ તે સમયના મહાવૈયાકરણ હતા, તેમનો સમય ૬૦ સં પૂર્વે ૪૫૦ ની આસપાસનો છે । તે સમ-યના શુષ્ક-તાર્કિક-ત્રાક્ષણોના દુર્લક્ષ્યને લીધે નાશ પામતા મહાભાષ્યનું આ ચન્દ્રગોમિવૌદ્ધાચાર્યે ગુણાનુસારી થઈને યથાશક્તિ રક્ષણ કર્યું, તેથી જ હાલમા મળી શકતા મહાભાષ્યના દર્શન કરવાને આપણે આગ્યશાલી થયા છીએ, તે માટે આ બૌદ્ધાચાર્યનો આપણે જેટલો આમાર માનીએ તેટલો ઓછો જ છે । જો મતાગ્રહિણને વશ થઈને એમણે પણ મહાભાષ્યની રક્ષાનો પ્રયત્ન નહિ કર્યો હોત તો આજે તેના દર્શન અગોચર જ હોત !!!

ચન્દ્રગોમિના સમય વિષે અને ચાન્દ્ર વ્યાકરણની રચના વિષે—

“ચન્દ્રાચાર્યાદિમિર્લંબ્યા, દેશાત્સાત્તદાઽઽગમમ્ । પ્રવર્તિત મહાભાષ્યં, સ્વ ચ વ્યાકરણ કૃતમ્ ॥ ૧૭૬ ॥”

રાજતરંગિણી-તરજ્ઞ. ૧ ।

આ પાઠ અને ટિપ્પણીમા સુધારેલો પાઠ એ બન્ને લગભગ વધ વેસતા છે । રાજતરંગિણીના કર્તા કવીન્દ્ર કરુણ ‘શ્રીચન્દ્ર-ગોમિએ ચાન્દ્રવ્યાકરણ બનાવ્યું હતું’ તેની ઉપરના પદ્યવડે સાક્ષી પૂરે છે ।

૧—જુઓ કુમારપાલમહાકાવ્ય । ૨—મૂળ પ્રતોમા—ચન્દ્રાચાર્યાદિમિર્લંબ્યાઽઽદેશ તસ્યાત્તદાગમમ્ । પ્રવર્તિત મહાભાષ્યં X X X ॥ ૧૭૬ ॥ રા. તં ૧ । એવો પાઠ છે તેને સુધારીને વિદ્વાનોએ નીચે મુજબ માન્ય રાખ્યો છે તે વૈયાકરણ સમયને વધ વેસતો લાગે છે, ‘ચન્દ્રાચાર્યાદિમિર્લંબ્યા દેશાત્તપ્રતદાગમમ્ ।’ ચાકીનો પાઠ બરાબર છે ।

ચન્દ્રગોમિષ્ઠ મહાભાષ્યનું રક્ષણ કેવી રીતે કર્યું તેનું અને ઉપર જણાવેલા કલ્પનકવિના પદ્યનું સમર્થન મર્તુહરિષ્ઠ પોતાના વાક્યપદીયગ્રન્થના વીજા કાષ્ઠના ૪૯૦ માં શ્લોકમાં કર્યું છે,—

પ્રાયેણ સક્ષેપરૂપીનરૂપવિદ્યાપરિગ્રહાન્ । સમ્પ્રાપ્ય વૈયાકરણાન્ સગ્રહેસ્તમુપાગતે ॥ ૪૮૪ ॥

કૃતેઽથ પતંજલિના ગુરુણા તીર્થદર્શિના । સર્વેષાં ન્યાયવીજાના મહાભાષ્યે નિવંધને ॥ ૪૮૫ ॥

વૈજિસૌભવહર્યક્ષે શુષ્કતર્કાનુસારિભિઃ । આર્ષે વિદ્વાવિતે ગ્રન્થે સગ્રહપ્રતિકલ્પકે ॥ ૪૮૬ ॥

ય. પતંજલિશિષ્યેભ્યો ગ્રંથો વ્યાકરણાઽઽગમ । કાલે સ દાક્ષિણાત્પેષુ ગ્રન્થમાત્રવ્યવસ્થિત. ॥ ૪૮૭ ॥

પર્વતાદાગત લઠ્ઠ્વા ભાષ્યવીજાનુસારિભિઃ । સન્તતો વહુશાસ્ત્રાત્વ ચન્દ્રાચાર્યાદિભિઃ પુનઃ ॥ ૪૯૦ ॥

ન્યાયપ્રસ્થાનમાર્ગાસ્તાન્યસ્ય સ્વ ચ દર્શનમ્ । પ્રણીતો ગુરુણાઽઽસાકમયમાગમસગ્રહ. ॥ ૪૯૧ ॥

**ભાવાર્થ:**—વ્યાક્રમહર્ષિનો સગ્રહનામનો ગ્રન્થ નાશ પામ્યો ત્યારે પતંજલિક્રમિષ્ઠ મહાભાષ્યની રચના કરી । સગ્રહગ્રન્થના નમૂનારૂપ રચેલા મહાભાષ્યનો નાશ પતંજલિના-વૈજિ-સૌભવ અને હર્યક્ષનામના શુષ્કતાર્કિક ત્રણ શિષ્યોએજ કર્યો । નાશ થઈ જતા મહાભાષ્યનુ-દક્ષિણદેશમાં માત્ર પાઠરૂપે રહેલાનુ-રક્ષણ કરીને વિસ્તારપૂર્વક પહોંચાવેલો કર્યો । મર્તુહરિવિરચિત-વાક્યપદીય-ગ્રન્થ ૩૦ સં. ૧૦ સાતમી સદીમાં હોવાનું માની શકાય, તે ગ્રન્થમાં વ્યાકરણના પદાર્થો સવંધી સુંદર ઉલ્લેખો છે, મહાભાષ્યની માફક તે ગ્રન્થના ગૌરવને આજે પણ વિદ્વાનો માન્ય રાખે છે, આ ગ્રન્થના કર્તા મર્તુહરિ ચન્દ્રગોમિને પોતાના ગુરુતરીકે જણાવે છે, તેથી મર્તુહરિને ચન્દ્રગોમિ ઉપર અત્યંત પૂજ્યમાવ હતો એમ સ્પષ્ટ સમજાય છે ।

ચાન્દ્ર-વ્યાકરણકારે પાણિનિ, કાત્યાયન અને પતંજલિના પાઠોને સુધારીને સરલતા અને લઘુતા આપવાનો પ્રયત્ન કર્યો છે । પાણિનિના પ્રત્યાહારો તો લીધા જ નથી પરંતુ પોતે નવા પ્રત્યાહારો વનાવ્યા છે, કેટલાક પ્રકરણોમાં કોઈ કોઈ સૂત્ર પણ નવું જ બનાવેલું છે, વૈદિકપ્રક્રિયા અને ધાતુપાઠનો સમાવેશ પણ કર્યો નથી. આ વ્યાકરણની સૂત્રસંખ્યા લગભગ ૩૧૦૦ છે, અને એની ઉપર રચાયેલા ટીકા વગેરેના ગ્રન્થો હાલમાં દશ-બાર મળી આવે છે ।

મહાભાષ્યનું રક્ષણ કરવામાં ચાન્દ્રવ્યાકરણકારની ઉદારતા હતી, ઇટલે આ વ્યાકરણમાં ઉપલબ્ધિષ્ઠ જોતા જો કે સામ્પ્રદાયિક-ગન્ધ જણાતો નથી, પરંતુ તાત્વિકદૃષ્ટિ તપાસતા કોઈ કોઈ સ્થળે સામ્પ્રદાયિક-ગન્ધ જણાયા વિના રહેતો નથી ।

જૈનેન્દ્રવ્યાકરણના કર્તા દેવનન્દીનામે દિગમ્બરમતના પ્રસિદ્ધ આચાર્ય છે, તેઓને પૂજ્યપાદના નામથી પણ ઘણી જગ્યાએ સંબોધેલા છે, તે સિવાય યશઃકીર્તિ, યશોનન્દી, દેવનન્દી, મહાયતિ, ગુણનન્દી અને ગુણાકર ઇટલાં નામો નન્દીસંઘની પટ્ટાવલીમાં તેમના નામના પર્યાયો તરીકે જણાવેલા હોવાથી એ વધા નામો પણ તેઓના જ છે એમાં શંકા કરવા જેવું કાંઈ નથી ।

આ વ્યાકરણ ઉપર પ્રક્રિયાગ્રન્થો, ટીકાગ્રન્થો અને ન્યાસગ્રન્થો પણ રચાયા છે, આ ગ્રન્થકારે વીજા પણ ગ્રન્થો રચેલા છે । પાણિનીય વગેરે વીજા વ્યાકરણો કરતા આ વ્યાકરણમાં શી શી વિશિષ્ટતાઓ રહેલી છે એવા પ્રશ્નના ઉત્તરરૂપે ટુંકમાં ઇટલું જ જણાવવાનું છે કે—સજ્ઞાઓમાં, પ્રત્યયોમાં અને આદેશોમાં ઠામ ઠામ લઘુતા આપેલી છે, અને પાણિનિની પેઠે અપાદાન-કારકમાં વાર્તિકોને સ્થાન જ આપ્યું નથી । વિશેષ જિજ્ઞાસુઓએ અમયનન્દિકૃત જૈનેન્દ્રપ્રક્રિયાની પ્રસ્તાવનાના પૃષ્ઠ ૧૦—૧૧ જોવા ।

આ વ્યાકરણપર પ્રક્રિયાકાર-અમયનન્દિએ મહાવૃત્તિની રચના કરી છે, તેની અન્દર વાક્યપદીય, શિશુપાલવધ અને રાજવાર્તિક એ ત્રણ ગ્રન્થોનો આધાર પણ લીધો હોય એમ ગ્રન્થ તપાસતા માલમ પડે છે । આ વ્યાકરણપર શ્રુતકીર્તિકૃત પદ્ધ-વસ્તુ-પ્રક્રિયા તથા શબ્દાર્ણવચન્દ્રિકા વગેરે ગ્રન્થો હાલ પણ મળી શકે છે ।

શાકટાયન વ્યાકરણના કર્તા મહાશ્રમણ-સંઘાધિપતિ આચાર્ય મગવાન શાકટાયન ૩૦ સં. ૮૧૦ પછી અમોઘવર્ષરાજાના રાજ્યશાસનમાં થયા છે । રાજાને પ્રસન્ન રાખવા માટે તેમણે પોતાના વ્યાકરણની રચેલી સ્તોત્રવૃત્તિનું નામ અમોઘવૃત્તિ રાખ્યું હતું, તે વૃત્તિ લોકોમાં અમોઘવૃત્તિ તરીકે પણ ઓછાલાતી હતી । આચાર્ય શ્રીમલયગિરિજી મહારાજે નન્દીસંઘની ટીકા પૃષ્ઠ ૧૫ માં શાકટાયનાચાર્યને યાપનીયયતિગ્રામાગ્રણી તરીકે જણાવ્યા છે । યાપનીયસંઘની ઘણી માન્યતાઓ જૈનેન્દ્રતા-મ્બરસમ્પ્રદાયને અનુસરતી છે, પરંતુ જિનદર્શન અને જિનપૂજન વગેરે કેટલીક બાબતોમાં દિગમ્બરોની પ્રણાલિકાને અનુસરતી છે । શાકટાયનાચાર્ય તથા તેમની પરંપરાને અનુસરનારાઓ શ્વેતામ્બરોના આગમો, હેલસૂત્રો અને નિર્યુક્તિ વગેરે ગ્રન્થોને આદર-પૂર્વક માન્ય રાખતા હતા, તેમણે સ્ત્રીમુક્તિ અને કેવલિમુક્તિ સંબન્ધમાં બે પ્રકરણો લખીને સ્ત્રીનો મોક્ષ થાય છે અને કેવલિઓ આહાર ગ્રહણ કરે છે, એ બે બાબતોનું સમર્થન કર્યું છે તથાપિ હાલના દિગમ્બરો એ બંને બાબતને માનતા નથી ।

આ શાકટાયન-વ્યાકરણપર ચિન્તામણિ નામની ટીકા તથા પ્રક્રિયા-ગ્રન્થો પણ રચાયા છે, તથા સ્તોત્ર-અમોઘવૃત્તિ રચેલી છે, જેનો મોટા ભાગે આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણમાં કેવી રીતે ઉપયોગ કર્યો છે તે પૂર્વના પ્રકરણમાં વિસ્તારથી જણાવેલું છે । આ આચાર્યશ્રીએ અમોઘવૃત્તિની રચનાની શરૂઆત નીચે જણાવ્યા પ્રમાણે કરેલી છે ।



ૐ નમઃ સિદ્ધેભ્યઃ ॥ શ્રીમત્-પદ્મગુરુભ્યો નમઃ ॥

શ્રીવીરમમૃતં જ્યોતિર્નિત્યાઽઽર્દિં સર્વવેદિનમ્ । શબ્દાનુશાસનસ્યેયમમોઘા-વૃત્તિરુચ્યતે ॥ ૧ ॥

અવિદ્નેનેષ્ટપ્રસિદ્ધ્યર્થ મંજુલમારમ્યતે—

નમઃ શ્રીવર્દ્ધમાનાય પ્રવુદ્ધાશેપવસ્તવે । યેન શબ્દાર્થસમ્બન્ધા સાર્વેણ સુનિરૂપિતા. ॥ ૨ ॥

શબ્દો વાચકઃ, અર્થો વાચ્યઃ, તયો સમ્બન્ધો યોગ્યતા, અથવા-શબ્દ આગમ\* અર્થ. પ્રયોજનમમ્યુદયો નિ શ્રેયસ ચ તયો સમ્બન્ધ ઉપાયોપેયભાવ. । ત એવ સર્વસત્ત્વહિતેન સતા તત્ત્વત પ્રજાપિતા\* તસૈ પરમાર્હન્યમહિજ્ઞા વિરાજમાનાય ભગવતે વર્દ્ધમાનાય ષઢપિ દ્રવ્યાણ્યશેપાણ્યનન્તપર્યાયરૂપાણિ સાકલ્યેન સાક્ષાત્ કુર્વતે નમસ્કુર્વે ઇત્યુપસ્ત્કાર । એવ કૃતમંજુલરક્ષાવિધાન\* પરિપૂર્ણમરૂપ-ગ્રન્થ લઘૂપાયં શબ્દાનુશાસનં શાસ્ત્રમિદં મહાશ્રમણસદ્ધાધિપતિર્ભગવાનાચાર્યઃ ગ્રાફ્ટાયનઃ પ્રારમ્ભતે શબ્દાર્થજ્ઞાનપૂર્વકં ચ સન્માર્ગાનુષ્ઠાનમ્ ॥ અહુળ્ ॥૧॥ ઋક્ ॥૨॥ એઓઢ્ ॥૩॥ એઓચ્ ॥૪॥ હ્યવરલજ્ ॥૫॥ જમહ્ણનમ્ ॥૬॥ જવગહદશ્ ॥૭॥ જમઘદ્ધષ્ ॥૮॥ સ્વફલ્લઠથટ્ ॥૯॥ ચટતવ્ ॥૧૦॥ કપય્ ॥૧૧॥ શપસઅઅ ધક્-પદ્ ॥૧૨॥ હલ્ ॥૧૩॥

ઈતિ વર્ણસમાજ્ઞાય ક્રમાનુવન્ધોપાદાનઃ પ્રત્યાહારયન્ શાસ્ત્રસ્ય લાઘવાર્થ સામાન્યાશ્રયણાદીર્ઘદ્ધુતાનુનાસિકાના ગ્રહણમ્ ।

પ્રત્યાહાર લામગ પાણિનીય વ્યાકરણને મળતા છે, સૂત્રોની રચના અને પદ્ધતિ પાણિનીય વ્યાકરણથી તદ્દન જૂદી જ શૈલીની છે, અને વિપ્રકીર્ણાદિ દોષો પળ અમ્યાસકાળે અમ્યાસીની નજરમા આવ્યા વિના રહે નહિ તેવા સ્પષ્ટ છે ।

જૈનશ્વેતામ્બર સમાજમા વ્યાકરણની રચના સૌથી પ્રથમ ગ્રાસનપ્રભાવક-શ્રીબુદ્ધિસાગરસૂરિજીએ કરી છે એમ તેમના રચેલા બુદ્ધિસાગર વ્યાકરણના નીચે જણાવેલા અન્તિમ શ્લોક ઉપરથી જણાય છે—

“શ્રીવિક્રમાદિત્યનરેન્દ્રકાલાત્, સાશીતિકે યાતિ સમા સહસ્રે । સશ્રીકજાવાલિપુરે તદાઽઽચ, દ્વઘ મયા સપ્તસહસ્રકલ્પમ્ ॥”

આ વ્યાકરણ સાત હજાર શ્લોક પ્રમાણ છે એમ ઉપરના શ્લોકમા જણાવ્યું છે, પરન્તુ અમયદેવસૂરિપ્રબન્ધમા આઠ હજાર શ્લોક પ્રમાણ જણાવ્યું છે, અન્તિમ નિર્ણય કેવાલિગમ્ય છે ।

મીમદેવના પૂર્વકાલીન ચૌલ્લક્યવશીય દુર્લભરાજના ૩૦ સં ૧૦૦૯ થી ૧૦૨૧ ( વિ. સં ૧૦૬૬ થી ૧૦૭૮ ) સુધીના સમયમા શ્રીજિનેશ્વરસૂરિજીની સાથે શ્રીબુદ્ધિસાગરસૂરિજીનો પાટળમા પ્રવેશ થયો હતો । તે સમયમા જૈનશ્રમણ-ભગવન્તો પ્રત્યે ઘણા સરા જૈનેતરો દ્વેષ રૂપ્યા અને સકુચિતતા રાખતા હતા, પરન્તુ રાજ-પુરોહિત-સોમદેવ વગેરે કેટલા એક જૈનેતરો હૃદયની વિશાલતા, સૌમ્યતા અને સજ્જનતા રાખનારા પળ હતા । તેથી વન્ને આચાર્યોએ સોમદેવ પુરોહિતને જણાવ્યું જે ચૈત્ય-વાસિઓના જોરથી હમને વસતિ (ઉતારો) મળ્લી નથી, તે સામઝીને સોમદેવે ઉતારાની ગોઠવણ કરીને વન્ને આચાર્યોને ઉતરવાને સ્થાન આપ્યું । તે વાત ચૈત્યવાસિઓના જાણવામા આવ્યા પછી તેઓએ એવો પ્રયત્ન કરવા માલ્લ્યો કે જેથી તે વન્ને આચાર્યો કટાઝીને પાટળમાથી વિહાર કરી જાય । આ બધી સ્વટપ્તો રાજાના જાણવામા આવ્યાથી તે વન્ને આચાર્યોને પાટળમાં રહેવા દેવાની ચૈત્યવાસિઓને આજ્ઞા ફરમાવી, પછી પુરોહિતે પાટળમા જ સ્થિરતા કરવાની વન્ને આચાર્યોને વિનન્તિ કરી, તેથી લામનું કારણ જાણીને વન્ને આચાર્યોએ ત્યા જ સ્થિરતા કરી ।

તે અવસરમાં શિવધર્મના જ્ઞાનદેવ-નામના આચાર્ય પાટળમા પધાર્યા, તેમણે દરેક ધર્મના ગુણિજનોનો સત્કાર કરવાનો ઉપદેશ આપવા માલ્લ્યો, તે ઉપદેશની અસરથી વન્ને જૈનાચાર્યોને માટે ઉપાશ્રયની ગોઠવણ કરવાનું અને સ્વપરપક્ષમા થતા સઘ-ર્ષણો નિવારણ કરવાનું રાજાએ વચન આપ્યું । ત્યાર પછી ‘જૈનેતરો એકપળ વ્યાકરણ નથી’ એવા જૈનેતરોના આક્ષેપને શ્રીબુદ્ધિ-સાગરસૂરિજીએ બુદ્ધિસાગરનામના વ્યાકરણની રચના કરીને દૂર કર્યો । એ વિનાને જણાવવા માટે જ તેઓએ વ્યાકરણની પ્રશ-સ્તિમા આદ્યશબ્દનો પ્રયોગ કર્યો છે ।

વિચારમાં સુન્દરતા, વાણીમાં વિવેકિતા અને વર્તમાનમાં સ્વપરકલ્યાણની ભાવનારૂપ ત્રિવેણીનો જે સ્થલે સુમેલ્લ હોય ત્યાં સંસ્કૃતિના સુન્દર ફરણાં ફર્યા કરે છે ।

પાણિનીય, કાતમ્, ચાન્દ્ર, જૈનેન્દ્ર, શાકટાયન અને બુદ્ધિસાગર વગેરે વ્યાકરણો તથા તેના સ્પષ્ટીકરણ કરનારા વૃત્તિ-ગ્રન્થોરૂપ વ્યાકરણના વિશાલ પ્રદેશને નામમાત્રથી, અથવા અલ્પપ્રબન્ધમાત્રથી યત્કિંચિત્સંયોગસામગ્રીઓને સ્વલ્પાશે જોઈ આવ્યા પછી આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણની રચનામા પૂર્વકાલીન વૈયાકરણોના તત્ત્વોને યોગ્ય સ્થાને ગોઠવી દેવા, અને મતમતાન્તરોની છળ-વટ અવસરે હૃદયનુ સમતોલપણ રાખી લેવું એ મહાવૈયાકરણ કલિકાલસર્વજ્ઞ-ભગવાનની કુશલતા, કાર્યદર્શતા; અને બુદ્ધિ-વૈમવના અજવ ચમત્કારો છે !!!



સાથે સાથે આ પ્રકરણ વાંચીને ઇટલું વિચારવું જરૂરીનું છે કે આ વધી વિશિષ્ટ સામગ્રીરૂપ વલોણામાંથી તારવેલા નવનીતરૂપ મતમતાન્તરોના સ્પષ્ટીકરણ અવસરે યથાયોગ્ય વિનાઓનું દિગ્દર્શન કરાવે છે. આ ઉપરથી એક પ્રધાન-તમ વ્યાકરણદ્વારા ઉપર જોઈ આવ્યા તે વધા વ્યાકરણાદિ ગ્રંથો પૈકી દરેક વ્યાકરણનું રહસ્ય પીરસી શકે છે એ જ કલિકાલસર્વજ્ઞ-ભગવાનની અજબ કાર્યકુશલતા છે.

કલિકાલસર્વજ્ઞ-દેવનું અમરકાર્ય અને શુભનામ કેવળ જૈનસાહિત્ય-સૃષ્ટિમાં જ નહિ, પરંતુ અખિલ-ભારતવર્ષીય-સાહિત્ય-સૃષ્ટિમાં શરત્પૂર્ણિમાના ચન્દ્રની માફક પોતાના આહ્વાદકારક અતિઉજ્જ્વલ કિરણોદ્વારા વિદ્વજ્જનવૃન્દકમળોને વિકસાવી રહ્યાં છે. તથા તેઓશ્રીનું સ્થાન વિશ્વભરના તત્કાલીન અને અર્વાચીન અસાધારણ વિદ્વાનોમાં, કવિઓમાં, સાહિત્ય-સર્જનકારોમાં અને તત્ત્વજ્ઞાનિ-ઓમાં અતિ-ઉચ્ચ છે. ચારમી શતાબ્દીથી શરૂ કરીને સાડી આઠસો ઉપરાન્ત વર્ષો વીતવા છતાં આજે પણ કોઈ ગૌરવાન્વિત ગુણિજનોની ગણના કરવા માટે તો અગુલિના પર્વપર પ્રથમ નમ્બર કલિકાલસર્વજ્ઞનો જ આવે તેમાં શંકાને લેશમર અવકાશ નથી. આજના જૈનેતરો પણ કલિકાલસર્વજ્ઞની અગાધ-વિદ્વત્તા અને અલૌકિક-પાણ્ડિત્યપર મુગ્ધ બન્યા છે, ઇટલું જ નહિ પણ તેઓના રચેલા વિવિધ-વિષયના અનેકાનેક ગ્રંથોને અવલોકતા ક્ષણભર આશ્ચર્ય પામીને 'એક જ વ્યક્તિ આટલા વધા વિષયમાં સફળ કેમ નિવડી હશે!' આવા ઉદ્ગારોના ડમલકા ઉછળવા લાગે એ પણ એક અળ-ઝકેલ કોયડો વિશ્વ-સમક્ષ પડેલો છે.

યદ્યપિ કલિકાલસર્વજ્ઞ સર્વે સીધાવી ગયા છે છતાં સર્વતોમુખી પ્રતિભા અને વલવાન બુદ્ધિના જોરે રચના કરીને જે સાહિત્યો મુકી ગયા છે, તે સાહિત્યોને આંખો મીંચીને જુઓ તો તે સર્વાંગસુન્દર સાહિત્યના રચયિતા કલિકાલસર્વજ્ઞના કલ્પનામય દર્શન જરૂર થશે. ગુજરાતને ગૌરવાન્વિત બનાવવાનું માન તેઓશ્રીને જ છે, ઇટલું જ નહિ પણ એમના જેવો દરેક વિષયમાં પારગામી વિદ્વાન અઘાવધિ પાક્યો જ નથી, બલ્કે શોધ્યો પણ જડે તેમ નથી; એ નિર્વિવાદ સત્ય સ્વીકાર્યા વિના ચાલે તેમ નથી.

### ઉભરાતાં રત્નોથી ભરપૂર પ્રધાનતમ વ્યાકરણ શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસન.

પ્રાતઃસ્મરણીય કલિકાલસર્વજ્ઞ ભગવાન શ્રીહેમચન્દ્રસૂરીશ્વરની સર્વતોમુખી પ્રતિભા, બુદ્ધિવૈભવ, ગમ્ભીરજ્ઞાન, અપૂર્વસાધુતા, સ્વ-પરશાસ્ત્રપારજ્ઞત્વપણ, રાજનીતિજ્ઞતા, કાર્યદક્ષતા અને શાસનવત્સલતા વગેરે ગુણો અત્યંત પ્રશસનીય હતા તેમાં લેશ પણ શંકા કરવા જેવું નથી, ઇટલું જ નહિ પણ સંસ્કૃત-પ્રાકૃતાદિ સાહિત્યનું મુખ સર્વ-રીતિએ ઉજ્જ્વલ કરવાનો સઘળોયે યશ તેઓશ્રીના જ ફાલે જાય છે. અને તેથીજ અમારા પ્રાતઃસ્મરણીય-પૂજ્ય-ગુરુવર્યો પ્રસ્તાવનામાં તેઓશ્રીના નિઃસીમ યશોગાન ગાતા થકા જણાવે છે, — 'તથુક્તમેવ અતીતાઽનાગતવર્તમાનકાલીનાઽતીન્દ્રિયાર્થજ્ઞાનસમ્પન્નતાદિપ્રમાવલબ્ધકલિકાલસર્વજ્ઞત્વવિરુદ્ધાના ભગવતા ક્રમેણ શ્રીસિદ્ધહેમાલ્ય પાણિનીયાદિખિલશબ્દાનુશાસનયશસ્તારાગણપ્રમાપટલવિકર્તનપ્રમમનૂન ત્રિમુન્યસમાપિત સમાપ્ત શબ્દાનુશાસન' × × × × ×.

આ મહાપુરુષની વિવિધ-વિષયની પાણ્ડિત્યપૂર્ણ રસિક રચનાઓનો સમ્પૂર્ણ અભ્યાસ કર્યા વિના જ એના સમ્બન્ધમાં કદ પણ આલેખન કરવું તે પારાવાર સમુદ્રની મર્યાદાને માપવા જેવો પ્રયાસ છે, છતાં પોતાના બે હાથ પહોળા કરીને જેમ કોઈ બાઝક સમુદ્રના માપને શક્તિ અને સંયોગ અનુસાર વતાવે છે, અથવા કોમલ અવસ્થાને પામેલો કોકિલ જેમ પોતાની શક્તિ અનુસાર સહકાર વૃક્ષના કાલા પેલા સુન્દર યશોગાન ગાઈ વતાવે છે, તેવી રીતે તેઓશ્રીની ઉપલબ્ધ થતી સર્વ-કૃતિઓમાંથી ફક્ત શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસન-સમ્બન્ધી શક્તિ અનુસાર આશિક ઉલ્લેખન કરું તે પણ અસ્થાને નથી અર્થાત્ યોગ્ય છે.

કયા અતિગમ્ભીર અને મનનીય શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસન<sup>૧</sup>, અને કયા મન્દમતિ એવો હું<sup>૨</sup>, તો પણ આપશ્રીની કૃતિ પ્રત્યે શ્રદ્ધાહ્લ, પ્રતીતિવાલો અને રુચિવાલો થયેલો હું વાક્યરચનામાં અને શબ્દસંકલનમાં સ્વલ્પના પાસુ તો પણ પર્વતની ટોચે પહોંચવાના મનોરથવાળા સ્વલ્પના-પામનારા પાગલા મનુષ્યની માફક સુજ્ઞનોમાં હાસીપાત્ર થઈશ નહિ. આપશ્રીની કૃતિ પ્રત્યેની મક્તિ અને શ્રદ્ધાના જોરે જે સદ્વિવેક અને સમમાવ ઉત્પન્ન થયેલો છે તે માટે તેઓશ્રીના સમગ્ર સાહિત્યનો સદાનો હું કણી છું.

કોઈ પણ ગ્રંથની રચનાને અવલોકીને અમિપ્રાય ઉચ્ચારનારમાં તે ગ્રંથના રચયિતા પ્રત્યે અસાધારણ શ્રદ્ધા-મક્તિ તો હોવી જ જોઈએ એવો મારો મૌલિક અમિપ્રાય છે, કારણકે કોઈ પણ ગ્રંથના અભ્યાસીને તે તે ગ્રંથના કોઈ કઠિન વિષયમાં મુંઝવણ આવી પડે તો તે અવસરે તે અભ્યાસી મક્તિપૂર્વક ક્ષણભર સર્વસ્વ સમર્પણ કરવા તૈયાર થાય તો તેની મુંઝવણ તરત દૂર થઈ જાય છે આ વિના અનુભવ સિદ્ધ છે. વિશેષમાં શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસનના અભ્યાસીએ 'સંસ્કૃતમાધાના અનેકવિધ પ્રકરણના પારજ્ઞત થવા માટે આ એક જ વ્યાકરણ શરણમૂત છે' એવી અતૂટ શ્રદ્ધા રાખીને અભ્યાસ કરવો. આ ગ્રંથના કોઈ પણ પ્રકરણ માટે પરકીય વ્યાકરણનો આશ્રય લેવો પડે એવી અપૂર્ણતા આ વ્યાકર-ણમાં રાખેલી જ નથી.

તેઓશ્રીની સમગ્રકૃતિપૈકી ભારતવર્ષના પ્રધાનતમ-વ્યાકરણ તરીકે પ્રસિદ્ધિ પામેલ શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસન છે । એ પ્રધાનતમ-વ્યાકરણના આઠ અધ્યાય છે, તેમાંના પ્રથમના સાત અધ્યાયનો ઉગાદિ સહિતનો પ્રથમ-મહાવિભાગ સંસ્કૃતભાષાના સંપૂર્ણ જ્ઞાનને સમર્પે છે, અને ફક્ત આઠમા અધ્યાયરૂપ દ્વિતીય-મહાવિભાગ પ્રાકૃત અને અપભ્રંશાદિ ભાષાના બોધને સમર્પે છે । તેમાંથી સંસ્કૃત ભાષાના પરિપૂર્ણ બોધને કરાવનારા ઉગાદિસહિત સાત-અધ્યાયરૂપ પ્રથમ-મહાવિભાગનો અહીં કાઢક વિચાર કરીએ—

આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણના પ્રથમ-મહાવિભાગના સૂત્રોપર વે વૃત્તિઓ સ્થોપજ છે, ૧ લઘુવૃત્તિ, અને ૨ વૃહદ્વૃત્તિ=અપરનામ તત્ત્વપ્રકાશિકા, એ વચ્ચે વૃત્તિનો પરિપાટિક્રમ તો એક સરસો જ રાખેલો છે ।

આ સંસ્કૃત ભાષાના વ્યાકરણની સાથે એક જ વ્યાકરણમા સંમિલિત-રીતિએ પ્રાકૃત અને ગૌરસેની આદિ ભાષાના વ્યાકરણને રચવાના રિવાજની શરૂઆત કલિકાલસર્વજ્ઞે જ કરી છે । વરરુચિ-ભામહ વગેરે વૈયાકરણો વિરચિત વીજા પ્રાકૃતવ્યાકરણોની અને આ પ્રાકૃતવ્યાકરણની રચનામા જમીન અને આમ જેટલું અન્તર છે । પ્રાકૃતભાષા અને અપભ્રંશભાષાદિના સ્પષ્ટીકરણમા કલિકાલસર્વજ્ઞનો પાલો ઉચ્ચતમ પ્રકારનો છે । અપભ્રંશભાષાદિ માટે અખિલ-વિશ્વમા ક૦ સ૦-અદ્વિતીય વ્યાકરણકાર છે એમાં લેશમર અતિશયોક્તિને સ્થાન નથી । સંસ્કૃત ભાષા પ્રત્યે બ્રાહ્મણોનો આગ્રહ ઇતિહાસના પાનાપર નજરે ચડે છે, જ્યારે સર્વસહ પૃથ્વીસમાન અને જલપ્રદ-જલધરસમાન શ્રમણભગવન્તોનો સંસ્કૃત-પ્રાકૃત-અપભ્રંશ આદિ ભાષા પ્રત્યે એક સરસો સમભાવ દૃષ્ટિગોચર થાય છે; આ વધુ વીજા-મહાવિભાગરૂપ આ વ્યાકરણના આઠમા અધ્યાયની પ્રસ્તાવનામા જોઈશું ।

આ લઘુવૃત્તિ અને વૃહદ્વૃત્તિમા તફાવત ઇટલોજ માલુમ પડે છે કે-લઘુવૃત્તિમા અન્ય વૈયાકરણોના મતમતાન્તરો નથી, આકૃતિગણોની નોંધ નથી, સૂત્રનો અર્થ વિસ્તારથી જણાવ્યો નથી, પરન્તુ સૂત્રના કાર્યપ્રદેશને ઉપયોગી નીવડે તેટલી જ વૃત્તિ અને તેટલા જ ઉદાહરણ-પ્રત્યુદાહરણો આપીને લઘુપદને સાર્થક બનાવ્યું છે । વૃહદ્વૃત્તિમા સૂત્રનો સંપૂર્ણ અર્થ, પૂર્વાપર સૂત્રસાથેનો સમ્બન્ધ, સૂત્રના બહુવચનાદિના ફલનિર્દેશ, મતમતાન્તરોનું પ્રદર્શન, સૂત્રના દરેક પદોની યથાર્થતા જણાવનારા ઉદાહરણો અને પ્રત્યુદાહરણો અને આકૃતિગણો વગેરે વગેરે સંસ્કૃત-ભાષારૂપ મહાસાગરનો પાર પામવા માટે જે કાફ જોડણ તે વધુ આ વૃહદ્વૃત્તિમા સમાવેલું છે ।

આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણના પ્રથમ-મહાવિભાગને ચાર વિભાગમાં વહેંચેલો છે-૧ ચતુષ્કવૃત્તિ, ૨ આરુપ્યાતવૃત્તિ, ૩ કૃદ્વૃત્તિ અને ૪ તદ્વિતવૃત્તિ ।

૧ ચતુષ્કવૃત્તિ=સન્ધિ, નામ, કારક, અને સમાસ ।

પ્રથમાઽધ્યાય ।	પ્ર૦	પાદ ।	સૂત્ર—૪૨—સંજ્ઞાપ્રકરણમ્ ।	} ૧ પ્રથમો વિભાગ: ।
”	દ્વિ૦	”	” ૪૧—સ્વરાદિસન્ધિપ્રકરણમ્ ।	
”	ત્ર૦	”	” ૬૫—વ્યક્તનસન્ધિપ્રકરણમ્ ।	
પ્રથમાઽધ્યાય ।	ચ૦	પાદ ।	સૂત્ર—૯૩	} ૨ દ્વિતીયો વિભાગ: ।
દ્વિતીયાઽધ્યાય ।	પ્ર૦	”	” ૧૧૮	
”	દ્વિ૦	”	” ૧૨૪	} ૩ તૃતીયો વિભાગ: ।
”	ત્ર૦	”	” ૧૦૫	
”	ચ૦	”	” ૧૧૩	} ૪ ચતુર્થો વિભાગ: ।
તૃતીયાઽધ્યાય ।	પ્ર૦	”	” ૧૬૩	
”	દ્વિ૦	”	” ૧૫૬	

૧૦૨૦

આ ચતુષ્કવૃત્તિના ચાર વિભાગો છે ।

૧—જુઓ-સિ૦ ૬૦ શ્લ૦ ૨૪ વૃહદ્વૃત્તિની અવધૂર્ણિ પૃ૦ ૩ પ૦ ૨૬ શ્રી ૨૮ દે૦ લા૦ પૃષ્ઠ ૫૦૧૨ । તે પ્રત્યયા આ પ્રમાણે છે-‘ઉત્તરાર્ધેન શ્રી સ્વકીયનામ સન્ધ્યન્તરેણ ચ સિદ્ધહેમચન્દ્રાભિધાનસોપશ્લેષશબ્દાનુશાસનટીકા નામ ચ પ્રત્યકાર પ્રાચકટટ્ । સોપશ્લેષશબ્દાનુશાસનસ્ય ‘તત્ત્વપ્રકાશિકા’ ટીકા મયા વિરચ્યત ઇત્યર્થ ।’

સાથે સાથે આ પ્રકરણ વાંચીને ઇટલું વિચારવું જરૂરીનું છે કે આ વધી વિશિષ્ટ સામગ્રીરૂપ વલોણામાંથી તારવેલા નવનીતરૂપ મતમતાન્તરોના સ્પષ્ટીકરણ અવસરે યથાયોગ્ય વિનાઓનું દિગ્દર્શન કરાવે છે । આ ઉપરથી એક પ્રધાન-તમ વ્યાકરણદ્વારા ઉપર જોઈ આવ્યા તે વધા વ્યાકરણાદિ ગ્રન્થો પૈકી દરેક વ્યાકરણનું રહસ્ય પીરસી શકે છે એ જ કલિકાલસર્વજ્ઞ-ભગવાનની અજબ કાર્યકુશલતા છે ।

કલિકાલસર્વજ્ઞ-દેવનું અમરકાર્ય અને શુભનામ કેવલ જૈનસાહિત્ય-સૃષ્ટિમા જ નહિ, પરંતુ અસ્થિલ-ભારતવર્ષીય-સાહિત્ય-સૃષ્ટિમાં શરત્પૂર્ણિમાના ચન્દ્રની માફક પોતાના આહાદકારક અતિઉજ્જ્વલ કિરણોદ્વારા વિદ્વજ્જનવૃન્દકમળોને વિકસાવી રહ્યા છે । તથા તેઓશ્રીનું સ્થાન વિશ્વભરના તત્કાલીન અને અર્વાચીન અસાધારણ વિદ્વાનોમા, કવિઓમા, સાહિત્ય-સર્જનકારોમા અને તત્ત્વજ્ઞાનિ-ઓમા અતિ-ઉચ્ચ છે । ચારમી શતાબ્દીથી શરૂ કરીને સાડી આઠસો ઉપરાન્ત વર્ષો વીતવા છતાં આજે પણ કોઈ ગૌરવાન્વિત ગુણિજનોની ગણના કરવા માટે તો અગુલિના પર્વપર પ્રથમ નમ્બર કલિકાલસર્વજ્ઞનો જ આવે તેમા શંકાને લેશમર અવકાશ નથી । આજના જૈનેતરો પણ કલિકાલસર્વજ્ઞની અગાધ-વિદ્વત્તા અને અલૌકિક-પાણ્ડિત્યપર મુગ્ધ વન્યા છે, ઇટલું જ નહિ પણ તેઓના રચેલા વિવિધ-વિષયના અનેકાનેક ગ્રન્થોને અવલોકતા ક્ષણમર આશ્ચર્ય પામીને ‘એક જ વ્યક્તિ આટલા વધા વિષયમા સફળ કેમ નિવડી હશે !’ આવા ઉદ્ગારોના ઉમલકા ઉછઠવા લાગે એ પણ એક અળ-ઝકેલ કોયડો વિશ્વ-સમક્ષ પડેલો છે ।

યદ્યપિ કલિકાલસર્વજ્ઞ સ્વર્ગે સીધાવી ગયા છે છતાં સર્વતોમુખી પ્રતિમા અને વલવાન બુદ્ધિના જોરે રચના કરીને જે સાહિત્યો મુકી ગયા છે, તે સાહિત્યોને આંખો મીંચીને જુઓ તો તે સર્વાંગસુન્દર સાહિત્યના રચયિતા કલિકાલસર્વજ્ઞના કલ્પનામય દર્શન જરૂર થશે । ગુજરાતને ગૌરવાન્વિત બનાવવાનું માન તેઓશ્રીને જ છે, ઇટલું જ નહિ પણ એમના જેવો દરેક વિષયમાં પારગામી વિદ્વાન અઘાવધિ પાક્યો જ નથી, બલ્કે શોધ્યો પણ જડે તેમ નથી; એ નિર્વિવાદ સત્ય સ્વીકાર્યા વિના ચાલે તેમ નથી ।

**ઉભરાતાં રત્નોથી અરપૂર પ્રધાનતમ વ્યાકરણ શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસન ।**

પ્રાતઃસ્મરણીય કલિકાલસર્વજ્ઞ ભગવાન શ્રીહેમચન્દ્રસૂરીશ્વરની સર્વતોમુખી પ્રતિમા, બુદ્ધિવૈભવ, ગમ્ભીરજ્ઞાન, અપૂર્વસાધુતા, સ્વ-પરશાસ્ત્રપારક્ષતપણુ, રાજનીતિજ્ઞતા, કાર્યદક્ષતા અને શાસનવત્સલતા વગેરે ગુણો અત્યંત પ્રશસનીય હતા તેમા લેશ પણ શંકા કરવા જેવું નથી, ઇટલું જ નહિ પણ સંસ્કૃત-પ્રાકૃતાદિ સાહિત્યનું મુખ્ય સર્વ-રીતિ ઉજ્જ્વલ કરવાનો સઘલોયે યશ તેઓશ્રીના જ ફાલે જાય છે । અને તેથીજ અમારા પ્રાતઃસ્મરણીય-પૂજ્ય-ગુરુવર્યો પ્રસ્તાવનામા તેઓશ્રીના નિ સીમ યશોગાન ગાતા થકાં જળાવે છે, —‘તદ્યુક્તમેવ અતીતાઽનાગતવર્તમાનકાલીનાઽતીન્દ્રિયાર્થજ્ઞાનસમ્પન્નતાદિપ્રમાવલબ્ધકલિકાલસર્વજ્ઞત્વવિરુદ્ધા મગવતા ક્રમેણ શ્રીસિદ્ધહેમાલ્ય પાણિનીયાદિસિદ્ધશબ્દાનુશાસનયશસ્તારાગણપ્રમાપટલવિકર્તનપ્રભમનૂન ત્રિમુન્યસમાપિત સમાપ્ત શબ્દાનુશાસન’ × × × × × ।

આ મહાપુરુષની વિવિધ-વિષયની પાણ્ડિત્યપૂર્ણ રસિક રચનાઓનો સમ્પૂર્ણ અભ્યાસ કર્યા વિના જ એના સમ્બન્ધમા કદ જોઈને પાલેખન કરવું તે પારાવાર સમુદ્રની મર્યાદાને માપવા જેવો પ્રયાસ છે, છતાં પોતાના બે હાથ પહોળા કરીને જેમ કોઈ બાલક સમુદ્રના માપને શક્તિ અને સયોગ અનુસાર બતાવે છે, અથવા કોમલ અવસ્થાને પામેલો કોકિલ જેમ પોતાની શક્તિ અનુસાર સહકાર વૃક્ષના કાલા ઘેલા સુન્દર યશોગાન ગાઈ બતાવે છે, તેવી રીતે તેઓશ્રીની ઉપલબ્ધ થતી સર્વ-કૃતિઓમાંથી ફક્ત શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસન-સમ્બન્ધી શક્તિ અનુસાર આશિક ઉલ્લેખન કરું તે પણ અસ્થાને નથી અર્થાત્ યોગ્ય છે ।

ક્યા અતિગમ્ભીર અને મનનીય શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસન<sup>૧</sup>, અને ક્યા મન્દમતિ એવો હું<sup>૨</sup>, તો પણ આપશ્રીની કૃતિ પ્રત્યે શ્રદ્ધાભ્રુ, પ્રતીતિવાલો અને રુચિવાલો થયેલો હું વાક્યરચનામા અને શબ્દસજ્જલનામા સ્થલના પાસુ તો પણ પર્વતની ટોચે પહોંચવાના મનોરથવાલા સ્થલના-પામનારા પાગલા મનુષ્યની માફક સુજ્ઞનોમા હાસીપાત્ર થઈશ નહિ । આપશ્રીની કૃતિ પ્રત્યેની ભક્તિ અને શ્રદ્ધાના જોરે જે સદ્ભિવેક અને સમમાવ ઉત્પન્ન થયેલો છે તે માટે તેઓશ્રીના સમગ્ર સાહિત્યનો સદાનો હું ક્ષણી છું ।

કોઈ પણ ગ્રન્થની રચનાને અવલોકીને અભિપ્રાય ઉચ્ચારનારમાં તે ગ્રન્થના રચયિતા પ્રત્યે અસાધારણ શ્રદ્ધા-ભક્તિ તો હોવી જ જોઈએ એવો મારો મૌલિક અભિપ્રાય છે, કારણકે કોઈ પણ ગ્રન્થના અભ્યાસીને તે તે ગ્રન્થના કોઈ કઠિન વિષયમાં મુંઝવણ આવી પડે તો તે અવસરે તે અભ્યાસી ભક્તિપૂર્વક ક્ષણમર સર્વસ્વ સમર્પણ કરવા તૈયાર થાય તો તેની મુંઝવણ તરત દૂર થઈ જાય છે આ વિના અનુમતિ સિદ્ધ છે । વિશેષમા શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસનના અભ્યાસીએ ‘સંસ્કૃતભાષાના અનેકવિધ પ્રકરણના પારક્ષત થવા માટે આ એક જ વ્યાકરણ શરણમૂત છે’ એવી અતૂટ શ્રદ્ધા રાખીને અભ્યાસ કરવો । આ ગ્રન્થના કોઈ પણ પ્રકરણ માટે પરકીય વ્યાકરણનો આશ્રય લેવો પડે એવી અપૂર્ણતા આ વ્યાકર-ણમા રાખેલી જ નથી ।

તેઓશ્રીની સમગ્રકૃતિપૈકી ભારતવર્ષના પ્રધાનતમ-વ્યાકરણ તરીકે પ્રસિદ્ધિ પામેલ શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રગણ્ડાનુયામન છે । એ પ્રધાનતમ-વ્યાકરણના આઠ અધ્યાય છે, તેમાના પ્રથમના સાત અધ્યાયનો ઊનાદિ સહિતનો પ્રથમ-મહાવિભાગ સંસ્કૃતભાષાના સંપૂર્ણ જ્ઞાનને સમર્પે છે; અને ફક્ત આઠમા અધ્યાયરૂપ દ્વિતીય-મહાવિભાગ પ્રાકૃત અને અપભ્રંશાદિ ભાષાના બોધને સમર્પે છે । તેમાંથી સંસ્કૃત ભાષાના પરિપૂર્ણ બોધને કરાવનારા ઊનાદિસહિત સાત-અધ્યાયરૂપ પ્રથમ-મહાવિભાગનો અહીં કાદક વિચાર કરીએ—

આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણના પ્રથમ-મહાવિભાગના સૂત્રોપર વે વૃત્તિઓ સ્થોપજ છે, ૧ લઘુવૃત્તિ, અને ૨ વૃહદ્વૃત્તિ=અપરનામ તત્ત્વપ્રકાશિકા, એ બન્ને વૃત્તિનો પરિપાટિક્રમ તો એક સરસો જ રાખેલો છે ।

આ સંસ્કૃત ભાષાના વ્યાકરણની સાથે એક જ વ્યાકરણમા સમ્મિલિત-રીતિએ પ્રાકૃત અને શૌરસેની આદિ ભાષાના વ્યાકરણને રચવાના રિવાજની શરૂઆત કલિકાલસર્વજ્ઞે જ કરી છે । વરરુચિ-ભામહ વગેરે વૈયાકરણો વિરચિત વીજા પ્રાકૃતવ્યાકરણોની અને આ પ્રાકૃતવ્યાકરણની રચનામા જમીન અને આમ જેટલું અંતર છે । પ્રાકૃતભાષા અને અપભ્રંશભાષાદિના સ્પષ્ટીકરણમા કલિકાલસર્વજ્ઞનો પાલો ઉચ્ચતમ પ્રકારનો છે । અપભ્રંશભાષાદિ માટે અવિલ-વિશ્વમા ક૦સ૦-અદ્વિતીય વ્યાકરણકાર છે એમા લેશમર અતિશયોક્તિને સ્થાન નથી । સંસ્કૃત ભાષા પ્રત્યે બ્રાહ્મણોનો આગ્રહ ઇતિહાસના પાનાપર નજરે ચડે છે, જ્યારે સર્વસહ પૃથ્વીસમાન અને જલપ્રદ-જલધરસમાન શ્રમણભગવન્તોનો સંસ્કૃત-પ્રાકૃત-અપભ્રંશ આદિ ભાષા પ્રત્યે એક સરસો સમમાન દૃષ્ટિગોચર થાય છે; આ વધુ વીજા-મહાવિભાગરૂપ આ વ્યાકરણના આઠમા અધ્યાયની પ્રસ્તાવનામા જોડ્યું ।

આ લઘુવૃત્તિ અને વૃહદ્વૃત્તિમા તફાવત ઇટલોજ માલુમ પડે છે કે—લઘુવૃત્તિમા અન્ય વૈયાકરણોના મતનતાન્તરો નથી, આકૃતિગણોની નોંધ નથી, સૂત્રનો અર્થ વિસ્તારથી જણાવ્યો નથી, પરન્તુ સૂત્રના કાર્યપ્રદેશને ઉપયોગી નીવડે તેટલી જ વૃત્તિ અને તેટલા જ ઉદાહરણ-પ્રત્યુદાહરણો આપીને લઘુપદને સાર્થક બનાવ્યું છે । વૃહદ્વૃત્તિમા સૂત્રનો સંપૂર્ણ અર્થ, પૂર્વાપર સૂત્રસાથેનો સમ્બન્ધ, સૂત્રના વહુવચનાદિના ફલનિર્દેશ, મતમતાન્તરોનું પ્રદર્શન, સૂત્રના દરેક પદોની યથાર્થતા જણાવનારા ઉદાહરણો અને પ્રત્યુદાહરણો અને આકૃતિગણો વગેરે વગેરે સંસ્કૃત-ભાષારૂપ મહાસાગરનો પાર પામવા માટે જે કાફ જોડ્યું તે વધુ આ વૃહદ્વૃત્તિમા સમાવેલું છે ।

આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણના પ્રથમ-મહાવિભાગને ચાર વિભાગમાં વહેંચેલો છે—૧ ચતુષ્કવૃત્તિ, ૨ આખ્યાતવૃત્તિ, ૩ કૃદ્વૃત્તિ અને ૪ તદ્વિતવૃત્તિ ।

૧ ચતુષ્કવૃત્તિ=સન્ધિ, નામ, કારક, અને સમાસ ।

પ્રથમાઽધ્યાય ।	પ્ર૦	પાદ ।	સૂત્ર—૪૨—સંજ્ઞાપ્રકરણમ્ ।	} ૧ પ્રથમો વિભાગ: ।
"	દ્વિ૦	"	" ૪૧—સ્વરાદિસન્ધિપ્રકરણમ્ ।	
"	તૃ૦	"	" ૬૫—વ્યક્તનસન્ધિપ્રકરણમ્ ।	
પ્રથમાઽધ્યાય ।	ચ૦	પાદ ।	સૂત્ર—૯૩	} ૨ દ્વિતીયો વિભાગ: ।
દ્વિતીયાઽધ્યાય ।	પ્ર૦	"	" ૧૧૮	
"	દ્વિ૦	"	" ૧૨૪	} ૩ તૃતીયો વિભાગ: ।
"	તૃ૦	"	" ૧૦૫	
"	ચ૦	"	" ૧૧૩	} ૪ ચતુર્થો વિભાગ: ।
તૃતીયાઽધ્યાય ।	પ્ર૦	"	" ૧૬૩	
"	દ્વિ૦	"	" ૧૫૬	
			સ૦પ્ર૦ના વિશેષનિયમો ।	

૧૦૨૦

આ ચતુષ્કવૃત્તિના ચાર વિભાગો છે ।

૧—ગુપ્તો-સિ૦ હે૦ શ૦ વૃહદ્વૃત્તિની અવચૂર્ણિ પૃ૦ ૩ પ૦ ૨૬ થી ૨૮ દે૦ લા૦ પાન ૫૦૯૨ । તે અન્યમા આ પ્રમાણે છે—‘ઉત્તરાર્ધેન જી સ્વકીયનામ મજ્જન્તરેણ ચ સિદ્ધહેમચન્દ્રાભિધાનસ્થોપશાન્દાનુસાસનદીકા નામ ચ અન્યકાર પ્રાચકટ્વ । સ્થોપશાન્દાનુસાસનસ્ય તત્ત્વપ્રકાશિકા’ દીકા મયા વિરચ્યત્ત્વેત્યર્થ ।’

ઉપરની પ્રથમ ચતુષ્કવૃત્તિ-૧ સંજ્ઞાસહિત સન્ધિપ્રકરણ, ૨ નામપ્રકરણ, ૩ કારકપ્રકરણ, અને ૪ પત્વળત્વપ્રકરણ, સ્ત્રીપ્રત્યયપ્રકરણ, અને સમાસપ્રકરણ, આ ચારનો સમુદાય ચતુષ્કવૃત્તિ કહેવાય છે । આ ચતુષ્કવૃત્તિમા પહેલો અને વીજો અધ્યાય સમ્પૂર્ણ અને ત્રીજા અધ્યાયના બે પાદ ઇટલે કુલ દશ પાદના ૧૦૨૦ સૂત્રો આવેલા છે । પ્રથમ ચતુષ્કવૃત્તિના આ બધા સૂત્રોનું વૃત્તિસહિતનું પ્રમાણ લગભગ ૫૦૦૦ શ્લોક પ્રમાણ થાય છે ।

## ૨ આસ્થાતવૃત્તિ ।

તૃતીયાધ્યાય	૮૦ પાદ સૂત્ર ૧૦૮
"	ચ૦ " " ૯૪
ચતુર્થાધ્યાય	પ્ર૦ " " ૧૨૧
	દ્વિ૦ " " ૧૨૩
	૮૦ " " ૧૧૫
	ચ૦ " " ૧૨૨
	૬૮૩

દશપ્રકારના પ્રત્યયો, કર્મણિ તથા ભાવે-પ્રયોગ, પ્રેરક-સન્નત-યજ્ઞન્ત-નામઘાતુ-વિગેરેના ક્રિયાપદોની સાધનિકા અને આદેશો વગેરે, તથા સેટ્-અનિટ્-વેટ્-વિગેરે ઘાતુસમ્બન્ધિ-ચર્ચાઓ । આ વીજા વિભાગરૂપ આસ્થાતવૃત્તિમા ત્રીજા અધ્યાયના ત્રીજા પાદથી ચોથા અધ્યાયના ચોથા પાદ સુધીના-ઇટલે દોઢ અધ્યાયના છ પાદ, અને કુલ સૂત્રો ૬૮૩ છે, તેનું લગભગ ૪૫૦૦ શ્લોકપ્રમાણ ગણી શકાય ।

## ૩ કૃદ્વૃત્તિ ।

પદ્મમાધ્યાય	પ્ર૦ પાદ સૂત્ર ૧૭૪
"	દ્વિ૦ " " ૯૩
"	૮૦ " " ૧૪૧
"	ચ૦ " " ૯૦
	૪૯૮

કૃત્પ્રકરણના પ્રત્યયો તથા તેને લગતા નિયમો અને ફેરફારો વગેરેની ચર્ચા-ઓ । આ ત્રીજા વિભાગરૂપ કૃદ્વૃત્તિમા પાંચમા-અધ્યાયના ચાર પાદના કુલ સૂત્રો ૪૯૮ છે । પાંચમા અધ્યાયના વીજા પાદનું અંતિમ સૂત્ર "ઉણાદયઃ" ॥૫।૨।૯૩॥ છે, આ સૂત્રની પૂર્તિરૂપ ઉણાદિ સૂત્રો ૧૦૦૬ વૃત્તિસહિત છે, એ રીતે કૃદન્ત અને ઉણાદિના કુલ સૂત્રો ૧૫૦૪ છે, તેનું લગભગ ૭૨૦૦ શ્લોકપ્રમાણ ગણી શકાય ।

## ૪ તદ્વિતવૃત્તિ ।

ષષ્ઠાધ્યાય	પ્ર૦ પાદ સૂત્ર ૧૪૩
"	દ્વિ૦ " " ૧૪૫
"	૮૦ " " ૨૧૯
"	ચ૦ " " ૧૮૫
સપ્તમાધ્યાય	પ્ર૦ પાદ સૂત્ર ૧૯૭
"	દ્વિ૦ " " ૧૭૨
"	૮૦ " " ૧૮૨
"	ચ૦ " " ૧૨૨
	૧૩૬૫

તદ્વિતના પ્રત્યયો, સમાસાન્ત પ્રકરણ, ઘુતપ્રકરણ, ન્યાયના સૂત્રો અને તેની વિસ્તારથી છળવટ તથા તે સંવન્ધિ ચર્ચા વગેરે ચોથા વિભાગરૂપ તદ્વિતવૃત્તિમા છઠ્ઠા અધ્યાયના પહેલા પાદથી સાતમા અધ્યાયના ચોથા પાદ સુધીના ઇટલે બે અધ્યાયના આઠ પાદના કુલ સૂત્રો ૧૩૬૫ છે, અને તેનું લગભગ ૪૫૦૦ શ્લોકપ્રમાણ ગણી શકાય ।

ઉપર જણાવેલી ચારે વૃત્તિરૂપ પ્રથમમહાવિભાગમાં—

વૃત્તિનું નામ ।	અધ્યાયનું પ્રમાણ ।	સૂત્ર સંખ્યા ।	શ્લોકપ્રમાણઆસરે ।
૧ ચતુષ્કવૃત્તિ—	૨॥	૧૦૨૦	૫૦૦૦
૨ આસ્થાતવૃત્તિ—	૧॥	૬૮૩	૪૫૦૦
૩ કૃદ્વૃત્તિ—	૧	{ ૪૯૮ }	{ ૪૦૦૦ }
(ઉણાદિવૃત્તિસહિત)		{ ૧૦૦૬ }	{ ૩૨૦૦ }
૪ તદ્વિતવૃત્તિ—	૨	૧૩૬૫	૪૫૦૦
વૃત્તિ ચાર	અધ્યાય સાત	સૂત્રો ૪૫૭૨	૨૧૨૦૦

૧ જુઓ—શ્રીજયનન્દસૂરિશિષ્ય-અમરચન્દ્ર-લિખિત શ્રીસિંહ જે. શં. બૃહદ્વૃત્તિની અવચૂર્ણિ વિ. સં. ૧૨૬૪ ના શ્રાવણ સુદી ૩ ને રવિવારે લખેલી, શેઠ દે. લા. જૈન પુ. ફળદ પ્ર. ૯૦, પૃષ્ઠ ૪ પં. ૫ થી ૧૦—[સવત્ ૧૨૬૪ વર્ષે શ્રાવણ-સુદી ૩ રવિ શ્રીજયનન્દસૂરિશિષ્યેનામરચન્દ્રે-નાડડત્મયોગ્યાવચૂર્ણિકાયા પ્રથમપુસ્તિકા લિખિતા । શુભ ભવતુ લેખકપાઠક્યો ] 'તત્રાડપ્યધ્યાયસપ્તકે ચતુષ્કવૃત્તિસહિતસ્માણિ ચત્તારિ પ્રકરણાનિ ભવન્તિ । તત્ર સન્ધિનામકારકસમાસાધ્યત્વારો માનમસ્યેતિ ચતુષ્કવૃત્તિનું સમુદાય । ઘાતુપ્રત્યયયોગાત્ ક્રિયાસાધકત્વેનાડડપ્યધ્યાયત્વે સ્ત્રી-સ્વાર્થ, ચતુષ્કાલ્યાતાભ્યા પશ્ચાત્ ક્રિયત્વેતિ કૃત્, તેભ્યોડનાદિપ્રત્યયેભ્યો હિત તદ્વિતમ્ । તત્ર ચતુષ્કે દશ પાદા, આપ્યાત્વે પદ, કૃતિ ચત્તાર-સદ્વિતે ચાડ્યૌ, હિત શ્રીસિંહજેમચન્દ્રાભિધાન-શબ્દાનુશાસન-સકલસૂત્રાર્થસમુદેશઃ ।'

આ પ્રથમ-મહાવિભાગમાં આવેલા સાત અધ્યાયના મૂલસૂત્ર અને બૃહદ્વૃત્તિનું ઉણાદિવૃત્તિસહિત શ્લોકપ્રમાણ ૨૧૨૦૦ થાય છે, પણ કેવલ મૂલસૂત્રનું શ્લોકપ્રમાણ તો ૧૧૦૦ લગભગ જ છે ।

આ સાત અધ્યાયના ૨૮ પાદના ( ઉણાદિ સિવાયના ) ૩૫૬૬ સૂત્રો અને તેની ૧૮૦૦૦ શ્લોકપ્રમાણ બૃહદ્વૃત્તિનો સર્વાંગે સમ્પૂર્ણ જ્ઞાતા થવા માટે અર્પૂર્વ-મદદગાર થઈ શકનારા નીચેના ગ્રન્થોનો અભ્યાસ પણ કરવો જ જોઈએ—

૧ લિંગાનુશાસન—મૂલ—શ્લોક ૧૩૮

૨ „ વૃત્તિ „ ૩૬૮૦

૩ ઉણાદિગણવિવરણ „ „ ૩૨૫૦

૪ સિદ્ધહેમવૃહદ્વ્યાસ— „ „ ૮૪૦૦૦

( મહાર્ણવન્યાસ ) ૨૮ પાદમાથી આ ન્યાસ ફક્ત નીચેના ૭ પાદનો જ ઉપલબ્ધ છે ।

પ્રથમાધ્યાયના— ૧ લા પાદનો ।

દ્વિતીયાધ્યાયના ૧-૨-૩-૪ થા „

તૃતીયાધ્યાયના— ૪ થા „

સપ્તમાધ્યાયના— ૩ જા „

૫ ધાતુપારાયણવૃત્તિ— શ્લોક ૫૬૦૦

આ વૃત્તિમા ધાતુના સ્વાભાવિક અર્થ, ઉપસર્ગ લાગવાથી ફરી જતા અર્થ, રૂપોમા થતા ફેરફારો વગેરેનું સવિસ્તર વર્ણન અને ધાતુના યથાર્થ રહસ્યને સમજાવવામા આવેલું છે ।

૬ સંસ્કૃતદ્વાશ્રયમહાકાવ્ય શ્લોક ૨૮૦૦

૭ અમિઘાનચિન્તામણિ—કોપવૃત્તિસહિત । શ્લોક ૧૦૦૦૦

સંસ્કૃતભાષાના જ્ઞાનની પૂર્ણતા માટે સૂત્ર-વૃત્તિ-ગણપાઠ-ધાતુપાઠ-ઉણાદિ અને લિંગાનુશાસનની રચના પણ પોતે જ કરેલી છે ।

આ વ્યાકરણના નામમા ‘સિદ્ધ અને હેમ’ એ બે શબ્દને જોડીને એમ ધ્વનિત કર્યું છે કે ‘મારી કૃતિના આશ્રય લેનારને એ જ વિષયમા વીજાની કૃતિમા ફાપા મારવા પડે એ મારા અને સિદ્ધરાજના નામને શોભે જ નહિ’, એટલું જ નહિ પણ આ સુંદર સાહિત્યનું નિર્માણ કરવાથી જૈનશાસનની પ્રભાવના સાથે સિદ્ધરાજના યશઃકીર્તિ-કલ્પોલોને દિગન્તવ્યાપી બનાવ્યા છે ।

આ પ્રધાનતમ-વ્યાકરણના વીજા મહાવિભાગ તરીકે આઠમો અધ્યાય પ્રસિદ્ધ છે, એના ચાર પાદ છે તે પ્રાકૃતાદિ-ભાષાનું પરિપૂર્ણ જ્ઞાન આપવાને સમર્થ છે । પ્રાકૃતભાષાદિના સમ્પૂર્ણ જ્ઞાતા થવા માટે કાર્યપ્રદેશને ઉપયોગી શબ્દાર્થપૂર્વક સૂત્રોને કળ્પસ્થ કરવા જ જોઈએ ।

અષ્ટમાધ્યાય-વૃત્તિસહિત શ્લોક ૨૨૦૦

પ્રાકૃત-દ્વાશ્રયમહાકાવ્ય „ ૧૫૦૦

ઉપરના વસ્ત્રે ગ્રન્થનું સારી રીતે પઠન-મનન અને પરિશીલન કરવાથી હાલ ભાષાનો પારદ્વિત જરૂર બને એવો કલિકાલ સર્વજ્ઞના સાહિત્યનો સદાને માટે આશીર્વાદ છે !!!

સિ હે શ ના અષ્ટમાધ્યાય—પ્રાકૃતવ્યાકરણના ચારે પાદના કૂલ સૂત્રો ૧૧૧૯ છે । ચોથા પાદમા શૌરસેનીભાષા માટે સૂત્ર ૨૭, માગધી ભાષામાટે સૂત્ર ૧૬, પૈશાચી ભાષામાટે સૂત્ર ૨૨, ચૂલિકાપૈશાચી ભાષામાટે સૂત્ર ૪, અને અપ્રંશ ભાષામાટે સૂત્ર ૧૨૦ મઠી પાંચ ભાષામાટેના કૂલ સૂત્રો ૧૮૯ છે અને પ્રાકૃત ભાષામાટેના આ આઠમા અધ્યાયમા ૯૩૦ સૂત્રો છે, અને પાંચ ભાષાના ૧૮૯ સૂત્રો મેલવતા કૂલ સૂત્રો ૧૧૧૯ થાય છે ।

ઉપર જણાવેલી છ ભાષા અને સાતમી સંસ્કૃત ભાષા એ દરેકના ગદ્ય અને પદ્યરૂપ બંને વિભાગ ગણિય તો ચૌદ વિભાગમા વ્યાપક બનેલ સાત ભાષાનું સરલ રીતિએ સમ્પૂર્ણ જ્ઞાન આપી શકે એવું સમર્થ—પ્રભાવશાલિ—શ્રીસિદ્ધહેમ-ચન્દ્રશબ્દાનુશાસન વ્યાકરણ છે । લોકપ્રસિદ્ધ અને લોકોપયોગી સાતે ભાષાનાં સાક્ષોપાક્ષ સાહિત્યમાં પ્રવેશ કરવાના સાધનરૂપ આ એક જ વ્યાકરણ છે ।

પ્રકાશિત થતા આ પ્રથમ વિભાગમા ચતુષ્કવૃત્તિના ચાર વિભાગમાથી સન્ધિ, નામ, અને કારકરૂપ ત્રણ વિભાગના સૂત્રો, સૂત્રોની સામાન્ય-વિવરણરૂપ તત્ત્વપ્રકાશિકાવૃત્તિ, વિશિષ્ટવિવરણરૂપ આનન્દબોધિનીવૃત્તિ અને પરિશિષ્ટોનો સમાવેશ કરવામા આવ્યો છે ।

## અભ્યાસકો માટે માર્ગસૂચન ।

આ પ્રધાનતમ-વ્યાકરણના અભ્યાસકોને ધારણા-મુજબનું પઠ મઠવું જોઈએ તે માટે આ પ્રકરણમાં અભ્યાસ કરવાની રીતિનું સૂચન કરવામા આવે છે ।

સંસ્કૃતાદિ સાત ભાષાના બોધને પ્રાપ્ત કરાવવામાં ભારતના સમગ્ર વ્યાકરણોમાં આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણનો નંબર સૌથી પહેલો આવે છે, અને તેથીજ તેને પ્રધાનતમ એ વિશેષણ સાર્થક છે । એ સાત ભાષામા મુખ્ય-ભાષા સંસ્કૃત છે, તે એક સંસ્કૃત ભાષાના બોધને માટે જ આ વ્યાકરણના સાત અધ્યાયો રચેલા છે, દરેક અધ્યાયના ચાર ચાર પાદો હોવાથી કુલ અઠ્ઠાવીસ પાદો છે, તેમાથી પહેલા અધ્યાયના ચાર અને બીજા અધ્યાયના બે મઠ્ઠી પ્રથમના છ પાદના તત્ત્વપ્રકાશિકાવૃત્તિ અને આનન્દવોધિનીવૃત્તિ સહિત સૂત્રો આ પ્રથમભાગમાં પ્રકટ કરવામાં આવ્યાં છે ।

આ વ્યાકરણમા સારી રીતે પ્રવેશ થઈ શકે તે હેતુને ધ્યાનમા લઈને સદુપદેશદ્વારા સ્વ૦ શેઠ નેમચન્દ પોપટલાલ વોરાના સરનાથે તેમના સુપુત્ર જગચન્દ્રભાઈની આર્થિક સહાયતાથી ઉજ્જૈનની ‘શ્રીકૃષ્ણમદેવજી છગનીરામજીની પેઢી’ ‘શ્રીહેમચન્દ્રાસનન્દગ્રન્થાવ્ધિ’ નામની ગ્રન્થમાલાના પ્રથમ ગ્રન્થરત્ન તરીકે ‘શ્રીહેમચન્દ્રકૃતિકુસુમાવલી’ નામના ગ્રન્થ સમુચ્ચયને ઉણાદિસહિત સાત અધ્યાયોના સૂત્રો, લિંગાનુશાસન, કાવ્યાનુશાસનના સૂત્રાદિ વિગેરે પ્રથમ પ્રકટ કરેલ છે, અને તે જ ગ્રન્થાવ્ધિના દ્વિતીય ગ્રન્થરત્ન તરીકે આ સિદ્ધહેમચન્દ્રાનુશાસનના પ્રથમભાગને બહાર પાડવામાં આવે છે । આ ગ્રન્થમા સજ્ઞા-સન્ધિ-નામ, અને કારક, પર્યન્તના છ પાદના સૂત્રો, સૂત્રોનો સામાન્ય-બોધ આપનારી તત્ત્વપ્રકાશિકા-વૃત્તિ અને સૂત્રકાર ભગવાનના હૃદયગત આશયનો આનન્દપૂર્વક વિશિષ્ટ-બોધ દેવામા સમર્થામૂત-આનન્દવોધિની-વૃત્તિને પ્રકટ કરવામા આવ્યા છે; તથા તેઓને લગતાં પરિશિષ્ટો પણ આપેલા છે ।

અનેકવિધ સુન્દર સામગ્રીરૂપ ચિન્તામણ્યાદિ-રત્નોથી ભરપૂર શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસન-પ્રથમવિભાગરૂપ ગ્રન્થરત્ના-કરમાં પ્રવેશ કરનારે પહેલા સાત અધ્યાયના સૂત્રો અને ઉણાદિના સૂત્રો કળ્થસ્ય કરવા જોઈએ ।

જૈનકુળમાં જન્મેલાઓને અવશ્યકર્તવ્યરૂપ અનુષ્ઠાનો માટે યોજાયેલ સૂત્રો અને વૈદિકાદિકુળમા જન્મેલાઓને વેદ-શ્રુતિ અને સ્મૃતિના પાઠો જેવી રીતે કળ્થસ્ય કરાવવામા આવે છે, તેવી જ રીતિએ કળ્થસ્ય કરવાની રીતિને જાલ્લીને કાર્યપ્રદેશમા સમ્પૂર્ણ ઉપયોગી નિવહી શકે તે હેતુથી સૂત્રોની સાથે સૂત્રોનો શબ્દાર્થ તથા તે બન્ને ઉપરથી નીકળતો આહો માવાર્થ પણ કળ્થસ્ય કરવો-કરાવવો જ જોઈએ ।

આ સ્થળે અભ્યાસકને શક્ષા થશે કે-કેવળ છ પાદના આ પ્રથમભાગમાં પ્રવેશ કરનારને અઠ્ઠાવીસ પાદના સૂત્રો અને ઉણાદિસૂત્રો શબ્દાર્થસહિત કળ્થસ્ય કરવાની ફરજ પાડવાનું પ્રયોજન શુ હશે ? તેના સમાધાનમા જણાવવાનું કે વૃત્તિસ્થ-પદોને સ્પષ્ટ કરવામા તથા પ્રયોગકાળે ઉદાહરણ-પ્રત્યુદાહરણોને યથાર્થરીતિએ સમજાવવામા ઓછા-વત્તા પ્રમાણમા લગભગ બધા સૂત્રોની જરૂરીયાત પડે છે । દાખલા તરીકે વૃત્તિના મજ્જલાચરણની શરુઆતના શ્લોકના ત્રીજા પાદમાના ‘આચાર્યહેમચન્દ્રેણ’ એ પદમા આવેલી તૃતીયા વિભક્તિના નિર્ણય માટે ‘તૃતીયાયામ્’ ॥ ૩ । ૧ । ૮૪ ॥, અને ‘દ્વિહેતો’ ॥ ૨ । ૨ । ૮૭ ॥, આ બે સૂત્રના આશયને સમજવાની જરૂર છે, કારણ કે આશયને સ્પષ્ટરીતિએ સમજ્યા વગર તૃતીયાનું નિર્ણયાત્મક જ્ઞાન થઈ શકતું નથી, તેવી જ રીતે ‘સિદ્ધિ સ્યાદ્વાદાત્’ ॥ ૧ । ૧ । ૨ ॥, અને ‘લોકાત્’ ॥ ૧ । ૧ । ૩ ॥, આ બન્ને સૂત્રમા પશ્ચમીના નિર્ણયમાટે ‘ગમ્યયપ. કર્માધારે’ ॥ ૨ । ૨ । ૭૪ ॥ સૂત્રને સમજવાની અનિવાર્ય જરૂર પડે છે ।

‘‘એકદ્વિત્રિ’’ ॥ ૧ । ૧ । ૫ ॥ ની વૃત્તિ પૃ૦ ૫ પ૦ ૧૨ માં ‘હસ્વસજ્ઞાયા અમાવાત્તોઽન્તો ન મવતિ’ અર્થાત્ હસ્વસજ્ઞાના અમાવર્થી અહીં અન્તમા ત્ આગમ થતો નથી, એ નિપેધને સમજવા માટે તેનું વિધાન કરનારા સૂત્રને સમજવાની જરૂર પડે છે, અર્થાત્ ‘‘હસ્વસ્ય ત. પિત્કૃતિ’’ ॥ ૪ । ૪ । ૧૧૩ ॥ એ સૂત્રથી થતા વિધિને સમજ્યા વગર નિપેધ લક્ષ્યમા આવી શકતો નથી ।

તેવી રીતે ‘‘અનવર્ણા નામી’’ ॥ ૧ । ૧ । ૬ ॥, અને ‘‘પશ્ચકો વર્ગ.’’ ॥ ૧ । ૧ । ૧૨ ॥, આ બન્ને સૂત્રની વૃત્તિમા નામિપ્રદેશ અને વર્ગપ્રદેશ બતાવતા ‘‘નામિનસ્તયો ષઃ’’ ॥ ૨ । ૩ । ૮ ॥ અને ‘‘કવર્ગેકસ્વરવતિ’’ ॥ ૨ । ૩ । ૭૬ ॥ આ બન્ને સૂત્રોને સમજવાની અવશ્યમેવ જરૂર રહે છે ।

તેજ પ્રમાણે ‘‘વૃત્ત્યન્તોઽસષે’’ ॥ ૧ । ૧ । ૨૫ ॥ પૃ૦ ૧૪ ની પ૦ ૧ માં ‘‘પ્રત્યય પ્રકૃત્યાદેઃ’’ ॥ ૭ । ૪ । ૧૫ ॥ આ સૂત્રને સમજ્યા વગર શક્ષા-સમાધાન સમજમાં આવી શકતા નથી ।

સજ્ઞાધિકારમા તથા સન્ધિ-નામ અને કારકપ્રકરણમા શક્ષા-સમાધાન અવસરે, સાધનિકા અવસરે અને પદપ્રયોજન-અવસરે છપાદ સિવાયના બાવીસ પાદમાથી લગભગ ૭૨૫ સૂત્રો અવશ્યમેવ હાજરી આપી જાય છે । આ વધા સૂત્રોસાથે ઉણાદિના સૂત્રો પણ પ્રસન્ને પ્રસન્ને પોતાનો ભાગ મજવી જાય છે ।



પઠન-પાઠન-મનન અને પરિશીલન અવસરે સૂત્રાર્થ-સહિત દરેક સૂત્ર અભ્યાસિને પોતાના નામની માફક તુરત જ યાદ આવી જાય એવી રીતનો અભ્યાસ પઠિતે કરાવવો જોઈએ. મળાવનારે બની શકે ત્યા સુધી મળનારને તેની માતૃભાષામાં દરેક સૂત્રનો ભાવ આછા વિવેચન-પૂર્વક સક્ષેપમાં પહેલા સમજાવી દેવો, અને તે પછી સૂત્રસ્થિત-પદોનો અને અનુવૃત્ત-પદોનો અર્થ સમજાવવો.

અભ્યાસકે સૂત્રને અને સૂત્રના અર્થને એવી રીતે યાદ રાખવાં જોઈએ કે જેમ ગાંધીની દુકાનમાં હજારો વસ્તુના ઢાબ-ઢાબો હોય, અને તેમાં ( ઢાબઢામ ) રહેલી चीजો પચીસ વર્ષ પહેલાં ખરીદીને ભરેલી હોય, પરંતુ ગ્રાહક જે વસ્તુની માગણી કરે તે જ વસ્તુના ઢાબડા ઉપર ગાંધીનો હાથ પડે, તેમ જ્યાં જે સૂત્રનો વિષય હોય ત્યાં તે જ સૂત્ર અભ્યાસકના સ્મરણ પ્રદેશ પર આવીને ઉસુ રહે એવા પ્રકારનો અભ્યાસ હોવો જોઈએ.

સૂત્રોને કઠ્ઠણ કરતી વસ્તે ઉચ્ચારણ કરવામાં ઘણી જ સાવધાની રાખવાની છે, અર્થાત્ હસ્યને બદલે દીર્ઘ, દન્યને બદલે તાલવ્ય અથવા મૂર્ધન્ય પળ નહિ બોલાવું જોઈએ તો પછી કાનો માત્રા કે અનુસ્વારની વધઘટ તો કરાય જ કેમ, કારણ-કે સૂત્રોને કઠ્ઠણ કરતી વસ્તે સંપૂર્ણ શુદ્ધતા સાચવી ન હોય તો પ્રયોગોની સાધનિકા કરતી વસ્તે સૂત્રનો અર્થ કરવામાં અશુદ્ધ ઉચ્ચારણને લઈને ગુચવાડો ઊભો થાય છે. જે અભ્યાસિને અર્થનું જ્ઞાન વરાવર હોય પણ ઉચ્ચારણ અશુદ્ધ હોય અથવા ઉચ્ચારણ શુદ્ધ હોય પરંતુ અર્થનું જ્ઞાન વરાવર ન હોય તેવા અભ્યાસિને સમજાવવામાં શિક્ષકનો કેટલોક કાઠ ( ટાડમ ) ન-કામો ચાલ્યો જાય છે.

સૂત્ર અને સૂત્રાર્થનું દાન અનુક્રમે શુદ્ધોચ્ચારણ પૂર્વકનું તથા સમજાવટ પૂર્વકનું દઈ શકે તેવા શિક્ષક પાસે પહેલાં મૂલ-સૂત્રનું જ્ઞાન સંપાદન કર્યા પછી જ આ કારકાન્ત-પ્રથમ-ભાગરૂપ ગ્રંથનો અભ્યાસ શરૂ કરવો હિતકારક છે.

આ ગ્રંથના સૂત્ર અને સૂત્રાર્થને મળાવવાને માટે આ વ્યાકરણની વૃહદ્વૃત્તિનું પઠન-પાઠન મનન અને પરિશીલન જેણે કર્યું હોય તે શિક્ષક ઉત્તમ ગણાય, અને એ અભ્યાસ ઉપરાન્ત વૃહદ્વ્યાસ, દ્વ્યાશ્રયમહાકાવ્ય, અમોઘાવૃત્તિ, કાશિકાવૃત્તિ, ચાહ્લ વ્યાકરણ-ટીકા-ટીપ્પનગ્રંથો તથા મહાભાષ્યનો ગવેષક અને અલ્પાંશ અભ્યાસક હોય તો તે શિક્ષક ઉત્તમોત્તમ ગણાય; એ બધે પ્રકારના શિક્ષકના અભાવે જેણે લઘુવૃત્તિનો સારી રીતે અભ્યાસ કર્યો હોય તે શિક્ષકને મધ્યમકોટિનો ગણી શકાય. જે શિક્ષકોએ તત્ત્વપ્રકાશિકાને નિહાળી નથી, લઘુવૃત્તિનું સાદ્યન્ત પઠન કર્યું નથી, પણ સામાન્યતઃ સંસ્કૃતભાષાનો વોધ પ્રાપ્ત કરીને કેવલ દ્રવ્યપ્રાપ્તિના ધ્યેયથી જેઓ શિક્ષક બની બેઠા છે તેવા અધકચરા-જ્ઞાનવાળા શિક્ષકો વિદ્યાર્થીઓને સન્તોષી શક્તા નથી. ઇટલું જ નહિ પણ વિદ્યાર્થીએ પૂછેલા પ્રશ્નોનો યથાર્થ ઉત્તર આપવાને બદલે મલ્લો જ ઉત્તર આપીને વિદ્યાર્થીના હૃદયને શંકિત બનાવે છે, કારણ કે પોતાના પ્રશ્નોનો મલ્લો ઉત્તર શક્કાનું નિવારણ કરી શકતો નથી. જે શિક્ષક પોતે જ ગ્રંથકારના આશયને સમજી શકતો ન હોય તે વીજાને ક્યાથી સમજાવી શકે, એવા શિક્ષકો ગ્રંથકારના આશયપૂર્વકની રચનાને અન્યાય આપવાની ઉતાવળ પણ કરી બેસે છે.

કાશી અને કલકત્તાની હિતર-વ્યાકરણની પરીક્ષામાં ઉત્તીર્ણ થઈને સંસ્કૃતભાષા પર સુંદર કાબૂ ધરાવનારા પઠિતો પણ આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણની શૈલી-સામર્થ્ય અને સરલતાને નહિ જાણતા હોવાથી એના પઠન-પાઠનને હિમાલય જેવા મોટા પર્વતને ઓઢંગવા જેવું કઠિણ માને છે, અને વરાવર મળાવી શકતું ન હોવાથી પોતાને થતી ઘુંઘણ ટાઢવાને માટે 'આ વ્યાકરણને સારી રીતે સમજાવીને મળાવી શકે એવો કોઈ પઠિત વર્તમાન કાલમાં છે જ નહિ, ઇટલે તમે ગમે તેટલી મહેનત કરશો તો પણ જોઈએ તેવો વોધ થશે નહિ, તેથી છેવટે થાકીને આ વ્યાકરણને છુટી દેવું પડશે તેના કરતાં હમણાં જ છુટી દેવું સારું છે' એ પ્રમાણે સંભળાવીને વિદ્યાર્થીઓને નિરુત્સાહી બનાવી દે છે.

સંસ્કૃતભાષાના પારક્ષત બનવાની ઇચ્છા ધરાવનારાઓને હમારી મલામળ છે કે આ ગ્રંથનું પઠન-પાઠન પદ્ધતિસરનું કર્યા પછી ભાષાના સાક્ષોપાદ્ધ જ્ઞાનની સમાપ્તિ સુધી કલિકાલસર્વજ્ઞવિરચિત-સાહિત્ય સિવાય કોઈ પણ સાહિત્યની પરત્વના સેવવાની લેશમર જરૂરીયાત રહેતી જ નથી.

આટલું પ્રાસન્નિક કથન કર્યા પછી આપણે હવે મૂલવાતને વિચારીએ-સૂત્ર અને સૂત્રાર્થ શ્રદ્ધા ગયા પછી તીવ્રબુદ્ધિવાળાએ બની શકે તો કલિકાલસર્વજ્ઞ મળવાની સૂત્રવ્યાખ્યાન-શૈલી હૃદયપટમાં સર્વદા સ્થિત થાય, કલિકાલસર્વજ્ઞકથિત સૂત્ર-સૂત્રાર્થ-પ્રશ્ન-સમાધાન-માવાર્થોદિ વિરકાઠ સુધી જીવનમાં અક્ષિત થાય અગર ઓતપ્રોત બની જાય, તેટલા માટે ચતુષ્ક-ગ્ને કઠ્ઠણ કરવો જ જોઈએ. અને તે વધુ ઓતપ્રોત બની જાય તેટલા માટે એક પણ સ્થાને હોઝ્યા વગર આનન્દવોધિની વૃત્તિને સમજી લેવી જોઈએ, અર્થાત્ આ છપાદનો સંપૂર્ણ જ્ઞાતા થયા પછી જ પઠન-પાઠન અને પરિશીલનની પૂર્ણપદ્ધતિ પૂર્વક

કળ્પસ્થ કર્યા વગર પળ વાકીના વાવીસ પાદનું અને ઊગાદિનું અધ્યયન કરવું જ જોઈએ । અવસરે અવસરે વાવીસ પાદના દરેક પ્રદેશમા પોતે ઉત્તીર્ણ થયો હોય તેવી રીતે પોતાની માધામા લખેલા માવને સ્પષ્ટ રીતે સમજતો હોય અને સમજાવતો હોય તેટલી હદે બુદ્ધિનો વિકાસ થઈ ગયો હોય તેનો નિર્ણય કરવો જોઈએ, અને તે પછી બૃહદ્વ્યાસ અને ધાતુપારાયણને મળવાની દૃષ્ટિએ મળી લેવા જોઈએ । આ વ્યાકરણની સાથે શાકટાયન-વ્યાકરણના સૂત્ર-અમોઘવૃત્તિ-ઉદાહરણો અને પ્રત્યુદાહરણોની તુલના-પરીક્ષા-વિશિષ્ટતા વગેરે તપાસવા । પાણિનીયવ્યાકરણના સૂત્રો અને કાશિકાવૃત્તિ તથા તે સૂત્રો ઉપરના મહા-માખ્યના નિર્ણયો, સિદ્ધાન્તોના નિર્ણયો વગેરેની તુલના-શક્તિનો અને પરીક્ષણશક્તિનો વિકાસ કરવો । માખ્યકારના સિદ્ધાન્તોને સુન્દર-સરલ અને સમ્પૂર્ણ રીતિએ કલિકાલસર્વજ્ઞે કહ્યું કહ્યું જમ્યાએ ગોઠવ્યા છે તે સમજવાનો પ્રયત્ન કરવો, અને સાથે સાથે કોષ્ટ-બુદ્ધિરૂપ મળ્દારમા મરી શકાય તેટલું બધું એ મરી દેવું જોઈએ ।

માધાદિજ્ઞાનના વિસ્તાર માટે સંકુચિત-મનોવૃત્તિ, અળખેડાયલી બુદ્ધિ, જિજ્ઞાસા અને વૃત્તિ તથા વીજાં વ્યાકરણો સાથે તુલના-પરીક્ષામાં થતાં આલસને તિલાંજલિ દીધા સિવાય માધાની માહિતીરૂપ મહાસાગરનો કોઈ પણ અમ્યાસી પાર પામી શકતો જ નથી એ વે ને વે ચાર જેવી સ્પષ્ટ અને સીધી વાત છે ।

જ્ઞાનના રસિકોએ, જિજ્ઞાસાની પૂર્તિ માટેના જીવન-સમર્પકોએ અને સત્યની શોધમાં નીકળી પડેલા મુસા-ફરોએ હૃદયની વિશાલતા પૂર્વક પોતપોતાના ધારેલા કાર્યની સિદ્ધિ પાછલું ઉઘમી થવું જ જોઈએ ।

સ્વંતીલા ઉઘમપ્રધાન પુરુષો જ ગમે તેવી કટોકટીના પ્રસંગમાં ધૈર્યતા પૂર્વક પોતાનું સમતોલપણ જાળવીને પોતાના પક્ષની, પોતાના સિદ્ધાન્તની અને પોતાની વાતની સરખામણી કરવામાં, વિચાર-વિનિમય કરવામાં, શક્તિ કરનારની શક્તિ સાંભળવામાં અને જવાબ આપવામાં લેશમર ગમરાતા નથી । આ રીતે અમ્યાસિનો અમ્યાસ પરા-કાષ્ટાએ પહોંચ્યો છે, તેની આગાહીરૂપ આ એક અમોઘ વિજય છે, આવા વિજયોની વરમાલને વરેલો વિદ્વાન્ ગલીગુંચી જેવા પોતાના સાંકડા માર્ગને પણ રાજમાર્ગ જેવો વનાવી શકે છે એજ વિશાલ-અમ્યાસનું પરિણામ છે ।

જેમ સમુદ્રની સપાટી ઉપર સહેલ મારનારને હવાઈ તરફો મરતી અને ઓટ નજરે ચઢે છે, પણ તેના ઉંડાણમાં રહેલાં રત્નો નજરે ચઢતાં નથી; પરંતુ તે લેવાં હોય, તેની ગમ્મીરતા અને મર્યાદાને માપવાં હોય તો સમુદ્રમાં ડૂબ-કીઓ મારતાં શિખરું જ જોઈએ અને સહીસલામતરીતિએ પાછા બહાર આવવું જોઈએ । તેવી રીતે માધાજ્ઞાનના સાગર-સમાન આ કૃતિના પ્રમાણને જોઈને ગમરાયા વિના એના ઉંડાણમાં પ્રવેશ કરીને સહીસલામત બહાર નીકળવાની કઠાના શિખનારને એમાંથી અમોઘ રત્નોની પ્રાપ્તિ થાય છે એ નિર્વિવાદ-સત્ય છે ।

મળનાર-મળાવનારને આ રીતિએ મળવા-મળાવવામા શરૂઆતમા જો કે કઠિણતા માલમ પડશે તો પણ રત્નો કાપનાર મુસાફરને જેટલું ચાલ્યા તેટલું ચાલવાનું રહેતું નથી તે હિસાબે જેમ જેમ આ ગ્રંથમા પ્રવેશ થતો જશે તેમ તેમ આગળનો માર્ગ સરલ અને નિષ્કટક વનતો જશે । આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણના સમ્પૂર્ણ પઠન-પાઠનથી માધાજ્ઞાનની સાથે મૂગોલ-લગોલ-વૈદ્યક અને જૈનેતર-દર્શનસમ્બન્ધિ-વિવિધ-વિષયોનું પણ જ્ઞાન થાય છે ।

અઢાર હજાર શ્લોકપ્રમાણ આ ગ્રંથને આનન્દબો ૦ વૃ ૦ સાથે સાત વિભાગમા પ્રકટ કરવા ધારીએ છીએ । વિવિધ-વિષયોના પરિશિષ્ટોના સંમિશ્રણથી આ ગ્રંથનું કદ વધી જશે તો સાતથી વધારે ભાગ પણ થઈ જાય । પ્રથમ વિભાગમાં આવેલા છ પાદના-સજ્ઞા-સન્ધિ-નામ અને કારકપ્રકરણના-સૂત્રો અને વૃત્તિદ્વારા કલિકાલસર્વજ્ઞ-મગવાન્ કેટલું વિશાલ જ્ઞાન સમર્પણ કરે છે તે સીજઈ ગયેલી રીચડીના ઢાળાની જેમ તપાસવાથી તપાસનારને માલમ પડે છે ।

શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રવ્યાકરણના અમ્યાસિઓનો અમ્યાસ કાર્ય પ્રસંગે જણાઈ આવે છે, અને સાજોપાજ્ઞ અમ્યાસદ્વારા કેવી કુશલતાને પ્રાપ્ત કરી છે, એ વિનાને ધ્યાનમા લઈને અમ્યાસિઓએ સૂત્રોનો અને સૂત્રોના અર્થનો સારી રીતે ઉપયોગ કરતા શિખવું જરૂરીનું છે । અમ્યાસિયો માટે નીચેની વિના મુસંગત છે ।

કલિકાલસર્વજ્ઞ-મગવાન્ના શિષ્ય શ્રીવર્ધમાનગણિવર હતા, એવો ઉલ્લેખ તેમણે વનાવેલી અનેકાર્થકૃતિમા કરેલો છે, અને કુમારવિહારપ્રશસ્તિના છ અર્થ થતા હતા તેના તેમણે એકસોને સોલ અર્થ કર્યા છે એમ પણ જણાવ્યું છે ।

શ્રીસોમપ્રમસૂરિકૃત કુમારપાલ-પ્રવોધની પ્રશસ્તિ ઉપરથી શ્રીવર્ધમાનગણિવરની વિદ્યમાનતા વિ ૦ સ ૦ ૧૨૧૦ ની આસ-પાસ માની શકાય । જે કાવ્યના પૂર્વે છ અર્થ કર્યા હતા તેના જ પાછલથી ૧૧૬ અર્થ કરી વતાવવામા શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્ર-શબ્દાનુશાસનના સૂત્રના શબ્દાર્થનો અને પરમાર્થનો સારી રીતે ઉપયોગ કરેલો છે, તથા સંસ્કૃત દ્વાશ્રયમહાકાવ્યનો પણ દ્વૈત્યી ઉપયોગ કરેલો છે ।

कुमारविहार-प्रशस्तिकाव्यना ८७ मा श्लोकना जे ११६ अर्थ करेला छे, तेमांन ४१ मा अर्धमां कलिकालसर्वज्ञ भगवान् श्रीहेमचन्द्राचार्यनु सुदरीतिए वर्णन करेछ छे ।

श्लोकना पदोने छूटा पाहवानी तथा ते पदोना सामान्य अर्थने अने विशेषतया नीकळता अनेकार्थोने घटाववानी श्रीवर्धमानगणिनी कुशळताने देखीने कहेवुं पडशे के ते काळना तेओश्री समर्थ वैयाकरण हता । आ वात अत्रे जणाववानुं प्रयोजन ए छे के अभ्यासिओ अभ्यासमां अखण्ड रीतिए आगळ वधे तो श्रीवर्धमानगणिवरनी माफक आ महा-व्याकरणना प्रभावने दिगन्तव्यापी बनावी शके ।

अभ्यासिओए एटलुं ध्यानमा राखवु के श्रीमलयगिरिमहाराजनी टीकामा जे सूत्रो आवे छे ते सूत्रो अने तेना अङ्ग तपासता जणाय छे के ते सूत्रो तेमना पोताना बनावेला शब्दानुशासनना छे, परन्तु सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनना के पाणिनीयव्याकरणना नथी ।

प्राचीन-साहित्यसृष्टिमा अनेक वैयाकरणो थह गया छे, तेओए नाना मोटा अनेक व्याकरणो रच्यो छे, परन्तु संस्कृत, प्राकृत आदि लोकप्रसिद्ध सात भाषानुं सम्पूर्ण अनुशासन करनार कलिकालसर्वज्ञ सिवाय वीजो कोई जाण्यो नथी, सांभळ्यो नथी के ग्रन्थना पानां पर चढ्यो नथी ए ज तेओश्रीनी महत्ता छे ।

कलिकालसर्वज्ञ-भगवान् श्रीहेमचन्द्राचार्यनी अनेकविध शास्त्र-रचनाओने साद्यन्त झीणवटथी अवलोकवामा आवे तो दरेके दरेक कृतिमाथी—अभ्यासी अभ्यास करीने अपूर्व प्राप्ति माटे रसपूर्वक एक ज स्थळेथी वधुं मेळवी शके—एवा प्रकारनो तेमनो उद्देश बलोणामां माखणनी जेम स्पष्ट तरी आवे छे ।

सर्व रचनाओ पैकी श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन जेवी महान् कृतिना प्रथम विभाग तरीके सज्ञा-सन्धि-नाम अने कारक-प्रकरणोने तपासता मालूम पडे छे के—संस्कृतभाषाना रसिको रसिकतापूर्वक सम्पूर्ण रस लइ शके अने ते भाषानो पार-ज्ञत बने ते हिसाबे दरेक प्रकरणो सर्वसामग्रीथी परिपूर्ण भरेला छे ।

सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासननो अभ्यासी चाह्य तो सज्ञाप्रकरण शिखे के सन्धिप्रकरण शिखे, अगर तो नामप्रकरण शिखे के कारकप्रकरण शिखे छता ते ते प्रकरण शिख्या पछी ते ते प्रकरण माटे परकीय-व्याकरणनो आश्रित लेशभर न बने ए उद्देशने ख्यालमा राखीने दरेक प्रकरणनी गोठवण करी छे ए वात फरीथी अहीं याद देवराववी उचित गणी छे ।

आ प्रथम विभागमा चतुष्कवृत्तिनी चार वृत्तिमाथी १ सज्ञा-सन्धि २ नाम अने ३ कारक ए त्रण वृत्तिओ ज लेवामा आवी छे ।

चतुष्कवृत्ति, आख्यातवृत्ति आदि चारे वृत्तिमा एक सरखी उपयोगी बनी शके एवी व्यापक सज्ञाओ आ सज्ञाप्रकरणमा जणावेली छे, वीजी केटलीक सज्ञाओ जे जे प्रकरणा उपयोगी होय ते ते प्रकरणनी शुरुआतमा जणावेली छे, कारणके ते ते सज्ञाओने जणाववानी जरुरत त्या ज हती एटले आ सज्ञाप्रकरणमा जणाववामा आवी नथी ।

कारकप्रकरणमा कर्ता, कारक, कर्म अने व्याप्य वगैरे सज्ञाओ आवे छे ते बधी सज्ञाओ कारकप्रकरणमा ज उपयोगी छे, तेवीज रीते आख्यातवृत्तिमा, कृद्वृत्तिमा अने तद्धितवृत्तिमा पण जे केटलीक सज्ञाओ आवे छे ते बधी ते ज प्रकरणमा उपयोगी होवाथी आ सज्ञाप्रकरणमा लीधी नथी । ए वावतमा कह शक्का करवा जेवुं नथी, अर्थात् साते अध्यायनी चारे वृत्तिमा एक सरखी उपयोगी थइ पडे एवी सज्ञाओने ज आ सज्ञा-प्रकरणमा स्थान आपवानु अत्यन्त सुसङ्गत-कार्य कर्तु छे ।

सज्ञाप्रकरणे—सूत्रसंख्या ४२,—पृ० १ थी २४ ।

सज्ञाप्रकरणमा कूल ४२ सूत्रो छे । एमानु पहेछे सूत्र छे ते सूत्रनु एटले सूत्रसमुदायनु अथवा सूत्रसमुदायरूपग्रन्थनुं मङ्गल छे । पछीना वे सूत्रो अधिकारसूत्र छे, अने बाकीना “औदन्ता स्वराः ॥१११॥१॥” वगैरे बधा सूत्रो सज्ञाप्रतिपादक सूत्रो छे, परन्तु छेला चार सूत्रो अतिदेशसूत्र छे । आ रीतिए दरेक प्रकरणना सूत्रोने न्हेचता शीखवु ज जोइए ।

### \* मङ्गलसूत्र-रहस्यम् ।

मङ्गलरूप पहेला सूत्रनी अने अधिकाररूप सूत्रद्वयमाथी पहेला सूत्रनी—एटले ए बजे सूत्रोनी समालोचनानो उडो अभ्यास करवाथी कलिकालसर्वज्ञ भगवानना हृदयनी भावना अत्यन्त विशाल अने व्यापक हती एम जणाइ आवे छे । आवां सूत्रोनी रचना करीने पोताना अगाध-पाण्डित्यना परिचयथी सर्वदर्शनने यथार्थन्याय आपीने जैनसम्प्रदायनु गौरव वधार्यु छे, कारणके दरेक सम्प्रदायवाळाओ पोतानी इष्टसिद्धि माटे ए बजे सूत्रोने उपयोगमा लइ एना शब्दार्थने अने भावार्थने योजी शके छे ।

કળ્પસ્ય કર્યા વગર પળ વાકીના વાવીસ પાદનું અને ઉણાદિનું અધ્યયન કરવું જ જોઈએ । અવસરે અવસરે વાવીસ પાદના દરેક પ્રદેશમા પોતે ઉત્તીર્ણ થયો હોય તેવી રીતે પોતાની માપમા લખેલા ભાવને સ્પષ્ટ રીતે સમજતો હોય અને સમજાવતો હોય તેટલી હદે બુદ્ધિનો વિકાસ થઈ ગયો હોય તેનો નિર્ણય કરવો જોઈએ, અને તે પછી વૃહદ્વ્યાસ અને ધાતુપારાયણને મળવાની દૃષ્ટિ મળી લેવા જોઈએ । આ વ્યાકરણની સાથે શાકટાયન-વ્યાકરણના સૂત્ર-અમોઘવૃત્તિ-ઉદાહરણો અને પ્રત્યુદાહરણોની તુલના-પરીક્ષા-વિશિષ્ટતા વગેરે તપાસવા । પાણિનીયવ્યાકરણના સૂત્રો અને કાશિકાવૃત્તિ તથા તે સૂત્રો ઉપરના મહા-ભાષ્યના નિર્ણયો, સિદ્ધાન્તોના નિર્ણયો વગેરેની તુલના-ગત્તિનો અને પરીક્ષણગત્તિનો વિકાસ કરવો । માપ્યકારના સિદ્ધાન્તોને સુંદર-સરલ અને સમ્પૂર્ણ રીતિએ કલિકાલસર્વજ્ઞે કહ્યું કહ્યું જમ્યાં ગોઠવ્યા છે તે સમજવાનો પ્રયત્ન કરવો, અને સાથે સાથે કોષ્ટ-બુદ્ધિરૂપ મળ્ડારમા મરી શકાય તેટલું વધુ એ મરી દેવું જોઈએ ।

માપાદિજ્ઞાનના વિસ્તાર માટે સંકુચિત-મનોવૃત્તિ, અળખેડાયલી બુદ્ધિ, જિજ્ઞાસા અને તૃપ્તિ તથા વીજાં વ્યાકરણો સાથે તુલના-પરીક્ષામાં થતાં આઠસને તિલાંજલિ દીધા સિવાય માપાની માહિતીરૂપ મહાસાગરનો કોઈ પણ અમ્યાસી પાર પામી શકતો જ નથી એ વે ને વે ચાર જેવી સ્પષ્ટ અને સીધી વાત છે ।

જ્ઞાનના રસિકોએ, જિજ્ઞાસાની પૂર્તિ માટેના જીવન-સમર્પકોએ અને સત્યની શોધમાં નીકળી પડેલા મુસાફરોએ હૃદયની વિશાલતા પૂર્વક પોતપોતાના ધારેલા કાર્યની સિદ્ધિ પાછળ ઉદ્યમી થવું જ જોઈએ ।

સ્વંતીલા ઉદ્યમપ્રધાન પુરુષો જ ગમે તેવી કટોકટીના પ્રસંગમાં ધૈર્યતા પૂર્વક પોતાનું સમતોલપણ જાળવીને પોતાના પક્ષની, પોતાના સિદ્ધાન્તની અને પોતાની વાતની સરસામણી કરવામાં, વિચાર-વિનિમય કરવામાં, શક્તિ કરનારની શક્તિ સાંભળવામાં અને જવાબ આપવામાં લેશમર મરમરાતા નથી । આ રીતે અમ્યાસિનો અમ્યાસ પરા-કાષ્ટાએ પહોંચ્યો છે, તેની આગાહીરૂપ આ એક અમોઘ વિજય છે, આવા વિજયોની વરમાળને વરેલો વિદ્વાન્ ગલીગુંચી જેવા પોતાના સાંકડા માર્ગને પણ રાજમાર્ગ જેવો વનાવી શકે છે એજ વિશાલ-અમ્યાસનું પરિણામ છે ।

જેમ સમુદ્રની સપાટી ઉપર સહેલ મારનારને હવાઈ તરફનો ભરતી અને ઓટ નજરે ચઢે છે, પણ તેના ડંડાણમાં રહેલાં રત્નો નજરે ચઢતાં નથી; પરંતુ તે લેવાં હોય, તેની ગમ્મીરતા અને મર્યાદાને માપવાં હોય તો સમુદ્રમાં ડૂબ-કીઓ મારતાં શિખરું જ જોઈએ અને સહીસલામતરીતિએ પાછા વ્હાર આવવું જોઈએ । તેવી રીતે માપાજ્ઞાનના સાગર-સમાન આ કૃતિના પ્રમાણને જોઈને મરમાયા વિના એના ડંડાણમાં પ્રવેશ કરીને સહીસલામત બહાર નીકળવાની કઠાના શિખનારને એમાંથી અમોઘ રત્નોની પ્રાપ્તિ થાય છે એ નિર્વિવાદ-સત્ય છે ।

મળનાર-મળાવનારને આ રીતિએ મળવા-મળાવવામા શરૂઆતમા જો કે કઠિણતા માલસ પડશે તો પણ રસ્તો કાપનાર મુસાફરને જેટલું ચાલ્યા તેટલું ચાલવાનું રહેતું નથી તે હિસાબે જેમ જેમ આ ગ્રન્થમા પ્રવેશ થતો જશે તેમ તેમ આગળનો માર્ગ સરલ અને નિષ્કટક બનતો જશે । આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણના સમ્પૂર્ણ પઠન-પાઠનથી માપાજ્ઞાનની સાથે મૂગોલ-સ્વગોલ-વૈદ્યક અને જૈનેતર-દર્શનસમ્બન્ધિ-વિવિધ-વિષયોનું પણ જ્ઞાન થાય છે ।

અઢાર હજાર શ્લોકપ્રમાણ આ ગ્રન્થને આનન્દવો ૦ વૃ ૦ સાથે સાત વિમાગમા પ્રકટ કરવા ધારીએ છીએ । વિવિધ-વિષયોના પરિશિષ્ટોના સંમિશ્રણથી આ ગ્રન્થનું કદ વધી જશે તો સાતથી વધારે માગ પણ થઈ જાય । પ્રથમ વિમાગમા આવેલા છ પાદના-સજ્ઞા-સન્ધિ-નામ અને કારકપ્રકરણના-સૂત્રો અને વૃત્તિદ્વારા કલિકાલસર્વજ્ઞ-મગવાન્ કેટલું વિશાલ જ્ઞાન સમર્પણ કરે છે તે સીજઈ ગયેલી સ્ત્રીચઢીના ઢાળાની જેમ તપાસવાથી તપાસનારને માલમ પડે છે ।

શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રવ્યાકરણના અમ્યાસિઓનો અમ્યાસ કાર્ય પ્રસંગે જણાઈ આવે છે, અને સાક્ષોપાક્ષ અમ્યાસદ્વારા કેવી કુશલતાને પ્રાપ્ત કરી છે, એ બિનાને ધ્યાનમા લઈને અમ્યાસિઓએ સૂત્રોનો અને સૂત્રોના અર્થનો સારી રીતે ઉપયોગ કરતા શિખરું જરૂરીનું છે । અમ્યાસિયો માટે નીચેની બિના સુસંગત છે ।

કલિકાલસર્વજ્ઞ-મગવાન્ના શિષ્ય શ્રીવર્ધમાનગણિવર હતા, એવો ઉલ્લેખ તેમણે બનાવેલી અનેકાર્થકૃતિમા કરેલો છે, અને કુમારવિહારપ્રશસ્તિના છ અર્થ થતા હતા તેના તેમણે એકસોને સોઠ અર્થ કર્યા છે એમ પણ જણાવ્યું છે ।

શ્રીસોમપ્રભસૂરિકૃત કુમારપાલ-પ્રબોધની પ્રશસ્તિ ઉપરથી શ્રીવર્ધમાનગણિવરની વિદ્યમાનતા વિ ૦ સ ૦ ૧૨૧૦ ની આસ-પાસ માની શકાય । જે કાવ્યના પૂર્વે છ અર્થ કર્યા હતા તેના જ પાછળથી ૧૧૬ અર્થ કરી બતાવવામા શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્ર-શબ્દાનુશાસનના સૂત્રના શબ્દાર્થનો અને પરમાર્થનો સારી રીતે ઉપયોગ કરેલો છે, તથા સંસ્કૃત દ્વાશ્રયમહાકાવ્યનો પણ છૂટથી ઉપયોગ કરેલો છે ।

કુમારવિહાર-મશસ્તિકાવ્યના ૮૭ મા શ્લોકના જે ૧૧૬ અર્થ કરેલા છે, તેમાના ૪૧ મા અર્થમાં કલિકાલસર્વજ્ઞ મગવાન્ શ્રીદેવમચન્દ્રાચાર્યનું સુદરરીતિ<sup>૧</sup> વર્ણન કરેલું છે ।

શ્લોકના પદોને છૂટા પાઠવાની તથા તે પદોના સામાન્ય અર્થોને અને વિશેષતઃપા નીકળતા અનેકાર્થોને ઘટાવવાની શ્રીવર્ધમાનગણિની કુશલતાને દેખીને કહેવું પડશે કે તે કાલના તેઓશ્રી સમર્થ વૈયાકરણ હતા । આ વાત અત્રે જણાવવાનું પ્રયોજન એ છે કે અભ્યાસિઓ અભ્યાસમાં અલ્પજ્ઞ રીતિ<sup>૨</sup> આગળ વધે તો શ્રીવર્ધમાનગણિવરની માફક આ મહા-વ્યાકરણના પ્રભાવને દિગ્ગન્તવ્યાપી બનાવી શકે ।

અભ્યાસિઓએ ઇટલું ધ્યાનમા રાખવું કે શ્રીમલ્યગિરિમહારાજની ટીકામા જે સૂત્રો આવે છે તે સૂત્રો અને તેના અર્થ તપાસતાં જણાય છે કે તે સૂત્રો તેમના પોતાના બનાવેલા શબ્દાનુશાસનના છે, પરન્તુ સિદ્ધદેવમચન્દ્રશબ્દાનુશાસનના કે પાણિનીયવ્યાકરણના નથી ।

પ્રાચીન-સાહિત્યસૂક્ષ્મા અનેક વૈયાકરણો થઈ ગયા છે, તેઓએ નાના મોટા અનેક વ્યાકરણો રચ્યા છે, પરન્તુ સસ્કૃત, પ્રાકૃત આદિ લોકપ્રસિદ્ધ સાત ભાષાનું સમ્પૂર્ણ અનુશાસન કરનાર કલિકાલસર્વજ્ઞ સિવાય વીજો કોઈ જાણ્યો નથી, સાંભળ્યો નથી કે ગ્રન્થના પાનાં પર ચઢ્યો નથી એ જ તેઓશ્રીની મહત્તા છે ।

કલિકાલસર્વજ્ઞ-મગવાન્ શ્રીદેવમચન્દ્રાચાર્યની અનેકવિધ શાસ્ત્ર-રચનાઓને સાધનતઃ જીણવટથી અલોકવામા આવે તો દરેકે દરેક કૃતિમાથી—અભ્યાસી અભ્યાસ કરીને અર્પૂર્વ પ્રાપ્તિ માટે રસપૂર્વક એક જ સ્થલેથી વધું મેઢવી શકે—એવા પ્રકારનો તેમનો ઉદ્દેશ વલોણમાં માલખણની જેમ સ્પષ્ટ તરી આવે છે ।

સર્વ રચનાઓ પૈકી શ્રીસિદ્ધદેવમચન્દ્રશબ્દાનુશાસન જેવી મહાન્ કૃતિના પ્રથમ વિભાગ તરીકે સજ્ઞા-સન્ધિ-નામ અને કારક-પ્રકરણોને તપાસતા માલુમ પડે છે કે—સસ્કૃતભાષાના રસિકો રસિકતાપૂર્વક સમ્પૂર્ણ રસ લઈ શકે અને તે ભાષાનો પાર-જ્ઞત બને તે હિસાબે દરેક પ્રકરણો સર્વસામગ્રીથી પરિપૂર્ણ ભરેલા છે ।

સિદ્ધદેવમચન્દ્રશબ્દાનુશાસનનો અભ્યાસી ધ્યાય તો સજ્ઞાપ્રકરણ શિખે કે સન્ધિપ્રકરણ શિખે, અગર તો નામપ્રકરણ શિખે કે કારકપ્રકરણ શિખે છતાં તે તે પ્રકરણ શિખ્યા પછી તે તે પ્રકરણ માટે પરકીય-વ્યાકરણનો આશ્રિત લેશમર ન બને એ ઉદ્દેશને ધ્યાનમાં રાખીને દરેક પ્રકરણની ગોઠવણ કરી છે એ વાત ખરીથી અહીં યાદ દેવરાવવી ઉચિત ગણી છે ।

આ પ્રથમ વિભાગમા ચતુષ્કવૃત્તિની ચાર વૃત્તિમાથી ૧ સજ્ઞા-સન્ધિ ૨ નામ અને ૩ કારક એ ત્રણ વૃત્તિઓ જ લેવામા આવી છે ।

ચતુષ્કવૃત્તિ, આલ્યાતવૃત્તિ આદિ ચારે વૃત્તિમા એક સરખી ઉપયોગી બની શકે એવી વ્યાપક સજ્ઞાઓ આ સજ્ઞાપ્રકરણમા જણાવેલી છે, વીજી કેટલીક સજ્ઞાઓ જે જે પ્રકરણ ઉપયોગી હોય તે તે પ્રકરણની શરુઆતમા જણાવેલી છે, કારણકે તે તે સજ્ઞાઓને જણાવવાની જરુરત ત્યાં જ હતી ઇટલે આ સજ્ઞાપ્રકરણમા જણાવવામા આવી નથી ।

કારકપ્રકરણમા કર્તા, કારક, કર્મ અને વ્યાપ્ય વગેરે સજ્ઞાઓ આવે છે તે બધી સજ્ઞાઓ કારકપ્રકરણમા જ ઉપયોગી છે, તેવીજ રીતે આલ્યાતવૃત્તિમા, કૃદ્વૃત્તિમાં અને તદ્વિતવૃત્તિમાં પણ જે કેટલીક સજ્ઞાઓ આવે છે તે બધી તે જ પ્રકરણમા ઉપયોગી હોવાથી આ સજ્ઞાપ્રકરણમા લીધી નથી । એ બાવતમાં કંઈ શક્યા કરવા જેવું નથી, અર્થાત્ સાતે અધ્યાયની ચારે વૃત્તિમા એક સરખી ઉપયોગી થઈ પડે એવી સજ્ઞાઓને જ આ સજ્ઞા-પ્રકરણમા સ્થાન આપવાનું અત્યન્ત સુસન્ન-કાર્ય કર્યું છે ।

સજ્ઞાપ્રકરણો—સૂત્રસંખ્યા ૪૨,—પૃ. ૧ થી ૨૪ ।

સજ્ઞાપ્રકરણમા કુલ ૪૨ સૂત્રો છે । એમાનું પહેલું સૂત્ર છે તે સૂત્રનું ઇટલે સૂત્રસમુદાયનું અથવા સૂત્રસમુદાયરૂપગ્રન્થનું મંજૂલ છે । પછીનાં બે સૂત્રો અધિકારસૂત્ર છે, અને બાકીનાં “ઔદન્તા. સ્વા: ॥૧૧૮॥” વગેરે બધા સૂત્રો સજ્ઞાપ્રતિપાદક સૂત્રો છે, પરન્તુ છેલ્લા ચાર સૂત્રો અતિદેશસૂત્ર છે । આ રીતિએ દરેક પ્રકરણના સૂત્રોને ઠેઠેચતા શીખવું જ જોઈએ ।

\* મંજૂલસૂત્ર-રહસ્યમ્ ।

મંજૂલરૂપ પહેલા સૂત્રની અને અધિકારરૂપ સૂત્રદ્વયમાથી પહેલા સૂત્રની—ઇટલે એ બન્ને સૂત્રોની સમાલોચનાનો ઉદ્દેશ અભ્યાસ કરવાથી કલિકાલસર્વજ્ઞ મગવાનના દ્વિયની માવના અત્યન્ત વિશાલ અને વ્યાપક હતી એમ જણાઈ આવે છે । આવાં સૂત્રોની રચના કરીને પોતાના અગાધ-પાણ્ડિત્યના પરિચયથી સર્વદર્શનને યથાર્થન્યાય આપીને જૈનસમ્પ્રદાયનું ગૌરવ વધાર્યું છે, કારણકે દરેક સમ્પ્રદાયવાળાઓ પોતાની દૃષ્ટિસિદ્ધિ માટે એ બન્ને સૂત્રોને ઉપયોગમા લઈ પુના શબ્દાર્થને અને માવાર્થને યોજી શકે છે ।

૧—જુઓ-‘ગાન્ધીર શ્રુતિમિ સદાચરણત પ્રાપ્તપ્રતિષ્ઠાદય x x x’ હયાદિ શ્લોક અને તેના વિસ્તૃત અર્થો-સત્પ્રકાશ વર્ષ ૪ સ્ક. ૬ પૃષ્ઠ ૮૫૨ ।

આ વ્યાકરણનો અભ્યાસ સર્વ સમ્પ્રદાયવાળાઓ કરી શકે તે હેતુથી સૌથી પ્રથમ “અર્હ” ॥ ૧ । ૧ । ૧ ॥ એવા મંજ્જલસૂત્રની રચના કરી છે । અર્હ શબ્દને મિત્રમિત્રમતાનુયાયિઓની દૃષ્ટિએ વિચારીએ તો જૈનદર્શનમા અર્હનૃશંબ્દ પૂજનીય અર્થમા સુવિસ્તાર્ય છે । અરહતશબ્દ બૌદ્ધદર્શનમા બુદ્ધદેવ માટે વપરાય છે । અર્હ શબ્દમાં અર્હ ઍ એ ચાર અક્ષરો આવેલા છે, તેના અર્થો કલિકાલસર્વજ્ઞ વિરચિત મહાદેવ સ્તોત્રના ૩૯ શ્લોકમા આ પ્રમાણે જણાવેલો છે—

“અકારેણોચ્યતે વિષ્ણુ રેફે બ્રહ્મા વ્યવસ્થિત । હકારેણ હર પ્રોક્તસ્તદન્તે પરમ પદમ્” ॥ ૩૯ ॥

અર્થ—અકાર એટલે વિષ્ણુ, રકાર એટલે બ્રહ્મા, હકાર એટલે શંકર અને સાનુનાસિક (ઐ) અકાર એટલે પરમપદ (મોક્ષ), એવા અર્થ થાય છે, એ ચારમાથી ગમે તેને દૃષ્ટ માનનારને અર્હ શબ્દ પણ માન્યજ હોઈ શકે એમા સશય રાખવા જેવું નથી ।

કલિકાલસર્વજ્ઞ સર્વધર્મના અનુયાયિઓ જેને દૃષ્ટ ગણે છે, તેને ગણીને અધ્યયન કરી શકે એવા સૂત્રના મંજ્જલરૂપ અર્હ શબ્દને યોજીને વૃત્તિના મંજ્જલમા પણ સર્વમાન્ય પરમાત્મશબ્દની યોજના કરી છે, કે જેથી કોઈપણ ધર્મવાળાને આ વ્યાકરણના સૂત્રકે વૃત્તિને મળવામા લેશ પણ સંકોચજ ન થાય । એ પ્રમાણે સૂત્રના અને વૃત્તિના મંજ્જલમા કલિકાલસર્વજ્ઞ સર્વમાન્યશબ્દને મૂકવામા જે દીર્ઘદર્શિતા વાપરી છે તે બાવતમા તેઓશ્રીની પારાવાર ઉદારતા માટે જેટલી પ્રશંસા કરીએ તેટલી ઓઝી જ છે ।

### \* અધિકારસૂત્ર-રહસ્યમ્ ।

આ વ્યાકરણના કોઈ પણ વિભાગ, પ્રકરણ કે પ્રયોગનો વિચાર કરવામા “સિદ્ધિઃ સ્યાદ્વાદાત્” ॥ ૧ । ૧ । ૨ ॥ નામનું અધિકારસૂત્ર તો આવીને ઉભુ જ રહે છે, કારણ કે આવા વ્યાકરણમા આ સૂત્ર પોતાના અધિકારનું ભાન કરાવવાનું કાર્ય વ્યાપકપણે કરે છે ।

સ્યાદ્વાદનો સિદ્ધાન્ત સર્વવ્યાકરણશાસ્ત્રોમાં સર્વદા, સર્વથા, અને સર્વત્ર વ્યાપક છે । કેમકે આદ્ય વૈયાકરણ-પાણિનીએ અને વ્યાહિ વિગેરે મહર્ષિઓએ અનુક્રમે પોતાના વ્યાકરણમા અને સમગ્રગ્રંથમા તે સિદ્ધાન્તને સ્વીકારેલો છે । પાણિનિના આશયને માપ્યકારે પોતાના મહામાપ્યમા શબ્દ, અર્થ અને પ્રયોગો વિગેરેને સ્યાદ્વાદસિદ્ધાન્તના નિત્યત્વાનિત્યત્વસ્વરૂપે એટલે ઉભયાત્મકસ્વરૂપે સ્વીકારવાનો નિર્દેશ ઠામ ઠામ કરેલો છે । નમૂનારૂપે પાણિનિના આશયને માપ્યકાર નીચે પ્રમાણે સ્પષ્ટ કરે છે—

પૈદાર્થનિર્ણયાધિકરણે શક્ષામાપ્યમ્—કિં પુનરાકૃતિઃ પદાર્થઃ ? , આહોસ્તિ દ્રવ્યમ્ ? ; સિદ્ધાન્તિઃ સમાધાન-માપ્યમ્—ઉભયમિત્યાહ । [ લક્ષણૈકચક્ષુષ્કસ્યાઽઽક્ષેપમાપ્યમ્— ] કથં જ્ઞાયતે ? , [ એકદેશિન સમાધાનમાપ્યમ્ ]—ઉભયથા હ્યાચાર્યેણ સૂત્રાણિ ( પ્રણીતાનિ ) પઠિતાનિ । આકૃતિં પદાર્થ મત્વા—‘જાત્યાહ્યાયામેકસ્મિન્ બહુવચનમન્ય-તરસ્યામ્’ ઇત્યુચ્યતે । દ્રવ્યં પદાર્થ મત્વા—‘સરૂપાણામ્’ ઇત્યેકશેષ આરમ્બ્યતે ।

ઉપરનો માવાર્થ,—શક્ષા માપ્ય—શુ પદાર્થ=પદનો અર્થ, જાતિરૂપે=સામાન્યરૂપે છે કે દ્રવ્યરૂપે=વિશેષરૂપે છે ? , સિદ્ધાન્ત-કાર સમાધાન આપે છે કે—પદના અર્થને ઉભયાત્મક માનવો । આક્ષેપ માપ્ય—ઉભયાત્મક શી રીતે જણાય ? , સમાધાન-કારણકે વચ્ચે પ્રકારોને લક્ષ્યમા રાખીને આચાર્ય પાણિનિએ સૂત્રો રચેલા છે, પદના અર્થને આકૃતિ—સામાન્યજાતિ=નિત્યત્વરૂપે માનીને ‘જાત્યાહ્યાયામેકસ્મિન્’ એ સૂત્ર રચેલું છે, અને પદના અર્થને દ્રવ્ય—વિશેષકાર્યરૂપે=અનિત્યરૂપે માનીને ‘સરૂપાણામ્’ એ સૂત્રની રચના કરેલી છે । આક્ષેપમાપ્ય=એટલે વલી શક્ષા, શુ શબ્દ નિત્ય છે કે અનિત્ય ? , સમાધાન-વ્યાહિમહર્ષિએ રચેલા સમગ્રહનામના ગ્રંથમા આ સમ્બન્ધમા સવિસ્તાર ચર્ચા કરેલી છે, તે ગ્રંથમા દોષો અને પ્રયોજનો પણ વિશેષપણે કહેલા છે । તે ગ્રંથમા આવો નિર્ણય જણાવ્યો છે કે—જો કે શબ્દ નિત્ય છે તો પણ તે અનિત્ય છે, વચ્ચે પ્રકારે લક્ષણને—શબ્દશાસ્ત્રને પ્રવર્તાવવા લાયક છે । તેવી રીતે—અર્થ સિદ્ધશબ્દસ્ય કઃ પદાર્થઃ ? , તેવી રીતે—સિદ્ધે શબ્દેઽર્થે સમ્બન્ધે ચેતિઃ ; ઇત્યાદિ વાર્તિકમા રહેલા સિદ્ધશબ્દના નિર્ણયમા આક્ષેપ-સમાધાન આપતા છેવટે ઉભયાત્મકરૂપ નિર્ણય કથન કરેલો છે ।

આવી રીતે મહામાપ્યમા જે જે સ્થળે નિત્યાનિત્યપણાની ચર્ચા ચાલી છે તે તે સ્થળે વચ્ચે વાદિઓના દૃઢાન્ત અને યુક્તિઓ આપીને અન્તમા ઉભયાત્મક નિર્ણય આપેલો છે, વિશેષ જિજ્ઞાસુઓએ તે તે સ્થળ સમ્બન્ધિ-મહામાપ્યનું સાધન્ત પરિ-શીલન કરવું જરૂરી છે ।

એકજ વર્ણ અથવા શબ્દની અનેકવિધ સજ્ઞાઓ, હ્રસ્વ-દીર્ઘોદિ વિધિઓ, વિશેષણવિશેષ્યભાવ, સમાનાધિકરણ, અનેક-કારકતા, શબ્દાર્થસમ્બન્ધ, વાચ્યવાચકતા, સ્થાનિઆદેશ, પ્રકૃતિવિકૃતિ, નિમિત્તનિમિત્તિભાવ અને લિઙ્ગવ્યવસ્થા વિગેરે વ્યાકરણના સમગ્ર પદાર્થોની સિદ્ધિ આ સ્યાદ્વાદના સિદ્ધાન્ત ઉપર જ નિર્ભર છે; અર્થાત્ એના વિના પદાર્થો સંજ્ઞત થતા નથી । કહ્યું છે કે—

૧—જુઓ—અભિધાનચિન્તામણિકોષ—દેવાધિદેવકાણ્ડ—શ્લોક—૨૫ । ૨—આ શ્લોકની ચર્ચા અવચૂર્ણિકારે અવચૂર્ણિમાં, લઘુન્યાસકારે લઘુન્યાસમા, અને સસ્કૃતદ્વયાશ્રયમહાકાવ્યના વૃત્તિકારે વૃત્તિમા, અને કલિકાલસર્વજ્ઞ-વિરચિત સૂત્રોના રહસ્યનું પ્રતિપાદન કરનારી ધ્રીચન્દ્રયોધિની-વૃત્તિમાં પણ કરી છે । ૩—જુઓ પૃ. ૪૪ મહામાપ્ય—પ્રથમાધ્યાય—પ્રથમપાદ—પરસ્પરોદિકે । ૪—જુઓ મહામાપ્ય—પૃ. ૪૮ । ૫—જુઓ મહામાપ્ય—પૃ. ૪૭ ।



१-जूओ सि० हे० श० शा० पृ० ३, प० ३ । २-जूओ सि० हे० श० शा० पृ० ३, प० ४५ । ३-सि० हे० श० शा० पृ० ४, प० ४ । ४-भर्तृहरि ए पोताना वायपवीथ-ग्रन्थना प्रथमकाण्डमां पृष्ठ २७, श्लोक १४ मा, तथा पृष्ठ ११८, श्लोक १२२ मा जणान्यु छे । ५-पेन्द्रव्याकरण आजे सपलब्ध नथी, एना नाश पळी पाणिनीयव्याकरण थयु । नाशाना प्रसङ्गना वर्णन माटे कयासरित्तागरमां तरङ्ग-४ थाना श्लोक २० थी २५ जूओ, हेल्ला श्लोकमा जणान्यु छे के-“तेन प्रणमैन्द्र तदसम्ब्याकरण भुवि । जिता पाणिनिना सर्वे मूर्खा भूता वय पुन ” ॥२५॥ ६-जूओ बृहन्नास पृ० ११ प० १९ । नञासामिर्नूतनोऽञ्जलादिरूपो विधेय, सर्वज्ञप्राणीतैत्तल्लिकादिशास्त्रेषु पेन्द्रादिपूर्वव्याकरणेषु च अञ्जलादित्पस्याऽप्रसिद्धे । ७-कातञ्चव्याकरणे सिद्धो वर्णसमाग्राय । तत्र चतुर्दशौ खरा । दश समाना । पूर्वौ ह्रस्व । परो दीर्घ । खरोऽवर्ण-वर्जो नामी । एकारादीनि सन्ध्यक्षराणि । कादीनि व्यञ्जनानि । ते वर्गा पञ्च पञ्च । पञ्चवर्णाणां प्रथमद्वितीया शषसाश्चाऽघोषा । घोषवन्तोऽन्ये । अनुनासिका ख्यजनमा । अन्तस्था यरलवा । ऊष्माण शषसहा । अ इति विसर्जनीय । झ इति जिह्वामूलीय । ष इत्युपध्मानीय । अ इत्यनुस्वार । आ वधा सुघो सज्ञाप्रकरणमा आवेला छे ।



પાણિનીય, શાકટાયન અને જૈનેન્દ્રવ્યાકરણની સજ્ઞાઓ પરસ્પર લગભગ મળતી છે, જ્યારે કલિકાલસર્વજ્ઞે નવીનતા લાવવા માટે અપરિચિત સંજ્ઞાઓની રચના કરવા કરતા પૂર્વપરમ્પરાને માન આપીને પ્રાચીન સંજ્ઞાઓનું જ વિધાન કર્યું છે । પૂર્વપરમ્પરાતરીકે એન્દ્ર, પ્રાતિશાલ્ય, અને કાતવ્રવ્યાકરણો તથા યાસ્કનિરુક્તગ્રન્થ નજર સન્મુખ રાખ્યા હોય એવી સમ્ભાવના રાક્ષી શકાય । યાસ્કનિરુક્તગ્રન્થમા નામ-સર્વનામ-આસ્ત્યાત ઉપસર્ગ અને નિપાત વગેરે શબ્દોનું વિસ્તારથી સ્પષ્ટીકરણ પૂરતા પ્રમાણમા મળી આવે છે, અને તે સંજ્ઞાઓના સદુપયોગ આ પ્રધાનતમ-વ્યાકરણમા થયેલો છે ।

પાણિનીયવ્યાકરણમા સ્વરને અચૂ, વ્યજ્ઞનને હલ્, અન્તસ્થાને યળ્, અધોપને સર્, અને ધોપને દર્શ્ તરીકે માનવામા આવે છે । સામઠવામા, વોલવામા, સમજવામા અને સમજાવવામા સુશ્રાવ્ય અને દુ.શ્રાવ્ય અથવા મધુર અને કર્કશ સંજ્ઞાઓ કયા વ્યાકરણની છે તે તો વે ને વે ચારની માફક સ્પષ્ટ રીતે દરેકની સમજમા આવી જાય છે ।

આ સિવાય સંજ્ઞાપ્રકરણના સૂત્રોની રચનામા સંજ્ઞિ અને સંજ્ઞાનો નિર્દેશ બહુવચનમા કરવાને વડલે એકવચનમા કરવાનું ફળ, તથા જ્યાં એકવચનથી કાર્ય થઈ શકતું હોય છતાં ત્યાં બહુવચન કરવાનું ફળ વિગેરે દરેક પ્રસંગે સ્પષ્ટતયા જણાવ્યા છે । નમૂના તરીકે અહીં જણાવવામા આવે છે કે—“ઔદન્તાઃ સ્વરા.” એ સૂત્રમાના બહુવચનથી હુતની પળ સ્વરસંજ્ઞા થઈ એ ફળ જણાવ્યું છે, તથા “એકદ્વિત્રિમાત્રા હ્રસ્વદીર્ઘશ્રુતાઃ” એ સૂત્રમાના બહુવચનથી સંજ્ઞિ અને સંજ્ઞાને યથાસહ્યત્વની પ્રાપ્તિ થઈ એ ફળ જણાવ્યું છે । “અનવર્ણા નામી” એ સૂત્રમા સંજ્ઞિ બહુવચનમા છે અને સંજ્ઞા એકવચનમા છે તેનું ફળ આનન્દવોધિનીવૃત્તિમા સ્પષ્ટપણે વિસ્તારથી જણાવેલું છે । આ તો દિશાસૂચન કરવા માટે માત્ર નમૂના જણાવ્યા છે, વિશેષ જાણવાની ઇચ્છાવાળાને તો આ ગ્રન્થના પરિશિષ્ટ નં. ૧૨ માં જણાવેલા સૂત્રોની અને બંને વૃત્તિઓ જોવાની મલામળ કરવામા આવે છે ।

દરેકે દરેક પ્રકરણમા આવતા મતમતાન્તરો, સ્થલનિર્દેશો, મતવ્યવસ્થાઓ અને યોગ્ય-સાધનિકાઓ વિગેરે બતાવવાનો પ્રયત્ન કલિકાલસર્વજ્ઞે બૃહદ્વૃત્તિમા કર્યો છે, પરન્તુ અમ્યાસકાળે ઉપયોગી નીવડે એ હેતુથી બૃહદ્વૃત્તિમા કહેલા વિષયને વધુ સ્પષ્ટ કરવાના અને તે સિવાયની વિનાઓને યોગ્ય અવસરે જણાવવાનો પ્રયાસ આનન્દવોધિનીમા કરવામાં આવ્યો છે । આ જગ્યાએ ‘કલિકાલસર્વજ્ઞની રચના પરિપૂર્ણ હતી તો પછી એવો ઉદ્યમ કરવાની શી જરૂર પડી’ એવી શંકાના સમાધાનમાં અહીં જણાવી દેવું યોગ્ય છે કે—આનન્દવોધિનીમાં મારા જેવા મન્દબુદ્ધિવાળાને જરૂર લામ થાય તે હિસાબે આ શુભ પ્રયત્ન કર્યો છે, એવા શુભ પ્રયાસમાં સફલીમૂત થવાનો સંકલ્પે યશ કલિકાલસર્વજ્ઞને જ ફાળે જાય છે, કારણકે સશોધન, સમ્પાદન અને નૂતન-વૃત્તિ રચવામા મુશ્કેલીના પ્રસંગમા તેઓશ્રીના સાહિત્યપ્રત્યેની શ્રદ્ધા-ભક્તિ અને પ્રેમ જ કાર્યસાધક બન્યા છે એ નિઃસંદેહ કથન કહ્યા વગર ચાલી શકે તેમ નથી ।

### \*સંજ્ઞાસૂત્ર-રહસ્યમ્ ।

હવે સંજ્ઞાપ્રકરણમા ૧-૧-૪ થી ૧-૧-૮ સુધીના સૂત્રોથી સ્વરોની સામાન્યસંજ્ઞા અને વિશેષસંજ્ઞાનું વિધાન કર્યું છે ।

૧-૧-૫ સૂત્રથી અનુસ્વાર અને વિસર્ગને વ્યુત્પત્તિના બઠ્ઠે કરીને વ્યજ્ઞન અને સ્વર તરીકે ગણાવેલા છે ।

૧-૧-૧૦ થી ૧-૧-૧૬ સુધીના સૂત્રોથી વ્યજ્ઞનોની સામાન્યસંજ્ઞા અને વિશેષસંજ્ઞાનું વિધાન કર્યું છે ।

૧-૧-૧૭ સૂત્રથી અક્ષરોની પરસ્પર સ્વસંજ્ઞાનું વિધાન કરીને સ્વસંજ્ઞિક-સ્વરો અને વ્યજ્ઞનો કયા કયા છે, તેનું યથાર્થ સ્પષ્ટીકરણ મતાન્તરોની છળવટ પૂર્વક કર્યું છે ।

૧-૧-૧૮ થી ૧-૧-૨૨ સુધીના સૂત્રોથી વિમક્તિસંજ્ઞા અને પદસંજ્ઞાનું વિધાન કર્યું છે, અને ત્યાર પછીના ત્રણ સૂત્રોથી પદસંજ્ઞાનો નિષેધ કર્યો છે ।

પદસંજ્ઞાનો નિષેધ કરનાર “વૃત્ત્યન્તોઽસેષ” ॥ ૧ । ૧ । ૨૫ ॥ સૂત્ર છે, તે શાસ્ત્રવૈષયિક ચર્ચાના સ્થાનરૂપ છે, આ સૂત્રનો અમ્યાસિ કલિકાલસર્વજ્ઞની રચનાનો જો રસિકતાથી અમ્યાસ કરે તો તેને નવનવીન-નવીનતાઓ પ્રાપ્ત થયા જ કરે છે ।

૧-૧-૨૬ અને ૧-૧-૨૭ એ બે સૂત્રોથી વાક્યસંજ્ઞા અને નામસંજ્ઞાનું વિધાન કરેલું છે, તે બંને સૂત્રોની વૃત્તિને રચવામા અને ઉદાહરણો તથા પ્રત્યુદાહરણો આપીને પદોની યથાર્થતા બતાવવામા કલિકાલસર્વજ્ઞે મારોભાર કુશલતા અને મર્ત્વ-હરિના સિદ્ધાન્તોને સુંદર રીતિએ પ્રતિપાદન કરવામા પારાવાર પ્રતિભાની પૂર્ણ-પ્રકાશમય-પ્રમા ઠાસી ઠાસીને ભરેલી જણાય છે ।

૧-૧-૨૮ અને ૧-૧-૨૯ એ બે સૂત્રોથી ત્રણે લિંગના કેટલાએક પ્રત્યયોની ઘટ્ટસંજ્ઞાનું વિધાન કર્યું છે । આ સૂત્રની વૃત્તિમા મૂલકાર ભગવાને લિંગ વ્યવસ્થા માટે સંક્ષેપથી શક્તિ-સમાધાન કર્યું છે, તે ચર્ચાને જ આનન્દવોધિનીમા વિસ્તારથી ચર્ચાને નિર્ણયિતમૂત સિદ્ધાન્તો જણાવેલા છે ।

પૂર્વસુદ્રિત ગ્રન્થમા આ સ્થલે લિંગાનુશાસન આપેલું છે, પરન્તુ સર્ગસ્થ શેઠ નેમચન્દ્ર પોપટલાલભાઈની આર્થિક મદદથી ડૉ.જેનની શ્રીઋષભદેવજી છગનીરામજીની પેઢીએ શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રાવિષ-ગ્રન્થમાલાના પ્રથમ-ગ્રન્થરત્ન તરીકે શ્રીહેમચન્દ્રકૃતિ-કુસુ-

માવલી નામનો ગ્રન્થ બે વર્ષ પહેલાં વહાર પાડેલો છે, તે ગ્રન્થમાં લિજ્જાનુશાસન છપાઈ ગયેલું હોવાથી આ પ્રકાશનમા એને લીધું નથી । શ્રીહેમચન્દ્રકૃતિ-કુસુમાવલીમાં ડાહ્યાદિસહિત સાત અધ્યાયના સૂત્રો, અનુવન્ધફલ-વૃદ્ધાનફલ-અનિર્દેશિકા અને પ્રકીર્ણ-સજ્જહના શ્લોકો, ન્યાયસમગ્રના સૂત્રો, લિજ્જાનુશાસનના શ્લોકો, કાવ્યાનુશાસનના સૂત્રો, અન્યયોગવ્યંદ્યાત્રિશિકા અને અયો-ગવ્યંદ્યાત્રિશિકાના શ્લોકો પ્રકટ કરેલાં છે । આ પ્રકાશનમાં પ્રવેશ કરનારાઓ પ્રથમમૂલસૂત્ર આદિને કળ્પસ્ય કરીને પછીજ આ ગ્રન્થનો અભ્યાસ શરૂ કરે એ હેતુથીજ તે ગ્રન્થને શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રાવિધિ (ગ્રન્થરત્નમાલા) ના પ્રથમ ગ્રન્થરત્ન તરીકે પ્રકટ કરીને આ ચાલુ પ્રકાશનને દ્વિતીય ગ્રન્થરત્ન તરીકે પ્રકટ કરવામા આવ્યો છે ।

૧-૧-૩૦ થી ૧-૧-૩૮ સુધીના સૂત્રોથી અવ્યયસજ્ઞા, ઇત્સજ્ઞા અને પ્રત્યયસજ્ઞાનુ વિધાન કરેલું છે, એમાના ઇત્સજ્ઞા-વિધાયકસૂત્રની રચનામા કલિકાલસર્વજ્ઞ-ભગવાને લઘુતા, સરલતા, અને સુન્દરતાનું સંપૂર્ણ દિગ્દર્શન કરાવ્યું છે ।

૧-૧-૩૯ થી ૧-૧-૪૨ સુધીના પ્રથમ અધ્યાયના પ્રથમ-પાદના છેલ્લા ચાર સૂત્રો અતિદેશસૂત્રો છે, તે સૂત્રોથી કેટલા-એક શબ્દોને સરખાવાવિશિષ્ટો જેવા ગણવાનું વિધાન કરેલું છે । પ્રથમ પાદની પરિસમાપ્તિમા આ શ્લોકદ્વારા ચૌલુક્યવશના આઘપુરુષ-શ્રીમૂલરાજમાં શ્રીકૃષ્ણ-શંકર-બ્રહ્મા એ ત્રણ વ્યક્તિઓમા રહેલી વિશિષ્ટતાને સુદર રીતિએ ઘટાવેલા છે ।

આ પ્રકરણમા આટલા વિસ્તારથી દરેક વાતો જણાવવાનો મુખ્ય હેતુ એ છે કે સંજ્ઞા-વિધાનમા, સૂત્રરચનામા, શૈલી-પૂર્વક ગુણી ગુંથવામા, સૂત્રાર્થપ્રદેશને નિયત કરવા માટે પરિપૂર્ણ ઉદાહરણો આપવામા, અને પદપ્રયોજનની સફલીભૂત યોજના માટે પ્રત્યુદાહરણો આપવામા કલિકાલસર્વજ્ઞ ભગવાનની પરિપૂર્ણ પ્રતિભા, બુદ્ધિવૈભવ, કુશલતા અને સિદ્ધાન્તપ્રતિપાદન શૈલી વિગેરે અનેકવિધ-ગુણો અભ્યાસકના જાણવામા આવે તો ઉત્સાહમા ઉમેરો થાય ।

આવું આવું અને આનાથી પણ અધિક અધિકતર કે અધિકતમ આગઠ આગઠના પ્રકરણોમા પ્રસંગે પ્રસંગે જાણવાનું મળ્યા જ કરશે ।

આ પ્રકરણમા અને હવે પછીના પ્રકરણોમા સૂત્ર અને તત્ત્વપ્રકાશિકાવૃત્તિનું પ્રતિપાદન-કરનારી આનન્દવોધિની વૃત્તિમા પૂર્વાપર-સૂત્રોપપત્તિ, વૃત્તિસ્થ-પદોપપત્તિ, પદચ્છેદ, પદાન્વય, પદવિભક્તિપ્રદર્શન, અધિકાર અને પૂર્વસૂત્રથી આવતા અનુવર્તન-પદો તથા ઉદાહરણો અને પ્રત્યુદાહરણોની સાધનિકા દેસાડવાનો પ્રયત્ન-સામાન્ય રીતિએ દરેક સ્થલે કરી વતાવ્યો છે । એક સરખા ઉદાહરણોમા એક ઉદાહરણને સાધી વતાવીને તે જ રીતિએ વીજા ઉદાહરણોને સાધી લેવાની મલામણ કરીને ગ્રન્થનું કદ વધી જવાના મયથી આગઠ ચાલુ પડ્યું છે ।

કલિકાલસર્વજ્ઞ ભગવાને ટાકેલા મતમતાન્તરો કોના છે ? , કયા ગ્રન્થમા છે ? , કહ જમ્યાએ છે ? , એ વધામાથી મહેનત કરતા જેટલું મળ્યું તેટલું મેલવીને વતાવવાનો પ્રયત્ન કર્યો છે । સૂત્રાર્થ અને સિદ્ધાન્તનિર્દેશ માટે આપેલા ગ્રન્થો અને તેના સ્થલનિર્દેશો પણ મઠી શક્યા તેટલા વતાવ્યા છે ।

હવે પછીના સન્ધિ, નામ અને કારકપ્રકરણોમા ઉપર જણાવેલી હકીકતો તો આવશે જ, એટલે તે સમ્બન્ધી કહ કહેવાનું નથી, પરન્તુ તે સિવાય જે કહ વિશિષ્ટતાઓ આ ત્રણ પ્રકરણમાં આવેલી છે તેઓનું માત્ર અગુલિનિર્દેશરૂપે અવલોકન કરી જઈએ ।

પૂર્વપ્રકરણમા સ્વરોની જેટલી સંજ્ઞાઓ સમ્મવી શકે તેટલી સજ્ઞાઓનું વિધાન કરીને પછી તુરત વ્યજ્ઞનોની સજ્ઞાઓનું વિધાન કર્યું છે, અને ત્યાર પછી તે બન્નેથી—સ્વર અને વ્યજ્ઞનથી—ધ્વનિત થતી સજ્ઞાઓનું વિધાન કરેલું છે, તે વધુ તો આપણે વિસ્તારપૂર્વક જોઈ આવ્યા । પરન્તુ સૂત્રોની રચના અને સૂત્રોની ગોઠવણી એવી સરસ રીતિએ કરેલી છે કે ગોઠવાયલા સૂત્રો પ્રકરણની પ્રતિતિ આપીને તુરત નવીન પ્રકરણમા પ્રવેશ કરે છે, એટલું જ નહિ પણ ક્રમ તુટતો નથી, પ્રકરણ છૂટતું નથી અને વિષય અધુરો રહેતો નથી । ક્રમ, પ્રકરણ અને વિષયને સાકલના અકોહાની જેમ અનુસ્યૂત-રાખીને તથા સૂત્રના બલાવલ તપાસીને એવી અપૂર્વરીતિએ રચ્યા છે અને ગોઠવ્યા છે કે પૂર્વથી પર અને પરથી નિત્ય વગેરે ન્યાયોની વ્યવસ્થામા કોઈ પણ પ્રકારની ન્યૂનતા રહેતી જ નથી અર્થાત્ બધું જ બરાબર સચવાઈ જાય છે ।

સાત અધ્યાયના ૩૫૬૬ સૂત્રોની રચના કરવી, દરેક સૂત્રની શક્તિનું માપ કાઢવું, કોઈ પ્રયોગમા એક સાથે ઘણા સૂત્રો લાગુ થઈ શકતા હોય, પરન્તુ સૂત્રોની ગોઠવણી એવી રીતિએ કરવી કે લાગુ પડતા ન્યાયના બઢથી તે ઘણા સૂત્રોમાથી યોગ્ય જ સૂત્રો લાગુ થઈ શકે એમ દરેક સૂત્રના બલાવલને તપાસી રાખવું, અને એ રીતિએ રચના કરીને ગોઠવવું એ જ અપૂર્વ કુશલતા છે । જગમશહૂર-શ્વેરી જેમ દરેક મોતીની કિંમતને આકીને અનુક્રમે ચઢતા ઉતરતા ઢાળાઓને મોતીના હારમા ગોઠવીને હારને સુશોભિત, આકર્ષક, અને મૂલ્યવાન્ બનાવે છે, તેવી રીતે તેનાથી પણ ઉત્તમ-રીતિએ આ સૂત્રોને રચવાની અને યોગ્યસ્થલે ગોઠવવાની કિંમતી કારીગરી કલિકાલસર્વજ્ઞે જગો જગો પર ઠાસી ઠાસીને મરેલી જણાય છે ।

દરેક પ્રકરણો અને વિષયો માટે સ્વતંત્ર નિબન્ધ લખવામા આવે તો ઘણું એક પુસ્તક થઈ જાય, એટલી વધી સામગ્રીઓ દરેક પ્રકરણ અને વિષયમાથી મઠી શકે એમ છે । આ રીતિએ સંજ્ઞાવિષયક-સૂત્રોનું રહસ્ય સમાપ્ત કરીને આપણે આગઠ વધીએ ।

### \*સન્ધિપ્રકરણ-પૃષ્ઠ ૨૫ થી ૬૩ । કુલસૂત્ર ૧૦૬ ।

પ્રથમ અધ્યાયના પ્રથમ પાદના સજ્ઞાપ્રકરણ-વિગેરેના ૪૨ સૂત્રોના સમ્બન્ધમા પૂરતા પ્રમાણમા વિચાર કરી ગયા ।

હવે આ સન્ધિપ્રકરણમા સ્વરસન્ધિ માટે પ્રથમ અધ્યાયના વીજા પાદના ૪૧ સૂત્રો, અને વ્યજ્ઞનસન્ધિ માટે પ્રથમ અધ્યાયના ત્રીજા પાદના ૬૫ સૂત્રો મળીને કુલ ૧૦૬ સૂત્રો છે ।

કાતબ્રવ્યાકરણમા સ્વરસન્ધિ, પ્રકૃતિસન્ધિ, વ્યજ્ઞનસન્ધિ, અને વિસર્જનીયસન્ધિ છે, એમાંની છેલ્લી સન્ધિમા દ્વિત્વસન્ધિનો પળ સમાવેશ કરેલો છે ।

શાકટાયન-વ્યાકરણની પ્રક્રિયાના સન્ધિપ્રકરણમા અચ્સન્ધિ, નિષેધસન્ધિ, દ્વિત્વસન્ધિ, હલ્સન્ધિ અને વિસર્જનીયસન્ધિ મળીને કુલ પાંચ સન્ધિ જણાવેલી છે ।

જૈનેન્દ્ર પ્રક્રિયામા અચ્સન્ધિ, હલ્સન્ધિ અને વિસર્ગસન્ધિ મળીને ત્રણ જ સન્ધિ જણાવેલી છે, અને એમાંની અચ્સન્ધિમા જ દ્વિત્વભાવ અને પ્રકૃતિભાવનો સમાવેશ કરેલો છે ।

સિદ્ધાન્તકૌસુદી વ્યાકરણમા અચ્સન્ધિ, હલ્સન્ધિ, વિસર્ગસન્ધિ અને સ્વાદિસન્ધિ મળીને કુલ ચાર સન્ધિ જણાવેલી છે ।

શાકટાયન, જૈનેન્દ્ર અને પાણિનીય આ ત્રણ વ્યાકરણોમા પ્રત્યાહાર કલ્પનાને અનુસરીને અચ્સન્ધિ, હલ્સન્ધિ અને વિસર્જનીયસન્ધિ આ ત્રણ સન્ધિપ્રકરણોમા વીજા સન્ધિપ્રકરણોનો અન્તર્ભાવ કરેલો છે, અગર જૂદા રૂપે જણાવેલા છે ।

આ ત્રણ વ્યાકરણકારોની પ્રત્યાહારરૂપ ક્ષિપ્ત કલ્પનાની અપેક્ષા રાહ્યા વગર પ્રાચીન-પરમ્પરાથી ચાલી આવતી સજ્ઞાઓને અપનાવીને તથા વિદ્યાર્થીઓને સુગમ રીતે બોધ થાય એ હેતુને લક્ષ્યમા રાહ્યાને પ્રકરણો પાઢ્યા વગર કલિકાલસર્વજ્ઞે સૂત્રોની ગોઠવણીજ એવા પ્રકારની કરેલી છે કે સ્વરસન્ધિ, વ્યજ્ઞનસન્ધિ વગેરે પ્રકરણો પ્રક્રિયા ક્રમની જેમ સ્વયમેવ માલુમ પડી આવે છે ।

૧-૨-૧ થી ૧-૨-૩૦ સુધીના સૂત્રોથી સ્વરસન્ધિનું વિધાન કરેલું છે, અને ૧-૨-૩૧ થી ૧-૨-૪૧ સુધીના સૂત્રોથી સ્વરસન્ધિના નિષેધનું અર્થાત્ અસન્ધિ અથવા પ્રકૃતિભાવનું વિધાન કરીને પ્રથમ અધ્યાયના વીજા પાદની સમાપ્તિ સાથે સ્વરસન્ધિ પ્રકરણની પળ સમાપ્તિ કરી છે । અને છેવટે પાદની સમાપ્તિ સૂચવનારા શ્લોકમા મૂલરાજને પુરુષોત્તમ-શ્રીકૃષ્ણની ઉપમા આપીને તે ઉપમાની યથાર્થતાનું દિગ્દર્શન કરાવ્યું છે ।

સ્વરસન્ધિ-પ્રકરણરૂપ દ્વિતીય પાદની સમાપ્તિ પછી વ્યજ્ઞનસન્ધિ પ્રકરણરૂપ તૃતીય પાદની શરૂઆત થાય છે । ત્રીજા પાદના પહેલા “તૃતીયસ્ય પશ્ચમે” સૂત્રમા વે જ પદ છે, પરન્તુ સૂત્ર ૧-૨-૨૭ માથી ‘પદાન્તે’, સૂત્ર ૧-૨-૩૮ માથી ‘નવા’, અને સૂત્ર ૧-૨-૪૧ માથી ‘અનુનાસિક:’, એ ત્રણ અનુવર્તિત પદો સહિત કુલ પાંચ પદોને અનુસરીને જ “તૃતીયસ્ય પશ્ચમે” સૂત્રનો અર્થ કરવામા આવે છે । ઉપરના દૃષ્ટાન્તથી વીજા અને ત્રીજા પાદનો પરસ્પર કેટલો નિકટવર્તી સમ્બન્ધ છે તે સમજાઈ જાય છે । એ જ રીતે પૂર્વના પાદનો, સૂત્રનો અને વ્યાખ્યાનનો પછીના પાદ-સૂત્ર અને વ્યાખ્યાનની સાથેનો સમ્બન્ધ આગળના પ્રકરણોમા પળ દરેક સ્થળે અલ્પ-અનુસૂતપણે ચાલ્યો આવે છે તે આ ગ્રન્થનો અભ્યાસ કરવાથી સમજવામા આવશે ।

વિશેષમા જણાવવાનું કે સૂત્રોમા આવતા ‘નવા’ અને ‘વા’ એ બન્ને પદનો અર્થ તો સરખો જ છે તો પળ તેમા ફેર પડ્યો છે કે જેમ નવાપદનો અધિકાર આગળના સૂત્રોમા જાય છે, તેમ વા પદનો અધિકાર આગળના સૂત્રોમા જતો નથી । દૃષ્ટાન્ત તરીકે “સૌ નવેતૌ ॥ ૧ । ૨ । ૩૮ ॥” એ સૂત્રમા નવા પદ છે તેથી અહીંથી વિકલ્પવિધિ શરૂ થઈને “શષસે શષસ વા” ॥ ૧ । ૩ । ૬ ॥ આ સૂત્ર સુધીના દશ સૂત્રમા અલ્પપણે ચાલ્યું રહે છે । વિકલ્પવિધિ ચાલ્યું હોવા છતાં ૧-૩-૬ સૂત્રમા ‘વા’પદનું કથન કરવાથી ત્યાર પછીના સૂત્રોમા વિકલ્પવિધિ જઈ શકતો નથી । એ રીતે ‘નવા’પદ અને ‘વા’પદનો તફાવત દરેક ટેકાણે સમજવાની સ્વતંત્ર કલ્પના કલિકાલસર્વજ્ઞ ભગવાનની છે । ઉપર જણાવ્યા પ્રમાણે સૂત્ર ૧-૨-૩૮ થી સૂત્ર ૧-૩-૬ સુધીના દશ સૂત્રમા વિકલ્પવિધિ થવો જોઈએ, પરન્તુ એ દશ સૂત્રોમાના “પ્રત્યયે ચ” ॥ ૧ । ૩ । ૨ ॥ એ એક સૂત્ર પૂરતો જ વિકલ્પ-વિધિ ઇષ્ટ ન હોવાનું ચક્રાભાત્રથી સૂચવીને નિત્યવિધાન જણાવી દીધું । આવી આવી અનેક પ્રકારની સૂચનાઓ વગેરે અનેક સૂત્રોમાથી નીકળી આવે છે, તે બધું કલિકાલસર્વજ્ઞની સ્વતંત્ર અને આશ્ચર્યકારકસૂત્ર-રચનાના અભ્યાસિઓને અભ્યાસ કરતી વખતે અગમ્ય કલ્પનાઓ જરૂર દૃષ્ટિગોચર થાય છે ।

હવે વ્યજ્ઞનસન્ધિ પ્રકરણમા ૧-૩-૧ થી ૧-૩-૨૧ સુધીના સૂત્રોથી સ્થાનિવ્યજ્ઞન-સમ્બન્ધ આદેશોનું વિધાન કરેલું છે । અને ત્યાર પછીના સૂત્ર ૧-૩-૨૨ થી ૧-૩-૬૫ સુધીના સૂત્રોથી અનુક્રમે અસન્ધિ, દ્વિત્વભાવ, દ્વિત્વનિષેધ, સર્વર્ણવર્ગાન્ય, હ્રસ્વ, અને વિસર્ગ વિગેરેનું વિસ્તારપૂર્વક વિધાન કરીને વ્યજ્ઞનસન્ધિની સમાપ્તિ સાથે ત્રીજા પાદની પળ સમાપ્તિ કરેલી છે । એ રીતે પ્રથમ અધ્યાયના વીજા અને ત્રીજા પાદમા આશ્વા સન્ધિપ્રકરણની સમાપ્તિ કરી છે । અને છેવટે પાદની પરિસમાપ્તિ સૂચવનારા શ્લોકમા મૂલરાજના અમિનવ-યશનું વર્ણન અપૂર્વ સાહિત્યનીતિએ કરવામા આવ્યું છે ।

## \* નામપ્રકરણ—પૃષ્ઠ ૬૪ થી ૧૫૫ । કુલ સૂ. ૨૧૧ ॥

વસ્તુતઃ લિઙ્ગ ત્રણ જ છે, તથાપિ એ ત્રણે લિઙ્ગના સ્વરાન્ત અને વ્યજ્ઞનાન્ત એમ બન્ને વિભાગ પાડી નાખવાથી સંસ્કૃત-માષામા ષડ્લિઙ્ગશબ્દની પ્રવૃત્તિ પ્રચલિત થયેલી છે । એટલા જ માટે પાણિનીય, શાકટાયન અને જૈનેન્દ્રવ્યાકરણની પ્રક્રિયામા જેમ અજન્ત એટલે સ્વરાન્ત-પુલ્લિઙ્ગ-સ્ત્રીલિઙ્ગ અને નપુસકલિઙ્ગ, તથા હલન્ત એટલે વ્યજ્ઞનાન્ત-પુલ્લિઙ્ગ-સ્ત્રીલિઙ્ગ અને નપુસકલિઙ્ગ; એ રીતે બન્ને મઠીને ષડ્લિઙ્ગના છ પ્રકરણો ગોઠવ્યા છે ।

ઉપર મુજબ આ ગ્રન્થના નામપ્રકરણના છ વિભાગ કરવામા આવ્યા નથી, પરન્તુ ત્રણે લિઙ્ગમાથી પહેલા અકારાન્ત પછી આકારાન્ત અને પછી ઇકારાન્ત વિગેરે સ્વરના અનુક્રમથી નામોને લેવામા આવ્યા છે, પછ પહેલા પુલ્લિઙ્ગ પછી સ્ત્રીલિઙ્ગ અને છેવટે નપુસકલિઙ્ગના ક્રમથી નામો લેવામા આવ્યા નથી ।

આ નામપ્રકરણને પહેલા અધ્યાયના ચોથા પાદના ૯૩ સૂત્રો, અને વીજા અધ્યાયના પહેલા પાદના ૧૧૮ સૂત્રો મઠીને કુલ ૨૧૧ સૂત્રોમા સમાપ્ત કરવામા આવ્યું છે । મૂળથી જ અકારાન્ત હોય અગર તો આદેશ પામીને પછ અકારાન્ત થયું હોય તેવા અકારાન્ત નામથી શરૂઆત કરીને નામના અન્તના અકારનો આકાર, એકાર વિગેરે આદેશો અને પ્રત્યયોના મિસૂનો એમ, ટાનો હન વિગેરે આદેશો ૧-૪-૧ થી ૧-૪-૧૪ સુધીના સૂત્રોથી જણાવેલા છે ।

સિદ્ધાન્તકૌમુદી વિગેરે પ્રક્રિયાઓથી આ પ્રકરણમા શી વિશેષતા છે ? એવા પ્રશ્નના સમાધાનમા સિદ્ધાન્તકૌમુદી વિગેરે મળનારા અને અવલોકનારાઓને હાથ કઢાવવાને આરીસાની જેમ વિશેષ જણાવવાની જરૂર રહેતી નથી । તેથી સામાન્યતયા જણાવવાનું કે તે ગ્રન્થોના અજન્તપુલ્લિઙ્ગ-પ્રકરણની શરૂઆતમા નામસજ્ઞાનું સ્વરૂપ, નામસજ્ઞા કોને કોને લાગુ પડે છે, વિભક્તિ સજ્ઞાનું સ્વરૂપ અને વિભક્તિસજ્ઞાથી સજ્ઞિત થતા સજ્ઞિઓને જણાવીને પછી અકારાન્તનામપુલ્લિઙ્ગની શરૂઆત કરેલી છે । આ વધુ વિચારતા સૂત્રસભ્યાનું ગૌરવ, વૃત્તિ-શરીરગૌરવ, અર્થ-ગૌરવ અને પ્રકરણ-ગૌરવ પછ નજરે પડે છે, આટલું માત્ર અહ્નુલિનિર્દેશ-રૂપે જણાવ્યું છે । જો ષડ્લિઙ્ગના છ એ પ્રકરણોને તુલનાત્મક-દૃષ્ટિએ તપાસવામા આવે તો એક અલગ નિવંધ જેટલું લખાણ લખી શકાય તેમ હોવાથી અત્રે વિશેષ જણાવ્યું નથી ।

ઇદમ્ અને અદસ્ વિગેરે વ્યજ્ઞનાન્તશબ્દોને સિદ્ધાન્તકૌમુદી વિગેરેમા હલન્તપ્રકરણમા ગોઠવ્યા છે, પરન્તુ આદેશ પામીને એ બે સર્વનામ વિગેરે શબ્દો સ્વરાન્ત થઈ જતા હોવા છતાં અજન્તપ્રકરણમા ગોઠવ્યા નથી । આ ઉપરથી શબ્દોની મૂલસ્થિતિ ઉપરથીજ તેઓએ અજન્ત અને હલન્ત વિભાગ પાડ્યા છે । પરન્તુ આદેશ પામીને સ્વરાન્ત થઈ જતા શબ્દોને આ વ્યાકરણ-કારની માફક અજન્તપ્રકરણમા સમ્મિલિત કરી દેવાથી પ્રાપ્ત થનારી સરલતા અને લઘુતાનો ક્યાલ તેઓએ રાખ્યો નથી ।

ત્યાર પછી સર્વાદિગણ, તેમા આવતા શબ્દોની વ્યવસ્થા અને તેના પ્રત્યયોના આદેશો વિગેરે અકારાન્તનામની સાધ-નિકા માટેના ૧-૪-૧ થી ૧-૪-૧૪ સુધી, અને સર્વાદિગણના ૧-૪-૭ થી ૧-૪-૧૬ સુધીના સૂત્રોમા જણાવી દીધા છે ।

નામપ્રકરણમા ત્રણે લિઙ્ગના નામો અકારાન્તથી શરૂઆત કરીને પછી અકારાન્ત, ઇકારાન્ત વિગેરે સ્વરોના અનુક્રમથી જ લેવામા આવ્યા છે, પછ લિઙ્ગનો અનુક્રમ રાખવામા આવ્યો નથી ।

લિઙ્ગના જ્ઞાન માટે આ વ્યાકરણકારે ૧૩૮ શ્લોકોમા લિઙ્ગાનુશાસનનામના ગ્રન્થની રચના કરી છે । તે ગ્રન્થનું પઠન, પાઠન અને પરિશીલન આ નામપ્રકરણને મળતા પહેલા જ કરી લેવાથી આ ગ્રન્થનો અભ્યાસ કરવામા ઘણી સરલતા થઈ જશે, એમ ધારીને જ કલિકાલસર્વજ્ઞ મગવાને લિઙ્ગનો અનુક્રમ નહિ સાચવતા ત્રણે લિઙ્ગના નામોનો સમ્મિલિતરૂપે અકારાદિક્રમ સાચવ્યો છે । તેથી જ તેઓશ્રીએ “હિઠ્ઠો” ॥ ૧ । ૪ । ૨૫ ॥ આ સૂત્રથી સિદ્ધ થતા ઉદાહરણોમા મુનૌ, સાઘૌ, બુદ્ધૌ અને ધેનૌ એવા ચાર ઉદાહરણો પુલ્લિઙ્ગ અને સ્ત્રીલિઙ્ગના આપ્યા છે । આ ઉપરથી ગ્રન્થકારને લિઙ્ગનો અનુક્રમ ઇષ્ટ નથી, માત્ર સ્વરનો અનુક્રમ જ ઇષ્ટ છે એમ સ્પષ્ટપણે જણાઈ આવે છે ।

પ્રથમ પાદમા જેમ “સિદ્ધિ. સ્યાદ્વાદાત્” અને “લોકાત્” એ બન્ને સૂત્રોને સમગ્ર વ્યાકરણમા અધિકારસૂત્રપણે જણાવ્યા છે, તેમ કોઈ સ્થળે સૂત્રમા રહેલા પદને પછ અધિકારપદ તરીકે જણાવેલું છે—જેમકે—“એદોત પદાન્તેઽસ્ય લુક્” આ સૂત્ર-માના “પદાન્તે” પદને અધિકારપદપણે જણાવેલું છે । તેવી જ રીતે આ ચોથા પાદમા “ધુટિ” ॥ ૧ । ૪ । ૬૮ ॥ આ સૂત્રને અધિકારસૂત્ર કહેલું છે । એટલે હવે પછીના દરેક સૂત્રમા ચોથા પાદની સમાપ્તિ સુધી ‘ધુટિ’નો અધિકાર ચાલુ રહેશે, અર્થાત્ જે સૂત્રમા કોઈ પછ વિશેષ-નિમિત્ત પર છતાં કાર્ય થવાનું ન જણાવ્યું હોય ત્યાં ધુટ્પર છતાં કાર્ય થાય એમ સમજવાનું છે, જેમકે “અનહુહ સૌ” ॥ ૧ । ૪ । ૭૨ ॥ આ સૂત્રમા સિપ્રત્યય પર છતાં કાર્યનું વિધાન કરેલું છે, તેથી એ સૂત્રમા “ધુટિ” સૂત્રનો અધિકાર નથી । પરન્તુ “ઓત ઔ” ॥ ૧ । ૪ । ૭૪ ॥ આ સૂત્રમાં કહ પછ નિમિત્ત જણાવ્યું નથી, એટલે અહીં ‘ધુટિ’નો અધિકાર આવવાથી ધુટ્પર છતાં ઔકારનો ઔકાર થાય એવો અર્થ થયો । અધિકારસૂત્રોને માટે દરેક જગ્યાએ એ પ્રમાણે

સમજવાનું છે । એટલા માટે “ધુટિ” સૂત્રની આનન્દવોધિની-વૃત્તિમા અધિકારસૂત્રના રહસ્યને શક્તા-સમાધાનપૂર્વક ભાષ્યકારના સિદ્ધાન્તને અનુસરીને વિસ્તારથી સમજાવેલું છે ।

ઉપર જણાવ્યા પ્રમાણે અકારાન્તનામથી શરૂઆત કરીને ઓકારાન્ત સુધીના નામોને લગતા સામાન્યવિધાનો, વિશેષ-વિધાનો, નિત્યવિધાનો, વિકલ્પવિધાનો અને નિષેધોને પ્રથમ અધ્યાયના ચોથા પાદના ૧૩ અને વીજા પાદના ૨-૧-૧ થી ૨-૧-૫ સુધીના ૫ સૂત્રો મળીને કુલ ૯૮ સૂત્રમા વિસ્તારપૂર્વક જણાવવામા આવેલા છે । એ પ્રમાણે સ્વરાન્તનામોની સાધનિકાનો સમ્બન્ધ પહેલા અધ્યાયના ચોથા પાદથી શરૂ થઈને વીજા અધ્યાયના પહેલા પાદમા ચાલુ રહેલો છે । ચોથા પાદની સમાપ્તિ સૂચક-શ્લોકમા મૂલરાજની યુદ્ધસમ્બન્ધિ યશોગાથાઓના અનુવાદને કલિકાલસર્વજ્ઞે સાહિત્યશૈલીની યથાર્થરીતીપ્રતિ-પાદન કર્યો છે ।

ત્યાર પછી યુષ્મદ્ અને અસદ્શબ્દસમ્બન્ધિ-સાધનિકાને ૨-૧-૬ થી ૨-૧-૩૨ સુધીના સૂત્રોમા, અને ત્યદાદિના શબ્દો સમ્બન્ધિ-સાધનિકાને ૨-૧-૩૩ થી ૨-૧-૪૯ સુધીના સૂત્રોમા જણાવેલી છે । એટલુંજ નહિ પણ સાધનિકાસાથે તત્સમ્બન્ધિ સિદ્ધાન્તો પણ જણાવેલા છે ।

૨-૧-૫૦ થી ૨-૧-૫૯ સુધીના સૂત્રોથી ધાતુના ચોક્કસવર્ણસમ્બન્ધિ, સ્ત્રીશબ્દસમ્બન્ધિ, અનેકસ્વરવાળા ધાતુસમ્બન્ધિ અને કિવૃત્તિસમ્બન્ધિ શબ્દોના વિધાનાદિ જણાવેલા છે ।

ત્યાર પછી “ણષમસત્પરે સ્યાદિવિધૌ ચ” ॥ ૨ । ૧ । ૬૦ ॥ આ સૂત્ર અને તેની વૃત્તિની રચના, શબ્દાર્થ અને ભાવાર્થ તથા ઉદાહરણાદિને સમજવાથી સર્વજ્ઞ ભગવાનની સર્વજ્ઞતાનો આલો પળ અતિસુંદર-ચ્ચાલ નજર સન્મુખ તરી આવ્યા વગર રહેતો જ નથી ।

ઉપર જણાવેલા સૂત્રને સારી રીતે સમજનારા જ અસત્ અધિકારને યથાર્થ સમજી શકે છે ।

“એદોત પદાન્તેઽસ્ય લુક્” ॥ ૧ । ૨ । ૨૭ ॥ આ સૂત્રમાના ‘પદાન્તે’ પદનો અધિકાર ચાલુ પાદની સમાપ્તિ ઉપ-રાન્ત ત્રીજા પાદના કેટલા એક સૂત્રો સુધી જાય છે, તેવી રીતે આ સૂત્રમાના ‘અસત્’ પદનો અધિકાર પણ આગલ ઘણા સૂત્રો સુધી જાય છે, એ અસત્ પદથી ણશબ્દથી ણત્વકાર્ય એટલે ણત્વવિધાયકશાસ્ત્ર અને ણશબ્દથી ણત્વકાર્ય એટલે ણત્વવિધાયક-શાસ્ત્ર એ બન્નેને ( કાર્ય અને શાસ્ત્રને ) અસત્-અસિદ્ધ થયેલા જણાવે છે । આ સૂત્રના કાર્યાસિદ્ધપક્ષને અને શાસ્ત્રાસિદ્ધપક્ષને સૂક્ષ્મદૃષ્ટિએ અવલોકન કરવાથી વિદ્યાર્થીઓને માટે આગલો માર્ગ બહુ સુગમ થઈ જાય છે ।

આ સૂત્રમાના ઉદાહરણોને તપાસીને સૂત્રસાથે સજ્ઞત કરવાથી, તથા પર-વિધિ અને સ્યાદિ-વિધિને સમજવાથી, તેમજ આગલ આવનારા સૂત્રોનું પરિશીલન કરવાથી, આ સૂત્રની ચમત્કારિક રચના કરવામા કલિકાલસર્વજ્ઞની અસીમબુદ્ધિ-વૈમવનુ દિગ્દર્શન થતું હોવાથી અભ્યાસિઓને અવર્ણનીય-આનન્દ આવે છે ।

આ સૂત્રથી શરૂ થયેલો ‘અસત્પરે’નો અધિકાર ૨-૧-૬૦ થી ૨-૧-૯૦ સુધી જાય છે, અને ‘અસત્ સ્યાદિવિધૌ ચ’ નો અધિકાર ૧-૪-૧ થી ૨-૧-૯૯ સુધી જાય છે એમ પણ ૨-૧-૬૦ સૂત્રની વૃત્તિમા જણાવી દીધું છે । પૂર્ણાદિ પ્રયોગસ્થળે “રૂપવર્ણાં” ૨-૩-૬૩ સૂત્રથી થયેલ ણત્વકાર્ય ને અસત્ માનીને “અનોઽસ્ય” ૨-૧-૧૦૮ સૂત્રથી અન્ના અનો લુક્ કરે છે । આ પ્રસંગથી પર-વિધિ અને સ્યાદિ-વિધિના સૂત્રાક્ષરોનું ઉલ્લેખન કરીને ૨-૩-૬૩ અને ૨-૧-૧૦૮ સૂત્રોના કાર્યને આ સૂત્ર સાથે શો સમ્બન્ધ છે, એ મૂલ-મૂલામણી અભ્યાસિઓને સ્પષ્ટ સમજવા યોગ્ય છે ।

ત્યાર પછીના ૨-૧-૬૧ થી ૨-૧-૮૭ સુધીના સૂત્રોથી સ્પષ્ટ કરીને કેટલાએક વ્યક્તનોને સ્થાને વ્યક્તનાન્તરનો આદેશ, ૨-૧-૮૮ થી ૨-૧-૯૩ સુધીના સૂત્રોથી વ્યક્તનોનો લુક્, ૨-૧-૯૪ થી ૨-૧-૯૯ સુધીના સૂત્રોથી મતુના મકારને સ્થાને વકારનો આદેશ અને નિષેધ અને ૨-૧-૧૦૦ થી ૨-૧-૧૧૮ સુધીના સૂત્રોથી સ્પષ્ટ કરીને કેટલાએક શબ્દોને સ્થાને શબ્દાન્તરનો આદેશ, અને કેટલા એક વર્ણોને સ્થાને વર્ણાન્તરનો આદેશ, તથા કેટલાએક વર્ણોને સ્થાને લુક્નું વિધાન અને નિષેધ વિગેરે કાર્યો થવાનું જણાવીને નામપ્રકરણની સમાપ્તિની સાથે પાદની સમાપ્તિ કરી છે । પાદની સમાપ્તિ સૂચવનારા શ્લોકમા મૂલરાજની મહત્તાનું વર્ણન કરવામા આવ્યું છે ।

### \* કારકપ્રકરણ—પૃષ્ઠ ૧૫૬ થી ૨૧૮ ।

આ પ્રકરણને વીજા અધ્યાયના વીજા પાદના ૧૨૪ સૂત્રોમા સંપૂર્ણ કરવામા આવ્યું છે । તે સૂત્રોમાના ૨-૨-૧ થી ૨-૨-૩૦ સુધીના સૂત્રોથી ૧ કર્તા, ૨ કર્મ અથવા વ્યાપ્ય, ૩ કરણ, ૪ સમ્પ્રદાન, ૫ અપાદાન, અને ૬ અધિકરણ અથવા આધાર એ છ પ્રકારના, કારકોની સજ્ઞાનું વિધાન શકા-સમાધાન સહિત વિસ્તાર પૂર્વક કરેલું છે । ‘પ્રસિદ્ધસ્યાઽનુવાદેનાઽપ્રસિદ્ધસ્ય વિધાનમ્’ એ ન્યાયને અનુસરીને જે સ્થળે કર્મસજ્ઞાનું વિધાન કર્યું હોય ત્યાં વ્યાપ્ય શબ્દને વૈયાકરણ-સમયસૂચિમાં પ્રસિદ્ધ જાણવો અને જે સ્થળે વ્યાપ્યસજ્ઞાનું વિધાન કર્યું હોય ત્યાં કર્મશબ્દને પણ પૂર્વની જેમ પ્રસિદ્ધ જાણવો । કારણકે

વ્યાકરણમાં કર્મસંજ્ઞા અને વ્યાપ્યસંજ્ઞાનો પર્યાયવાચી વપરાશ ઠામ ઠામ થયેલો છે । વિશેષમાં કર્મસંજ્ઞાને વદલે વ્યાપ્યસંજ્ઞા રાખીને વૃત્તિમા તથા ઉદાહરણ વિગેરેમા વ્યાપ્યશબ્દના ભાવાર્થથી કર્મસંજ્ઞા કરતા વ્યાપ્યસંજ્ઞાનું કેટલું મહત્ત્વ છે તે જણાવ્યું છે । આવા પ્રસન્નોમા સંજ્ઞા અને સંજ્ઞિમા તથા શબ્દ અને અર્થમા શી શી ચમત્ક્રુતિ છે, અને કેવી કેવી સુસંજ્ઞત વ્યવસ્થા છે તે જણાવ આપે છે । કર્મ અને વ્યાપ્યસંજ્ઞાની માફક અધિકરણ અને આધાર સંજ્ઞામા પણ ઉપર જણાવેલી વધી હકીકત યથા યોગ્ય સમજાઈ જાય છે ।

છપ્ કારકમા કારકશબ્દથી ધ્વનિત થતી શક્તિ જ કારક છે, પરન્તુ આભાસરૂપ જણાતા નિમિત્તો કારક નથી, એવું સમજાવવા માટે કારક-શબ્દનું અને કારક-પ્રદેશનું સમ્પૂર્ણ વ્યાખ્યાન આ કારક પ્રકરણના પહેલા જ સૂત્રની વૃત્તિમા સ્પષ્ટ રીતે જણાવી દીધું છે ।

કારકપ્રકરણના વીજા સૂત્રની વૃત્તિમા કર્તા કારકની વ્યાખ્યા, કર્તાની શક્તિ, અવાન્તર વ્યાપારો અને સર્વ-કારકોમા કર્તા-કારકનું પ્રાધાન્યપણ અને વીજા કારકોનું ગૌણપણ વિગેરે વિષયો અત્યંત સુંદર શૈલીથી સમજાવવામા આવ્યા છે ।

કારકપ્રકરણના ત્રીજા સૂત્રની વૃત્તિમા કર્મકારકના સ્વરૂપને વિસ્તારથી સમજાવવા માટે કર્મના મૂળ નિર્વૃત્યાદિ ત્રણ ભેદ અને તે દરેકના પાછા છાદિ ત્રણ ત્રણ ભેદ જણાવીને દરેક ભેદનું ઉદાહરણ આપીને પાઠકને અને વિદ્યાર્થીને સમજવામાં તથા સમજાવવામા સરલતા કરી આપી છે । તથા દ્વિકર્મક ધાતુના પ્રધાન-કર્મ અને અપ્રધાન-કર્મની વ્યાખ્યાને વિસ્તારથી સમજાવેલી છે ।

કર્મકારકનું સર્વાંગીણ-વિવેચન કરવામા જે જે વિનાઓને સિદ્ધાન્ત-કૌસુદીકાર સ્પષ્ટ કરી શક્યા નથી, તે વધી વિના-ઓને માપ્યકારના ભાવોને જણાવવાપૂર્વક સ્પષ્ટ કરી આપીને કલિકાલસર્વજ્ઞ-ભગવાને અભ્યાસિઓની ઉપર અનહદ ઉપકાર કર્યો છે એમ કહ્યા વિના ચાલે એમ નથી ।

કારકપ્રકરણની શરૂઆતના આ ત્રણે સૂત્રોનું અને તેની તત્ત્વપ્રકાશિકાવૃત્તિનું જેમણે સારી રીતે અધ્યયન કરી લીધું હોય, અને આનન્દબોધિનીવૃત્તિમા કરેલા વિવેચનનું પરિશીલન પણ કરી લીધું હોય તેવા અભ્યાસિઓને કારકપ્રકરણના વીજા સૂત્રોને મળવામા અને સમજવામા વાર લાગતી નથી ।

ચોથા સૂત્રમા કર્મસંજ્ઞાનું વિકલ્પે વિધાન કર્યું છે । પૂર્વે જણાવી ગયા છીએ તેમ નવાપદની માફક વાપદનો અધિકાર આગલ ચાલતો નથી, અર્થાત્ આગલના સૂત્રોમા વિકલ્પની જરૂરત ન હોવાથી આ ચોથા સૂત્રમા ચોથા સૂત્ર પૂરતો જ વિકલ્પ જણાવવા વાપદનું ગ્રહણ કર્યું છે ।

૨-૨-૮ સૂત્રમાના નવાપદનો અધિકાર ૨-૨-૧૭ સૂત્ર સુધી જતો હોવાથી એ દશ સૂત્રો અને ૨-૨-૪ નું એક સૂત્ર મઠી કુલ અગીયાર સૂત્રોથી કર્મસંજ્ઞા વિકલ્પે કરી છે, અને ૨-૨-૫ થી ૨-૨-૭ સુધીના ત્રણ સૂત્રોથી કર્મસંજ્ઞાનું નિત્ય-વિધાન જણાવ્યું છે ।

૨-૨-૧૮ સૂત્રથી કર્મસંજ્ઞાનો નિષેધ કર્યો છે, અને ૨-૨-૧૯ સૂત્રથી એકીસાથે કર્મસંજ્ઞા અને કરણસંજ્ઞા કરેલી છે ।

૨-૨-૨૦ અને ૨-૨-૨૧ સૂત્રથી આધારની કર્મસંજ્ઞા નિત્ય કરી છે, અને ૨-૨-૨૨ સૂત્રથી આધારની કર્મસંજ્ઞા વિકલ્પે કરી છે । અને ૨-૨-૨૩ સૂત્રથી આધારની કર્મસંજ્ઞા અને અકર્મસંજ્ઞા એકીસાથે વિકલ્પે કરી છે ।

૨-૨-૨૪ સૂત્રથી કરણસંજ્ઞાનું અને ૨-૨-૨૫ સૂત્રથી સમ્પ્રદાનસંજ્ઞાનું સ્વરૂપ જણાવ્યું છે ।

૨-૨-૨૬ થી ૨-૨-૨૮ સુધીના ત્રણ સૂત્રોથી અનુક્રમે સમ્પ્રદાનસંજ્ઞાનું વિકલ્પવિધાન, નિત્યવિધાન અને નિષેધ કરેલા છે ।

“અપાયેઽવધિરપાદાનમ્” ॥ ૨-૨-૨૯ ॥ આ સૂત્રના ત્રણે પદોને સરલશૈલીથી સ્પષ્ટપણે સમજાવીને અપાદાનસંજ્ઞાનું સ્વરૂપ જણાવ્યું છે । અત્યંતદીર્ઘદૃષ્ટિથી આ સૂત્રની રચના કરીને તથા એ સૂત્રમાથી વિવિધપ્રકારના અર્થો કાઢવાના કૌશલ્યવહે કલિકાલસર્વજ્ઞે આ અપાદાનકારકને લગતા પાણિનીયના અનેક સૂત્રો, વાર્તિકો તથા વ્યાખ્યાનોને નિરર્થક બનાવી દીધો છે; અને સાથે સાથે માપ્યકારના શક્તા-સમાધાનોને સર્વથા સાર્થક રીતિએ અપનાવ્યા છે । એટલા માટે આ સૂત્રની રચના કરવામાં સર્વજ્ઞ ભગવાનની સર્વસંપ્રાપ્તિ, સચોટશૈલીની સુવદ્ધતા, વિવેચન કરવાની અતૂટ શક્તિ અને સકલ્પના કરવાની અપૂર્વ-કુશલતા પ્રત્યે ઊરના અમિનન્દનો ઉમરાયા વગર રહેતા નથી । એટલું જ નહિ પણ આ સૂત્રની આનન્દબોધિનીવૃત્તિમા પણ ‘અપાયે, અવધિઃ અને અપાદાનમ્’ એ ત્રણે પદોનો સુમેલ સાધીને અપાદાનકારકની શક્તિનો વ્યાપક પ્રદેશ બતાવી દીધો છે, તદુપરાન્ત પાણિની-યના સૂત્રોના અને વાર્તિકકારના વાર્તિકોના નિરર્થકપણાનું સ્પષ્ટરીત્યા શકા-સમાધાન સહિત વિસ્તારપૂર્વક દિશ્વર્શન કરાવ્યું છે ।

૨-૨-૩૦ સૂત્રમા અધિકરણસંજ્ઞાનું સ્વરૂપ જણાવ્યું છે ।

“નામ્ પ્રથમૈકદ્વિવૈ” ॥ ૨-૨-૩૧ ॥ આ સૂત્રમા પ્રથમાવિભક્તિનો અને તેના વચનોનો અર્થ જણાવીને પ્રથમાવિભક્તિનું



વિધાન અને નામનો અર્થ જણાવી નામના વિભાગોનું વિસ્તારથી વિવેચન કરેલું છે । તથા સાહચર્ય-સ્થાનાદિ દશે સ્થાનમા વપરાતા પ્રયોગોમા પ્રથમાની પ્રાપ્તિ થવાના હેતુ અને સમાધાનો જણાવેલા છે । આ સૂત્રની તત્ત્વપ્રકાશિકાને વિસ્તારથી સમજાવવા માટે પ્રસન્ને પ્રસન્ને વાક્યપદીય, ભાષ્ય, અને મહર્ણવન્યાસના મહ્ય-સિદ્ધાન્તોને આનન્દબોધિની-વૃત્તિમા સારી રીતે અપનાવેલા છે ।

“આમઙ્ગ્યે” ॥ ૨-૨-૩૨ ॥ આ સૂત્રમા આમઙ્ગ્યશબ્દના સ્વરૂપને જણાવીને ષષ્ઠી-વિભક્તિની પ્રાપ્તિના પ્રસંગે પ્રથમા-વિભક્તિનું વિધાન કર્યું છે ।

“ગૌણાત્સમયા” ॥ ૨-૨-૩૩ ॥ સૂત્રથી શરુ થયેલો ગૌણશબ્દનો અધિકાર “સર્વાદિ સર્વા” ॥ ૨-૨-૧૧૯ ॥ સુધીના દરેક સૂત્રમા પ્રવર્તે છે ।

૨-૨-૩૩ સૂત્રથી ૨-૨-૧૧૯ સુધીના ૮૭ સૂત્રોમા જણાવેલા નામો ગૌણ ઇટલે ક્રિયાપદની સાથે જેનું સમાનાધિકરણ ન હોય તેવા તે નામોથી દ્વિતીયાથી સપ્તમી સુધીની વિભક્તિઓનું નિત્ય કે વિકલ્પે વિધાન કરવામા આવ્યું છે ।

કારક-પ્રકરણના છેલ્લા પાંચ સૂત્રોમા ગૌણ શબ્દનો અધિકાર આવતો નથી । એ પાંચ સૂત્રોપૈકી ૨-૨-૧૨૦ સૂત્રથી અમુકવિભક્તિના માત્ર એકવચનનું જ વિધાન કર્યું છે અને ત્યાર પછીના ચાર સૂત્રોથી એકવચનની પ્રાપ્તિમા અને દ્વિવચનની પ્રાપ્તિમા બહુવચનનું વિકલ્પે વિધાન કરીને કારકપ્રકરણની સમાપ્તિ કરી છે । આ રીતિએ ઉપલબ્ધ દૃષ્ટિએ કારકપ્રકરણને વિચારી ગયાથી ઇટલું તો જણાઈ આવે છે કે આ વ્યાકરણના મળનાર માટે આ ગ્રન્થમા દરેક સામગ્રીનો સંચય કરેલો છે, એ વાત પઠન-પાઠનકાળે જરૂર સમજાઈ જાય તેવી હોવાથી અહીં વિશેષ જણાવ્યું નથી ।

કારકપ્રકરણની સમાપ્તિ સાથે વીજા અધ્યાયના વીજા પાદની પણ સમાપ્તિ થાય છે । પાદની સમાપ્તિ સૂચનારો શ્લોક નીચે મુજબ—

“મૂલાર્કઃ શ્રૂયતે શાસ્ત્રે, સર્વકલ્યાણકારણમ્ । અધુના મૂલરાજસ્તુ, ચિત્રં લોકેષુ ગીયતે” ॥૨।૨।૬॥

આ શ્લોકના અર્થનું વિસ્તારથી સ્પષ્ટીકરણ આ ગ્રન્થમા પૃષ્ઠ ૨૧૮ ની પૃક્ષિ ૩૧ થી ૩૮ સુધીમા કરેલું છે ।

આ શ્લોકના ચાર ચરણમા ‘સર્વકલ્યાણકારણમ્’ એ વીજુ ચરણ છે, પરન્તુ કોઈ જમ્યાએ વીજા પાદમા (ચરણમા) ફારફેર જોવામા આવે છે । છતાં પણ આ ગ્રન્થના સંપાદન માટે અમોએ અવલોકન કરેલી તાઢપત્રીય પ્રતિઓમા, હસ્તલિખિત પ્રતિઓમા, વિ० સં० ૧૯૬૨ માં સ્વ० શેઠ મનસુખભાઈ મગુમાઈ તરફથી પ્રકટ થયેલ પ્રતિમા, વિ० સં० ૧૯૯૧ માં શેઠ આણન્દજી કલ્યાણજીની પેઢી તરફથી પ્રકટ થયેલ સિ० હે० શં० લઘુવૃત્તિના દ્વિ० પરિશિષ્ટના ૬૬મા શ્લોકમા, ‘ગુજરાતનું પ્રધાન વ્યાકરણ’ નામના નિબંધમા, અને જૈનગ્રન્થપ્રકાશક-સમા તરફથી પ્રકટ થયેલ દીપિકાસહિત અષ્ટાધ્યાયી નામના ગ્રન્થમા ઉપર જણાવ્યા પ્રમાણે જ વીજુ ચરણ જોવામા આવ્યાથી અને અર્થ પણ સુસજ્જત હોવાથી અમોએ પણ એ જ પ્રમાણે વીજુ ચરણ રાખ્યું છે ।

ઉપરોક્ત શ્લોકના પહેલા અને વીજા ચરણના પદો અને વિભક્તિને લગતું આનન્દબોધિનીવૃત્તિમા આજ માવને અનુસરતું લખાણ છે—“મૂલનક્ષત્રમા રહેલો સૂર્ય સર્વકલ્યાણનું કારણ છે એમ શાસ્ત્રમા-જ્યોતિ શાસ્ત્રમા સંમ્ભાય છે” । ‘આ અર્થ જ્યોતિ:શાસ્ત્રની સાથે સંગત થતો નથી, કારણ કે મુદ્ધર્ચચિન્તામણિ આદિ જ્યોતિ:શાસ્ત્રના પ્રથોમા મૂલનક્ષત્રમા રહેલા સૂર્યને અશુભ માનેલો છે, ઇટલે ઉપરની અર્થઘટના જ્યોતિ:શાસ્ત્રની સાથે બધવેસતી થતી નથી,’ આવું લખનારાઓને અને બોલનારાઓને આ શક્કાના સમાધાનમા સમજવાનું છે તે આ પ્રમાણે-શાસ્ત્રમા=સુવર્ણસિદ્ધિ-કલ્પશાસ્ત્રમા અને જ્યોતિ:શાસ્ત્રમા, કલ્યાણ=સુવર્ણ-સોનું અથવા મક્કલ-સૌર્ય ઇત્યાદિ જૂઓ-અં० ચિં० કાં० ૪ શ્લો० ૧૦૯, અને શબ્દરત્નમહોદધિ-માં ૧ લો પૃષ્ઠ ૪૭૯ ।

મૂલાર્કમા મૂલશબ્દનો અર્થ મૂલીયુ અને મૂલનક્ષત્ર વિગેરે થાય છે,—જુઓ શબ્દરત્નમહોદધિ માં ૨ જો પૃ૦ ૧૬૭૮ । અર્કશબ્દ પુર્ણિમે છે, તેનો અર્થ-સૂર્ય, ઇન્દ્ર, આકાશનું જ્ઞાન, વૃક્ષવિશેષ, અરક અને ત્રાવુ વિગેરે થાય છે,—જુઓ-શબ્દરત્ન-મહોદધિ માં ૧ લો પૃ૦ ૧૫૩ । ઉપર પ્રમાણે શબ્દોના અર્થો કોષમા જણાવેલા હોવાથી આ શ્લોકના પૂર્વાર્દ્ધના અર્થો નીચે મુજબ થઈ શકે છે—

- ૧ આકાશના જ્ઞાનના મૂલીઆ સર્વપ્રકારના સુવર્ણનું કારણ છે ।
- ૨ આકાશના જ્ઞાનનો અરક ( સત્ત્વ-રસ ) અથવા મૂલીઆનો અરક સર્વપ્રકારના સુવર્ણનું કારણ છે ।
- ૩ વૃક્ષવિશેષના મૂલીઆ સર્વપ્રકારના સુવર્ણનું કારણ છે ।
- ૪ વૃક્ષવિશેષનો અગર તેના મૂલીઆનો અરક સર્વપ્રકારના સુવર્ણનું કારણ છે ।
- ૫ મૂલાર્ક=શુદ્ધ-ત્રાવુ સર્વપ્રકારના સુવર્ણનું કારણ છે ।

- ૬ મૂલનક્ષત્રની વિદ્યમાનતામા સૂર્ય જ્યારે પોતાના કિરણોને પૂરેપૂરાં પ્રગટાવી રહ્યો હોય ત્યારે સુવર્ણસિદ્ધિને યોગ્ય દરેક વસ્તુઓને મેળવવી તે સર્વપ્રકારના સુવર્ણનું કારણ છે ।
- ૭ મૂલનક્ષત્રમા સૂર્ય હોય ત્યારે રોગીને દવા આપવાથી રોગ જડમૂલમાથી જાય છે ।
- ૮ મૂલનક્ષત્રનો સૂર્ય સર્વ મજ્જલનું કારણ છે ।
- ૯ મૂલનક્ષત્રના સૂર્યમા રોગરહિત થયેલ નિરોગિને આપેલી લુપ્તિ-પુષ્ટિની દવા સર્વ-સૌખ્યનું કારણ છે ।
- ‘ગુજરાતનું પ્રધાન વ્યાકરણ’ એ નામના લેખમાં તેના લેખકે આ શ્લોકના અનુવાદમા જણાવેલ છે કે—

‘મૂલાર્ક સર્વકલ્યાણનું કારણ છે’ એમ શાસ્ત્રમાં સંભળાય છે, પણ હમણાં ‘મૂલરાજ સર્વકલ્યાણનું કારણ છે’ એમ લોકોમા ગવાય છે એ આશ્ચર્ય છે । એટલું જણાવીને અનુવાદની ટિપ્પણીમા લેખકે આ ભાવનું લખાણ જણાવ્યું છે કે—

મૂલાર્ક.=મૂલનક્ષત્રનો સૂર્ય સર્વકલ્યાણનું કારણ છે એમ શાસ્ત્રમા સંભળાય છે પણ હમણાં [ તો ] મૂલરાજ=મૂલનક્ષત્રનો ( રાજ એટલે ) ચન્દ્ર અથવા મૂલરાજા સર્વકલ્યાણનું કારણ છે એમ લોકોમા ગવાય છે એ આશ્ચર્ય છે !—આ અર્થ પણ વૃત્તિને અનુસરતો જ છે ।

હવે આ શ્લોકના પૂર્વાર્દની ચર્ચા માટે નીચેના બે ગ્રન્થમા જણાવેલી હકીકતને તપાસીએ—

- ૧ શ્રીહૈમસારસ્વત-સત્ર ( ગુ. સા. ૫૦ નું સંમેલન, અહેવાલ અને નિબંધસંગ્રહ ૩૦ સં. ૧૯૪૧ ) ના પૃ. ૨૧૫ ઉપર ‘સિદ્ધહેમચન્દ્રશન્દાનુશાસન અને ઐતિહાસિક પાંત્રીસ શ્લોકો’ એ નામનો એક નિબંધ શરૂ થાય છે, અને તે નિબંધમા લેખકે પૃ. ૨૨૪ ઉપર આ શ્લોક અને તેનો અનુવાદ નીચે પ્રમાણે જણાવ્યો છે—

“મૂલાર્ક. શ્રૂયતે શાસ્ત્રે સર્વાકલ્યાણકારકઃ । અધુના મૂલરાજસ્તુ, ચિત્ર લોકેષુ ગીયતે” ॥ ૬ ॥ (અનુષ્ટુપ)

“મૂલનક્ષત્રનો સૂર્ય સર્વ પ્રકારના નુકસાનોનો કરનાર છે એમ શાસ્ત્રોમા સંભળાય છે, પણ નવાઈ જેવી વાત છે કે હાલમાં તો લોકોમા તે સર્વકલ્યાણોના કારણરૂપ ગવાય છે” ( જ્યોતિષશાસ્ત્રમા મૂળનો સૂર્ય ચંદ્ર ગણાય છે, પણ મૂલરાજરૂપ સૂર્યની તો હાલમા ખૂબ ચઢતી દેખાય છે. જ્યોતિષની માન્યતા પર અહીં માર છે )

આ શ્લોકના ચારે ચરણો અને અર્થ ઉપર જણાવ્યો તે પ્રમાણે છે, છતાં ‘સર્વાકલ્યાણકારક’ એ વિવાદાસ્પદ-પદ છે । અર્થની સજ્જતિ કરવા માટે પણ આ પદોની યોગ્યતા નથી એમ અમારું માનવું છે । આ એક પદને સ્વીકારવામા વાકીના પદોની ચમત્કૃતિ અને સારાચાર શ્લોકની વિશેષતાઓનું વિસર્જન થાય છે । વિશેષમા પૃ. ૨૨૦ ની ટિપ્પણીમા આ શ્લોકને જે સ્થળેથી લીધાનું જણાવ્યું છે તે સ્થળે તો × × × ‘સર્વાકલ્યાણકારણમ્’ છે, પણ ‘સર્વાકલ્યાણકારક.’ નથી તો પછી આ ફેરફાર થયો શી રીતે ?, એ બાબત વિચારણીય છે । સિ. ૬૦ શ. ૩ ની પ્રથમાવૃત્તિમાથી એ શ્લોક લીધાનું જણાવે છે, પરંતુ તે આવૃત્તિને અમે જોઈ તો તેમા કરેલો ફેરફાર જોવામા આવ્યો નહિ । વર્તમાન સમયમા બહુજનમાન્ય-પ્રચલિત-અર્થની સાથે સજ્જતિ કરવા માટે ઉપરના લેખકે જે સ્થળેથી અર્થાત્ સુદ્રિત પુસ્તકમાથી તે શ્લોક લીધો હશે, અને તે સ્થળમા તે લેખકે જાતે જ વીજા ચરણમા ફેરફાર કર્યો હશે એવી અમારી માન્યતા છે । કારણકે નીચેના ગ્રન્થમા ‘સર્વાકલ્યાણકારણમ્’ પદ જણાય છે ।

- ૨ ‘પી લાર્ડ્સ ઓફ હૈમચન્દ્રાચાર્ય’ એ નામના ગ્રન્થમા તેના લેખક પ્રો. ડૉ. જી. બુહરે જર્મનભાષામા લખેલા ચરિત્રનો પ્રો. ડૉ. મણિલાલ પટેલ ( પી. એચ. ડી. ) અંગ્રેજીમાં અનુવાદ કર્યો છે, તે ગ્રન્થમા નીચે પ્રમાણે શ્લોક જણાવ્યો છે—

“મૂલાર્ક શ્રૂયતે શાસ્ત્રે, સર્વાકલ્યાણકારણમ્ । અધુના મૂલરાજસ્તુ, ચિત્ર લોકેષુ ગીયતે” ॥ ૬ ॥

આ શ્લોકનું ઇંગ્લીશભાષામા ટ્રાન્સલેશન ( તરજુમો ) કરીને તેના ઉપર નોટ લખી છે તે આ પ્રમાણે—

It is heard in the Sastra that the mula-sun is the root of evil and yet what a wonder that now the mula-king is praised in the three worlds! Note—The conjunction of the sun with mula spells destruction as surely this moon-house, whose protecting deity Nirrti works only evil.

આ સ્થળે ‘સર્વાકલ્યાણકારણમ્’ છે જ્યારે પૂર્વના નિબંધમા ‘સર્વાકલ્યાણકારક.’ છે । ઇંગ્લીશ નોટ લખનારે પાઠાન્તર તરીકે સર્વક. લીધું છે, એ ઉપરથી ‘સર્વાકલ્યાણકારણમ્’ મૂલનક્ષત્ર સાથે અર્થમા સંગત થતો નહિ હોય તેથી ‘સર્વાકલ્યાણ-કારણમ્’ ફેરવેલું જણાય છે, એવી સત્ય સમાવના કરવી સ્થાને ગણાશે । સર્વાકલ્યાણકારકઃ એ પદનો ગુજરાતી અનુવાદનો ભાવ અને સર્વાકલ્યાણકારણમ્ એ પદનો ઇંગ્લીશ-અનુવાદનો ભાવ લગભગ એકસરખા જણાય છે ।

આ સ્થળે ‘સર્વાકલ્યાણકારણમ્’ ને બદલે ‘સર્વાકલ્યાણકારક.’ લીધું ક્યાથી ?, અને જે સ્થળે ‘સર્વાકલ્યાણકારણમ્’ છે તે સ્થળે આ ‘સર્વાકલ્યાણકારક.’ એ ચરણ પણ લેવાયું નથી । અમારું તો એવું માનવું છે કે—વર્તમાન સમયમા શ્રવણગોચર થતાં

૧-જૂઓ-અનેકાર્યસંગ્રહે દ્વિતીયકાન્ધે શ્લો. ૨૮૩-૨૮૪ । ૨-આ ટિપ્પણી લેખકે લખી નથી એવું ક્ષરૂની મુલાકાતમાં વિચારવિનિમય કરતા માર્કસ પચ્યું છે । ૩-સિંધી-જૈનગ્રન્થમાલા પ્ર. ૧૧, પૃ. ૭૪-૭૭ । ૪-સર્વક. ૧૧૪૪ । ૫-હૈમસારસ્વત-સત્ર ૩૦ સં. ૧૯૪૧ પૃ. ૨૧૫ ।

ગ્રન્થોની સાથે અર્થને સંગત કરવા માટે જ લેખકે-સંપાદકે ફેરફાર કર્યો હશે । કારણ કે પાશ્ચાત્ય વિદ્વાનો કોઈ ગ્રન્થનું સમ્પાદન કરતા કોઈ જગ્યાએ હસ્તલિખિત-પ્રતિના પદ કે શબ્દનો ચરેચરો અર્થ પોતાની સમજમા ન આવે ત્યારે પોતાના મગજમાં બેઠેલો અગર કલ્પિત-અર્થ નીકળી શકે તેવી રીતે તે જગ્યાએ પદ કે શબ્દમા ફેરફાર કરી નાખે છે—જેમ કે ચન્દ્રગોમિના સમયવિષે રાજતરંગિણીમા એવો ઉલ્લેખ છે કે—“ચન્દ્રાચાર્યાદિભિર્લઙ્ઘાદેશ તસ્માત્તદાગમમ્ । પ્રવર્તિત મહાભાષ્યમ્” આ ઉલ્લેખમા કેટલાક વિદ્વાનો એ સુધારો કરીને પણ વાસ્તવિક અર્થ કાઢ્યો નથી, પણ ડૉ૦ કીલ્હોર્ને ઉપરના પાઠને “ચન્દ્રાચાર્યાદિભિર્લઙ્ઘા દેશાન્તરાત્તદાગમમ્ । પ્રવર્તિત મહાભાષ્યમ્” આ પ્રમાણે સુધારીને અર્થ કાઢવાની કોશીષ કરી છે, છતાં આ સ્થળે પણ વિચારણાને અવકાશ છે, એ જ પ્રમાણે ઉપરના શ્લોકના વીજા ચરણમા પણ પાઠનો ફેરફાર કોઈપણ કર્યો હોય અને તેજ ચરણને અનુસરીને અનુવાદ લખાયો હોય એમ અનુમાન થાય છે ।

હૈમસારસ્વત-સત્રમાના નિબન્ધના લેખકે ‘સર્વાકલ્યાણકારકઃ’, અને ‘લાઈફ ઑફ હૈમચન્દ્રાચાર્ય’નામના ગ્રન્થના માધાન્તરકારે ‘સર્વાકલ્યાણકારણમ્’ એ પ્રમાણે છઠ્ઠા શ્લોકના દ્વિતીય પાદને જણાવ્યું છે ।

‘સર્વાકલ્યાણકારકઃ’ એ પ્રમાણે વીજા પાદને જણાવનાર લેખકે-અનુવાદકે એ પાદ ક્યાથી લીધું ? તે સમ્બન્ધિ તે જ લેખના પૃ૦ ૨૨૦ ની નોંધમા જણાવ્યું છે, છતાં તે સ્થળની તપાસ કરતાં અને ઉપરની વીનાનો વાસ્તવિક સુલાસો મેળવવા માટે પ્રયત્ન કરતાં સુ શ્રા મોતીચન્દ્રમાહ ( તે શ્લોકના અનુવાદક ) અંત્રે આવેલા, અને સ્વરૂપમા વિચાર-વિનિમય કરતાં અને અનુવાદની મૂલ કૌંપી તપાસતા જાણવામા આવ્યું કે નોંધ તેઓએ લખી નથી તેમજ તે શ્લોક ક્યાથી લેવાયો તે પણ તેમણે હાલ સ્મરણ નથી ।

૧. ભારતીયવિદ્યાભવનના પ્રધાન-સચ્ચાલકને પૂછતા એક વિદ્યાર્થી તે સચ્ચાલકના નામે હસ્તપ્રતિનો પાઠ સાચો જણાવીને વિપરીત-પાઠ માટે બુદ્ધરની ગેરસમજ જણાવે છે, અને સારાશરૂપે નીચેનો માવાર્થ જણાવે છે—

૨. ‘મૂલનો સૂર્ય તો સર્વકલ્યાણનું કારણ શાસ્ત્રમા કહ્યો છે, પણ હમણા તો આશ્ચર્ય છે ( ચિત્ર ) મૂલનો ચન્દ્ર (મૂલરાજ) શ્લોકમા ગવાય છે, આમ ‘મૂલરાજ’ ( રાજાને મૂલનો ચન્દ્ર ) પર શ્લેષ છે’ ।

૩. આ ઉપરથી વાંચકોના સ્થાલમા આવી જશે કે આ સમ્બન્ધમા ચાલુ પ્રકરણના શ્લોક સમ્બન્ધમા ઉપર મુજબનું હમારું અનુમાન, મન્તવ્ય અને ચર્ચા યોગ્યસ્થાને છે ।

કારકપ્રકરણ પૂરું થતાં આ પ્રથમભાગ સમ્પૂર્ણ થાય છે, ત્યાર પછી તરતજ પરિશિષ્ટોની શરૂઆત કરવામા આવી છે ।

### \* પરિશિષ્ટોની સમજ ।

સિ૦ હે૦ શ૦ ના આ પ્રથમભાગનું પઠન-પાઠન અને પરિશીલન કરનારા અમ્યાસિઓને અમ્યાસમા અનુકૂલ અને મદદ-ગાર થઈ શકે તેવા ૧૪ પરિશિષ્ટોની પૂરવણીરૂપે આ ગ્રન્થમાં ગોઠવણ કરવામા આવી છે ।

દરેક પરિશિષ્ટમાં આવેલી વિગતને સામાન્યરૂપે દરેક પરિશિષ્ટને મથાળે જો કે જણાવી દીધી છે, તો પણ કાઠક સંક્ષેપરૂપે દરેક પરિશિષ્ટની હકીકત પ્રાયઃ ઘટાક અને પત્તયક સાથે અહીં અનુક્રમે જણાવીએ છીએ—

પરિશિષ્ટ ૧ હું—પૃ૦ ૨૧૯ થી ૨૨૫ સુધીમા આ પ્રથમભાગમા આવેલા છ પાદના કુલ ૪૮૩ મૂલ સૂત્રોની આવૃત્તિ કરવાની અનુકૂલતા માટે મૂલ સૂત્રો સૂત્રાક્ષ સાથે આપેલા છે ।

પરિશિષ્ટ ૨ હું—પૃ૦ ૨૨૬ થી ૨૩૧ સુધીમા સાધનિકા કરવામા કોઈપણ સૂત્ર, વૃત્તિ અથવા ઉદાહરણાદિ જોવાની જરૂર પડે ત્યારે સહેલાઈથી જોઈ શકાય, એ હેતુથી છ પાદના ૪૮૩ સૂત્રોનો અકારાદિક્રમ આપેલો છે ।

પરિશિષ્ટ ૩ હું—પૃ૦ ૨૩૨ થી ૨૩૭ સુધીમા આ ગ્રન્થનું સંશોધન, સમ્પાદન અને આનન્દવોધિનીવૃત્તિની રચના કરવામા મદદમાં લીધેલા—તાડપત્રીયગ્રન્થો, હસ્તલિખિતગ્રન્થો અને મુદ્રિતગ્રન્થોનો અકારાદિક્રમ આપેલો છે । તત્ત્વપ્રકાશિકા અને આનન્દવોધિનીમા જે જે સ્થળે જે જે ગ્રન્થનું નામ જણાવવામા આવેલું હોય છે તે દરેક ગ્રન્થના નામોને જોવાની ઇચ્છા-વાળાએ આ પરિશિષ્ટમા નજર કરવી । આ પરિશિષ્ટમા બધા મઠીને ૧૯૪ ગ્રન્થના નામો આવેલા છે, તેમા તાડપત્રીય ગ્રન્થના, ૩ થી ૭ ગ્રન્થો, હસ્તલિખિતગ્રન્થના ૮ થી ૨૫ સુધીના ૧૮ ગ્રન્થના નામ, અને મુદ્રિતગ્રન્થોના ૨૬ થી ૧૯૪ સુધીના ૧૬૯ ગ્રન્થના નામનો સમાવેશ કરેલો છે ।

૪. પરિશિષ્ટ ૪ હું—પૃ૦ ૨૩૮ થી ૨૫૩ સુધીમા આ પ્રથમભાગના છ પાદના સૂત્રોના ઉદાહરણાદિની સાધનિકા કરવામાં મદદગાર થયેલા છ પાદ સિવાયના વાકીના વાવીસ પાદના અને ઊનાદિગણના આવેલ સૂત્રોનો અકારાદિક્રમ આપેલો છે ।

છ પાદ સિવાયના અને ઊનાદિગણના સૂત્રોમાંથી ઘણાંસારા સૂત્રો આ પરિશિષ્ટમાં આવી ગયા છે, અર્થાત્ સાત અધ્યાયના

અને ડગાદિગણના મઠીને કુલ સૂત્રો ૪૫૭૨ છે, તેમાંથી આ પ્રથમભાગમાં આવેલા ૪૮૩ સૂત્રો અને સાધનિકામાં મદદગાર થયેલા આ પરિશિષ્ટમાં જણાવેલા ૭૨૫ સૂત્રો છે, તે વચ્ચે મઠીને ૧૨૦૮ સૂત્રોનું વિશાળ જ્ઞાન ( આ પ્રથમભાગનો કાઠજી પૂર્વક ) અભ્યાસ કરનારને થઈ શકે છે, ઇટલે ડગાદિગણ સહિત સાતે અધ્યાયના કુલ ૪૫૭૨ સૂત્રમાંથી ચોથા ભાગથી પણ વધુ સૂત્રોનું જ્ઞાન થઈ શકે છે ।

**પરિશિષ્ટ ૫ મું—**૫૦ ૨૫૪ થી ૨૫૫ સુધીમાં આ પ્રથમભાગમાં આવેલા શાકટાયન, જૈનેન્દ્ર અને પાણિનિય વગેરે વ્યાકરણોના ૮૯ સૂત્રોનો અકારાદિક્રમ આપેલો છે, ઇટલે ચોથા પરિશિષ્ટમાં જણાવેલા સૂત્રો ઉપરાન્ત આ ૮૯ સૂત્રનું જ્ઞાન પણ કાઠજી પૂર્વકનો અભ્યાસી પ્રાપ્ત કરી શકે છે ।

**પરિશિષ્ટ ૬ મું—**૫૦ ૨૫૬ થી ૨૫૯ સુધીમાં સાધનિકા કરતી વચ્ચે વિષયને સ્પષ્ટતામાં સમજાવવા માટે વ્યાકરણ-કાવ્ય-કોષ અને નાટક વિગેરે સાહિત્યગ્રંથોમાંથી અવતરણ કરેલા ૧૩૬ ગદ્ય-પદ્યોનો અકારાદિક્રમ આપેલો છે ।

**પરિશિષ્ટ ૭ મું—**૫૦ ૨૬૦ થી ૨૬૧ સુધીમાં, આ ગ્રંથના સૂત્ર, વૃત્તિ અગર ઉદાહરણના કોઈ વિષયને સ્પષ્ટ કરવા માટે પ્રમાણ તરીકે આપવામાં આવેલા ૫૭ ગ્રંથોના નામોનો અકારાદિક્રમ આપેલો છે । ત્રીજા પરિશિષ્ટમાં ગ્રંથો છે જ્યારે આ પરિશિષ્ટમાં પૃષ્ઠાક પંક્ત્યક સાથે ગ્રંથો જણાવાય છે ।

**પરિશિષ્ટ ૮ મું—**૫૦ ૨૬૨ થી ૨૬૫ સુધીમાં, શેષ-કશ્ચિત્-અન્ય-અપર-પર અને એક વિગેરે ઉપનામોથી જણાવેલા ૯૬ મતાન્તરધારક-વૈયાકરણોના નામોનો અકારાદિક્રમ આપેલો છે ।

**પરિશિષ્ટ ૯ મું—**૫૦ ૨૬૫ થી ૨૬૮ સુધીમાં ગદ્યપદ્યાત્મક-વ્યાકરણપ્રસિદ્ધ ૧૯૩ ન્યાયોનો અકારાદિક્રમ આપેલો છે ।

**પરિશિષ્ટ ૧૦ મું—**૫૦ ૨૬૯ થી ૨૭૦ સુધીમાં અ-આ-ઇ-ક-ત-દ-પ, અને ઢ વિગેરે અક્ષરોની ઇત્સજ્ઞા કરવાનું અને બહુવચન વિગેરે કરવાનું ફળ જે જે સ્થલે વતાવેલું છે, તે ૭૮ સ્થલનો અકારાદિક્રમ આપેલો છે ।

**પરિશિષ્ટ ૧૧ મું—**૫૦ ૨૭૧ થી ૨૭૬ સુધીમાં, આ ગ્રંથના ઉદાહરણોની સાધનિકામાં આવેલા ૩૦૧ ધાતુનો અકારાદિક્રમ આપેલો છે ।

**પરિશિષ્ટ ૧૨ મું—**૫૦ ૨૭૬ થી ૨૯૧ સુધીમાં, આ ગ્રંથમાં કેટલેક સ્થલે કઠિન જણાતા શબ્દોનો અર્થ જણાવેલો છે, અથવા પર્યાયવાચી શબ્દો સૂચ્યા છે, તેવા ૧૧૩૬ શબ્દોનો અકારાદિક્રમ આપેલો છે ।

**પરિશિષ્ટ ૧૩ મું—**૫૦ ૨૯૨ થી ૩૨૩ સુધીમાં, નનુ ન ચ વિગેરે પદોથી ઉત્પન્ન કરેલી શક્ષાઓનો સંગ્રહ આપેલો છે । શક્ષાઓના ક્રમાંક, સૂત્ર, શક્ષા અને પછી પૃષ્ઠાક તથા પક્ત્યક છે ।

**પરિશિષ્ટ ૧૪ મું—**૫૦ ૩૨૪ થી શરૂ થતા વૈયાકરણોના ૧૯૮ મતાન્તરોનો સંગ્રહ આપેલો છે ।

**પરિશિષ્ટ ૧૫ મું—**આ પરિશિષ્ટમાં ભૌગોલિક, વૈજ્ઞાનિક, વૈદિક અને ઇતિહાસિક વિભાગો પાઠીને ઉદાહરણો અને પ્રત્યુદાહરણોનો અકારાદિક્રમ આપેલો છે, પરન્તુ હવે પછીના વિભાગમાં અવસરે આપવામાં આવશે ।

### \* પ્રકાશનના પ્રાસન્નિક મદદગારો—

આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણના બહાર પડતા પ્રથમવિભાગના સંશોધન, સંપાદન, આનન્દબોધિનીવૃત્તિ-ગ્રંથની પ્રેસકોપી અને પ્રૂફસંશોધન વિગેરે કાર્યો મારી નજર તલે થયેલાં હોવાથી તત્સમ્બન્ધી દરેક હકીકતોને આ શાસ્ત્ર-પ્રસ્તાવનાના પ્રકરણમાં સંક્ષેપ્તતા જણાવી દેવામાં આવી છે ।

સંપાદનકાર્યને અજ્ઞેની કેટલીક હકીકતો આ પ્રસ્તાવનાના ‘પ્રકાશન અજ્ઞે પુનીત વિચાર’ નામના પ્રકરણમાં જણાવી દીધી છે, તદુપરાન્ત જણાવવાનું એ છે કે—આ સંપાદન કાર્ય માટે શમદમાદિગુણગણવિભૂષિત-મુનિવર્ય-શ્રીપુણ્યવિજયજી મહારાજે પોતાના ગ્રંથસંગ્રહમાંથી સિ૦ હે૦ શ૦ ની પ્રતિ આપીને તથા પાઠ્યના શ્રીહેમચન્દ્રાચાર્ય જૈનજ્ઞાનમન્દિરમાંથી પ્રતિઓ અને પ્રતિઓમાંથી ચિત્રો લેવાની સામગ્રીઓ અપાવીને જ્ઞાનની આરાધનાનો અપૂર્વ લાભ પ્રાપ્ત કર્યો છે । તદુપરાન્ત આ પ્રથમ-ભાગના સંપાદનમાં અભ્યાસિઓને શુદ્ધસામગ્રીઓથી મરપૂર રસથાળ પીરસવામાં તેઓશ્રીની પ્રતિનો જ મુલ્યવત્તા આશ્રય અમોઘ લીધેલો હોવાથી આ સંપાદનકાર્યના મુખ્ય-મદદગાર તરીકેનો યશ પણ તેઓશ્રીને જ પાળે જાય છે । હવે પછીના ત્રીજા ભાગના સંપાદનમાં પણ તેઓશ્રીની પ્રતિનો જ મુલ્યવત્તા આશ્રય લેવાની અમારી માવના છે અને કાર્યપણ ચાલુ છે, કારણ કે અન્યસ્થલે તપાસ કરવા લાગતા પનાથી સારી ત્રીજી કોઈ પ્રતિ મળી શકી નથી, ઇટલુંજ નહીં પણ મળી શકે એમ જણાવું પણ નથી ।

‘ભાન્ડારકર ઓરિયન્ટલ રીસર્ચ ઇન્સ્ટિટ્યૂટ’-પૂના ( Bhandarkar Oriental Research Institute-Poona ) અને ‘રોયલ એશિયાટીક સોસાયટી’ એ વચ્ચે સંસ્થામાંથી હસ્તલિખિત અને મુદ્રિત ગ્રંથો પોતાની લાગવગથી મેલવી આપીને માવનગરનિવાસી સુશ્રાવક હીરાલાલ અમૃતલાલે પુણ્યાનુબન્ધિ-પુણ્ય ઉપાર્જન કરવામાં મારે પરિશ્રમ ડાઢ્યો છે ।

ધી.

સ્વમ્ભાતના શ્રીશાન્તિનાથ પ્રાચીન તાડપત્રીય જ્ઞાનમળ્હારમાથી તાડપત્રીયગ્રન્થો, પોતાનો માણસ મોકલીને મંગાવી આપનાર સ્વમ્ભાતનિવાસિ-સુશ્રાવક મૂલચન્દ્ર બુલાસીદાસ અને મોહનલલ દીપચન્દ્ર ચોકસીપ પળ પુણ્યાનુબન્ધિ પુણ્યની પ્રાપ્તિ કરવામા કમીના રાસી નથી ।

લીમ્બડીના જૈનજ્ઞાનમળ્હારમાથી હસ્તલિખિત પ્રતિઓ ચોક્કસ રકમ ( ડીપોઝીટ ) મૂકીને મેઝવી આપનાર સ્વમ્ભાતની સ્વ. શેઠ બુલાસીદાસ નાનચન્દની પેઢીપ અનહદ પુણ્ય ઉપાર્જન કર્યું છે ।

મુમ્બઈ ( સુલાનન્દ જૈનધર્મશાળા ) ના શ્રીપેલકપન્નાલલ જૈનસરસ્વતી-મવનમાથી શાકટાયન અમોઘાવૃત્તિની હસ્તલિખિત પ્રતિ ચોક્કસ રકમ ( ડીપોઝીટ ) મૂકીને મેઝવી આપનાર મુમ્બઈના શ્રીગોડીજીપાર્શ્વનાથ જૈનમન્દિરની શ્રીવિજયદેવસૂરસદ્ધની પેઢીના મેનેજિંગ ટ્રસ્ટીઓ સુ. શ્રા. માયચન્દ્રમાઈ નગીનમાઈ, સુ. શ્રા. વચલચન્દ્ર કેશવલલ મોદી; અને સૌમા-ગ્યચન્દ્ર ઉમેદચન્દ્ર દોસીપ અનર્ગલ પુણ્ય હાસલ કર્યું છે ।

તાડપત્રીય-પ્રતિમા ચિત્રેલા હાથી ઉપર વિરાજિત સિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસનના વરઘોડાનો બ્લૉક આપીને તેના ચિત્રને આ ગ્રન્થમા મૂકવાની સવલતા સુ. શ્રા. સારામાઈ મળીલલ નવાવે કરી આપી છે તેથી સાહિત્ય પ્રત્યેનો તેમનો આદર પ્રશસનીય છે ।

આગમોદ્ધારક પૂજ્ય ગુરુદેવના ચિત્રસમ્બન્ધનું સઘલ્લુ યે સર્વ આપીને સુરતનિવાસિ મોતીચન્દ્ર મગનલાલે અપૂર્વ-મત્તિ પ્રદર્શિત કરી છે ।

સર્વ પ્રકારની સામગ્રીઓથી વિમૂષિત આ ગ્રન્થના સશોધન, સમ્પાદન અને પ્રકાશન કરવામાં પન્ડિતોપ, પ્રેસકૉપી કરનારાઓપ, પ્રૂફશોધનારાઓપ, મુદ્રાક્ષિત-કરનારાઓપ અને હસ્તલિખિત-પ્રતિ આદિ ઉપયોગમા આવેલા સાધનો પ્રત્યક્ષ કે પરોક્ષ મેઝવી આપનારાઓ-વિગેરેપ જે જે પ્રકારની સહાયતા સમર્પી છે, તે તે સહાયતાના અસીમ-ઉપકારરૂપ ઋણમાથી મુક્ત થવા માટે તેઓને મ્હારા સ્મૃતિ-પટ પર લાવીને આ શાસ્ત્ર-પ્રસ્તાવનાની પરિસમાપ્તિ કરવામા આવે છે ।

ઉપરની શાસ્ત્ર-પ્રસ્તાવનાને સ્પર્શ-કરનારા પ્રકરણો અને તેના પ્રાસન્નિકના પ્રકરણોનો ઉલ્લેખ કરવામા, ગ્રન્થના સશોધનાદિ કાર્ય કરવામા, અને આનન્દબોધિની વૃત્તિનુ ગુન્થન કરવામા અજ્ઞાનતાથી વિશ્વવધ-વીતરાગ-ભગવન્તની આજ્ઞાવિરુદ્ધ અથવા કલિકાલસર્વજ્ઞ-ભગવાન્ના આશય વિરુદ્ધ લસાહ ગયું હોય અને અજ્ઞાનતાથી અગર દષ્ટિ-દોષથી જે કાહ અશુદ્ધિ વિગેરે રહી ગયા હોય તે વિવેકિયોને વિવેકપૂર્વક વાચવાની સાદર મલામળ કરીને તે સમ્બન્ધી 'દુષ્કૃત મિથ્યા થાઓ' એવી અમિલાષા સાથે અત્રે વિરમુ હું । અન્તમા ગ્રન્થ છપાતી વસતે કાનો માત્રા અને અનુસ્વાર વિગેરે ડહી ગયા હોય અગર આગલ કે પાઠલ થઈ ગયા હોય તેને સુધારીને વાચવાની વાચકોને પળ મલામળ કરવામા આવે છે ।

શ્રીજીરાવલિપાર્શ્વનાથમન્દિર, જૈન શ્વે.મૂ.૦ ઉપાશ્રય,  
ઘાટકોપર ( મુમ્બઈ ) વિ.૦ સં. ૨૦૦૧-  
કલિકાલસર્વજ્ઞ-  
શ્રીહેમચન્દ્રાન્વાર્થસૂરીશ્વરભગવજ્ઞન્મવાસરે  
( કાર્તિક્યા-પૂર્ણિમાયામ્ )

શ્રીમત્તપાગચ્છગનાડહર્મણિગીતાર્થસાર્વભૌમા ડડગમો-  
દ્ધારક-શ્રીવર્દ્ધમાન-જૈનાડડગમમન્દિરાધનેકસસ્થા-  
નિર્માણોપદેશક-સસ્થાપક-શાસનસરક્ષક-  
શ્રીઆનન્દસાગરસૂરીશ્વરચરણ-  
ચચ્છરીકઃ-ચન્દ્રસાગરઃ ।



## ॥ પ્રકાશિકાનું નિવેદન ॥

પ્રાતઃસરણીય-પૂજ્યપાદ-આગમોદ્ધારક-આચાર્યદેવેશ-શ્રીઆનન્દસાગરસ્ત્રીશ્વરજીનું વિ. સં ૧૯૮૮ નું ચાતુર્માસ-મુન્વદ્ ( મૂલેશ્વર-લાલગામ ) મા થયેલું । તે વખતે તેઓશ્રીની છત્રછાયામા રહેલા તેઓશ્રીના વિદ્વાન્-શિષ્ય-સિદ્ધચક્રારાધન-તીર્થોદ્ધારક-પદ્મયાસપ્રવર-શ્રીચન્દ્રસાગરજી ગણિવરના શુભ હસ્તે મારો જન્મ થયેલો છે, અર્થાત્ 'શ્રીસિદ્ધચક્રસાહિત્ય-પ્રચારકસમિતિ' એ નામની સંસ્થારૂપે મ્હારો જન્મ થયેલો છે ।

મેં મારી ચાલ્યાવસ્થાની શરૂઆતથી આજ પર્યન્તના વાર વર્ષમા શાસનસેવાના અનેકવિધ કાર્યોની સિદ્ધિ થવામા મારા તરફથી પ્રગટ થતા શાસનમાન્ય 'શ્રીસિદ્ધચક્ર' પાક્ષિક ( હાલમાં માસિક ) દ્વારા જે મદદ કરી છે તે ચતુર્વિધ શ્રીસંઘને સુવિદિત જ છે ।

શાસનમાન્ય-સિદ્ધાન્તો અને પરંપરાગત માન્યતાથી વ્યાખ્યાનો કિંવા માષણોમા વિરુદ્ધ વોલનારાઓને, જાહેર વર્તમાન-પત્રોમા વિરુદ્ધ ભ્રમનારાઓને, શાસનના પ્રાણાધારમૂલ સર્વજ્ઞસંસ્થાપિત શ્રમણમગવતોની સંસ્થાના દ્વીદીપ્ત પાયાને ઢીલ પાડવાની અનેકવિધ કાર્યવાહી કરનારાઓને, અને એ ઉપરાન્ત દેવ-ગુરુ-ધર્મ-ધર્મિ અને ધર્મના સાધનો પ્રત્યે અનાદરમાત્ર વધારનારી કોઈ પણ પ્રકારની કાર્યવાહીમા કુશલ બનેલાઓને, અને કુશલ બનવા-બનાવવાના પ્રેરકતત્ત્વોને પૂરા પાડનારાઓને સીધી કે આઢકતરી રીતિએ પીછે હઠ કરાવવાનું અને વિશેષમાં તેઓના મલિન હૃદયોને પવિત્ર કરનારી આગમોદ્ધારકની અમોઘ દેશના, સાગરસમાધાન, સુવાસાગર અને સમાલોચનાદિ અનેકવિધ શ્રણાઓના સ્પૃશ્યરૂપ સિદ્ધાન્ત સુધારસની સરિતાઓને વહેતી મૂકવાનું જે મહાન્ કાર્ય આ સિદ્ધચક્રપાક્ષિકદ્વારા મેં કર્યું છે તેનો સમ્બંધો યશ આગમોદ્ધારક-આચાર્યદેવેશને ફાલે જાય છે ।

મારા જીવન-નિભાવ માટેના સર્વવિમાગની સાહિત્યસામગ્રી તેઓશ્રી તરફથી જેમ અત્યાર સુધી પ્રાપ્ત થયેલી છે તેમ મવિષ્યમાં પણ પ્રાપ્ત થયા જ કરશે, અને પ્રાપ્ત થયેલી તે બધી સાહિત્યસામગ્રીઓને વ્યવસ્થિત રીતિએ ગોઠવીને મારા જીવનને મવ્યજનોપકારક બનાવવાનું કાર્ય પૂજ્ય પં. શ્રીચન્દ્રસાગરજી ગણિવરે જેમ અત્યાર સુધી કર્યું છે તેમ મવિષ્યમા પણ કરશે જ, તેમજ મારા જીવનથી ચતુર્વિધસંઘને વિશેષ લાભ મળે એ હેતુથી અનેકવિધ સુન્દરતમ ગ્રન્થોને પ્રકટ કરવાનું કાર્ય શ્રવેરી પાનાચન્દ્ર રૂપચન્દ્ર વિગેરેએ જેમ અત્યાર સુધી કર્યું છે તેમ મવિષ્યમા પણ કરશે એવી મને સમ્પૂર્ણ ખાત્રી છે ।

ગુણગ્રાહિ-જૈનસમાજ અને જૈનેતર-સમાજના શારીરિક માનસિક અને આર્થિક સાધનો તથા આશીર્વાદથી વાર વર્ષ જેટલો મારી જીવંતીનો મૂતકાલ નિર્વિઘ્નપણે જેમ વ્યતીત થયો છે, તેમ વિવિધ વિજયવન્ત-કાર્યોની સિદ્ધિ સાથે મવિષ્યકાલ પણ શાસનસેવામા નિર્ગમન શ્રેયઃ એવી મારી અવિચલ માન્યતા છે ।

શ્રીસિદ્ધચક્રમાહાત્મ્ય, શ્રીઆગમોદ્ધારક ( જીવનચરિત્ર ), તપ ઉદ્ધાપન, આચારાન્ગ સૂત્ર અને પર્યુષણપર્વમાહાત્મ્ય વિગેરે ગ્રન્થોના પ્રકાશનદ્વારા-શ્રદ્ધાપોષક, સન્માર્ગદર્શક, સંસ્કારિત્રવર્ધક અને શાસનસેવાસમર્પક-પ્રેરકતત્ત્વોને પૂરા પાડીને જનસમુદાયના અન્તઃકરણને વિશુદ્ધ બનાવવામા વિઘ્નોની કે વિઘ્નકારકોની દરકાર કર્યા વગર જેમ અત્યાર સુધી મેં સફળ પ્રયત્નો કર્યા છે તેમ મવિષ્યમા પણ હું કરીશ એવી મારી દૃઢ પ્રતિજ્ઞા છે । વિશેષમા પ્રાતઃસરણીય પૂજ્યપાદ કલિકાલસર્વજ્ઞ-મગવાનની સાહિત્ય-રચનામા સર્વોત્કૃષ્ટ-રચનારૂપ-શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસનના આ પ્રથમવિભાગને પ્રકટ કરીને જૈન સાહિત્યનું મુલ્ક ઉજ્જ્વલ કરવાનો સુયશઃ મને અને મારા વિધાતાઓને પ્રાપ્ત થયો છે એ કહેવું અત્ર પ્રાસન્ગિક છે ।

આ પ્રકાશનમા તન-મન અને ધનથી મદદ કરનારાઓના વ્યક્તિગત નામનિર્દેશપૂર્વકની યોગ્ય ઉચિતતા હમારા આ પ્રકાશનના માનનીય સમ્પાદકે જાણવી છે, છતાં તેઓનો તથા યત્કિશ્ચિત્ત મદદ પણ જેમણે કરી હોય તે વધાઓનો આ તકે આમાર માનીને હું ઋણમુક્ત થાઉં છું, 'કારણ કે કોઈનું પણ ઋણ માથે રાખવું તે શિષ્ટાચારથી વિરુદ્ધ ગણાય છે' ।

આ પ્રકાશનના સશોધક-સમ્પાદક અને આનન્દબોધિનીવૃત્તિકાર હમારા માનનીય-પૂજ્ય-પદ્મયાસપ્રવર-શ્રીચન્દ્રસાગરજી ગણિવરનો તો જેટલો આમાર માનવામા આવે તેટલો ઓછો જ છે । તદુપરાન્ત તેઓશ્રીને આ ગ્રન્થના સશોધન-સમ્પાદનાદિ કાર્યમા જોડતી સામગ્રીઓને મેટ્કી આપવામા તન મન અગર ધનથી કોઈપણ સયોગમા કોઈપણ રીતિએ જેઓ મદદગાર થયા હોય તે વધાઓનો તથા મારા ગતિમાન-વક્રોને હમેશાં વેગ આપનારા નગરશેઠ પોપટલાલ ધારણીમાર્દ સંઘવી પ્રમુખ, સંઘવી ચુનીલાલ લક્ષ્મીચન્દ્ર સંજાનવી, અને શ્રવેરી પાનાચન્દ્ર રૂપચન્દ્ર પ્રધાન-સંચાલક વિગેરે વિગેરેનો અન્તઃકરણપૂર્વક આમાર માનીને આ મારા નિર્મલ-નિવેદનની સમાપ્તિ કરી અત્ર વિરમુ છું, ક્ષતિ શષ્ટ—



કાગળ ઉપર લખાયેલ આ પ્રતિ શ્રીહેમચન્દ્રાચાર્ય-જૈન-જ્ઞાનમન્દિર-પાટણની છે, ને તે મુનિવર્ય શ્રીપુણ્યવિજયજી મહારાજ-હેં ચિત્રાક ૧૨ દ્વારા પ્રાપ્ત થયેલી હતી । આ પ્રતિની લમ્વાઈ પ્રાયઃ પોળા નવ ઇંચની અને પહોળાઈ સાઠા ત્રણ ઇંચને જે બિન્દુની છે, દરેક પત્રમા ૧૬ કે ૧૭ પક્તિઓ છે । પ્રથમ પત્ર પર શ્રમણભગવાનની પ્રતિકૃતિ હોવાથી દર્શનાર્થે અત્ર આપવામા આવી છે । પૂર્વકાલમા વ્યાખ્યાન-પીઠિકાઓને અષ્ટમજ્જલાદિના શુભ-ચિહ્નોથી સુશોભિત રાખવામા આવતી હતી, એમ આ ચિત્રપરથી સ્હેજે સ્વાલમા આવી જાય છે ।

જે પ્રતિઓનાં ચિત્રો લીધાં નથી એવી પ્રતિઓ ।

૧-સિ. હે. શ ના પાંચમા અધ્યાય સુધીના મૂલ સૂત્રોની ૭ પત્રની આ હસ્તલિખિત પ્રતિ છે । આ પ્રતિ પૂનાના મા ઑં ૬ ની છે, અને 'વિં સં ૧૪૮૨ ના આશ્વિન સુદી પૂર્ણિમાને રોજ ડુગરપુરમાં લખેલી છે' । આ પ્રતિમાં અશુદ્ધિઓ ઘણી જ છે, છતાં આ પ્રતિ ઉપરથી સૂત્રોને તપાસેલા છે ।

૨-સિ હે શ. ની સ્વોપજ્ઞ-બૃહદ્વૃત્તિના સમ્પૂર્ણ સાત અધ્યાયની ૨૫૪ પત્રોની આ હસ્તલિખિત પ્રતિ છે, એનું પહેલું પત્ર નથી, પત્ર ૨ થી ૨૫૪ સુધીની પ્રતિ અલગ છે । લિપિ પઢિમાત્રાની છે અને લેખનપદ્ધતિ સુંદર છે પણ અશુદ્ધિઓ ઘણી જ જોવામા આવે છે । આ પ્રતિ પણ પૂનાના મા. ઑં. ૬ ની છે, અને 'વિં સં ૧૪૮૬ ના જેઠ સુદી ૧૦ મોમવા-સરે' લખેલી છે । આ પ્રતિનો ઉપયોગ અતિરેક અગર અશુદ્ધ પાઠની મેલવળી પ્રસન્ને કરવામા આવેલો છે ।

૩-અમોઘાવૃત્તિ-અર્થાત્ શાકટ્યાયન-અમોઘાવૃત્તિના નામથી પ્રસિદ્ધ ગ્રન્થની આ હસ્તલિખિત પ્રતિના કૂલ પત્રો ૬૨૨ છે, તેમા ૫૮૦ થી ૫૮૬ સુધીના કૂલ ૭ પત્રો નથી । મૂલ કાનડી અને તૈલગી લિપિઉપરથી ચાલુ લિપિમા લખાયેલ પ્રતિને દેખતા અને સવત્સર તપાસતા આ પ્રતિ લખાયાને પ્રાયઃ ૩૦ વર્ષથી વધારે સમય થયો હોય એમ જણાય છે । આ ગ્રન્થ ચાર અધ્યાયમા જ સમ્પૂર્ણ કરેલો હોવાથી દરેક અધ્યાયના ચાર ચાર પાદ પ્રમાણે કૂલ સોઠ પાદનો આ ગ્રન્થ છે । શ્રીગોડીજીના મેનેજિંગ ટ્રસ્ટી શ્રીચંદ્રમાઈ નગીનમાઈ, મોદી બલચન્દ્ર કેશવલાલ, અને દોશી સૌભાગ્યચન્દ્ર ઉમેદચન્દ્રે શ્રીગોડીજીની વિજયદેવસૂરસઘની પેઢીથી રૂ. ૩૦૦ હીપોફીટ મરીને આ પ્રતિ મેલવી આપી છે । તુલનાત્મક દ્રષ્ટિએ અભ્યાસ કરનારા માટે આ ગ્રન્થ અતીવ ઉપયોગી છે ।

૪-૫-સિ. હે શ ના સમ્પૂર્ણ સાત અધ્યાયના મૂલસૂત્રોની આ તાહપત્રીય વજ્રે પ્રતિઓ સ્વમ્ભાતના શા. તા. પ્રા જૈ. જ્ઞા મ ની અનુક્રમે હાં. નં. ૧૧૦ ને ૧૧૦ પાના ૧૨૧ અને ૧૨૩ ની છે । એની સાદૃશ્ય ઇંચ ૧૨. અને ૧૩ ની છે । એમાંથી પહેલી પ્રતિ 'વિં સં. ૧૨૯૨ ના જેઠ સુદી ૧ ના રોજ લખેલી છે' । જીર્ણ પ્રાયઃ છે, અને અશુદ્ધ છે ।

દરેક તાહપત્રીય અને કાગળની પ્રતિઓમા, પઢિમાત્રીય સસ્કૃત લિપિવદ્ધ-ગ્રન્થોમા વ્યાખ્યેય-પદો કને વ્યાખ્યા-પદોને છૂટા પાડેલા હોતા જ નથી, માટે પદોને છૂટા પાડતી વખતે વધુ જ સાવધાની રાખેલી છે ।

ગ્રન્થના વિષયની અજ્ઞાનતા, લિપિ સમ્બન્ધી અજ્ઞાનતા, અને પ્રમાદના જોરે લેખકના હાથે સ્થળે સ્થળે પદ કે અક્ષરની અશુદ્ધિઓ, પાઠોનું વેવહાઈ જવાપણું અને પાઠોનું રહી જવાપણું, થયેલું છે તેથી તે વાંચતમા પણ વધુ સાવધાનતાથી કામ લીધેલું છે ।

આના ( ) પ્રકારના કૌંસમા આપેલા પદો મૂલ પ્રતિમા નહિ હોવા છતાં શબ્દનું મેલસેલપણું અને શબ્દ-અર્થોદિ-સન્દેહના નિવારણર્થે, તથા પદ કે પદાર્થની પૂર્તિમાટે આપેલા છે એમ દરેક સ્થળે સમજવાનું છે ।

તાં. કં.—૧ ગ્રન્થની શરૂઆતમા હસ્તિરત્નપર 'શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસનમ્' એ ગ્રન્થરત્નની પધરામણીના વરધોહાનું તાહપત્રીય ગ્રન્થનું મૂલ-ચિત્ર છે ।

૨ તાહપત્રીય ગ્રન્થના મૂલ-ચિત્રપરથી આધુનિક ઢબે નવીન ચિત્ર છે ।

૩ પૂ. આગમોદ્ધારક-આચાર્યદેવેશ-શ્રીઆનન્દસાગરસૂરીશ્વરજીનું ચિત્ર છે, અને ૪ આર્થિક સહાયકોનું ચિત્ર છે.

પૂ. આગમોદ્ધારક-આચાર્યદેવેશ-શ્રીઆનન્દસાગરસૂરીશ્વરપરમવિનેય-

પત્યાસપ્રવરશ્રીચન્દ્રસાગરગણીન્દ્ર-વરણારવિન્દચચ્ચરીકઃ—

દેવેન્દ્રસાગરઃ ।



## કલિકાલસર્વજ્ઞ-શ્રીહેમચન્દ્રસૂરિપુરન્દરના જીવનનો સંક્ષિપ્ત-પરિચય.

જન્મસ્થાન—ઘણુકા ( અહમદાવાદ ) ।

„ સમય—વિ. સ ૧૧૪૫ કાર્તિકી-પૂર્ણિમા । ઇ. સ. ૧૦૮૯ ।

પિતાનામ—ચાર્વિંગ ( ચાચ ) ।

માતાનામ—પાહિની ।

જ્ઞાતિનામ—મોઢવણિક ।

ગૃહસ્થનામ—ચગદેવ ।

દીક્ષાનામ—મુનિશ્રીસોમચન્દ્ર ।

દીક્ષાસ્થાન—શ્રીસ્તમ્ભનતીર્થ ( સ્તમ્ભાત ) ।

દીક્ષાસમય— } વિ. સ ૧૧૫૦ માઘ-શુક્લા-ચતુર્થી-શનૈશ્વરવાર ।  
 } વિ. સં. ૧૧૫૪ માઘ-શુક્લા-ચતુર્દશી-શનૈશ્વરવાર ।

ગુરુનામ—શ્રીદેવચન્દ્રસૂરિ ।

વિદ્યાધ્યયનસમય—૧૨ વર્ષ, અથવા ૧૬ વર્ષ । દીક્ષાસમયના હિસાબે ફરક આવે છે ।

આચાર્યપદારોહણ—વિ. સં ૧૧૬૬ અક્ષયતૃતીયા ( વૈ શુ ૩ ) ।

આચાર્યપદપ્રાપ્તિસમયનું નામ—આચાર્ય-શ્રીહેમચન્દ્રસૂરિ ।

સ્વર્ગગમન—વિ. સ ૧૨૨૯ ।

સ્વર્ગગમનસ્થાન—પાટણ ( ગુજરાત )

નોંધ—૮૪ વર્ષના જીવનકાલમા ક્ષુદ્ર મનોરથોને પોતાના ઉચ્ચ સ્વભાવમા શમાવીને ઉત્તમ પ્રકારનો જીવનરસ જેઓએ પ્રાપ્ત કર્યો હતો । તેઓશ્રીના જન્મ, દીક્ષા, સંયમારાધન, વિદ્યાસમ્પાદન, શાસનસેવન, અને સાહિત્યસર્જનાદિના સમયો જીવન સમયવૃત્તાન્તને વધુને વધુ બલવચ્ચર બનાવે છે ।

દીક્ષાના સ્થાનને જણાવનારા મિશ્રમિશ્ર ઉલ્લેખો ૧ કુમારપાલપ્રતિબોધ, ૨ પ્રભાવકચરિત્ર, ૩ પ્રબન્ધચિન્તામણિ ૪ પ્રબન્ધકોષ, અને ૫ કુમારપાલપ્રબન્ધ વિગેરે ગ્રન્થોમા છે । એ પાંચ ગ્રન્થોનો રચનાકાલ અનુક્રમે વિ સ. ૧૨૪૧-૧૩૩૪-૧૩૬૧-૧૪૦૫ અને ૧૪૯૨ છે । એ ઉપરથી જણાય છે કે—કુમારપાલપ્રતિબોધ સૌથી પહેલા રચાયેલો છે, તે ગ્રન્થના રચયિતા શ્રીસોમપ્રભસૂરિએ તથા પ્રભાવકચરિત્રના કર્તાએ દીક્ષાનું સ્થાન સ્તમ્ભાત જણાવ્યું છે । દીક્ષામહોત્સવમા સ્તમ્ભાત-નિવાસિ-ઉદાયનમઝીએ ભાગ લીધેલો હોવાથી સ્તમ્ભાતને જ દીક્ષાનું સ્થાન માનવાનું સુસંગત લાગે છે । વિશેષમા દયાવારા-નિધિ-મહારાજા-કુમારપાટે કલિકાલસર્વજ્ઞ-ભગવાન્-શ્રીહેમચન્દ્રાચાર્યની દીક્ષામૂમિની યાદગિરિમા સ્તમ્ભાતમાં જિનમન્દિર બન્ધાવ્યાનો ઉલ્લેખ મળ્યો હોવાથી સ્તમ્ભાતને જ દીક્ષાનું સ્થાન માનવાનું યોગ્ય જણાય છે । ઉપર જણાવેલો ઉલ્લેખ કુમાર-પાલપ્રબન્ધમા નીચે મુજબ જણાવેલો છે—‘સ્તમ્ભતીર્થે હેમાચાર્યદીક્ષાસ્થાને શ્રીઆલિંગારૂપવસતિઃ શ્રીગુરુસ્ત્રેહેન રત્નશ્રીવીરવિમ્બસૌવર્ણપાદુકાવિરાજિતાઽકારિ ।’ વાકીના ત્રણ ગ્રન્થોમાં કર્ણાવતી નગરીમાં દીક્ષા થયાનું જણાવ્યું છે, પરન્તુ તે વાત અસંજ્ઞત લાગે છે; આટલું જરૂર પૂરતું જણાવીને વિસ્તરના મયથી અહીં વિશેષ લખવાનું માહી વાઙ્મુ છે ।

વિ. દીક્ષાસ્થાન અને દીક્ષા-સમય આ વેજ બીનાઓ વિવાદાસ્પદ છે, તે સિવાયના વધા પ્રસન્નો વધા ગ્રન્થકારોએ એક સરસી રીતિએ માન્ય રાખ્યા છે, કલિકાલસર્વજ્ઞના જીવન-પ્રસંગો વિસ્તારથી હવે પઢીના વિભાગમા જણાવાશે । શાન્તિમ્ ॥

પૂ. આગમોદ્ધારક-આચાર્યદેવેશશ્રીઆનન્દસાગરસૂરીશ્વર-પરમવિનેય-

પદ્મ્યાસપ્રવરશ્રીચન્દ્રસાગરગણીન્દ્ર-ચરણારવિન્દચઘ્ચરીક —

હીરમાગરઃ ।

# श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन-

## प्रथमविभागागन्तर्गत-विषयानुक्रमणिका ।

विषय ।	अक्षराङ्क	पृ०	प०	सूत्रम् । पृ० ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
शास्त्र-प्रस्तावना ।	अ-धी ( पृ० ५६ )			१ आ०बो०—सकलगमोप०—इत्यादिव्याख्यानम् ।	२	२३-२५	
प्रकाशिका—निवेदनम् ।	धु ( पृ० ५७ )			" " —अशेषविस्त०—	" "	२ २५-२७	
चित्र-परिचय ।	धु-वे ( पृ० ५८-५९ )			" " —अखिलदृष्टादृष्ट०—	" "	२ २८-३९	
कलिकालसर्वज्ञजीवन० ।	वै ( पृ० ६० )			" " —आशास्त्राध्ययना०—	" "	२ ३९-४२	
निपयानुक्रमारम्भ ।	घो ( पृ० ६१ )			" आ०बो०—प्रणिधेयम्—इत्यस्य व्याख्यानम् ।	२	४३-४४	
श्रीग्रन्थमालानाम ।		१	१	" " —प्रणिधानं च इत्यादिना			
सामान्यतः श्रीसिद्धचक्रनमस्कार ।		१	२	" " —नमस्कार इति इत्यन्तेन	२	४४-५२	
" श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथनमस्कार ।		१	३	" " —स्वरूपादिज्ञितयव्याख्यानम्			
श्रीतत्त्वप्रकाशिकाबृहद्वृत्तिनाम ।		१	४	२ सूत्रम् । सिद्धिः स्याद्वादात् ॥१।१२॥	३	१	
श्रीआनन्दबोधोधिनीविह्वलिनाम ।		१	५	२ आ०बो०—ग्रन्थारम्भे सूत्रसङ्गति ।	३	५-७	
सम्पाद-कुमारपालविशेषणानि ।		१	६	" " —स्याद्वादात् इत्यत्र पञ्चमीव्याख्यानम् ।	३	८	
क० स० श्रीहेमचन्द्रसूत्रविशेषणानि ।		१	७-१३	" " —सिद्धिज्ञानेन नित्यानित्यवादिमत-			
क० स० विरचितमहाव्याकरणाभिधानम् ।		१	१४	" " —निरूपणम् ।	३	९	
				" " —सूत्रफलितार्थ ।	३	१०-११	
				" " —स्याद्वादस्वरूपकथनम् ।	३	११-३६	
				" " —सिद्धिपदव्याख्यानम् ।	३	३६-३७	
				" " —स्याद्वादानुग्रीकारे दोषापत्ति ।	३	३७-४३	
				" " —इक्षवीर्षादिविधम् इति पदव्यवस्था ।	३	४३	
				" " —अनेककारकसंक्षिपात् इति	३	४४-४९	
				" " —सामानाधिकरण्यमिति	३	४९-५०	
				" त० प्र०—अन्योन्य० इति स्वीकृत्येन स्वसिद्धान्त-			
				समर्थनम् ।	४	१-२	
				" " —नयास्त्व० इत्यन्योक्तपथेन व्याख्यानम् ।	४	२-३	
				" " —अथवेति पक्षान्तरेण सूत्रव्याख्यानम् ।	४	४-५	
				३ सूत्रम् । लोकात् ॥ १ । १ । ३ ॥	४	६	
				" त० प्र०—उक्तातिरिक्तक्रियादिसंज्ञापदार्थः ।	४	७	
				२ आ०बो०—सामानाधिकरण्यमिति पदनिरूपणम् ।	४	८-९	
				" " —विशेषणविशेष्यभाव इति	४	९-१३	
				" " —स्याद्वादस्य विशालत्वम् ।	४	१३-१८	
				" " —अन्योन्य० इति श्लोकरहस्यम् ।	४	१८-२५	
				" " —नयास्त्व० " "	४	२६-३०	
				" " —प्रयोजनायानुबन्धकथनम् ।	४	३१-३५	
				" " —लोकप्रसिद्धवर्णमाला ।	४	३६-३८	
				" " —सूत्राऽन्वय ।	४	३८-३९	
				" " —वृत्तिस्थपदान्वय ।	४	४०-४२	
				" " —उभयत्राऽन्वये विग्रहभेद ।	४	४२-४४	
				" " —क्रमेण क्रियादिसंज्ञापदव्याख्यानम् ।	४	४५-४९	
				" " —स्तुतिस्थपाठभेद ।	४	५०	
				" त० प्र०—न्यायानां बलीयस्त्वम् ।	५	१	
				" " —लोकात्—इति पदपर्याया ।	५	१-२	
				<b>। अथ संज्ञाप्रकरणम् ।</b>			
				४ सूत्रम् । औदन्ताः स्वराः ॥ १।१।४ ॥	५	५	
				" त० प्र०—स्वरसंज्ञानिरूपणम् ।	५	६	
				" " —औदन्ता इत्यत्र बहुवचनफलम् ।	५	७	
				" " —स्वरस्थाननिर्देश ।	५	८	

सूत्रम् । वृ० ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
५ सूत्रम् । एकद्वित्रिमात्रा			
ह्रस्वदीर्घमुताः ॥ १ । १ । ५ ॥	५	९	
त० प्र०—स्वरसंज्ञामध्ये ह्रस्वादिसंज्ञानिरूपणम् ।	५	१०-११	
त० प्र०—ह्रस्वादिसंज्ञाविषयेऽन्यमतम् ।	५	१२	
—वृत्तिस्थौदन्ता इत्येवपदप्रयोजनम् ।	५	१२	
—वर्णं वर्णं प्रति ह्रस्वादिसंज्ञाविधान			
समुदाय प्रति न ।	५	१३	
३ आ० धो०—लोकात्—इति पदव्याख्यानम् ।	५	१५-१६	
—शास्त्रप्रवृत्तये इति ”	५	१६-१७	
—वर्णसमाप्तायत्येति ”	५	१७-१८	
—औदन्ता इति सूत्रसङ्गतिकथनम् ।	५	२०	
—समासाऽन्वयार्थप्रदर्शनम् ।	५	२१-२३	
—औत्—इत्यत्र तकारग्रहणफलम् ।	५	२३-२५	
—अन्त इति पदप्रयोजनम् ।	५	२५-२६	
—के पुन—औकारावसाना वर्णा १	५	२६	
—औदन्ता इत्यत्र बहुवचनफलप्रदर्शनम् ।	५	२८	
—स्वरस्थाननिर्देशः ।	५	३०	
—एकद्वि० इति सूत्रसङ्गतिकथनम् ।	५	३१	
—एकद्वित्रिमात्रा इति पदसमासः ।	५	३१-३२	
—मात्रास्वरूपकथनम् ।	५	३२-३३	
—ह्रस्वदीर्घमुता इति पदसमासः ।	५	३३	
—सूत्राऽन्वयः ।	५	३४	
—एकद्वित्र्युच्चारणमात्रा औदन्ता इति			
पदविग्रहा ।	५	३५	
—यथासंख्यलाभप्रदर्शनम् ।	५	३६	
—श्रीशेषमष्टारकमतप्रदर्शनम् ।	५	३७	
५ आ० धो०—औदन्ता इत्येवेति पदव्याख्यानम् ।	५	३७-३८	
—प्रतक्ष्य—इत्युदाहरणरहस्यम् ।	५	३८-४१	
—तितरच्छत्रम् ” ”	५	४१-४४	
—प्रतक्ष्य इत्युदाहरणस्य स्पष्टविवेचनम् ।	५	४४-४६	
—तितरच्छत्रम् ” ” ”	५	४६-४७	
त० प्र०—वर्णसमुदाय प्रति दीर्घसंज्ञाऽभावः ।	६	१	
—ह्रस्वादिसंज्ञानिर्देशः ।	६	२	
६ सूत्रम् । अनवर्णा नामी ॥ १ । १ । ६ ॥	६	३	
त० प्र०—नामिसंज्ञास्वरूप नामिस्वरगणन च ।	६	४	
—बहुवचनफलम् ।	६	४	
—नामिस्थलनिर्देशः ।	६	५	
७ सूत्रम् । लुदन्ताः समानाः ॥ १ । १ । ७ ॥	६	६	
त० प्र०—समानसंज्ञास्वरूप समानस्वरगणन च ।	६	७	
—समानस्थलनिर्देशः ।	६	७-८	
८ सूत्रम् । ए पे ओ औ सन्ध्यक्षरम् ॥ १ । १ । ८ ॥	६	९	
त० प्र०—सन्ध्यक्षरसंज्ञास्वरूप स्थलनिर्देशश्च ।	६	१०	
९ सूत्रम् । अं अ. अनुस्वारविसर्गौ ॥ १ । १ । ९ ॥	६	११	
त० प्र०—अनुस्वारविसर्गसंज्ञास्वरूप स्थलनिर्देशश्च ।	६	१२-१४	
५ आ० धो०—ननु यथा—इत्यादिपदेन कथं न ह्रस्वा-			
दिसंज्ञेति शङ्का ।	६	१६	
—सन्ध्यक्षराणाम्—इत्यादिपदेन हेतु-			
पुरस्वरं समाधानम् ।	६	१७-१८	
६ सूत्रम्—सूत्रस्थपदविग्रहः ।	६	२०	
—नामिसंज्ञाशङ्का समाधानम् ।	६	२१	
—नाम्यन्तस्या इतिपदव्याख्यानम् ।	६	२२-२३	
—वचनभेदनिर्देशफलम् ।	६	२३-२५	

सूत्रम् । वृ० ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
६ आ० धो०—बहुवचनफलम् ।	६	२६	
—एवमादिपदव्याख्यानम् ।	६	२६	
७ सूत्रम्—सूत्रस्थपदव्याख्यानम् ।	६	२८-३०	
८ सूत्रम्—सूत्रस्थपदसमासादिव्याख्यानम् ।	६	३१-३३	
९ सूत्रम्—सूत्रस्थपदविग्रहस्थानादि ”	६	३४-३५	
१० सूत्रम् । कादिव्यञ्जनम् ॥ १ । १ । १० ॥	६	३६	
त० प्र०—व्यञ्जनसंज्ञानिरूपण व्यञ्जनगणन			
व्यञ्जनस्थाननिर्देशश्च ।	७	२-३	
११ सूत्रम् । अपञ्चमान्तस्थो धुट् ॥ १ । १ । ११ ॥	७	४	
त० प्र०—धुट्संज्ञानिरूपण धुट्त्वर्गगणन			
धुट्स्थाननिर्देशश्च ।	७	५-६	
१२ सूत्रम् । पञ्चको वर्गः ॥ १ । १ । १२ ॥	७	७	
त० प्र०— ” ”	७	७-९	
१३ सूत्रम् । आद्यद्वितीयशपसा० ॥ १ । १ । १३ ॥	७	१०	
त० प्र०— ” ”	७	१०-१२	
१४ सूत्रम् । अन्यो घोषवान् ॥ १ । १ । १४ ॥	७	१३	
त० प्र०— ” ”	७	१३-१५	
१५ सूत्रम् । यरलवा अन्तस्थाः ॥ १ । १ । १५ ॥	७	१६	
त० प्र०— ” ”	७	१७-१८	
१० आ० धो०—सूत्रस्थपदविग्रहः ।	७	१९-२२	
—विग्रहफलप्रदर्शनम् ।	७	२२-२४	
—व्यञ्जनमित्यन्वयसंज्ञा ।	७	२५	
—वृत्तिरहस्यम् ।	७	२५-२७	
११ सूत्रम्—सूत्रस्थपदविग्रहोऽन्वयश्च ।	७	२८-२९	
—वृत्तिरहस्यम् ।	७	२९-३०	
१२ सूत्रम्—वर्णसंज्ञानिरूपण वर्णपरिगणन च ।	७	३१-३३	
१३ सूत्रम्—अघोषसंज्ञानिरूपणम् ।	७	३४	
१४ सूत्रम्—घोषसंज्ञानिरूपणम् ।	७	३५-३७	
१५ सूत्रम्—अन्तस्थासंज्ञानिरूपण बहुवचनफल च ।	७	३९-४०	
१६ सूत्रम् । अं अ. ङ्ग ० पशपसाः शिट्			
॥ १ । १ । १६ ॥	८	१	
त० प्र०—शिट्संज्ञानिरूपण बहुवचनफल			
शिट्प्रदेशनिर्देशश्च ।	८	१-३	
१७ सूत्रम् । तुल्यस्यानास्यप्रयत्नः स्वः			
॥ १ । १ । १७ ॥	८	४	
त० प्र०—स्थानपदनिरूपणम् ।	८	५	
—अष्टविधस्थानानि ।	८	५-६	
—आस्यपदादिविग्रहः ।	८	६-७	
—चतुर्विधप्रयत्नानि ।	८	७-८	
—सूत्रस्थपदविग्रहः ।	८	८	
—करणमिति वृत्तिस्थपदनिरूपणम् ।	८	९	
—कण्ठादिवर्णपरिगणनमन्यादिभूत-			
स्पष्टीकरण च ।	८	१०-१४	
१६ आ० धो०—शिट्संज्ञास्वरूप शिट्गुणपरिगणन च ।	८	१५	
—वृत्तिस्थपदनिरूपणम् ।	८	१६-१८	
—अकारादिप्रयोजनम् ।	८	१८-२०	
—बहुवचनफल शिट्प्रदेशनिर्देशश्च ।	८	२१-२३	
१७ सूत्रम्—स्वसंज्ञानिरूपणम् ।	८	२४-२६	
—स्वान्यसंज्ञातिपुरस्वरं स्थान मिम् १,			
—तस्य वणस्थानता कथम् १, इत्यादि			
—येत्येतत् आरभ्य स्वस्थाननामिका			
—स्थाना इत्यन्ताणां वृत्तिस्थपदानां			
—व्याख्यान स्पष्टीकरणं च ।			

सूत्रम् । वृ० ना० ।	विषय ।	पृ०	पं०
१७ आ० बो०—	आस्यप्रयत्ननिरूपणमन्यमतप्रदर्शनं च ।	४३-४६	
” त० प्र०—	वर्णेषु करणव्यवस्थाप्रदर्शनम् ।	१-२	
” ”	—अवर्णस्याऽष्टादशभेदास्तथैव सर्वेषां		
” ”	स्वराणां व्यवस्थापूर्वकभेदप्रदर्शनम् ।	२-८	
” ”	—व्यञ्जनानां स्वसंज्ञितया परिगणनम् ।	८-९	
” ”	—आस्यग्रहणमित्यादिना बाह्यप्रयत्न- निरूपणं स्वान्यमतप्रदर्शनं च ।	९-१८	
” आ० बो०—	स्वसंज्ञानिष्ठस्वत्वनिरूपणं वर्णानां पर- स्परस्वसंज्ञितया परिगणनं च ।	१९-२७	
” ”	—बाह्यप्रयत्नानां कोपयोगोऽनुपयोगश्च ।	२८-२९	
” ”	—बाह्यप्रयत्नस्वरूपं स्वान्यमतनिरूपणं च ।	२९-४६	
” त० प्र०—	अनुस्वानस्वरूपकथनम् ।	१०	१
” ”	—बोधादिबाह्यप्रयत्ननिरूपणम् ।	१०	१-६
” ”	—अथवेति पक्षान्तरेण बाह्यप्रयत्न- कथनम् ।	१०	६-१०
” ”	—स्थानाऽऽस्यप्रयत्नादिग्रहणफलप्रदर्शः ।	१०	१०-१३
” ”	—स्वप्रदेशनिर्देशः ।	१०	१३
” आ० बो०—	अनुस्वानादिबाह्यप्रयत्ननिरूपणम् ।	१०	१५-२६
” ”	—अथवेति पक्षान्तरेण बाह्यप्रयत्नस्पष्टी- करणम् ।	१०	२७-४१
” ”	—स्थानास्यप्रयत्नप्रयोजनं समाधान- कथनं च ।	१०	४१-४६
१८ सूत्रम् ।	त्यौजसमौ ॥ १ । १ । १८ ॥	११	१-२
” त० प्र०—	प्रत्ययस्वरूपदर्शनपूर्वकं प्रथमादि- संज्ञाविधानम् ।	११	३
” ”	—अनुबन्धफलं बहुवचनफलं च ।	११	३-४
” ”	—प्रथमादिप्रदेशनिर्देशश्च ।	११	५
१९ सूत्रम् ।	स्त्यादिर्विमक्तिः ॥ १ । १ । १९ ॥	११	६
” त० प्र०—	अनुबन्धप्रयोजनमादिपदव्याख्यानं च ।	११	७
” ”	—विभक्तिसंज्ञानिरूपणं विभक्तिप्रदेश- निर्देशश्च ।	११	८-९
। अथ पदसंज्ञाप्रकरणम् ।			
२० सूत्रम् ।	तदन्तं पदम् ॥ १ । १ । २० ॥	११	१०
” त० प्र०—	पदसंज्ञास्वरूपमुदाहरणं च ।	११	११
” ”	—अन्तग्रहणफलं पदप्रदेशनिर्देशश्च ।	११	११-१२
२१ सूत्रम् ।	नाम सिदध्यञ्जने ॥ १ । १ । २१ ॥	११	१३
” त० प्र०—	नाम्न पदसंज्ञास्वरूपमुदाहरणं च ।	११	१४-१५
१८ आ० बो०—	प्रथमाद्वितीयादिसंज्ञानिरूपणम् ।	११	१६-२०
” ”	—अनुबन्धानां स्थाननिर्देशः प्रयोजन- च ।	११	२१-२३
” ”	—बहुवचनफलं कोपपदव्याख्यानं च ।	११	२४-२६
१९ ”	—विभक्तिसंज्ञानिरूपणं विग्रहप्रदर्शनं कोपपदव्याख्यानं च ।	११	२७-३२
२० ”	—स्त्याद्यन्तादिपदसंज्ञानिरूपणं सूत्र- वृत्तिस्यपदव्याख्यानं च ।	११	३३-३९
२१ ”	—नाम्न पदसंज्ञानिरूपणमुदाहर- णानां सफलीभूतप्रयोजनं च ।	११	४०-४२
” त० प्र०—	सिदध्यञ्जनादिपदप्रयोजनं सूत्र- रहस्यं च ।	१२	१-२
२२ सूत्रम् ।	नं क्ये ॥ १ । १ । २२ ॥	१२	३
” त० प्र०—	”	१२	४-७

सूत्रम् । वृ० ना० ।	विषय ।	पृ०	पं०
। अथ पदसंज्ञानिपेधप्रकरणम् ।			
२३ सूत्रम् ।	न स्तं मत्वर्थे ॥ १ । १ । २३ ॥	१२	८
” त० प्र०—	”	१२	९-११
२१ आ० बो०—	नामग्रहणादिपदप्रयोजनं स्पष्टी- करणं च ।	१२	१२-१४
” ”	—वस्तुतस्तु—इतिपदेन सूत्राऽऽशयः ।	१२	१५-१९
” ”	—अन्तर्वैतिन्यैव—इत्यादिपदेन निय- मनं नियमनफलं च ।	१२	१९-२४
२२ ”	—नकारान्तपदसंज्ञानियमनं स्पष्टी- करणं च ।	१२	२५-२८
” ”	—उदाहरणेषु सूत्रार्थसमन्वयः ।	१२	२९-३२
” ”	—सूत्रस्थपदप्रयोजनं सूत्ररचना- फलं च ।	१२	३२-३४
२३ ”	—पदसंज्ञा प्रतिनिषेधकथनम् ।	१२	३५-३६
” ”	—शङ्कासमाधानपुरस्सरमुदाहरणेषु सूत्रार्थसमन्वयं प्राप्तिपूर्वको निषे- धश्च ।	१२	३६-४४
२४ सूत्रम् ।	मनुर्नभोऽङ्गिरो वति ॥ १ । १ । २४ ॥	१३	१
” त० प्र०—	”	१३	२-३
२५ सूत्रम् ।	वृत्त्यन्तोऽसपे ॥ १ । १ । २५ ॥	१३	४
” त० प्र०—	”	१३	५-११
२४ आ० बो०—	सूत्रवृत्तिव्याख्यानम् ।	१३	१२-१४
२५ ”	—सूत्रवृत्त्यन्वयं परमार्थश्च ।	१३	१५-२०
” ”	—उदाहरणेषु सूत्रवृत्त्यर्थसमन्वयः ।	१३	२०-२७
” ”	—सूत्रस्थपदप्रयोजनं स्पष्टीकरणं च ।	१३	२७-२८
” ”	—वाक्यत्वकुलुच इति परमार्थकथनम् ।	१३	२८-३१
” ”	—वाक्यत्वचम्—इत्यत्र शङ्कासमाधाः ।	१३	३१-३५
” ”	—समासान्ते—इत्यादिपदानां स्पष्टा- ऽऽशयः ।	१३	३५-३७
” ”	—पक्षान्तरेणाऽथवेति द्वयव्याख्यानम् ।	१३	३७-४०
” ”	—असपे किम्?, इति पदप्रयोजनम् ।	१३	४१-४५
” ”	—सूत्रपरमार्थकथनम् ।	१३	४६
” त० प्र०—	पदत्वमित्यादि ।	१४	१-२
२६ सूत्रम् । सविशेषणमाख्यातं			
वाक्यम् ॥ १ । १ । २६ ॥			
” त० प्र०—	”	१४	४-१०
२५ आ० बो०—	वृत्तिस्यपदरहस्यम् ।	१४	११-१३
२६ ”	—वाक्यसंज्ञानिरूपणं सूत्रस्थपद- व्याख्यानं च ।	१४	१४-२०
” ”	—प्रयुज्यमानाद्युदाहरणानि ।	१४	२०-२६
” ”	—अर्थात्—इत्यादिपदानि प्रति शङ्का- समाधानं स्पष्टीकरणं च ।	१४	२६-३३
” ”	—लोकादेव—इत्यादिवृत्तिस्यपदानां व्याख्यानं स्पष्टीकरणं च ।	१४	३३-४६
” त० प्र०—	वज्रसाध्य इत्यादि ।	१५	१-३
२७ सूत्रम् ।	अघातुविभक्तिवाक्यमर्थ- वज्राम् ॥ १ । १ । २७ ॥	१५	४
” त० प्र०—	”	१५	५-३
२६ आ० बो०—	लौकिकवाक्यत्वस्वीकारे शेषः ।	१५	१०
” ”	—ऊर्णऊर्ण कटम्—इत्यस्य रहस्यम् ।	१५	१०-१२
” ”	—वाक्यप्रदेशनिर्देशः ।	१५	१३

सूत्रम् । घ० ना० ।	विषय ।	घ०	प०	सूत्रम् । घ० ना० ।	विषय ।	घ०	प०
५ सूत्रम् । एकद्वित्रिमात्रा				६ आ० बो०—बहुवचनफलम् ।		६	२६
ह्रस्वदीर्घमुताः ॥ १ । १ । ५ ॥		५	९	” ” —एवमादिपदव्याख्यानम् ।		६	२६
” त० प्र०—स्वरसंज्ञामध्ये ह्रस्वादिसंज्ञानिरूपणम् ।		५	१०-११	” ” —सूत्रस्थपदव्याख्यानम् ।		६	२८-३०
” त० प्र०—ह्रस्वादिसंज्ञाविषयेऽन्यमतम् ।		५	१२	” ” —सूत्रस्थपदसमासादिव्याख्यानम् ।		६	३१-३३
” ” —वृत्तिस्थीदन्ता इत्येवपदप्रयोजनम् ।		५	१२	” ” —सूत्रस्थपदविग्रहस्थानादि ”		६	३४-३९
” ” —वर्ण वर्ण प्रति ह्रस्वादिसंज्ञाविधान				१० सूत्रम् । कादिव्यञ्जनम् ॥ १ । १ । १० ॥		१०	१
समुदाय प्रति न ।		५	१३	” त० प्र०—व्यञ्जनसंज्ञानिरूपण व्यञ्जनगणन			
३ आ० बो०—लोकात्—इति पदव्याख्यानम् ।		५	१५-१६	व्यञ्जनस्थाननिर्देशश्च ।		७	२-३
” ” —ज्ञापकप्रवृत्तये इति ”		५	१६-१७	११ सूत्रम् । अपञ्चमान्तस्यो ध्रुत् ॥ १ । १ । ११ ॥		७	४
” ” —वर्णसमाप्तायस्येति ”		५	१७-१८	” त० प्र०—ध्रुत्संज्ञानिरूपण ध्रुवर्णगणन			
” ” —औदन्ता इति सूत्रसप्ततिकथनम् ।		५	२०	ध्रुत्स्थाननिर्देशश्च ।		७	५-६
” ” —समासाऽन्वयार्थप्रदर्शनम् ।		५	२१-२३	१२ सूत्रम् । पञ्चको वर्गः ॥ १ । १ । १२ ॥		७	७
” ” —औत्—इत्यत्र तकारग्रहणफलम् ।		५	२३-२५	” त० प्र०—” ”		७	७-९
” ” —अन्त इति पदप्रयोजनम् ।		५	२५-२६	१३ सूत्रम् । आद्यद्वितीयशपसा० ॥ १ । १ । १३ ॥		७	१०
” ” —के पुन —औकारावसाना वर्णा १		५	२६	” त० प्र०—” ”		७	१०-१२
” ” —औदन्ता इत्यत्र बहुवचनफलप्रदर्शनम्		५	२८	१४ सूत्रम् । अन्यो घोषवान् ॥ १ । १ । १४ ॥		७	१३
” ” —स्वरस्थाननिर्देश ।		५	३०	” त० प्र०—” ”		७	१३-१५
” ” —एकद्वि० इति सूत्रसप्ततिकथनम् ।		५	३१	१५ सूत्रम् । यरलवा अन्तस्थाः ॥ १ । १ । १५ ॥		७	१६
” ” —एकद्वित्रिमात्रा इति पदसमास ।		५	३१-३२	” त० प्र०—” ”		७	१७-१८
” ” —मात्रास्वरूपकथनम् ।		५	३२-३३	१० आ० बो०—सूत्रस्थपदविग्रह ।		७	१९-२२
” ” —ह्रस्वदीर्घता इति पदसमास ।		५	३३	” ” —विग्रहफलप्रदर्शनम् ।		७	२२-२४
” ” —समासाऽन्वय ।		५	३४	” ” —व्यञ्जनमित्यन्वर्थसंज्ञा ।		७	२५
” ” —एकद्वित्र्युच्चारणमात्रा औदन्ता इति				” ” —वृत्तिरहस्यम् ।		७	२५-२७
पदविग्रहा ।		५	३५	११ ” —सूत्रस्थपदविग्रहोऽन्वयश्च ।		७	२८-२९
” ” —यथासंख्यलाभप्रदर्शनम् ।		५	३६	” ” —वृत्तिरहस्यम् ।		७	२९-३०
” ” —श्रीशेषमष्टारकमतप्रदर्शनम् ।		५	३७	१२ ” —वर्गसंज्ञानिरूपण वर्गपरिगणन च ।		७	३१-३३
५ आ० बो०—औदन्ता इत्येवेति पदव्याख्यानम् ।		५	३७-३८	१३ ” —अघोषसंज्ञानिरूपणम् ।		७	३४
” ” —प्रतक्ष्य—इत्युदाहरणरहस्यम् ।		५	३८-४१	१४ ” —घोषसंज्ञानिरूपणम् ।		७	३६-३७
” ” —तित्तच्छत्रम् ” ”		५	४१-४४	१५ ” —अन्तस्थासंज्ञानिरूपण बहुवचनफल च		७	३९-४०
” ” —प्रतक्ष्य इत्युदाहरणस्य स्पष्टविवेचनम्		५	४४-४६	१६ सूत्रम् । अं अ. झ ० पशपसा. शिद्र			
” ” —तित्तच्छत्रम् ” ” ”		५	४६-४७	॥ १ । १ । १६ ॥		८	१
” त० प्र०—वर्णसमुदाय प्रति दीर्घसंज्ञाऽभाव ।		६	१	” त० प्र०—शिद्रसंज्ञानिरूपण बहुवचनफल			
” ” —ह्रस्वादिसंज्ञानिर्देश ।		६	२	शिद्रप्रदेशनिर्देशश्च ।		८	१-३
६ सूत्रम् । अनवर्णा नामी ॥ १ । १ । ६ ॥		६	३	१७ सूत्रम् । तुल्यस्थानास्वप्रयत्नः स्वः			
” त० प्र०—नामिसंज्ञास्वरूपं नामिस्वरगणन च ।		६	४	॥ १ । १ । १७ ॥		८	४
” ” —बहुवचनफलम् ।		६	४	” त० प्र०—स्थानपदनिरूपणम् ।		८	५
” ” —नामिस्थलनिर्देश ।		६	५	” ” —अष्टविधस्थानानि ।		८	५-६
७ सूत्रम् । लृदन्ताः समानाः ॥ १ । १ । ७ ॥		६	६	” ” —आस्यपदादिविग्रह ।		८	६-७
” त० प्र०—समानसंज्ञास्वरूप समानस्वरगणन च		६	७	” ” —चतुर्विधप्रयत्नानि ।		८	७-८
” ” —समानस्थलनिर्देश ।		६	७-८	” ” —सूत्रस्थपदविग्रह ।		८	८
८ सूत्रम् । ए ऐ ओ औ सन्ध्यक्षरम् ॥ १ । १ । ८ ॥		६	९	” ” —करणमिति वृत्तिस्थपदनिरूपणम् ।		८	९
” त० प्र०—सन्ध्यक्षरसंज्ञास्वरूप स्थलनिर्देशश्च ।		६	१०	” ” —कण्ठ्यादिवर्णपरिगणनमन्यादिमत-			
९ सूत्रम् । अ ङः अनुस्वारविसर्गौ ॥ १ । १ । ९ ॥		६	११	स्पष्टीकरण च ।		८	१०-१४
” त० प्र०—अनुस्वारविसर्गसंज्ञास्वरूप स्थलनिर्देशश्च		६	१२-१४	१६ आ० बो०—शिद्रसंज्ञास्वरूप शिद्रपरिगणन च ।		८	१५
५ आ० बो०—ननु यथा—इत्यादिपदेन कथं न ह्रस्वा-				” ” —वृत्तिस्थपदनिरूपणम् ।		८	१६-१८
दिसंज्ञेति शङ्का ।		६	१६	” ” —अकारादिप्रयोजनम् ।		८	१८-२०
” ” —सन्ध्यक्षराणाम्—इत्यादिपदेन हेतु-				” ” —बहुवचनफल शिद्रप्रदेशनिर्देशश्च ।		८	२१-२३
पुरस्सरं समाधानम् ।		६	१७-१८	१७ ” —खसंज्ञानिरूपणम् ।		८	२४-२६
६ ” —सूत्रस्थपदविग्रह ।		६	२०	” ” —खान्यसम्प्रतिपुरस्सरं स्थानं किम् ?			
” ” —नामिसंज्ञाशङ्का समाधानम् ।		६	२१	” ” —तस्य वर्णस्थानता कथम् ? इत्यादि			
” ” —नाम्यन्तस्था इतिपदव्याख्यानम् ।		६	२२-२३	” ” —यत्रेत्यत आरभ्य स्वस्थाननासिका-			
” ” —वचनभेदनिर्देशफलम् ।		६	२३-२५	स्थाना इत्यन्तर्नां वृत्तिस्थपदानां			
				व्याख्यान स्पष्टीकरण च ।			



सूत्रम् ।	वृ० ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
१७ आ० बो०—		आस्यप्रयत्ननिरूपणमन्यमतप्रदर्शनं च ।	४३-४६	
” त० प्र०—		वर्णेषु करणव्यवस्थाप्रदर्शनम् ।	९	१-२
” ”		—अवर्णस्याऽष्टादशभेदास्तथैव सर्वेषां		
” ”		स्वराणां व्यवस्थापूर्वक भेदप्रदर्शनम् ।	९	२-८
” ”		—व्यञ्जनानां स्वसंज्ञितया परिगणनम् ।	१९	८-९
” ”		—आस्यग्रहणमित्यादिना बाह्यप्रयत्न- निरूपणं स्वान्यमतप्रदर्शनं च ।	९	९-१८
” आ० बो०—		स्वसंज्ञानिष्ठस्वत्वनिरूपणं वर्णानां पर- स्परस्वसंज्ञितया परिगणनं च ।	९	१९-२७
” ”		—बाह्यप्रयत्नानां कोपयोगोऽनुपयोगश्च ।	९	२८-२९
” ”		—बाह्यप्रयत्नस्वरूपं स्वान्यमतनिरूपणं च ।	९	२९-४६
” त० प्र०—		अनुस्वानस्वरूपकथनम् ।	१०	१
” ”		—घोषादिबाह्यप्रयत्ननिरूपणम् ।	१०	१-६
” ”		—अथवेति पक्षान्तरेण बाह्यप्रयत्न- कथनम् ।	१०	६-१०
” ”		—स्थानाऽऽस्यप्रयत्नादिग्रहणफलप्रदर्श- नम् ।	१०	१०-१३
” ”		—स्वप्रदेशनिर्देशः ।	१०	१३
” आ० बो०—		अनुस्वानादिबाह्यप्रयत्ननिरूपणम् ।	१०	१५-२६
” ”		—अथवेति पक्षान्तरेण बाह्यप्रयत्नस्पष्टी- करणम् ।	१०	२७-४१
” ”		—स्थानास्यप्रयत्नप्रयोजनं समाधान- कथनं च ।	१०	४१-४६
१८ सूत्रम् ।		स्यौजसमौ ॥ १ । १ । १८ ॥	११	१-२
” त० प्र०—		प्रत्ययस्वरूपदर्शनपूर्वकं प्रथमादि- संज्ञाविधानम् ।	११	३
” ”		—अनुबन्धफलं बहुवचनफलं च ।	११	३-४
” ”		—प्रथमादिप्रदेशनिर्देशश्च ।	११	५
१९ सूत्रम् ।		स्त्यादिर्विमक्तिः ॥ १ । १ । १९ ॥	११	६
” त० प्र०—		अनुबन्धप्रयोजनमादिपदव्याख्यानं च ।	११	७
” ”		—विमक्तिसंज्ञानिरूपणं विभक्तिप्रदेश- निर्देशश्च ।	११	८-९
। अथ पदसंज्ञाप्रकरणम् ।				
२० सूत्रम् ।		तदन्तं पदम् ॥ १ । १ । २० ॥	११	१०
” त० प्र०—		पदसंज्ञास्वरूपमुदाहरणं च ।	११	११
” ”		—अन्तग्रहणफलं पदप्रदेशनिर्देशश्च ।	११	११-१२
२१ सूत्रम् ।		नाम सिद्धयञ्जने ॥ १ । १ । २१ ॥	११	१३
” त० प्र०—		नाम्ना पदसंज्ञास्वरूपमुदाहरणं च ।	११	१४-१५
१८ आ० बो०—		प्रथमाद्वितीयादिसंज्ञानिरूपणम् ।	११	१६-२०
” ”		—अनुबन्धानां स्थाननिर्देशं प्रयोजनं च ।	११	२१-२३
” ”		—बहुवचनफलं शेषपदव्याख्यानं च ।	११	२४-२६
१९ ”		—विभक्तिसंज्ञानिरूपणं विग्रहप्रदर्शनं शेषपदव्याख्यानं च ।	११	२७-३२
२० ”		—स्त्याद्यन्तादिपदसंज्ञानिरूपणं सूत्र- वृत्तिस्थपदव्याख्यानं च ।	११	३३-३९
२१ ”		—नाम्ना पदसंज्ञानिरूपणमुदाहर- णानां सफलभूतयोजनं च ।	११	४०-४२
” त० प्र०—		सिद्धयञ्जनादिपदप्रयोजनं सूत्र- रहस्यं च ।	१२	१-२
२२ सूत्रम् ।		नं क्ये ॥ १ । १ । २२ ॥	१२	३
” त० प्र०—		”	१२	४-७

सूत्रम् ।	वृ० ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
। अथ पदसंज्ञानिषेधप्रकरणम् ।				
२३ सूत्रम् ।		न स्तं मत्वर्थे ॥ १ । १ । २३ ॥	१२	८
” त० प्र०—		”	१२	९-११
२१ आ० बो०—		नामग्रहणादिपदप्रयोजनं स्पष्टी- करणं च ।	१२	१२-१४
” ”		—वस्तुतस्तु—इतिपदेन सूत्राऽऽशयः ।	१२	१५-१९
” ”		—अन्तर्वर्तिन्यैव—इत्यादिपदेन निय- मनं नियमनफलं च ।	१२	१९-२४
२२ ”		—नकारान्तपदसंज्ञानियमनं स्पष्टी- करणं च ।	१२	२५-२८
” ”		—उदाहरणेषु सूत्रार्थसमन्वयः ।	१२	२९-३२
” ”		—सूत्रस्थपदप्रयोजनं सूत्ररचना- फलं च ।	१२	३२-३४
२३ ”		—पदसंज्ञा प्रतिनिषेधकथनम् ।	१२	३५-३६
” ”		—शङ्कासमाधानपुरस्सरमुदाहरणेषु सूत्रार्थसमन्वयं प्रातिपूर्वको निषे- धश्च ।	१२	३६-४४
२४ सूत्रम् ।		मनुर्नभोऽङ्गिरो वति ॥ १ । १ । २४ ॥	१३	१
” त० प्र०—		”	१३	२-३
२५ सूत्रम् ।		वृत्त्यन्तोऽस्ये ॥ १ । १ । २५ ॥	१३	४
” त० प्र०—		”	१३	५-११
२४ आ० बो०—		सूत्रवृत्तिव्याख्यानम् ।	१३	१२-१४
२५ ”		—सूत्रवृत्त्यन्वयं परमार्थश्च ।	१३	१५-२०
” ”		—उदाहरणेषु सूत्रवृत्त्यर्थसमन्वयः ।	१३	२०-२७
” ”		—सूत्रस्थपदप्रयोजनं स्पष्टीकरणं च ।	१३	२७-२८
” ”		—वाक्यवत्त्वं इति परमार्थकथनम् ।	१३	२८-३१
” ”		—वाक्यत्वचम्—इत्यत्र शङ्कासमाधा- नम् ।	१३	३१-३५
” ”		—समासान्ते—इत्यादिपदानां स्पष्टा- ऽऽशयः ।	१३	३५-३७
” ”		—पक्षान्तरेणाऽथवेति द्वयव्याख्यानम् ।	१३	३७-४०
” ”		—अस्ये किम्?, इति पदप्रयोजनम् ।	१३	४१-४५
” ”		—सूत्रपरमार्थकथनम् ।	१३	४६
” त० प्र०—		पदत्वमित्यादि ।	१४	१-२
२६ सूत्रम् । सविशेषणमाख्यातं वाक्यम् ॥ १ । १ । २६ ॥				
” त० प्र०—		”	१४	४-१०
२५ आ० बो०—		वृत्तिस्थपदरहस्यम् ।	१४	११-१३
२६ ”		—वाक्यसंज्ञानिरूपणं सूत्रस्थपद- व्याख्यानं च ।	१४	१४-२०
” ”		—प्रयुज्यमानाद्युदाहरणानि ।	१४	२०-२६
” ”		—अर्थात्—इत्यादिपदानि प्रति शङ्का- समाधानं स्पष्टीकरणं च ।	१४	२६-३३
” ”		—लोकादेव—इत्यादिवृत्तिस्थपदानां व्याख्यानं स्पष्टीकरणं च ।	१४	३३-४६
” त० प्र०—		वृत्तसादय इत्यादि ।	१५	१-३
२७ सूत्रम् ।		अधातुविभक्तिवाक्यमर्थ- वन्नाम ॥ १ । १ । २७ ॥	१५	४
” त० प्र०—		”	१५	५-३
२६ आ० बो०—		लौकिकवाक्यत्वस्वीकारे दोषः ।	१५	१०
” ”		—कुरु कुरुन कटम्—इत्यस्य रहस्यम् ।	१५	१०-१२
” ”		—वाक्यप्रदेशनिर्देशः ।	१५	१३

सूत्रम् ।	पृ० ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
२६ आ०बो०—	समासविग्रहपुरस्सरं सूत्रार्थः ।	१५	१४-१६	
” ”	—अर्थपदव्याख्यान स्पष्टीकरण च ।	१५	१६-२५	
” ”	—तद्वच्छब्दरूपम्—इत्यादिपदानां स्पष्टीकरणम् ।	१५	२६-२८	
” ”	—सूत्रस्थपदप्रयोजनम् ।	१५	२९-३३	
” ”	—स्वमते लाघवमन्यमते गौरवम् ।	१५	३३-३६	
” ”	—लाघवस्थलप्रदर्शनम् ।	१५	३६-४५	
२७ त० प्र०—	तद्धित—इत्यादि ।	१६	१-५	
२८ सूत्रम् ।	शिर्घुद् ॥१११२८॥	१६	६	
” त० प्र०—	”	१६	७	
२९ सूत्रम् ।	पुंस्त्रियोः स्यमौजस् ॥१११२९॥	१६	८	
” त० प्र०—	”	१६	९-११	
२७ आ०बो०—	औपगवादिपदसाधनिका ।	१६	१२-१३	
” ”	—वाक्यवर्जनफल समासस्य नाम-संज्ञा च ।	१६	१४-१९	
” ”	—अर्थवदिति किम् <sup>१</sup> , इत्यत्र शङ्का-समाधानम् ।	१६	१९-२३	
” ”	—अनुकार्यानुकरणव्याख्यान स्पष्टी-करण च ।	१६	२३-३१	
२८ ”	—घुटसंज्ञाव्याख्यान प्रदेशनिर्देशश्च ।	१६	३२-३४	
२९ ”	—घुटसंज्ञाविधायकद्वितीयसूत्रनिरु-पणम् ।	१६	३५-४१	
” ”	—घुटसंज्ञाफल सूत्रस्थपदप्रयोजन च ।	१६	४१-४५	
” ”	—स्त्रीनिर्णयसम्बन्धिशङ्कोत्थानम् ।	१६	४६	
२९ त० प्र०—	किं पुनरित्यादि ।	१७	१-२	
३० सूत्रम् ।	स्वरादयोऽव्ययम् ॥१११३०॥	१७	३	
” त० प्र०—	”	१७	४-८	
२९ आ०बो०—	श्रीलिङ्गसम्बन्धिव्याख्यान स्वसि-द्धान्तप्रदर्शन च ।	१७	९-१७	
” ”	—पारमार्थिकव्याख्यान स्वान्यमत-व्यवस्थापन च ।	१७	१७-२९	
३० ”	—अव्ययसंज्ञानिरूपणम् ।	१७	३०-३१	
” ”	—शिशुपालवधस्थलोकवर्णनम् ।	१७	३१-३५	
” ”	—अत्युच्चैसौ—इत्यादिना वृत्तिस्थ-पदव्याख्यानम् ।	१७	३५-४८	
” ”	—अव्ययं प्रत्यन्वयता ।	१७	४८-५०	
३० त० प्र०—	सर्वासु चेत्यादि ।	१८	१-१०	
” आ०बो०—	अन्वयसंज्ञाव्याख्यानम् ।	१८	११-१३	
” ”	—वृत्तिस्थस्वरादिशब्दानामर्थकथनम् ।	१८	१३-४५	
” ”	—अन्येषामप्यव्ययसंज्ञाविधानम् ।	१८	४६-५०	
३० त० प्र०—	बहुवचनमित्यादि ।	१९	१-२	
३१ सूत्रम् ।	चादयोऽस्त्ववे ॥१११३१॥	१९	३	
” त० प्र०—	”	१९	४-११	
” आ०बो०—	बहुवचनफलमाकृतिगणप्रयोजन च ।	१९	१२-१९	
३१ ”	—चाद्यव्ययसंज्ञानिरूपण परिगणन-शब्दार्थश्च ।	१९	२०-४८	
” त० प्र०—	मुञ्—इत्यादि ।	२०	१-७	
३२ सूत्रम् ।	अघणतस्वाद्या शसः ॥१११३२॥	२०	८	
” त० प्र०—	”	२०	९-१०	
” आ०बो०—	सुप्—इत्यादिशब्दानामर्थप्रकाशनम् ।	२०	११-३४	
” ”	—सूत्रस्थपदव्याख्यान स्पष्टीकरणं च ।	२०	३५-४०	

सूत्रम् ।	पृ० ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
३२ आ०बो०—	विग्रहपुरस्सरमुदाहरणानि ।	२०	४०-४४	
” त० प्र०—	परेयवि—इत्यादि ।	२१	१-४	
३३ सूत्रम् ।	विभक्तियमन्तः ॥१११३३॥	२१	५	
” त० प्र०—	”	२१	६-७	
३२ आ०बो०—	पूर्वेद्यु—इत्याद्यव्ययशब्दानां साधनिका ।	२१	८-३५	
” ”	—अघण्—इति पदप्रयोजन स्पष्टी-करण च ।	२१	३५-४०	
३३ ”	—विभक्त्यन्तपदसमासार्थः ।	२१	४१-४४	
” ”	—अह्यु—इत्यादिपदानां स्पष्टीकरणम् ।	२१	४४-४७	
” त० प्र०—	अन्तरेण—इत्यादि ।	२२	१-४	
३४ सूत्रम् ।	वत्तस्याम् ॥१११३४॥	२२	५	
” त० प्र०—	”	२२	६-१०	
३५ सूत्रम् ।	क्त्वातुमम् ॥१११३५॥	२२	११	
” त० प्र०—	”	२२	१२-१४	
३६ सूत्रम् ।	गतिः ॥१११३६॥	२२	१५	
” त० प्र०—	”	२२	१६-१७	
३७ सूत्रम् ।	अप्रयोगीत् ॥१११३७॥	२२	१८	
” त० प्र०—	”	२२	१९-२०	
३३ आ०बो०—	चिरादित्यादयोऽव्यया ।	२२	२१-२२	
३४ ”	—सूत्रस्थपदव्याख्यान स्पष्टीकरणं च ।	२२	२३-२७	
३५ ”	—सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यान स्पष्टी-करणं च ।	२२	२८-३३	
३६ ”	—गतिसंज्ञास्वरूप स्पष्टीकरणं च ।	२२	३४-३६	
३७ ”	—ह्रस्वसंज्ञानिरूपण सूत्ररहस्यं च ।	२२	३७-४६	
” ”	—एतेन पाणिनीयतन्त्रे गौरवम् ।	२२	४६-४८	
३७ त० प्र०—	घातौ—इत्यादि ।	२३	१-४	
३८ सूत्रम् ।	अनन्तः पञ्चम्याः ॥१११३८॥	२३	५	
” त० प्र०—	”	२३	६-१०	
३९ सूत्रम् ।	इत्यतु संख्याचत् ॥१११३९॥	२३	११	
” त० प्र०—	”	२३	१२-१६	
३७ आ०बो०—	अनुबन्धफलप्रदर्शनम् ।	२३	१७-३२	
३८ ”	—प्रत्ययसंज्ञास्वरूपम् ।	२३	३३-३७	
” ”	—अनन्तपदप्रयोजन प्रत्ययप्रदेशश्च ।	२३	३८-४०	
३९ ”	—अतिदेशशस्त्रस्वरूपम् ।	२३	४१-४६	
४० सूत्रम् ।	वहुगणं मेदे ॥१११४०॥	२४	१	
” त० प्र०—	”	२४	२-४	
४१ सूत्रम् ।	कसमासेऽध्यर्धः ॥१११४१॥	२४	५	
” त० प्र०—	”	२४	६-८	
४२ सूत्रम् ।	अर्धपूर्वपदः पूरणः ॥१११४२॥	२४	९	
” त० प्र०—	”	२४	१०-१५	
४० आ०बो०—	सूत्रस्थपदव्याख्यान स्पष्टीकरणं च ।	२४	१६-१९	
४१ ”	—”	२४	२०-२२	
४२ ”	—”	२४	२३-२४	
” ”	—सूत्रवृत्तिकारनामपुरस्सरं संज्ञा-प्रकरणसमाप्तिः ।	२४	२५	
” ”	—पादान्तिमल्लोकस्थपदान्वय समा-सार्थश्च ।	२४	२६-३५	
” ”	—धीमानन्दयोधिनीवृत्तिकारस्य सङ्क्षेपतया परिचयोऽस्ति ।	२४	३६-४०	

सूत्रम् ।	वृ० ना० ।	विषयः ।	पृ०	पं०
प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः । २५-३८				
१ सूत्रम् ।	समानानां तेन दीर्घः ॥११२१॥	२५	३	
॥ त० प्र०—	॥ ॥ ॥	२५	४-८	
२ सूत्रम् ।	ऋलृति ह्रस्वो वा ॥११२२॥	२५	९	
॥ त० प्र०—	॥ ॥ ॥	२५	१०-१६	
३ सूत्रम् ।	लृत् ऋलृत्वा च ॥११२३॥	२५	१७	
॥ त० प्र०—	॥ ॥ ॥	२५	१८	
१ आ० बो०—	शङ्कासमाधानपुरस्सरं दीर्घविधानम्	२५	१९-२२	
॥ ॥	उदाहरणेषु सूत्रार्थसमन्वयः ।	२५	२२-२३	
॥ ॥	व्याख्यार्थम्—इत्यादिस्पष्टीकरणम् ।	२५	२४-२६	
२ ॥	शङ्कासमाधानपुरस्सरं पाक्षिक- ह्रस्वविधानम् ।	२५	२७-३२	
॥ ॥	कश्चिन्मतप्रदर्शनं सूत्रविषयप्रदर्शनं च ।	२५	३२-३६	
३ ॥	अन्यमतप्रदर्शनपूर्वकं सूत्रार्थपरि०	२५	३७-३९	
३ त० प्र०—	स्वरव्यञ्जन—इत्यादि ।	२६	१-४	
४ सूत्रम् ।	ऊतो वा तौ च ॥११२४॥	२६	५	
॥ त० प्र०—	॥ ॥ ॥	२६	६-८	
५ सूत्रम् ।	अहस्तयोः ॥११२५॥	२६	९	
॥ त० प्र०—	॥ ॥ ॥	२६	१०-११	
३ आ० बो०—	अन्यमतानां स्थलप्रदर्शनम् ।	२६	१२-२१	
४ ॥	सूत्रार्थादयव्याख्यानमुदाहरणानि च	२६	२२-२९	
५ ॥	सूत्रवृत्तिपदव्याख्यानमष्टविकल्प- व्याख्यानं च ।	२६	३०-४४	
६ सूत्रम् ।	अवर्णस्वेवर्णादिनेदोदरलृ ॥११२६॥	२७	१	
॥ त० प्र०—	॥ ॥ ॥	२७	२-६	
७ सूत्रम् ।	कणे प्रदर्शार्णवसन० ॥११२७॥	२७	७	
॥ त० प्र०—	॥ ॥ ॥	२७	८-९	
५ आ० बो०—	एकोनविंशद्भूषप्रदर्शकयन्त्रम् ।	२७	१०-३२	
६ ॥	सूत्रवृत्तिपदव्याख्यानं स्पष्टीकरणं च	२७	३३-३९	
७ ॥	सूत्रवृत्तिपदव्याख्यानम् ।	२७	४०-४३	
७ त० प्र०—	समन्वय—इत्यादि ।	२८	१-२	
८ सूत्रम् ।	ऊते वृत्तीयात्तमासे ॥११२८॥	२८	३	
॥ त० प्र०—	॥ ॥ ॥	२८	४-१०	
९ सूत्रम् ।	कत्यापसर्गस्य ॥११२९॥	२८	११	
॥ त० प्र०—	॥ ॥ ॥	२८	१२-१५	
१० सूत्रम् ।	नास्ति वा ॥११२१०॥	२८	१६	
॥ त० प्र०—	॥ ॥ ॥	२८	१७-१९	
७ आ० बो०—	एके इति के१ इति प्रश्नोत्तरम् ।	२८	२०-२१	
८ ॥	सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानं शङ्कासमा- धानं स्पष्टीकरणं च ।	२८	२२-३२	
९ ॥	सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानं शङ्कासमा- धानं स्पष्टीकरणं च ।	२८	३३-३९	
१० ॥	सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानं शङ्कासमा- धानं स्पष्टीकरणं च ।	२८	४०-४२	
११ सूत्रम् ।	लृत्वात्वा ॥११२११॥	२९	१	
॥ त० प्र०—	॥ ॥ ॥	२९	२-४	
१२ सूत्रम् ।	पेदैत् सन्ध्यक्षरैः ॥११२१२॥	२९	५	
॥ त० प्र०—	॥ ॥ ॥	२९	६-८	
१३ सूत्रम् ।	ऊटा ॥११२१३॥	२९	९	
॥ त० प्र०—	॥ ॥ ॥	२९	१०-११	

१ शब्दालु० प्रस्तावना.

सूत्रम् ।	वृ० ना० ।	विषयः ।	पृ०	पं०
१४ सूत्रम् ।	प्रस्यैष्योढोऽह्यह्ये स्वरैण ॥११२१४॥	२९	१२	
॥ त० प्र०—	॥ ॥ ॥	२९	१३-२०	
११ आ० बो०—	सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानम् ।	२९	२१-२३	
१२ ॥	— बहु० फलं च ।	२९	२४-२७	
१३ ॥	— ॥ ॥ ॥	२९	२८-३०	
१४ ॥	— शङ्कासमाधानपुरस्सरं सूत्रवृत्तिस्थ- पदव्याख्यानं स्पष्टीकरणं च ।	२९	३१-४२	
१५ सूत्रम् ।	स्वरस्वर्यस्यै हिष्याम् ॥११२१५॥	३०	१	
॥ त० प्र०—	॥ ॥ ॥	३०	२-५	
१६ सूत्रम् ।	अनियोगे लुगेवे ॥११२१६॥	३०	६	
॥ त० प्र०—	॥ ॥ ॥	३०	७-१५	
१७ सूत्रम् ।	बौधैतौ समासे ॥११२१७॥	३०	१६	
॥ त० प्र०—	॥ ॥ ॥	३०	१७-१९	
१५ आ० बो०—	सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानमदीहिणी- शब्दस्वरूपं च ।	३०	२०-२६	
१६ ॥	— सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानमुदाहरणं च	३०	२७-२९	
॥ ॥	— शास्त्रलोकप्रतीतप्रयोगविरोधप्रदर्शनं	३०	३०-४०	
१७ ॥	— सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानमुदाहरणं च	३०	४१-४५	
१८ सूत्रम् ।	ओमाडि ॥११२१८॥	३१	१	
॥ त० प्र०—	॥ ॥ ॥	३१	२-५	
१९ सूत्रम् ।	उपसर्गस्याऽनिषेधेदोति ॥११२१९॥	३१	६	
॥ त० प्र०—	॥ ॥ ॥	३१	७-९	
२० सूत्रम् ।	वा नास्ति ॥११२२०॥	३१	१०	
॥ त० प्र०—	॥ ॥ ॥	३१	११-१२	
२१ सूत्रम् ।	इवर्णादेरस्वे स्वरैः ॥११२२१॥	३१	१३	
॥ त० प्र०—	॥ ॥ ॥	३१	१४-१७	
१८ आ० बो०—	सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानं शङ्कासमा- धानं च ।	३१	१८-२२	
१९ ॥	— ॥ ॥ ॥	३१	२३-२७	
२० ॥	— ॥ ॥ ॥	३१	२८-३१	
२१ ॥	— ॥ ॥ ॥	३१	३२-३४	
॥ ॥	— अन्यमते पञ्चमीव्याख्यानम् ।	३१	३५-३६	
॥ ॥	— सूत्रलाघवं प्रदर्श्य षड्रूपप्रदर्शनम्	३१	३६-३९	
२२ सूत्रम् ।	ह्रस्वोऽपदे वा ॥११२२२॥	३२	१	
॥ त० प्र०—	॥ ॥ ॥	३२	२-९	
२३ सूत्रम् ।	पदैतोऽयाय् ॥११२२३॥	३२	१०	
॥ त० प्र०—	॥ ॥ ॥	३२	११-१२	
२४ सूत्रम् ।	ओदैतोऽवाय् ॥११२२४॥	३२	१३	
॥ त० प्र०—	॥ ॥ ॥	३२	१४-१५	
२५ सूत्रम् ।	व्यन्त्रे ॥११२२५॥	३२	१६	
॥ त० प्र०—	॥ ॥ ॥	३२	१७	
२२ आ० बो०—	सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानमुदाहरणं च	३२	१८-२१	
॥ ॥	— ह्रस्वविधानसामर्थ्यसमन्वयमतप्रद- र्शनादि च ।	३२	२२-३१	
२३ ॥	— सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानमुदाहरणं स्पष्टीकरणं च ।	३२	३२-३७	
२४ ॥	— ॥ ॥ ॥	३२	३८-३९	
२५ ॥	— ॥ ॥ ॥	३२	४०-४३	
२५ त० प्र०—	नाव्यति—इत्यादि ।	३३	१-५	

सूत्रम् ।	शृ० ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
२६ सूत्रम् ।	कतो रस्तद्धिते ॥ १ । २ । २६ ॥	३३	६	
३, त० प्र०—	”	३३	७	
२७ सूत्रम् ।	पदांतः पदान्तेऽस्य			
	लुक् ॥ १ । २ । २७ ॥	३३	८	
” त० प्र०—	”	३३	९-१०	
२८ सूत्रम् ।	गोर्नास्त्वोऽक्षे ॥ १ । २ । २८ ॥	३३	११	
” त० प्र०—	”	३३	१२-१४	
२९ सूत्रम् ।	स्वरे वाऽनक्षे ॥ १ । २ । २९ ॥	३३	१५	
२५ धा० बो०—	पदप्रयोजनं शङ्कासमाधानं च ।	३३	१७-२४	
२६ ”	— सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्याना प्रयोजनं च ।	३३	२५-२९	
२७ ”	— ” ” शङ्कासमाधानं च ।	३३	३०-३४	
२८ ”	— ” ” मतान्तरप्रदर्शनं च ।	३३	३५-४२	
२९ ”	— ” ”	३३	४३-४५	
३० त० प्र०—	भवति-इत्यादि ।	३४	१-४	
३० सूत्रम् ।	इन्द्रे ॥ १ । २ । ३० ॥	३४	५	
” त० प्र०—	”	३४	६	

। असन्धिप्रकरणम् ।

३१ सूत्रम् । वाऽत्यसन्धिः ॥ १।२।३१ ॥	३४	
“ त० प्र०—	“	३४ ८-११
३२ सूत्रम् । स्तुतोऽनितौ ॥ १।२।३२ ॥	३४	१२
“ त० प्र०—	“	३४ १३-१५
३३ सूत्रम् । इ३ वा ॥ १।२।३३ ॥	३४	१६
“ त० प्र०—	“	३४ १७-१८
३५ आ०बो०—उदाहरणस्पष्टीकरणपदप्रयोजन च ।	३४	१९-२६
३० “—सूत्रश्रुतिस्थपदव्याख्यान		
	स्पष्टीकरण च ।	३४ २७-३०
३१ “ — “ “ “	३४	३१-३४
३३ “ — “ “ “	३४	३५-४१
३३ “ — “ “ “	३४	४२-४५
३४ सूत्रम् । ईदूवेद्विवचनम् ॥ १।२।३४ ॥	३५	१
“ त० प्र०—	“	३५ २-७
३५ सूत्रम् । अदो मुमी ॥ १।२।३५ ॥	३५	८
“ त० प्र०—	“	३५ ९-१०
३४ आ०बो०—सूत्रश्रुतिस्थपदव्याख्यानमुदाहरणं च ।	३५	११-१७
“ “ —पदप्रयोजन स्पष्टीकरणमन्यमत-		
	प्रदर्शनं च ।	३५ १८-३२
“ “ —कलिकालसर्वज्ञमत तत्स्पष्टीकरणं च ।	३५	३२-३६
३५ “ —सूत्रश्रुतिस्थपदव्याख्यानम् ।	३५	३७-३८
“ “ —अमुमुइवा-इत्यस्य साधनिकेत्यादि ।	३५	३८-४४
३६ सूत्रम् । चादिः खरोऽनाह् ॥ १।२।३६ ॥	३६	१
“ त० प्र०—	“	३६ २-१०
३७ सूत्रम् । ओदन्तः ॥ १।२।३७ ॥	३६	११
“ त० प्र०—	“	३६ १२-१३
३६ आ०बो०—सूत्रश्रुतिस्थपदनिरूपणमुदाहरणं च ।	३६	१४-१७
“ “ —पदप्रयोजन तत्स्पष्टीकरणं च ।	३६	१८-२६
“ “ —शङ्कासमाधानपुरस्सरं सूत्रद्वयस-		
	मिलादि ।	३६ २७-३८
३७ “ “ —सूत्रश्रुतिस्थपदव्याख्यानमुदाहरणादि-		
	च ।	३६ ३९-४५
“ त० प्र०—ननु चादि-इत्यादि ।	३७	१-२

सूत्रम् । वृ०ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
३८ सूत्रम् । सौ नवेतौ ॥ १ । २ । ३८ ॥ ३७		३७	४-६
„ त० प्र०—	„	३७	७
३९ सूत्रम् । ऊं चोम् ॥ १ । २ । ३९ ॥ ३७		३७	८-११
„ त० प्र०—	„	३७	१३-१४
४० सूत्रम् । अव्वर्गत्स्वरे वोऽसन् ॥ १ । २ । ४० ॥		३७	१२
„ त० प्र०—	„	३७	१३-१४
३७ आ०षो०—	तिरो भवत्-इत्यादिवृत्तिस्थपद- व्याख्यानम् ।	३७	१५-१९
३८ „	—सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानमुदाहरण च	३७	२०-२२
„ „	—पदप्रयोजन स्याद्वादमतप्रदर्शन च ।	३७	२२-२६
„ „	—अधिकारार्थं नवेति पदम् ।	३७	२६-२७
३९ „	—सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यान पद- प्रयोजन च ।	३७	२८-३३
„ „	—सूत्ररहस्य पक्षान्तरेणापि सूत्र- रहस्य च ।	३७	३२-३९
४० „	—सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानमुदाहरण- स्पष्टीकरण च ।	३७	४०-४६
४० त० प्र०—	जान्व्वस्य-इत्यादि ।	३८	१-२
४१ सूत्रम् । अइउवर्णस्याऽन्ते ॥ १ । २ । ४१ ॥		३८	३
„ त० प्र०—	„	३८	४-१४
४० आ०षो०—	जान्व्वस्य रजति-इति प्रयोगसिद्धि	३८	१५-१६
„ „	—अस्य पक्षान्तरेण स्पष्टीकरणमित्यादि	३८	१६-२३
४१ „	—सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यान रहस्य च ।	३८	२४-२९
„ „	—उदाहरणेषु सूत्रार्थसमन्वय ।	३८	२९-३१
„ „	—पदप्रयोजनम् ।	३८	३१-३६
„ „	—अस्मिन् सूत्रे वादि-इति सूत्रा- द्विविधय ।	३८	३६-४०
४० २ „	—लोकस्य व्याख्या रहस्य च ।	३८	४१-४७
४० २ „	—आन० बोधिनीवृत्तिकारनामोद्धेखन	३८	४८-५२
	स्वरसन्धिप्रकरणसमाप्तिश्च ।		

॥ अहं ॥

प्रथमाध्याये तृतीय पादः । ३९-६३

१ सूत्रम् । तृतीयस्य पञ्चमे ॥ १।१।१ ॥	३९	३
” तं प्र०— ” ”	३९	४-११
१ आ०बो०—सूत्रश्रुतिस्थपदव्याख्यान तत्स्पष्टीकरण च ।	३९	१२-१६
” ” —उदाहरणेषु सूत्रार्थसमन्वय ।	३९	१६-२५
” ” —पदप्रयोजनमन्यमतप्रदर्शन च ।	३९	२५-३९
२ सूत्रम् । प्रत्यये च ॥ १।३।२ ॥	४०	१
” तं प्र०— ” ”	४०	२-३
३ सूत्रम् । ततो हश्चतुर्थे ॥ १।३।३ ॥	४०	४
” तं प्र०— ” ”	४०	५-७
४ सूत्रम् । प्रथमादधुटि शश्छ ॥ १।३।४ ॥	४०	८
” तं प्र०— ” ”	४०	९-११
२ आ०बो०—सूत्रश्रुतिस्थपदव्याख्यानमुदाहरणानि च ।	४०	१२-१९
” ” —पदप्रयोजन चकारफल च ।	४०	१९-२२
३ आ०बो०—सूत्रश्रुतिस्थपदव्याख्यान शङ्कासमाधान च ।	४०	२३-२८
” ” —उदाहरणानां स्पष्टीकरण मदप्रयोजन च ।	४०	२८-३५

सूत्रम् ।	वृ०ना० ।	विषयः ।	पृ०	पं०
४ आ० बो०—	सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानमुदाहरण-			
	स्पष्टीकरणं च ।		४०	३६-४२
” ”	—पदप्रयोजनं पर्युदासफलं च ।		४०	४२-४५
५ सूत्रम् ।	रः कल्पपर्यायोः ॥ १ । ३ । ५ ॥ ४१		४१	२-५
” त० प्र०—	” ”		४१	५-११
६ सूत्रम् ।	शषसे शषसं वा ॥ १ । ३ । ६ ॥ ४१		४१	१२
” त० प्र०—	” ”		४१	१३
७ सूत्रम् ।	चटते सव्वितीये ॥ १ । ३ । ७ ॥ ४१		४१	१४-१६
” त० प्र०—	” ”		४१	१६-२१
५ आ० बो०—	सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानं ककारादि-			
	प्रयोजनं च ।		४१	२२-३८
” ”	—उदाहरणानां स्पष्टीकरणमपवाद-			
	प्रदर्शनं च ।		४१	३८-४१
६ ”	—सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानमुदाहरण-			
	स्पष्टीकरणं च ।		४१	४२-४५
७ ”	—नवाधिकारे वाग्रहणफलप्रदर्शनम् ।		४१	४२-४५
” ”	—सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानं शङ्कासमा-			
	धानं च ।		४१	४२-४५
” त० प्र०—	कक्षरति-इत्यादि ।		४२	१-२
८ सूत्रम् ।	नोऽप्रशानोऽनुस्वारो ॥ १ । ३ । ८ ॥ ४२		४२	४-९
” त० प्र०—	” ”		४२	९-११
९ सूत्रम् ।	पुनोऽशित्यघोषेऽव्यागिरः			
	॥ १ । ३ । ९ ॥ ४२		४२	११-१४
” त० प्र०—	” ”		४२	१४-१६
७ आ० बो०—	चविशिष्टं इत्यादिशङ्कानिरसन-			
	मित्यादि ।		४२	१५-१६
८ ”	—सूत्रस्याऽन्वयं परमार्थश्च ।		४२	१७-२५
” ”	—उदाहरणानां स्पष्टीकरणं पदप्रयो-			
	जनं च ।		४२	२५-३०
९ ”	—सूत्रान्वयं सूत्रवृत्तिपरमार्थश्च ।		४२	३१-३३
” ”	—उदाहरणानां स्पष्टीकरणं पदप्रयो-			
	जनं च ।		४२	३३-४३
१० सूत्रम् ।	नृनः पैपु वा ॥ १ । ३ । १० ॥ ४३		४३	२-४
” त० प्र०—	” ”		४३	४-८
११ सूत्रम् ।	द्विः कानः कानि सः ॥ १ । ३ । ११ ॥ ४३		४३	९-११
” त० प्र०—	” ”		४३	१२-१५
१२ सूत्रम् ।	स्सटि सः ॥ १ । ३ । १२ ॥ ४३		४३	१५-२०
” त० प्र०—	” ”		४३	२०-२४
१० आ० बो०—	सूत्रान्वयस्त्वृत्तिपरमार्थश्च ।		४३	२४-२७
” ”	—उदाहरणानां स्पष्टीकरणं पद-			
	प्रयोजनं च ।		४३	२७-३१
११ ”	—सूत्रान्वयस्त्वृत्तिपरमार्थश्च ।		४३	३१-३४
” ”	—उदाहरणानां स्पष्टीकरणं पद-			
	प्रयोजनं च ।		४३	३४-४६
१२ सूत्रम् ।	लुक् ॥ १ । ३ । १३ ॥ ४४		४४	१-२
” त० प्र०—	” ”		४४	२-३
१३ सूत्रम् ।	तौ मुमो व्यजने स्तौ ॥ १ । ३ । १४ ॥ ४४		४४	५-१२
” त० प्र०—	” ”		४४	१२-१४

सूत्रम् ।	वृ०ना० ।	विषयः ।	पृ०	पं०
१३ आ० बो०—	सूत्रवृत्त्यन्वयप्रदर्शनं पृथग्योग-			
	फलं च ।		४४	१३-१६
” ”	—पाणिन्युत्पलशाकटायनानां मत-			
	प्रदर्शनम् ।		४४	१७-२०
१४ ”	—शङ्कासमाधानपुरस्तरं सूत्रवृत्त्य-			
	न्वयं परमार्थश्च ।		४४	२१-३०
” ”	—उदाहरणानां स्पष्टीकरणं पद-			
	प्रयोजनं च ।		४४	३१-४८
१५ सूत्रम् ।	मनयवलपरे हे ॥ १ । ३ । १५ ॥ ४५		४५	२-४
” त० प्र०—	” ”		४५	४-५
१६ सूत्रम् ।	सत्राद् ॥ १ । ३ । १६ ॥ ४५		४५	६
” त० प्र०—	” ”		४५	७
१७ सूत्रम् ।	ङ्णोः कटावन्तौ शिटि			
	नवा ॥ १ । ३ । १७ ॥ ४५		४५	८-११
” त० प्र०—	” ”		४५	१२
१८ सूत्रम् ।	ङ्गः सः त्सोऽश्चः ॥ १ । ३ । १८ ॥ ४५		४५	१३-१५
” त० प्र०—	” ”		४५	१६-२१
१५ आ० बो०—	सूत्रवृत्त्यन्वयस्तरसमासपरमार्थश्च ।		४५	२१-२३
” ”	—उदाहरणं सूत्रार्थसमेन्वयः ।		४५	२३-२५
१६ ”	—सूत्रवृत्तिस्पष्टीकरणमुदाहरणं च ।		४५	२६-३४
१७ ”	—सूत्रवृत्तिस्थपदनिरूपणमन्तफल-			
	प्रदर्शनं च ।		४५	३४-३७
” ”	—उदाहरणानां स्पष्टीकरणं पद-			
	प्रयोजनं च ।		४५	३८-४२
१८ ”	—सूत्रवृत्त्यन्वयस्तरपरमार्थश्च ।		४५	४२-४४
” ”	—पाणिनीयशाकटायनानामभिप्रायः		४५	४४-४७
” ”	—उदाहरणानां स्पष्टीकरणं पद-			
	प्रयोजनं च ।		४५	४७-४९
१८ त० प्र०—	भवात्-इत्यादि ।		४६	१-३
१९ सूत्रम् ।	नः शिञ्च ॥ १ । ३ । १९ ॥ ४६		४६	४-७
” त० प्र०—	” ”		४६	७-८
२० सूत्रम् ।	अतोऽति रोहः ॥ १ । ३ । २० ॥ ४६		४६	९-११
” त० प्र०—	” ”		४६	१२-२२
१८ आ० बो०—	मधुक्-इत्यस्य साधनिका सूत्र-			
	परमार्थता च ।		४६	२२-२८
१९ ”	—सूत्रवृत्त्यन्वयप्रदर्शनं शङ्का-			
	समाधानं च ।		४६	२८-३५
” ”	—उदाहरणानां स्पष्टीकरणं पद-			
	प्रयोजनं चेत्यादि ।		४६	३५-४१
२० ”	—सूत्रवृत्तिस्थपदनिरूपणम् ।		४६	४२-४८
” ”	—उदाहरणानां स्पष्टीकरणं पद-			
	प्रयोजनं च ।		४६	४८-४९
२१ सूत्रम् ।	घोषवति ॥ १ । ३ । २१ ॥ ४७		४७	१-४
” त० प्र०—	” ”		४७	५-११
२२ सूत्रम् ।	अवर्णभोमगोऽघोर्लुगसन्धिः			
	॥ १ । ३ । २२ ॥ ४७		४७	१२-१४
” त० प्र०—	” ”		४७	१४-१६
२३ सूत्रम् ।	व्योः ॥ १ । ३ । २३ ॥ ४७		४७	१६-१८
” त० प्र०—	” ”		४७	१८-१९
२५ आ० बो०—	सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानं शङ्का-			
	समाधानं च ।		४७	१९-२०

सूत्रम् । वृ०ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
२१ आ० बो०—	उदाहरणानां स्पष्टीकरण पद- प्रयोजन च ।	४७	१८-२०
२२ „	—सूत्रवृत्तिस्थपदनिरूपण शङ्का- समाधानं च ।	४७	२१-२८
२३ „	—कात्यायनमतप्रदर्शनं सूत्ररहस्यं च ।	४७	२९-३४
२३ „	—सूत्रवृत्तिस्थपदनिरूपणमुदाहरण- निष्पत्तिप्रदर्शनं च ।	४७	३५-४६
२३ त० प्र०—	घोषवतीत्येव—इत्यादि ।	४८	१-३
२४ सूत्रम् ।	खरे वा ॥ १ । ३ । २४ ॥	४८	४
„ त० प्र०—	„ „	४८	५-१०
२५ सूत्रम् ।	अस्पष्टाववर्णात् ॥ १ । ३ । २५ ॥	४८	११
„ त० प्र०—	„ „	४८	१२-१८
२३ आ० बो०—	अन्यमित्यादिसिद्धिप्रदर्शनम् ।	४८	१९-२०
„ „	—विश्रान्तविधाधरमतस्पष्टीकरणम् ।	४८	२०-२३
२४ „	—सूत्रवृत्तिस्थपदनिरूपणमुदाहरणानां स्पष्टीकरणं च ।	४८	२४-३३
२५ „	—सूत्रवृत्तिस्थपदनिरूपणम् ।	४८	३४-३९
„ „	—सूत्रार्थसमन्वयप्रदर्शनं पाणिनिम- तोलेखनं च ।	४८	३९-४४
२६ सूत्रम् ।	रौर्यः ॥ १ । ३ । २६ ॥	४९	१
„ त० प्र०—	„ „	४९	२-४
२७ सूत्रम् ।	ह्रस्वाद् ङणतो द्वे ॥ १ । ३ । २७ ॥	४९	५
„ त० प्र०—	„ „	४९	६-१०
२८ सूत्रम् ।	अनाम्डाङो दीर्घाद्वा छः ॥ १ । ३ । २८ ॥	४९	११
„ त० प्र०—	„ „	४९	१२-१३
२६ आ० बो०—	सूत्रवृत्त्यन्वयस्तत्परमार्थश्च ।	४९	१४-१६
„ „	—उदाहरणानां स्पष्टीकरण पदप्रयोजन च ।	४९	१७-१८
२७ „	—सूत्रवृत्त्यन्वयस्तत्परमार्थश्च ।	४९	१९-२१
„ „	—शङ्कासमाधानपुरस्सरं न्यामप्रदर्शनम् ।	४९	२२-२४
„ „	—पदप्रयोजन विधानस्य सूत्रे सङ्गमनं च ।	४९	२४-३३
२८ „	—सूत्रवृत्त्यन्वयस्तत्परमार्थश्च ।	४९	३४-३७
„ „	—उदाहरणानां स्पष्टीकरणम् ।	४९	३७-४०
„ त० प्र०—	गोष्ठाद्या—इत्यादि ।	५०	१-५
२९ सूत्रम् ।	हुताद्वाः ॥ १ । ३ । २९ ॥	५०	६
„ त० प्र०—	„ „	५०	७-८
३० सूत्रम् ।	खरेभ्यः ॥ १ । ३ । ३० ॥	५०	९
„ त० प्र०—	„ „	५०	१०-११
३१ सूत्रम् ।	हर्दहर्खरस्याऽनु नवा ॥ १ । ३ । ३१ ॥	५०	१२
„ त० प्र०—	„ „	५०	१३-१४
२८ आ० बो०—	पदप्रयोजन क्लृप्तरूपप्रदर्शनं च ।	५०	१५-२४
२९ „	—सूत्रवृत्त्यन्वयस्तत्परमार्थश्च ।	५०	२५-३०
३० „	—शङ्कासमाधानपुरस्सरं सूत्रवृत्तिपर- मार्थं ।	५०	३१-३४
„ „	—उदाहरणानां निष्पत्तिप्रदर्शनं पद- प्रयोजनं च ।	५०	३४-३९
३१ „	—सूत्रवृत्त्यन्वयो दृष्टान्तस्तत्परमार्थश्च ।	५०	४०-४५
„ त० प्र०—	अर्था—इत्यादि ।	५१	१-२

सूत्रम् । वृ०ना० ।	विषयः ।	पृ०	प०
३२ सूत्रम् ।	अदीर्घाद्विरामैकव्यञ्जने ॥ १ । ३ । ३२ ॥	५१	३
„ त० प्र०—	„ „	५१	४-११
३१ आ० बो०—	पदप्रयोजन तद्वहस्यं च ।	५१	१२-२२
„ „	—अन्वयप्रदर्शनमुदाहरणानां साध- निका रहस्यं च ।	५१	२३-३२
„ „	—पदप्रयोजन सूत्रवृत्त्येदम्पर्यं च ।	५१	३२-४४
३३ सूत्रम् ।	अवर्गस्याऽन्तस्थातः ॥ १ । ३ । ३३ ॥	५२	१
„ त० प्र०—	„ „	५२	२-३
३४ सूत्रम् ।	ततोऽस्याः ॥ १ । ३ । ३४ ॥	५२	४
„ त० प्र०—	„ „	५२	५-६
३५ सूत्रम् ।	शिष्टः प्रथमद्वितीयस्य ॥ १ । ३ । ३५ ॥	५२	७
„ त० प्र०—	„ „	५२	८-१२
३६ सूत्रम् ।	ततः शिष्टः ॥ १ । ३ । ३६ ॥	५२	१३
„ त० प्र०—	„ „	५२	१४
३३ आ० बो०—	सूत्रवृत्त्यन्वयस्तत्परमार्थो दृष्टान्तश्च ।	५२	१५-१९
३४ „	—सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानमुदाहरण- प्रत्युदाहरणानि च ।	५२	२०-२८
३५ „	—सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानमुदाहरणानां सिद्धीरहस्यं च ।	५२	२९-३३
„ „	—पदप्रयोजनमन्यमतप्रदर्शनं च ।	५२	३३-४२
३६ „	—सूत्रस्याऽन्वय परमार्थ उदाहरण- साधनिका च ।	५२	४३-४७
„ त० प्र०—	तत्साधु—इत्यादि ।	५३	१-२
३७ सूत्रम् ।	न रात्खरे ॥ १ । ३ । ३७ ॥	५३	३
„ त० प्र०—	„ „	५३	४-६
३८ सूत्रम् ।	पुत्रस्याऽऽदिपुत्रादिन्याकोशे ॥ १ । ३ । ३८ ॥	५३	७
„ त० प्र०—	„ „	५३	८-११
३९ सूत्रम् ।	सा ध्रुवोऽन्त्योऽपदान्ते ॥ १ । ३ । ३९ ॥	५३	१२
„ त० प्र०—	„ „	५३	१३-१४
३६ आ० बो०—	उदाहरणानां प्रत्युदाहरणानां च साधनिका ।	५३	१५-१९
३७ „	सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यान प्रतिषेधस्य फलं च ।	५३	२०-२६
३८ „	सूत्रवृत्त्यन्वयस्तत्परमार्थश्च ।	५३	२७-२९
„ „	—उदाहरणानि पदप्रयोजनानि च ।	५३	२९-३९
३९ „	—सूत्रवृत्त्यन्वयो दृष्टान्तस्थित- परमार्थश्च ।	५३	४०-४३
„ त० प्र०—	कम्पितम्—इत्यादि ।	५४	१-४
४० सूत्रम् ।	शिद्धहेऽनुसारः ॥ १ । ३ । ४० ॥	५४	५
„ त० प्र०—	„ „	५४	६-१०
३९ आ० बो०—	शङ्कासमाधानपुरस्सरं बहुवचन- फलकथनं तत्प्रदर्शनं च ।	५४	११-२१
„ „	—पदप्रयोजनमन्विपदाकर्षणफल- प्रदर्शनं च ।	५४	२१-२६
४० „	—सूत्रवृत्तिस्थपदनिरूपणमुदाहरणानां सिद्धिप्रदर्शनं च ।	५४	२७-३३



सूत्रम् ।	वृ० ना० ।	विषय ।	पृ०	प०	सूत्रम् ।	वृ० ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
४० आ० बो०—	त्रासिति वृत्तिस्थपदव्याख्यानं पद- प्रयोजन च ।	५४	३३-४२		५२ आ० बो०—	उदाहरण संहिताया विशेषस्वरूप च ।	५९	२३-२७	
४१ सूत्रम् ।	रो रे लुग् दीर्घश्चाऽदिदुतः ॥ १ । ३ । ४१ ॥	५५	१		५३ " —	विसर्गस्वरूपं, उदाहरणप्रत्युदाहरण- साधनिका ।	५९	२८-३५	
" त० प्र०—	" " "	५५	२-४		" " —	शङ्कासमाधानमन्वित्यधिकारस्य फलप्रदर्शनं च ।	५९	३५-४३	
४२ सूत्रम् ।	हस्तहे ॥ १ । ३ । ४२ ॥	५५	५		५४ " —	उदाहरणसाधनिका सूत्ररचना- प्रयोजनं च ।	५९	४४-४८	
" त० प्र०—	" " "	५५	६-१०		५५ त० प्र०—	पदान्तरेफस्य विसर्ग एवेति विधानं	६०	१-३	
४१ आ० बो०—	अपदान्त इति नाऽनुवर्तते-इत्यु- पेक्षेतुदर्शनम् ।	५५	११-१५		५६ " —	" वा लुग्विधानम् ।	६०	४-७	
" " —	शङ्कासमाधानपुरस्सरे सूत्रवृत्तिस्थ- पदव्याख्यानम् ।	५५	१५-२१		५७ " —	रेफस्य रेफविधानम् ।	६०	८-१०	
" " —	अहोरूपम्-इतिपदस्य साधनिका	५५	२१-२४		५८ " —	अर्धपत्यादिशब्दानां निपातेन शुद्ध- ताप्रदर्शनम् ।	६०	११-१४	
४२ " —	सूत्रत्रैरन्वय परमार्थ उदाहरण- साधनिका च ।	५५	२५-४०		५९ " —	वर्गप्रथमस्य वर्गद्वितीयविधानम् ।	६०	१५-१६	
" " —	पदप्रयोजन कार्यासत्त्वपक्षप्रदर्शनं चेत्यादि ।	५५	४०-४४		५५ आ० बो०—	नियमार्थमिदं सूत्र नियमफलदर्शको- दाहरणानि च ।	६०	१७-२०	
४३ सूत्रम् ।	सहिवहेरोच्चाऽवर्णस्य ॥ १ । ३ । ४३ ॥	५६	१		५६ " —	व्यत्ययशब्दस्याऽर्थं सूत्रस्य फलि- तार्थं च ।	६०	२१-२४	
" त० प्र०—	" " "	५६	२-३		५७ " —	रेफस्याऽपि रेफविधानेनोत्पन्नाया शङ्काया समाधानमुदाहरणप्रत्यु- दाहरणानि च ।	६०	२५-२९	
४४ सूत्रम् ।	उदः स्यात्तम्मः सः ॥ १ । ३ । ४४ ॥	५६	४		५८ " —	अर्धपत्यादिगणान्तर्गतशब्दत्रयस्य साधनिका ।	६०	३०-३८	
" त० प्र०—	" " "	५६	५-८		" " —	यहुवचनस्य फलं तद्दर्शकोदाहरणे द्वे च ।	६०	३८-४१	
४५ सूत्रम् ।	तदः सैः खरे पादार्था ॥ १ । ३ । ४५ ॥	५६	९		५९ " —	कचतपानां खल्लथफा शिटि परे भवन्तीति सूत्रस्य फलितार्थं ।	६०	४२-४३	
" त० प्र०—	" " "	५६	१०-११		६० त० प्र०—	तवर्गस्य चवर्गटवर्गविधानम् ।	६१	३-१०	
४३ आ० बो०—	सूत्रवृत्तिस्थपदनिरूपणमुदाहरण- प्रदर्शनं च ।	५६	१२-१६		" आ० बो०—	सूत्रस्थसमासविग्रहो योगशब्दस्या- ऽर्थश्च ।	६१	१३-१६	
४४ " —	" " "	५६	१७-१९		" " —	योगग्रहणस्याऽऽशयः ।	६१	१८-२२	
" " —	पदप्रयोजन वृत्तिस्थपदरहस्यं च ।	५६	२०-३२		" " —	तच् शेते-इत्यादीनामुदाहरणानां साधनिका शङ्कासमाधानं च ।	६१	२२-४७	
४५ " —	सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानम् ।	५६	३३-३८		६१ त० प्र०—	सकारस्य शकारषकारविधानम् ।	६२	४-७	
" " —	उदाहरणेषु सूत्रार्थसमन्वय इत्यादि ।	५६	३८-४३		६२ " —	तवर्गस्य चवर्गभवननिषेधः ।	६२	८-९	
४६ सूत्रम् ।	एतदश्च व्यञ्जने ॥ १ । ३ । ४६ ॥	५७	१		६३ " —	तवर्गस्य शकारोद्यवर्गभवननिषेधः ।	६२	१०-१२	
" त० प्र०—	" " "	५७	२-५		६० आ० बो०—	अति-इत्यादीनामुदाहरणानां साध- निका शङ्कासमाधानं च ।	६२	१४-२५	
४७ सूत्रम् ।	व्यञ्जनात् पञ्चमान्तस्यायाः ० ॥ १ । ३ । ४७ ॥	५७	६		६१ " —	उदाहरणानां साधनिका ।	६२	२६-३३	
" त० प्र०—	" " "	५७	७-१२		६२ " —	" " "	६२	३४-३८	
४६ आ० बो०—	अनमन्समासे-इत्यस्य विग्रह पर- मार्थश्च ।	५७	१३-२२		६३ " —	" " "	६२	३९-४६	
" " —	उदाहरणानि प्रत्युदाहरणानि चेत्यादि ।	५७	२२-३०		६४ त० प्र०—	तवर्गस्य टवर्गभवननिषेधः ।	६३	३-५	
४७ " —	सूत्रवृत्तिस्थपदनिरूपण रहस्यं च ।	५७	३१-३३		६५ " —	तवर्गस्य लकारविधानम् ।	६३	६-९	
" " —	उदाहरणेषु सूत्रार्थसमन्वयः ।	५७	३३-३८		" " —	तृतीयपादसमासिस्त्वसूचकलोकश्च ।	६३	१०-१३	
" " —	चान्द्रशाकटायनादीनां मतप्रदर्शनं स्वसिद्धान्तसमर्थनं च ।	५७	३८-४५		६३ आ० बो०—	" प्रत्युदाहरणानि ।	६३	१४-१९	
४८ त० प्र०—	धुटो वा लुग्विधानम् ।	५८	१-४		६४ " —	विभक्तिपरिणामेन सूत्रस्याऽर्थं उदाहरणानि च ।	६३	२०-२६	
४९ त० प्र०—	धुटस्तृतीयविधानम् ।	५८	५-८		६५ " —	लकारद्वयस्योदाहरणे लौ-इति द्वि- वचनग्रहणे हेतुप्रदर्शनं च ।	६३	२७-३४	
५० त० प्र०—	धुट प्रथमविधानम् ।	५८	९-१२		" " —	चके-इत्यादिश्लोकस्याऽर्थस्य विल- क्षणता ।	६३	३५-३८	
४८ आ० बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणसाधनिका शङ्कासमाधानं च ।	५८	१३-२३		" " —	आनन्दबोधिनीश्लिकारनामससूचन- पूर्वकं तत्तृतीयपादस्य समाप्तिः ।	६३	३९-४३	
४९ " —	" " "	५८	२४-३३						
५० " —	" " "	५८	३४-४३						
५१ त० प्र०—	विरामे धुट प्रथमविधानम् ।	५९	१-३						
५२ " —	विरामे सर्वेषां सन्धीनामभावविधानं संहितास्वरूपं च ।	५९	४-७						
५३ " —	पदान्तरेफस्य विसर्गविधानम् ।	५९	८-१४						
५४ " —	" ख्याति परे विसर्ग एवेति विधानम् ।	५९	१५-१७						
५१ आ० बो०—	स्वमतेऽन्यमते च विरामशब्द- स्याऽर्थः ।	५९	१८-२२						

सूत्रम् । ४० ना० ।

विषय ।

१०५० ५०

## प्रथमाऽध्याये चतुर्थपादः ।

स्वरान्तनामप्रकरणे-अकारान्तनाम । ६४—१०६

१ त० प्र०—अकारस्याऽऽकारविधानम् । ६४ ३—६

२ „ —भिस स्थाने ऐस् आदेशविधानम् ६४ ७—९

१ आ० बो०—सूत्रस्थसमासयोर्विग्रह प्रदर्श्य

सूत्रस्य स्पष्टार्थकथनमुदाहरणानां  
साधनिका च । ६४ १०—२०१ „ —उदाहरणप्रत्युदाहरणानि शङ्का-  
समाधान च । ६४ २०—३२

२ „ —उदाहरणसाधनिका शङ्कासमाधानं ६४ ३३—४९

‘सन्निपात०’ न्यायस्याऽनित्यत्वज्ञापन

मतान्तरप्रदर्शनं प्रत्युदाहरणानि च ६५ १२—२०

३ त० प्र०—इदमदसो भिस ऐसादेशस्य नियम ६५ २—४

४ „ —अकारस्यैकारादेशविधानम् । ६५ ५—८

५ „ —अब्सो स्थाने इनस्य प्रत्यययो-  
विधानम् । ६५ ९—११३ आ० बो०—‘सिद्धे सत्त्वारम्भ०’ इत्यनेन न्याये-  
नाऽत्र नियमप्रदर्शनमेवकारप्रह-  
णफलप्रदर्शनं च । ६५ २१—३१४ „ —सूत्रस्थसमासविग्रह उदाहरण-  
प्रत्युदाहरणानां साधनिका च । ६५ ३२—४४

५ „ —उदाहरणसाधनिका शङ्कासमाधानं च ६५ ४५—४९

॥ „ —मतान्तरप्रदर्शनं ‘सन्निपात०’  
न्यायस्याऽनित्यत्वं च । ६६ ८—१३६ त० प्र०—हेब्स्योः स्थाने यात्प्रत्यययो-  
विधानम् । ६६ २—४

७ „ — „ „ „ „ „ ६६ ५—७

८ „ —उभयान्वयप्रहणस्य प्रयोजनं च । ६६ ५—७

६ आ० बो०—उदाहरणसाधनिका मतान्तर-  
प्रदर्शनं—मतान्तरे स्वमत-  
सम्मत्तिसूचनं च । ६६ १४—२२७ „ —सूत्रस्थसमासस्य शङ्कासमाधान-  
पूर्वकं स्पष्टीकरणमादिशब्दस्या-  
ऽर्थश्च । ६६ २३—४५

८ „ —उदाहरणसाधनिका । ६६ ४५—४९

९ त० प्र०—अन्यतरग्रहणे हेतुसूत्रं मतान्तरे च ६७ २—५

१० „ —उत्तरवृत्तमप्रत्यययोर्ग्रहणे द्वे प्रयोजने । ६७ ५—७

७ आ० बो०—उभयान्वयस्य सर्वादिगणपाठसम्ब-  
न्धिशङ्कासमाधानम् । ६७ ८—२०८ „ —अन्यतरवृत्तमप्रहणस्य प्रयोज-  
नप्रदर्शनं, मतान्तरस्पष्टीकरणं च । ६७ २१—४५

९ „ —उदाहरणानां साधनिका । ६७ ४५—५०

१० त० प्र०—सर्वादिगणस्थशब्दास्तेषामर्था,  
रूपाणि च । ६८ १—८

११ „ — „ „ „ „ ६९ १—१२

१२ „ — „ „ „ „ ७० १—२

१३ „ —सर्वादिगणस्थशब्दानां यथाव-  
स्थितगणना । ७० ३—६१४ आ० बो०—सर्वादिगणस्थशब्दानामपि सर्वा-  
दित्वस्य स्पष्टीकरणं, तेषामुदाह-  
रणानि च । ६९ १३—२२

सूत्रम् । ४० ना० ।

विषय ।

१०५० ५०

७ आ० बो०—येभ्य सर्वादिभ्यः स्मायादयो न

सम्भवन्ति तेषामपि सर्वादिगण-

गणनाया प्रयोजनानि सर्वादिग-

णत्वार्थस्य शब्दैर्लेब्धफलदर्शक-

प्रयोगाश्च । ६९ २२—४०

८ „ —‘सञ्ज्ञायां सर्वादयो न भवन्ति’

इत्यस्मिन् विषये शङ्का, तस्या

समाधानं च । ७० ६—३०

९ „ —सर्वेषां सर्वादिशब्दानां निष्पत्ति-

प्रदर्शनम् । ७० ३०—४७

८ त० प्र०—हिप्रत्ययस्य स्थाने सिन्प्रत्ययविधानं ७१ १—४

९ „ —जस स्थाने इप्रत्ययविधानम् । ७१ ५—८

१० „ — „ „ वा इप्रत्ययविधानम् । ७१ ९—१५

८ आ० बो०—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां

साधनिका च । ७१ १६—२४

९ „ —उदाहरणसाधनिका, शङ्कासमा-

धानं च । ७१ २५—२९

१० „ —सूत्रस्थशब्दानां परिचय, उदा-

हरणप्रत्युदाहरणानि, शङ्कासमा-

धानं च । ७१ ३०—४७

११ त० प्र०—उत्तरेण निषेधे प्राप्ते जस स्थाने

वा इप्रत्ययविधानम् । ७२ १—४

१२ „ —सर्वादिशब्दानां सर्वादित्वनिषेध । ७२ ५—९

१३ „ —पूर्वावरणशब्दयोः सर्वादित्वनिषेध । ७२ १०—११

११ आ० बो०—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, शङ्का-

समाधानं च । ७२ १२—२२

१२ „ — „ „ „ „ ७२ २३—३२

१३ „ —सूत्रस्थसमासस्य विग्रहो, रहस्य,

शङ्कासमाधानं च । ७२ ३३—४७

१४ त० प्र०—तीयप्रत्ययान्तस्य वा सर्वादित्वविधानम् ७३ ४—१०

१५ „ —आम्प्रत्ययस्य स्थाने साम्प्रत्यय-

विधानम् । ७३ ११—१२

१३ आ० बो०—प्रत्युदाहरणानि, मतान्तर-

प्रदर्शनं च । ७३ १३—२१

१४ „ —हित्कार्यस्य विवेचनं, प्रत्युदाहरण-

साधनिका च । ७३ २२—३९

१५ „ —आम्प्रहणविषये स्फुटता, द्वे

उदाहरणे च । ७३ ४०—४५

१६ त० प्र०—इ स्मात् सिन् इति प्रत्ययत्रयस्य

वा विधानम् । ७४ ४—८

१७ „ —क्लितां चतुर्णां यै यास् यास् याम्

विधानम् । ७४ ९—१३

१८ „ —सर्वादिक्लितां चतुर्णां यै यास् यास्

याम् ङस्पूर्वविधानम् । ७४ १४—१५

१५ आ० बो०—उदाहरणप्रत्युदाहरणसाधनिका,

शिष्टपालवषस्याऽपपाठवान् श्लोकश्च ७४ १६—२३

१६ „ —सूत्रस्थप्रथमयोर्द्वयो पदयो

प्रयोजनम् । ७४ २४—३०

१७ „ —उदाहरणप्रत्युदाहरणसाधनिका, पक्षा-

रग्रहणसम्बन्धिनी प्रश्नोत्तरे च । ७४ ३१—४२

१८ „ —सूत्रस्य स्फुटार्थं, उदाहरणानि च ७४ ४३—४५

सूत्रम् । वृ०ना० ।	विषयः ।	पृ०	प०	सूत्रम् । वृ०ना० ।	विषयः ।	पृ०	प०
१८ त० प्र०—	उदाहरणानि, शङ्कासमाधान, मतान्तरप्रदर्शनम् ।	७५	१-८	२९ आ०बो०—	सूत्रार्थतन्त्रादिनिष्पत्तिनिर्देशन- मुदाहरणानि च ।	७९	३८-४७
१९ ,, —	आवन्तशब्दस्य एकारान्तादेश- विधानम् ।	७५	९-१२	३० त० प्र०—	पुनः स्त्रीप्रहणप्रयोजन, प्रत्युदा- हरणानि च ।	८०	१-५
१८ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणसाधनिका, शङ्कासमाधानम् ।	७५	१३-३०	३० त० प्र०—	सूत्रार्थ, उदाहरणानि, मतान्तर- निर्देशनं च ।	८०	६-१२
१९ ,, —	नामप्राह मतान्तरप्रदर्शनम् ।	७५	३०-३३	२९ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानां साधनिका	८०	१३-३८
१९ ,, —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानां साधनिका ।	७५	३४-४३	३० ,, —	सूत्रार्थ, उदाहरणानि, केचित्कश्चि- दित्यत्र बहुवचनस्यैकवचनस्य च तात्पर्यम् ।	८०	३९-४८
२० त० प्र०—	औता सहाऽऽवन्तस्य एकारान्ता- देशविधानम् ।	७६	१-४	३० त० प्र०—	प्रत्युदाहरणानि, अत्रिया इति निर्देशस्य निष्कर्षश्च ।	८१	१-४
२१ ,, —	इदन्तोदन्तयोरौता सह ईकारोकारान्ता- देशविधानम् ।	७६	५-१०	३१ ,, —	आन्प्रत्ययस्य वा नामप्रत्ययविधानम्	८१	५-११
२२ ,, —	जसि परे एकारोकारान्ता- देशविधानम् ।	७६	११-१३	३२ ,, —	नित्य ,, ,, ,,	८१	१२-१६
२० आ०बो०—	सूत्रार्थ, उदाहरणप्रत्युदाहरणानि च	७६	१४-२१	३० आ०बो०—	शङ्कासमाधान, प्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	८१	१७-२९
२१ ,, —	उदाहरणानि, शङ्कासमाधान, स्त्रि- शब्दवर्जनस्य प्रयोजन, परेणाऽपी- यदेशेन० इत्यस्य ज्ञापनम् च ।	७६	२२-४१	३१ ,, —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, सुधी- शब्दस्य द्विधा विप्रहृष्ट ।	८१	३०-४०
२२ ,, —	उदाहरणसाधनिका प्रत्युदाहरणे च ।	७६	४२-४५	३२ ,, —	उदाहरणानि, ससाधनिकानि प्रत्यु- दाहरणानि च ।	८१	४१-४५
२३ त० प्र०—	इदन्तोदन्तयोरैकारौकारान्तादेश- विधानम् ।	७७	१-४	३३ त० प्र०—	संख्यावाचिशब्दानामाप्रत्ययस्य नामविधानम् ।	८२	१-५
२४ ,, —	इदन्तोदन्ताभ्यां टाप्रत्ययस्य ना- मविधानम् ।	७७	५-८	३४ ,, —	प्रिशब्दस्य त्रयशब्दविधानम् ।	८२	६-९
२५ ,, —	किप्रत्ययस्य ङीविधा- नम् ।	७७	९-११	३५ ,, —	उसिक्तो स्थाने रेफप्रत्ययविधानम्	८२	१०-१२
२३ आ०बो०—	उदाहरणानां साधनिका, शङ्कासमा- धानं च ।	७७	१२-२४	३३ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साध- निका, बहुवचनस्य फलप्रदर्शनम् च	८२	१३-२७
२४ ,, —	उदाहरणानि, अविदित्यनुष्ठे- फलप्रदर्शनं च ।	७७	२५-३०	३४ ,, —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका, मतान्तरप्रदर्शनं च ।	८२	२८-३९
२५ ,, —	उदाहरणानि, अविदित्यनुष्ठे- फलप्रदर्शनं च ।	७७	३१-३९	३५ ,, —	उदाहरणे, वचनभेदकारणनिर्देशनं च	८२	४०-४६
२६ त० प्र०—	केवलसखिपतिभ्यां द्विप्रत्ययस्य औकारविधानम् ।	७८	१-५	३६ त० प्र०—	उसिक्तो स्थाने उर्ध्वप्रत्ययविधानम्	८३	१-७
२७ ,, —	नादेशस्य एकारा- देशस्य च निषेधः ।	७८	६-१२	३७ ,, —	ह्रस्वप्रत्यय ,, ,,	८३	८-१०
२८ ,, —	खीलिभेदुदन्ताद् क्तितां चतुर्णां वा दैदासदासदामादेशः ।	७८	१३-१४	३६ आ०बो०—	सूत्रे यप्रहणप्रयोजनस्य स्पष्टता, उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका, मतान्तरनिर्देशनं च ।	८३	११-३८
२६ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणसाधनिका, इदन्तविशेषणहेतोः समर्थन, मतान्तरप्रदर्शनं च ।	७८	१५-३२	३७ ,, —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	८३	३९-४३
२७ ,, —	यथासंख्याभावस्य हेतोर्निर्देशन, विद्विषेपणस्य प्रयोजनस्य निद- र्शनं मतान्तरनिर्देशनं च ।	७८	३३-४४	३८ त० प्र०—	ऋकारस्य स्थाने आर्विधानम् ।	८४	१-१५
२८ ,, —	इदुदन्ताद्युवर्तनस्य हेतोर्निर्देशनम्	७८	४५-४७	३९ ,, —	अर्विधानम् ।	८४	१२-१३
२९ ,, त० प्र०—	उदाहरणानि, मतान्तरनिर्देशन, प्रत्युदाहरणानि च ।	७९	१-८	३८ आ०बो०—	सुप्रस्थशब्दानां निष्पत्ति, उदा- हरणानि, उणादीनां व्युत्पत्त्याव्युत्पत्त्य- पक्षद्वये सूत्रार्थस्य समन्वयः, मता न्तरप्रदर्शनं च ।	८४	१४-४३
२९ ,, —	नित्यखीलिभ्यामीदृदन्ताभ्यां क्तितां चतुर्णां दैदासदासदामादेश- विधानम्, उदाहरणानि च ।	७९	९-१४	३९ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	८४	४४-४६
२८ आ०बो०—	उदाहरणानि, शब्दानामर्थलिङ्गाव- भोधार्थं कोपाणां प्रमाणानि, मता- न्तराणां प्रदर्शनं च ।	७९	१५-३७	४० त० प्र०—	मातृशब्दस्य मातृशब्दादेशविधानम्	८५	३-८
				४१ ,, —	ह्रस्वान्तनाम सिप्रत्ययेन सह गुण- विधानम् ।	८५	९-१२
				४० आ०बो०—	मातृशब्दस्य पुत्रार्थे वर्तमानत्वं निर्देशन, उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	८५	१७-३४
				४१ ,, —	शङ्कासमाधान उदाहरणप्रत्युदाहरण- साधनिका च ।	८५	३५-४५

सूत्रम् । वृ० ना० ।	विषयः ।	पृ०	पं०
४२ त० प्र०—	आवन्तशब्दस्य एकारान्तादेश- विधानम् ।	८६	३-६
४३ ,, —	आमङ्यविषये सिप्रत्ययेन सह ह्रस्व- विधानम् ।	८६	७-१४
४२ आ० बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	८६	१८-२३
४३ ,, —	उदाहरणानि, शब्दानां निष्पत्तिः, प्रत्युदाहरणानि च ।	८६	२४-४५
४४ त० प्र०—	अकारान्तादेकारान्ताच्च स्थमो प्रत्यययोर्लुङ्विधानम् ।	८७	१-५
४५ ,, —	अयन्तावन्तव्यञ्जनान्तेभ्यः सिप्रत्य- यलुङ्विधानम् ।	८७	६-११
४४ आ० बो०—	उदाहरणानि, सिप्रहणेनैव सिद्धौ अम्प्रहणप्रयोजन, तज्जन्यफल- प्रदर्शनं च ।	८७	१२-२२
४५ ,, —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, शङ्का- समाधान, व्यञ्जनप्रहणप्रयोजनस्य स्फुटता च ।	८७	२३-४७
४६ त० प्र०—	अम्प्रत्ययस्याऽकारस्य लुङ्विधानम् ।	८८	३-६
४७ ,, —	नाम्प्रत्ययपरे पूर्वस्य समानस्य दीर्घविधानम् ।	८८	७-११
४८ ,, —	नृशब्दस्य समानस्य नाम्परे वा दीर्घविधानम् ।	८८	१२-१३
४६ आ० बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि ।	८८	१९-२५
४७ ,, —	,, ,, तेषां साध- निका, अथ इति प्रतिषेधो यज्ज्ञा- पयति तन्निर्देशनं च ।	८८	२६-३८
४८ ,, —	उदाहरणसाधनिका, वाप्रहणस्य शङ्का समाधानं च ।	८८	३९-४३
४९ त० प्र०—	शसोऽकारेण सह समानस्य दीर्घ- विधान, तत्सन्धियोगे शस सका- रस्य पुंसि नकारविधानं च ।	८९	१-७
५० ,, —	अहशब्दस्य छिप्रत्ययपरे वाऽहन्- विधानम् ।	८९	८-१५
५१ ,, —	नीशब्दात् परस्य छिप्रत्ययस्य स्थाने आमादेशविधानम् ।	८९	१६-१७
४९ आ० बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, लिङ्गत्वलि- ङ्गवृत्तिशब्दयोरर्थयोः प्रस्फोटश्च ।	८९	१८-३१
५० ,, —	उदाहरणानि, प्रत्युदाहरणानि च ।	८९	३२-४१
५१ ,, —	ससाधनिकान्युदाहरणप्रत्युदाहर- णानि, मतान्तरं च ।	८९	४२-४५
५२ त० प्र०—	अष्टशब्दस्य वाऽऽकारान्तादेश- विधानम् ।	९०	१-६
५३ ,, —	अष्टशब्दात्परयोर्यज्ज्ञसोः स्थाने आकारविधानम् ।	९०	७-११
५४ ,, —	जश्शसोः प्रत्यययोर्लुङ्विधानम् ।	९०	१२-१४
५२ आ० बो०—	ससाधनिकान्युदाहरणप्रत्युदाहर- णानि, मतान्तराणि च ।	९०	१७-३२
५३ ,, —	,, ,, ,, ,, ,,	९०	३३-४३
५४ ,, —	उदाहरणानि, तिष्ठन्ति पदयेलुप्रयो- गयोः प्रयोजनं च ।	९०	४४-४६
५५ त० प्र०—	नपुंसकस्य जश्शसोः स्थाने शिप्र- त्ययविधानम् ।	९१	४-८

सूत्रम् । वृ० ना० ।	विषयः ।	पृ०	पं०
५६ त० प्र०—	नपुंसकस्य औस्थाने ईप्रत्यय- विधानम् ।	९१	९-११
५७ ,, —	अकारान्तनपुंसकस्य स्थमो प्रत्य- ययोः अमादेशविधानम् ।	९१	१२-१३
५८ आ० बो०—	प्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका, मतान्तरनिर्दर्शनं च ।	९१	१४-२१
५५ ,, —	नपुंसकशब्दस्य निष्पत्तिः, उदा- हरण, शङ्कासमाधान, मतान्तर- निर्दर्शनं च ।	९१	२२-३६
५६ ,, —	उदाहरणे तयोः साधनिके च ।	९१	३७-४०
५७ ,, —	अङ्गहणस्य प्रयोजनफलनिर्दर्शनं च ।	९१	४१-४५
५४ त० प्र०—	स्थमो प्रत्यययोः स्थाने दकारा- देशविधानम् ।	९२	४-१०
५९ ,, —	अकारान्ताङ्गिजनपुंसकस्य स्थमो प्रत्यययोर्लुङ्विधानम् ।	९२	११-१४
५७ आ० बो०—	उदाहरण, अम्प्रत्ययस्याऽपि अम् विधानस्य प्रयोजनस्य फलस्य च निर्दर्शनम् ।	९२	१५-२२
५८ आ० बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साध- निका च ।	९२	२३-३४
५९ ,, —	उदाहरण, शङ्कासमाधानं च ।	९२	३५-४९
६० त० प्र०—	जरसन्तनपुंसकस्य स्थमो प्रत्यययोर्वा लुप् ।	९३	१-४
६१ ,, —	नाम्प्यन्तनपुंसकस्य ,, ,, लुक् ।	९३	५-९
६० आ० बो०—	उदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९३	१०-१७
,, ,, —	मतान्तरद्वयप्रदर्शन, मतान्तरवर्ता नामानि च ।	९३	१७-२६
६१ ,, —	उदाहरणानि, तेषां साधनिका, मता- न्तरनिर्दर्शनं लुङ्गुपर्यदन्तरं तस्य प्रदर्शनं च ।	९३	२७-४१
६२ त० प्र०—	अन्यतो नपुंसकस्य दादौ स्वरं वा पुचद्विधानम् ।	९४	१-१०
६३ ,, —	दस्यादिचतुष्टयशब्दान्तस्य दादौ स्वरं उनादेशः ।	९४	११-१५
६२ आ० बो०—	अन्यत इत्यस्य स्वरार्थः, उदाहरण- प्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९४	१६-४२
६३ ,, —	उदाहरणानि ससाधनिकानि, शङ्का- त्यानं च ।	९४	४३-४८
६४ त० प्र०—	नाम्प्यन्तनपुंसकस्य नोऽन्त आगमः ।	९५	५-९
६३ आ० बो०—	शङ्कासमाधान, उदाहरणानि ससा- धनिकानि च ।	९५	१०-२४
६४ ,, —	उदाहरणानि, शङ्कासमाधानं च ।	९५	२५-४५
६५ त० प्र०—	खरान्तनपुंसकस्य दौ परे नोऽन्त आगमः ।	९६	३-६
६६ ,, —	गुरुन्ताजपुंसकाच्छौ परे गुरुन्ता प्रागु नोऽन्तः ।	९६	७-८
६४ आ० बो०—	प्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९६	९-१६
६५ ,, —	ससाधनिकान्युदाहरणानि, शङ्का- त्यानं च ।	९६	१७-२२
६६ ,, —	,, ,, ,, ,, ,,	९६	२३-४७
६७ त० प्र०—	गुरुन्ताजपुंसकस्य दौ परे वा नोऽन्त आगमः ।	९७	३-६

सूत्रम् ।	वृ० ना० ।	विषयः ।	पृ०	प०	सूत्रम् ।	वृ० ना० ।	विषयः ।	पृ०	प०
६८ त० प्र०—		अधिकारसूत्रमिदं, तस्याऽधिकारस्य स्फुटता च ।	९७	७-८	७७ आ०बो०—		उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१००	३२-३८
६७ आ०बो०—		उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९७	२४-२७	७८ ,, —		पथ्यादिद्वयस्य धकारस्य न्यादेश-विधानं, स्थाननिर्देशप्रयोजनं च ।	१००	३९-४०
६८ ,, —		अधिकारसूत्रमिदमित्यस्य हेतोर्निर्दर्शनम् ।	९७	२८-२९	७९ ,, —		उदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१००	४१-४५
७० ,, —		अधिकारशब्दस्य तस्याऽवधेयपरिस्फुटता ।	९७	२९-४८	८० त० प्र०—		उशन शब्दस्य वा नकारोऽच्छे-चेत्यादेशद्वयविधानम् ।	१०१	३-५
६९ त० प्र०—		धुवन्ताब्ध घातोर्द्विपरे नोऽन्त आगमः ।	९८	१-३	८१ ,, —		अनङ्गहचतुरशब्दयोरुकारस्य वकारादेशविधानम् ।	१०१	६-९
७० ,, —		ऋदित उदितश्च धुवन्तस्य घुटि परे नोऽन्त आगमः ।	९८	४-७	८२ ,, —		अनङ्गहचतुरशब्दयोरुकारस्य वाकारादेशविधानम् ।	१०१	१०-१४
७१ ,, —		युज्जीपातोर्धुवन्तस्य घुटि परे नोऽन्त आगमः ।	९८	८-१२	८३ ,, —		सखिशब्दस्येकारस्य शेषे घुटि परे ऐकारादेशविधानम् ।	१०१	१५-१६
७२ ,, —		धुवन्तस्याऽनङ्गह सौ घुटि परे नोऽन्त आगमः ।	९८	१३-१५	८० आ०बो०—		उशन शब्दस्य निष्पत्तिः, उदाहरणप्रत्युदाहरणानि च ।	१०१	२०-२४
६९ आ०बो०—		उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९८	१६-२१	८१ ,, —		घुटि-इत्यधिकारस्याऽऽगमनेऽपि तस्याऽनागमनस्य हेतोर्निर्दर्शनं, द्वे उदाहरणे, तयोः साधनिका च ।	१०१	२५-३१
७० ,, —		पृथग्योगस्य प्रयोजनं फलं च ।	९८	२२-२९	८२ आ०बो०—		उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१०१	३२-३८
७१ ,, —		निर्दर्शनं उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९८	३०-३६	८४ त० प्र०—		ऋकारान्तादिभ्यः शोषेर्वाविधानम् ।	१०२	५-९
७२ ,, —		उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९८	३७-४३	८५ ,, —		शोषघुटि परे नकारात् पूर्वस्वरस्य दीर्घादेशः ।	१०२	१०-१४
७३ त० प्र०—		पुब्रशब्दस्य घुटि परे पुमन्सादेश-विधानम् ।	९९	१-४	८६ ,, —		न्सन्तस्य महत्त्व स्वरस्य शोषे घुटि दीर्घादेशः ।	१०२	१५-१७
७४ ,, —		ओकारस्य घुटि परे औकारादेश-विधानम् ।	९९	५-८	८३ आ०बो०—		शङ्कासमाधानं, प्रत्युदाहरणे, इद्व-हणेन न्यायद्वयस्य विद्यमानतायां संसूचनं च ।	१०२	१८-२५
७५ ,, —		ओकारस्य अम्शसोरकारेण सह आकारादेशविधानम् ।	९९	९-११	८४ ,, —		उदाहरणप्रत्युदाहरणानि ।	१०२	२६-३३
७६ ,, —		पथ्यादित्रयाणां सौ परे आकारान्तादेशविधानम् ।	९९	१२-२४	८५ ,, —		तेषां साधनिका च ।	१०२	३४-४१
७३ आ०बो०—		उदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९९	१५-२१	८७ त० प्र०—		इनन्तादीनां स्वरस्य शौ शेषे सौ च दीर्घादेशः ।	१०३	४-९
७४ ,, —		उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	९९	२२-३०	८६ आ०बो०—		उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१०३	१०-२०
७५ ,, —		उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	९९	३१-३४	८७ ,, —		उदाहरणानि, ,, ,, साधनिका च ।	१०३	२१-२८
७६ ,, —		अताग्रहणमावे भविष्यमाणानिष्ठत्वं निर्दर्शनम् ।	९९	३४-३६	८८ ,, —		अनेन सूत्रेण यच्चियमो जातस्तस्य स्फोटः ।	१०३	२८-३२
७६ ,, —		उदाहरणसाधनिका, प्रत्युदाहरणं, शङ्कासमाधानं च ।	९९	३७-४४	८९ ,, —		शङ्कासमाधानं, प्रत्युदाहरणानि च ।	१०३	३२-४७
७७ त० प्र०—		पथ्यादित्रयाणां घुटि परे आकारादेशविधानम् ।	१००	३-८	८८ त० प्र०—		अप स्वरस्य शेषे घुटि दीर्घादेशविधानम् ।	१०४	३-५
७८ ,, —		पथिन्मयिन्त्यस्य घुटि परे न्यादेश-विधानम् ।	१००	९-११	८९ ,, —		नकारागमे वा ,, ,, ।	१०४	६-८
७९ ,, —		पथ्यादित्रयाणामिन् इत्यस्य लुक्वि-धानम् ।	१००	१२-१३	९० ,, —		अत्वन्तस्याऽऽसन्तस्य च शेषे सौ दीर्घादेशः ।	१०४	९-१५
७६ आ०बो०—		नकारान्तनिर्देशस्य फलं, सुस्वाक-मतप्रदर्शनं च ।	१००	१४-१८	८८ आ०बो०—		उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१०४	१८-२१
७८ ,, —		'लि लौ' सूत्रे ल्यपिति द्विवचनेन यत्स्थितं तस्याऽऽचरितार्थता, शङ्कासमाधानं च ।	१००	१९-३१	८९ ,, —		तेषां साधनिका च ।	१०४	२२-२८
१० अ०बो०—		प्रस्तावना.			९० ,, —		तेषां साधनिका च ।	१०४	२९-३५
					९० ,, —		शङ्कासमाधानं, अभ्यादेरिति ग्रहणेन अनिनयान् इत्यस्य न्यायस्य सं-सूचनं च ।	१०४	३५-४६
					९१ त० प्र०—		कुश परस्य नुनस्तुजादेश शेषे घुटि	१०५	१-५

सूत्रम् । वृ० ना० ।	विषयः ।	पृ०	पं०
४२ त० प्र०—	आवन्तशब्दस्य एकारान्तादेश- विधानम् ।	८६	३-६
४३ „	—आमन्त्र्यविषये सिप्रत्ययेन सह ह्रस्व- विधानम् ।	८६	७-१४
४२ आ० बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	८६	१८-२३
४३ „	—उदाहरणानि, शब्दानां निष्पत्तिः, प्रत्युदाहरणानि च ।	८६	२४-४५
४४ त० प्र०—	अकारान्तादेकारान्ताच्च स्यमोः प्रत्यययोर्लुक्विधानम् ।	८७	१-५
४५ „	—इयन्तावन्तव्यञ्जनान्तेभ्यः सिप्रत्य- यलुक्विधानम् ।	८७	६-११
४४ आ० बो०—	उदाहरणानि, सिप्रहणेनैव सिद्धौ अमप्रहणप्रयोजन, तन्व्यफल- प्रदर्शनं च ।	८७	१२-२२
४५ „	—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, शब्दा- समाधान, व्यञ्जनप्रहणप्रयोजनस्य स्फुटता च ।	८७	२३-४७
४६ त० प्र०—	अमप्रत्ययस्याऽकारस्य लुक्विधानम् ।	८८	३-६
४७ „	—नामप्रत्ययपरे पूर्वस्य समानस्य दीर्घविधानम् ।	८८	७-११
४८ „	—नृशब्दस्य समानस्य नाम्परे वा दीर्घविधानम् ।	८८	१२-१३
४६ आ० बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि ।	८८	१९-२५
४७ „	— „ „ तेषां साध- निका, अप् इति प्रतिषेधो मज्जा- पयति तद्विदर्शनं च ।	८८	२६-३८
४८ „	—उदाहरणसाधनिका, वामप्रहणस्य शब्दा समाधानं च ।	८८	३९-४३
४९ त० प्र०—	शसोऽकारेण सह समानस्य दीर्घ- विधान, तत्सन्धियोगे शस सका- रस्य पुत्ति नकारविधानं च ।	८९	१-७
५० „	—अह्रस्वस्य सिप्रत्ययपरे वाऽह्रस्व- विधानम् ।	८९	८-१५
५१ „	—नीशब्दात् परस्य सिप्रत्ययस्य स्थाने आमादेशविधानम् ।	८९	१६-१७
४९ आ० बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, लिङ्गत्वलि- ङ्गश्रुतिशब्दयोरर्थयोः प्रस्फोटश्च ।	८९	१८-३१
५० „	—उदाहरणानि, प्रत्युदाहरणानि च ।	८९	३२-४१
५१ „	—ससाधनिकान्युदाहरणप्रत्युदाहर- णानि, मतान्तरं च ।	८९	४२-४५
५२ त० प्र०—	अष्टशब्दस्य वाऽऽकारान्तादेश- विधानम् ।	९०	१-६
५३ „	—अष्टाशब्दात्परयोर्जश्शसोः स्थाने आकारविधानम् ।	९०	७-११
५४ „	—जश्शसोः प्रत्यययोर्लुक्विधानम् ।	९०	१२-१४
५२ आ० बो०—	ससाधनिकान्युदाहरणप्रत्युदाहर- णानि, मतान्तराणि च ।	९०	१७-३२
५३ „	— „ „ „ „ „	९०	३३-४३
५४ „	—उदाहरणानि, तिष्ठन्ति पश्येत्यनुप्रो- गयोः प्रयोजनं च ।	९०	४४-४६
५५ त० प्र०—	नपुंसकस्य जश्शसोः स्थाने शिप्र- त्ययविधानम् ।	९१	४-८

सूत्रम् । वृ० ना० ।	विषयः ।	पृ०	पं०
५६ त० प्र०—	नपुंसकस्य औस्थाने ईप्रत्यय- विधानम् ।	९१	९-११
५७ „	—अकारान्तनपुंसकस्य स्यमोः प्रत्य- ययोः अमादेशविधानम् ।	९१	१२-१३
५८ आ० बो०—	प्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका, मतान्तरनिर्दर्शनं च ।	९१	१४-२१
५५ „	—नपुंसकशब्दस्य निष्पत्तिः, उदा- हरण, शब्दासमाधान, मतान्तर- निर्दर्शनं च ।	९१	२२-३६
५६ „	—उदाहरणे तयोः साधनिके च ।	९१	३७-४०
५७ „	—अह्रस्वस्य प्रयोजन फलनिर्दर्शनं च ।	९१	४१-४५
५४ त० प्र०—	स्यमोः प्रत्यययोः स्थाने दकारा- देशविधानम् ।	९२	४-१०
५९ „	—अकारान्तादिभिनपुंसकस्य स्यमोः प्रत्यययोर्लुक्विधानम् ।	९२	११-१४
५७ आ० बो०—	उदाहरण, अमप्रत्ययस्याऽपि अम- विधानस्य प्रयोजनस्य फलस्य च निर्दर्शनम् ।	९२	१५-२२
५८ आ० बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साध- निका च ।	९२	२३-३४
५९ „	—उदाहरण, शब्दासमाधानं च ।	९२	३५-४९
६० त० प्र०—	जरसन्तनपुंसकस्य स्यमोः प्रत्यययोर्वा लुक् ।	९३	१-४
६१ „	—नाम्यन्तनपुंसकस्य „ „ लुक् ।	९३	५-९
६० आ० बो०—	उदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९३	१०-१७
„	—मतान्तरद्वयप्रदर्शनं, मतान्तरवर्ता- नामानि च ।	९३	१७-२६
६१ „	—उदाहरणानि, तेषां साधनिका, मता- न्तरनिर्दर्शनं लुक्लुक्परेदन्तरं तस्य प्रदर्शनं च ।	९३	२७-४१
६२ त० प्र०—	अन्यतो नपुंसकस्य टादौ खरे वा पुवविधानम् ।	९४	१-१०
६३ „	—दध्यादिचतुष्टयशब्दान्तस्य ङादौ खरेऽनादेशः ।	९४	११-१५
६२ आ० बो०—	अन्यत इत्यस्य रुद्रार्थं, उदाहरण- प्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९४	१६-४२
६३ „	—उदाहरणानि ससाधनिकानि, शब्दो- त्थानं च ।	९४	४३-४८
६४ त० प्र०—	नाम्यन्तनपुंसकस्य नोऽन्त आगमः ।	९५	५-९
६३ आ० बो०—	शब्दासमाधान, उदाहरणानि ससा- धनिकानि च ।	९५	१०-२४
६४ „	—उदाहरणानि, शब्दासमाधानं च ।	९५	२५-८५
६५ त० प्र०—	खरान्तनपुंसकस्य शौ परे नोऽन्त आगमः ।	९६	३-६
६६ „	—धुन्तापुसकाच्चौ परे शुभस्य प्राग् नोऽन्तः ।	९६	७-८
६४ आ० बो०—	प्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९६	९-१६
६५ „	—ससाधनिकान्युदाहरणानि, शब्दा- समाधानं च ।	९६	१७-२७
६६ „	— „ „ „ „ „	९६	२८-४७
६७ त० प्र०—	पुन्तापुसकाच्चौ परे वा नो- ऽन्तागमः ।	९७	३-६



सूत्रम् । वृ० ना० ।	विषयः ।	पृ०	प०	सूत्रम् । वृ० ना० ।	विषयः ।	पृ०	प०
६८ त० प्र०	अधिकारसूत्रमिदं, तस्याऽधिकारस्य स्फुटता च ।	९७	७-८	७७ आ०बो०	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१००	३२-३८
६७ आ०बो०	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९७	२४-२७	७८ "	पथ्यादिद्वयस्य धकारस्य न्यादेशा- विधानं, स्थाननिर्देशप्रयोजनं च ।	१००	३९-४०
६८ "	अधिकारसूत्रमिदमित्यस्य हेतो- निर्दर्शनम् ।	९७	२८-२९	७९ "	उदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१००	४१-४५
" "	अधिकारशब्दस्य तस्याऽवधेय- परिस्फुटता ।	९७	२९-४८	८० त० प्र०	उशन शब्दस्य वा नकारो लुक् चेलादेशद्वयविधानम् ।	१०१	३-५
६९ त० प्र०	धुवन्ताश्च धातोर्धुटि परे नोऽन्त- आगमः ।	९८	१-३	८१ "	अननुद्धचतुरशब्दयोरुकारस्य वकारादेशविधानम् ।	१०१	६-९
७० "	ऋदित उदितश्च धुवन्तस्य धुटि परे नोऽन्त आगमः ।	९८	४-७	८२ "	अननुद्धचतुरशब्दयोरुकारस्य वाकारादेशविधानम् ।	१०१	१०-१४
७१ "	युजुपीधातोर्धुवन्तस्य धुटि परे नोऽन्त आगमः ।	९८	८-१२	८३ "	सखियाब्दस्योकारस्य शोषे धुटि परे ऐकारादेश विधानम् ।	१०१	१५-१६
७२ "	धुवन्तस्याऽननुद्ध सौ धुटि परे नोऽन्त आगमः ।	९८	१३-१५	८० आ०बो०	उशन शब्दस्य निष्पत्तिः, उदा- हरणप्रत्युदाहरणानि च ।	१०१	२०-२४
६९ आ०बो०	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९८	१६-२१	८१ "	धुटि-इत्यधिकारस्याऽऽगमनेऽपि तस्याऽनागमनस्य हेतोर्निर्दर्शनं, द्वे उदाहरणे, तयोः साधनिका च ।	१०१	२५-३१
७० "	" " " "	९८	२२-२९	८२ आ०बो०	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१०१	३२-३८
" "	पुयग्योगस्य प्रयोजनं फलं च ।	९८	२९-	८४ त० प्र०	शकारान्तादिभ्यः शोषसेर्वाविधानम् ।	१०२	५-९
७१ "	निर्दर्शनं उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९८	३०-३६	८५ "	शोषधुटि परे नकारात् पूर्वस्वरस्य दीर्घादेशः ।	१०२	१०-१४
७२ "	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९८	३७-४३	८६ "	अन्तस्य महत्त्वस्वरस्य शोषे धुटि दीर्घादेशः ।	१०२	१५-१७
७३ त० प्र०	पुस्रशब्दस्य धुटि परे पुमन्सादेश- विधानम् ।	९९	१-४	८३ आ०बो०	शङ्कासमाधानं, प्रत्युदाहरणे, इह- हणेन न्यायद्वयस्य विद्यमानताया संस्मरणं च ।	१०२	१८-२५
७४ "	ओकारस्य धुटि परे औकारादेश- विधानम् ।	९९	५-८	८४ "	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि ।	१०२	२६-३३
७५ "	ओकारस्य अम्शसोरकारेण सह आकारादेशविधानम् ।	९९	९-११	८५ "	" " " " तेषां साधनिका च ।	१०२	३४-४१
७६ "	पथ्यादित्रयाणां सौ परे आकारा- न्तादेशविधानम् ।	९९	१२-२४	८७ त० प्र०	अन्तादीनां स्वरस्य शोषे सौ च दीर्घादेशः ।	१०३	४-९
७३ आ०बो०	उदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९९	१५-२१	८६ आ०बो०	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१०३	१०-२०
७४ "	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	९९	२२-३०	८७ "	उदाहरणानि, " " " "	१०३	२१-२८
७५ "	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	९९	३१-३४	" "	अनेन सूत्रेण यस्मिन्मो जातस्त्वस्य स्फोटः ।	१०३	२८-३२
" "	अताग्रहणामावे भविष्यमाणानिष्टस्य- निर्दर्शनम् ।	९९	३४-३६	" "	शङ्कासमाधानं, प्रत्युदाहरणानि च ।	१०३	३२-४७
७६ "	उदाहरणसाधनिका, प्रत्युदाहरण, शङ्कासमाधानं च ।	९९	३७-४४	८८ त० प्र०	अप स्वरस्य शोषे धुटि दीर्घविधानम् ।	१०४	३-५
७७ त० प्र०	पथ्यादित्रयाणां धुटि परे आकारा- देशविधानम् ।	१००	३-८	८९ "	" " " " नकारागमे वा " " " "	१०४	६-८
७८ "	पथिन्माथिन्त्यस्य धुटि परे न्यादेश- विधानम् ।	१००	९-११	९० "	अवन्तस्याऽऽन्तस्य च शोषे सौ दीर्घादेशः ।	१०४	९-१५
७९ "	पथ्यादित्रयाणामिह इत्यस्य छवि- धानम् ।	१००	१२-१३	८८ आ०बो०	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१०४	१८-२१
७६ आ०बो०	नकारान्तनिर्देशस्य फलं, सुखाकर- मतप्रदर्शनं च ।	१००	१४-१८	८९ "	" " " " " "	१०४	२२-२८
" "	" " " " सूत्रे ल्यविति द्विवचनेन यत्प्रचितं तस्याऽऽन चरितार्थता, शङ्कासमाधानं च ।	१००	१९-३१	९० "	" " " " " "	१०४	२९-३५
				९० "	शङ्कासमाधानं, अभ्यादेरिति ग्रहणेन अनिनस्रम् इत्यस्य न्यायस्य स- सूचनं च ।	१०४	३५-४६
				९१ त० प्र०	कुथ परस्य तुनस्तृजादेश शोषे धुटि पुष्टिः ।	१०५	१-५

सूत्रम् । पृ० ना० ।	विषयः ।	पृ०	पं०	सूत्रम् । पृ० ना० ।	विषयः ।	पृ०	पं०
४२ त० प्र०—	आयन्तशब्दस्य एकारान्तादेश- विधानम् ।	८६	३-६	५६ त० प्र०—	नपुंसकस्य औस्थाने ईप्रत्यय- विधानम् ।	९१	९-११
४३ ,, —	आमप्रत्ययविषये सिप्रत्ययेन सह ह्रस्व- विधानम् ।	८६	७-१४	५७ ,, —	अकारान्तनपुंसकस्य स्यमो प्रत्य- ययो भमादेशविधानम् ।	९१	१२-१३
४२ आ० बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	८६	१८-२३	५८ आ० बो०—	प्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका, मतान्तरनिदर्शनं च ।	९१	१४-२१
४३ ,, —	उदाहरणानि, शब्दानां निष्पत्ति, प्रत्युदाहरणानि च ।	८६	२४-४५	५५ ,, —	नपुंसकशब्दस्य निष्पत्ति, उदा- हरण, शङ्कासमाधान, मतान्तर- निदर्शनं च ।	९१	२२-३६
४४ त० प्र०—	अकारान्तविकारान्ताप्य स्यमो प्रत्यययोर्लुग्विधानम् ।	८७	१-५	५६ ,, —	उदाहरणे तयो साधनिके च ।	९१	३७-४०
४५ ,, —	इधन्तायन्तव्यञ्जगन्तेभ्य सिप्रत्य- यलुग्विधानम् ।	८७	६-११	५७ ,, —	अद्ग्रहणस्य प्रयोजन फलनिदर्शनं च,	९१	४१-४५
४४ आ० बो०—	उदाहरणानि, सिप्रहणेनैव सिद्धौ अमप्रहणप्रयोजन, तज्जन्यफल- प्रदर्शनं च ।	८७	१२-२२	५४ त० प्र०—	स्यमो प्रत्यययो स्थाने दकारा- देशविधानम् ।	९२	४-१०
४५ ,, —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, शङ्का- समाधान, व्यञ्जनप्रहणप्रयोजनस्य स्फुटता च ।	८७	२३-४७	५९ ,, —	अकारान्तादिभनपुसकस्य स्यमो प्रत्यययोर्लुग्विधानम् ।	९२	११-१४
४६ त० प्र०—	अमप्रत्ययस्याऽकारस्य लुग्विधानम् ।	८८	३-६	५७ आ० बो०—	उदाहरण, अमप्रत्ययस्याऽपि अम विधानस्य प्रयोजनस्य फलस्य च निदर्शनम् ।	९२	१५-२२
४७ ,, —	नामप्रत्ययपरे पूर्वस्य समानस्य कीर्धविधानम् ।	८८	७-११	५८ आ० बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साध- निका च ।	९२	२३-३४
४८ ,, —	नृशब्दस्य समानस्य नाम्परे वा कीर्धविधानम् ।	८८	१२-१३	५९ ,, —	उदाहरण, शङ्कासमाधानं च ।	९२	३५-४९
४६ आ० बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि ।	८८	१९-२५	६० त० प्र०—	जरसन्तनपुसकस्य स्यमो प्रत्यययोर्वा लुप् ।	९३	१-४
४७ ,, —	,, ,, तेषां साध- निका, अम इति प्रतिषेधो यञ्ज्ञा- पयति तन्निदर्शनं च ।	८८	२६-३८	६१ ,, —	नाम्यन्तनपुसकस्य ,, ,, लुक् ।	९३	५-९
४८ ,, —	उदाहरणसाधनिका, नामप्रहणस्य शङ्का समाधानं च ।	८८	३९-४३	६० आ० बो०—	उदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९३	१०-१७
४९ त० प्र०—	शसोऽकारेण सह समानस्य कीर्ध- विधान, तत्सन्धियोगे शस सका- रस्य पुसि नकारविधानं च ।	८९	१-७	,, ,, —	मतान्तरद्वयप्रदर्शन, मतान्तरवतां नामानि च ।	९३	१७-२६
५० ,, —	अह्रस्वशब्दस्य छिप्रत्ययपरे वाऽह्रस्व- विधानम् ।	८९	८-१५	६१ ,, —	उदाहरणानि, तेषां साधनिका, मता- न्तरनिदर्शनं लुक्छोर्धदन्तरं तस्य प्रदर्शनं च ।	९३	२७-४१
५१ ,, —	नीशब्दात् परस्य छिप्रत्ययस्य स्थाने आमादेशविधानम् ।	८९	१६-१७	६२ त० प्र०—	अन्यतो नपुसकस्य टादौ खरे वा पुवद्विधानम् ।	९४	१-१०
४९ आ० बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, लिङ्गत्वलि- ङ्गवृत्तित्वशब्दयोरर्थयो प्रस्फोटश्च	८९	१८-३१	६३ ,, —	दध्यादिचतुष्टयशब्दान्तस्य टादौ खरेऽनादेश ।	९४	११-१५
५० ,, —	उदाहरणानि, प्रत्युदाहरणानि च ।	८९	३२-४१	६२ आ० बो०—	अन्यत इत्यस्य स्वार्थ्य, उदाहरण- प्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९४	१६-४२
५१ ,, —	ससाधनिकान्युदाहरणप्रत्युदाहर- णानि, मतान्तरं च ।	८९	४२-४५	६३ ,, —	उदाहरणानि ससाधनिकानि, शङ्का- त्यानं च ।	९४	४३-४८
५२ त० प्र०—	अष्टनृशब्दस्य वाऽऽकारान्तादेश- विधानम् ।	९०	१-६	६४ त० प्र०—	नाम्यन्तनपुसकस्य नोऽन्त आगम ।	९५	५-९
५३ ,, —	अष्टाशब्दात्परयोर्जस्वासो- स्थाने आकारविधानम् ।	९०	७-११	६३ आ० बो०—	शङ्कासमाधान, उदाहरणानि ससा- धनिकानि च ।	९५	१०-२४
५४ ,, —	जस्वासो प्रत्यययोर्लुग्विधानम् ।	९०	१२-१४	६४ ,, —	उदाहरणानि, शङ्कासमाधानं च ।	९५	२५-४५
५२ आ० बो०—	ससाधनिकान्युदाहरणप्रत्युदाहर- णानि, मतान्तराणि च ।	९०	१७-३२	६५ त० प्र०—	खरान्तनपुसकस्य शौ परे नोऽन्त आगम ।	९६	३-६
५३ ,, —	,, ,, ,, ,, ,, ,,	९०	३३-४३	६६ ,, —	पुढन्ताक्षपुसकाच्छौ परे पुढ्म्य प्राग्नोऽन्त ।	९६	७-८
५४ ,, —	उदाहरणानि, तिष्ठन्ति पदयैत्यनुप्रयो- गयो प्रयोजनं च ।	९०	४४-४६	६४ आ० बो०—	प्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९६	९-१६
५५ त० प्र०—	नपुंसकस्य जस्वासो स्थाने छिप्र- त्ययविधानम् ।	९१	४-८	६५ ,, —	ससाधनिकान्युदाहरणानि, शङ्का- समाधानं च ।	९६	१७-२२
				६६ ,, —	,, ,, ,, ,, ,, ,,	९६	२३-४७
				६७ त० प्र०—	पुढन्ताक्षपुसकाच्छौ परे वा नो- ऽन्तागम ।	९७	३-६

सूत्रम् । वृ० ना० ।	विषयः ।	पृ०	प०
६८ त० प्र०—	अधिकारसूत्रमिदं, तस्याऽधिकारस्य स्फुटता च ।	९७	७-८
६७ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९७	२४-२७
६८ ,, —	अधिकारसूत्रमिदमित्यस्य हेतोर्निर्देशनम् ।	९७	२८-२९
७० ,, —	अधिकारशब्दस्य तस्याऽवधेयपरिस्फुटता ।	९७	२९-४८
६९ त० प्र०—	धुवन्ताश्च धातोर्धुति परे नोऽन्त आगम ।	९८	१-३
७० ,, —	ऋदित उदितश्च धुवन्तस्य धुति परे नोऽन्त आगम ।	९८	४-७
७१ ,, —	युजुंपीधातोर्धुवन्तस्य धुति परे नोऽन्त आगम ।	९८	८-१२
७२ ,, —	धुवन्तस्याऽनङ्गह सौ धुति परे नोऽन्त आगम ।	९८	१३-१५
६९ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९८	१६-२१
७० ,, —	” ” ” ” ” ”	९८	२२-२९
७१ ,, —	पृथग्योगस्य प्रयोजनं फल च	९८	२९-
७१ ,, —	निर्देशन उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९८	३०-३६
७२ ,, —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९८	३७-४३
७३ त० प्र०—	पुसुशब्दस्य धुति परे पुमन्सादेश-विधानम् ।	९९	१-४
७४ ,, —	ओकारस्य धुति परे ओकारादेश-विधानम् ।	९९	५-८
७५ ,, —	ओकारस्य अम्भसोरकारेण सह आकारादेशविधानम् ।	९९	९-११
७६ ,, —	पथ्यादित्रयाणां सौ परे आकारान्तादेशविधानम् ।	९९	१२-२४
७३ आ०बो०—	उदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९९	१५-२१
७४ ,, —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	९९	२२-३०
७५ ,, —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	९९	३१-३४
७६ ,, —	अताग्रहणाभावे भविष्यमाणानिष्ठत्व-निर्देशनम् ।	९९	३४-३६
७६ ,, —	उदाहरणसाधनिका, प्रत्युदाहरण, शङ्कासमाधान च ।	९९	३७-४४
७७ त० प्र०—	पथ्यादित्रयाणां धुति परे आकारा-देशविधानम् ।	१००	३-८
७८ ,, —	पथिन्मथिन्यस्य धुति परे न्यादेश-विधानम् ।	१००	९-११
७९ ,, —	पथ्यादित्रयाणामिन् इत्यस्य लुग्वि-धानम् ।	१००	१२-१३
७६ आ०बो०—	नकारान्तनिर्देशस्य फल, सुखाकर-मतप्रदर्शन च ।	१००	१४-१८
७७ ,, —	“लि ली” सूत्रे ल्यविति द्विवचनेन यत्स्मिन् तस्याऽत्र चरितार्था, शङ्कासमाधान च ।	१००	१९-३१
१० शब्दानु०	प्रस्तावना.		
सूत्रम् । वृ० ना० ।	विषयः ।	पृ०	प०
७७ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१००	३२-३८
७८ ,, —	पथ्यादिद्वयस्य थकारस्य न्यादेश-विधान, स्थाननिर्देशप्रयोजन च ।	१००	३९-४०
७९ ,, —	उदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१००	४१-४५
८० त० प्र०—	उशन शब्दस्य वा नकारो लृक् चेत्यादेशद्वयविधानम् ।	१०१	३-५
८१ ,, —	अनङ्गहचतुर्शब्दयोरुकारस्य वकारादेशविधानम् ।	१०१	६-९
८२ ,, —	अनङ्गहचतुर्शब्दयोरुकारस्य वाकारादेशविधानम् ।	१०१	१०-१४
८३ ,, —	सथिश्चब्दस्येकारस्य शेषे गुटि परे ऐकारादेश विधानम् ।	१०१	१५-१६
८० आ०बो०—	उदान शब्दस्य निष्पत्ति, उदा-हरणप्रत्युदाहरणानि च ।	१०१	२०-२४
८१ ,, —	धुति-इत्यधिकारस्याऽऽगमनेऽपि तस्याऽनागमनस्य हेतोर्निर्देशन, द्वे उदाहरणे, तयो साधनिका च ।	१०१	२५-३१
८२ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१०१	३२-३८
८४ त० प्र०—	श्रकारान्तादिभ्यः शेषसेर्वाविधानम् ।	१०२	५-९
८५ ,, —	शेषधुति परे नकारात् पूर्वस्वरस्य वीर्घादेश ।	१०२	१०-१४
८६ ,, —	तन्तस्य महत्तश्च स्वरस्य शेषे धुति वीर्घादेश ।	१०२	१५-१७
८३ आ०बो०—	शङ्कासमाधान, प्रत्युदाहरणे, इद्व-हणेन न्यायद्वयस्य विद्यमानताया संसूचन च ।	१०२	१८-२५
८४ ,, —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि ।	१०२	२६-३३
८५ ,, —	” ” ” ” तेषां साधनिका च ।	१०२	३४-४१
८७ त० प्र०—	इनन्तादीनां स्वरस्य शौ शेषे सौ च वीर्घादेश ।	१०३	४-९
८६ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१०३	१०-२०
८७ ,, —	उदाहरणानि, ” ” ” ”	१०३	२१-२८
८८ ,, —	अनेन सूत्रेण यन्त्रियमो जातस्त्वस्य स्फोट ।	१०३	२८-३२
८९ ,, —	शङ्कासमाधान, प्रत्युदाहरणानि च ।	१०३	३२-४७
८८ त० प्र०—	अप स्वरस्य शेषे धुति वीर्घविधानम् ।	१०४	३-५
८९ ,, —	” ” ” ” नकारागमे वा ” ” ” ”	१०४	६-८
९० ,, —	अवन्तास्याऽसन्तस्य च शेषे सौ वीर्घादेश ।	१०४	९-१५
८८ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१०४	१८-२१
८९ ,, —	” ” ” ” ” ” ” ”	१०४	२२-२८
९० ,, —	” ” ” ” ” ” ” ”	१०४	२९-३५
९० ,, —	शङ्कासमाधानं, अभ्नादेरिति ग्रहणेन अनिनसन् इत्यस्य न्यायस्य सं-सूचन च ।	१०४	३५-४६
९१ त० प्र०—	श्रुता परस्य तुनस्तुजादेश शेषे धुति		</

सूत्रम् ।	वृ० ना० ।	विषय ।	पृ०	पं०
५२ त० प्र०—	कुश परस्य तुनस्तृजादेशो वा रादौ	खरे । १०५ ६-१०		
५३ „ — „	तुनस्तृजादेशं स्त्रियाम् १०५ ११-१३			
५१ आ० बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१०५ १६-२५		
५२ „ —	उदाहरणानि, शङ्कासमाधानं च । १०५ २६-४१			
५३ „ —	घुटि-इत्यस्य स्यादौ-इत्यस्य चाऽनुवर्तनस्याऽभावस्य स्पष्टीकरणम् । १०५ ४२-४६			
५३ त० प्र०—	पद्मकोट्टीभी रथैरित्यस्य साधनिका, पादसमाप्तिसूचकश्लोक ।	१०६ १-१०		
५३ आ० बो०—	निर्मित्तादिषाविधानस्य स्पष्टीकरण, शङ्कासमाधानं च ।	१०६ ११-२१		
„ „ —	श्लोकस्य सान्वय परमार्थ । १०६ २२-२५			
„ „ —	आनन्दबोधिनीवृत्तिकारस्य सङ्क्षेपेण परिचय, चतुर्थपादसमाप्ति, प्रथमाध्यायसमाप्तिश्च ।	१०६ २६-३०		

### द्वितीयाऽध्याये प्रथमपादः । १०७-१५५

१ त० प्र०—	त्रिचतुरशब्दयो स्यादौ परे तिस्रचतस्रादेश ।	१०७ ३-१३
२ „ —	तिस्रचतस्रशब्दयो षड्कारस्य वा रकारादेश ।	१०७ १४-१५
१ आ० बो०—	उदाहरणानि ससाधनिकानि ।	१०७ १६-२९
„ „ —	शङ्कानां सविस्तरसुत्तराणि ।	१०७ २९-४३
३ त० प्र०—	जराशब्दस्य खरादौ स्यादौ वा जरसादेश ।	१०७ ११-१८
२ आ० बो०—	शङ्कासमाधान, उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, मतान्तरनिर्देशनं च ।	१०८ १९-३४
३ „ —	जराशब्दस्य ससिद्धि, उदाहरणानि, शङ्कासमाधानं च ।	१०८ ३५-४७
४ त० प्र०—	अपृशब्दस्य भकारादौ स्यादौ अदादेश ।	१०९ ३-५
५ „ —	रैशब्दस्य व्यञ्जनादौ स्यादौ आकारान्तादेश ।	१०९ ६-९
६ „ —	युष्मदस्मच्छब्दयोर्व्यञ्जनादौ स्यादौ आकारान्तादेश ।	१०९ १०-१४
४ आ० बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१०९ १९-२६
५ „ —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च शङ्कासमाधानं च ।	१०९ २७-३३
६ „ —	उदाहरणानि ससाधनिकानि ।	१०९ ३४-४६
७ त० प्र०—	युष्मदस्मच्छब्दयोश्चोष्पोपि परे यकारान्तादेश ।	११० ३-७
८ „ —	युष्मदस्मच्छब्दयोश्चोष्पोपि स्यादौ उगन्तादेश ।	११० ८-१२
९ „ —	युष्मदस्मच्छब्दयोर्मैकारान्तयोर्मैकारस्य वा लृक् ।	११० १३-१४
७ आ० बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	११० १७-२७
८ „ — „ „ „ „		११० २८-४२

सूत्रम् । वृ० ना० ।	विषय ।	पृ० पं०
१० त० प्र०—	युष्मदस्मदोर्मन्तयोर्द्वित्वेऽयं युवावादेशौ ।	१११ १०-१५
९ आ० बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका, भिन्नभिन्नान्यायाश्रयणाज्जातानि रूपाणि, मतान्तरप्रदर्शनं च ।	१११ १६-२५
१० „ —	सूत्रार्थस्पष्टीकरणमुदाहरणानि च ।	१११ २६-४५
„ त० प्र०—	उदाहरणानि, प्रत्युदाहरणानि च ।	११२ १-८
११ „ —	युष्मदस्मदोर्मकारान्तयोरेकस्मिन् त्वमादेश ।	११२ ९-१८
१० आ० बो०—	शङ्कासमाधान, तेन जायमानानि रूपाणि च ।	११२ १९-३०
११ „ —	उदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	११२ ३१-४४
११ त० प्र०—	सोदाहरणस्य मतान्तरस्य निर्देशनं, बहिराज्ञाप्तिं लुबितिन्यायज्ञापनं च ।	११३ १-६
१२ „ —	युष्मदस्मदो सिना सह त्वमहमादेशौ ।	११३ ९-१८
११ आ० बो०—	प्रत्युदाहरण, शङ्कासमाधानं च ।	११३ १९-३४
१२ „ —	उदाहरणे, शङ्कासमाधानं, मतान्तरवर्ता सूत्राणि च ।	११३ ३५-४५
१३ त० प्र०—	युष्मदस्मदो जसा सह यूयवयमादेशौ ।	११४ १-५
१४ „ — „ „	क्या सह जुभ्यमम्यमादेशौ ।	११४ ६-१०
१५ „ — „ „	क्या सह तवममादेशौ ।	११४ ११-१४
१६ „ —	युष्मदस्मत्परयो अम्यौप्रत्यययोर्मादेश ।	११४ १५-१७
१७ „ — „ „	शस्प्रत्ययस्य नादेश ।	११४ १८-१९
१३ आ० बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	११४ २०-२६
१४ „ — „ „ „ „		११४ २७-३१
१५ „ —	उदाहरणानि, तेषां साधनिका, शङ्कासमाधानं च ।	११४ ३२-३४
१६ „ —	उदाहरणे, तयो साधनिका च ।	११४ ३५-३९
१८ त० प्र०—	युष्मदस्मदभ्यां परस्य चतुर्थीभ्यस्त अभ्यमादेश ।	११५ ३-६
१९ „ — „ „	पञ्चमीभ्यसो ऋसेष्वाऽदादेश ।	११५ ७-११
२० „ — „ „	आम स्थाने साकमादेश ।	११५ १२-१७
१७ आ० बो०—	उदाहरण शङ्कासमाधानं च ।	११५ १८-२१
१८ „ — „ „	अकाराद्यादेश-करणकारणविवरणं च ।	११५ २२-२८
१९ „ —	उदाहरणानि, शङ्कासमाधानं च ।	११५ २९-३९
२० „ — „ „	मतान्तरनिर्देशनं च ।	११५ ४०-४८
२१ त० प्र०—	युष्मिभ्यस्त्या सह युष्मदस्मदोर्महत्वे वा घञसादेशौ ।	११६ १-१४
२१ आ० बो०—	पदयुग्मावयवशब्दानां स्पष्टार्थ ।	११६ १५-२१
२१ „ —	शङ्कासमाधान, उदाहरणप्रत्युदाहरणानि ।	११६ २२-४५

सूत्रम् । वृ०ना० ।	विषय ।	पृ०	प०	सूत्रम् । वृ०ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
२१ आ० बो०—	बहुत्वग्रहणप्रयोजनस्य निदर्शनं च ।	११६	४५-४८	३५ त० प्र०—	इदं शब्दोऽन्वादेशे व्यञ्जनादौ		
२२ त० प्र०—	युग्विभक्त्या सह युष्मदस्मदोर्द्वित्वे				स्यादौ परेऽद् स्यात् ।	१२२	१२-२०
	वा वाप्रावादेशौ ।	११७	३-८	३४ आ० बो०—	मतान्तरनिर्दर्शनं योगविभागस्य		
२३ „	—हेत्सुभ्यां सह युष्मदस्मदोर्वा ते				कारणं च ।	१२२	२४ ३१
	मे इत्येतावादेशौ ।	११७	९-१६	३५ „	—उदाहरणं तस्य साधनिका, शङ्का-		
२४ „	—अम्प्रत्ययेन सह युष्मदस्मदोर्वा				समाधानं च ।	१२२	३२-४४
	त्वा मा इत्येतावादेशौ ।	११७	१७-२०	३६ त० प्र०—	व्यञ्जनादौ स्यादौ परेऽवर्जित इदम्		
२५ „	—युष्मदस्मदभ्यां पूर्वमामन्त्र्य पदम्-				अद्भवति ।	१२३	१-७
	सदिव भवति ।	११७	२१-२२	३७ „	—अवर्जितस्येदम् स्थाने टायामोसि		
२२ आ० बो०—	अनुवर्तमानानां पदानां निदर्शनं				च परे अनादेशः ।	१२३	८-११
	ततश्चाऽन्वयः ।	११७	२७-२९	३८ „	—सौ परे इदम् स्थाने पुञ्जियो		
२३ „	—हेत्सा-इत्येकवचनस्य प्रयोजननिर्द-				अयमियमौ आदेशाः ।	१२३	१२-१७
	र्शनं, शङ्कासमाधानं च ।	११७	३०-३५	३६ आ० बो०—	उदाहरणं, प्रत्युदाहरणं शङ्कासमा-		
२४ „	—अनुवर्तमानपदनिर्दर्शनं, सर्वेषां				धानं च ।	१२३	१८-३३
	पदानामन्वयश्च ।	११७	३६-३९	३७ „	—उदाहरणं तस्य साधनिका च ।	१२३	३४-३६
२५ „	—सूत्रस्थचतुर्णां पदानां स्पष्टार्थः ।	११७	४०-४३	३८ „	—शङ्कासमाधानं मतान्तरप्रदर्शनं च ।	१२३	३७-४६
२६ त० प्र०—	युष्मदस्मदभ्यां पूर्वं जसन्तमामन्त्र्य			३९ त० प्र०—	स्यादौ परे इदम् दकारस्य मकारा-		
	वाऽसदिव स्यात् ।	११८	१०-१७		देशः ।	१२४	१-३
२५ आ० बो०—	शङ्कासमाधानं, इवग्रहणस्य प्रयोजनं,			४० „	—स्यादौ तसादौ च परे किम् कादेशः ।	१२४	४-९
	प्रत्युदाहरणानि च ।	११८	१८-३४	४१ „	—द्विपर्यन्तस्यदादीनां स्यादौ तसादौ		
२६ „	—विशेष्यविशेषणयोर्व्युत्पत्त्यर्थं				चाऽकारादेशः ।	१२४	१०-१४
	प्रत्युदाहरणानि च ।	११८	३५-४८	३९ आ० बो०—	उदाहरणं, तस्य साधनिका, शङ्का-		
२७ त० प्र०—	जसन्तादन्यदामन्त्र्य पदमसदिव				समाधानं च ।	१२४	१५-१९
	न भवति ।	११९	१-७	४० „	—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां		
२८ „	—पादाद्योर्युष्मदस्मदोर्वैजसाद्यादेश-				साधनिका च ।	१२४	२०-२६
	निषेधः ।	११९	८-१२	४० „	—शङ्कोत्पादनं ततः शङ्कोन्मूलनं च ।	१२४	२६-३२
२९ „	—चादिभिर्योगे युष्मदस्मदोर्वैजसाद्या-			४१ „	—उदाहरणं प्रत्युदाहरणं तयोः साध-		
	देशनिषेधः ।	११९	१३-१८		निका, शङ्कासमाधानं च ।	१२४	३३-४६
२७ आ० बो०—	उदाहरणं, शङ्कासमाधानमेकवा-			४२ त० प्र०—	द्विपर्यन्तस्यदादीनां सौ परे तकारस्य		
	क्यत्वस्य स्फोटश्च ।	११९	१९-२६		सकारादेशः ।	१२५	१-४
२८ „	—पादशब्दस्याऽर्थं, पादाद्योरितिद्वि-			४३ „	—अदसो दकारस्य सौ परे सकार-		
	वचनस्य प्रयोजनं, पान्तु-इत्यादि-				सेधं हो भवति ।	१२५	५-१०
	श्लोकस्य टीकयाऽर्थप्रदर्शनं च ।	११९	२७-४०	४४ „	—अदस्शब्दस्याऽङि सति सौ परे		
२९ „	—उदाहरणानि ।	११९	४१-४४		वाऽङुकादेशः ।	१२५	११-१२
३० त० प्र०—	इत्यर्थैर्धातुभिर्योगे वज्रसाद्यादेश-			४२ आ० बो०—	सूत्रस्थपदत्रयमनुवर्तमानपदद्वय		
	निषेधः ।	१२०	४-१२		च सम्मित्य पक्षपथा अन्वयः,		
३१ „	—अन्वादेशे नित्यं वज्रसाद्यादेशानां				भवतीप्रत्युदाहरणहेतुदर्शनं च ।	१२५	२१-२२
	विधानम् ।	१२०	१३-१८	४३ „	—उदाहरणे, विस्तरेण शङ्कासमा-		
२९ आ० बो०—	योगग्रहणस्य प्रयोजनस्य निदर्शनम् ।	१२०	१९-२४		धानं च ।	१२५	२३-४१
३० „	—इत्यर्थशब्दस्य समासं प्रत्यु-			४४ „	—सूत्रस्याऽन्वय उदाहरणं च ।	१२५	४२-४३
	दाहरणं च ।	१२०	२५-३१	४५ त० प्र०—	अवर्णान्तस्याऽदं शब्दस्य दकारस्य		
३१ „	—अन्वादेशशब्दस्याऽर्थो नित्यशब्द-				मकारादेशः ।	१२६	३-७
	ग्रहणस्य प्रयोजनं च ।	१२०	३२-४५	४६ „	—आश्रयन्ते सत्यं शब्दस्य वा		
३२ त० प्र०—	विद्यमानपूर्वपदात्प्रथमान्तादन्वादेशे				दकारस्य मकारादेशः ।	१२६	८-११
	युष्मदस्मदोर्वा वज्रसाद्य आदेशाः ।	१२१	१-१२	४७ „	—अदसो मकारात् परस्य वर्णस्यो-		
३३ „	—एतच्छब्दस्याऽन्वादेशे द्वितीयाया				वर्णादेशः ।	१२६	१२-१७
	टायामोसि चैनदादेशविधानम् ।	१२१	१३-२२	४५ आ० बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां		
३२ आ० बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि ।	१२१	२३-३१		साधनिका, शङ्कासमाधानं च ।	१२६	२०-३०
३३ „	—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि अन्वादेशस्य			४६ „	—अदं शब्दस्याऽङिश्चान्दागमे सति		
	स्पष्टार्थश्च ।	१२१	३२-४३		दकारस्य वा मकारः ।	१२६	३१-३६
३४ त० प्र०—	इदं शब्दस्याऽन्वादेशे द्वितीयायां			४७ „	—उदाहरणानि तेषां साधनिका, अनु-		
	टायामोसि चैनदादेशविधानम् ।	१२२	३-११		ग्रहणस्य फलं च ।	१२६	३७-४७

सूत्रम् । पृ० ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
४८ त० प्र०—	अद शब्दस्य मात् परस्येनदेशात् प्रागेवोवर्णदेश ।	१२७	१—३
४९ ,, —	अदसो मकारात् परस्य बहुवचनस्ये- कारस्य ईकारादेश ।	१२७	४—७
५० ,, —	घातोदिवर्णोवर्णयोः स्थाने खरादौ प्रत्यये ह्युवादेशौ ।	१२७	८—१२
४८ आ०बो०—	शङ्कासमाधानमुदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१२७	१५—२०
४९ ,, —	,, ,, मुदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	१२७	२१—३०
५० ,, —	,, ,, मुदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	१२७	३१—४५
५१ त० प्र०—	इणो घातो खरादौ प्रत्यये ह्यादेश ।	१२८	१—४
५२ ,, —	घातो सयोगात् परस्य घातोदिवर्णो- वर्णस्य खरादौ प्रत्यये परे ह्युवा- देशौ ।	१२८	५—८
५३ ,, —	भ्रूक्षोरवर्णस्य सयोगात् परस्य खरादौ प्रत्यये उवादेश ।	१२८	९—१२
५४ ,, —	ब्रीशब्दस्येवर्णस्य खरादौ प्रत्यये ह्यादेश ।	१२८	१३—१५
५१ आ०बो०—	शङ्कासमाधानमुदाहरणप्रत्युदाहर- णानि तेषां साधनिका च ।	१२८	१६—२३
५२ ,, —	शङ्कासमाधानमुदाहरणप्रत्युदाहर- णानि तेषां साधनिका च ।	१२८	२४—३६
५३ ,, —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साध- निका च ।	१२८	३७—४१
५४ ,, —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साध- निका च ।	१२८	४२—४६
५५ त० प्र०—	ब्रीशब्दस्येवर्णस्याऽसि शसि च्या- देशो वा स्यात् ।	१२९	३—६
५६ ,, —	अनेकस्वरस्य घातोदिवर्णस्य खरादौ प्रत्यये यकारादेश ।	१२९	७—११
५७ ,, —	,, ,, घातोदिवर्णस्य खरादौ स्यादौ वकारादेश ।	१२९	१२—१४
५८ ,, —	घातोदिवर्णोवर्णस्य खरादौ स्यादौ यकारवकारादेशौ ।	१२९	१५—१८
५५ आ०बो०—	उदाहरणानि ससाधनिकानि, शङ्का- समाधान च ।	१२९	२४—३१
५६ ,, —	उदाहरणानि प्रत्युदाहरणानि च ।	१२९	३२—३८
५७ ,, —	,, ,, ,, ,,	१२९	३९—४२
५८ त० प्र०—	,, ,, ,, ,,	१३०	१—४
५९ ,, —	भूधातोदिवर्णस्य खरादौ स्यादौ परे वकारादेश ।	१३०	५—१०
६० ,, —	णत्वशास्त्रस्य षत्वशास्त्रस्य चाऽस- त्त्वविधानम् ।	१३०	११—१३
५८ आ०बो०—	उदाहरणानि शङ्कासमाधान मता- न्तरनिर्देशन च ।	१३०	१४—२६
५९ ,, —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साध- निका, मतान्तरप्रदर्शन नियमस्य निर्देशन च ।	१३०	२४—३८
६० ,, —	सूत्रस्य सुरुपार्थ, शङ्कासमाधान च ।	१३०	३९—४७

सूत्रम् । पृ० ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
६० त० प्र०—	उदाहरणानि, अधिकारद्वयस्या- ऽवधेर्निर्देशन च ।	१३१	१—३
६१ ,, —	षकारादन्यस्मिन् षादेशस्याऽसत्त्व- विधानम् ।	१३१	४—५
६० आ०बो०—	शङ्कासमाधानमुदाहरणानि ससाध- निकानि च ।	१३१	६—४४
६१ ,, —	सूत्रस्य सुरुपार्थ ।	१३१	४५—४९
६१ त० प्र०—	उदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	१३२	१—९
६२ ,, —	षकारादकारयोः सकारे परे ककारादेश ।	१३२	१०—१३
६१ आ०बो०—	उदाहरणानि प्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	१३२	१४—३०
६२ ,, —	उदाहरणानि प्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	१३२	३१—४२
६३ त० प्र०—	भ्वादे रेफवकारयोः परयोर्भ्वादे- र्नामिनो व्यञ्जने परे दीर्घादेश ।	१३३	१—८
६४ ,, —	भ्वादे रेफवकारयोः परयोर्भ्वादे- र्नामिनो पदान्ते दीर्घादेश ।	१३३	९—१०
६३ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१३३	११—४२
६५ त० प्र०—	यकारादितदिते परे वो परयो- र्नामिनो दीर्घनिषेध ।	१३४	३—८
६६ ,, —	कुक्कुटोर्नामिनो रेफे परे दीर्घ- निषेध ।	१३४	९—१०
६४ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	१३४	११—१८
६५ ,, —	,, ,, शङ्कासमा- धान च ।	१३४	१९—३९
६६ ,, —	उदाहरणानि ससाधनिकानि ।	१३४	४०—४४
६७ त० प्र०—	मकारान्तस्य भ्वादे पदान्ते मका- रवकारयोश्च न स्यात् ।	१३५	४—८
६८ ,, —	असाधीनां चतुर्णां पदान्ते दका- रादेश ।	१३५	९—१२
६६ आ०बो०—	प्रत्युदाहरणानि ससाधनिकानि ।	१३५	१३—१८
६७ ,, —	उदाहरणानि तेषां साधनिका शङ्कासमाधान च ।	१३५	१९—३५
६८ ,, —	उदाहरणानि ससाधनिकानि ।	१३५	३६—४४
६९ त० प्र०—	ऋत्विगादीनां सप्तानां पदान्ते गकारादेश ।	१३६	६—१३
७० ,, —	नशष्वातो पदान्ते वा गकारादेश ।	१३६	१४—१६
७१ ,, —	युजादीनां त्रयाणां नकारस्य पदान्ते ङकारादेश ।	१३६	१७—१८
६८ आ०बो०—	प्रत्युदाहरणानि ससाधनिकानि, शङ्कासमाधान च ।	१३६	१९—३२
६९ ,, —	उदाहरणानि ससाधनिकानि ।	१३६	३३—३९
७० ,, —	,, ,, ,, ,,	१३६	४०—४३
७२ त० प्र०—	पदान्तसकारस्य रुकारादेश ।	१३७	४—६
७३ ,, —	सजुव्यञ्जनस्य पदान्ते रुकारादेश ।	१३७	७—९
७४ ,, —	अहन्शब्दस्य ,, ,,	१३७	१०—१३
७५ ,, —	,, ,, लुपि सप्तारुकारादेश ।	१३७	१४—१६



सूत्रम् ।	शृ०ना० ।	विषयः ।	पृ०	प०
७१ आ०बो०—	उदाहरणानि ससाधनिकानि शङ्का-	समाधान च ।	१३७	१७-२१
७२ " — " " "	उकारग्रहण-	प्रयोजन च ।	१३७	२२-२५
७३ " —	उदाहरण साधनिकासहितम् ।		१३७	२६-२८
७४ " —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साध-	निका शङ्कासमाधानं च ।	१३७	२९-३८
७५ " —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि ।		१३७	३९-४२
७६ त० प्र०—	धुङ्गर्णानां पदान्ते तृतीयादेशः ।		१३८	३-७
७७ " —	गदबादिचतुर्थान्तैकस्वरस्य धातो-	रोदवर्णस्य चतुर्थादेशः ।	१३८	८-१२
७६ आ०बो०—	उदाहरणानि ससाधनिकानि मता-	न्तरप्रदर्शनं च ।	१३८	१९-२९
७७ " —	उदाहरणानि ससाधनिकानि ।		१३८	३०-४८
७८ त० प्र०—	धागधातोश्चतुर्थान्तस्याऽऽदिदकारस्य	चतुर्थादेशः ।	१३९	६-११
७९ " —	चतुर्थात् परयोस्तकारयकारयोर्धकारा-	देशः ।	१३९	१२-१६
७७ आ०बो०—	प्रत्युदाहरणानि ससाधनिकानि ।		१३९	१७-२५
७८ " —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साध-	निका च ।	१३९	२६-३७
७९ " — " " "	तेषां साधनिका च ।		१३९	३८-४७
८० त० प्र०—	रकारान्तानाम्यन्ताच्च धातोः परो-	क्षया अद्यतन्या आशिषश्च धकारस्य		
	दकारादेशः ।		१४०	१-५
८१ " —	हकारादन्तस्थायाश्च परान् ओरिटश्च	परोक्षायतन्याशिषा वा धकारस्य		
	दकारः ।		१४०	६-१३
८० आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साध-	निका च ।	१४०	१४-३३
८१ " — " " "	तेषां साधनिका च ।		१४०	३४-४४
८२ त० प्र०—	धुङ्गर्णानां प्रत्यये पदान्ते च हकारस्य	दकारादेशः ।	१४१	१-६
८३ त० प्र०—	दकारादिभ्वादिधातोर्हकारस्य धका-	रादेशः ।	१४१	७-१२
८४ " —	मुदाघीनां चतुर्णां हकारस्य वा	धकारादेशः ।	१४१	१३-१४
८२ आ०बो०—	उदाहरणानि ससाधनिकानि ।		१४१	१५-२३
८३ " —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां	साधनिका शङ्कासमाधानं च ।	१४१	२४-४३
८५ त० प्र०—	नह आह इत्यनयोर्हकारस्य धकार-	तकारादेशौ ।	१४२	५-९
८६ " —	चकारजकारयोर्धुङ्गादिप्रत्यये पदान्ते	च ककारगकारादेशौ ।	१४२	१०-१५
८४ आ०बो०—	उदाहरणानि ससाधनिकानि ।		१४२	१६-२०
८५ " — " " "	शङ्का-	समाधानं च ।	१४२	२१-३०
८६ " — " " "	" " " " " " "		१४२	३१-४२
८७ त० प्र०—	यजादीनामधर्माणां शकारान्तस्य च	धुटि पदान्ते च धकारादेशः ।	१४३	१-१७
८७ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां	साधनिका, मतान्तरप्रदर्शनं च ।	१४३	१८-४३

सूत्रम् ।	शृ०ना० ।	विषयः ।	पृ०	प०
८८ त० प्र०—	धुटि प्रत्यये पदान्ते च सयोगादि-	सकाररुकारयोर्लुङ् ।	१४४	१-१३
८८ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां	साधनिका, मतान्तरप्रदर्शनं च ।	१४४	१४-४२
८९ त० प्र०—	पदान्तस्ययोगस्य लुगन्तादेशः ।		१४५	१-५
९० " —	पदान्ते रकारात् परस्य सकारस्यैव	लुगन्तादेशः ।	१४५	६-१४
८९ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साध-	निका शङ्कासमाधानं च ।	१४५	१५-२९
९० " —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साध-	निका शङ्कासमाधानं च ।	१४५	३०-४४
९१ त० प्र०—	पदान्ते वर्तमानस्य नाम्नो नकारस्य	लुगन्तादेशः ।	१४६	१-९
९२ " —	आमङ्ये वर्तमानस्य नाम्नो नका-	रस्य लुगन्तादेशः ।	१४६	१०-१४
९३ " —	आमङ्ये वर्तमानस्य नाम्नो नका-	रस्य वा लुगन्तादेशः ।	१४६	१५-१७
९१ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां	साधनिका शङ्कासमाधानं च ।	१४६	१८-३६
९२ " —	उदाहरण शङ्कासमाधानं च ।		१४६	३५-४५
९३ " —	सूत्ररचनायां कारणनिर्देशन-	मुदाहरणं च ।	१४६	४६-४८
९४ त० प्र०—	तद्धितमत्प्रत्ययस्य सकारस्य	धकारादेशः ।	१४७	१-७
९५ त० प्र०—	सञ्ज्ञायां मतोर्मकारस्य वकारादेशः ।		१४७	८-१०
९६ " —	चर्मण्वत्यादीनां पञ्चानां शब्दानां	सञ्ज्ञायां निपातनम् ।	१४७	११-१३
९४ आ०बो०—	उदाहरणानि ससाधनिकानि, द्वे प्रत्यु-	दाहरणे च ।	१४७	१४-२९
९५ " — " " "	प्रत्युदाहरण,	मतान्तरनिर्देशनं च ।	१४७	३०-४०
९६ " —	चर्मण्वत्यादीनां पञ्चानां निष्पत्तिप्रद-	र्शनम् ।	१४७	४१-४४
९७ त० प्र०—	अब्यौ सञ्ज्ञायां चाऽनेन उदन्वा-	निति निपातनम् ।	१४८	४-७
९८ " —	सुराक्षीत्यर्थे राजन्वानिति निपातनम् ।		१४८	८-१०
९९ " —	ऊर्ध्वादिगणान्तोर्मकारस्य वकारादेश-	निषेधः ।	१४८	११-१७
९७ आ०बो०—	अन्विशब्दस्य निष्पत्तिः, उदाहर-	णानि च ।	१४८	२०-३३
९८ " —	उदाहरणप्रत्युदाहरणनिर्देशनम् ।		१४८	३४-३७
९९ " —	ऊर्ध्वादिगणान्तशब्दानां निष्पत्तिः,	शब्दानां गणना बहुवचनस्य प्रयो-		
	जनं च ।		१४८	३८-४६
१०० त० प्र०—	मासादीनां त्रयाणां धसादी स्यादौ	वा लुगन्तादेशः ।	१४९	३-५
१०१ " —	दन्तादीनां शसादौ स्यादौ वा ददा-	दय आदेशः ।	१४९	६-११
१०२ " —	यकारादौ खरादौ च प्रत्यये पाद्-	शब्दस्य पदादेशः ।	१४९	१२-१३
१०० आ०बो०—	मासादिशब्दानां निष्पत्तिः ससाध-	निकानि रूपाणि च ।	१४९	२२-२६

सूत्रम् ।	वृत्तां० ।	विषयः ।	पृ०	पं०
१०१आ०घो०—	शङ्कासमाधानं,	दन्तादिशब्द- निष्पत्तिः, उदाहरणं प्रत्युदाहरणं च।	१४९	२७-४०
१०२ ,, —	शङ्कासमाधानपुरस्सरं सूत्रस्य स्पष्टार्थः ।		१४९	४१-४६
१०३ त०प्र०—	यकारादौ खरादौ च प्रत्यये उद- च्छन्दस्योदीचादेशः ।		१५०	८-१३
१०४ ,, —	यकारादौ खरादौ च प्रत्यये अछ- द्भस्य चादेशः ।		१५०	१४-१५
१०२आ०घो०—	उदाहरणानि, तेषां साधनिका मता- न्तरप्रदर्शनं च ।		१५०	१६-३२
१०३ ,, —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका च ।		१५०	३३-४१
१०४ ,, —	अनुवर्तमाने पदे सन्दर्श्य सूत्रस्या- ऽन्वयप्रदर्शनम् ।		१५०	४२-४४
१०५ त०प्र०—	यकारादौ खरादौ मतौ प्रत्यये च कप् उप् भवति ।		१५१	६-१०
१०६ ,, —	जीत्याद्यष्टद्वारे श्वादित्रयाणां वकार उर्भवति ।		१५१	११-१६
१०४आ०घो०—	ससाधनिकमुदाहरणं शङ्कासमा- धानं च ।		१५१	१७-२१
१०५ ,, —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साध- निका शङ्कासमाधानं च ।		१५१	२२-३३
१०६ ,, —	त्रयाणां श्वादीनां निष्पत्तिः, उदा- हरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साध- निका, शङ्कासमाधानं च ।		१५१	३४-४६
१०७ त०प्र०—	आन्मिञ्जाकारस्य जीत्याद्यष्टद्वारे लृग् भवति ।		१५२	१-४
१०८ ,, —	अनोऽकारस्य जीत्याद्यष्टद्वारे लृग् भवति ।		१५२	५-७
१०९ ,, —	अनोकारस्य ईकारे ङी च परे वा लृग् भवति ।		१५२	८-१०
११० ,, —	वादिह्रस्वताराजन्धन्दानामणि प्रत्ययेऽकारस्य लृक् ।		१५२	११-१३
१११ ,, —	वकारान्तमकारान्तयो संयोगयो- रनोऽकारस्य लृग्नियेष्ठः ।		१५२	१४-१५
१०७आ०घो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, शङ्का- समाधानं च ।		१५२	१६-२३
१०८ ,, —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि ।		१५२	२४-२७
१०९ ,, —	अनुवर्तमानपदानि सन्दर्श्य सूत्रा- न्वय उदाहरणं च ।		१५२	२८-३०
११० ,, —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका च ।		१५२	३१-३८
१११ ,, —	सूत्रस्य स्पष्टार्थः, अन्तप्रहणस्य प्रयोजनं च ।		१५२	३९-४२
११२ त०प्र०—	हन्वातोर्हस्य घ्रादेशविधानम् ।		१५३	३-५
११३ ,, —	अपदादेरकारे एकरे च परेऽकार- ल्लिविधानम् ।		१५३	६-९
११४ ,, —	अन्यस्वरादिवर्णानां द्विति परे ल्लिविधानम् ।		१५३	१०-१३
१११आ०घो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि ।		१५३	१४-१६
११२ ,, —	" " " " " " " "		१५३	१७-२२
११३ ,, —	" " " " " " " "		१५३	२३-३१

सूत्रम् । ४० ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
११४ आ० बो०—	उदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	१५३	३२-४२
११५ त० प्र०—	श्ववर्णात् परस्याऽतु स्थानेऽन्ता- देशो वा स्यात् ।	१५४	१-८
११६ ,, —	श्यात् श्ववक्ष परस्याऽतु स्थाने- ऽन्तादेश स्यात् ।	१५४	९-१२
११७ ,, —	दिवशब्दस्याऽन्तस्य सौ परे औकारादेश ।	१५४	१३-१६
११५ आ० बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका शङ्कोन्मूलन च ।	१५४	१७-३५
११६ ,, —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका शङ्कोन्मूलन च ।	१५४	३६-३९
११७ ,, —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका शङ्कोन्मूलन च ।	१५४	४०-४७
११८ त० प्र०—	पदान्ते दिवोऽन्तस्य उकारादेश स च ऊर्न स्यात्, पादसमाप्ति- सूचकश्लोकश्च ।	१५५	१-११
११८ आ० बो०—	उदाहरणानि, प्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१५५	१२-२०
११९ ,, —	पादसमाप्तिसूचकश्लोकस्य सरलायौ व्यङ्ग्यार्थश्च ।	१५५	२१-३२
१२० ,, —	आनन्दबोधिनीवृत्तिकारस्य संक्षे- पेण परिचयः ।	१५५	३३-३७

द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः । १५६-२१८

१	त० प्र०—	क्रियाया हेतूनां—कर्त्रादीनां कारक- संज्ञाविधानम् ।	१५६	३-५
२	आ०बो०—	क्रियाशब्दस्य व्युत्पत्तिः, हेतु- शब्दस्य प्रयोजन कारणशब्दस्य स्पष्टार्थश्च ।	१५६	६-९
३	॥	—कर्तृकारकस्य स्वरूपदर्शकश्लोकत्रयी	१५६	१२-१४
४	॥	—द्रव्यस्य शक्तिचतुष्टय्या स्वरूप प्रदर्श्य तस्या एव कारकसंज्ञेति संसूचनम् ।	१५६	१६-२४
५	॥	—शङ्कासमाधानपुरस्सरं सूत्रस्य विस्तरेणाऽर्थः ।	१५६	२४-४९
६	त० प्र०—	क्रियासिद्धौ यस्य कारकस्य स्वात- न्त्र्यस्य निवृत्त्या तस्य कारकस्य कर्तृ- संज्ञाविधानम् ।	१५७	३-७
७	आ०बो०—	अधिकरणस्य करणस्य चाऽपि कारकस्य स्वतन्त्रतया विवक्षात कारकान्तरसंज्ञाऽपि स्यादित्यादि- मुपरिस्फुटविवेचनम् ।	१५७	८-३७
८	॥	—स्वतन्त्रशब्दस्य स्फुटार्थं सन्दर्शयो- दाहरणानां निदर्शनम् ।	१५७	३८-४९
९	॥	—कर्मसंज्ञा व्याप्यसंज्ञा च विधाय तस्य नवानां भेदानां विवरणं च ।	१५८	४-१०
१०	आ०बो०—	सूत्रत्रयाऽर्थं विविच्य कर्मसंज्ञाभेदानां च क्रमेणोदाहरणानां निदर्शनम् ।	१५८	२८-४८
११	॥	—विशेषोदाहरणानां सप्ताधनिक प्रदर्शनम् ।	१५९	११-४८
१२	॥	—शङ्कासमाधानमुदाहरणानि, मता- न्तरनिर्दर्शनं च ।	१६०	१३-४८

सूत्रम् ।	वृ० ना० ।	विषयः ।	पृ०	प०	सूत्रम् ।	वृ० ना० ।	विषयः ।	पृ०	प०
४ त० प्र०—		अविवक्षितकर्मणा धातूनां कर्तुर्णौ सति वा कर्मसंज्ञा ।	१६१	१-४	१५ आ० बो०—		उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, वचन- वचनस्य फलप्रदर्शनं च ।	१६६	३६-४२
५ ,, —		गत्यर्थादीनां धातूनां कर्तुर्णौ सति कर्मसंज्ञा ।	१६१	५-१०	१६ ,, —		विनिमेषस्य धृतपणस्य च शब्दार्थं	१६६	४३-४४
४ आ० बो०—		सूत्रस्य स्पष्टार्थं उदाहरणं शङ्का- समाधानं तथाऽविवक्षितकर्मत्व- द्योतकं श्लोकश्च ।	१६१	१४-२२	१७ त० प्र०—		उपसर्गात् परस्य दिवो व्याप्तौ वा कर्मसंज्ञा भवति ।	१६७	४-८
५ ,, —		सूत्रस्य सान्त्वय्योऽर्थं, शङ्कासमाधानं- मुदाहरणे च ।	१६१	२३-४५	१८ ,, —		विनिमेषधृतपणौ दिवो व्याप्तौ न कर्मसंज्ञा भवति ।	१६७	९-१४
,, त० प्र०—		उदाहरणप्रत्युदाहरणानि मतान्तर- निर्दर्शनं च ।	१६२	१-१७	१९ ,, —		दिव्यते करणं कर्मसंज्ञा करणसंज्ञं च भवति ।	१६७	१५-१९
,, आ० बो०—		उदाहरणप्रत्युदाहरणानि शङ्का- समाधानं च ।	१६२	१८-४७	१६ आ० बो०—		उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, वचन- भेदस्य फलनिर्दर्शनं च ।	१६७	२०-२५
६ त० प्र०—		हिंसायस्य भक्षेरेवाऽणिकर्ता णौ कर्मसंज्ञा इति नियमः ।	१६३	१-६	१७ ,, —		द्वे उदाहरणे तयोः साधनिके च ।	१६७	२६-२९
७ त० प्र०—		वह्नेरणिकर्ता प्रवेय एव णौ कर्म- संज्ञा इति नियमः ।	१६३	७-११	१८ ,, —		उदाहरणप्रत्युदाहरणे, कर्मसंज्ञा- भावस्य फलानि च ।	१६७	३०-३५
८ ,, —		हरते करोतेष्वऽणिकर्ता णौ वा कर्मसंज्ञा भवति ।	१६३	१२-१३	१९ ,, —		शङ्कासमाधानं, कर्मसंज्ञा करण- संज्ञा च समकालं एव विधाना- न्नाभ्यां द्वाभ्यां निष्पन्नानां कार्या- णां निर्दर्शनं च ।	१६७	३६-४५
६ आ० बो०—		शङ्कासमाधानं, सत्यस्याऽपि प्राणि- त्वे प्रमाणदर्शकश्लोकः, उदाहरण- प्रत्युदाहरणानि च ।	१६३	२०-३४	२० त० प्र०—		अधिसम्बन्धं शीघ्रदित्रयाणामाधा- रस्य कर्मसंज्ञा स्यात् ।	१६८	८-१२
७ ,, —		उदाहरणप्रत्युदाहरणानि शङ्का- समाधानं च ।	१६३	३५-४३	२१ ,, —		उपादिचतुर्भिः सम्बन्धस्य वसते- राधारस्य कर्मसंज्ञा स्यात् ।	१६८	१३-१७
८ ,, —		प्राप्तत्वमप्राप्तत्वं च कस्या रीत्या भवति तन्निर्दर्शनम् ।	१६३	४४-४७	२० आ० बो०—		उदाहरणानि ससाधनिकानि, प्रत्यु- दाहरणं शङ्कासमाधानं च ।	१६८	२६-३४
९ त० प्र०—		होरेभिवदेष्टाऽऽत्मनेपदेऽणिकर्ता णौ वा कर्मसंज्ञा ।	१६४	६-१६	२१ ,, —		उदाहरणानि ससाधनिकानि शङ्का- समाधानं च ।	१६८	३५-४६
१० ,, —		नाथतेरात्मनेपदे व्याप्य वा कर्म- संज्ञा भवति ।	१६४	१७-२१	२२ त० प्र०—		अभिनिस्सम्बन्धस्य विशतेर्धातोरा- धारस्य वा कर्मसंज्ञा ।	१६९	१-५
९ आ० बो०—		उदाहरणप्रत्युदाहरणानि मतान्तर- निर्दर्शनं च ।	१६४	२५-३७	२३ ,, —		अकर्मकधातूनां कालाद्याधारस्य वा कर्मसंज्ञा स्यात्, यदा कर्मसंज्ञा तदैवाऽकर्मसंज्ञाऽपि वा स्यात् ।	१६९	६-२०
१० ,, —		दृश्ययोगस्य फलमुदाहरणप्रत्युदा- हरणानि च ।	१६४	३८-४३	२२ आ० बो०—		उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, वा वा- च्यस्य व्यवस्थितविभाषार्थश्च ।	१६९	२१-२९
११ त० प्र०—		स्मरणार्थानां द्यसेरीशस्य व्याप्य वा कर्म भवति ।	१६५	१-९	२३ ,, —		कालादिशब्दानां स्वप्नार्थं, उदा- हरणप्रत्युदाहरणानि मतान्तरनि- र्दर्शनं च ।	१६९	३०-४४
१२ ,, —		प्रतियोगेऽर्थे कृगो व्याप्य वा कर्म भवति ।	१६५	१०-१३	२४ त० प्र०—		क्रियासिद्धौ प्रकृत्योपकारकस्य कर- णसंज्ञाविधानम् ।	१७०	३-९
१३ ,, —		उपरिसंतापिभिश्चरुत्वात्कषातो- र्व्याप्य वा कर्म भवति ।	१६५	१४-१७	२५ ,, —		कर्मणा यमभिप्रेयते स कर्माभिप्रेय सम्प्रदानसंज्ञा स्यात् ।	१७०	१०-१४
११ आ० बो०—		उदाहरणं शङ्कासमाधानं जायमान- नियमप्रदर्शनं च ।	१६५	१८-३२	२४ आ० बो०—		शङ्कासमाधानं, करणशब्दोद्बोध- नाय श्लोकद्वयोद्धरणं च ।	१७०	१५-२४
१२ ,, —		ससाधनिकमुदाहरणम् ।	१६५	३३-३६	,, ,, —		तमग्रहणस्य प्रयोजनस्य फलस्य च निर्दर्शनम् ।	१७०	२५-३७
१३ ,, —		सूत्रस्याऽर्थं उदाहरणानि च ।	१६५	३७-४४	२५ ,, —		शङ्कासमाधानं, उदाहरणानि, सम्प्र- दानार्थदर्शकश्लोकश्च ।	१७०	३८-४६
१४ त० प्र०—		जासादीनां चतुर्णां हिंसार्थानां व्याप्य वा कर्म भवति ।	१६६	४-११	२६ त० प्र०—		स्पृष्टेर्धातोर्व्याप्यस्य वा कर्मसंज्ञा भवति ।	१७१	४-७
१५ ,, —		निप्राभ्यां परस्य हिंसार्थस्य हन्ते- र्व्याप्य वा कर्म भवति ।	१६६	१२-१६	२७ ,, —		क्रुधाद्यर्थैर्धातुभिर्योगे यः प्रति कोप- स्तस्य सम्प्रदानसंज्ञा ।	१७१	८-१४
१६ ,, —		पणतेर्व्यवहरतेष्व व्याप्तौ वा कर्म संज्ञा भवति ।	१६६	१७-१८	२५ आ० बो०—		शङ्कासमाधानं, अभिग्रहणप्रयोज- नस्य निर्दर्शनं च ।	१७१	१५-२७
१४ आ० बो०—		धातुष्वाकारनिर्देशस्य प्रयोजनं, प्रत्युदाहरणप्रदर्शनं च ।	१६६	२२-३५					

सूत्रम् । शृ०ना० ।	विषय ।	पृ० प०
२६ आ०बो०—	उदाहरण, सम्प्रदानसज्ञायामन्येषां फलानां दर्शनम् च ।	१७१ २८-३१
२७ " —	कुधादीनां धातूनामर्थानां स्पष्टता, कोपशब्दस्य स्पष्टार्थं शङ्कासमा- धानं च ।	१७१ ३२-४४
२८ त० प्र०—	सोपसर्गाभ्यां कुधिवृद्धिभ्यां योगे सम्प्रदानसज्ञानिषेधः ।	१७२ ३-५
२९ " —	अपाये यदवधिभूतं तस्याऽपादान- सज्ञाविधानम् ।	१७२ ६-१४
२८ आ०बो०—	उदाहरण शङ्कासमाधानं च ।	१७२ १७-२५
२९ " —	सूत्रस्थीतपदानां सम्बन्धि शङ्का- समाधान, उदाहरणसम्बन्धि शङ्का- समाधानं च ।	१७२ २६-४७
" त० प्र०—	अपादानवैषयिकाणां सर्वेषां वार्ति- कानां समावेशः ।	१७३ १-१४
" आ०बो०—	अपादानवैषयिकाणां सर्वेषां वार्ति- कानां समावेशः ।	१७३ १५-४६
३० त० प्र०—	क्रियाधेयस्य कर्तुं कर्मणश्चाऽऽधा- रस्याऽधिकरणसज्ञाऽयथाऽधिकर- णस्याऽऽधारसज्ञा ।	१७४ ५-१४
" आ०बो०—	सूत्रस्थपदानामर्थं, शङ्कासमाधान, उदाहरण, अधिकरणार्थदर्शक- श्लोकश्च ।	१७४ २४-३४
" " —	अधिकरणस्य भेदानां सोदाहरण तेषां स्वरूपस्य निदर्शनं च ।	१७४ ३५-४६
३१ त० प्र०—	एकत्वद्वित्वबहुत्वेऽर्थे नात्र प्रथमा विभक्तिर्भवति ।	१७५ ५-७ १७६ १-१२ १७७ १-८
३१ आ०बो०—	सूत्रस्य सुपरिस्फुटार्थं शङ्कासमा- धानं च ।	१७५ १४-४५
३१ " —	" " " " " " " "	१७६ १३-४६
३१ " —	" " " " " " " "	१७७ ९-४८
३२ त० प्र०—	आमन्त्र्यशब्दस्यार्थस्तत्र प्रथमा- विधानं च ।	१७८ ४-७
३३ " —	समयादिभिर्युक्ताद्गौणान्नाम्नो द्विती- याविधानम् ।	१७८ ८-१५
३२ आ०बो०—	सूत्रस्य स्पष्टार्थं शङ्कासमाधानं च ।	१७८ २५-३१
३३ " —	गौणशब्दस्यार्थं, उदाहरणानि, शङ्कासमाधानं च ।	१७८ ३२-४६
३४ त० प्र०—	अधोऽधुपरिशब्दानां द्वित्वे सत्ये- भिर्युक्ताद्गौणान्नाम्नो द्वितीयाविधानम् ।	१७९ ५-८
३५ " —	तद्यन्तैः सर्वादिभिर्युक्ताद्गौणान्नाम्नो द्वितीयाविधानम् ।	१७९ ९-११
३६ " —	लक्षणादिषु वर्तमानादभिना युक्ता- द्गौणान्नाम्नो द्वितीया ।	१७९ १२-१५
३४ आ०बो०—	बहुवचनस्य प्रयोजनमुदाहरणप्रत्यु- दाहरणे च ।	१७९ २५-२९
३५ " —	सूत्रार्थनिर्दर्शनम् ।	१७९ ३०-३३
३६ " —	सूत्रस्थानां लक्षणादिशब्दप्रयाणां स्पष्टार्थं ।	१७९ ३४-४२
३७ त० प्र०—	भान्यादिषु चतुर्थ्येषु प्रत्यादिभिर्यु- क्ताद्गौणान्नाम्नो द्वितीयाविधानम् ।	१८० ४-८
३८ " —	हेतुसहाय्ययोरनुना युक्त्योगौ- नान्नाम्नो द्वितीया स्यात् ।	१८० ९-१३

सूत्रम् । शृ०ना० ।	विषय ।	पृ० प०
३६ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, शङ्का- समाधानं बहुवचनस्य प्रयोजनं च ।	१८० १४-२६
३७ " —	भागिशब्दस्यार्थं उदाहरणं च ।	१८० २७-३१
३८ " —	शङ्कासमाधानमुदाहरणं मतान्तर- प्रदर्शनं च ।	१८० ३२-४८
३९ त० प्र०—	उत्कृष्टेऽर्थेऽनुपाभ्यां युक्ताद्गौणा- न्नाम्नो द्वितीया स्यात् ।	१८१ १-३
४० " —	गौणान्नाम्नो कर्मणि कारके द्वितीया- विधानम् ।	१८१ ४-८
३९ आ०बो०—	उदाहरण शङ्कासमाधानं च ।	१८१ ९-२१
४० " —	उदाहरणानि विस्तरेण शङ्कासमा- धानं च ।	१८१ २२-४८
" " —	पुन पुन शङ्कोत्पादन समाधान- करणं च ।	१८२ ७-४९
" " —	पुन पुन शङ्कोत्पादन समाधान- करणं च ।	१८३ १३-४७
४१ त० प्र०—	क्रियाविशेषणान्नाम्नो द्वितीया स्यात् ।	१८४ ६-१०
" आ०बो०—	शङ्कासमाधान, उदाहरणं मता- न्तरनिर्दर्शनं च ।	१८४ २४-४९
४२ त० प्र०—	व्यासौ शोल्यायां कालाध्ववाचि गौणान्नाम्नो द्वितीया ।	१८५ १-८
४३ " —	सिद्धौ शोल्यायां कालाध्ववाचि गौणान्नाम्नो द्वितीया ।	१८५ ९-१३
४४ " —	सूत्रस्थशब्दद्वयस्यार्थस्य प्रकाशः	१८५ १४-१५
४२ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, शङ्का- समाधानं मतान्तरनिर्दर्शनं च ।	१८५ १६-३२
४३ " —	शङ्कासमाधान, उदाहरणं प्रत्यु- दाहरणं च ।	१८५ ३३-४२
४४ त० प्र०—	हेत्वाद्यर्थवतो गौणान्नाम्नो द्वितीया- विधानम् ।	१८६ १-९
४५ " —	सहाय्ये गम्यमाने गौणान्नाम्नो- द्वितीयाविधानम् ।	१८६ १०-११
४४ आ०बो०—	योग्यशब्दग्रहणस्य तात्पर्यं, शङ्का- समाधानमुदाहरणप्रत्युदाहरणानि च ।	१८६ १२-४४
४५ " —	सूत्रस्थशब्दयोः समासस्यार्थस्य च निर्दर्शनं, तथा शङ्कासमाधानं ।	१८६ ४५-४८
४६ त० प्र०—	यस्य भेदिनो भेदिर्भेदिन आख्या भवति तद्वाचिनो गौणान्नाम्नो द्वि- तीयाविधानम् ।	१८७ ७-११
४५ आ०बो०—	पुन पुन शङ्कानामुत्पादनं तासां सर्वेषां समाधानं च ।	१८७ १२-३६
४६ " —	सूत्रस्थसमासयोर्निर्दर्शनेन सूत्रार्थ- समूहनमुदाहरणानि च ।	१८७ ३७-४७
४७ त० प्र०—	नियेषार्थं कृताद्यैर्युक्ताद्गौणान्नाम्नो- द्वितीया स्यात् ।	१८८ ४-६
४८ " —	कालवृत्तिनक्षत्रवाचिगौणान्नाम्नो आधारे वा द्वितीयाविधानम् ।	१८८ ७-१०
४६ आ०बो०—	शङ्कासमाधान, प्रत्युदाहरणं भेदस्य तद्वत् आख्यायाश्च ग्रहणस्य प्रयो- जनं च ।	१८८ ११-२७

सूत्रम् । पृ० ना० ।	विषयः ।	पृ० प०	सूत्रम् । पृ० ना० ।	विषयः ।	पृ० प०
४७ आ० बो०—	उदाहरणं तत्रस्थितकिंशब्दस्य स्फुटार्थं च ।	१८८ २८-३१	६१ त० प्र०—	तुमर्धकभाववाचिप्रत्ययान्ताद्गोणा- ज्ञानश्चतुर्थी स्यात् ।	१९३ १४-१६
४८ " —	शङ्कासमाधानमुदाहरणप्रत्युदाह- रणानि च ।	१८८ ३२-४४	५९ आ० बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणे शङ्कासमा- धानं च ।	१९३ २२-२७
४९ त० प्र०—	प्रसितादिभिर्युक्तादाधारे वर्तमाना- द्गोणानाम्प्रत्युत्तीया वा भवति ।	१८९ ४-८	६० " —	उदाहरणानि मतान्तरप्रदर्शनं च ।	१९३ २८-३८
५० " —	व्याप्येभ्यो द्विगोणादिभ्यो गौणेभ्यो वीप्साया वा तृतीया ।	१८९ ९-१३	६१ " —	उदाहरणं चतुर्थीविधानस्य प्रयो- जनं च ।	१९३ ३९-४३
५१ " —	अस्मत्स्थस्य सज्जानातेर्व्याप्याद्गोणा- ज्ञानप्रत्युत्तीया वा ।	१८९ १४-१६	६२ त० प्र०—	गम्यस्य तुमो व्याप्याद्गोणान्नाश- चतुर्थीविधानम् ।	१९४ ५-९
४९ आ० बो०—	सूत्रार्थं प्रसितशब्दवैषयिकशङ्का- समाधानं च ।	१८९ २१-२८	६३ " —	अनासेर्गतेर्व्याप्ये वर्तमानगौणना- शचतुर्थी वा स्यात् ।	१९४ १०-१५
५० " —	उदाहरणानि शङ्कासमाधानं च ।	१८९ २९-३७	६१ आ० बो०—	प्रत्युदाहरणानि शङ्कासमाधानं च ।	१९४ १६-२१
५१ " —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि ससाध- निकानि ।	१८९ ३८-४१	६२ " —	उदाहरण प्रत्युदाहरणानि च ।	१९४ २२-३१
५२ त० प्र०—	सदामोऽधर्म्यसम्प्रदानात्तृतीया तत्सन्निधौ संदाम आत्मनेपद- विधानं च ।	१९० ३-७	६३ " —	गल्यर्थस्कोट, प्रत्युदाहरणानि मता- न्तराणां प्रदर्शनं च ।	१९४ ३२-४७
५३ " —	सम्प्रदाने वर्तमानाद्गोणाज्ञानश्चतु- र्थीविधानम् ।	१९० ८-११	६४ त० प्र०—	अतिकृत्तसेऽर्थे नावादिभिधानमन्य- तेराप्याद् गौणानान्नो वा चतुर्थी- विधानम् ।	१९५ १-१३
५१ आ० बो०—	प्रत्युदाहरणानि वाग्रहणस्य प्रयोजनं च ।	१९० १२-१८	६५ " —	हितसुखाभ्यां युक्ताद्गोणाज्ञानो वा चतुर्थीविधानम् ।	१९५ १४-१६
५२ " —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि शङ्का- समाधानं च ।	१९० १९-३६	६६ " —	हितायर्थैर्युक्ताद्गोणाज्ञान आशिपि गम्यमानायां वा चतुर्थीविधानम् ।	१९५ १७-२१
५३ " —	उदाहरण प्रत्युदाहरणं च ।	१९० ३७-४०	६४ आ० बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, शङ्कासमा- धानं, मतान्तरप्रदर्शनं च ।	१९५ २२-३८
५४ त० प्र०—	तादर्थ्ये शोले गौणाज्ञानश्चतुर्थी- विधानम् ।	१९१ १-३	६५ " —	सूत्रार्थं आमयाविशब्दनिष्पत्ति- निर्देशनं च ।	१९५ ३९-४०
५५ " —	रुच्यादिभिर्योगे प्रेयादिष्वर्थेषु गौणाज्ञानश्चतुर्थी ।	१९१ ४-१२	६६ " —	सूत्रार्थो भद्रमद्रशब्दयोर्निष्पत्तिश्च ।	१९५ ४१-४४
५४ आ० बो०—	तादर्थ्यशब्दस्यार्थं, उदाहरणं शङ्कासमाधानं च ।	१९१ १३-२०	६७ त० प्र०—	परिक्रयणार्थाद्गोणाज्ञानो वा चतु- र्थीविधानम् ।	१९६ ७-११
५५ " —	शङ्कासमाधानं, वचनसाम्यस्य बहु- वचनस्य च प्रयोजनं, उदाहरण- प्रत्युदाहरणानि च ।	१९१ २१-४६	६८ " —	शकार्यवपदादिभिर्युक्ताद्गोणाज्ञान- श्चतुर्थीविधानम् ।	१९६ १२-१७
५६ त० प्र०—	प्रत्ययभ्यां परेण शृणोतिना युक्तादर्थिवाचिनो गौणाज्ञान- श्चतुर्थीविधानम् ।	१९२ ३-६	६६ आ० बो०—	कल्याणादिशब्दनिष्पत्ति, प्रत्युदा- हरणं शङ्कासमाधानं च ।	१९६ १८-२३
५७ " —	प्रत्ययभ्यां परेण शृणोतिना युक्तादर्थिवाचिनो गौणा- ज्ञानश्चतुर्थीविधानम् ।	१९२ ७-१०	६७ " —	परिक्रयणशब्दस्य विस्पष्टार्थं प्रत्यु- दाहरणं च ।	१९६ २४-२६
५८ " —	यस्य वीक्ष्ये रापीक्षी भवेति तस्माद्गौ- णानाम्प्रत्युत्तीयाविधानम् ।	१९२ ११-१६	६८ " —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि शङ्कासमा- धानं च ।	१९६ ३०-४३
५६ आ० बो०—	संज्ञास्यैकस्यैव ससाधनिकमुदा- हरणं च ।	१९२ २३-२९	६९ त० प्र०—	अपादानकारके गौणाज्ञानं, पञ्चमी- विधानम् ।	१९७ ४-७
५७ " —	उदाहरणस्याऽर्थं शङ्कासमाधानं च ।	१९२ ३०-३४	७० " —	अवध्यर्थादाद्युक्तगौणाज्ञानं, पञ्चमीविधानम् ।	१९७ ८-११
५८ " —	वीक्ष्यशब्दस्याऽर्थं, उदाहरणं शङ्कासमाधानं मतान्तरप्रदर्शनं च ।	१९२ ३५-४५	७१ " —	वेज्यायार्थं परंपराभ्यां युक्ताद्गौणा- ज्ञानं पञ्चमीविधानम् ।	१९७ १२-१५
५९ त० प्र०—	उत्पादेन ज्ञायमानेऽर्थे गौणाज्ञान- श्चतुर्थीविधानम् ।	१९३ ४-८	७२ " —	प्रतिनिधिप्रतिदानेऽर्थे वर्तमानात् प्रतिना योगाद्गौणाज्ञानं पञ्चमी- विधानम् ।	१९७ १६-१८
६० " —	रुच्यादिभिर्युक्तादाधारे प्रयोज्येऽर्थे गौणानाम्प्रत्युत्तीया ।	१९३ ९-१३	६९ आ० बो०—	सूत्रार्थं उदाहरणद्वयं च ।	१९७ २२-२४
११ अन्त्यादौ प्रस्तावना.			७० " —	अर्थाविशब्दस्याऽर्थं, द्वे उदाहरणे, सयोक्त्याऽर्थं ।	१९७ २५-३०
			७१ " —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि शङ्का- समाधानं च ।	१९७ ३१-३६
			७२ " —	प्रतिनिधिप्रतिदानशब्दयोरर्थः सूत्रस्याऽर्थश्च ।	१९७ ३९-४४

सूत्रम् । शृ० ना० ।	विषयः ।	पृ०	प०
७३ त० प्र०—	आख्यातुवाचिगौणानाम् पञ्चमी स्यादुपयोगविषये ।	१९८	४—८
७४ " —	गम्यमानस्य कर्माधारवाचिगौण- नाम्न पञ्चमी स्यात् ।	१९८	९—१३
७२ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि शङ्का- समाधान च ।	१९८	१४—२७
७३ " —	उपयोगशब्दस्याऽर्थे प्रयोजनं च, उदाहरणं, प्रत्येक्युद्धावन्त्याऽर्थे, शङ्कासमाधानं सूत्रात्पर्यं च ।	१९८	२८—३९
७४ " —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि शङ्कासमा- धानं च ।	१९८	४०—४७
७५ त० प्र०—	प्रमुखादिभिर्बुक्ताद्गौणानाम् पञ्चमी- विधानम् ।	१९९	५—१३
७४ आ०बो०—	इन्द्रियाणां विषयमाहित्वविषये मतान्तरनिर्दानम् ।	१९९	१४—१९
७४ " —	सूत्राभ्युपेयिक शङ्कासमाधानम् ।	१९९	१९—२२
७५ " —	दिक्शब्दस्य समासस्य शब्दग्रहण- प्रयोजनस्य च निर्देशनमुदाहरण- प्रत्युदाहरणानि च ।	१९९	२३—४५
७६ त० प्र०—	हेतुभूतादणवाचिगौणानाम् पञ्चमी- विधानम् ।	२००	६—९
७७ " —	कील्लिभिन्नाद् हेतुभूतगुणवाचिनी गौणाभावात् वा पञ्चमीविधानम् ।	२००	१०—१४
७५ आ०बो०—	शङ्कासमाधान प्रत्युदाहरणानाम- र्थस्य स्पष्टता च ।	२००	१५—२०
७६ " —	हेतुशब्दार्थं, प्रत्युदाहरणानि शङ्का- समाधान च ।	२००	२१—४०
७७ " —	सार्धान्युदाहरणप्रत्युदाहरणानि ।	२००	४१—४५
७८ त० प्र०—	आरादये शब्दैर्युक्ताद्गौणाभावात् वा पञ्चमीविधानम् ।	२०१	४—१०
७९ " —	असत्त्ववाचिनि स्तोकादिभ्यः कर्- णेभ्यो वा पञ्चमीविधानम् ।	२०१	११—१७
७८ आ०बो०—	उदाहरण शङ्कासमाधान च ।	२०१	२३—३३
७९ " —	असत्त्वशब्दस्याऽर्थं, उदाहरण- प्रत्युदाहरणानि च ।	२०१	३४—४६
८० त० प्र०—	अज्ञानार्थकजानाते करणाद्गौणा- भावात् षष्ठीविधानम् ।	२०२	१—७
८१ " —	शेषशब्दार्थं, शेषे वर्तमानगौण- भावात् षष्ठीविधानम् ।	२०२	८—१२
८० आ०बो०—	शङ्कासमाधान, मानिबुतेर्हेतुनिर्दानं सार्थमुदाहरणं च ।	२०२	१३—२३
८० " —	प्रत्युदाहरणानि सूत्ररचनायां प्रयो- जनं च ।	२०२	२३—२६
८१ " —	शेषशब्दस्य स्पष्टार्थं, सार्धान्युदा- हरणानि च ।	२०२	२७—४७
८२ त० प्र०—	निप्रमुति असत्प्रत्ययान्तैर्बुक्ताद्गौणा- भावात् षष्ठीविधानम् ।	२०३	६—११
८१ आ०बो०—	बहुविधानि शङ्कासमाधानानि ।	२०३	१२—३८
८३ " —	ससाधनिकान्युदाहरणानि ।	२०३	३९—४६
८३ त० प्र०—	कृदन्तस्य कर्तरि गौणाभावात् षष्ठी- विधानम् ।	२०४	१—७

सूत्रम् । शृ० ना० ।	विषयः ।	पृ०	प०
८४ त० प्र०—	अतृप्तप्रत्ययान्तस्य द्विष कर्मणि वा षष्ठीविधानम् ।	२०४	८—१०
८५ " —	धातोर्द्वयो कर्मणोरेकत्र वा षष्ठी- विधानम् ।	२०४	११—१५
८३ आ०बो०—	ससाधनिकान्युदाहरणानि शङ्का- समाधान च ।	२०४	१६—२८
८४ " —	ससाधनिकमुदाहरण मतान्तर- प्रदर्शनं च ।	२०४	२९—३२
८५ " —	शङ्कासमाधानमुदाहरण, मतान्तर- प्रदर्शनं च ।	२०४	३३—४३
८६ त० प्र०—	कृदन्तस्य कर्तरि गौणाभावात् षष्ठी- विधानम् ।	२०५	१—३
८७ " —	अधिवक्त्रविहिताभ्यामकारणका- भ्यामन्यस्य कर्तृकर्मप्रति हेतो षष्ठ्यो कर्तरि षष्ठी वा स्यात् ।	२०५	४—१४
८८ " —	कृत्यस्य कर्तरि गौणाभावात् षष्ठी वा भवति ।	२०५	१५—१७
८६ आ०बो०—	ससाधनिकान्युदाहरणानि ।	२०५	१८—२२
८७ " —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, शङ्कासमा- धान मतान्तरप्रदर्शनं च ।	२०५	२३—३६
८८ " —	सर्वेषामुदाहरणप्रत्युदाहरणस्य- कृत्यानां साधनिका ।	२०५	३७—४१
८९ त० प्र०—	षष्ठीहेतो कर्तृकर्मणो कृत्यस्यो- भयो षष्ठीनिषेधः ।	२०६	१—४
९० " —	तृज्जारीनां कृतां कर्मकर्त्रो षष्ठी- निषेधः ।	२०६	५—१४
९१ " —	असत्त्वाभारार्थकत्वतोः कर्मकर्त्रो षष्ठीनिषेधः ।	२०६	१५—१६
८९ आ०बो०—	उदाहरणस्य कृत्यानां निष्पत्तिः शङ्कासमाधानं च ।	२०६	१७—२८
९० " —	तृज्जारीप्रत्ययान्तानां सर्वेषामुदाहर- णस्थशब्दानां निष्पत्तेः प्रदर्शनम् ।	२०६	२९—४५
९२ त० प्र०—	कृते विहितस्य कस्य कर्तरि वा षष्ठीनिषेधः ।	२०७	६—९
९३ " —	कर्मण्यस्योक्तप्रत्ययान्तस्य कर्मणि षष्ठीनिषेधः ।	२०७	१०—१२
९४ " —	एक्यस्य ऋणे च विहितस्येन कर्मणि षष्ठीनिषेधः ।	२०७	१३—१६
९१ आ०बो०—	'सतोऽन्यस्मिन्' इत्येतस्य प्रतिषेधस्य निराकरणम् ।	२०७	१७—१९
९१ " —	ससाधनिकान्युदाहरणप्रत्युदा- हरणानि ।	२०७	१९—२७
९२ " —	उदाहरण कतिपयकान्तशब्दानां पर्यायाश्च ।	२०७	२८—३१
९३ " —	वाराणसीशब्दस्य साधनिका प्रत्यु- दाहरणं च ।	२०७	३२—३६
९४ " —	ससाधनिकानि त्रीण्युदाहरणानि ।	२०७	३७—४३
९५ त० प्र०—	अधिवक्त्रे कारके गौणाभावात् सप्तमीविधानम् ।	२०८	१—३
९६ " —	सुजन्यप्रत्ययान्तैर्बुक्ताद् कालेऽधि- करणे सप्तमी वा स्यात् ।	२०८	४—६



सूत्रम् ।	वृ० ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
१७ त० प्र०—	कुशलायुक्ताभ्यां युक्तादौणाञ्चाम्न	आधारवाचिन आसेवायां द्योत्यायां		
	वा सप्तमीविधानम् ।		२०८	१०-१५
१८ ,, —	स्वाम्यादिभि सप्तमिर्युक्तादौणाञ्चाम्न	सप्तमी वा स्यात् ।	२०८	१६-१७
१५ आ० बो०—	अधिकरणस्य षण्णां भेदानामेक-	स्यैव भेदस्याऽत्रोदाहरणम् ।	२०८	१८-२०
१६ ,, —	ससाधनिकान्युदाहरणानि शङ्का-	समाधान च ।	२०८	२१-३४
१७ ,, —	उदाहरणे द्वे सूत्ररचना प्रयोजनस्य	फलनिर्देशन च ।	२०८	३५-३९
१८ ,, —	सूत्रार्थं स्वाम्यादिशब्दनिष्पत्तिश्च ।		२०८	४०-४२
१९ त० प्र०—	कप्रत्ययाद्य इत् तदन्ताद् व्याप्यात्	सप्तमीविधानम् ।	२०९	४-११
१०० ,, —	व्याप्येन स्युक्तादौतोर्नाञ्च सप्तमी-	विधानम् ।	२०९	१२-१५
१८ आ० बो०—	स्वाम्यादीनां त्रयाणां समानार्थत्वे-	ऽपि भेदेनोपादानस्य प्रयोजनं तेन		
	निष्पन्नं प्रत्युदाहरण च ।		२०९	१६-१९
१९ ,, —	उदाहरणं सूत्ररचनायाः प्रयोजनस्य	प्रदर्शन च ।	२०९	२०-३४
१०० ,, —	सूत्रस्य स्पष्टार्थं, तत्त्वप्रकाशिका-	स्थितोदाहरणानां चतुर्णां श्लोकस्थित-		
	कर्मवाचिशब्दानां निष्पत्तिश्च ।		२०९	३५-४६
१०१ त० प्र०—	असाधुयुक्तगौणानाञ्चोऽप्रत्यादौ	सप्तमीविधानम् ।	२१०	१-३
१०२ ,, —	साधुयुक्तगौणानाञ्चोऽप्रत्यादौ सप्तमी-	विधानम् ।	२१०	४-७
१०३ ,, —	निपुणसाधुभ्यां युक्तगौणानाञ्चोऽप्र-	त्यादौ सप्तमीविधानम् ।	२१०	८-१२
१०४ ,, —	स्वे ईशे च वर्तमानादधिन युक्ता-	ञ्चाम्नः सप्तमीविधानम् ।	२१०	१३-१६
१०१ आ० बो०—	शङ्कानामुत्पादनं ततश्च तासां निर्मू-	लनम् ।	२१०	१७-२५
१०२ ,, —	मतान्तरप्रदर्शनं शङ्कासमाधानं च ।		२१०	२६-३२
१०३ ,, —	द्वे उदाहरणे तयोरर्थश्च ।		२१०	३३-३५
१०४ ,, —	उदाहरणानि शङ्कासमाधानं च ।		२१०	३६-४४
१०५ त० प्र०—	उपेन युक्तादधिकिवाचिगौणानाञ्च	सप्तमीविधानम् ।	२११	१-४
१०६ ,, —	यस्य क्रियायाऽन्यस्य क्रिया लक्ष्यते	तस्मादौणाञ्चाम्न सप्तमीविधानम् ।	२११	५-१४
१०५ आ० बो०—	सार्थमुदाहरणं सूत्ररचनायाः प्रयो-	जन च ।	२११	१९-२४
१०६ ,, —	भावलक्षणयोऽशब्दयोः स्पष्टार्थं, उदा-	हरणं च ।	२११	२५-३२
१०६ ,, —	शङ्कासमाधानमुदाहरणप्रत्युदाहर-	णानि च ।	२११	३३-४६
१०७ त० प्र०—	यस्याऽध्वनो भावेनाऽन्यस्य भावो	लक्ष्यते तदध्ववाचिनोऽन्तेन सहै-		
	कार्थ्यं वा भवति ।		२१२	१-९
१०८ ,, —	यद्भाषो भावलक्षणं तत्र वर्तमाना-	दौणाञ्चाम्नो वा षष्ठीविधानम् ।	२१२	१०-१३

सूत्रम् ।	वृ० ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
१०९ त० प्र०—	निर्धारणे गम्यमाने गौणानाञ्च षष्ठी	सप्तमी भवति तस्मिन्निर्धारणे कथ-		
	मिदैक्ये गम्यमाने ।		२१२	१४-१६
१०७ आ० बो०—	सूत्रार्थं, उदाहरणप्रत्युदाहरणानि	शङ्कासमाधानं च ।	२१२	१७-३१
१०८ ,, —	वाग्रहणसम्बन्धिशङ्कोत्पादनं पश्चा-	न्निर्मूलनं च ।	२१२	३२-३८
१०९ ,, —	निर्धारणस्य विभागस्य चार्थं, उदा-	हरणं शङ्कोत्पादनं च ।	२१२	३९-४४
११० त० प्र०—	क्रिययोर्मध्येऽध्वकालवाचिनोर्नाञ्चो	षष्ठी तथा सप्तमी विभक्तिर्मवति ।	२१३	५-१२
१११ ,, —	अल्पीयोवाचिनाऽधिकशब्देन	युक्तादौयोवाचिनो गौणानाञ्च		
	सप्तमीपञ्चम्यौ भवत ।		२१३	१३-१६
११० आ० बो०—	सूत्रार्थं शङ्कासमाधानानि च ।		२१३	२७-४३
१११ ,, —	सूत्रार्थं उदाहरणं च ।		२१३	४४-४७
११२ त० प्र०—	भूयोवाचिनाऽधिकशब्देन युक्ताद-	ल्पीयोवाचिनो गौणानाञ्चस्तृतीया-		
	विभक्तिर्मवति ।		२१४	१-३
११३ ,, —	पृथमानाभ्यां युक्तादौणाञ्चाम्न	षष्ठी तृतीया च ।	२१४	४-७
११४ ,, —	ऋतेशब्देन युक्तादौणाञ्चाम्नो	द्वितीया षष्ठी च स्यात् ।	२१४	८-१०
११५ ,, —	विनाशब्देन युक्तादौणाञ्चाम्नो	द्वितीया षष्ठी तृतीया च ।	२१४	११-१३
११६ ,, —	तुल्याभ्यां युक्तादौणाञ्चाम्नस्तृतीया	षष्ठी च भवति ।	२१४	१४-१९
११२ आ० बो०—	उदाहरणं तस्य सूत्रार्थेन सह	समन्वयश्च ।	२१४	२०-२२
११३ ,, —	सूत्रार्थं सूत्ररचनायाः प्रयोजनं च	२१४ २३-२६		
११४ ,, —	सूत्रार्थं, उदाहरणं मतान्तर-	प्रदर्शनं च ।	२१४	२७-३१
११५ ,, —	विभक्तित्रयं विदधातीदं सूत्रमिति	सूत्रार्थं ।	२१४	३२-३४
११६ ,, —	अर्थग्रहणस्य प्रयोजनं, प्रत्युदाहरण	शङ्कासमाधानं च ।	२१४	३५-४२
११७ त० प्र०—	एनप्रत्ययान्तेन युक्तगौणानाञ्चो	द्वितीयाषष्ठी भवति ।	२१५	१-४
११८ ,, —	हेत्वर्थैर्युक्तादौणाञ्चाम्नस्तृतीयाया	सर्वा भवन्ति ।	२१५	५-१०
११९ ,, —	हेत्वर्थैर्युक्तात् सर्वादेर्गौणानाञ्च सर्वा	विभक्तयो भवन्ति ।	२१५	११-१७
१२० ,, —	असत्त्ववाचिन आरादर्याञ्चाम्नश्चाक-	सि ङि ञम् एते चत्वार एव प्रत्यया		
	भवन्ति ।		२१५	१८-२७
११७ आ० बो०—	ससाधनिकमुदाहरणं प्रत्युदाहरणं च	२१५ २८-३०		
११८ ,, —	सूत्रार्थं शङ्कासमाधानं च ।		२१५	३१-३५
११९ ,, —	सूत्रार्थो मतान्तरवर्तमानानि च ।	२१५ ३६-३७		
१२० ,, —	उदाहरणं प्रत्युदाहरणं मतान्तर-	प्रदर्शनं च ।	२१५	३८-४३
१२१ त० प्र०—	जात्याख्यायामेकस्याऽसंख्यस्य वा	बहुत्वविधानम् ।	२१६	१-९

सूत्रम् । पृ० ना० ।	विषयः ।	पृ० प०	प० शि० नं० ।	परिशिष्टनाम ।	पृ० प०
१२२ त० प्र०—	विशेषणरहितस्याऽस्यदो द्वित्वस्यैक- त्वस्य च वा बहुत्वविधानम् ।	२१६ १०-१३	३	संशोधनसहायीभूतताडपत्रीयग्रन्थनामानि ।	२३२
१२१ भा० बो०—	सूत्रार्थं, प्रत्युदाहरणानि, शब्दा- समाधानं च ।	२१६ १६-३६	"	" " " " हस्तलिखितग्रन्थनामानि ।	२३२-२३३
१२२ "	—शब्दासमाधानं प्रत्युदाहरणं च ।	२१६ ३७-४४	"	" " " " मुद्रितग्रन्थनामानि ।	२३३-२३७
१२३ त० प्र०—	फल्गुनीप्रोष्ठपदनक्षत्रयोर्द्वित्वस्य वा बहुत्वम् ।	२१७ ३-८	४	साधनिकायां षट्पदादस्थसूत्रतोऽधिकबोधदानैक- बद्धकक्षाणां सिद्धहेमपदपादवाक्यसूत्राणामकारादि- क्रमः ।	२३८-२५३
१२४ "	—गौरवार्हस्य शब्दस्य द्वित्वस्यैकत्वस्य च वा बहुत्वविधानम् ।	२१७ ९-१३	५	साधनिकायां साक्षीभूताऽन्यवैयाकरणसूत्राकारादि- क्रमः ।	२५४-२५५
१२३ भा० बो०—	सूत्रार्थं, उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, शब्दासमाधानं च ।	२१७ १९-३८	६	साधनिकायां विषयस्पष्टीकरणार्थं समुपन्यस्तानां ग्रन्थान्तरगद्यपद्यानामकारादिक्रमः ।	२५६-२५९
१२४ "	—उदाहरणानि पञ्चालादिशब्दानामर्थ- स्पष्टता च ।	२१७ ३९-४५	७	ग्रन्थस्थितसूत्रवृत्त्युदाहरणादिस्पष्टीकरणार्थं मुद्रणीतानां ग्रन्थरत्नान्तरनाम्नामकारादिक्रमः ।	२६०-२६१
त० प्र०—	द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयपादस्य समा- प्तिं तत्सूचकं श्लोकश्च ।	२१८ ३-६	८	ग्रन्थस्थानेकविधस्थले शेषकविदादिविरुद्धोपपद- लाञ्छितशान्दिर्विक्रानामकारादिक्रमः ।	२६२-२६५
भा० बो०—	शब्दोत्पादनं तस्याऽतिविस्तरैण समाधानं च ।	२१८ ९-३०	९	ग्रन्थस्थितविधिविषयव्यवस्थातात्पर्यप्रकाशन- समर्थोभूतन्यायादिगद्य-पद्यानि ।	२६५-२६८
	—षष्ठपादसमाप्तिसूचकश्लोकस्याऽन्यथा- नुसारेण टीकाप्रदर्शनं च ।	२१८ ३१-३८	१०	बहुवचनादीनां समाधानानि फलप्रदर्शनानि च ।	२६९-२७०
	—आनन्दबोधिनीपुत्तिकारस्य सङ्क्षेपेण परिचयः ।	२१८ ३९-४३	११	अकारादिक्रमेण घातनामेकोत्तराणि त्रीणि शतानि ।	२७१-२७६
प० शि० नं० ।	परिशिष्टनाम ।	पृ० प०	१२	सूत्र-वृत्तिस्यशब्दार्थसंग्रहः ।	२७६-२९२
१	सिद्धहेमपदपादसूत्राणि ।	२१९-२२५	१३	ननुनचाऽप्यादिपदैस्तथापितशब्दासंग्रहः ।	२९२-३२३
२	सिद्धहेमपदपादसूत्राकारादिक्रमः ।	२२६-२३१	१४	शाब्दिकानामकाराद्यनुक्रमेण नामानि ।	३२४-३२९
			१५	अथ वृत्ति-रचना-प्रशस्तिः ।	३३०
			१६	साङ्केतिकशब्दानां परिस्फुटता ।	३३१
			१७	सूत्र-वृत्तिग्रन्थपरिमाणप्रदर्शकग्रन्थसूत्रम् ।	३३२
			१८	छादिकप्रक्रमः ।	३३३-३३६



सकलसङ्कटचूरकेभ्यः श्रीसिद्धचक्रेभ्यो नमो नमः ।

विश्वजनमनोवाञ्छितपूरकः श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथो विजयतेतमाम् ।

खोपज्ञश्रीतत्त्वप्रकाशिका—बृहद्वृत्तिसमलंकृतम् ।

श्रीआनन्दबोधिनीविवृतिविभूषितम् ।

अनेकराजन्यवरमौलिमुकुटमालासमुद्भूतमानशासनशासनप्रभावनाद्यनेकविधिविधानदक्षापरललनाप्राप्तप्रावृभावोष्टादश-  
विषयवर्त्यनन्यशासनभूमिपालकुलमण्डलमण्डनसम्राट्कुमारपालनरपालससेव्यमानक्रमाभ्युज्जनवनवोन्मेष-  
प्रज्ञाप्रतिभातिप्रचण्डपाण्डित्याभिनवयशोराशिजलराशिसमनासादितान्यविदग्धकीर्तिसवन्तीप्रवेश-

प्रत्युत्पन्नमतिमन्त्रिवहावधारितमुखसरसिजासनोद्भवभारतीभाविलक्षणचातुरीपुङ्गवसमस्तवा-

च्यविमामिमासितवदननिजबुद्धिप्रकाशप्रकर्षावरीकृतलेखसूरिसाक्षाद्वादप्रकाशो-

न्मीलितज्ञानचक्षुर्विपश्चिन्मूर्धन्यमणिसकलस्वपरसिद्धान्तसिन्धुमथनमन्द-

रायमार्गसौजन्यवारानिधिसमुत्तकनकावदातमूर्तिकलिकालसर्वज्ञ-

विस्दोपपदलाञ्छितोऽऽचार्यश्रीहेमचन्द्रकृतसुप्रकाशम्—

# ॥ श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् ॥

॥ अहं ॥

प्रणम्य परमात्मान श्रेयः शब्दानुशासनम् । आचार्यहेमचन्द्रेण स्मृत्वा किञ्चित्प्रकाश्यते ॥ १ ॥

अहं ॥ १ । १ । १ ॥

अनम सिद्धचक्राय शाश्वतानन्ददायिने । सर्वमन्त्रेष्वय मन्त्रोऽचिन्त्यचिन्तामणीयते ॥ १ ॥

यत्पादजलस्यशान्मन्दो वाचस्पतीयति । नम शङ्खेश्वरेशाय विश्वविघ्नविनाशिने ॥ २ ॥

चामीकरविधूमासिस्त्रवृत्तिकृते नम । सूरये हेमचन्द्राय हेमचन्द्रयशस्वते ॥ ३ ॥

जैनागममुद्गादोग्रे सागरानन्दसूरये । सर्वतन्त्रस्वतन्त्राय पूज्याय शूरवे नम ॥ ४ ॥

सिद्धहेमबृहद्वृत्तिविषमस्यलबोधिनीम् । कुर्वेऽह विवृतिं बालमनोज्ञाऽऽनन्दबोधिनीम् ॥ ५ ॥

श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनतत्त्वप्रकाशिकापरविधानबृहद्वृत्तिप्रत्ययसादौ सूत्रशक्तिरुद्रगवदेमचन्द्रो निजपरमनोवाञ्छितसिद्ध्यर्थं ग्रन्थ-  
प्रतिबन्धकदुरितप्रक्षमाय व्युरिपसुप्रेक्षाप्रयोजकीभूतविषयप्रयोजनसबन्धाधिकारिरूपानुबन्धचतुष्टयगर्भं स्वपरेष्टदेवतासकीर्तनरूपं नमस्कारा- २४  
त्मकं मङ्गलमाह—प्रणम्य इत्यादिना । परमात्मानम्—परमश्चात्मा आत्मा च परमात्मा तम् परमात्मानम्—अवाधितज्ञानातिशयादिविराजमान  
देवादिदेवविशेष, एतेन—आत्मनि परमत्व—अवाधितज्ञानातिशयादिविराजमानत्व सूचितम् । प्रणम्य—मनसि नत्वा, एतेन—करधिर सयो-  
गादिरूपनमस्कारार्थकम्भातो प्रोपसर्गयोगे मानसिकत्व नमस्कारस्य सूचितम्, यथा लोके नमस्कार उपहासेऽपि भवति, तथा नात्र इति २७  
तद्भाववर्तनमपि तेन सूच्यते । श्रेयः—अतिशयेन प्रशस्य, अनुशिष्यन्ते—व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेन इति अनुशासनम्, शब्दानां लौकिकानां  
प्राकृतानां च अनुशासनम् व्युत्पादनं शब्दानुशासनम्—व्याकरणम् । व्याकरणेऽस्मिन्नतिशयप्राशस्त्यं “एन्द्र चान्द्र काशकृष्ण कौमारं  
शाकटायनम् । सारस्वत चापिशल श्याकल पाणिनीयकम् ॥” इत्यादिपूर्वप्रणीतशब्दानुशासनापेक्षया नातिविस्तीर्णतया, अतिप्रकीर्णतया, असुकी- ३०  
र्णतया च बोध्यम् । शब्दानामनुशासनं शब्दानुशासनमिति पट्टीसमासस्तु इष्मश्चन इत्यादिवद्बोध्यं । “तृतीयायाम्” ३।१।८४। इति यं कृतम-  
पेक्ष्य पट्टी तमेव कृतमपेक्ष्य यदि तृतीया स्यात्तदा निषेधो भवति । अपिच “द्विहेतो ०” २।२।८७। इति पट्टीपक्षे यत्र तृतीया तत्र “तृतीयायाम्”  
३।१।८४। इति निषेध, अत्र तु कर्तुराचार्यहेमचन्द्रस्य प्रयोजनाभावेनोभयप्राप्त्यभावात् । अत्र त्वपेक्षामेदाच्छब्दानामिति पट्टी अनुशा- ३३  
सनापेक्षया, आचार्यहेमचन्द्रेण इति तृतीया प्रकाश्यते इत्यपेक्षया, इति शब्दानामनुशासनं शब्दानुशासन इति पट्टीसमासं सूचयति ।  
स्मृत्वा—सर्वजनहितकाम्यया उपदेशद्वारा व्याकरणमिदं तदधीनं कृत्वा । आचार्यहेमचन्द्रेण—आ सामस्येन शास्त्रार्थावधार्यन्ते—ज्ञायन्ते-  
ऽनेनेति—आचार्यं शास्त्रार्थज्ञाता । हेमचन्द्र—स्वर्णचन्द्राभ्यां सगो भगवान् हेमचन्द्र, आचार्यहेमचन्द्र तेन आचार्यहेमचन्द्रेण, एतद्विप्रहार्थ- ३६  
प्रदर्शनेन आचार्य इत्यस्य विशेषणत्वं, तत एव च पूर्वनिपातोऽन्यथा परनिपातं स्यात् सज्ञाशब्दत्वेन आचार्यशब्दस्य । एतदुक्त्या भगवता  
स्वनामं खोपज्ञशब्दानुशासनटीका च समुपदर्शिता, अर्थात् शब्दानुशासनम्, तत्त्वप्रकाशिका नाम टीका च विरच्यते । आत्मनामोच्चारणस्य  
निषेधेऽपि तद्विषयेऽदोष इति कृत्वा ‘आचार्यहेमचन्द्रेण’ इत्युक्तिः । किञ्चित्—खल्पम् क्रियाविशेषणम् । प्रकाश्यते—सर्वज्ञभगवतः सनिधौ ३९

अहं इत्येतदक्षरं परमेश्वरस्य परमेष्ठिनो वाचकं, सिद्धचक्रस्यादिवीजं, सकलागमोपनिषद्भूतमशेषविघ्नविघातनिघ्नम-  
खिलदृष्टादृष्टफलसंकल्पकल्पद्रुमोपममाशास्त्राध्ययनाध्यापनावधि प्रणिधेयम् । प्रणिधानं चानेनात्मनः सर्वतः संभेदस्तदभिधेयेन  
१ चाभेदः । वयमपि चैतच्छास्त्रारम्भे प्रणिदध्महे । अयमेव हि तात्त्विको नमस्कार इति ॥ १ ॥

सर्वप्रकाशनमशक्यमिति मत्वा किञ्चित्प्रकाश्यते । धीघन महामहिम्नातिशयविराजिदेवाधिदेवविशेष नमस्कृत्य-हृदि निधाय सर्वजनहितकाम्यया  
शब्दानुशासनमिदं, उपदेशद्वारा परायत कृत्वा आचार्यहेमचन्द्रेण प्रकाशमानं शब्दानुशासनं सर्वविदं पुरस्तात्किञ्चित् प्रकाश्यते । शब्दानुशासन-  
२ मित्युक्त्या शब्दरूपविषयोऽभिहितः, श्रेय इति तद्विशेषणद्वारा प्रयोजनमभिहितम् । परमात्मानं प्रणम्य इत्युक्त्या सर्वसाधारणत्वाद्वाक्यकरणस्य तदनु-  
सारेणाय नमस्कारोऽभिहितः । शास्त्रविषययोर्व्युत्पाद्यव्युत्पादकभावलक्षणं संबन्धः, तज्ज्ञासुरधिकारी इति संक्षेपः । विस्तरस्त्वन्यतोऽनुसंधेयः ।

श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनसूत्रग्रन्थस्य निर्विघ्न आरम्भस्थिरीकरणसमाप्त्यर्थं सूत्रकारः खेष्टदेवताप्रणिधानरूपं, व्याख्यातृ श्रोतृणामनुपपन्नो  
१ मङ्गल चकार—अहं—प्रणिधेयम्, इत्यन्वयः । प्रणिधेयस्य अहं इत्यस्य स्वरूपमविज्ञाय प्रणिधानाशक्यतया तत्स्वरूपमाचष्टे—अहं-इत्येत-  
दक्षरं—अक्षरं—अक्षरधीजम्, अत एव सिद्धचक्रस्यादिवीजमित्यादिप्रसङ्गोक्तिः सगच्छते इति स्वरूपव्याख्यानम् । शब्दानुशासनस्य सर्वसाधारणत्वे  
अक्षरम्—न क्षरति—न चलति स्वस्मात्स्वरूपादक्षरतत्त्वं—मन्त्र इति वा सर्वनयानुसारी तदर्थः । पूर्वं स्वरूपमुक्त्वा अहंपदाभिधेयमर्थमाह—परमे-  
२ श्वरस्य परमेष्ठिनो वाचकं—परमेष्ठिनो विशेषणं परमेश्वरस्येति तु “देवतानां गुणानां च नाम नोपपदं विना । उच्चरेन्नैव जायाया कथंचिन्नाम-  
नस्तथा” ॥ इति सोपपददेवतानामोच्चारणस्य विधानेन पञ्चसहस्रैस्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधारणरूपेषु परमेष्ठिषु मध्ये अहंत एवात्र प्रहणाय च बोध्यम्,  
परमेश्वरस्यैव ईश्वरस्य परमेश्वरस्य परमेश्वरस्य—चतुर्विंशदतिशयरूपपरमेश्वरस्यसंपन्नस्य—परमे पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी तस्य परमेष्ठिनोऽहंतो वाचक  
३ बोधकः अहं इति अभिधेयव्याख्यानम् । अत्राहमित्यस्य वाचकत्वोक्तिस्तु—मन्त्रकल्पे मन्त्रवर्णानां वाचकत्वकीर्तनाभिप्रायेण, यथा—अ-सि-आ-  
उ-सा—इति वीजपञ्चमहर्षदादीनाम् इत्यन्वयः विस्तरः । परमेश्वरस्य परमेष्ठिन इत्युक्त्या निरस्तनिखिलागादिदोषनिकरः, सदा प्रसन्नः, सर्वज्ञः,  
शास्त्राद्युपाधिरहितो देवाधिदेवस्तेजोमयः प्रतिपाद्यते । अभिधेयव्याख्यानमुक्त्वा तत्तात्पर्यमाह—सिद्धचक्रस्यादिवीजं—सिद्धचक्रस्य—देवगुरु-  
४ धर्मबोधकस्य—अहंस्तिद्धाचार्योपाध्यायसौधुर्ज्ञानदर्शनचरित्रतैप समुदायरूपस्य—स्याद्वादसिद्धान्तप्रसिद्धस्य चक्रविशेषस्य रूढोक्तिः सिद्धचक्रस्ये-  
त्यनेन । अथवा सिध्यन्ति अस्मादिति सिद्धः, सिद्धश्च तत्पञ्चमः सिद्धचक्रः तस्य सिद्धचक्रस्य, अस्माच्चक्रात्सिध्यन्ति सफलमनोरथा भवन्ति  
परमाक्षरतत्त्वमहमिति ध्यायन्तोऽत एव तस्मिन् चक्रे सिद्धत्वं समुपपन्नं, तस्य सिद्धचक्रस्य आदिवीजं—प्रथमं वीजं, एतेन अहमिति वीजसदृशं,  
५ यथावीजं भूम्यामुत फलाङ्कुरं प्रसूते तथेदमपि पुण्यादिप्ररोहमुक्ति—मुक्तिफलजनकं बोध्यते । अस्य वीजस्यान्तस्त्वर्षवीजापेक्षया व्यापकत्वं सर्व-  
वीजनमयत्वेन बोध्यम् । व्याकरणस्य सर्वसाधारण्येन अकारादारभ्य क्षपयन्तानां प्रसिद्धानां वर्णानां चक्र—समुदायस्य मुख्यं वीजमहमिति  
बोध्यम् । अहं इत्यस्य प्राधान्यमाचष्टे—सकलागमोपनिषद्भूतम्—सकल आगम—द्वादशाक्षररूपं तस्य उपनिषद्भूतं रहस्यतो प्राप्तं  
६ तात्त्विकमिदम् । अथवा—सकलागमेष्टु—पूर्वपश्चिमाग्नारूपेषु उपनिषद्भूतम्—परमेश्वरपरमेष्ठिवाचकमहमिति रहस्यभूतं, अत एव च तत्प्रणिधि-  
विषयम् । लब्धस्य रक्षणं योगं अलब्धस्य प्राप्ति—क्षेम इति योगक्षेमशालित्वं दर्शयति—अशेषविघ्नविघातनिघ्नं—अशेषा विघ्ना—  
७ समग्रशुभक्रियाविनाशका—तेषां अशेषविघ्नानां विघातं विशेषेण घात—हननं, अथ यत्रतत्रमन्त्राधिराजस्तथा विघ्नविनाशको यथा पुनस्तेषां  
८ प्रादुर्भावो न भवति इत्यर्थः । अशेषविघ्नविघाते निघ्नम्—परवशम् इति अशेषविघ्नविघातनिघ्नम् ।

१ यथा मदान्धो दन्ती मदावेशेन परवशो ब्रह्मावीन् समूलमुन्मूलयति, तथा ध्यानपरवशोऽयमपि महामन्त्रराजो विघ्नद्रुमोन्मूलने  
समर्थो भवति । इत्यनेनाहं इत्यस्य सामर्थ्यातिशयोपवर्णनम्, योगोपदर्शनश्च सूचितम् । अलब्धस्य प्राप्ति—क्षेम इति तमुपदर्शयति—अखिल-  
२ दृष्टादृष्टफलसंकल्पकल्पद्रुमोपमम्—दृष्टानि—राज्यादीनि च, अदृष्टानि—स्वर्गादीनि च तानि फलानि, दृष्टादृष्टफलानि । अखि-  
लानि—सकलानि, दृष्टादृष्टफलानि—राज्यस्वर्गमोक्षसुखानि, अखिलदृष्टादृष्टफलानि—समग्राज्यस्वर्गमोक्षादिसुखानि, अखिलदृष्टादृष्टफलानां  
संकल्प—इच्छासंपादनं, अखिलदृष्टादृष्टफलसंकल्प—सम्पूर्णराज्यादिस्वर्गमोक्षसुखानिलावसंपादनं, अखिलदृष्टादृष्टफलसंकल्पे कल्पद्रुमेण—सुर-  
३ तरुणा, उपनीयते यत्तत्तथा—कल्पद्रुमोपमं अखिलदृष्टादृष्टफलसंकल्पकल्पद्रुमोपमं—सम्पूर्णराज्यादिस्वर्गमोक्षसुखानिलावसंपादनं देवतारूपमिदं-  
महं इत्यादिवीजम् । २ अथवा—दृष्टात्—क्रियाविशेषात्, अदृष्टात्—पुण्याविशेषाच्च यत्फलं दृष्टादृष्टफलं, अखिलं दृष्टादृष्टफलं, तस्य सकल्प-  
अखिलदृष्टादृष्टफलसंकल्पः, अखिलदृष्टादृष्टफलसंकल्पे कल्पद्रुमेणोपनीयते यत्तत्तथा, अखिलदृष्टादृष्टफलसंकल्पकल्पद्रुमोपममिति । ३ अथवा—  
४ संपूर्णा कल्पा—सकल्पा, फले सकल्पा—फलसंकल्पा, दृष्टानामदृष्टानां च फलसंकल्पा, दृष्टादृष्टफलसंकल्पा, अखिला दृष्टादृष्टफलसंकल्पा  
अखिलदृष्टादृष्टफलसंकल्पा, तेषां कल्प—अखिलदृष्टादृष्टफलसंकल्पकल्पः, अखिलदृष्टादृष्टफलसंकल्पकल्प एव द्रुमं अखिलदृष्टादृष्टफलसंकल्प-  
कल्पद्रुमं, स उपनीयते—सामीप्येन परिच्छिद्यतेऽनेन इति, अखिलदृष्टादृष्टफलसंकल्पकल्पद्रुमोपमम् । एतेन अन्यसर्वेयत्रतत्रमन्त्रेभ्योऽस्य  
५ ‘अहं’ इत्यस्य प्रकृतसामर्थ्याशालित्वं ज्ञायते । इत्यं व्याख्यात्रयेण विवृत्य अहं इत्यस्य प्रकृतोपयोगं प्रदर्शयति—आशास्त्राध्ययना-  
ध्यापनावधि—इदं प्रणिधेयमित्यत्र प्रणिधानलक्षणक्रियाविशेषणम्, क्रियाविशेषणानां कर्मत्वमित्यनुशासनेन, तस्य कर्मणिद्वितीया बोध्या,  
शास्त्रात् आ इत्याशास्त्रं, अध्ययनं च अध्यापनं च अध्ययनाध्यापने, आशास्त्रं अध्ययनाध्यापने आशास्त्राध्ययनाध्यापने, आशास्त्राध्ययना-  
६ ध्यापने अवधी यस्य तत्तथा, आशास्त्राध्ययनाध्यापनावधि । अहं आशास्त्राध्ययनाध्यापनावधि—शास्त्रमभिव्याप्य अध्ययनाध्यापनावधिक-  
प्रणिधेयम्—प्रणिधिविषयम् । कथंभूतं अहं? इत्यपेक्षयां पूर्वोक्तविशेषणपटुं समुपयोज्यम् । प्रणिधेयम्—प्रणिधानविषयमिति-  
विवरणेन प्रणिधानस्वरूपं ज्ञायते तदेवान्धं प्रणिधानं च इत्यादिना तत्स्वरूपव्याख्यानम्, अनेन—प्रणिधेयेन ‘अहं’ इति बीजेन,  
७ आत्मनः—प्रणिधायकस्य, सर्वतः—सर्वेभ्यः, समेदः—संक्षुब्धरूपः, सम्यन्धरूपश्च भेद इति, प्रणिधानस्य प्रथमो भागः । द्वितीयस्तु  
आत्मनो ध्यायकस्य तदभिधेयेन अहं इतिपदाभिधेयपरमेश्वरपरमेष्ठिना सह अभेदः—एकीभाव—य एवाहं स एवाऽहमिति, य एव  
८ विनाशसामर्थ्यं हृदि धारयित्वा—प्रत्यक्षतऽपि मया तदेव प्रणिधेयमित्याद्यनेनाहं—वयमपि इत्यादिना । कथं—एकव्यक्तित्वात्प्रेयोचरितादस्य  
च्लब्दादहंवचनन्तु पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टस्य अहमित्यस्य ध्येयस्य ध्यानेन आत्मनि समुत्कृष्टत्वेन गुणानुल्लभ्य, तैरभिमतया आत्मनो षट्त्वं  
वाचकत्वाद्बोध्यम् । एतत्—अहमिति । शास्त्रारम्भे—शब्दानुशासनादौ, प्रणिदध्महे—ध्यायामः, अयमेव—प्रणिधानरूप एव, हि—यत्  
९ तात्त्विको—यथार्थो, नमस्कारः—अर्पणभावः, एतेन प्रणिधानस्य यथार्थं नमस्कारविशेषश्च सूचितम् । प्रणिधानम् अभिधेयम् प्रणि-  
धायकश्च, इति त्रितयस्वरूपव्याख्यातात्पर्याव्याख्यानयापि स्फुटमेव प्रतीयते ॥ १ ॥

## सिद्धिः स्याद्वादात् ॥ १ । १ । २ ॥

स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकम्, ततः स्याद्वादोऽनेकान्तवादः—नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगम इति यावत् । ततः सिद्धिर्निष्पत्तिर्ज्ञेयसिद्धिर्वा प्रकृतानां शब्दानां वेदितव्या । एकस्यैव हि ह्रस्वदीर्घादिविषयोऽनेकारकसंनिपातः, सामानाधिकरण्यं, विशेषणविशेष्यभावादयश्च स्याद्वादमन्तरेण नोपपद्यन्ते । सर्वपार्षदत्वाच्च शब्दानुशासनस्य संकलदर्शन-

शब्दानां साधुत्वं लोकत एव सिद्धं, तथा सति किमर्थं शब्दानुशासन इत्यपेक्षायां शब्दानुशासनं हि प्रकृतिरियमयं प्रत्यय इति विभज्य शब्दान् प्रकृतिप्रत्ययार्थज्ञापनद्वारा सज्ञो-परिभाषा-विधि-निर्यम-प्रीतिषेध-विकार-विकल्प-समुच्चय-अतिदेश-अनुवाद-रूपदशविधसूत्रैर्व्यु- ६  
त्पादयति, तच्च तदैव सम्भवेत् यदा शब्दार्थयोः सम्यग्धसिद्धिरिति ताम् दशविधसूत्रेष्वधिकारसूत्रेण ब्रवीति—सिद्धिः स्याद्वादात्—  
स्याद्वादशब्दात्पक्षी “गम्ययप कर्माधारे” १२।७४ इति । इत्थं च प्रासादात् प्रेक्षते इत्यादिष्वत्, स्याद्वादमाश्रित्य इत्यर्थं, शब्दाना-  
मित्यप्याहार शब्दानुशासनस्य प्रकान्तत्वेन बोध्यः । सिद्धिः—शब्दानित्यत्वनादिमतेन निष्पत्तिः, शब्दानित्यत्वादिमतेन च ज्ञप्तिः, इति ९  
सूत्रपदार्थः, स्याद्वादमते सम्भवाप्यदोष इति । स्याद्वादमाश्रित्य लौकिकानामार्पणाय (प्रकृतानां) शब्दानां निष्पत्तिर्ज्ञेयसिद्धिर्वा बोध्या इति  
सूत्रफलितार्थः । ननु कोऽपि स्याद्वादमाश्रित्य संस्कृतानामार्पणार्थं च शब्दानां निष्पत्तिर्ज्ञेयसिद्धिर्वा वेदितव्या, इति तु तदैव विवृष्यते, यदि स्याद्वादपद-  
पदार्थो बुद्धो भवेदिति तदविज्ञातस्वरूपं प्रति क स्याद्वादपदार्थ इति चेदुच्यते, स्याद्रूपो वाद—स्याद्वाद १ इति समासे वादशब्दोऽनेकान्त-१२  
बोधकः, स्याच्छब्दस्तु अनेकान्तद्योतकः । स्यादित्येतस्य वाद इति च विग्रहे २ स्यादिति स्वराद्यव्ययम्, वाचकत्वेन अनेकान्तद्योतक बोध्यम्,  
इति विग्रहद्वयं प्रदर्श्य स्याद्वादपदार्थो निरूपितः । स्यादित्यव्ययस्य वाचकत्वे तु, तेनैव सकलार्थबोधे स्यादस्यैव इत्यादिप्रयोगेषु अत्येवादिप्रयो-  
गस्यानर्थक्यं पौनरुक्त्यं वा समापदेदित्यभिप्रेत्यानेकान्तद्योतकम् इत्युक्तिः । अत्रेयं विप्रतिपत्तिः—स्यादित्यव्ययम्, ‘निपातानां द्योतकत्व’ १५  
इति पञ्चाभिप्रायेण गुणभावेनानेकान्तस्य द्योतकमिति स्वीक्रियेत, तदा अनेकान्तवाचकपदस्य गुणभावेनैव वाचकत्वं भवेत् ‘येनैव रूपेण  
वाचकं पदमभिधत्ते, तेनैव रूपेण निपातो द्योतयति’ इति सिद्धान्तात् । यदि च स्यादित्यव्ययं केनाप्यनुक्रमेणानेकान्त द्योतयती-  
त्युच्येत, तर्हि तच्छब्दप्रयोगबलेन तदर्थविज्ञानाप्तस्य तद्वाचकत्वेनोपपद्येत इति, गुणभावेन तस्यानेकान्तद्योतकत्वासंभवः । एवमेव प्रधानभावेन १८  
स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकमित्यसमञ्जसम्, प्रधानभावेन अस्तीत्यादिशब्दैरस्तित्वाद्यर्थोवगतौ स्यादित्यनेन प्रधानभावेन तदर्थद्योतननिष्फ-  
लत्वाद्, यदि च तस्मात्स्तित्वाद्यर्थोद्योतकं स्यादित्युच्येत, तर्हि न कुत्राप्यनभिहितद्योतनदर्शनं भवति । अपिच अस्तिपद प्रधानतया अस्तित्वम-  
लत्वाद्, यदि च तस्मात्स्तित्वाद्यर्थोद्योतकं स्यादित्युच्येत, तर्हि न कुत्राप्यनभिहितद्योतनदर्शनं भवति । अपिच अस्तिपद प्रधानतया अस्तित्वम-  
भिधत्ते, स्यादिति च गुणरूपेण नास्तित्वाद्यभिधत्ते, इत्यत्र समुपपन्नं स्याच्छब्दस्य प्रधानगुणभावेनानेकान्तप्रकाशकत्वमित्यपि अपसिद्धान्तः, २१  
अथानभिहितनास्तित्वाद्यर्थोवगतिः स्यादित्यनेन, तथा सर्वार्थोभिधानं तेन शक्यं, नचान्ययोग्यवच्छेदार्थकैवशब्दात्सर्वार्थव्यावर्तनेन न  
तेषां द्योतकत्वं स्यादित्यस्य, नुन्ययुक्त्या यथा एवकारेण सर्वार्थव्यावर्तनं तथा कथं सर्वार्थान्तर्वर्तिनास्तित्वादिवाद्यवर्तनमिति समायात स्या-  
च्छब्दस्यानेकान्तद्योतकत्वमिति चेच्छ्रूयताम्—स्यादित्यव्ययस्यानेकान्तद्योतकत्वम्, तथाहि—यथा अस्तीत्यादिपदानि प्रधानगुणभावेनास्तित्वाद्य- २४  
र्थानभिधत्ते, तथा स्याच्छब्दोऽपि प्रधानगुणभावेन तदर्थान्व्योतयति—अयमाशय इत्यरूपेण अस्तित्वं, पर्यायरूपेण च नास्तित्वमिति, द्व्या-  
र्थिकन्यापेक्षया अस्तित्वस्य मुख्यत्वं, तस्य च तद्विनाऽनवस्थितस्य नास्तित्वादिसापेक्षस्यैव संभवः, इत्थं नास्तित्वस्य गौणत्वं । एवमेव पर्यायार्थिक-  
न्यापेक्षया नास्तित्वस्य मुख्यत्वं तस्य च तद्विनाऽनवस्थितस्य नास्तित्वादिसापेक्षस्यैव संभवः इति । अस्मिन्नेव अस्तित्वस्य गौणत्वं इति द्व्यर्थिकपक्षा- २७  
यार्थिकन्यापेक्षेप्रधानगुणभावेन स्याच्छब्दस्यानेकान्तद्योतकत्वं तदित्यस्य च वाचकत्वं सिद्धम् । एतत्सर्वं मनसि निधायह—स्यादित्यव्यय-  
मनेकान्तद्योतकम् द्योतकम्—प्रकाशकम् । ततः—स्यादित्यनेनानेकान्तत्वाभावात् । स्याद्वादोऽनेकान्तवादः—अनेकान्तस्य—एक—  
अनेक, अनेकोऽन्त धर्मो यस्यासौ इति अनेकान्तः, तस्य वाद—यथार्थकथन इत्यर्थः । तदेव स्पष्टयति—नित्यानित्याद्यनेकधर्म- ३०  
शबलैकवस्त्वभ्युपगम इति यावत् । अत्रादिशब्देन—सदसत्तामकत्वाभिलाषानभिलाषत्व—सामान्यविशेषात्मकत्व—गुणपञ्चायाणां  
ग्रहणम् । समग्र वस्तुजात इत्यरूपेण नित्यः, पर्यायरूपेणानित्यः, तथा तदेव स्वरूपेण सदन्तरूपेणासदिति, तथास्तत्वादि सामान्यं, सकलान्वय-  
व्युपगतत्वाद्वापकसत्तासामान्यापेक्षया विशेषः । शर्करादीनां माधुर्यं शब्दवाच्यत्वेनाभिलाष्य तत्तारतम्यस्य च शब्दावाच्यत्वेनानभिलाष्यत्वः, इह  
एवमेवानन्दप्युक्तम् । नित्याद्यानित्याद्य आदौ येषान्ते नित्यानित्याद्यः, अनेके ये विकल्पा धर्मा—नित्यानित्याद्यनेकधर्मा, तैः शबल—युगपत्परि-  
णतिप्राप्तः, यद् एक अद्वितीय वस्तु—अभिज्ञ सामान्यविशेषाधिकरणं नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्तु, तस्य—अभ्युपगम—प्रमाण पुरस्कृत्य  
स्वीकारः । ततः—नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगमरूपानेकान्तवादापरपर्यायस्याद्वादात्, सिद्धिः—निष्पत्तिः—शब्दानित्यत्ववादि- ३५  
मतेन, ज्ञप्तिः—शब्दानित्यत्ववादिमतेन, इत्युभयरूपव्याख्यानां मतविशेषमाश्रित्य, स्वमते तस्यथापि न दोषः । स्याद्वादानुश्रीकारेऽनुपपत्तिचतुष्टय-  
माह—एकस्यैव इत्यादिनारम्भ नोपपद्यन्ते इत्यन्तेन । एकस्यैव हि ह्रस्वदीर्घादिविषयः स्याद्वादमन्तरेण न उपपद्यन्ते, एकस्यैव हि  
स्याद्वादमन्तरेण अनेकारकसंनिपातो न उपपद्यते, स्याद्वादमन्तरेण सामानाधिकरण्यं न उपपद्यते, च विशेषणविशेष्यभावादयो न उप- ३९  
पद्यन्ते इति दृष्टिपङ्क्त्यन्वयः । अत्रादिशब्दात्तस्यान्यदिशप्रकृतिविकृतिनिमित्तनिमित्तिभावादिपरिग्रहः । अनुपपत्तिचतुष्टयस्य क्रमशः तात्पर्यवर्ण-  
नम्—यदि वर्णानां नित्यत्वं स्वीक्रियेत, तर्हि यस्य वर्णस्य ह्रस्वत्वं विधीयते तस्यैव दीर्घत्वं तत्पक्षे भवितुं नार्हति, ह्रस्वादिष्वेव पूर्वधर्मेनितिपूर्वक-  
त्वात्, अर्थाद्यस्य ह्रस्वत्वं तेन विधीयते, तस्य पूर्वधर्मेनित्यतिरिच्य तेन ज्ञायेत इति, यदि वर्णानां विनाशित्वं स्वीक्रियेत, तर्हि उत्पत्त्यनन्तरमेव ४२  
वर्णविनाशात्कस्य ह्रस्वादिविविधिरिति । स्याद्वादसमाधिते वर्णरूपतया शब्दानां नित्यत्वं, ह्रस्वादिरूपतया त्वनित्यत्व इति ह्रस्वदीर्घादिविषयो-  
पपत्तिः । एवमेव पीयमानं मधु मद्यति इत्यादौ, मधुनि पीयमानापेक्षया कर्मकारकत्वं, मद्यतीत्यपेक्षया कर्तृत्वं, इति एकस्यैव अनेकारक-  
संनिपातः स्याद्वादनयेति सिध्यति, अन्यपक्षेकस्य नित्यत्वे एकरूपवृत्तित्वाद्वाप्यनन्तरानुपपत्तेर्न घटेत् कारकसंनिपातः । एवमेवानित्यत्वे—कारकप्रयोजकत्व- ४५  
रूपं स्वातन्त्र्यं कर्तृत्वं, इदं फलम्, इयं क्रिया, इदं करणम्, अथ क्रमः, अथ व्ययः, इदमनुष्ठानं फलम्, इयं मम दशा, अयं मम सहायः, अयं  
विषयः, इमौ च मम प्रयतमानस्य देशकालौ, इति विग्रहश्च प्रेक्षापूर्वकारी प्रयतते, इत्येवमात्मकं परिदृष्टसामर्थ्यकारकप्रयोजकत्वं, प्रादुर्भावानन्तरं  
विनष्टस्य क्षणमात्रावस्थानिदोऽनित्यस्य न घटेत् । इत्येवमप्युक्त्यास्यानित्यस्यसंभवेन, कारकसंनिपातस्य तु का कथा? इति कथञ्चिद्विचिंत्यं, ४८  
कथञ्चिद्विचिंत्यमिति नित्यानित्यात्मकः स्याद्वाद एव श्रेयान् । तयैवैकान्तवादिनये भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोरैकजायं दृष्टिरूप-  
सामानाधिकरण्यं घटपटयोरेव सर्वेयैव भेदे भवितुं नार्हति, सर्वथाऽनेदोऽपि सामानाधिकरण्यं न घटेत्, सामानाधिकरण्यस्य भेदनिवन्धन-

समूहात्मकस्याद्वादसमाश्रयणमतिरमणीयम् । यदवोचाम स्तुतिपु—“अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद् यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः । नयानशेषानविशेषमिच्छन्न पक्षपाती समयस्तथा ते” ॥ ३० ॥ स्तुतिकारोऽप्याह—“नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे, रसोपविद्धा इव लोहघातवः । भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः” ॥ ६५ ॥ इति ।

अथवा ‘वादाद्’—विविक्तशब्दप्रयोगात् ‘सिद्धिः’—सम्यग्ज्ञानं तद्वारेण च निःश्रेयसं ‘स्याद्’—भवेद् इति शब्दानुशासनमिदमारम्यते इत्यभिधेयप्रयोजनपरतयाऽपीदं व्याख्येयम् ॥ २ ॥

६

लोकात् ॥ १ । १ । ३ ॥

उक्तातिरिक्तानां क्रियागुणद्रव्यजातिकाललिङ्गस्वाङ्गसख्यापरिमाणोपलब्धीषालुगुऽवर्णादीनां संज्ञानां परात्रित्वं

त्वात् । यथा नीलमुत्पलम्, अत्र भेदरूपैकान्तपक्षे, अभेदरूपैकान्तपक्षे वाऽसम्भव सामानाधिकरण्यात्, प्रत्युत दोष, नीलोत्पलमिषत्र १ उत्पलशब्दविफलता च । इति कथञ्चिद्भेद कथञ्चिद्भेद इत्येवरूपो भेदाभेदरूपस्याद्वादस्वीकार एव गरीयान् । तथा विशेषणविशेष्यभावोऽपि न घटते एकान्तवादिनये, तथाहि—विशेषणविशेष्ययोर्नितान्तभेदाङ्गीकारे घटपटयोरिव विशेषणविशेष्यभावाभाव स्यादेवमेव, तयोर्नितान्ताभेदाङ्गीकारे घटो घट इत्यादिवद्विशेषणविशेष्यभावाभाव स्याद्विशेषणविशेष्यभावस्य भेदाभेदनिमित्तकत्वात्, इति कथञ्चिद्विशेषणत्व कथञ्चिद्विशेष्यत्वमित्येवरूप स्याद्वाद समाश्रयणीय । इत्यथ शब्दानुशासनस्य सर्वसाधारण्य स्याद्वादनये सिध्यति, न शब्दो नित्य, शब्दोऽनित्य इति च पक्षद्वये तयोरेकान्तरूपत्वेन सकलप्राकृत्यभावात् । अपि च विशालत्व स्याद्वादस्य कियदुच्येत—समप्रदर्शनानामपि तद्वृक्षप्रविष्टत्वमित्यादि सर्वथा निर्दुष्टत्व चेत्यादिसर्वमभिप्रेत्य वृत्तिवृद्धि—सर्वपार्षदत्वात् इत्यादिना अतिरमणीयम् इत्यन्तेन । सर्वपार्षदत्वात्—सर्वसाधारण्यात्, १५ पर्षदि साधु पार्षद—साधारण, सर्वेषां पार्षद सर्वपार्षद, सर्वपार्षदस्य भाव सर्वपार्षदत्व तस्मात् । चो—हेतौ । शब्दानुशासनस्य—शब्द व्युत्पत्तिजनकशास्त्रस्य, सकलदर्शनसमूहात्मकस्याद्वादसमाश्रयणं—सकलानि—समग्राणि, दर्शनानि—नया सकलदर्शनानि, सकलदर्शनानां समूह—सघात स एव आत्मा यस्य, स चासौ स्याद्वादश्च, सकलदर्शनसमूहात्मकस्याद्वाद तस्य समाश्रयण—अङ्गीकार, सकलदर्शन— १८ समूहात्मकस्याद्वादसमाश्रयण—अतिरमणीयम्—नितरां निर्दोष इत्यर्थ । स्वसिद्धान्तसिद्ध तदेव स्वपदोपेनाह—यदवोचाम स्तुतिपु, अन्य० यो० व्य० ३० श्लोके—अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद्—अयमाशय—साध्यधर्मविशिष्टधर्मिण पक्षा शब्दो नित्य एव इत्यादयः, प्रतिकूला पक्षा साध्यविरुद्धधर्मिण प्रतिपक्षा शब्दोऽनित्य एव इत्यादयः पक्षप्रतिपक्षा, अन्योन्य—परस्परं पक्षप्रतिपक्षा अन्यो- ३१ न्यपक्षप्रतिपक्षा, तेषां भाव परस्परविरुद्धधर्मोपन्यास, अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभाव, तस्मात्—हेतो, यथा इति दृष्टान्ते—येन प्रकारेण, परे जिनशासनबहिर्भूता, प्रवादाः—प्रकर्षेण स्वाभ्युपगमनार्थप्रतिपादनशीला सिद्धान्ता, मत्सरिणः—अतिशयेनाक्षमावन्त । तथा—तेन प्रकारेण ते—तव हे भगवन् । भवत अशेषान्—सम्पूर्णान्, नयान्—नैगमसमग्रद्वयव्यवहारश्रुतसूत्रशब्दसमभिरुद्धैवभूतेति सप्त, २४ अविशेष—समत्वेन, इच्छन्—मन्यमान, पक्षपाती—पक्ष पातयतीत्येवशील, अर्थाद्वारेण खीकृतस्य पक्षविशेषस्य विनाशेन शोभमान समयः—स्यात्पदलाञ्छित सिद्धान्त न मत्सरी मत्सराभाववान् इति, सहेतुकोक्ति श्लोकपदार्थश्च ।

स्तुतिकारोऽप्याह—श्रीसामन्तमद्राचार्यविरचितस्वयमूलोत्रे ६५ श्लो० तव—हे भगवन् । भवत स्यात्पदलाञ्छना—स्याद्रूप लाञ्छन २७ येषान्ते स्यात्पदलाञ्छना—स्यात्पदविहिता । इमे—प्रसिद्धा नयाः—निरवधारणा अभिप्रायविशेषा—पूर्वोक्ता सप्त । रसोपविद्धा—रसेन-पारदेन उपविद्धा—मिश्रिता लोहघातव इव अभिप्रेतफला—अभिप्रेत फल येभ्यस्ते इति विग्रह, यथा पारदसमिध लोहादिघातु असीधितफलप्रद भवति तथा सप्त नया अपि वाञ्छितफलप्रदा इति, यतो—यस्मात् कारणाद्भवन्ति ततः—तस्माद् हेतो । हितैषिणः— ३० आत्महितेच्छव । आर्याः—मोक्षपथसमीपघाता जना भवन्त—केवलज्ञानभास्वद्विभूषितदेह, प्रणताः—प्रणन्दुमारब्धा इत्यर्थ ।

एतेन समुदितेन ग्रन्थेन युक्त्य स्याद्वादस्य प्रतिपादनद्वारा संस्कृतानां प्राकृतानाञ्च शब्दानां सिद्धिरपि तव इत्याद्युक्तावपि, प्रेशव-त्रवृत्तिप्रयोजकीभूतानुबन्धचतुष्टयानुक्तत्वरूपन्यूनता अथवेति पक्षान्तरेण परिहरति—अथवा इत्यादिना—अस्मिन् पक्षे वादात् सिद्धि- ३३ स्यात्, इति विभज्य व्याख्यातव्य प्रतिष्ठात । साधुशब्दप्रयोगद्वारा सम्यग्ज्ञानरूपासिद्धिर्भवतीत्यनेन प्रयोजनमभिहितम्, शब्दानुशासनस्य च शब्दाभिधेयत्वमपि प्रसिद्ध, इत्य च व्याकरणात्साधुशब्दप्रयोगज्ञान तद्वारा च परमपदप्रतिरित्यवधेयम् । एवमभिधेयप्रयोजनयो सचन्य साध्य-साधनभावरूप, शब्दानुशासनाभिधेययोस्त्वभिधानाभिधेयत्वभाव इति सर्वमवदातम् ॥ २ ॥

३६ शब्दानुशासनेऽस्मिन्प्रत्याहाररूपलिङ्गकल्पनामनपेक्ष्यास्मामिर्लोकप्रसिद्धवर्णमाला गृहीता, सा च द्विपद्माशदक्षरात्मिका—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ, अ अ, ई, झ, ट्ठ, क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब म य र ल व श ष स ह । एवमेव सूत्रप्रत्यर्थं लोकप्रसिद्धन्याया अपि प्राप्ता, सर्वमिदं हृदि निधाय चकार सूत्र सूत्रकृत् लोकात् । पूर्वस्माच्छास्त्रसिद्धि-

३९ रित्यनुवर्तते, लोकात् सिद्धि इत्यन्वय । अत्र पूर्ववत्पक्षमी सर्वपदार्थपक्षकलोकमाश्रित्य, सिद्धि—ज्ञप्ति कर्तव्या इत्यर्थ । कासां केपाद्येति जिज्ञासायामाह—उक्तातिरिक्तानां क्रियागुण इत्यादिना न्यायानां च इत्यन्तेन । उक्तातिरिक्तानां इत्युपगमनान्यपि तेन उक्तातिरिक्तानां—क्रियागुण—द्रव्य—जाति—काल—लिङ्ग—स्वाङ्ग—सख्या—परिमाण—अपल—वीप्सा—लुगवर्णादीनां संज्ञानामित्येकोऽन्वय, उक्तातिरिक्तानां—परात्रित्वं

४२ नित्यादन्तरङ्गमन्तरङ्गाश्चानवकाश वलीय इत्यादीनां न्यायानां च इत्यपरोऽन्वय । उभयत्रान्वये विग्रहभेद, तथाहि—यदि तत् संज्ञाना-मित्यत्रान्वेति तदा उक्ताभ्य—स्वरादिसंज्ञाभ्य अतिरिक्ता—अधिका तासा वृत्त्युक्तसंज्ञानां इत्यर्थ । यदा च तत् न्यायानामित्यत्रान्वेति तदा उक्तातिरिक्तानां सर्वथैव अनुक्तानां अन्यै उक्तैभ्य अतिरिक्ता अधिका ये न्यायान्तेषां इत्यर्थो वा योष्य । क्रमेण क्रमे

४५ त्यादि संज्ञापदार्थनिरूपणम्—क्रिया—पूर्वापरीभूतावयवा, गुणः—विशेषण, द्रव्यं—विशेष्यम्, जाति—“आकृतिग्रहणा जातिर्ज्ञानं न च सर्वमाह । सकृदाख्यातनिर्गोषा गोत्र च चरणे सह” इति । काल—वृत्त्यादिरूप, लिङ्गम्—स्त्यानप्रसव, तथ पुत्रीनपुसकादिरूप, स्वाङ्गम्—“अविकारोऽद्रव मूर्तं प्राणिस्थ स्वाङ्गमुच्यते । च्युत च प्राणिनस्तत्तज्जिभ च प्रतिमादियु” । सख्या—एकवदित्वावभिधानवृद्धिरेव,

४८ परिमाणं—सर्वतो मानम्, अपत्यं—पुत्रपौत्रादि, वीप्सा—क्रियागुणद्रव्यैर्युगपत्प्रयोज्यत्वमुच्यते, लुक्—अदर्शनम्, अचर्ण इय सप्ता उदात्तानुदात्तस्वरितह्रस्वदीर्घतानुनासिकाननुनासिकभेदविशिष्टस्य, आदिशब्दादिवर्गो वर्णोऽपिपरिग्रह । द्वन्द्वगमयदुमीहि । पूर्वोत्तरं परात्रित्वं,



नित्यादन्तरङ्गमन्तरङ्गाच्चानवकाशं बलीय इत्यादीनां न्यायानां च लोकाद्-वैयाकरणसमयविदः प्रामाणिकादेश्च शास्त्रप्रवृत्तये सिद्धिर्भवतीति वेदितव्यम् वर्णसमाप्तायस्य च ॥ ३ ॥

### अथ संज्ञाप्रकरणम् ।

तत्र—

औदन्ताः स्वराः ॥ १ । १ । ४ ॥

औकारावसाना वर्णाः स्वरसंज्ञा भवन्ति । तकार उच्चारणार्थः । अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ । ६ औदन्ता इति बहुवचनं वर्णेष्वपठितानां दीर्घपाठोपलक्षितानां पुतानां संग्रहार्थम्, तेन तेषामपि स्वरसंज्ञा । स्वरप्रदेशा “इवर्णादिरस्वे स्वे यवरलम्” ॥१।२।२॥ इत्यादयः ॥ ४ ॥

एकद्वित्रिमात्रा ह्रस्वदीर्घपुताः ॥ १ । १ । ५ ॥

मात्रा कालविशेषः । एकद्वित्र्युच्चारणमात्रा औदन्ता वर्णा यथासंख्य ह्रस्वदीर्घपुतसंज्ञा भवन्ति । एकमात्रो ह्रस्वः—अ इ उ ऋ ऌ । द्विमात्रो दीर्घः—आ ई ऊ ऋ ऌ ए ऐ ओ औ । त्रिमात्रः पुतः—आ३ ई३ ऊ३ इत्यादि । ऐदौतौ चतुर्मात्रावपीत्यन्ये । औदन्ता इत्येव—प्रतक्ष्य, अत्रार्धमात्रिकयोर्व्यञ्जनयोः समुदायस्यैकमात्रत्वेऽपि ह्रस्वसंज्ञाया १२ अभावात् तोऽन्तो न भवति । वर्णानां च ह्रस्वादिसंज्ञाविधानात् ‘तितउच्छत्रम्’ इत्यादावकारोकारलक्षणवर्णसमुदायस्य

नित्यादन्तरङ्गं, अन्तरङ्गाच्चानवकाशं, इत्यादेर्वलीयस्त्व यथास्थान तत्त्वप्रकाशिकाकृदेव वक्ष्यति, इति यथास्थान दर्शयिष्याम । लोकादित्यस्य विवरणं वैयाकरणसमयविदः—वैयाकरणानां शाब्दिकानां, समय—सिद्धान्तस्तं वेत्तीति—जानाति इति वैयाकरणवित्-१५ स्यादित्यर्थं, वा प्रामाणिकादेः—यथार्थप्रमाणपुर सरं वक्तुभ्य सकाशात् । शास्त्रप्रवृत्तये—शास्त्रस्य शब्दानुशासनस्य, प्रवृत्तये प्रयोग-निष्पत्तये, सिद्धिं ज्ञानिबोधा । सम्यगात्रायन्तेऽभ्यस्यन्ते वर्णा अस्मादिति समाप्ताय, वर्णानां अक्षराणां, समाप्ताय—पाठकम्, तस्य वर्णसमा-प्तायस्य—अक्षरपाठकमस्य सिद्धिं, लोकाद् लोकाभिरुच्य बोध्या इत्यन्वयार्थः । इत्य च भगवता शब्दानुशासने स्वीये प्रसिद्धाक्षरराशिपाठकमस्य १८ स्वरादिप्रसिद्धसंज्ञान्यायाश्च गृहीता ॥ ३ ॥

तत्र—वर्णपाठकमे, लोकप्रसिद्धे विहिते सति व्यञ्जनानां उच्चारण स्वरमन्तरा न सम्भवतीति कृत्वा तदुपजीव्या स्वरसंज्ञा पूर्वे-माह—औदन्ताः स्वराः । औद—औकार, अन्त—अन्तावयवो यस्य—अकारादिचतुर्दशवर्णसमुदायस्य स औदन्त अकारादिचतुर्दश-२१ वर्णसमुदाय स्वरपदबोध्य, किमर्थं बहुवचननिर्देश इति वृत्तिकृदेव वक्ष्यति इति समासान्वयार्थप्रदर्शनम् । एतेनात्र लम्बवर्णमानयेत्यादिव-त्तद्वृणसविज्ञानो बहुवीहि, ननु दृष्टसागरमानयेत्यादिवद्वृणसविज्ञानो बहुवीहिरिति सूचितम् । औदित्यत्र तकारमनुचार्थ “भावन्ता” इति निर्देशो स्वरुपापरिग्रह इति समभिप्रायेण वदति तकार उच्चारणार्थः—औदित्यत्र तकार, उच्चारणार्थ—उच्चार्यते—स्वरूपेण स्वीक्रियते-२४ ऽनेनेति उच्चारण, तदेव अर्थं प्रयोजन यस्य स, उच्चारणार्थः—स्वरुपपरिग्रहार्थः । यथप्यन्तग्रहणाभावे विशेषणमन्त इति, औदन्ता वर्णा इति लाम तथापि दधिनौ इत्यत्र नौ इत्यस्यौदन्तत्वेन स्वरपदबोध्यत्वे “इवर्णादे” इति यत्वं प्रसज्येत इति अन्तग्रहणप्रयोजनम् । के पुन अकारादिचतुर्दशवर्णा औकारपर्यन्ता ? इति जिज्ञासाया परिगणयति—अ आ इ ई इत्यादिना । औदन्त स्वर इति सूत्रन्यासे पुतानां २७ सप्रहमाभावे प्राप्ते बहुवचनमौदन्ता इति, तदेवाह—औदन्ता इत्यादिना, वर्णेषु अपठितानां दीर्घपाठोपलक्षितानां पुतानां संग्रहार्थं औदन्ता इति बहुवचनं इत्यन्वयः । तेन—बहुवचननिर्देशेन पुतसंग्रहेण । तेषामपि—पुतानामपि स्वरसंज्ञा—स्वरपदबोध्यत्व । स्वर-प्रदेशा—स्वरेण—स्वर इति शब्देन प्रदिश्यन्ते उच्चार्यन्तेऽप्रेति, स्वरप्रदेशा स्वरप्रयोजनस्थानानि, तदेव निर्दिशति—इवर्णादेः इति ॥४॥ ३०

सामान्यस्वरसंज्ञां निरूप्य तद्विशेषमाह—एकद्वित्रिमात्राह्रस्वदीर्घपुताः—एका च द्वे च तिस्रश्च—एकद्वित्रिषो मात्रा येषां ते एकद्वित्रिमात्रा, अथैकत्वं द्वित्वं त्रित्वं च मात्रायां बोध्यते । मात्रा च केत्यपेक्षायामाह—मात्रा कालविशेषः स च निमेषोन्मेषक्रियापरिच्छिन्न, अत्रौदन्ता वर्णा इत्यनुवर्तते । तच्च मात्रया विशिष्यते मात्रा च एकादिभिरित्येष क्रमः । ह्रस्वदीर्घपुता ह्रस्वश्च दीर्घश्च पुतत्वेति ह्रस्वदीर्घपुता ३३ इति द्वन्द्वः, एकद्वित्रिमात्रा औदन्ता वर्णा यथासंख्य ह्रस्वदीर्घपुता इत्यन्वयः । मात्राकाल—यद्वर्णस्योच्चारणक्रियां परिच्छिनत्ति, स एव वर्णो विशेष्य-त्वेनेति कालस्याव्यावर्तकत्वादिशेषणसमव इति निरुक्तम् तदेतत्सर्वमभिप्रेत्याह—एकद्वित्र्युच्चारणमात्रा औदन्ता इत्यादिना—एकद्वित्रि-उच्चारणे मात्रा येषांते, इति तद्विग्रहं सञ्ज्ञिविशेषणत्रयेण संज्ञात्रयमिति यथासंख्यलभस्तदेवाह यथासंख्यमिति क्रमपूर्वकं स्पष्टोऽर्थः । ३६ ऐदौतौ चतुर्मात्रौ अपि इति अन्ये—शेषमक्षरका । औदन्ता स्वरा इत्यस्मादनुवृत्तौदन्ता इत्यस्य वर्णा इत्यस्य च फलमाह—औदन्ता इत्येव प्रतक्ष्य इत्यादिना न भवति इत्यन्तेन । अयमाशयः—प्रपूर्वात्सौ—तनुकरणे इति धातो ज्वाप्रत्यये तस्य च यपि औदन्ता इत्यननुवृत्तौ प्रतक्ष्य य अत्र कृष् सयुक्तक्षस्य व्यञ्जनद्वयात्मकत्वेनेकमात्रिकत्वाद्यतो हि व्यञ्जनस्यार्धमात्रिकत्वेन विश्रुतत्वात्प्रवृत्ते ३९ क्षस्य ह्रस्वसंज्ञायां “ह्रस्वस्य त पितृकृति” ४।४।११३। इति तागमप्रसक्तौ वैरूप्य स्यादिति तदनुवृत्तौ तागमाभाव स्पष्ट एव, यत् क्षस्य ह्रस्वत्वाभावादिति । सूत्रेऽस्मिन्वर्णा इत्यनेन यदि वर्णसमुदायस्य ह्रस्वादिसंज्ञास्वाहं तितउच्छत्रम् अत्र अ उ इति वर्णसमूहस्य स्वरस्य प्रत्येक-मेकमात्रिकत्वेन दीर्घत्वे सति, “अनाह्माद्येदीर्घाच्छ” १।३।२८। इति द्वित्वविकल्पप्रसङ्ग स्यादिति, प्रत्येकनौकारपर्यन्तानां वर्णानां ह्रस्व-४२ दीर्घपुतसंज्ञा इत्यर्थो बोध्यः । इत्यत्र—तितउच्छत्रमित्यत्र “स्वरेभ्य” १।३।३०। इति नित्यं द्वित्वं सिद्धम् । अत्र व्यकिपक्षाययण विवेचने-नेतेन सूचितम् । तदेतत्सर्वं विविच्य वदति—अत्रार्धमात्रिकयोर्व्यञ्जनयोः इति अत्र—प्रतक्ष्येयत्र क्षकारे अर्धमात्रिकयो—अर्धं मात्राया अर्धमात्रा, अर्धमात्रास्मन्योरिति अर्धमात्रिके, तयो इति विग्रहः । व्यञ्जनयो कषयो समुदायस्य—कृष् समुदायस्य क्षस्य एकमात्रत्वे ४५ अपि ह्रस्वसंज्ञाया अभावात्, तः—“ह्रस्वस्य त” इति, अन्तः—अन्तावयव न भवति, इति अन्यः । वर्णानां च—प्रत्येक वर्णानां ह्रस्वादि-संज्ञाया—ह्रस्वदीर्घपुतसंज्ञाया, विधानं—करण तस्मात्, तितउच्छत्रम्, इत्यादौ अकारोकारलक्षणः तद्रूप, वर्णसमुदाय अ उ इति



समूहात्मकस्याद्वादसमाश्रयणमतिरमणीयम् । यदवोचाम स्तुतिषु—“अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद् यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः । नयानशेषानविशेषमिच्छन्न पक्षपाती समयस्तथा ते” ॥ ३० ॥ स्तुतिकारोऽप्याह—“नयास्तव स्यात्सदलान्धना इमे, रसोपविद्धा इव लोहधातवः । भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः” ॥ ६५ ॥ इति ।

अथवा ‘वादाद्’—विविक्तशब्दप्रयोगात् ‘सिद्धिः’—सम्यग्ज्ञानं तद्वारेण च निःश्रेयस ‘स्याद्’—भवेद् इति शब्दानुशासनमिदमारभ्यते इत्यभिधेयप्रयोजनपरतयाऽपीदं व्याख्येयम् ॥ २ ॥

६ लोकात् ॥ १ । १ । ३ ॥

उक्तातिरिक्तानां क्रियागुणद्रव्यजातिकाललिङ्गस्वाङ्गसख्यापरिमाणपत्यवीप्सालगुणवर्णादीनां संज्ञानां परान्नित्यं

- त्वात् । यथा नीलमुत्पलम्, अत्र भेदरूपकान्तपक्षे, अमेदरूपकान्तपक्षे वाऽसम्भव सामानाधिकरण्यस्य, प्रत्युत दोष, नीलोत्पलमिदम् उत्पलशब्दविफलता च । इति कथयिद्भेद कथयिद्भेद इत्येवमपि भेदाभेदरूपस्याद्वादस्वीकार एव गरीयान् । तथा विशेषणविशेष्यभावोऽपि न पठते एकान्तवादिनये, तथाहि—विशेषणविशेष्ययोर्नितान्तभेदाद्विपरीतकारे घटपटयोरिव विशेषणविशेष्यभावाभाव स्यादेवमेव, तयोर्नितान्ताभेदाद्विपरीतकारे घटो घट इत्यादिविशेषणविशेष्यभावाभाव स्याद्विशेषणविशेष्यभावन्य भेदाभेदनिमित्तत्वात्, इति कथयिद्भेदोपपत्तयः कथयिद्भेदोपपत्तयः ।
- १२ त्वमित्येव रूप स्याद्वाद समाश्रयणीय । इत्ययं शब्दानुशासनस्य सर्वसाधारण्य स्याद्वादनये सिध्यति, न शब्दो नित्यं, शब्दोऽनित्यं इति च पक्षद्वये तयोरेकान्तरूपत्वेन सकलप्राप्तत्वाभावात् । अपि च विशालत्व स्याद्वादस्य कियदुच्येत—समग्रदर्शनानामपि तद्वृत्तिप्रविष्टत्वमित्यसि सर्वथा निर्दुष्टत्वं चेत्यादिसर्वमभिप्रेत्य घृतिरुक्तं—सर्वपापपदत्वात् इत्यादिना अतिरमणीयम् इत्यन्तेन । सर्वपापपदत्वात्—सर्वपापधारणात्, १५ पापंदि साधु पापं—साधारण, सर्वपापं पापं सर्वपापं, सर्वपापं दत्तं तस्मात् । चो—हेतौ । शब्दानुशासनस्य—शब्द व्युत्पत्तिजनकशास्त्रस्य, सकलदर्शनसमूहात्मकस्याद्वादसमाश्रयणं—सकलानि—समग्राणि, दर्शनानि—नया सकलदर्शनानि, सकलदर्शनानां समूह—सघात स एव आत्मा यस्य, स चासौ स्याद्वादश्च, सकलदर्शनसमूहात्मकस्याद्वाद तस्य समाश्रयण—अङ्गीकार, सकलदर्शन १८ समूहात्मकस्याद्वादसमाश्रयण—अतिरमणीयम्—नितरा निर्दोष इत्यर्थः । स्वसिद्धान्तसिद्ध तदेव स्वपदोक्त्याह—यदवोचाम स्तुतिषु, अन्यं यो० व्य० ३० श्लोके—अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद्—अयमाशय—साध्यधर्मविशिष्टधर्मिण पक्षा शब्दो नित्य एव इत्यादयः, प्रतिकूला पक्षा साध्यविरुद्धधर्मिण प्रतिपक्षा शब्दोऽनित्य एव इत्यादयः पक्षप्रतिपक्षा, अन्योन्य—परस्परं पक्षप्रतिपक्षा अन्यो- २१ न्यपक्षप्रतिपक्षा, तेषां भाव परस्परविरुद्धधर्मोपन्यास, अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभाव, तस्मात्—हेतो, यथा इति दृष्टान्ते—येन प्रकारेण, परे जिनशासनचर्हिर्भूता, प्रवादा—प्रकर्षेण स्वाभ्युपगमार्थप्रतिपादनशीला सिद्धान्ता, मत्सरिणः—अतिशयेनाक्षमावन्त । तथा—तेन प्रकारेण ते—तव हे भगवन् ! भवत अशेषान्—सम्पूर्णान्, नयान्—नैगमसंग्रहव्यवहारः क्रजुसूत्रशब्दसमभिरुद्धेष्वभूतेति सप्त, २४ अविशेषं—समत्वेन, इच्छन्—मन्यमान, पक्षपाती—पक्ष पातयतीत्येवशील, अर्थाद्वारेण स्वीकृतस्य पक्षविशेषस्य विनाशेन शोभमान समयः—स्यात्पदलाञ्छित सिद्धान्त न मत्सरी मत्सराभाववान् इति, सहैतुकोक्ति श्लोकपदार्थः ।

स्तुतिकारोऽप्याह—श्रीसामन्तभद्राचार्यविरचितस्वयम्भूतोत्रे ६५ श्लो० तव—हे भगवन् ! भवत स्यात्पदलाञ्छना—स्याद्रूप लाञ्छन २७ येनान्ते स्यात्पदलाञ्छना—स्यात्पदविहिता । इमे—प्रसिद्धा नयाः—निरवधारणा अभिप्रायविशेषा—पूर्वोक्ता सप्त । रसोपविद्धा—रसेन-पारदेन उपविद्धा—मिश्रिता लोहधातव इव अभिप्रेतफला—अभिप्रेत फल येभ्यस्ते इति विग्रह, यथा पारदसंमिश्र लोहादिधातु असीमितफलप्रद भवति तथा सप्त नया अपि वाञ्छितफलप्रदा इति, यतो—यस्मात् कारणाद्वन्ति ततः—तस्माद् हेतो । हितैषिणः— ३० आत्महितेच्छव । आर्याः—नोक्षपयसमीपयाता जना भवन्तं—केवलज्ञानमास्त्रिभूषितदेह, प्रणताः—प्रणतुमारब्धा इत्यर्थः ।

एतेन समुदितेन ग्रन्थेन युक्तत्वं स्याद्वादस्य प्रतिपादनद्वारा संस्कृतानां प्राकृतानां च शब्दानां सिद्धिरपि तत इत्याद्युक्तावपि, प्रेक्षाव-त्प्रवृत्तिप्रयोजकीभूतानुबन्धचतुष्टयायुक्तत्वरूपन्यूनता अवहेति पक्षान्तरेण परिहरति—अथवा इत्यादिना—अस्मिन् पक्षे वादात् सिद्धि ३३ स्यात्, इति विमज्य व्याख्यातव्य प्रतिष्ठात । साधुशब्दप्रयोगद्वारा सम्यग्ज्ञानरूपसिद्धिर्भवतीत्यनेन प्रयोजनमभिहितम्, शब्दानुशासनस्य च शब्दाभिधेयत्वमपि प्रसिद्ध, इत्यं च व्याकरणात्साधुशब्दप्रयोगज्ञान तद्वारा च परमपदप्राप्तिरित्यभिधेयम् । एवमभिधेयप्रयोजनयोः सवन्व साध्य-साधनभावरूप, शब्दानुशासनाभिधेययोस्त्वभिधानाभिधेयत्वभाव इति सर्वमवदातम् ॥ २ ॥

- ३६ शब्दानुशासनेऽस्मिन्प्रत्याहाररूपकृष्टकल्पनामनपेक्ष्यास्मामिलोकप्रसिद्धवर्णमाला गृहीता, सा च द्विपञ्चाशदक्षरात्मिका—अ वा इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ, अ अ, अँ, अः, क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म य र ल व श ष स ह । एवमेव सूत्रप्रवृत्त्यर्थं लोकप्रसिद्धन्याया अपि प्राप्ता, सर्वसिद्धि हृदि निधाय चकार सूत्र सूत्ररूपं लोकात् । पूर्वस्याच्छास्त्रात्सिद्धि- ३९ रित्यनुवर्तते, लोकात् सिद्धि इत्यन्वयः । अत्र पूर्ववत्पञ्चमी सर्वपदार्थप्रेषकलोकमाश्रित्य, सिद्धि—ज्ञप्ति कर्तव्या इत्यर्थः । काशं केषाञ्चित् जिज्ञासायामाह—उक्तातिरिक्तानां क्रियागुण इत्यादिना न्यायानां च इत्यन्तेन । उक्तातिरिक्तानां इत्युभयान्वयि तेन उक्तातिरिक्तानां—क्रियागुण—द्रव्य—जाति—काल—लिङ्ग—स्वाङ्ग—सख्या—परिमाण—अपत्य—वीप्सा—लगुणवर्णादीनां संज्ञानामित्येकोऽन्वयः, उक्तातिरिक्तानां—पराजित्य ४२ नित्यादन्तरङ्गमन्तरङ्गान्नानवकाश वलीय इत्यादीनां न्यायानां च इत्यपरोऽन्वयः । उभयत्रान्वये विग्रहभेद, तथाहि—यदि तत् संज्ञाना-मित्यन्तान्वेति तदा उक्ताभ्यं—स्वरादिसंज्ञाभ्यं अतिरिक्ता—अधिका तासां वृत्त्युक्तसंज्ञानां इत्यर्थः । यदा च तत् न्यायानामित्यन्तान्वेति तदा उक्तातिरिक्तानां सर्वैषैव अनुक्तानां अन्यै उक्तेभ्यं अतिरिक्ता अधिका ये न्यायास्तेषां इत्यर्थो वा बोध्यः । क्रमेण क्रिये- ४५ त्यादि संज्ञापदार्थनिरूपणम्—क्रिया—पूर्वापरीभूतावयवा, गुणः—विशेषण, द्रव्यं—विशेष्यम्, जातिः—“आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानां न च सर्वभाक् । सङ्गदाख्यातनिर्गोत्रा गोत्र च चरणे सह” इति । कालः—युव्यादिरूप, लिङ्गम्—स्थानप्रसव, तस्य पुत्रीनपुसकारिरूप, स्वाङ्गम्—“अधिकारोऽद्रव्यं मूर्तं प्राणिस्थ स्वाङ्गमुच्यते । च्युतं च प्राणिनस्तत्तमि च प्रतिमादिषु” । संख्या—एकत्वद्वित्वाद्यभिधानयुद्धिदेव, ४८ परिमाण—सर्वतो मानम्, अपत्यं—पुत्रपौत्रादि, वीप्सा—क्रियागुणद्रव्यैर्युगपत्प्रयोज्यत्वात्सुमिच्छा, लुक्—अदर्शनम्, अवर्णं इयं सद्भा उदात्तानुशासनस्वरितह्रस्वधेयुक्तानुशासनानुशासनसिकमेदविशिष्टस्य, आदिशब्दादिवर्णो वर्णोदिपरिग्रहः । इन्द्रगर्भवहुमीहि । पूर्वोत्परं परान्नित्यं,

नित्यादन्तरङ्गमन्तरङ्गाच्चानवकाशं बलीय इत्यादीनां न्यायानां च लोकाद्-वैयाकरणसमयविदः प्रामाणिकादेश्च शास्त्रप्रवृत्तये सिद्धिर्भवतीति वेदितव्यम् वर्णसमाप्तायस्य च ॥ ३ ॥

### अथ संज्ञाप्रकरणम् ।

३

तत्र—

औदन्ताः स्वराः ॥ १ । १ । ४ ॥

औकारावसाना वर्णाः स्वरसंज्ञा भवन्ति । तकार उच्चारणार्थः । अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ । ६  
औदन्ता इति बहुवचनं वर्णेष्वपठितानां दीर्घपाठोपलक्षितानां श्रुतानां संग्रहार्थम्, तेन तेषामपि स्वरसंज्ञा । स्वरप्रदेशा  
“इवर्णादेरेखे खरे यवरलम्” ॥१२।२१॥ इत्यादयः ॥ ४ ॥

एकद्वित्रिमात्रा ह्रस्वदीर्घश्रुताः ॥ १ । १ । ५ ॥

९

मात्रा कालविशेषः । एकद्वित्र्युच्चारणमात्रा औदन्ता वर्णा यथासख्य ह्रस्वदीर्घश्रुतसंज्ञा भवन्ति । एकमात्रो  
ह्रस्वः—अ इ उ ऋ ऌ । द्विमात्रो दीर्घः—आ ई ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ । त्रिमात्रः श्रुतः—आ३ ई३ ऊ३ इत्यादि । ६  
ऐदौतौ चतुर्मात्रावपीत्यन्ये । औदन्ता इत्येव—प्रतक्ष्य, अत्रार्धमात्रिकयोर्व्यञ्जनयोः समुदायस्यैकमात्रत्वेऽपि ह्रस्वसंज्ञायाः १२  
अभावात् तोऽन्तो न भवति । वर्णानां च ह्रस्वादिसंज्ञाविधानात् ‘तितउच्छत्रम्’ इत्यादावकारोकारलक्षणवर्णसमुदायस्य

नित्यादन्तरङ्गं, अन्तरङ्गाच्चानवकाशं, इत्यादेर्वलीयस्त्व यथास्थान तत्त्वप्रकाशिकाकृदेव वक्ष्यति, इति यथास्थान दर्शयिष्याम ।  
लोकादित्यस्य विवरणं वैयाकरणसमयविदः—वैयाकरणानां शाब्दिकानां, समय—सिद्धान्तस्य वेदोक्तिः—जानाति इति वैयाकरणवित्-१५  
स्वादित्यर्थः, वा प्रामाणिकादेः—यथार्थप्रमाणपुर सरं वक्तव्यं सकाशात् । शास्त्रप्रवृत्तये—शास्त्रस्य शब्दानुशासनस्य, प्रवृत्तये प्रयोग-  
निष्पत्तये, सिद्धिं ज्ञप्तिर्बोध्य । सम्यग्गान्नायन्तेऽभ्यस्यन्ते वर्णा अस्मादिति समाप्ताय, वर्णानां अक्षराणां, समाप्ताय—पाठकम्, तस्य वर्णसमा-  
प्तायस्य—अक्षरपाठकमस्य सिद्धिं, लोकात् लोकमाश्रित्य बोध्या इत्यन्वयार्थः । इत्य च भगवता शब्दानुशासने स्वीये प्रसिद्धाक्षरराशिपाठकमश्च १८  
स्वरादिप्रसिद्धसंज्ञान्यायाश्च गृहीता ॥ ३ ॥

तत्र—वर्णपाठकमे, लोकप्रसिद्धे विहिते सति व्यञ्जनानां उच्चारण स्वरमन्तरा न सम्भवतीति कृत्वा तदुपजीव्या स्वरसंज्ञा पूर्व-  
माह—औदन्ताः स्वराः । औत्—औकार, अन्त—अन्तावयवो यस्य—अकारादिचतुर्दशवर्णसमुदायस्य स औदन्त अकारादिचतुर्दश-२१  
वर्णसमुदाय स्वरपदबोध्य, किमर्थं बहुवचननिर्देश इति वृत्तिकृदेव वक्ष्यति इति समासान्वयाद्यप्रदर्शनम् । एतेनात्र लम्बकर्मणामनेत्यादिव-  
त्तद्वृत्तसंविज्ञानो बहुव्रीहि, ननु दृष्टसागरमानयेत्यादिवद्वृत्तसंविज्ञानो बहुव्रीहिरिति सूचितम् । औदित्यत्र तकारमनुच्चार्य “आवन्ता” इति  
निर्देशे स्वरूपपरिग्रह इति समभिप्रायेण वदति तकार उच्चारणार्थः—औदित्यत्र तकार, उच्चारणार्थं—उच्चार्यते—स्वरूपेण स्वीक्रियते-२४  
ऽनेनेति उच्चारण, तदेव अर्थं प्रयोजनं यस्य स, उच्चारणार्थं—स्वरूपपरिग्रहार्थं । यद्यप्यन्तग्रहणाभावे विशेषणमन्त इति, औदन्ता वर्णा  
इति लाभं तथापि ध्वनिौ इत्यत्र नौ इत्यस्यौदन्तत्वेन स्वरपदबोध्यत्वे “इवर्णादे” इति यत्वं प्रसज्येत इति अन्तग्रहणप्रयोजनम् । के पुन  
अकारादिचतुर्दशवर्णा औकारपर्यन्ता ? इति जिज्ञासाया परिगणयति—अ आ इ ई इत्यादिना । औदन्त स्वर इति सूत्र्यासे श्रुतानां २७  
सप्रभाभावे प्राप्ते बहुवचनमौदन्ता इति, तदेवाह—औदन्ता इत्यादिना, वर्णेषु अपठितानां दीर्घपाठोपलक्षितानां श्रुतानां संग्रहार्थं  
औदन्ता इति बहुवचनं इत्यन्वयः । तेन—बहुवचननिर्देशेन श्रुतसंग्रहेण । तेषामपि—श्रुतानामपि स्वरसंज्ञा—स्वरपदबोध्यत्व । स्वर-  
प्रदेशाः—स्वरेण—स्वर इति शब्देन प्रदिश्यन्ते उच्चार्यन्तेऽनेति, स्वरप्रदेशा स्वरप्रयोजनस्थानानि, तदेव निर्दिशति—इवर्णादेः इति ॥४॥ ३०

सामान्यस्वरसंज्ञा निरूप्य तद्विशेषमाह—एकद्वित्रिमात्राह्रस्वदीर्घश्रुताः—एका च द्वे च तिस्रश्च—एकद्वित्रिंशो मात्रा येषां ते  
एकद्वित्रिमात्रा, अत्रैकत्र द्वित्व त्रित्व च मात्रायां बोध्यते । मात्रा च कल्पेयकायामाह—मात्रा कालविशेषः स च निमेषोन्मेषक्रियापरिच्छिन्नः,  
अत्रौदन्ता वर्णा इत्यनुवर्तते । तच्च मात्रायां विशिष्यते मात्रा च एकादिभिरित्येष क्रमः । ह्रस्वदीर्घश्रुता ह्रस्वश्च दीर्घश्च श्रुतयेति ह्रस्वदीर्घश्रुता ३३  
इति द्वन्द्वः, एकद्वित्रिमात्रा औदन्ता वर्णा यथासख्य ह्रस्वदीर्घश्रुता इत्यन्वयः । मात्राकाल—यद्वर्णस्योच्चारणक्रिया परिच्छिन्नति, स एव वर्णो विशेष्य-  
स्तेनेति कालस्याव्यावर्तकत्वाद्विशेषणसमभ इति निरुक्तम् तदेतत्सर्वमभिप्रेत्याह—एकद्वित्र्युच्चारणमात्रा औदन्ता इत्यादिना—एकद्वित्रिंश  
उच्चारणे मात्रा येयान्ते, इति तद्विग्रह संश्लिष्टविशेषणत्रयेण संज्ञात्रयमिति यथासख्यलाभस्त्वदेवाह यथासख्यमिति क्रमपूर्वकं स्पष्टोऽर्थः । ३६  
ऐदौतौ चतुर्मात्रौ अपि इति अन्ये—शेषमष्टारका । औदन्ता स्वरा इत्यस्मादनुश्रुतौदन्ता इत्यस्य वर्णा इत्यस्य च फलमाह—  
औदन्ता इत्येव प्रतक्ष्य इत्यादिना न भवति इत्यन्तेन । अयमाशयः—प्रपूर्वात्तक्षी—तनुकरणे इति पातो त्वाप्रत्यये तस्य च यपि  
औदन्ता इत्यनुश्रुतौ प्रतक्ष्य य अयं कृष् संयुक्तस्य व्यञ्जनद्वयात्मकत्वेनैकमात्रिकत्वाद्यतो हि व्यञ्जनसार्धमात्रिकत्वेन विश्रुतत्वात्प्रकृते ३९  
क्षस्य ह्रस्वसंज्ञायां “ह्रस्वस्य त पितृति” १।४।११३। इति तागमप्रसक्तौ चैरूप्य स्यादिति तदनुश्रुतौ तागमाभाव स्पष्ट एव, यत् क्षस्य  
ह्रस्वत्वाभावादिति । सुवेऽस्मिन्वर्णौ इत्यनेन यदि वर्णसमुदायस्य ह्रस्वादिसंज्ञासार्हि तितउच्छत्रम् अत्र अ उ इति वर्णसमूहस्य स्वरस्य प्रत्येक-  
मेकमात्रिकत्वेन दीर्घत्वे सति, “अनादमाजोदीर्घाच्छ” १।३।२८। इति द्वित्वविकल्पप्रसङ्ग स्यादिति, प्रत्येकमौकारपर्यन्तानां वर्णानां ह्रस्व-४२  
दीर्घश्रुतसंज्ञा इत्यर्थो बोध्यः । इत्यच—तितउच्छत्रमित्यत्र “खरेभ्य” १।३।३०। इति नित्यं द्वित्वं सिद्धम् । अत्र व्यकिपक्षाश्रयेण विवेचने-  
नेतेन सूचितम् । तदेतत्सर्वं विविच्य वदति—अत्रार्धमात्रिकयोर्व्यञ्जनयोः इति अत्र—प्रतक्ष्येयत्र क्षकारे अर्धमात्रिकयो—अर्धं मात्राया  
अर्धमात्रा, अर्धमात्रास्त्वनयोरीति अर्धमात्रिके, तयो इति विग्रहः । व्यञ्जनयो कषयो समुदायस्य—कृष् समुदायस्य क्षस्य एकमात्रत्वे ४५  
अपि ह्रस्वसंज्ञाया अभावात्, तः—“ह्रस्वस्य त” इति, अन्तः—अन्तावयव न भवति, इति अन्यः । वर्णानां च—प्रत्येक वर्णानां ह्रस्वादि-  
संज्ञायाः—ह्रस्वदीर्घश्रुतसंज्ञाया, विधानं—करण तस्मात्, तितउच्छत्रम्, इत्यादौ अकारोकारलक्षणः तद्वत्, वर्णसमुदाय अ उ इति

द्विमात्रत्वेऽपि दीर्घसंज्ञाया अभावाद्, द्वित्वविकल्पो न भवति । संध्यक्षराणां तु एकमात्रिकत्वाभावाद् ह्रस्वसंज्ञा न भवति ।  
ह्रस्वादिप्रदेशा “ऋलृति ह्रस्वो वा” ॥१।२।२॥ इत्यादयः ॥ ५ ॥

३

अनवर्णा नामी ॥ १ । १ । ६ ॥

अवर्णरहिता औदन्ता वर्णा नामिसंज्ञा भवन्ति—इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ए ऐ ओ औ । बहुवचनं पुतसंग्रहार्थम्, एवमुत्तरत्रापि । नामिप्रदेशा “नामिनस्तयोः पः” ॥२।३।८॥ इत्यादयः ॥ ६ ॥

६

लृदन्ताः समानाः ॥ १ । १ । ७ ॥

लृकारावसाना वर्णाः समानसंज्ञा भवन्ति—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ । समानप्रदेशाः “समानानां तेन दीर्घः” ॥१।२।१॥ इत्यादयः ॥ ७ ॥

९

ए ऐ ओ औ संध्यक्षरम् ॥ १ । १ । ८ ॥

ए ऐ ओ औ इत्येते वर्णाः संध्यक्षरसंज्ञा भवन्ति । संध्यक्षरप्रदेशा “ऐदौत् संध्यक्षरैः” ॥१।२।१२॥ इत्यादयः ॥८॥

अं अः अनुस्वारविसर्गौ ॥ १ । १ । ९ ॥

१२

अकारानुच्चारणार्थौ । ‘अं’ इति नासिक्यो वर्णः, ‘अः’ इति च कण्ठ्यः । तौ यथासंख्यमनुस्वार-विसर्गसंज्ञौ भवतः । अनुस्वारविसर्गप्रदेशा “नोऽप्रशानोऽनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्याधुदपरे” ॥१।३।८॥ “रः पदान्ते विसर्गस्तयोः” ॥१।३।५३॥ इत्यादयः ॥ ९ ॥

१५ समूहस्त्वस्य द्विमात्रत्वे अपि द्वित्वविकल्पः । “अनाह् मागे वीर्घोद्वाच्छ” इति न भवति—अत्र हेतुमाह—वीर्घसंज्ञाया अभावाद्—अनेन सूत्रेण वीर्घसंज्ञाया अविधानात् इति अन्वयः । तितवच्छत्रमित्यत्र तु विधानसामर्थ्यादोत्वं न भवतीत्यपि बोध्यम् । ननु यथाकर्म अ आ इत्यादौ ह्रस्वादि-संज्ञास्तथा ए ऐ इत्यादौ कथञ्च ह्रस्वादिसंज्ञा—इत्यत आह—संध्यक्षराणां इत्यादि न भवति इत्यन्तेन । संध्यक्षराणां—ए ऐ ओ औ १८ इत्येषां ह्रस्वसंज्ञा पूर्वोक्ता न भवति अनेन सूत्रेण इति शेषः, कथमित्यतो हेतुमाह—एकमात्रिकत्वाभावाद्—एकमात्रिकत्वस्य अभावस्तस्मात् इत्यर्थः । ह्रस्ववीर्घभूतसंज्ञोपयोगमभिधत्ते—ह्रस्वादिप्रदेशाः—पूर्ववदर्थः ॥ ५ ॥

नामिसंज्ञामभिधत्ते—अनवर्णानामी—अप्रौदन्ता इत्यनुवर्तते । न विशतेऽवर्णो येषु—औदन्तेषु इत्यनवर्णा औदन्ता, नामी—नामिपद- २१ बोध्या । ननु सन्ध्यक्षरेषु अवर्णसंज्ञावात्तेषामपि नामित्वाभावोऽस्ति चेदिष्टापत्तेः, सन्ध्यक्षराणां नामित्वप्रयुक्तं कार्यं तु व्याख्यानाद्भविष्यति यथा “नाम्यन्तस्या” २।३।१५। इति षत्वविधि—देवेषु, इत्यादौ । नामिनोऽन्ते तिष्ठन्तीति नाम्यन्तस्या सन्ध्यक्षराणीति व्याख्यानात्सर्वत्र विवेकः, अन्यथा इदादिर्नामी इत्येव न्यस्येत । अप्रौदन्ता खरा इति वत्संज्ञासंज्ञि समानाधिकरणत्वेन निर्देष्टव्ये सति संज्ञासंज्ञिनोरप्यर्थकृद्भवन- २४ भेदनिर्देशो यत्र नामिनः कार्यं विधीयते तत्र यदि कार्योत्कर्षां खरो न्यूनो भवति तदैव नामिसंज्ञा भवति इति सूचनाय, तेन ग्लायति इत्यत्र ग्ले अति इत्यवस्थायां ऐकारस्य नामित्वेऽपि “नामिनो गुणोऽङ्कितः” ४।३।१। इति न भवति गुणः, कार्यिणो गुणापेक्षया न्यूनस्वरत्वाभावात् । तदेतदाह वृत्तिकृत्—अवर्णरहिता इत्यादिना । बहुवचनं—अनवर्णा इति पुतसंग्रहार्थम्—पुतानां संग्रहायेत्यर्थः । एवम्—“अनवर्णा नामी” इति २७ सूत्रेऽनवर्णा इति बहुवचनवत्, उत्तरत्र “लृदन्ता समाना” इति सूत्रे, अपिः—समुच्चये । नामिप्रदेशाः—पूर्ववदेवार्थो बोध्यः ॥ ६ ॥

समानसंज्ञामाह—लृदन्ताः समानाः । लृदन्ताः समासादि अन्तग्रहणप्रयोजनं च औदन्ता इति वद्वोऽर्थः । समानाः—अवर्णादि, इति वर्णग्रहणे जातिग्रहणमिति, उदात्तानुदात्तस्वरितह्रस्वादिसानुनासिकनिरनुनासिकभेदविशिष्टस्याष्टादशप्रकाराकारादेः संज्ञां, अतः अष्टादशविधत्वेन ३० तुल्यपरिमाणवन्तोऽकारादिलुपर्यन्ता समानपदबोध्या, इति जौगिकी समानसंज्ञा फलति । समानप्रदेशाः—पूर्ववदेवार्थः ॥ ७ ॥

सन्ध्यक्षरसंज्ञामाह—ए ऐ ओ औ सन्ध्यक्षरम्, अत्र द्वन्द्वं जातिनिर्देशविधिसाश्रयणश्च, तेन “वर्णाव्ययात् स्वरूपेकार” ७।२।१५६। इति न कारप्रत्ययः । संध्यक्षरम्—सवौ सति अक्षरं—अर्थमधुते—व्याप्नोति सन्ध्यक्षरम्, इत्यन्वयसंज्ञाबलात् न भवति व्यञ्जनानां ३३ सा । संध्यक्षरपदबोध्या ए ऐ ओ औ इत्येते । संध्यक्षरप्रदेशाः—पूर्ववदेवार्थो ज्ञेयः ॥ ८ ॥

अनुस्वारविसर्गसंज्ञाद्वयमाह—अं अः अनुस्वारविसर्गौ, अकारोपरिष्ठतबिन्दोरनुस्वार इति अकारादनन्तरं बिन्दुद्वय विसर्ग इति च संज्ञाद्वयः । अनुस्वर्यते—सलीनमनुशब्दयते इत्यनुस्वारः । विसृज्यते—विरम्यते इति विसर्गः । अकारं विना बिन्दुबिन्दुद्वयरूपानुस्वारविसर्गौ ३६ समुच्चारयितुमशक्यमिति मनसि निधाय—अकारानुच्चारणार्थौ—उच्चारणार्थौ—उच्चारणमात्रप्रयोजकौ एतेनान्यस्वरूपेपरि तदनन्तरं वा तयोरुपादाने प्रयोजनान्तररोपलब्धेस्तदन्त्यस्वराणामुच्चारणार्थकत्वकथनासंभव इति अकारौ अ-अ—इत्यत्र स्थितवित्यर्थः । अनुस्वारस्य स्थान-निर्देशमाह—अ इति नासिक्यो वर्णः—नासिकाया भव इत्यर्थः । विसर्गस्य स्थाननिर्देशमाह—अ इति ऋष्य—कण्ठे भव इत्यर्थः ।

३५ अनुस्वारप्रदेशाः—पूर्ववदेवार्थः ॥ ९ ॥

## कादिव्यञ्जनम् ॥ १ । १ । १० ॥

कादिवर्णो हकारपर्यन्तो व्यञ्जनसंज्ञो भवति । क ख ग घ ङ । च छ ज झ ञ । ट ठ ड ढ ण । त थ द ध न । प फ ब म । य र ल व । श ष स ह । व्यञ्जनप्रदेशा “नाम सिद्व्यञ्जने” ॥११।२१॥ इत्यादयः ॥१०॥ ३

## अपञ्चमाऽन्तस्थो धुट् ॥ १ । १ । ११ ॥

वर्गपञ्चमाऽन्तस्थावर्जितः कादिवर्णो धुट्संज्ञो भवति । क ख ग घ । च छ ज झ । ट ठ ड ढ । त थ द ध । प फ ब म । श ष स ह । २४ । धुट्प्रदेशा “धुटो धुटि खे वा” ॥११।४८॥ इत्यादयः ॥ ११ ॥ ६

## पञ्चको वर्गः ॥ १ । १ । १२ ॥

कादिषु वर्णेषु यो यः पञ्चसंख्यापरिमाणो वर्णः स स वर्गसंज्ञो भवति । क ख ग घ ङ । च छ ज झ ञ । ट ठ ड ढ ण । त थ द ध न । प फ ब म । वर्गप्रदेशाः “कवर्गैकस्वरवति” ॥२।३।७६॥ इत्यादयः ॥ १२ ॥ ९

## आद्यद्वितीयशर्षसा अधोषाः ॥ १ । १ । १३ ॥

वर्गाणामाद्यद्वितीया वर्णाः शर्षसाधोषसंज्ञा भवन्ति । क ख । च छ । ट ठ । त थ । प फ । श ष स । १३ । बहुवचनं सर्ववर्गाणामाद्यद्वितीयपरिग्रहार्थम् । अधोषप्रदेशा “अधोषे प्रथमोऽसिष्टः” ॥११।५०॥ इत्यादयः ॥१३॥ १२

## अन्यो घोषवान् ॥ १ । १ । १४ ॥

अधोषेभ्योऽन्यः कादिवर्णो घोषवत्संज्ञो भवति । ग घ ङ । ज झ ञ । ङ ढ ण । द ध न । व भ म । य र ल व ह । २० । घोषवत्प्रदेशा “घोषवति” ॥११।२१॥ इत्यादयः ॥ १४ ॥ १५

## यरलवा अन्तस्थाः ॥ १ । १ । १५ ॥

यरलवा इत्येते वर्णा अन्तस्थासंज्ञा भवन्ति । बहुवचनं सानुनासिकादिभेदपरिग्रहार्थम् । अन्तस्थाप्रदेशा “अञ्ज्वर्गस्यान्तस्थातः” ॥११।३।३३॥ इत्यादयः ॥ १५ ॥ १८

स्वरचर्षा निरूप्य स्वरं विनाशक्योधारणानां व्यञ्जनानां सञ्ज्ञामाह—कादिव्यञ्जनम् । कादि क आदिरवयवो यस्य—कादिह-पर्यन्तवर्णसमुदायस्य स इति तद्वृणसंज्ञानो बहुव्रीहिः, कस्य आदिरिति च विग्रहः । एतद्विग्रहप्रदर्शनेन सामीप्यव्यवस्थाप्रकारावयवेषु मध्ये अत्रादिशब्दोऽवयववाची गृह्यते, अन्येषामाद्यार्थानामत्रासंभवाद । कस्यादिरिति विग्रहवशाद्व्यवस्थावाच्यादिशब्दोपादाने सति खराणां २१ व्यञ्जनत्वाभावपूर्वकमुत्सारविसर्गयोश्च व्यञ्जनचर्षा सिध्यति । यथा सस्कर्ता अत्रानुत्साररूपव्यञ्जनात्परस्य सस्य “धुटो धुटि खे वा” ॥११।४८॥ इत्यनेन अपरसकारे खे परे विभाषा छकि संस्कर्ता इति सिध्यति । विसर्गस्य व्यञ्जनसंज्ञायां यथा सुपूर्वस्य दु खयते किपि, णिछकि सौ तद्धकि च, सुदु ख् अत्र—सयोगान्तस्य खस्य छक् तया च विसर्गस्य ध्रुत्वात् “धुटस्त्वृतीय” २।१।७६। इति सूत्रेण कल्प्यत्वेन तत्सजातीयो ग २४ सिद्धः सुदुश्च । व्यञ्जनम्—व्यव्यते प्रकाशवान् कियतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनमित्यन्वर्थसंज्ञा । फकारादारभ्य कादिहपर्यन्तानां विसर्गानुत्सारयोश्च व्यञ्जनपदबोधित्वमित्यर्थः । तदेवाह दृष्टिकार—कादिवर्णो इत्यादिना भवति इत्यन्तेन । परिगणयति वर्णास्त्वान्—क ख ग घ ङेत्यादिना । व्यञ्जनप्रदेशा—पूर्ववदेवासाथं ॥ १० ॥

व्यञ्जनचर्षा निरूप्य तदवन्तरसञ्ज्ञामाह—अपञ्चमान्तस्थो धुट् । अत्र कादिरित्यनुवर्तते । पञ्चमाश्च अन्तस्थाश्च पञ्चमान्तस्था, न विद्यन्ते पञ्चमान्तस्था यत्र वर्णसमुदाये स कादिरिति विग्रहः । अपञ्चमान्तस्य कादिवर्णो धुटित्यन्वयः । तदर्थमाह—वर्गपञ्चमान्तस्था इत्यादिना । परिगणयति धुटपदबोध्यान्—क ख ग घ इत्यादिना । धुट्प्रदेशाः—पूर्ववद्वैज्योऽर्थः ॥ ११ ॥ २७

सजातीयसमुदायो वर्गः । स चाष्टधा । अङ्गवर्ग—कैवर्ग—चैवर्ग—टैवर्ग—तैवर्ग—पैवर्ग—यैवर्ग—शैवर्गभेदात् वर्णसमात्राये प्रसिद्धः । तं विहाय शास्त्रीयमाह—पञ्चको वर्गः । वर्णसमात्राये प्रसिद्धेष्वष्टसु वर्णेषु पञ्चसंख्यापरिमाणेन व्यवस्थित एव वर्गपदबोध्यः । तदेवाह—कादिषु इत्यादिना । परिगणयति वर्गान्—क ख ग घ ङ इत्यादिना । वर्गप्रदेशाः—पूर्ववद्योज्यम् ॥ १२ ॥ २८

अधोषसंज्ञामाह—आद्यद्वितीयशर्षसा अधोषाः । केषामाद्या द्वितीयाश्चेत्यत आह—वर्गाणामिति । अधोषसंज्ञिनः परिगण-यति—क ख च छ इत्यादिना । बहुवचनं—आद्यद्वितीयशर्षसा इति । अधोषप्रदेशाः—पूर्ववदेवासाथं ॥ १३ ॥ २९

घोषसंज्ञामाह—अन्यो घोषवान् । केभ्य इत्यपेक्षायामाह—अधोषेभ्य इति । अत्र कादिरित्यनुवर्तते । घोषवान्—घोषत्ववान् ३६ इत्यर्थः, जातिनिर्देशाभिप्रायेण । घोषाघोषयोऽपान्धर्षत्व “गुल्यस्थानास्य” इत्यत्र निरूपयिष्यति भगवान् प्रत्यङ्कृत् । गणयति घोषसंज्ञिन—ग घ ङेत्यादिना । घोषवत्प्रदेशाः—पूर्ववदेवासाथं ॥ १४ ॥ ३०

अतस्यासंज्ञामाह—यरलवा अन्तस्थाः । सूत्रार्थमाह—यरलवेत्यादिना । बहुवचनं—यरलवा इति । सानुनासिकादिभेद-परिग्रहार्थम्—सानुनासिकत्व-निरनुनासिकत्वरूपभेदद्वयवतो यवलाणां स्वरूपस्वीकृतये । अन्तस्थाप्रदेशाः—पूर्ववदेवासाथं ॥ १५ ॥ ३१

द्विमात्रत्वेऽपि दीर्घसंज्ञाया अभावाद्, द्वित्वविकल्पो न भवति । संध्यक्षराणां तु एकमात्रिकत्वाभावाद् ह्रस्वसंज्ञा न भवति । ह्रस्वादिप्रदेशा “ऋलृति ह्रस्वो वा” ॥१।२।२॥ इत्यादयः ॥ ५ ॥

३

**अनवर्णा नामी ॥ १ । १ । ६ ॥**

अवर्णरहिता औदन्ता वर्णा नामिसंज्ञा भवन्ति—इ ई उ ऊ ऋ लृ ए ऐ ओ औ । बहुवचनं भुतसंग्रहार्थम्, एवमुत्तरत्रापि । नामिप्रदेशा “नामिनस्तयोः षः” ॥२।३।८॥ इत्यादयः ॥ ६ ॥

६

**लृदन्ताः समानाः ॥ १ । १ । ७ ॥**

लृकारावसाना वर्णाः समानसंज्ञा भवन्ति—अ आ इ ई उ ऊ ऋ लृ । समानप्रदेशाः “समानानां तेन दीर्घः” ॥१।२।१॥ इत्यादयः ॥ ७ ॥

९

**ए ऐ ओ औ संध्यक्षरम् ॥ १ । १ । ८ ॥**

ए ऐ ओ औ इत्येते वर्णाः संध्यक्षरसंज्ञा भवन्ति । संध्यक्षरप्रदेशा “ऐदौत् संध्यक्षरैः” ॥१।२।१२॥ इत्यादयः ॥८॥

**अं अः अनुस्वारविसर्गौ ॥ १ । १ । ९ ॥**

१२ अकारानुच्चारणार्थौ । ‘अं’ इति नासिक्यो वर्णः, ‘अः’ इति च कण्ठ्यः । तौ यथासंख्यमनुस्वार-विसर्गसंज्ञौ भवतः । अनुस्वारविसर्गप्रदेशा “नोऽप्रशानोऽनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्याधुत्परे” ॥१।३।८॥ “रः पदान्ते विसर्गस्तयोः” ॥१।३।५३॥ इत्यादयः ॥ ९ ॥

१५ समूहस्वस्य द्विमात्रत्वे अपि द्वित्वविकल्प “अनाद् मागे दीर्घाद्वाच्छ” इति न भवति—अत्र हेतुमाह—दीर्घसंज्ञाया अभावाद्—अनेन सूत्रेण दीर्घसंज्ञाया अविधानाद् इति अन्वयः । तितच्छत्रमित्यत्र तु विधानसामर्थ्यादोत्वं न भवतीत्यपि बोध्यम् । ननु यथाक्रम अ आ इत्यादौ ह्रस्वादि-संज्ञास्तथा ए ऐ इत्यादौ कथञ्च ह्रस्वादिसंज्ञा-इत्यत आह—संध्यक्षराणां इत्यादि न भवति इत्यन्तेन । संध्यक्षराणां—ए ऐ ओ औ १८ इत्येषां ह्रस्वसंज्ञा पूर्वोक्ता न भवति अनेन सूत्रेण इति शेषः, कथमित्यतो हेतुमाह—एकमात्रिकत्वाभावाद्—एकमात्रिकत्वस्य अभावस्तस्मात् इत्यर्थः । ह्रस्वदीर्घभुतसंज्ञोपयोगमभिधत्ते—ह्रस्वादिप्रदेशाः—पूर्ववदर्थः ॥ ५ ॥

नामिसंज्ञामभिधत्ते—अनवर्णानामी—अत्रौदन्ता इत्यनुवर्तते । न विद्यतेऽवर्णौ येषु—औदन्तेषु इत्यनवर्णा औदन्ता, नामी—नामिपद- २१ बोध्या । ननु सन्ध्यक्षरेषु अवर्णसंज्ञावात्तेषामपि नामित्वाभावोऽस्त्विति चेदिष्टापत्ते, सन्ध्यक्षराणां नामित्वप्रयुक्तं कार्यं तु व्याख्यानाद्भविष्यति यथा “नाम्यन्तस्था” २।३।१५। इति षस्त्वविधि—देवेषु, इत्यादौ । नामिनोऽन्ते तिष्ठन्तीति नाम्यन्तस्था सन्ध्यक्षराणीति व्याख्यानात्सर्वत्र विवेक, अन्यथा इदादिर्नामी इत्येव न्यसेत् । अत्रौदन्ता खरा इतिवत्संज्ञासंज्ञि समानाधिकरणत्वेन निर्देष्टव्ये सति संज्ञासंज्ञिनोराचार्यकृद्वचन- २४ भेदनिर्देशो यत्र नामिन कार्यं विधीयते तत्र यदि कार्यात्कार्यौ खरो न्यूनो भवति तदैव नामिसंज्ञा भवति इति सूचनाय, तेन ग्लायति इत्यत्र ग्लै अति इत्यवस्थाया ऐकारस्य नामित्वेऽपि “नामिनो गुणोऽङ्किति” ४।३।१। इति न भवति गुण, कार्यिणो गुणापेक्षया न्यूनस्वरत्वाभावात् । तदेतदाह वृत्तिकृत्—अवर्णरहिता इत्यादिना । बहुवचनं—अनवर्णा इति भुतसंग्रहार्थम्—इतानां संग्रहायेत्यर्थः । एवम्—“अनवर्णा नामी” इति २७ सूत्रेऽनवर्णा इति बहुवचनवत्, उत्तरत्र “लृदन्ता समाना” इति सूत्रे, अपि—समुच्चये । नामिप्रदेशाः—पूर्ववदेवार्थो बोध्यः ॥ ६ ॥

समानसंज्ञामाह—लृदन्ताः समानाः । लृदन्ताः समासादि अन्तग्रहणप्रयोजन च औदन्ता इतिबद्ध्यः । समानाः—अवर्णादि, इति वर्णग्रहणे जातिग्रहणमिति, उदात्तानुदात्तस्वरितह्रस्वादिसानुनासिकनिरनुनासिकभेदविशिष्टस्याष्टादशप्रकाराकारादे संज्ञा, अत अष्टादशविकल्पेन ३० तुल्यपरिमाणवन्तोऽकारादित्पत्यन्ता समानपदबोध्या, इति योगिकी समानसंज्ञा फलति । समानप्रदेशाः—पूर्ववदेवार्थः ॥ ७ ॥

सन्ध्यक्षरसंज्ञामाह—ए ऐ ओ औ सन्ध्यक्षरम्, अत्र द्वन्द्व जातिनिर्देशविवक्षाश्रयणश्च, तेन “वर्णाव्यात् स्वरूपेकार” ७।२।१५६। इति न कारप्रत्यय । सन्ध्यक्षरम्—संघौ सति अक्षरं—अर्थमश्रुते-व्याप्नोति सन्ध्यक्षरम्, इत्यन्वयसंज्ञाबलात् भवति व्यजनानां ३३ सा । संध्यक्षरपदबोध्या ए ऐ ओ औ इत्येते । संध्यक्षरप्रदेशाः—पूर्ववदेवार्थो हेयः ॥ ८ ॥

अनुस्वारविसर्गसंज्ञाद्वयमाह—अ अः अनुस्वारविसर्गौ, अकारोपरिभृतमिन्दोरनुस्वार इति अकारादनन्तरं बिन्दुद्वय विसर्ग इति च संज्ञाद्वयः । अनुस्वर्यते—सलीनमनुशब्धते इत्यनुस्वारः । विद्युज्यते—विरम्यते इति विसर्गः । अकारं विना बिन्दुबिन्दुद्वयरूपानुस्वारविसर्गौ ३६ समुच्चारयितुमशक्यमिति मनसि विधायाह—अकारानुच्चारणार्थौ—उच्चारणार्थौ—उच्चारणमात्रप्रयोजकौ एतेनान्यस्वरोपरि तदनन्तरं वा तयोरुपादाने प्रयोजनान्तरोपलब्धेस्तदन्यस्वराणामुच्चारणार्थकत्वकथनासम्भव इति अकारौ अ-अ-इत्यत्र स्थितावित्यर्थः । अनुस्वारस्य स्थान-निर्देशमाह—अ इति नासिक्यो वर्णः—नासिकार्थां भव इत्यर्थः । विसर्गस्य स्थाननिर्देशमाह—अ इति कण्ठ्य—कण्ठे भव इत्यर्थः ।

३९ अनुस्वारप्रदेशाः—पूर्ववदेवार्थः ॥ ९ ॥

## कादिव्यञ्जनम् ॥ १ । १ । १० ॥

कादिवर्णो हकारपर्यन्तो व्यञ्जनसंज्ञो भवति । क ख ग घ ङ । च छ ज झ ञ । ट ठ ड ढ ण । त थ द ध न । प फ ब भ म । य र ल व । श ष स ह । व्यञ्जनप्रदेशा “नाम सिदय्यञ्जने” ॥१॥१॥२१॥ इत्यादयः ॥१०॥ ३

## अपञ्चमाऽन्तस्थो धुट् ॥ १ । १ । ११ ॥

वर्गपञ्चमाऽन्तस्थावर्जितः कादिवर्णो धुट्संज्ञो भवति । क ख ग घ । च छ ज झ । ट ठ ड ढ । त थ द ध । प फ ब भ म । श ष स ह । २४ । धुट्प्रदेशा “धुटो धुटि खे वा” ॥१॥३॥४८॥ इत्यादयः ॥ ११ ॥ ६

## पञ्चको वर्गः ॥ १ । १ । १२ ॥

कादिषु वर्णेषु यो यः पञ्चसंख्यापरिमाणो वर्णः स स वर्गसंज्ञो भवति । क ख ग घ ङ । च छ ज झ ञ । ट ठ ड ढ ण । त थ द ध न । प फ ब भ म । वर्गप्रदेशाः “कवर्गैकस्वरवति” ॥२॥३॥७६॥ इत्यादयः ॥ १२ ॥ ९

## आद्यद्वितीयशेषसा अघोषाः ॥ १ । १ । १३ ॥

वर्गाणामाद्यद्वितीया वर्णाः शषसाश्चाघोषसंज्ञा भवन्ति । क ख । च छ । ट ठ । त थ । प फ । श ष स । १३ । बहुवचनं सर्ववर्गाणामाद्यद्वितीयपरिग्रहार्थम् । अघोषप्रदेशा “अघोषे प्रथमोऽक्षितः” ॥१॥३॥५०॥ इत्यादयः ॥१३॥ १२

## अन्यो घोषवान् ॥ १ । १ । १४ ॥

अघोषेभ्योऽन्यः कादिवर्णो घोषवत्संज्ञो भवति । ग घ ङ । ज झ ञ । ङ ढ ण । द ध न । च भ म । य र ल व ह । २० । घोषवत्प्रदेशा “घोषवति” ॥१॥३॥२१॥ इत्यादयः ॥ १४ ॥ १५

## यरलवा अन्तस्थाः ॥ १ । १ । १५ ॥

यरलवे इत्येते वर्णा अन्तस्थासंज्ञा भवन्ति । बहुवचनं सानुनासिकादिभेदपरिग्रहार्थम् । अन्तस्थाप्रदेशा “अञ्चवर्गस्यान्तस्थातः” ॥१॥३॥३३॥ इत्यादयः ॥ १५ ॥ १८

स्वरसंज्ञां निरूप्य स्वरं विनाशक्योच्चारणानां व्यञ्जनानां सज्ञामाह—कादिव्यञ्जनम् । कादि क आदिरवयवो यस्य—कादिह-पर्यन्तवर्गसमुदायस्य स इति तद्वृणसंज्ञानो बहुमीहि, कस्य आदिरिति च विग्रहः । एतद्विग्रहप्रदर्शनेन सामीप्यव्यवस्थाप्रकारावयवेष्टु मध्ये अत्रादिशब्दोऽवयववाची युक्ते, अन्येषामाद्यार्थानामत्रासंभवात् । कस्यादिरिति विग्रहवशात्स्वस्थवाच्यादिशब्दोपादाने सति स्वरणा २१ व्यञ्जनत्वाभावपूर्वकमनुस्वारविसर्गयोश्च व्यञ्जनसंज्ञा सिध्यति । यथा सस्कर्ता अत्रानुस्वाररूपव्यञ्जनात्परस्य सस्य “धुटो धुटि खे वा” ॥१॥३॥४८॥ इत्यनेन अपरसकारे खे परे विमाणा ङकि सस्कर्ता इति सिध्यति । विसर्गस्य व्यञ्जनसंज्ञायां यथा सुपूर्वस्य दु खयते किपि, णिङ्कि सौ तल्लुकि च, छुट् च अत्र—संयोगान्तस्य खस्य ङक् तथा च विसर्गस्य धुट्त्वात् “धुट्स्त्वृतीय” २११७६ । इति सूत्रेण कस्यत्वेन तत्संज्ञातीयो ग २४ सिद्धः छुट् । व्यञ्जनम्—व्यञ्ज्यते प्रकाशवान् कियतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनमित्यन्वयसंज्ञा । ककारादारभ्य कादिहपर्यन्तानां विसर्गानुस्वारयोश्च व्यञ्जनपदबोध्यत्वमित्यर्थः । तदेवाह ऋषिकार—कादिवर्णो इत्यादिना भवति इत्यन्तेन । परिगणयति वर्णांस्तान्—क ख ग घ ङेत्यादिना । व्यञ्जनप्रदेशा—पूर्ववदेवासाय ॥ १० ॥ २७

व्यञ्जनसंज्ञां निरूप्य तदवान्तरसंज्ञामाह—अपञ्चमान्तस्थो धुट् । अत्र कादिरित्यनुवर्तते । पञ्चमाश्च अन्तस्थाश्च पञ्चमान्तस्था, न विद्यन्ते पञ्चमान्तस्था यत्र वर्णसमुदाये स कादिरिति विग्रहः । अपञ्चमान्तस्थ कादिवर्णं धुटित्यन्वयः । तदर्थमाह—वर्गपञ्चमान्तस्था इत्यादिना । परिगणयति धुट्पदबोध्यन्—क ख ग घ इत्यादिना । धुट्प्रदेशाः—पूर्ववद्वेयोऽर्थः ॥ ११ ॥ २०

संज्ञातीयसमुदायो वर्गः । स चाष्टधा । अर्धवर्ग—कैवर्ग—दैवर्ग—तैवर्ग—तैवर्ग—पैवर्ग—यैवर्ग—होवर्गमेदात् वर्णसमाम्नाये प्रसिद्धः । त विहाय शास्त्रीयमाह—पञ्चको वर्गः । वर्णसमाम्नाये प्रसिद्धेष्वष्टसु वर्णेषु पञ्चसंख्यापरिमाणेन व्यवस्थित एव वर्गपदबोध्यः । तदेवाह—कादिषु इत्यादिना । परिगणयति वर्णान्—क ख ग घ ङ इत्यादिना । वर्गप्रदेशाः—पूर्ववद्वेयोऽर्थः ॥ १२ ॥ २३

अघोषसंज्ञामाह—आद्यद्वितीयशेषसा अघोषाः । केषामाद्या द्वितीयाख्यत आह—वर्गाणामिति । अघोषसंज्ञिन परिगणयति—क ख च छ इत्यादिना । बहुवचनं—आद्यद्वितीयशषसा इति । अघोषप्रदेशाः—पूर्ववदेवासाय ॥ १३ ॥

घोषसंज्ञामाह—अन्यो घोषवान् । केभ्य इत्यपेक्षायामाह—अघोषेभ्य इति । अत्र कादिरित्यनुवर्तते । घोषवान्—घोषत्ववान् २६ इत्यर्थः, जातिनिर्देशामिप्रायेण । घोषाघोषयोश्चान्वयत्वं “तुल्यस्थानास” इत्यत्र निरूपयिष्यति भगवान् ग्रन्थकृत् । गणयति घोषसंज्ञिन—ग घ ङेत्यादिना । घोषवत्प्रदेशाः—पूर्ववदेवासाय ॥ १४ ॥

अ तस्यासंज्ञामाह—यरलवा अन्तस्थाः । यरलवेत्यादिना । बहुवचनं—यरलवा इति । सानुनासिकादिभेद-परिग्रहार्थम्—सानुनासिकत्व-निरनुनासिकत्वरूपभेदद्वयवर्ता यवलां स्वरूपस्वीकृतये । अन्तस्थाप्रदेशाः—पूर्ववदेवासाय ॥ १५ ॥ २५



अंअःह्रस्वपशंसाः शिद् ॥ १ । १ । १६ ॥

अनुस्वारो विसर्गो वज्राकृतिर्गजकुम्भाकृतिश्च वर्णः शर्षपाश्च शिट्संज्ञा भवन्ति । अकारककारपकारा उच्चारणार्थाः ।  
३ बहुवचनं वर्णेष्वपठितयोरपि क्लृप्पयोर्वर्णत्वार्थम् । शिट्प्रदेशाः “शिटः प्रथमद्वितीयस्य” ॥१॥३॥३५॥ इत्यादयः ॥ १६ ॥

तुल्यस्थानाऽऽस्यप्रयत्नः स्वः ॥ १ । १ । १७ ॥

यत्र पुद्गलस्कन्धस्य वर्णभावापत्तिस्तत् स्थानं कण्ठादि । यदाहुः—“अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठं ६ शिरस्तथा । जिह्वामूलं च दन्तौश्च नासिकौष्ठौ च तालुं च” असत्यनेन वर्णानित्यास्यम्, ओष्ठात् प्रभृति प्राक् काकलकसंज्ञकात् कण्ठमणेः । आस्ये प्रयत्न आस्यप्रयत्नः—आन्तरः संरम्भः । स चतुर्धा—स्पृष्टता, ईषत्स्पृष्टता, विवृतता, ईषद्विवृतता । तुल्यौ—वर्णान्तरेण सदृशौ स्थानाऽऽस्यप्रयत्नौ यस्य स वर्णस्त प्रति स्वसंज्ञो भवति । ९ कर्ण तु जिह्वामूलमध्याग्रेपात्ररूप स्थानास्यप्रयत्नतुल्यत्वे सति नातुल्यं भवतीति पृथग् नोक्तम् । तत्र स्थानम्—अवर्णहविर्गसर्गकवर्गाः कण्ठ्याः । ‘सर्वमुखस्थानमवर्णम्, हविसर्गावुरस्यौ, कवर्गौ जिह्वामूल’ इत्यन्ये । ईवर्णचवर्गयशास्तालव्याः । उवर्णपवर्गोपध्मानिया ओष्ठ्याः । ऋवर्णटवर्गर्षा मूर्धन्याः । ‘रेफो दन्तमूल’ १२ इत्येके । लवर्णतवर्गलसा दन्त्याः । ए ऐ तालव्यौ । ‘कण्ठतालव्यौ’ इत्यन्ये । ओ औ ओष्ठ्यौ । ‘कण्ठोष्ठ्यौ’ इत्यन्ये । वो दन्त्यौष्ठ्यः । ‘सकस्थानः’ इत्यन्ये । जिह्वामूलीयो जिह्वः । ‘कण्ठ्यः’ इत्यन्ये । नासिकयो-ऽनुस्वारः । ‘कण्ठ्यनासिक्यः’ इत्यन्ये । उज्जर्णनमाः स्वस्थाननासिकास्थानाः ॥ अथास्यप्रयत्नः—स्पृष्टं करणं स्पर्शानाम् ।

१५ शिद सज्ञामाह—अथ. क्लृप्त्वाशपसाः शिद । अनुस्वारविसर्गजिह्वाभूयोपध्मानीयवर्षसा इत्येते शिदपदबोधा इत्यर्थः । तदेवाह वृत्तिकार—अनुस्वारो विसर्ग इत्यादिना । जिह्वाभूयोपध्मानीययोर्देशकाल्पिभिर्भेदऽपि स्वरूपैक्य दृष्टान्तोपन्यासपूर्वक दर्शयति—वज्राकृतिः—वज्रसेवाकृतिर्यस्य स, कुलिशावयववन्त्यासमस्वरूपः । गजकुम्भाकृतिः—गजस्य कुम्भो गजकुम्भो, गजकुम्भ-

१८ योरिव आकृतिर्यस्य स गजकुम्भाकृति — करिकलशसनिभस्वरूप, च वर्ण — क्लृप्तः । अथ क्लृप्त इत्येषु पूर्वत्र द्वयोरकारयोः परत्र द्वयोः ककारपकारयोः किं प्रयोजनमित्यपेक्षायामाह — अकारककारपकारौ उच्चारणार्थौ इति । अथ इत्यत्र अकारौ, क्लृप्त इत्यत्र च ककारपकारौ इति — अ, क, प उच्चारण — निगुणानुस्वारजिह्वामूलीयोपध्मानीयस्वरूपपरिग्रह एव अर्थ — प्रयोजनं येषां ते तथा ।

२१ अथ मू ट्प्रशषसा इति बहुवचनान्तम् सज्ञा शिङिति एकवचनान्तम् संज्ञा इति विषमोपन्यास कथमित्यत आह बहुवचनम्—  
अथ मू ट्प्रशषसा इति । वर्णेषु-लोकविश्रुतेषु, अपठितयोः-अनभ्यस्तयोः, अपि मू ट्प्रयोर्जिह्वामूलीयोपध्मानीययो वर्णत्वार्थम्—  
वर्णत्वप्रयोजनाय इत्यन्वयः । शिट्प्रदेशाः—पूर्ववदर्थ इति । खरतदवान्तरसज्ञानिरूपणानन्तरं व्यञ्जनव्यञ्जनावान्तरसज्ञानिरूपणम् ॥ १६ ॥

२४ स्वरव्यञ्जनसंज्ञा निरूप्य वर्णेषु के स्वा ? इति न्याय्यां स्वसंज्ञामाह—तुल्यस्थानास्यप्रयत्नः स्वः । तिष्ठन्ति वर्णा अस्मिन्निति स्थानं, अस्मिति—क्षिपति वर्णाननेनेत्यासम् । आस्ये प्रयत्न—उत्ताह आस्यप्रयत्न । स्थानम् आस्यप्रयत्नश्च स्थानास्यप्रयत्नौ, तुल्य च तुल्यश्च तुल्यौ—सदृशौ स्थानास्यप्रयत्नौ—कण्ठादिस्थानाभ्यन्तरलक्षणास्यप्रयत्नौ यस्य वर्णस्य येन—वर्णेन सह स वर्णत्वं प्रति स्वसंज्ञ इत्यर्थः । स्थानं २७ किम् ? स्थानस्य च कण्ठादे वर्णस्थानता कथं ? तस्य च कति भेदा ? किंवास्य ? कथास्यप्रयत्नः ? कश्च बाह्यः ? कति च तयोर्भेदा ? इत्यादि खान्यसमातिपुर सरं स्वमतं प्रवीति सर्वज्ञो वृत्तिकार—यत्रेत्यादिना । यत्र—यस्मिन् । पुत्र—स्पर्शरसगन्धवर्णवन्त, गलन्तीति गला, पुद्गला, पुद्गलानां—पूर्वोक्तानां स्कन्ध—अनन्तप्रदेशात्मकं सघातस्वस्य पुद्गलस्कन्धस्य । वर्णभावापत्तिरिति—वर्णस्य भाव वर्णभाव, वर्ण-

३० भावस्यापत्तिं वर्णभावापत्तिं—अक्षररूपतापरिणामं तत् स्थानं । अर्थात्पुत्रलस्कन्धं प्राप्नोत्यक्षररूपतापरिणामं, यत्र तत्स्थानं, अष्टविधं कण्ठादि आदिपदप्राप्त्यभ्युपगमः प्रभृति । एतदेव वदति—स्वान्वयवचनेन यदाहु इति—पाणिनिशिक्षाकारा—पा० शि० छं० १३ । आस्यपदार्थ-माह—अस्यत्यनेन इत्यादि कण्ठमण्येः इत्यन्तेन । अयमाशयः—ओष्ठादारभ्य काकलकभिर्घकण्ठमणि ( मीवायासुजतप्रदेश ) पूर्वभाग-

३३ आस्यम्, अत एवास्य मुखं, तथा च स्थानप्रहणम्, अन्यथा तदुपादानस्य निष्कलत्वापत्तेः । आस्यस्य प्रयत्नेन सह सप्तमीतत्पुरुषं दर्शयति—  
आस्ये प्रयत्न इत्यनेन । आस्यप्रयत्नपदार्थविवरणपुरःसरं तद्विभज्यते—आन्तरः इत्यादि ईषद्विभूतता इत्यन्तेन । समुदितसूत्रपदार्थं, विग्रह-  
प्रदर्शनपुरःसरमाविष्करोति—तल्यौ इत्यादि भवति इत्यन्तेन । करणस्य तुल्यत्वानुक्तौ सूत्रे तत्तुल्यत्वानुक्तिरूपं न्यूनत्व परिहरति—करणं

इत्यादिना नोक्तम् इत्यन्तेन । कर्ण किं स्वरूपमित्यत आह—जिह्वामूलमध्याग्रोपाग्रत्वं—जिह्वामूल, जिह्वामध्य, जिह्वाग्र, जिह्वोपाग्र इति वृत्तिस्थित्येष्टेष्ट । नातुल्य—तुल्यमेवेत्यर्थः । वर्णसमाग्राये समाग्रातानां वर्णानां स्वसंज्ञोपयोगि स्थानास्यप्रत्ययवाद्यप्रत्ययादि क्रमशो निरूपयति केषां केषां स्थानास्यप्रत्यय कैं कैं सहतुल्यमित्याश्रयेन—तत्र स्थानम् इत्यादिना । 'सर्वसुखस्थानमवर्णम्' इति सर्गाव-

३९ रस्यौ, कवर्गौ जिह्ममूल' इत्यन्ये—शाकटायना 'ख स्थानास्येक्ये'—शा० सू० १।१।६ सूत्रे, पा० शि० श्लो० १६ पाणिनिशिष्या-  
काराश्च । 'रेफो दन्तमूल' इत्येके प्राचीना शाकटायनादय तत्रैव सूत्रे । ए ऐ कण्ठतालव्यौ इत्यन्ये, ओ औ कण्ठोष्ठ्यौ इत्यन्ये इति पा० शि०  
१८ श्लोके । नो दन्त्यौष्ठ्य, 'सकस्थान'—ओष्ठपर्यन्त स्थान यस्य स इत्यन्ये पाणिनीया, देवचन्द्रादयश्च 'जिह्मामूलीय कण्ठः'—

४२ इत्यन्ये—पाणिनिशिक्षाकारा । अनुस्वार 'कण्ठ्यनासिक्य' इत्यन्ये पाणिनिशिक्षाकारा श्वाकटायनाथ । उच्यन्तमानां स्वव्यग्रपुष्प तत्त्वानां, नासिकास्थानमधिकमपि इत्यावेदयति **दञ्जणनमा**, इत्यादिना । इति वर्णानां स्थान निरूप्य भास्यप्रयत्नमाह—अथेत्यादिना स्वराणां इत्यन्तेन । ऊष्मणा च इत्यन्ये—पाणिनिशिक्षाकारा पा०शि०श्लो०२१। मूले, ताभ्यामपि एवोभ्यां अपि—ए सौ, ताभ्याम्—ऐऔभ्यां, अपि अणं ।

४ एतेन विवृततरता-विवृततमतातिविवृततमारूपप्रथमं प्रयत्नानामाधिक्यं, विवृतत्वेन तान् संश्लक्ष्य परिहरणीयम् । 'थकार' सञ्चृत 'इत्यन्य', पाणिनिशिक्षाकृत पा०शि०श्लो०२० । आत्यप्रयत्नचतुष्टय निरूप्य वर्णेषु खरेषु प्रथमस्यावर्णस्याष्टादशभेदोपवर्णनपुर सरमष्टादशाकारयोधक्यं तन्म्यं



स्पर्शा वर्ग्याः । ईषत्स्पृष्टं करणमन्तःस्थानाम् । ईषद्विवृतं करणमूष्मणाम् । विवृतं करणं स्वराणाम् । 'ऊष्मणां च' इत्यन्ये ।  
ऊष्माणः शवसहाः । स्वरेषु ए ओ विवृततरौ, ताभ्यामपि ऐ औ; ताभ्यामप्यवर्णः । 'अकारः सवृतः' इत्यन्ये । तत्र  
त्रयोऽकारा उदात्तानुदात्तस्वरिताः प्रत्येकं सानुनासिकनिरनुनासिकभेदात् षट् । एव दीर्घप्लुतावित्यष्टादश भेदो अवर्णस्य, १  
ते सर्वे कण्ठस्थाना विवृतकरणाः परस्परं स्वाः । एवमिवर्णास्तावन्तस्तालव्या विवृतकरणाः स्वाः । उवर्णा ओष्ठया विवृ-  
तकरणाः स्वाः । ऋवर्णा मूर्धन्या विवृतकरणाः स्वाः । लवर्णा दन्त्या विवृतकरणाः स्वाः । 'लवर्णस्य दीर्घा न  
सन्तीति द्वादश' इत्यन्ये । सध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्तीति तानि प्रत्येकं द्वादशभेदानि । तत्र एकारास्तालव्या विवृत- ६  
तराः स्वाः । ऐकारास्तालव्या अतिविवृततराः स्वाः । ओकारा ओष्ठया विवृततराः स्वाः । औकारा ओष्ठया अतिविवृततराः  
स्वाः । वर्ग्याः पञ्च पञ्च परस्परं स्वाः । यलवर्णानामनुनासिकोऽनुनासिकश्च द्वौ भेदौ परस्परं सौ । रेफोष्मणां तुल्य-  
स्थानास्यप्रयत्नत्वात् स्वा न भवन्ति । आस्यग्रहणं बाह्यप्रयत्ननिवृत्त्यर्थम् । ते हि "आसन्नः" ॥७॥११२०॥ इत्यत्रैवोप- ९  
शुज्यन्ते, न स्वसञ्ज्ञायाम् । के पुनस्ते ? विचारसवारौ श्वासनादौ घोषवर्धघोषता अल्पप्राणमहाप्राणता उदात्तोऽनुदात्तः  
स्वरितश्चैवेकौदश । कय पुनस्ते ? आस्याद्वाह्याः, स्पृष्टतादयः तु आन्तराः ? उच्यते—वायुना कोष्ठेऽभिहन्यमानेऽमीषां  
प्रादुर्भावात् । स्पृष्टतादीनां तु कण्ठादिस्थानाभिघाते भावात् । तथा चापिशलिः शिक्षामधीते—"नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितः १२  
प्राणो नाम वायुरूर्ध्वमाक्रामन्नुरःप्रभृतीनां स्थानानामन्यतमस्मिन् स्थाने प्रयत्नेन विधार्यते । स विधार्यमाणः स्थानमभिहन्ति,  
तस्मात्—स्थानाभिघाताङ्गनिरुपघाते आकाशे । सा वर्णश्रुतिः, स वर्णस्यात्मलाभः । तत्र वर्णध्वनावुत्पद्यमाने यदा स्थान-  
करणप्रयत्नाः परस्परं स्पृशन्ति सा स्पृष्टता । यदा ईषत्स्पृशन्ति सा ईषत्स्पृष्टता । यदा सामीप्येन स्पृशन्ति सा सवृतता । १५  
दूरेण यदा स्पृशन्ति सा विवृतता । एषोऽन्तःप्रयत्नः । स इदानीं प्राणो नाम वायुरूर्ध्वमाक्रामन् मूर्ध्नि प्रतिहतो  
निवृतः कोष्ठमभिहन्ति । तत्र—कोष्ठेऽभिहन्यमाने कण्ठविलस्य विवृतत्वाद् विचारः । सवृतत्वात् संवारः । तत्र यदा कण्ठ-  
विल विवृतं भवति तदा श्वासो जायते, सवृते तु नादः । तावदनुप्रदानमाचक्षते । अन्ये तु ब्रुवते "अनुप्रदानमनुस्वानो १८

स्थानास्यप्रयत्नत्वेन स्वत्व प्रतिपादयति—तत्र त्रयोऽकारा इत्यादि, ते सर्वे कण्ठस्थानाविवृतकरणाः परस्परं स्वा इत्यन्तेन ।  
स्पृष्टोऽर्थः । इवर्णोवर्णयो, ऋलवर्णयोश्चावर्णवदष्टादशभेदोपवर्णनपुर सर स्थानास्यप्रयत्नो प्रदर्श्य च स्वत्व प्रतिपादयति—एवमिवर्णाः  
इत्यादि, लवर्णादन्त्या विवृतकरणाः स्वा इत्यन्तेन । तावन्त इति पदसुवर्णा ऋवर्णा लवर्णा इत्यत्र च सवर्णनीयम्, स्पृष्टोऽर्थः । अन्यमत- २१  
माह—लवर्णस्य इत्यादिना । इत्यन्ये—पाणिनिशकटायना, "तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्" पा० सू० १।१।९ । "स्व स्थानास्येक्ये" शा० सू० १।१।६।  
इति सूत्रयो । ए ऐ औ औ इलेषा ह्रस्वाभावाद्द्वादशभेदोपवर्णनपुर सरमेकारस्य एकारेण सह स्वत्व, ऐकारस्य एकारेण सह स्वत्व, ओका-  
रस्य ओकारेण सह स्वत्व, औकारस्य औकारेण सह च स्वत्व स्थानास्यप्रयत्नान्मात्रं तुल्यत्वप्रदर्शनद्वारा प्रतिपादयति—सध्यक्षराणां २४  
ह्रस्वा इत्यादिना, औकारा औष्ठया अतिविवृततराः स्वाः इत्यन्तेन । पञ्चसु वर्गेषु व्यञ्जनानां स्वस्ववर्गप्रयुक्तं स्वत्वं प्रतिपादयति—  
वर्ग्याः इत्यादि, स्वाः इत्यन्तेन । यकारलकारवकाराणां भेदद्वयमनुनासिकाननुनासिकत्वेन प्रदर्श्य स्वत्वमाह—यलवर्णा इत्यादि,  
सौ इत्यन्तेन । रेफशवसहाना स्वत्वाभाव निर्दिशति—रेफोष्मणां इत्यादि, न भवन्ति इत्यन्तेन । आस्ये प्रयत्न—आस्यप्रयत्न—इत्यत्रा- २७  
ख्येयुत्तया प्रयत्न इत्युच्यमाने आस्यफलमाह—आस्यग्रहणं इत्यादि, निवृत्त्यर्थम् इत्यन्तेन । बाह्यप्रयत्नानां कोपयोग, कचानुपयोग  
इति दर्शयति—ते हि इत्यादि, संज्ञायाम् इत्यन्तेन । ते—बाह्यप्रयत्ना के ? इत्यादिष्वङ्ग विभजते—विचार इत्यादिना । एतेषां प्रयत्नानां  
बाह्यत्व, पूर्वोक्तानां चान्तरत्व विशदयति—कय पुनस्ते इत्यादिष्वङ्ग विचारदीनां बाह्यत्व, स्पृष्टतादीनां चान्तरत्व, उच्यते इत्यादि समाधान- ३०  
मुखेनाह । विचारादीनां बाह्यत्वसाधको हेतु—वायुना कोष्ठे—उदरेऽभिहन्यमाने—ताभ्यामाने सति अमीषां—विचारादीनां प्रादुर्भावात्—समु-  
त्पत्ते इति । स्पृष्टतादीनां चान्तरत्वसाधको हेतु—स्पृष्टतादीनां—पूर्वोक्तवर्णान्तरप्रयत्नानां, कण्ठादिस्थानाभिघाते—कण्ठादिस्था-  
नानां अभिघातस्त्वस्मिन् सति, भावात्—उत्पत्ते । खोकार्येऽन्यसंमतिमाह—तथाच इत्यादिना । आपिशलिः—प्राचीनाचार्य । शिक्षां—वर्णो- ३३  
त्पत्तिप्रतिपादक शास्त्रम् । स एवाचार्य शिक्षाया, वर्णस्वरूपप्राप्तिमाह—नाभिप्रदेशात् इत्यादि, आत्मलाभ इत्यन्तेन । आक्रामन् व्यापु-  
वन्, अन्यतमस्मिन्—तेषु कस्मिंश्चित्स्थाने इत्यर्थः । प्रयोगोऽयं हेमशब्दांशुशासनविरुद्ध, किन्तु मतान्तरिणः । विधार्यते—विशेषेण धार्यते ।  
विधार्यमाणः स—प्राणवायु, स्थानं—कण्ठादि, अभिहन्ति—ताडयति । तस्मात् इत्यस्यैवार्थमाह—स्थानाभिघातात् । उत्पद्यते—जायते ३६  
सा—प्रसिद्धा ध्वनेरुत्पत्ति, स—ध्वनि, आत्मलाभः—आत्मन—स्वरूपस्य लाभ—प्राप्ति । वर्णस्वरूपप्राप्तिमुक्त्वा आस्यप्रयत्नं प्रदर्शयति—  
तत्र इत्यादि, एषोऽन्तःप्रयत्न इत्यन्तेन । तत्र—आकाशे, वर्णध्वनौ—अक्षरध्वनौ, उत्पद्यमाने—जायमाने सति, यदा—यस्मिन्समये  
स्थानकरणप्रयत्नाः—स्थानं पूर्वोक्तं कण्ठादि, करणं—पूर्वोक्तं जिह्वामूलादि, प्रयत्नः—उत्साह इति स्थानकरणप्रयत्ना, परस्परं—अन्योन्य ३९  
स्पृशन्ति तदा प्रथमं स्पृष्टताख्यान्तरप्रयत्न इत्येवरीत्या क्रमेणान्तरप्रयत्नत्रयमपि निर्दिशति—यदा इत्यादि, विवृतता इत्यन्तेन ।  
आन्तरप्रयत्नं विवृतं बाह्यप्रयत्नं भेदपुरं सरं विवृणोति—स इदानीं इत्यादि, बाह्यप्रयत्न इत्यन्तेन । प्राणो नाम वायु—इति  
कोष्ठेऽभिहन्यमाने कण्ठविलस्य संवृतत्वात्—सकोचशालित्वात् संवार इति द्वितीयः । तत्र—कोष्ठेऽभिहन्यमाने, यदा कण्ठविलं—गल-  
विवरं, विवृतं—विकस्वरं भवति तदा मुखनासिकाप्रवेशनिर्गमनाभ्यां श्वासः—तन्नामको वायु, जायते—भवति इति तृतीयः । तत्र यदा कण्ठ-  
विल—गलविवरं सवृतं भवति तदा नादः—तन्नामकवृत्त्यर्थः । श्वासनादयोरेकाभिधानतया कथयति—तौ—श्वासनादौ अनुप्रदानं इति आच- ४५  
क्षते—अभिधत्ते चक्षिक्धातोर्द्विकर्मकत्वाद् तत्रौ अनुप्रदान इति च कर्म । अन्यसमतिमाह—अन्ये तु ब्रुवते अनुप्रदानम्—अनुप्रीयते—

घण्टादिनिर्हादवद्” इति । तत्र यदा स्थानकरणाभिघातजे ध्वनौ नादोऽनुप्रदीयते तदा नादध्वनिसंसर्गाद् घोषो जायते । यदा तु श्वासोऽनुप्रदीयते तदा श्वासध्वनिसंसर्गाद् घोषो जायते । अल्पे वायावत्प्राणता, महति महाप्राणता जायते । ३ महाप्राणत्वादुष्मत्वम् । यदा सर्वाङ्गानुसारी प्रयत्नस्तीव्रो भवति तदा गात्रस्य निग्रहः कण्ठविलस्य चाणुत्व स्वरस्य च वायोस्तीव्रगतित्वादौर्घ्यं भवति तमुदात्तमाचक्षते । यदा तु मन्दः प्रयत्नो भवति तदा गात्रस्य स्तनं कण्ठविलस्य च महत्त्वं स्वरस्य च वायोर्मन्दगतित्वात् स्निग्धता भवति तमनुदात्तमाचक्षते । उदात्तानुदात्तस्वरसन्निपातात् स्वरित इत्येष ६ कृत्स्नो बाह्यः प्रयत्न इति” ॥ अथवा-विवारादयो वर्णनिष्पत्तिकालादूर्ध्वं वायुवशेनोत्पद्यन्ते, स्पृष्टतादयस्तु स्थाना-स्यप्रयत्नव्यापारेण वर्णोत्पत्तिकाल एवेति वर्णनिष्पत्तिकालमावामाभ्यां विवारादीनां बाह्यत्वं, स्पृष्टतादीनां चाभ्यन्तर-त्वम् । तत्र वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः शर्पसर्विसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीयाश्च विवृतकण्ठाः श्वासानुप्रदाना अधोषाः । वर्गाणां ७ तृतीयचतुर्थपञ्चमा अन्तःस्था हकारानुस्वारौ च संवृतकण्ठा नादानुप्रदाना अधोवन्तः । वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमा अन्तःस्था-श्चाल्पप्राणाः, इतरे सर्वे महाप्राणाः । स्थानग्रहणं किम् ? कचटतपानां तुल्यास्यप्रयत्नानामपि भिन्नस्थानानां मा भूत्, किं च स्यात् ? ‘तर्सा, तर्भुम्’ इत्यत्र “धुटो धुटि स्वे वा” ॥१३१४८॥ इति पकारस्य तकारे लोपः स्यात् । आस्यप्रयत्नग्रहणं १२ किम् ? चवर्गयशानां तुल्यस्थानानामपि भिन्नास्यप्रयत्नानां मा भूत्, किं च स्यात् ? अरुक् श्र्योतति इत्यत्र “धुटो धुटि स्वे वा” ॥१३१४८॥ इति शकारस्य चकारे लोपः स्यात् । स्वप्रदेशाः “इवर्णादेरस्वे स्वरे यवरलम्” ॥ १ । २ । २१ ॥ इत्यादयः ॥ १७ ॥

- १५ पश्चात्प्रकर्षेण धीयते इति तस्यैवार्थमाह—अनुस्वानः इति । घण्टादिनिर्हादवत्-घण्टादेर्निर्हाद, तेन तुल्य तद्वत् । तावनुप्रदान-मिलारभ्य अन्ये तु इत्यादि, निर्हादवद् इत्यन्तमौद्वजेर्मतम् । द्वौ नादानुप्रदानौ इति हि तद्वचनात् । घोष कदा भवति ? इत्यत आह—तत्र यदा इत्यादि, जायते इत्यन्तेन । तत्र यदा स्थानकरणाभिघातजे-स्थान-कण्ठादि, करण-जिह्वामूलादि, तयोरभिघात-हनन तस्मा- १८ ज्ञात-स्थानकरणाभिघातज तस्मिन् ध्वनौ नाद पूर्वोक्त, अनुप्रदीयते-पश्चात् प्रकर्षेण धीयते, तदा नादध्वनिसंसर्गात्-नादाख्य-ध्वनिसंबन्धात् घोष-तत्तामको बाह्यप्रयत्न पश्यम् । यदानु-स्थानकरणाभिघातजे ध्वनौ इति शेष । श्वास-पूर्वोक्त, अनुप्रदीयते तदा श्वासध्वनिसंसर्गात्-श्वासाख्यध्वनिसंबन्धात् अधोषः जायते-भवति तत्तामको बाह्यप्रयत्न पष्ट । अल्पप्राणतामहाप्राणते २१ स्पष्टे । उदात्त विष्णुते-यदा इत्यादि, आचक्षते इत्यन्तेन । यदा-यस्मिन् समये, सर्वाङ्गानुसारी-सर्वाङ्ग-प्रयत्न-अनुसरतीत्येवमील, प्रयत्न-उत्साह, तीव्र-उत्साह, भवति तदा गात्रस्य-शरीरस्य निग्रह-प्रहण च कण्ठविलस्य-गलविवरस्य अणुत्वं-सुस्मत्त्व च स्वरस्य रौक्ष्यं-पारुष्य भवति वायोः तीव्रगतित्वात् इत्यन्वयः । अनुदात्त विष्णुते-यदानु मन्दः इति, आचक्षते २४ इत्यन्तेन । मन्दः-शनैः शनैः, प्रयत्न-उत्साह, स्तनं-शिथिलीभवन, महत्त्वं-धीर्घत्व, स्वरस्य स्निग्धता-मृच्छता भवति वायोः मन्दगतित्वात् इत्यन्वयः । स्वरित विष्णुते-उदात्ता इत्यादिना, प्रयत्न इत्यन्तेन । उदात्तानुदात्त स्वर-सन्निपातात्-उदात्तश्च, अनुदात्तश्च तौ स्वरौ-उदात्तानुदात्तस्वरौ तयोः सन्निपात-सन्मेलन समाहार इति यावत् तस्मात्, स्फुटोऽर्थः । २७ कृत्स्न-समग्र । विवारादीनां बाह्यत्वं, स्पृष्टतादीनां चान्तरत्वं व्याख्यानान्तरेण प्रतिपादयति-अथवा इत्यादिना । विवारादयः-विवारस्वारश्चासानादघोषाघोषाल्पप्राणतामहाप्राणतोदात्तानुदात्तस्वरिता । वर्णनिष्पत्तिकालात्-अक्षरोत्पत्तिसमयात्, ऊर्ध्वं-पश्चात्, वायु-वशेन-समीरणवलेन, उत्पद्यन्ते इति वर्णनिष्पत्तिकालानुत्पत्तिकत्वेन विवारादीनां बाह्यत्वं सिद्धम् । स्पृष्टतादयः स्पृष्टतेपत्स्पृष्टता सञ्ज्ञता- ३० विवृतता । स्थानास्यप्रयत्नव्यापारेण-स्थान च आस्यप्रयत्नश्च तयोर्व्यापारस्तेन । वर्णोत्पत्तिकाले-अक्षराभिव्यक्तिसमये एव, उत्पद्यन्ते इति स्पृष्टतादीनां वर्णनिष्पत्तिकालोत्पत्तिकत्वेन चान्तरत्वं सिद्धम् । तदेवाह-वर्णनिष्पत्तिकालभावाभावाभ्यामिल्यादिना । वर्णानां निष्पत्तिकाल वर्णनिष्पत्तिकाल अभावश्च भावश्च इति भावामावौ “लघ्वक्षराः” ३१११६०१ इत्यनेनल्पस्वरत्वेन भावशब्दस्य पूर्वनिपात, वर्ण- ३३ निष्पत्तिकाले भावामावौ ताभ्याम् । अत्र हेतुद्वयं विवारादीनां बाह्यत्वं वर्णनिष्पत्तिकालेऽभावात्-अनुत्पत्ते इत्येको हेतुः, च स्पृष्टतादीनां-पूर्वोक्तानां आभ्यन्तरत्वं-चान्तरत्वं वर्णनिष्पत्तिकाले-अक्षरोत्पत्तिसमये भावात्-उत्पत्ते इत्यपरो हेतुः । येषां बाह्या प्रयत्ना समवन्ति तानाह-तत्र इत्यादि, महाप्राणा इत्यन्तेन । तत्र-बाह्यप्रयत्नमध्ये, वर्गाणां-कवर्गचवर्गटवर्गतवर्गपवर्गाणां, प्रथम- ३६ द्वितीया-क ख, च छ, ट ठ, त थ, प फ, इत्येते, शषसर्विसर्गकृत्स्ना । विवृतकण्ठाः-येषामुच्चारणे कण्ठो विवृतो भवति ते विवृतकण्ठा । श्वासानुप्रदानाः-श्वासलक्षणमनुप्रदानं येषां ते श्वासानुप्रदाना । वर्गाणां-पूर्वोक्तानां, तृतीयचतुर्थपञ्चमाः-ग घ ङ, ज झ ञ, ढ ढ ण, द ध न, ब भ म । अन्तःस्था. य र ल व इत्येते । हकारः अनुस्वारः इत्येते संवृतकण्ठाः, येषामुच्चारणे कण्ठ ३९ सञ्ज्ञतो भवति ते सञ्ज्ञकण्ठा । नादानुप्रदानाः-नादलक्षण अनुप्रदानं येषां ते नादानुप्रदाना । वर्गाणां-पूर्वोक्तानां, प्रथमतृतीय-पञ्चमाः-क ग ङ, च ज झ, ट ठ ण, त द न, प ब म इत्येते, अन्तःस्था-य र ल व इत्येते अल्पप्राणा । इतरे सर्वे-ख घ, छ झ, ठ ढ, थ ध, फ भ, श ष, स ह, विसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीयानुनासिका अपि इत्येते महाप्राणा । सूत्रे स्थानग्रहणमात्रे केवलास्यप्र- ४२ यत्नतुल्यताया स्तत्वे सत्यनेन तर्सा, तर्भुम् इत्यत्र रेफावरस्य धुट पस्य स्थाने तकारे परे लोपः स्यात्, स्वत्व चास्त्येव तकारस्य पतयोराल्प-एवमेव आस्यप्रयत्नग्रहणमात्रे सूत्रे केवलस्थानतुल्यतायामपि अरुक् द्योतति, अत्र कावरस्य शस्य चकारे परे लोपः “धुटो धुटि स्वे वा” ४५ इत्यनेन स्यादिति, नच बाध्य शचयो विभिन्नस्थानत्व तादृत्वेन तयोस्तुल्यत्वात्, तदेवाह आस्यप्रयत्नग्रहणं किम् ? चवर्गयशानां इत्यादि, चकारे परे लोपः स्यात् इत्यन्तेन । स्वप्रदेशाः-पूर्ववद्वोध्यम् ॥ १७ ॥

स्यौजसमौशस् ताभ्यां भिस्ड् भ्यां भ्यस्ड् सिभ्यां भ्यस्ड् सोसांड्योस्तुयां

त्रयीत्रयी प्रथमादिः ॥ १ । १ । १८ ॥

स्यादीनां प्रत्ययानां त्रयी त्रयी यथासंख्य प्रथमाद्वितीयातृतीयाचतुर्थीपञ्चमीषष्ठीसप्तमीसंज्ञा भवति । ईजशट्ठपा ३ अनुबन्धाः “सौ नवेतौ” ॥१।२।३८॥ इत्यादौ विशेषणार्थाः । बहुवचनं स्याद्यादेशानामपि प्रथमादिसंज्ञाप्रतिपत्त्यर्थम् । प्रथमादिप्रदेशा “नाम्नः प्रथमैकद्विबहौ” ॥ २ । २ । ३१ ॥ इत्यादयः ॥ १८ ॥

स्त्यादिर्विभक्तिः ॥ १ । १ । १९ ॥

‘स्’ इत्युत्प्लुतानुबन्धस्य सेर्ग्रहणम् । ‘ति’ इति उत्प्लुतानुबन्धस्य तिवः । आदिशब्दो व्यवस्थावाची । स्यादय- स्तिवादयश्च प्रत्ययाः सुपस्यामहिपर्यन्ता विभक्तिसंज्ञा भवन्ति । विभक्तिप्रदेशः—“अधातुविभक्तिवाक्यमर्थवन्नाम” ॥ १ । १ । २७ ॥ इत्यादयः ॥ १९ ॥

तदन्तं पदम् ॥ १ । १ । २० ॥

स्याद्यन्तं त्याद्यन्तं च शुब्दरूप पदसंज्ञं भवति । धर्मो वः स्वं ददाति नः शास्त्रम् । अन्तग्रहणं पूर्वसूत्रे तदन्त- प्रतिषेधार्थम् । पदप्रदेशः—“पदस्य” ॥ २ । १ । ८९ ॥ इत्यादयः ॥ २० ॥

नाम सिदध्यञ्जने ॥ १ । १ । २१ ॥

सिति प्रत्यये यकारवर्जिते व्यञ्जनादौ च परे पूर्वं नाम पदसंज्ञं भवति । भवदीयः, ऊर्णासुः, अहयुः, अहय्युः, शुभयुः, शुभय्युः । व्यञ्जने-पयोभ्याम्, पयस्सु, राजता, दृक्त्वम्, राजकाम्यति । नामेति किम् ? घातोर्मा भूत्- २५

“नाम्नः प्रथमैकद्विबहौ” २।२।३१। इत्यादिसूत्रे प्रथमादिशब्दैर्विधीयमानानां स्यादीनां तदादिपदबोधकवरूपा प्रथमादिसंज्ञा, प्रत्ययस्वरूपप्रदर्शनपूर्वक निरूपयति—स्यौजसमौ० इत्यादिसूत्रेण । सज्ञार्थमाह—स्यादीनां इत्यादि, भवति इत्यन्तेन । स्यादीनां प्रत्ययानां—सि औ जस् इत्यादीनां प्रत्ययानां, त्रयी त्रयी—त्रयोऽवयवा अस्या इति, यथास्तरयं—यथाक्रमं सि औ जस् इति १८ प्रथमा, अम—औ—शस् इति द्वितीया—द्वयो पूरणी, टा भ्याम् भिस् इति तृतीया—तिष्ठणा पूरणी, के भ्याम् भ्यस् चतुर्थी—चतुष्ठा पूरणी, ङसि भ्याम् भ्यस् इति पञ्चमी—पञ्चानां पूरणी, ञ् ओस् आम् षष्ठी—षण्णा पूरणी, ङि ओस् सुप् सप्तमी—सप्तानां पूरणी इति प्रथ- मादिसंज्ञा नापूर्वा । सि इत्यत्र इकार, जस् इत्यत्र जकार, शस् इत्यत्र शकार, टा इत्यत्र टकार, के इत्यादिचतुष्टये ङकार, सुप् इत्यत्र पकार- २१ इतीमेऽनुबन्धा सप्रयोजना यथास्थान दर्शयिष्याम । तदेवाह—अनुबन्धा इत्यादि, विशेषणार्थाः इत्यन्तेन । विशेषणार्था—विशेषण- व्यवच्छेद अर्थ—प्रयोजन येषान्ते इत्यर्थः । ‘तदादेशास्तद्वद्वन्ति’ इति न्यायेन स्याद्यादेशानां प्रथमादिसंज्ञासिद्धौ किमर्थं बहुवचन- मिलित आह—बहुवचनम् इत्यादि, प्रतिपत्त्यर्थम् इत्यन्तेन । बहुवचनम्—सुपा इति बहुवचनं, स्याद्यादेशानामपि—यादादीनां २४ अपि, प्रथमादिसंज्ञानां प्रतिपत्तिः—ज्ञानं, तदर्थमिल्यर्थः । एतेन बहुवचने महती शक्तिर्येहिना न्याय पूर्वोक्त साधयति । प्रथमादिप्रदेशा इत्यादि पूर्ववन्हेयम् ॥ १८ ॥

स्यादिप्रत्ययानां प्रथमादिसंज्ञां निरूप्य स्यादित्याद्युभयबोधिका विभक्तिसंज्ञामाह—स्त्यादिर्विभक्तिः । स् ति प्रत्यय आदि- २७ र्थस्य—प्रत्ययसमुदायस्य स स्यादि । विभक्ति—विभज्यन्ते—विभागश्च प्रकाशयन्ते कर्तृकर्मादयोऽर्था अनया इति स्यादित्यादिप्रत्यय- समुदायो विभक्तिपदबोधक इत्यर्थः । नन्वत्र स् इति, ति इति, कस्य ग्रहणमिति जिज्ञासायामाह—स् इत्युत्प्लुता इत्यादि, तिव इत्यन्तेन । उत्प्लुतानुबन्धस्य—उत्प्लुत—ल्यक्, अनुबन्ध—अनुबध्यते—कार्यार्थमुपदिश्यते इत्यनुबन्ध—इत् यस्य सत्तस्य सेत्तिवच्च ग्रहणमित्यर्थः । ३० पूर्वसूत्रव्यवस्थापितानुबन्धानामेवात्र ग्रहणमित्यभिप्रेत्याह—आदिशब्दो व्यवस्थावाची । एतेन पूर्वोक्तार्थचतुष्टयमध्ये व्यवस्थार्थक एवात्र आह । ससदितसज्ञार्थमाह—स्यादय इत्यादि, भवन्ति इत्यन्तेन । विभक्तिप्रदेशा पूर्ववत् ॥ १९ ॥

विभक्तिसंज्ञां निरूप्य पदसंज्ञामाह—तदन्तं पदम् । अत्र सूत्रे तच्छब्देन पूर्वसूत्रस्थस्यादिरिति परामृश्यते, शब्दरूपमध्याहृत इ- तेन विशिष्यते, तथाच तत्—स्यादिप्रत्यय त्यादिप्रत्ययश्च अन्तो यस्य तत् तदन्तः पदम्—पश्यते गम्यते कारकसंज्ञोऽर्थोऽनेनेति ‘पद’ इति संज्ञा । स्याद्यन्तशब्दरूपस्य, त्याद्यन्तशब्दरूपस्य च, इत्यर्थस्तदेवाह—स्याद्यन्तं इत्यादि, भवति इत्यन्तेन । धर्मो वः स्वं ददाति नः शास्त्रम्—अत्र पदत्वे नञ्सादेशौ । सूत्रेऽन्तग्रहणभावे “प्रत्यय प्रकृत्यादे”, “विशेषणमन्त” इति न्यायसहकारेण शब्दरूप इ- विशेष्यमध्याहृतान्तपदोपलब्धौ सति किमर्थमिल्यत आह—अन्तग्रहणं इत्यादिना । ‘संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति’ इति व्यर्थं संज्ञापयति अन्तग्रहणं इति स्वाशे चारितार्थं, वाक्यान्तरकल्पना, फलमन्यत्र, स्यादिविभक्तिः इत्यत्र केवलानां प्रत्ययानां सा सिध्यति । पदप्रदेशः—पदसंज्ञाप्रयोजनस्थानानि ॥ २० ॥

नाम्नः पदसंज्ञामाह—नाम सिदध्यञ्जने । अत्र पदमित्यनुवर्तते । नाम पद सिदध्यञ्जने इत्यन्वयः । स् इद् यस्य स सिद इति प्रत्यय एव अन्त्यस्य सितोऽसमवेन लब्ध प्रत्यये इति साहचर्यपरिभाषया ‘अव्यञ्जने’ इत्यत्राप्यन्वेति, इत्यत्र “सप्तम्या आदिरिति” आदिपदोपस्थित्या सप्तमसंज्ञार्थमाह—सिति इत्यादि, भवति इत्यन्तेन । भवदीय, ऊर्णासु, अहयु, शुभयु, अत्र “भवतोरिकणीयसौ” ६।३।३०, “ऊर्णाहशुम्- ४२ मोयुस्” ७।२।१७ इतीयस्युयो यथाक्रमं सिप्रत्यययो पूर्वनाम्नः पदत्वेऽनेन, “घुटस्त्वीय” इति, “अवर्णे” इति, “तौमुनो” इति, तस्य दत्त्व, अवर्णलोपामावो, मस्य नानुसारादनुनासिकी भवति । पयोभ्यामित्याद्युदाहरणेषु, पदत्वाद्बोध्यत्वसत्त्वानि । राजता, दृक्त्वम्—अत्र पदत्वे यथाक्रमं नलोपगत्वे । राजकाम्यति—राजानमिच्छति “अमाव्ययात्क्यन्व” ३।४।२३ इति काम्येपरे, पूर्वनाम्नः पदत्वे नलोपः । नामग्रहणप्रयोजनमाह— ४५

१५ पथाप्रकरणेण धीयते इति तस्यैवार्थमाह—अनुस्वानः इति । घण्टादिनिहादवत्-घण्टादेर्निहादः, तेन तुल्यं तद्वत् । तावदनुप्रदान-  
मित्यारभ्य अन्ये तु इत्यादि, निहादवद् इत्यन्तमौदम्रजेर्मतम् । द्वौ नादानुप्रदानौ इति हि तद्वचनात् । घोष कदा भवति ? इत्यत आह—  
तत्र यदा इत्यादि, जायते इत्यन्तेन । तत्र यदा स्थानकरणाभिघातजे-स्थान-कण्ठादि, करण-जिह्वामूलादि, तयोरभिघात-हननं तस्मा-  
१८ ज्ञात-स्थानकरणाभिघातजं तस्मिन् ध्वनौ नाद पूर्वोक्त, अनुप्रदीयते-पश्चात् प्रकरणे धीयते, तदा नादध्वनिसंसर्गात्-नादाख्य-  
ध्वनिसंघनात् घोष-तन्नामको वाद्यप्रयत्नः पद्यम् । यदातु-स्थानकरणाभिघातजे ध्वनौ इति शेषः । श्वास-पूर्वोक्त, अनुप्रदीयते  
तदा श्वासध्वनिसंसर्गात्-शाखाख्यध्वनिसंघनात् अधोप. जायते-भवति तन्नामको वाद्यप्रयत्नः पद्यम् । अल्पप्राणतामहाप्राणते  
२० स्थिते । उदात्त विष्णुते-यदा इत्यादि, आचक्षते इत्यन्तेन । यदा-यस्मिन् समये, सर्वाङ्गानुसारी-सर्वाङ्ग-प्रत्यङ्गं अनुसरतीत्येवशीलं,  
प्रयत्न-उत्साहः, तीव्र-उग्रः, भवति तदा गात्रस्य-शरीरस्य निग्रहः-ग्रहणं च कण्ठविलस्य-गलविवरस्य अणुत्वं-सूक्ष्मत्वं  
च स्वरस्य रौक्ष्यं-पादस्य भवति वायोः तीव्रगतित्वात् इत्यन्वयः । अनुदात्त विष्णुते-यदातु मन्दः इति, आचक्षते  
२२ इत्यन्तेन । मन्दः-शनैः शनैः, प्रयत्न-उत्साहः, संसनं-शियिळीमवनं, महत्त्वं-धीर्घत्वं, स्वरस्य स्निग्धता-मृच्छता भवति  
वायोः मन्दगतित्वात् इत्यन्वयः । स्वरित विष्णुते-उदात्ता इत्यादिना, प्रयत्न इत्यन्तेन । उदात्तानुदात्त स्वर-  
संनिपातात्-उदात्तश्च, अनुदात्तश्च तौ स्वरौ-उदात्तानुदात्तस्वरौ तयोः संनिपातः-सम्मेलनं समाहार इति यावत् तस्मात्, स्फुटोऽर्थः ।  
२७ कृत्स्न-समग्र । विवारादीनां बाह्यत्वं, स्पृष्टतादीनां चान्तरत्वं व्याख्यानान्तरेण प्रतिपादयति-अथवा इत्यादिना । विवारादयः-  
विवारस्वरश्चासनादधोपायोपाल्पप्राणतामहाप्राणतोदात्तानुदात्तस्वरिता । वर्णनिष्पत्तिकालात्-अक्षरोत्पत्तिसमयात्, ऊर्ध्वं-पश्चात्, वायु-  
चक्षेत्रे-समीरणवलेन, उत्पद्यन्ते इति वर्णनिष्पत्तिकालानुत्पत्तिकत्वेन विवारादीनां बाह्यत्वं सिद्धम् । स्पृष्टतादयः स्पृष्टेष्वत्स्पृष्टता सञ्चरता-  
३० विद्यता । स्थानास्यप्रयत्नव्यापारेण-स्थानं च आस्यप्रयत्नश्च तयोर्व्यापारत्वेन । वर्णोत्पत्तिकाले-अक्षराभिव्यक्तिसमये एव, उत्पद्यन्ते  
इति स्पृष्टतादीनां वर्णनिष्पत्तिकालोत्पत्तिकत्वेन चान्तरत्वं सिद्धम् । तदेवाह-वर्णनिष्पत्तिकालभावाभावाभ्यामित्यादिना । वर्णो-  
निष्पत्तिकालं वर्णनिष्पत्तिकालं अभावश्च भावश्च इति भावाभावौ “लघ्वक्षराः” ३।१।१६०। इत्यनेनाल्पस्वरत्वेन भावश्चन्दस्य पूर्वनिपातः, वर्ण-  
३३ निष्पत्तिकाले भावाभावौ ताभ्याम् । अत्र हेतुद्वयं विवारादीनां बाह्यत्वं वर्णनिष्पत्तिकाले-अक्षरोत्पत्तिसमये भावात्-उत्पत्तेः इत्यपरो हेतुः । येषां बाह्या प्रयत्ना  
पूर्वोक्तानां आभ्यन्तरत्वं-आन्तरत्वं वर्णनिष्पत्तिकाले-अक्षरोत्पत्तिसमये भावात्-उत्पत्तेः इत्यपरो हेतुः । येषां बाह्या प्रयत्ना  
संभवन्ति तानाह-तत्र इत्यादि, महाप्राणा इत्यन्तेन । तत्र-बाह्यप्रयत्नमध्ये, वर्गोणां-कवर्गचवर्गदवर्गचवर्गचवर्गोणां, प्रथम-  
३६ द्वितीया-क ख, च छ, ट ठ, त थ, प फ, इत्येते, शपसविसर्गप्लुट्या । विवृतकण्ठाः-येषामुच्चारणे कण्ठो विवृतो भवति ते  
विवृतकण्ठाः । श्वासानुप्रदानाः-श्वासलक्षणमनुप्रदानं येषां ते श्वासानुप्रदानाः । वर्गोणां-पूर्वोक्तानां, तृतीयचतुर्थपञ्चमाः-ग घ ङ,  
ज झ ञ, ढ ढ ण, द ध न, ब भ म । अन्तःस्थाः य र ल व इत्येते । हकारः अनुस्वारः इत्येते संवृतकण्ठाः, येषामुच्चारणे कण्ठ-  
३९ संवृतो भवति ते संवृतकण्ठाः । नादानुप्रदानाः-नादलक्षणं अनुप्रदानं येषां ते नादानुप्रदानाः । वर्गोणां-पूर्वोक्तानां, प्रथमतृतीय-  
पञ्चमाः-क ग ङ, च ज झ, ट ढ ण, त द न, प ब म इत्येते, अन्तःस्थाः-य र ल व इत्येते अल्पप्राणाः । इतरे सर्वे-ख प, छ झ,  
ठ ढ, थ ध, फ भ, श ष, स ह, विसर्गजिह्वामूलीयोर्ध्वान्नीयानुनासिका अपि इत्येते महाप्राणाः । सूत्रे स्थानग्रहणामावे केवलास्य-  
४२ यमस्तुल्यतायां स्वत्वे सत्यनेन तर्ता, तर्तुम् इत्यत्र रेफात्परस्य धुट् पस्य स्थाने तकारे परे लोपः स्यात्, खल चाख्येव तकारस्य पतयोराल-  
प्रयत्नैक्यादिति तन्मा भूदिति स्थानग्रहणं, तदेवाह-स्थानग्रहणं किम् ? कचटतपानामपि इत्यादिना, लोपः स्यात् इत्यन्तेन ।  
एवमेव आस्यप्रयत्नग्रहणामावे सूत्रे केवलस्थानस्तुल्यतायामपि अर्कं श्योतति, अत्र कात्परस्य शस्य चकारे परे लोपः “धुटो धुटि खे वा”  
४५ इत्यनेन स्यादिति, न च वाच्यं शचयो विभिन्नस्थानत्वं तादृत्वेन तयोस्तुल्यत्वात्, तदेवाह आस्यप्रयत्नग्रहणं किम् ? चवर्गयशानां  
इत्यादि, चकारे परे लोपः स्यात् इत्यन्तेन । स्वप्नेशाः-पूर्ववद्बोध्यम् ॥ १७ ॥



वच्मि, यज्वा । सिदय्यञ्जन इति किम् ? भवन्तौ, राजानौ । यवर्जनं किम् ? वाचमिच्छति वाच्यति । अन्तर्वर्तिन्यैव विभक्त्या तदन्तस्य पदत्वे सिद्धे सिद्धहण नियमार्थम्, तेन प्रत्ययान्तरे न भवति—सौश्रुतम्, भागवतम् ॥ २१ ॥

२ न क्ये ॥ १ । १ । २२ ॥

क्य इति उत्प्रेष्टानुबन्धानां क्यन्क्यङ्क्यङ्पां ग्रहणम्, नकारान्त नाम क्ये प्रत्यये परे पदसंज्ञं भवति । राजान-मिच्छति क्यन् राजीयति, राजेवाचरति क्यङ् राजायते, अचर्म चर्म भवति क्यङ् चर्मायति चर्मायते, पदत्वाब्रलोपः । नमिति किम् ? वाच्यति । क्य इति किम् ? सामनि साधुः सामन्यः, एव वेमन्यः । अय् इतिप्रतिषेधात्, पूर्वणाप्राप्ते वचनम् ॥ २२ ॥

न स्तं मत्वर्थे ॥ १ । १ । २३ ॥

९ सकारान्त तकारान्त च नाम मत्वर्थे प्रत्यये परे पदसंज्ञं न भवति । यशस्वी, मतोरपि मत्वर्थाव्यभिचारात् मत्वर्थ-शब्देन ग्रहणम्—पेचुष्मान्, विदुष्मान्, यशस्वान्, तडित्वान्, मरुत्वान्, विद्युत्वान् । स्तमिति किम् ? तक्षवान्, राजवान् । मत्वर्थ इति किम् ? पयोभ्याम् । अव्यञ्जने इति प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम् ॥ २३ ॥

- ३२ वच्मि—अत्र वचेर्घातोर्मिषि परे न पदत्व, पदत्वे सति कत्व प्रसज्येत । यज्वा—अत्र यज्घातोर्गत्व प्रसज्येत, सति नामग्रहणे न भवति । भवन्तौ, राजानौ—अत्र न भवति पदत्व, औप्रत्ययस्य सिद्धूपा-यकारभिन्नव्यञ्जनादिरूपप्रत्ययाभावात् । व्यञ्जने 'अयि'ति विशेषण किमर्थमित्यत आह—यवर्जनं किम् ? वाच्यति—वाचमिच्छति इत्यर्थं, "अमाव्यादात्" इति क्यनि वाच् यति इत्यत्र पदत्वे निषिद्धे कत्व न भवति । वस्तुतस्तु—राजीयतीत्यादौ "नाम सिद्धिः" सूत्रेणापिलभावे "नाम सिद्धव्यञ्जने" इति सूत्रन्यासे व्यञ्जनमाश्रित्य पदत्वे सिद्धे "न क्ये" इति सूत्र 'नकारान्तमेव क्यप्रत्यये' पदसंज्ञं भवति नान्यदिति नियमयति, तेन नियमेन वाच्यति इत्यत्र पदत्वाप्राप्त्या किमर्थं यवर्जनम् ? 'नान्त क्यप्रत्यय एव' पद, न प्रत्ययान्तरे इति विपरीतनियमस्वीकारे यशस्यमित्यस्य फल वाच्यति इति समवति, तथापि विपरीतनियमस्वीकृतिरशक्या तथासति—राजा सीमा इत्यादौ १८ पदत्वनिषेध स्यात् इति चेत्, "युवा खलति" ३।१।१३। इति निर्देशेन विपरीतनियमस्यासम्भवादिति चेत्समाधत्ते—सत्सु साधु सत्यम्, अत्र व्यञ्जनादिप्रत्यये परे पदत्वे तस्य दत्व स्यान्नियमेन व्यावृत्तिरशक्या तस्य क्यप्रत्ययविषयत्वात्, अत्र तु साधौ य इति विशेष । सिद्धप्रत्यये पूर्वनात्र पदत्वविधान व्यर्थं तस्यान्तवर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य "तदन्त पदम्" इति पदत्वे सिद्धे इत्यत आह—अन्तर्वर्तिन्यैव इत्यादि । 'सिद्धे सत्यारम्भो २१ नियमाय भवति' इति सिद्धेवेति नियमयति । नियमफल दर्शयति—तेन इत्यादिना । सौश्रुतम्—मृधुत इदम्, भागवतम्—भगवत इदम्, इत्यर्थे "तस्येदम्" ६।३।१६०। इत्यपि पदत्वाभावादत्वाभाव । नन्वेनेन नियमेन राजता, दृक्त्वमित्यादावपि, सौश्रुतम्, भागवतम् इत्यादि-वपदत्वाभावे सति नलोपायभाव इति चेच्छ्रूयताम्—सौश्रुतम् इत्यादौ नियमधरितार्थं, पयोभ्यामित्यत्र 'अव्यञ्जने' इति चरितार्थं, द्वयो प्राप्ति २४ राजता दृक्त्वमित्यत्र । तत्र 'स्पर्धेपरम्' इति न्यायेन 'अव्यञ्जने' इति भवति परत्वात्, अथवा तदन्त पद इत्यस्त्वानेन नियमन्यात्वादोष ॥ २१ ॥

- नान्तानात्र पदसंज्ञानियमसूत्रम्—नं क्ये । अत्र नाम पदमिति चानुवर्तते । क्ये इति सामान्यनिर्देशेन, 'निरनुबन्धग्रहणे सामान्यस्य' इति सामान्यग्रहणे क्यर्क्यपोर्नामानुवृत्त्याऽऽसप्रह इति सर्वमभिप्रेत्याह—क्य इत्यादि, ग्रहणम् इत्यन्तेन । उत्प्रेष्टानुबन्धानां—उत्प्रेष्टस्यैक अनुबन्धो यत्वे तेषाम् इति विशेषण क्यन्क्यङ्क्यङ्कां इत्यस्य, नमिति नाम्नो विशेषणमिति "विशेषणमन्त" इति तदन्तग्रहण, क्ये इत्यनेनासम्भवाद्बन्ध प्रत्यये इति च सर्वं हृदि निधाय सूत्रार्थं व्याचष्टे—नकारान्तं इत्यादि, भवति इत्यन्तेन । स्पष्टोऽर्थः । राजा-नमिच्छति—राजीयतीत्यस्य विग्रह । क्यन्—"अमाव्यादात्" इति क्यन्प्रत्यये पदत्वेऽनेन, नलोपे "क्यनि" ४।३।१३। इतीकारेऽन्ता-३० देश—राजीयति । राजेवाचरति—राजायते इत्यस्य विग्रह । क्यङ्—"क्यङ्" ३।४।२६। इति सूत्रेण पदत्वे सति नलोप—राजायते । अचर्म चर्म भवति—चर्मायति चर्मायते, इत्यस्य च विग्रह । क्यङ्ङ्—"ङाच् लोहितादिभ्य वित्" ३।४।३०। इत्यनेन, अनेन पदत्वे सति नलोप । नमित्यस्य फलमाह—नमिति किम् ? वाच्यति—अत्र नाम्नो नान्तत्वाभाव । क्ये इत्यस्य फलमाह—क्ये इति किम् ? ३१ सामनि साधुः—सामन्य इत्यस्य विग्रह । वेमन्यः—अत्र पदत्वाभावे, न नकारस्य लोप । पूर्वोक्तप्रयोगेषु "नाम सिद्धू" इति पदत्वाप्राप्तौ पदत्वविधायकमिदमित्यत आह—अय् इति ॥ २२ ॥

- पदसंज्ञा निरूप्य तन्निषेधप्रकरणमुपदर्शयति—न स्तं मत्वर्थे । अत्र नाम, पदमिति चानुवर्तते । मत्वर्थे इति प्रत्यये इत्याक्षेपः । "विशेषणमन्त" ३६ इति तदन्तग्रहण, तथाच सान्त तान्त न पद मत्वर्थे प्रत्यये इत्यन्वयः । तदेवाह—सकारान्तं इत्यादिना । यशस्वी—यशोऽस्यास्तीति विग्रहे—"अस्तपो माया" ७।२।७७। इत्यनेन मत्वर्थं विन्, सूत्रेणानेन पदत्वनिषेधे, पदान्तत्वाभावात्तस्य रूपाभावः । उद्भूतस्य मुखमिव मुखमस्येच्छुद्भू-मुख इत्यादिवत्—संभवति सामानाधिकरण्ये वैयधिकरण्यमन्याप्यम् इति न्यायेन मनुष्यशब्दे मत्वर्थमिति विज्ञाय पश्चादर्थशब्देन मनुष्यत्वयोऽप्यो-३९ समानाधिकरणो बहुव्रीहि । ननु मनुष्यशब्दस्य मत्वर्थशब्देन क्यमुपादानमित्यत आह—मतोरपि इत्यादिना । मतोरपि—मनुष्यशब्द-स्यापि । मत्वर्थाव्यभिचारात्—मनुष्यशब्दे मत्वर्थमभिधत्ते नान्यमर्थमतो व्यभिचाराभाव स्पष्ट एव, तस्मात्—मत्वर्थनिरूपितव्यभिचाराभावात् मनुष्यशब्दस्यापि मत्वर्थशब्देन ग्रहणम्—बोधनम् । पेचुष्मान् इत्यादौ—मतौ परे "नामसिद्धू" प्राप्ते पदत्वेऽनेन निषिद्धे रूपाभाव । ४२ तडित्वान् इत्यादौ—तस्मिन्परे तेनैव प्राप्ते पदत्वेऽनेन निषिद्धे दत्वाभाव । तक्षवान्, राजवान्—अशोभयत्र सान्ततान्तत्वाभावोऽतो नानेन पदत्वप्रतिषेध, किन्तु पदत्वमेव तथासति न लोपः । पयोभ्याम्—अत्र भ्यामो मत्वर्थाव्यभिचारात्पदत्वनिषेधो न । प्राप्ते सत्यां निषेध इत्यस्य निषेधस्य प्राप्तिपूर्वकत्वं दर्शयति—अव्यञ्जने इत्यादिना ॥ २३ ॥



## मनुर्नभोऽङ्गिरो वति ॥ १ । १ । २४ ॥

मनुम् नमस् अङ्गिरस् इत्येतानि नामानि वतिप्रत्यये परे पदसंज्ञानि न भवन्ति । मनुस्वित् मनुष्वत्, एवं नमस्वत्, अङ्गिरस्वत्; पदत्वाभावाद् रुन् भवति, पत्वं तु भवति ॥ २४ ॥

## वृत्त्यन्तोऽसषे ॥ १ । १ । २५ ॥

परार्थाभिधानं वृत्तिः, तद्वाञ्छ पदसमुदायः समासादिः, तस्या अन्तोऽवसान पदसंज्ञो न भवति; 'असपे' सस्य तु पत्वे पदसंज्ञैव । परमदिवौ, श्रुतिहौ, गोदुहौ, परमवाचौ, बहुदण्डिनौ, एषु पदत्वाभावादुत्पत्तिवर्धत्वकाल-लुगादीनि न भवन्ति । वृत्तिग्रहणं किम् ? चैत्रस्य कर्म । अन्तग्रहणं किम् ? राजवाक्—अत्र नलोपो भवति । 'वाक्-त्वक्-सुचः' इति त्रयाणां वृत्तौ न पृथक् द्वयोर्वृत्तिरिति मध्यमस्य निषेधो न भवति । अथ वाक्त्वचमित्यत्र समासान्ते सति वृत्त्यन्तत्वाभावात् पदत्व प्राप्नोति, तथा च कत्वं स्यात् ? उच्यते—समासात् समासान्तो विधीयत इति त्वचो वृत्त्यन्तत्वम् । असप इति किम् ? सिञ्चतीति विच् सेक्, दध्न्ः सेक् दधिसेक्, दधिसेचौ, ईषदून्ः सेक् बहुसेक्, बहुसेचौ—अत्र पदसंज्ञायां पदादित्वात् सकारस्य "नाम्यन्तस्था०" ॥२।३।१५॥ इत्यादिना पत्वाभावः सिद्धः । अन्तर्वर्तिन्या विमक्तेः स्थानिवद्भावेन

मनुर्नभो० अत्र नाम पदमिति नेति चानुवर्तते । मनुर्नभोऽङ्गिरो नाम न पद वति इत्यन्वयः । एवं—मनुष्वदिव विग्रह नभ-१२ स्वत्—नम इव नमस्वत्, अङ्गिरस्वत्-अङ्गिर इव । पदत्वाभावात्—"नाम ति०" इति पदत्वस्य अभावात्-अनेन निषेधात् रुः—"सोः" इति विहित ॥ २४ ॥

वृत्त्यन्तोऽसषे-अत्र पद न इति चानुवर्तते, वृत्त्यन्त पदं न असपे इत्यन्वयः । यत्र पदानि स्वार्थं विहाय वर्तन्ते सा वृत्ति, तस्या १५ अन्त वृत्त्यन्तः । सस्य ष सष, न सष असष, तस्मिन् असपे । वृत्तिपदार्थमाह-परार्थाभिधानं-परस्य अर्थस्य-समासेऽवयवपदार्था-प्रधानाभिधायिन इति अवयवपदार्थापेक्षयातिरिक्तस्य विशिष्टार्थस्य अभिधानमित्यर्थः । वृत्ति-वर्तने, तस्याध्वान्तत्वात्तत्त्व इत्यत आह—तद्वाञ्छ-वृत्तिमाश्च । पदसमुदायः समासादिः—पूर्वं वृत्तिग्रहणं विवृत्य पश्चाद्वृत्तिग्रहणं लक्ष्यार्थप्रदर्शनम् । आदिपदात्-नामधातुतद्विधित्वेन १८ ग्रहणम् । तस्याः—समासादिवृत्ते । अवसानं—चरमावयव पदसंज्ञो न भवति इत्यर्थनिरूपणम् । असपे—सस्य पत्वे कर्तव्ये पदसंज्ञा-निषेधो न प्रवर्ततेऽर्थात्पदसंज्ञा भवत्येव, तदेवाह—असपे इत्यादिना । परमदिवौ—परमा द्यौ र्ययोरिति विग्रहः । अत्रान्तर्वर्तिनीं विमक्तिमाश्रित्य प्राप्तपदत्वप्रतिषेधेऽनेन "च पदान्ते०" २।१।१५॥ इति पदत्वप्रयुक्तमुत्तरं न भवति । श्रुतिहौ—सीढ इति लिहौ शून लिहौ इति २१ विग्रहः, अत्र पूर्ववत्प्राप्त पदत्व निषिध्यतेऽनेन, इति पदत्वप्रयुक्त "हो धुद पदान्ते०" २।१।८२ इत्यत न भवति । गोदुहौ—दुग्ध इति दुहौ, गो दुहौ इति विग्रहः, अत्र "भ्वादिर्दधि०" २।१।८३ इति पूर्ववत्पदत्वप्रयुक्तं धत्वं न भवति । परमवाचौ—परमा वाग् ययोरिति विग्रहः, अत्र "चज कगम्" २।१।८६ इति कत्व पूर्ववत्पदत्वप्रयुक्तं न भवति । बहुदण्डिनौ—ईषदून् इति विग्रहः, अत्र—"नान्नो नोऽनह" २।१।९१ २४ इति पूर्ववत् पदत्वप्रयुक्तो न नलोपः । तदेवाह—एषु पदत्वा इत्यादिना, न भवन्ति इत्यन्तेन । लुगादीनि—अत्र आदिपदात् यथासमं ढत्वे सत्येव ढत्व, घर्षे सति दस्य धत्व, कत्वे सति गत्व, लुगभावे च "ह्रस्वाङ्गणो द्वे" १।३।२७ इति द्वित्वं च—श्रुतिहौ, गोदुहौ, परमवाचौ, बहुदण्डिनौ इत्येषु न भवति । चैत्रस्य कर्म—अत्र वाक्यान्तस्य कर्मणो वृत्त्यन्ताभावेन पदत्वप्रतिषेधो न भवति, तथा सति न लोपः । राजवाक्—२७ अत्र राजन्यव्यस्य वृत्तिपूर्वपदस्य वृत्त्यन्ताभावेन पदत्वप्रतिषेधो न भवतीति नलोपः, तदेवाह—अत्र नलोप इत्यादिना । वाक् च त्वक् च सुक् च इति वाक्त्वचसुच, अत्र त्रयाणां द्वन्द्वसमासे मध्यमस्य त्वच, वागपेक्षया वृत्त्यन्तत्वात् पदत्वप्रतिषेधे सत्यनेन वाक्त्वचसुच इति भाव्यमित्यत आह—वाक्त्वचसुच इत्यादि, न भवति इत्यन्तेन । एतेन वृत्त्यन्त सुच, इत्येव यदि पूर्वं द्वयोर्द्वन्द्वं कृतं स्यात् पश्चात्तृतीयेन सह ३० द्वन्द्वो भवेत्तर्हि त्वच् इत्यस्य वृत्त्यन्तत्वं भवेदिति तदेव नास्तीति न कश्चिदोपः । वाक् च त्वक् चेत्यनयो समाहारो वाक्त्वचम्, अत्र "च वर्ग-दधध समाहारे" ७।३।९८ इति समासान्तेऽतः प्रत्ययेऽकारान्तवृत्तेरन्तत्वमकारस्य न त्वच इति वृत्त्यन्ताभावेनानेन पदत्वप्रतिषेधभावे पदत्वे सति "चज कगम्" इति कत्व भवेदित्यभिप्रायेण शङ्कते—अथ इत्यादि, स्यात् इत्यन्तेन । समासान्ते—"चवर्गदधध" इत्यनेनात्र-३३ व्यये, वृत्त्यन्तत्वाभावात्-समासचरमावयवभावात्, पदत्वं—अन्तर्वर्तिनीं विमक्तिमाश्रित्य प्राप्त, कत्वं—"चज कगम्" इत्यनेन । समाधानमाह—उच्यते इत्यादिना, वृत्त्यन्तत्वम् इत्यन्तेन । अयमाशयः—समासाद्विधीयमानेनातः प्रत्ययेन समासान्तत्वव्याघातो 'यस्माद्यस्य विधानेन तस्यान्तत्वव्याघातः' इति नियमात्, ननु समासावयवस्य त्वच इति समुदायावयवत्वेन समासान्तविधानेन समासान्तत्वव्याघातेऽपि ३६ वृत्त्यन्तस्य, समुदायावयवस्य त्वचोन्तत्वविधाताभावेन पदत्वनिषेधः समुदायावयवस्य अवयवावयवत्वाभावादिति । अथवा लक्ष्यानुरोधेन समास-शब्दः समाससमासावयवबोधक इति समासावयवात्समासान्तो विधीयते इत्यर्थस्वीकारे त्वच इति समासावयवादत्प्रत्ययरूपसमासान्तविधाने यथप्य-वृत्त्यन्तत्व त्वगित्यस्य तथापि सौष्ठवम् इत्यादिवत् सिञ्चनेन निवर्त्यते प्राप्त पदत्वम् । अथवा—समासात्परः समासान्तो विधीयते इत्यर्थस्वीकारे-३९ अतः प्रत्ययरूपसमासान्तस्य स्यादिति मक्तेः पूर्वं त्वच परत्र च विधानेन स्पष्टमेवावृत्त्यन्तत्व त्वगित्यस्य, तथापि तत्र पदत्वाप्राप्ति स्पष्टेव इति संक्षेपः । सस्य पत्वे कर्तव्ये 'वृत्त्यन्त पद न' इति न प्रवर्तते इत्यर्थकस्य—असपे इति न, इत्यस्य प्रयोजनमाह—असपे किम् ? इत्यादिना । 'सोपपदात् विच् नेष्यते' इति सिद्धान्तमाहस्य सिञ्चतीति सेक् इति ससाध्य पश्चात् दध्न् सेक्, दधि सेगिति विग्रहः कार्यः, तदेव दर्शयति—सिञ्चतीति ४२ इत्यादिना । ईषदून्ः सेक्-बहुसेक् इत्यस्यार्थप्रदर्शनपुरस्सरे विग्रहः । यथसपे इति न स्यात्तद्वे तदा, प्रदर्शितोदाहरणे पदत्वप्रतिषेधे सकारस्य पदादित्वाभावेन पदमध्यवृत्तित्वाच्च "नाम्यन्तस्था०" इत्यादिना षत्व प्रसज्येत, तन्मा भूदित्यभिप्रायेण 'असपे' इति सत्वे तु पदत्व प्रतिषेधभावात्पदादित्वेन पदमध्यवृत्ताभावाच्च न भवति, सस्य ष इति महान्तमाशयः द्विदि धारयित्वा वदति—अत्र इत्यादिना, सिद्ध इत्यन्तेन । निषे-४५ पत्य प्रातिपूर्वकत्वं प्रदर्शयति—अन्तर्वर्तिन्या इत्यादिना । स्थानिवद्भावेन—स्थानीवाऽवर्णविधौ" ७।४।१० ११ इत्यनेन, स्फुटोऽर्थः । अन्तर्वर्तिनीं





वस्तुसादयो न भवन्ति, लौकिके हि वाक्येऽङ्गीक्रियमाणे आख्यातभेदेऽप्येकवाक्यत्वाद् वस्तुसादयः प्रसज्येरन्निति; कुरुकुरु नः कटमित्यादौ तु कृते द्विवचनेऽर्थभेदादेकमेवाऽऽख्यातमित्येकवाक्यत्वाद् वस्तुसादयो भवन्ति । वाक्यप्रदेशाः—“पदाधु-  
ग्विभक्त्यैकवाक्ये वस्तुसौ बहुत्वे” ॥ २१।२१ ॥ इत्यादयः ॥ २६ ॥

३

### अधातुविभक्तिवाक्यमर्थवन्नाम ॥ १ । १ । २७ ॥

अर्थोऽभिधेयः स्वार्थो, द्रव्य, लिङ्ग, संख्या, शक्तिरिति, द्योत्यश्च समुच्चयादिः । तद्वच्छन्दरूप धातुविभक्त्यन्त-  
वाक्यवर्जित नामसंज्ञ भवति । वृक्षः, प्लक्षः, कृष्णः, डित्यः, डवित्यः, स्वः, प्रातः, घवश्च, खदिरश्च । धातु- ६  
विभक्तिवर्जनं किम् ? अहन्, वृक्षान्, अयजन्; अत्र नामत्वाभावे “नाम्नो नोऽनहः” ॥२१।१९॥ इति नलोपो न  
भवति । विभक्त्यन्तवर्जनाच्चादिप्रत्ययान्तानां नामसंज्ञा भवत्येव । आप्-अजा, चहुराजा । डी-गौरी, कुमारी । डायनि-  
नामयिणी, गौकक्षायणी । ति-युवतिः । ऊङ्-ब्रह्मचन्धूः, करभोरुः । कृत्-कारकः, कर्ता, भिनत्तीति भिद्, एव छिद् । °

न्तेन । लौकिकवाक्यत्वस्वीकारेऽनुपपत्तिमाह-लौकिके हि इत्यादि, प्रसज्येरन् इत्यन्तेन । स्फुटोऽर्थः । ननु कुरु कुरु न कटमित्यादौ, त्याग-  
न्तभेदे वाक्यत्वास्वीकृत्या कथमस्मदो नसादेश इत्यत आह-कुरु कुरु न. कटमित्यादौ इत्यादि, भ्रजन्ति इत्यन्तेन । इदमत्राकृतम्—  
कुरु कुरु इति स्थाने द्विवचनमिति स्वरूपमेवेदं अर्थभेदात्-अर्थैक्याद् आख्याताभेदे, सति भिन्नवाक्यत्वाभावात्सादेश इति संक्षेपे ॥२२  
वाक्यप्रदेशाः—पूर्ववदेव बोध्यम् ॥ २६ ॥

वाक्यप्रदेशां निरूप्य नामसंज्ञामाह—अधातुविभक्तिवाक्यमर्थवन्नाम । धातुश्च, विभक्त्यश्च, वाक्य च इति समाहार-  
द्वन्द्वः । न धातुविभक्तिवाक्यम् अधातुविभक्तिवाक्यम्, विशेषणमिदमर्थवन्नित्यस्य । विभक्तीति विभक्त्यन्तबोधः । तथा सति धातुभिन्नं, १५  
विभक्त्यन्तभिन्नं, वाक्यभिन्नं अर्थवत् (अर्थोऽस्यास्तीति विग्रहः) नामपदबोध्यं भवति इति मूलसूत्रार्थः । अर्थशब्दो हि प्रयोजनवचननिवृत्ति-  
वचनवचनार्थभिधेयवचनरूपवद्द्वयस्वत्र कस्यात्र परिग्रह इत्यपेक्षायामाह-अर्थोऽभिधेय इति । स च द्विविधः शुद्धिस्वरूपलक्षणोऽन्तरङ्गः,  
तद्विषयो बहिरङ्गश्च । तत्र बहिरङ्गार्थभिधेयस्य पदभेदान्प्रदर्शयति—१ स्वार्थः—विशेषण इति, तच्च पञ्चविधं स्वरूपजातिगुणसर्वव्यक्ति- १८  
द्रव्यभेदात् । २ द्रव्यं—विशेष्यमिति, तन्निविधं जातिगुणद्रव्यभेदात् । अत्रेदं रहस्यम्—यदा शब्दस्वरूपेण जातिविशेष्या भवति तदा  
शब्दस्वरूप विशेषणत्वात्स्वार्थः, जातिस्तु विशेष्यत्वाद्द्रव्यम् । यदा जातिविशिष्टो गुणस्तदा जातिविशेषणत्वात्स्वार्थः, गुणो विशेष्यत्वाद्द्रव्यम्,  
यथा पटस्य शुक्लो गुणः । यदा गुणविशिष्टद्रव्योक्तिस्तदा गुणो विशेषणत्वात्स्वार्थः, द्रव्यं विशेष्यभूत द्रव्यं यथा शुरु पटः । यदा द्रव्यं द्रव्यान्तर- २१  
विशेषणभूत तदा द्रव्यं विशेषणत्वात्स्वार्थः, द्रव्यान्तरं विशेष्यत्वाद्द्रव्यम् । क्वचित्सबन्वोऽपि स्वार्थः, यत्र तन्निमित्तक प्रत्यय यथा दण्डी, अत्र  
दण्डिना सह दण्डसंयोगरूपस्य च स्वार्थः । क्वचित्क्रियापि स्वार्थः, यत्र तन्निमित्तक प्रत्यय यथा पाचकः, अत्र पाकक्रिया स्वार्थः इति संक्षेपः ।  
३ लिङ्गम्—गुणानुसङ्गरूपम् । ४ संख्या—एकाद्या । ५ शक्तिः—कर्मत्वकरणत्वप्रदानादि । समासाद्यभिधीयमान चकारादिना द्योत्योऽपि २४  
समुच्चयादिरभिधेय इत्यासायेनाह-द्योत्यश्च समुच्चयादिः, अभिधेय इति शेषः । न केवलं स्वार्थादिरभिधेयो द्योत्यश्च समुच्चयदिरभिधेय इति  
चार्थः । अत्रादिपदाद्वा विकल्पादौ, एवोऽवधारणे इति च बोध्यम् । तद्वत्—स्वार्थद्रव्यलिङ्गसंख्याकारकद्योत्यसमुच्चयरूपाभिधेयार्थवत्, शब्द-

तद्धित-औपगवः, आक्षिप्तः । वाक्यवर्जनं किम् ? साधुधर्मं वृते । अर्थवत्समुदायस्य वाक्यस्य नामसंज्ञाप्रतिषेधात् समासा-  
देर्भवत्वेव-चित्रगुः राजपुरुषः, ईपदपरिसमाप्तो गुडो बहुगुडो द्राक्षा । अर्थवदिति किम् ? वनम्, धनम्, नान्तस्यावधेर्मा-  
भूत्, नामत्वे हि स्याद्युत्पत्तौ पदत्वान्नलोपः स्यात् । यदाऽनुकार्यानुकरणयोः स्याद्वादाश्रयणेनभेदविवक्षा तदाऽर्थवत्त्वा-  
भावान्न भवति नामसंज्ञा-यथा गवित्ययमाहेति, यदा तु भेदविवक्षा तदानुकार्येणार्थेणार्थवत्त्वाद्भवत्वेव-पचतिमाह, च-  
समुच्चये, नेर्विशः परावेर्जेरित्यादि । नामप्रदेशः-“नाम सिदध्यस्त्वने” ॥ १११२१ ॥ इत्यादयः ॥ २७ ॥

शिर्षुद् ॥ १ । १ । २८ ॥

जस्रसादेशः शिर्षुद्संज्ञो भवति । पञ्चानि तिष्ठन्ति, पञ्चानि पश्य । घुट्प्रदेशः “घुटि” ॥ ११४६८ ॥ इत्यादयः ॥ २८ ॥

पुंस्त्रियोः स्वमौजस् ॥ १ । १ । २९ ॥

औरिति प्रथमाद्वितीयाद्विवचनयोरविशेषेण ग्रहणम् । सि अम् औ जस् इत्येते प्रत्ययाः पुंसि स्त्रियां च घुट्संज्ञा  
भवन्ति । राजा, राजानम्, राजानौ तिष्ठतः, राजानौ पश्य, राजानः । स्त्रियाम्-सीमा, सीमानम्, सीमानौ तिष्ठतः पश्य  
वा, सीमानः, “नि दीर्घः” ॥ ११४८५ ॥ इति दीर्घः । पुंस्त्रियोरिति किम् ? सामनी, वेमनी, घुट्वाभावाद् दीर्घो न भवति ।

- १२ वंमहणेन नामसंज्ञाविधिः पयुदासस्य विधिप्राधान्यात् नाघातुरिति प्रतिषेधप्रवृत्तिः । औपगवः-उपगोरपत्यमिति विग्रहे “द्वेत्तोऽपले” ६।१।२८।  
इत्यणि रूपम् । आक्षिप्तः-अक्षेन वीथ्यति इति विग्रहे, “तेनजितजयद” ६।४।२। इतीरुणि रूपम् । एषु विभक्त्यन्तत्वाभावात्तामवे  
स्यादयः । ननु धातुविभक्त्यन्तभिन्नस्य पदेभ्यो व्यतिरिक्तस्य पदार्थस्यपन्धरूपविशिष्टार्थवोधकस्य वाक्यस्यार्थवत्त्वात्तामत्वप्राप्तिं तद्वर्जनं  
१५ माह-वाक्यवर्जनं किम् ? साधुधर्मं वृते । अनावाक्यमिति पयुदासे नयः तस्य च सहप्रगृहीत्वाद्वाक्यमिन्नवाक्यसहसार्थवत्पदसमु-  
दायस्य समासस्य नामसंज्ञा सिध्यति तदेवाह-अर्थवत्समुदायस्य वाक्यस्य इति । पूर्वोक्तार्थवत्त्वबन्धसमूहरूपवाक्यस्य । नामसंज्ञाप्रति-  
षेधात्-पयुदासमाश्रित्य समासादौ विधिद्वारा वाक्यस्य निषेधात् भवत्वेव नामसंज्ञा इति शेषः । चित्रगुः-चित्रा गावो यस्य स इति  
१८ बहुमीहि । राजपुरुषः-राजः पुरुष इति पठितपुरुषः । ईपदपरिसमाप्तो गुड इति वृ बहु गुडो द्राक्षा इत्यस्य विवरणम् । अत्र  
“नात्र प्रत्ययद्वयो” ७।३।१२। इति वही रूपम् । ननु अघातुविभक्तौत्यत्र पयुदासाश्रयणेन धात्वादिभिन्नधात्वादिसहसार्थवत्तामेव शब्दरूपाणां  
सम्भव इति किमर्थमर्थवदित्यभिप्रायेणाशङ्क्य समाधत्ते-अर्थवदिति किम् इत्यादि, मा भूत् इत्यन्तेन । नान्तस्य अवधेः-धनम् इत्यस्य वद-  
२१ इत्यस्य चावधेः । अयमभिप्रायः-अर्थवदिति हि सन्निदिदेश सहप्रगृहीत पयुदासेऽर्थवत्त्वेन धर्मेण सादृश्यसमाधायणाय, न च धनं वनमित्यत्र  
प्रतिवर्णं नामत्वे निरर्थकवर्णनं स्याद्युत्पत्त्यभावेनेष्टापत्तिरिति वाच्यम्, अवयवसंज्ञाविधानात्स्याद्युत्पत्तेः, तथा सति पदत्वान्नलोप इत्येव  
वदति-नामत्वे हि इत्यादि, स्पष्टोऽयं । ननु यदा केनचिदशक्त्या गौ इति प्रयोक्तव्ये गो इति प्रयुक्तं तदा तत्तस्मीपवर्त्ता च तदुक्तमपरेण दृष्ट-  
२४ सन्ननुकरोति तत्र तदनुकरणे नामसंज्ञा स्याद्वा नवा १ इत्याशङ्क्यामाह-यदानुकार्यानुकरणयोः । यदा-यसिन्काळे, अनुकार्यानुकरणयो-  
अशक्त्या प्रयुक्तो इत्यनुकार्यः, तमनुकुर्वतापरदृष्टेन तत्तस्मीपवर्त्तना चोक्तमनुकरणं गो इति तयोः स्याद्वादाश्रयणेन-अनेकान्तम-  
ताभ्युपगमेन, अभेदविवक्षा-इदमत्र रहस्यम्-अनुकार्यस्य गो इत्यस्यानुकरणस्य तदुक्तानुवादोच्चरितस्य च गो इत्यस्याभेदो विवक्ष्यते  
२७ तथा सति “साधुशब्दा एवार्थवन्तः” इति अनुकार्यस्यासाधारण्यवत्त्वमावेन तदभेदिनोऽनुकरणस्याप्यर्थवत्त्वमावाच्यं नामसंज्ञा ।  
तत्स्थलं प्रदर्शयति-यथा गवित्ययमाह । भेदविवक्षायां स्थलप्रदर्शनपूर्वकमर्थवत्त्वं निर्दिशति-यदा तु-अनुकार्यानुकरणयोः स्याद्वाद्-  
समाश्रयणेनेतिशेषः । भेदविवक्षा-पूर्वोक्तयोः, गोइत्यनुकार्योऽगोइत्यनुकरणयोर्भेदो विवक्ष्यते तदा अनुकार्येण-वर्णावलिख्येण अर्थेन-  
३० अर्थादनुकरणस्यार्थोऽनुकार्यशब्दानुपूर्वो तेन रूपेण तथाचार्थवत्त्वात् तदनुकरणस्य नामसंज्ञा भवत्येव, तदेव दर्शयति-पचतिमाह,  
“नेर्विशः” पा० १।३।१७, “परावेर्जे” ३।३।२८, “निर्विशः” ३।३।२४ स्वस्त्रम् इत्यादिना । नामप्रदेशः-पूर्ववदेव ॥ २७ ॥  
अन्ये हि इत्यस्य सर्वनामस्थानमिति पूर्वा संज्ञा विदधति, अस्सच्छब्दानुशासने लघुभूतां घुट्संज्ञामाह-शिर्षुद् । शिरिति घुटपद-  
३१ शेष इत्यर्थः । “प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणम्” इत्याह-जस्रसादेश इति । पञ्चानि-पञ्चशब्दाजस्रि, शक्ति च “नपुसकस्य सि”  
१।४।५५ इति शौ, तस्यानेन घुट्संज्ञायां “स्त्रान्छौ” १।४।६५ इति नामने दीर्घत्वे च रूपसिद्धिः । घुट्प्रदेशः-पूर्ववदेव ॥ २८ ॥  
सि, औ, जस्, अम्, औ इत्येषां घुट्संज्ञाविधायकशब्दाह-पुंस्त्रियोः स्वमौ जस् । अत्र उचित्युत्तरते । पुमांश्च औ च  
३६ पुंस्त्रियौ, तयोः पुंस्त्रियोः अलौकिका अपि निर्देशा भवन्ति इत्यनेन ज्ञाप्यते, अन्यथा औपुसयोरिति भाव्यम् । पुमांश्च औ चेति कृतेऽर्थवत्त्वात्त्रो-  
शब्दस्य प्राग् निपाते “त्रिया पुंसो द्वन्द्वश्च” ७।३।६६ इति समासान्तविधानेन । स्वमौजस्-“लौजसमौ” इति निर्दिष्टव्ये स्वमौजसिति व्यतिक्रम-  
निर्देशेन, आश्रय्या प्रथमाद्वितीयाद्विवचनभूतौकार्योपपादानं सूच्यते । अम् च औश्च अमौ, सिश्च अमौ च, जस् चेति अम् साहचर्योद्वितीयाद्विवच-  
३९ नग्रहणम् । आश्रय्या व्याख्याने औश्च जस् च औजस्, सिश्च अम् च औजस् च इति कृते जस्राहचर्यात्प्रथमाद्विवचनग्रहणम् । अथवा-औश्च,  
औश्च, आवौ इत्येकशेषः, पश्चात् सिश्च अम् च, आवौ च जस् चेति, स्वमौजस् इत्याह-औरिति प्रथमा इत्यादिना, ग्रहणम् इत्यन्तेन ।  
पुलिङ्गश्रीलिङ्गयोर्वर्तमाना सि, औ, जस्, अम्, औ इत्येते प्रत्यया घुट्पदबोध्यास्तदेवाह-सि अम् इत्यादि । घुट्संज्ञायां फलमाह  
४२ निदर्शनानि प्रदर्श्य-राजा राजानौ इत्यादिना, “नि दीर्घः” इति दीर्घ इत्यन्तेन । पुंस्त्रियोरित्यस्य प्रयोजनमाह-पुंस्त्रियोरिति किम् ?  
सामनी, वेमनी-नपुसकप्रथमाद्वितीयाद्विवचने रूपद्वयम् । घुट्वाभावात्-पुंस्त्रियोरिति सूत्रेण पूर्वोक्तप्रत्ययपक्षकस्य घुट्संज्ञाविधानात्,  
नपुसके तद्विधानेन च तत्र प्रथमाद्वितीयाद्विवचनयोरैव घुट्संज्ञाफलरूपदीर्घस्य सम्भव इत्यभिप्रायेणोदाहरणप्रदर्शनम्, प्रथमाद्वितीयैक-  
४५ वचने फलाभावात् घुट्वाप्रवृत्तिः, जस्रसादेशस्य पूर्वसूत्रेण घुट्संज्ञासिद्धिरिति । दीर्घः न भवति-“नि दीर्घः” इत्यनेन । ननु  
करचरणदिमती पुषायापयोमिनी व्यक्तिः पुमान्, तस्यैव करचरणदिमती स्वनकेशवती औ इति च स्त्रीकारे सीमा सीमानौ इत्यादौ तद-

स्वरादयोऽव्ययम् ॥ ३० ॥ ]

किं पुनः पुमान् स्त्री वा ? लिङ्गम्, किं पुनस्तत् ? अयमियमिदमिति, यतस्तत् पुमान् स्त्री नपुंसकमिति लिङ्गम् ।  
तच्चार्यधर्म इत्येके, शब्दधर्म इत्यन्ये, उभयथाऽपि न दोषः ॥ २९ ॥

स्वरादयोऽव्ययम् ॥ १ । १ । ३० ॥

३

स्वरादयः शब्दा अव्ययसंज्ञा भवन्ति । स्वः सुखयति, एहि जाये स्वा रोहाव, स्वः संजानीते, स्वः स्पृहयति, स्वरागच्छति, छायेव या स्वर्जलधेर्जलेषु, स्वर्वसति, अन्तर्यामि, अन्तर्वसति । अत्युच्चैसौ, अत्युच्चैस इत्यत्रोच्चैरतिक्रान्तौ यस्तदभिधायकस्य पूर्वपदार्थप्रधानस्य समासस्य सचन्धी स्यादिर्नोच्चैःशब्दस्य, तेन “अव्ययस्य” ॥ ३ । २ । ७ ॥ इति ६  
लुप् न भवति, परमोच्चैः, परमनीचैरित्यत्र तूत्तरपदार्थप्रधानत्वात् समासस्याव्ययसंबन्धेव स्यादिरिति भवत्येव । अन्वर्थ-  
संज्ञा चेयमव्ययमिति, लिङ्गकारकविभक्तिनानात्वेऽपि न नानारूपतां प्रतिपद्यत इति । यदुक्तम्—“सदृश त्रिषु लिङ्गेषु,

क्षणस्याव्याप्तिरित्युक्तमिदमित्यभिप्रायेण पृच्छति—किं पुनः पुमान् स्त्री वा ? समाधत्ते—लिङ्गम् । ननु लिङ्गमिति हेतुः, कारण, निमित्त- ९  
मित्याद्यर्थकं जगति प्रसिद्धं तदत्र ब्राह्ममित्यभिप्रायवान् पृच्छति—किं पुनस्तत् ? इदमत्राकृतम्—स्त्रीत्वादिलिङ्गं यदि गोत्वादिवदवयवस-  
स्थानव्यङ्ग्यं भवेत्तर्हि तस्य तदिव सामान्यविशेषरूपताप्रसङ्गः । अपि च भिन्नावयवसंस्थानत्वेन खट्वांशिशपादारपुरुषादीनां लिङ्गत्वाभाव  
स्यात् । यदि च तत्रोत्पादिवत्सकृदाख्यातं स्त्रीक्रियते तदापि सुदुर्महं स्त्रीपुनपुसकेषु व्यच्यन्तरेषु तदिति । अथ स्तनकेशवत्त्वं ज्ञातुं, १२  
रोमश्चालुत्वं, स्त्रीपुनपुसकेषु सतश्चालुत्वं च नपुंसकत्व लिङ्गम्, तथा चोक्तं—“स्तनकेशवती स्त्री स्यात्, रोमश्चालुत्वं स्मृतम् । उभयोरन्तरं  
यच्च, तदभावे नपुंसकम् ॥” इति चेन्न, तस्याव्याप्त्यतिव्याप्त्यादिवहुविधदोषपराहतत्वात्, तथाहि—स्त्रीवेषधारिणि नटेऽतिव्याप्ति स्तनकेशवत्त्वात्,  
अव्याप्तिश्च कुमार्यामतिशयस्तनाभावादिति । अपि च तद्गृह्णामिधायां खरकुटीशब्दस्तत्स्थमनुव्यावाच्यभेदोपचारेण यत्र तत्र खरकुटी पश्य १५  
इत्यत्र तदर्थस्य रोमशत्वेन पुस्तत्वात्—“शसोऽस्ता” इति नत्व प्रसज्येत । किं च खट्वाट्क्षयोऽस्तदृशशीत्वपुस्तत्वाभावात्तत्त्ववाचितया नपुंसकत्व  
प्रसज्येत इति बहवो दोषा इति वैयाकरणे कश्चन स्वसिद्धान्तं समाश्रयणीय इति समाधत्ते—अयमियमिदमिति । भावतत्त्वदृशा शब्दार्थेषु  
व्यवस्थितानां शिष्टानां प्रयोगाननुसरति लोके क्वचिदयमिति प्रयुङ्क्ते—अयं पठ इति न तत्रेयमिति वा, क्वचिदियमिति प्रयुङ्क्ते इयं कुटीति न तत्रा- २८  
यमिदमिति वा, तथा इदं कुव्यमिति प्रयुङ्क्ते न तत्रायमिति वा, तत्र यतः—उत्पादप्रलयस्थितिरूपत्वात् स्वभावादयमियमिदमिति शब्दो व्यव-  
तिष्ठते स तच्छब्दव्यवस्थाहेतुः स्वभावो लिङ्गम् । तत्रोत्पाद पुस्तकम्, प्रलय ज्ञातुम्, स्थितिर्नपुंसकम्, तथाहि—रूपादीनां पर्यायाणां सवनं  
प्रसव पुमान्, रूपादीनां पर्यायाणामपचय स्थान स्त्री, साम्यावस्था स्थितिर्नपुंसकम्, एताधावस्था शब्दगोचरा एव, तत्र कश्चिच्छब्द केन- २९  
चिदेकेन धर्मेण, द्वान्यां धर्माभ्यां, त्रिभिश्च धर्मैर्विशिष्टमर्थं नियमविकल्पान्यामाचष्टे तत्र शिष्टप्रसिद्धिं प्रमाणम् । तस्माच्छिष्टलोकोलिङ्गस्य  
प्रतिपादने व्यवस्थानुमन्तव्येति । तच्च—लिङ्गम्, अर्थधर्मः—अर्थस्य धर्मः, अर्थस्य—घटादिशब्दस्यार्थं श्रावणेन विपरीक्रियते, तस्य तदन्व-  
यव्यतिरेकाभ्यामभ्युपगतात्मनोऽर्थस्य धर्मः—स्वभावः । इत्येके—पाणिनीयमहाभाष्यकृन्मतानुयायिनः । ‘एकार्थं शब्दान्त्वत्वादृष्टं लिङ्गान्य- २४  
त्वम् अवयवान्यत्वाच्च’ इति हि भगवत्पतञ्जलिवचनात्, यथाक्रमं पुष्यस्वारका नक्षत्रम्, कुटी कुटीर इत्यादौ शब्दान्त्वत्वादवयवान्यत्वाच्चार्थैक्ये  
लिङ्गान्यत्व दृष्टमिति हि तदर्थः । तच्च—लिङ्गं, शब्दधर्म इत्यन्ये—प्राञ्च—अयमभिप्रायस्तेषाम्—शब्दप्रतीत्यन्वयव्यतिरेकानुगामिनी लिङ्ग-  
प्रतीतिलिङ्गस्य शब्दधर्मतां गमयति । यदि यत्प्रतीत्यन्वयव्यतिरेकानुगामिप्रतीतितत्त्वमर्थं इति व्याप्ते, यथा पठप्रतीत्यन्वयव्यतिरेकानुगामि- २७  
प्रतीतिं शृङ्गो गुण इति । पुलिङ्गादिव्यवहारोऽपि शब्दविषय एव, पुलिङ्गोऽयं शब्दः श्रीलिङ्ग इत्यादि । तत्र पञ्चद्वयस्यापि निर्दोषत्वादुभयपरिग्रह  
इति स्वसिद्धान्तमाह—उभयथापि न दोष इति ॥ २९ ॥

अव्ययसंज्ञां निरूपयति—स्वरादयोऽव्ययम् । स्वः आदिर्येषान्ते इति बहुवीहि, स्वरादयोऽव्ययपदबोधा इत्यर्थः । स्वः शब्दा- ३०  
यथायोगं सप्तविभक्तौदाहरति—स्वः सुखयति इत्यादिना । तत्र वैयाकरणमापकवे काव्यस्य श्लोकमुदाहरणतयोपन्यस्यति इतिकार—छायेच  
इत्यादि, “त्वष्टु सदाभ्यासगृहीतशिल्पविज्ञानसंपत्प्रसरस्य सीमा । अद्वयतादर्शतलामलेषु छायेव या स्वर्जलधेर्जलेषु ॥” शिशुपाल- ३।३५  
श्लो० । त्वष्टु—विश्वकर्मणः, सदाभ्यासगृहीतशिल्पविज्ञानसंपत्प्रसरस्य—सदाभ्यासेन गृहीतो लब्धो यः शिल्पविज्ञानसपद प्रसर—प्रकर्षस्वस्य ३६  
सीमा—अवधि, या पू द्वारिकानगरी आदर्शतलामलेषु दर्पणपृष्ठलच्छेषु जलधेर्जलेषु स्वः स्वार्थस्य छाया इव प्रतिविम्बमिवाद्दृश्यत इत्यर्थः ।  
इदं स्व इति छत्रषष्ठीविभक्त्यन्तोदाहरणप्रदर्शनतयोपयुज्यते । स्वरादीनां तदन्तानामव्ययसंज्ञाप्रयुक्तकार्यविधिप्रतिषेधौ दृश्येते, तौ च कदा  
करोति तद्व्यवस्थापयति—अत्युच्चैसौ इति—उच्चैरतिक्रान्तौ इति तद्विग्रहः, अतिक्रान्तायर्थकातिना द्वितीयान्तस्य “प्रात्यय-” ३।१।४७। उच्चै- ३६  
शब्दस्य समासे अत्युच्चैसौ इति, अत्युच्चैरिति प्रथमैकवचनान्तेऽव्ययत्वप्रयोजनाभावाद्विवचनान्ताद्युदाहरणः । अत्र स्वरादेरुच्चैरव्ययस्यार्थो गुण-  
भूत पूर्वपदार्थप्रधानसमासार्थं उच्चैरतिक्रान्तार्थं इति यत्रोपसर्जनस्वराद्यन्तो भवति, तत्रावयवोऽव्ययसंज्ञो भवति न समुदाय इत्युच्चैसावित्यत्र  
समाससंबन्धिनः स्यादे बौ इत्यस्य, उच्चैरित्यव्ययसंबन्धित्वमावेन । “अव्ययस्य” ३।२।७ इति लुप् न भवति इति अतिक्रान्तार्थकस्याति- ३७  
शब्दस्य समासावयवभूतस्य लिङ्गकारकविभक्तिसंख्याविशेषान्वयेन सत्त्ववृत्तित्वाच्चाव्ययत्वम्, एतेन पूर्वपदार्थातिक्रान्तार्थप्रधानसमासस्यैव  
सचन्धी स्यादिति “अव्ययस्य” इति लुप् स्यादिति निरस्तम्, वस्तुतस्तु तस्याव्ययत्वेऽपि तदर्थप्रधानसमासत्वेऽपि समुदायसंबन्धी स्या-  
दिर्नाऽव्ययसंबन्धीति संक्षेपः । तदभिधायकस्य—उच्चैरतिक्रान्तार्थकस्य, पूर्वपदार्थप्रधानस्य—समुदायार्थमुच्यस्य, समासस्य ४२  
सम्बन्धी स्यादिः, न उच्चैःशब्दस्य संबन्धी स्यादित्यन्वयः, तेन—उच्चैःशब्दसंबन्धित्वमावेन । लुप् इति । स्यादित्येत्येति शेषः ।  
यत्रानुपसर्जनस्वराद्यन्तो भवति, तत्रावयवसमुदाययोरुभयोरव्ययत्वं भवति, समासस्योत्तरपदार्थप्रधानत्वात् । तदेवाह—परमोच्चैः  
परमनीचैरित्यत्र तु इत्यादिना । तुशब्दोऽत्रल पूर्वप्रदर्शितात्युच्चैसावित्यादेरत्रकश्चिद्विशेष इति बोधयति तदाह—उत्तरपदार्थ इत्यादिना । ४५  
अत्र तदन्तत्वापीय संज्ञा उच्चैरर्थस्य नीचैरर्थस्य च सुस्पष्टतया समुदायेनाभिधानात् समासस्योत्तरपदार्थप्रधानालिङ्गादिविशेषानुपादानाच्चैव्यय-  
संबन्धेव स्यादिति भवत्येव लुप् । ननु सृष्टे विशेषस्याभ्युपगमत्वालिङ्गादिविशेषानुपादाने स्वरादयोऽव्ययसंज्ञा भवन्तीति कुतोऽवगम्यते  
इत्याह—अन्वर्थसंज्ञा इत्यादिना । अन्वर्थत्व प्रदर्शयति—लिङ्गकारकविभक्ति इति । स्त्रीपुनपुसकत्वादि सत्त्वगुणा एकत्वद्वित्वबहुत्वानि च ४८  
एतान्यर्थान् ये अर्था न वियन्ति—विविधप्रकारप्रापकान् न प्राप्नुवन्ति इति तदव्ययम् इत्यन्वर्थत्वं तस्या, यदुक्तं—“तद्विदित्वा सर्वविभक्ति” पा०  
१।१।३। सृष्टे महाभाष्ये । ननु संज्ञाविधौ तदन्तप्रतिषेधस्य शापितत्वाद् नामग्रहणे न तदन्तविधि इति प्रतिषेधाच्च परमोच्चैरिति तदन्तस्य

सर्वासु च विभक्तिषु । सर्वेषु च वचनेषु यत्र व्येति तदव्ययम् ॥” अन्वर्थाश्रयणे च खराद्यव्ययमव्ययं भवतीति खरादे-  
विशेषणत्वेन तदन्तविज्ञानात् परमोच्चैः परमनीचैरित्यादावप्यव्ययसङ्गा भवति । खर् अन्तर् सनुतर् पुनर् प्रातर ५, सायम्  
१ नक्तम् अस्तम् दिवा दोषा १०, ह्यस् श्वस् कम् शम् योस् १५, मयस् विहायसा रोदसी ओम् भूम् २०, भुवस् स्वस्ति  
समया निकषा अन्तरा २५, पुरा वहिस् अवस् अधस् असांप्रतम् ३०, अद्वा ऋतम् सत्यम् इद्वा मुघा ३५, मृषा वृषा  
मिथ्या मिथो मिथु ४०, मिथम् मिथुस् मिथुनम् अनिशम् मुहुस् ४५, अभीक्ष्णम् मह्य इटिति उच्चैस् नीचस् ५०,  
६ शनैस् अवश्यम् सामि साचि विष्वक् ५५, अन्वक् ताजक् द्राक् साक् ऋषक् ६०, पृथक् धिक् हिक् ज्योक् मनाक्  
६५, ईप्त् जोपम् ज्योपम् तूष्णीम् कामम् ७०, निकामम् प्रकामम् अरम् वरम् परम् ७५, चिरम् आरात् तिरस् मनस्  
नमस् ८०, भूयस् प्रायस् प्रवाहु प्रवाहुक् प्रवाहुकम् ८५, आर्यं हलम् आर्यहलम् स्वयम् अलम् ९०, कु वलन्त  
९ अतीव सुष्ठु दुष्ठु ९५, ऋते सपदि साक्षात् सन् प्रशान् १००, सनात् सनत् सना नाना विना १०५, क्षमा शु  
सहसा युगपत् उपांशु ११०, पुरतस् पुरस् पुरस्तात् शश्वत् कुवित् ११५, आविस् प्राहुस् ११७, इति खरादयः ।

- कथमव्ययसंज्ञा इत्याह—अन्वर्थाश्रयणे च इति । अन्वर्थसंज्ञाचलादुपस्थापितमव्यय विशेष्य सूत्रस्याव्ययमित्यस्य, तत्र च खरादय इति विशेषण  
१२ “विशेषणमन्त” इति न्यायेन तदन्तबोध, केवलखरादेरव्ययत्व व्यपदेशिवद्भावेन तदन्तस्य परमोच्चैरित्यस्य तदन्तविज्ञानेनाव्ययत्वम्, तदेवाह—  
खराद्यव्ययं इत्यादिना, संज्ञा भवति इत्यन्तेन । परिगणयति खरादीन्—खर् इत्यादिना । खर्—खर्गं च परलोके च । अन्तर्—मध्ये ।  
प्रातर्—प्रत्यये । पुनर्—अप्रथमे विशेषे च । सनुतर्—अन्तर्धाने मनोरमाया मतेनेदम्, हैमवृहस्पते इ सनुतर् कालमाचूति  
१५ निर्दिष्टम् । खराद्या पय रेफान्ता । सायं—निशामुखे । नक्तं—रात्रौ । अस्तम्—विनाशे, अस्तमदर्शने इत्यभिधानचिन्तामणौ—“यथास्तगत  
सविता” । दिवा—दिवसे । दोषा—रात्रौ पुरुषिते च । ह्यस्—अतीतेऽपि । श्वस्—अनागतेऽपि । कम्—वारिर्मुद्गैर्निन्दालुखेभ्य अव्ययमपि  
मनोरमाभिप्राय, है० वृ० न्या० उदकमाकाश चेति कथितम् । शम्—सुखे । योस्—विषयसुखे । मयस्—सुखे । विहायसा—अन्तरिक्षे ।  
१८ रोदसी—यावापृथिव्यो । ओम्—अग्नीकारे ब्रह्मणि च, अभ्यादानाभिमुखीकरणयोरपि । भूर्भुवस्—यथाक्रम नागमनुष्यलोकयो, यथा  
“भूर्भुवः स्वर्ग्यीशानमिति” । स्वस्ति—कल्याणे । समया—समीपे मध्ये च । निकषा—अन्तिके । अन्तरा—विनार्ये मध्ये चाधेय-  
प्रधाने २५ । पुरा—भूतभविष्यत्परीप्साविरन्तनेषु, पुरेत्वविरते चिरातीते भविष्यदासत्वे चेति मनोरमायाम् । वहिस्—बाह्ये वहिर्भावे  
२१ अनावृतप्रदेशे, यथा वहिर्योग इत्यत्र वागेन योगो वहिर्भावेन योग इति । अवस्—वहिर्ये । अधस्—सामीप्यादौ । असांप्रतम्—  
अनौचित्ये । अद्देति स्फुटावधारणयो, तत्त्वाविशययोरित्येके तथाच प्रयोग—“मध्ये श्रुतीनां प्रतिवेदिनीनां सरस्वती वाचस्पती सुखे न ।  
हियेव ताभ्यध्वलतीयमद्वा पथाद्य ससर्ग्युगेन नद्वा” ॥ इति नैषधीये, है० वृ० न्या० तु अवधारणमस्यतिशययो । ऋतम्—शुद्धौ ।  
२४ सत्यम्—प्रश्नप्रतिषेधयो । इद्वा—प्राकाशे । मुघा—व्यर्थे, है० वृ० न्या० तु निर्निमित्तप्रीतिकरणयो । मृषा, मिथ्या—इत्येतां वितये ।  
वृषा—व्यर्थे । मिथो—आकारान्तो रह सहाय्यो । मिथु मिथुस्—विजनवियोगेतरतरार्थे । मिथो मिथस् (एतौ) रह सहाय्ययोरिति मनो-  
रमायाम्, मिथु—स्त्रोत्रे द्वावित्यर्थे इति मनोर० । मिथुस्—सगमे । मिथुनं—द्वीपसंसयोगे । अनिशं—नैरन्तरे । मुहुस्, अभीक्ष्णं—एतौ  
२७ पुन पुनरित्यर्थे । मंक्षु, इटिति—शीघ्राय । उच्चैस्—महति । नीचैस्—अवकृष्टे, अल्पे इति मनोर० ५० । शनैस्—क्रियामान्ये । अवश्यं-  
निश्चये आवश्यकते । सामि—अर्द्धजुगुप्सितयो । साचि—वक्रतिर्यगर्थयो । विष्वक्—समन्तादिदक्ष्यं नानार्यं इत्यपि । अन्वक्—पश्चादर्थे ।  
ताजक् द्राक् च्वाक्—शीघ्राय, च्वाक् एवार्थे इत्यपि । ऋषक्—विद्योगे शीघ्रान्वितसामीप्याभेधे । ऋषक्—सखे, वियोगशीघ्रसामीप्याभेधे-  
३० विलम्बे इति मनोरमायाम् । पृथक्—भिन्ने, वियोगे इत्यपि । धिक्—निन्दार्थे । हिक्—विद्योगे, “हिक्कानाप्रयगुविना” इत्यभिधानचिन्तामणौ ।  
ज्योक्—कालभूयस्त्वे, प्रश्ने शीघ्रसप्रत्ययबोध । मनाग्—ईषदप्राप्तयो, ईषद्—अप्राप्ते, इमावल्पे इति मनोर० । जोषं ज्योषं तूष्णीम्—एते  
त्रयोऽप्यभाषणे । कामं, निकामं, प्रकामं—एते त्रयोऽतिशयार्थे, काम स्वाच्छन्द्ये इति मनोर०, अकामातुमतौ काममित्यभिधानचिन्तामणौ ।  
३३ अर—राष्ट्रे अल्यर्थेऽपि । चर—मनागिष्टे, ईषदुक्तं इति मनोर० । परं—केवले, किन्त्यर्थे इति मनोर० ७५ । चिर—दीर्घकाले । आरात्—दूर-  
सीपयो । तिरस्—अन्तर्द्वयवज्ञातिर्यग्भावेषु । मनस्—नियमे । नमस्—नतो । भूयस्—पुनरर्थे आधेय्ये च । प्रायस्—बाहुल्ये ।  
प्रवाहु—ऊर्ध्वार्थे, प्रवाहुक् प्रवाहुकम्—द्वावप्यद्वायं, प्रवाहुकमिति समकालार्थे सिद्धार्थे च, प्रवाहिकेति पाठान्तरमिति मनोरमायाम्, प्रवाहु  
३६ प्रवाहुक् प्रवाहुकम् इति म० भ०, है० प्रका० । आर्यं—प्रीतिसम्बोधने । हलं—प्रतिषेधे विपादे च, समस्तमित्येके । आर्यहलमिति  
बलात्कारे, शाकटायनस्तु आर्येति प्रतिषन्धे, हलमिति प्रतिषेधविवादयोरित्याहेति मनोरमायाम् । स्वयम्—आत्मने इत्यर्थे । अलं—भूषण-  
पर्यातिशक्तिवारणनिषेधेषु । कु—कृत्स्वित्पदर्थयो, पापार्थे इति है० वृ० न्या० । चलचत्—निर्मरे, चलचदित्यतिशये इति मनोर०,  
३९ चलचत्सुपु किमुतादीव निर्भरे इत्यभिधानचिन्ता० । अतीव—अतिशये । सुष्ठु, दुष्ठु—यथाक्रम प्रशसान्दियो । ऋते—वर्जने, वर्जनेत्वतरणैर्  
इति वचनात् वियोग इत्यपि । सपदि शीघ्रे, हते इति है० वृ० न्या० । साक्षात्—प्रत्यक्षतुल्ययो । सन्—परित्राणे । प्रशान्—चिरन्तने,  
समानार्थे इति मनोर० १०० । सनात्—हिंसायां । सनत्—चेत्यर्थे । सना—निले, सना सनत् सनात् एते त्रयोऽपि निले इति मनोर० ।  
४२ नाना—पृथग्भावे, अनेकविनायर्थयोरिति मनोर० । विना—योगप्रतिषेधे, वर्जने इति मनोर० । क्षमा—सहने । शु—पूजयाम् । सहसा—अतर्किते,  
आकस्मिकाविमर्शयोरिति मनोर० । युगपत्—क्रियासमभिहारे सहाय्यं च । उपांशु—अप्रकाशोधारणरहस्ययो । पुरतस्, पुरस्—एतावप्रतोऽर्थे ।  
पुरस्तात्—प्रथमे पुरोऽर्थे च । शश्वत्—पौन पुन्ये, निले सहाय्यं च । कुवित्—योगप्रशंसास्तिमावेषु, भूयर्थे इति मनोर० । आविस्  
४५ प्राहुस्—प्राक्रम्ये इति, प्राहुस् नाभ्यपि, इति खरादय सप्तदशोत्तरं शतमव्यया हैमवृहस्पतिनिर्दिष्टा परिगणिता । “खरादय” इति सूत्रे  
बहुवचनमाकृतिगणार्थं, तेनान्येषामपि यथालक्षमव्ययसंज्ञा भवति । उपधा—भेदे । तोष—सुखे मौने च । अम्—सौत्रे अल्पे च । आम्—अग्नीकारे ।  
प्रताम्—ग्लानौ । साम्प्रत न्याये । नित्य, नित्यदा, सदा, अगच्छ, सतत—सातत्ये । क्षमिति—तरसा । आशु—सौत्रे । अक्षसा—तत्त्वशीघ्रार्थयो ।  
४८ आनुषक्—आनुपूर्व्ये । अन्नस्—शीघ्रसाम्प्रतिकयो । स्थाने—इति युक्ते । शुदि—शुक्लपक्षे । वदि—कृष्णपक्षे । संवत्—वर्षे । सत्यमित्यर्थाङ्गीकारे ।  
एवमेते द्वाविंशति । केचिदेवम् “अथाव्ययाणि वक्ष्यन्ते” इत्यादिभ्योऽभिधानचिन्तामणिर्यन्तलोकेऽप्यो हेत्वा, अर्थकथन चैवानुपलक्षण-  
मात्रम्, तथा चोक्तम्—“निपाताक्षोपसर्गाश्च धातवश्चेति ते त्रय । अनेकार्था स्मृता लोके पाठत्वेनानि दिदर्शनम्” इति खरादयः—एव

बहुवचनमाकृतिगणार्थम्, तेनान्येषामपि चादिषूपात्तानामनुपात्तानां च खरादिसर्वणामव्ययसंज्ञा भवति । खरादयो हि स्वार्थस्य वाचका, न तु चादिबद् द्योतका इति । अव्ययप्रदेशाः “अव्ययस्य” ॥ ३ । २ । ७ ॥ इत्यादयः ॥ ३० ॥

### चादयोऽसत्त्वे ॥ १ । १ । ३१ ॥

३

सीदतोऽस्मिंलिङ्संख्ये इति सत्त्वं लिङ्सङ्ख्यावद् द्रव्यम्, इदं-तदित्यादिसर्वनामव्ययपदेश्य विशेष्यमिति यावत्; ततोऽन्यत्र वर्तमानाश्चादयः शब्दा अव्ययसंज्ञा भवन्ति । निपाता इत्यपि पूर्वेषाम्-वृक्षश्च प्लक्षश्च । असत्त्वे इति किम् ? यत्रैषां सत्त्वरूपेऽनुकार्यादावर्थे वृत्तिस्तत्र मा भूत्-च-समुच्चये, इव-उपमायाम्, एवोऽवधारणे । च अह ह वा एव ५, एवम् नूनम् शश्वत् सूपत् कूपत् १०, कुवित् नेत् चेत् नचेत् चण् १५, कश्चित् यत्र नह नहि हन्त २०, माकिस् नकिस् मा माह् न २५, नञ् वाव त्वाव न्वाव वावत् ३०, त्वावत् न्वावत् त्वै तुवै न्वै ३५, नुवै रै वै औषद् वौषद् ४०, वषद् वद् वाद् वेद् पाद् ४५, प्याद् फद् हुंफद् छवद् अध ५०, आत् स्वधा स्वाहा अलम् चन ५५, हि ५ अथ ओम् अथो नो ६०, नोहि भोस् भगोस् अघोस् अहो ६५, हहो हो अहो आहो उताहो ७०, हा ही हे है हये ७५, अयि अये अरे अहरे अरे ८०, अवे ननु शुक्म् सुक्म् नुक्म् ८५, हिकम् नहिकम् ऊम् हुम् कुम् ९०, उज्

प्रकारा, खरादयो गृह्यन्ते, नत्वेतावन्त इति, ननु परिसमाप्तावपीतिशब्दस्यवर्तमानत्वेनेतावन्त एवेत्यर्थो य इति कुतो न लभ्यते इत्याह—१२ बहुवचनमिति । एव प्रकारार्थकस्येति शब्दस्य ग्रहणं खरादय इति बहुवचनात्, अन्यथा खरादिशब्दस्य सञ्ज्ञितयाव्ययमिति सञ्ज्ञाविशेषणत्वात् संज्ञायाश्चैकवचनान्तत्वात्प्राप्त्यर्थं चैकवचने प्राप्ते यद्बहुवचनं तदन्वयेऽपि बहव खरादय सन्तीति ज्ञापनार्थम्, उक्तं च—“इयन्त इति सख्यायान निपातानां न विद्यते । प्रयोजनवशादेते निपात्यन्ते पदे पदे ॥” आकृतिगणार्थम्—आक्रियतेऽनया इत्याकृतिवर्णकाप्रकारस्वसागणस्त्वर्थ-१५ मिल्यते । तेन—बहुवचनस्याकृतिगणार्थत्वेन तदेव स्पष्टयति—अन्येषामपि इत्यादिना, भवति इत्यन्तेन च । बहुवचनेन खरादिसर्वनामो-ऽन्येऽपि सगृहीता इति साधर्म्यं दर्शयति—खरादयो हि इति । अयमावाय-अव्यय द्विविधं, वाचक द्योतक च, तत्र खराद्यानन्तर्भूत चादिषूपात्तानुपात्तं सत्यव्ययत्वे स्वार्थस्य वाचक तत्खरादौ द्रष्टव्यमित्यर्थं । अव्ययप्रदेशाः—पूर्ववदेवास्वार्थो बोध्य, तत्स्थलप्रदर्शनम्—१८ “अव्ययस्य” इत्यादयः ॥ ३० ॥

चादीनामव्ययसंज्ञां निरूपयति—चादयोऽसत्त्वे । न आदियेष्वन्ते चादयः, न सत्त्वं असत्त्वं तस्मिन् असत्त्वे, अव्ययमित्यनुवर्तते । असत्त्वे चादयः अव्ययमित्यन्वयः । किं नाम सत्त्वमित्यत आह सत्त्वपदार्थं व्युत्पत्तिप्रदर्शनद्वारा—सीदत् इत्यादिना, याचदित्यन्तेन । सीदत्—२१ विशेषणभावेन अन्वित, अस्मिन्—बुद्धित्वे लिङ्संख्ये इति । सत्त्वं-द्रव्यं, तदेवाह—लिङ्सङ्ख्येयादि । तस्यैव द्रव्यस्य विवरणम्—इदं तदित्यादिना, विशेष्यमिति यावत् इत्यन्तेन च । प्रतियोगिनि प्रसिद्धौ सुतरां तदभाव प्रसिद्ध इत्यप्रसिद्धप्रतियोगिकामावास्तीकारेण पूर्व प्रतियोगिसत्त्व प्रसिद्धत्वं तदभाव उपग्रह इति स्पष्टयति—ततः—लिङ्सख्यावत् इदं तदित्यादि सर्वनामव्ययपदेश्यविशेष्याद्वायात् । अन्यत्र—२४ सत्त्वाभावे अर्थवद्द्रव्यावचिन इत्यर्थः । प्राबो वैयाकरणा चादीना निपात इति सञ्ज्ञाभिदधते इत्याह—निपाता इत्यपि पूर्वेषाम्-पाणि-न्यादीनाम्, तथा च तत्सूत्रम् “पाप्मीद्वाराणिपाता ” पा० ११।४।५६। ‘असत्त्वे’ इत्यस्य फल पृच्छति—असत्त्वे इति किम् ? । ननु चादयः कदा सत्त्ववृत्तयः कदा चासत्त्ववृत्तयः इति सत्त्ववृत्तित्वप्रदर्शनपूर्वकं तत्फलमाह—यत्रैषां इत्यादिना, मा भूत् इत्यन्तेन । तदेव दृष्टातद्वारा स्पष्ट-२७ यति-च समुच्चये इत्यादि । आदिशब्दस्यानुकसमुच्चयार्थकत्वादेवा विस्तरतः परिगणनमर्थक्येन चैवम्—च-अन्वाचयसमाहारेतरेतरयोगसमु-च्चयेषु । अह-निर्देशविनियोगकिलार्थेषु, पूजायामपि । ह-अवधारणे पादपूरेण प्रसिद्धावपि । वा-स्यादिकल्पोपमयोरेवार्यं समुच्चये । एव-अवधारणपृथक्त्वपरिमाणेषु, अनवरुद्धावपि । एवम्-उपमानोपदेशप्रभावधारणप्रतिज्ञानेषु, उक्तपरामर्शेऽपि । नूनं-वितर्कं अर्थनिश्चये च । ३० शश्वत्-खरादावपि पठित । सूपत्, कूपत्-द्वावपि प्रश्नवितर्कप्रशसासु, कश्चित् खरादावपि पठित । नेत्, चेत्-द्वावपि प्रतिषेधावधारणसमुच्चयेषु, नेदिति शकायां विचारेऽपि, चेदिति यथर्थे इति मनोरं । नचेत्-निषेधे । चण्-अयं चेदर्थे गित्, समुच्चयादौ त्वननुबन्धः । कश्चिदिष्टप्रश्ने । यज्ञ-कालेऽधिकरणे, मनोरमायां तु यज्ञेयत्ववस्तुत्वमर्थगर्हाध्येषु, ‘नावकल्पयामि न मर्षये गहै आश्वर्चं वा, यत्र भवात् १३ वृषल याजयेत् । नह-प्रत्यारम्भविषादप्रतिविधिषु । नहि-अभावे । हन्त-श्रीतिमिषादसम्प्रदानेषु, मनोरमायां हन्तेति हर्षे विषादे अनु-कम्पाया वाक्यारम्भे च । माकिस्, नकिस्-द्वावपि निषेधे वर्जने च । मा, माह्, न, नञ्-एते सर्वेऽपि निषेधार्थी, माकि माकिं नकिरेति त्रयोऽपि वर्जने इति मनोरमायाम् । वाव-सम्बोधने । त्वाव, न्वाव, वावत्, त्वावत्, न्वावत्-एते अनुमानप्रतिज्ञाप्रेष-३६ समासिषु । त्वै, तुवै, न्वै, नुवै-वत्वारोऽप्येते वितर्कं पादपूरेण च । रै-दाने अनादरे च, दाने दीप्तौ च इति है० वृ० न्या०, रै करोति ददातीत्यर्थं ‘त्वं रै किं करिष्यसि’ इति मनोरमायाम् । वै-निश्चये, स्फुटार्थे इति है० वृ० न्या० । औषद्, वौषद्, वषद्-देवहविर्दानादौ । वद्, वाद्, वेद्-एते त्रयोऽपि विद्योगपादपूरणयो । पाद्, प्याद्-द्वावपि सम्बोधने, अत्र उकार केचित् पठन्ति । फद्, हुंफद्, ३९ छंवद्-एते त्रयोऽपि निर्मर्त्तनसम्बोधनयो । अध-अधोऽर्थे । आत्-कोपपीड्यो । स्वधा-पितृभ्यो हविर्दाने । स्वाहा-देवताभ्यः । अलमिति खरादौ निरूपितम् । चन-अप्यर्थे पादपूरेण च । हि-हेतावधारणे च । अथ-मगलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्वाधिकारप्रतिज्ञासमु-च्चयेषु, अथ खरादिरपि तेन मगलवाचकस्य इवार्थत्वेऽपि अव्ययत्व सिद्धति, तथा च श्रीहर्षः—“उदस्य कुभीरय द्वातकुमजाधनुष्कचारु-४१ त्वपि वेदिकोदरे । यथाकुलाचारमयावनीन्द्रजा पुरन्ध्रवर्ण अपयान्वभूव” इति, अत्र हि अथ स्रपयान्वभूवेत्यस्य मङ्गल रूपन चकारेत्यर्थः, निपातस्तु स्वरूपेणैव मङ्गलं गृह्यञ्चनित्व इति मनोरमायाम् । ओमिति खरादौ पठितम् । अथो-अन्वादेशादौ । नो, नोहि-एतौ निषेधे । ओम्, भगोस्, अघोस्, अहो, अहो, आहो, उताहो-नवाप्येते सम्बोधने । हा, ही-एतौ विषादविसर्गयो, हा विषाद-४५ अ(यो)कारिषु, ही विसर्गयो इति है० वृ० न्या० । हे, है, हये, अये, अयि, अरे, अहरे, अहरे, अवे-हे प्रसुखा दशाभ्यनुशयसम्बो-धनयो, [ हाप्रसृति ] द्वादशेतेऽनुशयसम्बोधनयोरिति है० वृ० न्या० । ननु-विरोधोक्तौ अनन्वयादौ च । शुक्म्, सुक्म्, नुक्म्, हिकम्, नहिकम्-पद्याप्येते प्रत्याख्याने । शुक्म्-शैत्ये, शुक्मतिवये इति मनोरं । ऊम्-प्रश्ने । हुम्-भर्त्तने । कुम्-प्रश्ने । उज्-४८



सुञ् कम् हम् किम् ९५, हिम् अद् कद् यद् तद् १००, इद् चिद् किद् खिद् उत १०५, वत इव तु नु यच्च ११०, कचन किमुत किल किक्किल किस्वित् ११५, उदस्वित् आहोस्वित् अहह नहवै नवै १२०, नवा अन्यत् अन्यत्र श्व् १२५, अथकिम् विपु पद् पशु खलु १३०, यदिनाम यदुत प्रत्युत यदा जातु १३५, यदि यथाकथाच यथा तथा पुद् १४०, घ पुरा यावत् तावत् दिष्ट्या १४५, मर्या आम नाम स्म इतिह १५०, सह अमा समम् सत्रा साकम् १५५, सार्धम् ईम् सीम् कीम् आम् १६०, आस् इति अव अड अट १६५, बाह्या अनुपक् खोस् १६८, अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ए ऐ ओ औ १८२, प्र परा अप सम् अनु अव निस् दुस्-एतौ वान्तावपि १९०, वि आह् नि प्रति परि उप १९६, अधि अपि सु उद् अति अभि २०२; इति चादयः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ॥ ३१ ॥

### अधणूतस्वाद्याशसः ॥ १ । १ । ३२ ॥

१ धण्वर्जितास्तस्वादयः शस्पर्यन्ता ये प्रत्ययास्तदन्तं शब्दरूपमव्ययसंज्ञं भवति । देवा अर्जुनतोऽभवन्, अत्र षष्ठ्यन्तात् “व्याश्रये तसुः” ॥ ७ । २ । ८१ ॥ ततः, अत्र पितस् । तत्र, इह, क, कदा, एतर्हि, अधुना, इदानीम्, सद्यः,

रोपोचौ, अस्ति सत्त्वे रोपोचौ च । सुब्-उय्वत् इति है० वृ० न्या० । फम्-पादपूरणे, खरादौ ज्ञातव्यमिति है० वृ० न्या० । हम्-१२ रोपानुपमादौ, रोपानुकम्पादौ इति है० वृ० न्या० । किम्-प्रश्ने वितर्के च । हिम्-सप्रभमर्त्तनयो । अद्-विस्मये । कद्-कुत्सायाम् । यद्, तद्-हेत्वर्थवाक्योपन्यासयो । इद्-अपूर्वस्यै ईपदर्थे च । चिद्-प्रश्नावधारणयो । किद्-भर्त्सनपादपूरणयो । खिद्-विमर्शप्रश्नयो । उत-वितर्के, विकल्पे इति है० वृ० न्या० । वत-खेदानुकम्पासतोपविस्मयामन्त्रणेषु । इव-उपमावधारणयो । तु-विशेषणपादपूरणयो । तु-१५ वितर्कपादपूरणयो । यच्च-वाक्यान्तरोपक्रमे । कच्चन-कचिदर्थे । किमुत-विकल्पे । किल-सप्रश्नवार्तायो, अलीकेऽपि । किक्किल-किलार्थे । किस्वित्, उदस्वित्, आहोस्वित्-एते त्रयोऽपि प्रश्नवितर्कविकल्पेषु । अहह-अद्भुतखेदयो । नहवै, नवै-द्वावपि प्रत्याख्यानं । नवा-विभाषायाम् । अन्यत्-अन्यार्थे । अन्यत्र-अन्याधिकरणे काले । श्व्, शप्-द्वावपि प्रतिग्रहे । अथकिम्-अङ्गीकारे । विपु-नानार्थे । १८ पद्-पाटवे । पशु-दृश्ये, पशु सम्यगर्थे ‘पशु मन्यमाना’ इति मनोर० । खलु-निषेधवाक्यालङ्कारजिज्ञासाजुनयेषु । यदिनाम-पश्चान्तरे । यदुत-पराशयप्रकाशनादौ । प्रत्युत-उच्चपैरीत्ये । यदा-देशाद्यधिकरणे । जातु-कदाचिदित्यर्थे, अवधारणपादपूरणयोरपि । यदि-पश्चान्तरे । यथाकथाच-अनादरे । यथा-योग्यतावीप्सायानतिवृत्तिसादृश्येषु । तथा-साम्ये । यथायथमिति मकारान्तमव्ययं, यथाखमिलार्थे २१ इति “सामीप्येऽधोऽप्यपरि” ॥ ७ । ४ । ७९ । इति द्विवचनसूत्रश्रुतौ । पुद्-कुत्सायाम् । घ-हिंसाप्राप्तिलोभ्ययो । पुरा-खरादौ पठित सत्त्वभूते काले, अत्र त्वसत्त्वभूते । यावत्, तावद्-एतौ साकल्यावधिमानावधारणेषु, साकल्ये-यावत्कार्यं तावत्कृतम्, अवधौ-यावद्गतव्यं तावत्तिष्ठ, माने-यावद्गतं तावद्भुक्, अवधारणे-यावदमत्र ब्राह्मणानामन्त्रयस्व, मर्यादावधिपरिमाणेषु इति है० वृ० न्या० । दिष्ट्या-सम्मदे, पूर्वातीति-२४ सेवनयो सभाजनप्राप्तिलोभ्ययोर्वा । मर्या-सीमाबन्धे । आम-पीडायाम् । नाम-प्राकाश्यसंभाव्यक्रोधोपगमकृतसनेषु । स्म-अतीते पादपूरणे च । इतिह-पुराश्रुतौ । सह-तुल्ययोगविद्यमानयो । अमा-सहाय्यं सगीपे च । समम्, सत्रा, साकम्, सार्धम्-एते सहाय्यं, समम् समन्ततोऽर्थे इति है० वृ० न्या० । ईम्, कीम्, सीम्-निर्देशनिवेदनवाक्यपादपूरणेषु । ईम्-अव्यक्ते, कीम्-संज्ञयप्रश्नाजुमानेषु, सीम्-समन्ततोऽर्थे इति है० वृ० न्या० । आम्-प्रतिवचनावधारणयो । आस्-सृष्टिखेदयो, कोपे च । इति-एवमर्थे, २७ अभिनवव्याहरणानर्पपादपूरणेषु इत्येके इति है० वृ० न्या० । आम्-प्रतिवचनावधारणयो । आस्-सृष्टिखेदयो, कोपे च । इति-एवमर्थे, प्रकारार्थे, ग्रन्थसमाप्तौ, शब्दप्रादुर्भावे, अर्थसमाप्तौ, पदार्थविपर्यासादौ, ‘एवमर्थे, आद्यर्थे, हेत्वर्थे, प्रकारार्थे, शब्दप्रादुर्भावे, ग्रन्थसमाप्तौ, पदार्थविपर्यासादौ च’ इति है० वृ० न्या० । अव, अड, अट-एते त्रयोऽपि भर्त्सने । बाह्या-निष्पत्तौ । अनुपक्-अनुमाने, केचित्तान्तं ३० केचिद्धान्तमपरे वीर्घादि च मन्यन्ते । खोस्-कुत्सायाम् । खराश्चतुर्दशापि पूरणभर्त्सनानामन्त्रनिषेधेषु । अ इति सम्बोधनेऽधिक्ये निषेधे च, आ इति वाक्यस्मरणयो, इ सम्बोधनजुगुप्साविसयेषु, इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ सम्बोधने इति मनोरमायाम् । चादय इत्यत्र बहु-३२ वचनमाकृतिगणार्थं तेन आत इतोऽपीत्यर्थे । यत्तत्, यतस्तत्-एतौ हेतौ । अनुक्तं-वितर्के । शब्द-अन्तःकरणे आभिसुख्ये च । व-वचनमाकृतिगणार्थं तेन आत इतोऽपीत्यर्थे । हुं-भर्त्सने । तुमिति वृत्कारे, शुरु वृत्तयः । इव-सादृश्ये । अद्यत्वे-इदानीमित्यर्थे, ३३ पादपूरणे इत्यर्थे च । चाडु, चडु-प्रियवाक्ये । हुं-भर्त्सने । तुमिति वृत्कारे, शुरु वृत्तयः । इव-सादृश्ये । अद्यत्वे-इदानीमित्यर्थे, इत्यादयो हेत्या ॥ ३१ ॥

“व्याश्रये तसुः” ॥ ७ । २ । ८१ इति सूत्रादारभ्य “संख्यैकार्थाद्विप्साया शस्” ॥ ७ । २ । ९१ इति सूत्रपर्यन्तं ये तस्वादयः शस्पर्यन्ता प्रत्यया-३६ प्रतिपादिता, तेषु षण् वर्जयित्वा तदन्तानामव्ययसंज्ञामाह—अधणूतस्वाद्याशसः । तसुरादिर्यस्य प्रत्ययसमुदायस्य तत्तत्स्वादि, न षण् अधणू च तत्तत्स्वादि च अधणूतस्वादि आशसः—शसमवधीकृत्य इत्यर्थः । अत्राव्ययमित्यनुवर्तते, इमे प्रत्यया प्रकृत्यविनाभाविन इति प्रकृत्या-क्षेपः, तस्याश्चैते विशेषणत्वेनाश्रीयन्ते “विशेषणमन्त” इति तदन्तबोधः, तथा चायमन्वयः—आशसः य अधणूतस्वादप्रत्ययसमुदायः तद-३९ व्ययम्, शसमवधीकृत्य य अधणूतं तस्वादप्रत्ययसमुदायस्तदन्तमव्ययपदबोध्यं भवतीत्यर्थः, तदेवाह—अधणूतस्वादिप्रत्ययसमुदाय इत्यादिना, भवति इत्यन्तेन । तस्वादशस्पर्यन्तप्रत्ययान्ताजुदाहरति—देवा अर्जुनतोऽभवन्—अर्जुनकर्णयोर्विजयमानयोरर्जुनस्य पक्षे देवा समवधित्व-षष्ठ्यन्ताद्व्याश्रये गम्यमाने तसुप्रत्ययविधायक सत्रमाह—अत्र इत्यादिना “व्याश्रये तसुः” इति । ततः—अत्र पितस्—“किमव्यादिसर्वा-४२ श्वैपुल्यबहो पितस्” ॥ ७ । २ । ८९ इत्यनेनेति शेषः । तत्र—तस्मिन्निमित्तं विग्रहे “सप्तम्या” ॥ ७ । २ । ९४ इति । इह, क-अस्मिन्, कस्मिन् इति विग्रहे “क कुत्रा” ॥ ७ । २ । ९३ इत्यनेन । कदा—कस्मिन् काले इति विग्रहे, किमशब्दात् कालेऽर्थे “किं यत्” ॥ ७ । २ । ९५ इति दाप्रत्यये, “किम्” ॥ ७ । २ । ९४ इति सूत्रेण कादेशे । एतर्हि, अधुना, इदानीम्—अस्मिन् काले इत्यर्थे निपातनानि “सदा” ॥ ७ । २ । ९६ इत्यनेन । सद्यः परेद्यवि-



विभक्तियन्ततसाद्याभाः ॥३३॥ ] श्रीतत्त्वप्रकाशिकाश्रीआनन्दबोधिनीविभूषितम् ।

परेष्वि, पूर्वेषु; उभयेषु; परस्त्, परारि, ऐषमः, कर्हि, यथा, कथम्, पञ्चधा, एकधा, ऐक्यम्, द्वैधम्, द्वेषा, पञ्च-  
कृत्वः, द्विः, सकृत्, बहुधा, प्राक्, दक्षिणतः, पश्चात्, पुरः, पुरस्तात्, उपरि, उपरिष्ठात्, दक्षिणा, दक्षिणाहि,  
दक्षिणेन, द्वितीया करोति क्षेत्रम्, शुक्लीकरोति, अग्निसात् संपद्यते, देवत्रा करोति; बहुशः । अधणिति किम् ? पयिद्वैधानि, ३  
संशयत्रैधानि । आशसः इति किम् ? पचतिरूपम् ॥ ३२ ॥

विभक्तियन्ततसाद्याभाः ॥ १ । १ । ३३ ॥

विभक्त्यन्तप्रतिरूपकाथमवसाना ये तसादयः प्रत्ययास्तदन्तप्रतिरूपकाश्च शब्दा अव्ययसज्ञा भवन्ति । अहंयुः, ६  
शुभंयुः, अस्तिक्षीरा ग्राहणी, कुतः, यथा, तथा; कथम् इति । अहम् शुभम् १, कृतम् पर्याप्तम् २, येन तेन चिरेण

समानेऽहि सद्य, परस्मिन्नहनि परेष्वि इति विग्रहे, अहिकालेऽर्थे "सद्यो" ७।२।९७। इत्यनेन निपात्येते । पूर्वेषु.—पूर्वस्मिन्नहनीति विग्रहे  
"पूर्वा" ७।२।९८। इति सूत्रेण अहन्यर्थे एषु । उभयेषुः—उभयस्मिन्नहनीति विग्रहे, "उभयाद्" ७।२।९९। इति अहन्यर्थे युस् । ९  
परस्त्, परारि, ऐषमः—एते "ऐषम" ७।२।१००। इति सूत्रेण सवत्सरेऽर्थे निपात्यन्ते, अस्मिन् सवत्सरे ऐषम, पूर्व-परस्मिन् वा सवत्सरे  
परस्त्, पूर्वतरे परतरे वा सवत्सरे परारि । कर्हि—कस्मिन्नयतने कालेऽर्थे "अनयतने" ७।२।१०१। इति हि, "किम्" २।१।४०। इत्यनेन ।  
यथा—येन प्रकारेणेति विग्रहे, "प्रकारे था" ७।२।१०२। इति सूत्रेण यथा । कथम्—केन प्रकारेणेति विग्रहे, "कथमित्यम्" ७।२।१०३। इति १२  
प्रकारार्थे निपातनम् । पञ्चधा, एकधा—पञ्चप्रकारै एकेन प्रकारेण चेति विग्रहे, "सख्याया" ७।२।१०४। इत्यनेन वा । ऐक्यम्—एकेन  
प्रकारेणानेकमेक करोति चेति विग्रहे, एकशब्दात् "वैकाद्" ७।२।१०६। इत्यनेन प्रकारे विचाले चार्थे व्यभिचि "वृद्धि स्वरन्वा" ७।४।१। इति  
वृद्धौ रूपम् । द्वैधम्, द्वेषा—द्वैधार्थं प्रकाराभ्या एक राशिं द्वौ करोति चेति विग्रहे, द्विशब्दात् "द्वित्रैर्ध" ७।२।१०७। इति प्रकारे विचाले १५  
चार्थे धमनि प्रत्यये वृद्धौ, एधाप्रत्यये "अवर्णे" ७।४।६८। इति इकारलोप । पञ्चकृत्वः—पञ्चवारा अधीते इति विग्रहे, वारवति धात्वर्थे "वारे  
कृत्वस्" ७।२।१०९। इत्यनेन । द्विः—द्वौ वारा अस्य द्विरुक्ते इत्यादि विग्रहे, "द्वित्रि" ७।२।११०। इत्यनेन वारवति धात्वर्थे युच् । सकृत्—  
एकवारं भुङ्क्ते इत्यादि विग्रहे, "एकात्" ७।२।१११। इत्यनेन वारवति धात्वर्थे युचि प्रत्यये सकृत् स् इति स्थिते, "क्रिया" २।२।४१। इत्यनेन १८  
अभि परे पदत्वं, "अव्ययस्य" ३।२।७। इति तद्धुपि, "पदस्य" ३।१।८९। इत्यनेन सकृत् इति सिद्धम् । बहुधा—बहव आसन्ना वारा अस्य इति  
बहुधा रक्षति इति विग्रहे, "बहोर्धाऽऽसन्ने" ७।२।११२। इत्यनेन । प्राक्—प्राची दिग् रमणीया, प्राग्देश कालो वा रमणीय प्राग्रमणीयम्,  
प्राच्या दिश प्राचो देशात् कालाद्वा प्रागागत, प्राच्या दिशि प्राचि देशे काले वा वसति इति विग्रह, प्राग्शब्दात् "दिक्शब्दा" ७।२।११३। २१  
इति धा प्रत्यये, "कृत्वे" ७।२।१२३। इत्यनेन लुपि च प्राक् । दक्षिणतः—दक्षिणा दिग्देशो वा रमणीय दक्षिणतो रमणीयम्, दक्षिणत आगतो  
वसति वा इति विग्रहे, दक्षिणाशब्दात् "दक्षिणेत्तराश्चात्" ७।२।११७। इति अतसि प्रत्यये अवर्णलोप । पश्चात्—विग्रहस्तु पूर्ववत्, अपरश-  
ब्दात् "अधरा" ७।२।११८। इति आत् प्रत्यये, "पथो" ७।२।१२४। इति पश्चादेशे च पश्चात् । पुरः, पुरस्तात्—विग्रहस्तु पूर्ववत्, पूर्वशब्दात् २४  
"पूर्वावरा" ७।२।११५। इत्यनेन अस् अस्तात् च प्रत्यये, पुरादेशे च पुर पुरस्तात् । उपरि, उपरिष्ठात्—विग्रहस्तु पूर्ववत्, ऊर्ध्वशब्दात्  
"ऊर्ध्वा" ७।२।११४। इति रि रिष्ठात् चेति प्रत्यये उपादेशे च उपरि उपरिष्ठात् । दक्षिणा, दक्षिणाहि, दक्षिणेन—दिग्देशावृत्त्यर्थे दक्षिणा-  
रमणीयम् दक्षिणा वसति, ग्रामादूरा दक्षिणा दिग्देशो वा रमणीय दक्षिणा दक्षिणाहि, अस्मात् दक्षिणा अदूरा दिक् रमणीया देश कालो वा २७  
दक्षिणेनास्य रमणीयम् वसति वा इति विग्रह । दक्षिणशब्दात् "वा दक्षिणात्" ७।२।११९। इति आ प्रत्यये, "आहि दूरे" ७।२।१२०। इति आ  
आहिच प्रत्यये "अदूरे एन" ७।२।१२२। एन प्रत्यये च क्रमेण सिध्यन्ति । द्वितीया करोति क्षेत्रम्—द्वितीयवारं करोति क्षेत्रम्—कृषति  
क्षेत्रमित्यर्थ, "तीयशम्ब" ७।२।१३५। इति कृषिविषये ढानि अन्तलोपे च रूपम् । शुक्लीकरोति—न शुक्ल अशुक्ल शुक्ल करोतीति शुक्लीक- ३०  
तीति विग्रह, प्रागशुक्ल शुक्ल करोतीत्यर्थ, शुक्लशब्दात् "कृन्वस्मिन्मा" ७।२।१२६। इति प्रागतत्वे चि, "ईश्वाव" ४।३।१११। इतीकारश्च ।  
अग्निसात् संपद्यते—अस्या सेनाया सर्वं शस्त्रं अग्निसात्—अग्निस्वरूपेण अस्मीभूत संपद्यते इत्यर्थ, अग्निशब्दात् "जाते सम्पदा च" ७।२।१३१। इत्यनेन । देवत्राकरोति—देवेऽधीन देय-द्रव्यं करोतीति विग्रह, देवशब्दात् "देये प्राच" ७।२।१३३। । बहुशः—प्राप्ते बहव ३३  
बहुश वा ददातीति विग्रह, बहुशब्दात् "बहुल्या" इति पश्च प्रत्यये बहुश । इमे प्रत्ययास्तद्विस्तारार्थिकप्रकरणादवगन्तव्या, तस्मादिशसन्त-  
प्रत्ययान्तानामव्ययत्वेऽव्ययकार्यस्यादिषादिक विज्ञेयम् । तस्मादिषु धन् पर्युदस्त स किमर्थः ३ इत्याह—अधणिति किम् इति । पयिद्वैधानि,  
संशयत्रैधानि—द्वौ प्रकारौ येषामित्यर्थे द्विशब्दात् "तद्वति धन्" इति धनि वृद्धौ द्वैध, त्रय प्रकारा येषामित्यर्थे त्रिशब्दात् "तद्वति धन्," ३३  
इति धनि वृद्धौ त्रैध, तत् पयो द्वैधानि पयिद्वैधानि, सशयस्य त्रैधानि सशयत्रैधानि, "षष्ठ्यन्नाच्छेधे" ३।१।७६। इति समासे, "एकाथ्ये" ३।२।८। इति षष्ठीलुपि भवत, अत्रानेनाव्ययत्वे स्यादेर्लप् "तृप्तार्थपूरणाव्यया" ३।१।८५। इति षष्ठीसमासप्रतिषेधश्च स्यातामित्यवध  
इति पर्युदास । शस्पर्यन्ततसादय इति किम् ? ३ इत्याह—आशस इति किम् ? । पचति रूपम्—प्राशत् पचतीति विग्रह, "त्यादेश ३९  
प्रशस्ते रूपम्" ७।३।१०। इत्यनेन ॥ ३२ ॥

विभक्त्यन्तप्रतिरूपकयन्ततसाद्यान्तप्रतिरूपकशब्दानामव्ययशंशामाह—विभक्तियन्ततसाद्याभाः । तस् आदिर्येषान्ते  
तसादय यमन्ते येषान्ते यमन्ता, यमन्ताश्च ते तसादयश्च यमन्ततसादय, विभक्त्ययश्च यमन्ततसादयश्च विभक्तियन्ततसादय तेषा- ४२  
माभेवाभा येषान्ते तथा, इति बहुमीहिगर्मकर्मधारयगर्मद्वन्द्वगर्मबहुमीहि । अत्राव्ययमित्यनुवर्तते, विभक्तियन्ततसाद्याभा अव्ययमित्य-  
न्वय, तदन्तविधिरत्र पूर्ववद् बोध्या तदाह सूत्रार्थ—विभक्त्यन्त इत्यादि, भवन्ति इत्यन्तेन । अहंयुः—अहमस्यास्तीति "उर्णा" ७।२।१७। इत्यनेन अहयु इति विग्रह, एष शुभयु । यदीद विभक्तिप्रतिरूपकमव्यय नामविष्यत्तदा विभक्त्यन्तरानुत्पत्तौ सति "एकाथ्ये" ४५.  
पूर्वविभेकेर्लुपि मत्पुत्र इत्यादिवद्वैरूप्यमापत्स्यत । एवमेवास्तिक्षीरा इति बोध्यम् । कुत इत्यादय तसादिप्रतिनिभा । अहम् इति  
प्रथमेकवचनान्तप्रतिरूपकम्, शुभादयश्च द्वितीयान्तप्रतिरूपका, येन इत्यादयश्चत्वारस्तृतीयान्तसदृशा, ते प्रसृतयश्चत्वारश्चतुर्थ्यन्त-

अन्तरेण ३, ते मे चिराय अह्नाय ४, चिरात् अकस्मात् ५, चिरस्य अन्योन्यस्य मम ६, एकपदे अग्रे प्रगे प्राह्णे हेतौ रात्रौ वेलायां मात्रायाम् ७; एते प्रथमादिविभक्त्यन्तप्रतिरूपकाः । अस्ति नास्ति अस्मि विद्यते भवति एहि ब्रूहि ८ मन्ये शङ्के अस्तु भवतु पूर्यते स्यात् आस आह वर्तते नवर्तते याति नयाति पश्य पश्यत आदह आदङ्क आतङ्क इति विवादिविभक्त्यन्तप्रतिरूपकाः ॥ ३३ ॥

### वृत्तस्याम् ॥ १ । १ । ३४ ॥

६ वर्ततेसिआमप्रत्ययान्तः शब्दोऽव्ययसज्ञो भवति । वृत्तसिसाहचर्यादामिति तद्वितस्य “कित्याघेऽव्यया०” ॥ ७ । ३ । ८ ॥ इत्यादिना विहितस्यामो ग्रहणम् । मुनेरहं मुनिवद् वृत्तम्, “तस्याहं क्रियायां वत्” ॥ ७ । १ । ५१ ॥ इति वत् । क्षत्रिया इव क्षत्रियवद् युध्यन्ते, “स्यादेरिवे” ॥ ७ । १ । ५२ ॥ इति वत् । पीलुमूलेनैकदिक् पीलुमूलतो विद्योतते विद्युत्, “तसिः” ॥ ६ । ३ । २११ ॥ इति तसिः । उरसा एकदिक् उरस्तः, “यश्चोरसः” ॥ ६ । ३ । २१२ ॥ इति तसिः । आम्-उच्चैस्तराम् उच्चैस्तमाम् ॥ ३४ ॥

### क्त्वातुमम् ॥ १ । १ । ३५ ॥

१२ क्त्वा तुम् अम् इत्येतत्प्रत्ययान्तं शब्दरूपमव्ययसज्ञं भवति । (क्त्वा-) कृत्वा, हृत्वा, प्रकृत्य; प्रहृत्य । तुप्-कर्तुम्, हर्तुम् । अमिति णम्-रूपमोरुत्पद्यानुबन्धयोर्ग्रहण, न द्वितीयैकवचनस्य, क्त्वातुम्साहचर्यात्, यावज्जीवमदात्, स्वादुकारं भुङ्क्ते ॥ ३५ ॥

१५ गतिः ॥ १ । १ । ३६ ॥

गतिसज्ञाः शब्दा अव्ययसंज्ञा भवन्ति । अदःकृत्य-अत्राव्ययत्वे “अतः कृकमिकसकुम्भकुशाकर्णीपात्रेऽनव्ययस्य” ॥ २ । ३ । ५ ॥ इति सकारो न भवति ॥ ३६ ॥

१८ अप्रयोगीत् ॥ १ । १ । ३७ ॥

इह शास्त्रे उपदिश्यमानो वर्णस्तत्समुदायो वा यो लौकिके शब्दप्रयोगे न दृश्यते स एति-अपगच्छतीति इत्संज्ञो भवति । अप्रयोगित्वातुवादेनेत्सज्ञाविधानाच्चास्य प्रयोगाभावः सिद्धः, उपदेशस्तु-चातुर्नामप्रत्ययविकारमग्रेषु कार्यार्थः ।

२१ प्रतिरूपका, चिरादकस्मात् इत्येतौ पञ्चम्यन्तद्वयौ, चिरस्य इत्यादयश्च पञ्चम्यन्तनिभा, एकपदे इत्याद्यष्टौ सप्तम्यन्ताकृतयः । विवादिविभक्त्यन्तप्रतिरूपकानाह-अस्ति इत्यादिना ॥ ३३ ॥

वृत्तप्रत्ययान्तस्य, तत्प्रत्ययान्तस्य, आम्प्रत्ययान्तस्य चाव्ययसंज्ञासाह-वृत्तस्याम् । अत्राव्ययमित्यनुवर्तते, वत् च तसिश्च, आम् २४ च इत्येषा समाहार वृत्तस्याम् अव्ययमित्यन्वय, तदन्तविधि पूर्ववद्बोधा, तदभिप्रायेणाह सूत्रार्थ-वृत्तस्याम्प्रत्ययान्त इत्यादिना । नन्वत्राविशेषात् पञ्चबहुवचनस्यामोऽपि ग्रहणं प्राप्नोति, इत्येते च परोक्षस्थाननिष्पन्नस्य तद्वितस्य चाम इति शङ्कायां, “सहचरितासहचरितयो” सहचरितस्यैव ग्रहणमिति न्यायमाश्रित्य समाप्ते-वृत्तसि साहचर्यात् इत्यादि, ग्रहणम् इत्यन्तेन । पीलुमूलेनैकदिक् इति २७ विग्रह-पीलुमूलतो विद्योतते विद्युत्-पीलुमूल यस्यां दिशि तस्यां विद्योतते विद्युदित्यर्थः ॥ ३४ ॥

२७ विग्रह-क्त्वातुमम् । अत्राव्ययमित्यनुवर्तते, क्त्वा च तुम् च क्त्वाप्रत्ययान्तस्य, तुम्प्रत्ययान्तस्य, अम्प्रत्ययान्तस्य चाव्ययसंज्ञासाह-क्त्वातुमम् । अत्राव्ययमित्यनुवर्तते, क्त्वा च तुम् च अम् चेत्येषा समाहारो द्वन्द्व, तदन्तविधि पूर्ववद् बोधाह-क्त्वा इत्यादि, भवन्ति इत्यन्तेन । यथाक्रमं तत्प्रत्ययान्तानुदाहरति-कृत्वा ३० इत्यादिना । प्रकृत्य, प्रहृत्य-अत्राव्ययत्वं स्थानिवद्भावेन बोध्यम् । ननु अमिति सामान्यनिर्देशात् स्वादित्यादिसंबन्धिनोऽप्यमो कथं न ग्रहणमित्यत आह-अमिति इत्यादिना । उत्पद्यानुबन्धयोः-उत्पद्यत्युत्पद्योऽनुबन्धो ययोमिति विग्रह । णम्स्थानमोः ग्रहणं अमित्यनेन, क्त्वातुम्साहचर्याच्च द्वितीयैकवचनस्याम् ग्रहणमित्यन्वय । क्त्वातुम्साहचर्यं कृत्वेन बोध्यम् । यावज्जीवमदात्-“यावतो विन्दजीव” ५।४।५।५। ३३ इत्यनेन णम् । स्वादुकारं भुङ्क्ते-“स्वादुर्मादसीर्षाद्” ५।४।५।३। इति रूपा, “स्वित्यन्व” ३।२।१११। इति मागमेऽनुस्वारश्च ॥ ३५ ॥

गतिसज्ञकशब्दानामव्ययसंज्ञासाह-गतिः । अव्ययमित्यनुवर्तते, गतिरव्ययमित्यन्वय । “अप्रहातु०” ३।१।५। इत्यनेन गतिसंज्ञा भवति । अदस् पूर्वार्धं कृगं त्वाप्रत्ययस्य यपादेशे, “हृत्स्वस त ०” ४।४।११३। इत्यनेन तागमे, अद कृत्य इति रूप, अद कृत्यैतत् ३६ करिष्यतीति-विन्तयतीति भाव । अदःकृत्यैलत्राव्ययसंज्ञायां फलमाह-“अतः कृफमि०” इत्यादिना ॥ ३६ ॥

इदं संज्ञां निरूपयति-अप्रयोगीत् । मुख्यते-संबन्धते इति योग, प्रकृतो योग संबन्ध प्रयोग, न प्रयोग अप्रयोगोऽस्या-स्तीति अप्रयोगी, एतेन-यस्य शास्त्रोच्चारणे संबन्धोऽस्ति, लौकिकप्रयोगे च संबन्धभावस्तस्य नवा नियेव कियते । ‘सविशेषणौ हि

३९ विधिनियेयौ विशेषणेन संबन्धते’ इति नियमात् सर्वथा यस्य संबन्धभावस्तस्य तु सिद्ध एवेति नानेन नियेव, अधवा प्रयुज्यते कार्यम्-नेनेति प्रयोग शास्त्रम्, ‘अन्त्यार्थं नञ्’ अल्पतः च शास्त्रे एव य पठ्यते, लौकिकप्रयोगे तु न संबन्धते, तत्कार्यं दृष्टानुमीयते एव केवलम् । नन्वेव सति कृतस्वभावाभाव इति चेदुच्यते-कार्यार्थं पठितस्य निष्पत्ते कार्ये तस्य निश्चिते, उपायस्य चोपेयसिद्धौ परित्यागात्, इव इति संज्ञा

४२ अप्रयोगिण, तत् एव च लोप सिद्ध, तदाह-इह शास्त्रे इत्यादिना, भवति इत्यन्तेन । ननु प्रमाणमन्तरेण वचनमात्रेणापगमाभावादपगमे यतितव्यमित्यत आह-अप्रयोगित्वातुवादेन इत्यादिना । अप्रयोगिणि सन्निमनूय इत्संज्ञा विधीयते, इति संज्ञित्वस्य स्वभाव एव प्रयोगाभावरूप स्वतः सिद्ध एवेति न प्रमाणान्तरापेक्षा, चो-हेतौ समुच्चये च, अस्य-अप्रयोगिणि । यतोऽप्रयोगित्वातुवादेनेत्संज्ञाविधानं ततो-

४५ ऽस्य प्रयोगाभावः सिद्ध इत्यन्वय । इव इत्यनेनैव प्रयोगाभावे सिद्धेऽप्रयोगिणि पुन कथनेन सुतरा तस्य प्रयोगाभाव इति दार्ढ्यसूचनाय सूत्रे अप्रयोगी इति, एतेन प्रयोगाभावे इव इति संज्ञाविधानं अप्रयोगित्वातुवादेति हेतुद्वय फलितमिति समुच्चयार्थ । अत्रेदमाकृतम्-एतेन पाणि-

नीयतन्त्रे-“उपदेशेऽजनुनासिक इत्” पा० १।३।२।, “हलन्त्यम्” पा० १।३।३।, “अदर्शनं लोप” पा० १।१।६।, “तस्य लोप” पा० १।३।१९। ४८ इति सूत्रचतुष्टयस्यैकैकैव सूत्रेण तदर्थलाभो भगवता श्रुतिकारेण सूचित इति दिक् । अनुवचरूपेत्संज्ञिकोपदेशविभागेनाह-उपदेशस्तु

अनन्तः पञ्चम्याः प्रत्ययः ॥३८॥ ] श्रीतत्त्वप्रकाशिकाश्रीआनन्दबोधिनीविभूषितम् ।

धातौ—एधि एधते, शीङ् शेते इङित्वादात्मनेपदम् । यजीं—यजते यजति, चिग्—चिनुते चिनोति, कण्डूग्—कण्डूयते कण्डूयति ईगित्वात् फलवत्यात्मनेपदम् । दुदुं—दवथुः, द्वित्वादथुः । नास्मि—चित्रङ् आश्चर्ये, चित्रीयते । माङ्—मा भवान् कार्षीत्, अत्र “माङ्यद्यतनी” ॥ ५।४।३९ ॥ प्रत्यये—भवति । विकारे—व्याख्यातासे व्याख्यातासि । आगमे— ३ पपिथ । इत्प्रदेशः “इङितः कर्तरि” ॥ ३।३।२२ ॥ इत्यादयः ॥ ३७ ॥

अनन्तः पञ्चम्याः प्रत्ययः ॥ १।१।३८ ॥

पञ्चम्यर्थाद् विधीयमानः शब्दः प्रत्ययसंज्ञो भवति, अनन्तः—न चेदन्तशब्दोच्चारणेन विहितो भवति । “नाम्नः ६ प्रथमैकद्विवहौ” ॥ २।२।३१ ॥ वृक्षः, वृक्षौ, वृक्षाः । “स्त्रियां नृतोऽस्त्रसादेर्डीः” ॥ २।४।१ ॥ राज्ञी, कर्त्री । “आत्” ॥ २।४।१८ ॥ खट्वा । “गुणौधूपविच्छिपणिपनेरायः” ॥ ३।४।१ ॥ गोपायति, धूपायति । “ऋवर्ण-व्यञ्जनान्ताद् घ्यण्” ॥ ५।१।१७ ॥ कार्यम्, पाक्यम् । अनन्त इति किम् ?—अन्तशब्दोच्चारणेन विहितस्यागमस्य मा भूत्, ९ यथा “उदितः स्वराज्ञोऽन्तः” ॥ ४।४।९८ ॥ इत्यादि । प्रत्ययप्रदेशः—“प्रत्यये च” ॥ १।३।२ ॥ इत्यादयः ॥ ३८ ॥

डत्यतु संख्यावत् ॥ १।१।३९ ॥

इतिप्रत्ययान्तमतुप्रत्ययान्तं च नाम संख्यावद्भवति, एकद्व्यादिका लोकप्रसिद्धा संख्याः तत्कार्यं भजत इत्यर्थः । १२ (इति—)कतिभिः क्रीतः कतिकः, “संख्याडतेश्चाश्रुतिष्ठः कः” ॥ ६।४।१३० ॥ इति कः । कतिभिः प्रकारैः कतिधा, “संख्याया धा” ॥ ७।२।१०४ ॥ इति धा । कति वारा अस्य कतिकृत्वः, “वारे कृत्वस्” ॥ ७।२।१०९ ॥ इति कृत्वस् । एवं यतिकः, यतिधा, यतिकृत्वः । ततिकः, ततिधा, ततिकृत्वः । अतु—यावत्कः, यावद्धा, यावत्कृत्वः । तावत्कः, १५ तावद्धा, तावत्कृत्वः । कियत्कः, कियद्धा, कियत्कृत्वः ॥ ३९ ॥

इत्यादिना । धातुविषयकातुबन्धफलमाह—धातौ इत्यादिना । एधि, शीङ् इत्यत्र “इङित कर्तरि” ३।३।२२ इत्यनेन इकारश्च ङकारश्च तयोरीत्वा-दात्मनेपदस्य लाभः, तदाह—इङित्वा इत्यादिना । यजीं देवपूजाश्रयं—अत्र अनुस्वारत्करणे अनिट्फलम्, चिग्—चयने, चिग् इति म०भ०, १८ कण्डूग् अत्र त्रिषु धातुषु “ईगित” ३।३।९५ इत्यनेन ईकारश्च गकारश्च तयोरीत्करणे फलवत्यात्मनेपदस्य लाभः, तदाह—ई गित्वात् इत्यादिना । दुदुं—उपतापेऽर्थे, अत्र “द्वितोयु” ५।३।८३ इत्यनेन टित्करणेऽथु प्रत्ययः स्यात् । नास्मि—नामधातुप्रकरणोपदेशफलमाह—चित्रङ् इत्यादिना, चित्रीयते—चित्र करोति—नानात्वमात्रेण वा करोतीत्यर्थः, “नमो वरि०” ३।४।३७ इत्यनेनाश्चर्येऽर्थे कयति प्रत्यये क्त्वादात्मने-२१ पदम् । अव्ययरूपनाम्युपदेशफलमाह—माङ् चादित्वादव्ययम्, अत्र किति माङि योगेऽयतनीप्रत्ययः स्यादपि च “अङ्धातो०” ४।४।२९ इत्यनेनाटो निषेधो माङ् योगे । प्रत्ययविषयकोपदेशफलमाह—प्रत्यये—भवति, अत्र ‘भू सत्ताया’ इति धातो ‘वर्तमाना०’ ३।३।६। इत्यनेन तिप्रत्यये, “एता शित” ३।३।१०। इत्यनेन शित्वात्, “कर्तयन्द्भ्य शक्” इत्यनेन शितिप्रत्यये परे शक् तस्य क्त्वात्, “शिद्वित्” २४ ४।३।२०। इत्यनेन क्त्वाभावे नामिनो गुणे कृते सति भवतीति रूपं सिद्धम्, अत्रेदं रहस्यम्—तिव् प्रत्ययस्य क्त्वात् शित्त्वेन शक्, तस्य चाङि-त्वात् गुण इति प्रत्ययस्यानुबन्धफलम् । धात्वादेशरूपविकारस्य फलमाह—विकारे इत्यादिना । व्याख्यातासे व्याख्यातासि—अत्र वि-आ उपसर्गपूर्वकस्य ‘चक्षिक् व्यष्ठायां वाचि’ इति धातो ‘क्षस्ती०’ ३।३।१४। इति द्वि० पु० एक० तासि तासे चाशितिप्रत्यये ‘चक्षो०’ २७ ४।४।४। इति क्शांग् क्श्यांग् इत्यादेशौ भवतः, ततः व्याख्यातासे व्याख्यातासीति सिद्धम्, अत्रेदं तत्त्वम्—धात्वादेशरूपविकारस्य ‘क्ष्यांग्’ इत्यादेशस्य अनुस्वारित्करणे इङ्भावः, गकारस्यत्करणे उभयपदस्य लाभः, ततः पूर्वावस्थितस्य ‘चक्षिक्’ इत्यस्य स्थानिवद्भावेन नित्यात्मनेपदं न भवतीत्यर्थः । आगमोपदेशस्य लाभमाह—आगमे—पपिथ, अत्र ‘पां पाते’ इति धातो ‘परोक्षा०’ ३।३।१२। इत्यनेन द्वि० पु० एक०-३० वचने यवि प्रत्यये, “सजितृष्टि०” ४।४।७८। इत्यनेनेहागमे, “इडेत्पुष्टि०” ४।३।९४। इत्यनेन पपिथेत्यत्र छिदिकारस्यागमेनाकारस्य लोपः । इत्प्रदेशः—पूर्ववद्भावेयम् ॥ ३७ ॥

प्रत्ययसंज्ञाविधानमाह—अनन्तः पञ्चम्याः प्रत्ययः । पञ्चम्या प्रत्ययः अनन्त इत्यन्वयः । अत्र पञ्चमीति प्रत्ययवाची, स च ३३ प्रकृतिमन्यथानुपपत्त्याक्षिपति, सा चार्थं तस्माद्विधि इत्याह—पञ्चम्यर्थाद् इत्यादिना । प्रकृत्यर्थाद्विधीयमानः प्रत्ययपदबोधः इत्यर्थः । शब्द इत्यनेन वर्णसंस्तमुदायो वा कथ्यते । अनन्त इत्यस्यार्थमाह—न चेदिति । अन्तशब्दमुच्चार्य विधीयमानः प्रत्ययसंज्ञा न लभते, अन्यथा प्रत्ययत्वं स्यात्, सति च प्रत्ययत्वे, तस्मात्प्रत्ययोत्पत्तिर्न स्यात् । प्रथमा ही आप् आय घ्यण् इत्येषां प्रत्ययानां पञ्चम्यर्थात् विधीयमानः ३३ त्वेन प्रत्ययत्वं यथायथं बोध्यमिति हृदि निधाय वृत्तिकारो दृष्टान्तोपपत्त्यासपूर्वकं निर्दिशति—“नाम्नः०” इत्यादिना, पाक्यम् इत्यन्तेन । अनन्त इत्यस्य प्रयोजनमाह—अनन्त इति किम् ? । यत्र योन्तशब्दमुच्चार्य विधीयते, तत्र तस्य प्रत्ययत्वं न भवतीत्याह—अन्तशब्दोच्चारणेन इत्यादिना, मा भूत् इत्यन्तेन । उदाहरति—यथा “उदितः०” इत्यादिना । “हो कटावन्तो०” १।३।१७। इत्यादि सूत्रसमुदाय आदिपदेन ३९ आह । प्रत्ययप्रदेशः—पूर्ववद्भावेयम् ॥ ३८ ॥

अतिदेशशास्त्रमाह—‘वत्पदघटितमतिदेशशास्त्रमिति हि वचनम्’ डत्यतु संख्यावत् । अत्र तदन्तविधि पूर्ववद्बोध्यः तदाह—इतिप्रत्ययान्त इत्यादिना, भवति इत्यन्तेन । ननु का नामसंख्या ? असति तज्ज्ञानेऽर्थंभव संख्यावद्भावस्य इत्याह—एकद्व्यादिका ४२ इत्यादिना । अयमर्थः—जनन्यलभ्यो हि शब्दाय इति लोकेत एव संख्या संप्रत्यये, किमर्थमत्र तत्परिचय इति भावः । किम् शब्दात् “यत्तत्किम्” ७।१।१५०। इत्यनेन संख्येये मेये इतिप्रत्यये कति, का संख्या मानमेषां इति विग्रहः । कतिभिः क्रीत इति विग्रहे कतिक । संख्यावद्भावे सति किमित्याह—“संख्याडतेश्चा०” ६।४।१३०। इति । इतिप्रत्ययान्तोदाहरणानि—कतिक इत्यादीनि । अतुइति अतुप्रत्ययान्तो-४५ दाहरणानि दर्शयति—यावत्कः, यत्तशब्दात् “यत्तदेतदो०” ७।१।१४९। इत्यनेन मेये जावादिरदुप्रत्ययः, क्षेपेण यथायथम् ॥ ३९ ॥

### बहुगणं भेदे ॥ १ । १ । ४० ॥

बहु गण इत्येतौ शब्दौ भेदे वर्तमानौ सख्यावद्भवतः, भेदो नानात्वम्—एकत्वप्रतियोगि । बहुकः, बहुधा, बहुकृत्वः । गणकः, गणधा, गणकृत्वः । भेद इति किम्?—वैपुल्ये संघे च सख्याकार्यं सा भूत् । बहुगणौ न नियतावधिभेदाभिधायकविति संख्याप्रसिद्धेरभावाद्वचनम्, अत एव भूर्यादिनिवृत्तिः ॥ ४० ॥

### कसमासेऽध्यर्द्धः ॥ १ । १ । ४१ ॥

अध्यर्द्धशब्दः कप्रत्यये समासे च विधातव्ये संख्यावद्भवति । अध्यर्द्धेन क्रीतम् अध्यर्धकम्, “संख्याद्वेतेश्चाशक्तिष्टेः कः” ॥ ६ । ४ । १३० ॥ इति कः । अध्यर्धेन शूर्पेण क्रीतम् अध्यर्धशूर्पम्, अत्र संख्यापूर्वत्वेन द्विगुत्वे क्रीतार्थस्येकणः “अनाश्रयद्विः शुष्” ॥ ६ । ४ । १४१ ॥ इति लुप् । कसमास इति किम्? धादिप्रत्ययविधौ न भवति ॥ ४१ ॥

### अर्द्धपूर्वपदः पूरणः ॥ १ । १ । ४२ ॥

समासावयवभूते पदे पूर्वपदमुत्तरपद चेति प्रसिद्धिः, अर्द्धपूर्वपदः पूरणप्रत्ययान्तः शब्दः कप्रत्यये समासे च विधातव्ये संख्यावद्भवति । अर्धपञ्चमशूर्पम्, अर्धपञ्चमशूर्पम् ॥ ४२ ॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां श्रीसिद्धहेमचन्द्राभिधानस्योपपक्षशब्दानुशासनतत्त्वप्रकाशिकायां प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ॥ १ ॥

हरिरिव बलिवन्धकरत्रिशक्तियुक्तः पिनाकपाणिरिव ।

कमलाश्रयश्च विधिरिव जयति श्रीमूलराजनृपः ॥ १ ॥

भेदवृत्तिबहुगणयोः संख्यावद्भावो वदति—बहुगणं भेदे । अत्र संख्यावदित्यनुवर्तते, भेदे बहुगणं संख्यावदित्यन्वयः, तदर्थमाह—बहुगण इत्यादिना । भेदशब्दार्थमाह—भेदो नानात्वमिति, तदेव विष्णोति—एकत्वप्रतियोगि—एकत्व प्रतियोगि यस्य तत्, एकत्वस्य प्रतियोगि वा नानात्वम् । ननु बहुगणयोः संख्यावाचकत्वं लोकेत एवेति सिद्धं किमर्थं संख्यावद्भाव इत्यत आह—बहुगणौ न नियतावधि इत्यादिना ॥ ४० ॥

अध्यर्धशब्दः कदा संख्यावदित्यत आह—कसमासेऽध्यर्धः । अत्र संख्यावदित्यनुवर्तते, अध्यर्धः कसमासे संख्यावदित्यन्वयः, तदर्थमाह—अध्यर्द्धशब्द इत्यादिना । समास उदाहरति—अध्यर्धशूर्पम्, अत्रानेन संख्यावद्भावे फलमाह—अत्र संख्यापूर्वत्वेन इत्यादिना । धादिप्रत्यय—अत्रादिपदेन कृत्वस् इति बोध्यः ॥ ४१ ॥

अर्धपूर्वपदस्य पूरणप्रत्ययान्तस्य शब्दस्य संख्यावद्भावमाह—अर्धपूर्वपदः पूरणः । अत्र संख्यावदित्यनुवर्तते, ‘कसमासे’ इति च । पूर्वोत्तरपदयोः संकेतं ग्राहयति—समासावयवभूते इत्यादिना ॥ ४२ ॥

इतिशब्दः पादस्य परिसमाप्त्यर्थः । आचार्यस्य पूर्वेनिपातः शास्त्रार्थोपदेष्टृत्वेन विशेषणतया आचार्यश्रीहरिमद्रवत् । सकीर्णविप्रकीर्णतिविस्तृतशब्दानुशासनसमूहसमभ्यासकृतां विदितसिद्धराजमहाराजाम्यर्थेनधारितत्वेनास्मिन् तद्वशासमुत्पन्नमूलराज-महापुरुषादिपुरुषमभिधौति काव्यमुखेन—हरिरिव इत्यादिना । एव सर्वेष्वध्यायेषु प्रतिपादमुपवर्णनं तद्वशास्य मनीषिभिरवधारणीयम् ।

श्रीमूलराजनृपस्य हरिर्ब्रह्मणि साम्यमुपवर्णयति—हरिरिव इत्यादिना । श्रीमूलराजनृपः जयति क इव ? बलिवन्धकरः हरिरिव, त्रिशक्तियुक्तः पिनाकपाणिः इव, च कमलाश्रयः विधिः इव इत्यन्वयः । इमानि त्रीणि विशेषणानि मूलराजपक्षे समुपयो-

३० ज्यानि । यथा विष्णुवर्मनरूपधारी, बलिनामकस्य पातालैकसो दैत्याधिराजस्य बन्धस्य करं तथायमपि मूलराजः ‘बलिं करो भागधेय’ इति अ० वि० का० ३ श्लो० ४०९, बले—पशुवधरूपस्य राजप्राभागागस्य वा बन्धकर इति तयोः साम्यम् । यथा पिनाकपाणि—महेधर त्रिशक्तियुक्त—विद्युमि शक्तिर्भिर्युक्तः, हरिर्ब्रह्मणामभेदेनैकस्यापि सृष्टिस्थितिप्रत्ययात्मकत्रिशक्तियुक्तत्व बोध्यम्, तथायमपि मूलराजमहीपति

३१ प्रभुमन्त्रोत्साहाख्यत्रिशक्तियुक्त इति तयोः साम्यम् । ‘शक्त्यस्ति प्रभुत्वोत्साहमन्त्रजा’ इति अ० वि० का० ३ श्लो० ३९९ । यथा विधि—प्रजापति, कमलाश्रय—पद्माधिकरण, तथायमपि मूलराजः राजलक्ष्मीरूपकमलाया आश्रय परमास्पदमिति तयोः साम्यम्, तादृश मूलराज सर्वोत्कर्षेण वर्तते इत्यर्थः ॥ १ ॥

इति श्रीमत्तपागच्छगमनाहर्मणिगीतार्थसर्वभौमाऽऽगमोद्धारकशैलानादृपतिपरिपूजितपादारविन्दभागमोदयसमिति—वर्द्धमानजैनागममदि-रायनेकशासनहितवर्धकसंस्था निर्माणोपदेशकमहारककूलमूर्द्धन्यश्री १००८ आनन्दसागरसूरीश्वरारणां साम्राज्ये तन्धरणनिजीनमानसेनानयाम-नवपदपीयूषपानोद्यतभव्यभावभावोद्बोधसूर्योदयश्रीसिद्धचक्र-नवपदाराधकसमाजादिविविधसंस्थासंस्थापकेन श्रीवर्द्धमानतपोनिष्ठातेन श्रीसिद्धचक्रा-

राधन-तीर्थोद्धारकेण पद्मयासप्रवरश्रीचन्द्रसागरगणीन्द्रेण विरचितायां श्रीसिद्धहेमचन्द्रसूत्रश्रुतिन्यासरत्नाकरावतारिकायामाऽऽनन्द-बोधिन्यां प्रथमस्याध्यायस्य संज्ञाप्रकरणं नाम प्रथमः पादः ॥

समानानां तेन दीर्घः ॥ १ ॥ ] श्रीतत्त्वप्रकाशिकाश्रीआनन्दबोधिनीविभूषितम् ।

॥ अहं ॥

द्वितीयः पादः ॥

समानानां तेन दीर्घः ॥ १ । २ । १ ॥

३

समानसंज्ञकानां वर्णानां तेन परेण समानेन सहितानां दीर्घो भवति, “आसन्नः” ॥ ७ । ४ । १२० ॥—दण्डाग्रम्, तवायुः, खट्वात्र, सागता, दधीदम्, दधीहते, नदीन्द्रः, नदीहते, मधूदकम्, मधूहनम्, वधूदरम्, वधूढा, पितृषमः, मातृकारः, कलृकारः । समानानामिति किम्? वागत्र । तेनेति किम्? दधि शीतम् । बहुवचनं व्याप्त्यर्थम्, तेनो- १ तरसूत्रेण ऋलतोरपि ऋलति ह्रस्वो भवति—कलृकषमः, होवृलकारः; अन्यथा “ऋस्तयोः” ॥ १ । २ । ५ ॥ इति परत्वादरेव स्यात् ॥ १ ॥

ऋलति ह्रस्वो वा ॥ १ । २ । २ ॥

९

समानानामृकारे लकारे च परे ह्रस्वो भवति वा—चालऋश्यः, चालर्यः; खट्वाऋश्यः, खट्वर्यः; महन्ऋषिः, महर्षिः; धूलिऋतुः, धूल्युतुः; नदिऋच्छति, नद्युच्छति; तनुऋजुता, तन्वृजुता; वधुऋणम्, वध्वृणम्; कर्तृऋषमः, कर्तृषमः; चाललृकारः, चाललृकारः; कन्यलृकारः, कन्यलृकारः इत्यादि । ह्रस्वकरणसामर्थ्यादेव कार्यान्तरं न भवति, अत एव १२ ह्रस्वस्यापि ह्रस्वः क्रियते । समानानामित्येव? वृक्षावृच्छति । ऋलतीति किम्? दण्डाग्रम्, कन्याया ऋकारः कन्यर्कारः । तकार उच्चारणार्थः । कश्चित् ह्रस्वत्वाभावपक्षे प्रकृतिभावमपीच्छति, तन्मते—खट्वाऋश्यः, नदीऋश्यः इत्याद्यपि भवति; प्राञ्छतीत्यादौ तु परत्वादरेव भवति । “ह्रस्वोऽपदे वा” ॥ १ । २ । २२ ॥ इत्येव सिद्धे, अवर्णार्थं पदार्थं स्वार्थं च १५ वचनम् ॥ २ ॥

लत रूल ऋलभ्यां वा ॥ १ । २ । ३ ॥

लतः स्थाने ऋता लता च परेण सहितस्य यथासंख्यं रूल इत्येतावादेशौ वा भवतः—रू इति स्वरसमुदायो वा, १०

दीर्घविधिमाह—समानानां तेन दीर्घः । समानानामिति सन्धे पञ्ची, स च सन्धे अव्यवहितत्वरूपः । तेनेति “सहाधे” २।१।४।५। इति तृतीया पूर्वपरसमानयोरव्यवहितयोरैवैको दीर्घः, अजाक्षीरेण सहौषध पिबेदिति वद्ववति; एतेन दण्डस्याग्रम् दण्डाग्रमित्यत्र दकारोत्तरवर्तिनोऽकारस्य ङकारोत्तरवर्तिनाकारेण सह दीर्घः कथं नेत्याद्यह्ना निरस्ता । ननु सूत्रे दीर्घ इत्युक्त्या समेऽपि आ ई क इत्यादयो २१ दीर्घा प्राप्नुवन्ति, इत्यत आह—आसन्न इति । आसन्नानासन्नप्रसङ्गे आसन्न एव दीर्घस्तेन दण्डाग्रम्—अत्र पूर्वस्य समानस्याकारस्य परेण समानेन सहितस्य स्थाने आसन्न एवाकारो दीर्घः । यथाक्रममुदाहरति—तवायुः इत्यादिना । ‘समानस्य तेन’ इति जातिनिर्देशेनैव सिद्धे कथं समानानामिति बहुवचनमित्यत आह—बहुवचनं व्याप्त्यर्थम्—व्याप्तिः सन्धस्तदर्थम्, उपस्थितत्वादुत्तरसूत्रस्य स्वविषये प्रवृत्तिर्यथा भवे- २४ दित्यर्थः । तेन—बहुवचनस्य व्याप्त्यर्थकत्वेन, उत्तरसूत्रेण—“ऋलति ह्रस्वो वा” इत्यनेन, अन्यथा—बहुवचनस्य व्याप्त्यर्थकत्वाभावे ऋ कषम इत्यादौ “ऋलति ह्रस्वो वा”, “ऋस्तयोः” इत्यनयोर्युगपत्प्राप्तौ परत्वादरेव स्यात् ॥ १ ॥

पाक्षिकह्रस्वविधिमाह—ऋलति ह्रस्वो वा । अत्र समानानामित्यनुवर्तते । समानाना ऋलति ह्रस्व वा इत्यन्वयः, तदर्थमाह—२७ समानानाम्—इत्यादिना । चालऋश्यः—( यगजाति ) अत्र समानाकारस्य ऋकाराव्यवहितपूर्वस्य स्थाने ऋकारे परे आसन्नो ह्रस्वो विकल्पेन भवतीति समन्वयः, एषमन्वयत्रापि । ननु कन्या लृकार इत्यादावनेन ह्रस्वत्वे सति कथं न “अवर्णस्येवर्णादि०” सूत्रे अलादिक भवतीत्यत आह—ह्रस्वकरणसामर्थ्यादेव इति । यदि दीर्घस्थाननिष्पन्नस्य ह्रस्वस्य कार्यान्तरं भवेत्तर्हि कोऽर्थोऽनेन ह्रस्वविधानेनेति तदेव बोधयति यत् विधान- ३० सामर्थ्यात् कार्यान्तराभाव इति व्यर्थीभूय वाक्यान्तरकल्पना, ज्ञापनकलमाह—अत एव इति, स्वांशे चारितार्थं स्पष्टमेव । ऋलतीत्यत्र तकार- किमर्थं इत्यत आह—तकार उच्चारणार्थः इति । दुर्गासिंहन्यासकृतोर्मतमाह—कश्चिन्नु इति । क्षीरस्वामिन्यासकृन्मत शेषेरे “ह्रस्वोऽसवर्णे०” पा० ६।१।१२।७। सूत्रे द्रष्टव्यम्, तन्मते रूपत्रय बोध्यम् । ननु प्राञ्छतीत्यत्र “ऋलति ह्रस्वो वा” इत्यनेन कथं न ह्रस्व इत्यत आह—३३ प्राञ्छतीत्यादौ इति । नन्विदं कथमारभ्यते “ह्रस्वोऽपदेवा” इत्यनेन ह्रस्वत्वमिति चेत् तस्मादस्य विषयभेद निर्दिशति—“ह्रस्वोऽपदे वा” इत्येव इत्यादिना । “ऋलति ह्रस्वो वा” इति सूत्र अवर्णार्थं पदार्थं स्वार्थं च । “ह्रस्वोऽपदे वा” १।२।२२। इति तु “ह्रस्वोऽपदे वा” १।२।२१। इत्यनुवृत्त्या—इवर्णार्थं, अपदार्थं, अस्वार्थं च इति स्पष्ट एवानयोर्युगपदभाव इति संक्षेपः ॥ २ ॥

३६

लृकारस्य स्थाने “ऋकारेण सहितस्य रू” लृकारेण सहितस्य च लृ इति विधेय वर्णद्वय विदधाति—लृत रूल ऋलभ्यां वा इति, तदेवाह—लृतः स्थाने इत्यादिना । अनेन विधीयमानस्य वर्णद्वयस्यान्यमतप्रदर्शनपूर्वकं परिचयमाह—रू इति स्वर-समुदायो वा इत्यादिना । इदं खमत शाकटायनसमतमपि “ऋक्षोऽस्वाच” शा० १।१।७६। इति सूत्रे अमोषादृशौ—पृ० २० । वर्णान्तरत्वे ३९

स्वरव्यञ्जनसमुदायो वा; वर्णान्तरं वा । तदपीपत्स्पृष्टकरणं द्विरेफतुरीयमध्यर्धस्वरमात्रमित्येके, संवृततरं सकलरेफकारमर्ध-  
मात्रस्वरभक्तिकमित्यन्ये; द्विरेफश्रुतिकमध्यर्धस्वरमात्रमित्यपरे । एवं लृ इत्यपि । ऋता-ऋकारः, पक्षे-पूर्वेण ह्रस्व, उत्तरेण  
१ ऋकारश्च-ऋऋकारः, कृकारः । लृता-लृलृकारः, पक्षे-दीर्घत्वं ह्रस्वत्वं च-लृलृकारः, लृलृकारः । लृवर्णस्य स्थानि-  
त्वमिच्छन्त्येके ॥ ३ ॥

ऋतो वा तौ च ॥ १ । २ । ४ ॥

६ ऋकारस्य स्थाने ऋता लृता च परेण सहितस्य यथासंख्य इल्ल इत्येतावादेशौ वा भवतः । 'तौ च'-ऋकारलृकारौ  
ऋता लृता च सह ऋकारस्य वा भवतः । ऋता-पितृपभः, पक्षे-पितृपभः; पितृकृपभः । लृता-होत्लृकारः, पक्षे-होत्-  
कारः; होत् लृकारः । तौ च-पितृपभः, होत्लृकारः; पक्षे यथाप्राप्तम् । अत्रापि ऋवर्णस्य स्थानित्वमिच्छन्त्येके ॥ ४ ॥

९ ऋस्तयोः ॥ १ । २ । ५ ॥

'तयोः' पूर्वस्थानिनोर्लृकारऋकारयोः स्थाने यथासंख्यमृता लृता च परेण सहितयोर्ऋकारो द्विमात्र आदेशो भवति ।  
कृपभः, होत्लृकारः ॥ ५ ॥

१२ मतभेदानाह—तदपीपत्स्पृष्टकरणं द्विरेफतुरीयं अध्यर्धस्वरमात्रम् इत्येके—प्राञ्च, अस्य विधेयस्य वर्णद्वयस्य पादोन मात्राद्वय बोध्य-  
मित्याशयः । ईषत्स्पृष्ट करणमस्येति ईषत्स्पृष्टकरणं, रेफस्य तुरीयौ रेफतुरीयौ द्वौ रेफतुरीयौ अस्मिन्निति द्विरेफतुरीय, अधिकमर्धं यस्या सा  
अध्यर्धो स्वरस्य मात्रा स्वरमात्रा अध्यर्धो स्वरमात्रा अस्मिन्निति अध्यर्धस्वरमात्रमिति त्रीणि विशेषणानि विधीयमानस्यास्य बोध्यानि । संवृततर-  
१५ प्रयत्न, सकलरेफकारम्—सकल-परिपूर्णं रेफ ऋकारश्चात्र तत्तथा, अर्धमात्रस्वरभक्तिकम्—अर्धं मात्रा यस्या सा अर्धमात्रा स्वरस्य  
भक्ति स्वरभक्ति यस्य तत्तथा, अर्धमात्रस्वरभक्तिकमिदं वर्णद्वय विधेय मन्वते अन्ये—प्राञ्च । रेफस्य श्रुति रेफश्रुति, द्वे रेफश्रुतौ यत्र तत्तथा-  
'द्विरेफश्रुतिकम्, अध्यर्धो स्वरमात्रा अस्मिन्निति-अध्यर्धस्वरमात्रमित्यपरे—शेषाह्निपादा । मतानीमानि महाभाष्ये शाकटायने च  
१८ दृश्यन्ते, "तुल्यासं०" इति सूत्रे पा० १।१।९। ऋकारः—ऋ ऋकार इत्यत्रानेन लृकारस्य ऋकारेण सहितस्य स्थाने इ इत्यादेशः, पक्षे-तदभावे  
पूर्वेण—"ऋलृती"त्यनेन, उत्तरेण—"ऋस्तयो" इत्यनेन । लृकारः—लृ लृकार इत्यत्र लृकारस्य लृकारेण सहितस्य स्थाने लृकारो भवति ।  
पक्षे—तदभावे, दीर्घत्वं—"समानानां तेन दीर्घं" इत्यनेन, ह्रस्वत्वं—"ऋलृती"त्यनेन । अत्र प्राञ्च-लृत इति विहाय लृवर्णस्य स्थानितया  
२१ निर्देशं कुर्वन्ति, तथा सति 'वर्णग्रहणे जातिग्रहणमि'ति सर्वविधलृकारग्रहण बोध्यम्, तदेवाह—लृवर्णस्य स्थानित्वमिच्छन्त्येके ॥ ३ ॥

ऋकारस्य परेण ऋकारेण सहितस्य स्थाने इ परेण लृकारेण सहितस्य च लृ इति वर्णद्वय विदधाति—ऋतो वा तौ च इति ।  
अत्र पूर्वं सम्पूर्णं सूत्रमनुवर्तते लृत इति स्थानिन विहाय वेति च । अशद्वयमत्र—ऋतो वा इत्येकोऽशः, तौ च इत्यपरस्त्वत्र पूर्वसादृत इति,  
२४ ऋलृभ्यामिति वेति चाभिसंबध्यते । ऋत इल्ल ऋलृभ्यां वा इति, ऋत तौ ऋलृभ्यां वा इति चान्वयः । उभयोरंशयोरर्थमाह—ऋकारस्य  
स्थाने इत्यादिना । अपराशे—तौ इत्यनेन स्थानितया प्रसिद्धावेव ऋकारलृकारौ विधेयतया शृण्वेते । पितृ कृपभः—अत्र परस्थितऋकारेण  
सहितस्य ऋकारस्य स्थाने इ इत्यादेशो विकल्पेन भवति—पितृपभः, पक्षे "समानानां तेन दीर्घं" इत्यनेन दीर्घं—पितृपभः, "ऋलृति  
२७ ह्रस्वो वा" इत्यनेन ह्रस्वत्वे—पितृकृपभ इति । एवमन्यत्रापि । पितृ कृपभ इत्यत्र तौ चेत्यनेन ऋकारस्य परेण ऋकारेण सहितस्य स्थाने ऋ  
इत्यादेशो पितृपभ इति । एवमन्यत्रापि । केचन मूले ऋत इति विहाय ऋवर्णस्य स्थानितया निर्देशं कुर्वन्ति, तथा सति 'वर्णग्रहणे जातिग्रहण-  
मि'ति सर्वविधऋकारग्रहण बोध्यम्, तदेवाह—अत्रापि इत्यादिना ॥ ४ ॥

३० ऋस्तयोः—अत्र ऋलृभ्या इत्यनुवर्तते, तयोरिति पूर्वसूत्रयोरुक्तयोः स्थानिनोर्ग्रहणम्, लृत इति ऋत इति च, तयो ऋलृभ्या  
ऋ इत्यन्वयः, तदेवाह—तयोः पूर्वस्थानिनोरिति । "लृत०" १।२।३। इति "ऋत०" १।२।४। इति सूत्रयोः स्थानितया निर्दिष्टयोरित्यर्थस्त्व-  
वाह—लृकारऋकारयोः इत्यादिना । लृकारस्य परस्थितऋकारेण सहितस्य स्थाने ऋ, ऋकारस्य परस्थितलृकारेण सहितस्य स्थाने ऋ  
३३ इत्यर्थः । कृपभः—ऋ कृपभ इत्यत्रानेन लृकारस्य परेण ऋता सह ऋ इत्यादेशः । होत्लृकारः—होत् लृकार इत्यत्रानेन ऋकारस्य परेण लृता  
सह ऋ इत्यादेशः । नन्विदं किमर्थं ऋ कृपभ इत्यादौ लृऋतो स्वत्वेन द्विमात्रऋकार "समानानां तेन दीर्घं" इत्यनेन सेतयति इति चेदुच्यते-  
"समानानां तेन०" इति द्वयोः षष्ठीतृतीयानिर्दिष्टयोः स्थानित्वमिति ऋकारस्यैव स्थानित्वे नियामकभावेन पूर्वं परं वा लृकाररूप स्थानिनमाश्रित्य  
३६ दीर्घं क्रियमाणे लृकारोऽपि स्यादिति ऋकार एव स्यादित्येतदर्थमस्यारम्भात् ॥ ५ ॥

अत्र प्रकरणे ऋकारस्य ऋकारे दीर्घत्वात् पितृपभ, ह्रस्वत्वात् पितृकृपभ, "ऋतो वा तौ च" इत्यनेन इ ऋ इत्यादेशद्वयात् पितृपभ,  
पितृपभ इति रूपचतुष्टय सिद्धम् ॥ १ ॥ लृकारस्य लृकारे दीर्घत्वात् लृलृकार, ह्रस्वत्वात् लृ लृकार, "लृत इल्ल ऋलृभ्या" वा इति लृसङ्गावात्  
३९ लृलृकार इति रूपत्रय सिद्धम् ॥ २ ॥ ऋकारस्य ऋकारे, लृकारस्य लृकारे च दीर्घत्वह्रस्वत्वमतान्तरप्रकृतिवद्भावाच्च त्रीणि रूपाणि ॥ ३ ॥ ऋका-  
रस्य लृकारे "ऋलृति" इति ह्रस्वत्वात् विकल्पपक्षे मतान्तरेण प्रकृतिवद्भावात् "ऋतो वा तौ च" इत्यत्र मतान्तरेण ऋवर्णस्थानित्वात् इ ऋ  
इत्यादेशद्वयात् "ऋस्तयो" इति ऋविधानाच्च रूपत्रयम् ॥ ५ ॥ एव लृकारस्य ऋकारे "ऋलृति" इति ह्रस्वत्वात् विकल्पपक्षे मतान्तरेण  
४२ प्रकृतिवद्भावात् लृत इति रूमावात् ऋस्तयोरिति ऋभावाच्च रूपचतुष्टयम् ॥ ६ ॥ तथा ऋकारस्य लृकारे "ऋलृति०" इति ह्रस्वत्वात् "ऋतो  
वा तौ च" इत्यनेन इ ऋ इत्यादेशद्वयात् "ऋस्तयो" इति ऋविधानाच्च रूपत्रयम् ॥ ७ ॥ तथा लृकारस्य ऋकारे ऋलृति० इति ह्रस्वत्वात्  
लृत इति रूमावात् "ऋस्तयो" इति ऋविधानाच्च रूपत्रयम् ॥ ८ ॥ एवमष्टभिविकल्पं रूपान्येकोनविंशत् ॥



## अवर्णस्येवर्णादिनैदोदरल् ॥ १ । २ । ६ ॥

अवर्णस्य स्थाने इवर्णलवर्णऋवर्णैः परैः सहितस्य यथासंख्यमेत् ओत् अर् अल् इत्येते आदेशा भवन्ति । देवेन्द्रः, तवेहा, मालेयम्, सेक्षते, तवोदकम्, तवोबा, गङ्गोदकम्; सोढा । वृक्ष इन्द्र, त इन्द्रमित्यादौ च ङौ जस इकारे चैकपदाश्रयत्वेनान्तरङ्गमेवमेव भवति, न तु परपदाश्रितं वहिरङ्गमिकारस्य दीर्घत्वम् । परमर्षिः, तवर्कारः, महर्षिः, सर्कारेण, तवल्कारः; सल्कारेण । त्रिमात्रादेरपि स्थानिनः स्थाने द्विमात्रावेवैदोतौ भवतः, सूत्रे तयोरेव विवक्षितत्वात् । अवर्णस्येति किम् ? दर्षादम्, गधूदकम्, पितृषमः; कल्कारः । इवर्णादिनैति किम् ? दण्डाग्रम् ॥ ६ ॥

## ऋणे प्रदृशाण्वसनकम्बलवत्सरवत्सतरस्यार् ॥ १ । २ । ७ ॥

प्रादीनामवर्णस्य ऋणशब्दे परे परेण ऋकारेण सहितस्यारित्ययमादेशो भवति । अरोऽपवादः । प्रगतमृणं प्रार्णम्, दशानामृणं दशार्णम्, दश ऋणान्यस्य दशार्णः क्षत्रियः, दश ऋणानि जलदुर्गाण्यस्यां दशार्णां नदी, ऋणस्यावयवतया

तथा हि—					
ऋकारस्य ऋकारे	समानाना०	ऋलृति०	ऋतो वा (वर्णान्तरं)	तौ च	उदा०
पितृ ऋषम	पितृषम	पितृऋषम.	पितृषम	पितृषम	४ १२
लृकारस्य लृकारे			लृत इल्ल० (वर्णान्तरं)		
ऋ लृकार	कृकार	ऋ लृकार	कृकार		३
ऋकारस्य ऋकारे			मतान्तरं प्रकृ०		
कृ ऋकार	कृकार	कृ ऋकार.	कृ ऋकार.		३५
लृकारस्य लृकारे			मतान्तरं प्रकृ०		
कृ लृकार.	कृकार	कृ लृकार.	कृ लृकार		३ १८
ऋकारस्य लृकारे	ऋलृति०	मतान्तरं प्रकृ०	ऋतो वा	तौ च	ऋतयो. ५
कृ लृकार	कृ लृकार	कृ लृकार.	(मतान्तरेण ऋवर्णं०स्था०)		
लृकारस्य ऋकारे			कृकार	लृकार.	कृकार. २१
कृ ऋकार	कृ ऋकार.	कृ ऋकारः	लृत इल्ल०		४
ऋकारस्य लृकारे			(मतान्तरेण लृवर्णं०स्था०)		
कृ लृकार	कृ लृकार	कृ लृकार.	कृकार		कृकारः २४
लृकारस्य ऋकारे			ऋतो वा (वर्णान्तरं)	तौ च	
कृ लृकार	कृ लृकार	कृ लृकार.	कृकार.		४
लृकारस्य ऋकारे			लृत इल्ल०		
कृ ऋकार	कृ ऋकार	कृ ऋकार	(वर्णान्तरं)		२७

कृकारः ३

२९ ३०

“समानानाम्”, “ऋलृति०”, “लृत ऋल्ल०”, “ऋतो वा तौ च०”, “ऋतयो०”, कश्चित् रुक्त्वामावपक्षे०, ऋवर्णस्यापि स्थानित्वमते०, लृवर्णस्यापि स्थानित्वमते० चेमानि रूपाणि यथायथ बोध्यानि ।

अवर्णस्येवर्णादिनै० इति । अवर्णस्य परेण इवर्णेन सह एव, अवर्णस्य परेण लवर्णेन सह ओत्, अवर्णस्य परेण ऋवर्णेन सह अर्, इ० अवर्णस्य परेण लृवर्णेन सह अल् इत्यन्वयः । देवेन्द्रः—येव इन्द्र इति स्थिते अत्रावर्णस्य परेण इवर्णेन सहितस्य स्थाने एत्वम् । एवमन्वयापि । वाक्यसंस्कारपक्षे—वृक्ष इन्द्र इत्यत्र ङौ, त इन्द्रमित्यत्र च जस इकारे “समानानाम्” इति दीर्घे “अवर्णस्येवर्णादिना०” इति अवर्णस्ये-वर्णस्ये सह एव च प्राप्नोतीति, ‘असिद्धं वहिरङ्गमन्तरङ्गे’ इति न्यायेनैवमेवेति समाधत्ते—वृक्ष इन्द्रं, त इन्द्रमित्यादौ चेति । एकपदा-इ० अश्रयत्वेनेति—हेतुरयमेवत्वस्यान्तरङ्गत्वे । परपदाश्रितं इति—दीर्घस्य वहिरङ्गत्वे निमित्तम् । अन्यत्सर्वं स्पष्टम् । ननु रमा इन्द्र, खट्वा ईश इत्यादौ त्रिमात्रचतुर्मात्रायां स्थानिनां कथं द्विमात्रावेदोतावित्यत आह—त्रिमात्रादेरपीत्यादिना । यदाह—श्रीलेशमन्त्रक “एवोक्तेऽङ्गीच्” पा० १।१।४। सूत्रे कस्मादेवान्तर्यतस्त्रिमात्रचतुर्मात्रायां स्थानिनां त्रिमात्रचतुर्मात्रा आदेशा न भवन्ति ? इत्याशङ्क्य तपरे गुणवृद्धी इति समाहितवाग् ॥ ६ ॥ ३९

ऋणे प्रदृशाण्व० इति । अत्र अवर्णस्येवर्णादिनै० । तत्र प्रादीनामवयवविभागेनान्वयस्तदाह—प्रादीनामवर्णस्य इति । स्पष्टे-ऽन्वयार्थः । ननु प्र ऋणमित्यादौ “अवर्णस्येवर्णादिना” इति अर् कथञ्च भवतीत्याह—अरोऽपवाद इति, निरवकाशत्वाद्वापवादत्वं बोध्यम् । यपेद सूत्रमपवादत्वादरो बाधक तथा हल्यत्राघटे न वा ? इत्यत आह—समानानामित्यादि । उक्तत्वात्—“समानानां तेन दीर्घे” इति सूत्रे ४२ तत्त्वप्रकाशिकायामिति शेषः । इह—एतत्सूत्रविषये, उत्तरत्र—“ऋते तृतीयासमासे” इति सूत्रविषये च बाध्यविशेषविन्तापक्षान्नयम् । ह्रस्वः—



संवन्धि ऋणमृणार्णम्, वसनानामृणं वसनार्णम्, एवं कम्बलार्णम्, वत्सरार्णम्; वत्सतरार्णम् । समानानामिति बहु-  
वचनस्य व्याख्यार्थत्वेनोक्तत्वादित्येतावत् च ह्रस्वोऽपि भवति-प्रऋणम्, दशऋणमित्यादि । वत्सरशब्दस्यार्थं नेच्छन्त्येके ॥७॥

३

### ऋते तृतीयासमासे ॥ १ । २ । ८ ॥

ऋतशब्दे परे यदवर्णं तस्य स्थाने परेण ऋकारेण सहितस्यारित्ययमादेशो भवति, तौ चेन्निमित्तनिमित्तिनावेकत्र  
तृतीयासमासे भवतः । शीतेन ऋतः शीतार्तः, दुःखेन ऋतः दुःखार्तः; ह्रस्वोऽपि भवति-शीतऋतः, दुःखऋतः । ऋत इति  
५ किम् ? सुखेतः, दुःखेतः । तृतीयाग्रहणं किम् ? परमर्तः । समास इति किम् ? दुःखेनर्तः-दुःखेन ऋतः । 'ऋतेन कृतः  
ऋतकृतः, परमश्चासौ ऋतकृतश्च परमर्तकृतः' इत्यत्र तु निमित्तनिमित्तिनौ नैकत्र तृतीयासमास इति न भवति । अवर्ण-  
स्येत्येव ? पितृतः । कथं 'क्षुधार्तः सन् शालीन् कवलयति मांस्याकवलितान्', क्षुधशब्दस्य हि व्यञ्जनान्तत्वात् शुद्ध-  
५ इति प्राप्नोति ? नैवम्, आङ्पूर्वे ऋते तृतीयान्तस्यासमस्तस्यायं प्रयोगः, आ ऋत इति उत्तरेणाह आर्तः; ततः क्षुधेत्यनेन  
संवन्धः । यस्य तु व्यञ्जनान्तादप्याप्, तन्मते क्षुधया ऋत इति समस्तप्रयोग एवायम् ॥ ८ ॥

### ऋत्यारूपसर्गस्य ॥ १ । २ । ९ ॥

२२ उपसर्गसंवन्धिनोऽवर्णस्य स्थाने ऋकारादौ धातौ परे परेण ऋकारेण सहितस्यारादेशो भवति । सर्वापवादः ।  
प्राच्छति, पराच्छति, प्राप्नोति, पराप्नोति । ऋतीति किम् ? उपेतः । उपसर्गस्येति किम् ? इहच्छति, इहऋच्छति ।  
येन धातुना युक्ताः प्रादयस्तं प्रत्युपसर्गसंज्ञाः, तेनेह न भवति-प्रगता ऋच्छका अस्मात् प्रच्छको देशः, एवं प्रथम, प्रथ-  
२५ वनम् । अरिति वर्तमाने पुनराग्रहणमारेव यथा स्यादित्येवमर्थम्, तेनेहोत्तरयोश्च ह्रस्वत्व बाध्यते ॥ ९ ॥

### नाम्नि वा ॥ १ । २ । १० ॥

उपसर्गसंवन्धिनोऽवर्णस्य स्थाने ऋकारादौ 'नाम्नि'-नामावयवे धातौ परे परेण ऋकारेण सहितस्यारादेशो वा  
१८ भवति । प्रार्थनीयति, प्रर्थनीयति । केचित्तु पक्षे ह्रस्वत्वमपि मन्यन्ते-प्रऋथनीयति । उपसर्गस्येत्येव ? इहर्थनीयति ।  
ऋतीत्येव ? उपोद्गीयति । ऋकारमिच्छति उपकारीयति ॥ १० ॥

"ऋच्छति०" इत्यनेनेति शेषः । वत्सरशब्दस्यार्थं नेच्छन्त्येके-पाणिनिशाकटायनदेवनन्द्यादयः, "प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानाट्णे"  
२२ "एत्येवत्युद्धृष्ट" पा० ६।१।८९। इति सूत्रे वार्तिकम्, "प्रदशार्णवसनकम्बलवत्सतरस्यर्णे" शा० १।१।९०। इति शाकटायनः ॥ ७ ॥

ऋते तृतीयासमासे । अत्रावर्णस्येत्यनुवर्तते आह इति च, तत्र ऋते इति वैयधिकरण्येन विशेषणम्, ऋते अवर्णस्य आह  
तृतीयासमासे इत्यन्वयः; तदर्थमाह-ऋतशब्दपरे इत्यादिना । स्थानिनिमित्तयोर्द्वयोः स्थितिस्तृतीयासमासेऽपेक्ष्यते न त्वेकतरस्येत्याह-

२४ तृतीयासमासे इत्यस्यार्थः-तौ चेदिति । शीतार्तः-अत्र ऋतशब्दाव्यवहितपूर्वस्य अवर्णस्य आह ऋकारेण सहितस्य स्थाने भवति,  
स्थानिनिमित्तयोस्तृतीयासमासवृत्तित्व स्पष्टमेव । एवमन्यत्रापि । ह्रस्वः-"ऋच्छति०" इत्यनेन । दुःखेनर्तः-अत्र समासो न । परमर्तकृत  
इत्यत्र तृतीयातत्पुरुषसमासानन्तरं कर्मधारये निमित्तस्य तृतीयासमासे वर्तमानत्वेऽपि निमित्तित्वस्यत्राभावाच्च भवत्याह, तदेवाह-परमर्तकृतः

२७ इत्यत्र तु इत्यादि, न भवति इत्यन्तेन । पितृतः-अत्र ऋतशब्दाव्यवहितपूर्वोऽवर्णो नास्त्यतो न भवत्याह । 'तृषा शुष्यत्यासे पिवति  
सलिलं स्वाद् मुग्धि, क्षुधार्तं सन् शालीन् कवलयति मांस्याकवलितान्' । प्रथिते रागाग्नौ घननिषिद्धमाश्लिष्यति बभूव, प्रतीकारे व्याधे सुखमिति  
विपर्यस्यति जन ॥" इदं पद्यं बुद्धिमद्भिस्तु मृग्यम्, शिखारिणीकृतमिदम् । अस्मिन्पद्ये क्षुधार्त इत्यत्र ऋतशब्दाव्यवहितपूर्वस्यावर्णस्याभावादाह

३० कथं भवति ? इत्याशङ्कते-कथं इत्यादिना, प्राप्नोति इत्यन्तेन । समाधत्ते-नैवम् इत्यादिना, संवन्ध इत्यन्तेन । मतान्तरेण समाधान-  
माह-यस्य तु व्यञ्जनान्तादप्याप् इत्यादिना । इदं मातुरितमह-"बहिमातुरिरहोपमवाप्योरुपसर्गयोः । आप चैव हलन्तानां यथा वाचा  
निशा दिशा ॥" इदं वार्तिकम्, सि० की० अव्ययप्रकरणे । मातुरि-व्यञ्जनान्तादापमिच्छति तस्य भवे क्षुधार्त इति अनेनाह भवत्येव ॥ ८ ॥

३३ ऋत्यारूपसर्गस्य । अत्रावर्णस्य आह इति चानुवर्तते । उपसर्गस्येत्यनेन धातुरित्याक्षिप्यते उपसर्गत्वान्यथानुपपत्त्या, तत्र धातौ  
ऋति इति विशेषणं, तथा सति "सप्तम्या आदि"रित्यादिपदोपरिस्थिता ऋकारादौ धातावित्यर्थलाभः । अवर्णस्येत्यत्र उपसर्गस्येत्यस्यान्वयोवयवद्वारा,  
उपसर्गस्यावर्णस्य ऋकारादौ धातौ आह इत्यन्वयः, तदर्थमाह-उपसर्गसंवन्धिन इत्यादिना । अनेन स्वविषये अद्यत्प्राप्तं तत्सर्वं बाध्यते, इति

३३ बाध्यसामान्यस्विन्तापसामिप्रायेणाह-सर्वापवाद इति । प्राच्छति-अत्र ऋकारादिधात्वव्यवहितपूर्वस्य प्रोपसर्गसंवन्धिनोऽवर्णस्य, ऋकारेण  
सहितस्य स्थाने आरादेश इति । 'ऋघूद' वृद्धौ, प्र ऋप्नोति इति श्लेये-प्राप्नोति । एवमन्यत्रापि । धातुविभोगे प्राचीनामुपसर्गत्वमित्याह न्याय-  
सुखेन-येन धातुना इत्यादिना । ननु "ऋत्यारूपसर्गस्ये"ति सूत्रे पूर्वस्मादारित्यनुवृत्तौ किमर्थमाह इत्युपादानमित्यत आह-आरिति वर्तमाने

३३ इत्यादिना, तत्फलमाह-तेन इत्यादिना । इह-अस्मिन्सूत्रे, च उत्तरयोः-"नाम्नि वा", "ल्याल्वा" इत्युत्तरसूत्रयोरित्यर्थः ॥ ९ ॥

नाम्नि वा । अत्रावर्णस्येति समग्रं पूर्वसूत्रं चानुवर्तते । उपसर्गस्यावर्णस्य नाम्नि ऋकारादौ धातौ आह वा इत्यन्वयः । अन्यत्सर्वं  
प्राग्वदोष्यम् । नाम्नि इत्यवयवतया धातौ इत्यत्रान्वेति, तदर्थमाह-उपसर्गस्य इत्यादिना । नामावयवे-नाम अवयवो यस्य स इति

३२ विग्रहः । केचित्तु-शाकटायना "दुपि वा" शा० १।१।९१। अमोघावृत्तौ । उप ऋकारयतीत्यत्र धातुर्दार्ढ्यऋकारादिस्य ऋति इत्यनेनाग्रहणं  
निर्दिशति-ऋकारमिच्छति इत्यादिना ॥ १० ॥

## लुत्याल्वा ॥ १ । २ । ११ ॥

उपसर्गसंबन्धिनोऽवर्णस्य 'लृति'-लृकारादौ नामावयवे धातौ परे परेण लृकारेण सहितस्य आल् वा भवति । अलोऽपवादः । उपाल्कारीयति, उपल्कारीयति । अत्रापि पक्षे ह्रस्वत्वमिच्छन्त्येके-उपल्कारीयति । उपसर्गस्येतेव ? इहल्कारीयति । लृतीति किम् ? लृकारमिच्छति उपल्कारीयति ॥ ११ ॥

## ऐदौत् संध्यक्षरैः ॥ १ । २ । १२ ॥

अवर्णस्य स्थाने संध्यक्षरैः पौः सहितस्य ऐत् औत् इत्येतावादेशावाप्तौ भवतः, एवं चैकारैकाराम्यां सहितस्य ए ऐकारः, ओकारैकाराम्यां त्वौकारः । तवैषा, खट्वैषा, तवैन्द्री, सैन्द्री, तवौदनः, खट्वौदनः, तवौपगवः, खट्वौपगवः । अवर्णस्येतेव ? दध्येतत्, दध्यैच्छत्, मध्वौदनः, साध्वौषधम् । संध्यक्षरित्यैतन्निर्देशादुपसर्गस्येति निवृत्तम् ॥ १२ ॥

## ऊटा ॥ १ । २ । १३ ॥

अवर्णस्य परेणोऽ सहितस्य स्थाने औकारादेशो भवति आसन्नः । धौतः, धौतवान्, लावयति पावयति इति किपि, णिलोपे, "अनुनासिके च ह्रुः शूद" ॥ ४ । १ । १०८ ॥ इत्युदिः लौः, पौः । ओकारापवादो योगः ॥ १३ ॥

## प्रस्यैष्योढोढ्यूहे स्वरेण ॥ १ । २ । १४ ॥

प्रशब्दसंबन्धिनोऽवर्णस्य एष एष्य ऊढ ऊढि ऊह इत्येतेषु परेषु परेण स्वरेण सहितस्य स्थाने ऐदौतावादेशौ भवतः आसन्नौ । प्रैषः, प्रैष्यः, प्रौढः, प्रौढिः, प्रौहः । ऊहे नेच्छन्त्येके । प्रस्येति किम् ? अपोढः, उपोढः । एषादिष्विति किम् ? प्रेतः, प्रोतः । कथं प्रैषः, प्रैष्यः ? ईषे ईष्ये च भविष्यति, यदापि आ ईष्य एष्य इति तदापि "ओमाङि" १५ ॥ १ । २ । १८ ॥ इत्यवर्णलोपे प्रैष्य इत्येव भवति । 'यस्मिन् प्राप्ते यो विधिराम्यते स तस्य वाधको भवति' इति न्यायात् "उपसर्गस्यानिषेधेदिति" ॥ १ । २ । १९ ॥ इत्यस्यैवायं वाधको, न "ओमाङि" ॥ १ । २ । १८ ॥ इत्यस्य । अयेह कस्मान्न भवति-प्रैष्यते, प्रैष्यते, प्रौढवानिति ? 'अर्थवद् ग्रहणेऽनर्थकस्याग्रहणात्' । कथं तर्हि ऊढिशब्दस्य प्यन्तस्य १८ सार्थकस्य प्रयोगे प्रोढयतीति ? ऊढशब्देन सार्थकेन स्याद्यन्तेन साहचर्यात्, प्यन्ते औत्वाभावात्; प्रौढादिशब्दानु णौ प्रौढयतीत्यादि भवत्येव ॥ १४ ॥

लुत्याल्वा । अत्रावर्णस्य उपसर्गस्य नास्ति इति चानुवर्तते, उपसर्गस्यावर्णस्य लृति नास्ति धातौ आल् वा इत्यन्वयः, तदर्थमाह-२१ उपसर्गस्य इत्यादिना । "अवर्णस्येवर्णादिने" १।२।६। इत्यनेन प्राप्तमलमपवादत्वेन बाधते, तदाह-अलोऽपवादः इति । अत्रापि पक्षे ह्रस्वत्वमिच्छन्त्येके-शाकटायना "झुपि वा" शां १।१।९१। इति सूत्रे ॥ ११ ॥

ऐदौत्संध्यक्षरैः । अत्रावर्णस्येवर्णादिने । अवर्णस्य संध्यक्षरैः ऐदौतो इत्यन्वयः, तदर्थमाह-अवर्णस्य स्थाने इत्यादिना । तव २४ एषा अत्र एकारसहितस्यावर्णस्य स्थाने एकार-तवैषा, एवमन्यत्रापि । त्रिमात्रचतुर्मात्रस्यानिना स्थाने द्विमात्रादेशो भवति इति बोधनार्थं सदुपसर्गस्येति निवर्तकं संध्यक्षरैरिति बहुवचनमित्यत आह-संध्यक्षरैरित्यैतन्निर्देशात् इत्यादिना, अन्यथा 'स्यान्यासन्न' इति न्यायेन त्रिमात्रचतुर्मात्रौ प्राप्नुयाताम् इति ॥ १२ ॥

ऊटा । अत्रावर्णस्येवर्णादिने । "ऐदौत्" इति समुदायानुवृत्तौ 'आसन्न' इति न्यायेन औदित्वेन समुपयुज्यते । अवर्णस्य ऊटा औत् इत्यन्वयः, तदर्थमाह-अवर्णस्य परेण इत्यादिना । 'लौ' इत्यादेर्निष्पत्तिप्रकारमाह-लावयति, पावयति इत्यादिना । सूत्रमिदं "अवर्णस्येवर्णादिने" १।२।६। इत्यस्यापवादत्वेन बाधकः, तदाह-ओकारापवादो योग इति ॥ १३ ॥

प्रस्यैष्योढोढ्यूहे स्वरेण । अत्रावर्णस्येति ऐदौदिति चानुवर्तते । प्रस्य अवर्णस्य एषैष्योढोढ्यूहे स्वरेण ऐदौत् इत्यन्वयः, तदर्थमाह-प्रशब्दसंबन्धिनोऽवर्णस्य इत्यादिना । प्र एष इत्यत्र प्रोपसर्गसंबन्धिनोऽवर्णस्य एष इत्यस्य एकारेण सहितस्य स्थाने ऐदादेशो-प्रैषः, एवमन्यत्रापि । ऊढशब्दस्वरेण सहितस्य प्रशब्दसंबन्धिनोऽवर्णस्य स्थाने औत न मन्वते केचिदित्याह-ऊढ नेच्छन्त्येके-प्राप्तः, कस्येद भतमिति १३ तु मयम् । यदीदं सूत्रं तर्हि ? प्रैषः, प्रैष्य इति कथम् ? इत्याह-इति । समाधत्ते-ईषे ईष्ये च इति, नेमौ एष एष्यो इत्याशयः । ननु 'पूर्व धातूपसर्गयोः कार्यमन्तराह' इति न्यायेन आ ईष्य एष्यस्तत् प्र इत्यनेन योगे प्रैष्य इत्यत्रानेन कथमैतमित्यत आह-यदापि इत्यादिना । प्र एष्य इत्यत्र "ओमाङि" इत्यस्य कषणानेन बाध इत्यत आह-यस्मिन् प्राप्ते यो विधिः इत्यादिना । सूत्रमिदं प्रोपसर्गयुक्ते एष एष्य इत्यत्र १६ "ऐदौत्संध्यक्षरैः" इत्यस्य वाधकस्य "उपसर्गस्यानिषेधेदिति" इत्यस्य वाधनार्थम्, एवमेव प्रोपसर्गयुक्ते ऊढ इत्यादौ "अवर्णस्येवर्णादिने" इत्यनेन प्राप्तस्य औत्वस्य बाधकम् इति विवेकः । ननु प्रैष्यते प्रैष्यते प्रोढवानिति प्रयोगेषु "प्रस्यैष्ये" इत्यादिना ऐदौतो कथं न भवत इत्याशङ्कते-अयेह कस्मान्न इत्यादिना । तामाशङ्कां निराकरोति-अर्थवद्ग्रहणे इत्यादिना । एतत्प्रयोगान्तर्भूतानामेवादीनामर्थवत्त्वाभावादस्य सूत्रस्याप्रवृत्तिः-१९ इत्याशयः । प्रोढयतीत्यत्र प्यन्तस्य ऊढिशब्दस्यार्थवत्त्वात् कथं न औत्वमित्यत आशङ्कते-कथं तर्हि इत्यादिना । "प्रस्यैष्योढोढ्यूहे स्वरेण" इति सूत्रेऽप्येतत् स्याद्यन्तस्य ऊढशब्दस्योपादानात्तत्साहचर्यासादृशसैनोढिशब्दस्य ग्रहणाच्च प्रोढयतीत्यत्र औत्वमित्याशयेन समाधत्ते-ऊढशब्देन इत्यादिना । ननु प्रौढयतीति प्रयोगदर्शनं कुत इत्याह-प्रौढादिशब्दानु इत्यादिना ॥ १४ ॥

## खैरखैर्यक्षौहिण्याम् ॥ १ । २ । १५ ॥

खैर खैरिन् अक्षौहिणीत्येतेषु अवर्णस्य परेण खरेण सहितस्य ऐत् औत् इत्येतौ भवतः । खखेरः खैरः घञ्, स ईरोऽनेति खैरमास्यताम्, स्वयमीरति ईर्ते वा खैरः—नाम्पुपान्त्यलक्षणः कः । स्वयमीरितु शीलमस्येति खैरी, 'नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इति खैरिणी । अक्षाणामूहोऽस्यामस्तीति अक्षौहिणी । खैरशब्दान्मत्वर्थयिनैव इना सिद्धे, पृथक् खैरिन्ग्रहणं ताच्छीलिकादिगिन्नन्तेऽपीरिन्शब्दे ऐत्कार्यम् ॥ १५ ॥

## अनियोगे लुगेवे ॥ १ । २ । १६ ॥

नियोगो—नियमोऽवधारणम्, तदभावोऽनियोगोऽनवच्छेदः; तद्विषये एवशब्दे परे अवर्णस्य लुग् लोपोऽदर्शनं भवति । इहेव तिष्ठ, अद्येव गच्छ, खेच्छावृत्तिरत्र गम्यते नावधारणम्; नियोगे तु इहैव तिष्ठ मा गाः । ये त्वनियोगेऽव्यापारणे इच्छन्ति तन्मते शास्त्रलोकप्रतीतप्रयोगविरोधः, तथा हि—“अमैवाव्ययेन” पा० ॥ २ । २ । २० ॥, “धातोस्तन्निमित्तस्यैव” पा० ॥ ६ । १ । ८० ॥, “तपस्तपःकर्मकस्यैव” पा० ॥ ३ । १ । ८८ ॥, “लङः शाकटायनस्यैव” पा० ॥ ३ । ४ । १११ ॥, येनैव हेतुना वाक्यं भवति तेनैव वृत्तिरपि प्राप्नोति, यथैव तर्हि, इहैव स्यादिति । ‘यदैव पूर्वं जनने शरीरम्’, ‘इशैव कोपाखण्डा रिपोरुः’, ‘अद्यैवावां रणमुपगतौ’, ‘तरसैव कोऽपि भुवनैकपुरुषः’ पुरुषस्तपस्यतीति । कथं शकानामन्धुः शकन्धुः, अटतीत्यटा, कुलात् कुलस्य वाऽटा कुलटा, पततीति पतोऽज्जलेः पतजलिः, सीम्नोऽन्तः सीमन्तः—केशविन्यास एव, प्रार्थनायाध्ययन प्रध्ययनम्, हलस्य ईषा हलीषा, एव लाङ्गलीषा, मनस ईषा मनीषा, हलीषा लाङ्गलीशेत्यादि पृषोदरादिताद्विष्यति । कथं तुवै त्वै नुवै न्वै? निपातान्तरमेतत् ॥ १६ ॥

## वौष्टौतौ समासे ॥ १ । २ । १७ ॥

ओष्ठशब्दे ओतुशब्दे च परे अवर्णस्य लुग्वा भवति, तौ चेन्निमित्तनिमित्तनावेकत्र समासे भवतः । बिम्बोष्ठी, बिम्बौष्ठी, बिम्बोष्ठा, बिम्बौष्ठा, स्थूलोतुः, स्थूलौतुः । समास इति किम्? हे राजपुत्र ! ओष्ठ पश्य । हे छात्र ! ओतुस्वर शृणु । अवर्णस्येतेव ? शुच्योष्ठी ॥ १७ ॥

खैरखैर्यक्षौहिण्याम् । अत्रावर्णस्येत्यनुवर्तते । अस्मिन्सूत्रे विहितेदौत खैरखैर्यक्षौहिणीशब्दा निर्दिष्टा, तदेव विद्वणेति—  
२१ खैरखैरिन् इत्यादिना । खैरशब्दनिष्पत्तिप्रकारमाह—खखेर इत्यादिना, क इत्यन्तेन । घञ्—“भावाऽकञ्चो” ५।३।१८। इत्यनेन । नाम्पुपान्त्यलक्षणः कः—“नाम्पुपान्त्य” ५।१।५४। इत्यनेन क इत्याशयः । खैरिन्तिलस्य व्युत्पत्तिमाह—स्वयमीरितु इत्यादिना । ननु सूत्रे खैरिन् इत्युपादानात् खैरिणी इति कथमित्यत आह—नामग्रहणे इत्यादिना । अक्षौहिणीशब्दस्य विग्रहमाह—अक्षाणामूह इत्यादिना ।  
२४ ऊह—समूहो रचना वा, उक्तच—“स्यात्सेनाऽक्षौहिणीनामखाऽगाष्टकद्विकैर्गजैः । रयैश्चैभ्यो हयैर्जिघ्रै पश्वैश्च पदातिभिः ॥” खोपसङ्घातिसमेताऽभिधानचिन्तामणौ ३ मर्त्यकाण्डे श्लो० ४१३ । ननु खैरशब्दात् मत्वर्थीये इति खैरिन् इति सिद्धे, किमर्थं सूत्रे खैरिन् इत्युपादानमित्याशङ्क्य समाधत्ते—खैरशब्दान्मत्वर्थयिनैव इत्यादिना, ऐत्कार्यम् इत्यन्तेन ॥ १५ ॥

२७ अनियोगे लुगेवे । अत्रावर्णस्येत्यनुवर्तते । अनियोगे एवे अवर्णस्य लुक् इत्यन्वयः । प्रतियोगिनोऽर्थबोधे सुतरा तदभाषार्थबोध इत्याह—नियोगो—नियमोऽवधारणम् इत्यादिना । अनवच्छेदः—अनिश्चय इत्यर्थः, सूत्रार्थमाह—तद्विषये इत्यादिना । अद्येव गच्छ इत्यत्र एवशब्दस्यानिश्चयार्थकत्वं दर्शयति—खेच्छावृत्तिरत्र इत्यादिना । नियोगे—अवधारणे, निदर्शनमाह—इहैव इत्यादिना ।  
३० प्राश्नस्तु नियोजन नियोगो व्यापार इति व्यावर्धते, तेषां मत प्रदर्श्य विरोधं शास्त्रप्रयोगस्य च दर्शयति—ये त्वनियोगेऽव्यापारणे इच्छन्ति इत्यादिना । ये—शिवमुक्या । तत्रादौ शास्त्रप्रतीतप्रयोगविरोधं दर्शयति—“अमैवाव्ययेन” इत्यारभ्य, इहैव स्यादित्यन्तेन । “अमैवाव्ययेन”, “धातोस्तन्निमित्तस्यैव”, “तपस्तपःकर्मकस्यैव”, “लङः शाकटायनस्यैव” इतीमानि स्यादित्यन्तेन ।  
३३ पाणिनिसूत्राणि । येनैव हेतुना वाक्यं भवति तेनैव वृत्तिरपि प्राप्नोति, यथैव तर्हि, इहैव स्यादिति—पाणिनीयमहामाध्यस्य वाक्यानीमानि संभाव्यन्ते । लौकिकप्रयोगविरोधं दर्शयति—“यदैव पूर्वं जनने शरीरं सा दक्षरोधात् ध्रुवती ससर्ज । तदाप्रभृतेषु विमुक्तस्य पति पशूनामपरिग्रहोऽभूत् ॥ ५३ ॥” प्रथमसर्गे कुमारसम्भषस्य । “जयत्युपेन्द्र स चकार दूरतो विभित्तया य क्षणलब्धलक्ष्यया । इशैव ॥ १५ ॥” चतुर्थोऽङ्के वेणीसंहारे । “तरसैव कोऽपि भुवनैकपुरुषः । पुरुषस्तपस्यति । ज्योतिरमलवपुषोऽपि रवेरभिभूय दृष्टं द्रव सीम-विग्रह ॥ २६ ॥” किरातार्जुनीये द्वादशसर्गे । ननु शकन्धुः, कुलाट इत्यादौ कथमवर्णादिङ्गित्याशङ्कते—कथम् इत्यादिना, लाङ्गलीशा इत्यन्तेन । समाधत्ते—पृषोदरादिताद्विष्यति । ननु तुवै इत्यस्य त्वै, नुवै इत्यस्य न्वै कथम्? इत्याशङ्कते । समाधत्ते—निपातान्तरमिति ॥ १६ ॥

वौष्टौतौ समासे । अत्रावर्णस्य लुगिति चातुवर्तते । वौष्टौतौ अवर्णस्य लुक् वा समासे इत्यन्वयः, तदर्थमाह—ओष्ठशब्दे ४२ इत्यादिना । बिम्बोष्ठी—बिम्बमिव ओष्ठौ यस्या सा इति विग्रहः, “नासिकोदरौष्ठ” २।४।३९। इत्यनेन जीर्वा । अत्रौष्ठशब्दाव्यवहितपूर्व-स्यावर्णस्य लुक् स्थानिनिमित्तयोरेकसमासवृत्ते । एवमन्यत्रापि । हे राजपुत्र ! ओष्ठ—अत्र समासाभावादोष्ठशब्दे परे नावर्णलुक् किन्वा-त्वम् । हे छात्र ! ओतुस्वर—अत्र समासेऽपि निमित्तनिमित्तिनोरेकत्र समासेऽवृत्त्यावर्णलुक् न । शुच्योष्ठी—अत्र निमित्तनिमित्तिनो-  
४५ रेकसमासे वृत्तित्वेऽपि स्थानिनोऽवर्णस्याभावाज्जकारलुक् ॥ १७ ॥

## ओमाडि ॥ १ । २ । १८ ॥

अवर्णस्य ओमि आडादेशे च परे लुग् भवति । आडि दीर्घत्वेनैव सिद्धे लुग्विधानमनर्थकं स्यादिति आडिति आडादेशो गृह्यते—अद्योङ्कारः, सोमित्यवोचत् । आडि—आ उठा ओढा, अद्य ओढा अद्योढा; सा ओढा सोढा । आ ऋश्यात् अर्यात्, अद्य अर्यात् अद्यश्यात्; खट्वा अर्यात् खट्वाश्यात् । आ इहि एहि, उप एहि—उपेहि, परा एहि—परेहि । एवमुपेतः । ओमाडि इति किम् ? तवौदनः । अवर्णस्येत्येव ? आ ऋतोः अतोः दध्यतोः ॥ १८ ॥

## उपसर्गस्यानिणेषेदोति ॥ १ । २ । १९ ॥

उपसर्गसंबन्धिनोऽवर्णस्य इण् एधतिवर्जिते एकारादावोकारादौ च धातौ परे लुग् भवति । प्रेलयति, परेलयति, प्रोखति, परोखति । उपसर्गस्येति किम् ? प्रगता एल्का अस्मात् प्रैलको देशः । अनिणेषेति किम् ? उपैति, परैति, उपैषते, परैषते । एदोतीति किम् ? उपायते, ग्रायते ॥ १९ ॥

## वा नास्मि ॥ १ । २ । २० ॥

नामावयवे एकारादावोकारादौ च धातौ परे उपसर्गसंबन्धिनोऽवर्णस्य लुग्वा भवति । उपेकीयति, उपैकीयति । प्रोषधीयति, प्रौषधीयति ॥ २० ॥

## इवर्णादेरस्वे स्वे यवरलम् ॥ १ । २ । २१ ॥

इवर्णोऽवर्णः इवर्णलवर्णानामस्वे स्वे परे यथासंख्यं य् व् इत्येते आदेशा भवन्ति । दध्यत्र, नद्येपा, मध्यत्र, वध्वासनम्, पित्रर्थः, कादयः, लनुबन्धः, लाकृतिः । इवर्णादेरिति किम् ? पचति । अस्व इति किम् ? दधीदम् । स्वर इति किम् ? मधु पिबति । केचित्त्विवर्णादिभ्यः परान् यवरलानिच्छन्ति—दधियत्र, तिरियङ्, मधुवत्र, भूवादयः, तन्मतसंग्रहार्थमिवर्णादेरिति पञ्चमी व्याख्येया ॥ २१ ॥

ओमाडि । अवर्णस्य लुगिति चानुवर्तते, अवर्णस्य ओमाडि लुक् इत्यन्वय, तदर्थमाह—अवर्णस्य ओमि आडादेशो च इत्यादिना । ननु एते आलोच्यता इतौ तस्यावादेश इत्यर्थं कथमित्यत आह—आडि दीर्घत्वेनैव इत्यादिना । अत्रायमाशय—यथा—लोखनेनाडादेशो न गृह्यते तर्हि केवलेन आडा सहावर्णस्य “समानाना तेन धीर्घः” १।२।१। इति धीर्घत्वे सर्वत्रालोऽसम्भवेन तस्मिन् परेऽनेनावर्णलुक् विधान व्यर्थमिति आलोखनेनाडादेशो गृह्यते इति । अद्य ओङ्कार इत्यत्र अवर्णस्य ओमि परे लुकि सति—अद्योङ्कारः । एवमन्य-२१ त्रापि । दध्यतोः—असमस्त प्रयोगोऽयम्, ततो भक्षणीय वर्जनीय वेति योग ॥ १८ ॥

उपसर्गस्यानिणेषेदोति । अवर्णस्य लुगिति चानुवर्तते । प्राचीनामुपसर्गस्यान्यथानुपपत्त्याधात्वाद्दोष । तत्र अनिणेषेदोति इत्यनेन निश्चिष्यते । इण् च एष् च इणेषू, न इणेषू अनिणेषू च (विशेषणमिद एत ओतस्त्वसम्भवादिति) एव, अनिणेषेत् च ओञ् तस्मिन् वा न २४ विद्येते इणेषौ यत्र स अनिणेषू, च एवेत्यादिप्राग्भूतः । “सप्तम्या आदि” इत्यादिपदोपस्थितिश्च । उपसर्गस्यावर्णस्यानिणेषेदोति लुगित्यन्वय, तदर्थमाह—उपसर्गसंयन्धि इत्यादिना । ‘इलण्’ प्रेरणे—प्रेल्यति—अत्र प्रोपसर्गावर्णस्य इणेषूवर्जितेकारादिधात्वेलाव्यवहितपूर्वस्य लुक् इति समन्वय । सूत्रमिदमेतौत्सप्यसरेरित्यस्य बाधकम् । ग्रायते—अत्र “उपसर्गस्यायौ” २।३।१००। इत्यनेन रस्य लत्वम् ॥ १९ ॥

वा नास्मि । अवर्णस्य अवर्णस्य एदोति लुगिति चानुवर्तते । अवयवद्वारा नाश्रित्युपसर्गाक्षिप्तघातान्वितान्वेति, “सप्तम्या आदि” इत्यादिपदोपस्थितिश्च । उपसर्गस्यावर्णस्य नामावयवे एकारादावोकारादौ च धातौ लुक् वा इत्यन्वय, तदर्थमाह—नामावयवे इत्यादिना । उप ऐकीयति इति विश्लेषे अत्र नामावयवएकारादिऐकीयधात्वव्यवहितपूर्वस्य उपोपसर्गावर्णस्य लुक्विकल्पेन—उपेकीयति । अत्र ३० “भुट्स्त्वौ” २।१।७६। इति पस्य बलं न भवति, “असिद्ध बहिरङ्मन्तरङ्ग” इति न्यायात् । एवमन्यत्रापि ॥ २० ॥

इवर्णादेरस्वेस्वेयवरलम् । स्पष्टोऽन्वय । यवरलम् इत्यादेशचतुष्टयनिर्देशेन स्थानिचतुष्टयलाभ, अन्यथा इवर्णादेरित्यादिपदादे-कारादीनामपि ग्रहणं प्रसज्यत इत्याह—इवर्णोऽवर्णः इवर्णलवर्ण इत्यादि । ननु द्विसप्तति स्थानिन आदेशाश्च सप्त इति कथमादेशादेकिनोर्वधासख्यमिति ३३ चेन्न सूत्रे वर्णग्रहणेन जातिग्रहणावपासलोपपत्तेः । दधि अत्र—अत्रेकारस्य अखस्वरव्यवहितपूर्वस्य यकार—दध्यत्र, एवमन्यत्रापि समन्वय । ये इवर्णादिभ्यो यवरलान् विदधति तेषां मतमाह—केचित्सु इत्यादिना । देवन्यादय इति शेष, मतमिदं “अस्ते” शा० १।१।७३। सूत्रे समोघाटतौ प्रदर्शितम् । दधि अत्र इत्यवस्थायां पञ्चमीव्याख्यानपक्षे इकारात् परत्र यस्त्वधा सति—दधियत्र । एकेनापि प्रयत्नेनोभय लभ्यमिति ३६ तन्मतमिप्रायेणाप्यस्य सूत्रस्य व्याख्यानं समवतीत्याह—तन्मतसंग्रहार्थम् इत्यादिना । “इवर्णादेरस्वे स्वे यवरलम्” इति यवपक्षे षडुपाणि भवन्ति, तथाहि—दध्यत्र दध्यत्र दध्यत्र दध्यत्र दध्यत्र इति “अदीर्घाद्विरामैकव्यञ्जने”, “ततोऽस्या”, “द्वितीयस्त्वौतीयचतुर्थे” इति धावसहकारेण । पञ्चमी व्याख्याने—दधियत्र, तकारवित्त्वे सति दधियत्र, ह्रस्वपक्षे दधियत्र, तकारद्वित्वे दधि अत्र एव दशरूपाणि ॥ २१ ॥

१ ओमि आडादेशे च परे अवर्णसो ख० ता० । २ स्यादित्या × × × आदेशो पु०, माष्ठा० । ३ अद्योङ्कार ख० ता०, माष्ठा० । ४ प्रैषते पु०, × × × ख० ता०, × × × माष्ठा०, × × × म० भ० ।

## ह्रस्वोऽपदे वा ॥ १ । २ । २२ ॥

इवर्णादीनामस्वे स्त्रे पर ह्रस्वो वा भवति, अपदे-न चेत् तौ निमित्तनिमित्तिनावेकत्र पदे भवतः । नदिष्वा, नद्येषा । दधिअत्र, दध्यत्र । मधुअत्र, मध्वत्र । अतिएति, अत्येति । अनुएति, अन्वेति । ह्रस्वस्यापि ह्रस्वः पर्जन्यवलक्षणप्रवृत्तेः, ह्रस्वविधानसामर्थ्याच्च कार्यान्तरं न भवति । कश्चित्तु पक्षे प्रकृतिभावमपीच्छति-कुमारी अत्र । अपदे इति किम् ? नद्यौ, वध्वौ; नद्युदकम्, वध्वासनम्, नद्यर्थः, गौर्याराधः-अन्तर्वर्तिविभक्त्यपेक्षया पदभेदेऽपि समासे सत्येकपद्यम्; एवमनुव्यचलत् । अथवा अनुप्राविशदित्यादिवदखण्डमव्ययं विभक्त्यन्तत्वाच्चैकपदत्वम् । अत एवैतद्योगे “सपूर्वात् प्रथमान्ताद्वा” ॥ २ । १ । २२ ॥ इति विकल्पेन वक्षसादयो भवन्ति-अथो अनुव्यचलद् वो देवदत्तः, अथो अनुव्यचलद् युष्माकं देवदत्तः, अथो अनुप्राविशद् वो जिनदत्तः, अथो अनुप्राविशद् युष्माकं जिनदत्त इत्यादि । १ इवर्णादेरित्येव ? हे मुनयाचर, हे साधवाचर । स्त्र इत्येव ? नदी वहति । अस्त्र इत्येव ? दधीदम् ॥ २२ ॥

## एदौतोऽयाय् ॥ १ । २ । २३ ॥

एकारैकारयोः स्थाने स्त्रे परे यथासंख्यमय् आय् इत्येतावादेशौ भवतः । नयनम्, नायकः । अस्त्र इति इवर्णादि- १२ संबद्ध तन्निवृत्तौ निवृत्तम्, तेन स्त्रेऽपि भवति-वृक्षेयव, रायैन्द्री । स्त्र इत्येव ? जले पद्मम्, रैधृतिः ॥ २३ ॥

## ओदौतोऽवाव् ॥ १ । २ । २४ ॥

ओकारौकारयोः स्थाने स्त्रे परे यथासंख्यमय् आव् इत्येतावादेशौ भवतः । लवनम्, लावकः, पटवोतुः, गावौ । १५ स्त्र इत्येव ? गोशृङ्गम्, नौकाष्ठम् ॥ २४ ॥

## व्यक्ये ॥ १ । २ । २५ ॥

ओकारौकारयोः स्थाने क्यवर्जिते यकारादौ प्रत्यये परे यथासंख्यमय् आव् इत्येतावादेशौ भवतः-गव्यति, गव्यते ।

१८ ह्रस्वोऽपदेवा । अत्र इवर्णादे अस्त्रे स्त्रे इति चानुवर्तते, इवर्णादे अस्त्रे स्त्रे ह्रस्व वा अपदे इत्यन्वयः, तदर्थमाह-इवर्णादीनामित्यादिना । नद्यी एषा इत्यत्र अस्त्रस्त्राव्यवहितपूर्वस्येकारस्य ह्रस्वो भिन्नपदद्वये स्थानिनिमित्तयो-नदिष्वा १, पक्षे “इवर्णादे” ११२।२१। इति यत्-नद्येषा २, “अदीर्घादिति” द्वित्वे-नद्येषा ३, “ततोऽस्या” इति द्वित्वे-नद्येषा ४, इवर्णादेरिति पञ्चमी व्याख्यानपक्षे- २१ नदीयेषा ५, मतान्तरप्रकृतिभावपक्षे-नद्यी एषा ६, इतिवत् सर्वत्रोदाहरणेषु भावनीयम्, एवमन्यत्रापि । इदं सूत्रं ‘अनु एति’ इत्यादौ ह्रस्वस्यापि ह्रस्वत्वं विदधाति, क्यमित्याह-पर्जन्यवलक्षणप्रवृत्तेः-यथा मेघः यावद्भूतं पूर्णं च सर्वमभिवर्धति तद्वदित्यर्थः । नन्वेव सति कार्यान्तरं कथं भवतीत्याह-ह्रस्वविधानसामर्थ्याच्च इत्यादिना । यत्र दीर्घस्यानेन ह्रस्वत्व, तत्र पक्षे प्रकृतिभावमिच्छतोर्भेदविशेष- २४ माह-कश्चित्तु इति । दुर्गासिंहस्यासकृतोर्मतं प्राशुपदार्शितम्-“कलुषि” ११२।२। इति सूत्रे । ननु तथा उदकम् नद्युदकम्, गौरीमाराधोतीति “कर्मणोऽण्” ५।१।७२। गौर्याराध इत्यादौ समासेऽपि अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाधिस्य स्थानिनिमित्तयोर्भिन्नपदद्वये कथञ्चानेन ह्रस्वत्वमित्याह-अन्तर्वर्तिविभक्त्यपेक्षया इत्यादिना । एवं-अन्तर्वर्तिविभक्तिं समाधिस्य पदभेदेऽपि प्रथमं च पश्चादनो समासे सत्येकपदत्वमित्याह- २७ अनुव्यचलत् । अत्र समासात् सेर्लुक् । अनुव्यचलत् इति तु “स्त्रादयोऽव्ययम्” १११।३०। इति स्त्रादेराकृतिगणत्वात्, “निमित्तियमन्त” १११।३१। इति विभक्त्यन्तप्रतिरूपकत्वाद्वाव्ययमेकपदत्वं च विभक्त्यन्तत्वात्संख्येयादिहृष्टान्तसमुपन्यासपुरं सरं निर्दिशति-अनुप्राविशद् इति । अनुप्राविशद् इत्यादिवत् अखण्ड अव्ययम् अनुव्यचलत्-इति एकपदत्वं च विभक्त्यन्तत्वात् इत्यन्वयः । तदेकपदत्वफलमाह-अत एव इत्या- ३० दिना । अनुव्यचलदित्यस्यैकपदत्वादेव । एतद्योगे-अनुव्यचलदित्यादियोगे, युष्माच्छब्दस्य “सपूर्वात् प्रथमान्ताद्वा” २।१।३२। इत्यनेन विकल्पेन वक्षसादयो भवन्ति । तदुदाहरति-अथो अनुव्यचलद् वो देवदत्तः इत्यादिना ॥ २२ ॥

एदौतोऽयाय् । अत्र स्त्रे इत्यनुवर्तते, एदौ स्त्रे अयाय् इत्यन्वयः, तदर्थमाह-एकारैकारयोः इत्यादि । आदेशादेशिनो सम-

३३ सख्याकत्वेन यथासंख्यलाभस्तदाह-यथासंख्यमिति । नयनम्-अत्र स्त्राव्यवहितपूर्वस्य एकारस्य अयादेशो सति रूपनिष्पत्तिः । एवमन्यत्रापि । ननु यथा स्त्रे इत्यनुवर्तते तथा ‘अस्त्रे’ इति कथञ्चावर्तते इत्याह-अस्त्र इति इवर्णादिसंघट्टं इत्यादिना । यत्रेवर्णादेरित्यस्य संबन्धस्तत्रास्त्र इति संबध्यते, तत्संबद्धस्यैव तस्यानुवृत्तेः, असमस्तनिर्देशाभावात्तथास्त्रस्त्रे इत्येव निर्दिशेत् इत्याशयः । तन्निवृत्तिफलमाह-तेन ३६ इत्यादिना । यथा-वृक्षेयव, रायैन्द्री-श्वे एष, रै ऐन्द्री क्रमेणात्रोभयोरैकारैकारयोश्च स्वत्वमेव, तथासति तदव्यवहितपूर्वस्य एकारस्य एकारस्य च अय् आय् । स्त्र इति कृतिपदोपादानफलमाह-स्त्रे इत्येव ? इत्यादिना ॥ २३ ॥

ओदौतोऽवाव् । अत्र स्त्रे इत्यनुवर्तते । ओदौ स्त्रे अवाव् इत्यन्वयः, तदर्थमाह-ओकारौकारयोः इत्यादिना । सर्वमन्यत् ३९ प्राग्वहोच्यम् । लवनम्-अक्ये लो अनमित्यत्र स्त्राव्यवहितपूर्वस्य ओकारस्य अय् । एवमन्यत्रापि ॥ २४ ॥

व्यक्ये । अत्र “ओदौतोऽवाव्” इत्यनुवर्तते । मि अक्ये इति सूत्रस्थपदविशेषः, अक्ये इत्यत्र पदुदास्यको नम् तेन च प्रत्यये इति लभ्यते । तत्र अक्ये मि इति च विशेषणतया अन्वितं, मि इति यकारादावित्यर्थं “सप्तम्या आदि” ७।१।११। इत्यादिपदोपस्थिते । ४२ ओदौत अक्ये यकारादौ प्रत्यये अवाव् इत्यन्वयः, तदर्थमाह-ओकारौकारयोः स्थाने इत्यादिना । गव्यति-अत्र क्यवर्जितयकारादि-

नाव्यति, नाव्यते, लव्यम्, पव्यम्, अवश्यपाव्यम्, अवश्यपाव्यम्, गव्यम्; नाव्यम् । यीति किम्? गोभ्याम्, नौभ्याम् । अक्य इति किम्? उपोयते, औयत, लौयमानिः । क्यवर्जनाद्यकारादिः प्रत्ययो गृह्यते, तेनेह न भवति—गोयूतिः, नौयानम् । कथं गव्यूतिः—क्रोशद्वयम्? क्रोशयोजनादिवदव्युत्पन्नः सज्ञाशब्दोऽयम्, गवां यूतिर्गव्यूतिरिति व्युत्पत्तिपक्षे तु षोडशरादिवाद् भविष्यति । शरव्यमिति तु शरसमानार्थात् शरशब्दादुवर्णान्तलक्षणे ये, शरान् व्ययतीति वा हे भविष्यतीति ॥ २५ ॥

ऋतो रस्तद्धिते ॥ १ । २ । २६ ॥

६

ऋत ऋकारस्य यकारादौ तद्धिते परे रादेशो भवति । पितरि साधु पित्र्यम्, आत्र्यम् । तद्धित इति किम्? कार्यम् ॥ २६ ॥

एदोतः पदान्तेऽस्य लुक् ॥ १ । २ । २७ ॥

एदोद्भ्यां पदान्ते वर्तमानाभ्यां परस्याकारस्य लुक् भवति । तेऽत्र, पटोऽत्र; यजन्तेऽत्र । एदोत इति किम्? १ दृष्यत्र । पदान्त इति किम्? नयनम्, लवनम् । अयेति किम्? तयिह, पटविह ॥ २७ ॥

गोर्नाश्यवोऽक्षे ॥ १ । २ । २८ ॥

गोरोकारस्य पदान्ते वर्तमानस्याक्षशब्दे परे नास्मि—सज्ञायां गम्यमानायामव इत्ययमादेशो भवति । गोरक्षीव- १२ अप्राण्यङ्गत्वात् समासान्तेऽति गवाक्षो—वातायनः । नास्मीति किम्? गवामक्षाणि गोऽक्षाणि, गोअक्षाणि । कश्चित्सज्ञायां गवाक्षाणीत्यपीच्छति ॥ २८ ॥

खरे वाऽनक्षे ॥ १ । २ । २९ ॥

१५

गोरोकारस्य पदान्ते वर्तमानस्य खरे परे अव इत्ययमादेशो वा भवति, अनक्षे—स चेत् खरोऽक्षशब्दस्यो न

प्रत्ययक्यनव्यवहितपूर्वस्य गोरोकारस्य अव, एवमन्यत्रापि । मि इति सूत्रस्थपदोपादानफलमाह—यीति किम्? इत्यादिना । क्यं पयुदस्त स किमर्थं इत्याह—अक्य इति किम् इत्यादिना । 'किं'-तन्तुसन्ताने, कर्मणि यप्रत्यये, 'यजादिवचे किति' ४।१।७९। इति सप्रसारणे, 'क्षीर्घ-१८ क्षिवयक्ष्यक्ष्ये च' ४।३।१०८। इति क्षीर्घे, उप ऊयते इति स्थितौ 'अवर्णसे०' १।२।६। इत्योत्वे—उपोयते । अत्र क्यवर्जितयकारादिप्रत्ययाभावाच्चाव । 'अक्ये' इत्यत्र नव पयुदासार्यकवेन प्रत्ययलाभ इत्याह भगवान् दृष्टिपूर्व—क्यवर्जनात् इत्यादिना । तत्फलमाह—तेनेह इत्यादिना । नन्वेव क्रोशद्वयार्थे गव्यूतिशब्दे कथमव इत्याह—कथम् इत्यादिना । समाधत्ते—क्रोश इत्यादिना, संज्ञाशब्दोऽयम् इत्यन्तेन । २१ नन्वेतदव्युत्पत्तिपक्षाभिप्रायेण, यदि चेत् व्युत्पत्तिपक्षस्तदा का गतिरित्याह—गवां यूतिः इत्यादिना । शरशब्दाद्यप्रत्यये ओकाराभावादवादेशाभावे कथं शरव्यमित्याह—शरव्यमिति इत्यादिना, ये इत्यन्तेन । शरवे हितमित्यर्थे 'उवर्णयुगादेर्य' ७।१।३०। इति ये, 'अव्ययसु-वोऽव्' ७।४।७०। इत्यादेशो शरव्यमिति सिध्यति, अथवा शरान् इत्यादिनापि सिध्यति ॥ २५ ॥

ऋतो रस्तद्धिते । अत्र मीलनवर्तते, तच्च सूत्रोपात्ते तद्धिते इत्यस्य विशेषण, तथासति "सप्तम्या आदि" इत्यादि पदोपस्थिति, ऋत यादौ तद्धिते इ इत्यन्वय, तदर्थमाह—ऋत ऋकारस्य इत्यादिना । पितरि साधु पित्र्यमित्यस्यार्थ, पितृ यम् इति स्थितौ यकारादि-तद्धिताव्यवहितपूर्वस्य ऋकारस्य रादेशो सति पित्र्यम्, इत्यमन्यत्र समन्वय । तद्धिते इत्यस्य फलमाह—तद्धित इति किम्? कार्यम् ॥ २७ नन्विदं तद्धितग्रहणप्रयोजनमदुक्तं, कार्यमित्यत्र "ऋवर्णे०" ५।१।१७। इति घ्यणि, तस्य गोपदेशाद्देहेरव प्राप्तेरिति चेदुच्यते—जाययात्, इष्टयात् इत्यत्र तद्धितग्रहणमात्रे रत्वापत्ते ॥ २६ ॥

एदोतः पदान्तेऽस्य लुक् । पदान्ते एदोत अस्य लुक् इत्यन्वय, तदर्थमाह—एदोद्भ्याम् इत्यादिना । अत्र यद्यपि भिन्न- १० विभक्त्यन्त पदान्ते इति यथा एदोतो विशेषण तथा अस्य इत्यस्यापि प्राप्नोति, तथापि "गोर्नाश्यवोऽक्षे" इत्यस्याकारलोपापवादत्वं न सम्भवेत्, यतोऽक्षशब्दाकारस्यापदान्तत्वात् । न च एदोत इति सूत्रवैयर्थ्यात् पदान्ते इत्यस्य अस्य इत्यनेनासम्बन्ध इति वाच्यम्, तस्य तत्त्वज्ञाने 'पदान्ते अस्य' इत्यत्र "नामविद०" इति अस्य इत्यत्राकारस्य पदान्तत्वेनाकारलोपे चारितार्थात् । ते अत्र इत्यवस्थायां पदान्तस्यैकारात् ३३ परस्याकारस्य लुक् इति समन्वय, एवमन्यत्र ॥ २७ ॥

गोर्नाश्यवोऽक्षे । अत्र योत पदान्ते इति चानुवर्तते, पदान्ते गो योत अक्षे अव नास्मि इत्यन्वय, तदर्थमाह—गोरोकारस्य इत्यादिना । अत्र नास्मि इत्यनेन लौकिकी नाम सक्ता बोध्या, न तु "अघातु विभक्ति०" इति शास्त्रविहिता, तस्या अत्र व्यभिचाराभावात् इत्याह ३६ ऋगवान् वृत्तिकार—नास्मिन्संज्ञाया । गोरक्षीव—इति विग्रह । "अक्षोऽप्राण्यङ्गे" ७।३।८५। इति अप्राण्यङ्गत्वात् समासान्तेऽति गो अक्ष इति स्थिते, सज्ञायामनेन पदान्तस्थस्य गोरोकारस्य अक्षशब्दाव्यवहितपूर्वस्य अव इत्यादेशो गवाक्ष इति सिध्यति, वातायन इति गवाक्ष इत्यस्यार्थ । एवमन्यत्रापि । गोऽक्षाणि—'एदोत' इति अकारलुक्, गो अक्षाणि—'वाऽनक्षे' १।२।३। इत्यस्य । कश्चित्संज्ञायां ३५ तद्भाष्यतार, भोजदेवसमत । जैनैर्नप्रक्रियाया देवचन्याचार्य "विभाषाऽन्यत्र" जै० ४।३।१०२। इति च सन्निवृत्तवान् । शाकटायनस्य सर्वज्ञमगवतो हेमचन्द्रस्य चास्मिन्विषये समान मत, तथाहि—शाकटायनसूत्र, "वातायनेऽक्षे" शा० १।१।९८। इति "अवोच्यनक्षे" शा० १।१।९६। इति च ॥ २८ ॥ ४२

खरे वाऽनक्षे । अत्र गोरोत अव इति पदान्ते इति चानुवर्तते, पदान्ते गोरोत अनक्षे खरे अव वा इत्यन्वय, तदर्थमाह—गोरोकारस्य इत्यादिना । अनक्षे इति नव प्रत्ययप्रतिषेधार्थकत्वं दर्शयति—स चेत्खरोऽक्षशब्दस्यो इत्यादिना । पयुदासो हि विधि-प्रधान, निषेधस्तु तत्र सामर्थ्यात् प्राप्नोति इति तत्त्वोक्तेर गोऽक्षशब्दात् इत्यादावक्षभिन्नाक्षसदृशशब्दात्तत्त्वखरे परे अव इत्यादेश स्यात्, ४५



भवति । गवाग्रम्, गवाजिनम्, गवोष्ट्रः, गवौदनः, गवेश्वरः; पक्षे यथाप्राप्तम्—गोऽग्रम्, गोअग्रम्, गोऽजिनम्, गोअजिनम्, गवोष्ट्रः, गवोदनः, गवौष्ट्रः । खर इति किम्? गोकुलम् । अनक्ष इति किम्? गोऽक्षम्, गोअक्षम् । पदान्त इत्येव? गवि । ओत इत्येव? चित्रगवर्थः । गोरित्येव? घोऽग्रम् । हे चित्रगवुदकमित्यत्र तु लाक्षणिकत्वाद् गोशब्दस्य न भवति ॥ २९ ॥

इन्द्रे ॥ १ । २ । ३० ॥

गोरोकारस्य पदान्ते वर्तमानस्येन्द्रस्ये खरे परे अव इत्ययमादेशो भवति । गवेन्द्रः, गवेन्द्रयज्ञः । नित्यार्थं वचनम् ॥ ३० ॥  
वाऽत्यसंधिः ॥ १ । २ । ३१ ॥

गोरोकारस्य पदान्ते वर्तमानस्यात्यकारे खरे परे असंधिः—प्रकृतिभावो वा भवति । गोअग्रम्, गोअजिनम् । पक्षे यथाप्राप्तम्—गोऽग्रम्, गवाग्रम्, गोऽजिनम्, गवाजिनम् । अतीति किम्? गवेज्जितम्, गवाननम् । गोरित्येव? घोऽग्रम् । ओत इत्येव? चित्रगवग्रम् । हे चित्रगोऽग्रमित्यत्र तु लाक्षणिकत्वान्न भवति । पदान्त इत्येव? गौरिवाचरति गवति ॥ ३१ ॥

१२ हुतोऽनितौ ॥ १ । २ । ३२ ॥

इतिशब्दवर्जिते खरे परे हुतोऽसंधिर्भवति, संधिकार्यभाग् न भवतीत्यर्थः । देवदत्तः अत्र न्वसि, जिनदत्तः इदमानय, सुश्लोकः आगच्छ; सुमङ्गलः इदमानय । अनिताविति किम्? सुश्लोकेति, सुमङ्गलेति । केचित्तु इतिशब्दे विकल्पमिच्छन्ति—सुश्लोकः इति, सुश्लोकेति; सुमङ्गलः इति, सुमङ्गलेति ॥ ३२ ॥

इ३ वा ॥ १ । २ । ३३ ॥

इ३ इति हुतः खरे परे वाऽसन्धिर्भवति, इतावप्राप्तेऽन्यत्र च प्राप्ते उभयत्र विकल्पोऽयम् । लुनीहि३ इति, लुनी-हीति । चिनुहि३ इदम्, चिनुहीदम् । कथं वशा३ इयम्? वशेयम्?—छान्दसावेतौ ॥ ३३ ॥

प्रसज्ये तु प्रतिषेधस्य प्रधानत्वाद् अक्षादिसमुदायस्येऽप्यक्षशब्दाभित प्रतिषेध इत्याद्यय । गो अग्रम्—अत्र पदान्ते गोरोत स्थाने अनक्ष-शब्दावयवस्वरव्यवहितपूर्वस्य अव इत्यादेशः—गवाग्रम्, पक्षे “वात्यसंधि” १।२।३। इति—गोअग्रम्, उभयोरव्यसवे “एदोत ०” १।२।३। इति छक्—गोऽग्रम्, एवमन्यत्र । खरे, अनक्षे, पदान्ते इति च क्रमेण प्रयोजनपूर्वकमुदाहरति—खर इति किम्? इत्यादिना, पदान्त इत्येव? गवि इत्यन्तेन । ओकारानुवृत्तिफलमाह—ओत इत्येव? इति । चित्रगवर्थः—चित्रा गावो यस्य स चित्रगु, चित्रग-वेऽय चित्रगवर्थः, अत्रौत इत्यननुवृत्तौ “एकदेशविकृतमनन्यवत्” इति न्यायेन ‘गु’ इत्यत्रैकदेशविकृतत्वेऽपि गोशब्दव्यवहारात्स्योकारस्य अव इत्यादेशः स्यात्तन्मा भवति ‘ओत’ इत्यनुवृत्तिर्वाध्या । हे चित्रगो उदकम्—अत्र “ओदौतोऽवाच्” १।२।३। इत्यनेन अच् एव, ननु गोरोतो विद्यमानत्वेन कथञ्चाव इत्यादेश इत्याह—हे चित्रगवुदकमित्यत्र इत्यादिना । समाधानमुखेन हेतुपूर्वक स्पष्टयति—लाक्षणिकत्वाद्—लक्षण-निष्पन्नत्वाद् “लक्षणप्रतिपदोक्तं” इति परिभाषया गोशब्दस्य न भवति इत्यन्वयः ॥ २९ ॥

इन्द्रे । अत्र गोरोत, पदान्ते, अव, खरे इति चानुवर्तते । सूत्रे इन्द्रे खरे इत्यन्वयेन “सप्तम्या आवि” ७।४।११। इत्यादिपदोप-स्थिति, तथा सति पदान्ते गोरोत इन्द्रादी खरे अव इत्यादेश इत्यन्वयः । नन्वेव गवेन्द्रयज्ञ इति सिद्धावपि गवेन्द्र इति कथमिति चेदायन्त-वद्भावेन तत्सिद्धे, तदर्थमाह—गोरोकारस्य इत्यादिना । गो इन्द्र—अत्र गोरोत इन्द्रादिशब्दस्वरव्यवहितपूर्वस्य नित्य अव इत्यादेशे-गवेन्द्रः । एव गवेन्द्रयज्ञ इत्यपि । ननु पूर्वसूत्रेणैव सिद्धे किमर्थमिदमित्याह—नित्यार्थं वचनम् ॥ ३० ॥

वाऽत्यसंधिः । अत्र गोरोत, पदान्ते, खरे इति चानुवर्तते । पदान्ते गो ओत आवि खरे असंधि वा इत्यन्वयः, तदर्थमाह—गोरोकारस्य इत्यादिना । असंधिरित्यस्य पर्याय—प्रकृतिभावः । गोअग्रम्—अत्र अकाररूपस्वरव्यवहितपूर्वस्य गोरोत पदान्तस्यस्य प्रकृतिभावः, पक्षे यथाप्राप्तम्—“एदोत पदान्ते ०”, “खरे वाऽनक्षे” इति च । ओकारानुवृत्तिफलमाह—ओत इत्येव? चित्रगवग्रम्—चित्रगवर्थ इतिवद्बोध्यम् । ननु चित्रगो अग्रम्—अत्र गोरोतो विद्यमानत्वेन कथञ्चावधिरित्याह—हे चित्रगोऽग्रमित्यत्र तु इत्यादिना ॥ ३१ ॥

हुतोऽनितौ । अत्रासंधि खरे इति चानुवर्तते, अतीति नानुवर्ततेऽन्यथा इतिशब्दवर्जनवैयर्थ्यं स्यात्; तदर्थमाह—इतिशब्द-वर्जिते खरे इत्यादिना । असंधिः इत्यस्यार्थमाह—संधिकार्यभाग् इत्यादिना । देवदत्तः अत्र न्वसि—अत्र “द्वारादामध्यस्य ०” ७।४।१९। इति हुतोऽकार । नन्वस्य वाक्यान्तत्वाभावात् कथं हुत इति चेत्, कस्यचिद्वाक्यस्यान्तमिदं गृह्यण इति हुतोऽकार संधिकार्य दीर्घादिक न भजते, इतिशब्दवर्जितस्वरव्यवहितपूर्वधेति समन्वयः । एवमन्यत्र । इतिशब्दवर्जनफलं दर्शयति—अनिताविति इत्यादिना, सुमङ्गलेति इत्यन्तेन । केचित्तु इतिशब्दे विकल्पमिच्छन्ति, अत्र केचित्तु—पाणिनीया । “अस्तवकुपस्थिते” पा० ६।१।१२९।, या०—अमोचावृत्तौ—“न हुतस्यानितौ” शा० १।१।१९। सूत्रे “सर्वे एव हुत साहसमनिच्छता विभाषा वक्तव्य” इति दृश्यते, पाणिनीयस्याप्येऽपि “अमी-त्वेण परस्य” पा० ८।२।९२। इति सूत्रे च दृश्यते ॥ ३२ ॥

इ३ वा । अत्र हुत, खरे, असन्धि इति चानुवर्तते । इ३ हुत खरे असंधिर्वा इत्यन्वयः, तदर्थमाह—इ३ इति हुत इत्यादिना । प्राप्ताप्राप्तविभाषारूपमुभयत्र विकल्पविधायक शास्त्रमिदं क प्राप्ते विभाषा क चाप्राप्तविभाषा इति निर्दिशति—इतावप्राप्तेऽन्यत्र च प्राप्ते इत्यादिना । लुनीहि३ इति—अत्रेकार हुत सन्धिकार्यं न भजते इति समन्वयः । कथं वशा३ इयम्? वशेयम्? अत्र कथं हुत, कथं च ४५ प्रकृतिभाव इत्याह—छान्दसावेतौ ॥ ३३ ॥



ईदूदेत् द्विवचनम् ॥३४॥ ]

श्रीतत्त्वप्रकाशिकाश्रीआनन्दबोधिनीविभूषितम् ।

ईदूदेत् द्विवचनम् ॥ १ । २ । ३४ ॥

ईत् ऊत् एत् इत्येवमन्तं द्विवचनं खरे परेऽसधिर्भवति । ऋणी अत्र, मुनी इह, साधू एतौ, अमू इति, कुण्डे अत्र, माले इति, पचेते इति, पचेथे इति, पचावहे आवाम् । ईदूदेदिति किम् ? वृक्षावत्र । द्विवचनमिति किम् ? कुमार्यत्र । १  
एषां भुतानामितावपि संधिर्न भवति—अग्नी३ इति, वायू३ इति । खर इत्येव ? तव ई—कामौ तवे, प्रत्यासत्तेः खरनिमि-  
त्तकार्यप्रतिषेधात् इह भवत्येव ; तव ई तवे आसाते । केचित्तु—‘मणीवोष्टस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम’ इति प्रयोग-  
दर्शनात् मणी इव मणीवेत्यादावसन्धिप्रतिषेधं वर्णयन्ति, तदयुक्तम् ; वाशब्देनोपमार्थेन सिद्धत्वात्, ‘मणी इवोद्धिन्नमनो-  
हरत्विषौ’ इत्यादावसंधिदर्शनाच्च । अन्ये तु यथादर्शनं संधिमसधि वेच्छन्ति—मणीव, दंपतीव, रोदसीव मणी इव ॥३४॥

अदोमुमी ॥ १ । २ । ३५ ॥

अदस्संबन्धिनौ मुमी इत्येतावसंधी भवतः खरे परे । अमुमुईचा, अमी आसते, अमी अश्वाः । अदसिति १  
किम् ? अन्यत्र ॥ ३५ ॥

ईदूदेत् द्विवचनम् । अत्र खरे असधिरिति चानुवर्तते, ईदूदेत् द्विवचनम् खरे असधि इत्यन्वयः । ननु ईदूदेत् द्विवचनम् इत्यस्य  
कोऽर्थः ? यदि ईदूदेद्रूपं द्विवचनमित्यर्थस्तदा मुनी, धेनू, खट्वे इति सिद्धान्तपत्रे पचेते इत्यादावसंधिर्न स्यात्, तत्र द्विवचनस्यैदन्तत्वेन एद्रूपत्वाभावात् । १३  
यदि च शब्दरूपं विशेष्यमादाय “प्रत्यय प्रकृत्यादे” ७।४।११।५, “विशेषणमन्त” ७।४।११।३ इति च न्यायद्वयसहकारेण ईदूदेदन्तं यद्विवच-  
नान्तं शब्दरूपमित्यर्थस्तदा मुनी, धेनू, खट्वे, पचेते इत्यादिसिद्धान्तपत्रे कुमार्यो अगारं—कुमार्यगारम्, वष्पो अगारम्—वष्पगारं इत्यादौ ईदायन्त-  
स्वतो द्विवचनान्तत्वं प्रत्ययलक्षणेन इति असधि सादनेन इति, तदभावे यत्र कर्तव्य इत्याशयेन तदर्थमाह भगवन्तो धृत्तिकारा—ईत् १५  
ऊत्, एत् इत्येवमन्तं इत्यादिना । नन्वेव मुनी, साधू, खट्वे इत्यादौ ईदूदेद्रूपद्विवचनसत्त्वेन तदन्तद्विवचनाभावात् कथमसधिरिति चेदाद्यन्तव-  
द्भावेन तत्सिद्धे । ऋणी अत्र इत्यादौ आद्यन्तवद्भावेन ईकारान्तद्विवचनं खराव्यवहितपूर्वं सधिकार्यं न लभते इति समन्वयः, एवमन्यत्र ।  
“हृतोऽनितौ” इत्यनेन इतिशब्दवर्जिते खरे सधिकार्यप्रतिषेधं भुताना, इतिशब्दखरे तु ईदूदेता भुतानां सधिकार्यप्रतिषेधोऽनेन, व्यवस्थेयं तदा १८  
भवेद्यदा सूत्रे तत्परकरणं न स्यात्, तेन च तत्कालानां बोध इति “ईदूदेत्” इत्यत्र तत्परकरणं मुखद्वयस्यैवमसदेहायमुच्चारणार्थं वा खोक्त्य आह—  
एषा इत्यादिना । एषाम्—ईदादीनां भुतानां, “ईदूदेत् द्विवचनम्” इति सूत्रेण संधिर्न भवति इतौ खरे परे । अपिशब्दात् सिद्धं अनितौ खरे  
भुतानामसधि पूर्वसूत्रेण, तदुदाहरति—अग्नी३ इति । खरे इत्यनुवृत्तिफलमाह—खर इत्येव ? इत्यादिना । “मम्यानिर्दिष्टे पूर्वस्य” इति न्यायेन २१  
खराव्यवहितपूर्वस्य ईदादे संधिनिषेधो, न तु पूर्वस्थिते खरे ईदादे संधिनिषेध इत्यत उदाहरति—तव ई—कामौ तवे—कामार्थकई” शब्दद्विव-  
चनं ‘ई’ इति धृतौ प्रदर्शितम् । अत्र यदि तव इत्यत्र अकारे पूर्वस्थिते खरे ईदादे संधिनिषेधः स्यात्तर्हि तवे इति न सिद्धयेव इति भावः । ननु  
‘तव ई आसाते’ इत्यत्र खराव्यवहितपूर्वस्य ई इति द्विवचनस्यास्यौ पूर्वेषां तव इत्यस्याकारेण सहासधि सादित्यत आह—प्रत्यासत्तेः २४  
इत्यादिना । अयं भावः ‘यस्मिन् सति यद्भवति तत्तस्य निमित्तम्’ इति ‘तव ई आसाते’ इत्यत्र परे खरे सति “इवर्णोदे०” इति यत्, ‘तवे आसाते’  
इत्यत्र च परे खरे सति “एदौतोऽयाय०” इति अयादेशश्च न भवति, यत्वायादेशयोः खरप्रत्यासन्नत्वात् खरनिमित्तकत्वाच्च, तव ई आसाते  
इत्यत्र “अवर्णस्येवर्णादिना०” इत्येतत् तु परखरमन्तरेणापि भवतीति, एवं न खरनिमित्तम् न तत्प्रत्यासन्नं चेति प्रत्यासत्तिन्यायात् खरप्रत्यासन्नस्य २७  
खरनिमित्तकस्यैव च कार्यस्यानेन निषेधो, न खराप्रत्यासन्नस्य खरनिमित्तकस्य च कार्यस्य निषेध इति । प्रत्यासत्तेः—पूर्वप्रदर्शितप्रत्यासत्तिन्या-  
यात्, खरनिमित्तकार्यप्रतिषेधात्—खरो निमित्तं यस्य तत्कार्यं, तस्य प्रतिषेधोऽसधिरित्यनेन सूत्रेण इति बोधः तस्मात्, इह—तव ई  
इत्यत्र भवत्येव, एवमिति बोधः । काशिकाकारवामनजयादित्यमतमाह—केचित्तु इत्यादिना, वर्णयन्ति इत्यन्तेन । ‘त्रियमाणौ च तौ ३०  
ऋषा महिस्त्रेदमव्रीतौ’ इति पूर्वार्धं, तदनन्तरं ‘मणीवोष्टस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम’ इति महाभारतप्रयोगः समर्थयन्ते—जयादिसादयः  
काशिकाकारा, “ईदादीनां प्रशब्दत्वे मणीवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः” इति हि तद्वचनम्, नेद भाष्यकारवार्तिककारसमतम्, कलिकालसर्वज्ञ-  
मतेन तत्प्रयोगसमाधानमाह—तदयुक्तम् इत्यादिना, सिद्धत्वात् इत्यन्तेन । वाशब्देनोपमार्थत्वेन सिद्धत्वात्—उपमार्थत्वेन वाशब्देन ३३  
सिद्धत्वात् इत्यन्वयः । ‘व वा यथा तथैवम्’ इत्यमरः । ‘व प्रचेतसि जानीयादिवायं च तदव्ययम्’ इति मेदिनी । अन्यकविप्रयोगद्वारा तमेवासधि  
ब्रवीकरोति—मणी इवोद्धिन्न इत्यादिना, दर्शनाच्च इत्यन्तेन । इदं पद्यं विद्वद्भिस्तु मृग्यम् । अन्ये तु—उत्पलादयः । यथा दर्शनम्—  
दर्शनमनतिक्रम्य वर्तते इति विग्रहः ॥ ३४ ॥

३६

अदोमुमी । अत्र खरे असधि इति चानुवर्तते, अदोमुमी (अदसो मुमी इति विग्रहः) असधि खरे इत्यन्वयः, तदर्थमाह—अदस्  
संबन्धिनौ इत्यादिना । अमुमुईचा—अमुमश्चतीति क्तिप्, “सर्वादिभिष्वदेवाङ्दि क्त्यञौ” ३।२।१२।२ इति ङडिगाम, “डिङ्यन्तखरादे”  
२।१।११।४ इति डिति अन्त्यस्यरादिलोपः, “अबोऽनर्चायाम्” ४।२।४६ इति नलोपः, टाविमत्तौ अददि अच् आ इत्यवस्थाया “अच् ३१  
प्राग् दीर्घश्च” २।१।१०।४ इति अच् च इकारस्य च दीर्घः, अददीच् आ इति स्थिते, “वाऽशौ” २।१।४६ इति उमयोर्देकारयोर्मत्वे,  
“मादुवर्णोऽनु” २।१।४७ इति अकारस्य रेफस्य च उत्वे अमुमुईचा इत्यत्र खराव्यवहितपूर्वं अदस्संबन्धि सु इति सधिकार्यं न भजते इति  
समन्वयः, एवमन्यत्र । मुनी इत्यनयोरदस्संबन्धिविशेषणं किमर्थमिति पृच्छति—अदसिति किम् ? इति । अन्यत्र—अग्नी अत्र इति ४२  
स्थिते, ‘अम्’ घातु गत्यर्थः, भावे घञि, ततः “अतोऽनेकखरात्” ७।२।६ इति इनि च सति सिद्धति, अयं मी नादस्संबन्धी इत्य-  
संधिर्न भवति इति भावः ॥ ३५ ॥

भवति । गवाग्रम्, गवाजिनम्, गवोद्गः, गवोदनः, गवेश्वरः, पक्षे यथाप्राप्तम्—गोऽग्रम्, गोअग्रम्, गोऽजिनम्, गोअजिनम्, गवुद्गः, गवोदनः, गवीश्वरः । स्वर इति किम् ? गोकुलम् । अनक्ष इति किम् ? गोऽक्षम्, गोअक्षम् । पदान्त इत्येव ? गवि । ओत इत्येव ? चित्रग्वर्थः । गोरित्येव ? चोऽग्रम् । हे चित्रगवुदकमित्यत्र तु लाक्षणिकत्वाद् गोशब्दस्य न भवति ॥ २९ ॥

इन्द्रे ॥ १ । २ । ३० ॥

गोरोकारस्य पदान्ते वर्तमानस्येन्द्रस्ये स्वरं परे अव इत्ययमादेशो भवति । गवेन्द्रः, गवेन्द्रयज्ञः । नित्यार्थं वचनम् ॥ ३० ॥  
वाऽत्यसंधिः ॥ १ । २ । ३१ ॥

गोरोकारस्य पदान्ते वर्तमानस्यात्यकारे स्वरं परे असंधिः—प्रकृतिभावो वा भवति । गोअग्रम्, गोअजिनम् । पक्षे यथाप्राप्तम्—गोऽग्रम्, गवाग्रम्, गोऽजिनम्, गवाजिनम् । अतीति किम् ? गवेक्षितम्, गवाननम् । गोरित्येव ? चोऽग्रम् । ओत इत्येव ? चित्रग्वग्रम् । हे चित्रगोऽग्रमित्यत्र तु लाक्षणिकत्वान्न भवति । पदान्त इत्येव ? गौरिवाचरति गवति ॥ ३१ ॥

३२ हुतोऽनितौ ॥ १ । २ । ३२ ॥

इतिशब्दवर्जिते स्वरं परे हुतोऽसंधिर्भवति, संधिकार्यभागं न भवतीत्यर्थः । देवदत्तः अत्र न्वसि, जिनदत्तः इदमानय, सुश्लोकः आगच्छ; सुमङ्गलः इदमानय । अनिताविति किम् ? सुश्लोकेति, सुमङ्गलेति । केचित्तु इतिशब्दे विकल्पमिच्छन्ति—सुश्लोकः इति, सुश्लोकेति; सुमङ्गलः इति, सुमङ्गलेति ॥ ३२ ॥

इ३ वा ॥ १ । २ । ३३ ॥

इ३ इति हुतः स्वरं परे वाऽसन्धिर्भवति, इतावप्राप्तेऽन्यत्र च प्राप्ते उभयत्र विकल्पोऽयम् । लुनीहि३ इति, लुनी-हीति । चिनुहि३ इदम्, चिनुहीदम् । कथं वशा३ इयम् ? वशेयम् ?—छान्दसावेतौ ॥ ३३ ॥

प्रतज्ये तु प्रतिषेधस्य प्रधानत्वात् अक्षारिसमुदायस्येऽप्यक्षशब्दाधित प्रतिषेध इत्याशयः । गो अग्रम्—अत्र पदान्ते गोरोत स्थाने अनक्ष-शब्दावयवस्वरव्यवहितपूर्वस्य अव इत्यादेशः—गवाग्रम्, पक्षे “वात्यसंधिः” १।२।१। इति—गोअग्रम्, उभयोरप्यभावे “एदोत ०” १।२।२। इति लुक्—गोऽग्रम्, एवमन्यत्र । स्वरं, अनक्षे, पदान्ते इति च क्रमेण प्रयोजनपूर्वकमुदाहरति—स्वर इति किम् ? इत्यादिना, पदान्त इत्येव ? गवि इत्यन्तेन । ओकारानुवृत्तिफलमाह—ओत इत्येव ? इति । चित्रग्वर्थः—चित्रा गावो यस्य स चित्रगु, चित्रग-वेऽय चित्रग्वर्थः, अत्रांत इत्यनुवृत्तौ “एकदेशविकृतमन्यवत्” इति न्यायेन ‘गु’ इत्यत्रैकदेशविकृतत्वेऽपि गोशब्दव्यवहारात्तस्योकारस्य अव विद्यमानत्वेन कथंन्याय इत्यादेश इत्याह—हे चित्रगवुदकमित्यत्र इत्यादिना । समाधानमुखेन हेतु पूर्वकं स्पष्टयति—लाक्षणिकत्वात्—लक्षण-निष्पद्यत्वात् “लक्षणप्रतिपदोक्तं” इति परिभाषया गोशब्दस्य न भवति इत्यन्वयः ॥ २९ ॥

इन्द्रे । अत्र गोरोत, पदान्ते, अव, स्वरं इति चानुवर्तते । सूत्रे इन्द्रे स्वरं इत्यन्वयेन “सप्तम्या आदि” ७।४।१५। इत्यादिपदोप-स्थिति, तथा सति पदान्ते गोरोत इन्द्रादौ स्वरं अव इत्यादेश इत्यन्वयः । नन्वेव गवेन्द्रयज्ञ इति सिद्धावपि गवेन्द्र इति कथमिति चेदाद्यन्त-वद्भावेन तत्पदे, तदर्थमाह—गोरोकारस्य इत्यादिना । गो इन्द्र—अत्र गोरोत इन्द्रादिशब्दस्वरव्यवहितपूर्वस्य नित्य अव इत्यादेशो- ३० गवेन्द्रः । एव गवेन्द्रयज्ञ इत्यपि । ननु पूर्वसूत्रेणैव सिद्धे किमर्थमिदमित्याह—नित्यार्थं वचनम् ॥ ३० ॥

वाऽत्यसंधिः । अत्र गोरोत, पदान्ते, स्वरं इति चानुवर्तते । पदान्ते गो ओत अति स्वरं असंधि वा इत्यन्वयः, तदर्थमाह—गोरोकारस्य इत्यादिना । असंधिरित्यस्य पर्याय-प्रकृतिभावः । गोअग्रम्—अत्र अकाररूपस्वरव्यवहितपूर्वस्य गोरोत पदान्तस्थस्य प्रकृतिभावः, पक्षे यथाप्राप्तम्—“एदोत पदान्ते ०”, “स्वरं वाऽनक्षे” इति च । ओकारानुवृत्तिफलमाह—ओत इत्येव ? चित्रग्वग्रम्—चित्रग्वर्थ इतिवद्बोध्यम् । ननु चित्रगो अग्रम्—अत्र गोरोतो विद्यमानत्वेन कथंन्यायसंधिरित्याह—हे चित्रगोऽग्रमित्यत्र तु इत्यादिना ॥ ३१ ॥

हुतोऽनितौ । अत्रासंधिः स्वरं इति चानुवर्तते, अतीति नावर्ततेऽन्यथा इतिशब्दवर्जनवैयर्थ्यं स्यात्; तदर्थमाह—इतिशब्द-वर्जिते स्वरं इत्यादिना । असंधिः इत्यस्यार्थमाह—संधिकार्यभागः इत्यादिना । देवदत्तः अत्र न्वसि—अत्र “द्वारादामध्यस्थं” ७।४।१९। इति हुतोऽकारः । नन्वस्य वाक्यान्तत्वाभावात् कथं हुत इति चेत्, कस्यचिद्वाक्यस्यान्तमिदं घृष्टाण इति हुतोऽकार संधिकार्य-वीर्यादिकं न भजते, इतिशब्दवर्जितस्वरव्यवहितपूर्वक्षेति समन्वयः । एवमन्यत्र । इतिशब्दवर्जनफलं दर्शयति—अनिताविति इत्यादिना, ३२ सुमङ्गलेति इत्यन्तेन । केचित्तु इतिशब्दे विकल्पमिच्छन्ति, अत्र केचित्तु—पाणिनीया । “अष्टतृदुपस्थिते” पा० ६।१।१२९।, शा० अमोघाद्युक्तौ—“न हुतस्यानितौ” शा० १।१।१९। सूत्रे ‘सर्वे एव हुत साहसमनिच्छता विभाषा षक्य’ इति दृश्यते, पाणिनीयभाष्येऽपि “अमी-त्येषणे परस्य” पा० ८।२।१२। इति सूत्रे च दृश्यते ॥ ३२ ॥

इ३ वा । अत्र हुत, स्वरं, असन्धि इति चानुवर्तते । इ३ हुत स्वरं असंधिर्वा इत्यन्वयः, तदर्थमाह—इ३ इति हुत इत्यादिना । प्राप्ताप्राप्तविभाषारूपमुभयत्र विकल्पविधायकं शास्त्रमिदं क प्राप्ते विभाषा क प्राप्ताप्राप्तविभाषा इति निर्दिशति—इतावप्राप्तेऽन्यत्र च प्राप्ते इत्यादिना । लुनीहि३ इति—अत्रेकार हुत सन्धिकार्यं न भजते इति समन्वयः । कथं वशा३ इयम् ? वशेयम् ? अत्र कथं हुत, कथं न ३५ प्रकृतिभाव इत्याह—छान्दसावेतौ ॥ ३३ ॥

## ईदूदेत् द्विवचनम् ॥ १ । २ । ३४ ॥

ईत् ऊत् एत् इत्येवमन्तं द्विवचनं खरे परेऽसंधिर्भवति । ऋपुणी अत्र, मुनी इह, साधू एतौ, अम् इति, कुण्डे अत्र, माले इति, पचेते इति, पचेथे इति; पचावेह आवाम् । ईदूदेदिति किम् ? वृक्षावत्र । द्विवचनमिति किम् ? कुमार्यत्र । १  
एषां श्रुतानामित्वावपि संधिर्न भवति—अग्नी३ इति, वायू३ इति । खर इत्येव ? तव ई—कामौ तवे, प्रत्यासत्तेः खरनिमि-  
त्तकार्यप्रतिषेधात् इह भवत्येव, तव ई तवे आसाते । केचित्तु—‘मणीवोष्टस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरो मम’ इति प्रयोग-  
दर्शनात् मणी इव मणीवेत्यादावसन्धिप्रतिषेधं वर्णयन्ति, तदयुक्तम्; वाशब्देनोपमार्थेन सिद्धत्वात्, ‘मणी इवोद्भिन्नमनो- १  
हरत्विषौ’ इत्यादावसंधिदर्शनाच्च । अन्ये तु यथादर्शनं संधिमसंधि वेच्छन्ति—मणीव, दंपतीव, रोदसीव मणी इव ॥३४॥

## अदोमुमी ॥ १ । २ । ३५ ॥

अदस्यसंबन्धिनौ मुमी इत्येतावसंधी भवतः खरे परे । अमुमुईचा, अमी आसते, अमी अश्वाः । अदसिति १  
किम् ? अन्यत्र ॥ ३५ ॥

ईदूदेत् द्विवचनम् । अत्र खरे असंधिति चातुवर्तते, ईदूदेत् द्विवचनम् खरे असंधि इत्यन्वयः । ननु ईदूदेत् द्विवचनम् इत्यस्य  
कोऽर्थः ? यदि ईदूदेत् द्विवचनमित्यर्थस्तदा मुनी, धेनू, खट्वे इति सिद्धावपि पचेते इत्यादावसंधिर्न स्यात्, तत्र द्विवचनस्यैदन्तत्वेन एदूपत्वाभावात् । १२  
यदि च शब्दरूप विशेष्यमादाय “प्रत्यय प्रकृत्यादे” ७।४।११५।, “विशेषणमन्त” ७।४।११३। इति च न्यायद्वयसहकारेण ईदूदेदन्तं यद्विवच-  
नान्तं शब्दरूपमित्यर्थस्तदा मुनी, धेनू, खट्वे, पचेते इत्यादिसिद्धावपि कुमार्यो अगारं—कुमार्यगारम्, वध्वो. अगारम्—वध्वगारं इत्यादौ ईदावन्तं  
स्वतो द्विवचनान्तात्त्वच प्रत्ययलक्षणैः इति असंधि स्यादनेन इति, तदभावे यज्ञ कर्तव्य इत्याशयेन तदर्थमाह भगवन्तो वृत्तिकारा—ईत् २५  
ऊत्, एत् इत्येवमन्तं इत्यादिना । नन्वेव मुनी, साधू, खट्वे इत्यादौ ईदूदेत् द्विवचनसत्त्वेन तदन्तद्विवचनभावात् कथमसंधिरिति चेदाद्यन्तव-  
द्भावेन तत्सिद्धेः । ऋपुणी अत्र इत्यादौ आद्यन्तवद्भावेन ईकारान्तद्विवचनं खराव्यवहितपूर्वं संधिकार्यं न लभते इति समन्वयः, एवमन्यत्र ।  
“ह्रतोऽनितौ” इत्यनेन इतिशब्दवर्जिते खरे संधिकार्यप्रतिषेधं श्रुतानां, इतिशब्दखरे तु ईदूदेतो श्रुतानां संधिकार्यप्रतिषेधोऽनेन, व्यवस्थेयं तदा १८  
भविष्यदा सूत्रे तत्परकरणं न स्यात्, तेन च तत्कालानां बोध इति “ईदूदेत्” इत्यत्र तत्परकरणं मुखमुक्त्यर्थमसंदेहायैमुच्चारणार्थं वा स्वीकृत्य आह—  
एषा इत्यादिना । एषाम्—ईदादीनां श्रुतानां, “ईदूदेत् द्विवचनम्” इति सूत्रेण संधिर्न भवति इतौ खरे परे । अपिशब्दात्तु सिद्ध अनितौ खरे  
श्रुतानामसंधि पूर्वसूत्रेण, तदुदाहरति—अग्नी३ इति । खरे इत्यनुश्रुतिफलमाह—खर इत्येव ? इत्यादिना । “सप्तम्यानिर्विष्टे पूर्वस्य” इति न्यायेन २१  
खराव्यवहितपूर्वस्य ईदादे संधिनिषेधो, न तु पूर्वस्थिते खरे ईदादे संधिनिषेध इत्यत उदाहरति—तव ई—कामौ तवे—कामार्थक ईशब्दद्विव-  
चन ई इति श्रुतौ प्रदर्शितम् । अत्र यदि तव इत्यत्र अकारे पूर्वस्थिते खरे ईदादे संधिनिषेध स्यात्तर्हि तवे इति न सिद्धयेत् इति भावः । ननु  
‘तव ई आसाते’ इत्यत्र खराव्यवहितपूर्वस्य ई इति द्विवचनस्यासौ पूर्वेषां तव इत्यस्यकारेण सहासंधि स्यादित्यत आह—प्रत्यासत्तेः २४  
इत्यादिना । अयं भावः ‘यस्मिन् सति यद्भवति तत्तस्य निमित्तम्’ इति ‘तव ई आसाते’ इत्यत्र परे खरे सति “इवर्णादेः” इति र्त्वं, ‘तवे आसाते’  
इत्यत्र च परे खरे सति “इदौतोऽयात्” इति अयादेशाच्च न भवति, यत्त्वायादेशयोः खरप्रत्यासत्तत्वात् खरनिमित्तकत्वाच्च, तव ई आसाते  
इत्यत्र “अवर्णस्वेवर्णादिना” इत्येतत् तु परखरमन्तरेणापि भवतीति, एतत् न खरनिमित्तम् न तत्प्रत्यासत्तं चेति प्रत्यासत्तित्याभावात् खरप्रत्यासत्तस्य २७  
खरनिमित्तकस्यैव च कार्यस्यानेन निषेधो, न खराप्रत्यासत्तस्य खरनिमित्तकस्य च कार्यस्य निषेध इति । प्रत्यासत्तेः—पूर्वप्रदर्शितप्रत्यासत्तित्या-  
यात्, खरनिमित्तकार्यप्रतिषेधात्—खरो निमित्तं यस्य तत्कार्यं, तस्य प्रतिषेधोऽसंधिरित्यनेन सूत्रेण इति शेषः तस्मात्, इह—तव ई  
इत्यत्र भवत्येव, एवमेति बोधः । काशिकाकारवामनजयादिसमतमाह—केचित्तु इत्यादिना, वर्णयन्ति इत्यन्तेन । “त्रियमाणौ च तौ १०  
द्वेष्टा मद्भिन्नैरदमवदौ” इति पूर्वार्थे, तदनन्तरं ‘मणीवोष्टस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरो मम’ इति महाभारतप्रयोगं समर्थयन्ते—जयादिसादय-  
काशिकाकारा, ‘ईदादीनां प्रकृत्यैव मणीवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः’ इति हि तद्वचनम्, नेदं भाष्यकारवार्तिककारसमतम्, कलिकालसर्धज्ञ-  
मतेन तत्प्रयोगसमाधानमाह—तदयुक्तम् इत्यादिना, सिद्धत्वात् इत्यन्तेन । वाशब्देनोपमार्थत्वेन सिद्धत्वात्—उपमार्थत्वेन वाशब्देन ३४  
सिद्धत्वात् इत्यन्वयः । ‘व वा यथा तथैवम्’ इत्यमरः । ‘व प्रचेतसि जानीयादियार्थे च तदव्ययम्’ इति मेदिनी । अन्यकविप्रयोगद्वारा तमेवासंधि  
दर्शनीकरोति—मणी इवोद्भिन्न इत्यादिना, दर्शनाच्च इत्यन्तेन । इदं पद्यं विद्वद्भिस्तु सूत्रम् । अन्ये तु—उत्पलादयः । यथा दर्शनम्—

३६

अदोमुमी । अत्र खरे असंधि इति चातुवर्तते, अदोमुमी (अदसो मुमी इति विग्रहः) असंधी खरे इत्यन्वयः, तदर्थमाह—अदस्य  
संबन्धिनौ इत्यादिना । अमुमुईचा—अमुमवतीति क्तिप्, “सर्वादिविषयवेदादि क्यञौ” २।२।१२२। इति वदिरागमः, “द्वित्यन्त्यखरादे”  
२।१।११४। इति द्विति अन्त्यस्यउपलक्षणं, “अतोऽनर्चयाम्” ४।०।४६। इति नलोपः, टाविसमौ अददि अच् आ इत्यवस्थाया “अच् ३९  
प्राग् दीर्घव” २।१।१०४। इति अच् च इकारस्य च दीर्घः, अददीच् आ इति स्थिते, “वाऽदौ” २।१।४६। इति उभयोर्दकारयोर्मते,  
“मादुवर्णोऽनु” २।१।४७। इति अकारस्य रेफस्य च लत्वे अमुमुईचा इत्यत्र खराव्यवहितपूर्वं अदस्यसंबन्धि मु इति संधिकार्यं न भजते इति  
समन्वयः, एवमन्यत्र । मुनी इत्यनयोर्दस्यसंबन्धित्वविशेषणं किमर्थमिति पृच्छति—अदसिति किम् ? इति । अन्यत्र—अग्नी अत्र इति ४२  
सिधे, ‘अम्’ घातु गत्यर्थः, भावे घभि, ततः “अतोऽनेकखरात्” ७।२।६। इति इनि च सति सिद्ध्यति, अयं मी नादस्यसंबन्धी इत्य-  
संधिर्न भवति इति भावः ॥ ३५ ॥

## चादिः खरोऽनाङ् ॥ १ । २ । ३६ ॥

आङ्वर्जितश्चादिरव्ययसंज्ञकः खरः खरे परेऽसंविर्भवति । अ अपेहि, आ एव किल मन्यसे ? आ एवं नु तत्, १ ई इन्द्र पश्य, ई ईदृशः ससारः, उ उत्तिष्ठ, ऊ ऊपरे धीजं वपसि, ए इतो भवः ओ ओश्रावय । चादिरिति किम् ? अ ( विष्णो ! ) आगच्छ-आगच्छ । कथं तितउः-परिपवनम् ? “तनेर्डउः” इति उउविधानबलादसंधिर्भविष्यति । उत्तर-त्रान्तग्रहणादिह केवलो गृह्यते, तेनेह न भवति-चेति, इतीह, नन्विति; वेति । खर इत्येव ? जानु उ जानू । खरे परे ६ इति प्रत्यासत्तेस्तन्निमित्तकसविप्रतिषेधात्, इह दीर्घत्वलक्षणः संधिर्भवत्येव-जानु उ अस्य रुजति, जानू अस्य रुजति । केचित्तु चाद्यचादिस्थानस्याचादिरूपत्वात् खरनिमित्तकमपि संधिर्भिच्छन्ति-जानु उ अस्य रुजति, जान्वस्य रुजति । अनाडिति किम् ? आ ईपदुष्णमोष्णम्, आ इहि एहि, आ उदकान्तात्-ओदकान्तात् प्रिय प्रोथमनुव्रजेत्; आ ७ आर्येभ्यः-आर्येभ्यो यशो गत गौतमस्य । “ईपदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः । एतमात उित विद्याद् वाक्य स्मरणयोरुडित्” ॥ ३६ ॥

## ओदन्तः ॥ १ । २ । ३७ ॥

१२ ओकारान्तश्चादिः खरे परेऽसंविर्भवति । अहो अत्र, उताहो इदम्, आहो एतत्, अथो अस्मै, हहो आगच्छ, अथो एहि; नो इन्द्रियम् । चादिरित्येव ? गवीश्वरः, अगौगौः समपद्यत गोऽभवत्; मिथोऽत्र-मिथोऽशब्दः खरादि-

चादिः खरोऽनाङ् । अत्र खरे असंधिरिति जानुवर्तते, अनाद् चादि खर खरे असंधिरित्यन्वयः । अनाङ्विज्ञानं पुरुषासायक

१५ नञा आङ्भिन्नआङ्सदृशलोपादानेन “विशेषणमन्त” इति तदन्तव्योपासमवात् सामानाधिकरण्यात् अत्र चादिरिति खरविशेषणम् । तथा सति चाद्यन्तर्गत केवल खर एवाव्ययसंज्ञकः खरोऽसंधिरित्यभिप्रेत्य, तदर्थमाह—आङ्वर्जितश्चादिः इत्यादिना । अ अपेहि-अत्र खराव्यवहितपूर्वं आङ्भिन्नाङ्सदृश, चादिरव्ययसंज्ञक खर अ इति संधिकार्यं न लभते इति समन्वयः, एवमन्यत्रापि । सूत्रे १८ चादिरित्यस्य फल पृच्छति—चादिरिति किम् ? अ (विष्णो ! ) आगच्छ-अत्र विष्णुवाचकअक्षरद्वयं सवोधनैकवचनान्तस्य चादित्वाभावाच्चासंधिरिति भावः । तितउसाब्दे उकारस्य चादित्वाभावात् कथमसंधिरित्याशङ्कते—कथं तितउ-परिपवनम् ?—चालनीत्यर्थः । समाधत्ते—“तनेर्डउः” उ० ७४८ इत्यादिना । यदि तितउरित्यत्र संधि स्यात्तर्हि उउप्रत्ययविधानं किमर्थमिति तद्विधानसामर्थ्यादसंधिर्बोधः । २१ अत्र चादिपठितं केवल एव खरो गृह्यते इत्यत्र मानान्तरमाह—उत्तरत्रान्तग्रहणात्-इत्यादिना । उत्तरत्र-“ओदन्त” इति सूत्रे अन्तग्रहणं विनाऽपि ओदिति चादिरित्यस्य विशेषणं, तथाच “विशेषणमन्त” इति न्यायेन तदन्तवोधे सूत्रस्थान्तग्रहणं बोधयति यत्केवल खरग्रहणं भवतीति व्यर्थंभूय वाक्यान्तरकल्पना, फलमन्यत्र “चादि खरोऽनाङ्” इत्यत्र केवलखरबोधः, खारो वारितार्थ्यं “ओदन्त” २४ इति सूत्रे, यदीदानीमन्तग्रहणं न स्यात्तर्हि केवलस्य ओकारस्य संधिप्रतिषेधं प्रसज्येत न त्वोदन्तस्येति अन्तग्रहणं चरितार्थम् । तेन-केवल-खरग्रहणेन, इह-चेति इत्यादौ, न भवति-असंधिरिति प्रतिषेध इति शेषः । खरे इत्यनुवृत्तिफलमाह—खर इत्येव ? जानु उ-अत्र य खराव्यवहितपूर्वं स न चादि, यथादि स न खराव्यवहितपूर्वं इति धीर्षं सति जानू इति भवति । ननु जानु उ अस्य रुजति इत्यत्र २७ खराव्यवहितपूर्वंस्य चादे खरस्यनेन संधिप्रतिषेधे पूर्वेण सहाप्यसंधिरित्याह—खरे परे इति प्रत्यासत्तेः इत्यादिना । अयं भावः—यस्मिन् सति यद्भवति तत्तस्य निमित्तमिति खरनिमित्तं बलं निविध्यते, खरप्रत्यासत्तत्वात्, खरनिमित्तकत्वाच्च, धीर्षत्वं तु खरमन्तरेणापि भवति इति न तत्खरनिमित्तं, न खरप्रत्यासत्तं चेति प्रत्यासत्तिन्यायात्तन्निमित्तकस्यैव कार्यस्य प्रतिषेधो नातन्निमित्तकस्येति दुस्तथम् । प्रत्यासत्तेः-प्रत्या- ३० सत्तिन्यायात्, तन्निमित्तकसंधिप्रतिषेधात्-तत्-खरो निमित्तं यस्य स चासौ संधिप्रतिषेधश्च, तस्मादित्यर्थः । इह-जानु उ अस्य इत्यादौ, दीर्घत्वलक्षणं, धीर्षत्व-लक्षणं स्वरूपं यस्य स इति विग्रहः । संधिर्भवत्येव-“समानानां तेन०” १।२।१। इत्यनेनेति शेषः, तदुदाहरति-जानु उ अस्य रुजति-जानू अस्य रुजति इति । जानु उ जानू इत्यत्र धीर्षो हि चादिस्थाननिष्पन्नोचादिस्थाननिष्पन्नश्च, जानु ३३ इत्यत्र उकारस्य अचादित्वात्, उ इत्यस्य चादित्वाच्च, इत्यं च ‘उभयस्थाननिष्पन्नोऽन्यतरव्यपदेशभाषिति’ न्यायेन धीर्षोऽचादिरूप एवेति स्वीकुर्वतां प्राचां मतविशेषमवतारयति—केचित्तु इत्यादिना । चाद्यचादिस्थानस्य-चादिश्च अचादिश्च तौ स्थानं यस्य तस्य, अर्थाद्-चाद्यचादिस्थानजातस्येत्यर्थः, अचादिरूपत्वात्-उभयस्थानजातत्वेन अचादिरूपत्वं दीर्घस्य तस्मादित्यर्थः । खरनिमित्तकम्-खरो निमित्तं ३६ यस्य तम्, संधिम्-वत्तमपि, इच्छन्ति केचित्—प्राञ्च इत्यन्वयः । नन्वनाङ् इति पुरुषास, स किमर्थं इति पृच्छति—अनाडिति किम् ? ईपदुष्णम्-ओष्णम्-इत्यादौ आङ्, अतो न संधिप्रतिषेधः । ननु सर्वत्र ‘आ’ इत्यस्यैव भ्रवणं तथाच कथं बोध्यमयमाकार आङो-ऽयमनाङ् इति तदवस्थापक श्लोकं वक्ति—ईपदर्थे इत्यादिना । श्लोकसमन्वयो यथाक्रमं पूर्वोक्तोदाहरणेषु ओष्णमित्यादिषु बोध्यः ॥ ३६ ॥

३७ ओदन्तः । अत्र चादि खरे असंधिरिति जानुवर्तते, ओदन्त चादिखरे असंधिरित्यन्वयः, तदर्थमाह—ओकारान्त इत्यादिना । अहो अत्र इत्यत्र खराव्यवहितपूर्वंस्य अहो इत्योकारान्तस्य चादे संधिप्रतिषेधः, एवमन्यत्र भाव्यः । चादिरित्यनुवृत्तिफलमाह—चादिरित्येव ? गवीश्वर इत्यादिना । गोशब्दस्य ओकारान्तस्य खराव्यवहितपूर्वंस्य चादित्वाभावेन न्वसंधिः । अगौगौः समपद्यत इति वृ-गोऽभवत् ४२ इत्यस्यार्थबोधनम् । अत्रासंधिर्न भवति ओदन्तत्वेऽपि चादित्वाभावात्, “अघणूतस्वाद्याशस” इत्यव्ययत्वे “गति” इति चाऽव्ययत्वे सेङ्गपि, “एदेत०” इत्यकारलोपः । मिथोऽत्र-अत्र मिथो इत्यसौदन्तत्वेऽप्यसंधिर्न भवति खरादिपाठेन चादित्वाभावात्, संधिस्तु प्राग्गोष्प्य, तदेव दर्शयति-मिथो शब्दः खरादि इत्यादिना । तिरोऽभवत्, नमोऽकरोत्, अदोऽभवत् एषु प्रतिपदोक्तोकारान्तत्वाभावेन लक्षणनिष्पन्नोकारान्त- ४५ त्वात्, लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया “ओदन्त” इति सूत्रेण नासंधिः । एवमेवैषा खरादित्वेन चादित्वाभावेऽप्यवध्यभावे निमित्तम् तदाह—

१ विसर्गे इह ३० म० य०, अहो इह इन्द्र माण्डा० । २ आगच्छ इति द्वितीयपदं नास्तीति माण्डा० । ३ खरोऽङ् इति ३० म० । ४ अथो म० म० ।

नंतु चादिः । तिरोऽभवत्, नमोऽकरोत्, अदोऽभवदित्यादिषु लाक्षणिकत्वाच्च न भवति । अहो इत्यादयोऽखण्डा-  
आदय इति प्रयोगः ॥ ३७ ॥

सौ नवेतौ ॥ १ । २ । ३८ ॥

सिनिमित्तो य ओदन्तः स इतौ पेऽसंधिर्भवति । पटो इति, पटविति; साधो इति, साधविति । साविति किम् ?  
अहो इति । गवित्ययमाह—गौरिति वक्तव्येऽशक्या गो इत्युक्तमनुक्रियते, स्याद्वादाश्रयणाच्चानुकार्यानुकरणयोर्भेदविव-  
क्षायामसत्यर्थवत्त्वे विभक्तिर्न भवति । इताविति किम् ? पटोऽत्र ॥ ३८ ॥

ऊँ चोञ् ॥ १ । २ । ३९ ॥

उञ्जब्दश्चादिरिति शब्दे पेरे वाऽसंधिर्भवति, असंधिपक्षे च उञ् ऊँ इत्येवंरूपो दीर्घोऽनुनासिको वा भवति;  
तथाच सति त्रैरूप्यं सिद्धं भवति । उ इति, ऊँ इति; विति । इतावित्येव ? उ उत्तिष्ठ । जित्करण स्वरूपपरिग्रहार्थम्,  
तेन विकृतस्य न भवति—अह उ अहो, अहो इति; एवमुताहो इति । अथ ऊँ इत्येव चादिषु पठ्यतां किमादेशेन ? नैवम्,  
तस्यानितावपि प्रयोगः प्रसज्येत तन्निषेधार्थमादेशवचनम् ॥ ३९ ॥

अञ्जवर्गात् खरे वोऽसन् ॥ १ । २ । ४० ॥

जकाररहित्यो वर्गेभ्यः पर उञ् खरे पेरे वकारो वा भवति, स चासन्—अमृतवत् । कुङ्कुमास्ते, कुङ्कु आस्ते,  
किम्वावपनम्, किमु आवपनम्; किमुष्णम्, किमु उष्णम्, किम्विति, किमु इति, किम् इति, किम्विति, किम्विति, जानु उ जानु

तिरोऽभवत्, नमोऽकरोत्, अदोऽभवदित्यादिषु इत्यादिना, न भवति इत्यन्तेन । लाक्षणिकत्वाच्च—अत्र च समुच्चये चादित्वा-१५  
भावात् इति समुच्चिनोति । \*अदोऽभवदित्याद्यपि\* पुं० प्रती पाठस्तत्रापि शब्दात् समुच्चय, तिरस् नमस् अदस् इत्याद्यपि मियोशब्दवत्  
स्वरार्धेन चादि, परन्त्वस्मिन् पाठेऽसध्यभावे हेतुद्वयं चादित्वाभावे लाक्षणिकत्वं च न प्राप्नोति, इति पूर्वोक्तावपनीयप्रतिपाठं समीहित  
आभातीति दिक् । यद्यपि 'अहो' इत्यादिचादिसमुदायस्यापि चादित्वात् पूर्वेण संधिप्रतिषेधं प्राप्नोति, तथाप्येवामखण्डत्वात् चादि स्वर इति १८  
संधिप्रतिषेधो न भवति । स च प्रतिषेध एकनिपातरूपचादिखरेषु प्रवर्तते इति प्रयोगो गारम्भ इत्याह—अहो इत्यादय इत्यादिना ॥ ३७ ॥

सौ नवेतौ । अत्रासंधिः ओदन्त इति चानुवर्तते, सौ ओदन्त इतौ असंधि नवा इत्यन्वय, तदर्थमाह—सिनिमित्तो य इत्या-  
दिना । पटो इति—अत्र इतिशब्दाव्यवहितपूर्वे सिप्रत्यय मत्वा जातौदन्त पटो इति विभाया संधिप्रतिषेधं लभते, तदभावेऽव-पटविति, तत्र २१  
“खरे वा” इत्यनेन वस्य विभाषा लुकि पट इति भवति, एवमन्यत्र । सौ इत्यस्य फलं पृच्छति—साविति किम् ? गवित्ययमाह—अत्र गो  
इत्योदन्तो न सिनिमित्त, किन्तु अनुकरण, अशक्तयोच्चारयित्रोक्तमन्यपृष्ठेन तत्समीपवर्तिना केनचिदनुकृतं तन्निदिशति—गौरिति वक्तव्ये  
इत्यादिना । नन्वत्रानुकरणे विभक्ति कथं न भवति इति विशङ्का स्याद्वादाश्रयणानुकार्यानुकरणयोर्भेदविवक्षायाम-२४  
र्थवत्त्वाभावेन नामत्वाभावाच्च विभक्त्युत्पत्तिरित्याह—स्याद्वादाश्रयणाच्च इत्यादिना । अत्र नो हेतौ यत् स्याद्वादाश्रयणमतोऽनुकार्यानुक-  
रणयो पूर्वोक्तपक्षद्वय इत्यक्षरार्थः । अत्र नवेत्युक्तिरधिकाराय, अन्यथात्र वेत्युक्तावपि विकल्पसिद्धेस्तेन यत्र नवेत्युक्तिस्तत्र साधिकारार्था वेदितव्या,  
यत्र तु चेति तत्र नाधिकार, रीतिरिय भगवतामाचार्याणां नवेत्युक्त्या ज्ञायते ॥ ३८ ॥

२७

ऊँ चोञ् । अत्रासंधि चादि नवा इतौ इति चानुवर्तते, चादि उञ् इतौ नवा असंधि च नवा ऊँ इत्यन्वय, तदर्थमाह—उञ्  
शब्द इत्यादिना । उइति—अत्र इतिशब्दाव्यवहितपूर्वे उञ् शब्दश्चादिर्नवा असंधि, असंधिपक्षे ऊँ इत्यादेशो दीर्घानुनासिकरूपो यथा-  
ऊँ इति । असंधिपक्षे ऊँ इत्यादेशाभावे असध्यभावे च “द्वर्णादेः” १।२।१। इति वत्त्वे—विति इति रूपत्रयम् विकल्पद्वयेन सिध्यति । अत्र ३०  
सूत्रे उभिलिख्य जकारानुबन्ध किमर्थं ? उ इत्येवोच्यतामित्यत आह—जित्करण स्वरूपपरिग्रहार्थम् । उञ् इत्यत्र जकारानुबन्धकरणफलं  
स्वरूपस्वीकृत्यैव, तत्फलमाह—तेन विकृतस्य न भवति । अयमाशय—निरनुबन्धसानुबन्धभेदेन उकारद्वय, तत्र निरनुबन्धस्योकार-  
स्योत्वं भवति, यथा अह उ—अहो इति, अत्र सूत्रमिदं न प्रवर्तते, उकारस्य शिवाभावेन विकृतत्वात् । कृतादेशेऽस्याप्रवृत्तेरेव जानु अस्य इत्यत्र ३३  
वत् “अञ्जवर्गात्” इति भवति, अन्यथापि नवा स्यात् । अथवा—ऊँ चोञ् इत्यत्र उकारप्रलेपात् उ उञ् इति उकाररूप उञ् श्रूयते, तेन  
अहो इत्यादौ उकाररूपस्य उतोऽभावेन नानेनासंधि । नन्वत उचिति एतदर्थं अञ्जवर्गादित्यत्रानुवर्तते, तथा सति जानु अस्य इत्यादौ कथं  
“अञ्जवर्गात्” इति वत्त्वमिति चेत्, उच्यते—तत्र जातिपक्षाश्रयणेन दीर्घाभूतोकारस्यापि वत्त्वसिद्धेः । ननु ऊँ इति, चादिगणपाठे “चादि ३६  
खरोऽनाच्” इत्यनेनासंधौ सति सिद्ध उ इति, उञ् इत्येतत्सूत्रेण सिद्ध, तदभावपक्षे “द्वर्णादेः” इति वत्त्वे विति इति रूपत्रयसिद्धौ ऊँ च इत्या-  
देशवचनं किमर्थम् ? इत्याद्यहते—अथ ऊँ इत्येव चादिषु इत्यादिना । समाधत्ते—नैवम् इत्यादिना, आदेशवचनम् इत्यन्तेन । अथ भाव  
यद्युक्तीत्या चादिपाठे ऊँ इत्यस्य रूपत्रयसिद्धावपि अनितौ—“ऊँ अत्र” इत्यादिरपि प्राप्येत तन्मा भूदिति ऊँ च इत्यादेशवचनमिति ॥ ३९ ॥

३९

अञ्जवर्गात् खरे वोऽसन् । अत्र नवा उञ् इति चानुवर्तते । अञ्जवर्गात् उञ् खरे व नवा, स च व असन् इत्यन्वय, न च अञ्ज स  
चासौ वर्गश्च अञ्जं तस्मात् इति अञ्जवर्गादित्यस्य विग्रह, तदर्थमाह—जकाररहित्यो वर्गेभ्यः इत्यादिना । स च—व इति, असन्—अमृतवत्,  
मुख्यार्थवाधे लक्षणावललभ्योऽयमर्थः, अन्यथा जकारादेशोऽसत्तुल्या तद्विधानवैयर्थ्यं स्यात् । अतिदेशे तु कुङ्कुमास्ते इत्यत्र खण्डव-४२  
हितपूर्वा जकाररहितवर्गकारात् परश्च उञ् वकारो भवतीति कुङ्कुमास्ते इत्यवस्थायामनेन असिद्धवद्भावे च वकारं खरं मत्वा “ह्ला-  
न्तग्नो द्वे” १।३।२। इत्यनेन वृद्धित्वम् भवति । अतिदेशाभावे तु द्वित्वं खराभावात् स्यात् । एवमन्यत्र । किम्विति—अनेन सूत्रेण वत्त्वे  
सति भवति । किमु इति—“ऊँ चोञ्” इत्यनेनासंधौ सति भवति । किम् इति—असंधिपक्षे दीर्घानुनासिकोदेशे सति भवति । किम्विति—४५  
“द्वर्णादेः” इति वत्त्वे, “तौ मुनो” १।३।१। इत्यनुसारे च सति भवति । किम्विति—“द्वर्णादेः” इति वत्त्वे, “तौ मुनो”



जान्वस्य रुजति, जानू अस्य रुजति; तद्वस्य मतम्, तदु अस्य मतम् । वर्गादिति किम् ? स्वर उपैति, अन्तरु उपैति । अजिति किम् ? घञु एति । स्वर इति किम् ? किमु गच्छति । असत्त्वाद् द्वित्वमनुस्वारानुनासिकाभावश्च ॥ ४० ॥

अइउवर्णस्यान्तेऽनुनासिकोऽनीदादेः ॥ १ । २ । ४१ ॥

अवर्णसेवर्णस्योवर्णस्यच अन्ते-विरामे वर्तमानस्यानुनासिक आदेशो वा भवति, अनीनादेः-न चेदयम् "ईदेत् द्विवचनम्" ॥ १ । २ । ३४ ॥ इत्यादिसूत्रसंबन्धी भवति । पदान्ताधिकारेऽन्तग्रहणं विरामप्रतिपत्त्यर्थम्, स च विरामो भवन् पदस्यान्ते भवति, केवलमुपसर्गस्य समासान्तर्वर्तिनश्च न भवति । सामं, साम, खट्वा, खट्वा, दधि, दधि, कुमारी, कुमारी; मधु, मधु, वृक्षेण, वृक्षेण, नामं अत्र, नाम अत्र, दधिं अत्र, दधि अत्र, मधुं अत्र, मधु अत्र, वृक्षेण अत्र, वृक्षेण अत्र; विराम-त्वाच्च सधिर्न भवति । अइउवर्णस्येति किम् ? कर्तृ, हर्तृ । अन्त इति किम् ? दधि करोति, मधु करोति, वृक्षः । अनीदा-देरिति किम् ? अग्नी, वायू, अमू, अमी, किमु । चादिसूत्रे चादे. स्वरस्य केवलस्याहवर्जितस्य च ग्रहणादिह भवत्येव-अं इति विष्णोः सवोधनम्, पृक्षश्च, न्यग्रोधश्च, पाटलिपुत्रादौ ॥ ४१ ॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचिताया श्रीसिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपशब्दानुशासनतत्त्वप्रका-

१२ शिकावृत्ता प्रथमस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ॥ २ ॥

पूर्वभवदारगोपीहरणस्मरणादिव ज्वलितमन्युः ।

श्रीमूलराजपुरुषोत्तमोऽवधीर्मुदभीरान् ॥ २ ॥

१५ इत्यनुनासिके च सति भवति । जान्वस्य रुजति-अत्र असन्नित्यत्र वा इति योजने पक्षे वस्य सत्त्वविधानात् "ततोऽस्या" १।३।३४।

इत्यनेन वक्ष्यद्वित्वम् । अथवा "नञा निर्दिष्टमनित्यम्" इति न्यायस्य "ह्रस्वान्छणो द्वे", "तौ मुनो व्यजने स्त्री" इत्यनयोरेव विषये नित्यत्वम्, अन्यत्र च तस्यानित्यत्वेन सत्त्व बोध्यमिति "ततोऽस्या" इति विषये वस्य सत्त्वेनापि द्वित्वं भवति । तद्वस्य मतम्-तदु अस्य मतम्

१८ इत्यवस्थायामनेन वत्वे तदस्य इत्यत्र "ततोऽस्या" इत्यनेन वकारस्य सत्त्वपक्षे द्वित्वं, नित्यत्वादिकारणेभ्यः "अदीर्घाद्वि०" इति बाधित्वा प्रवर्तते । वर्गात् इत्यस्य फल समाधानमुत्तेनाह-वर्गादिति किम् ? इत्यादिना, उपैति इत्यन्तेन । अन् इत्यस्य फल समाधानमुत्तेन पृच्छति-अजिति इत्यादिना, एति इत्यन्तेन । स्वरे परे इति घृतिस्तपदस्य फलमाह-स्वर इति किम् इत्यादिना । ननु कुहूत्ते इत्यत्र

२१ परत्वाद्व्यापेक्षया पूर्वं "ह्रस्वा०" इति द्वित्वे, ततोऽनेन वत्वे रूपसिद्धौ असन् इति किमर्थमिति चेदुच्यते ततोऽपि नित्यत्वात् पूर्वं वत्प्रवृत्तेरिति असन्नित्यभावे परत्र स्वराभावेन द्वित्वाप्राप्तेरित्याह-असत्त्वाद्वित्वम् । किम्विति इत्यादावेनेन वत्वे तस्य चासत्त्वे "तौ मुनो०" इत्यनेन परत्र व्यञ्जनाभावेन अनुस्वारानुनासिकौ न भवत इत्याह-अनुस्वारानुनासिकाभावश्च असत्त्वादिति शेषः ॥ ४० ॥

२४ अइउवर्णस्यान्तेऽनुनासिकोऽनीदादेः । अत्र नञा इत्यनुवर्तते पदान्त इति च, अनीदादेः अन्ते अइउवर्णस्य नञा अनुनासिक इत्यन्वयः । ईदेद्विवचनमित्यादिसूत्राविषयाणामन्ते वर्तमानानां पदान्तानां, अइउवर्णानां नञा अनुनासिकादेश इत्यर्थमाह-अवर्णस्य इत्या-

दिना । ननु पदान्ते इत्यनुवृत्तौ सूत्रेऽन्तग्रहणं किमर्थमित्यत आह-पदान्ताधिकारे इत्यादिना, प्रतिपत्त्यर्थम् इत्यन्तेन । अन्ते-विरामे वर्त-

२७ नानानां सतां पदान्तानां, अइउवर्णानाम् इत्यर्थः, तदाह-स च विरामो इत्यादिना, तदर्थफलमाह-केवलमुपसर्गस्य इत्यादिना । अयमाशयः-केवलं 'प्र' इत्याद्युपसर्गाणां पदान्तत्वेऽपि विरामावृत्तेर्न भवत्यनुनासिकोऽनेन । एवमेव समासान्तर्वर्तिनां पदान्तत्वेऽपि विरा-

मावृत्तेर्न भवत्यनुनासिक इति । सामं-अत्र विरामवृत्ते सत पदान्तस्याकारस्य, "ईद्वेद्व०" इत्यादिसूत्राविषयस्यानुनासिकादेशस्तदभावे-सामं

३० इति भवति, एवमन्यत्र । ननु नामं अत्र, नाम अत्र इत्यादौ अनुनासिकादेशे वा तदभावे कथं न सधिरित्याह-विरामत्वाच्च संधिर्न इत्यादिना । "न सधि" इति सूत्रेणैति शेषः । सूत्रे अइउवर्णस्य इति फल पृच्छति-अइउवर्णस्येति किम् ? कर्तृ-अत्र अकारस्य अइउवर्ण-

त्वाभावेन नानुनासिकादेशः । सूत्रे अन्त इति फल पृच्छति-अन्त इति किम् ? दधि करोति-अत्र विरामाविषयस्या विरामवृत्तित्वाभावात्वा-

३३ नुनासिक । वृक्षः-ननु वृक्ष इत्याकारस्य पदान्तत्वाभावेन सूत्राप्रवृत्ते, पदान्त इति अन्त इति च पदव्यत्ययफलमिदं कथं भगवता घृतिहारा अन्त

इत्यस्यैव फलतया प्रदर्शितमिति चेद्वृक्षाकारस्य "कादि"रिति कस्यादिरिति विग्रहे विसर्गस्य व्यञ्जनत्वेन तस्मिन् परे "नामसिद्ध०" इत्यनेन पदान्तत्वा-

द्युक्तं फलम् । सूत्रे अनीदादेरिति फल पृच्छति-अनीदादेरिति किम् ? अग्नी, वायू, अमू, अमी, किमु-एषु यथाक्रमं "ईदेत् द्विवच-

३६ नम्" "अदो मुनी" "अन्वर्गात्स्वरे वोऽसन्" इति सूत्रविषयत्वमतो नास्य सूत्रस्य प्रवृत्तिः । अनीदादेरित्युक्त्याऽस्य सूत्रस्य "चादि स्वरोऽनाह्" इति सूत्रविषयेऽप्रवृत्तिः, किन्तु विष्णुवाचकव्यशब्दसंबोधने तदविषयमवबुध्यते तत्सूत्रप्रवृत्तौ न कश्चिद्दोषः । ननु कथं अ-विष्णो इत्यत्र चादिरिति

सूत्राविषय इत्यत आह-चादिसूत्रे चादे. स्वरस्य इत्यादिना । अ-विष्णो इत्यत्र चादित्वाभावात् तदविषय स्पष्ट एव । पृक्षश्च-इत्यादिना

३९ इत्यादौ चस्य चादित्वेऽपि केवलस्वराभावात्तदविषयः । पाटलिपुत्रादौ-अत्राह युक्तात् पाटलिपुत्रशब्दात् पञ्चमी "आहवचौ" २।३।७०। इति, "चादि स्वरोऽनाह्" इति सूत्रेऽनासित्युक्ते स्पष्टमेव तदविषयत्वमिति भावः, सर्वेष्वेतेषूदाहरणेष्वनेनानुनासिक इति दिक् ॥ ४१ ॥

पूर्वभवदारगोपी० । पूर्वस्मिन् भवे ये दारा-प्रमदा एव गोप्यो-विषयगामीनीन्द्रियाणि, तासां हरणं तस्य स्मरणं तस्मादिव,

४२ अत एव ज्वलितः-प्रवीतः, मन्युः-कोधो यस्य तपोऽयं धिया युतो मूलराजः पुरुषोत्तमः-श्रीकृष्ण इव वा तादृशो मूलराज एव

पुरुषोत्तमः । दुर्मदा-दुष्टा मदादय एव आभीरास्तान् अवधीत-जघान । अथवा-पूर्वभवे दारा एव गा-इन्द्रियाणि तानि पान्तीति पूर्वभव-

दारगोपा वाचयमा-वधीकृतेन्द्रिया-सत्पुरुषास्तेषाम् ई-सपति साधुतास्या तस्या हरणं इत्यादि प्राग्वद्बोध्यम् । गोमीत्यत्र हलीशवत् प्रयोदरा-

४५ दित्वादिकारण्यं, अतएव मूलराज पुरुषोत्तमोऽन्यथा तु पुरुष एव । सत्पुरुषा हि स्वीयसाधुतासंपत्तिविनाशकविनाशाप्रवीणा अयं तु तेषु तमस्तेषां स्वस्य च साधुताया अनेन वद्धपरिकर एतावता स्पष्टमेव तस्य पुरुषोत्तमत्वं, ज्वलितमन्युत्वं च । विधुतं जगति कस्यचन पुरुषविशेषस्य स्वधन-

विनाशस्तृते प्रवीतकोपत्व । अस्य तु परमपरोपकारप्रवर्णत्वेनान्यधनविनाशेऽपि क्रोधो जायते इति महद्द्वैविध्यं मूलराजस्य ॥ २ ॥

४८ इति श्रीमत्तपागच्छगगनाहमोर्णिगीतार्थसंवाहमाऽऽगमोद्धारकैरालानावृत्तिपरिपूजितपादार्थविन्द्यागमोदयसमिति-वर्द्धमानजैनागममहि-राष्यनेकशासनहितवर्धकस्थानिर्माणोपदेशकमहाराजकुलमूर्धन्यश्री १००८ आनन्दसागरसूरीश्वरराणां साम्राज्ये तत्परणनिजीनभानवैभानवात-

नवपदपीयूषपापनोद्यतभयभावभावोद्गोक्षसूयोदयश्रीसिद्धचक्र-नवपदाराधकसमाजादिविषयसंस्थासंस्थापकेन श्रीभक्तमानतपोनिष्ठातेन श्रीसिद्धचक्रा-

५१ राधन-तीर्थोद्धारकेण पन्थासप्रवरश्रीचन्द्रसागरगोपीन्द्रेण विरचितया श्रीसिद्धहेमचन्द्रसूत्रातिशयाकरावतारिकामामाऽऽनन्द-

बोधिण्यां प्रथमस्याध्यायस्य खरसंधिप्रकरणं नाम द्वितीयं पादः ॥ २ ॥

॥ अहं ॥

तृतीयः पादः ॥

तृतीयस्य पञ्चमे ॥ १ । ३ । १ ॥

वेति, पदान्त इति; अनुनासिक इति चानुवर्तते । वर्गतृतीयस्य पदान्ते वर्तमानस्य वर्गपञ्चमे परे वाऽनुनासिको भवति, स्थान्यासन्नः । वाङ् डवते, वाग् डवते, वाङ्जकारः, वाग्जकारः, वाङ् णकारीयति, वाग् णकारीयति, वाङ् नयति, वाग् नयति, वाङ् मधुरा, वाग् मधुरा; एव पण् नयाः, पङ् नयाः, तन्नयनम्, तदनयनम्; ककुम्भण्डलम्, ककुम्भण्डलम् । १  
तृतीयस्येति किम्? स्वर्नयति, हल्मात्रम् । पदान्त इत्येव? विद्मः । पञ्चम इति किम्? वागत्र, पङ् गच्छन्ति । केचित्तु व्यञ्जनस्य स्थानेऽनुनासिके वाऽनुनासिकमिच्छन्ति, तस्य तु “ह्रस्वान्णनो द्वे” ॥ १ । ३ । २७ ॥ इति द्वित्वं च नेच्छन्ति, तन्मते—त्वङ् इति, त्वण् इति; श्लिङ्ग इति, श्लिङ्ग इति; तन् इति, तद्व इति, हल्मात्रम्, हल्मात्रम् । ननु पण् नया इत्यादौ २  
“अदीर्घाद्विरामैक्यञ्जने” ॥ १ । ३ । ३२ ॥ इत्यनेन तृतीयस्य द्वित्वे कृतेऽनुनासिके च तृतीयस्यापि श्रुतिः प्रामोति? नैवम्, अनुनासिके कृते पश्चाद् द्वित्वस्य भावात्—तेन पण् नयाः, पङ् नयाः इत्यादि सिद्धम् ॥ १ ॥

तृतीयस्य पञ्चमे । अत्र “सो नवेतो” इत्यतो नवेति, “एदोत पदान्तेऽस्य ठक्” इत्यतः पदान्त इति, “अट्टवर्गान्मा” इति २२ अनुनासिक इति चाऽनुवर्तते, यच्च विधेयत्वस्मिन् नवेति सगच्छते, पदान्त इति तृतीयस्य इत्यनेनान्वेति । कस्य तृतीय? कस्य पञ्चम? इति च विज्ञासाया वर्गस्येति लभ्यते, तथा च—पदान्ते वर्गतृतीयस्य वर्गपञ्चमे नवाऽनुनासिक इत्यन्वयः, तत्पञ्चमभिप्रेत्यान्वयार्थमाह—वेति पदान्त इत्यादिना, भवति इत्यन्वेन भगवन्तो इतिकारा । ननु वर्या अनुनासिका पञ्च उच्यमाना इति वर्गतृतीयस्यैकस्य स्थाने कथमादेशपगमकमिलाह— २५  
स्थान्यासन्न आदेश इति शेषः । यद्वर्गस्तृतीयस्यद्वयं एवानुनासिकादेश इत्यतो नानुनासिकपञ्चकादेशापत्तिरिति भावः । चाट् टवते—वाङ् डवते इत्यवस्थायां सेर्लुकि “जज्” २।१।८६। इति चस्य कवे, “घुटस्तृतीय” २।१।७६। इति गत्वे—वाग् डवते इति स्थिता वर्ग-पञ्चमलकाराव्यवहितपूर्वस्य पदान्तस्यस्य वर्गतृतीयगकारस्य स्थाने स्थान्यासन्ने पाक्षिकेऽनुनासिकदेशे सति सिद्ध्यति, एवमन्यत्रापि । चाट् २८  
जकारः—वाचो जकार इति समासः । वाङ् णकारीयति—णकारमिच्छति “अमाव्यात्” ३।४।३३। इति ध्वनिः । चाट् मधुरा—वाचा मधुरा इति तृतीया समासोऽसमासो वा । पण् नयाः—पञ्चवद्विहितजसो “डविष्ण सप्तयाया” १।४।५४। इति लुपि पत्य “घुटस्तृतीय” इति डत्वे पङ् नया इति स्थितेऽनेनानुनासिके णे सति सिद्ध्यति, टवर्गयोगेऽत्र “तवर्गव्य” १।३।६०। इति नस्य गत्वे “पदा- २१  
न्ताद” १।३।६३। इति निषेधाच्च भवति । तन्नयनम्—तद नयनम् इति स्थिते, “घुटस्तृतीय” इति दस्य दत्वे, तस्यानेनानुनासिके तन् नयनम् इत्यत्र “नात्रो नोऽनन्द” २।१।९१। इति न लोपो न भवति, दस्यात्त्वेन तत्स्थानापन्नस्य नस्याप्यसदृशत्वात् । ककुम्भण्डलम्—ककुमां मण्डलमिति विग्रहः, ककुम्भ मण्डलम् इत्यत्र “घुटस्तृतीय” इति अस्य वत्त्वेनेन तस्यानुनासिके सति सिद्ध्यति, “तां सुमो” १।३।१४। इति २४  
अनुस्वारस्तु पूर्वस्मादसद्विलसुद्वेतेन न भवति, ‘लक्षणपरिभाषया’, ‘असिद्धमिति’ न्यायेन वा । सूत्रे तृतीयस्येति फलं पृच्छति—तृतीय-स्येति किम्? इति । हल्मात्रम्—ह्रस्वे हल्मात्रम्, क्वचित्स्वाये मात्रम् । हल् च तत् मात्रं चेति ‘मात्रमवधारणे’, हल् मात्राऽस्येति वा विग्रहः, अत्र नानुनासिको लस्य वर्गतृतीयत्वाभावात् । पदान्त इत्यस्य फलमाह—पदान्त इत्येव? इति । विद्मः—विदेसं सिरुपम्, अत्र न २७  
वर्गतृतीयस्य दशानुनासिक पदान्तत्वाभावात् । पञ्चम इत्यस्य फलं पृच्छति—पञ्चम इति किम्? वागत्र—अत्र वर्गपञ्चमाव्यवहितपूर्वत्वं वर्गतृतीयस्य नास्ति किन्त्वकाराव्यवहितपूर्वत्वमस्तीति भावः । व्यञ्जनस्य स्थानित्वमनुनासिकमात्रस्य तु निमित्तत्वमिच्छता पाणिनिशकटायनदेवनन्द-विश्रान्तविद्याधराणा मतमाह—केचित्तु इत्यादिना । “यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा” पा० ८।४।४५।, “हलोऽनुनासिकेऽनुनासिक स्व” शा० ३०  
१।१।१०६।, “यरो लो विभाषा डे” जै० ५।४।१२५। डेवनन्दी इति जैनेन्द्रप्रक्रियया । ननु येषां मते व्यञ्जनस्य स्थानेऽनुनासिके परेऽनुनासिक इति तन्मते “ह्रस्वान्णनो द्वे” १।३।२७। इति द्वित्वं भवति नवेत्यत आह—तस्य तु “ह्रस्वान्णनो द्वे” इत्यादिना । तस्य—अनुनासिकस्य, तु इत्यभिप्रेण सगच्छते, नेच्छन्ति पाणिन्यादय इति, तन्मते—उदाहरति त्वङ् इत्यादिषु त्रिषु च सञ्चिती कृतगण्डानां उगना ३६  
सिद्धा, असद्विलसधिकावाच “ह्रस्वाद” इति द्वित्वाभावः । हल्मात्रम्—अत्र चतुर्थे प्रयोगे सानुनासिको लकारः, इमेऽलौकिका अत उपेक्षिता । ननु पङ् नया इत्यादौ अनुनासिकात् पूर्वं ङकारद्वित्वे पङ् नया इति स्थितेऽन्यदस्यानेनानुनासिके पङ् नया इति भाव्यमित्याशङ्कते—ननु इत्यादिना, समाधत्ते—नैवम् इत्यादिना । “अदीर्घाद्वे” १।३।३२। इत्यत्रान्विलचिकारात् द्वित्वात् पूर्वमनुनासिकप्रवृत्ते । तत्फलमाह—तेन इत्यादिना । ३६  
अपि च व्यञ्जनस्य स्थानित्वेऽपि पदान्ते वर्तमानानां वर्गप्रथमद्वितीयचतुर्थाधराणां “घुटस्तृतीय” इति तृतीयः । यल्लवानां प्रायेण पदान्ते प्रयोगाभावः, सस्य च “सोह” २।१।७२। इति रुत्वम्, शस्य च “यजसृज्” २।१।८७। इति पत्वम्, पारिशेष्यात् तृतीय एव लभ्यते, इति कृत्वा भगवता व्यञ्जनमात्रस्य स्थानित्वमुपेक्षितमनुनासिकस्य च निमित्तत्वमिति भावः ॥ १ ॥



जान्वस्य रुजति, जानू अस्य रुजति; तद्वस्य मतम्, तदु अस्य मतम् । वर्गादिति किम् ? स्वर उपैति, अन्तर उपैति । अजिति किम् ? घञु एति । स्वर इति किम् ? किमु गच्छति । असत्त्वाद् द्वित्वमनुस्वारानुनासिकाभावश्च ॥ ४० ॥

३ अइउवर्णस्यान्तेऽनुनासिकोऽनीदादेः ॥ १ । २ । ४१ ॥

अवर्णस्येवर्णस्योवर्णस्यच अन्ते-विरामे वर्तमानस्यानुनासिक आदेशो वा भवति, अनीनादेः-न चेदयम् “ईददेत् द्विवचनम्” ॥ १ । २ । ३४ ॥ इत्यादिसूत्रसंबन्धी भवति । पदान्ताधिकारेऽन्तग्रहण विरामप्रतिपत्त्यर्थम्, स च विरामो भवन् पदस्यान्ते भवति, केवलमुपसर्गस्य समासान्तवर्तिनश्च न भवति । सामँ, साम; खट्टो, खट्टा; दधिँ, दधि; कुमारीँ, कुमारी; मधुँ, मधु, वृक्षेणँ, वृक्षेण; नामँ अत्र, नाम अत्र, दधिँ अत्र, दधि अत्र, मधुँ अत्र, मधु अत्र, वृक्षेणँ अत्र, वृक्षेण अत्र; विराम-त्वाच्च सधिर्न भवति । अइउवर्णस्येति किम् ? कर्तृ, हर्तृ । अन्त इति किम् ? दधि करोति, मधु करोति, वृक्षः । अनीदा-देरिति किम् ? अग्नी, वायू, अमू, अमी, किमु । चादिसूत्रे चादेः स्वरस्य केवलस्याइवर्जितस्य च ग्रहणादिह भवत्येव-अं इति विष्णोः सवोधनम्, प्लक्षश्च, न्यग्रोधश्च, पाटलिपुत्रादाँ ॥ ४१ ॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचिताया श्रीसिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपशब्दानुशासनतत्त्वप्रका-

१२ शिकावृत्तो प्रथमस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ॥ २ ॥

पूर्वभवदारगोपीहरणस्मरणादिव ज्वलितमन्युः ।

श्रीमूलराजपुरुषोत्तमोऽवधीर्दुर्मदाभीरान् ॥ २ ॥

१५ इत्यनुनासिके च सति भवति । जान्वस्य रुजति-अत्र असन्जित्यत्र वा इति योजने पक्षे वस्य सत्त्वविधानाद् “ततोऽस्या ” १।३।३४। इत्यनेन चकारद्वित्वम् । अथवा “नया निर्दिष्टमनित्यम्” इति न्यायस्य “ह्रस्वाऽप्यनो द्वे”, “तौ मुमो व्यञ्जेन स्तौ” इत्यनयोरेव विषये नित्यत्वम्, अन्यत्र च तस्यानित्यत्वेन सत्त्व बोध्यमिति “ततोऽस्या ” इति विषये वस्य सत्त्वेनापि द्वित्वं भवति । तद्वस्य मतम्-तदु अस्य मतम्

३८ इत्यवस्थायामनेन वत्ये तद्वस्य इत्यत्र “ततोऽस्या ” इत्यनेन चकारस्य सत्त्वपक्षे द्वित्वं, नित्यत्वादिकारणेभ्य “अदीर्घाद्वि” इति बाधित्वा प्रवर्तते । वर्गात् इत्यस्य फल समाधानमुत्पेनाह-वर्गादिति किम् ? इत्यादिना, उपैति इत्यन्तेन । अन् इत्यस्य फल समाधानमुत्पेन पृच्छति-अजिति इत्यादिना, एति इत्यन्तेन । खरे परे इति वृत्तित्पदस्य फलमाह-स्वर इति किम् इत्यादिना । ननु कृद्वाहृत्ते इत्यत्र

२१ परत्वाद्द्विपेक्षया पूर्व “ह्रस्वा” इति द्वित्वे, ततोऽनेन वत्ये रूपसिद्धौ असन् इति किमयमिति चेदुच्यते ततोऽपि नित्यत्वात् पूर्व वलप्रवृत्तेरिति असन्जित्यभावे परत्र स्वराभावेन द्वित्वाप्राप्तेरित्याह-असत्त्वाद्वित्वम् । किम्विति इत्यादावनेन वत्ये तस्य चासत्त्वे “तौ मुमो” इत्यनेन परत्र व्यञ्जनाभावेन अनुस्वारानुनासिको न भवत इत्याह-अनुस्वारानुनासिकाभावश्च असत्त्वादिति शेषः ॥ ४० ॥

२४ अइउवर्णस्यान्तेऽनुनासिकोऽनीदादेः । अत्र नवा इत्यनुवर्तते पदान्त इति च, अनीदादे अन्ते अइउवर्णस्य नवा अनुनासिक इत्यन्वयः । ईददेद्विवचनमित्यादिसूत्राविषयाणामन्ते वर्तमानानां पदान्तानां, अइउवर्णानां नवा अनुनासिकादेश इत्ययमाह-अवर्णस्य इत्यादिना । ननु पदान्ते इत्यनुवृत्तौ सूत्रेऽन्तग्रहण किमयमिति आह-पदान्ताधिकारे इत्यादिना, प्रतिपत्त्यर्थम् इत्यन्तेन । अन्ते-विरामे वर्त-

२७ मानानां सतां पदान्तानां, अइउवर्णानाम् इत्यर्थः, तदाह-स च विरामो इत्यादिना, तदर्थफलमाह-केवलमुपसर्गस्य इत्यादिना । अयमाशयः-केवल “अ” इत्याद्युपसर्गाणां पदान्तत्वेऽपि विरामाद्युत्पेन भवत्यनुनासिकोऽनेन । एवमेव समासान्तवर्तिनां पदान्तत्वेऽपि विरा-

३० इति भवति, एवमन्यत्र । ननु नामँ अत्र, नाम अत्र इत्यादौ अनुनासिकादेशो वा तदभावे कथं न सधिरित्याह-विरामत्वाच्च संधिर्न इत्यादिना । “न सधि” इति सूत्रेणेति शेषः । सूत्रे अइउवर्णस्य इति फल पृच्छति-अइउवर्णस्येति किम् ? कर्तृ-अत्र अकारस्य अइउवर्ण-त्वाभावेन नानुनासिकादेशः । सूत्रे अन्त इति फल पृच्छति-अन्त इति किम् ? दधि करोति-अत्र विरामाविषयत्वात् विरामवृत्तित्वाभावाच्च-

३३ अनुनासिक । वृक्षः-ननु वृक्ष इत्यत्राकारस्य पदान्तत्वाभावेन सूत्रप्रवृत्ते, पदान्त इति अन्त इति च पदद्वयफलमिदं कथं भगवता वृत्तिकृता अन्त इत्यस्यैव फलतया प्रदर्शितमिति चेत् वृक्षाकारस्य “कादि”रिति कस्यादिरिति विग्रहे विसर्गस्य व्यञ्जनत्वेन तस्मिन् परे “नामसिद्ध” इत्यनेन पदान्तत्वा-

३६ नम् “अदो मुमी” “अवर्णात्स्वरे वोऽसन्” इति सूत्रविषयत्वमतो नास्य सूत्रस्य प्रवृत्तिः । अनीदादेरित्युक्त्याऽस्य सूत्रस्य “चादि खरोऽनाहृ” इति सूत्रविषयेऽप्रवृत्तिः, किन्तु विष्णुवाचकशब्दसंबोधने तदविषयमवबुध्यते तत्सूत्रप्रवृत्तौ न कश्चिद्दोषः । ननु कथं अ-विष्णो इत्यत्र चादिरिति सूत्राविषय इत्यत आह-चादिसूत्रे चादेः स्वरस्य इत्यादिना । “अ-विष्णो” इत्यत्र चादित्वाभावात् तदविषय स्पष्ट एव । प्लक्षश्च-

३९ इत्यादौ चस्य चादित्वेऽपि केवलस्वराभावात्तदविषयः । पाटलिपुत्रादाँ-अत्राहा युक्तात् पाटलिपुत्रशब्दात् पञ्चमी “आहावचौ” २।२।७०। इति, “चादि खरोऽनाहृ” इति सूत्रेऽनाहृत्युक्ते स्पष्टमेव तदविषयत्वमिति भावः, सर्वेष्वेतेषु दारणेष्वनेनानुनासिक इति दिक् ॥ ४१ ॥

पूर्वभवदारगोपी० । पूर्वस्मिन् भवे ये दारा-प्रमदा एव गोप्यो-विषयगामीनीन्द्रियाणि, तासां हरणं तस्य स्मरणं तस्मादिव, ४२ अत एव ज्वलित-प्रवीत, मन्युः-क्रोधो यस्य तथोक्तं श्रिया युतो मूलराजः पुरुषोत्तमः-श्रीकृष्ण इव वा तादृशो मूलराज एव पुरुषोत्तमः । दुर्मदा-दुष्टा मदादय एव आभीरास्तान् अवधी-जघान । अथवा-पूर्वभवे दारा एव गा-इन्द्रियाणि तानि पान्तीति पूर्वभव-दारगोपा नाचयमा-वधीकृतोन्द्रिया-सत्पुरुषाल्लेषाम् ई-सपति साधुतारूपा तस्या हरण इत्यादि प्राग्वहोच्यम् । गोपीत्यत्र हल्लीशावत् प्रपोदरा-

४५ द्वित्वाकारल्लुक्, अतएव मूलराजः पुरुषोत्तमोऽन्यथा तु पुरुष एव । सत्पुरुषा हि स्वीयसाधुतासपत्तिविनाशकविनाशाप्रवीणा अयं तु तेष्वनुमत्तेषां स्वस्य च साधुताया अवने चन्द्रपरिकर एतावता स्पष्टमेव तस्य पुरुषोत्तमत्वं, ज्वलितमन्युत्वं च । विवृत्त जगति कस्यचन पुरुषविशेषस्य स्वधन-विनाशश्च्यते प्रवीतकोपत्वं । अस्य तु परमपरोपकारप्रवर्तनान्यधनविनाशेऽपि क्रोधो जायते इति मदद्वैचित्र्यं मूलराजस्य ॥ २ ॥

४८ इति श्रीमत्तपागच्छगगनाहर्मिणीगीतार्थसार्थसौभाग्योद्देशकशैलानाम्पतिपरिपूजितपादारविन्द-आगमोदयसमिति-वर्द्धमानजैनागममदि-रायनेकशासनहितवर्धकस्यानिर्माणोपदेशकमहारककुलमूर्धन्यश्री १००८ आनन्दसागरसूरीश्वराणां साम्राज्ये तत्त्वरणितिविनीतमानवेगानवाप्त-नवपदपीयूषपानोद्यतमभ्यभावभावोदोषसुशोभयश्रीसिद्धचक्र-नवपदाराधकसमाजादिविषयसंस्थापकेन श्रीवर्द्धमानतपोनिष्ठातेन श्रीसिद्धचक्रा-

४१ राधन-तीर्थोद्धारकेण पण्यासप्रवरश्रीचन्द्रसागरगणीन्द्रेण विरचितायाम् श्रीसिद्धहेमचन्द्रसूत्राभिधानस्वोपशब्दानुशासनतत्त्वप्रका-

बोधिण्यां प्रथमस्याध्यायस्य स्वरसंधिप्रकरणं नाम द्वितीयः पादः ॥२॥

१ जान्वस्य रुजति खं० ता०, म० म० । २ तद्वस्य मतम् म० म०, तद्वस्य मतम् खं० ता० । ३ विरामे म० म० ।

॥ अहं ॥

तृतीयः पादः ॥

तृतीयस्य पञ्चमे ॥ १ । ३ । १ ॥

३

वेति, पदान्त इति; अनुनासिक इति चानुवर्तते । वर्गतृतीयस्य पदान्ते वर्तमानस्य वर्गपञ्चमे परे वाऽनुनासिको भवति, स्थान्यासन्नः । वाङ् डवते, वाग् डवते, वाङ्जकारः, वाग्जकारः; वाङ् णकारीयति, वाग् णकारीयति; वाङ् नयति, वाग् नयति; वाङ् मधुरा, वाग् मधुरा, एव षण् नयाः, पङ् नयाः; तन्नयनम्, तदनयनम्; ककुम्भण्डलम्, ककुम्भण्डलम् । १  
तृतीयस्येति किम् ? स्वरनयति, हल्मात्रम् । पदान्त इत्येव ? विद्मः । पञ्चम इति किम् ? वागत्र, पङ् गच्छन्ति । केचित्तु व्यञ्जनस्य स्थानेऽनुनासिके वाऽनुनासिकमिच्छन्ति, तस्य तु “ह्रस्वान्छणनो द्वे” ॥ १ । ३ । २७ ॥ इति द्वित्व च नेच्छन्ति, तन्मते—त्वङ् इति, त्वग् इति; श्रलिङ्गं इति, श्रलिङ्गं इति; तन् इति, तद् इति; हल्मात्रम्, हल्मात्रम् । ननु पण्यया इत्यादौ १  
“अदीर्घाद्विरामैक्यञ्जने” ॥ १ । ३ । ३२ ॥ इत्यनेन तृतीयस्य द्वित्वे कृतेऽन्त्यानुनासिके च तृतीयस्यापि श्रुतिः प्राप्नोति ? नैवम्, अनुनासिके कृते पश्चाद् द्वित्वस्य भावात्—तेन पण्यनयाः, पङ्ङनयाः इत्यादि सिद्धम् ॥ १ ॥

तृतीयस्य पञ्चमे । अत्र “सौ नवेतौ” इत्यतो नवेति, “एदोत पदान्तेऽस्य लुङ्” इत्यतः पदान्त इति, “अडवर्गस्या०” इति १२ अनुनासिक इति चाऽनुवर्तते, स च विधेयस्तस्मिन् नवेति संबध्यते, पदान्त इति तृतीयस्य इत्यनेनान्वेति । कस्य तृतीय ? कस्य पञ्चम ? इति च जिज्ञासायां वर्गस्येति लभ्यते, तथा च—पदान्ते वर्गतृतीयस्य वर्गपञ्चमे नवाऽनुनासिक इत्यन्वयः, तत्सर्वमभिप्रेत्यान्वयार्थमाह—वेति पदान्त इत्यादिना, भवति इत्यन्तेन भगवन्तो वृत्तिकारा । ननु वर्गा अनुनासिका पञ्च व्यञ्जनमा इति वर्गतृतीयस्यैकस्य स्थाने कयमादेशपञ्चकमित्याह— १५  
स्थान्यासन्न आदेश इति शेषः । यद्वर्गस्तृतीयस्त्वद्वर्ग एवानुनासिकादेश इत्यतो नानुनासिकपञ्चकमादेशापत्तिरिति भावः । वाङ् डवते—वाच् डवते इत्यवस्थायां सेङ्कि “नञ०” २।१।८६। इति चस्य कत्वे, “धुटस्तृतीय” २।१।७६। इति गत्वे—वाग् डवते इति स्थितौ वर्ग-पञ्चमलङ्काराव्यवहितपूर्वस्य पदान्तस्यस्य वर्गतृतीयगकारस्य स्थाने स्थान्यासने पाक्षिकेऽनुनासिकादेशे सति सिद्ध्यति, एवमन्यत्रापि । वाङ् १८  
जकारः—वाचो जकार इति समासः । वाङ् णकारीयति—णकारमिच्छति “अमाव्यादा०” ३।४।२३। इति क्यनि । वाङ् मधुरा—वाचा मधुरा इति तृतीया समासोऽसमासो वा । षण् नयाः—पञ्चव्दाद्विहितजसो “उतिष्ण सख्याया०” १।४।५४। इति लुपि पस्य “धुटस्तृतीय” इति कत्वे षड् नया इति स्थितेऽनेनानुनासिके णे सति सिद्ध्यति, टवर्गयोगेऽत्र “तवर्गस्या०” १।३।६०। इति नस्य गत्व “पदा- २१  
न्तादा०” १।३।६३। इति निषेधाच्च भवति । तन्नयनम्—तद् नयनम् इति स्थिते, “धुटस्तृतीय” इति दस्य दत्वे, तस्यानेनानुनासिके तद् नयनम् इत्यत्र “नात्रो नोऽनन्ह” २।१।९१। इति न लोपो न भवति, दस्यासत्त्वेन तत्स्थानापञ्चस्य नस्याप्यसत्त्वात् । ककुम्भण्डलम्—ककुमां मण्डलमिति विग्रहः, ककुम्भ मण्डलम् इत्यत्र “धुटस्तृतीय” इति भस्य बत्वेऽनेन तस्यानुनासिके सति सिद्ध्यति, “तौ मुनो०” १।३।१४। इति २४  
अनुसारस्तु पूर्वसादसदित्यनुवृत्तेर्मस्य न भवति, ‘लक्षणपरिभाषया’, ‘असिद्धमिति’ न्यायेन वा । सूत्रे तृतीयस्यैकस्य फल पृच्छति—तृतीय-स्येति किम् ? इति । हल्मात्रम्—हल्वे हल्मात्रम्, कचित्स्थायै मात्रम् । हल् च तद् मात्र चेति ‘मात्रमवधारणे’, हल् मात्राऽस्येति वा विग्रहः, अत्र नानुनासिको लक्ष्यस्य वर्गतृतीयत्वाभावात् । पदान्त इत्यस्य फलमाह—पदान्त इत्येव ? इति । विद्मः—विदेर्मसिरूपम्, अत्र न २७  
वर्गतृतीयस्य दस्यानुनासिक पदान्तत्वाभावात् । पञ्चम इत्यस्य फल पृच्छति—पञ्चम इति किम् ? वागत्र—अत्र वर्गपञ्चमाव्यवहितपूर्वत्व वर्गतृतीयस्य नास्ति किन्तु लङ्काराव्यवहितपूर्वत्वमस्तीति भावः । व्यञ्जनस्य स्थानित्वमनुनासिकमात्रस्य तु निमित्तत्वमिच्छता पाणिनिशाकटायनदेवनन्दि-विश्रान्तविधाधराणा मतमाह—केचित्तु इत्यादिना । “यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा” पा० ८।४।४५।, “हलोऽनुनासिकेऽनुनासिक स्त्र” शा० ३०  
१।१।१०६।, “यरो जो विभाषा छे” जै० पा० ४।१२५। देवनन्दी इति जैनेन्द्रप्रक्रियाया । ननु येषां मते व्यञ्जनस्य स्थानेऽनुनासिके परेऽनुनासिक इति तन्मते “ह्रस्वान्छणनो द्वे” १।३।२७। इति द्वित्व भवति नवेत्यत आह—तस्य तु “ह्रस्वान्छणनो द्वे” इत्यादिना । तस्य—अनुनासिकस्य, तु इत्यभिप्रेण संबध्यते, नेच्छन्ति पाणिन्यादय इति, तन्मते—उदाहरति त्वङ् इत्यादिषु त्रिषु च उचिति कृतगढदाना ङगना ३३  
सिद्धा, असदित्यधिकाराच्च “ह्रस्वात्०” इति द्वित्वाभावः । हल्मात्रम्—अत्र चतुर्थे प्रयोगे सानुनासिको लङ्कारः, इमेऽलौकिका अत उपेक्षिता । ननु षड् नया इत्यादौ अनुनासिकाव पूर्वं लङ्कारद्वित्वे षड् नया इति स्थितेऽन्यदस्यानेनानुनासिके षड् नया इति भाव्यमित्याशङ्कते—ननु इत्यादिना, समाधत्ते—नैवम् इत्यादिना । “अदीर्घात्०” १।३।२३। इत्यत्रानित्यधिकारात् द्वित्वात् पूर्वमनुनासिकप्रवृत्ते । तत्फलमाह—तेन इत्यादिना । ३६  
अपि च व्यञ्जनस्य स्थानित्वेऽपि पदान्ते वर्तमानानां वर्गप्रथमद्वितीयचतुर्थाक्षराणां “धुटस्तृतीय” इति तृतीय । यत्त्वानां प्रायेण पदान्ते प्रयोगाभावः, सस्य च “सौर” २।१।७२। इति रुत्वम्, शस्य च “यजसृज०” २।१।८७। इति षत्वम्, पारिशेष्यात् तृतीय एव लभ्यत, इति कृत्वा भगवता व्यञ्जनमात्रस्य स्थानित्वमुपेक्षितमनुनासिकस्य च निमित्तत्वमिति भावः ॥ १ ॥

३९

## प्रत्यये च ॥ १ । ३ । २ ॥

पदान्ते वर्तमानस्य तृतीयस्य स्थाने पञ्चमादौ प्रत्यये पेरुनुनासिको भवति । नित्यार्थं वचनम् । वाङ्मयम्, गुह-  
१ लिप्मान्; पण्णाम् । पदान्त इत्येव ? यज्ञः, सज्ञ । चकार उत्तरत्र विकल्पानुवृत्त्यर्थः ॥ २ ॥

## ततो हश्चतुर्थः ॥ १ । ३ । ३ ॥

पदान्ते वर्तमानात् ततस्तृतीयात् परस्य हकारस्य स्थाने प्रत्यासत्त्या पूर्वसर्वगश्चतुर्थो वा भवति । वाग्मीनः,  
६ वाग्मीनः, अज्जलौ, अज्जलौ, पड्डलानि, पड्डलानि, तद्धितम्, तद्धितम्, ककुम्भासः, ककुम्भासः । तत इति किम् ?  
प्राड् हसति, भवान् हरति ॥ ३ ॥

## प्रथमादधुटि शब्दः ॥ १ । ३ । ४ ॥

९ पदान्ते वर्तमानात् प्रथमात् परस्य शकारस्य स्थानेऽधुटि पेरु छकारादेशो वा भवति । वाक्छूरः, वाक्छूरः; वाक्छूरः,  
वाक्छूरः, तच्छ्रुतम्, तच्छ्रुतम्, उच्छ्रुतः, उच्छ्रुतः; तच्छ्रुतलति, तच्छ्रुतलति; पट्छायामाः, पट्छायामाः; त्रिष्टुप्छुतम्,  
त्रिष्टुप्छुतम् । प्रथमादिति किम् ? वाक्छूरः, भवान् शोभनः । अधुटीति किम् ? वाक्छुतोति ॥ ४ ॥

१२ प्रत्यये च । अत्र पदान्ते अनुनासिक तृतीयस्य पञ्चमे इति चानुवर्तते, पञ्चमे इति 'प्रत्यये' इत्यस्य विशेषण, "वसन्त्या आदि"  
७।४।१।१।४।१ इति आदिपदोपस्थित्या पञ्चमादौ प्रत्यये इत्यर्थलाभः, पदान्ते वर्गतृतीयस्य पञ्चमादौ प्रत्ययेऽनुनासिक इत्यन्वयः, तदर्थमाह—पदान्ते  
इत्यादिना । ननु पूर्वसूत्रेणैव पदान्तस्थस्य वर्गतृतीयस्य पञ्चमादौ प्रत्ययेऽनुनासिकसिद्धे किमर्थमिदमित्याह—नित्यार्थम् इत्यादिना । वाङ्मयम्-  
१५ वाच आगतमित्यर्थे विकारोऽवयवो वा इत्यर्थे, "ट्ट हेतुभ्यो" ६।३।१।५।६। इत्यनेन, "एकसराट्" ६।३।४।८। इत्यनेन वा मयद्, वाच्  
मयम्—इत्यत्र चस्य कत्वे, तस्य च गत्वेऽनेनानुनासिक । गुडलिप्मान्—गुड छेदीतिविग्रहे, "किप्" ५।१।१।४।८। इति किपि, "होड्" २।१।८।२। इति डत्वे, "घुट्" इति डत्वे, गुडलिप् ह्रस्वात्तीति विग्रहे, "तदस्याऽस्त्यसि" ७।२।१। इति मत्तौ, प्रथमेकवचने गुडलिप्मान्  
१८ इत्यत्र ङस्यानेन ण । पण्णाम्—पण "सल्यानां णाम्" १।४।३।३। इत्यामो नामादेशे, तृतीयारवेऽनेन णत्वे षण् नाम् इत्यत्र 'भनाभ्रग-  
रीनवते'रित्युक्त्या "पदान्तात्" १।३।६।३। इति प्रतिषेधाभावात्, "तवर्गस्य" १।३।६।०। इति नामो नस्य णत्वम् । पदान्त इत्यनुवृत्तिफल्साह-  
पदान्त इत्येवेति । यज्ञः—"यजिस्वपिरक्षि" ५।३।८।५। इति ने, नस्य च "तवर्गस्य" इति भत्वे, यच् न इत्यत्रापदान्तत्वाज्जस्यनेनानु-  
२१ नासिको न । "प्रत्यये च" इति सूत्रे चकार किमर्थं इत्याह—चकार इत्यादिना । चकार पूर्वसूत्रस्यैवास्य योगस्य शेषता प्रतिपादयन्नात्मनि  
वैत्यस्य सवन्धाभाव तदनुवृत्तेऽव्यावधानं सूचयतीति भावः ॥ २ ॥

ततो हश्चतुर्थः । अत्र पदान्ते नवेति चानुवर्तते, पदान्ते तत ह चतुर्थ इत्यन्वयः । अत्र तत इति तच्छब्दाद् पूर्वप्रकान्तवर्गतृतीय  
२४ पराभूत्येव । ननु तत इति किमर्थं ? यतोऽयं वशाद्विभक्तिपरिणामः इति न्यायात् पूर्वस्मात्तृतीयस्येत्यनुवृत्त्यात्र पञ्चम्यन्तत्वेन विपरिणामात्तृतीयादि-  
त्यर्थलाभादिति चेदुच्यते—तृतीयस्य इत्यनुवृत्तौ तत इत्यभावे हकारात् परस्य तृतीयस्येति सूत्रार्थं स्यात्तन्मा भूत् इति तदावश्यकत्वात्, न च  
पदान्ते हकारासम्भवः, भूतपूर्वगत्या तत्सम्भवात् । पञ्चम इत्यस्याननुवृत्त्यर्थं च तत इति, अन्यथा तदुच्यते, तद्धलयति इत्यादावेव चतुर्थं स्यात्तु  
२७ वाग्मीन इत्यादौ । यद्यपि हकारस्य कण्ठत्वेन तदासन्नपकारेणैव भाव्यं न श्रद्धाभैरिति पूर्वग्रहणं कर्तव्यं, तथापि सूत्रे चतुर्थं इत्युक्त्या निमित्त-  
प्रत्यासत्तिराश्रीयते, अन्यथा हो ष इति विद्व्यात् । तदेतन्मनसि निधायाह—पदान्ते वर्तमानात् इत्यादिना । वाग्मीनः—वाचा हीन इति विग्रहः ।  
अत्र चस्य कत्वे गत्वे च तस्मात् परस्य हस्य गजातीयो ष, एवमन्वयः । अज्जलौ—अच् च हल् चेति विग्रहः । 'अच्' इति प्राचा सज्ञा  
३० हल् इति च । अत्र जकारात् परस्य, हस्यानेन झ । 'अच्' इत्यत्र चस्य कत्वाभावः सज्ञाभ्रमस्याऽन्यथाक् इति समानाना अश्चकल इत्येषां  
बोधः स्यादिति चस्य "घुट्" इति जत्वे सर्वेष्टसग्रहः । एतेन "स्त्रिजयतन्त्याम्" ३।४।५।३। इत्यादिप्रयोगा व्याख्याता । पड्डलानि—  
असमस्तप्रयोगः, अत्र पदान्तत्वात् परस्य हस्य पूर्वसर्वगश्चतुर्थो ङ । तद्धितम्—तस्यै हितमिति विग्रहः, अत्र पदान्तवर्गतृतीयदात् परस्य हस्य  
३३ ष पूर्वसर्वगः । ककुम्भासः—ककुम्भा हास इति विग्रहः, अत्र मस्य तृतीयवत्वे तत्परस्य हस्य तत्सजातीयश्चतुर्थो ङ । सूत्रे तत इत्यस्य फल  
वृत्तति—प्राड् हसति । प्रपूर्वाकावते कौ, "अबोऽनर्चयाम्" ४।२।४।६। इति नलोपे, सेर्लुकि "अच" १।४।६।९। इति नागने, "पदस्य"  
२।१।८।९। इति चकारलोपे, "युजव" ३।१।७।१। इति नस्य छकारे—प्राड् हसतीत्यत्र छत् परस्य हस्य घो मा भूदिति तत इति ॥ ३ ॥

प्रथमादधुटि शब्दः । अत्र पदान्ते नवा इति चानुवर्तते, पदान्ते प्रथमात् वा अधुटि छ नवा इत्यन्वयः । अधुटि इत्यत्र  
३४ पर्युदासार्थको नच्, तेन धुडिभिषाधुदसदृशा खरान्तं स्थानुनासिका एव अधुट, तेषु परेषु वर्गप्रथमात् परस्य शस्य पदान्तस्थस्य 'छ' इत्या-  
देशो नवा भवतीत्यर्थमाह—पदान्ते वर्तमानात् प्रथमात् इत्यादिना । वाक्छूरः—वाचा छूर इति विग्रहः । अत्र वाच् इत्यत्र चस्य कत्वे  
३९ तस्य गत्वे तत छर इति योगे, "अघोषे प्रथमोऽधुट" १।३।५।०। इति प्रथमे, वाक् छूर इति स्थिते पदान्तवृत्तेर्वर्गप्रथमात् कात् परस्य अधुद-  
खरोकारपरस्य च शस्य विभाषा छ इति समन्वयः । वाक्छूरः—वाचा छूर इति विग्रहः । अत्र कात् परस्य अधुदपरस्य च शस्य स्थाने छ ।  
तच्छ्रुतम्—अत्र "धुटस्तृतीय" इति दकारस्य दकारे तस्मात् परस्य अधुद परस्य च शस्य स्थाने छ । उच्छ्रुतम्—उद्गतति श्मश्रूणि नस्य  
४२ स इति विग्रहः । पट्छायामा—पण्णां श्यामा । त्रिष्टुप्छुतम्—त्रिष्टुभं श्रुतम् । नन्वेतेषु तृतीयस्य प्रथमे सत्यस्य प्रवृत्तेरिति पूर्वोक्त इत्य-  
नुवृत्त्य सर्वेष्टसिद्धौ "प्रथमात्" इति किमर्थं ? न चैतत्सूत्रापेक्षया "अघोषे" इति परत्वात् पूर्वमेव प्रथमो विधायति, यतस्तत्रान्वित्यधिहार-  
सत्वात् इति चेदुच्यते तृतीयादनेन तदपेक्षया प्रागेव छत्वे पश्चात्प्रथमत्वानापत्तेर्विधानसामर्थ्यात्, अन्यथाय कथं तृतीयात् छो विद्व्यात् ।  
४५ वाक्छुतोति—वर्गप्रथमात् कात् परस्य शस्य अधुदपरत्वाभावात् छ । पर्युदासफल द्व वाक् छ इत्यत्र छत्वानात् ॥ ४ ॥

रः कखफयोः कूट्यौ ॥ ५ ॥ ] श्रीतत्त्वप्रकाशिकाश्रीआनन्दबोधिनीविभूषितम् ।

रः कखपफयोः कूट्यौ ॥ १ । ३ । ५ ॥

पदान्ते वर्तमानस्य रेफस्य कखे पफे च परे यथासङ्ख्यं कूट्यौ जिह्वामूलीयोपध्मानीयावादेशौ वा भवतः, ककारपकारा उच्चारणार्थाः । कङ्करोति, कङ्कनति, कङ्कचति, कङ्कलति, अन्तङ्करोति, अन्तङ्कलति, पक्षे “रः पदान्ते विसर्गः” ॥ १ । ३ । ५ ॥ इत्यनेन विसर्गः—कः करोति, कः खनति, कः पचति, कः फलति, अन्तः करोति; अन्तः फलति । विसर्गापवादोऽयम्, एवमुत्तरावपि ॥ ५ ॥

शषसे शषसं वा ॥ १ । ३ । ६ ॥

पदान्ते वर्तमानस्य रेफस्य शषसेषु परेषु यथासङ्ख्यं श ष स इत्येते आदेशा वा भवन्ति । कश्शेते, कः शेते; कषण्डः, कः षण्डः; कस्तसधुः, कः साधुः; अन्तश्शेते, अन्तः शेते, मातषण्डे, मातः षण्डे, पयस्सु, पयःसु । कथं गीर्षु, धूर्षु ? अरो रेफस्य सुपि रेफो वक्ष्यते । कः शकार इत्यादिषु त्वगोपे शिट्परे विसर्जनीयस्य विधानाद् रेफ एव नास्तीति न भवति, एवं पूर्वोत्तरयोरपि योगयोर्द्रष्टव्यम्—वासः क्षौमम्, अद्भिः प्सातम्; असेः त्सरुः । नवाधिकारे वाग्रहणमुत्तरत्र विकल्पनिवृत्त्यर्थम् ॥ ६ ॥

चटते सद्वितीये ॥ १ । ३ । ७ ॥

पदान्ते वर्तमानस्य रेफस्य चटतेषु सद्वितीयेषु परेषु यथासङ्ख्यं श ष स इत्येते आदेशा भवन्ति । चछयोः शः—

रः कखपफयोः कूट्यौ । अत्र पदान्ते नवेति चानुवर्तते, पदान्ते र कखपफयोः कूट्यौ इत्यन्वयः । कथं तस्य कयो, पक्ष कष पफौ, कखौ च पफौ च इति कखपफौ तयोरिति द्वन्द्वयोर् द्वन्द्वः । जिह्वामूलीयोपध्मानीयो इति पूर्वोच्चारणार्थाः सङ्गा, तदेतदाह—  
पदान्ते वर्तमानस्य इत्यादिना । कूट्यौ इत्यत्र ककारपकाराकाराणां किं प्रयोजनमित्याह—ककारपकाराकारा इत्यादिना । कङ्करोति—  
अत्र “किम् कस्तसादौ न” १।३।५०। इति कादेशे सेखु “सो रु”रिति क्वे, कर् करोति इति स्थिते काव्यहितपूर्वस्य पदान्तरेफस्य कू. पक्षे विसर्ग “र पदान्ते” १।३।५३। इति । एवमन्यत्रापि । यद्यपि “निरनुबन्धग्रहणे न चानुबन्धस्येति न्यायादत्र सानुबन्धस्यादेशो न प्राप्नोति तमापि १८ “अरो छपि” १।३।५५। इति स्ये “र पदान्ते” इत्यनेन र इत्यनुवृत्तौ खञ्जितस्य रेफस्य रेफे परे रेफ एव सेत्स्यति किमर्थं ‘अरो’ इति ? तद्वोधयति “निरनुबन्धग्रहणे सामान्यग्रहणम्”, तथा चात्र सामान्यग्रहणं भवति । “र पदान्ते विसर्गस्यो” इत्यनेन विसर्गं प्राप्तिं तदपवाद-भूत योगत्रयमित्याह—विसर्गापवादोऽयम् इत्यादिना । एवमुत्तरावपि—“शषसे शषसं वा”, “चटते सद्वितीये” इति योगौ ॥ ५ ॥ २१

शषसे शषसं वा । अत्र पदान्ते र इति चानुवर्तते, पदान्ते र शषसे शषसं वा इत्यन्वयः । अत्र निमित्तादेशयोः समाहारद्वन्द्वो यथासङ्ख्यलाभाय, तदाह—पदान्ते वर्तमानस्य इत्यादिना । ननु शषसमिति विहाय स इति न्यायेन ‘शषसे सो वा’ इत्येव सूच्यताम्, कश्शेते कषण्डः कस्तसधुरिति “सस्य शषौ” १।३।६१। इत्यनेनैतद्विहितसकारस्य शषौ, कस्तसधुरित्यजानेन स इति सकलामीष्टप्रयोगसिद्धे । न च “चटते २४ सद्वितीये” इत्युत्तरार्थमिदं, तत्रापि च इत्यनुवृत्त्या तस्य—“सस्य शषौ” इत्यनेन ‘शषौ’ सिध्यति—कश्शरति, कष्टोक्ते इत्यादौ । न च कश्शेते इत्यादौ “धुटस्तृतीय” इति तृतीयवाचनाय शषयोर्विधानमिति वाच्यम्, ‘असिद्धं वहिरङ्गमन्तरङ्गे’ इति न्यायेन कश्शेते इत्यादौ अन्तश्शेते इत्यादौ च कस्यस्य शप्तस्य चासिद्धत्वेन तृतीयग्रहणेति चेत्, प्रथमिवधानं शषयोस्त्वयायावित्यत्युक्तप्राप्तार्थम् । अपि च ‘शषसं’ इति शषसानामेतद्विलक्षणं २७ कार्यान्तरे न भवतीति सूचयति, तेन अन्तश्शेते मातषण्डे इत्यादौ “धुटस्तृतीय” इति जत्वकटादिकं न भवति । कश्शेते इत्यादौ तु तृतीय-आने रो परेऽसत्त्वादिपि सिध्यति । सर्पिष्णु इत्यादौ अनेन रेफस्य सत्त्वे “नाम्यन्तस्यां” २।३।१५। इत्यनेन प्रत्ययस्य पत्वे, प्रकृतिस्य “सस्य शषौ” इत्यनेन पद्योरे षत्त्वं भवत्येव तस्य परूपत्वेन विलक्षणाभावात्, विलक्षणस्य च तृतीयत्वादिकस्याभावः स्पष्ट एव । कश्शेते—अत्र ३० किम् काऽश्शेते, से सस्य “सो रु”रिति क्वे, कर् शेते इति स्थितौ नापरस्य पदान्तस्थस्य रेफस्य श । एवमन्यत्र । ननु गीर्षु धूर्षु इत्यादौ “नाम-सिद्ध” इति पदान्तरेफस्य अपरस्य कथं न च इति शङ्कते—कथं इत्यादिना । समाधेयो—अरो रेफस्य इत्यादिना । “अरो छपि र” १।३।५५। इत्यनेन रेफस्य कार्यान्तराधकारेकविधानात् न भवति य । मातृधाकारः पितृधाकार इत्यादिवाक्यस्थस्य वाक्यैकदेशस्य पक्षः—कः शकार इति २३ इति । कः शस्य शकार इति विग्रहार्थः । अत्र कर् शकार इत्यवस्थायां पदान्तस्थस्य शपरस्य रेफस्य कुतो न श इत्याद्यङ्गाया “शिव्यघोषात्” १।३।५५। इति शिट्परेऽगोपे पदान्तरेफस्य विसर्ग एवेति रेफाभावात् श इति भावः, तदाह—कः शकार इत्यादिषु त्वगोपे शिट्परे इत्यादिना । ननु वाष्पं क्षौमम्, अद्भिः प्सातम्—अत्र पदान्तस्य “सो रु”रिति क्वे, “र कख” इति कथं न भवति ? असेः त्सरु—अत्र पदान्तं ३६ सस्य रेफे सति “चटते सद्वितीये” इति कथं न स ? इत्याह—एवं पूर्वोत्तरयोरपि इत्यादिना । पूर्वस्मिन्—“र कख” इत्यत्र, उत्तरत्र—“चटते” इत्यत्र, पूर्ववद्विसर्गविधानाद्रेफाभावाच्च भवति तत्प्राप्तं कार्यम् । ननु नवा इत्यनुवृत्तिस्वीकारेण विकल्पबोधेऽत्र वा इति किमर्थमित्याह—  
नवाधिकारे वा ग्रहणमुत्तरत्र इत्यादिना । अवयवमिप्राय—नवेति चेति च विकल्पे वर्तते, विकल्पस्य सामर्थ्यात् कार्यस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिरपि, २९ प्रवृत्तिनिवृत्ती च कार्यस्य नवाधिकारेणैव सिद्ध्यते इति तत्रानर्थक्यं सन् वाशब्दः प्रवृत्तिनिवृत्ती प्रवृत्तिचयस्य प्रवृत्तिनिवृत्ती व्यवस्थापयति तत्प्रतिबद्धं नोत्तरत्रानुवर्तते ॥ ६ ॥

चटते सद्वितीये । अत्र पदान्ते र शषस इति चानुवर्तते, पदान्ते र सद्वितीये चटते शषसं इत्यन्वयः । चख टख तस्य इति ४२ समाहारद्वन्द्वं तस्मिन्, सह द्वितीयेन स्थानगुणार्थ्यां प्रत्ययसंज्ञेन वर्तत इति सद्वितीयं तस्मिन्निहितं च निग्रहः । नन्वत्र स्वरूपेण “चट्टटतये” इत्यस्येद्वयं किम् निर्दिश्यते ? इति चेत्, सत्यम्, आदेशनिमित्तयोग्यैवायसङ्ख्यलाभाय तथा निर्देशोऽन्यथा निमित्तपङ्क्तस्य आदेशाश्रयस्य च यथासङ्ख्यामात्रं स्यादित्याह तदर्थं—पदान्ते इत्यादिना । नन्वेव सत्यपि चविशिष्ट छ, दविशिष्ट ठ, तविशिष्ट ढ, इति यत्र ४५



नूनः पेषु वा ॥ १ । ३ । १० ॥

नूनिति शसन्तस्य नृशब्दस्यानुकरणम्, नूनः पकारे परे रोऽन्तादेशो वा भवति; अनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्य । नूँव्याहि, नूँव्याहि, नूँपाहि, नूँपाहि, नूँपाहि; नूँव्रीणीहि, नूँव्रीणीहि, नूँव्रीणीहि, नूँव्रीणीहि; नूँव्रीणीहि । पेष्वाति १ किम् ? नूनं योजयति । बहुवचनस्य व्याप्यर्थत्वादधुदपर इति निवृत्तम् ॥ १० ॥

द्विः कानः कानि सः ॥ १ । ३ । ११ ॥

कानिति किम् शसन्तस्यानुकरणम्, द्विरुक्तस्य कानः कानि परे सकारान्तादेशो भवति; अनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्य । काँस्कां, काँस्कां । द्विरिति किम् ? कान् कान् पश्यति, अत्रैकः किम् प्रश्नेऽन्यस्तु क्षेपे । कानीति किम् ? काँस्कां पश्यति । रसाधिकारेणैव सिद्धे सविधानं रत्नवाचनार्थम् ॥ ११ ॥

स्सटि समः ॥ १ । ३ । १२ ॥

समित्येतस्य स्सटि परे सकारोऽन्तादेशो भवति, अनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्य । संस्कर्ता, संस्कर्ता, संस्कर्तुम्; संस्कर्तुम् । स्सटीति किम् ? संकृतिः । सचस्कारेत्यत्र तु व्यवधानाच्च भवति । सम इति किम् ? उपस्कर्ता ॥ १२ ॥

नूनः पेषु वा । अत्र र अनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्य इति चानुवर्तते, नून पेषु रो वा पूर्वस्य चानुस्वारानुनासिकौ इत्यन्वयः ॥ १२ नून इति शसन्तशब्दानुकरणात् षष्ठी तत्तत् “षष्ठाऽन्त्यस्य” इति अन्तस्यादेशो लभ्यते, तदेतदाह—नूनिति इत्यादिना । अत्र सूत्रे पेषु इत्यनेन पकारमात्रमेव निमित्तम्, अन्यथा यदि पकाराकारौ निमित्तौ स्यातान्तर्हि नृट्यचर्तृत्वादावेव सूत्रप्रवृत्तिर्न तु नू पाहि इत्यादी । पकारमात्रे तु निमित्तत्वेनाधीयमाणे पकारादाविलेखे सूत्रार्थो न भवति पकारमात्रस्य भावादिति सर्वत्र सिद्धं भवति । नूँव्याहि—नून पाहि इति १५ स्थितौ पकाराव्यवहितपूर्वस्य नूनो नस्य रूपक्षेऽनुस्वार, “र कश्च०” इति रस्य पपरस्य व्यञ्ज इत्युपस्थानीयः, तदभावे “र पदान्ते विसर्ग०” इति विसर्ग—नूँपाहि इति । एवमेव रूपक्षेऽनुनासिके उपस्थानीये तदभावे च विसर्गे रूपद्वयम्—नूँव्याहि, नूँपाहि इति । रत्वाभावपक्षे तत्पृष्ठ-भावितादनुस्वारानुनासिकयोरेवभावे—नूँपाहि । एवमन्यत्र । सूत्रे पेष्वात्यस्य फलं पृच्छति—पेष्वाति किम् ? नूनं योजयति—१८ अत्र नूनो न र पकारपरत्वाभावात् । अधाधुदपरे इत्यनुवर्तमानात्तस्य च निमित्तविशेषत्वात् नूनं स्सटि इत्यादावप्रसङ्ग इत्याशङ्क्यामाह— बहुवचनस्य व्याप्यर्थत्वात् इत्यादिना । अधुदपरे धुदपरे न पकारमात्रेऽस्य सूत्रस्य प्रवृत्तिर्यासिद्धादित्यर्थः ॥ १० ॥

द्विः कानः कानि सः । अत्र अनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्य इत्यनुवर्तते, द्वि कान कानि स पूर्वस्य च अनुस्वारानुनासिकौ इत्यन्वयः २१ न्वयः । द्वौ वारौ अस्तेति विग्रहे “द्वित्रिवद्वरः सुच्” ७।१।११०। इति शुचि, उक्तिक्रियापेक्षया क्रियाविशेषणम्, क्रियाविशेषणानां कर्मत्वमित्यनुशासनादपि “अन्यथस्य” इति तदुपि—द्विः । अनुकार्यानुकरणयोर्भेदस्य विवक्षितत्वात् शसन्तकिम्भादानुकरणादपि षष्ठी—कानः । तथैव अन्यत्रापि—कानि, तदेतदाह—द्विरुक्तस्य इत्यादिना । काँस्कां, काँस्कां—किम् वापि कादेशे “शसोऽता सञ्च न पुसि” १।४।४९। इति २४ दीर्घत्वे नत्वे “वीष्वायाम्” ७।४।८०। इति द्विरुक्तत्वेन चानुस्वारानुनासिकपूर्वकादेशो सिद्ध्यति । द्विरित्यस्य फलं पृच्छति—द्विरिति किम् ? कान् कान् पश्यति—अत्र द्विरुक्तत्वाभावाच्च सो भवतीत्याह—अत्रैकः किं क्षेपे इत्यादिना । तेन कुस्वितान् कान् पश्यतीत्यर्थो भवति । कानीत्यस्य फलं पृच्छति—कानीति किम् ? काँस्कां—अत्रोत्तरस्य कानो न भवतीत्याशयः । ननु ‘काँस्कां’ इत्यत्रानेन सकारे सति “सो २७ र” इति कर्त्तृ कुतो न भवतीत्याह—रस्य इत्यादिना । अयं भावः—यद्यत्र सकारे कृते क्तव लिखेय स्यात्तर्हि पूर्वस्माद् र इत्यधिकारेणैव सिद्धे सविधानं किमर्थं ? अपि नैव कृते प्रक्रियालाभव न भवतीत्याह—सविधानं रत्नवाचनार्थमिति । ननु कस्यादिरिति तत्पुरुषपक्षेऽनुस्वारस्य व्यञ्जनत्वेन तत्सूत्रविहितस्य “पदसे”ति लोप कस्य न भवतीति चेदुच्यते—तत्र सूत्रे मुख्यव्यञ्जनसंयोगस्यैवाश्रितत्वादस्य तु सामर्थ्यप्रापितत्वेन—३० मुख्यव्यञ्जनत्वादिति भावः ॥ ११ ॥

स्सटि समः । अत्र स अनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्य इति चानुवर्तते, सम स्सटि स पूर्वस्य च अनुस्वारानुनासिकौ इत्यन्वयः । सम इति प्रादिपठितस्य ग्रहणं, न तु ‘सम्’ वैकृत्ये, इत्यस्य विवक्षितस्य, “संस्कृते भक्ष्ये” ६।१।१४०। इत्यादिशापकात् तत् स्थानपक्षी, “षष्ठाऽ-३३ न्यस्ये”ति न्यायेनान्तादेशस्य इत्याह—समित्येतस्य इत्यादिना । संस्कर्ता, संस्कर्तृत्वादि । सपूर्वात् करोते “सपरे क्वा स्सट्” ४।४।९१। इति स्सटि खलन्यास्ताप्रत्यये तु प्रत्यये च गुणे क्रमेणानुस्वारानुनासिकपूर्वकादेशः । अत्रानुस्वारपक्षे तस्य पूर्वोक्तरीत्या व्यञ्जनत्वेन “धुतो धुति खे वा” इति सकारलोपे संस्कर्ता इति भवति । एवमन्यत्रापि । स्सटीत्यस्य फलं पृच्छति—स्सटीति किम् ? संकृतिः—३६ सपूर्वात् क्वा कौ रूपम्, गणोदिपाठात् स्सङ्गमाभावात् । संचस्कारेत्यत्र तु—सम्पूर्वात् क्वा स्सटि णि प्रत्यये, “द्विर्धातु ०” ४।१।१। इति द्विवचने, “अधोये शिट्” ४।१।४५। इति सलोपे, “ऋतोऽत्” ४।१।३८। इत्यत्वे, “कश्चञ्च” ४।१।४६। इति कत्व नत्वे, “नामिनोऽकलि हले” ४।३।५१। इति ह्रस्वे च सचस्कार इत्यत्र सम् स्सटोरव्यवहितत्वाभावाच्च भवति च । न चात्र सम् स्सट् इत्यवस्थायां प्रत्ययात् पूर्वमेव ३९ सर्वस्य निमित्तस्य सङ्गावात् “स्सटि सम” इति साधादेशप्रसङ्ग इति वाच्यम्, परत्वाभित्वाद्वात्ताभावाभ्युपेयान्तरङ्गत्वाच्च प्रत्यये सति तत्कार्ये च स्सटो विधानेन प्रत्ययोत्पत्ते पूर्व “स्सटि सम” इति साधादेशप्रसङ्गः । यद्यपि “अधोये शिट्” ४।१।४५। इति स्वसकारस्य “स्वानादीनामणिविधौ” ७।४।१०९। इति स्थानित्वे, “स्सटि सम” इति प्राप्नोति स्सटीति वर्णसमुदायाभ्युपेयनावर्णविधित्वात्तथापि सकारादि सद् ४२ स्सट् तस्मिन्निधित्वे व्याख्यानं तस्य वर्णविधित्वात् स्थानित्वाभाव इत्याशयः । यद्यपि सचस्कार इत्यत्र द्वित्वेन समो व्यवधानात् क्वा सङ्गमावो ‘निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यप्यय’ इति न्यायेन प्राप्नोति, तथापि “स्वाङ्गस्यव्यवधायकमिति न्यायेन द्वित्वरूपस्य स्वाङ्गस्य क्वा प्रति व्यवधायकत्वायोगात् न सङ्गमावः । सम इत्यस्य फलं पृच्छति—सम इति किम् ? उपस्कर्ता—उपपूर्वात् करोतेत्युचि “उपाङ्गस्यसमवायप्रतियन्त्र-४५ विकारवाक्याऽन्याहारे ४।४।९२। इति स्सटि च भवति ॥ १२ ॥



## लुक् ॥ १ । ३ । १३ ॥

समित्येतस्य स्सटि परे लुगन्तादेशो भवति । पृथग्योगादनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्येति निवृत्तम् । सस्कर्ता, सस्कर्तुम् । केचित्तु अत्राप्यनुनासिकमिच्छन्ति-सँस्कर्ता, सँस्कर्तुम् ॥ १३ ॥

## तौ मुमो व्यञ्जने खौ ॥ १ । ३ । १४ ॥

मोर्न्वागमस्य पदान्ते वर्तमानस्य च मकारस्य व्यञ्जने परे तस्यैव खौ तावदनुस्वारानुनासिकौ वपौ पर्यायेण भवतः । मग्रहणेनैव सिद्धे, मुग्रहणमपदान्तार्थम् । खेत्तुनासिकस्य विशेषणं नातुस्वारस्य, असंभवात् । (मु-)चक्रम्यते, चङ्क्रम्यते, चंच्र्यते, चञ्च्र्यते, दद्रम्यते, दन्द्रम्यते, वंभण्यते, वम्भण्यते, यंयम्यते, यँयम्यते, वंवम्यते, वँवम्यते । मै-वहलिहो गौः, वहलिहो गौः, त्व करोषि, त्वङ्करोषि, त्व चरसि, त्वञ्चरसि, त्व टीकसे, त्वण्टीकसे; त्वं तरसि, त्वन्तरसि-नकारस्य लाक्षणिकत्वाद्वा “नोऽप्रशानोऽनु” ॥ १ । ३ । ८ ॥ इत्यादिना सकारो न भवति; त्वं पचसि, त्वम्पचसि, सयतः, सय्यतः, अहंयुः, अहय्युः, त्व लोकाः, त्वल्लोकाः, सवत्सरः, सव्वत्सरः, कवः, कव्वः; कितराम्, किन्तराम् । पदान्ते इत्येव ? गम्यते, रम्यते । व्यञ्जन इति किम् ? किमत्र । स्वाविति किम् ? रम्यते, शशम्यते, त्वं रमसे, त्व शण्डः, त्वं १२ षण्डः, त्व साधुः, त्व हससि ॥ १४ ॥

लुक् । अत्र स्सटि सम इत्यनुवर्तते, सम स्सटि लुक् इत्यन्वयः, तदर्थमाह-समित्येतस्य इत्यादिना । ननु ‘स्सटि समोऽङ्क च’ इत्येव योगविन्यासे लक्ष्यसिद्धौ कथं “लुक्” इति भिन्नयोगारम्भः, न चैकयोगे लुक्पक्षे अनुस्वारानुनासिकौ स्याताम्, सकारसंनिधौगोष्ठि-  
१५ धृत्वादनुस्वारानुनासिकयोः सकारनिष्ठतावनुस्वारानुनासिकयोरपि निश्चयितरिति चेत्, सत्यम्, अनुस्वारानुनासिकौ हि कार्यसंनिधौगोष्ठौ ततश्च लुक्कार्यसंनिधौगोष्ठित्वमपि तयोरिति लुक्पक्षेऽपि स्यातामित्याह-पृथग्योगात् इत्यादिना । सस्कर्ता-अत्र समो मस्य लुगन्तादेशः स्सटि परे । येषां मते लुक्पक्षेऽप्यनुस्वारानुनासिकौ तन्मतसुपन्यस्यति-केचित्तु इत्यादिना । पाणिनीयसूत्रेषु “सम झटि” पा० ८।३।५। इति पठ्यते,  
१८ तत्र ‘समो वा लोपमेके’ इति भाष्येतिरिति लोपपक्षेऽप्यनुस्वारानुनासिकौ भवतः । उत्पलोऽप्याह-सम झटि लोपः, लोपपूर्ववर्तिनोऽनुस्वारानुनासिकौ चेति । “समस्सटि ग्लुक् च” शा० १।१।१५२। इति सूत्रयत् शाकटायनस्यापीदं मतम्, कार्यद्वयमप्येकेनैव सूत्रेण प्रतिपादितमिति दिक्, तन्मते उदाहरति-सँस्कर्ता इति ॥ १३ ॥

२१ तौ मुमो व्यञ्जने खौ । अत्र पदान्ते इत्यनुवर्तते, पदान्ते मुम व्यञ्जने खौ तौ इत्यन्वयः । मुः ( “मुरतोऽनुनासिकस्य” ४।१।१। इति विहित ) सच मधेयनयोः समाहारद्वन्द्वाद् यथां मुम इति भवति । पूर्ववस्तु परामृशति तच्छब्द इति तावित्यनेन अनुस्वारानुनासिक-विति लभ्यते, तदेतदाह-मोर्न्वागमस्य इत्यादिना । ननु पूर्वस्मादनुवृत्त पदान्त इति मुमोर्वाक्यविभक्तिनिर्दिष्टत्वात् कथं मकारस्यैव विशेषण-  
२४ मुफ न म्वागमस्येत आह-मग्रहणेनैवेति । अयमाशयः-‘सम्भवे व्यभिचारे च विशेषणमर्थवद्भवति’ कविदापो ब्रह्ममिति वस्तुमन्व-मात्रेऽपि न सम्भवाभावे कविदपि, मोक्ष पदान्तेऽसम्भवादिशेषणाभाव इति । यद्यपि सूत्रे तावित्यभावे स्वाविति विशेषणस्य विशेष्यसापेक्ष-तयाधिकारादनुविद्वावनुस्वारानुनासिकावेवानुवर्त्यतस्तथापि तौग्रहणमवधारणार्थमवगम्यतेऽन्यथा अव्यवहितपूर्वोक्तो लुक् पूर्वस्य इति चातुह्यतौ मुमो-  
२७ ह्रस्वमवति पूर्वस्य चातुस्वारानुनासिकौ इति सूत्रार्थे चक्रम्यते इति सिद्धावपि चङ्क्रम्यते इत्यनिष्ठमापद्यते । यतो हि निमित्तभूतवर्णपेक्षया  
३० खेतीत्यादिना । मूलस्थ खौ इति अनुनासिकस्य विशेषणं, न अनुस्वारस्य विशेषणं, असंभवात्, हेतुरयं खेत्तुनासिकविशेषणभावे । चङ्क्र-म्यते, चङ्क्रम्यते-कुटिल क्रामतीत्यर्थः, ‘क्रु’पादविशेषे इति घातो ‘गल्यर्थात् कुटिले’ ३।४।११। इति यङि, ते प्रत्यये, “मुरतोऽनुनासिकस्य” ४।१।५। इति द्वित्वे सति लुके च पूर्वस्य मु, “कृष्णम्” इति वस्य क्त्वे, चम् क्रम्यते इति स्थिते म्वागमस्य मस्य व्यञ्जनपरस्य परस्थित-  
३३ व्यञ्जनसजातीयोऽनुनासिकश्चातुस्वारः । चंच्र्यते, चञ्च्र्यते-नाहित चरतीत्यर्थः, “गलुपचदचरजपचदशदहोर्गो” ३।४।१२। इति यङि, आत्मनेपदे तेप्रत्यये, “सन्वृक्ष” ४।१।३। इति द्वित्वे, “चरफलम्” ४।१।५३। इति पूर्वस्यम्वागमे, “तिचोपान्स्यातोऽनोऽनु” ४।१।५४। इति द्वितीयचकाराकारस्योत्त्वे, चम् जुयते इति स्थिते व्यञ्जने परे म्वागमस्य तस्यैव खानुस्वारानुनासिकौ “भवादेर्ना” २।१।६३। इति दीर्घे च सिद्ध्यति ।  
३६ दंद्रम्यते, दन्द्रम्यते-कुटिल क्रमतीत्यर्थः, चक्रम्यते इति वत्साध्यम् । वंभण्यते, वम्भण्यते-‘मण’ शब्दे, मृश पुन पुनर्वा मणतीत्यर्थः । यंयम्यते, यँयम्यते-‘यम्’ उपरमे, मृश पुन पुनर्वा यच्छतीत्यर्थः । वंवम्यते, वँवम्यते-‘वम्’ उद्विरे, मृश पुन पुनर्वा वमतीत्यर्थः । इति म्वागमोदाहरणानि । एभ्यो चातुभ्यो यङि द्विवचनादौ कृते पूर्वस्य म्वागमस्य क्रमेणानुस्वारोऽनुनासिकश्च । वहलिहो गौः, वहलिहो गौः-वह लैतीत्यर्थः “वहाभ्राह्मिह” ५।१।१२३। इति खर्, “खिल्यव्ययाऽरुगोऽनोहस्वख” ३।२।१११। इति भागमेऽनेन मकारस्यानुस्वारे-  
३९ गौः-वह लैतीत्यर्थः “वहाभ्राह्मिह” ५।१।१२३। इति खर्, “खिल्यव्ययाऽरुगोऽनोहस्वख” ३।२।१११। इति भागमेऽनेन मकारस्यानुस्वारे-  
४२ इति त्वमादेशेऽनेनानुस्वारेऽनुनासिके च भवति । त्वन्तरसीत्यादौ एतत्सूत्रविहितमकारस्य “नोऽप्रशानो” इति कस्याश्च भवतीत्याह-सकारस्य इत्यादिना । लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षण-लिङ्गं तत् आगतो “अध्यात्मादिभ्य इङ्” ६।३।७८। इतीकणि, लाक्षणिकोऽनुमेय सञ्च्यते, अयं च नका-  
४५ “कथंभ्यां शुक्तिवस्तुतवभम्” ७।२।१८। इति वप्रत्ययः । सूत्रे स्वावित्यस्य फलं पृच्छति-स्वाविति किम् ? ररम्यते, शशम्यते-  
४८ प्रसज्येत इति भावः ॥ १४ ॥



## मनयबलपरे हे ॥ १ । ३ । १५ ॥

मनयबलपरे हकारे परे पदान्ते वर्तमानस्य मकारस्य स्थानेऽनुस्वारानुनासिकौ स्त्रौ पर्यायेण भवतः । किं हल्यति, किम् हल्यति, किं हुते, किन्हुते, किं ह्यः, किं ह्यः, किं हल्यति, किं हल्यति, किं हल्यति, किं हल्यति, किं हल्यति, किं हल्यति । मादिपर १ इति किम् ? किं हसति । ह इति किम् ? किं ज्वलति ॥ १५ ॥

## सम्राट् ॥ १ । ३ । १६ ॥

समो मकारस्य राजतौ क्विन्ते परेऽनुस्वारभावो निपात्यते । सम्राट् भरतः, सम्राजौ, सम्राजः । साम्राज्यम् ॥ १६ ॥ ६

## ङ्गोः कटावन्तौ शिटि नवा ॥ १ । ३ । १७ ॥

पदान्ते वर्तमानयोर्लकारणकारयोः शिटि परे यथासङ्ख्य कृद् इत्येतावन्तौ वा भवतः । प्राङ् शेते, प्राङ् छेते, प्राङ् शेते, प्राङ् षण्डे, प्राङ् षण्डे, प्राङ् साये, प्राङ् साये, सुगण्ड शेते, सुगण्ड छेते, सुगण्ड शेते, वण्ड षण्डे, वण्ड षण्डे, वण्ड साये, वण्ड साये, कुङ्कु, कुङ्कु; सुगण्डसु, सुगण्डसु । इणोरिति किम् ? मवाञ् शेते, महान् षण्डे । शिटिति किम् ? प्राङ्गरोषि, सुगण्ड चरति । पदान्ते इत्येव ? वभण्डि ॥ १७ ॥

## ङ्गः सः त्सोऽश्चः ॥ १ । ३ । १८ ॥

१२

पदान्ते वर्तमानाद् ङकाराक्षकाराच्च परस्य सकारस्य स्थाने त्स इत्ययं तकारादिः सकारादेशो वा भवति । अथ.श्च-संयोगावयवश्चेत् सकारो न भवति । षट्सीदन्ति-ङकारनिर्देशादित्वं न भवति, केचित्तु टत्वमपीच्छन्ति-षट्सीदन्ति । भवान्-त्साधुः, पक्षे-षट् सीदन्ति, भवान् साधुः । स इति किम् ? षट् भवन्ति, महान् षण्डः । अथ इति किम् ? षट्श्योतन्ति, १५

मनयबलपरे हे । अत्र पदान्ते म तौ स्त्रौ इति चानुवर्तते, पदान्ते म मनयबलपरे हे स्त्री तौ इत्यन्वयः । ननु 'मनयबले' इति सप्तम्यन्तपाठे परशब्दाभावे च मकारादौ परे यो हकारस्त्वस्मिन् इत्यर्थेनाभिमतलक्ष्यसिद्धौ किमर्थं परप्रहणमिति चेदुच्यते-यद्यपि परशब्दाभावे विनिमयकाभावेन हकारपरे मकारादिति विपरीतार्थविज्ञाने 'येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि स्यात्' इति न्यायेन अकारादिव्यवधाने किं मह-१८ सति, किं नष्टति, किं याहि, किं वहति, किं लिखते इत्यत्रैव सूत्रं प्रवर्तते न तु किं हल्यति इत्यादौ, तथापि विपरीतार्थविज्ञाने पूर्वैर्नैव 'सिद्धे सत्या-रम्भो नियमाय' इति न्यायेनेदं मकारादौ हपर एव इति नियमयति । तथासति त्वं मन्यसे इत्यादौ पूर्वैर्नापि न स्यादिति परप्रहणम्, सति च त्वस्मिन् मनयवला परे यस्यादिति बहुवचोर्हि तु मनयवलेभ्यः परत्वसिद्धिर्न तत्पुरुष इति भावः । किम् हल्यति-अत्र नपरे हे अस्य पदा-२१ न्तस्थस्य हकारस्य स्त्रौ नास्तीति व्यवहितमकाराद्यपेक्षयाऽनुनासिक स्त्रौ मकार एवेत्याशयः, अनुस्वारे तु-किं हल्यति ॥ १५ ॥

सम्राट् । अत्र "तौ मुनो व्यञ्जने स्त्रौ" इति प्राप्तानुस्वारस्याभावोऽनेन निपात्यतेऽनुनासिकस्य चाप्राप्तिः स्वभावाभावेऽप्येवाह-समो मकारस्य इत्यादिना । 'राज्य'वीतौ पातो, सपूर्वात् सराजवे इति किपि, तल्लुकि "गतिकन्य" १।१।४२। इति समासे, सेर्लुकि "यजस्वज" इति २४ षत्वे, धुटस्तुवीयत्वे प्रथमत्वे च-सम्राट् । अत्रैकवचनमविवक्षितम् तेन "सम्राजौ" इत्यादावप्यनुस्वारभावस्तदाह-सम्राजौ इत्यादि ॥ १६ ॥

ङ्गोः कटावन्तौ शिटि नवा । अत्र पदान्ते इत्यनुवर्तते, पदान्ते ङ्गो शिटि नवा कटावन्तौ इत्यन्वयस्तदर्थमाह-पदान्ते वर्तमानयोः इत्यादिना । ननु अन्तप्रहणं निष्फलं ङ्गो कटौ इत्यनुक्त्या ङ्ग कटमिति समाहारद्वन्द्वं कृत्वा पञ्चम्यन्तत्वेनादेशत्वनिरासे २७ लक्ष्यसिद्धेरिति चेन्नैवम्, अन्तप्रहणावे "अनन्तं पञ्चम्या प्रलयम्" इति कस्य प्रलयत्वे सन्धिनामकारकसमासरूपचतुष्कटुत्तित्वेन ऐकार्ये सति विमर्शिलोपे धुटिपरे "अच" १।४।६९। इति सूत्रेण विहितस्य नस्य "नात्रो नोऽनह" २।१।९१। इति लोपः स्यात्, तथाच प्राङ्शेते इति न भवेदिति । अन्तप्रहणे सति प्राङ्छेते इत्यत्र ककारस्य पूर्वपदचरमावयवत्वेन पदान्तत्वात् "प्रथमादधुति शङ्क" इति छत्वं सिद्धम् । एव ३० प्राङ्साये इत्यत्र पूर्ववत् ककारस्य पदान्तत्वात् "नान्यन्तस्था" २।३।१५। इति पदस्य अन्तमेव्ये विधीयमानं पत्व न भवति । अन्तगहणाभावे कस्य प्रलयत्वे साये इति सकारस्य तेन पदादित्वविपातात् पत्व स्यात् । एव सुगण्डसु इत्यत्र "नाम सिदय्" इत्यनेन तस्य पदान्तत्वेन "पदान्तात् टवर्गो" १।३।६३। इति सूत्रेण "सस्य शबौ" १।३।६१। इति प्राप्तं सकारस्य पत्व प्रतिषिध्यते, अन्यथा प्रतिषेधाभावादपदान्तत्वेन ३३ सस्य पत्व स्यादेव । प्राङ्छतीति अथे किपि अनर्चायां नलोपे सेर्लुकि "अच" इति नागमे "पदस्य" इत्यन्तलोपे "युज्यकुबो" २।१।७१। इति नस्य ङ्कारे-प्राङ् शेते इत्यवस्थायां पदान्तस्थस्य शिट्परस्य ङ्कारस्य विभाषया कारणे "प्रथमाद" इति शस्य छत्वे-प्राङ्छेते । छत्वाभावे-प्राङ् शेते । उभयोरभावे-प्राङ्छेते । एवमन्यत्र समन्वयः । महान् षण्डे-अत्र "षितवर्गस्य" १।३।६४। इति प्रतिषेधात् "तवर्गस्य" ३६ १।३।६०। इति गत्व न । वंमण्डि-अत्र सिप्रलयस्य "सस्य शबौ" इति षत्वम् ॥ १७ ॥

ङ्गः सः त्सोऽश्चः । अत्र पदान्ते नवा इति चानुवर्तते, पदान्ते ङ्गः अथ स त्सो नवा इत्यन्वयः, तदर्थमाह-पदान्ते वर्तमानात् इत्यादिना । षट्सीदन्ति-पक्षे "ङिति ण" १।४।५४। इति जसो लुपि "धुटस्तुवीय" इति त्वीयत्वे-षट्, सदेरन्तौ शबि सीदादेशो-सीदन्ति ३९ इति षट् सीदन्ति इत्यत्र पदान्तकात् परस्य सस्य त्पादेशे षट्सीदन्ति । अत्र "पदान्ताद्वर्गो" इति निषेधात्स्य "तवर्गस्य" इति टवर्गो न भवति । ननु षट् इत्यत्र "अथेषे प्रथमोऽशिटि" इति टत्व कथं न भवतीत्याह-ङ्कारनिर्देशात् इति । अयमाशयः-सूत्रे षडिति प्रयोगस्यो ङ्कारोऽनुस्वरात्समादेव टत्व न भवति । अन्ये तु सूत्रे ङ्कारमनुस्वरिति तस्य त्वीयत्वे ङ्ग इति निर्देश इति तन्मतमुपन्यस्यति-केचित्तु इति । ४२ पाणिनीया शाकटायनाथ । "ङ सि धुट्" पा० ८।३।२९।, "ङ्खड् खोऽश्च" शा० १।१।१४६। तद्धीकाङ्क्षाम् षट्सन्तं, मधुलिदत्सीदति इति चोदाहृतम् । तन्मते ग्रन्थद्वेवोदाहरति-षट्सीदन्ति । भवान्साधु-अत्र नकारस्य "नोऽप्रशानो" इति न भवत्यनुस्वारानुनासिकपूर्व सकारोऽधुदपर इति वचनात्, अत्र हि धुटपरस्कार इति । षट्श्योतन्ति-रूयुत् सारणे, "सस्य शबौ" इति से, धन्ति प्रत्यये ४५ शबि, उपान्यगुणे च-श्योतन्तीति भवति । यद्यपि "सस्य शबौ" इत्यत्रानु इत्यधिकारेऽश्च इत्यभावे दन्त्यसकारस्य त्वं प्राप्नोति, तथाप्युपदेशाच्च-स्याप्यो तालव्यपाठ विहाय दन्त्य पठ्याचार्यो बोधयति यदन्त्यस्थाननिष्पन्नस्य तालव्यस्यापि दन्त्यापदिष्टं कार्यं भवतीति प्राप्तमिदं अथ इत्यनेन

भवाञ् श्रूयते । श्रूयतेः सोपदेशत्वात् शकारस्य सकारोपदिष्टं कार्यं विज्ञायते, तेन मधु श्रूयतेतीति किप्, मधुश्रूयतमाचष्ट इति णावन्त्यस्वरादिलोपे, पुनः किपि, णिलोपे, सौ, तल्लुकि च यलोपे; “सयोगस्यादौ स्कोर्लुक्” ३ ॥ २ ॥ १ ॥ ८८ ॥ इति श्लोपे चस्य कत्वे मधुगिति सिद्धम् ॥ १८ ॥

नः शिञ् ॥ १ ॥ ३ ॥ १९ ॥

पदान्ते वर्तमानस्य नकारस्य स्थाने शि-शकारे परे ञ् इत्ययमादेशो वा भवति । अञ्चः-असंयोगावयवश्चेच्छकरो न भवति । भवाञ्छूरः, भवाञ्छूरः, पक्षे-भवाञ् शूरः, एवं कुर्वञ्छेते, कुर्वञ्छेते, कुर्वञ् शेते । आदेशबलात् कत्व न भवति । शीति किम् ? भवान् करोति । अञ्च इत्येव ? भवाञ्श्रूयते । राजा शेते इत्यत्र तु परत्वान्नलोपः ॥ १९ ॥

अतोऽति रोरुः ॥ १ ॥ ३ ॥ २० ॥

वेति निवृत्तम् । अतोऽकारात् परस्य पदान्ते वर्तमानस्य रोरुः स्थाने अति-अकारे परे उकारादेशो भवति । कोऽज्, कोऽर्थः । अत इति किम् ? अशिरत्र, देवा अत्र, सुश्रोतरेयत्र न्वसि । अतीति किम् ? क इह, सर्वज्ञ आस्ते; पय अश्ने दत्त । रोरिति किम् ? पुनरत्र ॥ २० ॥

१२ नार्थे, तदाह-श्रूयतेः इत्यादिना । शकारस्य सकारोपदिष्टं कार्यं विज्ञायतेऽत्र हेतु-श्रूयते । सोपदेशत्वादिति, अन्यथा तालव्यमेवोपदिशेदिति भावः । तत्फलमाह-तेन इत्यादिना । मधुश्रूयतेतीति विभट्टे “किप्” ५।१।१४८। इति किपि, मधुश्रूयतमाचष्टे इति विभट्टे “णिज्बहुल नाम कृणादिषु” ३।४।४२। इति णौ, “न्यन्त्यस्वरादेः” ७।४।४३। इत्यन्त्यस्वरादिलोपे, ण्यन्तात् पुन किपि, “नेरनिटि” ४।३।८३। इति णिलोपे, १५ “नात्र प्रथमैकद्विचौ” २।१।३।१। इति सौ, “धीर्ध्याव्यञ्जनात् से” १।४।४५। इति सिल्लुकि, “पदस्य” इति यलोपे, “सयोगस्यादौ स्कोर्लुक्” ३।१।८८। इति श्लोपे, चस्य “चज कगमि”ति कत्वे-मधुक् इति भवति । यदि सकारोपदिष्टं कार्यं तत्स्थाननिप्यञ्जस्य न भवेत्तर्हि “सयोगस्यादौ” इति अत्र प्रयोगे श्लोपो न स्यात्तेन हि सकारस्य लोपो विधीयत इति भावः । ननु मधुक् इत्यत्र “नेरनिटि” इति जातस्य णिलोप- १८ रूपस्वरादेशस्य “स्वरस्य परे प्राग्विधौ ७।४।११०। इति सूत्रेण स्थानिवत्त्वात् श्लोप “सयोगस्यादौ” इति न प्राप्नोति, “न सविनीयकिदिधीर्धा-सद्विधावस्तुकि” ७।४।१११। इत्यत्रास्तुकीतिवचनात् स्थानित्वप्रतिषेधाभावादिति चेन्न-अस्तुकीत्यत्र नञ्निर्देशेन ‘नञानिर्दिष्टमनिलमिति न्यायात् स्थानित्वाभावः । तत्र इत्यत्र सकारस्य सकारविधाने प्रयोजनाभावेऽपि तद्विधानं तकारस्य तदवयवत्वप्रतिपत्त्यर्थम्, तत्र तदङ्ग- २१ चादमन्तरेणाशक्यमित्य प्रकान्तरेण सन्देशगौरवयोरापत्तेः । ननु इ इति कयम् ? क इति “तवर्गस्य” इत्यनेन भाव्यमिति चेत्, सत्यम्, “पदान्तात्” इति निषेधाच्च भवति ण ॥ १८ ॥

नः शिञ् । अत्र पदान्ते नवा अञ्च इति चानुवर्तते, पदान्ते न अञ्चे शिञ् नवा इत्यन्वयः । ननु “इ स त्वोऽञ्च” इति सूत्रे २४ न इति ध्रुवयोगविधानेन ‘अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम’ इति न्यायेन पञ्चम्यन्तस्य तस्य षष्ठा विपरिणामेनाप्राप्तुञ्चौ स्थानित्वं भविष्यति किमर्थं सूत्रे न इत्युपादानम् ? यदि चोच्येत तुल्यपुत्त्या सूत्रे शिञ् इति षष्ठा विपरिणामे शकारस्य स्थानित्वं कस्मात् ? इति चेत्, शिञ् इति सप्तमी-निर्देश एव तत्र मानमन्यथा षष्ठीनिर्देशमेव कुर्यादिति चेदत्रोच्यते-ततोऽनुवृत्तस्य ‘न’ इत्यस्यात्र षष्ठा विपरिणामेऽपि श इति षष्ठीनिर्देशो सति २७ षष्ठीसन्देशे शकारात् परस्य नस्य स्थानित्वं स्यात् तन्मा भूदिति सप्तमीनिर्देशादत्रैव विपरिणामो नान्यत्रेति तस्मात् स्थानित्वप्रतिपत्त्यर्थं सूत्रे नकारकरणमिति भावः । तदाह-पदान्ते वर्तमानस्य नकारस्य इत्यादिना । कुर्वञ्छेते-करोते “शत्रावशावेष्पति तु ससौ” ५।२।२०। इत्यनेन शट्प्रत्यये, “कृतनादेरु” ३।४।८३। इत्युप्रत्यये गुणे, “अत शिलुक्” ४।२।८९। इत्युकारे, “ऋदुदित” १।४।७०। इति ३० नागमेऽनेन पदान्तस्थस्य क्षपरस्य नस्य विभाषया ‘ञ्’ इत्यादेशे “प्रथमादष्टि” इति शस्य कत्वे सिद्ध्यति, क्त्वामावे-कुर्वञ्छेते । उन्म-योरभावे “तवर्गस्य” इति सर्वत्र नकार-कुर्वञ्छेते । नन्वत्र “चज कगमि” इत्यनेन कत्व कप न भवतीत्याह-आदेशबलात् इत्यादिना । अन्यथा ककारमेव कुर्यात्, असन्धिलयधिकारादत्रासदुपदेशबलात् कत्व “चज कगमि”ति न भवतीत्यर्थो वा । उपलक्षणमिदं तत् “पदस्य” इति लोपोऽपि न भवति । राजा शेते-अत्र राजन्शब्दात् सौ, तल्लुकि “नि धीर्ध” १।४।८५। इति धीर्धं, राजान् शेते इत्यत्र उभय प्राप्नोति ३३ “नात्रो नोऽनह” इति “न शिञ्” इति च, “अन्यत्रान्यत्रलब्धावकाशयोः शास्त्रयोरेकत्र युगपत्प्राप्तौ परं भवति” इति नियमादाह-परत्वाच्च लोपः-“नात्रो नोऽनह” इत्यनेनेति शेषः ॥ १९ ॥

अतोऽति रोरुः । अत्र पदान्ते इत्यनुवर्तते, अत पदान्ते रोरुः अति उ इत्यन्वयः । पूर्वं स्थानी निमित्तम्, कार्यमिति क्रमेण अतो रोरुः अति उ इति निर्देशो कर्तव्यः “अतोऽति रोरु” इति निर्देशकमात्रिकम् कुर्वञ्चाचार्योऽधिकारातिक्रमं सूचयति, तदाह-वेति निवृत्तम् । अतोऽतिनिर्देशं सूत्रकृत सूचयति ‘यत्सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विधातस्य’ इति न्यायोऽत्र न प्रवर्ततेऽन्यथाऽकारसन्निपातं भवा जाय- ३९ मानो रोरुकारविधि “एदोत पदान्ते” इति लक्ष्याराऽकारविधाते निमित्तं न भवेत् । अपि चातोऽति रोरुः इति ज्ञापकात् तत्रैव अयनं तवर्गनमित्यत्र रुशब्दस्यैव न ग्रहणं, अन्यथाऽतोऽति रोरुः इति सूत्रेऽप्युत्पादप्रवृत्त्या विद्वत्सूत्रस्वरूपापत्तेः, किन्तु “सो रु” इति सूत्रविहितस्य उदित एव रोरुप्रथमम् । किं च भो भगोऽधोभ्य परस्य पदान्तस्थस्य रोरुस्थस्यसम्भावदत्रत्यमेव रोरित्यनुवर्तते इति “सो रु” इत्युदित एव ग्रहणम् । ४२ कोऽत्र-“किम्” सौ कादेशे, “सो रु” इति कत्वेऽनेन उकारे, क उ अत्र इत्यवस्थाया “अवर्णस्य” इति “इवर्णादेरु” इति च सूत्रद्वयप्राप्तेः “अन्तरङ्गबहिरङ्गयो” इति न्यायादोत्वप्रवृत्तिर्विलम्बितमिति, “एदोत पदान्ते” इत्यकारलक्ष् । सुश्रोतरे यत्रान्वसि-शोभन श्रोतोऽस्येति बहुमीहो, वामज्यसेर्हपि, सस्य रुत्वे, परत्वादन्तरङ्गत्वाच्च “इरादामक्यस्य” ७।४।९१। इत्युकारात् पूर्वमेव हुवे अत इति तकारस्य स्वरूप- ४५ महणाथैत्वादाकारस्वरूपादनेन पञ्चादुल्लव न भवति “रोर्य” इति च भवतीत्यल इत्यस्येदं फलम् । पय अश्नेदत्त-अत्र हस्कारपरत्वामावाच “रोर्य” इति यस्य “खरे वा” इति लुभयति । “सो रु” इत्यनेन विहितस्य रोरुग्रहणं किमर्थमिति पृच्छति-रोरिति किम् ? पुनरत्र-अत्र ४८ रेफस्य उदित्वामावाहुत्व न भवति ॥ २० ॥

## घोषवति ॥ १ । ३ । २१ ॥

अतः परस्य पदान्ते वर्तमानस्य रोः स्थाने घोषवति परे उक्तो भवति । को गच्छति, धर्मो जयति; अहोभ्याम् । घोषवतीति किम् ? कः करोति । अत इत्येव ? मुनिर्गच्छति, सुश्रोत३ देहि । रोरित्येव ? स्वयंति, पुनर्वक्ति । उत्तरेण ३ लुकि प्राप्तेऽपवादोऽयम् ॥ २१ ॥

## अवर्णभोभगोऽघोर्लुगसंधिः ॥ १ । ३ । २२ ॥

अवर्णाद् भोभगोऽघोभ्यश्च परस्य पदान्तस्यस्य रोघोषवति परे लुग्भवति, स चासंधिः—संधेर्निमित्तं न भवति । ६ श्रमणा गच्छन्ति, धार्मिका जयन्ति । अकारात् परस्य रोः पूर्वेणापवादत्वादुत्वमेव । भो गच्छसि, भगो हससि; अघो यासि । भोभगोअघो इत्येते आमन्त्रणार्थाः सकारान्ता अव्ययाः । केचित्तु भवद्भगवदपवतां संवोधने सौ परतोऽवशब्द-स्यौत्वं तकारस्य च रुत्वं कृत्वा एतानि रूपाणीच्छन्ति, तेषां द्विवचनबहुवचनयोः स्त्रियां च न सिध्यन्ति—भो ब्राह्मणौ, भो ब्राह्मणाः; भो ब्राह्मणि । भगो ब्राह्मणौ, भगो ब्राह्मणाः; भगो ब्राह्मणि । अघो ब्राह्मणौ, अघो ब्राह्मणाः; अघो ब्राह्मणि । घोषवतीत्येव ? कुमाराः क्रीडन्ति । असंविस्तरुत्तरार्थम् ॥ २२ ॥

## व्योः ॥ १ । ३ । २३ ॥

१२

अवर्णात् परयोः पदान्ते वर्तमानयोर्व्योर्विकारयकारयोर्घोषवति परे लुग्भवति, स चासंधिः । वृक्ष वृश्चति किप्, वृक्ष-वृश्चमाचष्टे इति णान्त्यस्वरादिलोपे वृक्षवयतीति विचि सिद्धं वृक्षप्, वृक्ष गच्छति, एव माला हसति, अव्य गच्छति ।

**घोषवति ।** अत्र अत रोः पदान्ते उ इति चानुवर्तते । अति इति चानुवर्तते घोषवति इति निमित्तान्तरस्योपादानात् । अतः पदान्ते १५ रो घोषवति च इत्यन्वयस्तदाह—अतः परस्य इत्यादिना । ननु पूर्वसूत्र एव घोषवद्गुण कियतामर्थस्य समानत्वाद् किं प्रययोगेन, ससं, घोषवतीत्येतेतरानुवर्तते इत्येतदर्थं प्रययोगोऽन्यथात्वेकयोगनिर्दिष्टत्वादतीत्यनुवर्तते इति भावः । अहोभ्याम्—अहन्शब्दाभ्यामि “अह” २।१।४४ इति नकारस्य कत्वेऽनेनोत्वेऽवर्णस्योत्वे च सिद्ध्यति । सुश्रोत३ देहि—अत्र पदान्तस्यस्य रोघोषवत्परत्वेऽपि ह्रस्वाकारात् परत्वा-१८ भावात् इत्येव, किन्तु “अवर्णभोभगोऽघोर्लुक्” इति रोर्लुक् । को गच्छतीत्यादौ “अवर्णभोभगोऽघोरिति” उत्तरसूत्रेण लुकि प्राप्ते तदपवादनामे-नोत्वं विधीयत इत्याह—उत्तरेण इत्यादिना ॥ २१ ॥

**अवर्णभोभगोऽघोर्लुगसंधिः ।** अत्र पदान्ते रो घोषवति इति चानुवर्तते, अवर्णभोभगोऽघो पदान्ते रो घोषवति लुक् स च २१ असंविस्तरित्यन्वयः, तदर्थमाह—अवर्णभोभगोऽघोभ्यश्च इत्यादिना । ननु सन्धिकपतायामसंघिरिति प्रतिषेधो युक्तः, लुक् तु अभावरूप-त्वात् सन्धिकप एव न भवतीति कथं स प्रतिषेधः ? इत्यत आह—सचासंधिः—संधेर्निमित्तं न भवतीति । अत्र सन्धिकपत्वेन सन्धिकनिमित्त-स्योपचारादभिधानमित्यर्थः । श्रमणा गच्छन्ति—श्रमणशब्दाज्जि “अत आ स्यादो” १।१।११ इत्याकारे, “समानानां तेन” इत्येकादेशे यस्य २४ रुत्वं तस्यानेन लोपे सति भवति । एवमन्यत्र । ननु को गच्छतीत्यादौ पूर्वणोत्व अनेन च लोपः प्राप्त इत्युभयप्राप्तां परत्वात् लोप एव स्यात्, इति चेन्न, निरवकाशत्वेनापवादत्वादुत्वमेव प्रवर्तते । नच “अवर्णभो” इति सूत्रे “अवर्ण” इत्यत्र वर्णग्रहणाज्जातिग्रहणेन सर्वविधाकारग्रहणे प्रतिपक्ष्य लक्षणोपपन्न इति सिद्धान्तादरे ह्रस्वाकारविषयकस्याऽस्यापि निरवकाशत्वमिति वाच्यम्, तस्योत्तरार्थत्वादिसाह—अकारात् लुक् इत्या-२७ दिना । भोभगोअघो इत्येषां परित्यक्तं दर्शयति—भोभगोअघो इत्येते आमन्त्रणार्थाः इत्यादि । अव्ययाः—चादेराहृतिगणत्वादिति शेषः । “विभाषा भवद्भगवदपवतामोधावस” इति वार्तिककृत कालायनस्य मतमाह—केचित्तु इत्यादिना, इच्छन्तीत्यन्तेन । भवतु सर्वादि उकारस्येति, अवशब्दस्य ओत्वे, तकारस्य च रुत्वे मोर् । “गोचरसंवर” ५।२।१३१ इति ये मग तत “तदस्याऽह्रस्व” ५।२।११ इति मतौ, ३० “भावणो” २।१।५४ इति वृत्ते भगवत्, अत्रावस्य ओत्वे तस्य च रुत्वे भगोर् । “अवष्” प्रापकणे इत्यस्मादिति मतौ वृत्तौ अवषत्, अवस्य ओत्वे तस्य च रुत्वे अघोर् । इत्येषां घोषवति परेऽनेन लुक्, तन्मतेऽनुपपत्तिमाह—तेषां इत्यादिना । तन्मतेऽनुपपन्नप्रयोगसमुदायं दर्शयति—भो ब्राह्मणौ इत्यादि । ननु सति सद्भावे प्रतिषेध उपपद्यते—अवर्णादिभ्यस्तु घोषवति रोर्लुकि सन्धिसमय एव नास्तीत्यत आह—असंधिः इत्यादि । नच “स्वरे वा” इत्यत्रैवासंघिरिति कार्यमिति वाच्यम् असंघेर्लुक्स्वरितयोर्गोष्ठ्यस्य ज्ञापनार्थमत्रोपादानमिति भावः ॥ २२ ॥

**व्योः ।** अत्र अवर्णात् पदान्ते घोषवति लुक् अर्धसंधि इति चानुवर्तते, अवर्णात् पदान्ते व्यो घोषवति लुक् स च असंविस्तरित्यन्वयः, तदर्थमाह—अवर्णात् परयोः इत्यादिना । वृक्षं वृश्चति इत्यर्थं किप्—“किप्” ५।१।१४८ इत्यनेन, वृक्षवृश्चमाचष्टे इत्यर्थं पौ—“सिन्धुल नाम हृणादिभु” ३।४।४२ इत्यनेन, अन्त्यस्वरादिलोपे—“अन्त्यस्वरादे” ५।१।४३ इत्यनेन, वृक्षवयति इति विग्रहे विचि—“अवखनकृतिपुत्रिक् कृषिद्” ५।१।१५४ इत्यनेन । किप्प्रत्यये सति तु “अनुनासिके च च्छ्व श्च” ५।१।१०८ इत्युद् स्यादि-त्यत उक्तं—विचि सिद्धं इति । “खरस्य परे प्रातिवचौ” ५।१।१०१ इति णिलक स्थानिवत्त्वेन “घ्नो घ्नऽघ्ननेन लुक्” ४।१।२२१ इति न वक्ष्य लुक् । “नसंधिर्लुकि” ५।१।१११ इति स्थानिवद्भावप्रतिषेधस्तु किमिचौ प्रवर्ततेऽत्र तु निच्प्रत्ययसंस्वेन तन्निषेधानवकाशः । तथाच—वृक्षं गच्छति इत्यवस्थायां अवर्णात् परस्य पदान्तस्यस्य घोषवत्परस्य च वक्ष्य स्थाने लुग्भवेनेति समन्वयः । एवमन्यत्र । अव्य गच्छति—अव्ययतीति विग्रहे विचि किपि वा अव्यय इत्यत्र णिलक स्थानिवत्त्वेन “घ्नो घ्न” इति यस्य न लुक् । किपि तु यद्यपि “खरस्य” इति णिज-स्थानिवत्त्वं “न सन्धिलुकि” इति निषेधः प्राप्नोति तथाच—“घ्नो घ्न” इति यस्य लुक् प्राप्तव्यापि तेन लुक् न भवति—“इत्याव शासोऽव्यञ्जने” ४।१।११८ इत्यनेन व्यञ्जनादपि किपि परे इक्षित्यदेशे सिद्धे “कौ” ४।१।१११ इति सूत्रे किपि कृषिद् व्यञ्जनकार्यमित्यामिति हापय-तीति यल्लुक् न भवति । अथवा “संज्ञापूर्वको मिथिरिज” इति न्यायेन “घ्नो” इति न भवतीति, न चानेनापि सूत्रेण स्थानिवद्भावोक्तो न भवि-ष्यतीति वाच्यम्, सन्धिविधौ तत्प्रतिषेधादिति । परं तु व्यो पदान्तयोर्घसंवाद् घोषवति लोपः नारभन्ते, “नहि यण पदान्ता सन्धीति” हि १ चादी ५० पु० । २ सिध्यति ५० म०, माण्डो, ख० ता० ।

घोषवतीत्येव ? वृक्षव् करोति, अव्यय् करोति । अवर्णादित्येव ? तरुव् गच्छति । पदान्त इत्येव ? भव्यम्, जय्यम् । कश्चित्त्वं स्वरजयोरनादिस्थयोर्यकारवकारयोर्घोषवत्यवर्णादन्यतोऽपि लोपमिच्छति—अध्याख्य उम्—ईशम् अध्युः, स चासा-  
३ विन्दुश्च—अध्विन्दुः । साधोरीः—श्रीः साध्वी, तस्या उदयः साध्युदयः इत्यादि ॥ २३ ॥

खरे वा ॥ १ । ३ । २४ ॥

अवर्णभोभगोऽघोभ्यः परयोः पदान्ते वर्तमानयोर्वकारयकारयोः खरे परे लुग्व भवति, स चासंविः । पट इह,  
६ पटविह; अवर्णादीषत्पृष्टतरस्य विकल्पेन विधानस्यामानत्वात् त्रैरूप्यम् पटविह । वृक्ष अत्र, वृक्षवत्र, वृक्षवत्र । वृक्षा इह,  
वृक्षाविह; वृक्षाविह । त आहुः, तयाहुः, तयाहुः । तस्मा इदम्, तस्मायिदम्; तस्मायिदम् । क आस्ते, कयास्ते;  
कयास्ते । देवा आहुः, देवायाहुः, देवायाहुः । भो अत्र, भोप्रभृतिभ्य उत्तरेणषत्पृष्टतरस्य नित्यं विधानाद् द्वैरूप्यम्—  
९ भोयत्र । भगो अत्र, भगोयत्र । अघो अत्र, अघोयत्र । उज्यपि द्वैरूप्यमेव—पट उ, पटवु इत्यादि । पदान्त इत्येव ?  
लवनम्, नयनम् । अवर्णादिभ्य इत्येव ? मच्चत्र, दध्यत्र । खर इति किम् ? वृक्षव् करोति ॥ २४ ॥

अस्पष्टाववर्णात् त्वनुजि वा ॥ १ । ३ । २५ ॥

१२ अवर्णभोभगोऽघोभ्यः परयोः पदान्ते वर्तमानयोर्वकारयकारयोः स्थानेऽस्पष्टावीषत्पृष्टतरौ प्रत्यासत्तेर्वकारयकारावेवा-  
दंशौ खरे परे भवतः, अवर्णात्तु परयोर्व्योर्वज्वर्जिते खरे परेऽस्पष्टौ वा भवतः । पटवु, वृक्षवु, असावु, कयु, देवायु,  
भोयत्र, भोयु, भगोयत्र, भगोयु, अघोयत्र, अघोयु । अवर्णात्त्वनुजि वा—पटविह, पटविह, असाविन्दुः, असाविन्दुः;  
१५ तयिह, तयिह, तस्मायिदम्, तस्मायिदम्, कयिह, कयिह, देवायाहुः, देवायाहुः । अनुजीति किम् ? उजि  
अस्पष्टावेव यथा स्याताम्, तथा च—उदाहृतम् । केचित् रुक्षानस्य यकारस्योजि परे लोपमेवेच्छन्ति—क उ आगतः,  
भो उ एहि, भगो उ एहि, अघो उ याहि । अपरे तु भोभगोऽघोभ्यः खरे नित्य लोपमेवेच्छन्ति—भो अत्र, भगो  
१८ अत्र; अघो अत्र ॥ २५ ॥

तेषां वचनम् । भव्यम्—भवतेर्भावे ये गुणे “ट्यक्त्वे” इति अवादेशे च सिद्ध्यति । जय्यम्—जेतु शक्यमित्यर्थे ‘जि’ अभिमते, धातो शक्ताये ये  
“क्षय्यजय्यौ शक्तौ” ४।३।९०। इत्यादिदेशे च सति सिध्यति, अत्र वयोरपदान्तत्वात्नेदं प्रवर्तते । विधान्तविधाधरमतमाह—कश्चित्त्वं इत्यादिवा ।  
२१ खरजयोः—“इवर्णादि०” इत्यादिना कृतयो खरस्थानिकयोरित्यर्थः । अनादिस्थयोः—आदाववर्तमानयोः । अवर्णात् अन्यत अपि परयो  
खरजयो अनादिस्थयो यकारवकारयो घोषवति परे लोपम् इच्छति इत्यन्वयः, स्फुटोऽर्थः । तन्मते उदाहरति—अध्विन्दुः, साध्युदयः—  
अत्र यथाक्रमं यकारस्य वकारस्य च लोपः, अन्यमते—अध्विन्दुः, साध्युदय इति ॥ २३ ॥

२४ खरे वा । अत्र अवर्णभोभगोऽघो पदान्ते व्यो लृक् असंविः इति चानुवर्तते, अवर्णभोभगोऽघो पदान्ते व्यो खरे लुग्व असंवि-  
रित्यन्वयस्तदर्थमाह—अवर्णभोभगोऽघोभ्य इत्यादिना । पट इह—पटो इह इत्यवस्थायां “ओदौतोऽवाव्” इत्यवादेशे पटव् इह इति  
स्थिते अवर्णात् परस्य पदान्तस्थस्य खरपरस्य वक्षानेन लृक्यसंघो च सिध्यति, तदभावे “अस्पष्टाववर्णात्त्वनुजि वा” इत्यनेन अस्पष्टवकारादेशे—  
२७ पटविह, लृकि अस्पष्टवकाराभावे च—पटविह, तदाह—अवर्णात् इत्यादिना । त्रैरूप्यम्—“खरे वा” “अस्पष्टाववर्णात्त्वनुजि वा” इति निष्क-  
त्यद्वयेनेति भावः । वृक्षवत्र—वृक्षव् इति तु साधितमेव । वृक्षा इह—वृक्षशब्दादौ प्रत्यये वृक्षौ इह “ओदौतो०” इति आवि वक्षानेन लृक्,  
पक्षे यथाप्राप्तम् । त आहुः—तच्छब्दाजसि अत्वादौ “जस इ” इतीत्वे एत्वे च—ते आहुःरित्यत्र अशदेशे यस्यानेन लृक् । तस्मा इदम्—  
३० तच्छब्दाच्चतुर्थ्यकवचने अत्वादौ स्मायादेशे आयादेशे च यस्यानेन लृक् । भो अत्र—“लोक्” इत्यनेन जातस्य भोपरस्य पदान्तस्थस्य खर-  
परकस्य रो स्थाने यत्वे तस्य लृकि सिद्ध्यति । अत्र “अस्पष्टाववर्णात्०” इति सूत्रेण नित्य रोर्त्य इति जातस्य यस्य अस्पष्टविधानाद् रूपद्वय-  
मिलाह—भो प्रभृतिभ्य इत्यादिना—भो यत्र । अवर्णादिषत्पृष्टतरस्य विकल्पेन अनुजि विधानाद्भूपद्वयमित्याह—उज्यपिद्वैरूप्यमेव—  
३३ पटउ, पटवु । अत्रावादेशे वक्षानेन लृक् “अस्पष्टाववर्णात्०” इत्यादिना पक्षे नित्यमीषत्पृष्टतरवकारस्य ॥ २४ ॥

अस्पष्टाववर्णात्त्वनुजि वा । अवर्णभोभगोऽघो पदान्ते व्यो खरे इति चानुवर्तते, अवर्णभोभगोऽघो पदान्ते व्यो अस्पष्टौ खरे,  
अवर्णात् तु व्यो अनुजि खरे अस्पष्टौ वा इत्यन्वयः, तदर्थमाह—अवर्णभोभगोऽघोभ्यः इत्यादिना । अस्पष्टौ—ईषत्पृष्टतरौ—उच्चारणे  
३६ लघुप्रत्ययतरी—मन्दतरप्रत्ययौ—प्रशिथिलस्थानकरणपरिस्पन्दनाविति यावत्, एतदुक्तं भवति—स्थितिलस्थानकरणभ्यां उच्चार्यमाणौ वकारयकारौ  
अस्पष्टौ इति भावः । आदेशश्च तयोरदृष्टार्थं दृष्टस्य प्रयोजनाभावात् अस्पष्ट इति सामान्यशब्देनापि वकारो यकारवामिचोयते । व्योर्हि स्थाने  
ईषत्पृष्टतर आसन्न आदिश्यते तयोश्चासन्नो वकारो यकारवेल्याह—प्रत्यासत्तेरित्यादि । सूत्रे तुशब्दो भिन्नवाक्यत्वप्रतिपादनार्थं इत्याह—  
३९ अवर्णात्—इत्यादिना । न लृक् अनुज् तस्मिन्ननुजीति खरे इत्यस्य विशेषणमित्याह—उज् चर्जिते खर इति । पटवु—अन “खरे वा” इति  
लुगभावपक्षेऽनेनावर्णात् परस्य पदान्तस्थस्य वस्य नित्यमस्पष्टो वकारः । एवमन्यत्र समन्वयः । पाणिन्याद्याचार्योणां मतमाह—केचित्त्वं इति ।  
४२ इति सूत्रे आचार्यपाणिनि, तन्मते उदाहरति—क उ आगत इत्यादि । भो भगोऽघोभ्य खरे परे नित्य लोपमिच्छते गार्ग्यस्य मतमाह—अप-  
रेतु इत्यादिना । शाकटायनमते लघुप्रत्ययतरी चयौ इत्याह पाणिनि—“व्योर्लघुप्रत्ययतरी शाकटायनस्य” पा० ८।३।१८। इति । गार्ग्यमते  
तु “ओतो गार्ग्यस्य” । पा० ८।३।२०। इत्युवाच, तन्मते उदाहरति—भो अत्र, भगो अत्र; अघो अत्र ॥ २५ ॥

रोर्यः ॥ १ । ३ । २६ ॥

अवर्णभोभगोऽधोभ्यः परस्य पदान्ते वर्तमानस्य रोः स्थाने खरे परे यकार आदेशो भवति । कयास्ते, देवायास्ते, भोयत्र, भगोयत्र, अधोयत्र । रोरिति किम् ? पुनरिह । अवर्णादिभ्य इत्येव ? मुनिरत्र । खर इत्येव ? कः करोति, भोः ३ करोषि ॥ २६ ॥

ह्रस्वाद् ङण्णो द्वे ॥ १ । ३ । २७ ॥

ह्रस्वात् परेषां पदान्ते वर्तमानां ङ् ण् न इत्येषां वर्णानां स्थाने खरे परे द्वे रूपे भवतः । कुडास्ते, सुगण्णिह, ६ पचन्नास्ते । कुर्वन्नास्ते, कृषन्नास्ते इत्यत्र तु बहिरङ्गस्य द्वित्वस्यासिद्धत्वात् णत्वं न भवति । ह्रस्वादिति किम् ? प्राडास्ते, वाणास्ते, भवानास्ते, राज्ञनिह । ङण् इति किम् ? त्वमत्र । खर इत्येव ? प्रत्यङ् श्वेत, गच्छन् मुक्ते । पदान्त इत्येव ? वृत्रहणौ, दण्डिनौ । “उणादयः” ॥ ५ । २ । ९३ ॥ इत्यादौ स्वरूपनिर्देशात्, “अनंतो” ॥ १ । ४ । ५९ ॥ इत्यादौ त्वन्विधानबलात् न भवति ॥ २७ ॥

अनाङ्माङो दीर्घाद् वा छः ॥ १ । ३ । २८ ॥

आङ्माङ्वर्जितपदसम्बन्धिनो दीर्घात् पदान्ते वर्तमानात् परस्य छकारस्य द्वे रूपे वा भवतः । कन्याच्छत्रम्, २२ कन्याछत्रम्; कुट्टीछाया, कुट्टीछाया; जम्बूछाया, जम्बूछाया, मुने छाया, मुने छाया, रैच्छाया, रैछाया, गोच्छाया,

रोर्यः । अत्र अवर्णभोभगोऽधो पदान्ते खरे इति चानुवर्तते, अवर्णभोभगोऽधो पदान्ते रो खरे य इत्यन्वयः । रेफनात्रस्यात्र यत्नविधाने प्राप्तस्यातिप्रसङ्गस्य परिहारार्थमुक्तो विशेषणमाश्रयेत्, यद्यप्यत्रास्यष्टावर्णात्वविवेकतोऽवर्णोदित्येवाव्यवहितत्वेनानुवर्तनीय, तथापि १५ भोप्रत्ययिन्यो यकारास्त्यष्टयकारविधानात् व्यवहितमपि अवर्णभोभगोऽधोरित्येवाव्यवहितत्वेनानुवर्तत इत्याह—अवर्णभोभगोऽधोभ्य इत्यादि । कयास्ते—किम्पञ्चादौ सौ कादेशोऽनुबन्धलोपे “सो र्” इति कृत्वेऽनेन तस्य यकार । पक्षे “खरे वा” इति बलोपे—क आस्ते । एवमन्यत्र । उदनुबन्ध-फलं वृत्तवति—रोरिति किम् ? पुनरिह—अत्र उदनुबन्धो रेफो नास्त्वतो न तस्य योऽनेनेत्याशयः ॥ २६ ॥ १८

ह्रस्वाद् ङण्णो द्वे । अत्र पदान्ते खरे इति चानुवर्तते, ह्रस्वात् पदान्ते ङण् खरे द्वे इत्यन्वयः । ङण् इति द्रष्टव्यं पञ्च नधेलेपा समाहारद्वन्द्वत्वात् षष्ठी, द्वे इति द्वित्वत्वात् प्रथमादिवचने “आद्वे” २।१।४१। इत्यत्वे, रूपापेक्षया नपुंसकत्वात् “औरी” १।४।५६। इती-कारे एकादेशो भवति, तदर्थमाह—ह्रस्वात् परेषां इत्यादिना । कुडास्ते—अत्र ह्रस्वोकारात् परस्य पदान्तस्थस्याऽऽगाररूपस्वरपरस्य ङस्य २१ रूपद्वयम् । एवमन्यत्र समन्वयः । ननु कुर्वन्नास्ते, कृषन्नास्ते इत्यत्रानेन नस्य द्वित्वे सति द्वितीयनस्य पदान्तत्वेऽपि पूर्वस्य नस्यानन्त्यस्य “रपृ-वर्णोक्तो ण्” २।३।६३। इत्यनेन णत्व कथं भवतीत्याह—बहिरङ्गस्य द्वित्वस्य इत्यादि । उभयपदापेक्षाद्वित्व बहिरङ्ग णत्व तु द्वित्व-शास्त्रनिमित्तान्तरभूतनिमित्तकत्वेनान्तरङ्गमिति “असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्गे” इति न्यायेन न भवति । राज्ञनिह—राजपञ्चादामध्यसेर्लुकि २४ “नामङ्गे” २।१।९२। इति नलोपप्रतिषेधादन्तरङ्गत्वात् परत्वाच्च ह्रस्वे ह्रस्वामावाहित्व न भवति । प्रत्यङ् श्वेत—प्रतिपूर्वाद्यत्वे किप् “अयो-ऽनर्चोयाम्” इति अर्चोयाम् नलोपामावात् सेर्लुकि, “पदस्य” इति बलोपे, “युज्यमकुक्षो नो ह” २।१।७१। इति ककारे, तस्य द्वित्वमनेन न भवति स्वरपरत्वाभावात् । ननु चात्र सा भूदनेन द्वित्व “अवीर्षाद् विरामैकव्यञ्जने” इत्यनेन द्वित्व भविष्यति तत्किमर्थमेतच्चिदृशे खर इत्युच्यते इति २७ चेद, सत्यम्; यथनेन द्वित्व तर्हि मिलं स्यात्तेन तु विकल्पेनेति तदर्थं खर इत्युपाधीयते । वृत्रहणौ—वृत्रपूर्वाद्यन्ते “ब्रह्मभूणो” ५।१।९१। इति किप्, “अहन्पञ्चमस्य” ४।१।९०। इति हन्वर्जनादीर्षेलाभावे स्यादोकारे “कबर्लकस्वरवति” २।३।७६। इति णत्व, अत्र णस्य ह्रस्वात् परत्वेऽपि पदान्तत्वामावाह द्वित्वम् । दण्डिनौ—दण्डोऽस्यास्तीति “अतोऽनेकस्वराद्” ७।२।६। इति मत्वर्थे ङि, अकारलोपादौ अनेन १० नस्य ह्रस्वात् परत्वेऽपि अपदान्तत्वाच्च भवति द्वित्वम् । ननु ह्रस्वात् परेषां पदान्ते वर्तमानां ङण्णो अनेन द्वित्वे सति कथं “उणादयः”, “अनंत” इत्यादयो निर्देशा इत्यत आह—उणादयः इत्यादौ स्वरूपनिर्देशात् इत्यादि, अन्यथा तत्रैव प्रक्रियाकाव्यपार्थ द्वित्वकारमा-देशो निदय्यादित्यर्थः ॥ २७ ॥

अनाङ्माङो दीर्घाद् वा छः । अत्र पदान्ते इत्यनुवर्तते द्वे इति च, तच्च दीर्घादित्यनेनान्वेति छेन त्वसंभवाच्चान्वयः, पदान्ते तु तस्या-ऽऽदेशेन भाव्यम्—षाब्दभाद इति । अनाङ्माङ् इति द्वन्द्वसर्गात्तदुपसर्गश्चि भवति, तथापि दीर्घादित्यनेनान्वेति । यद्यप्यनादिति पर्वदासस्य सदस्यमादितया दीर्घादित्यस्य लामस्यपि तयोरव्ययत्वेन सादस्यमहणे दीर्घादव्ययादित्यनर्थं स्यादिति दीर्घादिति । तथाच—अनाङ्माङो १६ पदान्ते दीर्घाद् छ द्वे वा इत्यन्वयस्तदर्थमाह—आङ्माङ्वर्जितपदसंबन्धिन इत्यादिना । कन्याच्छत्रम्—अत्र षष्ठीसमाप्ते सति अनाङ्माङ् पदान्ते वर्तमानादीर्घाकारात् परस्य विकल्पेन छस्य द्वित्व, पक्षे—कन्याछत्रम् । एवमन्यत्र । मुनेच्छाया—मुनि छाया इति स्थिते “खरेभ्य” इति द्वित्व “आमङ्गे” इति सिद्धं प्राप्नोति, तत्रान्तरङ्गत्वात् परत्वाविवेकत्वाच्च “आमङ्गे” इति पूर्वं सिद्ध्यती “हस्यस्य युग” ३९ १।४।५१। इति सिना सह युगेऽनेन विकल्पेन छस्य द्वित्वम् । “खरेभ्य” इति मिल्य द्वित्वे प्राप्ते विकल्पायोऽप्यपरस्य । अनाङ्माङ् इत्यस्य फलं

भोषणीत्येव ? वृक्षं करोति, अज्यम् करोति । अवर्णादित्येव ? तद्वत् गच्छति । पदान्त इत्येव ? भव्यम्, जयम् । कश्चित् शरत्तयोर्गनादिग्योर्वकार्यकारयोर्पोषणत्वात्पदान्तोऽपि लोपमिच्छति—अप्यारूढ उम्—ईशम् अयुः, स चासा-  
निन्दुध-अभिन्दुः । सापोषी—श्रीः साप्ती, तस्या उदयः साध्युदयः इत्यादि ॥ २३ ॥

खरे वा ॥ १ । ३ । २४ ॥

अवर्णभोभगोऽधोभ्य परयोः पदान्ते वर्तमानयोर्वकार्यकारयोः खरे परे लुग्व भवति, स चामंभिः । पट इह,  
पटविह; अवर्णादीपत्पृष्ठस्य विह्वलेन विधासमानत्वात् प्रेरूप्यम् पटविह । वृक्ष अत्र, वृक्षवत्र; वृक्षवत्र । वृक्षा इह,  
वृक्षाविह; वृक्षाविह । त आहुः, तयाहुः; तयाहुः । तस्मा उदम्, तस्मायिदम्; तस्मायिदम् । क आस्ते, कयास्ते,  
कयास्ते । देवा आहुः, देवायाहुः; देवायाहुः । भो अत्र, भोप्रभृतिभ्य उत्तरेणपत्पृष्ठतरस्य नित्य विधानाद् द्वैरूप्यम्—  
भोयत्र । भगो अत्र, भगोयत्र । अघो अत्र, अघोयत्र । उज्यपि द्वैरूप्यमेव—पट उ, पटु इत्यादि । पदान्त इत्येव ?  
तनम्, नयनम् । अवर्णादिभ्य इत्येव ? मच्चा, दध्यत्र । खर इति किम् ? वृक्षं करोति ॥ २४ ॥

अस्पष्टाववर्णात् त्वनुजि वा ॥ १ । ३ । २५ ॥

१२ अवर्णभोभगोऽधोभ्य परयोः पदान्ते वर्तमानयोर्वकार्यकारयोः स्थानेऽस्पष्टावीपत्पृष्ठतरौ प्रत्यासत्तेर्वकार्यकारोवे-  
दंशौ खरे परे भरत, अवर्णात्तु परयोर्व्योक्तवर्जिते खरे परेऽस्पष्टौ वा भवतः । पटु, वृक्षवु, असाहु, कयु, देवायु,  
भोयत्र, भोयु, भगोयत्र, भगोयु, अघोयत्र, अघोयु । अवर्णात्त्वनुजि वा—पटविह, पटविह; असाविन्दुः, असाविन्दुः;  
१५ तविह, तविह; तस्मायिदम्, तस्मायिदम्; कयिह, कयिह, देवायाहु, देवायाहुः । अनुजीति किम् ? उजि  
अस्पष्टावेव यया साताम्, तया च—उदाहरतम् । केचित् रुस्तानस्य यकारस्योजि परे लोपमेवेच्छन्ति—क उ आगतः,  
भो उ एहि, भगो उ एहि; अघो उ याहि । अपरे तु भोभगोऽधोभ्य खरे नित्य लोपमेवेच्छन्ति—भो अत्र, भगो  
२० अत्र; अघो अत्र ॥ २५ ॥

तेषां वचनम् । भव्यम्—नयनेर्नाभि मे इमे “व्यक्ये” इति आदेशो च विद्यते । जयम्—जेतु शक्यमित्यर्थे “जि” अभिभवे, धातो शक्ये ये  
“हृन्मन्मो शपो” ५।३।१०। इत्यन्येभ्यो च सति सिध्यति, एतन् परोपदान्त्याक्षेप प्रपठते । विश्रान्तविधापरमतमाह—कश्चित् इत्यादिना ।

२१ शरत्तयोः—“इतिदि” इत्यादिना वृत्तयो मारुताधिक्योरित्यर्थः । अनादिस्थयोः—आदाववर्तमानयो । अवर्णात् अन्यत अपि परयोः  
शरत्तयो अगारित्ययो मकारपरस्यो भोपाति परे लोपम् इच्छति इत्यन्वयः, स्फुटोऽर्थः । तन्मते उदाहरति—अभिन्दुः, साध्युदयः—  
अत्र यथाका मकारस्य मकारस्य च लोपः, अन्यमते—अभिन्दुः, साध्युदय इति ॥ २३ ॥

२४ खरे वा । अत्र अवर्णभोभगोऽधो पदान्ते व्यो लुक् अमंभिः इति चानुवर्तते, अवर्णभोभगोऽधो पदान्ते व्यो खरे लुग्व अमंभि-  
रित्यन्यमन्तर्दणमाह—अवर्णभोभगोऽधोभ्य इत्यादिना । पट इह—पटो इह इत्यवस्थायां “ओदौतोऽबाव्” इत्यवदेशे पट्व इह इति  
स्थिते अवर्णात् परस्य पदान्तस्थस्य शरपरस्य स्यात् । उज्यसंघौ च सिध्यति, तदभावे “अस्पष्टाववर्णात्त्वनुजि वा” इत्यनेन अस्पष्टवकारादेशो—

२७ पटविह, एहि अस्पष्टनकाराभावे च—पटविह, तदाह—अवर्णात् इत्यादिना । प्रेरूप्यम्—“खरे वा” “अस्पष्टाववर्णात्त्वनुजि वा” इति विक-  
ल्पद्वयेति भावः । वृक्षवत्र—वृक्षं इति तु साधितमेव । वृक्षा इह—वृक्षशब्दादौ प्रत्यये वृक्षो इह “ओदौतो” इति आवि बस्यानेन लुक्,  
पक्षे यथाप्राप्तम् । त आहुः—तच्छब्दाज्जि अत्वादौ “जट इ” इतीत्वे एत्वे च—ते आहुः इत्यत्र अयादेशे बस्यानेन लुक् । तस्मा इदम्—

३० तच्छब्दाच्चतुर्थ्यवचने अत्वादौ स्थायादेशे आगादेशे च यस्यानेन लुक् । भो अत्र—“सोह” इत्यनेन जातस्य भोपरस्य पदान्तस्थस्य खर-  
परस्य रो स्थाने यत्वे तस्य लुकि सिध्यति । अत्र “अस्पष्टाववर्णात्” इति सूत्रेण नित्य रोर्ध्व इति जातस्य यस्य अस्पष्टविधानाद् रूपद्वय-  
मित्याह—भो प्रभृतिभ्य इत्यादिना—भो यत्र । अवर्णादिपत्पृष्ठतरस्य विकल्पेन अनुजि विधानाद्रूपद्वयमित्याह—उज्यपि द्वैरूप्यमेव—

३३ पटउ, पटु । अत्रागादेशे बस्यानेन लुक् “अस्पष्टाववर्णात्” इत्यादिना पक्षे नित्यमीपत्पृष्ठतरवकारश्च ॥ २४ ॥

अस्पष्टाववर्णात्त्वनुजि वा । अवर्णभोभगोऽधो पदान्ते व्यो खरे इति चानुवर्तते, अवर्णभोभगोऽधो पदान्ते व्यो अस्पष्टौ खरे,  
अवर्णात् तु व्यो अनुजि खरे अस्पष्टौ वा इत्यन्वयः, तदर्थमाह—अवर्णभोभगोऽधोभ्यः इत्यादिना । अस्पष्टौ—ईपत्पृष्ठतरौ—उच्चारणे

३६ लघुप्रत्ययतरौ—मन्दतरप्रत्ययौ—प्रशिथिलस्थानकरणपरिस्पन्दाविति यावत्, एतदुक्तं भवति—शिथिलस्थानकरणाभ्यां उच्चार्यमाणौ वकारयकारौ  
अस्पष्टौ इति भावः । आदेशस्य तयोरेकद्वयं दृष्टस्य प्रयोजनाभावात् अस्पष्ट इति सामान्यशब्देनापि वकारो यकारश्चाभिधीयते । ब्रौहि स्थाने  
ईपत्पृष्ठतर आसन्न आदिदयत्वे तयोश्चासन्नो वकारो यकारश्चेत्याह—प्रत्यासत्तेरित्यादि । सूत्रे वृक्षशब्दो भिज्वाक्यत्वप्रतिपादनार्थ इत्याह—

३९ अवर्णात्—इत्यादिना । न उज्य अनुप् तसिञ्जनुतीति खरे इत्यस्य विशेषणमित्याह—उज्य वर्जिते खर इति । पटउ—अत्र “खरे वा” इति  
लुगमापपक्षेऽनेनावर्णात् परस्य पदान्तस्थस्य वस्य नित्यमस्पष्टौ वकारः । एवमन्यत्र समन्वयः । पाणिन्याशाचार्याणां मतमाह—केचित्तु इति ।

४० रुस्तानस्य यकारस्य—“रोर्ध्व” इत्यनेन विहितस्येत्यर्थः । लोपमेवेच्छन्ति—न ईपत्पृष्ठतरमिति शेषः । “उजि च पदे” पा० ८।३।११।  
४२ इति सूत्रे आचार्यपाणिनि, तन्मते उदाहरति—क उ आगत इत्यादि । भो भगोऽधोभ्य खरे परे नित्य लोपमिच्छते गार्ग्यस्य मतमाह—अप-  
रेतु इत्यादिना । शाकटायनमते लघुप्रत्ययतरौ वयौ इत्याह पाणिनि—“व्योर्लघुप्रत्ययतरौ शाकटायनस्य” पा० ८।३।१८। इति । गार्ग्यमते

तु “ओतो गार्ग्यस्य” । पा० ८।३।२०। इत्युवाच, तन्मते उदाहरति—भो अत्र, भगो अत्र; अघो अत्र ॥ २५ ॥



रोर्यः ॥ १ । ३ । २६ ॥

अवर्णभोमगोऽघोम्यः परस्य पदान्ते वर्तमानस्य रोः स्थाने खरे परे यकार आदेशो भवति । कयास्ते, देवायास्ते, भोग्यत्र, भगोयत्र, अघोयत्र । रोरिति किम् ? पुनरिह । अवर्णादिभ्य इत्येव ? मुनिरत्र । खर इत्येव ? कः करोति, भोः ३ करोषि ॥ २६ ॥

ह्रस्वाद् ङणनो द्वे ॥ १ । ३ । २७ ॥

ह्रस्वात् परेषां पदान्ते वर्तमानानां ङ ण च इत्येषां वर्णानां स्थाने खरे परे द्वे रूपे भवतः । कुडास्ते, सुगणिहः ६ पचन्नास्ते । कुर्वन्नास्ते, कृषन्नास्ते इत्यत्र तु बहिरङ्गस्य द्वित्वस्यासिद्धत्वात् णत्व न भवति । ह्रस्वादिति किम् ? प्राडास्ते, वाणास्ते, भवानास्ते, राज्ञनिह । ङण् इति किम् ? त्वमत्र । खर इत्येव ? प्रत्यङ् शेषे, गच्छन् सुक्ते । पदान्त इत्येव ? वृत्रहणौ, दण्डिनौ । “उणादयः” ॥ ५ । २ । ९३ ॥ इत्यादौ स्वरूपनिर्देशात्, “अनेतो” ॥ १ । ४ । ५९ ॥ इत्यादौ ९ स्वन्विधानवलात् न भवति ॥ २७ ॥

अनाङ्माहो दीर्घाद् वा छः ॥ १ । ३ । २८ ॥

आङ्माङ्वर्जितपदसम्बन्धिनो दीर्घात् पदान्ते वर्तमानात् परस्य छकारस्य द्वे रूपे वा भवतः । कन्याच्छत्रम्, १२ कन्याछत्रम् ; कुटीच्छाया, कुटीछाया, जम्बूच्छाया, जम्बूछाया, मुने च्छाया, मुने छाया, रैच्छाया, रैछाया, गोच्छाया,

रोर्यः । अत्र अवर्णभोमगोऽघो पदान्ते खरे इति चानुवर्तते, अवर्णभोमगोऽघो पदान्ते रो खरे य इत्यन्य । रेफनात्रस्यात्र यत्वविधाने प्राप्तस्यातिप्रवृत्त्यस्य परिहारायमुक्तो विशेषणमाश्रीयते, यद्यप्यत्रास्यष्टाववर्णान्युयिविचिन्तयेत्तत्वेनानुवर्तनीय, तथापि १५ भोग्यत्रिभ्यो यकारस्यास्पृश्यकारमिषानात् व्यवहितमपि अवर्णभोमगोऽघोरित्येवानुवर्तत इत्याह—अवर्णभोमगोऽघोभ्य इत्यादि । कयास्ते—किमुशब्दात् सौ कादेशेऽनुबन्धलोपे “सौ र” इति क्लृप्तेनेन तस्य यकार । पक्षे “खरे वा” इति यलोपे—क आस्ते । एवमन्यत्र । उदनुबन्ध-फलं दृष्टव्ये—रोरिति किम् ? पुनरिह—अत्र उदनुबन्धो रेफो नास्त्यतो न तस्य योऽनेनेत्याद्य ॥ २६ ॥ १८

ह्रस्वाद् ङणनो द्वे । अत्र पदान्ते खरे इति चानुवर्तते, ह्रस्वात् पदान्ते ङण खरे द्वे इत्यन्य । ङण इति ङय णश्च नभेल्लेयां समाहारद्वन्द्वत्वात् षष्ठी, द्वे इति द्विसंज्ञात् अयमादिवचने “आहरे” २।१।४१। इत्येव, रूपापेक्षया नपुंसकत्वात् “ओरी” १।१।५६। इती-कारे एकादेशे भवति, तदर्थमाह—ह्रस्वात् परेषां इत्यादिना । कुह्ङास्ते—अत्र ह्रस्वकारात् परस्य पदान्तस्थस्याऽऽकाररूपपरस्य छस्य २१ रूपद्वयम् । एवमन्यत्र समन्वय । ननु कुर्वन्नास्ते, कृषन्नास्ते इत्यत्रानेन नस्य द्वित्वे सति द्वितीयनस्य पदान्तत्वेऽपि पूर्वस्य नस्यानन्यस्य “रपु-वर्णको ण” २।३।६३। इत्यनेन गत्व कथं भवतीत्याह—बहिरङ्गस्य द्वित्वस्य इत्यादि । उभयपदापेक्षाद्वित्व बहिरङ्ग णत्व तु द्वित्व-वर्णागमिसिद्धान्तमूर्तमिति क्लृप्तत्वेनान्तराहमेति “असिद्ध बहिरङ्गमन्त्रजे” इति न्यायेन न भवति । राज्ञनिह—राजशब्दादात्मशब्देर्लुकि २४ “नामङ्गे” २।१।९२। इति नलोपप्रतिषेधादन्तराहत्वात् परत्वाच्च ह्रस्वे ह्रस्वाभावादित्व न भवति । प्रत्यङ् शेषे—अतिपूर्वादक्षते किम् “अघो-ऽनचोयाम्” इति अर्वायां नलोपाभावात् सेर्लुकि, “पदस्य” इति चलोपे, “युनश्चकुषो णे ङ” २।१।४१। इति ङकारे, तस्य द्वित्वमनेन न भवति खरपरत्वाभावात् । ननु चात्र मा भूदनेन द्वित्व “अथैर्घाद् विरामैकव्यञ्जने” इत्यनेन द्वित्व भविष्यति तत्किमर्थमेतद्विदित्तये खर इत्युच्यते इति २७ चेत्, सत्यम् ; यद्यनेन द्वित्व तर्हि नित्यं स्यातेन तु विकल्पेनेति तदर्थं खर इत्युपाधीयते । वृत्रहणौ—वृत्रपूर्वादन्ते “ब्रह्मभूण” ५।१।१६१। इति किपि, “अहन्पदमस” ४।१।१०५। इति हन्वर्जनादीर्घत्वाभावे स्यादौकारे “कवर्गेकखरवति” २।३।७६। इति णत्व, अत्र णस्य ह्रस्वात् परत्वेऽपि पदान्तत्वाभावाच्च द्वित्वम् । दण्डिनौ—दण्डोऽस्यासीति “अतोऽनेकखरात्” ५।२।६। इति मत्वर्थे ङि, अकारलोपादौ अनेन १० नस्य ह्रस्वात् परत्वेऽपि अपदान्तत्वाच्च भवति द्वित्वम् । ननु ह्रस्वात् परेषां पदान्ते वर्तमानानां ङण् अनेन द्वित्वे सति कथं “उणादयः”, “अनेत” इत्यादयो निर्देशा इत्यत आह—उणादयः इत्यादौ स्वरूपनिर्देशात् इत्यादि, अन्यथा तत्रैव प्रक्रियालाघवार्थं द्वित्वकारमा-देशं विदध्यादित्यर्थः ॥ २७ ॥

३३

अनाङ्माहो दीर्घाद् वा छः । अत्र पदान्ते इत्यनुवर्तते द्वे इति च, तत्र दीर्घादित्यनेनान्वेति छेन त्वसंभवाच्चान्वय, पदान्ते तु तस्या-ऽऽदेशेन मायम्—शब्दप्राद इति । अनाङ्माह इति द्वन्द्वगर्भात्तत्पुरुषान्वृत्ति भवति, तथापि दीर्घादित्यनेनान्वेति । यद्यप्यनाकिति पुरुषादस्य सदप्रतिष्ठितया दीर्घादित्यस्य कामस्यपि तयोरन्ययत्वेन सादृश्यप्रद्वेने दीर्घाद्व्यादित्यनर्थं स्यादिति दीर्घादिति । तथाच—अनाङ्माहो १६ पदान्ते दीर्घात् छः द्वे वा इत्यन्यस्यदर्थमाह—आङ्माहवर्जितपदसंयन्धिन इत्यादिना । कन्याच्छत्रम्—अत्र षष्ठीसमासे सति अनाङ्माह पदान्ते वर्तमानादीर्घाकारात् परस्य विकल्पेन छस्य द्वित्व, पक्षे—कन्याछत्रम् । एवमन्यत्र । मुनेच्छाया—मुने छाया इति स्थिते “खरेभ्य” इति द्वित्व “आमङ्गे” इति सिध्य आगोति, तत्रान्तराहत्वात् परत्वाभित्यत्वाच्च “आमङ्गे” इति पूर्व सिध्यते “ह्रस्वस्य गुण” ३५ १।४।१। इति सिना सङ्गुणेऽनेन विकल्पेन छस्य द्वित्वम् । “खरेभ्य” इति नित्य द्वित्वे प्राप्ते विकल्पाद्योऽभ्यारम्भ । अनाङ्माह इत्यस्य फलं

गोत्रया; नोत्रया, नोत्रया । अनात्रा इति किम् ? आत्रया, आच्छिनति, आच्छायायाः, माच्छिदत्—“स्वरेभ्यः” ॥ १ । ३ । ३० ॥ इति नित्यमेव । चित्कण्ठेषु विकल्प एव—आच्छाया मन्त्रसे, आत्रया मन्त्रसे, आच्छाया मा मन्त्र, आत्रया मा भूत, वात्यस्मरणयोरवमाकार, माच्छिन्धि, माच्छिन्धि, प्रमाच्छन्दः, प्रमाच्छन्दः, पुत्रो माच्छिनति, पुत्रो माच्छिनति । आरगाहचर्येणाऽन्यस्य मात्रो ग्रहणादिहापि विकल्प एव—प्रमिमीत इति प्रमाः विच्, प्रमाच्छाया, प्रमाच्छाया । दीर्घादिनि किम् ? श्वेतच्छाम्, वाक्छाम् । पदान्त इत्येव ? हीच्छति ॥ २८ ॥

५

मुताद् वा ॥ १ । ३ । २९ ॥

परस्ते वर्तमानात् दीर्घस्थानात् मुतात् परस्य छकारस्य द्वे रूपे वा भवतः । आगच्छ भो इन्द्रभूते च्छमानय, आगच्छ भो इन्द्रभूते च्छमानय । दीर्घादित्येव ? आगच्छ भो देवदत्त च्छमानय ॥ २९ ॥

५

स्वरेभ्यः ॥ १ । ३ । ३० ॥

पठुवचन व्याख्येयम्, तेन पदान्त इति निवृत्तम्, स्वरात् परस्य छकारस्य पदान्तेऽपदान्ते च द्वे रूपे भवतः । इच्छति, फेच्छति, गच्छति, हीच्छति, स्तेच्छति, चाच्छापते, चोच्छ्रयते; वृक्षच्छाया । स्वरेभ्य इति किम् ? वाक्छाम् ॥ ३० ॥

१०

हार्दहस्वरस्याऽनु नवा ॥ १ । ३ । ३१ ॥

स्वरेभ्यः परो यो रेफद्वकारौ ताभ्या परस्यार्हस्वरस्य—रेफद्वकारस्वरजितस्य वर्णस्य स्थाने द्वे रूपे वा भवतः । अनु—यदन्यत्कार्यं प्राप्नोति तस्मिन् कृते पथादित्यर्थः । (२-) अर्कः, अर्कः, मूर्खः, मूर्खः, स्वर्गः, स्वर्गः, अर्धः, अर्धः,

१५ पृच्छति—अनात्रा इति किम् ? आच्छायाया—अत्राऽऽन्यार्थात् तत्रागे “आत्रावधौ” इति पयनी छायां परित्यज्य इत्यर्थः, अभिविधौ वा छायां निश्चायित्यर्थः । अत्र मर्गादिभिर्भिर्भर्तृमात्राभावेऽपि प्रतिषेधः । माच्छिदत्—अत्र प्रतिषेधार्थं वर्तमानस्य भावेऽपि प्रतिषेधः । एतेषु प्रयोगेषु विकल्पानां द्विजातानि “स्वरेभ्यः” १।३।३० इति नित्यमेव द्वित्वे पथात् “अधोपे प्रयोगोऽशितः” इति प्रथमः । तदा—स्वरेभ्य इति । मादयस्वरणयोर्वर्तमानात् आकारात् अदित परस्य छस्यानेन वैकल्पिक द्वित्वे, तदाह वदाहरणोपन्यासपुरस्सरं—इन्द्रस्वरणात् इत्यादिना, वाक्छाम्स्वरणयोरवमाकार इत्यनेन । माच्छिन्धि—अत्र प्रतिषेधवचनस्य सा इत्युक्तितोऽन्यत्रस्थानेन विकल्पेन द्वित्वम् । प्रमाच्छन्दः—प्रमिमीत इति “उपमर्गादात्” ५।३।११०। इत्यहं प्रमा स चासौ छन्दसेति विग्रहः । अनाच्छितो माच्छन्दस्थानेन भवन्ति द्वित्वम् । “आच्छायाया दीर्घात्” इति सूत्रे माच्छन्दस्य एव शुभते, आच्छायायाश्चार्थात्, अन्यथा माच्छायायास्तोराकारात् परस्य छस्य वैकल्पिक द्वित्वं न स्यात् प्रतिषेधादित्याह—आच्छायायाश्चार्थेण इत्यादिना । प्रमिमीत इति प्रमा, प्रमायाश्चोच्छायेति—प्रमाच्छायायाः, यद्यपि घाटु- २४ गर्गजित सूत्रे चादिशेषद्वयस्य व्यत्ययेनान्यत्रादिना आत्रा सात्त्वय्येण भावोऽन्यत्रस्य प्रदण्ठात् प्रतिषेधाभावादिकल्पः ॥ २८ ॥

मुताद् वा । अत्र पदान्ते दीर्घात् छ छे इति चानुवर्तते, पदान्ते दीर्घात् मुताद् छे द्वे वा इत्यन्वयः । दीर्घादित्यनुवृत्तावपि द्विमात्रप्रमात्रयोर्विरोधात् रामानाधिकरण्यासंभवेऽपि मया क्रोधान्तीतिवत् स्थानोपचारात्तद्व्यपदेशाद्विशेषणविशेष्यभावः । दीर्घशब्देन सुतो- २७ अभिधीयते दीर्घोऽस्यासि स्थानित्वेनाप्रादित्येनात्मसंज्ञायात्, तदाह—पदान्ते वर्तमानादीर्घस्थानात् इत्यादिना । आगच्छ भो इन्द्र-भूते च्छमानय—अत्र “ह्रस्वस्य गुणः” इत्यामश्रयिना गुणे, “द्वारादाम्भयस्य” इत्येकारस्य दीर्घस्य स्थाने ह्रस्वेनेन छकारस्य विकल्पेन द्वित्वमिति । आगच्छ भो देवदत्त च्छमानय—अत्राकारस्य सुतो न दीर्घस्थान इति दीर्घादित्यधिकारादनेनात्र विकल्पाभावे सत्यु- ३० तरेण नित्यमेव ॥ २९ ॥

स्वरेभ्यः । अत्र छ छे इति चानुवर्तते, स्वरेभ्य छ द्वे इत्यन्वयः । ननु खरादित्युक्तोऽपीष्टस्य सिद्धत्वाद्वहुवचन व्यर्थमित्यत आह—वहुवचनम् व्याख्येयम्—पदान्तेऽपदान्ते चास्य प्रत्ययार्थम्, तत्फलमाह—तेन इत्यादि । पदान्त एवेति निवृत्तमित्यर्थः, तेनास्य पदान्ता- ३३ पदान्तस्य परस्य छस्य रूपद्वयं द्वित्वम् । पूर्वोक्तार्थाभावे तु “गच्छति पयिद्वे” ६।३।२०३। इति निर्देशादेव पदान्तनिवृत्तिमात्रस्य सिद्धत्वादि-त्याह—स्यरात् परस्य छकारस्य पदान्तेऽपदान्ते च इत्यादि । इच्छति—इषत् इच्छायाम्, घातो तिभि, शे, “यमिपयमश्च” ४।१।१०६। इति छत्वेऽनेन द्वित्वे “अधोपे प्रयोगोऽशितः” इति प्रथमत्वे सति सिध्यति । चाच्छायते—छोद् वेदने, घातोर्थेति, “सन्धश्च” ४।१।३। इति ३६ द्वित्वे, “ह्रस्व” ४।१।३। इति ह्रस्वे, “अधोपे प्रयोगोऽशितः” ४।१।४। इति लोपे, “द्वितीयतुर्ययो पूर्वो” ४।१।४२। इति छस्य चत्वे, “आगु-णाचन्यादे” ४।१।४८। इत्याऽऽनेनेन द्वित्वे च, “अधोपे प्रयोगोऽशितः” इति प्रथमत्वे, तेष्वन्ये शक्ति च सिध्यति । चोच्छ्रयते—छुप्यत्- ३५ स्वरं, घातोर्थेति द्वित्वे ह्रस्वे लोपे छस्य चत्वे गुणेऽनेन द्वित्वे च प्रथमे तेष्वन्ये शक्ति च भवति । वृक्षच्छाया—वृक्षस्य छायेति पठ्यमासो- ३५ ऽसमासो वा, अत्र पदान्तस्य ह्रस्वाकारात् परस्य छस्यानेन द्वित्वम् । वाक् छाम्—अत्र व्यजनात् परस्य छस्य न द्वित्वम् ॥ ३० ॥

हार्दहस्वरस्याऽनु नवा । रथ हृद्येत्वायितमाहारद्वन्द्वः, तस्मान्नद्वि—हार्त् इति । रथ हृद्येत्वायितमाहारद्वन्द्वे सति न च तत्पुरुष, न ह्रस्व अर्हस्वरस्य—अर्हस्वरस्य इति पुरुषासमाभ्रयणात् वर्णस्येति लभ्यते । स्वरेभ्य द्वे इति चानुवर्तते, स्वरेभ्य इति च ४९ ह्रस्व इत्यनेन सह व्यधिकरणविशेषणतयान्वेति । तथाच—स्वरेभ्य हार्त् अर्हस्वरस्य वर्णस्य द्वे नवा अनु इत्यन्वयस्यार्थमाह—स्वरेभ्य इत्या-दिना । अनुशब्द पश्चादर्थे, पश्चादिति सापेक्ष पूर्व वाऽपेक्ष्य पश्चादिति भवति, तत्रापेक्ष्य विशेषणपरिग्रहाभावात् सम्भवमात्र विज्ञायत इति त- ४९ मिश्रणीति—अनु—यदन्यत्कार्यं इत्यादिना । अर्कः—अकाररूपस्य परो हि रेफस्वरस्यात् परस्य कस्य रेफद्वकारस्वरमित्यनेन सर्वान्य- ४९ कार्येभ्य पश्चादित्य विकल्पेन । मूर्खः—ऊकारात् परो रेफस्वरस्यात् परस्य कस्य द्वित्वे प्रथमः । एवमन्यत्र । अर्हस्वरस्य इत्यस्य

अर्वा, अर्वा । (ह्-) ब्रह्मा, ब्रह्मा, जिह्मः, जिह्मः, वाह्यम्, वाह्यम्; जिह्वा, जिह्वा । अर्हस्वरस्येति किम्? पञ्चह्रदः, अर्हः, करः । स्वरेभ्य इत्येव? अष्टप्रते, हुते । अन्विति किम्? प्रोणुर्णवाव-अत्र द्विवचने कृते द्वित्वं यथा स्यात् ॥ ३१ ॥

### अदीर्घाद् विरामैकव्यञ्जने ॥ १ । ३ । ३२ ॥

३

अदीर्घात् स्वरात् परस्य ह्रस्वरवर्जितस्य वर्णस्य स्थाने विरामैकव्यञ्जने-विरामेऽसंयुक्तव्यञ्जने च परेऽनु द्वे रूपे वा भवतः । (विरामे) त्वक्, त्वक्, त्वग्, त्वग्, पङ्, पङ्, पङ्, पङ्, तत्, तत्, तद्, तद् । एकव्यञ्जने-द्वयत्र, द्वयत्र, पृथ्यदनम्, पृथ्यदनम्, मङ्गत्र, मङ्गत्र, पित्र्यः, पित्र्यः, त्वङ्गधुरा, त्वङ्गधुरा, त्वङ्गरोपि, त्वङ्ग करोपि, संयतः, संयतः, ६ उर्यङ्ग, उर्यङ्गः, उर्यङ्गः, उर्यङ्गः, उरःकः, उरःकः, गोत्रात्, गोत्रात्, नौत्रात्, नौत्रात् । अन्वित्यधिकारात् कत्वगत्वादिषु कृतेषु पश्चाद् द्वित्वम् । अदीर्घादिति किम्? वाक्, भवात्, सूत्रम्, पात्रम्, नेत्रम्, होत्रम् । विरामैकव्यञ्जने इति किम्? इन्द्रः, चन्द्रः, कृत्स्नम्, मृत्ता, उष्ट्रः, दधि, मधु । संयुक्तव्यञ्जनेऽपीच्छत्येके-प्रत्तम्, ० प्रत्तम् । अर्हस्वरस्येतेव? वैया, वह्यम्; तितउ । अत एवादेशचलात् संयोगान्तलोपो न भवति, प्रथमत्वादिकं तु द्वित्वस्याभावात् भवत्येव ॥ ३२ ॥

फलं पृच्छति-अर्हस्वरस्येति किम्? पञ्चह्रदः-यद्यप्यत्रानेनाकारात् परो हकारस्त्वात् परस्य रेफस्य द्वित्वे सति “रो रे लृक्” १।१।४।१। इति १३ रलोपे न कश्चिदोषः, तथाप्यत्र वर्जनेनाभावे उत्तरस्थे तदननुवृत्त्या अर्ह इत्यत्र “अदीर्घात्” १।१।३२। इत्यदीर्घस्वरात् परस्य ह्रस्वरवर्जितस्य वर्णस्य रेफस्य द्वित्वे “रो रे लृक्” इति रेफलोपे दीर्घे च अर्ह इत्यनिष्ट स्यादिति रेफवर्जनम् । अर्हः-अत्र ह्रस्व इति न भवति, रजर्जनात् । करः-अत्र स्वरात् परो रेफस्त्वात् परस्य रेफहकारभिसंज्ञाकारस्य द्वित्वं न भवति, स्वरवर्जनात्, यद्यप्यनेनाकारस्य द्वित्वे सति “लृगस्या-१५ देसपदे” २।१।११३। इत्यनेनास्य ह्रस्वे नात्र कश्चिदोपस्थापि चाह दास वारीत्यादी चारु दास वारीत्यादि प्रसज्येत इति स्वरवर्जनं बोध्यम् । अष्टप्रते-अत्र भात् परो रेफस्त्वात् परस्य यस्य द्वित्वं न भवति स्वरेभ्य इत्यनुवृत्ते, अथ स्वरात् परो मस्वस्य रेफहकारभिसंज्ञात्वात् तत् परस्य च रेफस्यार्हस्वरत्वाभावाद् द्वित्वं न । हुते-अत्र हात् परस्य नस्य द्वित्वं न, हकारस्य स्वरात् परत्वाभावात् । अन्विति विधानेनातिशयिष्ठं च दर्शयति-१८ अन्विति किम्? इत्यादिना । प्रोणुर्णवाव-“कण्ठ्य” आच्छादने, घातो प्रपूर्वात् परोक्षया ण्वि द्वित्वे ण्वे वृद्धौ प्रोणुर्णवाव, अत्रानेन पश्चाद् द्वित्वे प्रोणुर्णवाव भवति, यद्यत्रान्विति न स्यात्तदन्तरात्त्वादानेन द्वित्वे कृते पश्चात् परोक्षान्वित्येन बहिरक्ष द्विवचनं स्यात्, ततश्च प्रोणुर्णवावेन निष्ठरूपापत्तिः । ननु द्वित्वं कृतमपि “निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यप्य” इति न्यायेन निर्देस्यति किमनुग्रहेण? इति चेन्न, अनुग्रहणात्तथायाति-२१ स्वरावृत्त्यनेनादोषात् ॥ ३१ ॥

अदीर्घाद् विरामैकव्यञ्जने । अत्र स्वरेभ्य अर्हस्वरस्य अनु नवा द्वे इति चानुवर्तते, अदीर्घादिति पर्युदास स्वरेभ्य इत्यनेनान्वेति । तथाचाशमन्वय-अदीर्घात् स्वरात् अर्हस्वरस्य विरामे एकव्यञ्जने अनु द्वे नवा । त्वक्-त्वच्चाब्दात् से “दीर्घद्वयान्व्यञ्जनात्” १।१।४।५। २४ इति लोपे, “चन कण्ठ्य” २।१।८६। इति क्ले, “धुत्तृतीय” २।१।७६। इति गत्वे, “विरामे वा” १।१।५१। इति पक्षे काले, अनेन द्वित्वे सति सिद्ध्यति । कत्वमात्रपक्षे गत्य द्वित्वे-त्वग् इति । द्वयत्र-दकाराऽकारात् परस्य रहस्वरभिनस्य धस्य द्वित्वे “तृतीयस्तृतीयचतुर्थे” १।१।४९। इति पूर्वधस्य दकारोऽसंयुक्तव्यञ्जने अकारे परे । पृथ्यदनम्-पकारोत्तरत्वात्तौ ह्रस्वाकारात् परस्य रहस्वरवर्जितस्य यस्यनेन द्वित्वे प्रथम । २७ मद्द्वयत्र-धस्यानेन द्वित्वे पूर्वधस्य तृतीयो दकारः । पित्र्यः-तस्यानेन द्वित्वं संयुक्तव्यञ्जने परत्वाभावात् । त्वङ्गधुरा-व्यस्यनेन द्वित्वम् । संयतः-“ती सुनो व्यञ्जने” इति मस्य साधुनासिकस्य इत्यादेशे तस्यानेन द्वित्वमेतेन “लि लौ” १।१।६५। इति सूत्रेण लौ इति द्विवचननिर्देशात् साधुनासिकस्यपि निरनुनासिक एवदेश इति ज्ञापनादत्र कथं साधुनासिको यकार इति निरस्तम् । उर्यङ्ग-जिह्वामुलीयस्य वर्णत्वस्य १० प्रागुक्त्वात्तनेन तस्य द्वित्वं, उरःकः-विसर्गस्यानेन द्वित्वं, अदीर्घस्वरपरत्वात्, रहस्वरभिनवर्णत्वाच्च । गोत्रात्-गोपूर्वात्त्रात्वे के “दूरा-दामभ्यस्य” इति ह्रस्वेनेन द्वित्वं दीर्घेभिरस्वरात् परस्य तस्य । एषुदाहरणेषु अनु ह्रस्वधिकारात् द्वित्वादन्त्यसिन् कार्ये कृते तत्प्रवर्तते, तदाह-अन्वित्यधिकारात् इत्यादिना । अदीर्घादित्यस्य फलं पृच्छति-अदीर्घादिति किम्? वाक्-अत्र कस्य न द्वित्वं विरामे दीर्घस्वरात् पर-२३ स्यात् । इन्द्रः-नस्यानेन न द्वित्वं संयुक्तव्यञ्जने परत्वात् विरामत्वाभावाच्च । दधि-अत्र धस्यानेन न द्वित्वं विरामाकृते, इकारे परे च सति व्यञ्जने परत्वात्तभावेनासंयुक्तव्यञ्जने परत्र सुतरामभावाच्च । “त्रिप्रसृतिषु शाकटायनस्य” पा० ८।१।५०। इति सूत्रयत् पाणिनेर्मतमाह-संयुक्तव्यञ्जनेऽपीच्छत्येके-पाणिन्यादय । शाकटायनमतेऽपि न भवति “न संयोगे” शा० १।१।१११। इति हि तत्सूत्रम् तन्मत उदाहरति-२४ प्रत्तम्-प्रदातुमर्हन्मिलय, “प्राद् दागस्त आरम्भे के” ४।१।७। इत्यनेन के परे दाग तादेशे पश्चादेकेषां मतेऽनेन द्वित्वे तकारचतुष्टय रूपम् । पक्षे-प्रत्तम्-तकारत्रययत्र । तर्प्या-अर्हस्वरस्येत्युक्त्या अत्र न रेफस्य द्वित्वम् । वह्यम्-इत्यनेन न द्वित्वम्, तद्वर्जनात् । तितउ-उकारस्यानेन न द्वित्वं स्वरवर्जनात् । ननु त्वक् इत्यादौ “पदस्य” इति संयोगान्तलोपो कथं न भवतीत्याह-अत एवादेशचलात् इत्यादिना । २५ यदि द्वित्वेऽस्मिन् कृतेऽपि “पदस्य” इति लोपः स्यात्, तथा हि श्रुतिर्नास्ति किं द्वित्वादेशेनेति भावः । पृथ्यदनमित्यादिषु यकारादेश्यानेन द्वित्वे कृते प्रथमत्वादिकं प्रवर्तते हि श्रुतेर्विधाताभावादित्याह-प्रथमत्वादिकं तु इत्यादि । द्वित्वस्य अभावात् प्रथमत्वादिकं न भवत्येव इत्यनयः । यद्यपि त्वक् इत्यत्र “पदस्य” इति संयोगान्तलोपस्यादेशचलादमतेऽपि “संयोगस्यादौ स्कोल्लं” इति लोपः पूर्वकारस्य आगस्तथापि ४२ ककारादन्त्यं द्वित्वश्रुतेर्वारितार्थेऽपि सति पूर्वसादह्रस्वरस्येकानुवृत्त्या तत्र रेफहकाररूपमनुग्रहादानात् “व्यक्तिः पदार्थः स्यादित्ये” तत्र च ककारविपर्ययस्य द्वित्वस्यानर्थक्यं मा भूदिति न भवति ॥ ३२ ॥

## अञ्चवर्गस्यान्तस्थातः ॥ १ । ३ । ३३ ॥

अन्तस्थातः परस्य जकारवर्जितस्य वर्गस्य स्थानेऽनु द्वे रूपे वा भवतः । उल्का, उल्का, वल्मीकः, वल्मीकः, वृक्षव् करोति, वृक्षव् करोति । वर्गस्येति किम् ? सत्यम् । अगिति किम् ? हल्जकारौ । अन्तस्थात इति किम् ? भवान्मधुरः ॥३३॥

## ततोऽस्याः ॥ १ । ३ । ३४ ॥

ततोऽञ्चर्गात् परस्या अस्या अन्तस्थायाः स्थाने द्वे रूपे वा भवतः । दध्यत्र, दध्यत्र, मध्यत्र, मध्यत्र । तत इति किम् ? घात्यम् । अस्या इति किम् ? वाग् जयति ॥ ३४ ॥

## शिटः प्रथमद्वितीयस्य ॥ १ । ३ । ३५ ॥

शिटः परयोः प्रथमद्वितीययोः स्थाने द्वे रूपे वा भवतः । त्वं करोषि, त्वं करोषि, त्वं क्खनसि, त्वं खनसि, कः क्खनति, कः खनति, कः पचति, कः पचति, कङ्कस्खनति, कङ्खनति, कङ्कलति, कङ्कलति, कङ्कलति, कङ्कलति । शिट इति किम् ? भवान् करोति । प्रथमद्वितीयस्येति किम् ? आस्यम् । अनुनासिकादप्यादेशरूपात् केचिदिच्छन्ति-त्वञ्छात्रः, त्वञ्छात्रः इत्यादि ॥ ३५ ॥

## ततः शिटः ॥ १ । ३ । ३६ ॥

ततः-प्रथमद्वितीयाभ्यां परस्य शिटः स्थाने द्वे रूपे वा भवतः । तच्छेते, तच्छेते, पट्षण्डे, षट्षण्डे, तत्साधुः,

१५ अञ्चवर्गस्यान्तस्थातः । अञ्चानु द्वे नया इति चानुवर्तते । अञ्चवर्गस्य-नञ् अञ्, सचासं वर्गस्तस्येति स्थानपट्ठी । अन्तस्थातः-स्त्रीणिान्तस्थातान्तात् “अञ्चार्थिभ्य” ७।३।८५। एति रंगवद्विभक्त्यन्तर्भवत्सत् अन्तस्थात अञ्चवर्गस्य अणु द्वे नया इत्यन्यस्यदर्थमाह-अन्तस्थातः परस्य इत्यादिना । उल्का-उल्कान्तस्थातः परस्य जकारवर्जितवर्गस्य कस्य विभाषया द्वित्वम् । वल्मीकः-मस्थानेन द्वित्वम् ।

१८ सत्यम्-मुनोते “य एकात्” ५।१।२८। इति ये, गुणे, “ध्यक्ये” १।३।२५। इत्यप्यादेशे यस्यानेन न द्वित्वं वर्ग्यत्वाभावात् । हल्जकारौ-जाट् परस्य यन्तावर्गत्वाभावात् द्वित्वम् । भवान्मधुरः-नकारात् परस्य मस्य न द्वित्वम्, तस्य अन्तस्थातः परत्वाभावात् ॥ ३३ ॥

ततोऽस्या । अणु द्वे नया इति चानुवर्तते । तत इति तच्छब्देन “अर्धवर्ग” इति पञ्चमीविपरिणतोऽनुकृत्यते, अन्यथापूर्वैर्न

२१ सिद्धे धृग्वारम्भो निरर्थकः स्यात् । अस्या इति स्त्रीलिङ्गनिर्देशादन्तस्थाया इति पठ्यन्तस्य लाभः, तत्र च तत इत्यस्यान्वयः । तत अस्या अणु द्वे नया इत्यन्यस्यदर्थमाह-ततोऽञ्चर्गात् इत्यादिना । दध्यत्र-अत्राप्यञ्चर्गात् धकारात् परस्या अन्तस्थाया यस्यानेन विकल्पेन द्वित्वम् । नन्यस्मिन्नन्तरं द्वित्वे वर्तमाने “असिद्धं यद्विज्ञमिति” न्यायेन यद्विज्ञो यायादेशः कथञ्चासिद्धो भवति ? न चास्य योगस्य वैयर्थ्यम्, न्याय-

२४ मित्यादायनादेशरूपे यादौ तस्य मायकाशत्वात् इति चेत्, सत्यम्, “न सधिलीयकद्विर्धौसधियावस्तुकि” ७।४।१११। इत्युत्पन्नस्य द्वित्वस्य सधिविधित्वेन स्थानिवत्त्वप्रतिषेधे सिद्धे द्विपदशम्, “असिद्धं यद्विज्ञमन्तरो” इति न्यायस्य बाधनार्थमिति द्वित्वमुपपद्यते । ननु दध्यत्र इत्यादौ

तत्कारात् परस्य स्य कस्मात् द्वित्वमिति चेदर्थस्येलाधिकारादस्य च वर्जितत्वाददोषः । क्लाम्यतीत्यादौ ककारात् परस्य लस्यानेन द्वित्वं भवति तस्या-

२७ वर्जनादितिभावः । घात्यम्-घालस्य भावः कर्म वा इत्यर्थः, “पतिराजान्तगुणाप्रराजादिभ्यः कर्मणि च” ७।१।६०। इति व्यञ्जः, लाट् परस्य

यस्यानेन न द्वित्वं लस्य वर्ग्यत्वाभावात् । वाग् जयति-अत्रान्तस्थाया अभावाद्वित्वज्ञानेन भवति ॥ ३४ ॥

शिटः प्रथमद्वितीयस्य । द्वे नया इति चानुवर्तते । शिट इति पञ्चमी, प्रथमद्वितीयस्य-समाहारद्वन्द्वान्त्वम्, शिटः प्रथम-

३० द्वितीयस्य द्वे नया इत्यन्यस्य, तदर्थमाह-शिटः परयोः इत्यादिना । त्वं करोषि-अत्र त्वमो मकारस्य “तौ मुमो व्यञ्जने खौ” इत्यनुस्वारः,

तस्याच्च शिटन्तर्गात् परस्य प्रथमस्य कस्यानेन वैकल्पिकं द्वित्वम् । त्वं क्खनसि-अत्रानेन खस्य द्वित्वे “अधोपे प्रथमोऽशिटः” इति खकारस्य

ककारः । एवमन्यत्रापि । भवान् करोति-नकारस्य शिटत्वाभावेन तत परस्य कस्यानेन न द्वित्वम् । आस्यम्-अस्यत इति ध्यणि रूपम्,

३३ तत्र सकारात् परस्य यस्य प्रथमद्वितीयत्वाभावेनानेन द्वित्वं न भवति । यथा “तौ मुमो व्यञ्जने” इत्यनेन यत्रानुस्वारस्वाच्च “शिटः प्रथमद्वितीयस्य” द्वित्वं भवति, तथा तेन यत्रानुनासिकादेशस्तस्मादपि प्रथमद्वितीयस्य द्वित्वमिच्छता प्राचां मतमुपन्यस्यति-अनुनासिकादप्यादेश-

रूपात् केचिदिच्छन्तीति । केचित्-शाकटायनादय इति लघुन्यासकारः । वस्तुतस्तु-शाकटायनीये द्वित्वप्रकरणे “ख्यु खय हारि वा”

३६ शा० १।१।११४।, “शरोऽनु द्वे” शा० १।१।११५।, “यको मय” शा० १।१।११६।, “अचो होऽहच” शा० १।१।११७।, “अदीर्घाच्च” शा०

१।१।११८। इत्येव सूत्रपाठः । पाणिनीयतन्त्रे माहेश्वरेण सूत्रेष्वधमात्रातानां विसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीयानुस्वारनासिक्ययमानामयोगवाह-

३९ पदाभिधेयानामद्वयं पार्थु च पाठस्योपसंख्यातत्वेन तेषामन्वयेन “अनचि च” पा० ८।४।४७। इति सूत्रेण द्वित्वं सम्भवति “हयवरट्” शि० ५। सूत्र-

४२ भाष्यपर्यालोचनया, किन्तु अकारस्यानुनासिकस्याच्च भविष्यतीति । तथैव त्वञ्छात्रः इत्यत्र भगवद्भक्त्यन्तर्भावानुशासनेन द्वित्वाभावः

स्पष्ट एव । शाकटायनसूत्रेण “अदीर्घाच्च” इत्यनेन यदि अकारस्याच्च सति तत परस्य छस्य द्वित्वं विधीयेत, परन्त्वच्चमेव दुर्लभमिति तन्म-

वेऽपि छस्य द्वित्वं न भवति । पाणिनीयेऽपि अनुस्वारानुनासिकानामयोगवाहानां शरि अटि च पाठः, अस्य त्वनुनासिकस्य इति पाठः, तथाच

४२ तन्मतेऽपि छस्य द्वित्वं न भवतीति प्राचो मतविशेषः पूर्वोक्तं सम्भाव्यते ॥ ३५ ॥

ततः शिटः । अत्र द्वे नया इति चानुवर्तते । ततः शिट द्वे नया इत्यन्यस्य । ततः-ताभ्यामिति तच्छब्देन पञ्चमीविपरिणतो

प्रथमद्वितीयो अनुकृत्यते । शिट इति स्थानपट्ठी । यद्यपि “अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम” इति न्यायेन पूर्वसूत्रस्यशिटः पञ्चम्यन्तस्थात्र पठ्यन्तत्वेन

४५ विपरिणामेऽपि न्यायोऽयमसर्वत्रिक इति भगवदुक्त्या प्रतीयते, तदर्थमाह-ततः प्रथमद्वितीयाभ्यां इत्यादिना । तच्च श्रेते-तद् श्रेते

इति स्थिते, “धुटस्तुतीय” इति दकारस्य दकारः, ततो दकारस्य “तवर्गस्य” इति जकारः, “अधोपे प्रथमोऽशिटः” इति प्रथमत्वे, तच्च श्रेते इत्य-

वत्सायां वर्गप्रथमात् जाट् परस्य शिटः कस्य विभाषया द्वित्वम् । षट्षण्डे-जाट् परस्य कस्यानेन द्वित्वम् । तत्साधुः-तकारात् परस्य

तत्साधुः, वत्सः, वत्सः, क्धीरम्, क्षीरम्, अप्सराः, अप्सराः । तत इति किम् ? भवान् साधुः । शिट इति किम् ? मथ्याति, ख्याति ॥ ३६ ॥

न रात् खरे ॥ १ । ३ । ३७ ॥

३

रात् परस्य शिटः स्थाने खरे परे द्वे रूपे न भवतः । दर्शनम्, विमर्शः, कर्षति, वर्पति, वृत्त्या इदं वांसम्; कृत्स-  
राया इदं कांसरम् । रादिति किम् ? तच्छेते, पट्षण्डे; वत्सः । खर इति इति किम् ? कश्चर्यते, वर्ण्यते । शिट  
इत्येव ? अर्कः, वर्चः । “हर्दहर्खरस्या०” ॥ १ । ३ । ३१ ॥ इति विकल्पे प्राप्ते प्रतिषेधः ॥ ३७ ॥

५

पुत्रस्याऽऽदिनपुत्रादिन्याऽऽक्रोशे ॥ १ । ३ । ३८ ॥

आदिनशब्दे पुत्रादिनशब्दे च परे पुत्रशब्दसवन्धिनस्तकारस्याऽऽक्रोशविषये द्वे रूपे न भवतः । “अदीर्घाद् विरामैक-  
व्यञ्जने” ॥ १ । ३ । ३२ ॥ इति विकल्पे प्राप्ते प्रतिषेधः । पुत्रादिनि त्वमसि पापे, पुत्रपुत्रादिनी भव । आदिनपुत्रादि-  
नीति किम् ? पुत्रहती, पुत्रहती; पुत्रजग्धी, पुत्रजग्धी; “अनाच्छादजात्यादेर्नवा” ॥ २ । ४ । ४७ ॥ इति वा डी ।  
आक्रोश इति किम् ? पुत्रादिनी शिशुमारी, पुत्रादिनीति वा; पुत्रपुत्रादिनी नागी, पुत्रपुत्रादिनीति वा ॥ ३८ ॥

भ्रां धुद्वर्गेऽन्त्योऽपदान्ते ॥ १ । ३ । ३९ ॥

१२

अन्विति वर्तते, अपदान्ते वर्तमानानां मकारनकाराणां धुद्वर्गके वर्गे परे प्रत्यासत्तेर्निमित्तवर्गसैवान्त्योऽनु भवति ।  
म्-गन्ता, गन्तुम्, न-शङ्किता, शङ्कितुम्, अञ्चिता, अञ्चितुम्, कुण्ठिता, कुण्ठितुम्, नन्दिता, नन्दितुम्, कम्पिता,

सस्य द्वित्वम् । वत्सः-सस्य द्वित्व पूर्ववत् । क्धीरम्-अत्र कात् परस्य पत्य द्वित्वम्, “शिव्यायस्य०” इति खत्वे-अयोरमिल्यपि भवति । १५  
अप्सराः-अत्र पकारात् परस्य सस्य द्वित्वम् । अप्सराः-अत्र “शिव्यायस्य द्वितीयो वा” १।३।५९। इति पकारस्य फकारे कृते द्वितीयादपि सस्य  
द्वित्वे अप्सरा इत्यपि भवति । भवान् साधुः-वर्गपद्यमात् नकारात् परस्य सस्य द्वित्व न, तस्य वर्गप्रथमद्वितीयत्वाभावात् । मथ्याति-  
‘मथ्यश्’ विलोढने, तिबि, “न्यादे” ३।४।७९। इति आप्रत्यये, “नोव्यञ्जनस्यानुदित” ४।२।४५। इति नलोपे, नस्य द्वितीयात् परत्वेऽपि शिट्-१८  
त्वाभावाच्च द्वित्वम् ॥ ३६ ॥

न रात् खरे । शिट द्वे इति चानुवर्तते, रात् शिट खरे न द्वे इत्यन्वयः, तदाह-रात् परस्य इत्यादिना । दर्शनम्-‘दृश’  
प्रेक्षणे, घातो करणे आधारे वाऽनटि भवति, तत्र “हर्दहर्खरस्य०” इत्यनेन खरात् परो यो रेफलस्य परस्य अर्हखरस्य वर्णस्य शस्य द्वित्व प्राप्त-२१  
सम्पन्नेन रात् परस्य शस्य द्वित्व खरे परे निमित्त्यते । एवमन्यत्रापि । तच्छेते-अत्र शिट शस्य खरपरकत्वेऽपि रात् परत्वस्याभावाच्च द्वित्व-  
प्रतिषेधः, किञ्च पूर्वेण द्वित्वम् । कश्चर्यते-‘कृश’घातोर्गौ, गुणे तेप्रत्यये, “क्य शिति” ३।४।७०। इति क्ये, “णित्ति” ४।३।८३। इति  
णिङ्कि, अस्य द्वित्वविधौ स्थानिचद्वावप्रतिषेधे, शस्य रेफात् परत्वेऽपि खरपरकत्वाभावाच्च द्वित्वप्रतिषेधः, किन्तु “हर्दहर्खरस्या०” इति द्वित्वम् । २४  
अर्कः-अत्र नानेन द्वित्वप्रतिषेधः, शिटोऽभावात् । द्वित्वप्रतिषेधस्यास्य प्रातिपूर्वकत्वं दर्शयति-“हर्दहर्खरस्या०” इति विकल्पे प्राप्ते  
इत्यादि । प्रतिषेधः-“न रात् खरे” इत्यनेनेति शेषः ॥ ३७ ॥

पुत्रस्याऽऽदिनपुत्रादिन्याऽऽक्रोशे । अत्र द्वे न इति चानुवर्तते, आदिनपुत्रादिनि पुत्रस्य आक्रोशे द्वे न इत्यन्वयः, तदर्थमाह-आदि-२७  
नशब्दे पुत्रादिनशब्दे च इत्यादिना । अत्र “नात्रोऽनोऽनह” २।१।९९। इति लक्षणेन नकारान्तताभिष्यत्तयर्थं नलोपो भगवता कृषिकृता न  
कृत । निषेधस्य प्रातिपूर्वकत्वं दर्शयति-“अदीर्घाद् विरामैकव्यञ्जने” १।३।३२। इति । औष्वाक्रोशः प्रायेण प्रवर्तत इति औलिङ्गमुदाहरति-  
पुत्रादिनी त्वमसि पापे-पुत्रानति तच्छीला पुत्रादिनी, “अजाते शीले” ५।१।५४। इति णिनि, “श्रियां द्यतोऽल्लस्यदेर्वा” २।४।१। इति ३०  
डीप्रत्ययः, हे पापे ! त्व पुत्रादिनी इत्यन्वयः पुत्रघातिनीत्यर्थः । पाप विधत्ते अस्या इत्यभ्रादित्वादिति “एवाप” १।४।४९। इत्येकारे-पापे इति ।  
पापस्वभावेनात्रसोपधन न तु पुत्रादित्वेनेति । पुत्र पुत्रादिनी भव-पुत्राणां पुत्रा पुत्रपुत्रास्ताव अस्तीति पूर्ववत् णिनि पुत्रपुत्रादिनी, सूत्रे  
आदिनपुत्रादिनीतुपादानेऽपि “नामग्रहणे लिङ्गिनिशिष्टस्य ग्रहणम्” इति न्यायात् श्रियामुदाहृतम् । औवत् पुरोऽपि पुत्रादनेनाऽऽक्रोशसम्भवे इ३  
तत्रापि प्रतिषेधो भवत्येव पुत्रादी भव इति । पुत्रहती-तकारादित्वे रूपम्, पुत्रो हतो ययेति विग्रहः । एव पुत्रजग्धी-अचते स्तेति के “यपि  
चादो जग्धु” ४।४।१६। इति जग्धादेशे, “अथयजुर्था०” २।१।७९। इति कस्य घत्वे, “तृतीयस्तृतीयचतुर्थे” १।३।४९। इति घस्य तृती-  
यत्वे, तस्य च “धुयो धुति खे वा” १।३।४८। इति दस्य पाङ्क्ति लोपे, तत पुत्रशब्देन बहुव्रीहिसमासो भवति । तत्र डीप्रत्ययविधायक इ३  
योगमाह-“अनाच्छाद०” इति । आक्रोशे इति किम्-आक्रोश इत्यस्य किं प्रयोजनमित्यर्थः । पुत्रादिनी शिशुमारी-अत्राऽऽक्रोश-  
प्रतीतेर्वस्तुस्थितिकथने न द्वित्वप्रतिषेधः, निष्कृत मारयती “कर्मणोऽण्” ५।१।७२। इत्यणि, कथा शिशुमारी । नागी-“जातेरयान्त०”  
२।४।५४। इति डी ॥ ३८ ॥

भ्रां धुद्वर्गेऽन्त्योऽपदान्ते । अत्र इत्यधिक्रियते, तदाह-अन्विति वर्तते । अपदान्ते भ्रां धुद्वर्गे अन्त्य अनु इत्यन्वयः,  
तदर्थमाह-अपदान्ते वर्तमानानां इत्यादि । अत्र स्थानिनिमित्तयो प्रत्यासत्तेः अपि स्थानिनोर्मकारनकारयोरन्त्यत्वाभावादन्त्यशब्दस्य च  
सपेक्षत्वाभिहितसैवान्त्यो गम्यत इत्याह-प्रत्यासत्तेर्निमित्तवर्गसैव इति । गन्ता, गन्तुम्-‘गम्ल्’ गती, घातोस्तुच्चुन्प्रत्ययौ तत्र नकारस्या-४२  
पदान्तत्वात् नकारः । शङ्किता, शङ्कितुम्-‘शङ्कु’ शङ्काया, घातोस्तुच्चुन्प्रत्ययौ तत्र “उदित खराञ्चोत्त” ४।४।९८। इति नकारागमस्या-

१९





तत्साधुः, वत्सः, वत्सः, कर्पीरम्, क्षीरम्, अप्सराः, अप्सराः । तत इति किम्? भवान् साधुः । शिट इति किम्? मय्नाति, ख्याति ॥ ३६ ॥

न रात् खरे ॥ १ । ३ । ३७ ॥

रात् परस्य शिटः स्थाने खरे परे द्वे रूपे न भवतः । दर्शनम्, विमर्शः, कर्पति, वर्पति, वृष्या इदं वांसम्; कृस-  
राया इदं कार्सम् । रादिति किम्? तच्छेते, पट्पण्डे; वत्सः । खर इति इति किम्? कर्ष्यते, वर्प्यते । शिट  
इत्येव? अर्कः, वर्चः । “हृदहंखरस्या” ॥ १ । ३ । ३१ ॥ इति विकल्पे प्राप्ते प्रतिषेधः ॥ ३७ ॥

पुत्रस्याऽऽदिन्पुत्रादिन्याऽऽक्रोशे ॥ १ । ३ । ३८ ॥

आदिन्शब्दे पुत्रादिन्शब्दे च परे पुत्रशब्दसवन्विनस्तकारस्याऽऽक्रोशविषये द्वे रूपे न भवतः । “अदीर्घाद् विरामैक-  
व्यञ्जने” ॥ १ । ३ । ३२ ॥ इति विकल्पे प्राप्ते प्रतिषेधः । पुत्रादिनि त्वमसि पापे, पुत्रपुत्रादिनी भव । आदिन्पुत्रादि-  
नीति किम्? पुत्रहृती, पुत्रहृती; पुत्रजग्धी, पुत्रजग्धी; “अनाच्छादजालादेर्नवा” ॥ २ । ४ । ४७ ॥ इति वा डी ।  
आक्रोश इति किम्? पुत्रादिनी शिशुमारी, पुत्रादिनीति वा, पुत्रपुत्रादिनी नागी, पुत्रपुत्रादिनीति वा ॥ ३८ ॥

आं धुङ्वर्गेऽन्योऽपदान्ते ॥ १ । ३ । ३९ ॥

अन्विति वर्तते, अपदान्ते वर्तमानानां मकारनकाराणां धुङ्संज्ञके वर्गे परे प्रत्यासत्तेर्निमित्तवर्गस्यैवान्योऽनु भवति ।  
म्-गन्ता, गन्तुम्, न-शङ्किता, शङ्कितुम्, अन्विता, अन्वितुम्, कुण्ठिता, कुण्ठितुम्, नन्दिता, नन्दितुम्, कम्पिता,

सस्य द्वित्वम् । वत्सः-सस्य द्वित्व पूर्ववत् । कर्पीरम्-अत्र कात् परस्य पत्य द्वित्वम्, “शिव्यायस्य” इति खत्वे-व्यौरमेल्यपि भवति । १५  
अप्सराः-अत्र पकारात् परस्य सस्य द्वित्वम् । अप्सराः-अत्र “शिव्यायस्य द्वितीयो वा” १।३।५९। इति पकारस्य फकारे कृते द्वितीयादपि सस्य  
द्वित्वे अप्सरा इत्यपि भवति । भवान् साधुः-वर्गपञ्चमात् नकारात् परस्य सस्य द्वित्वं न, तस्य वर्गप्रथमद्वितीयत्वाभावात् । मय्नाति-  
“मन्वश्” विलोचने, तिवि, “क्यादे” ३।४।७९। इति आग्रस्ये, “नो व्यञ्जनस्यानुदित” ४।१।४५। इति नलोपे, नस्य द्वितीयात् परत्वेऽपि शिट्-  
त्वाभावात् द्वित्वम् ॥ ३६ ॥

न रात् खरे । शिट द्वे इति चानुवर्तते, रात् शिट खरे न द्वे इत्यन्वयः, तदाह-रात् परस्य इत्यादिना । दर्शनम्-‘दृग्’  
प्रेक्षणे, घातो करणे आधारे वाऽनटि भवति, तत्र “हृदहंखरस्या” इत्यनेन खरात् परे यो रेफत्सत्वात् परस्य अर्हत्वरस्य वर्गस्य शस्य द्वित्वं प्रातः २  
अप्यनेन रात् परस्य शस्य द्वित्वं खरे परे निषिध्यते । एवमन्यत्रापि । तच्छेते-अत्र शिट शस्य खरपरकत्वेऽपि रात् परत्वस्माभावात् द्वित्व-  
प्रतिषेधः, किंतु पूर्वं द्वित्वम् । कर्ष्यते-‘कृष्’ घातोर्णौ, गुणे तेष्वस्ये, “क्य शिति” ३।४।७०। इति क्ये, “गेरानिटि” ४।३।८३। इति  
गिष्ठिके, अस्य द्वित्वविधौ स्थानिवद्भावप्रतिषेधे, शस्य रेफात् परत्वेऽपि खरपरकत्वाभावात् द्वित्वप्रतिषेधः, किन्तु “हृदहंखरस्या” इति द्वित्वम् । २४  
अर्कः-अत्र नानेन द्वित्वप्रतिषेधः, शिटोऽभावात् । द्वित्वप्रतिषेधस्यास्य प्रातिपूर्वकत्वं दर्शयति-“हृदहंखरस्या” इति विकल्पे प्राप्ते  
इत्यादि । प्रतिषेधः-“न रात् खरे” इत्यनेनेति शेषः ॥ ३७ ॥

पुत्रस्याऽऽदिन्पुत्रादिन्याऽऽक्रोशे । अत्र द्वे न इति चानुवर्तते, आदिन्पुत्रादिनि पुत्रस्य आक्रोशे द्वे न इत्यन्वयः, तदयमाह-आदि- २७  
नशब्दे पुत्रादिन्शब्दे च इत्यादिना । अत्र “नाज्ञोऽनोऽनह” २।१।९। इति लक्षणानेन नकारान्तताभिन्नव्ययं नलोपो भगवता वृत्तिरुक्ता न  
कृत । निषेधस्य प्रातिपूर्वकत्वं दर्शयति-“अदीर्घाद् विरामैकव्यञ्जने” १।३।३२। इति । औष्वाक्रोशः प्रायेण प्रचलति इति क्रीडिन्मुदाहरति-  
पुत्रादिनी त्वमसि पापे-पुत्रादिनी तच्छीला पुत्रादिनी, “अजाते स्त्रीले” ५।१।१५। इति णिनि, “त्रिषां वृत्तोऽस्तत्तादेर्वा” २।४।१। इति ३०  
औप्रत्ययः, हे पापे ! त्वं पुत्रादिनी इत्यन्वयः पुत्रघातिनीत्यर्थः । पापं विद्यते अस्या इत्यप्रादित्वादिति “एदाप” १।४।४२। इत्येकारे-पापे इति ।  
पापस्माभावेनानुसन्धेयं न तु पुत्रादित्वेनेति । पुत्र पुत्रादिनी भव-पुत्राणां पुत्रा पुत्रपुत्रात्वात् अतीति पूर्ववत् णिनि पुत्रपुत्रादिनी, सूत्रे  
आदिन्पुत्रादिनीत्युपादानेऽपि “नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्य ग्रहणम्” इति न्यायात् त्रिषामुदाहृतम् । औष्वत् पुत्रोऽपि पुत्रादनेनाऽऽक्रोशसम्भवे ३३  
तत्रापि प्रतिषेधो भवत्येव पुत्रादी भव इति । पुत्रहृती-तकारद्वित्वे रूपम्, पुत्रो हतो व्येति विग्रहः । एव पुत्रजग्धी-अद्यते स्मेति के “अपि  
चादो जाव” ४।१।९६। इति जगवादेशे, “अथयनुर्था” २।१।७९। इति कस्य घत्वे, “तृतीयस्तृतीयचतुर्थे” १।३।४९। इति घस्य वृत्ती-  
यत्वे, तस्य च “धुतो धुति ले वा” १।३।४८। इति दस्य पाक्षिके लोपे, ततः पुत्रशब्देन बहुव्रीहिसमासो भवति । तत्र औप्रत्ययविधायक ३६  
योगमाह-“अनाच्छाद” इति । आक्रोशे इति किम्-आक्रोश इत्यस्य किं प्रयोजनमित्यर्थः । पुत्रादिनी शिशुमारी-अत्राऽऽक्रोशा-  
प्रतीतेर्वैतुस्थितिकथने न द्वित्वप्रतिषेधः, शिशून् मारयती “कर्मणोऽण्” ५।१।७२। इत्यणि, ज्या शिशुमारी । नागी-“जातेरयान्त”  
२।४।५४। इति जी ॥ ३८ ॥

आं धुङ्वर्गेऽन्योऽपदान्ते । अनु इत्यधिक्ये, तदाह-अन्विति वर्तते । अपदान्ते आ धुङ्वर्गे अन्य अनु इत्यन्वयः,  
तदयमाह-अपदान्ते वर्तमानानां इत्यादि । अत्र स्थानिनिमित्तयो प्रत्यासत्तत्वेऽपि स्थानिनोर्नकारनकारयोरन्यत्वाभावाद्दन्त्यशब्दस्य न  
सामेधत्वाविमित्तस्यैवान्यो गम्यत इत्याह-प्रत्यासत्तेर्निमित्तवर्गस्यैव इति । गन्ता, गन्तुम्-‘गम्ल’ गतौ, घातोस्तुच्युत्प्रत्ययौ तत्र मकारस्या- ४२  
पदान्तत्वात् नकारः । शङ्किता, शङ्कितुम्-‘शङ्’ शङ्कायां, घातोस्तुच्युत्प्रत्ययौ तत्र “उदित खराक्रोश” ४।१।९८। इति नकारागमस्या-

## अञ्चवर्गस्याऽन्तस्थातः ॥ १ । ३ । ३३ ॥

अन्तस्थातः परस्य अकारवर्जितस्य वर्गस्य स्थानेऽनु द्वे रूपे वा भवतः । उल्का, उल्का, वल्मीकः, वल्मीकः, वृक्षः  
३ करोति, वृक्षः करोति । वर्गस्येति किम् ? सव्यम् । अजिति किम् ? हल्ङकारौ । अन्तस्थात इति किम् ? भवान्मधुरः ॥३३॥

## ततोऽस्याः ॥ १ । ३ । ३४ ॥

ततोऽञ्चवर्गात् परस्या अस्या अन्तस्थायाः स्थाने द्वे रूपे वा भवतः । दध्यत्र, दध्यत्र, मध्वत्र, मध्वत्र । तत इति  
५ किम् ? वाल्यम् । अस्या इति किम् ? वाग् जयति ॥ ३४ ॥

## शिटः प्रथमद्वितीयस्य ॥ १ । ३ । ३५ ॥

शिटः परयोः प्रथमद्वितीययोः स्थाने द्वे रूपे वा भवतः । त्वं करोषि, त्वं करोषि, त्वं क्वनसि, त्वं खनसि, कः  
९ क्वनति, कः खनति, कः पचति, कः पचति, कः क्वनति, कः क्वनति, कः क्वलति, कः क्वलति, कः क्वरति  
कः क्वरति, कः क्वच्छादयति, कः क्वच्छादयति; कः क्वीकते, कः क्वीकते, कः क्वकारः, कः क्वकारः, स्थाली, स्थाली, स्फीता, स्फीता । शिट  
इति किम् ? भवान् करोति । प्रथमद्वितीयस्येति किम् ? आस्यम् । अनुनासिकादप्यादेशरूपात् केचिदिच्छन्ति—त्वञ्छात्रः,  
१२ त्वञ्छात्रः इत्यादि ॥ ३५ ॥

## ततः शिटः ॥ १ । ३ । ३६ ॥

ततः—प्रथमद्वितीयाभ्यां परस्य शिटः स्थाने द्वे रूपे वा भवतः । तच्छेते, तच्छेते, षट्षण्डे, षट्षण्डे, तत्साधुः,

१५ अञ्चवर्गस्यान्तस्थातः । अत्रानु द्वे नवा इति चानुवर्तते । अञ्चवर्गस्य—नञ् अञ्च, सचासौ वर्गस्तथेति स्थानपट्टी । अन्तस्थातः—

ज्जीलिज्ञान्तस्याशब्दात् “आद्यादिभ्यः” ७।१।८४ इति सभवाद्बिभक्त्यन्तेभ्यस्तस्य अन्तस्थात अञ्चवर्गस्य अनु द्वे नवा इत्यन्वयस्तदर्थमाह—

अन्तस्थातः परस्य इत्यादिना । उल्का—लरूपान्तस्थात परस्य अकारवर्जितवर्गस्य कस्य विभाषया द्वित्वम् । वल्मीकः—मस्यानेन द्वित्वम् ।

१८ सव्यम्—मुनोते “य एषात्” ५।१।२८ इति ये, गुणे, “ध्यक्ये” १।१।२५ इत्यादेशो यस्यानेन न द्वित्वं वर्ग्यत्वाभावात् । हल्ङकारौ—लाट्

परस्य अस्याञ्चवर्गत्वाभावाच्च द्वित्वम् । भवान्मधुरः—नकारात् परस्य मस्य न द्वित्वम्, तस्य अन्तस्थात परत्वाभावात् ॥ ३३ ॥

ततोऽस्याः । अनु द्वे नवा इति चानुवर्तते । तत इति तच्छब्देन “अञ्चवर्गः” इति पञ्चमीविपरिणतोऽनुकृष्यते, अन्यथापूर्वैर्णैव

२१ सिद्धे पृथगारम्भो निरर्थकः स्यात् । अस्या इति ज्जीलिज्ञानिर्देशान्तस्थाया इति षष्ठ्यन्तस्य लाभः, तत्र च तत इत्यस्यान्वयः । तत अस्या

अनु द्वे नवा इत्यन्वयस्तदर्थमाह—ततोऽञ्चवर्गात् इत्यादिना । दध्यत्र—अत्राञ्चवर्गात् धकारात् परस्या अन्तस्थाया यस्यानेन विकल्पेन

२४ द्वित्वम् । नन्वस्मिन्नन्तरङ्गे द्वित्वे कर्तव्ये ‘असिद्धं बहिरङ्गमिति’ न्यायेन बहिरङ्गो याथादेशः कथञ्चासिद्धो भवति ? न चास्य योगस्य वैयर्थ्यम्, ध्यान-

२४ मित्यादावनदेशरूपे यादौ तस्य सावकाशत्वात् इति चेत्, सत्यम्, “न सधिवीयकिद्विरीर्षासद्विधावस्त्वकि” ७।४।१११ इत्युत्पन्नस्य द्वित्वस्य

२४ सधिविधित्वेन स्थानिवत्प्रतिषेधे सिद्धे द्विग्रहणम्, ‘असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे’ इति न्यायस्य बाधनायैमिति द्वित्वमुपपद्यते । ननु दध्यत्र इत्यादौ

२४ तकारात् परस्य रस्य कस्माच्च द्वित्वमिति चेदहंस्वरसेल्यधिकारादस्य च वर्जितत्वाददोषः । क्लृप्त्यतीत्यादौ ककारात् परस्य लस्यानेन द्वित्वं भवति तस्या-

२४ वर्जनादिति भावः । वाल्यम्—वालस्य भावः कर्म वा इत्यर्थः, “पतिराजान्तगुणाज्जराजादिभ्यः कर्मणि च” ७।१।६० इति व्ययः, लाट् परस्य

यस्यानेन न द्वित्वं लस्य वर्ग्यत्वाभावात् । वाग् जयति—अत्रान्तस्थाया अभावाद्वित्वज्ञानेन भवति ॥ ३४ ॥

शिटः प्रथमद्वितीयस्य । द्वे नवा इति चानुवर्तते । शिट इति पञ्चमी, प्रथमद्वितीयस्य—समाहारद्वन्द्वान्चस्य, शिटः प्रथम-

३० द्वितीयस्य द्वे नवा इत्यन्वयः, तदर्थमाह—शिटः परयोः इत्यादिना । त्वं करोषि—अत्र त्वनो मकारस्य “तौ मुनो व्यञ्जने स्त्रौ” इत्यनुसारे,

तस्माच्च शिष्ठान्तर्गतात् परस्य प्रथमस्य कस्यानेन वैकल्पिकं द्वित्वम् । त्वं क्वनसि—अत्रानेन स्वस्य द्वित्वे “अघोषे प्रथमोऽशिटः” इति खकारस्य

ककारः । एवमन्यत्रापि । भवान् करोति—नकारस्य शिष्टत्वाभावेन ततः परस्य कस्यानेन न द्वित्वम् । आस्यम्—अस्यत इति ध्यणि रूपम्,

३३ तत्र सकारात् परस्य यस्य प्रथमद्वितीयत्वाभावेनानेन द्वित्वं न भवति । यथा “तौ मुनो व्यञ्जने” इत्यनेन यत्रानुस्वारस्वसाच्च “शिटः प्रथमद्विती-

यस्य” द्वित्वं भवति, तथा तेन यत्रानुनासिकादेशस्तस्मादपि प्रथमद्वितीयस्य द्वित्वमिच्छता प्राचा मतमुपन्यस्यति—अनुनासिकादप्यादेश-

रूपात् केचिदिच्छन्तीति । केचित्—शाकटायनादय इति लघुन्यासकारः । वस्तुतस्तु—शाकटायनीये द्वित्वप्रकरणे “स्त्र्यं स्त्र्यं शरि वा”

३६ शा० १।१।१४१, “शरोऽनु द्वे” शा० १।१।१५१, “यस्य मय” शा० १।१।१६१, “अघो होऽह च” शा० १।१।१७१, “अवीर्षात्” शा०

१।१।१८१ इत्येव सूत्रपाठः । पाणिनीयतन्त्रे माहेश्वरेषु सूत्रेष्वसमाज्जितानां विसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीयाऽनुस्वारनासिकययमानामयोगवाह-

३६ पदाभिधेयानामदस्य शर्तुं च पाठस्योपसंख्यातत्वेन तेषामचवेन “अनञ्चि च” पा० ८।४।४७ इति सूत्रेण द्वित्वं सभवि “हयवट्” शि० ५ । सूत्र-

३६ पाठस्योपसंख्यानया, किन्तु अकारस्यानुनासिकस्याच्च भवितुं नार्हति । तथैव त्वञ्छात्रः इत्यत्र भगवद्धेमचन्द्रशब्दानुशासनेन द्वित्वाभावः

स्पष्ट एव । शाकटायनसूत्रेण “अवीर्षात्” इत्यनेन यदि अकारस्याच्च सति ततः परस्य छस्य द्वित्वं विधीयते, परन्त्वच्यमेव दुर्लभमिति तन्म-

तेऽपि छस्य द्वित्वं न भवति । पाणिनीयेऽपि अनुस्वारानुनासिकानामयोगवाहानां शरि अटि च पाठः, यस्य त्वनुनासिकस्य हलि पाठः, तथाच

४२ तन्मतेऽपि छस्य द्वित्वं न भवतीति प्राचो मतविशेषः पूर्वोक्तं सभाव्यते ॥ ३५ ॥

ततः शिटः । अत्र द्वे नवा इति चानुवर्तते । ततः शिट द्वे नवा इत्यन्वयः । ततः—ताभ्यामिति तच्छब्देन पञ्चमीविपरिणती

प्रथमद्वितीयौ अनुकृष्येते । शिट इति स्थानपट्टी । यद्यपि ‘अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामः’ इति न्यायेन पूर्वसूत्रस्थशिटः पञ्चम्यन्तस्यात्र षष्ठ्यन्तत्वेन

४५ विपरिणामेऽपि न्यायोऽयमसावैयर्थिक इति भगवदुक्त्या प्रतीयते, तदर्थमाह—ततः प्रथमद्वितीयाभ्यां इत्यादिना । तच्च श्रेते—तद् श्रेते

इति स्थिते, “धुट्स्त्वृतीयः” इति दकारस्य दकारे, ततो दकारस्य “तवर्गस्य” इति जकारे, “अघोषे प्रथमोऽशिटः” इति प्रथमत्वे, तच्च श्रेते इत्य-

वस्याया वर्गप्रथमात् चाट् परस्य शिटः क्षस्य विभाषया द्वित्वम् । षट्षण्डे—टाट् परस्य पस्यानेन द्वित्वम् । तत्साधुः—तकारात् परस्य

## रो रे लुग् दीर्घश्चादिदुतः ॥ १ । ३ । ४१ ॥

अपदान्त इति नातुवर्तते, रेफस्य रेफे पो लुग् भवति; अकारोकाराणां चानन्तराणां दीर्घो भवति । पुनरस्मते, प्राता रैति, अशी रथेन, नीरक्तम्, दूरक्तम्, पद्म राजा, उच्चै रैति । अन्वित्येव ? अहोरूपम्—अत्र पूर्वमेव रोस्त्वे, रेफा- ३ भावालुग्दीर्घाभावः सिद्धः ॥ ४१ ॥

## दस्तह्दे ॥ १ । ३ । ४२ ॥

तन्निमित्तो दस्तह्दः, ढकारस्य तद्धे परेऽनु लुग् भवति; अकारोकाराणां च दीर्घो भवति । महतेः तौ माहिः, ६ लीडम्, मीढम्, गूढम्, तद्धे इति किम् ? मधुलिङ्गं लोक्ते—नायं लुप्यमानढकारनिमित्तो ढः, एवं चकृद्धे, लुलुबिद्धे इत्यादावपि ढकारस्य द्वित्वे सति ढकारयोर्निमित्तनिमित्तभावो नास्तीति लुग् न भवति । अदिदुत इत्येव ? आतुढम्, आवु- ६ ढम् । अन्वित्येव ? लेढा, मोढा—अत्र गुणे कृते, पश्चात् ढलोपः, अन्यथा हि पूर्वमेव ढलोपे दीर्घं च लीडा मूढेत्यनिष्ट ६ रूपं स्यात् ॥ ४२ ॥

रो रे लुग् दीर्घश्चादिदुतः । रो रे लुक् च अदिदुत दीर्घ इत्यन्वयः । अत्र इयं उभय इत्येवो सभाहारद्वन्द्वान्तरम् । नन्वत्रापदान्त इत्यनुवर्तते तदा अजयो अपास्या अचोद्ध अचारा अचका अपाया इत्यादिष्वेव सूत्रं प्रवर्तते न सारान्तरमित्यादी इति चेत्, सत्यं, सूत्रे १२ अदिदुत इत्यत्र इदमहणान्तर्गतवृत्ते । न हीकारात् परस्य रेफस्य रेफेऽपदान्ते सभजोऽस्ति यथा—अग्नी रथेन, नीरक्तम् इत्यादी । अकारो काराभ्या परस्य रेफस्य हि रेफेऽपदान्ते पदान्ते च सभजं यथा—अजयो, अचोद्ध, पुनारस्मते, दूरक्तमित्यादी । इत्यं च सर्वलक्ष्यपर्यालोचनया पदान्तेऽपदान्ते चाभिधेयात् सूत्रप्रवृत्तिमभ्युपगम्याह—अपदान्त इति नातुवर्तते इति । अपि च सूत्रे निमित्तनिमित्तनिमित्तकथनेनापि तद- २५ नतुहोतरेव बोध्या । ननु सूत्रे रो इत्यनेन सातुबन्धो निरनुबन्धो वा ? नायं, तथापि अग्नौ रथेनेत्यादि सिद्धावपि पुनरस्मते इत्यादि न सिद्धेव, न द्वितीयं, तथापि पुनरस्मते इत्यादिष्विद्धावपि अग्नौ रथेनेत्यादि न सिद्धेव, न च लक्ष्यानुरोधेन सम्यपरिग्रहः, तस्य सर्वत्र नियामकत्वेऽतिप्रसङ्गात् इति चेदत्र सूत्रे रोमिति सातुबन्धस्य रे इति निरनुबन्धस्य चैकप्रयत्नेनोभयसुचार्यं निर्देशात् 'निरनुबन्धप्रश्ने १८ सामान्यप्रवृत्तिं न्यायाच्च सामान्येन ग्रहणं भवतीत्याह—रेफस्य इत्यादि । अदिदुत इत्यस्याप्यमाह—अकारोकाराणां इति । अयं अग्नौ रथेनेत्यादौ व्यवहितस्याकारस्य दीर्घं कस्यापि अवतीत्याशङ्क्यामाह—अनन्तराणां इति । ननु सामान्यनिर्देशादनन्तराणामेवेति कुत्रोक्त्यते इति चेत्, उच्यते—रे इत्युपसर्गसमो निर्देशात् लुगि दीर्घोऽपि रेफोपिष्ठस्यैव अवतीति भावः । पुनरस्मते—पुनर् रस्मते २१ इति स्थिते, रेफस्य रेफे परेऽनेन लोपे पूर्वोक्तस्य च दीर्घं सिध्यति । एवमन्यत्र । अहोरूपम्—अत्र अहर् रूपम् इति स्थिते नकारस्य 'अह' २११।५४ इति ढत्वे, 'बोधवति' 'रो रे लुक्' इति सूत्रद्वयप्रसङ्गे परत्वात् 'रो रे लुग् दीर्घश्चा' इति रेफस्य लोपो दीर्घश्च प्राप्नोतीत्याह—अन्वित्येव ? अहोरूपम् इत्यादि । अन्वित्येव विचारानु पूर्वमेवेति रेफभावात्सास्य प्रवृत्तित्वाह—अत्र पूर्वमेव इत्यादि ॥ ४१ ॥ २४

दस्तह्दे । अत्र अनु लुग् दीर्घश्चादिदुत इति चातुवर्तते, त तद्धे अनु लुक् च अदिदुत दीर्घ इत्यन्वयः । तद्धे—'तवर्गस्य' इति दवर्गयोगे दक्ष ढ, तस्य—लुप्यमानढकारस्य कार्यत्वेन दस्तह्दस्यसिद्धिं समासस्तदाह—तन्निमित्तो दस्तह्द इति । अत्र ढ इति वर्गमात्र निमित्तत्वेनाभिप्रेते, अकारात् शुभमुत्पत्तिं, अन्यथाकारनिशिष्टो यत्र ढकारस्तत्रैव सूत्रं प्रवर्तते । सूत्रार्थमाह—ढकारस्य इत्यादिना । माहि- २७ 'महर्' पूजाया, धातो लौ 'तवर्गस्य' २११।२१ इति नियमादिद्वभावे, 'हो धृदपदान्ते' २११।८२ इति हत्य उक्ते, 'अथथध्वर्गोत्तयोर्ध' २११।७१ इति तस्य धत्वे, 'तवर्गस्य' इति धस्य ढत्वेऽनेन प्रकृतिऽस्य लोपे दीर्घत्वे च सिध्यति । लीडम्, मीढम्, गूढम्—'लिहीक्' आलादने, 'सिद्ध'वेचने, 'गूढौ' सवर्णे इत्येभ्य के पूर्ववत् ढत्वादौ भवन्ति । मधुलिङ्गं लोक्ते—मधु वेदीति निग्रहे किम्, मधुलिङ्ग इति स्थिते ३० से—'दीर्घस्याप्यभावात्' इति छकि, 'हो धृद' इति ढत्वे, 'वौकृक्' गतौ, तेष्वप्ये शब्दे च—ढोक्ते, मधुलिङ्गं लोक्ते इति स्थिते नायं ढकार- लुगिनिमित्त इति लोपदीर्घो न भवति । अत्र सूत्रे यदि तद्धे इति निमित्तमनुपादाय ढे इति ढकाराभावात् निमित्तत्वे तृतीयं बाधित्वा विशेषविहित- त्वेनापवादत्वादावपि तौ स्यातामित्याह—नायं लुप्यमान इत्यादिना । लुप्यमानो ढकारो निमित्तं यत्न स तयोक्तो ढ इत्यर्थः । एवं—पूर्ववत् । ३३ चकृद्धे, लुलुबिद्धे—करोते 'चक्ष' छन्दे च धातो परोक्षया चेष्यस्ये 'दिर्घात् परोक्षोक्ते प्राक् खरे खरविषे' २११।१ इति द्वित्वे, 'कृतोऽर्थ' २११।१८ इति अत्वे, 'कृष्यन्' २११।४६ इति चत्वे, 'नाम्यन्तात्' २११।८० इति ढत्वे, 'अयोर्धात्' ११२।२१ इति तस्य द्वित्वे, तन्निमित्तत्वाभावात्पुनर्भावे 'तृतीयस्तृतीयचतुर्थे' इति तृतीयत्वे—चकृद्धे भवति । एष लुलुबे इति ढत्वे उदादेशे च सति तृतीय—लुलुबिद्धे इति ३६ भवति । एतदेवाह—चकृद्धे, लुलुबिद्धे इत्यादावपि इत्यादिना । आतुढम्, आवुढम्—आतुपूर्वात् वृद्धेर्हस्य के 'हो धृद' इति ढत्वे, 'अथथध्वर्गोत्तयोर्ध' इति तस्य धत्वे, 'तवर्गस्य' इति ढत्वे, 'तद्धे' इति लोपे—आतुढम्, आवुढमिति रूपे, अत्रानन्तराणामकारोकाराणाम- भावात् दीर्घः । लेढा, मोढा—लिहोर्मुहश्च ढ्वि ढत्वात् यथप्रापाततोऽन्वित्यभावे परत्वात् गुणे ढलोप बाधित्वा प्राप्नोति ह्यपि ढलोपस्या- २९ त्यागितत्वेनान्तराणां ह्यपि पूर्व प्रत्येयैस्त्वान्वित्यधिकारः । नच वाच्यं 'हो धृद' इति विहितलक्षणासत्त्वात् ढलोपस्याप्यसत्त्वेन गुणो भविष्यति इति, 'वागोविधि' इति न्यायेनान्तरात् ढत्वे विधेयेऽपार्थविधेयुक्तस्य बहिरप्रत्येयसिद्धत्वादिदीर्घ कार्यसत्त्वपक्षानिप्रायेणोक्तम् । शास्त्रासत्त्वपक्षे तु गुणे कृते ढत्वं भवति । अन्वित्यधिकारस्य फलमाह—अत्र—लिङ् वा, शृङ् वा इत्यत्र, गुणे कृते—ढेढा, मोढा इति जाते सति, ढलोपः—अनेनेति २२ शेषः । अन्यथा—अन्वित्यधिकारभावे, पूर्वमेव—गुणादिति शेषः । ढलोपे, दीर्घे च—अनेनेति शेषः । तस्मिन्वापि किं स्यादित्याह—लीढा, मूढेत्यनिष्ट रूपं स्यादिति ॥ ४२ ॥



## रो रे लुग् दीर्घश्चादिदुतः ॥ १ । ३ । ४१ ॥

अपदान्त इति नानुवर्तते, रेफस्य रेफे परे लुग् भवति; अकारेकारोकाराणां चानन्तराणां दीर्घो भवति । पुना रमते, प्राता रौति, अग्नी रथेन, नीरक्तम्, दूरक्तम्, पट्ट राजा; उच्चै रौति । अन्वित्वेव ? अहोरूपम्—अत्र पूर्वमेव रोस्त्वे, रेफा- ३ भावाल्लुग्दीर्घाभावः सिद्धः ॥ ४१ ॥

## दस्तद्धे ॥ १ । ३ । ४२ ॥

तन्निमित्तो दस्तद्धे, ढकारस्य तद्धे परेऽनु लुग् भवति; अकारेकारोकाराणां च दीर्घो भवति । महतेः तौ माढिः, लीडम्, मीढम्, गूढम्, तद्धे इति किम् ? मधुलिङ्गं ढौकते—नायं लुप्यमानढकारनिमित्तो ढः, एव चक्रुद्धे, लुलुविद्धे इत्यादावपि ढकारस्य द्वित्वे सति ढकारयोर्निमित्तनिमित्तिभावो नास्तीति लुग् न भवति । अदिदुत इत्येव ? आतृढम्, आवृढम् । अन्वित्वेव ? लेढा, मोढा—अत्र गुणे कृते, पश्चात् ढलोपः, अन्यथा हि पूर्वमेव ढलोपे दीर्घे च लीडा मूढत्यनिष्ट रूपं स्यात् ॥ ४२ ॥

रो रे लुग् दीर्घश्चादिदुतः । रो रे लुक् च अदिदुत दीर्घ इत्यन्वयः । अच इच्च उच्च इत्येषा समाहारद्वन्द्वश्च । नन्वत्रापदान्त इत्यनुवर्तते तदा अजर्घा अयास्या अचोक् अचात्वा अचाका अपापा इत्यादिष्वेव सूत्र प्रवर्तते न खाराज्यमित्यादा इति चेत्, सत्य, सूत्रे १२ अदिदुत इत्यत्र ह्रस्वप्रहणात्तदननुवर्तते । न हीकारात् परस्य रेफस्य रेफेऽपदान्ते सभनोऽस्ति यथा—अग्नी रथेन, नीरक्तम् इत्यादी । अकारो- काराभ्या परस्य रेफस्य हि रेफेऽपदान्ते पदान्ते च सभव यथा—अजर्घा, अचोक्, पुना रमते, दूरकमित्यादी । इत्य च सर्वलक्ष्यपर्यालोचनया पदान्तेऽपदान्ते चाविशेषात् सूत्रप्रवृत्तिमभ्युपगम्याह—अपदान्त इति नानुवर्तते इति । अपि च सूत्रे भिन्नस्थानिनिमित्तकथनेनापि तद्- २५ ननुऽतिरेव बोध्या । ननु सूत्रे रो इत्यनेन सानुबन्धो निरनुबन्धो वा ? नाय, तथापि अग्नी रथेनेत्यादि सिद्धावपि पुना रमते इत्यादि न सिद्ध्यते, न द्वितीय, तथासति पुना रमते इत्यादिष्विद्धावपि अग्नी रथेनेत्यादि न सिद्ध्यते, न च लक्ष्यानुरोधेन उभयपरिग्रहः, तस्य सर्वत्र नियामकत्वेऽतिप्रसङ्गात् इति चेदत्र सूत्रे रोरेति सानुबन्धस्य रे इति निरनुबन्धस्य चैकप्रयत्नेनोभयमुच्चार्य निर्देशात् 'निरनुबन्धग्रहणे १८ सामान्यग्रहणमिति न्यायाच्च सामान्येन ग्रहणं भवतीत्याह—रेफस्य इत्यादि । अदिदुत इत्यस्यार्थमाह—अकारेकारोकाराणां इति । अथ अग्नी रथेनेत्यादी व्यवहितस्याकारस्य दीर्घं कस्माच्च भवतीत्याह—अत्रान्तराणां इति । ननु सामान्यनिर्देशादनन्तराणामेवेति कृतो लभ्यते इति चेत्, उच्यते—रे इत्युपलक्ष्यसमीतिर्देशात् लुमिव दीर्घोऽपि रेकोपलिङ्गस्यैव भवतीति भावः । पुना रमते—पुनर् रमते २१ इति स्थिते, रेफस्य रेफे परेऽनेन लोपे पूर्वोकारस्य च दीर्घं सिध्यति । एवमन्यत्र । अहोरूपम्—अत्र अहर् रूपम् इति स्थिते नकारस्य “अह” २१।१७४ इति तत्त्वे, “बोधयति” “रो रे लुक्” इति सूत्रद्वयप्रवृत्ते परत्वात् “रो रे लुग् दीर्घश्चा” इति रेफस्य लोपे दीर्घश्च प्राप्नोतीत्याह—अन्वित्वेव ? अहोरूपम् इत्यादि । अन्वित्वधिकारास्तु पूर्वमेवोक्ते रेफाभावाच्चास्य प्रवृत्तिरदाह—अत्र पूर्वमेव इत्यादि ॥ ४१ ॥ २४

दस्तद्धे । अच अनु लुग् दीर्घश्चादिदुत इति चानुवर्तते, ढ तद्धे अनु लुक् च अदिदुत दीर्घ इत्यन्वयः । तद्धे—“तवर्गस्य” इति तवर्गयोगे दस्य ढ, तस्य—लुप्यमानढकारस्य कार्यत्वेन दस्तद्धेदस्तस्मिन्निमित्तं समासस्वदाह—तन्निमित्तो दस्तद्धे इति । अत्र ढ इति वर्णमात्र निमित्तात्तन्नाश्रयते, अकारस्य सुक्तमुच्चार्य, अन्यथाकारविशिष्टो यत्र ढकारस्यैव सूत्र प्रवर्तते । सूत्रार्थमाह—ढकारस्य इत्यादिना । माढिः— २७ “महण” पूजाया, घातो कौ “तेर्महादिभ्य” ४।४।३३ इति नियमादिहभावे, “हो धुदपदान्ते” २।१।८२। इति हस्य ढत्वे, “अधश्चतुर्थास्योर्ध्व” २।१।७५। इति तस्य ढत्वे, “तवर्गस्य” इति ढस्य ढत्वेऽनेन प्रवृत्तिरस्य लोपे दीर्घत्वे च सिद्ध्यति । लीडम्, मीढम्, गूढम्—‘लिङ्गिक्’ आस्त्रादने, ‘सिद्धे’ चैवने, ‘गुह्ये’ संवरणे इत्येभ्य के पूर्ववत् ढत्वादौ भवन्ति । मधुलिङ्गं ढौकते—मधु लेदीति विग्रहे किप्, मधुलिङ्ग इति स्थिते ३० के “दीर्घद्वयव्यञ्जनात्” इति छकि, “हो धुद” इति ढत्वं, “ढौकच्” गतौ, तेप्रत्यये षावि च—ढौकते, मधुलिङ्गं ढौकते इति स्थिते नाय ढकार- लक्ष्मिनिष्ठ इति लोपदीर्घो न भवत । अत्र सूत्रे यदि तद्धे इति निमित्तमनुपादाय ढे इति ढकारमात्रस्य निमित्तत्वे तृतीय वाधित्वा विशेषमिहित- त्वेनापवादत्वाद्नापि तौ स्यातामित्याह—नायं लुप्यमान इत्यादिना । लुप्यमानो ढकारो निमित्त यस्य स तथोक्तो ढ इत्यर्थः । एचं—पूर्ववत् । ३३ चक्रुद्धे, लुलुविद्धे—करोते “लृग्” ढेदने च घातो परोक्षार्थां ध्वेप्रत्यये “दिर्घात् परोक्षाहे प्राक् सुरे स्वरस्ये” ४।१।१। इति द्वित्वे, “कृतोऽत्” ४।१।३८। इति ढत्वे, “कथञ्च” ४।१।४६। इति तत्त्वे, “नान्मन्तात्” २।१।८०। इति ढत्वे, “अदीर्घात्” १।३।३२। इति तस्य द्वित्वे, तन्निमित्तत्वाभावाद्भावाभावे “तृतीयस्तृतीयचतुर्थे” इति तृतीयत्वे—नचक्रुद्धे भवति । एव लुलुवे इति ढत्वे उपादेशे च सति तृतीय—लुलुविद्धे इति ३६ भवति । एतदेवाह—चक्रुद्धे, लुलुविद्धे इत्यादावपि इत्यादिना । आतृढम्, आवृढम्—आतृपूर्वात् तृद्वेर्देव के “हो धुद” इति ढत्वे, “अधश्चतुर्थात्” इति तस्य ढत्वे, “तवर्गस्य” इति ढत्वे, “दस्तद्धे” इति लोपे—आतृढम्, आवृढमिति रूपे, अत्रानन्तराणामकारेकारोकाराणाम- भावाच्च दीर्घः । लेढा, मोढा—लिङ्गैर्देव लृमि ढत्वादौ यथस्थापाततोऽन्वित्यभावे परत्वात् गुणो ढलोप वाधित्वा प्राप्नोति तथापि ढलोपस्या- ३५ ल्याधितत्वेनान्तराणामाहुणावपि पूर्वं प्रवृत्तिरित्यन्वित्यधिकारः । नच नाच्य “हो धुद” इति विहितढत्वस्यासत्त्वात् ढलोपस्याप्यसत्त्वेन गुणो भविष्यति इति, ‘वर्णोन्निधि’ इति न्यायेनान्तराणाम् ढत्वे विधेयेऽवर्णविधेयगुणस्य हद्विप्रत्ययेनासिद्धत्वादिदीर्घ कार्यसत्त्वपक्षमिप्रायेणोक्तम् । शास्त्रासत्त्वपक्षे द्व शेष । अन्यथा—अन्वित्वधिकारामावे, पूर्वमेव—गुणादिति शेषः । ढलोपे, दीर्घे च—अनेनेति शेषः । तस्मिन्निमित्तं किं स्यादित्याह—

### सहिवहेरोच्चारणस्य ॥ १ । ३ । ४३ ॥

सहि वहि इत्येतयोर्हस्य तद्धे परेऽनु लुग् भवति, अवर्णस्य च ओकारो भवति । सोढा, वोढा; उदचोढाम् । अवर्ण-  
१ सेति किम् ? ऊढः ॥ ४३ ॥

### उदः स्यास्तम्भः सः ॥ १ । ३ । ४४ ॥

उदः परयोः स्यास्तम्भ इत्येतयोः सकारस्य लुग् भवति । उत्थाता, उत्थातुम्, उत्तम्भिता; उत्तम्भितुम् । उद-  
२ इति किम् ? संस्थाता, संस्तम्भिता । स्यास्तम्भ इति किम् ? उत्स्रोता, उत्स्कन्नः । स इति किम् ? उत्तिष्ठति, उदस्थात्,  
उदस्तम्भत्; उत्तिस्तम्भपति । प्रत्यासत्तेः स्यास्तम्भविशेषणस्यैवोदो अहणादिह न भवति ऊर्ध्वं स्थानमस्योत्थानः ।  
कथमुत्कन्दतीति उत्कन्दको रोग इति एषोदरादित्वात् भविष्यति ॥ ४४ ॥

### तदः सेः खरे पादार्था ॥ १ । ३ । ४५ ॥

तदः परस्य सेः खरे परे लुग् भवति, सा चेत् पादार्था—पादपुरणी भवति । सैष दाशरथी रामः, सैष राजा युधि-  
ष्ठिरः, सौपथीरनुसूयते । पादार्येति किम् ? स एष भरतो राजा ॥ ४५ ॥

१३ सहिवहेरोच्चारणस्य । अत्र ह तद्धे लुक् अतु इति चायुवर्तते, सहिवहे ह तद्धे अतु लुक् च अवर्णस्य ओट् इत्यन्यत्रोद-  
माह—सहिवहे इत्येतयोः इत्यादिना । सोढा, वोढा—सहिवहिभ्यां तुचि ताप्रत्यये वा ढत्वादौ कृते सद् वा, वद् वा इति स्थितेऽनेन  
लोपे कृतेऽवर्णस्योकार । उदचोढाम्—उत्पूर्वाद्धेरुपतन्यास्तामि “सिजद्यतन्याम्” ३।४।५३। इति सिचि, “डुव्हङ्गाङ्गुगनिटस्यो” ४।३।७०।  
१५ इति तलुपि, “व्यञ्जनानामिति” ४।३।४५। इति वृद्धौ, अनेन ढलोपेऽवर्णस्य ओत्वे च उदचोढामिति भवति । ऊढा—वहे के ष्टुति च अवर्णत्वा-  
भावादानेनौत्पद्य, किन्तु पूर्वेण ढलोपो वीर्चय ॥ ४३ ॥

उदः स्यास्तम्भः सः । अत्र लुक् इत्यनुवर्तते, उदः स्यास्तम्भ सः लुक् इत्यन्वयः । उद इति पञ्चमी, स्यास्तम्भ इति समा-  
१८ हारद्वन्दात् पञ्च इति तदर्थमाह—उदः परयोः इत्यादिना । उत्थाता, उत्थातुम्—उत्पूर्वात्तिष्ठते तुचत्प्रत्ययौ अनेन सलोपे “अघोपे” इति  
प्रचमत्वे भवत । उत्तम्भिता, उत्तम्भितुम्—उत्पूर्वात् स्तम्भे सौत्राचुचि तुमि वाऽनेन सलोपे इवागने “नामि” इति नस्य मत्वे च सिक्खत ।  
संस्थाता, संस्तम्भिता—उत्पूर्वाभ्यां तुचि भवत, वद् परत्वाभावाभावेन सकारलुक् । उत्स्रोता—उत्पूर्वात् क्रौवे तुचि गुणे प्रथमे च रूपम्,  
२१ अत्र स्यास्तम्भोऽभावात् सलोपो न भवति । उत्स्कन्नः—उदः स्कन्दे के “रदादपृच्छमद कयोर्दस्य च” ४।३।६९। इत्युभयत्र नत्वे  
उत्स्कन्न इति भवति, स्यास्तम्भोऽभावात् सलोपः । उत्तिष्ठति—उत्पूर्वात्तिष्ठतेति शक्ति तिष्ठदेवद्यान सकाराभावात् प्रवर्तते । उदस्थात्—  
उत्पूर्वात् प्राधातोर्व्यतन्या दिप्रत्यये सिज्जुत्वादौ उदस्थादत्र सकारलोपः कस्याज भवति ? अत्रिण प्रत्ययस्य व्यववाचकत्वाभावेऽपि अत्र प्रत्ययस्य  
२४ व्यववाचकत्वस्य सर्वजनविदितत्वात् । एतच्च व्यववाचकत्वमावृत्तिव्याख्याने भवति । आशुचित्वाख्यानस्येद तात्पर्यम्—उद इति आहृत्या स्या  
स्तम्भ स इति चोभयत्र सम्यक्ते, तथा चायमर्थ—उद परयोः स्यास्तम्भ इत्येतयोः सकारस्य लुक् इत्येक, उद परस्यैव सस्येखपर इति ।  
ननुदस्यादिल्लप्राकारमात्रात् पूर्वं कथं न सलोपः ? इति चेदन्विषयकारात् । उदस्तम्भत्—उत्पूर्वात् स्तम्भेतिप्रत्यये “कृदिच्छिन्नुस्तम्भू” ३।४।६५।  
२७ इत्येक, नलोपेऽङ्गमे तिष्यति । उत्तिस्तम्भपति—उत्तम्भितुमिच्छतीत्यर्थे सनि द्विवचनादौ च सति तिष्यति । ननु उत्स्थान इत्यत्र उद  
परत्र स्याधातोर्विद्यमानत्वात् कुतो न सलोप इत्यत आह—प्रत्यासत्तेरिति । प्रत्यासत्तिन्यायादित्यर्थः । स्यास्तम्भविशेषणस्य—स्यास्त-  
म्भयोर्विशेषण तस्यैव उद इत्यन्वयः, अहणादिह—अस्तिन्युद्धे इत्यर्थः, न भवति—सलोप इति शेषः । ननु उत्स्थान इत्यत्र कुतो ज्ञायते  
३० उद इत्यविशेषण स्याधातोरेति विग्रहोपदर्शनपूर्वकं तत्स्यल दर्शयति—ऊर्ध्वं स्थानमस्योत्थान इति । अत्र स्थानस्य विशेषण उदिति,  
न तु तिष्ठतेरिति भावः । उद स्कन्दे रोगे इति वक्तव्यम्—उद परस्य स्कन्दे सकारस्य लोपो भवति, कथमन्यथा उत्कन्दको रोग इति सिध्यतीति  
ष्टुच्छति—कथमुत्कन्दतीति इत्यादिना । समासते—एषोदरादित्वात् इत्यादि ॥ ४४ ॥

१३ तदः सेः खरे पादार्था । अत्र लुक् इत्यनुवर्तते, तदः से खरे लुक् सा चेत्पादार्था इत्यन्वयः । परशब्दाप्याहारात् तद इति  
पञ्चमी च तद इत्यनेन तदादेशस्य सस्य प्रहेणम्, अन्यथा व्यञ्जनात् सलोपः सिद्ध एव । एतच्च पादार्येति ग्रहणालम्ब्यते, अन्यथा तदैव पादस्य पूर्व-  
तत्वादिष्येतिमिति । अतुकरणत्वात्तदाद्यत्वाभावात् । ‘शब्दार्थावृत्तये हि प्रकृतिवदनुकरणमिति’ न्यायः प्रवर्तते, शब्दानुकरणे तु नेति कथमिद-  
३५ मिति चेत्, “तदः से खरे” इति वृत्त्यनुशासनात् । पादार्था—पादाश्च इय पादोऽर्थो यस्मादिति वा विग्रहः । पादो नाम विपुतवर्णमात्रावयव-  
पिण्ड । खरैव यदि पादः पूर्वतः, यत्र लुक्लुचि पादपूर्वमवशिष्टं तत्र लोपाभावो यथा—सोऽयमित्यसिस्वन्धे प्रत्ययिज्ञोपजायते, अत्र लुक्लुचि पाद-  
पूर्व भवति यथा—सायमित्यसिस्वन्धे इत्यादि । सैष दाशरथी रामः—अत्र उद सकारात् परस्य से कृते प्राप्तेऽनेन लुक्लुचिकेवो ऐकारः,  
३९ अन्यथा से “रोर्व” इति शक्ते तलुकि सधितिप्रत्येयादेत्याभावात्प्रादपररूपपादपूर्वमात्र । सैष श्रीमो महाबल, सैष कर्णो महाबली,  
सैष राजा युधिष्ठिरः इति सम्पूर्णं वृत्तम् । पादार्येति किम् ? स एष भरतो राजा—अत्र हि सिलोपे सधित्वेन ससाधरभावात्  
पादाभावे लुगाभावः । सूत्रसिद्धे विशेषणे सामान्यं वाचते न सामान्येन विशेषे इति न्यायात् “रोर्व” इति सामान्यस्वरतिवित्पराविषये “सो र”  
४२ इत्यस्य बाधकः, न, पुन खरविशेषणमिति सस्य “अतोऽति रोग” इत्यस्य विषये “खो र” इत्यस्य, तेन “सोऽहं तथापि तत्र मणि” इति प्रोक्त-  
मरसप्रयोगो व्याख्यातः ॥ ४५ ॥



## एतदश्च व्यञ्जनेऽनग्रन्थसमासे ॥ १ । ३ । ४६ ॥

एतदस्तदश्च परस्य सेर्व्यञ्जने परे लुग भवति, अकिं नञ्समासे च सति न भवति । एष ददाति, स ददाति, परमैष करोति, परमस ददाति । एतदश्चेति किम्? को दाता, यो धन्यः । सेरित्येव? एतौ गच्छतः, तौ तिष्ठतः । अनुबन्धग्रहणा- ३  
दिह न भवति-एतेषु चरति, तेषु याति । अनग्रन्थसमास इति किम्? एषकः करोति, सको याति-“तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन  
युज्यते” इति साकोऽपि प्राप्तिरिति प्रतिषेधः; अनेषो गच्छति, असो याति । व्यञ्जन इति किम्? एपोऽत्र, सोऽत्र ॥४६॥

## व्यञ्जनात् पञ्चमान्तस्थायाः सरूपे वा ॥ १ । ३ । ४७ ॥

६

व्यञ्जनात् परस्य पञ्चमान्तस्थायाश्च सरूपे वर्णे परे लुग वा भवति । कुञ्चो इङ्गो-कुङ्गो, कुङ्गो इङ्गो; अदितेरय-  
मादित्यः स देवता अस्य आदित्यः स्थालीपाकः आदित्य इति वा । व्यञ्जनादिति किम्? अन्नम्, भिन्नम् । सरूप इति  
किम्? वर्ण्यते, पित्र्यम् । केचित्तु पञ्चमान्तस्थायाः पञ्चमान्तस्थामात्रे लोपमिच्छन्ति, न तु सरूप एव; तन्मते-वर्ण्यते, ९  
वर्ण्यते; मन्मते, मन्मते इत्यादावपि भवति । अपरे तु अन्नवन्नमन्नाणां त्रयाणां धातूनां धुटि रेफलोपं नित्यमिच्छन्ति-  
अन्नतेः “तिष्ठतौ नास्ति” ॥ ५ । १ । ७१ ॥ इति तिकि अन्विः, वन्नमन्नोर्यद्भुलिपि वावन्विः, मामन्विः; सिद्धान्ते तु  
वन्विः, वावन्विः, मामन्विः ॥ ४७ ॥

१२

एतदश्च व्यञ्जनेऽनग्रन्थसमासे । अत्र से ङ्क् इति चानुवर्तते । एतदश्च इति चकारेण पूर्वसूत्रस्य तद इति समुचीयते । नञ  
समासो नञ्समास ङक् च नञ्समासश्च अग्रन्थसमास, न अग्रन्थसमास अग्रन्थसमासस्तस्मिन्निति विग्रहः । एतद तदश्च से. व्यञ्जने ङ्क् अग्र-  
न्थसमासे इत्यन्वयस्तदर्थमाह-एतदस्तदश्च इत्यादिना । अग्रन्थसमासे इत्यत्र नञो भवतिक्रियायां सवन्ध दर्शयन् प्रसज्यप्रतिषेधार्थकत्वं १५  
एषयति-अकिं नञ्समासे च सति न भवतीति । पर्युदासे हि सति “नञ्युक्त तत्सदृशे” इति न्यायेन नञ्समासादन्यत्रापि समास एव  
वर्तमानाभ्यामेतत्तच्छब्दाभ्यां विलोपः स्यात् । अपि च अनमन्मते इत्यनेन तदन्तर्विधि “तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन युज्यते” इति न्यायश्च  
ज्ञाप्यते, अन्यथाऽङ्कविशिष्टस्यैतच्छब्दाभावात्तन्मसासापचस्य च प्रात्यमावेऽनेन तन्निषेधासम्भवात् तस्य च प्रातिपूर्वकत्वात्, तेन परमस १८  
ददाति इत्यादौ तदन्तादपि सेर्ङ्क्, असो यातीत्यादौ तन्निषेधस्य प्रातिपूर्वक, केवलस्यैतद तद्व्याच्यन्तवद्भावेन सेर्ङ्क्, न्यायज्ञापनेन सको याति  
इत्यादौ प्रातिपूर्वकत्वं निषेधस्य संपपन्नम् । ननु प्रसज्यप्रतिषेधार्थकनञो ग्रहणे वाक्यभेद इति चेदस्तु पर्युदास, तथासति नञ्समाससदृशस्यो-  
त्तरपदाद्यप्राधान्यस्य समासान्तरस्य ग्रहणात् परमैष ददाति इत्यत्र भविष्यति, अकोऽसमासरूपस्य प्रतिषेधात् केवलस्यपि भविष्यति-स ददाति १९  
इत्यादौ, इत्यत्र प्रसज्याश्रितवाक्यभेददोषोऽपि परिहृतो भवति । एष ददाति, स ददाति-एतत्तद्व्याप्तौ अत्रादौ अनेन व्यञ्जने सेर्ङ्क् ।  
परमैष करोति-परमश्चासौ एषवेति विग्रहः । को दाता, यो धन्यः-अत्र न विलुग, एतत्तद परत्वाभावात् । एतौ गच्छतः, तौ  
तिष्ठतः-अत्र एतत्तच्छब्दाभ्यां परस्य सेरभावात् ङ्क् । सेरिति सातुबन्धोपादान कथमित्यत आह-अनुबन्धग्रहणात्-सेरित्यत्र इति शेषः । २४  
अयं भाव-व्यञ्जन इति विषयसम्बन्धमात्रे सेरिति इदनुबन्धग्रहणात् अन्यानुबन्धसमुदायस्य लोपाभाव-एतेषु चरतीत्यादौ । अथात्र परत्वा-  
देर्येव वत्त्वं च कृते सकारस्यासमावालोपो न भविष्यतीति चेत्, उच्यते-विशेषविहितत्वादेर्यवत्त्वाभ्यां पूर्वमेव लोपः स्यादिति, किंच एतच्छब्दा-  
तीत्यादावपि स्यात् । एषकः करोति, सको याति-एतत्तद्व्याप्ति कृतितादावकिं अनेन निषेधात् न सेर्ङ्क् । निषेधस्य प्रातिपूर्वकत्वं प्रागुपद-२७  
शितं, तदाह-“तन्मध्यपतितस्त” इत्यादिना । अनेषो गच्छति-न एष अनेष “अन् खरे” ३।२।१२१। इत्यनादेश । असो याति-  
न स अस “नचत्” ३।२।१२५। इत्यकार, अत्र न सेर्ङ्क्, नञ्समासे निषेधात्, समासग्रहणाद्वाक्ये प्रतिषेधो न भवतीति भावः । एपोऽत्रे-  
त्यादौ व्यञ्जनपरकत्वाभावात् सेर्ङ्क् ॥ ४६ ॥

२०

व्यञ्जनात् पञ्चमान्तस्थायाः सरूपे वा । अत्र ङ्क् इत्यनुवर्तते, व्यञ्जनात् पञ्चमान्तस्थायां सरूपे ङ्क् वा इत्यन्वयः । पञ्च-  
मान्तस्थायाः-समाहारद्वन्द्वात् षष्ठी, सूत्रकृतिदेशवलात् हस्ताभावः । सरूपे-समान रूप यस्य तस्मिन्निधितं बहुव्रीहि, “समानस्य धर्मोऽपि”  
३।२।१४९। इति समानशब्दस्य सादेशः । सूत्रान्वयार्थमाह-व्यञ्जनात् परस्य इत्यादिना । ङक् ङ्क् इङ्गो तदस्तत्पुत्रयमाह-कुञ्चो २३  
इङ्गो, कुङ्गो-अत्र त्रयो वकारा मध्यमस्थानेन विकल्पेन ङ्क्, पक्षे-कुङ्गो इङ्गो । अदितेरयमादित्यः-अत्र “अतिदेश्यपनवादे च”  
६।१।१५। इति न्ये, “वृद्धि खरेचादिङ्ग” ७।४।१। इति वृद्धौ, “अवर्णवर्णस्य” ७।४।६। इतीकारलोपे रूपम्, तत आदिस्थो देवता अत्येति  
विग्रहे पुनर्नञ्, अकारलोपे ङ्क् उचित्विधत्वात् स्थानिवद्भावात्प्रतिषेधेऽनेन पक्षे यलोपे-आदित्यः, ङ्गभावपक्षे-आदित्यः, तदाह-स देवता २६  
अस्य इत्यादिना । अन्नम्, भिन्नम्-अत्र सरूपे वर्णे परे व्यञ्जनात् परत्वाभावात् नकारस्य ङ्क् । वर्ण्यते, पित्र्यम्-व्यञ्जनात् परस्य पञ्चमस्य  
वचनमेवयथासक्यं नास्तीत्याद्य इत्युवाच शाकटायन “इलो यमि यमो वा” शां १।१।१२२। इति सूत्रे, उदाहरति-तन्मते इत्यादिना । २९  
चर्च्यते, वर्च्यते, मन्मते, मन्मते इति । “वन्न”, “मन्न” गतावाभ्यां तेप्रत्यये, क्ये, पक्षे रलोपे र्गगणि भवन्ति । पुनर्मतान्तरं दर्शयति-अपरे तु  
इत्यादिना । अपरे-शाकटायनादयं, वज्रादीनां त्रयाणां अङ्गि रलोप केचिद्विच्छन्तीति धर्मोपाहृतौ तद्व्याख्यातारः । पाणिनीये न्यासे तु “इलो यमां  
यमि लोप” मां ८।१।६५। इत्येव पाठः, वचनभेदेऽपि यथासक्यस्य प्रवर्तत इति तदीकाकृतः । अन्विः-“अन्न”धातो कौ रलोपे घत्वे ४२  
एवीय । वावन्विः, मामन्विः-वन्नमन्नो “गेलथीत् कुटिले” ३।४।११। इति वन्वि, तन्नुपि, द्वित्वात्, तिकि, रलोपे “अवधत्वा” इति घत्वे  
“तृतीयस्तृतीय” इति तृतीयत्वे सिद्ध्यतः । सिद्धान्त दर्शयति-सिद्धान्ते तु इति । खमत इत्यर्थः । अन्नवन्नमन्नाणां खमत उदाहरणान्याह-  
अन्विः, वावन्विः, मामन्विः-एषु व्यञ्जनात् परमान्तस्थायां रस्य सरूपनिमित्ताभावात् ङ्क् ॥ ४७ ॥

४५

## धुटो धुटि स्वे वा ॥ १ । ३ । ४८ ॥

व्यञ्जनात् परस्य धुटो धुटि स्वे परे लुग् वा भवति । प्रत्तम्, प्रत्तम्; अवत्तम्, अवत्तम्—अत्र त्रयस्तकारा मध्य-  
१ मस्य वा लोपः, शिण्डि, शिण्डि; पिण्डि, पिण्डि; मिन्थः, मिन्थः । धुट इति किम्? शार्ङ्गम्, भार्ङ्गम् । धुटीति किम्?  
सकशा, सकशे । स्व इति किम्? तर्सा, दर्सा । व्यञ्जनादित्येव? बोद्धा, योद्धा ॥ ४८ ॥

## तृतीयस्तृतीयचतुर्थे ॥ १ । ३ । ४९ ॥

१ धुटः स्थाने तृतीये चतुर्थे च परे स्थानिप्रत्यासन्नस्तृतीयो भवति । मज्जति, भज्जति, दोग्धा, दोग्धुम्, पिण्डि,  
शिण्डि; योद्धा, योद्धुम्; लब्धा, लब्धुम् । तृतीयचतुर्थे इति किम्? लिख्यते । धुट इत्येव? वल्मते । पदान्ते “धुट-  
स्तृतीयः” ॥ २ । १ । ७६ ॥ इति अपदान्तार्थं वचनम् ॥ ४९ ॥

## अधोषे प्रथमोऽशिटः ॥ १ । ३ । ५० ॥

शिद्धवर्जितस्य धुटः स्थानेऽधोषे परे प्रथमो भवति । वाक्पूता, देवच्छत्रम्, पट् कुर्वन्ति, दृष्टकल्पः, ककुप्सु, भेत्ता;  
लप्स्यते । अधोष इति किम्? मज्यते, भिद्यते । धुट इत्येव? भवान् खनति, कण्ठः, कन्था । अशिट इति किम्?  
१२ श्र्योतति, कटीकते; पयस्सु ॥ ५० ॥

धुटो धुटि स्वे वा । अत्र व्यञ्जनात् लुक् इति चातुर्वर्तते, व्यञ्जनात् धुट धुटि स्वे लुग् वा इत्यन्वयस्तदर्थमाह—व्यञ्जनात् परस्य  
इत्यादिना । प्रत्तम्, अवत्तम्—प्रपूर्वादवपूर्वाच्च ददाते “प्रादागस्त आरम्भे के” ४।४।७।, “निबिस्सन्वाद्” ४।४।८। इति च तादेशो-  
१५ ऽत्र त्रयस्तकारास्ततोऽनेन पक्षे मध्यमस्य लोपः, पक्षे—प्रत्तम्, अवत्तम् । शिण्डि, पिण्डि—शिष्पिषो पक्षम्यां हौ, “रघां खरादि०”  
इति अत्रप्रत्यये, “आस्त्वोर्हनि” लकारलोपे, “हुधुटो हेर्धि” इति चो, “तृतीयस्तृतीय०” इति तृतीयत्वे, “तवर्गस्य०” इति ढत्वे, “त्रा धुट्त्वो०”  
इति णत्वेऽनेन पक्षे ढलोपे सिद्ध्यत, पक्षे—शिण्डि, पिण्डि । मिन्थः—भिदेस्थिति अत्रप्रत्ययादौ “अधोषे प्रथमो०” इति प्रथमत्वे, पक्षेऽनेन  
१८ धुटो लोपे सिध्यति, पक्षे—मिन्थः । शार्ङ्गम्, भार्ङ्गम्—अत्र व्यञ्जनात् परस्य कस्य धुट्त्वाभावाद्भोपो न भवति । सकशा, सकशे—सकियशब्दा-  
चतुर्थैकवचने चतुर्थ्येकवचने च “द्व्यस्थि०” १।४।६३। इत्यन्तस्थानि, “अनोऽस्य” २।१।१०८। इत्यकारलोपे, धुट्परत्वाभावात् थस्य लोपो न  
भवति । तर्सा, दर्सा—रूपेर्द्वेष्य धातोस्तृत्वि ताप्रत्यये वा रूपे, यद्यत्र स्वे इति न स्यात्तर्हि अत्रापि पकारस्य लुक्प्रसङ्गः स्यात् । नन्वत्र स्थानि-  
२१ निमित्तयो समसक्यावचनत्वात् यथासत्यप्रतिपत्तौ पकारस्य पकारे एव लोपो विज्ञायेत इत्यत्र प्रसङ्गः एव नास्तीति किमेतद्विद्वत्प्रत्ययेन स्वे इति  
ग्रहणेन? इति चेदुच्यते—सप्रहणादिह यथासक्यं नास्तीति विज्ञायते, अत एव शिण्डीत्यादौ णकारास्त्यजनात् परस्य ङकारस्य ङकारे लुगुदाहृतेति  
भावः । योद्धा, योद्धा—“धुधिच्” ज्ञाने, “धुधिच्” संप्रहारे आभ्यां तृत्वि, णत्वे, तृतीयत्वे व्यञ्जनात् परत्वाभावात् दत्तानेन न ङक् ॥ ४८ ॥

२४ तृतीयस्तृतीयचतुर्थे । अत्र धुट इति अतुर्वर्तते, धुट तृतीय तृतीयचतुर्थे इत्यन्वयः । पूर्वसूत्रादत्र स्थान्येवातुर्वर्तते, न कार्य-  
निमित्ते । अथ पृथक् निमित्तवैनीपस्थानाभिनिमित्तानुवृत्तिः कथं न्येत्ये? इति चेत्, “तृतीयस्तृतीयचतुर्थे” इत्यत्र निमित्तान्तरस्य प्रधानस्थानवका-  
शस्य बाधकत्वात् । तथा च तत्र तत्र प्रकृतानुप्रकर्षणाय चकारस्य क्रियमाणत्वं यथा “मो नो म्बोष” १।१।६५। इत्यादौ, इह तु तदकरणत्वं  
२७ प्रकृते तदननुवृत्तिरिव इत्याह—धुट इत्यादिना । मज्जति, भज्जति—“द्वमत्त्वोत्” धुटो, “अर्त्त्वोत्” पाके आभ्यां “सस्य शपो” १।१।६१। इति  
कृतशकाराभ्यां तिषि, योऽनेन शस्य स्थान्यासषो जकारः । दोग्धा, दोग्धुम्—एव “दुर्हीक्” क्षरणे, धातोस्तृत्वि, द्विषि, चोपान्त्यगुणे “भवादे-  
र्द्विर्धे” २।१।८३। इति इत्स्ये, “अधश्चतुर्धात्तयोर्ध” २।१।७५। इति तकारस्य ङकारेऽनेन तृतीयो गकारः । पिण्डि, शिण्डि—अत्रानेन  
३० तृतीयो ङकारः, शेष पूर्ववत् । योद्धा, योद्धुम्—अत्रानेन तृतीयो ङकारः । लब्धा, लब्धुम्—अत्रानेन तृतीयो गकारः । लिख्यते—“लिखद्”  
अक्षरविन्यासे, धातोस्तेप्रत्यये “क्य शिती”ति क्ये, तृतीयादिनिमित्ताभावात् खस्य धुट्त्वेऽपि तृतीयो गो न भवति । चलमते—“वल्मि”  
भोजने, धातोस्तेप्रत्यये, शवि, निमित्तसङ्कावेऽपि लकारस्य धुट्त्वाभावात्तृतीयामात्रं । अथ “धुटस्तृतीय” इत्यनेन तृतीयचतुर्थेर्निमित्तयो-  
३१ स्तृतीयस्य सिद्धत्वात् किमर्थमिदमिलाह—पदान्ते “धुटस्तृतीयः” इत्यादिना ॥ ४९ ॥

अधोषे प्रथमोऽशिटः । अत्र धुट इत्यतुर्वर्तते, तत्र अशिट इति विशेषणतया सव्ययते, अशिटो धुट अधोषे प्रथम इत्य-  
न्वयस्तदर्थमाह—शिद्धवर्जितस्य इत्यादिना । वाक्पूता—वाचा पूता इति समासोऽसमासो वा, अत्रानेन प्रथम ककारः । देवच्छत्रम्—  
३४ देव छत्रम् इति स्थिते “खरेभ्यः” इति द्वित्वे, पूर्वस्थानेन प्रथम । पट् कुर्वन्ति—पठिति पूर्ववत्साध्यम्, तत् ककारेऽधोषे परेऽनेन प्रथमः ।  
दृष्टकल्पः—इददसमासा दृष्टदित्यर्थः, “अतमयादेरीषदसमासे कल्पपदेऽयपदेरीषद्” ७।३।११। इति कल्पपि दृष्टद कल्प इति स्थितेऽनेन ककारेऽधोषे  
तकारः । ककुप्सु—ककुम् सु इति स्थिते अनेन भकारस्य पकारः । भेत्ता—भिदेस्तृजादौ दकारस्थानेन तकारः । लप्स्यते—लप्ते स्यतेप्रत्यये  
३९ भकारस्थानेन पकारः । मज्यते, भिद्यते—अजेभिर्दृष्टे प्रत्यये क्येऽधोषामाभावात् प्रथमत्वाभावात् । भवान् खनति—अत्र तस्य धुट्त्वाभावात्-  
अधोषेऽपि परे प्रथमत्वाभावात् । कण्ठः, कन्था—पूर्ववत् णमयो प्रथमो न धुट्त्वाभावात् । श्र्योततीत्यादि पूर्ववत्, अत्र शयसां धुट्त्वेऽपि  
अशिट इत्युक्त्या अधोषे प्रथमो न भवति । यद्यपि पयस्सु इत्यत्र “क्षपसे शयस चा” इत्यनेन सविधानात् प्रथमत्वाप्राप्त्या अशिट इति व्यर्थं  
४२ तथापि तदभावे क्योतति कटीकते इत्यादावनेन नटौ प्राप्नुत, एवमेव अस्ति, आस्ते इत्यादिषु तकारस्य, शस्य रुक्पइत्यादौ कस्यादिति “कादि०”  
इति व्याख्येया निष्कर्षस्यापि “अपञ्चमान्तस्यो०” इति धुट्त्वादर्पणविकारयत्वेन कण्ठ्य ककारः स्यात्तन्मा भूदित्यदिष्ट इति ॥ ५० ॥

विरामे वा ॥ १ । ३ । ५१ ॥

विरामे वर्तमानस्याशिरो ध्रुः स्थाने प्रथमो वा भवति । वाक्, वाग्; पद्, पङ्; तत्, तद्; कर्तुम्, कर्तुम् ।  
विराम इति किम् ? वागत्र । ध्रु इत्येव ? कुड्, सुगण्, भवान्, त्वम् ॥ ५१ ॥

न संधिः ॥ १ । ३ । ५२ ॥

उक्तो वक्ष्यमाणश्च विरामे सधिर्न भवति । दधि अत्र, ते आहुः, तत् लुनाति, भवान् लुनाति, कुर्वन् शेते, वृक्षस्य छाया, ब्राह्मणस्य छत्रम्, भवान् छादयति, नूनं पाहि, कुण्डम् हसति, वृक्षव् याति, कुर्वन् आस्ते । विरामादन्यत्र तु संहितायां सधिरेव सा च—“संहितैकपदे नित्या, नित्या धातुपसर्गयोः । नित्या समासे वाक्ये तु, सा विवक्षामपेक्षते” ॥ ५२ ॥

रः पदान्ते विसर्गस्तयोः ॥ १ । ३ । ५३ ॥

पदान्ते वर्तमानस्य रेफस्य स्थाने विसर्ग आदेशो भवति, तयोर्विरामेऽधोषे च । (विरामे—) वृक्षः, पृक्षः, प्रातः, पुनः, अमिः अत्र, पटुः इह । अधोषे—कः करोति, कः खनति, पुनः पचति, पुनः फलति, कः शेते, कः पण्डेः, कः साधु । कश्चरति, कष्टीकतेः कश्चरति इत्यादिषु तु शब्द एवापवादत्वाद् भवन्ति । पदान्त इति किम् ? ईत्ते, अर्कः, सूर्यः, सर्पः । कथं नृपतेरपत्यं नार्पत्यः ? नृकुट्यां भवो नार्कुटः ? तवर्कारः ? प्राच्छति इत्यादि । ‘असिद्धं वहिरङ्गमन्तरङ्गे’ इति वृद्ध-<sup>१२</sup> रारादेशाश्रयस्य रेफस्यासिद्धत्वाद् विसर्गो न भवति, एव क्लृप्तावपि । अन्वित्यधिकारात् गीः, धू, सज्जुःपु, आशीःपु इत्यादिषु दीर्घत्वे कृते पश्चाद् विसर्गः, अन्यथा हि पूर्वं विसर्गे कृते इत्थोर्भावात् दीर्घो न स्यात् ॥ ५३ ॥

ख्यागि ॥ १ । ३ । ५४ ॥

पदान्ते वर्तमानस्य रेफस्य ख्यागि परे विसर्ग एव भवति । कः ख्यातः, नमः ख्यात्रे, पूर्वगैव सिद्धे नियमार्थमि-  
दम्, तेन जिह्वामूलीयो न भवति ॥ ५४ ॥

विरामे वा । अत्र अष्टौ ध्रुव प्रथम इति वाचुर्वर्तते, विरामे अष्टौ ध्रुव प्रथमे वा इत्यन्वयः । विरामे इति तु वेपयिकमिदम्-१८  
धिकरणम्, तथाच विरामविषये इत्यर्थो लभ्यते । विरामश्चावसान अवसानेन च पदस्य पूर्वार्थपर्यं न सम्भवति, तथाहि—येन वर्णेन विरम्यते स चा-  
वसानं स्यात् । अथवा विरामो विरदिवर्णानामुच्चारणाभावः । अन्ये तु अवसानमभावरूपमाहुः । तदर्थमाह—विरामे वर्तमानस्य इत्यादिना ।  
वाक् इत्यादिभ्यस्तेन विरामे विकल्पेन प्रथमः । वागत्र—विरामाभावात् प्रथमत्वं न भवति । कुङ्कु इत्यादिषु विरामेऽपि ध्रुत्वाभावात् प्रथमान् २१  
भवन्ति, अन्यथा कृततया स्युः, “पदहङ्गविशेष्यस्यो घञ्” ५।३।१६ । अत्र चकारस्य चकार स्यादिति ध्रुव इति ॥ ५१ ॥

न संधिः । संधिप्रतिषेधोऽयम्, स च प्राप्तिपूर्वक एव सम्भवति, विरामे च प्राप्तिः सप्तेरुक्तस्य वक्ष्यमाणस्य चेत्यविशेषादिर्देवात् सर्वं प्रतिषिध्यते इत्याह—उक्त इत्यादिना । दधि अत्र इत्यादिषु सामान्येन विधानात् विरामेऽपि प्राप्तः संधिर्न भवति । विरामाभावे संधिमाह—२४ विरामादन्यत्र इति । वर्णानां परः संनिकर्षः सहिता इति तस्याः विषयः दर्शयति—संहितैकपदे इत्यादिना । अयमर्थः—विरामे एव संधिः प्रतिषेधः, धातुपसर्गयोस्तु नित्यसमुदितत्वात् समासस्यापि निरन्तरानेकपदात्मकत्वात् पदधातुपसर्गसमासानां नियमेनैकप्रयत्नोच्चार्यत्वाद्विरामाभावे नित्यः सहितेति, वाक्ये तु सर्वत्रैकप्रयत्नोच्चार्यत्वादनियमाद्विरामसद्भावाच्च सहितेति ॥ ५२ ॥ २७

रः पदान्ते विसर्गस्तयोः । पदान्ते र विसर्गं तयो इत्यन्यम् । पदान्ते इति प्रत्यासन्नत्वात् र इत्यस्य विशेषणं, तदाह—  
पदान्ते वर्तमानस्य रेफस्य इति । विसर्ग इति । ताल्योष्ठपुटचण्दीतस्य वायोर्विचर्जनं स च विसर्गं पार्थवार्तिविन्दुद्वयं रुढे । तयोः—  
तच्छब्दं पूर्ववत् परावृणति, तथा च विरामाघोषयोरिति लभ्यते । तयोर्विलम्बेकापि सप्तम्यर्पवशात् द्विषा भिद्यते, एका वैपथिकेऽधिकरणेऽप- १  
रात्वापेक्षेय इति भेदेन तद्वर्धयति—विरामे अघोषे च इति । वृक्षः, पृष्ठ इत्यादिषु “सो र”रिति यथायोग्यं सत्त्वं कृते पदान्ते वर्त-  
मानत्वेन रेफस्य विरामेऽनेन विसर्गः । क. करोति इत्यादिषु सौ, किम् कदेषे, “सो र”रिति यथायोग्यं सत्त्वं कृते पदान्ते वर्तमानत्वात्  
रेफस्य पुन शब्दावाच्यस्येति सिद्धिपि पदान्तेरेफस्य कदाचघोषे अनेन विसर्गः । क. शेते—इत्यादिषु “शपसे शयस्ये”रिति शपसना वैकल्पिक- २  
त्वादिसर्गो भवति श्वाशघोषे । कश्चरतीत्यादिषु “चटते स्रद्धितोये” इति विशेषविहितत्वेनापवादत्वात् श्वाय एवेत्याह—कश्चरति इत्यादिना,  
भवन्ति इत्यन्तेन । इत्थं—इत्यादिषु रेफस्य पदान्तेऽवर्तमानत्वाच्च विसर्गः । नापरेषां नाकुटं इत्यादिषु अन्तर्नैर्तिर्ना विभक्तिमाश्रित्य पदान्तत्वा-  
द्रेफस्य विसर्गं कृतो न भवतीत्याहुते—कथम् इत्यादिना । समाधेयं—आसिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे इत्यादिना । अन्तरङ्गे वर्णपदान्त्रये विसर्गो ३  
कर्तव्ये प्रकृत्यर्थसमये भवादौर्ध्वे प्रत्यये उत्पत्त्याय बहिरङ्गाया इदेषमयवर्णश्रयत्वादपरादेशयोश्चासिद्धत्वात् तदाश्रयस्यापि रेफस्यासिद्धत्वात्  
रेफान्तं पदमघोषे नास्तीति कथं विसर्गं इति भावः । वृक्षरारादेशाश्रयस्य—वृद्धि आदेशा आदेशश्च आश्रयो यस्य तस्य रेफस्यासिद्धत्वात्  
इत्यनन्तरं । सुष्ठ्वापि—न भवति इति शेषः । ननु गीरित्यादौ रीपाय् पूर्वमेव विरामाघोषयोरनेन विसर्गो निमित्तरेफस्याभावात् कथं “पदान्ते” ४  
२।१।६४। इति दीर्घ इत्यत आह—अन्वित्यधिकारात् इत्यादिना । अन्यथा—अन्वित्यधिकारमात्रे । “गुप्” शब्दे, “पुर्वै” हिंसाया च घातो  
“गुप्”विशुद्धिर्भ्यः क्त्वं” उ० १४३। इति क्तिप्, “भृता विहृती” ४।४।११६। इतीरादेशे च, “राहृक्” ४।१।१००। इति वलोपे, सौ, तलुकि,  
“पदान्त” इति दीर्घेऽनेन विसर्गो—री, धूसि इति सिद्ध्यतः । संजुःपु, आशीःपु—संजुषु सु, आशिसु सु इति स्थिते “संजुषु” २।१।०३। इति ४२  
“सो र”रिति च सत्त्वं पूर्ववदीधेऽनेन विसर्गः ॥ ५३ ॥

ख्यागि । अत्र र पदान्ते विसर्ग इति चाबुधयैते, पदान्ते र ख्यागि विसर्ग इत्यन्वयस्यार्थमाह—पदान्ते वर्तमानस्य 'इत्या-  
दिना । कः ख्यातः—ख्यात इति 'नक्षिक' व्याख्या वाचि, धातो "ब्रह्मो वाचि षष्ठां पृ ख्यात्" ४।४।४ इति ख्यागदितो के रूपम्, नमः ४५  
ख्याने—ख्याने इति चक्षिक ख्यानादेशे तुल्य चतुर्थ्यकत्वने रूपम्, अत्रानेन पदान्तरेफस्य ख्यागि विसर्ग । अथ किमर्थमिदं ख्यागि रेफस्य  
पदान्तत्वात् पूर्वणैव सिध्यतीति चेत्, सत्यम्, 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय'—तिन्यायात् कार्यान्तराधानन्यायसिद्धिमित्याह—पूर्वणैवेत्यादि । अत  
एव षष्ठो विसर्ग एवेत्युक्तम् । नियमफलमाह—तेन इत्यादिना । जिह्वामूलीयः—“र कस्य” १।३।५। इत्यनेनेति शेष ॥ ५४ ॥ ४८

## शिष्यघोषात् ॥ १ । ३ । ५५ ॥

अघोषात् परे शिटि परतः पदान्ते वर्तमानस्य रेफस्य विसर्ग एव भवति । पुरुषः त्सरुकः, सर्पिः प्साति, सर्पिः २ प्सातम्, वासः क्षौमम्; अङ्घ्रिः प्सातम् । इदमपि नियमार्थम्, तेन सत्वषत्वङ्गव्या न भवन्ति ॥ ५५ ॥

## व्यत्यये लुग् वा ॥ १ । ३ । ५६ ॥

शिटः परोऽघोष इति व्यत्ययः, तस्मिन् सति पदान्ते वर्तमानस्य रेफस्य लुग् वा भवति । चक्षुः श्र्योतति, पक्षे-चक्षुः ६ श्र्योतति, चक्षुः श्र्योतति; कः णीवति, कण्ठीवति, कः णीवति, चेतः स्खलति, चेतस्स्खलति, चेतः स्खलति, चक्षुः स्पन्दते, चक्षुस्स्पन्दते, चक्षुः स्पन्दते; पुनः स्पन्दते, पुनस्स्पन्दते, पुनः स्पन्दते ॥ ५६ ॥

## अरोः सुपि रः ॥ १ । ३ । ५७ ॥

१ स्वर्जितस्य रेफस्य स्थाने सुपि परे रेफ एव भवति, कार्यान्तरवाधनार्थः गीर्षुः, धूर्षुः, वार्षुः, द्वार्षुः-विसर्गसंकारौ न भवतः । अरोरिति किम् ? पयःसु, पयस्सु; अहःसु, अहस्सु । सुपीति किम् ? गीः, धूः । र इत्येव ? महत्सु ॥५७॥

## वाहर्पत्यादयः ॥ १ । ३ । ५८ ॥

१२ अहर्पत्यादयः शब्दा यथायोगमकृतविसर्गाः कृतोत्वाभावाश्च वा निपात्यन्ते । अहर्पतिः, अहःपतिः, अहङ्गतिः । गीर्पतिः, गीःपतिः, गीङ्गतिः । धूर्पतिः, धूःपतिः, धूङ्गतिः । एषु पक्षे विसर्गाभावो निपात्यते । हे प्रचेता राजन्, हे प्रचेतो राजन्-अत्र पक्षे उत्वाभावो निपात्यते । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ॥ ५८ ॥

## शिष्याद्यस्य द्वितीयो वा ॥ १ । ३ । ५९ ॥

आद्यस्य-प्रथमस्य स्थाने शिटि परे द्वितीयो वा भवति । रवीरम्, क्षीरम्; तद्गोभनम्, तच्चोभनम्, सम्राट्सु,

शिष्यघोषात् । अत्र पदान्ते र विसर्ग इति चात्रुवर्तते, अघोषात् शिटि पदान्ते र विसर्ग इत्यन्वयस्तदर्थमाह-अघोषात् १८ परे शिटि इत्यादिना । ननु र पदान्ते इत्यनेन विसर्गं सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह-इदमपि इत्यादिना । नियमफलमाह-तेन इत्यादिना । पुरुषः त्सरुकः-अत्रानेन नियमेन “चटते सद्वितीये” इति सत्त्व निषिध्यते । सर्पिः प्साति, सर्पिः प्सातम्-अत्र नियमेन “वेङ्ग-सोऽपेक्षायाम्” २।३।११। इति पत्व नियम्यते । वासः क्षौमम्-अत्र जिह्वामूलीयाभाव । अङ्घ्रिः प्सातम्-अत्रोपष्मानीयाभाव ॥ ५५ ॥

२१ व्यत्यये लुग्वा । अत्र र पदान्ते इति चात्रुवर्तते, व्यत्यये पदान्ते र लुग् वा इत्यन्वयः । व्यत्ययो नाम अभिहितनिमित्तयोः पूर्वपर-भावविपर्यय इत्याह-शिटः परोऽघोष इति । पूर्वत्र अघोषात् शिटि इत्युक्तमत्र शिटः परो योऽघोषस्तस्मिन् परे पदान्तररेफस्य लुग् वा इति विस्फुटमाभाति । चक्षुः श्र्योतति-इत्यादिषु पदान्तररेफस्य शपसविसर्जनीयादिषु प्राप्तेषु लोपोऽनेन विधीयते । पक्षे-लोपविमुक्तपक्षे शपस- २४ विसर्जनीयादयोऽपि भवन्तीत्युदाहरति-चक्षुः श्र्योतति इत्यादि ॥ ५६ ॥

अरोः सुपि रः । र इत्यनुवर्तते, तत्र अरोरिति विशेषणतया संयम्यते, तथा च-अरो र सुपि र इत्यन्वयस्तदर्थमाह-स्व-र्जितस्य इत्यादिना । ननु रेफस्य सिद्धत्वात् विधेयाप्राप्तप्रापणरूपत्वात् रेफस्य रेफविधानमनर्थकं, नतनर्थकं, नियमार्थत्वेन कार्यान्तरवाधनार्थ- २७ त्वादित्याह-रेफ एव इत्यादिना । गीर्षुः-इत्यादिषु “र पदान्तः” इति विसर्गं प्राप्नोति “शपसे शपसं वा” इति सकारश्चेत्ये तौ बाधित्वा- ३० ऽनेन रेफस्य रेफ एव क्रियते, तदाह-विसर्ग इत्यादिना । पयःसु, पयस्सु, अहःसु, अहस्सु-अत्र रो रेफस्य सत्त्वाधियमो न प्रवर्तते । गीः, धूः-सुपि परेऽभावादनेन न रेफस्य रेफ । महत्सु-अत्र सुपि परे स्वर्जितस्य रेफस्याभावात् भवति रेफ ॥ ५७ ॥

३० वाहर्पत्यादयः । एते अहर्पत्यादय इति ज्ञान शिष्टेभ्यस्तत्र च कचिदेरेफस्य विसर्गं प्राप्तं कचिदुत्त च, निपातनाच्च पक्षे तयोरेभाव इत्याह-अहर्पत्यादय इत्यादिना । यथायोगम्-योगमनतिक्रम्येत्यर्थः । अकृतविसर्गाः-न कृतो विसर्गो येषान्ते तयोका अहर्पत्यादय इति भावः । कृतोत्वाभावा-कृत उत्वाभावो येषां ते तयोका इति विग्रहः । अहर्पतिः-अहः पतिरिति विग्रहे “अह” २।१।७४। इति नकारस्य ३६ रुत्वेऽनेन पक्षे विसर्गाभावे तद्विमुक्तपक्षे द्वादेशे विसर्गं च विकल्पद्वयेन रूपत्रयम् । एव गीर्पतिरित्यादिष्वपि । विसर्गाभावः-“र पदान्तः” इति प्राप्तस्य विसर्गस्याभाव इत्यर्थः । हे प्रचेता राजन्-प्रशान्त चेतोऽस्येति विग्रहे, “गीर्षुःकाव्” १।१।४५। इत्यामन्त्यसेर्लुकि, ततो राजन्-शब्दे परे “सो व” इति रुत्वेऽनेनोत्वाभावे, “रो रे लुग्” इति रेफस्य लोपे कीर्षत्वे च सिद्ध्यति । पक्षे “घोषवति” इत्युत्वे-हे प्रचेतो ३६ राजन् । उत्वाभावः-“घोषवति” इत्युत्त्वस्याभाव इत्यर्थः । आमन्त्योदाहरणमात्रमिदं, संघोषनादन्यात्राप्युदाहार्यं, तच्च समासे एव अन्यत्र तु “अभ्वादेरत्वस्य सौ” १।४।९०। इति कीर्षत्वे विशेषाभावः । यदुत्पल-कर्मधारयात् समासान्ते प्रचेताराज । द्वाकट्यायनोऽप्याह-प्रचेतसो राजा प्रचेताराज प्रचेताराज । प्रचेता राजा अस्य प्रचेताराजा प्रचेतोऽस्येति । ननु वृत्तिप्रदर्शितेभ्योऽन्यान्थपि सन्तीति कुत एतदुच्यते-यहु- ३९ वचनसामर्थ्यात्, अन्यथाऽहर्पत्यादिरित्येकवचनेनैव निर्दिशेदित्याह-चद्वचनम् इत्यादिना । बहुवचनस्याऽऽकृतिगणार्थत्वेन वारि चरति इति विग्रहे “कचिद्” ५।१।१७१। इति डेप्रत्यये-वाचो हस इत्यत्र “चटते” इति शत्व न भवति, उपसि चुच्यते इति विग्रहे “नाम्नुमान्त्य” इति के, “घोषवति” इत्युत्त्व उर्ध्वषु इत्यत्र न भवति ॥ ५८ ॥

४२ शिष्याद्यस्य द्वितीयो वा । आद्यस्य शिटि द्वितीयो वा इत्यन्वयस्तदर्थमाह-आद्यस्य इत्यादिना । अत्रायत्न प्रतिवर्गपयक प्रथमाक्षरापेक्ष तदपेक्ष च द्वितीयत्वमिति, तेनायमर्थ-कचटतपानां क्रमेण खट्ठयथा शिटि भवन्ति । क्रमेणोदाहरति-रवीरमित्यादि । अत्र कस्य शिटि परे द्वितीय ख । तद्गोभनम्-तद् गोभनम् इति स्थिते “धुत्स्वृतीय” इति वृत्तीयत्वे, तस्य च “तवर्गस्य” इति जकारे, ४५ “अघोषे प्रथमो” इति प्रथमत्वेऽनेन तस्य द्वितीय रूपं सिद्ध्यति । सम्राट्सु-सम्राज् सु इति स्थिते, “यज्वज्” इति पत्वे, “धुत्स्वृतीय”

तवर्गस्य श्रवर्गपृथ्वर्गाभ्यां योगे चतुर्वर्गो ॥ १ । ३ । ६० ॥

[illegible]

१. कृत्ति म० म० । २. ति, ××××× तत्त्व ख० ता० इत्येति नास्ति । ३. अत्र युकारस्य इत्यादिना, मवाध् धकारेण इत्यन्तेन, ४८

भवाण्डीनः, भवाण्डीकते, भवाण्णकारेण । पूर्वेण टवर्गेण-ईष्टे । तवर्गस्य चवर्गे कृते “चजः कगम्” ॥ २ । ७ । ८६ ॥  
इति न भवति, ‘असिद्धं वहिरङ्गमन्तरङ्गे’ इति । तत्र च प्रत्ययाधिकारात् मज्जतीत्यादावपि न भवति । एवमुत्तरादि  
३ शकारस्य पत्वमपि न भवति ॥ ६० ॥

### सस्य शर्षौ ॥ १ । ३ । ६१ ॥

सकारस्य स्थाने श्रवर्गष्टवर्गाभ्यां योगे यथासंख्य शकारषकारावादेशौ भवतः । चवर्गेण-श्र्योतति, वृश्चति, मज्जति  
६ लज्जते, भृज्जति, सज्जति । षकारेण-सर्पिष्, धनुष्, दोष्, अत्र सो रुत्वं, तस्य सत्वं, सुपः पत्वं; ततोऽनेन पूर्वस्य  
पत्वम् । टवर्गेण-पापदिष, वंमणि ॥ ६१ ॥

### न शात् ॥ १ । ३ । ६२ ॥

७ शकारात् परस्य तवर्गस्य स्थाने यदुक्तं तत्र भवति, किमुक्तम् ? चवर्गः । अश्नाति, अश्नुते, विश्नाः, प्रश्नाः ॥ ६२ ॥

### पदान्ताद्वर्गादनामनगरीनवतेः ॥ १ । ३ । ६३ ॥

पदस्यान्ते वर्तमानाद्वर्गात् परस्य नामनगरीनवतिसवन्विजितस्य तवर्गस्य सकारस्य च यदुक्तं तत्र भवति,  
११ किमुक्तम् ? टवर्गषकारौ । पट्प्रत्यय, मधुलिट् तरति, मधुलिट् शुडति, मधुलिट् दुनोति, मधुलिट् धुनोति, षण्ण्याः,  
मधुलिट् सीदति, मधुलिट् साये, मधुलिट् स्यात्; मधुलिट्सु । टवर्गादिति किम् ? चतुष्टयम्, सर्पिष्टम् । पदान्तादिति

इति णकार । अद् अङ्गति-दोषान्साद् ‘अद्’ अभियोगे, धातोस्त्विति श्रुति अनेन ढकारस्य ढकार । अट्टि, अट्टते-‘अट्टि’ हिंसातिक्रमयो,  
१५ दोषान्त्वस्तोपान्तौ वा तत्र दोषान्साद् वेप्रत्यये दस्यानेन ढत्वे प्रथम, तोषान्सात् ढकारस्त्वस्यानेन । भवाण्डीनः-अज्ञानेन नस्य णो ढकार-  
योगे । भवाण्डीकते-अज्ञानेन नस्य णो ढकारयोगे । भवाण्णकारेण-अज्ञानेन णकारयोगे नस्य ण । ईष्टे-‘ईष्टिक्’ स्तुतौ, धातोस्तेप्रत्यये-  
२० ङनेन तस्य ढत्वे, ‘अधोषे प्रथमो’ इति प्रथमष्टकार । अथ तच्च शेषे मज्जति इत्यादौ “चजः कगम्” २।१।८६। इति आदेशप्रभृतयोश्चजयो  
कगौ कस्मात् भवत ? उच्यते-चजयोरसिद्धत्वादित्याह-तवर्गस्य इत्यादिना, ‘असिद्धं वहिरङ्गमन्तरङ्गे’ इति इत्यनेन । अत्र इतिर्यसादयं,  
तथाचायमर्थो लभ्यते-यसादन्तरङ्गे पदमात्राभये चस्य कत्वे क्रियमाणे तच् शेषे तत्त्वरीत्यादौ समयाभितत्वाद्दहिरङ्गत्वेनासिद्धत्वं, “चजः कगम्” इति पदमात्राभयत्वेनान्तरङ्गमिति  
२१ त्वीति, “तवर्गस्य” इति “अधोषे प्रथमो” इति चानयोरभयाभितत्वाद्दहिरङ्गत्वेनासिद्धत्वं, “चजः कगम्” इति पदमात्राभयत्वेनान्तरङ्गमिति  
२२ निवेक । ननु तच्चोपे इत्यादौ मा भूत् चस्य कत्व, मज्जति इत्यादौ ङकारस्य धुङाभय शब्द कस्मात् भवति ? इत्याह-तत्र च इत्यादिना ।  
तत्र-“चजः कगम्” इति सूत्रे षुट्प्रत्यययोग्यत्वे, अत्र हि धुटि परे सत्वेऽपि तस्य प्रत्ययत्वाभावात् भवति । प्रत्ययाधिकारात्-“गढवदेव”  
२।१।७७। इत्यादात् प्रत्यये इत्यस्याधिकारादित्यर्थः । मज्जति इत्यादावपि न भवति-तेन सूत्रेण गत्वमिति शेषः । पत्वम्-पूर्ववद् “चजः  
२४ कगम्” २।१।८७। इति सूत्रेऽपि प्रत्ययाधिकारादिति भावः । उत्तरत्रापि-“सस्य शर्षौ” इत्यत्रापि, शकारस्य-इषवीत्यादौ तद्विहितशकारस्ये-  
त्यर्थः । पत्वमपि न भवति-“यजस्व” इत्यनेन धुङाभित पत्वं प्रत्ययाभावात् भवति इत्यर्थः ॥ ६० ॥

सस्य शर्षौ । सस्येति स्थाननिर्देशात्तवर्गस्येति निवृत्तम्, शर्षाविति च निर्देशात् चटवर्गविलस्य, शेष त्वनुवर्तते श्रवर्गष्टवर्गाभ्या  
२७ योग इति । यथासंख्यमपि पूर्ववद्दोषव्यमिषाह-सकारस्य स्थाने इत्यादिना । श्र्योतति-श्र्युतेति, श्रुति, षण्ण्याद्युगे, अनेन चवर्गयोगे  
सस्य श । वृश्चति-‘औत्रशौच’ छेदने, धातोस्त्विति, श्रुति, सस्यानेन श्रुति । मज्जति-मज्जतेति, श्रुति, षण्ण्याद्युगे, अनेन चवर्गयोगे  
ज । एव लज्जते इत्यादिपि । सर्पिष्-सर्पिष् षुट् इतिस्थिते वृत्तौ कृता रूपसिद्धिर्बोद्धव्या । अत्र सो रुत्वं-“सो रु” हिस्यनेन, “नासिद्ध”  
३० इत्यनेन पदान्तात्वात् । तस्य सत्वं-पदान्तेऽप्यस्य “शपसे शपसं वा” इति सत्वम् । सुपः पत्वं-“नाम्यन्तस्था” २।१।१५। इत्यनेनिति शेषः ।  
ततोऽनेन-“सस्य शर्षौ” इत्यनेनेति भावः । पूर्वसस्य-सर्पिस् इत्यत्र सस्येत्यर्थः । एव धनुष् इत्यादयः । पापट्पि, वंमणि-“पट्” गतौ  
कुटिल पटसि, ‘मण’ शब्दे ष्च मणसि इति चार्थः, अत्र “गल्यर्षात्” ३।४।११। इति “व्यञ्जनादे” ३।४।१। इति च यदि द्वित्वे, “आगुणा-  
३३ वन्यादे” २।१।४८। इति आत्वे, “सुरतोऽनुनासिकस्य” ४।१।५। इति न्यागमे, “तौ मुमो व्यञ्जने” इत्यनेनानुसारे सस्य टवर्गयोगे प ॥ ६१ ॥

न शात् । अत्र तवर्गसेल्यनुवर्तते, सस्येत्तस्यवाच्यं सवन्विते, शात् तवर्गस्य न इत्यन्वयः । नेति प्रतिषेधोऽप्य प्रातिपूर्वक एव  
भवतीति शकारात् परस्य कार्येण शकारेणैव योगे यत्कार्यं प्राप्नोति तदेव निविध्यते, तदाह-शकारात् परस्य इत्यादिना । किमु-  
३३ कम्-शकारात् परस्य तवर्गस्य किं कार्यमुक्तमिति प्रश्नार्थः । समाधत्ते-चवर्गे इति । अश्नाति, अश्नुते-‘अश्नात्’ भोजने, ‘अशाटि’  
व्याप्तौ आभ्या त्विति, वेप्रत्यये च आशुप्रत्यये रूपे, भवत, अज्ञानेन शात् परस्य नस्य प्राप्तयवर्गो निविध्यते ॥ ६२ ॥  
‘विच्छे’ ‘प्रच्छे’ च नञि नेप्रत्यये च छस्य शब्दे च रूपे, अज्ञानेन शात् परस्य नस्य प्राप्तयवर्गो निविध्यते ॥ ६२ ॥

पदान्ताद्वर्गादनामनगरीनवतेः । उत्तरत्र तवर्गस्येति मणत्वात् तवर्गस्य सस्य चेति लभ्यतेऽत्र । अनामनगरीनवते-  
३५ दन्वर्गमेनन्तस्युपपाद पठौ । न इति अनुवर्तते, पदान्तात् टवर्गात् अनामनगरीनवते तवर्गस्य सस्य च न इत्यन्वयस्तदर्थमाह-पदस्यान्ते  
इत्यादिना । किमुक्तम्-पदान्तात् टवर्गात् परस्य तवर्गस्य सस्य च किं कार्यमुक्तमित्यर्थः । टवर्गादुत्तरस्य तवर्गस्य सकारस्य च टवर्गषकारावेव  
३६ प्राप्तु इत्याह-टवर्गषकारौ इति । पट्प्रत्यय, मधुलिट् तरति-मधु लिटि इति विग्रहे, किप, सी हस्य ढत्वे, तस्य  
ट्वीयत्वे, तस्य प्रथमत्वे, “तवर्गस्य” इति तकारस्य ढकारोऽनेन प्रतिपिच्यते । मधुलिट् तरति-मधु लिटि इति विग्रहे, किप, सी हस्य ढत्वे, तस्य  
ट्वीयत्वे च तस्य प्रथमत्वेऽनेन निषेधः । एवमन्यात्रापि । पण्ण्याः-अत्र ढकारस्य “ट्वीयस्य” इति णत्वे सत्त्वात् परस्य नस्य पूर्वत्र टवर्गयोगे  
३७ पूर्वेण प्राप्त णत्वमनेन निविध्यते । मधुलिट् सीदति-अत्र “सस्य शर्षौ” इति सकारस्य षकार प्रातोऽनेन प्रतिपिच्यते । एव मधुलिट् चाये  
इत्यादि । चतुष्टयम्-चत्वारोऽवयवा आस्य तदित्यर्थः, “अवयवात्तयद्” इति तस्मिन् पदान्तेऽप्यस्य “चटवे” इति सकारे तस्य “एमाप्तावति”  
३८ २।३।३४। इति षकारस्य योगे तकारस्य “तवर्गस्य” इति ढकार, अनेन निषेधस्तु न, टवर्गादित्युक्ते षकारात् प्रतिषेधमात्र । सर्पिष्टम्-



किम् ? इहे । अनामनगरीनवतेरिति किम् ? पण्णाम्, पण्णगरी; पण्णवतिः । नामित्याऽऽमादेशस्य ग्रहणादिह प्रतिषेधो भवत्येव-पह्नाम ॥ ६३ ॥

वि तवर्गस्य ॥ १ । ३ । ६४ ॥

३

पदान्ते वर्तमानस्य तवर्गस्य स्थाने षकारे परे यदुक्तं तत्र भवति, किमुक्तम् ? टवर्गः । तीर्थकृत् षोडशः शान्तिः, भवान् पण्डः । धीति किम् ? तद्विकृते । तवर्गस्येति किम् ? सर्पिषु ॥ ६४ ॥

लि लौ ॥ १ । ३ । ६५ ॥

६

पदान्ते वर्तमानस्य तवर्गस्य स्थाने लकारे परे स्थान्यासन्नावनुनासिकाननुनासिकौ लकारौ भवतः । तल्लुनाति, मवाल्लुनाति । “आसन्नः” ॥ ७ । ४ । १२० ॥ इत्येव सिद्धे द्विवचनमन्यत्राऽनुनासिकस्यापि स्थानेऽनुनासिकार्थम्, तेन “वाष्टन आः स्यादौ” ॥ १ । ४ । ५२ ॥ इत्यादावननुनासिक एव भवति ॥ ६५ ॥

९

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां श्रीसिद्धहेमचन्द्राभिधानस्योपब्रह्मव्याख्यासंनतत्त्वप्रका-

शिकावृत्तौ प्रथमस्याध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ॥ ३ ॥

चक्रे श्रीमूलराजेन नवः कोऽपि यशोऽर्णवः ।

१२

परकीर्तिस्रवन्तीनां न प्रवेशमदत्त यः ॥ ३ ॥

एव सर्पिषो भाव इति विग्रहे त्वे रूपम् । इहे—अत्र पदान्तादुवर्गात् परत्वमावात्तकारस्यानेन टकारनिषेधो न भवति । पण्णाम्—यप आम- “संख्यानां षाम्” १।४।३३ इति नामादेशो षकारस्य ङकारे तस्यानुनासिके “तवर्गस्य” इति नाम्नो नकारस्य णत्वम्, प्रतिषेधाभावस्तु “अना- १५ भगरीनवतेरिति वचनात् । पण्णगरी—पण्णा नगराणामिति समाहार, “द्विनो समाहारात्” २।४।२२ इति ङया अनुनासिके “तवर्गस्य” इति णत्व, प्रतिषेधाभावात् । पण्णवतिः—पञ्चदशिका नवतिरित्यर्थ, अत्र य आमादेशो नाम् तस्यैवार्थवत्वात् “प्रत्ययाप्रत्यययो प्रत्ययस्यैवे”ति न्यायाद्वा ग्रहणमित्याह—नामित्यामादेशस्य इत्यादिना । पह्नाम—अत्र अचान्तस्य धवन्तस्य च नमतेरवयवो नाम् इति प्रतिषेधो “पदा- १८ न्तात्” इति भवत्येव ॥ ६३ ॥

वि तवर्गस्य । अत्र पदान्तादिलुप्तं ‘अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम’ इति न्यायेन ध्वनन्ततया विपरिणम्यते, न इत्यनुवर्तते, पदान्तस्य तवर्गस्य वि न इत्यन्वयस्यदर्थमाह—पदान्ते वर्तमानस्य इत्यादिना । षकारे परे तवर्गस्य टवर्ग एव प्राप्नोतीति प्रश्नपूर्वकमाह— २१ किमुक्तम् इत्यादि । समाधत्ते—टवर्ग इति । तीर्थकृत् षोडशः शान्तिः—तीर्थ करोतीति क्तिप्, तागमे तीर्थकृत्, षोडश—“एकादश” ३।२।९१ इति निपातनात् भवति, अत्र तवर्गस्य टवर्गो न भवति षकारयोगेऽनेन प्रतिषेधात् । भवान् पण्डः—अत्र तवर्गस्य न टवर्गोऽनेन प्रतिषेधात् । तद्विकृते—अत्र तवर्गस्येति टल्लु नानेन निषिध्यते, षकारे परेऽभावात् । सर्पिषु—सर्पिस् इति स्थिते “सो ऋ” इति रुत्वे २४ पदान्तरेफस्य “शषसे शषसं वा” इति सत्वे, “नाभ्यन्तस्या” इति रुप पत्वे, “तवर्गस्य” इति वचनात् प्रतिषेधाभावात् प्रकृतिसकारस्य “सस्य शषौ” इति प्रकार ॥ ६४ ॥

लि लौ । पदान्त इति तवर्गस्येति चानुवर्तते, पदान्तस्य तवर्गस्य लि लौ इत्यन्वयस्यदर्थमाह—पदान्ते वर्तमानस्य इत्यादिना । २७ तल्लुनाति, मवाल्लुनाति—तदल्लुनाति, भवान् लुनाति इति स्थितेऽनुनासिकाननुनासिकौ लकारौ भवत । अथ किमर्थं सूत्रे लौ इति द्विवचन भवाल्लुनातीत्यादौ अनुनासिकस्य तवर्गस्य स्थानेऽनुनासिको लकारो यथा स्यादित्येवमर्थम्, यथेव न कर्तव्य, ल इति सामान्यमात्रोपादानेऽपि “आसन्नः” इत्यनुनासिकस्य स्थानेऽनुनासिकोऽनुनासिकस्य चाऽनुनासिको लकारो भवित्यतीत्याह—“आसन्नः” ७।४।१२० इत्येव सिद्धे ३० इत्यादिना । द्विवचनम्—लौ इति द्विवचनमिति भाव । अन्यत्र—एतद्व्यतिरिक्तस्थले । आसन्न इत्येव सिद्धे द्विवचनम् किमर्थं ? इति पूर्वपक्षः । समाधत्ते—अन्यत्राऽनुनासिकस्यापि स्थानेऽनुनासिकार्थम्—द्विवचनमिति शेष । ज्ञापनफलमाह—तेन इत्यादि । अननुनासिक एव इति । विपरीतमित्यस्तु निरनुनासिकस्य सानुनासिक इति “हृदयस्य हृदयस्य” ३।२।९४ इत्यत्र हृदयस्येति करणान् भवति, अन्यथा ३४ ह्रस्वस्य इत्यनिष्ट स्यात् । अप्रसिद्धं चैतज्ज्ञापकम्, तेन “समानानां तेन धीर्घ” इत्यादौ “आसन्नः” एव भवतीति ॥ ६५ ॥

चक्रे इत्यादि । श्रीमूलराजेन—तन्नाम्रा भूषिता, नवः—अमिनव, क. अपि—अतिवेचनीयोऽपि, यशोऽर्णवः—कीर्तनवीरपति, चक्रे—निर्मेने । मूलराजमहीपतेर्यशोऽर्णवस्यानिर्वचनीयत्वे हेतुमाह—य इत्यादि । य.—पूर्वोक्तस्य रूपस्य यशोर्णव, परकीर्तिस्रवन्तीना—वैरि- ३६ भूषणकीर्तिविभ्रगानां, प्रवेश—सगम, न अदत्त—न ददावित्यर्थ । अयमाव—जगति निश्चुतस्य महोदधेर्नदनवीरपतित्वमन्यासा नदीनां सगमेन, अस्य तु भूपतेर्यशोर्णवस्यैवैवधिव्यमन्यकीर्तिनवीप्रवेशादानेन इति ततो महद्वैलक्षण्यमस्य यशोऽर्णवस्येति तत्त्वम् ॥ ३ ॥

इति श्रीमत्पागच्छागगाहमणिगीतायैषार्वंगोमाऽऽगमोद्धारकेशोलात्पतिपरिपूजितपादारविन्दभाग्योदयसमिति—षट्समानजैनागममन्दि- ३९ रायनेकशासनहितवर्धकस्यभिर्नागोपदेशकमध्वरकुलमूर्धन्यश्री १००८ आनन्दसागरसूरीश्वराणां साम्राज्ये तत्परणविलीनमानसेनानवाप्त- चवपदीयूपानोयतमव्यभावभावोद्घोषस्यौदयश्रीसिद्धचक्र-नयपदाराधकसमाचारिनिविधस्यस्थास्यपुर्केन श्रीवर्द्धमानतपोनिष्पातेन श्रीसिद्धचक्रा- राधन-तीर्थोद्धारकेण वैयाकरणकेसरिणा पण्ड्यासप्रवरश्रीचन्द्रसागरगणीन्द्रेण विरचितायां श्रीसिद्धहेमचन्द्रसूत्रवृत्तित्यासरत्नाकरावतारि- ४२ कायामाऽऽनन्दबोधिनीयां प्रथमस्याध्यायस्य व्यञ्जनसंक्षिप्तप्रकरणं नाम तृतीय पादः ॥ ३ ॥



किम् ? ईहे । अनामनगरीनवतेरिति किम् ? पण्णाम्, पण्णगरी; पण्णवतिः । नामित्याऽऽमादेशस्य ग्रहणादिह प्रतिषेधो भवत्येव-पह्णाम ॥ ६३ ॥

वि तवर्गस्य ॥ १ । ३ । ६४ ॥

३

पदान्ते वर्तमानस्य तवर्गस्य स्थाने पकारे परे यदुक्तं तन्न भवति, किमुक्तम् ? टवर्गः । तीर्थकृत् षोडशः शान्तिः, भवान् षण्डः । पीति किम् ? तट्टीकते । तवर्गस्येति किम् ? सर्पिण्यु ॥ ६४ ॥

लि लौ ॥ १ । ३ । ६५ ॥

६

पदान्ते वर्तमानस्य तवर्गस्य स्थाने लकारे परे स्थान्यासन्नावनुनासिकाननुनासिकौ लकारौ भवतः । तल्लुनाति, भवाल्लुनाति । “आसन्नः” ॥ ७।४।१२० ॥ इत्येव सिद्धे द्विवचनमन्यत्राऽनुनासिकस्यापि स्थानेऽननुनासिकार्थम्, तेन “वाधन आः स्यादौ” ॥ १।४।५२ ॥ इत्यादावननुनासिक एव भवति ॥ ६५ ॥

९

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां श्रीसिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपशब्दानुशासनतत्त्वप्रकाशिकावृत्तौ प्रथमस्याध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ॥ ३ ॥

चक्रे श्रीमूलराजेन नवः कोऽपि यशोऽर्णवः ।

१२

परकीर्तिस्रवन्तीनां न प्रवेशमदत्त यः ॥ ३ ॥

एव सर्पिषो भाव इति विग्रहे त्वे रूपम् । ईहे—अत्र पदान्ताद्वर्गात् परत्वाभावात्तत्कारस्यानेन टकारनिषेधो न भवति । पण्णाम्—पप आम-“सख्याना ष्याम्” १।४।३३ इति नामादेशे पकारस्य टकारे तस्यानुनासिके “तवर्गस्य” इति नाम्नो नकारस्य णत्वम्, प्रतिषेधाभावस्तु ‘अना- १५ नगरीनवतेर’ति वचनात् । पण्णगरी—षण्णां नगराणामिति समाहार, “द्विगो समाहारात्” २।४।२२ इति इषा अनुनासिके, “तवर्गस्य” इति णत्व, प्रतिषेधाभावात् । पण्णवति—पद्धिरधिका नवतिरित्यर्थ, अत्र य आमादेशो नाम् तस्यैवार्थत्वात् ‘प्रत्ययाप्रत्यययो प्रत्ययस्येति’ न्यायाद्वा ग्रहणमित्याह—नामित्यामादेशस्य इत्यादिना । पह्णाम—अत्र अत्रन्तस्य घवन्तस्य च नमतेरवयवो नाम् इति प्रतिषेधो “पदा- १८ न्तात्” इति भवत्येव ॥ ६३ ॥

वि तवर्गस्य । अत्र पदान्तादित्यनुवृत्त ‘अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम’ इति न्यायेन षष्ठ्यन्ततया विपरिणम्यते, न इत्यनुवर्तते, पदान्तस्य तवर्गस्य वि न इत्यन्वयस्तदर्थमाह—पदान्ते वर्तमानस्य इत्यादिना । पकारे परे तवर्गस्य टवर्ग एव प्राप्नोतीति प्रश्नपूर्वकमाह—२१ किमुक्तम् इत्यादि । समाधत्ते—टवर्ग इति । तीर्थकृत् षोडशः शान्तिः—तीर्थ करोतीति किपि, तागमे तीर्थकृत्, षोडश—“एकादश” ३।२।९१ इति निपातनात् भवति, अत्र तवर्गस्य टवर्गो न भवति पकारयोगेऽनेन प्रतिषेधात् । भवान् षण्डः—अत्र तवर्गस्य न टवर्गोऽनेन प्रतिषेधात् । तट्टीकते—अत्र तवर्गस्येति टत्व नानेन निषिध्यते, पकारे परेऽभावात् । सर्पिण्यु—सर्पिस् सु इति स्थिते “सो व” इति कृत्वे २४ पदान्तरेफस्य “षषसे शषस वा” इति सत्वे, “नाभ्यन्तस्था” इति सुप पत्वे, “तवर्गस्य” इति वचनात् प्रतिषेधाभावात् प्रकृतिसंस्कारस्य “सस्य शषी” इति पकार ॥ ६४ ॥

लि लौ । पदान्त इति तवर्गस्येति चानुवर्तते, पदान्तस्य तवर्गस्य लि लौ इत्यन्वयस्तदर्थमाह—पदान्ते वर्तमानस्य इत्यादिना । २७ तल्लुनाति, भवाल्लुनाति—तदल्लुनाति, भवान् लुनाति इति स्थितेऽनुनासिकाननुनासिकौ लकारौ भवत । अथ किमर्थं सूत्रे लौ इति द्विवचन भवाल्लुनातीत्यादौ अनुनासिकस्य तवर्गस्य स्थानेऽनुनासिको लकारो यथा स्यादित्येवमर्थम्, यथेव न कर्तव्य, ल इति सामान्यमात्रोपादानेऽपि “आसन्न” इत्यनुनासिकस्य स्थानेऽनुनासिकोऽननुनासिकस्य चाऽननुनासिको लकारो भविष्यतीत्याह—“आसन्न” ७।४।१२० इत्येव सिद्धे ३० इत्यादिना । द्विवचनम्—लौ इति द्विवचनमिति भाव । अन्यत्र—एतद्व्यतिरिक्तस्थले । आसन्न इत्येव सिद्धे द्विवचनम् किमर्थं ? इति पूर्वपक्ष । समाधत्ते—अन्यत्रानुनासिकस्यापि स्थानेऽननुनासिकार्थम्—द्विवचनमिति शेष । शापनफलमाह—तेन इत्यादि । अननुनासिक एव इति । विपरीततियमस्तु निरनुनासिकस्य सानुनासिक इति “हृदयस्य हृत्तास” ३।२।९४ इत्यत्र हृत्तासेति करणञ भवति, अन्यथा ३३ हृत्तास इत्यनिष्ट स्यात् । अधिक चैतज्ज्ञापकम्, तेन “समानानां तेन वीर्य” इत्यादौ “आसन्न” एव भवतीति ॥ ६५ ॥

चक्रे इत्यादि । श्रीमूलराजेन—तथात्रा भूपतिना, नवः—अधिनव, कः अपि—अनिर्वचनीयोऽपि, यशोऽर्णवः—कीर्तिनरीपति, चक्रे—निर्ममे । मूलराजमहीपतेर्यशोऽर्णवस्यानिर्वचनीयत्वे हेतुमाह—य इत्यादि । यः—पूर्वोक्तस्य चपस्य यशोर्णव, परकीर्तिस्रवन्तीनां—वैरि- ३६ भूराजकीर्तिनिग्रगानां, प्रवेश—संगम, न अदत्त—न ददावित्यर्थ । अयमाव—जगति विश्रुतस्य महोदधेर्नदनरीपतिवमन्यासा नवीना सगमेन, अस्य तु भूपतेर्यशोर्जलधेर्जलधित्वमन्यकीर्तिनरीप्रवेशादनेन इति ततो महद्वलक्षणमस्य यशोऽर्णवस्येति तत्त्वम् ॥ ३ ॥

इति श्रीमत्पागच्छगगनाहर्षमणिश्रीतार्थसावेमामाऽऽगमोद्धारकशैलानाट्टपतिपरिपूजितपादारविन्दआगमोदयसमिति—वर्द्धमानजैनागममदि- ३९ राशनेकशसनहितवर्षकस्येतिनिर्माणोपदेशकमहाराजककुलमूर्दन्यश्री १००८ आनन्दसागरसूरीश्वराणां साम्राज्ये तत्परणनिजीनमानसेनानवाप्त-नचपदपीयूषपानोद्यतमन्यभावभावोद्दोषस्योदयश्रीसिद्धचक्र—नवपदाराधकसमाजादिविविधसंस्थासंस्थापकेन श्रीनर्द्धमानतपोनिष्ठातेन श्रीसिद्धचक्रा-राधन—तीर्थोद्धारकेण वैशाकरणकेसरिणां पद्म्यासप्रवरश्रीचन्द्रसागराणीन्द्रेण विरचितायां श्रीसिद्धहेमचन्द्रसूत्रश्रुतिन्यासरत्नाकरावतारि- ४२ कायामाऽऽनन्दबोधिण्या प्रथमस्याध्यायस्य व्यञ्जनसहिप्रकरणं नाम तृतीयः पादः ॥ ३ ॥



अत इत्येव ? मुनिभिः, शालाभिः, वृक्षैः । स्यादेतित्येव ? चैत्रमिस्सा, ओदनमिस्सा ॥ २ ॥

इदमदसोऽक्येव ॥ १ । ४ । ३ ॥

इदम् अदस् इत्येतयोरक्येव सत्यकारात् परस्य भिस् ऐस् भवति । इमकैः, अमुकैः । अक्येवेति किम् ? एभिः, अमीभिः । पूर्वैणैव सिद्धे नियमार्थमिदम्, एवकारस्त्वष्टावधारणार्थः ॥ ३ ॥

एद्वहुस्मोसि ॥ १ । ४ । ४ ॥

बह्वर्थविषये सकारादौ मकारादावोसि च स्यादौ परेऽकारस्य एकारादेशो भवति । एपु, एपाम्, अमीपाम्, सर्वे-  
पाम्, एभिः, एभ्यः, वृक्षेभ्यः, श्रमणयोः, सयतयोः । वहिति किम् ? वृक्षस्य, वृक्षाभ्याम् । स्मोसीति किम् ? सर्वे । अत  
इत्येव ? साधुषु, साधुभ्यः, खट्वासु, खट्वाभ्यः, अग्न्योः, दृषदोः ॥ ४ ॥

टाडसोरिनस्यौ ॥ १ । ४ । ५ ॥

अकारात् परयोः टाडसोः स्याद्योः स्थाने ययासह्यं इन स इत्येतावादेशौ भवतः । वृक्षेण, अतिजरेण, वृक्षस्य;  
अतिजरस्य । अत इत्येव ? अतिजरसा, अतिजरसः—अत्र परत्वात्त्रित्वाच्च प्रागेव जरसादेशे कृते अकारान्तत्वाभावाः, अन्ये

स्त्वयोर्दिमान्त्वान्नोषादिति भावः । गोनर्दयि आह—इष्टमेवैतत्सगृहीतं भवति, अतिजरेरिति भवितव्यम्, सत्यमेतस्या परिमापायां ‘चनिपात १२ लक्षणम्’ इत्यादि “जराया जरन्त्यतरस्याम्” पा० ७।२।१०।१। इति सूत्रे भाष्ये तदुक्ते । गोनर्द(गोंडा)दिशवासी स एवेति सनामब्राह्मणमुख्य खेष्टत्वं ध्वनयति । अत इत्युद्धृष्टिकलमाह—अत इत्येव ? मुनिभिः—अत्रेकारात् परस्य भिस् ऐस्त्व न भवति । शालाभिः—शीर्षाकारात् परस्य भिस् ऐस्त्वञ्च । वृक्षैः—वृक्षजाता परस्य भिस् न भवत्येस्त्वम् । स्यादेतित्यधिकारप्रयोजनमाह—स्यादेतित्येव ? चैत्रमिस्सा, ओद- १५ नमिस्सटा इति । ‘प्याङ्’ भक्षणे, धातोर्भिपूर्वात् “उपसर्गादात्” ५।३।११०। इत्यङि षृपोदरादिवाद्भेरकारलोपे पस्य सकारे, आपि, एकत्र टागेने मिस्सा मिस्सटा इति भवत्तत्तत् चैत्रोदनयो समास, अत्र स्यादधिकाराच्च भिस् स्यादेति । ननु विनापि स्यादधिकारे ‘अर्थवद्बहुणे नानर्थक्यस्य’ इति न्यामाद् भिस्सामिस्सटाशब्दयोरेकदेशस्य भिस्सोऽनर्थकत्वादस्य न भविष्यति, सत्यम्, अविच्छेदाच्च स्यादधिकार स चे- १८ द्रासुवर्तमान ‘अर्थवद्बहुणे नानर्थक्यस्य’ इत्येतद्व्यायानपेक्ष विधिष्टस्यैव भिस् ऐसादेश नियमयतीत्येतदर्थं नायमपेक्षणीय इति । अपेक्षमाणश्च न्यायो गौरवमादायति अतिसंयति ॥ २ ॥

इदमदसोऽक्येव । अत्र भिस् ऐस् अत इति चानुवर्तते । इदमदस् इति समाहारद्वन्द्वान्वस् । इदमदसोऽक्येवातो भिस् ऐस् इत्यन्व २१ यस्तदर्थमाह—इदम्, अदस् इत्येतयोः । इत्यादिना । इमकैः, अमुकैः—इदमदसुशब्दाभ्यां भिति “आद्वर” २।१।४।१। इत्यत्वे, “लुग- स्यादेत्यपदे” २।१।११३। इत्यकारलोपे, “स्यारिस्वोदे स्वरिष्व०” ७।३।२९। इत्यङि, “दो म स्यादौ” २।१।३९। इति “मोऽवर्णस्य” २।१।४५। इति च दस्य मत्वे, “माद्वर्णोऽनु” २।१।४७। इत्युत्वेऽनेन भिस् ऐस्त्वे, “ऐदोत् सन्ध्यश्चरै” १।२।१२। इत्येत्वम् । अक्येवेति किम् ? २४ नियमस्य किं प्रयोजनमित्यर्थः । एभिः—इदमो भिति “अनक्” २।१।३६। इत्यदादेशे, “एद्वहुस्मोसि” इत्येत्वम्, अत्रानेन नियमेन भिस् ऐस्त्व पूर्वैण प्राप्तं न भवति । अमीभिः—अदसुशब्दाद्विति “आद्वर” इत्यत्वे, “मोऽवर्णस्य” इति दस्य मत्वेऽनेन नियमेन भिस् ऐस्त्वभावे “एद्वहु- स्मोसि” इत्येत्वे, “बहुष्वेरी” २।१।४९। इतीकार । पूर्वैणैव सिद्धे इत्यादि । अयमाशय—इमकैरमुकैरित्यत्र “भिस् ऐस्” इत्यनेनैस्त्वे २७ ‘खिद्धे खलारन्मो नियमार्थे’ इति न्यायेन सूत्रमिदमिदमदसोऽङि सत्येवैव इति नियमयति, नियमफल प्रागुपदर्शितम् । ननु तेन न्यायेनाव- धारणस्य लक्षणात्तदर्थं एवकारोऽनर्थक इत्याह—एवकारस्तु इत्यादि । अयमर्थ—अक्येवेत्यत्रैवकारमन्तरौण इदमदस एवेत्यपि नियम स्यात् स चाभिष्ट इति, तत तर्कविक्रैरित्यादि सिद्धमन्यथा इदमदस एव अङि ऐस्त्वेऽत्र तदभाव स्यात् । इष्टावधारणार्थे इति । इष्टस्य ३० नियमस्य अवधारणेत्यर्थः ॥ ३ ॥

एद्वहुस्मोसि । सद्य मद्य स्मौ बहुषु स्मौ च ओसु च इत्यनयो समाहारस्तत् सप्तम्या एकवचनम् । अत इति स्यादविति चानुवर्तते, बहुस्मोसि स्यादौ अत एव इत्यन्वयस्तदर्थमाह—बह्वर्थविषये इत्यादि । सकारादौ इत्यर्थं “सप्तम्या” आदिरित्यादिपदोन्- ३६ स्थित्या । एपु, एपाम्—इदमशब्दात् सप्तमीबहुवचने षष्ठीबहुवचने च एकत्र “अवर्णस्याम साम” १।४।१५। इति नामपवाचसामादेशे, “अनक्” इत्यादादेशे, “एद्वहुस्मोसि” इत्येत्वे, “नाम्यन्तस्था०” इति धत्वम् । अमीपाम्—अदसशब्दादामि अत्वादाौ सामादेशेऽनेन एत्वे इत्येव च धत्वम् । सर्वेपाम्—सर्वशब्दादामि सामादेशेऽनेन एत्वे धत्वम् । एभिः—इदमो भिति अदादेशेऽनेनैत्वम् । एभ्यः—इदमशब्दाद्भवति अने ३६ नैत्वम् । एव वृक्षेभ्य इत्यादि । श्रमणयोः—श्रमणशब्दात् षष्ठीसप्तम्योर्द्विवचने ओसि एत्वे चायादेशः । एव संयतयोः इत्यादि । वृक्षस्य- वृक्षशब्दात् “टाड्यो” १।४।५। इत्यनेन अस्य स्याऽऽदेशः, वृक्षाभ्याम्—एव भ्यामि “अत आ स्यादौ” इत्याकार, अनयोर्वह्वर्थविषय- सकारावभावादेत्याभावात् । सर्वे—सर्वशब्दाद्विति “जस इ” १।४।९। इति जस इकारादेशे “अवर्णसेवर्णादिना०” इत्यादादेशः, अत्र बह्वर्थ- ३९ विषये स्यारदिसादेर्वर्तमानत्वेन सकारावभावादेत्याभावात् । अत इत्यधिकारात् साधुष्वित्यादौ उकारस्य बह्वर्थविषयसकारादावप्येत्वं न भवति, अत आह—अत इत्येव ? साधुषु—साधुशब्दात् षुपि धत्वेऽनेन न भवत्येत्वम् । साधुभ्यः—साधुशब्दाद् भ्यति बह्वर्थविषयसकारादौ स्यादौ परेऽकाराभावात्त्वम् । खट्वास्तु—खट्वाशब्दात् षष्ठीसप्तम्योर्द्विवचने सकारादौ स्यादौ परे आकारस्य एत्वं न भवति । एव भ्यसि—४२ खट्वाभ्यः । अग्न्योः—अग्निशब्दात् षष्ठीसप्तम्योर्द्विवचने “इवर्णोदे०” इति यत्वम्, दृषदोः—दृषदशब्दादोसि रूपम्, अनयोरोसि प्रत्यये परे इकारस्य एकत्र व्यञ्जनस्य च सत्त्वेन एत्वं न भवति ॥ ४ ॥

टाडसोरिनस्यौ । अत इति स्यादौ इति चानुवर्तते । टा च ऋस् च इत्यनयोर्द्वन्द्वत्वात् षाष्ठा द्विवचनम्—टाडसोरिति । इनस्यौ इति ४५ द्वन्द्व कृत्वा तत प्रथमाद्विवचनम् । अत स्याद्यो टाड्यो इनस्यौ इत्यन्वयस्तदर्थमाह—अकारात् इत्यादिना । आदेशाऽऽदेशिनो समसक्यका- त्वेन ययासह्यलान्न इत्यत आह—ययासह्यम् इति । वृक्षेण—वृक्षशब्दात् टायायनेन इनादेशे “अवर्णसे०” इति एत्वे च धत्वम् । एवमति- जरेण । वृक्षस्य—अत्र वस्य स्याऽऽदेशः । एवमतिजरस्य । अत इत्यनुवर्तनादाह—अत इत्येव ? इति । अतिजरसा, अतिजरस इति । ४८ अतिजरशब्दात् टाड्योरिनस्यौ कृतौ न भवति इत्याह—अत्र परत्वात् इत्यादिना । अयमर्थ—वृक्षेण, वृक्षस्य, जरसावित्यादौ “टाड्योरिनस्यौ” इति

तु प्रागेवेनाऽऽदेशं संनिपातलक्षणन्यायस्यानित्यत्वाश्रयणात् पश्चाद्वरसादेशं चेच्छन्तोऽतिजरासिनेत्यपि मन्यन्ते ॥ ५ ॥

हेहस्योर्थात् ॥ १ । ४ । ६ ॥

अतस्मात् परयोर्हेह इत्येतयोर्न्यायसत्त्वं य आत् इत्येतावादेशौ भवतः । वृक्षाप, वृक्षात्, अतिजराय, अतिजरात् । अत इत्येव ? अतिजराय, अतिजरात् । केचित्तु प्रागेवादादेशे जरासादेशमिच्छन्तोऽतिजरासादित्यपि मन्यन्ते ॥६॥

सर्वादेः स्मृतातो ॥ १ । ४ । ७ ॥

सर्वादेरन्तरात्तस्य संनिधनोर्हेहस्योर्न्यायसत्त्वं सौ स्मात् इत्येतावादेशौ भवतः । सर्वस्यै, परमसर्वस्यै; सर्वस्मात्, परमसर्वस्मात्; असर्वस्यै, असर्वस्मात्; किसर्वस्यै, किसर्वस्मात्, एव विश्वस्यै, विश्वस्मात् । उभयशब्दस्य द्विवचन-

“अतस्मात् अतः” इति कर्माधारादितात्पर्यादिजरादेशे च युगपदन्तरात्पदस्यैव पदवात् एतेऽपि प्रातिरुक्तेऽपि च प्रातिरिति कृताकृतप्रस-  
ङ्गात् नित्यत्वात् प्रागेव जरादेशे एतेऽकृतान्तात्मावादिनायादेशाभावात् इति । अत्र विनये वृत्तिरुल्लेखित मतान्तरमाह—अन्ये तु—आवा-  
येनातिप्रसङ्गात् प्राति । “आवायेनाति” इति एतेनाऽऽदेशविधानेनैव वृत्तेनेत्यादिषुपठयित्वा इनादेशविधानेन प्रमाणसिद्धमिवादिमतं प्राप्ति-  
रिति प्रातिपत्तिमाह तौ प्रातिपत्तिमाह इति प्रदर्शयत्, भाष्येतरपुस्तकेति जयादित्यद्वयान्ताम् इत्युक्तं, सुप्रसृतं इदं मतं वामनस्यैव  
१२ भारणीयम् । परमत् इत्येतेतरापी “एद्वहुरमोति” इत्यत्र टाप्प्राप्तिप्रक्षेपात् । प्रागेव—जरासादेशादित्यादि । ननु ह्यत्र संनिपातविधानाया कृते  
दादेशे कथं परम् इत्याह—संनिपातलक्षणन्यायस्यानित्यत्वाश्रयणात्—हेहस्यमिनेनादेशस्य पश्चाद्वरसादेशप्रशङ्गात् ॥ ५ ॥

हेहस्योर्थात् ।

१० वृक्षाप—वृक्षापश्चात् हेप्रत्यये तस्मान्नैव यादेशे “अत आ यादेशे” इत्यादि च “समानानां” इति दीर्घः । वृक्षात्—एवं तत् एव स्वे-  
नान्येनेनारदेशे दीर्घः । अतिजराय, अतिजरात्—अत आ यादेशे । जरायादेशस्य वैधित्यश्रवणेन तदभावेऽप्यन्तरात्त्वात् हेहस्योर्थात् अत । अत  
इति प्रातिरुक्तात्—अत इत्येव ? अतिजराय, अतिजरात्—अतिजराय—अतिजराशब्दात् एतेषां सारादित्वेन परत्वाजित्वाद्यं यादादेशात्

१८ प्रागेव जरादेशेऽप्यन्तरात्मावाप । वृत्तिरुल्लेखित मतान्तरमाह—केचित्तु—प्रातिनिवृत्तावधारण, काशिकाकृतनमित्यनुपपन्नं स्पष्टीकृतम्,  
अथमगिप्राग्वेत्ता—परिचये विधातव्ये आदिप्राग्व्यामर्थात् प्रागेव जरादेशात् स्वेरादादेशे सारादित्याद्वरसादेशे च अतिजरासादित्यपि मन्यन्ते,  
अन्यथाऽऽशरीरस्यैव युक्त्या, न च अतिरिक्तं कर्मे “लघुसादेशपदे” इति अकारलोपे वृक्षादित्यापत्तिर्दोषमादिधानमतिजरासादिसर्वमिति वाच्यम्,

२१ तथा घटि च इति अपिभाष्य अदिधानं “लघुमा” इति वापकमेव सति “समानानां” इति दीर्घं वृक्षादित्यादिसिद्धे । तथा चादिति करण-  
स्यारम्भादिजरासादित्यपि सिद्धयर्थं मतात्तरे । एतेन समग्रसंस्मरिषि सूचिता ॥ ६ ॥

उपसंन्यासपुष्पार्थक्यनेन प्रथमोऽवचने च “हेहस्योर्थात्” इति प्राप्ते विशेषमाह—सर्वादेः स्मृतातो । अत्रात इति हेहस्योर्थात् नाह-  
१४ र्थात्, सर्वादेस्तौ हेहस्योः स्मृतातो इत्यन्यत्राप्येवमाह—सर्वादेरिति । सर्वशब्द आदिर्न स्य सर्वादेरिति बहुमीहि । ननु बहुमीहेरन्य-  
पदार्थप्रकारात् सर्वशब्दस्य च समानसंनिपातार्थान्तरात्पदार्थत्वाभावादिवादिशब्दानामेव सर्वादिवचनेन बहुमीहिनाश्रयमाह सर्वादिकार्य-  
स्याह तु सर्वशब्दस्य, यथा—विप्रगुरादीनामित्युक्तेः सामिन एवानयनं न तु यथा, न च वाच्यं यथा विप्रगुरा यथा अस्तेति गवां विशेषान्न तद्वत्तश्च

२० विशेषणत्वमप्यन्यत्वे तदेवाप्यवस्यते इति, तदर्थं बहुमीहेरन्येयणीयत्वात्, यदा हि सामिन प्राधान्यं गवां विशेषणमात्रत्वात् बहुमीहेरत् एव  
विप्रगुरा यथा यस्य च विप्रगुरिति गवा सामिन प्राधान्यं प्रदर्शयते, तस्मात् सर्वशब्दसंमहार्थं बहुमीहेरत्पुष्पपरेरेकशेष आहृतिर्नऽऽश्रितव्या,  
तत्र सारूप्यार्थं—सर्वथावाप्यादि सर्वोदितित्यादिसिद्धं उपाधीयते नत्वस्य प्रयोजनान्तरमस्ति । तथा च—कर्मधारय बहुमीहिश्च सर्वादिवचनस्य

२० इत्यां प्रयोगेऽपि हे श्रेष्ठे सौमित्रादिवचनेन अभिप्रेतम् । अथवा—सर्वादिरित्यस्याहृत्या सनीहितलाभ इति चेत्, सत्यम्, संयोगसमवायलक्षणसम्बन्धे  
यदा बहुमीहितत्वा तद्वृत्तविज्ञानं भवति—प्रामाण्यं लम्बकणं इति । अत्र हि विषयाणीं आनीयतामित्यादिवचनेयोगसमवायलक्षणेन  
सम्बन्धेन संनिधिति कार्यं विज्ञायमाने चपलक्षणस्याप्यन्तरार्थो भवति । सम्बन्धान्तरे तु बहुमीही तद्वृत्तविज्ञानमात्रावधिचतुरपनीयतामिति,

२१ अत्र हि स्वस्वामिभाष्यसंघर्षं पश्यन् इति स्वविशेषोपलक्षितस्य सामिन एवानयनं न गवाम् । सर्वोदितित्यादिसिद्धोऽवयववाची—सर्व आदि-  
रादावयव इत्यर्थं, समवायसमवायानुद्गृत्ययवभेद ( आरोपितावयवपतङ्ग इत्यर्थं ) समुदायस्य तद्वृत्तविज्ञानस्य बहुमीहेरर्थं, तस्य च

समुदायस्य युगपदस्य प्रयोगाभावात् “आनर्थक्यास्तद्वेष्टे” इति न्यायेन तदवयवेषु प्रवर्तमानं सर्वादिकार्यमविशेषात् सर्वशब्देऽपि प्रवर्तते इति

२२ पुष्पं तद्वृत्तविज्ञानत्वम् । यथा—देवदत्तशालाया आश्रय आनीयतामित्युक्ते देवदत्तोऽपि यदि आश्रयणो भवति स्वशास्त्रस्य तदा सोऽप्यानीयत  
एवेति निष्प्रयोजने एकशेषावृत्तिः । तस्य—अन्यपदार्थस्य, युष्मा—वर्तिपदार्थरूपाणि विशेषणानि, तेषां संविज्ञान—किंवा न्ययित्तया विज्ञानं, यत्र स तद्वृत्त-  
संविज्ञान इति व्युत्पत्तिः । यत्र तु विरोधितावयवभेद समुदायस्य तद्वृत्तविज्ञानस्य बहुमीहिसमासायां यथा—लम्बकणं आनीयतामिति, सन्नोच्यते—अव-

२३ यनेन विप्रह समुदाय समासायां । इह तत्र सप्तमीति यत्र संयोगसमवायान्तरसंनिधेनान्यपदार्थे वर्तिपदार्थान्वयस्तत्र प्रागेव तद्वृत्तसंवि-  
ज्ञानो बहुमीहि, प्रकृते च समुदायेऽन्यपदार्थं सर्वशब्दस्य समवायान्तरार्थोपितावयववापयविशेषसमन्वयपदार्थतद्वृत्तसंविज्ञानत्वम् । स्वस्वामि-

भावादिद्वन्द्वसंनिधेनान्यपदार्थं वर्तिपदार्थान्वये स्वतद्वृत्तविज्ञानो बहुमीहि, यथा—विप्रगुरान्येत्यादादित्युक्तं नित्यं । अत्रादिसिद्धोऽवयववाची  
२४ नन्वेव मन्थस्यामवस्थासमिति न प्राप्नोति, गणे पाठस्याभावात्, तस्मादस्तु प्रकारार्थोऽन्यादिवचनम् । प्रकारार्थप्रदर्शनाय पश्चादभिप्राय गणात्

पठन्ति, यथोक्त-छेप्यादय पठ्यन्ते कृतादिराकृतिगण इति कृतादयश्च निदर्शनाय भगवद्वृत्तिकारै पठिता इति, नैव दोषः, मन्थस्यामवयवसमिति  
२५ प्रयोगस्यापेक्षात् सिद्धेः । प्रकारार्थत्वे च यति कृतलक्षणस्यादिवचनामपि सर्वादिकार्यप्रशङ्गात् । अत इत्युक्तशब्दस्य विशेषणत्वात्तदन्तिविधित्वा-  
दाह—अकारान्तस्य इति । सर्वस्यै—चतुर्थ्यवचनस्य केप्रत्ययस्य सौरादेशः । परमसर्वस्यै—स्वशास्त्रस्य नाम सर्वादिविशेषणात् विशेष-  
णेन च तदन्तविशेषणात् “न सर्वादिति” १।४।१२। इति इन्द्रविशेषाद्वा “ग्रहणवता नाम्ना च तदन्तविधित्वमुपस्थानात् तदन्त परमसर्व-

२६ सामित्युदाहृतम् । सर्वस्मात्—सर्वशब्दान्ते क्त्वे आदित्यादेशः । एव परमसर्वस्मात् इति । असर्वस्यै, असर्वस्मात्—न सर्वोऽसर्वस्ततो  
हेहस्यो स्मृतादादेशः । एवमन्यदपि । उभयशब्दोऽपि विशेषमाह—उभयशब्दस्य इत्यादि । अथार्थ—उभयशब्दस्य निर्वा द्विवचनविधयत्वात्



स्वार्थिकप्रत्ययविषयत्वात् सैप्रभृतयो न भवन्ति, गणपाठस्तु हेतुर्थप्रयोगे सर्वविभक्त्यर्थः—उभौ हेतु २, उभाभ्यां हेतुभ्याम् ३; उभयोर्हेतवोः २ । उभयसौ, उभयस्मात्; अन्यसौ, अन्यस्मात्; अन्यतरसौ, अन्यतरस्मात्, डतर-ग्रहणेनैव सिद्धेऽन्यतरग्रहणं डतमप्रत्ययान्तस्यान्यशब्दस्य सर्वादित्वनिवृत्त्यर्थम्—अन्यतमाय, अन्यतमं वक्ष्यम्, अन्य-तमे । एके त्वाहुः—‘वायं डतरप्रत्ययान्तोऽन्यतरशब्दः, किन्त्वव्युत्पन्नस्तरोत्तरपदस्तरवन्तो वा’; तन्मते डतमान्तस्या-प्यन्यशब्दस्य सर्वादित्वम्—अन्यतमस्मिन् । इतरसौ, इतरस्मात्; डतरडतमौ प्रत्ययौ, तयोः स्वार्थिकत्वात् प्रकृतिद्वारेणैव सिद्धे पृथगुपादानमत्र प्रकरणेऽन्यस्वार्थिकप्रत्ययान्तानामग्रहणार्थमन्यादिरुक्षणदार्थं च—कतरसौ, कतमसौ; यतरसौ, यतमसौ; ततरसौ, ततमसौ; एकतरसौ, एकतमसौ; इह न भवति—सर्वतमाय, सर्वतमात् । त्वशब्दोऽन्यार्थः—

सर्वादिकार्यस्य ‘सर्वादे सौ स्मातो’, “के स्मिन्”, “अस इ”, “अवर्णस्याम साय” इत्येतस्य बहुवैक्यविषयत्वेन द्विवचनेऽभावात्, तद्वृत्ति-विषये च उभये द्वैवमनुष्या उभयो मणि उभयपुत्र इत्यभेदविषयसोमशब्दसंबन्ध प्रयोगात्, उभा वाहु इत्यादे “द्विद्वन्मादि” ७।३।७५। ९ इति सूत्रेण द्विवचनादित्वेन साधुत्वात् सर्वादे व्यर्थं पाठ । अगर्थस्तर्हि तस्येदं पाठ, अन्यथा यद्यप्येक के च रूपयोरभेदस्तथापि द्विवचनेऽन-न्तरे श्रूयमाणे वचनशब्देन साधुना मान्य न ह्ये नपि व्यवहिते इति प्रतिज्ञानस्य बाध स्यात्, अकृत्यन्मप्यपतितत्वेन तु व्यवहितत्वाभावात्, के पुन सति पूर्वस्य द्विवचनस्य लक्षणादपरस्य च केन व्यवधानात् । तत्र कविषये व्यवहितद्विवचनविषय उभयशब्द साधुर्वचनीति वक्तव्य १२ स्यादिति चेत्तदर्थोऽपि न युक्त, कस्य स्वार्थिकत्वात् ‘स्वार्थिकाश्च प्रत्यया प्रकृतितोऽविशिष्टा भवन्ति’ इति प्रकृतिग्रहणेन स्वार्थिकानामपि ग्रहणात् । इतौ द्विवचनविषयत्वादित्यत्र द्विवचनशब्देन प्रत्ययो न शक्यते, किं तर्हि ? धर्माभिधानसमर्थं इत्यस्य विवक्षितत्वात् द्विवचनशब्देन स्वादिप्रत्ययग्रहणात् स्वार्थिकत्वेन बोधार्थस्याह्नादत्र अपृथक् वचनमन्तरेण द्विवचनप्रतया सिद्धत्वात् । ननु यथा स्वार्थिकत्वेन पराधीन-१५ मिश्रानात् कपरस्य साधुत्वमेव व्रतसपरस्यापि साधुत्वप्रसङ्ग, नैव, व्रतसाधीनौ त्रिमित्यर्थमात्रवचनत्वेन सर्वस्यैव भेदस्य परिलक्षणात्साधुत्व-शुभशब्दस्य । अत एवाच्यते पूर्ववर्तिककप्रदि “उभयोऽन्यत्र”, “सर्वादीनि सर्वनामानि” पा० १।१।२७। इति सूत्रे भाष्ये, उभयेति य स्वार्थिको-ऽयनन्त सोऽन्यत्र प्रयुज्यते, न तु द्विवचने परत इत्यर्थः । एव तर्हि हेतुर्थप्रयोगे “सर्वादे सर्वा” २।२।१११। इति सर्वविभक्त्यर्थं इत्याह—१८ गणपाठस्तु इत्यादि । पाणिनीयतन्त्रे दृश्यशब्दात् सर्वविभक्त्यर्थोऽपि न कर्तव्य, “निमित्तकारणहेतुषु सर्वासा प्रायदर्शनमिति वचनादित्यन्यत्र विद्वा । उभौ हेतु—उभयशब्दादितुशब्दाद्यौकारे “एतौ च सन्त्यसौ” १।२।१२। इत्यौत्वं “इदौतोऽपिरेव” १।१।२१। इत्युच्चे च सिद्ध्यत । एतमन्यदपि । अन्यतरसौ—अन्यतरशब्दात् केप्रत्ययस्य सौरादेशः । नन्वन्यतरशब्दस्य डतरप्रत्ययान्तत्वेन सर्वादिकार्यं गणपाठमात्रेऽपि २१ भविष्यति, तत्र डतरग्रहणादित्याह—डतरग्रहणेनैव सिद्धे इत्यादि । अयं भाव—डतरग्रहणेनैवान्यतरशब्दस्य डतमग्रहणेनान्यतमशब्दस्यापि सर्वादित्वं स्यादिति, तेन—अन्यतमाय, अन्यतमं वक्ष्यं, अन्यतमे इत्यादौ सौ दकार स्मिन्नादयो न भवन्ति । अन्ये तु डतरडतमविषय-प्यन्यशब्द न कथयन्ति तेषामर्थं डतरार्थं एव पाठ, अन्यतरमिति त्वन्य एवायमन्युक्तं इति । अपरे तु भवन्ति—अयमन्यतरशब्दो डतरान्तो २४ न भवति निर्दोशे हि स, अनिर्दोशेऽयमन्युत्पन्न । यथा तरणं तर अन्यथासौ तरयेति, अन्यस्तरोऽस्येति वा, द्वयोः प्रकृष्टेऽन्य इति वाऽन्यतर, तन्मते डतमान्तस्यापि सर्वादित्वमस्तीत्याह—एके त्वाहुः इत्यादिना, सर्वादित्वम् इत्यन्तेन । अयं अन्यतरशब्दो न डतरप्रत्य-यान्त इत्यन्वयः । ननु तर्हि स कथं साधुरित्याह—किंतु अन्युत्पन्नः—हित्यादियशब्दवत्प्रकृतिप्रत्ययविभागहीन इत्यर्थं, अन्यथा तस्य २७ व्याख्यानमाह—तरोत्तरपदः—तर उत्तरपद यस्य स इत्यर्थः । वा—अथवेति पक्षान्तरे, तरवन्तः—तरपदने यस्य स इत्यर्थं, साधुता-प्रकारविविधं प्रागुपदर्शितं, प्रतीकोत्थाने । तन्मते—एकेषां मते । डतमान्तस्यापि—डतमोऽन्ते यस्य स तयोक्त्यापि । अन्यशब्दस्य-अन्यतमशब्दस्यार्थः । सर्वादित्वम्—तत्सत्त्वे तु तत्प्रयुक्तं कार्यं भवतीत्याशयः । अन्यतमस्मिन्—भूतान्तरेणायं साधु, खमते तु गणे १० पाठाभावात्स न सिध्यति । ननु डतरडतमशब्दयोः कापि प्रयोगादर्शनात् किमर्थस्यो पाठ इत्यत आह—डतरडतमौ प्रत्ययौ इति । “वैकाद् द्वयोर्निर्वायं डतर” ७।३।५३।, “यत्किमन्यात्” ७।३।५३।, “बहुनां प्रथे डतमश्च वा” ७।३।५३। इति सूत्रविहितौ, तयो-र्वैश्वदेव्यो विधीयमानवो केवल्यो प्रयोगाभावात् डतरडतमग्रहणं तदन्तान् प्रयोजयति । एव तर्हि स्वार्थिकत्वात् प्रकृत्यविशिष्टतया यत्तादादि-३६ प्रकृतिद्वारेणैव सर्वादित्वं भविष्यति किमन्योक्त्यादानेनेत्याह—तयोः स्वार्थिकत्वात् इत्यादिना । तयोः—डतरडतमयो । स्वार्थिकत्वात्-प्रकृत्यर्थं ज्ञायमानत्वात् । प्रकृतिद्वारेणैव सिद्धे—यदादिप्रकृतिद्वारेणैव तयोः प्रयोगादित्वेन तत एव सर्वादित्वं गेत्यसि किमर्थं तयोर्गणे पृथगुपादानमित्याशयः प्रश्नकर्तुः । समाधत्ते—पृथगुपादानम् इत्यादिना । अत्र प्रकरणे—सर्वादिगणे । पृथगुपादानं—डतरडतमयो ३६ प्रकृतिद्वारेण सर्वादित्वे लब्धेऽपि प्रकृतेर्मिषोपादानम् । अन्यस्वार्थिकप्रत्ययान्तानां—डतरडतमिषस्वार्थिकप्रत्ययान्तानामित्यर्थः । अग्रहणा-र्थम्—ग्रहणमात्राय । अयं भाव—यदि हि डतरडतमयो पाठो गमे न क्रियेत तदेतरस्वार्थिकप्रत्ययान्तस्यापि सर्वादे सर्वतमायेसादापि सर्वा-दिकार्यं स्यादिति । प्रयोजनान्तरे आह—अन्यादि इत्यादिना । डतरडतमान्तानां—“पक्षतोऽन्यदेरनेकतरस्य द” १।३।५८। इत्यन्यादित्वेन ३९ दादेशो यथा स्यादित्येवार्थं च डतरडतमग्रहणम्, च हान्यान्यतरडतरडतमेत्यपाठे पक्षतोऽन्यदेकप्रत्ययान्तो दादेशो लभ्येत । ननु च सलस्मिन् प्रयोगे कयं स्वार्थिकप्रत्ययान्तानां सर्वादित्वमावर्ष्यं स्यात् ज्ञापकमेव, अन्यथा चापुगपयमानं ज्ञापकं भवति, न च सलस्मिन् प्रयो-जनेऽस्यान्यपाठोऽपत्तिरिति । न च दादेशार्थमात्रत्वे दादेशविधौ डतरडतमग्रहणं कर्तव्यं, गणे तु कणपाठं स्वार्थिकप्रत्ययान्तानां सर्वादित्वमावर्ष्यं ४२ मपि भवतीति वाच्यं, गणकरणसंज्ञायामिति विशेषणार्थं स्यात्, शुद्धं अन्यान्यतरडतरडतमस्येति निर्देशः स्यादित्युच्यते—यथा सौ सादादर्थमपि स्यात् सर्वादित्वात्, तथा हि—यदि स्वार्थिकप्रत्ययान्तानां सर्वादित्वं स्यात्तदा सासादादेशार्थं डतरडतमोपादानमनर्थकमतः स्वार्थिकप्रत्ययान्तानां सर्वादित्वमावर्ष्यं विज्ञायत इति तदुदाहरति—कतरसौ, कतमसौ—किमुशब्दात् “यत्किमन्यात्” ७।३।५३। इति ४५ “बहुनां” ७।३।५३। इति च डतरप्रत्यये डतमप्रत्यये चान्सखरादिलोपे कतरशब्दात् कतमशब्दाच्च केप्रत्ययसामनेन सायादेशः । एवं यतरसौ इत्यादिषोध्यम् । एकतरसौ, एकतमसौ—एकशब्दात् “वैकाद् द्वयोर्निर्वायं” ७।३।५३। इति “वैकाद्” ७।३।५३। इति च डतरे डतमे च अस्येऽन्यसखरादिलोपे पक्षतरशब्दादेकतमशब्दाच्च के इत्यस्य सायादेशः । डतरडतममिषस्वार्थिकप्रत्ययान्तस्य सर्वादित्वमावर्ष्यतत्प्रयोजनमाह—४८ यत् न भवति सर्वतमाय इत्यादि । सर्वशब्दोऽपि मप्रत्यये तदन्तस्य स्वार्थिकप्रत्ययान्तस्य सर्वतमशब्दस्य प्रकृतिद्वारेण प्राप्तसर्वादित्वस्य गणे डतरडतमोपादानेन तदभावाद्यधनेन तत्प्रयुक्तमत्र कार्यं न भवति । त्वशब्दोऽन्यार्थः—अन्यशब्दस्यार्थोऽस्येत्यन्यार्थं त्वशब्द इत्यन्वयः ।



बाह्येन वा योगे उपसंख्यानं उपसंवीयमाने चार्थे वर्तमानो अन्तरशब्दः, न चेद् बहिर्योगेऽपि पुरि वर्तते; अन्तरस्मै  
गृहाय-नगरबाह्याय चाण्डालादिगृहायेत्यर्थः, चण्डालादिगृहयुक्ताय वा नगराम्यन्तरगृहायेत्यर्थः; अन्तरस्मै पटाय-पटच-  
तुष्टये तृतीयाय चतुर्थाय वेत्यर्थः, प्रथमद्वितीययोर्बहिर्योगेणैव सिद्धत्वात्; पुरि तु न भवति-अन्तरायै पुरे क्लृप्यति- १  
चण्डालादिपुर्ये इत्यर्थः, बहिर्योगोपसंख्यानान्तरन्यत्र तु न भवति-अयमनयोर्ग्रामयोरन्तरात् तापस आयातः-मध्यादित्यर्थः ।  
सस्मै, तस्मै, यस्यै, अमुष्मै, अस्मै, एतस्मै, एकस्मै; द्वियुष्मद्भवत्वस्मादां स्मायादयो न समवन्तीति सर्वविभ-  
क्त्यादयः प्रयोजनम् (द्वौ हेतु २), द्वाभ्यां हेतुभ्याम् ३, द्वयोर्हेत्वोः २; अज्ञाते द्वे द्वके स्त्रियौ कुले वा, द्वौ पुरुषौ । ५  
शुवाभ्यां हेतुभ्याम् ३, शुवयोर्हेत्वोः २, युवकाभ्याम्, युष्मादृशः । भवद्भ्यां हेतुभ्याम् ३, भवतोर्हेत्वोः २; भव-  
कान्, भवादृशः; स च भवांश्च भवन्तौ, अत्र तदादित्वात् परत्वाच्च भवच्छेषः, भवान् पुत्रोऽस्येति भवत्पुत्रः-अत्र सर्वा-  
दित्वात् पूर्वनिपातः, भवतोऽपत्यं भवतायनिः-अत्र तदादित्वादायनिञ्, भवत्याः पुत्रो भवत्पुत्रः-अत्र सर्वादित्वात् पुंव- १  
द्भावः, भवन्तमश्नुतीति किपि, भवद्भ्यश्च-अत्र “सर्वादिविष्वक्देवाद्भिः क्यञ्चौ” ॥ ३ । २ । १२२ ॥ इति द्रव्यागमः;  
उकारो ङ्यर्थो नागमार्थो दीर्घार्थश्च-भवती, भवान् । आवाभ्यां हेतुभ्याम् ३, आवयोर्हेत्वोः २, आवकाभ्याम्, अस्मा-  
दृशः, कस्मै, कस्मात् । सर्वेऽपि चामी संज्ञायां सर्वादयो न भवन्ति, तेनेह न भवति-सर्वी नाम कश्चित् सर्वाय, १९

उपसंख्याने इति । न चेद्बहिर्योगेऽपि पुरि वर्तते इति । पुरि इति शब्दप्रधानो निर्देशः, यदा अन्तरशब्दस्य पुरं व्यञ्जनात् वाच्यो भवति  
तदा सर्वादित्यस्य निषेधः, यदा अकारान्त ईकारान्तो वा पुरं पुरी द्वाभ्यं वाच्यो भवन्ति तदा सर्वादित्वमस्त्वेव । ननु कर्मार्थंरुणार्थभेदा-  
द्विषयस्याप्युपसंख्यानशब्दस्य ग्रहणमनर्थकम्, सर्वत्र बहिर्योगेण सिद्धत्वादिति चेदुच्यते-समानप्रमाणे शाटकयुगे परिहिते इदं न ज्ञायते किमुत- २५  
रीयं किमन्तरीयमिति तदर्थमेतद्ब्रुविष्यतीति वक्तुं न शक्यं, यतस्तत्र यथा प्रेक्षापूर्वकारी भाविबुद्धोपसंख्यानत्वं व्यवस्थापयति तया बहिर्योग-  
मपीत्यर्थः, उच्यते-पटचतुष्टयायम्, तत्र शाटकानां त्रये चतुष्टये वा प्रथमद्वितीययोर्बहिर्योगेणैव सिद्धत्वात् तृतीयचतुर्थयोर्बहिर्योगमावात्  
उपसंख्यानग्रहणं कर्तव्यमित्याह-अन्तरस्मै पटाय इत्यादि । पुरि तु न भवति इति । अपुरीति प्रतिषेधादिति शेषः, तेन अन्तरायै १८  
पुरे क्लृप्यति इत्यत्र “सर्वादिवेत्स्वौ” ११७१८१ इति ङञ् न भवति, पू कस्मिन्निर्देशे प्राकाराभ्यन्तरे क्रियते, कश्चित्प्राकाराद्बहिरित्यस्ति पुरो  
बहिर्योगः । पूर्वोक्तस्यान्तरायै पुरे इत्यस्यार्थमाह-चाण्डालादीति । बहिर्योगोपसंख्यानयोरवतमानस्यान्तरशब्दस्य सर्वोदित्वाभावमाह-  
बहिर्योगोपसंख्यानान्तरन्यत्र इत्यादिना । अयमनयोर्ग्रामयोरन्तरात्तापस आयातः-अन्तरशब्दस्य मध्यवाचित्वात् सर्वादित्वा- २१  
भाव इत्यर्थः, तदाह-मध्यादित्यर्थः इति । त्यस्मै इत्यादि । पूर्वबद्धोध्यम् । बावीनामनकारान्तत्वात् स्मायादेः सर्वोदिकार्यस्यासमवेऽपि  
प्रयोजनान्तरमस्तीति तदाह-द्वियुष्मद्भवत्वस्मादमित्यादि । स्मादयो न संभवन्तीति-वेपामकारान्तत्वाभावादिति हेतोरिति शेषः ।  
सर्वविभक्त्यादय इति । “सर्वदे सर्वा” इति हेतुप्रयोगे सर्वविभक्त्यस्य इत्याशयः । आदिशब्दाद्ययोगमेकशेषपूर्वनिपातपुंवद्भावद्विधात् २४  
आयनित्युभयद्वयं प्रयोजनानि ज्ञायन्त इति । सर्वविभक्त्यादीनुदाहरति व्यादिशब्देभ्यः-द्वौ हेतु इत्यादिना । द्विशब्दाद्वेत्स्वौकारे  
“आहरे” २११४१५ इत्यन्ते, “ऐदौत् सन्यहरे”रित्यौत्वे, “इदौत्सेरीद्वत्” इत्युत्वे च सिध्यतः । द्वाभ्याम् इति । “सर्वादे सर्वा” इत्यत्र  
अतद्व्याभिप्रायेण प्रथमाद्वितीयावर्जनात् तृतीयां प्रारभ्यान्नादाहरणानि दर्शितानि, समते द्वौ हेतु इत्यादि भवत्येव, तदुक्तं श्रुतिक्ता तत्त्वज्ञे २७  
प्रथमा नेच्छत्येके, द्वितीयापरं इति । द्विशब्दस्याज्ञातार्थं “स्मादिसर्वादे स्खरेष्वन्यात् पूर्वोऽङ्” इत्यन्यात् स्वरात् पूर्वमकिं स्त्रीनपुंसकयो  
प्रथमाद्वितीयाद्विवचने विग्रहोपन्यासपूर्वकं रूपमाह-अज्ञाते द्वे द्वके स्त्रियौ कुले वा इति । पुत्त्वे चाह-द्वौ पुरुषौ-अत्र द्विशब्दात्  
प्रथमाद्वितीयाद्विवचनेऽन्यात् स्वरात् पूर्वमङ् । एवमन्यदपि । युष्मादृशः “सदाद्यन्य” ५१११५२१ इति टकि, अत्र “अन्यसदादेरा” इत्या- ३०  
कारान्तादेशः । भवकान्-भवच्छब्दस्यान्यात् स्वरात् पूर्वोऽङ् । भवादृशः-अत्र टकि सत्याकारान्तादेशः । स च भवांश्च भवन्तौ इति ।  
अत्र “सदादि” ३१११२०१ इति सूत्रेण सदादित्वात् भवच्छेषः । ननु तच्छब्दभवच्छब्दयोस्त्वदादित्वाविशेषात् कस्य शेष इत्यत आह-पर-  
त्वाच्चेति । “सर्पे” परमिति तदादीर्घां मिथः सहोक्तौ यद्यत् पाठे परं तत्तदेवैकं सिध्यत इत्याशयः । भवान् पुत्रोऽस्येति भवत्पुत्र इति । ३३  
“विशेषणं सर्वोदिकार्यं बहुमीदृ” ३१११५०१ इति सर्वादित्वाद्भवच्छब्दस्य पूर्वनिपातत्वदाह-अत्र सर्वादित्वादिति । भवतोऽपत्यं  
भवतायनिः-अत्र “सदादि” ३१११७१ इति तदादित्वाद्भवच्छब्दस्य दुर्बलायां “अष्टाहोर्नवा” ३११११०१ इत्यायनिञ्, तदाह-  
अत्र तदादित्वादायनिञ् इति । भवत्याः पुत्रो भवत्पुत्र इति । “सर्वादयोऽस्मादी” ३१२१६११ इति पुत्रद्भावः, तदाह-अत्र ३३  
सर्वादित्वात् पुंवद्भावः इति । भवन्तमश्नुतीति किपि भवद्भ्यश्च-अत्र द्रव्यागम केनेत्यत आह-“सर्वादिविष्वक्” इत्यादिना ।  
भवद्भ्यश्च किमर्थं उकार इत्यत आह-उकारो ङ्यर्थः इत्यादिना । “अभातुहदित” २१४१२१ इति ङीप्रत्ययार्थं उकार इति भावः । एवं  
नागमार्थं उकार इति । “अङ्गुदित” ११४१७०१ इत्यनेनेति शेषः । एवं दीर्घार्थश्च उकार इति “अभ्वादेस्त्वस सौ” इत्यनेनेति शेषः, ३५  
तदुदाहरति-भवती, भवान् इति । आवाभ्याम् हेतुभ्याम् ३ इत्यादि पूर्वबद्धोध्यम् । ननु सर्वे विशेषस्यानिर्देशात् सञ्ज्ञायामपि सर्वादीनां  
सर्वादिकार्यप्रसङ्गः, नैष दोषः; तत्र गणपाठात् पर्युदासं श्रुद्धान्येव हि गणे सर्वादीनि सन्निविष्टानि न संज्ञाभूतानि, तेन अस्मान्मान्य स्मायादि  
कार्यं यच्च विशिष्टं “पखतोऽन्यादेनेकतरस्य दः”, “आहरे” इति तत्सर्वं गणपाठोपलक्षितानामेव । यत्तु कार्यं “असौ म” २१११६१ इत्यादि- ४२  
स्वरूपमात्राश्रय न सविशेषापेक्ष, तद्विशेषेण भवति, तत्र हि न गणपठितयोर्गुणद्वयस्योर्निर्देशोऽपि लौघादिकयोः । अथवा सर्वादिविशेषणार्थम्-  
सञ्ज्ञायामिति गणे साक्षात्पठनीयमित्याह-सर्वेऽपि चामी संज्ञायां सर्वादयो न भवन्ति इति । ननु संज्ञायां गौणत्वादेव न भविष्यति-  
सर्वाय देहीति, प्रसिद्धिवशात् समवत्येव “गौणमुख्यन्याय” इति किमसंज्ञायामिति विशेषणेन ३ नैव, पदकार्येष्वेवायं न्याय उपतिष्ठते न नामकार्ये इति, ४५  
तथाहि-सार्थं शृत्वाज्ञानं उत्पन्नायां विमर्शौ तत्तत्कार्येषु शब्दान्तरसन्निधानात् गौणत्वं प्रतीयते, यथा-नां बाहीकमाननेति पूर्वं क्रियाभिसम्बन्धा-  
पेक्षया विमर्शानुपपन्नाया वाक्यीयाभ्यायात् ( आकाङ्क्षादिमूलकशक्त्या ) सामानाधिकरण्याद्गौणार्थप्रादुर्भावो भवतीति । तस्य तु सार्थस्य मुख्य-  
व्यपदेशो नास्ति, गौणपेक्षया सम्बन्धिशब्दत्वात् मुख्यव्यपदेशस्य गौणत्वादेऽस्मात्वात्, न चैवं शब्दान्तरात् सञ्ज्ञाप्रतीतिरस्ति । यदि वा युष्मादा- ४८

त्वस्मै, त्वस्मात् । त्वच्छब्दः समुच्चयपर्यायः, तस्य स्मायादयो न संभवन्तीति हेत्वर्थयोगे सर्वविभक्तित्वमक्षय्यस्य प्रयोजनम्—त्वतं हेतुम्, त्वता हेतुना वसति, अज्ञातात् त्वतस्त्वकतः । नेमशब्दोऽर्थाथः—नेमस्मै, नेमस्मात् । समसिमौ—सर्वाथौ, समस्मै, समस्मात्, सिमस्मै, सिमस्मात्, सर्वार्थत्वाभावे न भवति—समाय देशाय, समादेशाद् धावति । स्वाभिधेयापेक्षे चावधिनियमे व्यवस्थापरपर्याये गम्यमाने—पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि, पूर्वस्मै, पूर्वस्मात्; परस्मै, परस्मात्, अवरस्मै, अवरस्मात्; दक्षिणस्मै, दक्षिणस्मात्; उत्तरस्मै, उत्तरस्मात्; अपरस्मै, अपरस्मात्; अधरस्मै, अधरस्मात्; व्यवस्थाया अन्यत्र न भवति—दक्षिणाय गायकाय देहि, प्रवीणायेत्यर्थः, दक्षिणायै द्विजाः स्पृहयन्ति । आत्माऽऽत्मीयज्ञातिधनार्थवृत्तिः स्वशब्दः, आत्माऽऽत्मीययोः—यत्स्वस्मै रोचते तत्स्वस्मै ददाति, यदात्मने रोचते तदात्मीयाय ददातीत्यर्थः, ज्ञातिधनयोस्तु न भवति—स्वाय दातुं स्वाय स्पृहयति, ज्ञातये दातुं धनाय स्पृहयतीत्यर्थः । बहिर्भावेन

- १ त्वस्मै—अन्यस्मै इत्यर्थः । त्वच्छब्द इति । अकारान्तत्वशब्दस्येह व्युदासार्थं त्वच्छब्द इति निर्देशः । समुच्चयपर्याय इति । तत्रैकमर्थं प्रति ह्यादीनां क्रियाकारकद्रव्यगुणानां तुल्यवृत्तानां अनिरोधिनामनियतक्रमयोगपश्यानां आत्मरूपभेदेन चीयमानता समुच्चयस्य पर्यायत्वावक इत्यर्थः । अथास्य तकारान्तत्वात् स्मायादे सर्वादिकार्यस्यायोगादिह तदुपादानमनर्थकमित्याह—तस्य इत्यादिना, प्रयोजनम् इत्यन्तेन । तस्य—
- १२ त्वच्छब्दस्य । स्मायादयः—“सर्वादि सौ स्मात्” इत्यादिसूत्रविहिता । न संभवन्ति—त्वच्छब्दस्याकारान्तत्वाभावात् प्राप्नुवन्ति । इति—हेतोः । हेत्वर्थयोगे—निमित्तकारणहेतुशब्दयोगे । सर्वविभक्तित्वम्—“सर्वादि सर्वा” इति सर्वविभक्तयः स्युस्त्वच्छब्दादिति प्रथम प्रयोजनम् । तस्य हेत्वर्थयोगे सर्वविभक्तित्वं प्रयोजनम् च तस्य अक्षय्यस्य—“स्वादिसर्वादि स्व” ७।३।२९। इति सूत्रमिहितं इति द्वितीय प्रयोजनमित्यन्वयः ।
- १५ तदुदाहरति—त्वतं हेतुम् इत्यादि । त्वच्छब्दस्याज्ञातार्थं—“स्वादिसर्वादि स्वरेष्वन्यात् पूर्वोऽङ्” इत्यन्यात् स्वरात् पूर्वमङ्गि पञ्चम्येकवचने विग्रहोपदर्शनपूर्वकं रूपमाह—अज्ञातात् त्वकत इति । नेमशब्दोऽर्थाथ इति । अर्थशब्दस्याधोऽस्येति विग्रहः । समसिमौ सर्वाथौ—सर्वशब्दसमानार्थकत्वेन समसिमशब्दो सर्वादिकेण पठितावित्यर्थः । उदाहरति—समस्मै इत्यादि । पूर्ववत्प्रक्रिया । सर्वार्थत्वाभावे न भवति
- १८ इत्यनेनान्तरवृत्तिव्यवच्छेदः, फल दर्शयति—समाय इत्यादि । अपिपमायेत्यर्थः । स्वाभिधेयापेक्षे इति । पूर्वादीनां शब्दानां स्वाभिधेयो दिग्देशकालस्वभावोऽर्थः, तमपेक्षते यः स स्वाभिधेयापेक्षस्तस्मिन् । चोऽवधारणे । अवधिनियमे—अवधिमर्थोदा तस्य नियमोऽवश्यभावोऽवधिमावादप्रसक्तस्मिन् । अयं भावः—दिगादीनां ध्यानां पूर्वोदिशब्दाभिधेयानां यत्पूर्वोदितं तत् नियमेन कस्मिन्निधिमपेक्ष्य सपद्यते नत्वव-
- २१ धिनिरपेक्षम्, तथाहि—पूर्वस्य देशस्य यत्पूर्वेत्वं तत्परं देशमवधिमपेक्ष्य भवति, परस्यापि यत्परत्वं तत्पूर्वदेशमपेक्ष्य भवति, तस्मात् पूर्वोदिशब्दाव्यापेक्षणेऽवश्यं केनचिदवधिना भाव्यम्, तत्र तस्यैवावधेयं पूर्वोदिशब्दाभिधेयापेक्षोऽवधिभावः एकान्तिकः स नियमो व्यवस्थापरपर्यायः । तस्मिन् गम्यमाने पूर्वादीनां शब्दानां स्वाभिधेय एव वर्तमानानां सर्वादिकार्यं न तु बाध्यं । यो हि पूर्वोदिशब्दाभिधेयादर्शदन्त्यस्यान-
- २४ भिन्नतस्य नियमः स कथं पूर्वोदिशब्दाव्याच्यो भविष्यतीत्यतस्त्वस्मिन्नान्तराधिक्यतया गम्यमाने पूर्वं परं अवरं दक्षिणं उत्तरं अपरं अधरं इत्येतानि सप्तशब्दरूपाणि सर्वादीनि भवन्ति । अवधिमिति दिगादिलक्षणे वर्तमानानि पूर्वादीनि सर्वादीनि भवन्ति इत्युदाहरति—पूर्वस्मै इत्यादि । अधराणि इति । शब्दरूपापेक्षया नपुंसकनिर्देशो नार्थपेक्षया, तेन औपुनपुसकेषु सर्वेष्वप्यर्थेषु सर्वादित्वमिति । व्यवस्थापरपर्याय इत्यस्य
- २७ व्यवच्छेदय दर्शयति—व्यवस्थाया इत्यादिना । दक्षिणाय—प्रवीणायेत्यर्थः, अत्र हि प्रावीण्यमात्रेण निमित्तेनावधिनिरपेक्ष एव दक्षिणशब्दो वर्तते इति व्यवस्था न गम्यते । केचित्तु यावद्द्रव्यभाविनी व्यवस्थेत्याहुः, तेषां पूर्वस्मै पुरुषायेत्यादि न भवति, नहि विरयोगलक्षणे पूर्वत्वादि पुरुषे यावद्द्रव्यभावीति । दक्षिणायै द्विजाः स्पृहयन्ति इति । यज्ञकर्मकृतां वेतनदानं दक्षिणं, तस्यै दक्षिणायै इति चतुर्थ्येकवचनम्—“स्पृह्यन्त्येव” ३० वा २।३।२६। इत्यनेन । आत्माऽऽत्मीयज्ञातिधनार्थवृत्तिः स्वशब्दः—आत्मा च आत्मीयश्च ज्ञातिश्च धनं च तान्येवार्थस्त्रयं वृत्तिर्यस्येति विग्रहः, “स्वात् सिञ्जीशे” ७।३।४५। इति मित्रश्रयविषये त्वैध्वर्थवाची । आत्माऽऽत्मीययोः—स्वशब्द आत्माऽऽत्मीययोः सर्वादिरिति शेषः । यत्स्वस्मै रोचते तत्स्वस्मै ददाति—अत्रात्माऽऽत्मीययोरर्थयोर्वर्तमानत्वात् स्वशब्दस्य “सर्वादि ०” इत्यादिसूत्रे स्मायादयो भवन्ति, तस्यार्थः
- ३१ व्याचष्टे—यदात्मन इत्यादिना । यत्र शब्दान्तरनिरपेक्षः स्वशब्दो ज्ञातिधने स्वरूपेणाचष्टे तत्रासौ संज्ञारूपेण तयोर्वर्तते इति तत्र न भवति इत्याह—ज्ञातिधनयोस्तु इत्यादिना । कथं पुनरयमर्थो यावता खे पुत्रा इति ज्ञात्यर्थो गम्यते खे गाव इति धनार्थः, नैतदस्ति, पुत्रगोशब्दयोरिह सञ्ज्ञिधानेनोभयं गम्यते, स्वशब्दात्वात्मीयत्वमात्रं प्रतीयते । ननु यदि शब्दान्तरनिरपेक्ष एव स्वशब्दो ज्ञातिधनयोर्वर्तते कथं तर्हि
- ३२ “धूमायन्त इवाक्षिप्ता प्रज्वलन्ती च सहता । उत्सुकानीव मेऽमी स्ता ज्ञातयो भरतर्षभ ॥” इत्यादौ ज्ञातिशब्दस्यानुप्रयोगः ? नैष दोषः, यत्र हि शब्दोऽनेकार्थो भवति सन्दिग्धार्थो वा तत्र तदर्थस्य व्यक्तीकरणे पर्यायशब्दस्यानुप्रयोगो न विरुध्यते, यथा मेधाधर्मकस्य वराहशब्दस्य प्रयोगः । तथा स्वशब्दस्यायमनेकार्थसत्त्वात्प्रत्यये किं विषयोऽयं प्रयुक्त इति संदेहः स्यादतस्तत्रिरासार्थमुपपद्यते ज्ञातिशब्दस्यानुप्रयोगः । एवं धन-
- ३५ शब्दस्यापि द्रष्टव्यम् । स्वाय दातुं स्वाय स्पृहयति—अत्र स्वशब्दस्य ज्ञातिधनवृत्तित्वात् सर्वादित्वाभाव इत्यर्थः । चतुर्थ्येकवचनम् ननु स्वाय स्वायेति दातात्वपेक्षया स्पृहयात्वपेक्षया च बोध्यम्, तस्यार्थं व्याचष्टे—ज्ञातये दातुं धनाय इत्यादिना । अन्तरं बहिर्योगोपसंख्यानयोरिति वक्ष्यति, तदर्थं व्यक्तीकृत्युदाहरति—बहिर्भावेन इत्यादिना । यहिरित्यनाश्रुतो देश उच्यते, तस्य भावः स एव वा भावत्वेन योगः स च बाह्याभावात्स्य
- ४२ च भवति, यथा—अन्तरस्मै शृणुय—नगरवाह्यायेत्यादि । नगरं हि चतुष्पतोऽप्युपकाराश्रितमुच्यते, यदाह—“नगरसुरचक्राण्युपरोद्गाहि सालमिति” । तत्र प्राकाराश्रितदेशो चण्डालादिग्रहस्थानोचित्यादनाश्रितप्रदेशेन योगो गम्यत इति, यदा तु बहिः शब्देन बाह्यं उच्यते तदा बाह्येनाश्रितदेशमुक्तेन चण्डालादिग्रहेण योगे अभ्यन्तरस्य, अनाभ्यन्तरस्य बहिर्भावेनैव सिद्धत्वात् इत्यर्थः, अर्थभेदेऽपि रूपस्य समानत्वात् पृथक्
- ४५ प्रयोगो न, चोऽयं नरेन्दस्य भगवद्भक्तिकारेणामे दर्शितद्वयशब्दालादिग्रहयुक्ताय वा नगराभ्यन्तरग्रहायेत्यर्थः इत्यनेन । उपसंख्यानशब्दकर्मकरणाभेदाद्विज्ञातार्थः, यदोपसंवीयते यदिति विग्रहस्तदा “भुजिपलादिभ्यः कर्मापादाने” ५।३।१२। इति कर्मण्यनङ्, यदा उपसंवीयते-ऽनेनेति तदा “करणाऽऽधारे” ५।३।१२। इति करणेऽनङ्, इत्यस्यास्य कर्मसाधनतया करणसाधनतया वा स्फुटमेव सिद्धार्थत्वम्; तदाह—

बाह्येन वा योगे उपसंख्याने उपसंवीयमाने चार्थे वर्तमानो अन्तरशब्दः, न चेद् बहिर्योगेऽपि पुरि वर्तते; अन्तरस्यै गृहाय-नगरवाद्याय चाण्डालादिगृहायेत्यर्थः, चण्डालादिगृहयुक्ताय वा नगराभ्यन्तरगृहायेत्यर्थः; अन्तरस्यै पटाय-पटच-तुष्टये तृतीयाय चतुर्थाय वेत्यर्थः, प्रथमद्वितीययोर्बहिर्योगेणैव सिद्धत्वात्, पुरि तु न भवति-अन्तरायै पुरे कृष्यति- ३ चण्डालादिपुर्यै इत्यर्थः, बहिर्योगोपसंख्यानोदेरन्यत्र तु न भवति-अयमनयोर्ग्रामयोरन्तरात् तापस आयातः-मध्यादित्यर्थः । तस्यै, तस्यै, यस्यै, अमुष्यै, अस्मै, एतस्यै, एकस्यै; द्वियुष्मद्भवत्वस्मदां स्मायादयो न संभवन्तीति सर्वविम-त्त्यादयः प्रयोजनम् (द्वौ हेतु २), द्वाभ्यां हेतुभ्याम् ३, द्वयोर्हेत्वोः २; अज्ञाते द्वे द्वके स्त्रियौ कुले वा, द्वौ पुरुषौ । ५ सुवाभ्यां हेतुभ्याम् ३, युवयोर्हेत्वोः २; युवकाम्याम्, युष्मादृशः । भवद्भ्यां हेतुभ्याम् ३, भवतोर्हेत्वोः २; भव-कान्, भवादृशः; स च भवांश्च भवन्तौ, अत्र त्यदादित्वात् परत्वाच्च भवच्छेषः, भवान् पुत्रोऽस्येति भवत्पुत्रः-अत्र सर्वा-दित्वात् पूर्वनिपातः, भवतोऽपत्यं भावतायनिः-अत्र त्यदादित्वादायनिञ्, भवत्याः पुत्रो भवत्पुत्रः-अत्र सर्वादित्वात् पुंव-द्भावः, भवन्तमश्नतीति किपि, भवद्भ्य-अत्र “सर्वादिविष्वक्देवाद्भिः क्यञ्चौ” ॥ ३ । २ । १२२ ॥ इति द्वय्यागमः; उकारो ऋचर्यो नागमार्यो दीर्घार्थश्च-भवती, भवान् । आवाभ्याम् हेतुभ्याम् ३, आवयोर्हेत्वोः २, आवकाभ्याम्, अस्मा-दृशः, कस्मै, कस्मात् । सर्वेऽपि चामी संज्ञायां सर्वादयो न भवन्ति, तेनेह न भवति-सर्वो नाम कश्चित् सर्वाय, १९

उपसंख्याने इति । न चेद्बहिर्योगेऽपि पुरि वर्तते इति । पुरि इति शब्दप्रधानो निर्देश, यदा अन्तरशब्दस्य पुद् व्यञ्जनात् नान्यो भवति तदा सर्वादित्वस्य निषेध, यदा अकारान्त ईकारान्तो वा पुरं पुरी इत्यादयश्च वाच्या भवन्ति तदा सर्वादित्वमस्येव । ननु कर्मार्थकरणार्थभेदा-द्विभक्त्याप्युपसंख्यानशब्दस्य ग्रहणमनर्थकम्, सर्वत्र बहिर्योगेण सिद्धत्वादिति चेदुच्यते-समानप्रमाणे शाटकुयोगे परिहिते इदं न ज्ञायते किमुत्- १५ चीयं किमन्तररीयमिति तदर्थमेतद्भवविध्यतीति वक्तुं न शक्यं, यतस्तत्र यथा प्रेक्षापूर्वकारी भाविष्यद्भ्योपसंख्यानत्वं व्यवस्थापयति तथा बहिर्योग-मपीत्यर्थ, उच्यते-पटचतुष्टयायम्, तत्र शाटकानां त्रये चतुष्टये वा प्रथमद्वितीययोर्बहिर्योगेणैव सिद्धत्वात् तृतीयचतुर्थयोर्बहिर्योगाभावात् उपसंख्यानग्रहणं कर्तव्यमिलाह-अन्तरस्यै पटाय इत्यादि । पुरि तु न भवति इति । अपुरिति प्रतिषेधादिति शेष, तेन अन्तरायै १८ पुरे कृष्यति इत्यत्र “सर्वादित्वा” ११११८८ इति शब्दो न भवति, पू कस्मिंश्चिदेशे प्राकाराभ्यन्तरे क्रियते, कश्चित्प्राकाराद्बहिरित्यस्ति पुरो बहिर्योगः । पूर्वोक्तस्यान्तरायै पुरे इत्यस्यार्थमाह-चाण्डालादीति । बहिर्योगोपसंख्यानयोरवर्तमानस्यान्तरशब्दस्य सर्वादित्वाभावमाह- बहिर्योगोपसंख्यानोदेरन्यत्र इत्यादिना । अयमनयोर्ग्रामयोरन्तराच्चापस आयातः-अत्रान्तरशब्दस्य मध्यवाचित्वात् सर्वादित्वा- २१ भाव इत्यर्थ, तदाह-मध्यादित्यर्थ इति । त्यस्यै इत्यादि । पूर्ववद्बोध्यम् । धावीनामनकारान्तत्वात् स्मायादे सर्वादिकार्यस्यासमवेऽपि प्रयोजनान्तरमस्तीति तदाह-द्वियुष्मद्भवत्वस्मदांमिलादि । स्मादयो न संभवन्तीति-तेषामकारान्तत्वाभावादिति हेतोरेति शेष । सर्वविमत्त्यादय इति । “सर्वादे सर्वा” इति हेतुप्रयोगे सर्वविमत्तय इत्याशय । आदिशब्दाद्ययोगमेकशेषपूर्वनिपातपुंवद्भावद्विभाज्यत्वात् २४ आयनिञ्चयदृशक प्रयोजनानि ज्ञायन्त इति । सर्वविमत्तयादीनुदाहरति आदिशब्देभ्य-द्वौ हेतु इत्यादिना । द्विशब्दाद्देतुशब्दाच्चाकारे “आदेर” २११४११ इत्यन्ते, “ऐतौ सन्ध्यकरै” रिलौत्वे, “इतौऽस्त्रेरीदूत” इत्युत्वे च सिध्यत । द्वाभ्याम् इति । “सर्वादे सर्वा” इत्यत्र मतद्वयमिष्टप्रमाणे प्रथमाद्वितीयाकारेणादौ तृतीयां प्रारम्भाच्चोदाहरणानि दर्शयति, स्वमते द्वौ हेतु इत्यादि भवत्येव, तदुक्तं वृत्तिवृत्ता तत्पुत्रे २७ प्रथमां नेच्छन्त्येके, द्वितीयां परे इति । द्विशब्दस्याज्ञातार्थं “स्मादिसर्वादे खरेष्वन्यात् पूर्वोऽक्” इत्यन्यात् खरात् पूर्वमकिं स्त्रीनपुंसकयोः प्रथमाद्वितीयादिवचने विमहोपन्यासपूर्वकं रूपमाह-अज्ञाते द्वे द्वके स्त्रियौ कुले वा इति । एतत्त्वे चाह-द्वौ पुरुषौ-अत्र द्विशब्दात् प्रथमाद्वितीयादिवचनेऽन्यात् खरात् पूर्वम् । एवमन्यदपि । युष्मादृशः-“त्यदाद्यन्य” ५१११५२ इति टकि, अत्र “अन्यस्मादेरा” इत्या- ३० कारान्तादेर्यथ । भवकान्-भवच्छब्दस्यान्यात् खरात् पूर्वोऽक् । भवादृशः-अत्र टकि सत्याकारान्तादेश । स च भवांश्च भवन्तौ इति । अत्र “सदादि” ३१११२०१ इति सूत्रेण त्यदादित्वात् भवच्छेष । ननु तच्छब्दमवच्छन्द्योस्त्यदादित्वाविशेषात् कस्य शेष इत्यत आह-पर-त्वाच्चेति । “सर्पे” परमिति त्यदादीनां मिथ्यं सद्योचौ यथात् पाठे परं तत्तदेवैकं शिष्यत इत्याशय । भवान् पुत्रोऽस्येति भवत्पुत्र इति । ३३ “विशेषणं धनोर्दिसंख्यं बहुमीहै” ३१११५०१ इति सर्वादित्वाद्भवच्छब्दस्य पूर्वनिपातस्यदाह-अत्र सर्वादित्वादिति । भवतोऽपत्यं भावतायनिः-अत्र “सदादि” ६१११७१ इति त्यदादित्वाद्भवच्छब्दस्य दुसज्ञार्थं “अष्टद्वारोर्नवा” ६११११०१ इत्यायनिञ्, तदाह- अत्र त्यदादित्वादायनिञ् इति । भवत्याः पुत्रो भवत्पुत्र इति । “सर्वादयोऽस्मादी” ३१११६१ इति पुंवद्भाव, तदाह-अत्र ३३ सर्वादित्वात् पुंवद्भाव इति । भवन्तमश्नतीति किपि भवद्भ्य-अत्र द्वय्यागम केनेत्यत आह-“सर्वादिविष्वक्” इत्यादिना । भवतु इत्यत्र किमर्थं उकार इत्यत आह-उकारो ऋचर्थ इत्यादिना । “अघातुदित” २१११२१ इति धीप्रत्ययार्थ उकार इति भाव । एव नागमार्य उकार इति । “श्रुदित” ११११७०१ इत्यनेनेति शेष । एवं दीर्घार्थश्च उकार इति “अभवादेस्त्वस सौ” इत्यनेनेति शेष, ३५ तदुदाहरति-भवती, भवान् इति । आवाभ्याम् हेतुभ्याम् ३ इत्यादि पूर्ववद्बोध्यम् । ननु सूत्रे विशेषणानिर्देशात् संज्ञायामपि सर्वादीनां सर्वादिकार्यप्रसङ्ग, नैष दोष, तत्र गणपाठात् षष्ठेदास शुद्धान्वेव हि गणे सर्वादीनि सन्निविष्टानि न सन्नाभूतानि, तेन यत्तामान्य स्मायादि कार्यं यच्च विशिष्ट “पसतोऽन्यादेरनेकतरस्य द”, “आदेर” इति तत्सर्वं गणपाठोपलक्षितानामेव । यत्तु कार्यं “अन्यो य” २१११६१ इत्यादि- ४२ स्वरूपमात्राभ्रय न सन्निवेशापेक, तद्विशेषेण भवति, तत्र हि न गणपठितयोरुष्मदस्योर्निर्देशोऽपि लौणादिकयो । अथवा सर्वादिविशेषणार्थम-संज्ञायामिति गणे साक्षात्पठनीयमिलाह-सर्वेऽपि चामी संज्ञायां सर्वादयो न भवन्ति इति । ननु संज्ञायां गौणत्वादेव न भविष्यति-सर्वाय देहीति, प्रसिद्धिवात्, समवेत्येव “गौणमुल्लङ्घ्याम्” इति किमसंज्ञायामिति विशेषणेन । नैव, पदकार्येभ्येनायं न्याय उपतिष्ठते न नामकार्ये इति, ४५ तपाहि-स्त्रायै इत्यानाश उत्पत्त्याय विभक्तौ तत्तत्कार्येषु शब्दान्तरसंनिधानात् गौणत्व प्रतीयते, यथा-यां वाहीकमानयेति पूर्व क्रियाभिसंख्या-पेक्षया विभक्त्यानुपपन्नां वाक्यीयाभ्यायात् ( साकाङ्क्षादिमूलकवाक्या ) सामानाधिकरण्याद्गौणार्थप्रादुर्भावो भवतीति । तस्य तु सार्थस्य मुख्य-व्यपदेशो नास्ति, गौणपेक्षया सम्बन्धिष्यदन्तत्वात् मुख्यव्यपदेशस्य गौणत्वादेऽभावात्; न चैवं शब्दान्तरात् सप्ताप्रतीतिरस्ति । यदि वा गुणादा- ४८



सर्वात्, उत्तराय कुरवे स्पृहयति । अत इत्येव ? भवते, भवतः । सर्वादेरिति पष्ठीनिर्देशेन तत्संबन्धविज्ञानादिह न भवति—  
प्रियाः सर्वे यस्य तस्मै प्रियसर्वाय, सर्वानतिक्रान्तायातिसर्वाय, द्वावन्वावस्यं ज्ञान्याय, ज्ञान्यायः प्रियपूर्वाय । सर्वं, विश्वं,  
२ उभ, उभयद्, अन्य, अन्यतर, इतर, डतर, डतम, त्व, त्वत्, नेम, समसिमौ—सर्वाथौ, पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि—  
व्यवस्थायाम्, स्वमज्ञातिधनारण्यायाम्, अन्तरं—वहिर्योगोपसव्यानयोरपुरि, त्यद, तद्, यद्, अदस्, इदम्, एतद्, एक,  
दि, युष्मद्, भवतु, अस्मद्, किम्; इत्यसंज्ञायां सर्वादिः । उभयदिति टैकारो डचर्यः—उभयी दृष्टिः ॥ ७ ॥

- १ गतो गौण, यथा—गोशब्दस्य जात्यादिगुणनिमित्तोऽयं वाहीक, मुसमिष प्रधानत्वात् मुख्य । तत्र 'स्व रूप' इत्यत्र रूपग्रहणार्थपरिग्रहणस्य  
ज्ञापितत्वादयंयत् कार्येण भवितव्यम् । स चार्थं प्राथम्यानुसृत्य एव गृह्यते । गौणे एष्ये शब्द प्रवर्तमानो मुख्यार्थोपेणैव प्रवर्तते । अनि-  
यतश्च गौणोऽयं । न च सज्ञाशब्दो गुणद्वारेण प्रवर्तते, येन प्रसिद्धप्रसिद्धिवशाद्गौणत्व तस्य संभवति । ननु मा भूत्सर्वो नाम कथितसर्वोयेत्यादौ  
१ असंज्ञायामिति विशेषणात् सर्वादिकार्यं प्रिया सर्वे यस्य सर्वानतिक्रान्तो य इत्युपसर्जनस्य प्राप्नोति इत्याह—सर्वादेरित्यादि । अयमर्थ—  
पक्षा यदुच्यते तद्गृह्यमाणविभक्तमवति, यथेव परमसर्वस्य इत्यादौ स्मायादि न प्राप्नोति, न ह्यत्र गृह्यमाणत्वात् सर्वादेर्विहिता विभक्तिरिति तु समासा-  
दिति चेत्, न, गृह्यमाणस्य सर्वादेर्यद्वारेण संयन्धिनी या विभक्तित्वद्वयगतसंख्याकर्मादिवाचिनी तस्या सर्वादिकार्यमित्यर्थोऽत्र विवक्षित, सर्वादि-  
२ सख्याप्रधानवैषम्यमास इति । अथवा—सर्वमासीयते गृह्यतेऽभिधेयत्वेन येनेत्यन्वर्थार्थगणात् सर्वेषां यानि नामानि तानि सर्वादीनि । संज्ञोपस-  
र्जने च विशेषेऽवतिष्ठते, तथाहि—यदा सर्वशब्द सज्ञात्वेन विनियुज्यते, तदा प्रसिद्धप्रसिद्धिनिमित्तपरित्यागेन स्वरूपमात्रोपकारी प्रवर्तते इति विशेष  
एवावतिष्ठते । उपसर्जनमपि जहत्स्वार्थमजहत्त्वाऽतिक्रान्ताभिधेयतामापन्नमतिक्रान्तार्थवृत्ति भवत्यतिसर्वायेत्यत्र । एव बहुमीदावपि प्रियसर्वाय ।  
३ द्वावन्वावस्येत्यादावन्वपदार्थसकृमात् विशेषार्थवृत्तिवाक्ये त्वसंछिष्टार्थत्वात् स्वार्थमात्र प्रतिपादयतो न विशेषेऽवस्थानमित्येत्त्यात् सर्वादित्वम् ।  
यथेव सकलकृत्तजगददेरपि प्राप्नोति, एतेषामपि शब्दानामेकैकस्य स स विषयत्वस्तिस्त्वस्मिन् विषये यो य शब्दो वर्तते, तस्य तस्य तस्मि-  
न्त्वस्मिन् वर्तमानस्य सर्वादिकार्यं प्राप्नोति, ततश्च सर्वस्मिन्नेति इत्योदनशब्दस्यापि सिद्धादिप्रसङ्ग सामानाधिकरण्यादनयो । ननु प्रतिनियत-  
४ भागामिनिवैशित्वाच्छब्दानां सर्वत्वमोदनशब्देन नाभिहितम्, ओदनत्वमपि सर्वशब्देनेति कुतोऽयं प्रसङ्ग ? तत्रेदं दर्शने—सर्वशब्दोऽप्यो-  
दनार्थावग्रहेण प्रवृत्त, ओदनशब्दोऽपि सर्वावग्रहेण, प्रतिपत्ता तु केवलात् सर्वशब्दात् विशेष न प्रतिपद्यते रूपसादृश्यात्, नाप्योदनशब्दादिति  
तत्प्रतिपत्त्यर्थमुपयोपादानम्, तत्रैकस्य सर्वादिकार्यं भवति नापरस्येति प्रमाणाभावादतिप्रसङ्ग उद्भावित । एव तर्ह्युभयमनेन कियते—पाठश्चैव  
५ विशेष्यते विधिश्च, कथं पुनरेकेन यत्नेनोभय सम्भवे ? तच्छ्रेयाश्रुत्या वा सर्वेषां यानि प्रतिपादानानि तानि सर्वादीनि तेभ्यः, संज्ञोपसर्जने च  
विशेषेऽवतिष्ठते । एव च सर्वादीनां विशिष्टधर्मोऽनुमीयते—नूनमेवान्वर्थप्रवृत्तिनिमित्तेन सर्वाभिधेयत्वेन युक्तानि सर्वादीनि, अतः सर्वादिकार्यमन्त-  
र्गणकार्यं च सर्वाभिधेयत्वयुक्तानामेव भवति न संज्ञोपसर्जनानामिति सिद्धम् । अथाव्यो भूतपूर्वो मयूरव्यसकादित्वात् समासे आध्यपूर्वत्वसौ  
६ शाब्दपूर्वो देहीत्यत्र कथं सर्वादिकार्यं न भवति ? न च व्यवस्थाया अभावः, पूर्वमाव्यो न च संप्रतीति व्यवस्था प्रतीयते, उच्यते—अत्र हि पूर्वत्व-  
माव्यत्वस्य विशेषणम्, यथाऽतिपूर्वायेति पूर्वार्थोऽतिक्रान्तस्येत्युपसर्जनत्वात् पूर्वार्थस्य स्मायादिर्न भवति । ननु अहं पिता यस्य मकत्पितृक,  
७ पदार्थविशेषणतऽन्यपदार्थविवक्षायां वहिरग्रेण बहुमीहिणेत्यनुपसर्जनत्वात् प्राप्नोति । मकत्पितृक त्वत्पितृक द्विकपुत्र इति चेप्यते इति तदर्थं  
बहुमीहैरप्रयोगसमवायि यत्प्रक्रियाया वाक्य तत्राय प्रतिषेधो न लौकिके वाक्ये प्रयोगानर्हं तस्याकप्रयुक्तस्यैव प्रयोगात्, तत्र, तत्राप्यकप्रयोगो  
एवेष्ट । यदाह गोनर्दाय—'अकच्छरौ तु कर्तव्यौ प्रसङ्ग मुक्तसंशयौ' । मकत्पितृक त्वत्पितृक इति । न चान्तरज्ञानपि विधीनं बहिरहो  
८ विधिर्वाचते इति वक्तुं शक्यम्, लुग्विषयत्वे एव तस्य ज्ञापितत्वात् । सर्वेः—'लट्छिटि०' उ० ५०५। इति 'छ' गतौ घातोर्व । विश्वः—  
'निघृणीष्युषि०' उ० ५११। इति 'विश्व' प्रवेशने, घातोर्व क्तिव । उभ—'उम्मत्' पूरणेऽतो 'नाम्युपान्त्य०' इति क । उभयद्—उम्मते-  
स्वरपूर्वावाते 'आतोडोऽङ्गावाम' ५११।७६। इति डे, निपातनात् टित्वम् । अन्य—'अनक्' प्राणने, घातो 'स्याङ्गामा०' उ० ३५७ । इति य ।  
९ अन्यतर—अन्यशब्दात् डतर । इतर—'इण्पूर्वा क्तिव' उ० ४३८। इति 'इण्' गतौ, घातो क्तिव तर प्रत्यय । डतरडतम—इति प्रत्य-  
यातुकरणम् । त्व—'गित्तिरि' संज्ञमे घातो 'क्त्वि' इति डे सिध्यति । त्वत्—अस्यैव घातो 'संखद्वेहृत्साक्षादादय' ८८२। इति  
निपातनाद् भवति । नेम—नयते 'अतोरिस्तु०' । उ० ३३८। इति म । समसिमौ इति । 'वम' वैकृत्ये, घातोर्छप्रत्यय, सिम इति अत्र  
१० 'सेरी च वा' उ० ३४३। इति किम् । पूर्व—पूरणेऽत उणायकारो वा 'पूर्व' पालनपूरणयोरतो 'निघृणीष्युषि०' उ० ५११। इति किति वे  
'ओष्वाद्' ४११।११७। इत्युरे, 'भवादेर्नामिनो' २११।६३। इति र्घ । पर—'पृट्' प्रीतौ, अत औणादिकाकारप्रत्यय । अवर—'अव' रक्षणदावतः  
'अवेर्ध च वा' उ० ३९८। इत्यप्रत्यय । दक्षिण—'दक्षि' शैव्ये चेत्यस्मात् 'हृहृहृदिदक्षिभ्य इण' उ० १९४। इतीण प्रत्यय । उत्तर—  
११ उत्पूर्वोत्तरेरचि औणादिकेऽकारे वा भवति । अपर—नष्पूर्वात् घृणातेरकार । अघर—अवते 'अवेर्ध च वा' इत्यरे घादेशश्च । स्व—अस्यतेः  
'प्रहाहाया०' उ० ५१४। इति निपातनाद्भवति । अन्तरं—'अनक्' प्राणनेऽत 'अनिकाभ्यां तर' उ० ४३७। इति तर । त्यद्, तद्, यद्—  
'त्यज' हानौ, 'तनूयी' विस्तारे, 'यजी' देवपूजासगतकरणदानेष्विभ्यो 'तनिलजिजिभ्यो ङद्' उ० ८९५। इति विद् प्रत्ययेऽन्यस्वरप्रादिलोपे  
१२ सति भवन्ति । अदस्—'अदक्' भरणेऽत 'अदेरन्ध च वा' उ० ९६३, इत्यप्रत्यय । इदम्—प्रत्ययनिर्देशे 'इणो दमक्' उ० ९३८। इति  
'इण्' गतावित्यस्मात् दमक् । एतद्—समीपवाची शब्द, तत एव घातो 'इणस्तद्' उ० ८९६। इति तद् प्रत्यय । एक—एकत्वसंख्यायाम्,  
तत एव घातो 'भीणशलिबलि०' उ० २१। इति क । द्वि—द्वित्वे 'उमत्' पूरणेऽत, 'उमेर्द्वौ च' उ० ६१५। इतीकारे द्वादेशः ।  
१३ युष्मद्—प्रत्ययवचन, 'युषे' सेवायाम्, सौत्रात् 'युष्यसिभ्या कमद्' उ० ८९५। इति कमद् प्रत्यय । भवतु—परोक्षवचन, 'भाक्' रीतावतो  
'भातेर्भवतु' उ० ८८६। इति ववतु । अस्मद्—प्रत्यात्मवचन 'अस्' क्षेपणे, घातो 'युष्यसि०' इति कमद्प्रत्यय । किम्—प्रश्ने क्षेपे च,  
'कोर्दिम्' उ० ९३९। इति 'कुह' शब्दे इत्यस्मात् ङिदम्प्रत्यय ॥ ७ ॥



हेः सिन् ॥ १ । ४ । ८ ॥

सर्वादेकारान्तस्य संबन्धिनः सप्तम्येकवचनस्य हेः स्थाने सिन् इत्ययमादेशो भवति—सर्वसिन्, विश्वसिन् । अत इत्येव ? भवति । सर्वोदेरित्येव ? सर्वो नाम कश्चित्—सर्वे, समे देशे धावति । तत्संबन्धिविज्ञानादिह न भवति—प्रियसर्वे, १ अतिविश्वे ॥ ८ ॥

जस इः ॥ १ । ४ । ९ ॥

सर्वादेकारान्तस्य संबन्धिनो जसः स्थाने इकार आदेशो भवति, एकवर्णोऽपि “प्रत्ययस्य” ॥ ७ । ४ । १०८ ॥ १ इति सर्वस्य भवति । सर्वे, विश्वे, उभये; ते । अत इत्येव ? भवन्तः, सर्वाः । तत्संबन्धिविज्ञानादिह न भवति—प्रिय-सर्वाः पुमांसः । सर्वाणि कुलानि इत्यत्र तु परत्वात्पुंसके शिरेव ॥ ९ ॥

नेमाऽर्धप्रथमचरमतयाऽयाऽल्पकतिपयस्य वा ॥ १ । ४ । १० ॥

नेमादीनि नामानि, तयायौ प्रत्ययौ, तेषामकारान्तानां संबन्धिनो जसः स्थाने इर्वा भवति । नेमस्य प्राप्ते इतरेषामप्राप्ते विभाषा । नेमे, नेमाः; अर्धे, अर्धाः; प्रथमे, प्रथमाः; चरमे, चरमाः; द्वितये, द्वितयाः, त्रितये, त्रितयाः; द्वये, द्वयाः; त्रये, त्रयाः; उभयदशब्दस्य त्वयदप्रत्ययरहितस्याखण्डस्य सर्वादौ पाठात् पूर्वेण नित्यमेवेत्वं भवति—उभये । अल्पे, अल्पाः; १२ कतिपये, कतिपयाः; परमनेमे, परमनेमाः इत्यादि । तत्संबन्धिविज्ञानादिह न भवति—प्रियनेमाः, अतिनेमाः । स्वार्थिक-प्रत्ययान्ताग्रहणादिह न भवति—अर्धकाः । सर्वादित्येव ? नेमा नाम केचित् । व्यवस्थितविभाषाविज्ञानादर्धादीनामपि संज्ञायां न भवति—अर्वा नाम केचित् । अत इत्येव ? नेमाः स्त्रियः ॥ १० ॥ १५

हेः सिन् । अत्र पूर्वस्मात् सर्वादेरत इति चाशुवर्तते । अत इत्यस्य विशेषणत्वात्तदन्तविधि । हेरिति स्थानपट्टी । सर्वादि अकारा-न्तस्य हेः सिन्निबन्धवत्तदर्थमाह—सर्वादेरकारान्तस्य इत्यादि । संबन्धिनः—सर्वादि शब्दरूपस्य च सप्तम्यां फिस्तस्येत्स्यं, तत्संबन्धित्वं तु तदर्थगतसंख्यादौ विधानादर्थद्वारकमेव द्रष्टव्यम् । सर्वसिन्, विश्वसिन् इति । सर्वविश्वशब्दाभ्यां हेः सिन्नादेश । अत इत्यधिकार-१८ फलमाह—अत इत्येव ? भवति—अवच्छब्दस्य सर्वादित्येऽपि व्यञ्जनान्तत्वेनाकारान्तत्वाभावाच्च हेः सिन्नादेश । सर्वादित्यनुवृत्तस्य फलमाह—सर्वादित्येव इति । अयं भाव—सर्वादित्यस्य असंज्ञायामिति विशेषणात् अर्थविशेषे च सर्वादित्वात् संज्ञायामर्थविशेषाभावे च न सर्वादित्वमित्यर्थः । तदाह—सर्वो नाम कश्चित्—सर्वे इति । सर्व इ इति स्थिते “अवर्णस्येवर्णादिना०” इत्येत्त्वम् । समे देशे इति । अतिपम २१ इत्यर्थः । सर्वादेरकारान्तस्य संबन्धिनः हेरित्युच्यते तदसंबन्धिनो हेः सिन्नादेशाभावमाचष्टे—तत्संबन्धिविज्ञानादिह न इत्यादि । प्रिय-सर्वे, अतिविश्वे—प्रियसर्वे इ, अतिविश्वे इ इति स्थिते “अवर्णस्ये०” इत्येत्त्वम् । अत्र सूत्रे हेरिति सप्तम्येकवचनस्य परिग्रहस्तु “तदस्या-स्त्यसिन्” इति ज्ञापकात् ॥ ८ ॥ २४

जस इः । “सर्वादे सौ स्मातो” इत्यत सर्वादेरिति, “अत आ स्मा०” इत्यत अत इति चाशुवर्तते, सर्वादेरकारान्तस्य जस इ इत्य-न्वयस्तदर्थमाह—सर्वादेरकारान्तस्य इत्यादिना । सर्वशब्दात् प्रथमावहुवचने “जस इ” “अनेकवर्णे सर्वस्य” ७।४।१०७ इति परिभाषाया अप्रकृता सर्वस्य कथं भवतीत्याह—एकवर्णोऽपि इत्यादिना । सर्व इ इति स्थिते “अवर्णस्ये०” इत्येत्त्वे रूपम् । एवमन्यत्रापि । अयं नपुंसके २७ सर्वशब्दात् ‘नामग्रहणे लिङ्विशिष्टस्यापि ग्रहणात्’ जस स्थाने इकारादेश कस्मान् भवति ? उच्यते—परत्वाच्छिरादेश एव भवति बाधक इत्याह—सर्वाणि इत्यादि ॥ ९ ॥

नेमाऽर्धप्रथमचरमतयायाऽल्पकतिपयस्य वा । “जस इ” इत्यशुवर्तते, नेमाऽर्धप्रथमचरमतयायाऽल्पकतिपयस्य जस इर्वा १० इत्यन्वयः । अत्र नेमादीनां समाहारद्वन्द्वात् षष्ठी । नेमादीनां परिचयमाह—नेमादीनि नामानि इति । तयाययोर्यामत्वाभावमाह—तयायौ-प्रत्ययौ—“अवयवात्तयद्” ७।१।१५१, “द्वित्रिभ्यामयद् वा” ७।१।१५२ इति सूत्रविहितौ । सूत्रार्थमाह—तेषामकारान्तानाम् इत्यादिना । प्राप्ते—सर्वादित्वात् पूर्वेण इति शेषः । इतरेषाम्—नेमशब्दव्यतिरिक्तानां अर्धादिशब्दानाम् । अप्राप्ते—सर्वादित्वाभावात् पूर्वेण इति ११ शेषः । नेमे इत्यादि पूर्ववत् सप्ताभ्याम् । ‘तत्रि’ रक्षणे च, ‘अथि’ गतामित्याभ्यामपि तयायौ शब्दावपि स्तः, परं व्याख्यानात् तयायौ प्रत्ययौ शुद्धेते, तयोश्च केवल्योरसंभवात् तदन्तस्य कार्यं दर्शयति—द्वितये इत्यादि । द्वित्रिशब्दाभ्यामवयवात्तयद् “द्वित्रिभ्यामयद् वा” इत्ययं च ततो अतोऽनेन विकल्पेन इकारादेशः, व्युत्पत्तिपक्षेऽपि तयद्वाहर्ण्यात् अयस्य तदितस्य ग्रहणम्, न तु “गयद्वा” ७।३।७०। इत्यादिप्रकृत्यः । ११ उभयदशब्दस्य जस इकारादेशो विकल्पेन कस्मान् भवतीत्याह—उभयदशब्दस्य इत्यादि । प्रागेव निर्णीतम् । उभयदशब्दस्य अखण्डस्य नात्—जसो नेमादिसंबन्धिविज्ञानादित्यर्थः । इह न भवतीति तस्यलमाह—प्रियनेमा इत्यादि । स्वार्थिकप्रत्ययान्ताग्रहणात् इत्यादि ॥ ११ अयं भाव—“सर्वादे सौ स्मातो” सूत्रे सर्वादिगणे इतरद्वयमग्रहणेनान्यस्वार्थिकप्रत्ययान्तानां ग्रहणमत्र प्रकरणे नेति पूर्वं ज्ञापितत्वादिति । इह न भवति अर्धका इति । कुत्सिता अर्धा अस्माता वा अर्धा इत्यर्थे कप्रत्ययः स्वार्थिकः । नेमशब्दस्य सर्वादित्वात् सर्वादित्वाद्यसंज्ञायामेति विशेषणात् नान्ना संज्ञाया नाम प्रसिद्धार्थो वा । नन्वसंज्ञायामित्यस्य सर्वादिविशेषणत्वेनासर्वादीनामर्वादीनां संज्ञायामनेन विकल्पेन जस इकारादेशः कथं न भवतीत्याह—व्यवस्थितविभाषाविज्ञानात् इत्यादि । अर्धादीनामपि व्यवस्थितविभाषाविज्ञानात् संज्ञायां न भवति विकल्पेन जस इकारा-देश इति शेषः । व्यवस्थित-मार्गोदागमिक्तान् प्रयोगजात विशेषण आधत्ते इति व्यवस्थितविभाषा तस्यां विज्ञानं तस्मादित्यर्थः । अर्धादीनामपि ४५ इत्यत्रापि शब्दात् नेमशब्दस्य सर्वादित्यसंज्ञायामिति विशेषणात् संज्ञायां विकल्पेन जस इकारादेशाभावसमुच्चयः । अत इत्यधिकारफल-माह—अत इत्येव ? नेमाः स्त्रियः—अत्राऽकारान्तत्वाभावाच्च भवति विकल्पेन जस इकारादेशः ॥ १० ॥

## द्वन्द्वे वा ॥ १ । ४ । ११ ॥

द्वन्द्वे समासे वर्तमानस्याकारान्तस्य सर्वोदेः सवन्धिनो जसः स्थाने इर्वा भवति । पूर्वोत्तरे, पूर्वोत्तराः, कतरकतमे, कतरकतमाः, दन्तकतमे, दन्तकतमाः, परमकतरकतमे, परमकतरकतमाः । तत्संवन्धिविज्ञानादिह न भवति-प्रियकतर-कतमाः, वखान्तरवसनान्तराः । उत्तरेण निषेधे प्राप्ते प्रतिप्रसवार्थो योगः ॥ ११ ॥

## न सर्वादः ॥ १ । ४ । १२ ॥

द्वन्द्वे समासे सर्वादः सर्वादिर्न भवति, सर्व सर्वादिकार्यं न भवतीत्यर्थः । पूर्वापराय, पूर्वापरात्, पूर्वापरे, कतर-कतमानाम्, दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम्-अत्र “सर्वादयोऽस्यादौ” ॥ ३ । २ । ६१ ॥ इति पुंवङ्गावो भवत्येव, तत्र भूतपूर्व-स्यापि सर्वादेशहणात्, कतरकतमकाः-अत्र सर्वादित्वनिषेधादकप्रत्ययामावे कप्रत्यये सति स्वार्थिकप्रत्ययान्ताग्रहणाद् “द्वन्द्वे वा” ॥ १ । ४ । ११ ॥ इति जस इर्न भवति ॥ १२ ॥

## तृतीयान्तात् पूर्वावरं योगे ॥ १ । ४ । १३ ॥

पूर्वं अवर इत्येतौ सर्वादी तृतीयान्तात् पदात् परौ योगे सवन्धे सति सर्वादी न भवतः । मासेन पूर्वाय,

१२ द्वन्द्वे वा । सर्वादेरत इति “जस इ”रिति च सपथ्यते, द्वन्द्वे अकारान्तस्य सर्वादेर्जस इर्वा इत्यन्वयस्तदर्थमाह-द्वन्द्वे समासे इत्यादिना । पूर्वसूत्रे नेम प्रति व्यभिचारमाभावात् विशेषणार्थक्यात् इतरान्प्रत्ययसंभवाज्जस सर्वादेरित्यनेन संवन्धो न दर्शित, इह तु सम्भव-व्यभिचारयोर्भावात् प्रदर्शित इत्याह-सर्वादः । सवन्धिनो जस इति । पूर्वोत्तरे इति । पूर्वोत्तरादेति द्वन्द्वद्विकल्पेन जस इ । पक्षे रूप-माह-पूर्वोत्तराः । कतरकतमे-कतरे च कतमे चेति द्वन्द्वस्ततो विभाषा जस इत्यदमावे चाह-कतरकतमाः । एव दन्तकतमे इत्यादयो बोध्या । सर्वादे संवन्धिनो जस इत्युक्तिप्रयोजनमाह-तत्सवन्धिविज्ञानात् इत्यादि । प्रियकतरकतमाः-प्रिया कतरकतमे कतरकतमा वा येषामिति विग्रह । वखान्तरवसनान्तराः-वखान्तरं येषां ते वखान्तरा इति विग्रह, सर्वादित्वादन्तरशब्दस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते राजदन्तादि-त्वादत्रस्य पूर्वनिपात, एव वसनमन्तरं येषान्ते वसनान्तरा, ततो वखान्तराश्च वसनान्तराश्चेति कृते समानार्थत्वादिकशेष प्राप्नोति, नैवम्, अत्र वसनशब्दो गृहपर्याय इति न समानार्थत्वम् । यद्वा एकोऽन्तरशब्दो व्यवधानार्थो अन्यस्तु विशेषार्थः । ननु चान्तरशब्दो बहुव्रीहौ वर्तते न द्वन्द्वे इति कथमद प्रत्युदाहरणम्, न, तदवयवको बहुव्रीहिर्द्वन्द्व इति सोऽपि द्वन्द्व इति प्रत्युदाह्रियते, अत्र द्वन्द्वाधिकरणत्वेऽपि वखान्तरवसनान्तर-शब्दयोस्तत्सवन्धिनो जस सर्वादिसवन्धित्वाभावाच्च भवति विकल्पेन इ । उत्तरेण इत्यादि । अयं भाव-द्वन्द्वस्य शब्दप्रधानत्वादुत्तरपदस्य सर्वादे सर्वादित्वात् “जस इ”रिति प्राप्तस्य “न सर्वादि”रित्युत्तरस्येण निषेधादप्राप्तस्य च जस इकारस्थानेन पुन पक्षे विधि क्रियते इति ॥११॥

न सर्वादः । सर्वसर्वादिकार्यविधिवैयर्थ्यप्रसङ्गात् सर्वत्र सर्वादे सर्वादित्वनिषेधयोगायोगादनन्तरं द्वन्द्व इत्यनुवर्तनीयमित्याह-द्वन्द्वे इत्यादि । निषेधविषयमर्थात् सर्वादिरिति प्रकरणाच्च प्राप्तमाह-सर्वमित्यादि । पूर्वापराय, पूर्वापरात्, पूर्वापरे इति । पूर्वं चापरं चेति समाहारद्वन्द्वात् सर्वादित्वनिषेधायादे स्मायादिर्न भवति । कतरकतमानाम् इति । कतरे च कतमे चेति द्वन्द्वात् सर्वादित्वनिषेधात् आमः “अवर्णस्याम साम” इति साम न भवति । दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् इति । दक्षिणा च उत्तरा न पूर्वा चेति द्वन्द्व । ननु सर्वस्य सर्वादिकार्यस्य निषेधात् कथमत्र “सर्वादयोऽस्यादौ” इति पुंवङ्गाव ? उच्यते-सर्वादय इत्यत्र बहुवचनस्य व्यात्यर्थत्वाद् भूतपूर्वस्यापि सर्वादेशहणात् पुंवङ्गावो भवतीत्यर्थः । बहुवचनलभ्यमेवार्थं दर्शयन्नाह-अत्र इत्यादि । कतरकतमकाः । ननु कतरे च कतमे चेति द्वन्द्वे सर्वादिकार्यस्य निषेधाद-ज्ञातार्थेऽङ्क प्रत्ययामावेऽपि कप्रत्यये सति स्वार्थिकत्वेन प्रकृत्यर्थविशिष्टत्वात् कतरकतमका इति “द्वन्द्वे वा” इति “जस इ” कस्माच्च भवति अत आह-अत्र सर्वादित्वनिषेधादित्यादि । इतरद्वतमग्रहणं हि तत्रेतरस्वार्थिकप्रत्ययान्ताग्रहणार्थमुक्तमित्यर्थः, इतरद्वतमौ च प्रहृतेरन्ते समा-गच्छतस्ततोऽन्योऽपि स्वार्थिक प्रत्ययो योऽन्ते समभ्येति तदन्तस्यैवाग्रहणम्, तेन अकप्रत्यये सति एतत्प्रकरणविहित कार्यं भवत्येव । तत-सर्वेक इति सिद्धम् ॥ १२ ॥

१३ तृतीयान्तात् पूर्वावरं योगे । न सर्वादिरित्यनुवर्तते, पूर्वावरं तृतीयान्तात् योगे न सर्वादीत्यन्वयः । पूर्वावरम्-“अश्ववडव” ३।१।१३। इति पूर्वशब्दस्यापरेण स्वेन समाहृतिर्भविष्यते इति सूत्रत्वात् समाहार । कर्मधारयो वा पूर्वोवयवयोगादिति । योगे इति । योग एकार्थोभावो व्यपेक्षा चोभय शृण्वते । तृतीयान्तात्-अत्रान्तग्रहणं समासभेदप्रतिपत्त्यर्थम्, अनेकविमकिश्चात्र समास, तत्रैकार्थोभावे तृती-याया अन्तो विनाशोऽस्त्यस्येत्यर्थः । स च समासे भवति । तत्र जहत्स्वार्थायामजहत्स्वार्थयो वा कृतो उपसर्जनपदानि प्रधानार्थपदानि व्यर्थानि ह्यर्थानि वा सन्त्येकार्थानि भवन्ति । तृतीयान्तात् परं पूर्वावरं सर्वादि न भवतीत्यत्र पक्षे परदिग्भोगलक्षणा पथमीति । यदा व्यपेक्षायां योगश-ब्दस्त्वा तृतीया अन्ते यसेति उद्गातवयवत्वाद्बहुव्रीहेस्तृतीयाया समुदायेऽन्तर्भावात् कार्यं व्यापारात् “गम्ययप कर्मधारे” इति कर्मणि पथमी ३९ विधानात् अर्थद्वारेण तृतीयान्त पदमाश्रित्य विशेषणविशेष्यभावे सति लौकिके प्रयोगार्हवाक्ये-पूर्वावरं वर्तमान सर्वादि न भवति । अथवा बहु-इत्यन्तत्वे लब्धे अन्तग्रहणं द्वन्द्वार्थम्-तृतीया च अन्तश्चेति तृतीयान्त तदाश्रित्येति योगे सतीत्येवमपि पूर्वोक्तार्थद्वयपरिग्रह स्थित्यतीति । ३९ “प्रत्यय प्रकृत्यादे”रित्यन्तलाभात्तदभाववाक्यमेवैक संगृहीत स्याच्च न समास । ‘तृतीयासमास’ इत्यपि कृते समास एक संगृहीतो भवति न वाक्यम् । ननु लाघवार्थं तृतीयासमासे इति सूत्रकरणेऽन्यस्यापि सर्वादे सर्वादिकार्यप्रतिषेधप्रसङ्ग इति वाच्यम्, “ऊनार्थपूर्वार्थे” ३।१।६७। इति चेत् एकस्तृतीयासमास प्राथमकल्पिको यस्मिन्नैकपक्ष एकविमकिरुत्वं चोच्यत इति । अन्यस्तु तृतीयासमासार्थानि पदानि तृतीयासमास इति तादर्थ्यात् कटवीरणवत् ताच्छब्द लभते तस्य ग्रहणे वाक्यस्यापि ग्रहणं भवतीति । सत्य भवेदेव केवलमलौकिकमप्रयोगसमाधिव्याक्य संगृहीत स्यात्तस्यैव तदर्थत्वात् । लौकिकस्य तु विपर्ययात् मुख्यार्थसंभवे गौणपरिग्रहाभावाद्वाक्यस्यापरिग्रह इति । तदेतत्तत्सर्वमभिप्रेत्याह तदर्थम्-पूर्वं अवर इत्येतौ इत्यादि । व्यपेक्षायामुदाहरति-मासेन पूर्वाय इति । अत्र तृतीयान्तात् मासेन इत्यस्यात् परत्र विद्यमानस्य पूर्वस्य सर्वादित्व-

मासपूर्वयः; संवत्सरेणावराय, संवत्सरावराय; मासेनाऽवराः, मासावराः । तृतीयान्तादिति किम् ? ग्रामात् पूर्वस्मै, पूर्वस्मै मासेन; अवरस्मै पक्षेण । पूर्वावरमिति किम् ? मासपरस्मै । योगे इति किम् ? यास्यति चैत्रो मासेन पूर्वस्मै दीयतां कम्बलः ॥ १३ ॥

### तीयं डित्कार्ये वा ॥ १ । ४ । १४ ॥

तीयप्रत्ययान्तं शब्दरूपं डितां-डेडसिडसडीनां कार्यं कर्तव्ये वा सर्वादि भवति । द्वितीयस्मै, द्वितीयाय; द्वितीयस्मै, द्वितीययै; द्वितीयस्मात्, द्वितीयात्; द्वितीयस्याः, द्वितीयाया आगतः; द्वितीयस्याः, द्वितीयायाः स्वम्; द्वितीयस्मिन्, द्वितीये; द्वितीयस्याम्, द्वितीयायाम्; एव तृतीयस्मै, तृतीयाय इत्यादि । डित्कार्ये इति किम् ? तत्रैव सर्वादित्वं यथा स्यात्, नान्यत्र, तेनाक् न भवति । तथा च-कप्रत्यये सति स्वार्थिकप्रत्ययान्ताग्रहणात् सैप्रभृतयो न भवन्ति-द्वितीय-काय, तृतीयकाय; द्वितीयिकायै, तृतीयिकायै इत्यादि । अर्थवतः प्रतिपदोक्तस्य च ग्रहणादिह न भवति-पटुजातीयाय, ९ मुखतो भवो मुखतीयः, गृहादिपाठादीयः, मुखतीयाय; एवं पार्श्वतीयाय ॥ १४ ॥

### अवर्णस्यामः साम् ॥ १ । ४ । १५ ॥

अवर्णान्तस्य सर्वादेः संवन्धिनः षष्ठीबहुवचनस्यामः स्थाने साम् इत्ययमादेशो भवति । सर्वेषाम्, विश्वेषाम् १२

निषेधे न स्थायादेशः । एकार्षीन्निवे चोदाहरति-मासपूर्वायेति । “ऊनार्यपूर्वायै” इति समासः । एवमन्यदपि । तृतीयान्तादिति किम् ? तृतीयान्तमाश्रित्येति कियर्थम् । ग्रामात् पूर्वस्मै-अत्र तृतीयाया अभावाच्च भवति प्रतिषेधः । पूर्वस्मै मासेन-अस्ति ह्यत्र योगमात्रं न तु तृतीयान्तमाश्रित्य, तथा हि-अत्रायमर्थ-“दीयता कम्बल पूर्वस्मै मासेन गतचैत्र” इति । ननु योगग्रहणेनैव व्यावर्तितमिदं, नैव, तृतीयान्तमाश्रित्येति १५ कम्बलादिशिष्टयोगस्य । मासपरस्मै-अत्र पूर्वं अवर इत्येतयोरभावाच्च सर्वादित्वप्रतिषेधः । यास्यति चैत्रो मासेन पूर्वस्मै दीयतां कम्बल इति । अत्र व्यपेक्षाया एकार्षीन्भावस्य च योगस्याभावाच्च भवति प्रतिषेधः, यतो हि “यास्यति चैत्रो मासेन” इत्येक वाक्यम्, “पूर्वस्मै दीयतां कम्बल” इत्यन्यत्, तत्र मासेनेत्यस्य पूर्वस्मै इत्यत्रान्वयाभावाद्योगाभावा इत्याशयः । ननु यास्यति चैत्रो मासेन पूर्वस्मै इत्यत्र योगग्रहणं विनापि “समर्थ १८ पदविधि” इति न्यायेन भविष्यति निषेधः किं योगग्रहणेन ? उच्यते-योगग्रहणादन्यदपि सिद्धम्, अपरैः सामान्येन तृतीयान्तेन योगे प्रतिषेधः कृतो न तृतीयान्तात्, तेषां भवे पूर्वय मासेनेत्यपि भवति तन्मतसप्रहार्यं तु पूर्वद्विरयोगेऽपि पञ्चमी व्याख्येया, तेन तृतीयान्तात् पदात् पूर्वं पूर्वं अवर इत्येतावन्मर्थो बोध्यः ॥ १३ ॥

तीयं डित्कार्ये वा । सर्वादिरित्यनुवर्तते, तीयं डित्कार्ये वा सर्वादिरित्यन्यत्र । तीयमिति अविनाभावात् प्रत्ययेन प्रकृतेराक्षे-पात्तात्स्थानात्समुदायस्य तस्य च तीयमिति विशेषणाद्विशेषणे च तदन्तविषेधपस्थानादित्याह-तीयप्रत्ययान्तं शब्दरूपमिति । डित्कार्ये इत्यस्य समासमुखेनाऽऽहार्थ-डितां-डेडसिडसडीनामित्यादि । कार्यं कर्तव्ये इत्यर्थस्तु सर्वादेशात्फलत्वेन फलवत्त्वादित्याशयः, अन्यथा २४ तदन्यडित्कार्ये कृते सर्वादित्वविधाने फलाभावः । तथा च डित्कार्ये इति डित्स्थानिके सैभावादौ विदाभ्ये च “सर्वादेशेऽपूर्वो” १।४।१८। इति वसागमेऽर्थं निवृत्त्य इति, वसागमेऽपि हि आपो भवन् क्वि एव भवति न तु क्वि परे, तेन सर्वादरेत्यात् स्वरात् पूर्वोऽङ्गं न भवति, न ह्यङ्ग डित्कार्यम् । तत्रागभावे कप्रत्यये स्वार्थिकप्रत्ययान्ताग्रहणात् इतरङ्गमग्रहणेन पूर्वं ज्ञापितत्वात् स्थायादीनामभावत्वादाह-डित्कार्ये किम् २७ इत्यादिना, न भवन्ति इत्यन्तेन । तत्रैव-डित्कार्ये सैभावादौ कर्तव्य एवेत्यर्थः । नान्यत्र-तस्मात् अन्यस्मिन्कार्ये कर्तव्ये तीयप्रत्ययान्तं न सर्वादि । उत्तममाह-तेनाक् न भवति-अत्रो डित्कार्यत्वाभावादित्यर्थः । ननु तीयप्रत्ययान्तात् स्वार्थं कप्रत्यये तस्य स्वार्थिकत्वात् प्रकृतितो-ऽविशिष्टतया कथञ्च स्थायादनं इत्याह-तथा च कप्रत्यये सति स्वार्थिकप्रत्ययान्ताग्रहणात् इत्यादि । इतरङ्गमग्रहणेन ज्ञापि-३० तत्त्वादिति भावः । द्वितीयकाय-अत्राकप्रत्यये कर्तव्येऽनेन सर्वादित्वं न भवति, डित्कार्ये एव तेन विभाषा सर्वादित्वविधानात्, के तु सति प्रकृतितोऽविशिष्टतया डित्कार्यं कर्तव्ये प्राप्तमपि सर्वादित्वं इतरङ्गमग्रहणज्ञापितान्यस्वार्थिकप्रत्ययान्ताग्रहणेन निविध्यते । द्वितीयिकायै-“स्वज्ञाजम्बकां” २।४।१०८। इति आप इ, यत्र तु इत्वं न दृश्यते तत्र “रूपादीदृक् के” २।४।१०४। इति ह्रस्वत्वम् । अर्थवतः प्रतिप-३३ दोक्तस्य च ग्रहणात् इति । ‘अर्थवद्ग्रहणे नाऽनर्थकस्येति’ ‘लक्ष्मणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव’ ग्रहणमिति च न्यायेनार्थवत् प्रतिपदोक्तस्य च “द्वितीय” ७।१।१६५। इति, “त्रैस्तु च” ७।१।१६६। इति च विहितस्य तीयप्रत्ययस्य ग्रहणादित्यर्थः । इह न भवति-अनेन पाक्षिकं सर्वादित्वमिति शेषः । उच्येत आह-पटुजातीयाय इति । पटु प्रकारोऽस्येति विग्रहे “प्रकारे जातीयम्” ७।२।७५। इति जातीयरि तस्मा-३६ चतुर्व्येकवचने रूपम् । गृहादिपाठादीयः-“गृहादित्य” ६।३।६३। इत्यनेन । पटुजातीययेत्यादौ जातीयस्य ईदेलस्य चार्थवत्त्वाजातीय इत्येतदेकदेशस्य मुखतीय इत्यत्र चार्थवत्त्वबन्धात् नास्य तीयस्यानर्थकत्वात् ग्रहणाभावः, लाक्षणिकत्वाद् वा, तथा हि-जातीयसमुदायेन वा तस्य लाक्षणिकत्वं योग्यमित्यर्थः ॥ १४ ॥

अवर्णस्यामः साम् । अत्र सर्वादिरित्यनुवर्तते, तत्रावर्णस्येति विशेषणत्वात्तदन्तविधिलग्नः, अवर्णान्तस्य सर्वादेराम सामित्यन्य-स्वार्थमाह-अवर्णान्तस्य इत्यादिना । अत्र सन्ति बहवस्तथा हि-“आपो हिता” १।४।१७। इति यामेकदेशः, तत्र यामेकदेशस्यासो-ऽनर्थकत्वाद्ग्रहणम् । “परस्पराभ्यामन्येतरतस्याम” ३।२।१। इत्याम सामादेशे तत्रैव सामेवोच्येत, न ह्यामादेशः कृत्वा साम्वचने किञ्चित्प्रयो-४२ जनमिति, प्रक्रियागौरव च परिहृतं भवति । परोकादेशस्तु आम् पातोविधीयमानं सर्वादेर्न समबलेव, “कर्तुं किञ्च” ३।४।२५। इति किप्प्र-त्ययान्ततायां समवेऽपि सामिरित्याधिकारादपासवे । “क्षिया क्तिता” १।४।२८। इति दामेकदेशस्तु अवर्णान्तस्य सर्वादेर्न समबलेव इति पारिशेष्यात् षष्ठीबहुवचनस्यैव ग्रहणमित्याह-षष्ठीबहुवचनस्याम इति । सर्वेषाम्, विश्वेषाम् इति । सर्वविश्वशब्दाभ्यामनेन सामा-४५ देशे “पटुह्रस्वोक्ति” इत्येते “नाम्यन्तस्याम” इत्यनेन शत्वम् । अथावर्णान्तं निपातेन जातं सामादेशः कथं तद्विधातुहेतोरेवमिति निमित्तं सादि-

‘संनिपातलक्षण०’ न्यायस्यानित्यत्वादेत्त्वम् । सर्वासाम्, विश्वासाम्, परमसर्वेषाम्; परमसर्वासाम् । सर्वदेरित्येव ? द्वयानाम्, द्वितयानाम् । कथं ? ‘व्यथां द्वयेपामपि मेदिनीभृताम्’ इति, अपपाठ एषः । तत्सवन्धिविज्ञानादिह न भवति— प्रियसर्वाणाम् । अवर्णसेति किम् ? भवताम्, भवतीनाम् ॥ १५ ॥

नवभ्यः पूर्वभ्य इस्मात्स्मिन् वा ॥ १ । ४ । १६ ॥

पूर्वादिभ्यो नवभ्यो यथास्थानं ये इ स्मात् स्मिन् आदेशा उक्तास्ते वा भवन्ति । पूर्वे, पूर्वाः; पूर्वस्मात्, पूर्वात्; पूर्वस्मिन्, पूर्वे; परे, पराः; परस्मात्, परात्; परस्मिन्, परे । नवभ्य इति किम् ? ले, ल्यस्मात्; ल्यस्मिन् । पूर्वभ्य इति किम् ? सर्वे, सर्वस्मात्; सर्वस्मिन् । पूर्वे, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर, स्व; अन्तर इति पूर्वादयो नव ॥ १६ ॥

९ आपो ङितां यैयास्यास्याम् ॥ १ । ४ । १७ ॥

आवन्तसवन्धिनां स्यादेङितां-डेङसिङसङ्गीनां स्थाने यथासंख्यं यै यास् यास् याम् इत्येते आदेशा भवन्ति । खट्वायै, खट्वायाः, खट्वायाम्; बहुराजायै, बहुराजायाः, बहुराजायाम्, कारीषगन्ध्यायै, कारीषगन्ध्यायाः, कारीषगन्ध्यायाम् । आप इति पकारः किम् ? कीलालपे । तत्सवन्धिविज्ञानादिह न भवति-बहुखट्वाय पुरुषाय, इह तु भवति-बहुखट्वायै विष्टराय इत्यादि ॥ १७ ॥

सर्वदेर्दस्पूर्वाः ॥ १ । ४ । १८ ॥

१५ सर्वादेरावन्तस्य सवन्धिनां ङितां यैयास्यास्यामस्ते ङस्पूर्वा भवन्ति । सर्वस्यै, सर्वस्याः, सर्वस्याः, सर्वस्याम्;

ल्यत आह—संनिपातलक्षणन्यायस्यानित्यत्वादेत्त्वम् इति । सर्वासाम्, विश्वासाम् इति । सर्वविश्वशब्दाभ्यां “आत्” इत्यापि सामादेशः । द्वयानाम् इति । द्विशब्दात् “द्वित्रिभ्यामयद्” इत्ययदि, सर्वादित्वाभावादाम् सामभावे, “ह्रस्वापञ्च” १।४।३२ इति नामादेशः । १८ द्वितयानाम् इति । द्विशब्दात् “अवयवात्तयद्” ७।१।१५१ इति तयदि आम् सर्वादित्वाभावात् नामादेशः । कथम् ? इत्याशङ्कते, यथा-यथादिप्रत्ययान्तस्य सर्वादित्वं नास्ति, तत्कथं द्वयेपामित्यत्र तत्कार्यमित्याशङ्क्यार्थं, परिहरति-अपपाठ एषः । शिशुपालवधे-१२ सर्गे, १३ श्लोक-स्तथा हि—“समूर्च्छदुष्टदृष्टलक्ष्मिनि स्वन स्वन प्रयाते पटहस्य शार्ङ्गिणि । सत्त्वानि निन्ये नितरां महान्त्यपि व्यथां द्वयेपामपि मेदिनी-भृताम्” ॥ १३ ॥ कृष्णस्य पटहश्रवणाद् राज्ञां मलान्यभिभवशङ्कायां व्यथितान्यासन्, तथा गिरिस्थिता सिंहादयो जन्तवश्च किमिदमिति ससाध्वसा आसन्नित्यर्थः । प्रियसर्वाणाम्-अग्राम सर्वादिसवन्धित्वाभावात् न सामादेशः । भवताम्-भवच्छब्दस्यावर्णान्तत्वाभावात् सर्वादित्वेऽपि नाऽऽम साम् । एव भवतीनाम् ॥ १५ ॥

२४ नवभ्यः पूर्वभ्य इस्मात्स्मिन् वा । पूर्वभ्यो नवभ्य इस्मात्स्मिन् वा इत्यन्वयः । नवभ्य पूर्वभ्य इति बहुवचनात् पूर्वादयो विज्ञायन्त इत्याह—पूर्वादिभ्य इति । पूर्वशब्दमादि कृत्वा नवग्रहणादन्तरशब्दपर्यन्तेभ्य इत्यर्थः । पूर्वादयश्च इस्मात्स्मिन् इति कार्यानुवादा-द्ग्रहणस्यैव च प्रस्तुतत्वाद् गणसन्निविष्टा एव गृह्यन्ते न सङ्गोपसर्जनीभूता इत्याह—यथास्थानमित्यादि । पूर्वशब्दात् जसृक्षिणीनामिसात्स्मिनो २७ विभाषया भवन्तीति पूर्वे, पूर्वा इत्याद्युदाहृतम् । एवमन्यत्रापि । नवभ्य इति किम् इति । पूर्वभ्य इत्याथेव सूच्यता, तावतैव पूर्वं पूर्वा इत्यादिसिद्धेति प्रश्नः । ले, ल्यस्मात्, ल्यस्मिन्-त्यदृशब्दात् जसृक्षिणिषु अत्वादौ कृते नवभ्य इति वचनाद् विकल्पाभावे नित्यमिकारादिषु कृतेषु सिध्यन्ति । पूर्वभ्य इति किम् ? यदि पूर्वभ्य इति नोच्येत तदा पूर्वादय एव नवेति न स्यादिति सर्वादावपि विकल्प स्यात्, तर्हिर्दि- ३० शति-सर्वे इत्यादि । नव पूर्वादीन् परिगणयति—पूर्व, पर इत्यादिना ॥ १६ ॥

आपो ङिता यैयास्यास्याम् । पूर्वघट्टेषु सर्वादेरव्यभिचारेऽपि उत्तरसूत्रे सर्वादिग्रहणात् इह सामान्यमवगम्यत इत्याह—आवन्तसवन्धिनामिति । यैप्रसूत्यादेशानां चतुष्पात् छिच्छब्दपरिग्रहीतानां चतुर्थीपञ्चमीषष्ठीसप्तम्येकवचनानामादेशिनामपि तावत्संख्यत्वाद् ३३ यथासंख्येन इतिरेत्याह—ङितां-डेङसिङसङ्गीनां स्थाने यथासंख्यमिति । खट्वायै, खट्वायाः, खट्वायाम्, खट्वायाम् इति । खट्वाशब्दात् डेङसिङसङ्गीनां स्थानेऽनेन यायायादेशः । बहुराजायै इत्यादि । एव बहवो राजानो यस्यामित्यादिविग्रहे “ताभ्यां वाप् ङिव” २।४।१५१ इति ङिदापि “ङित्यन्त्यस्वरान्ते” इत्यन्त्यस्वरालोपे पूर्ववत् ङितां यायायादेशः । कारीषगन्ध्यायै इत्यादि । करीषस्येव गन्धो ३६ यस्य स करीषगन्धः तस्यापत्य इदं स्त्रीतिविग्रहे “अत इय्” ६।१।३१ इति इयि, तस्य “अनार्षं वृद्धे” २।४।७८ इति ष्यादेशः, “आत्” इत्यापि पूर्ववथैप्रसूत्यादेशः । आप इति पकारः किम् ? इति । सूत्रे आप इत्यत्र पकारः किमर्थं इति प्रश्नः । कीलालपे इति । “कील”वधे, धातो “ऋकृष्टृतनि” ८० ४७५। इत्यालप्रत्यये कीलाल-मथ-जलमसृक् च तत्पूर्वात् पिबते “मन्वन्” ५।१।१४७ इति ३९ विधि, चतुर्थ्येकवचने पकारकरणायायादेशाभावे “ङ्गातोऽनाप” २।१।१०७। इत्याकारलोपे रूपमेतत् । बहुखट्वाय पुरुषाय इति । बहव खट्वा यथेति विग्रह “गोश्वान्ते” २।४।९६ इति ह्रस्वत्वे तस्य स्थानिवद्भावेऽपि चतुर्थ्येकवचनस्य तत्सवन्धित्वाभावायायादेशाभावः । बहुखट्वायै विष्टराय इति । ईषदसमाप्ता खट्वेत्यर्थे “नाम्न प्राग्बहुना” ७।३।१२। इति प्राग्बहुौ डेस्तत्सवन्धित्वात् यायायादेशः । विष्टराय इति ४२ तु विपूर्वात् स्तृणातेरस्मि गुणे “वे ङ” २।३।२३ इति पत्वे, “तवर्गस्य” इति टट्वे, विष्टरस्तत्तत्तुर्थ्येकवचने भवति ॥ १७ ॥

सर्वादेर्दस्पूर्वाः । आपो ङिता यैयास्यास्याम् इति समग्र सूत्रमग्रानुवर्तते । सर्वादेरापो ङितां यैयास्यास्यामो ङस्पूर्वा इत्यन्वयस्तदर्थमाह—सर्वादेरित्यादि । आवन्तस्येत्यापोऽर्थस्तु “प्रत्यय प्रकृत्यादे” इति विशेषणत्वात् अन्तपदलोभात् । ङस्पूर्वा इति । ङस्पूर्वा पूर्वो भ्येभ्यश्चै इत्यर्थः, उकारो ङित्कार्यार्थः । सर्वस्यै, सर्वस्याः, सर्वस्याः, सर्वस्याम् इति । सर्वशब्दादापि डेङसिङसङ्गीनां स्थाने पूर्व

परमसर्वस्यै, परमसर्वस्याः, परमसर्वस्याम्; अस्यै, अस्याः, अस्याः; अस्याम्—अत्र परत्वात् पूर्वमदादेशे पश्चाद्वस् । तीयस्य विकल्पेन द्वित्कार्ये सर्वादित्वात्—द्वितीयस्यै, द्वितीयायै । सर्वादिरिति किम्? सर्वा नाम काचित् सर्वार्थै । तत्संबन्धिविज्ञानादिह न भवति—प्रियसर्वार्थै, अतिसर्वार्थै । दक्षिणस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर्यदन्तरालं सा दक्षिण- पूर्वा दिक्—दक्षिणपूर्वार्थै, दक्षिणपूर्वायाः, दक्षिणपूर्वायाः, दक्षिणपूर्वायाम्; एषु बहुव्रीह्यादेरन्यपदार्थादिप्रधानत्वात् सर्वादित्वाभावः । यद्येवं कथं दक्षिणपूर्वस्यै, दक्षिणपूर्वस्याः, दक्षिणपूर्वस्याः, दक्षिणपूर्वस्याम् इति? दक्षिणा चासौ पूर्वा चेति कर्मधारये भविष्यति । अथ च बहुव्रीह्यादेः सर्वादित्वाभावे कथं त्वकपितृकः, मकपितृकः, द्वकिपुत्रः, ककिसम्रहचारी? इत्यादावकप्रत्ययः, उच्यते—अन्तरङ्गत्वात् पूर्वमेवाक् भविष्यति, अन्ये तु बहुव्रीह्यावन्तरङ्गस्याप्यकः प्रतिषेधमिच्छन्ति, तन्मते कप्रत्यय एव त्वकपितृको मकपितृकः ॥ १८ ॥

टौस्येत् ॥ १ । ४ । १९ ॥

आयन्तस्य संबन्धिनोऽष्टौसोः परयोरेकारोऽन्तादेशो भवति । खट्वया, खट्वयोः; बहुराजया, बहुराजयोः; कारीपग- न्ध्याया, कारीपगन्ध्यायोः । आप इत्येव? कीलालपा ब्राह्मणेन । तत्संबन्धिविज्ञानादिह न भवति—बहुखट्वेन पुरुषेण, इह तु भवति—ईषदपरिसमाप्ताया खट्वया, बहुखट्वया विष्टरेण ॥ १९ ॥

१२

यैप्रसूत्यादेशेऽनेन ढस्पूर्वत्वे, अन्यस्वरादिलोपे चेमानि रूपाणि सिद्ध्यन्ति । एव परमसर्वस्यै इत्यादि । अस्यै, अस्याः, अस्याः, अस्याम् इति । इदमशब्दाद्यनुष्यकवचनादौ “आदेर” इत्यन्वे, “लुगस्यादेत्यपदे” इत्यकारलोपे, “आत्” इत्यापि, “आपो क्तिताम्” इति यायायादेशे, “अनक्” इत्यदादेशेऽनेन ढस्पूर्वत्वे “ह्यित्यन्त्यस्वरादे” इत्यकारलोपे भवन्ति । अथात्र यायायादेशे कृते सर्वादित्वेन तत्पुत्रभावितात् ङसि कृते १५ व्यञ्जनादित्वाभावात् कथमदादेश इत्याह—अत्र परत्वात् पूर्वमदादेशे पश्चाद्वस् इति । द्वितीयस्यै, द्वितीयायै इत्यादिरूपद्वयानिष्यतौ हेतुमाह—तीयस्य विकल्पेन द्वित्कार्ये सर्वादित्वात् इति । “तीयस्य द्वित्कार्ये वा” इत्यनेनेति शेषः । प्रियसर्वार्थै इति । प्रिया सर्वा यस्या इति विग्रहः, सर्वशब्दस्य प्राग्विपाते प्राप्ते “प्रिय” ३१११५५० इति प्रियस्य प्राग्विपातः । अतिसर्वार्थै इति । सर्वा अतिक्रान्ता या १८ तस्यै इत्यर्थः, अत्र केतस्त्वबन्धित्वाभावात् नामने ढस्पूर्वो यायादेशः, किन्तु “सर्वादयोऽस्यादी” ३१२१६११ इति यथासम्भव पूर्वस्य पुनर्वावे चतुर्थ्ये- कवचनादे पूर्वो यैप्रसूत्यादेशः । दक्षिणपूर्वार्थै इत्यादेर्निग्रहमाह—दक्षिणस्याश्च पूर्वस्याश्चेत्यादिना । दक्षिणपूर्वार्थै इत्यादि । पूर्वोक्तविग्रहे “दिशो कृत्वान्तरालं” ३११२२५१ इति समासेऽन्यत् पुनर्वावादि कार्यं प्राग्वहोच्यम् । एतेषु क्वचिदन्यपदार्थप्रधानत्वात् क्वचित्पूर्वपदार्थप्रधानत्वात् १६ उपसर्जनत्वेन सर्वादित्वसंबन्धित्वाभावाच्चैप्रसूतीनां तत्पूर्वो ढस् न भवतीत्याह—एषु बहुव्रीह्यादेरन्यपदार्थादिप्रधानत्वात् सर्वादित्वाभाव इति । एषु—प्रियसर्वार्थै, अतिसर्वार्थै, दक्षिणपूर्वार्थै इत्यादिषु । बहुव्रीह्यादेः—अत्रादिपदेन अतिसर्वार्थै इत्यत्र “प्रास्यव” ३११४७० इति निहिततत्पुरुषस्य ग्रहणम् । सर्वादित्वाभाव इत्यत्र हेतुमाह—अन्यपदार्थादिप्रधानत्वात् इति । आदिशब्देन अतिसर्वार्थै इत्यत्र पूर्वप- २४ दार्थप्रधानत्वस्य ग्रहणम् । यद्येवम् इति । यद्युपसर्जनत्वेन सर्वादित्वसंबन्धित्वाभावात्सदा दक्षिणपूर्वस्यै इत्यादावप्यन्यपदार्थप्रधानत्वेन सर्वादित्वसम्ब- न्धित्वाभावात् कथं ढस्पूर्वादेश इति प्रश्नाय । समापत्ते—दक्षिणा चासौ इत्यादि । पुन पृच्छति—अथ च बहुव्रीह्यादेरिति । परेण बहुव्रीह्यादेरिति प्रागभिदधे तदेव अनुदितम्, अत आदे फल न निरीक्ष्यम् । त्वक पितास्य, अहक पितास्य, द्वको पुत्रावस्य, कको सम्रहचारी- २७ ऽस्येत्यादि विष्टरा सदादेर्वैदुमीहाद्युपसर्जनत्वेऽप्रधानत्वात् कथं “त्यादिचर्चोदे” इत्यक् । समापत्ते—अन्तरङ्गत्वादित्यादि । अयमर्थः—अन्त- रङ्गत्वात् सर्वाभिधाननिमित्तेनाका तावद्भाष्य, पश्चात् पदान्तरसंनिधाने वर्तिपदार्थविशेषणान्यपदार्थविचक्षायां बहुव्रीहियेऽनुपसर्जनत्वात् प्राप्ते- स्यादित्यदोषः । अन्येऽपि इति । उत्पलादय, सूत्रकृत पाणिनेरपि “न बहुव्रीहौ” पा० ११११२९१ इति सूत्राकारैरयमेवार्थः प्रकाशते, परन्तु ३० तस्मिन्नेव सूत्रे गोमदीय आह—“अकच्छरो तु कर्तव्यौ प्रत्यङ्ग मुक्तशयौ” इति माध्यकुल्या त्वकपितृकस्यैवत्वमवधार्यते । पाणिनेरपि च तदेव सम्मतम् “ययोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यात्” इति दिक् । आचार्यपाणिनि उत्पलादयश्च “न बहुव्रीहौ” इति सूत्रमारभ्य तद्वैयर्थ्यप्रसङ्गात् बहु- व्रीहिविषयभूते वाक्येऽपि सर्वादिकार्यस्याक प्रतिषेधमिच्छन्ति । कप्रत्ययमेवेच्छन्ति, तन्मते—त्वकपितृको मकपितृक इति स्यात् ॥ १८ ॥ १३

टौस्येत् । टौसि एव इति पदच्छेदः । टौसि—टाश्च ओश्च टौससिभिति, समाहारे च कार्ययोगात् समाहाद्वारेण समाहारिणौ निमि-

तत्वेन नामविशेषणस्य आप इत्यनुवर्तमानस्य आदेशिनो विशेष्यत्वेन च लक्ष्यते इत्याह—आवन्तस्य संबन्धिनोऽष्टौसोरिति । “षष्ठा अन्तस्य” ७४४१०६१ इति न्यायादावन्तसमुदायान्यस्यैव भवतीत्युक्तमेकारोऽन्तादेश इति । खट्वया—अत्र र्थोपपन्नद एत्वम्, ततोऽया- २६ टौसोरेत्वेऽयादेशे च भवति । कारीपगन्ध्याया, कारीपगन्ध्यायोः इति । कारीपगन्ध्याशब्दात् टौसो पूर्ववदेत्वावौ सिध्यत । आप नाम “इत्याकारलोपे संयोगे च भवति । बहुखट्वेन पुरुषेण इति । बहव खट्वा यस्येति विष्टरा “गोश्वात्ते” इति ह्रस्वे तस्य स्थानिवद्भा- वेऽपि टायास्तत्संबन्धित्वाभावादेत्यादेशाभावः । बहुखट्वया विष्टरेण इति । ईषदपरिसमाप्ता खट्वस्यै “नाम प्राग्वह्या” इति प्राग्वहौ टौसो परयो पूर्व आदेशा इति सन्देहः स्यात् ॥ १९ ॥

४२

औता ॥ १ । ४ । २० ॥

आवन्तस्य संवन्धिना औता प्रथमाद्वितीयाद्विवचनेनौकारेण सहावन्तस्यैवकारोऽन्तादेशो भवति । माले तिष्ठतः, माले पश्य, एवं घहुराजे नगयौ; कारीपगन्धे कन्धे । आप इत्येव ? कीलालपौ पुरुषौ । तत्संवन्धिविज्ञानादिह न भवति- बहुखट्टौ पुरुषौ, इह तु भवति-ईपदपरिसमाप्ते खट्टे, बहुखट्टे मञ्चकौ ॥ २० ॥

इदुतोऽखेरीदूत् ॥ १ । ४ । २१ ॥

१० क्षिशब्दवर्जितस्येदन्तस्योदन्तस्य च औता सह यथासंख्यमीत् ऊत् इत्येतावन्तादेशौ भवतः । मुनी तिष्ठतः, मुनी पश्य; साधू तिष्ठतः, साधू पश्य । इदुत् इति किम् ? वृक्षौ, नद्यौ, वृक्षौ । औता इत्येव ? मुनिः, साधुः । सख्यौ, पत्यौ इत्यत्र तु विधानसामर्थ्यात् न भवति । अखेरिति किम् ? अतिस्त्रियौ पुरुषौ । कथं शस्त्रीमतिक्रान्तौ अतिशस्त्री पुरुषौ ? 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थक्यस्य' इति प्रतिषेधामावात् । इदमेव चाक्षिग्रहणं ज्ञापकम् 'परेणापीयादेशेनेदुत्कार्यं न चाप्यते' इति तेन-अतिस्त्रियः, सहस्रयस्तिष्ठन्ति, अतिस्त्रिये, अतिस्त्रिये, अतिस्त्रीणाम्, अतिस्त्री निषेहीत्यादि सिद्धम् ॥२१॥

जस्येदोत् ॥ १ । ४ । २२ ॥

१२ इदन्तस्योदन्तस्य च जसि परे यथासंख्यमेत् ओत् इत्येतावन्तादेशौ भवतः । मुनयः, साधवः, जुद्धयः, वेनवः, अतिस्त्रियः । जसीति किम् ? मुनिः, साधुः ॥ २२ ॥

औता । आप इत्यनुवर्तते एदिति च । आप इत्यस्य नामविशेषणतया आवन्तस्येत्यर्थः । औता-सूत्रे विशेषस्यानिर्देशात् सामान्येन प्रथमाद्वितीयाद्विवचनेनौकारेणेत्याह श्रुतौ । आवन्तस्येत्येकापि पक्षी द्विचार्थवशाद् भिद्यते स्वन्वेन स्थानितया चेत्युक्तं श्रुतौ-आवन्तस्य संवन्धिना औता सह आवन्तस्यैव स्थाने एकारोऽन्तादेश इति । नन्वेकैव स्वन्वेन चरितार्थत्वात् स्थानसम्बन्धो न घटते, एकारस्यादेगत्वात्तस्य च स्थानमन्तरेणासम्भवात् प्रत्यासत्तेस्तस्यैव स्थानित्वं परिकल्प्यते इत्यदोषः । एव पूर्वपक्षेऽपि द्रष्टव्यम् । माले तिष्ठतः, माले पश्य इति । माला औ इत्यत्र औकारेण सहावन्तस्यानेनैवम् । तिष्ठतः, पश्य इत्यनुप्रयोगे प्रथमाद्वितीयाद्विवचनयो क्रमेणाभिव्यक्त्यर्थः । एवं घहुराजे इत्यादि बोध्यम् । कीलालपौ पुरुषौ इति । आवन्तत्वाभावादनौकारेण सह नैवम् । बहुखट्टौ पुरुषौ इति । आवन्तसंवन्धित्वाभावादौकारस्य न भवत्यावन्तस्य स्थानिवद्भावेनैवम् । बहुखट्टे मञ्चकौ इति । अत्रौकारस्य आवन्तसम्बन्ध- २१ त्वात्तेन सहावन्तस्यैव भवति ॥ २० ॥

इदुतोऽखेरीदूत् । औता इत्यनुवर्तते । अखेरिदुत् औता ईदूत् इत्यन्वयः । अखेरित्यस्यार्थमाह-क्षिशब्दवर्जितस्य इति । क्षिशब्दस्यावयवो यथासाक्षिकारो न भवति ततस्तस्य भवतीत्यर्थः । इदुत् इति समाहारब्रह्मात् पक्षी, तस्य च नामविशेषणतया इदन्तस्योदन्तस्य चेत्यर्थत्वादाह-इदन्तस्येत्यादि । अखेरितीदन्तस्येत्यस्य विशेषणं, नोदन्तस्येत्यस्य, असम्भवात् । आदेशादेशिनो समसंख्याकत्वेनाह-यथासंख्यमिति । "यद्यथा अन्तस्य" इति न्यायादिदन्तोदन्तसमुदायान्तस्यैव भवत इत्युक्तमीत् ऊत् इत्येतावन्तौ आदेशौ इति । मुनी इति । मुनिशब्दात् प्रथमाद्वितीयाद्विवचनौकारेऽनेनेदन्तस्य मुनिशब्दस्यान्त्येकारस्य स्थाने परेणौता सह इदन्तादेशः । साधू इति । साधुशब्दान्योकारस्य पूर्ववदौता सह ऊदन्तादेशः । इदुत् इति किम् ? इति । अखेरीदूत् इत्येव सूत्र्यतां तावतैव मुनी साधू इत्यादिस्त्रियोरिति प्रश्नः । वृक्षौ, नद्यौ, वृक्षौ इति । अकारान्तवीर्येकारान्तवीर्योकारान्तानामेषामन्त्यस्य ईदूत् अन्तादेशौ मा भूतासितीदुत् इति । मुनिः, साधुः-अत्र सिद्ध- २७ लपेन सहैदन्तोदन्तस्योरन्त्यस्य मा भूतामीत् ऊत् इत्येतावन्तादेशौ इति औता इति । सख्यौ, पत्यौ इति । अत्र सखिपतिशब्दाभ्यां सप्तम्येक- ३० वचनस्य "केवलसखिपतेरौ" १।४।२६। इत्यौकारे ईकारात् पर औकारो भस्ति इति कथं तेन सह ईकारादेशो न भवतीत्याह-अत्र तु विद्या- ३३ नसामर्थ्यादित्यादि । अयमर्थः-यद्यत्रौकारे कृतेऽपि सखिपतिशब्दाभ्यामनेन ईकार स्यात् तदा प्रक्रियाकावर्षार्थं तत्रैव ईकारं विदध्यात्, अविहितं चेति ज्ञायते न भवति विधानसामर्थ्याधीकारः । अखेरिति किम् ? सूत्रेऽखेरित्यस्य किं प्रयोजनमित्यर्थः । अतिस्त्रियौ इति । स्त्रियम- ३५ तिक्रान्तावित्यर्थः, "गोश्वान्ते" इति ह्रस्वे जिवर्जनावीकाराभावे "क्षिया" २।१।५४। इतीयादेशे रूपम् । आशङ्कते-कथमिति । शस्त्री- ३८ मतिक्रान्तौ अतिशस्त्री पुरुषौ इति । अत्र क्षीत्यस्य सत्त्वेनानेन कथमीकार इति प्रश्नकर्तृप्राश्नयः । समाधत्ते-अर्थवद्ग्रहणे नानर्थक्यस्य इति प्रतिषेधामावात् इति । शस्त्रीशब्दस्यार्थवत्त्वात्तदेकदेशस्य क्षिशब्दस्यानर्थकत्वादखेरिति प्रतिषेधामाव इत्यर्थः । नन्वखेरिति प्रतिषेधोऽन- ३९ यर्थः, परत्वादतिक्षियावित्यत्रेयादेशेनैव साम्यमत आह-इदमेव चेत्यादि । ज्ञापकविषये वैयर्थ्यं प्रागुपपादितमिदानीं वाक्यान्तरकल्पनामाह- ४० परेणापीयादेशेनेदुत्कार्यं न चाप्यते इति । परेण अपि इयादेशेन-सूत्रपाठे परिस्थितेनापि "क्षिया" इत्यनेन । इदुत्कार्यं-इदुतोऽखे- ४१ रीदूत्, "जस्येदोत्", "क्षित्वादिति", "ट पुंसि ना", "क्षितौ" इत्यादिविहितम् । ननु ज्ञापकमस्तु ज्ञापकं मास्तु इति चेदुच्यते-यदि सूत्रे- ४२ ऽखेरिति न स्यात्तर्हि अतिक्षियावित्यत्रानेन ईकार स्यात्, सति च तस्मिन् क्षिशब्दवर्जनाधीत्येव न भवति इत्यखेरित्यस्य साधो चारितार्थम् । ४३ ज्ञापनफलमाह-तेन अतिस्त्रियः, सहस्रयः, अतिस्त्रिये, अतिस्त्रिये, अतिस्त्रीणाम्, अतिस्त्री इत्यादौ "जस्येदोत्" इत्यादि कार्यं भवत्येव न विषयादेशः ॥ २१ ॥

४२ जस्येदोत् । इदुत् इत्यनुवर्तते । नामविशेषणतया च तदन्तविधिः । इदन्तस्योदन्तस्य च जसि एदोत् इत्यन्वयसदर्थमाह-इद- ४३ न्तस्येत्यादि । यथासंख्यमभिसंख्यत्वात् "आसंख्य" इति वा इकारस्यैकार उकारस्यौकार इति विवेकः । इमौ एदोत् "इवर्णादेरस्ये खरे" इत्यस्यापवादतया आधक्ये, तेनैतयो कृतमोरव्यादेशौ भवतः । मुनयः-मुनिशब्दाजसि एदोत्तेनायादेशो च स्वविषयो । एव साधव इत्यादि । ४४ मुनिः, साधुः इति । इदन्तोदन्तयो शब्दयो ली नैदोत्, जसीत्युक्ते ॥ २२ ॥



## ह्रियदिति ॥ १ । ४ । २३ ॥

अदिति इति स्यादौ परे इदन्तस्योदन्तस्य च यथासंख्यमेदोतावन्तादेशौ भवतः । मुनये, साधवे, अतिस्त्रये, मुनेः, साधोः, अतिस्त्रेः आगतं खं वा, बुद्धये, धेनवे; बुद्धेः, धेनोः आगतं ख वा । इतितीति किम् ? मुनिः, साधुः । अदितितीति ३ किम् ? बुद्धैः, धेनैः; बुद्ध्याः, धेन्वाः आगतं खं वा; बुद्ध्याम्, धेन्वाम् । स्यादावित्येव ? शुची, पट्टी ॥ २३ ॥

## टः पुंसि ना ॥ १ । ४ । २४ ॥

इदुदन्तात् परस्य पुंसि पुंविषयस्य दस्तुतीयैकवचनस्य स्थाने ना इत्ययमादेशो भवति । मुनिना, साधुना, अति- ३ स्त्रिणा; अमुना-अत्र “प्रागिनात्” ॥ २ । १ । ४८ ॥ इति वचनात् पूर्वमुत्त पश्चात् नाभावः । पुंसि इति किम् ? बुद्ध्या, धेन्वा । कथममुना कुलेन ? “अनाम्सरे नोऽन्तः” ॥ १ । ४ । ६४ ॥ इति मविष्यति ॥ २४ ॥

## डिडौ ॥ १ । ४ । २५ ॥

इदुदन्तात् परो डिः सप्तम्येकवचनं लौर्भवति, अमेदिनिदेशश्चतुर्थ्यैकवचनशङ्कानिरासार्थः; ङकारोऽन्यस्वरादि-लोपार्थः । मुनौ, साधौ, बुद्धौ, धेनौ, अतिस्त्रौ; विशतौ । अदिदित्येव ? बुद्ध्याम्, धेन्वाम् ॥ २५ ॥

ह्रियदिति । अत्र इदुत् इति एदोदिति चानुवर्तते । इदुतोऽदिति इति एदोदित्यन्वयः । न दिव् अदित् तस्मिजदिति । दितो १२ क्तिस्त्तु वक्ष्यते “जिषा क्तिं वा दैदासदासदा” इत्यनेन । सूत्रार्थमाह—अदिति इति इत्यादिना । मुनये, साधवे, अतिस्त्रये इत्यादि । मुनिषाधुअतिस्त्रिष्वेभ्योऽदिति इति स्यादौ वेजसिक्स्त्तु परेषु यथासमवेदोतोऽन्तादेशयोर्यवादेशयोर्ब “एदोद्भ्या ण्सिड्सो र” १।४।३५। इति रादेशे विसर्गे न सिध्यन्ति । आगतं खं वा-अनुप्रयोगाविनौ पञ्चम्या पष्ठ्याद्यैकवचनयोः क्रमेणाभिव्यक्त्यर्थः इति पुत्रिणो- १५ दाहरणानीमानि । बुद्धये, धेनवे इत्यादि लीलिभोदाहरणम् । नपुसके त्वसंमयित्वात् न दर्शितम्, तत्र हि “अनाम्सरे” १।४।६४। इति नान्वेन भाव्यम् । बुद्ध्यै इत्यादि । अत्रादितितीति प्रतिषेधादैदासादिषु एदोतौ न भवतः । नन्विकारोकारमात्रापेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वात् पूर्वमेवदोतौ न्याताम् न दायायादेशा, तेषां स्त्रीत्वविशिष्टेकारोकारापेक्षत्वेन बहिरङ्गत्वात्, कृतयोरप्येदोतीकारोकाराभावात् वर्णविधित्वाच्च स्थानिवत्त्वाभावात् दैदा- १८ साद्यादेशाभावात् प्रतिषेधो न युक्तः । न च तदन्तादादेशविधानात् अवर्णविधित्वात् स्थानिवत्त्वम्, अप्रधानेऽपि वर्णविधिप्रतिषेधात् । एव तर्हि अनवकाशात् पूर्वैर्द्वैप्रसूतय आदेशा प्रवर्तन्ते पश्चाददितितीति प्रतिषेधः, तथापि इदुत्तन्निपातेन जायमानत्वात् दैदासाद्यादेशेनैव एदो- द्वाधो मविष्यति इत्यदितितीति प्रतिषेधो व्यर्थः । यथेव यत्वमपि न प्राप्नोति, तस्माददितितीति प्रतिषेधो वर्णविधायक न्यायो नोपतिष्ठते इति ज्ञाप- २१ नार्थः, तेन दैदासादिषु कृतेषु एदोतौ न भवतः, यत्तु भवति । स्यादावित्यधिकारफलमाह—स्यादावित्येव ? शुची, पट्टी इति । शुन्निपटुशब्दाभ्याम् “इतोऽन्यार्थात्” २।४।३२।, “स्वरादुतो गुणादस्त्रो” २।४।३५। इति च लप्रत्यये स्यादधिकारात् क्तिवैऽप्येवोदभावे दीर्घत्वे वत्ते च सिध्यत ॥ २३ ॥ २४

टः पुंसि ना । इदुत् इत्यनुवर्तते । इदुत् पुंसि ट ना इत्यन्वयः । अत्र ट इति तृतीयैकवचनस्य स्थानित्वेनोपादानादिदुत् इति पञ्चम्यन्तमपि “अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम” इति न्यायेन पञ्चम्यन्तमित्याह—इदुदन्तादिति । मुनिना इति । मुनीति इदन्तात् परस्य टो नाऽऽदेशो भवति । एव साधुनेत्यादि । अमुना इति । अदस्रशब्दाद्यायामत्वेऽकारस्य ङक्ति “मोऽवर्णस्य” २।१।४५। इति मत्वे लत्वे चानेन नाऽऽदेशः । २७ अथात्रात्रात्तौ कृते “मादुवर्णोऽनु” २।१।४५। इति सूत्रेऽन्विति वचनात् पूर्वमिनादेशेन भाव्यमित्यत आह—अत्र प्रागिनात् इत्यादि । बुद्ध्या धेन्वा इति । पुंसीति वचनादत्र न भवति । कथमिति । अदस्रशब्दात्तृतीयैकवचनेऽत्वादौ पुंसीति वचनात् नपुसके नादेशाभावे कथममुना कुलेनेति शकार्यः । समाधत्ते—“अनाम्सरे” इत्यादि ॥ २४ ॥ ३०

डिडौ । इदुत् इत्यनुवर्तते अदिदिति च । इदुतो डिडौ इत्यन्वयस्तदर्थमाह—इदुदन्तादित्यादि । अथ कस्मात् “डिडौ” इत्ययम- अमेदिनिदेशो यावता स्थानिन एकवर्णत्वादन्याभावात् स्थानपञ्चा अमेदिनिदेशेऽपि न किञ्चिद्विनश्यति, नैव, अमेदिनिदेशो हि केरिति रूपस्य साम्या- धनुर्थ्यैकवचनस्यापि प्रतिपत्तिः स्यादित्याह—अमेदिनिदेश इत्यादि । ङकारस्याप्रयोगिणः प्रयोजनमाह—ङकारोऽन्यस्वरादिलोपार्थः ३३ इति । “ह्रियन्त्यस्वरादे” इत्यनेनेति भावः । मुनौ इति । मुनिशब्दात् ङं तस्य स्थाने ङौ च मुनिशब्दान्त्येकारलोपे सयोगे च भवति । एव साधुनित्यादि । अदित्यनुवर्तनफलमाह—अदिदित्येव ? बुद्ध्याम्, धेन्वाम् इति । यथात्रादितितीति नानुवर्तते तदा दामादेशस्य स्थानिवत्त्वेन तदन्तरीकृतात्तत्रापि स्यादित्यर्थः । ननु दाम्पकरणसामर्थ्यादेव ङौर्न स्यात् किं व्यावृत्तावदितितीति दर्शनेन ? न, “ह्रियदिति” इत्येवनिषेधकत्वेन तस्य ३६ चरितार्थत्वात् ङौ स्यात् इति व्याघ्रिणि सफलः, यथा “इष्य स्यात्” ४।३।४१। इत्यत्र सिञ्जलोपविधायकत्वेन ह्रस्वकरणस्य चरितार्थत्वे गुण- वाचक कृत्करणम् । किं च यथासंख्यार्थः “जिषा क्तिं” ०” इत्यत्र दाम्पग्रहण कार्यम्, अन्यथा इदं सूत्रमन्यथा उत्तरं चान्यथा कार्यं स्यात्, तथा च गरीयसी रचना स्यादिति । यद्वा अमेदिनिदेशस्याविकृतार्थत्वात् विभ्रतस्य केर्न भवति ॥ २५ ॥ ३९

## केवलसखिपतेरौ ॥ १ । ४ । २६ ॥

केवलसखिपतिभ्यामिदन्ताभ्यां परो डिरौभवति । सख्यौ, पत्यौ; पताविति कश्चित् । इत इत्येव ? सखायमि-  
च्छति क्यनि दीर्घत्वे, सखीयतीति किपि, यलोपे सखीः, सख्यि; एवं पत्यि । केवलग्रहणं किम् ? प्रियसखौ, नरपतौ ।  
पूजितः सखा सुसखा, तस्मिन् सुसखौ; एवमिति सखौ । ईषदूनः सखा बहुसखा, बहुसखौ, एवं बहुपतौ; एषु पूर्वेण  
डौरेव । अन्ये तु बहुप्रत्ययपूर्वादपि पतिशब्दादौकारमेवेच्छन्ति, तन्मते-बहुपत्यौ ॥ २६ ॥

६

## न ना छिदेत् ॥ १ । ४ । २७ ॥

केवलसखिपतेः परस्य टावचनस्य नाऽऽदेशो ङिति परे एकारश्च य उक्तः स न भवति । सख्या, पत्या; सख्ये, पत्ये,  
सख्युः, पत्युः आगतं ख वा; सख्यौ, पत्यौ । ङिदिति विशेषण किम् ? जस्येद् भवत्येव-पतयः । केवलादित्येव ? प्रियस-  
खिना, सुसखिना, बहुसखिना, साधुपतिना, बहुपतिना; प्रियसख्ये, नरपतये, प्रियसखेः, नरपतेः आगतं खं वा । बहु-  
प्रत्ययपूर्वादपि पतिशब्दात् प्रतिषेध केचिदिच्छन्ति-बहुपत्या, बहुपत्ये, बहुपत्युः आगतं खं वा । अन्ये तु सख्यन्तादपि  
प्रतिषेध पूर्वेण डेरौत्वं चेच्छन्ति-बहवः सखायो यस्य तेन बहुसख्या, एव बहुसख्ये, बहुसख्युरागतं खं वा, बहुसख्यौ  
२२ निवेदि ॥ २७ ॥

## स्त्रिया ङितां वा दैदासदासदाम् ॥ १ । ४ । २८ ॥

स्त्रियाः श्रीलिङ्गादिदुदन्तात् शब्दात् परेषां तत्संबन्धिनामन्यसंबन्धिनां वा स्यादेङितां-डेङिसिङ्सङ्गीनां स्थाने यथा-

- १५ केवलसखिपतेरौ । केवलसखिपतेरिति समाहारशब्दात् ङिति । अत्र किरित्यनुवर्तते । इदुत इत्यनुवृत्तावप्येतयोस्कारान्तत्वा-  
शोभादिदेव विशेषणमित्याह-इदन्ताभ्यामिति । सख्यौ, पत्यौ इति । सखिपतिशब्दाभ्यां परस्मान्न केरौकारे यत्वे च रूपे, पूर्वस्य  
“ङिर्हो” इत्यस्यापवादोऽनेन केरौकार । ननु पतिशब्दात् केवलादपि केरौरपि भवति, प्रयुज्यते व्यक्तावेव पठ्यते पताविति तत्कथमेतदि-  
१८ त्याह-पताविति कश्चित् इति । कश्चिदित्येकवचननिर्देशोऽवधारण इति, कश्चिदित्यनेन दुर्गासिंहश्रुतपालादिग्रहणम् । नन्वनयोरिकारान्तत्वेन  
व्यभिचाराभावाद्विदन्ताभ्यामिति विशेषण न सार्थक, यत्रापि क्यपादौ दीर्घोऽस्ति तत्रापि स्वरूपान्यथावात् न भविष्यति, नैव, तत्रैकदेशविह-  
तस्य तद्वद्भावात् स्यादित्याह-इत इत्येव इत्यादि । सखायमिच्छति इति विग्रहे । क्यनि इति । “अमाव्यात् क्यन् च” ३।४।२३। इत्य-  
२१ नेनेति शेष । दीर्घत्वे इति । “दीर्घाभ्ययस्य क्यन् च” ४।३।१०८। इत्यनेनेति भाव । सखीयति इति विग्रहे । किपि इति । “किप्”  
इत्यनेनेति शेष । यलोपे इति । “य्वो ष्वय्यञ्चने लृक्” ४।४।१२१। इत्यनेनेति भाव । सखीरिति । दीर्घकारान्तसखीशब्दात् सौ अनुबन्ध-  
लोपे कत्वमिसर्गो च, तस्मात् सप्तम्येकवचने चाह-सख्यि इति । तत एव औ “योऽनेकस्वरस्य” इति यत्वे रूपमेतत् । नन्वत्र “स्थानो-  
२४ वाऽवर्णविधौ” इति न्यायात् किपि स्थानित्वे सति “य्वो ष्वय्यञ्चने” इति यलोप कस्माच्च भवति ? “असिद्धं बहिराग्नन्तरङ्गे” इति न्यायात्-  
अन्तरङ्गे किवाभितरे कार्ये यत्वमसिद्धं द्रष्टव्यम् । एवं-पूर्ववत् । पतिमिच्छतीति विग्रहे क्यनि दीर्घत्वे पतीयतीति किपि यलोपे पतीस्त्वस्मात्  
सप्तम्येकवचने रूपमाह-पत्यि इति । तत एव औ यत्वे च रूपम् । केवलग्रहणं किम् इति । सखिपतिशब्दयो केवलेतिविशेषणं किमर्थ-  
२७ मिति प्रश्नकर्तुराशय । प्रियसखौ इत्यादि । एतेष्वनयो केवलग्रहणादन्यसहितयोरनेनोकाराभावात् “पूवेण डौभावे” इत्यन्यस्वरदा-  
न्यस्वरदालोप । पूजितः सखा सुसखा इति । “सु पूजायाम्” ३।१।४४। इति समास । “राजन् सखे” ७।३।१०६। इति अद् सु न  
भवति, “पूजास्त्वे प्राक्यात्” ७।३।७२। इति निषेधात्, “श्रुदुशनस्युद्धशोऽनेहसख सेर्वा” १।४।८४। इति से स्थाने वादेशो सिध्यति । नन्वेव  
३० औकाराभावे किं स्यादत आह-एषु पूर्वेण डौरेव इति । अन्ये त्विति । आचार्यपाणिनिप्रसृतय, ते हि चिन्ताप्रस्तावे “पति समास  
एव” पा० १।४।८। इति नियम्य बहुप्रत्ययपूर्वस्य पतिशब्दस्य समासाभावे चिन्ताया अभावात्ततो विधीयमानो डौ इत्यादेशो न भवतीति बहुपत्या-  
वित्त्वेन स्यात् इत्याह-तन्मते इति ॥ २६ ॥

- ३३ न ना छिदेत् । प्रतिषेधस्य प्रातिपूर्वकत्वात् सर्वत्र प्रतिषेधे तद्विधानवैयर्थ्यप्रसङ्गादन्यस्य निष्प्रमाणिकत्वादनन्तरोक्तस्य केवलसखि-  
पतेरित्यस्यैव ग्रहणमित्याह-केवलसखिपतेरिति । ना इत्यस्य परिचयमाह-टावचनस्य नाऽऽदेश इति । “उ एषि ना” इति निहित ।  
ङिदेदित्यस्यार्थमाह-ङिति परे एकारश्च इत्यादि । सखिपतेर्नाङ्किता सह न यथासंख्यम्, “स्तिथिखीती” १।४।३६। इति सूत्रे खिमहणात्,  
३६ “सफ्युरितोऽभावत्” १।४।८३। इति निर्देशाद् वा । सख्या, पत्या इत्यादि । सखिपतिशब्दाभ्यां टायां ङिति वाऽनेन नादेशस्य ङिकारस्य च  
प्रतिषेधे यत्वादी भवति । आगतं खं वेति । पञ्चमीपञ्चेकवचनयो रूपस्य समानत्वादभिव्यक्त्यर्थमनुप्रयोग । सख्यौ इति । अत्राऽऽदेशो कृते  
“हिस्यदिति” इति प्राप्तेति न तु पूर्वम्, यतस्तद्वाचक “ङिर्हो” ततोऽपि “केवलसखि” इति औत्त्वम्, ततस्त्वदादेशो न्यामात् स्यादित्ये सति  
३९ एव प्राप्त निषिद्धम् । ङिदित्येतो विशेषणभावे सर्वप्रत्ययेऽप्येकारस्य प्रतिषेध स्याद्विशेषाभावादित्याशयेन प्रश्नपूर्वकं समाचरो-ङिदिति  
विशेषणं किम् ? इत्यादि, जस्येद्भवत्येव पतय इत्यन्तेन । प्रियसखिना इत्यादि । सखिपतिशब्दयो केवलेति विशेषणवेषु नाऽऽदेशो  
ङिदेशादेशश्च भवत । मतान्तरसुपन्यसति-बहुप्रत्ययपूर्वादपि इत्यादि । केचित् इति । आचार्यपाणिनिप्रसृतय । तन्मते उदाहरति-  
४२ बहुपत्या इत्यादि । अत्रत्य तत्त्व सि० कौ० तत्त्वबोधिन्यां “पति समास एव” इति सूत्रे स्पष्टमिति तत एव विभावनीयम् । मतान्तरमाह-  
सखिपतेरौ” इत्यनेनेति भाव, तन्मते विश्वोदाहरति-बहवः सखायो यस्येत्यादि ॥ २७ ॥

- ४५ स्त्रिया ङितां वा दैदासदासदाम् । “पत्युर्ना” २।४।४८। इति निर्देशात् सखिपती नावुच्यते । स्त्रिया इति विशेषणस्य  
विशेष्यसापेक्षत्वात् सखिपतिभ्यां परेषां ङितां “स्तिथिखीतीय उ” इत्येवमादिविशेषविधिभिराग्रातत्वात् दित्करणस्य तु प्रयोजनवत्वात्  
सामान्यमिदुदन्तमधिकृतं निमित्तं गम्यत इत्याह-इदुदन्ताच्छब्दादिति । इह वशीमन्तरेण तत्त्वबन्धिविशिष्टाभावात् सामान्यमवगम्यत



वा । कुमारीमिच्छतीति क्यनन्तात् कुमारीवाचरतीति क्विबन्तात् वा कर्तरि क्प्, कुमारी तस्मै कुमार्यै ब्राह्मणाय ब्राह्मण्यै वा, खरकुटीव खरकुटी तस्मै खरकुट्यै ब्राह्मणाय ब्राह्मण्यै वा; स्त्रिया इत्यनुवर्तमाने पुनः स्त्रीग्रहणं नित्यस्त्रीविषयार्थे तेनेह न भवति—ग्रामण्ये, खलवे स्त्रियै । ईदूत इति किम् ? मात्रे, दुहित्रे, सुद्धये; धेनवे । आमलक्याः फलाय आमलकाय, अतिकुरवे, अतिकुमारये इत्येदूत इति वर्णविधित्वेन स्थानिवद्भावाभावादीकारोकारान्तता नास्तीति न भवति । क्तिमित्येव ? नद्यः, वध्वः ॥ २९ ॥

वेयुवोऽस्त्रियाः ॥ १ । ४ । ३० ॥

इयुवोः संवन्धिनौ यौ स्त्रीदूतौ तदन्तात् शब्दात् परेषां तत्संवन्धिनामन्यसंवन्धिनां वा स्यादेहितां स्थाने यथासख्य दै दास् दास् दाम् इत्येते आदेशा वा भवन्ति, अस्त्रियाः—स्त्रीशब्दं वर्जयित्वा । त्रियै, त्रिये, त्रियाः, त्रियाः, त्रियाः, त्रियाम्, त्रियि, त्रिवै, त्रिवे; त्रुवाः, त्रुवः, त्रुवाः, त्रुवः, त्रुवाम्, त्रुवि । त्रियमतिकान्ताय—अतित्रियै, अतित्रिये, ब्राह्मणाय ब्राह्मण्यै वा, एवमतित्रुवै, अतित्रुवे, पृथुः श्रीर्यस्य तस्मै पृथुत्रियै, पृथुत्रिये पुरुषाय स्त्रियै वा, एव पृथुत्रुवै, पृथुत्रुवे । केचित्तु समासार्थस्य स्त्रीत्व एवेच्छन्ति न पुस्त्ये, तन्मते—अतित्रियै, अतित्रिये स्त्रियै इत्यत्र भवति, इह न भवति—अतित्रिये, अतित्रुवे पुरुषाय; पूर्वेण नित्यमपि न भवति । कश्चित्तु पूर्वमतविपर्ययमेवेच्छति—अतित्रियै, अतित्रिये

आस्तिभिदादित्वादङि आपि च वर्षाः तादृ भवन्तीति भवते किपि वर्षाभू, स च भेकजातौ द्विलिङ्ग, 'भेक्यां पुनर्नवायां स्त्री वर्षाभूद्वे पुमाच' इति यादव । ददुर्तो भेक । 'शिली गण्डवृषी भेकी वर्षाभूमी कम्ठी डुलि' इत्यमरकोषे वर्षाभूशब्दस्य भेकजातौ ज्वलिङ्गमात्रावपमाहित्य-  
२५ स्त्रीविषयत्वम्, ततो क्तितां दाययादेशे "दन्पुनर्वर्षाकार्येव" २।१।५९। इति वत्वम् । अथ धातुत्वमापने कुमारीशब्दे अतिलक्ष्म्ये इत्यादिशब्देभ्यो वैलक्षण्यं दर्शयितुमाह—कुमारीमिच्छतीत्यादिना । क्यनन्तात् इति । कुमारीमिच्छतीत्यर्थे "अमाव्यायात् क्यन् च" ३।४।३। इति क्यच्, कनावितौ, "क्रियायौ धातु" इति धातुत्वम् क्यनन्तस्य, "ऐकाव्ये" इत्यमो छप्, "क्प्" इति कर्तरि क्प्, कपवा इत, इकार उच्चारणार्थं, ३८ "अत" ४।३।८२। इत्यकारलोप, "ध्वो प्व्यसने०" इति यलोपे—कुमारीति रूपम् । क्तिबन्तादिति । कुमारीवाचरतीति अर्थे "कर्तुं क्तिवृ०" इति क्प्, कपवा इत, "क्रियायौ०" इति धातुत्वात् कर्तरि क्प्, तस्य च पूर्ववत्कुलोप—कुमारीति रूपम् । तदाह—कुमारी तस्मै कुमार्यै इति । "योऽनेकस्वरस्य" २।१।५६। इति दाययादेशे कृते गत्वम् । अनेदोपचारे ससुदाहरति—खरकुटीव खरकुटी तस्मै खरकुट्यै इति । खरकुटी—नापितशाला । स्त्रिया इत्यनुवर्तमाने इति । अथमाद्यस्य हि—पूर्वस्मात् स्त्रिया इत्यनुवृत्त्या स्त्रीविषयार्थत्वे लब्धे पुनस्तदर्थं स्त्रीग्रहणं स्त्रीविषयावेव यौ स्त्रीदूतौ ततो दाययादेशा इत्यर्थम्, तेन ग्रामण्ये सेवसाये खलवे स्त्रियै इत्यत्र न भवति, तदाह—तेनेह न भवतीत्यादिना । ग्रामण्यादिशब्दे हि क्रियाशब्दत्वात् त्रिलिङ्गत्वमित्यस्त्रीविषयो न भवतीति क्रियानामि वर्तमानावादेशाभाव ।  
२४ पूर्वसूत्रे इवशानिप्रश्रुतीनामनेकलिङ्गानां पद्मादीनां च गुणवचनत्वात् सर्वलिङ्गानां स्त्रीविषयत्वाभावात् क्रियां कृतौ कार्यं प्रवर्तत इति, न हि तत्र द्वितीयं स्त्रीग्रहणमस्ति । ननु आधीप्रधीशब्दौ क्रियाशब्दत्वात् सर्वलिङ्गत्वात् ग्रामण्यादिशब्दवत् न नित्यस्त्रीविषयाविति चिन्त्यमेतत्, चिन्तावीजं तु व्याख्यायतीति विमर्हे किपि सति ग्रामण्यादिशब्दवन्नित्यस्त्रीविषयाभाव, परन्तु आ—इपत्प्रकृष्टा वा धीर्यसा इति विमर्हे सुतरां तयोर्नित्यस्त्रीविषयत्व-  
२७ मिति विषयो दृष्टान्तोपन्यास । प्रथमग्रहणं च कर्तव्यम्, तथा हि—य शब्दं प्रथमं स्त्रीत्वविशिष्टार्थमाह, पश्चात् प्रकारान्तरेणान्तरं लिङ्गान्तर-  
नुक्तं, तस्य तदानीमक्ययत्वात्ततो न प्राप्नोति । इदं वचनं विधेयं, प्रयोजनं च 'किप्लुगभेदोपचारसमासा', किप्लुक् यथा—कुमार्यै ब्राह्मणाय, अनेदोपचारे यथा—खरकुटीव ब्राह्मणाय, यद्यप्यत्र स्वाभाविकं स्त्रीत्वमस्ति तथापि स्वाध्यस्य पुस्त्यस्यानिवर्तजाय स्त्रियामेव वर्तते किन्तु पुस्त्य-  
३० मिति, समासो यथा—अतितत्रै ब्राह्मणायेत्यादि । न विधेयमवयवस्त्रीविषयत्वेन सिद्धत्वात्, तत्र अन्तरङ्गत्वात् पूर्वमेव प्रकृतं स्त्रीत्वमवयवस्य पश्चा-  
दुपजायमानेन लिङ्गान्तरसंबन्धेन न निवर्तते । यथेवमामलकाय अतिकुरवे, अतिकुमारयेऽत्रापि प्राप्नोति, अवयवस्य पूर्वं जीवितत्वात्, तथा हि—आमलकीशब्दात् पञ्चमन्तात् आमलक्या फल विकारोऽवयवो वेति "दोरप्राणिन" ६।२।४९। इति मयद, तस्य "फले" ६।२।५८। इति  
३३ छप्, ततो "छपादेर्गोपस०" २।१।५५। इति जीलुक् ततश्चतुर्थी । आमलक्या फलायेति तु प्रक्रियां दर्शयेति, अत्रामलकीलक्षणकथयोऽस्ति । तथा कुकुरमतिकान्ताय कुमारीमतिकान्तायेति प्रादिसमासे "गोशान्ते०" इति हलत्व ततश्चतुर्थी, अत्रापि पूर्ववत् कथयोऽस्ति । अथोच्यते सत्यपि कथयैवे ईकारोकारान्तत्वाभाव इति चेत्, तत्र लुक्ह्रस्वस्थानिवद्भावे सतीयदन्तता भविष्यतीत्याह—अत्रेदूत इति वर्णविधित्वेन इत्यादि ।  
३६ वर्णविधित्वेन इति । हेतुरयं स्थानिवद्भावाभावादित्यत्र, यतो हि "स्थानीयाऽवर्णविधौ" इत्यत्र अवर्णविधानित्युक्ते, अनेकारोफारी वर्णो तदाश्रिता दाययादय इति स्पष्टमस्य वर्णविधित्वम् । स्थानिवद्भावाभावात् इति । "स्थानीया०" इति सूत्रेण स्थानिवद्भावस्याभावस्यसादेतो-  
रित्यर्थः । ईकारोकारान्तता नास्तीति इति । आमलकायेलायीनामिति शेषः ॥ २९ ॥

३९ वेयुवोऽस्त्रियाः । अत्र पूर्वस्मात् स्त्रीवत् इति क्तितां दैदासदासुदाम् इति चानुवर्तते । इयुव स्त्रीवत् क्तिता दैदासदासुदाम् वा इत्यन्वयः । इय् च उव् च इयुव् ततो क्व । तत्र स्त्रीवत् इति प्रकृतस्य इयुक्पतानुपपत्तेरियुव इति षष्ठी स्त्रीवत् इति पञ्चम्या भेदे-  
नाभिर्बन्धयते इत्याह—इयुवोः संवन्धिनौ यौ स्त्रीदूतौ तदन्तादिति । पूर्वेण नित्यं देप्रत्ययदेश प्रातोऽनेन विकल्प्यत इति शास्-  
४२ विकल्पोऽवगन्तव्य इति । अस्त्रिया इत्यत्र स्त्रीतिशब्दप्रधानो निर्देश इत्याह—अस्त्रियाः—स्त्रीशब्दं वर्जयित्वा इति । त्रियै—अत्र श्रीशब्दात् क्तितामनेन पक्षे दाययादेशो "सयोगात्" २।१।५२। इतीयादेशः । एव भुवै इत्यादि । भूशब्दात् क्तिता पक्षेऽनेन दाययादेशो "भूयो" २।१।५३। इत्युवादेशः । अतित्रियै इत्यादि । समासावयवनासीवृद्धन्तानां श्रयादिशब्दानां दाययादेशकार्यनिमित्तानां नित्यस्त्रीविषयत्वादुदा-  
४५ हरणम् । केचित्पश्यन्तस्सकान्ते पूर्व पश्चादपि स्त्रीवचन एवेच्छन्तीत्याह—केचित्तु इति । पाणिनितन्त्रानुसारेण । ननु "वेयुवोऽस्त्रिया" इति मास्तु परंतु पूर्वशास्त्रस्य "स्त्रीवत्" इत्यस्य प्रष्टव्यं किं भाषकमत आह—पूर्वेण नित्यमस्तीति । तेषां यदे पूर्वशास्त्रस्यापि समासार्थस्य स्त्रीत्व एव प्रष्टव्यं पुस्त्ये इत्याद्यन्यत्र विस्तरः । इदं केचित्तु इति मतं खसमतं बहुवचननिर्देशात् । केचन त्वस्त्रीवचन एवेच्छन्ति, तन्मतस्य  
४८ भाष्यकृदादिविरुद्धतयाऽप्राप्तत्वादेकवचनेन निर्दिष्टमिति—कश्चित्तु इति । शीरखाभी । पूर्वमतविपर्ययमेव इति । पुस्त्ये एवेत्यर्थः ।

पुरुषाय, इह न भवति—अतिश्रिये स्त्रियै । इयुव इति किम् ? आद्यै, प्रद्यै, वर्षाभ्यै, पुनर्भ्यै पूर्वेण नित्यमेव । अस्त्रिया इति किम् ? स्त्रियै, स्त्रियाः, स्त्रियाम्; परमस्त्रियै, परमस्त्रियाः, परमस्त्रियाः, परमस्त्रियाम्; अत्रापि पूर्वेण नित्यमेव । स्त्रीदूत इत्येव ? यवक्रिये, कटपुत्रे स्त्रियै । अस्त्रिया इति निर्देशात् परादपि इयुव्यत्वादिकार्यात् प्रागेव स्त्रीदूताश्रितं कार्यं ३ भवति, तेन—स्त्रियै, स्त्रीणाम्, भूणाम्, आद्यै इत्यादि सिद्धम् ॥ ३० ॥

आमो नाम् वा ॥ १ । ४ । ३१ ॥

इयुवोः संबन्धिनौ यौ स्त्रीदूतौ तदन्तात् शब्दात् परस्य तत्संबन्धिनोऽन्यसंबन्धिनो वा आमः षष्ठीवहुवचनस्य स्थाने ६ नामित्ययमादेशो वा भवति, अस्त्रियाः—स्त्रीशब्दं वर्जयित्वा । श्रीणाम्, श्रियाम्; भूणाम्, भुवाम्; अतिश्रीणाम्, अतिश्रियाम्; पृथुश्रीणाम्, पृथुश्रियाम्, अतिभूणाम्, अतिभुवाम्; पृथुभूणाम्, पृथुभुवाम् स्त्रीणां पुरुषाणां वा । शोभना धीरेषां सुधीनाम्, सुधियाम् । इयुव इत्येव ? प्रवीणाम्, वर्षामूणाम् । स्त्रीदूत इत्येव ? यवक्रियाम्, कटपूवाम्, सुष्ठु ९ ध्यायन्तीति सुधियाम् । अस्त्रिया इत्येव ? स्त्रीणाम्, परमस्त्रीणाम्, उत्तरेण नित्यमेव, नपुसकेऽपि ह्रस्वत्वेन भाव्यमित्युत्तरेण नित्यमेव—अतिश्रीणाम्, अतिभूणां कुलानामिति ॥ ३१ ॥

ह्रस्वापश्च ॥ १ । ४ । ३२ ॥

१२

ह्रस्वान्तादाबन्तात् स्त्रीदून्ताच्च शब्दात् परस्याऽऽमः स्थाने नाम् इत्ययमादेशो भवति । ह्रस्व—श्रमणानाम्, संयतानाम्, वनानाम्, धनानाम्, सुनीनाम्, साधूनाम्, बुद्धीनाम्, धेनूनाम्, पितृणाम्; मातृणाम् । आप्—खट्वानाम्, बहुराजानाम्, स्त्रीदूतः—नदीनाम्, वधूनाम्, स्त्रीणाम्, लक्ष्मीणाम् । स्त्रीशब्दवर्जितयोरियुवादेशसंबन्धिनोः स्त्रीदूतोः १५ पूर्वेण विकल्प एव—श्रीणाम्, श्रियाम्; भूणाम्, भुवाम् । ह्रस्वापश्चेति किम् ? सोमपाम्, सेनान्याम् ॥ ३२ ॥

इयुव इति किम् ? इति । वा अस्त्रिया इत्येव सत्यताम् तेनैव सर्वेष्टसिद्धेरीति प्रश्न । आद्यै, प्रद्यै इत्यादि । एतेषु “घातोर्विर्णोवर्णस्य०” इति इयुवपवादो “किञ्चिद्वैरसुधियत्वा” २।१।५८। इति “इत्युनवर्षाकार्येभ्यः” २।१।५९। इति च यकारवकारौ भवत इति नेयुवसंबन्धनावीदृता- १८ विति पूर्वेण नित्यमेव कार्यमिति । न च वाच्यमाधीप्रधीशब्दयोः क्रियाशब्दत्वेन सर्वलिङ्गत्वात् नित्यस्त्रीविषयत्वाभावात् पूर्वेणापि कथं दाययादेशा इति ? आध्यायति, प्रध्यायति, आदधाति, प्रदधाति इत्येवस्त्रीलया उदेवोचकत्वात्तयोर्वर्षाभूवत् नित्यस्त्रीलिङ्गत्वाद् वा पूर्ववद्बहुव्रीहि । ननु चाध्ये प्रद्यै इति यद्यपि यकारेण इयादेशो बाध्यते तथापि धियौ धिय इत्यादावियमावादिसंबन्धी ईकार इति शक्य व्यपदेशम् ? उच्यते—भेदाश्रयणाद्- २१ दोषः । यदाऽस्य स्थाने इयादिर्भवति तदासावियादेरीदादि, न चान्यस्मिन् भवत्यसावियादेरीदादिस्तयोरभेदप्रसङ्गात् इति विकल्पो न भवति । अस्त्रिया इति किम् ? सूत्रेऽस्त्रिया इत्यस्य किं प्रयोजनमित्यर्थः । तत्फलमाह—स्त्रियै, स्त्रियाः, परमस्त्रियै इत्यादि । सूत्रे स्त्रीशब्दवर्जनात्ततो जित्तां दाययादेशा पूर्वेण नित्यमेव भवन्ति । यवक्रिये, कटपुत्रे इति । यवान् क्रीणातीति विग्रहे किपि, कटेन प्रवत इति च विग्रहे २४ “दिशुहृद्व०” ५।२।८३। इति किपि निपातनात् यवक्री कटपूस्ततश्चतुर्थ्यैकवचने “सयोगात्” २।१।५२। इतीयुवादेशो स्त्रीदूत इति वचनाद् दैदासायभावे सिध्यत । ननु स्त्रियै इत्यादौ असत्यप्यनेन विकल्पे कथं पूर्वेण नित्यमादेशो यत् परत्वादियुवादिमावावीदृदन्तत्वाभावादप्रवृत्तिरेवेत्याह—अस्त्रिया इत्यादि । अयं भाव—यदि पूर्वं परत्वादियुवादयस्ताहि अस्त्रिया इति शास्त्रकृच्छिर्देशः कथं ? तदेव बोधयति—यत्परादपि २७ इयुव्यत्वादिकार्यात् स्त्रीदूताश्रितं कार्यं पूर्वं भवति । ज्ञापनफलमाह—तेन स्त्रियै, स्त्रीणाम्, भूणाम्, आद्यै इत्यादि सिद्धमिति । अन्यथा एषु परत्वादियुवादेषु कृतेषु ईदृदन्तत्वाभावात् न भवेयुर्देनामादेशा ॥ ३० ॥

आमो नाम् वा । “वेयुवोऽस्त्रिया” इति वावर्जमनुवर्तते स्त्रीदूत इति च । इयुव स्त्रीदूत आमो नाम् वा अस्त्रिया इत्यन्वय- ३० स्वदाह—इयुवोः संबन्धिनौ इत्यादि । अत्र क्रियानिकस्य सानुबन्धत्वादपरस्य चासंभवात् स्याद्यधिकाराच्च षष्ठीवहुवचनस्यैवामो ग्रहणमित्याह—षष्ठीवहुवचनस्येति । श्रीणाम्, श्रियाम् इत्यादि । श्रीशब्दादामोऽनेन नामादेशो पक्षे च “सयोगात्” इतीयादेशः । भूणाम्, सुवाम् इति । पूर्ववदामो नामादेशो पक्षे “भूषो” इत्युवादेशः । एवमन्यदपि । शोभना धीरेषां सुधीनाम्, सुधियामिति । एत- ३३ द्विग्रहपक्षे सुधीनस्य श्रीवद्रूपाणि, तत् एव नित्यस्त्रीलिङ्गत्वादिति भावः । इयुव इत्यनुवृत्तिफलमाह—इयुव इत्येव ? प्रवीणाम्, वर्षाभूणाम् इति । अनयोरीदृता नेयुवसंबन्धनाविति “ह्रस्वापश्च” इति नित्यमेवामो नामादेशः । स्त्रीदूत इत्यधिकारफलमाह—स्त्रीदूत इत्येव ? यवक्रियाम्, कटपुत्राम्, सुष्ठु ध्यायन्तीति सुधियस्तेषाम् सुधीयामिति । एषु यथाक्रमं “सयोगात्” इति, “घातोर्विर्णो- ३६ वर्णस्य०” इति च इयुवौ, अनेनामो वैकल्पिको नाम् न भवति, ईकारान्तोकारान्तत्वेऽपि क्रियाशब्दत्वेन सर्वलिङ्गत्वात् नित्यस्त्रीविषयत्वाभावादत एव चोत्तरसूत्रेणापि नित्यमामो न नाम् । स्त्रीणाम्, परमस्त्रीणाम् इति । अत्र स्त्रीशब्दवर्जनाद् वैकल्पिक आमो न चाम् । एवन्तर्ह्यत्र केनामो नामित्यत आह—उत्तरेण नित्यमेव इति । “ह्रस्वापश्च” इत्यनेनेति भावः । ननु श्रियमतिक्रान्तानि कुलानि तेषामतिश्रीणामित्यादौ “स्त्रीवे” ३५ २।४।९७ इति ह्रस्वत्वे सति कयमामो नामित्यत आह—नपुंसकेऽपि ह्रस्वत्वेन भाव्यमित्यादि ॥ ३१ ॥

ह्रस्वापश्च । आमो नाम् इति अनुवर्तते । चकारात् स्त्रीदूत इति गम्यते । ह्रस्वापः स्त्रीदूतस्यामो नामित्यन्वयस्वदाह—ह्रस्वान्तादित्यादि । क्रमेणोदाहरति—श्रमणानामित्यादि । श्रमणादिशब्देभ्य आमोऽनेन नामादेशो “धीर्षो नाम्य०” १।४।४७। इति धीर्षे सति ४२ भवति । एवमन्यदपि । अयं श्रीणाम्, श्रियामित्यत्राप्यनेन परत्वात् नित्य नामादेशः कृतो न भवतीत्याह—स्त्रीशब्दवर्जितयोरित्यादि । विशेष- ४३ विहितत्वेनापवादत्वादिति शेषः । सोमपाम्, सेनान्याम् इति । सोम पिबतीति विग्रहे विप्ति, सेनां नयतीति किपि, तत् षष्ठ्यामामि “ह्रस्वापश्च” इति वचनात् नामादेशाभावे “लुगातोऽनाप” इति “किञ्चिद्वैर०” इति च कृते सिध्यत ॥ ३२ ॥

## संख्यानां ण्याम् ॥ १ । ४ । ३३ ॥

रेफप्रकारनकारान्तानां संख्यावाचिनां शब्दानां संवन्धिन आमः स्थाने नाम् इत्ययमादेशो भवति । चतुर्णाम्, षण्णाम्, पञ्चानाम्, सप्तानाम्, परमचतुर्णाम्, परमषण्णाम्; परमपञ्चानाम् । तत्संवन्धविज्ञानादिह न भवति-प्रियचतुराम्, प्रियपञ्चाम्, प्रियपञ्चाम् । संख्यानामिति किम्? गिराम्, विपुषाम्; यतिनाम् । ण्यामिति किम्? त्रिशताम्, पञ्चाशताम् । बहुवचन व्याप्त्यर्थम्, तेन भूतपूर्वनान्ताया अपि-अष्टानाम्, परमाष्टानाम् ॥ ३३ ॥

६ त्रेत्रयः ॥ १ । ४ । ३४ ॥

आमः संवन्धिनश्चिदस्य त्रयादेशो भवति । त्रयाणाम्, परमत्रयाणाम् । आमसंवन्धविज्ञानादिह न भवति-अतित्रीणाम्, प्रियत्रीणाम् । अतत्संवन्धिनोऽपि भवतीत्येके-अतित्रयाणाम्, प्रियत्रयाणाम् । स्त्रियां तु परत्वात् तिसृणाम् १ भवति-तिसृणाम् ॥ ३४ ॥

## एदोऽङ्गां ङसिङ्सो रः ॥ १ । ४ । ३५ ॥

एदोऽङ्गां परयोऽसिङ्सोः स्थाने रेफो भवति, अकार उच्चारणार्थः । मुनेः, मुनेः, साधोः, साधोः, गोः, गोः, घोः, १२ घोः; परमश्चासाविश्च परमेः, परमेः, नयतीति चिच्-नेः, नेः, एव लोः, लोः । वचनभेदो यथासंख्यनिवृत्त्यर्थः ॥ ३५ ॥

संख्याना ण्याम् । आमो नामित्यनुवर्तते । ण्याम् संख्यानामामो नामित्यन्वयः । इ च ए च न च तेषा ण्याम् । “तवर्गस्य०” इति णत्वम् । “रपृण०” इति तु न, एकपदत्वाभावात् । “वोत्तरपदान्त०” २।३।७५। इत्यपि न, यत एकारो न पूर्वपदस्य किन्तु मध्यपदस्य, १५ तर्हि रेफ पूर्वपदस्योऽस्ति तदपेक्षया णत्व भवद्वा, न, “पदेऽन्तरे०” २।३।९३। इति निषेधात् । ण्यामिति शब्दनिर्देश, संख्यानामिति त्वर्थ-निर्देश, संख्या चेद्देकत्वादिरर्थः । तत्र शब्दार्थयो सामानाधिकरण्याभावादुपचारात् संख्यायां शब्दा संख्याशब्देनाभिधीयन्ते । अथवा सख्या-यते आभिरिति “उपसर्गादात्” ५।३।११०। इति, “करणाऽऽधारे” ५।३।१२९। इति परमप्यनष्ट बाधित्वा बहुवचनादपि अपि च संख्याशब्दे- १८ नैकादय शब्दा एवोच्यन्त इत्याह—संख्यावाचिना शब्दानामिति । चतुर्णाम् इति । चतुरशब्दादनेनामो नामादेशो “रपृण०” इति-णत्वम् । “ह्रादह्रस्वरसा०” इति च द्वित्वपक्षे चतुर्णामित्यपि । षण्णाम् इति । षप् नामिति स्थिते “षुटस्तृतीय” इति ङकारे, तस्य “प्रत्य-यत्वे च” इति णकारे, “तवर्गस्य०” इति टवर्गयोगात् नकारस्य णकार । एव पञ्चमसप्तशब्दयोरामो नामादेशो “वीर्यो नाम्य०” इति वीर्यत्वे २१ नलोपे—पञ्चानां, सप्तानामिति । तदन्तानुदाहरति—परमचतुर्णामित्यादि । प्रियचतुरामित्यादि । प्रियाश्चत्वारो येषां सित्यादि विरुद्ध- २४ संख्यावाचिनामेवां रेफप्रकारनकारान्तात्वाभावात् नामो नाम् । ननु च त्रिशदादयः शब्दा संख्येयेष्वपि वर्तमाना “विशद्याया शतात् द्वन्द्वे” इति वचनत्वात् एकल एव वर्तन्ते इत्यत्रैकवचनान्ता एव भवितुमर्हन्ति कथं बहुवचनम्? सत्यम्, एकशेषात्, त्रिंशच्च त्रिंशच्च त्रिंशच्च त्रिंशच्च । अथा- २७ व्याप्त्यर्थत्वेनेति भावः । भूतपूर्वनान्ताया अपि इति । अष्टशब्दस्येदानीं नकारान्तात्वाभावेऽपि पूर्वं नान्तत्वमाश्रित्यस्य प्रवृत्तिरित्यर्थः ॥ ३३ ॥

त्रेत्रयः । अत्राम इत्यनुवर्तते, तदत्र त्रेरिति स्थानिनो विशेषणम् । आम त्रे त्रय इत्यन्वयस्तदाह—आमः संवन्धिन इति । संवन्धस्योभयनिष्ठत्वेनाम संवन्धिन इत्यपि युक्तम् । आम संवन्धित्व च त्रेरर्थद्वारकम् । यस्मादाम संवन्धी त्रेरर्थस्तत स आम इत्युच्यते । १० आम संवन्धीति कार्यकारणभावे षष्ठी । त्रिशब्द कारणमाम् च कार्यम्, यत्त्रिशब्दबहुत्वे आम । अनेकवर्णत्वात् सर्वोद्देशोऽनेन त्रिशब्दस्यासि त्रय आम इत्यवस्थायां “ह्रस्वाप्य” इति नामि णत्वे च, तदाह—अत्राणामिति । परमत्रयाणामिति तु विशेषणसमासे षष्ठी भवति । अतित्रीणाम् इति । प्रादिसमास, अत्राम संवन्धिन त्रिशब्दस्याभावात् न त्रयादेशः । प्रियत्रीणाम् इति । प्रियात्रयो यत्वेति प्रियत्रिशब्दो १३ बहुव्रीहि, तस्यान्यपदार्थप्रधानत्वादेकद्विवहुवचनानि सन्ति, अतो मुनिवत्तस्य रूपाणि । अतत्संवन्धिनोऽपि भवतीत्येके इति । पाणि- १५ त्वेऽपि त्रयादेशो न भवतीति । मतमिदमाचार्यहेमचन्द्रसमतम् । “वस्तुतस्तु०” इत्यास्यायमर्थः—अर्थप्राधान्यनोपपत्त्य बहुवचनस्याभावाद् गौण- १६ त्वेऽपि त्रयादेशो न्यायः । एके इति बहुवचननिर्देशेन शास्त्रकर्तृरपीदं संमतम् । एकेषां भवेनोदाहरति—अतित्रयाणाम् इत्यादि । अथ तिसृणामिति स्त्रीलिङ्गेऽपि त्रयादेशसामान्या विग्रहान्तात्वात् त्रयादेशः कस्मात् न भवतीत्याह—स्त्रियां तु परत्वात्तिसृणाम् इति । “त्रिचतु- १९ रस्ति०” २।१।१। इत्यनेनेति शेषः ॥ ३४ ॥

एदोऽङ्गां ङसिङ्सो रः । व्याख्यानात् “ह्रस्वाद्” २।१।१९। इति शापकाद् वा चतुर्ण्यां वाक्यार्थस्याघटनामृतीययावभावनित्यने पञ्चम्येदोऽङ्गमित्याह—एदोऽङ्गां परयोऽसि । अत्र तकारः स्वरूपप्रणयार्थः, तेन लाक्षणिकयोरप्येदोतो परिग्रहः । अथ र इत्यत्राकार किमर्थ- २२ इत्यत आह—अकार उच्चारणार्थः इति । मुनेरिति । मुनिशब्दात् “क्लियदिति” इत्येदन्तादेशात्तववचनभूतादेवकारात् परयोऽसिङ्सो- “प्रत्ययस्य” इति सर्वोद्देशो रेफोऽनेन भवति । एवमन्यदपि । परमेरिति । “आतो नेन्द्रवरुणस्य” ७।३।१९। इति शापकाद् पूर्वं पूर्वोत्तरपदयो- २४ कार्यम् तत संघिकार्यम्, अत परमेरिति प्राप्नोति, नैवम् । शापकज्ञापिता विषयो हानित्या इति । ननु वचनाभेदार्थमुपयन् समाहारेत्तरेतरयोरी- २५ कस्यत् न कृतो, न षष्पति प्रयोजने वचनभेदो युक्त इत्याह—वचनभेद इत्यादि । अन्यथा निमित्तनिमित्तिनो समानत्वात् एकारात् ङसेरोकाराच्च ३० रेफ इति यथासंख्यं स्यादित्यर्थः ॥ ३५ ॥



## खितिखीतीय उर् ॥ १ । ४ । ३६ ॥

खितिखीतीसंबन्धिन इवर्णस्थानाधकारात् परयोर्दसिडसोः स्थाने उर् आदेशो भवति । खि-सख्युः, सख्युः; ति-पत्युः, पत्युः, खी, ती-सह खेन वर्तते सखः, सखं सखायं वेच्छति इति क्यनि, किपि, सखीः; पततीति पतः, पतं पतिं ३ वेच्छतीति क्यनि, किपि, पतीः; सख्युः, पत्युः । तथा सुखमिच्छति, सातमिच्छति क्यनि, सुख्युः, सात्युः; लूनं, पूनं चेच्छतः-लून्युः, पून्युः; “कादेशोऽपि” ॥ २ । १ । ६१ ॥ इति नत्वस्यासत्त्वात् तीरूपत्वम् । य इति किम्? यत्र यत्वादेशस्तत्र यथा स्यात्, इह मा भूत्-अतिसखेः, अधिपतेः । खितिखीतीति किम्? मुख्यमपत्यं चाचष्टे णिच्, विच्- ६ मुख्यः, अपत्यः आगतं स्वं वा । अदितं इत्येव? सख्याः, पत्याः ॥ ३६ ॥

## ऋतो डुर ॥ १ । ४ । ३७ ॥

ऋकारात् परयोर्दसिडसोः स्थाने डुर इत्ययमादेशो भवति । पितुः, पितुः, मातुः, मातुः । डसिडस इत्येव? १ पितृन् । ऋत इति किम्? यः ॥ ३७ ॥

खितिखीतीय उर् । डसिडस इत्यनुवर्तते । खितिखीतीयो ऋसिडस उर् इत्यन्वयः । खितिखीत्या यो यकार इति द्वन्द्वगर्भतत्पुरुषात् पञ्चम्या रूप-खितिखीतीय इति । एतेभ्य परस्य यकारस्य डसिडसो परतोऽसम्भवाद् “इवर्णादेः” इति विहितस्यैव यकारस्य ग्रहणमित्याह— १२ खितिखीतीसम्बन्धिन इवर्णस्थानादिति । न च सखाय यातीत्यप्रयोगिणि प्रत्यये कृते “छणातोऽनाप ” २।१।१०७। इत्याकारलोपे सम्भवतीति वाच्यम्, प्रयुक्तानामन्वाख्यानोपे च प्रयोगासम्भवात्तदभावः । खीतीभ्यां तु कल्पनानिर्मितस्यासम्भव एव । यथैव लाघवाय “ख्यत्य उर्” इत्येव किञ्च कृतं? एव च सति खिखीशब्दयोस्तिखीशब्दयोर्लघुस्यष्टप्रतिपत्तिर्भवतीति, नैवम्, एव सति सुतरा सन्देहः स्यात्, तथाहि—मुख्यस्य १५ गार्हपत्यपौरोहित्यसत्यापत्यादीनां च यौ ख्यत्यशब्दौ तयोर्ग्रहणं कस्माच्च विज्ञायते? “सख्युरितोऽश्ववैत्” १।४।८३।, “पत्युर्न ” २।४।४८। इति ज्ञापकात् न भविष्यतीति चेत्-सौत्रावेतौ निर्देशौ इति मन्दधीर्मन्यते, गरीयासख ज्ञापकोपन्यासा । सख्युः, पत्युः इति । सखिपतिशब्दाभ्यां ऋसिडसोस्त्वत्र खितिशब्दयोरिकारस्य यत्वे तस्माच्च खितिशब्दसंबन्धिन इवर्णस्थानात् परयोर्दसिडसोर्त्वे च विसर्गः । खीशब्दस्तीशब्दश्च द्विविधः— १८ कौचित् खितिशब्दयोरिकारे कृते, कौचित् खतशब्दयोः । तत्र पूर्वयोरेकदेशविकृतमन्यवदिति खितिग्रहणेनैव ग्रहणात् तत्र खीतीग्रहणं नार्थवत्, किं तर्हि? उत्तरयोरत आह—सह खेन वर्तते इत्यादि । खने “कचिद्” ५।१।१७१। इति डे ख, सह खेन वर्तते इति विग्रहे “सहस्य सोऽन्यथै” ३।२।१४३। इति समावे, तमिच्छतीत्यर्थे “अमाव्यायात्” ३।४।२३। इति क्यनि, “क्यनि” ४।३।११२। इति ईत्वेऽन्यत्र “धीर्घञि” २। इति घीर्घ, किपि, “अत ” इत्याकारलोपे, “ज्यो ष्वज्यजनै” इति यलोपे—सखी, एव पती, “योऽनेकस्वरस्य” २।१।५६। इति यत्वेऽनेन उल्लेख—सख्युः, पत्युः इति षष्ठां पञ्चम्यां च साधारण रूपम् । तथेत्यादि । सखिपतिशब्दयोरेव केचिदिच्छन्ति, तन्मते-सख्यु, पत्युरि-त्येतावन्मात्रमेवास्य सूत्रस्य लक्ष्यं, न चूर्णिकारोपवर्णितमपि लन्युरित्यादि लक्ष्यान्तरम् । तथान्येनाप्युक्तं कीर्तयितुं श्रुतप्रातिश्रुतप्रातीनां क्यञादिषु तीशब्द २४ श्रूयमाण एव संभवति, तस्मात्तु कृतयादेशादुत्त्वं कस्मादुदाहृतं क्रीत्युरागच्छति क्रीत्यु खमिति । केचिदाहु—तत्र नेष्यते त्यादुतरस्योत्त्वमिति, क्रीत्य आगच्छति, क्रीत्य खमिति हि तत्र भवितव्यम् । अन्ये त्वाहु—पूर्वागमेषु तीशब्दस्य लनीशब्दावयवस्य कृतयत्वादेशस्योदाहरणं दर्शितं, न च सामान्येन सूत्रनिर्देशे विशेषाभ्युपगमो युक्त इति सर्वमुदाहरणम् । उद्गैमस्य चेतसि परिभाष्य तथेत्यनेनाभ्युपगमं दर्शयति । सुख्युः, २७ सात्युरित्यादि । “सुखदु खण्” तत्किमयाम्, धातोर्णिच्यणि च सुखम्, सनोते के “आ खनिसनिजन् ” ४।२।६०। इत्यात्वे सातम्, लुनाते, पुनाते के “ऋत्यादेः” ४।२।६८। इति, “पूदित्ये” ४।२।७२। इति च कस्य नत्वे लूनं, पूनं, शेषं क्यञादि पूर्ववत् । नन्वत्र नत्वे सति तीरूपत्वाभावात् कथमनेनोत्त्वमित्यत आह—“कादेशोऽपि” इति नत्वस्येत्यादि । य इति किम्? यकारं विहायैव सूत्र्यतामिति १० प्रश्नकर्तुराय । समाधत्ते—यत्र यत्वादेशस्तत्रेत्यादि । तथा च क मा भूदित्याह—अतिसखेः, अधिपतेरिति । अतिसखित सखा इति अधिक पतिरिति च प्रादिसमासः, “पूजाखते” ०।३।७२। इति समासान्ताभावे, ऋसिडसो “खित्यदिति” इत्येव, “एदोभ्याम्” इति रत्वे विसर्गः । मुख्यः, अपत्यः आगतं स्वं वेति । “महं पूजायामतो” “महेरुचास्य वा” ८० ८९। इति खप्रत्ययेऽन्तलोपेऽस्य उत्वे तत्र भव ३३ इत्यर्थे “दिगादिदेहांशाद्य” ६।३।१२४। इति ये, “अवर्णवर्णस्य” इत्यन्तलोपे मुख्यः, न पतन्तीति येन जातेन पूर्वजास्तदपत्यं “नजो हलिपते” ८० ३५८। इति य, ततो णिचि, निचि, ऋसिडसो—मुख्यः, अपत्यः । अस्मि अत्र यकार, खितिखीतीसबन्धी तु न भवति, तदभावादुत्त्वाभावः । आगतमिति पञ्चम्यभिप्रात्यर्थ्यं, खमिति षष्ठाभिप्रात्यर्थ्यमेवमन्यत्रापि । सख्याः, पत्याः इति । “नारीसखीपङ्गुश्रू” २।४।७६। इति ष्यन्तात् २६ सखीशब्दात् पतिशब्दाच्च “ब्रौह्म” इति, “क्रिया जिता वा” इति दासायादेशे यद्यपि खीतिसंबन्धी यशब्दोऽस्ति तथाप्यदित्यनुवृत्तेरुत्त्वाभावः, ऋसिडसो रूपाभावाद् वेति ॥ ३६ ॥

ऋतो डुर । ऋसिडस इत्यनुवर्तते । ऋत ऋसिडसो डुर इत्यन्वयस्तदाह—ऋकारादित्यादि । डुर इत्यत्र ऋकारो “खित्यत्यस्वरादे” ३९ इति विशेषणार्थः । पितुरिति । पितृशब्दावयवकारात् परयोर्दसिडसोर्दशदेसे “खित्यत्य” इत्यन्त्यस्वरादिलोपे विसर्गं च विध्यति । एवमन्य-दपि । पितृन् इति । अत्र ऋसिडसोरभावेन न डुर, किन्तु “शसोऽता” इति घीर्घं नत्व च । अः—अत्र इत्यकाराभावेन न डुर, यणातेरनु-करणात् पञ्चम्यां रेफे अ इति रूपम् । ऋकारलकारयोरेकत्वप्रतिज्ञानात् लकारादपि द्वादशो भवति, तस्य च ऋकिन्नादिपाठात् लत्वम्—कुल्ल ४२ ऋकार, यदाह तत्त्ववीपिकायामुपाध्याय—आष्ट इत्येतस्मात् षष्ठायापुल्ल इत्येव भवति ॥ ३७ ॥



मातौ २, मातरः । औ चेति किम् ? पित्रा, मात्रा । कर्तृणि कुले, कर्तृणि कुलानीत्यत्र तु परत्वात् पूर्वं न एव, तस्मिन् सति व्यवधानात् न भवति । ऋत इत्येव ? अि ॥ ३९ ॥

मातुर्मातः पुत्रेऽर्हे सिनाऽऽमन्त्र्ये ॥ १ । ४ । ४० ॥

३

मातृशब्दस्याऽऽमन्त्र्ये पुत्रे वर्तमानस्य सामर्थ्याद् बहुव्रीहौ समासे सिना सह मात इत्यकारान्त आदेशो भवति, अर्हे—मातृद्वारेण पुत्रप्रशंसायां गम्यमानायाम् । कचोऽपवादः । गार्गी माता यस्य तस्याऽऽमन्त्रणं हे गार्गीमात !, एवं हे वात्सी-मात !, अत्र पुत्रः संभावितोत्कर्षया श्लाघ्यया मात्रा तत्पुत्रव्यपदेशयोग्यतया प्रशस्यते । मातुरिति किम् ? हे गार्ग्यपि-तृक ! । पुत्र इति किम् ? हे मातः !, हे गार्गीमातृके वत्से ! । अर्हे इति किम् ? अरे गार्गीमातृक ! । आमन्त्र्य इति किम् ? गार्गीमातृकः । सिनेति किम् ? हे गार्गीमातृकौ ॥ ४० ॥

ह्रस्वस्य गुणः ॥ १ । ४ । ४१ ॥

९

आमन्त्र्येऽर्थे वर्तमानस्य ह्रस्वान्तस्य सिना सह श्रुतत्वाद् ह्रस्वस्यैव गुणो भवति, “आसन्नः” । हे पितः !, हे मातः !, हे कर्ता !, हे स्वसः !, हे मुने !, हे सावो !, हे बुद्धे !, हे धेनो ! । सिनेत्येव ? हे कर्तुं कुल !, हे वारि !, हे त्रपु !, अत्र परत्वात् पूर्वं सेर्लुपि सेरयावात् न भवति; “नामिनो लुग् वा” ॥ १ । ४ । ४१ ॥ इति लुकि तु स्थानिवद्भावाद् ॥ १२

पितरि वारिण्यादाहुमयो सावकाशत्वेन परत्वात् नागमे ऋकारान्तत्वाभावात् न भवतीत्याह—कर्तृणि इत्यादि । पूर्वं न एवेति । कर्तृणि कुले इत्यत्र “अनाम्बरं” इत्यनेन, कर्तृणि कुलानीत्यत्र च “स्वराच्छौ” इत्यनेनेति शेषः । ननु नागमे सति कथमर्हं न ? व्यवधायकत्वाभावा-दागमस्येत्याह—तस्मिन् व्यवधानादित्यादि । यस्य योऽवयवत्वेन तस्य व्यवधानं न, किन्तु अवयवेनावयवस्य ऋक्षक्षणस्य व्यवधानं भवतीति १५ भावः । अि इति । अत्र दीर्घकारस्य सत्त्वेन तत्स्थानेऽर्हं न भवति ॥ ३९ ॥

मातुर्मातः पुत्रेऽर्हे सिनाऽऽमन्त्र्ये । आमन्त्र्य इत्यनेन पुत्र इति विशेष्यते, तेन च मातुरिति त्याह—मातृशब्दस्येत्यादि । ननु कथं मातृशब्दस्य पुत्रार्थे वृत्तिर्न ह्यसौ पुत्रार्थे वर्तमानः क्वचिद्बुद्धः, सत्यम्, केवले न वर्तते बहुव्रीहौ तु तात्पर्याद् वर्तत इत्याह—सामर्थ्या-१८ दित्यादि । अयमर्थः—न ह्यन्यत्र वर्तमानः शब्दः साक्षादन्वयार्थं प्रतिपादयति, बहुव्रीहिसमासे त्वन्यपदार्थोपसर्जनतयाऽर्थान्तरं प्रतिपादयत्येव । अर्हे—प्रशंसायामित्यर्थः, प्रशंसा च प्रधानत्वात् पुत्रस्यैव न मातुः, अर्हसमवेऽपि तदर्थत्वादित्याह—मातृद्वारेणेत्यादि । बहुव्रीहौ हि मातृशब्दस्य ऋकारान्तत्वाद्बुद्धिर्न कचः प्राप्तः, नितो धावेति तत्वात्तदपवादोऽयमित्याह—कचोऽपवादः इति । “ऋक्षित्यदित” ॥ १३१७११ इत्येतद्विहितस्येति २२ शेषः । गर्गस्यापत्यं बृहद् औ “गर्गोदेव” ६१४२१ इति यणि, “बृद्धिः खरेष्वादे” ॥ १४१११ इति बृद्धौ, “अवर्णवर्णस्य” इत्यकारलोपे, “अनो ह्यन्यत्र च वा” २१४१६० इति ज्या, “अल्य दृषां लृक्” २१४१८६ इति अकारलोपे, “अब्रजानादित्यस्य” २१४१८८ इति यलोपे—गार्गी, एव वात्सी । गार्गी माता यस्येति वात्सी माता यस्येति च विग्रहे “परतः औ पुत्र” ३१४१४९ इति प्राप्तस्य पुत्रद्वयस्य “स्वाज्ञात् २४ लौर्गोतिष्वा” ३१४१५६ इति प्रतिषेधात्नेन सिना सह मातदेशे—हे गार्गीमात !, एवं हे वात्सीमात ! इति । अत्र यो गार्ग्यो मात्रा व्यपदेशेन प्रशंसामर्हति स आश्चर्यं, तत्रैव स्पष्टयति—अत्रेत्यादि । अत्र मात्रा पुत्रः प्रशस्यते, कथंभूतया संभावितोत्कर्षया पुनश्च श्लाघ्यया केन करणेन हेतुना वा तत्पुत्रव्यपदेशयोग्यतयेति खण्डनम् । अत्र—गार्गीमात इति बहुव्रीहौ । संभावितोत्कर्षया—समा-२७ वित उक्त्यां यस्याः सकामात्तमेत्यर्थः । श्लाघ्यया—श्लाघामर्हया । प्रशस्यते—लोके विश्रुतो भवति । कस्मादेतोरत आह—तत्पुत्रव्यपदेश-योग्यतया—तत्पुत्र इति व्यपदेशः—कथं, तस्य योग्यतया भावत्वात् तया इत्यर्थः । हे गार्ग्यपितृक इति । गार्ग्यः पिता यस्येति “ऋक्षज्ञान” इति कचि भवति, अत्र मातुरामन्त्र्ये पुत्रेऽवर्तमानत्वादित्याह—अि । हे मातः !, हे गार्गीमातृके वत्से ! इति । अत्रैकत्र मात्रार्थे वर्तमानत्वाद् ३० अपरत्र च पुत्र्यर्थे वर्तमानत्वाद् मातृशब्दस्य न माताऽऽदेशः, पुत्रेऽवर्तमानत्वाद् इति भावः । अरे गार्गीमातृक ! इति । अज्ञातपितृकत्वे-नानेकपितृकत्वेन चात्र निन्धया मात्रा तत्पुत्रव्यपदेशयोग्यतया विगुण पुत्रो निन्धते इति अर्ह इति वचनात् न भवतीति । आमन्त्र्य इति किम् ? आमन्त्र्येति पुत्र इत्यस्य विशेषणं किमर्थमिति प्रश्नः । गार्गीमातृक इति । अत्र पुत्रेऽर्थे वर्तमानत्वेऽपि मातृशब्दस्यामन्त्र्यपुत्रार्थवृत्ति- ३३ त्वाभावात् न मातादेशः । हे गार्गीमातृकौ—अत्र सेरमावात् नेदं प्रवर्तते ॥ ४० ॥

ह्रस्वस्य गुणः । अत्र पूर्वसात् सिनाऽऽमन्त्र्य इत्यनुवर्तते । आमन्त्र्ये ह्रस्वस्य सिना गुण इत्यन्वयः । अविश्रुतस्य नाम्नो विशेषणत्वं विवे-पणेन च तदन्तविधिसंभवादाह—ह्रस्वान्तस्येति । ह्रस्वस्येति ह्रस्वान्तस्येत्यर्थकत्वे कस्य गुणो ह्रस्वान्तस्य त्वसंभवादिति चेत्, सत्यम्, श्रुतो १६ ह्रस्वो ह्रस्वान्तत्वमनुमितमिति “श्रुताहुमयोश्च औतो निधिर्वीज्यान्” इति न्यायेन श्रुतत्वाद् ह्रस्वस्यैव गुणो भविष्यतीत्याह—श्रुतत्वादिति । “आसन्नः” ॥ १३१२०१ इति ऋकारादकारस्य तत्त्वत्वात्तदोऽर्हः, इकारस्य एकारः, उकारस्य ओकारः, अकारस्य “अदेतः स्यमोर्लृक्” १३१४४१ इति वचनात् सेरमावात् गुणो न भवति । अथ प्रमाणऽऽसत्त्वा इकारोकारशोरभ्यारदेशः कस्मात् न भवति ? मात्रिकस्य हि द्विमात्रादध्यर्द्धमात्रिक १५ आसन्नो भवति, न चैव सति गुणग्रहणमनर्थकं स्थानाऽऽसरया सोऽपि स्यात्, उच्यते—यथादर्शनं व्यवस्थाऽऽश्रीयते, तत्र “गुणोऽरेदोव” ३१३१२ इति गुणसंज्ञाया “नामिनो गुणोऽस्ति” १३१११ इत्यादिभिः श्रवणस्यैवारादेशो दृष्टो नेवर्णवर्णयोः । दृष्टव्यत्वात् विहाय को नामादृष्टः कल्पयति, न चैव किंचिद्वाप्यत् इत्युदाहरति—हे पितरित्यादि । पितृशब्दादायमर्थस्यो तेन सह ह्रस्वकारस्य गुणेऽपि पितरिति । एवमन्यत्रापि । अथ हे ४२ यदेतत् ॥ १३११११ इति प्रत्ययलोपक्षणास्य प्रतिषेधादित्यर्थः । उक्त्यर्थे तु लृक् स्थानिवद्भावाद् भवेत्येवेत्याह—नामिन इत्यादि । नामिन इति उक्त्यर्थे गुणे हे कर्तुं इति, “अनतो ह्य” इति उक्तिर्न हे कर्तुं इति च भवति । एवमेव हे वारि, हे त्रपु, हे त्रपु इत्यादि बोध्यम् । ४५

तुल्यसूत्रनेष्टृत्वदृक्क्षहोत्पोत्प्रशास्त्रो घुट्या ॥ १ । ४ । ३८ ॥

तुल्यसूत्रनेष्टृत्वदृक्क्षहोत्पोत्प्रशास्त्रो घुट्या ॥ १ । ४ । ३८ ॥  
 १ इत्ययमादेशो भवति । कर्तारम्, कर्तारौ, कर्तारौ, कर्तारः कटस्य, वदितारम्, वदितारौ, वदितारौ, वदितारः जनाप-  
 वादान्; स्वसारम्, स्वसारौ, स्वसारौ, स्वसारः; नसारम्, नसारौ, नसारौ, नसारः; नेष्टारम्, नेष्टारौ, नेष्टारौ, नेष्टारः;  
 त्वष्टारम्, त्वष्टारौ, त्वष्टारौ, त्वष्टारः; क्षत्तारम्, क्षत्तारौ, क्षत्तारौ, क्षत्तारः, होतारम्, होतारौ, होतारौ, होतारः; पोता-  
 रम्, पोतारौ, पोतारौ, पोतारः; प्रशास्तरम्, प्रशास्तरौ, प्रशास्तरौ, प्रशास्तरः; अतिकर्तारम्, अतिकर्तारौ, अतिकर्तारौ,  
 अतिकर्तारः । घुटीति किम् ? कर्तुं कुलं पश्य । सौ तु परत्वात् डागुणौ-कर्ता, हे कर्तः । तुल्यसूत्रार्थवतो ग्रहणेन  
 प्रत्ययग्रहणात् नप्त्रादीनामव्युत्पन्नानां सज्ञाशब्दानां तुल्यसूत्रग्रहणं न भवतीति तेषां प्रथगुपादानम्, इदमेव च  
 ज्ञापकम् 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थक्यस्य ग्रहणं भवति', इति व्युत्पत्तिपक्षे तु तुल्यग्रहणेनैव सिद्धे नप्त्रादिग्रहणं नियमार्थम्, तेना-  
 न्येषामौपादिकानां न भवति-पितरौ, आतरौ, मातरौ, जामातरौ । केचित्तु प्रस्तोतृउन्नेतृउद्गातृप्रतिहर्तृप्रतिस्थातृशब्दानामौ-  
 पादिकानामप्यार मन्यन्ते-प्रस्तोतारम्, प्रस्तोतारौ, प्रस्तोतारौ, प्रस्तोतारः इत्यादि ॥ ३८ ॥

१२

अहौ च ॥ १ । ४ । ३९ ॥

ऋकारस्य स्थाने ङौ घुटि च परे अ इत्ययमादेशो भवति । पितरि, पितरम्, पितरौ २, पितरः, मातरि, मातरम्,

तुल्यसूत्रनेष्टृत्वदृक्क्षहोत्पोत्प्रशास्त्रो घुट्या । ऋत इत्यधिक्यते । ऋषीणा समाहारनन्दात् षष्ठां सौत्रो निर्देश ।  
 १५ अथवा सूत्रे साक्षाद्कारो निर्दिश्यते, ततश्च तुल्यसूत्रनेष्टृत्वदृक्क्षहोत्पोत्प्रशास्त्रां य ऋकारस्य समानधीर्त्वे षष्ठा रत्वे रूपम् । ऋकारोपा-  
 दानस्य चेद फल तु इति प्रत्ययस्य ग्रहणमन्यथा अते—“यतिन०” उ० ८५६। इति ऋप्रत्यये तुल्यस्य समवाप्तस्यापि ग्रहणप्रसङ्गः, अत  
 आह—तुल्यसूत्रप्रत्ययान्तस्येति । अत एव तुल्यसूत्रनेष्टृत्वदृक्क्षहोत्पोत्प्रशास्त्रां य ऋकारस्य समानधीर्त्वे षष्ठा रत्वे रूपम् ।  
 २८ मात्रस्यात्र ग्रहणादिति । अत एव वक्ष्यति—तुल्यसूत्रार्थवत् इत्यादि । “ङ्कुग” करणे, धातो करोतीति विग्रहे “णकृत्वा” ५।१।४८। इति  
 तुल्ये गुणे अमूर्जोऽस्तु अनेनाऽऽदेशे—कर्तारमित्यादि । औकारप्रत्यासन्नतामिव्यक्त्यर्थं प्रथम द्वितीयोदाहरणे, तत प्रथमोदाहरणे । तुल्यप्र-  
 त्ययामिव्यक्त्यर्थ—कटस्येति “कर्मणि कृत” २।२।८३। इति षष्ठी । वदितारमित्यादि । “वद” व्यक्त्यां वाचि, वदतीत्येवशील इत्यर्थे “तुल्य-  
 २१ शीलधर्मादास्तु” ५।२।२७। इति तुनि, “स्वाधिशितोऽत्रोणादे०” ४।४।३२। इतीति पूर्ववत् । जनापवादानिति । तुल्यमिव्यक्त्यर्थ, “तुल्यन्ता०”  
 २।२।९०। इति षष्ठीप्रतिषेधाद्वितीया । सुपूर्वादसूत्रक्षेपेणोऽत “सोरसे” उणा० ८५३। इति ऋप्रत्यये खस्य(भगिनी)अतोऽमूर्जोऽस्तु अनेनाऽऽरा-  
 देधे—स्वसारमित्यादि । एषसुतरत्रापि । नसारम् इति । “णम” प्रहृत्वेऽतो “नमे प च” उणा० ८६२। इति पादेशे तुल्यस्य । नेष्टारम्  
 २४ इति । “णीन्” प्राप्तेऽतो “निय पादि” उणा० ८६४। इति षकारादिस्तुल्यस्य ऋत्विव्यभिधेये । त्वष्टारमिति । क्षत्तारमिति । “त्विषी”  
 धीतो, अत ‘क्षद’ खदने, सौत्राच्च “त्वष्टृक्षत्तुद्विद्वाय” उणा० ८६५। इति तुल्यस्य इकारस्याऽकारे एकत्र दकारस्य “अधोवैप्रथमोऽशित”  
 इति प्रथमत्वे भवत । होतारम्, पोतारम् इति । जुहोतेष पवते पुनातेर्वा “हुपुग” उणा० ८६३। इति तुल्यस्य गुणे सिध्यत । प्रशा-  
 २७ स्तारम् इति । अपूर्वात् “शासृक्” अनुशिष्टौ, अत “शासिषासि०” उणा० ८५५। इति तुल्यस्य । अन्ये तु त्वष्टृक्षहोत्पोत्तुल्य ताच्छील्यस्यादिषु  
 निपातयन्ति, अत्र इडभावस्त्वस्मादेव निपातनात् । अतस्त्वबन्धिन्युदाहरति—अतिकर्तारमित्यादि । कर्तारमतिकान्त इति “प्रासव०”  
 १० प्रात्यभावात् । नन्वत्र सूत्रे शौ निमित्ते किं न दर्शितम् ? “स्वरञ्जौ” १।४।६५। इति नागमेन व्यवधानात् न प्राप्नोतीति चेन्न, नागमं प्रकृते-  
 रेवांश इति, सत्यम्, अवयवेनावयवस्य ऋक्षणस्य व्यवधानं भवतीति न दर्शितम् । कर्तुं कुलं इति । अत्र नपुसकसंज्ञेत्वाभावात् नात् ।  
 कर्तृशब्दात् सौ उभय प्राप्नोति, अनेनारोदेश “ऋदुशनस०” १।४।८४। इति ङादेशश्च, सावकाशं च तदुभय-कर्तारौ पितेति, अत्रोभयप्राप्तौ  
 ३३ परत्वात् ङादेशो न भवति आद्, बाधितत्वात्, एवमेव संवृद्धौ सौ कर्तृशब्दस्य ह्रस्वान्तस्य सिना सह “ह्रस्वस्य गुण” इति गुणः, तदाह—सौ तु  
 परत्वात् डागुणौ कर्ता, हे कर्तः इति । अथ नप्त्रादयं किं प्रथगुपादीयन्ते ? तत्र तु ह्रस्वे सिद्धमित्याह—तुल्यसूत्रस्येत्यादि । अयमर्थ—  
 तुल्यसूत्रस्य ऋकारान्तत्वाव्यभिचारात् पुनर्ऋकार इति यद्विशेषणं तदकारान्त एव य इति स्वरूपप्रतिपत्त्यर्थं, यत्त्वधिकारापन्नं स स्थानिप्रत्या-  
 ३६ सत्त्यर्थोऽन्यथाऽनेकवर्णसत्त्वात् सर्वस्य स्यात् । व्याकरणे च शब्दस्य रूपवदर्थोऽप्याश्रीयतेऽन्यथा च नप्त्रादिग्रहणमनर्थकं स्यात्, तेनार्थवतो ग्रहणे  
 संभवति अनर्थक्यस्य ग्रहणं न भवति, च नार्थवान् प्रत्यय एवेति । यत्र त्वर्थो न संभवति तत्र वचनप्रामाण्यादनर्थकस्यापि ग्रहणं भवति । अत एव  
 नप्त्रादीनामव्युत्पन्नानां प्रत्ययितावयवार्थानां सज्ञाशब्दानां सम्बन्धिनस्तुल्यसूत्रस्य तुल्यग्रहणेनानर्थकत्वाद् ग्रहणं न भवतीति तेषां प्रथगुपादानं क्रियते ।  
 ३९ ननु नप्त्रादयोऽपि व्युत्पाद्यन्ते इति तत्कथमुच्यतेऽव्युत्पन्नानामिति ? अत्रोच्यते—उणादिषु दर्शनद्वयं, केचिन्मन्यन्ते “उणादयोऽव्युत्पन्नानि नामानि  
 इति, अपरे व्युत्पन्नानिति । लक्ष्यसिद्धयर्थं चेह क्वचित्किञ्चिदर्शनमाश्रीयते । तत्र यदा व्युत्पत्तिपक्ष आश्रीयते तदा नियमार्थं नप्त्रादिग्रहणमौ-  
 पादिकानां सज्ञाशब्दानां नप्त्रादीनामेव न पित्रादीनामित्याह—व्युत्पत्तिपक्षे त्वित्यादि । केचित्त्विति—मोजप्रसृतयः । प्रपूर्वात् स्वीतेरपूर्वा-  
 ४२ ऋतेर्गार्थेऽथ प्रतिपूर्वात् हरतेऽस्तिष्ठते “हुपुगोऽपि प्रस्तुतिहृतिप्रस्थाभ्य ऋत्विति” उणा० ८६३ । इति तुल्यसूत्रेनाऽऽदेश मन्वन्ते,  
 ताच्छीलिकृतृन्तत्वादेवामारादेशसिद्धिः ॥ ३८ ॥

अहौ च । ऋत इत्यनुवर्तते । तदाह—ऋकारस्य स्थाने इति । अत्र निमित्तात् पर श्रूयमाणश्चकारो निमित्तान्तरसव्यपेक्ष प्रत्या-  
 ४५ सत्तेरन्तरसुचोपात्तमेव निमित्तमुपस्थापयतीत्याह—ङौ घुटि चेति । पितरि इति । पितृ इति स्थितेऽनेन ऋकारस्य ङौ परे अरादेश ।  
 एव पितरमित्यादि । पित्रा इत्यादि । अत्र टायामनेन न भवति, किन्तु यत्त्वमिति भावः । नपुसके ऋकारान्तस्य ङौ नित्यत्वात् इयादेशो च

मातरौ २, मातरः । डौ चेति किम् ? पित्रा, मात्रा । कर्तृणि कुले, कर्तृणि कुलानीत्यत्र तु परत्वात् पूर्वं न एव, तस्मिंस्तु सति व्यवधानात् न भवति । ऋत इत्येव ? शि ॥ ३९ ॥

मातुर्मातः पुत्रेऽहं सिनाऽऽमन्त्र्ये ॥ १ । ४ । ४० ॥

मातृशब्दस्याऽऽमन्त्र्ये पुत्रे वर्तमानस्य सामर्थ्याद् बहुव्रीहौ समासे सिना सह मात इत्यकारान्त आदेशो भवति, अहं—मातृद्वारेण पुत्रप्रशंसायां गम्यमानायाम् । कचोऽपवादः । गार्गी माता यस्य तस्याऽऽमन्त्रणं हे गार्गीमात !, एवं हे वात्सी-मात !, अत्र पुत्रः संभावितोत्कर्षया श्लाघ्यया मात्रा तत्पुत्रव्यपदेशयोग्यतया प्रशस्यते । मातुरिति किम् ? हे गार्ग्यपितृक ! । पुत्र इति किम् ? हे मातः !, हे गार्गीमातृके वत्से ! । अहं इति किम् ? अरे गार्गीमातृक ! । आमन्त्र्य इति किम् ? गार्गीमातृकः । सिनेति किम् ? हे गार्गीमातृकौ ॥ ४० ॥

ह्रस्वस्य गुणः ॥ १ । ४ । ४१ ॥

आमन्त्र्येऽर्थे वर्तमानस्य ह्रस्वान्तस्य सिना सह श्रुतत्वाद् ह्रस्वस्यैव गुणो भवति, “आसन्नः” । हे पितः !, हे मातः !, हे कर्तः !, हे स्वसः !, हे मुने !, हे साधो !, हे बुद्धे !, हे धेनो ! । सिनेत्येव ? हे कर्तृ कुल !, हे वारि !, हे त्रपु !, अत्र परत्वात् पूर्वं सेलेपि सेरमावात् न भवति; “नामिनो लुग् वा” ॥ १ । ४ । ६१ ॥ इति लुकि तु स्थानिवद्भावाद् ॥ १२

पितरि वारिण्यादाबुभयो सावकाशत्वेन परत्वात् नागमे ऋकारान्तत्वाभावात् न भवतीत्याह—कर्तृणि इत्यादि । पूर्वं न एवेति । कर्तृणि कुले इत्यत्र “अनाम्सरे” इत्यनेन, कर्तृणि कुलानीत्यत्र च “स्वराच्छौ” इत्यनेनेति शेषः । ननु नागमे सति कथमर् न ? व्यवधायकत्वाभावादागमस्येत्याह—तस्मिंस्तु व्यवधानादित्यादि । यस्य योऽवयवत्वेन तस्य व्यवधानं न, किन्तु अवयवेनावयवस्य ऋक्षक्षणस्य व्यवधानं भवतीति १५ भावः । शि इति । अत्र दीर्घकारस्य सत्त्वेन तत्स्थानेऽर् न भवति ॥ ३९ ॥

मातुर्मातः पुत्रेऽहं सिनाऽऽमन्त्र्ये । आमन्त्र्य इत्यनेन पुत्र इति विशेष्यते, तेन च मातुरीत्याह—मातृशब्दस्येत्यादि । ननु कथं मातृशब्दस्य पुत्रार्थे इति न कसौ पुत्रार्थे वर्तमानः क्विदुष्ट, सत्यम्, केवलो न वर्तते बहुव्रीहौ तु तात्पर्याद् वर्तत इत्याह—सामर्थ्या-१८ दित्यादि । अयमर्थः—न ह्यन्यत्र वर्तमानः शब्दः साक्षादन्यमर्थं प्रतिपादयति, बहुव्रीहिसमासे त्वन्यपदार्थोपसर्जनतयाऽर्थान्तरं प्रतिपादयत्येव । अहं—प्रशंसायामित्यर्थः, प्रशंसा च प्रधानत्वात् पुत्रस्यैव न मातुः, अहंसमवेऽपि तदर्थत्वादित्याह—मातृद्वारेणेत्यादि । बहुव्रीहौ हि मातृशब्दस्य ऋकारान्तत्वाद् ऋक्षक्षणः कच्च प्राप्तः, विशेषविहितत्वादपवादोऽयमित्याह—कचोऽपवाद इति । “क्वचित्पितृ” ७३।१७१। इत्येतद्विहितस्येति २१ शेषः । गार्गासप्तस्य इदं स्त्री “गार्ग्यैर्यञ्” ६।१।२२। इति यमि, “वृद्धिः खरेष्वदे” ७।४।१। इति वृद्धौ, “अवर्णवर्णस्य” इत्यकारलोपे, “अञो ङायन् च वा” २।४।६७। इति ङ्या, “अस्य दृषां लुक्” २।४।८६। इति अकारलोपे, “व्यञ्जनात्तद्वितस्य” २।४।८८। इति यलोपे—गार्गा, एव वात्सी । गार्गी माता यस्येति वात्सी माता यस्येति च विग्रहे “परत स्त्री पुवत्” ३।२।४९। इति प्राप्तस्य पुवद्भावस्य “स्वाहात् २४ जीर्जातिश्च” ३।२।५६। इति प्रतिषेधादनेन सिना सह मातादेशे—हे गार्गीमात !, एवं हे वात्सीमात ! इति । अत्र यो गार्ग्यो मात्रा व्यपदेशेन प्रशंसामर्हति स गार्गा, तदेव स्पष्टयति—अत्रेत्यादि । अत्र मात्रा पुत्रः प्रशस्यते, कथंभूतया संभावितोत्कर्षया पुनश्च श्लाघ्यया केन कारणेन हेतुना वा तत्पुत्रव्यपदेशयोग्यतयेति खण्डनम् । अत्र—गार्गीमात इति बहुव्रीहौ । संभावितोत्कर्षया—समा-२७ वित उत्कर्षो यस्याः सकाशात्तयैत्यर्थः । श्लाघ्यया—छाधामर्हया । प्रशस्यते—लोके विस्तृतो भवति । कस्यादेतोरत आह—तत्पुत्रव्यपदेश-योग्यतया—तत्पुत्र इति व्यपदेशः—कथनं, तस्य योग्यस्त्वस्य भावस्तथा तथा इत्यर्थः । हे गार्ग्यपितृक इति । गार्ग्यं पिता यस्येति “ऋक्षक्षणे” इति क्वचि भवति, अत्र मातुरामन्त्र्ये पुत्रेऽवर्तमानत्वादस्याप्रवृत्तिः । हे मातः !, हे गार्गीमातृके वत्से ! इति । अत्रैकत्र मात्रार्थे वर्तमानत्वात् ३० अपरत्र च पुत्र्यर्थे वर्तमानत्वात् मातृशब्दस्य न माताऽऽदेशः, पुत्रेऽवर्तमानत्वात् इति भावः । अरे गार्गीमातृक ! इति । अज्ञातपितृकत्वेनानेकपितृकत्वेन चात्र निन्धया मात्रा तत्पुत्रव्यपदेशयोग्यतया विगुणः पुत्रो निन्धयते इति अहं इति वचनात् न भवतीति । आमन्त्र्य इति किम् ? आमन्त्र्येति पुत्र इत्यस्य विशेषणं किमर्थमिति प्रश्नः । गार्गीमातृक इति । अत्र पुत्रेऽर्थे वर्तमानत्वेऽपि मातृशब्दस्यामन्त्र्यपुत्रार्थवृत्ति- ३३ त्वाभावात् न मातादेशः । हे गार्गीमातृकौ—अत्र सेरमावात् नेदं प्रवर्तते ॥ ४० ॥

ह्रस्वस्य गुणः । अत्र पूर्वसात् सिनाऽऽमन्त्र्य इत्युक्तवर्तते । आमन्त्र्ये ह्रस्वस्य सिना गुणः इत्यन्वयः । अधिकृतस्य नाम्नो विशेषणात् विशेषणेन च तदन्तविधिसमवादाह—ह्रस्वान्तस्येति । ह्रस्वस्येत्यस्य ह्रस्वान्तस्येत्यर्थकत्वे कस्य गुणो ह्रस्वान्तस्य त्वचमवादिति चेत्, सत्यम्, श्रुतो ३६ हसो ह्रस्वान्तत्वमनुमितमिति “श्रुतावृत्तयोश्च ध्रौतो विधिवर्जीयान्” इति न्यायेन श्रुतत्वाद् ह्रस्वस्यैव गुणो भविष्यतीत्याह—श्रुतत्वादिति । “आसन्नः” ७।४।१२०। इति ञापकादकारस्य तत्प्रत्यासन्नोऽर्, इकारस्य एकारः, उकारस्य ओकारः, अकारस्य “अदेत स्यमोर्लृक्” १।४।४४। इति वचनात् सेरमावात् गुणो न भवति । अथ प्रमाणाऽऽसत्त्या इकारोकारयोरप्यपदेशः कस्यात् न भवति ? मात्रिकस्य हि द्विमात्रादध्यर्द्धमात्रिक ३५ आसन्नो भवति, न चैव सति गुणग्रहणमनर्थकं स्थानाऽऽसत्त्या सोऽपि स्यात्, सच्यते—यथादर्शनं व्यवस्थाऽऽश्रीयते, तत्र “गुणोऽरेदोत्” ३।३।२। इति गुणसंज्ञाया “नामिनो गुणोऽङ्किति” ४।३।१। इत्यादिभिः ऋवर्णस्यैवारादेशो दृष्टो नेवर्णोवर्णयोः । दृष्टकल्पनां विहाय को नामादष्ट कल्पयति, न चैव किञ्चिद्वाच्यत्वं इत्युदाहरति—हे पितरित्यादि । पितृशब्दादामन्त्र्यस्य तेन सह ह्रस्वकारस्य गुणेऽपि पितरिति । एवमन्यत्रापि । अथ हे ४२ कर्तृ कुलेत्यादौ ह्रस्वत्वादामन्त्र्यसिना सह गुणः कस्यात् न भवति इत्याह—अत्र परत्वादित्यादि । “अनतो लृक्” १।४।५९। इति सेलेपि “लृप्य-य्येनत्” ७।४।११२। इति प्रत्ययलोपलक्षणस्य प्रतिषेधादित्यर्थः । लृक्पक्षे उ लृक्, स्थानिवद्भावाद् भवत्येवेत्याह—नामिन इत्यादि । नामिन इति लृक्पक्षे गुणे हे कर्तृ इति, “अनतो लृक्” इति लृपि हे कर्तृ इति च भवति । एवमेव हे वारि, हे वारि, हे त्रपु, हे त्रपु इत्यादि बोध्यम् । ४५

भवत्येव—हे कर्तः कुल !, हे वारे !, हे त्रपो ! । आमन्त्र्य इत्येव ? पिता, मुनिः, साधुः । ह्रस्वसेति किम् ? हे श्रीः !, हे भूः !, हे नदि !, हे वधु ! इत्यत्र तु ह्रस्वविधानसामर्थ्यात् सेरभावात् च न भवति ॥ ४१ ॥

३ एदापः ॥ १ । ४ । ४२ ॥

आमन्त्र्येऽर्थे वर्तमानस्यावन्तस्य सिना सह एकारान्तादेशो भवति । हे खट्वे !, हे बहुराजे !, हे बहुखट्वे ! विष्टर । आ आप इत्याकारप्रत्येपादिह न भवति—हे प्रियखट्व ! । आप इति किम् ? हे कीलालपाः ! । आमन्त्र्य इत्येव ? खट्वा ॥ ४२ ॥

नित्यदिद्विस्वराऽम्बार्थस्य ह्रस्वः ॥ १ । ४ । ४३ ॥

नित्यं दित् दैदास्दासदाम्लक्षण आदेशो येभ्यस्तेषां द्विस्वराभ्यर्थानां चावन्तानामन्त्र्येऽर्थे वर्तमानानां सिना सह ह्रस्वान्तादेशो भवति । नित्यदित्—हे स्त्रि !, हे गोरि !, हे शार्ङ्गरवि !, हे अस्त्रि !, हे लक्ष्मि !, हे तन्त्रि !, हे ब्रह्मबन्धु !, हे कारभोरु !, हे श्वश्रु !, हे वधु !, हे कर्कन्धु !, हे अलाबु !, हे वर्षासु !, हे पुनर्मु ! हे अतिलक्ष्मि ! । द्विस्वराभ्यर्थ—हे अम्ब !, हे अक्क !, हे अत्त !, हे अल !, हे अनम्ब !, हे परमाम्ब !, हे प्रियाम्ब ! । नित्यदिदिति किम् ? हे वातप्रमी !, हे ह्रह्र !, हे ग्रामणी !, हे खलपूर्वधृति ! । नित्यग्रहणादिह न भवति—हे श्रीः !, हे ह्रीः !, हे भूः ! । कथं हे सुमु !, हे भीरु ! स्त्रीपर्यायत्वादृङि कृते भविष्यति । अम्बार्थानां द्विस्वरविशेषण किम् ? हे अम्बाडे !, हे अम्बाले !, हे अम्बिके ! । आप इत्येव ? हे मातः ! ॥ ४३ ॥

१५ ननु हे नदि इत्यादौ ह्रस्वत्वसत्त्वात् गुणोऽनेन कथं न भवतीत्याह—ह्रस्वविधानसामर्थ्यादिति । ‘उभयो स्थाने य’ इति न्यायेन यदा सिव्यपदेशस्तदा सिर्ह्रस्वश्चास्ति अतो—विधानसामर्थ्यात् इति । यत्र पूर्वोक्तरीत्या “ह्रस्वस्य गुण” एवेष्टवर्हि “ह्रस्वस्य गुण” इत्यत्रैव “नित्यदिद्व” इति ग्रहणं कुर्यात्, ह्रस्वविधानादपि गुणस्य भावादिति । यदा तु ह्रस्वपदेशस्तदा सेरभावात् न भवतीत्याह—सेरभावादिति ॥ ४१ ॥

१८ एदापः । सिनाऽऽमन्त्र्ये इत्यनुवर्तते । आमन्त्र्ये आप सिना एव इत्यन्वयस्तदाह—आमन्त्र्येऽर्थे वर्तमानस्येत्यादि । हे खट्वे इति । खट्वाशब्दादामन्त्र्यसिना सहकारान्तादेशो भवति । हे बहुराजे इति । बहवो राजानो यस्यामिति विग्रहः, “ताभ्यां वाप् ङि” २।४।१५। इति विदापि तस्मादावन्तादामन्त्र्यसिना सहानेन एकारान्तादेशः । हे बहुखट्वे विष्टर इति । एवमीषद्वन् खट्वा इति विग्रहे खट्वाशब्दाद् “नाम्न- २१ प्राग्बहुवच” इति चर्हा अनेन एत्वम् । अथ प्रिया खट्वा यस्येति विग्रहे “गोश्वान्तो” इति ह्रस्वे ‘एकदेशविकृतस्यान्यत्वात्’ आप सङ्गावात् आमन्त्र्यसिना एव कस्मात् न भवति ? उच्यते—सूत्रे आ आप इत्याकारप्रत्येपादाकारभावादेत्वाभावोऽत आह—आ आप इतीति । हे कीलालपा इति । धात्ववयवाकारस्यास्वाभावात् नेद प्रवर्तते । खट्वा इति । अथमाया सित्तस्य “शीर्षक्याच्” इति लोपः ॥ ४२ ॥

२४ नित्यदिद्विस्वराभ्यर्थस्य ह्रस्वः । आप इति सिनाऽऽमन्त्र्ये इति चानुवर्तते । अनुवृत्तमाप इति द्विस्वराभ्यर्थस्येत्यनेनान्वेति न नित्यदिदित्यनेन, असम्भवात्, तदाह—नित्यं दित् दैदास् इत्यादि । “जीवूत” इति येषां नित्यं दायाद्यादेशा भवन्ति तेषामामन्त्र्यवृत्तीनां सिना सह ह्रस्वान्तादेश इति फलितार्थः । आबन्तानामामन्त्र्येऽर्थे वर्तमानानां च द्वौ स्वरौ येषान्ते अम्बार्थवाचिनस्तेषां सिना सह ह्रस्वान्तादेशः २७ इत्याह—द्विस्वराभ्यर्थानामित्यादि । हे स्त्रि इति । “जी” उ० ४५०। इति षट् टित्वात् ङ्या ततः सिना सह ह्रस्वः । हे गोरि इति ।

“गौरादिभ्यो सुक्याद् जी” २।४।१९। इति ङ्या ह्रस्वः । हे शार्ङ्गरवि इति । “शृ” गृणाति शृङ्गकर्तृवित्त्वस्यापस्य शार्ङ्गरवी, यद्वा गृणोतीति “शिमुगेहनमेवाद्य” इति निपातनाद् रौ अन्तस्य चाङ्गिदेशे शार्ङ्ग, यदा तु अनेनैव शृङ्गकृति निपात्यते तदाऽपि ङ्यां च शार्ङ्गरवी । अथवा—

३० शार्ङ्गवत् रवो यस्या इति गौरादित्वात् ङ्यां शार्ङ्गरवी, ततः आमन्त्र्यवृत्तेस्तस्य सिना सह ह्रस्वः । शेषास्तु व्युत्पादिता व्युत्पादयिष्यन्ते च । हे कर्कन्धु इति । कर्कन्धुर्बदरीकोलीयमरः, ततः आमन्त्र्यवृत्ते सिना सह ह्रस्वः, कण्ठक दबातीत्यर्थः । हे अलाबु इति । न कम्बतेऽलाबु काकाऽत्र नञ्, नन्पूर्वालम्बते “नयो लम्बेर्नलुक् च” उणा० ८३८। इत्युर्णित्, तुल्यलाबु इति हैमः, जीर्णीकृतिहोऽयम्, ततः सिना सह

३३ ह्रस्वत्वम् । हे अम्ब इत्यादि । माताऽम्बा इति हैमः, अमति वारसत्य गच्छति अम्बा, ‘अम’ गतावत “शम्यमेर्णिद्वा” उ० ३१८। इति वे आपि च भवति । ‘अक्क’ कुटिलायां गतौ, इत्यस्य “निष्कतुरुक्को” उणा० २६। इत्यादिनिपातनात् कप्रत्यये अक्का । अतएव “पुतपित्त” उणा० २०४। इति निपातनादस्तेति । ‘अली’ भूषणादावत “मिहाच्छ” उणा० ४६४। इति ले अल्ल इति, ततोऽनेन सिना सह ह्रस्वत्वम् । तदन्ते

३६ समुदाहरति—हे अनम्ब इत्यादि । हे वातप्रमीः इति । वात प्रमिमीते “वातात् प्रम किट्” इति ईप्रत्यये नित्यदिद्वत्वाभावात् ह्रस्वो न भवति । हे ह्रह्रः इति । जहाते पृषोदरादित्वात्प्रत्यये द्विवचनादौ नित्यदिद्वत्वाभावाद् ह्रस्वत्वाभावः । एव हे ग्रामणीः इत्यादि । इति नित्यमिति विशेषणस्य प्रयोजनमाह—नित्येत्यादि । हे श्रीरित्यादौ “वैयुवोऽङ्गिया” इति दिता विकल्पितत्वादित्यर्थः । नन्वेव नित्यग्रहणात् कथं हे सुमु, हे

३९ भीरु इति आशङ्कते—कथमिति । समाधत्ते—स्त्रीपर्यायत्वादित्यादि । “शिमुगेहनमेवाद्य” उणा० ८११। इति “केवयुमुत्पण्डित्वयु” उणा० ७४६। इति वा निपातनात् आमन्त्र्येर्मु, शोमन मु अग्रण यस्या—“उतोऽप्राणिनो” २।४।७३। इत्यूहप्रत्यये समानधीर्घत्वेऽनेन ह्रस्वे च हे सुमु ! । एव विमते “भियो रुक्कलम्” ५।२।७६। इति किति रुप्रत्यये, शेष पूर्ववत् । अम्बार्थानां द्विस्वरविशेषणं किम् ? इति । तदि-

४२ शेषण विहाय अम्बार्थवाचिनां ह्रस्व इत्युक्ते को दोष इत्यभिप्रायः प्रश्नकर्तुः । हे अम्बाडे इति । अम्बामवृत्तीति सिहादित्वाद्, अत्राम्बार्थस्याम्बाशब्दस्य द्विस्वरत्वाभावेन न ह्रस्वः । एवमुत्तरत्र हे अम्बाले इति । अम्बां लातीति “आतो ओऽङ्गावाम” ५।१।७६। इति कप्रत्यये । हे अम्बिके इति । अम्बे “णकलूचौ” ५।१।४८। इति णकप्रत्यये, “आत्” इत्यापि, “अस्यायत्तत्सिपकाधीनाम्” २।४।१११। इतीकारः ।

४५ मातः इति । अस्य द्विस्वराभ्यर्थत्वेऽपि आबन्तत्वाभावात् नेद प्रवर्तते ॥ ४३ ॥



## अदेतः स्यमोर्लुक् ॥ १ । ४ । ४४ ॥

अकारान्तादेकारान्तात् चाऽऽमन्त्र्येऽर्थे वर्तमानात् परस्य सेस्तदादेशस्याऽऽमन्त्र्य लुग् भवति । (सि-) हे श्रमण !, हे संयत !, अस्-हे वन !, हे धन !, हे उपकुम्भ !, हे अतिहे !, परमश्वासाविश्वे हे परमे !, हे से ! । अदेत इति किम् ? हे श्रमण !, हे नौ !, हे परमौ ! । स्यादेशत्वेनैवाऽमोऽपि लुचि सिद्धायां पृथग्वचनमन्यस्याऽऽदेशस्य लुगभावार्थम्, तेन-हे कतरद् ! इत्यादौ लुग् न भवति ॥ ४४ ॥

## दीर्घङ्याव्यञ्जनात् सेः ॥ १ । ४ । ४५ ॥

दीर्घाभ्यां ङ्याभ्यां व्यञ्जनात् च परस्य सेर्लुग् भवति । डी-गौरी, कुमारी, चहुयः श्रेयसो यस्य स बहुश्रेयसी चैत्रः, एवं बहुप्रेयसी; खरकुटीय खरकुटी ब्राह्मणः, कुमारीवाचरति किप्, लुक्, किप्-कुमारी ब्राह्मणः । आप्-खट्वा, बहुराजा । व्यञ्जन-राजा, तक्षा, हे राजन् ! । एभ्य इति किम् ? वृक्षः । ङ्यावग्रहणं किम् ? लक्ष्मीः, तन्त्रीः, ग्रामणीः, कीलालापाः । दीर्घग्रहणं किम् ? निष्कौशाम्बिः, अतिखट्वः । नपुंसकेषु परत्वात् “अनतो लुप्” ॥ १ । ४ । ५९ ॥ इति लुवेव, तेन-यत्कुलं तत्कुलमिति सिद्धम्, “पदस्य” ॥ २ । १ । ८९ ॥ इति सिद्धे व्यञ्जनग्रहणं राजेत्यादौ सिलोपार्थम्,

अदेतः स्यमोर्लुक् । आमन्त्र्ये इत्यनुवर्तते, तच्चादेत इत्यनेन विशेषणतयान्वेति, अदेत इति नामविशेषणतया तदन्तवोधक, तदाह— १२ अकारान्तादेकारान्ताच्चेत्यादि । आमन्त्र्येऽमोऽस्यभावात् तत्र च स्यादेश एवाम् सम्भवतीत्याह—तदादेशस्यामन्त्र्येति । हे श्रमण ! इति । आमन्त्र्येऽन्तेरकारान्तात् श्रमणशब्दात् सेर्लुक् । एव हे संयत ! इत्यपि । हे वन ! इति । वनशब्दात् “अत स्यमोऽम्” १।४।५७ इति स्यादेशस्यामोऽनेन लुक् । हे उपकुम्भ ! इति । कुम्भस्य समीपमिति आमन्त्र्येऽन्तेरकारान्तात् स्यादेशस्यामो लुक् । हे अतिहे ! इति । हिमविकान्त १५ कुल, तदामन्त्र्ये “ह्रस्वस्य गुण” इति गुणे एकारान्तात् सेरनेन लुक् । हे परमे ! इति । अत्र परमश्वासाविश्वेति “सन्महत्” ३।१।१०७ इति विशेषणसमास । परम इ इति स्थिते अन्तरङ्गत्वादिमत्तयुत्पत्तेः पूर्वमेव “अवर्णसे” इत्येत्त्वम्, तत एकारान्तादनेन सेर्लुक् । एव हे से ! इति । सह इना वर्तते इति “सहस्वेन” ३।१।२४ इति बहुव्रीहौ, “सहस्य” ३।२।१४३ इति सभाष । नन्वमो ङ्यवचन किमर्थम् ? स्यादेशत्वात् १८ सिप्रहणेनैव प्रहणाङ्गु भविष्यतीत्याह—स्यादेशत्वेनेत्यादि । अयं भावः—“अदेत स्यमोर्लुक्” इति सूत्रे केवल सेर्लुगित्युक्त्याऽमस्तदादेशत्वात् लुक् सिद्धावपि पुनस्तत्राऽम इति पृथग्वचनम् अन्यस्य आदेशस्य-अमतिरिक्तस्य स्यादेशस्य लुगभावार्थमिति । एतेन पूर्वं वैयर्थ्यमुपपाद्य वाक्यान्तरकल्पना, खांशे चारितार्थं स्पष्टमेव । ज्ञापनफलमाह—तेन हे कतरदित्यादि । अत्र “पञ्चतोऽन्यादे” १।४।५८ इति स्यादे-३१ शस्यानेन ङ्गु न भवति ॥ ४४ ॥

दीर्घङ्याव्यञ्जनात् सेः । अत्र ङगित्यनुवर्तते । वीर्षेति विशेषणं ज्ञापार्थं व्यञ्जनस्यासम्भवात्, तदाह—दीर्घाभ्यामिल्यादि । गौरी इति । गौरादित्वात् ङ्या तत् सेर्लुक् । कुमारी इति । “वयसनत्ते” २।४।२१ इति ङ्यां तत् परस्य सेर्लुक् । एवं बहु प्रेयसी इति । २४ त्रियशब्दस्य “गुणाङ्गात्” ७।३।९ इत्यपि, “त्रियस्यिर” ७।४।३८ इति प्रादेशे, “अथात्तुदिति” २।४।२१ इति ङ्यां प्रेयसी, शेष पूर्ववत् । खरकुटी ब्राह्मण इति । कुटिशब्दात् “इतोक्त्यात्” २।४।३२ इति ङ्या पश्चात्समास खरशब्देन, शेष पूर्ववत् । एव कुमारी ब्राह्मण इति । प्रकियास्य पूर्व दर्शिता । खट्वा इति । खट्वाशब्दात् सौ तस्य चाप परस्यानेन लुक् । एवमेव बह्वो राजानो यस्यामिति—बहुराजा । २७ राजा इति । राजन्शब्दात् सौ “नि वीर्ष” १।४।८५ इति वीर्षे, व्यञ्जनात् परस्य च सेरनेन लुक् “नात्रो” २।१।९१ इति नलोप । एवमेव तक्षा इत्यपि । हे राजन् इति । तत् एवामन्त्र्यसौ शेषपदत्वामावादीर्घाभावेऽनेन सेर्लुक् “नाऽमन्त्र्ये” २।१।९२ इति प्रतिषेधात् “नात्रो नो” इति नलोपो न भवति । एभ्य इति किम् ? इति । ङ्याव्यञ्जनेभ्य परस्य सेर्लुक् इति कथं ? सामान्यत एव सेरित्युच्यताम् ३० ङगुहृत्वात् सेर्लुग् भविष्यतीति प्रसार्थ । वृक्षः इति । सेर्लुगित्युक्त्यानेऽत्रापि लुक् स्यादिति वीर्षङ्याव्यञ्जनादिति । ननु व्यञ्जनादित्युक्त्या वृक्ष इत्यादावदोषे ङ्यावग्रहणं किमर्थमित्याशयेन पृच्छति—ङ्यावग्रहणं किमिति । सूत्रे ङ्यावग्रहणाभावे वीर्षात् व्यञ्जनात् च परस्य सेर्लुगिति सूत्रार्थं लक्ष्म्यादिशब्देभ्य सेर्लुगात् परत्वेन लुक् स्यादतो ङ्यावग्रहणमिति, तदाह—लक्ष्मीरित्यादि । एषु से पदान्तस्य सत्वविषयौ । ३४ ननु ङ्यापोदीर्घयोरेव सत्त्वेन तथोदीर्घत्वविशेषण नेतरव्यावर्तकमित्याशयेन पृच्छति—दीर्घग्रहणं किमिति । निष्कौशाम्बिः, अतिखट्वः इति । प्रादिसमासे “गोशब्दे” इति वृक्ष । अन्यो “एकदेशविकृतमनन्यवद्” इति ङ्यास्वेऽपि तयोर्ह्रस्वेन वीर्षत्वाभावात् परस्य न सेर्लुक् । ननु यत्कुलमित्यादौ अन्यत्रान्यत्रलप्यावकाशयो “दीर्घङ्यान्” इति “अनतो लुप्” इति चानयोर्गुणपत्राती व्यवस्थामाह—नपुंसकेषु परत्वात् ३६ दित्यादि । अयं “पदस्य” इति संयोगान्तलोपेन सेर्लोपस्य सिद्धत्वात् व्यञ्जनग्रहणमिति सिध्यते १ न च राजा तत्केलत्र नलोपे कर्तव्ये संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वेन नान्तत्वाभावे “नात्रो नो” इति प्राप्त्यभाव इति वाच्यम्, “नाऽमन्त्र्ये” इति प्रतिषेधात्तस्य सिद्धत्वज्ञापनात्, अन्यथा निषेधस्य पूर्वोक्तरीत्या नलोपप्राप्त्याऽप्राप्तिपूर्वकत्वादसंगतत्वात् । नन्वेव ज्ञापिते सति पञ्च यजन्तियत्रापि नलोपप्रसङ्गः, ज्ञापनात् पूर्वं तु संयोगान्त-३९ रेण व्यवहित इति दोषाभावात् । ननु चात्र तत्कारलोप एव न प्राप्नोति सिलोपस्यासिद्धत्वात्, नैव दोषः, पूर्वस्य परेऽसिद्धत्वमुच्यते । ततश्च संयोगान्तलोपे संयोगान्तलोपस्य सिद्धत्वाद् भवत्येव तलोपः । तस्य त्वसिद्धत्वात् नलोपाभावः । ननु तथापि “नाम सिद्धव्यञ्जने” इति सावपि पदत्वात् ४२ राजेति नलोपः सिध्यति, कृते तु नलोपे संयोगान्तत्वाभावात् पदस्येति सेर्लोपो न सिध्यति । तथा उच्चाङ्गत्वं पूर्णचदित्यादौ द्रव्य षक्यम्, तथाहि—उच्चाङ्गस्य स इति स्थिते संयोगान्तलोपमपवादत्वाद् वाचित्वा संयोगादिलोपः प्राप्नोति, पूर्वोक्तपवादो वचनप्राप्ताद्वाहुत्सर्गे कर्तव्ये नाऽसिद्धो भवति, चाप्रवृत्तिवत् । कृते च संयोगादिलोपे संयोगाभावात् संयोगान्तलोपाभावः । ततो विभक्तिककार संसर्गवदयो न भवतीति दत्तासिद्धिः ४५ त्याह—“पदस्य” इति सिद्धे व्यञ्जनग्रहणं सिलोपार्थमिति । संयोगान्तलोपासत्त्वेन पूर्वं सौ “नाम सिद्ध” इति पदत्वेन नान्तत्वात् न लोपे व्यञ्जनग्रहणेनेन सिलोपो भवति । “पदस्य” इति तु न प्रवर्तते, चाप्रत से सस्य संयोगान्तत्वाभावात् । व्यञ्जनग्रहणाभावे परे नलोपेऽऽ-

अन्यथा सावपि पदत्वात् “पदस्य” इति च परेऽसत्त्वात् पूर्वं नलोपे सेर्लुप्, उखासदित्यादौ संयोगस्यादौ स्कोलुकि दत्त्वं च न स्यात् ॥ ४५ ॥

३

समानादमोऽतः ॥ १ । ४ । ४६ ॥

समानात् परसामोऽकारस्य लुग्भवति । वृक्षम्, खट्वाम्, मुनिम्, साधुम्, बुद्धिम्, वेनुम्, नदीम्, वधूम् । पितरमित्यादिषु विशेषविधानात् प्रथममेवाह । समानादिति किम् ? रायम्, नावम् । अम इति किम् ? नवः । स्यादेरिति ४ किम् ? अचिनवम् ॥ ४६ ॥

दीर्घो नाम्यतिसृचतसृषूः ॥ १ । ४ । ४७ ॥

तिसृचतसृषकाररेफान्तवर्जितशब्दसंबन्धिनः पूर्वस्य समानस्यामादेशे नामि परे दीर्घो भवति । श्रमणानाम्, मुनी-  
नाम्, साधूनाम्, बुद्धीनाम्, धेनूनाम्, वारीणाम्, त्रपूणाम्, पितृणाम्, मातृणाम्, कर्तृणाम् । अतिसृचतसृषू इति  
किम् ? तिसृणाम्, चतसृणाम्, षण्णाम्, चतुर्णाम् । अप्र इति प्रतिषेधेन नकारेण व्यवहितेऽपि नामि दीर्घो ज्ञाप्यते-  
पञ्चानाम्, सप्तानाम् । नामीति किम् ? चर्मणाम् । स्यादवित्येव ? दधिनाम, चर्मनाम; अनर्थकत्वाद् वा ॥ ४७ ॥

३२

नुर्वा ॥ १ । ४ । ४८ ॥

नृशब्दसंबन्धिनः समानस्य नामि परे दीर्घो वा भवति । नृणाम्, नृणाम्, अतिनृणाम्, अतिनृणाम् ॥ ४८ ॥

त्वात् पूर्वं संयोगान्तलोपाभावः, कृते तु संयोगाभावादप्राप्तिरित्याह—अन्यथा इत्यादि । अन्यथा—व्यजनग्रहणमात्रे । सावपि पदत्वादिति ।  
३५ “नाम विद०” इत्यनेन से सत्य व्यपदेशिवद्भावेन व्यञ्जनादिप्रत्ययत्वात् पूर्वस्य नाम्न पदत्वमिति भावः । “पदस्य” इति च परेऽसत्त्वा-  
दिति । “रात्” इति यावदसत्पर इत्यधिकृत्या तन्मध्यपठिते “पदस्य” इत्यत्रासत्परे इत्यधिकारे “नाम्नो नो०” इति परे पूर्वस्य “पदस्य”  
इत्यस्यासत्त्वमिति भावः । पूर्वं—असत् संयोगान्तलोपात् पूर्वमिति भावः । सेर्लुप् इति । न स्यादित्यभिनेनान्वेति । दत्त्वं चेति । सौ परे लृक्  
३८ पूर्वं दत्त्वं प्राप्नोतीति न वाच्यम्, परे लृकि “अंलुप्” ३।१।६८। इति सूत्रस्यासिद्धत्वात् ॥ ४५ ॥

समानादमोऽतः । अत्र लुगित्यनुवर्तते । समानादमोऽतो लुगित्यन्वयः । समानात् इति द्विगोमलक्षणं पञ्चमी । अम इति अव-  
यवावयविभावे षष्ठी, तच्च अत इत्यस्य विशेषणमित्याह—समानात् परसामोऽकारस्येत्यादि । यथाक्रममुदाहरति—वृक्षमित्यादि ।  
३९ वृक्षशब्दाद् द्वितीयैकवचनेऽस्मि अनेन तदवयवाकारस्य समानात् परस्य लृक् । एवमन्यदपि । अयं श्रकारस्य समानत्वात् परसामोऽकारस्य  
लोपः कस्मात् न भवतीत्याह—पितरमित्यादाविति । विशेषविधानात् प्रथममेवाह इति । अपवादत्वात् “अहौ च” १।४।३९। इत्यनेनेति  
शेषः । रायम् इति । अत्राम् समानात् परत्वात् न लृक् । एवमन्यत्र । नद्यः इति । समानात् परत्वेऽप्यत्रामोऽभावादसोऽकारस्य न लृक् ।  
४४ विनोतेर्लुप्सन्त्या अन्वि “खादे श्नु” ३।४।७५। इति भ्रुमस्य “उश्रोः” ४।३।१। इति गुणेश्वादेशे, इडागमे, स्वाधिकादादमोऽकारलोपाभावे—  
अचिनवमिति । न च वाच्यं परत्वात् निस्त्वात् च गुणेन माव्यमिति, प्राप्तौ सत्यां परत्वं निस्त्वं च चिन्त्यते इति ॥ ४६ ॥

दीर्घो नाम्यतिसृचतसृषूः । समानादित्यनुवर्तते, तच्च “अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम” इति न्यायेन समानस्यैव विपरिणम्यते, तत्र  
४७ अतिसृचतसृषू इति विशेषणतया सम्यग्यते, तदाह—तिसृचतसृषूकारेत्यादि । अत्र स्वाधिकादादामादेश एव नाम् शृण्वे इत्याह—  
आमादेशे नामीति । श्रमणानामित्यादि । श्रमणशब्दात् षष्ठीषह्वचने आम्प्रत्यये तस्य “हृत्वापद्य” इति नामादेशे तत्पूर्वस्य समानाकार-  
स्यानेन दीर्घः । एवमन्यदपि । तिसृणाम्, चतसृणाम् इति । त्रिचतुरोरामि परत्वात् “त्रिचतुर०” इति तिसृचतसृषूदेशे “हृत्वापद्य” इति  
३० नामादेशः । षण्णाम्, चतुर्णाम् इति । “संख्याना ष्णाम्” इत्यामो नामादेशः । ननु नाम्न समानस्य नाम्बुच्यमानो दीर्घः प्राप्नोति, षकार-  
रेफाभ्यां तस्य व्यवधानात्, तयोश्चासमानत्वात् साम्या निर्दिष्टे च उपलब्धस्यैव कार्यभावात्, सत्यम्, अयमेव प्रतिषेधो ज्ञापयति यदुक्तं व्यव-  
हितेऽपि नामि दीर्घो भवतीत्याह—अप्र इत्यादि । नकारेण इति । अन्यव्यजनेन तु असंभव इति नकारेणेत्युक्तिः । पूर्वमप्रेति प्रतिषेधो व्यर्थः सन्  
३३ पूर्वोक्तं वाक्यान्तरे कल्पयति । तथा चेदानीमप्र इति न स्यात्तदा षण्णमित्यादौ प्राप्तो दीर्घस्तत्रित्येव अप्र इति प्रतिषेधः स्वांशे चरितार्थस्त-  
योजनजिज्ञासायामाह—पञ्चानाम्, सप्तानाम् इति । अत्रानेन नकारव्यवहितेऽपि दीर्घः सिद्धः । चर्मणाम् इति । अत्रामि परेऽनेन न  
नकारव्यवहितेऽपि दीर्घः । दधिनामित्यादौ स्वाधिकादात् नामन् इत्येकदेशस्यानर्थकत्वाद् वा दीर्घो न भवतीत्याह—स्यादावित्येवेत्यादि ।  
३६ यद्येवमिह तर्हि प्राप्नोति—दण्डस्य नामो दण्डनाम इति, अत्र हि “नम्” धातोर्पथि नाम इति भवति, तदेकदेशो नाम् इत्यर्थवानिति चेदुच्यते—  
तत्रापि समुदाय एवायं वा अवयवानां तु काल्पनिकमर्थवत्त्वं, अन्यव्यवहितरेफाभ्यां कल्पितत्वात्, अयं तु नाम इति, आमादेश एव प्रतिपदोक्त  
इति न भवति ॥ ४७ ॥

३९ नुर्वा । अत्र दीर्घो नामील्यनुवर्तते, समानादिति चावृष्टं षष्ठ्यन्ततया विपरिणम्यते, तत्र त्रित्यस्यान्वयः, नु समानस्य नामि दीर्घो  
वा इत्यन्वयस्यार्थमाह—नृशब्दसंबन्धिनः इत्यादि । नृणाम् इति । नृशब्दादामि “हृत्वापद्य” इति नामादेशेऽनेन पाक्षिको दीर्घः, पक्षे—  
नृणामित्यपि । नन्वत्र नामग्रहणमन्तरेणापि नित्यं दीर्घविधिः पूर्वमेव सिद्धत्वात् पृथग्वचनाद् विकल्पोऽवधीयते, अतिसृचतसृषू इत्यत्र श्रकार-  
४२ कृपात् प्रतिषेधाशङ्काऽपि न विषेया, तिसृचतसृषूप्रतिषेधाशङ्कास्तस्य नृशब्दस्यैवेति नियमोऽपि ज्ञातव्यः इति, किं स्यात् ? युक्तं चैवमयं  
विधिर्नित्य इति द्विवचनात् “द्विवक्षुः सुबद्ध भवति” अतो नामग्रहणाय विधिर्विकल्पितः पूर्वो नित्य इति विज्ञापयते ॥ ४८ ॥

शसोऽता सश्च नः पुंसि ॥४९॥] श्रीतत्त्वप्रकाशिकाश्रीआनन्दबोधिनीविभूषितम् ।

शसोऽता सश्च नः पुंसि ॥ १ । ४ । ४९ ॥

शसः संबन्धिनोऽकारेण सह समानस्य प्रधानस्थान्यासन्नो दीर्घो भवति, तत्संनियोगे च पुल्लिङ्गविषये शसः सकारस्य नकारो भवति । श्रमणान्, मुनीन्, साधून्, वातप्रमीन्, दृढून्, पितृन् । पुल्लिङ्गाभावे तु दीर्घत्वमेव—शालाः, ३ बुद्धीः, नदीः, धेनूः, वधूः, मातृः । चञ्चाः, खरकुटीः, यष्टीः पुरुषान् पश्य—इत्यत्र चञ्चादयः शब्दाः पुरुषे वर्तमाना अपि स्त्रीलिङ्गत्वं नोञ्जन्तीति नकारो न भवति । यदा तु शब्दस्य पुल्लिङ्गत्व तदा वस्तुनः स्त्रीत्वे नपुंसकत्वे वा नकारो भवत्येव—दारान्, धुकुंसान् स्त्रीः पश्य, षण्ढान् षण्डकान् पश्य । दीर्घसंनियोगविज्ञानादिह नो न भवति—एतान् गाः पश्य । ६ समानस्येत्येव ? रायः, नावः पश्य । वनानि पश्य—इत्यत्र परत्वात् शिरेव ॥ ४९ ॥

संख्यासायवेरहस्याहन् डौ वा ॥ १ । ४ । ५० ॥

संख्यावाचिभ्यः सायशब्दाद् विशब्दात् च परसाहस्यशब्दस्य डौ परेऽहन् इत्ययमादेशो वा भवति । द्वयोरहोर्भेव ९ इति विग्रह “भवे” ॥ ६ । ३ । १२३ ॥ इत्यण्विषये, “सर्वाश” ॥ ७ । ३ । ११८ ॥ इत्यादिनाऽट् अहोदेशश्च, ततो “द्विगोरनपत्ये” ॥ ६ । १ । २४ ॥ इत्यादिनाऽणो लुपि बह्वस्त्वस्मिन् ब्यह्नि, ब्यहनि, ब्यहे; एवं त्र्यह्नि, त्र्यहनि, त्र्यहे; यावदह्नि, यावदहनि, यावदहे, तावदह्नि, तावदहनि, तावदहे; सायमहः सायाहस्त्वस्मिन् सायाह्नि, सायाहनि, १२ सायाहे; अत एव सूत्रनिर्देशात् सायशब्दस्य मकारलोपः, सायेत्यकारान्तो वा; विगतमहो ब्यहस्त्वस्मिन् ब्यह्नि, ब्यहनि; ब्यहे । संख्यासायवेरिति किम् ? मध्याह्नि । अहस्येति किम् ? द्वयोरहोः समाहारो ब्यहस्त्वस्मिन् ब्यहे । डाविति किम् ? ब्यहः ॥ ५० ॥ १५

निय आम् ॥ १ । ४ । ५१ ॥

नियः परस्य डेः स्थाने आम् इत्ययमादेशो भवति । नियाम्, ग्रामण्याम् ॥ ५१ ॥

शसोऽता सश्च नः पुंसि । समानस्येति दीर्घ इति चातुर्वर्तते, शसोऽता समानस्य दीर्घ च पुंसि न इत्यन्वयस्तदाह—शसः १८ संबन्धिन इत्यादि । अत्र यद्यपि समानस्य शसोऽकारस्य च स्थानित्वम् तथापि “प्रधानानुयायिनो व्यवहारा भवन्ति” इति प्रधानस्थान्यासन्न एव दीर्घो भवति । प्रधानत्व च षष्ठीनिर्दिष्टस्य समानस्येत्याह—समानस्य प्रधानस्थान्यासन्नो दीर्घ इति । चकाराद् भिन्नार्थं वाक्यद्वयमित्याह—तत्संनियोगे चेत्यादि । श्रमणान् इति । श्रमणशब्दाच्छेष संबन्धिनोऽकारेण सह तत्पूर्वस्य समानस्याकारस्य दीर्घं तत्संनियोग- २१ शिष्टस्त्वस्य सकारस्य पुस्त्वे नकार । एवमन्यदपि । ननु पुस्त्वविषयाभावे शस किं भवतीत्याह—पुल्लिङ्गाभावे दीर्घत्वमेव इति । दीर्घसंनियोगशिष्टत्वं नकारस्य, न नकारसंनियोगशिष्टत्वं दीर्घस्य इति, यत्र दीर्घो न भवति तत्र नकारोऽपि न भवति, नत्वाभावे दीर्घस्तु भवत्येवेति भावः । तदुदाहरति—शाला इत्यादि । पुस्त्व त्वत्र वैयाकरणप्रसिद्धं छिन्न यत्रायमिति प्रत्ययोऽनुवर्तते नेदमित्यमिति वा, न तु लौकिक प्रज- २४ ननाद्यमित्येक प्राणिधर्मः । तत्र हि अक्रुत्तान् पश्य इति स्त्रियोऽपि हि यदा पुरुषवेषधारिण्यो अक्रुत्ता उच्यन्ते तदा स्त्रीवृत्तिरयं न पृथगिति । तथा षण्ढान् पश्य, षण्डकान् पश्येति नपुंसकेऽपि न सिध्यति । तथा चञ्चे चञ्चा पुरुषान् पश्येत्यत्रापि पुरुषवृत्तित्वात् प्राप्नोति । नन्वस्तु वैयाकरणप्रसिद्धस्य पुस्त्वस्य ग्रहणं, तथापि चञ्चाः, खरकुटीः, यष्टीः पुरुषान् पश्येत्यादौ प्राप्नोति, अत्र हि चञ्चादयः शब्दाः साहचर्यात् पुरुषेषु २७ वर्तमानास्तत्पुस्त्वमुपाददते तेन पुल्लिङ्गविषये शसित्याह—अत्रेत्यादि । अयमर्थः—अभेदोपचारेण हि शब्दोऽर्थान्तरे वर्तमान शब्दशक्तिसामान्यात् स्त्रीलिङ्गमपरित्यज्येव वर्तते इति । यदा त्विति । लौकिकस्य पुस्त्वस्याग्रहणादयमिति प्रत्ययस्य तत्रानुवृत्तिरिति शेषः । एतान् गाः पश्येति । दीर्घसंनियोगेन नकारस्य विधीयमानत्वात् “संनियोगशिष्टानामेकापायेऽन्यतरस्याप्यभायः” इति न्यायाद् दीर्घत्वाभावे नकारस्याप्यभावः ३० इत्यर्थः । शाला पश्य हन्वीत्यादौ उभयोर्दीर्घत्वस्यादेशयोः सावकाशत्वाद्, वनानीत्यादानुभयप्राप्तौ परत्वात् शिरेवेत्याह—वनानीत्यादि ॥४९॥

संख्यासायवेरहस्याहन् डौ वा । संख्या च सायश्च विश्व इति समाहारद्वन्द्वात् पञ्चमी—संख्यासायवेरिति । अहस्येति । ब्रह्म इत्यादाववस्थितस्याह इत्येकदेशानुकरणात् षष्ठी । संख्यासायवे अहस्य डौ अहन् वा इत्यन्वयस्तदाह—संख्यावाचिभ्य इत्यादि । द्वयो- ३३ रहोर्भेव इति । समासप्रत्ययविधौ तदन्तविधेरनिष्ठत्वात् “वर्षाकालेभ्यः” ६।३।८० । इतीकणोऽसमावात् भाविन्यणि, “संख्या समाहारे” ३।१।९९ । इति द्विगुमासे, “सर्वाशसंख्याऽव्ययात्” ७।३।१९८ । इत्यटि अहोदेशे, “भवे” इत्यणि, “द्विगो” इति तल्लुपि च आवनेन अहो- ३५ त्यादेशे “इहो वा” २।१।१०९ । इति विकल्पेनाकारलोपे—ब्रह्महि, ब्रह्महनि, ब्रह्महे इति, एवं त्र्यह्नि, त्र्यहनीत्यादि । त्रिषु यावत् तावत्सु २६ वाऽहस्त्व भव इति शेष पूर्ववत्, यावत्तावच्छब्दयोः “ह्यस्तु संख्यावद्” इति संख्यावदतिदेशात् संख्याकार्यभाक्त्वम्, संख्यापूर्वस्य तद्वि- ३७ एवोदाहरणम्, समाहारेऽहोदेशस्याभावादिति । सायपूर्वमुदाहरति—सायमह इति । “सायाहोदय” ३।१।५३ । इति समासे “सर्वाश” इति अटि अहोदेशे शेष पूर्ववत् । ननु सायमित्यस्य मान्तत्वात्तल्लोपः केनेत्यत आह—अत एवेत्यादि । तस्यामान्तत्वं स्त्रीकृत्याह—सायेत्यादि । ३९ विपूर्वमुदाहरति—विगतमिति । प्रादिसमासः, शेष पूर्ववत् । मध्याह्नि इति । संख्यादिपरत्वाभावादहशब्दस्य नाहन् इत्यादेशः । ब्रह्महे इति । “द्विगोरनपत्ये” ७।३।९९ । इति सूत्रे अहन्ग्रहणात् ज्ञापकात् “सर्वाश” इति परमप्यट् बाधित्वा तेन अट्, ततोऽहोभावः ॥ ५० ॥

निय आम् । प्रयुक्तानामन्त्यानादांमिति प्रयोगदर्शनात् निय इति पञ्चमी । पूर्वसादनुवृत्तस्य डौ इत्यस्य पञ्चा विपरिणामे स्थानि- ४२ त्वमित्याह—नियः परस्य डेः स्थाने इति । नयते किपि डौ तस्यानेनामादेशे “घातोरिवर्णोपगण्य” इतीयादेशे—नियाम् इति । ग्राम- ४४ ण्यामिति । ग्रामपूर्वात् नयते किपि डौ तस्यामि “किञ्चिद्वैरुद्धिष्यलौ” इति यत्वम्, अत्र तु “आमो नाम् वा” इति “ह्रस्वापश्च” इति च नामा- ४५ देशो न भवति, तत्र नियं क्रीडत इत्यधिकृतत्वात् । ननु आगम्यामित्यत्र नौ साक्षात्तस्य किं तु णी इत्यानो न प्राप्तिः, सत्यम्, “णमस” इति ४५

## वाऽष्टन आः स्यादौ ॥ १ । ४ । ५२ ॥

अष्टनशब्दस्य तत्संबन्धिन्यसंबन्धनि वा स्यादौ परे आकारोऽन्तादेशो वा भवति । अष्टमिः, अष्टमिः;  
अष्टम्यः, अष्टम्यः; अष्टसु, अष्टसु; प्रियाष्टाः, प्रियाष्टा; प्रियाष्टौ, प्रियाष्टानौ; प्रियाष्टाः, प्रियाष्टानः; प्रियाष्टाम्, प्रियाष्टानम्;  
प्रियाष्टौ, प्रियाष्टानौ; प्रियाष्टः, प्रियाष्टनः; प्रियाष्टमिः, प्रियाष्टमिः; हे प्रियाष्टाः, हे प्रियाष्टन् । अन्यसंबन्धिनोर्जसृशसोर्न-  
च्छत्येके, तन्मते-प्रियाष्टानस्तिष्ठन्ति, प्रियाष्टनः पश्य इत्येव भवति । स्यादाविति किम् ? अष्टकः संघः, अष्टता, अष्टत्वम्;  
अष्टपुष्पी । केचित्तु सकारमकारादेव स्यादाविच्छन्ति ॥ ५२ ॥

## अष्ट और्जसृशसोः ॥ १ । ४ । ५३ ॥

अष्ट इति कृतात्वस्याऽष्टनशब्दस्य निर्देशः, अष्टाशब्दसंबन्धिनोर्जसृशसोः स्थाने औकारादेशो भवति । अष्टौ तिष्ठन्ति,  
अष्टौ पश्य; परमाष्टौ, अनष्टौ । कृतात्वस्य निर्देशादिह न भवति-अष्ट तिष्ठन्ति, अष्ट पश्य, परमाष्ट, अनष्ट । तत्संबन्ध-  
विज्ञानादिह न भवति-प्रियाष्टास्तिष्ठन्ति, प्रियाष्टः पश्य । अतत्संबन्धिनोरपीच्छत्येके-प्रियाष्टौ तिष्ठन्ति, प्रियाष्टौ पश्य ।  
केचित्तु अष्टावाचक्षत इति णिचि, किपि, अष्टौ तिष्ठन्ति, अष्टौ पश्येतीच्छन्ति, तदप्यष्ट इति तत्रेण संगृहीतम् ॥ ५३ ॥

## उतिष्णः संख्याया लुप् ॥ १ । ४ । ५४ ॥

उतिष्कारनकारान्तायाः संख्यायाः संबन्धिनोर्जसृशसोर्लुप् भवति । कति तिष्ठन्ति, कति पश्य; यति तिष्ठन्ति,  
यति पश्य; तति तिष्ठन्ति, तति पश्य; पट् तिष्ठन्ति, पट् पश्य; पञ्च तिष्ठन्ति, पञ्च पश्य, एवं सप्त, नव, दश,

१५ पूर्वस्मिन् स्यादिविधो णत्वस्यासिद्धत्वाददोष । नन्वेकदेशविकृतेति ह्येवेऽपि प्राप्तिरस्ति इति चेत्, न, निय ई नी इतीकारप्रच्छेदात् णिनि ग्राम-  
णिनि कृत्वे इत्येव भवति । भोजेन तु भूतपूर्वन्यायेन नपुसकेऽपि नियामित्युक्तम् ॥ ५१ ॥

वाऽष्टन आः स्यादौ । अष्टन स्यादौ आ वा इत्यन्यस्तदाह-अष्टनशब्दस्येत्यादि । स्यादाविति परत्वमात्रेण कार्यस्य विशेषण-  
१८ मित्याह-तत्संबन्धिनीत्यादि । “षष्ठाऽन्यस्य” इति न्यायेनाह-अन्तादेश इति । अष्टाभिरिति । अष्टनशब्दाद् भिन्नि तस्याकारान्तादेशो  
“समानानाम्” इति धीर्घ । पक्षे “नामसिद्ध” इति पदत्वात् “नात्रो नोऽनह” इति नलोपेऽष्टमिरिति । एवमन्यदपि । प्रिया अष्टौ यत्येति  
बहुव्रीहौ प्रियाष्टनशब्दो विशेष्यनिम्न एकद्विवहृषचनान्तस्तस्योदाहरणान्याह-प्रियाष्टाः, प्रियाष्टा इत्यादि । प्रियाष्टनशब्दस्य सावनेनात्वम्  
२१ कृत्विसर्गौ, तदभावे “निधीर्घ” इति धीर्घे, “धीर्घव्याप्” इति सिद्धकि, “नात्रो नो” इति नलोप । आत्वपक्षे-प्रियाष्टौ, तदभावे-  
प्रियाष्टानौ इत्यादि बोध्यम् । प्रियाष्ट इति । अत्राहोपस्य स्थानिवत्त्वात् यद्विराजस्याहोपस्यसिद्धत्वाद् वा “तवर्गस्य” इति णत्वम् न । अस्य  
शब्दस्यात्वपक्षे कीलालपाशब्दवद्रूपणि, तदभावे च राजवद्रूपणि । मतान्तरमाहाऽन्यसंबन्धिनोर्जसृशसोर्विषये-अन्यसंबन्धिनोरित्यादि ।

२४ एके-विश्रान्तविधाधरा पाणिनिस्त्रानुसारिण उत्पलदयश्च । पाणिनीया “अष्टन आ विभक्तौ” पा० ७।२।८४ इति सूत्रे हलीत्यपकृषन्ति,  
तेषां मते प्रियाष्टान प्रियाष्ट इत्येव भवति, अष्टौ २ इति तु ज्ञापकादिति तवीय मत तत्रैव सूत्रे मध्येजिरीक्षितेनाभिहितं सि० कौमुद्या “प्रियाष्टौ  
राजवत्सर्वं हाहावचापरं इति” इति । अष्टकः संघ इति । अष्टौ मानमत्येति विग्रहे “संख्याया सचसूत्रपाठे” ६।४।१७१ इति के, “नात्रो-  
२७ नोऽनह” इति नलोपः, अत्र “अन्तरङ्गानपि विधीन् बाधित्वा लुप् प्रवर्तते” इति स्यादेरभावात् न भवति । एव अष्टानां भाव-अष्टता,  
अष्टत्वम्; अष्टपुष्पी इति । अष्टानां पुष्पाणां समाहार इति विग्रह, “द्विगो” २।४।२२ इति जी । सकारमकारादौ स्यादावात्वमिच्छता  
मतमाह-केचित्त्विति । विश्रान्तविधाधरा पाणिनिदेवनन्यादयश्च । पाणिनितत्त्वे “अष्टन” पा० ७।२।८४ इत्यत्र हलीत्यपकर्षमुक्त्वा इला-

३० दावेव विभक्तावात्वमिति प्रियाष्टौ इत्यादि न भवति तन्मते । स्वमते तुपदर्शितम् । वस्तुतस्तु-“णान्ता पट्” पा० १।१।२४ सूत्रे “अथालक्षणम-  
प्रयुक्ते” इति भाष्यकृदुक्त्या नैव वा लक्षणमप्रयुक्ते प्रवर्तते, “प्रयुक्तानामेवान्वाख्यानात्” इति कैयटोक्त्या विधानमभिधानमेवोचितम् । विशेषजिज्ञा-  
सुमि “अष्टन” इति पा० सूत्रे मनोरमाशब्देन्दुशेखरी द्रष्टव्या ॥ ५२ ॥

३३ अष्ट और्जसृशसोः । अष्ट जसृशसो औ इत्यन्यत्र । अष्टाखिलेकदेशस्याष्टनशब्दस्य षष्ठान्तमनुकरणमित्याह-अष्ट इति कृतात्वे-  
त्यादि । तच्च विशेषण जसृशसोरित्याह-अष्टाशब्दसंबन्धिनोरित्यादि । अष्टौ तिष्ठन्ति, अष्टौ पश्य इति । अष्टनशब्दाज्जि शक्ति च  
“वाऽष्टन” इति आकारेऽनेन जसृशसोरौकारे एकत्र “ऐदौत्सन्ध्यादौ” इति अन्यत्र “लुगातोऽनाप” इति चोत्पल्लवौ भवत । अष्ट इत्यधिकृत-  
३४ नात्रो विशेषणाय विशेषणे च तदन्तविधेर्भावात्तदन्तमुदाहरति-परमाष्टौ, अनष्टौ इति । “सन्महत्” ३।१।१०७ इति, “नय्” ३।१।५१  
इति च विशेषणतत्पुरुषसमासौ । कृतात्वनिर्देशस्य फलमाह-अष्ट इति । अष्टनशब्दाज्जसृशसोरौत्वाभावादौत्वाभावे “उतिष्ण संख्याया लुप्”  
१।४।५४ इति लुप् । प्रियाष्टाः, प्रियाष्ट इति । अत्र प्रियाष्टौ येषामिति बहुव्रीहौ नाष्टनशब्दसंबन्धिनौ जसृशसोरित्यात्वे सत्यपि औत्वाभाव ।  
३५ एतद्विषये मतान्तरमाह-अतत्संबन्धिनोरपीच्छत्येके इति । एके-काशिकाकारा नामतादय । उक्तं “अष्टन आ” पा० ७।२।८४ इति  
सूत्रे प्रियाष्टान, प्रियाष्टौ इति काशिकायाम् । सूत्रे “अष्ट” इति मतान्तरसप्रहार्यन्तदाह-केचित्त्वित्यादिना । केचिदिति-शाकटायनदेव-  
नन्दिचन्द्रादय । “अष्ट औश्” शा० १।२।१५३ इति सूत्रे अमोघावृत्तौ स्पष्टमिदम् । तदप्यष्ट इति तत्रेण संगृहीतम् इति । निर्देशस्य  
४२ उत्पत्त्यादिति भाव । एकस्य शब्दस्थानेकार्थपरत्वे तत्राव्यवहार । एतेन “वाष्टन” इति सूत्रे षेरननुवृत्तये स्याद्विग्रहणमात्रेऽपि अष्ट इति ज्ञाप-  
कात् षेरनुवृत्तिर्न भविष्यतीति वदन्त परास्ता ॥ ५३ ॥

उतिष्णः संख्याया लुप् । जसृशसोरित्यनुवर्तते । उतिष्ण संख्याया जसृशसोर्लुप् इत्यन्यत्र । उतिष्ण इति संख्याया प्रकर-  
४५ णात् षष्ठान्ताया विशेषण, तत्र च तदन्तविधिरित्याह-उतिष्कारनकारान्ताया इत्यादि । कतीत्यादि । किम् यत् तत् इत्येत्येव “यत्-  
तत्किम्” ७।१।१५० इति उतिप्रत्यये, जसृशसोरनेन लुपि कति, यति, तति इति भवन्ति । तिष्ठन्ति पश्येत्प्रयोगो जसृशसोरभिव्यक्तयम् ।

परमषट्, परमपञ्च । डतिष्ण इति किम् ? त्रयः, चत्वारः; तावन्तः । शतानि, सहस्राणीत्यत्र संनिपातलक्षणत्वात् नान्तस्य न भवति । संख्याया इति किम् ? विषुषः, राजानः । तत्संबन्धिविज्ञानादिह न भवति-प्रियकतयस्तिष्ठन्ति, प्रियकतीन् पश्य, प्रियषषः, प्रियषषः; प्रियपञ्चानः, प्रियपञ्चैः । केचित्तु डत्यन्तात् कतिशब्दादेवेच्छन्ति ॥ ५४ ॥ ३

नपुंसकस्य शिः ॥ १ । ४ । ५५ ॥

नपुंसकस्य संबन्धिनोर्जसृशसोः स्थाने शिर्भवति । कुण्डानि तिष्ठन्ति, कुण्डानि पश्य; एवं दधीनि, मधूनि, कर्तृणि, पयांसि; यशांसि । स्वाधिकांरादिह न भवति-कुण्डशो ददाति । नपुंसकस्येति किम् ? वृक्षाः, वृक्षान् । ६ तत्संबन्धिविज्ञानादिह न भवति-प्रियकुण्डाः, प्रियकुण्डान्, इह तु भवति-परमकुण्डानि । शकारः “शौ वा” ॥ ४ । २ । ९५ ॥ इत्यादौ विशेषणार्थः ॥ ५५ ॥

औरी ॥ १ । ४ । ५६ ॥

नपुंसकस्य संबन्धी औकार ईकारो भवति । कुण्डे तिष्ठतः, कुण्डे पश्य, एवं दधिनी, मधुनी, कर्तृणी; पयसी । तत्संबन्धिविज्ञानादिह न भवति-प्रियकुण्डौ पुरुषौ, इह तु भवति-परमकुण्डे ॥ ५६ ॥

अतः स्यमोऽम् ॥ १ । ४ । ५७ ॥

१२

अकारान्तस्य नपुंसकलिङ्गस्य संबन्धिनोः स्यमोरमित्ययमादेशो भवति । कुण्ड तिष्ठति, कुण्ड पश्य, कीलालपम्,

षप् इति षन्ता, पञ्च इति नान्ता सख्या ततो जसृशसोर्द्विषि “धुटस्तृतीय” इति यथासंभव तृतीयत्वे प्रथमत्वे च “नात्रो नो” इति नलोपे च—षट् पञ्च इति । एव परमषट् इति । परमाश्च ते षट् चेति विग्रहे “सन्महत्परमो” इति सख्याप्रधानत्वात् समासस्य तत्संबन्धनावे १५ जसृशसोऽपि छप् । त्रय इत्यादि । डतिष्ण इति वचनादिह न भवति । तन्मानमेधामिति “यत्तदेतदो ङावादि” ७।१।१४९। इति अतौ—तावन्त इति । अथ शतादिभ्य शौ नागमे नान्तत्वेऽपि सख्याया छप् कस्मात् भवतीत्याह—शतानीत्यादि । संनिपातलक्षणत्वादिति । संनिपातति कार्यमस्मिन् संनिपातो निमित्त शिलक्षण स लक्षण चिह्न यस्य नस्य तस्य भावस्त्वत् तस्मात् नान्तस्य न भवतीत्यन्य । प्रियकतय इत्यादि । १८ प्रिया कति येषामिति समासस्यान्यपदार्थप्रधानत्वात् जसृशसोर्द्विष्यन्तसख्यासंबन्धाभावात् छप् न भवति । प्रियपञ्चजः इति । “अनोऽस्य” इत्यकारलोपे रूपम् । केचित्त्विति । वामनादयः । तन्मते इदं न सिध्यति—“यति ते नागशीर्षाणि तति ते नागवेदना । न सन्ति नागशीर्षाणि न सन्ति नागवेदना” इति भगवन्तो लघुन्यासकारा ॥ ५४ ॥

नपुंसकस्य शिः । अत्र जसृशसोरित्यनुवर्तते । नपुंसकस्य जसृशसो शिरित्यन्य । स्त्री च पुमाश्च स्त्रीपुंसौ “स्त्रिया पुंसो” ७।३।९६।

इति समासान्तं सति न स्त्रीपुंसौ नपुंसकं नखादित्वाजलोऽदादेशाभावे स्त्रीपुंसशब्दस्य प्रयोदरादित्वात् पुषक आदेशः । विरिति कार्यपदं, तच्च कार्यि-स्त्रापेक्ष, तत्रान्यस्यासम्बाधाधिकृतयोर्जसृशसोरेव कार्यत्वमित्याह—जसृशसोरित्यादि । कुण्डानि इति । कुण्डशब्दात् शसोऽनेन शावादेशे २४ “स्वराच्छौ” इति नागमे, “निदीर्घ” इति दीर्घ । एवमन्यत्रापि । अयेह कस्मात् भवति कुण्ड कुण्ड ददाति कुण्डश इति ? “संख्यैकार्यात्” ७।२।१५१। इति शत् अत्राप्यस्तीति आह—स्याधिकांरात् इत्यादि । अथ परिहारो यदार्थप्रकरणादिवशाद्वातावेकसख्याभिधायक एव । शखिषौ हि वृत्तिस्था एकार्थताप्रीयते न तु वाक्यस्य । अर्थप्रकरणादिरहितश्च कुण्डादिशब्दो वृत्तौ एकार्यो न भवतीति शसा न २७ भवितव्यमेव । कस्मात् पुन कुण्डादिशब्दो वैकार्यो न भवतीति ? उच्यते—जातिशब्दात् । जातिशब्दा हि नैकस्यामेव जाल्याधारभूताया व्यष्टौ वर्तन्ते, किन्त्वनेकस्यानपि । एव च यत् “संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्” पा० ५।४।४३। इति सूत्रे शसविधायके जयादित्यप्रवृत्तिभिः प्रत्युदाहरणमुपन्यस्त काशिकायां संख्यैकवचनादिति किम् ? षट षट् ददातीति तदप्युपपद्यते, यथार्थप्रकरणादिरहितो जातिशब्दो वृत्तावेकार्यो ३० न भवतीति । स्पष्टचैतद्वागमनजयादित्योर्वैमल्य तत्रैव सूत्रे तत्त्वबोधिण्या इति बुधियो विभावयन्तु । शकारस्याप्रयोगिण प्रयोजनमाह—शकार इत्यादि । इह नपुंसकशब्देन नपुंसकाभिधायकस्य शब्दस्य वा ग्रहण स्यादर्थस्य वेति द्वौ पक्षौ । तत्रापे पक्षे नपुंसकाभिधायकेन स्यादाक्षित नाम विशिष्यते, नपुंसकाभिधायकशब्दान्तात् नात्र इति, नात्रा च नपुंसकाभिधायकमिति । तत्र पूर्वस्मिन्पक्षे बहुनि त्रपूणि येषां ३३ ब्राह्मणानां तान् बहुत्रपून्, तथाऽतिक्रान्त त्रपु यैस्तान् अतित्रपूणित्यत्रातिप्रसङ्गः । द्वितीयपक्षे तु नास्त्यतिप्रसङ्गः । अर्थग्रहणेऽपि न दोषः । अर्थेन हि नामैव विशेषयितव्यम्, अर्थस्याप्रस्तुतत्वादसंशब्दितत्वाच्च । एव त्रिषु पक्षेषु समवस्तु दत्तपक्षनिराकरणेन द्वावितरपक्षावाश्रित्योक्तं—नपुंसकस्य संबन्धिनोरित्यादि । स्पष्टचैतत् “स्यमोर्नपुंसकात्” पा० ७।१।२३। सूत्रे भाष्ये ॥ ५५ ॥

औरी । नपुंसकस्येत्यनुवर्तते, नपुंसकस्य औ ई इत्यन्यस्तदाह—नपुंसकस्य संबन्धीत्यादि । औ ई इति कार्यकार्यिणोरभेद-निर्देश सर्वादेशार्थः, अन्यथा पष्ठपा अन्यस्येति न्यायात् विभ्रिष्टावर्णत्वादौकारपरभागस्योवर्णस्य स्यात्, यत् अ औ इति प्रकृतौ “ऐदौत्सन्ध्य-क्षरे” इत्यनेन औकारो निष्पादित । नपुंसकस्येत्यत्रापि पूर्ववद्भाष्येयम् । कुण्डे इति । कुण्डशब्दाद् द्विवचनौकारस्य ईकार । एवमन्यत्रापि । ३९ परमकुण्डे इति । परमे च ते कुण्डे चेति “सन्महत्” इति विशेषणसमासस्योत्तरपदार्थप्रधानत्वात् तत्संबन्धित्वाद्भवत्येव ॥ ५६ ॥

अतः स्यमोऽम् । नपुंसकस्येति वर्तते, अत इति नपुंसकस्येत्यस्य विशेषणमतस्त्वदन्तप्रतिपत्तिर्भवतीत्याह—अकारान्तस्येति । तकार श्रुतिबुद्धार्थः । नन्वत्राद्ग्रहण किमर्थम् ? न च वाच्यमद्ग्रहणभावे दधीन्याप्यमादेश स्यात्, यत् “अनतो छ्व” इति सूत्र वाचक विद्यते ४२ इति । ननु अनत इत्यत्र पर्युदास प्रसज्यो वा नन्व गृह्यते इति संदेहः, न च वाच्य पर्युदासे हि “नामिनो छ्व” इति सूत्र कुर्यात् तस्मात् प्रसज्य एवेति, कृत-काष्ठा परं प्रकर्षमध्यापक इत्यत्र क्रियाविशेषणत्वेन आकाराप्यमो छ्व दृश्यतेऽतोऽनत इति कर्तव्यमेव । अत संदेहस्य-वस्य एवेत्यतोऽतु ग्रहणेन ज्ञाप्यते प्रसज्य एव गृह्यते, तथा च-पय इत्यादौ छप् सिद्धा न त्वमादेशः । कीलालपम् इति । “क्षौवे” १।४।१७। ४५

अतिखट्टं कुलम्; हे कुण्ड!—अत्रामादेशे सति “अदेतः स्यमोर्लुक्” ॥ १ । ४ । ४४ ॥ इत्यमो लुक् । नपुंसकस्ये-  
त्येव ? वृक्षः । अत इति किम् ? दधि तिष्ठति, दधि पश्य । तत्सबन्धिविज्ञानादिह न भवति—प्रियकुण्डः पुरुषः । अमो-  
ऽकारोच्चारण जरसादेशार्थम्, तेनातिजरस कुलं तिष्ठतीति सिद्धम् ॥ ५७ ॥

**पञ्चतोऽन्यादेरनेकतरस्य दः ॥ १ । ४ । ५८ ॥**

नपुंसकानामन्यादीनां सर्वाद्यन्तर्वर्तिनां पञ्चपरिमाणानां संबन्धिनोः स्यमोः स्थाने द इत्ययमादेशो भवति, एकतर-  
श्चब्दं वर्जयित्वा, अकार उच्चारणार्थः । अन्यत्तिष्ठति, अन्यत् पश्य; एवमन्यतरत्, इतरत्, कतरत् तिष्ठति, कतरत्  
पश्य; एवं यतरत्, ततरत् । कतमत्तिष्ठति, कतमत् पश्य, एवं यतमत्, ततमत्, एकतमत्; हे अन्यत् !, हे अन्य-  
तरत् !, हे इतरत् !, हे कतरत् !, हे कतमत् !, हे एकतमत् ! । अनेकतरस्येति किम् ? एकतरं तिष्ठति, एकतर पश्य ।  
पञ्चत इति किम् ? नेम तिष्ठति, नेम पश्य । नपुंसकस्येत्येव ? अन्यः पुरुषः, अन्या स्त्री । अन्यादिसंबन्धिनोः स्यमोर्ग्रहणा-  
दिह न भवति—प्रियान्यम्, अत्यन्यं कुलम्, इह तु भवति—परमान्यत् तिष्ठति, परमान्यत् पश्य; अनन्यत् ॥ ५८ ॥

**अनतो लुप् ॥ १ । ४ । ५९ ॥**

अनकारान्तस्य नपुंसकस्य संबन्धिनोः स्यमोर्लुक् भवति । दधि तिष्ठति पश्य वा, एवं मधु, कर्तुं, पयः, उद-  
श्चित् । अनत इति किम् ? कुण्डं तिष्ठति पश्य वा । लुकमकृत्वा लुप्करणं स्यमोः स्थानिवद्भावेन यत्कार्यं तस्य प्रतिषे-  
धार्थम् । यत्, तत्—अत्र त्यदाद्यत् न भवति ॥ ५९ ॥

१५ इति ह्रस्वत्वे सति अकारान्तकीलालपञ्चदसबन्धिनोः स्यमोरमादेशो “समानाद०” इति अमोऽकारस्य लुक् । एवमन्यदपि । अतिखट्टं कुलमिति ।  
खट्टामतिक्रान्तमित्यर्थः, “गोथान्ते०” इति ह्रस्वत्वे सत्यकारान्तत्वमिति भावः । ननु हे कुण्ड इत्यत्रानेन जातोऽम् क गत इत्यत आह—  
अत्रामादेशो सतीत्यादि । अथाकारकरण किमर्थम् ? न चामा सर्वोदेशार्थमिति वाच्यम्, “प्रलयस्य” इति सर्वोदेशस्य सिद्धत्वात् । किञ्च अन्ता-  
१८ देशेऽपि “समानादमोऽत” इत्यकारलोपे विशेषामावादित्यत आह—अम् इत्यादि । जरामतिक्रान्तमिति समासे ह्रस्वे च सति तत् सेरमादेशोऽति-  
जरसं कुल तिष्ठतीति प्रथमयोदाहृतम् । द्वितीया तु नोदाहृता, तत्र परत्वात् नित्यत्वाच्च पूर्वं जरसादेशेन भाव्यम् । मकारविधानेऽपि दोषाभावः,  
समानन्यायेन तु लाघवार्थममोऽप्यम् करणम् । ननु च ‘सनिपातलक्षणविधिरनित्यम्’ इति न्यायादकाराश्रितत्वादमादेशस्य कथं तद्विधातव्य-  
२१ जरसादेशः ? उच्यते—अत एव अमसप्रदायात् अनित्योऽयमिति विज्ञायते, अन्यथा मकारेणैव कृतत्वादमसप्रदायोऽनर्थक इति, अपरे तु  
जरसादेश मन्यन्त इति । स्यम इति अमसग्रहणमुत्तरार्थम्, तेन ‘अन्यत्’ पश्य इत्यत्राम “पञ्चतो०” १।४।५८। इति दत्त सिद्धम् ॥ ५७ ॥

**पञ्चतोऽन्यादेरनेकतरस्य दः ।** अत्र नपुंसकस्य इति स्यम इति चानुवर्तते । पञ्चत इति । पञ्चपरिमाणमस्येति विग्रहः । “पञ्च-  
२४ शब्दो वा” ६।४।१७५। इति उच्यते, तदन्तात् षष्ठी पञ्चत इति । नपुंसकस्येति पञ्चत इति च विशेषणमन्यादेस्तच्चाधिकृतयोः स्यमोर्-  
त्याह—नपुंसकानामित्यादि । अयमर्थोऽधिकृतस्य नपुंसकस्येत्यस्य वचनविपरिणामात् । अन्यादि पृथग्गणपठितो नास्त्यत कश्चिन्मुख-  
दित्युक्त—सर्वाद्यन्तर्वर्तिनामिति । उत्तरान्तस्यान्यादित्वात् प्रलयद्वारेण प्राप्तमेकतरशब्दस्य दत्त तत्रानिष्ठतया वर्जनमाह—**एकतरशब्द-**  
२७ मिति । सूत्रे द इत्यत्राकारस्य लक्ष्येऽभ्युपगम्यमाणार्थकत्वमभिप्रेत्याह—अकार इत्यादि । सर्वोदावयवमन्यादि पञ्चते—अन्य अन्यतर इतर  
इतर इतम इति । तत्रान्यादयस्त्रिंशः प्रकृतयः, इतरइतमौ प्रलयौ, प्रलयग्रहणे तु “प्रलयः प्रकृत्यादे” इति यस्मात् तौ विहितौ तदादेस्त्वन्तस्य  
कतरकतमादेर्ग्रहणमित्युदाहरति—**अन्यत्तिष्ठतीत्यादि ।** अन्यादिशब्देभ्यः स्यमोरेण दत्त्वे “विरामे वा” इति पाक्षिक तत्त्वम् । **एकतर**  
३० **तिष्ठति** इति । अनेकतरस्यान्यादेरित्युक्त्या दत्त्वाभावे “अत स्यमोऽम्” इत्यमादेशः । **नेमं तिष्ठति** इति । पञ्चपरिमाणेषु अन्यादिवत्स्या-  
भावात् न दत्तम् । अन्यः पुरुष इत्यादि । नपुंसकानामन्यादीनामित्युक्त्याऽत्र न भवति । अनेकतरस्येति समानाधिकरणविशेषणद्वयान्वेति षष्ठी,  
तथा च सबन्धिविज्ञानम्, अतोऽन्यादिसंबन्धिनोः स्यमोर्दो भवतीत्याह—**अन्यादीत्यादि ।** प्रियान्यं इति । प्रियमन्यस्य तत्कुलमिति भावः ।  
३१ **अत्यन्यमिति ।** अन्यदतिक्रान्तं कुलमित्यर्थः । **परमान्यदित्यादौ “सम्महत्०”** इति विशेषणसमासोत्तरपदार्थपदान्तात् तत्सबन्धि-  
त्वात् स्यमोर्दत्तं भवति ॥ ५८ ॥

**अनतो लुप् ।** नपुंसकस्येति वर्तते स्यम इति च । अनत इति नपुंसकस्येत्यनेनान्वेति विशेषणतया च तदन्तर्विधिरित्याह—**अनकारान्त-**  
३६ **स्येत्यादि ।** दधि इति । अनकारान्तस्य नपुंसकस्य दधिशब्दस्य सबन्धिनोः स्यमोरेण लुप् । एवमन्यत्रापि । ननु अनत इति किमर्थम् ? न च वाच्यम्  
कुण्डमित्यत्रापि स्यात्, “अत स्यमोऽम्” इति बाधकात्, अत्रोच्यते—अनत इत्यस्याभावे “पञ्चतोऽन्यादे०” इत्यतोऽन्यादेरित्यागच्छेत् । न च वाच्यम्  
अन्याद्यमीदृहि हि एकमेव योगं कुर्यात्, पूर्वमेकतरवर्जितस्यान्यादेर्ग्रहणम्, इह तु एकतरस्यापीति पृथग्योगस्य साफल्यत्वात् । हे कर्तुं इत्यादौ  
३९ परत्वात् प्रथम सेलौपे प्रत्ययलोपलक्षणन्यायेन “ह्रस्वस्य०” इति गुणः कस्मात् न भवतीत्याह—**लुकमकृत्वेत्यादि ।** तेन हे कर्तुं इत्यत्रानेन सेलौपे  
तस्य स्थानिवत्त्वाभावात् “ह्रस्वस्य०” इति न प्रवर्तते । “नामिनो लुक्वा” इति लुक्पक्षे तु स्थानिवद्भावात् तेन गुणे हे कर्तुं इत्यपि भवति । अयं  
यत्कुलं तत्कुलमिति परत्वादत्तत्त्वप्रसङ्गः, तस्माद्वृत्तये ‘त्यदादिभ्यश्च’ इति लुक्वक्तव्या । न च नित्या लुप् अत्यसत्त्वे तु लुपि कृते “लुप्यथ्येनत्” इति  
४२ स्थानिवत्त्वमाभावात् प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधाद् विभक्त्यभावात् न प्राप्तुं इत्यनित्ये इति वाच्यम्, पूर्वं लुप्यसत्त्वमत्वे सति अपवादत्वात् लुप बाधित्वा  
“अत स्यमोऽम्” इत्यम् सद्भावात् “अनतो०” इत्यनुवादकम् । अनुवादकत्वाभावे तु नित्यत्वावकाश एव नास्ति । “यस्य तु लक्षणान्तरेण निमित्त-  
विहन्यते न तदनित्यम्” इत्येतत्तु पाक्षिकम् । यदा द्वयोल्लेखयोगो संप्रधारणं क्रियते तदा यल्लक्षणप्रवृत्तावपि यस्य द्वितीयस्य लक्षणस्य प्रवृत्तिव्या-  
४५ धातो नास्ति तत्प्रति न तस्य दौर्बल्यं, लक्षणान्तरेण चैतत्प्रवृत्तिनिवारणात् । यथा वालिब्रुवीययोर्युद्धे रामेण वालिनो वधेऽपि न दुग्नीवापेक्ष दौर्बल्य-  
मभिदधति शरमानिनः । एतदन्यदर्शनसंशयेनोच्यते—यस्य तु लक्षणान्तरेणेति । यदा त्वेव न्याय आधीयते—‘लक्षणान्तरप्रवृत्तिनिमित्तमुपसहर-  
लक्षणं बलवद्भवति’ इतरत् तदुपसहृत्तनिमित्तलक्षणान्तरोपपादितप्रवृत्तिविधात् दुर्बलमेव । तथा च बाहुदेवसहायत्वात् पाण्डवा यत्किं दुर्बलान्धा-  
४८ तरोपान् विजिगीष्यते तदा नास्त्येव—यस्य तु लक्षणान्तरेणेति । उच्यते—‘अन्तरज्ञानपि विधीनं बहिराग्नं लुक्वाद्यत इति’ अत्रापिग्रहणात् नित्यानां च  
परेषां च लुपा बाधनमिति त्यदाद्यत् लुपा बाध्यते इत्याह—अत्र त्यदाद्यत्त्वमित्यादि । तथा चोच्यते ‘सर्वविधिभ्यो लोपविधिर्यत्नवान्’ इति ॥ ५९ ॥



जरसो वा ॥ ६० ॥ ]

जरसो वा ॥ १ । ४ । ६० ॥

जरसन्तस्य नपुंसकस्य संबन्धिनोः स्वमोर्लुक् वा भवति । अतिजरः, अतिजरसं कुलं तिष्ठति पश्य वा । अन्ये तु द्वितीयैकवचनस्यैवामो योऽमादेशस्तस्यैव लुक्विकल्पमिच्छन्ति न स्यादेशस्य, तन्मते—अतिजरसं कुलं तिष्ठतीत्येव भवति । ३ केचिज्जरसः स्वमोर्लोपं नेच्छन्ति, तन्मते—अतिजरसं तिष्ठति पश्य वेत्येव भवति ॥ ६० ॥

नामिनो लुक् वा ॥ १ । ४ । ६१ ॥

नाम्यन्तस्य नपुंसकस्य संबन्धिनोः स्वमोर्लुक् वा भवति । हे वारे !, हे त्रपो !, हे कर्तः कुल !, प्रियतिस्र कुलं तिष्ठति पश्य वा; पक्षे—लुक्वेव हे वारि !, हे त्रपु !, हे कर्तु !; हे प्रियत्रि कुलं तिष्ठति पश्य वा । अमो लुक् नेच्छन्त्येके, तन्मते—प्रियत्रि कुल पश्य इत्येव भवति । नामिन इति किम् ? यद्, तद्, प्रियचतुष्कुलम् । चतुःशब्दस्यापि लुक्विकल्पमिच्छन्त्यन्ये—प्रियचतस्र कुलम्, प्रियचतुष्कुलम् । लुपैव सिद्धे लुक्वचनं स्थानिवद्भावात् ॥ ६१ ॥ ९

जरसो वा । नपुंसकस्येति स्वमोरिति लुबिति चानुवर्तते, जरसो नपुंसकस्य स्वमोर्लुक् वा इत्यन्वयः । “जराया जरस् वा” इति जरा-स्थाननिष्पन्नस्य जरसो नपुंसकत्वेऽवृत्तेस्तदन्तस्यैव वृत्त्या आह—जरसन्तस्येति । पूर्वेण प्राप्ते विभाषा । नपुंसकस्येत्यस्य विशेषणतया तदन्तप्रति-पत्तिः । अतिजर इत्यादि । जरामतिक्रान्तं कुलमित्यर्थे प्रादिसमासः । “होवे” इति ह्रस्वत्वम् । अतिजरस् अमिति च स्थिते प्रथमैकवचने १२ से “अतः स्वमोऽम्” इत्यसि संनिपातपरिभाषाया अनित्यत्वमाश्रित्य जरस्, द्वितीयैकवचनेऽमस्तु “अतः स्वमो” इति अमोऽमादेश परत्वाद् बाध्यते जरसादेशेन “जराया जरस् वा” इत्यस्य तदन्ते अवृत्तिस्तु नात्र इत्यधिकृतत्वेन । “निर्दिश्यमानस्यादेशः” इति ‘एकदेशविकृतः’ इति न्यायेन च अतिजर इत्यन्तवर्तिजरइत्यस्य जरस् । उभयोरपि स्वमोरनेन विभाषा लुपि—अतिजरः इति । लुबभा-१५ वपक्षे—अतिजरसमिति । अनयो प्रथमाद्वितीयैकवचनाभिव्यक्त्यर्थं नपुंसकत्वाभिव्यक्त्यर्थं च कुलं तिष्ठति पश्येत्यनुप्रयोगाः । जरसभावे—अतिजरमित्यपि, तेन प्रथमैकवचने द्वितीयैकवचने च त्रीणि त्रीणि रूपाणि विकल्पद्वयात् । केचन संनिपातपरिभाषाया नित्यत्वमाश्रित्य स्यादेशस्यामो लुपं नेच्छन्ति, तेषां मतं समुपन्यस्यति—अन्येतु इति । उत्पलादयः । एतेषां मते प्रथमैकवचने ससुदाहरति—अतिजरसं कुलं तिष्ठतीत्येव १८ इति । एवकाराद् अतिजर इत्यस्य व्यवच्छेदः । ‘संनिपातः’ इति न्यायनित्यत्वमभ्युपगम्य स्वमोर्लोपमिच्छतां मतमाह—केचिदित्यादि । केचित्—गोनर्दीयमताननुयायिनः पाणिनीयाः । अतिजरसं कुलं तिष्ठति पश्य वेत्येव इति । एवकारात् प्रथमाद्वितीयैकवचने अतिजर इति तेषां मते न भवति, किन्तु भयत्र अतिजरसम्, अतिजरम् प्र० ए०, अतिजरसम्, अतिजरम् द्वि० ए० इति । गोनर्दीयानां मते अतिजरम् प्र० २१ ए०, अतिजरसम्, अतिजरम् द्वि० ए० इति । एते तु ‘संनिपातः’ इति न्यायं स्वीकृत्य स्वमोर्लोपं नेच्छन्ति । स्वमोर्लोपानङ्गीकारे उभयो साम्यम् । आचार्यपाणिनिना नार०वो नपुंसकस्य जरसन्तस्य स्वमोर्लोपनिषये पाक्षिको लुबन्धिः । “स्वमोर्नपुंसकात्” पा० ७।१।२३। इति हि तद् सूत्रं अतिजरमिति प्रथमैकवचने “अतोऽम्” पा० ७।१।२४। इति अनेन बाधितं भवत्यतोऽम्, तस्मिन् सति संनिपातपरिभाषया न जरस्; २४ द्वितीयैकवचने अतिजरसम्, अतिजरमिति । अत्र “स्वमो” इति सूत्रेणामो न लुक् संनिपातपरिभाषया । जरस् तु अस्मि अम्भावात् लुगपवादात् परत्वाद् भवति इति खान्यमतविचारः ॥ ६० ॥

नामिनो लुक् वा । नपुंसकस्येति स्वमोरिति च वर्तते । नामिनो नपुंसकस्य स्वमोर्लुक् वा इत्यन्वयः । नामिन इत्यधिकृतस्य नपुंसकस्य २७ विशेषणं, तथाच तदन्तविधिरित्याह—नाम्यन्तस्येत्यादि । हे वारे इत्यादि । वारिशब्दसंबन्धिनः आमक्यसेरनेन लुबि तस्य स्थानिवद्भावात् अधिकृतत्वेन स्थानिवत्त्वे सति तेन सह “ह्रस्वस्य गुणः” इति गुणे रूपम् । एवमन्यत्रापि । प्रियतिस्र कुलमिति । प्रियास्त्रिभ्योऽस्य कुलस्येति विग्रहः, अत्र प्रियत्रिशब्दात् स्वमो “नामिनो लुक् वा” इति लुकि सति स्थानिवद्भावाद् “त्रिचतुरः” २।१।१। इत्यनेन स्त्रीलिङ्गे वर्तमानस्य त्रिशब्दस्य अन्य-१० संबन्धिनः स्यादौ परे तिस्र इत्यादेशः । प्रियतिस्र कुलमित्यत्र “ऋजित्यदितः” ७।३।१७। इति समासान्तं कच् न भवति, विभक्त्याश्रयत्वेन चहिरलक्षणस्य तिस्रादेशस्यासिद्धत्वात् । नन्वनेन लुबोऽभावपक्षे किमवतीत्याह—पक्षे लुक्वेत्यादि । “अनतो” इत्यनेनेति भावः, तेन हे वारि इत्याद्युदाहृतम् । प्रियत्रि कुलं तिष्ठति, पश्य वेति । प्रियास्त्रिभ्य इत्यादि विग्रहः, अत्र स्वमोर्लुगा लुप्तत्वेन स्थानिवद्भावाभावात् न तिस्रा-३३ ऽऽदेशः । नाम्यन्तस्य नपुंसकस्य संबन्धिनः सेरेव विभाषा लुबमिच्छतां मतमाह—अमो लुक् नेच्छन्त्येके इति । एके—देवन्यादयः । उदा-हरति—प्रियत्रि कुलं पश्येत्येवेति । तेषां मते प्रथमैकवचने प्रियतिस्र प्रियत्रि इति, द्वितीयैकवचने प्रियत्रीत्येव भवति । एवकारात् प्रियतिस्र इत्यस्य व्यवच्छेदः । प्रियचतुष्कुलमिति । अत्र रस्य षत्वम् “निर्द्वर्बहिः” २।३।१। इत्यनेन, प्रियाश्चतस्रोऽस्य कुलस्येति विग्रहः, अत्र रेफस्य १६ नामित्वाभावात्तदन्तस्य नपुंसकस्य संबन्धिनः सेरमस्य पूर्वेण “अनतो” इत्यनेन लुप्, तयोश्च स्थानिवत्वाभावात् न चतस्राऽऽदेशः । अनाम्य-न्तस्यापि चतुःशब्दस्य लुग्विकल्पमिच्छतां मतमाह—चतुःशब्दस्यापीत्यादि । इच्छन्त्यन्ये इति । उत्पलादयश्च पाणिनीयाः । पाणिनित्तरे “न लमतामस्य” पा० १।१।६३। इति निषेधस्यानित्यत्वात् पक्षे—प्रियचतस्र कुलमिति भवति । अथानुवर्तनेन लुप् सिद्धा, किमर्थं लुक्ग्रहण-३५ मित्याह—लुपैवेत्यादि । तेन लुक्पक्षे “लुप्यच्छेनत्” ७।४।१। इति स्थानिवद्भावप्रतिषेधभावे स्थानिवद्भावे “ह्रस्वस्य गुणः” इत्यादि भवति, तथैवोदाहृतम् ॥ ६१ ॥



इक्षुणा-अस्वाङ्गत्वात् “सकथ्यक्ष्णः स्वाङ्गे” ॥ ७ । ३ । १२६ ॥ इति समासान्तो न भवति । अतिदध्या स्त्रिया, प्रिया-  
स्थ्यै शुन्यै-अत्रानादेशे सति नान्तत्वात् ङीः । यदाविलेव ? दधिनी, दधीनि । स्वर इत्येव ? दधिम्याम्, दधिमिः ।  
नपुंसकस्येत्येव ? दधातीत्येवं शीलो दधिः, दधिनामा वा, दधिना, दधये । दध्ना, अतिदध्ना कुलेनेत्यादौ विशेषविधानात् ३  
परमपि नागमनादेशो बाधते ॥ ६३ ॥

### अनाम्बरे नोऽन्तः ॥ १ । ४ । ६४ ॥

नाम्यन्तस्य नपुंसकस्य संवन्धिन्याम्वर्जिते स्यादौ स्वरं परे नोऽन्तो भवति । वारिणी २, वारिणा, वारिणे, ५  
वारिणः २, वारिणोः २, वारिणि, त्रपुणी २, त्रपुणा, त्रपुणे, त्रपुणः २, त्रपुणोः २, त्रपुणि; कर्तृणी २ कुले,  
कर्तृणा, कर्तृणे, कर्तृणः २, कर्तृणोः २, कर्तृणि, प्रियगुरुणे, प्रियतिसृणः २-अत्र परत्वात् तिस्रादेशे सति नोऽन्तः ।  
अनामिति किम् ? वारिणाम्, त्रपूणाम्, कर्तृणाम् एषु नागमाभावे नामि सति “दीर्घो नाम्यतिसृ०” ॥ १ । ४ । ४७ ॥ ९

श्रुतत्वाद्दध्यादय एव । तदन्तानां त्वेवा दध्यादीनां लिङ्गान्तरेऽपि वर्तमानानां नपुंसकत्वमस्येव, तेन नपुंसके ये वर्तन्ते दध्यादयस्तदन्तस्य  
नात्रोऽनपुंसकेऽपि वर्तमानस्य ग्रहणमुपपन्नं भवतीत्युदाहरति-प्रियास्त्रा शुना इत्यादि । यदि तर्हि तदन्तस्य ग्रहणं केवलानां न सिध्यति,  
अयमप्यदोषः, व्यपदेशिवद्भावात् केवलानामपि भविष्यति । ‘व्यपदेशिवद्भावोऽनात्रा’ इति च न्यायः प्रत्ययविधिविषय एवेति नोपतिष्ठते । १२  
ननु दडसकभा घकटेन, स्थूलाक्ष्णा इक्षुणा इत्यत्र “सकथ्यक्ष्ण” इति समासान्तं टप्रत्ययः कथं न भवतीत्याह-अस्वाङ्गत्वात् इत्यादि ।  
अतिदध्या स्त्रिया इति । यदात्र “इतोऽस्यार्थात्” इत्यनेन ङीस्त्वादा तद्व्यवधानादनेनादेशाभावे अतिदध्या इत्येव भवति । यदा तु दध्यतिक्रान्त  
यया इति बहुव्रीहिस्तदा “दध्युर०” इत्यनेन कच्चा भाव्यम्, तस्माद् दध्यतिक्रान्तया इति न्याय्ये तत्पुरुषसमास एव कृते वृत्तीयैकवचनेऽनेनादेशे १५  
‘संनिपातलक्षणन्यायस्यानित्यत्वात्’ “स्त्रियां वृत्तो०” इति ङीप्रत्यये, “अनोऽस्य” इत्यकारलोपे, “इवर्णादे०” इति यत्वे भवति । प्रियास्थ्यै  
शून्यै इति । प्रियाणि अस्थीनि यस्यास्तस्यै इत्यर्थः, अत्र पूर्ववत्त्वस्या । नन्वत्रानेनानादेशे सति ‘संनिपात०’ इति न्यायसत्त्वे कथं “स्त्रिया वृत्तो०”  
इति ङीरित्याह-अत्रानादेशे सतीत्यादि । पूर्वोक्तन्यायानित्यत्वसमाश्रयणेन ङीत्र बोध्यः । दध्यादीनां स्वभावैर्नैव नपुंसकत्वाद् व्यभिचारा- २८  
भावात् तद्विशेषणमनर्थकम्, उच्यते-यदा ये यदृच्छाशब्दा वा सन्तो लिङ्गान्तरे वर्तन्ते, तदाऽस्ति व्यभिचार इति तद्व्यवच्छेदार्थं तद्विशेषणमित्याह-  
नपुंसकस्येत्येवेत्यादि । अतिदध्ना ब्राह्मणेन वारिणीत्यादौ अनागमयोः सावकाशत्वात् दध्ना इत्यादावुभयप्राप्तौ “स्पर्द्धे” परमिति परत्वाद्-  
संवाधितत्वात् नागम एव प्राप्नोति, उच्यते-परशब्दस्येष्टत्वात्त्वात् स्पर्द्धे यदिह तद्व्यवतीति व्याख्यानात् पूर्वविप्रतिषेधेन नागमं वाधित्वा अनादेश २९  
एव भवति । यदाऽस्य योगस्योत्तरत्राजुष्टे ‘अनाम्बरे नोऽन्तः’ ‘दध्यस्मिंसकथ्यक्ष्णोऽन्तस्यान् दादाविति’ तत्र वाक्यभेदेन ‘अनाम्बरे’ इति  
सामान्येन नोन्तोभवति, दध्यादीनां तु दादौ स्वरं अन् भवतीति विशेषविधानात् त वाधित्वाऽनेन भवतीत्याह-विशेषविधानादित्यादि । परत्वं  
तु यथावस्थितसूत्रापेक्षया नागमस्योक्तमिति ॥ ६३ ॥

२४

अनाम्बरे नोऽन्तः । नामिन इति नपुंसकस्येति चाविवर्तते । नपुंसकस्येति स्यादावित्यधिकृतस्य विशेषण, तेन नपुंसकस्य संवन्ध-  
न्येव स्यादावित्याह-नपुंसकस्येत्यादि । वारिणी इति । वारिशब्दादौप्रत्यये अगवकाशत्वात् “इवर्णादे०” इति यत्वं परत्वात् “इदुतोऽङ्गेरी-  
यू” इतीत्वं “औरी” इति च वाधित्वाऽनेन नागमे “औरी” इति ईत्वे “रपूर्वणा०” इति णत्वे रूपम् । एव त्रपुणी इत्यादावपि द्रष्टव्यम् । २७  
प्रियास्त्रिस्तो यस्य कुलस्येति प्रियत्रिशब्दात् पञ्चैकवचनेऽपि नित्यत्वात् नागमे कथं तिस्रादेश इति ? नैव, स्थानान्तरप्रवृत्त्या न नागमो नित्य इति  
द्वयोरन्यत्र सावकाशत्वात् परत्वात् पूर्वं तिस्रादेशे कृते पश्चात् नागम इत्याह-प्रियतिसृण इत्यादि । अथ किमर्थमावर्जनम् ? नामि नागमे च  
रूपस्य समाजत्वात्, नैवम्, नागमे सति दीर्घत्वाभावाद् वारिणामित्यादयो न सिध्येयुरित्याह-अनामिति किम् इत्यादिना । अथ किमर्थं स्वर- ३०  
ग्रहणम् ? न च वाक्यं त्रपुम्मां त्रपुभिरित्यादौ व्यञ्जनेऽपि नोऽन्तः स्यादिति तथावृत्त्यर्थमिति, कृतेऽपि नागमे “नात्रो नोऽन्तः” इति नलोप-  
भावात्, इह तर्हि अतिराभ्याम् अतिराभि इति नागमे सति समुदायमकत्वादवयवस्य रैशब्दस्य तेन व्यवधानात् स्यादितिचौ च नलोपस्या-  
सिद्धत्वात् “आ रागो व्यञ्जने” २।१।५ इत्यात्वं न भवति । अथ सायाक्षिप्तायां प्रकृते रैशब्देन विशेषणात् रैशब्दान्तयोः प्रकृतेरात्वं विधीयत ३१  
इति नास्ति नागमेन प्रकृतेर्व्यवधानं, तथापि नकारस्यात्वं प्राप्नोति तस्मिन् पूर्वस्य यत्वे सति अतिरार्थ्यामित्यनिष्ट रूपमापद्यते । नैव दोषः । पर-  
त्वात् पूर्वमात्वमेव भविष्यति, द्वयोरन्यत्र सावकाशत्वादिति । इह तर्हि प्रियतिसृम्यां प्रियतिसृमिरिति नित्यत्वात् पूर्वं नागमे सति त्रिसृमावो न  
प्राप्नोति, नैव, अत्राप्युभयोरनित्यत्वात् परत्वात् पूर्वं तिसृमाव । तथाहि-शब्दान्तरप्राप्त्या नागमोऽनित्यस्तिष्ठमावस्तु नागमेन व्यवधानात् न प्राप्नो- ३६  
तीत्यनित्यः । स हि यद्यपि त्रिशब्दान्तनात्रो विधीयते, तद्वक्तवाच्च नागमोऽव्यवधायकस्तथापि ‘निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति’ इति त्रेव तिसृमावेन  
भाव्यम्, स च व्यवहित इति तिसृमावस्यप्राप्तिः । तिसृमावे च कृते ‘पुनः प्रसङ्गविज्ञानात्’ अपि न भवति, ‘सकृद्वृत्तौ विप्रतिषेधे यद्वाधितं तद्वा-  
धितमेव’ इति न्यायात् । एव तर्हि नागादेशे कृते नागमो मा भूदित्येवमर्थः, तेन त्रपूणा जतुनामिति “दीर्घो नाम्य०” इति दीर्घं सिध्यति । ३९  
असति तु स्वरग्रहणे कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नागमे सति ह्रस्वाभावात् नामादेशाभावे दीर्घो न स्यादिति । अथ तत्र विहितविशेषणात् कृतेऽपि नागमे  
नाम् भविष्यति । यदा ‘अनाम्’ इत्याम्प्रतिषेधात् पूर्वं नामादेशे तस्य च स्थानिवद्भावमाभावात् नागमाभावे न काचित् क्षतिरिति । एव तर्हि स्वरादौ  
यथा स्यादित् मा भूत्-त्रपु, जतु प्रत्ययलोपलक्षणेन स्यादिसङ्गात्वात् । अथ “लप्यवृद्धेनद” इति प्रतिषेधात् स्यादेरभावात् न भविष्यति, सत्यम्, ४२  
अत एव स्वरग्रहणात् क्वचित्प्रत्ययलक्षणं भवतीति विज्ञायते । तेन हि त्रयोऽ, प्रियतिसृ कुल, प्रियवत्तत् कुलमिति सिद्धम् । अत एव च “नामिनो-  
ऽन्तः” इति तदनुवादः कृतः । द्विविधं हि विभक्तैरस्ति, मुख्यमौपचारिकं च । तत्र मुख्यं श्रूयमाणया इतरपुं लक्षणास्वकार्यस्य हि अस्तित्वा-  
दिमक्तिरुपचारेणास्तीति, उच्यते-तद्यथा अस्त्वतीतं कर्म इति । अत्र हि अतीतेन कर्मणा यदाहितं फलदानसामर्थ्यं तस्यास्तित्वात् कर्माऽप्य- ४५

### वाऽन्यतः पुमांष्टादौ स्वरः ॥ १ । ४ । ६२ ॥

यो नाम्यन्तः शब्दोऽन्यतो विशेष्यवशात् नपुसकः स दादौ स्वरः परे पुंवद् वा भवति, यथा पुंसि नाऽऽगमहस्रौ न भवतस्तथाऽत्रापि न भवत इत्यर्थः । ग्रामण्या, ग्रामणिना कुलेन; ग्रामण्ये, ग्रामणिने कुलाय, ग्रामण्यः, ग्रामणिनः कुलात्; ग्रामण्यः, ग्रामणिनः कुलस्य; ग्रामण्योः, ग्रामणिनोः कुलयोः, ग्रामण्यां, ग्रामणीनां कुलानाम्, ग्रामण्यां, ग्रामणिनि कुले; एवं कर्त्रा, कर्तृणा; कर्त्रे, कर्तृणे, कर्तुः, कर्तृणः, कर्त्रोः, कर्तृणोः; कर्तृणाम्, कर्तृणाम्; कर्तरि, कर्तृणि, शुचये, शुचिने; शुचेः, शुचिने, शुच्योः, शुचिनी, शुचौ, शुचिनि, मृदवे, मृदुने; मृदोः, मृदुनः; मृद्वोः, मृदुनोः; मृदौ, मृदुनि, चित्रगवे, चित्रगुणे, अतिराया, अतिरिणा, अतिनावा, अतिनुना; अहयवे, अहयुने, कुमारीवाचरतीति किप्, कुमारीं वेच्छतीति क्यच्, किप्-कुमार्ये, कुमारिणे कुलाय । अन्यत् इति किम्? त्रपुणे, जतुने, पीलुने फलाय । दादाविति किम्? ग्रामणिनी शुचिनी कुले । स्वर इति किम्? ग्रामणिन्यां कुलाभ्याम्, ग्रामणिभिः कुलैः । नामिन इत्येव? कीलालपेन कुलेन । नपुसक इत्येव? कल्याण्यै ब्राह्मण्यै ॥ ६२ ॥

### दध्यस्थिसकथ्यक्ष्णोऽन्तस्यान् ॥ १ । ४ । ६३ ॥

१२ दधि अस्थि सक्थि अक्षि इत्येतेषां नपुंसकानां नाम्यन्तानामन्तस्य तत्सवन्धिन्यन्यसम्वन्धनि वा दादौ स्वरः परे अन् इत्ययमादेशो भवति । दध्ना, दध्नि, दधनि, अस्थौ, अस्थे, अस्थि, अस्थनि; सक्त्रा, सक्त्रे, सक्त्रि, सक्त्रिनि; अक्ष्णा, अक्ष्णे, अक्षिण, अक्षणि; परमदध्ना, परमास्थौ, परमसक्त्रा, परमाक्ष्णा, अतिदध्ना, अत्यस्थौ, अति-  
१५ सक्त्रा, अत्यक्ष्णा । प्रियदध्ना-समासान्तविधेरनित्यत्वात् कच् न भवति, प्रियास्थौ शुना, दृढसक्त्रा शकटेन, स्थूलाक्ष्णा

वाऽन्यतः पुमांष्टादौ स्वरः । नामिन इति वर्तते, तस्यैव नपुंसकस्य विशेषण तथा अन्यत इत्यपि, तच्च दध्यन्तसम्वन्धवशात् प्रथमान्ततया विपरिणम्यते इत्याह—यो नाम्यन्त इत्यादि । अन्यत इति व्याचष्टे-विशेष्यवशादिति । अन्यत इति सामान्याभिधानेऽपि तदन्य-  
१८ विशेष्यमेव विज्ञायते, विशेष्यादन्यत्र लिङ्गाभावात् । अयमभिप्राय-इह हि द्विविधलिङ्गव्यवस्था । केषांचित् स्वत एव लिङ्गम्, यथा दधिमच्चा-दिजातिशब्दानाम् । केषांचिदन्यतो विशेष्यात्, यथा गुणक्रियाद्वयसवन्धनमित्यानां पद्विद्वदशब्दानाम्, ते हि विशेष्यलिङ्गमुपादत्ते न तेषां स्वतो व्यवस्थित किमितिग्रहस्तीति । तथा हि—पठ पुमान्, पठ्नी स्त्री, पठ् कुलमिति विशेष्यत एव लिङ्ग इत्यते न स्वत इति । अतोऽन्यत इति  
२१ क्रियागुणद्वयसवन्धप्रवृत्तिनिमित्ता शब्दा अभिधीयन्ते इति । अन्यतो नपुंसक इत्युच्यमानेऽपि नपुंसकोपादायिना शब्देन तदैव पुस्त्योपादानाभावः । अयं विशेषणलक्षणपदोपक्षीणत्वात् कार्यं सन्निधानाभावात् क्रियामपि पुमाव श्यादिति चेन्न ‘परायै प्रयुज्यमाने शब्दो वतिमन्तरेणापिदित्यर्थः गमयत्येव’ यथा-अमदादत्ते ब्रह्मदत्त इति । अन् हि निर्गतेऽथ द्वाटिति ब्रह्मदत्ते पदार्थकदेशभूताकृतसंवन्धान् क्रियागुणस्यानुपलभ्य  
२४ एष ब्रह्मदत्त इत्युच्यते । समुदायपरदार्म्यादिनो दावयवेऽपि शब्दप्रवृत्तिः । एवभूतस्तु अनिर्देश इति नोपपद्यते, न हि नपुंसकस्य स्वतो लिङ्ग-धर्मा केचित्प्रसिद्धा सन्वीति । अस्ति तु लोके भाविनो धर्मान् भूतबहुपादाय व्यपदेश एव ब्रह्मदत्त इति लभतामयः प्रतिपद्यतामयः ब्रह्मदत्तधर्मानिति भूतबहुपादाय सोऽयमित्यसिद्धमन्येन तत्त्वप्रतिलम्भः । एवमिहापि भाविनो नागमाभावादीन् पुत्रिणाश्रयात् धर्मानुपादाय वतिमन्तरेणापि  
२७ नपुंसके तच्छब्दस्य प्रवृत्तिरित्याह—पुंवद्वा भवतीति । पुस्त्यातिदेशेन साध्यमर्थं दर्शयति—यथा पुंसि इत्यादि । नागमहस्रौ इति । “अनाम् स्वरः नोऽन्तः” इति नागम्, “ह्रीवे” इत्यादि ह्रस्वत्वं च न भवतीत्ययमर्थः पुंवद्भवतीत्यनेन साध्यते । पुमनुवादेन चात्र न किंचित्कार्यं शास्त्र-विहितमस्तीति पुस्त्यदृष्टस्य नपुंसककार्यस्यैव नागमह्रस्वलक्षणस्य पुमावेनाभावः प्रयोजनत्वेनोच्यते, न च किञ्चित् तत्संभवतीति । ग्रामण्यादि ।  
३० ग्रामणीशब्दाद् दादौ स्वरः पक्षेऽनेन पुंवद्वाचाद् ह्रस्वनागमाभावे यथासंभव “निम आम्” इति डेरामादेशे “किञ्चिरेरुद्विष्यत्सौ” इति यत्वम्, तद्विमुक्तपक्षे ह्रस्वत्वं नागमर्थेति । एवं कर्त्रा कर्तृणेत्यादि । कर्तृणाम्, कर्तृणामिति । द्वयोरपि “ह्रस्वापच” इति नाम्, न त्वपुस्त्यपक्षे अनाम् इति नोत्त, तत्रामो वजितत्वात् । द्वितीयप्रयोगो रूपनिर्णयाय दर्शितः, न तु तस्य किञ्चिदज्ञान्यत्कलम् । चित्रगवे इति । चित्रा गावो यत्येति  
३३ विग्रहः, अत्र ह्रीवे ह्रस्वत्वम्, तपुस्त्ये सति निवर्तते, ततश्च “नोधान्ते” इत्यत्र, ततः “क्वित्तिदिति” इत्योक्तम् । दायां ह्रीवे पुवत्त्वे च चित्रगुणा इति रूपाविशेषात् चतुर्थ्या उदाहरणप्रदर्शनम् । पुवत्त्वाभावपक्षे रूपमाह—चित्रगुणे इति । एव चित्रगो चित्रगुण इत्यादि रूपाणि पुवत्त्वे तदभावे ह्रीवे च बोध्यानि । अतिराया इति । रायमतिक्रान्तेन कुलेनेत्यर्थः । पुवत्त्वे सति दादौ खरादौ विभक्तौ नागमह्रस्वत्वाभावः । पुवत्त्वाभावे रूपमाह—अतिरिणा इति । अत्र नागमह्रस्वौ । एव अतिराये अतिरिणे इत्यादि बोध्यम् । अतिनावा, अतिनुना इति । नावमतिक्रान्तेन कुलेनेत्यर्थः । पूर्वं रूप पुवत्त्वे, परंतु तदभावे इति विशेषः । एव अतिनावे अतिनुने इत्यादिवोध्यम् । अतिरि अतिनी इत्यनयो “ह्रीवे” इति ह्रस्वत्वे इकार उकारश्च बोध्यः इति । नामिन इत्यनुवृत्तिरत्र कमप्राज्ञा, वस्तुतस्तत्र ए ए ओ औ ह्रस्वत्वेन इदृशपुस्त्यादिविशेषः ।  
३५ कुमार्ये इति । अत्र यद्यपि कुमार्यशब्दः पुंवत् तथापि नित्यब्रीचिपयत्वात्कारस्य “ब्रीदत्” इति दै । त्रपुणे, जतुने इति । त्रपुजत्वादि-शब्दात्तां जातिशब्दत्वात् न विशेष्यनिबन्धन नपुंसकत्वमित्यन्यत इति वचनात् पुमावो न भवति । ग्रामणिनी इति । अत्र स्वरत्वेऽपि दादि-त्वाभावात् न पुवत्वम् । ग्रामणिन्याम् इत्यादि । अत्र दादित्वेऽपि स्वरत्वाभावः, कीलालपेन इति । नाम्यन्तत्वाभावादत्र न पुवत्वम् ।  
४२ कल्याण्यै ब्राह्मण्यै इति । अत्र नपुंसकोपादाभिज्ञाभावात् न पुवत्वम् ॥ ६२ ॥

दध्यस्थिसकथ्यक्ष्णोऽन्तस्यान् । नपुंसकस्येति दादौ स्वरः इति नामिन इति च वर्तते । दध्यस्थिसकथ्यक्ष्ण इत्यन्तस्य कार्यिणो-विशेषणम्, अतएदादौ स्वरः इत्यस्य परत्वमात्रं विज्ञायते न तत्संवन्धित्वमेवेत्याह—तत्संवन्धिनीत्यादि । दध्ना इति । दधिमन्तस्यान्तस्य दादौ स्वरऽनेनाजादेस्ते “अनोऽस्य” इत्यकारलोपे रूपम् । दध्नि, दधनि इति । “ईहो वा” इति विकल्पेनाकारलुक् । एवमन्यदपि । अत्र नपुंसकार्थ-विशिष्टदध्यस्थिनां स्थायाक्षि नाम विशेष्यते, तेन दध्यान्तस्यापि नाम्नोऽन्तस्यान् भवतीत्युदाहरति—परमदध्ना इत्यादि । प्रियदध्ना इत्यत्र “दध्यु ०” ७३।१७२। इति कच् कथं न भवतीत्याह—समासान्तविधेरित्यादि । “अक्ष्णोऽप्राण्य” ७३।८५। इत्यपि अनित्यत्वात् न । ननु  
४८ सत्यपि तदन्तविधौ दध्यान्तस्यानपुंसकस्य ग्रहणं नोपपद्यते नपुंसकस्येत्युच्यते, नैष दोषः, नात्र नपुंसकस्येत्यनेन प्रकृतं नाम विशेष्यतेऽपि तु

शुष्ण-अस्वाङ्गत्वात् “सकथ्यक्ष्णः स्वाङ्गे” ॥ ७ । ३ । १२६ ॥ इति समासान्तो न भवति । अतिदध्या स्त्रिया, प्रिया-  
स्थ्यै शुन्यै-अत्रानादेशे सति नान्तत्वात् ङीः । टादाविलेव ? दधिनी, दधीनि । स्वर इत्येव ? दधिम्याम्, दधिमिः ।  
नपुसकस्येत्येव ? दधातीत्येवं शीलो दधिः, दधिनामा वा, दधिना, दधये । दध्ना, अतिदध्ना कुलेनेत्यादौ विशेषविधानात् ३  
परमपि नागममनादेशो बाधते ॥ ६३ ॥

अनाम्बरे नोऽन्तः ॥ १ । ४ । ६४ ॥

नाम्नन्तस्य नपुंसकस्य संबन्धिन्याम्वर्जिते स्यादौ खरे परे नोऽन्तो भवति । वारिणी २, वारिणा, वारिणे, ६  
वारिणः २, वारिणोः २, वारिणिः, त्रपुणी २, त्रपुणा, त्रपुणे, त्रपुणः २, त्रपुणोः २, त्रपुणि, कर्तृणी २ कुले,  
कर्तृणा, कर्तृणे, कर्तृणः २, कर्तृणोः २, कर्तृणि, प्रियगुरुणे, प्रियतिसृणः २-अत्र परत्वात् तिस्रादेशे सति नोऽन्तः ।  
अनामिति किम् ? वारीणाम्, त्रपूणाम्, कर्तृणाम् एषु नागमाभावे नामि सति “दीर्घो नाम्यतिसृ०” ॥ १ । ४ । ७७ ॥ ५

श्रुतत्वाद्दध्यादय एव । तदन्ताना त्वेषा दध्यादीना लिङ्गान्तरेऽपि वर्तमानाना नपुंसकत्वमस्येव, तेन नपुंसके ये वर्तन्ते दध्यादयस्तदन्तस्य  
नाम्नोऽनपुंसकेऽपि वर्तमानस्य प्रहणमुपपन्न भवतीत्युदाहरति—प्रियास्त्रा शुना इत्यादि । यदि तर्हि तदन्तस्य प्रहणं केवलाना न सिध्यति,  
अयमप्यदोष, व्यपदेशिवद्भावात् केवलानामपि भविष्यति । ‘व्यपदेशिवद्भावोऽनाम्ना’ इति च न्याय प्रत्ययविधिविषय एवेति नोपतिष्ठते । १२  
ननु दृढसकृपा शकटेन, स्त्रूलाक्ष्या इक्षुणा इत्यत्र “सकथ्यक्ष्ण” इति समासान्त टप्रत्यय कथ न भवतीत्याह—अस्वाङ्गत्वात् इत्यादि ।  
अतिदध्या स्त्रिया इति । यदात्र “इतोऽस्त्ययात्” इत्यनेन ऋत्स्वाद तत्त्ववधानादनेनादेशाभावे अतिदध्या इत्येव भवति । यदा तु दध्यतिक्रान्त  
यया इति बहुवीहित्वा “दध्युर०” इत्यनेन कचा भाव्यम्, तस्माद् दध्यतिक्रान्तया इति न्याये तत्पुरुषसमास एव कृते तृतीयैकवचनेऽनेनादेशे १५  
‘सनिपातलक्षणन्यायस्यानित्यत्वात्’ “स्त्रियां वृत्तो०” इति वीप्रत्यये, “अनोऽस्य” इत्यकारलोपे, “इवर्णादे०” इति यत्वे भवति । प्रियास्थ्यै  
शून्यै इति । प्रियाणि अस्थीनि यस्यास्तस्यै इत्यर्थ, अत्र पूर्ववद्भवस्था । नन्वत्रानेनानादेशो सति ‘सनिपात०’ इति न्यायसत्त्वे कथ “स्त्रियां वृत्तो०”  
इति वीरित्याह—अत्रानादेशे सतीत्यादि । पूर्वोक्तन्यायानित्यत्वसमाश्रयणेन ऋरत्र बोध्य । दध्यादीनां स्वभावेनैव नपुंसकत्वाद् व्यभिचारा- १८  
भावात् तद्विशेषणमनर्थकम्, उच्यते—यदा ते यदृच्छाशब्दा वा सन्तो लिङ्गान्तरे वर्तन्ते, तदाऽस्ति व्यभिचार इति तद्व्यवच्छेदार्थं तद्विशेषणमित्याह—  
नपुंसकस्येत्येवेत्यादि । अतिदध्ना ब्राह्मणेन वारिणीत्यादौ अनुनागमयो सावकाशत्वात् दध्ना इत्यादावुभयप्राप्तौ “स्पर्द्धे” परमिति परत्वाद-  
सबाधितत्वात् नागम एव प्राप्नोति, उच्यते—परशब्दस्येष्टवाचित्वात् स्पर्द्धे यदिह तद्भवतीति व्याख्यानात् पूर्वविप्रतिषेधेन नागम बाधित्वा अनादेश २१  
एव भवति । यदाऽस्य योगस्योत्तरत्राजुह्वते ‘अनाम्बरे नोऽन्तः’ ‘दध्यस्थिसकथ्यक्ष्णोऽन्तस्यान् टादाविति’ तत्र वाक्यभेदेन ‘अनाम्बरे’ इति  
सामान्येन नोन्तोभवति, दध्यादीना तु टादौ खरे अन् भवतीति विशेषविधानात् त बाधित्वाऽनेन भवतीत्याह—विशेषविधानादित्यादि । परत्वं  
तु यथावस्थितसूत्रापेक्षया नागमस्योक्तमिति ॥ ६३ ॥

२४

अनाम्बरे नोऽन्तः । नामिन इति नपुंसकस्येति चातुवर्तते । नपुंसकस्येति स्यादावित्यधिकृतस्य विशेषण, तेन नपुंसकस्य सवन्धि-  
न्येव स्यादावित्याह—नपुंसकस्येत्यादि । वारिणी इति । वारिशब्दादौप्रत्यये अनवकाशत्वात् “इवर्णादे०” इति यत्वं परत्वात् “इदुतोऽस्त्रेरी-  
द्वत्” इतीत्वं “औरी” इति च बाधित्वाऽनेन नागमे “औरी” इति ईत्वे “रपूर्वणा०” इति णत्वे रूपम् । एवं त्रपुणी इत्यादावपि द्रष्टव्यम् । २७  
प्रियास्त्रिस्तो यस्य कुलस्येति प्रियत्रिशब्दात् षष्ठीकवचनेऽपि नित्यत्वात् नागमे कथ तिस्रादेश इति ? नैव, स्थानान्तरप्रवृत्त्या न नागमो नित्य इति  
द्वयोरन्यत्र सावकाशत्वात् परत्वात् पूर्वं तिस्रादेशो कृते पश्चात् नागम इत्याह—प्रियतिसृण इत्यादि । अथ किमर्थमाम्बर्जनम् ? नामि नागमे च  
रूपस्य समानत्वात्, नैवम्, नागमे सति दीर्घत्वाभावाद् वारीणामित्यादयो न सिच्येयुरित्याह—अनामिति किम् इत्यादिना । अथ किमर्थं स्वर-३०  
प्रहणम् ? न च वाक्य त्रपुभ्यां त्रपुमिरित्यादौ व्यञ्जनेऽपि नोऽन्त स्यादिति तस्यावृत्त्यर्थमिति, कृतेऽपि नागमे “नाम्नो नोऽन्तः” इति नलोप-  
भावात्, इह तर्हि अतिराम्याम् अतिरामि इति नागमे सति समुदायभक्तत्वादवयवस्य रैशब्दस्य तेन व्यवधानात् स्यादिविधौ च नलोपस्या-  
सिद्धत्वात् “आ रायो व्यञ्जने” २।१।५। इत्यात्वं न भवति । अथ स्याद्याक्षिप्ताया प्रकृते रैशब्देन विशेषणात् रैशब्दान्तयो प्रकृतेरात्वं विधीयत इह  
इति नास्ति नागमेन प्रकृतेर्व्यवधानं, तथापि नकारस्यात्वं प्राप्नोति तस्मिन् पूर्वस्य यत्वे सति अतिराम्यामित्यनिष्ट रूपमापद्यते । नैव दोष । पर-  
त्वात् पूर्वमात्त्वमेव भविष्यति, द्वयोरन्यत्र सावकाशत्वादिति । इह तर्हि प्रियतिसृभ्या प्रियतिसृभिरिति नित्यत्वात् पूर्वं नागमे सति तिसृमानो न  
प्राप्नोति, नैव, अत्राप्युभयोरनित्यत्वात् परत्वात् पूर्वं तिसृभाव । तथाहि—शब्दान्तरप्राप्त्या नागमोऽनित्यस्त्वित्यभावस्तु नागमेन व्यवधानात् न प्राप्नो- ३६  
तीत्यनित्य । स हि यद्यपि त्रिशब्दान्तनाम्नो विधीयते, तद्भक्तत्वाच्च नागमोऽनित्यवधायकस्तथापि “निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति” इति त्रेरेव तिसृभावेन  
भाव्यम्, स च व्यवहित इति तिसृभावस्याप्राप्तिः । तिसृभावे च कृते ‘पुन प्रसङ्गविज्ञानात्’ अपि न भवति, ‘सङ्कटतौ विप्रतिषेधे यद्वाधित तद्वा-  
धितमेव’ इति न्यायात् । एव तर्हि नामादेशो कृते नागमो मा भूदित्येवमर्थ, तेन त्रपुणा जत्तुमिति “दीर्घो नाम्य०” इति दीर्घ सिध्यति । ३९  
गसति तु स्वरग्रहणे कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नागमे सति इक्षामावात् नामादेशाभावे दीर्घो न स्यादिति । अथ तत्र विहितविशेषणात् कृतेऽपि नागमे  
नाम् भविष्यति । यदा ‘अनाम्’ इत्याम्प्रतिषेधात् पूर्वं नामादेशो तस्य च स्थानिवद्भावाभावात् नागमाभावे न क्वाचित् कतिरिति । एव तर्हि स्वरादौ  
यया स्यादिह मा भूत्-त्रपु, जतु प्रत्ययलोपलक्षणेन स्यादिसद्भावात् । अथ “छप्यद्व्यङ्गेनत्” इति प्रतिषेधात् स्यादेरभावात् न भविष्यति, सत्यम्, ४२  
अत एव स्वरप्रहणात् क्वचित्प्रत्ययलक्षणं भवतीति विज्ञायते । तेन हे त्रपु । प्रियतिसृ कुल, प्रियचतस्र कुलमिति सिद्धम् । अत एव च “नामिनो-  
ऽम्बरे” इति तदनुवाद कृत । द्विविध हि विभक्तैरखिल, मुख्यमोपचारिक च । तत्र मुख्य श्रूयमाणया इतरतु छतायास्तत्कार्यस्य हि अस्तित्वा-  
दिभक्तिरप्युपचारेणास्तीति, उच्यते—तद्यथा अस्त्यतीत कर्म इति । अत्र हि अतीतेन कर्मणा यदाहित फलदानसामर्थ्यं तस्यास्तित्वात् कर्माऽप्य- ४५



इत्यादिना दीर्घः सिद्धः । खरे इति किम् ? हे वारे !, हे त्रपो ! । स्यादावित्येव ? तौम्बुरवं चूर्णम् । नामिन इत्येव ? काण्डे, कुण्डे । नपुसकस्येत्येव ? मुनी, साधू । तत्संबन्धिविज्ञानादिह न भवति-प्रियवारये पुसे, प्रियमधोः पुंसः ॥ ६४ ॥

३

खराच्छौ ॥ १ । ४ । ६५ ॥

जस्शसादेशे शौ परे खरान्तात् नपुसकात् परो नोऽन्तो भवति । कुण्डानि, वनानि, प्रियवृक्षाणि, कुलानि, वारीणि, त्रपूणि; कर्तृणि । खरादिति किम् ? चत्वारि, अहानि, विमलदिवि; सुगणि । अत इत्येव सिद्धे खर-ग्रहणमुत्तरार्थम् ॥ ६५ ॥

धुटां प्राक् ॥ १ । ४ । ६६ ॥

खरात् परा या धुड्जातिस्तदन्तस्य नपुसकस्य धुड्म्य एव प्राक् शौ परे नोऽन्तो भवति । पर्यासि तिष्ठन्ति,

- ९ स्तीत्युक्त्वा । तत्र स्वमो “नामिनो लुक्वा” इति लुप्तत्वात् मुख्य तावदस्तित्व नास्ति, लुक्पक्षे प्रत्ययलोपक्षणादुपचरितमस्तीत्याह—खरे इत्यादि । पूर्वसूत्रे च खरग्रहण टादिसप्तदशमेवेति नेहानुवर्तनीयमिति । कथं “मर्यादाभिधौ च य” इति समाहारत्वे नपुसकत्वात् खरे नागमो न भवतीति ? उच्यते—समाहारोऽत्र समुदाय सावयवधर्मेणाभिधिष्यवयवाऽभिधिविधौ मर्यादावयवत्वात् मर्यादिति व्यपदेश्यते, ततो विशेषणसमासेन सिद्धम् ।
- १० तौम्बुरवं चूर्णम् इति । द्रुमुत्पत्तेः पृथक्स्य विकारोऽवयवधूर्णं “प्राण्यापध्वृक्षेभ्यो” ६।१।३। इत्यणि “गृद्धि खरे” इति वृद्धौ स्याद्यभावात् नागमाभावे “अखयमुवोऽव्” ७।४।७०। इत्यवदेशे तौम्बुरवम् इति सिध्यति । नामिन इत्येव ? काण्डे, कुण्डे इति । अत्राकारान्तत्वेन नाम्यन्तत्वाभावाच्च नागम । कुलयोरित्यत्र कुळे ओस् इत्यवस्थाया नाम्यन्तत्वेऽपि न नागम, क्लीबे नाम्यन्तस्य सत्त्वे स्यादौ विज्ञानात् ।
- १५ द्वयोरित्यत्र नागमात् पूर्वं परत्वादन्तरप्रत्वाच्च “आहरे” इत्यत्त्वे, पश्चात् एतत्वे कृते ‘सकृद्गति’ इति न्यायात् न नागम । मुनी, साधू इति । अत्र नपुसकत्वाभावात् नोऽन्तो न । प्रियवारये इत्यादि । अत्र स्यादेनैपुसकसंबन्धित्वाभावात् नेद प्रवर्तते ॥ ६४ ॥

खराच्छौ । अत्र नोन्त इति नपुसकस्य इति चानुवर्तते । इह स्यादधिकारादन्यस्य शेरसम्भवाज्जशसादेश एव शिष्यशते इत्याह—

- १८ जस्शसादेशे इत्यादि । कुण्डशब्दात् जस्शसो “नपुसकस्य शि” इति इयादेशे, अनेन नागमे, “निदीर्घ” इति दीर्घत्वे—कुण्डानि । एवमन्यदपि । चतुर्दशहन्शब्दाभ्याम् पूर्ववत् इयादेशे खरादिति वचनात् नागमाभावे “वा शेये” इति वादेशे “निदीर्घ” इति दीर्घत्वे च—चत्वारि, अहानि इति । एव विमला यौषेपवदस्य इति बहुमीदौ पूर्ववत् इयादेशादौ—विमलदिवि इत्यादि । ननु इवर्णादे “अनाम्खरे नोऽन्त” इति शौ नागम सिद्ध एव, आकारान्तस्य तु अन्यस्य नपुसके ण्वसिविधानात् स्थितिरेव नास्ति इति अत इत्येव युज्यते किं खरग्रहणेन ? अत आह—अत इत्येवेत्यादि । उत्तरार्थमिति । उत्तरसूत्रे खरग्रहण प्रयोजनवदित्यर्थः ॥ ६५ ॥

धुटां प्राक् । अत्र खरात् शौ इति नपुसकस्येति नोऽन्त इति चानुवर्तते । इह धुटां इत्यधिकृतस्य नपुसकस्येत्यस्य विशेषणम्, तत्र

- २४ तु तदन्तविज्ञानमित्याह—तदन्तस्य नपुसकस्येति । प्राक् इति दिक्शब्दत्वात्तद्योगे पञ्चमीविज्ञानादन्यस्यासंबन्धाद् एव विज्ञायते इत्याह—धुड्म्य एव प्रागिति । पञ्चशब्दात् जयो “नपुसकस्य शि” इति इयादेशे सकारात् पूर्वमनेन नागमे “न्सहृत्” १।४।८६। इति दीर्घत्वे “शिद्धहेऽनुखारः” इत्यनुखारे—पर्यासि इति । एव यशांसीत्यापि द्रष्टव्यम् । ननु भेयांसि भूयांसि इति धुड्मलक्षणे नागमे कृते ‘पुन प्रसङ्ग-विज्ञानात्’ ऋदुदिलक्षणं प्राप्नोतीति, तस्य प्रतिषेधो वक्ष्यते, न च ऋदुदिलक्षणमपि बाधित्यत इति वाच्यम्, व्यक्तौ पदार्थे ‘सकृद्गति’ विप्रतिषेधे यद्वाधित तद्वाधितमेव इति न्याय प्रवर्तते, आकृतौ तु नाश्रीयते इत्युभयोर्नागमयो प्रसङ्गे परस्परप्रतिषेधादप्रतिपत्तौ प्राप्ताया “स्पष्टे” पर-मितीष्ट भवतीति वचनेन पूर्वो नागमो विधीयमान उत्तरकालप्राप्त निमित्तवन्तं परं नागम न शक्नोति बाधितुम्, तथा बोध्यते—‘पुन प्रसङ्गविज्ञाना- २७ नात् सिध्यतीति । अनागमस्य पूर्वो विधीयते सनागमस्य तु पर इति स्यादेतत्—अन्यस्याप्युच्यमान कार्यमन्यस्य बाधक भवति, उच्यते—असति खल्वपि संभवे बाधन भवति, अस्ति च संभवो यदुभय स्यात्—क्रमेण च नागमयोर्विधानादस्यात् खरात् परत्वमपि संभवति, यथा पञ्चतीति धात्वपेक्षं तिष्ठानो । भवतु को दोष ? द्वयोर्नकारयो श्रवणं प्रसज्येत, नैव, व्यञ्जनपरस्यैकस्य वाऽनेकस्य वा श्रवणं प्रति विशेषाभावात् । ननु ३३ चैकस्यैको नकार परस्य द्वावित्येकत्वप्रतिज्ञाभेद । श्रुतिभेदेऽसति किं प्रतिज्ञाभेदं करिष्यति ? कथं पुन श्रुतिभेदाभावो यावताऽनेकव्यञ्जनो-च्चारणेनाधिककालो व्याप्यते एकव्यञ्जनोच्चारणेन त्वल्पकाल इति, उच्यते—खरकालव्यतिरेकेण व्यञ्जनानि कालान्तरं नाक्षिपन्तीति दर्शनाश्रयेणेतदु-च्चारणेनाधिककालो व्याप्यते एकव्यञ्जनोच्चारणेन त्वल्पकाल इति, उच्यते—खरकालव्यतिरेकेण व्यञ्जनानि कालान्तरं नाक्षिपन्तीति दर्शनाश्रयेणेतदु-च्चारणेनाधिककालो व्याप्यते एकव्यञ्जनोच्चारणेन त्वल्पकाल इति, उच्यते—खरकालव्यतिरेकेण व्यञ्जनानि कालान्तरं नाक्षिपन्तीति दर्शनाश्रयेणेतदु- ३६ वानादरात् श्रुत्यभेद उच्यते । अन्ये तु व्यञ्जनानां कालभेदमिच्छन्त्येव । तथा च श्रेयासीत्यादौ परस्य नकारस्यानुखारे पूर्वस्य नकारस्य श्रवणं प्राप्नोति । अनुखारस्य खरत्वाभ्युपगमं वीदन्ता इत्यत्र औकारस्यान्ता इति समासपरिग्रहात् ते चानुखारविसर्गादयं श्रुत्या एवेति स्पष्ट एव नकारानु-खारयोस्तत्र श्रुतिभेद । ननु ‘वर्णग्रहणे जातिग्रहणमिति’ द्वयोर्नकारयोरैकोऽनुखार आदेशो विधास्यते, नैतदस्ति, जाते कार्यासम्भवात् तदाधा- ३९ राया व्यक्तौ कार्यसम्भवात्, स्थानिभेदादनुखारादेशादयप्रसङ्गात् । किं च आसिति बहुवचनस्यान्यार्थत्वात् गुणत्वादेकत्वसङ्ख्याया विवक्षितत्वादेकस्यैव नकारस्यानुखार स्यात् न तु द्वयो । एव तर्हि व्यक्तिपदार्थाश्रयपूर्वविप्रतिषेधात् धुडन्तलक्षणे नागम उदिलक्षणं बाधते, युवामित्यत्र “भौमी म” २।१।१६। इति भादेश “औरी” इतीत्ववदिति, पुन प्रसङ्गविज्ञानं च जातिपञ्चनभ्युपगमादत्र न भवति । यदप्युक्त—असति संभवे बाधनमिति, ४२ तदपि न, सत्यपि सम्भवे बाधनोपपत्ते, यथा—दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयताम् तत्र कौण्डिन्यायेति सत्यपि दधिदानस्य संभवे तत्र निवर्तक भवति, एव-मत्रापि । यद्यपि दृष्टान्ते सामान्यविशेषभावो बाधहेतुर्दृष्टान्तिके तु रूपं परमेवेति नियमस्तथापि विनापि विरोधेन दृष्ट बाधकत्वमिति प्रदर्शनाय दृष्टान्तोपन्यास । यदप्युक्त—श्रुतिकृतोऽपि भेदोऽस्ति, तत्र पूर्वनकारस्य श्रवणं, सोऽप्यदोष—अयोगवाहानामपि विशेषेणोपदेशात् शिदत्वात् ४५ पूर्वस्याप्यनुखारो भवति । ततो द्वयोरनुखारयो श्रुतिं प्रति विशेषाभावः । कृपन्तीत्यत्रापि आसिति बहुवचनस्य व्यात्यर्थत्वात् पूर्वनकारस्य वर्गान्त्ये कृतेऽपरस्यापि वर्गान्त्य । नैव वा उदिलक्षणं प्राप्नोति, खरात् पर इति धुटां प्रागिति च तत्रानुवृत्ते । न च द्वयोर्नकारयोरैकत्वपरपेक्ष परत्वं सम्भवति । पञ्चति इत्यत्र तु शिति परत शब्दविज्ञानाद् विकरणव्यवधानमाश्रितमेव । अथवा—इष्टसिद्धार्थं इह पूर्वविप्रतिषेधाश्रयणम् । इह च तदा-



पयांसि पश्य, उदक्षिन्ति, सर्पांसि, घनूंषि; अतिजरांसि कुलानि । धुटामिति बहुवचनं जातिपरिग्रहार्थम्, तेन काष्ठतद्धि, गोरद्धि कुलानीति सिद्धम् । खरादित्येव ? गोमन्ति कुलानि । शवित्येव ? उदक्षिता ॥ ६६ ॥

लौ वा ॥ १ । ४ । ६७ ॥

रेफलकाराभ्यां परा या धुडजातिस्तदन्तस्य नपुंसकस्य धुटः प्राग् नोऽन्तो वा भवति, शौ परे । बहूर्जि, बहूर्जि; सर्जि, सर्जि; सुवल्कि, सुवल्कि । लं इति किम् ? काष्ठतद्धि, पूर्वेण नित्यमेव । धुटामित्येव ? सुफुलि वनानि । शवित्येव ? बहूर्जा कुलेन ॥ ६७ ॥

धुटि ॥ १ । ४ । ६८ ॥

अधिकारोऽयम्, निमित्तविशेषोपादानमन्तरेणाऽऽपादपरिसमाप्तेर्यत्कार्यं वक्ष्यते, तद् धुटि वेदितव्यम् ॥ ६८ ॥

श्रयणावनिष्ठापत्ते परविप्रतिषेधादुदितक्षणे एव भवति । अतिजरांसि इति । जरामतिक्रान्तानि कुलानीति “क्लृवे” इति ह्रस्वत्वे, “नपुंसकस्य” इति “इति” जस्य शसो वा इयादेशे जरासा कुण्डानीत्यत्र तयो सावकाशत्वाद्भुजयप्राप्तौ नागम बाधित्वा परत्वात् जरस् भवति, अत्र हि अतिजर इ इति स्थिते यदि पूर्वं नागम स्यात् स च प्रकृतिमत् इति प्रकृतिमेव न व्यवदध्यात्, अवयवस्य तु जराशब्दस्य व्यवधायक इति ‘निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीति’ स्यादाक्षितनामाधिकारे सत्यपि तदन्तग्रहणे जरान्ताया प्रकृत्योऽवयवो जराशब्दस्तस्य विभक्तौ जरसादेशो विधीयमानो १२ न प्राप्नोति । अथापि स्वात्तयापि सकारात् परस्य नकारस्य ध्रुवं स्यात्, तस्मात् परत्वात् पूर्वं जरसादेश एष्टव्य, तस्मिन्कृते धुडन्तलक्षणो नाऽऽगम । अथेह लृक् कस्मात् न भवति ? अतिजरस्य पश्येति, अतिजर अम् इति स्थिते ‘एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात्’ जरशब्दस्य जरसि कृते “अनतो लृप्” इति लृप्प्राप्नोति । ननु अतिजरशब्दस्यादन्तत्वात् “अत स्वमोऽम्” इत्यम्भावेन लुब्धाधिता कथं प्राप्नोति ? अनत इत्यनुवाद- १५ कमित्युक्त्वात्, नैतदस्ति, नात्राम्भाव प्रवृत्त परत्वात् नित्यत्वाच्च जरसादेशेन बाधितत्वाच्चरसादेशे च कृतेऽनकारान्तत्वादम्भावाप्रसङ्गात् लृप्पातिशयोक्त्ये । ननु किमर्थमय एव लृप् चोद्यते ? न हि सेर्जरम्भाव प्राप्नोति, खर इत्युक्तेरिति । या पूर्वं लृक्प्राप्ति सापवादेन बाध्यते, कृते तु जरम्भावे संनिपातपरिभाषया, तथाहि—खरादिसंनिपातेन जरम्भावो निष्पन्नो नोत्सहते खराद्यानन्तर्यं विहन्तुम् । यथेवमिति जरसमिति जरसैरिति १८ अप्राप्ति, अतिजरमतिजररिति भाव्यम्, तथाहि—सेर्मसत्वाकारान्तसंनिपातेन खरादिरादेशोऽकारान्तविधातिन जरसादेश प्रत्यनिमित्त स्यात् संनिपातपरिभाषयाश्चात् । अतिजरस्य पश्येत्तु न नाकारान्तसंनिपातकृत खरादित्वमिति भवत्येव जरसादेश, स च खरादिसंनिपातनिमित्तत्वाद- मोल्लभ्य प्रति अनिमित्तमिति लुब्धभाव उच्यते । युक्तमेवैतत्, यद्वाच्यम्—‘इष्टमेवैतत् गोवर्दीयस्येति’ तदा तु “जरसो वा” इति सूत्रं नारच्चव्यमेवेति । २१ धुडजातिराश्रीयते न व्यतिरिक्ति किं सम्प्रदायमात्रमुत किञ्चिन्नियमनमस्तीत्याह—धुटामित्यादि । काष्ठपूर्वात्तद्वर्णोत्ते किपि जस्य शसो वा इयादेशेऽनेन नागमे “त्रां०” इति वर्गान्त्ये—काष्ठतद्धि इत्यादि । गोमन्ति इति । “ऋदुदित” इति परत्वात् नागमेऽनेन नोन्तो न भवति ॥ ६६ ॥

लौ वा । धुटा प्राक् इति नपुंसकस्येति नोऽन्त इति चानुवर्तते । सामान्यनिर्देशेऽपि पञ्चम्येव विज्ञायत इत्याह—रेफलकाराभ्यां- २४ मिति । बहूर्जि, बहूर्जि इति । बहव उजो येष्विति जस्य शसो वा “नपुंसकस्य०” इति इयादेशेऽनेन रेफात् नाऽऽगमे “त्रां०” इति वर्गान्त्य । लृप् वलन्तीति किपि पूर्ववत्—सुवल्कि, सुवल्कि इति । बहूर्जिरेवेच्छन्त्ये । काष्ठतद्धि इति । लौ इति वचनात् पाक्षिकनागमाभावे केन नोऽन्त इत्याह—पूर्वेणेत्यादि । सुफुलि इति । अन्तस्थालकारस्य धुडत्वाभावाद्नेन न पाक्षिको नाऽऽगम ॥ ६७ ॥ २७

धुटि । नपुंसकस्य धुटि परतो नोऽन्तो भवति इति विधिरिव कस्मात् न भवति ? उच्यते—नपुंसकस्य शिमतन्तरेणान्यस्य धुडत्वाभावात्, तत्र च “खराच्छौ” इत्यादिभिर्नागमस्य विहितत्वात् पारिषोष्याधिकारोऽयमित्याह—अधिकारोऽयमित्यादि । आपादपरिसमाप्तेरिति । पादपरिसमाप्तिं यावदित्यर्थ, अत्र हेतुमाह—निमित्तविशेषोपादानमन्तरेणेति । अधिकारप्रवृत्त कर्तव्यम्, अधिकारान्दक्ष कर्तृसाधनो ३० भावसाधनो वा, विनियोगो हि लोकेऽधिकार उच्यते स एवेह गृह्यते, अधिकार कियते प्रतियोग तस्यानिर्देशार्थ—योगे योगे तस्य प्रवृत्त मा कार्य- मिति एतदर्थम् । किमयमर्थोऽधिकारध्वनेन परिगृहीत ? परिगृहीत इति ब्रूम, कुत ? लोकत, लोके बाधित्वतोऽसौ प्राप्तेऽधिकृतोऽसौ नगरे इत्युच्यते यो यत्र व्यापारं गच्छति । शब्देन चाप्यधिकृतेन कोऽन्यो व्यापार शक्योऽवगन्तुमन्यदतो योगे योग उपस्थानात्, न हि परिस्पन्द- ३३ रूप शब्दस्य व्यापारोऽस्ति । न कर्तव्यम्, वचनरहितात् लोकव्यवहारदेव एतत्साध्यस्यार्थस्य सिद्धत्वात् । लोके हि निर्दिश्यमानमधिकृत गम्यते, तथा—देवदत्ताय गौर्दीयतां यज्ञदत्ताय विष्णुमित्रायैति गौरिति गम्यते, अत्र हि सम्प्रदानविभक्त्या सञ्ज्ञिता गोकर्मादा ददाति क्रियापे- श्यते, अथुतकल्पनाया श्रुताऽपेक्षणस्य लाघवात् । एवमिहापि “अच” धुटि इति “ऋदुदित” इत्यादावाकाङ्क्षाविदशात् प्रकृतस्य सम्बन्धो ३६ भविष्यति नाऽप्रकृतस्य, उच्यते—अन्यनिर्देशो निवर्तकस्त्वादधिकार । लोके धनस्य निर्देशो निवर्तको भवति, तथा—देवदत्ताय गौर्दीयताम्, यज्ञदत्ताय कम्बलो विष्णुमित्राय चेति कम्बलो गोनिवर्तको भवति । एवमिहापि “अनद्धह सौ” इति सिद्धिर्नो निवर्तक स्यादिति अधिकारवच- नम् । ननु तत्रापि अधिकारे परिमाणे न ज्ञायते कियन्तमवधिमधिकाराऽनुवर्तत इति, तस्मादनुबन्धोऽपि कश्चिदासजनीय । यावत्तयोऽनुबन्ध- ३९ स्वावतो योगानिति वक्ष्यम्, यावत्तयो वर्णोऽनुबध्यते तावतो योगानधिकारोऽनुवर्तत इति । अथेहान्नं यत्रात्पीयांसो वर्णा भूयांसश्च योगा- स्त्रत्र किं कर्तव्यम् ? भूयसि प्राग्वचन कर्तव्यम् प्रागमुत इति । एतदपि न वक्ष्यम्, सन्देहमात्रमेतद्भवति, सर्वसन्देहेषु चेदमुपतिष्ठते—व्याख्या- नतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणमिति प्रागमुत इति व्याख्यास्याम । यथेव नाथोऽनेन, केनेदानीमधिकारो भविष्यति ? लौकिकोऽधि- ४२ कार इति । ननु चोक्तम्, अन्यनिर्देशो निवर्तक इति । सन्देहमात्रमेतद्भवति, सन्देहे च व्याख्यास्याम—दृष्टानुवृत्तिकयात् धुडनुवर्तते न सिरिति । किं नाचार्याचार्याच गौरीयमाचार्यस्य यत्र पृथगधिकारस्त्रत्र त करोति । तत्र विशेषेऽधिकार सच्यते, पादान्तं चानुवर्तते, यथाऽय मेव धुटिलधिकार इति । यत्र तूर्वमप्यनु वर्तते तत्रावधि निर्दिशति, यथा “प्राग्जिनादण्” ६।१।१३। यस्तु सर्वत्रानुवर्तते तत्र पृथगिर्दिशति, ४५ “एदोत पदान्तेऽस्य लृक्” इति पदान्ताधिकार इति, तत्र निश्चौ यतते “खरेभ्य” इति, अत्र बहुवचनस्य व्याप्यर्थत्वाद्भुजयप्राप्ति- ननुगृहीत । “सो नवेतां” इति सत्यपि “शषसे शषसे वा” इति वा प्रवृत्तम्, “वायात्” ६।१।११। इति सत्यपि “नित्यं चयिनोऽण्” ७।३।५८। इति नित्यप्रवृत्तम् इति ॥ ६८ ॥

अचः ॥ १ । ४ । ६९ ॥

अश्वेतर्थातोर्धुडन्तस्य तत्संबन्धिन्यन्यसंबन्धिनि वा घुटि परे घुटः प्राप्नोऽन्तो भवति । प्राद्, अतिप्राद्, प्राश्चौ, ३ प्राश्चः, प्राश्चम्; प्राश्चि कुलानि । घुटीत्येव ? प्राचः पश्य ॥ ६९ ॥

ऋदुदितः ॥ १ । ४ । ७० ॥

ऋदित उदितश्च घुडन्तस्य तत्संबन्धिन्यन्यसंबन्धिनि वा घुटि परे घुटः प्राक् स्वरात् परो नोऽन्तो भवति । (ऋदितः-) ६ कुर्वन्, अधीयन्, महान्; सुदन् घालः । उदितः-चक्रिवान्, विद्वान्, गोमान्; श्रेयान् । घुटीत्येव ? गोमता । पृथग्योगो भ्वादिन्युदासार्थः-सम्राट् ॥ ७० ॥

युज्जोऽसमासे ॥ १ । ४ । ७१ ॥

१ 'युज्जंपी योगे, इत्यस्यासमासे घुडन्तस्य घुटः प्राक् घुटि परे नोऽन्तो भवति । युद्, युजौ, युजः, युजम्, युजि कुलानि, ईपदपरिसमाप्तौ युद्-बहुयुद्, बहुयुजौ, बहुयुजः । असमास इति किम् ? अश्वयुक्, अश्वयुजौ, अश्वयुजः । ऋदिद्विदेशः किम् ? 'युजिच्' समाधावित्यस्य मा भूत्-युजमापन्ना मुनयः, समाधि प्राप्ता इत्यर्थः । घुटीत्येव ? युजः पश्य, ११ युजी कुले ॥ ७१ ॥

अनड्डहः सौ ॥ १ । ४ । ७२ ॥

अनड्डहश्च घुडन्तस्य तत्संबन्धिन्यन्यसंबन्धिनि वा सौ परे घुटः प्राक् नोऽन्तो भवति । अनड्डान्, प्रियान्- १५ ड्डान्, हे अनड्डन् !, हे प्रियानड्डन् ! । साविति किम् ? अनड्डाहौ ॥ ७२ ॥

अचः । अत्र स्वराद् इति घटां प्राक् इति नोऽन्त इति चानुवर्तते । घुटीत्यधिक्रियते । अचो घुटो घुटि घुटः प्राप्नोऽन्त इत्यन्वयः । स्वरादिति घुटां प्रागिति चानुवर्तनाद् सनकारस्यागते प्राप्तेरभावात् लुप्तनकारस्य निर्देश इत्याह—अञ्जतेरिति । अच इति नोऽन्त इत्यस्य विशेष- १८ णात् घुट परत्वमात्रमेव विज्ञायते इत्याह—तत्संबन्धिन्यन्यसंबन्धिनि चेति । प्राचतीति विग्रहे तस्मात् किपि, "अचोऽनर्चायाम्" ४।२।४६। इति नलोपे, "क्षीर्णपाद्" इति सिलोपेऽनेन नागमे, "पदस्य" इति चकारलोपे, "युजश्चक्रुः नो ष" २।१।७१। इति षकारे—प्राह इति । अन्यसंबन्धिनि घुटि उदाहरति—अतिप्राह इति । प्राश्चि कुलानीति । शेषदत्त्वादेतदुदाहरणप्रदर्शनम् । प्राचः पश्येति । शसो घुदत्वा- २१ भावादनेन नोऽन्तो न भवति ॥ ६९ ॥

ऋदुदितः । स्वराद् इति घटां प्राक् इति नोऽन्त इति घुटीति च वर्तते । ऋत इति द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात् प्रत्येक संबन्धये, तदाह—ऋदित उदितश्चेति । ऋद् इव येषान्त इति, उद् इव येषान्त इति चार्थः । ऋदित उदाहरति—कुर्वन्तित्यादिना । सुदन् घाल इति । गोमना दन्ता असेति "वयसि दन्तस्य दत्" ७।३।१५। इति दन्त्रादेशस्य ऋदित्वादानेन नागमे संयोगान्तलोपे सति रूपम् । चक्रिवान् इति । फरोवे चक्रोरुदित्वाद् द्विवचनादौ कृते सावनेन नाऽऽगमः । एवमन्यदपि । गोमता इति । अत्रोदितेऽपि घुदपरत्वाभावात् नोऽन्तो न भवति । अथ उदितो घातो "उदित स्वरा" इत्युपदेशावस्थायामेव नाऽऽगमविधानाद् कृते च नाऽऽगमे "घुटां प्राक्" इत्यनुवर्तनादानेन २७ नाऽऽगमामात्र, ऋदितस्तु कस्माद् न भवतीत्याह—पृथग्योग इत्यादि । अयमभिप्रायः—"उदित स्वराप्नोऽन्त" इत्यत्र भात्वाधिकारात् भ्वादेशदित "उदित स्वराप्नोऽन्त" इत्यनेनैव सिद्धत्वात्, अत्र उदित पृथगारम्भादुदितोऽभ्वादेरेव तस्माद्वर्त्यादितोऽपि भ्वादेरेवेति नियमात् समाद इत्यादौ न भवति ॥ ७० ॥

३० युज्जोऽसमासे । घुटां प्राक् इति नोऽन्त इति घुटीति च वर्तते, युज्जो घुटां घुटि घुटः प्राक् नोऽन्त इत्यन्वयः । युज्ज इत्यस्यार्थ- माह—'युज्जंपी'योगे, इत्यस्येति । युज्ज इत्यनेन स्थायाक्षिप्तस्य नात्रो विशेषणात्तत्र च तदन्तविधेर्भावात् समासेऽपि प्राप्तेरित्यसमास इति प्रतिषेधोऽर्थवानिति, अयमेव च समासप्रतिषेधो ज्ञापयत्यत्र प्रकरणे तदन्तविधिरस्तीति । युद् इति । युनक्तं किपि, सौ, तल्लोपेऽनेन नाऽऽगमे, ३३ संयोगान्तलोपे तस्य "युजश्च" इति षकारे रूपम् । अश्वयुजिति । अश्व युनजीति किपि "ह्यस्युक्" ३।१।४९। इति समास, अत्रासमास इति वचनात् न भवति । युज्ज इति ऋकारोऽनुबन्ध किमर्थं ? युजोऽसमासे इत्युच्यमाने सिद्धत्वेत्याह—ऋदिदित्यादि । युजमापन्ना मुनय इति । युजे "कृत्संपदादिभ्यः किप्" ५।३।१५। इति किप् । युजः पश्येति । अत्र शस घुदत्वाभावात् तस्मिन् परे नोऽन्तो न भवति । ३४ युजी कुले इति । ह्रीवे जत्सादेशस्य श्रेवे घुदत्वाद् अत्र प्रथमाद्वितीयोऽभ्वादेरेव तस्माद्वर्त्यादितोऽपि भ्वादेरेवेति नोऽन्तो न भवति ॥ ७१ ॥

अनड्डहः सौ । अत्र घुटां प्राक् इति नोऽन्त इति चानुवर्तते । साविति निमित्तविशेषस्योपादानाद् घुटीति नाधिक्रियते । अनड्डह घुटः सौ घुट एव नोऽन्त इत्यन्वयस्तदाह—अनड्डहश्च घुडन्तस्येत्यादि । अनड्डान् इति । "अनसो घट्टे" ८० १००६। इति किपि सकारस्य षकारे, ३५ "यजादिवचेः" इति य्कृति, सौ, तल्लोपे, "वा शेषे" इति वाऽऽदेशेऽनेन नागमे, "पदस्य" इति संयोगान्तलोपः । प्रियानड्डान् इति । प्रिया अनड्डाहो यस्सेलेकचे "पुमनड्डाहौ" ७।३।१४३। इति कचप्रचत्वाद् बहुत्वेन विग्रहे पूर्ववत् स्यादौ रूपमेतत् । हे अनड्डन् ! इति । आमक्यसौ "उतोऽनड्डचरो वः" १।४।८१। इति वत्वे शेष पूर्ववत् । अनड्डाहौ इति । अत्र सौ परेऽभावात् न नोऽन्तः । नन्वनड्डहो इत्यत्र 'नामग्रहणे ४३ क्रियविशिष्टस्यापीति' न्यायेनात्र क्रीत्वविशिष्टस्यापि तस्य ग्रहणात् नाऽऽगमः कथं न भवति ? इति चेन्न, घुट इत्यनुवर्तनाद् घुदन्तत्वाभावेन नाऽऽगमामावात् । अनड्डान् इत्यत्र "असृज्यसृज्यत्समड्डहो" २।१।६८। इति षकारस्तु प्रातो विधानसामर्थ्यात् न भवति ॥ ७२ ॥

### पुंसोः पुमन् ॥ १ । ४ । ७३ ॥

पुंसु इत्येतस्योदितस्तत्संबन्धिन्यसंबन्धनि वा घुटि परे पुमन् इत्ययमादेशो भवति । पुमान्, पुमांसौ, पुमांसः, पुमांसम्; ईषदूनः पुमान् बहुपुमान्, प्रियपुमान्, प्रियपुमांसि कुलानि, हे पुमन् । घुटीत्येव ? पुंसः पश्य, बहुपुंसी १ कुले । पुंसोरुदित्वात् प्रियपुंसितरा, प्रियपुंस्तरा, प्रियपुंसीतरेत्यादौ ङीहस्वपुंवद्विकल्पश्च भवति ॥ ७३ ॥

### ओत औः ॥ १ । ४ । ७४ ॥

ओकारस्य ओत एव विहिते घुटि परे ओकार आदेशो भवति । गौः, गावौ, गावः; घौः, घावौ, घावः; १ लुनातीति विच्-लौः, शोभनो गौः सुगौः; एवमितिगौः, प्रियघावौ, अतिघावौ; हे गौः ! हे घौः ! किगौः, अगौः । ओत इति किम् ? चित्रा गौर्यस्य चित्रगुः, चित्रगू, विहितविशेषणादिह न भवति-हे चित्रगवः । घुटीत्येव ? गवा, घवा ॥ ७४ ॥

### आ अमृशसोऽता ॥ १ । ४ । ७५ ॥

ओकारस्यामृशसोरकारेण सह आकारो भवति । गाम्, सुगाम्, गाः, सुगाः पश्य; घाम्, अतिघाम्, घाः, सुघाः पश्य । स्यादावित्येव ? अचिनवम् ॥ ७५ ॥

### पथिन्मथिन्मुक्षः सौ ॥ १ । ४ । ७६ ॥

पथिन् मथिन् ऋमुक्षिन् इत्येतेषां नकारान्तानामन्तस्य सौ परे आकारो भवति । पन्थाः, हे पन्थाः !, मन्थाः, हे मन्थाः !, ऋमुक्षाः, हे ऋमुक्षाः !, अमन्थाः, सुमन्थाः, बहुऋमुक्षाः । साविति किम् ? पन्थानौ । कथं हे सुपथिन् !,

पुंसोः पुमन् । अत्र घुटीत्याधिक्रियते । पुंसो घुटि पुमन् इत्यन्वयस्तदाह—पुंसु इत्येतस्येत्यादि । पुमान् इति । “पाते-१५ हेन्नु” उणा० १००२१ इति द्वित्यौ अन्त्यस्यरात्रिलोपे सावनेन पुमन्तुआदेशे “न्सहतो” इति वीर्यत्वे “पदस्य” इति सयोगान्तलोप । बहुपुमान् इति । “नात्र प्राप्तबहुर्वा०” इति बहु । एकत्वे “पुमनद्विजौ०” इति कच्प्रसङ्गात् प्रिया. पुमासो यस्येति बहुत्वेन विग्रहे-प्रिय-पुमानित्यादि । हे पुमन् ! इति । अत्रानेन पुमन्त्यादेशो संयोगान्तलोपादौ आमन्त्र्यसे शेषघुटत्वाभावात् “नि वीर्य” इति वीर्यो न भवति । १८ पुंसः पश्येत्यादि । शसो नपुंसकप्रथमाद्वितीयादिवचनस्य च घुटत्वाभावादादेशो न भवति । प्रकृतेरुदित्वात् प्रिया पुमासो यस्या इति “अधा-तृदित” ११४१२ इति वी, सैव च प्रकृष्टा इति “द्वयोर्विभज्ये च तरप्” ७३१६१ इति तरप्यापि च “ऋदुदित्तरतम०” ३१२६३ इति ह्रस्व-पुंवद्भावविकल्पो भवतीत्याह—पुंसोरुदित्वादितादि । ङीहस्वपुंवद्विकल्पश्चेति । जीर्णस्य ह्रस्वत्वपुंवत्वयोश्च विकल्प इति भावः ॥ ७३ ॥ २१

ओत औः । घुटीति वर्तते । ओतो घुटि औरित्यन्वयस्तदाह—ओकारस्येत्यादि । गौः इति । गोशब्दोकारस्योकारान्तात् तस्यादि-हिते घुटि सौ अनेन ओकार, कृत्वविचर्गाविति भावः । गावौ, गावः इति । गो औ इति, गो अस् इत्यवस्थायामनेनोकारे आवादेशो यथाचमर्ब-रत्नविसर्गौ । एवमन्यदपि । सुगौः, अतिगौः इति “हु पूजायाम्” ३११४४ इति “अतिरतिक्रमे च ३११४५ इति च समास । २४ “गोस्त्वसुवषाद” ७३१७०५ इति प्राप्त समासान्तो न, “पूजा स्वते ०” ७३१७२१ इति निषेधात् । किंगौः, अगौः इति । कुत्सितो गौरिति “किं क्षेपे” ३११११० इति समास, तेन सूत्रेण समासान्तस्तु “न किम् क्षेपे” ७३१७०० इति निषेधात् न भवति । एव न गौरगौरित्यत्र “नन्-तसुवषाद” ७३१७०१ इति निषेधात् न भवति । चित्रगुरिति । अत्र परत्वात् पूर्व ह्रस्वत्वे कृते पश्चाद् घुटि ओकाराभावात् ओत इति वचनादौ-२७ कारो न भवति, वर्णविधित्वाच्च स्थानिवद्भावे नास्ति । विहितविशेषणादिति । ओकाराद् विहिते घुटीत्येवमोत इत्येतद्विहितविशेषणसमाश्रय-णादित्यर्थः । हे चित्रगव ! इति । अत्र “ज्यसेदोत्” इत्योरत्वे विहितविशेषणादोकारविधानसामर्थ्यात् चौरत्वाभावादवादेशः । हे चित्रगो ! इत्यत्र ओकारस्य विधयमानत्वेऽपि सेरभावात् लक्षणिकत्वात् वा न भवति ॥ ७४ ॥

आ अमृशसोऽता । ओत इत्यनुवर्तते, ओत अमृशस अतो आकार इत्यन्वयः । अमृशस इति षष्मन्तमता इत्यस्य विशेषणमि-त्याह—अमृशसोरकारेणेति । गाम् इति । गोशब्दस्योकारस्यामोऽकारेण सहानेनाऽऽकारः । एवमन्यत्रापि । स्यादधिकारात् स्यादिसम्बन्धिन-एवामो ग्रहणात् त्यागमो ग्रहण न भवतीत्याह—स्यादावित्येवेत्यादि । अचिनवम् इति । अत्र आदौ “समानादमोत” इत्यमोऽकारस्यापि इह लुप्त भवति, तत्रापि स्यादधिकारात् । नन्वत्र अतो इत्यभावे “समानानाम्” इति वीर्यत्वे वा इत्यादिसिद्धावपि तद्विना पुच्छिहे वीच्छिहे च “शसोऽता०” इति “लुगतो०” इति च प्रवर्तयताम्, ततश्च गान्, ग इत्याद्यनिष्ठ स्यात् । तत्सर्वत्वे तु “शसोऽता०” इति वीर्यसंनियोग एव नकारस्य विधीयमानत्वाददोषः ॥ ७५ ॥

पथिन्मथिन्मुक्षः सौ । अत्र वा इत्यनुवर्तते, पथिन्मथिन्मुक्षः सौ वा इत्यन्वयः । समाहारद्वन्द्वात् षष्ठीति समाहारेण समाहार्युप-लक्षणमित्याह—पथिन्मथिन् इत्यादि । पथिन् इत्यादीनां नकारान्तानां सूत्रे समुपादानात् “वषष्ठा अन्त्यस्य” इति न्यायात्त्याह—नकारान्ता-नामन्तस्येति । पन्थाः इत्यादि । “पथे गतो, ‘मन्थश्’ विलोढने इत्याभ्यां “पथिन्मथिन्मथाम्” उणा० १२६१ इति कितीन्प्रत्यये-पथिन्, १९ मथिन्, “अतैर्मुक्षिन्” उणा० १२२१ इति “ऋक्” गतो, घातोर्मुक्षिन्कि-ऋमुक्षिन् । एभ्य सौ “थो न्” इति न्याऽऽदेशे, “ए” इतीकार-स्याकारेऽनेन नकारस्याकारे, “समानानाम्” इति वीर्यदेशे च सिध्यति । बहुऋमुक्षा इति । “ऋद्विति ह्रस्वो वा” इति० ह्रस्व, वीत्वाभावात् “इन कच्” ७३१७०० इति कच् न भवति । पन्थानौ इति । अत्र सेरभावात् नाऽऽत्वम् । कथमिति । हे सुपथिन् ! इत्यादौ “नामकृते” इति नलो-४२ पस्य प्रतिषेधात् ऋत्वे च “ऋत्वे वा” इत्यनेन पाक्षिकत्वात् नकारान्तत्वादनेनाऽऽकार कलाञ्च भवतीति षड्वर्त्य । समापत्ते—अत्रेत्यादि । अयमर्थः—कृताकृतप्रसङ्गित्वेन “अनतो ल्यप्” इति आकारात् पूर्व सेल्लत्वात् “ल्यप्पृच्छेत्” ७३११११ इति स्थानिवद्भावस्य प्रतिषेधात् सेर-

हे सुपथि कुल !, हे सुमथिन् !, हे सुमथि कुल !-अत्र नित्यत्वात् न पुंसकलक्षणायाः सेल्लेपि सेरमावात् न भवति । नकारान्तनिर्देशादिह न भवति-पन्थानमिच्छति क्यनि, नलोपे, किपि च-पथीः, एवं मयीः, ऋमुक्षीः ॥ ७६ ॥

एः ॥ १ । ४ । ७७ ॥

पथ्यादीनां नकारान्तानामिकारस्य घुटि परे आकारो भवति । पन्थाः, पन्थानौ, पन्थानः, पन्थानम्, पन्थानौ; मन्थाः, मन्थानौ, मन्थानः, मन्थानम्, मन्थानौ; ऋमुक्षाः, ऋमुक्षाणौ, ऋमुक्षाणः, ऋमुक्षाणम्, ऋमुक्षाणौ; सुपन्थानि वनानि-“पूजास्वतेः प्राक् यात्” ॥ ७ । ३ । ७२ ॥ इति समासान्तप्रतिषेधः, बहुमन्थानि कुलानि, अनृमुक्षाणि घलानि, सुपन्थानौ, परममन्थानौ । नकारान्तनिर्देशादेरमावात् चेह न भवति-पन्थानमिच्छति क्यन्, किप्-पथ्यौ, पथ्यः, पथ्यम् । घुटीत्येव ? सुपथी वने, पथिम्याम्, सुमथी कुले, मथिम्याम् ॥ ७७ ॥

थो न्थ् ॥ १ । ४ । ७८ ॥

पथिन् मथिन् इत्येतयोर्नकारान्तयोश्चकारस्य स्थाने घुटि परे न्थ् इत्ययमादेशो भवति । तथैवोदाहृतम् । घुटी-त्येव ? सुपथी, बहुपथी कुले, पथः पथ्य ॥ ७८ ॥

इन् डीस्वरे लुक् ॥ १ । ४ । ७९ ॥

पथ्यादीनां नकारान्तानां डीप्रत्यये अघुटस्वरादौ च स्यादौ परे इन् अवयवो लुक् भवति । सुपथी स्त्री कुले वा,

भावात् सौ विधीयमान आकारो न भवति । नकारान्तनिर्देशादिति । पन्थानमिच्छति “अमाव्या०” इति क्यनि नलोपे धीर्घत्वे पर्यायते किपि, १५ “अत” ४।३।८२। इत्यलोपे, “ध्वो ष्व०” इति यलोपे-पथी, नकारान्तनिर्देशादनकारान्तत्वात् नेह भवतीत्यर्थः । सुखाकरस्तु अकारलोपस्य स्थानियद्भावाद् व्यवधानादनर्थक्याय न भवतीति मन्यते । येन ध्वोर्नार्थवान् पथिशब्दो लोके न तेन पथी । व्याकरणे ‘रूपं रूपवर्धोऽप्यङ्गीक्रियते’ इति स्व रूपमित्यत्र रूपावधारणसमये परिगृहीयते । न च तस्य क्यप्रत्ययं चमवी, पथिन् इत्येतस्यातदर्थत्वात् । अत एवोच्यते-अर्थान्तरसंक्रमितो- १८ ऽनर्थकानभिधते । तदा तु नकारान्तनिर्देशात् पथिन्शब्दस्यायवतो प्रहणादनकारान्तस्य पथीत्येतस्य तदर्थभावेऽनर्थकत्वात् न भवतीति व्याख्यायते । पन्था इत्यादौ सागुनासिकस्याप्यादेशो भवन् “लि लौ” इत्यत्र द्विवचनेनैव शापितत्वात् शुद्धस्योच्चारणाद् वा निरनुनासिक एव भवति । पथीरित्यत्र “धीर्घश्चि०” इति परे कार्ये “नाम्नो नो०” इत्यसत्त्वं न वाच्यम्, “रात् स” इति शब्ददसत्पर इत्यधिकृतत्वेन तस्मात् परत्र वर्तमाने “नाम्नो नो०” २१ इत्यत्र तदनधिकाराददोषः । नन्वेनैव आत्वरूपे स्यादिविधौ विधातव्ये नलोपस्यासिद्धत्वात् नान्तत्वमस्ति, न च वाच्यम् “अत” इत्यल्लुक् “स्वरस्य परे०” इति स्थानियद्भावेन नान्तत्वानुपपत्तिरिति, यत -प्रत्यासत्तेर्यसिमितो लुक् विधिरपि यदि तस्मिन्मिती भवतीति व्याख्यानात् । अत्र तु अस्य लुक् किपि, आत्वं तु सौ प्रत्यये प्राप्नोतीति कृत्वात्र नान्तत्वमस्त्येवेति प्राप्नोत्यात्वम्, सत्यम्, नान्तेति व्यावृत्तिबलादेव न भवति, अन्यथा यत्र २४ कुत्रापि नलोपस्तत्र सर्वत्राप्यमीषा पथ्यादीनामनेनात्वलक्षणे स्यादिविधौ कर्तव्ये “णयमसत् परे०” इति न्यायेन नलोपस्यासिद्धत्वे नान्तत्वसङ्गा-वादेनेनाऽऽत्वं भवेदेवेति अत्र सूत्रे नान्तनिर्देशोऽनर्थकः स्यात् । तस्माद्यत्र साक्षान्नान्तत्वमस्तीषां भवति तत्रैव प्रवर्ततेऽन्यत्र तु व्यावृत्तिरिति धर्षं सतीचीनम् । एव तर्हि “धीर्घश्चि०” इति सूत्रेण सेल्लेक् कस्मात् न भवति ? यतोऽयमपि स्यादिविधिः, स्यादिविधौ च नलोपोऽसत् भवतीति २७ सत्यम्, “धीर्घश्चि०” इत्यत्र सावधारण व्याख्येयम्-व्यञ्जनान्तादेव यदि सिर्भवतीति, विहितविशेषणाद् वा, -यत्र एभ्य पर सिर्हिदितो भवति तत्र लुक् भवति, अत्र त्वीकारान्ताद् विहितो न व्यञ्जनान्तात् इति । एव तर्हि या सा इत्येवमादिषु च सेल्लेक् न प्राप्नोति, सत्यम्, यत्रैतेषां मध्यादेकस्माद् विहितो भवति, कार्यान्तरेषु च कृतेष्वेतेषामेव मध्येऽन्यतमस्मात् परो भवति तत्रापि भवति, तेनानयो प्रयोगयोर्व्यञ्जनान्तात् परो ३० विहित कार्यान्तरेषु च सत्तु विद्यते आगन्तादिति सेल्लेक् भवत्येव । य स इत्यनयोस्तु व्यञ्जनान्तात् विहितोऽस्ति परे “आद्विरे,” इत्यादिकार्येषु कृतेषु सत्तु पश्चादमीषां मध्यादेकस्मादपि परो नास्तीति न सेल्लेक् ॥ ७६ ॥

एः । अत्र पथिन्मथिन्मुक्ष इति आ इति चानुवर्तते, घुटीत्यधिक्रियते, पथिन्मथिन्मुक्ष ए घुटि आ इत्यन्वयस्त्वदाह-पथ्यादीना- ३३ मिति । पथ्यादीनामेकारस्यासंभवाद् एरिति इकारात् षष्ठीत्याह-इकारस्येति । पन्थानौ इत्यादि । पथिन् औ इति स्थितेऽनेनात्वे न्यादेशो “नि धीर्घे” इति धीर्घे च रूपम् । एव पन्थान इत्यादि । सुपन्थानि वनानि इति । सु-शोभन पन्था येष्विति विग्रहे जसि रूपम्, अत्र “ऋक् ०” इति समासान्तो न भवतीत्याह-“पूजास्वतेः” इत्यादि । बहुमन्थानि-बहुवो मन्थानो येषु तानीति विग्रहः । अनृमुक्षाणि ३६ बलानीति । अविशमान ऋमुक्षा स्वामी येषु तानीत्यर्थः । पथ्यौ इत्यादिषु इकारस्यात्वमनेन कथं न भवतीत्याह-नकारान्तनिर्देशा-देरमावादिति । सुपथी वने इति । सु-शोभन पन्था अनयोमिति विग्रहः । घुटीति वचनात् नपुंसकप्रथमाद्वितीयद्विवचने न भवत्यनेनेकार-स्याऽऽकार । पथिम्याम् इति । नलोपे रूपम् ॥ ७७ ॥

थो न्थ् । घुटि इत्यधिक्रियते । अकारस्याभावाद्दुष्प्रवृत्तये पथिन्मथिन्शब्दयोश्च भावादाह-पथिन् मथिन् इत्येतयोरित्यादि । ३९ अनेकवर्णत्वात् सर्वस्य प्राप्ती य इति स्थानिविशेषार्थमृभुक्षिनिवृत्त्यर्थं च । उदाहरणं तु पूर्वपुष्पमेवेत्याह-तथैवोदाहृतमिति ॥ ७८ ॥

इन् डीस्वरे लुक् । अत्र पथिन्मथिन्मुक्ष इत्यनुवर्तते, पथिन्मथिन्मुक्ष इन् लुक् डीस्वरे इत्यन्वयस्त्वदाह-पथ्यादीनामित्यादि । ४२ डीसाहचर्यात् अघुटीति स्वर इत्यस्य विशेषण ज्ञेयम्, तर्हि स्यादिमन्तरेणापि प्राप्नोतीति न वाच्यम्, स्यादधिकाराभ्रयणात् डीप्रहणस्य वैयर्थ्यप्रस- ४३ ज्ञात् । निमित्तविशेषानुपादाने घुटीत्यधिकारस्य निर्णीतत्वात् स्वर इति निमित्तविशेषोपादानात् घुटि च पथ्यादीनामिनो विशेषविधिविषयत्वाद्दुट्स्वर एवेत्यवसीयते इत्याह-अघुट्स्वरादाविति । डीप्रत्यये समुदाहरति-सुपथी स्त्री कुले वा इति । सु-शोभन पन्था यस्या ययोरिति विग्रहः । ४४ “ऋक् ० पथ्योऽत्” ७।३।७६ इति समासान्तस्य “पूजास्वते ०” इति प्रतिषेधात्, उणादीनामन्युत्पन्नपथस्याश्रयणादिघ्नत्वाभावाद् “इन्

पथः, पथा, पथे, पथः २, पथोः २, पथाम्, पथि, एवं सुमथी स्त्री कुले वा, मथः, मथा; अनृमुक्षी सेना कुले वा, ऋमुक्षः, ऋमुक्षा । अमेदनिर्देशः सर्वाऽऽदेशार्थः ॥ ७९ ॥

वोशनसो नश्चामन्त्र्ये सौ ॥ १ । ४ । ८० ॥

३

आमन्त्र्येऽर्थे वर्तमानस्योशनसश्चन्दस्य सौ परे नकारो लुक् चान्तादेशौ वा भवतः । हे उशनन् !, हे उशन !; पक्षे— हे उशनः !, आमन्त्र्य इति किम् ? उशना । साविति किम् ? हे उशनसौ ! ॥ ८० ॥

उतोऽनडुच्चतुरो वः ॥ १ । ४ । ८१ ॥

६

अनडुह् चतुर इत्येतयोरामन्त्र्येऽर्थे वर्तमानयोस्वरस्य सौ परे व इति सस्वरवकाराऽऽदेशो भवति । हे अनडुन् !, हे प्रियानडुन् !, हे अतिचत्वः !, हे प्रियचत्वः ! । आमन्त्र्य इत्येव ? अनडुन्, प्रियचत्वाः । सावित्येव ? हे अनडुहौ !, हे प्रियचत्वारः ! ॥ ८१ ॥

९

वाः शेषे ॥ १ । ४ । ८२ ॥

आमन्त्र्यार्थविहितात् सेरन्यो धुद् ईह शेषः, तस्मिन् परेऽनडुह्चतुरित्येतयोस्वरस्य वा इत्याकारान्तो वकार आदेशो भवति । अनडुन्, अनडुहौ, अनडुहः, अनडुहम्, अनडुहौ, प्रियानडुहौ कुलानि, प्रियचत्वाः, प्रियचत्वारौ, प्रियचत्वारः, १२ प्रियचत्वारम्, प्रियचत्वारौ; चत्वारि, चत्वारः । शेष इति किम् ? हे प्रियानडुन् !, हे प्रियचत्वः ! । धुटीत्येव ? अनडुहः पश्य, चतुरः पश्य । प्रियानडुही कुले, प्रियचतुरी कुले, इह शेषे धुटि वाऽऽदेशविधानात् पूर्वत्रामन्त्र्ये साविति सम्बध्यते ॥ ८२ ॥

सख्युरितोऽशावैत् ॥ १ । ३ । ८३ ॥

१५

सखिशब्दस्येकारान्तस्य तत्संबन्धिन्यन्यसंबन्धिनि वा शिवर्जिते शेषे धुटि परे ऐकारान्तादेशो भवति । सखायौ,

कृच्छ्र” ७।३।१७०। इत्यस्याप्यप्रवृत्तेर्नान्तत्वात् “स्त्रियां नृतो०” इति व्या कुलविशेषणत्वे नपुंसकत्वात् “औरी” १।४।५६। इति ईकारे वाऽनेन इनो लुक् । एव सुमथीत्यादावपि । मथ इत्यादि । मथिन्शब्दस्याधुदस्वरस्य सौ इनोऽनेन लुक् । अनृमुक्षी सेनाकुले वा इति । १८ अविद्यमान ऋमुक्षा यस्या ययोर्वेति विग्रह । अमेदनिर्देश इति । मेदनिर्देशे हि “षष्ठा अन्त्यस्य” इति नलोप स्यादित्यर्थः ॥ ७९ ॥

वोशनसो नश्चामन्त्र्ये । आमन्त्र्ये उशनस सौ नकार च लुक् वा इत्यन्वयस्तदाह—आमन्त्र्येऽर्थे वर्तमानस्येत्यादि । नकारादादेशात् श्रुतवकारोऽन्यस्यासम्भवात् पूर्वसूत्रोपात्तं लुक्लक्षणमादेशान्तरं समुच्चिनोति इत्याह—नकार इत्यादि । “वशक्” कान्तावित्यस्मात् “वधे २१ कनस्” उणा० १।८५। इति कनसि “वशेरयसि” ४।१।८३। इति ष्टिति—उशनस्, तत्र आमन्त्र्यसावनेनान्तस्य नकारलोपयो कृतयो “धीर्घव्याच्” इति “अदेत स्यमो०” इति च सेलोपे, तद्विसृष्टपक्षे च सिलोपस्यादादी रूपत्रयम् । तदर्थयति—हे उशनन् ! इत्यादि । उशना इति । अत्र सेरामन्त्र्यमावात् न नकारलोपो । हे उशनसौ ! इति । अत्र सेरमावात् न नकारलोपो ॥ ८० ॥

२४

उतोऽनडुच्चतुरो वः । आमन्त्र्ये सौ इत्यनुवर्तते । आमन्त्र्ये अनडुह्चतुर उत सौ व इत्यन्वयस्तदाह—अनडुह्चतुर इत्येतयो—रित्यादि । यद्यपि निमित्तविशेषाजुपादाने धुटीलधिक्रियते, तथाप्युत्तरत्र शेषप्रहरणमादात्मन्यसिरेवानुवर्तते । सूत्रे सस्वरस्य निर्देशादुत्तरत्र वाऽऽदेशस्य सस्वरस्य विधानात् तत्रास्मात्वात् सस्वर एव भवतीत्याह—व इति सस्वरेत्यादि । हे प्रियानडुन् ! इति । प्रिया अनडुहौ यस्येत्येकत्वे कचूप्रस-२७ ज्ञाद् बहुत्वेन विग्रह । चतु शब्दस्यार्थप्राधान्येन एकामन्त्रणासम्भवे चतु शब्द उपसर्जनसमास एवोदाह्रियते । बहुव्रीहौ चतु शब्द प्रियशब्दादेवोत्तरं सम्भवति, “प्रिय” ३।१।१५७। इति पूर्वनिपातारम्भात् । अन्यत्र तु “विशेषण सर्वादिसंख्य०” ३।१।१५०। इति चतु शब्दस्यैव पूर्वनिपातं सम्भवतीत्युदाहरति—हे प्रियचत्वः ! इति । सत्यपि “नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्य” इति हे अनडुहीत्यत्र गौरादिनिपातनाद् वत्त्वाभाव । ३० एवमुत्तरत्रापि ॥ ८१ ॥

वाः शेषे । उतोऽनडुच्चतुर इत्यनुवर्तते । शेषे अनडुह्चतुर उतो वा इत्यन्वयः । उपयुक्तादयं शेष उच्यते । उपयुक्त्यैव पूर्वसूत्रे आमन्त्र्य सिरेव अत आह—आमन्त्र्यार्थविहितादित्यादि । अनडुह् इति । अनडुह् स इति स्थिते वादेश, नागम, सिलुक्, संयोगान्तलोपश्च । ३१ अनडुहौ इति । शेषधुदत्वाद् वाऽऽदेश, नागमस्तु न, तस्य सावेव विधानात् । एवमन्यदपि । प्रियानडुहौ इति । प्रिया अनडुहौ येषां कुलानामिति विग्रहे धुटि सौ रूपम् । प्रियचत्वाः इति । प्रियाचत्वारो यस्येति विग्रहेऽनेन वादेशे सिलुकि कत्वविसर्गयोश्च रूपम् । हे प्रियानडुन् ! इति । आमन्त्र्ये शेषधुदत्वाभावात् पूर्वैव वत्त्वे नागमे सिलोप । अनडुह् इति । शसादौ खरे अविहृत एव अनडुह्शब्द इति ३३ भाव । एव चतुर इत्यपि । पूर्वसूत्रे आमन्त्र्यसाविति संबन्धे हेतुमाह—इह शेषे धुटीत्यादि । अत्र सूत्रे शेषस्य धुटि आग्रातत्वात् एतत्सूत्रमुक्तं प्राक्तनसूत्रविषय इति भावः ॥ ८२ ॥

सख्युरितोऽशावैत् । अत्र शेषे धुटीलधिक्रियते । सख्यु, इत अशौ शेषे धुटि ऐत् इत्यन्वयः । इत इति सख्युरित्यस्य स्थानि-३९ त्वेन विशेषणमित्याह—सखिशब्दस्येत्यादि । सखिशब्दात् प्रथमाया द्विवचनादौ धुटि अनेन ऐकारे आयादेशो च—सखायावित्यादि । प्रथमै-

सखायः, सखायम्, सखायौ, हे सखायौ!, हे सखायः!, सुसखायौ, प्रियसखायः। अशाविति किम्? अतिसखीनि कुलानि, प्रियसखीनि कुलानि तिष्ठन्ति, पश्य वा । इत इति किम्? इमे सख्यौ । सखीयतीति क्यनि, किपि-सख्यौ, सख्यः । घुटीत्येव? सखीन्, सख्या । शेष इत्येव? हे सखे! । इदमेवेद्ग्रहणं ज्ञापयति-‘नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्’ ‘एकदेशविकृतमनन्यवद्’ इति च ॥ ८३ ॥

ऋदुशनस्पुरुदंशोऽनेहसश्च सेडा ॥ १ । ४ । ८४ ॥

५ ऋकारान्तात् उशनस् पुरुदशस् अनेहस् इत्येतैभ्यः सख्युरितश्च परस्य शेषस्य सेः स्थाने डा इत्ययमादेशो भवति । पिता, अतिपिता, कर्ता, उशना, पुरुदशा, अनेहा, सखा, अत्युशना, प्रियपुरुदशा, अत्यनेहा, किंसखा, सुसखा, प्रियसखा । सख्युरित इत्येव? इय सखी, सखीयतेः किप्-सखीः । सेरिति किम्? उशनसौ सखायौ । शेषस्येव? हे कर्ता!, हे उशनन्!, हे उशन!, हे उशनः!, हे पुरुदशः!, हे अनेहः!, हे सखे! ॥ ८४ ॥

नि दीर्घः ॥ १ । ४ । ८५ ॥

शेषे घुटि परे यो नकारस्तस्मिन् परे पूर्वस्य स्वरस्य दीर्घो भवति । राजा, राजानौ, राजानः, राजानम्, राजानौ; सीमा, सीमानौ, सीमानः, सीमानम्, सीमानौ; सामानि, दामानि, लोमानि, वनानि, धनानि, दधीनि, मधूनि, कट्वेणि; हर्तृणि । नीति किम्? दृषद्, दृषदौ, दृषदः । ‘स्वरस्य ह्रस्वदीर्घद्व्युताः’ इति सुगम्यतेः किप्-सुक्, सुग्, सुग्मौ, सुग्मः-इत्यत्र घकारस्य दीर्घो न भवति । घुटीत्येव? चर्मणा, वारिणी, मधुनी । शेष इत्येव? हे राजन्!, हे सीमन्! ॥ ८५ ॥

न्सहतोः ॥ १ । ४ । ८६ ॥

१५ न्सन्तस्य महच्छब्दस्य च संबन्धिनः स्वरस्य शेषे घुटि परे दीर्घो भवति । श्रेयान्, श्रेयांसौ, श्रेयांसः, श्रेयांसम्, श्रेयांसौ, परमश्रेयान्, अतिश्रेयान्, प्रियश्रेयान्; श्रेयांसि, यशांसि, सर्पांसि, धनूंसि, प्रियपुमांसि कुलानि; महान्,

१८ कवचने “ऋदुशनस्पुरुदशो” इति विशेषेण ऋदेशविधानात् नोदाहृतम् । अशाविति किम्? सूत्रेऽशावित्यस्य किम्प्रयोजनमित्यर्थः । अयं शौ सति ‘आदेशादागम’ इति-न्यायात् ऐत्वात् प्रथममेव नागमेन भाव्यम्, ततस्तेन व्यवधानादेकारो न भविष्यतीति । न च द्वयोरप्यन्यत्र साध-काशात्वादेकार स्यादिति धाच्यम्, कृतेऽप्येकारे “क्षीने” २।१।१।७। इति ह्रस्वत्वे ततो नागमे दीर्घत्वे न कश्चिद्दोषः, नैवम्, ‘असिद्ध बहिरप्रम्’ २। इति बुद्धिमितिसौकारस्य बहिरप्रत्वात् ह्रस्वत्वे कर्तव्येऽसिद्धत्वात् । ननु भवत्वेव तथापि कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नित्यत्वात् पूर्व नागम इति बुद्ध-व्यवधायको भविष्यति, नैवम्, कृतेऽपि नागमे प्रकृतिभक्तत्वेनाव्यवधायकत्वात् ऐकारोऽपि नित्य इति द्वयोर्नित्ययोः परत्वादेकार एव स्यादिति शिप्रतिषेधः । अतिसखीनि इति । पूजित सखा शेषकुलेष्विति विग्रहः, अशाविति वचनात् न भवत्येत्थम् । सख्याविति । “नारीसखी- २४ पंगुत्वम्” इति निपातनात् सखी, ततो द्विवचनम्, सत्यपि ‘नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्येति’ एकदेशविकृतमनन्यवत्त्वेऽपि इति च इत इति वचनात् न भवति । अनयोश्च न्याययोरस्तित्वे ज्ञापकमुपदर्शयति-इदमेवेत्यादि ॥ ८३ ॥

ऋदुशनस्पुरुदंशोऽनेहसश्च सेडा । ऋदुशनस्पुरुदशोऽनेहस् इति समाहारद्वन्द्वात् पञ्चमी । अनेहसोऽनन्तरं श्रूयमायेन चका- २७ रेण पूर्वसूत्रोपात्त सख्युरित इति संनिहितत्वात् समुचीयते । सेरित्यत्राऽनुशत शेषे इति ध्वन्यन्ततया विपरिणम्याभिव्यक्तव्यते । ऋकारान्तस्य “अर्हौ च” इति अरि प्राप्ते, उशनस्पुरुदशोऽनेहसा “दीर्घव्याव्” इति सिलोपे, “अन्मादे” इति दीर्घत्वे, “सो व” इति क्त्वे, विगोचं च प्राप्ते, सखि-शब्दस्य तु ऐत्वे प्राप्ते ङाऽऽरम्भ । ङकारो “डिलन्त्यस्वरादे” इति विशेषणार्थः । सूत्रार्थमाह-ऋकारान्तादित्यादिना । पिता इति । पितृ-शब्दात् सेरनेन ऋदेशोऽन्यस्वरादिलोपः । एवमन्यत्रापि । उशनसाथन्तसुदाहरति-अत्युशना इत्यादि । किंसखा इति । कुत्तित सखा इति विग्रहः । सुसखा इति । पूजित सखेति प्रादिसमासः । सखी इति । ह्रस्वेकारात् परत्वाभावाद्देनेन सेडा न भवति । एवं सखी-रित्यत्रापि । उशनसावित्यादि । अत्र सेरमावाद्देनेन ऋदेशो न । सेरित्यत्र शेषस्येति विशेषणार्थः हे कर्तुं इत्यादौ ङाऽऽदेशमात्र इत्याह- ३३ शेषस्येत्येव इत्यादि ॥ ८४ ॥

नि दीर्घः । शेषे घुटीत्यधिक्रियते । नीति सप्तम्या पूर्वस्य इत्युपतिष्ठते “सप्तम्या पूर्वस्य” इति न्यायात् । दीर्घ इति श्रुत्या ‘स्वरस्य ह्रस्व-दीर्घद्व्युता’ इति न्यायेन स्वरस्येत्युपस्थितिः । शेषे घुटि निपूर्वस्य स्वरस्य दीर्घ इत्यन्वयस्त्वदाह-शेषे घुटि इत्यादिना । घुटि इति नीलस्यधार ३६ इत्याह-घुटि परे यो नकारस्तस्मिन्निति । राजा इति । राजन् स् इति स्थिते स्यादिविधौ कर्तव्ये नलोपस्यासत्त्वात् प्रथमं सुगमावे दीर्घं सति सिलोपादि । एवमन्यत्रापि । दामानि इत्यादि । जस्वासादेशस्य शेर्षुद्रत्वात् तत्परं नकारे पूर्वस्य स्वरस्य दीर्घः । स्वरस्येति । अयमभिप्रायः-“एकद्वित्रिमात्रा ह्रस्वदीर्घद्व्युता” इति खरा इत्यनेन संहितायां पञ्चमं प्रथमाव्याख्यानात् ‘ह्रस्वदीर्घद्व्युता खराणां स्थाने भवन्तीति’ परिभाषा- ३९ विज्ञानात् ‘अवर्णकवर्णद्विसर्गा कप्प्या’ इति सुप् इत्यत्र सत्यपि घकारकण्ठत्वे दीर्घो न भवतीति । सुगम्यतेः किप् इति । सुच हन्तीति “अचित्ते टक्” ५।१।८३ इति टकि, “अमहनजनम्” ४।२।४४ इत्यकारलोपे, “ह्नो ह्यो व” २।१।११ इति प्रादेशो-सुगम्यमाचष्टे “गिज् बहुलम्” इति गिजन्तात् किप्, तत सौ, तलुकि, नलोपे, यदस्येति घलोपे च प्रथमतस्त्वत् तदाह-सुक्, सुग् इति ॥ ८५ ॥

४२ न्समहतोः । शेषे घुटि इत्यधिक्रियते । दीर्घ इत्यनुवर्तते, तथा च स्वरस्येत्युपतिष्ठते । न्समहतो स्वरस्य शेषे घुटि दीर्घ इत्यन्वयः । न्स् इत्यत्र स्वरस्यासम्भवात् घुटा प्रत्ययेन स्यादित्वादाक्षिप्तं नाम विशिष्यते, विशेषणार्थं तदन्तविधिः । महच्छब्दस्य च खरोऽस्त्येव, न तत्र विशेषणार्थं तदन्तविधिरित्याह-न्सन्तस्येत्यादि । महच्छब्दस्त्वौणादिको व्युत्पन्नोऽप्युपयो वा “हृदिहृदिहृदि” इति कर्तृप्रत्ययान्तो गासः । शत्रन्तस्य तु



महान्तौ, महान्तः, महान्तम्, महान्तौ; परममहान्, अतिमहान्, प्रियमहान्, महान्ति । महत्साहचर्यात् शुद्धधातोः किब-  
न्तस्य न भवति—सुहिसौ, सुहिसः; सुकंसौ, सुकंसः । नामधातोस्तु भवत्येव—श्रेयस्यति, मेहत्यतीति किपि—श्रेयात्,  
महान् । घृटीत्येव ? श्रेयसः, महतः पश्य; श्रेयसी, महती कुले । शेष इत्येव ? हे श्रेयन् ! हे महन् ! ॥ ८६ ॥

इन्हन्पूर्वार्थम्णः शिष्योः ॥ १ । ४ । ८७ ॥

इनन्तस्य हनादीनां च संबन्धिनः स्वरस्य शौ शेषे सौ च परे दीर्घो भवति । दण्डीनि, स्रग्वीणि, वाग्मीनि  
कुलानि; दण्डी, स्रग्वी, वाग्मी, भ्रूणहानि, बहुवृत्रहाणि; भ्रूणहा, वृत्रहा; बहुपूषाणि, पूषा, स्वर्यमाणि, अर्यमा; “नि  
दीर्घः” ॥ १ । ४ । ८५ ॥ इति सिद्धे नियमार्थं वचनम्, एषां शिष्योरेव यथा स्यात् नान्यत्र—दण्डिनौ, दण्डिनः,  
दण्डिनम्; वृत्रहणौ, वृत्रहणः, वृत्रहणम्; पूषणौ, पूषणः, पूषणम्; अर्यमणौ, अर्यमणः, अर्यमणम् । शेष इत्येव ? हे  
दण्डिन् !, हे वृत्रहन् !, हे पूषन् !, हे अर्यमन् ! । ‘अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य’ इति ग्रीहानौ, ग्रीहानः ग्रीहानमित्यत्र ९

महतोऽनेन दीर्घो ‘लक्षणप्रतिपदोक्तयो’ इति न्यायात् न भवति । यत् धातुप्रत्ययान्त महदिति रूप लाक्षणिक, कर्तृप्रत्ययान्त तु प्रतिपदोक्तम् । एतच्च  
वत्सक्यमावृत्तम् । श्रेयात् इत्यादि । श्रेयसशब्दात् शेषे घुटि “ऋदुदित” इति नागमे श्रेयन् इति न्न्तस्य संबन्धिन स्वरस्यानेन शेषे  
घुटि दीर्घः । एवमन्यत्रापि । नपुसके जस्सासारेणो धातुदाहरति—श्रेयांसि, यशांसि इति । दीर्घे सति “शिद्देऽनुस्वार” इत्यनुस्वारः । १२  
सर्पांसि इति । अत्र “न्यसृहो” इत्यनेन दीर्घलक्षणे स्यादिविधौ विधातव्ये “णभसत् परे” इत्यनेन पत्वस्यासत्त्वे सति न्न्तत्वादानेन दीर्घः,  
अन्यथा न्न्तत्वाद् दीर्घो न स्यात् । महच्छब्दस्योदाहरणान्याह—महान् इत्यादि । महच्छब्दच्छेपे घुटि नागमे सति स्वाङ्गस्याव्यवधायकत्वात्  
अनेन दीर्घे सिलोपे पदस्येति तकारलोपः । ‘हिष्ठ’ हिंसायाम्, उदित्वाद्यागम, सुपूर्वात् किप्, “शिद्दे” इत्यनुस्वार सुहिसशब्दात् सोर्द्ध्वा १५  
सक्ररस्य संयोगान्तलोपः । तस्यासत्त्वाच्चलोपो न । निमित्तापायादनुस्वारनिवृत्तिः । सुहिन् इति रूप सौ भवति, सुहु हिनस्तीत्यर्थः । एव सुहिंसौ  
इत्यादि । एवं सुष्ठु कंले इति सुकन् सुकंसौ, सुकंसः इत्यादि भवति । अत्र न्न्तत्वादीर्घः कथं न भवतीत्याह—महत्साहचर्यादिति ।  
महदिति शुद्धो धातु किबन्तो न भवति, तत्साहचर्यादन्यस्यापि शुद्धधातोः किबन्तस्य न भवति । नामधातुस्तु महदपि किबन्तः भवति, अतो—१८  
ऽन्यस्यापि धातोः किबन्तस्य भवति । महच्छब्दस्वाचक्षमात्वं न व्यभिचरति, तत्सन्निधौ शिष्टस्य न्न्तत्वापि नामत्वाव्यभिचारिण एव ग्रहणम् ।  
महती कुले इति । श्रेयसः पश्य, श्रेयसी कुले इति न दर्शये, न्न्तत्वाभावेन ब्रह्मविकल्पात् ॥ ८६ ॥

इन्हन्पूर्वार्थम्णः शिष्योः । दीर्घ इत्यनुवर्तते, तत्पदध्रुवा स्वरस्येत्युपतिष्ठते । शेषे इत्यधिकृत सावित्यनेनान्वेति न शौ इत्यनेन, २१  
व्यभिचाराभावात् । इन्हन्पूर्वार्थम्णः स्वरस्य शौ शेषे सौ च दीर्घ इत्यन्वयः । इन प्रत्ययत्वेन केवलस्यासम्भवेन तदन्तस्य ग्रहणमित्याह—  
इन्नन्तस्येति । दण्डीनि इति । दण्डोऽस्त्येषामिति “अतोऽनेकखरात्” ७।२।६। इतीनि, जस्सासौ शौ, अनेन दीर्घत्वे रूपम् । स्रग्वीणि इति ।  
स्रज्यते पुनरिति विग्रहे “कुत्सपदादिभ्यः किप्” ५।३।११।४। इति किपि “ऋत्विज्दिश” २।१।६।९। इति स्रजपाठाद् ऋतो रत्वे स्रज्, साऽस्ति २४  
येषामिति “अस्तपोमायामेषास्रजो निम्” ७।२।४।७। इति निनि पूर्ववत् जसादौ रूपम् । वाग्मीनि इति । प्रशस्ता वागेषामस्तीति “गिम्”  
७।२।२।५। इति गिमिनि, शेष पूर्ववत् । सृजे हन् इति हन्ते किबन्तस्येदं ग्रहणम् । न च हन्ते केवलस्य किप् दृश्यते इति तदन्तमुदाहरति—भ्रूण-  
हानि इत्यादि । भ्रूणपूर्वादान्ते “ब्रह्मभ्रूणवृत्रात्” ५।१।१६।१। इति किप् पूर्ववज्जसादि । बहुवृत्रहाणि इति । बहवो वृत्रहणो येऽहु कृतेषु २७  
इति बहुमीहि । पूर्वार्थम्णे स्वप्रधानायां वृत्तौ शेरसंभवात् तौ समासे उपसर्जनभूतावुदाहरति—बहुपूषाणीत्यादि । ननु इच्छादीनां नान्त-  
त्वात् शिष्योर्बुद्धत्वात् “नि दीर्घः” इत्येव दीर्घः सिध्यति किमनेनेति, उच्यते—‘सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय’ इति नियमार्थत्वादित्याह—“नि दीर्घः”  
इति सिद्धे इत्यादिना । नियमबोधे द्विधा संभवति—इन्हन्पूर्वार्थम्णां शिष्योरेव, इन्हन्पूर्वार्थम्णामेव शिष्योरिति । तत्र पाश्चात्ये नियमे शिष्योर्- ३०  
कादिभ्योऽन्येषां दीर्घनिवृत्तिरिच्छादीनां पुनः सर्वत्र दीर्घप्रवृत्तिरिति । “नि वा” अभ्यादेरत्वस्य सौ इति च इत्यादिभ्योऽन्यस्य शिष्योर्दीर्घारम्भोऽन-  
र्थकः स्यात्, तस्मात् पूर्वकथित एव नियम इत्याह—एषामित्यादि । यथेषां शिष्योरेव दीर्घ इति नियमसामर्थ्यादेव दीर्घो न भविष्यति तर्हि  
किमर्थम् “अहन्पक्षमस्य” ४।१।१०।७। इत्यत्र हन्वर्जनेन ? न च बुद्धप्रकरणत्वात् ध्रुव्येव दीर्घस्य नियमेन निवृत्त्या नान्यत्रेति वृत्रहणीति सप्त- ३३  
म्येकवचने “इहौ वा” इत्यहोपाभावपक्षे “अहन्पक्षमस्य किञ्चित्” इति दीर्घप्रसङ्ग इति वाच्यम्, योगविभागात्—“इन्हन्पूर्वार्थम्णः” इत्येको  
योगः, शिष्योरिति द्वितीयः । तत्र पूर्वोक्तयोगेन घृटीत्यनुवर्तनात् इच्छादीनां “नि दीर्घः” इति “अहन्पक्षमस्य” इति च दीर्घत्वं प्राप्तं, ध्रुव्येव दीर्घो  
भवतीति नियमात् वृत्रहणीत्यादौ सप्तम्या दीर्घो निवर्तते, द्वितीयेन तु, वृत्रहणावित्यादौ बुद्धलक्षणः । एकयोगेऽप्यदोषः—अनाभितबुद्धिशेषे ३६  
प्रत्ययत्वमात्राश्रयेण शिष्योनियमकरणात् । यथेष वृत्रहेवाचरतीति वृत्रहायते दण्डीभूत इति “दीर्घश्चिद्यक्ष्यक्येचु च” इति दीर्घत्वं न प्राप्नोति,  
नैवम्, प्रकरणादुपान्त्यस्यैव दीर्घस्य व्यावृत्तिर्न खरान्तलक्षणस्य । किं च एकस्मिन्पि योगे बुद्धनिवृत्तावपि दोषः, यतो द्विविधो बुद्ध-भि-  
स्यमौजसंक्षेपः । तत्र शिर्नपुसकस्य, अन्ये तु स्त्रीपुसयोरिति । तत्र त्रत्यजजातीयोपेक्षे नियमे समाधीयमाणो व्यवच्छेद्याभावादनर्थक एव नियमः स्यादिति ३९  
नियमविधानसामर्थ्यात् सर्वस्य दीर्घस्य नियमेन व्यावृत्तिरित्यर्थः । यदाह—श्रीकैयट यदि त्रत्यजजातीयोपेक्षो नियम आधीयते तदा शोर्नपुसकस्त्रि-  
वन्धित्वं बुद्धत्वं नास्तीति तदाश्रये नियमे विज्ञायमानेऽयमर्थः स्यात्—इच्छादीनां नपुसकानां शावेव घुटि दीर्घो भवति न बुद्धन्तरे इति । न च तेषां  
नपुसकानामन्यो बुद्धस्तीति नियमविधानसामर्थ्यात् प्रकरणापक्षं बुद्धत्वं सामर्थ्यप्राप्तिसिद्धानं च नपुसकत्वमुपमयप्यविशेषादनपेक्षं प्रत्यय- ४२  
मात्रे स्त्रीपुसकसंबन्धिति दीर्घत्वव्यावृत्तिः कियत् इति सर्वमिष्टं सिद्धम् इति, “अहन्पक्षमस्य” इत्याह—अहन्ग्रहणं न्यायावुदादकम् इति । अन्य-  
त्रोदाहरति—दण्डिनवित्यादि । अत्र नियमात् नानेन दीर्घः । वृत्रहणौ इति । सत्रायां “पूर्वपदस्या” २।३।६।४। इत्यनेन, असत्रायां तु  
“कवौकखरवति” २।३।७।६। इति णत्वम् । अर्थवदिति । “क्षिद्दि” गतावत् “खन्मातरिखन्” उणां ९०२। इति अनि निपातनादीर्घत्वे- ४५  
श्रीहन् इति । अत्र हनोऽर्थवतो ग्रहणात् तैवैव तदन्तविधित्वे तस्यैव च प्रत्ययाक्षरे नियमेन दीर्घत्वव्यावृत्तिः । ग्रीहभित्येकदेशान्तरार्थकस्य ग्रहणा-  
भावे नियमाभावात् दीर्घत्वव्यावृत्त्यभाव इत्यर्थः । ननु भवत्यत्र प्रकरणे तदन्तविधिसंज्ञापि इति प्रत्ययग्रहणं भवतीति दण्डिनीत्यत्रैव दीर्घत्वेन

नियमो न भवति । वाग्मिनौ, वाग्मिन इत्यादौ तु 'अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधि प्रयोजयन्ति' इति न्यायाद् भवति ॥ ८७ ॥

३ अपः ॥ १ । ४ । ८८ ॥

अपः स्वरस्य शेषे घुटि परे दीर्घो भवति । आपः, शोभना आपो यत्र स स्वाप्, स्वापम्, स्वापौ, स्वापः । बहुषा इत्यत्र तु समासान्तेन व्यवधानात् न भवति । घुटीत्येव ? अपः पश्य । शेष इत्येव ? हे स्वाप् ! ॥ ८८ ॥

६ नि वा ॥ १ । ४ । ८९ ॥

अपः स्वरस्य नागमे सति घुटि परे वा दीर्घो भवति । स्वाम्पि, स्वम्पि; अत्याम्पि, अत्यम्पि । समासान्तविधेरनित्यत्वात् बहुाम्पि, बहुम्पि ॥ ८९ ॥

९ अम्वादेरत्वसः सौ ॥ १ । ४ । ९० ॥

अत्वन्तस्यासन्तस्य च भ्वादिवर्जितस्य संबन्धिनः स्वरस्य शेषे सौ परे दीर्घो भवति । अतु-भवान्, कृतवान्, गोमान्, यवमान्, एतावान्; अस्-अप्सराः, अङ्गिराः, चन्द्रमाः, स्थूलशिराः, सुमनाः । अम्वादेरिति किम् ? पिण्ड २२ असते पिण्डग्राः, चर्म वस्ते चर्मवः । 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' इत्येव सिद्धे अम्वादेरिति वचनम्, 'अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधि प्रयोजयन्ति' इति न्यायज्ञापनार्थम्; तेनात्रापि भवति-स्वराणाः, खुराणाः । अघातोरित्य-कृत्वाऽम्वादेरिति करण भ्वादीनामेव वर्जनार्थम्, तेनेह भवति-गोमन्तमिच्छति क्यन्, किप्-गोमान्, एव स्थूलशिराः । २५ शेष इत्येव ? हे भवन् !, हे सुमनः ! । अतु इति उदित्करणद्वितीयो न भवति-पचन्, जरन् ॥ ९० ॥

भवितव्य, न तु बहुवो दण्डिनो वेपामिति बहुदण्डीत्यत्र, नैतदस्ति, यत्र हि प्रत्ययस्यैव ग्रहणम्, अन्यथा वाग्मी इत्यत्रापि दीर्घत्वाभाव स्यात् । ननु मा भूतत्रापि दीर्घत्व का नो हानिरित्याह-अनिनस्मन्नित्यादि ॥ ८७ ॥

२८ अपः । शेषे घुटीति दीर्घ इति चानुवर्तते । अप शेषे घुटि दीर्घ इत्यन्वयस्तदाह-अपः स्वरस्येत्यादि । आपः इति । अपशब्दाज्जति दीर्घ, अपशब्दस्य बहुवचनचित्वात् द्विवचनैकवचनयोर्न सम्यगिति बहुवचन एवोदाहरणमुपन्यस्तम् । एव शोभना आपो यस्य यत्र वा तदन्तविधेरिष्टत्वात् सावनेन दीर्घत्वे-स्वाप् इति । एवमन्यदपि । बहुषा आपो येष्विति "ऋक्पू ष्ययो" ७।३।७६। इति समासान्तेऽति तेन २१ घुटो व्यवधानात् न भवतीत्याह-बहुषा इत्यादि ॥ ८८ ॥

नि वा । अत्र अप घुटि दीर्घ इति चानुवर्तते । अपो नि घुटि वा दीर्घ इत्यन्वयस्तदाह-अपः स्वरस्येत्यादि । स्वाम्पि, स्वम्पि इति । शोभना आपो येष्विति "पूजास्वते प्राक् टात्" इति समासान्तनिषेधात् जस शसो वा इयादेशे "धुय प्राक्" इति नागमेऽनेन पक्षे दीर्घत्वम् । एवमत्याम्पि । समासान्तविधेरिति । "ऋक्पू ष्ययोऽट्" इत्यलेख्यं । ननु नीति विषयसम्यक् घटते कयमुक् नागमे सतीति ? यतो "धुय प्राक्" इति नागमो विधीयते, स च नपुसके, नपुसक चार्थे, अर्थे च शब्दानुशासनेऽस्मिन्कार्यासमवात् नपुसकाभिधाया शब्दो नागमविधातुमाश्रयणीय । स च शब्द प्रयोगादुच्येत्य इति नागमो बहिरङ्ग । अथ तु दीर्घः साक्षादपशब्दमुच्चार्य विधीयमानोऽस्याश्रयत्वादन्तरङ्ग इति पूर्वं प्रवर्तते पश्चाच्च नागम इति, नैवम्, निग्रहणादेव पूर्वं नागम एव भवति । अन्यथा नागमे विधेये पूर्वं दीर्घं त्वष्टृत्वात् पश्चाच्चागमो न स्यादिति निग्रहणमनर्थक स्यात् ॥ ८९ ॥

अम्वादेरत्वसः सौ । अत्र दीर्घ इति शेषे इति चानुवर्तते । अम्वादे अत्वस शेषे सौ दीर्घ इत्यन्वयः । अत्वसोरवयवत्वात् २० समुदायविशेषणत्वात् "विशेषणमन्त" इति तदन्तस्य ग्रहणमित्याह-अत्वन्तस्येत्यादि । भवान् इत्यादि । एतेषां सौ दीर्घत्वे नागमे "पदस्य" इत्यन्तलोपः । आप्रोते 'आपोऽपासाप्सराब्जाश्च' उणा० ९६।४। इत्यसि अप्सरादेशे च-अप्सरस् । 'अगु' गतावस्य "विहायस्सुमनस्सुखदशस्सुखबोऽङ्गिरस" उणा० ९७६। इत्यसि इतोऽन्ते च-अङ्गिरस् । "चन्दो रमस्" उणा० ९८६। इति रमसि-चन्द्रमस् । ३३ शृणाते "मिथिरङ्गुषि०" उणा० ९७१। इति कित्यसि-शिरस्, तत् स्थूलशब्देन बहुव्रीहि-स्थूलशिरा इति । एतेषामन्तत्वात् सौ दीर्घः । अम्वादेरिति किम् ? इति । अम्वादेरिति विशेषणस्य किं प्रयोजनमित्यर्थः । पिण्डग्राः इति । अत्रासन्तत्वेऽपि 'प्रकुट्' धातोर्भ्वादिवात् न दीर्घः । एव चर्मव इत्यादि । नन्वसोऽर्थवतो ग्रहणात् पिण्डग्र इत्यादौ भ्वात्वेकदेशस्यानर्थकत्वाद् दीर्घो न भविष्यति किं भ्वादिवर्जनेनेत्याह-'अर्थवद्ग्रहणे' इत्यादि । अम्वादेरिति वचनम् इति । किमर्थमिति शेषः । समापत्ते-अनिनस्मन्नित्यादि । 'रात्र' इत्यत्र अन् अर्थवान्, दात्र इत्यत्र तु अनर्थकः । 'घात्र' इत्यत्र अन् अर्थवान्, 'यशस्वी' इत्यत्र तु अनर्थकः । सुपया इत्यत्राऽऽन् अर्थवान्, 'सुज्ञोता' इत्यत्र तु अनर्थकः । तेन च पूर्वोक्तन्यायज्ञापनेन । स्वरणा इत्यादि । स्वरपूर्वस्य स्वरपूर्वस्य च नासिकाशब्दस्य 'स्वरस्वरनासिकाया नस्' ७।३।१६०। इति नसादेशेऽनर्थकस्यापि तदन्तविधित्वेन दीर्घः सिद्ध इति । नन्वननिनस्मन्नित्यत्र अतोरनिर्दिष्टत्वादनर्थकेन तदन्तविधेरप्रयोगात् 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्येति' न्यायात् कियानित्यत्रैव दीर्घः प्राप्नोति न गोमानित्यादौ इति, नैव दोषः, प्राप्नोति-अतुरनर्थकोऽपि तदन्तविधि प्रयोजयति, मत्वाहीनामुकारात् चन्धसामर्थ्यात्, अन्यथा तेषामपि धातुवत् ऋकारानुबन्धमेव कुर्यादिति । ननु तथापि 'तदनुबन्धकग्रहणेऽतदनुबन्धकस्य ग्रहणं' इति ( स एवा-नुबन्धो यस्यासौ तदनुबन्धक, स चान्यथाऽनुबन्धो यस्य सोऽतदनुबन्धक इति ) न्यायात् 'यत्तदेतदो ऋकारादेर्ग्रहणाप्रसक्त', फवतोरपि ककारानुबन्धसङ्गात्वात् ग्रहणाभावः, नैव दोषः, आनन्तर्यलक्षणेऽनुबन्धानुबन्धवतो सवन्धे ऋवत्फवत्शब्दस्य ऋकारककारानुबन्धौ न त्वनुबन्धस्य । अथवा-ऋकारककारानुबन्धौ प्रत्ययस्य न तु तदेकदेशस्य । ततश्च प्रत्ययैकदेशग्रहणादव्यापार एव पूर्वोक्तन्यायस्येति । एव तर्हि गोमन्तमिच्छ-अथवा-ऋकारककारानुबन्धौ प्रत्ययस्य न तु तदेकदेशस्य । ततश्च प्रत्ययैकदेशग्रहणादव्यापार एव पूर्वोक्तन्यायस्येति । एव तर्हि गोमन्तमिच्छ- २५ तीति क्यनि, किपि, तदन्तस्य च धातुत्वाद्वाहने कय दीर्घ इत्याह-अघातोरित्यादि । अन्यथाऽम्वादेरित्यपनीय अघातोरित्येव कुर्यात्, न च कृतमतो भ्वादिपठितानामेव वर्जनमित्यर्थः । अतु इत्यत्र ऋकारानुबन्धस्य प्रयोजनमाह-अतु इत्यादि । पचन्ति । पचतीति पच- 'घात्रा-

## कुशस्तुनस्तृच् पुंसि ॥ १ । ४ । ९१ ॥

कुशः परो यस्तुन तस्य शेषे घुटि परे तृजादेशो भवति, पुंसि—पुंलिङ्गविषये । कोष्टा, कोष्टारौ, कोष्टारः, कोष्टारम्, कोष्टारौ; अतिकोष्टा, प्रियकोष्टा, बहुव्रीहौ 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति ऋदिलक्षणः कच् न भवति । 'पुंसीत्येव ?' कुशकोष्टूनि वनानि । घुटीत्येव ? कोष्टून् । शेष इत्येव ? हे कोष्टो । 'कोष्टोः कोष्टृ' इत्यकृत्वा तृज्वचनं तृस्रस्तादिसूत्रेणाऽऽरथम् ॥ ९१ ॥

## टादौ खरे वा ॥ १ । ४ । ९२ ॥

टादौ खरादौ परे कुशः परस्य तुनस्तृजादेशो वा भवति, पुंसि । कोष्टा, कोष्टुना; कोष्टे, कोष्टवे, कोष्टुः, कोष्टोः; कोष्टोः, कोष्टोः; कोष्टरि, कोष्टौ; कोष्टूनामित्यत्र तु नित्यत्वात् पूर्व नामादेशे खराभावात् न भवति । टादाविति किम् ? कोष्टून् । कोष्टूनित्यपीति कश्चित् । खर इति किम् ? कोष्टुम्याम्, कोष्टुमिः । पुंसीत्येव ? कुशकोष्टुने वनाय । यद्यपि तृप्रत्ययान्तो मृगवाची स्यात्, तथापि प्रयोगनियमो दुर्विज्ञान इत्यादेशवचनम् ॥ ९२ ॥

## स्त्रियाम् ॥ १ । ४ । ९३ ॥

घुटीति न संबध्यते, कुशस्तुनस्तृच् पुंसि स्त्रियां चेत्येकयोगाकरणात्; स्त्रियां वर्तमानस्य कुशः परस्य तुनस्तृजा-देशो भवति, निर्निमित्त एव । कोष्टी-अत्र प्रागेव तृजादेशे ऋदन्तत्वात् ङीः, कोष्ट्यौ, कोष्ट्यः, कोष्टीम्, कोष्ट्या,

नशावे०" ५।१।२०। इति श्रुति, "कर्तर्यनञ्" इति श्रुति, "लुगस्यादेत्यपदे" इत्यकारलोपे, सिलोपे, प्रथमैकवचने उदित्करणादत्र ऋदित्वात् वीर्षाभावे नामने "पदस्य" इत्यन्तलोप । एव जरञ्जिति । "जृषोऽट्" ५।१।१७३। इत्यट् ॥ ९० ॥

कुशस्तुनस्तृच् पुंसि । शेषे घुटीत्यनुवर्तते । कुशं तुन शेषे घुटि तृच् पुंसीत्यन्वयः । कुश इति तुन इत्यस्य तृच् कार्येण पञ्चम्यन्तं विशेषणमित्याह—कुश इत्यादि । 'कुश' आह्वानरोदनयोरत् "कुसिकम्यमिममि०" उणा० ७७३। इति तुनि, गुणे, "यजसृज०" इति षत्वे, "तवर्गस्य ध्ववर्ग०" इति टत्वे, स्यादौ घुटि अनेन तुनस्तृजादेशे "ऋदुशानस्" इति सेर्वादेशेऽन्यत्र "तृस्रच्" इत्यादादेशे—कोष्टा इत्यादि । कोष्टारमतिक्रान्त इति तत्पुरुषे—अतिकोष्टा इति । प्रियकोष्टा इति । अथात्र बहुव्रीहौ तृजादेशो सति ऋदन्तत्वात् "ऋशिल्य-दित्" ७।३।१७१। इति ऋदिलक्षण समासान्त कच् क्रस्मात् न भवतीत्याह—बहुव्रीहामित्यादि । अयमर्थ—तृज्भावो हि सनासाद् बाह्यं घुटमपेक्ष्य भवन् बहिरङ्गस्य दनपेक्ष्य पुन समासान्त कच् समासादेव भवन् अन्तरङ्ग इति 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति परिभाषया बहिरङ्गस्य २१ तृज्भावस्यासिद्धत्वात् ऋकारान्तत्वाभावात् कच् न भवतीति । कुशकोष्टूनीति । कुशा कोष्टोरो येचित् बहुव्रीहौ जस शसो वा श्यादेशो पुस्त्वाभावात् तृजादेशाभावः, सूत्रे पुंसीति वचनमन्तरेण च द्वयोरन्यत्र सावकाशात्वात् परत्वात् तृज्भावः स्यादिति । कोष्टून् इति । घुटि इत्यधिकार-बलात् तृजादेशाभावः, शसो बुदवाभावात् । हे कोष्टो ! इति । आमक्यसे शेषत्वाभावात् न तृच् । अथ लाघवार्थं 'कोष्टोः कोष्टृ पुंसि' इति २४ क्रिमिति न कृत एवमपि कृते न काचिद्व्यस्यतिरिति चेत्, न, तृषाब्दस्य विधीयमान आरादेश कोष्टृषाब्दस्य न स्यादित्याह—कोष्टोरित्यादि ॥ ९१ ॥

टादौ खरे वा । कुशस्तुनस्तृच् पुंसीत्यनुवर्तते । टादौ खरे कुशं तुन तृच् वा पुंसीत्यन्वयः । खर इति सप्तमी, तत्र च "सप्तम्या आदि" इत्यादिपदोपलब्धिरित्याह—टादौ खरादाविति । कोष्टृशब्दात् टादौ खरादौ पक्षेऽनेन तृज्भावे यथायोगं "ह्वर्गोऽङ्" इत्यादिना २७ रत्वाद् "ट् पुंसि ना" इत्यादिना नादौ च—कोष्टा इत्यादि । कोष्टूनामिति । अत्र कोष्टृशब्दात् षष्ठीबहुवचने कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नित्यत्वात् पूर्व नामादेशो कृते खरादिभावात् तृजादेशो न भवतीत्याह—अत्रेत्यादि । कोष्टून् इति । अत्र शस्यपि तुनस्तृजादेशः कश्चिन्मन्यते, तन्मतसंग्रहार्थं टादौ इत्युच्यते, अन्यथा खर इति निमित्तविशेषोपादानात् घुटीत्यधिकाराभावात् टादिसप्रत्ययो भवेत्येव, तेन टाया आदिष्टादिरिति ३० शसोऽपि संग्रहः सिद्ध इति । ननु कुशेस्तृच्प्रत्ययैव सिद्धे किमर्थं यः तुनस्तृजादेशः ? न च तृप्रत्ययान्त क्रियाशब्दो न मृगवचनं, तुनप्रत्ययान्तं पुनर्द्वौ लृङ्प्रत्ययौ तृप्रत्ययान्तेनापि मृगमिधानं यथा स्यादित्येवमर्थं आदेश इति वाच्यम् । तुनप्रत्ययान्तवत् तृप्रत्ययान्तस्यापि रूढ्या मृगा-र्थबोधकत्वात् । नन्वेव सत्यविशेषोपदेशादुभयोरविशेषेण प्रयोगः स्यात्किञ्चित्पर्यं आदेश इत्यपि न वाच्यम्, अविशेषोपदेशोऽपि हि विशेषणैव ३३ प्रयोगदर्शनात्, यथा घर्तरिविशेषणोपदिश्यते—'घृ' सेचने इति । अथ च विशेषणैव प्रयुज्यते—घृत्, घृणा, घर्म इति । यत् प्रयुक्तानामिदमन्वाख्यानं न तस्मात्पूर्वशब्दप्रतिपत्तिरिति विशेषविषयत्व मविष्यति, अनेनैव न्यायेन "अस्तिश्रुवोर्भूत्वावशिति" ४।१।१। इत्यादीन्यपि प्रत्याख्येयानीत्याह—यद्यपीत्यादि । अयमर्थ—आदेशविषयादन्यत्र कोष्टृशब्दः प्रयुज्यमान कोष्टृभ्यामित्यादौ क्रियामेवोपादानो दृश्यते । अन्वाख्यानं तु यतो दृष्ट-इह सैव, तत्रासत्यादेशवचने कोष्टृइत्यस्य मृगवाचित्वं दुर्विज्ञेयम्, मृगे प्रयुज्यमानमप्यपप्रयोग मन्व्यते । अथ कथंचित्प्रत्ययान्तो मृगवाचित्वेन प्रति-पक्षस्तथापि प्रयोगनियमो दुर्विज्ञानस्तृप्रत्ययान्त एव मृगवाची पुंसि घुटि स्त्रियां च टादौ खरे चोभय, अन्यत्र कोष्टृशब्द एव मृगवाची । अमृग-वाची पुन कोष्टृशब्दः सर्वत्रेत्यस्य विचित्रप्रयोगनियममनुसृत्य प्रतिपत्तुं दुष्करं, शास्त्रानुसारेण विशेषणैव प्रतिपद्यते । एव "अस्तिश्रुवोर्भूत्वा-वशिति" इत्यादयोऽपि अशिदादिविषयेऽस्त्वादीनां प्रयोगो मा भूदिति प्रयोगनियमार्था एव विज्ञायन्ते । अमुषवोधनार्थं तु किञ्चिद्वचनेन प्रति-पाद्यते । न्यायव्युत्पादनार्थं तु संप्रकृतं किञ्चित्प्रत्याचक्षते । न ह्यत्रैक पन्था समाधीयत इति ॥ ९२ ॥

स्त्रियाम् । निमित्तविशेषोपादानेऽपि 'कुशस्तुनस्तृच् पुंसि स्त्रिया च' इत्येकयोगाकरणात् घुटीति न संबध्यत इत्याह—घुटी-इत्यादि । अत्र पूर्वसूत्रात् कुशस्तुनस्तृच् इत्यनुवर्तते । स्त्रियां कुशस्तुनस्तृच् इत्यन्वयस्तदाह—स्त्रियां वर्त्तमानस्येत्यादि । ननु घुटीत्यस्यानु-सृतावपि स्यादधिकारस्यानुसृतिरिच्छा, "टादौ खरे वा" इत्यत्राप्यादिशब्दस्य व्यवस्थावाचित्वाद्वा इति स्यादितरेव गृह्यत इति चेन्नैवम्, स्यादनुसृत्तौ कोष्टी मक्तिरस्यति 'कोष्टीमक्ति' इति न सिद्ध्यति, आदेशाभावात् 'अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गं लृप् बाधते' इति लृपि सत्यां "लृप्यलृङ्गनेत्" इति स्थानिवत्त्वप्रतिषेधात् प्रत्ययलक्षणाभावात् "त्रिचतुरस्त्रिचतस्रः" इति पुन स्यादौ विधानाच्च नानुवर्तते स्यादधिकार इत्याह—अत्रेत्यादि ।

क्रोष्टीम्याम्, हे क्रोष्टि !; पञ्चभिः क्रोष्टीभिः क्रीतैरिति विगृह्य “मूल्यैः क्रीते” ॥ ६ । ४ । १५० ॥ इतीकण्, तस्य “अनाम्यद्धिः पुप्” ॥ ६ । ४ । १४१ ॥ इति लुपि, “छादेर्गौणस्या०” ॥ २ । ४ । ९५ ॥ इत्यादिना ङीनिवृत्तौ पञ्च-  
क्रोष्टी रथैः—अत्र निर्निमित्तत्वादादेशस्य ङीनिवृत्तावपि निवृत्तिर्न भवति, अत एव च “क्यच्ञानि पित्तद्धिते” ॥३।२।  
५० ॥ इति पुंवद्भावो न भवति, पुंवद्भावेनापि हि आदेश एव निवर्तनीयः; स च निमित्तत्वाश्रयणेन ङीनिवृत्तावपि  
निवर्तते एव ॥ ९३ ॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां श्रीसिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपशब्दशब्दानुशासनतत्त्वप्रका-  
शिकावृत्तौ प्रथमस्याध्यायस्य चतुर्थः पार्श्वः समाप्तः ॥ ४ ॥

सोत्कण्ठमङ्गलगतैः कचकर्षणैश्च वक्राञ्जलुम्बननखक्षतकर्मभिश्च ।

श्रीमूलराजहृतभूपतिभिर्विलेसुः संख्येऽपि खेऽपि च शिवाश्च सुरस्त्रियश्च ॥ ४ ॥

समाप्तोऽयं प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

ननु क्रियाभीकारस्यावश्यंभावित्वादीकार एवममादेशो भविष्यति, कथमुक्त निर्निमित्त इति ? न वाच्यम्, ईकारानिर्देशात् । ननु प्रक्षिप्तनिर्देशात्  
१२ तिर्दिष्ट एव, स्त्री ई स्त्रीति—क्रिया ई स्त्रीत्वस्य योतक ईकार इत्यर्थः । अर्थगत च स्त्रीत्वमीकारे आरोप्य “क्रीडत” इति दाम् । तत्रैतरेतराश्रय  
भवति—आदेशनिमित्त ईकारस्वदाश्रयत्वादादेश इति इतरेतराश्रयाणि च न प्रकल्पन्ते । एव तर्हि अस्मादेव शपकाङ्गवस्त्रेकारो यदयमीकारे  
आदेशः शास्ति । तत्रापि पञ्चभिः क्रोष्टीभिः क्रीत इति पञ्चक्रोष्टीशब्दादिकण “अनाम्यद्धि ०” इति लुपि “छादेर्गौणस्या०” इति ङीनिवृत्तौ प्रत्य-  
१५ यलोपलक्षणप्रतिषेधादीकारनिमित्तस्तृजादेशो न प्राप्नोति । अन्तरङ्गाणां च विधीना लुपा बाधनात् पूर्वमेव तृजादेशो न कथ्यते, पुवद्भावाद् वा ।  
तस्मात्तिर्निमित्त एवायमादेशः । नन्वेवं सत्यपि इकणि “जातिश्च णि०” ३।२।५१। इति पुवद्भावः प्राप्नोति, तस्मिन् सति स्त्रीत्वामावापुजादेशो न  
स्यात्, नैवम्, “प्रत्ययः प्रकृत्यादे” इति हि यस्मादिकण् विधीयते तदादेरेव पुस्त्वनिमित्त कार्यं, न तूनाधिकस्य । अत्र हि समासादिकण् विहितः  
१८ स कथमनस्य क्रोष्टीत्यस्य पुवद्भावः प्रवर्तयितुं पारयति । अन्तरङ्गाणां च विधीनां लुपा बाधनाद् वा पुवद्भावानवकाशः । ननु तथापि इकण् लुप  
पित्यस्य पुवद्भावफलत्वाद् “क्यच्ञानि०” ३।२।५०। इति पुवद्भावेन ङीत्वनिवृत्त्या तस्मिन्निमित्तस्य तृजादेशस्यापि निवृत्तिः प्राप्नोति, सत्यमेव, त-  
तिर्निमित्तादेशविधानादेव पुवद्भावो नाप्यते । अन्यथाऽसंक्षिप्तादेशविधाने तन्निवृत्तौ आदेशस्य निवृत्तिः स्यात्तत्संक्षिप्तादेशोऽपि समानमेव  
२१ किं निर्निमित्तादेशविधानेनेत्याह—अत एव इत्यादि ॥ ९३ ॥

सोत्कण्ठेति । उत्कण्ठया सहित यथा स्यात्तथा मङ्गलमुत्सवं गतानि प्राप्तानि तै, कचकर्षणैः—केशोन्मर्दने—केशप्रहेरिति  
यावत् च वक्रं—मुखमेवाञ्जं—कमल, तस्मिन् लुम्बनमन्योन्यवर्षयोगस्तस्मिन् कुचादिषु वा ये नखक्षतास्त एव कर्माणि तै करणभूतैश्च  
२४ संख्ये—युद्धे, शिवा—जम्बूकाक्ष, खे—वियति, सुरस्त्रियः—स्वर्गवपुष्य, श्रिया युवेन मूलराजेन हृता—रणे विष्वक्ता ये भूपतयो  
वैरिराजानस्तैः साकं विलेसुर्विलास चक्रैः—रैमिरे इत्यर्थः ॥ ४ ॥ समाप्तोऽयं प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इति श्रीमत्तपागच्छगगनाहर्षिणीगीतार्थसार्वभौमाऽऽगमोद्धारकशैलानाट्यतिपरिपूजितपादारविन्दं आगमोदयसमेति—वर्द्धमानजैनागममंदि-  
२७ राद्यनेकशासनहितवर्धकसंस्थाविर्माणोपदेशकमष्टारककुलमूर्द्धन्यक्षी १००८ आनन्दसागरसूरीश्वराणां साम्राज्ये तन्वरणनिजीनमानसेनानयान-  
नवपदपीयूषपात्रोद्यतभयभावभावोद्गोधसूर्योदयश्रीविद्वच्चक्र—नवपदाराधकसमाजादिविविधसंस्थासंस्थापकेन श्रीवर्द्धमानतपोविष्णातेन श्रीसिद्धचक्रा-  
राधन—दीर्घोद्धारकेण वैयाकरणकेसरिणा पद्म्यासप्रवरश्रीचन्द्रसागरगणीन्द्रेण विरचितायां श्रीसिद्धहेमचन्द्रसूत्रश्रुतित्यासरत्नाकरावतारि-  
३० कायामाऽऽनन्दबोधिण्या प्रथमस्याध्यायस्य स्वरांतप्रकरणं नाम चतुर्थं पादः ॥४॥ तत्परिसमाप्तौ समाप्तोऽयं प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

॥ अहं ॥

## द्वितीयाध्याये प्रथमपादः ॥

त्रिचतुरस्तिस्त्रचतस्र स्यादौ ॥ २ । १ । १ ॥

३

स्त्रियामित्यनुवर्तते । त्रि चतुर इत्येतयोः स्त्रीलिङ्गे वर्तमानयोस्तत्संबन्धिन्यन्यसंबन्धिनि वा स्यादौ विभक्तौ तिस्र चतस्र इत्येतावादेशौ यथासंख्यं भवतः । तिस्रस्तिस्रिष्ठन्ति, तिस्रः पश्य; चतस्रस्तिस्रिष्ठन्ति, चतस्रः पश्य; तिस्रभिः, चतस्रभिः; तिस्रस्य, चतस्रस्य; तिस्रणाम्, चतस्रणाम्; तिस्रषु, चतस्रषु; प्रियास्तिस्रोऽस्येति प्रियतिसा पुरुषः, प्रियतिस्रौ, प्रियतिस्रः; एवं प्रियचतसा, प्रियचतस्रौ, प्रियचतस्रः; प्रियास्तिस्रोऽस्य कुलस्य प्रियतिस्र कुलम्, प्रियतिस्रणी, प्रियतिस्रणि, एवं प्रियचतस्रणी, प्रियचतस्रणि; एषु विभक्त्याश्रयत्वेन बहिरङ्गलक्षणस्य तिस्रचतस्रादेशस्यासिद्धत्वात् समासान्तः कर्तुं न भवति, परत्वात् च तिस्रादेशे कृते पश्चात् नाऽऽगमः । स्यादाविति किम् ? प्रियत्रिकः, प्रियचतुष्कः; तिस्रणां प्रियस्त्रिप्रियः, चतुष्प्रियः; प्रियत्रि कुलम्, प्रियचतुष्कुलम् । कथं तर्हि प्रियतिस्र कुलम् ? “नामिनो लुग वा” ॥ १ । ४ । ६ ॥ इति लुकि सति स्थानिवद्भावाद् भविष्यति, यथा—हे त्रयो ! स्त्रियामित्येव ? त्रयः, चत्वारः; त्रीणि, चत्वारि, प्रियास्त्रयः त्रीणि वा यस्याः सा प्रियत्रिः, प्रियत्री, प्रियत्रयः; एवं प्रियचत्वारः, प्रियचत्वारौ, प्रियचत्वारः; १२ अत्र त्रिचतुरावस्त्रियां समास एव तु स्त्रियामित्यादेशौ न भवतः । कथं तिस्रका नाम ग्रामः ? संज्ञाशब्दोऽयम् ॥ १ ॥

ऋतो रः खरेऽनि ॥ २ । १ । २ ॥

तिस्रचतस्रसंबन्धिन ऋकारस्य स्थाने तत्संबन्धिन्यन्यसंबन्धिनि वा खरादौ स्यादौ परतो रादेशो भवति, अनि-१५

त्रिचतुरस्तिस्त्रचतस्र स्यादौ । स्त्रियामिति । पूर्वसूत्रादिति शेषः । तच्चानुवर्तमानं श्रुतत्वात् त्रिचतुर इत्यस्य विशेषणं, यत्-त्रिचतुर्युष्मदसद्गुणेष्वर्थग्रहणेषामेव विशेषणम् । स्त्रियां द्वयोरेकस्मिन्निति येषां निर्दिष्टास्ते श्रूयमाणानामेव शब्दानां विशेषणानि न तु ससु-दायसेत्याह—त्रि चतुर इत्येतयोरेत्यादि । ‘गुण कृतात्मसंस्कार’ इति न्यायात् प्राप्तविशेषणसंबन्धैस्त्रिचतुर्युष्मदसद्भिश्च स्यात्प्राप्तिरिति नाम विशेष-१८ व्यते । तत्र ‘नामाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य ग्रहणं भवतीति’ केवलयोस्त्वदन्तस्य चाऽऽदेशप्रवृत्तिः । ते च ‘निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीति’ त्रिशब्दादीनामेव भवतीति । तिस्रः, चतस्र इति । त्रिचतुरभ्यां जडशोरेन तिस्रचतस्रादेशे “अर्धौ च” इति “शस्रोऽता०” इति च बाधित्वा “ऋतो रः” इति रत्वम् । तिष्ठन्ति पश्येत्यनुप्रयोगौ प्रथमाद्वितीयाबहुवचनभिव्यक्त्यर्थौ । तिस्रणाम् इत्यादि । अत्रानेन तिस्राद्यादेशे “ह्रस्वा-२१ पक्ष” इति नाम्, दीर्घस्तु न भवति ‘अतिस्रचतस्र’ इत्युक्ते । एवमन्यदपि । यद्यपि समास पुंसि नपुंसके वा वर्तते त्रिचतुरौ च स्त्रिया वर्तते, तथापि भवत्येव तिस्रचतस्रभाव इत्यादाहरति—प्रियास्तिस्रोऽस्येत्यादि । प्रियतिसा इति । अत्रानेन तिस्रादेशे सति “ऋदुशनस्पुरुदशो” इति ङाऽऽदेशः । एव प्रियचतसा इत्यत्रापि । प्रियतिस्रौ इत्यादि । अत्र “ऋतो रः खरे” इति रत्वम् । नपुंसके वर्तमानस्य समासस्योदाह-२४ रणान्याह—प्रियास्तिस्रोऽस्य कुलस्येत्यादि । अत्र ‘अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गा लुग्बाधते’ इत्यादेशात् प्रथममेव समासाऽव्ययस्य स्यादेः “ऐकार्ये” इति लुपि प्रियत्रि, प्रियचतुर इति स्थिताभ्यां परत्वमात्रविज्ञानादन्यपदार्थसंबन्धिन्यपि स्यादौ “त्रिचतुरः” इति तिस्राद्यादेशे च बहुव्रीहेरुच्यमानं समासान्तं “ऋजिलदित” इति कच् कस्मात् न भवतीत्याह—एदिवत्यादि । समासाद् भवन् समासान्तस्तावत् न विभक्ति-२७ मपेक्षत इत्यन्तरङ्गं, विभक्तिमपेक्षमाणं पुनस्त्रिस्राद्यादेशो बहिरङ्गः, तत्रान्तरङ्गे कचि कर्तव्ये बहिरङ्गस्त्रिचतस्रादेशोऽसिद्ध इति ऋजिलक्षणं कच् ऋदन्तत्वाभावात् न भवतीत्यर्थः । ननु प्रियतिस्रणीत्यादौ स्यादौ खरे कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नित्यत्वात् “अनाम् खरे नोऽन्तः” इति पूर्व नागमे कृते पश्चात्तेन व्यवधानात् कथं तिस्रादेश इति चेत् न, तिस्रादेशे कृते शब्दान्तरप्राप्त्या नागमस्यानित्यत्वात् सन्निपातपरिभाषया नागमस्याप्रवृ-३० त्तेश्च, द्वयोरन्यत्र सावकाशत्वात् परत्वात् पूर्वं तिस्रादेश एवेत्याह—परत्वादित्यादि । किञ्च “ऋतो रः खरेऽनि” इत्यत्र अनीतिवचनमनर्थकं स्यात्, खरादौ पूर्वं नकारे तिस्राद्यादेशाभावात् रत्वप्रसङ्ग एव नास्तीत्यनीतिवचनात् नागमादे पूर्वं तिस्राद्यादेश इति विज्ञायत इति । प्रिय-त्रिक इत्यादि । प्रियास्तिस्रो यसेत्यादिविशिष्टे ‘अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गा लुग्बाधते’ इति, “ऐकार्ये” इति समासाव्ययविभक्त्युक्तिः, ३३ “शेषाद्वा” ॥ ११७५॥ इति कचि, तेन स्यादेव्यवधानात् तिस्राद्यादेशाभावः । एव त्रिप्रिय इत्यादावपि । प्रियत्रि कुलमित्यादि । अत्र “अनतो लुग्” इति स्यादेरभावात् तिस्राद्यादेशः । कथमिति । प्रियतिस्र कुलम् इत्यादौ प्रियत्रिशब्दात् “अनतो लुग्” इति अन्तरङ्गमपि तिस्रादेशं पूर्वोक्तन्यायेन बाधित्वा लुपि कृतायां “लुप्यच्छेनत्” इति स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् स्यादेरभावात् कथं तिस्रादेश इति प्रश्नार्थः । समाधत्ते—३६ “नामिनो लुग् वा” इत्यादि । लुक्पक्षे “लुप्यच्छेनत्” इत्यनुपस्थानादित्यर्थः । स्पष्टशब्दे “अनतो लुग्” इति सूत्रे तत्त्वप्रकाशिकायामानन्द-बोधिण्या च । हे त्रयो ! इति । अत्र “नामिनो” इति लुकि सति तस्य स्थानिवद्भावात् “ह्रस्वस्य गुणः” इति सिना सह गुणः सिद्ध इति । त्रयः इत्यादि । अत्र त्रिचतुरो स्त्रियामवर्तमानत्वात् न तिस्राद्यादेशः । यदा हि समास स्त्रियां वर्तते त्रिचतुरौ तु पुनपुसकयोस्त्वदादेशाभावः, ३९ स्त्रियामिति विशेषणस्य त्रिचतुरोरेव निर्णीतत्वादित्याह—अत्रेत्यादि । कथमिति । त्रिशब्दात् संज्ञायां के आपि बहुवचने च स्यादेव्यवधानात् कथं तिस्रभाव इति प्रष्टव्यमिष्टाय । समाधत्ते—संज्ञाशब्दोऽयमिति । स्त्रीलिङ्गबहुवचनविषय चेद नामोच्यते तत्र त्रिशब्दार्थोऽस्तीति । पृष्ठोदरा-दिदर्शनाद्वाऽत्र त्रिशब्दस्य तिस्रभावः ॥ १ ॥

ऋतो रः खरेऽनि । र इति विधेयम् । खर इति निमित्तं, अनीति च तस्य विशेषणम् । ऋत इति षष्ठ्यन्तेन स्थानी ऋकारः प्रतिनिर्दिश्यते, य च त्रिचतुर इत्यनेन विशेष्यते, तत्र त्रिचतुरोऽङ्काराभावात्तदादेशप्रतिपत्तिरित्याह—तिस्रचतस्रसंबन्धिन इत्यादि । खरादौ स्यादौ इति ।

नकारविषयादन्यत्र; समानदीर्घत्वाद्गरामपवादः । तिस्रः चतस्रस्तिष्ठन्ति, पश्य वा; प्रियतिस्रौ, प्रियचतस्रौ; प्रियति-  
 स्तम्, प्रियचतस्तम्; प्रियतिस्रः, प्रियचतस्रः आगतं स्वं वा; प्रियतिस्रि, प्रियचतस्रि निधेहि । खर इति किम् ? तिस्रभिः,  
 १ चतस्रभिः । अनीति किम् ? प्रियतिस्रिणी, प्रियचतस्रिणी; प्रियतिस्रिणि; प्रियचतस्रिणि; तिस्रणाम्, चतस्रणाम् । ऋत  
 इति तिस्रचतस्रोः प्रतिपत्त्यर्थम्, इतरथा हि तदपवादस्त्रिचतुरोरेवायमादेशो विज्ञायेत । अन्ये तूपसर्जनयोस्त्रि-  
 चतस्रश्चदयोर्दौ घुष्टि चानि खरादौ रत्वविकल्पमिच्छन्ति, तन्मते-प्रियतिस्रि, प्रियतिसरि; प्रियचतस्रि, प्रियचतसरि;  
 ५ प्रियतिस्रौ, प्रियतिस्रौ, प्रियचतस्रौ, प्रियचतस्रौ; प्रियतिस्रः, प्रियतिसरः; प्रियचतस्रः, प्रियचतसरः; प्रियतिस्रम्,  
 प्रियतिसरम्; प्रियचतस्रम्, प्रियचतसरम्; प्रधानस्य तु नित्यमेव रत्वम्-तिस्रः, परमतिस्रः; चतस्रः, परमचतस्रः ।  
 अपरे त्वनि खरे सर्वत्र विकल्पं जस्रसोस्तु नित्यं मन्यन्ते, तन्मते-प्रियतिस्रौ, प्रियतिसरौ; प्रियचतस्रौ, प्रियचतस्रौ;  
 ६ प्रियतिस्रः, प्रियतिस्रुः; प्रियचतस्रः, प्रियचतस्रुः आगतं स्वं वा इत्यादि । जस्रसोस्तु-तिस्रः, चतस्रः; परमतिस्रः,  
 परमचतस्रः; प्रियतिस्रः, प्रियचतस्रः तिष्ठन्ति पश्य वेति नित्यमेव रत्वम् ॥ २ ॥

### जराया जरस् वा ॥ २ । १ । ३ ॥

- १२ जराशब्दस्य स्वसंबन्धिन्यसंबन्धिनि वा खरादौ स्यादौ परतो जरस् इत्ययमादेशो वा भवति । जरसौ, जरसः;  
 जरसम्, जरसौ, जरसः; जरसा, जरसे, जरसः, जरसः जरसोः, जरसाम्, जरसि, जरसोः; पक्षे-जरे, जराः; जराम्,  
 जरे, जराः; जरया, जरयै, जरायाः २, जरयोः २, जराणाम्, जरायाम्, एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् अतिजरसौ,  
 १५ अतिजरौ, अतिजरसः, अतिजराः; अतिजरसम्, अतिजरम्, अतिजरसः, अतिजरान्; अतिजरसा, अतिजरेण; अतिजरसैः,  
 अतिजरैः; अतिजरसे, अतिजरायः; अतिजरसः, अतिजरात्; अतिजरसः, अतिजरस्य, अतिजरसोः, अतिजरयोः २, अति-  
 जरसाम्, अतिजराणाम्, अतिजरसि, अतिजरे । नपुसके स्यमोरम्भावे-अतिजरसम्, अतिजरम्; "जरसो वा" ॥ १ ।  
 १८ ४।६०॥ इति लुपि-अतिजरः, अतिजरसी, अतिजरे तिष्ठतः पश्य वा; शौ परत्वात् जरसादेशस्ततो नाऽऽगमः-अतिजरांसि,

पूर्वसूत्रादनुवृत्तेन स्यादौ इत्यनेन खर इति संनन्धे "सप्तम्या आदिः" इति आदिसप्रत्यय इति भावः । ननु खरादौ तिस्राद्यादेशे परत्वात् नागमा  
 पानेन रत्वप्रवृत्ते क्व अनीत्युपपुज्यत इति चेदुच्यते, अनीति विषयसप्तमी, तेन नकारविषये रत्वस्य व्याघ्रितिरस्याह-नकारविषयादित्यादि । ननु  
 २१ खरादौ स्यादौ तिस्राद्यादेशे "इवर्णदे०" इति रत्व सिद्धमित्यत आह-समानदीर्घत्वेत्यादि । "इवर्णदे०" इति रत्व बाधित्वा परत्वात् "शसो-  
 ऽता०" इति दीर्घत्वस्य, "अमौच" इति अर, "ऋतो दुर्" इति डुरश्च रत्वमपवाद इत्यर्थः । तिस्र इत्यादि । त्रिचतुर्भ्यां जस्रसो रूपम् । तत्र जति  
 "अमौच" इत्येतो रत्वमपवादः । शसि तु "शसोऽता०" इति समानदीर्घत्वस्य रत्वमपवादः । प्रियतिस्रिणादित्यादि । अर बाधित्वा रत्वम् । प्रिय-  
 २४ तिस्रमित्यादि । अमि "समानादमोऽत" इत्यकारलुक् अरं च बाधित्वा रत्वम् । "समानदीर्घत्वाद्गरामपवादः" इति अकारलुकोऽप्युपलक्ष-  
 णम् । षष्ठिस्तो-प्रियतिस्रः, प्रियचतस्र इति । "ऋतो दुर्" इति डुरं बाधित्वा रत्वम् । आगतं स्वं वेत्यनुप्रयोगो षष्ठीपञ्चम्येकवचननामिव्यक्त्यर्थः ।  
 २७ णे-प्रियतिस्रि इत्यादि । अर बाधित्वा रत्वम् । तिस्रमिरित्यादि । भिन्न खरादिस्यादित्वाभावादित्वं न । प्रियतिस्रिणी इत्यादि । अत्र खरा-  
 ३० दित्यादे सत्त्वेऽपि नकारविषयसत्त्वाद्भावात् । तिस्रणाम् इति । अत्रामो नामादेशे नकारविषयत्वं धोष्यम् । ननु ऋत इति किमर्थम् ?  
 यावता पूर्वसूत्रात्तिस्रचतस्र इत्येतयोरनुवृत्तौ तयोश्च यथ्यन्ततया विपरिणामेन कार्यप्रतिपत्तौ "पक्ष्या अन्यस्य" इति तदन्तस्य विधिमन्त्रं श्रृङ्गारस्यैव  
 भविष्यतीत्याह-ऋत इत्यादि । अयमर्थ-तिस्रचतस्र इति प्राग्विधेयतया प्रतिपक्ष न कार्ययोगितया, कार्ययोगे तु त्रिचतुर इत्यस्यैव कार्ययोगि-  
 ३३ ० तथा प्रतिपक्षस्य कार्ययोगाय इहाशुशुषिर्विज्ञायेत । तत्राय विधित्सिचतस्रो प्राप्तयोस्त्रिचतुरोरभ्यमानस्यदपवादः स्यात् तदन्तस्य, ऋत इत्युच्य-  
 माने तु तिस्रचतस्रावन्तरेण त्रिचतुरोर्ऋकाराभावात्तयोरेवायमादेशो विज्ञायत इति तदपवादो रेफो मा भूदिति श्रृङ्गारस्य इत्युच्यते । इतरथा इति ।  
 तिस्रचतस्रो प्रतिपत्त्यर्थं ऋत इत्यभावे इत्यर्थः । तदपवाद इति । व्यञ्जनादौ स्यादौ पूर्वयोगं सावकाशं खरादौ तु अयमेव स्यादिति भावः ।  
 ३६ इह आचार्यशाकटायनादयस्तु तिस्राद्यादेशस्य षौ घुष्टि चानि खरादौ रत्वविकल्पमिच्छन्तीत्याह-अन्ये त्वित्यादि । ललितस्वभावस्तु प्रधानेऽप्रधाने  
 च जस्रसोरेव नित्यं रत्वं मन्यते, अन्यत्र तु विकल्पमित्याह-अपरे त्वित्यादि । वार्तिककारस्तु जस्रसोरेव रेफमिच्छति नान्यत्र ॥ २ ॥

जराया जरस् वा । पूर्वसूत्रात् स्यादौ खरे इति चानुवर्तते । खरे इति खरादानित्यर्थः "सप्तम्या आदिः" इति आदिपदोपस्थिते ।

- ३६ जराया खरादौ स्यादौ जरस् वा इत्यन्यस्यदर्थमाह-जराशब्दस्य इत्यादिना । "जृप्" षयोहानौ, अत "वितोऽङ्" ५।३।१०७। इत्यङ्,  
 "ऋवर्णदेशोऽङि" ४।३।१०। इति गुणे, "आत्" इत्यापि-जरा, तत खरादौ स्यादौ अनेकवर्णत्वात् सर्वस्य पक्षे जरसादेशो समुदाहरति-जरसा-  
 वित्यादि । पक्षे-जरसादेशाभावपक्षे इत्यर्थः । उदाहरति-जरे इत्यादि । ननु जरागतिकान्तामित्यादि विग्रहे "गोष्ठान्ते०" इति ह्रस्वत्वे जरा-  
 ३९ शब्दस्याभावात् कथं जरसादेश इत्याह-"एकदेशविकृतस्य०" इत्यादि । छिन्नेऽपि पुच्छे आ श्रैव, न चाश्रौ न च गर्दम इति न्यायादिति भावः ।  
 ननु जरसा दन्ता शीर्यन्ते, जरसे त्वा परिदधुरिति तृतीयाचतुर्थ्येकवचनयोरेव बाहुल्येन प्रयोगदर्शनात् कथं सर्वत्रोदाहृतम् ? च्यत्वे-खरादौ  
 सामान्येन विधानाद् विशिष्टखरग्रहेण प्रमाणाभावादिति । अत्र च स्यादाक्षिप्तनामाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च ग्रहणात् यथा केवलस्य भवति तथा  
 ४२ तदन्तस्यापि । तत्र यदा नपुसक जराशब्दान्तनामाभिधेय अतिजरांसि ब्राह्मणकुलानीति तदा नपुसकाश्रये ह्रस्वत्वे कृते "एकदेशविकृतस्यानन्य-  
 त्वेन" जराशब्दान्तनाम भवति, ततो जस्रसो शावनेन जरसादेशश्च प्राप्नोति खरान्तलक्षणनागमश्च । तत्र जरसा कुण्डलीत्यत्र द्वयो सावका-  
 ४५ षि परत्वविन्त्यया इति चेत् ? न, यदि पूर्व नागम स्यात् स च पूर्वप्रवृत्तिभक्त प्रकृतिमेव न व्यवदस्यात्, अवयवस्य तु जरशब्दस्य व्यवधायक  
 इति "निर्दिष्टमानस्याऽऽदेशा भवन्तीति" नामाधिकारे सत्यपि तदुत्तरपदग्रहणे जरान्ताया प्रकृत्योऽवयवो जरशब्दस्य विभक्तौ जरसादेशो  
 ४८ विधीयमानो न प्राप्नोति । अथापि स्यात्तथापि सकारात् परस्य नागमस्य श्रवणं स्यात् । तस्मात् परत्वात् पूर्व जरसादेश एवैष्टव्यः । तत्र कृते घुष्ट-



अतिजराणि तिष्ठन्ति पश्य वा । स्त्रियां तु विभक्तेरापा व्यवधानात् न भवति । स्वर इत्येव ? जरा, जराभ्याम् ; जराभिः । सादावित्येव ? जराग्रम्, जारः ; जारेयः ॥ ३ ॥

अपोऽद् भे ॥ २ । १ । ४ ॥

अप् इत्येतस्य स्वसंबन्धिन्यसंबन्धिनि वा भकारादौ स्यादौ परतोऽद् इत्ययमादेशो भवति । अद्भिः, अद्भ्यः, अद्भ्याम् ; अत्यद्भ्याम् । म इति किम् ? आपस्तिष्ठन्ति, अपः पश्य, अपाम् ; अप्सु । सादावित्येव ? अन्मक्षः ॥ ४ ॥

आ रायो व्यञ्जने ॥ २ । १ । ५ ॥

स्वसंबन्धिन्यसंबन्धिनि वा व्यञ्जनादौ स्यादौ परे रैशब्दस्याऽऽकारोऽन्तादेशो भवति । राः, हे राः !, अतिराः, राभ्याम्, राभिः, राभ्यः ; रासु । एकदेशविकृतस्यान्यत्वात् अतिराभ्यां कुलाभ्याम्, अतिरासु कुलेषु । व्यञ्जन इति किम् ? रायौ, रायः । सादावित्येव ? रैसूत्रम्, रैमयम् । स्मीत्येव सिद्धे व्यञ्जनग्रहणमुत्तरार्थम् ॥ ५ ॥

युष्मदस्मदोः ॥ २ । १ । ६ ॥

युष्मदस्मदित्येतयोः शब्दयोः स्वसंबन्धिनि अन्यसंबन्धिनि वा व्यञ्जनादौ स्यादौ परे आकारोऽन्तादेशो भवति । त्वाम्, माम् ; अतित्वाम्, अतिमाम् ; युवाम्, आवाम् ; अतियुवाम्, अत्यावाम् ; युष्मान्, अस्मान्, अतियुष्मान्, अत्यस्मान्, युवाभ्याम्, आवाम्भ्याम् ; अतियुवाभ्याम्, अत्यावाभ्याम् ; युष्माभिः, अस्माभिः ; अतियुष्माभिः, अत्यस्माभिः ; युष्मासु, अस्मासु ; अतियुष्मासु, अत्यस्मासु । युष्मयतेरस्मयतेश्च क्तिप्-युष्म्, अस्म् ; अनयोरमौभ्यांसु परत्वात्

न्तलक्षणो नागम । अत एव अतिजरा ज्ञिय इत्यादौ "गोष्ठान्ते०" इति ह्रस्वत्वे, "आत्" इत्यापि, तेन विभक्तिस्वरस्य व्यवधानात् जरसादेशो १५ न भवतीत्याह—स्त्रियां त्वित्यादि । जरा, जराभ्यामित्यादि । सिभ्याम्भिः खरादित्वाभावाच्च जरस् । जराग्रमित्यादि । जराया अग्रमिति समास, अग्रमासो वा । एषु स्यादिपरकत्वाभावाच्च जरस् । जारः इति । जराया अग्रमिति विग्रहे "तस्येदम्" इत्यण् । जारेय इति । जराया अपत्यमिति "द्विस्त्रादनया" ६।१।७१। इत्येयण् ॥ ३ ॥

अपोऽद्भे । अग्र सादावित्यनुवर्तते । तच्च भे इति सप्तम्यन्तेन विशेष्यते, तथा च सप्तम्या आदिरिति तदादिविशानम् । अप मादौ स्यादौ अद् इत्यन्वयस्तदर्थमाह—अप् इत्येतस्य इत्यादि । अत्र नामाधिकारात्तस्य च तदन्तस्य ग्रहणेऽप्येकवर्णत्वात् "षष्ठा अन्त्यस्य" इति पकारस्याय दकार आदेश । अथवा—अदित्ययमादेशस्तत्रापि प्रागप्यकारस्य विद्यमानत्वादनुवादकत्वाद्दकारमात्रस्यात्रादेशत्वम् । अथवा—समुदाय २१ उपपदेयस्तदर्थमवयवोपादानम्, तत्र यदर्थं प्रयास स एव साक्षादुपादीयते इति विद्यमानस्याप्यकारस्य पुनरुपादानम् । अपृशब्दस्य केवलस्य बहुवचिपयत्वात् बहुवचनेनोदाहरति—अद्भिः इत्यादि । शोभना अतिशयिता वा आपो ययोरिति विग्रहे "पूजास्वत्वे प्राक् ङात्" इति समा-सान्तप्रतिपेधे खप्, अत्यप् इति स्थिताङ्गपामि सत्यपि तदन्तग्रहणे "निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति" इति अप एवादेशो—स्वद्भ्याम्, अत्य-२४ द्भ्याम् इति । आपस्तिष्ठन्ति इत्यादि । एषु भादिस्यादित्वाभावात् नादादेश । अन्मक्ष इति । "शीलिकासि०" ५।१।७३। इति ण । अत्र सादावित्यनुवर्तनात् नाद् ॥ ४ ॥

आ रायो व्यञ्जने । राय इति रैशब्दस्य षष्ठ्यन्तम् । पूर्वस्मात् सादावित्यधिक्रियते । व्यञ्जने इत्यनेन सादाविति विशेष्यते, तत्त्वदा-२७ दिबोध । व्यञ्जनादौ स्यादौ राय आ इत्यन्वयस्तदर्थमाह—स्वसंबन्धिनीत्यादि । "षष्ठा अन्त्यस्य" इति न्यायेन आकारादेशो रैशब्दान्तस्यैव भवतीत्याह—आकारोऽन्तादेश इति । राः इति । रैशब्दात् सौ अनेनाऽऽत्वे कत्वविसर्गौ । एव रायमतिक्रान्त इति विग्रहे—अतिरा इति । ननु सत्यपि तदन्तग्रहणे रैशब्दान्तस्य नपुंसकवृत्तौ "ह्रीवे" इति ह्रस्वत्वे ततो भ्यामादौ रैशब्दस्योच्यमानमात्र रैशब्दाभावात्तदन्तस्यादिस्यते १० चेत्याह—एकदेशविकृतस्य इत्यादि । रायौ इत्यादि । व्यञ्जनादिस्यादेरभावात् खरादौ सादावायादेश । ननु सकारभकारावन्तरेण रैशब्दात् स्यादेरन्यस्य व्यञ्जनसाम्बन्धाल्लघवार्थं च ह्रीलेखोच्यतां किं व्यञ्जनग्रहणेनेत्याह—स्मीत्यादि । यद्युत्तरार्थं व्यञ्जनग्रहणन्तर्हि तत्रैव क्रियता किम-त्रोपादानमिति चेदुच्यते, अप्रधानात् रैशब्दादामो नामादेशोऽप्यस्ति तत्रापि यदि प्रयोगस्तदा तस्मिन्नपि भवितव्यमिच्छेतदर्थमिहोपादानम् ॥५॥ १३

युष्मदस्मदोः । अत्राविवक्षितार्थयोरप्रायोगिकयोरुपादानादुक्तरेण इति लयादिकार्यमेकशेषो युष्मदस्मदादिकार्यं "टाङ्योसि य" इत्यनेन यत्वादि च न प्रवर्तते । पूर्वस्मात् सूत्रादत्र आ इति व्यञ्जने इति चानुवर्तते । तथाच पूर्ववत् युष्मदस्मदोर्व्यञ्जनादौ स्यादौ आ इत्यन्वयस्तदर्थमाह—युष्मदस्मदित्येतयोरित्यादि । युष्मदस्मदशब्दात् अम परत्वात् "अमौ म" २।१।१६। इति मादेशे, "त्वमौ प्रत्ययौ त्रपदे चैकस्मिन्" २।१।११।१६ पदस्य ग्रहणात्तदन्तप्रतिपद्यो तदन्तमुदाहरति—अतित्वाम् इति । त्वमतिक्रान्तमित्यर्थः । एवमस्तिमामपि । युवाम्, आवामिति । युष्मद-नाना०" इति धीर्ध । अतियुवाम्, अत्यावाम् इति । युवाम् आवा वा अतिक्रान्तमित्यर्थः । युष्मान्, अस्मान् इति । युष्मद्व्यसद-शब्दाभ्यां परस्य शस "शसो न" २।१।१७। इति न इत्यादेशे सति व्यञ्जनादिस्यादित्वादनेनाऽऽत्वम् । अतियुष्मान्, अत्यस्मान् इति । युष्मान् अस्मान् वाऽतिक्रान्तमित्यर्थः । युवाभ्याम्, आवाम्भ्याम् इति । युष्मदस्मदोर्भ्यामि "मन्तस्य०" इति युवावादेशोऽनेनात्वम् । ४२ अतियुवाभ्याम्, अत्यावाभ्याम् इति । युवाम् आवाम् वाऽतिक्रान्तमभ्यामिति विग्रह । युष्माभिः, अस्माभिः इति । अत्र भित्ति व्यञ्जनादौ स्यादेरन्यत्वात् । एवमस्ति युष्माभिरित्यादि । युष्मयतेरस्मयतेष्वेति । युवामावा वा युष्मानस्यानाऽऽचष्टे इति विग्रहे युष्मयति, अस्मयति इति च रूपद्वयम् । क्तिप् इति । "क्तिप्" इति सूत्रेणेति भावः । किञ्चन्तात् युष्मदस्मदशब्दात् अमौभ्यां परत्वात् अमौकारयोश्च मादेशो व्यञ्ज-४५ नादित्वात् नित्यत्वात् प्रकृतिभकारस्यात्वे मान्तत्वाभावात् त्वमायादेशमावे-त्वाम्, माम्, युवाम्, आवाम् इत्यादयो न तिष्ठेयुरित्यन्ते

त्वमाधादेशे कृते पश्चादात्वम्-त्वाम्, माम्, युवाम्, आवाम्; युवाम्याम्, आवाम्याम् । व्यञ्जन इत्येव ? युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम् ॥ ६ ॥

१

टाडयोसि यः ॥ २ । १ । ७ ॥

युष्मदस्मदित्येतयोः स्वसंबन्धिषु अन्यसंबन्धिषु वा टा ङि ओस् इत्येतेषु स्याद्विषु परेषु यकारोऽन्तादेशो भवति (टा-) त्वया, मया; अतित्वया, अतिमया; अतियुवया, अत्यावया; अतियुष्मया, अत्यस्मया; (ङि-) त्वयि, मयि; अति- २ त्वयि, अतिमयि; प्रिययुवयि, प्रियावयि, प्रिययुष्मयि, प्रियास्मयि; (ओस्-) युवयोः, आवयोः; अतियुवयोः, अत्यावयोः; अतित्वयोः, अतिमयोः; अतियुष्मयोः, अत्यस्मयोः । टाडयोसीति किम् ? त्वत्, मत् । लुगपवादौ योगौ ॥ ७ ॥

शेषे लृक् ॥ २ । १ । ८ ॥

१ यस्मिन् प्रत्यये आत्वयकारौ विहितौ ततोऽन्यः शेषस्तस्मिन् स्यादौ परे युष्मदस्मदोरन्तस्य लृक् भवति । युष्म- २ भ्यम्, अस्मभ्यम्; अतियुष्मभ्यम्, अत्यस्मभ्यम्; त्वद्, मद्; अतित्वद्, अतिमद्, युष्मद्, अस्मद्; अतियुष्मद्, अत्यस्मद्; युष्माकम्, अस्माकम्; अतियुष्माकम्, अत्यस्माकम् । अटिङ्गे युष्मदस्मदी इति अन्तलोपे स्त्रियामाप् न २२ भवति । शेष इति किम् ? त्वयि, मयि ॥ ८ ॥

मोर्वा ॥ २ । १ । ९ ॥

युष्मदस्मदित्येतयोर्मकारान्तयोः स्वसंबन्धिनि अन्यसंबन्धिनि वा शेषे स्यादौ परे मकारस्य लृक् वा भवति । युवां

१५ चेत्याह—अनयोरित्यादि । अयं भावः—उभयोरन्यत्र सावकाशत्वाद् शब्दान्तरप्राप्त्या चानित्यत्वाद् पूर्वं त्वमाधादेश इति, अन्यथा पूर्वमात्वे मन्तत्वाभावाद् त्वमाधादेशाभावः स्यात् ॥ ६ ॥

टाडयोसि यः । ओष ओष ओसौ, टाड ङि ओसौ चेति समाहारद्वन्द्वाद् सप्तमी । युष्मदस्मदोरिति वर्तते । युष्मदस्मदोः टाडयोसि य

१८ इत्यन्वयस्तदर्थमाह—युष्मदस्मदित्येतयोरित्यादि । त्वया, मया इति । युष्मद् वा अस्मद् वा, इति स्थिते परत्वाद् “त्वमौ प्रत्ययोरपरपदे” ॥ इति मन्तस्य त्वमादेशे “शेषे लृक्” इत्यस्यापवादोऽनेन यकारोऽन्तादेशः । अतित्वया, अतिमया इति । त्वां मां वाऽतिक्रान्तेनेति विग्रहः । अतियुवया, अत्यावया इति । अत्र युष्मदस्मदोर्द्विवचनवृत्तित्वाद् त्वमादेशाभावः, युवां आवाम् वाऽतिक्रान्तेनेति विग्रहः । अतियुष्मया, २ अत्यस्मया इति । अत्र बहुवचनवृत्तित्वाद् त्वमादेशयुवावादेशाभावः, युष्मानस्मान् वाऽतिक्रान्तेनेत्यर्थः । एषु सर्वत्रानेन यत्वम् । ञबुदाहरति—

२१ त्वयि, मयि इति । युष्मद् इ, अस्मद् इ इतिस्थिते परत्वाद् “त्वमौ प्रत्ययोरपरपदे” ॥ इति त्वमादेशो दत्तानेन यत्वम् । उपसर्जने बोदाहरति— अतित्वयि इत्यादि । पूर्ववद्विग्रहः । युवयोः, आवयोः इति । युष्मद् ओष, अस्मद् ओष इति स्थिते “मन्तस्य युवायौ द्वयो” इति परत्वा- २४ युवावादेशो दत्तानेन यत्वे रूपद्वयम् । नन्वोसि यत्ववचनं किमर्थम् ? विनाप्योसुग्रहणं “शेषे लृक्” इत्यन्तस्य लोपे “एद्वहुत्सोसि” इत्येत्वेऽयादेशो च युवयोरित्यादौ यत्वं सिध्यति, सत्यम्, गिच्यन्त्यस्त्रादिलोपे अकारस्याभावाद् युष्योरित्यादौ यत्वं न सिध्यतीति ओसि यत्ववचनम् । एवमति- युवयोरित्यादि बोध्यम् । त्वत्, मत् इति । अत्र टाङ्गिओस्परत्वाभावाद् यत्वं न । लुगपवादौ योगाविति । “युष्मदस्मदो” “टाडयोसि ३७ य” इति योगद्वयं “शेषे लृक्” इत्यस्यापवादत्वेन बाधकमित्यर्थः ॥ ७ ॥

शेषे लृक् । युष्मदस्मदोरिति स्यादाविति चानुवर्तते । शेषे स्यादौ युष्मदस्मदोर्लृक् इत्यन्वयः । उपयुक्तद्वयं शेषः, कश्चोपयुक्तः ? यस्मिन्नात्वयकारौ च उपयुक्त इत्याह—यस्मिन्निताभ्यश्च ततोऽन्य इत्यन्तेन । एतेन शेषपदार्थविज्ञानम् । शेष इति स्यादावित्यस्य विशेषण- २० मित्याह—तस्मिन् स्यादाविति । “पश्चा अन्त्यस्य” इति न्यायबलेन लभ्यमर्थमाह—युष्मदस्मदोरन्तलोपेति । युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम् इति । युष्मद् भ्यस्, अस्मद् भ्यस् इति स्थिते परत्वाद् “अभ्यम् भ्यस्” २१११८ इति अभ्यमादेशे “शेषे लृक्” इति अन्तस्य दकारस्य लोपे “लुगसाधेलपदे” इति अकारलोपे रूपद्वयम् । अतियुष्मभ्यम्, अत्यस्मभ्यमिति । युष्मानस्मान् वाऽतिक्रान्तेभ्य इति विग्रहः । पूर्ववद्रूप- २३ सिद्धिः । त्वदित्यादि । युष्मद् अस्, अस्मद् अस् इति स्थिते “उसेधाद्” २१११९ इति उचैरदादेशे “त्वमौ प्रत्ययो” इति त्वमादेशयोः कृतयो “शेषे लृक्” इत्यन्तलोपे च “लुगसाधेलपदे” इत्यकारलोपः । अतित्वद्, अतिमद् इति । त्वां मां वाऽतिक्रान्तादतिक्रान्तेभ्यो चेति विग्रहः । अनेन दस्य लृक्, शेष पूर्ववत् । युष्मद्, अस्मद् इति । युष्मद् भ्यस्, अस्मद् भ्यस् इति स्थिते “उसेधाद्” इति चकाराद् २६ तत्त्वहचरितस्य पञ्चम्या बहुवचनस्य भ्यस्य स्थानेऽदादेशः । शेषे लृक् च । एष युष्मानस्मान् वाऽतिक्रान्तेभ्य इति विग्रहे—अतियुष्मद्, अत्यस्मद् इति । युष्माकम्, अस्माकम् इति । युष्मद् आम्, अस्मद् आम् इति स्थिते परत्वाद् “आम आकम्” २११२० इत्याकमि शेषे लृगिति लृकि दीर्घः । एवमेव युष्मानस्मान्वाऽतिक्रान्तानामिति विग्रहः—अतियुष्माकम्, अत्यस्माकमिति । आमोऽन्यसम्बन्धित्व- २९ विज्ञानादाकम् । ननु त्वं ब्राह्मणीत्यादौ सामानाधिकरण्यात् सर्ववृत्तित्वाद् संभाव्यमानलिङ्गयोगित्वाद् युष्मभ्यमित्यादौ “पश्चा अन्त्यस्य” इति न्यायेन दकारमात्रलोपेऽकारान्तत्वाद् स्त्रियामाप् प्राप्नोति । तत्त्वानिष्टरूपतापत्तिरतस्मादित्यर्थमन्यस्त्रादेरिति वक्ष्यते, न च वक्ष्यमित्याह— अलिङ्गे इत्यादि । अभिधेयस्यालिङ्गत्वाद् शब्दधातुलिङ्गाभावात् ताभ्यां लिङ्गरहित एवार्थोऽभिधीयत इति भावः । त्वयि, मयि इति । शेषग्रह- ४२ णामावेऽत्रापि परत्वाद् लृक् प्रवर्तते ॥ ८ ॥

मोर्वा । अत्र युष्मदस्मदोरिति शेषे लृक् स्यादाविति च वर्तते । युष्मदस्मदोर्मौ शेषे स्यादौ लृग्वा इत्यन्वयः । नास्ति युष्मदस्मदोर्मां सामानाधिकरण्यं, तेन तत्रामान्तयोरपि युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य रूपस्य कार्यं भविष्यति इति हेतोः सामानाधिकरण्येनाह—युष्मदस्मदित्येतयो-

४५ मकारान्तयोरिति । “विशेषणमन्त” इति न्यायेनात्र तदन्तत्वविज्ञानम् । मकारान्तयोर्युष्मदस्मदो “पश्चा अन्त्यस्य” इति न्यायाद् मकारस्यैव कार्यं भविष्यतीत्याह—मकारस्य लृग्वा इति । यथा च मान्तत्वं तथोदाहरति—युवामित्यादि । युष्म भ्यस्, अस्म भ्यस् इति स्थिते

युष्मान् वा आवामस्मान् वाऽऽचष्टे णिचि, किपि, तल्लुकि च—युष्म्, अस्म् इति मान्तत्वम्; युष्मभ्यम्, युष्मभ्यम्; अस्मभ्यम्, अस्मभ्यम्; युष्मद्, युषद्; अस्मद्, असद्; युष्माकम्, युषाकम्; अस्माकम्, असाकम् । शेष इत्येव ? युषान्, असान्; युषाभिः, असाभिः; युषासु, असासु; एषु पूर्वेण मकारस्याऽऽत्वम् । टाडयोसि नित्यत्वात् त्वमादि- ३ कार्येभ्यः प्रथममेव पूर्वेण मकारस्य यत्वे—युष्या, अस्या; युष्यि, अय्यि; युष्योः, अयोः । अथ शब्दान्तरप्राप्त्या यत्वमप्यनित्यमित्याश्रीयते तदा परत्वात् पूर्वं त्वमाद्यादेशे अकारस्य यत्वे—त्या, म्या; त्व्य, म्यि; युव्योः, आव्योः । अथ 'सकृद्गते स्पृद्धे यद्वाधित तद्वाधितमेव' इत्याश्रीयते तदा यत्वाभावे—त्वेन, मेन; युवयोः, आवयोः; त्वे, मे । अत्रासर्वादिसंवि- ४ त्वात् छेः स्मिन्नादेशो न भवति । अथ 'किञ्चिद् प्रकृतिरेवाह' इति सर्वादिसंविद्वत्त्वम् तदा भवत्येव स्मिन्नादेशः । सिजस्रुद्धेऽसप्रत्यये तु परत्वात् त्वमहमादय एवादेशा भवन्ति—त्वम्, अहम्; यूयम्, वयम्, तुभ्यम्, मह्यम्; तव, मम । एके तु मन्तयोर्युष्मदस्मदोरादेशात् नेच्छन्ति ॥ ९ ॥ ५

### मन्तस्य युवावौ द्वयोः ॥ २ । १ । १० ॥

द्वित्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानयोर्युष्मदस्मदोर्मन्तस्य मकारावसानस्यावयवस्य तत्संविन्विनि अन्यसंविधिनि वा स्यादौ परे यथासंख्यं युव आव इत्येतावादेशौ भवतः । युवाम्, आवाम्; युवाभ्याम्, आवाम्भ्याम्; युवयोः, आवयोः; अतिक्रान्तौ १२ युवाम् आवां वा अतियुवाम्, अत्यावाम्; अतिक्रान्तं युवाम् आवां वा अतियुवाम्, अत्यावां पश्य; अतिक्रान्तौ युवामावां वा अतियुवाम्, अत्यावां पश्य; एवम् अतियुवान्, अत्यावान्; अतियुवया, अत्यावया; अतियुवाभ्याम्, अत्यावाभ्याम्; अतियुवामिः, अत्यावामिः; अतियुवाभ्याम्, अत्यावाभ्याम्; अतियुवत्, अत्यावत्, अतियुवाभ्याम्, अत्यावाभ्याम् आगतम् । १५

चतुर्थोऽवयवचनस्याभ्यमादेशे पक्षे मकारलोपे च—युष्मभ्यम्, युष्मभ्यमित्यादि । तथा पश्यन्त्या भ्यसो "ह्येषाद्" इत्यदादेशे पक्षे मकारलोपे च—युष्मदित्यादि । शसि भिसि ऋपि तु शेष इति वचनात् पूर्वेणात्वमेवेत्याह—एष्वित्यादि । पूर्वेण—“युष्मदस्मदो” इत्यनेनेति भावः । अथ युष्म् अस्म् इति स्थितस्य टायां ङावोसि च यत् प्रप्नोति त्वमाद्यादेशश्च, ततो नित्यत्वात् मकारस्य यत्वे मपर्यन्तत्वाभावात् पश्चात् त्वमाद्यादेशा- १० भाव इत्याह—टाडयोसीत्यादि । तदुदाहरति—युष्या इत्यादि । अथ शब्दान्तरप्रवृत्त्या यत्वस्यानित्यत्वे द्वयोरन्यत्र सावकाशत्वात् परत्वात् त्वमाद्यादेशस्यदापि 'पुनः प्रसङ्गविज्ञानाद्' अकारस्य यत्वं प्रप्नोतीत्याह—अथेत्यादि । तदुदाहरति—त्या इत्यादि । अथ सामान्याभ्यत्वात् पुनः प्रसङ्गविज्ञानाभावात् 'सकृद्गते' इत्याभ्ययात्वाभावात् एवेत्याह—अथ सकृद्गते इत्यादि । तथा चोदाहरति—त्वेन इत्यादि । ननु त्वे २१ मे इत्यत्र अकारान्तत्वात् सिन्नादेशः कथं न भवतीत्याह—अत्रासर्वादीत्यादि । अथ किञ्चिदिति । अथ भावः—दध्यादिशब्दस्य स्वमो- लोपेऽपि तदर्थमभिधायकत्ववत् प्रकृतेरेव किञ्चिदभिधायकत्वम्, अन्यव्यतिरेकाभ्यामवस्थितस्यैव तदर्थमभिधायकत्वात् सर्वादिसंविधित्वाद् भवति सिन्नादेशः । परत्वादिति । द्वयोरन्यत्र सावकाशत्वेनेति शेषः । मकारान्तयोर्युष्मदस्मदोरादेशाभावमिच्छता मतमुपन्यस्यति—एके त्वि- २४ त्यादि । एकेषां मते मकारस्य लृप् भवत्येव । स्पष्टश्चेद "मपर्यन्तस्य" पा० ७।१२।१। भाष्यकैयटयोः ॥ ९ ॥

मन्तस्य युवावौ द्वयोः । युष्मदस्मदोरिति स्यादविति चातुर्वर्तते । द्वयोर्युष्मदस्मदोर्मन्तस्य स्यादौ युवावौ इत्यन्वयः । द्वयोरित्यनेन द्रव्यप्रधानत्वात् सामान्यावचिनाऽपि युष्मदस्मदर्थ एव द्वित्वविशिष्टो निर्दिश्यतेऽर्थान्तरे तयोर्हृत्स्वभावात् । स्यादिविशेषणत्वे तु गुणमिधायित्वात् २७ स्यादेर्गुणप्रधानतया द्वित्व इति निर्दिश्येत, यथा "द्वित्वे वाग्नौ" इत्याह—द्वित्वविशिष्टे इत्यादि । अर्थे इति । स्वाभिधेय इत्यर्थः । "मोर्वा" इति युष्मदस्मदुत्पत्त्यस्यनिर्देशात् सामानाधिकरण्याकाङ्क्षादिह वैयधिकरण्येनाऽऽह—युष्मदस्मदोर्मन्तस्येत्यादि । यदि मन्तयोर्युष्मदस्मदोरिति सामानाधिकरण्यं विज्ञायते तदा णिजन्तात् किप्येव विधिः स्यात्, न दकारान्तयोरिति । ननु "क्षेपे लृक्" इत्यादौ स्वयं कार्ययोगित्वेन विज्ञातयो- ३० युष्मदस्मदो कथमिह मन्तस्येत्येतद्विशेषणत्वमिति चेत् १ सत्यम्, भवतु तत्र कार्ययोगित्वेन विशेष्यत्वम्, इहातुष्टयोरस्तु विशेषणतैव विज्ञायते । शब्दो हि यत्र सन्निधीयते तत्र तदुपकारयोग्यतया परिणतिमासादयति । यदि चात्रापि युष्मदस्मदावेव कार्ययोगिणौ तदाऽन्तःप्रहणमनर्थक, भोरित्येवोच्येत, पूर्वसूत्रोक्तं चातुर्वर्त्येदिति । वैयधिकरण्ये तु 'म' इत्युच्यमाने मकारस्यैव कार्ययोगित्वं स्यादिति तदन्तस्य कार्ययोगित्वार्थमन्त- ३१ प्रहणमर्थवदिति । नन्वत्रान्तर्भूतान्तार्थपरिग्रहार्थं परिग्रहणं विधेयम्, अन्यथा युष्, अस् इत्येतयोरेव आदेशा स्युर्न युष्मदस्मदित्येतयो, नैव दोषः, अन्तःशब्दस्यावयवव्यवचित्वाद्यवयवेन विदुष्यमाणत्वात् समुदायस्य समासार्थत्वादन्यपदार्थोऽवयवमन्तर्भावात् इति । न च नयन्त क्षेत्र- मित्यत्रान्तःशब्दसद्भावेऽपि नया क्षेत्रेऽननुप्रवेशात् कथमेवमुच्यते इति वाच्यम्, तत्रावयवार्थाऽसमवादान्तःशब्दस्य समीपवचनत्वात् । अत्र ३६ त्ववयवत्वं सानीय च समवति तत्राऽवयवत्वमेवाश्रीयते, अन्तःशब्दस्यावयवव्यवचित्वेन प्रसिद्धतरत्वात्, ततश्च मपर्यन्तस्यादेशालमात्रार्थं परि- प्रहणेन । एव तर्कविधितोत्तरार्थं परिग्रहणं कर्तव्यम्, यदि युष्मदस्मदी मान्ते अथाप्यमान्ते सर्वस्याप्यादेशाः स्युरिति, अन्यथा मन्तस्येत्युच्यमाने यत्रैव मान्तयुष्मदस्मदी तत्रैवादेशा स्युः, तथाच सति सामानाधिकरण्येन विशेषणविशेष्यभावः स्यात् । अथापि तस्य प्रयोक्तुरायत्तत्वाद्वायधि- ३९ कर्ण्यमाश्रीयते—युष्मदस्मदोऽवयवस्य मन्तस्य इति, तथापि—यत्र मान्ते युष्मदस्मदी तत्र भेदाभावादादेशा न स्युः । न च व्यपदेशिवद्भावोऽस्ति, 'अनात्रा' इति प्रतिषेधात् । परिग्रहणे तु तदुपादानसामर्थ्याद्युष्मदस्मदवयवेषु युष्मदस्मच्छब्दो वर्तते इति सर्वत्रैवादेशसिद्धिः । वैयधिकरण्येन वा संवन्ने परिग्रहणोपादानसामर्थ्याद् 'अनात्रा' इति प्रतिषेधाप्रवृत्त्या मान्तयोरपि तयोरादेशसिद्धिः । न कर्तव्यम्, "विशेषणमन्त" इति अत्रा- ४२ न्तत्वे लृप्ते पुनरन्तःप्रहणात्तदर्थत्वाभावादि । युवाम्, आवामिति । अत्र प्रक्रियाका । एव युवाभ्यामित्यापि पूर्ववत् । उपसर्जनयोर्युष्मद- स्मदोर्हृत्स्वचित्वे उदाहरति—अतिक्रान्तौ युवामित्यादि । एवमत्यावामित्यत्रापि दृष्टव्यम् । अतियुवाम्, अत्यावाम् पश्येति । पश्ये- स्युप्रयोगो द्वितीयैकवचनसप्रत्ययाय । द्वितीयादिवचने च रूपं दर्शयति—अतिक्रान्तौ युवामित्यादि । गदुवचने च—अतियुवान् इत्यादि । ४५

अतियुवत्, अत्यावत्, अतियुवयोः, अत्यावयोः स्वम्; अतियुवाकम्, अत्यावाकम्; अतियुवयि, अत्यावयि; अतियुवयोः, अत्यावयोः, अतियुवासु, अत्यावासु । सि जस् डे डस् इत्येतेषु पुनः परत्वात् त्वमहमादयः । मन्तस्येति किम् ? मकारावेषे-  
१ यथा स्यात् न तु सर्वस्य, तेन युवकाम्यामावकाम्यामित्यत्राकृश्रुतिः, युवयोरावयोरित्यत्र तु दकारस्य यत्वं सिद्धम्;  
अन्यथा युव्योरावयोरित्यनिष्टं स्यात् । द्वयोरिति किम् ? युष्मान्, अस्मान्, युष्मामि, अस्मामि; युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम्;  
युष्मत्, अस्मत्; युष्माकम्, अस्माकम्; युष्मासु, अस्मासु । द्वयोरपि युष्मदस्मद्विशेषणं किम् ? युष्मानस्मानतक्रान्तौ;  
२ अतियुष्माम्, अत्यस्माम्; अतियुष्माम्याम्, अत्यस्माम्याम्; अतियुष्मयोः, अत्यस्मयोः; अत्र समास एव द्वित्वविशिष्टेऽर्थे  
वर्तते, न युष्मदस्मदी; इति युवावादेशौ न भवतः । स्यादावित्येव ? युवयोः पुनः युष्मत्पुनः, आवयोः पुनः अस्-  
त्पुनः, युवयोरिदम् युष्मदीयम्, आवयोरिदम् अस्मदीयम् ॥ १० ॥

१ त्वमौ प्रत्ययोत्तरपदे चैकस्मिन् ॥ २ । १ । ११ ॥

एकत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानयोर्युष्मदस्मदोर्मकारान्तस्यावयवस्य स्वसंबन्धिन्यन्यसंबन्धनि वा स्यादौ परे प्रत्ययो-  
त्तरपदयोश्च परयोर्वथासंख्यं त्व म इत्येतावादेशौ भवतः । त्वाम्, माम्; त्वया, मया; त्वद्, मद्; त्वयि, मयि, अति-  
२ क्रान्तौ त्वामतित्वाम्, अतिमाम् तिष्ठतः; अतिक्रान्त त्वां मां वा अतित्वाम्, अतिमां पदयः; अतित्वान्, अतिमान्;  
अतित्वया, अतिमया; अतित्वाम्याम्, अतिमाम्याम्; अतित्वामि, अतिमामि; अतित्वाम्याम्, अतिमाम्यां देहि; अति-  
त्वम्यम्, अतिमम्यम्; अतित्वत्, अतिमत्; अतित्वाम्याम्, अतिमाम्याम् आगतम्; अतित्वद्, अतिमद्; अतित्वयोः,  
३ अतिमयोः स्वम्; अतित्वाकम्, अतिमाकम्; अतित्वयि, अतिमयि, अतित्वयोः, अतिमयोः, अतित्वासु, अतिमासु । सिज-  
स्डेडस्सु पुनः परत्वात् त्वमहमादयो भवन्ति । प्रत्ययोत्तरपदयोः खल्वपि—तवायं त्वदीयः, मदीयः, त्वन्मयम्, मन्मयम्;  
त्वामिच्छति त्वद्यति, मद्यति, त्वमिवाचरति त्वद्यते, मद्यते, त्वया कृतं, मया कृतं—त्वत्कृतम्, मत्कृतम्, त्वत्पुनः, मत्पुनः;  
४ त्वद्धितम्, मद्धितम्; त्वत्प्रधानः, मत्प्रधानः । त्वामाचष्टे त्वदयति, मदयतीत्यत्र नित्यत्वादन्त्यस्वरादिलोपात् प्रागेव

अत्र “शसो न” इति नत्वम् । एवमन्यदपि । स्वमिति । पष्ठीवप्रत्ययाय । ननु सिजस्वेहसोऽतिक्रम्य कथमुदाहृतम्, किन्त्वत्र युवावौ न भवतः,  
ओमित्याह—सिजस्वेह इत्यादि । परत्वात् त्वमहमादय इति । यदि परत्वेन त्वमहमादयः स्युर्वाहि “परादन्तरङ्ग बलीय” इति न्यायात् युवा-  
२ वादयः प्राप्तवन्ति इति चेद्, उच्यते—परत्वात्—विशेषमिहितत्वेन प्रकृष्टत्वादित्यर्थः । मन्तस्येति किम् इति । युष्मदस्मदो समस्तयोरेव युवा-  
वादेशयोः कृतयोरपि आत्मे मत्वे च युवाम्, आवाम् इत्यादिसिद्धेरिति प्रश्नः । समाचष्टे—मकारावेषेरित्यादि । तेन—मकारावेषरादेशार्थं  
मन्तस्येति सत्त्वेन । युवकाम्यामावकाम्यामकृश्रुतिरिति । असति मन्तस्येति वचने “युष्मदस्मदोऽसौमादित्यादेः” ॥ ३।१३० ॥ इति भ्यामि  
२४ अन्त्यस्वरात् पूर्वमकिं कृते ‘तन्मम्यपतितस्य उद्ग्रहणेन प्रहणात्’ सर्वस्यादेशोऽकृश्रवणं न स्यात्, तथा युवयोरावयोरित्यत्र सर्वादेशामात्रे दकारस्य  
यत्वम् । यदि सर्वादेशा स्यात् किमत्रानिष्टं स्यात्, यतस्तत्रापि “एद्ग्रहस्मोसि” इत्येव सिध्यत्येव युवयोरावयोरिति ? सत्यं, यद्येव लभ्येत, तस्य  
न लभ्य, “टाव्योसि य” इति तदपवादस्य यत्वस्य प्रवृत्तौ युव्योरावयोरित्यनिष्टं स्यात् । युष्मान् इत्यादि । अत्र बह्वर्थं युष्मदस्मदी न ह्यर्थः इति  
२६ द्वयोरिति वचनाद्युवावौ न भवतः । द्वयोरपीति । यदि द्वयोरिति युष्मदस्मदी न विशेष्येयात् किन्तु स्यादिविशेष्येत तदाऽत्रापि समासस्य ह्यर्थ-  
वृत्तित्वात्संबन्धनि द्वित्वमिधामिनि स्यादौ आदेशौ स्यातामिति द्वयोरिति विशेषणम्, तयोश्च बह्वर्थवृत्तित्वाद्युवावौ न भवत इति । युष्मत्पुनः  
इत्यादि । अत्र प्रत्ययस्य स्यादे “ऐकाग्र्ये” इति छपि, युष्मदस्मदोर्द्वयर्थत्वात् स्यादावित्यधिकारमन्तराणां युवावौ प्राप्तुः; स्यादावित्यधिकार-  
२८ माणे “छप्यवृत्तेन” इति स्थानिनत्वप्रतिषेधात् स्यादभावाच्च भवत इति ॥ १० ॥

त्वमौ प्रत्ययोत्तरपदे चैकस्मिन् । युष्मदस्मदोरिति चकारात् स्यादाविति मन्तस्येति चानुवर्तते । एकस्मिन् युष्मदस्मदोर्मन्तस्य  
स्यादौ प्रत्ययोत्तरपदे च त्वमौ इत्यन्वयः । उत्तरं च तत् पदं चेति “दिगधिक” ॥ ३।१।१८ ॥ इति फर्मधारयस्त्वहर्न प्रत्ययेन समाहारद्वन्द्वः ।  
२९ सूत्रार्थमाह—एकत्वविशिष्टेऽर्थे इत्यादि । पूर्ववद्विवचनीयम् । त्वाम्, मामित्यादि । पूर्वं साधितं पुनर्विस्तरभयात् न साध्यते । उपसर्जनयो-  
र्युष्मदस्मदोरेकार्यवानित्वे उदाहरति—अतिक्रान्तौ त्वामतित्वाम् इत्यादि । तिष्ठत इत्यनुप्रयोगः प्रथमाद्विवचनाभिव्यक्त्यर्थः । पदयो-  
र्युष्मदस्मदोरेकार्यवानित्वे उदाहरति—अतिक्रान्तौ त्वामतित्वाम् इत्यादि । वेहीति चतुर्थीद्विवचनप्रतीत्यर्थः । अतित्वम्यमित्यादि । अत्र “अभ्यम् भ्यस” इत्यन्यमि त्व  
३० इत्यादेशो शेषे छ् । एवमन्यदपि । आगतं, स्वमिति च पष्ठीपञ्चमीवप्रत्ययाय । अतित्वाकम्, अतिमाकमिति । अत्र “आम  
आकम्” इत्याकम् । सिजस्वेहस्सु उपसर्जनयोर्युष्मदस्मदो रूपव्यवस्थामाह—सीत्यादि । स्यादावुदाहृत्य प्रत्यये उत्तरपदे नोदाहरति—  
त्वदीयो मदीय इत्यादि । तवायं मयामिति विग्रहे “दोरीय” ॥ ३।१।३९ ॥ इतीयप्रत्ययः । त्वन्मयं, मन्मयमिति । “दोराग्रिण” ॥ ३।१।४९ ॥  
३१ इति मयद् । त्वद्यति, मद्यतीति । “अभाव्ययात्” इति कथञ्च । त्वद्यते, मद्यते इति । “कथञ्” ॥ ३।१।२६ ॥ इति कथञ् । त्वत्कृतम्,  
मत्कृतमिति । त्वया कृतं, मया कृतमिति “कारक कृता” ॥ ३।१।६८ ॥ इति वृत्तीयातत्पुरुषः । त्वत्पुनः, मत्पुनः इति । त्वं पुनो मम पुनः इति  
विग्रहे पष्ठीसमासः, बहुव्रीहिर्वा । त्वद्धितम्, मद्धितम् इति । पुन्यं हितम्, मय हितम् इति “हितादिभि” ॥ ३।१।७१ ॥ इति चतुर्थीत-  
३२ त्पुरुषः । त्वं प्रधानमस्य, अह प्रधानमस्येति बहुव्रीहि—त्वत्प्रधानो मत्प्रधान इति । एषु “ऐकाग्र्ये” इति स्यादेष्टंयपि प्रत्ययोत्तरपद-  
प्रहणायुष्मदस्मदोर्मकारान्तावयवस्य यथासंख्यं त्वमादेशौ । ननु त्वदयति, मदयतीत्यत्रोपयोरन्यत्रान्यत्र लब्धवाक्यत्वादन्त्यस्वरादिलोप-  
कस्माच्च भवतीत्याह—अत्र नित्यत्वादित्यादि । कृताकृतप्रसङ्गादिति शेषः । नन्वत्रान्त्यस्वरादिलोपात् प्रागेव नित्यत्वात् त्वमादेशौ कृते पश्चा-

त्वमादेशौ । कश्चित् पूर्वमन्यस्वरादिलोपे त्वमादेशे अकारस्य वृद्धौ, प्वागमे-त्वापयति, मापयति; किपि तु-त्वाप्, माप् इत्याह । एकस्मिन्निति किम् ? युष्माकम्, अस्माकम् । एकत्वेन युष्मदस्मदोर्विशेषणादिह न भवतीति-अतिक्रान्तं युष्मान्-अतियुष्माम्, अत्यस्मा; अतियुष्मया, अत्यस्मया, अतियुष्मद्, अत्यस्मद्; अतियुष्मयि, अत्यस्मयि । प्रत्य- ३ योत्तरपदे चेति किम् ? त्वय्यधि, मय्यधि अधियुष्मद्, अय्यस्मद्, अन्तरङ्गत्वात् स्याद्विद्योऽप्येव त्वमादेशे सिद्धे प्रत्य- योत्तरपदग्रहणं 'बहिरङ्गाऽपि लुप् अन्तरङ्गान् विधीन् बाधते' इति न्यायज्ञापनार्थम्, तेन-यद् तद् इत्यादावन्तरङ्गमपि खंदायत्वादि न भवति । एके तु निमित्तनिरपेक्षमेकत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानयोस्त्वमादेशाविच्छन्ति, तन्मते-अधित्वत्, ५ अधिमत् । मन्तस्येत्येव ? त्वक पिताऽस्य त्वकत्पितृकः, अत्राक् सहितस्य मा भूत्; प्रत्ययग्रहणेनैव सिद्धे स्यादावित्युत्ता- र्थमनुवर्तते ॥ ११ ॥

### त्वमहं सिना प्राक् चाकः ॥ २ । १ । १२ ॥

९

युष्मदस्मदोः स्वसंबन्धिनाऽन्यसंबन्धिना वा सिना सह यथासंख्यं त्वम् अहम् इत्येतावादेशौ भवतः, तौ चाकप्र- त्ययप्रसङ्गेऽकः प्रागेव भवतः । त्वम्, अहम्; अतिक्रान्तस्त्वाम् अतित्वम्, अत्यहम्, अतिक्रान्तो युवाम् अतित्वम्, अत्यहम्, अतिक्रान्तो युष्मान् अतित्वम्, अत्यहम्; प्रियस्त्वं प्रियौ युवां प्रिया यूयं वा यस्य स प्रियत्वम्, प्रियाहम्; १२ एषु परत्वात्वमौ युवावौ च बाधित्वा त्वमहमावेव भवतः । सिनेति किम् ? युष्माभिः, अस्माभिः । सिलुपि च "लुप्य- च्छ्वेनेत्" ॥ ७ । २ । ११२ ॥ इति निषेधात् न भवति । त्वं पुत्रोऽस्य त्वत्पुत्रः, मत्पुत्रः; एवमुत्तरेष्वपि । प्राक् चाक इति किम् ? त्वकमहकमित्यत्राकः श्रुतिर्यथा स्यात्, अन्यथा पूर्वमकिं सति 'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते' इति १५ न्यायात् साकोरप्यादेशः स्यात् । केचित्तु त्वां मां चाचष्टे इति णौ त्वमादेशे वृद्धौ किपि मन्तयोरेव त्वाहादेशविधानात् सौ त्वाम् माम् इति, बातोरेव वृद्धिरिति मते त्वं मम् इत्येव च भवतीति मन्यन्ते । ते हि प्रकृतिमात्रस्याऽऽदेशान् डेजस्- सीनाममादेश ङसस्त्वकारं चेच्छन्ति ॥ १२ ॥

१८

दपि अन्यस्वरादिलोप कस्माच्च भवति इति चेत्, सत्यम्, 'लोपात् स्वरादेश' इति न्यायात् "ङास्या०" इत्येव प्रवृत्ते । तत्प्रवृत्तावप्यन्यस्व- रादिलोपो न, "नैकस्वरस्य" ७।४।४। इति निषेधात् । "ङिति" इत्यनेन वृद्धिरपि नाशङ्का, धातुत्वाभावात् । कश्चित्त्विति । उत्पल । शब्दा- न्तरप्रवृत्त्यभयोरप्यनित्यत्वादन्यत्र ङभावकाशत्वात् परत्वादन्त्यस्वरादिलोप इत्यर्थः । युष्माकमित्यादि । यत्रैकस्मिन्निति न स्यात् तदा द्वयो- ११ र्वहुषु वर्तमानयोरपि युष्मदस्मदोस्त्वमादेशौ प्राप्तुत्तदर्थमिहैकस्मिन्निति कथ्यते । युष्मदस्मदोर्विशेषणतापक्षस्यैकस्मिन्नित्यस्य प्रयोजनमाह— एकत्वेनेत्यादि । अतियुष्मामित्यादावैकस्मिन्निति विशेषणात् समासायस्यैकत्वेऽपि तयोरैकत्वाभावात् त्वमादेशौ न भवतः । अधियुष्मद्, अय्यस्मदिति । त्वयि अधि, मयि अधीति विग्रह "विमकिंसमीप०" ३।१।१९। इत्यव्ययीमाव । "अनतो लुप्" इति सेछेपि "लुप्यच्छ्वेनेत्" २४ इति स्थानिवत्त्वप्रतिषेधेन 'प्रत्ययोत्तरपदे च' इति वचनात् त्वमौ न भवतः । ननु प्रत्ययोत्तरपदग्रहण किमर्थं ? स्यादावित्येव सिद्धत्वात् । परत्वा- नित्यत्वाद्वा "एकाच्ये" इति स्यादेछेपि प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधात् स्यादेरभाव इति न वाच्यम् । एकाच्ये लुबुध्यते, एकाच्ये च प्रकृतिप्रत्ययो पूर्वो- तापदापेक्ष समास चाश्रित्य भवतीति तस्य बहिरङ्गत्वात्तदाश्रया लुबपि बहिरङ्गा । विमकिमाश्रित्यादेशयोर्विधानात् अन्तरङ्गत्वम् । ततः "असिद्धं २७ बहिरङ्गमन्तरङ्गे" इति न्यायादित्यादप्यन्तरङ्गस्य बलीयस्त्वात् त्वमादेशयोः कर्तव्ययोः छपोऽसिद्धत्वात्ताभ्यामेव पूर्वं प्रवर्तितव्यं ततो लुबिति न किञ्चिदनिष्टमिति । तथा चोक्तम्—'परतिलान्तरङ्गप्रतिपदविषयो विरोधिसंनिपाते तेषां सिध प्रसङ्गे परबलीयस्त्वम्' इति, उच्यते-एव सिद्धे- सति प्रत्ययोत्तरपदग्रहण ज्ञापयति यत् 'अन्तरङ्गानपि विधीन् बाधित्वा बहिरङ्गा लुभवति' इत्याह—अन्तरङ्गत्वादित्यादि । ज्ञापनप्रयोजनं च यद्- १० तदित्यादौ अन्तरङ्गमपि स्यादायत्वादिक बाधित्वा लुभप्रवर्तत इति । एके त्विति । चन्द्रादयः । प्रत्ययोत्तरपदस्यादिलक्षणनिमित्तनिरपेक्षत्वेऽप्ये- कत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानयोर्बुष्मदस्मदोर्मान्तावयवस्य 'अधित्वद्' इत्यादौ त्वमादेशाविति कश्चिन्मन्यते, तदत्यन्तापास्तत्वात् प्रमाणत्वेन नादरणीय- मिति । मन्तस्येत्येवेति । सर्वादेशे हि त्वकत्पितृक इत्यादौ अकृष्टहितयोरपि स्यादित्यर्थः । ननु स्यादेरपि प्रत्ययत्वात्तत्रापि प्रत्ययग्रहणेनैव १६ भविष्यति इत्यत आह—प्रत्ययग्रहणेनैवेत्यादि । स्यादावित्यनुवर्तनमुत्तरसूत्रे प्रयोजनवदित्यर्थः ॥ ११ ॥

त्वमहं सिना प्राक् चाकः । युष्मदस्मदोरित्येव वर्तते, न मन्तसेति वा नैकस्मिन्निति वा । युष्मदस्मदो सिना त्वमहं च अक प्राक् इत्यन्यत्तदर्थमाह—युष्मदस्मदोरित्यादि । त्वम्, अहम् इत्यादि । अत्र "त्वमौ प्रत्ययोत्तरपदे०" इति "मन्तस्य युवावौ०" इति १६ च त्वमाहादेशश्च प्राप्नोति, किन्तु त्वमहमादेशः । तत्र त्वा युवामित्यादौ त्वमायादेश सावकाशः, अतिक्रान्तो युष्मानस्मान् वा अतित्वम् इत्यादौ त्वमहमादेशश्च, तत्रान्यत्र द्वयोः सावकाशत्वादत्रोभयप्राप्तौ परत्वात्त्वमहमादेश एवेत्याह—एष्वित्यादि । ननु त्व पुत्रोऽस्य त्वत्पुत्र इत्यादौ 'अन्तरङ्गानपि विधीन् बाधित्वा बहिरङ्गा लुप् प्रवर्तते' इति न्यायात्, "एकाच्ये" इति सेछेपि प्रत्ययलोपलक्षणेन स्थानिवत्त्वात् त्वमहमादेशः १९ कस्मात् न भवतीत्याह—सिलुपि चेत्यादि । एवमुत्तरेष्वपि । "यूय वय जसा" इत्यादिवित्यर्थः । त्वकमित्यादि । अत्र प्राक् चाक इति वचनात् परमप्यक बाधित्वा त्वमहमादेशे पश्चात् "युष्मदस्मदोऽस्मादि०" इत्यक्, अन्यथा 'तन्मध्यपतितस्य तद्ग्रहणेन ग्रहणात्' साकोरपि युष्मदस्मदोरादेशे अकृश्रवण न स्यादित्याह—अन्यथेत्यादि । केचित्त्विति । पाणिन्यादयः । ननु तन्मते त्वम्, अहम्, यूय, वयमित्या- ४२ दय क्य स्थित्यन्तीत्याह—ते हीति । प्रकृतिमात्रस्य-युष्मदस्मदग्रूपदस्य । आदेशान्—"दुभ्यमसौ ङसि" पा० ७।२।९५।, "द्वयवयौ ङसि" पा० ७।२।९३।, "त्वाहौ सौ" पा० ७।२।९४। इति दुभ्याधीन्, डेजस्सीना "डेजस्यस्योरम्" पा० ७।१।२८। इत्यमादेश ङसस्तु "युष्मदस्मया स्तोऽश" पा० ७।१।२। इत्यकरं चेच्छन्तीत्यर्थः । समते तु त्वमहमित्येव भवति ॥ १२ ॥

४५

त्यादि। अकार उच्चारणार्थ इति । "असोऽता सख न पुत्ति" इति वदन्नापि नकारस्वाकार उच्चारणप्रमाणम् ।

..... नासीति प्र० । ..... नासीति प्र० ।



युष्मान्, अस्मान्; प्रिययुष्मान्, प्रियास्मान्; प्रियस्त्वं येषां तान् प्रियत्वान्, प्रियमान्; प्रियौ युवां येषां तान् प्रिययुवान्, प्रियावान् ॥ १७ ॥

अभ्यम् भ्यसः ॥ २ । १ । १८ ॥

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य स्वसंबन्धिनोऽन्यसंबन्धिनो वा भ्यसश्चतुर्थीबहुवचनस्य स्थानेऽभ्यमादेशो भवति । युष्म-  
न्यम्, अस्मभ्यम् दीयते; प्रिययुष्मभ्यम्, प्रियास्मभ्यम्; त्वामतिक्रान्तेभ्यः—अतित्वभ्यम्, अतिमभ्यम्, युवामति-  
क्रान्तेभ्यः—अतियुवभ्यम्, अत्यावभ्यम् । अकारादिकरणमात्ववाधनार्थम् ॥ १८ ॥

ङसेश्चाद् ॥ २ । १ । १९ ॥

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य स्वसंबन्धिनोऽन्यसंबन्धिनो वा ङसेश्चकारात् तत्सहचरितस्य भ्यसः स्थानेऽद् इत्ययमादेशो  
भवति । त्वद्, मद्, त्वां युवां युष्मान् वाऽतिक्रान्तात् अतित्वद्, अतिमद्; अतियुवद्, अत्यावद्; अतियुष्मद्, अत्यस्मद् ।  
भ्यस्—युष्मद्, अस्मद्; त्वां युवां युष्मान् वाऽतिक्रान्तेभ्यः अतित्वद्, अतिमद्, अतियुवद्, अत्यावद्, अतियुष्मद्, अत्य-  
स्मद् । पञ्चमीभ्यसो ग्रहणाच्चतुर्थीभ्यसो न भवति—युष्यभ्यम्, अस्मभ्यम् ॥ १९ ॥

आम आकम् ॥ २ । १ । २० ॥

युष्मदस्मदित्येताभ्यां परस्य तत्संबन्धिनोऽन्यसंबन्धिनो वाऽऽमः स्थाने आकमित्यादेशो भवति । युष्माकम्,  
अस्माकम्; प्रिययुष्माकम्, प्रियास्माकम्, त्वा युवां युष्मान् वा अतिक्रान्तानाम्—अतित्वाकम्, अतिमाकम्; अति-  
युवाकम्, अत्यावाकम्; अतियुष्माकम्, अत्यस्माकम्, आकमित्याकारो ण्यन्तार्थम्—युष्मानाचक्षाणानां णौ, किपि, १५  
युष्माकम्, अस्माकम् । केचित्तु तत्संबन्धिन एवाऽऽम आकमादेशमिच्छन्ति, तथाऽऽमप्रत्यये द्कारस्य यत्वमपीच्छन्ति,  
तन्मते—प्रिया यूयं येषां तेषां प्रिययुष्मयाम्, प्रियास्मयाम्, एवमतियुष्मयाम्, अत्यस्मयाम् ॥ २० ॥

अत एवैकवर्णत्वेऽपि अस्य समस्तादेशत्वसिद्धिः, “प्रत्ययस्य” इति न्यायात् । युष्मान् इत्यादि । पूर्वं साधितमेतत् । ननु युष्मानित्यादा द्वय १८  
प्राप्नोति, “क्षेपे” इत्यन्तलोपोऽनेन नकारश्च, तत्र कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नकारस्य नित्यत्वाद्धोपस्य च कृते नकारे शेषत्वाभावादप्रसङ्गित्वेनानित्यत्वात्  
पूर्वं नकार एव भवति । अथैव किमनेन ? “शसोऽता०” इत्यनेनैव सिद्धत्वात्, उच्यते—अलिङ्ग युष्मदस्मदी इति पुस्तत्वाभावात् नकारो न सिध्यतीति  
वचनात् । अभ्युपगमे वा लिङ्स्य लीनपुसकार्थं युष्मान् प्रादाणी, युष्मान् कुलानीत्यादि । अतत्संबन्धिन्युदाहरति—प्रिययुष्मान् इत्यादि ॥१७॥ २१

अभ्यम् भ्यसः । युष्मदस्मदोरिति वर्तते । पूर्ववद्विमर्शविपरिणाम । युष्मदस्मद्भ्यां भ्यस अभ्यम् इत्यन्वयस्तदर्थमाह—युष्म-  
दस्मद्भ्यां परस्येत्यादि । युष्मभ्यमित्यादि । साधितं पूर्वमेतत् । कार्यिणो भ्यस प्रथममुपादाने कर्तव्ये कार्यस्याभ्यस पूर्वमुपादानं प्रत्यासत्ति-  
सूचनार्थम्, पाठापेक्षया च चतुर्थ्येन प्रत्यासत्त्या तस्या एव चादेश इत्याह—चतुर्थीबहुवचनस्येति । ननु पारिशेष्यादप्यस्यार्थस्य सिद्धे, २४  
तथाहि—“क्षेपे” इत्यत्र चकारेण भ्यसोऽनुवृत्तिः, स च ङसिसाहचर्यात् पञ्चमीसंबन्धेयं शृण्वे इति परिशिष्टबन्धुर्थाभ्यसेव समवतीति ।  
एवन्तद्वादिशासिब्यकल्यम्, अन्यथा ‘भ्यसो भ्यम्’ इति निर्देशे व्यञ्जनादिरप्यादेश इति सदिह्येत । नन्वेवमस्तु प्रक्रियागौरव परिहृतं भविष्यति,  
कृते तस्मिन् “ङ्गसादेत्यपदे” इति ङ्गा भाव्यमित्यत आह—अकारादिकरणमिति । अन्यथा व्यञ्जनादित्यादित्वात् “युष्मदस्मदो” २७  
इत्यात्प्रसङ्गः । णिचि च युष्मभ्यमस्मभ्यमिति यथा स्यात् ॥ १८ ॥

ङसेश्चाद् । युष्मदस्मदोरिति वर्तमानं पञ्चम्या विपरिणम्यते । चकारेणात्र भ्यसनुकृष्यते । युष्मदस्मद्भ्यां ङसे भ्यसश्च अद्  
इत्यन्वयः । चकारेण भ्यसोऽनुकृषणेऽपि ङसे भ्यसश्चैकवचनान्तनिर्देशेन द्विवचनान्तनिर्दिष्टाभ्यां युष्मदस्मद्भ्यां सह वैपम्याद्यथासंख्याभावः ३०  
इत्याह—युष्मदस्मद्भ्यामित्यादि । त्वद्, मद् इति । अत्रोक्ता प्रक्रिया । अतत्संबन्धिन्युदाहरति—त्वा, युवामित्यादि । एव मामावामस्मा-  
न्वाऽतिक्रान्तादिति विग्रहोऽतिमदित्यादौ सविहेयः । पञ्चम्या भ्यस्यपीमानि रूपाणि, किन्तु विग्रहे विशेष इत्याह—त्वां युवां युष्मान्वाऽतिक्रान्तेभ्यः  
इति । एवमतिमदित्यादावपि मामावामस्मान्वाऽतिक्रान्तेभ्यः इति विग्रहः । ननु भवत्वत्र ङसिसाहचर्यात् पञ्चमीभ्यसो ग्रहणेन चतुर्थी- ३३  
भ्यस आदेशाभावः । अभ्यमादेशस्तु पञ्चमीभ्यस कस्माच्च भवति ? न चादेशेनापोदितत्वादिति वाच्यम्, तत्पुत्रस्य व्यक्तिपक्षाश्रयणेन पञ्चमी-  
भ्यस प्रत्यचरितार्थत्वेन पाक्षिकी प्रवृत्तिः स्यात्, अन्यथा अत्रानुवृत्तिरेव न स्यात् । न हि गोधा सर्पणादहिर्भवति, एव चतुर्थीभ्यसनुवर्तनात्  
पञ्चमीभ्यस् भवति । तस्मात् पूर्वसूत्रे पञ्चमीभ्यसपि ग्राह्य इति तस्याप्यभ्यमादेशेन भाव्यम् इति चेत्, मैवम्, जातौ तत्पुत्रं प्रवृत्तं, जातिश्च ३६  
सकृदप्ये प्रवृत्ता सती पुनः प्रवृत्तौ तदपवदेनादादेशेन वाधितत्वादाभ्यमादेशोऽस्य न प्रवर्ततेऽत आह—पञ्चमीत्यादि । नन्वनुवर्तनादर्थेषु  
अन्यथात्व मा भूत्, शब्देषु तु दर्शनाद् भवतु तर्हि आकृत्या एव व्याख्यायते—पञ्चमीभ्यसस्तत्र सूत्रे ग्रहणाभावाच्चतुर्थीभ्यसस्तु युष्मभ्यम्,  
अस्मभ्यम्, पञ्चमीभ्यसोऽभ्यमादेशाभाव इति ॥ १९ ॥

आम आकम् । युष्मदस्मदोरित्यनुवर्तते । युष्मदस्मद्भ्यां आम आकम् इत्यन्वयस्तदर्थमाह—युष्मदस्मदित्येताभ्यामित्यादि ।  
युष्माकमित्यादि । पूर्ववत् । अतत्संबन्धिन्युदाहरति—प्रिययुष्माकमित्यादि । अत्र बहुव्रीहेः सूत्रान्तात्तदप्रदर्शनेनातिशब्देन विग्रह  
दर्शयति—त्वा युवामित्यादि । एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् । नन्वाम कमिति न्यासे “युष्मदस्मदो” इत्यात्वे युष्माकमित्यादिसिद्धौ किमर्थमाकारकरण- ४२  
मित्याह—आकमित्याकार इत्यादि । यथाकारो नोपादीयेत तदा ण्यन्ते आकारो न श्रूयेत इति भावः । केचित्त्विति । पाणिनिसूत्रानुसारिणः ।  
ते हि “साम आकम्” पा० ७।१।३३ इति पठन्त कृतसामादेशस्याम आकमिच्छन्ति । साम् च “अवर्णस्याम साम्” इति सूत्रेणापसर्जनस्येव,  
वर्जैव चासौ तत्संबन्धी भवतीति णिचि सति न भवति । अपसर्जनादेव “टाङ्गयोसि०” इति यत्वं चेच्छन्ति इति तत्रासौऽप्यनुपवेशादित्यर्थः । ४५  
तदेतत्सर्वं केचित्तु इति मतमाह—तत्संबन्धिन एवाम इत्यारभ्य, यत्वमपीच्छन्तीत्यन्तेन । वस्तुतस्तु पाणिनीयसूत्रव्याख्यातृविषये  
प्राङ्मयमतविभेदात् प्रिययुष्मयाम् प्रियास्मयाम् अतित्वयाम् अतिमयाम् प्रिययुष्माकम् प्रियास्माकम् अतित्वाकम् अतिमाकमित्यादि रूपाणि भवन्ति,  
स्पष्टे तत्सर्वं सि० को० तत्त्वबोधिनीं युष्मदस्मत्प्रकरणे । तत्र प्राचा मत अपोष्य नव्यं खमत व्यवस्थापितम् ॥ २० ॥



युष्मान्, अस्मान्; प्रिययुष्मान्, प्रियास्मान्, प्रियस्त्व येषां तान् प्रियत्वान्, प्रियमान्; प्रियौ युवां येषां तान् प्रिययुवान्, प्रियावान् ॥ १७ ॥

अभ्यम् भ्यसः ॥ २ । १ । १८ ॥

३

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य स्वसंवन्धिनोऽन्यसंवन्धिनो वा भ्यसश्चतुर्थीबहुवचनस्य स्थानेऽभ्यमादेशो भवति । युष्म-  
भ्यम्, अस्मभ्यम् दीयते, प्रिययुष्मभ्यम्, प्रियास्मभ्यम्, त्वामतिक्रान्तेभ्यः-अतित्वभ्यम्, अतिमभ्यम्, युवामति-  
क्रान्तेभ्यः-अतियुवभ्यम्, अत्यावभ्यम् । अकारादिकरणमात्ववाधनार्थम् ॥ १८ ॥

६

ङसेश्चाद् ॥ २ । १ । १९ ॥

३

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य स्वसंवन्धिनोऽन्यसंवन्धिनो वा ङसेश्चकारात् तत्सहचरितस्य भ्यसः स्थानेऽद् इत्यभ्यमादेशो  
भवति । त्वद्, मद्, त्वां युवां युष्मान् वाऽतिक्रान्तात् अतित्वद्, अतिमद्, अतियुवद्, अत्यावद्; अतियुष्मद्, अत्यस्मद् ।  
भ्यस्-युष्मद्, अस्मद्; त्वां युवां युष्मान् वाऽतिक्रान्तेभ्यः अतित्वद्, अतिमद्, अतियुवद्, अत्यावद्, अतियुष्मद्, अत्य-  
स्मद् । पञ्चमीभ्यसो ग्रहणाच्चतुर्थीभ्यसो न भवति-युष्यभ्यम्, अस्मभ्यम् ॥ १९ ॥

आम आकम् ॥ २ । १ । २० ॥

१२

युष्मदस्मदित्येताभ्यां परस्य तत्संवन्धिनोऽन्यसंवन्धिनो वाऽऽमः स्थाने आकमित्यादेशो भवति । युष्माकम्,  
अस्माकम्; प्रिययुष्माकम्, प्रियास्माकम्, त्वा युवां युष्मान् वा अतिक्रान्तानाम्-अतित्वाकम्, अतिमाकम्, अति-  
युवाकम्, अत्यावाकम्; अतियुष्माकम्, अत्यस्माकम्, आकमित्याकारो ण्यन्तार्थम्-युष्मानाचक्षणानां गौ, किपि, १५  
युष्माकम्, अस्माकम् । केचित्तु तत्संवन्धिन एवाऽऽम आकमादेशमिच्छन्ति, तथाऽऽमप्रत्यये दकारस्य यत्वमपीच्छन्ति,  
तन्मते-प्रिया यूयं येषां तेषां प्रिययुष्मयाम्, प्रियास्मयाम्, एवमतिर्युष्मयाम्, अत्यस्मयाम् ॥ २० ॥

अत एवैकवर्णत्वेऽपि अस्य समस्तादेशत्वसिद्धिः, “प्रत्ययस्य” इति न्यायात् । युष्मान् इत्यादि । पूर्वं साधितमेतत् । ननु युष्मानित्याग द्वय १८  
प्राप्नोति, “ङेवे” इत्यन्तलोपोऽनेन नकारश्च, तत्र कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नकारस्य नित्यत्वाद्भोपस्य च कृते नकारे शेषत्वाभावादप्रसङ्गित्वेनानित्यत्वाद्  
पूर्वं नकार एव भवति । यद्येव किमनेन ? “ङासोऽता०” इत्यनेनैव सिद्धत्वात्, उच्यते-अलिङ्ग युष्मदस्मदी इति पुस्तकाभावात् नकारो न सिध्यतीति  
वचनात् । अभ्युपगमे वा लिङ्गस्य ज्ञानपुसकार्यं युष्मान् ब्राह्मणी, युष्मान् कुलानीत्यादि । अतस्संवन्धिन्युदाहरति-प्रिययुष्मान् इत्यादि ॥१७॥ २१

अभ्यम् भ्यसः । युष्मदस्मदोरिति वर्तते । पूर्ववद्विभक्तिविपरिणाम । युष्मदस्मद्भ्यां भ्यस अभ्यम् इत्यन्वयस्तदर्थमाह-युष्म-  
दस्मद्भ्यां परस्येत्यादि । युष्मभ्यमित्यादि । साधितं पूर्वमेतत् । कार्यिणो भ्यस प्रथममुपादाने कर्तव्ये कार्यस्याभ्यम पूर्वमुपादानं प्रत्यासत्ति-  
सूचनार्थम्, पाठापेक्षया च चतुर्थ्यैव प्रत्यासत्ता तस्या एव चादेश इत्याह-चतुर्थीबहुवचनस्येति । ननु पारिशेष्यादप्यस्यार्थस्य सिद्धे, २४  
तथाहि-“ङेवेश्चाद्” इत्यत्र चकारेण भ्यसोऽनुवृत्तिः, स च ङसिसाहचर्यात् पञ्चमीसचन्येव गृह्यते इति परिशिष्टचतुर्थीभ्यसेव सम्यगीति ।  
एवन्तद्वादेशाभिप्रेक्ष्यार्थम्, अन्यथा “भ्यसो भ्यम्” इति निर्देशे व्यञ्जनादिरप्यादेश इति सदित्येत । नन्वेवमस्तु प्रक्रियागौरव परिहृतं भविष्यति,  
कृते तस्मिन् “ङुगस्यादेवपदे” इति ङुका भाव्यमित्यत आह-अकारादिकरणमिति । अन्यथा व्यञ्जनादित्यादित्वात् “युष्मदस्मदो” २७  
इत्यात्वप्रसङ्गः । णिचि च युष्मभ्यमस्मभ्यमिति यथा स्यात् ॥ १८ ॥

ङसेश्चाद् । युष्मदस्मदोरिति वर्तमानं पञ्चम्या विपरिणम्यते । चकारेणान् भ्यसनुकृत्यते । युष्मदस्मद्भ्यां ङसे भ्यसश्च अद्  
इत्यन्वयः । चकारेण भ्यसोऽनुकर्षणेऽपि ङसे भ्यसश्चैकवचनान्तिनिर्देशेन द्विवचनान्तिनिर्देशाभ्यां युष्मदस्मद्भ्यां सह वैपण्याद्यथासंख्याभावः ३०  
इत्याह-युष्मदस्मद्भ्यामित्यादि । त्वद्, मद् इति । अत्रोक्ता प्रक्रिया । अतस्संवन्धिन्युदाहरति-त्वा, युवामित्यादि । एव मामावामस्मा-  
न्वाऽतिक्रान्तादिति विग्रहोऽतिमदित्यादौ सविज्ञेयः । पञ्चम्या भ्यसपीमानि रूपाणि, किन्तु विग्रहे विशेष इत्याह-त्वां युवां युष्मान्वाऽतिक्रा-  
न्तेभ्य इति । एवमतिमदित्यादावपि मामावामस्मान्वाऽतिक्रान्तेभ्य इति विग्रहः । ननु भवत्वत्र ङसिसाहचर्यात् पञ्चमीभ्यसो ग्रहणेन चतुर्थी-इह  
भ्यस आदेशाभावः । अभ्यमादेशस्तु पञ्चमीभ्यस कस्माच्च भवति ? न चादेशेनापोदितत्वादिति वाच्यम्, तत्सूत्रस्य व्यक्तिपक्षाश्रयणेन पञ्चमी-  
भ्यस प्रत्यचरितार्थत्वेन पाक्षिकी प्रवृत्तिः स्यात्, अन्यथा अत्रानुवृत्तिरेव न स्यात् । न हि गोधा सर्पणादहिर्भवति, एव चतुर्थीभ्यसनुवर्तनात्  
पञ्चमीभ्यस् भवति । तस्मात् पूर्वसूत्रे पञ्चमीभ्यसपि ग्राह्य इति तस्याप्यभ्यमादेशेन भाव्यम् इति चेत्, भवम्, जातौ तत्सूत्रं प्रवृत्तं, जातिश्च ३६  
सकृद्भ्ये प्रवृत्ता सती पुनः प्रवृत्तौ तदपवादेनादादेशेन बाधितत्वादभ्यमादेशोऽस्य न प्रवर्ततेऽत आह-पञ्चमीत्यादि । नन्वनुवर्तनादर्थेषु  
अन्यथात्व मा भूत्, शब्देषु तु दर्शनाद् भवतु तर्हि आहृत्या एव व्याख्यायते-पञ्चमीभ्यसस्तत्र सूत्रे ग्रहणाभावाच्चतुर्थीभ्यसस्तु युष्मभ्यम्,  
अस्मभ्यम्, पञ्चमीभ्यसोऽभ्यमादेशाभाव इति ॥ १९ ॥

३९

आम आकम् । युष्मदस्मदोरित्यनुवर्तते । युष्मदस्मद्भ्यां आम आकम् इत्यन्वयस्तदर्थमाह-युष्मदस्मदित्येताभ्यामित्यादि ।  
युष्माकमित्यादि । पूर्ववत् । अतस्संवन्धिन्युदाहरति-प्रिययुष्माकमित्यादि । अत्र बहुमीहे सुज्ञानत्वात्तदप्रदर्शनेनातिशब्देन विग्रह  
दर्शयति-त्वा युवामित्यादि । एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् । नन्वाम कमिति न्यासे “युष्मदस्मदो” इत्यात्वे युष्माकमित्यादिसिद्धौ किमर्थमाकारकरण-४२  
मित्याह-आकमित्याकार इत्यादि । यथाकारो नोपावीयेत तदा प्यन्ते आकारो न श्रूयेत इति भावः । केचित्त्विति । पाणिनिसूत्रानुसारेण ।  
ते हि “साम आकम्” पा० ७।१।३३ इति पठन्त कृतसामादेशस्याम आकमिच्छन्ति । साम् च “अवर्णस्याम साम्” इति सूत्रेणानुपसर्जनस्यैव,  
तत्रैव चासौ तत्संबन्धी भवतीति णिचि सति न भवति । उपसर्जनादेव “टाङ्योसि०” इति यत्नं चेच्छन्ति इति तत्रामोऽप्यनुप्रवेशादित्यर्थः । ४५  
तदेतत्सर्वं केचित्तु इति मतमाह-तत्संवन्धिन एवाम् इत्यारभ्य, यत्वमपीच्छन्तीत्यन्तेन । नस्तुतस्तु पाणिनीयसूत्रव्याख्यातृविषये  
प्राह्व्यमतविभेदात् प्रिययुष्मयाम् प्रियास्मयाम् अतित्वयाम् अतिमयाम् प्रिययुष्माकम् प्रियास्माकम् अतित्वाकम् अतिमाकमित्यादि रूपाणि भवन्ति,  
स्पष्टमेतत्सर्वं सि० कौ० तत्त्वबोधिनी युष्मदस्मत्प्रकरणे । तत्र प्राचा मत अपोष नव्यै समत व्यवस्थापितम् ॥ २० ॥

४८

## पदाद्युग्विभक्त्यैकवाक्ये वक्षसौ बहुत्वे ॥ २ । १ । २१ ॥

द्वितीया चतुर्थी षष्ठी च युग्विभक्तिः, स्या बहुत्वविषयया सह पदात् परयोर्गुणदस्मदोर्थथासंख्यं वक्षस् इलेतावा-  
 ३ देशौ वा भवतः, तच्चेत्पदं यष्मदस्मदी चैकवाक्ये भवतः, अन्वादेशे नित्यं विधास्यमानत्वादह विकल्पो लभ्यते, एवमुत्तर-  
 सूत्रत्रयेऽपि । धर्मो वो रक्षतु, धर्मो नो रक्षतु; धर्मो युष्मान् रक्षतु, धर्मोऽस्मान् रक्षतु; तपो वो दीयते, तपो नो दीयते;  
 तपो युष्मभ्यं दीयते, तपोऽस्मभ्यं दीयते; शीलं वः स्वम्, शीलं नः स्वम्; शीलं युष्माकं स्वम्, शीलमस्माकं स्वम् । पदा-  
 ६ दिति किम् ? युष्मान् धर्मो रक्षतु, अस्मान् धर्मो रक्षतु । युग्विभक्त्येति किम् ? ज्ञाने यूयं तिष्ठत, शीले वयं स्थास्यामः;  
 ज्ञाने युष्माभिः स्थितम्, शीलेऽस्माभिः स्थितम्, ज्ञानं युष्मदागतम्, शीलमस्मदागतम्, ज्ञानं युष्मासु तिष्ठति, शीलम्-  
 स्मास्वायतते; ग्रामे युष्मत्पुत्रः, नगरेऽस्मत्पुत्रः; इति युष्मदुपाध्यायो ब्रूते, इत्यस्मदाचार्योऽनुशास्ति । एकवाक्य इति  
 ९ किम् ? एकस्मिन् पदे निमित्तनिमित्तनोर्भावे मा भूत्-अतियुष्मान् पश्यति, अत्यस्मान् पश्यति; वाक्यान्तरे च मा भूत्-  
 ओदनं पचत युष्माकं भविष्यति, पटं वयत अस्माकं भविष्यति । ननु च वाक्यान्तरस्थात् पदात् परयोर्गुणदस्मदोः सामर्थ्या-  
 भावादेव वक्षसादयो न भविष्यन्ति, किमेकवाक्यग्रहणेन ? नैव शङ्क्यम्, युक्तयुक्तादपि पदादसमर्थत्वात् न प्राप्नुवन्ति-  
 १२ इति स्म नः पिता कथयति, इति वः श्रेयसी ब्रवीमि, इति मे माताऽवोचत्, शालीनां ते ओदनं दाम्यामि, अत्र हि  
 युष्मदस्मदी पित्रादिभिर्युक्ते न पित्रादियुक्तैरितिस्मादिभिरिति वक्षसादयो न स्युः, अतः पारपर्येणापि युक्तादेकवा-  
 क्यस्थात् पदात् परयोर्गुणदस्मदोर्वत्सादयो भवन्त्वित्येकवाक्यग्रहणमर्थवत् । बहुत्वं इति किम् ? धर्मो युवां रक्षतु,

- १५ पदाद्युग्विभक्त्यैकवाक्ये वक्षसौ बहुत्वे । अत्र युष्मदस्मदोरिति वर्तते । बहुत्वे इति युग्विभक्त्या इत्यस्य विशेषणम् । तथा च  
 बहुत्वे वर्तमानया युग्विभक्त्या पदात् परयोर्गुणदस्मदोर्वत्सौ वा एकवाक्ये इत्यन्वयः । पदादिति । पद्यते गम्यते कर्तृकर्मोदिविशिष्टोऽङ्गोऽङ्गे-  
 नेति पदं साच्यत तस्मादित्यर्थः । योजनं युक् सममविषमं सख्यास्थानं युग्ममिति यत्संख्यायते तेन परिच्छिन्नं वस्त्वपि युगित्युच्यते । अत्र च  
 १८ प्रस्तावाद् युग्मा विभक्तिर्द्वितीयाचतुर्थीषष्ठीरुपा गृह्यतेऽत आह—द्वितीयेत्यादि । कार्यकारिणोस्तुल्यत्वाद्यथासंख्यमत आह—युष्मदस्मदो-  
 रिति । द्विवचनं वाक्यं लौकिकं शास्त्रीयं च । तत्र लौकिकम् “अर्थैक्यादेकं वाक्यं साक्षाद्बोधेद्विभागे स्यात्” इति । अत्रानेकमपि ल्यायन्तं सम्भवति-  
 पश्यं मृगो धावति, पचति भवति इत्यादि द्वैतदेकार्थं साक्षांश्च न विभागे पश्य, किम् ? मृगो धावतीत्येतदिति । तत्र “कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे  
 २१ कार्यसंप्रत्यय” इति “सविशेषणमाख्यातं वाक्यम्” इति परिभाषितं साच्यन्तमेदं वाक्यमेदार्थं शास्त्रीयं वाक्यं गृह्यत इत्याह—एकवाक्यं इति ।  
 एकस्मिन्-अभिज्ञे आधारभूते वाक्ये इत्यर्थः । अभिज्ञत्वात् नानेकाधेयापेक्षया । तत्र युष्मदस्मदो कार्यिणो श्रुतत्वात् पदादित्यस्य तद्विशेषणस्य  
 च यथाभिज्ञं वाक्यमाधार इत्यमुमेवार्थं स्फुट्यन्नाह—तच्चेत्पदमित्यादि । ननु च प्रयोगे वक्षसादीनां विकल्पेन प्रयुज्यमानत्वात् सूत्रे च तदर्थस्य  
 २४ वाग्रहणदेर्नैवेत्यधिकारस्य चाभावात् कथं विकल्पो लभ्यत इत्याह—अन्वादेश इत्यादि । पक्षे कार्यस्यासंभवतायां नित्यग्रहणमर्थवत्त्वमिति,  
 व्यभिचारे विशेषणस्यार्थवत्त्वात् तदभावे तु तत्र नित्यग्रहणमानर्थक्यमशुर्वितेत्यर्थः । एवमुत्तरसूत्रत्रयेऽपीति । एतत्सूत्रवत् “द्वित्वे वाजौ,”  
 “केवृत्ता ते मे,” “अमा त्वा मा” इत्यादिनां विकल्पलाभः । धर्मो वो रक्षतु इत्यादि । अत्र युष्मदस्मच्छब्दात् शास्यदियु “शसो न,” “शेषे  
 २७ छक्” इत्यादीनि बाधित्वा नित्यत्वादनवकाशत्वात् च वक्षसादेव भवतः । रक्षतु इत्यादयोऽनुप्रयोगा द्वितीयादिविभक्त्यभिवाच्यार्थः । युष्मान्  
 धर्मो रक्षतु इत्यादि । सूत्रे पदादिति वचनादत्र युष्मदस्मदो पदात् परत्वाभावात् न वक्षसौ । इति युष्मदुपाध्यायो ब्रूते इति । अत्रेति-  
 ३० वाच्यं एवमर्थकः । युष्माकमुपाध्याय इति विशुद्धं षष्ठीसमासः । अत्र युग्विभक्त्या इति “समानानां तेन” इत्यादिवत् पञ्चम्यै तृतीयाविधानात्  
 त्रिविभक्त्यैरपि कार्यत्वात् “अन्तरज्ञानमपि विधीर्न बाधित्वा छुप्रवर्तते” इति तस्या पूर्वं लोपात्, “लुप्यच्छेदत्वं” इति स्थानिवद्भावप्रति-  
 ३३ भात् तद्वहणं कथमिति विशेष्यस्याभावात्तत्संबन्धविशेषणस्याप्येकशब्दस्याभाव इति वृत्त्यति—एकवाक्यं इत्यादि । समाधत्ते—एकस्मिन्नि-  
 ३६ वधारणमुपात्तयोरेव विशेषणविशेष्ययोः सम्भवति न सामर्थ्यलक्ष्योरिति । ओदनं पचतेत्यत्राख्यातमेदाद्वाक्यभेदः । ननु चेति । पदादिति  
 ३९ वधारणमुपात्तयोरेव विशेषणविशेष्ययोः सम्भवति न सामर्थ्यलक्ष्योरिति । ओदनं पचतेत्यत्राख्यातमेदाद्वाक्यभेदः । ननु चेति । पदादिति  
 ४२ पक्षाभावात् सामर्थ्याभावः । नैवं शङ्क्यमिति । अत्रायमभिप्रायः—एकवाक्यग्रहणमन्तरेण वाक्यान्तरे सामर्थ्याभावादेशाभावे यत्रैकवा-  
 क्येऽपि सामर्थ्यं न स्यात्तत्र वक्षसादयो न स्युर्यथा—इति स्म नः पिता कथयतीत्यादौ इति सेत्यादि पदं यथावस्थितयुष्मदादिना साक्षाद्वा-  
 क्येऽपि सामर्थ्यं न स्यात्तत्र वक्षसादयो न स्युर्यथा—इति स्म नः पिता कथयतीत्यादौ इति सेत्यादि पदं यथावस्थितयुष्मदादिना साक्षाद्वा-  
 ४५ एवमर्थ एव कथितवानित्यर्थः । बहुत्वं इति किमिति । ननु द्विवचनैकवचनयोरादेशान्तरविधानाद्बहुत्वं एव वक्षसौ निज्ञायेते, तथाहि—“द्वित्वे-  
 वाजौ” उच्यते, एकत्वे तु ते मे, त्वा मा उक्ता इति पारिषेष्ट्याद्बहुत्वमवसीयते, न चैतद्विषयेऽप्यनयो प्रवृत्तिः स्यादिति वाच्यं यतोऽपवादविषयपरि-  
 ४८ त्त्यस्य हारेणोत्सर्गं प्रवर्तते “पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते पश्चादुत्सर्गो” इति “प्रकल्प्य चापवादविषयं तत् तत्संयोगोऽभिनिविशते” इति चेत्, तस्यम्,  
 अस्म न्यायानुवादकत्वात् । किञ्च यथा ध्वजविषये “कृत्रियमृजि” ॥१११४२॥ इति प्रारम्भनाणोऽपवादोऽपि क्वम् पक्षे ध्वजं प्रवृत्तिं न

धर्मस्त्वां रक्षतु । स्याद्यधिकारे विभक्तिग्रहणं युक्त्यादिवचननिवृत्त्यर्थम्, तेन-ज्ञाने युवां तिष्ठतः, शीले आवां तिष्ठतः इत्यत्रोत्तरेण वाम्नावादेशौ न भवतः ॥ २१ ॥

द्वित्वे वाम्नौ ॥ २ । १ । २२ ॥

३

पदात् परयोर्युष्मदस्मदोर्द्वित्वविषयया युग्विभक्त्या सह यथासख्यं वाम्नावित्येतावादेशौ वा भवतः, तच्चेत्पदं युष्मदस्मदी चैकवाक्ये भवतः । धर्मो वां रक्षतु, धर्मो नौ रक्षतु, धर्मो युवां रक्षतु, धर्म आवां रक्षतु, शीलं वां दीयते, शीलं नौ दीयते, शीलं युवाभ्यां दीयते, शीलमावाभ्यां दीयते; ज्ञानं वां स्वम्, ज्ञानं नौ स्वम्, ज्ञानं युवयोः स्वम्, ज्ञानमावयोः स्वम् । युग्विभक्त्येव ? ग्रामे युष्मत्पुत्रः, नगरेऽस्मत् पुत्रः । पदादित्येव ? युवां धर्मो रक्षतु, आवां धर्मो रक्षतु । एकवाक्य इत्येव ? ओदनं पचत युवयोर्भविष्यति आवयोर्भविष्यति ॥ २२ ॥

डेङ्सा तेमे ॥ २ । १ । २३ ॥

५

तेमे इति लुप्तद्विवचनान्तं पदम्, पदात् परयोर्युष्मदस्मदोर्देङ्ङ इत्येताभ्यां सह ते मे इत्येतावादेशौ वा भवत एकवाक्ये, डेङ्ङेत्येकवचन स्थानिभ्यामादेशाभ्यां च यथासख्यनिवृत्त्यर्थम् । धर्मस्ते दीयते, धर्मस्तुभ्य दीयते; धर्मो मे दीयते, धर्मो मद्वा दीयते; शीलं ते स्वम्, शीलं तव स्वम्, शीलं मे स्वम्, शीलं मम स्वम्; धर्मस्ते स्वम्, धर्मो मे स्वम्, धर्मस्तव स्वम्, धर्मो मम स्वम् । पदादित्येव ? तुभ्य धर्मो दीयते, मद्वा धर्मो दीयते, तव शीलं स्वम्, मम शीलं स्वम् । एकवाक्य इत्येव ? ओदनं पच तव भविष्यति मम भविष्यति, त्वां युवा युष्मान् वाऽतिक्रान्ताय अतितुभ्यम् । डेङ्ङेति किम् ? पठस्त्वया क्रियते, धर्मो मया क्रियते । कथं 'न मे श्रुता नापि च दृष्टपूर्वा'-न मे १५ न मयेति द्वित्रार्थः; असाधुरेवायम्, स्यादप्रतिरूपकमव्ययं वा ॥ २३ ॥

अमा त्वामा ॥ २ । १ । २४ ॥

पदात् परयोर्युष्मदस्मदोरमा द्वितीयैकवचनेन सह त्वा मा इत्येतावादेशौ यथासख्यं वा भवत एकवाक्ये । धर्म-स्त्वा रक्षतु, धर्मो मा रक्षतु, धर्मस्त्वा रक्षतु, धर्मो मां रक्षतु । पदादित्येव ? त्वामीक्षते, मामीक्षते । एकवाक्य इत्येव ? अतित्वां पश्यतु, अतिमां पश्यतु ॥ २४ ॥

असदिवाऽऽमभ्यं पूर्वम् ॥ २ । १ । २५ ॥

२१

आमभ्यते यत्तदामभ्यम्, तद्वच्चि पदं युष्मदस्मद्वा पूर्वमसदिवाविद्यमानमिव भवति, सति तस्मिन् यत्कार्यं तत्र

विहन्ति । एवमत्रापि वामादयः पक्षे न वल्लसो प्रवृत्तिसुपहन्त्यु । अत एव "डेङ्ङा ते मे" इत्यत्र ऐच्छोरुपादानं कृतम्, अन्यथा द्वित्वबहुत्व-योर्वल्लसादिभिराग्रातत्वादेकत्वमवसीयते । तत्रापि द्वितीयैकवचनस्य त्वामादेशविधानात् ऐच्छसावेव परिशिष्यते किं तदुपादानेन ? तदुपादानं तु २४ 'अपवादविषये पक्षे क्वचिदुत्सर्गं प्रवर्तत' इति । इह स्याद्यधिकारात् स्यादेव विभक्तित्वाद्विभक्तिग्रहणमन्तरेणापि विभक्तौ लब्धाया विभक्तिग्रहणं युक्त्यादिवचननिवृत्त्यर्थमिति स्याद-स्याद्यधिकारे इत्यादि ॥ २१ ॥

द्वित्वे वाम्नौ । अत्र युष्मदस्मदोरिति पदाद्युग्विभक्त्यैकवाक्ये इति चानुवर्तते । पदात् युष्मदस्मदोर्द्वित्वे युग्विभक्त्या वाम्नौ वा एक-वाक्ये इत्यन्वयः । द्वित्व इति भावप्रत्ययान्तेन संख्या निर्दिश्यते, संख्यायां च विभक्तिर्वर्तते न युष्मदस्मदी द्व्यवृत्तित्वात्तयोरिति द्वित्व इति विभक्त्येव विशेषणमिति स्याद-द्वित्वविषयया इत्यादि । अत्रोदाहरणानि प्रत्युदाहरणानि च पूर्वानुसारेण सुज्ञानानीति ॥ २२ ॥

डेङ्ङसा तेमे । युष्मदस्मदोरिति पदादिति एकवाक्ये इति च वर्तते । पदात् युष्मदस्मदोर्देङ्ङसा तेमे वा एकवाक्ये इत्यन्वयः । तेमे ३० इति लक्षणस्य लक्ष्यानुसारित्वाद्युष्मदस्मदो कार्यिणोर्द्विवचनान्तत्वाद्वाख्यानायथासख्यार्थं तेमे इति लुप्तप्रथमाद्विवचनान्तं कार्यपदमिति स्याद-तेमे इत्यादि । ननु डेङ्ङसोर्द्वित्वसंख्याविषयत्वात् किमर्थमेकवचनम् ? उच्यते-कार्यिणो कार्ययोश्च द्विवचनान्तत्वादनयोरपि द्विवचनान्तत्वे यथासख्यं स्यात्तन्निवृत्त्यर्थमेकवचनमिति स्याद-डेङ्ङसेत्यादि । कथमिति । अस्मदस्तृतीयैकवचनेन कथं मे इत्ययमादेश इत्यर्थः । समाधत्ते-३३ असाधुरेवेत्यादि । योऽयं तृतीयैकवचनेन मे इत्ययमादेशः सोऽसाधुरेङ्ङस्य सहैव विधानादिति । ननु साधुत्व शिष्टप्रयुक्ते, इति चेत्, तदा स्यादप्रतिरूपकमेवमर्थमिति स्याद-स्यादीत्यादि ॥ २३ ॥

अमा त्वामा । युष्मदस्मदोरिति पदादिति एकवाक्ये इति चानुवर्तते । पदात् युष्मदस्मदो अमा त्वामा वा एकवाक्ये इत्यन्वयस्त-३६ दर्शमाह-पदात् परयोरिति स्यादिति । अम् यथप्यनेकप्रकारोऽस्ति, तथाहि-एक "अत स्मोऽम्", द्वितीयोऽमव्ययीभावस्येति, तृतीय आख्यात-विभक्ते 'अन्वम्' इति तथापि युष्मदस्मदधामन्यस्यासमवाद्द्वितीयैकवचनमेव गृह्यत इत्याह-अमा द्वितीयैकवचनेनेति । त्वामा इति लुप्तप्रथमाद्विवचनान्तं यथासख्यार्थं विशेष्यमिति स्याद-यथासंख्यमिति ॥ २४ ॥

२५

असदिवामभ्यं पूर्वम् । पूर्वं आमभ्य असद् इव इत्यन्वयः । आमभ्यमिति कर्मणि य, योऽर्थं स्वेन धर्मेण प्रसिद्धो धर्मान्तरसंवन्ध-प्रलभिसुखीक्रियते स आमभ्य, यथा-देवदत्तो देवदत्तत्वेन प्रसिद्धो धर्मान्तरेऽभिसुखीक्रियते-देवदत्त ! भुङ्क्व, अधोष्वा इति । तत्रार्थं कार्य-सम्भवादुपचारादामभ्यामिवापिपदमामभ्यं विज्ञायत इत्याह-आमभ्यते यत्तदामभ्यम्, तद्वच्चि पदमिति । प्रथमान्तमित्यर्थः । पूर्वमिति परापेक्ष, तच्च प्रकृतत्वाद्युष्मदस्मदपेक्षमेवेत्याह-युष्मदस्मद्वा पूर्वमिति । असदिवेति स्पष्टयति-अविद्यमानमिवेत्यादि । श्रमणा

भवति असति यत्तद्वचनीत्यर्थः । श्रमणा युष्मान् रक्षतु धर्मः, श्रमणा अस्मान् रक्षतु धर्मः, श्रमणा युष्मभ्य दीयते, श्रमणा अस्मभ्य दीयते; श्रमणा युष्माकं शीलम्, श्रमणा अस्माकं शीलम्; श्रमणौ युवां रक्षतु धर्मः, श्रमणौ आवां रक्षतु धर्मः; श्रमणौ युवाभ्यां दीयते, आवाभ्यां दीयते; श्रमणौ युवयोः स्वभावयोः स्वम्, श्रमण त्वां रक्षतु तपः, मां रक्षतु तपः; श्रमण तुभ्यं दीयते, महां दीयते; श्रमण तव शीलम्, मम शीलम्, एष्वामभ्यस्यासत्त्वाद् वस्त्रसादयो न भवन्ति । ग्रामाश्चैत्र ते स्वमथो इत्यादौ चैत्रपदस्यामभ्यस्यासत्त्वाद् ग्रामपदापेक्षयाऽन्वादेशे नित्यं तेमथादिविधिः, न तु “सपूर्वात् प्रथमप्रान्ताद्वा” ॥ २ । १ । ३२ ॥ इति विकल्पः । इवकरणं किम् ? श्रवणं यथा स्यात् । आमभ्यमिति किम् ? धर्मो वो रक्षतु, धर्मो नो रक्षतु । पूर्वमिति किम् ? ‘मयैतत्सर्वमाख्यात युष्माकं मुनिपुत्रवाः’ परस्य ह्यसद्वत्त्वे पादादिलक्षणः प्रतिषेधो न स्यात्, व्यवहितेऽपि पूर्वशब्दो वर्तते, तेन—‘चैत्र धर्मो वोऽथो रक्षतु, चैत्र धर्मो नोऽथो रक्षतु’ अत्र “सपूर्वात् प्रथमप्रान्ताद्वा” ॥ २ । १ । ३२ ॥ इति विकल्पो न भवति ॥ २५ ॥

### जस्विशेष्यं वाऽऽमक्ये ॥ २ । १ । २६ ॥

तदतद्विषय विशेष्यम्, तस्य व्यवच्छेदकं विशेषणम्, युष्मदस्मद्व्यां पूर्वं जसन्तमामक्य पदं विशेष्यमामक्ये पदे १२ सामर्थ्यात्तद्विशेषणभूते परेऽसदिव वा भवति; पूर्वेण नित्यं प्राप्ते विकल्पः । जिनाः शरण्या युष्मान् शरणं प्रपद्ये, जिनाः शरण्या वः शरणं प्रपद्ये, जिनाः शरण्या अस्मान् रक्षत, जिनाः शरण्या नो रक्षत, सिद्धाः शरण्या युष्मानथो शरणं प्रपद्ये, सिद्धाः शरण्या वोऽथो शरणं प्रपद्ये, सिद्धाः शरण्या अस्मानथो रक्षत, सिद्धाः शरण्या नोऽथो रक्षत । जसिति किम् ? १५ साधो सुविहित वोऽथो शरणं प्रपद्ये, साधो सुविहित नोऽथो रक्ष । विशेष्यमिति किम् ? शरण्याः साधवो युष्मान् शरणं प्रपद्ये, शरण्याः साधवोऽस्मान् रक्षत । आमक्य इति किम् ? आचार्या युष्मान् शरण्याः शरणं प्रपद्ये, अत्रामक्यं विशेषणं व्यवहितत्वात् न परमिति न भवति । सामर्थ्यात्तद्विशेषणभूत इति किम् ? आचार्या उपाध्याया युष्मान् शरणं प्रपद्ये ॥२६॥

१८ युष्मान् रक्षतु धर्म इत्यादि । अत्र श्रमणा इत्यामभ्यस्याविद्यमानवत्त्वे युष्मदस्मदो पदात् परत्वाभावात् वस्त्रसादयो न भवन्तीत्याह—पञ्चित्यादि । ननु पूर्वस्यामभ्यस्याविद्यमानवद्भावात् कथं ‘ग्रामाश्चैत्र ते स्वमथो’ इत्यादौ पदात् परयोर्युष्मदस्मदोरुच्यमानस्तेमथाद्यादेश इत्याह—ग्रामाश्चैत्र इत्यादि । तथा आमभ्यस्याविद्यमानत्वात् सपूर्वत्वाभावात् “सपूर्वात्प्र०” इति विकल्पाभाव । इवकरणं किमिति । असदामक्यं पूर्वमित्युक्तं २१ ऽप्यसत्त्वसिद्धे किमर्थमिवकरणमिति प्रश्नार्थः । समाधत्ते—श्रवणं यथा स्यादिति । इवकरणमन्तरेणासदित्युच्यमाने युष्मदस्मद्व्यां पूर्वमामक्यस्य प्रयोगाभाव एव स्यादतः प्रयोगनिवृत्तिर्गो भूत् तत्किमित्तककार्याभाव एव यथा स्यादित्येवमर्थम् इवग्रहणम् । ननु च परार्थे प्रयुज्यमाना शब्दा अतिदेश गमयन्ति, यथा—गीर्वादीक इति । तत्र च विद्यमानस्यासदिति वचनादतिदेशो गम्यते । अतिदेशधर्मस्य स्वाश्रया निवृत्तिरिति नार्थ इव २४ ग्रहणेन, सत्यम्, एवन्तु मन्यते—इवग्रहणमन्तरेण प्रयोगाव्यवस्थार्थमिदं स्यात् ततश्च कृतश्चित् पूर्वमामक्यं न भवति, तथाच सति पूर्वस्यामभ्यस्य परेणामक्येण सह निरन्तरता न स्यात् । आमभ्यग्रहणप्रयोजनं पृच्छति—आमक्यमिति किमिति । धर्मो वो रक्षतु इत्यादि । अत्र युष्मदस्मद्व्यां पूर्वस्य धर्मपदस्यामभ्यस्याविद्यमानत्वात् परत्वाभावात् “पदाद्यु०” इति वस्त्रसादेश । पूर्वमिति किम् इति । यदि पूर्वमिति नोच्येत २७ ‘तदा मयैतत्सर्वमाख्यात युष्माकं मुनिपुत्रवाः’ इत्यत्र युष्मच्छब्दात् परं मुनिपुत्रवा इत्येतत्, पादस्यादि युष्माकमिति, तत्र परस्याविद्यमानवत्त्वे पादाभावात् युष्माकमित्यस्य पादादित्वाभावात् “पादाद्यो” इति प्रतिषेधस्याप्यभावात् पदात् परत्वेन आदेश प्रसज्येत इति भावः । ननु प्रत्यासत्ते अव्यवहितस्यैव पूर्वस्याविद्यमानवद्भावः, ततः चैत्र धर्मो वोऽथो रक्षत्वित्यादौ व्यवहितस्यामभ्यस्य चैत्रादेरविद्यमानवद्भावाभावात् “सपूर्वात्प्र०” ३० इति विकल्पप्रसङ्ग इति चेत्, मैवम्, व्यवहितेऽपि पूर्वशब्दस्य दर्शनात्, यथा—मधुराया पूर्वं पाटलिपुत्रमिति, मधुरायाद्यानेकप्रामनगरान्तरेतिऽपि पाटलिपुत्रे पूर्वशब्द इत्याह—व्यवहितेऽपीत्यादि । अयमर्थः—यद्यव्यवहितस्यैव पूर्वस्याविद्यमानवद्भावो न व्यवहितस्य तदा पूर्वग्रहणमपनीय ‘असदिवामक्याद्’ इत्येवोच्येत, यतः पूर्वस्याप्यविद्यमानवद्भावे युष्मदस्मदोर्वस्त्रसाधमाव प्रयोजनं तदित्यमपि सिध्यति किं पूर्वग्रहणेन ? तथोक्तं ३३ रस्त्रेऽप्येतदानुगुण्येन ‘जस्विशेष्यात्’ इत्येव कियेत, अतः पूर्वग्रहणाद्व्यवहितस्यापि पूर्वस्याविद्यमानवद्भाव इति । तेनेत्यादि । व्यवहितस्याविद्यमानवद्भावे सिद्धं प्रयोजनं दर्शितमिति ॥ २५ ॥

जस्विशेष्यं वाऽऽमक्ये । असदिवामक्यं पूर्वमित्यनुवर्तते । युष्मदस्मद्व्यां पूर्वं जस्विशेष्यं आमक्यं आमक्ये असदिव वा इत्यन्वयः ।

३६ विशिष्यते—निधत्ते—व्यावर्त्यते इति विशेष्यम्, तत् विशेषणेन हि विशिष्यते इति विशेष्यं व्यानक्षानस्तदतद्विषयमित्यादिना सविशेषणं व्याचष्टे । यथा नीलमुपलम्ब इत्यत्र नील रफ च तौ विषयोऽस्येति तदतद्विषयमुपलम्ब तद्विशेष्यम् । तस्य व्यवच्छेदकं—भेदान्तराद्बुद्धेर्व्यवर्तकम् । विशेषणम्—विशिष्यतेऽनेनेति कृत्वा नीलमुच्यते । विशेष्यमित्यस्य विशेष्यं पूर्वानुवृत्तमामक्यमित्याह । आमक्यं पदमित्यादि । विशेष्यं—विशेष्याभिधायि पदमित्यर्थः । विशेष्यस्य विशेषणकाङ्क्षिण एकवाक्ययोपासत्वेन सामर्थ्यात् सनिहितत्वाद्विशेष्यत्वनिमित्तम् ‘आमक्ये’ इत्येतदेव विशेषणं विज्ञायत इत्याह—तद्विशेषणभूत इति । पूर्वेण व्यवहितस्याप्यविद्यमानवद्भावे नित्यं प्राप्ते पक्षेऽनेन विद्यमानवद्भावः सन् निवर्तनेन विधीयते इत्याह—पूर्वेणेत्यादि । जिनाः शरण्या युष्मान् शरणं प्रपद्ये इति । अत्र जसन्तं विशेष्यं, जिना हि व्यावर्त्यत्वेन विद्यमाने, ४२ यतो रागादिजयाजिना । रागादिजयश्च क्षयोपशमभेदाद्देशा, तत्रोपशमरूपे जये तत्प्रादुर्भावात् कदाचिदशरण्यत्वमपि । शरण्या इति व्यावर्त्यत्वेन विशेषणम् । तद्विशेषणभूते तस्मिन्नामक्ये पदे परे जिना इत्यस्याविद्यमानवद्भावो विभाषा भवति । साधो सुविहितेत्यादि । अत्रामक्यस्य विशेष्यस्य आमक्ये तद्विशेषणभूतेऽपि जसिति वचनाजसन्तत्वाभावादिकल्पामावे उत्तरेण नित्यं प्रतिषेध इति । शरण्याः साधवो ४५ युष्मान् शरणं प्रपद्ये इति । अत्र शरण्या इति विशेषणम्, साधव इति विशेष्यम्, तत्रामक्ये परे जसन्तविशेष्यस्य विकल्पेनाविद्यमानवद्भावविधानाद्विशेषणस्य न भवतीत्यर्थः । नाप्युत्तरेण निषेध इति पूर्वेण नित्यमविद्यमानवद्भाव एव । आचार्या युष्मानित्यादि । अत्रामक्यस्य विशेष्यस्य व्यवहितत्वेन परत्रोपस्थाभावात् न भवति । आचार्या उपाध्याया इत्यादि । अत्र भिन्नाधिकरणयोः पदयोर्न पूर्वं विशेष्यं न परं ४८ विशेषणमिति सामर्थ्यात्तद्विशेषणभूते आमक्य इति वचनात् न भवति ॥ २६ ॥



## नान्यत् ॥ २ । १ । २७ ॥

युष्मदस्मद्भ्यां पूर्वं जसन्तादन्यदामन्त्र्यं पदं विशेष्यमामन्त्र्ये पदे तद्विशेषणभूते परेऽसदिव न भवति । साधो सुविहित त्वा शरणं प्रपद्ये, साधू सुविहितौ वां शरणं प्रपद्ये, साधो सुविहित मा रक्ष, साधू सुविहितौ नौ रक्षतम्, साधो सुविहित ते ज्ञानं दीयते, मे ज्ञानं दीयताम्, साधू सुविहितौ वां ज्ञानं दीयते, नौ ज्ञानं दीयताम्, साधो सुविहित ते शीलं स्वम्, मे शीलं स्वम्; साधू सुविहितौ वां शीलं स्वम्, नौ शीलं स्वम्, अत्र परस्य “असदिवाऽऽमन्त्र्यं पूर्वम्” ॥ २ । १ । २५ ॥ इत्यसत्त्वेऽपि पूर्वविशेष्यपदाश्रया युष्मदस्मदादेशा भवन्ति । विशेष्यमित्येव ? सुविहित साधो तव शीलं मम शीलम् ॥ २७ ॥

## पादाद्योः ॥ २ । १ । २८ ॥

नियतपरिमाणमात्राक्षरपिण्डः पादः, पदात् परयोर्युष्मदस्मदोर्यदुक्तं वस्त्रसादि तत्पादस्यादिभूतयोर्न भवति । “वीरो विश्वेश्वरो देवो युष्माकं कुलदेवता । स एव नाथो भगवानस्माकं पापनाशनः” ॥१॥ पादाद्योरिति द्विवचनं युष्मदस्मदोरभिसंबन्धार्थम्, पादादाविति ह्युच्यमाने आमन्त्र्यमभिसंबन्धयेत । पादाद्योरिति किम् ? “पान्तु वो देशनाकाले जैनेन्द्रा दशनांशवः । भवकूपपतज्जन्तुजातोद्धरणरज्जवः” ॥ १ ॥ ॥ २८ ॥

## चाहहवैवयोगे ॥ २ । १ । २९ ॥

च अहं ह वा एव इत्येतैर्योगे संबन्धे पदात् परयोर्युष्मदस्मदोर्यदुक्तं वस्त्रसादि तत्र भवति । ज्ञानं युष्मांश्च रक्षतु, अस्मांश्च रक्षतु; ज्ञानं युष्मानहं रक्षतु, अस्मानहं रक्षतु; ज्ञानं युष्मान् ह रक्षतु, अस्मान् ह रक्षतु, ज्ञानं युष्मान् वा रक्षतु, अस्मान् वा रक्षतु; ज्ञानं युष्मानेव रक्षतु, अस्मानेव रक्षतु, ज्ञानं युष्मभ्यं च दीयते, अस्मभ्यं च दीयते; ज्ञानं युष्माकं च स्वम्, अस्माकं च स्वम्; ज्ञानं युवां च रक्षतु, ज्ञानमावां च रक्षतु, ज्ञानं युवाभ्यां च दीयते, आवाभ्यां च दीयते, ज्ञानं युवयोश्च स्वम्, आवयोश्च स्वम्; ज्ञानं त्वां च रक्षतु, मां च रक्षतु, ज्ञानं तुभ्यं च दीयते, मया च दीयते, ज्ञानं

नान्यत् । अत्र “असदिवाऽमन्त्र्यं पूर्वम्” इति “जस्त्रिशेष्यं वाऽमन्त्र्ये” इति जानुवर्तते । तथा च युष्मदस्मद्भ्यां पूर्वं जसोऽन्यदामन्त्र्यं विशेष्यं आमन्त्र्ये असदिव न इत्यन्वयः । जस्त्रिशेष्यमित्यस्य प्रधानतयाऽन्यदिति संबन्धात्तस्य च निषेधार्थात् सविशेषणे च विधिविधेययोर्विशेषण एव पर्यवसितत्वाज्जसोऽन्यद्व्यत्ये इत्याह—जसन्तादन्यदिति । साधो सुविहित त्वा शरणं प्रपद्ये इत्यादि । अत्र परस्य २१ मन्त्र्यस्याविद्यमानवद्भावेऽपि पूर्वस्याविद्यमानवद्भावाभावात् त्वामादय आदेशा भवन्ति । प्रत्युदाहरणं पूर्वसन्नातुधारेण बोद्धव्यम् । ननु विशेष्यस्यासत्त्वप्राप्तौ तद्विशेषणपदे परतः सत्त्वमनेन विधीयते, परपदस्य च “असदिवाऽमन्त्र्यम्” इत्यसत्त्वात् परत्त्वाभावः, सत्यम्, असत्त्वं हि पूर्वस्य परभूतयुष्मदादिकार्यपेक्षया आधीयते न तु विशेषणात् पूर्वकार्यपेक्षया । ननु चामन्त्र्यपदं अभिसुखीभव इति क्रियान्तरमाक्षिपद्वाक्यान्तरमेव, २४ ततश्च वाक्यभेदादेवादेशाभावः सिद्धः किमनेन इति चेत्? मैवम्, अत एवारम्भाद्वाक्यभेदो नाश्रीयते, तेन साधो सुविहितेत्यादौ एकवाक्यत्वादादेशा सिद्धा ॥ २७ ॥

पादाद्योः । पादस्याद्यौ पादाद्यौ तयोः पादाद्योरिति । पादलक्षणमाह—नियतेत्यादि । मात्राश्च अक्षराणि च मात्राक्षराणि नियतं निश्चितं परिमाणं इत्यन्ता येषान्तानि तद्योक्तानि नियतपरिमाणानि च तानि मात्राक्षराणि च तेषां पिण्डः समूहः पाद इत्युच्यते । पादाद्योरिति द्विवचनेन “असदिवाऽमन्त्र्यम्” इत्यादौ युष्मदस्मदोऽप्यन्ततया संबन्धविकल्योरपीह न्यस्य प्रकान्तस्य द्वित्ववन्नो भावात् पश्यन्ततयवाजु-वृत्तिरिति प्रदर्श्यते । ते च पदादिति विशेषणसम्बन्धे एवानुवर्तते । पश्यन्तस्य च साक्षात् नया संबन्धोऽस्ति किन्तु तदुक्तकार्यस्य तेन संबन्धः इत्याह—पदात् परयोरित्यादि । यदुक्तमिति । सामान्येन सकलकार्यपरिग्रहार्थं विशेषणं दर्शयति—वस्त्रसादीति । “शेषे लुक्” इत्यादि तु न पदात् परयोरुक्तमिति तत्राश्रीयते । पादस्यादिभूतयोरिति । पादस्यादित्वं प्राप्तयोरित्यर्थः । वीर इत्यादि । स्पष्टोऽर्थः । अत्र देव इति पदात् परस्य युष्माकमित्यस्य भगवानित्यतः परस्य अस्माकमित्यस्य च पादादेर्वैयर्थ्यादादेशो प्राप्तो न भवति । ननु किमर्थः ? पादाद्योरिति द्विवचननिर्देशः, २५ पादादावित्युच्यमाने पादस्य प्रथमावयवत्वे वर्तमानयोर्युष्मदस्मदोरिति विज्ञातमाने सिध्यत्येवैष्टम्, सत्यम्, सिध्यति यद्येवमभिसम्बन्धो लभ्यते स दुर्लभः इत्याह—पादाद्योरितीत्यादि । पादाद्योर्युष्मदस्मदोरिति पश्यन्ततयोस्तयोरभिसम्बन्धो यथा स्यादित्येवमर्थः क्रियते । पादादावित्युच्यमाने तत् दुर्लभमिति—पादादाविति ह्युच्यमाने इत्यादि । हिरेयादर्थं तेनायमर्थः—यस्मात् पादादावित्युच्यमानेऽस्यामन्त्र्य इत्यनेनापि सम्बन्धो युज्यते, अनुवृत्तौ तस्यैवानन्तरत्वाद्युष्मदादेशः विप्रकृष्टत्वात् अतः पादाद्योरिति द्विवचनं युष्मदस्मदोरभिसंबन्धार्थम् । पादाद्योरित्यस्य फलं पृच्छति—पादाद्योरिति किमिति । पान्तु इति । देशनाकाले—उपदेशसमये, भव—संसार एव कूप—अन्धु, तस्मिन् पतत्—पतनशील, जन्तुजात—भूतनिचयः, तस्य रद्धरणे रज्जव—रज्जुसंनिभा, जैनेन्द्रा—जिनेन्द्रस्येमे, दशनांशव—दन्तमयूखा, च—युष्मान्, पान्तु—रक्षन्तु इत्यन्वयार्थः । अत्र वसादेशो युष्मदः पादादित्वाभावादिति भावः ॥ २८ ॥

चाहहवैवयोगे । चाहहवैवयोगे पदात् युष्मदस्मदोर्यदुक्तं तत्र इत्यन्वयः । चक्ष अहं ह वक्ष वाश्च एवश्च चाहहवैवा, तैर्योगस्त-सिषिषि विप्रहस्तदाह—च अहेत्यादि । योगे संबन्धे इति । चादिद्योत्यसमुच्चयार्थस्य साक्षाद्युष्मदस्मदर्थसंबन्धे इत्यर्थः । ज्ञानं युष्मांश्च रक्षतु इत्यादि । अत्र ज्ञानसन्तयोधादियोगे साकल्येनोदाहृतम् । जसोऽन्यत्राप्येवमुदाहृत्यम् । एतेषु द्वितीया चतुर्थी पठनीया बहुवचने वक्षसौ न भवतः । ज्ञानं युवां च रक्षतु इत्यादि । अत्र द्विवचने मात्रावौ न भवतः । ज्ञानं त्वां च रक्षत्वित्यादि । एतेष्वेकवचने त्वा मा ते मे

तव च स्वम्, मम च स्वम् । योगग्रहणं किम् ? ज्ञानं च शीलं च वो रक्षतु, नो रक्षतु, ज्ञानं च शीलं च वां दीयते, नो दीयते, ज्ञानं च शीलं च ते स्वम्, मे स्वम् ; ज्ञानं च शीलं च त्वारक्षतु, मा रक्षतु, ज्ञानं च ते स्वम्, ज्ञानं च मे स्वम् ; नैतेषु चशब्देन युष्मदस्मदोर्योगोऽपि तु ज्ञानशीलयोः । 'चाहहवैवैः' इत्येव सिद्धे योगग्रहणं साक्षाद्योगप्रतिपत्त्यर्थम् ॥२९॥

### दृश्यैश्चिन्तायाम् ॥ २ । १ । ३० ॥

दृशिना समानार्थी दृश्यार्थाः, तैर्धातुभिश्चिन्तायां वर्तमानैर्योगे युष्मदस्मदोर्द्युक्तं वस्तुसादि तत्र भवति । जनो १ युष्मान् सदस्यागतः, जनोऽस्मान् सदस्यागतः, जनो युवां समीक्ष्यागतः, जनं आवां समीक्ष्यागतः, जनस्त्वामपेक्षते, जनो मामपेक्षते; ज्ञानं युष्मभ्य दीयमानमुत्पश्यति, ज्ञानमस्मभ्य दीयमानमुत्पश्यति, ज्ञानं युवाभ्यां दीयमानं निरूपयति, ज्ञानं मावाभ्यां दीयमानं निरूपयति, ज्ञानं तुभ्य दीयमानं निध्यायति, ज्ञानं मद्वा दीयमानं निध्यायति, जनो युष्माकं चित्तमुप १ लक्षयति, जनोऽस्माकं चित्तमुपलक्षयति; जनो युवयोः कार्यं संपश्यति, जनं आवयोः कार्यं सपश्यति, गुरुस्तव कार्यमा-लोचयति; गुरुर्मम कार्यमालोचयति, सर्वत्र मनसा चिन्तितं दृश्यर्थानामर्थः । दृश्यैरिति किम् ? जनो वो मन्यते, जनो नो मन्यते । चिन्तायामिति किम् ? जनो वः पश्यति, जनो नः पश्यति, जनो वामीक्षते, जनो नावीक्षते, जनस्त्वालोक- १२ यति, जनो मालोकयति, सर्वत्र चक्षुषा पश्यतीत्यर्थः ॥ ३० ॥

### नित्यमन्वादेशे ॥ २ । १ । ३१ ॥

कथितानुकथनमन्वादेशः, कस्यचिद्वस्तुनः किञ्चित्क्रियादिकं विधातुं कथितस्य तेनान्येन वा शब्देन पुनर- १५ न्यद्विधातुं कथनमित्यर्थः; तस्मिन् विषये पदात् परयोर्युष्मदस्मदोर्द्युक्तं वस्तुसादि तन्नित्यं भवति, यूयं विनीतास्तद्वो गुरवो मानयन्ति, वयं विनीतास्तन्नो गुरवो मानयन्ति, युवां शीलवन्तौ तद्वां गुरवो मानयन्ति, आवां शीलवन्तौ तन्नौ गुरवो मानयन्ति, त्वं विद्वानथो ते क्षमाश्रमणैर्ज्ञानं दीयते, अहं विद्वानथो मे क्षमाश्रमणैर्ज्ञानं दीयते; धनवांस्त्वमथो त्वा १८ लोको मानयति, धनवानहमथो मा लोको मानयति ॥ ३१ ॥

इत्यादेशा न भवन्ति । ज्ञानं च शीलं चेलादौ युष्मदस्मदोर्योगाभावाद्योगग्रहणादत्र प्रतिषेधो न भवतीत्याह—नैतेष्वित्यादि । ननु किमर्थं योग- २१ ग्रहणं ? 'चाहहवैवै' इति तृतीयानिर्देशस्य सापेक्षत्वात् तृतीयैव युष्मदभ्याहरिष्यति, यथा "गौणात् समया०" २।२।३३ । इत्यादौ इत्याह—चाह- २१ हवैवैरित्यादि । योगग्रहणं साक्षाद्योगप्रतिपत्त्यर्थमिति । यदा चादिभिर्युष्मदस्मदोर्द्युक्तैव समुच्चयविकल्पद्वयं बोध्यते तदा चादिभिः साक्षाद्यु-ष्मदस्मदोर्योगः । यदा च तत्सम्बन्धिनः शीलादेशदा व्यवधानेन चादिभिर्युष्मदस्मदोर्योगः । तत्र साक्षाद्योगे प्रतिषेधो यथा स्याद्भवधानेन योगे मा भूदित्येवमर्थं योगग्रहणम् । ननु सञ्चित्ते साक्षाद्योगे प्रतिषेधस्य चरितार्थत्वात् न व्यवहिते विप्रकृष्टयोगे प्रवर्त्तित्येति इति किं योगग्रहणेन ? २४ इति चेत्, एतदेव योगग्रहणं ज्ञापयति यद्युक्त्युक्तोऽप्यस्मिन् प्रकरणे कार्यं भवतीति ॥ २९ ॥

दृश्यैश्चिन्तायाम् । चिन्तायां वर्तमाने दृश्ये योगे युष्मदस्मदोर्द्युक्तं तत्र इत्यन्वयः । दृश्यैरिति । "इत्किञ्चित्०" ५।३।१३८ । इति धातोः स्वरूपे चार्थोऽभिषेधे इक्षुप्रलयो विधीयते । तत्र स्वरूपे विधीयमाने 'दृश्यैर्यो येषामिति' व्यधिकरणवहुव्रीहिप्रसङ्गात् तस्य च २७ प्रायेणाणिष्टत्वात् । अर्थे प्रत्ययस्ततो दृश्यैर्यो दर्शनमालोचनमर्थो येषामित्यन्वयपदार्थत्वेन धातव एव विज्ञायन्ते । युजिक्रियाकर्तृत्वात्तृतीया । युजिक्रियायाश्च सञ्चिधानं तृतीयया योगार्थसाक्षेपात् । प्रोक्तमस्य च योगग्रहणस्यानुवृत्तौ दृश्यैः साक्षाद्युक्तयोरेव युष्मदस्मदोः प्रतिषेधः स्यात्, अत्र तु युक्त्युक्तोऽपि प्रतिषेधः इष्यते तत्र च पूर्वमेव युक्तिरुक्ता । जनो युष्मान्दृश्यागतः इत्यादौ सर्वेषां सदृश्यादौ मनोवृत्तिरूपा ३० चिन्ता दृश्यैः इति वक्षसाद्यो न भवन्तीत्याह—सर्वत्रेत्यादि । जनो वो मन्यत इति । नायं दृश्यर्थः । दृश्यैर्नाम यद्यपि साधने विज्ञाने वर्ततेऽतो न निषेध इति ॥ ३० ॥

नित्यमन्वादेशे । अन्वादेशे पदाद्युष्मदस्मदोर्द्युक्तं तन्नित्यम् इत्यन्वयः । अनुशब्दः पश्चाद्भावे, पश्चाद्भावाच्च पूर्वभावापेक्ष, पूर्व- ३३ भावश्च प्रत्यासत्तेरुत्तरपदार्थभूतस्यादेशस्यैव । आदेशश्च कथनम्, अनुकथनं च प्रत्यासत्तेः कथितस्यैव, अन्यथा तदन्यस्य कथनमेव स्यात् नानु-कथनमिति समानाधिकरणविषयः इत्याह—कथितानुकथनमन्वादेश इति । कस्यचिद्वस्तुनः इत्यादिना । कथितानुकथनमित्येतदेवाभि- ३६ नक्ति । कस्यचिद्व्यस्य काञ्चित् क्रियां जातिं शुण इष्य वा प्रतिपादयितुं कथितस्य कार्यभूतेन तदितरेण वा शब्देन पौनरुक्त्य मा भूदिति विशेषा- ३६ न्तरं प्रतिपादयितुं पुनः कथनमन्वादेश इति यावत् । यदुक्तं वस्तुसादि तन्नित्यं भवतीति नित्यतामात्रमनेन विधीयते नापूर्वं किमिदं । यूयं विनीतास्तद्वो गुरवो मानयन्ति इत्यादि, यूयं विनीता इत्यत्र प्रथमादेशः उत्तरस्यान्वादेशात्परापनायम् । विनीता इति विनीतत्वम् प्रति- ३९ पादयितुं यूयमिति प्रतिपादितम् । तदित्यव्ययं तस्मादित्यर्थः । तद्वो गुरवो मानयन्तीत्ययमन्वादेशः । अत्र यूयमिति यत्प्रथममुक्तं तस्यैव च गुरवो ३९ मानयन्तीति प्रतिपादयितुं द्वितीयं कथनं, तत्र नित्यं वक्षसादेशः । एव सर्वत्र । नन्विदं किमर्थम् ? सामान्येन वक्षसादीनां विधानादन्वादेशोऽपि सिद्धत्वात्, नित्यार्थमित्यपि न वाच्यम्, तत्र विकल्पाभावाज्जित्तत्वात्पि सिद्धत्वात् । न चागन्वादेशे विकल्पायमिति वाच्यम्, 'अन्वादेशो' ४२ इत्यारम्भसामर्थ्यादन्वादेशे विकल्पस्य सिद्धत्वादिति चेत्, नैवम्, 'अन्वादेशो' इत्यारम्भेऽप्यन्वादेशे विकल्पोऽनन्वादेशे वेति नियेतुमप्यव- ४२ त्वादत्र नित्यग्रहणं नित्यत्वार्थमिति । न च "सपूर्वात्०" इत्यन्वादेशे विकल्पविधानात् नित्यग्रहणमन्तरेणाप्यन्वादेशः एव सिद्ध इति वाच्यम्, यतोऽन्वादेशे विकल्पे सति "सपूर्वात्०" इत्यस्य नियमार्थता स्यात्, 'सपूर्वात्' प्रथमान्तादेवान्वादेशे विकल्पो न द्वितीयावन्तात् तथा 'सपूर्वादेव' प्रथमान्तादिकस्यो न केवलात् तत्र अवधारणद्वयव्याकल्ये च विषये "पदाद्युक्तं०" इत्यादिभिर्नित्य एव विधिः स्यात् इति । तस्मादन्वादेशो एव ४५ नित्यो विधिरन्यत्र तु विकल्प इति प्रतिपादनार्थं नित्यग्रहणम् ॥ ३१ ॥

सपूर्वात् प्रथमान्ताद् वा ॥ ३२ ॥] श्रीतत्त्वप्रकाशिकाश्रीआनन्दबोधिनीविभूषितम् ।

सपूर्वात् प्रथमान्ताद् वा ॥ २ । १ । ३२ ॥

विद्यमानपूर्वपदात् प्रथमान्तात् पदात् परयोर्बुधदसदोरन्वादेशे वल्लसादय आदेशा वा भवन्ति । यूयं विनीतास्त-  
द्वुरवो वो मानयन्ति, तद्वुरवो युष्मान् मानयन्ति, वयं विनीतास्तद्वुरवो नो मानयन्ति, तद्वुरवोऽस्मान् मानयन्ति; युवां सुशीलौ १  
तज्ज्ञानं वां दीयते, तज्ज्ञानं युवाभ्यां दीयते, आवां सुशीलौ तज्ज्ञानं नो दीयते, तज्ज्ञानमावाभ्यां दीयते; सुशीलस्त्व-  
मथो क्षमाश्रमणास्ते ज्ञानं प्रयच्छन्ति, अथो क्षमाश्रमणास्तुभ्यं ज्ञानं प्रयच्छन्ति, सुशीलोऽहमथो क्षमाश्रमणा मे ज्ञानं  
प्रयच्छन्ति, अथो क्षमाश्रमणा मय्यं ज्ञानं प्रयच्छन्ति, धनवानसि अथो ग्रामे कम्बलस्ते स्वम्, अथो ग्रामे कम्बलस्त्व ६  
स्वम्, धनवानहमथो ग्रामे कम्बलो मे स्वम्, अथो ग्रामे कम्बलो मम स्वम्; धनवास्त्व तल्लोकस्त्वा पूजयति, तल्लोक-  
स्त्वां पूजयति, धनवानहं तल्लोको मा पूजयति, तल्लोको मां पूजयति । गम्येऽप्यन्वादेशे भवति—ग्रामे कम्बलो वः स्वमथो ९  
दिति किम्? पटो नगरे युष्माकं स्वमथो इत्यादि । सपूर्वादिति किम्? पटो युष्माकं स्वम्, अथो वः कम्बलः स्वम् । प्रथमान्ता-  
दिति किम्? पटो नगरे युष्माकं स्वम्, अथो कम्बलो ग्रामे वः स्वम् । ‘माणवक जटिलक ते स्वमथो’ इत्यादौ तु  
विशेषणपदस्य “असदिवामक्य पूर्वम्” ॥ २ । १ । २५ ॥ इत्यसद्वद्वावात् नास्ति सपूर्वप्रथमान्तमिति न भवत्येव  
विकल्पः । पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पार्थं वचनम् ॥ ३२ ॥ १२

त्यदामेनदेतदो द्वितीयाटौस्यवृत्त्यन्ते ॥ २ । १ । ३३ ॥

त्यदादीनां संवन्धन एतदित्यस्य द्वितीयायां टायामोसि च परेऽन्वादेशे एनद् इत्ययमादेशो भवति, अवृत्त्यन्ते—न  
चेदयमेतच्छब्दो वृत्तेरन्ते भवति । द्वितीया—उद्दिष्टमेतदध्ययनमथो एनदनुजानीत, एतक साधुमावश्यकमध्यापयाथो एन- १५  
मेव सूत्राणि, अत्र साकोऽप्यादेशः; सुशीलवेतौ तदेनौ गुरवो मानयन्ति, सुस्थिता एते तदेनान् देवा अपि नमस्यन्ति, टा-  
एतेन त्रान्निधीता अथो एतेनाहरप्यधीतम् । ओस्—एतयोः शोभनं शीलमथो एनयोर्महती कीर्तिः, सर्वाणि शास्त्राणि  
ज्ञातवन्तावेतौ अथो एनयोस्तिष्ठतोर्नान्यः पूजार्हः । त्यदामिति किम्? एतद सगृहाण अथो एतदमध्यापय, सज्ञायाम- १८  
सर्वादित्वादित्यदादिः । अवृत्त्यन्ते इति किम्? अथो परमेतं पश्य । अन्तग्रहणं किम्? एनच्छ्रुतकः, अत्रार्थोत् प्रकरणाद्  
वाऽपेक्ष्ये निश्चिते सति समासोऽन्वादेशश्च । द्वितीयाटौसीति किम्? एते मेधाविनो विनीता अथो एते शास्त्रस्य पात्रम्,  
एताभ्यां त्रान्निधीता अथो एताभ्यामहरप्यधीतम्, एतस्मै सूत्रं देहि अथो एतस्मै अनुयोगमपि देहि, अभ्युदयनिःश्रेयस- २१  
अदमेतच्छासनमथो एतस्मै नमो भगवते । अन्वादेश इत्येव ? जिनदत्तमध्यापय एतं च गुरुदत्तम्, न पश्चात् कथनमात्रम्-

सपूर्वात् प्रथमान्ताद् वा । सपूर्वात् प्रथमान्तात् पदाद्युस्मदसदोरन्वादेशे वल्लसादयो वा इत्यन्वयस्तदर्थमाह—विद्यमान-  
पूर्वपदादित्यादि । सपूर्वादिति । सहस्रशब्दो विद्यमानवचनः, पूर्वशब्दो व्यवस्थार्थः । सह—विद्यमानं पूर्वं यस्मादिति पञ्चम्यर्थं बहुव्रीहौ २४  
“सहस्य सोः” ३।२।१४३। इति समाव । प्रथमान्तादिति । प्रथमाया प्रत्ययत्वात् “प्रत्यय प्रकृत्यादे” इत्यादिना अन्तस्य लब्धत्वात् अन्त-  
ग्रहणं न्यायानुवादकमिति । यूयं विनीतास्तद्वुरवो वो मानयन्तीत्यादि । एतेषु पक्षे वल्लसादयः । अथो इत्यादेशोत्तत्त्वादान्वादेशस्येतत्  
आह—गम्येऽप्यन्वादेश इत्यादि । पटो युष्माकं स्वमित्यादि । अत्र प्रथमान्तात्वेऽपि सपूर्वत्वाभावात् सपूर्वादिति वचनात् न भवति २७  
पाक्षिको वसादेशः । पटो नगरे युष्माकमित्यादि । अत्र ‘ग्रामे’ इत्यस्य प्रथमान्तात्वाभावात् नानेन विभाषादेशः । माणवक जटिलक ते  
स्वमथो इत्यादिविति । अत्र “असदिवामक्य पूर्वम्” इति जटिलकपदस्य असद्वद्वावे सपूर्वप्रथमान्तात्वाभावाद्विकल्पाभावात्तत्पूर्वस्य च माणवक-  
पदस्य “नान्यत्” इति निषेधेन सद्वद्वावात् पदात् परत्वे पूर्वेण नित्यं तेमयादयः । अस्य प्राप्तविभाषात्वं दर्शयति—पूर्वेणेति । “नित्यमन्वादेशे” ३०  
इत्यनेनेति भावः ॥ ३२ ॥

त्यदामेनदेतदो द्वितीयाटौस्यवृत्त्यन्ते । अन्वादेशो इति वर्तते । त्यदा एतदः द्वितीयाटौसि अन्वादेशो एनद् अवृत्त्यन्ते इत्यन्वयः ।  
त्यच्छब्दस्य तत्प्रकारेणैव वर्तनात् एकशेषात् त्यदामिति बहुवचनारयदाखीनामिति विज्ञायते, तेन चैतद् इति विशिष्यते इत्याह—त्यदादीनां ३६  
संवन्धन एतदित्यस्येति । उद्दिष्टमेतदध्ययनमिति प्रथमादेशः । अथो एनदनुजानीतेत्ययमन्वादेशः । अत्रैतद् एनदादेशः प्राप्नोति  
“अनतो लुप” इति लुप्ता, तत्र परस्मादप्येनदो नित्यत्वात् ‘अन्तरङ्गानपि विधीन् बाधित्वा’ इति च लुपि सजातायां “लुप्यच्छृण्वन्” इत्येनद्वर्ज-  
नात् स्थानिषद्वावप्रतिषेधाभावादेनदादेशः । एतकमिति । अनुकम्पायामकं, अनेन साक आदेशः । एतद् सगृहाण अथो एतदम- ३६  
ध्यापयेत्यस्य एतद् अत्यदादित्वात् नाऽऽदेश इति । अत्यदादित्वं च प्रतिपादयितुमाह—संज्ञायामिति । असंज्ञायामिति गणे पाठात् संज्ञाया  
सर्वोद्वेगनाद् बहिर्भावः, त्यदादिषु सर्वोद्यन्तर्गणेऽतः संज्ञायां न त्यदादीत्यर्थः । परमेतं पश्येति । अत्रैतच्छब्दस्य वृत्त्यन्तत्वादवृत्त्यन्ते इति वच-  
नाद्वितीयैकवचने न भवत्येनदादेशः । ‘अवृत्त्यन्ते’ इत्यत्रान्तग्रहणं पृच्छति—अन्तग्रहणं किमिति । एनच्छ्रुतक इति । एनं श्रित इति ३९  
द्वितीयात्पुरुष “श्रितादिभिः” ३।१।६२। इत्यनेन, कृत्सितादौ कप् । प्रथमादेशापापेक्षत्वादान्वादेशस्य तत्रासामर्थ्यात् शब्दस्य राजं पुरुष  
इत्यादिवत् समासाभावः, सामर्थ्यात् समासश्चेत्पूर्वकथनसापेक्षस्यान्वादेशस्याभाव इति परस्परविरोधादुभयाभावादादेशाभाव इत्याह—अर्थोत्  
प्रकरणेतित्यादि । अर्थो वा तादृशो भवति प्रकरणं वा येन ताभ्यामेवापेक्ष्यस्य प्रथमादेशस्य निश्चितत्वाद्वात्तावेवान्तर्भावो वा शिरपेक्षत्वात् समासो भवति, ४२  
यथा देवदत्तस्य गुरुकुलमिति । जिनदत्तमध्यापय एतं च गुरुदत्तमिति । नहि पश्चादुच्चारणमात्रमन्वादेशः किन्तर्हि ? एकस्यैवाभिधेयस्य

तव च स्वम्, मम च स्वम् । योगग्रहणं किम् ? ज्ञानं च शीलं च वो रक्षतु, नो रक्षतु, ज्ञानं च शीलं च वां दीयते, नो दीयते; ज्ञानं च शीलं च ते स्वम्, मे स्वम्; ज्ञानं च शीलं च त्वा रक्षतु, मा रक्षतु, ज्ञानं च ते स्वम्, ज्ञानं च मे स्वम्; नैतेषु च शब्देन युष्मदस्मदोर्योगोऽपि तु ज्ञानशीलोः । 'चाहहवैवै' इत्येव सिद्धे योगग्रहणं साक्षाद्योगप्रतिपत्त्यर्थम् ॥२९॥

### दृश्यैश्चिन्तायाम् ॥ २ । १ । ३० ॥

दृशिना समानार्था दृश्यार्थाः, तैर्धातुभिश्चिन्ताया वर्तमानैर्योगे युष्मदस्मदोर्दुक्तं वक्षसादि तन्न भवति । जनो युष्मान् सदृश्यागतः, जनोऽस्मान् सदृश्यागतः, जनो युवां समीक्ष्यागतः, जनं आवां समीक्ष्यागतः, जनस्त्वामपेक्षते, जनो मामपेक्षते; ज्ञानं युष्मान् दीयमानमुत्पश्यति, ज्ञानमस्मान् दीयमानमुत्पश्यति; ज्ञानं युवाभ्यां दीयमानं निरूपयति, ज्ञानं मावाभ्यां दीयमानं निरूपयति, ज्ञानं तुभ्यं दीयमानं निध्यायति, ज्ञानं मया दीयमानं निध्यायति; जनो युष्माकं चित्तमुपलक्षयति, जनोऽस्माकं चित्तमुपलक्षयति; जनो युवयोः कार्यं संपश्यति, जनं आवयोः कार्यं सपश्यति; गुरुस्तत्र कार्यमालोचयति; गुरुर्मम कार्यमालोचयति; सर्वत्र मनसा चिन्तितं दृश्यार्थानामर्थः । दृश्यैरिति किम् ? जनो वो मन्यते, जनो नो मन्यते । चिन्तायामिति किम् ? जनो वः पश्यति, जनो नः पश्यति, जनो वामीक्षते, जनो नावीक्षते, जनस्त्वामलोचयति, जनो मालोचयति; सर्वत्र चक्षुषा पश्यतीत्यर्थः ॥ ३० ॥

### नित्यमन्वादेशे ॥ २ । १ । ३१ ॥

कथितानुक्तकथनमन्वादेशः, कस्यचिद्वस्तुनः किञ्चित्क्रियादिकं विधातुं कथितस्य तेनान्येन वा शब्देन पुनरन्यद्विधातुं कथनमित्यर्थः; तस्मिन् विषये यदात् परयोर्युष्मदस्मदोर्दुक्तं वक्षसादि तन्नित्यं भवति, यूयं विनीतास्तद्वो गुरवो मानयन्ति, वयं विनीतास्तद्वो गुरवो मानयन्ति, युवां शीलवन्तौ तद्वान् गुरवो मानयन्ति, आवां शीलवन्तौ तन्नौ गुरवो मानयन्ति, त्वं विद्वानथो ते क्षमाश्रमणैर्ज्ञानं दीयते, अहं विद्वानथो मे क्षमाश्रमणैर्ज्ञानं दीयते; धनवांस्त्वमथो त्वा लोको मानयति, धनवानहमथो मा लोको मानयति ॥ ३१ ॥

इत्यादेशः न भवति । ज्ञानं च शीलं चेत्यादौ युष्मदस्मदोर्योगाभावाद्योगग्रहणादत्र प्रतिषेधो न भवतीत्याह—नैतेऽप्येति। ननु किमर्थं योगग्रहणं ? 'चाहहवैवै' इति तृतीयानिर्देशस्य सापेक्षत्वात् तृतीयैव युष्मदस्मदोर्दुक्तं वक्षसादि तन्नित्यं भवति, यथा "गोणात् समया" ३।२।३३। इत्यादौ इत्याह—चाहहवैवैरित्यादि । योगग्रहणं साक्षाद्योगप्रतिपत्त्यर्थमिति । यदा चादिभिर्युष्मदस्मदोर्दुक्तं वक्षसादि तन्नित्यं भवति, यथा चादिभिः साक्षाद्युष्मदस्मदोर्योगः । यदा च तत्संबन्धिनः शीलदेवतादौ व्यवधानेन चादिभिर्युष्मदस्मदोर्योगः । तत्र साक्षाद्योगे प्रतिषेधो यथा साक्षाद्व्यवधानेन योगे मा भूदित्येवमर्थं योगग्रहणम् । ननु संमिश्रिते साक्षाद्योगे प्रतिषेधस्य चरितार्थत्वात् न व्यवहिते विप्रकृतयोगे प्रवर्तिष्यते इति किं योगग्रहणेन ? २४ इति चेत्, एतदेव योगग्रहणं ज्ञापयति यद्युक्त्युक्तोऽप्यस्मिन् प्रकरणे कार्यं भवतीति ॥ २५ ॥

दृश्यैश्चिन्तायाम् । चिन्ताया वर्तमाने दृश्यैः योगे युष्मदस्मदोर्दुक्तं तन्न इत्यन्वयः । दृश्यैरिति । "इक्षित्व" ५।३।१३८। इति वातो स्वरूपे चार्थोऽभिधेये इक्षुप्रत्यये विधीयते । तत्र स्वरूपे विधीयमाने 'दृश्यैर्वा' व्याधिकरणबहुव्रीहिप्रसङ्गात् तस्य च प्रायेणानिष्टत्वात् । अयं प्रत्ययस्ततो दृश्यैर्वा दर्शनमालोचनमर्थो येषामित्यन्यपदार्थत्वेन घातव्य एव विज्ञायन्ते । बुजिक्रियाकर्तृत्वाच्चतृतीया । बुजिक्रियायाश्च सञ्चिधानं तृतीयया योगार्थस्याक्षेपात् । प्रोक्तमस्य च योगग्रहणस्यानुष्ठौ दृश्यैः साक्षाद्युक्त्योरेव युष्मदस्मदो प्रतिषेधः स्यात्, अत्र तु युक्त्युक्त्यपि प्रतिषेधः इत्येव तत्र च पूर्वमेव युक्तिरुक्ता । जनो युष्मान्सदृश्यागतः इत्यादौ सर्ववाक्ये सदृश्यादौ भनोदितिरूपा ३० चिन्ता दृश्यैः इति वक्षसादयो न भवन्तीत्याह—सर्वत्रेत्यादि । जनो वो मन्यत इति । नायं दृश्यैः । दृश्यार्थो नाम यद्यप्युक्त्युक्तं विज्ञाने वर्ततेऽतो न निषेध इति ॥ ३० ॥

नित्यमन्वादेशे । अन्वादेशो पदाद्युष्मदस्मदोर्दुक्तं तन्नित्यम् इत्यन्वयः । अनुशब्दः पश्चाद्वाच्यः, पश्चाद्वाच्यः पूर्वमावापेक्षः, पूर्वमावक्षः प्रत्यासत्तैरुत्तरपदार्थभूतस्यादेशस्यैव । आदेशश्च कथनम्, अनुक्त्यन्यं च प्रत्यासत्तौ कथितस्यैव, अन्यथा तदन्यस्य कथनमेव स्यात् नातु-कथनमिति समानाधिकरणविषय इत्याह—कथितानुक्तकथनमन्वादेश इति । कस्यचिद्वस्तुनः इत्यादिना । कथितानुक्तकथनमित्येतदेवाभिधेयं न किं । कस्यचिद्व्यस्य कान्चित् क्रिया जातिं गुणं द्रव्यं वा प्रतिपादयितुं कथितस्य कर्मिभूतेन तदितरेण वा शब्देन यौनरक्त्यं मा भूदिति विशेषा-न्तरं प्रतिपादयितुं पुनः कथनमन्वादेश इति यावत् । यदुक्तं वक्षसादि तन्नित्यं भवतीति नित्यतामात्रमनेन विधीयते नापूर्वं किञ्चिदिति । यूयं विनीतास्तद्वो गुरवो मानयन्ति इत्यादि, यूयं विनीता इत्ययं प्रथमादेशः उत्तरस्यान्वादेशात्प्रत्यापनार्थम् । विनीता इति विनीतत्वम् प्रतिपादयितुं यूयमिति प्रतिपादितम् । तदित्येव तस्मादित्यर्थः । तद्वो गुरवो मानयन्तीत्ययमन्वादेशः । अत्र यूयमिति यत्प्रथममुक्तं तस्यैव च गुरवो मानयन्तीति प्रतिपादयितुं द्वितीयं कथनं, तत्र नित्यं वक्षसादेशः । एष सर्वत्र । नन्विदं किमर्थम् ? सामान्येन वक्षसादीनां विधानादन्वादेशोऽपि सिद्धत्वात्, नित्यार्थमित्यपि न वाच्यम्, तत्र विकल्पाभावाच्चित्यल्लस्यापि सिद्धत्वात् । न चागन्वादेशो विकल्पापत्तिमिति वाच्यम्, 'अन्वादेशो' इत्यारम्भसामर्थ्यादनन्वादेशो विकल्पस्य सिद्धत्वादिति चेत्, मैषम्; 'अन्वादेशो' इत्यारम्भेऽप्यन्वादेशो विकल्पोऽनन्वादेशो वेति निश्चेदुपपत्त्य-त्वादेव नित्यग्रहणं नित्यत्वार्थमिति । न च "सपूर्वात्" इत्यन्वादेशो विकल्पविधानात् नित्यग्रहणमन्तरेणान्वादेश एव विकल्प इति वाच्यम्, यतोऽन्वादेशो विकल्पे घटि "सपूर्वात्" इत्यस्य नियमार्था स्यात्, 'सपूर्वात् प्रथमान्वादेशान्वादेशो विकल्पो न द्वितीयाद्यन्वादेशः' तथा 'सपूर्वादेव प्रथमान्वादेशिक्यो न केवलात्' तत्र अवधारणद्वयव्याप्यत्वे च विषये "पदाद्युक्त्युक्तं" इत्यादिभिर्नित्य एव विधिः स्यात् इति । तस्मादन्वादेशो एव २५ नित्यो विधिरन्यत्र तु विकल्प इति प्रतिपादनार्थं नित्यग्रहणम् ॥ ३१ ॥

सपूर्वात् प्रथमान्ताद् वा ॥ ३२ ॥] श्रीतत्त्वप्रकाशिकाश्रीआनन्दबोधिनीविभूषितम् ।

सपूर्वात् प्रथमान्ताद् वा ॥ २ । १ । ३२ ॥

विद्यमानपूर्वपदात् प्रथमान्तात् पदात् परयोर्युष्मदस्मदोरन्वादेशे वस्त्रसादय आदेशा वा भवन्ति । यूयं विनीतास्त-  
दुरवो वो मानयन्ति, तदुरवो युष्मान् मानयन्ति, वयं विनीतास्तदुरवो नो मानयन्ति, तदुरवोऽस्मान् मानयन्ति; युवा सुशीलौ १  
तज्ज्ञानं वां दीयते, तज्ज्ञानं युवाभ्यां दीयते, आवां सुशीलौ तज्ज्ञानं नो दीयते, तज्ज्ञानमावाभ्यां दीयते; सुशीलस्त्व-  
मथो क्षमाश्रमणास्ते ज्ञानं प्रयच्छन्ति, अथो क्षमाश्रमणास्तुभ्यं ज्ञानं प्रयच्छन्ति, सुशीलोऽहमथो क्षमाश्रमणा मे ज्ञानं  
प्रयच्छन्ति, अथो क्षमाश्रमणा मय्यं ज्ञानं प्रयच्छन्ति, धनवानसि अथो ग्रामे कम्बलस्ते स्वम्, अथो ग्रामे कम्बलस्तव ६  
स्वम्, धनवानहमथो ग्रामे कम्बलो मे स्वम्, अथो ग्रामे कम्बलो मम स्वम्; वनवास्त्व तल्लोकस्त्वा पूजयति, तल्लोक-  
स्त्वां पूजयति, धनवानहं तल्लोको मा पूजयति, तल्लोको मां पूजयति । गम्येऽप्यन्वादेशे भवति—ग्रामे कम्बलो वः स्वमथो ९  
ग्रामे कम्बलो युष्माकं स्वमथो इत्यादि । सपूर्वादिति किम्? पटो युष्माकं स्वम्, अथो वः कम्बलः स्वम् । प्रथमान्ता-  
दिति किम्? पटो नगरे युष्माकं स्वम्, अथो कम्बलो ग्रामे वः स्वम् । 'माणवकं जटिलकं ते स्वमथो' इत्यादौ तु  
विशेषणपदस्य "असदिवामक्य पूर्वम्" ॥ २ । १ । २५ ॥ इत्यसद्वद्भावात् नास्ति सपूर्वप्रथमान्तमिति न भवत्येव  
विकल्पः । पूर्वैर्न निले प्राप्ते विकल्पार्थं वचनम् ॥ ३२ ॥ १२

त्यदामेनदेतदो द्वितीयादौस्यवृत्त्यन्ते ॥ २ । १ । ३३ ॥

त्यदादीनां संवन्धिन एतदित्यस्य द्वितीयायां दायामोसि च परेऽन्वादेशे एनद् इत्ययमादेशो भवति, अवृत्त्यन्ते—न  
चेदयमेतच्छब्दो वृत्तेरन्ते भवति । द्वितीया—उद्दिष्टमेतदध्ययनमथो एनदनुजानीत, एतकं साधुमावश्यकमव्यापयाथो एन- १५  
मेव सूत्राणि, अत्र साकोऽप्यादेशः; सुशीलवेतौ तदेनौ गुरवो मानयन्ति, सुस्थिता एते तदेनान् देवा अपि नमस्यन्ति, दा-  
एतेन रात्रिरधीता अथो एनेनाहरप्यधीतम् । ओस्—एतयोः शोभनं शीलमथो एनयोर्महती कीर्तिः, सर्वाणि शास्त्राणि  
ज्ञातवन्तावेतौ अथो एनयोस्तिष्ठतोर्नान्यः पूजार्हः । त्यदामिति किम्? एतदं संगृहाण अथो एतदमध्यापय, सज्ञायाम- १८  
सर्वादित्वादित्यदादिः । अवृत्त्यन्त इति किम्? अथो परमैतं पश्य । अन्तग्रहणं किम्? एनच्छ्रितकः, अत्रार्थात् प्रकरणाद्  
वाऽपेक्ष्ये निर्ज्ञाते सति समासोऽन्वादेशश्च । द्वितीयादौसीति किम्? एते मेधाविनो विनीता अथो एते शास्त्रस्य पात्रम्,  
एताभ्यां रात्रिरधीता अथो एताभ्यामहरप्यधीतम्, एतस्मै सूत्रं देहि अथो एतस्मै अनुयोगमपि देहि; अम्युदयनिःश्रेयस- २१  
अदमेतच्छासनमथो एतस्मै नमो भगवते । अन्वादेश इत्येव? जिनदत्तमध्यापय एतं च गुरुदत्तम्, न पश्चात् कथनमात्रम-

सपूर्वात् प्रथमान्ताद् वा । सपूर्वात् प्रथमान्तात् पदाद्युष्मदस्मदोरन्वादेशे वस्त्रसादयो वा इत्यन्वयस्तदर्थमाह—विद्यमान-  
पूर्वपदादित्यादि । सपूर्वादिति । सहशब्दो विद्यमानवचन, पूर्वशब्दो व्यवस्थार्थः । सह—विद्यमान पूर्वं यस्मादिति पञ्चम्यर्थे बहुव्रीहौ २४  
“सहस्य सोः” ३।२।१४३। इति समाव । प्रथमान्तादिति । प्रथमाया प्रत्ययत्वात् “प्रत्ययं प्रकृत्यादेः” इत्यादिना अन्तस्य लब्धत्वात् अन्त-  
ग्रहणं न्यायानुवादकमिति । यूयं विनीतास्तदुरवो वो मानयन्तीत्यादि । एतेषु पक्षे वस्त्रसादयः । अथो इत्यादेशोक्तत्वादान्वादेशस्येत्यत  
आह—गम्येऽप्यन्वादेश इत्यादि । पटो युष्माकं स्वमित्यादि । अत्र प्रथमान्तत्वेऽपि सपूर्वत्वाभावात् सपूर्वादिति वचनात् न भवति २७  
पाक्षिको वसादेशः । पटो नगरे युष्माकमित्यादि । अत्र 'ग्रामे' इत्यस्य प्रथमान्तत्वाभावात् नानेन विभापादेशः । माणवकं जटिलकं ते  
स्वमथो इत्यादाविति । अत्र “असदिवामक्य पूर्वम्” इति जटिलकपदस्य असद्वद्भावे सपूर्वप्रथमान्तत्वाभावादिकल्पाभावात्तत्पूर्वस्य च माणवक-  
पदस्य “नान्यत्” इति निषेधेन सद्वद्भावात् पदात् परत्वे पूर्वैर्न निले तेमयादयः । अस्य प्राप्तविभापात् दर्शयति—पूर्वैर्णेति । “नित्यमन्वादेशो” ३०  
इत्यनेनेति भावः ॥ ३२ ॥

त्यदामेनदेतदो द्वितीयादौस्यवृत्त्यन्ते । अन्वादेशो इति वर्तते । त्यदा एतदः द्वितीयादौस्य अन्वादेशो एनद् अवृत्त्यन्ते इत्यन्वयः ।  
त्यच्छब्दस्य तत्प्रकारेणैव वर्तनात् एकशेषात् त्यदामिति बहुवचनप्राप्त्यादीनामिति विज्ञायते, तेन चैतद इति विशिष्यते इत्याह—त्यदादीनां ३३  
संवन्धिन एतदित्यस्येति । उद्दिष्टमेतदध्ययनमिति प्रथमादेशः । अथो एनदनुजानीतेत्ययमन्वादेशः । अत्रैतद एनदादेशः प्राप्नोति  
“अनतो लुप” इति लुप्, तत्र परस्मादप्येनदो नित्यत्वात् ‘अन्तराज्ञानपि विधीनं बाधित्वा’ इति च लुपि सजातायां “लुप्यच्छ्लेनत्” इत्येनद्वर्ज-  
नात् स्थानिबद्भावप्रतिषेधाभावादेनदादेशः । एतकमिति । अनुकम्पायामकं, अनेन साकं आदेशः । एतदं संगृहाण अथो एतदम- ३६  
ध्यापयेत्यस्य एतदं अत्यदादित्वात् नाऽऽदेश इति । अत्यदादित्वं च प्रतिपादयितुमाह—संज्ञायामिति । असंज्ञायामिति गणे पाठात् सज्ञाया  
संज्ञादीर्घाद् बहिर्भावः, त्यदादिश्च सर्वोच्यन्तर्गणोऽतः सज्ञाया न त्यदादीत्यर्थः । परमैतं पश्येति । अत्रैतच्छब्दस्य वृत्त्यन्तत्वादवृत्त्यन्ते इति वच-  
नाद्वितीयैकवचने न भवत्येनदादेशः । “अवृत्त्यन्ते” इत्यत्रान्तग्रहणं पृच्छति—अन्तग्रहणं किमिति । एनच्छ्रितक इति । एनं श्रित इति ३९  
द्वितीयातत्पुरुषः “अत्रादिभिः” ३।१।६२। इत्यनेन, कुत्सितादौ कप् । प्रथमादेशासापेक्षत्वादान्वादेशस्य तत्रासामर्थ्यात् षष्ठस्य राशे पुरुष  
इत्यादिवत् समासभावः, सामर्थ्यात् समासश्चेत्पूर्वैकथनसापेक्षस्यान्वादेशस्याभाव इति परस्परविरोधादुभयाभावादादेशाभाव इत्याह—अर्थात्  
प्रकरणेतित्यादि । अर्थो वा तादृशो भवति प्रकरणं वा येन साम्याभावापेक्षस्य प्रथमादेशस्य निश्चितत्वाद्वात्तत्वात्तत्पूर्वमर्थो वाभिरपेक्षत्वात् समासो भवति, ४२  
येना देवदत्तस्य गुरुकुलमिति । जिनदत्तमध्यापय एतं च गुरुदत्तमिति । नहि पश्चादुच्चारणमात्रमन्वादेशः किन्तार्हि? एकस्वैर्वाभिधेयस्य

न्वादेशः । यत्रापि वस्तुमात्रनिर्देशं कृत्वा विधानं क्रियते तत्रापि न भवति—“ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादामिविधौ च यः । एतमातं क्तिं विधातुम्” ॥ ३३ ॥

इदमः ॥ २ । १ । ३४ ॥

त्यदादीनां संवन्धिन इदमित्यस्य द्वितीयायां टायामोसि च परेऽन्वादेशे एनद् इत्ययमादेशो भवति, अवृत्यन्ते । उद्दिष्टमिदमध्ययनमथो एनदनुजानीत, इमकं साधुभावश्चकमध्यापय अथो एनमेव सूत्राणि, अत्र साकोऽप्यादेशः, सुशी-  
लाविमौ तदेनौ गुरवो मानयन्ति, सुस्थिता इमे तदेनान् देवा अपि नमस्यन्ति, अनेन रात्रिरधीता अथो एतेनाहरप्यधीतम्,  
अनयोः शोभनं शीलमथो एनयोर्मेहती कीर्तिः, सर्वाणि शास्त्राणि ज्ञातवन्ताविमौ अथो एनयोस्तिष्ठतोर्नान्यः पूजार्हः ।  
द्वितीयाटौसीत्येव ? मत्पुत्रकौ शीलवन्ताविमौ तिष्ठतः । अवृत्यन्त इत्येव ? अथो परमेम पश्य, वृत्त्यादौ तु भवत्येव-  
एनमेनां वा श्रित एनच्छित्तकः । अन्वादेश इत्येव ? चैत्रमध्यापय इमं च भैत्रम्, यत्रापि वस्तुमात्रनिर्देशं कृत्वा किञ्चि-  
द्विधीयते तत्रापि न भवति—अयं दण्डो हरानेन फलानि । केचित्त्विदम आदेशमेनम् इति मकारान्तं द्वितीयैकवचने आहुः,  
तन्मते—इदं कुण्डमानयाथो एनं परिवर्तयेत्येव भवति । योगविभाग उत्तरार्थः ॥ ३४ ॥

अद्वयज्ञेने ॥ २ । १ । ३५ ॥

इदम इति षष्ठ्यन्तमपि सर्वोद्देशार्थं प्रथमान्ततयेह विपरिणम्यते, त्यदादिसंवन्धीदमृशब्दो व्यञ्जनादौ स्यादौ  
परेऽन्वादेशे गम्यमानेऽद् भवति; अवृत्यन्ते । तकार उच्चारणार्थः । इमकाभ्यां शैक्षकाभ्यां रात्रिरधीता अथो आभ्याम-  
हरप्यधीतम्, इमकैः शैक्षकै रात्रिरधीता अथो एमिरहरप्यधीतम्, एवमिमकस्मै अथो अस्मै, इमिकस्मै अथो अस्मै,  
इमकस्मादथो अस्मात्, इमकस्याथो अस्य, इमकेषामथो एषाम्, इमकस्मिन् अथो अस्मिन्, इमिकस्यामथो अस्याम्,  
इमकेषु अथो एषु; इमिकासु अथो आसु । सौ तु परत्वादयमाद्यादेशः—अथो अयं शीलवान् । केचिदेतदोऽपीच्छन्ति—  
एताभ्यां अत्राभ्यां रात्रिरधीता अथो आभ्यामहरप्यधीतम्, एवमेतैः, एभिः, एतस्मै, अस्मै इत्यादि । अन्वादेश  
इत्येव ? इमकस्मै देहि । अवृत्यन्त इत्येव ? अथो परमेमकाभ्यां रात्रिरधीता । व्यञ्जन इति किम् ? अथो इमके तिष्ठन्ति ।  
उत्तरत्र “अनक्” ॥ २ । १ । ३६ ॥ इति वचनादिह साक एव विधिः ॥ ३५ ॥

२३ पूर्वं शब्देन प्रतिपादितस्य द्वितीय प्रतिपादनमन्वादेशस्तेनेह न भवतीत्यर्थः । यथेव “ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादामिविधौ च यः । एतमातं क्तिं  
विधातुम्” इति, अयं दण्डोहरानेनेत्यत्र प्राप्नोति, नैवम्, यत्र किञ्चिद्विधाय वाक्यान्तरे पुनरुपदिश्यते सोऽन्वादेशः । अत्र तु वस्तुमात्रानुवादेन वेदन-  
क्रिया प्रति आक्षरस्य कर्मभावो दण्डस्य तु हरणक्रियां प्रति करणत्वं विधीयते इत्येकमेव विधानं न विधानान्तरमस्तीत्याह—यत्रापि इत्यादि ॥३३॥  
२४ इदमः । “द्वैत्येन ” २।१।३७, “दो म स्यादौ” २।१।३९। इति च प्राप्तेऽयमारम्भः । अत्र अन्वादेशो इति त्यदादेन द्वितीयाटौ-  
स्यवृत्यन्ते इति चातुर्वर्तते । त्यदादिद्वौ द्वितीयाटौसि अन्वादेशे एनद् अवृत्यन्ते इत्यन्वयस्तदर्थमाह—त्यदादीनामित्यादि । अत्रोदाहरणानि  
अत्युदाहरणानि च पूर्वोदाहरेण बोद्धव्यानि । केचित्पिबति । अस्य च मतस्य सर्वसम्मतरेभावाद्युपेक्षणीयत्वमित्युक्तम्—तन्मते इति । तस्यैव  
२७ मतेनान्यस्येत्यर्थः । केचित्पिबति—पाणिनिप्रसृतय इत्युक्तं लघुन्यासे । वस्तुतस्तथापातत एव “द्वितीयाटौस्तेन ” पा० २।४।३४। सूत्रपरलोचनया  
पाणिनिमतप्रतीतावपि एनदिति नपुंसकैकवचने वक्ष्यमिति अन्वादेशे नपुंसके एनद्वक्तव्य इति च भाष्यवार्तिकविचारणया तन्मतेन अन्यस्य  
मतमिदं सभाव्यते । ननु “त्यदादेनदेतदिदमो द्वितीयाटौस्यवृत्यन्ते” इत्येकयोगेनैव सिद्धत्वाद् योगविभाग किमर्थं इत्याह—योगविभाग  
३० उत्तरार्थ इति । उत्तरसूत्रेणैवम एवावृत्तिर्यथा स्यात्, न त्वेतद् इत्येवमर्थः । एतदिदम इति द्रुच्यमाने द्रव्यगमिधानं नास्तीत्यु-  
चयोरप्यनुवृत्तिः स्यात् ॥ ३४ ॥

अद्वयज्ञेने । ननु पूर्वसूत्रे इदम वक्ष्यन्तत्वाद् “वक्ष्या अन्यस्य” इति न्यायादन्त्यस्यैव प्राप्नोति कथं सर्वस्यायमादेश इति ? न च  
३३ अदित्यकारकरणत्वं सर्वस्यायमादेशोऽन्यथा “आद्रेः” इत्यकारे “लुगस्यादेत्यपदे” इति पूर्वस्य लुकि अकारस्याकारकरणमनर्थकं स्यादिति वाच्यम्,  
यथा “समाद्” इत्यत्राजुखारलक्षणकार्यान्तराधनार्थं मकारस्य मकारकरणं तथाऽत्रापि आभ्यामित्यादौ धीर्त्वादिकार्यान्तराधनार्थमकारस्या-  
कारकरणमिति चेदाह—इदम् इत्यादि । अत एव कार्यो निमित्त कार्यमिति निर्देशकमे प्राप्ते निमित्तात् पूर्वं कार्यनिर्देशः । अथवा “अनक्” इत्युत्तर-  
३६ सूत्रे प्रथमान्तविशेषणोपादानादिदम प्रथमान्ततया विपरिणामोऽवसीयते । त्यदाम् इति इदम इति अन्वादेशो इति अवृत्यन्ते इति चातुर्वर्तते ।  
त्यादावित्यधिकृत व्यञ्जने इत्यनेन विशिष्यते, तथा च “सप्तम्या आदि ” इत्यादिसंप्रत्ययः । त्यदामिदम् व्यञ्जनादौ स्यादौ अन्वादेशो अद् अवृत्यन्ते  
इत्यन्वयस्तदर्थमाह—त्यदादिसंवन्धीदमृशब्द इत्यादि । तकार उच्चारणार्थ इति । तकारमन्तरेणाक्षरस्य प्रथमायां सौ “सो र” इत्यादौ  
३७ क्वे ओ इति वैरूप्याद् स्वरूपेणोच्चारयितुमशक्यत्वाद् तकार उच्चारणार्थो भवति । इमकाभ्यां शैक्षकाभ्यां रात्रिरधीता इत्यादि ।  
शिक्षायाम् अनौ इत्यणि, तौ अनुकम्पितौ इति कथि—शैक्षकौ, अथवा—शिक्षामधीयते “पदकमशिक्षा” ६।२।१२६। इति के, शिक्षकावेवेति  
प्रशदित्वादिणि वृत्तौ—शैक्षकौ, ताभ्या यथासंभव क्रियां पुंलि नपुंसके च दृष्टव्योऽयमादेशः । ननु चेरपि व्यञ्जनादित्वात्सिन्व कथं नायमादेश  
३८ इत्याह—सौ त्वित्यादि । अयमाद्यादेश इति । “अयमियम्” २।१।३८। इत्यनेनेति शेषः । केचित्पिबति । चान्द्रमौजरीरामिप्रसृतयः ।  
एतदोऽपीच्छन्तीति । अदादेशमिति शेषः । नन्विदं किमर्थं ? यावत्तत्परसूत्रेणान्वादेशोऽनन्वादेशोऽन्यदादेशो सिद्ध इत्याह—उत्तरसूत्रेणादि ।  
अनमिति वचनादक्षद्वितस्य तेनादेशाभावादित्यर्थः ॥ ३५ ॥



## अनक् ॥ २ । १ । ३६ ॥

अन्वादेश इति निवृत्तम्, पृथग्योगात् । तदादिसंवन्धिनि व्यञ्जनादौ स्यादौ परेऽन्वर्जित इदम् अद् भवति ।  
आम्याम्, एभिः, आभिः, अस्मै, अस्मै; अस्मात्, अस्या; अस्य, अस्याः; एषाम्, आसाम्, अस्मिन्, अस्याम्; ३  
एषु, आसु । अनगिति किम्? इमकाम्याम्, इमकेभ्यः, इमकस्मै, इमिकस्मै, इमकेषाम्, तत्सवन्धिविज्ञानादिह न  
भवति-अतीदम्याम्, अतीदंसु, प्रियेदम्याम्; प्रियेदंसु; इह तु भवति-परमाम्याम्, परमैभिः, परमैभ्यः, परमास्मै,  
परमास्मै, परमास्मात्, परमास्याः; अत्र पूर्वोत्तरयोः पदयोः पूर्व कार्ये कृते पश्चात् सधिकार्यम्, एतच्च “आतो नेन्द्रवरु- ६  
णस्य” ॥ ७ । ४ । २९ ॥ इत्यत्र ज्ञापयिष्यते । अमेदनिर्देशः सर्वादेशार्थः ॥ ३६ ॥

## टौस्यनः ॥ २ । १ । ३७ ॥

त्यदादिसंवन्धिनि टायामोसि च परेऽन्वर्जितस्येदमः स्थाने अन इत्ययमादेशो भवति । अनेन, अनया; अनयोः १  
स्वम्, अनयोर्निधेहि, परमानेन, परमानयोः । तदादिसवन्धिविज्ञानादिह न भवति-अतीदमा, अतीदमोः, प्रियेदमा,  
प्रियेदमोः । अनक् इत्येव? इमकेन, इमिकया; इमकयोः, इमिकयोः ॥ ३७ ॥

## अयमियं पुंस्त्रियोः सौ ॥ २ । १ । ३८ ॥

त्यदां संवन्धिनि सौ परे पुंलिङ्गस्त्रीलिङ्गयोरिदमः स्थाने यथासंख्यमयम् इयमित्येतावादेशौ भवतः । अयं पुमान्,  
इयं स्त्री, परमायम्, अनयम्, परमेयम्, अनियम् । साविति किम्? इमौ, इमे । तदादिसंवन्धिविज्ञानादिह न  
भवति-अतीदम् पुमान् स्त्री वा, एवं प्रियेदम् । पुंस्त्रियोरिति किम्? पुंसि इयम्, स्त्रियामयम् मा भूत् । नपुंसके तु १५  
नित्यत्वात् प्रथममेव सेर्लुपि इदं कुण्डमित्यत्र प्रसङ्ग एव नास्ति । साकोऽप्ययमियमादेशौ भवतः-अयम्, इयम्, अन्ये  
त्वादेशे कृते पश्चादकमिच्छन्ति-अयकम्, इयकम् ॥ ३८ ॥

अनक् । अन्वादेश इति निवृत्तम्, पृथग्योगात् इति । पृथक् सूत्रारम्भादिति भावः, अन्यथा साकोऽनकोऽप्यन्वादेशो १८  
पूर्वसूत्रेणैव सामान्यविधानेन सिद्धत्वात् सूत्रारम्भवैयर्थ्यमिति । तदामिति व्यञ्जने इति स्यादविति अद् इति इदम् इति चानुवर्तते । तदामिति  
व्यञ्जनादौ स्यादावित्यनेनाभिप्रेतव्यते, अनक् इति इदम् इत्यनेन प्रथमान्ततया विपरिणतेन । तदाम् व्यञ्जनादौ स्यादौ अनक् इदम् अदित्यन्वयस्त-  
दर्थमाह-त्यदादिसंवन्धिनीत्यादि । आभ्यामित्यादि । एतेषु भ्यामि भिसि चतुर्थ्येकवचनस्य स्यादादेशे च व्यञ्जनादित्वादेनेनादेशः । नामप्रहणे २१  
लिङ्गविशिष्टस्यापि प्रहणम्” इत्याबन्तस्यापि प्राप्तिरित्यापि कृते ऋतां यायायादेशोऽनेनादादेशे सर्वादित्वात् ङसि अन्यस्वरालोपे च-अस्मै  
इत्यादि । इमकाम्यामित्यादि । अत्र कृत्सितादावर्थे परत्वात् अन्यस्वरत्वात् पूर्वमक इदकम् इति स्थिते “अनक्” इति वचनादन्नादादेशाभावे  
“आद्वे” इति मकारस्यात्वे “ङ्गस्यादेत्यपदे” इति पूर्वस्य ङकि “दो म ०” इति दकारस्य मत्वे यथासंभवात्त्वेत्तच्च च । नन्विदम् इत्यधिकारा- २४  
दिदम्रूपस्य विधिसत्राकि कृते इदम्रूपस्याभावादेव न भविष्यति किं प्रतिषेधेन इति चेत्, सत्यम्, “तन्मध्यपतितस्य तद्ग्रहणेन प्रहणाद्” इति  
न्यायेन प्राप्नोतीति प्रतिषेध उच्यते । तत्संवन्धिविज्ञानादिति । अतीदम्यामित्यादौ “प्रात्यखपरिनिरादयो” ३।१।४।५। इति समासे इदम्-  
शब्दार्थस्याप्रधानत्वात् स्यादेत्तत्संवन्धित्वाभावात् न भवत्यदादेशः । परमाभ्यामित्यादौ तु विशेषणसमासे इदमशब्दायैव विशेष्यतया २७  
प्राधान्यात्तत्संवन्धित्वमिति स्यादेवादेश इति । ननु परमाभ्यामित्यादौ परादप्यदादेशात् सति समासे स्याद्युत्पत्तिसापेक्षत्वेन बहिरादान्तराग्रे  
“अवर्णसे” इत्येदादेशो कृते पश्चादिदम्रूपाभावाददादेशाभावः प्राप्नोतीत्याह-अत्र पूर्वोत्तरयोः पदयोरित्यादि । एतच्चेति । आमन्त्रम्  
सूक्तमित्यत्र “आतो नेन्द्रवरुणस्य” ७।४।२९। इति अवर्णान्तात् पूर्वपदात् परस्य इन्द्र इत्यस्योत्तरपदस्य “देवतानामात्मादौ” ७।४।२८। इति प्राप्ताया १०  
वृद्धे प्रतिषेध आरभ्यते, तत्र यन्तरङ्गत्वात् “अवर्णसे” इत्येकादेश एकार स्यात् तदाऽवर्णवर्णयोरभावाद् व्यसम्भवादिन्द्रप्रतिषेधोऽनर्थक  
स्यादिति भावः । ननु अनगिति इदम् पूर्वत्र पञ्चन्तनिर्दिष्टस्य विशेषणत्वात् कथं कार्येणाभेदनिर्देश इत्याह-अमेदनिर्देश इति । अनक् इदम्  
इति अद् इति च कार्यकार्यणोरेकविमर्कनिर्देश इति भावः । सर्वादेशार्थ इति । अवर्जितस्य सर्वस्येदमः स्थानेऽदादेशो यथा स्यादित्येवमर्थः ॥ ३६ ॥ ३३

टौस्यनः । अत्र तदामिति अनगिति इदम् इति चानुवर्तते । तदां टौसि अनक् इदम् अन इत्यन्वयस्तदर्थमाह-त्यदादिसंवन्धि-  
नीत्यादि । अनेनेत्यादि । एतेषु इदमोऽनादेशे टाया इनादेशे औस्येत्वं च, त्रियां तु अनादेशे टायामोसि च “टौस्ये” १।४।१९। इति एत्त्वम् ।  
शेष पूर्वानुसारेण बोद्धव्यम् ॥ ३७ ॥

अयमियं पुंस्त्रियोः सौ । अत्र तदामिति इदम् इति चानुवर्तते । तदा सौ पुंस्त्रियोरिदमोऽयमियमित्यन्वयः । अयमियमिति लुप्त-  
प्रथमाद्विवचनान्तं पदम् । पुंस्त्रियोरिति “पुंस्त्रियोः स्वमौजव्” इतिवदलौकिको निर्देशः । अन्यार्थमाह-त्यदां सवन्धिनि सावित्यादि ।  
अयमित्यादि । एतेषु इदमर्थप्राधान्यात्पदादिष्वनन्धिनि सावनेन यथासंख्यं पुंसि अयमादेशे त्रियांशेयमादेशे सति “वीर्षकाव्यञ्जनात्” इति ३९  
सिलोप । नन्वत्रादेशो कृतेऽन्यमकारस्य “आद्वे” इत्यत्र कथं न भवतीति चेत्, सत्यम्, अनेकवर्णत्वात् सर्वस्यादेशो ह्यादेशावयवमकारस्य  
विधानसामर्थ्यात् “आद्वे” इत्यत्र न भवति । ननु पुंस्त्रियोरिति किमर्थम्? नपुंसके नित्यत्वात् “अनतोऽप्य” इति सेर्लुपि “ङ्प्यङ्गुल्लेनत्” इति  
स्थानिवद्भावात्प्रतिषेधात् सेरभावादादेशप्राप्तेरसम्भवात् पुंस्त्रीलिङ्गयोरैवात्वादेशो भविष्यत इत्याह-पुंस्त्रियोरिति किमित्यादि । अयमर्थः- ४२  
पुंस्त्रियोरित्युपादानमन्तरेणानियमेन द्वयोरपि लिङ्गयोर्द्वौवप्यादेशौ प्राप्नुत इति । नपुंसके त्विति । तुशब्दो यस्यादर्थः । अन्ये त्विति । आचार्य-  
पाणिनिप्रसृतयः । ते हि पुंसि इदम् इदवयवस्यायादेश त्रियां च दस्य यत्त्वं च विदधति, ततोऽकच्, यदाह-मद्रोजिर्दक्षितः सि०को० हलन्तपुं०  
प्रकरणे-ककारयोगे तु अयकमिति । पश्चादकमिच्छन्तीति । “त्यादिसर्वादे” ७।३।२९। इति “अयमियं” इति च द्वयोर्नित्यत्वात् परत्वा- ४५  
भावादपश्चादत्वात् अयमियमिति चादेशे कृते पश्चादकिं सेरभावात् पुनरादेशाभावेऽङ्गवर्णमिच्छन्तीत्यर्थः ॥ ३८ ॥

## दो मः स्यादौ ॥ २ । १ । ३९ ॥

त्यदां संवन्धिनि स्यादौ परत इदमो दकारस्य मकारादेशो भवति । इमौ, परमेमौ, इमे, इमम्, इमौ, इमान्, इमकौ, इमकेन, इमकाम्याम् । त्यदादिसवन्धिविज्ञानादिह न भवति—अतीदमौ, प्रियेदमौ ॥ ३९ ॥

## किमः कस्तसादौ च ॥ २ । १ । ४० ॥

त्यदादिसंवन्धिनि स्यादौ तसादौ च प्रत्यये परे किमशब्दस्य स्थाने क इत्यकारान्त आदेशो भवति । कः, कौ, कैः, कम्, कौ, कान्, केन, काम्याम्, कैः । स्त्रियाम्—का, के, काः, काम्, के, काः । नपुंसके—किम्, के, कानि; परमकः, परमकौ, अकः, अकौ, साकोऽपि—कः, कौ; तसादौ—कदा, कर्हि । तसादौ चेति किम्? किं तिष्ठति, कि पश्य, कितराम् । त्यदादिसवन्धिविज्ञानादिह न भवति—अतिकिम्, अतिकिमौ, अतिकिमः, प्रियकिम्, प्रियकिमौ, प्रियकिमः । आदिशब्दस्य व्यवस्थावाचित्वात्तसादयस्थमवसाना ग्राह्याः ॥ ४० ॥

## आ द्वेरेः ॥ २ । १ । ४१ ॥

दिशब्दमभिव्याप्य त्यदादीनामन्तस्य तत्संवन्धिनि स्यादौ तसादौ च प्रत्यये परेऽकार आदेशो भवति । स्यः, लौ, ल्ये; सः, तौ, ते, यः, यौ, ये, अस्, अमी, इमौ, इमे, एषः, एतौ, एते, एकः, एव द्वौ, त्यकौ, परमत्यौ, स्त्रियां—स्या, ल्ये, त्याः; द्वे । नपुंसके—त्ये, त्यानि, द्वे । तसादौ—ततः, तत्र, तथा, तर्हि, यतः, यत्र, यदा, यथा । त्यदादिसंवन्धिविज्ञानादिह न भवति—अतितद्, अतितदौ, अतितदः, प्रियतद्, प्रियतदौ, प्रियतदः । आ द्वेरिति किम्? भवान् ॥ ४१ ॥

१५ दोमः स्यादौ । अत्र त्यदामिति इदम् इति चानुवर्तते । त्यदां स्यादौ इदमो दो म इत्यन्वयस्तदर्थमाह—त्यदां संवन्धिनीत्यादि । स्यादधिकारे स्यादावित्युपादानात् स्यादिरेवानुवर्तते न किञ्चित्द्विशेषणमित्याह—स्यादाविति । इमावित्यादि । इदम्—औ इति स्थिते “आद्वेरे” इति मस्याधारे “लुगसादेत्यपदे” इति पूर्वोक्तलुकि दस्यानेन मत्वे चौरत्वम् । एवमन्यदपि । ननु मकारस्य मकारकरणवैयर्थ्यात् “आद्वेरे” इत्य-  
१८ त्वप्रवृत्तेश्च व्यञ्जनत्वेन खरस्यानासन्नत्वादेकवर्णत्वेनान्तस्य भवन्नपि सामर्थ्यादुपात्तस्य दकारस्यैव भविष्यति किं द इति प्रश्नम्? इति चेत्, उच्यते—कार्यान्तरवाधनार्थं सन्नादित्यादिवत्, अथवा मकारस्याभेदनिर्देशेन “अबधने” इतिवत् सर्वस्यापि स्यादिति दमहणम् ॥ ३९ ॥

किमः कस्तसादौ च । अत्र त्यदामिति स्यादाविति चानुवर्तते । त्यदा स्यादौ तसादौ च किम क इत्यन्वयस्तदर्थमाह—त्यदादि संवन्धिनीत्यादि । क इत्यस्य कार्यत्वादिमिच्छात्पञ्चाभिर्देशे प्राप्ते पूर्ववर्जिदेश “किम क स्यादौ तसादौ च” इति तत्र भेदज्ञापनार्थं, तेन स्वस्थान एव चकारसंबन्ध इत्याह—स्यादौ, तसादौ चेति । तेन प्राधान्याद् द्वयोस्तत्रानुवृत्ति । क्रमेण स्यादौ लिङ्गत्रयेऽप्युदाहरति—क इत्यादि । तदन्तस्यापि स्वसम्बन्धिन्युदाहरति—परमक इत्यादि । ‘तन्मध्यपतितस्य तद्वहणेन ग्रहणात्’ आह—साकोऽपीति । किम क इतिशेष ।  
२४ अज्ञात क इति विग्रहे “त्यादि सर्वादे ०” इत्यकि—क इत्यादि । किमन् काल इति विग्रहे “कियत्तत्सर्वकान्यात् ०” ७।१।९।५। इति दाप्रत्यये—कदा इति । अत्र तसादौ प्रत्ययेऽनेन किम क । एव “अनयतने हि” ७।२।१०।१। इति हौ—कर्हि । इदमनयो प्रकृष्ट किमिति “द्वयोर्विमज्जे च तरय” ७।३।६। इति तरपि, “कित्सायेऽव्यादसत्त्वे तयोरन्तस्याम्” ७।३।८। इत्यादि स्यादेत्तसादेष्टामावादादेशामावे—कितरामिति । ननु “किम क”  
२७ इति गुरुकरण किमर्थः? “आद्वेरेस्वसादौ च” इति कृत्वा ‘इम’ इत्येव सन्त्यताम्, न चैव सति ‘तिम’ ‘तीमच्’, ‘टिम’ ‘टीमच्’ आर्द्राभावे इत्यस्य किमन्तस्य स्यादौ प्रसङ्ग इति वाच्यम्, त्यदादिविशेषणात् त्यदादीनां य इमिति व्याख्यानेनादोषात्, नापि “दो म ०” इति दस्य मत्वे कृते इदम् इममिमाविलय प्रसज्यते, ‘लक्षणप्रतिपदोक्त ०’ परिभाषाश्रयणात् । न चैकवर्णत्वादन्यस्य स्यादिति वाच्यम्, ‘नानर्थके तदन्तविधि’ इत्याश्रय-  
३० णादिति । यद्वाऽभेदनिर्देशात् सर्वस्यापीनोऽकारादेशो न कश्चिदोष इति चेत्, नैवम्, साकोऽपि यथा स्यादित्येवमर्थं गुरुकरणम् । आदिशब्दस्येति । तसादाविलयन कृतोपादानस्यादिशब्दस्येति भावः । व्यवस्थावाचित्वादिति । व्यवस्था—मर्यादा, सा च शास्त्रे पूर्वाचार्यकृतो नियमस्तेन धमवसानपरिग्रहात् कितरामित्यादौ तदुत्पत्तेरु न भवति ॥ ४० ॥

३३ आद्वेरेः । अत्र त्यदामिति स्यादौ तसादौ चेति वर्तते । आद्वेरेत्यदा तसादौ च अ इत्यन्वयः । आद्वेरेत्यवधौ पञ्चमी, अवधिधामि-  
व्याप्तिरित्याह—दिशब्दमभिव्याप्येति । स्य इत्यादि । एतेष्वन्यस्याकारे द्वयोरकारयो “लुगसादेत्यपदे” इति यथासम्भव पूर्वस्य लुकि “त सौ स” इति सौ तकारस्य सत्वम् । त्यदामित्यनुवर्तनात्तस्य च स्यादावित्यस्य विशेषणत्वात्तत्संवन्धिविज्ञानात् असितित्यादौ अतत्संवन्धिनि स्यादौ न  
३६ भवतीत्याह—त्यदादीत्यादि । भवानिति । उदित्वात् “ऋदुदित” इति नागमे “अभ्यादे ०” इति धीरत्वे “पदस्य” इति तकारलोपः । ननु आद्वेरेति किमर्थम्? असदन्तानां भवदन्तानां वा मा भूदिति । केषांचिद्युष्मद्भवतु अस्मादिति पाठः, केषांचित् युष्मदस्मद्भवति पाठस्तदपेक्ष-  
३९ पितृत्वं ७।२।८। इति किमशब्दोपादानं न विधेयम् । तत्र सत्यपि दिशब्दात् परत शब्दचतुष्टयस्य पाठे भवच्छब्दस्यैवात्वात्पातिदौषो न किं युष्मदस्मादम्, किम कादेशेन युष्मदस्मादोरात्वयत्वलोपैरत्वस्य वाधितत्वात् । नैषोऽस्ति दोष—यद्य त्यदादीनामन्तत्वे सिद्धे “शेषे लुक्” शास्त्रे तज्ज्ञापयति नेत प्रागकार इति, नैवम्, उपसर्जनार्थत्वात्तस्य श्रपणे सामर्थ्याभावात् । तत्र ह्युपसर्जनानां त्यदाद्यत्वाभावादुपसर्जनयुष्मदस्मादर्थो  
४२ लोपः स्यात्—त्वामतिश्रान्ता मानतिश्रान्ता ये तेभ्योऽतित्वभ्य, अतिमभ्यमिति । किं चाऽत्वे सत्याप्रसङ्गात्तदभावात् “शेषे लुगिति” अन्यस्वरादि-  
लोपो बोद्धव्यः । नन्वेव तर्क्षन्तस्वरादिलोपो वक्ष्य, न चात्वेन सिद्धत्वाद्वचनादेवान्यस्वरादिलोपो भविष्यतीति वाच्यम्, उपसर्जनस्यात्वात्सिद्धे-  
रुपसर्जनार्थत्वात्तस्येति चेत्, न वक्ष्य, शेषग्रहणादेवासाध्यस्य लब्धत्वात् । तथाहि—लोपमुत्तरार्थं विधाय व्यञ्जनादावन्त ङादयोपि च यत्तम-  
४५ पवादो विधास्यत इति शेषग्रहणमनर्थकं तत् क्रियमाण लोपस्य विषयार्थं स्यात्, तेन मान्ताद्योऽन्य स शेष स चान्यस्वरादिरिव । तस्य लोपः  
शेषे इति लोपस्य स्थान विषयसप्तम्या निर्दिष्टम् । एव तर्हि “किम कस्त ०” इति श्रपकाद्विपर्ययन्तानामेव ग्रहण भविष्यति, तथाहि—“किमश्चादि-

तः सौ सः ॥ २ । १ । ४२ ॥

आद्वेस्त्यदादीनां संबन्धिनि सौ परे तकारस्य सकारादेशो भवति । सः, स्या, स्यकः, परमस्यः, सः, सा, सकः,

परमसः, एषः, एषा, एषकः, परमैषः, हे सः, हे परमसः, हे परमैषः । त इ इति किम् ? यः । साविति किम् ? त्यद्, ३

तद्, तौ, तौ । त्यदादिसंबन्धिविज्ञानादिह न भवति—प्रियत्यद्, प्रियैतत् पुमान् । आ द्वेस्त्विव ? भवती ॥ ४२ ॥

अदसो दः सेस्तु डौ ॥ २ । १ । ४३ ॥

त्यदादिसंबन्धिनि सौ परेऽदसो दकारस्य सकारादेशो भवति, सेस्तु डौः । असौ, असकौ; हे असौ, हे असकौ ५

विद्वन्; असौ, असकौ स्त्री, हे असौ, हे असकौ स्त्री । सावित्येव ? अदः, अम् । त्यदादिसंबन्धिविज्ञानादिह न

भवति—अत्यदाः । डित्करणमन्त्यस्वरादिलोपार्थम्, तेन—“औता” ॥ १ । ४ । २० ॥, “एदापः” ॥ १ । ४ । ४२ ॥,

“दीर्घञ्चाव्यञ्जानत् सेः” ॥ १ । ४ । ४५ ॥, “अस्यायत्तक्षिपकादीनाम्” ॥ २ । ४ । ११० ॥ इति कार्याणि न ९

भवन्ति, अन्यथा सेस्त्वैस्त्विव क्रियेत ॥ ४३ ॥

असुको वाऽकि ॥ २ । १ । ४४ ॥

त्यदादिसंबन्धिनि सौ परेऽदसोऽकि सत्यसुक इति दस्य सः सकारात् परस्याकारस्योकारः सेश्च डौत्वाभावो १२

सर्वादीति” किम्शब्दस्य भेदेनोपादानाद्विशब्दात्पर किम्शब्द सर्वादौ पठ्यत इति निर्णय । यदि च द्विशब्दात् परेपामत्वं स्यात् किम् क न विद-  
ध्यात्, किन्तु “आद्वे” इत्यनन्तरं “किम्” इत्येव ऋयात् । पूर्वसन्नादकारस्यानुवृत्त्या पूर्वणान्त्यस्यात्वे तत्रोक्तानुवाददोषात् ‘अन्त्याभावेऽन्त्यसदेश-  
स्यापि ग्रहणात्’ अनेन त्विकारस्य न तु ककारस्येति द्वयोरकारयो “लुगस्यादेत्यपदे” इति पूर्वस्य लुकि क इति सिद्धमित्यादेशविधानं प्रकृतार्थज्ञाप- १५  
नाय भवति । ननु तथापि कुत एतज्ज्ञापक, किम् इत्येवोच्यमानेऽन्त्यस्य मकारस्य पूर्वणाकारे तस्यैव पुनरनेनापि स्यात्, न चोक्तानुवाददोषा-  
दन्त्यस्य न भविष्यतीति वाच्यम्, काभ्यां केभ्य इति विध्यन्तरवाधनार्थत्वादिति कथं द्विपर्यन्तानां भविष्यति न पुनरस्मदन्तानां भवदन्तानां वा ।  
किंचाऽवश्यं कादेशं सागर्थोऽपि वक्तव्य, तेनाऽज्ञातार्थविवक्षायां क इत्येव भवति, न तु क इति भवति । न च ‘निर्दिश्यमानस्यादेशा भव- १८  
न्तीति’ साक कादेशो न प्राप्नोतीति वाच्यम्, “किम् क” इति वचनसामर्थ्याद् भविष्यति, तस्माद्विपर्यन्तानां यथा स्यादित्येवमर्थ “आद्वेरिति”  
वचनं स्थितम् ॥ ४१ ॥

त. सौ सः । आद्वेरिति त्यदामिति चानुवर्तते । आद्वेस्त्यदा सौ तः स इत्यन्वयस्तदर्थमाह—आद्वेस्त्यदादीनामित्यादि । भवती २१  
इति । पुंसि तकारस्य सकारे “पदस्य” इति लोपे विशेषाभावात् क्रियासुदाहृतम् ॥ ४२ ॥

अदसो दः सेस्तु डौः । अत्र त्यदामिति साविति स इति च वर्तते । त्यदां सौ अदसो द स, सेस्तु डौरित्यन्वयस्तदर्थमाह—  
त्यदादीत्यादि । द इति षष्ठ्यन्त कार्यपद, अदस इति तद्विशेषणमित्याह—अदसो दकारस्येति । अदस् स इति स्थितेऽनेन दस्य सत्वे से- २४  
र्वादेशो च “दित्यन्त्यस्वरादे” इत्यन्त्यस्वरादिलोपे—असौ । असकाविति । अदस्शब्दात् “त्यादिसर्वादे ०” इत्यकि अदकस् स इति  
स्थितेऽनेन दस्य सत्वे सेर्वादेशो चान्त्यस्वरादिलोपे रूपम् । नन्वदस इति किमर्थम् ? पारिशेष्यात् अदस एव दकारस्य सकारो भविष्यति ।  
अथै हि त्यदादयस्तत्र चतुर्णामन्त्यो दकार, त्रयाणां त्वनन्त्यस्त्र “सास्य पौर्णमासी” ६।२।९८, “सोऽस्य मृतिवज्राशम्” ६।४।९६८ इत्यादि— २७  
ज्ञापकादन्यदकारस्य न भविष्यति । किं चान्त्यदकारस्य सकारेऽपि “दित्यन्त्यस्वरादे” इत्यन्त्यस्वरादिलोपे विशेषाभावात् सकारकरणमनर्थक  
स्यात् । न चानन्त्यस्य भवजिदमोऽपि स्यादिति वाच्यम्, “अयमिय पुत्रियो सौ” इत्यशेषस्य विधानादयमियमोस्त्र वाधकत्वात् । द्विशब्दस्य च  
द्वित्वार्थविषयत्वात् सेरभावादप्रसङ्ग इति चेत्, न, ज्ञापकोपन्यासस्य तद्विषयस्यैव दर्शनात्तस्य च स्वविषय एव चरितार्थत्वात् सर्वोद्देशेनाप्रवृत्तेः । ३०  
तस्मात्पदद्वयदेतदामन्त्यदकारस्य सकार स्यात्, अदस एव यथा स्यादन्यस्य मा भूदित्येतदर्थमदसप्रहणम् । नन्वेव यद्यदस एव दस्य सत्य

वा निपात्यते । असुकः, असकौ; हे असुक !, हे असकौ ! असुका, असकौ स्त्री । केचित्तु असुकसिति सान्तं सिना सह निपातयन्ति ॥ ४४ ॥

३ मोऽवर्णस्य ॥ २ । १ । ४५ ॥

अवर्णान्तस्य त्यदादिसंवन्धिनोऽदसो दकारस्य मकार आदेशो भवति । अमू नरौ, स्त्रियौ, कुले वा, अमी नराः, अमूः स्त्रियाः, अमूनि कुलानि, अमु नरम्, अमूं स्त्रियम्, अमूः स्त्रीः, अमून नरान्, अमूनि कुलानि, अमुकौ नरौ, अमुके स्त्रियौ कुले वा, परमासुम्, अमूहक्, अमूहशः, अमूहक्षः । अत्र “अन्यत्यदादेराः” इत्यात्वे सत्यवर्णान्तत्वम् । अवर्णस्येति किम् ? अदः कुलम्, अदस्याति ॥ ४५ ॥

वाऽद्वौ ॥ २ । १ । ४६ ॥

१ अदसोऽद्वावन्ते सति दकारस्य मकारो वा भवति, द्वावत्र दकारौ तत्र विकल्पे सति चातूरूप्यं भवति—अदमुयङ्, अमुयङ्, अमुमुयङ्, अदयङ्; तदाह—“परतः केचिदिच्छन्ति, केचिदिच्छन्ति पूर्वतः । उभयोः केचिदिच्छन्ति, केचिदिच्छन्ति नोभयोः” ॥ १ ॥ ४६ ॥

१२ मादुवर्णोऽनु ॥ २ । १ । ४७ ॥

अदसः सवन्धिनो मकारात् परस्य वर्णमात्रस्योवर्ण आदेशो भवति, अनु—पश्चात्कार्यान्तरेभ्यः, आसन्नत्वात् मात्रिकस्य स्थाने मात्रिकः, द्विमात्रस्य द्विमात्रः, त्रिमात्रस्य त्रिमात्रः । अमुम्, अमू, अमूरे इति; “प्रश्ने च प्रतिपदम्” ॥ ७ । ४ । ९८ ॥ इति सुतः । अमुमुयङ्, अमुमुईचः, अदमुईचः, अदमुईचा, “अदो मुमी” ॥ १ । २ । ३५ ॥ इति सधिप्रतिषेधः । अन्विति किमर्थम् ? अमुमै, अमुष्मात्, अमुष्य, अमुष्मिन्, अमूषाम्, अमुया, अमुयोः, इत्यादिषु स्मैप्रभृतिकार्येषु कृतेष्ववर्णो यथा स्यादित्येवमर्थम् ॥ ४७ ॥

१८ असुक इति । “अदेत समोर्छक्” इति सेलौप । हे असकाविति । पुस्तुदाहतम् । असुका, असकौ इति । क्रियामानये तु हे अमुके इति द्रष्टव्यम् । केचित्त्विति । सिना सह निपातनस्य च “अभ्यादेरत्वस” इति धीर्यत्वाभावात् फल्म् ॥ ४४ ॥

मोऽवर्णस्य । त्यदामदसो इति चानुवर्तते । अवर्णस्येत्यदसो विशेषणात्तदन्तविज्ञानम् । अवर्णान्तस्य त्यदामदसो दो म इत्यन्वय-  
२१ स्तदर्थमाह—अवर्णान्तस्येत्यादि । अमू नरौ इति । अदस् औ इति स्थिते “आद्वे” इत्यत्वे “ह्रगस्यादेसपदे” इत्यकारलोपेऽवर्णान्तत्वा-  
नेन दस्य मत्वे “ऐदौत्सन्त्यक्षरे” इत्योत्त्वे “मादुवर्णोऽनु” इत्युत्त्वे सिध्यति । अमू स्त्रियौ इति । अदस् औ इत्यवस्थायां त्यदाद्यत्वेऽकारलुकि  
आपि दस्य मत्वे “औता” इत्योकारेण सहैकारान्तादेशे “मादुवर्णोऽनु” इत्युत्त्वम् । अमू कुले इति । अत्रात्वेऽकारलुकि “औरी” इतीकारेऽनेन  
२४ दस्य मत्वे “अवर्णस्ये” इत्योत्त्वे “मादुवर्णोऽनु” इत्युत्त्वे रूपम् । अमी नरा इति । अदस् शब्दाब्जसि त्यदाद्यत्वेऽकारलुकि दस्य मत्वे, “जस ह”  
इतीत्वे, “अवर्णस्ये” इत्योत्त्वे, “ग्रहृत्वेरी” २।१।४९। इति तस्येत्वम् । एवमन्यदपि । ननु असाविष इदयत् इत्यदस परतो हस्ते “त्यदा-  
२७ देराः” इत्यादि । अदः कुलमिति । नपुसकात् सेलौपि “ह्रग्यगृह्णेनव” इति स्थानिवद्भावात्प्रतिषेधात् स्यादेरभावादत्वाभावेऽवर्णभावः । ननु  
अद कुलमिच्छतीत्यस्मिन् वाक्ये अदस् शब्दाभ्युपसृकदनी लुपि “सो रु” इति क्त्वे “रोर्य” इति क्त्वे “क्षरे वा” इति यलोपेऽवर्णान्तत्वानि  
न्मत्वप्रसङ्ग इति चेद्, उच्यते—पदान्तरापेक्षत्वेन यलोपस्य बहिरङ्गत्वात्तदन्तरेपेक्षत्वेन मत्वविधेरन्तरङ्गत्वाद् ‘असिद्ध बहिरङ्गम्’ इति लोपस्यासिद्ध-  
३० त्वेऽनवर्णान्तत्वाद् मकाराभावः ॥ ४५ ॥

वाऽद्वौ । अदसो दो म इति चानुवर्तते । अदसोऽद्वौ दो मो वा इत्यन्वयस्तदर्थमाह—अदसो इत्यादि । अदसोऽवयवस्याव्यगमस्य  
तद्ग्रहणेन ग्रहणात् तस्मिन् सति अदस इकारान्तत्वादवर्णान्तत्वाभावादप्राप्ते उभयत्र विकल्पे चातूरूप्यं संप्रयतेऽत आह—द्वावत्रेत्यादि । अयमर्थः—  
३१ विकल्पोऽत्रानेकधा संभवति, सामान्याभ्रयणाच्च समुचितसर्वविकल्पपरिग्रहः । विशेषे हि विशेषान्तरं परिहिष्येते न सामान्ये, सर्वात्मकत्वात् सामा-  
न्यस्येति । अद-पूर्वादस्य अदोऽवतीति किपि, “सर्वादिलिष्ण्वेदाङ्गि” ० १।२।१२२। इति द्रष्टव्यम्, “अधिरनर्चायाम्” ४।२।४६। इति  
नलोपे, सौ, “अव” १।४।६९। इति नागमे, “पदस्य” इत्यन्तलोपे, “युजस्य” २।१।७१। इति नस्य छकारेऽनेन परस्य पूर्वसोमयोव  
३६ क्रमेण मकारे रूपाणि—अदमुयङ्, अमुयङ्, अदयङ् इति । एतदेव तदाहेत्यनेन दर्शयति—“परतः” इत्यादि ॥ ४६ ॥

मादुवर्णोऽनु । अदस इत्यधिक्रियते । अदसो मात् उवर्णोऽनु इत्यन्वयस्तदर्थमाह—अदसः संवन्धिन इत्यादि । अत्र कार्य-  
विशेषस्यानिर्देशाद् वर्णमात्रपरिग्रह इत्याह—वर्णमात्रस्येति । अत्र कार्यस्य विधेयतया प्राधान्यादनुशब्दस्य च पश्चादर्थस्य तद्विशेषणत्वात्  
३९ सजातीयकार्यान्तरापेक्षयैव पश्चाद्भाव समवतीत्याह—पश्चात्कार्यान्तरेभ्य इति । वर्णमात्रस्य कार्येण परिग्रहादासन्नत्वात् मात्रिकादे स्थाने  
मात्रिकादिरादेशः, यत्र चार्थमात्रस्थानी तत्रापि द्विमात्रत्रिमात्रयोरतिविप्रकृष्टत्वात् मात्रिकस्य तु अक्षरविप्रकृष्टत्वादासन्नत्वात् स एव भवती-  
त्याह—आसन्नत्वात् मात्रिकस्येत्यादि । समुदाये प्रवृत्ता अपि शब्दा अवयवेऽपि वर्तन्ते इति मात्राशब्दोऽर्थमात्रायामपि द्रष्टव्यः, तेन  
४२ अमुमुयङ् इत्यत्र अर्धमात्रिकस्य र स्थाने एकमात्रिक उकारादेशो भवति । अद शब्दादपि औकारे च त्यदाद्यत्वे, “ह्रगस्या” इत्यकारलोपे  
“मोऽवर्णस्य” इति मत्वे, “समानादमोऽत” इत्यकारलोपे, “ऐदौत्सन्त्यक्षरे” इत्येकादेशे, “प्रश्ने च प्रतिपदम्” ७।४।९८। इत्येकत्र ह्रस्वेऽनेन  
मात्रिकाद्युवर्णदेशे—अमुम्, अमू, अमूरे इति । अमुमुयङ् इत्यादि । अत्र सति उचितोऽष्टाया च “अव प्रादधीर्घ” २।१।१०४।  
४५ इत्यकारागमे इकारस्य धीर्घत्वम् । नन्वत्र “इवर्णदि” इति मकार कस्मात् न भवतीत्याह—“अदो मुमी” इत्यादि । ननु मत्वे कृते पूर्व  
परस्याकारस्य उवर्णदेशेऽकारान्तत्वाभावात् स्मैप्रभृतीनामभावः स्यादिति भावः । एतेषु “नित्यदिति” इत्योत्त्वं न भवति, अदित्यत्र नमः-

## प्रागिनात् ॥ २ । १ । ४८ ॥

अदसो मात् परस्य वर्णमात्रस्येनादेशात् प्रागुवर्णो भवति, अन्वित्यस्यापवादोऽयम् । अमुना पुंसा कुलेन वा । इनादिति किम् ? अमुया स्त्रिया ॥ ४८ ॥

## बहुध्वेरीः ॥ २ । १ । ४९ ॥

बहुध्वेरीषु वर्तमानस्यादसो मकारात् परस्यैकारस्य स्थाने ईकार आदेशो भवति । अमी, अमीभिः, अमीभ्यः २ । अमीषाम्, अमीषु । बहुध्विति किम् ? अमू कन्ये, अमू कुले । एरिति किम् ? अमूः कन्याः, अमून नरान् । मादि- ३  
त्येव ? अमुके, अमुकेभ्यः ॥ ४९ ॥

## धातोरिवर्णोवर्णस्येयुक् स्वरे प्रत्यये ॥ २ । १ । ५० ॥

धातुसंवन्धिन इवर्णस्योवर्णस्य स्थाने खरादौ प्रत्यये परे यथासंख्यमिह उक्त्वा इत्येतावादेशौ भवतः । नियौ, नियः, ९  
लुवौ, लुवः, अधीयाते, अधीयते; लुलुवतुः, लुलुवुः, स्वमिच्छति क्यन्, क्प्-स्त्रीः, स्त्रियौ, स्त्रियः; एवं स्त्रियौ, स्त्रियः,  
अधीयन् । धातोरिति किम् ? लक्ष्म्याः । इवर्णोवर्णस्येति किम् ? म्लायति, वाचः । स्वर इति किम् ? नीः, लुः । प्रत्यय  
इति किम् ? न्यर्थः, ल्वर्थः । इयुव्स्यां गुणवृद्धी परत्वाद् भवतः—नयनम्, लवनम्, नायकः, लावकः ॥ ५० ॥ १२

पुर्वदासाश्रयणात् । पुर्वदासो हि सदृग्माही, ततो यत्र साक्षात् खरोऽग्रे भवति तत्रैव पूर्वस्योकारस्य ओकारत्वादिना साक्षात् स्वरवर्जनात् ।  
अथवा—अदितीयस्य विषयसप्तम्या प्रकृतेरपि विशेषणत्वाददोष ॥ ४७ ॥

प्रागिनात् । अदसो मादुवर्ण इति चानुवर्तते । अदसो मादिनात् प्रागुवर्ण इत्यन्वयस्त्वदर्धमाह—अदसो मात् परस्येत्यादि । १५  
प्रागुयोगे “अमृल्यार्थान्यायैदिकशब्दः” १।२।५। इति इनात् पवमीत्याह—इनादेशात् प्रागिति । ननु परत्वात् नित्यत्वादिनादेशात् पूर्वमुवर्णं  
सिद्ध एव किमनेनेति चेत्, नैवम्, अनुग्रहणादिनादेशात् पश्चात् स्यात्, तदपवादोऽयमुच्यत इत्याह—अन्वितीत्यादि । अमुना पुंसा कुलेन  
चेति । अदसशब्दात् टायां ल्यदाद्यत्वे मत्वे वत्वे “ट पुसि ना” १।४।२।४। इति नादेशो नपुसके च “अनामस्वरे नोऽन्तः” १।४।६।४। १८  
इति नागमे सिध्यति । अमुयेति । अत्र ल्यदाद्यत्वे स्त्रियामपि अकारान्तत्वाभावादिनादेशस्यासम्भवात् “टांस्तेत्” इत्येत्त्वे मत्वेऽयादेशो च  
पश्चादुल्लमिति भावः ॥ ४८ ॥

बहुध्वेरीः । अदसो मादिति चानुवर्तते । बहुषु अदसो माद् एरी इत्यन्वयस्त्वदर्धमाह—बहुध्वेरीषु वर्तमानस्येत्यादि । नन्वि- २१  
कारस्य षष्ठ्यामेकस्य समानत्वात् ततश्चादसोऽद्यागमे कृते तदवयवस्येकारस्य यत्वा बाधित्वा इत् स्यात् इति कथमेकारस्येत्युक्तमिति चेत्, नैवम्,  
अदसोऽवयवस्येकारस्य सम्भवात् “बाद्री” इत्यनन्तरमेवेदं कुर्यात्, इकारपरिग्रहे वाऽनेकप्रयोगसिद्धेर्यासिन्ध्याये सम्भवत्येकप्रयोग प्रति योगाना-  
रम्भाच्च । किंच “अदो मुनी” १।२।३।५। इत्यत्र मीति निर्देशात् न हीकारपरिग्रहेऽदसो मीरूपसम्भवोऽस्तीति तस्मात् सूक्ष्मेकारस्येति । अमी इति । २४  
अदसशब्दाज्जि ल्यदाद्यत्वादौ “जस इ” इतीकारे “अवर्णस्ये” इत्येत्त्वेऽनेनेत्वम् । अमीभिरित्यादि । एषु भित्ति भ्यसि आभि सुपि च ल्यदा-  
द्यत्वादौ आम सामादेशे च “एद्वह्स्ते” इति सर्वत्र एत्वमनेनेत्वम् च । अमू कन्ये इति । अत्र अदस औकारे ल्यदाद्यत्वे आबादौ “औता”  
इत्येत्त्वे बहुध्विति वचनादत्र द्वित्वे वर्तमानत्वादीत्य न भवति । एवममू कुले इत्यत्रापि । अमूः कन्या इति । अदस शप्ति ल्यदाद्यत्वादौ “शसो- २७  
ऽता” इति धीर्धत्वे “मादुवर्णोऽनु” इत्याकारस्य ऊकारे “सो ऋ” इति कृत्वे “र पदान्तः” इति विसर्गः । अमूनिति । “शसोऽता” इति  
पुसि सकारस्य नकार, शेष पूर्ववत् । अमुके, अमुकेभ्य इति । अत्राकस्त्वन्मध्यपतितस्य तद्वहणेन प्रहणेऽपि मादिति वचनादुकारेण  
व्यवधानादनेन ईत्वाभावः ॥ ४९ ॥

धातोरिवर्णोवर्णस्येयुक् स्वरे प्रत्यये । नन्विवर्णोवर्णस्येति धातोरित्यस्य विशेषणत्वात्तदन्तस्यप्रत्यये धातोरिवर्णोवर्णान्तस्येति समा- ३०  
नाधिकरणपञ्चां सम्बन्धां व्यधिकरणपञ्चा प्रतिपत्तिगौरवात् परिग्रहायोगात् कथमेवमुच्यत इति १ न च सामानाधिकरणपञ्चामनेकवर्णत्वात्सर्वो-  
देशप्रसङ्ग इति वाच्यम्, यतो “निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीति” इवर्णोवर्णयोरेवेयुवौ भविष्यत इति चेत्, सत्यम्, एतदर्थस्यैव स्पष्टीकरणायैवमुक्तम् । ३१  
अत एव सूत्रे इवर्णोवर्णस्येति विशेष्यमिति । स्वर इति प्रत्ययस्य विशेषणात्तत्र च “सप्तम्या आदि” इत्यादिप्रत्यये खरादानित्यर्थकम् । तथा  
चायमन्वयः—धातो इवर्णोवर्णस्य खरादौ प्रत्यये इत्युक्त्वा इति । तदर्थमाह—धातुसंवन्धिन इत्यादि । नयतेर्ल्लनातेष्व किपि तल्लुकि च औकारे  
जसि च “किवन्ता धातुत्वं न जहती”ति धातुत्वमेवात्र वेदितव्यमित्यनेनेत्युवो कृतयो—नियौ, नियः, लुवौ, लुव इति । अधीयाते, ३६  
अधीयते इति । अपिपूर्वात् “इक्” अथ्यमने, इत्यतो वर्तमानायां आते अन्ते च प्रत्यये “अनतोऽन्तोऽदामने” ४।२।१।४। इत्यादेशो खरा-  
दित्यादिदेशः । लुलुवतुः, लुलुवुरिति । ल्लनाते परोक्षया अनुसि उसि च “द्विर्भावः” इति द्विवचने “हस्व” इति द्विरुक्तस्य हस्वत्वे  
खरादित्वादुपदेशः । एवमिति । स्त्री इतिवत् स्त्रीशब्दादपि क्यनन्तात् किपि धातुत्वादेनेनादेशो न नु “स्त्रिया” इति । तदुदाहरति— ३९  
स्त्रियौ, स्त्रिय इति । अधीयन् इति । अपिपूर्वात् “इक्” स्मरणे इत्यतः शतरि अनेनेनादेशः । लक्ष्म्या इति । औणादिकवाङ्मनुत्वाभावात्  
इत्यर्थः, स च पूर्व साधित एव । “भूँ” गात्रविनामे इत्यतो वर्तमानायां ति वि शप्ति आयादेशो—म्लायति । वचे वकीति विग्रहे “दिदुहृज्जग-  
ज्जुह्वारुक्” ५।२।८।३। इति किपि निपातगात् वाच्यं, ततो जसि—वाच इति । इवर्णोवर्णमन्तररेणैयुवावत्रापि स्यातामिति भावः । न्यर्थः, ४२  
ल्वर्थः इति । नियोऽर्थ इति लुवोऽर्थ इति च षष्ठीसमासः । ननु नयतेर्ल्लनातेष्व “करणधारे” ५।३।१२९। इत्यनन्ति “णकटुचो” ५।१।४८।  
इति कर्तरे णके च इवर्णोवर्णान्तत्वादियुवो कस्यास्य भवत इत्याह—इयुव्भ्यामित्यादि । नियौ, लुवौ इत्यादौ अस्य विधे सावकाशत्वात् करण  
कारक श्रृङ्गादौ तु गुणवृद्धयो, नयनमित्यादौ तुभ्यो प्राप्तौ इत्युवौ बाधित्वा गुणवृद्धी स्यातामित्यर्थः ॥ ५० ॥

इणः ॥ २ । १ । ५१ ॥

इणो धातोः खरादौ प्रत्यये परे इय् इत्ययमादेशो भवति, यत्पापवादः । ईयतुः, ईयुः । कथं यन्ति, यन्तु ? परत्वेन “हिणोरप्विति व्यौ” ॥ ४ । ३ । १५ ॥ इति यत्वस्यैव भावात् । अयनम्, आयक इत्यत्रापि परत्वाद् गुणवृद्धी एव ॥ ५१ ॥

संयोगात् ॥ २ । १ । ५२ ॥

६ धातुसंवन्धिन इवर्णस्योर्वणस्य च धातुसंवन्धिन एव संयोगात् परस्य खरादौ प्रत्यये परे इयुवादेशौ खोरपवादौ भवतः । यवक्रियौ, यवक्रियः; कट्प्रुवौ, कट्प्रुवः; शिश्रियतुः, शिश्रियुः । धातुना संयोगस्य विशेषणादिह न भवति—उञ्यौ, उञ्यः; सकृह्वौ, सकृह्वः ॥ ५२ ॥

७ भ्रूश्रोः ॥ २ । १ । ५३ ॥

भ्रूश्च इत्येतयोरुवर्णस्य संयोगात् परस्य खरादौ प्रत्यये परे उवादेशो भवति । भ्रूवौ, भ्रुवः, क्यन्क्रिवन्तस्य “धातोर्विणोर्वर्णस्य” इत्यादिनैवोवादेशः; आमुवन्ति, राधुवन्ति, तक्षुवन्ति । संयोगादित्येव ? सुन्वन्ति, चिन्वन्ति । १२ खर इत्येव ? भ्रूः, आमुतः । प्रत्यय इत्येव ? भ्रुग्रम् ॥ ५३ ॥

स्त्रियाः ॥ २ । १ । ५४ ॥

स्त्रीशब्दसंवन्धिन इवर्णस्य खरादौ प्रत्यये परे इयादेशो भवति । स्त्रियौ, स्त्रियः, स्त्रियाम्, परमस्त्रियौ, अतिस्त्रियौ १५ नरौ । शस्त्रीशब्दसंवन्धिनस्त्वनर्थकत्वात् न भवति । खर इत्येव ? स्त्रीभिः । प्रत्यय इत्येव ? क्यर्थः । कथम् अतिस्त्रियः, अति-

इणः । धातोरिति खर इति प्रत्यय इति इय् इति चानुवर्तते । इणो धातो खरे प्रत्यये इय् इत्यन्वयः । इणो धातुत्वाव्यभिचारेऽपि धातोरित्युत्तरार्थमनुवर्तनीयत्वेनैषविशेषयितव्यो विशेषणविशेष्यभावः प्रति कामचारादित्याह—इणो धातोरिति । इणं स्वर्णस्याभावात् इयित्यमेव १८ संवध्यत इत्याह—इयित्ययमादेश इति । नन्विणो धातुत्वात् खरादौ प्रत्यये पूर्वैवेयादेशो भविष्यतीति चेत्, उच्यते—इणं परोक्षदौ कृतद्विवचनस्यानेकखरत्वात् “योऽनेकखरस्य” २।१।५६। इति यत् स्यादतस्तदपवादोऽयमुच्यत इत्याह—यत्पापवाद इति । ईयतुः, ईयु-रिति । ‘इण्’ गतौ, धातो परोक्षया अतुष्टि उचि च “द्विर्धातु” इति द्विवचनेऽनेकखरत्वादन्यस्येयादेशो पूर्वस्य समानधीर्धत्वमिति भावः । २१ शङ्खे—कथमिति । इणधातोर्वर्तमानाया अन्तिप्रत्यये पञ्चम्या अन्तुप्रत्यये च खरादित्वात् “इण” इतीयादेशः कस्मात् भवति ? इति प्रश्नार्थः । समाधत्ते—परत्वेनेत्यादि । नन्वस्तु यन्ति यन्तिवत्यत्र परत्वात् “हिणो” इति यत्वम्, परन्तु इणधातोरनति णके च खरादौ प्रत्ययेऽनेनेयादेशः कस्मात् भवतीत्याह—अत्रापीत्यादि । अयमर्थः—“पूर्वेऽपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्” इति परत्वाद्गुणवृद्धी भवतः ॥ ५१ ॥ २४ संयोगात् । “किंवृत्ते” २।१।५८। इति यकारवकारयो प्राप्तयोस्तदपवादार्थोऽयमारम्भः । पूर्वस्माद्धातोर्विणोर्वर्णस्येयुव् खरे इत्यनुवर्तते । धातोरिवर्णोर्वर्णस्य धातो संयोगात् खरे प्रत्यये इयुव् इत्यन्वयः । धातोरित्यनुवर्तमानेन संयोगादिति विशिष्यत इत्याह—धातुसंवन्धिन एव संयोगादिति । ननु धातोरिति विशेषण कार्यतया प्राधान्यादिवर्णोर्वर्णयोरेव युज्यते न संयोगस्य, तस्य तद्विशेषणत्वेनाप्राधान्यात्, २७ प्रधानासम्भवे हि विशेषण गौणे युज्यत इति । न च तस्य प्रधानान्वये व्यावर्त्तभाव इति वाच्यम्, धातोरेवावयवो य इवर्णं स्वर्णस्य संयोगात् परस्वरयोरियुवाविति विशेषणविशेष्यभावात्तत्र धात्ववयवस्य व्यावर्त्तलभावात् । न च तत्र “इवर्णदि” इति यकारवकारयो संभवादव्यावर्त्तत्वमिति शङ्क्यम्, यत्र समानधीर्धत्व बाधकमस्ति तत्र व्यभिचारादर्थनदिवर्णोर्वर्णयोर्धातोरिति विशेषणमिति प्रधानगामिनि संभवति विशेषणे गुणस्य तेन ३० संबन्धो न न्याय्य इति चेत्, उच्यते—खोरपवादावियुवौ विधीयेते, तौ च धातोरेवेवर्णोर्वर्णयोर्भवत इति व्यभिचाराभावाद्धानुप्रकरण एवास्यारम्भात्तयोर्धातुविशेषणमनर्थकमिति प्रधानस्य धातुना स्वबन्धो निष्प्रयोजनस्तदीयस्य संयोगलक्षणस्य गुणस्य तेन संबन्धः कथित इति सम्यगुक्त—धातुसंवन्धिन इवर्णस्येत्यादि । पूर्वसूत्रसिद्ध्यानुवादस्य धातोरित्यस्याप्राधान्यप्रदर्शनार्थं न तु व्यवच्छेदार्थमिति भावः । यवक्रियावित्यादि । ३१ भवपूर्वाद् क्रीणाते किपि कटपूर्वाद् प्रवतेष “दिष्टुहृत्” ५।१।८३। इति किपि धीर्ष, “भिण्” सेवायामित्यतः परोक्षया अतुष्टि उचि च “द्विर्धातु” इति द्विवचने “व्यञ्जनस्यानादे” ४।१।४४। इति रेफस्य लोपः । एतेषु धातुसंयोगपूर्व इवर्णं स्वर्णस्येति तयो खरादावियुवाविति । धातुना संयोगस्य विशेषणे फलमाह—धातुनेत्यादि । अन्यथा यवक्रियावित्यादिवादानुसंगोधादिवान्यसंयोगादपि परयोरिवर्णोर्वर्णयोरुभयावित्या- ३४ दावपि व्यौ बाधित्वा इयुवौ स्यातामिति ॥ ५२ ॥

भ्रूश्रोः । स्वर्णस्य उव् खरे प्रत्यये संयोगात् इति चानुवर्तते । भ्रूश्रोस्वर्णस्य संयोगात् परस्य खरे प्रत्यये उव् इत्यन्वयः, तदर्थमाह—भ्रूश्च इत्येतयोरित्यादि । भ्रूशब्द औणादिकस्त्वादौकारे जस्ति चानेनोवादेशो—भ्रूवौ, भ्रुव इति । किञ्चन्तस्य तु भ्रूशब्दस्य धातु- ३९ त्वाहाने पूर्वैवेव सिद्ध इत्याह—क्यन्क्रिवन्तस्येत्यादि । ‘आप्’ व्याप्तिव्यतिरिक्तो वर्तमानाया अन्तिप्रत्यये “खादे” ३।४।७५। इति भ्रुप्रत्यये धातुसंयोगात् परस्य भ्रुप्रत्ययस्योर्वर्णस्योवादेशो—आमुवन्ति । एव राधुवन्ति, तक्षुवन्तीत्याद्यपि द्रष्टव्यम् । भ्रुग्रमिति । भ्रुवोऽप्रमिति षष्ठीसमासः ॥ ५३ ॥

४२ स्त्रियाः । इवर्णस्य खरे प्रत्यये इय् इति चानुवर्तते, स्त्रिया इवर्णस्य खरे प्रत्यये इय् इत्यन्वयः, तदर्थमाह—स्त्रीशब्दसंवन्धिन इत्यादि । स्त्रियौ, स्त्रिय इत्यादि । यत्र स्त्रीति स्त्यायतोऽस्यां शुक्रशोणिते इत्यर्थे स्त्रीति निपातनात् इदं प्रत्ययात् उच्यते भवति, तत औप्रत्यये जस्ति सप्तम्येकवचनस्य च “क्रीडत” १।४।२९। इत्यादि नाय धातुरिति पूर्वैणाप्राप्त इत्यनेनेयादेशः । खरादिप्रत्ययेन प्रकृतेरपेक्षात् स्त्रिया इति ४५ तस्य विशेषणत्वात्तदन्तर्गतप्रत्ययात्तदन्तर्गताप्युदाहरति—परमस्त्रियौ इति । परमे च ते स्त्रियौ चेति विशेषणसमासः । अतिस्त्रियौ इति । स्त्रियमतिक्रान्ताविति प्रादिसमासः, “जोषान्ते” २।४।५६। इति ह्रस्वत् ततः स्यादौकारे “एकदेशविकृतस्मान्न्यत्वात्” खरमात्रे च खरादि-



स्त्रिणा, अतिस्त्रये, अतिस्त्रेः २; अतिस्त्रौ ? “इदुतोऽस्त्रेरीदत्” ॥ १ । ४ । २१ ॥ इत्यत्र स्त्रिशब्दवर्जनात् परोऽपीयादेशो बाध्यते । स्त्रीणामित्यत्र तु प्रागेव नाम्, एतच्च “वेयुवोऽस्त्रियाः” ॥ ११४।३० ॥ इत्यत्रोक्तम्; पृथग्योग उत्तरार्थः ॥ ५४ ॥

वाऽमृशसि ॥ २ । १ । ५५ ॥

स्त्रीशब्दसंवन्धिन इवर्णस्यामि शसि च परे इयादेशो वा भवति । स्त्रियम्, स्त्रीम्; स्त्रियः, स्त्रीः, परमस्त्रियम्, परमस्त्रिमः; परमस्त्रियः, परमस्त्रीः । अतिस्त्रियम्, अतिस्त्रिमः नरम्, अतिस्त्रियः, अतिस्त्रीन् नरान् । क्यनाद्यन्तस्य तु धातुत्वात् “धातो-रिवर्णो” ॥ २।१।५० ॥ इत्यादिना नित्यमियादेशः—स्त्रीमिच्छति, स्त्रीवाचरति वा स्त्री ब्राह्मणः, तं स्त्रियम्; तान् स्त्रियः ॥ ५५ ॥

योऽनेकस्वरस्य ॥ २ । १ । ५६ ॥

धातोरित्यनुवर्तते । अनेकस्वरस्य धातोः संवन्धिनः प्रत्यासत्तेरिवर्णस्य स्थाने खरादौ प्रत्यये परे यकारादेशो भवति । चिच्यतुः, चिच्युः; निन्यतुः, निन्युः । सखायमिच्छति क्यन्, किप्-सखीः, सख्युः, एव पत्युः; सख्यि, पत्यि । १ अनेकस्वरस्येति किम् ? नियौ, नियः; परमनियौ, परमनियः । ‘रि’, ‘पित्’ गतौ-रियति, पियति । इवर्णस्येतेव ? लुलुवतुः, लुलुवुः ॥ ५६ ॥

स्यादौ वः ॥ २ । १ । ५७ ॥

अनेकस्वरस्य धातोः संवन्धिनः प्रत्यासत्तेरिवर्णस्य स्थाने खरादौ स्यादौ प्रत्यये परे वकारादेशो भवति । वसुमि-च्छति क्यन्, किप्-वसुः, वसौ; वसुः । स्यादाविति किम् ? लुलुवुः ॥ ५७ ॥

किञ्चवृत्तेरसुधियस्तौ ॥ २ । १ । ५८ ॥

किञ्चन्तेनैव या वृत्तिः—समासस्तस्या असुधियः—सुधीशब्दवर्जितायाः संवन्धिनो धातोरिवर्णोवर्णस्य स्थाने खरादौ स्यादौ प्रत्यये परे तौ—यकारवकारादेशौ भवतः । उज्यौ, उज्यः; सुल्वौ, सुल्वः, तिरोज्यौ, तिरोज्यः; तिरोल्वौ, तिरोल्वः; ग्रामज्यौ, ग्रामज्यः; खलज्यौ, खलज्यः, एषु स्याद्युत्पत्तेः प्रागेव किञ्चन्तेन समासः । एव नयनशीलो नीः, सेनां नेता १८

प्रत्यये विधानादत्रापीयादेशः । न च तदन्तप्रहणात् शस्त्रीशब्दस्यापि क्यन्त्यत्वात् इयादेशप्रसङ्ग इति वाच्यम्, तदेकदेशस्यानर्थकत्वादित्याह—शस्त्रीत्यादि । क्यर्थ इति । क्रिया अर्थ इति पक्षोसमासः । नन्वतिस्त्रिशब्दाज्जसि टाया षेडसिष्कुषि चानेनेयादेशः कस्मान्न भवतीति शङ्कते—कथमिति । समासते—“इदुतोऽस्त्रेरीदत्” इत्यत्रेत्यादि । अयं चार्थस्त्रैव सूत्रे व्याख्यातत्वाच्चेह व्याख्यायते । ननु स्त्रीशब्दा-२१ दामि प्राप्त इयादेशः कस्माच्च भवतीत्याह—स्त्रीणामित्यत्रेत्यादि । पृथग्योग इति । “वाऽमृशसि” इत्यत्र स्त्रीशब्दादनुवृत्तिः प्रयोजनमस्य योग-स्येति, अन्यथा “ब्रीहूक्षो” इति पूर्वैकयोगमेव कुर्यादिति भावः ॥ ५४ ॥

वाऽमृशसि । क्रिया इति इवर्णस्येति इय इति चानुवर्तते, क्रिया इवर्णस्य अमृशसि इय वा इत्यन्वयस्त्वदर्थमाह—स्त्रीशब्दसंव- २४ ध्धिन इवर्णस्येत्यादि । षष्ठीबहुवचनस्य नाभिवचनस्य खरादित्वाभावात् शसृसाहचर्याच्च धाम्शसीति तुल्याणामपि संहितायां द्वितीयैकवचनस्यैव प्रहणम् । स्त्रीशब्दस्य सख्यैकार्यत्वाभावात् तद्विगतशसोऽनुवृत्ते संख्यैकार्यत्वयोगादुत्पत्तौ वा खरादित्वाभावात् द्वितीयाबहुवचनस्यैव शसो प्रह-णात्तस्य वाच्यमिचारात्तेन साहचर्यम् । स्त्रियमित्यादि । स्त्रीशब्दादमि शसि चानेन पाक्षिकेयादेशो—स्त्रियम्, स्त्रिय इति, पक्षे “समानादमोऽत” २७ इति “शसोऽता” इति सूत्राभ्यां यथासम्बन्धमोऽकारलुकि धीघं च—घीम्, घीरिति । एवमतिप्रियमित्यादि द्रष्टव्यम् । क्यनाद्यन्तस्येति । ननु धातुरूपस्यैव स्त्रीशब्दस्य विकल्पार्थमिदं कस्माच्च भवति कथमुक्तं “धातोरिवर्णोवर्णो” इत्यादिना नित्यमियादेश इति ? उच्यते—“क्रिया” इत्यारम्भादध्यातोरेव स्त्रीशब्दस्य प्रहणम्; स एव चानुवर्तते, न चानुवर्तमानस्यान्यथात्व भवति, यदाह श्रीशेषराज—न हि गोधा सर्पन्ती सर्पणाद- ३० हिर्भवति इति युक्तमुक्तं “धातोरिवर्णो” इत्यादिना ॥ ५५ ॥

योऽनेकस्वरस्य । “इवर्णादेरखे” इत्यनेनैव यत्नस्य सिद्धत्वादियथाधकमिदम् । इय धातोरिवर्णस्यैव विधीयतेऽतः सामर्थ्यात्तस्यानु-वर्तनमित्याह—धातोरित्यनुवर्तते इति । अन्यस्यासंभवादानेकस्वरस्येति विशेषणीभूतस्यापि धातोरित्यस्य विशेषणमित्याह—अनेकस्वरस्य ३३ धातोरिति । इवर्णोवर्णयोः स्थानिनोरनुवृत्तावपि कार्यस्य तालव्यत्वात् “आसन्न” इति परिभाषासामर्थ्यात् इवर्णस्यैव स्थानित्वमित्याह—प्रत्या-सत्तेरित्यादि । चिनोसेरलुकि उचि च द्विवचने धातोरनेकस्वरत्वात् यत्नम्—चिच्यतुः, चिच्युरिति । एव निन्यतुरित्यादि । किञ्चन्ताना धातु-त्वाहानेस्त्वदन्तमुदाहरति—सखायमिच्छतीत्यादि । नयते किपि तल्लुकि च औकारे जसि चानेकस्वरत्वाभावात् यत्नभावे “धातोरिवर्णो” इद- ३४ णस्य” इतीयादेशो—नियौ, निय इति । एव परमनियविलादावपि समासस्थानेकस्वरत्व न धातोरिति । लुलुवतुः, लुलुवुरिति । प्रत्या-सत्तेरिवर्णस्यैव स्थानित्वाद्इवर्णस्य यत्न न भवति ॥ ५६ ॥

स्यादौ वः । अनेकस्वरस्येति धातोरिति उवर्णस्येति खरे प्रत्यये इति चानुवर्तमानं पूर्ववच्यथासंभवाद्यसिद्धयते । अनेकस्वरस्य ३५ धातोरिवर्णस्य खरादौ स्यादौ प्रत्यये व इत्यन्वयस्त्वदर्थमाह—अनेकस्वरस्य धातोः संवन्धिन इत्यादि । वसति र्वाविति वसु किरणा-र्थक, “सुसूतृत्वरि” उणा० ७१६। इत्यु, ततः प्रत्युदाहरति—वसुमिति । तस्य क्यन्तस्य धीघत्वे किञ्चकि च—वसुरिति प्रकृति । वसौ, वसु इत्युदाहरणे ॥ ५७ ॥

किञ्चवृत्तेरसुधियस्तौ । धातोरिवर्णोवर्णस्येति खरे स्यादाविति च वर्तते । असुधियः किञ्चवृत्ते धातो इवर्णोवर्णस्य खरे स्यादौ तौ इत्यन्वयः । किमा वृत्तिः किञ्चवृत्तिस्तृतीयातत्पुरुष, वृत्तिस्थस्य धातोः कार्यविधानात्तस्य च केवलस्य वृत्त्यसंभवाद्वातिप्रहणादेव किपि लब्धे किप्-प्रहणमवधारणार्थम्, अत एवावधारणस्य शब्दाश्रयत्वादसामर्थ्यमपि नास्तीत्याह—किञ्चन्तेनैवेत्यादि । अनन्तरस्यैव वकारस्यानुवृत्तिर्मा भूदित्यु- ४५ भयानुवृत्त्यर्थं तावित्युक्तमित्याह—तौ यकारवकारादेशाविति । उत्पूर्वावयते सुपूर्वावृत्ताते किपि तल्लुकि औजसोरनेन यकारवकारयोः

सेनानीः, सेनान्यौ, सेनान्यः, यद्वा नयतीति नीः पश्चात्साधनेन योगः । परमस्य नेता परमनीः, परमन्यौ, परमन्यः—  
किब्रह्मणादिह न भवति, परमश्चासौ नीश्च परमनीः, परमनियौ, परमनियः; स्याद्यन्तेनात्र विशेषणसमासो न तु किबन्तेन ।  
१ वृत्तिग्रहणादिह न भवति—ब्राह्मणस्य नियौ । असुधिय इति किम् ? सुष्ठु ध्यायति दधाति वा सुधीः—“दिद्युद०” ॥ ५ ।  
२ । ८३ ॥ इत्यादिना किप् धीभावश्च सुधियौ, सुधियः । सुपूर्वस्यैव वर्जनादिह भवत्येव—प्रधौ, आधौ, उद्धौ ॥५८॥

हन्पुनर्वर्षाकारैर्भुवः ॥ २ । १ । ५९ ॥

१ हन् पुनर वर्षा कार इत्येतैः सह या किब्रुत्तिस्तत्संबन्धिनो भुवो धातोरुवर्णस्य स्वरादौ स्यादौ प्रत्यये परे वकारा-  
देशो भवति । हन्-हिसन् भवतीति हन्मूः-सविषः कीटविशेषः, हन्म्वौ; हन्म्वः । पुनर्भूः-पुनरुद्धा स्त्री, पुनर्भौ;  
पुनर्भवः । वर्षाभूरोषधीविशेषो दर्दुरश्च, वर्षाभ्वौ; वर्षाभ्वः । कारे कारेण वा भवति—कारभूः, कारभ्वौ; कारभ्वः । क-  
१ शब्देनापीच्छन्त्येके-करभ्वौ, करभ्वः । काराशब्देनाप्यन्ये—काराभ्वौ, काराभ्वः । हनादिभिरिति किम् ? स्वयंभुवौ, प्रति-  
भुवौ, मित्रभुवौ, विशुवौ; आत्मभुवौ । पूर्वेणैव सिद्धे नियमार्थमिदम्—एतैरेव भुवो नान्यैरिति ॥ ५९ ॥

णषमसत्परे स्यादिविधौ च ॥ २ । १ । ६० ॥

१२ इतः सूत्रादारभ्य यत्पर कार्यं विधास्यते तस्मिन्पूर्वस्मिंश्च स्याद्यधिकारविहिते विधौ कर्तव्ये णत्वं षत्वं चासद-  
सिद्ध द्रष्टव्यम् । एतत्सूत्रनिर्दिष्टयोश्च णत्वषत्वयोः परे षत्वे णत्वमसद्रष्टव्यम् । णवशास्त्रं वा परे स्यादिविधौ च शास्त्रे

उद्धौ, उद्धयः, सुल्वौ, सुल्व इत्यादि । एवमन्यदपि । एष्विति । “इत्युक् कृता” ३।१।४९ इत्यनेनेति भावः । सेनानीशब्दस्यैवार्थक्य-

१५ नम्—नयनशील इत्यादि । सेनां नयत इति किपि यत्नमेनेन-सेनान्यौ । यदापि नयतीति नी पश्चात् कर्मषष्ठ्यन्तेन सेनाशब्देन कारकत्वात्  
विभक्त्युत्पत्तेः पूर्वं किबन्तेन समासस्तदापि यत्वे सेनान्याविति भवतीत्याह—यद्वा नयतीति नीः पश्चात् साधनेन योग इति । अर्थमेदा-

१८ तत्कथमिति चेत्, उच्यते—किबन्तेन वृत्तेरभावात् परमशब्दस्य च कारकत्वाभावात्, तथा हि—यदा परमश्चासौ नीश्चेति “घन्महत्” इति विशेषणस-  
मासस्तदा नीशब्देन किबन्तेन कर्तृशक्त्युपसर्जनं द्रव्यमाख्यायतेऽतस्तद्द्विद्वेषणं परमशब्देन न कारकाभिधायी, यदापि षष्ठीसमासस्तदापि संबन्ध-

विबक्षायां तिरोहिता भवति समासहेतुभूतकारकत्वविबक्षा, यदापि परम शास्त्रं नयतीति नयनक्रियाकर्मणः शास्त्रादेर्विशेषणं परमशब्दस्तदा सत्यपि  
२१ कर्मत्वे शास्त्रापेक्षत्वात् सामर्थ्याभावात् ऋद्धस्य राज्ञः पुरुष इतिषद् वाऽन्तर्भावः, तस्मात् परमनियामित्वेन भवतीत्याह—परमस्य नेता पर-

मनीरित्यादि । परमस्य इत्यनन्तरमिति शब्दोऽप्याहार्यः, न भवतीत्यनन्तरं तु दृष्टान्तार्थं यथाशब्दः, तेनायमर्थो—यथा परमश्चासौ नीश्च  
परमनीः परमनियौ, परमनिय इति । परमशब्दस्याकारकत्वात् किबन्तेन समासाभावात् किपग्रहणादिह यत्वं न भवति, एव तत् एव

२४ परमन्यौ परमन्य इति यत्वाच्च प्रयोगो न भवतीति तात्पर्यार्थः । विश्रान्तविश्राधरस्त्वत्रापि मन्यते । ब्राह्मणस्य नियामिति । किबन्तेन सह  
वृत्तेरभावात्वाभावे “धातोरिवर्णो” इतीयादेशः । सुधीशब्द ग्युत्पादयति—सुष्ठु ध्यायतीत्यादि । सुधियौ, सुधिय इति । अत्र ‘असुधिय’  
इति प्रतिषेधादनेन यत्वाभावे “धातोरिवर्णो” इतीयादेशः । प्रध्यावित्यादि । सुपूर्वस्यैव धियौ यत्प्रतिषेधादन्यपूर्वस्य भवत्येव ॥ ५८ ॥

२७ हन्पुनर्वर्षाकारैर्भुवः । किब्रुत्तेरिति धातोरिति उवर्णस्येति खरे स्यादाविति व इति च वर्तते । हन्पुनर्वर्षाकारैरिति तृतीयानिर्दे-  
शात् किब्रुत्तेरिति प्रकरणादेरै सह किब्रुत्तिर्विज्ञायते, तथा चायमन्यव—हन्पुनर्वर्षाकारैः किब्रुत्तेर्भुवो धातोरुवर्णस्य खरे स्यादौ व इति, तदर्थ-

माह—हन् पुनरित्यादि । “हृ” वृद्धावत उदित्वाजागमे, किपि, तक्षोपे, सिलोपे च “पदस्य” इति हलोपे—हन् इति रूपम् । धातुत्वात्कार्यत्वात्  
३० हिंसापि प्रतीयत इत्याह—हन्-हिंसन् इति । हन्मूशब्दस्याप्यमाह—सविष इत्यादि । एव पुन पूर्वार्द्धवते किपि—पुनर्भूः-पुनरुद्धा  
स्त्री । अक्षता च क्षता चैव पुनर्भू संस्कृता पुनरिति वचनात् । वर्षन्तीत्यस्मिन्, आपि—वर्षा, ताम्र भवतीति—वर्षाभूः, तदर्थानुवादः—  
औषधीविशेषो दर्दुरश्चेति । कियत इति कार—वणिग्मि कर्षकैः पशुपालैश्च रक्षार्थं देवो राजभाग इति तत्पूर्वार्द्धवते किपि—कारभू-

३१ रिति प्रकृति । मतान्तरमुपन्यस्यति—करशब्देनेत्यादि । एके-शाकटायनादयः । ते हि करशब्दं पठित्वा करकारशब्दयोरैकार्यत्वादेक-  
देशविकृतं तदेवेति कारशब्देनापीच्छन्ति, तथा कार इति च पाठान्तरं मन्यन्ते । देवमन्त्री तु कारशब्दमेव पठति । स्वयंभुवावित्यादि । स्वयं  
भवत, प्रतिभवत, मित्रे मित्राद्वा भवत, विभवत, आत्मनो भवत इति कियौकारे उपादेशः । ननु भुव किबन्तस्य दृष्टादिभिर्भुवौ पूर्वेण

३३ सिद्धत्वात् किमर्थमिदमित्याह—पूर्वेणेत्यादि । अथवा स्वयंभुवावित्यादौ मा भूदनेन पूर्वेण कस्माच्च भवतीत्याह—पूर्वेणेत्यादि । तत्र  
चान्यत्र च प्राप्तस्य कार्यस्य ततोऽन्यतो व्यावर्त्ये तस्मिन्नेवविधौऽन्यत्र कार्यस्याभावफलो नियमः, स चात्र द्वेधा संभवति—दृष्टादिभिर्भुव एव  
नान्यस्य धातोरिति, भुवो दृष्टादिभिरेव नान्यैः स्वयमादिभिरिति च । तत्रेष्ट नियम दर्शयति—एतैरेवेत्यादि ॥ ५९ ॥

३५ णषमसत्परे स्यादिविधौ च । णषमिति । णो विधेयत्वेन एष्वस्तीति “अत्रादिभ्य” ७।२।४६ इति मत्वर्थान्तेऽकारे णशब्देन  
णत्वविधायकानि सूत्राण्युच्यन्ते, एव षशब्देनापि यत्वविधायकानीति, णष पक्षेति समाहारद्वन्द्वः । अत्र साक्षात्तानि न पठ्यन्ते, अन्यत्र तत्पा-

३८ ठस्य मुखार्थत्वादिति भावः । परे च स्यादिविधौ णषम् असदित्यन्यत्र । परशब्दस्यावधिसापेक्षत्वादन्यस्यावधेरश्रूयमाणस्याप्राप्त्यापि कत्वात्तदस्यैव  
तत्रावधित्वमित्याह—इतः सूत्रादित्यादि । परस्यादिविधेरसम्भवात् संभवे वा परग्रहणेनैव गतार्थत्वात्—पूर्वस्मिन्निति विशेषणमुक्तं  
स्यादिविधायित्वस्य । णषशब्देन तद्विधायकशास्त्राभिधानेऽपि कार्यसंपादनाय शास्त्रस्य अष्टतत्वात्प्रधानत्वात् कार्यस्यैव प्राधान्यमिति तत्संवा-

सत्त्वं दर्शयतीत्याह—णत्वं षत्वं चेत्यादि । ननु णषशब्देन णत्वपत्वविधायकशास्त्राभिधानात् तत्र च पत्वशास्त्रस्य पूर्वमावित्यात् पूर्वनिर्देशो  
४५ प्राप्ते परनिर्देशः किमर्थः ? इति चेत्, उच्यते—तथा निर्देशस्य पत्वे परे णत्वमसिद्धं भवतीति ज्ञापनार्थत्वादित्याह—एतत्सूत्रनिर्दिष्टयोः  
त्यादि । ण इति विपर्ययनिर्देशो तु अभिपुणोतीत्यादि न सिध्यति, परे णत्वे षत्वस्यासत्त्वात् । तथा च “रपृथग्वर्णो” इत्यनेन पश्चादात् विधीयमान  
णत्व न स्यादिति भावः । एतावता ग्रन्थेन भगवता कार्यासिद्धत्वपक्षो ध्वनितः । इदानीं युक्तत्वं शास्त्रासिद्धत्वपक्षस्य मन्यान आह—णषशास्त्रं

प्रवर्तमानेऽसद्वृष्ट्यम् । पूष्णः, तक्ष्णः, अत्र गत्वस्यासत्त्वादनोऽकारलोपो भवति । पिपठीः—अत्र पत्वस्यासत्त्वात्सकारस्य रुमवति । स्यादिविधौ च—अर्वाणौ, सर्षीपि; अत्र गत्वपत्वयोरसिद्धत्वादुपान्त्यदीर्घत्वं सिद्धम् । असत्पर इत्यधिकारो “रात्सः” ॥ २ । १ । ९० ॥ इति यावत्, स्यादिविधौ चेति तु “नोर्म्यादिभ्यः” ॥ २ । १ । ९९ ॥ इति यावत् ॥ ६० ॥ ३

## काऽऽदेशोऽपि ॥ २ । १ । ६१ ॥

ककारेण उपलक्षितस्य तकारस्य स्थाने य आदेशः स पकारादन्यस्मिन् परे कार्ये स्यादिविधौ च कर्तव्येऽसन्

वेति । अयमाशयः—शास्त्रस्यैवासिद्धत्वं न्याय्यम्, कार्यासिद्धत्वस्वीकारे यथा देवदत्तस्य हन्तरी हतेऽपि न पुनर्देवदत्तस्य प्रादुर्भावो भवति तथा कार्येऽसिद्धत्वात्परेऽपि न पुनः प्रकृते प्रत्यागमनं भवति, तस्मात् पूष्ण इत्यत्र गत्वासत्त्वेऽपि पुनर्नकारस्य प्रत्यागमनाभावात्प्राप्तान्ता प्रकृतिरिति तन्निबन्धनोऽनोऽकारलोपो न भवति । शास्त्रासिद्धत्वाङ्गीकारे तु “अनोऽस्य” इत्येव तावत् प्रवर्तते न गत्वशास्त्रमिति न भवत्येव दोषः । अपि च पौर्वापर्यं शास्त्रयोरेव मुख्यं, कार्ययोस्तु गौणं पूर्वेण परेण वा शास्त्रेण विधीयमानत्वादिति । मुख्यं तु तयोः पौर्वापर्यं नास्ति, लक्ष्ये कार्याणां व्यवस्थानात् । लक्ष्यस्य च क्रमेण सन्निवेशाभावात् तद्वत्कार्यस्यापि क्रमेण सन्निवेशाभाव इति समवति मुख्ये गौणप्रहणमन्याय्यमिति शास्त्रस्यैवासिद्धत्वं युज्यत इति । ननु सिद्धस्य णवशास्त्रस्य तत्कार्यस्य च कथमनेन वचनमात्रेणासत्त्वमारोपयितुं शक्यम्? इति चेत्, उच्यते—परायें प्रयुज्यमानं शब्दो वृत्तिमन्तरेणाप्यतिदेशं गमयति, यथाऽब्रह्मदत्ते ब्रह्मदत्तोऽयमिति ब्रह्मदत्तवदयं भवति । तद्वदिहापि असत्—असदिव, यथाऽसत् कार्यं १२ न करोत्येव यत् सदपि सत्कार्यं न करोतीत्यर्थः । तदसत्ताधर्मादसदित्युच्यते, तदेतदसत्त्ववचनमादेशनिमित्तकानां कार्याणां प्रतिषेधार्थं स्थानि- निमित्तकानां च प्राप्त्यर्थमिति भावः । पूष्णः, तक्ष्ण इति । अत्र पूनृतज्ञशब्दाभ्यां शक्तिः पृथीपवन्मैकवचने वा “रपुवर्णा०” इति “अनो-ऽस्य” इति चोभयोः प्राप्ता “स्पद्धं परम्” इति न्यायेन परत्वादनोऽकारलोपः बाधित्वा गत्व प्राप्त तस्यासद्वचनेन प्रत्युत्पन्नाभावादन्तत्वात् “अनो-१५ ऽस्य” इत्यकारलोपो भवति । पिपठीरिति । पठे पठितुमिच्छतीति “तुमर्हादि०” ३।४।२। इति सनि, “स्त्रायशितो०” ४।४।३। इतीदि, “सन्त्यहश्च” ४।१।३। इति द्वित्वे, “व्यञ्जनस्यानादे०” ४।१।४। इत्यनादिलोपे, “सन्त्यस्य” ४।१।५। इतीत्वे, “नान्यन्तस्था०” इति पत्वे, पिपठिषतीति क्तिपि “अत” ४।३।८। इत्यकारलोपे, क्तिप्लोपे च सौ “दीर्घटपाब्” इति पत्वकार्यस्यासत्त्वाश्रयणात् कार्यासत्त्वे च प्रयोजना-१८ न्तराभावात् प्रकृतिप्रत्यापत्ते “सो रु” इति कृते “पदान्ते” २।१।६। इति दीर्घे च “र पदान्ते०” इति विसर्गे । स्यादिविधौ चेति । अर्वाण्यशब्दादौकारे परत्वेन प्रवर्तमानमपि गत्व बाधित्वा असद्वचनात् स्यादधिकारनिहितत्वात् “नि दीर्घ” इत्युपान्त्यदीर्घत्वे—अर्वाणौ । एव सर्षी शब्दात् “नपुसकस्य०” इति जस शसो वा इयादेशे “खराच्छौ” इति नागमे पत्वस्यासत्त्वात् “न्तमहतो” इत्युपान्त्यदीर्घत्वे—सर्षीपि । २१ तदेव घटयति—अत्रेत्यादि । असत्पर इति स्यादिविधौ च इत्युत्तरत्रानुवर्तत इत्याह—असत्पर इत्यादि । अधिकार इति । अधि—उपरि क्रियते—अनुवर्त्यत इत्यधिकारः । अधिकारस्यावधि निर्दिशति—रात्स इत्यादि । नन्वेव तर्हि “पदस्य”, “रात्स” इत्यादौ पृथगिर्देशानां परस्या “पृष्ठा अन्यस्य” इति परिभाषायामसिद्धत्वात् सा तेषु व्यवस्थापिका न स्यात्, प्रत्युत तस्या पृष्ठा समीपयोगत्वं कल्पने पदान्ते वर्तमानस्य २४ सयोगस्य समीपे यत्स्य लोपः स्यादित्यर्थापत्तेः । एव “हो दुदपदान्ते” इत्यादौ सप्तमीनिर्देशस्यासिद्धत्वात् “सप्तम्या पूर्वस्य” इति परिभाषानुप- स्थितौ पूर्वस्यैवान्तरे भवितव्यमित्यस्य नियमस्याभावात् सामान्येन पूर्वस्य परस्य वाऽनन्तरे धृति च कार्यं स्यात्, तथा “अचक्ष्वर्थात्” इत्यादौ “पञ्चम्या निर्दिष्टे परसे”त्यनुपस्थित्या परयोर्व्यवहितयोश्च तकारयकारयोः कार्यं स्यात्, इति चेद्, उच्यते—गौणस्यापि कार्यस्यासिद्धत्वात् २७ यणात् तदुपायभूतस्य पृथगिर्देशादेरसिद्धत्वाभावात्, शास्त्रासिद्धत्वपक्षे शास्त्रस्यासिद्धत्वं विभक्तिनिर्देशश्च न शास्त्रं तदन्तर्त्वेऽपि तस्याप्राधान्यादसिद्धत्वा- भावः, विभक्तिनिर्देशसामर्थ्याद्वा, अन्यथा विभक्तिविशेषोपादानमनर्थकं स्यात्तस्मात् “पृष्ठा अन्यस्य” इत्यादिपरिभाषासु तत्तत्निर्देशा नासिद्धा इति । अपवा—असिद्धत्वाङ्गीकारेऽपि परिभाषासु दोषाभावः, तथा हि—सञ्ज्ञापरिभाषाशास्त्रविषये पक्षद्वयं, तत्र केचन सञ्ज्ञापरिभाषाणां कार्यकालता मन्यन्ते, २० यद्यपि कार्येभ्यो बहुभूतत्वेन निर्दिष्टा सञ्ज्ञापरिभाषास्तथापि गुणभूतानां तासां प्रधानानुरोधित्वेन कार्याभिधेयता स्वीकर्तव्या, न चैव तर्हि देश- भेदेन निर्देशासां क्रयमिति वाच्यम्, तस्य सकलप्रधानोपकारार्थत्वात्, किञ्च प्रधानदेशे तासामुपदेशे यस्यैव प्रधानस्य समीपे उपदिष्टास्तदेव ता उपकर्तुर्न प्रधानान्तरम् । एव च पाठक्रमेण यद्यपि प्रधानेभ्यो भिन्नदेशाः संज्ञापरिभाषास्तथाप्यर्थेन क्रमेण तद्देशा एव ता इति परत्वं प्रधाना- ३३ पैक्ष्या तासां नास्तीति न तासु तान्यसिद्धानतीति तेष्वपि पठिता व्यवस्थापिका एवेति । केचित्तु तासां यथोद्देशतामेव ( यत्रोपदेशस्तद्देशतामेव ) युक्ता मन्यन्ते, तेषामयमभिप्रायः—किञ्चिदेव प्रधानं कार्यमभिधेयता ता उपदिश्यमाना यत्रोपदिष्टास्त्वद्देशा एव ता इति प्रधानं पूर्वं ताश्च परा इति तासु तस्यासिद्धत्वमस्येव किन्तु यथा इष्टसिद्धये क्वचिज्जाति पदार्थ आश्रीयते क्वचिद्व्यक्तिरित्येवमेतयोः पक्षयोरिष्टसिद्धयर्थं क्वचित्कस्यचिदाश्रयणमिति ३६ न कश्चिदोषः । ननु यदि कार्यकावे संज्ञापरिभाषे इति स्वीक्रियेत तदा विपूर्वस्य स्फुरेरवपूर्वस्य सुरेश “ऋवर्णव्यञ्जनात्” ५।१।१७। इति घ्यणि वातीरनयो कृटादिपठे सत्यपि “कृटादिर्द्विद्वन्निघत्” ४।३।१३। इति अष्णिगप्रत्ययस्य द्वित्वेऽत्र तु णितो क्त्वाभावात् “स्पद्धं” इति परिभाषा- याश्च सत्त्वे “लोचुरणान्यस्य” ४।३।४। इत्युपान्त्यगुणाप्रवृत्तौ “अनादेर्नामिन०” २।१।६३। इति दीर्घत्वेऽनिरूप्यपत्तेः, इष्टस्य च गुणस्याभावेन ३९ विस्फोर्यमनोर्गमिति रूपानापत्तेः । ननु “स्पद्धं” इति परिभाषयोपान्त्यगुणो भवत्विति चेत्, तत्र, अत्रैककल्यात्तस्या अत्रानवसरस्तथा हि—पूर्वपरयोः शास्त्रयोरेकस्मिन् विषये विरोधे आपतितेऽप्रवृत्तौ क्रमेण च प्राप्ता “स्पद्धं” इति परं व्यवस्थाप्यते, इह तु परस्मिन् लक्षणे कर्तव्ये पूर्वस्यासिद्ध- त्वादेकत्र पूर्वपरयोस्तुल्यबल्योरप्राप्ते “स्पद्धं” इत्यस्या अत्रैककल्यात्त्वस्थापकत्वं नास्तीति पूर्वस्यैव दीर्घत्वलक्षणस्य प्रवृत्तिर्नोत्तरसेति चेत्, सत्यम्, ४२ मा भूत् परिभाषा सामर्थ्यादुत्तरस्य प्रवृत्तिर्निवृत्त्यलक्षणे । एव पूर्वस्याप्यपवादस्य परस्मिन्लक्षणे कर्तव्ये नासिद्धत्वम्, अपवादवचनस्य निर्विप- यत्वेन वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । वचनप्राप्त्यात् क्रमेण तयोः प्रवृत्तिरित्यपि न वाच्यम्, एव सति तत्र वेति निर्दिष्टे ॥ ६० ॥

कादेशोऽपि । अत्र असत् परे स्यादिविधौ च इत्यनुवर्तते । कादेशः अपि परे च स्यादिविधौ असन् इत्यन्वयः । कस्यैव अनुवादात् ४५ तस्य च समुदायरूपस्य कार्यानिर्देशात् ककार इतिह प्राञ्च न त्वयय इत्याह—ककारेणेत्यादि । ककारेण उपलक्षितं त क तस्यादेश इति पृथीसमासः, स च ककवत्तुच्चाणीन् प्रयोजयति । पूर्वस्मात् पर इत्यनुवृत्तौ परत्वमेतत्सञ्ज्ञापेक्षं प्राञ्च न कादेशविधिविभाषापेक्षम्, किं मानमिति चेदुच्यते—अपीति प्रतिषेध एवात्र मानः, तथा हि—“यजस्रज०” इति पत्वरूपं परं कार्यमभिप्रेत्याऽस्य योगस्य प्रवृत्तिस्तदा योगस्येन ‘अपीति प्रतिषेध- ४८ सवन्ध’ यदि च कादेशविध्यपेक्षया परत्वविज्ञाने पत्वकार्यस्य तत् परत्वाभावादनुपपन्नत्वेन सवन्ध पत्वे कर्तव्ये कादेशस्यासत्त्वाभावात् ।

द्रष्टव्यः । क्षामिमान्-अत्र “क्षैशुषिपचो मकवम्” ॥ ४ । २ । ७८ ॥ इति क्तादेशस्य मकारस्यासत्त्वात् “भावर्णान्तो”  
इत्यादिना मतोर्मो वो न भवति, शुष्किका-अत्र ककारस्यासत्त्वात् “स्वज्ञाज०” इत्यादिनेत्वविकल्पो न भवति, “अस्या-  
यत्तक्षिपकादीनाम्” ॥ २ । ४ । १११ ॥ इति तु नित्यमेव इत्वम् भवति, पक्वम्-अत्र वत्वस्यासत्त्वादुटि कत्वं  
भवति; बुद्ध्वा, दग्ध्वा-अत्र क्तादेशस्य धकारस्यासत्त्वात् “गडदवादेश०” इत्यादिना आदेशतुर्यो न भवति । स्यादि-  
विधौ च-लुन्युः, पुन्युः; अत्र क्तादेशस्य नत्वस्यासत्त्वात्प्राश्रित उरु भवति । अपीति किम्? वृक्णः, वृक्णवान्;  
अत्र क्तादेशस्य नत्वस्य सत्त्वात् “यजसृज०” ॥ २ । १ । ८७ ॥ इत्यादिना धुणिमित्तः षो न भवति, कत्वे  
त्वसत्त्वात्तद्भवत्येव । परे स्यादिवधौ चेत्येव? लग्नः, मग्नः; अत्रास्यादिविधौ पूर्वसूत्रकार्ये “अधोषे प्रथमोऽङ्घ्रिः”  
॥ १ । ३ । ५० ॥ इति प्रथमत्वे नत्वस्यासत्त्वाभावादधोषनिमित्तः प्रथमो न भवत्येव, एव क्षामेण शुष्केणेत्यादौ  
पूर्वं णत्वं प्रति मत्वकत्वयोः सत्त्वात्तकारेण व्यवधानं नास्तीति णत्वं भवति ॥ ६१ ॥

षटोः कः सि ॥ २ । १ । ६२ ॥

षकारढकारयोः स्थाने सकारे परे ककार आदेशो भवति । (घ-)पिष्-पेक्ष्यति, पिपिक्षति; दृश्-अद्राक्षीत्, सृज्-  
अस्राक्षीत्, यज्-अयाक्षीत् । ढ-लिह्-लेक्ष्यति, लिलिक्षति; वह्-वक्ष्यति, गुहौ-निघोक्ष्यति । सीति किम्? पिनष्टि ।  
असत्परे इत्यधिकारात् निघोक्ष्यतीत्यत्र ढस्थानस्य ककारस्यासत्त्वात् चतुर्थान्तलक्षण आदेशतुर्यो भवति ॥ ६२ ॥

क्षामिमानिति । ‘क्षै’क्ष्वे, इत्यत “आत्तन्ध्वक्षरस्य” ४।२।१। इति कृताकारात् “गल्यार्थकर्मक०” ५।१।१। इति कर्तरि विहितस्य कस्य  
१५ “क्षैशुषिपचो मकवम्” इति मकारे क्षामस्यापत्य “अत इच्” ६।१।३। इतीनि-क्षामि, सोऽस्यास्तीति मतौ-क्षामिमान्, अथवा-क्षामो-  
ऽस्यास्तीति क्षामि “अतोऽनेकस्वरात्” इतीनि क्षामिणोऽत्र सन्तीति मिश्रवृत्तितात् अस्वरूपत्वाद्वा तदन्तादपि मत्वर्थो न विरध्यत इति “तद-  
स्याऽस्त्यस्मिन्निति” मतौ-क्षामिमान् । अत्र च क्तादेशस्य मकारस्यासत्त्वात् “भावर्णान्तोपान्त०” इति मतोर्मकारस्य षकारो न भवतीत्याह-अत्रे-  
१८ त्यादि । शुष्किकेति । शुष्यति सेति विग्रहे शुषे “गल्यार्थकर्मक०” इत्यकर्मकलक्षण कर्तरि क, “क्षैशुषि०” इति क्तकारस्य ककारे, तत  
“आत्” इत्यापि च-शुष्का, अत्रातादेर्विवक्षाया कपि “व्यासीदूज ०” २।४।१०४। इति ह्रस्वे पुन ककारादापि ककारस्यासत्त्वात् “स्वज्ञाज०”  
२।४।१०८। इति विकल्पस्याभावात् “अस्यायत्तक्षिपकादीनाम्” इति नित्यमित्वम् । पक्वमिति । पच्यते सेति कप्रत्यये “क्षैशुषि०” इति  
२१ “यज कगमि”ति च क्तकारस्य धातुचकारस्य च वत्वकत्वयो प्राप्तौ परत्वाद्भवे तस्यासत्त्वात् “यज ०” इति वृटि कत्व सिद्धम् । बुद्ध्वा,  
दग्ध्वा-बुधेर्दृष्टे च बोधन पूर्व दहन पूर्वमिति “प्राक्काळे” ५।४।४७। इति त्वाप्रत्यये “भ्वादेर्दादेर्ध्व” २।१।८३। इति ह्रस्व घत्वे “अधश्च  
र्यात्” २।१।७९। इति तकारस्य धकारे तस्यासिद्धत्वात् “गडदवादेश०” २।१।७७। इति सूत्रेणदिचतुर्याभावे “तृतीयस्तृतीयचतुर्यै” १।३।४९।  
२४ इति तृतीय । स्यादिविधौ चेति । लृणीपुत्री शब्दौ “खितिखीतीय०” इति सूत्रोक्तदिक्षा ससाध्य ततो षसिञ्चो क्तादेशस्य नत्वस्यासत्त्वा-  
त्प्राश्रिते “खितिखीतीय उरु” इत्युरि कृते-लुन्युः, पुन्युरिति । अपीतिप्रतिषेधप्रयोजनं वृच्छति-अपीति किम्? वृक्णः, वृक्णवानिति ।  
वृक्षते कर्मकर्त्रो कत्ववदुप्रत्यययो “सस्य घषौ” इति धातुसस्य घत्वे ओदित्वात् क्तकारस्य नकारे अपीतिवचनात् तस्यासत्त्वाभावात् “यज-  
२७ सृज०” इति ध्रुवनिमित्तस्य षत्वस्याभावे कत्वस्य च भावे संयोगादिलोपे “रवृवर्णात्” इति णत्वम् । लग्नः, मग्न इति । “औलत्नैति”ब्रीह्यायाम्,  
‘सुमस्त्वोत्’ शुद्धौ, आभ्यां क्तकारस्य “स्यलाघोषित” ४।२।७०। इति तकारस्य नकारे संयोगादिलोपे च “यज कगम्” इति नत्वस्यासत्त्वात्  
गकार, अत्र परे स्यादिविधौ चेति वचनात् “अधोषे प्रथमोऽङ्घ्रिः” इति पूर्वसूत्रकार्ये नत्वस्यासत्त्वानाव इति । पूर्व णत्वमिति । एतत्सूत्रा-  
३० पेक्षया “णवमसत्परे०” इत्यत्र निर्दिष्टस्य णत्वस्य पूर्वत्व बोध्यमित्याशय ॥ ६१ ॥

षटोः कः सि । स्पष्टोऽन्वय । पश्च ढधेति षटौ तयो षटोरिति षष्ठा द्विवचन स्थानिनिर्देशार्थमित्याह-षकारढकारयोः स्थाने  
इति । ‘पिष्पृ’ संचूर्णनेऽतो भविष्यत्या स्यतौप्रत्यये “एकस्वरादनुस्वारेत्” ४।४।५६। इतीदप्रतिषेधे “लघोरुपान्त्यस्य” ४।३।४। इति गुणेऽनेन  
३३ षस्य कत्वे “नाम्यन्तस्याकवर्गात्” इति सस्य घत्वे-पेक्ष्यति । पिपिक्षति-पिषे सति, दिवंचनादौ च रूपम् । ‘दृश्’ प्रेक्षणे, घातोरयतन्या  
दौ, “सिजयतन्याम्” ३।४।३। इति सिचि, “स सिजस्तोर्दिस्यो” ४।३।६५। इतीति, परत्वाद्भवे प्रागेव “अ सजिह्वोऽङ्घ्रिः” ४।३।११।  
इत्यकारागमे, “व्यञ्जनानामिति” ४।३।४५। इत्यकारस्य वृद्धौ “यजसृज०” इति षस्य घत्वे तस्यानेन कत्वे “नाम्यन्तस्या०” इति सस्य घत्वे-  
३४ अद्राक्षीत् । एव ‘सृजत्’ विसर्ग-अस्राक्षीत् । ‘यजी’ देवपूजादौ-अयाक्षीत् । ‘लिह्’ आत्मादने, घातो स्यतो उपान्त्यगुणे “हो  
धुदपदान्ते” इति ह्रस्व ढत्वेऽनेन कत्वे सकारस्य घत्वे-लेक्ष्यति । एव लिह् सति “उपान्त्ये” ४।३।३४। इति सन क्त्वात् गुणभावे दिवंच-  
३५ नादौ-लिलिक्षति । ‘वह्’प्रापणे-वक्ष्यति । निशब्दात् परस्य ‘गुहौग’ सवरणे इत्यस्य स्यतौ गुणे “हो धुदपदान्ते” इति ढत्वे नित्यस्यापि  
इत्यकारादौ परेऽसत्त्वात् “गडदवादेश०” इति चतुर्यत्वे ततोऽनेन कत्वे निघोक्ष्यतीत्याह-असत्पर इत्यधिकारादित्यादि । ढस्थानस्येति ।  
ढकार स्थान यस्य तस्येत्यर्थः । ककारस्यासत्त्वादिति । स्थानशब्दस्य निश्चितवचनत्वात् ककारो विधेयतया अत्यस्मिन्निति “अत्रादिभ्य”  
इत्यकारे ककारशब्देन सत्त्वान्नस्याभिधानात् ढनिवर्तकस्य ककाराक्षस्यासत्त्वादित्यर्थः । शासरेपि सौ विकल्पेन ककारमिच्छति कथित, वन्मदे-  
४२ शाक्षि, शास्तीति ॥ ६२ ॥

भवादेर्नामिनो दीर्घो वीर्व्यञ्जने ॥ ६३ ॥] श्रितत्वप्रकाशिकाश्रीआनन्दवोधिनीविभूषितम् ।

## भवादेर्नामिनो दीर्घो वीर्व्यञ्जने ॥ २ । १ । ६३ ॥

भवादेर्धातोर्वयवभूतौ यौ रेफवकारौ तयोः परयोस्तस्यैव भवादेर्नामिनो दीर्घो भवति, व्यञ्जने—ताभ्यां चेतपरं व्यञ्जनं भवति । ह्रृञ्, ह्रृञ्छिता, मूर्छा, मूर्छिता, आस्तीर्णम्, प्रस्तीर्णम्, पूर्तम्, अवगूर्णम्, कूर्दते, ऊर्दिदिपते, चिकीर्षति, बुवू-  
र्षति, बुमूर्षति, दीव्यति, सीव्यति, दीव्यात्; सीव्यात् । असद्विधौ स्वरादेशस्य लोपस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधात्—  
प्रतिदीप्ता, प्रतिदीप्ते । भवादिरिति किम्? चतुर्भिः, चतुर्थः, कुर्कुरमिच्छति—कुर्कुरीयति, एवं चतुर्यति; दिव्यति । नामिन  
इति किम्? स्मर्यते, भव्यम् । वीरिति किम्? बुध्यते । व्यञ्जन इति किम्? विकिरति । वीर्व्यादिसंबन्धविशेषणं  
किम्? दीव्यते; कनिपि, वकारलोपे—दिवन्, दिप्ता; दिप्ते । नामिनो भवादिसंबन्धविशेषणं किम्? दधिप्रज्या,  
प्रत्यासत्त्या तस्यैवेति विशेषण किम्? ग्रामणित्रज्या ॥ ६३ ॥

## पदान्ते ॥ २ । १ । ६४ ॥

पदान्ते वर्तमानयोर्भादिसंबन्धिनो रेफवकारयोः परयोस्तस्यैव भवादेर्नामिनो दीर्घो भवति । गीः, गीर्भ्याम्, गीर्षु,

भवादेर्नामिनो दीर्घो वीर्व्यञ्जने । भवादे वीर्व्यञ्जने इत्यन्यथ । भवादिरिति अवयवसंबन्धपरमन्तमेकमपि  
तन्नेषाद्वृत्त्यैकशेषेण वा द्विधा भेदात् नामिन इत्यनेन वीरित्यनेन च विशेष्यद्वयेन प्राधान्यात् संबन्धमनुभवतीत्याह—भवादेर्धातोर्वयव- १२  
भूतौ यौ रेफवकारौ, भवादेर्नामिन इति । यदि तु तन्त्रादिना भेदद्वयं न स्वीकियेत तदा एकस्यैकसंबन्धिनैव आकाङ्क्षाया शान्तत्वात् योग्य-  
ताया सत्त्वेऽप्यनाकङ्क्षितसंबन्धेऽतिप्रसङ्गात् नेतरैण संबन्ध स्यादिति भावः । भवादिरिति विशेषणविशिष्टेन वीरिति सप्तम्यन्तेन व्यञ्जने इति  
व्यधिकरणतया विशेष्यत इत्याह—ताभ्यां चेत् परं व्यञ्जनमिति । व्यञ्जनस्य भवादिरित्यनेन संबन्धभावात् तस्य प्रत्ययस्य च व्यञ्जने साधा- १५  
र्येनोदाहरति—ह्रृञ्छा इत्यादि । ‘ह्रृञ्छा’ कौटिल्ये, ‘गुच्छा’ मोहसमुच्चययोरतः “भिदादयः” ५।३।१०८। इत्यादि, आपि, अन्यत्र तुचि,  
इदि, अनेन दीर्घत्वे “ह्रृदह्रस्वरसा” इति द्वित्वे, “अघोषे प्रथमोऽशित” इति प्रथमस्थकार । आणपूर्वात् प्रपूर्वात् स्तृणात्वे के, “ऋता-  
क्षिती” ४।४।११६। इतीरादेशे, “रदादमूर्च्छमद कपोदस्य च” ४।२।६९। इति कतकारस्य नत्वे, अनेन दीर्घत्वे, “रपुवर्णात्” इति गत्वे १८  
च—आस्तीर्णम्, प्रस्तीर्णमिति । ‘पूष’ पालनपूरणयोरित्यत के “ओष्ठादुर” ४।४।११७। इत्युरादेशे, अनेन दीर्घत्वे च—पूर्तमिति ।  
अवपूर्वात् ‘गुर्व’ ‘उद्यमे’ इत्यत के—अवगूर्णम् । ‘कूर्दि’ क्रीडायामित्यतो वर्तमानायास्तेप्रत्यये शवि दीर्घत्वे—कूर्दते । ‘उर्दि’ मानक्रीडयोश्च  
अत सनि, इदि, “अयि र” ४।१।६। इति रेफस्य द्वित्वाभावात् “सन्त्यक्ष” इति धीति द्विवचनेऽनेन धातोस्कारस्य रेफे दीर्घत्वे—ऊर्दि- २१  
दिपते । करोतेर्गणोत्थे “खरहनगमो सनि धुटि” ४।१।१०४। सनि दीर्घत्वे, इरादेशे उरादेशे च ततो द्विवचनादौ—चिकीर्षति, बुवू-  
र्षति । ‘वीवू’ क्रीडादौ, ‘विबू’ उत्तौ आभ्या वर्तमानयोस्तिवि, इये, अनेन दीर्घत्वे—दीव्यति, सीव्यति । एवमाशिष क्पाति—  
दीव्यात्, सीव्यात् । ननु प्रतिपूर्वात् दिवे “लपूयुषि” उणा० ९०।१। इति कित्यनि तृतीयैकवचने चतुर्थ्यैकवचने च “अनोऽस्य” इत्य- २४  
कारलोपे तस्य “खरस्य परे प्राग्विधौ” इति स्थानिवद्भावे व्यञ्जनाभावात् प्रतिदीप्ता, प्रतिदीप्तेति कथं दीर्घत्वमित्याह—असद्विधावित्यादि ।  
चतुर्मिति । चतुर् भिस् इत्यवस्थायाम् रुत्वविसर्गौ । चतुर्थे इति । चतुर्णां पूरण इति विग्रहे “चतुर” ७।१।१६३। इति यदप्रत्यय । कुर्कुरी-  
यतीति । करोते “श्रुर्कुर्कुदुर” उणा० ४२६। इति निपातनात् कुर्कुरस्त्वमिच्छतीति विग्रहे क्यनि ईत्वे तिवाद् रूपम् । एव चतुर इच्छति २७  
क्यनि—चतुर्यति । एव दिवमिच्छति—दिव्यति । एतेषु भवादिरग्रहात् भवादेरेव धातोर्वयवयो रेफवकारयोर्धातोरेव नामिनो दीर्घो  
भवतीति विज्ञानात् नामधातोर्न भवति । स्मर्यते इति । ‘स्थ’ चिन्तायामतस्ते प्रत्यये, “क्य शिति” ३।४।७०। इति क्ये, “क्ययडाक्षीर्ये”  
४।३।१०। इति गुणे रूपम् । भव्यमिति । अस्ते “अस्तिश्रुबोर्भूवचावगिति” ४।४।१। इति भवादेशे “य एचात्” ५।१।२८। इति ये, “ध्यक्ये” ३०  
इत्यवादेशे भवति । अत्र नामिन इति ग्रहणादीर्घो न भवति । बुध्यते इति । ‘बुधिच्’ ज्ञानेऽतो वर्तमानायास्तेप्रत्यये “दिवादे इय” इति इये  
भवति । अत्र वीरभावात् भवति । विकिरतीति । विपूर्वात् ‘कृ’विक्षेपे, इत्यतस्तिवि “तुदादे श” इति शे इरादेशे च रूपम् । वीरित्यत्रा-  
वृत्तभवादिधात्ववयवत्वविज्ञानस्य किं प्रयोजनम्? इति पृच्छति—वीर्व्यादिसंबन्धविशेषणं किमिति । दीव्यते. कनिपीति । दिवे ३३  
“मन्वन्कनिपि कचिद” ५।१।१४७। इत्यनेन कनिपप्रत्यय इति शेषः । वकारलोप इति । “य्वो ध्व्यञ्जने लृक्” ४।४।१२१। इत्यनेनेति  
शेषः । दिप्ता, दिप्ते इति । अत्र प्रत्ययवकारत्वादीर्घत्वाभावः, नन्वत्र पिति कृति “ह्रस्वस्य त ०” ४।४।११३। इति तागम कस्मात् न? इति  
चेत्, “मन्वन्कनिपि” इति सूत्रे कचिद्वहणस्य सर्वोपाधिव्यभिचारार्थत्वात् कचिदय स्वरूपेण न भवति कचिद पित् न भवतीति तागमा- ३६  
भावः । नामिन इत्यत्र भवादिसंबन्धत्वविज्ञानस्य फल पृच्छति—नामिनो भवादिसंबन्धविशेषणं किमिति । दधिप्रज्येति । व्रजे-  
र्भावे “आस्यटिप्रज्यज क्यप्” ५।३।९७। इति क्यपि, दधिधारणे धातो “पदि पठि” उणा० ६०७। इति सूत्रे मण्यादित्वात् इप्रत्यये, दधो  
व्रज्या दधिप्रज्येति भवति, अत्र धातोस्कारभावादीर्घत्वाभावः । नन्वेव ग्राम नयतीति किपि, “ग्रामाप्ता” २।३।७१। इति गत्वे, “वेदतो- ३९  
नव्ययवृचीच्युय पदे” २।४।९८। इति ह्रस्वत्वे, ग्रामणिनो व्रज्या ग्रामणित्रज्या इत्यत्र धात्विकारसद्भावादीर्घत्वप्रसङ्ग इति चेत्, उच्यते—भवादे-  
र्भादिरित्यनुच्चा आह्वयैकत्वेनोपादानस्यैतदेव प्रयोजनं यथेकस्यैव धातोर्द्वयं भवति, अत्र तु भेदादीर्घत्वाभाव एतदेवाह—प्रत्यासत्त्येति । अत्रै-  
केन प्रयत्नेन द्वयोरुपादानं प्रत्यासत्तिः, शब्दान्तरं प्रतीत्य शब्दान्तरस्यासत्तेरिति व्युत्पत्तेः ॥ ६३ ॥

पदान्ते । अत्र भवादेर्नामिनो दीर्घो वीरित्यनुवर्तते, पदान्ते भवादेर्वी ( तस्यैव भवादे ) नामिन दीर्घ इत्यन्यथेत्यदर्थमाह—  
पदान्ते वर्तमानयोरित्यादि । शेष प्राग्वद्बोध्यम् । गीरिति । गिरते किपि “ऋता क्षिती” इतीरादेशे सौ तल्लुकि पदान्तेऽनेन दीर्घत्वे च







कारः किम् ? 'कुरुत्' शब्दे, कुर्यात्, कूर्यते । केचिदस्यापि प्रतिषेधमिच्छन्ति । अथ द्विर्वचने पूर्वस्य कस्माद् दीर्घो न भवति ? रीः रीर्वा-रिर्यतुः, रिर्युः; वीः-विव्यतुः, विव्युः; वहिरङ्गलक्षणस्य यत्वस्यासिद्धत्वेन व्यञ्जनस्याभावात् । सवि-  
व्याय, विव्याधेत्यादौ तु नामिनोऽसिद्धत्वात् ॥ ६६ ॥

### मो नो म्वोश्च ॥ २ । १ । ६७ ॥

मकारान्तस्य भ्वादेरन्तस्य पदान्ते वर्तमानस्य मकारवकारयोश्च परयोर्नकारादेशो भवति, स चासन् परे । प्रशान्, प्रतान्, प्रदान्, परिह्वान्; प्रशान्भ्याम्, प्रतान्भ्याम्, प्रदान्भ्याम्, परिह्वान्भ्याम्; नत्वस्यासत्त्वात् नलोपाभावः । म्वोः खत्वपि-जगन्मि, जंगन्वः; जंगन्मः, जगन्वान्; ननन्मि, ननन्वः, ननन्मः । म्वोश्चेति किम् ? प्रशामौ, प्रतामौ । म इति किम् ? छित्, भित् । भ्वादेरित्येव ? इदम्, किम् ॥ ६७ ॥

### सन्स्वध्वन्स्क्स्सनडुहो दः ॥ २ । १ । ६८ ॥

सन्स्वध्वन्सोः कस्प्रत्ययान्तस्य सकारान्तस्यानडुहशब्दस्य च योऽन्त्यस्तस्य पदान्ते वर्तमानस्य दकारो भवति । उखासत्, उखासद्; पर्णध्वत्, पर्णध्वद्; विद्वद्, विद्वत् कुलम्; उपसेदिवद्, उपसेदिवत्कुलम्; स्वनडुद्, स्वन-  
डुत्कुलम्; उखासद्भ्याम्, पर्णध्वद्भिः, विद्वत्सु, विद्वत्ता, उपसेदिवत्तमः; अनडुह्याम् । कस्सिति द्विसकारपाठः किम् ? १२

नोच्यते विकीर्णतीत्यत्र उप्रत्ययाभावेऽपि प्रतिषेधप्रसङ्गादिति । मतान्तरमाह—केचिदित्यादि । शाकटायना अपीद समुल्लिखितु "धातोर्माक्" १।२।१। सूत्रे अनोधावृत्तौ । ननु 'रीर्' गतिरेषणयो, 'रि' गतौ, 'वीर्' प्रजनकान्यसनसादनेषु एभ्योऽनुवि उचि च द्वित्वे "योऽनेकस्वरस्य" इति यत्वे दीर्घत्व कस्मात् न सम्भवति ? उच्यते—प्रत्ययाश्रितत्वेन बहिरङ्गस्य यत्वस्य प्रकृतिमाश्रितत्वेनान्तरो दीर्घत्वेऽसिद्धत्वाद्भजनाभावात् दीर्घ-१५  
त्वाभाव इत्याह—अथ द्विर्वचन इत्यादि । 'व्येग्' स्वरणे, 'व्यध्व' ताडने आभ्यां परोक्षान्वि "व्यध्वणवि" ४।२।३। इति प्रतिषेधादात्वा-  
भावे "द्विर्धातु" ०" इति द्वित्वेऽनादिव्यञ्जनलोपे "व्याव्येव्यधिव्यन्विब्यधे" ४।१।७।१। इति पूर्वसेकारे तस्य पूर्वापेक्षत्वाद्बहिरङ्गत्वेनासिद्धत्वात्  
नामिनोऽभावात् दीर्घत्वाभावे "नामिनोऽकलिहले" इति धृदौ आयादेश इत्याह—संविज्यायेत्यादि ॥ ६६ ॥ १८

मो नो म्वोश्च । अत्र भ्वादेरिति पदान्त इति चानुवर्तते, म पदान्ते भ्वादे न च म्वोरित्यन्वय । अनुवर्तमानस्य भ्वादेरित्यस्य  
म इति विशेषणमत आह—मकारान्तस्य भ्वादेरिति । भ्वादेर्योऽवयवो मकारस्तस्येति विशेष्यमाणे गम्यते, जगम्यते इति "अवीर्षादि" ०"  
इति द्वित्वादावपि मकारस्य प्रसज्येत । ननु पूर्वत्रायवपपञ्चन्त भ्वादेरिति विशेषण कथमत्र मकारस्य विशेष्य भवितुमर्हति ? न हि 'गोधा सर्पन्ती २१  
सर्पणादहिर्भवती'ति न्यायादिति चेत्, मैवम्, द्रव्येष्वय न्यायो यदनुवर्तनाद्रव्य द्रव्यान्तरं न भवति, शब्देषु तु द्वैतं भवतीति नित्यदर्शने स एव  
शब्दोऽनुवर्तत इति, उच्चरितप्रध्वसी शब्द इति दर्शने तु तत्सदृश शब्दान्तरमुत्तरत्रोपतिष्ठत इति तत्त्वेनाप्यवसानाच्च स एवेत्युच्यत इति भ्वादे  
शब्दान्तरत्वाद्युक्ता तस्य विशेष्यता, अन्यथा न ध्रुपापेक्षाधिर्भवतीति ( विशेषणस्य वा विशेषणमितीति ) कथं तस्य विशेषणीभूतस्य मकारो २४  
विशेषण स्यादिति युक्तमुक्त मकारान्तस्य भ्वादेरिति । "षष्ठा अन्त्यस्य" इत्यन्तलाभात्तस्य च कार्यत्वेन प्राधान्यात् पदान्त इति विशेषणमत  
आह—अन्त्यस्य पदान्ते वर्तमानस्येति । तस्य धातुविशेषणत्वे तु प्रशान्, प्रतान् इत्यादावेव स्यात्, उपपदसहित एव हि धातु पदान्ते  
सम्भवति निरुपपदे तु धातुरेव पद स्यात् पदान्ते, तत्र च व्यपदेशिवद्भाव आश्रयणीय स्यादित्युक्तमन्त्यस्य पदान्त इति—पदान्ते वर्तमानस्यान्त्यस्ये- २७  
त्यर्थः । स एव चान्तो मकारवकाराभ्यां विशेष्यत इति म इति कार्यं, न इत्यकारस्योच्चारणार्थत्वात् न इति प्रयमान्त कार्यं, व्यतिक्रमस्तु नाशङ्क-  
नीय—कार्यं निमित्त कार्यमित्येव हि निर्देशकम् इति । 'शम्' 'दम्' उपशमे, 'तम्' काङ्क्षायाम्, 'कम्' ग्लानौ, प्रशाम्यतीत्यादिविग्रहे क्तिपि  
"अहन्मन्मस्य" ४।१।१०।७। इति दीर्घत्वे सेर्छेकि अनेन नत्वे नकारस्य चासत्त्वात् । नलोपाभाव इत्याह—नत्वस्येत्यादि । विधानसामर्थ्यात् ३०  
नलोपाभाव इति त्वाध्यायम्, विधानस्य भवयोच्चारितार्थात् । 'गम्य' गतावतो "गम्यर्थात् कृटिले" ३।४।१।१। इति यच्च द्वित्वे अनादिलोपे,  
"गहोर्जे" ४।१।४।०। इति जकारे, "मुरतो" ४।१।५।१। इति म्वागमे, "तौ मुमो" इति वर्गान्त्ये, "बहुल लुप्" ३।४।१।४। इति यञो लुपि,  
मिवस्मसि अनेन नकारे—जङ्गमीत्यादि । अस्यैव घातो "तत्र कसुकानौ तद्वत्" ५।२।२। इति कसौ द्वित्वे सौ रुदित्वात् नोऽन्ते "न्तम- ३५  
हतो" इति दीर्घत्वे "पदस्य" इति सलोपे—जगन्वान् इति । 'जम' प्रह्वत्वे, घातोः "व्यञ्जनादेकस्वराद् भृशाभोक्ष्ये यच् वा" ३।४।१। इति  
यच्च शेष पूर्ववदिति—चनन्मीत्यादि ॥ ६७ ॥

सन्स्वध्वन्स्क्स्सनडुहो दः । पदान्ते इति वर्तते, पदान्ते सन्स्वध्वन्स्क्स्सनडुह द इत्यन्वय । कस स इति षष्ठीतत्पुरुष- ३६  
गर्भात् सन्स्व च ध्वन्स् च कस्स् च अनडुह चेलेषां समाहारद्वन्द्वत्वात् षष्ठा निर्देश—सन्स्वध्वन्स्क्स्सनडुह इति । सत्यपि समवे सन्स्वध्वन्सौ सका-  
रेण न विशेष्येते, व्यभिचाराभावात्, कसश्च प्रत्ययत्वात् तदन्तर्गत्प्रत्ययोऽत आह—कस्प्रत्ययान्तस्य च सकारान्तस्येति । "षष्ठा  
अन्त्यस्य" इति विधेयत्वेन अन्त्यस्य कार्यत्वात् तद्विशेषण पदान्त इत्याह—योऽन्त्यस्तस्य पदान्ते वर्तमानस्येति । "स्रस्" अवससने, ३९  
'ध्वस्' गतौ च, "उषे किल्लुक् च" उणा० ८।८। इति किति खे आपि च—उखा, 'पृश्' पालनपूरणयोरत "इण्विशावेणिपू०" उणा०  
१८।२। इति मे-पर्णम् । उखया ससते इति पर्णानि ध्वसत इति च विग्रहे कौ "नो व्यञ्जनस्या०" ४।२।४।५। इति नलोपे सौ तल्लुक्क्यनेन दत्वे  
"विरामे वा" इत्येकत्र तकार, तकारे तु विधीयमाने परेऽसदिति वचनात् "धुटस्त्वतीय" इति दत्ताभावात् दकारध्वण न स्यादिति सूत्रे दकारो ४२  
विहित—उखासदित्यादि । विद्वदिति । विदे "वा वेसे कसु" ५।२।२।२। इति कसौ, "अनतो" इति सेर्छेपि अनेन दत्वे भवति । उप-  
सेदिवदिति । उपपूर्वात् 'बहु' विधारणादौ, इत्यत पूर्ववत् कसौ "अनादेशादे" ४।१।२।४। इत्येते "वसेकस्वरात्" ४।४।८।३। इतीति

सान्तस्यैव यथा स्यात्, इह मा भूत्-विद्वान्, हे विद्वन्, उपसेदिवान्, हे उपसेदिवन्; सकारस्य “पदस्य” ॥२१॥८९॥  
इति लोपेन निवर्तितत्वात् । एवं तर्हि अनङ्गान्, हे अनङ्गन् । इत्यत्र नकारस्यापि प्राप्नोति, तत्र विशेषणाभावात्, नैवम्,  
१ नकारविधानसामर्थ्यात् न भविष्यति । एतच्च दत्त्वं ‘येन नाप्राप्ते’ इति न्यायात् रुत्वद्वयोरेव बाधकम्, संयो-  
गान्तलोपे पुनः प्राप्ते चाऽप्राप्ते चारभ्यत इति तस्य बाधकं न भवति । पदान्त इत्येव ? उखाससौ, पर्णघ्नसौ,  
विद्वांसौ; अनङ्गाहौ ॥ ६८ ॥

६ ऋत्विज्दिशदृशस्पृशसृजद्घृषुष्णिहो गः ॥ २ । १ । ६९ ॥

एषां पदान्ते वर्तमानानां गोऽन्तादेशो भवति । ऋतुर्म्, ऋतौ, ऋतवे, ऋतुप्रयोजनो वा यजते-ऋत्विक्, ऋत्विग्,  
दिश्यते इति-दिक्, दिग्; पश्यति दर्शन वा-दृक्, दृग्, अन्य इव दृश्यते-अन्यादृग्, अन्यादृक्; एवं यादृग्, यादृक्,  
२ तादृग्, तादृक्; घृत स्पृशति-घृतस्पृग्, घृतस्पृक्, मन्त्रेण स्पृशति मन्त्रस्पृग्, मन्त्रस्पृक्; सृज्यत इति कुंभसपदादित्वात्  
किप्, अत एव निर्देशात् ऋतो रत्व च, ‘सृ’ गतावित्यस्य वा कज्-सृग्, सृक्; घृष्णोतीति दघृष्, अत एव निर्देशाद् द्वि-  
त्वम्-दघृग्, दघृक्, ऊर्ध्वं स्निहति नहति वा, अत एव निर्देशात् उदो दकारस्य लोपे सस्य पत्व, नहेर्नकारस्य च  
३ णिरादेशः-उष्णिग्, उष्णिक्, ऋत्विग्भ्याम्, दिग्भ्याम्, दृग्भ्याम्, घृतस्पृग्भ्याम्, सृग्भ्याम्, दघृग्भ्याम्, उष्णि-  
ग्भ्याम् । पदान्त इत्येव ? ऋत्विजौ, दिशौ, दृशौ, घृतस्पृशौ, सृजौ, दघृषौ; उष्णिहौ ॥ ६९ ॥

नशो वा ॥ २ । १ । ७० ॥

४ नशेः पदान्ते गोऽन्तादेशो वा भवति । जीवस्य नशनम्-जीवनग्, जीवनक्; पक्षे-जीवनद्, जीवनद्, जीवन-  
ग्भ्याम्, जीवनद्भ्याम् । पदान्त इत्येव ? जीवनशौ ॥ ७० ॥

युजञ्चक्रुञ्चो नो ङः ॥ २ । १ । ७१ ॥

५ युजञ्चक्रुञ्चां नकारस्य पदान्ते वर्तमानस्य ङकार आदेशो भवति । युनक्तेः क्तिपि, घुटि नागमे, संयोगान्तलोपे-

नपुसके सेङ्गिपि दत्वे च रूपम् । खनङ्गुदिति । एकत्वे कच्प्रसङ्गात् शोभना अनङ्गाहो यस्य कुलस्येति विग्रह, शेष पूर्ववत् । “नाम सिदध्य  
जने” इति पदान्तत्वादुदाहरति-उच्चास्रङ्गामित्यादि । विद्वत्तेति । विदुषो भावो विद्वत्ता “भावे त्वतद्ध” ७।१।५५। उपसेदिवत्तम  
२ इति । बह्वना मध्ये प्रकृष्ट उपसेदिवान् इति विग्रहे “प्रकृष्टे तमप्” ७।३।५। इति तमप् । यङ्बन्तान्धां ससिध्वसिभ्यां किप् न दृश्यते । कसौ  
ककारो ‘वसं’निवासे ‘वसिक्’ आच्छादने अनयोर्व्युदासार्थं, तेन वसे क्तिपि यजादित्वात् यदृति वीर्धत्वे-क, क्षौम वस्ते क्तिपि क्षौमव । ननु  
वसतिवत्स्यो सकारान्तत्वाव्यभिचारात् व्यभिचारे च विशेषणस्यार्थवत्त्वात् व्यभिचारिण कस एव ग्रहण भविष्यति, वसिपति सकारोपादानात्,  
३ इति किमर्थं ? कस्तेत्यत्र ककारकरणमिति चेद्, उच्यते-तदभावेऽन्यथाऽपि प्रतीतौ यङ्बन्तयोरेतयोरेव ह्यस्तनीसिध्वन्तयोर्विशेषविहितत्वेन “से  
स्त्वां च रुर्वा” ४।३।७९। इति सिक्लोपाभावे वस्तिपि रूपाद्ग्रहणं स्यात् इतीह मा भूत् इति ककारकरणम् । विद्वान्, विद्वन्नित्यादि । विद्वत्-  
शब्दात् सौ, उदित्वात् नागमे, “न्समहत्” इत्यनामङ्ये सौ वीर्धत्वे, “पदस्य” इति प्रकृतिसंस्कारलोपे, सकारान्तत्वाभावात् नकारस्य दत्वाभाव ।  
४ ननु अनङ्गुदशब्दात् “अनङ्गुह सौ” १।४।२। इति नागमे “पदस्य” इति हलोपे दत्वप्रसङ्ग इति चेत्, मैवम्, यदि कृतस्यापि नकारस्य दत्व  
स्यात् तद्विधानमनर्थकं स्यादत आह-एवं तर्हीत्यादि । आख्यातमेतद्वृत्तौ । ननु यदि नकारविधानसामर्थ्यात् प्राप्नुवन् विधिर्न भवति तर्हि अन-  
ङ्गास्त्रेत्यादौ “नोऽप्रशानो” इति सकारोऽपि न प्राप्नोतीति चेत्, न, ‘य विधिं प्रत्युपदेशोऽनर्थकं स विधिर्बाध्यते’ इति न्यायात् दत्व प्रति  
५ नकारोपदेशोऽनर्थको न सत्व प्रति, तस्य तस्मिन्निमित्तत्वादिति भावः । त्रयाणां सकारान्तत्वात् अनङ्गुदस्य ङकारान्तत्वात् “सो र”, “हो धुट्”  
इत्येतद्विषय एव अक्षररम्भाद् अपवादत्वात्तयोर्बाधक, विद्वन्निरित्यादौ संयोगान्तलोपाप्रवृत्तौ अस्य चरितार्थत्वात् अबाधकत्वात् विद्वानित्यत्र तृमय-  
प्राप्तौ दत्वस्य परेऽस्तत्वात् स एव प्रवर्तत इत्याह-एतच्च दत्वमित्यादि ॥ ६८ ॥

६ ऋत्विज्दिशदृशस्पृशसृजद्घृषुष्णिहो गः । अत्र पदान्त इत्यनुवर्तते, पदान्ते ऋत्विज्दिशदृशस्पृशसृजद्घृषुष्णिह ग इत्य-  
न्वयस्तदर्थमाह-एषामित्यादि । “षष्ठा अन्यस्य” इति परिभाषायलभ्यमर्थमाह-अन्तादेश इति । ऋत्विगादिशब्दार्थं व्युत्पत्तिप्रदर्शन-  
पुर सरमाह-ऋतुमित्यादि । “यजी” देवपूजादौ, “दिशीद्” अतिसर्जने, “दृश” प्रेक्षणे, “सृशत्” विसर्गे, “जिष्टपाद्” प्रागल्भ्ये, “णिहौच्” प्रीतौ,  
७ “णर्हौच्” बन्धने, इत्येषां क्तिपि अन्ययत्तत्वं “अन्यत्वादेरा” ३।२।१५२। इत्यात्वे, सिलोपेऽनेन गत्वे, पक्षे “विरामे” इति प्रथमत्वे-ऋत्वि-  
गादयः । सज व्युत्पादयति-सृज्यत इत्यादि । ननु सृज्यातो क्तिपि ङकारस्य रत्व कथमित्याह-अत एवेत्यादि । तमेव प्रकारान्तरेण  
साधयति-‘सृ’ गतावित्यस्येत्यादि । ननु दृश इत्यत्र द्विरुक्ति कस्मादित्याह-अत एव निर्देशादित्यादि । उष्णिहशब्दप्रक्रियामाह-  
८ ऊर्ध्वं स्निहतितीत्यादि । “नाम सिदध्य” इति पदान्तत्वादुदाहरति-ऋत्विग्भ्यामित्यादि ॥ ६९ ॥

नशो वा । अत्र पदान्त इति ग इति चानुवर्तते, नशे पदान्ते ग वा इत्यन्वयस्तदर्थमाह-नशोरित्यादि । ‘जीव’प्राणधारणेऽतो जीव-  
तीति विग्रहे “नान्पुपान्य” ५।१।५४। इति के-जीव, नशे कुधादित्वात्किष्कयोगे कर्तृपट्टीसमासे, सिलोपेऽनेन गत्वे, “विरामे” इति  
९ प्रथमत्वे-जीवनग्, जीवनक् इति । पक्षे-गत्वाभावपक्षे “यजञ्चक्रु” इति पत्वे, “घुट्स्त्रुतीय” इति टत्वे, प्रथमत्वे-जीवनद्,  
जीवनद् इति । एव “नाम सिदध्य” इति पदान्तत्वात्-जीवनग्भ्यामित्यादि ॥ ७० ॥

युजञ्चक्रुञ्चो नो ङः । अत्र पदान्ते इत्यनुवर्तते, पदान्ते युजञ्चक्रुञ्च न ङ इत्यन्वयस्तदर्थमाह-युजञ्चक्रुञ्चामित्यादि ।

५ युनक्तेः क्तिपीति । ‘युज्यी’ योगे, इति घातो क्तिप् इत्यर्थः । घुटि नागमे इति । “अच” इत्यनेनेति शेषः । संयोगान्तलोपे इति ।

युङ्; अञ्चतेरनर्चायां नलोपे, घुटि नागमे, अर्चायां तु नलोपाभावे-प्राङ्, प्राङ्म्याम्, प्राङ्पु, प्राङ्क्षु; कुञ्चरेत एव निर्देशात् “नो व्यञ्जनस्यानुदितः” ॥ ४ । २ । ४५ ॥ इति नलोपाभावे-कुङ्, कुङ्म्याम्, कुङ्पु; कुङ्क्षु । पदान्त इत्येव ? युञ्जौ, युञ्जः; प्राञ्चौ, प्राञ्चः; कुञ्चौ, कुञ्चः ॥ ७१ ॥

सो रुः ॥ २ । १ । ७२ ॥

पदान्ते वर्तमानस्य सकारस्य रुादेशो भवति । मित्रशीः, आशीः, अग्निरत्र, वायुरत्र, अग्निर्गच्छति, पयः, पयो-  
म्याम्; पयोवत् । उकारः “अतोः सुपि रः” ॥ १ । ३ । ५७ ॥ इत्यत्र विशेषणार्थः ॥ ७२ ॥

सजुषः ॥ २ । १ । ७३ ॥

सजुष् इत्येतस्य पदान्ते वर्तमानस्य रुन्तादेशो भवति । सजूर्देवैः, सजूर्कृपिभिः, सहपूर्वस्य जुपेः किपि, सहस्य  
सभावे रूपमेतत् । सजूर्म्याम्, सजूर्वत् । पदान्त इत्येव ? सजुषौ ॥ ७३ ॥

अहः ॥ २ । १ । ७४ ॥

अहनश्चन्दस्य पदान्ते रुतियमादेशो भवति, स चासन् परे स्यादिविधौ च । दीर्घाण्यहान्यस्मिन् हे दीर्घाहो  
निदाघः, दीर्घाहा निदाघः; अत्र रुत्वस्यासत्त्वात् नान्तलक्षणो दीर्घो भवति । कश्चित्तु दीर्घत्व नेच्छति, तन्मते-दीर्घाहो १२  
निदाघः । अहोम्याम्, अहस्तु । अहनश्चन्द्रमित्यत्राहनश्चन्दस्य त्याद्यन्तस्य लाक्षणिकत्वात् न भवति ॥ ७४ ॥

रो लुप्यरि ॥ २ । १ । ७५ ॥

अहनश्चन्दस्य लुपि सत्यामरेफे परे पदान्ते रोऽन्तादेशो भवति, रोरपवादः । अहरधीते, अहरेति, अहर्ददाति, १५  
अहर्शुक्ते, दीर्घाहाश्चासौ मासश्च दीर्घाहर्मासः, अहःकाम्यति, अहर्वा न् । लुपीति किम् ? हे दीर्घाहोऽत्र । अरीति किम् ?

“पदस्य” इत्यनेनेति भावः । अनेन नस्य उक्ते-युङ् इति । प्रपूर्वात् ‘अच्’ गतौ घातो कर्तरि किपि “अयोऽनर्चायाम्” ४।२।४६। इति नलोपे  
“अच्” इति घुटि नोऽन्ते सिलोपे सयोगान्तलोपे चानेन नस्य उकार-प्राङ्, अर्चायां तु नलोपाभाव एव विशेषस्तदाह-अञ्चतेरित्यादि । ननु १८  
‘कुञ्च’ गतौ, इत्यस्मात् किपि, “नो व्यञ्जनस्यानुदितः” ४।२।४५। इति नलोपे सति नकाराभावाद्नेन कय नस्य उ इत्यत आह-कुञ्चरेत एवे-  
त्यादि । प्राङ्क्षु इति । “ङ्णो कय” इति वा कोऽन्तस्तत एत्वे कपयो क्ष “शिय्यायस” इति वैकल्पिके द्वितीये प्राङ्क्षु इत्यपि । एव  
कुङ्क्षित्वापि बोध्यम् ॥ ७१ ॥

सो रुः । अत्र पदान्ते इत्यनुवर्तते, पदान्ते स रुतियन्वयस्तदर्थमाह-पदान्ते वर्तमानस्येत्यादि । ‘शासूक्’ अनुशिष्टान्वितो  
स्मिन् शास्तीति किपि इसादेशे सिलोपेऽनेन रुत्वे दीर्घत्वे-मित्रशीः । आशीः पूर्ववत् । उकार इति । उकारमन्तरेण तत्र सूत्रे ‘अर’  
इत्युक्ते एव सूत्रविहितस्य रेफस्य वचनवैयर्थ्यं मा भूदिति पयः इत्यादौ रेफ, गीष् इत्यादौ तु अर इति प्रतिषेधाद् विसर्ग इति विपर्ययः २४  
प्रवीति स्यादित्यर्थः ॥ ७२ ॥

सजुषः । पदान्ते इति रुति चानुवर्तते, पदान्ते सजुष रुतियन्वयस्तदर्थमाह-सजुष् इत्येतस्येत्यादि । सह जुपत इति किपि,  
अतएव निर्देशात् सभावे परे कार्येऽस्यासत्त्वादपि “घुटस्तृतीय” इति परस्मिन्मुखे कर्तव्ये पूर्वस्यापवादभूतस्यास्यासत्त्वाभावाद्नेन रुत्वे २७  
“पदान्ते” इति दीर्घे च-सजूर्देवैरिति । देवैरित्युक्त्या सर्वज्ञवचनोऽयम् । सजूर्कृपिभिरिति । सुनिवचनोऽयम्, ऋपिभिरित्युक्ते ॥ ७३ ॥

अहः । अत्र पदान्त इति रुति चानुवर्तते, अह पदान्ते रुतियन्वयस्तदर्थमाह-अहनश्चन्दस्येत्यादि । असत्परे इति स्यादि-  
विधाविति चाधिकृतत्वादाह-स चासन्नित्यादि । हे दीर्घाह इति । हेचन्द आमन्त्रयितुं नार्थः, अनामन्त्रये तु “नि दीर्घ” इति दीर्घत्वे ३०  
“अवर्णमोगोऽघो” इति रुलोपे-दीर्घाहा निदाघ इति । नन्वत्र सिलोपे परत्वात् नकारस्य रुत्वे नकाराभावात् कय दीर्घ इति चेत्,  
न, स्याधिकारविहितत्वात् दीर्घे कर्तव्ये रुत्वस्यासिद्धत्वादित्याह-अत्र रुत्वस्यासत्त्वादित्यादि । मतान्तरमाह-कश्चित्तु इति । दुर्गसिंह ।  
अहोम्याम्, अहस्तु-अत्र “नामसिद्धय” इति पदत्वाक्षरकस्य रुत्वम् । ननु हनेर्धस्तन्या दिवि सिवि वा “अधातो” इत्यङगमे, ३३  
“व्यञ्जनादे सध द” ४।३।७८। इति “से रुदां च रुवा” ४।३।७९। इति च दिव्सिलोपे अहन इत्येतस्य पदत्वात् नस्य रुत्व कस्याज भवति ?  
प्रतिपदोक्ते हि सति लाक्षणिक ‘लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया’ निराक्रियते, न च प्रतिपदोक्तस्य सभावो नाम तथाहि-अहश्च “ध्वन्मातरिध्वन्”  
उणा० १०२। इत्यनि निपातने कय प्रतिपदोक्त स्यात् ? तस्मादातोरह संज्ञातपदसंज्ञकनाम्नश्च रुत्वेन भवितव्यमिति यो वदति त प्रत्याह- ३६  
अहनश्चन्द्रमित्यत्रेत्यादि । अयमाशयः-उणादयोऽन्युत्पन्नानि नामानि इत्यस्मिन् पक्षे नाम्न प्रतिपदोक्तस्य सभावात् लाक्षणिकस्य न ग्रहण-  
मिति । व्युत्पत्तिपक्षस्तु नेहाश्रित इति ॥ ७४ ॥

रो लुप्यरि । अह इति पदान्त इति चानुवर्तते, अह लुपि अरि पदान्ते र इत्यन्वयस्तदर्थमाह-अहनश्चन्दस्येत्यादि । अहन- ३९  
चन्दस्य रेफान्वयस्मिन् परे “अतोऽति रोह” इत्यादिना सत्त्वं मा भूदिति “अह” इति सूत्रविहितरोरपवादोऽयमुच्यत इत्याह-रोरपवाद  
इति । अहरधीते इत्यादौ “कालाध्वनोर्व्याती” २।२।४२। इति द्वितीयैकवचनस्य “अन्तो लुप्” इति लुप् । “ऐकार्थे” इति लुपि-दीर्घा-  
हर्मास इत्यादयः । हे दीर्घाहोऽत्र इति । अत्र समासान्तवर्तिविभक्त्येऽपि दीर्घाहनश्चन्द्रादुत्पन्नविभक्त्यङ्गपक्षे पदत्वं लुपीति प्रत्यासत्त्या ४२

सान्तस्यैव यथा स्यात्, इह मा भूत्-विद्वान् !, हे विद्वन् !, उपसेदिवान्, हे उपसेदिवन् !; सकारस्य “पदस्य” ॥२१॥८९॥  
इति लोपेन निवर्तितत्वात् । एवं तर्हि अनङ्गान्, हे अनङ्गन् ! इत्यत्र नकारस्यापि प्राप्नोति, तत्र विशेषणामावात्, नैवम्;  
१ नकारविधानसामर्थ्यात् न भविष्यति । एतच्च दत्तं ‘येन नाप्राप्ते’ इति न्यायात् रुत्वद्वययोरेव बाधकम्, संयो-  
गान्तलोपे पुनः प्राप्ते चाऽप्राप्ते चारभ्यत इति तस्य बाधकं न भवति । पदान्त इत्येव ? उखाखसौ, पर्णखसौ,  
विद्वांसौ; अनङ्गाहौ ॥ ६८ ॥

६ ऋत्विज्दिशदृशस्पृशस्त्रजृदधृपुष्णिहो गः ॥ २ । १ । ६९ ॥

एषां पदान्ते वर्तमानानां गोऽन्तादेशो भवति । ऋतुम्, ऋतौ, ऋतवे, ऋतुप्रयोजनो वा धृजते-ऋत्विक्, ऋत्विग्,  
दिश्यते इति-दिक्, दिग्; पश्यति दर्शनं वा-दृक्, दृग्, अन्य इव दृश्यते-अन्यादृक्, अन्यादृक्, एवं यादृग्, यादृक्;  
१ तादृग्, तादृक्; घृतं स्पृशति-घृतस्पृग्, घृतस्पृक्; मन्त्रेण स्पृशति मन्त्रस्पृग्, मन्त्रस्पृक्; सृज्यत इति कृधसंप्रदादित्वात्  
किप्, अत एव निर्देशात् ऋतो रत्व च, ‘सृ’ गतावित्यस्य वा कज्-स्रग्, स्रक्; धृष्णोतीति दधृष्, अत एव निर्देशाद् द्वि-  
त्वम्-दधृग्, दधृक्, ऊर्ध्वं स्निहति नहति वा, अत एव निर्देशात् उदो दकारस्य लोपे सस्य षत्व, नहेर्नकारस्य च  
२१ णिरादेशः-उष्णिग्, उष्णिक्, ऋत्विग्याम्, दिग्ग्याम्, दग्ग्याम्, घृतस्पृग्याम्, स्रग्ग्याम्, दधृग्ग्याम्, उष्णि-  
ग्याम् । पदान्त इत्येव ? ऋत्विजौ, दिशौ, दृशौ, घृतस्पृशौ, स्रजौ, दधृपौ; उष्णिहौ ॥ ६९ ॥

नशो वा ॥ २ । १ । ७० ॥

२५ नशेः पदान्ते गोऽन्तादेशो वा भवति । जीवस्य नशनम्-जीवनग्, जीवनक्; पक्षे-जीवनद्, जीवनद्, जीवन-  
ग्याम्, जीवनद्ग्याम् । पदान्त इत्येव ? जीवनशौ ॥ ७० ॥

युजञ्चकुञ्चो नो ङः ॥ २ । १ । ७१ ॥

२८ युजञ्चकुञ्चां नकारस्य पदान्ते वर्तमानस्य ङकार आदेशो भवति । युनक्तेः किपि, घुटि नागमे, संयोगान्तलोपे-

नपुसके सेर्लपि दत्वे च रूपम् । स्वनङ्गुदिति । एकत्वे कच्चप्रसङ्गात् शोभना अनङ्गाहो यस्य क्लृप्तेति विग्रहः, शेष पूर्ववत् । “नाम सिद्व्य  
अने” इति पदान्तत्वादुदाहरति-उखाखस्यमित्यादि । विद्वत्तेति । विदुषो भावो विद्वत्ता “भावे त्वतब्” ७।१।५। उपसेदिवत्तम्  
२१ इति । बहूनां मध्ये प्रकृष्ट उपसेदिवान् इति विग्रहे “प्रकृष्टे तमप्” ७।१।५। इति तमप् । यङ्लुबन्ताभ्यां सप्तित्विभ्यां किप् न दृश्यते । कसो  
ककारो ‘वक्ष’निवासे ‘वसिक्’ आच्छादने अनयोर्व्युदासार्थं, तेन वसे किपि यजादित्वात् दृष्टति वीर्धत्वे-क, क्षौम वस्ते किपि क्षौमव । ननु  
वसतिवत्स्यो सकारान्तत्वाव्यभिचारात् व्यभिचारे च विशेषणस्यार्थत्वात् व्यभिचारेण कस एव ग्रहण भविष्यति, वसिषति सकारोपादानात्,  
२४ इति किमर्थं ? कस्तेत्यत्र ककारकरणमिति चेद्, सच्यते-तदभावेऽन्यथाऽपि प्रतीतौ यङ्लुबन्तयोरेतयोरेव हास्तीसिबन्तयोर्विशेषविहितत्वेन “से  
स्त्वां च र्वी” ४।१।७९। इति सिक्लोपाभावे वसिषति रूपाद्ग्रहणं स्यात् इतीह मा भूत् इति ककारकरणम् । विद्वान्, विद्वन्नित्यादि । विद्वत्-  
शब्दात् शौ, उदित्वात् नागमे, “न्समहत्” इत्यनामञ्च्ये सौ वीर्धत्वे, “पदस्य” इति प्रकृतिसकारलोपे, सकारान्तत्वाभावात् नकारस्य दत्वाभावे ।  
२७ ननु अनङ्गुदशब्दात् “अनङ्गुह सौ” १।१।७२। इति नागमे “पदस्य” इति हलोपे दत्वप्रसङ्ग इति चेद्, मैवम्, यदि कृतस्यापि नकारस्य दत्व  
स्यात् तद्विधानमनर्थकं स्यादत आह-एषं तर्हीत्यादि । व्याख्यातमेतद्वृत्तौ । ननु यदि नकारविधानसामर्थ्यात् प्राप्नुवद् विधिर्न भवति तर्हि अन-  
ङ्गान्तत्रेयादौ “नोऽप्रधानो” इति सकारोऽपि न प्राप्नोतीति चेत्, न, “य विधिं प्रत्युपदेशोऽनर्थकं स विधिर्बाध्यते” इति न्यायात् दत्व प्रति  
३० नकारोपदेशोऽनर्थको न सत्व प्रति, तस्य तन्निमित्तत्वादिति भावः । त्रयाणां सकारान्तत्वात् अनङ्गुदश्च इकारान्तत्वात् “खो र्” , “हो धुर्”  
इत्येतद्विषय एव अक्षरान्मात् अपवादत्वात्तयोर्बाधक, विद्वत्त्रिरित्यादौ संयोगान्तलोपाप्रवृत्तौ अस्य चरितार्थत्वात् अबाधकत्वात् विद्वानित्यत्र तूभय-  
प्राप्तौ दत्वस्य परेऽसत्त्वात् स एव प्रवर्तते इत्याह-एतच्च दत्वमित्यादि ॥ ६८ ॥

३३ ऋत्विज्दिशदृशस्पृशस्त्रजृदधृपुष्णिहो गः । अत्र पदान्त इत्यनुवर्तते, पदान्ते ऋत्विज्दिशदृशस्पृशस्त्रजृदधृपुष्णिहो ग इत्य-  
न्वयस्तदर्थमाह-एषामित्यादि । “वक्ष्या अन्यस्य” इति परिभाषाबलमन्यमर्थमाह-अन्तादेश इति । ऋत्विगादिशब्दार्थं व्युत्पत्तिप्रदर्शन-  
पुर सरमाह-ऋतुमित्यादि । ‘यजी’ देवपूजादौ, ‘दिशीत्’ अतिसर्जने, ‘दृश’ प्रेक्षणे, ‘स्पृशत्’ विसर्गे, ‘मिष्टपाद’ प्रागल्भ्ये, ‘णिहौचू’ श्रीतो,  
३४ ‘णहौचू’ वन्दने, इत्येषां किपि अन्यत्वात् “अन्यत्वादयेर” ३।२।१५२। इत्यात्वे, सिलोपेऽनेन गत्वे, पक्षे “विरामे” इति प्रथमत्वे-ऋत्वि-  
गादयः । स्रज व्युत्पादयति-सृज्यत इत्यादि । ननु स्रज्धातो किपि ऋकारस्य रत्व कथमित्याह-अत एवेत्यादि । तमेव प्रकारान्तरेण  
साधयति-‘सृ’ गतावित्यस्येत्यादि । ननु दधृष् इत्यत्र द्विसृक् कसादित्याह-अत एव निर्देशादित्यादि । उष्णिहश्चन्द्रप्रक्रियामाह-  
३५ ऊर्ध्वं स्निहतीत्यादि । “नाम सिद्व्य” इति पदान्तत्वादुदाहरति-ऋत्विग्यामित्यादि ॥ ६९ ॥

नशो वा । अत्र पदान्त इति ग इति चानुवर्तते, नशो पदान्ते ग वा इत्यन्वयस्तदर्थमाह-नशोरित्यादि । ‘जीव’प्राणधारणेऽतो जीव-  
तीति विग्रहे “नाम्पुपान्य” ५।१।५४। इति के-जीव, नशे कुधादित्वात्किङ्कयोगे कर्तृपट्टीसमासे, सिलोपेऽनेन गत्वे, “विरामे” इति  
३२ प्रथमत्वे-जीवनग्, जीवनक् इति । पक्षे-गत्वाभावपक्षे “यजस्रज” इति षत्वे, “धुटिस्तृतीय” इति ङत्वे, प्रथमत्वे-जीवनद्,  
जीवनद् इति । एव “नाम सिद्व्य” इति पदान्तत्वात्-जीवनग्यामित्यादि ॥ ७० ॥

युजञ्चकुञ्चो नो ङः । अत्र पदान्ते इत्यनुवर्तते, पदान्ते युजञ्चकुञ्च न ङ इत्यन्वयस्तदर्थमाह-युजञ्चकुञ्चामित्यादि ।  
४५ युनक्तेः किपीति । ‘युजुपी’ योगे, इति धातो किप् इत्यर्थः । घुटि नागमे इति । “अच” इत्यनेनेति शेषः । संयोगान्तलोपे इति ।

युङ्; अञ्चतेरनर्चायां नलोपे, घुटि नागमे, अर्चायां तु नलोपाभावे-प्राङ्, प्राङ्म्याम्, प्राङ्पु, प्राङ्क्षु; कुञ्चरेत एव निर्देशात् “नो व्यञ्जनस्यानुदितः” ॥ ४ । २ । ४५ ॥ इति नलोपाभावे-कुङ्, कुङ्म्याम्, कुङ्पु; कुङ्क्षु । पदान्त इत्येव ? युञ्जौ, युञ्जः; प्राञ्चौ, प्राञ्चः; कुञ्चौ, कुञ्चः ॥ ७१ ॥

सो रुः ॥ २ । १ । ७२ ॥

पदान्ते वर्तमानस्य सकारस्य रुतादेशो भवति । मित्रशीः, आशीः, अशिरत्र, वायुरत्र, अग्निर्गच्छति, पयः, पयो-  
म्याम्; पयोवत् । उकारः “अरोः सुपि रः” ॥ १ । ३ । ५७ ॥ इत्यत्र विशेषणार्थः ॥ ७२ ॥

सजुषः ॥ २ । १ । ७३ ॥

सजुष् इत्येतस्य पदान्ते वर्तमानस्य रुन्तादेशो भवति । सजूर्देवैः, सजूर्कपिभिः; सहपूर्वस्य जुपेः किपि, सहस्य  
समावे रूपमेतत् । सजूर्म्याम्, सजूर्वत् । पदान्त इत्येव ? सजुषौ ॥ ७३ ॥

अहः ॥ २ । १ । ७४ ॥

अहनश्चन्दस्य पदान्ते रुरित्ययमादेशो भवति, स चासन् परे स्यादिविधौ च । दीर्घाण्यहान्यस्मिन् हे दीर्घाहो  
निदाघ !, दीर्घाहा निदाघः; अत्र रुत्वस्यासत्त्वात् नान्तलक्षणो दीर्घो भवति । कश्चित्तु दीर्घत्वं नेच्छति, तन्मते-दीर्घाहो ॥ २  
निदाघः । अहोम्याम्, अहस्सु । अहनश्चन्द्रमित्यत्राहनश्चन्दस्य त्याघन्तस्य लक्षणिकत्वात् न भवति ॥ ७४ ॥

रो लुप्यरि ॥ २ । १ । ७५ ॥

अहनश्चन्दस्य लुपि सत्यामरेफे परे पदान्ते रोऽन्तादेशो भवति, रोऽपवादः । अहरधीते, अहरेति, अहर्ददाति, १५  
अहर्मुक्ते, दीर्घाहाश्चासौ मासश्च दीर्घाहर्मासः, अहःकाम्यति, अहर्वाच । लुपीति किम् ? हे दीर्घाहोऽत्र । अरीति किम् ?

“पदस्य” इत्यनेनेति भावः । अनेन नस्य ङत्वे-युङ् इति । प्रपूर्वात् ‘अय’ गतौ धातो कर्तरि किपि “अयोऽनर्चायाम्” ४।२।४६ इति नलोपे  
“अय” इति घुटि नोऽन्ते सिलोपे सयोगान्तलोपे चानेन नस्य ङकार -प्राङ्, अर्चायां तु नलोपाभाव एव विशेषस्तदाह-अञ्चतेरित्यादि । ननु १८  
‘कुञ्च’ गतौ, इत्यस्मात् किपि, “नो व्यञ्जनस्यानुदितः” ४।२।४५ इति नलोपे सति नकाराभावाद्देनेन कय नस्य ङ इत्यत आह-कुञ्चरेत एवे-  
त्यादि । प्राङ्क्षु इति । “ङ्णो कटा०” इति वा कोऽन्तस्तत् षत्वे कपयो क्ष “शिथ्यायस्य०” इति वैकल्पिके द्वितीये प्राङ्पु इत्यपि । एवं  
लुङ्क्षित्यत्रापि बोध्यम् ॥ ७१ ॥

सो रुः । अत्र पदान्ते इत्यनुवर्तते, पदान्ते स रुरित्यन्वयस्तदर्थमाह-पदान्ते वर्तमानस्येत्यादि । ‘शासूह’ अनुशिष्टावित्यतो  
मेव शास्त्रीति किपि इसादेशे सिलोपेऽनेन रुत्वे दीर्घत्वे-मित्रशीः । आशीः पूर्ववत् । उकार इति । उकारमन्तरेण तत्र सूत्रे ‘अर’  
इत्युक्ते एव सूत्रविहितस्य रेफस्य वचनवैयर्थ्यं भा भूदिति पय इत्येतदो रेफ, गीर्षु इत्यादौ तु अर इति प्रतिषेधाद् विसर्ग इति विपर्यय- २४  
प्रतीति स्यादित्यर्थः ॥ ७२ ॥

सजुषः । पदान्ते इति रुरिति चानुवर्तते, पदान्ते सजुष रुरित्यन्वयस्तदर्थमाह-सजुष् इत्येतस्येत्यादि । सह जुपत इति किपि,  
अतएव निर्देशात् समावे परे कार्येऽस्यासत्त्वादपि “घुटस्तृतीय” इति परस्मिण्त्वस्य कर्तव्ये पूर्वस्यापवादभूतस्यासासत्त्वाभावाद्देनेन रुत्वे २७  
“पदान्ते” इति दीर्घे च-सजूर्देवैरिति । देवैरित्युक्त्या सर्वज्ञवचनोऽयम् । सजूर्कपिभिरिति । मुनिवचनोऽयम्, ऋषिभिरित्युक्ते ॥ ७३ ॥

अहः । अत्र पदान्त इति रुरिति चानुवर्तते, अह पदान्ते रुरित्यन्वयस्तदर्थमाह-अहनश्चन्दस्येत्यादि । असत्परे इति स्यादि-  
विधामिति चाधिकृतत्वादाह-स चासन्नित्यादि । हे दीर्घाह इति । हेऽहो आमन्त्रयतनार्थं, अनामङ्गये तु “नि दीर्घे” इति दीर्घत्वे ३०  
“अवर्णभोगमोऽप्यो०” इति सिलोपे-दीर्घाहा निदाघ इति । नन्वत्र सिलोपे परत्वात् नकारस्य रुत्वे नकाराभावात् कय दीर्घ इति चेत्,  
न, सायधिकारविहितत्वात् दीर्घे कर्तव्ये रुत्वस्यासिद्धत्वादित्याह-अत्र रुत्वस्यासत्त्वादित्यादि । मतान्तरमाह-कश्चित्तु इति । दुर्गसिंह ।  
अहोम्याम्, अहस्सु-अत्र “नामसिद्धय०” इति पदत्वाङ्कारस्य रुत्वम् । ननु हनेर्हस्तस्या दिवि सिवि वा “अङ्धातो०” इत्यङ्गमे, ३६  
“व्यञ्जनादे सख द” ४।३।७८ इति “ख रुद्धा च रुवी” ४।३।७९ इति च दिव्सिबोर्लोपे अहन् इत्येतस्य पदत्वात् नस्य रुत्व कस्यान भवति ?  
प्रतिपदोक्ते हि सति लाक्षणिक ‘लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया’ निराक्रियते, न च प्रतिपदोक्तस्य सभवो नाम तथाहि-अहश्च “ध्वन्मातरिध्वन्०”  
उणा० ९०२ इत्यनि निपातने कय प्रतिपदोक्त स्यात् ? तस्माद्धातोर्द्ध सेजातपदसंज्ञकनाग्रश्च रुत्वेन भवितव्यमिति यो वदति त प्रत्याह- ३६  
अहन् शत्रुमित्यत्रेत्यादि । अयमाशयः-“ङ्णोदयोऽन्युत्पत्तिनामानि” इत्यस्मिन् पक्षे नात्र प्रतिपदोक्तस्य सभवात् लाक्षणिकस्य न ग्रहण-  
मिति । व्युत्पत्तिपक्षस्तु नेहाश्रित इति ॥ ७४ ॥

रो लुप्यरि । अह इति पदान्त इति चानुवर्तते, अह लुपि अरि पदान्ते र इत्यन्वयस्तदर्थमाह-अहनश्चन्दस्येत्यादि । अहन्- ३९  
चान्दस्य रेफान्यस्मिन् परे “अतोऽति रोऽ” इत्यादिना उत्त भा भूदिति “अह” इति सूत्रविहितरोरपवादोऽयमुच्यत इत्याह-रोरपवाद  
इति । अहरधीते इत्यादौ “कालाघ्नोर्व्याती” २।२।४२ इति द्वितीयैकवचनस्य “अनतो लृप्” इति लृप् । “ऐकाग्र्ये” इति लुपि-दीर्घा-  
हर्मास इत्यादयः । हे दीर्घाहोऽत्र इति । अत्र समासान्तवर्तिविभक्त्येऽपि दीर्घाहन्शब्दाद्भुत्पत्तिमधिकल्लगपेक्ष पदत्व लुपीति प्रत्यासत्त्या ४२

अहोरूपम्, अहोरात्रः; गतमहो रात्रिरागता, कृत्स्नमहो रथन्तरं गायति; सर्वमहो रमयस्व, यातं शनैः सर्वमहो रथेन । अन्ये तु रात्रिरूपरथन्तरेष्वेव रेफादिषु परेषु रेफप्रतिषेधमिच्छन्ति ॥ ७५ ॥

३

### धुटस्तृतीयः ॥ २ । १ । ७६ ॥

धुटां पदान्ते वर्तमानानां तृतीयो भवति । वाग्, वाग्भिः, अज्, अज्भिः, षड्, षड्भिः; विद्युद्, विद्युद्भिः, ककुब्, ककुब्भिः, विह्, विह्भिः । केचित्तु विसर्गजिह्वामूलीययोरप्यलाक्षणिकयोस्तृतीयत्व गत्वमिच्छन्तीति, तन्मते—सुपूर्वात् दुःख-  
१ यतेर्दुःखयतेर्वा किपि सयोगान्तलोपे—सुदुग्, सुदुग्भ्याम् इति सिद्धम् । पदान्त इत्येव ? वाचौ । कश्चरति, कष्टीकते, कस्तरतीत्यादिष्वादेशविधानसामर्थ्यात् न भवति, षष्ठ इत्यत्र तु ‘षष्ठी’ इति निर्देशात् न भवति ॥ ७६ ॥

### गडद्वादेश्चतुर्थान्तस्यैकस्वरस्यादेश्चतुर्थः स्ध्वोश्च प्रत्यये ॥ २ । १ । ७७ ॥

१ गडद्वादेश्चतुर्थान्तस्यैकस्वरस्य धातुरूपावयवस्यादेश्चतुर्थ आसन्नो भवति, पदान्ते सकारादौ ध्वशब्दादौ च प्रत्यये परे । ( पदान्ते—) पर्णधुद्, पर्णधुद्भ्याम्, पर्णधुद्त्वम्; तुण्डिममाचष्टे णौ किपि—तुण्डिप्, तुण्डिभ्याम्, तुण्डिपत्वम्; गोधुक्, गोधुग्भ्याम्, गोधुक्त्वम्, गर्दममाचष्टे णौ किप्—गर्धप्, गर्धभ्याम्, गर्धपत्वम्; धर्मभुत्, धर्मभुद्भ्याम्, धर्म-  
२ भुत्त्वम् । स्ध्वोः—‘गुहौ’ निघोक्ष्यते, न्यघूढम्; ‘दुह्’ घोक्ष्यते, अघुग्ध्वम्; ‘बुध्’—भोत्स्यते, बुभुत्सते; अभुद्भम् । गडद्वादे-

तत्रास्त्रीकाराच्च रोऽन्तादेश, न च तस्य स्थापेक्ष पदत्वम्, “वृत्त्यन्तोऽस्ये” इति निषेधात् । अहोरूपमिति । अहो रूपमिति षष्ठीसमास । अहोरात्र इति । अहश्च रात्रिश्चेति द्वन्द्वे “ककुसामर्ग्य” ७।३।१५। इति निपातनाद् भवति । गतमह इति । “अनत” इति सेर्जप् । रथन्तरतीति ३५ विग्रहे “मृद्वि” ५।१।११। इति खे उपपदसमासे “खित्यनव्याऽरूपे भोऽन्तो ह्रस्वश्च” ३।१।११। इति भागमे “तौ मुने” इत्यनु-  
स्वारानुविकयो अहोरूपमिति वत् समासेऽसमासे वा—अहो रथन्तरमिति । सर्वमह इत्यादौ अहश्चब्दाद्वितीयप्रथमयोरेकवचनम् । अन्ये तु—वार्तिककारा इत्यर्थः । ‘रुपरात्रिरन्तरेषु स्त्व वाच्यम्’ इति हि तेषां वचनम्, व्याख्यातारस्तु नेद परिगणनमिच्छादुरिति सर्वमहो-  
२८ रमयस्वेत्यन्यत्राप्युदाहृतम् ॥ ७५ ॥

धुटस्तृतीयः । अत्र पदान्ते इत्यनुवर्तते, पदान्ते धुट तृतीय इत्यन्वयस्तदर्थमाह—धुटमित्यादि । बहुवचनन्तु व्यक्त्वित्वा-  
पेक्षया बोध्यम् । वाग् इति । ब्रूते वचीति वा विग्रहे “दिद्युद्दज्जगद्ब्रू” ५।२।८३। इति किपि, धीर्त्वे, सिद्धिः, “वज कगम्” इति  
२१ कत्वे तस्यानेन तृतीयत्वे भवति । भिस्—वाग्भिरिति । अज् इति । सञ्ज्ञाशब्दत्वात् कत्वाभावेऽनेन जकारे रूपम् । एव भिस्—अज्भि-  
रिति । षड्भिति । षष्ठाशब्दात् “डतिष्ठा” इति जश्चसोर्लक्षि मूर्धन्यस्य षकारस्य “आसन्न” इति तृतीये ङकारे सिद्धति । एव भिस्—षड्भि-  
रिति । विद्युदिति । विपूर्वात् धुते किपि सिलोपेऽनेन तृतीयत्वे च भवति । एव भिस्—विद्युद्भिः । ककुयिति । क वायु स्फुभाति—विस्फारयति  
२४ ककुप्, “ककुप्यिद्युक्नुद्युभ” उणा० ६।३। इति किवन्तो निपात्यते, षष्वादेनेन तृतीय । एव भिस्—ककुब्भिः । विडिति । विशदीति  
किपि, कित्वात् गुणप्रतिषेधे, सिलोपे, “यजस्ज” इति शस्य षत्वेऽनेन तृतीये ङकारे भवति । एवं भिस्—विह्भिः । केचित्त्विति । आचार्य-  
शाकटायनाः । अलाक्षणिकयोरिति । प्रतिपदोक्तयोरित्यर्थः । ‘दु खण्’ तत्क्रियायाम्—अत्र दु खेति खकारात् पूर्व कैश्चिद्विर्गाः पठ्यते, कैश्चि-  
२७ जिह्वामूलीयस्त्रोभयत्रापि किपि, णिलोपे, प्रकृतिषकारस्य सयोगान्तस्य “पदस्य” इति लोपे, व्यञ्जनत्वात् कण्यत्वादेनेन तृतीयो गकार इत्युदाह-  
रति—सुपूर्वादित्यादि । ननु कश्चरतीत्यादौ रेफादेशस्य शकारादेर्दुद्वादासञ्ज्ञत्वात् तृतीयो जकारादि कस्माच्च भवति ? यद्यपि सो स्त्वस्य परे-  
ऽसत्त्वात् तृतीयस्याप्राप्तिस्तथापि मातृधरतीत्यादिषु आप्रोतीत्याह—कश्चरतीत्यादि ॥ ७६ ॥

३० गडद्वादेश्चतुर्थान्तस्यैकस्वरस्यादेश्चतुर्थः स्ध्वोश्च प्रत्यये । स च ध्व च स्ध्वौ तयोरिति स्ध्वो, चकारेण पदान्त इति  
समुच्चीयते स्ध्वोरिति प्रत्यये इत्यस्य विशेषणम् । तत्र च ध्वस्यादिप्रत्ययस्य देकविमिकिनिर्दिष्टत्वेन सकारोऽपि त्याहरेव । तौ च धातोरिव संम-  
वतस्त्वत्साहचर्यात्सर्वेति तदाक्षितौ धातुरवयवित्वेनावयवस्य विशेषण, रूपशब्दस्तु धृतौ भ्याश्चब्दादिधातुमात्रपरिग्रहाय । गश्च ङश्च दश्च वक्षे-  
३३ खेत आदिर्धस्य तस्य—गडद्वादेश्चरति, चतुर्थोऽन्ते यस्य तस्य—चतुर्थान्तस्येति, एक खरो यस्य तस्य—एकस्वरस्येति च त्रीण्यपि  
अन्यपदार्थाक्षिप्तस्यावयवस्य समानाधिकरणानि विशेषणानि । स च अवयवत्वेन आदेरित्यस्य स्थानषष्ठ्यन्तस्य कार्येणो विशेषणम्, तस्य च स्थाने  
चतुर्थो भवत् “आसन्न” इति न्यायेन गडदस्थाने षष्ठमरुप एव भवति । तत्र पदान्त इति विषयित्वेन विशेषणम्, प्रत्यय इति तु परत्वेन ।  
३६ तथा च—गडद्वादे चतुर्थान्तस्य एकस्वरस्य धातुरूपावयवस्य आदे चतुर्थ आसन्न, पदान्तविषये स्ध्वो च प्रत्यये इत्यन्वयस्तदाह—गडद्-  
वादेरित्यादि । तत्र पदान्तविषये उदाहरति—पर्णधुडित्यादि । ‘गुहौ’ सवरणेऽत पर्णानि गूहतीति किपि, सिलोपे, पदान्तत्वात् “हो धुद्-  
पदान्ते” इति ङत्वेऽनेनादेः चतुर्थत्वे भवति । एवमन्यदपि । ननु धातोरवयवस्येत्युच्यते, अत्र त्ववयवातिरिक्तस्य तुण्डिप् इत्यादिन च धातोरभावात्  
३९ कथं प्राप्ति ? इति चेदुच्यते—धातुरूपावयवस्येत्यत्र धृतौ समस्तनिर्देश उभयपरिग्रहाय, तेन यदा धातुरूपोऽवयव इति विग्रहस्तदा धातुरवयव  
समुदायस्त्ववयवीति सिध्यति—पर्णधुद् । यदा तु धातुरूपावयव इति विग्रहस्तदा तुण्डिभ् इत्यनं विभ् इत्यवयवस्यदतिरिक्तं धातुरवयवीति  
लक्ष्यसिद्ध्यर्थं क्वचित्किञ्चिदाधीयते । अथवा—यत्र तदतिरिक्तो धातुर्नास्ति तत्र व्यपदेशिवद्भावात् सिद्धिरिति सर्वं समञ्जसम् । शब्दरूपावयवस्येति  
४२ वा धृतौ पठनीयम्, तत्र च गृह् विम् इत्येव रूप शब्दोऽवयवो गडद्वादिचतुर्थान्त एकस्वर इति न कश्चिदोप । कुण्डमुम्मतीत्यादीनां तु किञ्च  
नास्तीति कि ? तद्व्यावृत्त्यर्थेन धातुप्रद्वेनेति । तुण्डिभिति । ‘तुडुह्’ तोडनेऽस्य “चदित खराचोऽन्त” इति नागमे, “किपिस्तिपि-  
शिनिटिबुटिदुष्टिपुण्डि” उणा० ६।८। इति इप्रत्यये साऽस्यास्तीति “वतिवटिपुण्डेर्भ” इति मे सिध्यति, ततोऽमे प्रक्रियामाह—तुण्डिममा-  
४५ चष्टे इत्यादि । गोधुगित्यादि । गां दोग्धीति किपि सिलोपे “ञ्वादेर्दोर्ध्वे” २।१।८३। इति षेऽनेनादिचतुर्थत्वे “विप्रमे वा” इति कत्वे  
सिध्यति । ‘गर्द’ शब्देऽत “कृशगृश्लिकलि” उणा० ३।२। इत्यमे गर्दमस्त्वत् आह—गर्दममित्यादि । षोप पूर्ववत् । ‘बुधिव्’ शाने  
धर्मं बुध्यत इति किपि—धर्ममुदित्यादि । सकारादौ ध्वशब्दादौ च प्रत्यये उदाहरति—निघोक्ष्यते इति । विपूर्वात् युद्धेर्भिव्यन्त्या स्यते-  
४८ प्रत्यये, उपान्यस्युपे, ङत्वेऽनेन षत्वे कत्वे पत्वे च भवति । न्यघूढमिति । अद्यतन्या ध्वभि, “हविषे नान्युपान्या” ३।४।५। इति सकि,



रिति किम् ? कुत्, क्रोत्सति, जभेर्यङ्लुपि-अजङ्गप् । चतुर्थान्तस्येति किम् ? सुगण्, दास्यति । एकस्वरस्येति किम् ? दाम  
लेडि किप्, दामलिहमिच्छति क्यन्, दामलिह्यति किप्-दामलिट् । स्त्वोश्चेति किम् ? धर्मबुधौ, बोद्धा । वर्णविधित्वेन  
स्थानिवद्भावो नास्तीति अबुद्ध, अबुद्धाः इत्यत्र सिञ्जुकि न भवति । धकारस्य वकारोपश्लिष्टस्य ग्रहणं किम् ? 'दधि' १  
धारणे, इत्यस्य यङ्लुपि, हौ धिभावे-दादद्धि । प्रत्यय इति किम् ? धाग् वस् द्वित्वम्, "अथाऽऽतः" ॥ ४ । २ । ९६ ॥  
इत्याकारलोपे, "अदीर्घाद्विरामैकन्यज्जेन" ॥ १ । ३ । ३२ ॥ इति धकारस्य द्विर्भावे-दद्धः, दद्धहे ॥ ७७ ॥

### धागस्त्योश्च ॥ २ । १ । ७८ ॥

दधातेश्चतुर्थान्तस्य दकारादेरादेर्दकारस्य तथयोः स्त्वोश्च प्रत्यययोः परयोश्चतुर्थो भवति । धत्तः, धत्ते, धत्थः, धत्थ्यः, धत्स्व, धत्से, धत्से, धत्से; अत्रासद्विधित्वाद् वचनसामर्थ्याद् वाऽऽतो लोपस्य खरादेशत्वेऽपि स्थानिवद्भावो न भवति । गकार-  
किम् ? धयतेर्मा भूत्, धेर्यङ्लुपि-दात्तः, दात्थः; दधातेरपि यङ्लुवन्तस्य मा भूत्, "तिवा श्वाऽनुवन्धेन निर्दिष्ट यद्गुणेन  
च । एकस्वरनिमित्तं च पञ्चैतानि न यङ्लुपि ॥" इति न्यायात्-दात्तः, दात्थः । केचित्तु यङ्लुवन्तस्यापीच्छन्ति-  
धात्तः, धात्थः, धात्थ । तथोश्चेति किम् ? दध्वः, दध्मः । चतुर्थान्तस्येति धाति, दधाति ॥ ७८ ॥

### अधश्चतुर्थान्तस्य तथोर्धः ॥ २ । १ । ७९ ॥

चतुर्थान्त परयोस्तकारयकारयोर्धारूपवर्जितात् धातोर्विहितयोः स्थाने धकार आदेशो भवति । दोग्धा, दोग्धुम्;  
अदुग्ध, अदुग्धाः, लेढा, लेढुम्, अलीढ, अलीढाः, चोद्धा, चोद्धुम्, अबुद्ध, अबुद्धाः, लब्धा, लब्धुम्, अलब्ध, अलब्धाः ।  
अध इति किम् ? दधातेर्यङ्लुवन्तधयतेश्च मा भूत्-धत्तः, धत्थः, दात्तः, दात्थः । केचित्तु यङ्लुवन्तधयतेरपीच्छन्ति-  
दाद्धः, दाद्ध । विहितविशेषण किम् ? ज्ञानभुत्वम्-अत्र नामविहिते त्वे मा भूत् ॥ ७९ ॥

"दुहदिहलिह" ४।१।७४ इति तस्य लुकि, "अद्धातोरादि" ४।१।२९ इत्यदि, "हो धुदपदान्ते" इति दत्वे, आदिचतुर्थत्वे, "तवर्गस्य" १८  
इति घस्य दत्वे, "दस्ते" इति दीर्घत्वे ढलोपे च रूपमिदम् । एव धोक्ष्यत इत्यापि । "कुधच्" कोपेऽत "कुवृषपदादिभ्य" इति किपि, १८  
सिञ्जि-कुत् इति । "जमुब्" गात्रविनामे, अतो गहितं जन्मते इति विप्रदे यदि, तलुपि, द्वित्वेऽनादिव्यञ्जनलोपे, "जपजमदहृदश" ४।१।२९  
इति म्वागमे, "व्यञ्जनादे सध्व द" इति णस्यन्त्या दिवो लुप्यङागमे च-अजङ्गप् इति । अत्र गडदधादेरभावात् न भवत्यादेश-  
तुर्थं । एव सुगण्, दास्यतीत्यत्र चतुर्थान्तत्वाभावादादेशतुर्थं । "हुदाङ्क्" दाने, अत "मन्" णा० ९।१।१ इति मनि-दामन्, त लेडोति २१  
किपि-दामलिट्, तमिच्छतीति "अमाव्यात्" इति क्यनि, किपि, अलोपे यलोपे च सौ-दामलिट् । अत्र दादिधतुर्थान्त एकस्रो नास्ती-  
त्यादेशतुर्थो न भवति । यदा तु धातुरूपावयवस्येति विहाय शब्दरूपावयवस्येति पठ्यते तदा दाम लेडोति किप्येव दामलिट् इति प्रत्युदाहरणम् ।  
ननु बुधेरयतन्यास्तप्रत्यये सिचो लुप्यङागमे सिच स्थानिवद्भावादादेशतुर्थं कस्माच्च भवति ? इत्याह-वर्णविधित्वेनेत्यादि । दद्ध इति । २४  
अत्र धकारदिर्भावे प्रत्ययग्रहणात् वकारोपश्लिष्टधकारस्य प्रत्ययत्वाभावादादेशतुर्थान्तस्य एकस्वरावयवस्येति धतुर्थो न भवति ॥ ७७ ॥

धागस्त्योश्च । तथ य च तथै तयो तथो, चकारेण स्त्वोरित्यनुकृष्यते, पूर्वस्मात् चतुर्थान्तस्येति आदेरिति चातुर्वर्तते । आदे-  
रित्यत्रातुर्वर्तमाने पूर्वस्थितगडदधीनामन्वयासम्भवात् दादेरेव सम्भवात् दादिमात्रमेव सच्यते । तथा च-धाग चतुर्थान्तस्य दादेरादे तयो २७  
स्त्वोश्च चतुर्थं इत्यन्वयस्तदाह-दधातेरित्यादि । घत्त इत्यादि 'हुधाक्' धारणे, अत तस्, ते, थस्, थ, से, थ, ध्वे ध्वम्, इत्येतेषु  
"ह धिति" ४।१।१२ इति द्वित्वे, "हस्" ४।१।२९ इति ह्रस्वत्वे, "द्वितीयतुर्थयो पूर्वा" ४।१।४२ इति दत्वे, "अथाऽऽतः" ४।१।९६ इति  
आकारलोपेऽनेनादेशतुर्थत्वे, "अधोपे प्रथमोऽश्लिष्ट" इति प्रथमत्वे, "तृतीयस्तृतीयचतुर्थे" इति दत्वे च सिध्यति । नन्वाऽऽकारलोपस्य ३०  
खरादेशत्वेन "खरस परे प्राविधौ" ७।४।१०१ इति स्थानिवद्भावात् चतुर्थान्तत्वाभावात् कयमादेशश्चतुर्थं इत्याह-अत्रासद्विधित्वादि-  
त्यादि । असद्विधौ "न सधिलीयकिद्धि" ७।४।१११ इति प्रतिषेधादिति भावः । असद्विधौ स्थानिवद्भावप्रतिषेधस्य केषांचिदसमतत्वात् तन्मतेऽपि  
सिधेदित्येतदर्थमाह-वचनसामर्थ्याद्वेति । चतुर्थान्तस्येति विशेषणस्याधकारापक्षस्यापि तत्रैकदेशत्वेन वचनत्वात् तत्सामर्थ्याच्च स्थानिव- ३३  
द्भावाभावात् चतुर्थान्तोऽयमित्यर्थः । "दधे" पाने, "हुधाक्" धारणे नाऽतोऽस्य पुन पुनर्धयति दधाति वा "व्यञ्जनादेरेकस्वराद्" ३।४।९ इति  
यदि, तस्य "बहुल लृप्" इति लृपि, "सन्ध्व" इति द्वित्वे, ह्रस्वत्वे, "द्वितीयतुर्थयो" इति दत्वे, "आ गुणाबन्धादे" ४।१।४८ इति आत्वे,  
ततस्तसि थसि च "अथाऽऽतः" इत्याकारलोपे धाग इति वचनादादिचतुर्थत्वाभावात् प्रथमत्वे-दात्तः, दात्थ इति । असुमेवार्थं पूर्वाचार्योक्तेन ३६  
प्रथयति-तिवेत्यादि । केचित्त्विति । देवनन्याचार्यो इत्यर्थः ॥ ७८ ॥

अधश्चतुर्थान्तस्य तथोर्धः । पूर्वस्येति निमित्तत्वेनोपादानात् इह तथोरित्यस्य पुनरुपादानं कार्यत्वात्, तथा चायमन्वय-चतुर्थान्तस्य तयो  
अध धातोर्विहितयोः स्थाने ध इति । तदाह-चतुर्थान्तस्येति । इहेस्तुचि तुमि धत्ते गुणेऽनेन धत्ते तृतीयत्वे-दोग्धा, दोग्धुमिति । १९  
तस्मादेव अयतन्यास्तयासोर्धत्वेऽनेन धत्ते तृतीयत्वेऽति सको लुकि च-अदुग्ध, अदुग्धा इति । लिहेस्तुचि तुमि दत्ते गुणेऽनेन धत्ते तस्य  
"तवर्गस्य" इति दत्वे तस्य "दस्ते" इति ढलोपे च-लेढा, लेढुमिति । तस्मादेव अयतन्यास्तयासोर्धत्वेऽनेन धत्ते तस्य "तवर्गस्य" इति  
दत्वे "दस्ते" इति ढलोपदीर्घयोश्च सको लुकि अटि च-अलीढ, अलीढा इति । एव बुधेरलम्बेन तुचि तुमि चैकत्रगुणे, अयतन्यास्तया ४२  
सोश्च सिच "धुहृहृल्लुगणितस्तयो" ४।१।७०१ इति लृप्यदि चानेन धत्ते तृतीय-बोद्धा, बोद्धुम्; अबुद्ध, अबुद्धा इत्यादि । धागो  
रूपाणि-घत्तः, धत्थः, दात्तः, दात्थ इति । अन्य रूपद्वय यङ्लुवन्तधयतेरपि बोध्यम् । यङ्लुवन्तधयतिविषये धत्वमिच्छतां मतमुप-  
न्यस्यति-केचित्त्विति । देवनन्याचार्यो । यङ्लुवन्तधयतेरस्य वा तसि थसि पञ्चमीते चानेन धत्ते-दाद्ध इत्यादयः । ज्ञानभुत्वमिति । ४५  
ज्ञानं धुप्यत इति किपि, ज्ञानबुधो "भावे" इति त्वे "गडदधादे" इति आदिचतुर्थत्वे धातोर्विहितयोस्तयोरेति विहितविशेषणात् नात्रो विहितस्य  
धकारो न भवति ॥ ७९ ॥

## नाम्यन्तात् परोक्षाद्यतन्याशिषो धो ढः ॥ २ । १ । ८० ॥

रेफान्तात् नाम्यन्ताच्च धातोः परासां परोक्षाद्यतन्याशिषां विभक्तीनां यो धकारस्तस्य ढकार आदेशो भवति । (२-)  
१ अतीर्द्धम्, तीर्पिद्धम्; तुष्टुद्धे, चकृद्धे, अदिद्धम्, अधिद्धम्, अचेद्धम्, अच्योद्धम्, अकृद्धम्, चेपीद्धम्, कृषीद्धम् । नाम्य-  
न्तादिति किम् ? अपगध्वम्, पक्षीध्वम् । नाम्यन्तादिति धातोर्विशेषणं किम् ? ववसिध्वे, आसिध्वम्, आसिपीध्वम् ।  
परोक्षाद्यतन्याशिष इति किम् ? स्तुध्वे, स्तुध्वम्, अस्तुध्वम् ॥ ८० ॥

## हान्तस्थान् जीड्भ्यां वा ॥ २ । १ । ८१ ॥

हकारादन्तस्थायाश्च परान् जेरिट्श्च परासां परोक्षाद्यतन्याशिषां सवन्धिनो धकारस्य ढकारो वा भवति । वचनभेदो  
यथासंख्यनिवृत्त्यर्थः । (जेः) अग्राहिद्धम्, अग्राहिध्वम्; ग्राहिपीद्धम्, ग्राहिपीध्वम्, अनायिद्धम्, अनायिध्वम्, नायिपी-  
१ ढम्, नायिपीध्वम्; अकारिद्धम्, अकारिध्वम्; कारिपीद्धम्, कारिपीध्वम्, अलाविद्धम्, अलाविध्वम्; लाविपीद्धम्, लावि-  
पीध्वम्; परोक्षायां जिर्न संभवतीति नोदाहृतः । इट्-जगृहिद्धे, जगृहिध्वे; अग्रहीद्धम्, अग्रहीध्वम्, ग्रहीपीद्धम्, ग्रहीपी-  
ध्वम्, उपदिदीयिद्धे, उपदिदीयिध्वे; आयिद्धम्, आयिध्वम्, अयिपीद्धम्, अयिपीध्वम्, तत्वरिद्धे, तत्वरिध्वे, अत्वहिद्धम्,  
१२ अत्वहिध्वम्, त्वरिपीद्धम्, त्वरिपीध्वम्, ववलिद्धे, ववलिध्वे; अवलिद्धम्, अवलिध्वम्, सवलिपीद्धम्, सवलिपीध्वम्, लुलुविद्धे,  
लुलुविध्वे, अलविद्धम्, अलविध्वम्; लविपीद्धम्, लविपीध्वम् । हान्तस्थादिति किम् ? घानिपीध्वम्, आसिपीध्वम् ॥ ८१ ॥

नाम्यन्तात् परोक्षाद्यतन्याशिषो धो ढः । परोक्षाद्यतन्याशिषां धातोर्भावाद् धातोरिति लभ्यते, तत्र च नाम्यन्तादिति  
२५ विशेषणम्, “विशेषणमन्त” इति विशेषणत्वात् नाम्यन्तादित्यत्र धातुविशेषणतापत्ते तदन्तर्बोधेऽन्तग्रहण स्पष्टप्रतिपत्त्ये । नाम्यन्ताद्भातोरिति  
परोक्षादीनां विशेषणम् । ताद्य तेन विशेषिता धकारस्य कार्यिणो विशेषणम्, तथा च-रेफान्तात् नाम्यन्ताच्च धातो परोक्षाद्यतन्याशिषां च ढ  
इत्यन्वयस्तदाह-रेफान्तादित्यादि । ननु धकारस्य कार्यभाक्त्वात् परोक्षादिभिष विशिष्यमाणत्वात् प्राधान्यम्, परोक्षादीनां तु निपर्याहुण-  
१८ त्वम्, गुणप्रधानसंनिधौ च प्रधानस्यैव धकारस्य नाम्यन्तेन धातुना संबन्धो न्याय्य इति चेत्, उच्यते-नाम्यन्तधातुना धकारे विशिष्यमाणे वकृद्धे  
अचेद्धमित्यत्रैव स्यात्, चेपीद्धमित्यादौ न स्यात्, सीशब्देन नामिनो व्यवधानात् । यद्यपि तत्र “येन नाव्यवधानेन तेन व्यवहितेऽपि स्याद्” इति  
न्यायेन सीशब्दव्यवधानेऽपि भूद्वयं कर्तुं शक्यते, तथापि वचनप्रामाण्यादर्थप्रतिपत्तौ मन्दविषय प्रतिपत्तिगौरवं स्यात् । स च विशेषणम्  
२१ परोक्षादिभिस्तु विशिष्यमाणे सर्वत्र सिध्यति । अत्र हि विशेषणकृत तावदुपकारमनुभवति पश्चात्प्रधानेन संबन्ध, असमर्थस्योपकारकत्वायोगात्,  
यथोक्त-“गुण कृताप्रसङ्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते” इति । तथाच कृतविशेषणसंबन्धैरेतैर्धकारस्य विशेषणे चेपीद्धमित्यादावहितैषैव कल्पनया  
ढत्वसिद्धे प्रधानस्य महानुपकार इति सर्वं समञ्जसम् । अतीर्द्धमिति । तत्तेरुद्यतन्या ध्वमि, “सो धि वा” ४।३।७२। सिचो लुकि, “अता  
२४ विहृतीर्” ४।४।११६। इतीरादेशे, “स्वादोर्नामिनो” इति वीर्षत्वे, “अद् धातो” इत्यङगमेऽनेन घस्य ढत्वे रूपम् । आशिपि सीध्वमि-  
तीर्षाद्धमिति । रेफात् परोक्षाधकारो न संभवतीति नोदाहृतः । ‘डङ्क्’ स्तुती, ‘डङ्क्’ कर्णे आभ्यां परोक्षाध्वे “इन्त्यसंयोगात् परोक्षा किद्धव”  
४।३।२१। इति कित्वाहुणामाव-तुष्टुद्धे, चकृद्धे इति । षेष पूर्ववत् । अदिद्धम्, अधिद्धम् इति । ददाति दधातो “इव स्यात्”  
२७ ४।३।४१। इतीकारे ध्वमि सर्वत्र “सो धि वा” इति सिचो लोपे भवत । अचेद्धम्, अच्योद्धमिति । तिनोतिध्वस्यो “नामिनो गुणो”  
इति गुणेऽन्यत्सर्वं प्राप्तवद्व्यम् । अकृद्धम्, कृषीद्धमिति । “अवर्णित” इति कित्वाहुणामाव-“पचे” “वज कर्मा” इति कच्चे, “तृतीय-  
स्तृतीयचतुर्थे” इति गत्वे-अपगध्वमिति । “सो धि वा” इति विकल्पेन सिचो लोपप्रवृत्त्या पक्षे “अपगध्वम्” इत्यत्राद्यतन्या ध्वमि सिचि कच्चे  
३० पत्वे ढत्वे “तवगस्य” इति ध्वनो घस्य ढत्वे च सिद्धिः । अस्यैव सीध्वमि-पक्षीध्वमिति । “वसिक्” आच्छादने धातो परोक्षाध्वे प्रत्यये  
“स्कृष्टु” ४।४।८१। इतीट् प्रत्ययग्रहणेन ग्रहणात् धातो नाम्यन्ताभावाद् ढत्वाभावे-ववसिध्वे इति । एव “आसिक्” उपवेशने धातो-  
रद्यतन्या ध्वमि सिचि इति “सो धि वा” इति सिचो लुकि-आसिध्वमिति । आशिपि सीध्वमि-आसिपीध्वमिति । स्तौतेर्वैतमानायां जे  
३३ पञ्चमीशस्त्वन्ध्वमि च “शिदवित्” ४।३।२०। इति कित्वात् गुणभावे-स्तुध्वे इत्यादि ॥ ८० ॥

हान्तस्थान् जीड्भ्यां वा । अत्र परोक्षाद्यतन्याशिषो धो ढ इत्यनुवर्तते । हान्तस्थादिति समाहारद्वन्द्वात् पञ्चमी । विषय इच्छ  
इति इतरेतरयोगात् यथासंख्याभावार्थं पञ्चमीद्विवचन-जीड्भ्यामिति । हान्तस्थात् जीड्भ्यां परोक्षाद्यतन्याशिषो धो ढो वा इत्यन्वयस्तदर्थ-  
३६ माह-हकारादित्यादि । अग्राहिद्धवमित्यादि । ‘ग्रहीश्’ उपादाने, ‘णीश्’ प्रापणे, ‘डङ्क्’ कर्णे, ‘लुगृश्’ छेदने एभ्यः परोक्षायां यिटोऽ-  
सम्भावात् अद्यतन्याशिषोर्ध्वसीध्वनो “स्वरप्रहृष्टाहन्त्य स्यसिजश्रीश्चस्तन्यां शिद वा” ३।४।६९। इति जिति, “जिति” ४।३।५०। इति  
“नामिनोऽकलिहृते” ४।३।५१। इति च श्रद्धौ, “सो धि वा” इति सिचो लुकि, अनेन ढत्वे सिध्यति । जगृहिद्धे इत्यादि । ग्रहे परोक्षायां ध्वे,  
३९ “स्कृष्टु” इति शिट्, “ग्रहजश्वप्रत्ययप्रच्छ” ४।१।८४। इति च्युति, द्विवचननादावनेन ढत्वे भवति । उपदिदीयिद्धे इत्यादि । ‘शीस्त्र’  
कचे, ‘अयि’ गतौ, “जित्वरिक्” संग्रहे, ‘वलि’ संवरणे, ‘लुगृश्’ छेदने इत्येभ्यो ध्वेध्वसीध्वम् “स्कृष्टु” इति “स्त्रायशितोऽश्रोणादेरिद”  
४।४।३२। इति च यथासंभवे सिज्जुकि च, “अद् धातो” इत्यङगमे, “स्वरादेस्तासु” ४।४।३१। इति श्रद्धौ “धीयु” शीट् किट्ति स्त्रे”  
४।३।३३। इति धीषो धीयादेशेऽनेन ढत्वे भवति । घानिपीध्वम्, आसिपीध्वमिति । इतरेतरस्य सीध्वमि “स्वरप्रहृष्टा” इति जिति,  
४४ “जिति ध्वम्” ४।३।१०१। इति घनादेशे, “जिति” इति श्रद्धौ च सिध्यत । “एकानुषध्वमनेन ह्यनुषध्वस्य” इति न्यायज्ञापनार्थं मिप्रहणम् ।  
शिट् स्वतन्त्रत्वात् इट्स्त्व प्रत्ययवयवत्वेन प्रत्ययत्वात् धातोर्नाम्यन्ताभावात् पूर्वण न आप्रोटीत्यत्रो विभाषेयमिति ॥ ८१ ॥

## हो धुट्पदान्ते ॥ २ । १ । ८२ ॥

हकारस्य धुटि प्रत्यये परे पदान्ते च ढकारादेशो भवति । (धुटि- )लेढा, लेक्ष्यति, वोढा, वक्ष्यति । पदान्ते-  
मधुलिट्, मधुलिङ्म्याम्, मधुलिङ्मिः, मधुलिङ्त्वम्, मधुलिङ्गत्, मधुलिङ्कल्पः । धुट्पदान्त इति किम् ? मधुलिहो ३  
असत्पर इत्येव ? गुडलिङ्मान्-अत्र ढत्वतृतीयत्वयोरसत्त्वात् “मावर्णा०” ॥ २ । १ । ९४ ॥ इत्यादिना मतोर्मो घत्व  
न भवति । ऊढमाख्यत् औजढत्-अत्र ढत्वधत्वयोरसत्त्वादन्त्यस्वरादिलोपस्य च द्वित्वे स्थानिवत्त्वादकारेण सह हेतौ द्वि-  
चनम् । केचित्त्वन्त्यस्वरादिलोपस्य स्थानित्व(वत्व)मनिच्छन्तो हतीति द्वित्वे ऊढमूढि<sup>३</sup> वाख्यत् औजिढदिति मन्यन्ते ॥ ८२ ॥ ३

## भ्वादेर्दादेर्धः ॥ २ । १ । ८३ ॥

भ्वादेर्धातोर्धो ढकारादिरवयवस्तदवयवस्य हकारस्य धुटि प्रत्यये परे पदान्ते च घकारादेशो भवति, ढसापवादः ।  
(धुटि-) दग्धा, दग्धुम्, धक्ष्यति, दोग्धा, दोग्धुम्, धोक्ष्यति, एषु व्यपदेशिवद्भावाद् धातोरवयवस्य दादित्वम् ३  
अधाक्षीत् । पदान्ते-अधोर्ग, गोधुक्, काष्ठधक्, गोधुग्म्याम्, काष्ठधग्म्याम्, गोधुक्षु, काष्ठधक्षु । भ्वादेरिति किम् ?  
दामलिहमिच्छति क्यन्, किप्-दामलिट्, एव इपद्घुट् । दादेरिति किम् ? सोढा, मधुलिट् । ह इत्येव ? अदात् ।  
धुट्पदान्त इत्येव ? गोदुहौ, गोदुहः ॥ ८३ ॥ ३२

## मुहद्गुहसुहसिहो वा ॥ २ । १ । ८४ ॥

एषां संबन्धिनो हकारस्य धुटि प्रत्यये पदान्ते च घकारादेशो वा भवति, द्रुहः प्राप्तेऽन्येषामप्राप्ते विकल्पः । मुह-

हो धुट्पदान्ते । अत्र ढ इत्यनुवर्तते, हो धुट्पदान्ते ढ इत्यन्वयस्तदर्थमाह-हकारस्येत्यादि । धुटि प्रत्यये उदाहरति-लेढा १५  
इत्यादि । उक्ता प्रक्रिया । वोढा इति । “वर्हो प्राणणे”, धातोस्तृचि, अनेन ढत्वे, “सहिवहेरोयावर्णस्य” इति ढलोपे ओत्वे च रूपमेतत् ।  
मधुलिङ्गदिति । मधुलिङ्गि इति विग्रहे “स्यादेरिवे” इति वति भवति । मधुलिङ्कल्प इति । इपदपरिसमाप्तो मधुलिङ्ग इति “अनमवादे-  
रीषद०” ७।३।११ इति कल्पमि भवति । ननु गुडलिङ्गि विद्यतेऽस्येति “तदस्यास्त्यसिद्धिः मधु” ७।३।११ इति मतो ढत्वे तृतीयत्वे च १८  
“मावर्णान्तोपान्त०” इति वकार कस्मात् भवतीत्याह-अत्र ढत्वतृतीयत्वयोरित्यादि । ऊढमाख्यदिति । वहे के “यजादि०” ४।१।७९।  
इति य्यति, हस्य ढत्वे, “अघश्चतुर्थात्०” इति घत्वे, “तवर्गस्य०” इति ढत्वे, “ढस्त्वट्” इति ढलोपे धीर्घत्वे च-ऊढ, तमाख्यदिति विग्रहे  
णिनि, “त्रन्त्यस्वरादे” ७।४।४३। इत्यकारलोपे, दौ, ढवादीनां परेऽसत्त्वात् णिकृतस्य स्थानित्त्वात् हत इति द्वित्वे, अनादिब्यञ्जनलोपे, “गहोर्ज” २३  
इति जत्वे, समानस्य लुप्तत्वात् सन्वद्भावाभावे “स्वरादेस्वा०” इति वृद्धौ-औजढत्, लयन्तस्य च औजिढत् इति । केचित्त्विति । चन्द्रगो-  
सिदेवनन्दिरप्रसूतय । ते हि गेरिष्ठवद्भावे विधाय “इष्टे” इत्यन्त्यस्वरादिलोपमिच्छन्ति, गौ कृतस्य च स्थानिवद्भावो न त्विष्टतुल्येति भावः ॥ ८२ ॥

भ्वादेर्दादेर्धः । अत्र धुट्पदान्ते इति ह इति चानुवर्तते । अधोगिल्लादिसिद्धयर्थं भ्वादेरिति दादेरित्यस्य व्यधिकरण विशेषण, तस्य २४  
धुट्पदान्त इति च हकारस्येत्यस्य, तथाचायमन्वय-भ्वादे दादे ह धुट्पदान्ते घ इति । तदर्थमाह-भ्वादेर्धातोर्धो ढकारादिरित्यादि ।  
ढकारस्य लेढेत्यादौ घत्वानवष्टम्भस्य विषयस्य सद्भावात्, घत्वस्य तु तदतिरिक्तस्य विषयस्याभावात् तदपवादो घत्वमित्यत आह-ढस्या-  
पवाद इति । यद्वा परेऽसत्त्वात् ढत्वमनेनापोष्यत इत्यर्थः । दग्धेत्यादि । “दह” भस्मीकरणे, “दुर्होक्” क्षरणे, आभ्या पूर्वेवतृजादौ व्यपदेशिव- २७  
द्भावाद्दादित्वात्नेन घत्वे चतुर्थत्वकत्वपत्वादियु भवति । अधाक्षीदिति । “दह” भस्मीकरणेऽतो दौ, “स सिजस्तोर्दस्यो” ४।३।६५। इतीति,  
अनुस्वारत्त्वात् “एकस्वरपदनुस्वारित” ४।४।५६। इतीदभावे, “व्यञ्जनानामनिटि” ४।३।४५। इति वृद्धौ, घत्वकत्वपत्वादियु च भवति । अधो-  
गिति । दुर्होर्ध्वस्या दिवो लुकि, अडागमे, उपान्यगुणे, पत्वे घत्वे कत्वे च रूपम् । गोधुगित्यादि । गां दोगिघ, काष्ठ दहतीति किपि, ३०  
सिम्भासृष्ट्यु पूर्ववत् यथासमव घत्वकत्वपत्वादियु सिद्ध्यति । ननु लक्ष्ये घकारस्य स्वरूपेणावस्थानाभावात् “धुट्स्त्वतीय” इति गकारेण  
भावमिति स एव उच्यतामिति चेत्, मैवम्, घकाराभावे चतुर्थान्तत्वाभावात् अधोगिल्लादौ “गढद्वादेध०” इत्यादिना आदेधत्वयो न स्यात् तदर्थ-  
मुपादानम् । भ्वादेरिति किमिति । ननु किमर्थं भ्वादेरित्युपाधीयते ? “भ्वादेर्नामिनो०” इत्यत एव तदनुवृत्तेस्त एव तत्तात्पर्यार्थसिद्धे, यथा ३३  
“गढद्वादेध०” इत्यत्र, न च “सप्तध्वसकृत्सन्नुहो द”, “सो ह”, “अह”, “रो लुप्यरि”, “धुट्स्त्वतीय” “हो धुट्पदान्ते” इत्यादावनुवर्तनाद्गोप  
इति वाच्यम्, सन्वत्सानुवर्तनात् स्वसंबन्धेर्नैवाऽकाङ्क्षानिष्ठस्तेष्वप्रवृत्तेर्दोषाभावादिति “गढद्वादेध०” इत्यत्र नामिनो धोरित्यादीनामनाकाङ्क्षाया  
निवृत्तेर्भ्वादेरित्यवयवषष्ठ्यन्तस्य गढद्वादिना आकाङ्क्षा पूर्वेते, एवमन्यत्रापि तदनुवर्तनादिनेति । एव तर्हि “गढद्वादे” इत्यत्र यथाऽनुवर्तनात् ३३  
धातुमात्रार्थं तद्भवति न तु पठितधात्वर्थ, अन्यथा तुण्डिक् गह्वरित्याद्यसिद्धे, न च कुण्डोमुम्भतीति कुण्डोचित्यादि व्याहृत्यर्थ, लोके प्रयुज्यमानाना  
शब्दानामन्वाख्यायक शास्त्र तत्तत्तत्पादक, न चैतत्किमन्ता प्रयुज्यन्त इति । एवमत्रापि धातुमात्रपरिग्रहे क्यञ्चन्तदामलिङ्गित्यादिप्रसङ्ग,  
अस्ति ह्यत्र दादिर्धातुर्होन्तयेति तस्मात् विशिष्टसंबन्धप्रतिपत्त्यर्थं भ्वादेरित्युपाधीयतेऽन्यथा संबन्धमात्रप्रतीतेरत्रापि स्यादिति भावः । नन्वेव ३९  
यदि विशिष्टसंबन्धप्रतिपत्त्यर्थं भ्वादेरित्युपाधीयते तर्हि भ्वादेर्दादेरित्येतत्समानाधिकरण विशेषण भवतु-ढकारादेर्धातोरेति, तथाच दामलिङ्गिति  
भवत्यस्य दादिर्न तु भ्वादि, समुदायस्य धातुष्वाभावात् । अधोगिल्लात्रापि दादिप्रहणेन तद्भक्तत्वादयो प्रहणात् घत्व भविष्यति पाठे छस्य दादि-  
त्वादिति चेत्, सत्यम्, अधोगिल्लादौ पाठे दादित्वेऽपि प्रयोगे तददर्शनात् मन्दमतिर्धत्वाभावमाशङ्कते, अनेनैवाशयेन धृतावयवस्येति व्यावृत्तिर्नो- ४२  
पातेति । सहस्त्विति सोढेत्यादौ दादित्वाभावात् घत्वाभावः ॥ ८३ ॥

मुहद्गुहसुहसिहो वा । अत्र धुट्पदान्ते इति ह इति च इति चानुवर्तते, मुहद्गुहसुहसिहो ह धुट्पदान्ते घ वा इत्यन्वयस्तदर्थ-  
माह-एषामित्यादि । ‘सुहोक्’ वैचित्त्ये, ‘हसोक्’ जिर्घासायाम्, ‘सुहोक्’ उन्निरणे, ‘णिहोक्’ श्रौते, एषु दहे- पूर्वेण प्राप्तेऽनेन घत्वं विधी- ४५

मोग्धा, मोढा, उन्मुक्, उन्मुद्, उन्मुग्म्याम्, उन्मुङ्म्याम्, हुह्-द्रोग्धा, द्रोढा; मित्रध्रुक्, मित्रध्रुद्, मित्रध्रुग्म्याम्, मित्रध्रुङ्म्याम्, स्नुह्-सोग्धा, सोढा, उत्स्रुक्, उत्स्रुद्, उत्स्रुग्म्याम्, उत्स्रुङ्म्याम्, स्निह्-स्नेग्धा, स्नेढा, चेलस्रिक्, चेलस्रिद्, चेलस्रिग्म्याम्, चेलस्रिङ्म्याम् । धुदपदान्त इत्येव ? उन्मुहौ, उन्मुहः । मुहादेरिति गणनिर्देशमकृत्वा धातुपरिगणन यदलुप्यपि विध्यर्थम्-मोमोग्धि, मोमोढि, दोद्रोग्धि; दोद्रोढि ॥ ८४ ॥

### नहाहोर्धतौ ॥ २ । १ । ८५ ॥

६ नहेर्धस्थानाहश्च धातोः सचन्धि नो हकारस्य धुटि प्रत्यये पदान्ते च यथासंख्यं धकारतकारावादेशौ भवतः । (नहि-) नद्धा, नत्स्यति, उपानत्, परीणत्, उपानज्याम्, उपानत्कल्पः; आह्-आत्थ, आहेर्नियतविषयत्वात् पदान्तता नास्ति । धुद-पदान्त इत्येव ? उपनहति, उपानहौ; उपानहः । आह, आहतुः, आहुः, आहेरादेशान्तरकरणम् “अधश्चतुर्थान्तयोर्धः” १ ॥ २ । १ । ७९ ॥ इति थकारस्य धत्वनिवृत्त्यर्थम् ॥ ८५ ॥

### चजः कगम् ॥ २ । १ । ८६ ॥

चकारजकारयोर्धुटि प्रत्यये परे पदान्ते च ककारगकारावादेशौ भवतः । (चः-) वक्ता, वक्तुम्, वक्ष्यति, ओद-  
१२ नपक्, त्वक्, वाक्, वाग्भिः, वाक्त्वम्; जः-लक्ता, लक्तुम्, लक्ष्यति, अर्धभाग्, स्वप्नग्, तृष्णक् । धुदपदान्त इत्येव ?  
वच्मि, वाचौ, वाचः । प्रत्यय इत्येव ? इच्छति, मज्जति । कथं तच्चञ्चुः ? तच्चणः ? तच्चरति ? उच्यते-अत्र दस्य परत्वात्  
तृतीयत्वे पश्चाच्चवर्गत्वे प्रथमत्वम्, ततस्तृतीयस्य “चजः कगम्” ॥ २ । १ । ८६ ॥ इति परेऽसत्त्वेन चजयोरमा-  
१५ वात् कत्वगत्वे न भवतः, अज्जलान्वित्यत्र तु सज्ञाशब्दत्वात् न भवति ॥ ८६ ॥

यतेऽत आह-द्रुह इत्यादि । एषा “स्तावशितो” ४।४।३२। इति नित्यमिति प्राप्ते “धूगौदित” ४।४।३८। इतीडमावपक्षे-मोग्धेलावीन्युदाहरणानि । मित्रध्रुगिति । मित्राय द्रुह्यतीति किपि भवति । चेलस्रिगिति । चेलेन स्रिह्यतीति किपि रूपम् । ननु किमेते मुहादय स्वरूपेणोपा-  
१८ धीयन्ते ? मुहादेरित्येवोच्यता, न चाधिकानां प्रसङ्ग, तदनन्तरं श्रुत्करणत्वात्, तद्धि पुष्पादिपरिसमाप्त्यर्थमपि भविष्यतीति चेत्, उच्यते-गणनिर्देशे  
‘तिवा धवाऽनुवन्धेन निर्दिष्ट यद्गणेन च’ इति वचनात् यदलोपे न स्यात् अत आह-मुहादेरिति लादि । ननु बोधवतीत्यादय एव नियता  
यदलुवन्ता लोके प्रयुज्यन्त इत्येषां प्रयोगो न भविष्यति, एव तर्हि स्पष्टार्थं पाठ ॥ ८४ ॥

२१ नहाऽऽहोर्धतौ । अत्र ह इति धुदपदान्त इति चानुवर्तते, नहाऽऽहो ह धुदपदान्ते घतौ इत्यन्वयस्तदर्थमाह-नहेरित्यादि ।  
“ब्रूग पद्मानां पद्माहश्च” ४।२।११८। इति विहित आह गृह्यतेऽन्यस्यासंभवादत् आह-ब्रूस्थानाहश्चेति । ‘गर्हीच्’ वन्धने, ‘ब्रूगक्’ व्यकार्या  
वाचि, एतौ हकारस्येत्यत्र व्यधिकरणविशेषणतया भन्वित । नहाहोर्धताविति कार्यकार्यणोरभयोर्द्वित्वनिर्देशो यथासंख्यार्थः । धुव्युदाहरति-नहे-  
२४ रित्यादि । पदान्ते उदाहरति-उपानदित्यादि । उपनहति परिणह्यतीति किपि, “गतिकारकस्य नहिद्वित्वविध्यधिकविसहितनो कौ” ३।२।८५।  
इति धीर्धत्वे, “अदुरुपवर्णान्तरो ण्हिनुमीनाने” २।३।७७। इति णत्वे सौ च भवति । आत्येति । ब्रूगो वर्तमानाविवस्वधादेशेऽनेन हकारस्य  
तकारे रूपम्, नियतविषयत्वादस्य पदान्ते नोदाहृतम् । उपनह्यतीति । उपपूर्वाच्नहेस्त्विति “दिवादे इय” ३।४।७२। इति इये भवति ।  
२७ आह् इत्यादि । ब्रूगस्त्वित्पदस्यन्वीनां स्थाने ण्व्भानुसुसुप् कृतेषु आहादेशे च सिद्ध्यति । नन्वाहेरपि घकारे “अधोये प्रथमो” इति तकारे  
सति आत्येति सिध्यतीत्युभयोर्धकार एवोच्यताम् किन्तुकारकरणेनेति चेत्, नैवम्, घकारे सति थकारस्य धत्वप्रसङ्ग इत्याह-आहेरित्यादि ।  
न च सिवस्थविविधानसामर्थ्यादेव धत्व न भविष्यति, अन्यथा सिवो धत्वमेव विद्वत्प्रादित्वाच्चाम्, लाघवार्थं तत्स्यादन्यथा “ब्रूग पद्मानां”  
३० इत्यत्र सिवो घ इति सूत्रान्तरे कृते गौरव स्यात्तस्मात् सूक्त-धत्वनिवृत्त्यर्थमिति ॥ ८५ ॥

चजः कगम् । अत्र धुदपदान्ते इत्यनुवर्तते, चज धुदपदान्ते कगमित्यन्वयस्तदर्थमाह-चकारजकारयोरित्यादि । वक्ता  
इत्यादि । वचेर्ब्रूगो वा तृजादिषु अनेन कत्वे भवति । पदान्ते उदाहरति-ओदनपगिति । ओदन पचतीति किपि सौ तल्लुक्क्यनेन कत्वम् ।  
३३ त्वक् इति । ‘त्वचद्’ सवरूपेऽत किपि, ‘तन्मि’ विस्तारे, अतो वा “तनेर्ह्वन्” उणा० ८७२ । इति ह्वचि भवति । जकारस्योदाहरति-त्यक्ता  
इत्यादि । ‘त्यज्’ हानौ, अतस्तृजादिष्वनेन गत्वे प्रथमत्वे सिद्ध्यति । अर्द्धभागिति । ‘मजी’ सेवयामित्यत “मजो विण्” ५।१।१४६। इति  
विणि रूपमेतत् । स्वप्नक्, तृष्णगिति । ‘मिषपक्’ शये, ‘मिषृच’ पिपासायाम्, आभ्यां “तृपिष्टृषिखपो नजिक्” ५।२।८०। इति नजिष्ठि  
३६ भवति । वच्मीति । वचेर्भिवि भवति । इच्छतीति । ‘क्षप’ इच्छायाम्, तिषि, शे, “गमिषथमश्च” ४।२।१०६। इति छत्वे प्रथमत्वे च  
रूपम् । मज्जति । ‘हुमस्जोव’ शुद्धावत “सस्य शपौ” इति सकारस्य धात्वे, तस्य “तृतीयस्तृतीयचतुर्थे” इति जकारे भवति । “सिन वित”  
७।१।१७५। इति तच्छब्दाद् चक्षुष्यणयोश्चतौ च परत्वात् पूर्वं तृतीयत्वे “तवर्गस्य” इति जत्वे गत्वम्, “अधोये प्रथमो” इति नत्वे कत्व  
३९ कस्माच्च भवति ? नैवम्, परेऽसदिति परे गत्वे कत्वे च पूर्वस्य दक्वरस्यासत्त्वे न तत्स्थानयोश्चजयोरप्यभावात् कगयोरभाव इत्याह-कथमि-  
त्यादि । अथ च ह्य च अज्जलान्वित्यत्र चकारस्य सत्त्वेऽपि सज्ञायाधातप्रसङ्गात् कत्व न भवति, अच् इति पूर्वं स्वरा सज्ञायन्ते कत्वे समान-  
४२ संज्ञा स्यादित्याह-अज्जलान्वित्यत्रेत्यादि । नन्वत्र सूत्रे किमर्थमादेशद्वयविधानम् ? यावता कविधान गतिधान वा कियताम्, यथालक्षण  
कस्य गत्वे गस्य कत्वे च सर्वसाध्यसिद्धेरिति चेत्, सत्य, गाभावे लमादय, फभावे पक्मादयो न सिद्धयेयुरिति कगमद्वयम् ॥ ८६ ॥

## यजसृजमृजराजभ्राजभ्रस्जव्रश्चपरिव्राजः शः पः ॥ २ । १ । ८७ ॥

यजादीनां धातूनां चजः शकारस्य च धुटि प्रत्यये परे पदान्ते च पकार आदेशो भवति । यज्-यष्टा, यष्टुम्, देवेद्, उपयद्, उपयड्भ्याम्; सृज्-स्रष्टा, स्रष्टुम्, तीर्थसृद्, तीर्थसृड्भ्याम्; मृज्-मार्ष्टा, मार्ष्टुम्, कंसपरिमृद्, कंसपरिमृड्भ्याम्, राज्-सम्राद्, सम्राड्भ्याम्; भ्राज्-विभ्राद्, विभ्राड्भ्याम्, राजभ्राजोः क्तिरेव धुद्, अन्यस्तु इय व्यवधीयते-राष्टिः, आष्टिः; केचित्तु क्ति नेच्छन्ति । भ्रस्ज्-भ्रष्टा, भ्रष्टुम्, भर्ष्टा, भर्ष्टुम्, धानाभृद्, धानाभृड्भ्याम्; व्रध्-व्रष्टा, व्रष्टुम्, मूलवृद्, मूलवृड्भ्याम्, परिव्राज्-परिव्राड्, परिव्राड्भ्याम्; “दिद्युद्दृद्” इत्यादिना क्तिवन्तस्यैव निपातनात् धुव्यसंभवात् नोदाहृतम् । शकारान्तलिश-लेष्टा, लेष्टुम्, लिद्, लिड्भ्याम्, आदेशोऽपि शकारो गृह्यते-ग्रष्टा, ग्रष्टुम्, शब्दप्राड्, शब्दप्राड्भ्याम्, राजिसहचरितस्य आजेर्ग्रहणात् ‘एजृद्, ‘भ्रैजृद्’, ‘भ्राजि’, दीप्तावित्यस्य गत्वमेव-विभ्राक्, विभ्राग्भ्याम्, अत एव आजेरात्मनेपदिनोऽपि ‘राजृग्’, ‘दुभ्राजृग्’; दीप्तावित्युपपदिषु पुनः पाठः साहचर्यार्थम् । धुदपदान्त इत्येव ? देवेजौ, देवेजः, रजुसृजौ, कंसपरिमृजौ, सम्राजौ, विभ्राजौ, धानाभृजौ, मूलवृक्षौ, परिव्राजौ, शब्दप्रागौ, ‘उच्छै’-समुच्चौ । यजादिधातुसाहचर्यात् शकारस्यापि धातोः सचन्विन एव ग्रहणादिह न भवति-निशाशब्दस्यान्तलोपे “धुटस्तृतीयः” ॥ २ । १ । ७६ ॥ इति जकारे-निज्भ्याम्, सुपि तु जकारस्य प्रथमत्वे “सस्य शपौ” ॥ १ । ३।६१ ॥ इति सुपः सकारस्य शत्वे, “प्रथमादधुटि शञ्छः” ॥ १ । ३ । ४ ॥ इति छत्वे-निञ्छु, जकारस्य तु परे गत्वेऽसत्त्वात् “वजः कगम्” ॥ २ । १ । ८६ ॥ इति गत्वं न भवति । चज इत्येव ? वृक्षवृक्षमाचष्टे गौ, विचि-वृक्षव्, अत्र वकारस्य मा भूत् । कयमसृग्, असृग्भ्याम्, रजुसृग्, रजुसृग्भ्याम्, असृज्-रजुसृज्शब्दयोरौणादिकयोर्भविष्यति । कश्चित्तु “अनुनासिके च च्छ्वः शृद्” ॥ ४ । १ । १०८ ॥ इति शत्वविधेरनित्यत्वज्ञापनार्थं छकारस्यापि पत्वमिच्छति, तन्मते-पथिप्राच्छौ, पथिप्राच्छः, शब्दप्राच्छौ, शब्दप्राच्छः । ‘उच्छैत्’ विवासे-समुच्चौ, समुच्छः ॥ ८७ ॥

यजसृजमृजराजभ्राजभ्रस्जव्रश्चपरिव्राजः शः पः । अत्र चज इति धुदपदान्त इति चासुवर्तवे, यजसृजमृजराजभ्राजभ्रस्जव्रश्चपरिव्राज चज शब्द धुदपदान्ते ष इत्यन्वयस्तदर्थमाह-यजादीनामित्यादि । ‘यजौ’ देवपूजादौ, ‘सृजत्’ वितर्गं, ‘मृजौ’ शुद्धौ, ‘राजृग्’ ‘दुभ्राजि’ रीतौ, ‘भ्रस्जौ’ पाके, ‘व्रध्वौ’ छेदने, परिपूर्वो ‘व्रज’ ‘गतौ’, कृतवीर्यं क्तिवन्त इत्येतेषामित्यर्थः । यष्टेत्यादि । यजेत्सृजादौ “एकस्त्रा०” इति इडभावेऽनेन पत्वे “तवर्गस्य०” इति टत्वे सिध्यति । पदान्ते दर्शयति-देवेडिति । देवेभ्यो देवान् वा यजतीति किपि वृष्टि भवति । एवमुपयडित्यादि । स्रष्टेत्यादि । सृजेत्सृजादौ “अ सृजिदृशोऽङिति” ४।४।१११ इति अकारे सिध्यति । तीर्थसृडिति । तीर्थसृजतीति किपि रूपमेतत् । मार्ष्टा, मार्ष्टुमिति । मृजेत्सृजादौ, “धृगौदित” इतीडभावे, उपान्यस्युणे, “मृजोऽस्य वृडि” ४।३।४२। इति वृद्धौ भवत । कंसपरिमृडिति । कस परिमार्ष्टति किपि रूपम् । सम्राड् इत्यादि । संराजते विभ्राजत इति किपि सिध्यति । राजभ्राजोरित्यादि । “तेर्ग्रहादिभ्य” ४।४।३३ इति नियमाद्राजभ्राजोरग्रहादितात्वात् जाविडभाव इत्यर्थः । राष्टिः, आष्टिरिति । राजन भ्राजनमित्यर्थः, “श्वादिभ्य” ५।३।९२ इति कि । केचित्त्विति । अनयो ज्यन्तयो प्रयोगाभावात् प्रयुक्तानामन्वाख्यानारम्भात् “यथालक्षणमप्रयुक्ते” इति वचनात् अप्रयुक्ते लक्षणमेव न प्रयोक्तव्यमित्यभिप्रायः, यदाह साधारण-किमप्यनयोरनभिधानात् भवति । भ्रष्टेत्यादि । भ्रस्जेत्सृजादौ भवति, “मृजो मर्ज” ४।४।६। इति पक्षे मर्जोदेशे-भर्ष्टा इत्यादि । धानाभृडिति । धाना मृजतीति किपि रूपम् । व्रधेत्यादि । व्रधेत्यसृजादौ “धृगौदित” इति पक्षे इडभावः । मूलवृडिति । मूल वृक्षतीति किपि भवति । परिव्राडिति । परिपूर्वप्राजे “दिद्युद्दृजग०” ५।२।८३ इति किपि दीर्घत्वे च निष्पद्यते । लेष्टेत्यादि । लिशत् गतौ, अतस्तृजादौ “एकस्त्रा०” इतीडभावे भवत । लिडिति । लिशतीति किपि रूपम् । ३० केचित् “अनुनासिके च च्छ्वः शृद्” इति च्छिल्लनुवर्त्यं तृजादौ शत्वमनिच्छन्तोऽत्र सृजे छप्रहणं कृत्वा छकारस्य पत्वमिच्छन्ति, अस्माकं तु तृजादावपि शत्वस्येष्टत्वात् तद्वारेणैव पत्वमिच्छित्त्याह-आदेशोऽपीत्यादि । प्रष्टा, प्रष्टुमिति । “प्रच्छव्” झीप्सायाम्, “खरेभ्य” इति द्वित्वे पूर्वस्य “अघोषे प्रथमोऽङ” इति पत्वनेऽनेन पत्वे भवत । शब्दप्राडिति । शब्द पृच्छतीति “दिद्युद्दृद्” इति किपि दीर्घत्वे रूपम् । ननु विपूर्वस्य प्राजे क्तिवन्तस्य गत्वे विभ्रागिति प्रयोगदर्शनात् कथं तत्तद्विरुद्धाह-राजिसहचरितस्येत्यादि । समुशानिति । ‘उच्छैत्’ विवासे, अतः किपि शत्वे भवति । ननु श इति सामान्येनोपादानात् “मासनिशासनस्य०” ३।१।१०० इति निशाशब्दस्यान्तलोपे शस्य पत्व कस्मात् प्राप्नोति ? उच्यते-यजादयो धातवस्तसाहचर्यात् शकारोऽपि धातोरेवेत्याह-यजादीत्यादि । सुपि तु जकारस्य प्रथमत्वे इति । ३६ तु इत्यादि । एव जकारस्य परेऽसत्त्वात् कारणाभावेन कार्यभावस्य सुलभत्वात् तत्स्यानिनश्चकारस्याप्यसत्त्वात् कत्वाप्रवृत्तिरिति । चज इत्येवेति । चज इत्याधिकारो वकारस्य कत्वादिर्मा भूदित्येतदर्थः । कथमिति । ननुपूर्वस्य क्तिवन्तस्य सृजे पत्वेन भाष्य तत्कथं गत्वमित्यर्थः । समाधत्ते-जौणादिकयोरिति । अस्य इति न सत्यत इति वा “क्षधिप्रथि०” उणा० ८७४। इति किदञ्चि, बाहुलकादेकत्र अकारस्य ऋवेऽन्यत्र जकारासत्त्वात् कश्चिदित्येकवचनेन निर्देशः । खमतेऽन्यमते च धुटि प्रत्यये पदान्ते च पूर्वाण्येवोदाहरणानि, विशेषस्तन्मतेऽन्यत्र पथिप्राच्छावि- ४२ त्यादि खमते च पथिप्राश्चावित्यादीति । एव समुच्छावित्यादानपि विशेष खमते-समुशानित्यादि ॥ ८७ ॥



## संयोगस्यादौ स्कोल्लुक् ॥ २ । १ । ८८ ॥

धुटि प्रत्यये पदान्ते च यः संयोगस्तस्यादौ वर्तमानयोः सकारककारयोर्लुग् भवति । ओलस्त्वैति-लभः, लभवान्, १ साधुलुग्, साधुलभ्याम्; मस्ज्-साधुमक्, साधुमभ्याम्; ओव्रश्चौत्-वृक्णः, वृक्णवान्, मूलवृद्, मूलवृड्भ्याम्; अस्ज्-मृष्टः, मृष्टवान्, यवमृद्, यवमृड्भ्याम्; क्-तक्षौ, तष्टः, तष्टवान्, काष्ठतड्, काष्ठतड्भ्याम्; अक्षौ-अष्टः, अष्टवान्, तृणाट्, तृणाड्भ्याम्, तृणाटकल्पः; चक्षि-आचष्टे । ननु स्कोल्लुक् परस्मिन्नसत्त्वात् “पदस्य” ॥ २ । १ । ८९ ॥ इति संयोगान्तस्य लोपः स्यात्, नैवम्; स्कोः पदान्ते लुको विधानादसत्त्वाभावः, अन्यथा हि समुदायस्यैव लोपं विदध्यात् । संयोगान्तस्येति किम्? साता, कृतम् । आदाविति किम्? शङ्खेर्वङ्गश्च यङ्लुपि-शाशङ्कि, वावङ्कि । स्कोरिति किम्? नर्नर्ति । ‘अदट्’ अभियोगे, ‘अदट्’ हिसातिक्रमयोः, अनयोः किपि उत्तरसूत्रेण डकारटकारयोर्लुकि दकारस्य च प्रथमत्वे-क्षेत्रप्रात्, गृहप्रात् । अन्ये तु अङ्गि तोपान्यं पठन्ति, तन्मते-किपि अत्, अद् । अन्यस्त्वदङ्गे संयोगादेर्दकारस्यापि लोपमिच्छति, तन्मते-अद्, अड्भ्याम्, तथा ‘अदट्’ अतिक्रमहिसंयोरिति पठन् संयोगादेष्टकारस्यापि लोपमिच्छति-अद्, अड्भ्याम् । धुटपदान्त इत्येव? साधुमजौ, काष्ठतक्षौ । प्रत्यय इत्येव? पृथक्स्थाता । वास्यर्थस्, वाक्यर्थ- १२ मित्यत्र तु यत्वस्य बहिरङ्गत्वेनासिद्धत्वात् संयोगादित्वे सत्यनेनादेरुत्तरेण चान्तस्य लुग् न भवति । कथं मांसं पिपक्षति किप्-मांसपिपक्?, वचो विवक्षते-वचोविवक्?; कत्वस्य परस्मिन्लोपेऽसिद्धत्वात् न भवति ॥ ८८ ॥

संयोगस्यादौ स्कोल्लुक् । अत्र धुटपदान्ते इत्यनुवर्तते, धुटपदान्ते संयोगस्य आदौ स्को लुक् इत्यन्वयः । संयुज्यन्ते वर्षा

- १५ असिञ्जति “व्यञ्जनाद् घञ्” ५।३।१३२। इति घञि-संयोग, स च वैयाकरणसंप्रदायाद् व्यञ्जननैरन्तर्यमुच्यते इति, धुटीत्यनेन च संयोगो विशिष्यते न स्कोरिति, सकारककारयोः संयोगादिभूतयोः पदान्तत्वस्य धुटपरत्वस्य चाऽसंभवादित्याह—धुटिप्रत्यये पदान्ते च य इत्यादि । सकारककारयोरेकविभक्तिनिर्दिष्टयोरपि प्रत्येक लुका सवन्ध उभयोरपेक्षया संयोगादित्वासंभवात् । लभः, लभवानिति । ‘ओलस्त्वैति’ व्रीडे, अतः १८ क्तवत्वो “हीयङ्यैदित् कयो” ४।४।६१। इतीट्प्रतिषेधे, आदिसकारलोपे “चज कगम्” इति गत्वे, “स्यसाधोदित” ४।२।७०। इति क्तकारस्य नत्वे सिद्ध्यति । साधुलुग् इति । साधु लज्जत इति किपि रूपम् । साधुमगित्यादि । मत्से पूर्ववत् किपि भवति । वृक्णः, वृक्णवानिति । ब्रध्वे कादौ “प्रह्वब” ४।१।८४। इति ष्यति, दन्त्योपदेशसामर्थ्यात् “सस्य शशौ” इति कृततालभ्यस्यापि लोपे, वस्य कत्वे, २१ औदित्वात्कारस्य नत्वे, “रपुवर्ण” इति गत्वे भवत । मूलवृडिति । मूल वृक्षतीति किपि रूपम् । एव अस्त्वैत्युक्तिं सलोपे “यजजङ्” इति षत्वे-मृष्टः, मृष्टवान्, यवमृडित्यादि । तष्ट इत्यादि । ‘तक्षौ’ तनूकरणेऽतः कादौ “धूगैदित्” इतीहप्रतिषेधे संयोगादिककारलोपे “तवर्गस्य” इति टत्वे काष्ठ तक्षतीति किपि च सिद्ध्यति । ‘अक्षौ’ व्याप्तौ इत्यतः पूर्ववत्-अष्ट, अष्टवानिति । तृणपूर्वादस्यादेव किपि-तृणाट् २४ इति । “अतमवादे” ७।३।११। इति कल्पपि-तृणाट्कल्प इति । आरुपूर्वात् “वक्षिक्” व्यक्यायां वाचीत्यतस्ते प्रत्यये-आचष्टे इति । नन्विति । अयं भावः—पूर्वं संयोगान्तलोपे सकारककारयोः संयोगादित्वाभावात् पश्चात् लुम प्राप्नोतीत्याक्षेपार्थः । परिहरति—नैवमिति । यदि हि पदान्ते संयोगाद्यो सकारककारयोर्लोपश्चात्स्यात्सत्त्वात् “पदस्य” इति संयोगान्तलोपः स्यात् तदा निर्विषयत्वाद् स्कोल्लुक्विधानमनर्थकः २७ स्यात् । ननु स्कोल्लुक् तु लुगिवधेऽविरतार्थत्वात् कार्यासत्त्वपक्षमाश्रित्य “पदस्य” इति अत्र लोपप्रसङ्ग इति चेन्न, एव सति सकारककारादिसमुदायस्यैव पदान्तसंयोगो लोपं विदध्यादित्याह—अन्यथा हीत्यादि । अत्रेयं वाचो युक्ति-संयोगेति प्रथमं, पदस्येति द्वितीयं, अन्ते चेति तृतीयं सूत्रं कुर्यात्, तत्राद्यस्यार्थ-धुटि प्रत्यये संयोगादित्यस्यो सकारककारयोर्लुग् भवति, द्वितीयस्यार्थ-पदान्ते वर्तमानस्य सकारककारादिसंयोगस्य ३० सकलस्यापि लुक्, तृतीयस्यार्थ-“पदस्य” इत्यतः पदान्ते इत्यनुवर्त्य पदान्ते संयोगसंयन्धिनोऽन्तस्य लुग् भवतीत्यकारणात् लुकः स्थानित्वं न भवति । ‘वोच्’ अन्तकर्मणि, अस्मात् “आत्सन्ध्याक्षरस्य” इत्यात्वे त्वि-साता इति । करोते के-कृतमिति । शाशङ्कीत्यादि । ‘शङ्ख’ शङ्खायां, वङ्कश्च शङ्खायामत “उदित स्तराणोऽन्त” इति नागमे, “व्यञ्जनादेकलरा” इति यङि, तस्य “वङ्कल लुप्” इति लुपि, “सन्ध्याक्ष” ३३ इति द्विवचनेऽनादिव्यञ्जनलोपे, “आ गुणावन्त्यादे” इत्यात्वे, “आं धुह्वर्गे” इति परवर्गान्त्यत्वे, तिवि, आदिग्रहणात् ककारस्य संयोगान्तस्य लोपाभावे सिद्ध्यति । एव त्वत्येवैङ्गलुपि-नर्नर्ति इति । क्षेत्रप्रात्, गृहप्रात् इति । क्षेत्र प्राडिति, गृह प्राडिति इत्युभयोर्दोषान्त्ययोः किपि भवति । अन्ये त्विति । भीमसेनादयः, तन्मतस्त्वमतयोः किप्यविशेषः, किन्तु “न वदन” इत्यत्र विशेष-अतिटिपते, अटिपित इति । ३५ स्कोरिव संयोगादिदकारस्य लोपमिच्छतो मतः खानभिमतमित्येकवचनेन निर्दिष्टति-अन्यस्त्विति । तस्यैव मते पूर्ववत् संयोगादेष्टकारस्यापि लोप इत्याह-तथेत्यादि । पृथक्स्थातेति । पृथगित्यव्ययपूर्वात् तिष्ठतेऽस्तु, अस्मि ह्यत्र ककार सकारश्च संयोगादि, प्रत्ययामावात् लोपाभावः । वास्यै इदं वाक्ये इदमित्यस्त्वपदेन विग्रहे “इवर्णदे” इत्युभयपदाधितस्य यत्वस्यासिद्धत्वादेकपदाधितोऽन्तरा संयोगाद्यो स्कोल्लोप “पदस्य” ३९ इति संयोगान्तलोपश्च न भवतीत्याह-वास्यर्थमित्यादि । अनेनादेरिति । “संयोगस्यादौ” इत्यनेनोभयप्रादे सस्य कस्य च लुम भवतीति भावः । उत्तरेण चान्तस्येति । “पदस्य” इत्यनेनान्तस्य यस्य लुम भवतीत्यर्थः । लुगभावे हेतुस्तु-यत्वस्य बहिरङ्गत्वेनासिद्धत्वादिदिति । कथमिति । पचेर्वचेऽसति “सन्ध्याक्ष” इति द्वित्वेऽनादिव्यञ्जनलोपे, “सन्ध्याक्ष” इतीकारे, “चज कगम्” इति ककारस्य “संयोगस्यादौ” ४२ इति लोपे प्राप्ते तस्यासत्त्वात् लोपाभाव इत्यर्थः ॥ ८८ ॥

१ लङ् पु० । २ अस्त्वो पु० । ३ तद् पु० । ४ सातम् म० अ० । ५ अदक् पु० । ६ अटि पु० । ७ अट् पु० । ८ क् पु० ।

९ अस्मा पु० । १० वान्त० म० अ० ।



## पदस्य ॥ २ । १ । ८९ ॥

पदान्ते वर्तमानस्य संयोगस्य लुगन्तादेशो भवति, स च परे स्यादिविधौ च पूर्वस्मिन्नसन् द्रष्टव्यः । पुमान्, पुम्याम्, पुंभिः, पुंभ्यः, पुंसु, पुंवत्, पुंरूप्यः, पुंमयः, पुंजातीयः; एवं गोमान्, अनङ्गान्, महान्, भूयान्, कुर्वन्, श्रेया-<sup>३</sup> नित्यादौ संयोगान्तलोपस्य परकार्येऽसत्त्वादुत्तरसूत्रेण नलोपो न भवति, स्यादिविधौ चासत्त्वात् अत्वादिलक्षणो दीर्घो भवति । पदस्येति किम् ? स्कन्त्वा, स्यन्त्वा, भवाञ्छेते इत्यादौ तु आदेशविधानसामर्थ्यात् न भवति ॥ ८९ ॥

## रात्सः ॥ २ । १ । ९० ॥

६

पदान्ते वर्तमानस्य संयोगस्य संवन्धिनो रेफात् परस्य सकारस्यैव लुग् भवति । चिकीः, चिकीर्म्याम्, चिकीर्षुः; अत्र चिकीर्षतीति क्तिपि, “अतः” ॥ ४ । ३ । ८२ ॥ इत्यकारलोपे पत्वस्य परेऽसत्त्वात् सकारस्यैव लोपः, एवं जिहीः, जिहीर्म्याम्, जिहीर्षुः; कटचिकीः, पटजिहीः । पूर्वणैव सिद्धे नियमार्थं वचनम्, तेन रात् परस्य संयोगान्तस्य सस्यैव<sup>९</sup> लोपो नान्यस्य-ऊर्ज्, ऊर्म्याम्, न्यमार्दे; ‘गृधेः’, ‘स्पधेः’श्च यद्लुपि, द्वित्वे, “रिरो च लुपि” ॥ ४ । १ । ५६ ॥ इति पूर्वस्य रागमे, “आगुणावन्यादेः” ॥ ४ । १ । ४८ ॥ इति दीर्घत्वे च, ह्यस्तन्याः सिवि, आदेश्वतुर्थत्वे, “लघोरु-  
पान्त्यस्य” इति गुणे, “सेः स्द्वां च रूवी” इति सिव्लुकि, धकारस्य च रूत्वे, “रो रे लुग् दीर्घश्चादिदुतः” इति रलोपे,<sup>१२</sup> पूर्वस्य दीर्घत्वे अडागमे च सिद्धम्-अजर्वाः, अपास्याः । रादेव सस्येति तु विपरीतनियमो न भवति-“पुवत्कर्मधारये” इत्यत्र पुवदिति निर्देशात् ॥ ९० ॥

**पदस्य ।** अत्र संयोगस्येति लुगिति चानुवर्तते, संयोगस्येति च समानाधिकरण विशेषण पदस्येति स्थानपठान्तस्य, ततश्च “विशेषण-<sup>१५</sup> मन्त” इति संयोगान्तस्य पदस्येति लभ्यते “षष्ठा अन्यस्य” इत्युपस्थानाच्चान्यस्येति लभ्यते । तथा च-संयोगान्तस्य पदस्य योऽन्त्योऽवयव-  
स्य लुगित्यन्वयस्यदाह-**पदान्ते वर्तमानस्य संयोगस्येति । पुमानिति ।** पुमस्यन्वात् सिन्ध्याम्भिस्सुप- सौ “पुंसो पुमन्”  
१।४।७३। इति पुमन्तादेशो, व्यञ्जनान्तत्वात् सेलोपे, “न्समहतो” इति दीर्घत्वे, “धुट्स्त्वतीय” इत्येतदपवादस्य “सो व” इत्येतस्य परस्मिन्-<sup>१८</sup>  
सत्त्वात् परत्वात् “पदस्य” इति सर्वत्र सकारलोपे भवति । पुंवदिति । पुमानिवेति विग्रहे “स्यादेरिवे” ७।१।५२। इति वति रूपम् । पुंरूप्यः,  
पुंमय इति । “गृहेद्व्यो रूप्यमयदौ वा” इति सिद्धत्वं । पुंजातीय इति । “प्रकारे जातीयद्” ७।२।५५। इति जातीयरि रूपम् ।  
एवमिति । गावो विद्यन्तेऽस्येति मत्तौ, सौ, “ऋदुवित्” इति नागमे-गोमान् । “अनङ्गइ सौ” इति नागमे-अनङ्गान् । महानिति । १२  
“ऋदुवित्” इति नागम, “न्समहतो” इति दीर्घत्वम् । भूयानिति । बहोरीयसौ “भूल्लक् चैवणस्य” ७।४।४१। इति भूमावेवणलुक्को-  
सिद्धाति । करोते शतरी-कुर्वन् इति । श्रेयानिति । प्रशस्यशब्दस्येयसौ “प्रशस्यस्य श्र” ७।४।३४। इति आदेशो भवति । ननु पुमानित्यादौ  
“पदस्य” इति संयोगान्तलोपे नकारलोपः कस्माच्च भवतीत्याह-**संयोगान्तलोपस्येत्यादि । उत्तरसूत्रेण नलोप इति ।** “नात्रो नोऽनङ्ग”<sup>२४</sup>  
इत्यनेनेति भाव । स्यादिविधौ चेति । गोमानित्यादौ संयोगान्तलोपस्येति शेष । अत्वादिलक्षणो दीर्घ इति । “अभ्वादेरत्वच सौ” इति  
विहित इति भाव । स्कन्त्वा, स्यन्त्वेति । ‘स्कन्द’ गतिरूपणयो, ‘स्यन्दौह’ प्रसवणे, आभ्यां “आकाळे” इति त्वायां, “एकस्त्रादौ”  
इति “ध्रुवदित” इति चेडमावे रूपद्वयम् । अत्र पदान्ते संयोगान्तस्य लुगमवतीत्युच्यमानेऽपि संयोगान्तस्य पदस्यैव लोप इत्यर्थस्य सिद्धत्वात्<sup>२७</sup>  
पदस्येति वचन पदान्तस्य बद्धधुदनिश्चयार्थम् । ननु भवाञ्छेते इत्यत्र नकारस्य आदेशो संयोगान्तलोपः कस्माच्च भवतीत्याह-**भवाञ्छेते**  
इत्यादि । अन्यथा प्रक्रियालाघवार्थं अकारमेव विदध्यादित्यर्थः ॥ ८९ ॥

**रात्सः ।** अत्र संयोगस्येति पदस्येति लुगिति चानुवर्तते, अनुवर्तमानं संयोगस्य पदस्येति रादित्यस्य विशेषणं, तच्च स इत्यस्य षष्ठ्यन्त्यस्य, १०  
तथा च-संयोगान्तस्य पदस्यावयवो यो रेफस्तस्मादुत्तरस्य सकारस्यैव लुगित्यन्वयस्यदाह-**पदान्ते वर्तमानस्येत्यादि । चिकीरित्यादि ।**  
“हुङ्ग” करणे, घातो कर्तुमिच्छतीति सनि, “खरहनगमो सनि धुटि” ४।१।१०४। इति दीर्घत्वे, “ऋतो छितीद्” इतीरादेशे, “सन्त्यह्य”  
इति द्विवचनेऽनादिव्यञ्जनलोपे, “कडथष्” इति चत्वे, क्तिपि, अकारलोपेऽनेन सकारलोपे सिद्धाति । नन्वत्र रेफात् परत्वात् पदान्तकृतस्य<sup>३३</sup>  
स्य षत्वेन भवितव्यं, कथं लोप इत्याह-**अत्रेत्यादि । पत्वस्येति ।** एतत्सूत्रापेक्षया “गणमसत् परे” इति पत्वस्य पूर्वत्वादिति भाव ।  
परेऽसत्त्वादिति । “रात्स” इति परे कार्ये कर्तव्ये “गणम” इति सूत्रापेक्षया पूर्वस्य पत्वस्यासिद्धत्वादित्यर्थः । एवमिति । हरते पूर्ववत्  
सञ्चादौ-जिहीरित्यादि । पदान्ते वर्तमानस्य संयोगस्य संवन्धिनो रेफात् परस्य सकारस्य “पदस्य” इत्यनेन लोपसिद्धौ नियमार्थमिदमित्याह-<sup>३६</sup>  
**पूर्वणैवेत्यादि ।** नियमफल दर्शयति-ऊर्मित्यादि । ‘ऊर्ज्ण’ बलप्राणनयोश्चरादित्वात् णिचि, क्तिपि, णिलोपे, पदत्वे, रात् सस्यैवेति नियमात्  
“पदस्य” इति जकारलोपो न भवति । निपूर्वात् “मृजौक्” शुद्धावतो ह्यस्तन्या दिवि, उपान्त्यगुणे, “मृजोऽस्य” इति वृद्धौ, “अङ्घातो” इत्यडागमे,  
“यज्जज्ज” इति षत्वे, वृत्तीयत्वे, प्रथमत्वे च-**न्यमार्दे**, ‘गृधृच्’ अभिकाङ्क्षायाम्-**अजर्वाः**, ‘स्पधृच्’ संहर्षे-**अपास्याः** । रादेव<sup>३९</sup>  
सस्येति त्विति । “पुवत्कर्मधारये” इत्यत्र पुवदिति कृतसंयोगान्तसकारलोपस्य पुमस्यशब्दस्य पाठात् विपरीतनियमो न भवति, अत्र हि संयो-  
गान्तसकारलोपो न स्यात्, यथेव भिन्नतेजोगतैश्च ह्यस्तन्या दिवि, “हृ शिति” इति मृगो द्वित्वे, “ऋतोऽद्” इत्यत्वे, “पृथुमाहात्मि”  
४।१।५८। इतीत्वे, “द्वितीयद्वययो” इति यत्वे, गुणे च नियमात् लोपो न प्राप्नोति, नैष दोषः, प्रकरणात् पूर्वसूत्रविहितस्यैवाय नियमो न<sup>४२</sup>  
“व्यञ्जनादे” इत्युत्तरसूत्रविहितस्य । यदा “रात्स” इति द्वितकारनिर्देशात् । नन्वेव तर्हि कीर्तयतेरप्रत्यये कीरिति प्राप्नोति कीर्त् इति चेज्जते,  
अत्र भाष्यम्-“यथालक्षणमप्रयुक्ते” लोके प्रयुक्तानामेवेदमन्वाख्यान इत्यप्रयुक्ते लक्षणानामप्रवृत्तिलक्षणमित्यर्थस्तत्रास्य प्रयोगाभावात् न दोष इति ॥ ९० ॥

नाम्नो नोऽनहः ॥ २१ १ । ११ ॥

पदान्ते वर्तमानस्य नाम्नो नकारस्य लुग् भवति, अनहः—स चेदहश्चन्द्रसंघन्धी न भवति, स चासन् स्यादिविधौ; पर इति निवृत्तम् । राजा, वृत्रहा, दण्डी, वाग्मी, राजपुरुषः, राजकाम्यति, राजकल्पः । स्यादिविधावसत्त्वात् राजभ्याम्, राजभिः, राजसु इत्यादौ दीर्घत्वैस्त्वैत्यान्यकारान्तत्वाभावात् न भवन्ति । अनह इति किम् ? अहरेति, अहरीति, अहोरूपम् । दीर्घाह निदाघः—अत्र परविधौ रेफरत्वयोरसत्त्वाच्चलोपः स्यात्, सावकाशं च तदुभयं संशोधने—हे अहः ! हे दीर्घाहः । पदस्थेलेव ? राजानौ । स्यादिविधावित्येव ? राजायते, चर्मायते, अत्र क्यविधौ सत्त्वात् “दीर्घिश्चयङ्य-क्येषु च” ॥ ४ । ३ । १०८ ॥ इति क्येऽन्याकारदीर्घः सिद्धः । नाम्न इति किम् ? अहन्नहितम्, कुर्वारन्, सर्वस्मिन्, वृक्षान् । वृत्रहभ्याम्, वृत्रहभिरित्यत्र तु ‘असिद्ध बहिरङ्ग्यन्तरङ्गे’ इति नलोपस्यासिद्धत्वात् “हस्सस तः प्रिकृति” ॥ ४ । ४ । ११३ ॥ इति तोऽन्तो न भवति ॥ ११ ॥

नामङ्ये ॥ २ । १ । १२ ॥

आमङ्येऽर्थे वर्तमानस्य नाम्नः संजन्विनो नकारस्य लुग् न भवति । हे राजन् !, हे तक्षन् !, हे सीमन् !, हे बहु-राजन् !, एतदेव प्रतिषेधवचनं ज्ञापकम्, सिलुकः स्थानिवद्भावेन “अधातुविभक्तिः” ॥ १ । १ । २७ ॥ इति नाम-सज्ञाप्रतिषेधो न भवति इति । हे राजवृन्दारक ! इत्यत्र समुदायार्थं आमङ्यो नावयवार्थं इति नलोपप्रतिषेधो न भवति, अवयवार्थस्य त्वामङ्यत्वेऽसामङ्यत्वात् समास एव न स्यात् ॥ १२ ॥

१५

क्रीवे वा ॥ २ । १ । १३ ॥

आमङ्यविषयस्य नाम्नः क्रीवे नपुंसकलिङ्गे वर्तमानस्य नस्य लुग् वा भवति । हे चर्म !, हे चर्मन् !, हे दाम !, हे दामन् ! ॥ १३ ॥

१८

नाम्नो नोऽनहः । अत्र पदस्थेति लुगिति चानुवर्तते । पदस्थेति नाम्न इत्यवयवस्य अन्तर्गतं न इत्यस्य विशेषणम्, तथा च—नामावयवस्य

- नकारस्य पदचरमावयवस्य लुगित्यन्यस्यदाह—पदान्ते वर्तमानस्येत्यादि । पर इतीत्यादि । अधिकाराणामिष्टार्थत्वेन प्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थत्वात् पूर्वं “णषम” इति सूत्रेण, ‘असत्यरे’ इत्यधिकारो “रात्” इति यावदिति सारमति । राजेति । राजन्शब्दात् सर्व्यङनाहोपे, दीर्घत्वे, २१ सिलुकः स्थानिवद्भावात् “तदन्तम्” इति पदान्तत्वेन नलोपः । “प्रकृष्टपूणवृत्रहा” ॥ ५११६९१ इति किपि—वृत्रहा, एतं पुनश्च इति विग्रहे—राजपुरुषः, राजानमिच्छति—राजकाम्यति, ईषदसमातो राजा—राजकल्प इत्येव भाव्येऽन्तर्वर्तिनी विभक्तिमाधिस्य पदत्वम् । स्यादिविधाविति । राजभ्यामित्यादौ “नाम सिद्धव्यञ्जने” इति पदत्वात् नलोपे स्यादिविधौ तस्यासत्त्वात् अकारान्तत्वाभावात् “अत आ २४ स्यादौ” इति, “मिस ऐव” इति, “एदुह्मोति” इति दीर्घत्वादीनि न भवन्तीति भावः । अहरेतीत्यादि । “अनतो” इत्यसौ लुग् । अहोरूपमिति । प्रकृतमहरेति “स्यदेव प्रकृते रूपम्” ॥ ३११०१ इति रूपम् । दीर्घाह निदाघ इति । दीर्घोप्याहानि यस्मिन्निष्ठे बहुमीहि । नन्वत्र “रो लुप्परि” इति, “अह” इति च विशेषविहितत्वेनापवादत्वात् नलोपसंशोधनं रेफरत्वे भविष्यत् किमनह इति प्रतिषेधेन उच्यते— २७ रेफरत्वयो परेऽसत्त्वात् नलोपः स्यादित्याह—अत्रेत्यादि । न च रेफरत्वयोरनवकाशत्वमिति वाच्यम्, हे अह !, हे दीर्घाह ! इत्यादौ संशोधने । तयो सावकाशावदित्याह—सावकाशं चेत्यादि । राजानमिति । अधिकारात् पदं न नकारान्तमिति न लुगभवति । स्यादिविधावित्ये-वेति । राजेवाचरतीत्यादिवार्ये क्यङि नलोपेऽस्यादिविधित्वेन नलोपस्यासत्त्वाभावात् खरान्तत्वात् “दीर्घिश्चयङ्य” इति दीर्घत्वे—राजायते, चर्मा- ३० यते सिद्धमित्याह—अत्र क्यविधावित्यादि । अहन्नहितमिति । हिपुमवधीतिस्य, हन्तेऽर्थस्य दियो लोपेऽङ्गागमेऽहन् इति भवति, करोते सप्तम्या ईरनि “कृतनावेव” इत्युप्रत्यये, “नामिनो” इति युगे, “अत शित्युव” इत्युत्वे कृत्वे—कुर्वारन्, “हे स्मिन्” इति सिनि—सर्वस्मिन्, वृक्षानिति “शोऽन्ता सख न पुत्ति” इति भवति, अत्र नाम्न इति विशेषणात् धातोर्विभक्त्यानाम् नकारस्य लोपो न भवति । ३१ नन्वत्र परेऽसत् इत्यधिकृतस्य निवृत्तत्वात् “हस्सस त” इति तोऽन्तो वृत्रहभ्यामित्यादौ क्य न भवति, अत आह—वृत्रहभ्यामित्यादि । धातुमात्राभितत्वेन तोऽन्तोऽन्तरङ्गे बाष्पस्यापेक्षत्वात् नलोपो बहिरङ्ग ॥ ११ ॥

नामङ्ये । अत्र नाम्नो नो लुगिति चानुवर्तते, आमङ्ये इत्यमङ्ये तसिञ्जामङ्ये इति विषयतया नाम्नो विशेषणम्, तथा च—आमङ्ये

- ३२ नाम्नो नो लुग् नैलान्वयस्यदाह—आमङ्येऽर्थे वर्तमानस्येत्यादि । पूर्वेण प्राप्ते प्रतिषेधार्थमिदम् । हे राजभित्यादि । अत्र सेलौपः । ननु हे राजभित्यादौ सिलुकः स्थानिवद्भावेन “अधातुविभक्तिः” इति नामसज्ञाप्रतिषेधे पूर्वेण लोप एव न प्राप्नोति क्यसनेन प्रतिषिध्यत इत्याह—एत- ३३ हेवेत्यादि । अन्यथा प्रातिपदिकत्वात् प्रतिषेधस्य पूर्वगात्रासाविदमनर्थक स्यादित्यर्थः । नन्वामङ्ये नलोपप्रतिषेधात् राजन् वृन्दारकेत्यनयोरात्म- ३४ ङ्गायर्था “वृन्दारकनागकुक्षरे” ३१११०८१ इति समासे राजन् वृन्दारकेति भाव्यम्, नैप दोष, यदि पूर्वपदार्थोत्तरपदार्थसंघनोपनपूर्वकं समुदायार्थसंशोधनं प्रतीयेत तदा स्यादामङ्येऽर्थेऽनयोर्विशेषणसमासः, न चैवम्, पूर्वपदार्थोत्तरपदार्थयोः शोऽङ्गावुत्तरपदार्थं समासेनाभिधीयते तस्यैव सम्बोध्यमानताऽवगम्यते इति नामङ्यार्थप्रथमान्तयोः । ततश्च समासे कृते समुदायात् सम्बोधनविभक्तिरप्यत्राया “अदेत स्मोर्ज्व” ३५ इति लुकि—हे राजवृन्दारकेति प्रयोग उपपन्नो भवति । वाक्ये हि एकार्थोभावाभावादवयवार्थसंशोधनं गम्यते, समासे तु तद्विपर्ययात् समुदायार्थ-संशोधनमिति वाक्यसमासयोर्भिन्नार्थत्वात् सामर्थ्याभावात् समासमात्रं स्यात्, तथा चोक्त-विग्रहवाक्यार्थोपिधाने य समर्थं स धर्मयोर्पेदितव्य इत्याह—अत्रेत्यादि । अत्र सूत्रे आमङ्ये इति सामान्याभिधानेऽपि औजसोर्नकारस्य प्रदान्तत्वाभावात् द्रव्यस्य संशोधनार्हत्वात् चल्यामायाधरप- ३६ सत्त्वात् परिक्षिप्तं त्वरेव लभ्यते, सकृदेयेऽपि वर्तमानाया सख्याया आमङ्यणादर्शनात् दर्शने तु आमङ्ये इत्येकत्वस्य विवक्षितत्वादयोः ॥ १२ ॥

क्रीवे वा । अत्र आमङ्ये नाम्नो लुगिति चानुवर्तते, आमङ्ये इति क्रीवे इति च नाम्नो व्यधिकरणे विशेषणे तथावयवस्य अन्त

नकारस्य, तथा च—आमङ्ये क्रीवे नाम्नो नो लुगित्यन्यस्यदाह—आमङ्यविषयस्येत्यादि । “नाम्नो नो” इति प्रातस्य, “नामङ्ये” इति प्रति-

३७ विदस्य नलोपस्य प्रतिप्रवक्तव्यो योपः । हे चर्म !, चर्मन् ! भवति ॥ १३ ॥



शिम्बी, चारु, इक्षु, वन्धु, मधु, विन्दु, इन्दु, दु, वसु, अंशु, शु, हनु, सानु; भानु इत्यूर्ध्वादिः । बहुवचनमाकृति-  
गणार्थम्, तेन यस्य सति निमित्ते मतोर्वत्वं(त्वं) न दृश्यते स ऊर्ध्वादिषु द्रष्टव्यः ॥ ९९ ॥

मासनिशासनस्य शसादौ लुग् वा ॥ २ । १ । १०० ॥

३

एषां शसादौ स्यादौ परे लुगन्तादेशो वा भवति । मासः, मासान्, मासि, मासे; निशः, निशाः, निशि, निशायाम्,  
निज्म्याम्, निशाम्याम्, निच्छु, निशासु; आसनि, आसने । शसादाविति किम् ? मासौ, मासाः; मासरूप्यः ॥ १०० ॥

५

दन्तपादनासिकाहृदयास्त्र्यूपोदकदोर्यकृच्छकृतो दत्पन्नसहृदसन्पूषदुदन्-

दोषन्यकञ्शकन् वा ॥ २ । १ । १०१ ॥

दन्तादीनां यथासंख्यं शसादौ स्यादौ परे दत् इत्येवमादय आदेशा वा भवन्ति । दन्त-दत्तः, दन्तान् पश्य, दत्ता,  
दन्तेन, दन्त्याम् ३, दन्ताभ्याम् ३; दक्षिः, दन्तैः; दत्सु, दन्तेषु, पाद-पदः, पादान्; पदा, पादेन, नासिका-नसः, ९  
नासिकाः, नसा, नासिकया, हृदय-हृदि, हृदये; असृज्-अस्त्रा, असृजा, यूप-यूष्णा, यूपेण, उदक-उद्ग, उदकेन; दोस्-  
दोष्णा, दोषा; यकृत्-यक्ता, यकृता; शकृत्-शक्ता, शकृता; शक्ति, शकनि, शकृति । शसादावित्येव ? दन्तौ, दन्तकल्पः ॥ १०१ ॥

यसरे पादः पदणिक्यघुटि ॥ २ । १ । १०२ ॥

१२

पादिति पादशब्दस्य लुताञ्कारस्य पादयतेर्वा कृतणिलोपस्य निर्देशः, पादन्तस्य नाम्नो णिक्यघुटिर्जिते यकारादौ

धीर्धत्वे—क्रान्तिः, ‘शघृह्’ शब्दकुरायां, अतो “हीनीबन्धि०” उ० ३२५। इदिम्बे, गौरादिह्यां—शिम्बी, एग “स्वेभ्य०” उ० ६०६।  
इतीप्रत्यये—हरि, चरे “सिंहि०” उ० ७२६। इति वा णिदुप्रत्यये—चारु, इये “मरुजीप्यशिभ्यः मुक्” उ० ८२६। इति मुक्—इक्षु, १५  
‘वन्धश्’ वन्धनेऽस्मात् “मृत्तृ०” उ० ७१६। इत्युप्रत्यये—वन्धु, ‘मनिच्’ शानेऽतो “मनिजनिभ्या०” उ० ७२१। इत्युप्रत्यये नस्य घत्वे  
च—मधु, ‘विडु’ अवयवे, ‘इडु’ परमैध्वे, आभ्यां “मृत्तृ०” इत्युप्रत्यये—विन्दु, इन्दु, ‘ह’ गतावतो “घुट्भ्याम्” उणा० ७४४। इति  
विडुप्रत्यये—दु, ‘वसं’ निवासे, अत “मृत्तृ०” इत्युप्रत्यये—वसु, अये “अशेराजोऽन्ताब्” उ० ७११। इत्युप्रत्यये नागमे च—अशु, १८  
शृणोते किपि ‘आगमशासनमनिलम्’ इति तागमाभावे—शु, हन्वे “कृहने०” उ० ७९१। इति मुक् पाहुलकात् नलुक्—हनु, सनेतेः  
“कृवापा०” उ० १। इत्युणि—सानु, ‘माक्’ दीप्तावतो “दाभाभ्यां जु” उ० ७८६। इति जुप्रत्यये—भानु, बहुवचनात् अट्त्वरणायाकृति-  
गणोऽय, तामेवाकृतिं दर्शयति—तेनेत्यादिना ॥ ९९ ॥

२१

मासनिशासनस्य शसादौ लुग्वा । ‘माक्’ माने, चातो “मावावयमि०” उ० ५६४। इति से—मासः, निशे “नाम्यु-  
पान्य०” ५।१।५४। इति के आपि—निशा, आस्यतेऽस्मिन्निति “करणाधारे” ५।३।१२९। इत्यनटि—आसनम्; एभ्य शसादौ पक्षेऽन्त-  
लोपे—मास इत्यादि । निज्म्यामिति । ततो भ्याम्यन्तलोपे “घुट्स्त्वृतीय” इति शस्य जत्वे परेऽसत्त्वात् जस्य गत्व न भवति । निच्छु २४  
इति । तस्मात् झुप्यन्तलोपे तृतीयत्वे, “अघोषे प्रथमो०” इति प्रथमत्वे, “सस्य शपौ” इति शत्वे, “प्रथमादघुटि०” इति छत्वे भवति ।  
रूप्यपि—मासरूप्य इति ॥ १०० ॥

दन्तपादनासिकाहृदयास्त्र्यूपोदकदोर्यकृच्छकृतो दत्पन्नसहृदसन्पूषदुदन्दोषन्यकञ्शकन् वा । आदेशिनामा- २७  
देशानां च दुव्यसंख्यत्वात् यथासंख्यमत संवध्यत इत्याह—दन्तादीनां यथासंख्यमिति । ननु दशायादेशवत् पूर्वसूत्रेऽपि मास् इत्यादि  
समसादेश कर्तुमुचितस्तथा च सति प्रकरणभेदोऽपि न स्यात्, अत एव पूर्वं “पह्नोमासहृदिशासनपूषदोपन्यकञ्छकृत्नुदशासन०” पा०  
६।१।६३। इति कृतम्, प्रकृतिस्तु तत्रानुमितेति चेत्, सत्यम्, तत्रोपलक्षणभूतेन लृक्शब्देन लोपवार्थं लुगन्त आदेश उच्यते, अत एव वृत्ता- ३०  
लुक् लुगन्तादेश इति—लुगन्तस्यासावादेशेति तत्र प्रत्येतव्यम्, अन्तलोपे सति यादृशमेपां रूप भवति तादृश मासनिशासन इत्येव रूपा  
आदेशास्तेन विधीयन्ते न लुगिति । ननु पूर्वैरुदन्तोविषयत्वमेपासु, न च छान्दसा भवद्विभक्त्यायन्ते इति “मासनिशा०” इत्यादि सूत्रद्वय-  
मनर्थकम्; नैवम्—“अपो मि” पा० ७।४।४८। इत्यत्र सूत्रे वार्तिककारेणोक्त मासश्छन्दस्युपसंख्यान कर्तव्यमिति, माद्विरिष्टा इन्द्रो वृत्रहा । ३३  
“पह्नोमास०” पा० इति सूत्रे मासशब्दस्य मासादेशस्य छन्दस्येव विधानात् मासच्छन्दसीति छन्दोग्रहण न कर्तव्यम्, तत्क्रियते आपायामपि  
क्वचित् पदादय प्रयुज्यन्त इति ज्ञापनार्थम्, अत एव प्रविरलप्रयोगविषयत्वात् सर्वसु विभक्तिषु नोदाहियन्ते । ‘दमूच्’ उपशमेऽतो “दम्यमि०”  
उणा० २०० । इति वे—दन्त, ‘पदिच्’ गतावत पयते इति “पदरुजविशसृष्टा०” इति धमि—पाद, ‘णसि’ कौटिल्येऽतो “नसिवसि०” ३६  
उणा० ४०। इति णिदिके—नासिका, हरते “गयहृदया०” उणा० ३७० । इत्ये निपातनात् दागमे च—हृदय । असृज् शब्दो व्युत्पादित ।  
गौते “शेरुच वा” उणा० ५४१ । इति मे ऊकारे च—यूप, ‘उदैच्’ छेदनेऽतो “घुष्टुन्दि०” उणा० २९ । इति किदिके—उदक, दाम्यते-  
“यमिदमिभ्या ङोस्” इति ङोस्—दोस्, यजे “यजे क च” उणा० ८९२। इति ऋत्प्रत्यये कादेशे च—यकृत्, शके “शकेऽकृत्” उणा० ३९  
८९१। इति ऋति—शकृत्, एषा शसादौ स्यादौ पक्षे दशायादेशे—दत्त इत्यादि । “अतमबादे०” इति कल्पपि—दन्तकल्प इति ॥ १०१ ॥

यसरे पादः पदणिक्यघुटि । पाद इति गुपात्, द्विपदिकां ददातीत्यादिप्रयोगस्थपावशब्दानुकरणात् षष्ठी । ननु द्विषा पाच्छ-  
न्दस्य समव, तथाहि—“पात्पादसाहस्यदे” ७।३।१४८। इत्यादिभि कृतपादादेशस्य तथा पादयते किञ्चन्तस्य णिलुक् तत्कस्येह ग्रहणम् ३, ४२  
उच्यते—शास्त्रस्यानुवादकत्वेनाकारकत्वात् पादयतेष्व किञ्चन्तस्य लोके प्रयोगाभावादादेशस्यैव ग्रहणमत आह—पादिति पादशब्दस्येत्यादि ।  
पादयतेर्वा इत्यत्र पादशब्द इवार्थो दृष्टान्तार्थस्यैव चायमर्थ—यथा पादयते किञ्चन्तस्य प्रयोगाभावेन लुप्तरूपस्य नष्टरूपस्य स्वीकार एव पादस्य  
पादिसादेशेन लुताञ्कारस्य निर्देश । तत्र च पादशब्दस्य समास एवादिषो विधीयते, न सामर्थ्यात् तदन्तस्य कार्यं विशायते इत्याह—पाद- ४५  
न्तस्य नाम्न इत्यादि । यदि तु पादयते किञ्चन्तस्य प्रयोग स्यात्, तदा तस्मिन् केवले मुख्ये सति तदन्तस्य न स्यादिति । नन्वेवमेनेकवृत्ते-

स्वरादौ च प्रत्यये परे पदित्ययमादेशो भवति; स च निर्दिश्यमानस्यादेशो भवन्तीति पाच्छन्दस्यैव भवति न तदन्तस्य सर्वस्य । व्याघ्रस्येव पादावस्य व्याघ्रपात्, तस्यापत्यं-वैयाघ्रपद्यः; द्वौ पादावस्य द्विपात्-द्विपदः पश्य, द्विपदा, द्विपदे, त्रिपदी १ गाथा, व्याघ्रपदी स्त्री कुले वा, द्वौ द्वौ पादौ ददाति-द्विपदिकां ददाति, द्विपदे हितम्-द्विपदीयम् । पादमाचष्टे पद्यमानं प्रयुक्ते वेति पादयते: किपि-पाद्, पदः पश्य, पदा, पदे, पदी कुले; अत्र व्यपदेशिवद्भावेन पादन्तत्वम् । यस्वर इति किम् ? द्विपादभ्याम्, द्विपाद्भिः, द्विपात्काम्यति । अणिक्यघुटीति किम् ? पादमाचष्टे-पादयति, क्येति क्यन्क्यन्- २ डोरविशेषेण ग्रहणम् । व्याघ्रपादमिच्छति स इवाचरतीति च-व्याघ्रपाद्यति, व्याघ्रपाद्यते, द्विपादौ, द्विपादः, द्विपादि कुलानि । नाम्न इत्येव ? उपपद्यते इत्येवंशील उपपादुकः । पादयते: किबन्तस्य प्रयोगो नास्तीति कश्चित् ॥ १०२ ॥

### उदच उदीच ॥ २ । १ । १०३ ॥

२ उदचिति उत्पूर्वस्याश्चते: कृतनलोपस्य निर्देशः, उदचो नाम्नोऽणिक्यघुटि यकारादौ स्वरादौ च प्रत्यये परे उदीच इत्ययमादेशो भवति । (य-) उदीच्यः, (स्वरे-) उदीचः पश्य, उदीची स्त्री कुले वा, उदीचा, उदीचे । यस्वरे इत्येव ? उदग्भ्याम्, उदक्काम्यति । अणिक्यघुटीत्येव ? उदञ्चमाचष्टे उदयति, उदञ्चमिच्छति उदच्यति, उदगिवा- ३ चरति-उदच्यते, उदञ्चौ, उदञ्चः, उदञ्चि कुलानि । अच इति लुप्तनकारस्याश्चतेर्निर्देशात्-उदञ्चा, उदञ्चे, किय्यर्चायां निषेधात् नलोपाभावः ॥ १०३ ॥

### अच प्राग्दीर्घश्च ॥ २ । १ । १०४ ॥

४ अचिति अनकारस्याश्चेर्निर्देशः, अचिति नाम णिक्यघुट्वर्जिते यकारादौ स्वरादौ च प्रत्यये परे चकारमात्रं भवति,

त्वात् सर्वस्य पादन्तस्य प्राप्नोति केवलस्य च इत्यते, तस्मात् पाद पदादेशमपास्य पादो ह्रस्व इति कर्तव्यमिति य शङ्कते त प्रत्याह-स च निर्दिश्यमानस्येति । अयमर्थ-यत्पूर्वे षष्ठा निर्दिश्यते तस्यादेशेन संबन्धो न तु यत्नेन प्रत्याप्यते तस्य । इह च पाद इति निर्दिश्यते तेन तु १० तदन्त व्याघ्रपात् द्विपादित्यादि प्रत्याप्यते इति न तस्यादेशः, तथाहि-क्त्वो यवादेशो निर्दिश्यमानस्य त्व एव प्रवर्तते न तु तेन प्रत्याप्यमानस्य समुदायस्येति । व्याघ्रपूर्वात् जिघ्रते "व्याघ्राप्ते" ५।१।५७। इति डे-व्याघ्र, तस्येव पादावस्येति "पात्पादस्या०" इति पाद्भावे तस्यापत्य वृद्ध- २ मिति गर्गादित्वात् वृद्धेऽपत्ये यच्चि "च पदान्तात् प्रागेदौ" ७।४।५। इत्येकारागमेऽनेन पदादेशो-वैयाघ्रपद्य इति । द्विपद इत्यादि । ३ द्वौ पादावस्येति विग्रहे द्विपूर्वस्य पादशब्दस्य "सुसंख्यात्" ७।३।१५०। इति पाद्भावे-द्विपात्, तत स्वरादौ प्रत्ययेऽनेन पदादेशो सिध्यति । "वा पादः" २।४।६। इति ढपां-त्रिपदी गायेति । गायेल्यनुप्रयोग जीत्वाभिव्यक्त्यर्थः । स्त्री कुले वेत्यनुप्रयोगौ स्त्रीत्वनपुंसकत्वाभिव्यक्त्यर्थौ । ४ द्विपदिकां ददातीति । "संख्या समाहारे च०" ३।१।९९। इति समास, "संख्यादे पादादिभ्यो दानदण्डे चाकृष्टं लृक् च" ७।१।१५२। ५ इत्यकृष्ट, अन्तस्य च लृक्, तत आप्, "अस्मायत्तत्०" इतीत्वम् ततोऽस्मि भवति । द्विपदीयमिति । द्विपदे हितमिति विग्रह "तस्मै हिते" ६ इतीत् । किबन्तस्य प्रयोगाभाव इत्यति-पादमाचष्टे इत्यादिना । अत्रेति । एषु पादयते किबन्तप्रयोगेषु, पादन्तत्वम्-पाच्छन्दस्या- ७ न्तत्व-विनाशवत्वमिति भावः । एते पूर्वोक्ता प्रयोगा लोके न प्रयुज्यन्तेऽत्र हेतुमाह-व्यपदेशिवद्भावेनेति । अपदेशो-व्याजच्छम, विशिष्टो ८ व्याज एषामस्तीति-व्यपदेशी स एव एषां सत्ता, बुद्धीवेते कल्पन्ते न तु लोके प्रयुज्यन्ते इत्यभियुक्तैरेषां व्याजवती सत्ता लक्ष्यते । अभियुक्ता हि स्वविरचन्तोत्पलदेवनन्दिसाधारणमाप्यकारप्रभृतय पादयते किप् न ह्रस्वत इति वदन्त एषा व्याजवती सत्ता व्यपदिशन्ति । सूत्रेऽपि केचन ९ समासान्तग्रहणं कुर्वन्ति । व्याजमेव दर्शयति-पादमाचष्टे इत्यादिना । पूर्वोक्तमेवार्थमभियुक्तस्थला इत्यति-पादयते. कियन्तस्य १० प्रयोगो नास्तीति कश्चिदिति । अस्य किबन्तस्य प्रविरलप्रयोगविषयोऽपि प्रयोगो न कश्चिदस्तीति संबन्ध इति । अन्ये तु अभियुक्तस्थतिमन- ११ भिनन्दयन्त किबन्तस्य प्रयोग प्रतिजानते, अत एवानभिचितित्वादेव पक्ष पादयतेत्येवादिना पादमाचष्टे इत्यादिना च वाक्यद्वयेन शिष्टोक्त्या वृत्तौ दर्शित । तत्र दोषशब्दमध्याह्न्यैव व्याख्या-पादयते किबन्तस्य प्रयोगोऽस्तीति न कश्चिदोप इति ॥ १०२ ॥

१२ उदच उदीच । अत्र अणिक्यघुटीत्यनुवर्तते यस्वरे इति च । उदच इति उदघावित्यादिप्रयोगप्रकृतेरनुकरणमित्याह-उदचिति- १३ त्यादि । तस्य च नाम्न इत्यभिज्ञत घातुव्यवच्छेदार्थं समानाधिकरण विशेषण, तथा चायमन्वय-उदचो नाम्नोऽणिक्यघुटियस्वरे उदीच इति, तदाह-उदचो नाम्न इति । उदचतीति किपि, "अथोऽनर्चायाम्" इति नलोपे, "तत्र साधौ" इति, "भवे" इति वा ये, शप्ति च-उदीच्यः, १४ उदीच इति । जियां "अथ" २।४।३। इति ढपां नपुंसके तु "जीरी" इतीत्वे-उदीची स्त्री कुले वेति । स्त्री कुले इत्यनुप्रयोगौ लिट्ताभि- १५ व्यक्त्यर्थौ, ततो भ्यामि "चज फगम्" इति कत्वे, लृतीयत्वे-उदग्भ्याम् इति । उदचमिच्छति इति विग्रहे "द्वितीयाया काम्य" ३।४।२३। इति काम्ये-उदक्काम्यति । उदयतीति । णिचि अन्त्यस्वरादिलोपः । उदच्यति इति । "अमाव्यात् क्यन् च" ३।४।२३। इति १६ क्यन् । "क्यद्" ३।४।२६। इति क्यम्-उदच्यते इति । उदञ्चावित्यादि । "अच" इति नागमः । एतेषु अणिक्यघुटि इति वचनात् १७ उदीचादेशो न भवति । ननु उदघेत्यादौ अणुदस्वरे आदेशः कस्माच्च भवतीत्याह-अच इतीत्यादि । किय्यर्चायामिति । "अथोऽनर्चायाम्" इत्यत्र अनर्चायामिति वचनादिति शेषः ॥ १०३ ॥

१८ अच प्राग्दीर्घश्च । अत्र अणिक्यघुटि इति यस्वरे इति चानुवर्तते । अचिति अनकारस्याश्चे कर्त्तव्यो निर्देशः, च इति कार्य- १९ निर्देशः, कार्यकार्त्विगोरमेदनिर्देशस्तु समस्तदेशार्थः, तथा च-अचिति नाम अणिक्यघुटि यस्वरे च प्राक् च दीर्घ इत्यन्वयस्तदाह-अचिति नामेत्यादि । प्रागिति पूर्वत्वं चादेशापेक्षया, तत्रापि सन्निहितपरित्यागे व्यवहितपरिग्रहे कारणाभावादनन्तर एव यथावत् इत्याह-प्राक्



प्राक्-पूर्वोऽनन्तरस्वरश्च दीर्घो भवति । ( य- ) प्राच्यः, प्रतीच्यः, ( खरे- ) प्राचः, प्राचा, दवीचः, दधीचा, मधूचः, मधूचा, पिटृचः, पिटृचा, प्राची; प्रतीची स्त्री कुले वा । अन्वाचयशिष्टत्वाद् दीर्घत्वस्य तदभावेऽपि चादेशो भवति—  
दृषवा, दृषवे, अत्र “स्वरस्य ह्रस्वदीर्घपुताः” इति न्यायाद् दृषदो दीर्घो न भवति । यस्वर इत्येव ? प्रत्यग्न्याम्, मध्वग्न्याम् । १  
अणिक्यघुटीत्येव ? दध्यञ्चमाचष्टे दध्ययति, दध्यच्यति, दध्यच्यते, दध्यञ्चौ, दध्यञ्चः, दध्यञ्चि कुलानि । अच् इति  
लुप्तनकारस्याश्चतेर्ग्रहणादिह न भवति—साध्वञ्चः पश्य, साध्वञ्चा, साध्वञ्चे ॥ १०४ ॥

क्रमुष्मतौ च ॥ २ । १ । १०५ ॥

णिक्यघुड्वर्जिते यकारादौ स्वरादौ मतौ च प्रत्यये परे कस् उप भवति । विदुषि साधुः—विदुष्यः, पेचुषि साधुः—  
पेचुष्यः, विदुषः, विदुषा, विदुषे, विदुषी स्त्री कुले वा, विदुष इदं वैदुषम्; पेचुषः, पेचुषा, पेचुषे, पेचुषी स्त्री कुले वा,  
पेचुष इदं पैचुषम्, विदुष्मान्, पेचुष्मान् । मतौ चेति किम् ? विद्वद्भिः, पेचिवद्भिः, विद्वत्काम्यति । अणिक्यघुटीत्येव ? २  
विद्वांसमाचष्टे—विद्वयति, विद्वसति, विद्वस्यते, विद्वांसौ, विद्वांसः, विद्वांसि कुलानि ॥ १०५ ॥

श्वन्युवन्मघोनो डीस्याद्यघुट्स्वरे व उः ॥ २ । १ । १०६ ॥

श्वन् युवन् मघवन्नित्येतेषां सस्वरो वकारो डीस्याद्यघुट्स्वरे परे उर्भवति । शुनी स्त्री, प्रियशुनी कुले, शुनः, शुना, १२  
शुने, अतियूनी स्त्री, प्रिययूनी कुले, यूनः, यूना, यूने, मघोनी, अतिमघोनी स्त्री, प्रियमघोनी कुले, मघोनः, मघोना  
मघोने । डीस्याद्यघुट्स्वर इति किम् ? शौवनम्, यौवनम्, माघवनम् । अघुटिति किम् ? श्वानौ, युवानौ, मघवानौ,  
अतिश्वानि, अतियुवानि, अतिमघवानि कुलानि । स्वरे इति किम् ? श्वम्याम् । नकारान्तनिर्देशादिह न भवति—गोष्ठ्येन, १५  
युवतीः पश्य, युवत्या, मघवतः पश्य, मघवता । अर्थवद्ग्रहणादिह न भवति—तत्त्वदृशना, मातरिश्वना ॥ १०६ ॥

पूर्वोऽनन्तरस्वरश्चेति । प्राच्यतीति किपि पूर्ववयादौ अनेन चादेशो दीर्घत्वे च—प्राच्य इत्यादि । ननु दृषदमच्यतीति किपि दृषावनन्तर-  
पूर्वस्वराभावे दीर्घत्वाभावादेकयोगनिर्दिष्टत्वादादेशस्याप्यभावात् कथं दृषत्वेत्यादि सिध्यतीत्याह—अन्वाचयशिष्टत्वादित्यादि । दीर्घश्चेति १०  
चकारसमुच्चितत्वेनाऽप्रधानत्वादित्यर्थः । प्रधानवाक्यनिर्दिष्टस्यासिद्धत्वाद् वाऽवश्यविधेयत्व, यथा—एषाणादृतुं अरप्य गच्छ शाक्यमप्यानेप्यतीति  
एषाहरणस्येतिवत् । नन्वत्र दकारस्य दन्त्यत्वात् लृक्चरो दीर्घ आसन्नत्वात् कस्मान् भवतीत्याह—अत्र “स्वरस्य०” इत्यादि । शेषं पूर्वेण  
द्वुल्यगमम् ॥ १०४ ॥

क्रमुष्मतौ च । अत्र अणिक्यघुटि इति यस्वरे इति चाजुवर्तते, अणिक्यघुटि यस्वरे मतौ च कस् उप इत्यन्यस्तदाह—णिक्य-  
घुड्वर्जिते इत्यादि । वेत्ते पचेश “वा वेत्ते क्रमु” ५।२।२२। इति “तत्र क्रमुकानौ तद्वत्” ५।२।२। इति च कसावन्यत्र “अनादेशादेरेक-  
व्यञ्जनमध्येऽत” ४।१।२४। इत्येत्वे, द्विवचनाभावे, पूर्ववयादौ—विदुष्यः, पेचुष्य इत्यादि । विदुषीति । “अपावृद्धित” २।४।२। इति २४  
त्रिधां धीप्रत्यय, नपुंसके तु “औरी” इतीत्वम् । “तस्येदम्” इत्यणि—पैचुषमिति । विद्वांसोऽस्य सन्तीति “तदस्यास्त्वस्मिन्निति०” मतौ  
उपादेशे च—विदुष्मान् इति । एव पेचुष्मानित्यपि । ननु च पपुष, तिन्युष इत्यादौ यस्वरादाद्युच्यमानस्योपादेशस्य बहिरङ्गत्वेनासिद्धत्वात्  
तदपेक्षया अन्तरङ्गाणि आकारलोपादीनि न प्राप्नुवन्ति, नैष दोषः, न हि वस्त्वन्तरानपेक्ष अन्तरङ्ग बहिरङ्ग वा स्वाभाविक किञ्चिदस्ति, परस्पर- २७  
पेक्षया युगपत् प्राप्नोतयेरेव स्थानात् यथा—स्योन इत्यत्र यत्वयुगयो । पपुष इत्यादौ तु युगपत्प्राप्तिर्नास्ति, उपादेशकाळे आकारलोपादीना  
निमित्ताभावाद्प्रसङ्गात्, आलोपादिप्राप्तिकाळे च निर्जृप्त उपादेश इति तेषां निमित्तमेवेति नास्ति परिभाषोपस्थानम् । यदाह भाष्य—अन्तरङ्गबहिर-  
ङ्गमिति प्रसिद्धस्वभावित्वावर्णौ, न चात्रान्तरङ्गबहिरङ्गयुगपदवस्थानमस्तीति । ‘न स्वरानन्तर्ये’ इति प्रतिषेधाद्वा न चात्रान्तरङ्गत्वादित्या भाव्य- ३०  
मिति वाच्यम्, नित्यत्वादित् बाधित्वा उप् भवति । ननु वर्णविधित्वाभावात् स्थानिवत्त्वेन भवतीदं प्रसङ्ग इति चेदस्तु वा पूर्वमिदं वसव्यवत्त्वात्  
केदृश वसोव्यादेशो भविष्यति । उपिति पकारो “नाम्यन्तस्या०” इति सिद्धस्य प्रक्रियालाघवाच्चोऽयमनुवादः, परमार्थतस्तु उचिति सकारान्त  
एवायमादेश इति । विद्वत्काम्यतीत्यादि । पूर्ववत्काम्यादि ॥ १०५ ॥

श्वन्युवन्मघोनो डीस्याद्यघुट्स्वरे व उः । श्वन्युवन्मघोनो च डीस्याद्यघुट्स्वरे उरित्यन्यस्तदाह—श्वन् इत्यादि ।  
सस्वरो वकार इति । सस्वरत्व च वकारस्य कार्यिणो मघोन इति निर्देशात्, अन्यथा व्यञ्जनमात्रस्योत्वे सृजे मघोन इति निर्देशो नोपपद्येत ।  
श्रयतेमहेक्ष “श्वनमातरिश्वन०” उणा० १०२ । इत्यनि श्रयतेर्लुकि अन्यत्र नलोपेऽवन्ते च—श्वन्, मघवन्, यौते “दृषयुट्पि०” उणा० ३४  
१०१ । इति कनि उपादेशे च—युवन्, एभ्य “त्रियां रतो०” इति कथां स्याद्यघुट्स्वरे च परे वस्योत्वे—शुनीत्यादि । प्रियशुनी कुले  
इति । प्रियश्च ययो कुलयोरिति बहुव्रीहि, तत् “औरी” इतीत्वम् । युवानमतिक्रान्तेति समासात् धी—अतियूनी स्त्री इति । प्रिययूनी  
कुले इति । पूर्ववदीत्वम् । मघवानमतिक्रान्तेति विग्रहे—अतिमघोनी स्त्री इति । शुन इदमिति विग्रहे “तस्येदम्” इत्यणि “द्वारादे” ३९  
७।२।६। इत्यौकारागमे—शौवनम् इति । यौवनमिति । यूना भाव कर्म वा “युवादेरण्” ७।१।६। इत्यण्, “अणि” ७।२।५२। इत्यन्य-  
स्वरादिलोपप्रतिषेध । मघोन इदं “तस्येदम्” इत्यणि—माघवनमिति । श्वानावित्यादि । “नि दीर्घ” इति घुटि दीर्घत्वम् । ननु श्वित्यादौ  
नकारान्तनिर्देश किमर्थं इत्यत आह—नकारान्तनिर्देशादिति । गोष्ठे श्व इति विग्रह “गोष्ठते शुन” ७।३।११०। इत्यदि, “नोऽपदस्य ४२  
तद्विते” ७।४।६। इति नकारलोपे, यथा इनदेशे—गोष्ठ्येन इति । “यूनस्ति,” २।४।७७। इति त्रिप्रत्यये श्रसादौ—युवतीरित्यादि । अत्र  
नकारान्तनिर्देशमन्तरेण “विशेषणमन्त” इति “नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि” इति च न्यायाम्नां तदन्ते त्रियां च वर्तमानस्य श्वनशब्दस्य  
युवन्शब्दस्य च प्राप्ति स्यादिति भावः । मघवत इत्यादौ तु मधुप्रत्ययसत्त्वात् तन्मन्तरेण प्राप्तिर्बोध्येति संक्षेपः । ननु निपातनाद्यादुल्ल कस्मान् ४५  
भवतीत्याह—अर्थवद्ग्रहणादित्यादि । अत्रोभयत्रापि श्वसिलनयकम् ॥ १०६ ॥



## लुगातोऽनापः ॥ २ । १ । १०७ ॥

आपूर्वजितस्याकारस्य ङीसाद्यधुदस्वरे परे लुग् भवति । कीलालः, कीलालपा, कीलालपे, शुभंयः, शुभंया, शुभंये, कत्वः, श्रेः हाहे देहि । आत इति किम् ? नदीः । अनाप इति किम् ? खट्वाः, शालाः, मालाः पश्य । ङीसाद्यधुदस्वर इत्येव ? कीलालपास्तिष्ठन्ति, कीलालपां पश्य; कीलालपाम्याम् ॥ १०७ ॥

## अनोऽस्य ॥ २ । १ । १०८ ॥

अनोऽकारस्य ङीसाद्यधुदस्वरे परे लुग् भवति । राज्ञी, राज्ञः, राज्ञा, राज्ञे; तक्ष्णः, तक्ष्णा, तक्ष्णे । ङीसाद्यधुदस्वर इत्येव ? राजानौ, राजानः, सुराजानि कुलानि; राजम्याम् ॥ १०८ ॥

## ईडौ वा ॥ २ । १ । १०९ ॥

अनोऽकारस्येकोरे डौ च परे लुग् वा भवति । साम्नी, सामनी; दाम्नी, दामनी, सुराज्ञी, सुराजनी कुले; राज्ञि, राजनि; दधि, दधनि ॥ १०९ ॥

## षादिहन्धृतराज्ञोऽणि ॥ २ । १ । ११० ॥

षकारादेरनो हन्धृतराज्नित्येतयोश्चाकारस्याणि प्रत्यये परे लुग् भवति । औक्ष्णः, ताक्ष्णः, मौण्णः, वार्नेणः; चार्तराज्ञः । षादीनामिति किम् ? सामनः, वैमनः । अणीति किम् ? ताक्ष्ण्यः ॥ ११० ॥

## न वमन्तसंयोगात् ॥ २ । १ । १११ ॥

वकारान्तात् मकारान्ताच्च संयोगात् परस्यानोऽकारस्य लुग् न भवति । पर्वणा, पर्वणे; तत्त्वदक्षना, तत्त्वदक्षने;

लुगातोऽनापः । अत्र ङीसाद्यधुदस्वरे इत्यनुवर्तते, अनाप आत ङीसाद्यधुदस्वरे लुगित्यन्वयस्तदाह—आपूर्वजितस्येत्यादि । अत्रा-

समवेऽप्युत्तरार्थं ङीलुवर्तते । कीलालप इत्यादि । कीलाल पिबतीति किप् विच् वा तत् शसादावनेनाकारस्य लोपः । एव शुभ गायीति—

२८ शुभंय इत्यादि । कत्वः, श्रे इति । कत्वाभ्याप्रत्यययोरनुकरणमिदम् । अनुकरणे हि शब्दा अपि लक्षणं प्रयोजयन्ति, यथा—“अव्यक्तानुकरणा-  
दनेकस्वराद् कृम्वस्तिनानितौ द्विधः” ७।२।१४५। इति । यथैव चान्ये अर्थपरा देवदत्तादिभि शब्दै व्यवहरन्ति, एव वैयाकरणा अपि प्रकृति-  
प्रत्ययादीन् प्रत्याययन्तस्त्वदनुकरणैरेभिर्व्यवहारमारभन्ते । ननु कत्वाभ्यां टायामिलेवमपि वैयाकरणा व्यवहरन्ति तत्कथमिति चेत्, उच्यते—

२९ श्रीलिङ्ग आबन्तोऽनुकरणशब्दो य उदाहृत सोऽनावन्त समग्रया दर्शनात् समय व्यवस्थाप्यते इति । हाहे इति । अत्रानुकरणस्याकारलोपः ।  
देहीति । “हो द ” ४।१।३१। इत्येत्वम् । नदीरेति । अत्र शप्ति आकारस्याभावोपो न भवति । खट्वा इत्यादि । एतेषु “आत्” इत्याप्,  
ततः शप्, अनाप इति वचनात् लुगभावः । कीलालपा इत्यादि । जस्अम्भ्याम्भ्यु रूपाणि ॥ १०७ ॥

२४ अनोऽस्य । अत्र ङीसाद्यधुदस्वरे इति लुगिति चानुवर्तते, अनः अस्य ङीसाद्यधुदस्वरे लुगित्यन्वयः । अत इत्यवयवसम्बन्धव्यन्तम्

असेत्यस्य कार्येणो विशेषणमित्याह—अनोऽकारस्येति । राज्ञी—“स्त्रिया चतोः” इति ङी, ततोऽनोऽकारलोपः । एव अधुदस्वरेऽपि । तसौ

तनूकरणेऽत “उक्षितक्ष्णी” उणा० १०० । इत्यनि शसादौ अनोऽकारलोपे—तक्ष्ण इत्यादि । शोमनो राजा येषां कुलानामिति “नपुंसकस्य  
२७ ङि ” इति जस शवो वा शौ “नि षीर्घ ” इति षीर्घत्वे—सुराजानि ॥ १०८ ॥

ईडौ वा । अत्र अन इति असेति लुगिति चानुवर्तते, अनोऽस्य ईडौ लुगित्यन्वयस्तदाह—अनोऽकारस्येत्यादि । साम्नीत्यादौ

“औरी” इतीत्वम्, तत्र पूर्वेण मिले प्राप्ते पक्षे तदभावार्थोऽयं विकल्पः । तस्य भावाभावोभयार्थकत्वात् तत्र भावविद्दौ अभावफलो विकल्पविधि-

२० रभावसिद्धौ भावफल उभयसिद्धावुभयफल । अत्र भावस्य पूर्वेण सिद्धत्वादभावफल इति ॥ १०९ ॥

षादिहन्धृतराज्ञोऽणि । हन् इति । श्रूणहन् इत्यादिप्रयोगस्थस्य हनोऽनुकरणम् । धृतराज्निति प्रायोगिकस्य धृतराज-

शब्दस्यानुकरणम् । अत्र अनोऽस्येति लुगिति चानुवर्तते, षादिहन्धृतराज्ञोऽनोऽस्य अणि लुगित्यन्वयस्तदाह—षकारादेरित्यादि । उष्णोऽपल-

२३ मिति “उष्णोऽपले” ६।१।२८। इत्यणि शब्दो अनपले इत्यधिकृत्य “उष्णो लुक्” ७।४।५६। इति लुगिवाचानादपले नलोपामावादेवान् सद्भावेऽपि

अण स्याद्यधुदस्वरत्वाभावात् पूर्वेणाप्राप्तावनेनाकारलोपे न स्य णत्वे—औक्ष्ण इति । एवं तक्ष्णोऽपलमिति “शिवादेरण्” इत्यणि—ताक्ष्ण इति ।

कारलक्षणस्तु इन् कुर्वादिभ्येन बाधनात् पक्षे न भवति । श्रूण हतवान् इति किपि श्रूणहन्, श्रूणोऽपलमित्यणि, अनोऽकारलोपे, “हनो हो घ ”

२६ इति प्रादेशे—मौण्ण इति । एव हृन् हतवानिति किपि—वार्नेण इति । धृता राजानो येन तस्यापलमिति विग्रहः पूर्ववदप्रादौ अनोऽकारलोपे

“तवर्गस्य” इति नकारस्य अकारे—धार्तराज्ञ इति । सामन, वैमन इति । “देवता” इत्यण् । तक्ष्णोऽपलमिति “कुर्वादेव्ये”

इति व्ये—ताक्ष्ण्य इति ॥ ११० ॥

२१ न वमन्तसंयोगात् । अत्र अनोऽस्येति लुगिति चानुवर्तते, वमन्तसंयोगात् अनोऽस्य लुग् नित्यन्वयस्तदाह—वकारान्तादि-

त्यादि । वकारमकारयो संयोगविशेषणत्वेन “विशेषणमन्त” इति न्यायेनात्र तदन्तत्वे लब्धेऽन्तग्रहण स्पष्टायम्, अन्यथा वमसंयोगादिति समस्त-  
निर्देशे तयोरेव संयोगादित्यादाश्च स्यात्, वम संयोगादिति व्यञ्जनिर्देशेऽपि वकारमकारभ्यां परो यः संयोगस्तस्मादित्यपि प्रतीयेतेति । ‘यूय’

२२ पालनपूरणयोरत “स्यामदि” उणा० १०४ । इति वनि, शुणे, टादौ “अनोऽस्य” इत्यकारलोपे प्राप्ता वकारान्तसंयोगपरत्वादानेन निषेधे—पर्वणे-

कर्मणा, कर्मणे; भस्मना, भस्मने; अश्मना, अश्मने; पर्वणी; कर्मणी; पर्वणि, कर्मणि । संयोगादिति किम् ? प्रतिदीप्ता, साम्ना । घ्नन्तेति किम् ? तक्ष्णा, मूर्ध्ना ॥ १११ ॥

हृनो हो घ्नः ॥ २ । १ । ११२ ॥

हन्तेह इत्येवंरूपस्य घ्न इत्ययमादेशो भवति । भ्रूणघ्नी स्त्री, भ्रूणघ्ना, भ्रूणघ्ने, भ्रूणघ्नी कुले, भ्रूणघ्नि, घ्नन्, घ्नन्ति; अघ्नन् । हन इति किम् ? ग्रीहः, अहः, अही, अहि । ह इति किम् ? वृत्रहणौ, वृत्रहयति ॥ ११२ ॥

लुगस्यादेत्यपदे ॥ २ । १ । ११३ ॥

अपदेऽपदादावकारे एकारे च परोऽकारस्य लुग् भवति । सः, तौ, ते, युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम्, पचन्ति, पठन्ति, विवक्षन्, पचे; यजे । असेति किम् ? अदन्ति, आसे । अदेतीति किम् ? अमणे, संयते । अपद इति किम् ? दण्डाग्रम्, तवैषा ॥ ११३ ॥

डित्यन्यस्वरादेः ॥ २ । १ । ११४ ॥

स्वराणां संनिविष्टानां योऽन्त्यः स्वरस्तदादेः शब्दरूपस्य डिति परो लुग् भवति । मुनौ, साधौ, पितुः, मातुः; पिता, माता; एषु व्यपदेशिवद्भावादन्त्यस्वरादित्वम् । महत्याः करः—महाकरः, महाघासः, उपसरजः, मन्दुरजः, १२ त्रिंशता क्रीतम्—त्रिंशकम् । आसन्नाश्चत्वारो येषामासन्नचताः, अदूरचताः । डिति किम् ? दृषदौ, दृषदः ॥ ११४ ॥

त्यादि । एव तत्त्वदृश्वनेत्यादि । 'भसे' सौत्रात्, 'अनोऽटि' व्याप्तावित्यतश्च "मन्" उ० १११ । इति मनि टायां—भस्मनेत्यादि । पर्वणी—त्यादि । अत्र "इहौ वा" इति विकल्पः प्राप्तः प्रतिषिध्यते । प्रतिदीप्ता, साम्नेति । अत्र वकारमकाराभ्यामेव परोऽन् न तु तत्त्वयोगादिति १५ प्रतिषेधो न भवति । तक्ष्णा, मूर्ध्ना इति । अत्र संयोगमात्रात् परो न तु घ्नन्तात् इत्यनोऽस्य इति लुग्भवति ॥ १११ ॥

हृनो हो घ्नः । हृनो ह इति समानाधिकरणे पञ्चौ इत्याह—हन्तेरित्यादि । भ्रूणपूर्वात् हन्ते किपि, "नना शोणदे" २।४।३१ । इति व्या, "अनोऽस्य" इति ततोऽकारलोपेऽनेन ह इत्यस्य प्राऽऽदेशे—भ्रूणघ्नी । एव नपुसके औकारस्येत्वे "इहौ वा" इत्यकारलोपेऽनेन ह्नादेशे—भ्रूणघ्नी कुले इति । नपुसकत्वाभिव्यक्त्यर्थोऽनुप्रयोगः । झञिति । "ज्ञानावावे०" ५।२।२० । इति शतृप्रत्यय, "गमहनजन०" ४।२।४४ । इत्यकारलोप । एव घ्नन्तीत्यादि । 'हिरेर्हि'श्च "धनमातरिध्नन्०" उणा० १०२ । इति निपातनादनि—हीहन्, अहन् इति स्थितस्य कसादावकारलोपे—ग्रीह इत्यादि । अत्र हन इति हन्तेरनुकरणात् 'अर्थवद्ग्रहणे०' इति न्यायाद् वाऽत्रान्यस्य न भवति । वृत्रहणमाचष्टे इति २१ णिचि अन्यस्वरादिलोपे—वृत्रहयति ॥ ११२ ॥

लुगस्यादेत्यपदे । अदेति—अथ एवेति समाहारद्वन्द्वात् सप्तमी, अपद इत्यस्य विशेषणम् । अपदे अदेति अस्य लुगित्यन्वयस्वदाह—अपदेऽपदादावित्यादि । 'सप्तम्या निदिष्टे पूर्वस्य' इति न्यायेन अपदादिभूतकारैकाराव्यवहितपूर्वस्य अकारस्य लुगित्यर्थः । स इति । २० तद सौ "आद्वे" इत्यत्वे, "लुगस्यादेत्यपदे" इति अपवादत्वात् समानदीर्घत्व बाधित्वाऽकारलोपः, "त सौ स" इति तकारस्य सकारः । एवमौकारे जसि चाल्वादौ—तावित्यादि । ताविति लोपामावेऽपि सिध्यति परमेकवचनबहुवचने उदाहरता मध्यवर्तिप्रसङ्गलिखितमुदाहरणम् । "अभ्यम् भ्यस" इति कृते—युष्मभ्यमित्यादि । पचन्ति, पठन्तीति । पचे पठेच्च अन्तिप्रत्यये, "कर्तर्यनङ्गप०" इति शब् । बहुमिच्छ- २७ चीति "ङ्महोद०" इति सनि, द्विवचनेऽनादिव्यञ्जनलोपे, "सन्त्यस्य" इतीत्वे, चस्य कत्वे पत्वे च विवक्षतीति "ज्ञानावावे०" इति शतृप्रत्यये, शवि, सन्शषोरकारलोपे, सिलोपे, "ऋदुदितः" इति नागमे, संयोगान्तलोपे—विवक्षन् इति । एव पचेर्यजेच्च वर्तमानाया एप्रत्यये, "कर्तर्य०" इति शवि, अकारलोपे—यजे, पचे इति । 'अदक्' मक्षणेऽतोऽन्तौ—अदन्ति इति । 'आसिक्' उपवेशनेऽत एप्रत्यये—आसे इति । ३० अमणे, संयते इति । सप्तम्येकवचन जी । दण्डस्याग्र दण्डाग्रमिति षष्ठीसमासो दण्डेति संबोधनपद वा ॥ ११३ ॥

डित्यन्यस्वरादेः । अत्र लुगित्यनुवर्तते, अन्यस्वरादेः डिति लुगित्यन्वयः । सति यस्मिन् यस्मात् पूर्वमस्ति परं नास्ति सोऽन्तस्त्वत्र भवोऽन्त्य, अन्यस्वर आदिर्यस्य शब्दरूपस्येति बहुव्रीहि, तत्र यदि स्वरस्यान्यस्य स्वरव्यञ्जनसमुदायापेक्ष्य न तदा तदादिरन्य संभवतीत्यादि- ३३ प्रहणमनर्थक स्यात्, अतस्तुल्यजातीयापेक्षमेवान्यस्य विज्ञायत इत्याह—स्वराणामिति । तत्रापि न सञ्चिवेशानपेक्ष्यमन्यत्वमित्याह—सञ्चि-विद्यानामिति । एव विशिष्टेष्टान्तेन स्वरेण विशिष्ट समासार्थं समुदायलोपमाह—योऽन्त्यः स्वरस्तदादेः शब्दरूपस्येति । डिति-डकार इव-अप्रयोगी यस्य तस्मिन् परे लुग्भवतीति । मुनौ, साधाविति । "डिडौ" इति डौ, अन्यस्वरादेर्लुक् । पितुः, मातुरिति । "ऋतो ह्र" इति ३६ ह्रिः ऋकारस्य लोपः । पिता, माता इति । "ऋदुशानस्पुदधो०" इति सेर्लोऽऽदेशः । अत्र सर्वत्र "ह्वर्णोदिरले०" इति प्राप्ते परत्वात् डित्वस्यानवकाशत्वाच्च लुगेव । अयान्यस्वर एव, न तत्र तदादि कश्चिदस्ति इत्याह—युष्मित्यादि । महाकर इत्यादि । महत्या कर इत्यादि षष्ठी-समासे "महत करघासविशिष्टे वा" ३।२।६८ । इत्यधिकारे "क्रियाम्" ३।२।६९ । इतीकारस्य ङादेशेऽङ्गुपस्य ङङ् । उपसरे जात इति मन्दुरायां ३६ जात इति च विग्रहे "सप्तम्या" ५।१।१६९ । इति से, अखिलस्य लोपे, "क्यापो बहुलं नाभि" २।४।९९ । इति यथासंभवं हसत्वे—उपसरजः, मन्दुरज इति । त्रिंशकमिति । "त्रिंशद्विशतेर्कोऽसंज्ञायामार्हदर्थे" ६।४।१२९ । इति ङक । आसन्नचताः, अदूरचता इति । "आसन्ना-दुराधिकाभ्यर्षाधिपूरणं द्वितीयाभ्यन्तरे" इति बहुव्रीहि, "प्रमाणीचक्याङ्" ७।३।१२८ । इति ङङ्गो जस् ॥ ११४ ॥

## लुगातोऽनापः ॥ २ । १ । १०७ ॥

आपूर्वजित्साकारस्य ङीसाघघुदस्वरे परे लुग् भवति । कीलालपः, कीलालपा, कीलालपे, शुभंयः, शुभंया, शुभंये, क्तयः, 'श्रे, हादे देदि । आत इति किम् ? नदीः । अनाप इति किम् ? खट्वाः, शालाः, मालाः पयः । ङीसाघ-  
तुदस्वर इत्येव ? कीलालपास्तिष्ठन्ति, कीलालपां पयः, कीलालपाम्याम् ॥ १०७ ॥

## अनोऽस्य ॥ २ । १ । १०८ ॥

अनोऽकारस्य ङीसाघघुदस्वरे परे लुग् भवति । राज्ञी, राज्ञः, राज्ञा, राज्ञे; तक्ष्णः, तक्ष्णा, तक्ष्णे । ङीसाघघुद-  
स्वर इत्येव ? राजानौ, राजानः, सुराजानि कुलानि; राजभ्याम् ॥ १०८ ॥

## ईडौ वा ॥ २ । १ । १०९ ॥

अनोऽकारस्येकारे डौ च परे लुग् वा भवति । सामी, सामनी; दासी, दामनी, सुराज्ञी, सुराजनी कुले; राज्ञि, राजनि;  
दधि, दधनि ॥ १०९ ॥

## पादिहन्धृतराज्ञोऽणि ॥ २ । १ । ११० ॥

पकारादेरनो हन्धृतराजन्तित्वयोश्चाकारस्याणि प्रत्यये परे लुग् भवति । औक्ष्यः, ताक्ष्यः, मौण्यः, वार्त्तयः;  
धार्तराजः । पादीनामिति किम् ? सामनः, वैमनः । अणीति किम् ? ताक्ष्यः ॥ ११० ॥

## न वमन्तसंयोगात् ॥ २ । १ । १११ ॥

वकारान्तात् मकारान्ताच्च संयोगात् परस्यानोऽकारस्य लुग् न भवति । पर्वणा, पर्वणे; तत्त्वदक्षणा, तत्त्वदक्षणे;

लुगातोऽनापः । अत्र ङीसाघघुदस्वरे इत्यनुवर्तते, अनाप आतः ङीसाघघुदस्वरे लुगित्यन्वयस्तदाह—आपूर्वजित्स्येत्यादि । अना-  
पस्येऽनुवर्तते ङीलानुवर्तते । कीलालप इत्यादि । कीलाल पिपतीति किम् पिप वा ततः घासादायनेनाकारस्य लेपः । एव शुभं यादीति—  
१८ शुभंय इत्यादि । क्तयः, अ इति । क्त्याभाप्रत्यययोरनुकरणमिदम् । अनुकरणे हि घञ्दा अपि लक्षणं प्रयोजयन्ति, यथा—“अन्वयात्तुकरणा-  
दनेकस्वरात् क्त्यास्तिनामिति विद्य” ७।२।१४५। इति । यथैव चान्ये अर्थपरा देवदत्तादिभिः शब्दैः व्यवहरन्ति, एव वैयाकरणा अपि प्रकृति-  
प्रत्ययादीन् प्रत्ययवन्तस्य अनुकरणेरेभिर्मध्यहारमारमन्ते । ननु क्त्यायां टायामित्येवमपि वैयाकरणा व्यवहरन्ति तत्कथमिति चेत्, उच्यते—  
२१ प्रौढिन् भावन्तोऽनुकरणशब्दो य उदाहृतः सोऽनापन्त उभयया दर्शनात् उभय व्यवस्थाप्यते इति । हाहे इति । अत्रानुकरणस्याकारलोपः ।  
देहीति । “हो द” ४।१।३१। इत्येत्यम् । नदीरिति । अत्र शसि आकारस्याभावाहोपो न भवति । खट्वा इत्यादि । एतेषु “आद” इत्यादौ,  
ततः शस्, अनाप इति वचनात् लुगमापः । कीलालपा इत्यादि । जम्भाम्भ्याम्भ्यु रूपाणि ॥ १०७ ॥

अनोऽस्य । अत्र ङीसाघघुदस्वरे इति लुगिति चातुवर्तते, अनः अस्य ङीसाघघुदस्वरे लुगित्यन्वयः । अन इत्यन्वयसम्बन्धप्रत्ययान्तम्  
अस्येत्यस्य धर्मिणो विशेषणमित्याह—अनोऽकारस्येति । राज्ञी—“विषा वृत्तो” इति टी., ततोऽनोऽकारलोपः । एव अष्टद्वारेऽपि । ‘तसौ’  
तत्पुनरेतत् “उक्षितस्वधी” उणा० १०० । इत्यनि घासादो अनोऽकारलोपे—ताक्ष्ण इत्यादि । शोमनो राजा येषां कुलानामिति “न्युपकस्य  
२० शि” इति जस्र शब्धौ वा शो “नि शीर्षं” इति शीर्षत्वे—सुराजानि ॥ १०८ ॥

ईडौ वा । अत्र अन इति अस्येति लुगिति चातुवर्तते, अनोऽस्य ईडौ लुगित्यन्वयस्तदाह—अनोऽकारस्येत्यादि । साम्नीत्यादौ  
“औरी” इतीत्यम्, तत्र पूर्वेण नित्ये प्राप्ते पक्षे तदभावार्थोऽयं विकल्पः । तस्य भावाभावोभयार्थकत्वात् तत्र भावसिद्धौ अभावफलो विकल्पविधिः—  
२० रभावसिद्धौ भावफल उभयसिद्धावुभयफल । अत्र भावस्य पूर्वेण सिद्धत्वादभावफल इति ॥ १०९ ॥

पादिहन्धृतराज्ञोऽणि । हन् इति । भ्रूणहन् इत्यादिप्रयोगस्थस्य हनोऽनुकरणम् । धृतराजन्तिति प्रायोगिकस्य धृतराज-  
शब्दस्यानुकरणम् । अत्र अनोऽस्येति लुगिति चातुवर्तते, पादिहन्धृतराज्ञोऽनोऽस्य अणि लुगित्यन्वयस्तदाह—पकारादेरित्यादि । तक्ष्णोऽपत्य-  
२१ मिति “तक्षोऽपत्ये” ६।१।२८। इत्यणि वृद्धौ अतपसे इत्यधिकृत्य “तक्षो लुक्” ७।४।५६। इति लुगिवाचानादपले नलोपाभावादेवान सङ्गाचेऽपि  
अणः साघघुदस्वरात्वाभावात् पूर्वणाप्राप्तवनेनाकारलोपे न स्य पत्ये—औक्ष्य इति । एव तक्ष्णोऽपत्यमिति “शिघादेरण्” इत्यणि—ताक्ष्ण इति ।  
काहलक्षणस्तु इन् कुर्वादिभ्यो न नाधनात् पक्षे न भवति । भ्रूण हतवान् इति किपि भ्रूणहा, भ्रूणोऽपत्यमित्यणि, अनोऽकारलोपे, “हनो शो घ”  
२३ इति प्रायेणे—भौण्य इति । एव घृत् हतवानिति किपि—वार्त्तय इति । घृत् राजानो येन तस्यापत्यमिति विरुद्धं पूर्ववदनादौ अनोऽकारलोपे  
“तवर्गस्य” इति मकारस्य नकारे—धार्तराज इति । सामनः, वैमन इति । “देवता” इत्यण् । तक्ष्णोऽपत्यमिति “कुर्वादेर्न्य”  
इति न्ये—ताक्ष्य इति ॥ ११० ॥

न वमन्तसंयोगात् । अत्र अनोऽस्येति लुगिति चातुवर्तते, वमन्तसंयोगात् अनोऽस्य लुग् नेत्यन्वयस्तदाह—वकारान्तादि-  
२४ त्यादि । वकारमकारयोः संयोगविशेषणत्वेन “विशेषणमन्त” इति न्यायेनात्र तदन्तत्वे लब्धेऽन्तग्रहणं स्पष्टार्थम्, अन्यथा वमन्तसंयोगादिति समस्त-  
निर्देशे तयोरेव संयोगादित्याशङ्का स्यात्, वम संयोगादिति व्यस्तनिर्देशोऽपि वकारमकारभ्यां परो य संयोगस्तस्मादित्यपि प्रतीयतेति । ‘पृष्ट’  
२५ पालनपूर्णयोरत “स्यामदि” उणा० १०४। इति वनि, गुणे, टादौ “अनोऽस्य” इत्यकारलोपे प्राप्नो वकारान्तसंयोगपरत्वाद्देने निवेचे—पर्वणे-

कर्मणा, कर्मणे; मस्सना, मस्सने; अस्मना, अस्मने; पर्वणी, कर्मणी; पर्वणि, कर्मणि । संयोगादिति किम् ? प्रतिदीप्ता, साक्षा । वमन्तेति किम् ? तक्षणा, मूर्धा ॥ १११ ॥

हनों हो घ्नः ॥ २ । १ । ११२ ॥

हन्तेर्ह इत्येवरूपस्य घ्न इत्ययमादेशो भवति । भ्रूणघ्नी स्त्री, भ्रूणघ्ना, भ्रूणघ्ने, भ्रूणघ्नी कुले, भ्रूणघ्नि, घ्नन्, घन्ति; अघ्नन् । हन इति किम् ? ग्रीहः, अहः, अही, अहि । ह इति किम् ? वृत्रहणौ, वृत्रहयति ॥ ११२ ॥

लुगस्यादेत्यपदे ॥ २ । १ । ११३ ॥

अपदेऽपदादावकारो एकारे च पदेऽकारस्य लुग् भवति । सः, तौ, ते; युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम्; पचन्ति, पठन्ति, विवक्षन्, पचे; यजे । असेति किम् ? अदन्ति, आसे । अदेतीति किम् ? अमणे, संयते । अपद इति किम् ? दण्डाग्रम्, तवैषा ॥ ११३ ॥

डित्यन्यस्वरादेः ॥ २ । १ । ११४ ॥

स्वराणां संनिविष्टानां योऽन्यः स्वरस्तदादेः शब्दरूपस्य डिति पदे लुग् भवति । मुनौ, साधौ, पितुः, मातुः; पिता, माता; एषु व्यपदेशिवद्भावादित्यस्वरादित्वम् । महत्याः करः—महाकरः, महाघातः, उपसरजः, मन्दुरजः, १२ त्रिशता क्रीतम्—त्रिशकम् । आसन्नाश्चत्वारो त्रेषामासन्नचताः, अदूरचताः । डिति किम् ? दपदौ, दपदः ॥ ११४ ॥

सीदि । एव तत्त्वदृष्टनेत्यादि । 'मसे' सौत्रात्, 'अशौटि' व्याप्तावित्यतश्च "मन्" उ० १११ । इति मनि टायां—भस्सनेत्यादि । पर्वणी-त्यादि । अत्र "ईहौ वा" इति विकल्पः प्राप्तः प्रतिपिच्यते । प्रतिदीप्ता, साक्षेति । अत्र वकारमकाराभ्यामेव परोऽन् न तु तत्संयोगादिति १५ प्रतिषेधो न भवति । तक्षणा, मूर्धा इति । अत्र संयोगमात्रात् परो न तु वमन्तात् इत्यनोऽस्य इति लुग्भवति ॥ १११ ॥

हनों हो घ्नः । हनों ह इति समानाधिकरणे पञ्चौ इत्याह—हन्तेरित्यादि । भ्रूणपूर्वात् हन्ते किपि, "नन्ना शोणदे" २।४।११। इति क्त्वा, "अनोऽस्य" इति ततोऽकारलोपेऽनेन ह इत्यस्य आऽऽदेशो—भ्रूणघ्नी । एव नपुसके औकारस्येते "ईहौ वा" इत्यकारलोपेऽनेन ईऽऽदेशो—भ्रूणघ्नी कुले इति । नपुसकत्वाभिव्यक्त्यर्थोऽनुप्रयोगः । प्रचिति । "ज्ञानघावे" ५।२।२० । इति शतृप्रत्यय, "गमहनजन" ४।२।४४। इत्यकारलोप । एव घन्तीत्यादि । "हिदेरिदे"श्च "वन्मातरिस्त्रु" उणा० १०२ । इति निपातनादनि—लोहन्, अहन् इति स्थितस्य कसादावकारलोपे—ग्रीह इत्यादि । अत्र हन इति हन्तेरनुकरणात् 'अर्थवद्भ्रूणे' इति न्यायाद् बाऽन्यास्य न भवति । वृत्रहणमाचष्टे इति २१ णिचि अन्यस्वरादिलोपे—वृत्रहयति ॥ ११२ ॥

लुगस्यादेत्यपदे । अदेति—अथ एषैति समाहारद्वन्द्वात् सप्तमी, अपद इत्यस्य विशेषणम् । अपदे अदेति अस्य लुगित्यन्य-स्वराह—अपदेऽपदादावित्यादि । 'सप्तम्या निर्दिष्टे पूर्वस्य' इति न्यायेन अपदादिभूताकारेकाराव्यवहितपूर्वस्य अकारस्य लुगित्यर्थः । स इति । १४ तद सौ "आदेर" इत्यत्वे, "लुगस्यादेत्यपदे" इति अपवादत्वात् समानदीर्घत्वं धाधित्वाऽकारलोपः, "त सौ स" इति तकारस्य सकारः । एवमौकारे जसि चाल्वादे—तावित्यादि । तावेति लोपाभावेऽपि स्थिति परमेकवचनबहुवचने उदाहरता मध्यवर्तिप्रसङ्गलिखितमुदाहरणम् । "अभ्यम् भ्यस" इति कृते—युष्मभ्यमित्यादि । पचन्ति, पठन्तीति । पचे पठेष्ट अन्तिप्रत्यये, "कर्तर्येनङ्प्र" ० इति शब्दः । वक्तुमिच्छ- २७ तीति "वृमहोद" इति सनि, द्विवचनेऽनादिव्यञ्जनलोपे, "सन्त्यस" इतीत्वे, चस्य कत्वे षत्वे च विवक्षतीति "ज्ञानघावे" इति शतृप्रत्यये, शवि, सन्धवीरकारलोपे, सिलोपे, "श्रुवदित" इति नागमे, संयोगान्तलोपे—विवक्षन् इति । एवं पचेर्येजे च वर्तमानाया एप्रत्यये, "कर्तर्ये" इति शवि, अकारलोपे—यजे, पचे इति । 'अदक्' भक्षणेऽतोऽन्तौ—अदन्ति इति । 'आसिक्' उपवेशनेऽत एप्रत्यये—आसे इति । २० अमणे, संयते इति । सप्तम्येकवचनं ही । दण्डस्याग्र दण्डाग्रमिति पञ्चसमासो दण्डेति संज्ञोपपदः वा ॥ ११३ ॥

डित्यन्यस्वरादेः । अत्र लुगित्यनुवर्तते, अन्यस्वरादे इति लुगित्यन्य । सति यस्मिन् यस्मात् पूर्वमस्ति परं नास्ति सोऽन्तस्त्वन्न मनोऽन्य, अन्यस्वर आदिर्यस्य शब्दरूपस्येति बहुमीहि, सत्र यदि स्वरस्यान्यत्वं स्वरव्यञ्जनसमुदायापेक्षं न तदा तदादिरन्य संभवतीत्यादि—१६ प्रहणमनर्थक स्यात्, अतस्तुल्यजातीयापेक्षमेवान्यत्वं विज्ञायत इत्याह—स्वराणामिति । तत्रापि न सन्निवेशानपेक्ष्यमन्यत्वमित्याह—सन्नि-विष्टानामिति । एव विधिष्ठेनान्येन स्वरेण विधिष्ठ समासार्थं समुदायलोपमाह—योऽन्यः स्वरस्तदादेः शब्दरूपस्येति । डिति—वकार इव—अप्रयोगी यस्य सस्ति परे लुग्भवतीति । मुनौ, साधाविति । "भिहौ" इति हौ, अन्यस्वरादेर्लुक् । पितुः, मातुरिति । "श्रतो ह्र" इति १६ डुरि ऋकारस्य लोपः । पिता, माता इति । "ऋदुश्चस्सुदशो" इति सेहोऽऽदेशः । अत्र सर्वत्र "श्वणोदिरत्वे" इति प्राप्ते परत्वात् डित्व-स्यानवकाशत्वाच्च लुगेव । अघान्यस्वर एव, न तत्र तदादि कश्चिदस्ति इत्याह—यत्त्वित्यादि । महाकर इत्यादि । महत्या कर इत्यादि षष्ठी-समासे "महत् कर्यासविशिष्टे वा" ३।२।६८। इत्यधिकारे "भ्रियाम्" ३।२।६९। इतीकारस्य आदेशोऽङ्प्रत्ययः लुक् । उपसरे जात इति मन्दुरायां १५ जात इति च विग्रहे "सप्तम्या" ५।१।१६९। इति डे, अक्षिपत्य लोपे, "व्यापो चट्ठु नात्रि" २।४।९९। इति यथासंभव ह्रस्वे—उपसरजः, मन्दुरज इति । त्रिशकमिति । "त्रिशदिश्वतेर्वकोऽचज्ञायामार्हदर्थे" ६।४।१२९। इति ऋक् । आसन्नचताः, अदूरचता इति । 'आसन्ना-दुराधिकाध्यायोर्धादिपूर्ण द्वितीयाध्यायो' इति बहुमीहि, "प्रमाणीसंख्या" ७।३।१२८ इति वस्ततो जस् ॥ ११४ ॥

## अवर्णादश्रोऽन्तो वाऽतुरीडयोः ॥ २ । १ । ११५ ॥

आवर्जितादवर्णात् परस्यात् स्थानेऽन्त इत्यादेशो वा भवति, ईडयोः—औकारस्थाने ईप्रत्यये डीप्रत्यये च परे । तुदन्ती, १ तुदती कुले, तुदन्ती, तुदती स्त्री; करिष्यन्ती, करिष्यती कुले, करिष्यन्ती, करिष्यती स्त्री; भान्ती, भाती कुले; भान्ती, भाती स्त्री; प्सान्ती, प्साती कुले; प्सान्ती, प्साती स्त्री । अवर्णादिति किम् ? अदती, सुन्वती, रुन्वती, तन्वती स्त्री कुले वा; एषु शतृः । अधीयती स्त्री कुले वा, अत्रातृश्, जरती स्त्री कुले वा—अत्रातृः । अश् इति किं ? क्रीणती स्त्री, लुनती स्त्री कुले वा । ईडयोरिति किम् ? तुदता कुलेन । अवर्णादिति विशेषणादश् इति प्रतिषेधाच्च लोपदीर्घाभ्यां पूर्ववर्तनेनान्तः, भूतपूर्वतया वा पश्चात् । ददती स्त्री ददती कुले इत्यत्र तु कृतेऽप्यन्तादेशे “अन्तो नो लुक्” ॥ ४ । २ । १४ ॥ इति नलोपः ॥ ११५ ॥

९

## इयशवः ॥ २ । १ । ११६ ॥

इयात् शवश्च परस्यातुरीडयोः परतोऽन्त इत्यादेशो भवति । दीव्यन्ती, सीव्यन्ती स्त्री कुले वा; भवन्ती, चौरयन्ती स्त्री कुले वा; धारयन्ती शान स्त्री कुले वा । इयशव इति किम् ? जरती स्त्री कुले वा । ईडयोरित्येव ? दीव्यता, १२ भवता ॥ ११६ ॥

## दिव औः सौ ॥ २ । १ । ११७ ॥

दिवोऽन्तस्य सौ परे और्भवति । द्यौः, प्रियद्यौः, हे द्यौः !, हे अतिद्यौः ! । ‘निरनुबन्धग्रहणे न सातुबन्धस्य’ इति १५ धातोर्न भवति—अक्षैर्दीव्यति, किप्, ऊद—अक्षद्युः । साविति किम् ? दिव पश्य । धामिति तु द्योश्चस्य “आ अम्-शसोऽन्ता” इत्याकारे रूपम् ॥ ११७ ॥

अवर्णादश्रोऽन्तो वाऽतुरीडयोः । अत्र अवर्णात् अतु अन्त वा इङ्गोरित्यन्वयः । आवर्जितादवर्णादिति । आशब्देन १८ श्रान्तसमुदाय उच्यते, अवर्णादित्यप्यवर्णात्, न ह्यवर्णात् पर घाताऽस्ति न च तत्राश्न इति प्रतिषेधो युक्तः, तेनायमर्थः—श्रान्तवर्जितादवर्णान्तात् परस्येति । अथवा—अवर्णादिति समुदायैकदेशोऽवर्णे एवोच्यते, आशब्देन तु आशब्दसम्बन्धवर्ण इति, तत्राऽयमर्थः—आवर्जितात् आप्रत्ययादयवो यो न भवति तस्मादवर्णात् परस्येत्यर्थः । तुदन्ती, तुदती कुले इत्यादि । ‘तुदीव’ व्यपने, इत्यतः “शत्रानशावे” इति शतृप्रत्ययः, तुदादि- १९ त्वात् घ, औकारस्य “औरी” इतीत्वम्, “प्रियां गतो” इति ययासंभवं दीप्रत्ययः, पक्षेऽनेन अन्तादेशः, ततो “ह्यस्यादेत्यपदे” इत्यस्य उक् । एष करोते “शत्रानशावे” इति स्पष्टहिते शतृप्रत्यये, “हृत्त स्यत्” ४।१।४९। इतीटि, “नाम्यन्तास्या” इति घत्वे, पूर्ववर्तीत्वादे— करिष्यन्तीत्यादि । एष ‘माङ्’ धीतो, ‘प्याङ्’ मधुणे—भान्ती इत्यादि । ‘अदङ्’ मधुणे, ‘पुङ्’ अभिषवे, ‘रघूपी’ आवरणे, ‘तद्वि’ वित्तादे, २० ऽत शतृप्रत्यये ययासंभवं “खादे गु”, “रुष खरात्” इति “हृजतनादे” इति च “आस्त्वोर्लुक्” इति श्रयाकारलोपे, अवर्णादिति वचनादन्तादेशमावे—अदतीत्यादि । अधिपूर्णात् ‘ईङ्’ अप्ययनेऽतः “धारीणेऽङ्गच्छेऽतृष्” ५।१।२५। इत्युक्तिः, “धातोर्विर्णवर्णस्य” इती- २१ यादेशे, द्यां औकारस्योकारे वा—अधीयती इति । जरती इति । और्यते “जृयोऽतृ” ५।१।३१। इति अतृ । क्रीणती, लुनतीति । क्रीणाते- २२ र्जनातेष धातौ “क्यादे” इति आप्रत्यये, “अवात” ४।१।१६। इति आकारलोपः । तुदता इति । अत्र द्यां ईडयोरिति वचनात् न भवति । ननु तुदन्ती भान्तीत्यादिमूलोदाहरणे ईडयोरनपेक्षत्वेन वर्णमात्राश्रयत्वेन भान्तरत्वात् “ह्यस्यादेत्यपदे” इति “धमानानां” इति वाकार- २३ लोपदीर्घत्वयो कृतयोरवर्णात् परत्वं शतृप्रत्ययस्य न सम्भवति तत्कथमकारावर्णशतृप्रत्यययोः सावपेक्षत्वेन बहिरश्रोऽन्त इत्यादेश इत्याह—अव- २४ र्णादिति । यदि प्रागेवान्तादेशात् लोपदीर्घो स्यात् तदाऽवर्णात् परस्यात् स्थानेऽन्त इति वचनमसम्भवदर्थमनर्थकं स्यात्, तथा लोपेन प्रागेवाकारनिष्ठे प्राप्यमावादश्च इति प्रतिषेधोऽप्यनर्थकः इति अतोऽन्तरावपि लोपदीर्घावसिद्धिः विषयेऽन्तादेशात् पश्चाद्भवतोऽन्यथा तदनुप- २५ पत्तेरिति । अथवा—अन्तरात्वात् लोपदीर्घयो कृतयोरपि वचनसामर्थ्यात् भूतपूर्वतया पश्चादप्यन्तादेश इत्याह—भूतपूर्वतया चेति । ‘वर्णात् २६ प्राकृत वलीय’ इति तु नेहोपतिष्ठते भिन्नकालत्वात्, तथाहि—ईडयो सङ्गावेऽन्तादेशः प्राप्नोति, लोपदीर्घो तु तत् प्रागेव, यत्र हि वर्णप्राकृतयो- २७ र्युगपत्प्राप्तिः कारक इत्यादौ तत्रेदमुपतिष्ठत इति । नन्वेवं तर्हि ददतीत्यादौ आकारलोपेऽपि भूतपूर्वतया शतृरन्तादेशो नकाराश्रयणप्रसङ्ग इत्याह— २८ अत्रेत्यादि ॥ ११५ ॥

२९ इयशवः । अत्र अतुरीडयोरिति अन्त इति सातुवर्तते, इयशव अतुरीडयो अन्त इत्यन्वयस्तदाह—इयात् शवश्चेत्यादि । दीव्यन्ती, सीव्यन्ती स्त्री कुले चेति । ‘दिवृ’ कीडायाम्, ‘दिवृ’ सती, आम्मां शतृप्रत्यये “दिवादे द्य” इति इयस्तत् पूर्ववर्तीड्योर- ३० न्तादेशः । भवन्तीत्यादि । ‘भृ’ सत्तायाम्, ‘उरण्’ स्त्रेये, ‘हृ’ धारणे, एभ्यः शतृप्रत्यये ययासंभवः णिवि शवि च पूर्ववर्तीड्योरन्तादेशः । ३१ जरती—“जृयोऽतृ” इत्यत् । ननु ईङ्गो पूर्वणैव शतृरन्तादेशः सिद्धः किमर्थमिदं, नैव दोषः, नित्यार्थत्वादस्य ॥ ११६ ॥

दिव औः सौ । दिव सौ औरित्यन्वयः । दिव इति स्थानवाक्यम्, ततश्च “षष्ठा अन्त्यस्य” इत्युपतिष्ठते इत्याह—दिवोऽन्तस्येति । द्यौरिति । अत्र “उः पदान्ते” इति प्राप्तेऽप्यन्तरितार्थत्वात् सामितिः विशेषविधानाद् वा औरेवानेन न तु उकारः । दिव औकारेण संबन्धात् ३२ से, परत्वमात्रविज्ञानात् तत्त्ववन्धन्यन्यसम्बन्धन्ययुदाहरति—द्यौः, प्रियद्यौरित्यादि । दिव्यते “दिवेर्दिन्” २० ६४९। इति ङिवि—दिव औणा- ३३ दिकस्तत् सावनेन नकारस्योत्वम्, से क्त्वादि, प्रिया द्यौरित्येति “परत औ पुवत्” ३।१।४९। इति पुवद्भावात्, अतिक्रान्तो दिवमिति प्रादिस- ३४ मास—अतिद्यौः । ननु अक्षपूर्वात् दीव्यते किप्युटि कृते “एकदेशविकृतस्थानन्यत्वात्” औत्व कस्माच्च भवति ? न अत्रातुरित्यस्तीत्याह— ३५ निरनुबन्धग्रहणे नेत्यादि । सद्ये हि निरनुबन्धोपादानादभ्युपगमननुबन्धक विधिति नाम गृह्यते, ऋत्यतिपक्षेऽप्यवयवानां सातुबन्धकत्वं न नाम्न- ३६ इति । ननु दिवो नकारस्य अम्पासो आकारो विभाषया वक्ष्य, अन्यथा दिवमित्याद्यैव स्थानं तु धामित्यादीनीत्याह—धामित्यादि । ‘धुक्’ ३७ अक्षिगमे, अतः “धुगभिभ्यां ङो” २० ८६७। इति ङोस्त्वतोऽस्य ॥ ११७ ॥

## उः पदान्तेऽनूत् ॥ २ । १ । ११८ ॥

पदान्ते वर्तमानस्य दिवोऽन्तस्य उकारादेशो भवति, स चानूत्-तस्य तूकारस्य दीर्घत्वं न भवतीत्यर्थः । धुम्याम्, धुमिः, धुम्यः, धुषु, अतिधुम्याम्, परमधुम्याम्, धुगतः, धुकामः, धुत्वम्, धुकल्पः, विमलद्यु दिनम् । पदान्त ३ इति किम् ? दिव्यति, दिव्यम्, दिवौ, दिवम्, दिवि । अनूदिति किम् ? अद्यौद्यौर्भवति-धुभवतीत्यत्र “दीर्घ-श्विव्यङ्ग्यक्येषु च” ॥ ४ । ३ । १०८ ॥ इत्यनेन च्चौ दीर्घत्व न भवति । उकारस्य प्रतिषेधाद् वृद्धिर्भवत्येव-धुकामस्यापत्यं द्यौकामिः । दिवाश्रयः, दिवौकस इति तु षुणोदरादित्वादकारागमे भविष्यति, वृत्तिविषये वाऽकारान्तो दिव- ६ शब्दोऽस्ति ॥ ११८ ॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां श्रीसिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपशब्दानुशासनतत्त्वप्रका-

शिकायां द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ॥ २ । १ ॥

प्रावृद्धजातेति हे भूपाः !, मा स्म त्यजत काननम् ।

हरिः शेतेऽत्र न त्वेषः मूलराजमहीपतिः ॥ २।१।१ ॥

उः पदान्तेऽनूत् । अत्र दिव इत्यनुवर्तते, अनुवृत्तस्य तस्य पठ्यन्ततयान्तपदोपस्थित्या पदान्ते दिवोऽन्तस्य उ, स च अनूदित्यन्वय- १२ स्वदाह—पदान्ते वर्तमानस्य दिवोऽन्तस्येत्यादि । धुम्यामित्यादि । “नाम सिद्ध्यञ्जने” इति पदत्वे तदन्तत्वाद्व्यानेनोकारे यत्वम्, एवं अतिक्रान्तौ दिवमिति विग्रहे—अतिधुम्यामिति, परमे च वे दिवौ च—परमधुम्यामिति, दिवं गत इति—धुगत इति, दिव कामयते इति “शीलिकामिमक्ष्याचरीक्षितो ण ” ५।१।७३। इति णे—धुकाम इति, दिवो भाव—धुत्वम् इति, ईपदपरिसमाप्ता द्यौ—धुकल्प इति, १५ विमला द्यौर्यसिञ्जिति विग्रहे—विमलद्यु दिनमिति, एतेषु सर्वत्रानेन वस्योत्वम् । दिव्यति, दिव्यमिति । दिवमिच्छतीति क्यन्, दिवि भव-मिति “धुप्रागपापुदकप्रीतो य ” ६।३।८ इति य, तत्राग्यञ्जने इति वचनादत्रापदत्वाद्देनेन वस्य नोकारादेशः । एव दिवावित्यादि । ननु धुम्यामित्यादौ दीर्घप्रसङ्ग एव नास्ति कथमुच्यते अनूदित्याह—अद्यौद्यौरित्यादि । द्यौकामिरित्यत्र तु उकारमात्रप्रतिषेधादिभि वृद्धिर्भवत्येव- १८ त्याह—उकारस्य प्रतिषेधादित्यादि । ननु दिवाश्रय इत्यादावन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदत्वेऽनेनोत्वे कथं दिवाश्रय इत्यादीत्यत आह— षुणोदरादित्वादित्यादि ॥ ११८ ॥

वर्षैतोर्युद्धकालत्वाभावात् पूर्वं पराजिता ये राजानो विहितारण्यवासोऽस्मिन् काले मूलराजराजेन्द्रो युद्धकालीनसामर्थ्या असमर्थात् २१ शायान इवास्ति इति मनसि संप्रदायोभिन्नवर्णमिच्छन्ति तान् अनवबुद्धान् सुबोधायोकिरियम्—प्रावृद्धजातेत्यादि । प्रावृद्धजाता—वर्षाकाल-समनुप्राप्त, इति—हेतो, हे भूपाः !—हे मूलराजमहीपतिविरोधिराजानः !, काननं—अरण्य, मा स्म त्यजत—वन त्यज्वा तज्जगर् रोद्धु मा स्म गच्छतेत्यर्थ, वनालये हेतुमाह—हरिः शेते इत्यादि । अत्र कानने, वृष्टिभयात् हरिः—वनराज, शेते—आलस्यमिदम आस्त इत्यर्थ । २४ तु—परन्तु, एष—जगति लब्धयशा, मूलराजमहीपति, न शेते—जने निर्जने च सर्वत्र सदैव च जागर्ति बहुभि हृतवैरत्वाद् निरलसत्वादत्, एव तस्य लब्धयशस्त्वमित्यर्थ । अथवा—ये समूलराजास्तत्सामन्ता नृपतयो हरिमक्ता निदाघकाले तापापनोदाय विहर्तुमिच्छितकान्तारस्योपवना भगवच्छयनस्य वर्षतौ भावाद् तद्दर्शनाभावमिमा चिकीर्षितनगरगमनास्त्रान् प्रति अत्रैव बने हरिशयनकाले हरिदर्शन मूलराजमहीपता- २७ वारोप्य हरित्वमपहत्य च मूलराजमहीपतित्व तद्दर्शयति—प्रावृद्धजातेत्यादि । प्रावृद्धजाता—वृष्टिकाल संपद्यमान, इति—हेतो, काननं—वनस्योपवनम्, मा स्म त्यजत—तत्पत्तत्वा नगरं मा स्म गच्छतेत्यर्थ । ननु गमने निषिद्धे तेषां कथं स्वाभिप्रेतार्थसिद्धिरित्याह—हरिः शेते इत्यादि । अत्र हरिः शेते—अत्रैव भवतां मध्ये ज्ञातोऽप्यज्ञातो भवद्विर्भगवान् हरिरेव सुतो वर्तत इत्यर्थ । नन्वस्माक मध्ये स्थितस्तु मूलराज ३० इति कथं हरित्वेन बोधयसीति चेदाह—न त्वेष मूलराजमहीपतिः—भवन्मध्ये कुतमेन मूलराजमहीपतिं हरित्वेन वित्त न तु मूलराजमही-पतित्वेन तत्त्वदृशकलगुणगौरवादिति भावः । पथस्याऽस्य प्रतिभासमाना अपि बहवोऽर्या ग्रन्थगौरवमयालोल्लिख्यन्त इति ॥ २।१।१ ॥

इति श्रीमत्पागच्छगगनाहर्षिणीतार्थसार्वभौमाऽऽगमोद्धारकशैलानाटपतिपरिपूजितपादारविन्दआगमोदयसमिति—वर्द्धमानजैनागममंदि- ३३ रायनेकशासनहितवर्धकसंस्थानिर्माणोपदेशकमहारककुलभूदैन्यश्री १००८ आनन्दसागरसूरीश्वराणां साम्राज्ये तत्त्वरणनीलीनमानसेमानवाप्त-नवपदपीयूषपाणोयतमव्यमावमावोद्बोधयस्योदयश्रीसिद्धचक्र-नवपदाराधकसमाजादिविविधसंस्थासंस्थापकेन श्रीवर्द्धमानतपोनिष्ठातेन श्रीसिद्धचक्रा-राधन—तीर्थोद्धारकेण वैयाकरणकेसरिणा पथ्यासप्रवरश्रीचन्द्रसागरगणीन्द्रेण विरचितायां श्रीसिद्धहेमचन्द्रसूत्रवृत्तिन्यासरत्नाकरावतारि- ३६ कायामाऽऽनन्दबोधिनीयां द्वितीयाध्यायस्य नामप्रकरणं नाम प्रथमः पादः ॥ २।१ ॥





णात् चानाश्रितव्यापारस्य निमित्तत्वमात्रेण हेत्वादः कारकसंज्ञा न भवति । कारकप्रदेशः—“कारकं कृता” ॥ ३ । १ ।  
६८ ॥ इत्येवमादयः ॥ १ ॥

स्वतन्त्रः कर्ता ॥ २ । २ । २ ॥

३

क्रियाहेतुभूतो यः क्रियासिद्धावपरायत्ततया प्राधान्येन विवक्ष्यते, स कारकविशेषः कर्तृसंज्ञो भवति ।  
देवदत्तः पचति, जिनदत्तेन कृतम्, स्थाली पचति, चौरस्य रुजति रोगः, प्रेषितः करोति; अस्य च कर्तुराश्रयणादयः  
प्रचिक्रियायामवान्तरव्यापारा भवन्ति, एतान् कुर्वन् देवदत्तः पचतीत्युच्यते । प्रयोजकोऽपि कर्तैव—पचन्तं देवदत्तं  
प्रयुक्ते देवदत्तेन पाचयति चैत्रः । अत्र स्वशब्द आत्मवचनः, तत्रशब्दः प्रधानार्थः; खं तत्रमस्य स्वतन्त्र आत्मप्रधानः ।

तदा पचिर्वर्तते, एतत् प्रधानस्य कर्तुं कर्तृत्वम् । स्थाली द्रोण पचति आढकं पचति, इति ग्रहणक्रिया स्थिरत्वादाक्रियासमाप्तेस्तण्डुलानां धारणक्रिया  
च कुर्वती स्थाली पचतीत्युच्यते, अत्र तदा पचिर्वर्तते, एतदधिकरणस्य कर्तृत्वम् । एषा मय्यन्ति—आ विहितेज्वलिष्यन्तीति ज्वलनक्रिया कुर्वन्ति १  
काष्ठानि पचन्तीत्युच्यन्ते, तत्र तदा पचिर्वर्तते, एतत् करणस्य कर्तृत्वम् । अनेकार्थत्वाद्वातूनां तादर्थ्याद्वा तद्रूपासङ्गात् करणादिव्यापारे पचेरुक्तिर्द-  
ष्टव्या । एवमन्यत्रापि सर्वेषां स्वव्यापारे स्वातन्त्र्यात् तदनुष्ठानद्वारेण प्रधानक्रियायामुपयोगात् कर्तृसन्निधावपि स्वव्यापारस्यानिवर्तनात् पारतन्त्र्या-  
वस्थायामप्यनिवृत्त कारकत्वमित्यर्थः । ननु च यथा करणाधिकरणयोः कर्तृत्वं निर्दिष्टं न तथाऽपादानादीनां निर्दश्यते, न ह्यपादाने प्राप्ते प्राप्त १२  
आगच्छतीति प्रयोयोऽस्ति, उच्यते—सर्वत्रैवात्र स्वातन्त्र्यं पारतन्त्र्यं च विवक्षितं, तयोश्च स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्ययोः पर्यायेण वचनम्, वचनाश्रया च सज्ञा  
भविष्यति । यथा—बलाहकात् विद्योतते विद्युत्, बलाहके विद्योतते, बलाहको विद्योतत इति । तथा हि—बलाहकादिति नि सरणाहे द्योतने द्युतिर्वर्तते,  
मृगभावश्च विवक्षित इत्यपादानत्वम् । बलाहके इत्यत्र तु स्थिराग्रे द्योतने द्युतिर्वर्तते, बलाहके स्थित्वा ज्योतीरूपा विद्युद्विद्योतत इत्यर्थः । बलाहक १५  
इति च विद्युतो बलाहकस्य चाऽभेदविवक्षायां प्रयोगः । प्राप्त आगच्छतीत्यर्थान्तरावगमादपादानव्यापारानवसायात् प्रयोगाभावः । एव ब्राह्मणाय  
ददातीत्यर्थं ब्राह्मणो ददातीति प्रयोगाभावः । शब्दशक्तिस्त्राभावाच्चापादानसम्प्रदानव्यापारे धातुर्न वर्तते । वस्तुतत्त्वापादानस्यावधिभावेनाऽवस्थानं  
व्यापारोऽस्ति, संप्रदानस्याप्यनुमननादिलक्षण प्रतीयमानोऽपि च व्यापारः कारकव्यपदेशनिबन्धनम्, यथा ‘प्रविश पिण्डी’मिति, स्वव्यापारमन्तरेण १८  
अधानक्रियायामुपयोगाभावात् । ननु सर्वत्रात्र स्वातन्त्र्यं पारतन्त्र्यं चास्ति, तत्र प्रधानत्वात् कर्तृसंज्ञैव प्राप्नोति । अथ परत्वादपादानादयः, तथा हि  
अपादानादीनामवकाशो यदा स्वातन्त्र्यं नास्ति, कर्तृसंज्ञाया अवकाशो—देवदत्त पचतीत्युच्यते—चापादानादयः, तत्र सर्वत्र स्वातन्त्र्यस्य सङ्गावा-  
न्नास्ति कर्तृसंज्ञाविनिर्मुक्तोऽपादानादिसंज्ञानामवकाशः । अत्रोच्यते—उद्धृतस्वातन्त्र्यविवक्षायां कर्तृसंज्ञा, यथा—स्थाली पचतीति । उद्धृतपारतन्त्र्यविवक्षायां १९  
तु न्यग्भावात् सदपि स्वातन्त्र्यं स्वकार्यं न प्रयुक्ते, यथा राजसन्निधौ तदनुपयोगि स्वकार्यममात्या नारभन्ते । तस्मात् सर्वत्र स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्यसङ्गावेऽपि  
पर्यायेणैव वचनम्, तदाश्रया च संज्ञेत्यदोषः । ननु समवनक्रिया धारणक्रिया च कुर्वती स्थाली स्वतन्त्रेत्युक्तं, केदानीं परतन्त्रा २ न च प्रक्षालने  
परिवर्तने च पारतन्त्र्यमिति वाच्यम्; न हि प्रक्षालनपरिवर्तने करिष्यतीति स्थाल्युपादीयते किन्तु समवनधारणक्रिये करिष्यतीति प्रक्षालनाय २४  
आवेऽपि पाकनिष्पादात् तेषां तत्राऽनङ्गत्वात् । एव तर्हि स्थालीस्ये यन्ने कथ्यमाने स्थाली स्वतन्त्रा, कर्तृस्ये यन्ने परतन्त्रेति । ननु च भो कर्तृस्थे-  
ऽपि यन्ने कथ्यमाने स्थाली समवनधारणक्रिये करोति तत्र स्वतन्त्रा केदानीं परतन्त्रेति । एव तर्हि प्रधानेन समवाये स्थाली परतन्त्रा व्यावाये  
स्वतन्त्रा, तथया—अमात्यानां राज्ञा सह समवाये पारतन्त्र्यं व्यावाये स्वातन्त्र्यम् । ननु सामग्रीत क्रियोत्पादात् सर्वेषां च तत्र सामान्यान्त कस्यचित्प्रा- २७  
धान्यं समावयाम इति कथं ज्ञायते कर्ता प्रधानमिति २ उच्यते—सर्वेषु साधनेषु संहितितेषु कर्ता प्रवर्तयिता भवति, तदधीनप्रवृत्तिनिवृत्तित्वात्  
करणादीनां, तस्य च प्रागन्यत शकिलाभात् प्रतिनिध्दर्शनात् करणायभावेऽपि आत्मे शेते इत्यादौ केवलस्य कर्तृदर्शनात् कर्तृरहितानां करणादीना-  
मदर्शनात् प्राधान्यं कर्तृरिति । यद्वा सर्वेषां धारणक्रियायां कर्तृत्वं, अवान्तरव्यापारविवक्षायां तु करणादिरूपत्वम् । यथा मातापित्रोरपत्योत्पादने ३०  
कर्तृत्वम्, तदविवक्षायां तु अयमस्मात्सम्यग्ज्ञात्वा जनयतीत्याधिकरणत्वमपादानत्वं च व्यवतिष्ठते । एव च स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्ययोश्च विरोधाभावात्  
करण कारकमित्यादिविशेषणविशेष्यमात्रोऽपि । कर्तृसंज्ञा तु करणत्वाद्यवस्थायां न भवति । “स्वतन्त्रः कर्ता” इत्यत्र कारकत्वादेव स्वातन्त्र्ये लब्धे  
पुनः स्वतन्त्रश्रुतिर्नियमार्या, तेन स्वतः स्वातन्त्र्यमेव यस्य तस्य कर्तृसंज्ञा, न तु पारतन्त्र्यसहितस्वातन्त्र्ययुक्तस्य । कारकसंज्ञा तु वस्तुस्थित्या विद्यमान- ३३  
मुद्धृतत्वेनाविवक्षितमपि स्वातन्त्र्यमाश्रित्य करणादीनां विधानसामर्थ्यात् प्रवर्तते । यत्र च शक्तीनां निमित्तनिमित्तिभावेन युगपद्विवक्षा तत्र संज्ञानां  
विप्रतिषेध उच्यते, यथा—घनुषा पिष्यतीति, विनाऽपायविवक्षायां घनुषं साधकतमत्वाभावात् संज्ञाद्वयप्रसङ्गे ‘स्पर्धे पर’मित्यत्र परग्रहणस्येष्टव्यत्वात्  
कनित्पूर्वमिति करणसंज्ञा । असिश्छिन्नापि इति सत्येव साधकतमत्वे स्वातन्त्र्यस्य विवक्षितत्वात् कर्तृसंज्ञा, तदा तु तैक्षण्यादीनां करणत्वं, तैक्षण्यादीनां ३६  
तु कर्तृत्वविवक्षायामात्मनः करणत्वम् । तैक्षण्यामेव हि वस्तुस्थित्यैकमपि विवक्षावशात् द्वेधावतिष्ठते इति कर्तृत्वं करणत्वस्यावधकमिति ॥ १ ॥

स्वतन्त्रः कर्ता । कारकसंज्ञासहितं बोधयति—क्रियाहेतुभूतो य इति । स्वतन्त्रपदविधेयमात्रेण—क्रियासिद्धावपरायत्त-  
तया प्राधान्येन विवक्ष्यते स इति । यः स इत्युभयसर्वनामपदोपादानेन यथैव क्रियाहेतुत्वं तथैव क्रियासिद्धावपरायत्तत्वरूपप्राधान्यविव- ३९  
हेति ज्ञायते इति भावः । कारकमित्यधिकृतायां सामान्यसंज्ञायां एतद्विहितविशेषसंज्ञायाश्च कर्तुं सामान्यविशेषयोरभेद इत्याह—कारक-  
विशेषः कर्तृसंज्ञा इति । देवदत्तः पचतीत्यादि । देवदत्तोऽत्र कर्तृत्वात् कर्तृप्रत्ययेन तिबोध्यत इति प्रथमा, कृतप्रत्ययेन कर्तुरन्विधानात्  
जिनदत्तात् तृतीया—जिनदत्तेनेति, अधिकरणरूपाया स्थाल्या स्वातन्त्र्यस्य विवक्षितत्वात् कर्तृत्वम्—स्थालीति, चौरस्येत्यत्र रोगलक्षणस्य ४२  
भावस्य कर्तृत्वात् “रूपायस्यज्यरिसंतापे” इति कर्मणो विकल्पितत्वात् चौरात् षष्ठो, प्रयोज्यावस्थायामपि स्वातन्त्र्यस्याहाने कर्तृत्वम्—प्रेषित  
इति । अस्य च कर्तृरिति । एतेषु तदा पचिर्वर्तत इति भावः । प्रयोजकोऽपीति । स्वतन्त्रत्वादिति शेषः । अस्मिन् स्वशब्द आत्मीयवचनं  
आत्मवचनश्च, तत्रशब्दोऽपि विवर्ततन्नुवचनो वितता हि तन्तवस्तुत आत्मीयम् तत्रम् प्रोत तत्रमिति गम्यते प्रधानार्थश्च, तत्र स्वमात्मीयान्तदा ४५  
तन्नुवायेऽपि प्राप्नोति । यद्यपि तन्नुवायो न्ययति अङ्के इत्यादौ तन्नुवायस्य कर्तृसंज्ञेऽप्येव तथापि विशेषविहितत्वादपानादिसंज्ञाविषयेऽपि स्यात्,  
मुनिरधीते इत्यादौ च मुन्यादेर्न स्यात् इत्यप्यापत्यतिव्याप्तिभ्यां द्वितीय एव पक्ष आधीयते इत्याह—अत्र स्वशब्द इत्यादि । आत्मप्रधान इति ।  
स्वतन्त्र इत्यस्य पर्यायो यस्यागुणभावेन घातुना व्यापार उच्यते सर्वोऽसौ स्वतन्त्र इति, अयमर्थः—स्वतन्त्रशब्दो रुढिवचनं समासप्रतिरूपकः ४८  
प्रधानार्थः । स्वशब्द आत्मवचनं इत्याद्यवयवार्थक्यं न तु घटनामात्रार्थमिति, तेन यदुच्यतेऽप्रधानमपेक्ष्य प्रधानं भवतीति यत्राऽधिकरणा-

किं पुनः कारकान्तरेभ्यः कर्तुः प्राधान्यम्? यत् करणादीनि प्रयुक्ते न तैः प्रयुज्यते, तानि न्यत्करोति न तैर्न्यत्क्रियते, तानि निर्वर्तयति न तैर्निर्वर्त्यते, तानि प्रतिनिधयेत न तैः प्रतिनिधीयते, तेभ्यः स प्रथममात्मकं लभते च तानि तस्मात्, स तैर्विनाऽपि दृश्यते न तानि तेनेति । कर्तुःप्रदेशः—“इच्छितः कर्तरि” ॥ ३ । ३ । २२ ॥ इत्यादयः ॥ २ ॥

### कर्तुर्व्याप्यं कर्म ॥ २ । २ । ३ ॥

कर्ता क्रियया यद्विशेषेणाभिमिष्यते तद्व्याप्यं तत्कारकं कर्मसंज्ञं भवति, प्रसिद्धस्यानुवादेनाप्रसिद्धस्य विधानं व्य-  
१० नार्थः; तेन यत् कर्म यत्कर्ता क्रियते तद्व्याप्यसंज्ञं भवतीत्यपि सूचार्थः । तत्रेधा—निर्वर्त्यम् १, विकार्यम् २; प्राप्य ३ च ।  
तत्र यदसंज्ञायते जन्मना वा प्रकाश्यते तन्निरवर्त्यम्—कटं करोति, पुत्रं प्रसूते; प्रकृत्युच्छेदेन गुणान्तराधानेन वा यद्विकृति-  
मापाद्यते तद् विकार्यम्—काष्ठं दहति, काण्डं लुनाति; यत्र तु क्रियाकृतो विशेषो नास्ति तद्व्याप्यम्—आदित्यं पश्यति,  
१ ग्रामं गच्छति । अस्य तु त्रिविधस्यापि यथाक्रमवान्तरव्यापाराः—निर्वर्तते, विकुरुते, आभासमुपगच्छतीत्यादयः । त्रिविध-  
मप्येतत्पुनश्चित्रविधम्—इष्टम् १, अनिष्टम् २; अनुभय ३ च । यदवाहु क्रियाऽऽरभ्यते तदिष्टम्—कटादि, यद्विष्टं प्राप्यते तदनिष्टम्—

वीच्यपराप्यप्रधानानि कारकाणि सन्ति—देवदत्तं स्थात्वा पाष्ठरोदनं पचतीत्यादीं तत्रैव स्यात्, यत्र तु वेपामविवक्षा आख्ये शोते इत्यादौ तत्र न  
१२ स्यादिति तदपि प्रत्युपम् । प्राधान्यं पृच्छति—किं पुनरिति । क्रियाया अनेककारकसाप्यत्वात् तां प्रति सर्वेषां प्रधानत्वादित्यर्थः । समाधत्ते—  
यत्करणादीनीत्यादि । एतच्च प्रसङ्गात् कारकसूत्रे निर्णयमिति नेह प्रतन्यते । यद्येव पाचयत्योदनं देवदत्तो यद्देवतेनेति कर्तुःसंज्ञा न प्रप्नोति,  
असत्प्रत्यत्वात् । यथा कर्तुःसंनिधौ करणादीनां स्वातन्त्र्याभावस्य प्रयोजकसंनिधौ प्रयोज्यस्यापीति पारतन्त्र्यादकर्तृत्वात् यद्देवतेनेति कर्तृत्वाया न  
१५ प्रप्नोति, नैव दोषः, प्रयोजकसंनिधानेऽपि प्रयोज्यस्य करणादिकारकविनियोगादिना स्वातन्त्र्यस्य क्रियासिद्धौ सङ्गात्वात् । यदि तु प्रयोज्यस्य स्वातन्त्र्यं  
न स्यात्तदासौ साधनान्तरविनियोगादिना क्रिया कुर्यात्, तथा चाऽप्युच्यते प्रयोज्ये प्रयोजकं कारयतीति व्यपदिश्यते, न चाऽकुरुष्वसि तस्मिन्  
कारयतीत्येतद्व्यतीति प्राधान्यात् सिद्धमस्य पर्वत्वम् । यदुक्तं—“यः क्रियां कर्मपर्वस्यां कुरुते मुख्यभावतः । अत्रयुक्तं प्रयुक्तो वा स कर्ता नाम  
२० कर्तृकम्” ॥ किं च योऽपि मन्यते—प्रयोज्यस्य स्वातन्त्र्येण स्वव्यापारं प्रत्यप्रवर्तनात् किल कर्तुःसंशेषसंख्येयेति, तेनाऽपि चेदमवश्यमभ्युपेयम्—यः  
करोति स स्वतन्त्रो न त्वयुर्वेति । एव चेत्प्रयोजकसंनिधानेऽपि स्वार्थदर्शनात् प्रयोज्यं करोति नान्यथेति तस्य स्वातन्त्र्यमस्तीत्येवमेव नान्यथाप्यर्थः ।  
तथा चोक्तं भाष्यकृता—न हि कश्चित् परोऽनु प्रहीतव्य इति प्रवर्तते, सर्वे इमे स्वभूत्यर्थं यतन्ते इति प्रेषितोऽप्यसौ स्वार्थदर्शनादिच्छाया सत्तां क्रियां  
२१ करोति तददर्शनात् करोतीति स्वतन्त्र एवेति । ननु प्रैषादर्थं प्रयोज्यस्य स्वव्यापारे प्रवर्तनात् स्वातन्त्र्यमिति सिध्यति तृतीया, प्रैषकाले तु कर्म तत्र  
स्वव्यापाराप्रवर्तनात् प्रष्टौ च प्रैषयैष्यत्वात् स्वातन्त्र्यं नास्तीत्यस्वतन्त्रस्य च प्रयोजकं “प्रयोक्तुः” ३।४।२०। इति तद्व्यापारे गिगून स्यात्, नैव दोषः;  
तस्य स्वतन्त्रत्वात् दृष्टसामर्थ्यं सम्भावितसामर्थ्यां वा क्रियायां स्वातन्त्र्येण समाधित एव नियोज्यशब्देनोच्यते । नन्वेकस्य स्वातन्त्र्यं पारतन्त्र्यं च  
२४ विप्रतिषिद्धं, प्रयोजकसंनिधौ पारतन्त्र्येण स्वातन्त्र्यस्य तिरस्कृतत्वात् योगपश्चात्तुपपत्तिः, उच्यते—एकापेक्षया विरोधोऽत्र च प्रैषापेक्षया पारतन्त्र्यं  
करणापेक्षया च स्वातन्त्र्यमित्यविरोधः । यद्येव नदीमूलं पततीत्यादौ स्वातन्त्र्याभावात् कर्तृत्वाभावः, तथा हि—स्वातन्त्र्यं नाम परिदृष्टसामर्थ्यकारक-  
प्रयोक्तृत्वं चेतनव्यापारो नाचेतनस्य मूलदेः सम्भवति, उच्यते—सामान्येन कर्तृव्यापारेण पदं निष्पाद्य तत्पश्चात् पदान्तरयोगः, न ह्यन्तरङ्गं पदसंस्कारं  
२७ बहिरङ्गः पदान्तरसम्बन्धो माधत इति ॥ २ ॥

कर्तुर्व्याप्यं कर्म । कर्तुरिति “कृत्यस्य वा” २।२।८८। इति कर्तरे पठौ, स च सगन्धिषण्डत्वादनुपात्तामपि कर्तृसगन्धिनीं क्रियासुप

स्थापयतीत्याह—कर्त्रा क्रिययेत्यादि । कर्ता च क्रियया विना न क्रिचिदाहु शक्नोति इति सामर्थ्यात् क्रिया करणभावेनाविच्छेदे, ततोऽप्यमर्थं—  
३० पञ्चादिकृतया क्रियया यद्विशेषेणाभिमिष्यते कर्त्रा तत् कारकं कर्मेति । एषणान्ते च प्रापणे आतोर्विर्तते इति प्रकृतिप्रत्ययार्थं वितत्य व्याचष्टे—  
आभिमिष्यते इति । किमर्थं क्रियया तदाभिमिष्यते? निर्वर्तयितुं गुणान्तराध्यापादयितुं विपरीकर्तुं वा, अत एव निर्वर्त्यं विकार्यं प्राप्यं चेति  
त्रेधा तदुच्यते । नामपदैः परिनिष्ठितस्वार्थस्य सत्यमभिधाने वस्तुवृत्तेन द्वयस्य निर्वर्त्यत्वं क्रियातुष्टानद्वारेण न विरुध्यते, क्रिया चैव हि भाव्यते,  
३३ स्वभावसिद्धं द्वयमिति तु यदुच्यते तन्नामपदानामभिधानशक्तिलाभाभ्यसमाश्रयेण । व्याप्यशब्दस्य संज्ञात्वेनाऽनुपात्तत्वात् कथं “व्याप्ये केन”  
२।२।९९। इत्यादौ व्याप्यशब्देन व्यवहारः? उच्यते—कस्यचिद्व्याप्यं प्रसिद्धं कस्यचित् कर्मेति, तत्र यथस्य प्रसिद्धं तस्य तदनुवादेनाप्रसिद्धं लक्षणेन  
विधीयते इत्याह—प्रसिद्धस्येत्यादि । सामान्येनोक्तस्य कर्मणो विभागमाह—तन्नेष्टेत्यादि । निर्वर्तित्वेधा—केचिदसत् उत्पत्तिं निर्वर्तिमाचक्षते, सत्  
३६ एवाऽभिव्यक्तिमन्ये, व्याकरणस्य चार्थावस्थायामव्यापारात् शब्दव्युत्पादन एव प्रवृत्तत्वाद्भयमप्याह—तत्र यदसंज्ञायते इत्यादि । सतो  
भवनायोगादसदेव भवतीत्यर्थः, असतः शाश्वतिषाणस्यैव सतो गगनस्यैव निर्वर्तनायोगात् प्रकाश एव जन्म, अश्रोवाहरणमाह—कटं करोति,  
पुत्रं प्रसूते इति । कटगतनिष्पत्तिमनुविष्टं कटं निर्वर्तयतीत्यर्थः । विकृतिमापाद्यत इति । यत्कृच्छ्रसंज्ञकं तदुत्तरमवस्थान्तरं नीयते तद्वि-  
३९ कार्यमित्यर्थः । विकार्यते—विकारं नयत इति ध्युत्पत्त्या तद्विधिमम्, प्रकृत्युच्छेदेन यथा—काष्ठं दहति, न ह्यत्र काष्ठमसदेव जन्यते तस्य  
कारणान्तरेभ्यः प्रागेवोत्पत्त्यात् उत्पन्नं तु केवलं मत्स्याख्यामवस्थामापद्यत इति । प्रकृत्युच्छेदमन्तरेणापि गुणान्तराधानेन च यथा—काण्डं  
लुनाति, अत्र काण्डशब्देन तत्कारणभूता वीरणा उच्यन्ते, वीरणशब्दप्रकृतिमिति तस्य वीरणत्वरूपस्य काण्डलक्षणविकारावस्थायामपि भावात्  
४२ काण्डलक्षणविकारोत्पादनेन वीरणादिकरोतीत्यर्थः । क्रियाकृत इति । क्रियाया जनिता इत्यर्थः । विशेष इति । निर्वर्तिविकारलक्षण इत्यर्थः ।  
न हि दृष्टिमिष्यत्क्रियायां व्याप्यमानयोरद्वैतसामर्थ्यो प्राप्नोत्यस्य कश्चिद्विशेषो लभ्यते इति प्राप्यमेतत् । अद्यान्तरव्यापारशालिन एव कारक-  
त्वम्, यथा—कर्तुः छिदिक्रियायां दृष्टमुष्टिनिधीकृतादिः, न ह्यनपेक्षितदृष्टमुष्टिनिधीकृतो जालमकरपञ्जरोदरे लुठश्चपि कठोरवारः कठोरः प्रति-  
४५ तिष्ठति अनिष्टुरस्यापि काष्ठस्य छिदायै । तत्रास्य कर्मणः कीदृशोऽद्यान्तरव्यापार इत्याह—अस्य तु त्रिविधस्यापीत्यादि । न ह्यनिर्वर्तमानं  
विशेषविषाणमिव निर्वर्तयितुं शक्यं, तस्माच्चिर्वैलस्य विवृत्तियोग्यत्वमवान्तरव्यापारः, एव विकृतिमनुपगच्छतो वज्रस्यैव विकार्यत्वायोगात् विकार्यस्य  
विश्वस्यमिष्टस्वत्वमवान्तरव्यापारः, तथा आभासायोग्यस्य परमनिष्ठप्रवृत्तमाप्यादेरिवाभासास्यत्वविरहात् व्याप्यसामासगमनमवान्तरव्यापारः । त्रिवि-  
४८ दस्यापि पुनरिष्टादिभेदेन त्रैविध्यमस्तीत्याह—त्रिविधमप्येतदित्यादि । इष्टादित्येवमाचष्टे—यदवाहुमित्यादि । कथ्यतेः पूर्वमभिधीत-

अहिं लङ्घयति, विषं भक्षयति, कण्टकान् मृदाति, चौरान् पश्यति; यत्र नेच्छा न चेन्न द्वेपस्तदनुभयम्—ग्रामं गच्छन् वृक्ष-  
मूलान्युपसर्पति, वृक्षच्छायां लङ्घयति । पुनस्तत्कर्म द्विविधम् प्रधानेतरप्रभेदात्, तच्च द्विकर्मकेषु धातुषु दुहिभिक्षिरुधिप्र-  
च्छिचिगृह्णाशास्वर्थेषु याचिजयतिप्रभृतिषु च भवति । दुह्यर्थः—गां दोग्धि पयः, गां स्नाययति पयः, गां क्षारयति पयः; ३  
भिक्ष्यर्थः(र्थः)—पौरवं गां भिक्षते, पौरवं गां याचते, चैत्रं शतं मृगयते, चैत्रं शतं प्रार्थयते; एवं गामवरुणद्धि व्रजम्, छात्रं  
पण्यानं पृच्छति, छात्रं वाक्यं चोदयति; वृक्षमवचिनोति फलानि, शिष्यं धर्मं ब्रूते, शिष्यं धर्ममनुशास्ति; कुद्धं याचते  
शमावस्थाम्, अविनीतं याचते विनयम्, याचिरिहानुनयार्थः, तेन भिक्षार्थोद्देशः; गर्गान् शतं जयति, गर्गान् शतं दण्ड- ४  
यति, ग्रामं शाखां कर्षति, काशान् कटं करोति, अमृतमम्बुनिधिं मश्नाति, अजां ग्रामं नयति, ग्रामं भारं हरति, उपसरज-  
मश्वं मुष्णाति, ग्रामं भारं वहति, शतानीकं शतं गृह्णाति, तण्डुलानोदनं पचति; अत्र यदर्थं क्रियारभ्यते तत्पयःप्रभृति  
प्रधानं कर्म, तत्सिद्धये तु यदन्यक्रियया व्याप्यते गवादि तदप्रधानम्; यदा तु पयोऽर्था प्रवृत्तिरविवक्षिता तदा प्रधान- ५  
स्यासंनिधानाद् गवादेरेव प्राधान्यम्, यथा—आश्वर्यो गवां दोह इति । तत्र दुहादीनामप्रधाने कर्मणि कर्मजः

त्वात् इष्टत्वम् । अहिप्रभृतेस्तु प्रतिकूलत्वात् अनिष्टत्वम्, तत्रानिष्टमुदाहरति—अहिं लङ्घयतीत्यादि । अहे “अभिमुकुण्ठि०” उ० ६१४ ।  
इति इत्यनेन नलोपे च अहिस्ततोऽम्—अहिं, ‘लघुङ्’ गतावत् “प्रयोक्तव्यापारे०” इति णिणि तिबादौ—लङ्घयति । ‘विप्लुकी’ व्याप्तावत् १२  
“दुहादिभिवि०” उ० ५१ । इति कियकारे—विषम्, भक्षणं अदनेऽतः—भक्षयति । ‘कट्’ गतावतो “ङकु०” उ० २७ । इत्यक —  
कण्टकः, चूदन् सोदोऽतः “क्र्यादे” इति आ—मृदाति । वृक्षमूलादीनि न तावदिष्टानि पूर्वमनभिसहितत्वात्, नाप्यनिष्टानि  
अप्रतिकूलत्वात् किन्तु गमनक्रियायामारभ्यमाणायामन्तरालस्यत्वेन नान्तरीयकृतया उपसृप्यमाणादित्वम् । वृक्षच्छायां लङ्घयतीत्यत्रापि १५  
ग्रामं गच्छति संबन्धनीयम् । गुणमुख्यभेदात् पुनरस्य द्वैविध्यमस्तीत्याह—पुनस्तदिति । तद्विविधं येषु धातुषु भवति तात् दर्शयति—  
तच्छेत्त्यादि । गामिति । गोशब्दादभि “आ अम् घासोऽता” इत्याकर । ‘डुहीक्’ क्षरणेऽतः—दोग्धीति । ‘च’ गतौ, ‘क्षर’ संचलने, आभ्या, “प्रयोक्त-  
व्यापारे०” इति णिणि—स्नाययति, क्षारयति इति । ‘भिक्षि’ यात्रायां, ‘ड्याचूङ्’ यात्रायां, ‘मृगति’ अन्वेषणे, प्रपूर्वं ‘अदधि’ उपयाचने, १८  
‘वृषपी’ आवरणे, “रुघां खरा०” इति झ, धत्वृत्तीयत्वे, ‘प्रच्छ’ शीप्सायां, “प्रहमध्वन्नप्रच्छ” इति म्बुत्, ‘चूदण्’ सचोदने, अवपूर्वं  
‘विप्लु’ चपने, ‘ब्रूक्’ व्यक्षायां धात्वि, अनुपूर्वं ‘शास्’ अजुविधौ, एभ्य—भिक्षते, याचते, मृगयते, प्रार्थयते, अवरुणद्धि,  
पृच्छति, नोदयति, अवचिनोति, ब्रूते, अमृतमस्तीति भवन्ति । ननु भिक्षियान्योरेकार्यत्वाद् कथं द्वयोःपादानमित्याह—याचिरिहा- २१  
नुनयार्थं इति । याचिरिह यात्रायामनुनये च कर्तव्ये, भिक्षिस्तु यात्रायामेवेत्यनयोर्भेदः । नन्वेवमपि याचिरवोपादातव्यत्वेनैव यात्रानुनयोर्भि-  
धानात्, अस्त्येव, किन्त्वेव यथा यात्रार्थां धातवो गृह्णन्ते एवमनुनयार्था अपि गृह्णन् । अत्र पुनर्भिक्षिप्रहणात् यात्रार्थानां सर्वेषां प्रहणम्,  
याचिप्रहणात् तस्यैवानुनयार्थस्येति । कृद्धं याचते शमावस्थाम्, अविनीतं याचते विनयमित्येतस्य प्रयोजनम् । ‘जि’ जये, ‘दण्डण्’ २४  
दण्डनपातने, ‘ह्व’ विलेखने, ‘डङ्गण्’ क्षरणे, ‘मन्यश्’ विलोडने, ‘गीङ्’ प्रापणे, ‘हृङ्’ हरणे, ‘मुपश्’ स्तेये, ‘वही’ प्रापणे, ‘प्रहीश्’ उपादाने,  
‘हुपचिष्’ पाके, एभ्य—जयति, दण्डयति, कर्षति, करोति, मश्नाति, नयति, हरति, मुष्णाति, वहति, गृह्णाति, पच-  
तीति भवन्ति । एषु प्रधानाप्रधानकर्मणि भेदेन कथयति—अत्र यदर्थमित्यादि । पयः प्रभृतेषु प्रयुज्यमानत्वविशेषेणाप्यत्वात् प्राधान्यं, गोप्र- २७  
भृतेस्तु तदर्थमुपादानादप्राधान्यमित्यर्थः । नयत्यादीनां च प्राणार्थत्वात् प्राणार्थाश्चान्तर्भूतप्राप्तिकत्वात् तत्र प्राप्तिरजाभारव्यापारस्य गुणभूतस्य  
कर्म, देवदत्तव्यापारस्य प्रधानस्य अजाभारश्च कर्मभूत प्रधानं कर्म, सर्वमिदं कर्तुर्व्याप्यत्वात् कर्मेति । यद्येवं गवादे परार्थत्वात् क्रियायोगाभावा-  
दव्याप्यत्वात् कर्मसंज्ञा न सिध्यति, गां दोग्धि पय इत्यात्रापादानसंज्ञा प्राप्नोति, गो पय आदत्ते इत्यर्थविसायात् । एव क्षारयति स्नाययती- ३०  
त्यत्रापि द्रष्टव्यम् । एव पौरवं गां भिक्षत इत्यादावपि पौरवं गां जिष्टत इत्यर्थसंप्रत्ययात् । न याचितादेवापायो भवति, याचितोऽसौ यदि  
ददाति ततोऽपायेन युज्यते । यतो याचिताऽपि याचनाकालेनाध्यवस्यति, नूनमसादिदं वस्तु निर्गम मां प्राप्नोतीति । एवं गामवरुणद्धि व्रज-  
मिति व्रजे गां स्थापयतीति संप्रत्ययाद्भजस्य स्थानक्रियापेक्षया आधारत्वम् । छात्रं पण्यानं पृच्छतीत्यादावपि पण्यानं वाक्यं वाऽऽचिख्यापयि- ३३  
षति छात्रमित्यर्थस्तत्रापि छात्रान्मागोपदेशं वाक्योपदेशं च जिष्टत इत्यर्थसंप्रत्ययादपादानत्वम् । वृक्षमवचिनोति फलानि—वृक्षेण फलानि  
स्नाजयतीत्यर्थः, अत्रापि वृक्षात् फलान्यादत्त इत्यर्थविसायादपादानत्वम् । शिष्यं धर्मं ब्रूते इत्यादौ तु धर्मेण वचनानुशासनकर्मणा शिष्य-  
स्याभिप्रेयमाणत्वात् संप्रदानसंज्ञा प्राप्नोति । एव गर्गान् शतं जयतीत्यादावपि गर्गस्य शतं ग्रामाश्च शाखा गृह्णातीत्यर्थसंप्रत्ययादप्यपादानत्वम् । ३६  
तस्माद्यस्मान्तरं कर्तव्यम्, नैतदस्ति, अवधित्वाच्चविचक्षाया क्रियानिमित्तभावमात्रेण च व्याप्यत्वस्य विवक्षितत्वात् “कर्तुर्व्याप्यं कर्म” इत्यनेन  
सिद्धत्वात् । आश्वर्यो गवां दोह, गां दोग्धि पय, पौरवं याचत इत्यादौ तु क्षीराण्यर्थप्रवृत्तेरविषयार्था गवादेर्दोहादिनां विशेषेणाप्यत्वदर्शनात्  
क्रियाव्याप्तिरस्तीति गम्यत इत्याह—यदा त्वित्यादि । गवादेरेव प्राधान्यमिति । तत् क्रियाव्याप्तिर्गम्यत इति शेषः । अवधित्वादिविष- ३९  
क्षार्थां तु भवत्येव गोदोग्धि पय इत्यादि । ननु गां दोग्धि पय इत्यस्यायमर्थो—गौ पयस्सजति, देवदत्तो गवा पयस्साजयति, तत्र प्रयोक्तव्यापा-  
रेणाऽऽप्यमानत्वात् गो कर्मत्व न तु दोहादिनेति । नैतदस्ति, यथा—पुन्यतेषु क्रियाविष्टं प्रयुज्यत इति प्रतीतिः, नैवमिह, निष्क्रियस्यापि गवादेर्दो-  
हनादिषु विनियोगात् । इहोदेन पचतीति लोके प्रयुज्यमानत्वात् शास्त्रेऽप्युदाह्रियमाणत्वात् तत्रोदेन पच्येतेति ब्रह्मान्तरमभिवर्तितेत्यर्थः स्यात्, ४२  
ओदनशब्दस्य तण्डुलविकारविशेषवचनत्वात् पच्येत् विहित्युपसर्जनविक्रिद्वेदनवचनत्वात् निर्वृतस्यौदनस्य विक्रिद्वेदानन्तरकरणात् । न चेत्थं लोकप्रती-  
तिरस्ति, नैष दोषः, तादर्थ्यात् ताच्छब्दो भविष्यति । ओदनार्थाच्छब्दलो ओदन इति गोणार्थाश्रयणैव सर्वलोकस्य प्रयोगदर्शनदिदमत्र न नोद-  
नीयम्, मुख्यत्वेन त्वेदनस्य पुनर्विकृतिकरणे कसादयः प्रयोगो न भवतीति । ओदनविकारविशेषप्रतिपादनाय च गोणार्थपरिग्रहः । तण्डुलान् ४५  
पचतीत्युक्तेऽपि विकारान्तरमपि प्रतीयते । अथ कथं यवितव्यं तण्डुलानोदनं पचति ? आहोस्ति तण्डुलानोदनं पचतीति ? उभयया प्रयोग-  
दर्शनात् । प्रकृतिविकृत्यो साक्षादुपादानात् तादर्थ्यात्ताच्छब्दस्यानुपपत्त्या, विक्रिद्वेदनवचने तु पचौ तण्डुलानोदनं पचतीति प्रयोगाऽयोगात्  
ब्रह्मान्तरनिर्वृतिप्रत्ययप्रसङ्गाच्च, निर्वर्तनवचने तु पचौ तण्डुलानां कर्मभावाऽघटनात् तण्डुलानोदनं पचतीति प्रयोगाभावप्रसङ्गात् इति चेदुच्यते— ४८

प्रत्ययो भवति—गौर्दुष्टते दुग्धा दोष्ठा वा पयो मैत्रेण, याच्यते पौरवः कम्बलम्, अवस्यते गां व्रजः, पृच्छते धर्म-  
माचार्यः, भिक्ष्यते गां चैत्रः, अवचीयते वृक्षः फलानि, उच्यते शिष्यो धर्मम्, शिष्यते शिष्यो धर्मम्, जीयते शतं चैत्रः,  
१ गर्गाः शतं दण्ड्यन्ताम्; देवासुरैर्मृतमम्बुनिधिर्मन्ये इत्यादि । नीचहिहरतिप्रभृतीनां तु प्रधाने कर्मणि—नीयते  
नीता नेतव्या वा ग्राममजा, उष्यते भारो ग्रामम्, ह्रियते कुम्भो ग्रामम्, कृष्यते ग्रामं शाखेति । गत्यर्थानामकर्मणां  
च णिगन्तानां प्रधान एव कर्मणि—गमयति मैत्रं ग्रामम्, गम्यते गमितो गम्यो वा मैत्रो ग्रामम् चैत्रेण; आसयति  
६ मासं मैत्रम्, आस्यते मासं मैत्रश्चैत्रेण । अन्यस्त्वप्रधानेऽपीच्छति—गम्यते मैत्रं ग्रामश्चैत्रेण, आस्यते मासो मैत्रं चैत्रेण ।  
बोधाहारार्यशब्दकर्मकाणां तु णिगन्तानामुभयत्र—बोधयति शिष्यं धर्मम्, बोध्यते शिष्यो धर्मम्, बोध्यते  
शिष्यं धर्मं इति वा; भोजयत्यतिथिमोदनम्, भोज्यतेऽतिथिमोदनम्, भोज्यतेऽतिथिमोदन इति वा; पाठयति शिष्यं  
९ ग्रन्थम्, पाठ्यते शिष्यो ग्रन्थम्, पाठ्यते शिष्यं ग्रन्थ इति वा, सर्वत्र चोक्ते कर्मणि द्वितीया न भवतीति वक्ष्यते ।  
कर्तुरिति किम्? मापेप्वश्च घभाति, अथेन कर्मणा भक्षणक्रियया स्पर्शनक्रियया वा मापाणां व्याप्यानां कर्मणां कर्मसंज्ञा  
मा भूत् । वीति किम्? पयसा ओदनं भुङ्क्ते—अत्र करणस्य मा भूत् । कर्मव्याप्यप्रदेशाः—“कर्मणोऽण्” ॥ ५ । १ । ७२ ॥  
१२ “व्याप्याच्चेवात्” ॥ ५ । ४ । ७१ ॥ इत्यादयः ॥ ३ ॥

समयमाऽपि भवितव्यम्, इह सायत् तण्डुलानोदनं पचतीति, द्वयं पचिस्तण्डुलान् पचोदनं निर्वर्तयति । अत्र हि विह्वलनोपसर्जने निर्वर्तने  
पचिवर्तने, तण्डुलान् विह्वेद्योदनं निर्वर्तयति, तत्रोपसर्जनविह्वेदनक्रियापेक्षं तण्डुलानां कर्मत्व प्रधानभूतनिर्वर्तनापेक्षं त्वोदनस्य । तण्डुलानां  
१५ मोदनं पचतीत्यप्रापि ह्यर्थं पचि, विहारयोगे च पटी, तण्डुलविहारमोदनं निर्वर्तयतीति, अत्र तण्डुलानां संवन्धिनं विहारविशेषमोदनं विह्वेद्य  
निर्वर्तयतीत्यर्थः । सा च विह्विति सामर्थ्यात् तण्डुलानामेव विहायत इत्युभयमपि समजसम् । अथ द्विकर्मकेषु दुहादिधातुषु कर्मणि तिवाद्य  
उत्पद्यमाना प्राधान्याप्राधान्याभ्यां भिन्नकर्मणोः कर्म युगपदभिधातुमसमर्थाः किं प्रधानकर्मण्युत्पद्यन्ते अथ गुणकर्मणीति? तत्र प्रधानाप्रधान-  
१८ सभिधौ प्रधानाभिधानस्यैव न्याय्यत्वमिति केचित् । तदयुक्तं, अप्रधानकर्मण्येव स्वादिकृत्यकालार्था इति गौर्दुष्टते दुग्धा दोष्ठा वा पय इत्याह—  
तत्र दुहादीनामित्यादि । अयमर्थ—यत्-पयोऽर्थां प्रथमं गवि प्रवर्तते ततोऽन्तर्गतात् दुहादिषु गुणकर्मणि तिवाद्यो भवन्ति । उक्तं च—  
“गुणकर्मणि स्वादिविधिं पूर्वं गुणकर्मणा भवति योगः । मुख्यं कर्म प्रपूर्यसाहस्येव यतते प्राक्” ॥ ११ ॥ “तस्माच्छब्दस्य दुहेर्भवति गवा पूर्वमेव  
२१ संयन्धः । गोदुहिना पयसस्तु प्राक् तस्मात्पादयस्यास्ति” ॥ २॥ इति । गौर्दुष्टते—दुहे “तस्मात्पाद्याप्या” इति कर्मण्यन्तर्गतेन “क्य  
शिति” इति क्यसहितेन गुणकर्मणोऽभिहितत्वात् प्रथमा । देवासुरैरित्यादि । “येनापविद्धसहितं स्फुटनागस्य, देवासुरैर्मृतमम्बुनिधिर्मन्ये ।  
व्यावर्तेनैरहितैरयमाहिताः रा व्यालितस्त्रिप दिभाति समन्दरादि” ॥ ३० ॥ किराता० पयसर्गः । नीचहिहरतिप्रभृतीनामिति । तु  
२४ शब्द—पुनरर्थे, प्रधाने कर्मणि—कर्मजं प्रत्ययो भवतीति संयन्धः, अजादे प्राधान्यात् नेतुश्च तत्रैव पूर्व क्रियाप्रवर्तनादन्तरत्वाच्च तत्रैव  
प्रधाने कर्मज इति । केचिदाहु—न भगी नयत्यादयो द्विकर्मका, अन्यकर्मत्वात्, तथाहि—अर्जा नयति ग्रामम्—अर्जां गृहीत्वा ग्रामं यातीति  
श्रुत्यर्थः । नयतिस्तु प्रतिमात्रवाची । गम्यमानक्रियापेक्षयाऽपि कर्मत्वं दृश्यते, यथा—प्रविष्टा पिण्डीमिति, भक्षणक्रियापेक्षयेति । एतच्चायुक्तं—अजा  
२७ नीयते ग्राममित्यत्र कर्मण्युत्पद्यमानेनाऽलनेपदेन अजाकर्मणोऽभिधानं न प्राप्नोति, यतो गृह्णातेरजा कर्म न नयतेरिति । तस्मादन्यकर्मत्वमज्ञाया  
नेष्टव्यमिति । गत्यर्थानामिति । प्रधान एव कर्मणि—कर्तृकर्मणि, कर्मजं प्रत्ययो भवतीति संयन्धः । प्राधान्यं च तस्य “गतिबोधाहार्य”  
इति कर्मसंज्ञाया विधीयमानत्वेन श्रुतिमत्त्वात् कर्तुं प्रथमश्रुतिविषयत्वाद्वा । प्रधान एवेत्येवकारस्तु “अन्यस्त्वप्रधानेऽपीच्छति” मतान्तरव्यवच्छेदा-  
३० र्थत्वेनैव मतान्तरं दर्शयति—अन्यस्त्वित्यादि । अप्राधान्यं चात्र ग्रामादे प्राधान्याया क्रियया व्याप्यत्वात् । बोधाहारार्यशब्दकर्मकाणा-  
मिति । उभयत्र—प्रधानेऽप्रधाने च कर्मजं प्रत्ययो भवतीत्यर्थः । अयमत्राशयः—शिष्यं धर्मं ज्ञेते, बोधयति शिष्यं धर्ममित्यादावतियतो  
गुणप्रधानभावः, तथाहि—वाक्यस्य धर्मप्रतिपादनपरत्वे धर्मस्य प्राधान्यं शिष्यादेर्गुणभावः, शिष्यादिसंस्कारपरयां तु प्रवृत्तौ शिष्यादे प्राधान्यं  
३१ धर्मस्य गुणभावः । तथा धर्मस्य शब्देन प्रतिपाद्यत्वात् शब्दस्य प्राधान्यं प्रमाणयन्तोऽभिधातुपापारेण (शब्देन) प्रयोक्तव्यापारस्य प्राधान्यात् प्रयो-  
ज्यस्यैव कर्मणः प्राधान्यम्, गुणभूतप्रयोज्यव्यापारकर्मणस्तु गुणभावः । शब्दस्यार्थपरत्वादर्थस्यैव प्राधान्यं समर्थयन्त आर्थेन तु न्यायेन प्रयोज्यव्या-  
पारस्य प्राधान्यं तदर्थत्वात् प्रयोजकव्यापारस्य, तत्प्राधान्याच्च तत्कर्मणोऽपि प्राधान्यमिति वदन्ते आचार्याः, स्मृतिरित्यं न स्वमतिपरिकल्पनाऽत्र  
३६ ज्यायसीत्युभयत्र पर्यायेण सिद्धं कर्मजः प्रत्यय इति । कर्मजप्रत्ययेनैव कर्मणोऽभिहितत्वात् सर्वत्र कर्मणि द्वितीया न भवतीत्याह—सर्वत्र  
चेत्यादि । अयमर्थ—यत्र तिवादिभिः कर्मादय उच्यन्ते तत्र गवादिशब्दं स्वार्थोऽव्यतिरेकेऽर्थमात्र एवेति प्रथमेव ततो युक्ता, न द्वितीयादयः,  
कर्मादौ वृत्त्यभावादिति । वस्तुन्तरे विशेषेणाऽमु कर्तृवेच्छति नान्यत्तदधीनं करणादिकमिति मन्यमानं पृच्छति—कर्तुरिति किमिति । कर्मणाऽपि  
३९ नियमेन यदामुमिष्यते तस्यापि कर्मसंज्ञा स्यादिति मन्यमानं प्रत्याचष्टे—मापेप्वित्यादि । अत्र अधातिविक्रियाऽद्य कर्ता विशेषेण यथा आमु-  
मिष्यते तथा भक्षणक्रियया प्रतीयमानया अथेन माप इत्यसति कर्तृग्रहणे कर्मणाऽखेन व्याप्यमानानामपि भाषाणामधिकरणसंज्ञां बाधित्वा कर्म-  
संज्ञा स्यात्, कर्तृग्रहणाद्यु न भवतीत्यर्थः । नन्वेवमपि कर्तृग्रहेण त्वत्वात् गुणे च सख्याया विवक्षणात् ह्यभ्यां कर्तृभ्यां बहुभिर्वा यद्विशेषेणामुमिष्यते  
४२ तस्य कर्मसंज्ञा न स्यात्, नैव दोषः, कारकात्तरव्याप्यस्य कर्मसंज्ञाप्रसङ्गनिवारणपरत्वात् शास्त्रस्य च लक्ष्यसंस्कारकत्वात् कर्तृगुणस्यापि संख्या न  
विष्यते । सख्याया अविवक्षणाच्च प्रधानस्यानियमेन विचारः, यथेष्टं कट, कटौ, कटान् करोतीति कर्मसंज्ञा भवति, तथेहापि भवति कटं कुर्वन्-  
कटं कुर्वन्तीति । व्याप्यं च कर्मसंज्ञाया संधीयमानत्वात् प्रधानमिति तस्य संख्या न विवक्ष्यते, प्रधानसंख्या न विवक्ष्यते इत्येतस्य चार्थस्य शाप-  
४५ कमेकशेषवत्त्वे एकग्रहणम् । वीति किमिति । कर्तुं साध्यत्वात् क्रिया पूर्वयापुमिषा, कर्म तु तत्फलत्वेन, ततश्च क्रियाया आमुमिषाया विशेषेण  
फलम् । पयसा ओदनं भुङ्क्ते इत्यत्र तु पयसः संस्कारकत्वादोदनस्य संस्कार्यस्यैव विशेषेणामुमिष्यत्वमिति तस्यैव कर्मत्वं न पयसः करणस्य ।  
नन्वेव तर्हि यदा कश्चित् कश्चिदामभ्रयते सिद्धं मुञ्चतामिति, स आह—प्रभूतं मुक्तवानसि, आमभ्रयमाण आह—दधि खड्गं अभिष्यति? आम-  
४८ भ्रयमाण आह—दध्ना खड्गं मुञ्चति, पयसा खड्गं मुञ्चति । अत्र चान्वयव्यतिरेकाभ्यां दधिपयसोरेव विशेषेणाऽप्यत्राह कर्मसंज्ञा प्राप्नोति नत्वोद-



## वाऽकर्मणामणिकर्ता णौ ॥ २ । २ । ४ ॥

अविवक्षितकर्माणोऽकर्मण उत्तरत्र नित्यग्रहणात्, तेषामणिगवस्थायां यः कर्ता स णौ णिगि सति कर्मसंज्ञो वा भवति । पचति चैत्रः, पाचयति चैत्रं चैत्रेण वा; लिखति मैत्रः, लेखयति मैत्रं मैत्रेण वा । गत्यर्थादीनां तु परत्वात् नित्य एव विधिः—गच्छति चैत्रः, गमयति चैत्रम् इत्यादि; किं करोतीति व्यापारमात्रविवक्षायां चाऽविवक्षितकर्माणो भवन्ति ॥४॥

## गतिबोधाऽऽहारार्थशब्दकर्मनित्याऽकर्मणामनीखाद्यदिहाशब्दाय-

क्रन्दाम् ॥ २ । २ । ५ ॥

गतिर्देशान्तरप्राप्तिः, बोधो ज्ञानमात्रम् तद्विशेषश्च, शब्दः कर्म क्रिया व्याप्यं च येषां ते शब्दकर्मणः, नित्याऽकर्मणः सर्वथाऽविद्यमानव्याप्याः; गत्यर्थबोधार्थाऽऽहारार्थानां शब्दकर्मणां नित्याऽकर्मणां च धातूनां नीखाद्यदिह्यतिशब्दाय-  
तिक्रन्दवर्जितानामणिगवस्थायां यः कर्ता स णौ सति कर्मसंज्ञो भवति । गत्यर्थः—गच्छति मैत्रो ग्रामम्, गमयति मैत्रं ग्रामम्; याति मैत्रो ग्रामम्, यापयति मैत्रं ग्रामम्, देशान्तरप्राप्तेरन्यत्र न भवति—स्त्रियं गमयति मैत्रेण चैत्रः, भजनार्थो-

नस्येति चेत्, उच्यते—तस्याप्योदन एवामुमिष्ट, दधिपयसोस्तु संस्कारकत्वात् करणभाव । गुणेषु गुणकारकेषु केवलेषु नादर, किं तर्हि? तत्सं-  
स्कृते ओदनादौ । तथा—भुञ्जीयाहमोदन यदि यदु विशद स्यादिति । यच्च मार्दवमात्रे आदर स्यात् पद्ममपि मक्षयेत्, वैशद्यमात्राऽऽदरे तु  
सिकता अपि । एवमिहापि दध्यादिगुणमोदन भुञ्जीयेत्यदोष ॥ ३ ॥

वाऽकर्मणामणिकर्ता णौ । कर्म इत्यनुवर्तते, अकर्मणां अणिकर्ता णौ कर्म वेत्यन्वयः । अणिकर्तृति । न विद्यते णिग् येषां ते अणिग-  
स्तेषां कर्तेति विग्रहः । न स्वकर्माण सकर्मणोऽप्यविवक्षितकर्माण सर्वथाऽविद्यमानकर्माणश्चोच्यन्ते, तत्केषामिह ग्रहणमित्याह—अविवक्षितकर्माण १५  
इत्यादि । अत्रोपपत्ति—उत्तरत्र नित्यग्रहणादिति । अयमर्थो ये हि सर्वथाऽविद्यमानव्याप्यास्तेषामणिकर्तुं “गतिबोधाऽऽहारार्थं” इति सूत्रेणा-  
पवादतया नित्य कर्मसंज्ञाविधानात् इहाऽविवक्षितकर्माण एवाऽकर्मणो गृह्यन्ते इति । तानेवोदाहरति—पचति चैत्र इत्यादि । नन्वेव तर्हि गत्यर्था-  
दीनामप्यविवक्षितकर्मत्वेन विकल्पः प्राप्नोति, नित्यश्च विधिरिष्यत इत्याह—गत्यर्थादीनामित्यादि । पाचयति चैत्रं चैत्रेण वा गमयति ग्राममित्यादौ १८  
द्वयो सावकाशत्वात् गमयति चैत्रमित्यादौ त्वविवक्षितकर्मत्वेन युगपदुभयप्राप्ती परत्वात् “गतिबोधाऽऽहारार्थं” इति नित्य एव विधिः । नन्वोदन  
पचतीत्यादिप्रयोगदर्शनात् कथं पचादीनामविवक्षितकर्मत्वमित्याह—किं करोतीत्यादि । अयमर्थः—शब्दप्रयोगस्य परार्थत्वात् परेण च किं करोतीति  
व्यापारमात्रस्य जिज्ञासितत्वात्, अन्यथा उन्मत्तत्वप्रसङ्गात् प्रतिपादयितुं स्वावन्मात्रस्यैव विवक्षितत्वात् औदासीन्यमात्रनिवृत्तिपरतया प्रयोगात् २१  
शब्देन कर्मणोऽसमर्पणादविवक्षितकर्मत्वम् । यदाह—“धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसम्प्रादात् । प्रसिद्धेरविवक्षात् कर्मणोऽकर्मिणा क्रिया” ॥ ४ ॥

गतिबोधाऽऽहारार्थशब्दकर्मनित्याऽकर्मणामनीखाद्यदिहाशब्दायक्रन्दाम् । अत्र अणिकर्ता णौ कर्म इत्यनुवर्तते ।  
अनीखाद्यदिहाशब्दायक्रन्दा गतिबोधाऽऽहारार्थशब्दकर्मनित्याऽकर्मणां अणिकर्ता णौ कर्म इत्यन्वयः । गतिः—गमन, बोधः—बोधन, आहारः—२४  
आहरण, तेषां येषामिति बहुव्रीहौ—गतिबोधाऽऽहारार्था इति । अत्र गत्याद्यर्थो गत्यादिशब्देनोच्यत इति अर्थशब्दस्य प्रलेकमभिसम्बन्धः ।  
शब्दः कर्म—क्रिया, व्याप्यं च येषामिति बहुव्रीहौ—शब्दकर्मण इति । न विद्यते कर्म येषां तेषां कर्मणः, नित्य अकर्मणः—नित्याऽकर्मणः  
इति । विस्पष्टपटुवत् समासः, ततो गतिबोधाऽऽहारार्थाश्च शब्दकर्मणश्च नित्याकर्मणश्च इति द्वन्द्वत् पृष्ठीवहुवचनम्—गतिबोधाऽऽहारार्थः २७  
शब्दकर्मनित्याऽकर्मणामिति । तस्यैव अनीखाद्यदीत्यादिविशेषणम्, तत्रापि द्वन्द्वगर्भेनान्तत्वरूपः । आहारस्य सुप्रसिद्धत्वात् गतिबोधयो  
स्वरूपमाह—गतिरित्यादि । शब्दः कर्म—क्रिया व्याप्यं चेति । नन्वेकेन प्रयत्नेन उभयाग्रहणात् वाक्यभेदप्रसङ्गात् कथमुभयपरिग्रहः ?  
उच्यते—ह्यस्यादीनां त्रयाणां शब्दक्रियत्वेन प्राप्त्यभावात् प्रतिषेधवैयर्थ्यप्रसङ्गात् कर्मशब्दस्य क्रियावचनता । ह्यस्यादयो हि धातवः साध्यमाना- ३०  
वस्य क्रियारूपः शब्दमभिदधतीति शब्दक्रियत्वादतिप्रसङ्गे सति प्रतिषेधो विधीयते । शब्दायतेष्वेव शब्दः करोतीति “शब्दादे कृतौ वा” ३।४।३५।  
इति क्यङि शब्दक्रियालक्षणस्य कर्मणोऽन्तर्भावत् कर्मान्तरायोगाच्चाकर्मकत्वादपि सङ्गाप्रसङ्गः इति । एव च जल्पति विलपत्याभापतीना जल्प-  
यति देवदत्तमित्यादौ शब्दनक्रियावृत्तीनां क्रियाग्रहणे सिध्यति, देवदत्त जल्पतीत्यादौ शब्दकर्मत्वाभावात् । एवं च कर्मग्रहणाऽऽनर्थक्यः, “गति- ३६  
बोधाऽऽहारशब्दार्थः” इति कृते सिध्यतीति कर्मग्रहण साधनकर्मपरिग्रहार्थः, तेन शृणोति विजानाति उपलभते इत्येषामपि सिध्यति । शृणोत्या-  
दयो हि उपलब्धिरूपेऽर्थे वर्तमाना शब्दक्रिया न भवन्ति, शब्दसाधनकर्माणस्तु भवन्ति, तद्विषयत्वेनैव प्रयोगात् । एव जल्पत्यादीनामपि  
श्लोकादिब्रह्मविशेषशब्दकर्मणा साधनकर्मपरिग्रहादेव सिद्धिः । न चेतां वुद्धयर्थता, बोधशब्देन बोधसामान्याऽऽभ्ययणपक्षे चेत्त्यादयो हि ज्ञानमात्र- ३६  
वचना, वुद्धयर्थवापि जानति उपलभते इत्येतौ यथ्युपलब्धिमात्रवचनौ तथापि प्रयोजकव्यापारविवक्षायां प्रकरणादिवशात् यदा शब्द-  
विषयामेवोपलब्धिं प्रत्याययतस्तदा साधनकर्मवचनात् सिध्यति न त्वन्यथा इत्युभयार्थोऽत्र कर्मशब्दः । न च वाक्यभेदः, श्वेतो धावतीतिवत् ।  
स्थविरोत्पलौ तु साधनवचनमेव कर्म व्याचक्षाते, यदाहोत्पल—यथैव जल्पिविलप्याभाषीणां शब्दव्यतिरिक्तकर्मणां अणिकर्ता णौ कर्मसंज्ञो न ३९  
स्यात्, पुत्र जल्पति देवदत्तः, जल्पयति पुत्र देवदत्तम् । चौर्यं विलपति देवदत्तः, चौर्यं विलापयति देवदत्तम् । आभाषतेऽपराध  
देवदत्तः, आभाषयति देवदत्तमपराधम्, नैष दोषः, जल्पनविलपनाभाषणां चोभेन जल्पिप्रभृतयो वर्तन्ते इति । नित्याऽकर्मणामि-  
त्यत्र तु साधनवचन एव कर्मशब्दः, द्वितीयार्थग्रहणे प्रमाणाभावात् साधनवचनस्यैव पूर्वं बुद्धावुपारोहात् । किं च क्रियार्थप्रतिषेधे धर्मिणः ४२  
एवाभावात्, न हि क्रियार्थाभावे धातो सम्भवोऽस्तीति । गमयतीत्यादि । “गच्छ” गतौ, अतः “प्रयोक्तृव्यापारे” इति णिग् । ‘याक्’ प्राप्ते,  
अतो णिगि “अतिरीक्रीहौ” ४।२।११। इति पुत्स्वे—यापयति इति । देशान्तरप्राप्तेरिति । अत एव गतिर्देशान्तरप्राप्तिरिति पूर्वमेतत्प्रयत्नो  
निवर्तितः, तथाहि—गच्छतीत्युक्ते सयोगार्थः प्रतीयते, प्राप्त्यन्तरे तु प्राप्तिरिति सामान्यादुपचारेण वृत्तिरतो “गौणमुख्ययोर्मुख्ये सप्रत्यय” इति ४५



उत्र गमिः । सामान्यबोधार्थः—बुध्यते शिष्यो धर्मम्, बोधयति गुरुः शिष्यं धर्मम्; जानाति शिष्यो धर्मम्, ज्ञापयति गुरुः शिष्यं धर्मम्; एवमुपलम्भयति, अवगमयतीत्यादि । विशेषबोधार्थः—पश्यति रूपतर्कः कार्पापणम्, दर्शयति रूपतर्कं कार्पापणं वणिक्; एव प्रापयति मैत्रमुत्पलम्, स्पर्शयति मैत्रं वस्त्रम्, श्रावयति शिष्यं धर्मम्, स्मारयति शिष्यं धर्मम्, ध्यापयति शिष्यं शास्त्रम्; अन्ये तु बोधविशेषार्थस्य द्योतेवेच्छन्ति नाऽन्येषाम्, तन्मते—जिघ्रस्यत्युत्पलं चैत्रः, प्रापयत्युत्पलं चैत्रेण मैत्रः; एव स्पर्शयति चैत्रेण वस्त्रम्, श्रावयति धर्मं शिष्येणेत्यादौ प्रयोज्यकर्तरि तृतीयैव भवति । आहारार्थः—भुङ्क्ते घटुरोदनम्, भोजयति घटुरोदनम्; अश्नाति घटुर्भक्तम्, आशयति घटुं भक्तम् । शब्दक्रिय—जल्पति मैत्रो द्रव्यम्, जल्पयति मैत्रं द्रव्यम्; एवमालापयति मित्रं मैत्रम्, संभाषयति मैत्रं भार्याम्; शब्दव्याप्य—शृणोति शब्दं मैत्रः, श्रावयति शब्दं मैत्रम्; अधीते घटुर्वेदम्, अध्यापयति घटुं वेदम्; एवं जल्पयति मित्रं वाक्यम्, विज्ञापयति गुरुं वाक्यम्, उपलम्भयति शिष्यं विद्याम् । नित्याऽकर्मकः—आसे मैत्रः, आसयति मैत्रं चैत्रः; शेते मैत्रः, शाययति मैत्रं चैत्रः । नित्यग्रहणं पूर्वत्राऽविवक्षितकर्मकपरिग्रहार्थम्, अन्यथा विभागो न ज्ञायेत । कालाऽध्वभावेदशैश्च सर्वेऽपि घातवः सकर्मका एवेत्यन्यकर्माऽपेक्षया नित्याऽकर्मका वेदितव्याः । गत्यर्थादीनामिति किम् ? पचत्योदनं चैत्रः, पाचयत्योदनं चैत्रेण मैत्रः । १२ निष्कलेत्येव ? गमयति चैत्रो मैत्रम्, तमपरः प्रयुङ्क्ते—गमयति चैत्रेण मैत्रं जिनदत्तः । नयत्यादिवर्जनं किम् ? नयतेः प्रापणोपसर्जनप्राप्त्यर्थत्वेन गत्यर्थत्वात्, खाद्यघोराहारार्थत्वात्, हाशब्दायकन्दां च शब्दकर्मकत्वात् कर्मत्वे प्राप्ते प्रतिपेक्षार्थम्;—नयति भारं चैत्रः, नाययति भारं चैत्रेण, खादयत्युत्पलं चैत्रेण, आदयति ओदनं चैत्रेण, हाययति चैत्रं चैत्रेण, १५ शब्दादयति चैत्रं चैत्रेण, क्रन्दयति मित्रं चैत्रेण; कर्मसंज्ञाप्रतिषेधात् स्वव्यापाराऽऽश्रय कर्तृत्वमेव । प्रेषणाऽध्वेषणादिना प्रयोजकव्यापारेण निगन्तवाच्येनाऽणिकर्तृत्वाप्यत्वात् कर्मसंज्ञा सिद्धैव, नियमार्थं तु वचनम्, प्रयोजकव्यापारेण व्याप्यमानस्य गत्यर्थादिसंबन्धिन एव प्रयोज्यस्य कर्तुः कर्मसंज्ञा भवति, तेनाऽन्यधातुसंबन्धिनः कर्तृत्वमेव भवति ॥ ५ ॥

१८ सोऽप्य न गृह्यते । स्त्रियं गमयति मेधेणेति । अत्र भजनलक्षणप्राप्तौ न भवति । योधयतीत्यादि । 'शुधिचू' ज्ञाने, अतो गिगि नान्युपा-  
न्त्यगुण , 'नाश' अवयोधने, उपपूर्वा 'कुलभिप्' प्राप्तौ, अवपूर्वा 'गम्य' गती इत्येभ्यो भवति, अत्र वुज्झादय चक्षुरादीन्द्रियसाधनज्ञानविशेष-  
पस्याप्रतिपादनात् सामान्यबोध एव वर्तन्त इत्यर्थः । 'दृष्ट' प्रेक्षणे, धातो—दर्शयतीति । रूप तर्कयतीति 'कर्मणोऽण' इत्यणि—रूपतर्क-  
२१ इति । रजतकार्पाणपादिपरीक्षक इत्यर्थः । कर्षणे आप्यत इति 'भुजिपत्यादिभ्य' ०" इति कर्मण्यनङि प्रज्ञादित्वात् स्वाधेऽणि—कार्पाणपण इति ।  
एव 'घ्रां' गन्धोपादाने, 'स्पृष्टात्' संस्पर्शे, 'श्रुद' श्रवणे, 'स्मृ' चिन्तायाम्, 'ध्वे' चिन्तायाम्, एभ्य पूर्ववत् गिगादौ—घ्राणयतीत्यादयः ।  
अत्र दृश्यादीनां चक्षुरादिसाधनजनितज्ञानविशेषपृथक्तां विशेषोपाधयेत्यर्थः । अन्ये त्विति । आचार्यपाणिनितन्त्रावधारण , ते हि गत्यादिद्वे-  
२४ दृशिमहणमुपादाय बोधार्थत्वेनैव सिद्धे दृशिमहणात् दृशेरेव विशेषबोधार्थस्य परिग्रहो नान्येषामित्याचक्षते, तन्मते प्रयोज्ये कर्तृकर्मसंज्ञाया  
अभावात् तृतीयैव भवति । आहारार्थं इति । आहारो—निगरण, सोऽधोऽस्येत्यर्थः । तदुदाहरति—भोजयतीत्यादि । 'भुजप्' अभ्यवहारार्थं,  
'अवश' भोजने, आभ्यां पूर्ववत्गिगादि । कर्मग्रहणस्य कियव्याप्ययोर्वाचकत्वात् शब्दकियान् शब्दव्याप्यांश्च कर्मणोदाहरति—जल्पयति  
२७ मैत्रमित्यादि । उपलभ्ययतीति । "लभ" ४।४।१०३। इति नाऽऽगम । अत्र शृणोत्यादिस्तावच्छब्दविषयमेवोपलब्धिसाधक इति शब्द-  
कर्मक, जानातिरुपलब्धिश्च यद्यपि सामान्येन सर्वविषयमुपलब्धिसाधकत्वात् यदा उपलब्धि कृतश्चिच्छब्दविषया भवति तदा शब्दकर्म-  
काविति प्रयोज्यस्य कर्तृ कर्मता । वाक्यं, विद्यामिति च शब्दविषयो दर्शयते । अस्ययतीत्यादि । अथ नित्यग्रहणमन्तरेणापि अकर्म-  
३० कग्रहणेनैव कर्मसत्तामात्रप्रतिवेधेनैवेष्टायां लभ्यत इति किमर्थं नित्यग्रहणमित्याह—नित्यग्रहणमित्यादि । असति नित्यग्रहणे समयत्राऽकर्मग्रहणे  
विषयभेदकल्पनायां क किं परिगृह्यत इति विषयविभागे न ज्ञायते, सति तु नित्यग्रहणे इह अत्यन्ताऽसत्कर्मपरिग्रह पूर्वत्राऽविवक्षितकर्मपरिग्रह  
इति विज्ञायत इत्यर्थः । ननु च कालाच्चभावदेशा आधारा अकर्मणामपि कर्म भवन्ति, गोदाहमास्ते, मासमास्ते इत्यादौ, तत्र नित्याऽकर्मगम-  
३३ समव एवेत्याह—कालाऽध्वभावदेशौरित्यादि । वचनप्रामाण्यात् कालादिभ्योऽन्येन कर्मणा नित्याऽकर्मक वेदितव्या , येषा कालादिभ्योऽन्यत्  
कर्म वस्तुतो नैवास्तीति तेऽकर्मणो । अथैव किञ ज्ञायते कालादिभ्योऽन्येन कर्मणा सकर्मका अपि येषां कालादिकर्म नैवाऽस्ति ते नित्याऽकर्मणो , यथा  
कालादिभि सकर्मका अपि अन्यकर्मपेक्षया अकर्मका इति । नैतदस्ति, तै सर्वेषां सकर्मकत्वात् । न हि ते धातव सन्ति येषां कालादय कर्म  
३६ न भवति, सकर्मकणामप्यविवक्षितकर्मकत्वोपपत्तेः । पाचयत्योदनं चैत्रेण मैत्र इति । 'हुपचौ' पाके, अतो गिगि, अकारस्य वृद्धि, गत्या-  
द्यर्थानां पचिरन्तर्गतो न भवतीत्यस्य प्रयोज्ये कर्तारं तृतीयैव न द्वितीया, गत्याद्यर्थवचनेन निवर्तितत्वात् । गमयति चैत्रेण मैत्रं जिनदत्त  
इति । अत्र गमयतेचैत्र प्रयोजक कर्ता, तमपरः प्रयुक्ते इति तमित्यनेन चैत्रस्य कर्तृरभिसंघन्ध, अपर इति कश्चिज्जिनदत्तादि । अत्र च  
३९ अणिकर्ता इत्यनुवर्तनात् णिकर्तुं कर्मसंज्ञा न भवतीति प्रक्षार्थः । उत्तरयति—नयतेरित्यादि । प्रापणा—प्राप्तौ प्रयुक्ति, तत्र गुणीभूता प्राप्तिरपि प्रतीयते,  
ऽगत्याद्यर्थत्वात् प्राप्त्यभावात् किं प्रतिषेधेनेति प्रक्षार्थः । उत्तरयति—नयतेरित्यादि । प्रापणा—प्राप्तौ प्रयुक्ति, तत्र गुणीभूता प्राप्तिरपि प्रतीयते,  
सा च गतिरिति नयतेरित्यर्थेति । ननु नयत्यादीना णावणिकर्तुं कर्मसंज्ञाप्रतिषेधात् तद्वर्धिता कर्तृसंज्ञाऽपि न प्राप्नोतीत्याह—कर्मसंज्ञा-  
४२ प्रतिषेधादित्यादि । अयमर्थः—कर्मसंज्ञा हि कर्तृत्वस्य प्रतिषन्धिका, तस्मिन्तौ च प्रतिषन्धादस्य प्रतिषन्धकमाश्रदिनिवृत्तौ वधेर्वाहकत्वमिव कर्तुं  
कर्तृत्व व्यवतिष्ठत एवेत्यर्थः । ननु कर्मसंज्ञाधिकारे गत्यादिसूत्र, तत्र च प्रयोजकव्यापारेण प्रेषणाच्छेषादिलक्षणेन प्रयोज्यस्य कर्तृत्वव्याप्यमानत्वात्  
कर्मसंज्ञा सिध्यत्येव, न च तस्य स्वतन्त्रत्वात् कर्तृसंज्ञाऽपि प्राप्नोतीति वाच्य, प्रत्ययार्थप्राधान्यात् तत्प्रयुक्तया कर्मसंज्ञयैव प्रवर्तितव्य, गुणप्रधान-  
४५ सतिधौ च प्रधानस्य प्रयोजकत्वे समवति पृथग्युगल तद्विरुद्ध स्वकार्यं न प्रयुक्ते इति किमर्थमेतदिति ? उच्यते—प्रयोज्यस्य कर्मसंज्ञायां सिद्धायां  
गत्याद्यर्थानामेव गिगन्तानामणिकर्तुं कर्मसंज्ञा नान्येषामिति नियमार्थमेतदित्याह—प्रेषणाच्छेषणादिनेत्यादि । नियमफल दर्शयति—तेने-  
त्यादि । नन्वेवमपि गत्याद्यर्थानां अणिकर्तृत्वैषा णौ कर्मसंज्ञा तथा अणिकर्तृत्वप्यन्यसिन् णौ सा प्रसज्यते, यथा—गमयति चैत्रो मैत्रं त जिनदत्त

## भक्षेहिंसायाम् ॥ २ । २ । ६ ॥

भक्षेः स्वार्थिकण्यन्तस्य हिंसार्थस्याणिकर्ता णौ कर्मसंज्ञो भवति । भक्षयन्ति सस्यं बलीवर्दाः, तान् प्रयुक्ते-भक्ष-  
यति सस्यं बलीवर्दान् मैत्रः । उक्ते च कर्मणि-भक्ष्यन्ते यवं बलीवर्दाः, भक्ष्यते यवो बलीवर्दान् मैत्रेणेति वा । वनस्प- ३  
तीनां प्रसवप्ररोहवृद्धादिमत्त्वेन चेतनत्वात् तद्विशेषस्य सस्यस्य प्राणवियोगस्तद्भक्षणान् स्वाभ्युपधातो वाऽत्र हिंसेति भक्षे-  
हिंसार्थता । हिंसायामिति किम् ? भक्षयति पिण्डी शिशुः, तं प्रयुक्ते-भक्षयति पिण्डी शिशुना; भक्षयति राजद्रव्यं नियु-  
क्तेन, भक्षयति पुत्रान् गार्ग्याः भक्षयतिरत्राऽऽक्रोशे । आहारार्थत्वात् प्राप्ते नियमार्थं वचनम् ॥ ६ ॥ ६

## वहेः प्रवेयः ॥ २ । २ । ७ ॥

प्रवीयते प्राजतिक्रियया व्याप्यते यः स प्रवेयः, वहेरणिकर्ता प्रवेयो णौ कर्मसंज्ञो भवति । वहन्ति बलीवर्दा भारम्,  
तान् प्रयुक्ते-नियोक्ता वाहयति भारं बलीवर्दान्; वाहयिता भारस्य बलीवर्दान्, वाहयिता बलीवर्दानां भारम्; वाह्यन्ते ९  
भारं बलीवर्दाः । प्रवेय इति किम् ? वाहयति भारं मैत्रेण, नाऽत्र मैत्रो बलीवर्दादिवत् प्रवेयः । प्राप्त्यर्थस्य प्रापणार्थस्य च  
वहेर्यर्थत्वात् अकर्मकस्य च नित्याऽकर्मकत्वात् पूर्वेण सिद्धे नियमार्थमविवक्षितकर्मकस्य तु पक्षे विध्यर्थं चेदम् ॥ ७ ॥

## हृक्रोर्नवा ॥ २ । २ । ८ ॥

हरतेः करोतिश्चाणिकर्ता णौ कर्मसंज्ञो वा भवति, प्राप्ते चाऽप्राप्ते चाऽयं विकल्पः । प्राप्ते-विहरति देशमाचार्यः,

प्रयुक्ते इति, नैवम्, एतेषामणिकर्तैव कर्मसंज्ञो नान्य इत्यपि नियमः प्रत्येतव्य इति । न चैकेन लक्षणेन नियमद्वयस्य कर्तुमशक्यत्वादस्मिन् सति  
प्राचनस्यासत्त्वात् कथं नियमद्वयलाभ इति वाच्यम्, अणिग्रहणात् । अन्यथा कर्ता णावित्येवोच्येत, एवमपि णौ कर्मसंज्ञाविधानादणिकर्तृलाभः १५  
स्यात्, णिगवस्थायां हि तस्य कर्मसंज्ञा विधीयते तत्कथं तत्रास्तौ कर्ता स्यादित्यतिरिच्यमानमणिग्रहणं नियमार्थमिति नियमद्वयलाभः । द्वयोरपि च  
नियमयोर्वैसिद्धतां व्यावृत्तिर्दिशिता, गमयतेरगल्यर्थत्वादपि प्रयोजककर्तुं प्रयोज्यत्वेऽपि कर्मसंज्ञाया अप्रवृत्तिरिति स्पष्टतया द्वितीयो नियमो न  
दर्शितः । सर्वत्र च प्रधानप्रयुक्तसंज्ञाया अभावे गुणक्रियानिमित्ता कर्तृसंज्ञा प्रवर्तते इति तत्र वृत्तीयेति । 'शतं दापितं सूरसेन', 'पुरुषं व्याजितं' १८  
इति, 'मुक्ताजालं निरपरिचितं व्याजितं' इत्येवमादि कविप्रवाहो यदि समतस्तदा बहुवचनादनुसन्धेयः ॥ ५ ॥

भक्षेहिंसायाम् । अत्र अणिकर्ता णौ कर्म इत्यनुवर्तते । हिंसायां भक्षे अणिकर्ता णौ कर्म इत्यन्वयः । भक्षिधुरादित्वात् स्वार्थिकणि-  
जन्तः, ततः कर्ता हि अस्वार्थिकणिगपेक्षयाऽणिकर्ता भवतीत्याह-भक्षेः स्वार्थिकण्यन्तस्येत्यादि । भक्षयति सस्यमित्यादि । अत्र स्वार्थ- २१  
कस्य णेरन्यस्मिन् णौ 'णेरिति' इति लृक् । ननु हिंसा हि प्राणव्यपरोपलक्षणा, सा च प्राणित्येव सचेतने समवति कथमचेतने सस्ये, न हि  
तत्रायुरिन्द्रियबलोच्छ्वासलक्षणा रसमलघातानां परिणतिहेतवः प्राणा घन्तीति अत आह-वनस्पतीनामित्यादि । न ह्यभावोऽनुपलम्भमात्रा-  
देव सिध्यति, भूतलच्छन्नमूलकीलकजलादीनामभावप्रसङ्गात्, किन्तु योग्यानुपलम्भः । उपलम्भयोग्यता च देशकालखरूपा विप्रकृष्टस्यैवाऽर्थस्य । २४  
प्राणाश्च चैतन्याविनामाविनः स्वरूपविप्रकृष्टत्वेन सर्वत्रानुमानप्राप्या एव । तथा च सति अन्तर्गर्भमूर्च्छितेष्वपि प्राणवत्त्वं सिध्यतीति । तस्मात्  
प्रसूतिमत्त्वीवत् प्रवृद्धिमदारकवदा प्रसवप्ररोहादिवर्धनात् सस्येऽपि शक्यत एव प्राणानुमानं कर्तुमिति । जैनाऽऽगमश्चात्र प्रमाणम्, यथा-"मृत्युत्वन्ति-  
ग्लानिनिद्राप्रबोधैर्बुद्धिहासत्रासरोगादिभिश्च । लिङ्गैर्ज्ञेया जीवतैकेन्द्रियाणां जैनात् सूत्रात् 'प्राणवन्निश्चलानां'मिति" ॥ ११ ॥ ततः समवति तत्र प्राणवियोग- २७  
लक्षणा हिंसेति । प्रकारान्तरेण हिंसायाह-तद्भक्षणादित्यादि । यस्य तत् सस्यं तस्य स आजीव इति तद्भक्षणात् स तत्त्वानीं हिंसितो भवतीति  
हिंसावन्धि भक्षणमपि हिंसेति । भक्षयति पिण्डी शिशुनेति । पिण्ड्या अप्राणित्वात् न भक्षणं हिंसात्मकं, नापि तदनुबन्धीति न भवति  
कर्मसंज्ञेति । एव भक्षयति राजद्रव्यमित्यत्रापि द्रष्टव्यम् । ननु पुत्रभक्षणस्य हिंसात्मकत्वाद् भक्षयति पुत्रान् गार्ग्येति कथं कर्मत्वाभावः ३०  
इत्यत आह-भक्षयतिरत्राऽऽक्रोशे इति । न ह्यत्र गार्ग्यो स्वयं पुत्रान् भक्षयति, न च तामन्यस्तत्र प्रयुक्तेऽपि त्वेषमाक्रोशति भक्षय पुत्रानिति  
भक्षिर्न हिंसाविषयः । ननु भक्षयति पिण्डी शिशुनेत्यादौ मा भूदनेन कर्मत्वं भक्षयतेराहारार्थत्वात् पूर्वेण कस्मात् भवतीत्याह-आहारार्थत्वादित्यादि ।  
भक्षिरयमाहारार्थो न ह्यस्यान्योऽर्थोऽस्ति, अन्यत्र तु सर्वभक्ष कृतान्त इत्यादौ तद्भाष्यारोपायुः । तत्रास्य पूर्वेण प्राप्तीति चेदं ३३  
विध्यर्थमपि तु 'सिद्धे सत्यारम्भ' इति नियमार्थं, विधिनिषेधव्यतिरेकेण शब्दव्यापाराभावात् ॥ ६ ॥

वहेः प्रवेयः । अत्र अणिकर्ता णौ कर्म इत्यनुवर्तते । वहेरणिकर्ता प्रवेयो णौ कर्म इत्यन्वयः । प्रपूर्वादेर्जीवावे कर्मणि यप्रत्यये  
रूपमित्याह-प्रवीयते-प्राजतिक्रियया व्याप्यते यः प्रवेय इति । नियन्तु सारथे प्रयोजयितुर्न्यापारस्य कर्मत्वार्थः । वाहयिता भारस्य- ३६  
बलीवर्दानिति । अत्र बलीवर्दशब्दात् "वैकत्र द्वयोः" २।२।८।५ इति ग्राहपष्ठीविकल्पात् द्वितीया, तद्विकल्पपक्षे भारस्येत्यत्र "कर्मणि कृतं"  
२।२।८।३ इत्यनेन षष्ठीति वाहयिता भारस्य बलीवर्दान् इति । द्वितीयप्रयोगस्तद्विपरीतः । "वैकत्र द्वयोः" इति षष्ठीप्रत्ययुदाहरणं तु वाहयिता  
भारस्य बलीवर्दानामिति ज्ञेयम् । वाहयति भारं मैत्रेणेति । नाऽत्र मैत्रो बलीवर्दादिवत् प्रवेय इति कर्मभावो न भवतीति शेषः । ३९  
सूत्रात्पर्यर्थाभावे-प्राप्त्यर्थस्य प्रापणार्थस्य चेत्यादिना । तत्र वहति प्राप्त्यर्थो यथा-वहन्ति बलीवर्दा-देशान्तरे प्राप्नुवन्तीति, प्रापणार्थो  
यथा-ग्रामं भारं वहति बलीवर्द-ग्रामं प्रापयतीति, अत्रापि प्रापणोपसर्जने प्राप्तिरत्येव, अकर्मको यथा-वहति नदी-स्यन्दत इत्यर्थः, अत्र  
प्राप्तेर्गतिरूपत्वाभावात् प्राप्त्यर्थसाकर्मिकस्य च गत्यादिसूत्रेणैव सिद्धत्वात् नियमार्थं वचनमिति वहे प्रवेय एव कर्ता णौ कर्म भवति नान्य इति । ४२  
अविवक्षितकर्मकस्य त्वित्यादि । वहेरिति शेषः । नन्वेव विधौ सति नियमो नोपपद्यते, उच्यते-आवृत्त्या उभयार्थपरिग्रहः ॥ ७ ॥

हृक्रोर्नवा । हा च का च हृक्रौ, तयोरिति विग्रहः । अणिकर्ता णौ कर्मत्वानुवर्तते । हृक्रोरणिकर्ता णौ कर्म नवेत्यन्वयः । हसाह-  
चर्यात् कृधातोर्णि भ्वादेरेव ग्रहः, तेन 'कृत' विक्षेपे, 'कृगृह' हिंसायामित्यनयोर्व्यवच्छेदः । यदा हरतिर्गता वर्ततेऽभ्यवहारे वा करोतिश्च वग- ४५  
नादावकर्मकं शब्दकर्मकं तदा पूर्वेण प्राप्ते, यदा तु हरति स्त्रेयादौ वर्तते करोतिश्च सकर्मको भवति तदाऽप्राप्त इति विशेषानुपादानादुभयत्र  
विकल्पोऽयमित्याह-प्राप्ते चाऽप्राप्ते चेत्त्यादि । तत्र प्राप्ते दर्शयति-विहारयति देशमाचार्यमाचार्येण चेत्त्यादि । अत्र गत्यर्थं आहारार्थ-

विहारयति देशमाचार्यमाचार्येण वा; एवमाहारयत्योदनं चालकं चालकेन वा । विकुर्वते सैन्धवाः, विकारयति सैन्धवान् सैन्धवैरिति वा; विकुर्वते स्वरं क्रोष्टा, विकारयति स्वरं क्रोष्टारम् क्रोष्टुना वा; अत्र गत्यर्थोऽऽहारार्थनित्याऽकर्मकशब्दकर्मकत्वेन यथासंख्यं प्राप्तिः । अप्राप्ते-हरति द्रव्यं मैत्रः, हारयति द्रव्यं मैत्रेण मैत्र वा, करोति कटं चैत्रः, कारयति कटं चैत्रं चैत्रेण वा, अत्र हरतिश्रौयार्थो न प्रापणार्थ इत्यप्राप्तिः, प्रापणार्थत्वे तु प्राप्ते विभाषा । कारयिता कटस्य देवदत्तं देवदत्तेन वा, कारयिता कटं देवदत्तस्य देवदत्तेन वा ॥ ८ ॥

६ दृश्यभिवदोरात्मने ॥ २ । २ । ९ ॥

दृशेरभिपूर्वस्य वदतेश्चाऽऽत्मनेपदविषयेऽणिकर्ता णौ कर्मसंज्ञो वा भवति । पश्यन्ति भृत्या राजानम्, तान् राजैवानुकूलाचरणेन प्रयुक्ते-दर्शयते राजा भृत्यान् भृत्यैर्वा; अभिवदति गुरुं शिष्यः, अभिवादयते गुरुः शिष्यं शिष्येण वा, अथवा-अभिवदति गुरुं शिष्यः, तं मैत्रः प्रयुक्ते-अभिवादयते गुरुं शिष्यं शिष्येण वा मैत्रः; एवं दर्शयमानो राजा भृत्यान् भृत्यैर्वा, अभिवादयमानो गुरुः शिष्यं शिष्येण वा, अथवा-अभिवादयमानो गुरुं शिष्यं शिष्येण वा मैत्रः । आत्मन इति किम् ? पश्यति रूपतर्कः कार्पापणम्, दर्शयति रूपतर्कं कार्पापणम्, अभिवदति गुरुं शिष्यः, अभिवादयति गुरुं शिष्येण । दृशेर्वोधार्यत्वेन नित्यं कर्मत्वे प्राप्ते अभिवदेस्तु नित्यमप्राप्ते विकल्पः । यदा तु अभिवदिर्न प्रणामार्थः, किंतु शब्दक्रियस्तदा अभिवादयति गुरुं शिष्यं मैत्र इति नित्यं प्राप्ते विभाषेति । गिजन्तस्यापि वदेर्गिणीच्छन्त्येके । अभिवादयति गुरुर्देवदत्तम्-तस्मिन्नाशिप प्रयुक्ते इत्यर्थः, अभिवादयते गुरुं देवदत्तो गुरुणेति वा, आत्मन्याशिप प्रयोजयतीत्यर्थः । गिगन्तस्यापीति कश्चित्-अभिवदति गुरुः स्वयमाशिपम्, तं शिष्यः प्रयुक्ते-अभिवादयति गुरुमाशिपं शिष्यः; तं मैत्रः प्रयुक्ते-अभिवादयते गुरुमाशिपं शिष्यं शिष्येण वा मैत्रः । नामघातोरभिवादयतेरपीच्छत्यन्यः ॥ ९ ॥

नाथः ॥ २ । २ । १० ॥

१८ अणिकर्ता णाविति निवृत्तं, पृथग्योगात् । आत्मनेपदविषयस्य नाथतेर्वाप्यं कर्म वा भवति, आत्मनेपदविषयत्वं चास्याऽऽशिष्येवेति तत्रैवायं विधिः । सर्पिपो नाथते, सर्पिर्नाथते, सर्पिर्मे भूयादित्याशास्त इत्यर्थः । सर्पिपो नाथमानः, सर्पिर्नाथमानः; सर्पिपो नाथिष्यमाणः, सर्पिर्नाथिष्यमाणः; सर्पिपो नाथ्यते, सर्पिर्नाथ्यते । आत्मन इत्येव ? पुत्रमुपनायति २१ पाठाय, उपयाचते इत्यर्थः ॥ १० ॥

येति प्राप्तिः । विकारयति सैन्धवान् सैन्धवैरिति । नित्याऽकर्ममिति प्राप्तिः । सैन्धवा-अन्धा, विकुर्वते-वल्गन्तीति शक्यं करोत्यर्थः । विकारयति स्वरं क्रोष्टारं क्रोष्टुना वेल्लत्र शब्दकर्ममिति प्राप्तिरिति विवेकेन दर्शयति-अत्रेत्यादि । हारयति द्रव्यं मैत्रेण मैत्रं वेत्यादौ २४ तु चौर्यार्थो हरति करोतिश्रोतादनार्थ इत्यप्राप्तिः ॥ ८ ॥

दृश्यभिवदोरात्मने । अत्र अणिकर्ता णौ कर्म नवा इत्यनुवर्तते । दृश्यभिवदो आत्मने अणिकर्ता णौ कर्म नवेत्यन्यत्र । आत्मन इत्यनुवर्तमानस्य णावित्यस्य विषयतया विशेषणमित्याह-आत्मनेपदविषये इति । दर्शयते राजा भृत्यान् भृत्यैर्वा इत्यादि । 'दृष्ट' प्रेक्षणे, अभिपूर्वो 'वद' ल्यक्कया वाचि, आभ्यां "प्रयोक्तृव्यापारे णिन्" इति णिणि, "अणिकर्मणिकर्तृकात्" ३।३।८८। इत्यात्मनेपदम् । अथ-वेति । अन्यस्यास्यापि प्रयोजकत्वे विभाषया प्रयोज्यस्य कर्मत्वम् । तत्रोभयत्रापि "ङ्मित" ३।३।९५। इत्यनेन फलवत्कर्तार्यात्मनेपदम् । एवमिति । "पराणि कानानशौ चाऽऽत्मनेपदम्" ३।३।२०। इति आनशोऽप्यात्मनेपदत्वात् तद्विषये णावणिकर्ता पक्षे कर्म भवतीत्यतिदेशार्थः । दर्शयति रूपतर्कं कार्पापणमित्यादि । न श्येता विवक्षितफलवत्कर्तृकौ नापि अणिकर्मणिकर्तृकौ इत्यात्मनेपदविषयत्वात् विकल्पो न भवति । ननु विकल्पो हि प्राप्ते कार्यं पक्षे निवृत्तिफलं, अप्राप्ते च प्रवृत्तिफलत्वाज्ज्य प्राप्ते च स्यादप्राप्ते वेत्यत आह-दृशेरित्यादि । अभिवदो-स्त्विति । प्रणामार्थत्वेनेति शेष इति प्राप्ताप्राप्तविकल्पोऽयमित्यर्थः । यदा त्विति । शब्दक्रियत्वे गत्यादिस्पर्धेणोभयत्र नित्यकर्मत्वे प्राप्ते प्राप्त एव विभाषेति भावः । गिजन्तस्यापीति । एके-इति श्लाकटायनाचार्या, 'वदिष्ण' भाषणे, इति युजादित्वात् "युजादेर्नवा" इति णिच्, तत्रेकारो गिजभावपक्षे आत्मनेपदार्थस्ततोऽभिवादयति-आशास्ते इत्यभिवादयतिरयमाशी प्रयोगे वर्तते इत्याह-तस्मिन्नित्यादि । अभिवादयते गुरुं देवदत्त इति । अत्र अभिवासीति गिजन्तात् गिग्, तत्र गुरु प्रयोज्यो देवदत्त प्रयोक्ता तद्दर्शयति-आत्मनीत्यादि । गिगन्त-स्यापीति । तदाभिवदतिराशी प्रयोगे वर्तते इति शेष पूर्ववत् । कश्चिदिति । दुर्गसिंहमतम् । अन्य इति । रत्नमतिस्वभावा च स आह-सुप्र-धातुर्नामघातुरित्यर्थः ॥ ९ ॥

नाथः । अणिकर्ता णाविति निवृत्तमिति । अत्र हेतुः-पृथग्योगादिति । अयमर्थः-अणिकर्ता णौ कर्म इत्यनुवृत्तौ हि पूर्वेण समान-विषयत्वादेकयोगमेव कुर्यादिति भावः । अत्रात्मने व्याप्य कर्म नवेति च संभव्यते । आत्मने नापो व्याप्य कर्म नवेत्यन्यत्रत्याह-आत्मनेपद-विषयस्त्वेत्यादि । नाथते शोपतापैक्षर्याऽऽशीर्याचनलक्षणार्थचतुष्टये वर्तमानस्याप्याशीर्यस्यैवात्मनेपदविषयत्वमित्याह-आत्मने इत्यादि । अन्यत्र नात्मनेपद नाप्येव विकल्प इत्यर्थः । 'नाथृक्' उपतापानौ, तस्यार्थविशेष दर्शयति-सर्पिर्मे भूयादित्यादि । नाथमान इति । "शत्रानशा" इति आनश, एष्यति तु स्वसहित । नाथ्यत इति । "तत्साप्यानाप्या" इति कर्मण्णात्मनेपदम् । उपनाथतीति । अश्रोपाचनार्थस्य "आशिपि नाथ" इत्यात्मनेपदाभावात् कर्मविकल्पो न भवतीति ॥ १० ॥

## स्मृत्यर्थद्वयेशः ॥ २ । २ । ११ ॥

स्मरणार्थानां दयतेरीशश्च व्याप्यं कर्म वा भवति । मातुः स्मरति, मातरं स्मरति; मातुः स्मर्यते, माता स्मर्यते; मातुः स्मर्तव्यम्, माता स्मर्तव्या; मातुः स्मृतम्, माता स्मृता; मातुः सुस्मरम्, माता सुस्मरा; मातुः स्मृतः पुत्रः, माता स्मृता पुत्रेण; एव मातुरध्येति, मातरमध्येति; मातुर्ध्यायति, मातर ध्यायति; मातुरुत्कण्ठते, मातरमुत्कण्ठते इत्यादि; सर्पिपो दयते, सर्पिर्दयते; लोकानामीष्टे, लोकानीष्टे । ननु कर्माऽविवक्षायां पक्षे माषाणामश्रीयादित्यादिवत् “शेषे” पृष्ठी सिद्धेव तत् किमनेन ? सत्यम्; किंतु “षष्ठ्ययत्नाच्छेषे” ॥ ३ । १ । ७६ ॥ इति अयत्नजे शेषे पष्ठ्याः समासो वक्ष्यते, ततो मातुः स्मृतमित्यादौ समासो मा भूत् इत्यनेन प्रकारेण यत्नाच्छेषो विधीयते; नियमार्थं च—तेनैषां धातूनां कर्मैव शेषत्वेन विवक्ष्यते, न कारकान्तरं; तेन मात्रा स्मृतम्, मनसा स्मृतमित्यादौ कर्तृकरणयोः शेषविवक्षाभावात् पृष्ठी न भवति । व्याप्यमित्येव ? कथासु स्मरति, गुणैः स्मरति ॥ ११ ॥

## कृगः प्रतियत्ने ॥ २ । २ । १२ ॥

पुनर्यत्नः—प्रतियत्नः, सतो गुणाऽऽधानायाऽप्यायपरिहाराय वा समीहा; तस्मिन् वर्तमानस्य करोतेर्व्याप्यं वा कर्म भवति । एधोदकस्योपस्कुरुते, एधोदकमुपस्कुरुते; शस्त्रपत्रस्योपस्कुरुते, शस्त्रपत्रमुपस्कुरुते । प्रतियत्न इति किम् ? कटं करोति । व्याप्यमित्येव ? एधोदकस्योपस्कुरुते, बुद्ध्या करणस्य मा भूत् ॥ १२ ॥

## रुजार्थस्याऽज्वरिसंतापेर्भावे कर्तरि ॥ २ । २ । १३ ॥

रुजा—पीडा, तदर्थस्य घातोर्ज्वरिसतापिवर्जितस्य व्याप्यं वा कर्मसंज्ञं भवति, भावे कर्तरि—भावश्चेद्दुर्जार्थस्य कर्ता भवति । चौरस्य रुजति, चौरं रुजति रोगः; अपथ्याशिनां रुज्यते रोगेण, अपथ्याशिनो रुज्यन्ते रोगेण; चौरस्य रुग्णम्, चौरो रुग्ण इत्यादि । चौरस्याऽऽमयति, चौरमामयति रोगः, चौरस्य व्यथयति, चौरं व्यथयति रोगः, चौरस्य

स्मृत्यर्थद्वयेशः । अत्र व्याप्यं कर्म नवेति वर्तते । स्मृत्यर्थद्वयेशो व्याप्यं कर्म नवेत्यन्वयस्वदाह—स्मरणार्थानामित्यादि । मातुः स्मरतीत्यादि । पक्षे कर्मत्वाभावविधानाच्च द्वितीयेति “शेषे” इत्युत्सर्गेण पृष्ठी भवति, कर्मत्वे तु कर्मणि द्वितीया “तत्ताप्यानाप्या” इति भावे कर्मणि चाल्मनेपदकृत्यफखलर्या भवन्ति, कर्माधारयोक्त क । एव मातुरध्येतीत्यादावपि द्रष्टव्यम्, “इक्” स्मरणेऽधिपूर्वं “इत्किावध्युपसर्गं न व्यभिचरत” इति नियमात् । “द्वि” चिन्तायाम्, उत्पूर्वं “कड्ड” शोके, “दयि” दानादौ, “इत्कि” ऐश्वर्ये; इत्येभ्यः—ध्यायतीत्यादि । ११ नन्विदं कर्म भवति कर्मभावजनितसंबन्धसंबन्धि च, तत्र कर्माविवक्षायां “शेषे” इत्यनेनैव पृष्ठी, यथा—राज्ञः पुत्रम् इत्यत्र राजा पुत्राय कृतिं ददाति त विभर्ति इति कर्तृभावजनितसंबन्धसंबन्धित्वेन राज्ञः इत्यत्र पृष्ठीति । द्रव्ययोस्तत्त्वेदाभावे क्रियोपनिधीयते, तथा विना द्रव्याणामय शलाका-कल्पानामुपप्लेबायोगात्, क्रियायां क्रियान्तरं नापेक्ष्यते जनुवत् । न हि काष्ठसंश्लेषहेतोर्जनुजः संश्लेषे जन्तन्तरमपेक्ष्यमिति तत्रापि स्थित्यादि २४ क्रियाऽस्तीत्यपरे । तत्र यदा स्मरणादेः प्राप्यतया मात्रादि विवक्ष्यते तदा कर्मणि द्वितीयादिर्भवति । यदा तु स्मरणादिशेषविवक्षा स्मरणादीनां प्रतिसाधनं भेदात् अन्यथा हि जायेत तदा मातुर्यत्स्मरणं तत्करोतीत्यर्थः । नच कर्मभावनिवर्तनेन पष्ठ्यां प्रवर्तितायामपि तत्कर्मप्रतिपत्तिसंबन्धि-भावा हि तत् प्रतीयते, अतो विवक्षामेदात् द्वितीयादेः पष्ठ्यादेः सिद्धेरयः विकल्पोऽनर्थक इति पृच्छति—नन्वित्यादि । समाधत्ते—सत्य- २७ मित्यादि । अयमभिप्रायः—यदीदं द्विधा व्यवस्थापनं न स्यात् तर्हि स्वतो द्विधाभावेन पष्ठ्या मातुः स्मृतमित्यादौ “पञ्चयत्नाच्छेषे” इति समासः प्राप्नोति, सति त्वस्मिन् अनेन यत्नेन प्रापिता भवतीति अयन्नादिति निषेधात् समासो न भवतीत्येतदर्थमारभ्यते । प्रयोजनान्तरमाह—नियमार्थं चेति । नियमफलं दर्शयति—तेनेत्यादि । स्मृत्यर्थोदीना कर्म कर्म वा भवति संबन्धिरूपेण च सामान्येनाभिधीयते, कारकान्तरं तु करणादिकं २८ करणादिरूपेणैवोच्यते न सम्बन्धिरूपेणेति तद्व्यवच्छेदमुदाहरति—मात्रा स्मृतम्, मनसा स्मृतमिति । मात्रेति कर्ता, मनसेति करणम् । कथास्त्वित्यादि । अत्र व्याप्यमित्यनुवर्तनादव्याप्यस्य करणादेः कर्मविकल्पो न भवतीति ॥ ११ ॥

कृगः प्रतियत्ने । अत्र व्याप्यं कर्म नवेत्यनुवर्तते । प्रतियत्ने कृगो व्याप्यं कर्म नवेत्यन्वयः । यतनं यत्नं प्रतिशब्दं पुनरर्थे इत्याह—इदं पुनर्यत्नः—प्रतियत्न इति । प्रथमं तावदर्थस्यात्मलाभाय यत्नो भवति, लब्धात्मनो यो यत्नोऽधिकान् गुणानुत्पादयितुं परिपूर्णगुणस्य वा ताद-वस्थं रक्षितुं प्रतियत्नं सगीहेत्याह—सतो गुणाधानायेत्यादि । उपस्कुरुत इति । “उपाद् भूषासमवायप्रतियत्नः” ४।४।१२। इति सद्, “गन्धनाऽवक्षेपेवसाहसप्रतियत्नः” ३।३।७६। इत्यात्मनेपदम् । शस्त्रपत्रशब्दौ “नीदावशस्” ५।२।८८। इति करणे ऋटि भवत ॥ १२ ॥ ३५

रुजार्थस्याऽज्वरिसंतापेर्भावे कर्तरि । अत्र व्याप्यं कर्म नवा इति वर्तते । अज्वरिसतापे रुजार्थस्य व्याप्यं कर्म नवा भावे कर्तरि इत्यन्वयः । “रुजोत्” भग्ने, इत्यस्मात् मिदादित्वादङि रुजा इत्याह—रुजा—पीडेति । अथवा—“रुजोत्” भग्ने, इत्यागन्तुनाकारेण निर्दिष्टेऽनु-क्रियते, रुक् अर्थो यस्यासौ इति विग्रहः । भावश्चेदिति । साध्यरूपस्य भावस्य कर्तृत्वानुपपत्तेः सामान्यशब्दोऽपि भावशब्दः सिद्धरूपे भावे ३६ वर्तते इति तात्पर्यार्थः । चौरस्य रुजतीत्यादि । “जुरण्” स्तेये, इत्यस्याणिजन्तस्य मिदाद्यङि जुर सा झीलमस्य इति विग्रहे “अकृष्याच्छत्रा-देरङ्” ६।४।६०। इत्यङि, इदौ—चौरः, रुजतीति “पदरुज” ५।३।१६। इति घञि, “केऽनिटश्च” ४।१।१११। इति जस्य गत्वे—रोगः । अपथ्या-शिनामिति । अपथ्यमश्रन्तीत्येव शीला इति विग्रहे “अजाते शीले” ५।१।१५४। इति णिन् । रुज्यते इति । “तत्ताप्यानाप्या” इति भावे ४२ आत्मनेपदम् । रुज्यन्ते इति । कर्मण्यत्मानेपदम् । रुग्णमिति । “ह्रीने क” ५।३।१२३। इति भावे क । रुग्ण इति । कर्मणि क, “सूय-त्याद्योदित” इति तकारस्य नकार, “रघुवर्णा” इति णत्वम् । आमयतीत्यादि । “अमण्” रोगे, “व्यथिष्” भयचलनयो, “पीडण्” गहने,

पीडयति, चौरं पीडयति रोगः । रुजार्यस्येति किम् ? एति जीवन्तमानन्दः । ज्वरिसंतापिवर्जनं किम् ? आधूनं ज्वरयति । अत्याशिनं संतापयति । कर्तरीति किम् ? चैत्रं रुजत्यत्यशने वातः । भाव इति किम् ? मैत्रं रुजति श्लेष्मा, अत्र श्लेष्मा द्रव्यं, न भावः । रोगो व्याधिरामयः शिरोऽर्तिरित्यादयो भावरूपाः कर्तार इति ॥ १३ ॥

### जासनाटकाथपिपो हिंसायाम् ॥ २ । २ । १४ ॥

एषां हिंसायां वर्तमानानां व्याप्यं वा कर्म भवति । 'भूसपिसजसवर्हण्' हिंसायाम्, 'जसण्' ताडने इति चुरादी गृह्यते, न 'जसूच्' मोक्षणे इति दैवादिकः, तस्याऽहिंसार्थत्वात् । चौरस्योजासयति, चौसुजासयति; चौरस्योजास्यते, चौर उजास्यते चैत्रेण । तथा 'नटण्' अवस्यन्दने इति, अयमपि चुरादिर्न तु 'णट्' नृत्ताविति भ्वादिः । चौरस्योन्नाटयति, चौसुन्नाटयति; एवं काथिर्घटादिः—चौरस्योत्काथयति, चौरमुत्काथयति; चौरस्य पिनष्टि, चौरं पिनष्टि । जासनाटकाथानामाकारोपान्त्यनिर्देशो यत्राऽऽकारश्रुतिस्तत्र यथा स्यादित्येवमर्थः, तेनेह न भवति—दस्युमुदजीजसत्, चौरमनीनट्, दस्युमुदचिक्रयत् । अत एव च काथेः कर्मसंज्ञाप्रतिषेधपक्षे ह्रस्वत्वाभावः, कर्मत्वे तु ह्रस्वत्वमेव । हिंसायामिति किम् ? चौरं बन्धनात् जासयति—मोचयतीत्यर्थः, नटं नाटयति—नर्तयतीत्यर्थः । अभावकर्तृकार्यं वचनम् ॥ १४ ॥

### १२ निप्रेभ्यो घ्नः ॥ २ । २ । १५ ॥

निप्राभ्यां परस्य हिंसायां वर्तमानस्य हन्तेर्व्याप्यं वा कर्म भवति । बहुवचनं समस्तव्यस्तविपर्यस्तसंप्रहर्षम् । चौरस्य निप्रहन्ति, चौरं निप्रहन्ति, चौरस्य चौरं वा निहन्ति, चौरस्य चौरं वा प्रहन्ति, चौरस्य चौरं वा प्रणिहन्ति, चौराणां निप्रहण्यते; चौरा निप्रहण्यन्ते राज्ञा । निप्रेभ्य इति किम् ? चौरं हन्ति, चौरमाहन्ति । हिंसायामित्येव ? रागादीन् निहन्ति ॥ १५ ॥

### विनिमेयद्यूतपणं पणव्यवहोः ॥ २ । २ । १६ ॥

१८ विनिमेयः—क्रेयविक्रेयोऽर्थः, द्यूतपणो द्यूतजेयम्, पणतेर्व्यवपूर्वस्य च हरतेर्व्याप्यौ विनिमेयद्यूतपणौ वा कर्मसंज्ञौ

एभ्यो भवति । 'एति जीवन्तमानन्द' इति विष्णुपुराणे । जीवते "रुहिनन्दि०" उ० २२०१ इत्यन्तप्रत्यये शतृप्रत्यये वा भवति । आधूनं ज्वरयतीत्यादि । ज्वरिसंतापिप्रतिषेधादिह न भवति । चैत्रं रुजत्यत्यशने वात इति । अत्र योऽत्यशनरूपो भावो न स कर्ता यस्तु वात- २१ रूप कर्ता स द्रव्यं न भावः । श्लेष्मेति । श्लिष्यतेर्मन् । अयं रुजार्यस्य घातोर्भावरूपा के कर्तार इत्यत आह—रोग इत्यादि ॥ १३ ॥

जासनाटकाथपिपो हिंसायाम् । अत्र व्याप्यं कर्म नवेति वर्तते । हिंसायां जासनाटकाथपिपो व्याप्यं कर्म नवेत्यन्वयस्तदाह— २४ एषां हिंसायामित्यादि । न 'जसूच्' मोक्षणे, इति दैवादिक इति । अत्रोपपत्तिः—तस्याहिंसार्थत्वादिति । हिंसायामिति वचनात् हिंसार्थपरिग्रहादित्यर्थः । न तु 'णट्' नृत्तौ, इति भ्वादिरिति । अत्राप्याहिंसार्थत्वादित्येव हेतुः । काथिर्घटादिरिति । त्रयकथकथकथं हिंसार्थं इति घटादौ, 'पिप्लप्' संचूर्णने । ननु च जसनटकथेति घातव पठ्यन्ते तत्र निर्देशे तथैव निर्देष्टव्यमित्यत आह—जासनाटकाथानामित्यादि । आकारेण न जस्यादिघातुमात्रं निर्दिश्यतेऽपि तु यदेपामाकरवद्रूपं तदुच्यते—जासनाटकाथेति, तेन यत्र प्रयोगे एषां घातूनामाकारस्त्वैवाऽयं विधिर्नान्यत्र । तेनेह न भवति—दस्युमुदजीजसदित्यादि । जसेर्नटेश चुरादित्वात् णिच् । उत्क्रयति कश्चित् तमन्यं प्रयुक्तं इति "प्रयोक्तृव्यापारे णिग्" इति णिग्, "ञिगिति" इत्यस्य वृद्धिस्ततो द्विवचनादि, अत्र जासेत्यादि नाकारवद्रूपमस्तीति नायं विकल्पः । ननु चौरस्योत्काथयतीति कथमाकारो घटादित्वात् घटादिह्रस्वेनैव भवितव्यमिति काथेतिरूपाभावे तदनुकरणमपि चात्राऽनुपपन्नमित्यत आह—अत एव चेत्यादि । सूत्रे काथेति उपादानात् ह्रस्वत्वाभावा विज्ञायत इति भावः । सत्यपि घटादित्वे अस्ति णिगि कथेराकारोऽन्यथाऽऽनुपपत्तेः, न च णिगं विनाऽस्य कर्मास्ति अकर्मकत्वात्, स च यदि सर्वत्र स्यादस्य घटादित्वमनर्थकमिति कर्माभाव एव न भवतीत्याह—कर्मत्वे तु ह्रस्वत्वमेवेति । चौरं बन्धनात् जासयतीति । चौरो बन्धनात् जस्यतीति तमन्यं प्रयुक्तं इति णिग्, हिंसायामिति वचनात् ३३ भवति । एव नटं नाटयतीत्यत्रापि द्रष्टव्यम् । ननु हिंसायां रुजारूपत्वात् "रुजार्यस्या०" इत्येनेनैव कर्मविकल्पो भविष्यति किमर्थमिदम् ? यदि जासनाटकाथेत्याकारार्थं—यत्राऽकारस्त्वैव यथा स्यादिति तथापि पिप्पहणमनर्थकमित्याह—अभावकर्तृकार्यं वचनमिति । तत्र हि भावे कर्तारि विधिरिष्यते, अत्र तु चौरस्योजासयति देवदत्त इत्यभावेऽपि यथा स्यादित्येवमर्थम् ॥ १४ ॥

३६ निप्रेभ्यो घ्नः । अत्र हिंसायामिति व्याप्यं कर्म नवेत्यनुवर्तते । हिंसायां निप्रेभ्यो घ्नो व्याप्यं कर्म नवेत्यन्वयस्तदाह—निप्राभ्यामित्यादि । बहुवचनमित्यादि । अयं भावः—निना सहितं प्रो निप्र, अनेन समासेन सघातस्य ग्रहणं यथाश्रुतस्य विपर्यस्तस्याऽप्युभयत्र निना-सहितस्य प्रत्यावगते, निश्च प्रश्न निप्रमिति समाहारद्वन्द्वे कृते "क्लृबमन्येनैकं च वा" ३।१।१२८। इति कर्मधारयनिवृत्तौ द्वन्द्वस्य शेषे द्वन्द्वेन च विग्रहीतो व्यस्तौ निप्रौ प्रतिपाद्येते इत्ययमधिकोऽर्थो बहुवचनालभ्यते । सर्वत्र च बहुवचनमधिकार्थसूचनायमित्येष न्यायोऽत्र व्याकरणे द्रष्टव्य इति क्रमेणोदाहरति—चौरस्य निप्रहन्तीत्यादि । निप्रहण्यत इति भावे, निप्रहण्यन्त इति कर्मणि "तत्ताप्यानाप्या०" इत्युभयत्रात्मनेपदम् । रागादीन् निहन्तीति । अत्र हिंसायामित्यनुवर्तनात् रागादीनामचेतनया प्राणव्यपरोपणलक्षणाया हिंसायां अभाव- ३८ वाचं भवतीत्यर्थः ॥ १५ ॥

विनिमेयद्यूतपणं पणव्यवहोः । अत्र व्याप्यं कर्म नवेति वर्तते । पणव्यवहोर्व्याप्यं विनिमेयद्यूतपणं कर्म नवेत्यन्वयः । विनिमेय व्याचष्टे—क्रेयविक्रेयोऽर्थ इति । क्रेयो य आत्मना प्राप्तो विक्रेयो यो देय इति । द्यूतस्य पणो द्यूतपणस्तमाह—द्यूतपणो द्यूतजेयमिति ।



भवतः । शतस्य पणायति, शतं पणायति; सहस्रस्य सहस्रं वा पणायति,—क्रयविक्रये द्यूतपणत्वे वा तद्विनीयुक्ते इत्यर्थः; एवं दशानां व्यवहरति, दश व्यवहरति; पञ्चानां पञ्च वा व्यवहरति । विनिमेयद्यूतपणमिति किम् ? साधून् पणायति—स्तौतीत्यर्थः, शलाकां व्यवहरति—विगणयन् गोपायति इत्यर्थः । वचनभेदो यथासंख्यनिवृत्त्यर्थः ॥ १६ ॥

### उपसर्गादिवः ॥ २ । २ । १७ ॥

उपसर्गात् परस्य दिवो व्याप्यौ विनिमेयद्यूतपणौ वा कर्मसंज्ञौ भवतः । शतस्य प्रदीव्यति, शत प्रदीव्यति, शतस्य प्रदीव्यते, शतं प्रदीव्यते, शतस्य प्रद्यूतम्, शतं प्रद्यूतम्; शतस्य प्रदेवितव्यम्, शतं प्रदेवितव्यम्; शतस्य सुप्रदेवम् शतं सुप्रदेवम् । विनिमेयद्यूतपणमित्येव ? शलाकां प्रतिदीव्यति—विगणयन्नपहरतीत्यर्थः । उपसर्गादिति किम् ? शतस्य दीव्यति ॥ १७ ॥

### न ॥ २ । २ । १८ ॥

विनिमेयद्यूतपणौ दिवो व्याप्यौ कर्मसंज्ञौ न भवतः, उपसर्गपूर्वस्य विकल्पविधानादनूपसर्गस्यायं निषेधः । शतस्य दीव्यति, सहस्रस्य दीव्यति, निषिद्धे च कर्मणि पष्ठेव भवति, शतस्य दीव्यते, शतस्य द्यूतम्, शतस्य देवितव्यम्, शतस्य सुदेवम् इत्यादौ भावे आत्मनेपदक्तकृत्यखलः सिद्धाः, शतस्य द्यूतो मैत्र इत्यत्र च कर्तरि क्तः । विनिमेयद्यूतपणमित्येव ? १२ जिनं दीव्यति—स्तौतीत्यर्थः, भूमिं दीव्यति—संधिना विजिगीषते इत्यर्थः, संधिपणोऽत्र न द्यूतपणः; द्यूतं दीव्यति, अक्षान् दीव्यति, अत्र क्रिया तत्साधनं च व्याप्यं न तु पणः ॥ १८ ॥

### करणं च ॥ २ । २ । १९ ॥

दीव्यतेः करणं कर्मसंज्ञं चकारात् करणसंज्ञं च भवति, कर्मकरणसंज्ञे युगपद्भजतीत्यर्थः । अक्षान् दीव्यति, अक्षाणां देवनम्, अक्षा दीव्यन्ते, अक्षा देवितव्याः, अक्षाः सुदेवाः, अक्षदेवः, अक्षा द्यूताश्चैत्रेण,—एषु कर्मत्वे द्वितीयापञ्चात्मनेपदतव्यखलपुक्तप्रत्ययास्तन्निमित्ताः सिद्धाः । अक्षैर्दीव्यति, अक्षैर्देवनम्, अक्षैर्दीव्यते, अक्षैर्देवितव्यम्, अक्षैः सुदेवं १८ मैत्रेण, अक्षैर्द्यूतं चैत्रेण, अक्षा देवनाः,—एषु करणत्वे तृतीयाऽनटौ, भावे आत्मनेपदादयश्च सिद्धाः । आत्मनेपदादिभि-

द्यूते द्यूतेन वा जित्वा यत् स्वीकर्तव्यमिति । तदुभय विनिमेयो द्यूतपणश्च पणव्यवहोर्धात्वोर्ब्याप्य कर्म वर्तते तस्य पक्षे कर्मत्वप्रतिषेधः । शतस्य-पणायतीत्यादि । 'पणि' व्यवहारस्तुल्योऽरतो "गुणैर्द्यूपविच्छिन्नपणिपणे" इत्याय, तिव् च । क्रयविक्रये द्यूतपणत्वे वा तद्विनीयुक्ते ११ इत्यर्थः इति । अनेन शतसहस्रयोर्विनिमेयद्यूतपणत्वे कर्मता च दर्शयते । एवमिति । पूर्ववदित्यर्थः । साधून् पणायतीति । अत्र स्तुत्यर्थत्वात् विनिमेयत्वाभावाच्च भवतीत्यर्थः । शलाकां व्यवहरतीति । अत्राऽनेकार्थत्वात् धातूनां विगणनपूर्वकं गोपने व्यवहरतिवर्तत इति न विधिः । ननु पणव्यवहोरित्यत्र विनिमेयद्यूतपणवत् समाहारद्वन्द्वादिकवचनं किमिति वचनभेदाभावाच्च नोपासीयत इत्याह—वचनभेद इत्यादि । असति १४ हि तस्मिन्स्तुत्यत्वात् यथास्तुत्यं स्यात् ॥ १६ ॥

उपसर्गादिवः । अत्र विनिमेयद्यूतपण व्याप्यं कर्म नवेत्यनुवर्तते । उपसर्गात् दिव व्याप्य विनिमेयद्यूतपण नवा कर्मैत्यन्वयस्तदर्थमाह—उपसर्गात् परस्येत्यादि । प्रपूर्वात् दिवेस्तिवि श्ये "भवादेर्नामिनो" इति वीर्षत्वे—शतस्य प्रदीव्यतीत्यादि । एषु कर्मसंज्ञापक्षे २७ कर्मणि द्वितीयाऽऽत्मनेपदका कृत्यखलार्थाश्च भवन्ति, कर्मत्वाभावपक्षे "शेषे" इति षष्ठी भावे चाऽऽत्मनेपदादय इति । प्रद्यूतमिति । अत्र "अनुनासिके च्छ्व शब्दः" इत्युद ॥ १७ ॥

न । अत्र विनिमेयद्यूतपणमिति दिव इति व्याप्य कर्मति चानुवर्तते । दिवो व्याप्य विनिमेयद्यूतपण न कर्मैत्यन्वयस्तदर्थमाह—विनि- १० मेयद्यूतपणावित्यादि । उपसर्गपूर्वसेति । सूत्रे विशेषानुपादानेऽपीति शेषः । शतस्य दीव्यतीत्यादि । कर्मसंज्ञाया प्रतिषेधात् अकर्मकत्वात् सर्वत्र षष्ठी, भावे चाऽऽत्मनेपदादय कर्तरि च क्त इति । स्तौतीत्यर्थः इत्यर्थक्यनेन विनिमेयत्वद्यूतपणत्वाभाव उच्यते, यदि हि धातुर्व्यवहारे विजिगीषायां च वर्तते तदा तत्कर्म विनिमेयो द्यूतपणश्च स्यान्नान्यत्र । द्यूतप्रहणानुवृत्ते सन्धिपणस्य प्रतिषेधो न भवतीत्याह—भूमिं १३ दीव्यतीत्यादि । क्रिया तत्साधनं चेति । अयमर्थः—यदि द्यूतमिति द्यूतक्रियामात्रं गृह्यते ततो द्यूत दीव्यतीत्यत्र प्रतिषेधः प्राप्नोति, अथ द्यूतविषय साधनमुपचारात् गृह्यते तदा अक्षान् दीव्यतीत्यत्र प्राप्नोति न पण एवेति तदर्थं द्यूतपण इत्यनुवर्त्यत इति ॥ १८ ॥

करणं च । अत्र दिव इत्यनुवर्तते कर्म इति च । दिव्य करणं कर्म करणं चेत्यन्वयः । दिव इत्यनुवर्तमानं करणमित्यस्य विशेषण- १६ मित्याह—दीव्यतेः करणमिति । चकारस्यान्यत् समुच्चेतव्यं नास्तीति तदेव प्रतीयते, असति चकारे तच्चिद्वृत्तेरित्याह—चकारात् करण-संज्ञं चेति । ननु च करणं कर्म कर्म भवति ? भिन्नौ हि तौ स्वभावौ प्रकृत्यभावाव्यापारस्वत्क्रियमाणता चेति, धर्मेप्रधानत्वाय निर्देशः करण-मिति न वचनादसत् सम्भवति । अथ करणत्वयुक्तं भवतीति विज्ञायते तदा सर्वद्वयार्थां सर्वकारकशक्तियुक्तात्वात् प्रव्यान्तरवदस्य कर्मत्वात् वच- १९ नमिदमनर्थकमिति चेत्, उच्यते—कर्मशब्दवाच्यं च युगपत् भवतीत्याह—कर्मकरणसंज्ञे इत्यादि । अक्षान् दीव्यतीत्यादि । "करणऽऽधारे" ५।३।१२९। इत्यनटि—देवनम्, दीव्यतीति विग्रहे "कर्म गोऽण्" इत्यणि—अक्षदेवः । अत्र कर्मसंज्ञाया कार्यं दर्शयति—एष्वित्यादि । "कर्मणि" इति द्वितीया, "कर्मणि कृत" इति षष्ठी, "तत्साध्यानाप्या" इत्यात्मनेपदादयः । अक्षैर्दीव्यतीत्यादि । "हेतुर्कर्तृकरणे" इति तृतीया । ४२ देवना इति । "करणऽऽधारे" इति करणेऽनट् । करणत्वस्य कार्यं दर्शयति—एष्वित्यादि । ननु अक्षा दीव्यन्ते इत्यादौ द्वितीयादयः कश्च न भवन्ति ? इत्याह—आत्मनेपदादिभिश्चेति । अनुक्तयो कर्मकरणयोस्तां विधानादित्यर्थः । करणं चेत्येवेति । कर्मैत्यनुवृत्तौ करणं कर्म वा भवतीति सूत्रार्थं न युगपत् सञ्ज्ञादयसमावेशः स्यात्, विकल्पस्य पाक्षिकप्रवृत्तिनिवृत्तिफलकत्वात् इत्यर्थः । समावेशस्य प्रयोजनं दर्शयति— ४५



श्रोक्तयोः कर्मकरणयोः द्वितीयाष्टीवृत्तीया यथायोगं न भवन्ति । करणं वेत्येव सिद्धे, चकारः ? संज्ञाद्वयसमावेशार्थः, तेनाक्षैर्देवयते मैत्रश्चैवेणेत्यत्र करणत्वात् तृतीया भवति; कर्मत्वाच्च गत्यादिसूत्रेण नित्याऽकर्मकलक्षणमणिकर्तुः कर्मत्वम्, १ देवयतेश्च “अणिणि प्राणि०” इत्यादिना अकर्मकलक्षण परस्मैपदं न भवति । अथाऽक्षान् दीव्यतीत्यत्र सत्यपि संज्ञाद्वयसमावेशे परत्वात् करणत्वनिमित्तया तृतीययैव भवितव्यम् ? नैवम्, स्पर्धे हि परः कार्यः, समानविषययोश्च स्पर्धः । न च द्वितीयातृतीययोः प्रतिनियतकर्मकरणशक्यभिधायिन्योः समानविषयत्वमस्तीति द्वितीयाऽपि भवत्येव, ‘प्रतिकार्यं संज्ञा मिद्यन्ते’ २ इति वा दर्शनेऽनवकाशत्वात् संज्ञाद्वयस्य विभक्त्योः पर्यायेण प्रवृत्तिरविरुद्धा । दिव इत्येव ? दात्रेण लुनाति । करणमिति किम् ? गृहे दीव्यति ॥ १९ ॥

अधेः शीङ्स्याऽऽस आधारः ॥ २ । २ । २० ॥

९ अयसि वद्वानां शीङ् स्या आस् इत्येतेषां य आधारस्तत्कारक कर्मसंज्ञं भवति । ग्राममधिशेते, ग्रामस्याधिशयनम्, ग्रामोऽधिशय्यते, ग्रामोऽधिशयितः, ग्राममधितिष्ठति, ग्राममध्यास्ते । अधेरिति किम् ? शयने शेते, गृहे तिष्ठति, कटे आस्ते । आधार इति किम् ? ग्रामोऽधिशयितो मैत्रेण, पौरुषेणाऽधितिष्ठति; कर्तृकरणे न भवतः । अकर्मका अपि हि घातवः सोप- १२ सर्गाः सकर्मका भवन्तीति सिद्धं सकर्मकत्वम् । आधारवाचनार्थं तु वचनम् ॥ २० ॥

उपान्वध्याङ्वसः ॥ २ । २ । २१ ॥

उपअनुअधिआङ्भिर्विशिष्टस्य वसतेर्य आधारः स कर्मसंज्ञो भवति । ग्राममुपवसति, ग्राम उपोषितः, ग्रामस्यो- १५ पवसनम्, ग्राम उपोष्यते, पर्वतमनुवसति, पुरमधिवसति, आवसयमावसति । अन्यादिसाहचर्यादुपस्य स्थानार्थकस्यैव ग्रहणं, नाऽशननिवृत्त्यर्थस्य; तेन-ग्रामे उपवसति, भोजननिवृत्तिं करोतीत्यत्र न भवति । ‘अदाघनदाघोरनदादेव ग्रहणम्’ इति वस्तेन भवति ॥ २१ ॥

१८ तेनेत्यादि । अत्र वाक्ये करणत्वाद्वैरिति तृतीया भवति । कर्मत्वाच्च तेषामक्षानामणिकर्तुं प्रयोज्यस्य चैत्रस्य कर्मत्व न भवति, अस्ति तु कर्मत्वे गत्यादिसूत्रेण नित्याकर्मकलक्षणं तस्य कर्मत्व स्यात्, ततश्च ततो द्वितीया प्रसज्येत न तृतीया, कर्मत्वाभावाच्च कर्त्राभ्यां तृतीयैवेति । तयाऽक्षानां कर्मत्वात् दिवे सप्तमकृत्ये देवयते “अणिणि प्राणिकर्तृकानाप्याणिण” ३।३।१०।७। इति अनाप्यलक्षण परस्मैपदं च न भवतीति २१ संवन्ध । नन्वेवमस्मा धीव्यन्त इत्यत्रापि अकर्मक्यपदेशाच्चाष्ट्यर्थत्वात् कर्मसंज्ञा सावकाशा, अक्षा देवना इत्यत्र च अनङ्गत्वात् करणसंज्ञा, अक्षान् धीव्यतीत्यत्र तु कर्मकरणत्वसमावात्तदाक्षैर्द्वितीयातृतीयाग्रामौ स्पर्धत्वात् परत्वात्तृतीयैव ग्रामोतीत्याक्षिपति—अश्वेत्यादि । परिहरति—नैवमित्यादि । अयमर्थ—द्वयोरेकविषयसन्निपाते स्पर्ध उच्यते, न च तृतीया कर्मकरणशक्तीं शोतयितुं प्रभवतीति विषयभेदात् कृत स्पर्ध इति । २४ यद्वा ‘प्रतिकार्यं संज्ञा मिद्यन्ते’ इति पक्षोऽत्राभीन्यते, तेन “कर्मणि” इत्यत्र कार्यं यत्कर्मसंज्ञाया उपस्थानं तदनवकाशमिति द्वितीयापीति पर्यायेण द्वयोः प्रवृत्तिरेकान्तासम्भावदिति परिहापन्तरमाह—प्रतिकार्यमित्यादि ॥ १९ ॥

अधेः शीङ्स्याऽऽस आधारः । अत्र कर्मेति वर्तते । अधे शीङ्स्यास आधार कर्मत्वन्वय । अधेरिति षष्ठ्यन्तेन शीङ्स्यास २७ इति षष्ठ्यन्तं विशेष्यते, तेन चाऽऽधार इत्याह—अधेः संवद्वानामित्यादि । ग्राममधिशेते इत्यादि । प्रत्यये कुण्डेरिति “प्रसिद्धान्भ्यां प्राजिहौ च” उ० ३।३।१। इति मे-ग्रामः, अधिपूर्वं “शीङ्” ख्ये, ततस्ते प्रत्यय, “शीङ् ए चिति” ४।३।१०।४। इत्येकार, अधिश्रीङ्कर्मत्वात् ग्रामाद्वितीया, कृत्ययोगे “कर्मणि कृत” इति कर्मणि षष्ठो आत्मनेपदादयश्च । अधितिष्ठतीति “घा” गतिनिवृत्तौ, ततस्तिव्, शब्, “औतिवृत्तिवृत्ति” ४।१। ३० १०।८। इति तिङ्प्रदेश । ‘आसिक्’ उपपेक्षेने इत्यध्यास्ते । ग्रामोऽधिशयितो मैत्रेणेत्यादि । अत्र यो मैत्रादि कर्तृकरणरूप स कर्म न भवति, कर्मभावे हि यथा आधारे सप्तमी बाधित्वा द्वितीया भवति, तथा तृतीयामपि बाधित्वा द्वितीया स्यात् । अथ किमर्थमिदमारभ्यते ? यावत् अकर्मका अपि घातवः सोपसर्गा सकर्मका भवन्ति, यथा-गुरुमधिशेते, गुरुमुपतिष्ठते इति तथानाऽपि ग्रामोऽधिशयनादिना व्याप्यत इति नाऽऽधार- ३३ योऽऽधारमाव इत्यत आह—अकर्मका अपीत्यादि । अयमभिप्राय—सिद्धमेव कर्मत्व परमेधा आधारभाववाचनार्थं वचनं यथा-अन्येषामाधार आधाररूपेणोच्यते, यथा-अर्थ लोको गुरुमते शेते तथैषामाधार कर्मभावेनैवोच्यते नाधाररूपतयेत्येतदर्थं वचनमित्यर्थः ॥ २० ॥

उपान्वध्याङ्वसः । अत्राऽऽधार कर्मत्वानुवर्तते । उपान्वध्याङ्वस आधार कर्मत्वन्वय । उपादिभिर्नङ् कृत्वा ततस्ते पूर्वे यस्यात् ३६ स चासौ वसतिशेति बहुमीहिगमो विशेषणसमासो मयूरव्यसकादित्वात् पूर्वशब्दलोपश्चेत्याह—उपान्वध्याङ्वस । उपपूर्वात् ‘घर्ष’ निवासे- ३८ त कर्मणि के, “क्षुधवसस्तेयाम्” ४।४।४। इतीति, “यजादिष्वचे किति” इति ष्यति, “घसस” इति पत्वे-उपोषित इति । भावेऽवति—उपवसनमिति । ग्राम उपोष्यत इति । आत्मनेपदेनोक्त्वात् कर्मणो ग्रामात् प्रथमा । ननु स्थानार्थस्यैव वसेर्ग्रहणमित्युच्यते, तेन ग्रामे तिष्ठ- ३९ तीत्यत्राणं ग्राममुपवसतीति प्रयोग, अस्थानार्थत्वे तु ग्रामे उपवसतीति तदेतत्कथम् ? उच्यते—नाऽत्रोपपूर्वस्य वसेर्ग्रामोऽधिकरणं कित्वमुपसर्गस्य, ग्रामेऽसौ वसनं त्रिरात्रमुपवसतीति, विशिष्टाऽऽधारावस्थितत्वेन निश्चिते देवदत्ते भोजननिवृत्तिविशिष्टकाला प्रत्याययितुमिदं प्रयुज्यते ग्राम उपवस- ४२ तीति । तत्राऽन्तरङ्गत्वात् प्रतीयमानवसिक्त्यापेक्षो ग्रामस्याधिकरणभावः । उपवसनं तु सारूपेणैव कालमपेक्षत इति कालेनैवास्याऽन्तरङ्ग- ४२ सम्बन्धो ग्रामादिना तु बहिरङ्ग इति । अत्र कश्चिदाह—स चेत्, सिद्धं यदा वसतिर्विशिष्टा । अदा तूपवसतिरेव तदा ग्रामोति, न चोपवसेराधार- ४५ भाव इति ग्रामादिरयोग्य एव यदन्त्यापेक्ष एवास्याधारभाव कल्प्यते, तस्यायतितव्यमेवाऽत्र । अत्रोच्यते—साहचर्यात् स्थानार्थस्यैव परिग्रह, अन्यादिपूर्वो वसतिः स्थानार्थमात्रेण, शब्दशक्तिरत्र प्रमाणं, तत्साहचर्यादुपपूर्वस्यापि स्थानार्थस्य परिग्रहो न तु भोजननिवृत्तिवचनस्येत्यत ४५ आह—अन्यादिसाहचर्यादिति । स्थानार्थशोक्तत्वादुपशब्दोऽपि स्थानार्थ इत्युक्त—स्थानार्थकस्यैवेति । अदाघनदाघोरिति । पूर्वा- ५५ ऽऽचार्यस्यतिरियमित्यर्थः ॥ २१ ॥

वाऽभिनिविशः ॥ २ । २ । २२ ॥

अभिनिनोपसर्गसमुदायेन विशिष्टस्य विशोराधारः कर्मसंज्ञो वा भवति । ग्राममभिनिविशते, पर्वतमभिनिविशते, ग्रामोऽभिनिविश्यते; ग्रामोऽभिनिविष्टः । व्यवस्थितविभाषेयं, तेन क्वचित् कर्मसंज्ञैव क्वचिदाधारसंज्ञैव भवति—कल्याणेऽभि- ३  
निविशते, या या संज्ञा यस्मिन् यस्मिन् संज्ञिन्यभिनिविशते, एतेषां शब्दानामेतेष्वर्थेष्वभिनिविष्टानाम्, अर्थेऽभि-  
निविष्टः ॥ २२ ॥

कालाऽध्वभावदेशं वाऽकर्म चाऽकर्मणाम् ॥ २ । २ । २३ ॥

कालो मुहूर्तादिः, अध्वा गन्तव्य क्षेत्रं क्रोशादि, भावः—क्रिया गोदोहादिः, देशो जनपदग्रामनदीपर्वतादिः । अकर्मकाणां धातूनां प्रयोगे कालादिराधारः कर्मसंज्ञो वा भवति, अकर्म च—यत्रापि पक्षे कर्मसंज्ञा तत्राऽकर्मसंज्ञापि वा भवतीत्यर्थः । कालः—मासमास्ते, मास आस्यते; सवत्सरं स्वपिति, संवत्सरः सुप्यते, दिवस शेते, दिवसः शय्यते, अध्वा- १ क्रोशं स्वपिति, क्रोशः सुप्यते; योजनमास्ते, योजनमास्यते; भावः—गोदोहमास्ते, गोदोह आस्यते, ओदनपाकं शेते, ओदनपाकः शय्यते, देशः—कुरुन् आस्ते, कुरव आस्यन्ते; ग्रामं वसति, ग्राम उष्यते । अविवक्षितकर्मणः सकर्मका अप्य- कर्मकाः—मास पचति, मासः पच्यते; क्रोशमधीते, क्रोशोऽधीयते, ओदनपाकं पठति, ओदनपाकः पठ्यते; कुरुन् पठति, १२ कुरवः पठ्यन्ते, पक्षे—रात्रौ सुप्यते, रात्रौ नृच च द्रक्ष्यसि, क्रोशे सुप्यते, गोदोहे आस्ते, ओदनपाके स्वपिति, पञ्चालेषु वसति, ग्रामे वसति, ग्रामे वासः, ग्रामे वासी, तथा रात्रावधीतम्, दिवसे भुक्तम् । कालाऽध्वभावदेशमिति किम् ? प्रासादे आस्ते, शय्यायां शेते । अकर्म चेति किम् ? मासमास्यते, क्रोश सुप्यते, गोदोहमासितः, इदं गोदोहमासितम्, १५ गोदोहमास्यते, कुरुन् सुप्यते, एषु “तत्साप्याऽनाप्या०” इति, “गत्यर्थाऽकर्मकपिबभुजेः”, “अद्यर्थाच्चाऽधारे” इति भावे कर्त- र्याधारे च यथायथमात्मनेपदक्तौ सिद्धौ । अकर्मणामिति किम् ? रात्रावुद्देशोऽधीतः, अहन्यध्ययनमधीतम् । कय पचत्योदनं मासम्, मक्षयति धानाः क्रोशम्, पिबति पयो गोदोहम्, भजति सुखं कुरुन् ? द्विकर्मकत्वात् “कर्तुर्व्याप्य कर्म” इत्येव १८ भविष्यति । अन्ये तु सकर्मकाणामकर्मकाणां च प्रयोगे कालाऽध्वभावानामत्यन्तसयोगे सति नित्यं कर्मत्वमिच्छन्ति—मास- मास्ते, दिवसं पचत्योदनम्, क्रोश स्वपिति, क्रोश पठति वेदम्, गोदोहमास्ते, गोदोह पचत्योदनम् । अनेन कर्मसंज्ञायां

**चाऽभिनिविशः ।** अत्राऽऽधार कर्मैत्यनुवर्तते । अभिनिविश आधार कर्म वेत्यन्वय । अभि पूर्वं यस्मादसावभिपूर्वं, अभिपूर्व-२१  
श्चासौ निश्च अभिनि, तस्य पूर्वशब्देन बहुव्रीहि कृत्वा पुनर्विशा कर्मधारयात् षष्ठी, उभयत्र मयूरव्यसकादित्वात् पूर्वशब्दलोप । द्वन्द्वे हि अभि-  
निशब्दयो प्रत्येकमभिसन्धय स्यात्, यथा “उपान्वध्याह्वयस” इत्यत्रेत्याह—**अभिनिनोपसर्गेत्यादि ।** पर्व्यते-पर्व्यते शिलाभि —**पर्वत**  
इति “दृपुवृ०” उणा० ७०४। इत्यते सिध्यति । अभिनिपूर्वात् “विशत्” प्रवेशनेऽत “निविश” ३।३।२४। इति आत्मनेपदे ते शे च—**अभि-२४**  
**निविशते** इति । व्यवस्थितविभाषेयमिति । नाऽत्र वाशब्दो विकल्पार्थो येन समकक्ष्यतया द्वितीयासप्तम्यौ, किं तर्हि ? प्रयोगव्यवस्थयेति ।  
तत्रेयं व्यवस्था—अभिनिपूर्वस्य विशेषरस्ति समुदायार्थोऽवयवार्थश्च । तत्र यत्राऽवयवानुगमस्तत्र कर्मभाव —प्राममाभिमुख्येन निविशते इति प्रतीयते ।  
यत्र तु समुदायार्थवचनोऽवयवार्थस्तत्राऽधिकरणभाव, यथा—कल्याणेऽभिनिविशते, अर्थेऽभिनिविष्ट इति । अत्र हि धातूपसर्गसमुदा-२७  
येन मनस एकाग्रता तात्पर्यमुच्यते । यथा—ग्रामे उपवसतीति भोजनत्याग । या या संज्ञा यस्मिन् यस्मिन् संज्ञिन्यभिनिविशते इत्यत्र  
च संज्ञानां विषयेणाऽव्यभिचार । **पतेष्वर्थेष्वभिनिविष्टानामिति ।** पा० समर्थसूत्रे भाष्यप्रयोगोऽयम् ॥ २२ ॥

कालाऽध्वमावदेशं वाऽकर्म चाऽकर्मणाम् । अत्राऽध्वार कमेति चानुवर्तते । अकर्मणा कालाऽध्वमावदेश आधार कर्म वा, अकर्म १०  
चेत्यन्वय । अनिर्ज्ञातपरिमाणया क्रियाया परिच्छेदिका निर्ज्ञातपरिमाण क्रिया-काल, स च मुहूर्तादिवस्वरूप इत्याह—कालो मुहूर्तादिरिति ।  
गन्तव्यमिति । गमनाहं, तेनाऽध्वशब्दाभिधेयस्याऽध्वन कर्मसंज्ञा न भवति, न ह्यसावध्वविशेषकोशयोजनादिवद्गमनमर्हति । भावः-  
क्रियेति । घनादिवाच्या सिद्धताऽऽख्या न साध्यमानतेत्यर्थः । पर्वतादिरिति । आदिशब्देन खेटकर्जटमहम्बादिर्वृक्षते । मास आस्यते इति । १३  
आत्मनेपदेन कर्मणोऽभिहितत्वात् मासात् प्रथमा, तत्राऽपि गौणाधिकात् “कालाऽध्वनो” इत्यनेनापि द्वितीया न भवति । एव सर्वत्र । शस्यत  
इति । ‘शीङ्क्’ स्वप्ने, तत क्ये रूपम् । गोदोहमास्ते, ओदनपाकं शेते इति । अत्र गोदोहनपाकादीनां सत्यपि क्रियारूपत्वेन कालत्वे  
मासादय एव तद्वान्वित्वेन लोके प्रसिद्धा न तु गोदोहादय इति भावस्य प्रयुगुपादानम् । अकर्मणामिति नित्याऽकर्मणामविवक्षितकर्मणां च सामा-१४  
न्येन ग्रहणमित्यादि विवक्षितकर्मकाजुदाहरति—मासं पचतीत्यादि । अकर्म चेति किम् ? इति । अस्मिन्नसति मासमास्यते, कोऽयं सुष्यत  
इति भावे आत्मनेपदं न स्यात् सकर्मकत्वादिति, कर्मण्यत्मानेपदे तु तेनैवाभिहितत्वात् कर्मणो द्वितीया न स्यात्, न चाऽभिहिते कर्मणि व्याप्तावपि  
द्वितीयेष्यते । एव गोदोहमासितः, इदं गोदोहमासितमिति कर्तार्याधारे च सकर्मकत्वादकर्मकलक्षण को न स्यादित्याह—एष्वित्यादि । १५  
कथमिति । अकर्मणां प्रयोगे कर्मसंज्ञाविधानात् पच्यारिणां सकर्मकत्वात् कथं मासादे कर्मत्वमिति प्रश्नार्थः । समाधत्ते—द्विकर्मकत्वादि-  
त्यादि । पूर्वेण सिद्धत्वात् नाऽनेन कर्मसंज्ञेत्यर्थः । अन्ये त्विति । विधान्तविशेषादयः । तत्र येषां चाद्यमोदनादिक नास्ति ते तदासौ स्वमर्थमा-  
ह्यन्तराऽपेक्षया कर्माऽपि क्षरणभावेनाऽऽचक्षते ते सकर्मका इत्युच्यन्ते, येषां बाष्पं कर्म नास्ति न तदर्थं करणमासौ तेऽकर्मका इत्युच्यन्ते । तथा ४२  
सर्वत्र कर्मसंज्ञायां कर्मण्यत्मानेपदादयोऽपि तन्मते सिध्यन्तीत्याह—अनेनेत्यादि । नन्वेवमनेन व्याप्ता कर्मसंज्ञायां “कर्मणि” इति द्वितीयाया  
सिद्धौ “कालाऽध्वनोर्व्याप्तौ” इति सूत्र किमर्थमित्याशङ्कं तन्मतेनैव परिहरति—कालाऽध्वनोरित्यादि । अत्राऽऽसनादिक्रियायोगो न तु गुणद्रव्ययोग

कर्मणि स्यादादयोऽपि—आस्यते मासः, सुप्यते क्रोशः, आसितो मासः; शयितः क्रोश इत्यादि । “कालाऽध्वनोर्व्याप्तौ” इति च गुणद्रव्ययोगे एवेच्छन्ति, न तु क्रियायोगे; अत्यन्तसंयोगादन्यत्र तु रात्रौ शेते, अध्वनि स्थित इत्यादावाधारत्वमेव ॥२३॥

### ३ साधकतमं करणम् ॥ २ । २ । २४ ॥

क्रियासिद्धौ यत् प्रकृष्टोपकारकत्वेनाऽव्यवधानेन विवक्षितं तत् साधकतमं कारकं करणसंज्ञं भवति । काष्ठैः स्थाल्यां पचति, दात्रेण लुनाति, दानेन भोगानामोति; अस्य पाकादिक्रियासु ज्वलनादयोऽवान्तरव्यापाराः, विवक्षया च प्रकृष्टोपकारकत्वात् साधकतमत्वम् । तमग्रहणमपादानादिसंज्ञाविधौ तरतमयोगो नास्तीति ज्ञापनार्थम्, तेन—कुशलात् पचति, गङ्गायां घोषः प्रतिवसतीति व्यवहितोपचरितयोरपि अपादानत्वमधिकरणत्व च भवति । अस्य च कारकान्तराऽपेक्षया प्रकर्षो, न स्वकक्षायाम्; तेनैकस्यां क्रियायामनेकमपि करणं भवति—नावा नदीस्रोतसा व्रजति, रथेन पथा दीपिकया याति, सूप्तेन सर्पिणा लवणेन पाणिनौदनं भुङ्क्ते । करणप्रदेशाः—“करणं च” इत्यादयः ॥ २४ ॥

### कर्माऽभिप्रेयः संप्रदानम् ॥ २ । २ । २५ ॥

कर्मेणा—व्याप्येन क्रियाया वा करणभूतेन यमभिप्रेयते—श्रद्धानुग्रहादिकाम्यया यमभिसंवध्नाति स कर्माऽभिप्रेयः २३ कारकं संप्रदानसंज्ञं भवति । देवाय वलिं ददाति, द्विजाय गामुत्सृजति, याचकायार्थं प्रयच्छति, शिष्याय धर्ममुपदिशति, राज्ञे कार्यमावेदयति; अस्याऽवान्तरव्यापारा अनिराकरणम्, प्रेरणम्, अनुमतिश्च, तान् कुर्वन्त्यागादौ कारकत्वं लभते । क्रियाऽभिप्रेयः खल्वपि—पत्ये शेते, श्राद्धाय निर्गल्हते, युद्धाय सन्नहते, देवेभ्यो नमति, प्रणम्य शितिकण्ठाय, निवेद्यतां

२५ इत्यर्थः । अत्र कृत्रययोगे कर्मणि पठ्यते । केचिदिच्छन्ति—मासस्य आसनेति । यदुत्पल—कालाऽध्वनोर्लक्ष्यफलकार्या संज्ञा, द्वितीया तु “कालाऽध्वनो” इत्यनेनैव सिद्धा, इतरयोस्तु द्वितीयार्थमपि ॥ २३ ॥

साधकतमं करणम् । “सिध्यतेरज्ञाने” ४।२।११। इति सिध्यतेर्णिज्येवाऽऽत्वे, “णकतृचौ” इति णके तमपि च—साधकतमं, क्रियते-  
२८ ज्ञेनेति—करणम् । प्रकृष्टोपकारकत्वेनेति । प्रकर्षं—प्रकृष्ट, तेनोपकारकम् । अपवा—प्रकृष्ट्यते स्म—प्रकृष्टस्तस्योपकारकशब्देन कर्मधारय । ननु सामग्रीत क्रियासिद्धिस्तत्र कय किञ्चित् सातिशयोपकारक किञ्चिद्विपरीतम् ? अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हि सर्वेषां सामान्यमवगम्यते तस्मात् क्रियासिद्धौ साधकतमस्य समवो नास्तीति संभव कल्पनया दर्शयति—अव्यवधानेन विवक्षितमिति । वस्तुतुष्टेन साधकतमस्य समवो नास्ति ।

२१ यद्वापाराऽऽनन्तर्येण तु क्रियासिद्धिर्विवक्षते तस्य कल्पनया साधकतमस्येय संज्ञा, युक्त चैतत्, एव हि नैयत्येन न किञ्चित् करणम् । तथाहि—काष्ठैः पचतीति, कदाचित् काष्ठानि करणं काष्ठस्य निधनानलक्षणव्यापाराऽऽनन्तर्येण क्वचित् क्रियासिद्धिर्विवक्षितत्वात्, कदाचित् स्थाल्या पचतीत्यत्र स्थाली-  
व्यापारसम्भवनधारणलक्षणसामनन्तर्येण पचिक्रियासिद्धौ विवक्षितायां स्थाली करणम् । उक्तञ्च—“क्रियाया फलनिष्पत्तिर्यद्वापारादनन्तरम् ।

२४ विवक्ष्यते यदा यत्र करणं तत्तदा स्मृतम्” ॥ १ ॥, “वस्तुतुष्टदनिर्देशं न हि वस्तु व्यवस्थितम् । स्थाल्या पच्यत इत्येषा विवक्षा दृश्यते यत्” ॥ २ ॥ । दात्रेण लुनातीत्यादि । दात्रशब्दात् “हेतुकर्तृकरणे” इति तृतीया, लुनातेष आश्रयस्ये व्याधित्वात् हञ् । अस्तेति । करण-  
स्येत्यर्थः, अवान्तरव्यापाराशालिन एव कारकत्वे विशेषसहेति तात्पर्यम्, ज्वलनरूप उत्पातनिपातरूप पुण्यरूपश्च यथाक्रमं प्रयोगत्रयेऽप्यवान्तर-

२७ व्यापार । विवक्षया चेति । व्याख्यातप्रायम् । कारकाऽधिकारात् साधकत्वे लब्धे पुन साधकश्रुति प्रकर्षमवगममिष्यति, यथा—अभिरूपाय कन्या देयेति लौकिके वाक्येऽभिरूपग्रहणं प्रकर्षपरिग्रहार्थम्, तत् किमर्थं तमग्रहणमित्याह—तमग्रहणमित्यादि । अयमभिप्रायः—तमग्रहणं ज्ञापनार्थम्, एतदनेन ज्ञाप्यते—अस्मिन् कारकाऽधिकारे सामान्यशब्दं सूत्रोपासुते यममन्तरेण न विशेषे वर्तते, तेन “अपायेऽधिरपादानम्”  
३० “क्रियाऽऽश्रयस्याऽऽधारोऽधिकरणम्” इत्यवधिना व्यवहितस्याऽऽधारमात्रस्य चापादानसंज्ञाऽधिकरणसंज्ञा च सिद्धा भवति । अन्यथा वृक्षात् पर्णं पतति, दग्नि सर्पिरित्यादावव्यवहितस्याऽनुपचरितस्यैव च स्यात्, वृक्षस्याऽव्यवधानेनाऽवधित्वादाधाराऽऽधेययोश्च साक्षात् संबन्धादिति । न हि कुश-  
लस्याऽव्यवधानेनाऽवधित्वमस्ति, कुशलादि सूर्यादिनोद्धृत्य तत् पचतीति सूर्यादिरेशाऽव्यवहित्वाऽवधिभावः, तथा गङ्गायां घोष इत्यत्र घोषगङ्गाकूल-

३३ म्यामाधाराऽऽधेयाभ्यां य संयुक्तो देशस्तेन गङ्गायोगो न तु घोषगङ्गाकूलभ्यामेव । एव च विप्रकृष्टोऽत्र गङ्गाया आधारभाव इत्यधिकरणसंज्ञा न स्यात् । ननु तरतमयोगो नास्तीति कय केवल्यो प्रत्यययो प्रयोगः ? उच्यते—प्रत्ययानुकरणत्वात् तयो, अनुकरणाभ्यां चाऽनुकार्यौ प्रत्ययौ प्रतीयते, ताभ्यामपि साहचर्यात् तदर्थः प्रकर्षो लक्ष्यत इति तमश्रुतिरेतत् ज्ञापयति—प्रकर्षप्रत्ययग्रहणमन्तरेणेह प्रकरणे सामर्थ्यगम्यं प्रकर्षो  
३६ नाधीयत इति । कारकाऽन्तरापेक्षश्च करणस्याऽतिशयो न स्वस्थाने इत्याह—अस्य चेत्यादि । नावा नदीस्रोतसा व्रजतीत्यादौ सर्वेषां क्रियानिष्पत्तौ संनिपत्योपकारकत्वात् करणं सिद्धमित्यर्थः “करणं च” २।२।११। ॥ २४ ॥

कर्माऽभिप्रेयः संप्रदानम् । करणभूतेनेति । ननु कय कर्मणं करणत्वम् ? उच्यते—क्रियाभेदात्, ददातिना ह्यभिमिष्टत्वात्  
३९ वल्यादिरर्थः कर्म तेन देवादिरभिसंवध्यत इत्यभिसंवन्धेन साधकतमत्वात् करणम्, यथा—निपीयमानेन मधुना मत्त इति । देवाय वलिं ददा-  
तीत्यादि । अत्र देवो बलिकर्मकं दानमनिराकुर्वन् द्विजश्च शोर्कर्मकं दानं अनुपन्यमानो याचकादिष्वऽर्थदिकर्मके दानादौ प्रेरणां कुर्वन्त्यत्र निमित्त-  
मित्याह—अस्येत्यादि । अवान्तरव्यापारवत् एव कारकत्वे विशेषसंज्ञाविषयत्वात्, उक्तञ्च—“अनिराकरणात् कुर्वन्त्यागाह कर्मणि स्थितम् । प्रेरणाऽ-  
४२ मतिभ्या वा लभते संप्रदानताम्” ॥ क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम्, इहापि यथा स्यात्—पत्ये शेते इत्युपसर्पणार्थे ज्ञाने “क्षीङ्” धातुवर्तते । श्राद्धाय निर्गल्हत इति । श्राद्धं निन्दति, नास्तिक्त्वात् । युद्धाय सन्नहते—युद्धविषयं सनहनपूर्वकं निश्चयं करोतीत्यर्थः । न कर्तव्यम्, अनेनैव  
सिद्धत्वात्, क्रिया हि नाम लोके कर्मेत्युपचरन्ति—का क्रियां करिष्यसि ? किं कर्म करिष्यसीति । एवमपि “कृत्रिमाऽकृत्रिमयो कृत्रिमे संप्रत्ययो  
४५ भवतीति न प्राप्नोति, नैवम्, क्रियाऽपि हि कृत्रिमं कर्म । तथापि न सिध्यति, पत्ये शेते इत्यादौ क्रियान्तराऽनुपादानादिकस्या एव क्रियाया कर्मकर-  
णभावस्येकदा तदात्मन्येव विरोधात् । किं च “कर्तृव्याप्यं कर्म” इत्युच्यते कय च नाम क्रिया क्रियाया व्याप्या स्यादिति चेत्, अत्रोच्यते—

महाराजाय सुग्रीवाय । अभिग्रहणादिह न भवति—घ्नतः पृष्ठं ददाति, रजकस्य वस्त्रं ददाति, राज्ञो दण्डं ददाति; इह च भवति—वाताय चक्षुर्ददाति, छात्राय चपेटां प्रयच्छति । संप्रदानप्रदेशः—“दामः संप्रदानेऽधर्म्य आत्मने च” इत्यादयः ॥ २५ ॥

## स्पृहेर्व्याप्यं वा ॥ २ । २ । २६ ॥

स्पृहयतेर्धातोर्व्याप्यं वा संप्रदानसंज्ञं भवति । पुष्पेभ्यः पुष्पाणि वा स्पृहयति । व्याप्यमिति किम् ? पुष्पेभ्यः स्पृहयति वने, आधारस्य मा भूत् । संप्रदानसंज्ञापक्षे धातोरकर्मकत्वम्, तेन पुष्पेभ्यः स्पृहयते मैत्रेण, पुष्पेभ्यः स्पृहयितव्यम्, ६ पुष्पेभ्यः सुस्पृहम्, पुष्पेभ्यः स्पृहितो मैत्रः; एषु भावे आत्मनेपदतत्त्वखलः कर्तरि च क्तः सिद्धः ॥ २६ ॥

## कुद्वृहेर्व्याऽसूयार्थ्यं प्रति कोपः ॥ २ । २ । २७ ॥

अमर्षः—क्रोधः, अपचिकीर्षा—द्रोहः, ईर्ष्या—परसंपत्तौ चेतसो व्यारोपः, गुणेषु दोषाऽऽविष्करणमसूया, एतदर्थैर्धातुभिर्योगे ९ यं प्रति कोपस्तत्कारकं संप्रदानसंज्ञं भवति । मैत्राय कुध्यति, मैत्राय कुप्यति, मैत्राय रुप्यति, मैत्राय द्रुह्यति, मैत्रायाऽपचिकीर्षति, मैत्रायाऽपकरोति, मैत्रायेर्ष्यति, मैत्रायेर्ष्यति, मैत्राय सूह्यति, चैत्रायाऽसूयति । यं प्रति इति किम् ? मनसा कुध्यति, मनसा द्रुह्यति, मनसेर्ष्यति, मनसाऽसूयति, करणस्य मा भूत् । प्रतिग्रहणं किम् ? यस्मिन्नित्युच्यमाने कर्तुरपि स्यात्—मैत्रेण १२ कुध्यते । कोप इति किम् ? शिष्यस्य कुप्यति विनयाऽर्थम्, धनिनो द्रुह्यति धनाऽर्थी, भार्यामीर्ष्यति—मैनामन्योऽद्राक्षीदिति, चैत्रमसूयति लिप्सया । संप्रदानसंज्ञया कर्मसंज्ञाया चाधितत्वात् भावे आत्मनेपदादयः कर्तरि च क्तः सिद्धः—मैत्रायेर्ष्य-

क्रियापि सन्दर्शनप्राथम्याऽध्यवसायादिभिरवश्यं पूर्वमाविनीभिरामुमिष्टत्वात् कर्म भवति । तथाहि—य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स बुद्ध्या १५ तावत् कचिदर्थं संपश्यति, सदृष्टे प्राथम्या, प्राथम्यामाध्यवसायः, आध्यवसाये आरंभः, आरंभे च निश्चयः, निश्चयौ च फलाऽवाप्तिः, इत्येव क्रियापि कृत्रिमं कर्मेति प्रतीयमानक्रियाऽपेक्षसापि प्रविशति पिण्डीमित्यादाविव कारकभावस्य भावादित्याह—क्रियाभिप्रेयः खल्वपीति । यथेव ग्राम गच्छतीत्यादौ ग्रामादेरपि क्रियाऽभिसंबन्धमानस्य संप्रदानसंज्ञाप्रसङ्गः, नैष दोषः, यदा संदर्शनादयो घातव्यात् भेदेन विवक्ष्यन्ते तदा तेषां प्राप्त- १८ कर्मभावया क्रियाया यदभिसंबन्धयते तस्यैव संप्रदानसंज्ञा, अत्र तु भेदस्याऽविवक्षितत्वात् गम्यर्थत्वात् सदर्थनादीनां गम्यवाच्यत्वैव । गमनं ह्यत्रानन्तर्भूतसंदर्शनादिकं विवक्षितं तत्कथमात्मन एवाऽऽत्मना व्याप्यमानता स्यात् । सा च भेदाऽभेदविवक्षा प्रयोगदर्शनवशेन नियतविषयैवाऽऽश्रीयते इति प्रयोगस्याऽसङ्कर इति । ननु घ्नतः पृष्ठं ददाति, रजकस्य वस्त्रं ददातीत्यादौ धीयमानपृष्ठवस्त्रलक्षणेन कर्मणा घ्नतो रजकस्य च व्याप्यमान- २१ त्वात् संप्रदानसंज्ञा कुतो न भवतीत्याह—अभिग्रहणादित्यादि । अभिरभिमतार्थः, प्र आरभार्थः, केवलस्य हि इयतेर्गमनं वाच्यं नाऽभिसंबन्धः । ततोऽभिग्रहणं विशिष्टसंबन्धप्रतिपत्त्यर्थम् । विशिष्टस्य संबन्धं कर्तुं श्रद्धानुग्रहाऽपायाऽपगमकामनाजनितः । स चाऽत्र नास्तीति कर्मणः संबन्धमात्रेण हि संप्रदानत्वेऽभिग्रहणमनर्थकं स्यादित्यर्थः । वाताय चक्षुर्ददाति, छात्राय चपेटां प्रयच्छतीत्यत्र तु श्रद्धानजनितसंबन्धस्य विद्यमानत्वात् भवत्ये- २४ वेत्याह—इह च भवतीति । कैश्चिदन्वयसंज्ञाविधानात् ददातिक्रियाविषयैव संप्रदानसंज्ञेत्यभ्युपगमत् । दानं च स्वस्वत्वनिवृत्तिः परस्वत्वाऽपत्ति- पर्यन्तमिति प्रत्यज्ञायि । तदुभयमपि न युक्तम्, अन्यत्राऽपि भाष्यकारेण संज्ञाया अभ्युपगमात् । तथा स्वत्वनिवृत्त्यभावेऽपि च ददाते प्रयोगस्य दर्शनात्, यथा—अनभिज्ञाय मतिं दद्यात्, खण्डितोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददातीति “दामः” २।२।५२। ॥ २५ ॥ २७

स्पृहेर्व्याप्यं वा । अत्र संप्रदानमित्यनुवर्तते । स्पृहेर्व्याप्यं वा संप्रदानमित्यन्वयस्तदर्थनाह—स्पृहयतेरित्यादि । पुष्पेभ्यः स्पृहयतीत्यादि । अत्राऽदन्तत्वात् स्पृहेरकारलोपस्य “खरस्य परे” इति स्थानिवद्भावात् लघूपान्त्यगुणामावः, अत्र हि पुष्पादे कर्तुं क्रिया-व्याप्यत्वात् नित्यं कर्मसंज्ञायां प्राप्तायां पक्षे संप्रदानसंज्ञा विधीयत इति । तस्या च धातोरकर्मकत्वात् भावे आत्मनेपदादयः कर्तरि च क्तः सिध्य- ३० तीत्याह—संप्रदानसंज्ञापक्षे इत्यादि ॥ २६ ॥

कुद्वृहेर्व्याऽसूयार्थ्यं प्रति कोपः । यं प्रति कोप इति । यच्छब्दात् प्रतियोगे “भाणिनि च” २।२।३७। इति द्वितीया । कुधादिधातुनामर्थं व्याचष्टे—अमर्षः—क्रोध इत्यादिना । पूर्वात् संप्रदानमित्यनुवृत्त्या कुद्वृहेर्व्याऽसूयार्थ्यं प्रति कोपस्तत् संप्रदानमित्यन्वयः । ३३ अपचिकीर्षा—अपकर्तुमिच्छा स एव श्लोहः । अन्ये “त्वपकार एव श्लोहः” इत्याहुः, तथा अपचिकीर्षा स्वामिनमभिद्रुह्यतीत्यभिधीयते, तेषामपचिकीर्षेत्यपकारेच्छया तत्पूर्वकपकारोपलक्षणादपकार एवोक्तो भवतीति वेदितव्यः । एतदर्थैरिति । एतेऽर्था येषां तैर्धातुभिरिति धातुव्यतिरेकेणान्येषामेतदर्थानामभावादिति । अत्रेदं विचार्यते—कोपोद्ग्राहयोऽभिज्ञस्वभावा व्याख्याता, तत्कथं तदर्थानां यं प्रति कोप इति सामान्येनैतद्विशेषण- ३६ गुणपद्यते ? तेषां हि यं प्रति श्लोहो यं प्रतीक्षी यं प्रत्यसूयेत्येव घटते, नैष दोषः, क्रोधस्तावत् कोप एव, द्रोहादयोऽपि द्विप्रकारा—केचित् कोप-हेतुका केचिद्वस्त्वन्तरहेतुकाश्च । तत्रेह पूर्वेषां प्रहणं यथा स्यादुत्तरेषां मा भूदित्येवमर्थः यं प्रति कोप इति विशेषणं सामान्येनोपास्यम्, अन्यथा-ऽव्यभिचारादिदमनुपादेयं स्यात् । कोपशब्दोऽपि द्विप्रकारोऽत्र परिगृहीतो मुख्यार्थो गौणार्थश्च । गौणार्थत्वं च तस्य कार्यं करणोपचारात् कोप- ३९ कार्यद्रोहाद्यर्थवृत्तित्वात् । कोप इति सामान्यविवक्षया चैकवचनम् । एवं च भार्यामीर्ष्यतीति कोपकारणिकाया ईर्ष्यायां भार्यायामसम्भवात् न प्रवर्तते संप्रदानसंज्ञा । अत्र हि परकर्तृकदर्शननिमित्ता भार्यायामीर्ष्या, यदाह—मैनामन्योऽद्राक्षीदिति । तथा शिष्यस्य कुप्यतीत्यादिषु पूर्वोत्तरोदाहरणेषु क्रोधद्रोहाऽसूयानामकोपप्रभवत्वात् संप्रदानत्वाभावात् । ननु कोप- क्रोध एवेति भेदाभावात् कथं पौरोपर्यम् ? उच्यते—प्रथमामनु- ४२ श्रुतां कोपावस्थां द्वितीयां चोद्धृतां विकृताकाश्याप्यपाराजनीयमानामाश्रित्य नाऽकुपितं कुप्यतीत्येतदुच्यते इत्यदोषः । “कुध्व” कोपे, “द्रुहोव”ऽनु- जिपासायाम्, अनयोरकर्मकत्वात् तदर्थानां यं प्रति कोपस्तत्र यस्यां प्राप्ताया तदपवादा संप्रदानसंज्ञा । “सूह्य”, “इर्ष्य”, “ईर्ष्य”, “ईर्ष्या”, “असूयेति

ते, मैत्रायाऽसूयते, मैत्रायैष्यितव्यम्, मैत्रायाऽसूयितव्यम्, मैत्राय दुर्भीष्यम्, मैत्राय दुरस्यम्, मैत्राय ईष्यितः चैत्रः, मैत्रायाऽसूयितः । कथं चौरस्य द्विपत् ? योऽस्मिन् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म ? इति, द्विपेरप्रीत्यर्थत्वात् न भविष्यति ॥२७॥

### नोपसर्गात् कुदुद्गहा ॥ २ । २ । २८ ॥

उपसर्गात् पराभ्यां कुधिदुहिभ्यां योगे यं प्रति कोपस्तत्कारक संप्रदानसंज्ञा न भवति । मैत्रमभिक्रुष्यति, मैत्रमभिमृष्यति, कुधिदुही सोपसर्गां सकर्मकाविति द्वितीया । उपसर्गादिति किम् ? मैत्राय क्रुष्यति, मैत्राय दृढ्यति ॥ २८ ॥

### अपायेऽवधिरपादानम् ॥ २ । २ । २९ ॥

सावधिकं गमनमपायः, तत्र यदवधिमभूतमपायेनाऽनधिष्ठितं तत्कारकमपादानसंज्ञा भवति । ग्रामादागच्छति, पर्वतादवरोहति, सार्याद्वीनः, वृक्षात् पर्णं पतति, धावतोऽश्वात् पतितः, पततो देवदत्ताद् धावत्यश्वः, मेघात् मेघोऽपसर्पति । १ तदेतत् त्रिविधम्—निर्दिष्टविषयम्, उपात्तविषयम्; अपेक्षितक्रियं च । यत्र धातुनाऽप्रायलक्षणो विषयो निर्दिष्टस्तन्निर्दिष्टविषयम्, यथा—ग्रामादागच्छति । यत्र तु धातुर्धोत्वन्तराऽर्थान्न स्वार्थमाह तदुपात्तविषयम्, यथा—बलाहकाद् विद्योतते विद्युत्—अत्र हि निःसरणात् विद्योतने विद्युतिर्वर्तते, यथा वा—कुशलात् पचति—अत्राप्यादानाऽङ्गे पाके पचिर्वर्तते इति । २ यत्र तु क्रियावाचि पदं न श्रूयते केवलं क्रिया प्रतीयते तदपेक्षितक्रियम्, यथा—सांकाश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रका अभिरूपतरा इति । अपायश्च कायसंसर्गपूर्वको बुद्धिसंसर्गपूर्वको वा विभाग उच्यते, तेन—“बुद्ध्या समीहितैकत्वान् पञ्चाब्जं कुरुर्मर्यादा । बुद्ध्या विमजते वक्ता तदाऽपायः प्रतीयते ॥” इति अत्राऽपादानत्वं भवति । एवम् अधर्मात् जुगुप्सते, अधर्मा-

१५ कष्टादियगन्त, अनयोस्तु सफर्मकत्वात् फर्मसंज्ञायां ग्रामायां संप्रदानसंज्ञा । कथमिति । द्विपे कुधाचर्यत्वात् कथं चौरादे संप्रदानसंज्ञा न भवतीति प्रश्नार्थः । समाधत्ते—द्विपेरित्यादि । अत्राऽनभिन्दने द्विषिर्वर्तते, यथा—ओषधे द्वेष्टि इति ॥ २७ ॥

नोपसर्गात् कुदुद्गहा । संप्रदानमित्यत्राऽनुवर्तते यं प्रति कोप इति च । उपसर्गात् कुदुद्गहा यं प्रति कोपस्तत्र संप्रदानमित्यन्वयः । कुषश्च

२८ दृढयेति समाहारद्वन्द्वात् तृतीया । मैत्रमभिक्रुष्यतीति । अत्र संप्रदानसंज्ञायां प्रतिषेधात् चतुर्थ्यभावात् द्वितीया । ननु केनाऽत्र द्वितीया ? यदि “लक्षणदीप्येत्यभूतेष्वभिना” २।२।२६ इति सूत्रेण चेत्, नेह चतुर्थ्याप्राप्तिरस्ति, कुधिदुहिभ्यां सवन्धाऽभावात् अनुपसर्गात्वात् उपसर्गात् परत्वस्य चाऽसम्भवात् प्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात् । तथा मैत्रस्याभिक्रुषा मैत्रस्याभिमृषा इति कर्मणि पठनी न स्यात्, आत्मनेपदादयश्च न स्युरिति ।

२९ अत इह फर्मत्वमेतत्तस्य, तथानयोरकर्मकत्वात् न लभ्यते इत्याह—कुधिदुही सोपसर्गादित्यादि । यद्यप्येतावदुपसर्गावकर्मकौ तथापि सोपसर्गां सकर्मकौ भवतः । मैत्रमभिक्रुष्यति—मैत्रमभिगम्याभिमृषीकृतं वा क्रुष्यतीति, अकर्मज्ञ अपि हि धातवः सोपसर्गां सकर्मका भवन्तीत्युक्तत्वात्; अतः “कर्मणि” इत्येवाऽत्र द्वितीया । अथ यदा मैत्रादेर्लक्षणाचर्येनाऽभिना योगस्तदा कुक्षादीनामुपसर्गपरत्वाभावात् प्रतिषेधाग्रहणे

२७ संप्रदानाय “लक्षणदीप्ये” इति द्वितीया वा स्यात् संप्रदानचतुर्थी चेति चेदुच्यते—इक्षमभि, मैत्राय क्रुष्यतीत्यादौ द्वयोः सावकाशत्वात् इहोभयप्राप्ती परत्वात् चतुर्थ्यामुत्पन्नायां मैत्रायाभिक्रुष्यति इत्येव स्यादिति ॥ २८ ॥

अपायेऽवधिरपादानम् । अपाऽवधिग्रहणं किमर्थम् ? न च “ग्रामादागच्छति शकटेन” इत्यपाये शकटस्यापि साधनत्वात्पादान-

२७ संज्ञा प्राप्नोतीति वाच्यम्, “धनुषा विष्यति” इतिवत् करणसंज्ञायां वाचनात् । तथा “ग्रामादागच्छत् कसपाश्यां पाणिनौदनं भुङ्क्ते” इत्यत्राप्यधिकरणसंज्ञा बाधिका भविष्यति । नन्वागमने कसपाश्यां साधनमेव न भवति, भुजिक्रियायां तु साधनमवधिभूता आधारभूता च, तत्र च परत्वात् अधिकरणसंज्ञेति, नैवम्, वस्तुस्थित्याऽत्राऽऽगमनं प्रधानम्, तदग्रन्तुं भोजनम् । शब्दात्तु विपरिती युगप्रधानभावः प्रतीयते, तदुक्तं हरिणा—

३० “चक्रम्यमागोऽधीष्ठा जपश्चक्रमणं कुरु । तादर्थ्यस्याविशेषेऽपि शब्दाद्वेदं प्रतीयते” ॥ तत्र कसपाश्यां भुजेः साधनत्वात् तद्व्यापारोऽगमनस्यापि भवत्येव साधनमिति । इदं तर्हि “इक्षस्य पर्णं पतति” इत्यादौ स्यात्, अपायस्य विद्यमानत्वात् । नन्वत्रापि कारकत्वाभावात् संज्ञा न भविष्यति, अपायाभावाच्च, सत्येवावधारणायो भवतीति पूर्वमुक्तत्वादिति चेत्, उच्यते—सतीहावधिरपादाने विशिष्टोऽपायो लभ्यते, अन्यथा पातमात्रस्य लोके-

३१ ऽपायत्वेन प्रसिद्धत्वात् तस्यैव ग्रहणं स्यादित्याह—सावधिकं गमनमपाय इति । अवधिरपे नैवविषयः गमनस्याधिष्ठानमित्याह—अपायेनाऽनधिष्ठितमिति । सकलक्षणेन गमनेनाऽनातिष्ठ इत्यर्थः । नन्वेव तर्हि गतिरुक्तं “धावतोऽश्वात् पतितः” इत्यादिषु अपादानत्वं न स्यात्, “ग्रामादागच्छति”, पर्वतादवरोहतीत्यादिष्वेव स्यात्; अत्र हि धावत्यश्वात् पातस्य निमित्तं, धावनं च गमनमेवेति नास्त्यस्यसाऽपायेनाऽनधिष्ठितत्वम् ।

३२ नैष दोषः । न हि गमनमात्रमपायः, किं तर्हि ? सावधिकं गमनं, तत्र देवदत्तकर्तृकं पातरूपं, तेन च धावतोऽप्यस्यसाऽऽवेशाभावात् न विरूप्यते-ऽपादानसंज्ञेति । एव तर्हि “ग्रामादागच्छति” इत्यत्र कथमपादानसंज्ञा ? सकलस्य गमनस्याभावात्, यस्यां हि सत्यमपादानसंज्ञा स्यात् प्रतिषिध्यतेऽत्र साऽऽगमनक्रिया, नैष दोषः, अत्र आपादानसंज्ञायामुपजातार्था पश्चात् प्रतिषेधेन सचन्वः, अन्यथा प्रतिषेधस्य विषयो न प्रतिपादितः स्यात् ।

३३ तथाहि—अपादानसाधनाऽऽगमनक्रिया प्रतिषेधमिष्टा, यदि चाऽऽदावेव प्रतिषेधसचन्वः स्यादागमनाऽभावात् तदसचन्वस्य प्राप्त्याऽपादानसंज्ञा न स्यात्, ततश्च या प्रतिषेध्याऽपादानसाधनाऽऽगमनक्रिया प्रतिषेधस्य विषयः सा न शक्यते प्रदर्शयितुं, न चाऽप्रदर्शितविषयः प्रतिषेधो युज्यते, तस्मात् पूर्वमपादानसंज्ञा भवतीति । ननु कुशलात् पचतीति कथं कुशलात्पादानसंज्ञा ? न हि पचनमपायो येनाऽपायेऽवधि स्यादित्याह—तदेतत्

३४ त्रिविधमिति । निर्दिष्टविषयमित्यादिना त्रैविध्यमेव स्वरूपोदाहरणम्याभावः । अत्र हि निःसरणात् इति । निःसरणं चाऽप्रायस्वरूपमिति भावः । सांकाश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रका अभिरूपतरा इति । अत्र सांकाश्यके पाटलिपुत्रकायां समगुणत्वात् यं साम्यज्ञानात् यं प्रकर्षाऽऽध्वने पुनर्बुद्ध्या प्रकृत्वा धावय प्रयुङ्क्ते इति सिद्धाऽपादानसंज्ञेति । ननु कायसंसर्गपूर्वको विभागो भूयो बुद्धिपरिकरितस्तु गौणं, ततश्च

३५ गौणमुख्ययोर्मुख्यस्यैव परिग्रहात् सांकाश्यकेभ्यः इत्यादौ कारकत्वेत्वात् पठनी प्राप्नोति, नैवम्, “साधकतमं करणम्” इत्यत्र तमग्रहणेन गौणग्रहणस्यापि ज्ञापितत्वाद्गुणस्वरूपस्याप्यपायस्य परिग्रह इत्याह—अपायश्चेत्यादि । तेनेत्यादिना गौणपरिग्रहफलं दर्शयति । तेन “जुगुप्साविषयप्रमादाधार्णानां प्रयोगोऽपादानसंज्ञायै” न यस्मान्तरमन्वेष्ट्यं, तत्रापि बुद्धिकृताऽपायस्य विद्यमानत्वेनाऽनेनैव सिद्धत्वादित्याह—एवमित्यादि । यथा चाऽत्र बुद्धिपरि-



द्विषति, धर्मात् प्रमाद्यति; अत्र यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स दुःखहेतुमधर्मं बुद्ध्या प्राप्य नाऽनेन कृत्यमस्तीति ततो निवर्तते, नास्तिकस्तु बुद्ध्या धर्मं प्राप्य नैनं करिष्यामीति ततो निवर्तते इति निवृत्त्यङ्गेषु क्षुण्णविमलप्रमादेष्वेते धातवो वर्तन्त इति बुद्धिसंसर्गपूर्वकोऽपायः । तथा चौरैभ्यो विभेति, चौरैभ्य उद्विजते, चौरैभ्यस्त्रायते, चौरैभ्यो रक्षति;—अत्र ३ बुद्धिमान् वधबन्धपरिक्षेपकारिणश्चौरान् बुद्ध्या प्राप्य तेभ्यो निवर्तते, चौरैभ्यस्त्रायते इत्यत्रापि कश्चित्सुहृद्दीम चौराः पश्येयुर्नूनमस्य धनमपहरेयुरिति बुद्ध्या तं चौरैः संयोज्य तेभ्यो निवर्तयतीत्यपाय एव । अध्ययनात् पराजयते, भोजनात् पराजयते;—अत्राऽपि अध्ययनं भोजनं वाऽसहमानस्ततो निवर्तते इत्यपाय एव । यवेभ्यो गां रक्षति, यवेभ्यो गां निषेधयति, कृपादन्धं वारयति, इहाऽपि गवादेर्यवादिसंपर्कं बुद्ध्या समीक्ष्याऽन्यतरस्य विनाशं पश्यन् गवादीन् यवादिभ्यो निवर्तयतीत्यपाय एव । उपाध्यायादन्तर्धत्ते, उपाध्यायात् निलीयते; मा मामुपाध्यायोऽद्राक्षीदिति तिरोभवति इत्यत्राऽप्यपायः । शृङ्गाच्छरो जायते, गोमयादृश्चिको जायते, गोलोमाविलोमभ्यो दूर्वा जायते, चीजादङ्कुरो जायते;—अत्र ५ शृङ्गादिभ्यः शरादयो निष्क्रामन्तीति स्फुट एवापायः । यदि निष्क्रामन्ति किं नाऽत्यन्ताय निष्क्रामन्ति ? संततत्वादत्याऽन्यप्रादुर्भावाद् वा । हिमवतो गङ्गा प्रभवति, महाहिमवतो रोहिता प्रभवति;—अत्राऽप्यापः संक्रामन्तीत्यपायोऽस्ति । यद्यपक्रामन्ति किं नात्यन्तमपक्रामन्ति ? संततत्वादत्याऽन्यप्रादुर्भावाद् वा । वलम्याः शत्रुजयः पद् योजनानि षट्सु वा योजनेषु १२ भवति;—अत्र वलम्याः निःसृत्य गतानि योजनानि, गतेषु वा तेषु भवतीत्यर्थः, कार्तिक्या आग्रहायणी मासे, ततः प्रभृति मासे गते भवतीत्यर्थः; उभयत्राऽपायः प्रतीयते । चैत्रात् भैत्रः पटुः, अयमस्मादधिकः, अयमस्मादनः, माधुराः

कल्पितोऽपायस्समवति तथा दर्शयति—अत्र य इत्यादि । निवृत्त्यङ्गेष्विति । निवृत्तिश्चाऽपायोपायरूपेति । तथेति । बुद्धिकृताऽपायस्य विषय- १५ मानत्वात् ‘मीत्रार्थानां घातना भयहेतुरपादानम्’ इत्यपि न वक्तव्यमित्यर्थः । ‘चुरण’ स्त्रेये, “चुरादिभ्य ः” इति णिच्चाऽनित्यत्वात् तदभावे भिदादिवादादि, अपि च—चुरा, सा शीलमस्येति विग्रहे “अहस्याच्छत्रादेरन्” इत्यपि वृद्धौ भ्यसि च—चौरैभ्य इति । मयमाकुलीभाव, प्राणमनर्थप्रतिघात इति तेभ्यो निवर्तते इति निवृत्त्यङ्गं भये विमेल्यादयो वर्तन्त इत्युपात्तविषयमेतदपादानमित्यर्थः । अत्रापि । अध्ययनात् १८ पराजयते, भोजनात् पराजयते इत्यत्र दुःखमध्ययन, ‘दुर्धरं च, गुरवश्च दुष्पचारा’ भोजनमपि व्याधितस्यादुर्ध्वकवतो वा विरसत्वादिना दुःखमिति द्वयं बुद्ध्या प्राप्याऽसहमानस्ततो निवर्तते इति पूर्ववदपादानसहेति ‘पराजेरसोऽेऽप्यादान’ न वक्तव्यम् । तत्राऽसोऽद्रहणात् पराजिन्यूनोभाव(शक्तिवैकल्य)दृष्टिर्गृह्यते न तु शत्रून् पराजयते इतिवदभिभववृत्तिः । अथ यवेभ्यो गां रक्षतीत्यादावपादानसङ्गार्थं ‘वारणा- २९ र्थानामपीप्सित’ इति वक्तव्यम् । ननु यस्याऽऽत्मीया गावस्त्रस्य कथं यथा ईप्सिता १ ईप्सितशब्दस्याऽभिप्रेतपर्यायस्य लोके रुढत्वात् इति चेदुच्यते—यस्यापि परकीया यवास्तस्यापि ते ईप्सिता, यत ईप्सितशब्दः क्रियाशब्द आधीयते न रुढिशब्दः । तत्र वारणक्रियाया परकीया अपि यथा वारयितुरासुमिष्टा भवन्ति, मा नशनेते इत्येतेभ्योऽसौ गा वारयति । यथैव कृपादन्ध वारयतीत्यत्र न आप्नोति, न हि तस्य कृप एवेति सतो वारण- २५ क्रियाया आमुमिष्टत्वात्, स हि अपश्यन्नपि गन्तव्यं जिगमिषति, अन्यथा न क्वचित्सत्यं प्रवृत्तिः स्यादिति । अत्राऽपि न यत्नान्तरं विधेयमित्याह—इहाऽपीत्यादि । अथ हि पश्यति गवादेर्यवादिसंपर्कं नूनमन्यतरस्य विनाशेन माव्य, ततश्चाऽधर्मराजभयादिस्ततो निवर्तयतीति सिद्धमपादानमिति । उपाध्यायादन्तर्धत्ते इत्यादि । अत्राऽपि पश्यत्ययं यदि मामुपाध्यायं पश्यति, ध्रुव मे प्रेषणमुपालम्भो वेति स बुद्ध्या प्राप्य ततो २७ निवर्तते इति येनाऽदर्शनक्रियाकर्त्रा उपाध्यायेनाऽऽत्मनो व्यवधाननिमित्तमदर्शनमिच्छति तस्यापि कर्तुरपायेऽवधित्वस्य सिद्धत्वात् ‘अन्तर्धत्ते येनादर्शनमिच्छति’ इत्यपि न वक्तव्यमित्याह—मामुपाध्यायो इत्यादि । तथा जन्यर्थस्य जायमानस्तस्य प्रकृतिरुपादानसहकारिलक्षण कारणमपादानमित्यपि न वक्तव्यम् । शृङ्गाच्छरो जायते, गोमयादृश्चिको जायते इत्यादि कथमित्याद्युक्त्यामाह—अत्र शृङ्गादिभ्य इति । पुन पृच्छति—यदि ३० निष्क्रामन्तीति । अयमर्थः—यदि यतोऽपक्रामति तत्पुनस्तत्र न दृश्यत इति प्रसिद्धम्, इह तु तत्राऽस्ति दर्शनमिति । समाधत्ते—सन्ततत्वादित्यादि । यथा विलात् दीर्घभोगो भोगी निष्क्रामण्यविच्छेदात् तत्रोपलभ्यते तथा शरादयोऽपीति सिद्धा अपादानसङ्गा, लोकप्रतिज्ञाऽऽध्वयेण- ३५ तदुच्यते, लोके हि यथासाज्जायते तत्तत्साभिर्गच्छतीत्युच्यते । तर्काश्रयास्तु प्रक्रिया भिद्यन्ते, वैशेषिकदर्शने परमाण्वादिसमवेत कारणेभ्योऽपृथग्देश- ३८ कार्यमुत्पद्यत इति नास्ति कार्यस्याऽपक्रमः । साध्यादर्शनेऽप्याभिर्भावितोभावलक्षणजन्मनाशरूपपरिणामाभ्युपगमात् नास्त्यपक्रमः । अथवा—अन्यान्प्रादुर्भावादित्यनेन अन्ये चाऽन्ये च भवन्ति इत्यर्थकेन क्षणिकपक्ष इत्यान्तराऽऽऽरम्भपक्ष वा परिणामपक्ष वाऽऽभिलैतदुच्यते । ननु सतो जन्मा- ४० ऽयोगादसत्तत्त्वं कर्तृत्वास्मत्तत्त्वं कथं शृङ्गाच्छरो जायते इत्यादिप्रयोगः १, नैष दोषः, बुद्धिद्वयवस्थितार्थस्य क्रियायां कारकरूपोपगमात् । एव ३६ ‘भुव कर्तुं प्रभवोऽपादानम्’ इत्यपि न वक्तव्यम् । हिमवतो गङ्गा प्रभवति—प्रथमत उपलभ्यत इत्यर्थः । अयमर्थः—घातनामेकार्थत्वाद्देहितव्यः । जन्यर्थस्तु न समवसेव, न हि हिमवान् गङ्गाया कारण, सा ह्यन्येभ्य एव कारणेभ्य उत्पद्येति । यथा च न वक्तव्यं तथा दर्शयति—अत्राऽपीत्यादि । यद्यपक्रामन्तीत्यादिना पूर्ववत् प्रश्नपरिहारी व्याचष्टे । तथा—वलम्याः शत्रुजयः पद् योजनानि षट्सु वा योज- ४२ नेष्विति । वलते “कृशू” उणा० ३२९। इत्यमे ततो गौरादित्वात् ष्या—वलमी, अत्र प्रतीयमानमाह—अत्र वलम्या इत्यादि । नि सत्ये- ४५ स्वेतदपेक्षया वलभ्युपात्तविषयमपादानमित्यतः पशमी । पद् योजनानीति । अत्र पद् योजनरूपस्याध्वन शत्रुजय इत्यनेनाऽध्वनोऽन्तेन सह “गते गन्त्येऽध्वनो” इति सूत्रेण सामानाधिकरण्यात् तस्याश्च शत्रुजय इत्यस्मात् या प्रथमाविभक्तिः सा योजनानीत्यत्राऽपीति । गतानीति । चैत्रेण ४२ कर्षा पद् योजनानि गतानि—अतिक्रान्तानि इति योजनाना कर्मत्वम्, उपचारात् योजनस्थनरगताऽपेक्षया योजनान्यपि गतशब्देनोच्यन्त इति तेषां कर्तृत्वं वा । गतेषु भवतीत्येतदपेक्षया षट्सु योजनेष्विति “यद्भावो भावलक्षणम्” इति सप्तमी । एव कार्तिक्या आग्रहायणी मासे—ततः प्रभृति मासे गते भवतीति प्रतीते पूर्ववत् पशमीसाम्यामित्यर्थः इत्याह—उभयत्रेत्यादि । ततो ‘यतश्चाध्वकालनिर्माणं तत्र पशमी’ इति न ४५ वक्तव्यम् । कृतिकभिधन्नुका पौर्णमासी “चन्द्रयुक्ता काले” इत्यणि कथां च—कार्तिकी, एवमग्रहायणेन मृगशिरसा चन्द्रोपेतेन युक्ता पौर्ण-





निमित्तमेव नैमित्तिकम्—युद्धे संनद्धते, शरदि पुष्पन्ति सप्तच्छदाः, आतपे क्लाम्यति; छायायामाश्रयति । उपचारे भवमौ-  
पचारिकम्—अङ्गुल्यग्रे करिशतमास्ते, स मे शुष्ठिमध्ये तिष्ठति, यो यस्य द्वेष्ट्यः स तस्याऽङ्गोः प्रतिवसति; यो यस्य प्रियः स  
तस्य हृदये वसति । अधिकरणाऽऽधारप्रदेशाः—“सप्तम्यधिकरणे” ॥ २१२१९५ ॥, “अद्यर्थाच्चाऽऽधारे” ॥ ५१११२ ॥ ३  
इत्यादयः ॥ ३० ॥

## नाम्नः प्रथमैकद्विवहौ ॥ २१२१३१ ॥

एकत्वद्वित्वबहुत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानात् नाम्नः परा यथासंख्यं सिञ्जौजसलक्षणा प्रथमा विभक्तिर्भवति । कर्मादि- ६  
शक्तिषु द्वितीयादिविभक्तीनां विधास्यमानत्वादिह विशेषाऽनभिधानाच्च परिशिष्टेऽर्थमात्रे प्रथमेति विज्ञायते । तत्र द्वितीया-

इति । नैमित्तिकमिति । विनयादित्वात् स्वार्थिक इकण् । युद्धे सप्तच्छदा इत्यादि । अत्र हि सप्तहजारीना युद्धादिनिमित्ताना विवक्षितत्वात् युद्धा-  
देर्नैमित्तिक एवाऽऽधार । सप्तहजादयस्त्वन्वयाऽपि केनचिन्निमित्तेन सम्भवन्तीति न युद्धादिवैपयिक । अन्यत्राऽवस्थितस्यान्यत्राऽध्यारोप उपचारस्त्र ९  
भव—औपचारिकमिति । अथात्मादित्वादिकण् । अङ्गुल्यग्रे करिशतमित्यादि । अत्र हि करिशतारीनामन्यत्राऽवस्थिताना केनाऽपि  
प्रयोजनादिनाऽङ्गुल्यग्रेदावध्यारोप्यमाणानामङ्गुल्यग्रेदारौपशेषिकाभिन्न औपचारिक आधार उच्यते । यदा त्वहुल्यग्रेदादिशब्देनोपचारादाधे-  
याऽधिष्ठितो देश एवोच्यते तदा औपशेषिक एव आधार । अत एवाहु—“आधारत्रिविधो हेय कदाऽऽकाशतिलादिषु । औपशेषिको वैपयिको- १२  
ऽभिव्यापक एव च” ॥ ३० ॥

नाम्नः प्रथमैकद्विवहौ । एकद्विवहौ नाम्नः प्रथमा इत्यन्वय । ‘मर्यादाभिविधौ’ इतिवत् ‘एकद्विवहौ’ इति कर्मधारयात् सप्तमी ।  
अर्थवच्छब्दरूप नाम । अर्थश्च द्विविधो—जातिर्द्रव्य च । तत्र जातेर्नार्थत्वे तस्या एकत्वात् द्वित्वबहुत्वाऽसम्भवात् तत्सहचरितद्रव्यगत द्वित्वं १५  
बहुत्वं चाश्रयणीयम् । ततश्च वृक्ष इत्यत्राप्यवयवगतबहुत्वसद्भावात् बहुवचनप्रसङ्ग । अस्तु तर्हि द्रव्य नामार्थं, तत्राभिधेयगतमेव बहुत्वमाश्रीयते ।  
वृक्षशब्दस्य त्ववयवी वाच्यो न त्ववयवा इति बहुत्वाऽप्रसङ्ग । आकृतिपक्षेऽप्यदोषः, प्रत्यासत्त्या तदाधारद्रव्यगत द्वित्व बहुत्व चाऽश्रीयते न  
त्ववयवगत, जातेरवयवेष्वनाश्रितत्वात् । दारा इत्यादौ त्ववयवाऽवयविनोभेदविबक्षया बहुत्वमाकृत्याधारगतमेव बहुवचनवाच्यम् । ननु द्रव्येऽपि १८  
नामार्थं विशेषाभावादर्थशब्दस्य वस्तुपर्यायस्यापि संभवात् ‘वृक्षः’, ‘वृक्ष’ इत्यत्राऽपि बहुवचनप्रसङ्ग, बहवस्तेऽर्था—मूल स्कन्ध पलाशमिति । एवं  
तर्हि येष्वर्थेषु स्यादयो विधीयन्ते तेषु, केषु च स्यादयो विधीयन्ते १ एकत्वादेषु, न च स्कन्धशाखाफलपलाशादिरूपेणानेकत्वेऽपि वृक्षादिशब्द-  
रूप तथाऽऽच्छेदे इति न तस्य सा सख्या इति बहुवचन न भवतीति मनस्यनुसंधायाऽऽह—एकत्वद्वित्वबहुत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमाना- २१  
दिति । यथेव ‘एकद्विवहौ’ इति प्रकृत्यर्थविशेषणत्वात् क प्रत्ययार्थं १, त एवेति ब्रूम, ‘अनिर्दिष्टार्था प्रत्यया स्वार्थे भवन्ति’ इति । तथाहि—  
पञ्चको नामार्थं । इधि पश्य, पय पयो जरयति, वासो वासश्छादयतीत्यादौ विभक्तिश्रवणमन्तरेणापि पञ्चाप्यर्था स्वार्थादय प्रतीयन्ते, विभक्त-  
यस्तु क्वचित् श्रुतकत्वेनापेक्ष्यन्ते । तत्सिद्धमेतत् कर्मण्येकार्थसमवेत एवैकत्वादौ एकवचनद्विवचनबहुवचनानि भवन्ति न त्ववयवगते । यथेव स २४  
तर्हि तथा निर्देश कर्तव्य, न ह्यन्तरेण भावप्रत्यय गुणप्रधानो निर्देशो भवति । तत्तत्वेलेके मन्यन्ते, तदेके मन्यन्ते इत्यत्रैकवचन प्राप्नोति, यतो  
नामार्थं एकत्वमप्यत्रास्ति बहुत्व च, एकद्विवहोवित्यत्र च विशेषानुपादानात् वैपुल्यरूपस्यापि बहुत्वस्य प्रहणात् परत्वात् बहुवचनप्रसङ्गो—बहु-  
रोदन, बहु सूप इति । नैव दोष । अन्तरेणापि भावप्रत्ययात् गुणस्य गुणिविशेषकत्वेन उपादानात् गुणगुणिनोभेदोपचारात् सामानाधि- २७  
करण्यात् गुणप्रधाननिर्देशस्य संभवात्, यथा—पट शुक्र, इति । यदा तु गुणिना गुणो व्यपदिश्यते—पटस्य शुक्र इति, तदा स्वप्रधानो गुणो भवतीति  
द्रव्ये व्यतिरेकविभक्ति षष्ठी । गुणिनो ह्याधारत्वविबक्षयां सप्तम्यपि, यथा—कर्मणि या संख्येति । कर्मादिभिरेकत्वादीनां विशेषणात् विनापि  
भावप्रत्यय गुणप्रधाननिर्देशप्रतीतिरिति । यथेव बहुत्वस्यैकत्वात् सर्वदा बहोविति भाव्य कथं बहुषु बहुवचनमिति प्रयोग १, उच्यते—आश्रयगतं बहुत्वं ३०  
बहुत्वे गुणे आरोप्य निर्देशाददोष । तथा ‘इलेके मन्यन्ते’ इत्यत्राऽन्यार्थवृत्तिप्रहणदेकवचनप्रसङ्गोऽपि न वाच्य, एकशब्दस्य अन्याऽऽसहाय-  
सख्याप्रथमाऽल्पप्रधानसाधारणार्थवृत्तित्वेन अनेकार्थत्वात् । तथाहि—सधमादौ धुत्र एकास्ता । एका—अन्या इत्यन्यार्थवृत्ति । एकव्यञ्जनम्, एका-  
क्तिभिः सुप्रकैर्जितमित्यादावसहायवृत्ति । एको द्वौ बहव इति संख्यावृत्तिरित्यादि । तथा विपुलार्थवृत्तेरपि बहुशब्दस्य नाम्नः प्रहणम्, एकद्विवहा- ३३  
वित्यत्र सख्यार्थवृत्तिना द्विशब्देन साहचर्यात् एकबहुशब्दावपि तदर्थवृत्तौ गृह्येते । प्रसिद्धा च सख्येयार्थत्वमेकारिनीनामष्टादशान्तानामुच्यते,  
‘आदशम्य संख्या सख्येये वर्तते’ इति । अन्यथा “ह्येकयोर्द्विवचनैकवचने” इति समुदायस्य व्यर्थत्वात् बहुवचनप्रसङ्ग, द्वित्वैकत्ववृत्तित्वे त्वेक-  
द्विशब्दोर्द्विवचनसुपपन्न भवति । ननु लौकिकादेव प्रयोगादेकत्वादेषु एकवचनादीनां व्यवस्था भविष्यति किमर्थमेकद्विवहाविति १, उच्यते— ३३  
सामान्येन विधानात् दृढविषयप्रयोगाच्च नियमार्थमिदं, तथाहि—संख्यानिर्देशमन्तरेण सामान्येन नाममात्रात् स्यादयो विधीयन्ते, घातुमात्राणा  
त्यादयः । अथ शास्त्रेऽनुपातोऽप्यर्थं प्रयोगादेव व्यवस्थाप्यते, यत् स्यादयस्त्वावत् स्वार्थं विधीयमाना पञ्चको नामार्थं इति दर्शने सख्याया  
सिद्धा, सख्याविशेषावगतिस्तु लोकात् सिद्धा । स्यादयोऽपि कर्तृकर्मणोर्भिन्नीयमाना स्वभावतः संख्यायुक्तयोरेव तयोर्वीचका भविष्यन्ति, सख्या- ३९  
विशेषश्च प्रयोगदर्शनादवगम्यते । एतदप्यसाधीय, दृश्यते खल्वपि लोके विप्रयोगः । तद्यथा—‘अक्षीणि मे दर्शनीयानि’, ‘पादा मे सुकुमारा’  
इति द्वित्वेऽपि लोके बहुवचन दृश्यते इति व्यतिकरः प्राप्नोति, अव्यतिकरक्षेप्यते, तच्चान्तरेण यत्र न सिध्यतीति नियमार्थमिदम् । अत एवाऽप्रे  
वक्ष्यते—एकद्विवहाविति च संकरनिवृत्त्यर्थमिति । न चैव ब्राह्मणा संघ इत्यत्र ब्राह्मणसंघरूपस्यार्थस्य ब्राह्मणरूपेण बहुत्वात् संघ- ४२  
रूपेण चैकत्वात् सख्याद्वययोगात् वचनव्यतिकरप्रसङ्ग इति वाच्य, मिश्रपदवाच्यत्वेन मिश्रार्थत्वात् तयो । न हि ब्राह्मणरूपेण संघपद तमर्थ-  
माचष्टे, संघरूपेण वा ब्राह्मणपदम् । मिश्र एव पदार्थं, तदेकत्वं पदद्वयगम्य वाक्यार्थं इति शब्दार्थभेदात् नेतरसंख्येति न वचनव्यतिकर ।  
एकद्विवहाविति नाम्नो विशेषणत्वादविशेषेण प्रथमाया विधानात् कर्मण्येकत्वेऽपि प्रसङ्ग इत्यत आह—कर्मादिशक्तिष्विति । परिशिष्टे इति । ४५

दिविनिर्मुक्तः स्वार्थद्रव्यलिङ्गसङ्ख्याशक्तिलक्षणोऽसमग्रः समग्रो वा पञ्चको नामार्थोऽर्थमात्रम्, तेषु शब्दसार्थे प्रवृत्तिनिमित्तं स्वरूपजातिगुणक्रियाद्रव्यसंघादिरूपं त्वत्तादिप्रत्ययाऽभिधेयं स्वार्थः; स च भावो विशेषणं गुण इति चाऽऽख्यायते—  
२ दित्यः, उचित्यः, गौः, अश्वः, शुक्रः, कृष्णः, कारकः, पाचकः, दण्डी, विपाणी, राजपुरुषः, औपगवः, गर्गाः, पञ्चालाः ।  
यत् पुनरिदं दित्यादिना वस्तूपलक्षणेन सर्वनाम्ना व्यपदिश्यते, स्वार्थस्य व्यवच्छेदं लिङ्गसङ्ख्याशक्त्याद्याश्रयः सत्त्वभूत-  
तद्रव्यं-विशेष्यमिति चाऽऽख्यायते-इयं जातिः, अयं गुणः; इदं कर्मेति । यदर्थे सदसद्वा शब्दत एवाऽवसीयते तत्  
३ उद्यावादिसंस्कारहेतुः-स्त्री, पुमान्, नपुंसकमिति लिङ्गम्; स्त्री, पुमान्, नपुंसकम्, पट्वी, खट्वा, युवतिः । यसा-  
मेकवचनद्विवचनचहुवचनानि भवन्ति सा भेदप्रतिपत्तिहेतुरेकत्वादिका सख्या-एकः, द्वौ, चहवः; वृक्षः, वृक्षौ, वृक्षाः ।  
“निमित्तमेक इत्यत्र विभक्त्या नाऽभिधीयते । तद्वत्स्तु यदेकत्वं विभक्तिस्तत्र वर्तते” ॥ १ ॥ यस्यां त्यादिभिरभिहितार्थां  
४ द्वितीयाद्या व्यतिरेकविभक्तयः पृष्ठी च भवति, सा स्वपराऽऽश्रयाऽऽश्रितक्रियोत्पत्तिहेतुः कारकरूपा तत्पूर्वकसम्बन्धरूपा च  
शक्तिः, सा चाऽभिहिताऽर्थमात्रम्-क्रियते कटः, कृतः कटः, पचति चैत्रः, खानीय चूर्णम्, दानीयो ब्राह्मणः, गोमोऽतिथिः,  
प्रस्रवणो गिरिः, भयानको व्याघ्रः, स्थानीय नगरम्, गोदोहनी पारी, गोमान् मैत्रः; चित्रगुश्चैत्रः । अर्थमात्रं चोपचरित-  
५ मपि, यथा साहचर्यात्-कुन्ताः प्रविशन्ति, छत्रिणो गच्छन्ति, स्थानात्-मञ्चाः कोशन्ति, गिरिर्दह्यते, तादर्थ्यात्-इन्द्रः

उच्यते इत्यर्थः । तदेव परिशिष्टमर्थं व्याचष्टे-तत्र द्वितीयादिविनिर्मुक्त इत्यादि । तत्र पञ्चकस्य नामार्थोक्तस्य क्रमेण लक्षणमाचष्टे-  
तेष्विहत्यादि । प्रवृत्तिनिमित्तमिति । यत् शब्दस्य प्रवृत्तिरुच्यते । स्वार्थ इति । स्वसैवार्थं स्वार्थो विशेषणमसाधारणोऽर्थः । यदा हि  
२५ स्वरूपान्तरासुपाददानं शब्दः स्वाऽभिधेये प्रवर्तते, तदा सोऽयमित्यभिधेयवन्धेन शब्दस्वरूपविशिष्टसैवार्थस्य प्रतीतेः शब्दस्वरूपनेव स्वार्थो विशे-  
ष्यन्तु इत्यर्थः, यथा-दित्य इत्यादि । जातिरुत्पत्तिप्रत्ययहेतुः, यथा-गौरित्यादि । शुक्र इति । अत्र तद्विनिर्मुक्तस्य द्रव्यस्य प्रतीतेरुक्तं स्वार्थः ।  
कारक इत्यादौ तु क्रियाविशिष्टद्रव्याऽवभासमानात् क्रिया स्वार्थः, क्रियाविशिष्टसंघातो वा । द्रव्यमपि यदा द्रव्यान्तरस्य विशेषणभूतं भवति  
२६ यद्योः प्रवेशय, कुन्तात् प्रवेशयेति तदा यथादिद्रव्यं विशेषणभावाऽऽपन्नं स्वार्थो द्रव्यान्तरं विशेष्यभावाऽऽपन्नं पुरुषादि तु इत्यर्थः । क्वचित् संव-  
न्धोऽपि स्वार्थः, यत्र संयन्मिति प्रत्ययो यथा-दण्डी, विपाणी । अत्र हि दण्डविपाणयोः संबन्धः स्वार्थः । आदिशब्दात् राजपुरुष इत्या-  
दावप्युपेयमित्युदाहरति-राजपुरुष इत्यादि । गर्गाः, पञ्चाला इति । एतावानेव विशेष्यो यथादौ उपचारात् द्रव्यान्तरप्रतीतिरत्र तु प्रत्यय-  
२७ लुपेति । स्वार्थस्य शास्त्रान्तरं भाव इति विशेषणमिति गुण इति बोध्यते इत्युक्तं-स चेत्यादि । द्रव्यं व्याचष्टे-यत् पुनरित्यादि । वस्तूप-  
लक्षणेनेति । इदन्तदित्यादिविश्लेषेण वस्तु ज्ञायत इत्यर्थः । स्वार्थस्य व्यवच्छेदमिति । स्वरूपालक्षणस्य स्वार्थस्य विशेषणत्वात् तस्य च  
व्यवच्छेदकत्वादानेन कर्तृभूतेन व्यपच्छिद्यत इत्यर्थः । लिङ्गसंख्याशक्त्याद्याश्रय इति । लिङ्गसंख्याशक्तयो वक्ष्यमाणलक्षणा, आदिशब्दात्  
२८ स्वरूपादि, तद्वन्तत्वात् तेषां द्रव्यमाधयो भवति । लिङ्गं व्याचष्टे-यदर्थे इत्यादि । अर्थे-शब्दाभिधेये इत्यर्थः । उद्यावादिसंस्कारहेतु-  
रिति । तेन हेतुभूतेन उद्यावादिना शब्दस्य संस्कारः क्रियत इत्यर्थः । संख्यामाह-यस्यामित्यादि । भेदप्रतिपत्तिहेतुरिति । भेदो  
विशेषणान्तोत्पत्तिरूप, तथा हि पदार्थानां भेदः प्रतीयते, भेदः परिगणनं संख्येति लक्षणत्वात् तस्याः । ननु नामाऽऽर्थव्यतिरेकेणाऽऽर्थमेकत्वादीनां  
२९ विशेषणीभूतानामभावादेक इत्यादौ प्रथमाया अभावः, अग्राह्यते-एकत्वादिष्वपि व्यतिरेका एकत्वादयः सन्ति, एतदेवाह-निमित्तमेक  
इत्यादि । यथा शतमित्यत्र प्रवृत्तिनिमित्तं शतसङ्ख्याऽन्या, अन्या च विभक्तिवाच्या नामार्थगतैकत्वसंख्या, तथैक इत्यत्रापि प्रवृत्तिनिमित्तविभक्ति-  
नाच्ये हे एकत्वे, तत्र तदभिधानाय प्रथमा भविष्यति । एव शब्दशक्त्याश्रयेकत्वादिभेदेन प्रथमोका । अनेदेऽपि दोषाऽभावः, यत् उभयवचना  
३० हेतुः द्रव्यं चाऽऽहुर्गुणं च । तत्र गुणोपसर्जनं द्रव्यमभिधीयते नात्रा, द्रव्योपसर्जनस्तु गुणो विभक्त्या । यथा शौक्यमिति गुणोपसर्जनद्रव्याऽभिधानेन  
शुक्रशब्दात् द्रव्योपसर्जने तस्मिन्नेव गुणे भावप्रत्ययः । एतदेव यस्मिन् द्रव्ये स्थित एकत्वादिगुणत्वस्य द्रव्यानुत्ता एकत्वादयः प्राधान्येन तद-  
भिधानाय प्रथमा भविष्यति । अथवा-सख्या नामेय परप्रधाना, संख्येयमनया विशेष्यम् । यदि चात्र प्रथमा न स्यात् संख्येयमविशेषितं स्यात्,  
३१ केवलस्य नात्र प्रयोगाऽभावात् प्रथमाया अभावे एकादिशब्दानुच्चारणात् । अथवा-प्रत्ययपरैव प्रकृतिः । प्रयोग्या न केवला इत्येव रूपात् समयात्  
भविष्यति । अन्या अपि कस्मात् भवन्तीति न चाच्य, कर्मादीनामभावात् ‘कर्मण्ये द्वितीया’ इत्येव द्वितीयादीनां नियतत्वात् । एव तर्हि पृष्ठी  
प्राप्नोति, कर्माद्यभावो हि श्रेयः, अज्ञेयत्वात् न भविष्यति, उपयुक्तादन्यो हि श्रेयो नामार्थस्य च प्रथमाविधावुपयोगात् तस्य चाऽव्यतिरिक्त्येह  
३२ सङ्ख्यात्वात् । वचनव्यतिरेकप्रसङ्गेऽपि नात्र सामर्थ्यात् व्यवस्थासिद्धे । एक इत्यत्र एकमेवैकत्वं, तच्च नामार्थेनाऽभिहितमित्युक्ता प्रथमा समभवशेन  
प्राप्यते । तत्र यथा समयस्य पालितो भवति एकत्वानुगुणं चाऽन्यत्र तदभिधाने दृष्टसामर्थ्यं वचनं भवति, तथा कर्तव्यमिति । शक्तिस्वरूपं लभ्यति-  
यस्यामित्यादि । त्यादिभिरिति । तिष्ठान्देन तिवादय आख्यातप्रत्यया आदिशब्देन च कृतद्वित्वमात्रा उच्यन्ते, तेऽत्रभिहितार्थां-अनुणा-  
३३ यामित्यर्थः । व्यतिरेकविभक्तय इति । व्यतिरेक्यत इति व्यतिरेकस्यैव व्यतिरेके नामार्थव्यतिरेके-आधिक्ये द्वितीयाद्या विभक्तयो विशेष-  
विभक्तय इत्यर्थः । स्वपराश्रयेति । तत्र कर्तृकर्मणोः स्वार्थगतक्रियोत्पत्तिहेतुभूते अपि, अन्यास्तु करणादिशक्तयः पराधायगतक्रियोत्पत्ति-  
हेतुभूता एव । तत्पूर्वकेति । क्रियाकारकपूर्वकेत्यर्थः । सा च अभिहिता-निर्दिष्टा उक्ता इति यावत् । क्रियते कट इत्यादि । अत्राऽऽत्मने-  
३४ पदादिभिः कर्मादिशब्दोनामभिहितत्वात् अर्थमात्रत्वात् तत्र सर्वत्र प्रथमेति । स्थानीयमित्यादि । बहुलवचनात् करणप्रदानमोरनीय, तत्-  
संप्रदाने टकि-गोमः । प्रस्रवण इति । प्रस्रवणस्यादिति “अुपिपत्यादिभ्यः” इत्युपादानेऽनन्दः । पिबेत्त्यादिति विभ्रदे “श्रीमीराजे-  
दानक” उपा० ७१ । इत्याने-भयानकः । स्थानीयमिति । बहुलवचनादधिकरणेऽनीय । एव गावो दुग्धान्तेऽस्यामिति गोदोहनी ।  
३५ गोमानिलत्र तु संबन्धरूपायां शक्तौ मत्तु । चित्रगुरित्यत्र समासः । उपचरितमिति । अभ्यारोपितमित्यर्थः, अभ्यारोप्य अतस्मिन् तदिति  
प्रत्ययः, स च सहचरणमिति सिद्धादनेकधा भिद्यते । यदाह-सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानवचरणस्थानीययोगसामानाऽधिपत्येभ्यो ब्राह्मणप्रसङ्गः

स्थूणा, प्रदीपो मल्लिका; वृत्तात्-यमोऽयं राजा, कुबेरोऽयं राजा; मानात्-प्रस्यो व्रीहिः, खारी मुद्गाः; धरणात्-तुला चन्दनम्, सामीप्यात्-गङ्गातटे गङ्गा, योगात्-रक्तः कम्बलः, साधनात्-अन्न प्राणाः, आयुर्धृतम्; आधिपत्यात्-ग्रामा-  
ऽधिपतिर्ग्रामः । अलिङ्गमपि-त्वम्, अहम्, पञ्च, षट्, कति, अलिङ्गसङ्ख्यमपि-उच्चैः, नीचैः, स्वः, प्रातः; शक्तिप्रधानमपि- ३  
यतः, यत्र, यथा, यदा; द्योत्यमपि-प्रपचति, प्रतिष्ठते, प्रतीक्षते, प्रतिपालयति; स्वरूपमात्रमपि-अध्यागच्छति, पर्या-  
गच्छति, प्रलम्बते; निषिञ्चति । तदयं वस्तुसंक्षेपस्त्याद्यन्तपदसामानाधिकरण्ये प्रथमेति । यत्राऽपि त्याद्यन्त पदं न श्रूयते-  
वृक्षः, प्लक्ष इति तत्राऽपि गम्यते । यदाह-“यत्राऽन्यत् क्रियापदं न श्रूयते, तत्राऽस्तिर्वन्तीपरः प्रयुज्यते” इति । नाम ६  
इति किम् ? निरर्थकाद् वर्णाद् धातुवाक्याभ्यां च मा भूत् । एकद्विहविति च सकरनिवृत्त्यर्थम् । ननु चाऽव्ययेभ्य  
एकत्वाद्यभावादेन प्रथमा न प्राप्नोति, सत्यम्, लुब्धविधानात् विभक्तीनां विधिविज्ञायते तदन्तर्गतत्वाच्च प्रथमाया अपि,

राजसंस्तुचन्दनगङ्गावाटकाकपुरुषेष्वतद्भावेऽपि तद्गुणचार । क्रमेणोदाहरति-साहचर्यादित्यादिना । अहम्, पञ्च, कति इत्येषामलिङ्गत्व, १  
'नन्ता सख्या इतिर्युष्मदस्मच्च स्युरलिङ्गा' इत्यनुशासनात् । अलिङ्गसंख्यमपीति । सर्वलिङ्गसख्याखेकरूपत्वात् उच्चैः प्रभृतीनामर्थमात्र  
विशिष्टलिङ्गसंख्यभ्यामयोगादलिङ्गसंख्यमित्यर्थः । तसादिभ्योऽपादानादिशक्तीना प्रतीयमानत्वात् यत् इत्यादेरर्थमात्र शक्तिप्रधानं भवतीत्याह-  
शक्तिप्रधानमपीत्यादि । द्योत्यमपीति । प्राद्युपसर्गाणा क्रियायुक्तत्वात् अन्ययोपसर्गत्वाभावात् तदर्थमात्र द्योत्यमेवेति । स्वरूपमात्रम्-१२  
पीति । सोपसर्गाद्युपसर्गाभावात् यथाध्यादिभिर्विशिष्टाऽप्रतीते आगच्छतीत्यादिक्रियापदार्थ एव तदर्थ इत्यर्थः । नन्वर्थमात्रे प्रथमा इत्युक्तत्वात्  
मात्रप्रवृत्तस्य वाधिकायव्यवच्छेदकत्वात् वीरः पुरुष इत्यादौ सामानाधिकरण्यात् विशेषणविशेष्यभावस्याधिकस्य प्रतीते प्रथमा न प्राप्नोति । समास-  
विधानमपि प्रथमोत्पत्तेरिति न भवति, वीरं पुरुषमानयेति द्वितीयासन्तानामपि समाससंभवादिति प्रथमा विधेया, नैप दोष, आधिक्यस्य १५  
वाक्यायत्वात् वीरनाम्नोऽनपेक्षितशब्दान्तरार्थसंगोपहितविशेषणभावात् स्वार्थमात्रनिष्ठात् प्रथमा विधीयते । एव पुरुषशब्दादपि । पद्यात्वा-  
काङ्क्षाविशेन विशेषणविशेष्यभाववगतिरुपजायमानवहिरङ्गत्वादनन्तरं पदसंस्कारं पूर्वप्रवृत्त बाधितु न शक्नोतीति सिद्धा प्रथमेति । अथवा-स्यादि-  
कृतद्वितिसमासैरभिहिताना कर्त्तादिशक्तौ प्रथमेत्युक्तं, ततश्च वीरः पुरुष इत्यत्राऽर्थाधिक्येऽप्यभिहितत्वमात्राध्या प्रथमेति । यथेव प्रासादे आत्ते १८  
इत्यत्रापि सदिक्रियाऽऽसिक्त्याद्वयसाधनाधिकरणशक्तिद्वयसङ्गावादासिप्रत्ययेनानभिहितेऽप्यधिकरणे एकस्या शक्तेरभिहितत्वात् तदाध्या प्रथमा  
प्राप्नोति, उच्यते-गुणक्रियया अधिकरणशक्तेरभिहितत्वेऽपि प्रधानक्रियाऽनभिहिताऽधिकरणशक्त्यपेक्षया प्रधानानुयायित्वात् व्यवहाराणा सप्तम्येव  
भवति । तस्मात् स्थितमेतत् 'स्यादिसमानाधिकरणे प्रथमा' इत्युसमर्थं हृदि निधित्याह-तदयं वस्तुसंक्षेप इत्यादि । भवन्तीत्यन्तेन पूर्वा-२१  
चार्यैरसिद्धा वर्तमानाऽभिधीयते । ननु वर्णस्य निरर्थकत्वात् धातुवाक्यार्थयोश्चासत्त्वरूपत्वात् सख्याया सत्त्वधर्मरूपत्वेन तद्व्यवभावात् सत्त्ववाचिनो  
नात्र एष प्रथमा भविष्यति किं नात्र इत्यनेन १, उच्यते-यथा धातोरसत्त्ववाचित्वेऽपि साधनाश्रयमेकत्वादिसख्यामाश्रित्य तिवर्दीनामेकवचनादीनि  
प्रवर्तन्ते, तथा स्यादीनामपि प्रवर्तन्ते, एव वाक्यादप्यवयवगता वर्णाच्च निरर्थकतापि स्वरूपगता संख्यामाश्रित्य प्रथमा स्यादित्याह-निरर्थ-२४  
कादित्यादि । एकद्विहविति च सकरनिवृत्त्यर्थं भावात् नाऽव्ययेभ्य प्रथमा प्राप्नोतीत्याक्षिपति-ननु चेत्यादि । समाधत्ते-सत्यमित्यादि ।  
यदि शब्दयेभ्यो विभक्तयो न स्युर्न ततो "अव्ययस्य" इति विभक्तीना लुबुपपद्यते । यदा व्याकरणान्तरसूत्रेषु पदसंहिताक्रमभेदात् त्रिधा पाठो  
भवति । तत्र पदपाठ पदशुद्धयर्थः । संहितापाठो ग्रन्थाऽवधारणार्थः । क्रमपाठ पदशुद्धयर्थोऽर्थविशेषार्थश्च । तत्र क्रमपाठमाश्रित्य वाक्यस्य नानात्वे २७  
'नाम्नः प्रथमा' इति वाक्यात् अव्ययेभ्योऽपि सिद्धा प्रथमेति । तस्य चेत्यादिना विभक्तिविषे फलं दर्शयति । पदसंज्ञा चेति । फलमिति  
सबध्यते । एकद्विहविति । विभक्तिविधानं यावत् एकद्विहवित्वाधिकारो द्रष्टव्यः । स्वार्थद्वयलिङ्गसंख्याकर्मादिसमुदायो विभक्त्यन्तात् नाम्नः  
प्रतीयते । तत्र स्वार्थं-प्रवृत्तिनिमित्त विशेषण जातिगुणक्रियास्वरूपादिलक्षण, तदाधारो द्रव्य-विशेष्य, एतावर्थौ नाम विभक्तिमन्तरेणापि प्रतीतेर्न ३०  
व्यभिचरतीत्यपोद्धारो नाम क्रियमाणेऽविप्रतिपत्तिरेतयोर्नामार्थत्वे । लिङ्ग तु किञ्चिन्नान्न एव प्रतीयते-शरत्, दरत्, मधु, हे देवदत्त ? इति ।  
किञ्चित् प्रत्ययभिन्न-कुमारी, प्रष्टी इति । किञ्चिद्विभक्तिसंधान एव गृह्यते-तट, तटी, तटमिति । सख्याकर्मादयोऽपि कदाचित् नाम्न एव  
प्रतीयन्ते-पयस्तिष्ठति, पय पश्यति, मधु तिष्ठति, मधु पश्यति इति । अतोऽवश्यमत्राऽऽचरोऽभ्युपगन्तव्यो व्याख्याकाराणाम्-कश्चित् सख्या-३६  
कर्मादीन् विभक्तिवाच्यान् अभ्युपगच्छति त्रिको नामार्थं इति, कश्चित् सख्यैव विभक्तिवाच्या चतुष्को नामार्थं इति; कश्चित् पुन पञ्चाऽप्यर्था  
नामवाच्या, विभक्तयस्तु योतिका संख्याकर्मादीना क्षीप्रत्ययाश्च लिङ्गस्येति प्रतिपन्न । न चात्र काकदन्तपरीक्षायामादर, किमत्र युक्त दर्शनम् ?  
यत् सर्वस्यैवापोद्धारिकस्वार्थस्य परिकल्पनारूपत्वात् । यदाह-"योतिका वाचिका वा स्युर्द्वितीयादीनां विभक्तयः । स्याद्वा सख्यावतोऽर्थस्य समुदा-३७  
योऽभिधायकः" ॥ १ ॥ इति । तत्र वार्तिककारभोक्तवार्तिककारयो पञ्चक एव नामार्थं इति दर्शनं उभाभ्या नियमार्थत्वस्योपगमात् । भाष्यकारो-  
ऽप्यनेकदर्शनोपन्यासेऽपि पञ्चक एव नामार्थं इति दर्शनं उभाभ्या नियमार्थत्वस्यैव व्यवहरति । यदाह-पञ्चक एव नामार्थोऽनेनाश्रित इति । युक्ति-  
रस्यामेव कल्पनायां दृश्यते-सख्याकर्मादयो हि नामवाच्याश्च द्रव्यस्य धर्मा, स्वार्थोपसर्जनश्च शब्दो द्रव्य एव वर्तते, द्रव्येणैवानयनयनयनादिव्यव-३९  
हार, तत्र द्रव्यवाचिना शब्देन द्रव्यधर्माणामभ्यन्तरीकरणमिति नाऽयुक्तमेतत् नामार्थत्वेन पञ्चानामभिसंधान । विभक्तयः क्षीप्रत्ययाश्च योतिका  
विशेषशक्तित्वस्येति । यदा त्वय न्यायोऽङ्गीक्रियते 'संख्याकर्मादयो विभक्तिवाच्या क्षिया वाऽभिधेयाया क्षीप्रत्ययः' तदा विभक्तिमन्तरेण क्षीप्रत्ययेन  
च विना कथं सख्याद्विप्रतिपत्तिः स्यात् १, पय पयो जरयति, शरदागतेति । न हि वधु, मण्डु, लमक इति प्रत्ययमन्तरेणापल्यार्थं वर्तते । ननु च ४२  
प्रत्ययमन्तरेणापि वर्तन्ते-गर्गो, वत्सा, विदा, चर्वा इति, तत्र यदि संख्याकर्मादयो विनैव विभक्त्योर्नामोऽपि प्रतीतेर्नामार्थं इति व्यवस्थाप्यते  
अपल्यार्थोऽपि तर्हि कदाचित् प्रकृतिभाषादेव प्रतीयत इति सोऽपि प्रकृत्यर्थ एव स्यात्, ततश्च सर्व एव स्वार्थिका प्रत्ययाः प्रसक्ता विषम उप-  
न्यास । प्रकृत्यर्थस्त्वाद्यप्रकृतिवाच्यात् पितुरर्थान्तरभूतोऽपल्यार्थं पुत्रादिव्याच्यो न पितुरेवाचो सख्यावद्गुण, तत्राद्यप्रकृतिशब्दा गगोदयो विनैव ४५  
प्रत्ययैरलन्तमिधार्थमिधायिनो बहुवचनविषया नित्यमनपला बहुत्व एव वर्तन्ते तेषां वचनादीनामिव सोऽयमित्यभिसंधानेनापल्यार्थोऽश्रुतीनाम-  
साधने प्रसक्ते लुपा साधुत्वमनुगम्यते 'प्रत्ययमन्तरेणाप्येतेऽपल्यार्थं साधवः' । सोऽयमित्यभिसंधानमत्र त्वत्प्रत्ययेन विना वचनादयो यथार्थपक्षे  
प्रयुज्येरन्, नाऽवदमपत्य एव नियमो भवेद्, अनेकमिति तत्वात् शब्दस्य । कश्चित् वत्सत्वात्-ममा क्रोशन्ति, भिरिर्दृष्टते । कश्चित् तात्कालिकेव ४८





चैत्रादेः साक्षाद्योगः, किं तर्हि ? तद्विशिष्टेन कृतवाब्देन । बहुवचनादन्येनाऽपि युक्ताद् भवति—न देवदत्तं प्रति भाति, किञ्चित्, बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्, 'वृणीष्व भद्रे प्रतिभाति यस्त्वाम्', 'ग्लोऽक्षपादमृषिं न्यायः प्रत्यभाद् वदतां वरम्', पातु-संबद्धोऽत्र प्रतिस्तेन "भागिनि च प्रतिपर्यनुभिः" ॥ २ । २ । ३७ ॥ इति न सिध्यति । गौणादिति किम् ? अन्तरा ३ गार्हपत्यमाहवनीयं च वेदिः, अत्र प्रधानाद् वेदिशब्दात् न भवति ॥ ३३ ॥

### द्वित्वेऽधोऽध्युपरिभिः ॥ २ । २ । ३४ ॥

अधस्अधिउपरिभिर्युक्ताद् गौणात् नाम्न एषामेव द्वित्वे सति द्वितीया भवति, पष्ठ्यपवादः । बहुवचनमेकद्विवहविति ६ यथासंख्यनिवृत्त्यर्थम् । अधोऽधो ग्रामं ग्रामाः, अध्यधि ग्रामं क्षेत्राणि, उपर्युपरि ग्राम ग्रामाः । द्वित्व इति किम् ? अधः प्रासादस्य, हर्म्यस्योपरि प्रासादः, असामीप्यात् च द्वित्व न भवति ॥ ३४ ॥

### सर्वोभयाऽभिपरिणा तसा ॥ २ । २ । ३५ ॥

सर्वादभिस्तसन्तैर्युक्ताद् गौणात् नाम्नो द्वितीया भवति, पष्ठ्यपवादः । सर्वतो ग्राम वनानि, उभयतो ग्राम वनानि, अभितो ग्राम क्षेत्राणि; परितो ग्रामं क्षेत्राणि ॥ ३५ ॥

### लक्षणवीप्येत्यंभूतेष्वभिना ॥ २ । २ । ३६ ॥

लक्ष्यते—दर्श्यते येन तल्लक्षणं—चिह्नम्, अवयवशः समुदायस्य क्रियादिना साकल्येन प्राप्तीच्छा—वीप्सा तत्कर्म वीप्यम्, केनचिद् विवक्षितेन विशेषेण भाव इत्यभावस्तद्विषय इत्यभूतः; एष्वर्थेषु वर्तमानादभिना युक्ताद् गौणात् नाम्नो द्वितीया भवति । वृक्षमभि विद्योतते विद्युत्—अत्र वृक्षो लक्षणम्, विद्योतमाना विद्युलक्ष्यम्, अनयोश्च लक्ष्यलक्षण-१५

त्वमिति । न्यग्भूतत्वादिति । तत्संबन्ध एवोपखीणशक्तित्वादिति भावः । सर्वत्र बहुवचनमधिकार्यमिति परिभाषितत्वात् शिष्टप्रयोगाच्च विशेष-भावसायात् तल्लभ्यमर्थं दर्शयति—न देवदत्तमित्यादि । बुभुक्षा सजाता अत्येति "तदस्य सजातः" इति ईते-बुभुक्षित, न प्रतिभाति—न रोचते इत्यत्र प्रतिभातिक्रियाविशेषण न तस्य देवदत्तादिना योग इति "भागिनि च प्रतिपर्यनुभिः" इत्यतो द्वितीया न सिध्यतीति । यदा तु १८ देवदत्तादिना योगस्तदा तेनैव सिध्यति । नन्वन्तराऽन्तरेणशब्दामिधेयस्य मध्यस्य अवधिसव्यपेक्षत्वात् गार्हपत्याऽऽहवनीययोर्मध्यस्य चाऽऽधार-शक्तिप्राधान्यस्य मध्यस्य ताभ्यामभिधेयत्वात् तस्य च प्रधानभूताऽऽधेयाधीनत्वात् तत्र यथा मध्यावच्छेदकाभ्यां षष्ठीमपोय द्वितीया विधीयते तथा मध्येनाऽवच्छिद्यमानादाधेयादपि कुतो न विधीयत इत्याह—गौणादिति किमित्यादि । यद्यप्यवधिराधेयश्चाऽन्तरार्थेन युक्तौ तथापि २१ गौणादिति वचनादप्रधानादवधिभूतात् गार्हपत्यादेर्द्वितीया न प्रधानादिति । अत एव द्वयोर्न्तरा कश्चित्पुरुष इत्यादौ द्विशब्दादेर्द्वितीयस्या अभावः । अत्र ह्यनिश्चितावधिक मध्य प्रतीयते, द्वयोः सवन्धी कश्चिन्मध्य इत्येतावदर्थप्रतीते, मध्यन्तु द्विशब्दार्थवधिक उताऽन्या-ऽवधिकमिति सशय एव ॥ ३३ ॥

२४

द्वित्वेऽधोऽध्युपरिभिः । अत्र गौणादिति नाम्न इति द्वितीयेति चाऽनुवर्तते । अधोऽध्युपरिभिर्युक्ताद् गौणात् नाम्न एषामेव द्वित्वे द्वितीयेत्यन्वयस्तदाह—अधस् इत्यादि । अध प्रभृतय कृतद्विवचना समीपवचना एव, अन्यत्र द्वित्वस्याभावात्, यस्य तत्सामीप्यं ग्रामा-देस्तत् संबन्धे षष्ठां प्राप्तायां अवमारभ्यत इत्याह—पष्ठ्यपवाद इति । बहुवचनमिति । अन्यथा समानसंख्यत्वात् यथासंख्य स्यादित्यर्थः । २७ अधोऽधो ग्राममित्यादि । "सामीप्येऽधोऽध्युपरि" इति सर्वत्र द्विवचनम् । अधः प्रासादस्येति । औत्तरार्धर्ममात्रमत्र विवक्षितं न सामीप्यमिति दित्वाभाव इत्याह—असामीप्यादित्यादि ॥ ३४ ॥

सर्वोभयाऽभिपरिणा तसा । गौणादिति नाम्न इति द्वितीयेति चानुवर्तते । सर्वोभयाभिपरिणा तसा युक्ताद् गौणात् नाम्नो द्वितीयेत्य- ३० न्वयः । सर्वोविशेषणत्वात् "विशेषणमन्त" इति न्यायात् तदन्तप्रतिपत्तिरित्याह—सर्वादभिस्तसन्तैरिति । सप्तम्यन्तात् "आद्या-दिभ्यः" इति तस्य, अभिपरिशब्दाभ्यां च "पर्यसे" इति तस्य । आभिमुख्यवृत्तिरपि तसन्तप्रतिरूपको निपातोऽभित शब्दोऽस्ति सोऽपीह गृह्यते, तथोपेऽपि षष्ठी प्राप्नोति ॥ ३५ ॥

लक्षणवीप्येत्यंभूतेष्वभिना । गौणादिति नाम्न इति द्वितीयेति चानुवर्तते । लक्षणवीप्येत्यंभूतेषु अभिना गौणात् नाम्नो द्वितीये- ३१ त्वन्वयः । 'लक्ष्णी' दर्शने, कर्णेऽनदित्याह—लक्ष्यते—दर्श्यते येनेति । तत्पर्यायान्तरेणाऽऽवच्छेद—चिह्नमिति । विपूर्वादाप्ते सनि ततो यप्रत्यये वीप्य, विपूर्वशामोतिरातिविशेषमाह, व्याप्तिश्च द्विधा क्रिया न विना व्याप्यव्यापक च भवतीत्युभयमाक्षिपतीत्युक्तं—समुदायस्य क्रियादि- ३२ नेति । अत्र क्रियादिर्नेति व्यापक, आदिशब्देन जातिगुणव्यस्वरूपपरिग्रहः । समुदायस्येति व्याप्य, समुदायश्च वृक्षादिपदवाच्यार्थसार्थं उच्यते, निर्भेदस्यार्थस्य व्याप्यार्थाभावात् । गगनमात्रं व्याप्नोतीत्यादावपि गगनस्य कल्पितप्रदेशमेदपुर सरव्याप्तिप्रतीतेरनेकात्मन समुदायस्यैव व्याप्ति-संभवतीति । समुदायस्य च साकल्येन द्विधा भवति—अवयवशः स्वतः, यथा—कोश कुटिला नदी, मास शुद्धिना इति । तत्र सन्प्रत्ययसन्निपाते- ३३ ऽवयवशो व्याप्तिरित्युक्तमवयवश इति । समुदायस्य प्रत्येकमवयवा वृक्षादयोऽनवयवेन पृथक् सेकादिना संबन्धन्त इतीयमत्र व्याप्ति, तस्या या इच्छा सा वीप्सा, तत्कर्म वीप्यमिति । अनेन प्रकारेण—इत्य भवति स्माऽस्मिन्निति "अर्थार्थाभा" इत्यधिकरणे क । अनेनेति कश्चिद्विवक्षित प्रकारश्च सामान्यस्य भेदको धर्मो विशेष इत्याह—केनचिदित्यादि । लक्ष्यलक्षणभावः संबन्ध इति । वृक्ष प्राप्य विद्योतत इति प्राप्ति- ४२



भावः संचन्धोऽभिना द्योत्यते; वृक्षंवृक्षमभि सेकः—एकैकस्य वृक्षस्य सेक इत्यर्थः, साधुर्देवदत्तो मातरमभि—मातृ-  
विषये साधुत्वप्रकारं प्राप्त इत्यर्थः । लक्षणादिष्विति किम् ? यदत्र ममाऽभि स्यात् तदीयताम्, अत्राऽभिना भागसंचन्धो  
३ द्योत्यते—योऽत्र मम भागः स्यादित्यर्थः । अत्राऽपि बहुवचनं यथासख्याऽभावार्थम्, एवमुत्तरत्र ॥ ३६ ॥

### भागिनि च प्रतिपर्यनुभिः ॥ २ । २ । ३७ ॥

स्वीक्रियमाणोऽशो भागः तत्त्वामी भागी, तत्र लक्षणादिषु चाऽर्थेषु वर्तमानात् प्रतिपर्यनुभिर्युक्तात् गौणात् नाम्नो  
१ द्वितीया भवति । भागिनि—यदत्र मां प्रति मां परि मामनु स्यात्, योऽत्र मम भाग आभवति स दीयतामित्यर्थः; लक्षणे-  
वृक्षं प्रति वृक्षं परि वृक्षमनु विद्योतते विद्युत्, वीप्से—वृक्षवृक्षं प्रति वृक्षंवृक्षं परि वृक्षवृक्षमनु सेचनम्; इत्यंशू-  
साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति मातरं परि मातरमनु । एतेष्विति किम् ? अनु वनस्याऽऽनिर्गता, समीप इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

### हेतुसहार्थेऽनुना ॥ २ । २ । ३८ ॥

हेतुर्जनकः, सहार्थस्तुल्ययोगो विद्यमानता च तद्विषयोऽपि सहार्थ उपचारात्, तयोर्वर्तमानादनुना युक्ताद्  
गौणात् नाम्नो द्वितीया भवति । जिनजन्मोत्सवमन्वागच्छन् सुराः, देवेन्द्रोपपाताऽध्ययनमन्वागच्छहेन्द्रेन्द्रः, तेन हेतुनेत्यर्थः ।  
१२ पर्वतमन्ववसिता सेना, नदीमन्ववसिता पुरी, पर्वतनदीभ्यां सह सवद्धेत्यर्थः । अन्ये तु तृतीयाऽर्थमात्र इच्छन्ति—पर्वत-  
मन्ववसिता सेना, पर्वतेन कर्त्रा करणेन वा कृतान्तेत्यर्थः । तृतीयाऽपवादो योगः ॥ ३८ ॥

क्रियाजनित इति शेष, अत्र संचन्धस्योभयाधिष्ठानतया विद्युतोऽभिना योगेऽपि गौणादिति वचनात् प्रधानत्वात् ततो न द्वितीया । वृक्षं वृक्ष-  
१५ मभि सेक इति । सेक इति भावे चन्त, अत्र वृक्षस्य वृक्षस्य सेक इति सेकेन वृक्षाणां वीप्स्यमानानां सेक प्रति यत्सेषां साध्यसाधनभावलक्षण-  
संचन्ध सोऽभिना द्योत्यते, वीप्सा तु द्विवचनद्योत्येति । अन्ये त्वन्यथा वर्णयन्ति—वीप्सावीप्स्यमानयो संचन्धो द्विवचनेनैव द्योत्यते न त्वभिना  
इति संचन्धमद्योतयतापि तेन योगे वचनात् द्वितीयेति । साधुर्देवदत्तो मातरमभि—अत्र साधुर्देवदत्तस्य साधुभाव प्रति विषयता, इत्थं प्रकार  
१८ साधुर्विषये प्राप्त इत्यर्थः, योऽसौ साधुरित्यप्राप्त्या विषयविषयिभावलक्षण संचन्ध सोऽभिना द्योत्यते इति । यदत्र ममाभि स्याच्चदीयतामिति ।  
अत्र ममेति न लक्षणादिरिति ततो द्वितीया न भवति, तदभावे गौणात् प्रथमापवाद “क्षेपे” २।२।८१। इति वक्ष्ये । नन्वभ्यादयं संचन्ध-  
द्योतका, तद् कस्मिन्नत्र संचन्धेऽभिरित्याह—अभिनेत्यादि । आगेन य संचन्धोऽस्सदर्थस्य भागिभाव स द्योत्यते, तेन ममेति षष्ठान्त संचन्ध-  
२१ मात्रेऽपि संचन्धविशेषो भागसंचन्ध प्रतीयते, तद्व्यपवाद—योऽत्र मम भागः स्यादित्यर्थ इति । अथ कथं यदत्र मामभिष्याद् इत्यत्र  
द्वितीयाप्रयोगः १, अत्राऽभिरस्तिना युक्त उपसर्गोऽत एव “प्रादुरुपसर्गो” २।३।५८। इत्यत्रोक्तं भत्वम्, उच्यते—अभिगुक्तोऽस्तिरामजतीत्यभिषर्पे  
वर्तते, तत्र “कर्मणि” इति द्वितीया । पूर्वत्र तु वृक्षादिधर्मं सेकायपेक्षया विषयभावसंचन्धमभिधायितयति न क्रियाधर्ममिति चातुसंचन्धभावाद-  
२४ नुपसर्गत्वाच्च तत् पत्वमिति । ननु “लक्षणवीप्सेत्यभूतेषु” इति बहुवचन किमर्थं १, लाघवायमेकवचनमेव निर्दिश्यतामितीत्याह—अत्राऽपीत्यादि ।  
यथेकवचनेन निर्दिश्येत तदैकद्विवह्वाविलस्यैकवचनान्तत्वेन समसंख्यत्वात् यथासंख्य स्यात्, ततश्च लक्षणे एकलक्षणं वीप्से द्वयोरित्यभूते  
बहुषु द्वितीयेत्यर्थः स्यात्, बहुवचनं तु सङ्ख्याभेदोपादानार्थमिति । एवमुत्तरसूत्रेष्वपि द्रष्टव्यम् ॥ ३६ ॥

२७ भागिनि च प्रतिपर्यनुभिः । भजन्ति तमिति भागस्त्वार्थनाह—स्वीक्रियमाणोऽश इति । यत्स्वस्वीक्रियमाणेऽप्यशो भाग-  
शब्दः प्रयुज्यते—नगरस्य भागः, “भियर्भोग” इति स स्वीक्रियमाणोऽशस्येति भागस्त्वर्थो यमसाधामजति, स भागोऽस्यास्तीति भागी तस्य  
खान्द्युच्यते । चकारेण अनन्तरा लक्षणादयोऽर्था अनुकृष्यन्ते, गौणादिति नाम्न इति द्वितीयेति चानुवर्तते । तथा च “भागिनि च लक्षणवीप्सेत्य-  
३० भूतेषु वर्तमानात् प्रतिपर्यनुभिर्युक्तात् गौणात् नाम्नो द्वितीयेत्यन्वयस्तदाह—तत्र लक्षणादिषु चाऽर्थेष्विति । यदत्र मा प्रतीत्यादि । योऽत्र मम  
भाग स्यादित्यर्थः । समीप इत्यर्थः इति । अनेन वनस्य समीपिभाव इति वीप्सादिभावाभाप उक्त ॥ ३७ ॥

हेतुसहार्थेऽनुना । गौणादिति नाम्न इति द्वितीयेति चाऽत्र वर्तते । हेतुसहार्थं वर्तमानात् अनुना युक्ताद् गौणात् नाम्नो द्वितीयेत्य-  
३३ न्वयः । हेतुद्विविधो जनको ज्ञापकश्च, तत्र ज्ञापकस्य लक्षणत्वात् तत्र पूर्वसूत्रेणैव द्वितीया सिद्धेति जनक एव युक्त इत्याह—हेतुर्जनक इति ।  
सहार्थ इत्यादि । ननु तुल्ययोगाद्यर्थोऽसौ विषय आश्रय पर्वतादिरर्थः सोऽप्युपचारात् सहार्थशब्दाच्च इत्यतोऽपि । जिनजन्मोत्सवमन्वागच्छन्  
३४ सुरा इति । अत्र जिनजन्मोत्सवो हेतु सुरागमन हेतुमात्र, तत्र जिनजन्मोत्सवस्य हेतुभाव सुराऽऽगमनापेक्ष सोऽनुना द्योत्यते, तस्मात् सधु-  
कात् गौणात् द्वितीयेति । एव देवेन्द्रोपपातस्य आगमविशेषस्य परावर्तनमपि देवेन्द्रागमस्य हेतुरित्याह—तेन हेतुनेत्यर्थः इति । अत्र “हेतु-  
कर्तृकरणेत्यभूतलक्षणे” २।२।४४। इति प्राप्तां तृतीयां बाधित्वा द्वितीया भवतीति । पर्वतमन्ववसिता सेनेति । अवपूर्वस्य सिनोते कर्मणि  
३५ कर्तृत्वार्थमाह—पर्वतनदीभ्यामित्यादि । पर्वतादिना सह य सहभाव सोऽनुना द्योत्यते इति । अत्र यथा साकप्रत्युत्तिभि सहार्थवाचकै-  
योगे तृतीया भवति तयाऽनुनाऽपि सहार्थेन स्यात्, सा द्वितीययाऽनुना बाधयत इति । अन्ये त्विति । कर्तृता करणभावो वा तृतीयार्थ इत्याह—  
पर्वतेन कर्त्रेत्यादि कृतान्तेत्यर्थः इति । अत्र पक्षेऽवसितेति अवपूर्वस्य स्यते के रूपम् । ननु हेतोरपि लक्षणत्वात् तत्र पूर्वणैव द्वितीया  
३६ भविष्यति किं हेतुग्रहणेन १, नैव, जनकस्य लक्षणत्वाभावात्, येन पुन पुनर्लक्ष्यते तल्लक्षणम् । पौन पुन्येन साहचर्याऽवगमे हि लक्ष्यलक्षणभावो  
हेत्वहेतुविषयत्वात् लक्षणस्य नावश्य तदेव लक्षणं येन पुन पुनर्लक्ष्यते, किं तर्हि १, यत्तद्वदपि निमित्तत्वाय कल्पते तदपि लक्षण भवति । कार्यो-  
३७ त्पत्तिनिमित्तमपि तद्विशेषावंगतिहेतुत्वात् लक्षणमेव, यथा—अपि भवान् कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीदिति, सङ्गदेवासौ कमण्डलुपाणि छात्रो दृष्टस्तस्य  
लक्षणं तर्हि द्वितीयायै भविष्यति । ननु द्वितीया सिद्धा, न सिध्यति, परत्वात् हेत्वाध्या तृतीया बाधिका स्यात् । येन नाऽप्रति १ इति न्यायेन  
अन्यादिभिर्गुणै द्वितीया षष्ठा एव बाधिका । तां तु परत्वात् तृतीया बाधेतेति पुनर्विधान स्थानान्तरप्राप्तमपि तृतीयां द्वितीया बाधयत इत्याह—  
४८ तृतीयापवादा योग इति ॥ ३८ ॥

## उत्कृष्टेऽनूपेन ॥ २ । २ । ३९ ॥

उत्कृष्टेऽर्थे वर्तमानात् अनूपाम्यां युक्ताद् गौणात् नाम्नो द्वितीया भवति । अनु सिद्धसेनं कवयः, अनु मल्लवादिनं तार्किकाः, उपोमास्वाति संग्रहीतारः, उप जिनभद्रक्षमाश्रमणं व्याख्यातारः, तस्मादन्ये हीना इत्यर्थः ॥ ३९ ॥ ३

## कर्मणि ॥ २ । २ । ४० ॥

गौणात् नाम्नः कर्मणि कारके द्वितीया भवति । कटं करोति, ओदनं पचति, आदित्यं पश्यति, अहिं लब्धयति-ग्रामं गच्छन् वृक्षमूलान्युपसर्पति, अजां नयति ग्रामम्; गां दोग्धि पयः । अथेह कस्मात् न भवति-क्रियते कटः ?, कृतः कटः ?, शतेन क्रीतः-शत्यः पटः ?, आरूढो वानरो यं स आरूढवानरो वृक्ष इति ?; त्यादिकृत्तद्धितसमासैरभिहित-त्वात् लोकशास्त्रयोश्चाऽभिहितेऽर्थे शब्दप्रयोगाऽयोगात् । यद्येव कटं करोति भीष्ममुदारं दर्शनीयमिति भीष्मादिविशेषणवि-

उत्कृष्टेऽनूपेन । अत्र गौणादिति नाम्न इति द्वितीयेति चाऽनुवर्तते । उत्कृष्टे अनूपेन गौणात् नाम्नो द्वितीयेत्यन्वयस्तदाह—उत्कृष्टे- ९  
ऽर्थे इत्यादि । उत्कृष्टशब्दो हीनापेक्ष, तेन हीनोत्कृष्टसंबन्धेऽनुना बोधे द्वितीयाऽनेन विधीयते । उत्पूर्वात् कृपते कर्मणि के “यद्भावो” इति सप्तम्यां-उत्कृष्टे इति । अनु सिद्धसेनं कवय इति । सिद्धसेनकविनिष्ठस्य हीनोत्कृष्टसंबन्धस्य अपेक्षणक्रियाजनितत्वमनुना ख्याप्यते । यथाऽत्र सिद्धसेनमुत्कृष्टमनूय कवीनां हीनत्वविधाने दत्तमुदाहरण, तथा कवीन् हीनाननूय सिद्धसेनस्योत्कृष्टत्वेऽप्युदाहरण द्रष्टव्यम्, यथा-अनु १२ कवीन् सिद्धसेन इति । पूर्ववदिदमुदाहरण कवीन् हीनाननूय सिद्धसेनस्योत्कृष्टत्वेन बोध्यम् । एवमुपोमेति । संग्रहीतार इति । समग्रविधातार इति, समग्रस्य शास्त्रेषु विदितस्य प्रकीर्णस्य चाऽर्थस्य संक्षेपेणैकत्र सम्यग्रग्रहणमिति । तदाह—तस्मादन्ये हीना इत्यर्थ इति । ननु “लक्षण-वीन्से” इत्यादिसूत्रचतुष्टयी किमर्थमारभ्यते ?, यतोऽप्रयुज्यमानां काचित् सकर्मिकां क्रियामाधिस्य “कर्मणि” इत्यनेनैव द्वितीया भविष्यति, यथा- १५ प्रादेश प्रादेश विपरिलिखतीति । नाऽत्र वेल्लिखि प्रति क्रियायोग, किन्त्वप्रयुज्यमानं घातु प्रति, न हि प्रादेशो लिख्यते । प्रादेशे च योग्या क्रिया वेराक्षेप्येति विमानक्रियाया आक्षेप, तदपेक्षया च द्वितीया-प्रादेश प्रादेश विपरिलिखतीति । अत्र केचिदाहु —अन्वाद्यो गम्यादिक्रियाजनिते नामार्थव्यतिरेके विषयमावादी वर्तन्ते, यथा-राश पुरुष इत्यत्र भरणादिक्रियाजनितव्यतिरेके पुरुषसंबन्धे पठ्यते; न हि क्रियामन्तरेण अय - १८ शलाकाकल्पानां नामार्थानां कश्चित् संबन्ध । तत्राऽन्तर्भावोऽपि क्रियाया न क्रियासंबन्ध उच्यते, अपि तु स्तेन स्वामिन संबन्ध एव, तद्वद्वाऽपि विषयमावादिरूपसंबन्धो न तु कर्मतेवीद्व द्वितीयाविधानम् । प्रादेश प्रादेश विपरिलिखतीत्यत्र तु अप्रयुज्यमानमाक्षेप्यया कर्मतेबोध्यते न त्वन्यत् किञ्चित्, यथा-प्रविश पिण्डीमिति भक्षयेति प्रतीयमानापेक्षया । ईदृशी शब्दशक्ति, न ऐकरूपा एव भावा भवन्ति ॥ ३९ ॥ २१

कर्मणि । अत्र गौणादिति नाम्न इति द्वितीयेति चाऽनुवर्तते । गौणात् नाम्न कर्मणि कारके द्वितीयेत्यन्वयस्तदाह—गौणात् नाम्न इत्यादि । निर्वर्त्यादिभेदेन त्रिविधस्याऽपि कर्मणोऽत्र विशेषानुपादानात् ग्रहणमिति त्रिविधेऽप्युदाहरति—कटं करोतीति । निर्वर्त्ये । ओदनं पचतीति । विकार्ये, अत्र हि ओदनशब्दस्तण्डुलवृत्ति, अतस्तण्डुलान् पचतीत्यर्थ । आदित्यं पश्यतीति । प्राप्ये । सख्यादिकर्मादिशक्ती २४ विमक्तिवाच्ये तत्रेति त्यादिकृत्तद्धितसमासैरभिहितकर्माश्रयेष्वेकत्वादेषु द्वितीयाया विभक्त्यो यथा स्युरिति “अनभिहिते” इति प्रकृत्य द्वितीयादीनां विधानमुचित, तच्चेह न कृतमिति त्यादिकृत्तद्धितसमासाभिहितकर्माश्रयेष्वेकत्वादेषु द्वितीयादयः प्रामुख्यतोऽप्युदाहराह—अथेह कस्मात्-भवतीत्यादि । क्रियत इति । कर्मण्यात्मनेपदम् । कृत इति । कर्मणि क । शत्य इति । शतेन क्रीत इति “शतात् केवलदत्तस्मिन् येको” २७ ३।४।१३।१ इति यत्रल्यय । परिहरति—त्यादिकृत्तद्धितेत्यादिना । अयमर्थ—अभिपूर्वत्वात् दधातिर्वन्धनोच्चारणप्रतिपादनेषु वर्तते । ‘अश्वामिधानीमादत्ते’ इत्यत्र वन्धनवृत्ति । ‘अभिहित खोक’ इत्युच्चारणवृत्ति । ‘अभिहितोऽर्थ’ इति प्रतिपादनवृत्ति । हिनोत्तरपि गतिवृद्धयर्थस्य ‘अभिहित’मिति भवति, तत्र वक्ष्यमाणानां कर्मावधारणां वन्धनार्थचतुष्टयाऽसम्भवात् प्रतिपादनवचन एवाऽभिहितशब्द आश्रयणीय । याव-३० शुष्ण भवत्यनुक्तनिर्दिष्टे इति तावदनभिहिते इति, ततोऽन्यत्र त्यादिभिरभिहिते कर्मादौ प्रयोजनाभावात् द्वितीयादीनामप्रवृत्तेरनर्थकोऽयमनभि-हिताधिकार इति खोक्तमेव युक्त्यन्तरेण द्रष्टव्यम्—लोकशास्त्रयोश्चेत्यादिना । अयमाशय—अर्थप्रत्यायनाय लोके शब्द प्रयुज्यते, स चाऽर्थो यदा शब्दान्तरेण प्रतिपादित स्यात् तदा प्रयोजनाभावात् शब्दान्तरप्रयोगेण न भाव्यम् । अक्षिनिकोचादिभिरप्यवगतेऽर्थे शब्दो न प्रयुज्यते, इह किं पुन शब्दान्तरप्रतिपादितेऽर्थे । यथा-चित्रगु, शबलगुरित्यत्र बहुव्रीहिणोक्तत्वात् मत्वर्थो न भवति । गर्गा, बत्ता, बिदा, उर्वा इति यन्-न्तेनानन्तेन चोक्तत्वादप्यर्थस्य यन्बोलेषु विरोधाभावादुक्तार्थत्वाश्रयेणैवाऽणोऽनुत्पत्ति । एव सप्तपर्णोऽष्टपद इति वीप्सायां विषये द्विवचन-मुच्यते, अस्ति चेह वीप्सा-सप्त सप्त पर्णान्येति, समासेन तु शब्दशक्तिस्त्वामाव्यात् वीप्साया गमितत्वात् द्विवचनाभाव । ननु दर्शितेषु नोक्ता- ३६ र्थत्वेन मत्वर्थोऽप्यवभाव, किन्त्वन्यथा, तथा हि-अस्तिसामानाधिकरण्ये मत्वर्थो विधीयते, न चाऽत्रास्तिसामानाधिकरण्यमस्ति, वर्तिपदार्थो-रन्यपदार्थं उपसङ्गन्तत्वादित्यर्थस्य तत्रैवाऽन्तर्भूतत्वात् स्वार्थस्य सप्तपदत्वात् । यदाऽप्यन्यपदार्थेन तद्वत्ता प्रतिपादयिषिता भवति तदा भवत्येव चित्रगुमानिति । तथा “वाऽऽष्टात्” इत्यधिकारादप्यवद्वान्विन षष्ठान्तात् प्रत्ययेन भाव्य, न त्वप्यवद्वान्विनो द्वितीयमर्थमुपक्रान्तात्, यन्बोध्य ३९ रूपि कृते प्रकृतिरेवाप्यर्थार्थभिषायिनीत्यण् न भवति । तथा वीप्सपानार्थभिषायिन पदस्य द्विवचन विधीयते, पर्वार्थस्य वीप्सायोग, न चाऽत्र पर्वशब्दस्य प्रयोगोऽस्ति । पर्वणि पर्वणि सप्तपर्णान्येति, पङ्क्तौ पङ्क्त्यवधौ पदानीति हि वीप्सायुक्त पद न प्रयुज्यते । एवं तर्हि श्रवणकृत्प्रत्ययेषूक्ता-र्थत्वेनाश्रयणीय, तथा हि-छिनतीति छेनोक्तत्वात् कर्तृत्वस्य कर्तृरिति शब्द न भवति, “भावकर्मकर्तारो विकरणार्था” इति पूर्वोक्तार्थसमयात् । ननु कर्तृ- ४२ बहुभुक्तमितिषदन्त्वस्य बहुनोक्तत्वात् कल्पवादयो न भवन्ति । उष्णै नीचकैरिति कुत्सनादीनामप्येव योतितत्वात् कप् न भवति इति । न चात्रा-प्यवदत्त्वात् आदय शवादीनां वाषका इत्यन्यथासिद्धत्वादुक्तवत्स्य दृष्टान्ताभावाद्देतुत्वमिति वाच्यम्, समानदेशो उत्सर्गणामपवादार्थानात् नानादेशत्वात् तदप्राप्तेरनन्यथासिद्धत्वादुक्तवत्स्य दृष्टान्तभावाद् हेतुत्वमिति । अत्राऽनभिहिताधिकारवादी प्रत्यवतिष्ठते—किमिहाऽकर्तृत्वोऽनभिहिता- ४५ धिकार क्रियते, आहोस्त्रिदपूषो द्वौ इत्यभिहितेऽपि प्रत्ययेन द्वित्वे द्विषदप्रयोगदर्शनात् आदिभिरभिहिते शबादिनिवृत्त्यर्थोऽन्यत्र कर्तृव्य सज क्रियत इति, उच्यते-इहाऽकर्तृव्य क्रियते, अपूपौ द्वाविति तु गतार्थस्यापि द्विशब्दस्य लोके प्रयोगदर्शनात् । अन्यस्य गतार्थस्याऽप्रयोग प्रयोजनाभावात् सिद्ध एवेत्यभिहिते विहित न भविष्यति । अत्र स एव पुन प्रत्यवतिष्ठते-नन्वनभिहितो विभक्त्यर्थ, सोऽभिहिते कर्मादौ सा भूदित्येवमर्थमनभिहित- ४८

- शिष्टस्य कटस्य करोतिक्रियया व्याप्यत्वात् कर्मत्वम्, तच्च कटशब्दादेवोत्पन्नया द्वितीययाऽभिहितमिति भीष्मादित्यो द्वितीया न प्राप्नोति, यथा कृतः कटो भीष्म उदारो दर्शनीय इति करोतेः क्तप्रत्ययेनेति; नैवम्—भीष्मत्वादियुक्तस्य कटस्य संवन्धि कर्मत्वं प्रतिपाद्यम्, न च जातिशब्दाः संभविनोऽपि गुणान् प्रतिपादयितुं समर्था इति तत्प्रतिपादनाय यथा भीष्मादि-शब्दप्रयोगो भवति तथा द्वितीयापि तेभ्यो भविष्यति; न हि सामान्यवाचिनः कटशब्दादुत्पद्यमाना द्वितीया भीष्मादी नामनियताऽऽधाराणां गुणानां कर्मत्वमभिधातुं शक्नोति । यदि वा कटोऽपि कर्म भीष्मादयोऽपि, यथैव ह्ययं कटं करोत्येव १ तद्वत्तान् भीष्मादीनापि; तत्र यद्यत् करोतिना व्याप्नुमिह तत्सर्वं द्रव्यं गुणश्च कर्मति सर्वेषां पृथक्कर्मत्वे प्रत्येकं द्वितीया, वचनेम् । एकत्वादयस्य विभक्त्यर्थः, तत्र हि—“कर्मणि” इत्यत्र “एकद्विबहौ” इत्येकवाक्यतापत्तौ यदेकवाचीनि विशेषणानि, कर्मादीनि विशेष्याणि, एकस्य मत्वम् तत्र द्वितीयैकवचनमिति, तदा कर्म द्वितीयाया अर्थं संप्रयते । तच्च यदा व्यादिभिर्मिहितं भवति तदा गतार्थत्वात् द्वितीयाया प्राप्ति २ रेव नास्तीति भाऽर्थोऽनभिहितवचनेन । यदा तु कर्मादीनां विशेषणत्व, एकत्वादीनां विशेषणत्व, कर्मणो यदेकत्वादि तत्र द्वितीयेति, तदेकत्वादयो विभक्त्यर्थो संप्रयन्ते । ते चाऽभिहितेष्वपि व्याद्यादिभिः कर्मादिष्वनभिहिता इति तदभिधानाय कर्माद्योऽनभिहिताधिकार इति । न च “कर्मणि” इत्यादौ कर्मादीनां श्रुतत्वात् तेषामेव विभक्त्यर्थदेन भाव्यमिति वाच्यम्, कर्मणीति सप्तमीनिर्देशस्यैकत्वाद्यपेक्षत्वादभिधेयत्वाप्रतिपत्तेः, कर्मणि यदेक ३ त्वेति तत्र द्वितीयेति प्रतिपत्तिः । यद्य मन्त्यते—कर्मादयो विभक्त्यर्थोऽस्तेष्वनभिहितेषु विभक्त्यर्थोऽनुपपत्तिरिति नार्थोऽनभिहिताधिकारणेति, तस्य ह्यस्य, ह्यस्य इत्यादौ प्रथमा न प्राप्नोति, नामार्थस्यापि प्रथमार्थत्वे नासौचोक्तत्वात् तदभिधानाय प्रथमाया अप्रवृत्तेरिति । नैव दोषः । न ह्यनभिहिताऽऽनभिहितत्वनेक-नामार्थत्वेन “नाम्न प्रथमे” इति वचनसामर्थ्यात् भविष्यति । द्वितीयादयस्त्वनभिहिते कर्मादौ सावकाशत्वादभिहिते न भविष्यन्तीति । अनभि- ४ हिताधिकारवादिन एवायं दोषो—यस्य ते एकत्वादयो विभक्त्यर्थो इति, एचलोदन देवदत्त इति एकत्वस्य व्यादिनोक्तत्वात् प्रथमाया अभावः । अनभिहितैकत्वाद्यभिधानाय तव विभक्तिविधानम् । पचतीति च कर्तुरेकत्वत्वाऽभिहितमिति न स्यादिति । नैव दोषः । न ह्यनभिहिताऽऽनभिहितत्वनेक-त्वादीनामिति वचनसामर्थ्यात् भविष्यति । न च ब्रह्म ह्यस्यादावनभिहिते सावकाशत्वात् कथं वचनसामर्थ्यमिति वाच्यम्, तत्राप्यनुवृत्त्यमान ५ व्याप्तीत्यस्य गम्यमानत्वात् अभिधानात् सूक्तं वचनसामर्थ्यमिति । ननु च यदि कर्मादयो विभक्त्यर्थोऽस्तदा यथोक्त—कृतं कटो भीष्म इत्यादौ केन कर्मणोऽभिहितत्वात् द्वितीया न भवति, एव कटं करोति भीष्ममित्यादौ भीष्मादिविशेषणविशिष्टत्वात् कटादुत्पन्नया द्वितीयोक्तत्वात् भीष्मादिभ्यः कर्मणि द्वितीयाया अप्रसङ्ग इत्येकं सधितसतोऽप्युक्तं प्रच्यवत इति । अनभिहिताधिकारपक्षे तु व्यादिकृतद्वितसमासैरनभिहित इति परिगणनाद्वाप्यभाव ६ इति चेत्तसि निर्वाणोऽऽक्षिपति—यद्येवमित्यादि । परिहरति च—नैवमित्यादि । अयमर्थः—भीष्मत्वादियुक्तकटस्य कर्मत्वं प्रतिपाद्यं, तत्र च यथा कटशब्देन जातिशब्दत्वात् भीष्मात्वादिगुणानामनभिधानात् तदभिधानाय भीष्मादिशब्दप्रयोगस्तथा द्वितीयाऽपि तेभ्यो भविष्यति, न ह्यन्यथा भीष्मादिगुणानामनियताधारत्वात् तद्विभिधत् कटस्य प्रत्यामयितुं वाक्यते इति । अथवा—यद्यत् करोतिक्रिययाऽऽप्नुमिष्यते तत्सर्वं गुणश्च द्रव्यं कर्म ७ भवति । न ह्यसौ कटमात्रेण संवृण्यति । तत्र करोतिक्रियायां पृथक्पूर्वेषां व्याप्यतया कर्मत्वे द्वितीयेत्येति, पश्चात्तदेकवाक्यतया विशेषणविशेष-णमात्र इत्यादि—यदि चेत्त्यादि । ननु यद्यपि गुणद्रव्ययोः करोतिना सर्वन्धस्तथापि व्याप्यमित्यत्र विचिन्नुयात् प्रकर्मत्वाऽऽनभिहितत्वात् द्रव्यस्यैव क्रियान्तरे उपपत्त्येवमागत्वात् व्याप्यत्वात् कर्मत्व न गुणस्येति कथं भीष्मादिभ्यो द्वितीया ८, उच्यते—भवतु कट एव कर्म, तथापि तत्सामानाधि- ९ ७ कटस्यात् तदेकयोगक्षेमत्वात् केवलानां च नाम्ना प्रयोगोऽनर्हत्वात् भीष्मादीनां स्वयमकर्मत्वेऽपि विशेष्यसंबन्धिन्यया एव विभक्त्या भाव्यम् । यथा ईश्वरसुहृद् स्वयं निर्धना अपि तवीयेन धनेन तत्फलमात्र एव गुणा अपि । अस्ति स्वल्पं कप्तस्यद्वितीयोर्वैषम्यम्, करोतेहपद्यमानं क साकल्येन भीष्मादिगुणगतमपि कर्माऽभिधत्ते, कटशब्दात् पुनरुत्पद्यमानया द्वितीयया कटस्य यत्कर्मत्वं तच्छब्दमभिधातुं न तु भीष्मादिगुणगत १० विशेषकर्मत्वं, तथा च नामार्थगततया एव कर्मशक्यैर्वाचिका द्वितीयेत्यत आह—यदि वा द्रव्यस्येत्यादि । किंच ‘यस्यैकत्वादयो विभक्त्यर्थो’ तस्यायं दोषः ‘अभिहिते प्रथमाया अभावः’—एकं द्वौ बहुव इति । अनभिहितैकत्वाद्यभिधानाय तव विभक्तिविधानम्, तासि चैकद्विभिरेवोक्तानि तसि प्रथमाया अप्राप्तिः । ननु मस्यापि ‘कर्मादयो विभक्त्यर्थो’ तस्याप्ययं दोषो यतस्तेनाऽपि “कर्मणि” इत्यादीनामेकद्विबहौविलेनेनैकवाक्यताऽभ्यु- ११ पगन्तव्या । गुणप्रधानमात्र एव तस्य तु विपरितः । तत्र नामार्थगतैकत्वादिविशिष्टे कर्मणि द्वितीया इत्येवमादिवाक्यार्थस्य संप्रयते । एवं चैकत्वादिविशिष्टस्य कर्मणो वाचिका द्वितीया, तच्च नामार्थगतैकत्वादिभिर्मिहितम्, नामार्थव्यतिरेकेणाऽन्येषामेकत्वादीनां विशेषणीभूतानामभावादिक इत्यादौ भवतोऽपि प्रथमाया अभाव इति । अत्रोच्यते—एकत्वादिविषयि व्यतिरेका एकत्वादयं सन्ति, तदुक्तं हरिणा—“निमित्तमेक इत्यत्र विभक्त्या १२ नामिधीयते । तद्वत्तु यदेकत्वं विभक्तिसूत्रं वर्तते” ॥ इति, यथा—शतमित्यत्र प्रवृत्तिनिमित्तं शतसंख्याऽऽप्या, अन्या च विभक्तिवाच्या नामार्थ-शतैकत्वसंख्या, तथा एक इत्यत्राऽपि प्रवृत्तिनिमित्तविभक्तिसंख्ये द्वे एकत्वे इति । यथैव मस्यापि तेष्वनभिहितेषु प्रथमा भविष्यति । किं चैकद्वय समवयवना इत्यं चाऽऽहुर्गुणं च । तत्र नाम्ना गुणोपसर्जनं द्रव्यमभिधीयते, द्रव्योपसर्जनस्तु गुणो विभक्त्या । यथा शीघ्रगमिति गुणोपसर्जनद्रव्या- १३ मिधायिनं शीघ्रशब्दात् द्रव्योपसर्जने तस्मिन्नेव गुणे भावप्रत्ययः । तदेव यस्मिन् द्रव्ये स्थित एकत्वादियुक्तस्य द्रव्यस्याऽत्रा एकत्वादयस्यदमि-धानाय प्रथमा भविष्यति । अथवा—संख्या नामेय परप्रचाला, संख्येयमनया विशेष्यम् । यदि चाऽत्र प्रथमा न स्यात् केवलस्य नाम प्रयोगाभावात् प्रथमाया अभावे एकादिशब्दानुच्चारणात् । अथवा—प्रत्ययपरैव अकृति प्रयोक्तव्या न केवला इत्येवमुक्ता समयाद्भवति । अन्या अपि १४ कस्मान्न भवन्ति १, कर्मादीनामाभावात्, कर्मण्येव द्वितीयेत्येव द्वितीयादीनां नियतत्वात् । तर्हि पठौ प्राप्नोति, कर्माद्यभावस्य शेषरूपत्वात्, नैव-अक्षेपत्वात् न भविष्यति, उपपत्त्यादयो हि शेषः, नामार्थस्य च प्रथमाविधायुपयोगात्स्य चाऽव्यतिरेकस्य सङ्गात्वात् । वचनव्यतिरेकप्रसङ्गोऽपि नास्ति, सामर्थ्यादिव्यासिद्धे । एक इत्यत्रैकमेवैकत्वं, तथा नामार्थगतैकत्वादिभिर्मिहितमिहाऽपि प्रथमा समवयवनेन प्राप्यते । तत्र यथा समवयव प्राप्नोति १५ भवति, एकत्वात्तु गुणं चाऽन्यत्र तदभिधाने दृष्टव्यमर्थं वचनं भवतीति ‘संख्याविभक्त्यर्थस्तत्राऽनभिहिताधिकारं परिगणनं च व्यादिकृतद्वित-समासैरिति युक्तम्—क्रियते कटं, कृतं कटं, औपगव, चित्रगुरेत्यादौ कर्मापलापलवत्स्वामिसंबन्धानां व्यादिकृतद्वितसमासैरभिहितत्वात् द्वितीयादयो न भवन्ति । तथाऽनभिहितमिति सामान्येन विधीयमाने यत्र बहूनि नामानि समानाधिकरणानि तत्रैकयोगक्षेमत्वादिकत वत्प्रथमा १६ द्वितीयाया सर्वनामार्थगत कर्मत्वमभिहितमिति त्वेभ्यो द्वितीया न प्राप्नोति का तर्हि स्यात् १, पठौ, कर्मादीनामभावाद्वाच्यं नितान्तं न प्राप्नुवन्ति । समवयव कृतं—न केवला अकृति प्रयोक्तव्या न च केवल प्रत्यय इति । न चाऽप्या उत्पद्यमाना सामानाधिकरण्यसंबन्धमुत्पद्यते बहुमिति द्वितीया

85

हितेति तद्व्यकाशमाणा द्वितीयोत्पत्तौ निमित्तं न भवति, यथा च ग्रामो गन्तुमिष्यते देवदत्तेनेति ग्रामस्य प्रधानेष्विक्रिया-  
विषयां कर्मशक्तिमात्मनेपदेनाऽभिदधताऽप्रधानगमिक्रियाविषयाऽपि कर्मशक्तिरूपमुक्तेति तदभिधानाय द्वितीयाचतुर्थ्यौ न  
भवत इति । इह च गौणत्वं क्रियाऽपेक्षं, तेनाऽजां नयति ग्राममित्यादौ ग्रामाद्यपेक्षयाऽजादेः प्रधानत्वेऽपि गौणत्वं न विहन्यत  
इति । इह तु कृतपूर्वी कट, भुक्तपूर्वी ओदनम्, व्याकरणं सूत्रयतीत्यादौ यः कृतादिभिः कटादेरभिसंबन्धः स प्रत्ययेऽर्था-  
न्तराऽभिधायिन्युत्पन्ने कृतादीनामुपसर्जनत्वात् निवर्तते, क्रियया तु सह संबन्धोऽस्तीति व्याप्यत्वाद् द्वितीया भवति ॥ ४० ॥

### क्रियाविशेषणात् ॥ २ । २ । ४१ ॥

क्रियाया यद्विशेषण तद्व्यचिनो गौणात् नाम्नो द्वितीया भवति । मृदु पचति, स्तोकं पचति, मन्दं गच्छति, सुख  
शेते, दुःखं जीवति, सयुक्तिकं भाषते, अयो पचति शोभन ते भार्याः—अत्र “सपूर्वात् प्रथमान्तात् वा” ॥ २ । १ । ३२ ॥  
इति विकल्पो न भवति । द्वितीयार्थं च वचनं न कर्मसंज्ञार्थम्, तेन कृद्योगे कर्मनिमित्ता षष्ठी न भवति; ओदनस्य  
शोभनं पक्ता, सुखं स्थाता, कष्टं स्थाता, चिरमासिता, तथा मन्दं गन्ता ग्रामायेत्यादौ चतुर्थी न भवति ॥ ४१ ॥

कृतादिभिः कटादेरभिसंबन्धः स कृते परार्थाभिधायित्वेन कृतादीनामुपसर्जनत्वाद्गुणपक्षे प्रत्ययेऽर्थान्तराभिधायित्वात् निवर्तते । अस्ति च करोतेरभि-  
संबन्धः कटादिनेति कृत्वा द्वितीया भविष्यति । न च प्रत्ययाभावोऽसामर्थ्यात्, यतो चेद गुणपदुभयं भवति—वाक्यं च प्रत्ययश्च । यदा वाक्यं, न तदा  
प्रत्ययः । यदा प्रत्ययः, सामान्येन तदा वृत्तिः । तत्राऽवश्यं विशेषार्थिना विशेषोऽनुप्रयोक्तव्यः—कृतपूर्वी, किम् ? कटमिति । भुक्तपूर्वी, किम् ? ओदन-  
मिति । एवमन्यत्रापित्याह—इह त्वित्यादि । अत्राऽयं तात्पर्यार्थः—कृत कट पूर्वमनेनेति वाक्ये कृतकटयोः सामानाधिकरण्यम् । अस्मिन्वाच्ये-  
विशेषे वृत्त्या न भाव्य, तस्या सामान्यविषयत्वात् । सामान्येन च व्यवहारयोगात् तस्मात् कर्मसामान्ये भावे वा क उपपद्यते । तत्र कृत पूर्वमनेनेत्य-  
स्मिन्वाच्ये कृतपूर्वशब्दो वर्तते, तेन पूर्वं कृतवानित्यर्थः संपद्यते । तत्र करोतिवाच्यक्रियापेक्षमसि कटादेः कर्मत्वम् । तथाऽऽह हरि—“विशेषकर्मसंबन्धे  
निर्मुक्तोऽपि कटादिभिः । विशेषनिर्पेक्षोऽन्यः कृतशब्दः प्रवर्तते” ॥ १ ॥ “अकर्मकत्वे सत्येव कान्ते भावाभिधायिनि । ततः क्रियावता कर्त्रा योगो  
भवति कर्मणा” ॥ २ ॥ “अविग्रहा गतादिस्था यथा ग्रामादिकर्मणि । क्रिया सचच्यते तद्वत् कृतपूर्वादिषु स्थिता” ॥ ३ ॥ व्याकरणं सूत्रयतीत्यत्रापि  
लक्ष्ये लक्ष्यलक्षणसमुदाये वा व्याकरणशब्दो वर्तते, तत्र व्याकरणस्य सूत्रं करोतीति वाक्ये भेदनिबन्धना षष्ठी । यदा तु लक्षण एव व्याकरणसूत्र-  
शब्दो वर्तते तदा व्यपदेशिवद्भावनिमित्ता षष्ठी । उत्पन्ने तु प्रत्यये योऽसौ सूत्रव्याकरणयोरभिसंबन्धः स निवर्तते । अपि च करोतेर्व्याकरणे-  
नाऽभिसंबन्धः इति द्वितीया भवति । तदयमर्थः—वाक्ये द्रव्यरूपं सूत्रं शब्देनाऽभिधीयते । णिन्वि रूपेण सत्त्वभावातिवर्तनात् करोत्यर्था-  
भिधायी सूत्रशब्दः संपद्यते, परार्थाभिधायित्वाद्गौणमिति । प्रक्रियागतविभागाऽऽभ्रयणेन चेदसुच्यते । परमार्थतश्च धात्वन्तरं सूत्रि—“सूत्रम्”  
क्रियावचनं इति ॥ ४० ॥

क्रियाविशेषणात् । गौणात् नाम्नो द्वितीयेत्यनुवर्तते । क्रियाविशेषणात् गौणात् नाम्नो द्वितीयेत्यन्वयः । करोतेर्भावे कर्मणि वाऽत्र  
अप्रत्यये—क्रिया, विपूर्वात् ‘शिष्टपृष्ठ’ विशेषणे, इत्यतो विशिष्यते—अवच्छिद्यतेऽनेनेति करणेऽनटि—विशेषणम्, धात्वर्थं—क्रिया परिणामपरिस्प-  
न्दवर्तनालक्षणा त्रिधा, तस्या यद्विशेषणमवच्छेदकं तत् इत्याह—क्रियाया यद्विशेषणमिति । ननु रूपाद्युपाधिवत् क्रिया द्रव्यस्यैवोपाधिः,  
न चोपाधेरुपाध्यन्तरसंभवः, ‘निर्गुणा गुणा क्रिया च’ इति वचनात् । तत्कथं क्रियाया विशेषणसंभवः ? सत्यमेतत्—किन्तु सजातीयस्य द्रव्योपा-  
धेरपेक्षयोक्तव्यं दृश्यते, यथा—शुक्लं, शुक्लतरं, शुक्लतमं इति रूपरसादीनां कला इति प्रविभागप्रचयापचयाभ्यामुत्कर्षापर्यवृत्तित्वं भवति, तत्तू-  
पाध्यन्तरयोगात् । तदाहुस्तद्विद—“भवेद् द्विगुणमाधुर्यमनन्तगुणकालकम् । द्रव्यं चतुर्गुणोद्भूतगन्धमात्रफलदिकम्” ॥ १ ॥ यथा च रूपादीनां  
तथा क्रियाणामपि परस्परापेक्षया विशेषसंभवे शोभनं पचतीत्येव विशेषणयोगः स्यात्, कथमन्यथा पापच्यते पचतितरामित्यादौ तासामेकरूप-  
त्वात् यदाप्रत्ययविधिः स्यात् । ननु चासत्त्वभूता क्रिया, तदुपाधिवत् सुतरामसत्त्वभूतं, तत्कथं सत्त्वाभिधायिना नाम्ना प्रतिपाद्यत इति ?  
उच्यते—धातुप्रकृतिवाच्याऽसत्त्वभूतैव क्रिया यथा क्रियाशब्देन नामरूपेण सत्त्वरूपापत्ता प्रतिपाद्यते, तयोपाधिरपि सत्त्वरूपापत्ता । शोभनादि-  
शब्देनेत्यदोषः । कथं पुनरसत्त्वभूतोऽर्थः सत्त्वरूपेण प्रकाशयत इति चेत् ? स्ववाचकप्रकाशवलादिति ब्रूमः, स्वशक्तिरियं वाचकानां यदसत्त्वं  
सत्त्वरूपतया प्रकाशयन्ति, पदार्थस्य वा स्वरूपमिदमीदृशं यद्विशिष्टेन वाचकेनाऽभिधीयमानोऽसत्त्वरूपः सत्त्वरूपतया प्रकाशते । तदुक्तं—“व्यपदेशे  
पदार्थानामन्या सत्तोपचारिकी । सर्वावस्थासु सर्वेषामात्मरूपनिदर्शनी” ॥ १ ॥ “स्फटिकादि यथा द्रव्यं भिन्नरूपैरुपाध्रयैः । स्वशक्तियोगात् सवदं  
तद्रूपेणैव गम्यते ॥ २ ॥ इति । उदाहरणं—मृदु पचतीत्यादि । ननु “क्रियाऽव्ययविशेषणे” इति लिङ्गाकारिकावचनात् नपुंसकत्वमेकत्वं च  
क्रियाविशेषणानामभिहितं, तत्र “नात्र प्रथमैः” इति सूत्रेण यथा प्रथमा विहिता समेत्योऽव्ययेभ्यस्तथा क्रियाविशेषणादपि प्रथमा । अन्ये त्वाहुः—  
मीमांसिनाऽव्यये द्वितीया तथा मन्दं पचति साधु गच्छतीत्यादौ कर्मत्वात् क्रियाविशेषणादपि स्यात् किमनेनेत्याह्वाऽऽह—द्वितीयार्थमित्यादि ।  
तत्फलं दर्शयति—तेनेत्यादि । अयमर्थः—यथा ओदनस्य पकेत्यादौ कृदन्तकर्मत्वादोदनादिशब्दात् कर्मणि षष्ठी, एव शोभनं पकेत्यादौ शोभनशब्दा-  
दपि स्यात्, न चासाविष्टा, सिद्धाऽसंमतत्वात् । तथा मन्दं गन्ता ग्रामायेत्यादौ चतुर्थी चाऽनिष्टा स्यात् । ननु शोभनं पकेत्यादौ “कर्मणि कृतं”  
इत्यनेन कर्मणि षष्ठ्युच्यते, शोभनमिति क्रियाविशेषणत्वेन कृदन्तस्य कर्म, तदिह कृदन्तधातुवाच्याया क्रियाया विशेषणं, न च सा क्रिया आत्मन  
एव कर्मोऽपि तु करोतीति क्रियान्तरस्य, सा यस्या क्रियाया कर्मं तस्या एवेदमपि कर्मं तत्सामानाधिकरण्याद्व्यस्य कर्मत्वमिति क्रियाविशेषणे  
षष्ठी न भवति । नैवम्—नाऽत्र पचतीत्यादिक्रियाया कर्मत्वं, न ह्यत्र क्रियान्तरमस्ति, यदपेक्षया धात्वर्थस्य कर्मता स्यात् । तथा हि—धातुर्वि-  
दार्थं देवदत्तादिव्यापारं क्रियामाचष्टे प्रत्ययश्च साधनं, तं च व्यापारं दर्शयता विक्रियार्थं पाकशब्दमुपादाय पाकं करोतीत्युच्यते, न त्वत्र धात्व्या-  
ताया विक्रियसाधनदेवदत्तादिव्यापारलक्षणाया क्रियाया कर्मत्वात्पत्तौ क्रियान्तरं प्रतीयते येनेदं कर्मं स्यात् । अतः क्रियाविशेषणात् प्रथमैव भवति  
न विमत्तयन्तरस्य प्राप्तिरस्तीति । नन्वस्तु प्रथमा, प्रथमाद्वितीयैकवचनयो रूपं प्रत्यविशेष इत्युक्तत्वात् दोषाभावात्, नैवम्—प्रथमाभिधाने यद्यो  
पचति शोभनं ते भार्या इत्यादौ तेमे विधानं “सपूर्वात् प्रथमान्तात् वा” इत्यन्यादेशे विकल्पितं स्यात् निर्वक्ष्यते इति प्रथमाविधिर्न  
इति द्वितीयार्थमिदमुच्यते इति ॥ ४१ ॥



## कालाऽध्वनोर्व्याप्तौ ॥ २ । २ । ४२ ॥

स्वेन संवन्धिना द्रव्यगुणक्रियारूपेण काल्पर्येन संवन्धो व्याप्तिः, अत्यन्तसंयोग इति यावत्; तस्यां घोलायां कालेऽध्वनि च वर्तमानाद् गौणात् नाम्नो द्वितीया भवति । मासं गुडधानाः, मासं कल्याणी, मासमधीते, क्रोशं पर्वतः, क्रोशं कुटिला नदी; क्रोशमधीते । कालाऽध्वनोरिति किम्?, स्थाल्यां पचति । व्याप्ताविति किम्?, मासस्य मासे वा ग्रहं गुडधानाः, मासस्य मासे वा एकरात्रं कल्याणी, मासस्य मासे वा द्विरधीते; क्रोशस्य क्रोशे वा एकदेशे पर्वतः, क्रोशस्य क्रोशे वा एकदेशे कुटिला नदी; क्रोशस्य क्रोशे वा एकदेशेऽधीते । पृथ्याः सप्तम्या वा अयमपवादः, तेन मासमधीते, क्रोशमधीते इत्यकर्मकत्वे इदमुदाहरणम्; कर्मत्वे “कर्मणि” ॥ २ । २ । ४० ॥ इत्येव द्वितीया सिद्धा । भावादपीच्छन्त्यन्ये—गोदोहं वक्रः, गोदीह बुद्धुदाः ॥ ४२ ॥

## सिद्धौ तृतीया ॥ २ । २ । ४३ ॥

सिद्धौ—क्रियाफलनिष्पत्तौ घोलायां कालाऽध्ववाचिनो गौणात् नाम्नः द्रव्यामृषिलक्षणा यथासख्यमेकद्विवहौ तृतीया विभक्तिर्भवति; व्याप्तौ गम्यायाम् । मासेन मासाभ्यां मासैर्वाऽऽवश्यकमधीतम्, क्रोशेन क्रोशाभ्यां क्रोशैर्वा ग्राभृतमधीतम् । सिद्धाविति किम्?, मासमधीते आचारो न चाऽनेन गृहीतः, अत्र व्याप्तिमात्रं गम्यते न सिद्धिः । भावादपीच्छन्त्यन्ये—१२ गोदोहेन कृतः कटः । द्वितीयाऽपवादो योगः ॥ ४३ ॥

## हेतुकर्तृकरणेत्यंभूतलक्षणे ॥ २ । २ । ४४ ॥

फलसाधनयोग्यः पदार्थो हेतुः, इमं कंचित्प्रकार भूत-आपन्न इत्यंभूतः स लक्ष्यते येन स इत्यंभूतलक्षणः १५

कालाऽध्वनोर्व्याप्तौ । व्याप्तिं व्याचष्टे—स्वेन संवन्धिनेत्यादिना । स्वेन संवन्धिनेत्यत्र “द्विहेतोः” इत्यनेन विकल्पेन पृष्ठीविधानात् कर्तरे तृतीया । संवन्धिने दर्शयति—द्रव्यगुणक्रियारूपेणेति । काल्पर्येनेति । सद्वाधे तृतीया । संवन्ध इति । अत्र कालाऽध्वनो कर्मतापन्नयोरिति गम्यम् । अत्यन्तसंयोग इति । तत्र संयोगस्याविच्छेद इत्यर्थः । गौणात् नाम्नो द्वितीयेत्यनुवर्तते । अनुवर्तमानं गौणादिति १८ कालाध्वनोरित्यनेन विशिष्यते, तेन चानुवर्तमानं नाम्न इति । तथा च कालाध्वनोर्वर्तमानात् गौणात् नाम्नो द्वितीयेत्यन्वयस्तदाह—कालेऽध्वनि च वर्तमानादित्यादि । कालाध्वनोः प्रत्येकं द्रव्यगुणक्रियाऽत्यन्तसंयोगे क्रमेण द्वितीयासुदाहरति—मासं गुडधाना इत्यादि । गुडं धाना गुडधाना इति द्रव्येण जातिरूपेण वा व्याप्तिं कालस्य, मासे निरन्तरं गुडधाना सन्तीत्यर्थः । क्रोशं पर्वत इत्यध्वनो द्रव्येण जात्या वा व्याप्तिः, २१ क्रोशपर्यन्तं निरन्तरं पर्वतो वर्तते नान्यत् किमपि । मासं कल्याणी, क्रोशं कुटिला नदीति । कालाध्वनोर्गुणेन व्याप्तिः, मासेऽविच्छिन्नमङ्गलत्वात् इति क्रोशपर्यन्तं कौटिल्यवती नदीति चार्थः । मासमधीते, क्रोशमधीते इति । कालाध्वनोः क्रियया व्याप्तिः, त्रिंशद्दिनात्मके मासे निरन्तरमधीते इति क्रोशपर्यन्तं निरन्तरमधीते इति चार्थः । स्थाल्या पचतीति । पाकेन स्थाल्यां व्याप्तायामपि कालाध्वनोरिति वचनादत्र २४ द्वितीया न भवति, तदभावे “सप्तम्यधिकरणे” इति सप्तमी । द्वयोरहोः समाहार इति “द्विगोरहोऽहो” इत्यटि-द्वयहमिति । द्वौ वारावस्थेति विग्रहे “द्वित्रिचतुः” इति सुवि-द्विरिति । अत्र गुडधानादिना मासस्य क्रोशस्य वा काल्पर्येन सवन्धाभावात् पृष्ठी सप्तमी वा भवतीति । एव क्रोशस्य क्रोशे वा एकदेशे पर्वत इत्यादावपि व्याप्तेरभावो द्रष्टव्य इति । अत्र कालाऽध्वनोः सम्बन्धमात्रविवक्षायां पृष्ठी, आधारविवक्षायां तु सप्तमी । २७ अत्रैकदेशशब्दाद्व्याप्तेः समवेसिपि अध्वनोऽभावादनेन द्वितीया न । इयं च द्वितीया पृष्ठीसप्तम्योरुक्तेन प्रकारेण बाधिकेत्याह—पृथ्याः सप्तम्या वाऽयमपवाद इति । न च कालाध्वनोः कर्मत्वेन द्वितीययैव भाव्य किमर्थमेतदिति वाच्यम्, “कालाऽध्वनावदेशं वाऽकर्म चाऽकर्मणाम्” इत्यकर्मकत्वात्संवन्धित्वेनाधारस्य कर्मसंज्ञाविधानात् सकर्मकत्वात्संवन्धित्वेनयोरुक्तेन प्रकारेण पृष्ठी सप्तमी वा स्यात् न कर्मत्वमित्याह—तेनेत्यादि । ३० कालाध्वनोरिव भावादपीच्छतां मतमुपन्यस्यति—भावादपीच्छन्त्यन्ये इति । प्राज्ञः, अपिशब्दापेक्षां भवे कालाऽध्वनोः समुच्चयः, तन्मतेनोदाहरति—गोदोहमित्यादि ॥ ४२ ॥

सिद्धौ तृतीया । अत्र “कालाऽध्वनोर्व्याप्तौ” इति गौणात् नाम्न इति चानुवर्तते । सिद्धौ व्याप्तौ कालाऽध्वनोर्वर्तमानात् गौणात् नाम्नो द्वितीया ३१ येत्यन्वयः । यद्यपि त्रिप्रकारा व्याप्तिः प्रस्तुता तथापि सामर्थ्यात् क्रियाव्याप्तेरेव सिद्धाविति विशेषणम् । यस्य ह्यारम्भस्तस्य सिद्धिः, द्रव्यगुणयोश्च सिद्धरूपयोः शब्देनाप्रतिपादनाच्च तावारभ्येते, नापि निष्पद्येते इति न ताभ्यां व्याप्तेः सिद्ध्या सवन्धः । ननु यदि क्रिया सिद्धिं व्यभिचरेत्तदा गुच्येत एतद्विशेषणं क्रियाव्याप्तेः, न च काचित् क्रियाऽपरिसमाप्ताऽस्ति । सत्यमेतत्—किंतु काचित् फल संपाद्य समाप्यते, काचिदन्यथा, तत्र ३६ विशेषणोपादानसामर्थ्यादधिगतफला या समाप्यते तद्व्याप्तौ द्वितीयाबाधिका तृतीयेत्याह—सिद्धौ—क्रियाफलनिष्पत्तावित्यादि । सिद्धि-क्रियाफलनिष्पत्तितत्त्वं क्रियाव्याप्तावेवाऽयं सिद्धिर्न द्रव्यगुणव्याप्ताविति क्रियाव्याप्तावेवोदाहरति—मासेन मासाभ्यां मासैर्वाऽऽवश्यकमिति । वावश्यकं नामाऽध्ययनविशेषः । अचीतमिति । सिद्धं गृहीतं शिक्षितमिति यदर्थमध्ययनं तत्फलनिष्पत्तिर्गम्यते । तदभावे प्रत्युदाहरणे द्वितीये ३७ वेलुदाहरति—मासमधीते आचारो न चाऽनेन गृहीत इति । अत्र व्याप्तिमात्रं गम्यते न सिद्धिरिति सिद्ध्यर्थाविवक्षामात्रेण तृतीयाया अभिभावः । अत्रापि कालाध्वनोर्व्याप्तिर्विद्यमानत्वात् पूर्वेण द्वितीयायां प्राप्तायां तद्व्यवधानार्थं योगः, तेन यदुच्यते केचित्—मासेनानुवाकोऽधीतः, क्रोशेनानुवाकोऽधीत इति करण एव तृतीया इतीदं नाऽऽरम्भणीयमिति तदसम्भमित्याह—द्वितीयापवादो योग इति ॥ ४३ ॥

हेतुकर्तृकरणेत्यंभूतलक्षणे । गौणादिति नाम्न इति तृतीयेति चाऽनुवर्तते । हेतुकर्तृकरणेत्यंभूतलक्षणे गौणात् नाम्नस्तृतीयेत्यन्वयः । कर्तृप्रयोजकस्यापि शास्त्रज्ञां हेतुत्वेन व्यवहारानुभयगतत्वेऽपि लौकिक एव हेतुरिति शक्यते, कर्तुं प्रयोजके हि कर्तृत्वात् कर्तृद्वारेणैव तृतीयासिद्धेत्याह—फलसाधनयोग्य इत्यादि । फल-कार्यं, तस्य साधन-निष्पादनं करणमिति यावत्, तत्र योग्य-सामान्यतो ह्यसामर्थ्यः । ४५



हेत्वादिष्वर्थेषु वर्तमानाद् गौणात् नाम्नस्तृतीया भवति । हेतौ-धनेन कुलम्, अन्नेन वसति, विद्याया यशः, कन्यया शोकः, तीक्ष्णेन परशुना छिनत्ति; कर्तरि-चैत्रेण कृतम्, मैत्रेण मुज्यते, करणे-दात्रेण लुनाति, मनसा मेरु गच्छति, समेन धावति-समेन पथा ग्रामं धावतीत्यर्थः, एव विषमेण धावति, आकाशेन याति, आधारविवक्षायां तु सप्तम्यपि-समे धावति, विषमे धावति, आकाशे याति; इत्थंभूतलक्षणे-अपि भवान् कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीत्, चूलाया परित्राजकम-द्राक्षीत्; छात्रत्वादिकं प्रकारमापन्नस्य मनुष्यस्य कमण्डलुत्वादि लक्षणम् । इत्थंभूतग्रहणं किम्?, वृक्षं प्रति विद्योतनम् । अपि भवान् कमण्डलुपाणि छात्रमद्राक्षीदित्यत्र तु लक्ष्यप्रधानो निर्देशो न लक्षणप्रधान इति न भवति । “संहार्ये” इत्येव तृतीया सिध्यति, लक्ष्यलक्षणभावे तु षष्ठी मा भूदिति लक्ष्यभूतलक्षणम् । तथा धान्येनाऽर्थः धान्येनाऽर्थो, मासेन पूर्वः, मासेनाऽवरः, असिना कलहः, वाचा निपुणः, गुडेन मिश्रः, आचारेण श्लक्ष्णः, माषेणोनः, माषेण न्यूनः, मासेन विकलः, पुंसानुजः, शङ्कुलया खण्डः; गिरिणा काण इत्यादौ हेतौ कृतभवत्वादिगम्यमानक्रियाऽपेक्षया कर्तरि करणे वा तृतीयेति ॥४४॥

### संहार्ये ॥ २ । २ । ४५ ॥

संहार्यस्तुल्ययोगो विद्यमानता च, तस्मिन् शब्दादर्थाद् वा गम्यमाने गौणात् नाम्नस्तृतीया भवति । पुत्रेण

- १२ योग्यग्रहणमन्तरेण फलसाधन इत्युच्यमाने यः फल साधयति क्रियाविष्टस्तत्र प्रतिपत्ति स्यात्, योग्यग्रहणेन तु योग्यतामात्रप्रतिपत्तावकुर्वन्नापि तत्फल हेतुरिति हेतुत्वं फलसाधनयोग्यत्वम् । तेन रूपेण पदार्थो हेतुरिति हेतुतृतीयया तत्र तस्य योग्यतामात्रं बोध्यते । तथा च घनादीनि कुलादिकं न कुर्वन्त्यपि योग्यतामात्रेण तृतीयास्तुत्यादयन्ति । यत्रापि क्रिया दृश्यते-अन्नेन वसतीति, तत्रापि क्रियायामन्नादेर्योग्यतामात्रविवक्षयैव
- १५ हेतुतृतीया । प्रकृत्यमाणव्यापारविवक्षायां तु करणे तृतीया स्यादिति । ननु योग्यस्य हेतुत्वे सर्वमेव कारक हेतुत्वे स्यात् अयोग्यस्याकारकत्वात्, तत्र कर्तृकरणयोस्तृतीयाविधानमनर्थकं, “हेतु” इत्येव गतत्वात् । कर्मादौ च यद्यपि विभक्त्यन्तरं विहित तथापि यत्र कारकत्वमेव भवति न कर्मादिविशिष्टरूपता तत्राऽपवादभावात् तृतीया प्राप्नोति-नटस्य शृणोति, ग्रन्थिकस्य शृणोतीति, उच्यते-न हेतुमात्रं कारकत्वमपि तु विशिष्टरूप
- १८ क्रियाया निर्वर्तकं नाम । तत्रापि कर्मादिभावो विशिष्टस्तस्य विशिष्टस्य रूपस्य कर्तृकरणयोर्विधानं, अन्यथा तत्र षष्ठी स्यात् । नटस्य शृणोतीत्यत्रापि योग्यता न विवक्षिताऽपि तु क्रियायामप्रधानतामात्रमिति न भवति, तद्विवक्षायां तु तत्रापि तृतीया भवत्येव-नटेन शृणोतीति । इममिति । प्रत्यक्षीक्रियमाणस्य प्रकृत्यर्थस्यानवधारणात् तमाह-कचिदिति । विवक्षितमित्यर्थः । प्रकारमिति । यमप्रत्ययार्थः । आपन्न इति । भूतार्थः,
- २१ भूत प्राप्त्यर्थस्य प्रयोगात् । स लक्ष्यते येनेत्यादितात्पर्यं कथनम् । क्रमेणोदाहरति-धनेन कुलमित्यादि । कुलकरणे धनस्य योग्यता परिदृष्टा तत्प्रत्यक्षं कुर्वन्पि तत्र हेतुरिति व्यपदिश्यते । अन्नेन वसतीति । वसनक्रियालक्षणस्य फलस्य साधनयोग्यत्वादहं हेतु । एव विद्याकन्यातीक्ष्ण-नामपि तद्योग्यत्वात् हेतुत्व द्रष्टव्यम् । ननु यूपाय दारिद्र्यादौ तादर्थ्यलक्षणे संबन्धे हेतुहेतुमद्भावस्य प्रकारभूते प्रतिपाद्ये वारुणे हेतोस्तृतीया
- २४ कस्मात् भवति?, उच्यते-हेतुमतो यूपादेस्त्वादर्थ्यचतुर्थ्योत्पद्यमानया द्विष्टस्य संबन्धस्याभिहितत्वाद्गोणत्वाच्च सवन्ध्याभिधायिन्यास्तृतीयस्या अप्रवृत्तिः, एव तृतीययाऽर्थमिहिते चतुर्थ्या इति । चैत्रेण कृतं, मैत्रेण मुज्यते इति । अत्र चैत्रादि करणादिक्रियायाः कर्तते तत्तत्तृतीयेति । दात्रेण लुनातीत्यादीनि । अत्र दात्रादिना देवदत्तादि कर्ता लवनादिक्रियां करोतीति साधकतमत्वाद् दात्रादि करणमिति तत्तत्तृतीया । छात्र-त्वादिकमित्यादिनेत्यभूतलक्षणार्थमुदाहरणे योजयति, अनुगमत्वात् । सामान्यस्य भेदको धर्म-प्रकार इति मनुष्य इति सामान्यस्य भेदक-श्चात्रत्वादिको धर्म प्रकार इत्यर्थः । आदिशब्देन कुमारत्वादपिग्रह । तमापन्नस्य-प्राप्त्येत्यर्थः । कमण्डलुत्वादि-अत्राऽऽदिशब्देनाऽवदातवर्णादिपिग्रह । तच्च लक्षणं, तेन हि स इत्यभूतो दर्शयते इति तत्तत्तृतीया । ननु कमण्डलुत्वालक्षणस्य हेतुत्वमप्यस्तीति तद्वारेणैव
- ३० भविष्यति, उच्यते-न, तावत् छात्रादिस्वरूप लक्षणाधीनमिति न तस्य लक्षणं हेतु । छात्रादिप्रतीतेस्तु तदेव, न चेद् तत्प्रतीति केनचिद-भिधीयते । सूत्रेण त्वेनेन तृतीया विधीयमाना लक्षणत्वमवधोतयतीति युक्तोऽस्याऽऽरम्भ इति । वृक्षं प्रति विद्योतनम्-अत्र विद्योतनं नाम प्रकारस्तमापन्नस्य कस्यचिन्न वृक्षो लक्षणम्, “लक्षणवीप्स्येत्यभूते” इत्यादिना प्रत्यादियोगे लक्षणे द्वितीयस्या अपवादरूपाया विद्यमानत्वाद् कथं
- ३३ प्रत्युदाहरणमिति चेद्, सत्यमेवैतत् जातो पदार्थः, व्यक्ती तु पर्याय स्यादिति प्रत्युदाहियते । अथवा-वृक्षं प्रतीति वृक्षस्य लक्षणत्वप्रदर्शनपरमेतत्, प्राप्तिस्त्वत्रेत्यभूतग्रहणाभावे वृक्षेण विद्योतनमिति तृतीयाप्रसक्ते प्रत्यभावे एव विज्ञायत इत्यदोषः । अथेत्य-भूतलक्षणे लक्ष्यवाविशब्दस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः, अन्यथा ‘कमण्डलुपाणि छात्रमद्राक्षीद्’ इति बहुव्रीहौ कृते कमण्डलुशब्दात् तृतीया
- ३६ स्यात् । न च प्रत्ययलक्षणेन “अधातुविभक्तिः” इति नामसंज्ञाप्रतिषेधः, “नाऽऽमण्ये” इति नलोपप्रतिषेधश्चापकात् । न च तृतीयस्या लुप् प्राप्नोति समासनामावयवत्वात्, कृते समासे तस्या सत्पादात्, नैष दोष-इत्यभूतस्य लक्षणेनाप्यभावात् तत्तत्तृतीया न भवति । यत्रेत्यभूतस्य लक्षणं पृथग्भूतं तत्र तृतीया भवति, न चात्रेत्यभूतस्य लक्षणं पृथग्भूतं, तथा ह्ययं प्राधान्येन लक्षणं निर्दिशति-इत्थंभूतस्य लक्षण-
- ३९ मिति । षष्ठीतत्पुरुषस्योत्तरपदार्थप्रधानत्वात् इत्यभूतस्य यक्षस्य प्रधान अप्राप्तोपसर्जनभावः तत्र तृतीया, यथा-कमण्डलुना छात्रमद्राक्षी-दिति । बहुव्रीहौ तु स्वार्थोपसर्जनान्यपदार्थाभिधायित्वात् वर्तिपदार्थं नास्ति लक्षणस्य प्राधान्यं, अन्यपदार्थं लक्ष्यस्यैव प्राधान्यादित्याह-लक्ष्यप्रधान इत्यादि । ननु कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीदित्यादौ कमण्डलुना सह छात्रमद्राक्षीदिति संहार्ययोगोपपत्तेः “संहार्ये” इति तृतीया सिध्यति, तदर्थमनर्थकमित्यभूतग्रहणमित्याह-संहार्ये इत्येवेत्यादि । अयमर्थ-अत्र संहार्ययोग समवति, तद्विवक्षाया च तृतीया सिध्यति, लक्ष्यलक्ष-णभावश्चेद्वाऽधिकोऽस्ति इति तत्र षष्ठीवाचयाऽन्नेन तृतीया विधीयत इति । ननु धान्येनार्थो धान्येनार्थत्वाद् क्रियापदाश्रयणात् कर्तृकरणोरभावात् षष्ठी प्राप्नोतीत्याह-हेतावित्यादि । गम्यमानक्रियापेक्षयापि कर्मादिभावदर्शनात्, यथा-प्रविश पिप्पलीमिति ॥ ४४ ॥
- ४५ संहार्ये । अत्र गौणात् नाम्नस्तृतीयेति वर्तते । संहार्ये गौणात् नाम्नस्तृतीयेत्यन्वयः । सहस्य-सहशब्दस्यार्थो बोल-संहार्य-तुल्य साधारणोऽप्रधानस्य प्रधानेन क्रियादिना य संबन्ध स-तुल्ययोगः । विद्यमानता-सत्ता । ननु च विद्यमानतायामपि तुल्ययोगोऽस्त्येव, सत्ता सहीभयोः संबन्धात्, तथाहि-सहैव दशभिः पुत्रैर्मोरं वहति गर्दमीति सहैव दशभिः पुत्रैः सतीति शक्यं प्रतिपत्तुं, तत्र विद्यमानता चेति तुल्ययोगात् किं पृथग्गोचर्यते?, उच्यते-विवक्षितयोगोभावात् सहैव दशभिरित्यत्र वहनमात्रं विवक्षितं तदर्थेना एव न तत्पुत्राणाम्,



यद्ग्रहणं प्रकृतिनिर्देशार्थम्, तत् इत्याक्षेपात् । भेदग्रहणं किम्?, यष्टीः प्रवेशय, कुन्तान् प्रवेशय । तद्ग्रहणं किम्?, अक्षि काणं पश्य । आख्याग्रहणं प्रसिद्धिपरिग्रहार्थम्, तेनाऽक्ष्णा दीर्घ इति न भवति । कृतमवत्यादिक्रियाऽध्याहारेण कर्तृकरणयोस्तृतीया सिद्धैव संबन्धपट्टीनिवृत्त्यर्थं तु वचनम् ॥ ४६ ॥

कृताद्यैः ॥ २ । २ । ४७ ॥

कृत इत्येवंप्रकारैर्निषेधार्थैर्युक्ताद् गौणात् नाम्नस्तृतीया भवति । कृतं तेन, भवतु तेन, अलमतिप्रसङ्गेन; किं गतेन । कृत, कृतम्, भवतु, अलम्, किम्, एवंप्रकाराः कृतादयः ॥ ४७ ॥

काले भात् नवाऽऽधारे ॥ २ । २ । ४८ ॥

काले वर्तमानात् नक्षत्रवाचिनो गौणात् नाम्न आधारे तृतीया वा भवति । पुष्येण पायसमश्रीयात्, पुष्ये पायस-मश्रीयात्; मघाभिः पल्लौदनम्, मघासु पल्लौदनम् । काल इति किम्?, पुष्येऽर्कः, मघासु ग्रहः, अध्वनि मा भूत् । चित्रासु जाता चित्रा माणविका, तस्यां-चित्रायामास्ते-अत्र माणविकायां मा भूत् । मादिति किम्?, तिलपुष्पेषु यत्क्षीर,

स्तृतीयत्याह—सर्वत्रेत्यादि । ननु च प्रकृत्या दर्शनीयः प्रायेण वैयाकरण इति युक्त प्रयोगः, दर्शनीयत्वं हि प्राकृतं वैकृतं चास्ति वैयाकरणत्व-  
१२ प्रायिकमन्यच्च, तत्रेतरव्युदासार्थं प्रकृत्या प्रायेणेति चार्थवत् । काण इत्यादिप्रयोगे तु अक्ष्णेत्यादिरव्यभिचारेण प्रतीतेरयुक्त प्रयोगोऽर्थस्य गत-  
त्वात्, उच्यते—लोकोऽत्र पर्ययुक्तोऽनर्थकतामनपेक्ष्य प्रतीतेऽपि शब्दान् प्रयुक्ते, लोके च न सर्व एवं सूक्ष्मेक्षिकयां शब्दान् प्रयुक्ते । यस्त्वेवं समीक्षते स न प्रयुक्ते तत्रापि चोपचरितार्थनिवृत्तिरक्ष्णेत्यादिप्रयोगप्रयोजनम्, सत्यमस्य काणो न रूपचारेणेति । यद्ग्रहण-  
१५ मिति । अयमर्थः—यच्छब्देन तत् इत्याक्षिप्यते, तत्स्वस्मादिति च प्रकृतिनिर्देश्यते—यद्भेदेऽस्त्रेदाख्या भवति तत्स्तृतीया भवतीति यद्ग्रहण-  
प्रकृतिनिर्देशार्थं, असति तु यदिदंस्मिन् प्रकाराद्वचनप्रकृतित्वं विज्ञायेत । यष्टीः प्रवेशयेति । यदि भेदग्रहणं न कियते तदा येन तद्दाख्येत्यु-  
च्यमानेऽत्रापि स्यात्, अत्र हि यष्ट्यादिना तद्वाच्यपचारेणाख्यायते । अक्ष्णा काण इत्यादौ च न स्यात्, न छात्राक्ष्यादिशब्देन तद्वाच्यं निर्दिश्यते  
२० इतीष्टानिष्टयोः सिद्धसिद्धयर्थं भेदग्रहणम् । अक्षि काणं पश्येति । यदि तद्वदिति नोपाधीयते तदाऽत्रापि स्यात्, काणशब्देन हि अक्षिभेदेनाक्षि-  
आख्यायते, तद्ग्रहणे तु काणशब्देन नेहाऽस्मिन् आख्यायते इति न भवति । अक्षि काणमिति द्वितीयान्तं विज्ञायते, न च गौणादिलिखिकारा-  
दिह न भवतीत्याशङ्कनीयम् । आख्याग्रहणमिति । यद्भेदेऽस्त्रदन्त यत्र लोक आचष्टे तत्र यथा स्यादिति प्रसिद्धपरिग्रहार्थं, तेन लौकिकप्रयोगा-  
२१ भावात् भवति । तद्दर्शयति—अक्ष्णा दीर्घ इति न भवतीति । दीर्घ इति लोकः कायेनाचष्टे न त्वक्ष्णेत्यर्थः । ननु किमर्थमिदमारभ्यते?, यावता ‘अक्ष्णा काण’ इत्यादौ कृतमवत्यादिक्रियाऽध्याहारेण अक्षिचन्द्रादिभ्यः कर्तृकरणलक्षणैव तृतीया भविष्यतीत्याह—कृतमवत्यादीत्यादि ।  
यद्यप्यधुना क्रिया कल्पयित्वा तदाश्रयेण करणादिकल्पनायां सिध्यत्येव तृतीया तथापि यदा नामार्थसंबन्धो विषयते क्रियामकल्पयित्वा तदा  
२४ पट्टी मा भूत्तृतीयैव यथा स्यादित्येवमर्थः । ननु मा भूत् कर्त्रादौ तृतीया, इत्यभूतलक्षणत्वादस्यादेर्भविष्यति, यदाह—‘इत्यभूतस्य काणस्य लक्षण-  
मक्षि बुध्यते । तत्स्तृतीया तेनैव तत्र सूत्रेण सिध्यति” ॥१॥ अत्रोच्यते—अक्ष्णादेरित्यभूतस्य काणादिलक्ष्यस्य भेदाभावात् लक्षणत्वानुपपत्तिः । यदाह  
उद्गोतकर—‘लक्ष्यलक्षणभावो हि भेदे सत्युपपद्यते । यथा छात्रकमण्डल्वोऽच्छत्रोपाध्याययोर्व्या” ॥१॥, ‘लक्षणादातपत्रादेस्त्र लक्ष्यं तु मिथ्यते ।  
२७ इह त्वेवमसंभाव्यमभेदादक्षिणकाणयोः” ॥२॥, ‘यत्तत्काणं तदेवाक्षि लक्ष्यते तत्र तेन किम् । तत्काणं पश्य इत्येतत् कथं लक्षणं” ॥३॥ ॥४६॥  
कृताद्यैः । गौणात् नाम्नस्तृतीयेत्यनुवर्तते । कृताद्यैर्युक्ताद् गौणात् नाम्नस्तृतीयेत्यन्वयः । कृतादयो न गर्गादिगणवत् सन्निविष्टा एव  
केचन, किं तर्हि?, कृतप्रकाराः कृतितोऽवसेया इत्याह—कृत इत्येवंप्रकारैरिति । निषेधार्थश्चेति च कृतादीनामनेकार्थत्वात् लक्षणतो वा  
३० स्यात् । किं गतेनेति । नाय प्रश्ने किञ्चिद्, किं तर्हि?, निषेधे । यदा प्रश्नार्थश्चेतिरेवाय, प्रश्नान्तु निषेधप्रतीतिः सामर्थ्याक्षितलक्षणया न तु  
शब्दादिति युक्ततरं प्रश्नः ॥ ४७ ॥

काले भात् नवाऽऽधारे । अत्र गौणात् नाम्नस्तृतीयेति वर्तते । काले भात् गौणात् नाम्न आधारे तृतीया नवेत्यन्वयस्तदाह—काले

३१ वर्तमानादित्यादि । मशब्दो नक्षत्रवाचीत्याह—नक्षत्रवाचिन इति । ननु यदि नक्षत्रवाचिन इति शब्दो लक्षणत्वात् न तदानीमसौ नक्षत्र-  
वक्ति, नक्षत्रोपाधिक कालः, रूपसामान्याच्च तत्वाध्यवसायः । पुष्येण पायसमश्रीयादिति । पुष्येण चन्द्रयुक्तेन युक्त काल इति विग्रहे  
“चन्द्रयुक्ताद् काले लक्ष्यप्रयुक्ते” ६।१।६। इत्यणि, तत्रत्यापराशेन ‘लक्ष्यप्रयुक्ते’ इत्यनेन द्विपि पुष्यशब्दो नक्षत्रवाची काले वर्तते; तत् आधारे  
३३ तृतीया । तद्विमुक्तक्षेपसमी—पुष्ये पायसमिति । एव मघासु पल्लौदनमित्यादिपि । ‘स्वार्थिकप्रत्यया नातिवर्तन्ते प्रकृतिलिखितवचनानि’ इति  
कालेऽपि नक्षत्रशब्दो नक्षत्रलिखितस्य एव । अत्राप्यश्रीयादिति योज्यम् । पुष्येऽर्कः, मघासु ग्रह इति । अत्र विशिष्टतारका-  
च्छिन्ने क्षेत्रे पुष्यमघाशब्दौ वर्तते न काले इति तद्ग्रहणञ्च भवति । चित्रासु जाता चित्रा माणविका, तस्यां-चित्रायामास्ते  
३५ इति । अत्र चित्राभिश्चन्द्रयुक्तमिदं काल इति पूर्ववदण् तत्क्षेपश्च, तत्चित्रासु जाता इति विग्रहे “मर्तुचप्यादेरण्” ६।३।८।  
इत्यण् “चित्रादेर्वीरोहिण्या क्रियाम्” ६।३।१०।८। इति तन्त्रेण । “उपादेर्गौणस्याकिपस्तद्विस्तृत्यनोणीच्” इत्याकारनिष्ठतो पुन  
“कात्” इत्याप् । इदानीं यद्यपि चित्राशब्दो माणविकायां वर्तमानः कालमप्युपाधित्वेनान्यत् तत्र चास्य श्रुतिः समाव्यते, तथापि काल  
३८ इति सप्तम्या शब्दप्रवृत्तेराधारत्वेन कालो निर्दिश्यते । इह च चित्रायामास्ते इति तत्कालजातायां माणविकायां नक्षत्रशब्दस्य श्रुतिर्न  
तु काले । यद्यपि च विशेषणत्वेन प्रतीयमानत्वात् कालेऽपि श्रुतिः समाव्यते तथापि तत्र कालस्य गौणत्वात् “गौणस्ययोगेन मुख्ये कार्य-  
संप्रत्ययात्” न भवति । तिलपुष्पेषु यत्क्षीरं तिलच्छेदेषु यदधि इति । अत्र तिलपुष्पविलच्छेदशब्दानुपचारेण यत्र तिला पुष्प्यन्ति

तिलच्छेदेषु यदधि;—अत्र तिलपुष्पतिलच्छेदशब्दौ स्वाऽवच्छिन्ने काले वर्तते इति प्राप्नोति । आधार इति किम् ? अद्य पुष्यं विद्धि । स्थाल्या पच्यते इत्यादिवत् आधारस्य करणविवक्षायां तृतीया सिध्यति, संवन्धविवक्षायां तु षष्ठी मा भूदिति वचनम् ॥ ४८ ॥

प्रसितोत्सुकावबद्धैः ॥ २ । २ । ४९ ॥

एतैर्युक्तादाधारे वर्तमानाद् गौणात् नाम्नस्तृतीया वा भवति । केशैः प्रसितः, केशेषु प्रसितः;—प्रकर्षेण सितो बद्धः प्रसितः, नित्यप्रसक्त इत्यर्थः; गृहेणोत्सुकः, गृहे उत्सुकः, केशैरवबद्धः, केशेष्ववबद्धः । आधार इत्येव ? मनसा प्रसितः, ३ मनसोत्सुकः, मनसाऽवबद्धः; करणतृतीयाया विकल्पो मा भूत् । अवबद्धोत्सुकशब्दसाहचर्यात्तदर्थ एव प्रसितशब्दोऽत्र गृह्यते । पूर्ववत् षष्ठीबाधनार्थं वचनम् । बहुवचनमेकद्विवहाविति यथासंख्यनिवृत्त्यर्थम् ॥ ४९ ॥

व्याप्ये द्विद्रोणादिभ्यो वीप्सायाम् ॥ २ । २ । ५० ॥

व्याप्ये वर्तमानेभ्यो द्विद्रोणादिभ्यो गौणनामभ्यो वीप्सायां तृतीया वा भवति । द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति, द्विद्रोणं द्विद्रोण क्रीणाति;—तृतीया वीप्सायां विहितेति तृतीयान्तस्य पदस्य द्विवचनं न भवति, द्वितीया तु कर्मणि विहिता न वीप्सायामतस्तदन्यस्य द्विवचनं भवति । एवं पञ्चकेन पशून् क्रीणाति, पञ्चकं पञ्चकं क्रीणाति, सहस्रेणाऽश्वान् १२ क्रीणाति, सहस्रं सहस्रं क्रीणाति । द्विद्रोणादयः प्रयोगगम्याः ॥ ५० ॥

समो ज्ञोऽस्मृतौ वा ॥ २ । २ । ५१ ॥

अस्मृतौ वर्तमानस्य संपूर्वस्य जानातेर्यद्व्याप्यं तत्र वर्तमानाद् गौणात् नाम्नस्तृतीया वा भवति । मात्रा संजानीते, मातरं १५ संजानीते । सम इति किम् ? मातर जानाति । ज्ञ इति किम् ? मातरं संवेत्ति । अस्मृताविति किम् ? मातरं संजानाति,

छिद्यन्ते वा तस्मिन् काले वर्तते, न तु नक्षत्रशब्दाविति भादिति वचनाच्च भवति । अद्य पुष्यं विद्धि—अत्र नक्षत्रवाचिनः शब्दस्य काले वर्तमानत्वेऽप्यधार इति वचनात् कर्मणस्तृतीया न भवति । स्थाल्या पच्यते इत्यादिवदिति । आधारस्य करणविवक्षा यथा—स्थाल्या पच्यते १८ इति, आधारो हि स्थाली पाकस्य करणभावेनापि निर्दिश्यते, वस्तुनोऽनेकशक्तियुक्त्वात् किमर्थमेतद्वारभ्यते इत्याक्षेपार्थं । यथैवाऽऽधारस्य करणविवक्षाऽस्ति, तथा सवन्धविवक्षाऽपि । यथा—शृङ्गे शाखा, वृक्षस्य शाखेति । तत्रेह षष्ठी मा भूत् तृतीया यथा स्यादित्येवमर्थं वचनमिति ॥ ४८ ॥

प्रसितोत्सुकावबद्धैः । अत्र आधारे इति नवेति गोणात्तस्तृतीयेति जानुवर्तते । प्रसितोत्सुकावबद्धैर्युक्तादाधारे गौणात् नाम्नस्तृतीया २१ नवेलन्वयस्त्वदाह—एतैर्युक्तादित्यादि । प्रसितशब्दोऽयं गुणवचनोऽप्यस्ति—प्रकृष्ट सितं शुक्रं इति । क्रियावचनोऽप्यस्ति—य स्यते. सिनोलेर्वा भवतीति । तत्रोत्सुकावबद्धशब्दसाहचर्यात् तदर्थं सिनोतिरेव कान्तो गृह्यते इति । प्रकर्षेण सितो बद्ध इति कथैवमुच्यते इत्याह—नित्यप्रसक्त इत्यर्थे इति । मुख्यस्य व्यतिषङ्गरूपस्य बन्धनस्याभावात् सादृश्यात् गौणार्थपरिग्राहः यः केशसंस्कारे सक्तः स तत्र बद्ध इव भवति । यो हि २४ यत्र प्रसक्तः स तत्र बद्ध इव भवति । प्रसितत्वमुत्सुकत्वमवबद्धत्वं च केशविषयमिति सप्तम्यधिकरण एव सिद्धाः पक्षे तृतीयाविधानार्थं वचनम् । विकल्पो मा भूदिति । अत्रापि करणविवक्षया तृतीयासिद्धौ पूर्ववत् समाधातव्यम् । ननु प्रसितशब्दस्य गुणवचनस्य क्रियार्थस्य च समवायुम-यार्थस्यापि ग्रहणप्रसङ्गः, न च गुणवचनस्य तृतीयेष्यते, न च नियामकमस्तीत्याह—अवबद्धेत्यादि । उत्सुकशब्दोऽवबद्धार्थवृत्तिरिति । पूर्ववदि- २७ त्यादि । गतांमिति । ननु समाहारद्वन्द्वमाश्रित्य ‘प्रसितोत्सुकावबद्धेन’ इति निर्दिष्टव्ये किमर्थं बहुवचननिर्देश इत्याह—बहुवचनमित्यादि ॥ ४९ ॥

व्याप्ये द्विद्रोणादिभ्यो वीप्सायाम् । तृतीयेति नवेति गौणात् नाम्नस्तृतीया इति च अर्थवशात् वचनविपरिणतं वर्तते । व्याप्ये द्विद्रोणादिभ्यो गौणनामभ्यो वीप्सायां तृतीया नवेलन्वयस्त्वदाह—व्याप्ये वर्तमानेभ्य इत्यादि । द्विद्रोणेनेति । द्रवते “द्रोवा” उणा० ८४ । इति ३० णे—द्रोण, द्वयोर्द्रोणयोः समाहारो द्विद्रोणः पात्रादित्वाद् औत्वाभावः; अत्र द्रोणो ब्रीहिराढको ब्रीहिरितिवत् द्विद्रोणशब्दो ज्ञेयवृत्तित्वेन धान्यस्य समानाधिकरणो द्विद्रोणशब्दः । द्रोणद्वयसघातं धान्यं क्रीणातीत्यर्थः । अत्र श्रूयमाणक्रीणातिक्रियाव्याप्यत्वात् द्रोणादर्धान्यादिविशेषणत्वात् द्वितीयायां प्राप्तायां तृतीयाविधिः । ननु वीप्सायां तृतीयाविधानं, न च वीप्सा तृतीयान्तस्य दृश्यते, तत्कथमिदमित्याह—तृतीया वीप्सायामि- ३३ त्यादि । एवं पञ्चकेन पशून् क्रीणातीति । पञ्च मानमस्य “संख्यायां संघसूत्रपाठे” ६।४।१७१। इति यथाविहितं “संख्यावृत्तेश्चासिद्धे कः” इति कः, पञ्चकं पञ्चकं संघं पञ्चकं क्रीणातीत्यर्थः । पञ्चकं पञ्चकमित्यत्र पञ्चसामानाधिकरण्येऽपि पञ्चकशब्दाद् ब्राह्मणा संघ इतिवत् एकवचनम् । एव सहस्रेणाश्वान् क्रीणातीत्यादिपि । आदिशब्दस्य प्रकारार्थत्वात् येभ्यो वीप्सायां प्रयोगे तृतीया दृश्यते ते द्विद्रोणादयः, न तु गर्गादिवत् ३६ सप्तविधा इत्याह—द्विद्रोणादयः प्रयोगगम्या इति ॥ ५० ॥

समो ज्ञोऽस्मृतौ वा । व्याप्ये इति गोणात्तस्तृतीयेति जानुवर्तते । अस्मृतौ समः ज्ञो यद्व्याप्यं तत्र गौणात् नाम्नस्तृतीया नवेलन्वयस्त्वदाह—अस्मृतौ वर्तमानस्य संपूर्वस्य जानातेरिति । मात्रा संजानीते इति । “ज्ञांश्च” अवबोधने—संपूर्व, “संप्रतेरस्मृतौ” ३२ १।२।१५। इत्यात्मनेपदम्, ज्यादित्वात् आप्रत्ययः, “आ ज्ञाजोऽस्यादौ” ४।२।१०४। इति आदेशः, “एषामीर्व्यञ्जनेऽद्” ४।२।१५। इतीत्वं च । मातरं जानाति—प्रतिपद्यत इत्यर्थः, सम इति वचनात् स्मृतौ तृतीयाया अभावात् “स्मृत्यर्थद्वयेशः” इति पाक्षिके कर्मते कर्मणि द्वितीया,

यद्ग्रहणं प्रकृतिनिर्देशार्थम्, तत् इत्याक्षेपात् । भेदग्रहणं किम्?, यष्टीः प्रवेशय, कुन्तान् प्रवेशय । तद्वद्ग्रहणं किम्?, अक्षि काणं पश्य । आख्याग्रहणं प्रसिद्धिपरिग्रहार्थम्, तेनाऽक्षणा दीर्घ इति न भवति । कृतभवत्यादिक्रियाऽध्याहारेण कर्तृकरणयोस्तृतीया सिद्धैव संचन्वपष्टीनिवृत्त्यर्थं तु वचनम् ॥ ४६ ॥

कृताद्यैः ॥ २ । २ । ४७ ॥

कृत इत्येवप्रकारैर्निषेधार्थं युक्ताद् गौणात् नाम्नस्तृतीया भवति । कृत तेन, भवतु तेन; अलमतिप्रसङ्गेन; किं गतेन । कृत, कृतम्, गवतु, अलम्, किम्; एवप्रकाराः कृतादयः ॥ ४७ ॥

काले भात् नवाऽऽधारे ॥ २ । २ । ४८ ॥

काले वर्तमानात् नक्षत्रवाचिनो गौणात् नाम्न आभारे तृतीया वा भवति । पुष्येण पायसमश्रीयात्, पुष्ये पायस-मश्रीयात्; मघाभिः पल्लौदनम्, मघासु पल्लौदनम् । काल इति किम्?, पुष्येऽर्कः, मघासु ग्रहः, अध्वनि मा भूत् । चित्रासु जाता चित्रा माणविका, तस्या-चित्रायामास्ते-अत्र माणविकायां मा भूत् । मादिति किम्?, तिलपुष्पेषु यक्षीर,

स्तृतीयत्वाद्—सर्वेभ्येत्यादि । ननु च प्रकृता दर्शनीयाः प्रायेण चैवाकरण इति युक्त प्रयोगः, दर्शनीयत्वं हि प्राकृत वैकृतं चास्ति वैयाकरणत्वं २२ प्रायिरन्यस्य, तथेतरव्युदासार्थं प्रकृता प्रायेणेति चार्थवत् । काण इत्यादिप्रयोगे तु अक्षेणादिरव्यभिचारेण प्रतीतेर्युक्त प्रयोगोऽप्यस्य गत-त्वात्, उच्यते—लोकोऽत्र पर्युयोक्तव्यो योऽर्थवतोऽनर्थक्यतानपेक्ष्य प्रतीतेऽपि शब्दान् प्रयुक्ते, लोके च न सर्व एव सूक्ष्मेक्षिकया शब्दान् प्रयुक्ते । यस्त्वेव समीक्षते स न प्रयुक्ते, तथापि चोपचरितार्थनिवृत्तिरक्षेणादिप्रयोगप्रयोजनम्, सत्यमय काणो न त्वपचारेणेति । यद्ग्रहण-मिति । धयमर्थ—यच्छब्देन तत् इत्याक्षिप्यते, तत्तत्स्वसादिति च प्रकृतिनिर्दिश्यते—यद्देवैस्त्वद्देवाख्या भवति तत्तत्तृतीया भवतीति यद्ग्रहण-प्रकृतिनिर्देशार्थः, भवति तु यदित्यासिन् प्रकराद्वचनप्रकृतिर विज्ञायेत । यष्टीः प्रवेशयेति । यदि भेदग्रहणं न कियते तदा येन तद्वदाख्येत्यु-च्यमानेऽत्रापि स्यात्, अत्र हि यष्टादिना तद्वदुपचारेणाख्यायते । अक्षणा काण इत्यादौ च न स्यात्, न ह्यत्राख्यादिशब्देन तद्वत् निर्दिश्यते २८ इतीष्टानिष्टयो विद्वत्सिद्धार्थं भेदग्रहणम् । अक्षि काणं पश्येति । यदि तद्वदिति नोपादीयते तदाऽत्रापि स्यात्, काणशब्देन हि अक्षिमेदेनाक्षि आख्यायते, तद्वद्ग्रहणे तु काणशब्देन नेहाऽक्षिमात् आख्यायते इति न भवति । अक्षि काणमिति द्वितीयान्तं विज्ञायेत, न च गौणादित्यधिकारा-दिह न भवतीत्याशङ्कनीयम् । आख्याग्रहणमिति । यद्देवैस्त्वद्देव यत्र लोक आचष्टे तत्र यथा स्यादिति प्रसिद्धिपरिग्रहार्थं, तेन लौकिकप्रयोगा- २२ भाषात भवति । तदर्थयति—अक्षणा दीर्घ इति न भवतीति । दीर्घ इति लोक कायेनाचष्टे न त्वक्षेणार्थं । ननु किमर्थमिदमारभ्यते?, यावता 'अक्षणा काण' इत्यादौ कृतभवत्यादिक्रियाऽध्याहारेण अक्षिष्वन्दादिभ्य कर्तृकरणलक्षणैव तृतीया भविष्यतीत्याह—कृतभवत्यादीत्यादि । यद्यप्यधुना क्रियां कल्पयित्वा तदाभयेण करणादिकल्पनायां सिध्यत्येव तृतीया तथापि यदा नामार्थसंचन्वो विवक्ष्यते क्रियामकल्पयित्वा तदा २४ पष्टी मा भूतृतीयैव यथा स्यादित्येवमर्थः । ननु मा भूत् कर्त्रादौ तृतीया, इत्यभूतलक्षणत्वादस्यादर्शविष्यति, यदाह—'इत्थंभूतस्य काणस्य लक्षणं ऋक्षि वृष्यते । तत्तत्तृतीया तेनैव तत्र सूत्रेण सिध्यति' ॥१॥ अत्रोच्यते—अक्ष्यादेरित्यंभूतस्य काणादिलक्ष्यस्य भेदाभावात् लक्षणत्वानुपपत्तिः । यदाह उद्गोतकर—'लक्ष्यलक्षणभावो हि भेदे सत्युपपद्यते । यथा छात्रकमण्डलोऽष्टोपाध्याययोर्थथा' ॥१॥, 'लक्षणादातपत्रादेस्तत्र लक्ष्यं तुमिद्यते । २७ इह त्वेवमसमाख्यभेदादक्षिकाणयो' ॥२॥, 'यत्तत्काण तदेवाक्षि लक्ष्यते तत्र तेन किम् । तत्काणं पुनश्च इत्येतत् कथं त्वपचारत' ॥३॥ ॥४६॥ कृताद्यैः । गौणात् नाम्नस्तृतीयायैववर्तते । कृताद्यैर्युक्ताद् गौणात् नाम्नस्तृतीयायैववच्य । कृतादयो न गगोदिगणवत् सन्निविष्टा एव केचन, किं तर्हि?, कृतप्रकारा शक्तितोऽवसेया इत्याह—कृत इत्येवंप्रकारैरिति । निषेधार्थं इति च कृतादीनामनेकार्थत्वात्, लक्षणातो वा ३० स्यात् । किं गतेनेति । नायं प्रश्ने किञ्चन्द, किं तर्हि?, निषेधे । यदा प्रश्नार्थं इतिरेवाय, प्रकृमातु निषेधप्रतीतिः सामर्थ्याक्षितलक्षणया न तु शब्दादिति युक्ततरं प्रश्नः ॥ ४७ ॥

काले भात् नवाऽऽधारे । अत्र गौणात् नाम्नस्तृतीयायैव वर्तते । काले भात् गौणात् नाम्न आभारे तृतीया नवेत्यन्यस्यत्वादह—काले ३३ वर्तमानादित्यादि । मशब्दो नक्षत्रवाचीत्याह—नक्षत्रवाचिन इति । ननु यदि नक्षत्रवाचिन इति शब्दो लक्षणत्वात् न तदानीमसौ नक्षत्रं वक्ति, नक्षत्रोपाधिकं काल, रूपसामान्याच्च तत्त्वाध्यवसाय । पुष्येण पायसमश्रीयादिति । पुष्येण चन्द्रयुक्तेन युक्त काल इति विग्रहे 'चन्द्रयुक्तात् काले छन्दप्रयुक्ते' ६।२।६। इत्यणि, तत्रत्यापाराशेन 'छन्दप्रयुक्ते' इत्यनेन छपि पुष्यशब्दो नक्षत्रवाची काले वर्तते, तत् आभारे ३६ तृतीया । तद्विमुक्तपक्षे सप्तमी—पुष्ये पायसमिति । एव मघासु पल्लौदनमित्यादि । 'स्वार्थिकप्रत्यया नातिवर्तन्ते प्रकृतिलिङ्गवचनानि' इति चिच्छे क्षेत्रे पुष्यमघाशब्दौ वर्तन्ते न काले इति तद्वद्ग्रहणाय भवति । चित्रासु जाता चित्रा माणविका, तस्या-चित्रायामास्ते ३९ इति । अत्र चित्राभिश्चन्द्रयुक्ताभिर्युक्त काल इति पूर्ववत् तद्वदुपचारेण, तत्तत्तृतीया जाता इति विग्रहे 'भर्तृसंप्रदादेरप्य' ६।३।८९। इत्यण् 'चित्रारेवतीरोहिण्या ब्रियाम्' ६।३।१०८। इति तद्वदुपचारेण । 'छायादेर्गौणस्याकिपस्तदितल्लक्ष्यगोणीसूच्यो' इत्याकारनिवृत्तौ पुन- 'आत्' इत्यात् । इदानीं यद्यपि चित्राशब्दो माणविकायां वर्तमान कालमप्युपाधित्वेनादत्ते तत्र चास्य वृत्तिः सामान्यते, तथापि काल ४२ इति सप्तम्या शब्दप्रवृत्तेराधारत्वेन कालो निर्दिश्यते । इह च चित्रायामास्ते इति तत्कालजातायां माणविकायां नक्षत्रशब्दस्य वृत्तिर्न तु काले । यद्यपि च विशेषणत्वेन प्रतीयमानत्वात् कालेऽपि वृत्तिः सामान्यते तथापि तत्र कालस्य गौणत्वात् 'गौणमुख्ययोश्च मुख्ये कार्य-समप्रत्ययात्' न भवति । तिलपुष्पेषु यक्षीर तिलच्छेदेषु यद्विधि इति । अत्र तिलपुष्पतिलच्छेदशब्दानुपचारेण यत्र तिला पुष्प्यन्ति



तिलच्छेदेषु यदधिः—अत्र तिलपुष्पतिलच्छेदशब्दौ स्वाऽवच्छिन्ने काले वर्तते इति प्राप्नोति । आधार इति किम् ? अद्य पुष्पं विद्धि । स्थाल्या पच्यते इत्यादिवत् आधारस्य करणविवक्षायां तृतीया सिध्यति, संबन्धविवक्षायां तु षष्ठी मा भूदिति वचनम् ॥ ४८ ॥

### प्रसितोत्सुकावबद्धैः ॥ २ । २ । ४९ ॥

एतैर्युक्तादाधारे वर्तमानाद् गौणात् नाम्नस्तृतीया वा भवति । केशैः प्रसितः, केशेषु प्रसितः—प्रकर्षेण सितो बद्धः प्रसितः, नित्यप्रसक्त इत्यर्थः; गृहेणोत्सुकः, गृहे उत्सुकः; केशैरवबद्धः, केशेष्ववबद्धः । आधार इत्येव ? मनसा प्रसितः, मनसोत्सुकः, मनसाऽवबद्धः; करणतृतीयाया विकल्पो मा भूत् । अवबद्धोत्सुकशब्दसाहचर्यात्तदर्थ एव प्रसितशब्दोऽत्र गृह्यते । पूर्ववत् षष्ठीवाधनार्थं वचनम् । बहुवचनमेकद्विवहाविति यथासंख्यनिवृत्त्यर्थम् ॥ ४९ ॥

### व्याप्ये द्विद्रोणादिभ्यो वीप्सायाम् ॥ २ । २ । ५० ॥

व्याप्ये वर्तमानेभ्यो द्विद्रोणादिभ्यो गौणनामभ्यो वीप्सायां तृतीया वा भवति । द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति, द्विद्रोणं द्विद्रोण क्रीणाति—तृतीया वीप्सायां विहितेति तृतीयान्तस्य पदस्य द्विवचनं न भवति, द्वितीया तु कर्मणि विहिता न वीप्सायामतस्तदन्यस्य द्विवचनं भवति । एवं पञ्चकेन पशून् क्रीणाति, पञ्चकं पञ्चकं क्रीणाति, सहस्रेणाऽश्वान् १२ क्रीणाति, सहस्रं सहस्रं क्रीणाति । द्विद्रोणादयः प्रयोगगम्याः ॥ ५० ॥

### समो शोऽस्मृतौ वा ॥ २ । २ । ५१ ॥

अस्मृतौ वर्तमानस्य संपूर्वस्य जानातेर्येव्याप्यं तत्र वर्तमानाद् गौणात् नाम्नस्तृतीया वा भवति । मात्रा संजानीते, मातर १५ संजानीते । सम इति किम् ? मातरं जानाति । ज्ञ इति किम् ? मातरं सवेति । अस्मृताविति किम् ? मातरं संजानाति,

छिद्यन्ते वा तस्मिन् काले वर्तते, न तु नक्षत्रशब्दाविति मादिति वचनाज्ज भवति । अद्य पुष्पं विद्धि—अत्र नक्षत्रवाचिन शब्दस्य काले वर्तमानत्वेऽप्याधार इति वचनात् कर्मणस्तृतीया न भवति । स्थाल्या पच्यत इत्यादिवदिति । आधारस्य करणविवक्षा यथा—स्थाल्या पच्यत १८ इति, आधारो हि स्थाली पाकस्य करणभावेनापि निर्दिश्यते, वस्तुनोऽनेकशक्तिमुक्त्वात् किमर्थमेतदारभ्यते इत्याक्षेपार्थः । यथैवाऽऽधारस्य करणविवक्षाऽस्ति, तथा संबन्धविवक्षाऽपि । यथा—वृक्षे शाखा, वृक्षस्य शाखेति । तत्रेह षष्ठी मा भूत् तृतीया यथा स्यादित्येवमर्थं वचनमिति ॥ ४८ ॥

प्रसितोत्सुकावबद्धैः । अत्र आधारे इति नवेति गौणाच्चात्रस्तृतीयेति चानुवर्तते । प्रसितोत्सुकावबद्धैर्युक्तादाधारे गौणात् नाम्नस्तृतीया २१ नवेल्यन्वयस्तदाह—एतैर्युक्तादित्यादि । प्रसितशब्दोऽयं गुणवचनोऽप्यस्ति—प्रकृष्ट- सित शुक्ल इति । क्रियावचनोऽप्यस्ति—य. स्यते. सिनोतेर्वा भवतीति । तत्रोत्सुकावबद्धशब्दसाहचर्यात् तदर्थं सिनोतिरेव कान्तो गृह्यते इति । प्रकर्षेण सितो बद्ध इति कश्चैवमुच्यत इत्याह—नित्यप्रसक्त इत्यर्थे इति । मुख्यस्य व्यतिषङ्गरूपस्य बन्धनस्याभावात् सादृश्यात् गौणार्थपरिग्रहात् च केशसंस्कारे सक्त स तत्र बद्ध इव भवति । यो हि २४ यत्र प्रसक्त स तत्र बद्ध इव भवति । प्रसितत्वमुत्सुकत्वमवबद्धत्वं च केशविषयमिति सप्तम्यधिकरण एव सिद्धा पक्षे तृतीयाविधानार्थं वचनम् । विकल्पो मा भूदिति । अत्रापि करणविवक्षा तृतीयासिद्धौ पूर्ववत् समाधातव्यम् । ननु प्रसितशब्दस्य गुणवचनस्य क्रियार्थस्य च समवायुभयार्थस्यापि ग्रहणप्रसङ्गः, न च गुणवचनस्य तृतीयेष्यते, न च नियामकमस्तीत्याह—अवबद्धेत्यादि । उत्सुकशब्दोऽवबद्धार्थवृत्तिरिति । पूर्ववदि- २७ त्यादि । गतार्थमिति । ननु समाहारद्वन्द्वमाश्रित्य ‘प्रसितोत्सुकावबद्धेन’ इति निर्देष्टव्ये किमर्थं बहुवचननिर्देश इत्याह—बहुवचनमित्यादि ॥ ४९ ॥

व्याप्ये द्विद्रोणादिभ्यो वीप्सायाम् । तृतीयेति नवेति गौणात् नाम्नस्तृतीया इति च अर्थवशात् वचनविपरिणतं वर्तते । व्याप्ये द्विद्रोणादिभ्यो गौणनामभ्यो वीप्सायां तृतीया नवेल्यन्वयस्तदाह—व्याप्ये वर्तमानेभ्य इत्यादि । द्विद्रोणेनेति । द्रवते “द्रोर्वा” सणा० ८४ । इति ३० मे-द्रोण, द्वयोर्द्रोणयो समाहारो द्विद्रोण प्राप्तदित्वात् क्रीत्वाभावः ; अत्र द्वोणो व्रीहिरादको व्रीहिरितिवत् द्विद्रोणशब्दो भेद्यवृत्तित्वेन धान्यस्य समानाधिकरणो द्विद्रोणशब्दः । द्वोणद्वयस्य धान्यं क्रीणातीत्यर्थः । अत्र श्रूयमाणक्रीणातिक्रियाव्याप्यत्वात् द्वोणादेर्धान्यादिविशेषणत्वात् द्वितीयाया प्राप्त्या तृतीयाविधिः । ननु वीप्सायां तृतीयाविधानं, न च वीप्सा तृतीयान्तस्य दृश्यते, तत्कथमिदमित्याह—तृतीया वीप्सायामि- ३३ त्यादि । एवं पञ्चकेन पशून् क्रीणातीति । पञ्च मानसस्य “सक्याया सघसूत्रपाठे” ६।४।१७। इति यथाविहित “सक्याच्छेत्वाशतिष्ठे क” इति क, पञ्चकं पञ्चकं सघ पञ्चकं क्रीणातीत्यर्थः । पञ्चकं पञ्चकमित्यत्र पशुसामानाधिकरण्येऽपि पञ्चकशब्दाद् बाष्पाणा सघ इतिवत् एकवचनम् । एव सहस्रेणाश्वान् क्रीणातीत्यादि । आदिशब्दस्य प्रकारार्थत्वात् येभ्यो वीप्सायां प्रयोगे तृतीया दृश्यते ते द्विद्रोणादयः, न तु गगादिवत् ३६ सज्जिविष्टा इत्याह—द्विद्रोणादयः प्रयोगगम्या इति ॥ ५० ॥

समो शोऽस्मृतौ वा । व्याप्ये इति गौणाच्चात्रस्तृतीयेति चानुवर्तते । अस्मृतौ सम शो यक्ष्याप्य तत्र गौणात् नाम्नस्तृतीया वेल्यन्वयस्तदाह—अस्मृतौ वर्तमानस्य संपूर्वस्य जानातेरिति । मात्रा संजानीते इति, “ज्ञाश्च” अवबोधने-सपूर्वे, “संप्रतेरस्मृतौ” ३५ ३।३।६। इत्यात्मनेपदम्, ज्ञादित्वात् आश्रयस्य, “जा ज्ञानोऽस्यादौ” ४।२।१०। इति जादेश, “एषामीर्व्यंजनेऽद्” ४।२।१७। इतीत्वं च । मातर जानाति—प्रतिपद्यत इत्यर्थः, सम इति वचनात् स्मृतौ तृतीयाया अभावात् “स्मृत्स्यर्धदेशः” इति पाक्षिके कर्मत्वे कर्मणि द्वितीया,





## तादर्थ्ये ॥ २ । २ । ५४ ॥

किञ्चिद्वस्तु संपादयितुं यत्प्रवृत्तं तत्तदर्थम्, तस्य भावे तादर्थ्ये-संबन्धविशेषे द्योत्ये गौणात् नाम्नः पष्ठ्यपवादा-  
श्रुती मवति । यूपाय दारु, कुण्डलाय हिरण्यम्, रन्धनाय स्थाली, अवहननायोत्खलम् ॥ ५४ ॥

## रुचिकृप्यर्थधारिभिः प्रेयविकारोत्तमर्णेषु ॥ २ । २ । ५५ ॥

रुच्यर्थैः कृप्यर्थैर्धारिणा च धातुना योगे यथाक्रमं प्रेये विकारे उत्तमर्णे च वर्तमानाद् गौणात् नाम्नश्चतुर्थी मवति,  
वचनसाम्यं यथासंख्यार्थम्; बहुवचनं तु एकद्विबहाविति । यथासंख्याऽभावार्थम् । रुच्यर्थैः प्रेये-प्रीयमाणे, -जिनदत्ताय  
रोचते धर्मः, गुरुदत्ताय स्वदत्ते दधि, तस्याऽभिलाषमुत्पादयतीत्यर्थः । प्रेय इति किम्?, चैत्राय रोचते मोदको माधुर्येण,  
माधुर्यशब्दात् न भवति । प्रेयसंबन्धादभिलाषकरणार्थस्य रुचेर्ग्रहणम्, तेनेह न भवति-सर्वेषामेतद्गोचरे कथं वा तवेति-  
प्रतिभातीत्यर्थः । कथं रोचते मम घृतं सह मुद्गैः शालयो दधिशरं कुंकुरार्थं?, घृतमेव ममापि रोचते घृतशीतं च  
सशर्करं पयः?, -संबन्धमात्रविवक्षायां पष्ठ्येव मविष्यति । कृप्यर्थैर्विकारे-मूत्राय कल्पते यवागूः, उच्चाराय संपद्यते यवाऽ-  
न्नम्, श्लेष्माणे जायते दधि; तद्विकाररूपमापद्यत इत्यर्थः । विकार इति किम्?, चैत्रस्य कल्पन्ते घनानि, संपद्यन्ते  
शालयः । गौणादित्येव?, मूत्रमिदं संपद्यते यवागूः, उच्चारोऽयं संपद्यते यवाऽन्नम्, शृङ्गाच्छरो जायते, गोमयाद् वृश्चिकः ॥ २

तादर्थ्ये । गौणात् नाम्न इति चतुर्थी इति च वर्तते । तादर्थ्ये गौणात् नाम्नश्चतुर्थीत्यन्वयः । तच्छब्देन कार्यं निर्दिश्यते । तस्यापिदं  
तदर्थमिति समासेन विशिष्टकार्यप्रयोजनं कारणमभिधीयत इत्याह-किञ्चिद्वस्तु संपादयितुं यत्प्रवृत्तं तत्तदर्थमिति । तदर्थस्य भावस्त्वा-  
दर्थ्यमिति कार्यकारणसंबन्ध उच्यते, समासकृतद्विद्वेषु भावप्रत्ययेन संबन्धमभिधानमिति वचनात्, तत्र च संबन्धस्य द्विषत्वेऽपि गौणादित्य- १५  
विकारात् अप्रधानाद्विशेषणादेव चतुर्थी भवति । तत् उत्पद्यमानैवाऽसौ वस्तुवन्तरार्यता गमयितुं शक्नोतीति नान्यास्त्वित्याह-तस्य भावे  
इत्यादि । यूपाय दारु इति । अत्र यूपादिहेतुभूतस्य दारुदिहेतुहेतुमद्भावस्य चतुर्थ्यैव गमितत्वात् नामार्थव्यतिरेके च हेतुवृत्तीयाविधानादिह च  
नानार्थव्यतिरेकभावात् “हेतु” इति तृतीया न भवति । ननु तस्मै इदं तदर्थमिति सत्यां चतुर्थ्यां समास, सति च समासे तदनुवादेन चतुर्थीवि- १८  
धानमितीतरेतराश्रयादप्रसिद्धिर्निर्देशकस्येति, उच्यते-आचार्यप्रवृत्तिज्ञापयति भवत्यर्थशब्दयोगेन चतुर्थीति यदयं “तदर्थोऽयं” इत्यर्थशब्देन समासं  
शास्त्रिः । पक्षीसमासो वा, संबन्धसामान्यविवक्षायां स्तत्वेव पक्षी, यथा गुरोरिदं गुर्वयमिति । ऊर्ध्वं ख बिल बाऽस्येति पृषोदरादित्वात्कुल्लम् ॥ ५४ ॥

रुचिकृप्यर्थधारिभिः प्रेयविकारोत्तमर्णेषु । अत्र गौणात् नाम्नश्चतुर्थीति वर्तते । रुचिकृप्यर्थधारिभिः प्रेयविकारोत्तमर्णेषु वर्तमान- २१  
नाद् गौणात् नाम्न चतुर्थीत्यन्वयः । रुचिशब्दो रुच्यर्थे वर्तते, रुचिस्थान्यकर्तृकोऽभिलाष । कृपिश्च विकृतिमत्कृप्यर्थे वर्तते । रुचिश्च कृपिश्च  
रुचिकृपौ तावयौ येषान्ते रुचिकृप्यर्था, रुचिकृपिवाच्योऽर्थोऽन्येषां न भवतीति सामर्थ्यादिवार्थलोपो ब्रह्म, रुचिकृप्यर्थ इवार्थो येषां ते तयोका  
इत्यर्थः । अत्र रुचिकृप्यर्थेत्यर्थशब्दः प्रत्येकमभिसम्बन्धयेत न समुदायेन, तथैव व्यवस्थिते । यदि खलु प्रत्यासत्त्या कृपिनैव सम्बन्धेत तदा २४  
धारिवत् रुचिरूप्यशब्दात् पर एव क्रियेत, तथा सति किं रुचिना सम्बन्धयेत उत नेति सन्देहोऽपि न स्यात् । धारेण परनिपातेन लक्षणव्यभि-  
चारो न कृत स्यात्, रुचिधारी समस्य कृप्यर्थेन समासात्, अन्यथा धारेणपरत्वात् पूर्वनिपातादस्य परनिपातेन लक्षणं व्यभिचरितं स्यादि-  
त्याह-रुच्यर्थैः कृप्यर्थैरिति । रुचिकृपिसमानार्थैरित्यर्थः । रुचिकृप्यर्थधारिभिरिति बहुवचनान्तस्य प्रेयविकारोत्तमर्णेष्विति बहुवचनान्तेन २७  
यथासंख्यमभिसम्बन्ध इत्याह-वचनसाम्यं यथासंख्यार्थमिति । ननु मयत्रैकवचननिर्देशोऽपि साम्यात् यथासंख्य मविष्यति किं बहु-  
वचनेनेत्याह-बहुवचनं त्वित्यादि । मिश्रवचनत्वादिति शेषः । एकद्विबहावित्यस्य तु केभ्याभ्यसित्वेनेनैव यथासंख्यमिति । रुच्यर्थैः प्रेय  
इत्यादिना भेदेनोदाहरति । प्रेय इति गौणात् “य एषात्” इति कर्मणि यत्प्रत्यये रूपमित्याह-प्रीयमाण इति । रोचते इति । ‘रुचि’ ३०  
अभिप्रीत्यां चैवतो वर्तमानायास्तेप्रत्यये भवति । तस्याभिलाषमिलादिना रुच्यर्थात् दर्शयति । किं पुनरत्र प्राप्तः?, केचिदाहु-देवदत्तो रोचयति  
मोदकमिति प्राप्नोति, देवदत्त हि प्राप्य मोदको रुचिविषयो न सर्वमेव, भिन्नेच्छत्वात् प्राणिनाम् । केचिदाहु-कर्मणि द्वितीयायां प्राप्तायां  
प्रीयमाणं देवदत्तं प्रीणयति मोदक इति । अन्ये आहु-कारकशेषत्वे पक्षी प्राप्ता नटस्य शृणोतीति यथा, सर्वथा तु कारकस्याविवक्षायां न भवति- ३३  
‘देवदत्तस्य रोचते घृतं सह मुद्गैरित्यादावभिलाषकरणार्थस्य रुचेः प्रेयस्य सद्भावात् तत् कृतो न चतुर्थीति पृच्छति-कथमित्यादि । समाधत्ते-  
संबन्धमात्रविवक्षायामिति । अत्र सत्यपि प्रेयत्वे प्रेयता न विवक्षिता, अपि तु तत्क्रियासंबन्धमात्रमिति न चतुर्थीति पष्ठ्येव भवति । ३५  
मूत्राय कल्पते यवागूरिति । यवागू कर्त्री संपद्यते, किं संपद्यते?, मूत्र-मूत्ररूपमित्यर्थः । ननु मूत्रयवागूधन्वोर्द्वयोरपि संपद्यते  
इति क्रियया सह संबन्धात् गौणत्वाभावात् कश्च मूत्रशब्दात् चतुर्थी?, उच्यते-एतत्सूत्रसामर्थ्यादेवात्र गौणमुख्यभावेन क्रियासंबन्धात्  
मूत्रस्य गौणत्व, तथा हि-प्रथमं यवागू सह क्रियायां संबन्धः पश्चान्मूत्रस्येति । गौणादिति व्याहृत्युदाहरणे तु मूत्रादेर्विशेष्यार्थः ४२  
मूत्रादिकं प्रथमं क्रियया संबन्धनीयम् । यद्वा मूत्रायेति कोऽर्थः?, मूत्ररूपविकारसंबन्धित्वेन संपद्यत इत्यर्थः । ‘कृपोद्’ सामर्थ्ये,  
इत्यस्य कल्पत इति । सपूर्वं ‘पदिच’ गतो इत्यस्य संपद्यत इति । ‘जनैवि’ प्रादुर्भावे, इत्यस्य-जायते इति । तद्विकाररूपमापद्यत  
इत्यर्थे इत्यनेन मूत्रयवागूदीनां विकारविकारिणां दर्शयति । चैत्रस्य कल्पन्ते घनानीति । अत्र चैत्रो घनानीनां स्वामी न ४५  
विकार इति न भवति । मूत्रमिदं संपद्यते यवागूरित्यादि । अत्र विकारविकारिणोर्भेदविवक्षया विकार प्रधानमिति गौणादिति अधि-

मातुः संजानीति; स्मरतीत्यर्थः । व्याप्य इत्येव?, मातरं स्वरेण संजानीते,—करणे विकल्पो न भवति । मातुः संज्ञेतेति कृति परत्वात् पृष्ठी । नवाऽधिकारे वाग्रहणमुत्तरत्र तच्चित्त्वृत्त्यर्थम् ॥ ५१ ॥

३ दामः संप्रदानेऽधर्म्यं आत्मने च ॥ २ । २ । ५२ ॥

संपूर्वस्य दामः संप्रदानेऽधर्म्यरूपे वर्तमानात् नामस्तृतीया भवति, तत्संनियोगे च दाम आत्मनेपदं भवति । दास्या संप्रयच्छते, वृषल्या संप्रयच्छते,—कामुकः सन् द्रव्यं दास्यै ददातीत्यर्थः । दाम इति किम्?, दास्यै संददाति । संप्रदान इति किम्?, द्रव्यं वृषल्या संप्रयच्छते, कर्मणि मा भूत् । अधर्म्य इति किम्?, पन्थै संप्रयच्छति । सम इत्येव?, दास्यै प्रयच्छति । इह संपूर्वस्य दामः प्रशब्दव्यवधानमन्तरेण प्रयोगाऽभावात् तद्व्यवधानेऽपि भवति ॥ ५२ ॥

चतुर्थी ॥ २ । २ । ५३ ॥

५ संप्रदाने वर्तमानाद् गौणात् नाम्नो ङेम्याम्यसुलक्षणैकद्विवहौ यथासंख्यं चतुर्थी विभक्तिर्भवति । द्विजाय गां ददाति, शिष्याभ्यां धर्ममुपदिशति, मुनिभ्यो भिक्षां ददाति, पत्ने शेते, राज्ञे विज्ञपयति, राज्ञे दण्डं ददाति । संप्रदान इत्येव?, अजां नयति ग्रामम् ॥ ५३ ॥

१२ अन्यत्र पृष्ठी । स्मरतीत्यर्थः इत्यनेन अस्मृतावित्यस्य व्यवच्छेद्यां स्मृत्यर्थां दर्शयति । मातरं स्वरेण संजानीते—नन्वत्र मातरमिति व्याप्य-मस्त्येव, तत्कथमिदं व्याप्य इत्यस्यानुवर्तमानस्य स्यात् प्रत्युदाहरणमिति?, अथ स्वरेणेत्यत्र न भवतीति चेन्न—अत्र तृतीयाया सिद्धत्वादित्याह—करणे विकल्पो न भवतीति । यत्र व्याप्य इति जानुवर्तते तदाऽनेन विधीयमानस्तृतीयविकल्प सामान्यविहितत्वात् करणेऽपि स्यात् ।  
१५ मातुः संज्ञातेति । अत्र कृतप्रयोगे इय तृतीया च प्राप्नोति “कर्मणि कृत ” इति षष्ठी च, समय चान्यत्र सावकारं, तत्रोभयप्राप्तौ परत्वात् षष्ठ्येव भवतीत्याह—कृतीत्यादि । नवाऽधिकार इति । नवाधिकारेणैव विकल्पस्य लब्धत्वात् तदर्थं वाग्रहणमुत्तरत्र नवाधिकारनिश्चयमिति, तेनोत्तरो नित्य एव विधिरित्यर्थः । कर्मण करणविवक्षायां षष्ठे तृतीयाया द्वितीयायाश्च सिद्धत्वात् सूत्रारम्भवैयर्थ्यात् प्रत्युदाहरणेषु कृतप्रयोगे  
१८ चैवं तृतीया स्यादतः कर्मणि तद्विवक्षान्युदासार्थमय पाक्षिकस्तृतीयारंभ ॥ ५१ ॥

दामः संप्रदानेऽधर्म्यं आत्मने च । नामस्तृतीयेत्यनुवर्तते । सम इत्यनुवर्तमानेन दाम इति विशिष्यते, तथा चायमन्वय—समो दाम संप्रदाने अधर्म्यं वर्तमानात् नामस्तृतीया, दाम आत्मने चेति । तदाह—संपूर्वस्येत्यादि । अधर्म्यरूप इति । अधर्म—शास्त्रनिषिद्ध  
२१ इत्यर्थः । आत्मनेपदस्य दामप्रकृतिर्विज्ञायत इत्याह—तत्संनियोगे च दाम आत्मनेपदमिति । दास्या संप्रयच्छते इति । दासी दान-क्रियाकर्मणाऽत्राभिप्रेयेति ततस्तृतीया, संप्रयच्छत इति सम्प्र इत्युपसर्गपूर्वात् ‘दाम्’दाने, इत्यतोऽनेन वर्तमानाऽऽत्मनेपदं ते, मध्ये शब्द, “श्रौति-कृत्तुषितुः” ४।१।१०८ इति दामो यच्छादेशः । कामुकः सन्नित्यादिना धात्वर्थस्याधर्मतां दर्शयति । दास्यै संददातीति वृ “डदाङ्”  
२४ दाने, संपूर्वस्वतस्त्विवृ, “हव शिति” ४।१।१२ इति द्विवचन, नाऽयं दामिति नाऽत्र तृतीया नाप्यात्मनेपदमिति । द्रव्यं वृषल्या संप्रय-च्छते इति । अत्राऽसति संप्रदाने इति व्याप्य इत्यनुवृत्ते क्रियाव्याप्यात्वात् द्रव्यात् तृतीया प्रयच्छेत्तेत्याह—कर्मणि मा भूदिति । पन्थै संप्रयच्छति—पन्थै दान नाधर्म्यं इत्यत्र न भवति । दास्यै प्रयच्छतीति । सम इत्यनुवृत्तेरत्र न भवति । ननु सम इति परदिग्योगलक्षणा  
२७ पञ्चमी, ततश्च “पञ्चम्या निर्दिष्टे परस्य” तत्त्वान्तरस्येति “समो ज्ञोऽस्तृती” इत्यत्र व्यवधाने सति न भवति तत्कर्षं संप्रयच्छत इति प्रशब्देन व्यव-धाने विधिरित्याह—इह संपूर्वस्येत्यादि । इहाऽस्मिन् सूत्रे प्रशब्देन समो व्यवधानेऽपि विधिर्भवति, कृत—प्रशब्दव्यवधानमन्तरेण प्रयोगाभा-वात् । न हि तद्व्यवधानमन्तरेण संपूर्वस्य दामः संप्रयच्छतीति प्रयोगः, यत्र स्वस्ति तत्र यमेरेव । एवं च ‘येन नाऽव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि’  
३० इति वचनप्राप्तात्वात् प्रशब्देन व्यवधानमाश्रीयत इति । यद्वा सम इति पूर्वत्र पञ्चम्यन्तमपीह लक्ष्यवशात् पञ्चम्यं विशायते, तत्र व्यवधानेऽपि समा योस्यमानार्थत्वात् दाम संबन्धोपपत्तेर्भवत्येव विधिः । ननु अनेन ब्राह्मणेन दानं वृत्तमित्यादिवत् संप्रदानस्य करणत्वविवक्षाया ‘दास्या संप्रयच्छते’ इत्यादौ तृतीयोपपत्तेः किमर्थमिदमारभ्यते?, यद्वा सहार्थे इय तृतीया, तथाहि—दास्यै स्वयं घनं ददाति साप्यात्मानं तस्यै ददातीति  
३३ दानपूर्वके वा संभोगे दाम् वर्तते—दत्त्वा दास्या सह संभुक्ते इति । एवं चात्र क्रियाव्यतिहारोपपत्तेस्तद्व्यवधानेनैव आत्मनेपदम् । अत्रोच्यते—एवं हि धात्वन्तरेऽपि विनाऽपि समुपसर्गेणाधर्म्यत्वाभावेऽपि धात्वर्थस्य प्रत्युदाहरणेऽप्युक्तविवक्षोपपत्तेस्तृतीया प्राप्नोति । द्रव्यं वृषल्या संप्रयच्छते इत्यत्रापि संप्रदानविवक्षायां चतुर्थी स्यादतः इह चतुर्थी प्रत्युदाहरणेषु च तृतीया मा भूदित्येवमर्थमिदं वक्तव्यमिति विशिष्ट एव विषये लोकस्य  
३५ विवक्षेति लोकविवक्षानियमो विना वचनेन दुरधिगम इति इदमारभ्यत इति ॥ ५२ ॥

चतुर्थी । संप्रदान इति गौणात् नाम्नो ङेम्याम्यसुलक्षणैकद्विवहौ यथासंख्यं चतुर्थी विभक्तिर्भवति । द्विजाय गां ददाति, शिष्याभ्यां धर्ममुपदिशति, मुनिभ्यो भिक्षां ददाति, पत्ने शेते, राज्ञे विज्ञपयति, राज्ञे दण्डं ददाति । संप्रदान इत्येव?, अजां नयति ग्रामम् ॥ ५३ ॥

## तादर्थ्ये ॥ २ । २ । ५४ ॥

किञ्चिद्वस्तु संपादयितुं यत्प्रवृत्तं तत्तदर्थम्, तस्य भावे तादर्थ्ये-संबन्धविशेषे द्योत्ये गौणात् नाम्नः पञ्चपवाद-  
श्रुतीर्था भवति । यूपाय दारु, कुण्डलाय हिरण्यम्, रन्धनाय स्थाली, अवहननायोलूखलम् ॥ ५४ ॥

## रुचिकृप्यर्थधारिभिः प्रेयविकारोत्तमर्णेषु ॥ २ । २ । ५५ ॥

रुच्यर्थैः कृप्यर्थैर्धारिणा च धातुना योगे यथाक्रमं प्रेये विकारे उत्तमर्णे च वर्तमानाद् गौणात् नाम्नश्चतुर्थी भवति,  
वचनसाम्यं यथासंख्यार्थम्; बहुवचनं तु एकद्विवहाविति यथासंख्याऽभावार्थम् । रुच्यर्थैः प्रेये-प्रीयमाणे, -जिनदत्ताय  
रोचते धर्मः, गुरुदत्ताय स्वदत्ते दधि; तस्याऽभिलाषमुत्पादयतीत्यर्थः । प्रेय इति किम्?, चैत्राय रोचते मोदको माधुर्येण,  
माधुर्यशब्दात् न भवति । प्रेयसंबन्धादभिलाषकारणार्थस्य रुचेर्ग्रहणम्, तेनेह न भवति-सर्वेषामेतद्रोचते कथं वा तवेति-  
प्रतिभातीत्यर्थः । कथं रोचते मम घृतं सह मुद्गैः शालयो दधिशरं कुकुरार्थं?, घृतमेव ममापि रोचते घृतशीतं च  
सशर्करं पयः?, -संबन्धमात्रविवक्षायां पश्येव भविष्यति । कृप्यर्थैर्विकार-मूत्राय कल्पते यवागूः, उच्चाराय संपद्यते यवाऽ-  
न्नम्, श्लेष्माणे जायते दधि; तद्विकाररूपमापद्यत इत्यर्थः । विकार इति किम्?, चैत्रस्य कल्पन्ते घनानि, संपद्यन्ते  
शालयः । गौणादित्येव?, मूत्रमिदं संपद्यते यवागूः, उच्चारोऽयं संपद्यते यवाऽन्नम्, शृङ्गाच्छरो जायते, गोमयाद् वृश्चिकः ॥ २

तादर्थ्ये । गौणात् नाम्न इति चतुर्थी इति च वर्तते । तादर्थ्ये गौणात् नाम्नश्चतुर्थीत्यन्वयः । तच्छब्देन कार्यं निर्दिश्यते । तस्मादिदं  
तदर्थमिति समासेन विशिष्टकार्यप्रयोजनं कारणमभिधीयत इत्याह—किञ्चिद्वस्तु संपादयितुं यत्प्रवृत्तं तत्तदर्थमिति । तदर्थस्य भावस्त्वा-  
दर्थ्यमिति कार्यकारणसंबन्ध उच्यते, समासकृतद्विदेषु भावप्रत्ययेन संबन्धाभिधानमिति वचनात्, तत्र च संबन्धस्य द्विष्टत्वेऽपि गौणादित्य-१५  
धिकाराद् अप्रधानाद्विशेषणादेव चतुर्थी भवति । तत उत्पद्यमानैवाऽसौ वस्त्वन्तरार्थात् गमयितुं शक्नोतीति नान्याखित्याह—तस्य भावे  
इत्यादि । यूपाय दार्विति । अत्र यूपादिहेतुभूतस्य दार्वदिहेतुहेतुमद्भावस्य चतुर्थ्यैव गमितत्वात् नामार्थव्यतिरेके च हेतुतृतीयाविधानादिह च  
नामार्थव्यतिरेकभावात् “हेतु” इति तृतीया न भवति । ननु तस्मै इदं तदर्थमिति सत्यां चतुर्थ्यां समासः, सति च समासे तदनुवादेन चतुर्थीवि-१८  
धानमितीतरेतराभ्यादप्रसिद्धिर्निर्देशस्येति, उच्यते—आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति भवत्यर्थशब्दयोगेन चतुर्थीति यदयं “तदर्थोऽयं” इत्यर्थशब्देन समासं  
शास्त्रिः पठीसमासो वा, संबन्धसामान्यविवक्षायामस्तेष्वपि, यथा युरोदिदं गुर्वर्थमिति । ऊर्ध्वं खं विलं वाऽस्येति पृथोदरादिवातुलूखलम् ॥ ५४ ॥

रुचिकृप्यर्थधारिभिः प्रेयविकारोत्तमर्णेषु । अत्र गौणात् नाम्नश्चतुर्थीति वर्तते । रुचिकृप्यर्थधारिभिः प्रेयविकारोत्तमर्णेषु वर्तमानाद्-२१  
नात् गौणात् नाम्न चतुर्थीत्यन्वयः । रुचिशब्दो रुच्यर्थं वर्तते, रुचिश्चान्यकर्तृकोऽभिलाषः । कृपिश्च विकृतिमत्कृप्यर्थं वर्तते । रुचिश्च कृपिश्च  
रुचिकृपौ तावद्यौ येषान्ते रुचिकृप्यर्था, रुचिकृपिषाच्योऽर्थोऽन्येषां न समवतीति सामर्थ्यादिवाच्यलोपो द्रष्टव्यः, रुचिकृप्यर्थे इवाप्यौ येषां ते तयोका  
इत्यर्थः । अत्र रुचिकृप्यर्थस्य शब्दः प्रत्येकमभिसंबन्ध्यते न समुदायेन, तथैव व्यवस्थिते । यदि खलु प्रत्यासत्त्या कृपिर्नैव संपद्येत तदा २४  
धारिवद् रुचिरप्यर्थशब्दात् पर एव क्रियेत, तथा सति किं रुचिना संबन्ध्यते उत नेति सन्देहोऽपि न स्यात् । धारेश्च परनिपातेन लक्षणव्यभि-  
चारो न कृतः स्यात्, रुचिधारी समस्य कृप्यर्थेन समासात्, अन्यथा धारैरल्पस्वरत्वात् पूर्वनिपातादस्य परनिपातेन लक्षणं व्यभिचरितं स्यादि-  
त्याह—रुच्यर्थैः कृप्यर्थैरिति । रुचिकृपिसमानार्थैरित्यर्थः । रुचिकृप्यर्थधारिभिरिति बहुवचनान्तस्य प्रेयविकारोत्तमर्णेष्विति बहुवचनान्तेन २७  
यथासंख्यमभिसंबन्ध इत्याह—वचनसाम्यं यथासंख्यार्थमिति । ननु मयैकवचननिर्देशेऽपि साम्याद् यथासंख्यं भविष्यति किं बहु-  
वचनेनेत्याह—बहुवचनं त्वित्यादि । भिन्नवचनत्वादिति शेषः । एकद्विवहावित्यस्य तु केभ्याम्यसित्यनेनैव यथासंख्यमिति । रुच्यर्थैः प्रेय  
इत्यादिना भेदेनोदाहरति । प्रेय इति प्रीणते “य एवात.” इति कर्मणि यप्रत्यये रूपमित्याह—प्रीयमाण इति । रोचते इति । ‘रुचि’ १०  
अभिप्रीत्यां वैयतो वर्तमानावास्तेप्रत्यये भवति । तस्याभिलाषमिलादिना रुच्यर्थतां दर्शयति । किं पुनरत्र प्राप्तः?, केचिदाहुः—देवदत्तो रोचयति  
मोदकमिति प्राप्नोति, देवदत्तः हि प्राप्य मोदको रुचिविषयो न सर्वमेव, भिन्नेच्छत्वात् प्राणिनाम् । केचिदाहुः—कर्मणि द्वितीयायां प्राप्तायां  
प्रीयमाण देवदत्तः प्रीणयति मोदक इति । अन्ये आहुः—कारकशेषत्वे पृथी प्राप्तां नदस्य गृणोतीति यथा, सर्वथा तु कारकस्याविवक्षायां न भवति—२२  
‘देवदत्तस्य रोचते घृतं न रंजदत्तस्येति,’ संपन्धपरत्वविवक्षाया । यथोदाहृतं भर्तृहरिणा—यद्यपि पाणिनेरभिरुचिता जित्यताऽनित्यता चेति,  
तदाह—‘हेतुत्वे कर्मवशात् शेषत्वेनापि कारकम् । रुच्यर्थादिषु शास्त्रेण चतुर्थी संप्रकीर्तिता’ ॥ ११ ॥ चैत्राय रोचते—तस्याभिलाषं करोतीति तत्र  
प्रेयो नाम अभिलाषकरण एव संभवति, यो हि यममिलषति तस्याभिलाषस्य कर्ता तं प्रीणातीति तेन स प्रीयते इति नार्थान्तरेऽस्ति प्रेय इति २६  
तदन्यथानुपपत्त्याभिलाषकरणार्थस्य रुचेर्ग्रहणात् । सर्वेषामेतद्रोचते इत्यादौ प्रतिभाभार्थप्रयोगे प्रेयाभावात् चतुर्थी न भवतीति । यथैव  
रोचते मम घृतं सह मुद्गैरित्यादावभिलाषकरणार्थस्य रुचेः प्रेयस्य सङ्गत्वात् ततः कृतो न चतुर्थीति पृच्छति—कथमित्यादि । समाचरो—  
संबन्धमात्रविवक्षायामिति । अत्र सत्यपि प्रेयत्वे प्रेयता न विवक्षिता, अपि तु तत्क्रियासंबन्धमात्रमिति न चतुर्थीति पश्येव भवति । २९  
मूत्राय कल्पते यवागू इति । यवागूः कर्त्री संपद्यते, किं संपद्यते?, मूत्रं—मूत्ररूपमित्यर्थः । ननु मूत्रयवागूशब्दयोर्द्वयोरपि संपद्यते  
इति क्रियया सह संबन्धात् गौणत्वाभावात् कथं मूत्रशब्दात् चतुर्थी?, उच्यते—एतत्सूत्रसामर्थ्यादेवात्र गौणमुत्पद्यमानेन क्रियासंबन्धात्  
मूत्रस्य गौणत्वं, तथा हि—प्रथमं यवागू सह क्रियायाः संबन्धः पश्चान्मूत्रस्येति । गौणादिति व्याहृत्युदाहरणे तु मूत्रादेर्विशेष्यार्थः ४२  
मूत्रादिकं प्रथमं क्रियया संबन्धनीयम् । यदा मूत्रायेति कोऽर्थः?, मूत्ररूपविकारसंबन्धित्वेन संपद्यत इत्यर्थः । ‘कृपौङ्’ सामर्थ्यं,  
इत्यस्य कल्पत इति । संपूर्वं ‘पर्विच्’ गतो इत्यस्य संपद्यत इति । ‘जनैन्वि’ आनुभावे, इत्यस्य—जायते इति । तद्विकाररूपमापद्यत  
विकार इति न भवति । मूत्रमिदं संपद्यते यवागूरित्यादि । अत्र विकारविकारिणोरभेदविवक्षया विकारः प्रधानमिति गौणादिति अधि-

प्रभवति, मूत्रं संपद्यते यवाग्वाः; यवाग्वा इति च पञ्चमी अपायविवक्षायाम् । धारिणोत्तमर्णे—चैत्राय शतं धारयति । उत्तमर्ण इति किम्?, शतशब्दात् न भवति, उत्तमर्णो धनिकः ॥ ५५ ॥

प्रत्याहः शुवार्थिनि ॥ २ । २ । ५६ ॥

प्रत्याहभ्यां परेण शृणोतिना युक्तादर्थिन्यमिलाषुके वर्तमानाद् गौणात् नाम्नश्चतुर्थी भवति । द्विजाय गां प्रतिशृणोति, द्विजाय गामाशृणोति; याचितोऽयाचितो वा प्रतिजानीते इत्यर्थः । प्रत्याह इति किम्?, चैत्रस्य शृणोति । अर्थिनीति ६ किम्?, द्विजाय गां प्रतिशृणोतीत्यत्र गवि मा भूत् ॥ ५६ ॥

प्रत्यनोर्गृणाऽऽख्यातरि ॥ २ । २ । ५७ ॥

प्रत्यनुभ्यां परेण गृणातिना योगे आख्यातरि वर्तमानाद् गौणात् नाम्नश्चतुर्थी भवति । आचार्याय प्रतिगृणाति, आचार्यायानुगृणाति;—आचार्योक्तमनुवदति, प्रशसन्तं वा श्रोत्साहयतीत्यर्थः । प्रत्यनोरिति किम्?, आचार्यं गृणाति । आख्यातरीति किम्?, आचार्याय मनसा प्रतिगृणातीत्यत्र मनसि मा भूत् ॥ ५७ ॥

यद्वीक्ष्ये राधीक्षी ॥ २ । २ । ५८ ॥

१२ वीक्ष्यं—विमतिपूर्वकं निरूपणीयम्,—विप्रश्नविषय इति यावत्, तद्विषया क्रियापि वीक्ष्यम्; यत्संबन्धिनि वीक्ष्ये राध्यतिरीक्षतिश्च वर्तते तस्मिन् वर्तमानाद् गौणात् नाम्नः सामर्थ्याद् राधीक्ष्यामेव युक्तात् चतुर्थी भवति । मैत्राय राध्यति, मैत्रायैक्षते;—तस्य दैव पर्यालोचयतीत्यर्थः । स्त्रीभ्य ईक्षते—स्त्रीणामभिप्रायः कीदृश इति विमतिपूर्वकं निरूपयतीत्यर्थः । १५ ईक्षितव्यं परस्त्रीभ्यः स्वधर्मो रक्षसामयम्, परस्त्रीणामभिप्राये यत्सदेहादीक्षितव्यम्—निरूपयितव्यम्; किमेव करोषि नवेति तद्रक्षसां कुलधर्मो न दोषः । दैवे एवेक्ष्ये इच्छन्त्येके । राधीक्ष्यर्थधातुयोगेऽपि इच्छन्त्येके—मैत्राय राध्यति, साध्यति,

काराजं भवति । मूत्रं संपद्यते यवाग्वा इत्यत्र मूत्रविकारस्य प्राधान्यात् मा भूत् ततश्चतुर्थी, यवाग्वा इत्यत्र तु पञ्चमी कथमित्याह—यवाग्वा ३८ इत्यादि । ततो यवाग्वा अपगच्छदिदं मूत्रं संपद्यत इत्यपायोऽत्र विवक्षितः, तत्र “पञ्चम्यपादाने” इति पञ्चमी भवति । चैत्राय शतं धारयतीति । “धृक्” अवस्थाने, ध्रियते सिष्ठति स्वरूपात्र प्रच्यवत इत्यर्थः, ततो ध्रियमाण प्रयुङ्क्ते इति णिन् ततस्त्रिचादि । शतशब्दात् न भवतीति । शतं धारयतीत्यत्र धार्यमाणे शते कर्मण्युत्तमर्णत्वाभावाच्च भवतीत्यर्थः । उत्तमर्णं व्याचष्टे—उत्तमर्णो धनिक इति । यो हि धन २१ प्रयुङ्क्ते स लोके उत्तमत्वेन प्रसिद्धो यस्तु गृह्णाति सोऽधमत्वेन । उत्तमाधमाभ्यां संयद्धमृणमपि तथैव व्यपदेश्यमित्युत्तममृणं यत्सेति बहुव्रीहिणोत्तमर्णशब्देन धनिकोऽभिधीयत इत्यर्थः ॥ ५५ ॥

प्रत्याहः शुवाऽर्थिनि । अत्र गौणात् नाम्नश्चतुर्थीत्यनुवर्तते । प्रत्याहः शुवा अर्थिनि गौणात् नाम्नश्चतुर्थीत्यन्वयः । अर्थयत इत्यर्थी—अभिलाषुकः, “अर्थणि” उपयाचने, इति हि पाठात् । प्रत्याह इति पञ्चमी न तु पट्वी, षष्ठा हि “प्रत्याह्युवेति लाघवाद् समसेत, अस्ति हि तत्र समास “षष्ठ्यल्लात्” इति । न च तत्र समुदायानुकरण स्यादिति वाच्यं, उकारानर्थक्यप्रसङ्गात्, तदा हि प्रत्याह्युवेति निर्दिश्येत । अत एव च प्रत्येकमभिसवन्धो न समुदायेनेति द्विवचनेनाह—प्रत्याहभ्यां परेणेति । एवमुत्तरत्रापि । प्रतिशृणोतीति । “शृद्” भवणे, प्रतिपूर्वस्तत्—स्तिव्, “स्वादे श्रु” इति श्रु, “श्रौतिकृ०” इति श्रुव श्रुमां, इदमेव त्वया कर्तव्यमिति याचमाने महत्त्वाद्याचमानेऽपि केनाप्याकारादिना स्वाभिलाष समर्पयति द्विजादां ओमिति तस्य प्रतिपद्यते अभ्युपगच्छतीति यावदित्यर्थः । गवि मा भूदिति । असत्यर्थिनीत्यस्मिन् कर्मद्वितीयामन्यत्र सावकाशा परत्वात् चतुर्थी बाधेतेत्यर्थिग्रहणम् ॥ ५६ ॥

३० प्रत्यनोर्गृणाऽऽख्यातरि । गौणात् नाम्नश्चतुर्थीति वर्तते । प्रत्यनो गृणा आख्यातरि गौणात् नाम्नश्चतुर्थीत्यन्वयः । गृणेति गृणा—तेस्त्रिवन्तलौकदेशोऽनुक्रियत इत्याह—गृणातिना योग इति । आचार्योक्तमित्यादिना । आचार्यास्याऽऽख्यातृत्वमाख्यातृसुदाहरणार्थमाचष्टे । आचार्यं गृणातीति । आचष्टे इत्यर्थः, अत्राऽऽचार्यमाचक्षानमिति प्रतिपत्तव्यम्, अन्यथा ह्यप्रतिपत्तव्यं स्यादिति । ननु “शुवाकोऽर्थिनि”, “गृणा—नोश्वाऽऽख्यातरे” इत्येव किं न विन्यस्यते?, एव हि विन्यस्यमाने प्रतेरिति पूर्वोत्तरेण वाऽनुश्रयाऽभिसवन्धाद् द्विः प्रतिग्रहणं न कर्तव्यं भवति, वर्णेन चैकेन लाघवमिति, नैव, अक्षराधिक्यादि योगविभागश्चकाराकाक्षेण च गरीय इति ॥ ५७ ॥

यद्वीक्ष्ये राधीक्षी । गौणात् नाम्नश्चतुर्थीति वर्तते । यद्वीक्ष्ये राधीक्षी गौणात् नाम्नश्चतुर्थीत्यन्वयः । वीक्ष्य व्याचष्टे—वीक्ष्यमित्यादिना । विविधा विशेषानुपलम्भादेकस्मिन् वस्तुनि सादृश्यादिनिमित्तादनेकपक्षालम्बनाऽनवधारणात्मिका मतिर्विमति—संदेहज्ञानमिति यावत्, तत्पूर्वकं निरूपणीयमदृष्टमिष्टानिष्टफल पुण्यपापरूपमप्रत्यक्षे पराभिप्रायादिकं वा, तत्संबन्धं निरूपणाहंत्वात् । पुन स्पष्टयति—विप्रश्नविषय इति । विशिष्ट प्रश्नो विप्रश्नोऽभिमानोन्मादादिप्रयुक्त पूर्वपक्षः, तस्य विषय आधयोऽविज्ञाततत्त्वसद्विषयोऽर्थः । निःसद्विषे विप्रश्नस्याभावात् धातोश्च ३९ क्रियावचनत्वात् तत्र वृत्त्यभावात् वीक्ष्यविषय क्रियेवोपचारात् वीक्ष्यशब्दाभिधेयेत्याह—तद्विषयेत्यादि । “राधच” वृद्धौ, तिव्, दिवादित्वाद् इत्ये—राध्यतीति । तस्य दैवं पर्यालोचयतीत्यर्थः इति । केनचित् पृष्ठो नैमित्तक इति शेषः, शुभाशुभं तत्कृतं फलं वा सुखदुःखात्मक—दैवम् । स्त्रीभ्य ईक्षते इत्यस्यार्थं स्त्रीणामभिप्राय इत्यादिना व्याचष्टे । ननु राधीक्ष्योर्द्विदर्शनयोर्वर्तमानत्वात् कथं दैवादितिरूपेण कृतिः?, ४२ उच्यते—वृद्धिदर्शनविषय निरूपणमत्र वृद्धिदर्शनशब्दाभिधेयमिति न कश्चिदोष इति । विमतिपूर्वकमभिप्रायनिरूपणे लोकोच्चा चतुर्थीमन्ये मान्या—स्त्रीभ्य ईक्षत इत्यादौ न मन्यन्ते इत्याह—दैवे एवेत्यादि । एके शाकटायना । अन्ये तु राधीक्षी इत्यर्थनिर्देशमाहुः, यस्य साक्षात् वीक्ष्य विषयता उपपद्यते सोऽर्थो राधीक्षी इति निर्दिष्टः, ततश्च तदर्थसर्वधातुयोगे चतुर्थी भवतीत्याह—राधीक्ष्यर्थधातुयोगेऽपि इच्छन्त्येक ४५ इति । एके—चान्द्रा । साम्रोति साम्रोति च दैव तत्प्रयुक्त इति णिन्—राध्यति, साध्यतीति । ननु यद्विषयात् मा भूत् शुभाशुभात् चतुर्थी,

पश्यति, जानीत इति चोदाहरन्ति । यद्वहणं किम्?, मैत्रस्य शुभाशुभमीक्षते—शुभाऽशुभात् मा भूत्, मैत्रातु राधीक्षिभ्यां योगाभावादेव न भवति । वीक्ष्यग्रहणं किम्?, मैत्रमीक्षते । राधीक्ष्यर्थविषयात् विप्रष्टव्यादिच्छत्यन्यः—लाभाय राध्यति, लाभाय राध्यति, लाभाय साध्यति, लाभायेक्षते, लाभाय पश्यति ॥ ५८ ॥

### उत्पातेन ज्ञाप्ये ॥ २ । २ । ५९ ॥

उत्पात—आकस्मिकं निमित्तम्, तेन ज्ञाप्ये—ज्ञाप्यमानेऽर्थे वर्तमानाद् गौणात् नाम्नश्चतुर्था भवति । “वाताय कपिला विद्युदातपायाऽतिलोहिनी । पीता वर्षाय विज्ञेया दुर्गिभ्यां सिता भवेत् ॥ १ ॥” वातादयः स्वकारणेभ्य एवोत्पद्यन्ते, विद्युता तु ज्ञाप्यन्त इति तादर्थ्यं नास्ति । उत्पातेनेति किम्?, राज्ञ इदं छत्रमायातं विद्धि राजानम् । पथ्यपवादो योगः ॥ ५९ ॥

### श्लाघहृत्स्थाशपा प्रयोज्ये ॥ २ । २ । ६० ॥

ज्ञाप्य इत्यनुवर्तते, श्लाघादिभिर्धातुभिर्मुक्ताद् ज्ञाप्ये प्रयोज्येऽर्थे वर्तमानाद् गौणात् नाम्नश्चतुर्थी भवति । मैत्राय श्लाघते, मैत्राय हुते, मैत्राय तिष्ठते, मैत्राय शपते, श्लाघाहृत्स्थानशपथान् कुर्वाण आत्मानं परं वा ज्ञाप्यं जानन्तं मैत्रं प्रयोजयतीत्यर्थः । प्रयोज्य इति किम्?, मैत्रायाऽऽत्मानं श्लाघते, मैत्राय शत हुते,—आत्मादौ मा भूत् । केचित्त्वप्रयोज्यो यो ज्ञाप्यो य आख्यायते तत्रैवेच्छन्ति ॥ ६० ॥

### तुमोऽर्थे भाववचनात् ॥ २ । २ । ६१ ॥

क्रियायां क्रियार्थायामुपपदे तुम् वक्ष्यते, तस्याऽर्थे ये भाववाचिनो घनादयः प्रत्यया विधास्यन्ते; तदन्ताद् गौणात् नाम्नः स्वार्थे चतुर्थी भवति । पाकाय व्रजति, पक्तये व्रजति, पचनाय व्रजति, इज्यायै व्रजति; पक्तुं यष्टुं वा व्रजतीत्यर्थः ।

यस्य तदैव ततो मैत्रात् कस्मात् न भवति?, भवति ह्यत्र मैत्रो देववान्, उच्यते—सामर्थ्यात् राधीक्षिभ्यामेव युक्तात् चतुर्थीति व्याख्यानात् । मैत्रस्य त्वत्र शुभाशुभमचवन्धितयैव विवक्षितत्वात् राधीक्षिभ्यां योगाभावात् न भवतीत्याह—मैत्रारिवत्यादि । मैत्रमीक्षत इति । अत्र १८ मैत्रविषय एवेक्षतिर्न तद्दीक्ष्यविषय इति वीक्ष्यग्रहणात् न भवति । राधीक्ष्यर्थविषयादिति । विविध प्रष्टव्यो विप्रष्टव्य, किं भविष्यति न भविष्यति कथं भविष्यतीति स यदा राधीक्ष्यर्थविषयो भवति तदा ततश्चतुर्थीति न देववत्येवाऽपि तु देवेऽपीति । अन्य इति । रत्नमतिर्वाँद । तन्मत्तमुदाहरति—लाभाय राध्यतीत्यादि ॥ ५८ ॥

उत्पातेन ज्ञाप्ये । अत्र गौणात् नाम्नश्चतुर्थीत्यनुवर्तते । उत्पातेन ज्ञाप्ये गौणात् नाम्नश्चतुर्थीत्यन्वयः । उत्पात इत्यादिना उत्पात व्याचष्टे । वाताय कपिलेति । ननु कपिलादिविद्युता वातादीनां जन्यमानत्वात् तेष्वस्मादर्थे एव भविष्यतीति चेत्, न, तादर्थ्याभावात् । तादर्थ्याभावेव दर्शयति—वातादय इत्यादि । राज्ञ इदं छत्रमायातं विद्धि राजानमिति । अत्रानेन छत्रेण आगच्छद्राजा ज्ञाप्यत इति ज्ञाप्यतामाचष्टे ह्यङ्गविकलतां परिहर्तुमिति । नाऽत्र छत्रमुत्पात, उत्पातो हि नाम शुभाशुभसूचक कादाचित्को महाभूतपरिणाम उच्यते । न चैव छत्रमिति, तेन ज्ञाप्ये न भवति । वाताय कपिलेत्यादौ ज्ञाप्यज्ञापकसचवन्धिविवक्षायां घञां प्राप्तायां तदपवादश्चतुर्थीत्याह—पथ्यपवादो योग इति ॥ ५९ ॥

श्लाघहृत्स्थाशपा प्रयोज्ये । ज्ञाप्ये इति गौणात् नाम्नश्चतुर्थीत्यनुवर्तते । श्लाघहृत्स्थाशपा ज्ञाप्ये प्रयोज्ये गौणात् नाम्नश्चतुर्थीत्यन्वयस्तदाह—श्लाघादिभिरित्यादि । जानातेरङ्गिकप्रकृतेर्य कर्मभूत सोऽपि ज्ञाप्य इत्युच्यते, यथा “उत्पातेन ज्ञाप्ये” इत्यत्र, यश्च जानाते. कर्ता णिग कर्म सोऽपि, यथा ज्ञाप्यो धर्म देवदत्त इति । श्लाघिप्रष्टतयोऽप्यत्र विषये नयत्वादिवत् द्विकर्मका, तत्र जानाते कर्तृभूत ज्ञाप्य १० परिग्रहीतु प्रयोज्य इत्युच्यते । स च प्रयोज्य—प्रवर्त्य क भवतीत्याह—अर्थे इति । प्रकृत्यर्थ इत्यर्थः । “श्लाघ” कथने, “हृत्” अपनयने, “घा” गतिनिवृत्तौ, अत्र “ज्ञीप्सास्थये” ३।३।६४। इत्यात्मनेपदम् । “शपो” आक्रोशे, “शप उपलम्भने” ३।३।३५। इत्यात्मनेपदम् । मैत्रायाऽऽत्मानं परं वा ज्ञाप्य कथयतीति योऽर्थः स—मैत्राय श्लाघते इत्यस्य । एव मैत्राय हुते—होतव्य किञ्चिन्मैत्रं ज्ञापयतीत्यर्थः । मैत्राय श्लाघति तिष्ठत इति । स्थानेनाऽऽत्मानं ज्ञापयति—प्रकाशयतीत्यर्थः । मैत्राय शपते—वाचा मात्रादिशरीरस्पर्शनेन नाऽह जाने न मया कृतमिति मैत्रं ज्ञापयतीति । अनुमेवार्थ स्पष्टयन्त्याह—श्लाघेत्यादि । मैत्रायाऽऽत्मानं श्लाघत इत्यादौ त्वात्मादिर्ज्ञाप्य प्रयोज्यो न भवति, जानातेः कर्मत्वादिति प्रयोज्यग्रहणात् ततो न चतुर्थीत्याह—आत्मादौ मा भूदिति । दर्शनान्तरे प्रयोज्यग्रहण प्रत्याचष्टे—केचित्त्वित्यादि । गोजशाकट्य- इत्यना । यस्तु मैत्रादिर्जानन् ज्ञाप्यते तत्र न भवतीति, तथा चाऽन्येषां ग्रन्थे द्विकर्मकोऽयं ज्ञापि, केचित्स्यै आख्यायते त ज्ञाप्य सप्रदानत्वेन प्रतिपन्ना । केचित्स आख्यायते तमिति तन्मते मैत्रमात्मने श्लाघत इत्युदाहरणम् ॥ ६० ॥

तुमोऽर्थे भाववचनात् । अत्र गौणात् नाम्नश्चतुर्थीति वर्तते । तुमोऽर्थे भाववचनात् गौणात् नाम्नश्चतुर्थीत्यन्वयः । यत्र हि तुम् १९ विधीयते स तुमोऽर्थः, कुत्र च तुम् विधीयत इत्याह—क्रियायामित्यादि । भवनं भाव, प्रवीतीति वचन, भावस्य वचनो भाववचन । स च घनादिप्रत्यय, ततश्च केवलद्विभज्यसम्भावत् नात्रो विशेषणत्वात् तदन्तलाभ इत्याह—तदन्ताद् गौणात् नाम्न इति । पाकाय व्रज-तीत्यादि । पक्तुं—पाकायेत्यादि विगृह्य “भाववचना” ५।३।१५। इति घनादयः, अत्र व्रजतिक्रियाया पथ्याद्यर्थत्वं भाववचनेनैव प्रतिपादित-मिति तादर्थ्यं चतुर्थी न प्राप्नोति शेषत्वात् षष्ठी स्यात्, व्रजतिक्रियाया हेतुमत्त्वात् पाकस्य च हेतुत्वात् हेतुलक्षणा वा चतुर्थीया स्यादित्याह—ताद-



तादर्थ्यस्य प्रत्ययेनैवोक्तत्वात् चतुर्थी न ग्राप्नोतीति शेषपष्ठी हेतुहेतुमद्भावविवक्षायां वा हेतुतृतीया स्यादिति चतुर्थ्यर्थं वचनम् । तुमोऽर्थे इति किम्?, पाकस्य, त्यागस्य, पाकेन वर्तते, त्यागेन वर्तते, अध्ययनेन वसति; नाऽत्र क्रियायां क्रिया-  
१ र्थायामुपपदे प्रत्ययो विहितः, किं तर्हि?, भावमात्रे, -पश्चात् क्रिययाऽभिसंबन्ध इति हेतौ तृतीयैव भवति । भाववचना-  
दिति किम्?, पक्ष्यतीति गां दास्यतीति च पाचकस्य ब्रज्या, गोदायस्य परिसर्या । तुम इति व्यस्तनिर्देश उत्तरार्थः ॥ ६१ ॥

**गम्यस्याऽऽप्ये ॥ २ । २ । ६२ ॥**

यस्यार्थो गम्यते न च शब्दः प्रयुज्यते स गम्यः, तस्य तुमो यदाप्यं-व्याप्यं तत्र वर्तमानाद् गौणात् नाम्नश्चतुर्थी भवति । द्वितीयाऽपवादः । एधेभ्यो व्रजति, फलेभ्यो व्रजति; एधान् फलानि चाऽऽहर्तुं व्रजतीत्यर्थः । गम्यस्येति किम्?, एधानाहर्तुं व्रजति । आप्य इति किम्?, एधेभ्यो व्रजति शकटेन, करणात् मा भूत् । तुम इत्येव?, प्रविशं पिण्डीं द्वारम्,  
२ अत्र भक्षयेति पिधेहीति च गम्यम् ॥ ६२ ॥

**गतेर्नवाऽनासे ॥ २ । २ । ६३ ॥**

गतिः-पादविहरण, तस्या गतेराप्येऽनासेऽसंप्राप्ते वर्तमानाद् गौणात् नाम्नश्चतुर्थी वा भवति । ग्रामं गच्छति, ग्रामाय  
१२ गच्छति; नगरं व्रजति, नगराय व्रजति; विप्रनष्टः पन्थानं गच्छति, पथे गच्छति, उत्पथेन पन्थान पथे वा गच्छति ।  
गतेरिति किम्?, आदित्यं पश्यति, मेरुं शृणोति, स्त्रियं गच्छति; मनसा मेरु गच्छतीत्यत्र ज्ञानार्थो गमिः । आप्य इत्येव?,  
ग्रामादागच्छति । अनास इति किम्?, पन्थानं गच्छति । कुद्योगे तु परत्वात् पक्ष्यव भवति-ग्रामस्य गन्ता । द्वितीयै-  
१५ वेल्यन्ये-ग्राम गन्ता । चतुर्थी चेल्यन्ये-ग्रामं गन्ता, ग्रामाय गन्तेति ॥ ६३ ॥

र्थ्यस्येत्यादि । पाकस्य, त्यागस्येति । नाऽत्र तुमोऽर्थे-क्रियाया क्रियार्थायामुपपदे प्रत्यय इत्यतश्चतुर्थी न भवति । यथेव पाकेन इत्यादौ  
क्रियायां क्रियार्थाया उपपदभूताया विद्यमानत्वात् प्रत्ययस्य च भाववचनत्वात् तत् कुतो न चतुर्थी?, सत्यम्, अत्र भावमात्रे प्रत्ययमुत्पाद्य  
१८ पश्चात् तदन्तः क्रिययाऽभिसंबन्ध इति न तुमोऽर्थे भाववचनप्रत्ययोऽतो हेतोस्तृतीयैव च न चतुर्थीत्याह-नाऽप्रेत्यादि । पक्ष्यतीति गां  
दास्यतीति च पाचकस्य ब्रज्येति व्रजिक्रियाया भविष्यत्पचनादिक्रियार्थाया उपपदत्वेऽपि कर्तरि णको विहित इति भाववचनग्रहणात् न  
ततश्चतुर्थीति । ननु च तुमर्थ इति समासनिर्देशो मात्रालापवार्थं कुतो न कृत इत्याह-तुम इत्यादि । उत्तरार्थ इति । उत्तरत्वे  
२१ सप्रयोजनोऽयमित्यर्थः ॥ ६१ ॥

**गम्यस्याऽऽप्ये ।** अत्र तुम इति गौणात् नाम्नश्चतुर्थी इति चानुवर्तते । गम्यस्य तुम आप्ये गौणात् नाम्नश्चतुर्थीत्यन्वय । शब्दो  
व्यर्थवानपि प्रयुज्यमानश्च भवति, अप्रयुज्यमानश्च । अर्थप्रकरणशब्दान्तरसेनित्वान्न प्रतीयमानार्थं स च गम्य इत्युच्यत इत्याह-यस्यार्थं  
२४ इत्यादि । अर्थप्रकरणादिनेति शेष । द्वितीयाऽपवाद इति । एधेभ्यो व्रजतीत्यत्र ब्रज्याया एधाहरणार्थता गम्यते न त्वेवार्थता, तेन  
तादर्थ्यचतुर्थ्या सूत्राऽऽरम्भमन्तरेण एधादिभ्यश्चतुर्थी सिध्यतीति न वक्तुं शक्यं, आहरतेरप्रयुज्यमानस्य क्रियार्थव्रजतिक्रियोपपदस्य तुमन्तस्य  
एधानां कर्मत्वात् । तत्राऽनेन द्वितीयाऽऽपवादश्चतुर्थी विधीयत इति । अत्र व्ययमयो गम्यते, एधानाहर्तुं व्रजतीत्याह-एधान् फलानि  
२७ चेल्यादि । एधानाहर्तुं व्रजतीति । अत्र तुमन्तस्य प्रयुज्यमानत्वात् गम्यस्येति वचनात् तत्कर्मणि द्वितीयैव । आप्य इति किमर्थ?, एधेभ्यो  
व्रजति शकटेनेति करणे मा भूदित्याह-आप्य इति किमित्यादि । प्रविशं पिण्डीं द्वारमिति । इह प्रविशं वृद्ध, पिण्डीं भक्षय,  
द्वारं पिधेहीति वाक्येषु, वाक्यैकदेशा अप्यर्थतः प्रकरणात् शब्दान्तरसंनिवेशोऽवगम्यततदर्थं साधय इत्यन्ते । यदुक्तं-‘वाक्येषु वाक्यैकदेशा  
३० वर्तन्ते पदेषु च पदैकदेशा’ इति । तत्र प्रविशोर्ह कर्म, पिण्डीद्वारे तु भक्षयतिपिदवालोऽप्रयुक्तोर्यार्थाद् गम्यमानयोरित्यस्यत्र भक्षयेति  
पिधेहीति च गम्यमानस्याप्यं न तु तुमन्तस्येति तयोर्व्याप्ये न भवति ॥ ६२ ॥

**गतेर्नवाऽनासे ।** गौणात् नाम्नश्चतुर्थीति आप्य इति च वर्तते । गतेराप्येऽनासे गौणात् नाम्नश्चतुर्थीत्यन्वय । गतिशब्दस्य ज्ञानार्थत्वे-  
३३ ऽप्यनास इति वचनात् पादविहरणरूपैव गतिर्युज्यते, ज्ञानादिव्याप्यस्यानासत्वात्समादित्याह-गतिः-पादविहरणमिति । अनास इत्यस्यार्थ-  
माह-असंप्राप्त इति । अनाक्रान्त इत्यर्थः । गत्यर्था हि ज्ञानार्था भवन्ति, न च ज्ञानात्मिका गतिरिह श्रूयत इत्यादित्यं पश्यतीत्यादौ न  
भवति । स्त्रियं गच्छतीत्यत्र गमिमैधुनार्थो न गत्यर्थ इति न भवति । ग्रामादागच्छति-अत्राऽसत्यामाप्य इत्यनुवृत्तौ ग्रामादित्यत्राऽप्यय  
३५ विधिः प्रसज्येतेति । पन्थानं गच्छतीत्यत्र त्वनास इति वचनात् न भवति । अनासेऽसंप्राप्ते कर्मणि चतुर्थी, असंप्राप्तं तु तद्वस्तु यद्गमनेन संप्रा-  
प्यते, तस्मिन् कर्मणि चतुर्थी पन्थास्तु संप्राप्त इति चतुर्थ्यभावः । कुद्योग इति । अयमर्थः-ग्रामाय गच्छतीत्यादौ चतुर्थी सावकाशा, अपां सधेति  
पष्ठी, ग्रामस्य गन्तेत्युभयप्रतीति परत्वात् पक्ष्येव भवतीति । द्वितीयैचेल्यन्य इति । सारसप्रहकारादयः, ये हि “गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थी”  
३९ इति सूत्रेण कर्मणि द्वितीयायां सदपवादे वैकल्पिकी चतुर्थ्यारभ्यते इति पक्षे द्वितीया सिद्धेवेति द्वितीयाग्रहणात् ग्राम गन्तेत्यत्र कृत कर्मणि  
आपवादभूतामपि पष्ठी बाधित्वा द्वितीयैव भवति, चतुर्थी तु पक्षा परत्वात् बाध्यत एवेति मन्यते । चतुर्थी चेल्यन्ये इति । उत्पल इत्यर्थः,  
स श्वेव मन्यते-द्वितीयाविषय इयं वैकल्पिकी चतुर्थ्यारभ्यते, द्वितीयस्याश्चात्राऽपवादात् कुतोऽपि विषय उपनत इति तद्विषये पक्षे चतुर्थी प्रवर्तत  
४२ एव-ग्रामं गन्ता, ग्रामाय गन्तेति । एतेषु वायमसदभिमत पष्ठीपक्ष श्रीशेषमहारकस्यापि संमत इति तदभिप्राय साधारणमागकारीऽपि  
हरिणा अंकीर्णके सप्रदानोद्देशे निर्णीतमाह-यथा कृशोगलक्षणा पष्ठी न भवतीति तत्कथनमिति साहस्य च । कथं हि शब्दानां साधुत्व युक्तिवलेन  
शक्यं व्यवस्थापयितुं, यत्र तुल्यपदार्थे उष्णं च तदुदकं च उष्णोदकमिति साधु, उष्णं च तत्पानीयं च उष्णपानीयमिति कालदृष्टोऽप्यशब्दः ।  
४५ तापसश्चाय कुमारश्च तापसकुमार इति साधु, तापसी चेय कुमारी च तापसकुमारीति अविक्तित्योऽप्यशब्दः । पानीयोष्णम्, कुमारतापसीति च  
साधुरेव । एवप्रकारेण सृष्टिसमर्थागम्यसाधुत्वेऽपि कथं युक्त्या निश्चय इति?, तत्राऽयं भाष्यकार सूत्रकार इव व्याकरणे प्रमाणभूत सर्ववृद्धाना-  
मेतन्मतमवमल्य अन्यस्य कस्य किं आहमिति न प्रेक्षापूर्वकारितेति ॥ ६३ ॥

## मन्यस्याऽनावादिभ्योऽतिकृत्सने ॥ २ । २ । ६४ ॥

अतीव कुत्स्यतेऽनेनेत्यतिकृत्सनम्, तस्मिन् मन्यतेराप्ये वर्तमानात् नावादिगणवर्जितात् गौणात् नाम्नश्चतुर्थी वा भवति । न त्वा तृणाय मन्ये, न त्वा तृणं मन्ये; न त्वा बुसाय मन्ये, न त्वा बुसं मन्ये; न त्वा लोष्टाय मन्ये, न त्वा लोष्टं मन्ये; न त्वा शुने मन्ये, न त्वा श्वानं मन्ये;—तृणाद्यपि न मन्ये तृणादेरपि निकृष्टं मन्य इति कुत्सयते । मन्ये-त्येति किम्?, न त्वा तृणं चिन्तयामि । श्यनिर्देशः किम्?, न त्वा तृणं मन्ये । अनावादिभ्य इति किम्?, न त्वा नाव मन्ये, न त्वा अन्नं मन्ये; न त्वा शुक्रं मन्ये, न त्वा शृगालं मन्ये, न त्वा काकं मन्ये;—नावन्नयोरपि परप्रणेत्या-ऽनायासोच्छेद्यतादिभिरतिकृत्सनत्वं भवति । कुत्सन इति किम्?, न त्वा रत्नं मन्ये, न ते मुखं चन्द्र मन्ये, न ते मुखं पद्मं मन्ये,—रत्नादिभ्योऽपि त्वदादीन् अधिकान् मन्य इति प्रशसा । कुत्स्यते अनेनेति करणाऽऽश्रयणं किम्?, न त्वा तृणाय मन्य इति शुष्मदो न भवति । अतिग्रहणं किम्?, त्वां तृणं मन्ये, सुवर्णं तृण मन्ये;—अत्र नञ्प्रयोगाऽभावे 'साम्यमात्रं' प्रतीयते न त्वतिकृत्सा । कुत्सामात्रेऽपीच्छन्त्येके—तृणाय त्वां मन्ये, तृणाय मन्यमानः सर्वान्; हरिमपि अमंसत तृणा-येति । न त्वा तृणस्य मन्तेति कृद्योगे परत्वात् षष्ठी । चतुर्थ्यपीति कश्चित्—न तव बुसाय मन्ता, न तव बुसस्य मन्ता; न चैत्रस्य शुने मन्ता, न चैत्रस्य शुनो मन्तेति । उक्तकर्मणि तु—न त्वं बुसो मन्यसे मया, न चैत्रः श्वा मन्यते मया; न नाऽह बुसो मन्ये वृषलेनेत्यतिकृत्सनात् प्रथमेति । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ॥ ६४ ॥

## हितसुखाभ्याम् ॥ २ । २ । ६५ ॥

हितसुखाभ्यां युक्ताद् गौणात् नाम्नश्चतुर्थी वा भवति । आतुराय आतुरस्य वा हितम्, आमयाविने आमयाविनो वा हितम्; चैत्राय चैत्रस्य वा सुखम् ॥ ६५ ॥

## तद्भद्राऽऽयुष्यक्षेमाऽर्थाऽर्थेनाऽऽशिषि ॥ २ । २ । ६६ ॥

तदिति हितसुखयोः परामर्शः, अर्थशब्दः प्रत्येकमभिसंवध्यते; हिताद्यर्थैर्युक्ताद् गौणात् नाम्न आशिषि गम्यमानायां चतुर्थी वा भवति । हितार्थे—हित जीवेभ्यो भूयात्, हित जीवानां भूयात्; पथ्यं मैत्राय भूयात्, पथ्यं मैत्रस्य भूयात्; सुखार्थे—सुखं प्रजाभ्यो भूयात्, सुख प्रजानां भूयात्; शं प्रजाभ्यो भूयात्, शं प्रजानां भूयात्; शर्म भवताद् भव्येभ्यः, शर्म भवताद् भव्यानाम्, भद्रार्थे—भद्रमस्तु जिनशासनाय, भद्रमस्तु जिनशासनस्य; भद्रमस्तु जिनशासनाय, भद्रमस्तु २१

मन्यस्याऽनावादिभ्योऽतिकृत्सने । अत्र नवेति आप्य इति गौणात् नाम्नश्चतुर्थीति वर्तते । अतिकृत्सने मन्यस्य आप्ये अनावादिभ्यो गौणात् नाम्नश्चतुर्थीत्यन्वयः । अतिकृत्सनशब्दस्याऽन्वयमाह—अतीवेत्यादि । तेन अतिकृत्सन—प्रकृत्य कुत्सनमित्यर्थः । यदाच्चिन्तयितुं विधीयते तत्प्रकर्षेण चेतुकृत्सान् प्रतिपद्यते तदा चतुर्थी भवति न तु साम्यविवक्षायां, तेन प्रतिषेधयुक्त्या कुत्सायां चतुर्थीविधानम् । मन्येत्येति मन्यत २४ इत्यत्र यद्विकरणपर्यन्तं रूपं तस्यानुकरणं, ततश्च मन्यतिपरिग्रह इत्याह—मन्यतेरिति । न त्वा तृणायेत्यादि । तर्हि “भूणतृणगुणः” इति णे—तृणम्, “बुसच्” उत्तमं, इत्यतो नाम्युपान्तत्वात् के—बुस । तृणायापीत्यपिशब्दार्थो द्रष्टव्य इत्याह—तृणाद्यपि न मन्ये इति । एतदेव व्याचष्टे—तृणादेरपीत्यादि । न त्वा तृणं चिन्तयामि—तृणमपि न चिन्तयामीत्यर्थः, अत्र मन्येत्येति वचनाच्च भवति । न त्वा तृणं मन्ये इति । “मन्यि” बोधने, वर्तमानाया एप्रत्ययः, तत “कृत्तनादेव”, श्यनिर्देशेन दिवादिपरिग्रहात् तनादे कर्मणि न भवति । न त्वा नावं मन्य इति । नावादयो लङ्यदर्शनेनानुसर्तव्या । “सर्वे गोऽन्तश्च” इत्यालप्रत्यये गकारागमे च—सृगाल इति । ननु नावन्नयोरत्यन्तोपकारकत्वात् कथमतिकृत्सनत्व गम्यत इत्याह—नावन्नयोरपीत्यादि । परेण खेच्छया प्रकर्षेण नीयतेऽभिमत स्थान—पराधीनप्रवृत्तिरिति यावत् । अनाया- ३० सोच्छेद्यताऽऽदिभिरित्यादिशब्दादचेतनत्वविनश्रत्वादिपरिग्रहः । न त्वां रत्नं मन्ये इत्यादि । अत्र कुत्सन इति वचनात् प्रशसाया न भवति । यथा च प्रशसा गम्यते तथाऽऽह—रत्नादिभ्योऽपीत्यादि । न त्वा तृणाय मन्य इत्यादौ शुष्मदोऽपि मन्यव्याप्यत्वात् पक्षे चतुर्थी प्राप्नोतीत्याह—कुत्स्यत इत्यादि । करणाऽऽश्रयणेन हि येन कुत्स्यते तत एव तृणादेश्चतुर्थीत्यर्थः । त्वां तृणं मन्ये इति । अत्र नञो योगा- ३३ ऽभावात् सातिशयकुत्साया अप्रतीयमानत्वात् साम्यमात्रविवक्षाया न भवत्येवेत्याह—अत्र नञ्प्रयोगाऽभावाच्च इत्यादि । कुत्सामात्रेऽपी-च्छन्त्येके इति । पाणिनिस्तु व्याख्यातार एव साधारणभागप्रसृतयः । परत्वादिति । उभयोरन्यत्र चरितार्थत्वादित्यर्थः । चतुर्थ्यपीति कश्चिदिति । अजितयशोवादीत्यर्थः । उक्तकर्मणि त्विति । मन्यस्याऽऽप्ये कर्मद्वितीयाया विषये पक्षे चतुर्थी विधीयते, यत्र तु कर्मण्युक्तत्वात् ३६ द्वितीयाया अप्रवृत्तिस्तत्र चतुर्थ्येपि न प्रवर्तते, उक्तकर्मणस्तु नामार्थत्वादिति कुत्सनात् प्रथमेत्यर्थः । अथ “अनावादे” इत्येकवचनेऽपि सिध्यति बहुवचनं किमर्थमित्याह—बहुवचनमित्यादि ॥ ६४ ॥

हितसुखाभ्याम् । अत्र नवेति गौणात् नाम्नश्चतुर्थीति च वर्तते । हितसुखाभ्यां युक्ताद् गौणात् नाम्नश्चतुर्थी नवेत्यन्वयः । योगसम्बन्ध- ३९ लक्षणा षष्ठी सिद्धेति पक्षे चतुर्थ्येपि यथा स्यादिति वचनम् । आमीनातीत्यचि—आमय, तत “आमयादीर्षध” इति विनि, दीर्घत्वे—आमयावी ॥ ६५ ॥ तद्भद्राऽऽयुष्यक्षेमाऽर्थाऽर्थेनाऽऽशिषि । अत्र नवेति गौणात् नाम्नश्चतुर्थीति च वर्तते । तद्भद्राऽऽयुष्यक्षेमाऽर्थाऽर्थेनाऽऽशिषि गौणात् नाम्नश्चतुर्थी नवेत्यन्वयः । तद्वितीति । तच्छब्दस्य पूर्ववस्तुपरामर्शत्वादिति शेषः । अर्थशब्द इति । अन्य इति शेषः । भवतादिति । “भू” सत्तायाम्, ४२ तत पञ्चम्या हि, “कर्तर्यनङ्प्रत्ययः शक्” इति शक्, “आशिषि द्युष्टोस्तात्” इति तात्तद् । “भद्रुक्” सुखकल्याणयोस्तत “भन्देवी” उ० ३९११ इति रप्रत्यये—भद्रम् । “भदैच्” हर्षेऽतो “भीवृषि” उ० ३८७१ इति रप्रत्यये—भद्रम् । कले “कल्याणपर्याणादय” उ० १९३१ इत्याणप्रत्यये

जिनशासनस्य; कल्याणमस्तु जिनशासनाय, कल्याणमस्तु जिनशासनस्य; आयुष्यार्थे-आयुष्यमस्तु चैत्राय, आयुष्य-  
मस्तु चैत्रस्य; दीर्घमायुरस्तु मैत्राय, दीर्घमायुरस्तु मैत्रस्य; चिरजीवितमस्तु मैत्राय, चिरजीवितमस्तु मैत्रस्य; क्षेमार्थे-  
क्षेमं भूयात् संधाय, क्षेमं भूयात् संधस्य; कुशल भूयात् संधाय, कुशल भूयात् संधस्य; निरामय भूयात् साधुभ्यः,  
निरामयं भूयात् साधूनाम्; अर्थार्थे-अर्थो भूयात् मैत्राय, अर्थो भूयात् मैत्रस्य; प्रयोजनं भूयात् मैत्राय, प्रयोजनं भूयात्  
मैत्रस्य, कार्यं भूयात् मैत्राय, कार्यं भूयात् मैत्रस्य । आशिपीति किम्?, आयुष्य प्राणिनां घृतम्,-तत्त्वाख्याने न भवति ।  
५ हितसुखशब्दाभ्यां पूर्वेण विकल्पः सिद्ध एव, तदर्थार्थं तु तद्वहणम् ॥ ६६ ॥

### परिक्रयणे ॥ २ । २ । ६७ ॥

परिक्रियते-नियतकालं स्वीक्रियते येन तत् परिक्रयणं-वेतनादि, तस्मिन् वर्तमानाद् गौणात् नाम्नश्चतुर्थी वा भवति ।  
१ शताय परिक्रीतः, शतेन परिक्रीतः;-संभोगाय परिक्रीता कर्ताऽस्मि तव नाऽप्रियम्, संभोगेन वा;-शतादिना नियतकालं  
स्वीकृत इत्यर्थः । परीति किम्?, शतेन क्रीणाति,-कयस्याऽत्र करण न परिक्रयस्य । करणाऽऽश्रयणं किम्?, शताय  
परिक्रीतो मासम्,-मासात् मा भूत् ॥ ६७ ॥

### १२ शक्तार्थवषट्पदनमःस्वस्तिस्वाहास्वधाभिः ॥ २ । २ । ६८ ॥

शक्तार्थवषट्पडादिभिश्च शब्दैर्युक्तात् गौणात् नाम्नश्चतुर्थी भवति । पृथग्योगाद्वेति निवृत्तम् । शक्तो मैत्रश्चैत्राय,  
शक्नोति मैत्रश्चैत्राय, प्रभवति मैत्रश्चैत्राय, अलं मल्लो मल्लाय, समर्थो मल्लो मल्लाय, प्रभुर्मल्लो मल्लाय; वषट्-वषट्पदमे,  
२५ वषट्पिन्द्राय; नमस्-नमोऽर्हद्भ्यः, नमः सिद्धेभ्यः; स्वस्ति-स्वस्ति प्रजाभ्यः, स्वस्ति सधाय; स्वाहा-इन्द्राय स्वाहा,  
अग्नये स्वाहा; स्वधा-पितृभ्यः स्वधा । स्वस्तिशब्दः क्षेमार्थः, तद्योगे आशिष्यपि परत्वात् नित्यमेव-स्वस्ति सधाय भूयात्,  
स्वस्ति प्रजाभ्यो भूयात् । तृतीयया योगाभिधानादिह न भवति-नमो जिनाऽऽयतनेभ्यः,-नाऽत्र जिनानां नमसा योगः,

१८ याऽऽगमे च-कल्याणम् । 'इष्' गतावत् "इणो णित्" उ० १९८। इति णित्युक्ति प्रत्यये वृद्धौ च आयु, तत् आयु प्रयोजनमस्येति "स्वार्थ-  
स्वस्तिपाचनानिभ्यो यल्लपो" ६।४।१२३। इति यप्रत्यये-आयुष्यम् । 'सित्' निवासगलोरात् "अर्तीरि०" उ० ३३८। इति ने-क्षेमम् ।  
'कुशाच्' श्लेषणे, इत्यत "तुपिवपिकुपिकुशि०" उ० ४६८। इति किदले-कुशलम् । आयुष्यं प्राणिनां घृतमिति । तत्त्वाख्याने-  
२१ तत्, नाऽत्राऽऽशीरिति न भवति । ननु हितसुखाभ्यां योगे पूर्वेण चतुर्थीविकल्पः सिद्ध किं पुनस्वदयेन तद्वहणेनेत्याह-हितसुखशब्दा-  
भ्यामित्यादि । अयमर्थः-"हितसुखाभ्याम्" इति पूर्वसूत्रेण पक्षे चतुर्थी विधीयत एवेति न तत्प्राणार्थमिदम्, किन्तु तत्र शब्दप्रवहणमिह तु  
तदर्थार्थं पुनरुपादानमिति ॥ ६६ ॥

२४ परिक्रयणे । अत्र नवेति गौणात् नाम्नश्चतुर्थीति च वर्तते । परिक्रयणे गौणात् नाम्नश्चतुर्थी नवेत्यन्वयः । नियतकालमिति । स्तोत्रं  
कालमित्यर्थः । स्त्रीकारो घ्रातसात्करणं परिक्रय उच्यते, परिक्रयान्दोऽत्र प्रत्यासत्तिं शोतयति, यथा-परिसहसा गाव इति सहस्रप्रत्यासत्ता गाव  
उच्यन्ते । एवमत्रापि क्रयप्रत्यासन्नोऽल्पकालो वेतनादिना स्त्रीकारः परिक्रय उच्यते । तत्र यत्करणं परिक्रयक्रियायां साधकतम वेतनादि तत्क-  
२७ रणव्युत्पत्त्या परिक्रयणमुच्यते । वेतनादीत्यादिशब्दात् भाटकादिपरिग्रहः । शतायेत्यादि व्याचष्टे-शतादिनेत्यादि । शतेन क्रीणाति-  
अत्र क्रय एव, न परिक्रयोऽतस्त्वस्य करणे पक्षे न चतुर्थीति । शताय परिक्रीतो मासमिति । यदि परिक्रयण इति प्रकृत्यर्थविषयतया निर्दि-  
श्यते परिक्रयणे-परिक्रये यदर्थं परिक्रयविषयस्वतत्त्वतुर्थीति मासादेरपि प्राप्नोति, करणाश्रयणत्वे न भवतीत्याह-मासान् मा भूदिति ॥ ६७ ॥

१० शक्तार्थवषट्पदनमःस्वस्तिस्वाहास्वधाभिः । अत्र गौणात् नाम्नश्चतुर्थीति वर्तते । शक्तार्थवषट्पदनमः स्वस्तिस्वाहास्वधाभिर्गौणात्  
नाम्नश्चतुर्थीत्यन्वयः । पृथग्योगादिति । "हितसुखाभ्याम्" इत्यत स्वस्तिशब्दस्य पृथक्करणमित्यर्थः, अन्यथाऽनाशयां "हितसुखस्वस्तिभिः"  
इति कृतेऽनेन विकल्प आशयासां तु "तद्वहणम्" इत्यनेनेति । "परिक्रयणे" इत्यनेन त्वेकयोगत्वं न व्याख्याय, अर्थस्यासङ्गत्वे । तत्र हि परि-  
२१ क्रयणे वर्तमानानाम्ना इत्युक्तं, अनेन त्वेकयोगे वषट्पादिवत् परिक्रयणशब्दस्वरूपपरिग्रहः स्यादिति । शक्तो मैत्रश्चैत्रायेति । शक्नोतेरकर्मक-  
लक्षणं कर्तेरि क, शक्तार्थे इति नाम्न प्रत्ययार्थो विवक्षितः किन्तु प्रकृतिमात्र, अन्यथा अलं मल्लो मल्लायेत्यत्र न स्यात् । न ह्यत्र कर्ता  
प्रत्ययार्थोऽस्ति, तस्याऽवस्थावचनित्वेन सामर्थ्यमात्रयोज्यत्वात् । मल्ल इति तु प्रथमा, अलं भवतीति सामानाधिकरण्यात्, तेन शक्यते मल्लेन  
२५ मल्लायेत्यपि द्रष्टव्यम् । एव वषट्पदमे इत्यादि । स्वस्तिशब्दः क्षेमार्थः इत्यनेन विकल्पप्राप्तिं दर्शयति । परत्वाच्चित्त्यमेवेति । स्वस्तिचतुर्थ्या  
अवकाश-स्वस्ति जाल्माय, तत्त्वाख्यानमिदं जाल्मत्वादाशीरभावात् । क्षेमार्थचतुर्थ्या अवकाश-कुशल भूयात् सधाय । इहोभयं प्राप्नोति-  
स्वस्ति प्रजाभ्य इति, तत्र परत्वादाशिष्यपि नित्यं स्वस्तिचतुर्थी भवतीत्यर्थः । तृतीयया योगाभिधानादिति । शक्तार्थादिभिर्गुजात् चतुर्थी-  
२९ त्वार्थवसायात् तैर्युक्ताज्ज भवतीत्यर्थः । नमस्यति जिनामिति । अत्रापि नमसा योगाभावात् जिनामित्यत्र चतुर्थ्यभावः, यदा नम शब्द-  
स्यार्थवतो प्रवृत्तात् तेन अनर्थकेन योगे न भवति, अत्र हि नमसाधातुरर्थवशात् तु तदेकदेशे नम शब्द इति । अथवा-पदान्तरसंबन्धानपेक्ष-  
णादन्तरङ्गया कारकविभक्त्या द्वितीयया उपपदविभक्तिश्चतुर्थ्या बाध्यते, 'उपपदविभक्ते कारकविभक्तिर्बलीयसी' इति न्यायात् । ननु कारकविभ-  
३२ क्तिरपि क्रियापदापेक्षिणीति कथमन्तरङ्गा स्यात्?, नैष दोषः, कारकस्य क्रियामात्रसंबन्धान्वयिनात्वात् स्वरूपान्तर्गतैव सापेक्षेति । विशिष्टक्रिया-  
पदप्रवहणेन तु सैवापेक्षा नियम्यत इति । उपपदार्थापेक्षा उपपदविभक्तिप्रवृत्तेर्नास्तीति न स्वाभिधेयान्तरगता इत्यमुनेकः चेतसि निधाय दृच्छति-

नमस्यति जिगानित्यत्राऽपि नमस्यधातुना/योगो न नमसा । यद्येवं कथं स्वयंभुवे नमस्कृत्येति ? नाऽनेनाऽत्र चतुर्थी, किंतु नमस्कृतिलक्षणया क्रिययाऽभिप्रेयमाणत्वात् संप्रदानत्वे “चतुर्थी” ॥ २ । २ । ५३ ॥ इत्यनेनैव, स्वयंभुवं नमस्कृत्येत्यत्र तु क्रियाऽभिप्रेयत्वाऽविवक्षायां द्वितीयैव ॥ ६८ ॥

### पञ्चम्यपादाने ॥ २ । २ । ६९ ॥

अपादाने कारके गौणात् नाम्नो यथासख्यमेकद्वि-हौ ङसिभ्याम्यसलक्षणा पञ्चमी विभक्तिर्भवति । ग्रामादागच्छति, पर्वतादवरोहति, गोदाभ्यामागच्छति; यवेभ्यो गां वारयति, कुसुलात् पचति, बलाहकाद् विद्योतते विद्युत्; चौराद् विभेति ॥ ६९ ॥

### आडावधौ ॥ २ । २ । ७० ॥

अवधिर्मर्यादा, अमिविधिरपि तद्विशेष एवेति तस्याऽपि ग्रहणम्; अवधौ वर्तमानात् आडा युक्ताद् गौणात् नाम्नः पञ्चमी भवति । आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो मेघः—पाटलिपुत्रमवधीकृत्य तद्वाप्याऽव्याप्य वा वृष्ट इत्यर्थः, आ कुमारेभ्यो यशो गतं गौतमस्य ॥ ७० ॥

### पर्यपाभ्यां वज्र्ये ॥ २ । २ । ७१ ॥

वज्र्ये—वर्जनीयेऽर्थे वर्तमानात् पर्यपाभ्यां युक्ताद् गौणात् नाम्नः पञ्चमी भवति । परि पाटलिपुत्राद् वृष्टो मेघः, परि परि पाटलिपुत्राद् वृष्टो देवः; अप पाटलिपुत्राद् वृष्टो देवः,—पाटलिपुत्र वर्जयित्वेत्यर्थः । वज्र्य इति किम् ? अपशब्दो मैत्रस्य ॥ ७१ ॥

### यतः प्रतिनिधिप्रतिदाने प्रतिना ॥ २ । २ । ७२ ॥

प्रतिनिधीयत इति प्रतिनिधिमुख्यस्य सदृशोऽर्थः, प्रतिदानं—गृहीतस्य प्रत्यर्पणम्—विशोधनमिति यावत्; प्रतिना योगे यतः प्रतिनिधिर्यतश्च प्रतिदानम् तद्वाचिनो गौणात् नाम्नः पञ्चमी भवति । प्रद्युम्नो वासुदेवात् प्रति, अमयकुमारः ॥ १८

यद्येवं कथमित्यादि । कारकविभक्त्या द्वितीयया बाध्यमाना कथमत्र चतुर्थीति प्रश्नार्थः । परिहरति—नाऽनेनाऽत्र चतुर्थीत्यादि । यदि नमस्कृतिलक्षणक्रियाभिप्रेयमाणतया संप्रदानत्वं, कथं तर्हि स्वयंभुव नमस्कृत्येत्यत्र तच्च भवतीति यदि कस्याप्याशङ्का स्यात्तदा तन्निवृत्त्यर्थमाह—स्वयंभुवमित्यादि । बहुवचनमसन्देहार्थम् ॥ ६८ ॥

पञ्चम्यपादाने । अत्र गौणात् नाम्न इति वर्तते । अपादाने गौणात् नाम्न पञ्चमीत्यन्वयस्तदाह—अपादाने कारके इत्यादि । ग्रामादागच्छतीति पदस्य योऽर्थ आगमनक्रियालक्षणस्तस्यावधिभावेन ग्रामो विवक्षित इति “अपायेऽवधिरपादानम्” इत्यस्याऽपादानत्वात् पञ्चमी । एवं पर्वतादवरोहतीत्यादावपि द्रष्टव्यम् ॥ ६९ ॥

आडावधौ । गौणात् नाम्न पञ्चमीति वर्तते । अवधौ आडा गौणात् नाम्न-पञ्चमीत्यन्वयः । अवधिश्चान्दस्य पर्यायेणार्थमाह—अवधि-र्मर्यादेति । प्रवृत्तस्य यत्र निरोधः स मर्यादा, तद्विशेष एवेति मर्यादाविशेषोऽभिविधिरिति मर्यादाभूतमेव यदा क्रियया व्याप्यते तदाऽभिविधिरित्यवधिशब्देनैव मर्यादार्येण तस्यैव सामान्येन ग्रहणमित्यर्थः । आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो मेघ इति । अत्र वर्षस्य पाटलिपुत्रमवधिराजः च युक्तः २७ मतस्ततः पञ्चमी । पाटलिपुत्रमवधीकृत्यैतावानर्थ आडा शोत्यते । अवधि पुनरव्याप्तिरिति च विशेषो न गम्यते, प्रमाणान्तरेण तु गम्यत इत्याह—तद्वाप्याऽव्याप्य वेति । आकुमारेभ्यो यशो गतं गौतमस्येति । समन्ततो विसर्पणेऽपि आपाटलिपुत्रादिति पाटलिपुत्रवत् कुमारा अवधित्वेन प्रतीयन्ते ॥ ७० ॥

पर्यपाभ्यां वज्र्ये । अत्र गौणात् नाम्न पञ्चमीति वर्तते । वज्र्ये पर्यपाभ्यां गौणात् नाम्न-पञ्चमीत्यन्वयः । परि पाटलिपुत्राद् वृष्टो देव इत्यादौ वज्र्यवर्जकसंबन्ध पर्यपाभ्यां शोत्यत इति तत्र तद्युक्तात् वर्जनीयात् संबन्धघट्टां प्राप्तायां पञ्चमी विधीयते इति । परि परि पाटलिपुत्रादिति । “वाक्यस्य परिवर्जने” ७।१।८। इति द्विवचनम् । पाटलिपुत्रं वर्जयित्वेत्यर्थः इत्यनेन पाटलिपुत्रस्य वज्र्यत्वं दर्शयति । १३ पर्येषो द्वु पाटलिपुत्रस्य वृष्टया वर्ज्यमानतां शोतयत । अपशब्दो मैत्रस्येति । अपगतः शब्दादपशब्द इति पूर्वपदप्रधानं समासः, अत्र अपेन युक्तो मैत्रो न वज्र्य इति वज्र्य इति वचनात् न भवति । नन्वपेन साहचर्यात् परेरपि वर्जनीयस्य ग्रहणात् वर्जनीयार्थाभ्यां पर्यपाभ्यां युक्तात् पञ्चमी-त्यर्थावसायात् कर्तुर्येदर्थं कियारंभस्तत्रधानमिति व्याप्यस्य वर्ज्यमानस्य प्राधान्यात् ताभ्यां युक्तत्वात् पाटलिपुत्रादे क्रियाव्याप्ये द्वितीयायाः प्रसङ्गे ३६ सचन्धिरूपतया वाऽपेक्षिते घट्टां प्राप्तायां वर्जनीयादेव पञ्चमी भविष्यति किं वज्र्यग्रहणेन ? सत्यम्, एवं सति प्रतिपत्तिगौरवं स्यात् । किं च न हि साहचर्यं प्रमाणमस्ति, अर्थप्रकरणादिमिलोके सद्वचरितस्य ग्रहणात् सव्यभिचारत्वात् चेत्यदोषः ॥ ७१ ॥

यतः प्रतिनिधिप्रतिदाने प्रतिना । अत्र गौणात् नाम्न पञ्चमीति वर्तते । प्रतिना यतः प्रतिनिधिप्रतिदाने तद्वाचिनो गौणात् नाम्न पञ्चमीत्यन्वयः । प्रतिनिधीयत इति—मुख्यस्यासभवे कार्ये विनियुज्यते, इति मुख्यसदृशोऽर्थः इत्याह—प्रतिनिधिरित्यादि । मुख्यो यः कश्चित् कार्यं कृत्तव्यो यथा—अर्जुनः शत्रुजये, तस्यासन्निधाने यस्तत्कार्यं तद्बुद्ध्या विनियुज्यते स प्रतिनिधिरित्यर्थः । प्रतिदानमिति । गृहीतस्य पूर्वदत्तस्य तिलादेः प्रत्यर्पणं—निर्यातनं मुख्यजातीयेनाऽनुस्यजातीयेन वेति शेषः । पुनः प्रत्यर्पणं स्पष्टयति—विशोधनमिति । यतः प्रतिनिधिर्यतश्च प्रतिदानमिति । यत इत्यत्र यच्छब्दात् मुख्यपूर्वदत्तप्रतिपादकात् “गम्ययप कर्माऽऽधारे” इति कर्मणि पञ्चमी, यमपेक्ष्य प्रतिनिधिप्रतिदाने भवतस्ततः पञ्चमीति ह्यर्थो गम्यते, मुख्यपूर्वदत्ते चापेक्षिते भवतः संबन्धशब्दत्वात् । प्रद्युम्नो वासुदेवात् प्रति इति ।

श्रेणिकतः प्रति, -सदृश इत्यर्थः; तिलेभ्यः प्रति मापानस्मै प्रयच्छति, -तिलान् गृहीत्वा मापान् ददातीत्यर्थः, एवं सर्पिषो-  
ऽस्मै तैलं प्रति सिञ्चति, सर्पिषोऽस्मै तैलं प्रति सिक्त्वा व्रजति । यत इति किम्?, तिलेभ्यः प्रति मापान् प्रयच्छति  
इत्यत्र मापशब्दात् मा भूत् । प्रतिनिधिप्रतिदान इति किम्?, वृक्ष प्रति विद्योतते विद्युत् ॥ ७२ ॥

### आख्यातयुपयोगे ॥ २ । २ । ७३ ॥

आख्याता-प्रतिपादयिता, तत्र वर्तमानाद् गौणात् नाम्नः पञ्चमी भवति; उपयोगे-नियमपूर्वकविद्याग्रहणविषये । उपा-  
ध्यायादधीते, आचार्यादागमयति, श्रावकात् शृणोति; प्रत्येकबुद्धादधिगच्छति । आख्यातरीतिः किम्?, उपाध्यायात् शास्त्र-  
मागमयति, -अत्र शास्त्रात् मा भूत् । उपयोग इति किम्?, नटस्य शृणोति, उपयोगविवक्षायां तत्राऽपि भवति-नटाद्  
भारतं शृणोति । अपादानत्वेनैव सिद्धे उपयोग एव यथा स्यादित्येवमर्थं वचनम् ॥ ७३ ॥

### गम्ययपः कर्माऽऽधारे ॥ २ । २ । ७४ ॥

गम्यस्याऽप्रयुज्यमानस्य यपो-यवन्तस्य यत्कर्म आधारश्च तत्र वर्तमानाद् गौणात् नाम्नः पञ्चमी भवति । द्वितीयासप्तम्यो-  
रपवादः । प्रासादात् प्रेक्षते, आसनात् प्रेक्षते, प्रासादमारुह्याऽऽसने चोपविश्य प्रेक्षते इत्यर्थः । गम्यग्रहणं किम्?, प्रासादमारुह्य  
शेते, आसने उपविश्य भुङ्क्ते, -न ह्यत्र यवन्तस्याऽप्रयोगे तदर्थः प्रतीयते । यवग्रहणं किम्?, प्रविश पिण्डीम्, प्रविश तर्प-  
णम्, वृक्षे शाखा, ग्रामे चैत्र, -अत्र हि भक्ष्यकुरुआस्तेवसतीनां गम्यता न तु यपः । ननु यथा कुरुआदादाय पचति-कुरु-

प्रयुनस्य वासुदेवप्रतिनिधित्वात् वासुदेवात् पञ्चमी । युपूर्वात् 'माक्' मानशब्दयोरित्यत "युप्रनिभ्यो माक्वे ङित्" उ० २६६ । इति ङिति ने-युत्र,  
३५ यथात् प्रेण बहुमीहौ-प्रयुन । एव अमयकुमारस्य धेणिकप्रतिनिधित्वात् धेणिकात् पञ्चमी, "प्रतिना पञ्चम्या" ७।२।८७। इति तस्य । तिलेभ्यः  
प्रति मापानस्मै प्रयच्छति-ये तिला मापार्थं पूर्वं गृहीतास्तेभ्यो मापाणा प्रतिदानमिति तिलशब्दात् पञ्चमी इत्यनुष्योदाहरणस्यार्थं स्पष्टयति-  
तिलान् गृहीत्वत्यादिना । एव सर्पिषोऽस्मै तैलं प्रति सिञ्चतीत्यादावपि द्रष्टव्यम् । अत्र यद्यपि मुख्यप्रतिनिध्योर्गृहीतप्रतिदानयोश्च प्रतिना

३८ योगस्तथापि यत इति निर्देशात् मुख्यात् गृहीताय तद्युक्तात् पञ्चमी विधीयते, तत एव च तथा उत्पद्यमानया उभयगतसंबन्धस्य प्रतिपादितत्वात् ।  
इतराभ्यां तद्युक्ताभ्यामपि पञ्चम्या अप्रवृत्तिरित्याह-यत इति किमित्यादि । ननु प्रतिनिधिप्रतिदानयो स्तेन प्रतियोगिना प्रतिनिधिप्रतिदानवता  
समन्वयमभिव्यक्तुं प्रति प्रयुज्यते, तत्र द्विष्टत्वात् संबन्धस्य प्रतिनिधिप्रतिदानयो प्रतिनिधिप्रतिदानवतोश्च तुल्येऽपि प्रतिना योगे प्रतिनिधिप्रतिदानाभ्यां  
२१ कारकविभक्तिविपर्ययाभ्यां नोपपदविभक्तिः पञ्चमी भविष्यति किं तदर्थेन यत इत्यनेन?, उपपदविभक्तयो हि पक्षपवाद, पक्षी च सवन्धस्वेदभाव-  
लक्षणे; कारकभावस्य च संबन्धकारणभूतस्य विवक्षायामसेदमित्येवरूपस्य सवन्धस्य फलभूतस्य प्रागभावादेव उपपदविभक्तौ नामनुपजातमिति तान्  
स्वत एवाभाव सिद्धः । अयमेव चार्थं पूर्वाचार्थं परिभाषारूपेणानेन च वचनेन पठ्यते 'उपपदविभक्ते कारकविभक्तिर्बलीयसी'ति । तत्र यथा

२४ प्रद्युम्नाययोः कारकयोरसति प्रतिना संबन्धे 'वासुदेवस्य प्रतिनिधिरय प्रद्युम्नसिलानां प्रतिदान मापान् प्रयच्छतीति' कारकविभक्तिः प्रधानाद्रघा-  
नायः पक्षी, तथा प्रतिनाऽपि योगे त समन्वयमभिधातुं पञ्चम्युत्पद्यमाना तत एव च प्रतियोगिनः पक्षीयुक्तादुत्पत्त्येव न तु प्रतिनिधिप्रतिदानाभ्या-  
मिति न्यायादेव सिद्धः, इत्यम्, इमामेव नियतविपर्ययमुत्पत्तिं यत इत्यनेन दर्शयतीत्यदोषः । वृक्षं प्रति विद्योतते इति । अत्र वृक्षस्य प्रतिना  
२७ योगेऽपि प्रतिनिधिप्रतिदानयोरभावात् मुख्यगृहीतासम्भवात् न ततः पञ्चमीति "भागिति च प्रतिपर्यनुमि" इति द्वितीयैव ॥ ७२ ॥

आख्यातयुपयोगे । अत्र गौणात् नाम्नः पञ्चमीति वर्तते । आख्यातर्हि गौणात् नाम्नः पञ्चमी उपयोगे इत्यन्वयः । अत्र उपपूर्वो  
युजिष्यारामात्रेऽप्यस्ति, यथा-अयमसदर्थ-उपयुज्यते-व्याप्रियत इति । स यदि विज्ञायेत, नटस्य शृणोतीत्यत्रापि स्यात्, आख्यातुमोत्रोऽख्यातन-

३० श्रवणलक्षणस्य व्यापारस्य विद्यमानत्वात् । तद्योगात्ताने-स्त्रीकारेऽप्यस्ति, यथा पक्वान्तेतानि फलानि एकशाखाप्रभवत्वादुपयुक्तफलवदिति-उपात्त-  
फलवदिति गम्यते । यद्यप्ययमत्रार्थं स्यात् 'तथापि नटस्य शृणोति' इत्यत्रापि स्यात्, अत्रापि हि उपाध्यायोभारितशब्दवत् नटोभारितशब्द-  
श्रोतुमि श्रोत्रपदमुपगम्यते-उपादीयते । तत्र न केवलमुपयोगग्रहणमनर्थकं सूत्रमेवानर्थकं स्यात् तस्मिन्वचनस्यैवात् सूत्रस्य, अतो नाऽयमर्थोऽपि

३३ त्वमित्याह-उपयोग इत्यादि । नियमो विद्याग्रहणार्थं गुरुश्रूषादिकां शिष्यवृत्तिमाख्यायते । प्रत्येकबुद्धादधिगच्छति-किञ्चिन्निमित्तमा-  
साद्याभ्यासपद्धमहाव्रतप्राप्त्यजन्मसंस्कारोद्बुद्धसकलशास्त्रस्पृतिं प्रत्येकबुद्धः । ननु यदा नटादेर्मरतशास्त्रादिकमात्मसात्कर्तुंकामः शृणोति तदा कथं  
पञ्चमीत्याह-उपयोगविवक्षायां त्वित्यादि । अयमर्थः-अत्रापि तदनुकूलोऽस्ति कश्चिन्नियमः, न ह्यत्र प्रेक्षणवत् यथाकथंचिदनिश्चयेनोपरोधेन

३६ वा श्रवणात् । नियमपूर्वकविद्याग्रहणमित्यनेन वा ग्रन्थस्यार्थस्य चैदपर्येण परिग्रह एवोच्यते, स तत्राप्यस्तीति भावः । विद्याग्रहणमित्येतावति  
तुल्यमाने प्रेक्षणकेऽपि शृण्वतः किमप्यस्ति विद्याग्रहणं, तत्क्षणवच्छेदार्थं नियमपूर्वकमित्युपादीयते । ननु प्राध्यायादेरस्ति विद्यापरिग्रहेऽप्येवविधि-  
भूतत्वं, ततो हि विद्या धोतारमुपैति, सततत्वात् नान्यन्त्याय ततोऽपक्रामतीति "पञ्चम्यपादाने" इति सिद्धा पञ्चमी किमनेनेति?, उच्यते-उपयोग

३९ एव यथा स्यात् तदभावे मा भूदित्येवमर्थसिद्धमिति सूत्रात्तत्पर्यमाह-अपादानत्वेनैवेत्यादि ॥ ७३ ॥

गम्ययपः कर्माऽऽधारे । अत्र गौणात् नाम्नः पञ्चमीति वर्तते । गम्ययपः कर्माऽऽधारे गौणात् नाम्नः पञ्चमीत्यन्वयः । यथेति यवन्त

युज्यते केवलस्य प्रयोगाभावादित्याह-यपो यवन्तस्येति । तत्र यवन्तस्य कर्मणि द्वितीया प्राप्नोति, आधारे च सप्तमीति तयोरपवादः पञ्च-  
४२ मीयमित्याह-द्वितीयेत्यादि । प्रासादात् प्रेक्षते इत्यादिप्रयोगार्थं कथयन् गम्ययवन्तं दर्शयति । तथा च गम्यग्रहणं किमिति प्रत्यु-  
दाहियते-प्रासादमारुह्य शेते, आसने उपविश्य भुङ्क्ते इति । तदर्थं इति । आरुहेत्यादियवन्तार्थं इत्यर्थः । प्रविश पिण्डीमि-  
त्यादी अर्थात्प्रकरणान्ना भक्षयेत्यादि गम्यमपेक्ष्य, तत्र न यवन्तमिति पञ्चमी न भवति । ननु किमर्थमिदं सूत्रमारभ्यते?, प्रासादात् प्रेक्षते,

४५ आसनात् प्रेक्षत इति ततो हृष्टिरपैतीति प्रासादादेरप्येवविधौ भूतत्वात्पादाने पञ्चमी सिद्धेव । तथाहि-इह तान्देकेषां दर्शनं 'अधिष्ठानदेशात्  
नान्यन्त्याय निर्गच्छत् बहिरिन्द्रिय विषय परिच्छिनत्ति' यथा जलौकसा पूर्वेदेशाऽपरित्यागेनाऽपरदेशप्राप्तिः, 'तथेन्द्रियाणामपि अधिष्ठानापरि-  
त्यागेन विषयप्राप्तिरिति नाऽनिन्द्रियमधिष्ठानमिति, ततोऽपक्रान्त्या च स्पष्टोऽवधिभावः ।' येषां तु क्षणिकानिन्द्रियाणि प्राप्यकारिणि वेति दर्शनं



रात् पचतीत्यत्राऽदानाऽङ्गे पाके षचेवर्तमानादुपात्तविषयमेतदपादानमिति पञ्चमी भवति, एवमिहाऽपि अपक्रमणाऽङ्गे दर्शने द्योर्वर्तनाद् भविष्यति, तथा हि—तत्तोऽपक्रामति अनपक्रामद्धि न विषयं गृह्णीयात्, सत्यम्; किं तु आरुह्य उप-  
विश्येति यवन्तार्थोऽपि गम्यते, ततो यथा यवन्ते प्रयुज्यमाने कर्माऽधिकरणयोर्द्वितीयासप्तम्यौ भवतस्तद्वदप्रयुज्यमानेऽपि ६  
तदर्थप्रतीतिस्ते प्रसज्येयातामिति सूत्रमारम्यते ॥ ७४ ॥

## प्रभृत्यन्यार्थदिक्शब्दवहिरारादितरैः ॥ २ । २ । ७५ ॥

प्रभृत्यर्थैः अन्यार्थैः दिक्शब्दैर्बहिस् आरात् इतर इत्येतैश्च शब्दैर्युक्ताद् गौणात् नाम्नः पञ्चमी भवति । प्रभृत्यर्थः— ६  
ततः प्रभृति, कार्तिक्याः प्रभृति, आरम्य ग्रीष्मात्, ग्रीष्मादारम्य । अन्यार्थः—अन्यो मैत्रात्, भिन्नश्चैत्रात्, अर्थान्तरं  
घटात्, व्यतिरिक्तः पटात्, विलक्षणोऽश्वात्, पृथग् गजात्; हिरण् गार्ग्यात् । दिक्शब्द—ग्रामात् पूर्वस्यां दिशि वसति,  
ग्रामादुत्तरस्यां दिशि वसति; दिशि दृष्टाः शब्दा दिक्शब्दा इति देशकालादिवृत्तिनापि भवति—पूर्वं उज्जयिन्या गोनर्दः, ७  
उत्तरो विन्ध्यात् पारियात्रः, पूर्वो ग्रीष्माद् वसन्तः, पश्चिमो रामाद् युधिष्ठिरः, एतदर्थमेव च शब्दशब्दोपादानम्; गम्य-  
मानेनाऽपि च दिक्शब्देन भवति—क्रोशात् लक्ष्यं विध्यति—परेणेति गम्यते, “कमेर्णिङ्” ॥ ३ । ४ । २ ॥ परो भवतीति  
गम्यते; प्राग् ग्रामात्, प्रत्यग् ग्रामात्, उदग् ग्रामात्, प्राचीन ग्रामादात्राः, दक्षिणाहि ग्रामात्, उत्तराहि ग्रामात्, दक्षिणा १२  
ग्रामात्, उत्तरा ग्रामात्; न्यग् मैत्रस्याऽवस्थित इत्युपसर्जनत्वात् न दिक्शब्दता । वहिस्—वहिरात्, वहिर्पुरात्;

तेषामपीन्द्रियक्षण एकस्मिन् विषये गच्छति अन्य इन्द्रियक्षणोऽधिष्ठानदेशे प्रादुर्भवतीत्यन्योन्याप्रादुर्भावात् न निरिन्द्रियाधिष्ठानदोष इति ततो-  
ऽपक्रमेण योतितमवधितम् । येषां पुनरप्यकारिणीन्द्रियाणि तेषामपि प्रेक्षणक्रियायास्ततोऽभावात् प्रासादादेरनुपहतोऽवधिभाव इति । अपि १५  
चेमानोन्द्रियाणि प्राप्यकारीण्येवेति केषांचिद्दर्शनं, यदि हि तानि तथा न स्युस्तदा दूरवर्तिनो व्यवहितमपि पदार्थमुपलभेरन्, ततोऽनुमिति-  
स्मिमामाहु ‘यद्वत् सत्यस्मिन् नयनयुगळे विततसुखा रम्यो ये विषयमासाद्य गृह्णन्तीति’ । एव च सर्वं उत्प्रेक्षत इत्यस्यायमर्थ—नयनवीधि-  
तयोऽस्य नि सत्य विषय गृह्णन्तीति भवति प्रासादोऽवधित्वादपादानमिति ततोऽनपक्रामन्न चेन्द्रिय विषय परिच्छिन्नतीति सिद्धाऽपादानपञ्चमीत्य- १८  
नुमेवार्थं संप्राचार्योदाहरणे प्रदर्शनपुर सरमाक्षिपति—नन्वित्यादि । परिहरति—सत्यमित्यादि । अयमर्थ—सत्य सिध्यति पञ्चमी, किन्तु  
प्रतीयमानयवन्तक्रियापेक्षया कर्मभावस्याधारभावस्य च विद्यमानत्वात् द्वितीयासप्तम्यावपि स्यातां तदर्थमिदमारभ्यते । तद्विवक्षा इह नास्तीति  
लोकात् प्रतिपत्तो तत् इदं वचनं लघु मन्यत इति । किं न न भवद्वीरित प्रेक्षतेरर्थश्चक्षुरिन्द्रियकरणक्रियासुपलब्धौ सम्भवति, प्रेक्षते देवदत्त २१  
चक्षुरिन्द्रियेण करणभूतेन पदार्थमुपलभत इति देवदत्तस्य कर्तृत्वमुपलभ्यते न चक्षुरिन्द्रियस्य । यश्च चाक्षुषो व्यापारो नि सरणात्तो विषयग्रहण-  
लक्षण स न शब्दोपात्तः, केवलं नयनवीथितीना विषयग्रहणाऽन्यथानुपपत्त्या व्यापारोऽनुमीयते । न चानुमानसमधिगम्योऽर्थं शब्दार्थो  
भवितुमर्हतीति प्रेक्षत इति—नायनरम्योऽस्य नि सत्य विषय गृह्णन्तीति अशब्दार्थोऽयमिति कथं ग्रामादागच्छतीति शब्दोपात्तक्रियापेक्षे कारक- २४  
भावे सत्यनुमितक्रियापेक्षया साक्षादशब्दोपात्तव्यापारं कारकभावमुररीकृत्य पञ्चमीं समर्थयामहे १, तस्मात् प्रासादात् प्रेक्षत इत्यत्र चक्षुषो न कर्तृत्व  
नापि तद्वन्मैत्रियारब्धव्यमेवेदमिति । अपि चास्मां तावत् शब्दार्थताप्रयासः, नयनरम्योऽस्य नि सत्य विषयं गृह्णन्तीति अयमेव प्रेक्षतेर्भवत्वर्थः  
प्रासादस्य तु तत्क्रियापेक्षयाऽपादानादन्यत्व ब्रूमः । न तावत् प्रासादरम्य प्रसरन्ति किन्तु चक्षुररम्य इति प्रत्युत प्रासादो देवदत्तस्याधार २७  
इति । सादेतत्—पारम्येण प्रासादस्यावधिभावः, प्रासादस्यात् चक्षुषो यतो निर्यान्त्यतः पारम्येण प्रासादादेव ते निर्यान्तीति तदिदमिति-  
श्रमावितम् । एव हि मुख्यस्यापादानत्व स्यात्, ततश्च मुख्यत्वात् प्रेक्षत इत्यपि प्रसज्येत । को हि विशेष पारम्येणावधिभावात्, मुख्यस्य  
वाऽप्यपादानत्वमस्तु प्रासादस्येवेति । अपि च केषांचिदेव दर्शनं यज्जायना रम्यो विषय गृह्णन्तीति । अन्येषां तायागतादीनां गोलकस्यैवविधा ३०  
कान्चिच्छक्तिरिति यथा विषय प्रतीप्सति, तथाहि—घातुदोषोपलभिसंक्रणसारं पश्यदन्धमिदमिदधति जना इति तेषां दर्शनं प्रति वा काऽत्र  
गति १, न च विशेषोपेक्षया शब्दस्थितिः, अनवस्थाप्रसङ्गादिति युक्तमिदमारभ्यत इति ॥ ७४ ॥

१ प्रभृत्यन्यार्थदिक्शब्दवहिरारादितरैः । गौणात् नाम्नः पञ्चमीति वर्तते । प्रभृत्यन्यार्थदिक्शब्दवहिरारादितरैर्गौणात् नाम्नः पञ्चमी- ३३  
त्यन्वयः । अर्थशब्द प्रभृत्यन्यशब्दाभ्यां प्रत्येकमभिर्भवत्यत इत्याह—प्रभृत्यर्थैरिति । अत एव च पर्यायप्रयोगेऽप्युदाहरति—आरभ्येत्यादि ।  
दिक्शब्दैरिति । दिशा शब्दा दिक्शब्दा इति षष्ठीसमासः । के च दिशां शब्दा १, ये दिक्षु वर्तन्ते, अतद्वृत्तेरपि तच्छब्दत्वेऽतिप्रसङ्गात् ।  
न च वर्तमाननिमित्तसमवे कालान्तरे क्षतिपरिग्रहो युक्तः, तत्र विषये प्रयोगे पञ्चमी स्यात् नान्यत्र देशादावित्याह—दिशि दृष्टा इत्यादि । ३६  
दिशि ये वाचकत्वेन दृष्टा शब्दास्त इह दिक्शब्दा इति विज्ञायन्ते न तु दिशि वर्तमाना एव, तेन दिशो वाचकत्वेन दृष्टस्य शब्दस्य देशे काले  
आदिशब्दात् भावे प्रत्ये च वृत्तावपि तथोणे पञ्चमी, यथा—पूर्वं उज्जयिन्या गोनर्द इति । अत्र कथमिदं विज्ञायते दिशि दृष्टा एव शब्दा  
दिक्शब्दा न दिशि वर्तमाना इत्याह—एतदर्थमेव चेत्यादि । नो हेतौ, यस्मात् दिक्शब्देति शब्दस्योपादानं तस्मात् दिशि दृष्टा शब्दा दिक्- ३९  
शब्दा इति । नन्वेतदेव कथं विज्ञायते १, एतदर्थमेव शब्दोपादानमिति, उच्यते—अन्यथा शब्दशब्दोपादानार्थक्यात्, यदि हि दिशि वर्तमानस्यैव  
प्रयोगे पञ्चमी स्यात् शब्दशब्दोपादानमनर्थकं स्यात् । तत्र दृष्टस्य तस्यैव व्यपदिश्यते, यथा क्वचिद्भावे दृष्टो मनुष्योऽन्यत्रापि दृश्यमानस्तस्य ग्राम-  
स्याय मनुष्य इति व्यपदिश्यते । गम्यमानेनाऽपीति । अप्रयुज्यमानेनेत्यर्थः । प्राग् ग्रामादिति । प्रपूर्वादन्वते क्तिप्, तत् प्राची दिक् प्राक् ४२  
देश कालो वेति “दिक्शब्दादिदेशकालेषु प्रथमापञ्चमीसप्तम्या” ७।२।११३। इति धाप्रत्ययः, “अवूरे एन” ७।२।१२२। इत्येनप्रत्ययो वा  
तस्य “छववे” ७।२।१२३ इति लोपः, तथोणे ग्रामादिति पञ्चमी । एव प्रत्यग् ग्रामादित्यादौपि द्रष्टव्यम् । दक्षिणाहि ग्रामात्—“आहि दरे”  
७।२।१२०। इत्यादि प्रत्ययः । एवमुत्तराहीत्यत्रापि । दक्षिणा ग्रामादिति । “वा दक्षिणात्” ७।२।११९। इत्याप्रत्ययः । न्यग् मैत्रस्येति । ४५



आरादित्यव्ययं दूरसमीपयोर्वाचकम्, तेन तद्योगे वक्ष्यमाणस्य “आरादर्थैः” ॥ २ । २ । ७८ ॥ इति विकल्पस्याऽपवादो-  
ऽयम्—आराद् ग्रामात् क्षेत्रम्, आरात् मैत्रात् पीठम्; इतरशब्दो द्वयोरुपलक्षितयोरन्यतरवचनस्तेनाऽन्यार्थोद् मिद्यते—इतरश्चै-  
त्रात्, तस्य द्वितीयो मैत्रादिरित्यर्थः । अथ जिनदत्तादन्योऽयं मैत्रस्य, जिनदत्तादितरोऽयं चैत्रस्य, छात्राणां पूर्वमामत्रयस्य,  
कायस्य पूर्वमिलादौ मैत्रचैत्रच्छात्रकायशब्देभ्यः कथं न भवति?, उच्यते—प्रत्यासत्तेर्यस्यैवाऽन्यत्वादिधर्मनिमित्तोऽन्यशब्दा-  
दिना योगस्तत एव जिनदत्तादेः पञ्चमी भवति न मैत्रादेरिति ॥ ७५ ॥

४

ऋणाद्धेतोः ॥ २ । २ । ७६ ॥

फलसाधनयोग्यः पदार्थो हेतुः, हेतुभूतं यद् ऋणं तद्वाचिनो गौणात् नाम्नः पञ्चमी भवति । तृतीयाऽपवादः । शताद्  
वद्धः, सहस्राद् वद्धः । हेतोरिति किम्?, शतेन वद्धः, शतेन बन्धितः, शतेन चैत्रेण बन्धितः—कर्तरि प्रयोज्ये प्रयोजके  
च कर्तृलक्षणा तृतीया भवति, हेतुर्हि फलसाधनयोग्यः पदार्थः कर्त्रादिभ्योऽन्य उच्यते इति कथं कर्तुर्हेतुत्वम् ॥ ७६ ॥

गुणादस्त्रियां नवा ॥ २ । २ । ७७ ॥

अस्त्रियां वर्तमानात् हेतुभूतगुणवाचिनो गौणात् नाम्नः पञ्चमी वा भवति । जाड्याद् वद्धः, जाड्येन वद्धः; पारि-  
२२ ख्यात्यात् मुक्तः, पारिख्यात्वेन मुक्तः, मोहाद् वद्धः, मोहेन वद्धः, ज्ञानात् मुक्तः, ज्ञानेन मुक्तः । गुणादिति किम्?,  
धनेन कुलम् । हेतोरित्येव?, जाड्यस्यैतद्रूपम् । अस्त्रियामिति किम्?, बुद्ध्या मुक्तः, प्रज्ञया मुक्तः; विद्यया यशः । अस्त्र-  
त्राऽग्निधूमात्, नाऽस्त्रीह घटोऽनुपलब्धेः, सर्वमनेकान्तात्मकम् सत्त्वाऽन्यथाऽनुपपत्तेरित्यादौ नाऽभ्यादेर्धूमादिहेतुः, कस्य

१५ अथ क्रियाविशेषणत्वादुपसर्जनवचनो न दिक्शब्द इति मैत्रस्येत्यत्र पृष्ठी भवति न पञ्चमीति । अथ दूरान्तिकार्थमारादित्यव्ययं सूत्रेऽनुक्रियते,  
तद्योगे च “आरादर्थैः” इत्यनेनैव पञ्चमी सिद्धा किमिहोपादानेन?, सत्यम्, सिध्यति परं विकल्पेन, इह तु आराच्छब्दयोगे निर्यतदपवाद पञ्च-  
मीति तदाह—“आरादर्थैः” २।२।७८। इति विकल्पस्येत्यादि । इतरशब्दवाच्येऽयंऽन्यशब्दस्यापि प्रवृत्ते सूक्ष्ममन्तरमप्रतिपद्यमान इतर-

१८ शब्दमन्यार्थमेव यो मन्यते त प्रति निप्रार्थतां दर्शयति—इतरशब्द इत्यादि । अयमर्थः—अन्य इति प्रकृतिलक्षणेऽयं उच्यते, इतर इति च  
दृश्यमानप्रतियोगील्यर्थः । अथ जिनदत्तादन्योऽयं मैत्रस्येति । अयमर्थः—यथा जिनदत्तस्य अन्यशब्दाभिधेयेनाऽर्जुनयोग, तथा मैत्रस्यापि,  
तद्योगापेक्षा ह्यत्र पृष्ठी—मैत्रस्येति । एतावांस्तु विशेष—जिनदत्तापेक्षं अयमिति शब्दाभिधेयमन्यत्वमिति अन्यत्वेन योगो जिनदत्तस्य, मैत्रस्य तु स

२१ पुत्रः पिता भृत्यो वेति पुत्रत्वादिविशिष्टेनाऽन्यार्थेनेति । अनेकधर्माधिष्ठानं हि द्रव्यं भवति, तत्र योगाविशेषाद् यथा अन्यत्वेन युक्ते जिनदत्ते  
पञ्चमी, तथा स्वभावान्तरेण युक्ते मैत्रेऽपि स्यादिति । एव छात्राणां पूर्वमामत्रयस्येत्यादावपि पञ्चमी प्राप्नोति, पूर्वेण दिक्शब्देन छात्रादीनां  
अन्येन मैत्रवत् योगादित्याद्यङ्गं परिहरति—उच्यते इत्यादि । अन्यान्यत्वादि विशेषणमात्रं शब्देनाभिधीयते न द्रव्यं, विशेषणेऽयं शब्दार्थ एव

२४ शब्दमिहिताद्विशेषणात् प्रतीयत इति पञ्चमीप्रतिपत्तावन्यत्वादिना विशेषणेन योगः । द्रव्येण योगोऽपि सोऽन्यावयवयोग इति पञ्चम्यप्रसङ्गः,  
अत्रोपपत्तिः—प्रत्यासत्तेरिति । येन स्वभावभेदेन तद्रव्यमन्यादिव्यपदेश लभते तेनैव योगो विज्ञायते । स्वभावान्तरेण तु योगे नास्त्वान्यादि-  
योगः, न हि तद्रव्यं यत् नान्यादि भवति । अन्यत्वादिभावमात्रेण अन्यादिप्रतिपत्तेः स्वभावान्तरयोगेऽपि पञ्चमीप्रतिपत्तौ नान्यत्वादिवर्गशून्यं

२७ किञ्चिदस्तीति व्यवच्छेद्याभावादन्यादिप्रहणमनर्थकं स्यादिति । मैत्रस्येत्यत्र तु पुत्रत्वादिना योगोऽन्यत्वेन जिनदत्तादित्यत्र । छात्राणां पूर्व-  
मित्यत्र पूर्वत्व छात्रान्तरापेक्षं न छात्राणामिति समुदायापेक्षं, समुदायस्य हि एकदेशं स न तस्य समुदायापेक्षं पूर्वत्व । तत्र पूर्वत्वेन योगशब्दात्रा-  
न्तरस्य, समुदायस्य तु एकदेशत्वेनेति न भवति । तथा कायस्य पूर्वमित्यत्रापि पूर्वत्व नाभ्यावयववान्तरापेक्षया, कायस्य तु अवयवत्वेन तद्

३० संबन्धीति न भवति । एवमन्यत्रापि । बहुवचनं लाघवायम् ॥ ७५ ॥

ऋणाद्धेतोः । गौणात् नाम्नः पञ्चमीति वर्तते । हेतो ऋणात् गौणात् नाम्नः पञ्चमीत्यन्वयः । तृतीयाऽपवाद इति । अत्र शताद् वद्धः  
इत्यादौ उत्तमर्णेन धार्यमाण ऋणं शतसहस्रे बन्धनस्यानाविष्टव्यापारतया निमित्तभूते लौकिकौ हेतुः, ततस्तृतीयावाधिकाऽनेन पञ्चमी विधीयते ।

३१ कर्तरि प्रयोज्ये प्रयोजके चेति । कर्तरिती तृतीयानिमित्तं शेषयोरपि योजनीयम्, प्रयोज्ये कर्तरि प्रयोजके च कर्तरीत्यर्थः । शतेन  
वद्ध इति । शतगुणं बन्धकत्वेन कर्तुं विवक्षितमतस्तत्र “हेतुवर्तुकरणे” इति कर्तरि तृतीया । शतेन बन्धित इति । अत्र तु शतं बन्ध-  
कमन्यस्य निष्क्रियकर्तुं प्रयोज्यत्वेन विवक्षितमिति प्रयोज्ये कर्तरि तृतीया । शतेन चैत्रेण बन्धित इति । शतं गिर्यकर्तृत्वेन विवक्षितं चैत्रस्य

३४ प्रकृतिर्कर्तुं प्रयोजकमिति प्रयोजके कर्तरि तृतीयेति । ननु यन्नागतिर्बन्धनप्रतिर्न गत्यर्थादिष्वन्तर्भवति इति कथं प्रयोज्यस्य यत्कर्म तस्मिन्नयमिति  
कर्तृत्वेन विवक्षितस्य न हेतुभाव इत्याह—हेतुर्हीत्यादि । हिर्यसादर्थं, यस्माद्धेतुर्नाम फलसाधनयोग्य पदार्थं फलयोग्यत्वमात्रेण विनाऽपि  
क्रियां हेतुराख्यायते, कर्त्रादि च कारक क्रियाया निर्वर्तकं न क्रियामन्तरेण भवितुमर्हतीति न तत्र हेतुकार्यम् । अत एव च कर्त्रादिभ्यो विल-

३५ क्षणो हेतुरिति सकाराभिव्यक्त्यर्थं फलसाधनयोग्य इत्यादिना हेतुस्वरूपं पुनरुक्तम् । प्राबो हि कर्तृविशेषमपि हेतुशब्देनैव वक्षते । यतश्च  
“हेतुवर्तुकरणे” इत्यत्र हेतुप्रहणं कृत्वा कर्तृकरणप्रहणं कृत्वा हेतुवर्तुकरणप्रहणं कृतमतो विज्ञायते कर्त्रादिभ्यो विलक्षणे हेतुरिति ॥ ७६ ॥

गुणादस्त्रियां नवा । अत्र हेतोरिति गौणात् नाम्नः पञ्चमीत्यनुवर्तते । अस्त्रियां हेतोरुणात् गौणात् नाम्नः पञ्चमी नवेत्यन्वयः । अनु-  
३२ वर्तमानं हेतोरिति गुणादित्यस्य विशेषणमित्याह—हेतुभूतगुणवाचिन इति । द्रव्याश्रितं पर्यायो गुणः । जाड्याद् वद्ध इति । यदयं जडस्त्वाना-  
दयं वद्ध इत्यर्थः । एव यदयं परिख्यातस्त्वान्मुक्त इत्याद्यपि व्याख्येयम् । जडस्य भावः, परिख्यातस्य भाव इति विदुषः “पतिराजान्तं”  
७।१।६-७। इति व्युत्पत्तिः । पञ्चम्यभावपक्षे तु “हेतुवर्तुकरणे” इति हेतो तृतीया, तस्यां प्राप्तायामयं विकल्प इति । धनेन कुलमिति । धनं द्रव्यं

३५ न गुण इत्यत्र न भवति । नाऽभ्यादेर्धूमादिहेतुरिति । ज्ञापकस्य हेतोर्धूमादेर्नाऽप्यादि फलं, तस्य चेनाजन्मत्वादिति भावः । हेतावेव पञ्चमीति

तर्हि ? तज्ज्ञानस्य, कथं तर्हि पञ्चमी ? , “गम्ययपः कर्माऽऽधारे” ॥ २ । २ । ७४ ॥ इति भविष्यति, धूमादिकमुप-  
लभ्याऽभ्यादिः प्रतिपत्तव्य इति ह्यत्राऽर्थः । ज्ञानहेतुत्वविवक्षायां तु हेतुलक्षणा तृतीया भवति—धूमेनाऽग्निः, अनुपलब्ध्या  
घटाऽभावः, सत्त्वाऽन्यथाऽनुपपत्त्या, सर्वमनेकान्तात्मकं प्रतिपत्तव्यमिति ॥ ७७ ॥

आरादर्थैः ॥ २ । २ । ७८ ॥

आराद्—दूराऽन्तिकयोः, तन्नेणोभयग्रहणम्, दूराथैरन्तिकार्थैश्च शब्दैर्युक्ताद् गौणात् नाम्नः पञ्चमी वा भवति । दूर  
ग्रामात्, दूरं ग्रामस्य; विप्रकृष्टं ग्रामात्, विप्रकृष्टं ग्रामस्य; अन्तिक ग्रामात्, अन्तिकं ग्रामस्य; अभ्यांशं ग्रामात्, अभ्यांशं  
ग्रामस्य; सनिकृष्टं ग्रामात्, सनिकृष्टं ग्रामस्य । आरात्शब्दयोगे तु प्रभृत्यादिसूत्रेण नित्यमेव पञ्चमी । अथ दूर हितं  
ग्रामात्, दूर हित ग्रामस्य भूयादित्यादौ हितादियोगे पञ्चम्यभावपक्षे “हितसुखाम्याम्” ॥ २ । २ । ६५ ॥ इति चतुर्थी  
कस्मात् न भवति ? उच्यते—हितसुखादियोगे सा चतुर्थी, इह तु दूरान्तिकादिनैव योगो न तद्विशेषणेन हितादिनिति न  
भवति, यदा तु हितादिना विशेष्यतया योगस्तदा चतुर्थी भवत्येव । अन्ये त्वसत्त्वचनैरेवाऽऽरादर्थैरिच्छन्ति ॥ ७८ ॥

स्तोकाऽल्पकृच्छ्रकतिपयादसत्त्वे करणे ॥ २ । २ । ७९ ॥

यतो द्रव्ये शब्दप्रवृत्तिः स पर्यायो गुणोऽसत्त्वात्, तेनैव वा रूपेणाऽभिधीयमानं द्रव्यादिः तस्मिन् करणे वर्तमा-  
नेभ्यः स्तोकादिभ्यः पञ्चमी वा भवति । स्तोकात् मुक्तः, स्तोकेन मुक्तः; अल्पात् मुक्तः, अल्पेन मुक्तः; कृच्छ्रात् मुक्तः,  
कृच्छ्रेण मुक्तः; कतिपयात् मुक्तः, कतिपयेन मुक्तः । असत्त्व इति किम् ? , स्तोकेन विषेण हतः, अल्पेन मधुना मत्तः,  
कृच्छ्रेण भोजनेन निर्विण्णः; विषादिद्रव्यसामानाधिकरण्यात् अत्र सत्त्ववृत्तिता । करण इति किम् ? , क्रियाविशेषणे मा-  
मूत्—स्तोकं चलति, इह च स्तोकादीनामसत्त्ववाचित्वात् द्वित्वबहुत्वाऽसभवे एकवचनमेव । “स्तोकस्य चाऽभिनिर्वृत्तेर-  
निर्वृत्तेश्च तस्य वा । प्रसिद्धिं करणत्वस्य स्तोकादीनां प्रचक्षते” ॥ १ ॥ ७९ ॥

मन्यमानं पृच्छति—कस्य तर्हीति । धूमादिहेतुरिति शेष । समाधत्ते—तज्ज्ञानस्येति । पुनः पृच्छति—कथमिति । अयमर्थ—भवतु १८  
वह्न्यादिज्ञानस्य धूमादिहेतुत्वापि धूमादे पञ्चमी न प्राप्नोति, वाक्येऽश्रयमाणवह्न्यादिप्रत्ययहेतुत्वादगुणत्वात् श्रीहितत्वाच्चेति । न चायमप्रयोगः,  
सर्वशिष्टैरभिमानेन प्रयुज्यमानत्वादित्यत आह—“गम्ययपः” इत्यादि । उदाहरणार्थं दर्शयन् पञ्चमीनिमित्तं दर्शयति—धूमादिकमित्यादि ।  
यदा तु धूमादेरभ्यादिज्ञानहेतुत्व विवक्ष्यते तदा “हेतुकर्तृकरणे” इति हेतौ तृतीयैव भवति इत्याह—ज्ञानहेतुत्वविवक्षायां त्वित्यादि । २१  
धूमेनाऽग्निरित्यादावपि प्रतिपत्तव्य इति योजनीयम् ॥ ७७ ॥

आरादर्थैः । अत्र नवेति गौणात् नाम्नः पञ्चमीति च संबध्यते । आरादर्थैः गौणात् नाम्नः पञ्चमी नवेत्यन्वयः । आराद्—दूराऽन्तिकयोः,  
तन्नेणोभयग्रहणमिति । आराच्छब्दो दूरमित्यस्मिन्नर्थेऽन्तिकमित्यस्मिन्नाथं तन्नेण—साधारण्येन वर्तते, आराच्छब्दो व्यर्थद्वयस्यापि साधारण इत्यर्थः-२४  
शब्दोपनिधानेन चेहार्थपरिग्रहः कियते, आरात्—आराच्छब्दवाच्योऽर्थो येषामिति तत उभयस्यापि परिग्रहः, ततश्चायमर्थो भवतीत्याह—दूरा-  
थैरन्तिकार्थैश्चेति । दूर ग्रामादिति । अत्र कारकशेषत्वात् षष्ठां प्राप्तायामपि पञ्चमीति तद्विमुक्तपक्षे षष्ठी । “आरादर्थैः” इत्युच्यमाने आरा-  
च्छब्दोऽप्यारादर्थ इति तयोर्गोऽप्यय विधिः प्राप्नोति, यथा “न स्त मत्वर्थे” इति न तावपीति यः शङ्कते त प्रत्याह—आराच्छब्देत्यादि । २७  
“प्रसूत्यन्याथैदिकशब्दवह्निरारादि” इत्याराच्छब्दयोगे नित्यं पञ्चमी भवति, तत्र ह्याराद्रहणमस्य विकल्पस्यापवाद इति । ननु दूर हितं ग्राम-  
स्येत्यादौ पञ्चम्यभावपक्षे ग्रामस्य हितेन दूरेण च योगात् हितयोगे “हितसुखाभ्याम्” इति चतुर्थ्यपि प्राप्नोतीत्यारादर्थैर्योगे षष्ठीपञ्चम्यावेव यथा  
स्यातां न त्वन्या विभक्तिरिति तद्वाचनार्थं “आरादर्थैः षष्ठी च” इति षष्ठीग्रहणं कर्तव्यमन्यथाऽत्र चतुर्थी स्यादिति पृच्छति—अथेत्यादि । समा- २०  
धत्ते—उच्यते इत्यादि । अयमर्थ—वस्तुतः उभययोगोऽपि शब्दो नोभययोग प्राधान्येन साक्षादुपादत्ते किन्त्वन्तरयोगमेव, इतरेण तु तद्विशो-  
षणमावापत्तेन योग प्रकरणेदि पारम्पर्येण प्रतीयते इत्यारादर्थैर्विशेष्यतया योगे विवक्षिते चतुर्थीप्रसङ्ग एव नास्ति । यदा तु हितादिना योगः  
प्राधान्येन विवक्ष्यते आरादर्थैश्च तद्विशेषणतया तदा चतुर्थी भवत्येव । अन्ये त्विति । ललितस्वभाव इत्यर्थः ॥ ७८ ॥

स्तोकाऽल्पकृच्छ्रकतिपयादसत्त्वे करणे । अत्र पञ्चमीति नवेति च वर्तते । असत्त्वे करणे स्तोकाऽल्पकृच्छ्रकतिपयात् पञ्चमी  
नवेत्यन्वयः । स्तोकादयः शब्दा यत्र सामानाधिकरण्यमनुभवन्ति स्तोकधनमिति तद्व्ययं सीदन्त्यस्मिन् गुणादय इति व्युत्पत्त्या सत्त्वमुच्यते । न  
सत्त्वमसत्त्व, सत्त्वादन्त्यदसत्त्व किं तदित्याह—यत् इत्यादि । अनन्तपर्यायारम्भे हि द्रव्ये प्रवर्तमानं शब्दं कश्चिदेव स्वभावमुपादाय प्रवर्तते, २६  
तत्र योऽसौ द्रव्ये स्तोकादिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूत पर्यायभेदः स गुणो द्रव्ये परार्थतया प्रतीयमानत्वादसत्त्वम् । अथ स्तोकात् मुक्तः, स्तोकेन  
मुक्त इति द्रव्याद्येव तद्व्यापान्तरं करणतया प्रतीयते तत्कथमित्याह—तेनैव वेत्यादि । अयमर्थ—तिरोहितधनादिविशेषस्वभावान्तरं स्तोकादिरूपेणैव  
सामान्याऽऽत्मनाऽभिधीयमानं धनादिरूपव्यावृत्तं स्तोकादिरूपाऽऽपन्नं द्रव्यं गुणं क्रिया वा यदा प्रतीयते तदा द्रव्याद्यसत्त्वमिति । स्तोकात् २९  
मुक्त इति । पञ्चम्यभावपक्षे “हेतुकर्तृकरणे” इति करणे तृतीया । स्तोकेण विषेण इति । अत्र स्तोकादयः शब्दा स्तोकत्वादिक धर्म  
प्रवृत्तिनिमित्तमुपादाय तद्वति विपादौ द्रव्ये सत्त्वे सामानाधिकरण्येन वर्तन्ते इति नासद्वचनं इत्याह—विपादीत्यादि । स्तोके चलतीति ।  
आख्यातेनोच्यमानस्य स्तोकरूपस्य चलनस्य स्तोकगुणं सामानाधिकरण्यतया विशेषण, स्तोकस्य च क्रियाविशेषणत्वात् क्रियायाश्चासत्त्वभूतत्वात् स्तोक- ४२  
गुणान्वितेऽपि चलने वृत्तस्य स्तोकाशब्दस्यासत्त्ववृत्तितैवेति असति करण इति क्रियाविशेषणादपि पञ्चमी स्यादिति करण इत्युच्यते । एकार्थत्वेऽपि  
स्तोकादीनां भेदेनोपादानं पर्यायनिवृत्त्यर्थमितिह न भवति—मात्रया मुक्त इति । इह चेति । सत्त्वस्यैव विशेषसंख्यायोगित्वादिति शेषः । स्तोकस्य चा-  
ऽभिनिर्वृत्तेरिति । स्तोकस्याऽभिनिर्वृत्तत्वादिति प्रयुज्यते—स्तोकेन मुक्तः, स्तोकेन मुक्तो निष्पन्न इत्यर्थः । अनिवृत्तेश्चेति । स्तोकस्याऽनिवृत्त- ४५  
त्वात् तेन मुक्त इत्यस्यां विवक्षायां करणत्वमाहुः ॥ ७९ ॥

## अज्ञाने ज्ञः षष्ठी ॥ २ । २ । ८० ॥

अज्ञानेऽर्थे वर्तमानस्य जानातेः सवन्धिनि करणे वर्तमानाद् गौणात् नाम्न एकद्विवहौ यथासख्यं ह्यसोसामूलक्षणा षष्ठी विभक्तिर्भवति । वेति निवृत्तम् । सर्पिषो जानीते, सर्पिषा करणभूतेन प्रवर्तत इत्यर्थः, प्रवृत्तिरत्र जानातेरर्थः, एव सर्पिषोर्जानीते, सर्पिषां जानीते; अथवा-सर्पिषि रक्तो विरक्तो वा चित्तभ्रान्त्या सर्वमेवोदकादि सर्पिरूपेण प्रतिपद्यत इति मिथ्याज्ञानवचनोऽयं जानातिः, मिथ्याज्ञान चाऽज्ञानमेव भवति । अज्ञान इति किम्?, स्वरेण पुत्र जानाति । करण इत्येव?, तैलं सर्पिषो जानाति-तैलं सर्पिरूपेण प्रतिपद्यत इत्यर्थः, -अत्र तैलात् कर्मणो मा भूत्, सर्पिषस्तु करणत्वाद् भवत्येव । तृतीयाऽपवादो योगः ॥ ८० ॥

## शेषे ॥ २ । २ । ८१ ॥

९ कर्मादिभ्योऽन्यः क्रियाकारकपूर्वकः कर्माद्यविवक्षालक्षणोऽश्रूयमाणक्रियः श्रूयमाणक्रियो वाऽस्वेदमावरूपः-स्वस्वामिमावादिः संबन्धविशेषः-शेषः, तत्र गौणात् नाम्नः षष्ठी भवति । राज्ञः पुरुषः, उपगोरपत्यम्, पशोः पादः, वृक्षस्य शाखा, क्षीरस्य विकारः, गवां समूहः, कुम्भस्य समीपम्, पृथिव्याः स्वामीति, नै माषाणामक्षीयात्, सुभाषितस्य शिक्षते, १२ न ते सुखस्य जानते, न तस्य सायमश्रीयात्, अन्नस्य नो देहि, अक्षाणां दीव्यति, व्रतः पृष्ठ ददाति, नटस्य शृणोति,

अज्ञाने ज्ञः षष्ठी । करणे इति गौणात् नाम्न एकद्विवहविति च वर्तते । अज्ञाने ज्ञः करणे गौणात् नाम्न एकद्विवहौ षष्ठीत्यन्वयः । ननु ज्ञानमिति भावेऽनटि रूप, ततश्च तदेव ज्ञान नाम यो जानातेरर्थः, तत्र जानातिर्वर्तते तत्कथमिदमुच्यते अज्ञानेऽर्थे वर्तमानस्य जानाते- १५ रिति?, उच्यते-ज्ञानमिति रुडिशब्दोऽयमवयवोऽप्ये प्रमेये निश्चये च वर्तते न जानात्यर्थमात्रे, अनेकार्थत्वं च धातुनामित्यज्ञानेऽवयवोऽप्येवार्थे वर्तमानस्येत्ययमर्थ इत्यदोषः । वेति निवृत्तमिति । भिन्नप्रकरणत्वादिति शेषः । सर्पिषा करणभूतेन प्रवर्तत इत्यर्थः इति । सर्पिषो जानीत इत्यत्र सर्पिषो जानाते करणत्वं जानातेऽप्यज्ञानार्थत्वं षष्ठीनिमित्तं दर्शयितुं वाक्यार्थः उक्तः । तत्र निष्कल्याणज्ञानरूप- १८ जानात्यर्थमाह-प्रवृत्तिरित्यादि । अनेकार्थत्वात् धातुनां प्रवृत्तौ जानातिरत्र वर्तत इत्यर्थः, तत्र च सर्पिषादि साधकतम भोजनादिस्तु तस्य विषयः, अत एव 'कर्मण्यसति' इत्यधिकृत्य अकर्मकत्वात् "ज्ञ" ३।३।८२। इत्यात्मनेपदम् । अथवा-जानातेर्ज्ञानलक्षणेनार्थेन अव्यभिचाराद् सर्वत्रैव तत्प्रतीतिष्वेदमुच्यते 'अज्ञानेऽर्थे वर्तमानस्य' इति, तत्र गौणमुख्यन्यायेन सम्यग्ज्ञानमविपरीतविषयपरिच्छेदकमज्ञानार्थस्य प्रतिषिध्यते २१ मिथ्याज्ञानवृत्तेस्तु तस्य करणे षष्ठी विधीयत इत्याह-अयनेत्यादि । यद्यपि च मिथ्याज्ञानतया लोके प्रसिद्धं तथापीह सूत्रार्थपर्यालोचनया तज्ज्ञानरूपतया न गृह्यते इत्युपसंहारद्वारेणाह-मिथ्याज्ञानं चेत्यादि । ज्ञानकार्याकरणात् ज्ञानरूपतया नैवेह तद्वृत्त इत्यर्थः, ज्ञानकार्याकरण तत सम्यग्ज्ञानवदर्थक्रियानवाप्तिरिति । स्वरेण पुत्रं जानाति-अत्राऽवयवार्थत्वात् जानातेरज्ञान इति वचनात् न भवति । तैलं सर्पिरूपेण २४ प्रतिपद्यत इत्यर्थः इत्यनेन तैलं सर्पिषो जानाति इत्यत्र तैलं कर्म न करणमिति दर्शयति, ततश्च करण इति वचनात् तैलात् न भवति सर्पिषस्तु भवतीति । इह सर्पिषो जानीते इत्यत्र करणस्य सवन्धिरूपविवक्षायां षष्ठी सिध्यतीति किमर्थोऽयं योग इत्याह-तृतीयाऽपवादो योग इति । अयमर्थः-सिध्यति षष्ठी किंतु करणविवक्षायां तृतीया मा भूदित्ययं योगः ॥ ८० ॥

२७ शेषे । गौणात् नाम्न षष्ठीति वर्तते । शेषे गौणात् नाम्न षष्ठीत्यन्वयः । नन्वनेकार्थं शेषशब्दः, तत्र न तावदप्रधानवचनो गौणाधिका- रेणैव तदर्थलाभात् शेषग्रहणानर्थक्यप्रसङ्गात् । तथा सति सर्वेषां कारकाणां क्रियार्थत्वेनाप्राधान्यात् सर्वेभ्य एव कारकेभ्य षष्ठी स्यात्, वचन- प्रामाण्याच्च द्वितीयादिभिः समावेशो न बाध्यबाधकभाव इति । अपि च अप्रधाने षष्ठीत्येवमर्थं जाते नीलमुत्पलमित्यादौ नीलशब्दाद्विशेष्यसमा- ३० नाधिकरणादपि विशेषणत्वादप्राधान्यादुत्पलमित्यत्र कृतावकाशां प्रथमां बाधित्वा बध्नेव स्यात् । नाऽपि नागराजवचनः, तथा हि-राज्ञः पुरुष इत्यत्र संबन्धे षष्ठी न स्यात् । अपि च शेषशब्दात् तृतीयादिविभक्तीनामनया षष्ठा बाधितत्वात् शेषेण ध्रियते भूमिरित्यादिप्रयोगादर्शितं स्यात्, तस्मात् केषुचिदर्थेषु सत्सु शेषशब्दः संपाधीयमान उपयुजेतरवचन एव भवतीत्याह-कर्मादिभ्योऽन्य इत्यादि । ते हि पूर्वमुपयुक्ता नामार्थस्य ३३ प्रथमाविषयत्वात् कर्मादिभ्योऽन्यः संबन्ध एव तिष्ठत इति सामर्थ्यात् संबन्धे षष्ठी भवति । नीलोत्पलमित्यत्र तु नीलमिति नामार्थादप्रच्युत विशेष्यसामानाधिकरण्येन प्रयोगात्तत् प्रथमैव भवति न षष्ठी, विशेषणविशेष्यभावस्य नामार्थव्यतिरिक्तस्य बाधयार्थत्वात् । यदुक्तं भाष्ये-आधि- क्यस्य बाधयार्थत्वादिति । यथेव राज्ञः पुरुष इत्यत्रापि संबन्धस्य बाधयार्थत्वात् षष्ठी न प्राप्नोति, नैप दोषः, राज्ञ इति पद सवन्धित्वेन विव- ३६ क्षितत्वात् प्रयुक्तमित्यतः संबन्धषष्ठी कृता । एतच्च भाष्य एव निर्णायकमित्याह । स्यादेतदत्र द्वयी कल्पना नामार्थस्य, कदाचित्प्रयोगविषयस्य क्रियाभिसंबन्धः कदाचित् स्वनिष्ठ एव । यदा तावत् क्रियाभिसंबन्धस्तदा कर्मादिष्वचीनामुद्भवो यथा वृक्षः पश्यति दक्षिणक्रियाविशेषात् कर्मत्वम् । यदा तु स्वनिष्ठोऽव्यतिरिक्तः एव तदा प्रथमाविषयः, न चाऽपरो नामार्थोऽस्ति, यत्र कर्मादिविशेष्यव्यतिरिक्तत्वमिति च शेषो नामानतिष्ठते य एव ३९ षष्ठी स्यादित्याह-क्रियाकारकपूर्वक इति । अयमर्थः-राज्ञः पुरुष इत्यत्र योऽयं राजपुरुषयोः संबन्धो नाय कारणान्तरनैरपेक्ष्येण अक- स्मादुपजायते, अपि तु अन्तर्भूतक्रियाकारकसंबन्धनिबन्धनो यत् पुरुषो योगक्षेमकामो राजानमुपसर्पति राजाऽपि तमभिलषितघनादिना विगर्तति क्रियान्तरं वा प्रकल्पनीयं ततो राज्ञोऽसौ संबन्धीभूत इति राज्ञः पुरुष इति । उपगोरपत्यमित्यत्रापि जनिक्रियाजनित संबन्धः, उपगुरपत्य ४२ जनयति तदपि ततो जायत इत्युपगोरपत्यमिति । पशोः पाद इत्यत्राप्यवस्थितिक्रियात्मितः संबन्धो यत् पशोः पादोऽवस्थितोऽतः पशोः पाद इति । एव वृक्षस्य शाखेत्यादावपि अवस्थितिक्रियाजनितत्वं संबन्धस्येति । एतच्च धातुन्यामिप्रायेण न त्वैकान्तिकम्, यत् करण्य- कर्मोर्नामविषयस्य सामान्यकारकविवक्षायामेव केवलायां संबन्धस्य प्रादुर्भावात् कारकशेष इति व्यवहियते इत्याह-कर्माद्यविवक्षालक्षण ४५ इति । कर्मादिभ्योऽन्य इति तु विशेष्येभ्योऽन्यत्वं विवक्षितं न तु सामान्यादनाश्रितविशेषात् कारकादपि । तदुक्तम्-"संबन्धः कारकेभ्योऽन्यः क्रिया- कारकपूर्वकः । शुभायामशुभाया वा क्रियाया सोऽभिधीयते" ॥१॥ इत्यत्रापि द्रष्टव्यम् । तत्र राज्ञः पुरुष इत्यादौ क्रियाकारकपूर्वकोऽश्रूयमाणक्रियः स्वस्वामिमावादि संबन्धः । न माषाणामक्षीयादित्यादौ तु श्रूयमाणक्रियत्वे सत्यपि कर्मत्वाद्यविवक्षितत्वात् विशेषणविशेष्यभाव एव प्रतिपाद्यते

वृक्षस्य पर्णं पतति; महतां विमाषते । कथं पुनः कर्मादीनां सतामप्यविवक्षा ? यथा—अनुदरा कन्या, अलोमिका एडकेति । गौणादित्येव ? , राज्ञः पुरुषः—अत्र संबन्धस्य द्विष्टत्वेऽपि प्रधानात् पुरुषात् न भवति, प्राधान्यं चाऽस्याऽऽख्यातपदसामानाधिकरण्यम्, तेन ततः प्रथमैव भवति । यदा तु पुरुषो राजानं प्रति गुणत्वं प्रतिपद्यते, तदा पुरुषस्य राजेति भवत्येव । कथं राज्ञः पुरुषस्य कम्बल इति ? , राजाऽपेक्षया पुरुषस्य प्राधान्येऽपि कम्बलाऽपेक्षया गौणत्वात् भवति । प्रथमाऽपवादो योगः ॥ ८१ ॥

## रिषिष्टात्स्तादस्तादसंतसाता ॥ २ । २ । ८२ ॥

रिषिष्टात्स्तादस्तादसंतसातात्प्रत्ययान्तैर्युक्ताद् गौणात् नाम्नः षष्ठी विभक्तिर्भवति । रि—उपरि ग्रामस्य, रिष्टात्—उपरिष्टात् ग्रामस्य, स्तात्—परस्ताद् ग्रामस्य, अवरस्ताद् ग्रामस्य; अस्तात्—पुरस्तात् ग्रामस्य, अवस्ताद् ग्रामस्य; अधस्तात् ग्रामस्य; अस्—पुरो ग्रामस्य, अवो ग्रामस्य, अधो ग्रामस्य; अतस्—दक्षिणतो ग्रामस्य, उत्तरतो ग्रामस्य, परतो ग्रामस्य, अवरतो ग्रामस्य, आत्—अधराद् ग्रामस्य, दक्षिणात् ग्रामस्य, उत्तरात् ग्रामस्य, पश्चात् ग्रामस्य, दक्षिणपश्चात् ग्रामस्य । पञ्चम्यपवादो योगः ॥ ८२ ॥

माषस्यन्यशानमिति । स्वस्वामिभावादिरिति । आदिशब्दाज्जन्यजनकभावादयो गृह्यन्ते । ननु क्रियामन्तरेण सबन्धाऽभावात् सर्वत्र तस्या १२ अवश्यं भावात् तस्मिन्तस्य च कर्मादे सत्त्वात् कथं तस्याविवक्षेत्याक्षिपति—कथं पुनरित्यादि । समाधत्ते—यथाऽनुदरेत्यादि । ननु शेषशब्देन स्वस्वामिभावादे संबन्धस्याभिधानात् तस्य च द्विष्टत्वात् राज्ञः पुरुष इत्यत्र तु पुरुषशब्दादपि षष्ठी प्राप्नोति, तत्र प्रथमा वक्तव्या, प्रतिषिद्धायामपि षष्ठां नामार्थमात्रे विधीयमानाया प्रथमाया सबन्धस्याधिकस्य भावादप्रसङ्ग इति, नैष दोषः, गौणाधिकारादप्रधानादेव भवती—१५ त्याह—गौणादित्येवेत्यादि । प्रधानात् प्रथमाया अप्रसङ्गो न वाच्यः, आधिक्यस्य वाक्यार्थत्वादित्युक्त्वादिति । 'राज्ञः' इत्येतत्पदसन्निधाने पुरुषस्य संबन्धित्वं प्रतीयते नाऽन्यथा, पुरुषनाम तु स्वार्थमात्रे वर्तते इति प्रथमा सिध्यति । यथैव पुरुषपदसन्निधान एव राज्ञः सबन्धित्वावगमो नान्यथेति राजशब्दादपि प्रथमाप्रसङ्गः, नैष दोषः, 'राज्ञः' इति केवलेऽपि पदे उच्चार्यमाणे सबन्धित्वमनियतप्रतियोगि राज्ञो गम्यते । यस्माद्राजा १८ परोपकारित्वेन विवक्षितो न खनिष्ठत्वेन । पुरुषस्य तु राजशब्दमन्तरेण सोऽर्थो न प्रतीयते इति वाक्यार्थः । अस्त्यत्र कारणं, राजशब्दाद्धि भवात् षष्ठीसुधारयति । अहं ! हि पुरुषशब्दादुच्चारितात् गत्यते सोऽर्थः इति । ननु नैतेनैव भवितव्यम्, न हि शब्दस्य भावाभावाभ्यामर्थस्य भावाभावौ क्रियेते । किं तर्हि ? , अर्थस्य प्रतिपिपादयिषया विषयीकरणाऽकरणाभ्यां शब्दस्योच्चारणानुच्चारणलक्षणौ भावाभावौ । तत्र परोपकारित्वेन २१ राज्ञो विवक्षितत्वात् षष्ठी भवति, पुरुषस्य तूपकार्यता खनिष्ठत्वेन विवक्षितत्वात् प्रथमा । तदुक्त हरिणा—“द्विष्टोऽप्यसौ परार्थत्वाद्गुणे व्यतिरिच्यते । तत्राऽभिधीयमानश्च प्रधानेऽप्युपयुज्यते” ॥ १ ॥ तस्मादर्थरूपमेवैतदेव जातीयक येनाऽन्नान्तरेणापि पुरुषशब्दस्य प्रयोग राजनि सोऽर्थो गम्यत इति । किं पुनस्तत् ? , स्वामित्वम्, 'समासकृतद्वितेषु सम्बन्धाभिधानमिति' वचनात् स्वस्वामिसंबन्ध इत्यर्थः । किं कृत पुनस्तत् ? , स्वह्—२४ तम्, ततश्चाऽनियत स्वमपेक्षया राज्ञः सबन्धाभ्रया षष्ठी उत्पाद्यते । पुरुषशब्दसंनिधौ तु स्वविशेषप्रतिपत्तिः । यथा नामार्थानां क्रियाकृता विशेषाशक्तयः प्रतीयन्ते शक्तिकृताश्च कर्माद्याख्या प्रादुर्भवन्ति । ताश्च पुनर्विभक्तौ कदाचिन्मिस्मिन्तत्त्वेनोपाधीयन्ते, यदा क्रिया प्रति व्यापारावेशविवक्षा भवति—दात्रेण लुनातीति । कदाचिच्च, यदा योग्यतामात्रविवक्षा भवति तदा 'दात्रं लवने करण'मिति । अयमर्थः—यदा नामार्थस्य क्रियावेशविवक्षा २७ क्षाया शक्तिरक्षणार्थातिरेको भवति तदा नामार्थता शक्तयो न प्रतिपद्यन्ते इति व्यभिचाराद्विभक्तैर्निमित्तं भवन्ति । यदा तु अपरोपकारित्वेन खनिष्ठतया नामार्थो विवक्ष्यते तदा व्यभिचाराभावात् ता शक्तयः कर्मकरणसंज्ञानेव प्राप्ता न विभक्तयुत्पत्तिं प्रयोजयन्ति । तदुक्तम्—“स्वशब्दैरभिधानेऽपि च धर्मो नाऽभिधीयते । विभक्त्यादिभिरेवाऽसावुपकारः प्रतीयते” ॥ ११ ॥ तथैव यथा क्रियाऽपेक्षया दात्रेणेति भवति तथा राज्ञः इति ३० खापेक्षया । यथा च खनिष्ठत्वाऽऽश्रयेण दात्रं करणं तथा राजा स्वामीत्युक्तं भवति । यथैव तर्हि राजनि स्वहृत स्वामित्वं तत्र षष्ठी भवत्येव पुरुषेऽपि राजकृतं स्वं ततः षष्ठी प्राप्नोति, उच्यते—राज्ञः पुरुष इति गुणप्रधानभावेनाऽर्थद्वयमवस्थितं, तत्र संबन्धो गुणे पदं न्यस्य द्विष्टत्वात् प्रधानमपि सस्पृशति । गुणश्च प्रधानोपकाराय प्रवृत्तो रूपान्तरमाश्रयति, प्रधानं तु खनिष्ठमेव न तु रूपान्तरं भजत इति पुरुषशब्दात् न षष्ठी । अथ राज्ञः ३३ पुरुष इत्यत्र द्वयोरपि सबन्धः प्रति साधारण्यात् किं तत् पुरुषस्य प्राधान्यमित्याह—प्राधान्यं चेत्यादि । तेनेत्यादिना प्राधान्यफलं दर्शयति । यदा त्विति । यदा तु पुरुषस्य गुणभावो राज्ञस्तु विशेष्यत्वात् प्राधान्यं तदा पुरुषस्य राजेति भवत्येव । कथमिति । एकस्य गुणप्रधानभावो विरुध्यत इत्याशङ्क्यं । समाधत्ते—राजाऽपेक्षयेत्यादि । एकस्यापि मिश्रविषयो गुणप्रधानभावो न विरुध्यत इत्यर्थः । स्वगुणे राजनि प्राधान्य- ३६ अनुभूय पुनः प्रधानकम्बलाऽपेक्षया पुरुषः शेषतामनुभवतीति । प्रथमाऽपवादो योगः इति । एकद्विचहविति संख्यामात्रमुपादाय नाम्नः प्रधानादप्रधानाश्च सामान्येन प्रथमा विधीयते, तत्राऽपि षष्ठीविधिर्गौणादिति विशेषमुपादाय प्रवर्तमानस्वपवादो भवति ॥ ८१ ॥

रिषिष्टात्स्तादस्तादसंतसाता । गौणात् नाम्नः षष्ठीति वर्तते । रि—रिष्टात्—स्तात्—अस्तात्—अव—अतस्—आता गौणात् नाम्नः ३९ षष्ठीलन्वयस्वदाह—रिषिष्टादित्यादि । उपरीत्यादिप्रयोगस्थितानां “कर्ण्यरिषिष्टातुपश्चात्” ७२।११४। इति, “परावरात् स्तात्” ७२।११६। इति, “पूर्वावराधरेभ्योऽसंज्ञातौ पुरुषश्चैषाम्” ७२।११५। इति, “दक्षिणोतराश्चातस्” ७२।११७। इति, “अधरापराश्चात्” ७२।११८। इत्यादिभिर्विहितानां प्रत्ययानामनुकरणम्, तत्सत्त्वीया । उपरि ग्रामस्येति । कर्ण्यशब्दस्य दिग्देशकालार्थस्य “कर्ण्यो” इत्यनेनैवोपभावः । ४२ एव पूर्वावराधारणां “पूर्वावराधरेभ्यो” इति यथाक्रमं पुर् अव् अच् इत्येते भवन्ति । एव पुरो ग्रामस्येत्यादावपि । पश्चात् ग्रामस्येति । “पश्चोऽपरस्य” ७२।१२४। इति पश्चादेशः । अथ पूर्वोवैदं सिध्यति किमर्थेऽयं योग इत्याह—पञ्चम्यपवादो योगः इति । रिप्रसृतयः प्रत्यया स्वार्थिका दिक्शब्देभ्यो विधीयन्तेऽतस्तदन्ता अपि दिक्शब्दा एव इति “क्षेपे” इत्यस्याऽपवादः, “प्रसृत्यन्यार्थः” इति पञ्चमी विधीयते, ४५ अत एव दक्षिणा ग्रामाद्रमणीय, दक्षिणाहि ग्रामाद्रमणीयमिति “आहि दूरे” इति प्रत्ययद्वययोगे षष्ठी न लभ्यत इति पञ्चमीनाधनार्थोऽयमिति ॥ ८२ ॥

## कर्मणि कृतः ॥ २ । २ । ८३ ॥

कृतः—कृदन्तस्य संबन्धिनि कर्मणि गौणात् नाम्नः षष्ठी भवति । द्वितीयाऽपवादः । अपां सद्यः, पुरां भेत्ता, वर्ष-  
शतस्य पूरकः, पुत्रपौत्राणां दर्शकः, यवानां लावकः, ओदनस्य भोजकः, विश्वस्य ज्ञाता, तीर्थस्य कर्ता, उदकस्य पिबः,  
आमस्य गमनम्; गवां दोहः । कर्मणीति किम् ? शस्त्रेण भेत्ता । क्रियाविशेषणस्याऽपि कर्मत्वाऽभावात् न भवति—साधु-  
पक्ता, स्तोत्रं पक्ता । कृत इति किम् ? कटं करोति, कृतपूर्वी कटम्, भुक्तपूर्वी ओदनम्; स्यादितद्धितयोः कर्मणि  
१ भा भूत् । कथम् अर्थस्य त्यागी ? सुखस्य भोगी ? विषयाणां जयी ? वीराणां प्रसविनीति ?—अत्र ताच्छीलिकयोर्विन्-  
णिनोः कर्मणि भवति ॥ ८३ ॥

## द्विषो वाऽतृशः ॥ २ । २ । ८४ ॥

१ अतृशप्रत्ययान्तस्य द्विषः कर्मणि गौणात् नाम्नः षष्ठी वा भवति । चौरस्य द्विषन्, चौर द्विषन्; “तृक्षु०” आदि-  
सूत्रेण प्रतिषेधे प्राप्ते विकल्पोऽयम् ॥ ८४ ॥

## वैकत्र द्वयोः ॥ २ । २ । ८५ ॥

१२ द्विकर्मकेषु धातुषु द्वयोः कर्मणोरेकत्रैकतरस्मिन् वा षष्ठी भवति । अन्यत्र पूर्वेण नित्यमेव । अजाया नेता सुभ्रम्,  
अजाया नेता सुभ्रस्य; अथवा—अजां नेता सुभ्रस्य, अजाया नेता सुभ्रस्य; पयसो दोहको गाम्, पयसो दोहको गोः  
यदि वा गोर्दोहकः पयः, गोर्दोहकः पयसः । अन्ये तु नीवद्यादीनां द्विकर्मकाणां गौणे कर्मणि, दुहादीनां तु प्रधाने  
१५ विकल्पमिच्छन्ति, उभयत्राऽपि नित्यमेवेत्यन्ये ॥ ८५ ॥

कर्मणि कृतः । गौणात् नाम्नः षष्ठीति वर्तते । कृत कर्मणि गौणात् नाम्नः षष्ठीत्यन्यस्येत्याह—कृतः—कृदन्तस्येत्यादि “कर्मणि”  
इति सामान्येन द्वितीयाविधानात् कृदन्तकर्मण्यपि द्वितीयाप्राप्तौ तदपवादस्वर षष्ठीत्याह—द्वितीयाऽपवाद इति । अपां सद्येत्यादीनि । एतेषु  
१८ “णकटृचौ” इति वृत्तचक्रे । “पा” पाने इत्यतः “प्राप्तापादघेदश्च श ” ५।१।५८। इति श्लोके, “श्रौतिकृतुष्विदु०” ४।२।१०८। इति पिबादेशे—  
पिब । गमेर्भावेऽनन्ति—गमनम् । एव दुहेर्धनि लघूपन्यसुणे—दोहः । कृत इति किमिति । एव मन्यते—कर्म कारक, तच्च क्रिया-  
मन्तरेण न सम्भवति, क्रियाया हि कारक भवति । सा च वाचक धातु प्रत्ययसहितमाक्षिपति, धातोश्च द्वये प्रत्यया विधीयन्ते स्यादय कृतश्च ।  
२१ तत्र “तद्वैत्यधीते” इति श्लोकात् स्यादिप्रयोगे द्वितीयाविधानात् कृतप्रयोग एव षष्ठी भविष्यतीति व्यावर्त्तार्थसंभवादिहानर्थकं कृद्वहणम्, नैवम्,  
कृद्वहणमन्तरेण तद्धितप्रयोगेऽपि यत्कर्म तत्र षष्ठी स्यात् तत्र च मा भूदित्येवमर्थं कृद्वहणमित्युदाहरति—कृतपूर्वीत्यादि । सति त्वेवमर्थं कृद्व-  
हणे स्यादिव्याहरितरि प्रयोजनम् । कृत पूर्वमनेन मुक्त पूर्वमनेनेति च “पूर्वमनेन सारदेव” ७।१।१६७। इत्यनेन कर्तर्येण इत्यप्रत्यय, देव  
२४ कृतपूर्वीति पूर्व कृतवानित्यर्थः । तत्र यथा चित्रगुरिरादौ बहुव्रीहिणा स्वामिसामान्येऽभिहिते विशेषाभिधानाय चैत्रादि प्रयुज्यते, तथाऽत्रापि  
सामान्यकर्मण्यभिहिते विशिष्टकर्माभिधानाय कटादे केनाऽनभिहितस्य प्रयोगः, सामान्येन व्यवहाराऽसम्भवात् विशेषेणाऽवश्यं निर्वाहः कार्यः ।  
एतद्विषयस्तु विचार “कर्मणि” इत्यत्र सूत्रे कृत इति नेह प्रतन्यते । कथमिति । सागादिभ्यस्त्वानोऽस्यास्तीति तद्धितप्रयोगेऽर्थस्येत्यादि  
२७ कर्मणि षष्ठी न प्राप्नोतीत्याशङ्क्यार्थः । परिहरति—अत्र ताच्छीलिकयोरित्यादि । त्यजतीत्येवंपील इत्यादिविग्रहेषु “युजभुजमनत्यज०” ५।२।  
५०। इति चिनिणि—त्यागी, भोगी । “जीणदक्षि०” ५।२।७२। इति, “प्रात्स्जोहन्” ५।२।७१। इति, चैने—जयी, प्रसविनी ॥ ८३ ॥

द्विषो वाऽतृशः । कर्मणीति गौणात् नाम्नः षष्ठीति च वर्तते । अतृशो द्विष कर्मणि गौणात् नाम्नः षष्ठी वेत्यन्यस्येत्याह—अतृश-  
१० प्रत्ययान्तस्येत्यादि । चौरस्य द्विषन्ति । “द्विषीक्” अशीतावित्त “सुगृहिषार्ह सत्रिजस्तुत्ये” ५।२।२६। इत्यत्र, तद्योगे च कर्मणि  
षष्ठीप्रतिषेधादनेन विकल्पो विधीयत इत्याह—“तृक्षु०” आदि सूत्रेणेत्यादि । अन्ये सवन्वविषयायानेवेव षष्ठीति प्रतियन्तः सूत्र नाऽऽ-  
मन्ते । एव “वा ह्रीने” इत्यपि ॥ ८४ ॥

२३ वैकत्र द्वयोः । कर्मणीति षष्ठीति च वर्तते । द्वयोः कर्मणोरेकत्र षष्ठी वेत्यन्यस्य । विशेषणसामर्थ्यात् कर्मणीत्यनुवर्तमान विशेष्य  
सप्तम्येकवचनान्तमपि द्विवचनान्तमिह संशय्यत इत्याह—द्वयोः कर्मणोरिति । ते च द्वे कर्मणी द्विकर्मकेषु धातुष्विति । अय कृत इत्य-  
स्यैव षष्ठ्यन्तस्य द्वयोरिति विशेषण कस्मात् न क्रियते ? तत्रापि हि द्वयोः कृदन्तयोरैक यत्कर्म तत्र षष्ठी वा भवतीत्यस्य सपद्यते । तथा च  
३६ सति अपा सद्यः भेत्ता च मैत्र इत्यादावेव विकल्पः स्यादिति, नैवम्, एव सति “कर्मणि कृतो द्वयोश्च वा” इत्येकमेव योगः कुर्यात् । तस्मिन्पि हि  
सकलार्थस्य तिष्ठत्वात् । तस्मात् पृथग्योगात् कर्मण एव विशेषण न कृत इति । एकत्रेति सामान्येन निर्देशात् प्रधानाऽप्रधानकर्मणोरविशेषेण ग्रहण-  
मित्युभयत्रैवोदाहरति—अजाया नेता सुभ्रमित्यादि । अन्ये त्विति । वार्तिककृत, “गुणकर्मणि वेद्यते” इति धचनात् किन्त्वय विशेष-  
३९ सन्मते—प्रधाने तु नित्यैव षष्ठीति एकदेशाऽनुमत्या तन्मतोपन्यासः । उभयत्रापि नित्यमेवेत्यन्ये इति । आचार्यपाणिनि । ननु “कर्मणि”  
इत्यभिहितत्वादेकशब्दस्य च द्वितीयसव्यपेक्षात्वात् एकस्मिन् कर्मणीत्युक्तेऽपि द्वयोः कर्मणोरेकतरस्मिन्पि गम्यत एव किं द्वयोरित्यनेन ? उच्यते—  
द्विकर्मकेषु धातुष्वेकस्मिन् कर्मणि षष्ठीविकल्प इत्युच्यमाने “प्रधानाऽप्रधानसन्निधौ प्रधाने कार्यसंप्रत्यय” इति न्यायात् प्रधान एव कर्मणि स्यात् ।  
४२ यदा गौणादित्यधिकात् कर्माऽपेक्षयाऽपि गुणकर्मण्येव स्यात्, अत एव आचार्यशाकटायन “कर्मणि गुण” इति पठति, तस्माद् द्वयोरपि  
प्रधानाऽप्रधानकर्मणोः पर्यायेण षष्ठीविकल्प इत्येतदर्थं द्वयोरित्युपादानमित्यदोषः ॥ ८५ ॥



कर्तरि ॥ २ । २ । ८६ ॥

कृदन्तस्य कर्तरि गौणात् नाम्नः षष्ठी भवति । तृतीयाऽपवादः । भवत आसिका, भवतः शायिका, भवतः स्वापः, भवत आसना; भवतोऽग्रगामिका । कर्तरीति किम् ? गृहे शायिका । कृत इत्येव ? त्वया शय्यते ॥ ८६ ॥

द्विहेतोरुद्यणकस्य वा ॥ २ । २ । ८७ ॥

रूपधिकारविहिताभ्यामकारणकाभ्यामन्यस्य द्वयोः कर्तृकर्मषष्ठ्योः प्राप्तिहेतोः कृतः कर्तरि षष्ठी वा भवति । नित्यं प्राप्ते विभाषेयम् । विचित्रा सूत्रस्य कृतिराचार्यस्याऽऽचार्येण वा, साधु खल्विदं शब्दानामनुशासनमाचार्यस्याऽऽचार्येण वा, ६ साध्वी संग्रहण्याः कृतिः क्षमाश्रमणस्य क्षमाश्रमणेन वा, आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपालकस्य अगोपालकेन वा, साधु खलु पयसः पानं मैत्रस्य मैत्रेण वा, साध्वी खल्वनेकान्तजयपताकायाः कृतिराचार्यहरिमद्रस्याऽऽचार्यहरिमद्रेण वा । गम्यमानेऽपि कर्मणि भवति-अन्तर्द्धौ येनाऽदर्शनमिच्छति, यस्याऽदर्शनमिच्छतीति वा;-अत्राऽऽत्मन ईति कर्म गम्यते । द्विहेतोरित्येकवच- ९ ननिर्देशः किम् ? आश्चर्यमोदनस्य नाम पाकोऽतिथीनां च प्रादुर्भाव इति भिन्नकृतोः कर्तृकर्मषष्ठीहेतुत्वमत्रेति न भवति । अक्षयणकस्येति किम् ? चिकीर्षा मैत्रस्य कैथा काव्यानाम्, भेदिका चैत्रस्य काष्ठानाम्; णिङ्गन्तभिदेस्तु भेदिका चैत्रस्य मैत्रस्य काष्ठानाम् । कर्तरीत्येव ? साधु खल्विदं शब्दानामनुशासनमाचार्यस्याऽऽचार्येण वेत्यत्र शब्दशब्दात् कर्मणि विकल्पो, १२ न भवति । अन्ये तु घञलप्रत्यययोर्द्विहेत्वोः कर्मण्येव षष्ठीमिच्छन्ति न कर्तरि-आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपालकेन, आश्चर्य इन्द्रियाणां जयो यूना ॥ ८७ ॥

कृत्यस्य वा ॥ २ । २ । ८८ ॥

कृत्यस्य कर्तरि गौणात् नाम्नः षष्ठी वा भवति । भवतः कार्यः कटः, भवता कार्यः कटः, कर्तव्यः, करणीयः, देयः, कृत्यो वा कटः । कर्तरीत्येव १, गेयो माणवको गायानाम्, प्रवचनीयो गुरुर्द्वादशाङ्गस्य ॥ ८८ ॥

कर्तरि । कृत इति गोणात् नात्र पठ्यति च वर्तते । कृत कर्तरि गोणात् नात्र पठ्योलन्वयस्तदाह—कृदन्तस्येलादि । तृतीयाऽप-  
वाद इति । कृदन्तप्रयोगकर्तृवाचिन शब्दात् “हेतुकर्तृकरणे०” इति तृतीयायां प्रासायां तदपवाद पठ्यल्यर्थः । भवत आसिका, भवत-  
शायिकेति । “आसिक्” उपवेशने, “शीङ्” सत्रे, आभ्यां “पर्यायाऽर्हणोत्पत्तौ च णक ” ५।३।१२०। इति णक । आसिक् शयिक् च भवत  
क्रम इत्यर्थः । स्वाप इति । “भावाऽकृतौ ” ५।३।१८। इति घञ् । आसनेति । “णिवेत्तासश्रन्धघष्टवन्देरन ” ५।३।१११। इत्यन । भव-२९  
तोऽप्रगामिकेति । पूर्ववण्णक । शय्यत इति । “छिति यि शय्” ४।३।१०५। इति शयादेशः ॥ ८६ ॥

द्विहेतोरूप्यणकस्य वा । कृत इति कर्तरीति षष्ठीति च वर्तते । अक्षयणकस्य द्विहेतो कृत कर्तरी षष्ठी वेत्यन्यत्र । द्वयोर्हेतुरिति षष्ठीतत्पुरुष, तच्च कृत इत्यनुवर्तमानस्य विशेषणमित्याह—द्वयोः—कर्तृकमेपद्यो. प्राप्तिहेतो. कृत इति । नित्यं प्राप्ते इति । “कर्तरी” इति सूत्रेणैति शेष । विचित्रा सूत्रस्य कृतिराचार्यस्याऽऽचार्येण वेति । अत्र कृतिरिति “त्रियां किं” इति भावे किं, अस्याश्च कृते सूत्रं कर्म आचार्य कर्ता, उभयत्र च “कर्मणि कृत” इति, “कर्तरी” इति च द्वयोः षष्ठ्यो प्राप्तिरिति द्विहेतुरयं कृतः । एवमुत्तरत्रापि भावनीयम् । अनुशासनमिति । भावे करणाऽऽधारे वाऽनन्द । अन्तर्द्धौ येनाऽदर्शनमिच्छतीति । पञ्चमीविधायक पाणिनिसूत्रमिदम्, अस्य चाऽयमर्थः—अन्तर्द्धौ—अन्तर्द्धि विषये आत्मनः कर्मतापक्षस्य येन—उपाध्यायादिना कर्तृभूतेन यददर्शनं तदिच्छतीत्यर्थः । आश्चर्यमोदनस्य पाकोऽतिथीनां च प्रादुर्भाव इतीति । अत्र पाक इत्येतदपेक्षया ओदनस्येति न तदपेक्ष्यमतिथीनामिति कर्तृत्वेन न स्मृतिष्य पक्षार किन्तु प्रादुर्भवितार इति कृतोभिज्ञत्वात् न भवति । ननु कयमिदमुच्यते<sup>१</sup>, घन एकत्वादिति, नैवम्, घातुभेदात् तस्यापि भेद इत्यदोषः । चिकीर्षेति । करोते सन्नन्तात्<sup>२</sup> “शसिप्रत्ययात्” ५।३।१०५। इति अप्रत्यये अपि च रूपम् । भेदिकेति । पर्यायेण भेदनमिति “पर्यायाऽर्हणे” इति णक । णिगन्तभिदे- स्त्विति । भिदेर्णन्तात् पर्यायादिषु णक । अथ कथं चैत्रस्य मैत्रस्येत्युभयत्र कर्तरी षष्ठी<sup>३</sup>, यतोऽत्र प्रयोजककर्ता णिगर्थस्य प्राधान्यात् प्रधान, प्रयोज्यकर्ता तु कृत्स्नस्यस्य प्राधान्यादप्रधान, तत्र प्रधानाऽप्रधानसंनिधौ प्रधानादेव षष्ठी नाऽप्रधानादिति चेत्, सत्यम्, तृतीयावत् कर्तृमात्रे षष्ठीत्याश्रयणात् भिन्नशब्दवाच्यो प्रधानाऽप्रधानयोः कर्त्रैरेकशब्दवाच्यताया अभावात् विरोधाभावात् षष्ठी सिध्यतीत्यदोषः । अन्य इति । ललितस्वभाव इत्यर्थः । काशिकाकारस्तु ह्यधिकारविहितयोरणकयोः प्रतिषेधादन्यस्मिन्नपि जीप्रत्यय एव षष्ठीमिच्छति । अपरे त्वकाकारयोर्भावा-भिधायकयोः कृतोपयोगात् ताभ्यामन्यस्मिन्नपि भावाभिधायक एव षष्ठीमिच्छन्ति ॥ ८७ ॥

कृत्यस्य वा । कर्तरीति गौणात् नाम्न षष्ठीति च वर्तते । कृत्यस्य कर्तारि गौणात् नाम्न षष्ठी वेत्यन्वयस्तदाह—कृत्यस्येत्यादि । कार्य इति । “ऋणव्यञ्जनाद् घ्यण्” ५१११७१ इति घ्यण् । कर्तव्यः, करणीय इति । “तत्त्वानीयो” ५११२७१ इति तत्त्वानीयो । देय इति । “य एषात्” इति यप्रत्यये आकारस्य च एत्वम् । कृत्य इति । “कृञ् षिप्ठिञि” ५११४२१ इति क्यप्, “ह्रस्वस्य तः पिठ्ठिति” ४१४३११ इति तोऽन्त । गेयो माणवको गायानामिति । गायतीति ये-गेय “मन्वगेयजन्” ५१११७१ इति कर्तारि निपात, गीयमानत्वान्न गायानां कर्मत्वमतः कर्तरीत्युपवर्तमानात् कर्मणि षष्ठीविकल्पो न भवति । एव प्रवचनीय इत्यत्राऽपि द्रष्टव्यम् ॥ ८८ ॥



## कर्मणि कृतः ॥ २ । २ । ८३ ॥

कृतः—कृदन्तस्य संवन्धिनि कर्मणि गौणात् नाम्नः पठी भवति । द्वितीयाऽपवादः । अपां सद्यः, पुरां भेत्ता, वर्ष-  
शतस्य पूरकः, पुत्रपौत्राणां दर्शकः, यवानां लावकः, ओदनस्य भोजकः, विश्वस्य ज्ञाता, तीर्थस्य कर्त्ता, उदकस्य पिबः,  
ग्रामस्य गमनम्; गवां दोहः । कर्मणीति किम् ? शब्देण भेत्ता । क्रियाविशेषणस्याऽपि कर्मत्वाऽभावात् न भवति—साधु  
पक्ता, स्तोक पक्ता । कृत इति किम् ? कट करोति, कृतपूर्वी कटम्, भुक्तपूर्वी ओदनम्; त्यादितद्धितयोः कर्मणि  
मा भूत् । कथम् अर्थस्य त्यागी ? सुखस्य भोगी ? विषयाणां जयी ? वीराणां प्रसविनीति ?—अत्र ताच्छीलिकयोर्धिन्-  
णिनोः कर्मेति भवति ॥ ८३ ॥

## द्विपो वाऽट्शः ॥ २ । २ । ८४ ॥

१ अतृशप्रत्ययान्तस्य द्विपः कर्मणि गौणात् नाम्नः पठी वा भवति । चौरस्य द्विपन्, चौर द्विपन्; “तृन्” आदि-  
सूत्रेण प्रतिषेधे प्राप्ते विकल्पोऽयम् ॥ ८४ ॥

## वैकत्र द्वयोः ॥ २ । २ । ८५ ॥

१२ द्विकर्मकेषु धातुषु द्वयोः कर्मणोरेकत्रैकतरस्मिन् वा पठी भवति । अन्यत्र पूर्वेण नित्यमेव । अजाया नेता सुधम्,  
अजाया नेता सुधस्य; अथवा—अजां नेता सुधस्य, अजाया नेता सुधस्य; पयसो दोहको गाम्, पयसो दोहको गोः;  
यदि वा गोर्दोहकः पयः, गोर्दोहकः पयसः । अन्ये तु नीवह्यादीनां द्विकर्मकाणां गौणे कर्मणि, दुहादीनां तु प्रवाने  
१५ विकल्पमिच्छन्ति, उभयत्राऽपि नित्यमेवेत्यन्ये ॥ ८५ ॥

कर्मणि कृतः । गौणात् नाम्नः पठीति वर्तते । कृत कर्मणि गौणात् नाम्नः पठील्यन्वयस्तादृह—कृतः—कृदन्तस्येत्यादि । “कर्मणि”  
इति सामान्येन द्वितीयाविधानाद् कृदन्तकर्मण्यपि द्वितीयाप्राप्तौ तदपवादस्य पठील्यह—द्वितीयाऽपवाद इति । अपां स्त्रेऽप्येति । एतेषु  
१८ “गकलृचौ” इति वृत्तौ । ‘पां’ पाने इत्यतः “प्राप्तापादप्रेक्ष्य श” ५।१।५८। इति शो, “श्रौतिकृषुधितु” ४।२।१०।८। इति पिबदेशे—  
पिबः । गमेर्भावेऽनटि—गमनम् । एष दुर्देर्धनि लघूपान्यगुणे—दोहः । कृत इति किमिति । एव सन्त्ये—कर्म कारक, तच्च क्रिया-  
मन्तरेण न संभवति, क्रियाया हि कारक भवति । सा च वाचक धातु प्रत्ययसहितमाक्षिपति, धातोश्च द्वये प्रत्यया विधीयन्ते त्यादयः कृतश्च ।  
२१ तत्र “तद्वेत्यधीते” इति ज्ञापकाद् त्यादिप्रयोगे द्वितीयाविधानात् कृतप्रयोग एव पठी भविष्यतीति व्यावर्त्यासमवादिहानर्थकं कृद्वहणम्, नैवम्;  
कृद्वहणमन्तरेण तद्धितप्रयोगेऽपि यत्कर्म तत्र पठी स्यात् तत्र च मा भूदित्येवमर्थं कृद्वहणमित्युदाहरति—कृतपूर्वीत्यादि । सति त्वेवमर्थं कृद्व-  
हणे त्यादिव्यावृत्तिरपि प्रयोजनम् । कृत पूर्वमनेन भुक् पूर्वमनेनेति च “पूर्वमनेन सादेयेन्” ५।१।१६।७। इत्यनेन कर्तर्यं हन्प्रत्यय, तेन  
२४ कृतपूर्वाति पूर्वं कृतवानित्यर्थः । तत्र यथा चित्रगुरित्यादौ बहुमीहिणा स्वामिसामान्येऽभिहिते विशेषाभिधानाय चैत्रादि प्रयुज्यते, तथाऽत्रापि  
सामान्यकर्मण्यभिहिते विशिष्टकर्माऽभिधानाय कदादे केनाऽनभिहितस्य प्रयोग, सामान्येन व्यवहाराऽसंभवाद् विशेषेणाऽवश्य निर्वाहः कार्यः ।  
एतद्विषयस्तु विचार “कर्मणि” इत्यत्र सूत्रे कृत इति नेह प्रतन्यते । कथमिति । त्यागादिभ्यस्त्यागोऽस्यास्तीचीनि तद्धितप्रयोगेऽप्येत्येत्यादि  
२७ कर्मणि पठी न प्राप्नोतीत्याशङ्क्यार्थः । परिहरति—अत्र ताच्छीलिकयोरित्यादि । त्यजतीत्येवशील इत्यादिविग्रहेषु “युज्युजमजत्यज” ५।२।  
५०। इति धिनणि—त्यागी, भोगी । “जीणहृक्षि” ५।२।७२। इति, “प्रात्स्जोरिन्” ५।२।७१। इति, चेनि—जयी, प्रसविनी ॥ ८३ ॥

द्विपो वाऽट्शः । कर्मणीति गौणात् नाम्नः पठीति च वर्तते । अतृशो द्विपः कर्मणि गौणात् नाम्नः पठी वेल्यन्वयस्तादृह—अतृशः-  
३० प्रत्ययान्तस्येत्यादि । चौरस्य द्विपन्निति । “द्विषीकृ” अप्रोतावित्यतः “श्रुगृदिषार्ह सत्रिष्ठुस्तुल्ये” ५।२।२६। इत्यतृश, तद्योरे च कर्मणि  
पठीप्रतिषेधादनेन विकल्पो विधीयत इत्याह—“तृन्” आदि सूत्रेणेत्यादि । अन्ये संबन्धविवक्षायामेवेव पठीति प्रतियन्त सूत्र नाऽऽर-  
भन्ते । एव “वा क्लीबे” इत्यपि ॥ ८४ ॥

३३ वैकत्र द्वयोः । कर्मणीति पठीति च वर्तते । द्वयोः कर्मणोरेकत्र पठी वेल्यन्वय । विशेषणसामर्थ्यात् कर्मणीत्यनुवर्तमान विशेष्य  
सप्तम्येकवचनान्तमपि द्विवचनान्तमिह सप्तम्यत इत्याह—द्वयोः कर्मणोरिति । ते च द्वे कर्मणी द्विकर्मकेषु धातुष्विति । अथ कृत इत्य-  
स्यैव पठन्तस्य द्वयोरिति विशेषण कस्मात् न क्रियते ? तत्रापि हि द्वयोः कृदन्तयोरैक यत्कर्म तत्र पठी वा भवतीत्ययमर्थः संपद्यते । तथा च  
३६ सति वपा सद्यः भेत्ता च मैत्र इत्यादावेव विकल्पः स्यादिति, नैवम्, एष सति “कर्मणि कृतो द्वयोश्च वा” इत्येकमेव योगः कुर्यात् । तस्मिन्नपि हि  
सकलार्थस्य सिद्धत्वात् । तस्माद् पृथग्योगाद् कर्मण एव विशेषण न कृत इति । एकत्रेति सामान्येन निर्देशात् प्रधानाऽप्रधानकर्मणोरविशेषण ग्रहण-  
मित्युभयत्रैवोदाहरति—अजाया नेता सुधमित्यादि । अन्ये त्विति । वार्तिककृता, “गुणकर्मणि वेच्यते” इति वचनात् किन्त्वय विशेष-  
३९ सन्मते—प्रधाने तु निलौव पठीति एकदेशाऽनुमत्या तन्मतोपन्यासः । उभयत्रापि नित्यमेवेत्यन्ये इति । आचार्यपाणिनि । ननु “कर्मणि”  
इत्यधिकृतत्वादेकशब्दस्य च द्वितीयसव्यपेक्षत्वात् एकस्मिन् कर्मणीत्युक्तेऽपि द्वयोः कर्मणोरेकतरमिति गम्यत एव किं द्वयोरित्यनेन ? उच्यते—  
द्विकर्मकेषु धातुष्वेकस्मिन् कर्मणि पठीविकल्प इत्युच्यमाने “प्रधानाऽप्रधानसंनिधौ प्रधाने कार्यसंप्रत्यय” इति न्यायात् प्रधान एव कर्मणि स्यात् ।  
४२ यद्वा गौणादित्यधिकारात् कर्माऽपेक्षयाऽपि गुणकर्मण्येव स्यात्, अत एव आचार्यशाकटायन “कर्मणि गुण” इति पठति, तस्माद् द्वयोरपि  
प्रधानाऽप्रधानकर्मणो पर्यायेण पठीविकल्प इत्येतदर्थं द्वयोरित्युपादानमित्यदोषः ॥ ८५ ॥

द्विहेतोरख्यणकस्य वा ॥ २ । २ । ८७ ॥

१ कार्यो प्र० । २ शक्ति प्र० । ३ × × का० म० म० । ४ स्य मैत्रस्य का० म० म० । ५ णिगतमिदं सु मेदिना म० म० । ४२

## नोभयोर्हेतोः ॥ २ । २ । ८९ ॥

उभयोः कर्तृकर्मणोः पृष्ठीहेतोः कृत्यस्य संवन्धिनोरुभयोरेव पृष्ठी न भवति । नेतव्या ग्राममजा मैत्रेण, कष्टव्या  
१ ग्रामं शाखा चैत्रेण; जेतव्यः शत मैत्रश्चैत्रेण । उभयोर्हेतोरिति किम्? एकैकहेतोर्मा भूत-उपस्थानीयः पुत्रः पितुः,  
उपस्थानीयः पिता पुत्रस्य ॥ ८९ ॥

## तृनुदन्ताऽव्ययकखानाऽतृशशतृडिणकचखलर्थस्य ॥ २ । २ । ९० ॥

६ तृनः उदन्तस्य अव्ययस्य कसोः आनस्य अतृशः शतुः डेः णकचः खलर्थस्य च कृतः संवन्धिनोः कर्मकर्त्रोः पृष्ठी  
न भवति । तृन्-वदिता जनाऽपवादान्, उदन्त-कन्यामलकरिण्युः, रिप्त् जिण्युः, शरान् क्षिण्युः, ओदन वुसुक्षुः, देवान्  
चन्दारुः, धारुर्वत्सो मातरम्, श्रद्धालुस्तत्त्वम्, अव्यय-कट कृत्वा, पयः पायपाय व्रजति, ओदनं भोक्तुं व्रजति; वसु-  
९ ओदन पेचिवान्, तत्त्व विद्वान्; आनेति उत्सृष्टाऽनुबन्धनिर्देशात् कानशानाऽऽनशां ग्रहणम्, (कान-कट चक्राणः,  
वचनमनूचानः; शानः-मलय पवमानः, कतीह कवचमुद्रहमाना, कतीह शत्रून् निम्नानाः; कतीह वपुर्भूषयमाणाः;  
आनश्-ओदनं पचमानः, चैत्रेण पच्यमानः; कट करिष्यमाणः; अतृश्-अधीयस्तत्त्वार्थम्, धारयन्नाचाराङ्गम्, शतु-कटं  
११ कुर्वन्, कटं करिष्यन्, डि-परीपहान् सासहिः, कट चक्रिः, दधिश्चितम्, णकच्-एषानाहारको व्रजति, कटं कारको  
व्रजति; चिन्निर्देशात् णकस्य न भवति-वर्षशतस्य पूरकः, पुत्रपौत्रस्य दर्शकः; खलर्थः-ईपत्करः कटो भवता, सुज्ञानं  
तत्त्व भवता ॥ ९० ॥

१५

## कयोरसदाधारे ॥ २ । २ । ९१ ॥

सतो वर्तमानादाधाराच्चान्यस्मिन्नर्थे विहितौ यौ तौ-क्तवत् तत्संवन्धिनोः कर्मकर्त्रोः पृष्ठी न भवति । कटः

नोभयोर्हेतोः । कृत्यस्येति पृष्ठेति च वर्तते । उभयोर्हेतो कृत्यस्य उभयोरेव पृष्ठी नेत्यन्वयः । उभयोरिति सप्तमीद्विवचनान्तं प्रकृ-  
१८ तयो कर्तृकर्मणोर्विशेषणमित्याह-उभयोः कर्तृकर्मणोरिति । प्राय्यनुवादेन प्रतिषेधविषय दर्शयति-उभयोरेवेति । द्विकर्मकप्रयोगेऽयं  
प्रतिषेधो दृष्टव्यः, तत्रैवोभयप्राप्तिसंभवात् । नेतव्या, कष्टव्या, जेतव्य इति । नयते कर्तृवैर्जयतेषु "तज्यानीयौ" इति प्रधानकर्मणि तव्य ।  
ननु द्विकर्मकेषु धातुष्वय प्रतिषेधः, तत्र प्रधानकर्मणि कृत्येनैवाऽभिहितत्वात् कर्तृवैर्येव प्रतिषेधो न्याय्य इत्युभयग्रहणमतिरिच्यते, नैवम्, द्वितीया  
२१ धात्रिणा हि कृत्ययोगे पृष्ठी विधीयते द्वितीया चाऽप्रधानादस्तीति तत्र पृष्ठी स्यात् । न च "प्रधानकर्मण्यारुह्ये त्यादीनाहुर्द्विकर्मणाम्" इत्यादिदृष्टेन  
पक्षपि युक्त इति वाच्यम्, तस्य व्यवस्थानावित्वात् कृत्यकखलर्थानामेव ग्राहकत्वादिति । किं च "द्विकर्मणां धातूनां प्रधानकर्मणि विवादय  
उत्पद्यन्ते" इति न्यायोऽयं, यतो तेकेन शब्देनाजामलक्षणयोर्द्वयोः कर्मणो सतिपातितयोरैकतरकर्मणिधात्रीय न तु द्वे अपि कर्मणो, अजावत्  
२४ ग्रामस्यानिनीयितत्वात् तथाप्रतीत्यभावात् । न ह्यजा ग्रामो नीयते इत्युक्ते अजा ग्राम नीयते इतिवद्गुणमुख्यभावेन प्रतीतिरस्ति किन्तु तौ द्वावपि  
किमप्यन्यत्र नीयेते इत्यर्थान्तरं प्रदीयते इति तदत्र कतरत्वं कर्मनिनीयतामिति विरोधात् प्रधानकर्मणि त्यादय उत्पद्यन्त इत्युच्यते, तेनैक "प्रधा-  
नकर्मण्यारुह्ये त्यादीनाहुर्द्विकर्मणामि"ति । पृष्ठी तु मिश्रभ्यामाभ्या कर्मवाचिभ्यामुत्पद्यमाना मिश्रैवोच्यते इति विरोधाभावात् कथमसौ प्रधानादेष  
२७ त्यानाप्रधानादित्यविशेषणवानयत्तत्त्वम् । तत्रापि तत्र भवद्भगवतिशुना पृष्ठीविधानेव "प्रधानादि पृष्ठीष्वेते" इतीष्टारन्वा । अथैव कथमुक्त-  
दुद्धानामप्रधाने कर्मणि विवादय इति, तत्रापि पूर्वं प्रश्लेषितत्वेनान्तरत्वात् गवादेरेव प्राधान्यं व्यवहारपेक्षया तु पयः प्रभूतेरिति ॥ ८९ ॥

तृनुदन्ताऽव्ययकखानाऽतृशशतृडिणकचखलर्थस्य । अत्र नेति उभयोरिति पृष्ठेति च वर्तते । तृनुदन्ताऽव्ययकखानाऽतृ-  
१० शशतृडिणकचखलर्थस्य कृत उभयोः पृष्ठी नेत्यन्वयः । "कर्मणि कृत" इति, "कर्तृरिति" इति च प्राप्ताया पञ्चा प्रतिषेधार्थमिदम् । वदे "तृन्  
शीलकर्मसाधुषु" ५।२।२० इति तृनि-वदिता । अलपूर्वात् करोते "प्राज्यलङ्गु" ५।२।२८ इतीणौ-अलंकरिण्युः । जयते-"मूजे  
प्युक्" इति णुकि-जिण्युः । क्षिपते "त्रसिष्टपिष्टि" ५।२।३१ इति कौ गत्वे च-क्षिण्युः । वुसुक्षे-"सन्मिक्षाशरे" ५।२।३१।  
१३ इत्युप्रत्यये-वुसुक्षुः । वन्दे "शृवन्दरा" ५।२।३५ इत्यारौ-वन्दारुः । घयते "हाभिषिषादघदो" ५।२।३६ इति रौ-घारुः ।  
अवपूर्वात् दधाते "शीर्द्धदा" ५।२।३७ इत्यालौ-श्रद्धालुः । कृतेति । "प्राकाले" इति छयाप्रत्ययः । पिषते "क्षणम् चाऽऽमीक्ष्ये"  
५।२।४८ इति खणिमि द्वित्वे-पायपायमिति । शुजे "क्रियायां क्रियार्थायां" ५।२।१३ इति जुमि-भोक्तुम् । पचे "तत्र कष्टकानौ  
१६ तद्वत्" ५।२।२। इति कसौ, "अनादेशादे" इत्येत्वे द्वित्वाभावे "घसेकखरात कसौ" ५।२।२१ इति इटि-पेचिवान् । कानादीनां सर्वेषा-  
मनुबन्धवतामप्यनेति प्रयोगोपयोगिस्वरूपनिर्देशात् सर्वेऽपि तद्रूपा यजन्त इत्याह-आनेतीत्यादि । करोते "तत्र कष्ट कानौ" इति कान-  
प्रत्यये द्वित्वादौ-चक्राणः । अतृपूर्वात् वचे "वेयिवदनाश्चदन्वानम्" ५।२।३। इति निपातनात्-अनूचानः । पवते "पूज्यं घात" ५।२।२३। इति शाने-पवमानः । उत्पृणात् वहे "वध शक्तिशीले" ५।२।२४ इति शाने-उद्धहमानाः । एव निम्नानाः, भूषय-  
माणा इत्यपि । पचमान इति । "शत्रानशा" ५।२।२०। इत्यानश्, करिष्यमाण इति-एव्यति तु ससौ इति स्वसहित । अविपूर्वा-  
दिषो धारयतेषु "धारीषोऽकृच्छेऽतृश्" ५।२।२५ इत्यतृषि-अधीयन्, धारयन्नि । कुर्वन्, करिष्यन् इति । "शत्रानशा" इति  
४२ शतृप्रत्ययो यथायोग्य स्वसहितश्च । सासष्वेते "कौ सासहिवावहि" ५।२।२८ इति कौ-सासहिः । एव करोतेर्दधातेषु "अस्मिन्किदधिजति-  
नेमि" ५।२।३१ इति-चक्रिः, दधिः । आत्पूर्वात् हरते "क्रियायां क्रियार्थायां" इति णके-आहारकः । एव कारकः । चिन्निर्दे-  
शादिति । वर्षशतस्य पूरक इति "णकचौ" इति णक, णकजिति निर्देशात् पृष्ठीप्रतिषेधो न भवति । ईपत्कर इति । "हु खीपत्" ०

४५ ५।३।१३१ इति खल् । सुज्ञानमिति । "शासूयुषि" ५।३।१४१। इत्यन ॥ ९० ॥

कयोरसदाधारे । उभयोरिति पृष्ठेति नेति च वर्तते । अद्यथाधारे कयोरुभयोः पृष्ठी नेत्यन्वयः । सत इत्यस्य पर्यायोऽयं-वर्तमा-  
नादिति । ननु सत् घात्वर्थं, तत्र घादेरेव वर्तते, कृतप्रत्ययस्य "कर्तृरिति" इत्यादिना कारकं भावे च विधीयते । तत्र घति प्रत्ययविधिरिव नास्ति

कृतो मैत्रेण, कट कृतवान्; गतो ग्रामं चैत्रः, ग्रामं गतवान् । असदाधार इति किम्?, राज्ञां ज्ञातः, राज्ञां बुद्धः, राज्ञां मतः, राज्ञामिष्टः, राज्ञां पूजितः, कान्तो हरिश्चन्द्र इव प्रजानाम्; “ज्ञानेच्छा०” ॥५१॥९२॥ इत्यादिसूत्रेण सत्यत्र क्तः । कथं शीलितो मैत्रेण?, रक्षितश्चैत्रेण?, भूतेऽयं क्तः, वर्तमानताप्रतीतिस्तु प्रकरणादिनेति । अन्ये तु ज्ञानेच्छार्थ्यजी-  
च्छील्यादिभ्योऽतीति क्त नेच्छन्ति, तन्मते-अपशब्दावेतौ । आधारे-इदमोदनस्य भुक्तम्, इदं सकूनां पीतम्, इदमहेः  
सप्तम्, इदमेषामासितम्; “अद्यर्थाच्चाऽऽधारे” ॥ ५१॥९२॥ इति क्तः ॥ ९१ ॥

वा क्लीबे ॥ २१२॥९२ ॥

६

क्लीबे यो विहितः क्तस्तस्य कर्तरि षष्ठी वा न भवति । छात्रस्य हसितम्, छात्रेण हसितम्; मयूरस्य नृतम्,  
मयूरेण नृतम्; कोकिलस्य व्याहृतम्, कोकिलेन व्याहृतम्; इहाहेः सप्तम्, इहाऽहिना सप्तम् । क्लीब इति किम्?, चैत्रेण  
कृतम्-“क्तवत्” इति भावे क्तः । पूर्वेण प्रतिषेधे प्राप्ते विकल्पोऽयम् ॥ ९२ ॥

७

अकमेरुकस्य ॥ २१२॥९३ ॥

कमेरुन्यस्योक्तप्रत्ययान्तस्य कर्मणि षष्ठी न भवति । आगामुकं वाराणसीं रक्ष आहुः, भोगानभिलाषुकः । अकमे-  
रिति किम्?, दास्याः कामुकः ॥ ९३ ॥

१२

एष्यद्वणेनः ॥ २१२॥९४ ॥

एष्यत्यर्थे ऋणे च विहितस्येनः कर्मणि षष्ठी न भवति । इन इति इन्णिनोर्ग्रहणम् । ग्रामं गमी-औणादिक इन्,  
ग्राममागामी-औणादिको णिन्; शतं दायी, सहस्रं दायी, कारी मेऽसि कटम्, हारी मेऽसि भारम्,-एष्वाधमर्ण्ये १५  
णिन् । एष्यद्वणेति किम्?, अवश्यंकारी कटस्य, साधुदायी वित्तस्य ॥ ९४ ॥

कथं प्रतिषेधः? स्वतोऽन्यस्मिन्नर्थे इति?, नैष दोषः, सदर्थसहचारी प्रत्ययार्थोऽपि सन्नित्युच्यते । यदा धात्वर्थोऽपि सन्निति प्रत्ययत एव विज्ञा-  
यते, न हि धातुत क्रियालक्षणो धात्वर्थो भूतो भवन् भविष्यन्निति वा ज्ञातुं शक्यं, धातुर्हि क्रियामात्रमाह न त्वसु विशेषम् । स तु प्रत्ययादेव १८  
प्रतीयत इति कर्त्रादिकरकृत्तरिपि प्रत्यय सतीति विज्ञायते । क्रियते सेति कर्मणि के-कृतः । करोति सेति कर्तरि क्वतौ-कृतवान् । गत  
इति । गच्छति सेति “गत्यर्थोऽकर्मक०” इति कर्तरि क । राज्ञां ज्ञात इत्यादि । कर्तरि षष्ठीयं, “ज्ञानेच्छाऽर्थायनीच्छील्यादिभ्य क” ५१॥  
९२॥ इति वर्तमाने क । अथ केन सूत्रेण को भवतीत्याह-ज्ञानेच्छेत्यादि । भूतकालविहितस्य च कस्य वर्तमानकाले विहित क सामान्य-२१  
भावेन वाचक इति स्थितम् । कथमिति । शीलितो मैत्रेणेत्यादावपि “ज्ञानेच्छाऽर्था०” इत्यनेन क, तथा च वर्तमानप्रतीतिरत्र कस्यात् न  
भवतीति शङ्कायुक्तं । परिहरति-भूतेऽयं क इति । अयमर्थः-वर्तमानायामपि क्रियायां केचित् क्रियाभागा गता भवन्ति, तत्र “क्तवत्”  
इति भूतेऽयं क । यथैव कथमत्र वर्तमानताप्रतीति?, अद्यापि शील्यत इत्याह-वर्तमानतेत्यादि । आदिशब्दादर्थप्रकरणशब्दान्तरसन्निध्यादि-२२  
परिग्रहः । अन्ये इति । पूर्वे इत्यर्थः । इदमोदनस्य भुक्तमित्यादि । “अद्यर्थाच्चाऽऽधारे” ५१॥९२॥ इति के ओदनस्येति, सकूनामिति  
च “कर्मणि कृतः” इति कर्मणि षष्ठी । अहरेषामिति च कर्तरि षष्ठी । सदाधारादन्यत्र चातु शक्यं भवति, यदा कर्तरि क्तत्वाद् ‘इममहि’ सप्तो  
देशः यदा कर्मणि तदा ‘अयमहिना’ सप्तो देशः भावे तु “वा क्लीबे” वा षष्ठांमहे सप्तम् अहिना सप्तमिति ॥ ९१ ॥

२७

वा क्लीबे । कसेति कर्तरीति चैकदेशो नेति षष्ठीति च वर्तते । क्लीबे कस्य कर्तरि षष्ठी वा नेत्यन्वयस्तदाह-क्लीबे य इत्यादि ।  
‘भावे’ इत्यधिकृत्य “क्लीबे क” इत्यनेन य कालसामान्यावच्छिन्नधात्वर्थोभिधायकत्वाद्भातोक्त्यन्तस्त्र योगे षष्ठीविकल्पोऽयमित्युदाहरति-  
छात्रस्य हसितमित्यादि । हसन-हसितं, नतन-नृतम्; व्याहरण-व्याहृतम् । भावे क इति । “तत्साप्यानाप्यात्०” इत्यनेनेति ३०  
शेषः । पूर्वेणेति । “क्योरसदाधारे” इत्यनेनेत्यर्थः ॥ ९२ ॥

अकमेरुकस्य । कर्मणीति षष्ठीति नेति च वर्तते । अकमे उक्तस्य कर्मणि षष्ठी नेत्यन्वयस्तदाह-कमेरुन्यस्येत्यादि । आगा-  
मुकमिति । “शृकमगम०” ५१॥९४॥ इति ताच्छीलक उक्तम्, आहुरित्येतदपेक्षया कर्मणि द्वितीया । एव रक्षः शब्दादपि । वाराणसीश-३३  
ब्दाच्च गमिक्रियाकर्मणेऽनेन षष्ठी प्रतिषिध्यते । वरणा च अस्मिन् वरणासी नयां ते विधेते यस्यां “अहरादिभ्योऽङ्” इत्यभि पृषोदरादित्वात्  
ह्रस्वदीर्घव्यत्ययेऽनन्तत्वात् ऋथा-वाराणसी । आहुःशब्दो “ब्रूग पम्मानां०” इति व्युत्पायते । दास्याः कामुक इति । दासशब्दात्  
दयां-दासी, तत्र प्रतिषेधस्य प्रतिषेधात् षष्ठीव भवति ॥ ९३ ॥

३६

एष्यद्वणेनः । कर्मणीति षष्ठीति नेति चाऽऽनुवर्तते । एष्यद्वणेन कर्मणि षष्ठी न इत्यन्वयस्तदाह-एष्यत्यर्थे इत्यादि । एष्यश्च  
ऋणश्च एष्यद्वणे तयोरिन् एष्यद्वणेन तसेति विग्रहः । एष्यता ऋणेन च प्रत्येकमिन् विशिष्यत इति । इन इति खरूपनिर्देशात् निरनुबन्धस्य च  
तस्य ऋणेऽसम्भावात् ऋणग्रहणात् साधुबन्धस्य प्रहणमित्याह-इन इति इन्णिनोर्ग्रहणमिति । ग्रामं गमीति । “वत्स्यति गम्यादि” ३९  
५१॥११॥ इति वचनात् “गमेरिन्” इति भविष्यति इन् । एव “आञ्च णित्” इति णिनि-ग्राममागामी । येषां तु “गतेर्नवाऽनाते” इत्यस्य  
स्थाने “गत्यर्थकर्मणि०” इत्यत्र द्वितीयायां सिद्धायां द्वितीयाग्रहणमपवादविषयेऽपि षष्ठीवाधनार्थं तेषामत्र षष्ठीप्राप्तेरभावात् ‘ग्राम गमी, ग्राम-  
मागामीत्युदाहरणानुपपत्तिः, प्रतिषेधस्य प्राप्तिपूर्वकत्वादिति । शतं दायीति । ददाते “णिन् चाऽऽवश्यकाधमर्ण्ये” इति णिनि “आत ऐ  
क्यो” ४१॥५३॥ इति एत्वमायादेशश्च ॥ ९४ ॥

## सप्तम्यधिकरणे ॥ २ । २ । ९५ ॥

गौणात् नाम्न एकद्विवहावधिकरणे कारके डिओससुपलक्षणा यथासंख्यं सप्तमी विभक्तिर्भवति । दिवि देवाः, १ पर्यङ्के आस्ते, तिलेषु तैलम्, गुरौ वसति, युद्धे संनद्धते, अहुल्यग्रे करिशतम् ॥ ९५ ॥

## नवा सुजर्थैः काले ॥ २ । २ । ९६ ॥

सुचोऽर्थो वारलक्षणे येषां प्रत्ययानां तदन्तैर्युक्तात् कालेऽधिकरणे वर्तमानाद् गौणात् नाम्नः सप्तमी वा भवति । ६ द्विरहि भुक्ते, पक्षे शेषे पष्ठी-द्विरहो भुक्ते; मासे पञ्चकृत्वो भुक्ते, मासस्य पञ्चकृत्वो भुक्ते; बहुधाऽहि भुक्ते, बहुधाहो भुक्ते । सुजर्थैरिति किम् ? अहि भुक्ते, रात्रौ शेते । बहुव्रीह्याश्रयण किम् ? सुजर्थप्रत्ययस्याऽऽप्रयोगे गम्यमाने तदर्थं मा भूत् । काल इति किम् ? द्विः कांस्यपात्र्यां भुक्ते । अधिकरणे इत्येव ? द्विरहा भुक्ते । आधारस्याऽऽधारत्वाऽविवक्षायां पक्षे ० शैपिकी पष्ठी सिद्धैव, नियमार्थं तु वचनम्, तेन प्रत्युदाहरणेषु शेषे पष्ठी न भवत्येव ॥ ९६ ॥

## कुशलाऽऽयुक्तेनाऽऽसेवायाम् ॥ २ । २ । ९७ ॥

कुशलो निपुणः, आयुक्तो व्यापृतः, आभ्यां युक्तादाधारे वर्तमानाद् गौणात् नाम्नः सप्तमी वा भवति, आसेवायां- १२ तात्पर्यं गम्यमाने । कुशलो विद्याग्रहणे, आयुक्तस्तपश्चरणे, पक्षे-अधिकरणाऽविवक्षाया शेषपष्ठी-कुशलो विद्याग्रहणस्य, आयुक्तस्तपश्चरणस्य । आसेवायामिति किम् ? कुशलश्चित्रकर्मणि, न च करोति, आयुक्तो गौः शकटे-आकृष्य युक्त इत्यर्थः, अधिकरणे इत्येव नित्यं सप्तमी । पक्षे आधारस्याऽविवक्षायां विकल्पे सिद्धेऽनासेवायामाधाराऽविवक्षानिवृत्त्यर्थं १५ वचनम् ॥ ९७ ॥

## स्वामीश्वराऽधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैः ॥ २ । २ । ९८ ॥

एभिर्युक्ताद् गौणात् नाम्नः सप्तमी वा भवति, पक्षे-शेषपष्ठी । गोपु स्वामी, गवां स्वामी, गोष्वीश्वरः, गवामीश्वरः;

१८ सप्तम्यधिकरणे । गौणात् नाम्न इति एकद्विवहाविति चात्रवर्तते । गौणात् नाम्न एकद्विवहावधिकरणे सप्तमीलन्वयस्तदाह-गौणा-दित्यादि । क्रियाऽऽश्रयस्य कर्तुं कर्मणो वा य आधारेत्त्वधिकरणमिति प्रायुक्तं, तस्य चोक्तप्रकारेणैव पदं भेदा भवन्तीति कर्मणोदाहरति-दिवि देवा इत्यादि ॥ ९५ ॥

२१ नवा सुजर्थैः काले । गौणात् नाम्न इति सप्तम्यधिकरणे इति च वर्तते । सुजर्थैः कालेऽधिकरणे गौणात् नाम्न सप्तमी नवैलन्वयः । सुचोऽर्थं सुजिति उपचारात्, तेन सुजर्थो येषामिति बहुमीहि । एतच्च बहुवचनाद् विज्ञायते, अन्यपदार्थस्याऽनेकत्वाद् बहुत्वोपपत्तेः । तत्प्रवृत्ते तु अर्थस्यैकत्वादेकवचनमेव स्यात्, यथा “सहाय्यं” इति इत्यवधार्याऽऽह-सुचोऽर्थे इत्यादि । सुचोऽर्थोपचारः-क्रियाभ्यावृत्तिः, च चार्थः २४ प्रत्ययानामेवेत्याह-प्रत्ययानामिति । तदन्तैरिति । ते च प्रत्यया केवला न प्रयुज्यन्ते इत्येतदुच्यते इत्यर्थः । काल इत्यधिकरण इत्यस्याऽनुवर्तमानस्य विशेषणमित्याह-कालेऽधिकरणे इति । द्विरहि भुक्ते-द्वौ वारावस्येति “द्विचतुर ०” ७।२।११०। इति सूचः । तद्विमुक्तपक्षे त्वधिकरणस्य शेषविवक्षा “शेषे” इत्यनेन पष्ठीत्याह-पक्ष इत्यादि । पञ्चकृत्व इति । पञ्च बारा अस्येति “वारे कृत्वस्” ७।२।१०९। इति २७ कृत्वस् । बहुचेति । बहुव आसन्ना धारा अस्येति “बहोर्धाऽऽसन्ने” इति धा, यद्यप्यत्राऽऽसन्नित्यस्य तथापि सुचोऽर्थोऽस्तीति विकल्पो भवत्येव । बहुव्रीह्याश्रयणं किमिति । बहुव्रीहौ हि शब्दप्रधानो निर्देशः, तत्र तदर्थं शब्दैर्युक्तादिति युक्तत्वं यद्यपि नामार्थ एव तथापि तत्प्रयोग एव भवति, अन्यथा बहुव्रीहेरानर्थक्यात् तदभावे तु अर्थप्रधाने निर्देशोऽर्थादिना यदाऽहि भुक्ते इति द्वित्रिवैति प्रतीयेत तदाऽपि स्यात्, तदा ३० मा भूदित्येतदर्थं तदाऽऽश्रयणमित्यर्थः । द्विरहा भुक्ते इति । अहरधिकरणमपि अत्राऽऽशने करणविवक्षामनुभवति, तत्राधिकरण इत्यधिकारात् सप्तम्यभावाद् तृतीयैव भवति । अधिकरणमाधार इति पर्यायशब्दौ “क्रियाऽऽश्रयस्या ०” इत्यत्र दर्शितामिति तत्पर्यायेणैवाऽऽह-आधारस्येत्यादि । अत्राऽऽश्रयमर्थ-आधारस्य सवन्धविवक्षाया अप्युपपत्तेः षष्ठीसप्तमीसिद्धावपि नियमार्थो योग इत्यर्थः । सूत्रदर्शितविषय एव आधारस्य ३१ संवन्धविवक्षाऽन्यत्र मा भूदित्येवमर्थ इत्यर्थनियमो व्यवच्छेदफल इत्याह-तेनेत्यादि । सुजर्थैरेव योगे काले सप्तमी वा भवतीति नियमात् प्रत्युदाहरणेषु आधारसप्तम्येव न पष्ठीति ॥ ९६ ॥

कुशलाऽऽयुक्तेनाऽऽसेवायाम् । सप्तम्यधिकरणे इति नवेति गौणात् नाम्न इति च वर्तते । कुशलाऽऽयुक्तेनाऽधिकरणे गौणात् नाम्न ३३ सप्तमी नवैलन्वयः । कुशलाऽऽयुक्तशब्दौ निपुणव्यापृतपर्यायावित्याह-कुशलो निपुण इत्यादि । आसेवायामित्यस्य पर्यायमाह-तात्पर्यं इति । कुशलो विद्याग्रहण इति । तत्परो निपुण इत्यर्थः । आयुक्तस्तपश्चरणे इति । तात्पर्येण व्यापृत इत्यर्थः । न च करोतीत्यासेवायात्वात्पर्यरूपया अभावमाह । आकृष्य युक्त इत्यर्थः इत्यनेनाऽप्यर्थोभिधानेन तात्पर्याऽभाव एवाभिधीयते । पक्षे आधारस्येति । ३९ पूर्ववद्विभक्तियसिद्धिः, अनासेवायां विभक्त्यन्तरनिवृत्तिरेव सूत्रस्य फलमित्यर्थः ॥ ९७ ॥

स्वामीश्वराऽधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैः । गौणात् नाम्न इति नवेति सप्तमीति च वर्तते । स्वामीश्वराऽधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैर्गौणात् नाम्न सप्तमी नवैलन्वयस्तदाह-एभिर्इत्यादि । स्वामीति । स्वशब्दात् “स्वान्मिमीशे” इति सिद्धं दीर्घत्वं च । ईष्टे- ३२ “स्थेष्टमासपिचकचो वर ” ५।२।८१। इति वरे-ईश्वर इति । दायमादत्त इति “दद्यात् ” ५।१।७८। इति कप्रत्यये, दायमात्तल्यदेर्वाऽणि-

गोष्वधिपतिः, गवामधिपतिः; गोषु दायादः, गवां दायादः; गोषु साक्षी, गवां साक्षी; गोषु प्रतिभूः, गवां प्रतिभूः, गोषु प्रसूतः, गवां प्रसूतः । “स्वामीश्वराऽधिपतिः” इति पर्यायोपादानात् पर्यायान्तरयोगे न भवति—ग्रामस्य राजा, ग्रामस्य पतिः, षष्ठ्येव भवति । सप्तम्यर्थं वचनम् ॥ १८ ॥

१

## व्याप्ये केनः ॥ २ । २ । १९ ॥

इष्टादिभ्यः क्तान्तेभ्य इष्टमनेनेत्याद्यर्थे तद्धित इन् वक्ष्यते, क्तप्रत्ययान्ताद् य इन् तदन्तस्य व्याप्ये वर्तमानाद् गौणात् नाम्नः सप्तमी भवति । वेति निवृत्तम् । अधीतं व्याकरणमनेनेति वाक्याऽवस्थायामभिधायऽधीतीति वृत्तौ केनाऽनभिहिते कर्मणि प्रत्ययार्थकर्तृकेण च धात्वर्थेन व्याप्यमाने कृतपूर्वी कटमित्यादाविव द्वितीयायां प्राप्तायां तदपवादोऽयम् । अधीतं व्याकरणमनेनाऽधीती व्याकरणे, आप्नातं द्वादशाङ्गमनेनाऽऽप्नाती द्वादशाङ्गे, परिगणित ज्योतिरनेन परिगणिती ज्योतिषि, इष्टो यज्ञोऽनेनेष्टी यज्ञे । केन इति किम् ?, कटं करोति । क्तग्रहण किम् ?, कृतपूर्वी कटम्, भुक्तपूर्वी ओदनम् । इन्ग्रहण किम् ?, उपश्लिष्टो गुरुन् मैत्रः । व्याप्य इति किम् ?, मासमधीती व्याकरणे—अत्र मासात् मा भूत्, मासस्य हि न कर्मत्वम्, द्वितीया तु “कालाऽध्वनोर्व्याप्तौ” ॥ २ । २ । ४२ ॥ इत्यनेन ॥ १९ ॥

## तद्युक्ते हेतौ ॥ २ । २ । १०० ॥

१२

हेतुनिमित्तं—कारणम्, तेन व्याप्येन युक्ते संयुक्ते हेतौ वर्तमानाद् गौणात् नाम्नः सप्तमी भवति । हेतुतृतीयाऽपवादः । “चर्मणि द्वीपिनं हन्ति, दन्त्योर्हन्ति कुञ्जरम् । केशेषु चर्मणं हन्ति, सीम्नि पुष्पलको हतः” ॥१॥ तद्युक्त इति किम् ?, वेतनेन धान्यं लुनाति—नाऽत्र वेतन धान्येन संयुक्तम्, धनेन वसति । हेताविति किम् ?, देवस्य पादौ स्पृशति ॥१००॥ १५

दायाद् इति । स्वामीश्वराऽधिपतीनामेकार्थत्वेऽपि भेदेनोपादानं पर्यायान्तरनिवृत्त्यर्थमित्याह—स्वामीत्यादि । तदुदाहरति—ग्रामस्य राज्ञेति । स्वाम्यर्थग्रहणात् अत्राऽपि स्यात्, तदर्थ्यश्रुतिवादिति । षष्ठीसप्तम्यौ द्वेऽपि प्राप्तेऽनेन विधीयते उत अन्यतराप्राप्तेत्याशङ्क्याह—सप्तम्यर्थं वचनमिति । स्वाम्यादीनां गवादिसबन्धित्वं, तन्निवृत्तौ हि तेषां स्वाम्यादिमावाभाव, तत्राऽस्त्येव षष्ठी, सप्तमी तु नास्ति क्रियाप्रतीत्यभा-१८ वादिति पक्षे सप्तमीप्रापणार्थं वचनमिति ॥ १८ ॥

व्याप्ये केन । गौणात् नाम्नः सप्तमीति वर्तते । केनो व्याप्ये गौणात् नाम्नः सप्तमीत्यन्वयः । क्ताद् येन सूत्रेण यस्मिन्वाऽर्थे इन् भवति तदाह—इष्टादिभ्य इत्यादि । क्तादिन् केन् तस्य केन इत्यस्याऽयमर्थ इत्याह—क्तप्रत्ययान्ताद् य इत्यादि । वेति निवृत्तमिति । पृथयोगा-२१ दिति शेषः । अयं यस्मात् कृतप्रत्ययादिन् विधीयते तस्य यत्कर्म तत्राऽधिकरणविवक्षया सप्तमी सिध्यति किमर्थमिदमित्याशङ्क्याह—अधीतमित्यादि । अधीतं व्याकरणमनेनेति वाक्याऽवस्थायामभिधाय अधीतीति वृत्तौ केनाऽनभिहिते कर्मणि—विशेषकर्मणि, तदभिधानाय द्वितीया प्राप्नोति, गतो ग्राममिति वत् प्रत्ययार्थकर्तृकेण (प्रत्ययस्यार्थं प्रत्ययार्थं, प्रत्ययार्थं कर्ता यस्य धात्वर्थस्य २४ अध्ययनलक्षणस्य तेनेत्यर्थः) धात्वर्थेन व्याप्यमानत्वात् । सामान्यस्य विशेषमन्तरेणाऽनवस्थानमित्यर्थप्रदर्शनाय व्याकरणशब्दोपादानमिति वृत्तेरर्थः । इदमत्र तात्पर्यं—यथैव हि “अधीती व्याकरणे” इत्यत्र कर्मणोऽधिकरणत्वेन विवक्षितत्वात् सप्तमी प्रवर्तते तथा कृतपूर्वी कटमित्यादावपि प्रवर्तते । तस्माद् विवक्षाप्रविभागायेदमारभ्यत इति केनकर्मविषयेऽधिकरणविवक्षा नाऽन्यत्रेति । अध्ययनमधीतं—अविवक्षितकर्मकत्वादिको भावे २७ क्तप्रत्ययः, तत् इष्टादित्वादिन् । एवमितरत्रापि । कर्मणि वा क्ता, तत्रापि हि उत्पद्यमानं क्त कर्मसामान्यमान्येन न विशिष्टम् । इन्प्रकृतिर्हि क्तान्तोऽनेनेति कर्त्रा प्रत्ययार्थेनैकार्थ्याभावमापशमानो विशेषेण व्याकरणादिकर्मणा सबन्ध नाऽहिति । यथार्हेतत् प्रत्ययो नोत्पद्येत, सापेक्षत्वादसामर्थ्यात् समर्थोऽव तद्धितस्य विधानादिति । तस्याव्योऽसौ विशेषकर्मणा क्तान्तं सबन्धमुपगच्छति तस्मादयमिन्प्रकृतिभूत क्तान्तप्रत्ययार्थोऽत्यन्त-१० स्तलीनतामापाशमानो विशेषेण सबन्धगमनाक्षमोऽन्य एवेति । अत एव “अधीतमनेनेत्यादि” इन् उत्पत्तौ विमर्हो न त्वधीत व्याकरणमनेनेति, तस्मात् प्राग्विवक्षितमपि विशिष्टकर्मकर्त्रा पश्चात् सबन्धमुपैतीति सामान्येन व्यवहाराऽसम्भवात् । तदुक्तं—“निर्विशेषं न सामान्यं भवेच्छवि-प्राणवत्” इति । तथेदमप्युक्तं—“तत् क्रियावता कर्त्रा योगो भवति कर्मणा” इति । अधीत व्याकरणमनेनेत्यादिवाक्यचतुष्टयं तु नेतिवृत्त्यर्थः ११ किन्त्वर्थक्यनार्थं वृत्तौ दर्शितमिति ॥ १९ ॥

तद्युक्ते हेतौ । गौणात् नाम्नः इति सप्तमीति च वर्तते । तद्युक्ते हेतौ गौणात् नाम्नः सप्तमीत्यन्वयः । हेतुनिमित्तं—कारणमिति । नानादेशजविनेयाऽनुग्रहार्थं पर्यायकथनम् । हेतुशब्दोपादानात्विह विशिष्टमेव निमित्तमभिप्रेतं न निमित्तमात्रं, अन्यथा ‘तद्युक्ते निमित्ते’ इति कृते १४ दात्रेण धान्यं लुनातीति निमित्तमात्रवाचिनो दात्रादपि स्यात् । न च ‘उपपदविमर्शे कारकविभक्तिर्वैयर्थ्या’ इति न भविष्यतीति वाच्यम्, यत् कारकश्रुत्या कर्तृकरणयोस्त्वृतीयवत् कारकेण कर्मणा सबन्धे विधीयमानत्वादस्या अपि कारकविभक्तिवत्त्वम् । सा ह्युपपदविभक्तिर्यत्र कारकगन्धोऽपि नास्ति, यथा—शक्तार्थवषडादिभिर्योगे चतुर्थीति । तस्माद्देवशब्दाऽभिधेयं विशिष्टमेव निमित्तं यत्किंयाया प्रयोजनं यदर्थं क्रियाऽऽरम्भो न च १९ दात्रार्थं लवनक्रियेति “हेतुकर्तृकरणे” इति तृतीया प्राप्नोतीत्याह—हेतुतृतीयेति । चर्मणीत्यादि । अत्र द्वीपिवधे चर्मं निमित्तं—हेतु, चर्मार्थं हन्ता हन्ति, तस्य च कर्मणा साधनेन द्वीपिनमित्यनेन युक्तत्वं योग—संबन्धस्तस्य तच्चर्मेति । एव कुञ्जरहननस्य दन्तौ, चमरीहननस्य केशा, पुष्पलकलक्षणवस्तुहननस्य सीमेति । दिक्षा गता आपोऽस्मिन्निति “श्रकपू पथ्यपोऽत्” ७।३।७६ । इत्यति, “क्षन्तरनवर्णोपसर्गादप ४२ ईप्” ३।२।१०९ । इतीपादेशे, सत्वार्थे इने—द्वीपी । “मध्यादिभ्यो र” इति रे—कुञ्जरः । क्लिष्टे “क्लिष्ट के च” उणा० ५।३० । इति शे के चाऽऽदेशे—केशः । चमे “क्लच्छिचटि०” उणा० ३।९ । इत्यरे जाति व्याचक्षे—चमरी । पुष्पं लातीति “आतो वो०” इति वे, अज्ञा-ताद्यर्थविवक्षायाम् के—पुष्पलकः । कर्मसंयोगाऽभावे तु तृतीयेवेत्याह—वेतनेनेत्यादि । देवस्येति । अस्त्यत्र पादलक्षणेन कर्मणा देवस्य ४५ संयोगो हेतुत्वं तु नास्ति ॥ १०० ॥



## अप्रत्यादावसाधुना ॥ २ । २ । १०१ ॥

असाधुशब्देन युक्ताद् गौणात् नाम्नोऽप्रत्यादौ-प्रत्यादिप्रयोगाऽभावे सप्तमी भवति । असाधुमैत्रो मातरि ।  
१ अप्रत्यादाविति किम्?, असाधुमैत्रो मातरं प्रति, मातरं परि, मातरमनु; मातरमभि ॥ १०१ ॥

## साधुना ॥ २ । २ । १०२ ॥

साधुशब्देन युक्ताद् गौणात् नाम्नोऽप्रत्यादौ सप्तमी भवति । साधुमैत्रो राजनि, साधुमातरि । अप्रत्यादावित्येव?,  
६ साधुमैत्रो राजानं प्रति, राजानं परि, राजानमनु, राजानमभि । उत्तरत्राऽर्चायां विधानात् अनर्चायां तु व्यावृत्तेस्तत्त्वाख्याने  
विधिरयम् । कथं तर्हि साधुर्भृत्यो राज इति?, भृत्याऽपेक्षाऽत्र पृष्ठी न साध्वपेक्षा, साध्वपेक्षायां तु सप्तम्येव भवति ॥ १०२ ॥

## निपुणेन चाऽर्चायाम् ॥ २ । २ । १०३ ॥

१ निपुणशब्देन साधुशब्देन च युक्ताद् गौणात् नाम्नोऽप्रत्यादौ सप्तमी भवति, अर्चायां गम्यमानायाम् । षष्ठ्य-  
पवादः । मातरि निपुणः, पितरि साधुः । अर्चायामिति किम्?, निपुणो मैत्रो मातुः, साधुमैत्रः पितुः; मातैवैनं निपुणं  
मन्यते पितैव साधुमित्यनर्चायां न भवति । अप्रत्यादावित्येव?, निपुणो मैत्रो मातरं प्रति, मातरं परि, मातरमनु, मातर-  
१२ मभि ॥ १०३ ॥

## स्वेषेऽधिना ॥ २ । २ । १०४ ॥

स्वे-ईशितव्ये ईशे च स्वामिनि वर्तमानादधिना युक्ताद् गौणात् नाम्नः सप्तमी भवति, अधिः-स्वस्वामिसंबन्ध-  
१५ द्योतयति, तत्र स्वस्वामिवाचिनोर्यद् गौणत्वेन विवक्ष्यते ततो भवति । स्वे-अधि मगधेषु श्रेणिकः; अध्यवन्तिषु प्रद्योतः;  
ईशे-अधि श्रेणिके मगधाः, अधि प्रद्योतेऽवन्त्यः; पृष्ठीवाधनार्थो योगः ॥ १०४ ॥

अप्रत्यादावसाधुना । गौणात् नाम्नः सप्तमीति वर्तते । असाधुना गौणात् नाम्नोऽप्रत्यादौ सप्तमीत्यन्वयस्तदाह—असाधुशब्देन  
१८ युक्तादित्यादि । अप्रत्यादाविति । अप्रतिशब्दस्य व्यन्यावाचित्वात् प्रति परि अनु अभि इत्येत एव अप्रत्यादावित्यनेन प्राप्ता । ननु साधु-  
शब्देन सदाचार उच्यते, आचरणं च क्रियाविषयमिति मातृशब्देन तस्या परिचर्यादिक्रिया उच्यते इति मातृपरिचरणादिक्रियायां सम्प्रगाचरिता  
मातरि साधुरित्युच्यते, तद्वैपरीत्येनाऽसाधुमातरितीति । यदि तु साधुशब्दो भक्तिप्रधाने सकल्पविशेषे वर्तते तद्वैपरीत्ये चाऽसाधुशब्दस्तदा मातुदेव  
२१ विषयभावसंबन्धात् सिद्धे सप्तमी नैतदुपयुज्यते इति । यथेवमसाधुमैत्रो मातरितीति मातृविषयस्य साधुत्वस्य निषेधात् प्रथमं मात्रा साधोर्गौणाद-  
न्तरत्वादुत्तरेणैव सिद्धा सप्तमी किमनेन?, नैवम्, पदान्तरसंबन्धादेकपदवर्तित्वेन नञ्संबन्धस्यान्तरत्वादसमर्थनञ्समासस्य च नियतविषय-  
त्वादर्थान्तराऽभिधायिना नञ्समासेनैव मातुः संबन्धो युक्तोऽप्राप्त्यमानयेत्यादिवत् इति “साधुना” इत्युत्तरेण न सिध्यतीति वचनम् । नन्वभिनयोगे  
२४ “लक्षणवीक्ष्ये” इत्यनेन प्रत्यादियोगे तु “भागिनि” इत्यनेन च द्वितीयायां विशेषविधानात् सप्तमी न भविष्यति किमप्रत्यादावित्यनेन?,  
सत्यम्, असाधुशब्दाभावेऽपि द्वितीया चरितार्था इति प्रत्यादियोगे सप्तमी स्यात् ॥ १०१ ॥

साधुना । गौणात् नाम्नः सप्तमीति अप्रत्यादाविति च वर्तते । साधुना गौणात् नाम्नोऽप्रत्यादौ सप्तमीत्यन्वयस्तदाह—साधुशब्देने-  
२७ त्यादि । सामान्येन विधानेऽप्युपपत्त्या विषयविशेष दर्शयति—उत्तरत्रेत्यादि । पूर्वं त्वचोर्ग्रहणमुत्तरत्र निपुणविशेषणार्थमेव प्रतीयन्तं सर्वत्र  
साधुशब्दयोगे सप्तमी प्रतीयति । यदुत्तरत्वं—एव चाऽर्चाग्रहणं निपुणविशेषणार्थं सपद्यत इति । उक्तोत्तरादपि निपुणविशेषणार्थमेवाऽर्चाग्रह-  
णस्य चरितार्थत्वादित्युवाच । साधुर्भृत्यो राज इत्यादि तत्त्वाख्यानास्य सद्भावत् साधुयोगे सप्तमी प्राप्नोतीत्याह—भृत्याऽपे-  
३० क्षेत्यादि । अत्र पराऽभिप्रायेण सप्तमीमाशङ्क्य तत्परिहारार्थं स्वयमुक्तमुपदर्शयत्युक्तकर आह—यथाऽत्र भवानस्मदुपाध्यायो व्याकरणरत्नाकर-  
पूर्णचन्द्रमा कैयटाख्य सिध्यसायसिद्धिमनोचत् “भृत्याऽपेक्षयाऽत्र पृष्ठी कृता न साध्वपेक्षया” । अयमर्थः—योऽयं भृत्यो राजः साधुर्गुणवानिति ।  
यदा तु साधुनैवाभिमुख्येन संबन्धस्तदा वाढ सप्तम्यैव भवितव्यम्, यथा राजनि साधुरिति ॥ १०२ ॥

३३ निपुणेन चाऽर्चायाम् । गौणात् नाम्नः सप्तमीति अप्रत्यादाविति चकारात् साधुनेति च वर्तते । निपुणेन साधुना च गौणात् नाम्नो-  
ऽप्रत्यादौ सप्तमी, अर्चायामित्यन्वयस्तदाह—निपुणशब्देनेत्यादि । मातरि निपुण इति । अत्र मातरि तु वर्तते इति, मैत्रादेः प्रशसा  
गम्यत इति तथोगे मातृशब्दात् सप्तमीति । एव पितरि साधुरित्यादि ॥ १०३ ॥

३६ स्वेषेऽधिना । गौणात् नाम्नः सप्तमीति वर्तते । स्वेषेऽधिना गौणात् नाम्नः सप्तमीत्यन्वयस्तदाह—स्वे-ईशितव्ये इत्यादि । अधे-  
रुपरिभावस्वस्वामिसंबन्धयोर्द्योतकत्वेऽपि स्वेषे इति वचनादत्र स्वस्वामिसंबन्धयोतीत्यहं इत्याह—अधिरित्यादि । संबन्धस्योभयनिष्ठत्वे युगप-  
दुभयत्र सप्तमी स्यादित्याशङ्क्यामाह—तत्र स्वस्वामिवाचिनोरित्यादि । सर्वत्र च संबन्धे किंचिदन्यत्वे किंचिदाख्यायते, यत्प्रसिद्धं तदन्यत्वे  
३९ यदप्रसिद्धं तदाख्यायते—विधीयते—ज्ञाप्यते । तत्र यद्विधीयते—तत्प्रधानमितरदप्रधानम् । तत्र यदप्रधानतया विवक्ष्यते तत्र सप्तमी नेतरत्रैत्यु-  
भयत्र पर्यायेण सप्तमी भवति न यौगपथ्येनेति । अधि मगधेषु श्रेणिक इति । मगधानामीश श्रेणिक इत्यर्थः । एवमध्यवन्तिषु प्रद्योत  
इति । अधि श्रेणिके मगधा इति । श्रेणिकस्य ईशितव्या मगधा इत्यर्थः । एवमधि प्रद्योतेऽवन्त्य इति । नन्वत्र क्रमेण परस्परमाधा-  
४२ राऽऽपेक्षमाविवक्षया पर्यायेणाऽप्रधानात् “सप्तम्यधिकरणे” इत्याधिकरण एव सप्तमी भविष्यति किमनेनेति?, उच्यते—संबन्धविवक्षायां पृथगपि  
स्यादित्याह—पृष्ठीवाधनार्थो योग इति । ननु “विभक्तिसप्तमी” ३।१।३१ इत्यादिना विभक्त्यर्थं यदव्ययं तद्विभक्त्यन्तेन सह समस्यते स  
चाऽव्ययीभावः, यथा अधिनीति, एवमत्रापि कस्यात् न भवति?, तथा सति नित्यं समास इति वाक्यं नियतं । अथैव सति वचनसिद्धमनर्थक

## उपेनाऽधिकिनि ॥ २ । २ । १०५ ॥

उपेन युक्तादधिकिनि वर्तमानाद् गौणात् नाम्नः सप्तमी भवति, उपेत्यधिकाऽधिकिसंबन्धं द्योतयति । उप खार्या द्रोणः, द्रोणोऽधिकः खार्या इत्यर्थः । उप निष्के कार्षापणः, कार्षापणोऽधिको निष्कस्येत्यर्थः । उपेनेति किम् ? खार्या १ उपरि द्रोणः । अधिकिनीति किम् ? अधिके मा भूत्, तेनोप द्रोणे खारीति न भवति ॥ १०५ ॥

## यद्भावो भावलक्षणम् ॥ २ । २ । १०६ ॥

भावः—क्रिया, प्रसिद्धं लक्षणमप्रसिद्धं लक्ष्यम्; यस्य संबन्धिना भावेन क्रियया भावोऽपरिक्रिया लक्ष्यते, १ तस्मिन् वर्तमानाद् गौणात् नाम्नः सप्तमी भवति । गोषु दुह्यमानासु गतः, दुग्धास्वागतः—अत्र कालतः प्रसिद्धेन गवां दोहेन भावेनाऽन्यस्य गमनमप्रसिद्धं लक्ष्यते, एवं देवाऽर्चनायां क्रियमाणायाम् गतः कृतायामागतः । गम्यमानेनाऽपि भावेन भावलक्षणे भवति—आग्नेषु कलायमाग्नेषु गतः, पक्षेषु आगतः; अत्र जातेष्विति गम्यते । गम्यमानमपि हि विभक्तेर्निमित्तं २ भवति, यथा—वृक्षे शाखा, ग्रामे चैत्रः—अत्र भवति, वसति चेत्याधारनिमित्तं गम्यते । यत्र क्रियाऽर्हाणां कारकत्वं तद्विपर्ययो वा, यथा—ऋद्धेषु भुज्जानेषु दरिद्रा आसते, ऋद्धेष्वासीनेषु दरिद्रा भुज्जते । यत्र क्रियानर्हणामकारकत्वं तद्विपर्ययो वा, यथा—दरिद्रेष्वासीनेषु ऋद्धा भुज्जते, दरिद्रेषु भुज्जानेषु ऋद्धा आसते, तत्राऽपि भावो भावस्य लक्षणं भवतीत्यनेनैव सप्तमी । १२ यद्ग्रहणं प्रकृत्यर्थम् । भाव इति किम् ? यो जटाभिस्तस्य भोजनम् । भावलक्षणमिति किम् ? यस्य भोजनं स मैत्रः । तृतीयाऽपवादो योगः ॥ १०६ ॥

स्यात्, न च “सप्तम्या वा” ३।२।४। इत्यन्मावाभावपक्षे सप्तमीश्रवण फलमिति वाच्यम्, वर्तिपदसप्तमीलोपात्, समाससप्तम्या हि स विकल्पः । १५ किं च षष्ठीवाधनार्थोऽयं योग इत्युक्तत्वात्, न चाऽन्यथीभावे षष्ठीभावाऽभावयोर्विशेषोऽस्ति । न चाऽत्राऽधिर्विभक्त्यर्थेऽस्ति, क्व तर्हि ? स्वस्वामि-भावे, तस्य च विषयभाव सप्तमी द्योतयति, एतद्विषयमस्य स्वत्व स्वामित्व चेति । अधिष्ठीत्यादौ त्वान्तर सप्तम्यर्थ एवाऽधेरर्थः । यदा तु सप्त-म्यर्थ एवाऽधिशब्दस्तदाऽत्राऽन्यव्ययीभाव एव अध्यवन्ति प्रचोत इति ॥ १०४ ॥ १८

उपेनाऽधिकिनि । गौणात् नाम्नः सप्तमीति वर्तते । उपेन अधिकिनि गौणात् नाम्नः सप्तमीत्यन्वयस्तदाह—उपेन युक्तादित्यादि । अधिकिनीति । तत्कर्तुं कर्ता बोधयामि भवति । तत्रेहाधिकमिति कर्ताऽभिधीयते—यदध्यारोहति, तत “अतोऽनेकस्वरात्” इतीति—अधिकि-नीति कर्माऽभिधीयते—यदध्यारोहति । तयोर्ये सबन्धोऽध्यारोहणक्रियाजनिमस्तस्मिन्पुनश्चन्दो द्योतयतीत्याह—उपेत्यधिकेत्यादि । अधिकसंबन्ध च २१ द्योतयितु अधिकिनीति मत्वर्थेन निर्देशः । द्रोणोऽधिकः खार्या इत्यर्थः इति । उप खार्या द्रोण इत्यत्र खारी विशेषणं द्रोणो विशेष्य इति तयैवार्थाऽभिधानमिदमित्यर्थः । अधिके मा भूदिति । अध्यारुढवति मा भूदित्यर्थः । तद्भाववर्त्यमाह—तेन उप द्रोणे खारीति न भव-तीति । अत्राऽप्याधारविवक्षया सप्तमी सिद्धा, अधिकमप्यारुढ हि तत्रोपच्छिद्य भवति, परं पूर्ववद्विभक्त्यन्तरवाधनार्थं वचनमिति ॥ १०५ ॥ २४

यद्भावो भावलक्षणम् । गौणात् नाम्नः सप्तमीति वर्तते । यद्भावो भावलक्षणं तस्मिन् गौणात् नाम्नः सप्तमीत्यन्वयः । यद्यपि भाव-क्रियोरन्यत्राऽपरिस्पन्दमानसाधनसाध्यता परिस्पन्दमानसाधनसाध्यता चेति विशेषः प्रतिपादितस्वयापीह यत्तत्संबन्ध सामान्यानुभयरूप तदा-श्रित्य तयोरभेदेनेहाऽभ्रयणमिति दर्शयितुमाह—भावः—क्रियेति । उभयत्राऽपि भावशब्द क्रियावचन इत्यर्थः । तत्र यद्भाव इति भाव-२७ शब्देन लक्षणभावोऽभिधीयते, भावलक्षणमिति लक्ष्यभावः, लक्षणस्य लक्ष्याऽपेक्षितत्वात् । अविज्ञातस्वरूपस्य च वस्तुनो हानमुपादानं वा कर्तुं न शक्यत इति तयो स्वरूपमाह—प्रसिद्धमित्यादि । प्रकरणं ज्ञाता या क्रिया सैवेतरस्या अपरिच्छिन्नस्वरूपाया क्रियाया लक्षणं, अन्यथा तां प्रति लक्षणत्वाऽनुपपत्तेः । गोषु दुह्यमानासु गत इति । दुहे कर्मणि आनय, “क्य शिति” इति क्य, “अतो म आने” इति माऽऽगमः, ३० गमे ‘गच्छति स्म ग्राम’ इति गत्यर्थत्वात् कर्तरि क । दुग्धास्वित्यत्र गोष्विति सबन्धनीयम् । अत्र दोहनक्रियाविशिष्टकालसमाश्रयणेन सर्वलोकैरनुमीयमानतया प्रसिद्धत्वात् मैत्रादिगमनक्रियाया कालतोऽप्रसिद्धाया लक्षणमित्याह—अत्र कालत इत्यादि । लक्षणवत्त्व गो सप्तमी । नन्वाग्नेषु कलायमाग्नेषु गत इति लक्षणभूतक्रियाया अभावात् कथं तद्वत् सप्तमीत्याह—गम्यमानेनाऽपीत्यादि । अत्र जाते-३३ ष्विति गम्यत इति । जननलक्षणगम्यमाना क्रिया गमनस्य लक्षणमिति न दोषः । गम्यमानं विभक्तिनिमित्तं नेति कश्चिन्मन्यते इति तज्जि-मित्तभाव दृष्टान्तोपदर्शनद्वारेण द्रष्टव्यति—गम्यमानमपि हीत्यादि । अयमर्थः—वृक्षे शाखेत्यादौ गम्यमानक्रियैव कारकविभक्तेर्निमित्तं, क्रियाप्रतिपत्तिमन्तरेण कारकविभक्तेरप्रवृत्तेरिति । अथ ऋद्धेषु भुज्जानेषु दरिद्रा आसते इत्यादौ यत्र क्रियार्हणां कारकत्वं, क्रियानर्हणामकार-३४ कत्वं, तद्विपर्ययो वा गम्यते तत्र कथमियं सप्तमी ? अत्र ऋद्धा भुज्जते, दरिद्रा आसते इत्येतावन्मात्रप्रतीतेर्भावयोरलक्ष्यलक्षणभावाभावादित्या-शङ्काऽऽह—यत्र क्रियाऽर्हाणामित्यादि । अनुष्ठानरूपमौचित्यमर्हन्तीति क्रियार्हा । तद्विपर्यय इति । तच्छब्देन कारकत्वं परामृश्यते, क्रिया-र्हणामपि कुतश्चिन्मिति तात् कारकत्वविपर्ययो वेत्यर्थः । ऋध्यन्तीति—ऋद्धा, भुज्जानेषु—भुज्जाना । दरिद्रीत्यन्वि—दरिद्रा । अत्र ऋद्धा भुज्जि-३५ क्रियामर्हन्तीति तेषां भुज्जत इति क्रियार्हणां कारकत्वम् । ऋद्धेष्वासीनेषु दरिद्रा भुज्जत इति । ऋद्धानो भोजनक्रियार्हणामपि भुक्त्वात् न ते पुनस्तत्प्रति कर्तृत्वं मज्जन्त इत्यकारकत्वम् । दरिद्रेष्वासीनेषु ऋद्धा भुज्जत इति । दरिद्रा न भोजनर्हा इति तेषां भुज्जत इति क्रिया-नर्हणामकारकत्वम् । तद्विपर्ययं च दरिद्रेषु भुज्जानेषु ऋद्धा आसते इत्युदाहरणं द्रष्टव्यम् । अत्राऽप्येव लक्ष्यलक्षणभावस्य विवक्षितत्वादेन-४२ नैव सप्तमी । यद्ग्रहणं प्रकृत्यर्थमिति । यस्य भावो भावस्य लक्षणं ततो भाववत् सप्तमीभ्यते, यद्ग्रहणमन्तरेण चैतन्न लभ्यते, यद्ग्रहणे तु यद्भावो भावलक्षणं तस्मिन्निष्ठाक्षेपात् लभ्यत इति प्रकृत्यर्थं यद्ग्रहणम् । यो जटाभिस्तस्य भोजनमित्यत्र जटा भोजनस्य भावस्य लक्षणं न तु भाव इति तत् सप्तमी न भवति । यस्य भोजनं स मैत्र इति । अत्र भोजनेन भावेन मैत्रोऽन्य लक्ष्यते न भाव इति यस्येत्यतो भाववत् सप्तमी ४५ न भवति । तृतीयाऽपवादो योग इति । असति ह्यस्मिन् सूत्रे “हेतुकर्तृकरणेत्यभूतलक्षणे” तृतीया प्राप्ताऽतस्त्वपवादोऽयमित्यर्थः ॥ १०६ ॥

## गते गम्येऽध्वनोऽन्तेनैकार्थ्यं वा ॥ २ । २ । १०७ ॥

कुतश्चिदवधेर्विवक्षितस्याऽध्वनोऽवसानमन्तः, यद्भावो भावलक्षणं तस्याऽध्वनोऽध्ववाचिशब्दस्याऽध्वन एवाऽन्तेनाऽन्तवा-  
१ चिना सहैकार्थ्यं सामानाधिकरण्यं वा भवति, तद्विभक्तिस्त्वस्माद्भवतीत्यर्थः; गते गम्ये—गतशब्देऽप्रयुज्यमाने इत्यर्थः । गवी-  
धुमतः सांकाश्यं चत्वारि योजनानि,—चतुर्षु योजनेषु गतेषु भवतीत्यर्थः; एव लोकमध्यात् लोकान्तमुपर्यधश्च सप्त रज्जुनाम-  
नन्ति, पक्षे—पूर्वेण सप्तमी; गवीधुमतः सांकाश्यं चतुर्षु योजनेषु, गतेष्विति गम्यते । गत इति किम् ? दग्धेषु लुप्तेष्विति  
२ वा प्रतीतौ मा भूत् । गम्य इति किम् ? गतशब्दप्रयोगे मा भूत्—गवीधुमतः सांकाश्यं चतुर्षु योजनेषु गतेषु भवति, अत्रै-  
कार्थ्यं न भवति, सप्तमी तु पूर्वेण नित्यं भवति । अध्वन इति किम् ? कार्तिक्या आग्रहायणी मासे—अत्राऽयैकार्थ्याभावे  
पूर्वेण नित्यं सप्तमी । अन्तेनेति किम् ? अद्य नश्चतुर्षु गम्यतेषु भोजनम्, भोजनं हि भोक्तृधर्मो नाऽध्वनोऽन्त इति पूर्ववत्  
३ सप्तम्येव । नन्वन्तेन सहाऽध्वनोऽभेदोपचारात् सिद्धमेवैकार्थ्यं किमनेन ? सत्यम्, कालेऽप्येव मा भूदिति वचनम् ॥ १०७ ॥

## षष्ठी वाऽनादरे ॥ २ । २ । १०८ ॥

यद्भावो भावलक्षणं तस्मिन् भाववति वर्तमानाद् गौणात् नाम्नोऽनादरे गम्यमाने षष्ठी वा भवति, पक्षे पूर्वेण  
१ सप्तमी । रुदतो लोकस्य प्राजाजीत्, रुदति लोके प्राजाजीत्; क्रोशतो वन्धुवर्गस्य प्राजाजीत्, क्रोशति वन्धुवर्गे प्राजा-  
जीत्;—रुदन्त क्रोशन्तं वाऽनादृत्य प्राजाजीदित्यर्थः ॥ १०८ ॥

## सप्तमी चाऽविभागे निर्धारणे ॥ २ । २ । १०९ ॥

१५ जातिगुणक्रियादिभिः समुदायादेकदेशस्य बुद्ध्या पृथक्करणं निर्धारणम्, तस्मिन् गम्यमाने गौणात् नाम्नः षष्ठी  
सप्तमी च भवति; अविभागे—निर्धार्यमाणस्यैकदेशस्य समुदायेन सह कथंचिदैक्ये शब्दाद् गम्यमाने । क्षत्रियः पुरुषाणां

गते गम्येऽध्वनोऽन्तेनैकार्थ्यं वा । यद्भावो भावलक्षणमिति वर्तते । यद्भावो भावलक्षणं तस्य अध्वन एव अन्तेन ऐकार्थ्यं वा,  
१८ गते गम्ये इत्यन्वयः । कुतश्चिदिति । गवीधुमदादे । अवधेरिति । व्यवस्थाया । विवक्षितस्येति । इयत्तापरिच्छेदायोपात्तस्येत्यर्थः, यदि-  
त्यभूत् एवाऽध्वना अन्तेनैकार्थ्यमनुभवति । यद्भाव इति । यस्याऽध्वनश्चतुर्षु योजनरूपस्य भावेन गमनरूपेणाऽपरो भावः सांकाश्यमनुरूपो लक्ष्यते  
इति तस्येत्यर्थः इति सूत्रार्थमाह—तस्येति । यच्छब्दोद्दिष्टं प्रतिनिदिष्यते । ऐकार्थ्यमिति विधेयकथनम् । एकोऽयं द्रव्यमनेकभेदाधिष्ठानं यस्य  
२१ स एकार्थस्त्वद्भावः ऐकार्थ्यं, तदाह—सामानाधिकरण्यमिति । एव चैतद्विशयत इत्याह—तद्विभक्तिरित्यादि । अन्यैकविभक्तिमन्तरेण  
सामानाधिकरण्यं न घटेत् इति भावः । गवीधुमतः सांकाश्यं चत्वारि योजनानि । गवीधुमन्नाम नगरं, तत आरभ्य सांकाश्यं चतु-  
र्भिर्योजने प्राप्यत इत्यर्थः । गवीधुमच्छब्दोऽव्युत्पन्नः । सकाशात्तदाह “सुपन्थ्यादेर्न्ये” ६।१।८४। इति न्ये—सांकाश्यं । जुने करणेऽनटि-  
२४ योजनं । गतेषु—अतिक्रान्तेषु, भवतीत्यर्थः इत्यनेन लक्षणमुदाहरणाय योजयति । एव लोकमध्यादित्यादावपि सप्तसु रज्जुषु गतासु लोकान्त-  
मामनन्तीति पक्षे सप्तमी द्रष्टव्या । गम्यत इति । न प्रयुज्यत इत्यर्थः । दग्धेषु लुप्तेष्विति वेल्यनेन भावान्तरप्रदर्शनेन गतशब्दाभावः दर्श-  
यति । प्रतीतान्विति । प्रकरणादेरिति शेषः । गवीधुमतः सांकाश्यं चतुर्षु योजनेषु गतेषु भवतीति । अत्र गतेष्विति प्रयुज्यमानं न  
२७ गम्य, गम्यं हि प्रतीयमानार्थमप्रयुज्यमानमुच्यते इति गम्य इति वचनादिह न भवति । पूर्वेणैति । यद्भावो भावलक्षणमित्यनेनैत्यर्थः ।  
कार्तिक्या आग्रहायणी मास इति । अत्र मासे गते इति गतं गम्यमस्ति, परं मासः कालो नाऽध्वनेति तस्याऽन्तेनाऽग्रहायण्या ऐकार्थ्यं न  
भवति । अद्य नश्चतुर्षु गम्यतेषु भोजनमिति । अत्र भोजनं क्रिया भोक्तृधर्मो नाऽध्वनोऽन्त इति नैकार्थ्यं, तदभावे “यद्भावो भावलक्षणम्” इति  
३० सप्तम्येव भवतीत्याह—भोजनं हीत्यादि । नन्वन्तेनेति । अध्वान्तयोः भेदोपचारादेवैकार्थ्यं सिद्धं किं तत्र वचनेनेत्याक्षेपः । परिहरति—सत्य-  
मित्यादिना । अभेदोपचारे हि कालेऽपि स्यात्, अध्वनोऽन्यत्र काले एवमुपचारात् मा भूदध्वन्येव यथा स्यादित्येवमर्थसिद्धं वचनमित्यर्थः ॥ १०९ ॥

षष्ठी वाऽनादरे । यद्भावो भावलक्षणमिति वर्तते गौणात् नाम्नः इति च । यद्भावो भावलक्षणं तस्मिन् गौणात् नाम्नोऽनादरे षष्ठी वेल्य-

११ न्वयस्तदाह—यद्भाव इत्यादि । वा शब्दः पक्षे सप्तमीप्राप्त्यर्थः इत्याह—पक्षे पूर्वेण सप्तमीति । वाशब्दमन्तरेणाऽनादरे षष्ठ्याऽपवादतया  
सप्तमी वाच्यते । ननु “यद्भावो” इति भावलक्षणे सामान्ये सप्तमी, तत्राऽनादरे इति विशेषे षष्ठी, सप्तम्यामनादरप्रतीतिर्यप्रकरणदेरित्यर्थ-  
भेदाच्च बाध्यवाचकभावोऽस्तीति किं पक्षे सप्तम्यर्थेन वाशब्देनेति ? सच्यते—यथाऽनादरादन्यत्र साम्यतः सप्तम्यस्ति, एव “क्षेपे” इत्यनेन  
१२ षष्ठ्यापि, तत्रोभयत्रापि प्रव्रजन् रुदतापि लोकेन निचर्त्तमानस्तद्भेदमनादृत्य प्राजाजीदित्यनादरं प्रकरणादेः प्रतीयत इति सामान्येऽपि षष्ठी  
सप्तमी वाच्येतेति पक्षे तदर्थं वा वचनमिति । प्राजाजीदिति । “व्रज” गताविल्यतोऽद्यतन्यादि, “सिञ्जयतन्याम्” इति सिञ्च, “स सिञ्जतेदित्यो”  
४।३।६५। इतीत्, “स्तायशितो” इतीत्, “वदव्रजल” इति वृद्धि, “इट् इति” इति सिञ्चो लृक्, “अट् घातो” इत्यङ्गागमः ॥ १०८ ॥

१३ सप्तमी चाऽविभागे निर्धारणे । चकारात् षष्ठीति गौणात् नाम्नः इति च वर्तते । निर्धारणे गौणात् नाम्नः षष्ठी सप्तमी च अविभागे  
इत्यन्वयः । निरपूर्वात् धारयतेर्भावेऽनटि—निर्धारणं, तच्च समुदायभावापन्नस्यैकदेशस्य केनचिद्धर्मेण पृथक्करणं, धर्मश्च जाल्यादिरित्याह—जाति-  
गुणेत्यादि । विपूर्वाद्धर्मेर्भावे षष्ठी—विभागे भेदस्तत्प्रतिषेधोऽविभाग—केनचिद्धर्मेण ऐक्यम्, तथा सामर्थ्यात् निर्धार्यमाणस्य समुदायेन सह-  
४२ त्याह—निर्धार्यमाणेत्येत्यादि । क्षत्रियः पुरुषाणां पुरुषेषु त्वेत्यादि । अत्र क्षत्रियत्वशालित्वजाल्या कृष्णत्वगुणेन धावनक्रियया आदि-  
शब्दात् शुभिक्षिप्रभृतिचञ्चला च निर्धारणं द्रष्टव्यम् । ननु निर्धार्यमाणस्याऽध्वनस्य समुदायाभ्यन्तरत्वात् समुदायस्य चाधिकरणविवक्षायां वृद्धे-  
शास्तेतिवत् सप्तम्या सिद्धत्वात् सप्तम्यविवक्षायां त्वन्यवस्य वृद्धस्य शास्तेतिवत् षष्ठ्या अपि सिद्धत्वात् किमनेनेति ? नैव, विभागे प्रतिषेधार्थ-

पुरुषेषु वा शूरतमः, शालयः शूकधान्यानां शूकधान्येषु वा पथ्यतमाः, कृष्णा गवां गोषु वा संपन्नक्षीरतमा, धावन्तो गच्छतां गच्छत्सु वा शीघ्रतमाः, युधिष्ठिरः श्रेष्ठतमः कुरुणां कुरुषु वा । अविभाग इति किम् ? माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः, पञ्चालाः कुरुभ्यः संपन्नतराः, मैत्रश्चैत्रात् पटुः, अयमस्मादधिकः,—अत्र हि शब्दात् भेद एव प्रतीयते, न तु कथंचिदैक्यमिति न भवति । पञ्चमीवाधनार्थं वचनम्, अन्ये तु पञ्चमीमपीच्छन्ति गोभ्यः कृष्णा संपन्नक्षीरतमा ॥ १०९ ॥

**क्रियामध्येऽध्वकाले पञ्चमी च ॥ २ । २ । ११० ॥**

क्रिययोर्मध्ये योऽध्वा कालश्च तस्मिन् वर्तमानाद् गौणात् नाम्नः पञ्चमी, चकारात् सप्तमी च भवति । इहस्थोऽयमिष्वासः क्रोशात् लक्ष्यं विध्यति, क्रोशे वा लक्ष्यं विध्यति,—इह धानुष्काऽवस्थानमिषुमोक्षो वैका क्रिया लक्ष्यव्यपश्च द्वितीया तन्मध्ये क्रोशोऽध्वा; अथ भुक्त्वा मुनिर्ह्यहात् भोक्ता, ह्यहे वा भोक्ता,—अत्र द्वयोर्भुक्तिक्रिययोर्मध्ये ब्रह्मः कालः । ननु च क्रोशे स्थितं लक्ष्यं विध्यति, ब्रह्मे पूर्णं भुक्ते इत्यधिकरण एव सप्तमी, क्रोशात् निःसृत्य स्थित लक्ष्यं विध्यति, ब्रह्ममति- क्रम्याऽनु भुक्ते इत्युपादाने “गम्ययपः कर्माऽऽधारे” ॥ २।२।७४ ॥ इति पञ्चमी सिद्धैव, सत्यम्; यदा त्वस्यैव क्रिया- कारकसंबन्धस्य फलभूता शेषसंबन्धलक्षणोत्तरावस्था विवक्ष्यते, यथा—द्विरहो भुक्ते, योजनस्य शृणोतीति तदाऽपि क्रिया- मध्ये षष्ठी मा भूदिति वचनम् ॥ ११० ॥

१२

**अधिकेन भूयसस्ते ॥ २ । २ । १११ ॥**

अधिरूढ इत्यर्थेऽधिकशब्दो निपात्यते, अधिरूढ इति कर्तरि कर्मणि च क्तो भवति, तत्र यदा कर्तरि तदाऽधिक इत्येतेनाऽल्पीयानुच्यते; यदा तु कर्मणि तदा भूयान्, तत्र सामर्थ्यादल्पीयो वाचिनाऽधिकशब्देन युक्ताद् भूयसो भूयो- वाचिनो गौणात् नाम्नस्ते सप्तमीपञ्चम्यौ भवतः । अधिको द्रोणः खार्याम्, अधिको द्रोणः खार्याः ॥ १११ ॥

त्वादस्येत्याह—अविभाग इति किमिति । अयमभिप्राय—सर्वत्रैव निर्धारणस्य विभागरूपत्वेनाऽविभागपूर्वकत्वाद् सूत्रस्य निर्विषयत्वाद् अविभागग्रहणसामर्थ्यादवधारण समाधीयते—अविभागो यत्र शब्दत एव प्रतीयते, तत्र निर्धारणे सप्तमीषट्पाविति । गोषु कृष्णत्वेन निर्धाय- माणस्याऽवयवस्य गोत्वेनाऽन्तर्भूतत्वाद् गोषु कृष्णेत्यादावेव सप्तमी षष्ठी च युज्यते, इह तु माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतरा इति न केनचित् प्रकारेण माथुराणां पाटलिपुत्रकेभ्यविभागो न हि पाटलिपुत्रका माथुरा नाप्याढ्यतरा इति वाक्याद् भेद एव प्रतीयत इत्याह—अत्र हि शब्दादित्यादि । गवां कृष्णेत्यादौ तु विभज्यमाना गौर्गोत्वेन समुदायादविभक्ता काव्येन तु विभक्ता, तस्माद् विभज्यमानस्यैकदेशस्य विभागा-ऽऽश्रयस्य च समुदायस्य यत्र विभागाऽविभागौ स एवाऽनयोर्विषय । यत्र तु तयोर्विभाग एव न कथंचिदैक्यं तत्र पञ्चम्येव भवति, अत एवाऽऽह— पञ्चमीवाधनार्थमिति । अयमर्थः—निर्धारणस्य विभागरूपत्वाद् यस्य हि यतो विभागस्तस्य तदपेक्षयाऽवधिरूपत्वाद् अपादानत्वात् पञ्चम्या प्राप्ताया यत्राऽविभागोऽपि तत्र तदपवादो योग इत्यर्थः । यथेव सर्वथा समुदायभावानापने निर्धारणमेव न युज्यते, समुदायादि एकदेशस्य पृथ- करण निर्धारणमित्युक्तत्वात्, सत्यमेतत्, बुद्ध्या हि केनचिद्भ्रमेण कल्पितेन माथुरा पाटलिपुत्रकाश्च समुदायभावमापद्यन्त इति सिध्यति निर्धारणमित्यदोष । अन्य इति । अभयनन्याचार्या ॥ १०९ ॥

**क्रियामध्येऽध्वकाले पञ्चमी च ॥** गौणात् नाम्न इति चकारात् सप्तमीति च वर्तते । क्रियामध्ये अध्वकाले गौणात् नाम्न पञ्चमी चेत्यन्वयः । क्रियाया मध्य क्रियामध्यमिति षष्ठीतत्पुरुष, न च निग्रहवाक्यार्थप्रतिपादने य शक्त स समर्थ इति समासे च द्वित्वार्थाऽन- वगतेरसामर्थ्यात् समासाभाव इति वाच्यम्, मध्यस्य द्विष्टत्वात् क्रियार्थगतस्य द्विष्टत्वाऽवगमादित्याह—क्रिययोर्मध्य इति । इह धानुष्का- वस्थानमित्यादिना उदाहृतोदाहरणे लक्षणं योजयति । नन्विष्वास इति धनुर्कथ्यते, ययाऽश्वराजो महेष्वास इति । धनुश्च व्यधने करणं कर्ता इति मैत्राक्षित्युक्तमिष्वासो विध्यतीति ? उच्यते—इष्वास इति क्रियाशब्दोऽयम्, इधूनस्यति—क्षिपति इति मैत्राक्षिरेवोच्यते । रुढिशब्दत्वेऽपि करणस्य स्वातन्त्र्यविवक्षायां इष्वासो विध्यतीत्युपपद्यत एव । इहस्थोऽयमिष्वास इति प्रत्येकं प्रतिपत्त्य, वाक्यभेदात् । ननु चेहस्थोऽयमि- ष्वास इत्यादि क्रियाभेदात् युक्तमुदाहरणं, इदं त्वयुक्तं, अथ भुक्त्वा मुनिर्ह्यहात् भोक्ता, मुजिक्रियाया एकत्वात्, सत्यम्, मुजिक्रियाया एकस्या इति अपि कालभेदाद् भेदस्य सिद्धत्वादाधारेऽपि तस्या मित्येते इत्याह—अत्र द्वयोरित्यादि । ननु चेति । क्रियामध्यव्यवस्थितस्याऽध्वनोऽधिकरण- त्वात् सप्तमी सिद्धा, क्रोशैकदेशस्याऽधिकरणत्वात् क्रोशेऽप्यधिकरणत्वस्य वक्तुं शक्यत्वात् । एव कालादपि ब्रह्मे पूर्णं यदुपश्लिष्टमहस्तत्र भोक्ते- र्यार्थवसायादौपक्षेणिकी सप्तमी सिद्धा । पञ्चमी त्वच्चनोऽपादानत्वात् क्रोशाभिर्गच्छद्भिः शरैर्लक्ष्यं विध्यतीत्यर्थाऽवगमात् । कालान्तु “गम्ययप ०” इति ब्रह्ममतिक्रम्य भोक्तेर्यथैव प्रतीते किमर्थोऽयं योग इत्याक्षेपार्थः । यद्यपि शरनिर्गमनस्य धनुरपादानं न क्रोशस्थथापि क्रोशस्थमेव धनुरत्र क्रोशशब्देनाऽभिधीयते, यथा “मन्त्रा क्रोशन्ति” इति मन्त्रस्था पुरुषा मन्त्रशब्देनेति । परिहरति—सत्यमित्यादिना । अस्यैवेति । अपादानस्या- ऽऽधारस्य वैलथं । फलभूतेति । क्रियाकारकसंबन्धो हि कट करोतीत्यादावप्यस्ति, तद्व्यवच्छिन्नरथैः शेषसंबन्धलक्षणा फलभूता—कार्यभूतोत्तरा- वस्था इत्युक्तम् । अयमर्थः—यदा भोजनश्रवणादौ कालाऽध्वनो क्रियाकारकजन्य शेषसंबन्धत्वमेव केवलं विवक्ष्यते न त्वपादानाऽधिकरणत्वे तदा ताभ्यां पक्षेव स्यादिति सूत्रारम्भः । किं न यदा ब्रह्मक्रोशशब्दौ ब्रह्मक्रोशविषयावेव न तदेकदेशविषयो तदनाऽपयो नाप्याधारतेति षष्ठी प्राप्नोति । क्रोश वाहमित्या विध्यति, ब्रह्म वाहमित्या भोकेति वा प्रतीतेर्द्वितीया प्राप्नोति तद्वाधनार्थोऽयं योग आरभ्यते । इतौ तु षष्ठी मा भूदिति षष्ठीग्रहणमुपलक्षणार्थं, तेन द्वितीयाऽपि सा भूदित्यर्थं सिद्धो भवति ॥ ११० ॥

**अधिकेन भूयसस्ते ॥** गौणात् नाम्न इति वर्तते । अधिकेन भूयसो गौणात् नाम्नस्ते इत्यन्वयः । तत्र यदेति । शय्यारोहतीति शेषः । भूयस इत्युपादानादधिकशब्देनाऽल्पीयानेवोच्यते इत्याह—तत्र सामर्थ्यादित्यादि । अधिको द्रोणः खार्यामिति । अत्राऽधिकाऽधिक- संबन्धस्य विदमानत्वात् सारीशब्दात् “शेषे” इत्यनेन षष्ठी प्राप्नोति, तथा अधिकशब्दस्य कर्तृसाधनाऽध्वारूढार्थत्वात् “कर्मणि” इति द्वितीया च, अतस्त्वयोर्वाधिके सप्तमीपञ्चम्यावनेन विधीयते ॥ १११ ॥

## तृतीयाऽल्पीयसः ॥ २ । २ । ११२ ॥

अधिकशब्देन सामर्थ्याद् भूयोवाचिना युक्तादल्पीयो वाचकाद् गौणात् नामस्तृतीया भवति । अधिका खारी द्रोणेन ॥ ११२ ॥

## पृथग्नाना पञ्चमी च ॥ २ । २ । ११३ ॥

पृथग्नानाशब्दाभ्यां युक्ताद् गौणात् नाम्नः पञ्चमी तृतीया च भवति । पृथग् मैत्रात्, पृथग् मैत्रेण; नाना चैत्रात्, नाना चैत्रेण । यदा पृथग्नानाशब्दावन्यार्थौ तदा प्रभृत्यादिसूत्रेण पञ्चमी सिद्धैव तृतीयैवाऽनेन विधीयते, यदा त्वसहायार्थौ तदा पञ्चमीविधानार्थमपीदम् । अन्ये तु द्वितीयामपीच्छन्ति ॥ ११३ ॥

## ऋते द्वितीया च ॥ २ । २ । ११४ ॥

९ ऋते इत्येतदव्ययं वर्जनार्थम्, तेन युक्ताद् गौणात् नाम्नो द्वितीया पञ्चमी च भवति । चित्रं यथाश्रयमृते, न ह्यङ्गं विक्रियते रागमृते, ऋते धर्मात् कुतः सुखम् । द्वितीयां नेच्छन्त्येके ॥ ११४ ॥

## विना ते तृतीया च ॥ २ । २ । ११५ ॥

१२ विनाशब्देन युक्ताद् गौणात् नाम्नस्ते द्वितीयापञ्चम्यौ तृतीया च भवति । विना वातम्, विना वर्षम्, न विना शब्दभावनाम्, याज्जां विना विद्धि; विना वातात्, विना वातेन । द्वितीयां नेच्छन्त्येके ॥ ११५ ॥

## तुल्यार्थैस्तृतीयाषष्ठ्यौ ॥ २ । २ । ११६ ॥

१५ तुल्यार्थैर्युक्ताद् गौणात् नामस्तृतीयाषष्ठ्यौ भवतः । मात्रा तुल्यः, मातुस्तुल्यः; पित्रा समानः, पितुः समानः; गुरुणा समः, गुरोः समः; चैत्रेण सदृशः, चैत्रस्य सदृशः । अर्थग्रहणं पर्यायार्थम् । उपमा नास्ति कृष्णस्य, तुला नास्ति सनत्कुमारस्येत्यादौ उपमादयो न तुल्यार्था इति न भवति । गौणाधिकाराच्च गौरिव गवयः, यथा गौस्तथा गवय इत्यादौ १८ न भवति । तृतीयामविकल्प्य षष्ठीविधानं सप्तमीवाधनार्थम्, तेन—गवां तुल्यः स्वामी, गोमिस्तुल्यः स्वामीत्यत्र “स्वामीश्वरा०” इत्यादिना सप्तमी न भवति ॥ ११६ ॥

तृतीयाऽल्पीयसः । अधिकेनेति गौणात् नाम्न इति च वर्तते । अधिकेन अल्पीयसो गौणात् नाम्नस्तृतीयेत्यन्वयः । अल्पीयस इत्यु-  
२१ पादानात् कर्मसाधनो भूयोऽर्थोऽधिकशब्दः प्रतिपत्तव्य इत्याह—सामर्थ्याद् भूयोवाचिनेति । अधिका खारी द्रोणेनेति । भूयोवाचि-  
नाऽधिकशब्देन युक्तादल्पीयोवाचकाद् गौणात् नाम्नो द्रोणात् तृतीयेति ॥ ११२ ॥

पृथग्नाना पञ्चमी च । गौणात् नाम्न इति चकारात् तृतीयेति च वर्तते । पृथग्नाना गौणात् नाम्न पञ्चमी तृतीया चेत्यन्वयः ।  
२४ पृथग्नानेति तृतीयान्तमित्याह—पृथग्नानाशब्दाभ्यां युक्तादिति । तृतीयैवाऽनेन भवतीति, पञ्चमी तु सिद्धैव परत्वाद् विशेषविहित-  
त्वाच्च तृतीया न बाधेत तामित्यनूद्यते इत्यर्थः । यदा त्विति । विशेषस्याऽनुपादानादुपमादयोरपि पृथग्नानाशब्दयोर्महणादसहायार्थपक्षे  
पञ्चमी न सिध्यतीति तद्विधानार्थमपीदमुपपद्यत एवेति ॥ ११३ ॥

२७ ऋते द्वितीया च । गौणात् नाम्न इति चकारात् पञ्चमीति च वर्तते । ऋते गौणात् नाम्नो द्वितीया पञ्चमी चेत्यन्वयः । ऋते इत्य-  
तोऽव्ययाद् वर्जनार्थादनुकार्याऽनुकरणयोरभेदविवक्षितत्वात् “अव्ययस्य” इति युक्तत्वाऽपेक्षयोत्पन्नस्य तृतीयैकवचनस्य छवित्याह—ऋते इत्यादि ।  
चकारेणाऽनन्तरोक्ता पञ्चमी समुचीयते इत्याह—द्वितीया पञ्चमी चेति । गवयि पाणिन्यादिभिर्कृतेष्वनन्देन योगे द्वितीया नोक्ता तथापि शिष्टैः  
३० प्रयुज्यत इति शिष्टप्रयोगमेवोदाहरति—चित्रं यथाश्रयमृते इत्यादि । द्वितीया नेच्छन्त्येके इति । एक इति पाणिन्यादयः, तेषामपि मते  
‘ततोऽन्यत्रापि दृश्यते’ इति व्याख्याकारवचनाद् द्वितीया सिध्यति ॥ ११४ ॥

विना ते तृतीया च । गौणात् नाम्न इति वर्तते । विना गौणात् नाम्नस्ते तृतीया चेत्यन्वयः । विनेत्यपि तृतीयान्तमेवा-  
३३ ऽव्ययमित्याह—विनाशब्देनेति । तच्छब्दस्य पूर्ववस्तुपरामर्शित्वात्ते इत्यनेनाऽनन्तरोक्ते द्वितीयापञ्चम्यौ परामृश्येते इत्याह—ते-द्विती-  
यापञ्चम्याविति ॥ ११५ ॥

तुल्यार्थैस्तृतीया षष्ठ्यौ । गौणात् नाम्न इति वर्तते । तुल्यार्थैर्गौणात् नाम्नस्तृतीयाषष्ठ्यावित्यन्वयः । तुल्यार्थैर्युक्तादिति । तुल्य-  
३६ सदृशोऽर्थोऽभिधेयो येषां ते तुल्यार्थास्तैर्युक्तादिति तुल्यशब्दस्योपमेयार्थत्वात्तैर्युक्तादुपमानादित्यर्थः । अर्थग्रहणं पर्यायार्थमिति । तुल्यशब्दा-  
र्थोभिधायिनः शब्दान्तरस्यापि परिग्रहार्थमित्यर्थः । असत्यर्थग्रहणे तुल्यशब्देन रूपतोऽर्थतो वा समाने शब्दैर्योग इति विज्ञायेत, अर्थग्रहणे तु  
प्रत्याख्येतेष्वपर्याया विज्ञायन्त इति इदोपमा नास्ति कृष्णस्येत्यादौ सादृश्यप्रतीतेरुपमादयः शब्दास्तुल्यार्था इति तद्युक्तात् कृष्णादेस्तृतीया  
३९ स्यादिति यः कश्चिदाशङ्कते तः प्रत्याह—उपमा नास्तीत्यादि । तुल्यशब्दस्योपमेयवचनत्वादुपमादयस्तुल्यपर्याया न भवन्तीत्यर्थः । गौणाधि-  
काराच्चेति । गौरिव गवय इत्यादौ प्रधानाद् गोशब्दात् न भवतीत्यर्थः । तुल्यार्थताऽपि नास्तीति चकारेण परिहारान्तरं समुचीयत इति  
शेषः । नन्वनन्तरात् पूर्वसूत्रात् तृतीयाऽनुवर्तते, ततः ‘तुल्यार्थौ’ इति तद्विकल्पे कृते “शेषे” इत्यनेन पक्षे शेषलक्षणा षष्ठी सिद्धैव किमर्थं  
४२ तद्विधानमित्याह—तृतीयामविकल्प्येत्यादि । षष्ठीविधानस्य फलं दर्शयति—तेनेत्यादि ॥ ११६ ॥



## द्वितीयाषष्ठ्यावेनेनाऽनञ्चैः ॥ २ । २ । ११७ ॥

एनप्रत्ययान्तेन युक्ताद् गौणात् नाम्नो द्वितीयाषष्ठ्यौ विभक्ती भवतः, न चेत् सोऽञ्चैः परो विहितो भवति । पूर्वेण ग्रामम्, पूर्वेण ग्रामस्य; अपरेण ग्रामम्, अपरेण ग्रामस्य, दक्षिणेन विजयार्द्धम्, दक्षिणेन विजयार्द्धस्य; उत्तरेण हिम- ३ वन्तम्, उत्तरेण हिमवतः । अनञ्चैरिति किम्? प्राग्ग्रामात्, प्रत्यग्ग्रामात्; उदग्ग्रामात् ॥ ११७ ॥

## हेत्वर्थैस्तृतीयाद्याः ॥ २ । २ । ११८ ॥

हेतुनिमित्तं—कारणमिति पर्यायाः, ऐतदर्थैः शब्दैर्युक्तात् प्रत्यासत्तैरेव समानाधिकरणात् गौणाद् नाम्नस्तृतीया- ४ द्यास्तृतीयाचतुर्थीषश्चमीषष्ठीसप्तम्यो भवन्ति । धनेन हेतुना वसति, धनाय हेतवे वसति, धनाद् हेतोर्वसति, धनस्य हेतोर्वसति, धने हेतौ वसति; एव धनेन निमित्तेन, धनेन कारणेन, धनेनाऽपदेशेन; धनेन प्रयोजनेनेत्यादयोऽपि । तत्सामानाधिकरण्याच्च हेत्वर्थैर्म्योऽपि ता एव भवन्ति । प्रत्यासत्तैरेव समानाधिकरणादिति किम्?, अत्रस्य हेतुः । अन्ये तु हेत्व- ५ र्थशब्दयोगे नेच्छन्ति—हेतुशब्दप्रयोगे तु षष्ठीमेवेच्छन्ति । अस्वार्थाद्यर्थमिदम् ॥ ११८ ॥

## सर्वादेः सर्वाः ॥ २ । २ । ११९ ॥

हेत्वर्थैर्युक्तात् प्रत्यासत्तैस्तत् समानाधिकरणात् सर्वादेर्गौणात् नाम्नः सर्वा विभक्तयो भवन्ति । को हेतुर्वसति चैत्रः, १२ कं हेतुं वसति, केन हेतुना, कस्मै हेतवे, कस्माद् हेतोः, कस्य हेतोः, कस्मिन् हेतौ, एवं यो हेतुः, यं हेतुम्, येन हेतुना, यस्यै हेतवे, यस्माद् हेतोः, यस्य हेतोः, यस्मिन् हेतौ; स हेतुः, तं हेतुम्, तेन हेतुना, तस्मै हेतवे, तस्माद् हेतोः, तस्य हेतोः, तस्मिन् हेतौ; सर्वो हेतुः, सर्वं हेतुम्, भवान् हेतुः, भवन्त हेतुम्, भवता हेतुना; उभौ हेतू, उभ्याम् हेतुभ्याम् १५ इत्यादि; एवं किं कारण?, किं निमित्तं?; किं प्रयोजनमित्यादि । तत्समानाधिकरणादित्येव?, कस्य हेतुः । प्रथमां नेच्छन्त्येके । द्वितीयामपरे ॥ ११९ ॥

## असत्त्वारार्थात् टाडसिङ्घम् ॥ २ । २ । १२० ॥

सत्त्वं—द्रव्यं ततोऽन्यदसत्त्वम्, आराद्—दूराऽन्तिकयोः, तन्नेपोभयोर्ग्रहणम्, असत्त्ववाचिनो दूरार्थादन्तिकार्थाच्च टा १८ डसि ङि अम् इत्येते प्रत्यया भवन्ति, गौणादिति निवृत्तम् । (दूरार्थः—)दूरेण ग्रामस्य ग्रामाद् वा, दूराद् ग्रामस्य ग्रामाद् वा, दूरे ग्रामस्य ग्रामाद् वा, दूर ग्रामस्य ग्रामाद् वा वसति; एव विप्रकृष्टेन, विप्रकृष्टात्, विप्रकृष्टे, विप्रकृष्टं ग्रामस्य २१ ग्रामाद् वा तिष्ठति; अन्तिकार्थः—अन्तिकेन, अन्तिकात्, अन्तिके, अन्तिक ग्रामस्य ग्रामाद् वा वसति; एवमभ्याशेन, अभ्याशात्, अभ्याशे, अभ्याशं ग्रामस्य ग्रामाद् वा । केचिदारादर्थैः पञ्चम्यन्तैर्युक्तात् पञ्चमीं नेच्छन्ति, तेन—दूराद् ग्रामस्य, अन्तिकाद् ग्रामस्येत्येव भवति, न तत्सर्वसमतम्; पञ्चम्या अपि दर्शनात्—“दूरादावसथात् मूत्रं दूरात् पादावसेचनम् । २४ दूराच्च भाव्यं दस्युभ्यो दूराच्च कुपिताद् गुरोः” ॥ १ ॥ इति । असत्त्वेति किम्?, दूरः पन्थाः, अन्तिकः पन्थाः, दूराय पथे देहि, अन्तिकाय पथे देहि, दूरस्य पथः, अन्तिकस्य पथः स्वम् । कथं चिरं?, चिरेण?, चिराय?, चिरात्?, चिरस्येति?; विभक्तिप्रतिरूपका निपाता एते, यथा—परस्परम्, परस्परेण, परस्परस्येत्यादयः ॥ १२० ॥ २७

द्वितीयाषष्ठ्यावेनेनाऽनञ्चैः । गौणात् नाम्न इति वर्तते । एनेन गौणात् नाम्नो द्वितीयाषष्ठ्यौ, अनञ्चैरित्यन्वयः । पूर्वेण ग्राममिति । ग्रामादद्वा पूर्वा इति “अदूरे एन” ७२।१२२। इति एन प्रत्ययः । प्राग्ग्रामादिति । लुचबे ” ७२।१२३। इति एनप्रत्ययस्य लप्, अनञ्चै- २० रिति प्रतिषेधात् द्वितीयाषष्ठ्योरभावात् “प्रमृलन्यार्थं” इति ग्रामात् पञ्चमी ॥ ११७ ॥

हेत्वर्थैस्तृतीयाद्याः । गौणात् नाम्न इति वर्तते । हेत्वर्थैर्गौणात् नाम्नस्तृतीयाद्या इत्यन्वयः । प्रत्यासत्तैरेव समानाधिकरणा- ३६ दिति । हेत्वर्थैस्तु व्यधिकरणाद् हेतुसम्बन्धे षष्ठ्येवास्ति न तृतीयाद्या इति सामर्थ्याद् हेत्वर्थैः समानाधिकरणाद् हेतोरेव तृतीयाद्या भवन्तीति । अत्र च हेतोस्तृतीयाद्या “ऋणहेतोः”, “गुणादस्त्रिया नया” इति पञ्चम्यां प्राप्तायामय विधिरारभ्यत इति । ननु ततोऽप्युत्तरसूत्रेण सर्वा ३६ विभक्तय इति सर्वविभक्त्यन्तर्गतत्वात् तृतीयाद्या अपि सिद्धा किमर्थमिदमित्याह—अस्वार्थाद्यर्थमिदमिति । उत्तरसूत्रेण हि हेत्वर्थैर्युक्तात् सर्वादेरेव सर्वा विभक्तय उच्यन्ते, अनेन त्वसर्वादेरेवेत्यर्थः ॥ ११८ ॥

सर्वादेः सर्वाः । हेत्वर्थैरिति वर्तते गौणात् नाम्न इति च । हेत्वर्थैः सर्वादेर्गौणात् नाम्नः सर्वा इत्यन्वयः । शेष पूर्वेण गताथमिति । ३६ एके इति, अपरे इति च वार्तिक्याख्यातात् ॥ ११९ ॥

असत्त्वारार्थात् टाडसिङ्घम् । स्पष्टोऽन्वयः । गौणादिति निवृत्तमिति । अयमर्थः—असत्त्ववचनाद् दूरान्तिकार्थात् टाडीना ३७ विधानात् तस्य च यथास्य प्रधानतया गौणत्वाऽभावात् प्रधानादेव तत्तथा इति । दूरेण ग्रामस्य ग्रामाद्वेति । इदमिति सर्वनामप्रत्ययमर्थयोः ३७ म्यार्थाऽभिधायकत्वेऽप्येतेषां धर्ममात्रेण प्रयोगादसत्त्ववचनार्थाऽभिधायकत्वं न विरुध्यते, चतसृणां विभक्तीनां तृतीयापञ्चमीसप्तमीद्वितीयानां विधानात् तद्वतिरिका प्रथमाचतुर्थीषष्ठ्य स्त्रे स्त्रे विषये एताभिरवाधनात् प्रवर्तन्त इति । ग्रामस्य ग्रामाद्वेति “आरादर्थे” इति विकल्पेन पञ्चमी, तद्धि- ४२ सुफुफ्फे च “क्षेपे” इति षष्ठी । केचिदारादर्थैरेत्यादिना मतान्तरमुपन्यस्य दूरादावसथात् मूत्रमित्यादिना शिष्टप्रयुक्तोदाहरणप्रदर्शनेन ४२ दृश्यते । दूरः पन्था इति । अत्र सत्त्ववाचित्वाद् दूरान्तिकार्थादपि टादयो न भवन्ति, किन्तु यथासाञ्च प्रथमादय इति । कथमिति । चिर-



## जात्याख्यायां नवैकोऽसंख्यो बहुवत् ॥ २ । २ । १२१ ॥

जातेरेकत्वादेकवचन एव प्राप्ते, पक्षे—बहुवचनार्थं बहुवद् भाव उच्यते, जातेराख्याऽभिधानं जात्याख्या; तस्यामेकोऽर्थो जातिलक्षणोऽसंख्यः सख्यावाचिविशेषणरहितो बहुवद् वा भवति । सपन्नो यवः, सपन्ना यवाः, संपन्नो व्रीहिः, संपन्ना व्रीहयः; जात्यर्थस्य बहुवद्भावात् तद्विशेषणानामपि बहुवद्भावः, तथा चोभयवाचिभ्यो बहुवचनम् । जातिग्रहणं किम् ? चैत्रः, मैत्रः । आख्याग्रहणं किम् ? काश्यपः—भवत्ययं जातिशब्दो न त्वनेन जातिराख्यायते, किं तर्हि ? प्रतिकृतिः । एक इति किम् ? सपन्नौ व्रीहियवौ । मगधेषु स्तनौ पीनौ, कलिङ्गेष्वक्षिणी शुभे इत्यादावपि सव्ये-तरत्वलक्षणाऽवान्तरजातिद्वयोपाधियोगादेकत्वं नास्तीति बहुवद्भावो न भवति, जातिमात्रविवक्षायां तु भवत्येव—मगधेषु स्तनाः पीनाः, स्तनः पीनः, कलिङ्गेष्वक्षिणी शुमानि, अक्षि शुभमिति । असख्य इति किम् ? एको व्रीहिः संपन्नः सुभिक्षं करोति—अत्र विशेषणभूतसख्याप्रयोगोऽस्तीति एके व्रीहयः सपन्नाः सुभिक्षं कुर्वन्ति इति न भवति ॥ १२१ ॥

## अविशेषणे द्वौ चाऽस्मदः ॥ २ । २ । १२२ ॥

अस्मदो द्वावेकश्चाऽर्थो वा बहुवद्भवति, अविशेषणे—न चेत्तस्य विशेषणं प्रयुज्यते । आवां ब्रूवः, वयं ब्रूमः, अहं ब्रवीमि, वयं ब्रूमः । अविशेषण इति किम् ? आवां गार्ग्यौ ब्रूवः, अहं पण्डितो ब्रवीमि, अहं चैत्रो ब्रवीमि । कथं नाट्ये च दक्षा वयम् ? त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुप्रज्ञाऽभिमानोन्नताः ? सा बाला वयमप्रगल्भमनसः ? इत्यादि, दक्षत्वादीनां

शब्दाद् द्वितीयादीनां विभक्त्या दर्शनात् तदर्थं यजान्तरमारभ्यमित्याशङ्क्यार्थः । परिहरति—विभक्तिप्रतिरूपका इति । लोकेमेव यथा पर-  
१५ स्परमित्यादि दृष्टान्तप्रदर्शनेन द्रष्टव्यम् ॥ १२० ॥

जात्याख्यायां नवैकोऽसंख्यो बहुवत् । जात्याख्यायामेकोऽसंख्यो बहुवत् नवैकसंख्यः । जायेतेऽनया भिन्नेष्वभिन्नाऽभिधानप्रत्ययविति—जाति । आख्यानं चाऽऽख्या, तथा पद्योपमाते जातेराख्या इति । तदनन्तरं वैपयिकेऽधिकरणे सप्तमी निमित्तसप्तमी वा—जात्या-  
१८ ख्यायामिति । जातिर्नामाऽयमेकोऽर्थः, तदभिधाने एकवचनमेव प्राप्तमत इदमारभ्यते, तदेतत्सर्वमाह—जातेरेकत्वादित्यादि । एकोऽर्थः इति । एकसंख्याक इत्यर्थः, लौकिक्या भेदपरिगणनरूपाया सख्याया जातिलक्षणोऽर्थोऽसावेको न तु वैशेषिकसिद्धान्तप्रसिद्धाया गुणपदार्थसंज्ञा-  
२१ ताया, सा हि द्रव्य एव समवेता न पदार्थान्तरे इत्येतावता जात्यर्थस्य बहुवदित्यतिदेशो बहुवद्भावेन बहुत्वाऽऽश्रयकार्यप्रतिपत्त्यर्थो न जाति-  
२३ शब्दस्य बहुवचनविधानार्थः इति । तया सति सपन्ना यवा इति यवशब्दादेव जातिशब्दाद् बहुवचनं स्यात् न संपन्नशब्दात्तद्विशेषणभूतादिति । जात्यर्थस्य तु बहुवद्भावे सपन्नादिविशेषणान्यपि सामानाधिकरण्याद् यवादिशब्दोपाते जात्यर्थं वर्तन्त इति तेभ्योऽपि बहुत्वाऽऽश्रय बहुवचनमुप-  
२५ पन्नमित्याह—जात्यर्थस्येत्यादि । चैत्रः, मैत्र इति । नेह जातिरभिधेया यद्वच्छाशब्दत्वादनेयोरिति । जातिर्हि सामान्यमुच्यते, यच्छब्दलक्षा-  
२७ वलेयवत्त्वधावलेयाद्यनेकव्यक्तिभेदेषु गौर्गौरित्यायनुरूपप्रत्ययकारणमिति । यदि च बालकुमारादिभेदेऽनुवर्तमानमभिन्न रूप जातिरुच्येत तदा न जाति कश्चिच्छब्दार्थोऽस्ति इति जातिग्रहणमनर्थकं स्यात्, तस्मात् सादृश्यसामान्यमिह जातिर्न स्वरूपसामान्यमिति । काश्यप इति । काश्यप-  
२९ स्याऽपत्यमिति विग्रहे “विदादिर्द्वे” ६।१।४९। इत्यभि—काश्यप, अयम् काश्यपप्रतिकृतौ तत्सुत्येऽर्थं वर्तते इति । काश्यपप्रतिकृतिरित्यनेन  
३० दृश्यते । भवत्ययं जातिशब्द इति । गोत्राभिधायकत्वादिति शेषः, न त्वनेन प्राधान्येन जातिराख्यायत इत्यभिप्रायः । जातिविशिष्टा हि प्रतिकृतिरत्र प्रतिपत्त्या, आख्याग्रहणाच्च प्राधान्येन जातावभिधेयार्थो बहुवद्भाव इति विज्ञायते । व्रीहियवाविति । द्वयोरत्र जात्योराख्या हि  
३२ न त्वेकस्या इति एकग्रहणाद् बहुवद्भावो न भवति । मगधेष्विति । स्तनौ पीनाः स्तना इत्यादि न भवितव्यमित्याह—जातिमात्रविवक्षायामित्यादि । अयमर्थः—  
३४ भवति । एवमक्षिणी शुभे इत्यत्रापि । एव तर्हि पीनाः स्तना इत्यादि न भवितव्यमित्याह—जातिमात्रविवक्षायामित्यादि । अयमर्थः—  
३६ केचित् पदार्था प्रत्येक रमणीया न च तेषां संनिपातो रमणीयो, यथाऽञ्जनसंनिपातः, तत्र कलिङ्गेष्वक्षिणी शुभे इत्यत्र नैतद्विवक्षितं शुभमक्षि-  
३८ कलिङ्गेष्विति, किं तर्हि ? तुल्यलक्षणत्वाद्दक्षो संनिपातः शुभ इति । इयं च विवक्षा न द्वित्वोपादानमन्तरेण सिध्यतीत्युपात्तयो सव्येतरयो-  
४० र्दक्षोर्न बहुवद्भाव इति । यदा त्वक्षणे शोभनत्वं विवक्षितं न संनिपातशोभा तदा सव्येतरभेदोपादानेन नार्थ इति भवितव्यमेव पक्षे बहुवद्भावेन ।  
४२ अथेह कस्मान्न भवति ? एको व्रीहिः संपन्नः सुभिक्षं करोति, अस्ति ह्यत्र एको जातिलक्षणोऽर्थ इत्याह—असंख्य इत्यादि । नन्वेक इति सख्याशब्दः प्रयुज्यमानः स्वतः सदेकत्वमुद्गावयति, तेन नैकत्वेन विरुद्धं बहुत्वमिति बहुवदतिदेशो न भविष्यति किमसंख्य इति विशेष-  
४४ णेन ? सत्यम्, अस्मैवार्थस्याऽनुवादार्थमेतदित्यदोषः ॥ १२१ ॥

अविशेषणे द्वौ चाऽस्मदः । चकारात् एक इति बहुवदिति नवेति च वर्तते । अस्मदो द्वावेकश्च वा बहुवत्, अविशेषणे इत्यन्यत्र । अस्मद् इत्यत्र अनुकरणत्वादसच्छब्दकार्याप्रवृत्तिः । द्वावेकश्चाऽर्थः इति । नन्वेकसंख्याकप्रत्यात्मवचनत्वादस्मद् कथं द्वावर्थौ स्यातामिति ?  
४६ नैष दोषः, आत्मत्वं यदा परत्रोपचर्यते ‘अयं मे द्वितीय आत्मा’ अहमेव नाऽयमिति, त्वं चाऽहं न आवामित्येकशेषो वा तदा परस्याऽप्यस्मदर्थोप-  
४८ पत्तेरुपपन्नमस्मदर्थस्य द्वित्वमिति । अविशेषण इति । यद्यत्र पुरुषास्य द्विशेषणान्यस्मिन्निति तदा विशेषणे न विभिन्नोऽपि प्रतिषेधो विशेष-  
५० णान्यस्मिन् प्रयुज्यमाने निधिरिति सत्यप्यस्मदर्थस्य विशेषणे ततोऽन्यस्मिन् प्रयुज्यमाने स्यात्, अहं मैत्रो ब्रवीमीति, भवन्तस्य विशेष्यस्य  
५२ भावात् । अतोऽविशेषण इति विशेषणस्याऽऽभाव इत्ययमर्थो विज्ञायत इत्याह—न चेत्तस्येत्यादि । आवां गार्ग्यविति । अत्र गोत्र धर्मान्तरे  
संज्ञा चाऽस्मदर्थस्य भेदकत्वेनोपादीयत इत्यविशेषण इत्यतो न भवति । कथमिति । नाट्ये च दक्षा वयम्, त्वं राजा वयमित्यादी कथं  
सविशेषणस्य बहुवद्भावो दृश्यत इति प्रश्नार्थः । समाधत्ते—दक्षत्वादीनामित्यादिना आदिशब्दात् उपासितगुरुप्रज्ञाभिमानोन्नतत्वात्प्रगल्भमन-

विधेयत्वेनाऽविशेषणत्वात् भविष्यति, यदनूद्यमानमवच्छेदकं तद्विशेषणम् इति । एकाऽनेकस्वभावस्याऽऽत्मनोऽनेकस्वभाव-  
विवक्षायां बहुवचनं सिद्धमेव सविशेषणप्रतिषेधार्थं तु वचनम् ॥ १२२ ॥

### फल्गुनीप्रोष्ठपदस्य भे ॥ २ । २ । १२३ ॥

३

फल्गुनीशब्दस्य प्रोष्ठपदाशब्दस्य च भे-नक्षत्रे वर्तमानस्य द्वावर्थौ बहुवद् वा भवतः । कदा पूर्वं फल्गुन्यौ, कदा  
पूर्वाः फल्गुन्यः, कदा पूर्वं प्रोष्ठपदे, कदा पूर्वाः प्रोष्ठपदाः, उदिते पूर्वं फल्गुन्यौ, उदिताः पूर्वाः फल्गुन्यः, उदिते पूर्वं  
प्रोष्ठपदे, उदिताः पूर्वाः प्रोष्ठपदाः । म इति किम्?, फल्गुनीषु जाते फल्गुन्यौ माणविके । द्वावित्येव?, तेनैकस्मिन्  
ज्योतिषि न भवति-दृश्यते फल्गुनी । एकवचनान्तः प्रयोग एव नास्तीत्यन्ये । फल्गुनीप्रोष्ठपदस्येति शब्दपरो निर्देशः  
किम्?, तत्पर्यायस्य मा भूत्-अथ पूर्वं भद्रपदे ॥ १२३ ॥

### गुरावेकश्च ॥ २ । २ । १२४ ॥

९

गुरौ-गौरवार्हेऽर्थे वर्तमानस्य शब्दस्य द्वावेकश्चाऽर्थो बहुवद् वा भवति । त्वं गुरुः, यूयं गुरुवः, युवां गुरु, यूयं  
गुरुवः, स कारुणिक उपाध्यायः, ते कारुणिका उपाध्यायाः; तौ कारुणिकावुपाध्यायौ, ते कारुणिका उपाध्यायाः; एष मे  
पिता, एते मे पितरः; अयं तपस्वी, इमे तपस्विनः, गुरुशिष्यौ, गुरुशिष्याः, इह भवानाह, इह भवन्तस्त्वाहुः । आपः, १२  
दाराः, गृहाः, वर्षाः, पञ्चालाः जनपदः, गोदौ ग्रामः, खलतिकं वनानि, हरीतक्यः फलानि, पञ्चालमथुरे; चञ्चाऽभिरूपो

स्त्वाद्विग्रहणम् । यदनूद्यमानमवच्छेदकं तद्विशेषणमिति । दक्षत्वादिकं च विधीयमानं नाऽनूद्यमानमिति नैवविधौ विषय प्रतिषेधस्य ।  
एकाऽनेकस्वभावस्येति । अयमर्थः—एकोऽप्यात्मा यथैकत्वेनाऽनुभूयते तथा द्रष्टा श्रोता मन्त्रेत्यादि नानात्वेनापि, न ह्येकान्तेनैकत्वेनाऽनेकत्वेन १५  
वैतरिनिर्मुक्तं प्रतिपत्तिरस्ति, तत्र यथैकत्वेन द्वित्वेन च तस्मिन् विवक्षिते एकवचनं द्विवचनञ्च तथा बहुत्वस्याऽप्युपपत्तेर्बहुत्वविवक्षायां  
बहुवचनं सिद्धम् । एवं तर्हि किमर्थमिदमित्याह—सविशेषणेत्यादि । यथा युष्मदर्थे गुरौ चैकस्मिन्नपि बहुवचनं प्रयुज्यते—यूयं ब्रूथ, भवन्तो  
ब्रुवन्तीति तथाऽस्मदर्थस्याऽपि बहुवचने सिद्धे सविशेषणे तस्मिन् विवक्षिते द्वयोरैकत्र च बहुवद्भावप्रतिषेधार्थमिदं वचनमिति ॥ १२२ ॥ १८

फल्गुनीप्रोष्ठपदस्य भे । अत्र बहुवदिति नवेति द्वाविति च वर्तते । भे फल्गुनीप्रोष्ठपदस्य द्वौ बहुवच्चवेत्यन्वयः । फल्गुनी च  
प्रोष्ठपदा चेति फल्गुनीप्रोष्ठपदमिति शब्दपरो निर्देशः, अतोऽयं सयन्धे षष्ठी—फल्गुनीप्रोष्ठपदस्येति । फल्गुनीशब्दस्य प्रोष्ठपदाशब्दस्य च  
नक्षत्रे वर्तमानस्य यदभिवेद्यस्तस्य च द्वावित्यनुवर्तमान विशेषण, एतावता फल्गुनीप्रोष्ठपदाशब्दो नक्षत्रशब्दावित्यर्थः । नक्षत्रशब्दश्चेहाऽर्धगतं २१  
स्वभाव प्रवृत्तिनिमित्तीकृत्य यदि न वर्तते तर्हि यावान् कक्षिणक्षत्रलभ्योऽर्थः स सर्वो न लभ्येत । नक्षत्रशब्दश्चेह चन्द्रोपेताया  
ज्योतिरवस्थायाः प्रयुज्यते । तथा च चन्द्रोपेत ज्योतिर्विशेषमुपलभ्य ज्योतिर्विदो वदन्ति-अथ नक्षत्रं पूर्वा फल्गुन्य इत्यादि । विनाऽपि  
चन्द्रेण तदुपलक्षिते ज्योतिषि किमिदं नक्षत्र-फल्गुन्य प्रोष्ठपदा चेति, विनाऽपि चन्द्रेण ज्योतिर्दर्शनादयं नक्षत्रव्यवहारः । काले च २४  
“चन्द्रयुक्ताद् काले” इति प्रत्ययस्य “लुप्तप्रयुक्ते” इति लुपि-पूर्वांशु फल्गुनीषु गत, पूर्वांशु प्रोष्ठपदाश्च गत इति, नाऽत्र सर्ववैक-  
मनुवृत्तमतस्यादृष्टं वस्तुरूपमुपलभ्यते । शब्दस्तु तस्याऽर्थस्य साधारणस्वरूपभेदादतत्त्वेनाऽसावर्थो लक्षणीयः । एवमर्थ एव च ‘फल्गुनी-  
प्रोष्ठपदस्य’ इति अर्थाद्व्यावृत्त षष्ठा शब्दपरो निर्देशोऽन्यथा ‘फल्गुनीप्रोष्ठपद भ’ इत्यभेदेन निर्दिश्यतेत्याह—फल्गुनीशब्दस्येत्यादि । २७  
कदा पूर्वं फल्गुन्याविति । चन्द्रोपेते ज्योतिषी तद्युक्तौ वा कालोऽत्रार्थः, तस्य भावना प्रवृत्तिविशेषत्वात् तत्त्वाप्यवसायात् फल्गुन्या-  
दिरूपत्वाद् द्विरुपता । उदिते पूर्वं फल्गुन्यौ इत्यादाविति । ज्योतिरत्रार्थः । फल्गुनीषु जात इति । जातेऽर्थे “फल्गुन्याह” ६।३।१०६।  
इति ट्यप्रत्यये, “अवर्णेषणस्य” इतीकारलोपे, टित्त्वात् ङ्या—फल्गुन्यौ माणविके इति । म इति वचनादत्र न भवति, माणविके ६०  
इत्यनेन नक्षत्रार्थाऽवृत्तिता दर्शिता । एकस्मिन् ज्योतिषि न भवतीति । ननु फल्गुनीप्रोष्ठपदाशब्दो नक्षत्रवाचित्वात् द्वित्वाऽव्यभिचारिणौ  
यतश्चन्द्रमसायोगे नक्षत्रता, तेन च द्वयोरैव नैकैकस्य, तद्धि तारमेव तारक नक्षत्रमुच्यते इति किमर्थं तस्य द्वाविति विशेषणमनुवर्त्यते इति?, नैव  
दोषः, भद्रहणेनाऽत्र ज्योतिष्टस्योपलक्षितत्वात् तस्य च द्वयोरैकैकस्य चाऽविशिष्टत्वादत्रापि स्यात्—दृश्यते फल्गुनीति । अन्ये इति । शाक- ३३  
टायना । अथ पूर्वं भद्रपदे इति । अथपरे हि निर्देशोऽत्रापि तदर्थस्य विद्यमानत्वात् बहुवद्भावः स्यादिति । अथ किमर्थमिदम्?, न हि बहुव-  
चनात् द्वित्वप्रतीतिरस्ति, बहुत्वस्य ततः प्रतीतिः । बहुत्व च तत्र यथाकथञ्चित् संपाद्य, चन्द्रोपेते हि ज्योतिषी इति बहुत्व सिद्धम् । फल्गुनीप्रो-  
ष्ठपदाशब्दयोश्च चन्द्रमसि वृत्तिरूपचारात्, मुख्योपचरितयोश्चाऽर्थयोर्युगपदुपादानात् कालेऽपि तदुपाचारोपात्तं चन्द्रस्याऽऽवृत्तिरहितत्वेऽप्युदिताः २६  
पूर्वाः फल्गुन्य इति पूर्वदृष्टसमुदायरूपेणैवाऽभिधानात् । द्विवचनं च चन्द्रविषक्षायां तयोरैव ज्योतिषोर्भवति । न चैव तिष्यपुत्र्यादाविति-  
प्रसङ्गः, तत्र बहुत्वप्रत्ययस्याभावात् नियतविषयित्वादुपचारकल्पनायाः अभावात् अर्थात् प्रतीयमानायाश्च गरीयस्त्वादित्युच्यते ॥ १२३ ॥

गुरावेकश्च । अत्र बहुवदिति नवेति द्वाविति च वर्तते । गुरौ द्वावेकश्च बहुवच्चवेत्यन्वयः । गुराविति धर्मिप्रधानो निर्देश इत्याह— ३९  
गुरौ-गौरवार्ह इति । त्वं गुरुः, यूयं गुरुवः इति । अत्रैकस्याऽर्थस्य पाक्षिके बहुवच्चे प्रयोगद्वयम् । एव द्वयोरर्थयोरपि पाक्षिके बहुवच्चे—  
युवां गुरु, यूयं गुरुवः इति । एवं सकारुणिक उपाध्याय इत्यादावपि बोध्यम् । इह भवान्-अयं सञ्चार “भवतायुष्मदी”  
७।२।११। इत्यधिकारात्, “त्रप् च” ७।२।१२। इति त्रप्, “कञ्जत्रा” ७।२।१३। इति पश्चात्तिपात्यते । इह भवन्त-इमे भवन्त । पञ्च-४२  
लानां देशोऽप्युपचारात्—पञ्चाला इति । गोदौ-हृदौ, तत्समीपप्रामोऽपि—गोदौ । खलतिकं वनानीति । खलतीति “कुशिक” इत्या-  
दिना निपात्यते इत्यत्राय, यद्वा खलान् तिक्तेति “मूलविशुद्धादय” क, खलतिकाऽऽख्यपर्वतसमीपवर्तिवनानामपि खलतिक इत्याख्या । हरति  
रोगानिति “दृहहि” इति ईतके—हरीतकी । पञ्चालाथ मथुरा च—पञ्चालमथुरे । चीयते-उपचीयते तृणैरिति—चञ्चा, “चिमेर्नोच-४५

मनुष्य इति । सर्वलिङ्गसंख्ये वस्तुनि स्याद्वादमनुपपत्तिं मुख्योपचरितार्थाऽनुपातिनि च शब्दाऽऽत्मनि रूढितस्तत्तल्लिङ्ग-  
संख्योपादानव्यवस्थाऽनुसर्तव्या ॥ १२४ ॥

३ इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां श्रीसिद्धहेमचन्द्राभिधानस्योपशब्दशब्दानुशासनवृहहृत्तौ  
(तत्त्वप्रकाशिकायां) द्वितीयस्याऽध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ॥ २ । २ ॥

मूलार्कः श्रूयते शास्त्रे, सर्वकल्याणकारणम् ।

६ अधुना मूलराजस्तु; चित्रं लोकेषु गीयते ॥ २।२।२ ॥

द्वौ” । अभिमत रूप यस्य अभिमत रूप्यते वा—अभिरूपो मनुष्यश्चैव, अकिञ्चित्करत्वात् । नन्वाप इत्येकस्यामपि जलकणिकायां  
बहुवचनान्तोऽप्यशब्द प्रयुज्यते, दारशब्दश्चैकस्यामपि योपिति पुल्लिङ्गे बहुवचनान्त, एव गृहशब्दोऽप्येकस्मिन्नपि गृहे, एव वर्षा इत्येकस्मिन्नपि  
५ ऋतौ । एव पञ्चाला इति बहुवचनान्तेनैकोऽर्थ उच्यते—जनपदं, तत्र बहुत्वाभावाद् बहुवचनायोग । यथसौ बहुत्वसंख्यायोगि स्यात् तदैकवचना-  
नुपपत्तिर्जनपद इति, एकत्वाभावात् । न ऐकोऽर्थ एको भवति अनेकश्च, विरोधात् । कथञ्चित्ताभावे त्वभ्यमप्यभ्यसंख्यायोगि स्यात्, न  
चैतदिष्यत इति । एव गोदौ ग्राम इति द्वित्वैकत्वनियमाऽयोग । एव खलतिक वनानीत्येकवचनान्तेन बहुभिधानमनुपपन्नम् । तथा हरीतक्य  
१२ फलानीति ज्वनपुष्पफलोर्लिङ्गयोरयोग । तथा पञ्चालमथुरे इत्यनुत्तरपदस्य देशवृत्तेर्बहुविषयस्य बहुवद्भावप्रतिषेधाऽनुपपत्ति । एव चक्षामिन्नप  
इत्यादावपि चक्षादिलिङ्गता स्यादित्यत्र यत्न कर्तव्य, येन सर्वं समञ्जस स्यादित्याशङ्क्यामाह—सर्वलिङ्गसंख्ये वस्तुनीत्यादि । सर्वाणि-  
त्रीप्यपि लिङ्गानि, सर्वाश्च एकत्वद्वित्वबहुत्वलक्षणा संख्या एकस्मिन्नेव वस्तुनि सन्ति, तथाहि—वस्तुवर्धो मात्रेति शब्द सर्वत्र वस्तुतत्त्वे घट-  
१५ वस्तु घटार्थो घटमात्रेति प्रवर्तन्त इति लिङ्गानि दृश्यन्ते । गुणगुणिद्रव्यपर्यायाऽवयवाऽवयविरूपे वस्तुनि घट इत्यभेदविवक्षायामेकत्वसंख्या । गुण-  
गुणिनौ द्रव्यपर्यायौ अवयवाऽवयविनौ घटौ नैकैकमात्र इति द्वित्वसंख्या । गुणपर्यायाऽवयवानां बहुत्वात् तद्भेदविवक्षायां गुणाश्च गुणी च गुणगुणिनौ  
घटा इति बहुत्वसंख्या । न चैतदेकस्मिन् वस्तुनि स्याद्वादानुपातिनि विरुद्धं स्यात्, यत् कथञ्चित् वाद—स्याद्वाद, तथाहि—स एवाऽयं मैत्र  
१८ इत्याजन्ममरणमविच्छेद प्रतीयते तत्र भेदमात्रं वस्तु । बालोऽयं न युवा, युवाऽयं न बाल, सुप्तोऽयं न उत्थित, उत्थितोऽयं न सुप्त इति  
विच्छेदश्च प्रतीयते तथाऽभेदमात्रम् । न च तयोर्भेद एव, मैत्रो बालो मैत्रो युवेत्येकत्वेन प्रतिभासनात्, गौरश्चैतिवद्भेदप्रतिभासाऽभावात् ।  
एकान्तेन भेदेऽन्यतरविलोप, तथा च भेदाभेदप्रतिभासायोग । न चाऽन्यतरस्य मिथ्यात्व, इतराविशेषात् । तस्मादन्तरालाऽवस्थ वस्तु तदेतत्  
२१ स्याद्वादानुपातिनि नाऽत्राऽनेकरूपता विरुध्यते । तदेव कमाक्रमभाव्यनेकभेदात्मके वस्तुनि सर्वमुपपद्यते । तत्रापि इति नैकस्यां व्यक्तौ प्रवर्तते, अपि  
तु बहुव्यक्तिविषय एव । एव दारादयोऽपि पुल्लिङ्गा । यथा द्वौ त्रय इति भेदविषया एव नैकैकविषया इत्येव एकद्रव्यविषया अपि गुणपर्यायाऽव-  
यवभेदोपादानाद् वस्तुसामर्थ्याद् बहुत्वोपपत्ति । एव पञ्चाला इति वस्तुशक्तिसाभ्यादवयववद्भावेन प्रवर्तते जनपद इति समुदायद्वारेण । एव गोदौ  
२४ ग्राम इत्यादावप्येकानेकसंख्योपपत्ति । हरीतक्य फलानीति लिङ्गभेदश्च सर्वलिङ्गत्वाद् वस्तुन । पञ्चालमथुरे इति पञ्चालादीनां बहुत्वविषयाणां  
समासे उत्तरपदादन्त्यत्र समुदायाऽभिधानं न त्ववयवाभिधानमिति बहुत्वाभाव । नियतविषयाश्च शब्दशक्तयो भवन्ति, यथा—राज्ञ पुत्र इति  
वाक्ये राजशब्दो विशेषणदियोगिनमर्थमाचष्टे, वृत्तौ तु तद्विलक्षण राजपुरुष इति । चक्षामिन्नो मनुष्य इति सादृश्यत्वे मनुष्यवृत्तेश्च तद्रूप, यत्र  
२७ विशेषणयोगि । पञ्चालादिशब्दानां च क्षत्रियाद्यर्थवृत्तीनामपि सोऽयमित्यभिसंघर्षोऽनुपचारात् जनपदाद्यर्थेऽपि वृत्तिरित्युक्तं—मुख्योपचरितार्-  
थानुपातिनि इत्यादि । अत्र च रूढिः प्रमाणम्, यतो वृद्धव्यवहाराच्छब्दार्थव्युत्पत्तेरित्युच्यते—रूढित इति । रूढि शिष्टव्यवहारे प्रसिद्धि ।  
तत्तल्लिङ्गसंख्योपादानव्यवस्थेति । लिङ्गानि च संख्याश्च लिङ्गसंख्या, ताश्च ताश्च लिङ्गसंख्याश्च तत्तल्लिङ्गसंख्या, तासांनुपादानं तस्य  
१० व्यवस्था साऽनुसर्तव्येति भाव ॥ १२४ ॥

मूलार्क इत्यादि । मूलार्कः—मूलनक्षत्रे स्थितो रवि, शास्त्रे—ज्योति शास्त्रे, सर्वकल्याणकारणम्—सकलमङ्गलमूलमिति, श्रूयते—  
श्रवणजन्यमा प्रत्यक्षेण विषयीक्रियते, तु—किन्तु, अधुना—चांप्रत मूलराजशासनकाले, लोकेषु—जनेषु, मूलराजः—तन्नामा वृषति, गीयते—  
११ गानाऽऽत्मना सकलमङ्गलमूलत्वात् कथ्यत इति, चित्रं—महदाश्चर्यं शास्त्रलोकोर्भेदादिति पदार्थ । अयं भाव—आद्यपमाऽपिरुद्ध एव भानु सर्व-  
जनसमप्रभवर इति ज्योतिर्वित्त्वमये प्रसिद्धिः, लोके तु मूलराजमहीपतिसाम्राज्ये तस्य राज्ञ सर्वविषयेयोनदानत्वात् नामैकदेशसामान्यात् मूलार्कस्य  
मूलराजयोरभेदोपचारात् सैव शास्त्रश्रुतिविषयीभूता गानाऽऽत्मना परिणतिमुपयाति । एतेन शास्त्रीय सकलमङ्गलमूलत्व मूलार्कस्य तदानीमकिञ्चि-  
१६ त्करत्वात् श्रवणविषयतया विज्ञायते, अत एव श्रूयत इत्युक्ति । मूलराजस्य तु तत्प्रत्यक्षेणोपलभ्यमानं तत्काले सदैव इति गानाऽऽत्मना वृष्यते,  
अत एव गीयत इत्युक्तिरिति परमार्थ । एतेन ‘न हीदं शास्त्रं लोकाद् भिद्यत’ इति पूर्वोऽऽचार्यप्रसिद्धिं बहुमन्वानास्तयोर्भेदप्रतिपादकत्वेनाऽस्य  
पक्षस्यायुक्तत्वमाशङ्कमाना परास्ता इत्यस्मन्तेऽपि तयोर्भेदस्य घटनादिति ॥ २ । २ । २ ॥

१९ इति श्रीमत्पागच्छगगनाहमंणिभीतार्थसर्वमौमाऽगमोद्धारकशैलानावृषतिपरिपूजितपादारविन्दआपमोदयसमिति—वर्द्धमानजैनागममदि-  
राथनेकशासनहितवर्धकसंस्थानिर्माणोपदेशकभट्टारककुलमूर्धन्यश्री १००८ आनन्दसागरसूरीश्वराणां साम्राज्ये तच्चरणनिजीनमात्सेनाऽनयात-  
नवपदपीयूषपानोद्यतभयभावभावोद्भोषसूयोदयश्रीसिद्धचक्र-नवपदाराधकसमाजादिविविधसंस्थासंस्थापकेन श्रीवर्द्धमानतपोनिष्ठातेन श्रीसिद्धचक्रा-  
२२ राधन—तीर्थोद्धारकेण वैयाकरणकेसरिणा पञ्चस्यासप्रवरश्रीचन्द्रसागरगणीन्द्रेण विरचितायां श्रीसिद्धहेमचन्द्रसूत्रवृत्तिन्यासरत्नाकरावतारि-  
कायामानन्दबोधिच्या द्वितीयाऽध्यायस्य कारकप्रकरणं नाम द्वितीय पाद ॥ २।२ ॥ तत्परिसमाप्तौ परिसमाप्तोऽयं प्रथमो विभागः ॥ १ ॥



# ॥ परिशिष्टानि ॥

## १ परिशिष्टम् ।

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राऽऽचार्यविरचितानि—  
श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनसूत्राणि ।

पृष्ठाङ्कः

प्रथमाऽध्याये प्रथमः पादः ।

- १ अर्हं ॥ १ । १ । १ ॥
- ३ सिद्धिः स्याद्वादात् ॥ १ । १ । २ ॥
- ४ लोकात् ॥ १ । १ । ३ ॥
- ५ औदन्ताः स्वराः ॥ १ । १ । ४ ॥
- ५ एकद्वित्रिमात्रा ह्रस्वदीर्घह्रताः ॥ १ । १ । ५ ॥
- ६ अनवर्णा नामी ॥ १ । १ । ६ ॥
- ६ लृदन्ताः समानाः ॥ १ । १ । ७ ॥
- ६ एऐओऔ संध्यक्षरम् ॥ १ । १ । ८ ॥
- ६ अं-अः अनुस्वारविसर्गौ ॥ १ । १ । ९ ॥
- ७ कादिर्व्यञ्जनम् ॥ १ । १ । १० ॥
- ७ अपञ्चमाऽन्तस्थो ध्रुद् ॥ १ । १ । ११ ॥
- ७ पञ्चको वर्गः ॥ १ । १ । १२ ॥
- ७ आद्यद्वितीयशर्षसा अघोषाः ॥ १ । १ । १३ ॥
- ७ अन्यो घोषवान् ॥ १ । १ । १४ ॥
- ७ यरलर्वा अन्तस्थाः ॥ १ । १ । १५ ॥
- ८ अंअः०पशर्षसाः शिद् ॥ १ । १ । १६ ॥
- ८ तुल्यस्थानाऽऽस्यप्रयत्नः स्वः ॥ १ । १ । १७ ॥
- ११ स्यौजसमौशर्षदाभ्यामिसृडेभ्याम्यसृड-  
सिभ्याम्यसृडसोसांद्भ्योस्तुपां त्रयी-  
त्रयी प्रथमादिः ॥ १ । १ । १८ ॥
- ११ स्त्यादिर्विभक्तिः ॥ १ । १ । १९ ॥
- ११ तदन्तं पदम् ॥ १ । १ । २० ॥
- ११ नाम सिद्धयञ्जने ॥ १ । १ । २१ ॥
- १२ नं क्ये ॥ १ । १ । २२ ॥
- १२ न स्तं मत्वर्थे ॥ १ । १ । २३ ॥
- १३ मनुर्नभोज्झिरो वति ॥ १ । १ । २४ ॥
- १३ वृत्त्यन्तोऽस्ये ॥ १ । १ । २५ ॥

पृष्ठाङ्कः

- १४ सविशेषणमाख्यातं वाक्यम् ॥ १ । १ । २६ ॥
- १५ अर्धातुविभक्तिर्वाक्यमर्थवन्नाम ॥ १ । १ । २७ ॥
- १६ शिर्षुद् ॥ १ । १ । २८ ॥
- १६ पुंस्त्रियोः स्यमौजस् ॥ १ । १ । २९ ॥
- १७ स्वरादयोऽव्ययम् ॥ १ । १ । ३० ॥
- १९ चादयोऽसत्त्वे ॥ १ । १ । ३१ ॥
- २० अधणूतस्वाद्या शसः ॥ १ । १ । ३२ ॥
- २१ विभक्तियमन्ततसाद्याभाः ॥ १ । १ । ३३ ॥
- २२ वत्तस्याम् ॥ १ । १ । ३४ ॥
- २२ क्त्वातुमम् ॥ १ । १ । ३५ ॥
- २२ गतिः ॥ १ । १ । ३६ ॥
- २२ अप्रयोगीत् ॥ १ । १ । ३७ ॥
- २३ अनन्तः पञ्चम्याः प्रत्ययः ॥ १ । १ । ३८ ॥
- २३ डत्यतु संख्यावत् ॥ १ । १ । ३९ ॥
- २४ बहुगणं भेदे ॥ १ । १ । ४० ॥
- २४ कसमासेऽध्यर्द्धः ॥ १ । १ । ४१ ॥
- २४ अर्द्धपूर्वपदः पूरणः ॥ १ । १ । ४२ ॥

प्रथमाऽध्याये द्वितीयः पादः ।

- २५ समानानां तेन दीर्घः ॥ १ । २ । १ ॥
- २५ ऋलृति ह्रस्वो वा ॥ १ । २ । २ ॥
- २५ लृत् वृलृ ऋलृभ्यां वा ॥ १ । २ । ३ ॥
- २६ ऋतो वा तौ च ॥ १ । २ । ४ ॥
- २६ ऋस्तयोः ॥ १ । २ । ५ ॥
- २७ अवर्णस्येवर्णादिनैदोदरल् ॥ १ । २ । ६ ॥
- २७ ऋणे प्रदर्शार्णवसनकम्बलवत्सर-  
वत्सतरस्याम् ॥ १ । २ । ७ ॥

१ इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रानुस्यूते सिद्धहेमचन्द्रनाम्नि शब्दानुशासने  
प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ ४३ ॥ ५१ ख० ता० ॥

पृष्ठाङ्कः

- २८ ऋते तृतीयासमासे ॥ १।२।८ ॥  
 २८ ऋत्यारूपसर्गस्य ॥ १।२।९ ॥  
 २८ नाम्नि वा ॥ १।२।१० ॥  
 २९ लृत्याल्वा ॥ १।२।११ ॥  
 २९ ऐदौत् संध्यक्षरैः ॥ १।२।१२ ॥  
 २९ ऊटा ॥ १।२।१३ ॥  
 २९ प्रस्यैषैष्योढोढ्यूहे स्वरण ॥ १।२।१४ ॥  
 ३० खैरखैर्यक्षौहिण्याम् ॥ १।२।१५ ॥  
 ३० अनियोगे लुगेवे ॥ १।२।१६ ॥  
 ३० वौष्ठौतौ समासे ॥ १।२।१७ ॥  
 ३१ ओमाडि ॥ १।२।१८ ॥  
 ३१ उपसर्गस्यानिणेषेदोति ॥ १।२।१९ ॥  
 ३१ वा नाम्नि ॥ १।२।२० ॥  
 ३१ इवणदिरखे स्वरे यवरलम् ॥ १।२।२१ ॥  
 ३२ ह्रस्वोऽपदे वा ॥ १।२।२२ ॥  
 ३२ एदौतोऽयाय् ॥ १।२।२३ ॥  
 ३२ ओदौतोऽवाव् ॥ १।२।२४ ॥  
 ३२ व्यक्वे ॥ १।२।२५ ॥  
 ३३ ऋतो रस्ताद्विते ॥ १।२।२६ ॥  
 ३३ एदौतः पदान्तेऽस्य लृक् ॥ १।२।२७ ॥  
 ३३ गोर्नाड्यवोऽक्षे ॥ १।२।२८ ॥  
 ३३ स्वरे वाऽनक्षे ॥ १।२।२९ ॥  
 ३४ इन्द्रे ॥ १।२।३० ॥  
 ३४ वाऽत्यसन्धिः ॥ १।२।३१ ॥  
 ३४ पुतोऽनितौ ॥ १।२।३२ ॥  
 ३४ इइ वा ॥ १।२।३३ ॥  
 ३५ ईदूदेदू द्विवचनम् ॥ १।२।३४ ॥  
 ३५ अदौ सुमी ॥ १।२।३५ ॥  
 ३६ चादिः स्वरोऽनाड् ॥ १।२।३६ ॥  
 ३६ ओदन्तः ॥ १।२।३७ ॥  
 ३७ सौ नवेतौ ॥ १।२।३८ ॥  
 ३७ ऊं चोव् ॥ १।२।३९ ॥  
 ३७ अवर्गात् स्वरे वोऽसन् ॥ १।२।४० ॥  
 ३८ अइउवर्णस्यान्तेऽनुनासिकोऽनी-  
 दादिः ॥ १।२।४१ ॥

प्रथमाऽध्याये तृतीयः पादः ।

- ३९ तृतीयस्य पञ्चमे ॥ १।३।१ ॥  
 ४० प्रत्यये च ॥ १।३।२ ॥  
 ४० ततो हश्चतुर्यः ॥ १।३।३ ॥  
 ४० प्रथमादधुटि शश्छः ॥ १।३।४ ॥

पृष्ठाङ्कः

- ४१ रः कखपफयोः ऋणौ ॥ १।३।५ ॥  
 ४१ शषसे शषसं वा ॥ १।३।६ ॥  
 ४१ चयते सद्वितीये ॥ १।३।७ ॥  
 ४२ नोऽप्रशानोऽनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्या-  
 ऽधुट्परे ॥ १।३।८ ॥  
 ४२ पुमोऽशिद्यघोषेऽख्याणि रः ॥ १।३।९ ॥  
 ४३ नूनः पेषु वा ॥ १।३।१० ॥  
 ४३ द्विः कानः कानि सः ॥ १।३।११ ॥  
 ४३ स्सटि समः ॥ १।३।१२ ॥  
 ४४ लृक् ॥ १।३।१३ ॥  
 ४४ तौ सुमो व्यञ्जने खौ ॥ १।३।१४ ॥  
 ४५ मनयवलपरे हे ॥ १।३।१५ ॥  
 ४५ सम्राट् ॥ १।३।१६ ॥  
 ४५ ङोः कटावन्तौ शिटि नवा ॥ १।३।१७ ॥  
 ४५ ङः सः त्सोऽश्चः ॥ १।३।१८ ॥  
 ४६ नः शिञ्च ॥ १।३।१९ ॥  
 ४६ अतोऽति रोरुः ॥ १।३।२० ॥  
 ४७ घोषवति ॥ १।३।२१ ॥  
 ४७ अवर्णभोभगोऽधोलुगसन्धिः ॥ १।३।२२ ॥  
 ४७ व्योः ॥ १।३।२३ ॥  
 ४८ खरे वा ॥ १।३।२४ ॥  
 ४८ अस्पष्टाववर्णात् त्वनुभि वा ॥ १।३।२५ ॥  
 ४९ रोर्यः ॥ १।३।२६ ॥  
 ४९ ह्रस्वाद् इणनो द्वे ॥ १।३।२७ ॥  
 ४९ अनाङ्गाडो दीर्घाद् वा छः ॥ १।३।२८ ॥  
 ५० पुताद् वा ॥ १।३।२९ ॥  
 ५० खरेभ्यः ॥ १।३।३० ॥  
 ५० हार्दह्रस्वस्याऽनु नवा ॥ १।३।३१ ॥  
 ५१ अदीर्घाद् विरामैकव्यञ्जने ॥ १।३।३२ ॥  
 ५२ अवर्गस्याऽन्तस्थातः ॥ १।३।३३ ॥  
 ५२ ततोऽस्याः ॥ १।३।३४ ॥  
 ५२ शिटः प्रथमद्वितीयस्य ॥ १।३।३५ ॥  
 ५२ ततः शिटः ॥ १।३।३६ ॥  
 ५३ न रात् खरे ॥ १।३।३७ ॥  
 ५३ पुत्रस्याऽऽदिनपुत्रादिन्याऽऽक्रोशे ॥ १।३।३८ ॥  
 ५३ आं धुइवर्गेऽन्योऽपदान्ते ॥ १।३।३९ ॥  
 ५४ शिङ्हेऽनुस्वारः ॥ १।३।४० ॥  
 ५५ रो रे लृग् दीर्घश्चादिदुतः ॥ १।३।४१ ॥  
 ५५ दस्तद्धे ॥ १।३।४२ ॥  
 ५६ सहिवहेरोच्चावर्णस्य ॥ १।३।४३ ॥  
 ५६ उदः स्थास्तम्भः सः ॥ १।३।४४ ॥

पृष्ठाङ्कः

- ५६ तदः सेः खरे प्रादार्थ्य ॥ १।३।४५ ॥  
 ५७ एतदश्च व्यञ्जनेऽनग्रजसमासे ॥ १।३।४६ ॥  
 ५७ व्यञ्जनात् प्रश्नमान्तस्याग्राः सरूपे वा  
 ॥ १।३।४७ ॥  
 ५८ धुतो धुति स्वे वा ॥ १।३।४८ ॥  
 ५८ तृतीयस्तृतीयचतुर्थे ॥ १।३।४९ ॥  
 ५८ अघोषे प्रथमोऽशितः ॥ १।३।५० ॥  
 ५९ विरामे वा ॥ १।३।५१ ॥  
 ५९ न सन्धिः ॥ १।३।५२ ॥  
 ५९ रः पदान्ते विसर्गस्तयोः ॥ १।३।५३ ॥  
 ५९ ख्यागि ॥ १।३।५४ ॥  
 ६० शिष्यघोषात् ॥ १।३।५५ ॥  
 ६० व्यत्यये लृप् वा ॥ १।३।५६ ॥  
 ६० अरोः सुपि रः ॥ १।३।५७ ॥  
 ६० बाहर्पत्यादयः ॥ १।३।५८ ॥  
 ६० शिष्याद्यस्य द्वितीयो वा ॥ १।३।५९ ॥  
 ६१ तवर्गस्य श्रवणवर्गवर्गाभ्यां योगे चटवर्गो  
 ॥ १।३।६० ॥  
 ६२ सस्य शषौ ॥ १।३।६१ ॥  
 ६२ न शात् ॥ १।३।६२ ॥  
 ६२ पदान्ताद्वर्गादनामूनगरीनवतेः ॥ १।३।६३ ॥  
 ६३ पि तवर्गस्य ॥ १।३।६४ ॥  
 ६३ लि लौ ॥ १।३।६५ ॥

प्रथमाऽध्याये चतुर्थः पादः ।

- ६४ अत आः स्यादौ जस्म्याम्ये ॥ १।४।१॥  
 ६४ भिस ऐस् ॥ १।४।२ ॥  
 ६५ इदमदसोऽक्वेव ॥ १।४।३ ॥  
 ६५ एहहृस्भोसि ॥ १।४।४ ॥  
 ६५ टाडसोरिनस्यौ ॥ १।४।५ ॥  
 ६६ डेडस्योर्यातौ ॥ १।४।६ ॥  
 ६६ सर्वादः सैस्मातौ ॥ १।४।७ ॥  
 ७१ डेः स्मिन् ॥ १।४।८ ॥  
 ७१ जस इः ॥ १।४।९ ॥  
 ७१ नेमाऽर्धप्रथमचरमतयाऽर्धाऽल्पकति-  
 पयस्य वा ॥ १।४।१० ॥  
 ७२ द्रन्द्वे वा ॥ १।४।११ ॥  
 ७२ न सर्वादः ॥ १।४।१२ ॥  
 ७२ तृतीयान्तात् पूर्ववरं योगे ॥ १।४।१३ ॥  
 ७३ तीयं डित्कार्ये वा ॥ १।४।१४ ॥  
 ७३ अवर्णस्यामः साम् ॥ १।४।१५ ॥

पृष्ठाङ्कः

- ७४ नवभ्यः पूर्वभ्य इस्मात्स्मिन् वा ॥ १।४।१६ ॥  
 ७४ आपो डितां यैयास्यास्याम् ॥ १।४।१७ ॥  
 ७४ सर्वादर्डस्पूर्वाः ॥ १।४।१८ ॥  
 ७५ दौस्येत् ॥ १।४।१९ ॥  
 ७६ औता ॥ १।४।२० ॥  
 ७६ इदुतोऽखेरीदूत् ॥ १।४।२१ ॥  
 ७६ जस्येदोत् ॥ १।४।२२ ॥  
 ७७ डित्यदिति ॥ १।४।२३ ॥  
 ७७ टः पुंसि ना ॥ १।४।२४ ॥  
 ७७ डिङौ ॥ १।४।२५ ॥  
 ७८ केवलसखिपतेरौ ॥ १।४।२६ ॥  
 ७८ न ना डिदेत् ॥ १।४।२७ ॥  
 ७८ स्त्रिया डितां वा दैदासूदास्-  
 दाम् ॥ १।४।२८ ॥  
 ७९ स्त्रीदूतः ॥ १।४।२९ ॥  
 ८० वेयुवोऽस्त्रियाः ॥ १।४।३० ॥  
 ८१ आमो नाम् वा ॥ १।४।३१ ॥  
 ८१ हस्त्रापश्च ॥ १।४।३२ ॥  
 ८२ संख्यानां ण्याम् ॥ १।४।३३ ॥  
 ८२ त्रेस्त्रयः ॥ १।४।३४ ॥  
 ८२ एदोऽर्धां डसिङ्सो रः ॥ १।४।३५ ॥  
 ८३ खितिखीतीय उट् ॥ १।४।३६ ॥  
 ८३ क्तो डुर ॥ १।४।३७ ॥  
 ८४ तृत्स्वसूत्रनेष्टृत्स्वक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्त्रो  
 बुत्त्यात् ॥ १।४।३८ ॥  
 ८४ अडौ च ॥ १।४।३९ ॥  
 ८५ मातुर्मातः पुत्रेऽर्धे सिनाऽऽम्ये ॥ १।४।४० ॥  
 ८५ ह्रस्वस्य गुणः ॥ १।४।४१ ॥  
 ८६ एदापः ॥ १।४।४२ ॥  
 ८६ नित्यदिद्विस्त्राऽम्बार्थस्य ह्रस्वः ॥ १।४।४३ ॥  
 ८७ अदेतः स्यमोर्लृक् ॥ १।४।४४ ॥  
 ८७ दीर्घडयाव्यञ्जनात् सेः ॥ १।४।४५ ॥  
 ८८ समानादमोऽतः ॥ १।४।४६ ॥  
 ८८ दीर्घो नाम्यतिसृचतसृषूः ॥ १।४।४७ ॥  
 ८८ नुर्वा ॥ १।४।४८ ॥  
 ८९ शसोऽता सश्च नः पुंसि ॥ १।४।४९ ॥  
 ८९ संख्यासायवेरह्रस्याहन् डौ वा ॥ १।४।५० ॥  
 ८९ निय आम् ॥ १।४।५१ ॥  
 ९० वाऽष्टन आः स्यादौ ॥ १।४।५२ ॥  
 ९० अष्ट और्जसशसोः ॥ १।४।५३ ॥  
 ९० डतिष्णः संख्याया लृप् ॥ १।४।५४ ॥



पृष्ठाङ्कः

- ९१ नपुंसकस्य शिः ॥ १।४।५५ ॥  
 ९१ औरीः ॥ १।४।५६ ॥  
 ९१ अतः स्यमोऽम् ॥ १।४।५७ ॥  
 ९२ पञ्चतोऽन्यादेरनेकतरस्य दः ॥ १।४।५८ ॥  
 ९२ अनतो लुप् ॥ १।४।५९ ॥  
 ९३ जरसो वा ॥ १।४।६० ॥  
 ९३ नामिनो लुप् वा ॥ १।४।६१ ॥  
 ९४ वाऽन्यतः पुमांश्चादौ खरे ॥ १।४।६२ ॥  
 ९४ दध्यस्थिसक्थ्यक्ष्णोऽन्तस्यान् ॥ १।४।६३ ॥  
 ९५ अनास्खरे नोऽन्तः ॥ १।४।६४ ॥  
 ९६ खराच्छौ ॥ १।४।६५ ॥  
 ९६ धुटां प्राक् ॥ १।४।६६ ॥  
 ९७ लो वा ॥ १।४।६७ ॥  
 ९७ छुटि ॥ १।४।६८ ॥  
 ९८ अचः ॥ १।४।६९ ॥  
 ९८ ऋदुदितः ॥ १।४।७० ॥  
 ९८ युज्रोऽसमासे ॥ १।४।७१ ॥  
 ९८ अनड्डहः सौ ॥ १।४।७२ ॥  
 ९९ पुंसोः पुमन्स् ॥ १।४।७३ ॥  
 ९९ औत औः ॥ १।४।७४ ॥  
 ९९ आ अमृशसोऽन्ता ॥ १।४।७५ ॥  
 ९९ पथिन्मथिन्मुक्षः सौ ॥ १।४।७६ ॥  
 १०० एः ॥ १।४।७७ ॥  
 १०० थो न्थ् ॥ १।४।७८ ॥  
 १०० इन् डीखरे लुक् ॥ १।४।७९ ॥  
 १०१ वोशनसो नश्चामच्चे सौ ॥ १।४।८० ॥  
 १०१ उतोऽनड्डचतुरो वः ॥ १।४।८१ ॥  
 १०१ वाः शेषे ॥ १।४।८२ ॥  
 १०१ सख्युरितोऽशावैत् ॥ १।४।८३ ॥  
 १०२ ऋदुशनस्पुरुदंशोऽनेहसश्च सेर्डाः  
 ॥ १।४।८४ ॥  
 १०२ नि दीर्यः ॥ १।४।८५ ॥  
 १०२ न्सहतोः ॥ १।४।८६ ॥  
 १०३ इन्हन्पूर्वार्थमणः शिस्योः ॥ १।४।८७ ॥  
 १०४ अपः ॥ १।४।८८ ॥  
 १०४ नि वा ॥ १।४।८९ ॥  
 १०४ अम्वादेरत्वसः सौ ॥ १।४।९० ॥  
 १०५ कुशस्तुनस्तृच् पुंसि ॥ १।४।९१ ॥  
 १०५ टादौ खरे वा ॥ १।४।९२ ॥  
 १०५ स्त्रियाम् ॥ १।४।९३ ॥

पृष्ठाङ्कः

द्वितीयाऽध्याये प्रथमः पादः ।

- १०७ त्रिचतुरस्तिष्ठचतस्र स्यादौ ॥ २।१।१ ॥  
 १०७ कतो रः खरेऽनि ॥ २।१।२ ॥  
 १०८ जराया जरस् वा ॥ २।१।३ ॥  
 १०९ अपोऽद् भे ॥ २।१।४ ॥  
 १०९ आ रायो व्यञ्जने ॥ २।१।५ ॥  
 १०९ युष्मदस्सदोः ॥ २।१।६ ॥  
 ११० टाड्योसि चः ॥ २।१।७ ॥  
 ११० शेषे लुक् ॥ २।१।८ ॥  
 ११० मोर्वा ॥ २।१।९ ॥  
 १११ मन्तस्य युवावौ द्वयोः ॥ २।१।१० ॥  
 ११२ त्वमौ प्रत्ययोत्तरपदे चैकस्मिन्  
 ॥ २।१।११ ॥  
 ११३ त्वमहं सिना प्राक् चाकः ॥ २।१।१२ ॥  
 ११४ यूयं वयं जसा ॥ २।१।१३ ॥  
 ११४ तुभ्यं मय्यं डया ॥ २।१।१४ ॥  
 ११४ तव मम डसा ॥ २।१।१५ ॥  
 ११४ अमौ मः ॥ २।१।१६ ॥  
 ११४ शसो नः ॥ २।१।१७ ॥  
 ११५ अभ्यम् भ्यसः ॥ २।१।१८ ॥  
 ११५ डसेश्चाद् ॥ २।१।१९ ॥  
 ११५ आम आकम् ॥ २।१।२० ॥  
 ११६ पदाद्युग्विभक्त्यैकवाक्ये वस्तसौ  
 बहुत्वे ॥ २।१।२१ ॥  
 ११७ द्वित्वे वाम्नौ ॥ २।१।२२ ॥  
 ११७ डेडसा तेमे ॥ २।१।२३ ॥  
 ११७ अमा त्वामा ॥ २।१।२४ ॥  
 ११७ असदिवाऽऽमज्यं पूर्वम् ॥ २।१।२५ ॥  
 ११८ जस्विशेष्यं वाऽऽमज्ये ॥ २।१।२६ ॥  
 ११९ नान्यत् ॥ २।१।२७ ॥  
 ११९ पादाद्योः ॥ २।१।२८ ॥  
 ११९ चाहहवैवयोगे ॥ २।१।२९ ॥  
 १२० दृश्यर्थेऽश्चिन्तायाम् ॥ २।१।३० ॥  
 १२० नित्यमन्वादेशे ॥ २।१।३१ ॥  
 १२१ सपूर्वात् प्रथमान्ताद् वा ॥ २।१।३२ ॥  
 १२१ त्यदामेनदेतदो द्वितीयादौस्य-  
 वृत्त्यन्ते ॥ २।१।३३ ॥  
 १२२ इदमः ॥ २।१।३४ ॥  
 १२२ अद्व्यञ्जने ॥ २।१।३५ ॥  
 १२३ अनक् ॥ २।१।३६ ॥  
 १२३ दौस्यनः ॥ २।१।३७ ॥

पृष्ठाङ्कः

- १२३ अयमियं पुंस्त्रियोः सौ ॥ २।१।३८ ॥  
 १२४ दो मः स्यादौ ॥ २।१।३९ ॥  
 १२४ किमः कस्तसादौ च ॥ २।१।४० ॥  
 १२४ आ द्वेरः ॥ २।१।४१ ॥  
 १२५ तः सौ सः ॥ २।१।४२ ॥  
 १२५ अदसो दः सेस्तु डौ ॥ २।१।४३ ॥  
 १२५ असुको वाऽकि ॥ २।१।४४ ॥  
 १२६ मोऽवर्णस्य ॥ २।१।४५ ॥  
 १२६ वाऽद्रौ ॥ २।१।४६ ॥  
 १२६ मादुवर्णोऽनु ॥ २।१।४७ ॥  
 १२७ प्राणिनात् ॥ २।१।४८ ॥  
 १२७ बहुष्वेरीः ॥ २।१।४९ ॥  
 १२७ धातोरिवर्णो वर्णस्येयुच् खरे  
 प्रत्यये ॥ २।१।५० ॥  
 १२८ इणः ॥ २।१।५१ ॥  
 १२८ संयोगात् ॥ २।१।५२ ॥  
 १२८ भ्रूश्चोः ॥ २।१।५३ ॥  
 १२८ स्त्रियाः ॥ २।१।५४ ॥  
 १२९ वाऽमृशसि ॥ २।१।५५ ॥  
 १२९ योजनेकखरस्य ॥ २।१।५६ ॥  
 १२९ स्यादौ वः ॥ २।१।५७ ॥  
 १२९ किञ्चृत्तेरमुधियस्तौ ॥ २।१।५८ ॥  
 १३० हन्पुनर्वर्षाकारैर्भुवः ॥ २।१।५९ ॥  
 १३० णषमसत्परे स्यादिविधौ च ॥ २।१।६० ॥  
 १३१ क्ताऽऽदेशोऽपि ॥ २।१।६१ ॥  
 १३२ षडोः कः सि ॥ २।१।६२ ॥  
 १३३ भ्वादेर्नामिनो दीर्घो वर्ण्यञ्जने ॥ २।१।६३ ॥  
 १३३ पदान्ते ॥ २।१।६४ ॥  
 १३४ न यि तद्धिते ॥ २।१।६५ ॥  
 १३४ कुरुच्छुरः ॥ २।१।६६ ॥  
 १३५ मो नो भ्वाश्च ॥ २।१।६७ ॥  
 १३५ सन्स्वन्स्वक्स्सनडुहो दः ॥ २।१।६८ ॥  
 १३६ ऋत्विज्जुदिगृह्णस्वृत्स्वज्जदधृषु-  
 ष्णिहो गः ॥ २।१।६९ ॥  
 १३६ नशो वा ॥ २।१।७० ॥  
 १३६ युजञ्चकुञ्चो नो ङः ॥ २।१।७१ ॥  
 १३७ सो रुः ॥ २।१।७२ ॥  
 १३७ सजुषः ॥ २।१।७३ ॥  
 १३७ अहः ॥ २।१।७४ ॥  
 १३७ रो लुप्यरि ॥ २।१।७५ ॥  
 १३८ धुदस्तृतीयः ॥ २।१।७६ ॥

पृष्ठाङ्कः

- १३८ गडदवादेश्चतुर्थान्तस्यैकखरस्यादेश्चतुर्थः  
 स्वोश्च प्रत्यये ॥ २।१।७७ ॥  
 १३९ धागस्तथोश्च ॥ २।१।७८ ॥  
 १३९ अधश्चतुर्थात् तथोर्धः ॥ २।१।७९ ॥  
 १४० नर्म्यन्तात् परोक्षायतन्याशिषो  
 घोः ङः ॥ २।१।८० ॥  
 १४० हान्तस्याञ् जीङ्भ्यां वा ॥ २।१।८१ ॥  
 १४१ हो धुदपदान्ते ॥ २।१।८२ ॥  
 १४१ भ्वादेर्दीर्घः ॥ २।१।८३ ॥  
 १४१ मुहद्बुहस्बुहस्लिहो वा ॥ २।१।८४ ॥  
 १४२ नहाहोर्धतौ ॥ २।१।८५ ॥  
 १४२ चजः कगम् ॥ २।१।८६ ॥  
 १४३ यजस्जजस्जराजभ्राजभ्रस्जव्रश्चपरित्राजः  
 शः षः ॥ २।१।८७ ॥  
 १४४ संयोगस्यादौ स्कोल्लृक् ॥ २।१।८८ ॥  
 १४५ पदस्य ॥ २।१।८९ ॥  
 १४५ रात्सः ॥ २।१।९० ॥  
 १४६ नाम्नो नोऽनहः ॥ २।१।९१ ॥  
 १४६ नाऽऽम्रये ॥ २।१।९२ ॥  
 १४६ क्लीवे वा ॥ २।१।९३ ॥  
 १४७ मावर्णान्तोपान्ताऽपश्चमवर्गान्मतो-  
 र्मोवः ॥ २।१।९४ ॥  
 १४७ नान्नि ॥ २।१।९५ ॥  
 १४७ चर्मण्वल्यष्टीवश्चकीवत्कक्षीवद्बु-  
 मण्वत् ॥ २।१।९६ ॥  
 १४८ उदन्वानब्धौ च ॥ २।१।९७ ॥  
 १४८ राजन्वान् सुराज्ञि ॥ २।१।९८ ॥  
 १४८ नोर्म्यादिभ्यः ॥ २।१।९९ ॥  
 १४९ मासनिशासनस्य शसादौ लुग  
 वा ॥ २।१।१०० ॥  
 १४९ दन्तपादनासिकाहृदयासृग्युषोदकदोर्य-  
 कृच्छ्रकृतो दत्पन्नसहृदसन्वृषभुदन्दोष-  
 न्यकञ्चकान् वा ॥ २।१।१०१ ॥  
 १४९ यखरे पादः पदणिक्यघुटि ॥ २।१।१०२ ॥  
 १५० उदच उदीच् ॥ २।१।१०३ ॥  
 १५० अब् प्राग्दीर्घश्च ॥ २।१।१०४ ॥  
 १५१ कसुप्मतौ च ॥ २।१।१०५ ॥  
 १५१ श्वन् युवन्मघोनो डीस्याद्यघुदखरे  
 व उः ॥ २।१।१०६ ॥  
 १५२ लुगातोऽनापः ॥ २।१।१०७ ॥  
 १५२ अनोऽस्य ॥ २।१।१०८ ॥

पृष्ठादः

- ९१ नपुंसकस्य शिः ॥ १।४।५५ ॥  
 ९१ औसीः ॥ १।४।५६ ॥  
 ९१ अतः स्यमोऽम् ॥ १।४।५७ ॥  
 ९२ पञ्चतोऽन्यादेरनेकतरस्य दः ॥ १।४।५८ ॥  
 ९२ अनतो लुप् ॥ १।४।५९ ॥  
 ९३ जरमो वा ॥ १।४।६० ॥  
 ९३ नामिनो लुप् वा ॥ १।४।६१ ॥  
 ९४ वाऽन्यतः पुमांश्चादौ स्वरे ॥ १।४।६२ ॥  
 ९४ दध्यस्थिसकथ्यक्ष्णोऽन्तस्यान् ॥ १।४।६३ ॥  
 ९५ अनाम्बरे नोऽन्तः ॥ १।४।६४ ॥  
 ९६ पराच्छौ ॥ १।४।६५ ॥  
 ९६ धुदां प्राक् ॥ १।४।६६ ॥  
 ९७ लो वा ॥ १।४।६७ ॥  
 ९७ छुटि ॥ १।४।६८ ॥  
 ९८ अचः ॥ १।४।६९ ॥  
 ९८ कदुदितः ॥ १।४।७० ॥  
 ९८ युजोऽममासे ॥ १।४।७१ ॥  
 ९८ अनदुहः सौ ॥ १।४।७२ ॥  
 ९९ पुंसोः पुमन्त् ॥ १।४।७३ ॥  
 ९९ औत औः ॥ १।४।७४ ॥  
 ९९ आ अमृशसोऽन्ता ॥ १।४।७५ ॥  
 ९९ पथिन्मथिन्मुक्षः सौ ॥ १।४।७६ ॥  
 १०० तः ॥ १।४।७७ ॥  
 १०० थो न्थ् ॥ १।४।७८ ॥  
 १०० इन् डीस्वरे लुक् ॥ १।४।७९ ॥  
 १०१ वोगनसो नधाम्भ्ये सौ ॥ १।४।८० ॥  
 १०१ उतोऽनदुचतुरो वः ॥ १।४।८१ ॥  
 १०१ वाः शेषे ॥ १।४।८२ ॥  
 १०१ सग्व्युरितोऽश्वैत् ॥ १।४।८३ ॥  
 १०२ कदुशनस्पुरुदंशोऽनेहसश्च सेर्जः ॥ १।४।८४ ॥  
 १०२ नि दीर्घः ॥ १।४।८५ ॥  
 १०२ न्स्मृतोः ॥ १।४।८६ ॥  
 १०३ इन्हन्पूर्पार्यम्णः शिष्योः ॥ १।४।८७ ॥  
 १०४ अपः ॥ १।४।८८ ॥  
 १०४ नि वा ॥ १।४।८९ ॥  
 १०४ अभ्वादेरत्वसः सौ ॥ १।४।९० ॥  
 १०५ कुशस्तुनस्तृच् पुंसि ॥ १।४।९१ ॥  
 १०५ टादौ स्वरे वा ॥ १।४।९२ ॥  
 १०५ स्त्रियाम् ॥ १।४।९३ ॥

पृष्ठादः

द्वितीयाध्याये प्रथमः पादः ।

- १०७ त्रिचतुरस्तिष्ठचतस्र स्यादौ ॥ २।१।११ ॥  
 १०७ क्ततो रः ग्यरेज्जि ॥ २।१।१२ ॥  
 १०८ जराया जरस् वा ॥ २।१।१३ ॥  
 १०९ अपोऽद् मे ॥ २।१।१४ ॥  
 १०९ आ रागो व्यञ्जने ॥ २।१।१५ ॥  
 १०९ गुण्मदम्भदोः ॥ २।१।१६ ॥  
 ११० टाडयोसि यः ॥ २।१।१७ ॥  
 ११० शेषे लुक् ॥ २।१।१८ ॥  
 ११० मोर्वा ॥ २।१।१९ ॥  
 १११ भन्तस्य युवावौ द्वयोः ॥ २।१।२० ॥  
 ११२ त्वमौ प्रत्ययोत्तरपदे चैकस्मिन् ॥ २।१।२१ ॥  
 ११३ त्वमं सिना प्राक् चाकः ॥ २।१।२२ ॥  
 ११४ यूयं वयं जसा ॥ २।१।२३ ॥  
 ११४ तुभ्यं ममं डया ॥ २।१।२४ ॥  
 ११४ तव मम उता ॥ २।१।२५ ॥  
 ११४ अमौ मः ॥ २।१।२६ ॥  
 ११४ शसो नः ॥ २।१।२७ ॥  
 ११५ अभ्यम् भ्यसः ॥ २।१।२८ ॥  
 ११५ उसेश्वाद् ॥ २।१।२९ ॥  
 ११५ आम आकम् ॥ २।१।३० ॥  
 ११६ पदाद्युग्विभक्त्यैकवाक्ये वल्सौ बहुत्वे ॥ २।१।३१ ॥  
 ११७ द्वित्वे वाङ्मौ ॥ २।१।३२ ॥  
 ११७ डेडसा तेमे ॥ २।१।३३ ॥  
 ११७ अमा त्वामा ॥ २।१।३४ ॥  
 ११७ असदिवाऽऽमभ्यं पूर्वम् ॥ २।१।३५ ॥  
 ११८ जस्विशेष्यं वाऽऽमभ्ये ॥ २।१।३६ ॥  
 ११९ नान्यत् ॥ २।१।३७ ॥  
 ११९ पादाद्योः ॥ २।१।३८ ॥  
 ११९ चाहहवैवयोगे ॥ २।१।३९ ॥  
 १२० इक्षयैश्चिन्तायाम् ॥ २।१।४० ॥  
 १२० नित्यमन्वादेशे ॥ २।१।४१ ॥  
 १२१ सपूर्वात् प्रथमान्ताद् वा ॥ २।१।४२ ॥  
 १२१ त्यदामेनदेतदो द्वितीयादौस्य-  
 वृत्त्यन्ते ॥ २।१।४३ ॥  
 १२२ हृदमः ॥ २।१।४४ ॥  
 १२२ अह्यञ्जने ॥ २।१।४५ ॥  
 १२३ अनक् ॥ २।१।४६ ॥  
 १२३ टौस्यनः ॥ २।१।४७ ॥

पृष्ठाङ्कः

- १२३ अयमियं पुंस्त्रियोः सौ ॥ २।१।३८ ॥  
 १२४ दो मः स्यादौ ॥ २।१।३९ ॥  
 १२४ किमः कस्तसादौ च ॥ २।१।४० ॥  
 १२४ आ द्वेः ॥ २।१।४१ ॥  
 १२५ तः सौ सः ॥ २।१।४२ ॥  
 १२५ अदसो दः सेस्तु डौ ॥ २।१।४३ ॥  
 १२५ असुको वाजकि ॥ २।१।४४ ॥  
 १२६ मोऽवर्णस्य ॥ २।१।४५ ॥  
 १२६ वाज्द्रौ ॥ २।१।४६ ॥  
 १२६ मादुवर्णोऽनु ॥ २।१।४७ ॥  
 १२७ प्राणिनात् ॥ २।१।४८ ॥  
 १२७ बहुष्वेरीः ॥ २।१।४९ ॥  
 १२७ धातोः रिवर्णोऽवर्णस्येयुच् स्वे  
 प्रत्यये ॥ २।१।५० ॥  
 १२८ हणः ॥ २।१।५१ ॥  
 १२८ संयोगात् ॥ २।१।५२ ॥  
 १२८ भ्रूश्रोः ॥ २।१।५३ ॥  
 १२८ स्त्रियाः ॥ २।१।५४ ॥  
 १२९ वाऽस्मशसि ॥ २।१।५५ ॥  
 १२९ योऽनेकस्वरस्य ॥ २।१।५६ ॥  
 १२९ स्यादौ वः ॥ २।१।५७ ॥  
 १२९ किञ्चुत्तेरसुधियस्तौ ॥ २।१।५८ ॥  
 १३० हन्पुनर्वर्षाकारैर्भुवः ॥ २।१।५९ ॥  
 १३० णपमसत्परे स्यादिविधौ च ॥ २।१।६० ॥  
 १३१ क्ताऽऽदेशोऽपि ॥ २।१।६१ ॥  
 १३२ षढोः कः सि ॥ २।१।६२ ॥  
 १३३ भ्वादेर्नामिनो दीर्घो वर्ण्यञ्जने ॥ २।१।६३ ॥  
 १३३ पदान्ते ॥ २।१।६४ ॥  
 १३४ न वि तद्धिते ॥ २।१।६५ ॥  
 १३४ कुरुच्छुरः ॥ २।१।६६ ॥  
 १३५ मो नो म्वोश्च ॥ २।१।६७ ॥  
 १३५ सन्मध्वन्सकस्सनडुहो दः ॥ २।१।६८ ॥  
 १३६ ऋत्विज्दिशहशस्पर्शज्जदधृषु-  
 ष्णिहो गः ॥ २।१।६९ ॥  
 १३६ नशो वा ॥ २।१।७० ॥  
 १३६ युजश्चकुञ्चो नो ङः ॥ २।१।७१ ॥  
 १३७ सो रुः ॥ २।१।७२ ॥  
 १३७ सजुषः ॥ २।१।७३ ॥  
 १३७ अहः ॥ २।१।७४ ॥  
 १३७ रो लुप्यरि ॥ २।१।७५ ॥  
 १३८ बुदस्तृतीयः ॥ २।१।७६ ॥

पृष्ठाङ्कः

- १३८ गडदवादेश्वतुर्यान्तस्यैकस्वरस्यादेश्वतुर्यः  
 स्त्वोश्च प्रत्यये ॥ २।१।७७ ॥  
 १३९ धागस्तथोश्च ॥ २।१।७८ ॥  
 १३९ अधश्चतुर्यात् तथोर्धः ॥ २।१।७९ ॥  
 १४० नान्म्यन्तात् परोक्षायतन्याशिपो  
 धोः ङः ॥ २।१।८० ॥  
 १४० हान्तस्यान् जीड्भ्यां वा ॥ २।१।८१ ॥  
 १४१ हो धुदपदान्ते ॥ २।१।८२ ॥  
 १४१ भ्वादेर्दीर्घः ॥ २।१।८३ ॥  
 १४१ मुहद्मुहसुहसिहो वा ॥ २।१।८४ ॥  
 १४२ नहाहोर्धतौ ॥ २।१।८५ ॥  
 १४२ चजः कगम् ॥ २।१।८६ ॥  
 १४३ यजसृजसृजराजभ्राजभ्रस्जत्रश्चपरिव्राजः  
 शः पः ॥ २।१।८७ ॥  
 १४४ संयोगस्यादौ स्कोर्लृक् ॥ २।१।८८ ॥  
 १४५ पदस्य ॥ २।१।८९ ॥  
 १४५ रात्सः ॥ २।१।९० ॥  
 १४५ नाप्नो नोऽनहः ॥ २।१।९१ ॥  
 १४५ नाऽऽमन्त्रये ॥ २।१।९२ ॥  
 १४६ ङीवे वा ॥ २।१।९३ ॥  
 १४७ मावर्णान्तोऽपान्ताऽपश्चमवर्गान्मतो-  
 मीवः ॥ २।१।९४ ॥  
 १४७ नास्ति ॥ २।१।९५ ॥  
 १४७ चर्मण्वत्यष्टीवश्चकीवत्कक्षीवद्-  
 मण्वत् ॥ २।१।९६ ॥  
 १४८ उदन्वानब्धौ च ॥ २।१।९७ ॥  
 १४८ राजन्वान् सुरास्ति ॥ २।१।९८ ॥  
 १४८ नोऽर्प्यादिभ्यः ॥ २।१।९९ ॥  
 १४९ मासनिशासनस्य शसादौ लृग्  
 वा ॥ २।१।१०० ॥  
 १४९ दन्तपादनासिकाहृदयासृग्यूपोदकदोर्य-  
 कृच्छकृतो दत्पन्नसहृदसन्धूपशुदनदोष-  
 नयकञ्जशकन् वा ॥ २।१।१०१ ॥  
 १४९ यस्वरे पादः पदणिक्यष्टि ॥ २।१।१०२ ॥  
 १५० उदच उदीच् ॥ २।१।१०३ ॥  
 १५० अब् प्राग्दीर्घश्च ॥ २।१।१०४ ॥  
 १५१ कसुष्मत्तौ च ॥ २।१।१०५ ॥  
 १५१ श्वनयुवन्मघोनो डीस्यायष्टुदस्वरे  
 व ङः ॥ २।१।१०६ ॥  
 १५२ लुगातोऽनापः ॥ २।१।१०७ ॥  
 १५२ अनोजस्य ॥ २।१।१०८ ॥

पृष्ठद्व.

- ११ नपुंसकस्य शिः ॥ १।४।५५ ॥  
 ११ औरीः ॥ १।४।५६ ॥  
 ११ अतः स्यमोऽम् ॥ १।४।५७ ॥  
 १२ पञ्चतोऽन्यादेरनेकतरस्य दः ॥ १।४।५८ ॥  
 १२ अनतो लुप् ॥ १।४।५९ ॥  
 १३ जरसो वा ॥ १।४।६० ॥  
 १३ नामिनो लुग वा ॥ १।४।६१ ॥  
 १४ वाऽन्यतः पुमांश्चादौ खरे ॥ १।४।६२ ॥  
 १४ दध्यग्निसमन्वयक्ष्णोऽन्तत्यान् ॥ १।४।६३ ॥  
 १५ अनामखरे नोऽन्तः ॥ १।४।६४ ॥  
 १६ खराच्छौ ॥ १।४।६५ ॥  
 १६ धुदां प्राक् ॥ १।४।६६ ॥  
 १७ लो वा ॥ १।४।६७ ॥  
 १७ घुटि ॥ १।४।६८ ॥  
 १८ अचः ॥ १।४।६९ ॥  
 १८ ऋदुदितः ॥ १।४।७० ॥  
 १८ युजोऽज्जमासे ॥ १।४।७१ ॥  
 १८ अनदृष्टः सौ ॥ १।४।७२ ॥  
 १९ पुंसोः पुमन्त् ॥ १।४।७३ ॥  
 १९ औत औः ॥ १।४।७४ ॥  
 १९ आ अमृगमोऽन्ता ॥ १।४।७५ ॥  
 १९ पथिन्मथिद्विमुक्षः सौ ॥ १।४।७६ ॥  
 १०० णः ॥ १।४।७७ ॥  
 १०० धो न्य् ॥ १।४।७८ ॥  
 १०० इन् डीखरे लुक् ॥ १।४।७९ ॥  
 १०१ वोशनसो नश्चामन्ये सौ ॥ १।४।८० ॥  
 १०१ उतोऽनद्वचतुरो वः ॥ १।४।८१ ॥  
 १०१ वाः शेषे ॥ १।४।८२ ॥  
 १०१ सख्युरितोऽगावैत् ॥ १।४।८३ ॥  
 १०२ ऋदुगनस्पुरुदंशोऽनेहसश्च सेर्ताः  
 ॥ १।४।८४ ॥  
 १०२ नि दीर्घः ॥ १।४।८५ ॥  
 १०२ न्सहतोः ॥ १।४।८६ ॥  
 १०३ हन्हन्पूर्वार्यम्णः शिख्योः ॥ १।४।८७ ॥  
 १०४ अपः ॥ १।४।८८ ॥  
 १०४ नि वा ॥ १।४।८९ ॥  
 १०४ अम्वादेरत्वसः सौ ॥ १।४।९० ॥  
 १०५ कुशस्तुनस्तृच् पुंसि ॥ १।४।९१ ॥  
 १०५ टादौ खरे वा ॥ १।४।९२ ॥  
 १०५ ख्रियाम् ॥ १।४।९३ ॥

पृष्ठद्व.

द्वितीयाऽध्याये प्रथमः पादः ।

- १०७ त्रिचतुरस्तिमृचतस्र स्यादौ ॥ २।१।११ ॥  
 १०७ ऋतो रः खरेऽग्नि ॥ २।१।१२ ॥  
 १०८ जराया जरस् वा ॥ २।१।१३ ॥  
 १०९ अपोऽद् मे ॥ २।१।१४ ॥  
 १०९ आ राग्यो व्यञ्जने ॥ २।१।१५ ॥  
 १०९ युष्मदस्मादोः ॥ २।१।१६ ॥  
 ११० टाड्योसि यः ॥ २।१।१७ ॥  
 ११० शेषे लुक् ॥ २।१।१८ ॥  
 ११० मोर्वा ॥ २।१।१९ ॥  
 १११ मन्तस्य युवावौ द्वयोः ॥ २।१।१० ॥  
 ११२ त्वमौ प्रत्ययोत्तरपदे चैकस्मिन्  
 ॥ २।१।११ ॥  
 ११३ त्वमहं सिना प्राक् चाक् ॥ २।१।१२ ॥  
 ११४ यूयं वयं जसा ॥ २।१।१३ ॥  
 ११४ तुभ्यं मत्तं डया ॥ २।१।१४ ॥  
 ११४ तव मम डमा ॥ २।१।१५ ॥  
 ११४ अमौ मः ॥ २।१।१६ ॥  
 ११४ शसो नः ॥ २।१।१७ ॥  
 ११५ अभ्यम् भ्यसः ॥ २।१।१८ ॥  
 ११५ डसेश्चाद् ॥ २।१।१९ ॥  
 ११५ आम आकम् ॥ २।१।२० ॥  
 ११६ पदाद्युग्विभक्त्यैकवाक्ये वल्लसौ  
 बहुत्वे ॥ २।१।२१ ॥  
 ११७ द्वित्वे चाग्नौ ॥ २।१।२२ ॥  
 ११७ डेडसा तेमे ॥ २।१।२३ ॥  
 ११७ अमा त्वामा ॥ २।१।२४ ॥  
 ११७ असदिवाऽऽमन्यं पूर्वम् ॥ २।१।२५ ॥  
 ११८ जस्रविशेष्यं वाऽऽमन्ये ॥ २।१।२६ ॥  
 ११९ नान्यत् ॥ २।१।२७ ॥  
 ११९ पादायोः ॥ २।१।२८ ॥  
 ११९ चाहहवैवयोगे ॥ २।१।२९ ॥  
 १२० हृद्यर्थैश्चिन्तायाम् ॥ २।१।३० ॥  
 १२० नित्यमन्वादेशे ॥ २।१।३१ ॥  
 १२१ सपूर्वात् प्रथमान्ताद् वा ॥ २।१।३२ ॥  
 १२१ त्यदामेनदेतदो द्वितीयादौत्य-  
 वृत्त्यन्ते ॥ २।१।३३ ॥  
 १२२ इदमः ॥ २।१।३४ ॥  
 १२२ अद्याञ्जने ॥ २।१।३५ ॥  
 १२३ अनक् ॥ २।१।३६ ॥  
 १२३ टौत्यनः ॥ २।१।३७ ॥

पृष्ठाङ्कः

- १२३ अयमियं पुंस्त्रियोः सौ ॥ २।१।३८ ॥  
 १२४ दो मः स्यादौ ॥ २।१।३९ ॥  
 १२४ किमः कस्तसादौ च ॥ २।१।४० ॥  
 १२४ आ द्वेरः ॥ २।१।४१ ॥  
 १२५ तः सौ सः ॥ २।१।४२ ॥  
 १२५ अदसो दः सेस्तु डौ ॥ २।१।४३ ॥  
 १२५ असुको वाऽकि ॥ २।१।४४ ॥  
 १२६ मोऽवर्णस्य ॥ २।१।४५ ॥  
 १२६ वाऽद्रौ ॥ २।१।४६ ॥  
 १२६ मादुवर्णोऽनु ॥ २।१।४७ ॥  
 १२७ प्राणिनात् ॥ २।१।४८ ॥  
 १२७ बहुष्वेरीः ॥ २।१।४९ ॥  
 १२७ घातोऽरिवर्णोऽवर्णस्येयुव् स्वरं  
 प्रत्यये ॥ २।१।५० ॥  
 १२८ इणः ॥ २।१।५१ ॥  
 १२८ संयोगात् ॥ २।१।५२ ॥  
 १२८ भ्रूः ॥ २।१।५३ ॥  
 १२८ स्त्रियाः ॥ २।१।५४ ॥  
 १२९ वाऽम्शसि ॥ २।१।५५ ॥  
 १२९ योजनेकस्वरस्य ॥ २।१।५६ ॥  
 १२९ स्यादौ वः ॥ २।१।५७ ॥  
 १२९ किवृत्तेरनुधियस्तौ ॥ २।१।५८ ॥  
 १३० हन्पुनर्वर्षाकारैर्मुवः ॥ २।१।५९ ॥  
 १३० णषमसत्परे स्यादिविधौ च ॥ २।१।६० ॥  
 १३१ क्ताऽऽदेशोऽपि ॥ २।१।६१ ॥  
 १३२ षढोः कः सि ॥ २।१।६२ ॥  
 १३३ भ्वादेर्नामिनो दीर्घो वर्ण्यज्जने ॥ २।१।६३ ॥  
 १३३ पदान्ते ॥ २।१।६४ ॥  
 १३४ न यि तद्धिते ॥ २।१।६५ ॥  
 १३४ कुरुच्छुरः ॥ २।१।६६ ॥  
 १३५ मो नो भ्वाश्च ॥ २।१।६७ ॥  
 १३५ सन्स्वन्स्वक्त्सनङ्गुहो दः ॥ २।१।६८ ॥  
 १३६ कत्विज्जिदिशहृशृष्टृस्वज्जदधृषु-  
 षिण्हो गः ॥ २।१।६९ ॥  
 १३६ नशो वा ॥ २।१।७० ॥  
 १३६ युजश्चक्रुश्चो नो डः ॥ २।१।७१ ॥  
 १३७ सो रुः ॥ २।१।७२ ॥  
 १३७ सजुषः ॥ २।१।७३ ॥  
 १३७ अहः ॥ २।१।७४ ॥  
 १३७ रो लुप्यरि ॥ २।१।७५ ॥  
 १३८ धुदस्तृतीयः ॥ २।१।७६ ॥

पृष्ठाङ्कः

- १३८ गडदवादेश्चतुर्यान्तस्यैकस्वरस्यादेश्चतुर्यः  
 स्वोश्च प्रत्यये ॥ २।१।७७ ॥  
 १३९ धागस्तथोश्च ॥ २।१।७८ ॥  
 १३९ अधश्चतुर्यात् तथोर्वः ॥ २।१।७९ ॥  
 १४० नान्यन्तात् परोक्षायतन्याशिपो  
 धोः डः ॥ २।१।८० ॥  
 १४० हान्तस्याज् जीड्भ्यां वा ॥ २।१।८१ ॥  
 १४१ हो धुट्पदान्ते ॥ २।१।८२ ॥  
 १४१ भ्वादेर्दादेर्घः ॥ २।१।८३ ॥  
 १४१ मुहृद्मुहृद्मुहृद्मुहृद्वा ॥ २।१।८४ ॥  
 १४२ नहाहोर्धतौ ॥ २।१।८५ ॥  
 १४२ चजः कगम् ॥ २।१।८६ ॥  
 १४३ यजस्जमृजराजभ्राजभ्रस्जव्रश्चपरिव्राजः  
 शः पः ॥ २।१।८७ ॥  
 १४४ संयोगस्यादौ स्कोर्लुक् ॥ २।१।८८ ॥  
 १४५ पदस्य ॥ २।१।८९ ॥  
 १४५ रात्सः ॥ २।१।९० ॥  
 १४६ नात्रो नोऽनहः ॥ २।१।९१ ॥  
 १४६ नाऽऽमन्वे ॥ २।१।९२ ॥  
 १४६ छीवे वा ॥ २।१।९३ ॥  
 १४७ मावर्णान्तोपान्ताऽपश्चमवर्गान्मतो-  
 र्मोवः ॥ २।१।९४ ॥  
 १४७ नान्नि ॥ २।१।९५ ॥  
 १४७ चर्मण्वल्यष्टीवश्चक्रीवत्कक्षीवद्-  
 मण्वत् ॥ २।१।९६ ॥  
 १४८ उदन्वानवधौ च ॥ २।१।९७ ॥  
 १४८ राजन्वान् सुराजि ॥ २।१।९८ ॥  
 १४८ नोर्म्यादिभ्यः ॥ २।१।९९ ॥  
 १४९ मासनिशासनस्य शसादौ लृग्  
 वा ॥ २।१।१०० ॥  
 १४९ दन्तपादनासिकाहृदयासृग्यूषोदकदोर्य-  
 कृच्छकृतो दत्पन्नसहृदसन्यूषनुदनुष-  
 न्यकञ्जशकन् वा ॥ २।१।१०१ ॥  
 १४९ यस्वरे पादः पदणिक्यधुदि ॥ २।१।१०२ ॥  
 १५० उदच उदीच् ॥ २।१।१०३ ॥  
 १५० अच् प्राग्दीर्घश्च ॥ २।१।१०४ ॥  
 १५१ कसृष्मतौ च ॥ २।१।१०५ ॥  
 १५१ श्वन् युवन्मघोनो डीस्याद्यधुदस्वरे  
 व डः ॥ २।१।१०६ ॥  
 १५२ लुगातोऽजापः ॥ २।१।१०७ ॥  
 १५२ अनोऽस्य ॥ २।१।१०८ ॥



पृष्ठाङ्कः.

- १५२ ईडौ वा ॥ २।१।१०९।  
 १५२ पादिहन्धुतराजोऽणि ॥ २।१।११० ॥  
 १५२ न वमन्तसंयोगात् ॥ २।१।१११ ॥  
 १५३ हनो ह्यो मः ॥ २।१।११२ ॥  
 १५३ लुगस्यादेत्यपदे ॥ २।१।११३ ॥  
 १५३ डित्यन्त्यम्बरादेः ॥ २।१।११४ ॥  
 १५४ अवर्णादधोऽन्तो वाऽनु-  
 रीडयोः ॥ २।१।११५ ॥  
 १५४ इयञवः ॥ २।१।११६ ॥  
 १५४ दिव औः मौ ॥ २।१।११७ ॥  
 १५५ उः पदान्तेऽर्जत् ॥ २।१।११८ ॥

द्वितीयाऽध्याये द्वितीयः पादः ।

- १५६ क्रियाहेतुः कारकम् ॥ २।२।१ ॥  
 १५७ स्वतन्त्रः कर्ता ॥ २।२।२ ॥  
 १५८ कर्तुर्व्याप्यं कर्म ॥ २।२।३ ॥  
 १६१ वाऽकर्मणामणिकर्ता णौ ॥ २।२।४ ॥  
 १६१ गतिबोधाऽऽहारार्थञ्चकर्मनित्या-  
 ऽकर्मणामनीग्यायदिहाञ्चदाय-  
 क्रन्ताम् ॥ २।२।५ ॥  
 १६३ भक्षोर्हिंसायाम् ॥ २।२।६ ॥  
 १६३ बहेः प्रवेयः ॥ २।२।७ ॥  
 १६३ ह्यक्रोर्नवा ॥ २।२।८ ॥  
 १६४ दृश्यभिवदोरात्मने ॥ २।२।९ ॥  
 १६४ नायः ॥ २।२।१० ॥  
 १६५ स्मृत्यर्थद्वयेनः ॥ २।२।११ ॥  
 १६५ कृगः प्रतियोगे ॥ २।२।१२ ॥  
 १६५ रुजार्थस्याऽज्वरिसन्तापेर्भावे  
 कर्तरि ॥ २।२।१३ ॥  
 १६६ जासनाटकाथपिपो हिंसायाम् ॥ २।२।१४ ॥  
 १६६ निप्रेभ्यो मः ॥ २।२।१५ ॥  
 १६६ विनिमेयभूतपणं पणव्यवहोः ॥ २।२।१६ ॥  
 १६७ उपसर्गाद्विचः ॥ २।२।१७ ॥  
 १६७ न ॥ २।२।१८ ॥  
 १६७ करणं च ॥ २।२।१९ ॥  
 १६८ अधेः शीङ्स्याऽऽस आधारः ॥ २।२।२० ॥  
 १६८ उपान्वध्वाद्बसः ॥ २।२।२१ ॥  
 १६९ वाऽभिनिविशः ॥ २।२।२२ ॥  
 १६९ कालाऽध्वभावदेशं वाऽकर्म चाऽक-  
 र्माणाम् ॥ २।२।२३ ॥

पृष्ठाङ्कः

- १७० साधकतमं करणम् ॥ २।२।२४ ॥  
 १७० कर्माऽभिप्रेयः संप्रदानम् ॥ २।२।२५ ॥  
 १७१ स्पृहेर्व्याप्यं वा ॥ २।२।२६ ॥  
 १७१ कुदृष्टहेर्ष्याऽस्त्यार्थं प्रति  
 कोपः ॥ २।२।२७ ॥  
 १७२ नोपसर्गात् कुदृष्टहा ॥ २।२।२८ ॥  
 १७२ अपायेऽवधिरपादानम् ॥ २।२।२९ ॥  
 १७४ क्रियाऽऽश्रयस्याऽऽधारोऽधि-  
 करणम् ॥ २।२।३० ॥  
 १७५ नाम्नः प्रथमैकद्विवहौ ॥ २।२।३१ ॥  
 १७८ आमन्त्र्ये ॥ २।२।३२ ॥  
 १७८ गौणात् समयानिकपाहाधिगन्तरान्तरे-  
 णाऽजतियेनतेनैद्वितीया ॥ २।२।३३ ॥  
 १७९ द्वित्वेऽधोऽध्युपरिभिः ॥ २।२।३४ ॥  
 १७९ सर्वोभयाऽभिपरिणा तसा ॥ २।२।३५ ॥  
 १७९ लक्षणवीप्स्येत्यंभूतेष्वभिना ॥ २।२।३६ ॥  
 १८० भागिनि च प्रतिपर्यनुभिः ॥ २।२।३७ ॥  
 १८० हेतुसहार्थंऽनुना ॥ २।२।३८ ॥  
 १८१ उत्कृष्टेऽनूपेन ॥ २।२।३९ ॥  
 १८१ कर्मणि ॥ २।२।४० ॥  
 १८४ क्रियाविशेषणात् ॥ २।२।४१ ॥  
 १८५ कालाऽध्वनोर्व्याप्तौ ॥ २।२।४२ ॥  
 १८५ सिद्धौ तृतीया ॥ २।२।४३ ॥  
 १८५ हेतुकर्तृकरणेत्यंभूतलक्षणे ॥ २।२।४४ ॥  
 १८६ सहार्थं ॥ २।२।४५ ॥  
 १८७ यद्वेदैस्तद्वदाख्या ॥ २।२।४६ ॥  
 १८८ कृताद्यैः ॥ २।२।४७ ॥  
 १८८ काले भान्नवाऽऽधारे ॥ २।२।४८ ॥  
 १८९ प्रसितोत्सुकावबद्धैः ॥ २।२।४९ ॥  
 १८९ व्याप्ये द्विद्रोणादिभ्यो वीप्सा-  
 याम् ॥ २।२।५० ॥  
 १८९ समो जोऽस्मृतौ वा ॥ २।२।५१ ॥  
 १९० दामः संप्रदानेऽधर्म्य आत्मने  
 च ॥ २।२।५२ ॥  
 १९० चतुर्थी ॥ २।२।५३ ॥  
 १९१ तादर्थ्यं ॥ २।२।५४ ॥  
 १९१ रुचिकूप्यर्थधारिभिः प्रेयविकारो-  
 त्तमर्णेषु ॥ २।२।५५ ॥  
 १९२ प्रत्याडः शुवार्थिनि ॥ २।२।५६ ॥  
 १९२ प्रत्यनोर्गुणाऽख्यातरि ॥ २।२।५७ ॥  
 १९२ यद्वीक्ष्ये राधीक्षी ॥ २।२।५८ ॥  
 १९३ उत्पातेन ज्ञाप्ये ॥ २।२।५९ ॥

पृष्ठाङ्कः

- १९३ श्लाघहुंस्यांशपा प्रयोज्ये ॥ २।२।६० ॥  
 १९३ तुमोऽर्थे भाववचनात् ॥ २।२।६१ ॥  
 १९४ गम्यस्याऽऽप्ये ॥ २।२।६२ ॥  
 १९४ गतेर्नवाऽनाप्ते ॥ २।२।६३ ॥  
 १९५ मन्यस्याऽनावादिभ्योऽति-  
 कुत्सने ॥ २।२।६४ ॥  
 १९५ हितसुखाभ्याम् ॥ २।२।६५ ॥  
 १९५ तद्गद्गाऽऽयुष्यक्षेमार्थाऽर्थेना-  
 ऽऽशिषि ॥ २।२।६६ ॥  
 १९६ परिक्रयणे ॥ २।२।६७ ॥  
 १९६ शक्तार्थवषड्मः स्वस्तिस्वाहा-  
 स्वधामिः ॥ २।२।६८ ॥  
 १९७ पञ्चम्यपादाने ॥ २।२।६९ ॥  
 १९७ आडावधौ ॥ २।२।७० ॥  
 १९७ पर्यपाभ्यां वज्ये ॥ २।२।७१ ॥  
 १९७ यतः प्रतिनिधिप्रतिदाने  
 प्रतिना ॥ २।२।७२ ॥  
 १९८ आख्यातयुपयोगे ॥ २।२।७३ ॥  
 १९८ गम्ययपः कर्माऽऽधारे ॥ २।२।७४ ॥  
 १९९ प्रभृत्यन्यार्थदिकृशब्दवहिरा-  
 रादितरैः ॥ २।२।७५ ॥  
 २०० ऋणाद्धेतोः ॥ २।२।७६ ॥  
 २०० गुणादस्त्रियां नवा ॥ २।२।७७ ॥  
 २०१ आरादर्थैः ॥ २।२।७८ ॥  
 २०१ स्तोकाऽल्पकृच्छ्रकतिपयादसत्त्वे  
 करणे ॥ २।२।७९ ॥  
 २०२ अज्ञाने ज्ञः षष्ठी ॥ २।२।८० ॥  
 २०२ शेषे ॥ २।२।८१ ॥  
 २०३ रिरिष्टात्स्तादस्तादसंतसाता ॥ २।२।८२ ॥  
 २०४ कर्मणि कृतः ॥ २।२।८३ ॥  
 २०४ द्विषो वाऽतृशः ॥ २।२।८४ ॥  
 २०४ वैकत्र द्वयोः ॥ २।२।८५ ॥  
 २०५ कर्तरि ॥ २।२।८६ ॥  
 २०५ द्विहेतोरुप्यणकस्य वा ॥ २।२।८७ ॥  
 २०५ कृत्यस्य वा ॥ २।२।८८ ॥  
 २०६ नोभयोर्हेतोः ॥ २।२।८९ ॥  
 २०६ तृनुदन्ताऽन्ययकस्वानाऽतृशऽतृडिण-  
 कचूर्वलर्यस्य ॥ २।२।९० ॥  
 २०६ क्तयोरसदाधारे ॥ २।२।९१ ॥

पृष्ठाङ्कः

- २०७ वा क्लीवे ॥ २।२।९२ ॥  
 २०७ अकमेरुकस्य ॥ २।२।९३ ॥  
 २०७ एष्यहणेनः ॥ २।२।९४ ॥  
 २०८ सप्तम्यधिकरणे ॥ २।२।९५ ॥  
 २०८ नवा सुजर्थैः काले ॥ २।२।९६ ॥  
 २०८ कुशलाऽऽयुक्तेनाऽऽसेवायाम् ॥ २।२।९७ ॥  
 २०८ स्वामीश्वराऽधिपतिदायादसाक्षिप्रति-  
 भूप्रसूतैः ॥ २।२।९८ ॥  
 २०९ व्याप्ये क्तेनः ॥ २।२।९९ ॥  
 २०९ तद्युक्ते हेतौ ॥ २।२।१०० ॥  
 २१० अप्रत्यादावसाधुना ॥ २।२।१०१ ॥  
 २१० साधुना ॥ २।२।१०२ ॥  
 २१० निपुणेन चाऽर्ज्यायाम् ॥ २।२।१०३ ॥  
 २१० स्वेशेऽधिना ॥ २।२।१०४ ॥  
 २११ उपेनाऽधिकिनि ॥ २।२।१०५ ॥  
 २११ यद्भावो भावलक्षणम् ॥ २।२।१०६ ॥  
 २१२ गते गम्येऽध्वनोऽन्तेनैकार्थ्यं  
 वा ॥ २।२।१०७ ॥  
 २१२ षष्ठी वाऽनादरे ॥ २।२।१०८ ॥  
 २१२ सप्तमी चाऽविभागे निर्धारणे ॥ २।२।१०९ ॥  
 २१३ क्रियामध्येऽध्वकाले पञ्चमी  
 च ॥ २।२।११० ॥  
 २१३ अधिकेन भूयसस्ते ॥ २।२।१११ ॥  
 २१४ तृतीयाऽल्पीयसः ॥ २।२।११२ ॥  
 २१४ पृथगनाना पञ्चमी च ॥ २।२।११३ ॥  
 २१४ ऋते द्वितीया च ॥ २।२।११४ ॥  
 २१४ विना ते तृतीया च ॥ २।२।११५ ॥  
 २१४ तुल्यार्थैस्तृतीयाषष्ठ्यौ ॥ २।२।११६ ॥  
 २१५ द्वितीयाषष्ठ्यावेनेनाऽनञ्चेः ॥ २।२।११७ ॥  
 २१५ हेत्वर्थैस्तृतीयाद्याः ॥ २।२।११८ ॥  
 २१५ सर्वादः सर्वाः ॥ २।२।११९ ॥  
 २१५ असत्त्वावादार्थात् टाङ्-  
 सिद्धम् ॥ २।२।१२० ॥  
 २१६ जाल्याख्यायां नवैकोऽसंख्यो  
 बहुवत् ॥ २।२।१२१ ॥  
 २१६ अविशेषणे द्वौ चाऽस्मदः ॥ २।२।१२२ ॥  
 २१७ फल्गुनीप्रोष्ठपदस्य भे ॥ २।२।१२३ ॥  
 २१७ गुरावेकश्च ॥ २।२।१२४ ॥  
 ॥ द्वितीयाऽध्याये द्वितीयः पादः ॥

## २ परिशिष्टम् ।

कलिकालसर्वजविरचितकारकपर्यन्तसूत्राणां

अकाराद्यनुक्रमणिका ।

पृष्ठाद्.

अ.

- ३८ अङ्गवर्णस्यान्तेऽनुनासिकोऽनीवायेः ॥ १।२।४१ ॥  
 ६ अ-अः अनुस्वारयिगर्गो ॥ १।१।९ ॥  
 ८ अम मृष्यशपसा. दिट् ॥ १।१।२६ ॥  
 २०७ अकमेरुफस्य । २।२।९३ ॥  
 ५८ अघोषे प्रथमोऽक्षित् ॥ १।३।५० ॥  
 ९८ अचः ॥ १।४।६९ ॥  
 १५० अच्छ प्राग्दीर्घश्च ॥ २।१।१०४ ॥  
 २०२ अमाने णः पठ्ठी ॥ २।२।८० ॥  
 ५२ अच्युगस्याऽन्तस्यातः ॥ १।३।३३ ॥  
 ३७ अच्युगार्त्त सरे योऽसन् ॥ १।२।४० ॥  
 ९१ अत स्यमोऽम् ॥ १।४।५७ ॥  
 ६४ अत आ' म्यादी जसभ्याम् ॥ १।४।१ ॥  
 ४६ अतोऽति रोरुः ॥ १।३।२० ॥  
 १२५ अदसो वः सेस्तु टा ॥ २।१।४३ ॥  
 ५१ अदीर्घाद् विरामक्यञ्चने ॥ १।३।३२ ॥  
 ८७ अदेत. स्यमोर्लुक् ॥ १।४।४४ ॥  
 ३५ अदो मुमी ॥ १।२।३५ ॥  
 १२२ अह्वञ्चने ॥ २।१।३५ ॥  
 २० अधणतस्वाद्या शसः ॥ १।१।३२ ॥  
 १३९ अधस्तुर्थात् तयोर्घः ॥ २।१।७९ ॥  
 १५ अर्धातुविभक्तिवाक्यमर्धचन्द्राम् ॥ १।१।२७ ॥  
 २१३ अधिकेत भूयसस्ते ॥ २।२।१११ ॥  
 १६८ अघे. शीट्स्याऽऽस आघार. ॥ २।२।२० ॥  
 १२३ अनक् ॥ २।१।३६ ॥  
 ९८ अनहुहः सां ॥ १।४।७२ ॥  
 ९२ अनतो लुप् ॥ १।४।५९ ॥  
 २३ अनन्त पञ्चम्या प्रत्ययः ॥ १।१।३८ ॥  
 ६ अनवर्णा नामी ॥ १।१।६ ॥  
 ४९ अनाह्मालो दीर्घाद् वा छः ॥ १।३।२८ ॥  
 ९५ अनामसरे नोऽन्तः ॥ १।४।६४ ॥  
 ३० अनियोगे लुगेवे ॥ १।२।१६ ॥  
 १५२ अनोऽस्य ॥ २।१।१०८ ॥  
 ७ अन्यो घोषवान् ॥ १।१।१४ ॥  
 १०४ अपः ॥ १।४।८८ ॥  
 ७ अपञ्चमान्तस्यो घुट् ॥ १।१।११ ॥  
 १७२ अपायेऽवधिरपादानम् ॥ २।२।२९ ॥  
 १०९ अपोऽद् मे ॥ २।१।४ ॥  
 २१० अपत्यादावसाधुना ॥ २।२।१०१ ॥  
 २२ अपयोगीत् ॥ १।१।३७ ॥  
 ११५ अभ्यम् म्यसः ॥ २।१।१८ ॥

पृष्ठाद्.

- १०४ अभ्यादेस्तसः सौ ॥ १।४।९० ॥  
 ११७ अमा त्वामा ॥ २।१।२४ ॥  
 ११४ अर्मा मः ॥ २।१।१६ ॥  
 १२३ अयमियं पुष्टियोः सौ ॥ २।१।३८ ॥  
 ६० अरोः सुपि रः ॥ १।३।५७ ॥  
 ८८ अर्तो च ॥ १।४।३९ ॥  
 २४ अर्द्धपूर्वपद पूरण ॥ १।१।४२ ॥  
 १ अर्द्ध ॥ १।१।१ ॥  
 ४७ अवर्णमोभगोऽथोलुगसन्धि ॥ १।३।२२ ॥  
 ७३ अवर्णस्यामः साम् ॥ १।४।१५ ॥  
 २७ अवर्णमेवर्णादिर्नैदीदरल् ॥ १।२।६ ॥  
 १५४ अवर्णाद्वोऽन्तो वाऽतुरीह्योः ॥ २।१।११५ ॥  
 २१६ अविशेषणे द्वौ वाऽसदः ॥ २।२।१२२ ॥  
 ९० अष्ट ओर्जस्तशमोः ॥ १।४।५३ ॥  
 २१५ असत्त्वारार्थोद्वाहसिद्धयम् ॥ २।२।१२० ॥  
 ११७ असदिवाऽऽमन्य पूर्वम् ॥ २।१।२५ ॥  
 १२५ असुको वाऽकि ॥ २।१।४४ ॥  
 ४८ अस्पष्टाववर्णात् त्वनुनि वा ॥ १।३।२५ ॥  
 १३७ अद्गः ॥ २।१।७४ ॥

आ.

- ९९ आ अमशसोऽन्ता ॥ १।४।७५ ॥  
 १९८ आख्यातयुपयोगे ॥ २।२।७३ ॥  
 १९७ आडावधौ ॥ २।२।७० ॥  
 ७ आद्यद्वितीयशपसा अघोषाः ॥ १।१।१३ ॥  
 १२४ आ द्वेरः ॥ २।१।४१ ॥  
 ७४ आपो हिता यैयासयास्याम् ॥ १।४।१७ ॥  
 ११५ आम आकम् ॥ २।१।२० ॥  
 १७८ आमन्त्र्ये ॥ २।२।३२ ॥  
 ८१ आमो नाम् वा ॥ १।४।३१ ॥  
 २०१ आरादर्थैः ॥ २।२।७८ ॥  
 १०९ आ रायो व्यञ्जने ॥ २।१।५ ॥

इ.

- १२८ इणः ॥ २।१।५१ ॥  
 १२२ इदमः ॥ २।१।३४ ॥  
 ६५ इदमदसोऽप्येव ॥ १।४।३ ॥  
 ७६ इदुतोऽखेरीद्वत् ॥ १।४।२१ ॥  
 १०० इन् कीसरे लुक् ॥ १।४।७९ ॥  
 ३४ इन्त्रे ॥ १।२।३० ॥  
 १०३ इन्द्रन्पूर्वार्थेऽन्तः शिस्तोः ॥ १।४।८७ ॥  
 ३१ इवर्णद्विरले सरे यवरकम् ॥ १।२।२१ ॥

पृष्ठाङ्कः

ई.

- १५२ ईडौ वा ॥ २।१।१०९ ॥  
३५ ईदुदेद द्विवचनम् ॥ १।२।३४ ॥  
३४ इरे वा ॥ १।२।३३ ॥

उ.

- १५५ उः पदान्तेऽनूत् ॥ २।१।११८ ॥  
१०१ उतोऽनडुच्चतुरो वः ॥ १।४।८१ ॥  
१८१ उत्कृष्टेऽनूपेन ॥ २।२।३९ ॥  
१९३ उत्पातेन प्राप्ये ॥ २।२।५९ ॥  
५६ उदः स्थास्तम्भः सः ॥ १।३।४४ ॥  
१५० उदच उदीच ॥ २।१।१०३ ॥  
१४८ उद्वानव्यौ च ॥ २।१।९७ ॥  
३१ उपसर्गस्यानिषेधेदोति ॥ १।२।१९ ॥  
१६७ उपसर्गादिवः ॥ २।२।१७ ॥  
१६८ उपान्वध्याङ्वसः ॥ २।२।२१ ॥  
२११ उपेताऽधिकिनि ॥ २।२।१०५ ॥

ऊ.

- ३७ ऊँ चोव् ॥ १।२।३९ ॥  
२९ ऊटा ॥ १।२।१३ ॥

ऋ.

- २५ ऋलृति ह्रस्वो वा ॥ १।२।२ ॥  
२०० ऋणाद्धेतोः ॥ २।२।७६ ॥  
२७ ऋणे प्रदर्शार्णवसनकम्बलवत्सरवत्सर-  
स्याद् ॥ १।२।७ ॥  
२८ ऋते तृतीयासमासे ॥ १।२।८ ॥  
२१४ ऋते द्वितीया च ॥ २।२।११४ ॥  
८३ ऋतो डुद् ॥ १।४।३७ ॥  
१०७ ऋतो रः स्वरेऽनि ॥ २।१।२ ॥  
३३ ऋतो रस्तद्धिते ॥ १।२।२६ ॥  
२६ ऋतो वा तौ च ॥ १।२।४ ॥  
२८ ऋत्याख्यसर्गस्य ॥ १।२।९ ॥  
१३६ कविज्जिदिशद्गृशृशृज्जद्भृपुणिहो  
गः ॥ २।१।६९ ॥  
९८ कडुदितः ॥ १।४।७० ॥  
१०२ कडुशनस्पुरुदंशोऽनेहसम्भ सेर्डाः ॥ १।४।८४ ॥

ऋ.

- २६ ऋस्तयोः ॥ १।२।५ ॥

लृ.

- २५ लृत लृलृभ्या वा ॥ १।२।३ ॥  
२९ लृत्वाल्वा ॥ १।२।११ ॥

लृ.

- ६ लृदन्ताः समानाः ॥ १।१।७ ॥

ए.

- ६ ए ऐ ओ औ सन्ध्यक्षरम् ॥ १।१।८ ॥  
१०० एः ॥ १।४।७७ ॥  
५ एकद्वित्रिमात्रा ह्रस्वदीर्घद्विहताः ॥ १।१।५ ॥  
५७ एतदक्ष व्यञ्जनेऽनग्रन्समासे ॥ १।३।४६ ॥  
८६ एदापः ॥ १।४।४२ ॥  
३२ एदेतोऽयाय् ॥ १।२।२३ ॥

पृष्ठाङ्कः

- ३३ एदोतः पदान्तेऽस्य लुक् ॥ १।२।२७ ॥  
८२ एदोद्भ्यां डसिडसो रः ॥ १।४।३५ ॥  
६५ एहृहृभोसि ॥ १।४।४ ॥  
२०७ एष्यहणेनः ॥ २।२।९४ ॥

ऐ.

- २९ ऐदौत् सन्ध्यक्षरैः ॥ १।२।१२ ॥

ओ.

- ९९ ओत ओ. ॥ १।४।७४ ॥  
३६ ओदन्त ॥ १।२।३७ ॥  
३२ ओदौतोऽयाय् ॥ १।२।२४ ॥  
३१ ओमाडि ॥ १।२।१८ ॥

औ.

- ७६ औता ॥ १।४।२० ॥  
५ औदन्ताः खरा. ॥ १।१।४ ॥  
९१ औरीः ॥ १।४।५६ ॥

क.

- १६७ करणं च ॥ २।२।१९ ॥  
२०५ कर्तरि ॥ २।२।८६ ॥  
१५८ कर्तुर्व्याप्यं कर्म ॥ २।२।३ ॥  
१८१ कर्मणि ॥ २।२।४० ॥  
२०४ कर्मणि कृत. ॥ २।२।८३ ॥  
१७० कर्माऽभिप्रेय. संप्रदानम् ॥ २।२।२५ ॥  
२४ कसमासेऽध्यर्द्ध ॥ १।१।४१ ॥  
७ कादिव्यञ्जनम् ॥ १।१।१० ॥  
१८५ कालाऽध्वनोर्व्याप्तौ ॥ २।२।४२ ॥  
१६९ कालाऽध्वभावदेशं वाऽकर्म चाऽकर्म-  
णाम् ॥ २।२।३ ॥  
१८८ काले भाववाऽऽचारे ॥ २।२।४८ ॥  
१२४ किम. कस्तसादौ च ॥ २।१।४० ॥  
१३४ कुरुच्छुर. ॥ २।२।६६ ॥  
२०८ कुशलाऽऽयुक्तेनाऽऽसेवायाम् ॥ २।२।९७ ॥  
१६५ कृग. प्रतियत्ने ॥ २।२।१२ ॥  
१८८ कृताद्यैः ॥ २।२।४७ ॥  
२०५ कृत्यस्य वा ॥ २।२।८८ ॥  
७८ केवलसखिपतेरौ ॥ १।४।२६ ॥  
२०६ कयोरसदाधारे ॥ २।२।९१ ॥  
१३१ काऽऽदेशोऽपि ॥ २।१।६१ ॥  
२२ क्त्वानुमम् ॥ १।१।३५ ॥  
२१३ क्रियामध्येऽध्वकाले पञ्चमी च ॥ २।२।११० ॥  
१८४ क्रियाविशेषणात् ॥ २।२।४१ ॥  
१७४ क्रियाऽऽश्रयस्याऽऽधारोऽधिकरणम् ॥ २।२।३० ॥  
१५६ क्रियाहेतुः कारकम् ॥ २।२।१ ॥  
१७१ कुद्वुद्भेर्न्याऽस्यार्थैर्य प्रति कोपः ॥ २।२।२७ ॥  
१०५ कुशस्तनस्त्वच् पुसि ॥ १।४।९१ ॥  
१४६ क्लीबे वा ॥ २।१।९३ ॥  
१५१ कसुप्तौ च ॥ २।१।१०५ ॥  
१२९ किञ्चुत्तेरसुधियस्तौ ॥ २।१।५८ ॥

ख.

- ८३ खितिस्त्रितीय उद् ॥ १।४।३६ ॥  
५९ ख्यानि ॥ १।३।५४ ॥

पृष्ठाङ्कः

ग.

- १३८ गलदवादेऽनुर्भान्तस्यैकगारस्यादेधनुर्धे-  
स्त्वोश्च प्रत्यये ॥ २।१।७७ ॥  
२२ गतिः ॥ १।१।३६ ॥  
१६१ गतिबोधाऽऽहारार्थशब्दकर्मनित्याऽकर्मणा-  
मनीत्यापदिताशब्दायकन्ताम् ॥ २।२।५ ॥  
२१२ गते गम्यऽपानोऽन्तेर्नकार्यं वा ॥ २।२।१०७ ॥  
१९४ गतेर्नवाऽनामे ॥ २।२।६३ ॥  
१९८ गम्ययप. कर्माऽऽधारे ॥ २।२।७४ ॥  
१९४ गम्यस्याऽऽप्ये ॥ २।२।६२ ॥  
२०० गुणादखिया नवा ॥ २।२।७७ ॥  
२१७ गुरायेक ॥ २।२।१२४ ॥  
३३ गोर्नाञ्च्यवोऽस्ते ॥ १।२।२८ ॥  
१७८ गोणात् समयानिकपादाधिगन्तरान्तरेणाऽति-  
येनतेर्नैर्द्वितीया ॥ २।२।३३ ॥

घ.

- ९७ घुष्टि ॥ १।४।६८ ॥  
४७ घोषवति ॥ १।३।२१ ॥

ङ.

- ११५ ङत्तेष्वाद् ॥ २।१।१९ ॥  
७७ ङिर्ङा ॥ १।४।२५ ॥  
७७ ङित्यदिति ॥ १।४।२३ ॥  
११७ ङेडसा तेमे ॥ २।१।२३ ॥  
६६ ङेडस्योर्याती ॥ १।४।६ ॥  
७१ ङेः सिन् ॥ १।४।८ ॥  
४५ ङो. फटावन्ती शिटि नवा ॥ १।३।१७ ॥

च.

- १४२ चजः कगम् ॥ २।१।८६ ॥  
४१ चटते सद्वितीये ॥ १।३।७ ॥  
२९० चतुर्यो ॥ २।२।५३ ॥  
१४७ चर्मण्यत्पृष्ठीवधकीवत्क्षीवद्भुमण्यत् ॥ २।१।९६ ॥  
१९ चादयोऽसत्त्वे ॥ १।१।३१ ॥  
३६ चादि. खराऽनाद् ॥ १।२।३६ ॥  
११९ चाहहवैवयोगे ॥ २।१।२९ ॥

ज.

- ९३ जरसो वा ॥ १।४।६० ॥  
१०८ जराया जरस् वा ॥ २।१।३ ॥  
७१ जस हः ॥ १।४।९ ॥  
७६ जस्येदोत् ॥ १।४।२२ ॥  
११८ जसविशेष्यं वाऽऽमन्ये ॥ २।१।२६ ॥  
२१६ जात्याख्याया नवैकोऽसंख्यो बहुवत् ॥ २।२।१२१ ॥  
१६६ जासनाटक्राथपिपो हिंसायाम् ॥ २।२।१४ ॥

ट.

- ७७ टः पुंसि ना ॥ १।४।२४ ॥  
६५ टाडसोरिनस्यौ ॥ १।४।५ ॥  
११० टाड्योसि य. ॥ २।१।७ ॥  
१०५ टावी खरे वा ॥ १।४।९२ ॥  
१२३ टौस्यनः ॥ २।१।३७ ॥  
७५ टौत्येत् ॥ १।४।१९ ॥

पृष्ठाङ्कः

ट.

- ९० टतिष्ण. संख्याया लुप् ॥ १।४।५४ ॥  
२३ टत्यत् सख्यायत् ॥ १।१।३९ ॥  
१५३ टित्यन्त्यसरादे. ॥ २।१।११४ ॥  
४५ ट्. सः त्सोऽश्च ॥ १।३।१८ ॥

ढ.

- ५५ ढस्तटे ॥ १।३।४२ ॥

ण.

- १३० णमस्तत्परे स्यादिनिर्घा च ॥ २।१।६० ॥

त.

- १२५ त. सां स' ॥ २।१।४२ ॥  
५२ तत शिटः ॥ १।३।३६ ॥  
५२ ततोऽप्या. ॥ १।३।३४ ॥  
४० ततो द्यतुर्ध' ॥ १।३।३ ॥  
५६ तद' सेः सरे पादार्या ॥ १।३।४५ ॥  
११ तदन्तं पदम् ॥ १।१।२० ॥  
१९५ तद्ग्राऽऽयुष्यक्षेमाऽर्धाऽर्थेना-  
ऽऽशिपि ॥ २।२।६६ ॥  
२०९ तपुके हेतौ ॥ २।२।१०० ॥  
११४ तव मम टसा ॥ २।१।१५ ॥  
६१ तवर्गस्य श्ववर्गष्टवर्गाभ्यां योगे चट-  
घर्गा ॥ १।३।६० ॥  
१९१ तादर्थ्यं ॥ २।२।५४ ॥  
७३ तीयं द्विकार्यं वा ॥ १।४।१४ ॥  
११४ तुभ्यं मया द्या ॥ २।१।१४ ॥  
१९३ तुमोऽर्थे भाववचनात् ॥ २।२।६१ ॥  
८ तुल्यस्थानाऽऽस्य प्रयत्न. स्वः ॥ १।१।१७ ॥  
२१४ तुल्यार्थैस्त्वृतीयापष्ठ्यौ ॥ २।२।११६ ॥  
५८ तृतीयस्त्वृतीयचतुर्थे ॥ १।३।४९ ॥  
३९ तृतीयस्य पञ्चमे ॥ १।३।१ ॥  
७२ तृतीयान्तात् पूर्वावर योगे ॥ १।४।१३ ॥  
२१४ तृतीयाऽल्पीयस ॥ २।२।११२ ॥  
२०६ तृलुदन्ताऽव्ययफलानाऽतृशतलङ्घि-  
कचुखलर्थस्य ॥ २।२।९० ॥  
८४ तृखखनमुनेष्ट्वपृक्षतृहोत्पोत्प्रशाखो  
घुट्याद् ॥ १।४।३८ ॥  
४४ तौ मुमो व्यञ्जने स्त्रौ ॥ १।३।१४ ॥  
१२१ त्वदामेनदेतदो द्वितीयाटौस्य-  
वृत्त्यन्ते ॥ २।१।३३ ॥  
१०७ त्रिचतुरस्तिस्त्वृत्तत् स्यादौ ॥ २।१।१ ॥  
८२ त्रैलोक्यः ॥ १।४।३४ ॥  
११३ त्वमह सिना प्राक् चाकः ॥ २।१।१२ ॥  
११२ त्वमौ प्रत्ययोत्तरपदे चैकसिन् ॥ २।१।११ ॥

थ.

- १०० थो न्थ ॥ १।४।७८ ॥

द.

- ९४ दध्यस्थिसकथ्यक्ष्णोऽन्तस्यान् ॥ १।४।६३ ॥  
१४९ दन्तपादनासिकाह्वयास्यदूरोदकदोर्य-  
कृच्छकृतो दत्तपक्षद्वयस्यपक्षद्वयोपन्-  
यकभुशकन् वा ॥ २।१।१०१ ॥

पृष्ठाङ्कः

- १९० दामः संप्रदानेऽधर्म्य आत्मने च ॥ २।२।५२ ॥  
 १५४ दिव औः सौ ॥ २।१।११७ ॥  
 ८७ दीर्घ्याप्यञ्जनात् सेः ॥ १।४।४५ ॥  
 ८८ दीर्घो नाम्यत्तिचुचतस्रपूः ॥ १।४।४७ ॥  
 १३० हन्पुनर्वर्षाकारैर्भुवः ॥ २।१।५९ ॥  
 १६४ दृश्यमिवदोरात्मने ॥ २।२।९ ॥  
 १२० दृश्यैश्चिन्तायाम् ॥ २।१।३० ॥  
 १२४ दो मः स्यादौ ॥ २।१।३९ ॥  
 ७२ हन्त्रे वा ॥ १।४।११ ॥  
 ४३ द्विः कानः कानि स ॥ १।३।११ ॥  
 २१५ द्वितीयाप्यञ्जवेनेनाऽनञ्जेः ॥ २।२।११७ ॥  
 १७९ द्वित्वेऽधोऽध्युपरिभिः ॥ २।२।३४ ॥  
 ११७ द्वित्वे वासौ ॥ २।१।२२ ॥  
 २०४ द्विपो वाऽलृशः ॥ २।२।८४ ॥  
 २०५ द्विहेतोर्लृयणकस्य वा ॥ २।२।८७ ॥

घ.

- १३९ घागस्तथोश्च ॥ २।१।७८ ॥  
 १२७ घातोर्विघर्णोर्वर्णस्येयुक् स्वरे प्रत्यये ॥ २।१।५० ॥  
 १३८ घुटस्त्वृतीयः ॥ २।१।७६ ॥  
 ९६ घुटां प्राक् ॥ १।४।६६ ॥  
 ५८ घुटो घुटि स्वे वा ॥ १।३।४८ ॥

न.

- १६७ न ॥ २।२।१८ ॥  
 १२ नं क्ये ॥ १।१।२२ ॥  
 ४६ नः शिञ् ॥ १।३।१९ ॥  
 ७८ न ना द्वित्वे ॥ १।४।२७ ॥  
 ९१ नपुंसकस्य शिः ॥ १।४।५५ ॥  
 १३४ न यि तद्वित्वे ॥ २।१।६५ ॥  
 ५३ न रात् स्वरे ॥ १।३।३७ ॥  
 ७४ नवम्यः पूर्वम्य इसात्स्मिन् वा ॥ १।४।१६ ॥  
 १५२ न वमन्तसंयोगात् ॥ २।१।१११ ॥  
 २०८ नवा सुजर्थैः काले ॥ २।२।९६ ॥  
 ६२ न शात् ॥ १।३।६२ ॥  
 १३६ नशो वा ॥ २।१।७० ॥  
 ५९ न सन्धिः ॥ १।३।५२ ॥  
 ७२ न सर्वादिः ॥ १।४।१२ ॥  
 १२ न स्तं मत्वर्थे ॥ १।१।२३ ॥  
 १४२ नहाहोर्घतो ॥ २।१।८५ ॥  
 १६४ नाथः ॥ २।२।१० ॥  
 ११९ नाऽन्यत् ॥ २।१।२७ ॥  
 १४६ नाऽऽमक्ये ॥ २।१।९२ ॥  
 ११ नाम सिदय्यञ्जे ॥ १।१।२१ ॥  
 ९३ नामिनो लुक् वा ॥ १।४।६१ ॥  
 १७५ नास्त्रः प्रथमेकद्विवहौ ॥ २।२।३१ ॥  
 १४७ नास्त्रि ॥ २।१।९५ ॥  
 २८ नास्त्रि वा ॥ १।२।१० ॥  
 १४६ नास्त्रो नोऽनङ्गः ॥ २।१।९१ ॥  
 ८६ नित्यदिद्विस्वराऽभ्यर्थस्य द्वस्वः ॥ १।४।४३ ॥  
 १२० नित्यमन्वादेशे ॥ २।१।३१ ॥  
 १०२ नि दीर्घः ॥ १।४।८५ ॥

पृष्ठाङ्कः

- २१० निपुणेन चाऽर्चायाम् ॥ २।२।१०३ ॥  
 १६६ निप्रेभ्यो घ्नः ॥ २।२।१५ ॥  
 ८९ निय आम् ॥ १।४।५१ ॥  
 १०४ नि वा ॥ १।४।८९ ॥  
 ८८ नुर्वा ॥ १।४।४८ ॥  
 ४३ नूनः पेपु वा ॥ १।३।१० ॥  
 ७१ नेमाऽर्धप्रथमचरमतयाऽयाऽल्पकति-  
 पयस्य वा ॥ १।४।१० ॥  
 १७२ नोपसर्गात् कुद्द्रुहा ॥ २।२।२८ ॥  
 ४२ नोऽप्रज्ञानोऽनुस्वारात्तुनासिको च  
 पूर्वस्याऽधुत्परे ॥ १।३।८ ॥  
 २०६ नोभयोर्हेतोः ॥ २।२।८९ ॥  
 १४८ नोर्म्यादिभ्यः ॥ २।१।९९ ॥  
 १०२ न्सहतोः ॥ १।४।८६ ॥

प.

- ७ पञ्चको वर्गः ॥ १।१।१२ ॥  
 ९२ पञ्चतोऽन्यादेरनेकतरस्य दः ॥ १।४।५८ ॥  
 १९७ पञ्चम्यपादाने ॥ २।२।६९ ॥  
 ९९ पथिन्मयिन्मुक्ष सौ ॥ १।४।७६ ॥  
 १४५ पदस्य ॥ २।१।८९ ॥  
 ११६ पदाद्युग्विभक्त्यैकवाक्ये वक्षसो  
 वहुत्वे ॥ २।१।२१ ॥  
 ६२ पदान्ताद्वर्गादनामूनगरीनवते. ॥ १।३।६३ ॥  
 १३३ पदान्ते ॥ २।१।६४ ॥  
 १९६ परिक्रयणे ॥ २।२।६७ ॥  
 १९७ पर्यपाभ्यां वर्ज्ये ॥ २।२।७१ ॥  
 ११९ पादाद्योः ॥ २।१।२८ ॥  
 ९९ पुंसो. पुमन्त् ॥ १।४।७३ ॥  
 १६ पुंलियोः स्यमौजस् ॥ १।१।२९ ॥  
 ४२ पुमोऽशिष्यघोषेऽस्यागिर. ॥ १।३।९ ॥  
 ५३ पुत्रस्याऽऽदिनपुत्रादिन्याक्रोशे ॥ १।३।३८ ॥  
 २१४ पृथग्नाना पञ्चमी च ॥ २।२।११३ ॥  
 १९२ प्रत्यनोर्गुणाऽऽत्त्यातरि ॥ २।२।५७ ॥  
 ४० प्रत्यये च ॥ १।३।२ ॥  
 १९२ प्रत्याङ्. श्रुवार्थिनि ॥ २।२।५६ ॥  
 ४० प्रथमादघुटि शङ्छः ॥ १।३।४ ॥  
 १९९ प्रभृत्यन्यार्थदिक्रान्द्वहिरारादि-  
 तरे. ॥ २।२।७५ ॥  
 १८९ प्रसितोत्सुकावचक्षेः ॥ २।२।४९ ॥  
 २९ प्रस्यैष्योढोद्व्यूहे स्वरेण ॥ १।२।१४ ॥  
 १२७ प्रागिनात् ॥ २।१।४८ ॥  
 ५० मुताद् वा ॥ १।३।२९ ॥  
 ३४ मुतोऽनितौ ॥ १।२।३२ ॥

फ.

- २१७ फल्गुनीप्रोष्ठपदस्य भे ॥ २।२।१२३ ॥  
 व.

- २४ बहुगणं भेदे ॥ १।१।४० ॥  
 १२७ बहुष्वेरीः ॥ २।१।४९ ॥

भ.

- १२८ भृशोः ॥ २।१।५३ ॥  
 १६३ भक्षोर्हिसायाम् ॥ २।२।६ ॥



पृष्ठाङ्कः

१८० भागिनि च प्रतिपर्यनुभिः ॥ २।२।३७ ॥  
 ६४ भिस पेस ॥ १।४।२ ॥  
 १४१ भ्वादेर्दादेर्घः ॥ २।१।८३ ॥  
 १३३ भ्वादेर्नामिनो दीर्घोर्ध्वजने ॥ २।१।६३ ॥

म.

४५ मनयचालपरे हे ॥ १।३।१५ ॥  
 १३ मनुर्गभोऽदितोयति ॥ १।१।२४ ॥  
 १११ मन्तस्य युवावौ द्वयोः ॥ २।१।१० ॥  
 १९५ मन्यन्त्याऽनावादिभ्योऽतिकृत्तमे ॥ २।२।६३ ॥  
 ८५ मातुर्मातः पुत्रेऽर्हो विनाऽऽमनये ॥ १।३।४० ॥  
 १२५ मादुवर्णोऽनु ॥ २।१।४७ ॥  
 १४७ मावर्णान्तोपान्तापञ्चमवर्णान्तोर्मो  
 चः ॥ २।१।९४ ॥  
 १४९ मासनिशासनस्य शम्भरो लुग वा ॥ २।१।१०० ॥  
 १४१ मुष्टद्वन्द्वमुष्टिहो वा ॥ २।१।८४ ॥  
 १३५ मो नो म्योद्य ॥ २।१।६७ ॥  
 ११० मोर्वा ॥ २।१।९ ॥  
 १२९ मोऽवर्णस्य ॥ २।१।४५ ॥  
 ५३ सां धुदवर्गेऽन्योऽपदान्ते ॥ १।३।३० ॥

य.

१४३ यजस्जमृजराजभ्राजभ्रस्जमव्यपरिमाज  
 शः प ॥ २।१।८७ ॥  
 १९७ यतः प्रतिनिधिप्रतिदाने प्रतिना ॥ २।२।७२ ॥  
 २११ यद्वाचो माचलक्षणम् ॥ २।२।१०६ ॥  
 १८७ यद्रेदस्तद्वदास्या ॥ २।२।४६ ॥  
 १९२ यद्वीक्ष्ये राघीक्षी ॥ २।२।५८ ॥  
 ७ यरलवा अन्तस्याः ॥ १।१।१५ ॥  
 १४९ यस्वरे पाद्. पङ्क्तिव्युष्टि ॥ २।१।१०२ ॥  
 १३६ युजञ्जुञ्जो नोडः ॥ २।१।७१ ॥  
 ९८ युञ्जोऽसमासे ॥ १।४।७१ ॥  
 १०९ युष्मदस्मदोः ॥ २।१।६ ॥  
 ११४ यूय वय जसा ॥ २।१।१३ ॥  
 १२९ योऽनेकस्वरस्य ॥ २।१।५६ ॥  
 ३२ व्यक्ये ॥ १।२।२५ ॥

र.

४१ रः कलपकयोः क्लृपौ ॥ १।३।५ ॥  
 ५९ रः पदान्ते विसर्गस्तयोः ॥ १।३।५३ ॥  
 १४८ राजन्वान् सुराणि ॥ २।१।९८ ॥  
 १४५ रात्स. ॥ २।१।९० ॥  
 २०३ रिरिष्टात्स्तादस्तादस्तसाता ॥ २।२।८२ ॥  
 १९१ रुचिरुप्यर्थधारिभिः प्रेयविकारोत्त-  
 मर्णेषु ॥ २।२।५५ ॥  
 १६५ रुजार्यस्याऽज्वरिसंतापेर्भावे कर्तरि ॥ २।२।१३ ॥  
 ५५ रो रे लुग दीर्घश्चादिदुत. ॥ १।३।४१ ॥  
 ४९ रोर्घ. ॥ १।३।२६ ॥  
 १३७ रो लुप्ति ॥ २।१।७५ ॥  
 १४० रीम्यन्तात् परोक्षायतन्याशिपो  
 घो ङः ॥ २।१।८० ॥

पृष्ठाङ्कः

ल.

९७ लो वा ॥ १।४।६७ ॥  
 ५० लोर्द्वयस्वरस्याऽनु नमः ॥ १।३।३१ ॥  
 १७९ लक्षणवीप्स्येत्यभूतेष्वभिना ॥ २।२।३६ ॥  
 ६३ लि लौ ॥ १।३।६५ ॥  
 ४४ लुक् ॥ १।३।१३ ॥  
 १५३ लुगस्यादेत्यपदे ॥ २।१।११३ ॥  
 १५२ लुगातोऽनापः ॥ २।१।१०७ ॥  
 ४ लोफात् ॥ १।१।३ ॥

व.

२२ घत्तस्याम् ॥ १।१।३४ ॥  
 १६३ घटेः प्रयेय ॥ २।२।७ ॥  
 १०१ वा. शेषे ॥ १।४।८२ ॥  
 १६१ वाऽकर्मणामणिर्कर्ता णी ॥ २।२।४ ॥  
 २०७ वा ऋत्रे ॥ २।२।९२ ॥  
 ३४ वाऽत्यसन्धि. ॥ १।२।३१ ॥  
 १२६ वाऽद्वौ ॥ २।१।४६ ॥  
 ३१ वा नास्ति ॥ १।२।२० ॥  
 ९४ वाऽन्यत. पुमाष्टादी स्वरे ॥ १।४।६२ ॥  
 १६९ वाऽभिनिविश ॥ २।२।२२ ॥  
 १२९ वाऽम् शसि ॥ २।१।५५ ॥  
 ९० वाऽएन आ. स्यादो ॥ १।४।५२ ॥  
 ६० वाऽहर्पत्यादय. ॥ १।३।५८ ॥  
 २१४ विना ते तृतीया ॥ २।२।११५ ॥  
 १६६ विनिमेषवृत्तपण पणव्यवहोः ॥ २।२।१६ ॥  
 २१ विभक्तियमन्ततसायाभाः ॥ १।१।३३ ॥  
 ५९ विरामे वा ॥ १।३।५१ ॥  
 १३ वृत्त्यन्तोऽसपे ॥ १।१।२५ ॥  
 ८० वेयुवोऽस्त्रिया ॥ १।४।३० ॥  
 २०४ वैकत्र द्वयोः ॥ २।२।८५ ॥  
 १०१ वोशनसो नश्चामनये सौ ॥ १।४।८० ॥  
 ३० वौष्ठौतौ समासे ॥ १।२।१७ ॥  
 ५७ व्यञ्जनात् पञ्चमान्तस्याया. सारूपे  
 वा ॥ १।३।४७ ॥  
 ६० व्यत्यये लुग वा ॥ १।३।५६ ॥  
 २०९ व्याप्ये क्तेनः ॥ २।२।९९ ॥  
 १८९ व्याप्ये द्विद्रोणादिभ्यो वीप्सायाम् ॥ २।२।५० ॥  
 ४७ व्योः ॥ १।३।२३ ॥

श.

१९६ शकार्थवपहनमः स्वस्तिस्वाहास्व-  
 धाभिः ॥ २।२।६८ ॥  
 ४१ शषसे शषसं चा ॥ १।३।६ ॥  
 ८९ शसोऽता सश्च न. पुंसि ॥ १।४।४९ ॥  
 ११४ शसो नः ॥ २।१।१७ ॥  
 ५२ शिष्टः प्रथमद्वितीयस्य ॥ १।३।३५ ॥  
 ६० शिष्टव्यधोपात् ॥ १।३।५५ ॥  
 ६० शिष्टव्यधस्य द्वितीयो वा ॥ १।३।५९ ॥  
 ५४ शिद्धहेऽनुस्वारः ॥ १।३।४० ॥  
 १६ शिर्षुद् ॥ १।१।२८ ॥  
 २०२ शेषे ॥ २।२।८१ ॥

**शुद्धः**

- ११० शेषे लुक् ॥ २।१।८ ॥  
 १५४ व्यवाचः ॥ २।१।११६ ॥  
 १९३ भ्रातृद्वयस्यादापा प्रयोज्ये ॥ २।२।६० ॥  
 १५१ भवन् युवन्मघोनो ङीस्याद्यघुट्स्वरे च  
 उः ॥ २।१।१०६ ॥

**ष**

- १३२ षढोः कः सि ॥ २।१।६२ ॥  
 २१२ षष्ठी वाऽनादरे ॥ २।२।१०८ ॥  
 १५२ षादिहन् घृतराक्षोऽणि ॥ २।१।११० ॥  
 ६३ षि तवर्गस्य ॥ १।३।६४ ॥

**स**

- ८२ संख्यानां णाम् ॥ १।४।३३ ॥  
 ८९ संख्यासायवेरहस्याहन् ङौ वा ॥ १।४।५० ॥  
 १४४ संयोगस्यादौ स्कोल्लुक् ॥ २।१।८८ ॥  
 १२८ संयोगात् ॥ २।१।५२ ॥  
 १०१ सख्युरितोऽशावैत् ॥ १।३।८३ ॥  
 १३७ सजुप् ॥ २।१।७३ ॥  
 १२१ सपूर्वात् प्रथमान्ताद् वा ॥ २।१।३२ ॥  
 २१२ सप्तमी चाविभागे निर्द्धारणे ॥ २।२।१०९ ॥  
 २०८ सप्तम्यधिकरणे ॥ २।२।९५ ॥  
 ८८ समानादमोऽतः ॥ १।४।४६ ॥  
 २५ समानाना तेन दीर्घः ॥ १।२।११ ॥  
 १८९ समो होऽस्मृतौ वा ॥ २।२।५१ ॥  
 ४६ सम्राट् ॥ १।३।१६ ॥  
 ७४ सर्वादेर्द्विपूर्वाः ॥ १।४।१८ ॥  
 २१५ सर्वादेः सर्वाः ॥ २।२।११९ ॥  
 ६६ सर्वादेः सैस्मातौ ॥ १।४।७ ॥  
 १७९ सर्वोभयाऽभिपरिणा तसा ॥ २।२।३५ ॥  
 १४ सविशेषणमाख्यातं वाक्यम् ॥ १।१।२६ ॥  
 ६२ सस्य शर्पा ॥ १।३।६१ ॥  
 १८६ सहायै ॥ २।२।४५ ॥  
 ५६ सहिवहेरोच्चाऽवर्णस्य ॥ १।३।४३ ॥  
 १७० साधकतमं करणम् ॥ २।२।२४ ॥  
 २१० साधुना ॥ २।२।१०२ ॥  
 ३ सिद्धिः स्याद्वादात् ॥ १।१।२ ॥  
 १८५ सिद्धौ तृतीया ॥ २।२।४३ ॥  
 १३७ सो रुः ॥ २।१।७२ ॥  
 ३७ सौ नवेतौ ॥ १।२।३८ ॥

**पृष्ठाक्षः**

- २०१ स्तोकाऽल्परुच्छ्रकतिपयादसत्त्वे  
 करणे ॥ २।२।७९ ॥  
 ११ स्यादिविभक्तिः ॥ १।१।१९ ॥  
 १२८ स्त्रियाः ॥ २।१।५४ ॥  
 ७८ स्त्रिया ङितां वा र्ददासदासदाम् ॥ १।४।२८ ॥  
 १०५ स्त्रियाम् ॥ १।४।९३ ॥  
 ७९ स्त्रीदूतः ॥ १।४।२९ ॥  
 १७१ स्पृहेर्व्याप्यं वा ॥ २।२।२६ ॥  
 १६५ स्मृत्यर्थदयेदः ॥ २।२।११ ॥  
 १२२ स्यादौ चः ॥ २।१।५७ ॥  
 ११ स्यौजसमीदासदाभ्यामिस् ङेभ्यां-  
 भ्यस्लुसिभ्यस्लुसोसाम्हयोस्-  
 सुपा त्रयीत्रयी प्रथमाऽऽदि ॥ १।१।१८ ॥  
 १३५ सन्स्वन्स्वकस्तनदुहो दः ॥ २।१।६८ ॥  
 १५७ सतन्त्रः कर्ता ॥ २।२।२ ॥  
 ९६ खराच्छौ ॥ १।४।६५ ॥  
 १७ खरादयोऽव्ययम् ॥ १।१।३० ॥  
 ५० खरेभ्यः ॥ १।३।३० ॥  
 ४८ खरे वा ॥ १।३।२४ ॥  
 ३३ खरे वाऽनक्षे ॥ १।२।२९ ॥  
 २०८ स्वामीभ्वराऽधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभू-  
 प्रसूतै ॥ २।२।९८ ॥  
 २१० खेरोऽधिना ॥ २।२।१०४ ॥  
 ३० खैरखैर्यक्षाहिण्याम् ॥ १।२।१५ ॥  
 ४३ स्सटि समः ॥ १।३।१२ ॥

**ह**

- १५३ हनो हो मः ॥ २।१।११२ ॥  
 १४० हान्तस्याच्च जीह्व्यां वा ॥ २।१।८१ ॥  
 १९५ हितसुखाभ्याम् ॥ २।२।६५ ॥  
 १६३ हक्रोर्नवा ॥ २।२।८ ॥  
 १८५ हेतुकर्तृकरणेत्यभूतलक्षणे ॥ २।२।४४ ॥  
 १८० हेतुसहार्थेऽनुना ॥ २।२।३८ ॥  
 २१५ हेत्वर्थेऽस्तृतीयाद्याः ॥ २।२।११८ ॥  
 १४१ हो धुट्पदान्ते ॥ २।१।८२ ॥  
 १७० ह्रस्वस्य गुणः ॥ १।४।४१ ॥  
 ४९ ह्रस्वाद् ह्रणतो द्वे ॥ १।३।२७ ॥  
 ८१ ह्रस्वापञ्च ॥ १।४।३२ ॥  
 ३२ ह्रस्वोऽपदे वा ॥ १।२।२२ ॥



## ३ परिशिष्टम् ।

॥ ग्रन्थसंशोधनावयवसरेऽतिसहायीभूतग्रन्थावलिः ॥

हस्तलिखितताडपत्रीयग्रन्थविभागः ।

क्रमांक	ग्रन्थनाम	पत्रसंख्या	दिपि.	स्थान
१	सिद्धहेमशब्दानुशासन- तत्त्वप्रकाशिकायुतम्	२०८	संस्कृत पडिमात्रा.	संभात-ताडपत्रीयज्ञानमण्डार. डा० ६५।१ ३।३।१ यी ४।४।८१ सुधी.
२	सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनवृद्धवृत्ति- पाद ३	३००	,,	संभात-ताडपत्रीयज्ञानमण्डार. डा० १०७।१.
३	सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन- अवचूर्णिका ९ पाद पूरा [श्रीजयानंदसूरिदिपि श्रीभरतचन्द्र० रचना लेखन संवत् १२६४ श्रावण शु० ३ रविवार.]	२०९	,,	संभात-ताडपत्रीयज्ञानमण्डार. डा० ११५।५.
४	सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन- ७ अध्याय मूल तथा धातुपाठ.	१२१	,,	संभात-ताडपत्रीयज्ञानमण्डार. डा० ११७।१.
५	सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन मूल- सूत्र अने धातुपाठ.	११३	,,	संभात-ताडपत्रीयज्ञानमण्डार. डा० ११७।३.
६	सिद्धहेमशब्दानुशासनवृद्धवृत्ति पा० ७ यी १० सुधी	२२८	,,	संभात-ताडपत्रीयज्ञानमण्डार. ११८।१
७	सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन- वृ० वृ० प्रथमोऽध्याय	३५५	,,	संभात-ताडपत्रीयज्ञानमण्डार. डा० ११९।२.

हस्तलिखितपत्राकारग्रन्थविभागः ।

८	सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन वृ० वृत्ति नं १४०८ सं १८८७-९१	भाण्डारकर ओ० इ० पूना
९	वाक्यपदीप प्रथमकाण्ड नं २८१९ सं १९३५	भाण्डारकर ओ० इ० पूना
१०	सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन मूल नं. २३४ सं १८९३-९५.	भाण्डारकर ओ० इ० पूना
११	सिद्धहेमशब्दानुशासन-तत्त्वप्रकाशिका-महार्णव वृ० न्यास. प्र० अ० १ पाद संपूर्ण पत्र ४०	ली० ज्ञानमण्डार नं० २८७८
१२	सिद्धहेमतत्त्वप्रकाशिका-महार्णवन्यास अ० १ पा० ३, अ० २ पा० १ सुधी पत्र ६८	ली० ज्ञानमण्डार. नं० २८७९
१३	सिद्धहेमतत्त्वप्रकाशिका-महार्णवन्यास अ० २ पा० १-२ सुधी पत्र ४९.	ली० ज्ञानमण्डार नं० २८८०
१४	सिद्धहेमतत्त्वप्रकाशिका-महार्णव-बृहन्न्यास पत्र ५२ अ० २ पा० ३-४	ली० ज्ञानमण्डार. नं० २८८१
१५	सिद्धहेमतत्त्वप्रकाशिका-महार्णवन्यास अ० ३ चोथा पाद सुधी पत्र २८	ली० ज्ञानमण्डार. नं० २८८२.
१६	सिद्धहेमशब्दानुशासन-बृहन्न्यास-सारोद्धार टिप्पणक पत्र १०१ यी १७९	ली० ज्ञानमण्डार. नं. २८८३
१७	सिद्धहेमशब्दानुशासन-बृहद्वृत्ति-सटिप्पणक अ० ३ श्री सप्तमाध्यायपर्यंत पत्र २८६	ली० ज्ञानमण्डार. नं० २८८४.

१८	सिद्धहेमशब्दानुशासन-तत्त्वप्रकाशिका-वृहद्वृत्ति पत्र ६३९ ।	मुनि-श्रीपुण्यविजयजी. हे० जै० ज्ञानभण्डार. पाटण.
१९	सिद्धहेमशब्दानुशासन-तत्त्वप्रकाशिका-महार्णवव्यास	
२०	सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन-तत्त्वप्रकाशिका- महार्णव वृहद्व्यास पाद १. पत्र ३७ नं. ६६१० डा० १६८.	हे० जै० ज्ञानभण्डार. पाटण.
२१	सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन तत्त्वप्रकाशिका वृ० वृ० महार्णवव्यास-पा० ३-४-५ पत्र ६३ नं० ६६११ डा० १६८.	हे० जै० ज्ञानभण्डार. पाटण.
२२	सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन-तत्त्वप्रकाशिका वृ० वृ० महार्णवव्यास पा० ६-७-८-१२-२७ पत्र १५६. नं० ६६१२ डा० १६८.	हे० जै० ज्ञानभण्डार. पाटण.
२३	सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन-तत्त्वप्रकाशिका वृ० वृ० महार्णवव्यास पा० २७ पत्र ३६ नं० २२७७ डा० ९६.	हे० जै० ज्ञानभण्डार. पाटण.
२४	सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन-तत्त्वप्रकाशिका-वृहद्वृत्ति महार्णवव्यास ।	श्रीचन्द्रप्रदीपज्ञानकोष. मुंबई.
२५	शाकटायन-अमोघावृत्ति पृ० ६२३ नं० क १६४ श्री एलक पन्नालाल दि० जैनसरस्वती-भवन. मुंबई.	

## मुद्रितग्रन्थविभागः ।

क्रमांक	ग्रन्थ-नाम	प्रकाशनसंवत् अ.	प्रकाशक-नाम	भाषा
२६	अभिधानचिन्तामणिसटीक-भा. १.	वि सं. १९७१	श्रीयशोविजयजी-जैनग्रन्थमाला, भावनगर. संस्कृत	
२७	अभिधानचिन्तामणिशब्दकोश.	" १९७६	" " " "	
२८	अभिधानसंग्रहः भा. १ [अमरकोश-त्रिकाण्ड-द्वारावली- एकाक्षर-द्विरूपादयः]	शाके १८११	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई.	"
२९	अभिधानसंग्रह भा. २ [अभिधानचिन्तामणि-अनेकार्थ- संग्रह-निघण्टु-लिङ्गानुशासन- शिलोच्छादयः]	" १८१८	" " " "	"
३०	अमरकोशसटीक-हिन्दीव्याख्यासमेत. वि.सं. १९७१	वि.सं. १९७१	निर्णयसागर प्रेस. बम्बई.	संस्कृत-हिन्दी
३१	अर्थसंग्रहः	इ. का. १९३०	" " " "	"
३२	आत्मानन्द जैनसभानी लायब्रेरीनुं पुस्तक ( सचिपत्र. )	वि.सं. १९८३	श्रीआत्मानन्द-जैनसभा, भावनगर.	गुजराती
३३	आपणो धर्म ले० आनन्दशङ्कर बापुभाई धुव.	" १९७६ उ.	जी० एम० जागुटे, अमदावाद.	"
३४	उत्तररामचरित्र-नाटक.		कलकत्ता.	संस्कृत-हिन्दी
३५	उत्तरहिन्दुस्तानमा जैनधर्म.			गुजराती
३६	उणादिवृत्ति. भाग २.		रोयल एशियाटिक सोसायटी. मुंबई.	
३७	ऐतिहासिक-संशोधन. ले० दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री	वि सं. १९९८	गुजराती साहित्य परिषद ग्रं. १ भारतीयविद्याभवन.	गुजराती
३८	कादम्बरी-सटीक	इ. का. १९३२	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई.	संस्कृत
३९	काव्यप्रकाशः	" १९२९	आनन्दाश्रम ग्रन्थावली, पूना.	"
४०	काव्यानुशासनम्	" १९३४	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई.	"
४१	काशिका-वामनजयादित्यः	वि.सं. १९८७	चोखम्बा संस्कृत सिरिस् ३७, व्याकरण सि० ६, बनारस.	"
४२	काशिका विवरण-पञ्जिका भा. १	इ. का. १९२४	वीरेन्द्र रिचर्स सोसायटी, बनारस.	"
४३	" " " भा. २	" "	" " " "	संस्कृत
३०			" " " "	"

क्रमाद्	ग्रन्थ-नाम	प्रकाशनसंवत्	प्रकाशक-नाम	भाषा
४४	किरातार्जुनीयः सटीकः	इ. फ्रा. १९२९	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई.	संस्कृत
४५	कुमालपाल-प्रतियोध-अनुवादः		आत्मानन्द जैनसभा, भावनगर	गुजराती
४६	कुमारसंभवः सटीकः	इ. फ्रा. १९३० ख.	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई.	संस्कृत
४७	श्रीरामात, शा० प्रा० तारपथीय जैन ज्ञानमण्डारनुं सूचिपत्र	वि. सं. १९०९ ग.	मन्त्री मोहनलाल दीपचन्द चोकशी. गुज०	
४८	गुजरातनो-अर्वाचीन-इतिहास	वि. सं. १९५५	गु० चर्नाफ्युलर सोसायटी, अमदावाद. गुज०	
४९	गुजरातना ऐतिहासिकलेखो भा. ३	,, १९९८	फार्गस गुजराती सभा, बम्बई.	संस्कृत
५०	गुजरातनो प्राचीन-इतिहास	,, १९७७	गुजरात चर्नाफ्युलर सोसायटी.	गुजराती
५१	गुजरातनो मध्यकालीन राज० इतिहास भा. १	वि. सं. १९९३	" "	"
५२	गुजरातनो मध्यकालीन राज० इतिहास भा. २	,, १९९५	" "	"
५३	गुजरात चर्ना० सोसायटीनी लायब्रेरीना पुस्तकनी यादि भा. १	,, १९९२	हिरालाल श्रीमोहन पारेख.	"
५४	गुजराती साहित्यपरिपद् (१३ अधिवेशन-अहेवाल-निबंध-संग्रहः)	,, १९९८	गुजराती साहित्यपरि०	"
५५	गुजराती साहित्यपरिपद् (१४ अधिवेशन-अहेवाल- निबंधसंग्रहः)	,, २०००		
५६	गुर्जरदेश भा० १	वि. सं. १९९९ (इ. फ्रा. १९४३) च.	भारतीयविद्याभवन, बम्बई	इंग्लीश
५७	चन्द्रप्रभाव्याकरणम्	वि. सं. १९८४	श्रीजैन ध्येयस्कर मण्डल, मेसाणा.	संस्कृत
५८	चान्द्रव्याकरणम्	इ. फ्रा. १९०२ ज.	डॉ० वीन्डश जर्मनी.	"
५९	जिनरत्नकोशः भा. १	इ. फ्रा. १९४४	राजकीय प्राच्य ग्रन्थश्रेणि, (माण्डारकर ओ० री० इ०) 'सी.' ४ सं. इंग्लीश	
६०	जैसलमेर जैनमण्डार-ग्रन्थसूचि	वि. सं. १९२३	गायकवाड ऑ० सीरीश, बडोदरा. सं. गुजराती	
६१	जैनग्रन्थावली इ० लि० ग्रन्थसूचि	,, १९६५	जैन श्वे० कॉन्फरन्स, बम्बई सं. गुजराती	
६२	जैनग्रन्थसूचि	,, १९९१	रॉयल एशियाटिक सो० मुंबई	संस्कृत
६३	जैनपुस्तकप्रशस्तिसंग्रहः भा. १	,, १९९९	सिन्धी जैनग्रन्थमाला.	"
६४	जैन सत्यप्रकाशना अको	,, १९९५	श्रीजैन सत्यप्रकाश कार्यालय, अमदावाद. गुज.	
६५	" "	,, २०००	" "	"
६६	जैनसाहित्य और इतिहास	,, १९९८	हिन्दीग्रन्थरत्न कार्यालय, नाथुराम प्रेमी हिन्दी	
६७	जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास	,, १९८९	जैन श्वे० कॉन्फरन्स, मोहनलाल द० वेसाई गु०	
६८	जैनसिद्धान्तकौमुदीसटीकः रत्नचन्द्रकृतः		महेरचन्द्र लक्ष्मणदास, लाहोर	संस्कृत
६९	जैनेन्द्र-प्रक्रिया		श्रीमहावीर जैन विद्यालय, मुंबई,	"
७०	जैनेन्द्रव्याकरण-महावृत्ति अ. २	इ. फ्रा. १९१८	गवर्नमेन्ट संस्कृत कॉलेज, बनारस.	"
७१	" " " अ ३ ना पाद १-२	,, "	" " " "	"
७२	" " " अ ३ ना ६० सूत्रो	,, "	" " " "	"
७३	ज्ञानदीपिका ( महाभारत-आदिपर्व ) तात्पर्यटीकायुता देवबोधकृता	वि सं १९९७ त.	माण्डारकर ओ० सी०	"
७४	तर्कसंग्रह-सर्वस्वः	इ. फ्रा. १९२४ ध.	कुरुगण्ट रामशास्त्री. मद्रास.	"
७५	घातुपारायणः क० स० श्रीहेमचन्द्राचार्यकृतः,	१९०१	प्रो० ज्हाण क्रीस्टें, जर्मनी.	संस्कृत-इंग्लीश
७६	घातुरत्नाकरः भा. १	वि. सं. १९९५	जैनग्रन्थ-प्रकाशक-सभा, अमदावाद	संस्कृत
७७	" भा. २	" "	" " " "	"

क्रमाङ्क.	ग्रन्थ-नाम	प्रकाशनसंवत्	प्रकाशक-नाम	भाषा
		वि. सं.	जैनग्रन्थ-प्रकाशक-सभा.	संस्कृत
७८	धातु-रत्नाकरः भा. ३	वि. सं. १९९५		
७९	" " भा. ४	" "	" "	"
८०	" " भा. ५	" "	" "	"
८१	" " भा. ६	" १९९६	" "	"
८२	" " भा. ७	" १९९७	" "	"
८३	ध्वन्यालोकविवृतिः	" १९९४	चौखम्बा-संस्कृत-सीरीझ.	"
		न		
८४	नागेशोक्तिप्रकाशः (लघुशब्देन्दु- शेखरटीका) खूदीक्षाकृतः			संस्कृत
८५	निरुक्त-निघण्टु.	वि. सं १९८२	क्षेमराज श्रीकृष्णदास, मुंबई.	"
८६	नैपथीयचरितम्	इ. का १९३३	निर्णयसागर प्रेस, मुंबई.	"
८७	न्यायसंग्रह-न्यायार्थमञ्जूपाटीका	वि. सं. १९६७	श्रीयशोविजयजी-जैन-ग्रन्थमाला.	"
		प.		
८८	पद्मचन्द्रकोपः	इ. का १९२५	महेशचन्द्र लक्ष्मण, लाहोर.	संस्कृत-हिन्दी
८९	परमलघुमञ्जूपा-टिप्पण	" १९३५	चौखम्बा-संस्कृत-सीरीझ, बनारस.	संस्कृत
९०	परिपद प्रमुखना भाषणो परि. अ. २	वि. सं १९९८	भारतीय विद्या भवन.	गुजराती
९१	परिभाषेन्दुशेखरः विजयाटीकासमेतः	इ. का. १९४२	श्रीकृष्णमिश्र, बनारस.	संस्कृत
९२	पाटण प्राच्य जैन ज्ञानभण्डार-	" १९२३	गायकवाड ऑ सीरीझ.	"
	ताडपत्रीय-ग्रन्थसूचि भाग. १			
९३	पाणिनिव्याकरणम् ( अष्टाध्याययुतम् )	" १९३७	चौखम्बा-सं. सीरीझ.	"
९४	" " काशिकावृत्तियुतम्	वि सं. १९८७	" " "	"
९५	" " शिक्षापञ्जिकायुतम्	इ. का १९२७	" " "	"
९६	पारिभाषिक-पदार्थसंग्रहः	" १९४०	कुरुगण्डिरामशास्त्री, मद्रास.	"
९७	पुरातत्त्वत्रिमासिक. वर्ष २	वि सं १९८०	गुजरात पुरातत्त्वमन्दिर.	गुजराती-संस्कृत
९८	" " वर्ष ४	" १९८२	" " "	"
९९	पुरातनप्रबन्धसंग्रहः	" १९९२	सिन्धी जैन ग्रन्थमाला २	संस्कृत
१००	प्रबन्धकोश	" १९९१	" " ६	"
१०१	प्रबन्धचिन्तामणि	" १९८९	" " १	"
१०२	प्रभावक चरित्र	" १९९७	" " १३	"
१०३	" "	" १९८७	आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर.	गुजराती
१०४	प्रमाणमीमांसा	इ. का १९३९	सिन्धी जैन-ग्रन्थमाला.	संस्कृत
१०५	प्राकृतव्याकरणम् प्रकाशिकावृत्तियुतम्		भाण्डारकर ओ. री. इ. पूना.	प्राकृत-संस्कृत
१०६	" " मूल	वि सं १९९१	आत्मानन्द जैन शताब्दि.सी.	प्राकृत
१०७	प्राकृतभाषाणी उपयोगिता			
१०८	प्राचीन लेखसंग्रह भा. २	"	आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर.	संस्कृत
१०९	प्रौढमनोरमा लघुशब्दरत्नव्याख्या भा १	वि सं १९९२	चौखम्बा-सं. सीरीझ, बनारस.	"
		फ.		
११०	फक्किारत्तमञ्जूपा भा २	इ. का १९२२	हरिकृष्ण-निबन्धभवन, बनारस	"
		भ		
१११	भगवद्गीता भाष्ययुता	" १९३१	ऑरीएण्टल-बुक-एजन्सी.	"
११२	भारतीयविद्या वर्ष १ अंक १ ३ ४	" १९४१	भारतीयविद्याभवन मुंबई.	हिन्दी-संस्कृत
११३	" " २ " ३ ४	वि सं. १९९९	" "	" "
		म.		
११४	मध्यमसिद्धप्रभा व्याकरणम् आगमो-			
	क्षारककृतम्	वि सं १९८६	जैनामृतसमिति-उदुपुर.	संस्कृत
११५	महाभाष्य अध्याय १ पाद १	इ. का १९३८	राजस्थान संस्कृत कॉलेजग्रन्थमाला, बनारस	"
११६	" " १ पाद २ ३ ४	" १९३८	" "	"
११७	" " २ " २ ३ ४	" १९३८	" "	"
११८	" " ३ " १ २ ३ ४	" "	" "	"
११९	" " ४ " १ २ ३ ४.	" "	" "	"



क्रमांक	ग्रन्थ-नाम	प्रकाशनसंवत्	प्रकाशक-नाम	भाषा
१२०	महामाय्य अष्टाध्याय ५ पाद	१२३४ ई. फ्रा. १९३८	राजस्थान संस्कृत कॉलेज ग्रन्थमाला, पटना०	संस्कृत
१२१	" " ६ "	१२३४. " "	" " " "	"
१२२	" " ७ "	१२३४. " "	" " " "	"
१२३	" " ८ "	१२३४. " "	" " " "	"
१२४	महामाय्य-शब्दकोषः	१२३४. " १९२७	भाण्डारकरप्राच्यविद्या संशोधनमन्दिर, पूना	"
१२५	माधवीया धातुवृत्तिः	वि. सं. १९९१	चौखम्बा-सं. सीरीस, बनारस.	"
१२६	मुद्राराक्षस-नाटक	इ. फ्रा १९१५	कलकत्ता संस्कृत-प्राकृत	"
१२७	मृच्छकटिक-नाटक	" १९१८	कलकत्ता. " "	"
१२८	यास्क-निरुक्तम्	र.		
१२९	रसगंगाधर. सटीक.	इ. फ्रा १९३९	निर्णयसागर प्रेस, मुंबई	संस्कृत
१३०	रूपसिद्धिः शाकटायन वृत्तियुता	" १९३६	रावजी सखाराम दोसी, सोलापुर	"
१३१	लघुशब्देन्दुशेखर-टीका-टीप्पन	वि. सं १९९२	राजस्थान संस्कृत कॉलेज, बनारस	"
१३२	लाइफ ऑफ हेमचन्द्राचार्य जर्मन-वीन्टरनीस परधी इंग्लीश अनुवाद	" १९९२	सिंधी जैन ग्रन्थमाला ११	इंग्लीश
१३३	लीवली-जैन ज्ञानमण्डार-सूचि	इ. फ्रा १९२८	आगमोदय समिति, सुरत. गुजराती-बालबोध	"
१३४	चाफ्यपदीय प्रथमकाण्ड	वि सं १९९१	रामकपूर-लाहोर.	संस्कृत
१३५	" द्वितीयकाण्ड	" "	" " " "	"
१३६	विक्रमोर्वशी-नाटक	इ. फ्रा १९२५	कलकत्ता	"
१३७	विभक्त्यर्थनिर्णय.	वि. सं १९५८	चौखम्बा सं सीरीस, बनारस.	"
१३८	विविधतीर्थकल्पः	" १९९०	सिन्धी जैन ग्रन्थमाला १०	"
१३९	विश्वलोचन-कोष	इ. फ्रा १९१२	नाथारंग गान्धी	"
१४०	वीतराग-महादेवस्तोत्रम्	वि सं १९९१	आत्मानन्द-जैन शताब्दिः सीरीस.	"
१४१	वेणीसंहार-नाटक	इ. फ्रा १९३०	निर्णयसागर प्रेस, मुंबई	"
१४२	वेदान्तसार.	वि सं १९९३	संस्कृत डिपो, बनारस	"
१४३	वैयाकरण-भूषणसार-टीका-व्याख्या समेतम्	" १९९६	चौखम्बा सं. सीरीस, बनारस	"
१४४	" सिद्धांतलघुमञ्जूपा टीकाटिप्पण०	" १९८६	गिरिजाप्रसादशर्मा	"
१४५	व्याप्तिपञ्चकार्सिद्ध्यव्याप्तिप्रकरणयुतम्	" १९८२	ठक्कर पं० कनकलाल शर्मा.	"
१४६	व्यक्तिविवेकः	इ. फ्रा १९३६	चौखम्बा सं सीरीस	"
१४७	व्युत्पत्तिवाद-व्याख्या	वि. सं. १९७०	क्षेमराज श्रीकृष्णदास, मुंबई	"
१४८	शक्तिवादाऽऽदर्श.	वि. सं १९७०	क्षेमराज श्रीकृष्णदास, मुंबई.	"
१४९	शब्दरत्नमहोदधिः भा १	इ. फ्रा १९३७	हेमचन्द्राचार्य-जैन ग्रन्थमाला, अमदावाद गुज.	"
१५०	" " भा. २	" १९४१	" " " "	"
१५१	शब्दशक्तिप्रकाशिका	वि. सं १९९१	चौखम्बा सं सीरीस, बनारस.	"
१५२	शब्दाऽऽदर्शकोष. भा. १	" १९८६	शाली गिरिजा शंकर.	"
१५३	" " भा. २	" "	" " " "	"
१५४	शब्दार्णवचन्द्रिका-जैनेन्द्रव्या. लघुवृत्तियुता	" "	सनातन जैन ग्रन्थमाला मुंबई.	संस्कृत
१५५	शब्दार्थरत्नावली	इ. फ्रा. १९३५	उमेशशर्मा मिश्र.	"
१५६	शब्देन्दुशेखरः	" "	मैरवमिश्र काशिकायभालय	"
१५७	शाकटायनचिन्तामणिवृत्तियुतम्	" "	मुधालाल जैन.	"
१५८	शाकटायनप्रक्रिया ( उत्तरार्धः )	" "	" " " "	"
१५९	" व्याकरणम्	" "	महावीर जैन विद्यालय-मुंबई.	"
१६०	शाश्वतकोश.	इ. फ्रा. १९२९	ओरीण्टल बुक पब्लिशी, पूना	"
१६१	शाश्वतकोशवली	" "	" " " "	"

क्रमाङ्क	ग्रन्थ-नाम.	प्रकाशनसंवत्	प्रकाशक-नाम	भाषा
१६२	शिशुपालवधः सटीकः	इ. फा. १९४०	निर्णयसागर प्रेस, मुंबई.	"
१६३	श्रुतयोधः	" १९२८ स.	" " "	"
१६४	सन्मतिप्रकरणानुवादः	इ. फा. १९३२	पूजाभाई-रा. जैनग्रन्थमाला, अहमदाबाद. गुजराती	
१६५	सर्वदर्शन संग्रहः	" १९२४	भाण्डारकर प्राच्य विद्यामन्दिर, पूना. संस्कृत	
१६६	सर्वलक्षण संग्रहः	वि. सं. १९८९	भिक्षु गौरिशङ्कर.	"
१६७	सांख्यकारिका	शाके १८५६	के ना डांगे	"
१६८	सांख्यतत्त्वकौमुदी	वि. सं. १९८९	चौपम्या सं. सीरीज़, धनारस.	"
१६९	साहित्यदर्पणं सटीकम्	इ. फा. १९३६	निर्णयसागर प्रेस, मुंबई.	"
१७०	सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्			
	महाणववृहज्यासयुतम् अ १पाद १	वि. सं. १९७७	हेमचन्द्राचार्य जै० ग्रन्थावली, पाटण.	"
१७१	सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्			
	लघुवृत्तियुतम्	" १९९१	आणंदजी कल्याणजीनी पेढी, अहमदाबाद.	"
१७२	सिद्धान्तकौमुदी	इ. फा. १९१४	क्षेमराज श्रीकृष्णदास, मुंबई	"
१७३	" " पूर्वार्द्ध	वि सं १९१७	सीताराम शास्त्री धनारस.	"
१७४	" " उत्तरार्द्ध	" "	" " "	"
१७५	स्याद्वादमंजरी	इ. फा.	आनंद शंकर या ध्रुव	"
१७६	सुभाषितरत्नभाण्डागार.	वि सं १९८५	निर्णयसागर प्रेस, मुंबई.	"
१७७	स्वयम्भूतोन्नं सटीकम्	" १९७६ ह.	सखाराम नेमचन्द्र	"
१७८	हेमसमीक्षा	वि सं १९९८	मधुसूदन चि. मोदी आ.	
			जैन शताब्दि ग्रन्थमाला.	गुजराती
१७९	हेमचन्द्रकृतिकुसुमावली	" १९९९	ऋषभदेवजी छ नी पेढी, उज्जैन.	संस्कृत
१८०	हेमचन्द्रवचनामृतम्	" १९९३	विजयधर्मसूरि जैन ग्रन्थमाला.	"
१८१	हेमचन्द्राचार्यः-वे. जी दोशी	" १९९२	सयाजी० वाल-ज्ञानमाला.	गुजराती
१८२	" मो नि कापडीया	" १९९०	जैनपत्रनी भेट, भावनगर.	"
	डॉ गुलहरजर्मन लेखनं अवतरण			
१८३	हेमचन्द्राचार्यः-धूमकेतु	" १९९९	आत्मानंद जैनशताब्दि ग्रन्थमाला.	"
१८४	" ईश्वरलाल जैन ज्ञातक	" १९९८	चान्दराम जैन आदर्श ग्रन्थमाला.	"
१८५	हेमप्रकाशव्याकरण-पूर्वार्द्धः	" १९९४	हीरालाल सोमचन्द्र, मुंबई.	संस्कृत
१८६	हेमसमीक्षा	" १९९८	आत्मानंद जै शताब्दि स्म०	गुजराती
१८७	हैमकौमुदी चन्द्रप्रभाटीकायुता	इ. फा. १९२८	जैन धेयस्कर मंडल, म्हेशाणा	संस्कृत
१८८	हैमछन्दोनुशासनम्	वि सं. १९६८	देवकरण मूलजी, मुंबई.	"
१८९	हैमघातुपारायणसंक्षेप.	वि सं १९९६	ऋषभदेवजीनी पेढी, झगडीया	"
१९०	हैम घातुमाला	" १९८३	नगीनदास करमचंद-पाटण	"
			जैन ग्रन्थ-प्रका० सभा	"
१९१	हैमवृहत्प्रक्रिया	" १९८७	हेमचन्द्राचार्यजैनग्रन्थमाला.	"
१९२	हैमलिङ्गानुशासनविवरणम्	" १९९६	हिरालाल सोमचन्द्र, मुंबई.	"
१९३	हैमशब्दचन्द्रिका	" १९९६	चापशी खेतशी	"
१९४	हैमसारस्वतसत्रनिबन्धसंग्रहः	इ. फा. १९४१	गुजराती साहित्यपरिषद्.	गुजराती



## ४ परिशिष्टम् ।

साधनिकाद्यवसरे पदपादस्यसूत्रतोऽधिकचोषदानैकयद्वकक्षाणि याव्यानि कलिकालसर्वज्ञ-  
श्रीहिमचन्द्राऽऽचार्यविरचितान्यकाराद्यनुक्रमेण सूत्राणि ।

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०	क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
	<b>अ</b>				
१	अः सृजितशोऽकिति ॥४॥११॥	॥१३२३३॥	१७	अतः शित्युत् ॥४॥२८९॥	॥४६२९॥
	"	॥१४३३२२॥	"	"	॥५४११॥
२	अक्षणोऽप्राण्यते ॥७॥३८५॥	॥३३३३७॥	"	"	॥१३४४४२॥
	"	॥९४४४७॥	"	"	॥१४५३३१॥
३	अग्रहानु० ॥३॥१५॥	॥२२३३४॥	१८	अत इव् ॥६॥१३३॥	॥७४३३६॥
४	अघोपे शिटः ॥४॥१४५॥	॥४३३३८॥	"	"	॥१३२३५॥
	"	॥४३३४१॥	१९	अतमवादेरीपदसमाते० ॥७॥३११॥	॥५८३३७॥
५	अहस्याच्छत्रादेरन् ॥६॥४६०॥	॥१६५४०॥	"	"	॥१४१३८॥
	"	॥१७३३१७॥	"	"	॥१४४२४॥
६	अचित्ते टक् ॥५॥१८३॥	॥१०२३४०॥	"	"	॥१४९३४०॥
७	अजातेः शीले ॥५॥११५४॥	॥५३३३०॥	२०	अतिरतिक्रमे च ॥३॥१४५॥	॥९९२३४॥
	"	॥१६५४२२॥	२१	अतोऽनेकस्वरात् ॥७॥२६॥	॥३५४३॥
८	अजादेः ॥२॥४१६॥	॥१५३३८॥	"	"	॥४९३३०॥
९	अञ्जः ॥२॥४३३॥	॥१५०३३६॥	"	"	॥१०३३२३॥
१०	अञ्जोऽनर्चायाम् ॥४॥२४६॥	॥९८३१८॥	"	"	॥१३२३१६॥
	"	॥३५३३९॥	"	"	॥२११३२०॥
	"	॥४०३३४॥	"	"	॥२११३३०॥
	"	॥१२६३३४॥	२२	अतो म आने ॥४॥४११४॥	
	"	॥१३७३१७॥	२३	अदुरुपसर्गान्तरो णहिनुमीनानेः ॥२॥३७७॥	॥१४२३५॥
	"	॥१५०३३५॥	२४	अदूरे एनः ॥७॥२१२२॥	॥२१३२९॥
	"	॥१५०३४०॥	"	"	॥१९९३३३॥
११	अह्यतो० ॥४॥४२९॥	॥१४०३२४॥	"	"	॥२१५३२९॥
	"	॥२३३२२॥	२५	अदेरन्ध च वा ॥ उ० ९६३॥	॥७०३२२॥
	"	॥१३४३१७॥	२६	अद्यर्थाच्चाऽऽचारे ॥५॥११२॥	॥१७५३३॥
	"	॥१३७३३३॥	"	"	॥१६९३३६॥
	"	॥१३९३३७॥	"	"	॥१७९३३१॥
	"	॥१४०३३१॥	"	"	॥२०७३५॥
	"	॥१४५३३८॥	"	"	॥२०७३२५॥
	"	॥२१३३३८॥	२७	अघणतस्वाद्या शसः ॥१॥३३२॥	॥३६३२॥
१२	अणि ॥७॥४५२॥	॥१५१३४०॥	२८	अघरापराच्चाऽऽत् ॥७॥२११८॥	॥२१३२४॥
१३	अणिक्कर्मणिक्कृत्कात् ॥३॥३८८॥	॥१६४३२७॥	"	"	॥२०३३४१॥
१४	अणिगिप्राणि० ॥३॥३१०७॥	॥१६८३३॥	२९	अघातूददितः ॥२॥४२॥	॥९९३१९॥
	"	॥१६८३२०॥	"	"	॥८७३२५॥
१५	अतः ॥४॥३८२॥	॥८०३१८॥	"	"	॥१४७३३५॥
	"	॥८३३२२॥	"	"	॥१५१३२४॥
	"	॥१००३२१॥	३०	अघ्यात्मादिभ्य इक्ण् ॥६॥३७८॥	॥४४३२२॥
	"	॥१००३१५॥	"	"	॥१७४३३६॥
	"	॥१३१३१८॥	३१	अनजिरादि० ॥३॥२७८॥	॥१४७३३५॥
	"	॥१४५३८॥	"	"	॥१४७३३८॥
१६	अतः कृकर्मिंस० ॥२॥३५॥	॥२२३३६॥	३२	अनतोऽन्तोऽवात्मने ॥४॥२११४॥	॥१२७३३७॥
	"	॥२२३३६॥	३३	अनघतने हिं ॥७॥२१०१॥	॥१२७३३५॥
	"		"	"	॥२१३३१॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०	क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
३४	अनसो वहेः० ॥ उ० १००६॥	॥९८३८॥		अवर्णवर्णस्य ॥७४६८॥	॥८५२२॥
३५	अनाच्छादजात्यादेर्नवा ॥२१४४७॥	॥५३१०॥		"	॥२१७३०॥
३६	अनादेशादे० ॥४११२४॥	॥१३५१४७॥	५५	अवृद्धाद्गोर्नवा ॥६११११०॥	॥६९३३५॥
"	"	॥१५११२३॥	५६	अवेष्टं च वा ॥ उ० ३९८ ॥	॥७०३८॥
"	"	॥२०६३३६॥	५७	अव्यकानुकरणादनेकस्वरात् ॥७२११४५॥	॥१५२१८॥
३७	अनाक्यद्विः सुप् ॥६१४१४१॥	॥२४८८॥	५८	अव्ययस्य ॥३१२७॥	॥१७६६॥
"	"	॥१०६३२॥	"	"	॥१७३३९॥
"	"	॥१०६३१४॥	"	"	॥१७३४१॥
३८	अनार्षे वृद्धे० ॥२१४७८॥	॥७४३३६॥	"	"	॥१९२२॥
३९	अनिकाम्यां तरः ॥ उ० ४३७॥	॥७०१४०॥	"	"	॥२१११९॥
४०	अनिदम्यणपवादे च० ॥६१११५॥	॥५७३४७॥	"	"	॥४३२३॥
४१	अनुनासिके च च्छः शूद्र ॥४१११०८॥	॥१३४२३॥	"	"	॥१७७२६॥
"	"	॥२९१११॥	"	"	॥१७८२॥
"	"	॥४७३८॥	"	"	॥२१४२८॥
"	"	॥१४३१६६॥	५९	अशेराप्नोऽन्तश्च ॥उ० ७१९॥	॥१४९११८॥
"	"	॥१४३३३१॥	६०	अश्ववडव० ॥३१११३३॥	॥७२३३३॥
"	"	॥१६७२९॥	६१	अस्तपोमाया० ॥७२१४७॥	॥१२३३७॥
४२	अनेकवर्णः सर्वस्य ॥७४११०७॥	॥७१२६॥	"	"	॥१०३२५॥
४३	अन्तो नो लुक् ॥४२१९४॥	॥१५४७॥	६२	अस्तिबुवोर्भूवचावशिति ॥४१४१॥	॥१०५३३॥
४४	अन्यत्यदादेराः ॥३१२१५२॥	॥६४२४॥	"	"	॥१०५३३॥
"	"	॥६९३०॥	"	"	॥१३३३०॥
"	"	॥१२६२६॥	६३	अस्य ह्यां लुक् ॥२१४८६॥	॥८५२३॥
"	"	॥१३६३६॥	६४	अस्यायचत्किपकादीनाम् ॥२१४१११॥	॥१२५३८॥
४५	अन् स्तरे ॥३१२१२९॥	॥५७२८॥	"	"	॥८६४४॥
४६	अत्रादिभ्यः ॥७२१४६॥	॥१३०३९॥	"	"	॥१२५१९॥
"	"	॥१३२१४०॥	"	"	॥१३२२२०॥
४७	अमाव्ययात् क्यन् च ॥३१४२३॥	॥१११४५॥	"	"	॥१५०२४॥
"	"	॥१२११४॥	६५	अस्वयंभुवोऽव् ॥७४१७०॥	॥१३३२३॥
"	"	॥१२२९॥	"	"	॥९६१३॥
"	"	॥३९१९९॥	६६	अहन्पञ्चमस्य० ॥४१११०७॥	॥१०३३३॥
"	"	॥७८२०॥	"	"	॥४९१२९॥
"	"	॥८०११६॥	"	"	॥५४१८॥
"	"	॥१००११४॥	"	"	॥१०३३४॥
"	"	॥८३२१॥	"	"	॥१०३३५॥
"	"	॥११२३३९॥	"	"	॥१०३३३॥
"	"	॥१३४२६॥	"	"	॥१३५३०॥
"	"	॥१५०३८॥	"	"	॥१४८४६॥
४८	अस्मिक्कुण्ठि० ॥ उ० ६१४॥	॥१४७३३॥	६७	अहरादिभ्योऽव् ॥६२१८७॥	॥२०७३३॥
"	"	॥१५९१११॥		आ.	
४९	अयि रः ॥४११६॥	॥१३३२१॥	६८	आः खनिसनिजनः ॥४२१६०॥	॥८३२८॥
५०	अर्तिरीन्लीङ्घी० ॥४२१२१॥	॥१६१४४॥	६९	आगुणावन्यादेः ॥४११४८॥	॥५०३६॥
५१	अर्तीरिस्तु० ॥ उ० ३३८॥	॥७०३५॥	"	"	॥६२३२॥
"	"	॥१९६१९९॥	"	"	॥१३९३५॥
५२	अर्तेर्मुक्षिनक् ॥ उ० ९२८ ॥	॥९९४०॥	"	"	॥१४४३३॥
५३	अवयवात्तयद् ॥७१११५१॥	॥६२४२॥	"	"	॥१४५११॥
"	"	॥६२४४६॥	७०	आङश्च णित् ॥उ० ९२०॥	॥२०७४४०॥
"	"	॥	७१	आङो यमहनः० ॥३१३८६॥	॥५४२२॥
"	"	॥			
"	"	॥			
"	"	॥			
५४	अवर्णवर्णस्य ॥७४६८॥	॥८३३३॥			
"	"	॥११४३॥			
"	"	॥२११६॥			
"	"	॥५७३५॥			

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०	क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
७२	आत् ॥२॥१८॥	॥२३८॥	९५	इतोऽन्त्यार्थात् ॥२॥१८॥	॥७७२३॥
"	"	॥७७३६॥	"	"	॥८७२६॥
"	"	॥७७११४॥	"	"	॥९५१४॥
"	"	॥८६१४४॥	९६	इनः कच् ॥७३१७०॥	॥९९॥४१॥
"	"	॥१०८३७॥	"	"	॥१००॥४५॥
"	"	॥१०९१५॥	९७	इन्त्यसंयोगात् परोक्षा किद्वत् ॥७३१२१॥	॥१४०१२५॥
"	"	॥१३२१९॥	९८	इष्य स्यादः ॥७३१४१॥	॥७७३७॥
"	"	॥१५२१२२॥	"	"	॥१४०१२६॥
"	"	॥१८८१४१॥	९९	इत्तासः शासोऽङ्गव्यञ्जने ॥७३११८॥	॥७७३४॥
७३	आत् पे. कृष्णौ ॥७३१५३॥	२०७१४२॥	१००	इंगितः ॥३३१९५॥	॥२३१९५॥
७४	आतो डोऽस्तवामः ॥५११७६॥	॥७०१३२॥	"	"	॥१६४२८॥
"	"	॥८६१४३॥	१०१	ईक्ष्वाव० ॥७३११११॥	॥२१३११॥
७५	आतो नेन्द्रवरुणस्य ॥७३१२९॥	॥१२३६॥	उ.		
"	"	॥१२३३३०॥	१०२	उक्षितक्यक्षीशि० ॥उणा०९००॥	॥६१६३॥
७६	आत्सन्त्यक्षरस्य ॥७३१२१॥	॥१३२१४॥	"	"	॥६१४०॥
"	"	॥१४४३१॥	"	"	॥१५२१६॥
७७	आद्यादिभ्यः ॥७३१८४॥	५२१६॥	१०३	उक्ष्णो लुक् ॥७३१५६॥	॥१५२३३॥
"	"	॥१७९१३१॥	१०४	उणादयः ॥५२१९३॥	॥४९१९॥
७८	आपोऽपामाप्तराज्जाश्च ॥ उ० ९६४॥	॥१०४३१॥	"	"	॥४९३३॥
७९	आमयादीर्घश्च ॥७३१४८॥	॥१९५१४०॥	१०५	उतोऽप्राणिनः० ॥२३१७३॥	॥१५४२॥
८०	आशिपि तुह्योस्तातङ् ॥७३११९॥	॥१९५१४३॥	"	"	॥७९१३॥
८१	आशिपि नाथः ॥३३३३६॥	॥१६४३३॥	"	"	॥७९१४७॥
८२	आसन्नः ॥७३११२०॥	॥९१९॥	"	"	॥८६१४०॥
"	"	॥२५१४॥	१०६	उदकस्योदः पेपंघिवासवाहने ॥३३११०४॥	॥१४८३३॥
"	"	॥२९१२८॥	१०७	उद्व्यरः० ॥३३३३३॥	॥४२१५॥
"	"	॥६३३८॥	१०८	उदितः स्वराज्जोऽन्तः ॥७३११८॥	॥९८१२७॥
"	"	॥६३३३०॥	"	"	॥९८१२८॥
"	"	॥७६१४३॥	"	"	॥२३१०॥
"	"	॥८५१०॥	"	"	॥५३१४३॥
"	"	॥८५३८॥	"	"	॥५४१७॥
"	"	॥१२९३३४॥	"	"	॥१३८३३॥
"	"	॥१३८१२२॥	"	"	॥१३४३३॥
"	"	॥१३८३५॥	१०९	उपमान० ॥२३१७५॥	॥१५४३३॥
८३	आसन्नादूराधिकाध्यर्घ्यादिपूरणं द्वितीयाद्यन्यार्थे ॥३३११२०॥	॥१५३४१॥	११०	उपसर्गस्यायौ ॥२३११००॥	॥३११२७॥
८४	आस्यटिब्रज्यजः क्यप् ॥५३१९७॥	॥१३३३३८॥	१११	उपसर्गादातः ॥५३११०४॥	॥५०१२१॥
८५	आही वृरे ॥७३११२०॥	॥२११२८॥	"	"	॥६५१६॥
"	"	॥१९९१४४॥	"	"	॥८२१७७॥
इ.			११२	उपाङ्गवासमवायप्रतियत्तविकार० ॥७३११२४॥	॥४३१४५॥
८६	इकिश्चित् ॥५३११३८॥	॥१२०१२५॥	"	"	॥१६५३५॥
८७	इडित. कर्तरि ॥३३३२२॥	॥२३३४॥	११३	उपान्त्ये ॥७३३३४॥	॥१३२३३७॥
"	"	॥२३१७७॥	११४	उभयाद् ॥७३१९९॥	॥२११९॥
"	"	॥१५८३३॥	११५	उमेर्द्धौ च ॥ उ० ६१५॥	॥७०१४४॥
८८	इट इति ॥७३३७१॥	॥२१२३८॥	११६	उवर्णयुगादेर्यः ॥७३१३०॥	॥३३३२३॥
८९	इडेत्पुसि० ॥७३३९४॥	॥२३३३१॥	११७	उवेः किल्लुक् च ॥ उ० ८८॥	॥१३५४०॥
९०	इणस्तद् ॥ उ० ८९६॥	॥७०१४३॥	११८	उज्जोः ॥७३३२॥	॥५४१३॥
९१	इणुर्विशावेणिपू० ॥ उ० १८२॥	॥१३५४०॥	"	"	॥८८१२४॥
९२	इणो णित् ॥ उ० ९९८॥	॥१९६१८॥			
९३	इणो वमक् ॥ उ० ९३८॥	॥७०१४२॥			
९४	इणपूण्यां कित् ॥ उ० ४३८॥	॥७०१३३॥			

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
	<b>ऊ.</b>	
११९	ऊनार्थपूर्वाद्यैः ॥३११६॥	॥७२४२॥
१२०	ऊर्णाहंशुभमो युत् ॥७२१७॥	॥७३१३॥
१२१	ऊर्ध्वाद्विरिष्टा० ॥७२११४॥	॥११४२॥
	"	॥२१४४॥
	"	॥२१२६॥
	"	॥२०३४०॥
	"	॥२०३४२॥
	<b>क.</b>	
१२२	ककुम्बवृत्तनि० ॥ उ० ४७५॥	॥७४३८॥
१२३	ककुपूःपय्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥१००३५॥
	"	॥१००४५॥
	"	॥१०४२०॥
	"	॥१०४२४॥
	"	॥२०९४२॥
१२४	ककुलामर्ग्य० ॥७३१९७॥	॥१३८१४॥
१२५	कच्छिचटि० ॥ उ० ३९७॥	॥२०९४४॥
१२६	कतोऽत् ॥७३१३८॥	॥४३३८॥
	"	॥५५३५॥
	"	॥१४५४१॥
१२७	कदुदित्तरतम० ॥३१२६३॥	॥९९१२०॥
१२८	कधिपृथि० ॥ उ० ८७४ ॥	॥१४३४४०॥
१२९	कन्नित्यदितः ॥७३१७१॥	॥९३३१॥
	"	॥८४२९॥
	"	॥८५२१॥
	"	॥८५२९॥
	"	॥१०५१९॥
	"	॥१०७२७॥
१३०	कवर्णदशोऽदि गुणः ॥७३१७॥	॥६४४१॥
	"	॥१०८१३॥
१३१	कवर्ण व्यञ्जनान्ताद् ॥५११७॥	॥२३९॥
	"	॥३३२८॥
	"	॥१३१३३॥
	"	॥२०५३८॥
१३२	कवर्णात् ॥७३१३६॥	॥१४०२८॥
	<b>कृ.</b>	
१३३	कृतो कृतीद् ॥७३११६॥	॥५९१४१॥
	"	॥१३३१७॥
	"	॥१३३४४॥
	"	॥१३४२८॥
	"	॥१४०२३॥
	"	॥१४५३२॥
१३४	कृदधुस्त्रुक् ॥ उ० ६३५॥	॥१८७४३॥
१३५	कृदिच्छिस्तम् ॥३११६५॥	॥५६२६॥
१३६	कृत्वादेरे० ॥७३१६८॥	॥८३२९॥
	<b>ए.</b>	
१३७	एकस्वरात् ॥६२४८॥	॥४०१५॥
१३८	एकस्वरादनुस्वारेतः ॥७३१५६॥	॥१४१२९॥
	"	॥१३२३२॥
	"	॥१४३२१॥
	"	॥१४३३०॥
	"	॥१४५२६॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
१३९	एकात् ॥७३१११॥	॥२११८॥
१४०	एकादश० ॥३१२९१॥	॥६३२२॥
१४१	पताः क्षितः ॥३१३१०॥	॥२३२४॥
१४२	पपासीर्व्यञ्जनेऽदः ॥७३१९७॥	॥१८९४०॥
	<b>ऐ.</b>	
१४३	ऐकात् ॥३१२८॥	॥२१३३॥
	"	॥२१४५॥
	"	॥८०१७॥
	"	॥१०७२६॥
	"	॥१०७३३॥
	"	॥११२२९॥
	"	॥११२४२॥
	"	॥११३२६॥
	"	॥११३२५॥
	"	॥१३७४१॥
१४४	ऐपमः० ॥७३११०॥	॥२११०॥
	<b>ओ.</b>	
१४५	ओष्वादुर ॥७३११७॥	॥७०३७॥
	"	॥१३३१९॥
	<b>क.</b>	
१४६	कंशंभ्यां युस्तियस्तुतवभम् ॥७३११८॥	॥४४४५॥
१४७	ककुपृमिष्टवनुष्टुभः ॥ उ० ९३२॥	॥१३८२४॥
१४८	कडक्षजू ॥७३१४६॥	॥४३३८॥
	"	॥४४३२॥
	"	॥५५३५॥
	"	॥१४५३३॥
१४९	कद्यमित्यम् ॥७३११०३॥	॥२११२॥
१५०	कपाटविराट० ॥ उ० १४८॥	॥१८७४४॥
१५१	कमेर्णिह् ॥३१४२॥	॥१९९११॥
१५२	करणाऽऽधारे ॥५३१२९॥	॥६८४७॥
	"	॥८२१७॥
	"	॥१२७४४॥
	"	॥१४५२३॥
	"	॥१६७४०॥
	"	॥१६७४३॥
१५३	कर्तृपनदभ्यः शब् ॥३१४७१॥	॥१५३२७॥
	"	॥३३२४॥
	"	॥१०५१४॥
	"	॥१५३२९॥
	"	॥१९५४३॥
१५४	कर्तुः क्तिप् ॥३१४२५॥	॥७३४३॥
	"	॥८०१८॥
१५५	कर्मणोऽण् ॥५३१७२॥	॥३२२५॥
	"	॥४२३३॥
	"	॥५३३८॥
	"	॥१६०११॥
	"	॥१६२२०॥
	"	॥१६७४१॥
१५६	कल्याणपर्याणादयः ॥ उ० १९३॥	॥१९५४४॥
१५७	कवर्णैकस्वरवति ॥७३१७६॥	॥७९॥
	"	॥४९१२९॥
	"	॥१०३४५॥



क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०	क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
१५८	कारकं कृता ॥३११६८॥	॥१२१४०॥	१८७	पयद् ॥३११२६॥	॥१२१३०॥
"	"	॥१५७१॥	"	"	॥१२१३१॥
१५९	किं क्षेत्रे ॥३११११०॥	॥१९१२६॥	"	"	॥१५०३९॥
१६०	कित्यायेऽप्य्या० ॥७३१८॥	॥२२१७॥	१८८	क्यत्तानिपिचिद्विते ॥३१२१५०॥	॥१०६३०॥
"	"	॥१२४२६॥	१८९	क्यनि ॥३१११२॥	॥१२२२९॥
१६१	कियत्तत्त्वैकान्यात् ॥७३१९५॥	॥१२४२४॥	"	"	॥८३२१॥
"	"	॥२०१४३॥	१९०	क्ययत्तादीर्ये ॥३१११०॥	॥१३३२९॥
१६२	किम् ॥२११४०॥	॥२०१४४॥	१९१	कमितमि० ॥ उ० ६१३ ॥	॥१४८४१॥
"	"	॥२११११॥	१९२	कियायां कियार्थायां ॥५३११३॥	॥२०६३५॥
१६३	किमह्यादित्वा० ॥७३१८९॥	॥२०१४१॥	१९३	कियार्थो घातुः ॥३११३३॥	॥८०११७॥
१६४	किलिपिलिपिशिचिट्टितुट्टिशुण्डि- तुण्डि० ॥ उ० ६०८॥	॥१३८४३॥	"	"	॥८०११९॥
१६५	कुटावेर्द्विदम्निवत् ॥३१११७॥	॥१३१३८॥	१९४	कियाविशेषणात् ॥२१२४१॥	॥२११८॥
१६६	कुटोर्वा ॥६१११२२॥	॥७२१२२॥	१९५	कुत्सम्पदादिभ्यः किय् ॥५३११४॥	॥१०३२४॥
१६७	कुर्वादेर्भ्यः ॥६१११००॥	॥१५२३३॥	"	"	॥९८३५॥
१६८	कुशिक० ॥ उ० ४५ ॥	॥२१७४३॥	"	"	॥१३४१४॥
१६९	कृगः श च वा ॥५३११००॥	॥१५६६॥	"	"	॥१३९१८॥
१७०	कृगो द्वे च ॥ उ० ७॥	॥१४७४२॥	१९६	क्यादेः ॥३११७९॥	॥१५४२४॥
१७१	कृगो यि च ॥३११८८॥	॥१३४४२॥	"	"	॥५३१८॥
१७२	कृगनादेः ॥३११८३॥	॥४६२९॥	"	"	॥१५४१४॥
"	"	॥५४१४॥	१९७	कृविमन्येनैकं च वा ॥३१११२८॥	॥१६६३८॥
"	"	॥१३४४२॥	१९८	कृवि ॥२११७७॥	॥८१३९॥
"	"	॥१४६३९॥	"	"	॥९१४५॥
"	"	॥१५४२४॥	"	"	॥९३१२॥
"	"	॥१९५२८॥	"	"	॥९४२८॥
१७३	कृभूम्यां किय् ॥ उ० ६९० ॥	॥१४८१४०॥	"	"	॥९४३७॥
"	"	॥१४८१४२॥	"	"	॥९७९॥
१७४	कृभ्वस्तिभ्यां ॥७३११२६॥	॥२१३१॥	"	"	॥१०२२०॥
१७५	कृवापा० ॥ उ० १॥	॥१४९२०॥	"	"	॥१०२३०॥
१७६	कृवृपिमृजि० ॥५३११४२॥	॥१११६४८॥	१९९	कृवि क० ॥५३११२३॥	॥१६४३३॥
"	"	॥२०५३९॥	"	"	॥२०७२९॥
१७७	कृसिकस्यमिगमि० ॥ उ० ७७३॥	॥१०५१७॥	२००	कृविः के च ॥ उ० ५३० ॥	॥२०७३३॥
१७८	कृहने० ॥ उ० ७९१ ॥	॥१४९१९॥	२०१	कृकुत्रा० ॥७३११२३॥	॥२०७३३॥
१७९	कृशृगृशलिकलि० ॥ उ० ३२९॥	॥१३८४६॥	"	"	॥२१७३२॥
"	"	॥१७३४०॥	२०२	कचित् ॥५३११७१॥	॥६०४०॥
१८०	कैवयुभुरण्यध्वर्यु० ॥ उ० ७४६ ॥	॥८६३९॥	"	"	॥६४१७॥
१८१	कोऽभ्यादेः ॥६३१९७॥	॥४२२९॥	"	"	॥७०३४॥
१८२	कोर्दिम् ॥ उ० ९३९ ॥	॥७०४७॥	"	"	॥८३२०॥
१८३	कृति यि शय ॥५३११०५॥	॥२०५२२॥	२०३	किय् ॥५३११४८॥	॥४४३६॥
१८४	ककवत् ॥५३११७४॥	॥२०७९॥	"	"	॥१५४४॥
"	"	॥२०७२३॥	"	"	॥४०१६॥
१८५	केऽनित्त्व० ॥५३११११॥	॥१६५४१॥	"	"	॥४४१३॥
१८६	क्यः शिति ॥३११७०॥	॥५३२३॥	"	"	॥७८२१॥
"	"	॥५४२२॥	"	"	॥८०१७॥
"	"	॥५८३१॥	"	"	॥१०२३५॥
"	"	॥१३३२९॥	२०४	कौ ॥५३१११९॥	॥४४४४॥
"	"	॥१३४२८॥	२०५	कृयज्यौ शकौ ॥५३११०॥	॥४८२०॥
"	"	॥१३४४३॥	२०६	कृधवसस्तेषाम् ॥५३११३॥	॥१६८३७॥
"	"	॥१५६६॥	२०७	कृधुपिपचो मकवम् ॥५३११७८॥	॥१३२११॥
"	"	॥१६०२१॥	"	"	॥१३२१८॥
"	"	॥२११३०॥	"	"	॥१३२२०॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०	क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
२०८	खरखुरान्नासिकाया नस् ॥७३१६०॥	॥१०४३८॥	२३२	गोस्तत्पुरुषात् ॥७३१०५॥	॥९९१२५॥
२०९	खित्थनव्यायाऽरूपो ॥३१२११॥	॥२२३३॥	२३३	गौरादिभ्यः० ॥२१४१९॥	॥१५१३९॥
"	"	॥४४३९॥	"	"	॥८६१२८॥
"	"	॥१३८१५॥	२३४	गिन् ॥७३१२५॥	॥१०३१२५॥
२१०	खण्म् चाऽऽभीक्ष्ण्ये ॥५१४४८॥	॥२०६३४॥	२३५	असिहान्भ्यां प्राजिहौ च ॥ उ०३३९॥	॥१६८१२७॥
"	ग.		२३६	ग्रहवध् ॥४११८४॥	॥१४०१३९॥
२११	गच्छति पथिदूते ॥६३१२०३॥	॥५०१३३॥	"	"	॥१४४१२०॥
२१२	गतिकारकस्य नहिवृत्ति० ॥३१२०८५॥	॥१४२१२४॥	"	"	॥१५९१२९॥
२१३	गतिकन्य० ॥३११४२॥	॥४५१२४॥	२३७	ग्रामाग्रा० ॥२३१७१॥	॥१३३३३९॥
२१४	गत्यर्थाऽकर्मक० ॥५११११॥	॥६११४५॥	२३८	ग्रोमादिर्वा ॥ उ० ८९०॥	॥१४८१४४॥
"	"	॥१३३११४॥	घ.		
"	"	॥१३३११८॥	२३९	घसेकस्वरात्. वसो. ॥४१४८२॥	॥२०६३३६॥
"	"	॥१६९११६॥	"	"	॥१३५१४४॥
"	"	॥२०७१२०॥	२४०	घस्वसः ॥२३३३६॥	॥१६८१३७॥
२१५	गत्यर्थात् कुटिले ॥३१४११॥	॥४४३३१॥	२४१	घ्राघ्मापाट्टघेदश. शः ॥५११५८॥	॥२०४११८॥
"	"	॥५७३३३॥	ङ.		
"	"	॥६२३३२॥	२४२	ङसोऽपत्ये ॥६११२८॥	॥१६११२॥
"	"	॥१३५३३१॥	"	"	॥१५२३३३॥
२१६	गन्धनावक्षेपसेवासाहसप्रतियत्न०		२४३	ङस्युक्तं कृता ॥३११४९॥	॥४२३३४॥
"	॥३३३३६॥	॥१६५३३६॥	"	"	॥४४४४०॥
२१७	गमहनजन० ॥४१२१४४॥	॥१०२१४०॥	"	"	॥९८३३३॥
"	"	॥१५३३१९॥	"	"	॥१३०१४४॥
२१८	गमिषद्यमद्वलः ॥४१२१०६॥	॥५०३३३॥	"	"	॥१३३११५॥
"	"	॥१४२३३६॥	२४४	टौ सासहिवावहि० ॥५१२३८॥	॥२०६१४२॥
२१९	गमेरिन् ॥ उ० ९१९॥	॥२०७३४०॥	२४५	इयादीदूत. के ॥२१४१०४॥	॥७३३३३॥
२२०	गयहृदया० ॥ उ० ३७०॥	॥१४९३३७॥	"	"	॥१३३११९॥
"	"	॥७१३३७॥	२४६	इयादेर्गोणस्या० ॥२१४१९५॥	॥८०३३३॥
२२१	गर्गादियन् ॥६११४२॥	॥८५१२२॥	"	"	॥१०६१२॥
२२२	गहादिभ्यः ॥६१३६३॥	॥७३३३७॥	"	"	॥१०६१४४॥
२२३	गहोर्जः ॥४११४०॥	॥१३५३३२॥	"	"	॥१८८१४०॥
"	"	॥१४१२११॥	२४७	इयापो बहुलं नास्ति ॥२१४१९९॥	॥१५३३४०॥
२२४	गुणाङ्गात् ॥७३११॥	॥८७३२५॥	च.		
२२५	गुणोऽरेदौत् ॥३३३३२॥	॥८५१४०॥	२४८	चक्षो वाचि कशाग्न० ॥४१४४४॥	॥२३३२७॥
२२६	गुणैधूपविच्छिपणिपनेरायः ॥३१४११॥	॥२३३८॥	"	"	॥५९१४५॥
"	"	॥१६७३२१॥	२४९	चतुर. ॥७३११६३॥	॥१३३३२६॥
२२७	गृपुडुर्विधुर्विभ्य. किप् ॥ उ० ९४३॥	॥५९१४१॥	२५०	चन्द्रो रमस् ॥ उ० ९८६॥	॥१०४३३२॥
२२८	गृलुपसदचर० ॥३१४१२॥	॥४४३३३॥	२५१	चन्द्रयुक्तात्काले० ॥६१२१६॥	॥१८८३३५॥
२२९	गोचरसंचर० ॥५१३१३३॥	॥४७३३०॥	"	"	॥२१७३२५॥
२३०	गोश्चाऽन्ते० ॥२१४१९६॥	॥६४३३१॥	२५२	चरफलाम् ॥४११५३॥	॥४४३३४॥
"	"	॥७४३३०॥	२५३	चरेष्टः ॥५११३८॥	॥४२११५॥
"	"	॥७६३३३॥	२५४	चवर्गदपहः समाहारे ॥७३१९८॥	॥१३३३३॥
"	"	॥८०३३४॥	"	"	॥१३३३३॥
"	"	॥८६३२१॥	२५५	चित्रारेवतीरोहिण्याः स्त्रियाम्	
"	"	॥८७३३५॥	"	६३१०८॥	॥१८८१४०॥
"	"	॥९२११६॥	२५६	चिमेर्होचड्यौ ॥ उ० १२२॥	॥२१७३४५॥
"	"	॥९४३३३॥	२५७	चुटादिभ्यः० ॥३१४१७॥	॥१७३३३६॥
"	"	॥१०८३३८॥	ज.		
"	"	॥१०९११५॥	२५८	जपजमदहृदश० ॥४११५२॥	॥१३९११९॥
"	"	॥१२८३३६॥	२५९	जा बाजनोऽत्यादौ ॥४१२१०४॥	॥१८९१४०॥
२३१	गोष्ठातेः शुनः ॥७३१११०॥	॥१५११४२॥			

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०	क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
२६०	जातेः सम्पदा च ॥७१२१३१॥	॥२१३३२॥	२८२	तत्साप्यानाप्या० ॥३३३२१॥	॥१६०२१॥
२६१	जातेरयान्त० ॥२१४५४॥	॥५३३३९॥	"	"	॥१६४४२॥
२६२	जीणहृक्षि० ॥५२१७२॥	॥२०४२८॥	"	"	॥१६५१९॥
२६३	जृपोऽवृः ॥५११७३॥	॥१०५१५॥	"	"	॥१६५४२॥
"	"	॥१५४२६॥	"	"	॥१६६४४०॥
"	"	॥१५४३९॥	"	"	॥१६७४४२॥
२६४	घः ॥३३३८२॥	॥२०२१९॥	"	"	॥१६९११६॥
२६५	घानेच्छार्चार्थजीच्छी० ॥५२१९२॥	॥२०७२२॥	"	"	॥२०७३३०॥
"	"	॥२०७२०॥	२८३	तदर्थार्थेन ॥३११७२॥	॥१९९११९॥
२६६	घीप्सास्थये ॥३३३६४॥	॥१९३३३२॥	२८४	तदस्य सञ्जातं ॥७११३८॥	॥१७९११७॥
२६७	ज्याव्येव्यघिव्यचिव्यथेरि० ॥५११७१॥	॥१३५१७॥	२८५	तदस्याऽस्त्यसि० ॥७२११॥	॥४०११७॥
झ.			"	"	॥४७३३०॥
२६८	झिणवि घन् ॥४३१०१॥	॥१४०१७३॥	"	"	॥७१२३३॥
२६९	झिति ॥४३१५०॥	॥११३१२०॥	"	"	॥१३२११६॥
"	"	॥१४०३७॥	"	"	॥१३४११४॥
"	"	॥१४०४३॥	"	"	॥१४११८॥
"	"	॥१६६२८॥	"	"	॥१४४२४॥
ट.			"	"	॥१५१२५॥
२७०	द्वितोऽधुः ॥५३३८३॥	॥२३३२०॥	२८६	तद्वति घण् ॥७२१०८॥	॥२१३३६॥
ड.			२८७	तनित्यजियजिभ्यो ड् ॥७०८९५॥	॥७०४१॥
२७१	डाच् लोहितादिभ्यः पित् ॥३१४३०॥	॥१२३३१॥	२८८	तनेर्डः ॥ ७० ७४८॥	॥३६४४॥
२७२	डित्यन्त्यस्तरादेः ॥५११११४॥	॥७४३३५॥	"	"	॥३६४२०॥
"	"	॥७५११५॥	२८९	तनेर्बुच् ॥७० ८७२॥	॥१४२३३३॥
२७३	डीनीयन्धि० ॥ ७० ३२५॥	॥१४९११४॥	२९०	तन्व्यधि० ॥५११६४॥	॥१८७४४५॥
२७४	डीयश्चैदित० ॥४४४६१॥	॥६१४४५॥	२९१	तव्यानीयौ ॥५११२७॥	॥२०५३८॥
"	"	॥१४४१८॥	"	"	॥२०६१९९॥
ण.			२९२	तसि० ॥६३३२११॥	॥२२१९॥
२७५	णकवृचौ ॥५११४८॥	॥१५४३३॥	२९३	तस्यै योगादेः शक्ते ॥६४४९४॥	॥१७४३३६॥
"	"	॥८४१८॥	२९४	तस्यै हिते ॥७११३५॥	॥१५०१२४॥
"	"	॥८६४४॥	२९५	तस्याहो० ॥७११५१॥	॥२२१६॥
"	"	॥१२७४३॥	२९६	तस्येदम् ॥६३३१६०॥	॥१२२२२॥
"	"	॥१७०१७॥	"	"	॥१०९११७॥
"	"	॥२०४१८॥	"	"	॥१५१२५॥
२७६	णिज्वहुलं नास्ति० कृगादिषु ॥३१४४२॥	॥४६११३॥	"	"	॥१५१३९॥
"	"	॥४७३३७॥	२९७	ताभ्या० ॥२१४१५॥	॥७४३३४॥
"	"	॥१०२१४०॥	"	"	॥८६१९॥
२७७	णिन् चाऽऽवश्यकाधमर्ण्ये ॥५१४३६॥	॥२०७४४२॥	२९८	तिक्कृतौ नास्ति ॥५११७१॥	॥५७४११॥
२७८	निवेत्यासश्चन्यघट्ट० ॥५३११०॥	॥२०५२१॥	२९९	ति चोपान्त्यातोऽनोदुः ॥४११५४॥	॥४४३३४॥
२७९	णेरनिटि ॥४३३८३॥	॥४६११४॥	३००	तीयशम्भ० ॥७२१३५॥	॥२१३३०॥
"	"	॥४६११७॥	३०१	तुदादिविषि० ॥७० ५॥	॥१५९१३३॥
"	"	॥५३११३॥	३०२	तुदादेः शः ॥३१४८२॥	॥१३३३३२॥
"	"	॥१६३२२॥	३०३	तुमर्हात् ॥३१४२१॥	॥१५३२८॥
त.			"	"	॥१३३१६॥
२८०	तत्र कसुकानौ तद्वत् ॥५२२२॥	॥१३५३३॥	३०४	तृतीयायाम् ॥३११८४॥	॥१३३१॥
"	"	॥१५१२३॥	"	"	॥१३३२॥
"	"	॥२०६३५॥	३०५	तन् शीलघर्मसाधुषु ॥५२२२७॥	॥८४२०॥
"	"	॥२०६३७॥	"	"	॥२०६३०॥
२८१	तत्र साधौ ॥७१११५॥	॥१३४२०॥	३०६	तृपिचपिकुपिकुशि० ॥७० ४६८॥	॥१९६२०॥
"	"	॥१५०३५॥	३०७	तृप्तार्थपूरणाव्यया० ॥३११८५॥	॥२१३८॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०	क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
३०८	तृषिधृषिस्वपो नजिङ् ॥५॥२॥८०॥	॥१४२॥३५॥	३३२	दिवादेः झ्यः ॥३॥४॥७२॥	॥१३३॥३१॥
३०९	तृस्तृतन्द्रितन्यविभ्य ई ॥ उ० ७१॥	॥७९॥४०॥	"	"	॥१४२॥२६॥
३१०	तेन जितजयद् ॥६॥४॥२॥	॥१६॥१३॥	"	"	॥१५४॥३७॥
३११	तेर्ग्रहादिभ्यः ॥४॥४॥३३॥	॥५५॥२८॥	३३३	दिवेडिब् ॥उ० ९४९॥	॥१५४॥४२॥
"	"	॥१४३॥२५॥	३३४	दिशो रुद्वयान्तराले ॥३॥१॥२५॥	॥७५॥२१॥
३१२	त्यदादिः ॥३॥१॥१२०॥	॥६९॥३२॥	३३५	दीय दीङ् किति स्वरे ॥४॥३॥९३॥	॥१४०॥४१॥
"	"	॥६९॥३५॥	३३६	दीर्घश्चिव्यङ्क्येषु च ॥४॥३॥१०८॥	॥३३॥१८॥
३१३	त्यदादन्य० ॥५॥१॥१५२॥	॥६९॥३०॥	"	"	॥७८॥२१॥
३१४	त्यादिसर्वादिः स्वरेष्व० ॥७॥३॥२९॥	॥६५॥२३॥	"	"	॥८३॥२१॥
"	"	॥६८॥१४॥	"	"	॥१००॥२०॥
"	"	॥६८॥१५॥	"	"	॥१४६॥६॥
"	"	॥६९॥२८॥	"	"	॥१४६॥२९॥
"	"	॥७५॥२८॥	"	"	॥१५५॥४॥
"	"	॥१२३॥४५॥	३३७	तुनादि० ॥६॥१॥११८॥	॥७९॥१२॥
"	"	॥१२४॥२४॥	३३८	तुहदिहलिह० ॥४॥३॥७४॥	॥१३९॥१७॥
"	"	॥१२५॥२५॥	३३९	दूरादामन्यस्य० ॥७॥४॥९९॥	॥३३॥३६॥
३१५	त्यादेश्च प्रशस्ते रूपम् ॥७॥३॥१०॥	॥२१॥३९॥	"	"	॥४६॥४४॥
"	"	॥१४६॥२५॥	"	"	॥४६॥४६॥
३१६	त्रन्यस्वरादेः ॥७॥४॥४३॥	॥१४१॥२१॥	"	"	॥५०॥२८॥
"	"	॥४६॥१४॥	३४०	हृषृभृ० ॥ उ० २०७॥	॥१६९॥२४॥
"	"	॥४७॥३७॥	३४१	दृक्नृ० ॥ उ० २७॥	॥१५९॥१३॥
३१७	त्रप् च ॥७॥२॥९२॥	॥२१॥७४२॥	३४२	देये वा च ॥७॥२॥१३३॥	॥२१॥३३॥
३१८	त्रसिगृधिधृषि० ॥५॥२॥३२॥	॥२०६॥३२॥	३४३	देवता ॥६॥२॥१०१॥	॥१५२॥३७॥
३१९	त्रिंशद्विंशतेर्ङकोऽसंज्ञायामार्हदर्थे ॥६॥४॥१२९॥	॥१५३॥४१॥	३४४	देवतानामात्वादौ ॥७॥४॥२८॥	॥१२३॥३०॥
३२०	त्रेस्तु च ॥७॥१॥१६६॥	॥७३॥३५॥	३४५	दो डिमः ॥ उ० ३५५॥	॥१४७॥२६॥
३२१	त्वष्टृक्षन्तृदुहित्रादयः ॥उ० ८६५॥	॥८४॥२५॥	३४६	दोरप्रणिनः ॥६॥२॥४९॥	॥८०॥३२॥
द.			"	"	॥११२॥३८॥
३२२	दक्षिणोत्तराच्चातस् ॥७॥२॥११७॥	॥२१॥१३॥	३४७	दोरीयः ॥६॥३॥३२॥	॥११२॥३८॥
"	"	॥२०३॥४१॥	३४८	द्युगमिभ्यां ङोः ॥ उ० ८६७॥	॥१५४॥४७॥
३२३	दध्युरः ॥७॥३॥१७२॥	॥९५॥४७॥	३४९	द्युतेरादेश्च जः ॥ उ० ९९१॥	॥१४८॥४५॥
"	"	॥९५॥१५॥	३५०	द्युद्वयाम् ॥ उ० ७४४॥	॥१४९॥१७॥
३२४	दम्यमि० ॥ उ० २००॥	॥१४९॥३५॥	३५१	द्युमागपागुदक्प्रतीचो यः ॥६॥३॥८॥	॥१५५॥१७॥
३२५	दध्याऽऽङः ॥५॥१॥७८॥	॥२०८॥४२॥	३५२	द्युसुनिभ्यो माङो ङित् ॥ उ० २६६॥	॥१९८॥१४॥
३२६	दाघेसिशदसदो रु० ॥५॥२॥३६॥	॥२०६॥३३॥	३५३	द्रुहिवृहिमहि० ॥ उ० ८८४॥	॥१०२॥४४॥
३२७	दामाभ्यां नुः ॥उ० ७८६॥	॥१४९॥२०॥	३५४	द्रुहिवृहिवृक्षिभ्य इण० ॥ उ० १९४॥	॥७०॥३८॥
३२८	दिक्शब्दा० ॥७॥२॥११३॥	॥२१॥२१॥	३५५	द्रोर्वा ॥ उ० १८४॥	॥१८९॥३०॥
"	"	॥१९९॥४३॥	३५६	द्वन्तरनवर्णोपसर्गादिष ईप् ॥३॥२॥१०९॥	॥२०९॥४२॥
३२९	दिगधिकं० ॥३॥१॥९८॥	॥११२॥३२॥	३५७	द्वयोर्विमज्ये च तरप् ॥७॥३॥६॥	॥९९॥२०॥
३३०	दिगादिदेहांशाद्यः ॥६॥३॥१२४॥	॥८३॥३४॥	"	"	॥१२४॥२५॥
"	"	॥१४७॥४३॥	"	"	॥१३४॥१२॥
३३१	द्विद्युहृज्जगज्जूह्वाक् ॥५॥२॥८३॥	॥७९॥४१॥	३५८	द्वारादेः ॥७॥४॥६॥	॥१५१॥३९॥
"	"	॥८१॥२५॥	३५९	द्विगोः समाहारात् ॥२॥४॥२२॥	॥६३॥१६॥
"	"	॥१२७॥४१॥	"	"	॥९०॥२८॥
"	"	॥१२८॥३३॥	३६०	द्विगोरनपत्ये० ॥६॥१॥२४॥	॥८९॥११॥
"	"	॥१३०॥३३॥	"	"	॥८९॥३५॥
"	"	॥१३८॥२०॥	३६१	द्विगोरनङ्गोऽट् ॥७॥३॥९९॥	॥८९॥४१॥
"	"	॥१४३॥६॥	"	"	॥१८५॥२५॥
"	"	॥१४३॥२९॥	३६२	द्वितीयतुर्ययोः पूर्वौ ॥४॥१॥४२॥	॥५०॥३६॥
"	"	॥१४३॥३३॥	"	"	॥१३९॥२९॥
			"	"	॥१३९॥३५॥
			"	"	॥१४५॥४२॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०	क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
३६३	द्वितीयाया. काम्य. ॥३१४२२॥	॥१५०३७॥	३८९	नामिनस्तयोः पः ॥२३३८॥	॥६१५॥
३६४	द्वित्रिचतु० ॥७३११०॥	॥२११७॥	३९०	नामिनोऽकलिहलेः ॥४३३५१॥	॥४३३८॥
"	"	॥४३३२२॥	"	"	॥१३५१८॥
"	"	॥१८५१२६॥	"	"	॥१४०३८॥
"	"	॥२०८१२५॥	३९१	नामिनो गुणोऽलिति ॥४३३१॥	॥६१२५॥
३६५	द्विभिभ्यामयद्वा ॥७३११५०॥	॥७१३२॥	"	"	॥८५१४१॥
"	"	॥७१३५॥	"	"	॥१३४१६॥
"	"	॥७४१७॥	"	"	॥१३४४२॥
३६६	द्वित्रेर्घ० ॥७३११०॥	॥२११५॥	"	"	॥१४०१२७॥
३६७	द्विदण्ड्यादिः ॥७३३७५॥	॥६७५॥	"	"	॥१४६३१॥
३६८	द्विर्धातुः परोक्षाडे० ॥४३११॥	॥४३३७॥	३९२	नामनः प्राग्वदुर्वा ॥७३३१२॥	॥१६१२९॥
"	"	॥५५३३४॥	"	"	॥७४४१॥
"	"	॥१२७३८॥	"	"	॥७५४१॥
"	"	॥१२८१२०॥	"	"	॥८६१२०॥
"	"	॥१२८३३४॥	"	"	॥९९१७॥
"	"	॥१३५१७॥	३९३	नाम्यन्तस्या० ॥२३३१५॥	॥६१६२॥
३६९	द्विस्वरादनद्याः ॥६३१७१॥	॥१०९१८॥	"	"	॥१३३११॥
३७०	द्वेस्तीयः ॥७३११६५॥	॥७३३३५॥	"	"	॥१३३४४॥
ध.			"	"	॥४११२९॥
३७१	घारीडोऽरुच्छेऽवृश् ॥५३२२५॥	॥१५४२५॥	"	"	॥४५३३१॥
"	"	॥२०६१४॥	"	"	॥६२३०॥
३७२	धुद्वहस्वालुगनितस्तयोः ॥४३३७०॥	॥५६१४॥	"	"	॥६३२५॥
"	"	॥१३९१४३॥	"	"	॥६५३५॥
३७३	धुरो यैयण् ॥७३३३॥	॥१३४१०॥	"	"	॥७३४६॥
३७४	धुगोदितः ॥४३३३८॥	॥१४२११६॥	"	"	॥१३३१७॥
"	"	॥१४३२३॥	"	"	॥१३३३३॥
"	"	॥१४३२९॥	"	"	॥१३३३५॥
"	"	॥१४४२२॥	"	"	॥१५३३२॥
"	"	॥१४५२७॥	"	"	॥१५४२२॥
३७५	धुघून्दि० ॥ उ० २९॥	॥१४९३८॥	३९४	नाम्युपान्त्यकृ० ॥ उ०६०९॥	॥१३३३०॥
न.			"	"	॥१४३३३॥
३७६	न किम. क्षेपे ॥७३३७०॥	॥९९१२६॥	३९५	नाम्युपान्त्य० ॥५३३५४॥	॥३०२२॥
३७७	नञ् ॥३३१५१॥	॥९०३६॥	"	"	॥६०४०॥
३७८	नञत् ॥३३२१२५॥	॥५७२९॥	"	"	॥७०३१॥
३७९	नञो लम्बेर्न लुक् च ॥ उ० ८३८॥	॥८६३२॥	"	"	॥१३३४१॥
३८०	नञो हलिपतेः ॥ उ० ३५८॥	॥८३३४॥	"	"	॥१४९१२२॥
३८१	नञत्तपुरुषात् ॥७३३७१॥	॥९९१२६॥	३९६	नारीसखीपङ्कथ० ॥२३३७६॥	॥८३३६॥
३८२	नद्या मनु. ॥६३३७२॥	॥१४७१०॥	"	"	॥१०२२३॥
"	"	॥१४७३५॥	३९७	नासिकोदरौघ० ॥२३३३९॥	॥३०४२॥
३८३	न वदन्तं ॥४३३१५॥	॥१४४३५॥	३९८	निघृणीष्युषि० ॥ उ० ५११॥	॥७०३१॥
३८४	नमोः प च ॥ उ० ८६२॥	॥८४२३॥	"	"	॥७०३६॥
३८५	नमो वरि० ॥३३३३७॥	॥२३२१॥	३९९	निव्यं मज्जिनोऽण् ॥७३३५८॥	॥९७४७॥
३८६	नवा शोणादे. ॥२३३३१॥	॥१५३३७॥	४००	नियः षादिः ॥ उ० ८६४॥	॥८४२४॥
३८७	नसिचसि० ॥ उ० ४०॥	॥१४९३६॥	४०१	निर्दुर्बहि० ॥२३३३९॥	॥९३३६॥
३८८	न सन्धिहीयकिद्वि० ॥७३३१११॥	॥४६१८॥	४०२	निविशः ॥३३३२४॥	॥१६३३१॥
"	"	॥४७४४०॥	"	"	॥१६९१२४॥
"	"	॥४७४४३॥	४०३	निविस्वन्वचात् ॥४३३८॥	॥५८१४॥
"	"	॥५२२४॥	४०४	निष्कतुरुष्को० ॥ उ० २६॥	॥८६३३॥
"	"	॥१३९३२॥	४०५	नीदांश्चसू० ॥५३३८८॥	॥१६५३६॥
			४०६	नीसावृ० ॥ उ० ६८७॥	॥१४८३०॥
			४०७	नृहेतुभ्यो० ॥६३३१५६॥	॥४०१५॥
			"	"	॥१४५२०॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
४०८	नैकस्वरस्य ॥७४४४॥	॥११३१२०॥
४०९	नोऽपदस्य तद्धिते ॥७४४६१॥	॥१५१४२॥
४१०	नो व्यञ्जनस्यानुदितः ॥४१२४५॥	॥५३१८॥
"	"	॥१३५४१॥
"	"	॥१३७२॥
"	"	॥१३७१९॥
४११	न्यायावाया० ॥५३१३४॥	॥१७४२६॥
४१२	पञ्चदशद्वर्गे वा ॥६४१७५॥	॥९२२३॥
४१३	पञ्चम्या निर्दिष्टे परस्य ॥७४१०४॥	॥६११९॥
"	"	॥१३१२७॥
"	"	॥१९०२७॥
४१४	पतिराजान्तगुणा० ॥७११६०॥	॥५२२७॥
"	"	॥२००४३॥
४१५	पत्युर्न ॥२४४८॥	॥७८४५॥
"	"	॥८३१६॥
४१६	पथिमन्थिभ्याम् ॥ उ० ९२६॥	॥९९३९॥
४१७	पदकमशिक्षा० ॥६४१२६॥	॥१२२४०॥
४१८	पदरुजविशस्त्वृशो घञ् ॥५३११६॥	॥५९१२२॥
"	"	॥१४९३६॥
"	"	॥१६५४१॥
४१९	पदस्य ॥२११८९॥	॥२११९९॥
४२०	पदिपठि० ॥ उ० ६०७॥	॥१३३३८॥
"	"	॥१४७३४॥
४२१	पदेऽन्तरे० ॥२३१९३॥	॥८२१९॥
४२२	परत्. स्त्री पुंवत्० ॥३१२४९॥	॥८५२४॥
"	"	॥१५४४३॥
४२३	परस्परान्योन्येतरतस्याम् ॥३१२१॥	॥७३४२॥
४२४	पराणि कानानशौ० ॥३३२०॥	॥१६४२९॥
४२५	परावरात्तात् ॥७२११६॥	॥२०३४०॥
४२६	परावर्जेः ॥३३२८॥	॥१६३१॥
४२७	परोक्षा० ॥३३१२॥	॥२३३०॥
४२८	पर्यग्रेः० ॥७२१८३॥	॥१७९३२॥
४२९	पर्यायार्हणोत्पत्तौ च णकः ॥५३१२०॥	॥२०५१२॥
"	"	॥२०५३१॥
४३०	पञ्चोऽपरस्य० ॥७२१२४॥	॥२१२४॥
"	"	॥२०३४४॥
४३१	पातेर्हुम्सुः ॥ उ० १००२ ॥	॥९९१९॥
४३२	पात्यादस्या० ॥७३१४८॥	॥१५०१९॥
४३३	पुंवत्कर्मधारये ॥३२५७॥	॥१४५१३॥
"	"	॥१४५४०॥
४३४	पुंसः ॥२३३३॥	॥४२३५॥
४३५	पुतपिच० ॥ उ० २०४॥	॥८६३४॥
४३६	पुमनङ्गौ० ॥७३१७३॥	॥९८४०॥
"	"	॥९९१७॥
४३७	पूह्यजः शानः ॥५२२३॥	॥२०६३८॥
४३८	पूजास्वतेः० ॥७३३७२॥	॥७८२९॥
"	"	॥८३३३॥
"	"	॥९९२५॥
"	"	॥१००६॥
"	"	॥१००३५॥
"	"	॥१००४५॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
	पूजास्वतेः० ॥७३३७२॥	॥१०४२३॥
"	"	॥१०९२३॥
४३९	पुदिव्यञ्जे० ॥४२३७२॥	॥८३२९॥
४४०	पूर्वपदस्या० ॥२३३६४॥	॥१०३४४॥
४४१	पूर्वमनेन सादेऽन् ॥७३११६७॥	॥२०४२३॥
४४२	पूर्वाऽपराधरोत्त० ॥७२१९८॥	॥२११९॥
४४३	पूर्वावराधरेभ्यो० ॥७२११९५॥	॥२१२५॥
"	"	॥२०३४१॥
"	"	॥२०३४३॥
४४४	पुषोदरादयः ॥३२११५५॥	॥८६३७॥
४४५	पृथुमाहाटमिः ॥४३१५८॥	॥१४५४१॥
४४६	प्रकारे जातीयद् ॥७२१७५॥	॥७३३६॥
"	"	॥१४५२०॥
४४७	प्रकारे था ॥७२११०२॥	॥२११२२॥
४४८	प्रकृष्टे तमप् ॥७३३५॥	॥१३६२१॥
४४९	प्रतिना पञ्चम्याः ॥७२१८७॥	॥१९८६५॥
४५०	प्रत्यय प्रकृत्यादेः ॥७३११५॥	॥११३६॥
"	"	॥१४११॥
"	"	॥१४१३॥
"	"	॥३५१३॥
"	"	॥७२४०॥
"	"	॥७२४२॥
"	"	॥७४४४॥
"	"	॥९२२८॥
"	"	॥१०६१७॥
४५१	प्रत्ययस्य ॥७३१०८॥	॥८२४३॥
"	"	॥११४३१॥
"	"	॥११५१८॥
"	"	॥१४७१९॥
४५२	प्रत्यये च ॥१३३२॥	॥२३१०॥
४५३	प्रमाणीसंख्याङ्कः ॥७३१२८॥	॥१५३४२॥
४५४	प्रयोक्तृव्यापारे० ॥३३१२०॥	॥६१२८॥
"	"	॥१५८२२॥
"	"	॥१५९१२॥
"	"	॥१५९१७॥
"	"	॥१६१४३॥
"	"	॥१६४२७॥
"	"	॥१६६२८॥
४५५	प्रशस्यस्य श्रः ॥७३३४॥	॥१४५२३॥
४५६	प्रश्ने च प्रतिपदम् ॥७३३९८॥	॥१२६१४॥
"	"	॥१२६४३॥
४५७	प्रह्लादाय० ॥ उ० ५१४॥	॥७०४०॥
४५८	प्राक्काले० ॥५३३४७॥	॥१३२२२॥
"	"	॥१४५२६॥
"	"	॥२०६३४॥
४५९	प्राग्जितादण् ॥६३११३॥	॥९७४५॥
४६०	प्राण्यौषधिबुद्धेभ्यो० ॥६३३३१॥	॥९६१२॥
४६१	प्रात्यवपरिनिरादयो० ॥३३१४७॥	॥१७३६॥
"	"	॥६४४१॥
"	"	॥७५२३॥
"	"	॥८४२८॥
"	"	॥१२६२६॥



क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
४६२	प्रात्सूजोरिन् ॥५२॥७१॥	॥२०४॥२८॥
४६३	प्रातुरुपसर्गां ॥२३॥५८॥	॥१८०॥२२॥
४६४	प्रादु दागस्त धारम्भे फते ॥४१॥७॥	॥५१॥३७॥
"	"	॥५८॥१४॥
४६५	मियस्विरं ॥७१॥३८॥	॥७५॥१८॥
"	"	॥८७॥२५॥
"	"	॥१०१॥२९॥

फ.

४६७	फले ॥६२॥५८॥	॥८०॥३२॥
४६५	फल्गुन्यासः ॥६३॥१०६॥	॥२१७॥२९॥

च.

४६८	चहुलम् ॥५१॥२॥	॥१७४॥१३॥
४६९	चहुलं लुप् ॥३१॥१४॥	॥१३५॥३२॥
"	"	॥१३९॥३५॥
"	"	॥१४४॥३२॥
४७०	चहूनां प्रभे ऋतमश्च वा ॥७३॥५४॥	॥६७॥३२॥
"	"	॥६७॥३६॥
४७१	चहोर्घोऽऽसन्ने ॥७२॥११२॥	॥२१॥२०॥
"	"	॥२०८॥२७॥
४७२	चहृत्पार्थात् ॥७२॥१५०॥	॥२१॥३४॥
४७३	चिदादेर्वृद्धे ॥६१॥४१॥	॥२१॥६२६॥
४७४	ब्रह्ममूणवृत्तात् ॥५१॥१६१॥	॥४९॥२८॥
"	"	॥१०३॥२७॥
"	"	॥१४६॥२१॥
४७५	चूगः पञ्चानां ॥४२॥११८॥	॥१४२॥२२॥
"	"	॥२०७॥३५॥

भ.

४७६	भजो विण् ॥५१॥१४६॥	॥१४२॥३४॥
४७७	भन्देर्घा ॥ उ० ३९१॥	॥१९५॥४३॥
४७८	भर्तुसन्ध्यादेरण् ॥६३॥८९॥	॥१८८॥३९॥
४७९	भवतोरिकणीयसौ ॥६३॥३३०॥	॥११॥४२॥
४८०	भवत्यामुष्मद्दी ॥७२॥९१॥	॥२१७॥४१॥
४८१	भवे ॥६३॥१२३॥	॥८९॥१०॥
"	"	॥८९॥३५॥
"	"	॥१५०॥३५॥
४८२	भव्यगेयजन्यं ॥५१॥७॥	॥२०५॥४०॥
४८३	भातेर्हवतुः ॥ उ० ८८६॥	॥७०॥४६॥
४८४	भाववचनाः ॥५३॥१५॥	॥१९३॥४२॥
४८५	भावाऽकर्जोः ॥५३॥१८॥	॥३०॥२१॥
"	"	॥२०५॥२१॥
४८६	भावे ॥५३॥१२२॥	॥१३९॥४६॥
"	"	॥२०७॥२९॥
४८७	भावे त्वतल् ॥७१॥५५॥	॥१३६॥२०॥
४८८	मिदादयः ॥५३॥१०८॥	॥६१॥३५॥
"	"	॥१३३॥१६॥
४८९	मियो रुक्कलुकम् ॥५२॥७६॥	॥८६॥४१॥
४९०	मिह्लाच्छं ॥ उ० ४६४॥	॥८६॥३५॥
४९१	मीणशलिबलिं ॥ उ० २१॥	॥७०॥४४॥
४९२	मीवृषिं ॥ उ० ३८७॥	॥१९५॥४४॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
४९३	भुजिपत्यादिभ्यां ॥५३॥१२८॥	॥६८॥४६॥
"	"	॥१६२॥२१॥
"	"	॥१७६॥४३॥
४९४	भूजेः ण्यक् ॥५२॥३०॥	॥२०६॥११॥
४९५	भूर्लुक् चवर्णस्य ॥७३॥४१॥	॥१४५॥२२॥
४९६	भूश्चवोऽल् ॥५३॥२३॥	॥१७४॥२४॥
४९७	भृजो भर्त् ॥४१॥६॥	॥१४३॥२८॥
४९८	भृमृत् ॥ उ० ७१६॥	॥१२९॥४१॥

"	"	॥१४९॥१६॥
"	"	॥१४९॥१७॥
"	"	॥१४९॥१८॥
४९९	भृवृजिं ॥५१॥११२॥	॥१३८॥१५॥
५००	भोगवद्भारिमतोर्नाम्नि ॥३१॥६५॥	॥१४७॥१७॥
५०१	असिगमिं ॥ उ० ८४३॥	॥७९॥४२॥
५०२	आज्यलंछणं ॥५२॥२८॥	॥२०६॥३१॥
५०३	भृणवृणुणं ॥ उ० १८६॥	॥१९५॥२५॥

म.

५०४	मध्वादिभ्यो ऋः ॥७२॥२६॥	॥२०९॥४३॥
५०५	मन् ॥ उ० ९११॥	॥१४७॥४१॥
"	"	॥१५३॥४४॥
५०६	मनिजनिभ्यां ॥ उ० ७२१॥	॥१४९॥१६॥
५०७	मनेरुदेतौ चाऽस्य वा ॥ उ० ६१२॥	॥१४७॥४३॥
५०८	मन्वन्कनिपूर्विच् कचित् ॥५१॥१४७॥	॥४७॥३८॥
"	"	॥४७॥३८॥
"	"	॥१३३॥३४॥
"	"	॥१३३॥३६॥
५०९	मयूरव्यंसकेत्यादयः ॥३१॥११६॥	॥७०॥२३॥

(मयूरव्यंसकादित्वात्)

५१०	मस्तीप्यशिश्वः सुक् ॥ उ० ८२६॥	॥१४९॥१५॥
५११	महतः करघासविशिष्टे ङाः ॥३१॥६८॥	॥१५३॥३९॥
५१२	महेरुष्ठाऽस्य वा ॥ उ० ८९॥	॥८३॥३३॥
५१३	महविभ्यां टिक् ॥ उ० ५४७॥	॥१४८॥४६॥
५१४	माह्वयघतनी ॥५३॥३९॥	॥२३॥९॥
५१५	मावावघं ॥ उ० ५६४॥	॥१४७॥४२॥
"	"	॥१४८॥४३॥
"	"	॥१४९॥२२॥
५१६	मियिरङ्गुपिं ॥ उ० ९७१॥	॥१०४॥३३॥
५१७	मिवहिं ॥ उ० ७२६॥	॥१४९॥१५॥
५१८	मुस्तोऽनुनासिकस्य ॥४१॥५१॥	॥४४॥२१॥
"	"	॥४४॥३१॥
"	"	॥६२॥३३॥
"	"	॥१३५॥३२॥
५१९	मूलविमुजादयः ॥५१॥१४४॥	॥२१७॥४४॥
५२०	मूल्यैः क्रीते ॥६३॥१५०॥	॥१२०॥६१॥
५२१	मृगयेच्छायाशान् ॥५३॥१०१॥	॥६१॥३१॥
५२२	मृजोऽस्यं ॥४३॥४२॥	॥१४३॥२३॥
"	"	॥१४५॥३८॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०	क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
	य.			र.	
५२३	य एचातः ॥५११२८॥	॥५२११८॥	५४८	रदादमूच्छमदः कयोर्दस्य च ॥४१२१६९॥	॥५६२२१॥
"		॥१३३३३०॥	"		॥१३३३१८॥
"		॥१७८१४२॥	५४९	रघृवर्णान्नोण० ॥२१३६३॥	॥४९१२२॥
"		॥१९९१३०॥	"		॥५४११५॥
"		॥२०५१३९॥	"		॥५४३३४॥
५२४	यजादिवचेः किति ॥४११७९॥	॥३३११८॥	"		॥६११४३॥
"		॥९८३९॥	"		॥८२११४॥
"		॥१४१११९॥	"		॥८२११८॥
"		॥१६८३७॥	"		॥९५१२७॥
५२५	यजिस्वपिरक्षि० ॥५३३८५॥	॥४०१२०॥	"		॥१३०१४६॥
"		॥६१३३१॥	"		॥१३३११४॥
५२६	यजेः क च ॥उ० ८९२॥	॥१४९१३९॥	"		॥१३३२२७॥
५२७	यजो डायन् च वा ॥२१४६७॥	॥१५१४०॥	"		॥१३३३१८॥
"		॥८५२३॥	"		॥१४४२२१॥
५२८	यतिन० ॥ उ० ८५६॥	॥८४११६॥	"		॥१६५१४४॥
५२९	यत्तत्किमः ॥७१११५०॥	॥२३१४४॥	५५०	राजन्सखेः ॥७३११०६॥	॥७८१२८॥
"		॥९०१४५॥	५५१	रात्रु ॥४११११०॥	॥५९१५१॥
५३०	यत्तत्किमन्यात् ॥७३१५३॥	॥६७३२२॥	"		॥१३३४१३॥
"		॥६७३४५॥	५५२	रि. शक्याशीयं ॥४३११०॥	॥१५६१७॥
५३१	यत्तदेतदो० ॥७१११४९॥	॥२३१४६॥	५५३	रितौ च लुपि ॥४११५६॥	॥१४४५१०॥
"		॥९१११६॥	५५४	रुघा स्वराच्छनो नलुक च ॥३१४८२॥	॥५४३८॥
५३२	यपि चादो जग्य् ॥४१४१६॥	॥५३३३४॥	"		॥५८११५॥
५३३	यमिदमिभ्यां डोस् ॥ उ० १००५॥	॥६११४१॥	"		॥१५४२४॥
"		॥१४९१३९॥	"		॥१५९२२९॥
५३४	यमिरमिनमिगमि० ॥४१२१५५॥	॥४४१४४॥	५५५	रुहिनन्दि० ॥ उ० २२०॥	॥१६६११९॥
५३५	यश्चोरसः ॥६३१२१२॥	॥२२१२॥		ल.	
५३६	यावतो विन्दजीवः ॥५१४१५५॥	॥२२१३२॥	५५६	लक्ष्मोऽन्तश्च ॥उ० ७१५॥	॥७९१४१॥
५३७	युजमुजमजत्यज० ॥५१२१५०॥	॥२०१४२७॥	"		॥१४७२२६॥
५३८	युजादेर्नवा ॥३१४१८॥	॥१६४३३३॥	५५७	लघोरुपान्त्यस्य ॥४३१४॥	॥१३१३३९॥
५३९	युवर्ण० ॥५३३२८॥	॥१४८१४२॥	"		॥१३३३३२॥
५४०	युवा खलति० ॥३११११३॥	॥१२११८॥	"		॥१४५१११॥
५४१	युवादेरण् ॥७१११६७॥	॥१५११४०॥	५५८	लच्चक्षरा० ॥३१११६०॥	॥१०३३२॥
५४२	युष्मदसदोऽसोमादि० ॥७३३३०॥	॥११२२२३॥	५५९	लटिखटि० ॥ उ० ५०५॥	॥७०३३०॥
"		॥११३३४१॥	५६०	लमः ॥४३११०३॥	॥१६२२७॥
५४३	युष्यसिभ्यां कमद् ॥उ० ८९९॥	॥७०१४५॥	५६१	लाक्षाद्राक्षा० ॥उ० ५९७॥	॥१४८१४२॥
"		॥७०१४६॥	५६२	लुप्यवृत्तेनत् ॥७३१११२॥	॥८५१४३॥
५४४	यूनस्तिः ॥२१४७७॥	॥१५१४१॥	"		॥९२१४१॥
"		॥१५१४३॥	"		॥९३१४०॥
५४५	योरुष च ॥उ० ५४१॥	॥१४९१३८॥	"		॥९५१४२॥
५४६	य्वः पदान्तात् प्रागैदौत् ॥७३४५॥	॥१५०१२०॥	"		॥९९१४४॥
५४७	य्वो. प्वय्यजने० ॥४३११२१॥	॥४७३३९॥	"		॥१०५१४५॥
"		॥४७३४२॥	"		॥१०७३३६॥
"		॥४७३४३॥	"		॥१०७३३७॥
"		॥४७३४५॥	"		॥११२३३०॥
"		॥७८१२२॥	"		॥११३३१४॥
"		॥७८१२४॥	"		॥११३३२४॥
"		॥८०११८॥	"		॥११४३२५॥
"		॥८३२२२॥	"		॥११६३३०॥
"		॥१००११५॥	"		॥१२२३३५॥
"		॥१३३३३४॥	"		॥१२३३४१॥
"		॥१३४३३५॥	"		॥१२६३२७॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
४६२	प्रात्सुजोरिन् ॥५२॥७१॥	॥२०४॥२८॥
४६३	प्रादुक्पसर्गा० ॥२३॥५८॥	॥१८०॥२२॥
४६४	प्राद् दागस्त आरम्भे फ्ले ॥४१॥४७॥	॥५१॥३७॥
"	"	॥५८॥१४॥
४६५	प्रियस्त्रिर० ॥७१॥३८॥	॥७५॥१८॥
"	"	॥८७॥२५॥
"	"	॥१०१॥२९॥

फ.

४६७	फले ॥६२॥५८॥	॥८०॥३२॥
४६५	फल्गुन्यासः ॥६३॥१०६॥	॥२१७॥२९॥

ब.

४६८	बहुलम् ॥५१॥२॥	॥१७४॥१३॥
४६९	बहुल लुप् ॥३१॥१४॥	॥१३५॥३२॥
"	"	॥१३९॥३५॥
"	"	॥१४४॥३२॥
४७०	बहूनां प्रभे इतमश्च वा ॥७३॥५४॥	॥६७॥३२॥

४७१	बहोर्घोऽऽसन्ने ॥७२॥११२॥	॥२१॥२०॥
-----	-------------------------	---------

४७२	बह्वर्थात् ॥७२॥१५०॥	॥२१॥३४॥
-----	---------------------	---------

४७३	विदादेवृद्धे ॥६१॥४१॥	॥२१॥६२६॥
-----	----------------------	----------

४७४	ब्रह्मभूणवृत्तात् ॥५१॥१६१॥	॥४९॥२८॥
-----	----------------------------	---------

४७५	ब्रूगः पञ्चानां ॥४२॥११८॥	॥१०॥३२७॥
-----	--------------------------	----------

४७६	ब्रूगः पञ्चानां ॥४२॥११८॥	॥१४२॥२२॥
-----	--------------------------	----------

४७७	ब्रूगः पञ्चानां ॥४२॥११८॥	॥२०७॥३५॥
-----	--------------------------	----------

भ.

४७८	भजो विष्णु ॥५१॥१४६॥	॥१४२॥३४॥
-----	---------------------	----------

४७९	भन्देर्वा ॥ उ० ३९१॥	॥१९५॥४३॥
-----	---------------------	----------

४८०	भर्तुसन्ध्यावेरण् ॥६३॥८९॥	॥१८८॥३९॥
-----	---------------------------	----------

४८१	भवतोरिकणीयसौ ॥६३॥३०॥	॥११॥४२॥
-----	----------------------	---------

४८२	भवत्वायुष्मदी ॥७२॥९१॥	॥२१७॥४१॥
-----	-----------------------	----------

४८३	भवे ॥६३॥१२३॥	॥८९॥१०॥
-----	--------------	---------

४८४	भवे ॥६३॥१२३॥	॥८९॥३५॥
-----	--------------	---------

४८५	भवे ॥६३॥१२३॥	॥१५०॥३५॥
-----	--------------	----------

४८६	भव्यगेयजन्य० ॥५१॥७॥	॥२०५॥४०॥
-----	---------------------	----------

४८७	भातेर्देवतुः ॥ उ० ८८६॥	॥७०॥४६॥
-----	------------------------	---------

४८८	भाववचनाः ॥५३॥१५॥	॥१९३॥४२॥
-----	------------------	----------

४८९	भावाऽकर्त्रोः ॥५३॥१८॥	॥३०॥२१॥
-----	-----------------------	---------

४९०	भावे ॥५३॥१२२॥	॥२०५॥२१॥
-----	---------------	----------

४९१	भावे ॥५३॥१२२॥	॥१३९॥४६॥
-----	---------------	----------

४९२	भावे ॥५३॥१२२॥	॥२०७॥२९॥
-----	---------------	----------

४९३	भावे ॥५३॥१२२॥	॥१३६॥२०॥
-----	---------------	----------

४९४	भावे ॥५३॥१२२॥	॥६१॥३५॥
-----	---------------	---------

४९५	भावे ॥५३॥१२२॥	॥१३३॥१६॥
-----	---------------	----------

४९६	मियो रुक्कलुकम् ॥५२॥७६॥	॥८६॥४१॥
-----	-------------------------	---------

४९७	मिल्लाच्छ० ॥ उ० ४६४॥	॥८६॥३५॥
-----	----------------------	---------

४९८	मीणसालिबलि० ॥ उ० २१॥	॥७०॥४४॥
-----	----------------------	---------

४९९	मीवृचि० ॥ उ० ३८७॥	॥१९५॥४४॥
-----	-------------------	----------

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
४९३	भुजिपत्यादिभ्यः० ॥५३॥१२८॥	॥६८॥४६॥
"	"	॥१६२॥२१॥
"	"	॥१७६॥४३॥
४९४	भूजेः ण्यक् ॥५२॥३०॥	॥२०६॥३१॥
४९५	भूर्लुक् चैवर्णस्य ॥७३॥४१॥	॥१४५॥२२॥
४९६	भूध्यदोऽल् ॥५३॥२३॥	॥१७४॥२४॥
४९७	भृजो भर्त् ॥४३॥४६॥	॥१४३॥२८॥
४९८	भृमृत् ॥ उ० ७१६॥	॥१२९॥४१॥

"	"	॥१४९॥१६॥
---	---	----------

"	"	॥१४९॥१७॥
---	---	----------

"	"	॥१४९॥१८॥
---	---	----------

४९९	भृवृजि० ॥५३॥११२॥	॥१३८॥१५॥
-----	------------------	----------

५००	भोगवद्भौरिमतोर्नाम्नि ॥३२॥६५॥	॥१४७॥१७॥
-----	-------------------------------	----------

५०१	भ्रमिगमि० ॥ उ० ८४३॥	॥७९॥४२॥
-----	---------------------	---------

५०२	भ्राज्यलङ्गम् ॥५२॥२८॥	॥२०६॥३१॥
-----	-----------------------	----------

५०३	भृणतृणगुण० ॥ उ० १८६॥	॥१९५॥२५॥
-----	----------------------	----------

म.

५०४	मघादिभ्यो रः ॥७२॥२६॥	॥२०९॥४३॥
-----	----------------------	----------

५०५	मन् ॥ उ० ९११॥	॥१४७॥४३॥
-----	---------------	----------

"	"	॥१५॥३१४॥
---	---	----------

५०६	मनिजनिभ्यां० ॥ उ० ७२१॥	॥१४९॥१६॥
-----	------------------------	----------

५०७	मनेरुदेतौ चाऽस्य वा ॥ उ० ६१२॥	॥१४७॥३१॥
-----	-------------------------------	----------

५०८	मन्वन्कनिष्विच् कचित् ॥५३॥१४४॥	॥४७॥३१॥
-----	--------------------------------	---------

"	"	॥७४॥३१॥
---	---	---------

"	"	॥१३३॥३३॥
---	---	----------

"	"	॥१३३॥३६॥
---	---	----------

५०९	मयूरव्यंसकेत्यादयः ॥३१॥११६॥	॥७०॥२३॥
-----	-----------------------------	---------

(मयूरव्यंसकादित्वात्)

५१०	मस्तीष्यशिभ्यः सुक् ॥ उ० ८२६॥	॥१४९॥१५॥
-----	-------------------------------	----------

५११	महतः करघासविशिष्टे ङाः ॥३२॥६८॥	॥१५३॥३९॥
-----	--------------------------------	----------

५१२	महेरुष्वाऽस्य वा ॥ उ० ८९॥	॥८३॥३३॥
-----	---------------------------	---------

५१३	महाविभ्यां टित् ॥ उ० ५४७॥	॥१४८॥४६॥
-----	---------------------------	----------

५१४	माह्व्यघतनी ॥५३॥३९॥	॥२३॥९॥
-----	---------------------	--------

५१५	मावावघ० ॥ उ० ५६४॥	॥१४७॥४२॥
-----	-------------------	----------

"	"	॥१४८॥४३॥
---	---	----------

"	"	॥१४९॥२२॥
---	---	----------

५१६	मिथिरङ्ग्युचि० ॥ उ० ९७१॥	॥१०४॥३३॥
-----	--------------------------	----------

५१७	मिबहि० ॥ उ० ७२६॥	॥१४९॥१५॥
-----	------------------	----------

५१८	मुरतोऽनुनासिकस्य ॥४३॥५१॥	॥४४॥२१॥
-----	--------------------------	---------

"	"	॥४४॥३१॥
---	---	---------

"	"	॥६२॥३३॥
---	---	---------

"	"	॥१३५॥३२॥
---	---	----------

५१९	मूलविभुजादयः ॥५३॥१४४॥	॥२१७॥४४॥
-----	-----------------------	----------

५२०	मूल्यैः क्रीते ॥६३॥१५०॥	॥१०६॥११॥
-----	-------------------------	----------

५२१	मृगयेच्छायाघ्ना० ॥५३॥१०१॥	॥६१॥३१॥
-----	---------------------------	---------

५२२	मृजोऽस्य० ॥४३॥४२॥	॥१४३॥२३॥
-----	-------------------	----------

॥१४५॥३८॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०	क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
	य.			र.	
५२३	य पचातः ॥५११२८॥	॥५२११८॥	५४८	रदादमूळमदं कयोर्दस्य चा॥४२१६९॥	॥५६१२१॥
"		॥१३३३३०॥			॥१३३३१८॥
"		॥१७८१४२॥	५४९	रपृवर्णान्नोण० ॥२३३६३॥	॥४९१२२॥
"		॥१९११३०॥	"		॥५४११५॥
"		॥२०५३३९॥	"		॥५४३३४॥
५२४	यजादिवचेः किति ॥४११७९॥	॥३३११८॥	"		॥६१४३३॥
"		॥९८३३९॥	"		॥८२११४॥
"		॥१४११९९॥	"		॥८२११८॥
"		॥१६८३३७॥	"		॥९५१२७॥
५२५	यजिस्वपिरक्षि० ॥५३३८५॥	॥४०१२०॥	"		॥१३०१४६॥
"		॥६१३३१॥	"		॥१३३११४॥
५२६	यजेः क च ॥उ० ८९२॥	॥१४९३३९॥	"		॥१३३३१८॥
५२७	यजो डायन् च वा ॥२१४६७॥	॥१५४०॥	"		॥१४४१२१॥
"		॥८५१२३॥	"		॥१६५१४४॥
५२८	यत्तिन० ॥ उ० ८५६॥	॥८४११६॥	५५०	राजन्सखे ॥७३११०६॥	॥७८१२८॥
५२९	यत्तत्किमः ॥७१११५०॥	॥२३३४४॥	५५१	रात्रिक् ॥४११११०॥	॥५९१५१॥
"		॥९०१४५॥			॥१३३४३३॥
५३०	यत्तत्किमन्यात् ॥७३३५३॥	॥६७३३२॥	५५२	रि० शक्याशीये ॥४३३११०॥	॥१५६१७॥
"		॥६७४४५॥	५५३	रिरौ च लुपि ॥४११५६॥	॥१४५११०॥
५३१	यत्तदेतदो० ॥७१११४९॥	॥२३३४६॥	५५४	रघा स्वराच्छनो नल्लक् च ॥३३३८२॥	॥५४३८॥
"		॥९१११६॥	"		॥५८११५॥
५३२	यपि चादो जग् ॥४४११६॥	॥५३३३४॥	"		॥१५४१२४॥
५३३	यमिदमिम्यां डोस् ॥ उ० १००५॥	॥६१४३१॥	"		॥१५५१२९॥
"		॥१४९३३९॥	५५५	रुहिनन्दि० ॥ उ० २२०॥	॥१६६११९॥
५३४	यमिरमिनमिमि० ॥४२१५५॥	॥४४३४४॥		ल.	
५३५	यश्चोरसः ॥६३३१२१॥	॥२२१९॥	५५६	लक्षेर्मोऽन्तश्च ॥उ० ७१५॥	॥७९१४१॥
५३६	यावतो विन्दजीवः ॥५४१५५॥	॥२२३३२॥	"		॥४४७३२६॥
५३७	युजमुजमजत्यज० ॥५२१५०॥	॥२०४२७॥	५५७	लघोरुपान्त्यस्य ॥४३३४॥	॥१३३३३९॥
५३८	युजादेर्नवा ॥३३३१८॥	॥१६४३३३॥	"		॥१३३३३२॥
५३९	युवर्ण० ॥५३३२८॥	॥१४८३४२॥	"		॥१४५१११॥
५४०	युवा खलति० ॥३३३११३॥	॥१२३१८॥	"		॥१०३३२॥
५४१	युवादेरण् ॥७११६७॥	॥१५११४०॥	५५८	लघ्वक्षरा० ॥३३३११६०॥	॥१०३३२॥
५४२	युष्मदस्सदोऽस्तोमादि० ॥७३३३०॥	॥११२३३३॥	५५९	लटिखटि० ॥ उ० ५०५॥	॥७०३३०॥
"		॥११३३४१॥	५६०	लमः ॥४३३१०३॥	॥१६२३७॥
५४३	युष्मसिम्यां कमद् ॥उ० ८९९॥	॥७०१४५॥	५६१	लाक्षाद्राक्षा० ॥उ० ५९७॥	॥१४८३४२॥
"		॥७०१४६॥	५६२	लुप्यच्छन्नत् ॥७३३११२॥	॥८५३३३॥
५४४	यूनस्तिः ॥२३३७७॥	॥१५३४१॥	"		॥९२३४१॥
"		॥१५३४३३॥	"		॥९३३४०॥
५४५	योरुच्च चा ॥उ० ५४१॥	॥१४९३३८॥	"		॥९५३४२॥
५४६	य्वः पदान्तात् प्रागैदौत् ॥७३३५॥	॥१५०३२०॥	"		॥९९३४४॥
५४७	य्वोः प्वय्यञ्जने० ॥४३३१२१॥	॥४७३३९॥	"		॥१०५३४५॥
"		॥४७३४२॥	"		॥१०७३३६॥
"		॥४७३४३॥	"		॥१०७३३७॥
"		॥४७३४५॥	"		॥११२३३०॥
"		॥७८३२२॥	"		॥११३३३४॥
"		॥७८३२४॥	"		॥११३३२४॥
"		॥८०३१८॥	"		॥११४३२५॥
"		॥८३३२२॥	"		॥११६३३०॥
"		॥१००३१५॥	"		॥१२३३३५॥
"		॥१३३३३४॥	"		॥१२३३४१॥
"		॥१३३३३५॥	"		॥१२३३४२॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
४६२	प्रात्सुजोरिन् ॥५२॥७१॥	॥२०४२८॥
४६३	प्रादुक्पसर्गा० ॥२३॥५८॥	॥१८०१२२॥
४६४	प्राद् दागस्त आरम्भे फत्ते ॥४१॥७१॥	॥५११३७॥
"	"	॥५८११४॥
४६५	प्रियस्त्रिर० ॥७१॥३८॥	॥७५११८॥
"	"	॥८७२५॥
"	"	॥१०११२९॥
<b>फ.</b>		
४६७	फले ॥६२॥५८॥	॥८०१३२॥
४६५	फल्युन्याष्टः ॥६३॥१०६॥	॥२१७२९॥
<b>च.</b>		
४६८	चहुलम् ॥५१॥२॥	॥१७४१३॥
४६९	चहुल लुप् ॥३१॥४१॥	॥१३५३२॥
"	"	॥१३९१३५॥
"	"	॥१४४३२॥
४७०	चहर्ना प्रश्ने इतमश्च वा ॥७३॥५४॥	॥६७३२॥
"	"	॥६७४६॥
४७१	चहोर्घोऽऽसन्ने ॥७२॥११२॥	॥२१२०॥
"	"	॥२०८१२७॥
४७२	चहृत्पार्थात् ॥७२॥१५०॥	॥२१३४॥
४७३	विदादेर्वृद्धे ॥६१॥४१॥	॥२१६२६॥
४७४	ब्रह्मसूणवृत्रात् ॥५१॥१६१॥	॥४२२८॥
"	"	॥१०३१२७॥
"	"	॥१४६२१॥
४७५	चूगः पञ्चानां० ॥४२॥११८॥	॥१४२२२॥
"	"	॥२०७३५॥
<b>भ.</b>		
४७६	भजो विष्णु ॥५१॥१४६॥	॥१४२३४॥
४७७	भन्देर्वा० ॥ उ० ३९१॥	॥१९५४३॥
४७८	भर्तुसन्ध्यादेरण ॥६३॥८९॥	॥१८८३९॥
४७९	भवतोरिकणीयसौ ॥६३॥३०॥	॥११४२॥
४८०	भवत्वायुष्मही० ॥७२॥९१॥	॥२१७४१॥
४८१	भवे ॥६३॥१२३॥	॥८९११०॥
"	"	॥८९३५॥
"	"	॥१५०३५॥
४८२	भव्यनयजन्य० ॥५१॥७॥	॥२०५४०॥
४८३	भातेर्द्धवतुः ॥ उ० ८८६॥	॥७०४६॥
४८४	भाववचना० ॥५३॥१५॥	॥१९३४२॥
४८५	भावाऽकर्त्रो० ॥५३॥१८॥	॥३०२१॥
"	"	॥२०५२१॥
४८६	भावे ॥५३॥१२२॥	॥१३९४६॥
"	"	॥२०७२९॥
४८७	भावे त्वतल् ॥७१॥५५॥	॥१३६२०॥
४८८	मिदादयः ॥५३॥१०८॥	॥६१३५॥
"	"	॥१३३१६॥
४८९	मियो रुक्कलुकम् ॥५२॥७६॥	॥८६४१॥
४९०	मिल्लच्छ० ॥ उ० ४६४॥	॥८६३५॥
४९१	मीणशलिबलि० ॥ उ० २१॥	॥७०४४॥
४९२	सीवृषि० ॥ उ० ३८॥	॥१९५४४॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
४९३	भुजिपत्यादिभ्यः० ॥५३॥१२८॥	॥६८४६॥
"	"	॥१६२१२१॥
"	"	॥१७६४३॥
४९४	भूजेः ण्युक् ॥५२॥३०॥	॥२०६३१॥
४९५	भूर्लुक् चवर्णस्य ॥७३॥४१॥	॥१४५२२॥
४९६	भूक्ष्यवोऽल् ॥५३॥२३॥	॥१७४२४॥
४९७	भृजो भर्ज ॥४३॥४६॥	॥१४३२८॥
४९८	भृमृत् ॥ उ० ७१६॥	॥१२९१४१॥
"	"	॥१४९११६॥
"	"	॥१४९११७॥
"	"	॥१४९११८॥
४९९	भृवृजि० ॥५३॥११२॥	॥१३८१५॥
५००	भोगवद्भौरिमतोर्नास्ति ॥३२॥६५॥	॥१४७१७॥
५०१	असिगमि० ॥ उ० ८४३॥	॥७९४२॥
५०२	आज्यलंकृगं ॥५२॥२८॥	॥२०६३१॥
५०३	अणत्तणुण० ॥ उ० १८६॥	॥१९५२५॥
<b>म.</b>		
५०४	मध्वादिभ्यो रः ॥७२॥२६॥	॥२०९४३॥
५०५	मन् ॥ उ० ९११॥	॥१४७४४॥
"	"	॥१५३१४॥
५०६	मनिजनिभ्यां० ॥ उ० ७२१॥	॥१४९११६॥
५०७	मनेरुदेतौ चाऽस्य वा ॥ उ० ६१२॥	॥१४७३४॥
५०८	मन्वन्कनिप्विच् कचित् ॥५३॥१४७॥	॥४७३८॥
"	"	॥७४३८॥
"	"	॥१३३३४॥
"	"	॥१३३३६॥
५०९	मयूरव्यसकेत्यादयः ॥३१॥११६॥	॥७०१२३॥
(मयूरव्यसकादित्वात्)		
५१०	मस्तीष्यशिभ्यः सुक् ॥ उ० ८२६॥	॥१४९११५॥
५११	महतः करपासविशिष्टे डाः ॥३२॥६८॥	॥१५३३९॥
५१२	महेरुष्वाऽस्य वा ॥ उ० ८९॥	॥८३३३॥
५१३	मह्यविभ्यां टित् ॥ उ० ५४७॥	॥१४८४६॥
५१४	माह्वयद्यतनी ॥५३॥३९॥	॥२३९॥
५१५	मावावद्य० ॥ उ० ५६४॥	॥१४७४२॥
"	"	॥१४८४३॥
"	"	॥१४९१२२॥
५१६	मिथिरङ्गुषि० ॥ उ० ९७१॥	॥१०४३३॥
५१७	मिवहि० ॥ उ० ७२६॥	॥१४९११५॥
५१८	मुरतोऽनुनासिकस्य ॥४३॥५१॥	॥४४२१॥
"	"	॥४४३१॥
"	"	॥६२३३॥
"	"	॥१३५३२॥
५१९	मूलविभुजादयः ॥५३॥१४४॥	॥२१७४४॥
५२०	मूल्यैः क्रीते ॥६३॥१५०॥	॥१०६१॥
५२१	मृगयेच्छायाघ्रा० ॥५३॥१०१॥	॥६१३३॥
५२२	मृजोऽस्य० ॥४३॥४२॥	॥१४३३३॥
"	"	॥१४५३८॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०	क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
	य.			र.	
५२३	य पञ्चातः ॥५११२८॥	॥५२१८॥	५४८	रदादमूर्च्छमद० कयोर्दस्य च॥४१२१९॥	॥५६२१॥
"	"	॥१३३३०॥	"	"	॥१३३१८॥
"	"	॥१७८४२॥	५४९	रपृवर्णाज्ञोण० ॥२१३६३॥	॥४९१२२॥
"	"	॥१९१३०॥	"	"	॥५४१५॥
"	"	॥२०५३९॥	"	"	॥५४३४॥
५२४	यजादिवचेः किति ॥४११७९॥	॥३३१८॥	"	"	॥६१४३॥
"	"	॥९८३९॥	"	"	॥८२१४॥
"	"	॥१४११९॥	"	"	॥८२१८॥
"	"	॥१६८३७॥	"	"	॥९५१२७॥
५२५	यजिस्वपिरक्षि० ॥५३१८५॥	॥४०१२०॥	"	"	॥१३०४६॥
"	"	॥६१३३॥	"	"	॥१३११४॥
५२६	यजेः क च ॥३० ८९२॥	॥१४९३९॥	"	"	॥१३२१२७॥
५२७	यजो डायन् च वा ॥२१४६७॥	॥१५१०॥	"	"	॥१३३१८॥
"	"	॥८५१२३॥	"	"	॥१४४१२१॥
५२८	यत्तिन० ॥ ३० ८५६॥	॥८४१६॥	"	"	॥१६५४४॥
५२९	यत्तत्किमः ॥७११५०॥	॥२३१४४॥	५५०	राजनृसखेः ॥७३१०६॥	॥७८१२८॥
"	"	॥९०४५॥	५५१	रात्रुक् ॥४१११०॥	॥५९५१॥
५३०	यत्तत्किमन्यात् ॥७३१५३॥	॥६७३३॥	"	"	॥१३४१३॥
"	"	॥६७४४५॥	५५२	रिः शक्याशीयं ॥४३११०॥	॥१५६१७॥
५३१	यत्तदेतदो० ॥७११४४॥	॥२३१४६॥	५५३	रिरौ च लुपि ॥४११५६॥	॥१४५१०॥
"	"	॥९११६॥	५५४	रघां स्वराच्छनो नलुक् च ॥३१४८२॥	॥५४३८॥
५३२	यपि चादो जग्ध् ॥४११६॥	॥५३३३॥	"	"	॥५८१५॥
५३३	यमिदमिभ्या डोस् ॥ ३० १००५॥	॥६१४१॥	"	"	॥१५५१४॥
"	"	॥१४९३९॥	"	"	॥१५५१२९॥
५३४	यमिरमिनमिगमि० ॥४११५५॥	॥४४४४॥	५५५	रुहिनन्दि० ॥ ३० २२०॥	॥१६६१९॥
५३५	यश्चोरसः ॥६३१२१॥	॥२२१९॥		ल.	
५३६	यावतो विन्दजीवः ॥५११५५॥	॥२२३२॥	५५६	लक्ष्मोऽन्तश्च ॥३० ७१५॥	॥७९४१॥
५३७	युजभुजमजत्यज० ॥५११५०॥	॥२०४१७॥	"	"	॥१४७१२६॥
५३८	युजावर्नवा ॥३११८॥	॥१६४३३॥	५५७	लघोरुपान्त्यस्य ॥४३१४॥	॥१३१३९॥
५३९	युवर्ण० ॥५३१२८॥	॥१४८४२॥	"	"	॥१३२३३२॥
५४०	युवा खलति० ॥३१११३॥	॥१२१८॥	"	"	॥१४५११॥
५४१	युवादेरण् ॥७११६७॥	॥१५१४०॥	५५८	लच्चक्षरा० ॥३१११६०॥	॥१०३३२॥
५४२	युष्मदसदोऽसोमादि० ॥७३३३०॥	॥११२१२३॥	५५९	लटिखटि० ॥ ३० ५०५॥	॥७०३०॥
"	"	॥११३३४१॥	५६०	लमः ॥४११०३॥	॥१६२१२७॥
५४३	युष्यसिभ्यां फमद् ॥३० ८९९॥	॥७०४५॥	५६१	लाक्षाद्वाक्षा० ॥३० ५९७॥	॥१४८४२॥
"	"	॥७०४६॥	५६२	लुप्यञ्जलेनत् ॥७३११२॥	॥८५४३॥
५४४	यूनस्तिः ॥२११७७॥	॥१५४१॥	"	"	॥९२४११॥
"	"	॥१५१४३॥	"	"	॥९३४०॥
५४५	योरुच्च वा ॥३० ५४१॥	॥१४९३८॥	"	"	॥९५४२॥
५४६	यवः पदान्तात् प्रागैदौत् ॥७३१५॥	॥१५०१२०॥	"	"	॥९५४४॥
५४७	यवोः ण्वय्यञ्जने० ॥४११२१॥	॥४७३३९॥	"	"	॥१०५४५॥
"	"	॥४७४४२॥	"	"	॥१०७३६॥
"	"	॥४७४४३॥	"	"	॥१०७३७॥
"	"	॥४७४४५॥	"	"	॥११२३३०॥
"	"	॥७८१२२॥	"	"	॥११३१४॥
"	"	॥७८१२४॥	"	"	॥११३१२४॥
"	"	॥८०१८॥	"	"	॥११४१२५॥
"	"	॥८३१२२॥	"	"	॥११६३३०॥
"	"	॥१००१५॥	"	"	॥१२१३५॥
"	"	॥१३३३३४॥	"	"	॥१२३३४१॥
"	"	॥१३३३३५॥	"	"	॥१२६१२७॥



क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
५६३	लुबधेः ॥७२१२३॥	॥२११२२॥
"	"	॥१९९१४४॥
"	"	॥२१५१२९॥
५६४	लूप्पुयुवृपि० ॥ उ० ९०१॥	॥६११४०॥
"	"	॥१३३१२४॥
"	"	॥१५११३६॥
व.		
५६५	चदमजलः ॥४३१४८॥	॥२१२१३८॥
५६६	वयःशक्तिशीले ॥५१२१२४॥	॥२०६१३९॥
५६७	वयसि दन्तस्य दत् ॥७३११५१॥	॥९८१२४॥
५६८	वयस्यनन्त्ये ॥२१४१२१॥	॥१५१३९॥
"	"	॥८७१२४॥
५६९	वर्णाव्यायत् स्वरूपे कारः ॥७२११५६॥	॥६१३१॥
५७०	वर्तमाना० ॥३१३१६॥	॥२३१२३॥
५७१	वर्त्त्यति गम्यादिः ॥५३११॥	॥२०७१३९॥
५७२	वर्णाकालेभ्यः ॥६१३१८०॥	॥८९१३४॥
५७३	चलिवटितुण्डेर्भः ॥७२११६॥	॥१३८१४४॥
५७४	वशेरयडि ॥४११८३॥	॥१०११२२॥
५७५	वष्टे कनस् ॥ उ० ९८५॥	॥१०११२१॥
५७६	वहाभ्राह्मिहः ॥५१११२३॥	॥४४१३९॥
५७७	वाक्यस्य परिवर्जने ॥७३१८८॥	॥१९७१३३॥
५७८	वातात् प्रमः कित् ॥ उ० ७१३॥	॥८६१३६॥
५७९	वा दक्षिणात् ॥७२१११९॥	॥२११२८॥
"	"	॥१९९१४५॥
५८०	वाद्यात् ॥६११११॥	॥९७१४७॥
"	"	॥१८११३९॥
५८१	वा पादः ॥२१४१६॥	॥१५०१२१॥
५८२	वारे कृत्वत् ॥७२११०९॥	॥२१११६॥
"	"	॥२३११४॥
"	"	॥२०८१२६॥
५८३	वा वेत्तेः कष्टः ॥५२१२२॥	॥१३५१४३॥
"	"	॥१५११२३॥
५८४	विमकिसमीप० ॥३१३१३९॥	॥११३१२४॥
५८५	विशेषणमन्तः ॥७३१११३॥	॥५१२५॥
"	"	॥१११३६॥
"	"	॥१२१२७॥
"	"	॥१२१३५॥
"	"	॥१८११२॥
"	"	॥२०१३८॥
"	"	॥३५१३३॥
"	"	॥३६११५॥
"	"	॥३६१२२॥
"	"	॥१०४१३०॥
"	"	॥११०४५॥
"	"	॥११११४२॥
"	"	॥१४०११५॥
"	"	॥१४५११५॥
"	"	॥१५११४४॥
"	"	॥१५२१४०॥
"	"	॥१७९१३१॥
५८६	विशेषणं सर्वादिस्वरूपं ॥३१११५०॥	॥६९१३४॥
"	"	॥१०११२९॥

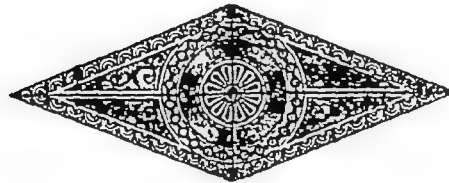
क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
५८७	विहायस्सुमनस्पुरुदंशस्पुरुवोऽङ्गिरसः ॥ उ० ९७६॥	॥१०४१३२॥
५८८	वीप्सायाम् ॥७३१८०॥	॥४३१२५॥
५८९	वीसल्य० ॥ उ० ६६९॥	॥१४७१४२॥
५९०	वृद्धिः स्वरेष्वा० ॥७३११॥	॥२१११४॥
"	"	॥५७१३५॥
"	"	॥८५१२२॥
"	"	॥९६१२२॥
५९१	वृन्दारकनागकुञ्जरैः ॥३१११०८॥	॥१९६१३९॥
५९२	वेः स्त्रः ॥२१३१२३॥	॥७७१४२॥
५९३	वेदूतोऽनव्ययवृद्धीचू० ॥२१४१९८॥	॥१३३१३९॥
५९४	वेयिवदनाश्वदन्तुवानम् ॥५२१३॥	॥२०६१३८॥
५९५	वेसुसोऽपेक्षायाम् ॥२१३११॥	॥६०११९॥
५९६	वैकात् ॥७३१५५॥	॥६७१४७॥
५९७	वैकाद्वयोर्निर्घायं डतरः ॥७३१५२॥	॥६७१३२॥
"	"	॥६७१४७॥
५९८	वैकाद् ध्यमन् ॥७२११०६॥	॥२१११४॥
५९९	वोत्तरपदान्त० ॥२१३१७५॥	॥८२११४॥
६००	व्यञ्जनस्याऽनादेः ॥४१११४४॥	॥५०१३६॥
६०१	व्यञ्जनात्तद्धितस्य ॥२१४१८८॥	॥८५१२३॥
"	"	॥१२८१३४॥
"	"	॥१३११७१॥
६०२	व्यञ्जनादेरेकस्वरदू० ॥३१४१९॥	॥१३५१३४॥
"	"	॥१३५१३४॥
"	"	॥१४५१३२॥
"	"	॥६२१३२॥
६०३	व्यञ्जनाद् घञ् ॥५१३१३२॥	॥१४५११५॥
६०४	व्यञ्जनाद्, सञ्च द् ॥४१३१७८॥	॥१३५१७१॥
"	"	॥१३५१३४॥
"	"	॥१३५१२०॥
"	"	॥१४५१३३॥
६०५	व्यञ्जनानामनिटि ॥४१३१४५॥	॥५६११५॥
"	"	॥१३५१३५॥
"	"	॥१४५१२९॥
"	"	॥१३५१३६॥
६०६	व्यस्यवणवि ॥४१३१३॥	॥१५०११९॥
६०७	व्याघ्रादे० ॥५१११५७॥	॥१६०१२२॥
६०८	व्याप्याद्येवात् ॥५१३१७१॥	॥१४८१२०॥
६०९	व्याप्यादाधारे ॥५१३१८८॥	॥२०११०॥
६१०	व्याधये तसुः ॥७२१८१॥	॥२०१३५॥
"	"	॥२०१३५॥
श.		
६११	शंसिप्रसयात् ॥५१३१०५॥	॥२०५१३१॥
६१२	शकेर्कत् ॥ उ० ८९१॥	॥१४५१३१॥
६१३	शतात्केचलाद्वत्सिन्धुयेकी ॥६१३१३१॥	॥१८११२७॥
६१४	शत्रानाशवेप्यति० ॥५१२१२०॥	॥४६१२८॥
"	"	॥१०४१४६॥
"	"	॥१५३११९॥
"	"	॥१५३१२८॥
"	"	॥१५३१२०॥
"	"	॥१५३१२२॥
"	"	॥१६५१४१॥
"	"	॥२०६१४०॥
"	"	॥२०६१४१॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
६१५	शप उपलम्भने ॥३३३५॥	॥१९३३२॥
६१६	शब्दादेः कृतौ वा ॥३३३५॥	॥१६१३१॥
६१७	शस्यमेर्णिङ्गा ॥ उ० ३१८॥	॥८६३३॥
६१८	शासिशंसि० ॥ उ० ८५७॥	॥८४२७॥
६१९	शिशुगेरुनमेर्वादिभ्यः ॥ उ० ८११॥	॥८६३९॥
६२०	शिववित् ॥३३३२०॥	॥२३३२४॥
"	"	॥१४०३३॥
६२१	शिवादेरण् ॥६१६०॥	॥१५२३४॥
६२२	शीट् एः शिति ॥३३३१०४॥	॥१६८२८॥
६२३	शीङ्गश्रद्धा० ॥५२३३॥	॥२०६३४॥
६२४	शीमीराजेश्वानकः ॥ उ० ७१॥	॥१७६४३॥
६२५	शीलिकामिमक्ष्याचरी० ॥५११७३॥	॥४२३३॥
"	"	॥१०९१५॥
"	"	॥१५५१५॥
६२६	शूकमगम० ॥५२३४०॥	॥२०७३३॥
६२७	शूवन्देराकः ॥५२३५॥	॥२०६३३॥
६२८	शेषाद्वा ॥७३१७५॥	॥१०७३४॥
६२९	श्रद्धाऽऽतः ॥३३३१६॥	॥१३९१४॥
"	"	॥१३९१२९॥
"	"	॥१३९१३६॥
"	"	॥१५४२७॥
६३०	श्रास्त्योर्लुक् ॥३३३१९०॥	॥५४३९॥
"	"	॥५८१६॥
"	"	॥१५४२४॥
६३१	श्रितादिभिः ॥३३३१६२॥	॥१२११४०॥
६३२	श्रौतिरुधुधिवु० ॥३३३१०८॥	॥१६८२९॥
"	"	॥१९०२२॥
"	"	॥१९२२२७॥
"	"	॥२०४१८॥
६३३	श्रवादिभ्यः ॥५३३१२२॥	॥१४३३२६॥
६३४	श्वन्मातरिश्वन् ॥ उ० ९०२॥	॥१०३३४५॥
"	"	॥१३७३५॥
"	"	॥१५१३६॥
"	"	॥१५३३२०॥
६३५	श्वशुरकुकुन्दुर० ॥ उ० ४२६॥	॥१३३३२७॥
६३६	श्वस्तनी० ॥३३३१४॥	॥२३३२७॥
<b>ष.</b>		
६३७	षष्ठयत्ताच्छेपे ॥३३३१७६॥	॥२१३३७॥
"	"	॥१६५६॥
"	"	॥१६५२८॥
६३८	षष्ठ्याऽन्त्यस्य ॥७३३१०६॥	॥१९२२२५॥
"	"	॥४२३३२॥
"	"	॥४३३३३॥
"	"	॥७५३३५॥
"	"	॥७६२५॥
"	"	॥९०१८॥
"	"	॥९९३३८॥
"	"	॥१०११९९॥
"	"	॥१०९१९०॥
"	"	॥१०९१२८॥
"	"	॥११०३३०॥
"	"	॥११०३५॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
६३९	षष्ठ्याऽन्त्यस्य ॥७३३१०६॥	॥१३३१२४॥
"	"	॥१३३१२९॥
"	"	॥१३३५२५॥
"	"	॥१३३५३८॥
"	"	॥१३३६३४॥
"	"	॥१३४५१६॥
"	"	॥१३४७१८॥
"	"	॥१५३३४०॥
६३९	षावटाद्वा ॥२३३३६९॥	॥१५४३१॥
६४०	पितोऽह् ॥५३३१०७॥	॥६४३४०॥
"	"	॥१०८३३६॥
<b>स.</b>		
६४१	संत्पाडतेश्चाशत्तिष्टे. कः ॥६३३१३०॥	॥२३३१३३॥
"	"	॥२३३४५॥
"	"	॥२४३७॥
"	"	॥१८९३३४॥
६४२	संत्पादे. पादादिभ्यो० ॥७३३१५२॥	॥१५०२३३॥
६४३	संत्पाया. सहस्रसूत्रपाठे ॥६३३१७१॥	॥९०२६॥
"	"	॥१८९३३४॥
६४४	सत्पाया घा ॥७३३१०४॥	॥२३३१३३॥
"	"	॥२३३१३४॥
६४५	सत्पा समाहारे च० ॥३३३१९९॥	॥८९३३४॥
"	"	॥१५०२३३॥
६४६	संत्पाकार्यात् ॥७३३१५१॥	॥२०३३५॥
"	"	॥९११२५॥
६४७	संपरेः कृगः स्सद् ॥३३३१९१॥	॥४३३३५॥
६४८	संप्रतेरस्मृतौ ॥३३३३६९॥	॥१८९३३९॥
६४९	संश्रद्धेहत्साक्षादादयः ॥ उ० ८८२॥	॥७०३३४॥
६५०	संस्कृते भक्ष्ये ॥६३३१४०॥	॥४३३३३॥
६५१	सः सिजस्तेर्दिस्योः ॥३३३३६५॥	॥१३३३३४॥
"	"	॥१४३३२८॥
"	"	॥२३३३३७॥
६५२	सकथ्यकणः स्वाङ्गे ॥७३३१२६॥	॥९५३१॥
"	"	॥९५३३३॥
६५३	सदाऽधुनेदानीं० ॥७३३१९६॥	॥२०३४४॥
६५४	सद्योऽद्यपरेद्यव्यहि ॥७३३१९७॥	॥२३३८॥
६५५	सन्मिक्षाशंसैरु. ॥५३३३३३॥	॥२०६३३२॥
६५६	सन्महत्परमो० ॥३३३११०७॥	॥८७३३६॥
"	"	॥९०३३६॥
"	"	॥९१३३१५॥
"	"	॥९१३३४०॥
"	"	॥९२३३३३॥
"	"	॥१३३०१८॥
६५७	सन्यडश्च ॥३३३१३३॥	॥४४३३३४॥
"	"	॥५०३३५॥
"	"	॥१३३३१३७॥
"	"	॥१३३३३२१॥
"	"	॥१३३९३३५॥
"	"	॥१४४३३३३॥
"	"	॥१४४३३४१॥
"	"	॥१४४३३३३॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०	क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
६५८	सन्त्यस्य ॥४१॥५९॥	॥१३११७॥	६७६	सुः पूजायाम् ॥३१॥४४॥	॥७८॥२८॥
"	"	॥१४४४४॥	"	"	॥१९१२४॥
६५९	सत्तम्याः ॥५१॥१६९॥	॥१५३१२८॥	६७७	सुगिहपार्हः सन्निशुस्तुत्ये ॥५१॥२६॥	॥२०४३०॥
६६०	सत्तम्याः ॥७१॥१५४॥	॥१५३१४०॥	६७८	सुपन्थ्यावेज्यः ॥६१॥८४॥	॥२१२१२३॥
६६१	सत्तम्या आदिः ॥७४॥११४॥	॥२०४४२॥	६७९	सुसंख्यात् ॥७४॥१५०॥	॥१५०२१॥
"	"	॥१११४१॥	६८०	सुयत्याद्योदितः ॥४१॥७०॥	॥६१४५॥
"	"	॥२८११४॥	"	"	॥१३२१२८॥
"	"	॥२८१३४॥	"	"	॥१४४११८॥
"	"	॥३११२५॥	"	"	॥१६५१४३॥
"	"	॥३११२८॥	६८१	सुजिहशि० ॥४१॥७८॥	॥२३१३१॥
"	"	॥३२१४१॥	६८२	सेः स्दां च रुवा ॥४१॥७५॥	॥१३६१२४॥
"	"	॥३३१२५॥	"	"	॥१३७१३४॥
"	"	॥३४१२७॥	"	"	॥१४५१२१॥
"	"	॥४०११२॥	६८३	सेरी च वा ॥ उ० ३४३॥	॥७०१३६॥
"	"	॥१०५१२६॥	६८४	सो धि वा ॥४१॥७२॥	॥१४०१२१॥
"	"	॥१०८११९॥	"	"	॥१४०१२७॥
"	"	॥१०८१३५॥	"	"	॥१४०१२९॥
"	"	॥१०९१२९॥	"	"	॥१४०१३२॥
"	"	॥१२२१३७॥	"	"	॥१४०१३८॥
"	"	॥१२७१३४॥	६८५	सोत्सेः ॥ उ० ८५३॥	॥८४१२२॥
"	"	॥१३४१२९॥	६८६	सोऽस्यभृतिवज्जांशम् ॥६१॥१६८॥	॥१२५१२७॥
६६२	सत्तम्या पूर्वस्य ॥७४॥१०५॥	॥१०२१३४॥	६८७	स्कसृवृ० ॥४१॥८१॥	॥१४०१३१॥
"	"	॥१३११२५॥	"	"	॥१४०१३९॥
"	"	॥१५३१२४॥	"	"	॥१४०१४०॥
६६३	समर्थः पदविधिः ॥७४॥१२२॥	॥७३११८॥	६८८	स्ताद्यशितो० ॥४१॥३२॥	॥८४१२१॥
६६४	समानस्य घर्मादिषु ॥३१॥१४९॥	॥५७१३२॥	"	"	॥१३११२६॥
६६५	सर्तगोऽन्तश्च ॥ उ० ४७८॥	॥१९५१२९॥	"	"	॥१४०१४०॥
६६६	सर्वादयोऽस्यादौ ॥३१॥६१॥	॥६९१३६॥	"	"	॥१४०१४६॥
"	"	॥७२१३७॥	"	"	॥२१२१३८॥
"	"	॥७५११९॥	६८९	स्त्रियाः पुंसो० ॥७१॥१६॥	॥१६१३७॥
६६७	सर्वादिविष्वदेवाद्भिः० ॥३१॥१२२॥	॥३५१३८॥	"	"	॥१९१२२॥
"	"	॥६९११०॥	६९०	स्त्रियां किः ॥५१॥२१॥	॥२०५१२५॥
"	"	॥१२६१३४॥	६९१	स्त्रियां नृतोऽस्वसावेर्दोः ॥३१॥११॥	॥२३१३७॥
६६८	सर्वाशसंख्याव्यात् ॥७॥३११८॥	॥८९११०॥	"	"	॥५३१३०॥
"	"	॥८९१३५॥	"	"	॥९५११६॥
"	"	॥८९१३८॥	"	"	॥९५११७॥
"	"	॥८९१४१॥	"	"	॥१०१११७॥
६६९	सहस्तेन ॥३१॥२४॥	॥८७११८॥	"	"	॥१५११३७॥
६७०	सहस्य० ॥३१॥१४३॥	॥८३१२०॥	"	"	॥१५२१२५॥
"	"	॥८७११८॥	"	"	॥१५३१२१॥
"	"	॥१२११२५॥	६९२	स्त्रियाम् ॥३१॥६९॥	॥१५३१३९॥
६७१	साम्प्रत्येऽघोष्युपरि ॥७४॥७९॥	॥२०१२१॥	६९३	स्त्री ॥ उ० ४५० ॥	॥८६१२७॥
"	"	॥१७९१२८॥	६९४	स्यालामा० ॥ उ० ३५७ ॥	॥७०१३२॥
६७२	सायाह्लादयः ॥३१॥५३॥	॥८९१३८॥	६९५	स्यानीघाऽवर्णविधौ ॥७४॥१०९॥	॥१३१४६॥
६७३	साऽस्य पौर्णमासी ॥६१॥१९८॥	॥१२५१२७॥	"	"	॥४३१४२॥
६७४	सिजघतन्याम् ॥३१॥५३॥	॥४०१३१॥	"	"	॥७८१२३॥
"	"	॥५६११४॥	"	"	॥८०१३६॥
"	"	॥१३२१३४॥	"	"	॥८०१३७॥
"	"	॥२११३७॥	६९६	स्त्रामदि० ॥ उ० २०४ ॥	॥१५२१४२॥
६७५	सिध्यतेरक्षणे ॥४१॥११॥	॥१७०११७॥	६९७	स्येशमासपिसकसौ वरः ॥५१॥८१॥	॥२०८१४२॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०	क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
६९८	स्पर्धे ॥७४।११२॥	॥१२।२४॥	७१०	सादेः श्नुः ॥३।४।७५॥	॥८८।२४॥
"	"	॥६९।३३॥	"	"	॥१२८।३९॥
"	"	॥९६।२८॥	"	"	॥१५४।२४॥
"	"	॥१३१।१५॥	"	"	॥१९२।२७॥
"	"	॥१३१।३८॥	७११	खादर्थ्यादीदीर्घाद् ॥५।४।५३॥	॥२२।३३॥
"	"	॥१३१।४०॥	७१२	स्वान्मिन्नीशे ॥७।२।४९॥	॥६८।३१॥
"	"	॥१३१।४१॥	"	"	॥२०८।४१॥
"	"	॥१३१।४२॥		हृ०	
६९९	स्यादेरिवे ॥७।१।५२॥	॥२२।८॥	७१३	हनुतः स्यस्य ॥४।४।४९॥	॥१५४।२२॥
"	"	॥१३३।२५॥	७१४	हृषिटो नाम्युपान्त्या० ॥३।४।५५॥	॥१३८।४८॥
"	"	॥१४५।१९॥	७१५	हितादिभिः ॥३।१।७१॥	॥११२।४१॥
७००	स्रतेरूष्वाऽतः ॥ उ० ६८९॥	॥१४८।३९॥	७१६	हुषुटो हेर्षिः ॥४।२।८३॥	॥५४।३९॥
७०१	स्वज्ञाजमस्त्रा० ॥२।४।१०८॥	॥७३।३३॥	"	"	॥५८।१६॥
"	"	॥१३३।२२॥	७१७	हुपूगोत्रीप्रस्तुप्रति० ॥ उ० ८६३॥	॥८४।२६॥
"	"	॥१३३।१९॥	"	"	॥८४।४२॥
७०२	स्वरग्रहद्वद्वाहन्भ्यः० ॥३।४।६९॥	॥१४०।३७॥	७१८	हृदयस्य हृल्लास० ॥३।२।९४॥	॥६३।३३॥
"	"	॥१४०।४२॥	७१९	हृरुहि० ॥ उ० ७९॥	॥१४८।४३॥
७०३	स्वरस्य परे प्राग्विधौ ॥७।४।११०॥	॥४६।१८॥	"	"	॥२१७।४५॥
"	"	॥४७।३९॥	७२०	हौ दः ॥४।१।३१॥	॥१५२।२२॥
"	"	॥४७।४२॥	७२१	ह्रस्वः ॥४।१।३९॥	॥५०।३६॥
"	"	॥१००।२१॥	"	"	॥१२७।३८॥
"	"	॥१३३।२५॥	"	"	॥१३९।२९॥
"	"	॥१३३।३१॥	७२२	ह्रस्वस्य तः पितृकृति ॥४।४।११३॥	॥५।४०॥
"	"	॥१४१।२९॥	"	"	॥५।४६॥
७०४	स्वरहनगमोः सनि ध्रुटि ॥४।१।१०४॥	॥१३३।२२॥	"	"	॥२२।३५॥
"	"	॥१४५।३२॥	"	"	॥१३३।३५॥
७०५	स्वरादुतो गुणादखरोः ॥२।४।३५॥	॥७७।२३॥	"	"	॥१४६।८॥
७०६	स्वरादेस्तासु ॥४।४।३१॥	॥१४०।४१॥	"	"	॥१४६।३३॥
"	"	॥१४१।२२॥	"	"	॥२०५।३९॥
७०७	स्वरेभ्य ह्रः ॥ उ० ६०६॥	॥१४९।१४॥	७२३	ह्रस्वाज्जातस्ति ॥२।३।३४॥	॥६२।४७॥
७०८	स्वर्गस्वस्तिवाचनादिभ्यो० ॥६।४।१२३॥	॥१९६।१९॥	७२४	ह्रः शिति ॥४।१।१२॥	॥१३९।२९॥
७०९	स्वाङ्गान्डीर्जातिश्चा० ॥३।२।५६॥	॥८५।२४॥	"	"	॥१४५।४१॥
			"	"	॥१९०।२४॥
			७२५	क्षिणोरप्विति व्यौ ॥४।३।१५॥	॥६२।३३॥
			"	"	॥१२८।२२॥



## ५ परिशिष्टम् ।

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितशब्दानुशासने सञ्ज्ञासन्धिनामकारकसनाथे  
प्रथमे विभागे साधनिकाद्यवसरेऽनेकविधविषयप्रसंगेऽकाराद्यनुक्रमेण गौरव-  
लाघवाद्यनेकविधभावप्रकटीकरणैकसमर्थसाक्षीभूतानि भगवच्छा-  
कटायनाद्यनेकवैयाकरणविरचितानि सूत्राणि ।

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०	क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
<b>अ.</b>			<b>ग.</b>		
१	अशीत्येषणे परस्य च ॥ पा० ॥ ८।२।९२॥	॥३४।४०॥	२६	गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ ॥ ॥ पा० ॥ २।३।१२॥	॥१९४।३८॥
२	अचो ह्योऽहचः ॥ शा० ॥ १।१।११७॥	॥५२।३६॥	२७	गुणकर्मणि वेप्यते ॥ पा० ॥ वार्तिकम् ॥	॥२०४।३८॥
३	अतोऽम् ॥ पा० ॥ ७।१।२४॥	॥९३।२४॥	<b>ङ.</b>		
४	अदर्शनं लोपः ॥ पा० ॥ १।१।६०॥	॥२२।४७॥	२८	ङे प्रथमयोऽम् ॥ पा० ॥ ७।१।२८॥	॥११३।४४॥
५	अदीर्घात् ॥ शा० ॥ १।१।११८॥	॥५२।३६॥	<b>ज.</b>		
		॥५२।४०॥	२९	जराया जरसन्यस्तरं ॥ पा० ॥ ७।२।१०१॥	॥६५।१३॥
६	अनचि च ॥ पा० ॥ ८।४।४७॥	॥५२।३८॥	३०	जुगुप्साविरामप्रमाणं ॥ पा० ॥ वार्तिकं ॥	॥१७२।४६॥
७	अन्तर्धौ येनाऽदर्शनमिच्छति ॥ पा० ॥ १।४।२८॥	॥१७३।२८॥	<b>झ.</b>		
		॥२०५।२७॥	३१	ङः सि घृट् ॥ पा० ॥ ८।३।२९॥	॥४५।४३॥
८	अपो मि ॥ पा० ॥ ७।४।४८॥	॥१४९।३३॥	३२	ङस्तद् सोऽश्चः ॥ शा० ॥ १।१।१४६॥	॥४५।४३॥
९	अमुत्तवदुपस्थिते ॥ पा० ॥ ६।१।१२९॥	॥३४।३९॥	<b>त.</b>		
१०	अमैवाव्ययेन ॥ पा० ॥ २।२।२०॥	॥३०।९॥	३३	तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः ॥ पा० ॥ १।१।३८॥	॥१७।४९॥
११	अवङ् स्फोटायनस्य ॥ पा० ॥ ६।१।१२३॥	॥३३।४०॥	३४	तपस्तपःकर्मकस्यैव ॥ पा० ॥ ३।१।८८॥	॥३०।१०॥
१२	अवोच्यनक्षे ॥ शा० ॥ १।१।९६॥	॥३३।४२॥	३५	तस्य लोपः ॥ पा० ॥ १।१।२९॥	॥२२।४७॥
१३	अष्ट औश ॥ शा० ॥ १।२।१५३॥	॥९०।४१॥	३६	तुभ्यमहौ रुयि ॥ पा० ॥ ७।२।९५॥	॥११३।४३॥
१४	अष्टन आ विभक्तौ ॥ पा० ॥ ७।२।८४॥	॥९०।२४॥	३७	तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् ॥ पा० ॥ १।१।९॥	॥९।२२॥
		॥९०।२९॥			॥२६।१८॥
		॥९०।३२॥	३८	त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य ॥ पा० ॥ ८।४।५०॥	॥५१।३५॥
		॥९०।३९॥	३९	त्रेक्षयः ॥ पा० ॥ ७।१।५३॥	॥८२।३४॥
१५	अस्ते ॥ शा० ॥ १।१।७३॥	॥३१।३५॥	४०	त्वाहौ सौ ॥ पा० ॥ ७।२।९४॥	॥११३।४४॥
<b>इ.</b>			<b>द.</b>		
१६	इकोऽसवर्णे ॥ पा० ॥ ६।१।१२७॥	॥२५।३२॥	४१	द्वितीयादौस्तेनः ॥ पा० ॥ २।४।३४॥	॥१२२।२७॥
<b>उ.</b>			<b>घ.</b>		
१७	उमि च पदे ॥ पा० ॥ ८।३।२१॥	॥४८।४१॥	४२	घातोर्मिकं ॥ शा० ॥ १।२।६८॥	॥१३५।१३॥
१८	उदन्वानुदधौ च ॥ पा० ॥ ८।२।१३॥	॥१४८।३१॥	४३	घातोस्तन्निमित्तस्यैव ॥ पा० ॥ ६।१।८०॥	॥३०।९॥
१९	उपदेशोऽजनुनासिक इत् ॥ पा० ॥ १।१।३।२॥	॥२२।४७॥	<b>न.</b>		
<b>ऋ.</b>			४४	न सुतस्यानितो ॥ शा० ॥ १।१।९९॥	॥३४।४०॥
२०	ऋश्चोस्सा चः ॥ शा० ॥ १।१।७६॥	॥२५।३९॥	४५	न बहुव्रीहौ ॥ पा० ॥ १।१।२९॥	॥७५।३०॥
<b>ए.</b>					॥७५।३२॥
२१	एओह्, ऐओच् ॥ शि० ॥ ३.४॥	॥२७।३८॥	४६	न लुभताऽङ्गस्य ॥ पा० ॥ १।१।६३॥	॥९३।३९॥
२२	एत्येघत्यृहस्तु ॥ पा० ॥ ६।१।८९॥	॥२८।२१॥	४७	न संयोगे ॥ शा० ॥ १।१।११९॥	॥५१।३६॥
<b>ओ.</b>			४८	नेर्विशः ॥ पा० ॥ १।३।१७॥	॥१६।३१॥
२३	ओतो गार्ग्यस्य ॥ पा० ॥ ८।३।२०॥	॥४८।४४॥	<b>प.</b>		
<b>क.</b>			४९	पञ्चमी विभक्ते ॥ पा० ॥ २।३।४२॥	॥१७४।१५॥
२४	कर्मणि गुणे ॥ शा० ॥ १।३।१६९॥	॥२०४।४२॥	५०	पतिः समास पव ॥ पा० ॥ १।४।८॥	॥७८।३०॥
<b>ख.</b>					॥७८।४२॥
२५	खय् खयः शरि वा ॥ शा० ॥ १।१।११४॥	॥५२।३५॥	५१	पद्मोमासं ॥ पा० ॥ ६।१।६३॥	॥१४९।२९॥
					॥१४९।३८॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०	क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
५२	पराजेरसोदः ॥ पा० ॥ १४१२६ ॥	॥ १७३१२० ॥	७२	व्योलेद्युप्रयत्नतरः शाकटायनस्य ॥ पा० ॥ ८३११८ ॥	॥ ४८१४३ ॥
५३	प्राग्भीश्वराक्षिपाताः ॥ पा० ॥ १४१५६ ॥	॥ १९१२६ ॥		श.	
५४	प्रदशार्णवसने० ॥ शा० ॥ १११९० ॥	॥ २८१२१ ॥	७३	शरोऽनु हे ॥ शा० ॥ १११११५ ॥	॥ ५२१३६ ॥
५५	प्रवत्सतरकम्पलचसनार्ण० ॥ पा० वार्तिक० ॥	॥ २८१२० ॥		प.	
	भ.		७४	णान्ता पद ॥ पा० ॥ १११२४ ॥	॥ ९०१३० ॥
५६	भीत्रार्थानां भयहेतुः ॥ पा० ॥ १४१२५ ॥	॥ १७३११६ ॥		स.	
५७	भुवः प्रभवः ॥ पा० ॥ १४१३१ ॥	॥ १७३१३७ ॥	७५	संख्यैकवचनाद्य० ॥ पा० ॥ ५४१४३ ॥	॥ ९११२९ ॥
	म.		७६	समः सुटि ॥ पा० ॥ ८३१५ ॥	॥ ४४१७७ ॥
५८	मपर्यन्तस्य ॥ पा० ॥ ७२१२१ ॥	॥ १११२५ ॥	७७	समस्कुसि ग्लुक च ॥ शा० ॥ ११११५२ ॥	॥ ४४१९९ ॥
	य.		७८	सर्वादीनि सर्वनामानि ॥ पा० ॥ १११२७ ॥	॥ ६७१७७ ॥
५९	यजो मयः ॥ शा० ॥ १११११६ ॥	॥ ५२१३६ ॥	७९	साम आकम् ॥ पा० ॥ ७११३३ ॥	॥ ११५१४४ ॥
६०	यतश्चाऽध्वकालनिर्माण० ॥ पा० वार्तिक० ॥	॥ १७३१४५ ॥	८०	सुपि वा ॥ शा० ॥ ११११२ ॥	॥ २८१४२ ॥
६१	यरो डो विभाषा डे० ॥ जै० ॥ ५४१२५ ॥	॥ ३९१३१ ॥		"	॥ २९१२३ ॥
६२	यरोऽनुनासिके० ॥ पा० ॥ ८११४५ ॥	॥ ३९१३० ॥	८१	स्वः स्थानास्यैक्ये ॥ शा० ॥ ११११६ ॥	॥ ९१३९ ॥
६३	युष्मदस्मद्भ्यां इतोऽश् ॥ पा० ॥ ७११२७ ॥	॥ ११३१४५ ॥		"	॥ ९१२२ ॥
६४	यूयवयौ जसि ॥ पा० ॥ ७२१२३ ॥	॥ ११३१४३ ॥	८२	समो वा लोपमेके ॥ पा० वार्तिकम् ॥	॥ ४४१८८ ॥
६५	यूयवयौ नदी ॥ पा० ॥ १४१३१ ॥	॥ ७९१३२ ॥	८३	समोर्नपुंसकात् ॥ पा० ॥ ७११२३ ॥	॥ ९११३६ ॥
	र.			"	॥ ९३१२३ ॥
६६	रूपरात्रिरथन्तरेषु ॥ पा० वार्तिकम् ॥	॥ १३८१७ ॥		"	॥ ९३१२५ ॥
	ल.			ह.	
६७	लडः शाकटायनस्यैव ॥ पा० ॥ ३४१११ ॥	॥ ३०११० ॥	८४	हयवरद् ॥ शि० ॥ ५ ॥	॥ ५२१३८ ॥
	व.		८५	हलन्त्यम् ॥ पा० ॥ १११३३ ॥	॥ २२१४७ ॥
६८	वातायनेऽक्षे ॥ शा० ॥ १११९८ ॥	॥ ३३१४२ ॥	८६	हलोऽनुनासिके० ॥ शा० ॥ ११११०६ ॥	॥ ३९१३० ॥
६९	वारणार्थानामीप्सितः ॥ पा० ॥ १४१२७ ॥	॥ १७३१२१ ॥	८७	हलो यमां यमि लोपः ॥ पा० ॥ ८११६४ ॥	॥ १५७४१ ॥
७०	विभाषाऽन्यत्र ॥ जै० ॥ ४३१०२ ॥	॥ ३३१४१ ॥	८८	हलो यमि यमो वा ॥ शा० ॥ ११११३२ ॥	॥ १५७३९ ॥
७१	विभाषा भवद्भगवद् ॥ सि० कौ० त० ॥	॥ ४७१२९ ॥	८९	ह्रस्वेयुस्थानप्रवृत्तौ० ॥ वार्तिकम् ॥	॥ ७९१३२ ॥





## ६ परिशिष्टम् ।

—\*—

अस्मिन्नेव शब्दानुशासनस्य प्रथमविभागे साधनिकाव्यवसरेऽनेकविधविषयस्पष्टीकरणार्थं  
समुपन्यस्तानि व्याकरणकोषकाव्यनाटकसाहित्याद्यनेकशास्त्रसृष्टिसमृद्धसंह्य-  
महत्त्वोपेतगम्भीरमननीयान्यकराद्यनुक्रमेण गद्यपद्यानि ।

क्र०	अ.	पृ० प०
१	अकचूस्वरौ तु कर्तव्यौ, प्रत्यङ्गं मुकसंशयौ ।	॥७५॥३१॥
२	अकर्मकत्वे सत्येवं, कान्ते भाषामिधायिनि । ततः क्रियावता कर्त्रा, योगो भवति कर्मणाम् ॥२॥	॥१८४॥१७॥
३	अक्षता च क्षता चैव, पुनर्भूः संस्कृता पुनः ।	॥१३०॥३१॥
४	अद्यैवावां रणमुपगतौ तातमर्म्भां च नत्वा घ्रातस्ताभ्यां शिरसि विनतोऽहं च दुःशासनश्च । तस्मिन्वाले प्रसममरिणा प्रापिते तामवस्थां पार्श्वं पित्रोरपगतघृणः किञ्च वक्ष्यामि गत्वा ॥१५॥	॥३०॥३६॥
५	अनिराकरणात् कर्तुंस्त्यागाङ्गं कर्मेणि स्थितम् । प्रेरणानुमतिभ्यां वा, लभते सम्प्रदानताम् ॥ १ ॥	॥१७०॥४१॥
६	अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद् यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः । नयानशेषानविशेषमिच्छन्न पक्षपाती समयस्तथा ते ॥ ३० ॥	॥४१॥१॥
७	अविकारोऽद्रवं मूर्तं, प्राणिस्थं स्वाङ्गमुच्यते । ज्युतं च प्राणिनस्तत्तन्निर्मितं च प्रतिमादिषु ॥ १ ॥	॥४१॥४७॥
८	अविग्रहा गतादिस्था, यथा ग्रामादिकर्मभिः । क्रिया सम्यध्यते तद्वत्, कृतपूर्वादिषु स्थिता ॥ ३ ॥	॥१८४॥१८॥
९	अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठःशिरस्तथा । जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकौष्ठौ च तालु च ॥ १ ॥	॥८५॥१॥
आ.		
१०	आकृतिग्रहणाज्जातिर्लिङ्गानां न च सर्वभाक् । सङ्कदाख्यातनिर्माह्या, गोत्रं च चरणैः सह ॥ १ ॥	॥४१॥४५॥
११	आधारस्त्रिविधो ज्ञेयः, कटाऽऽकाशतिलादिषु । ओपत्येपिको वैषयिकोऽभिव्यापक एव च ॥ १ ॥	॥१७५॥१२॥
१२	आमन्त्रितपदं यच्च, तत्क्रियाया विशेषकम् । व्रजामि देवदत्तेति, निघातोऽत्र प्रतीयते ॥ १ ॥	॥१७८॥३०॥
इ.		
१३	इत्थम्भूतस्य काणस्य, लक्षणं ह्यक्षि बुध्यते । ततस्तृतीया तेनैव, तत्र सूत्रेण सिध्यति ॥ १ ॥	॥१८८॥२४॥
१४	इयन्त इति संख्यानं, निपातानां न विद्यते । प्रयोजनवशादेते, निपात्यन्ते पदे पदे ॥ १ ॥	॥१९१॥१४॥
ई.		
१५	ईक्षितव्यं परस्त्रीभ्यः, स्वधर्मो रक्षसामयम् ।	॥१९२॥१५॥
१६	ईषदर्थे क्रियायोगे, मर्यादामिविधौ च यः । एतमातं डितं विद्याद्, वाक्यस्मरणयोरङ्गि ॥ १ ॥	॥३६॥९॥
१७	उ.	॥१२२॥११॥
१८	उदस्य कुम्भीरस्य शान्तकुम्भजाश्चतुष्कारत्विषि वेदिकोदरे । यथाकुलाचारमथावनीन्द्रजां पुरन्निवर्गः अपयास्वभूव ॥ १ ॥	॥१९॥४२॥
ऐ.		
१९	ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं, कौमारं शाकटायनम् । सारस्वतं चाऽऽपिशलं, शाकलं पाणिनीयकम् ॥ १ ॥	॥११२॥९॥
ओ.		
२०	ओन्नमः सिद्धचक्राय, शाश्वताऽऽनन्ददायिने । सर्वप्रबोधनं मन्त्रोऽचिन्त्यचिन्तामणीयते ॥ १ ॥	॥११॥१८॥
क.		
२०	कर्तृकर्मव्यवहितामसाक्षाद्वारयत् क्रियाम् । उपकुर्वत् क्रियासिद्धौ, शालेऽधिकरणं स्मृतम् ॥ १ ॥	॥१७४॥३३॥
२१	कष्टे तु कृच्छ्रगद्गने, दक्षामन्दागदेषु तु । पदुर्ध्वं वाच्यलिङ्गौ च,	॥७५॥२०॥
२२	कान्तो हरिश्चन्द्र इव प्रजानाम् ।	॥२०७॥२१॥
२३	क्रियायाः फलनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम् । विवक्ष्यते यदा यच्च, करणं तत्तदा स्मृतम् ॥ १ ॥	॥१७०॥२३॥
२४	क्षुधातः सन्न शालीन् कवलयति मांस्याकवलितान् ।	॥२८८॥१॥
ग.		
२५	गुणकर्मणि त्यादिविधिः, पूर्वं गुणकर्मणा भवति योगः । मुख्यं कर्म प्रेप्सुर्यसाहज्येव यतते प्राक् ॥१॥	॥१६०॥२०॥
२६	गुणः कृताङ्गसंस्कारः, प्रधानं प्रतिपद्यते ।	॥१४०॥२२॥
घ.		
२७	घृतमेव ममाऽपि रोचते, घृतशीतं च सशर्करं पयः ।	॥१९॥१९॥

क्र०

पृ० प०

च.

- २८ चक्रे श्रीमूलराजेन, नवः कोऽपि यशोर्णवः । परकीर्त्तिस्त्रयन्तीनां, न प्रवेशमदत्त यः ॥ ३ ॥ ॥६३॥१२॥  
 २९ चङ्क्रम्यमाणोऽधीष्वाऽत्र, जपंश्चक्रमणं कुरु । तादर्थ्यस्याऽविशेषेऽपि, शब्दान्नेदः प्रतीयते ॥ १ ॥ ॥१७२॥३०॥  
 ३० चर्मणि द्वीपिनं हन्ति, दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् । केशेषु चर्मरं हन्ति, सीम्नि पुष्पलको हतः ॥ १ ॥ ॥२०९॥१४॥  
 ३१ चामीकरविधूद्वासिसूत्रवृत्तिरुते नमः । सुरये हेमचन्द्राय हेमचन्द्रयशसते ॥३॥ ॥११२०॥

ज.

- ३२ जयत्युपेन्द्रः स चकार दूरतो विभित्सया यः क्षणलब्धलक्ष्यया ।  
 दृशैव कोपारुणया रिपोरुरः स्वयं भयाद्भिन्नमिवास्त्रपाटलम् ॥३॥ ॥३०॥३५॥  
 ३३ जैनागमसुधादोग्धे, सागरानन्दसुरये । सर्वतन्त्रस्वतन्त्राय, पूज्याय गुरवे नमः ॥४॥ ॥११२१॥

त.

- ३४ ततः क्रियावता कर्त्रा, योगो भवति कर्मणा । ॥२०९॥३३॥  
 ३५ तरसैव कोऽपि भुवनैकपुरुष ! पुरुषस्तपस्यति ।  
 ज्योतिरमलचपुपोऽपि रवेरभिभूय वृत्र इव भीमविग्रहः ॥२६॥ ॥३०॥३८॥  
 ३६ तस्माच्छुद्धस्य दुहेर्भवति गवा पूर्वमेव सम्बन्धः । गोदुहिना पयसस्तु, प्राकस्मात्पादयस्तस्मिन् ॥२॥ ॥१६०॥२०॥  
 ३७ तिलपुष्पेषु यत्क्षीरं, तिलच्छेदेषु यद्दधि । ॥१८८॥१०॥  
 ३८ तिवा शवाऽनुबन्धेन, निर्दिष्टं यद्गणेन च । एकस्वरनिमित्तं च, पञ्चैतानि न यद्बुद्धि ॥ १ ॥ ॥१३९॥१९॥  
 ३९ ॥१४२॥१९॥

”

- ३९ वृषा शुष्यत्यास्ये पिवति सलिलं स्वादु सुरभि, धुधार्तः सन् शालीन् कवलयति मांस्पाकवलितान् ।  
 प्रदीप्ते रागाग्नौ घननिविडमाश्लिष्यति वधूं, प्रतीकारे व्याधे. सुखमिति विपर्यस्यति जनः ॥१॥ ॥२८॥२७॥  
 ४० त्वष्टुः सदाभ्यासगृहीतशिल्पविशानसंपत्प्रसरस्य सीमा ।  
 अदृश्यताऽऽदर्शतलामलेषु छायेव या स्वर्जलधेर्जलेषु ॥३॥३५॥ ॥१७॥३३॥

द

- ४१ दम्भोलिरशनिर्द्वयोः । ॥७९॥२९॥  
 ४२ दूरादावसथान्मूर्ध्वं, दूरात्पादावसेचनम् । दूराच्च भाव्यं दस्गुभ्यो, दूराच्च कुपिताद् गुरोः ॥ १ ॥ ॥२१५॥२४॥  
 ४३ देवतानां गुरुणां च, नाम नोपपदं विना । उच्चरेन्नैव जायायाः, कथंचिन्नात्मनस्तथा ॥ १ ॥ ॥२१॥२२॥  
 ४४ देवासुरैरमृतमम्बुनिधिर्ममन्ये । ॥१६०॥३॥  
 ४५ द्योतिका वाचिका वा स्युद्धित्वादीना विभक्तयः । स्याद्वा संस्थावतोऽर्थस्य, समुदायोऽभिधायकः ॥१॥ ॥१७७॥३६॥  
 ४६ द्विष्टोऽप्यसौ परार्थत्वाद्, गुणेषु व्यतिरिच्यते । तत्राऽभिधीयमानश्च, प्रधानेऽप्युपयुज्यते ॥१॥ ॥२०३॥२२॥

घ.

- ४७ घातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसंग्रहात् । प्रसिद्धेरविवक्षातः, कर्मणोऽकर्मिका क्रिया ॥ १ ॥ ॥१६१॥२२॥  
 ४८ धूमायन्त इवाऽऽश्लिष्टाः, प्रज्वलन्तीव संहताः । उल्मुकानीव मेऽमी स्वा, ज्ञातयो भरतर्षभः ! ॥१॥ ॥६८॥३६॥

न.

- ४९ ‘नगरमुच्यतुर्गोपुरोद्भासि सालम्’ ॥६८॥४२॥  
 ५० न देवदत्तं प्रतिभाति किञ्चिद्, बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चिद् ।  
 वृणीष्व भद्रे ! प्रतिभाति यस्त्वाम्, ॥१७९॥१॥  
 ५१ नन्तासंख्याडतिर्युष्मदसच्च स्युरलिङ्गकाः । ॥१७७॥१०॥  
 ५२ न मे श्रुता नाऽपि च दृष्टपूर्वा । ॥११७॥१५॥  
 ५३ नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे, रसोपविद्धा इव लोहघातवः ।  
 भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो, भवन्तमायो प्रणता हितैषिणः ॥६५॥ ॥४१॥२॥  
 ५४ नावकल्पयामि न मर्षये, गह्वे आश्रये वा, यत्र भवान् वृषलं याजयेत् । ॥१९॥३३॥  
 ५५ निपाताश्चोपसर्गाश्च, घातवश्चेति त्रै त्रयः । अनेकार्थो. स्मृता लोके, पाठस्तेषां निदर्शनम् ॥ १ ॥ ॥१८॥५०॥  
 ५६ निमित्तमेक इत्यत्र, विभक्त्या नाभिधीयते । तद्वत्तस्तु यदेकत्वं, विभक्तिस्तत्र वर्तते ॥ १ ॥ ॥१७६॥८॥  
 ५७ ॥१८२॥३५॥  
 ५७ निर्विशेषं न सामान्यं, भवेच्छशविषाणवत् । ॥२०९॥३२॥

प.

- ५८ पतिर्धवे ना त्रिष्वीशे । ॥७९॥२१॥  
 ५९ परतः केचिदिच्छन्ति, केचिदिच्छन्ति पूर्वतः । उभयोः केचिदिच्छन्ति, केचिदिच्छन्ति नोभयोः ॥ १ ॥ ॥१२६॥१०॥  
 ६० परुषं व्याजितः । ॥१६३॥१८॥  
 ६१ पान्तु वो देशनाकाले, जैनेन्द्रा दशनांशवः । भवकूपपतज्जन्तुजातोद्धरणरज्जवः ॥ १ ॥ ॥११९॥११॥

## ६ परिशिष्टम् ।

—१०००००००—

असिमेव शब्दानुशासनस्य प्रथमविभागे साधनिकायवसरेऽनेकविधविषयस्पष्टीकरणार्थं  
समुपन्यस्तानि व्याकरणकोपकाव्यनाटकसाहित्याद्यनेकशास्त्रसृष्टिसमूहसंख्य-  
महत्त्वोपेतगम्भीरमननीयान्यकरायनुक्रमेण गणयन्ति ।

क्र०	अ.	पृ० प०
१	अकचूस्वरौ तु कर्णज्यौ, प्रत्यङ्गं मुक्तसंशयौ ।	॥७५३१॥
२	अकर्मकाल्ये सत्येयं, चान्ते भाषाभिधायिनि । ततः क्रियायता कर्मा, योगो भवति कर्मणाम् ॥२॥	॥१८४१७॥
३	अक्षता च क्षता धैर्य, पुनर्भूः संस्कृता पुनः ।	॥१३०३१॥
४	अधेयाया रणमुपगतौ तातमग्ना च नत्वा घातस्ताभ्यां क्षिरसि यिनतोऽहं च दुःशासनश्च । तस्मिन्वाले प्रसन्नमरिणा प्रापिते तामचम्यां पार्श्वे पित्रोरुपगतभृणः किमु चक्ष्यामि गत्वा ॥१५॥	॥३०३६॥
५	अगिराकारणात् कर्तुंस्स्यागाङ्ग कर्मणि स्थितम् । प्रेरणानुमतिभ्या या, लभते सम्प्रदानताम् ॥ १ ॥	॥१७०४१॥
६	अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभाषाद् यथा परे मत्परिण प्रवादा । नयानदोषानविशेषमिच्छन्न पक्षपाती समयस्तथा ते ॥ ३० ॥	॥४११॥
७	अजिफारोऽद्रवं मूर्तं, प्राणित्वं स्वात्तमुच्यते । द्युत च प्राणिनस्तत्तन्निमित्तं च प्रतिमादिषु ॥ १ ॥	॥४१४७॥
८	अविग्रहा गतादिस्था, यथा प्रामादिकर्मभिः । क्रिया सम्प्रपद्यते तद्वत्, कृतपूर्वादिषु स्थिता ॥ ३ ॥	॥१८४१८॥
९	अष्टौ स्थानानि वर्णानामुत्तरं फण्टः क्षिरस्तथा । जितामूलं च दन्ताश्च नासिकाष्टौ च तालु च ॥ १ ॥	॥८५॥
	आ.	
१०	आरुतिप्रहणाज्जातिलिङ्गानां न च संप्रमाक । सलदायतनिप्रार्णा, गोत्रं च वरणै सह ॥ १ ॥	॥४१४५॥
११	आधारत्रिविधो द्वेयः, फटाऽऽकाशतिलादिषु । औपग्रेयिको चपयिकोऽभिव्यापक एव च ॥ १ ॥	॥१७५१२॥
१२	आमन्त्रितपदं यद्य, तत्क्रियाया विशेषकम् । मजामि देवदचेति, निघातोऽत्र प्रतीयते ॥ १ ॥	॥१७८३०॥
	इ.	
१३	इत्यम्भूतस्य काणस्य, लक्षणं एक्षि बुध्यते । ततस्तृतीया तेनेव, तत्र सूत्रेण सिध्यति ॥ १ ॥	॥१८८३४॥
१४	इयन्त इति संख्याने, निपातानां न विद्यते । प्रयोजनवशादेते, निपात्यन्ते पदे पदे ॥ १ ॥	॥१९११४॥
	ई.	
१५	ईक्षितव्यं परलोभ्य, सधर्मा रक्षसामयम् ।	॥१९२११५॥
१६	ईषद्वयं क्रियायोगे, मर्यादाभिविधौ च यः । एतमातं दितं विधाद्, वाक्यसरणयोरडित् ॥ १ ॥	॥३६१९॥
"	"	"
	उ.	
१७	उदस्य कुम्भीरथ शान्तकुम्भजाश्चतुष्कवारुत्विपि वेदिकोदरे । यथाकुलाचारमथावनीन्द्रजां पुरन्ध्रवर्गः ऊपयाम्यभूव ॥ १ ॥	॥१९१४२॥
	ऐ.	
१८	ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्तं, कौमारं शाकटायनम् । सारस्वतं चाऽऽपिशलं, शाकलं पाणिनीयकम् ॥ १ ॥	॥११२९॥
	ओ.	
१९	ऑनमः सिद्धचक्राय, शाश्वताऽऽनन्ददायिने । सर्वमेवेष्टव्यं मन्त्रोऽचिन्त्यचिन्तामणीयते ॥ १ ॥	॥१११८॥
	क.	
२०	कर्तृकर्मव्यवहितामसाक्षाद्वारयत् क्रियाम् । उपकुर्वत् क्रियासिद्धौ, शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम् ॥ १ ॥	॥१७४३३॥
२१	कटे तु रुच्छ्रगहने, वक्षामन्दागदेषु तु । पदुर्ध्वं वाक्यलिङ्गौ च,	॥७५१२०॥
२२	कान्तो हरिश्चन्द्र इव प्रजानाम् ।	॥२०७२॥
२३	क्रियायाः फलनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम् । विवक्ष्यते यदा यत्र, करणं तत्तदा स्मृतम् ॥ १ ॥	॥१७०१२३॥
२४	क्षुधातेः सन्न शालीन् कवलयति मांस्पाकवलितान् ।	॥२८८८॥
	ग.	
२५	गुणकर्मणि त्यादिविधिः, पूर्वं गुणकर्मणा भवति योगः । मुदयं कर्म प्रेष्युर्यसाद्व्येव यतते प्राक् ॥१॥	॥१६०१२०॥
२६	गुणः कृताङ्गसंस्कारः, प्रधानं प्रतिपद्यते ।	॥१४०१२२॥
	घ.	
२७	घृतमेव ममाऽपि रोचते, घृतशीतं च सशर्करं पयः ।	॥१९११९॥

क्र०

पृ० प०

च.

- २८ चक्रे श्रीमूलराजेन, नवः कोऽपि यशोर्णवः । परकीर्त्तिं स्रवन्तीनां, न प्रवेशमदत्त यः ॥ ३ ॥ ॥६३॥१२॥  
 २९ चङ्कस्यमाणोऽधीष्वाऽत्र, जपंश्चङ्कमणं कुरु । तादर्थ्यस्याऽविशेषेऽपि, शब्दाद्भेदः प्रतीयते ॥ १ ॥ ॥१७२॥३०॥  
 ३० चर्मणि द्वीपिनं हन्ति, दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् । केशेषु चर्मरं हन्ति, सीम्नि पुष्पलको हतः ॥ १ ॥ ॥२०९॥१४॥  
 ३१ चामीकरविधूद्भासिसूत्रवृत्तिरुते नमः । सूरये हेमचन्द्राय हेमचन्द्रयशस्वते ॥३॥ ॥१२०॥

ज.

- ३२ जयत्युपेन्द्रः स चकार दूरतो विभित्सया यः क्षणलब्धलक्ष्यया ।  
 हृशैव कोपावृणया रिपोरुरः स्वयं भयाद्भिन्नमिवास्त्रपाटलम् ॥३॥ ॥३०॥३५॥  
 ३३ जैनागमसुधादोग्ध्रे, सागरानन्दसूरये । सर्वतन्त्रस्वतन्त्राय, पूज्याय गुरवे नमः ॥४॥ ॥१२१॥

त.

- ३४ ततः क्रियावता कर्त्रा, योगो भवति कर्मणा । ॥२०९॥३३॥  
 ३५ तस्मैव कोऽपि भुवनैकपुरुष ! पुरुषस्तपस्यति ।  
 ज्योतिरमलवपुषोऽपि रवेरभिभूय वृत्र इव भीमविग्रहः ॥२६॥ ॥३०॥३८॥  
 ३६ तस्माच्छुद्धस्य दुर्हेर्मवति गवा पूर्वमेव सम्बन्धः । गोदुहिना पयसस्तु, प्राक्तस्मात्पादयस्तस्मिन् ॥२॥ ॥१६०॥२०॥  
 ३७ तिलपुष्पेषु यत्कीरं, तिलच्छेदेषु यद्वधि । ॥१८८॥१०॥  
 ३८ तिवा शवाऽनुबन्धेन, निर्दिष्टं यद्वर्णेन च । एकस्वरनिमित्तं च, पञ्चैतानि न यदुल्लिख्यते ॥ १ ॥ ॥१३९॥१९॥  
 ३९ तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभि, क्षुधार्तः सन् शालीन् कवलयति मांस्पाकवलितान् । ॥१४२॥१९॥  
 ४० प्रदीप्ते रागाग्नौ घननिविडमाश्लिष्यति वधूं, प्रतीकारे व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः ॥१॥ ॥२८१॥२७॥  
 ४१ त्वष्टुः सदाभ्यासगृहीतशिल्पविद्वानसंपत्पसरस्य सीमा । ॥१७३॥३३॥  
 ४२ अद्वयताऽऽदर्शतलामलेषु च्छायेव या स्वर्जलधर्जलेषु ॥३॥३५॥

द

- ४१ दम्भोलिरशनिर्द्वयोः । ॥७९॥२९॥  
 ४२ दूरादावसथान्मूर्जं, दूरात्पादावसेचनम् । दूराच्च भाग्यं दस्युभ्यो, दूराच्च कुपिताद् गुरोः ॥ १ ॥ ॥२१५॥२४॥  
 ४३ देवतानां गुरुणां च, नाम नोपपदं विना । उच्चरेन्नैव जायायाः, कथंचिन्नात्मनस्तथा ॥ १ ॥ ॥२१॥२२॥  
 ४४ देवासुरैरमृतमम्बुनिधिर्ममन्थे । ॥१६०॥३३॥  
 ४५ द्योतिका वाचिका वा स्युर्द्वित्वादीनां विभक्तयः । स्याद्वा संख्यावतोऽर्थस्य, समुदायोऽभिधायकः ॥१॥ ॥१७३॥३६॥  
 ४६ द्विष्टोऽप्यसौ परार्थत्वाद्, गुणेषु व्यतिरिच्यते । तत्राऽभिधीयमानश्च, प्रधानेऽप्युपयुज्यते ॥१॥ ॥२०३॥२२॥

घ.

- ४७ धातोर्न्यान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसंग्रहात् । प्रसिद्धेरविवक्षातः, कर्मणोऽकर्मिका क्रिया ॥ १ ॥ ॥१६१॥२२॥  
 ४८ धूमायन्त इवाऽऽश्लिष्टाः, प्रज्वलन्तीव संहताः । उल्लुकांनीव मेऽमी स्वा, क्षातयो भरतर्षभः ! ॥१॥ ॥६८॥३६॥

न.

- ४९ 'नगरमुखचतुर्गोपुरोद्भासि सालम्' ॥६८॥४२॥  
 ५० न देवदत्तं प्रतिभाति किञ्चिद्, बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित् ।  
 वृणीष्व मद्दे' प्रतिभाति यस्त्वाम्, ॥१७९॥१॥  
 ५१ नन्तासंख्याडतिर्युष्मदस्रच्च स्युरल्लिङ्गकाः । ॥१७७॥१०॥  
 ५२ न मे श्रुता नाऽपि च हृष्टपूर्वा । ॥११७॥१५॥  
 ५३ नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना श्मे, रसोपविद्धा इव लोहधातवः ।  
 भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो, भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः ॥६५॥ ॥४१॥२॥  
 ५४ नावकल्पयामि न मर्षये, गर्ह्ये आश्रये वा; यत्र भवान् वृषलं याजयेत् । ॥१९१॥३३॥  
 ५५ निपाताश्चोपसर्गाश्च, घातव्यश्चेति ते त्रयः । अनेकार्थाः स्मृता लोके, पाठस्तेषां निदर्शनम् ॥ १ ॥ ॥१८१॥५०॥  
 ५६ निमित्तमेक इत्यत्र, विभक्त्या नाभिधीयते । तद्वत्तस्तु यदेकत्वं, विभक्तिस्तत्र वर्तते ॥ १ ॥ ॥१७६॥८॥  
 ५७ " निर्विशेषं न सामान्यं, भवेच्छशविषाणवत् । ॥१८२॥३५॥  
 " ॥२०९॥३२॥

प.

- ५८ पतिर्धवे ना त्रिष्वीशे । ॥७९॥२१॥  
 ५९ परतः केचिदिच्छन्ति, केचिदिच्छन्ति पूर्वतः । उभयोः केचिदिच्छन्ति, केचिदिच्छन्ति नोभयोः ॥ १ ॥ ॥१२६॥१०॥  
 ६० परुषं व्याजितः । ॥१६३॥१८॥  
 ६१ पान्तु वो देशनाकाले, जैनेन्द्रा दशनांशवः । भवकूपपतज्जन्तुजातोद्धरणरज्जवः ॥ १ ॥ ॥११९॥११॥

५०		५० ५०
६२	पावके शुचिः । मास्यमात्ये चात्युपघे, पुंसि मेघे सिते त्रिषु ।	॥७९।१९॥
६३	पूर्वमयदारगोपीहरणसरणादिव ज्वलितमन्युः । धीमूलराक्षपुरयोत्तमोऽवधीर्मुदाभीरान् ॥ २ ॥	॥३८।१३॥
६४	अणम्य परमात्मानं, धेयं शब्दानुशासनम् । आचार्यैर्मन्त्रेण, स्मृत्वा किञ्चित्प्रकाश्यते ॥	॥१।१६॥
६५	प्रधानकर्मण्यारूपेये, त्यादीनामुष्टिकर्मणाम् ।	॥२०।२१॥
६६	प्रयुक्तौ च निरुक्तौ च, फारफाणा य ईश्वरः । अग्रयुक्तः प्रयुक्तो वा, स कर्ता फलसाधकः ॥ ३ ॥	॥१५६।१३॥
६७	प्रस्तापादयधौचित्याद्देशकालविभागयोः । शब्दाद्याध्याः प्रतीयन्ते न शब्दादेव केयलात् ॥ १ ॥	॥१४।२९॥
६८	प्रियद्वौ राजपत्तसर्पं, हाहावशाऽपर एहि ॥	॥९०।२५॥

फ.

६९	फलाधीं यः स्वतन्त्रं सन्, फलायाऽऽरभते प्रियाम् । नियोक्ता परतन्त्राणां, स कर्ता नाम कारकम् ॥ २ ॥	॥१५६।१३॥
----	--	----------

ष.

७०	पलिः करो भागधेयः ।	॥२४।३०॥
७१	सुखा समीहितेकत्वान्, पञ्चालान् कुरुभिर्नवा । सुखा विभजते घृता, तदाऽपायः प्रतीयते ॥ १ ॥	॥१७२।१३॥

भ.

७२	भवेद्भिगुणमाधुर्यमनन्तगुणफलकम् । द्रव्यं चतुर्गुणोद्भूतगन्धमात्रफलदिकम् ॥ १ ॥	॥१८४।२९॥
७३	मूर्धन्य सखयीज्ञानम् ।	॥१८।१९॥
७४	भेष्यां पुनर्नपाया धी, वर्णभूद्वेदुरे पुमान् ।	॥८०।१३॥

म.

७५	मज्जा तु फौशिकः शुण्ठकरोऽरुध्नः स्नेहसम्भवौ ।	॥६१।३५॥
७६	मणी इवोद्भिदामनोहरतिवगै ।	॥३।५६॥
७७	मणीवोद्भूत लम्बेते, प्रियौ घत्सतरौ मम ।	॥३।५५॥
७८	मध्ये श्रुतीतां प्रतिवेशिनीनां सरस्वती पासवती मुखे नः । हियेय ताभ्यश्चलतीयमदा पथाप्र संसर्गगुणेन नदा ॥ १ ॥	॥१८।२२॥
७९	मयेतत्सर्पेमाख्यातं युष्माकं मुनिपुङ्गवाः ॥११८॥	॥११८।२७॥
८०	मर्यादापिधौ च यः ।	॥९६।१०॥
८१	मुक्ताजालं चिरपरिचितं त्याजितः ।	॥१६३।१९॥
८२	मृत्युत्पत्तिग्लानिनिद्राप्रयोधैर्बुद्धिहासनासरोगादिभिश्च । लिङ्गैर्गया जीवतैकेन्द्रियाणां, जेनात्सुप्तात्प्राणवन्निश्चलानाम् ॥१॥	॥१६३।२६॥
८३	प्रियमाणो च तौ हृष्टा, मद्भिस्तप्रेदमववीत् । मणीवोद्भूत लम्बेते, प्रियौ घत्सतरौ मम ॥ १ ॥	॥३।३०॥

य.

८४	यः क्रियां कर्मकर्तृत्वां, कुरुते मुख्यभावतः । अग्रयुक्तः प्रयुक्तो वा, स कर्ता नाम कारकम् ॥	॥१५८।१७॥
८५	यति ते नाग ! शीर्षाणि, तति ते नाग ! वेदना । न सन्ति नाग ! शीर्षाणि, न सन्ति नाग ! वेदना ॥ १ ॥	॥९१।२०॥
८६	यत्तत्कारणं तदेवाक्षि, लक्ष्यते तत्र तेन किम् ? । तत्कारणः पुरुष इत्येतत्कथं वृषचारतः ॥ ३ ॥	॥१८८।२७॥
८७	यत्पादजलसंस्पर्शान्मन्दो वाचस्पतीयति । नमः शङ्खेश्वरेशाय विश्वविप्रविनाशिने ॥ २ ॥	॥१।१९॥
८८	यदैव पूर्वं जनने शरीरं, सा दक्षरोपात् सुदती ससर्ज । तदा प्रभृत्येव विमुक्तसंगः, पतिः पशूनामपरिग्रहोऽभूत् ॥ ५३ ॥	॥२०।३४॥
८९	येनाऽपविद्धसलिलः स्फुटनागसप्ता, देवास्तुरैरमृतमग्नुनिधिर्ममन्त्रे । व्यावर्तनैरतिपतेर्यमाहिताङ्गः, खं व्यालिखन्निव विभाति स मन्दराद्रिः ॥ ३ ॥	॥१६०।१२॥
९०	किराता० पञ्चमसर्गे ।	॥१७५।२॥
	योऽक्षपादमूर्ध्नि न्यायः, प्रत्यभाह्वता वरम् ।	

र.

९१	रोचते मम घृतं सह मुद्गैः, शालयो वृधिशरं कुकुराश्च ।	॥१९१।१९॥
----	---	----------

ल.

९२	लक्ष्यलक्षणभावो हि, भेदे सत्युपपद्यते । यथा छात्रकमण्डल्वोऽल्लजोपाध्याययोर्यथा ॥ १ ॥	॥१८८।२६॥
९३	लक्षणादातपत्रादेस्तत्र लक्ष्यं तु भिद्यते । इह त्वेवमसम्भाव्यमभेदादक्षिकाणयोः ॥ २ ॥	॥१८८।२६॥
९४	लज्जावद्वाजवन्मज्जा, मांससारस्थिसारयोः ।	॥६१।३६॥
९५	यं प्रचेतसि जानीयादिवाधे च तदव्ययम् ।	॥३।३४॥

व.

९६	व वा यथा तथैवैवम् ।	॥३५।३४॥
----	---------------------	---------

क्र०

पृ० प०

९७	वष्टिभागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः । आपं चैव हलन्तानां, यथा वाचा निशा दिशा ॥ १ ॥	॥२८॥३१॥
९८	वस्तुतस्तदनिर्देश्यं, न हि वस्तु व्यवस्थितम् । स्थाल्या पच्यत इत्येपा, विवक्षा दृश्यते यतः ॥ २ ॥	॥१७०॥२४॥
९९	वाताय कपिला विद्युदातपायाऽतिलोहिनी । पीता वर्णाय विज्ञेया, दुर्मिक्षाय सिता भवेत् ॥ १ ॥	॥१९३॥५॥
१००	विनैव प्रत्ययं वृत्तौ, ये भिन्नार्थाभिधायिनः । गर्गादयो लुका तेषां, साधुत्वमनुगम्यते ॥ १ ॥	॥१७८॥१९॥
१०१	विंशत्याद्याः शताद्वन्द्वे ।	॥८२॥२४॥
१०२	विशेषकर्मसम्बन्धे, निर्मुक्तेऽपि कटादिभिः । विशेषनिरपेक्षोऽन्यः, कृतशब्दः प्रवर्तते ॥ १ ॥	॥१८४॥१६॥
१०३	वीरो विश्वेश्वरो देवो, गुष्माकं कुलदेवता । स एव नाथो भगवानस्माकं पापनाशनः ॥ १ ॥	॥१९१॥१०॥
१०४	व्यथां द्वयेषामपि मेदिनीभृताम् ॥	॥७४॥२१॥
१०५	व्यपदेशो पदार्थानामन्या सत्तौपचारिकी । सर्वावस्थासु सर्वेषामात्मरूपनिर्दर्शिनी ॥ १ ॥	॥१८४॥३४॥

श.

१०६	शक्यस्तिष्ठः, प्रभुत्वोत्साहमन्त्रजाः ।	॥२४॥३३॥
१०७	शतं दापितः सूरसेनः ॥	॥१६३॥१८॥
१०८	शिली गण्डपदी भेकी, वर्षाभ्वी कमठी डुलिः ॥	॥८०॥१४॥

स.

१०९	संसर्गो विप्रयोगश्च, सादृश्यं विरोधिता । अर्थः प्रकरणं लिङ्गं, शब्दस्यान्यस्य संनिधिः ॥ १ ॥	॥१४॥२९॥
११०	संहितैकपदे नित्या, नित्या घातूपसर्गयोः । नित्या समासे वाक्ये तु, सा विवक्षामपेक्षते ॥ १ ॥	॥५५॥७॥
१११	स एष भरतो राजा,	॥५६॥११॥
११२	सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु, सर्वासु च विभक्तिषु । सर्वेषु च वचनेषु, यत्र व्येति तदव्ययम् ॥ १ ॥	॥१७॥८॥
११३	सम्पिण्डताङ्गुलिः पाणिर्मुष्टिः ।	॥७९॥१७॥
११४	सम्बन्धः कारकेभ्योऽन्यः, क्रियाकारकपूर्वकः । श्रुतायामश्रुतायां वा, क्रियायां सोऽभिधीयते ॥ १ ॥	॥२०२॥४५॥
११५	सम्भोगाय परिक्रीता, कर्ताऽस्ति तव नाऽप्रियम् ।	॥१९६॥९॥
११६	संमूर्च्छदुच्छृङ्खलशङ्खनिःस्वनः, स्वनः प्रयाते पटहस्य शार्ङ्गिणि ।	
	सत्त्वानि निन्द्ये नितरा महान्त्यपि, व्यथां द्वयेषामपि मेदिनीभृताम् ॥ १३ ॥	॥७४॥२०॥
११७	सर्वभक्षः कृतान्तः ।	॥१६३॥३३॥
११८	सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी ।	॥१८६॥४७॥
११९	साकाङ्क्षावयवमेदे परानाकाङ्क्षशब्दकम् । क्रियाप्रधानं गुणवदेकार्थं वाक्यमुच्यते ॥ १ ॥	॥१४॥३३॥
१२०	सिद्धहेमवृद्धवृत्तिविषमस्थलयोधिनीम् । कुर्वेऽहं विवृतिं बालमनोऽनान्दवोधिनीम् ॥ ५ ॥	॥११॥२२॥
१२१	सैष दाशरथी रामः, सैष राजा युधिष्ठिरः । सौषधीरनुकृत्यते,	॥५६॥१०॥
१२२	सैष दाशरथी रामः, सैष भीमो महाबलः । सैष कर्णो महात्यागी, सैष राजा युधिष्ठिरः ॥ १ ॥	॥५६॥३८॥
१२३	— सैष भीमो महाबलः, सैष कर्णो महात्यागी । सैष राजा युधिष्ठिरः ॥ १ ॥	॥५६॥३९॥
१२४	सोऽयमित्यभिसम्बन्धात्, प्रत्ययेन विना यदि । वञ्चादयः प्रयुज्येरन्, नाऽपत्ये नियमो भवेत् ॥ २ ॥	॥१७८॥१९॥
१२५	सोऽयमित्यभिसम्बन्धे, प्रत्यभिधोपजायते ।	॥५६॥३७॥
१२६	सोऽयमित्यभिसम्बन्धे, लिङ्गोपव्यञ्जनादृते । प्रष्ठादिषु न जायैव, नियमेन प्रतीयते ॥ ३ ॥	॥१७८॥२०॥
१२७	सोऽहं तथापि तव भक्तिं	॥५६॥४२॥
१२८	स्तनकेशवती स्त्री स्याद्, रोमश्च पुरुषः स्मृतः । उभयोरन्तरं यच्च, तदभावे नपुंसकम् ॥ १ ॥	॥१७॥१३॥
१२९	स्तोकस्य चाऽभिनिर्वृत्तेरनिर्वृत्तेश्च तस्य वा । प्रसिद्धिं करणत्वस्य, स्तोकादीनां प्रवक्षते ॥ १ ॥	॥२०१॥१६॥
१३०	स्फटिकादि यथा द्रव्यं, भिन्नरूपैरुपाश्रयैः । स्वशक्तियोगात् सम्बद्धं, तादृष्येणैव गम्यते ॥ २ ॥	॥१८४॥३५॥
१३१	स्यात् सेनाऽक्षौहिणी नाम खाऽगाष्टैकद्विकैर्गजे । रथैश्चैभ्यो हयैस्त्रिभिः पञ्चैश्च पदातिभिः ॥ १ ॥	॥३०॥२४॥
१३२	खव्यापारे तु कर्तृत्वं, सर्वत्रैवाऽस्ति कारके । व्यापारभेदापेक्षायां, करणत्वादिसम्भवः ॥ १ ॥	॥१५६॥१२॥
१३३	खशब्दैरभिधानेऽपि, स धर्मो नाऽभिधीयते । विभक्त्यादिभिरेवाऽसावुपकारः प्रतीयते ॥ १ ॥	॥२०३॥२९॥

ह.

१३४	हरिरिव बलिबन्धकरस्त्रिशक्तियुक्तः पिनाकपाणिरिव ।	
	कमलाश्रयश्च विधिरिव जयति श्रीमूलराजनृपः ॥ १ ॥	॥२४॥१४॥
१३५	हेतुत्वे कर्मसंज्ञायां, शेषत्वेनाऽपि कारकम् । रुच्यार्थादिषु शास्त्रेण, चतुर्थी सम्प्रकीर्तिता ॥ १ ॥	॥१९१॥३५॥





## ७ परिशिष्टम् ।

अस्मिन्नेव शब्दानुशासने प्रथमविभागे तत्त्वानि प्रकाशयतीति यथार्थनामशालिश्रीतत्त्वप्रका-  
शिकासुप्रकाशनकालेऽमन्दाऽऽनन्दसुबोधदानैकवद्धकक्षीभूताऽऽनन्दबोधिभ्यारम्भकाले च  
ग्रन्थस्थितसूत्रवृत्त्युदाहरणविषयविभागादिस्पष्टीकरणार्थं स्थलनिर्देशार्थं चाकाराद्यनु-  
क्रमेण सुगृहीतानि महापुरुषगुम्फितानि ग्रन्थरत्ननामानि ।

क्र०	ग्रन्थनामानि ।	पृ० प०	क्र०	ग्रन्थनामानि ।	पृ० प०
	<b>अ.</b>			<b>त.</b>	
१	अन्य० यो० व्य० ३० । श्लोके ॥	॥४१९॥	१४	तत्त्वदीपिका ॥	॥८३१४३॥
२	अभिधानचिन्तामणौ ॥	॥१८१५॥	१५	तत्त्वप्रकाशिका ॥	॥१३८॥
"	"	॥१८३०॥	१६	तत्त्वबोधिनी ॥	॥९१३१॥
"	"	॥१८३२॥		<b>न.</b>	
"	"	॥१८३९॥	१७	नैपघीये ॥	॥१८२३॥
"	फा० ३-श्लो० ४०९	॥२४३१॥		<b>प.</b>	
"	" " ३९९	॥२४३३॥	१८	पाणिनीयैकदेशिनः ॥	॥८२३३॥
"	" " ४१३	॥३०२५॥	१९	पाणिनीयशिक्षा-श्लो० १३ ॥	॥८३३॥
"	" " २९२	॥६१३५॥	"	" " १६ ॥	॥८३९॥
३	अमरकोषः ॥ का० २ श्लो० १२	॥३५३४॥	"	" " १८ ॥	॥८४०॥
"	—	॥६९३६॥	"	" " २१ ॥	॥८४४॥
"	—	॥७१२०॥	"	" " २० ॥	॥८४६॥
"	—	॥७२२१॥	२०	पाणिनीयकम् ॥	॥१३०॥
"	—	॥७९२९॥	२१	पाणिनीयतन्त्रे ॥	॥२२४६॥
"	—	॥८०१४॥	"	"	॥५२३७॥
"	—	॥८६३१॥	"	"	॥६७१९॥
"	—	॥२५३९॥	"	"	॥९०२९॥
४	अमोघावृत्तौ ॥	॥२८४२॥	"	"	॥९३३८॥
"	"	॥३१३६॥	२२	पाणिनीयमहाभाष्ये ॥	॥३०३३॥
"	"	॥३४४०॥	"	"	॥३४४०॥
"	"	॥५७४०॥	२३	पाणिनीयसूत्रेषु ॥	॥४४१७॥
"	"	॥९०४१॥	"	"	॥१९५३५॥
"	"	॥१३५१४॥	२४	पाणिनीये न्यासे ॥	॥५२४१॥
	<b>आ.</b>		२५	प्रकीर्णके सम्प्रदानोद्देशे ॥	॥५७४१॥
५	आपिशलम् ॥	॥१३०॥		<b>भ.</b>	
	<b>ऐ.</b>		२६	भक्तामर० ॥	॥५६४२॥
६	ऐन्द्रम् ॥	॥१२९॥	२७	भाष्यम् (पातञ्जलम्) ॥	॥१७५०॥
	<b>क.</b>		"	"	॥२६१७॥
७	कादम्बर्यां श्लो० ३	॥३०३६॥	"	"	॥४४१८॥
८	काशिका ॥	॥९०४०॥	"	"	॥५२३९॥
"	"	॥९१३०॥	"	"	॥६५१३॥
९	किरातार्जुनीये द्वादशसर्गे	॥३०३९॥	"	"	॥६६११॥
"	"	॥१६०२३॥	"	"	॥६७१७॥
१०	कुमारसंभवस्य प्रथमसर्गे	॥३०३५॥	"	"	॥९१३६॥
११	कुमारम् ( व्या० ) ॥	॥१२९॥	"	"	॥९७२१॥
	<b>च.</b>		"	"	॥१२२२८॥
१२	चान्द्रम् ॥	॥१२९॥	"	"	॥१५१२९॥
	<b>ज.</b>		"	"	॥१६२२९॥
१३	जैनेन्द्रप्रक्रियायाम् ॥	॥३३४१॥	"	"	॥१७८१७॥
"	"	॥३९३१॥	"	"	॥२०२३४॥
			"	"	॥२०२३६॥

क्र०	ग्रन्थनामानि ।	पृ० प०	क्र०	ग्रन्थनामानि ।	पृ० प०
२८	मनोरमा ॥	॥१८१४॥	४२	शाकलम् ॥	॥१३०॥
"	"	॥१८१७॥	४३	शिक्षामधीते (आपिशलि०) ॥	॥९१२॥
"	"	॥१८२०॥	"	"	॥९१३३॥
"	"	॥१८२५॥	४४	शिशुपालवधः ॥	॥१७३२॥
"	"	॥१८२७॥	"	"	॥७४१९॥
"	"	॥१८३०॥	४५	शेखरे ॥	॥२५३२॥
"	"	॥१८३१॥		स.	
"	"	॥१८३३॥	४६	सांख्यदर्शनम् ॥	॥१७३३३॥
"	"	॥१८३३॥	४७	सारस्वतम् ॥	॥१३०॥
"	"	॥१८३५॥	४८	सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनसूत्रग्रन्थ० ॥	॥२८॥
"	"	॥१८३७॥	४९	सिद्धान्तकौमुदी ॥	॥२८३२॥
"	"	॥१८३८॥	"	"	॥७८४२॥
"	"	॥१८४१॥	"	"	॥८२३३॥
"	"	॥१८४२॥	"	"	॥९०२५॥
"	"	॥१८४२॥	"	"	॥११५४८॥
"	"	॥१८४३॥	"	"	॥१२३४४॥
"	"	॥१८४४॥	"	"	॥५७४४॥
"	"	॥१९३१॥	५०	सिद्धान्ते ( स्याद्वादनये )	॥४१८॥
"	"	॥१९३२॥	५१	स्तुतिषु (अ० व्य०)	॥५७४४॥
"	"	॥१९३३॥	५२	स्वमते ( क० सर्वज्ञनये ) ॥	॥५७४४॥
"	"	॥१९३६॥	५३	स्वयम्भूस्तोत्रे ६५ श्लोके ॥	॥४२६॥
"	"	॥१९३८॥		ह.	
"	"	॥१९४४॥	५४	हैमः ॥ (अ० चि०)	॥७९१८॥
"	"	॥१९४८॥	"	"	॥८६३२॥
"	"	॥२०१८॥	"	"	॥८६३३॥
"	"	॥२०३१॥	५५	हैमप्रकाशे ॥	॥१८३६॥
"	"	॥२०३२॥	५६	हैमवृद्ध्यासे ॥	॥१८१४॥
२९	म० अ० (मुद्रि० शब्दा०)	॥१८३६॥	"	"	॥१८१७॥
३०	सहाभारत० ॥	॥३५३१॥	"	"	॥१८२३॥
३१	मेदिनी ॥	॥३५३४॥	"	"	॥१८२४॥
	य.		"	"	॥१८३८॥
३२	यादवः ॥	॥८०१४॥	"	"	॥१८४०॥
	ल.		"	"	॥१९३७॥
३३	लघुन्यासः ॥	॥९१२१॥	"	"	॥१९३८॥
"	"	॥१२२२७॥	"	"	॥१९४६॥
	व.		"	"	॥१९४७॥
३४	वार्त्तिकम् ॥	॥१२२२८॥	"	"	॥१९४७॥
३५	विश्वकोषः ॥	॥७९२१॥	"	"	॥२०११॥
३६	विष्णुपुराणम् ॥	॥१६६१९॥	"	"	॥२०११॥
३७	वैष्णवसंहारे चतुर्थाङ्के ॥	॥३०३८॥	"	"	॥२०१२॥
३८	वैशेषिकदर्शनम् ॥	॥१७३३३॥	"	"	॥२०१४॥
	श.		"	"	॥२०१३॥
३९	शब्दानुशासने (क०स०श्रीहरेम०) ॥	॥५२३९॥	"	"	॥२०१६॥
४०	शब्देन्दुशेखरः ॥	॥९०३२॥	"	"	॥२०१७॥
४१	शाकटायने ॥	॥१३०॥	"	"	॥२०१७॥
"	"	॥२६१७॥	"	"	॥२०२९॥
"	"	॥३३४२॥	"	"	॥१८४५॥
"	"	॥५२३५॥			
"	"	॥५२४०॥	५७	हैमवृद्धिः ॥	॥१८४५॥

## ८ परिशिष्टम् ।

अस्मिन्नेव शब्दानुशासने संज्ञा-सन्धि-नाम-कारक-सनाथे प्रथमविभागे ग्रन्थस्यविषय-  
विभागस्थितसूत्रवृत्त्युदाहरणप्रत्युदाहरणाद्यनेकविधस्थले स्वपरमतप्रतिपादनैक-  
तत्परप्रतिपादनशीलशालिनां प्रामाणिकाप्रामाणिकमतमतान्तरीयमा-  
न्यताकल्पनाकल्पनानाथानां स्वमताऽऽविष्करणैकबद्धकक्षाणां  
शेषकश्चिदन्यापरपरैकादिविरुद्धोपपदलाञ्छितशाब्दिका-  
नामकाराद्यनुक्रमेण नामधेयानि ।

क्र०	नाम ।	पृ० प०	क्र०	नाम ।	पृ० प०
<b>अ.</b>			<b>१३ कैयटः ।</b>		
१	अजितयशोवादी ।	॥१९५॥३६॥	"		॥७९॥३३॥
२	अभयनन्दाचार्याः ।	॥२१३॥२६॥	"		॥९०॥३१॥
<b>आ.</b>			"		॥१०३॥४०॥
३	आपिशलिः प्राचीनाचार्यः ।	॥९॥१२॥	"		॥१११॥२५॥
"		॥९॥३३॥	१४	क्षीरस्वामी ।	॥७९॥३६॥
<b>उ.</b>			"		॥८०॥४८॥
४	उत्पलः ।	॥४४॥१८॥	१५	क्षीरस्वामिप्रभृतयः ।	॥१२२॥४२॥
"		॥६०॥३७॥	<b>ग.</b>		
"		॥६१॥४६॥	१६	गोनर्दीयः ।	॥६५॥१२॥
"		॥११३॥२०॥	"		॥६५॥१३॥
"		॥१४८॥३१॥	"		॥७०॥२९॥
"		॥१५०॥२८॥	"		॥७५॥३१॥
"		॥१६१॥३९॥	१७	गोनर्दीयमतानुयायिनः ।	॥९३॥२०॥
"		॥१७०॥१५॥	<b>च.</b>		
"		॥१९४॥४०॥	१८	चन्द्रगोमिः ।	॥१४८॥३०॥
"		॥२१०॥२८॥	"		॥१५०॥२८॥
५	उत्पलादयः ।	॥३५॥३५॥	१९	चन्द्रगोमिदेवनन्दिप्रभृतयः ।	॥१४१॥२२॥
"		॥७५॥३०॥	२०	चान्द्रभोजक्षीरस्वामिप्रभृतयः ।	॥१२२॥४२॥
"		॥७५॥३२॥	२१	चान्द्रप्रभृतयः ।	॥५७॥३८॥
"		॥९०॥२४॥	"		॥९०॥४१॥
"		॥९३॥१८॥	"		॥११३॥३१॥
"		॥९३॥३८॥	"		॥१९२॥४५॥
६	उद्द्योतकरः ।	॥१८८॥२६॥	२२	चूर्णिकारः ।	॥८३॥२४॥
"		॥२१०॥२८॥	<b>ज.</b>		
"		॥२१०॥३०॥	२३	जयादित्यः ।	॥३५॥३०॥
७	उपाध्यायः ।	॥८३॥४३॥	"		॥३५॥३१॥
<b>क.</b>			"		॥९१॥३१॥
८	ऋषभः ।	॥१०३॥११॥	२४	जयादित्यप्रभृतयः ।	॥९१॥२९॥
<b>औ.</b>			२५	जयादित्यहरदत्ताभ्यां स्पष्टीकृतं च मुख्यत इदं मतं वामनस्य ।	॥६६॥११॥
९	औदमजिः ।	॥१०॥१६॥	२६	जिनदत्तादिः ।	॥१६२॥३८॥
<b>क.</b>			<b>त.</b>		
१०	कलिकालसर्वज्ञमतेन ।	॥३५॥३२॥	२७	तट्टीकाकृतः (पाणिनीय व्या० टीका०) ।	॥५७॥४२॥
११	काशिकाकारः ।	॥३५॥३०॥	<b>द.</b>		
"		॥३५॥३२॥	२८	दुर्गसिंहः ।	॥७८॥१८॥
"		॥२०५॥३५॥	"		॥१३७॥३२॥
१२	काशिकाकारा वामनादयः ।	॥९०॥३९॥	२९	दुर्गसिंहन्यासकृतौ ।	॥२५॥३२॥
			"		॥३२॥२४॥

क्र०	नाम ।	पृ० प०
३०	देवनन्द्याचार्यः ।	॥३३।४१॥
"	"	॥३९।२९॥
"	"	॥३९।३१॥
"	"	॥९०।४०॥
"	"	॥१३०।३४॥
"	"	॥१३९।३१॥
"	"	॥१३९।४५॥
"	"	॥१४८।३०॥
"	"	॥१५०।२८॥
३१	देवनन्द्यादयः ।	॥८।४१॥
"	"	॥२८।२०॥
"	"	॥३१।३५॥
"	"	॥९०।२९॥
"	"	॥९३।३४॥
<b>न.</b>		
३२	नागराज ।	॥२०२।३०॥
<b>प.</b>		
३३	पतञ्जलिः ।	॥१७।२५॥
३४	परे-जिनशासनयद्भिर्भूताः ।	॥४।२१॥
३५	पाणिनिः ।	॥९।२२॥
"	"	॥२८।२०॥
"	"	॥३३।४०॥
"	"	॥४८।४२॥
"	"	॥४८।४३॥
"	"	॥५१।३५॥
"	"	॥७५।३०॥
"	"	॥७५।३१॥
"	"	॥७५।३२॥
"	"	॥९३।२३॥
"	"	॥१२२।२८॥
"	"	॥१४८।३१॥
"	"	॥१९१।३४॥
"	"	॥२०४।३९॥
"	"	॥२०५।२७॥
३६	पाणिनितन्त्रानुसारिणः ।	॥१६२।२३॥
३७	(अन्ये) पाणिनीयाः, देवनन्द्यादयश्च ।	॥८।४१॥
३८	पाणिनीप्रभृतयः ।	॥७८।३०॥
"	"	॥७८।४१॥
"	"	॥१२२।२७॥
"	"	॥१२३।४३॥
३९	पाणिनिस्त्रैजानुसारिणः ।	॥६६।९॥
"	"	॥९०।२४॥
"	"	॥११५।४३॥
४०	पा०सू०काशिकारुद्रां वामनजयादि० ।	॥६६।१०॥
"	"	॥६६।१८॥
४१	पाणिनि शाकटायनाः ।	॥९।२२॥
"	"	॥४५।४२॥
४२	पाणिनिशाकटायनदेवनन्द्यादयः ।	॥२८।२०॥
४३	पाणिनिशाकटायनदेवनन्दिनिष्ठा० ।	॥३९।२९॥

क्र०	नाम ।	पृ० प०
४४	पाणिनिशिक्षाकाराः ।	॥८।३१॥
"	"	॥८।३९॥
"	"	॥८।४२॥
"	"	॥८।४४॥
"	"	॥८।४५॥
"	"	॥८।४६॥
४५	पाणिनिशिक्षाकाराः शाकटायनाश्च ।	॥८।४२॥
४६	पाणिनीयमहाभाष्यकृन्मतानुयायिनः ।	॥१७।२४॥
४७	पाणिनीयाः ।	॥८।४१॥
"	"	॥३४।३९॥
"	"	॥४५।४३॥
"	"	॥९३।२०॥
"	"	॥९३।३८॥
४८	पाणिन्याद्याचार्याः ।	॥१९।२५॥
"	"	॥३८।४०॥
"	"	॥३९।३३॥
"	"	॥५१।३६॥
"	"	॥९०।२९॥
"	"	॥११३।४२॥
"	"	॥२१४।३०॥
४९	पूर्वे-आचार्याः ।	॥२०७।२५॥
५०	प्रसादकारादयः ।	॥८२।३५॥
५१	प्राचीनाः ।	॥८।४०॥
५२	प्राञ्चः ।	॥१७।२६॥
"	"	॥२६।१२॥
"	"	॥२६।१६॥
"	"	॥२९।३३॥
"	"	॥३०।३०॥
"	"	॥३६।३६॥
"	"	॥१४८।१८॥
"	"	॥१८५।३१॥
"	"	॥२००।३९॥
<b>भ.</b>		
५३	भगवता ( कलिकालसर्वज्ञेन ) ।	॥३९।३९॥
५४	भगवन्तो वृत्तिकाराः ।	॥३९।१५॥
"	"	॥६१।१४॥
५५	भट्टोजिदीक्षितः ।	॥८२।३४॥
"	"	॥९०।२५॥
"	"	॥१२३।४४॥
५६	भर्तृहरिः ।	॥१४।२९॥
"	"	॥१९१।३४॥
५७	भवभूतिजगविमुः ।	॥२००।२७॥
५८	भागुरिः ।	॥२८।३२॥
"	"	॥६१।३६॥
५९	भाष्यकारः ।	॥३५।३२॥
"	"	॥७५।३१॥
"	"	॥७९।३३॥
"	"	॥९०।३१॥
"	"	॥१११।२५॥
"	"	॥१५८।२०॥
"	"	॥१७७।३७॥
"	"	॥१९४।४६॥

क्र०	नाम ।	पृ० प०	क्र०	नाम ।	पृ० प०
६०	भाष्यरुदादयः ।	॥७९।३५॥		शाकटायनाः ।	॥२८।२०॥
"	"	॥८०।४८॥	"	"	॥२८।२१॥
"	"	॥१५०।२८॥	"	"	॥२८।४२॥
६१	भीमसेनादयः ।	॥१४४।३५॥	"	"	॥२९।२३॥
६२	भोजदेवसंमतम् ।	॥३३।४१॥	"	"	॥३३।४१॥
"	"	॥९०।१६॥	"	"	॥३९।२९॥
"	"	॥१२२।४२॥	"	"	॥४४।१९॥
६३	भोजप्रभृतयः ।	॥८४।४१॥	"	"	॥४५।४३॥
६४	भोजशाकटायनाः ।	॥१९३।३६॥	"	"	॥४८।४३॥
	म.		"	"	॥५१।३६॥
६५	माघकवेः ।	॥१७।३१॥	"	"	॥५७।३९॥
६६	माहेश्वरेषु ।	॥५२।३७॥	"	"	॥६०।३७॥
	र.		"	"	॥१३५।१३॥
६७	रत्नमतिः ।	॥१६४।३६॥	"	"	॥१३८।२५॥
"	"	॥१९३।२०॥	"	"	॥१६४।३३॥
	ल.		"	"	॥१९२।४३॥
६८	लघुन्यासकारः ।	॥५२।३५॥	"	"	॥१९३।३६॥
"	"	॥९१।२१॥	"	"	॥२०४।४२॥
६९	ललितस्वभावः ।	॥१०८।३३॥	"	"	॥२१७।३३॥
"	"	॥२०१।३३॥		८० शाकटायनादयः ।	॥८।४०॥
"	"	॥२०५।३४॥	"	"	॥५२।३५॥
७०	ललितस्वभावादयः ।	॥१४८।३०॥	"	"	॥५७।४१॥
	व.		"	"	॥१०८।३३॥
७१	वत्सः ।	१०३।११॥	"	"	॥१३०।३३॥
७२	वामनः ।	॥३५।३०॥	८१	शाकटायनदेवनन्दिचन्द्रादयः ।	॥९०।४०॥
"	"	॥९१।३१॥	८२	शिवमुख्याः ।	॥३०।३१॥
७३	वामनादयः ।	॥९१।२०॥	८३	शेषमहारकाः ।	॥५।३७॥
७४	वार्त्तिककारः ।	॥३५।३२॥	"	"	॥२६।१७॥
"	"	॥४७।२९॥	"	"	॥२७।३८॥
"	"	॥६७।१७॥	"	"	॥६४।४९॥
"	"	॥७९।३२॥	"	"	॥७९।३२॥
"	"	॥१०८।३४॥	"	"	॥१२९।३०॥
"	"	॥१३८।१७॥	"	"	॥१९४।४२॥
"	"	॥१४९।३३॥	८४	श्रुतपालादिः ।	॥७८।१८॥
"	"	॥१७७।३७॥	८५	श्लोकवार्त्तिककारः ।	॥१७७।३७॥
"	"	॥२०४।३८॥		स.	
७५	वार्त्तिकव्याख्यातारः ।	॥२१५।३७॥	८६	साधारणभाषकारः ।	॥१५०।२८॥
७६	विश्रान्तविद्याधरः ।	॥३९।३०॥	"	"	॥१५०।२८॥
"	"	॥४८।२०॥	"	"	॥१९४।४०॥
"	"	॥९०।२४॥	८७	साधारणादयः ।	॥१४८।३२॥
"	"	॥९०।२९॥	"	"	॥१९५।३५॥
"	"	॥१३०।२४॥	८८	सामन्तभद्राचार्यः ।	॥२।२६॥
७७	विश्रान्तविद्याधरादयः ।	॥१६९।४१॥	८९	सारसंग्रहकारादयः ।	॥१९४।३८॥
७८	व्याख्यातारः ।	॥१३८।१७॥	९०	सुस्त्राकरः ।	॥१००।१५॥
	श.		९१	सूत्रकारः ( पाणिनि. ) ।	॥१९४।४६॥
७९	शाकटायनाः ।	॥८।३९॥	९२	स्थविरः ।	॥१६१।३९॥
"	"	॥८।४२॥	९३	स्थविरचन्द्रोत्पलदेवनन्दि- साधारण- भाष्यकारप्रभृतयः ।	॥१५०।२८॥
"	"	॥९।२२॥			
"	"	॥१८।३७॥			

## ९ परिशिष्टम् ।

अस्मिन्नेव शब्दानुशासने संज्ञा-सन्धि-नाम-कारकसनाथे प्रथमविभागे विधिनियमविकल्प-प्रतिषेधाऽधिकाराद्यनेकविधसूत्राणां तद्वचनानां च विविधव्यवस्थातात्पर्यप्रकाशनार्थं, ग्रन्थ-विषयविभागस्थितवृत्त्युदाहरणप्रत्युदाहरणेषु स्थितशक्त्यशक्तिस्पष्टीकरणार्थं, 'नीयते सन्दि-ग्धोऽर्थो निर्णयमेभिरिति न्यायाः' इति जलधरदिनकरसुधाकरवदुपकारिणां त्वरीश्वराणा-मुक्तिरहस्यबलेन तद्रहस्यं स्वीकृत्य न्यायसमर्पणकाले शास्त्रादिविहितन्यायसमर्पणार्थं च प्रद-र्शितान्यकाराद्यनुक्रमेण न्यायादिगद्य-पद्यानि ।

क्र०	गद्यपद्यन्या०	पृ० प०	क्र०	गद्यपद्यन्या० ।	पृ० प०
	<b>अ</b>				
१	अकर्मका अपि हि धातवः लोपसर्गाः सकर्मका भवन्ति ।	॥१६८।११॥	१५	अपचाद्विषये पक्षे कचिदुत्सर्गः प्रवर्तते ॥११७।२५॥	
२	अदाद्यनदाद्योरनदादेरेव ग्रहणम् ।	॥१६८।१६॥	१६	अभिहिते प्रथमाया अभावः ।	॥१८२।३१॥
३	अनिनसन्ग्रहणान्यर्थवता चाऽनर्थकेन च तदन्तर्विधिं प्रयोजयन्ति ।	॥१०४।११॥ ॥१०४।१२॥	१७	अर्थवतो ग्रहणे सम्भवति अनर्थकस्य ग्रहणं न भवति ।	॥८४।३६॥
४	अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति ।	॥१७५।२२॥	१८	अर्थवद्ग्रहणे० ।	॥१५३।२१॥
५	अनेकवर्णत्वात् सर्वादेशोऽनेन ।	॥८२।३०॥	१९	अर्थवद्ग्रहणेऽनर्थकस्याऽग्रहणात् ।	॥२९।१८॥
६	अनेकोच्चारणे हि प्रयत्नस्य गौरवं भवति ।	॥९६।३५॥	२०	अर्थवद्ग्रहणे नाऽनर्थकस्य ।	॥६५।१८॥
७	अन्तरङ्गवहिरङ्गयोः० ।	॥४६।४३॥		"	॥६५।१९॥
८	अन्तरङ्गानपि विधीन् वहिरङ्गा लुप् वाधते ।	॥९२।४८॥ ॥१०५।४५॥		"	॥७३।३४॥
	"	॥१०७।२५॥		"	॥७६।२५॥
	"	॥१०७।३३॥		"	॥७६।३४॥
९	अन्तरङ्गानपि विधीन् वाधित्वा ।	॥१२१।३५॥		"	॥१०३।२९॥
१०	अन्तरङ्गानपि विधीन् वाधित्वा लुप् प्रवर्तते ।	॥९०।२७॥ ॥११६।३०॥	२१	अर्थवद्ग्रहणे नाऽनर्थकस्य ग्रहणं भवति ।	॥८४।२९॥
११	अन्तरङ्गानपि विधीन् वाधित्वा वहिरङ्गा लुप् भवति ।	॥११३।३०॥	२२	अर्थवद्वाद् विभक्तिपरिणामः ।	॥५२।४४॥
१२	अन्त्याभावेऽन्त्यसदेशस्यापि ग्रहणात्	॥१२५।१४॥		"	॥६३।२०॥
१३	अन्यत्राऽन्यत्र लब्धावकाशयोः शास्त्रयोरेकत्र युगपत्प्राप्तौ पर भवति ।	॥४६।३४॥		"	॥७७।२६॥
१४	अन्वयव्यतिरेकाभ्यां कल्पितत्वात् ।	॥८८।३७॥		"	॥८८।२६॥
				"	॥११४।३५॥
			२३	अर्थक्यादेकं वाक्यं साकाङ्गं चेद्विभागे० ॥११६।१९॥	
			२४	असिद्धमिति ।	॥३९।२५॥
			२५	असिद्धं वहिरङ्गं० ।	॥५२।२३॥
				"	॥१०२।२०॥
			२६	असिद्धं वहिरङ्गमन्तरङ्गे ।	॥२७।३६॥
				"	॥३१।३१॥
				"	॥४१।२६॥
				"	॥४९।२४॥

क्र०	शा० नाम० ।	पृ० प०	क्र०	शा० नाम० ।	पृ० प०
	<b>इ</b>				
९४	हरिः ।	॥१७२।२९॥	९६	हेमचन्द्रः ।	॥११।३३॥
"	"	॥१७८।३०॥	"	"	॥१।३४॥
"	"	॥१८२।३५॥	"	"	॥१।३५॥
"	"	॥१८४।१६॥	"	"	॥१।३६॥
"	"	॥१९४।४३॥	"	"	॥१।३९॥
"	"	॥२०३।२२॥	"	"	॥२।५॥
९५	हर्षः ।	॥१९।४२॥	"	"	॥३३।४२॥
			"	"	॥५२।३९॥



क्र०	गद्यपद्यन्या० ।	पृ० प०	क्र०	गद्यपद्यन्या० ।	पृ० प०
	असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ।	॥५२।२५॥	४४	एकानुबन्धग्रहणे न द्व्यनुबन्धकस्य ।	॥१४०।४३॥
	"	॥५२।१२॥	४५	एवम्भूतस्तु अनिर्देशः ।	॥९४।२४॥
	"	॥५२।३६॥		क.	
	"	॥६२।२॥	४६	कार्यकार्यिणोरेकविभक्तिनिर्देशः ।	॥१२३।३३॥
	"	॥६२।१८॥	४७	कार्यकार्यिणोस्तुल्यत्वाद्यथासंख्यम् ।	॥११६।१८॥
	"	॥७८।२४॥	४८	कृताऽकृतप्रसङ्गित्वात् ।	॥११२।४४॥
	"	॥१०५।३॥	४९	कृताऽकृतप्रसङ्गित्वेन नित्यत्वाच्च ।	॥६६।८॥
	"	॥१०५।२१॥	५०	कृत्रिमाऽकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्र-	
	"	॥११३।२७॥		त्ययः ।	॥११६।२०॥
	"	॥१४६।८॥	५१	किञ्चिन्ता धातुत्वं न जहति ।	॥१५।४५॥
	आ.			"	॥१२७।३६॥
२७	आगमशासनमनित्यम् ।	॥१४९।१९॥	५२	किञ्चिन् प्रकृतिरेवाऽऽह ।	॥१११।७॥
२८	आदेशाभ्यः संख्या संख्येये वर्तते ।	॥१७५।३५॥		ग.	
२९	आदेशादागमः ।	॥१०२।१९॥	५३	गत्यर्था हि ज्ञानार्था भवन्ति ।	॥१९४।३४॥
३०	आनर्थक्यात्तदङ्गेषु ।	॥६६।३५॥	५४	गौणमुख्ययोर्मुख्ये सम्प्रत्ययः ।	॥१६१।४५॥
३१	आसन्नः ।	॥२९।२८॥	५५	गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः ।	॥१५६।८॥
३२	आसन्नाऽनासन्नप्रसङ्गे आसन्न एव दीर्घः ।	॥२५।२२॥	५६	गौणमुख्ययोश्च मुख्ये कार्य-	
	इ.			सम्प्रत्ययात् ।	॥१८८।४३॥
३३	इङिकावध्युपसर्गं न व्यभिचरतः ।	॥१६५।२०॥	५७	ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधिः ।	॥६६।७७॥
	उ.		५८	ज्ञापकज्ञापिता विधयो ह्यनित्याः ।	॥८२।४४॥
३४	उणादयोऽप्युत्पन्नानि नामानि ।	॥१३४।३२॥		त.	
	"	॥१३४।३३॥	५९	तत्र चाऽन्यत्र च प्राप्तस्य कार्यस्य	
	"	॥१३७।३७॥		ततोऽन्यतो व्यावर्त्य तस्मिन्नेवं विधो-	
३५	उणादीनामप्युत्पन्नपक्षस्याऽऽश्रयणात्	॥१००।४५॥		ऽन्यत्र कार्यस्याऽभावफलो नियमः ।	॥१३०।३६॥
३६	उदितोऽभवादेरेव तत्साहचर्यादुदितो-		६०	तदादेशास्तद्भवन्ति ।	॥११२।२३॥
	ऽप्यभवादेरेव ।	॥९८।२८॥	६१	तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते ।	॥५७।४॥
३७	उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी	॥१८७।३१॥		"	॥५७।१७॥
	"	॥१९६।४१॥		"	॥११३।१५॥
	"	॥१९८।३३॥	६२	तन्मध्यपतितस्य तद्ग्रहणेन ग्रहणात् ।	॥११२।२४॥
	"	॥२०९।३७॥		"	॥११३।४१॥
	"	॥२०९।३७॥		"	॥१२३।२५॥
३८	उभयस्थाननिष्पन्नोऽन्यतरव्यपदेशमाकृ.	॥३६।३३॥		"	॥१२४।२३॥
३९	उभयोः स्थाने यः ।	॥८६।१५॥	६३	तन्मध्यपतितस्य तद्ग्रहणेन ग्रहणेऽपि	॥१२७।२९॥
	ए.		६४	तिवा शवाऽनुबन्धेन, निर्दिष्टं यद्ग्रहणेन च०	॥१४२।१९॥
४०	एकदेशविकृत० ।	॥९३।१५॥	६५	त्यादिसमानाधिकरणे प्रथमा ।	॥१७७।२१॥
४१	एकदेशविकृतमनन्यवत् ।	॥३४।२३॥		द.	
	"	॥६४।४७॥	६६	दन्त्यास्थाननिष्पन्नस्य ताठव्यस्याऽपि	
	"	॥८३।१९॥		दन्त्यापदिष्टं कार्यं भवति ।	॥४५।४७॥
	"	॥८७।३५॥	६७	दृष्टकल्पना विहाय को नामाऽदृष्टं	
	"	॥१०२।४॥		कल्पयति ।	॥८५।४१॥
	"	॥१०२।२४॥	६८	द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात्प्रत्येकं सम्बध्यते	॥९८।२२॥
	"	॥७८।१९॥	६९	द्विर्यङ्गं सुवङ्गं भवति ।	॥८८।४३॥
४२	एकदेशविकृतस्य० ।	॥१०८।३९॥		न.	
	"	॥१०९।३१॥	७०	न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या ।	॥१८३।२२॥
	"	॥८६।२१॥	७१	न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न च	
४३	एकदेशविकृतस्याऽनन्यत्वेन० ।	॥९७।१४॥		केवलः प्रत्ययः ।	॥१८२।४९॥
	"	॥१०८।४२॥	७२	नञा निर्दिष्टमनित्यम् ।	॥३८।१६॥
	"	॥१०९।८॥		"	॥४६।१९॥
	"	॥१२८।४६॥	७३	नञ्युक्तं तत्सदृशे ।	॥५७।१६॥
	"	॥१५४।४४॥	७४	न स्वरानन्तर्ये ।	॥१५५।३०॥

क्र०	गद्यपद्यन्या० ।	पृ० प०
७५	न हि गोघ्ना सर्पन्ती सर्पणादहिर्भवति ॥१३५।२१॥	
७६	नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्य० । ॥१०१।३०॥	
	" ॥१०२।२४॥	
७७	नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्य ग्रहणम् । ॥५३।३३॥	
७८	नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् । ॥३०।३॥	
	" ॥७१।२८॥	
	" ॥१०२।३३॥	
	" ॥१२३।२१॥	
	" ॥१५१।४४॥	
७९	नामाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य ग्रहणं भवति । ॥१०७।१९॥	
८०	निपातानां द्योतकत्वम् । ॥३।१५॥	
८१	निमित्तकारणहेतुषु सर्वासा प्रायो दर्शनम् ॥६७।१९॥	
८२	निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याऽप्यभावः । ॥४३।४४॥	
८३	निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धस्य । ॥४१।१८॥	
	" ॥१५४।१४॥	
८४	निरनुबन्धग्रहणेन सानुबन्धकस्य न भविष्यति । ॥१२५।३६॥	
८५	निरनुबन्धग्रहणे सामान्यस्य । ॥१२।२५॥	
८६	निरनुबन्धग्रहणे सामान्यग्रहणम् । ॥४१।२०॥	
	" ॥५५।१८॥	
८७	निर्गुणा गुणाः क्रिया च । ॥१८४।२७॥	
८८	निर्दिश्यमानस्याऽऽदेशा० । ॥९३।१४॥	
८९	निर्दिश्यमानस्याऽऽदेशा भवन्ति । ॥९५।३७॥	
	" ॥२७।११॥	
	" ॥१०७।१९॥	
	" ॥१०८।४६॥	
	" ॥१०९।२४॥	
	" ॥१२५।१८॥	
	" ॥१५०।११॥	
<b>प.</b>		
९०	परत्वात्० । ॥७१।८॥	
९१	(अत्र) 'परत्वान्नित्यत्वाच्च' प्रागेव जरसादेशे कृतेऽकारान्तत्वाभावः । ॥६५।११॥	
९२	परम् । ॥६९।३३॥	
९३	परनित्यान्तरङ्गप्रतिपदविधयो विरोधिसन्निपाते तेषां मिथः प्रसङ्गे परबलीयस्त्वम् । ॥११३।२९॥	
९४	परार्थे प्रयुज्यमानः शब्दो वतिमन्त- रेणाऽपि चत्यर्थं गमयत्येव । ॥९४।२२॥	
९५	परादन्तरङ्गं बलीयः । ॥११२।२०॥	
९६	परात्रित्यं नित्यादन्तरङ्गमन्तरङ्गाच्चा- ऽनवकाशं बलीयः । ॥४।७॥	
९७	परेणापीयादेशेनेदुत्कार्यं न बाध्यते । ॥७६।९॥	
	" ॥७६।३७॥	
९८	पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तेः । ॥३२।३॥	
९९	पर्युदासो हि सद्व्याप्ती । ॥१२७।१३॥	
१००	पुनः प्रसङ्गविधानात् सिध्यति । ॥९६।२८॥	
१०१	पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते पञ्चा- दुत्सर्गाः । ॥११६।४७॥	
१०२	पूर्वेऽपवादा अनन्तरान् विधीन् बाध्यन्ते नोत्तरान् । ॥१२८।२३॥	

क्र०	गद्यपद्यन्या०	पृ० प०
१०३	प्रकल्प्य चाऽपवादविषयं तत उत्सर्गो- ऽभिनिविशते । ॥११६।४७॥	
१०४	प्रतिकार्यं संज्ञा भिद्यन्ते । ॥१६८।५॥	
	" ॥१६८।२४॥	
१०५	प्रत्ययपरैव प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न केवला ॥१८२।४१॥	
१०६	प्रत्ययमन्तरेणाऽप्येतेऽप्येत्यर्थे साधवः । ॥१७७।४७॥	
१०७	प्रत्ययाऽप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव । ॥६३।१७॥	
१०८	प्रत्ययाऽप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणं । ॥१६।३३॥	
	" ॥६४।२६॥	
१०९	प्रत्यासत्तिन्यायात् । ॥५६।२८॥	
११०	प्रत्यासत्तेः । ॥५६।७॥	
१११	प्रधानानुयायिनो व्ययद्वारा भवन्ति । ॥८९।१९॥	
११२	प्रधानाऽप्रधानसन्निधौ प्रधाने वार्य- सम्प्रत्ययः । ॥२०४।४१॥	
११३	प्रयुक्तानामन्वाख्यानात् । ॥८९।४२॥	
११४	प्रयुक्तानामिदमन्वाख्यानम् । ॥१०५।३४॥	
११५	प्रयुक्तानामेवाऽन्वाख्यानानात् । ॥९०।३१॥	
<b>व.</b>		
११६	वहिरङ्गाऽपि लुबन्तरङ्गान् विधीन् बाध्यते ॥११३।५॥	
<b>भ.</b>		
११७	भूतपूर्वगत्या । ॥४०।२६॥	
११८	भूयसि प्राग्वचनं कर्तव्यम् । ॥९७।४१॥	
११९	भावकर्मकर्तारो विकरणार्थाः । ॥१८१।४२॥	
<b>य.</b>		
१२०	यं विधिं प्रत्युपदेशोऽनर्थकः स विधि- र्वाच्यते । ॥१३६।२९॥	
१२१	यत्राऽन्यक्रियापदं न श्रूयते तत्राऽस्ति- र्भवन्तीपरः प्रयुज्यते । ॥१७७।६॥	
१२२	यथालक्षणमप्रयुक्ते । ॥९०।३०॥	
	" ॥१२५।३३॥	
	" ॥१४३।२६॥	
	" ॥१४५।४४॥	
१२३	यस्माद्यस्य विधानं तेन तस्याऽन्तत्त्व- व्याघातः । ॥१३३।३५॥	
१२४	यस्मिन् सति यद्भवति तत्तस्य निमित्तम् ॥३५।२५॥	
	" ॥३६।२७॥	
१२५	यस्मिन् प्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति । ॥२९।१६॥	
१२६	यस्य तु लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते न तदनित्यम् । ॥९१।४३॥	
१२७	यस्यैकत्वादयो विभक्त्यर्थाः । ॥१८२।३०॥	
१२८	येन घातुना युक्ताः प्रादयस्तं प्रत्युपसर्गसंज्ञाः । ॥२८।१४॥	
१२९	येन नाऽप्राप्तेः । ॥१३६।३॥	
	" ॥१८०।४६॥	
१३०	येन नाऽव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि । ॥१९०।२९॥	
१३१	येन नाऽव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि स्यात् । ॥४५।१८॥	
	" ॥१४०।१९॥	
<b>र.</b>		
१३२	रूपं रूपवदर्थोऽप्यङ्गीक्रियते । ॥१००।१६॥	

क्र०	गद्यपद्यन्या० ।	पृ० प०
	ल.	
१३३	लक्षणपरिभाषया ।	॥३९।२५॥
१३४	लक्षणप्रतिपदोक्त० ।	॥३४।२६॥
"	"	॥१२।२९॥
१३५	लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया ।	॥३६।४५॥
"	"	॥१३।३५॥
१३६	लक्षणप्रतिपदोक्तयोः० ।	॥१०।३१०॥
१३७	लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ।	॥४४।४३॥
"	"	॥७३।३४॥
१३८	लक्षणान्तरप्रवृत्तिनिमित्तमुपसंहरलक्षणं बलवद्भवति ।	॥९२।४६॥
१३९	लक्ष्यसिद्ध्यर्थं चेह कचित्किञ्चिद्दर्शन-माश्रीयते ।	॥८४।४०॥
१४०	लोपात् खरादेशः ।	॥११३।१९॥
	व.	
१४१	वचनप्रामाण्यादनर्थकस्यापि ग्रहणं भवति ।	॥८४।३७॥
१४२	यत्पदघटितमतिदेशशालम् ।	॥२३।४१॥
१४३	वर्णग्रहणे जातिग्रहणम् ।	॥६।२९॥
"	"	॥२६।२१॥
"	"	॥५४।१२॥
१४४	वाक्येषु वाक्यैकदेशा वर्तन्ते पदेषु च पदैकदेशाः ।	॥१९४।२९॥
१४५	वार्णात् प्राकृतं बलीयः ।	॥१२५।३७॥
"	"	॥१५४।३२॥
१४६	वार्णो विधिः ।	॥५५।४१॥
१४७	विशेषेण सामान्यं बाध्यते न सामान्येन विशेषः ।	॥५६।४१॥
१४८	व्यपदेशिवद्भावोऽनाम्ना ।	॥९५।१२॥
१४९	व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम् ।	॥९७।४१॥
	श.	
१५०	शब्दार्थानुकरणे हि प्रकृतिवदनुकरणम् ।	॥५६।३५॥
१५१	श्रुतानुमितयोश्च श्रौतो विधिर्वलीयान् ।	॥८५।३७॥
	स.	
१५२	सकृद्भूति० ।	॥९६।१५॥
१५३	सकृद्भूते० ।	॥१११।२१॥
१५४	सकृद्भूते स्पर्धे यद्वाधितं तद्वाधितमेव ।	॥१११।५॥
१५५	सकृद्भूतौ विप्रतिपेधे यद्वाधितं तद्वाधि० ।	॥९५।३८॥
१५६	संख्याकर्मादयो विभक्तिवाच्याः स्त्रियां वाऽभिधेयाया स्त्रीप्रत्ययः ।	॥१७७।४१॥
१५७	संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः ।	॥४७।४५॥
१५८	संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम् ।	॥११।३७॥
१५९	सन्निपात० ।	॥९३।१९॥
"	"	॥९३।२२॥
१६०	सन्निपातलक्षण० ।	॥६५।१२॥
"	"	॥७४।१॥
१६१	सन्निपातलक्षणत्वात् ।	॥९१।१॥
१६२	सन्निपातलक्षणन्यायस्याऽनित्यत्वज्ञापनार्थम् ।	॥६४।९॥

क्र०	गद्यपद्यन्या० ।	पृ० प०
१६३	सन्निपातलक्षणन्यायस्याऽनित्यत्वात् ।	॥९५।१६॥
१६४	सन्निपातलक्षणविधिरनिमित्तम् ।	॥९२।२०॥
१६५	सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विधातस्य ।	॥६४।२०॥
"	"	॥६४।४४॥
"	"	॥४६।३८॥
१६६	सन्निपातपरिभाषया ।	॥९७।१८॥
१६७	सन्नियोगशिष्टानामेकापायेऽन्यतरस्या-ऽप्यपायः ।	॥८९।३०॥
१६८	सन्निहितपरित्यागे व्यवहितपरिग्रहे कारणाभावादनन्तर एव गृह्यते ।	॥१५०।४४॥
१६९	समासकृच्चद्विदेषु सम्बन्धाभिधानम् ।	॥२०३।२४॥
१७०	समासान्तविधेरनित्यत्वात् ।	॥१०४।७॥
१७१	सम्भवति सामानाधिकरण्ये वैयधि-करण्यमन्याय्यम् ।	॥१२।३८॥
१७२	सम्भवे व्यभिचारे च विशेषणमर्थवद्भवति ।	॥४४।२४॥
१७३	सर्वत्र बहुवचनमधिकार्यम् ।	॥१७९।१६॥
१७४	सर्वविधिभ्यो लोपविधिर्वलवान् ।	॥९२।४९॥
१७५	सविशेषणौ हि विधिनिपेधौ विशेषणेन सम्बध्यते ।	॥२२।३८॥
१७६	सहचरिताऽसहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम् ।	॥२२।२५॥
१७७	साधुशब्दा एवाऽर्थवन्तः ।	॥१६।२७॥
१७८	सामान्याभिधानेऽपि तदन्यद्विशेष्यमेव विज्ञायते, विशेष्यादन्यत्र लिङ्गामावात् ।	॥९४।१७॥
१७९	साम्प्रतिकाभावे भूतपूर्वगतिः ।	॥६४।३६॥
१८०	सिद्धे सत्यारम्भ० ।	॥१६३।३४॥
१८१	सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः ।	॥४५।१९॥
"	"	॥६५।२८॥
१८२	सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय ।	॥५९।४७॥
"	"	॥१०३।२९॥
१८३	सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय भवति ।	॥१२।२०॥
१८४	सोपपदाद्विच्च नेष्यते ।	॥१३।४१॥
१८५	स्थान्यासन्नः ।	॥२९।२६॥
१८६	स्पर्धे परम् ।	॥१३१।१५॥
"	"	॥१५७।३५॥
१८७	स्वरस्य ह्रस्वदीर्घभुताः ।	॥६४।२३॥
"	"	॥१०२।१३॥
"	"	॥१०२।३४॥
"	"	॥१५१।३॥
१८८	स्वरस्य ह्रस्वदीर्घभुता इति परिभाषानुप-स्थानात् ।	॥६४।२३॥
१८९	स्वं रूपं० ।	॥७०।६॥
१९०	स्वाङ्गमव्यवधायकम् ।	॥४३।४४॥
१९१	स्वार्थिकप्रत्यया नाऽतिवर्तन्ते प्रकृति-लिङ्गवचनानि ।	॥१८८।३६॥
१९२	स्वार्थिकाश्च प्रत्ययाः प्रकृतितोऽविशिष्टा भवन्ति ।	॥६७।१३॥

ह

१९३ ह्रस्वदीर्घभुताः स्वराणां स्थाने भवन्ति । ॥१०२।३८॥

अस्मिन्नेव शब्दानुशासने संज्ञा-सन्धि-नाम-कारकसनायीकृते प्रथमविभागे सूत्रस्थपदानां बहुवचनं किमर्थम्? तथैवेत्संज्ञिकाऽकाराऽऽकारककारतकारदकारपकारडकारायक्षराणां निवे-  
शनं च किमर्थम्? इत्यादि शङ्कानिरासनार्थमकारायनुक्रमेण समाधानानि फलप्रदर्शनानि च ।

क्र०	समा० पल०	पृ० प०	क्र०	समा० पल०	पृ० प०
अ.			ऐ.		
१ अकार उच्चारणार्थः ।		॥८२।११॥	२३ (सन्ध्यक्षरैरिति) ऐत्वनिर्देशादुपसर्ग- स्येति निवृत्तम् ।		॥२९।८॥
"		॥८२।४२॥	२४ (एसादेशेनैव सिद्धे) ऐस्करणं सन्निपात- लक्षणन्यायस्याऽनित्यत्वज्ञापनार्थम् ।		॥६३।८॥
"		॥९२।६॥	ओ.		
"		॥११४।१६॥	२५ ओकारापवादो योगः ।		॥२९।११॥
"		॥११४।१९॥	क		
२ अकारककारपकार उच्चारणार्थः ।		॥८२॥	२६ (कसो.) ककारो 'वसे' निवासे, 'वसिक्' आच्छादने, अनयोर्व्युदासार्थः ।		॥१३६।२१॥
३ अकारादिकरणं-आत्वयाधनार्थम् ।		॥११५।६॥	२७ कश्चिदित्येकवचननिर्देशोऽवधार्य इति ।		॥७८।१८॥
४ अकारौ-उच्चारणार्थौ ।		॥६।१२॥	च		
५ अन्तग्रहणं-पूर्वसूत्रे तदन्तप्रतिषेधार्थम् ।		॥११।११॥	२८ चकार उत्तरत्र विकल्पानुवृत्त्यर्थः ।		॥८०।३॥
६ अमेदनिर्देशश्चतुर्थ्येकवचनशङ्कानिरासार्थः ।		॥७७।१०॥	२९ चकारेण भ्यसोऽनुकर्षणेऽपि डसेर्भ्य- सश्चैकवचनान्तनिर्देशेन द्विवचना- न्तनिर्दिष्टाभ्या युष्मदसद्भ्यां सह वैषम्याद्यथासंख्याभाव इत्याह-		॥११५।३०॥
७ अमेदनिर्देशः सर्वादेशार्थः ।		॥१२३।७॥	३० लिङ्करणं स्वरूपपरिग्रहार्थम् ।		॥३७।९॥
८ अर्थग्रहणं पर्यायार्थम् ।		॥२१४।१६॥	ङ.		
९ असर्वाद्यर्थमिदम् ।		॥२१५।१०॥	३१ ङकारो ङित्कार्यार्थः ।		॥७४।४५॥
आ.			३२ ङकारो 'ङित्यन्त्यस्वरादे.' इति विशेषणम् ।		॥८३।३९॥
१० (आकमिति) आकारोऽप्यन्तार्थम् ।		॥११५।१५॥	"		॥१०२।२९॥
११ आदिपदात्-नामधातुतद्धितवृत्तिग्रहणम् ।		॥१३।१८॥	३३ ङकारोऽन्त्यस्वरादिलोपार्थः ।		॥७७।१०॥
१२ (अत्र) आदिशब्दात् स्थान्यादेशप्रकृतिवि- कृतिनिमित्तनिमित्तिभावादिपरिग्रहः ।		॥३।४०॥	३४ ङित्करणमन्त्यस्वरादिलोपार्थम् ।		॥१२५।८॥
१३ आदिशब्दादर्थप्रकरणशब्दान्तरसन्निध्या- दिपरिग्रहः ।		॥२०७।२४॥	त.		
१४ आदिशब्दादिवर्णवर्णादिपरिग्रहः ।		॥४।४९॥	३५ तकारः स्वरूपग्रहणार्थः ।		॥८२।४१॥
१५ (अत्र) आदिशब्देन-सदसदात्मकत्वाभि- लाष्यान्भिलाष्यत्वसामान्यविशेषात्म- कत्वगुणपर्यायाणां ग्रहणम् ।		॥३।३१॥	३६ तृतीयाऽपवादः ।		॥२०५।२॥
१६ आघारवाधनार्थं तु वचनम् ।		॥१६८।१२॥	३७ तृतीयाऽपवादो योगः ।		॥२०२।७॥
इ.			"		॥२११।१४॥
१७ इकार उच्चारणार्थः ।		॥८०।१७॥	३८ तकार उच्चारणार्थः ।		॥५।६॥
उ.			"		॥२५।१४॥
१८ (अपादानत्वेनैव सिद्धे) उपयोग एव यथा स्यादित्येवमर्थं वचनम् ।		॥१९८।८॥	"		॥१२२।३८॥
ए.			३९ तकार-श्रुतिसुखार्थः ।		॥९१।४२॥
१९ एकद्विवहागिति संख्यामात्रमुपादाय नाम्नः प्रधानादप्रधानाच्च सामान्येन प्रथमा विधीयते, तत्राऽयं पृष्टीविधि- गौणादिति विशेषमुपादाय प्रवर्तमान- स्तदपवादो भवति ।		॥२०३।३७॥	४० तृज्वचनं तृस्वत्तादिसूत्रेणाऽऽर्यम् ।		॥१०५।४॥
२० एवकारस्तु-'अन्यस्त्वप्रधानेऽपीच्छति' मतान्तरव्यवच्छेदार्थः ।		॥१६०।२९॥	द		
२१ एवकारादतिजर इत्यस्य व्यवच्छेदः ।		॥९३।१९॥	४१ दकारो 'ङित्यदिति' ॥१।४।२३॥ इति विशेषः ।		॥७९।१॥
२२ एवकारात् प्रियतिसृ इत्यस्य व्यवच्छेदः ।		॥९३।३५॥	४२ द्वितीयाऽपवादः ।		॥२०४।२॥
			४३ द्वितीयाऽपवादो योगः ।		॥१८५।१३॥
			४४ द्विवचनमन्यत्राऽनुनासिकस्याऽपि स्थानेऽननुनासिकार्थम् ।		॥६३।८॥

क्र०	समा० फल०	पृ० प०
	प.	
४५	पञ्चमीवाधनार्थं वचनम् ।	॥२१३।४॥
४६	पञ्चम्यपवादो योगः ।	॥२०३।११॥
४७	पृथग्योग उत्तरार्थः ।	॥१२९।२॥
४८	(स्वैरशब्दान्मत्वर्थयिनैव इना सिद्धे) पृथक् स्वैरिन्ग्रहणं ताच्छीलिकादि- णिन्नन्तेऽपीरिन्ग्रहणे ऐत्वार्थम् ।	॥३०।४॥
	ब.	
४९	बहुवचनात्-अन्येनाऽपि शुकाद् भवति ।	॥१७९।१॥
५०	बहुवचनं-असन्नेहार्थम् ।	॥१९७।२१॥
५१	बहुवचनं-आकृतिगणार्थम् ।	॥१८।४६॥
	"	॥२०।७॥
	"	॥६०।१४॥
	"	॥१४९।११॥
	"	॥१९५।१३॥
५२	( भुटामिति ) बहुवचनं जातिपरिग्रहार्थम् ।	॥२७।१॥
५३	बहुवचनं-हुतसंग्रहार्थम् ।	॥६।४॥
५४	बहुवचनं (पुरुद्विवहाविति) यथासंख्य- निवृत्त्यर्थम् ।	॥१७९।६॥
	"	॥१८९।८॥
५५	बहुवचनं(तु)एकद्विवहाविति यथासंख्या- भावार्थम् ।	॥१९१।६॥
५६	(अत्राऽपि) बहुवचनं-यथासंख्या- भावार्थम् ।	॥१८०।३॥
	"	॥१९१।६॥
५७	बहुवचनं-लाघवार्थम् ।	॥२००।३०॥
५८	(स्त्रामिति) बहुवचनं वर्णान्तरवाधनार्थम् ।	॥५४।१॥
५९	बहुवचनं-वर्णेष्वपठितयोरपि क्लृप्तायोर्वर्ण- त्वार्थम् ।	॥८।३॥
६०	बहुवचनं वर्णेष्वपठितानां दीर्घपाठोपल- क्षितानां हुतानां संग्रहार्थम् ।	॥५।७॥

क्र०	समा० फल०	पृ० प०
६१	बहुवचनं व्याख्यार्थम् ।	॥२५।६॥
	"	॥५०।१०॥
	"	॥८२।५॥
६२	बहुवचनस्य व्याख्यार्थत्वाद् भुटपर इति निवृत्तिः ।	॥४३।४॥
६३	बहुवचनं समस्तव्यस्तविपर्यस्तसंग्रहार्थम् ।	॥१६६।१३॥
६४	बहुवचनं-सर्ववर्णानामाद्यद्वितीयपरिग्रहार्थम् ।	॥७।१२॥
६५	बहुवचनं-सानुनासिकादिभेदपरिग्रहार्थम् ।	॥७।१७॥
६६	बहुवचनं-स्याद्यादेशानामपि प्रथमादि- संज्ञाप्रतिपत्त्यर्थम् ।	॥११।४॥
	ख.	
६७	योगविभाग उत्तरार्थः ।	॥१२२।११॥
	ब.	
६८	वचनभेदो यथासंख्यनिवृत्त्यर्थः ।	॥८२।१२॥
	"	॥१६७।३॥
६९	वचनसाम्यं यथासंख्यार्थम् ।	॥१९१।६॥
७०	(नवाधिकारे) वाग्रहणमुत्तरत्र विकल्प- निवृत्त्यर्थम् ।	॥४१।१०॥
७१	(तुम इति) व्यस्तनिर्देश उत्तरार्थः ।	॥१९४।४॥
	श.	
७२	शकारः 'शौ वा' धा२।९५। इत्यादौ विशेषः ।	॥९१।७॥
	ष.	
७३	षष्ठीवाधनार्थो योगः ।	॥२१०।१६॥
७४	षष्ठ्यपवादो योगः ।	॥१९३।७॥
	स.	
७५	(बहुगणौ न नियतावधिभेदामिधायका- विति) संख्याप्रसिद्धेरभावाद् वचनम् ।	॥२४।३॥
७६	(इह च) स्तोकादीनामसत्त्ववाचित्वाद्वित्व- बहुत्वासम्भवे एकवचनमेव ।	॥२०१।१६॥
७७	सप्तम्यर्थं वचनम् ।	॥२०९।३॥
७८	(रस्याऽधिकारेणैव सिद्धे) सविधानं रुत्ववाधनार्थम् ।	॥४३।८॥



असिन्नेव शब्दानुशासने संज्ञा-सन्धि-नाम-कारक-सनाथीकृते प्रथमविभागे साधनिकाव्यवसरे सूत्रवृत्तिस्थशब्दप्रयोगाणां सिद्ध्यर्थं गृहीतान्यकाराद्यनुक्रमेण धातूनामेकोत्तराणि त्रीणि शतानि ।

क्र०	धातव ।	पृ० प०	क्र०	धातव ।	पृ० प०
	अ.				
१	अक्-कुटिलाया गतौ ।	॥८६३४॥	२५	इङ्क्-अव्ययने ।	॥१२७३७॥
२	अक्षौ-व्याप्तौ च ।	॥१४४३३॥		"	॥१५४३५॥
३	अगु-गतौ ।	॥१०४३१॥		"	॥२०६४३॥
४	अघण्-पापकरणे ।	॥४७३३॥	२६	इण्क्-गतौ ।	॥७०३३॥
५	अञ्-गतौ च ।	॥१३७१७॥		"	॥७०४३॥
६	अट्टि-हिंसायाम् ।	॥६२१४॥		"	॥१२८१२०॥
७	अत-सातत्यगमने ।	॥६४१६॥		"	॥१९६१८॥
८	अदक्-भक्षणे ।	॥७०४२॥	२७	इदु-परमैश्वर्ये ।	॥१४९११७॥
	"	॥१५३३०॥	२८	इलण्-प्रेरणे ।	॥३१२६॥
	"	॥१५४३३॥	२९	इपत्-इच्छायाम् ।	॥१४३३६॥
९	अद्-हिंसातिक्रमयोः ।	॥१४४८॥		इ.	
१०	अद्-अभियोगे ।	॥६२१४॥	३०	ईडिक्-स्तुतौ ।	॥६२१६॥
	"	॥१४४८॥	३१	ईर्ष्य-ईर्ष्यार्थे ।	॥१७१४४॥
११	अनक्-प्राणने ।	॥७०३२॥	३२	ईर्ष्य-ईर्ष्यार्थे ।	॥१७१४४॥
	"	॥७०४०॥	३३	ईशिक्-प्रेश्वर्ये ।	॥१६५२१॥
१२	अम-गतौ ।	॥८६३३॥		"	॥२०८४१॥
१३	अमण्-रोगे ।	॥१६५४४॥	३४	ईपत्-इच्छायाम् ।	॥५०३४॥
१४	अयि-गतौ ।	॥७१३३॥		उ.	
	"	॥१४०४०॥	३५	उच्छैत्-विवासे ।	॥१४३१७॥
१५	अर्थणि-उपयाचने ।	॥१५९१८॥		"	॥१४३३४॥
	"	॥१९२२४॥	३६	उन्दैप्-हृदने ।	॥१४९३८॥
१६	अली-भूषणादौ ।	॥८६३५॥	३७	उम्मत्-पूरणे ।	॥७०३१॥
१७	अव-रक्षणादौ ।	॥७०३७॥		"	॥७०४४॥
१८	अशश्-भोजने ।	॥६२३६॥	३८	उर्दि-मानकीडयोश्च ।	॥१३३२०॥
	"	॥१६२२६॥		ऊ.	
१९	अशोदि-व्याप्तौ ।	॥६२३६॥	३९	ऊर्जण-वलप्राणनयोः ।	॥१४५३७॥
	"	॥१५३१४॥	४०	ऊर्ण्यक्-आच्छादने ।	॥५११९॥
२०	असृज्-क्षेपणे ।	॥७०४६॥		ऊ.	
	"	॥८४२२॥	४१	ऊक्-गतौ ।	॥९९४०॥
२१	अडुङ्-गतौ ।	॥१४७३३॥		"	॥१४८३९॥
	"	॥१५३२०॥	४२	ऊधुद्-घृद्धौ ।	॥२८३७॥
	आ.		४३	ऊषैत्-गतौ ।	॥१४७३४॥
२२	आप्लुद्-व्याप्तौ ।	॥१२८३९॥		ए.	
२३	आसिक्-उपवेशने ।	॥१४०३१॥	४४	एजृह्-दीप्तौ ।	॥१४३८॥
	"	॥१५३३०॥		ओ.	
	"	॥१६८३०॥	४५	ओलस्रैति-व्रीडायाम् ।	॥१३२२७॥
	"	॥२०५२०॥		"	॥१४४१७॥
२४	इक्-स्मरणे ।	॥१२७४०॥	४६	ओवश्चैत्-हृदने ।	॥६२२८॥
	"	॥१६५२०॥		"	॥१४३२०॥



क्र०	समा० फल०	पृ० प०	क्र०	समा० फल०	पृ० प०
	प.				
४५ पञ्चमीवाधनार्थं वचनम् ।		॥२१३॥४॥	६१ बहुवचनं व्याख्यर्थम् ।		॥२५१॥४॥
४६ पञ्चम्यपवादो योगः ।		॥२०३॥११॥	”		॥५०१॥०॥
४७ पृथग्योग उत्तरार्थः ।		॥१२९॥२॥	”		॥८२॥५॥
४८ (स्वैरशब्दान्मतवर्थायेनैव इना सिद्धे) पृथक् स्वैरिन्ग्रहणं ताच्छीलिकादि- णिन्नन्तेऽपीरिन्ग्रहणे गेत्वार्थम् ।		॥३०॥४॥	६२ बहुवचनस्य व्याख्यर्थत्वाद्भुत्पर इति निवृत्तं ॥४३॥४॥		
	च		६३ बहुवचनं समस्तव्यस्तविपर्यस्तसंग्रहार्थम् ॥१६६॥१३॥		
४९ बहुवचनात्-अन्येनाऽपि युक्ताद् भवति ।		॥१७९॥१॥	६४ बहुवचनं-सर्ववर्णाणामाद्यद्वितीयपरिग्रहार्थम् ॥७१॥२॥		
५० बहुवचनं-असन्देहार्थम् ।		॥१९७॥२१॥	६५ बहुवचनं-सानुनासिकादिभेदपरिग्रहार्थम् । ॥७१॥७॥		
५१ बहुवचनं-आकृतिगणार्थम् ।		॥१८१॥४६॥	६६ बहुवचनं-स्याद्यादेशानामपि प्रथमादि- सप्ताप्रतिपत्त्यर्थम् ।		॥११॥४॥
”		॥२०॥७॥		य.	
”		॥६०॥१४॥	६७ योगविभाग उत्तरार्थः ।		॥१२२॥११॥
”		॥१४९॥११॥		च.	
”		॥१९५॥१३॥	६८ वचनभेदो यथासंख्यनिवृत्त्यर्थः ।		॥८२॥१२॥
५२ ( भुटामिति ) बहुवचनं जातिपरिग्रहार्थम् ॥९७॥१॥		॥१९५॥१३॥	६९ वचनसाम्यं यथासंख्यार्थम् ।		॥१६७॥३॥
५३ बहुवचनं-हृतसंग्रहार्थम् ।		॥६१॥४॥	७० (नवाधिकारे) वाग्रहणमुत्तरत्र विकल्प- निवृत्त्यर्थम् ।		॥४१॥१०॥
५४ बहुवचनं (पुरुद्विवहाविति) यथासंख्य- निवृत्त्यर्थम् ।		॥१७९॥६॥	७१ (तुम इति) व्यस्तनिर्देश उत्तरार्थः ।		॥१९५॥४॥
”		॥१८९॥८॥		श.	
५५ बहुवचनं (तु) एकद्विवहाविति यथासंख्या- भावार्थम् ।		॥१९९॥१६॥	७२ शकारः ‘शौ वा’ धारा १५ इत्यादौ विशेषणं ॥९१॥७॥		
५६ (अत्राऽपि) बहुवचनं-यथासंख्या- भावार्थम् ।		॥१८०॥३॥		ष.	
”		॥१९९॥१६॥	७३ पृष्ठीवाधनार्थो योगः ।		॥२१०॥१६॥
५७ बहुवचनं-लाघवार्थम् ।		॥२००॥३०॥	७४ पष्ठपवादो योगः ।		॥१९३॥७॥
५८ (ज्ञामिति) बहुवचनं वर्णान्तरवाधनार्थम् ॥ ५४१॥ ॥		॥१९९॥१६॥		स	
५९ बहुवचनं-वर्णेष्वपठितयोरपि म्लक्ष्ययोर्वर्ण- त्वार्थम् ।		॥८१॥३॥	७५ (बहुगणौ न नियतावधिभेदाभिधायका- विति) संख्याप्रसिद्धेरभावाद्भवन् ॥		॥२४॥३॥
६० बहुवचनं वर्णेष्वपठितानां दीर्घपाठोपल- क्षितानां ह्रतानां संग्रहार्थम् ।		॥५१॥७॥	७६ (इह च) स्तोकादीनामसत्त्ववाचित्वाद्वित्व बहुत्वासम्भवे एकवचनमेव ।		॥२०१॥१६॥
			७७ सप्तम्यर्थं वचनम् ।		॥२०९॥३॥
			७८ (रस्याऽधिकारेणैव सिद्धे) सविधानं रत्नवाचनार्थम् ।		॥४३॥८॥



अस्मिन्नेव शब्दानुशासने संज्ञा-सन्धि-नाम-कारक-सनाथीकृते प्रथमविभागे साधनिकाद्यवसरे सूत्रवृत्तिस्थशब्दप्रयोगाणां सिद्ध्यर्थं गृहीतान्यकाराद्यनुक्रमेण धातूनामेकोत्तराणि त्रीणि शतानि ।

क्र०	धातव ।	पृ० प०	क्र०	धातव ।	पृ० प०
	अ.				
१	अक्-कुटिलायां गतौ ।	॥८६।३४॥	२५	इङ्क्-अध्ययने ।	॥१२७।३७॥
२	अक्षौ-व्याप्तौ च ।	॥१४४।२३॥		"	॥१५४।२५॥
३	अगु-गतौ ।	॥१०४।३१॥		"	॥२०६।४१॥
४	अघण्-पापकरणे ।	॥४७।३१॥	२६	इण्क्-गतौ ।	॥७०।३३॥
५	अञ्-गतौ च ।	॥१३७।१७॥		"	॥७०।४३॥
६	अटि-हिसायाम् ।	॥६२।१४॥		"	॥१२८।२०॥
७	अत-सातत्यगमने ।	॥६४।१६॥		"	॥१९६।१८॥
८	अदक्-भक्षणे ।	॥७०।४२॥	२७	इदु-परमैश्वर्ये ।	॥१४९।१७॥
	"	॥१५३।३०॥	२८	इलण्-प्रेरणे ।	॥३१।२६॥
	"	॥१५४।२३॥	२९	इपत्-इच्छायाम् ।	॥१४२।३६॥
९	अद्-हिंसातिक्रमयोः ।	॥१४४।८॥		ई.	
१०	अद्-अभियोगे ।	॥६२।१४॥	३०	ईडिक्-स्तुतौ ।	॥६२।१६॥
	"	॥१४४।८॥	३१	ईर्ष्य-ईर्ष्यार्थे ।	॥१७१।४४॥
११	अनक्-प्राणने ।	॥७०।३२॥	३२	ईर्ष्य-ईर्ष्यार्थे ।	॥१७१।४४॥
	"	॥७०।४०॥	३३	ईशिक्-ऐश्वर्ये ।	॥१६५।२१॥
१२	अम-गतौ ।	॥८६।३३॥		"	॥२०८।४१॥
१३	अमण्-रोगे ।	॥१६५।४४॥	३४	ईपत्-इच्छायाम् ।	॥५०।३४॥
१४	अयि-गतौ ।	॥७१।३४॥		उ.	
	"	॥१४०।४०॥	३५	उच्छैत्-विवासे ।	॥१४३।१७॥
१५	अर्थणि-उपयाचने ।	॥१५९।१८॥		"	॥१४३।३४॥
	"	॥१९२।२४॥	३६	उन्दैप्-क्लेदने ।	॥१४९।३८॥
१६	अली-भूषणादौ ।	॥८६।३५॥	३७	उम्भत्-पूरणे ।	॥७०।३१॥
१७	अव-रक्षणादौ ।	॥७०।३७॥		"	॥७०।४४॥
१८	अशङ्-भोजने ।	॥६२।३६॥	३८	उर्दि-मानकीढयोश्च ।	॥१३३।२०॥
	"	॥१६२।२६॥		ऊ.	
१९	अशौटि-व्याप्तौ ।	॥६२।३६॥	३९	ऊर्जण्-बलप्राणनयोः ।	॥१४५।३७॥
	"	॥१५३।१४॥	४०	ऊर्णुगक्-आच्छादने ।	॥५१।१९॥
२०	असृक्-क्षेपणे ।	॥७०।४६॥		ऊ.	
	"	॥८४।२२॥	४१	ऊक्-गतौ ।	॥९९।४०॥
२१	अहुङ्-गतौ ।	॥१४७।३३॥		"	॥१४८।३९॥
	"	॥१५३।२०॥	४२	ऊधुद्-वृद्धौ ।	॥२८।३७॥
	आ.		४३	ऊधैत्-गतौ ।	॥१४७।३४॥
२२	आप्लुद्-व्याप्तौ ।	॥१२८।३९॥		ए.	
२३	आसिक्-उपवेशने ।	॥१४०।३१॥	४४	एजृह्-दीप्तौ ।	॥१४३।८॥
	"	॥१५३।३०॥		ओ.	
	"	॥१६८।३०॥	४५	ओलस्त्रैति-वीडायाम् ।	॥१३२।२७॥
	"	॥२०५।२०॥	४६	ओमञ्चैत्-छेदने ।	॥१४४।१७॥
२४	इक्-स्मरणे ।	॥१२७।४०॥		"	॥६२।२८॥
	"	॥१६५।२०॥		"	॥१४३।२०॥

क्र०	धातवः । क.	पृ० प०	क्र०	धातवः । च.	पृ० प०
४७	कटु-गतौ ।	॥१५९॥१३॥	८१	चक्षिक्-व्यक्तायां चाचि ।	॥२३॥२७॥
४८	कटुङ्-शोके ।	॥१६५॥२१॥	"	"	॥५९॥४५॥
४९	कपुङ्-चलने ।	॥१४७॥३३॥	"	"	॥१४४॥२४॥
५०	कील-चन्वे ।	॥७४॥३८॥	८२	चिगद्-चयने ।	॥२३॥१८॥
५१	कुङ्क-शब्दे ।	॥१८७॥४३॥	"	"	॥१५९॥२०॥
५२	कुङ्-शब्दे ।	॥७०॥४७॥	८३	चुदण्-संचोदने ।	॥१५९॥१९॥
५३	कुरत्-शब्दे ।	॥१३४॥४४॥	८४	चुरण्-स्तेये ।	॥१५४॥३८॥
"	"	॥१३५॥१॥	"	"	॥१६५॥४०॥
५४	कुर्दि-क्रीडायाम् ।	॥१३३॥२०॥	"	"	॥१७३॥१६॥
५५	कुशच्-श्लेषणे ।	॥१९६॥२०॥			
५६	कुङ्गद्-हिंसायाम् ।	॥१६३॥४५॥			
५७	कूपीङ्-सामर्थ्ये ।	॥१९१॥४३॥	८५	छदण्-अपवारणे ।	॥६१॥२७॥
५८	कृपं-विलेखने ।	॥१५९॥२५॥	८६	छदण्-संवरणे ।	॥६१॥२६॥
५९	कृपीत्-विलेखने ।	॥५४॥१६॥	८७	छुपंत्-स्पर्शे ।	॥५०॥३७॥
६०	कृत्-विक्षेपे ।	॥१३३॥३२॥	८८	छुरत्-छेदने ।	॥१३४॥४३॥
"	"	॥१३४॥२९॥	८९	छाच्-छेदने ।	॥५०॥३५॥
"	"	॥१६३॥४५॥			
६१	कम्-पादविक्षेपे ।	॥४४॥३१॥	९०	जनैचि-प्रादुर्भावे ।	॥१९१॥४४॥
"	"	॥५४॥१८॥	९१	जमुङ्-गात्रविनाशे ।	॥१३९॥१९॥
६२	कुञ्ज-गतौ ।	॥१३७॥१९॥	९२	जसण्-ताडने ।	॥१६६॥५॥
६३	कुर्धच्-कोपे ।	॥१३९॥१८॥	९३	जसण्-हिंसायाम् ।	॥१६६॥५॥
"	"	॥१७१॥४३॥	९४	जसृच्-मोक्षणे ।	॥६४॥३१॥
६४	कुशं-आह्वानरोदनयोः ।	॥१०५॥१७॥	"	"	॥१६६॥६॥
६५	कृमृच्-ग्लानौ ।	॥१३५॥२९॥	"	"	॥१६६॥२३॥
६६	क्षद-खदने ।	॥८४॥२५॥	९५	जि-अभिभवे ।	॥४८॥१९॥
६७	क्षर-संचलने ।	॥१५९॥१७॥	९६	जि-जये ।	॥१५९॥२४॥
६८	क्षित्-निवासगत्योः ।	॥१९६॥१९॥	"	"	॥२०६॥३१॥
६९	क्षिपीत्-प्रेरणे ।	॥२०६॥३२॥	९७	जीव-प्राणधारणे ।	॥१३६॥४०॥
७०	क्षै-क्षये ।	॥१३२॥१४॥	९८	जुपैति-प्रीतिसेवनयोः ।	॥१३४॥१५॥
			९९	जृप्-वयोहानौ ।	॥१०८॥३६॥
			१००	ज्ञाश्-अवबोधने ।	॥१६२॥१९॥
७१	गम्लं-गतौ ।	॥५३॥४२॥	"	"	॥१८९॥३९॥
"	"	॥१३५॥३१॥			
"	"	॥१६१॥४३॥	१०१	ज्ञप्-हिंसायाम् ।	॥६१॥२८॥
"	"	॥१६२॥१९॥			
७२	गर्द्-शब्दे ।	॥१३८॥४६॥	१०२	जितृषच्-पिपासायाम् ।	॥१४२॥३५॥
७३	गुर्व-उद्यमे ।	॥१३३॥२०॥	१०३	जित्वरिष्-सम्भ्रमे ।	॥७०॥३४॥
७४	गुह्यम्-संवरणे ।	॥५५॥३०॥	"	"	॥१४०॥४०॥
"	"	॥१३२॥३८॥	१०४	जिघृषाद्-प्रागल्भ्ये ।	॥१३६॥३५॥
"	"	॥१३८॥३७॥	१०५	जिघ्वपंक-शये ।	॥१४२॥३५॥
७५	गृध्रच्-अभिकाङ्क्षायाम् ।	॥१४५॥३९॥			
७६	गृत्-निगरणे ।	॥१३४॥२७॥			
"	"	॥१३४॥२९॥	१०६	डुङ्-उपतापे ।	॥२३॥२०॥
"	"	॥१४७॥४४॥	१०७	डुभ्राजि-दीप्तौ ।	॥१४३॥२०॥
७७	गृश्-शब्दे ।	॥५९॥४०॥	१०८	डुभ्राजिग्-दीप्तौ ।	॥१४३॥१९॥
७८	ग्रहीश्-उपादाने ।	॥१४०॥३६॥	१०९	डुमस्जोत्-शुद्धौ ।	॥५८॥२७॥
"	"	॥१५९॥२५॥	"	"	॥६१॥३२॥
			"	"	॥१३२॥२८॥
			"	"	॥१४२॥३७॥
७९	घृ-सेचने ।	॥१०५॥३४॥	११०	डुवमू-उद्गिरणे ।	॥४४॥३७॥
८०	घ्रां-गन्धोपादाने ।	॥१६२॥२२॥	१११	दृषं-पाने ।	॥१३९॥३४॥
			"	"	॥२०६॥३३॥

## घातूनामनुक्रमणिका ।

परि०-११]

क्र०	घातवः ।	पृ० प०	क्र०	घातवः ।	पृ० प०
११२	ढीङ्क्-गतौ ।	॥६१।४५॥	१३३	त्वचत्-संवरणे ।	॥१४२।३३॥
११३	डुङ्ग-करणे ।	॥५४।१४॥	१३४	त्यजं-दानौ ।	॥७०।४१॥
"	"	॥८४।१८॥	१३५	त्विर्पी-दीप्तौ ।	॥१४२।३४॥
"	"	॥१४०।२५॥		द.	
"	"	॥१४०।३६॥	१३६	दंशं-दशने ।	॥५४।२९॥
"	"	॥१४५।३२॥	१३७	दक्षि-शैष्ये ।	॥७०।३८॥
"	"	॥१५९।२५॥	१३८	दण्डण-दण्डनिपातने ।	॥१५९।२४॥
"	"	॥२०६।३१॥	१३९	दधि-धारणे ।	॥१३३।३८॥
"	"	॥२०६।३७॥	१४०	दमूच्-उपशमे ।	॥६१।४१॥
"	"	॥२०६।४२॥	"	"	॥१३५।२९॥
११४	डुदांगक्-दाने ।	॥१९०।२३॥	"	"	॥१४९।३५॥
"	"	॥२०७।४२॥	१४१	दये-दानादौ ।	॥१६५।२१॥
११५	डुदांगक्-धारणे च ।	॥१३९।२८॥	१४२	दरिद्राक्-दुर्गतौ ।	॥२११।३९॥
"	"	॥१३९।३४॥	१४३	दल-विशरणे ।	॥१४८।४०॥
"	"	॥२०६।३४॥	१४४	दहं-भस्मीकरणे ।	॥१४१।२७॥
"	"	॥२०६।४२॥	"	"	॥१४१।२८॥
११६	दुपचीप्-पाके ।	॥१५३।२७॥	१४५	दाम्-दाने ।	॥१९०।२२॥
"	"	॥१५९।२६॥	१४६	दिवूच्-कीडादौ ।	॥१३३।२३॥
"	"	॥१६३।३६॥	"	"	॥१३४।२८॥
"	"	॥२०६।३५॥	"	"	॥१५४।३७॥
११७	डुयाचृङ्-याच्ञायाम् ।	॥६१।३०॥	१४७	दिशीत्-मतिसर्जने ।	॥१३६।३५॥
"	"	॥१५९।१८॥	१४८	दीङ्क्-क्षये ।	॥१४०।३९॥
११८	डुलमिष्-प्राप्तौ ।	॥१६२।१९॥	१४९	दुःखण-तत्क्रियायाम् ।	॥८३।२८॥
"	ढ.		"	"	॥१३८।२६॥
११९	ढौङ्क्-गतौ ।	॥५५।३१॥	१५०	डुहीक्-क्षरणे ।	॥५८।२८॥
"	ण.		"	"	॥१४१।२७॥
१२०	णट-नृत्तौ ।	॥१६६।७॥	"	"	॥१५९।१७॥
"	"	॥१६६।२४॥	"	"	॥२०४।१९॥
१२१	णमं-प्रहत्वे ।	॥८४।२३॥	"	"	॥२११।३०॥
"	"	॥१३५।३४॥	१५१	दृशं-प्रेक्षणे ।	॥५३।२०॥
१२२	णसि-कौटिल्ये ।	॥१४५।३६॥	"	"	॥१३२।३३॥
१२३	णहीन्-बन्धने ।	॥१३६।३६॥	"	"	॥१३६।३५॥
"	"	॥१४२।२२॥	"	"	॥१६२।२०॥
१२४	णीङ्-प्रापणे ।	॥८४।२४॥	"	"	॥१६४।२६॥
"	"	॥१४०।३६॥	"	"	॥१३०।२९॥
"	"	॥१५९।२५॥	१५२	दृङ्-वृद्धौ ।	॥१५४।४६॥
"	त.		१५३	दृङ्क्-अभिगमने ।	॥१४९।१७॥
१२५	तक्षौ-तनूकरणे ।	॥५।३८॥	१५४	दुं-गतौ ।	॥१४१।४५॥
"	"	॥१४४।२२॥	१५५	दुहौच्-जिघांसायाम् ।	॥१७१।४३॥
"	"	॥१५२।२५॥	१५६	दुहौच्-अनुजिघांसायाम् ।	॥२०४।३०॥
१२६	तनूयी-विस्तारे ।	॥७०।४१॥	१५७	द्विर्पीक्-अप्रीतौ ।	
"	"	॥१४२।३३॥	"	घ.	
"	"	॥१५४।२३॥	१५८	घंसङ्-गतौ च ।	॥२३५।४०॥
१२७	तन्निण-कुटुम्बधारणे ।	॥७९।४०॥	१५९	घारि-धारणेच्छायाम् ।	॥२०६।४१॥
१२८	तमूच्-काङ्क्षायाम् ।	॥१३५।२९॥	१६०	घुवै-हिंसायाम् ।	॥५९।४०॥
"	"	॥१४८।४१॥	१६१	घृङ्-धारणे ।	॥१५४।३८॥
१२९	तयि-रक्षणे च ।	॥७१।३४॥	१६२	घृङ्क्-अवस्थाने ।	॥१९२।१९॥
१३०	तिम-तीमच्-आर्द्राभावे ।	॥१२४।२७॥	१६३	घ्यै-चिन्तायाम् ।	॥१६२।२२॥
१३१	तुङ्क्-तोडने ।	॥१३८।४३॥	"	"	॥१६५।२१॥
१३२	तुर्वीक्-व्ययने ।	॥१५४।२०॥			

क्र०	धातवः ।	पृ० प०	क्र०	धातवः ।	पृ० प०
१६४	नटण-नवस्यन्दने ।	॥१६६॥	१९४	भटुह-सुसकल्याणयोः ।	॥१९५॥४३॥
१६५	नायुह-उपतापादौ ।	॥१६६॥४३॥	१९५	भस्-[सौत्रोऽयम्] ।	॥१५३॥१४॥
१६६	पट-गतौ ।	॥६२३॥१॥	१९६	भाक्-दीप्तौ ।	॥७०॥४५॥
१६७	पठ-व्यकायां वाचि ।	॥१५३॥२७॥	"	"	॥१४९॥२०॥
१६८	पणि-व्यवहारस्तुत्योः ।	॥१६७॥२१॥	"	"	॥१५४॥२३॥
१६९	पथे-गतौ ।	॥९९॥३९॥	१९७	भिक्षि-याच्यायाम् ।	॥१५९॥१८॥
१७०	पदिच्-गतौ ।	॥१४९॥३६॥	१९८	भुजप्-पालनाऽभ्यवहारयोः ।	॥१६२॥२५॥
१७१	"-पाने ।	॥१९१॥४४॥	"	"	॥२०६॥३५॥
"	"	॥२३३॥३०॥	"	"	॥२११॥३९॥
"	"	॥२०४॥१८॥	१९९	भू-सत्तायाम् ।	॥२३३॥२३॥
१७२	पित्-गतौ ।	॥२०६॥३४॥	"	"	॥१३५॥४२॥
१७३	पिप्लप्-संचूर्पने ।	॥१२२॥१०॥	"	"	॥१५४॥३८॥
"	"	॥५४॥३८॥	२००	भ्रमूच्-अनवस्थाने ।	॥७९॥४२॥
"	"	॥१३२॥३२॥	२०१	भ्रमू-चलने ।	॥५४॥१८॥
१७४	पिसण-हिंसायाम् ।	॥१६६॥२५॥	२०२	भ्रस्तीच्-पाके ।	॥५८॥२७॥
१७५	पीडण-गहने ।	॥१६६॥४५॥	२०३	भ्राजि-दीप्तौ ।	॥१४३॥२०॥
१७६	पूह-पचने ।	॥२०६॥३८॥	२०४	भ्रेजृह-दीप्तौ ।	॥१४३॥८॥
१७७	पूय-वृद्धौ ।	॥६१॥३९॥	"	"	
१७८	पृट्-प्रीतौ ।	॥७०॥३७॥	२०५	मदैच्-हर्षे ।	॥१९५॥४४॥
१७९	पृश्-पालनपूरणयोः ।	॥७०॥३६॥	२०६	मर्निच्-ज्ञाने ।	॥१४९॥१६॥
"	"	॥१३३॥१९॥	२०७	मनूयि-वोधने ।	॥१९५॥२८॥
"	"	॥१३४॥२९॥	२०८	मन्यश्-विलोडने ।	॥५३॥१८॥
"	"	॥१३५॥४०॥	"	"	॥९९॥३९॥
"	"	॥१५२॥४१॥	"	"	॥१५९॥२५॥
"	"	॥१४३॥३२॥	२०९	मन्न-गतौ ।	॥५७॥४०॥
१८०	प्रच्छंत्-श्रीप्सायाम् ।	॥१५९॥१९॥	२१०	महण-पूजायाम् ।	॥५५॥२८॥
१८१	प्लिहि-गतौ ।	॥२०३॥४५॥	"	"	॥८३॥३३॥
१८२	प्लाक्-भक्षणे ।	॥१५३॥२०॥	२११	माक्-माने ।	॥१४९॥२२॥
"	"	॥६५॥१६॥	२१२	माहृक्-मानशब्दयोः ।	॥१९८॥१४॥
"	"	॥१५४॥२३॥	२१३	मिहं-सेचने ।	॥५५॥३०॥
१८३	बन्धश्-बन्धने ।	॥१४९॥१६॥	२१४	मुच्छी-मोहसमुच्छ्राययोः ।	॥१३३॥१६॥
१८४	वर्हण-हिंसायाम् ।	॥१६६॥५॥	२१५	मुपश्-स्तेये ।	॥१५९॥२५॥
१८५	विट्-अवयवे ।	॥१४९॥१७॥	२१६	मुहैच्-वैचित्ये ।	॥१४१॥४५॥
१८६	वुधिच्-ज्ञाने ।	॥५८॥२३॥	२१७	मृगणि-अन्वेषणे ।	॥१५२॥१८॥
"	"	॥१३३॥३१॥	२१८	मृजौक्-शुद्धौ ।	॥१४५॥१८॥
"	"	॥१३८॥४६॥	"	"	॥१५९॥१४॥
"	"	॥१६२॥१८॥	२१९	मुवश्-क्षौदे ।	॥१२७॥४१॥
१८७	बुसुक्षि-भोक्तृमिच्छायाम् ।	॥२०६॥३२॥	२२०	स्ले-गात्रविनासे ।	
१८८	बुसच्-उत्सर्गे ।	॥१९५॥२६॥	"	"	
१८९	बुसपिसजसवर्हण-हिंसायाम् ।	॥१६६॥५॥	२२१	यर्जी-देवपूजासंगतिकरणदानेषु ।	॥२३॥१८॥
१९०	ब्रूक्-व्यकायां वाचि ।	॥१४२॥२२॥	"	"	॥७०॥४१॥
"	"	॥१५९॥२०॥	"	"	॥१३२॥३६॥
"	"	॥१५९॥२३॥	"	"	॥१३६॥३५॥
१९१	भक्षण-अदने ।	॥१५९॥१३॥	"	"	॥४४॥३७॥
१९२	भर्जी-सेवायाम् ।	॥१४२॥३४॥	२२२	यम्-उपरसे ।	॥१६१॥४३॥
१९३	भण-शब्दे ।	॥४४॥३६॥	२२३	याक्-प्रापणे ।	॥९८॥१९॥
"	"	॥६२॥३२॥	२२४	युजिच्-समाधौ ।	॥९८॥१९॥
"	"		२२५	युज्जीपी-योने ।	॥९८॥३१॥
"	"		"	"	॥१३६॥४५॥
"	"		"	"	॥२१२॥२३॥

## घातूनामनुक्रमणिका ।

परि० ११]

क्र०	घातवः ।	पृ० प०	क्र०	घातवः ।	पृ० प०
२२६	युधिच्-सम्प्रहारे ।	॥५८।२३॥	२५६	वीक्-प्रजनकान्त्यसनखादनेषु ।	॥१३५।१४॥
२२७	युधि-सेवायां ।	॥७०।४५॥	२५७	वृप्-सेचने ।	॥६१।४०॥
	र.		२५८	वैग्-तन्तुसन्ताने ।	॥३३।१८॥
२२८	रभुङ्-शन्दे ।	॥५४।१७॥	२५९	व्यधिश्-भयचलनयोः ।	॥१६५।४४॥
२२९	रमि-क्रीडायाम् ।	॥४४।४६॥	२६०	व्यघच्-ताडने ।	॥१३५।१६॥
२३०	राजृग्-दीप्तौ ।	॥४५।२४॥	२६१	व्येग्-संवरणे ।	॥१४३।२०॥
	"	॥१४३।९॥	२६२	व्रज-गतौ ।	॥२१।३३॥
	"	॥१४३।२०॥		"	
२३१	राघच्-वृद्धौ ।	॥१९२।३९॥		श.	
२३२	रि-गतौ ।	॥१२९।१०॥	२६३	शकुङ्-शङ्कायाम् ।	॥५३।४३॥
	"	॥१३५।१४॥		"	॥१४४।३१॥
२३३	रीश्-गतिरेपणयोः ।	॥१३५।१४॥	२६४	शर्पी-भाक्रोशे ।	॥१९३।३२॥
२३४	रुचि-अभिप्रीत्यां च ।	॥१९१।३०॥	२६५	शमूच्-उपशमे ।	॥४४।४६॥
२३५	रुजौत्-भङ्गे ।	॥१६५।३८॥		"	॥१३५।२९॥
२३६	रुधूपी-आवरणे ।	॥१५४।२३॥	२६६	शासृक्-अनुशिष्टौ ।	॥८४।२७॥
	"	॥१५९।१९॥		"	॥१३७।२२॥
	ल.			"	॥१५९।२०॥
२३७	लक्ष्मीन्-दर्शनाऽङ्कनयोः ।	॥७९।४१॥	२६७	(आङ्) शासृकि-इच्छायाम् ।	॥१३३।१४॥
	"	॥१७९।३५॥	२६८	शीङ्क्-स्वमे ।	॥१६८।२८॥
२३८	लघुङ्-गतौ ।	॥१५९।१२॥		"	॥१६९।३५॥
२३९	लिखत्-मक्षरविन्यासे ।	॥५८।३०॥		"	॥१७०।४२॥
२४०	लिशत्-गतौ ।	॥१४३।३०॥		"	॥२०५।२०॥
२४१	लिहीक्-आस्वादने ।	॥५५।२९॥	२६९	शिष्ल्प्-विशेषणे ।	॥५४।३८॥
	"	॥१३२।३६॥		"	॥१८४।२५॥
२४२	लृग्-छेदने ।	॥५५।३४॥	२७०	शुधुङ्-शब्दकुत्सायाम् ।	॥१४९।१४॥
	"	॥१४०।३६॥	२७१	श्रुत्-क्षरणे ।	॥४५।४५॥
	"	॥१४०।४०॥	२७२	धिग्-सेवायाम् ।	॥७९।४१॥
	व.			"	॥१२८।३३॥
२४३	वकुङ्-शङ्कायाम् ।	॥१४४।३२॥	२७३	श्रुं-श्रवणे ।	॥१६२।२२॥
२४४	वद्-व्यक्तायां वाचि ।	॥८४।२०॥		"	॥१९२।२६॥
	"	॥१६४।२७॥	२७४	श्लाघृङ्-कथने ।	॥१९३।३१॥
	"	॥२०६।३०॥		घ.	
२४५	वदिण्-भाषणे ।	॥१६४।३३॥	२७५	शुंगद्-अभिषवे ।	॥१५४।२३॥
२४६	वदुङ्-स्तुत्यभिवादनयोः ।	॥२०६।३३॥	२७६	षद्ल-विशरणादौ ।	॥१३५।४४॥
२४७	वध्र-गतौ ।	॥५७।४०॥	२७७	षस्-वैकुण्ठे ।	॥४३।३३॥
२४८	वलि-संवरणे ।	॥१४०।४०॥		"	॥७०।३५॥
२४९	वल्मि-भोजने ।	॥५८।३१॥	२७८	षिवृच्-ऊतौ ।	॥१३३।२३॥
२५०	वशक्-क्रान्ति ।	॥१०१।२१॥		"	॥१३४।२८॥
२५१	वसं-निवासे ।	॥१३६।२२॥		"	॥१५४।३७॥
	"	॥१४९।१८॥	२७९	पौच्-अन्तकर्मणि ।	॥१४४।३१॥
	"	॥१६८।३६॥	२८०	पिम-प्रीमच्-आर्द्रभावे ।	॥१२४।२७॥
२५२	वसिक्-आच्छादने ।	॥१३६।२२॥	२८१	पुंगक्-स्तुतौ ।	॥१४०।२५॥
	"	॥१४०।३०॥	२८२	प्रां-गतिनिवृत्तौ ।	॥१६८।२९॥
२५३	वही-प्रापणे ।	॥१३२।३८॥		"	॥१९३।३२॥
	"	॥१४१।१६॥	२८३	पिण्हाच्-प्रीतौ ।	॥१४६।३५॥
	"	॥१५९।२५॥		"	॥१४१।४५॥
	"	॥२०६।३९॥	२८४	प्युहौच्-उद्गिरणे ।	॥१४१।४५॥
	"	॥७०।३१॥		स.	
२५४	विशत्-प्रवेशने ।	॥१६९।३४॥	२८५	सुखदुःखण-तत्क्रियायाम् ।	॥८३।२८॥
	"	॥१५९।१२॥	२८६	सृष्ण-क्रियाचचने ।	॥१८४।२२॥
२५५	विप्लकी-व्याप्तौ ।	॥१५९।१२॥	२८७	सूर्य-वैव्याप्ये ।	॥७१।४४॥



# १२ परिशिष्टम् ।

असिन्नेव शब्दानुशासने तत्त्वप्रकाशिकाऽऽनन्दबोधिनीवृत्तिविभूषिते संज्ञा-सन्धि-नाम-कारकसनाथीकृते प्रथमविभागेऽर्थज्ञापनकाले सूत्रवृत्तिस्य शब्दानामर्थज्ञानसौकर्यार्थं बोधनेच्छा-परिपूर्णार्थं च तत्पर्यायवाचकशब्दप्रयोगाणामकाराद्यनुक्रमेण शब्दार्थसंग्रहः ।

क्र०	शब्दार्थः ।	पृ० प०	क्र०	शब्दार्थः ।	पृ० प०
	अ.				
१	अ'-विणो ! ।	॥३६१८॥	१६	अचादिरूपत्वात्-उभयस्थानजातत्वे- नाऽचादिरूपत्वं दीर्घस्य तस्मात् ।	॥३६३५॥
		॥३८३८॥	१७	अजस्रम्-सातत्ये ।	॥१८४७॥
२	अ-सम्बोधनेऽधिक्षेपे निषेधे च, इति मनोरमायाम् ।	॥२०३०॥	१८	अज्झलौ-अच् च हल् चेति प्राचां संज्ञा ।	॥४०२८॥
३	अकार उच्चारणार्थः-अकारमन्तरेण व्यञ्जनोच्चारणामसुकरमिति मादे- शोऽकार उच्चारणार्थमुपादीयते	॥११४३६॥	१९	अक्षसा-तत्त्वशीघ्राथयोः ।	॥१८४७॥
४	अक्षरं-न क्षरति-न चलति स्वस्मात् स्वरूपाक्षरतत्त्वं-ब्रह्म ।	॥२१११॥	२०	अट-भर्त्सने ।	॥२०२९॥
५	अक्षणांमूहोऽस्यामस्तीति-अक्षौहिणी ।	॥३०४॥	२१	अटतीत्यटा, कुलात्कुलस्य वाऽटा- कुलटा ।	॥३०१३॥
६	अखिलानि-सकलानि ।	॥२१३०॥	२२	अड-भर्त्सने ।	॥२०२९॥
७	अखिलदृष्टादृष्टफलसङ्कल्पकल्पद्रुमोपमं- सम्पूर्णराज्यादिस्वर्गमोक्षसुखामिला- पसम्पादनदेवतरूपमम् ।	॥२१३३॥	२३	अणुत्वं-सूक्ष्मत्वम् ।	॥१०२२॥
८	अखिलदृष्टादृष्टफलसङ्कल्पः-सम्पूर्णराज्या- दिस्वर्गमोक्षसुखामिलापसम्पादनम् ।	॥२१३२॥	२४	अतिरमणीयं-नितरां निर्दोषः ।	॥४११८॥
९	अखिलदृष्टादृष्टफलानि-समग्रराज्यस्वर्ग- मोक्षादिसुखानि ।	॥२१३१॥	२५	अतिरिक्ताः-अधिकाः ।	॥४१३३॥
१०	अग्निसात्-अग्निस्वरूपेण भस्मीभूतम् ।	॥२१३२॥	२६	अतीव-अतिशये ।	॥१८३९॥
११	अग्रहणार्थ-ग्रहणाभावाय ।	॥६७३७॥	२७	अतीव कुत्स्यतेऽनेनेति-अतिकुत्सनम् ।	॥१९५२॥
१२	अघोषः-जायते-भवति तन्नामको बाह्यप्रयत्नः षष्ठः ।	॥१०२०॥	२८	अत्युच्चैसौ इति-उच्चैरतिक्रान्तौ इति ।	॥१७३६॥
१३	अघोस-सम्बोधने ।	॥१९४५॥	२९	अत्र प्रकरणे-सर्वादिगणे ।	॥६७३६॥
१४	अङ्ग-अनुशयसम्बोधनयोः ।	॥१९४६॥	३०	अत्र हरिः शक्ते-अत्रैव भवतां मध्ये क्षातोऽप्यक्षातो भवद्भिर्भगवान् हरिरेव सुतो वर्तते ।	॥१५५३०॥
१५	अङ्गो-सम्बोधने ।	॥१९४५॥	३१	अथ-मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्कार्या- धिकारप्रतिष्ठासमुच्चयेषु, अर्थ स्वरादिरपि तेन मङ्गलवाचकस्य द्रव्यार्थत्वेऽपि अव्ययत्वं सिध्यति ।	॥१९४८॥

क्र०	धातवः ।	पृ० प०	क्र०	धातवः ।	पृ० प०
२८८	सं-गतौ ।	॥७०३०॥	२९४	स्यन्दौह-प्रस्रवणे ।	॥१४५२६॥
	"	॥१३६१०॥	२९५	स्यक्नयकथक्कथ-हिंसार्थाः ।	॥१६६२४॥
	"	॥१३६३८॥	२९६	स्यमुह-विश्वासे ।	॥५४१६॥
	"	॥१५९१७॥	२९७	संसह-अवसंसने ।	॥१३५३९॥
२८९	सृजंत्-विसर्गे ।	॥१३२३६॥		ह.	
	"	॥१४३१९॥	२९८	हिसु-हिंसायाम् ।	॥१०३१५॥
२९०	स्कन्दं-गतिशोषणयोः ।	॥१४५२६॥	२९९	हृच्छा-कौटिल्ये ।	॥१३३१६॥
२९१	स्पर्दि-संघर्षे ।	॥१४५३९॥	३००	हृग्-हरणे ।	॥१५९२५॥
२९२	स्पृशंत्-संस्पर्शे ।	॥१३६३५॥		"	॥२०६४३॥
	"	॥१६२२२॥	३०१	हनुहृक्-अपनयने ।	॥१९३३१॥
२९३	स्मृ-चिन्तायाम् ।	॥१३३२९॥		"	
	"	॥१६२२२॥			

क्र०	शब्दार्थः ।	पृ० प०
३६	अदृष्टानि-स्वर्गादीनि ।	॥२१३०॥
३७	अद्वा इति-रूपद्वयावधारणयोः, तत्त्वानि- शययोरित्येके ।	॥१८१२२॥
३८	अद्यत्वे-इदानीमित्यर्थः ।	॥२०१३३॥
३९	अघ-अघोऽर्थः ।	॥१९१४०॥
४०	अधर्मः-शास्त्रनिषिद्धः ।	॥१९०१२०॥
४१	अधस्-सामीप्यादौ ।	॥१८१२१॥
४२	अधुना-अस्मिन् काले ।	॥२०१४४॥
४३	अधुना-साम्प्रतं-मूलराजशासनकाले ।	॥२१८१३२॥
४४	अध्वा-गन्तव्यं क्षेत्रं क्रोशादि ।	॥१६९१७॥
४५	अनन्यत्र भावो विषयस्तस्मै प्रभवति- वैषयिकम् ।	॥१७४११०॥
४६	अनवच्छेदः-अनिश्चयः ।	॥३०१२८॥
४७	अनादिस्थयोः-आदाववर्तमानयोः ।	॥४८१२१॥
४८	अनिशं-नैरन्तर्ये ।	॥१८१२६॥
४९	अनुकम्-वितर्के ।	॥२०१३१॥
५०	अनुकार्यानुकरणयोः-अशक्त्या प्रयुक्तगो इत्यनुकार्यः, तमनुकुर्यताऽपरपृष्ठेन तत्समीपवर्तिना चोक्तमनुकरणं गो इति तयोः ।	॥१६१२४॥
५१	अनुकार्येण-वर्णावलिरूपेण ।	॥१६१२९॥
५२	अनु-पश्चात्कार्यान्तरेभ्यः ।	॥१२६११३॥
५३	अनुप्रदानं-अनुप्रदीयते-पश्चात् प्रकर्षेण दीयते ।	॥१९१४६॥
५४	अनुबन्धः-अनुबध्यते कार्यायमुपदि- श्यत इत्यनुबन्धः ।	॥१११३०॥
५५	अनुशब्दः-पश्चादर्थः ।	॥५०१४३॥
५६	अनुशिष्यन्ते-व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अने- नेति-अनुशासनम् ।	॥११२८॥
५७	अनुषङ्ग-अनुमाने । केचित्चान्तं केचिद्वा- न्तमपरे दीर्घादि च मन्यन्ते ।	॥२०१२९॥
५८	अनुस्वर्यते-सलीनमनुशब्धत इति- अनुस्वारः ।	॥६१३५॥
५९	अनेन-प्रणिधेयेन ।	॥२१४४॥
६०	अनेकान्तवादः-अनेकान्तस्य-न एको- ऽनेकः, अनेकोऽन्तो धर्मो यस्याऽसौ इति अनेकान्तः तस्य वादः, -यथार्थ- कथनमित्यर्थः ।	॥३१२९॥
६१	अन्तः-अवसानम् ।	॥१३१५॥
६२	अन्तर्-मध्ये ।	॥१८१२३॥
६३	अन्तरा-विनार्ये मध्ये चाऽऽधेयप्रधाने	॥१८१२९॥
६४	अन्ते-विरामे ।	॥३८१४॥
६५	अन्यः-उत्पलः ।	॥१९१४४०॥
६६	अन्यः-रत्नमतिवैद्वः ।	॥१९३१२०॥
६७	अन्यत्-अन्यार्थः ।	॥२०११७॥
६८	अन्यतमस्मिन्-तेषु कस्मिंश्चित्स्थाने ।	॥९१३५॥
६९	अन्यत्र-अन्याधिकरणे काले ।	॥२०११७॥
७०	अन्यत्र-एतद्व्यतिरिक्तस्थले ।	॥६३३३१॥
७१	अन्यत्र-सत्त्वाभावे, अर्थादद्रव्यवाचिन इत्यर्थः ।	॥१९१२४॥
७२	अन्यशब्दस्य-अन्यतमशब्दस्येत्यर्थः ।	॥६७१२९॥
७३	अन्यथादेशस्य-अमतिरिक्तस्य स्यादेशस्य॥८७१२०॥	

क्र०	शब्दार्थः ।	पृ० प०
७४	अन्यस्वार्थिकप्रत्ययान्तानां-उत्तरदत्तम- भिन्नस्वार्थिकप्रत्ययान्तानामित्यर्थः ।	॥६७१३७॥
७५	अन्ये-अभयनन्धाचार्याः ।	॥२१३१२६॥
७६	अन्ये-उत्पलादयः पाणिनीयाश्च ।	॥९३३८॥
७७	अन्ये-पाणिनिशिक्षाकाराः ।	॥८१४२॥
७८	अन्ये-पाणिनिशिक्षाकाराः शाकटायनाश्च ।	॥८१४४॥
७९	अन्ये-प्राज्ञः ।	॥२६११६॥
८०	अन्ये-शाकटायनाः ।	॥२८५१३१॥
८१	अन्ये-शेषमष्टादकाः ।	॥५१३७॥
८२	अन्ये-सारसंग्रहकारादयः ।	॥१९४१३८॥
८३	अन्ये इति-आचार्यपाणिनिः इति ।	॥२०४१३९॥
८४	अन्ये तु-आचार्यपाणिनितन्त्रानुसारिणः ।	॥१६२१२३॥
८५	अन्ये तु-आचार्यपाणिनिप्रभृतयः ।	॥१२२३४३॥
८६	अन्ये तु-उत्पलादयः ।	॥३५१३५॥
८७	अन्ये तु-औद्वज्जिः, औद्वज्जयः ।	॥१०११६॥
८८	अन्ये तु-भीमसेनादयः ।	॥१४४१३५॥
८९	अन्ये तु-ललितस्वभावः ।	॥२०११३३॥
९०	अन्ये तु-वार्तिककाराः ।	॥२०५१३४॥
९१	अन्ये तु-वार्तिककृतः ।	॥२०४१३८॥
९२	अन्ये तु-विश्वान्तविधाधरादयः ।	॥१६९१४१॥
९३	अन्ये तु-श्रीशेपराजः ।	॥६४१४९॥
९४	अन्ये त्विति-उत्पलादयः ।	॥९३११८॥
९५	अन्योन्यं-परस्परम् ।	॥४१२०॥
९६	अन्वक्-पश्चादर्थः ।	॥१८१२८॥
९७	अपचिकीर्षा-अपकर्तुमिच्छा ।	॥१७११३४॥
९८	अपचिकीर्षा-द्रोहः ।	॥१७११९॥
९९	अपठितयोः-अनभ्यस्तयोः ।	॥८१२२॥
१००	अपत्यं-पुत्रपौत्रादि ।	॥४१४८॥
१०१	अपरे-वार्तिकव्याख्यातारः ।	॥२१५१३७॥
१०२	अपरे-शाकटायनादयः ।	॥५७१३१॥
१०३	अपरे-शेषादिप्रादाः ।	॥२६११७॥
१०४	अपि-पुण्ययोजिह्वामूलीयोपध्मानीययोः ।	॥८१२२॥
१०५	अपि-समुच्चये ।	॥६१२७॥
१०६	अप्रयोगः-प्रयोगाभावः ।	॥१४१३३॥
१०७	अप्रसिद्धं-लक्ष्यम् ।	॥२१११६॥
१०८	अवजं-कमलम् ।	॥१०६१२३॥
१०९	अभिघातः-हननम् ।	॥१०११७॥
११०	अभियुक्ता हि-स्थविरचन्द्रोत्पलदेवनन्दि- साधारणभाष्यकारप्रभृतयः ।	॥१५०१२७॥
१११	अभिहन्ति-ताडयति ।	॥९१३६॥
११२	अभिहन्तमाने-ताडयमाने ।	॥९१३१॥
११३	अभिहिता-निर्दिष्टा, उक्ता इति यावत् ।	॥१७६१४१॥
११४	अभीक्ष्णम्-पुनः पुनः ।	॥१८१२६॥
११५	असेदः-एकीभावः ।	॥२१४६॥
११६	अभ्युपगमः-प्रमाणं पुरस्कृत्य स्वीकारः ।	॥३१३५॥
११७	अम्-शैब्ये अल्पे च ।	॥१८१४६॥

क्र०	शब्दार्थः ।	पृ० प०	क्र०	शब्दार्थः ।	पृ० प०
११८	अमर्षः-क्रोधः ।	॥१७१९॥	१५९	असाम्प्रतम्-अनौचित्ये ।	॥१८१२॥
११९	अमा-सहार्थे समीपे च ।	॥२०१२॥	१६०	अस्तं-अदर्शने ।	॥१८१५॥
१२०	अमीपां-विवारादीनाम् ।	॥२१३१॥	१६१	अस्तं-विनाशे ।	॥१८१५॥
१२१	अम्लस्-शीघ्रसाम्प्रतिकयोः ।	॥१८१८॥	१६२	अस्ति-सत्त्वे रोपोकौ च ।	॥२०११॥
१२२	अम्बा-माता ।	॥८६३३॥	१६३	अस्त्रियाः-स्त्रीशब्दं वर्जयित्वा ।	॥८०८॥
१२३	अयमेव-प्रणिधानरूप एव ।	॥२१५०॥			॥८१७॥
१२४	अयि-अनुशयसम्बोधनयोः ।	॥१९१४६॥	१६४	अस्पष्टी-ईपत्स्पष्टतरौ ।	॥४८३५॥
१२५	अये-अनुशयसम्बोधनयोः ।	॥१९१४६॥	१६५	अस्मद्-प्रत्यात्मवचनः ।	॥७०१४६॥
१२६	अरम्-शैत्ये, अत्यर्थेऽपि ।	॥१८३३॥	१६६	अस्मिन्-बुद्धिस्थे ।	॥१९१२२॥
१२७	अररे-अनुशयसम्बोधनयोः ।	॥१९१४६॥	१६७	अस्य-अप्रयोगिणः ।	॥२२१४४॥
१२८	अरे-अनुशयसम्बोधनयोः ।	॥१९१४६॥	१६८	अस्यति-क्षिपति घर्णाननेनेति-आस्यम् ।	॥८१२५॥
१२९	अर्थः-अभिधेयः स्वार्थो द्रव्यं लिङ्गं संख्या शक्तिरिति, द्योत्यश्च समुच्चयादिः ।	॥१५५॥	१६९	अस्यत्यनेन घर्णानिति-आस्यम् ।	॥८१६॥
१३०	अर्थः-प्रयोजनम् ।	॥१११२३॥	१७०	अहंयुः-अहमस्याऽस्ति ।	॥२११४४॥
१३१	अर्थयत इति-अर्थो-अभिलाषुकः ।	॥१९२१२३॥	१७१	अह-निर्देशविनियोगकिलार्थेषु, पूजायामपि ।	॥१९१२९॥
१३२	अर्थशब्दो हि-प्रयोजनवचननिवृत्तिवचन- घनवचनाऽभिधेयवचनरूपवदर्थः ।	॥१५१६॥	१७२	अहह-अद्भुतखेदयोः ।	॥२०१६॥
१३३	अर्थात्-प्रयोजनात् ।	॥१४३३॥	१७३	अहो-सम्बोधने ।	॥१९१४५॥
१३४	अर्थोऽभेदात्-अर्थक्यात् ।	॥१५१२२॥			
१३५	अर्थिनि-अभिलाषुके ।	॥१९२१४॥			
१३६	अर्थेन-अर्थोदुत्करणस्याऽर्थोऽनुकार्य- शब्दानुपूर्वी तेन रूपेण ।	॥१६१२९॥			
१३७	अहं-प्रशंसायाम् ।	॥८५१२०॥			
१३८	अलब्धस्य प्राप्तिः-क्षेमः ।	॥२१२५॥			
१३९	अलम्-इति स्वरादौ निरूपितम् ।	॥१९१४३॥			
१४०	अलम्-भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणनिषेधेषु ।	॥१८३७॥			
१४१	अलावूः-तुम्बी ।	॥८६३३॥			
१४२	अव-भर्त्सने ।	॥२०१२९॥			
१४३	अवधारणे-यावदमत्र ब्राह्मणानामन्त्र- यस्त्व ।	॥२०१२३॥			
१४४	अवधिः-मर्यादा ।	॥१९७९॥			
१४५	अवधिनियमे-अवधिमर्यादा तस्य नियमोऽवश्यम्भावोऽवधिभावाद्भ्रंश- स्तस्मिन् ।	॥६८१९९॥			
१४६	अवधीत्-जघान ।	॥३८१४२॥			
१४७	अवधौ-यावद्वन्तव्यं तावत्तिष्ठ ।	॥२०१२२॥			
१४८	अवयवशः समुदायस्य क्रियादिना साकल्येन प्राप्तीच्छा-वीप्सा, तत्कर्म वीप्स्यम् ।	॥१७९१३॥			
१४९	अवश्यं-निश्चये, आवश्यके ।	॥१८१२७॥			
१५०	अवस्-बहिरर्थे ।	॥१८१२१॥			
१५१	अवसान-चरमावयवः ।	॥१३११९॥			
१५२	अविशेषं-समत्वेन ।	॥४१२४॥			
१५३	अवे-अनुशयसम्बोधनयोः ।	॥१९१४६॥			
१५४	अव्युत्पन्न-हित्यादिशब्दवत्प्रकृति- प्रत्ययविभागहीन इत्यर्थः ।	॥६७१२७॥			
१५५	अशेषान्-सम्पूर्णान् ।	॥४१२३॥			
१५६	अशेषा विघ्नाः-समग्रशुभक्रिया- विनाशकाः ।	॥२१२५॥			
१५७	असन्-अभूतवत् ।	॥३७१३॥			
१५८	असन्धिः-प्रकृतिभावः ।	॥३४८८॥			
			१५९	असाम्प्रतम्-अनौचित्ये ।	॥१८१२॥
			१६०	अस्तं-अदर्शने ।	॥१८१५॥
			१६१	अस्तं-विनाशे ।	॥१८१५॥
			१६२	अस्ति-सत्त्वे रोपोकौ च ।	॥२०११॥
			१६३	अस्त्रियाः-स्त्रीशब्दं वर्जयित्वा ।	॥८०८॥
					॥८१७॥
			१६४	अस्पष्टी-ईपत्स्पष्टतरौ ।	॥४८३५॥
			१६५	अस्मद्-प्रत्यात्मवचनः ।	॥७०१४६॥
			१६६	अस्मिन्-बुद्धिस्थे ।	॥१९१२२॥
			१६७	अस्य-अप्रयोगिणः ।	॥२२१४४॥
			१६८	अस्यति-क्षिपति घर्णाननेनेति-आस्यम् ।	॥८१२५॥
			१६९	अस्यत्यनेन घर्णानिति-आस्यम् ।	॥८१६॥
			१७०	अहंयुः-अहमस्याऽस्ति ।	॥२११४४॥
			१७१	अह-निर्देशविनियोगकिलार्थेषु, पूजायामपि ।	॥१९१२९॥
			१७२	अहह-अद्भुतखेदयोः ।	॥२०१६॥
			१७३	अहो-सम्बोधने ।	॥१९१४५॥
				आ.	
			१७४	आ-वाक्यस्मरणयोः, इति मनोरमायाम् ॥२०१३॥	
			१७५	आकृतिगणार्थ-आक्रियतेऽनया इत्या- कृतिर्घर्णकाप्रकारस्तस्या गणस्तदर्थ- मित्यर्थः ।	॥१९१५५॥
			१७६	आक्रामन्-व्याप्नुवन् ।	॥१९३४॥
			१७७	आक्षिप्तः-अक्षेपे दीव्यति ।	॥१६१३॥
			१७८	आख्यातपदेनाऽसमानाधिकरणं- गौणम् ।	॥१७८९॥
			१७९	आख्याता-प्रतिपादयिता ।	॥१९८५॥
			१८०	आख्या-निर्देशः ।	॥१८७८॥
			१८१	आख्यायते स्म-साध्याभितया कथ्यते स्मेति-आख्यातम् ।	॥१४१५॥
			१८२	आगमः-द्वादशाङ्गरूपः ।	॥२१२३॥
			१८३	आचक्षते-अभिदधते ।	॥१९१४५॥
			१८४	आचार्यहेमचन्द्रेण-आ सामस्येन शास्त्रार्थश्चरन्ते-श्रान्तेऽनेनेति आचार्य-शास्त्रार्थज्ञाता, हेमचन्द्रः- स्वर्णचन्द्राभ्यां समौ भगवान् हेम- चन्द्रः, आचार्यहेमचन्द्रस्तेन आचा- र्यहेमचन्द्रेण ।	॥१३५॥
			१८५	आत्-कोपपीडयोः ।	॥१९१४०॥
			१८६	आत-इतोऽपीत्यर्थः ।	॥२०१३॥
			१८७	आत्मनः-प्रणिधायकस्य ।	॥२१४५॥
			१८८	आत्मलाम्-आत्मनः-स्वरूपस्य लाम्-प्राप्तिः ।	॥१९३७॥
			१८९	आदर्शतलामलेषु-दर्पणपृष्ठस्वच्छेषु ।	॥१७३४॥
			१९०	आदिशब्दो-व्यवस्थावाची ।	॥११७॥
			१९१	आदेशान्-"तुभ्यमहौ ङसि" पा०७१२५५, "युयवयौ ङसि" पा०७१२५३, "त्वाहौ सौ" पा०७१२५४ इति तुभ्यादीन् ॥१११४३॥	
			१९२	आध्रियेते-अवतिष्ठेते क्रियाभ्यौ कर्तृकर्मणी अस्मिन्निति "न्यायावाया०" पा३१३३ इति घञि आधारः ।	॥१७४२६॥

क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
१९३	आनुषक्-आनुपूर्व्ये ।	॥१८४८॥
१९४	आपन्नस्य-प्राप्तस्य ।	॥१८६।२८॥
१९५	आपादपरिसमाप्तेः-पादपरिसमाप्तिं यावत् ।	॥९७।२९॥
१९६	आप्यं-व्याप्यम् ।	॥१९४।६॥
१९७	आवादिप्रत्ययान्तानां-आप् आदि-येषां ते प्रत्यया आवादिप्रत्यया अन्ते येषां ते आवादिप्रत्ययान्ताः, तेषां आवादिप्रत्ययान्तानाम् ।	॥१५।३६॥
१९८	आम्यन्तरत्वं-आन्तरत्वम् ।	॥१०।३४॥
१९९	आम्-आङ्गीकारे ।	॥१८।४६॥
२००	आम्-प्रतिवचनाऽवधारणयोः ।	॥२०।२७॥
२०१	आम-पीडायाम् ।	॥२०।२४॥
२०२	आयुक्तो-व्यापृतः ।	॥२०८।११॥
२०३	आरात्-दूरसमीपयोः ।	॥१८।३३॥
	"	॥२०१।५॥
२०४	आराद्-दूरान्तिकयोः ।	॥२०१।५॥
२०५	आरादित्यव्ययं-दूरसमीपयोर्वाचकम् ।	॥२००।१॥
२०६	आर्य-म्रीतिसम्बोधने ।	॥१८।३६॥
२०७	आर्यहलम्-बलात्कारे ।	॥१८।३६॥
२०८	आर्या-मोक्षपथसमीपयाता जनाः ।	॥४।३०॥
२०९	आविस्-प्राकाश्ये ।	॥१८।४४॥
२१०	आशु-शैघ्र्ये ।	॥१८।४७॥
२११	आश्रीयत इति-आश्रयः ।	॥१७४।२४॥
२१२	आस्-स्तुतिखेदयोः, कोपे च ।	॥२०।२७॥
२१३	आसेवायां-वात्पर्ये ।	॥२०८।११॥
२१४	आस्यं-मुखम् ।	॥८।३३॥
२१५	आस्ये प्रयत्नः-आस्यप्रयत्नः-आन्तरः संरम्भः ।	॥८।७॥
२१६	आहारो-निगरणम् ।	॥१६२।२५॥
२१७	आहो-सम्बोधने ।	॥१९।४५॥
२१८	आहोस्विद्-प्रश्नवितर्कविकल्पेषु ।	॥२०।१६॥
	इ-	
२१९	इ-सम्बोधनजुगुप्साविस्मयेषु, इति मनोरमायाम् ।	॥२०।३१॥
२२०	इ ई उ ऋ ए ओ औ-सम्बोधने इति मनोरमायाम् ।	॥२०।३१॥
२२१	इच्छन्-मन्यमानः ।	॥४।२४॥
२२२	इतरेषां-नेमशब्दव्यतिरिक्तानामर्धादि-शब्दानां ।	॥७१।३३॥
२२३	इति-एवमर्थे, आद्यर्थे, हेत्वर्थे, प्रका- रायर्थे, शब्दप्रादुर्भावे, ग्रन्थसमाप्तौ, पदार्थविपर्ययासादौ चेति है० बृ० न्या०	॥२०।२७॥
२२४	इति-एवमर्थे, प्रकारार्थे, ग्रन्थसमाप्तौ, शब्दप्रादुर्भावे, अर्थसमाप्तौ, पदार्थ- विपर्ययासादौ ।	॥२०।२७॥
२२५	इति-यसादर्थे ।	॥६२।१८॥
२२६	इति शब्द-एवमर्थः ।	॥११६।४४॥
२२७	इति शब्दः-पादस्य परिसमाप्त्यर्थः ।	॥२४।२५॥
२२८	इतिह-पुराश्रुती ।	॥२०।२५॥

क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
२२९	इति-हेतोः ।	॥६८।१२॥
	"	॥१५।४२॥
	"	॥१५।४२॥
२३०	इद्-अपूर्वेऽर्थे इपदर्थे च ।	॥२०।१३॥
२३१	इदम्-प्रत्यक्षनिर्देशे ।	॥७०।४२॥
२३२	इदानीम्-अस्मिन् काले ।	॥२०।४४॥
२३३	इदुत्कार्यं-"इदुतोऽखेरीदूत", "जस्येदोत्", "डित्यदिति", "टः पुंसिना", "डिडौ" इत्यादिविहितम् ।	॥७६।३७॥
२३४	इद्धा-प्राकाश्ये ।	॥१८।२४॥
२३५	इमं कश्चित्प्रकारं भूत आपन्न इत्यम्भूतः, स लक्ष्यते येन स इत्यम्भूतलक्षणः ।	॥१८५।१५॥
२३६	इमे-प्रसिद्धाः ।	॥४।२७॥
२३७	इव-उपमाऽवधारणयोः ।	॥२०।१४॥
२३८	इव-सादृश्ये ।	॥२०।३३॥
२३९	इष्टावधारणार्थ इति-इष्टस्य नियमस्य अवधारणायेत्यर्थः ।	॥६५।३०॥
२४०	इह-अस्मिन् ।	॥२०।४२॥
२४१	इह-अस्मिन् सूत्रे ।	॥२८।३९॥
	ई-	
२४२	ईः-सम्पत्तिः-साधुतारूपा ।	॥३८।४४॥
२४३	ईक्षितव्यं-निरूपयितव्यम् ।	॥१९२।१५॥
२४४	ईम्-निर्देशनिवेदनवाक्यपादपूरणेषु, अव्यक्ते इत्येके इति है. बृ. न्या. ।	॥२०।२६॥
२४५	ईर्ष्या-परसम्पत्तौ चेतसो व्यारोपः ।	॥१७१।९॥
२४६	ईषद्-अप्राप्ते ।	
	अल्पे इति मनोरमायाम् ।	॥१८।३१॥
	उ-	
२४७	उकाभ्यः-स्वरादिसंज्ञाभ्यः ।	॥४।४३॥
२४८	उच्चारणार्थः-स्वरूपपरिग्रहार्थः ।	॥५।२५॥
२४९	उच्चैस्-महति ।	॥१८।२७॥
२५०	उच्यते विशिष्टोऽर्थोऽनेनेति वाक्यम् ।	॥१४।१६॥
२५१	उच्चैश्मन्त्रः-उद्गतानि श्मश्रूणि यस्य सः ।	॥४०।४१॥
२५२	उक्-रोषोक्तौ ।	॥१९।४८॥
२५३	उत-वितर्के, उत-विकल्पे इति है० बृ० न्या० ।	॥२०।१४॥
२५४	उताहो-सम्बोधने ।	॥१९।४५॥
२५५	उत्तमर्णो-धनिकः ।	॥१९२।२॥
२५६	उत्तरत्र-"लक्ष्मन्ता. समानाः" इति सूत्रे ।	॥६।२७॥
२५७	उत्तरयोः-"नास्ति वा", "लक्ष्मन्ता" इत्यु- त्तरसूत्रयोरित्यर्थः ।	॥२८।३९॥
२५८	उत्तरार्थः-उत्तरसूत्रे सप्रयोजनोऽय- मित्यर्थः ।	॥१९४।२०॥
२५९	उत्तरार्थमिति-उत्तरसूत्रे स्वरग्रहणं प्रयोजनवदित्यर्थः ।	॥१६।२२॥
२६०	उत्पद्यते-जायते ।	॥९।३६॥
२६१	उत्पद्यमाने-जायमाने ।	॥९।३८॥
२६२	उत्पातः-आकस्मिकं निमित्तम् ।	॥१९३।५॥
२६३	उत्पातो हि नाम-शुभाशुभसूचकः कादा- चित्को महाभूतपरिणामः ।	॥१९३।२५॥
२६४	उत्पद्य-त्यक्तः ।	॥११।३०॥

क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
२६५	उत्सृष्टानुबन्धयोः- उत्सृष्टस्यकोऽनुबन्धो ययोरिति ।	॥२२।३१॥
२६६	उत्सृष्टानुबन्धानां-उत्सृष्टस्यकोऽनुबन्धो यैस्ते, तेषाम् ।	॥१२।२६॥
२६७	उदस्विद्-प्रश्नावितर्कविकल्पेषु ।	॥२०।१६॥
२६८	उपचरितं-अध्यासोपितम् ।	॥१७६।४५॥
२६९	उपचारे भवम्-औपचारिकम् ।	॥१७५।११॥
२७०	उपधा-भेदे ।	॥१८।४६॥
२७१	उपनिषद्भूतं-परमेश्वरपरमेष्ठिवाचकमहं- मिति रहस्यभूतम् ।	॥२।२४॥
२७२	उपनिषद्भूतं-रहस्यतां प्राप्तम् ।	॥२।२३॥
२७३	उपयोगे-नियमपूर्वकविद्याग्रहणविषये ।	॥१९८।५॥
२७४	उपरि-विग्रहस्तु पूर्ववत् ।	॥२१।२५॥
२७५	उपरिष्ठात्-विग्रहस्तु पूर्ववत् ।	॥२१।२५॥
२७६	उपविद्धा-मिश्रिताः ।	॥४।२८॥
२७७	उपांशु-अप्रकाशोच्चारणरहस्ययोः ।	॥१८।४३॥
२७८	उभयत्र-प्रधानेऽप्रधाने च ।	॥१६०।३१॥
२७९	उभयद्युः-उभयसिद्धिनि ।	॥२९।९॥
<b>ऊ.</b>		
२८०	ऊम्-प्रश्ने ।	॥१९।४८॥
२८१	ऊर्ध्व-पश्चात् ।	॥१०।२८॥
२८२	ऊष्माणः-शपसहाः ।	॥९।२॥
२८३	ऊहः-समूहो रचना वा ।	॥३०।२४॥
<b>ऋ.</b>		
२८४	ऋणस्याऽवयवतया सम्यन्धि ऋणं- ऋणार्णम् ।	॥२७।९॥
२८५	ऋतम्-शुद्धौ ।	॥१८।२३॥
२८६	ऋते-वर्जने, 'वर्जने त्वन्तरेणर्त्त' इति वचनात्, वियोगे इत्यपि ।	॥१८।३९॥
२८७	ऋधक्-वियोगे, शीघ्रान्वितसामीप्य- लामेषु ।	॥१८।२९॥
२८८	ऋधक्-सत्ये, वियोगे शीघ्रसामीप्यलाघवेषु इत्यन्ये इति मनोरमायाम् ।	॥१८।२९॥
<b>ए.</b>		
२८९	एक-एकत्वसंख्यायाम् ।	॥७०।४३॥
२९०	एकत्वप्रतियोगि-एकत्वं प्रतियोगि यस्य तत्, एकत्वस्य प्रतियोगि चा नानात्वम् ।	॥२४।१७॥
२९१	एकदेशमात्रसंयोग उपश्लेषस्तत्र भवं-औपश्लेषिकम् ।	॥१७४।११॥
२९२	एकधा-एकेन प्रकारेण ।	॥२१।१३॥
२९३	एकस्य शब्दस्याऽनेकार्थपरत्वे तत्त्वव्यवहारः ।	॥९०।४२॥
२९४	एके-काशिकाकारा वामनादयः ।	॥९०।३९॥
२९५	एके-चान्द्राः ।	॥१९२।४५॥
२९६	एके तु-चन्द्रादयः ।	॥११३।३१॥
२९७	एके-देवनन्द्यादयः ।	॥९३।३४॥
२९८	एके-पाणिनीयमहाभाष्यकुन्मता- नुयायिनः ।	॥१७।२४॥
२९९	एके-पाणिनिसुप्रव्याख्यातार एव साधारणभागप्रभृतयः ।	॥१९५।३५॥

क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
३००	एके-पाणिन्यादयः ।	॥५१।३६॥
	"	॥२१४।३०॥
३०१	एके-प्राचीनाः शाकटायनादयः ।	॥८।४०॥
३०२	एके-प्राञ्चः ।	॥२६।१२॥
	"	॥२९।३३॥
३०३	एके-वार्तिकव्याख्यातारः ।	॥२१५।३७॥
३०४	एके-विश्रान्तविद्याधराः ।	॥९०।२४॥
३०५	एके-शाकटायनाः ।	॥२९।२३॥
	"	॥१९२।४३॥
३०६	एके-शाकटायनाचार्याः ।	॥१६४।३३॥
३०७	एके-शाकटायनादयः ।	॥१३०।३३॥
३०८	एतत्-अहम् ।	॥२।५०॥
३०९	एतद्-समीपवाची शब्दः ।	॥७०।४३॥
३१०	एतर्हि-अस्मिन् काले ।	॥२०।४४॥
३११	एव-अवधारणपृथक्त्वपरिमाणेषु, अनवहृतावपि ।	॥१९।२९॥
३१२	एवं-"अनवर्णा नामी" इति सूत्रेऽनवर्णा इति बहुवचनवत् ।	॥६।२६॥
३१३	एवम्-उपमानोपदेशप्रश्नावधारण- प्रतिशानेषु, उक्तपरामर्शेऽपि ।	॥१९।३०॥
३१४	एवं-पूर्ववत् ।	॥७८।२५॥
३१५	एवं-पूर्वोक्तरीत्या ।	॥५४।३५॥
३१६	एवं-मनुष्यदिव ।	॥१३।१२॥
३१७	एषः-जगति लब्धयद्याः, मूलराज- महीपतिः ।	॥१५५।२५॥
३१८	एषु-प्रियसर्वायै, अतिसर्वायै, दक्षिणपूर्वायै इत्यादिषु ।	॥७५।२३॥
<b>ऐ.</b>		
३१९	ऐक्यम्-एकेन प्रकारेणाऽनेकमेकं करोति च ।	॥२१।१३॥
३२०	ऐषमः-अस्मिन् संवत्सरे ।	॥२१।१०॥
<b>ओ.</b>		
३२१	ओम्-अङ्गीकारे ब्रह्मणि च अभ्यादानाभि- मुखीकरणयोरपि ।	॥१८।१८॥
३२२	ओम्-इति सखादी पठितम् ।	॥१९।४४॥
<b>औ.</b>		
३२३	औपगवः-उपगोरपत्यम् ।	॥१६।१२॥
<b>क.</b>		
३२४	कः अपि-अनिर्वचनीयोऽपि ।	॥६३।३५॥
३२५	ककुब्भासः-ककुभां हासः ।	॥४०।३३॥
३२६	कचकर्षणैः-केशोन्मर्दनैः-केशग्रहैरिति यावत् ।	॥१०६।२२॥
३२७	कश्चन-कश्चिदर्थे ।	॥२०।१५॥
३२८	कश्चित्-इष्टप्रश्ने ।	॥१९।३३॥
३२९	कण्ठविलं-गलविवरम् ।	॥९।४३॥
३३०	कण्ठविलस्य-गलविवरस्य ।	॥९।४२॥
	"	॥१०।२२॥
३३१	कण्ठादिस्थानाभिधाते-कण्ठादिस्थाना- नामभिधातस्तस्मिन् सति ।	॥९।३२॥
३३२	कण्ठ्य-कण्ठे भव इत्यर्थः ।	॥६।३८॥
३३३	कतिभिः-क्रीता-कृतिकः ।	॥२३।१३॥

क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
३३४	कतिभिः प्रकारैः-कतिधा ।	॥२३।१३॥
३३५	कतिवारा अस्य-कतिकृत्वः ।	॥२३।१४॥
३३६	कथम्-केन प्रकारेण ।	॥२१।१२॥
३३७	कथितानुकथनम्-अन्वादेशः ।	॥१२०।१४॥
३३८	कद्-कुत्सायाम् ।	॥२०।१२॥
३३९	कदा-कस्मिन् काले ।	॥२०।४३॥
३४०	कम्-पादपूरणे, खरादौ ज्ञातव्यमिति है० वृ० न्या० ।	॥२०।११॥
३४१	कम्-वारिमूर्धनिन्दासुखेषु ।	॥१८।१६॥
३४२	कमलाऽऽश्रयः-पञ्चाऽधिकरणः ।	॥२४।३४॥
३४३	करणं-पूर्वोक्तं जिह्वामूलादि ।	॥९।३९॥
३४४	करणं तु-जिह्वामूलमध्यागोपाग्ररूपम् ।	॥८।९॥
३४५	करभोरुः-करभ वटूरु यस्याः सा ।	॥१५।४२॥
३४६	कर्कधूः-वदरी ।	॥८६।३१॥
३४७	कर्ता-करोतीति पूर्ववत् ।	॥१५।४२॥
३४८	कर्मणा-व्याप्येन, क्रियया वा करण- भूतेन ।	॥१७०।११॥
३४९	कर्मादिभ्योऽन्यः क्रियाकारकपूर्वकः कर्माद्यविवक्षालक्षणोऽश्रयमाणक्रियः श्रयमाणक्रियो वाऽस्येदम्भावरूपः-स्व- स्वामिभावादिः सम्बन्धविशेषः-शेषः ॥२०२।९॥	॥२०२।९॥
३५०	कर्हि-कस्मिन्नद्यतने काले ।	॥२१।११॥
३५१	कल्पवृक्षेण-सुरतरुणा ।	॥२।३२॥
३५२	कश्चित्-अजितयशोवादी ।	॥१९५।३६॥
३५३	कश्चित्तु-उत्पलः ।	॥११३।२०॥
३५४	कश्चित्तु-दुर्गसिंहः ।	॥१३७।३२॥
३५५	कश्चित्तु-दुर्गसिंहन्यासकृतौ ।	॥३२।२४॥
३५६	कश्चित्तु-विश्रान्तविद्याघरः ।	॥४८।२०॥
३५७	काननम्-अरण्यम् ।	॥१५५।२३॥
३५८	काननम्-वनस्थोपवनम् ।	॥१५५।२८॥
३५९	कामम्-अतिशयार्थः । स्वाच्छन्द्ये इति मनोरमा० ।	॥१८।३२॥
३६०	कारः-वणिग्मिः कर्षकैः पशुपालैश्च रक्षार्थं देवो राजमागः ।	॥१३०।३२॥
३६१	कारकाः-करोतीति ।	॥१५।४३॥
३६२	कालः-त्रुट्यादिरूपः ।	॥४।४६॥
३६३	कालो-मुहूर्त्तादिः ।	॥१६९।७॥
३६४	काशिकाकारवामनजयादित्याः-केचित्तु ॥३५।३०॥	॥३५।३०॥
३६५	किंस्विद्-प्रज्ञवितर्कविकल्पेषु ।	॥२०।१६॥
३६६	किङ्किल-किलार्थः ।	॥२०।१५॥
३६७	किञ्चित्-स्वल्पं-क्रियाविशेषणम् ।	॥१।३९॥
३६८	किञ्चिन्मिचमासाद्याऽव्याप्तपञ्चम- महावतप्राच्यजन्मसंस्कारोद्बुद्धस- कलशास्त्रस्मृतिः-प्रत्येकबुद्धः ।	॥१९८।३३॥
३६९	किम्-प्रश्ने शेषे च ।	॥७०।४६॥
३७०	किम्-प्रश्ने वितर्के च ।	॥२०।१२॥
३७१	किमुत-विकल्पे ।	॥२०।१५॥
३७२	किल-सम्प्रश्नवार्तयोः, अलीकेऽपि ।	॥२०।१५॥
३७३	कीम्-निर्देशनिवेदनवाक्यपादपूरणेषु । संशयप्रश्नानुमावेष्ट इत्येके इति है. इ. न्या. ।	॥२०।२६॥

क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
३७४	कीलालं-मद्यं जलमखकू च ।	॥७४।३८॥
३७५	कु-कुत्सितेपदर्थयोः, पापार्थं इति है० वृ० न्या० ।	॥१८।३८॥
३७६	कुम्-प्रश्ने ।	॥१९।४८॥
३७७	कुवित्-योगप्रशंसाऽस्तिभावेऽपि, भूर्यर्थे इति मनोर० ।	॥१८।४४॥
३७८	कुशलो-निपुणः ।	॥२०८।११॥
३७९	कूपः-अन्धुः ।	॥१९।३८॥
३८०	कूपत्-प्रज्ञवितर्कप्रशंसासु, कचित्स्वरा- दावपि पठितः ।	॥१९।३१॥
३८१	कृत्स्नः-समग्रः ।	॥१०।२७॥
३८२	केचित्-प्राञ्चः ।	॥३६।३६॥
३८३	केचित्-शाकटायनादयः ।	॥५२।३५॥
३८४	केचित्तु-चन्द्रगोमिदेवनन्दिप्रभृतयः ।	॥१४१।२२॥
३८५	केचित्तु-चान्द्रप्रभृतयः ।	॥५७।३८॥
३८६	केचित्तु-देवनन्द्याचार्याः ।	॥१३९।३७॥
३८७	केचित्तु-देवनन्द्यादयः ।	॥३१।३५॥
३८८	केचित्तु-पाणिनिप्रभृतयः ।	॥१२२।२७॥
३८९	केचित्तु-पाणिनिशाकटायनदेवनन्दि- विश्रान्तविद्याघराः ।	॥३९।२९॥
३९०	केचित्तु-पाणिनिसूत्रानुसारिणः ।	॥११५।४३॥
३९१	केचित्तु-पाणिनीयाः ।	॥३४।३९॥
३९२	केचित्तु-पाणिन्यादयः ।	॥११३।४२॥
३९३	केचित्तु-भोजशाकटायनाः ।	॥१९३।३६॥
३९४	केचित्तु-शाकटायनाः ।	॥२८।४२॥
३९५	केचित्त्विति-चामनादयः ।	॥९१।२०॥
३९६	केचित्त्विति-विश्रान्तविद्याघराः ।	॥९०।२९॥
३९७	केचिद्-गोनर्दीयमतानुयायिनः पाणिनीयाः ।	॥९३।२०॥
३९८	केचिदिति-चान्द्रभोजक्षीरस्वामि- प्रभृतयः ।	॥१२२।४२॥
३९९	केचिदिति-शाकटायनदेवनन्दि- चन्द्रादयः ।	॥९०।४०॥
४००	केनचिद्विवक्षितेन विशेषेण भाव इत्यम्भावस्तद्विषय-इत्यम्भूतः ।	॥१७९।१४॥
४०१	कोष्ठे-उदरे ।	॥९।३१॥
४०२	क्रिया-पूर्वापरीभूतावयवा ।	॥४।४५॥
४०३	क्रियाया क्रियायोयामुपपदे-तुम् ।	॥१९३।१५॥
४०४	क्रियाश्रयस्य कर्तुः कर्मणो वा य आधारः-तदधिकरणम् ।	॥२०८।१९॥
४०५	क्रयः-य आत्मना ग्राहः ।	॥१६६।४४॥
४०६	क्-कस्मिन् ।	॥२०।४२॥
४०७	क्चित्क्रियाऽपि-स्वार्थः ।	॥१५।२३॥
४०८	क्चित्सम्बन्धोऽपि-स्वार्थः ।	॥१५।२२॥
४०९	किद्-भर्त्सनपादपूरणयोः ।	॥२०।१३॥
४१०	खरकुटी-नापितशाला ।	॥८०।२१॥



क्र०	शब्दार्थः ।	पृ० प०
४११	खलु-निषेधवाक्याऽलङ्कारजिज्ञासाऽनु- नयेषु ।	॥२०११८॥
४१२	खे-वियति ।	॥१०६१२४॥
४१३	खोस्-कुत्सायाम् । ग.	॥२०३०॥
४१४	गजकुम्भाऽऽकृतिः-गजस्य कुम्भौ गजकुम्भौ, गजकुम्भयोरिवाऽऽकृतिर्यस्य स गज- कुम्भाऽऽकृतिः-करिकलशसन्निभस्वरूपः॥८१७॥	
४१५	गतिः-देशान्तरप्राप्तिः ।	॥१६११७॥
४१६	गतिः-पादविहरणम् ।	॥१२४१११॥
४१७	गतौ-बोधे सति ।	॥१४३२॥
४१८	गम्यस्य-अप्रयुज्यमानस्य ।	॥१९८१०॥
४१९	गलन्तीति-गलाः ।	॥८१२८॥
४२०	गवां-यूतिर्गव्यूतिः ।	॥३३३३॥
४२१	गवाक्षौ-वातायनः ।	॥३३१३३॥
४२२	गाः-इन्द्रियाणि ।	॥३८४३३॥
४२३	गात्रस्य-शरीरस्य ।	॥१०२२॥
४२४	गार्ग्यायणी-गर्गस्याऽपत्यं वृद्धं स्त्री ।	॥१५४०॥
४२५	गीयते-गानात्मना सकलमङ्गलमूल- त्वात् कथ्यते ।	॥२१८३२॥
४२६	गुणः-विशेषणम् ।	॥४४४५॥
४२७	गुणेषु दोषाऽऽविष्करणं-असूया ।	॥१७११९॥
४२८	गोप्यो-विषयगामिनीन्द्रियाणि ।	॥३८४३१॥
४२९	गौक्ष्यायणी गौरिव कक्षोऽस्येति गोकक्षः गोकक्षस्याऽपत्यं वृद्धं स्त्री ।	॥१५४०॥
४३०	ग्रहणं-बोधनम् ।	॥१२४३१॥
	घ.	
४३१	घोषः-तन्नामको बाह्यप्रयत्नः पञ्चमः ।	॥१०११९॥
४३२	घोषवान्-घोषत्ववान् ।	॥७३३६॥
	ङ.	
४३३	ङितां-डेङसिङसङ्गीनाम् ।	॥७८१४॥
	च.	
४३४	च-अन्वाचयसमाहारेतरयोरयोगसमु- च्चयेषु ।	॥१९१२८॥
४३५	चः-अवधारणे ।	॥६८११९॥
४३६	चः-पुनरर्थे ।	॥१५६१४॥
४३७	चः-समुच्चये ।	॥३७१५॥
४३८	चकारः-अवधारणे ।	॥१५६१४६॥
४३९	चक्रे-निर्ममे ।	॥६३३३६॥
४४०	चटु-प्रियवाक्ये ।	॥२०३३३॥
४४१	चण-चेदर्थे ।	॥१९३३२॥
४४२	चतुर्थी-चतसृणां पूरणी ।	॥११११९॥
४४३	चन-अप्यर्थे पादपूरणे च ।	॥१९४३१॥
४४४	च पूर्वापरभावनियमार्थ-पूर्वभावस्या- ऽपरभावस्य च योऽनियमो-नियमा- भावस्तदर्थमित्यर्थोऽन्यथा पूर्वपर- भावनियमः स्यादिति ।	॥६१२१॥
४४५	चर्यन्ते-क्षायन्ते ।	॥१३५॥
४४६	चाटु-प्रियवाक्ये ।	॥२०३३३॥
४४७	चाद्यचादिस्थानस्य-चादिश्च मचादिश्च तौ स्थानं यस्य तस्य, अर्थात्-चाद्य- चादिस्थानजातस्य ।	॥३६३३॥

क्र०	शब्दार्थः ।	पृ० प०
४४८	चित्रं-महदाश्चर्यं शास्त्रलोकयोर्भेदादिति पदार्थः ।	॥२१८३३॥
४४९	चित्रगुः-चित्रा गावो यस्य सः ।	॥१६११७॥
४५०	चित्रा गावो यस्य स-चित्रगुः ।	॥३४१२२॥
४५१	चिद्-प्रश्नाऽवधारणयोः ।	॥२०१३३॥
४५२	चिरम्-दीर्घकाले ।	॥१८३२२॥
४५३	चुम्बनं-अन्योन्यवक्तृसंयोगः ।	॥१०६१२३॥
४५४	चेत्-प्रतिषेधाऽवधारणसमुच्चयेषु, चेदिति यद्यर्थे इति मनोर० ।	॥१९३३३॥
४५५	चो-हेतौ ।	॥४१५॥
	"	॥१५३३६॥
	"	॥३७१२५॥
४५६	चो हेतौ समुच्चये च ।	॥२२४४॥
	छ.	
४५७	छन्द-निर्मत्सर्जनसम्बोधनयोः ।	॥१९४०॥
४५८	छाया इव-प्रतिबिम्बमिव ।	॥१७३३४॥
४५९	छित्-छिनत्तीति ।	॥१५४४॥
	ज.	
४६०	जन्तुजातं-भूतनिचयः ।	॥११९३३९॥
४६१	जातिः-आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाक् । सकृदाख्यातनिर्गोहा, गोत्रं च चरणेः सह ॥ १ ॥	॥४४४५॥
४६२	जातिगुणक्रियादिभिः समुदायादेक- देशस्य वृद्ध्या पृथक्करणं-निर्धारणम्	॥२१२१५॥
४६३	जातु-कदाचिदित्यर्थे, अवधारणपाद- पूरणयोरपि ।	॥२०११९॥
४६४	जिह्वामूलमध्याग्रोपाग्ररूपं-जिह्वामूलं, जिह्वामध्यं, जिह्वामग्रं, जिह्वोपाग्रमिति वृत्तिस्थविक्षेपः ।	॥८३३६॥
४६५	जैनेन्द्राः-जिनेन्द्रस्येमे ।	॥११९३३९॥
४६६	जोषम्-अभाषणे ।	॥१८३३३॥
४६७	ज्ञाप्ये-ज्ञाप्यमानेऽर्थे ।	॥१९३३५॥
४६८	ज्योक्-कालभूयस्त्वे, प्रश्ने शीघ्रसम्प्र- त्यर्थयोश्च ।	॥१८३३३॥
४६९	ज्योषम्-अभाषणे ।	॥१८३३३॥
४७०	ज्वलितः-प्रदीप्तः ।	॥३८४२२॥
	झ.	
४७१	झगिति-तरसा ।	॥१८४७॥
४७२	झटिति-शीघ्रार्थे ।	॥१८२७॥
	ञ.	
४७३	इतमान्तस्याधि-इतमोऽन्ते यस्य स तथोक्तस्यापि ।	॥६७३२९॥
	त.	
४७४	तच्च-लिङ्गम् ।	॥१७२३३॥
४७५	ततः-तस्माद् हेतोः ।	॥४१२९॥
४७६	ततः-नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैक- धस्त्वभ्युपगमरूपानेकान्तवादापरपर्या- यस्याह्वादात् ।	॥३३३६॥
४७७	ततः-लिङ्गसंख्यावतः ।	॥१९३२४॥
४७८	ततः-स्यादित्यनेनाऽनेकान्तलाभात् ।	॥३३२९॥

क्र०	शब्दार्था ।	पृ० प०
४७९	ततो(लक्षणात्) आगतो लाक्षणिकः- अनुमेयः ।	॥४४॥४२॥
४८०	तत्र-तस्मिन् ।	॥२०॥४२॥
४८१	तत्र-बाह्यप्रयत्नमध्ये ।	॥१०॥३५॥
४८२	तथा-तेन प्रकारेण ।	॥४१॥२२॥
४८३	तथा-साम्ये ।	॥२०॥२०॥
४८४	तद्-हेत्वर्थवाक्योपन्यासयोः ।	॥२०॥१३॥
४८५	तद्धितं-तस्मै हितम् ।	॥४०॥३२॥
४८६	तद्वत्-स्वार्थद्रव्यलिङ्गसंख्याकारकद्योत्य- समुच्चयरूपाभिधेयार्थवत् ।	॥१५॥२६॥
४८७	तद्वतः-तत्प्रकारवदर्थयुक्तस्य ।	॥१८॥७८॥
४८८	तन्मते-एकेषां मते ।	॥६७॥२९॥
४८९	तयोः-इतरइतमयोः ।	॥६७॥३४॥
४९०	तरयन्तः-तरयन्ते यस्य स इत्यर्थः ।	॥६७॥२८॥
४९१	तरोत्तरपदः-तर उत्तरपदं यस्य स इत्यर्थः ।	॥६७॥२८॥
४९२	तव-हे भगवन्! भवतः ।	॥४१॥२६॥
४९३	तस्य-त्वच्छब्दस्य ।	॥६८॥११॥
४९४	तितउः-परिपक्वं, चालनीत्यर्थः ।	॥३६॥१९॥
४९५	तिरस्-अन्तर्ध्वंशतिर्यग्भावेण ।	॥१८॥३४॥
४९६	तिष्ठन्ति वर्णा अस्मिन्निति-स्थानम् ।	॥८१॥२४॥
४९७	ताजक-शीघ्राथे ।	॥१८॥२९॥
४९८	तात्त्विकः-यथार्थः ।	॥२०॥५१॥
४९९	ताभ्यां-पेयौभ्याम् ।	॥८१॥४४॥
५००	ताभ्यामपि-पेयौभ्यामपि ।	॥८१॥४४॥
५०१	तालवोष्ठपुष्टसंगृहीतस्य वायोर्विसर्जनं, स च विसर्गः पाश्चवर्त्तिविन्दुद्वयं रुढेः॥५९॥२९॥	॥५९॥२९॥
५०२	तावत्-साकल्याऽवधिमानाऽवधारणेषु । मर्यादाऽवधिपरिमाणेषु इति है.बृ.न्या ॥२०॥२२॥	॥२०॥२२॥
५०३	तीव्रः-उग्रः ।	॥१०॥२२॥
५०४	तु-किन्तु ।	॥२१॥३२॥
५०५	तु-परन्तु ।	॥१५॥५२५॥
५०६	तु-विशेषणपादपूरणयोः ।	॥२०॥१४॥
५०७	तुम्-तुंकारे ।	॥२०॥३३॥
५०८	तुल्य-साधारणोऽप्रधानस्य प्रधानेन क्रियादिना य. सबन्धः स-तुल्ययोगः॥१८६॥४५॥	॥१८६॥४५॥
५०९	तुल्यौ-सदृशौ ।	॥८१॥२६॥
५१०	तुवै-वितर्कं पादपूरणे च ।	॥१९॥३७॥
५११	तुशब्दः-पुनरर्थः ।	॥१६॥०२३॥
५१२	तुशब्दो-यस्मादर्थः ।	॥१२३॥४३॥
५१३	तृष्णीम्-अभाषणे ।	॥१८॥३१॥
५१४	तृतीया-तिसृणां पूरणी ।	॥११॥१९॥
५१५	तृतीयाऽपवाद इति-कृदन्तप्रयोगकर्तृ- वाचिनः शब्दात् "हेतुकर्तृकरणे०" तृतीयायां प्राप्तायां तदपवादः षष्ठी- त्यर्थः ।	॥२०५॥१८॥
५१६	ते-तव-हे भगवन्! भवतः ।	॥४१॥२३॥
५१७	तेन-बहुवचननिर्देशेन स्तुतसंग्रहेण ।	॥५१॥२९॥
५१८	तोषम्-सुखे मौने च ।	॥१८॥४६॥
५१९	तौम्बुरवं-चूर्णम् ।	॥९६॥११॥
५२०	त्याद्यन्तं पदं-आख्यातम् ।	॥१४॥४३॥

क्र०	शब्दार्था ।	पृ० प०
५२१	त्रयी त्रयी-त्रयोऽवयवा अस्या इति । ॥११॥१८॥	॥११॥१८॥
५२२	त्राणं-अनर्थप्रतिवातः ।	॥१७॥३१८॥
५२३	त्रिशक्तियुक्तः-तिसृभिः शक्तिभिर्युक्तः, हरिहरब्रह्मणाऽभेदेनैकस्याऽपि सृष्टि- स्थितिप्रलयात्मकत्रिशक्तियुक्तत्वं बोध्यम् ।	॥२४॥३२॥
५२४	त्रिष्टुप्प्लुतं-त्रिष्टुभः श्रुतम् ।	॥४०॥४२॥
५२५	त्वच्छब्दः-समुच्चयपर्यायः ।	॥६८॥११॥
५२६	त्वशब्दोऽन्यार्थः-अन्यशब्दस्यार्थोऽस्ये- त्यन्यार्थः, त्वशब्द इत्यन्वयः ।	॥६७॥५०॥
५२७	त्वष्टु-विश्वकर्मणः ।	॥१७॥३३॥
५२८	त्वाच-अनुमानप्रतिज्ञाप्रेषसमाप्तिषु ।	॥१९॥३६॥
५२९	त्वाचत्-अनुमानप्रतिज्ञाप्रेषसमाप्तिषु ।	॥१९॥३६॥
५३०	त्वै-वितर्कं पादपूरणे च ।	॥१९॥३७॥
५३१	त्सरकः-त्सरौ कुशलः ।	॥४२॥२८॥

द.

५३२	दकारस्य-अप्रयोगिणः ।	॥७९॥१५॥
५३३	दक्षिणतः-दक्षिणा दिग्देशो वा रमणीयो दक्षिणतो रमणीयम्, दक्षिणत आगतो वसति वा ।	॥२१॥२२॥
५३४	दक्षिणा-दिग्देशवृत्त्यर्थे, (पूर्ववद्वि- ग्रहः) ।	॥२१॥२६॥
५३५	दक्षिणाहि-दिग्देशवृत्त्यर्थे, (पूर्ववद्वि- ग्रहः) ।	॥२१॥२६॥
५३६	दक्षिणेन-दिग्देशवृत्त्यर्थे, (पूर्ववद्वि- ग्रहः) ।	॥२१॥२६॥
५३७	दर्दुरो-मेकः ।	॥८०॥१४॥
५३८	दशनानि-नयाः ।	॥४१॥१६॥
५३९	दशकृणान्यस्य दशार्णः-क्षत्रियः ।	॥२६॥१९॥
५४०	दशकृणानि जलदुर्गाण्यसां दशार्णो नदी ॥२७॥९॥	॥२७॥९॥
५४१	दशनांशवः-दन्तमयूखाः ।	॥११९॥३९॥
५४२	दशनामृणं-दशार्णम् ।	॥२७॥९॥
५४३	दारा-प्रमदाः ।	॥३८॥४१॥
५४४	दिवा-दिचसे ।	॥१८॥१६॥
५४५	दिष्ट्या-सम्पदे, पूर्वप्रीतिसेवनयोः, समाजनप्रातिष्ठोम्ययोर्वा ।	॥२०॥२३॥
५४६	दुःखेन क्रतुः-दुःखार्तः ।	॥२८॥५॥
५४७	दुर्मदाः-दुष्टा मदादयः ।	॥३८॥४३॥
५४८	दुष्टु-निन्दायाम् ।	॥१८॥३९॥
५४९	दन्मूः-सविषः कीटविशेषः ।	॥१३०॥७॥
५५०	दशिना समानार्था-दृश्यार्थाः ।	॥१२०॥५॥
५५१	दष्टात्-क्रियाविशेषात् ।	॥२१॥३४॥
५५२	दष्टाऽष्टफलानि-राज्यस्वर्गमोक्षसुखानि ॥२१॥३१॥	॥२१॥३१॥
५५३	दष्टानि-राज्यादीनि ।	॥२१॥३०॥
५५४	देवत्रा करोति-देवेऽधीनं देयं-वृत्र्यं करोति ।	॥६१॥३८॥
५५५	देवा अर्जुनतोऽभवन्-अर्जुनकर्णयोर्वि- चदमानयोरर्जुनस्य पक्षे देवा अक्षय- त्रित्यर्थः ।	॥२०॥१८॥
५५६	देशनाकाले-उपदेशसमये ।	॥३१॥३८॥

क्र०	शब्दार्थः ।	पृ० प०
५५७	देशो-जनपदग्रामनदीपर्वतादिः ।	॥१६९।७॥
५५८	दोषा-रात्रौ पर्युषिते च ।	॥१८।१६॥
५५९	द्य-हिंसाप्रातिलोम्ययोः ।	॥२०।२१॥
५६०	द्युतपणः-द्युतजेयम् ।	॥१६६।१८॥
५६१	द्योतकं-प्रकाशकम् ।	॥३।२९॥
५६२	द्रव्यं-विशेष्यम् ।	॥४।४५॥
”	”	॥१५।१९॥
५६३	द्रव्याश्रितः पर्यायो-गुणः ।	॥२००।४२॥
५६४	द्राक्-शीघ्रायै ।	॥१८।२९॥
५६५	द्विः-द्वौ वारौ अस्य ।	॥२१।१७॥
५६६	द्विः-द्वित्वे ।	॥७०।४४॥
५६७	द्वितीया-द्वयोः पूरणी ।	॥११।१९॥
५६८	द्वितीया-द्वितीयवारम् ।	॥२१।२९॥
५६९	द्वेधा-द्वाभ्यां प्रकाराभ्यामेकं राशिं द्वौ करोति ।	॥२१।१५॥
५७०	द्वैधम्-द्वाभ्यां प्रकाराभ्यामेकं राशिं द्वौ करोति ।	॥२१।१५॥
ध.		
५७१	धर्मः-स्वभावः ।	॥१७।२४॥
५७२	धिक-निन्दायै ।	॥१८।३०॥
न.		
५७३	न-नहि शेते, जने निर्जने च सर्वत्र सदैव च जागर्ति, बहुभिः कृतवैरत्वान्निरल- सत्वाद्, अत एव तस्य लब्धयश- स्त्वम् ।	॥१५५।२५॥
५७४	न-निषेधार्थः ।	॥१९।३५॥
५७५	न अदत्त-न ददौ ।	॥६३।३७॥
५७६	नञ्-निषेधार्थः ।	॥१९।३५॥
५७७	नकिञ्-निषेधे वर्जने च ।	॥१९।३५॥
५७८	नकं-रात्रौ ।	॥१८।१५॥
५७९	नचेत्-निषेधे ।	॥१९।३२॥
५८०	न त्वेष मूलराजमहीपतिः-भवन्मध्ये सुतमेनं मूलराजमहीपतिं हरित्वेन विच- न तु मूलराजमहीपतित्वेन, तत्सदृश- सकलगुणगौरवादिति भावः ।	॥१५५।३१॥
५८१	ननु-विरोधोक्तौ, अनन्वयादौ च ।	॥३९।४७॥
५८२	न प्रयोगः अप्रयोगोऽस्याऽस्तीति-अप्र- योगी ।	॥२२।३७॥
५८३	नमस्-नतौ ।	॥१८।३४॥
५८४	नमस्कारः-प्रह्लीभावः ।	॥२।५१॥
५८५	नयाः-निरवधारणा अभिप्रायविशेषा- पूर्वोक्ताः सप्त ।	॥४।२७॥
५८६	नयान्-नैगमसंग्रहव्यवहारकजुसूत्र- शब्दसमभिरुद्धपदभ्यूतेति सप्त ।	॥४।२३॥
५८७	नवः-अभिनवः ।	॥६३।३५॥
५८८	नवा-विमाणायां ।	॥२०।१६॥
५८९	न विद्यन्ति-विविधप्रकारप्रापकान् न प्राप्नुवन्ति ।	॥१७।४९॥
५९०	नवै-प्रत्याख्याने ।	॥२०।१६॥

क्र०	शब्दार्थः ।	पृ० प०
५९१	न सम्भवन्ति-त्वच्छब्दस्याऽकारान्तत्वा- भावात् प्राप्नुवन्ति ।	॥६८।१२॥
५९२	नह-प्रत्यारम्भविषादप्रतिविधिषु ।	॥१९।३४॥
५९३	नहवै-प्रत्याख्याने ।	॥२०।१६॥
५९४	नहि-अभावे ।	॥१९।३४॥
५९५	नहिकम्-प्रत्यार्याने ।	॥१९।४८॥
५९६	ना-टावचनस्य नादेश इति ।	॥७८।३४॥
५९७	नाऽतुल्यं-तुल्यमेवेत्यर्थः ।	॥८।३७॥
५९८	नादः-तन्नामकश्चतुर्थः ।	॥१९।४५॥
५९९	नादानुप्रदानाः-नादलक्षणमनुप्रदानं येषां ते नादानुप्रदानाः ।	॥१०।३९॥
६००	नाना-पृथग्भावे, अनेकविनार्थयोरिति मनोरमायाम् ।	॥१८।४२॥
६०१	नाऽन्यत्र-तस्मादन्यस्मिन् कार्ये कर्तव्ये- तीयप्रत्ययान्तं न सर्वादि ।	॥७३।२८॥
६०२	नाम-प्राकाश्यसम्भाव्यक्रोधोपगमकुत्स- नेषु ।	॥२०।२४॥
६०३	नास्ति-संज्ञायाम् ।	॥३३।१२॥
६०४	नासिक्यो वर्णः-नासिकायां भव इत्यर्थः ।	॥६।३८॥
६०५	निकपा-अन्तिके ।	॥१८।२९॥
६०६	निकामम्-अतिशयार्थे ।	॥१८।३२॥
६०७	निग्रहः-ग्रहणम् ।	॥१०।२२॥
६०८	निग्रं-परवशम् ।	॥२।२७॥
६०९	नित्यदा-सातत्ये ।	॥१८।४७॥
६१०	नित्यम्-सातत्ये ।	॥१८।४७॥
६११	निमित्तमेव-नैमित्तिकम् ।	॥१७।५१॥
६१२	नियतपरिमाणमात्राऽक्षरपिण्डः-पादः ।	॥१९।१९॥
६१३	नियोगे-अवधारणे ।	॥३०।२९॥
६१४	नियोगो-नियमोऽवधारणम्, तदभावो- ऽनियोगोऽनवकृतिः ।	॥३०।७॥
६१५	नियोजनं-नियोगो व्यापारः ।	॥३०।३०॥
६१६	नीचैस्-अवकृष्टे, अल्पे इति मनोरमा०	॥१८।२७॥
६१७	नु-वितर्कपादपूरणयोः ।	॥२०।१४॥
६१८	नुकम्-प्रत्याख्याने ।	॥१९।४७॥
६१९	नुवै-वितर्के पादपूरणे च ।	॥१९।३७॥
६२०	नूनम्-वितर्के, अर्थनिश्चये च ।	॥१९।३०॥
६२१	नेत्-प्रतिषेधाऽवधारणसमुच्चयेषु, शङ्कायां विचारेऽपि ।	॥१९।३१॥
६२२	नेमशब्दः-अर्थार्थः ।	॥६८।२॥
६२३	नो-निषेधे ।	॥१९।४४॥
६२४	नोहि-निषेधे ।	॥१९।४४॥
६२५	न्वाव-अनुमानप्रतिष्ठाप्रेषमाप्तिषु ।	॥१९।३६॥
६२६	न्वावत्-अनुमानप्रतिष्ठाप्रेषमाप्तिषु ।	॥१९।३६॥
६२७	न्वै-वितर्के पादपूरणे च ।	॥१९।३७॥
प.		
६२८	पक्षपाती-पक्षं पातयतीत्येवंशीलः ।	॥४।२४॥
६२९	पक्षे-जरसादेशमावपक्षे ।	॥१०८।३८॥
६३०	पचतिरूपम्-प्रशस्तं पचति ।	॥२१।३९॥
६३१	पञ्चकृत्व-पञ्चवारा अचीते ।	॥२१।१६॥
६३२	पञ्चधा-पञ्चप्रकारैः ।	॥२१।१३॥
६३३	पञ्चमी-पञ्चानां पूरणी ।	॥११।२०॥

क्र०	शब्दार्थः ।	पृ० प०
६३४	पद्-पाटवे ।	॥२०१८॥
६३५	पतत्-पतनशीलम् ।	॥११९।३८॥
६३६	पततीति पतोऽञ्जलेः-पतञ्जलिः ।	॥३०१३॥
६३७	पथिद्वैधानि-द्वौ प्रकारौ येषाम्-पथो द्वैधानि, पथिद्वैधानि ।	॥२१३५॥
६३८	पदं-पद्यते-गम्यते कारकसंस्तुष्टोऽर्थो- ऽनेनेति पदम् ।	॥११३४॥
६३९	पदप्रदेशः-पदसंज्ञाप्रयोजनस्थानानि ।	॥११३९॥
६४०	पदात्-पद्यते गम्यते कर्तृकर्मादिविशि- ष्टोऽर्थोऽनेनेति पदं स्याद्यन्तं तस्माद् ।	॥११६।१६॥
६४१	परकीर्त्तिस्त्वन्तीना-वैरिभूपालकीर्त्ति- निम्नगानाम् ।	॥६३।३६॥
६४२	परत्वात्-विशेषविहितत्वेन प्रकृष्टत्वात्॥११२।२१॥	
६४३	परम्-केवले, किन्त्वर्थे इति मनोरमा० ॥१८।३३॥	
६४४	परमत्वं-अवाधितज्ञानाऽतिशयादिविराज- मानत्वम् ।	॥११२६॥
६४५	परमश्चासौ ईश्वरः-परमेश्वरः ।	॥२।१४॥
६४६	परमात्मानं-परमश्चाऽसौ आत्मा च परमात्मा, तं परमात्मानम्-अवाधित- ज्ञानातिशयादिविराजमानं देवाधिदेव- विशेषम् ।	॥११२५॥
६४७	परमे पदे तिष्ठतीति-परमेष्टी ।	॥२।१४॥
६४८	परमेश्वरस्य-चतुर्लिङ्गदत्तिशयरूपपरमै- श्वर्यसम्पन्नस्य ।	॥२।१४॥
६४९	परमेश्वरस्य-परमेष्ठिनः ।	॥२।११॥
६५०	परमेष्ठिनः-अर्हतः ।	॥२।१४॥
६५१	परस्पर-अन्योन्यम् ।	॥९।३९॥
६५२	परारि-पूर्वतरे परतरे वा संवत्सरे ।	॥२१।११॥
६५३	परार्थोभिधानं वृत्तिः, तद्वाश्च पदसमु- दायः समासादिः ।	॥१३।५॥
६५४	परिक्रीयते-नियतकालं स्वीक्रियते येन परिक्रयणं-वेतनादि ।	॥१९६।८॥
६५५	परिमाणं-सर्वतो मानम् ।	॥४।४८॥
६५६	परत्-पूर्वस्मिन् परस्मिन् वा संवत्सरे	॥२१।१०॥
६५७	परेद्यवि-परस्मिन्नहनि ।	॥२०।४४॥
६५८	पशुदासो हि विधिप्रधानः ।	॥३३।४४॥
६५९	पर्वते-पूर्यते शिलाभिः-पर्वतः ।	॥१६९।२३॥
६६०	पशु-दृश्यर्थे । पशु-सम्यगर्थे, 'पशु मन्यमानाः' इति मनोर० ।	॥२०।१८॥
६६१	पश्चात्-विग्रहस्तु पूर्ववत् ।	॥२१।२३॥
६६२	पाद्-सम्बोधने, अत्र केचिद् डकार पठन्ति ।	॥१९।३९॥
६६३	पादार्थो-पाददपूरणी ।	॥५६।१०॥
६६४	पादार्थो-पादाय इयं पादोऽर्थो यस्यामिति वा ।	॥५६।३६॥
६६५	पादो नाम-नियतवर्णमात्राऽवयवविण्डः॥५६।३६॥	
६६६	पान्तु-रक्षन्तु ।	॥११९।३९॥
६६७	पिनाकपाणिः-महेश्वरः ।	॥२४।३१॥
६६८	पीलुमूलतो विद्योतते विद्युत्-पीलुमूलं यस्या दिशि तस्यां विद्योतते विद्यु- दित्यर्थः ।	॥२२।२७॥
६६९	पुंशर-पुंसः शरः ।	॥४२।३९॥

क्र०	शब्दार्थः ।	पृ० प०
६७०	पुंश्चली-पुमांसं चलयति (या सा) ।	॥४२।३७॥
६७१	पुंश्छत्रं-पुंसः छत्रम् ।	॥४२।३८॥
६७२	पुंष्टिभ-पुमान् टिष्टिभः ।	॥४२।३८॥
६७३	पुंसि-पुंलिङ्गविषये ।	॥१०५।२॥
६७४	पुंस्कामा-पुमांसं कामयते (या सा) ।	॥४२।३३॥
६७५	पुंस्कोकिलः-पुमांश्चासौ कोकिलश्च ।	॥४२।३६॥
६७६	पुंस्खातं-पुंसः खातम् ।	॥४२।३६॥
६७७	पुहुरः-पुंसः शुरः ।	॥४२।४२॥
६७८	पुद्गात-पुंसा रयातः ।	॥४२।४२॥
६७९	पुतः-स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः ।	॥८।२८॥
६८०	पुद्-कृत्सायाम् ।	॥२०।२१॥
६८१	पुनर्-अग्रयमे विशेषे च ।	॥१८।१४॥
६८२	पुनर्भूः-पुनरूढा स्त्री ।	॥१३०।७॥
६८३	पुनर्यत्नः-प्रतिपत्नः, सतो गुणाधानाया- ऽपायपरिहाराय वा समीहा ।	॥१६५।११॥
६८४	पुर-विग्रहस्तु पूर्ववत् ।	॥२१।२४॥
६८५	पुरतस्-अग्रतोऽर्थे ।	॥१८।४३॥
६८६	पुरस्-अग्रतोऽर्थे ।	॥१८।४३॥
६८७	पुरस्तात्-प्रथमे पुरोऽर्थे च ।	॥१८।४४॥
६८८	पुरस्तात्-विग्रहस्तु पूर्ववत् ।	॥२१।२४॥
६८९	पुरा-भूतभविष्यत्परीप्साचिरन्तनेषु, पुरेत्यविरते चिरातीते भविष्यदासन्ने चेति, मनोरमायाम् ।	॥१८।२०॥
६९०	पुरा-सरादौ पठितं सत्त्वभूते काले, अत्र त्वसत्त्वभूते ।	॥२०।२१॥
६९१	पुरुषोत्तम-श्रीरूपः ।	॥३८।४२॥
६९२	(या) पूः द्वारिकानगरी ।	॥१७।३४॥
६९३	पूर्व-असतः संयोगान्तलोपात् पूर्वम् ।	॥८८।१७॥
६९४	पूर्वेण-"नित्यमन्वादेशे" इत्यनेन ।	॥१२१।३०॥
६९५	पूर्वेण-"शुष्मदसदादौ" इत्यनेन ।	॥१११।१७॥
६९६	पूर्वेणेति-"कयोस्सदाधारे" इत्यनेन- त्यर्थः ।	॥२०७।३१॥
६९७	पूर्वेद्युः-पूर्वस्मिन्नहनि ।	॥२१।८॥
६९८	पूर्वेपां-पाणिन्यादीनाम् ।	॥१९।२५॥
६९९	पृथक्-भिन्ने वियोगे इत्यपि ।	॥१८।३०॥
७००	पृथगुपादानं-उत्तरद्वयमयोः प्रकृति- द्वारेण सर्वादित्वे लब्धेऽपि प्रकृते- र्मित्रोपादानम् ।	॥६७।३६॥
७०१	प्याद्-सम्बोधने, अत्र केचिद् डकारं पठन्ति ।	॥१९।३९॥
७०२	प्रकरणात्-प्रस्तावात् ।	॥१४।३२॥
७०३	प्रकर्ष-प्रकृष्टम् ।	॥१७०।१८॥
७०४	प्रकर्षेण सितो बद्धः-प्रसितः ।	॥१८९।५॥
७०५	प्रकामम्-अतिशयायै ।	॥१८।३२॥
७०६	प्रकृति-स्वभावः ।	॥१८७।४४॥
७०७	प्रकृतिमात्रस्य-शुष्मदसद्रूपपदस्य ।	॥११३।४३॥
७०८	प्रकृष्टो योगः सम्बन्धः-प्रयोगः ।	॥२२।३७॥
७०९	प्रगतमृणं-प्राणम् ।	॥२७।८॥
७१०	प्रगता पलका अस्मात्-प्रैलको देशः ।	॥३१।८॥
७११	प्रणता-प्रणन्तुमारब्धाः ।	॥४।३०॥
७१२	प्रणम्य-मनसि नत्वा ।	॥११।२६॥

क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
७१३	प्रणिदध्महे-ध्यायामः ।	॥२१५०॥
७१४	प्रणिधेयं-प्रणिधिविषयम् ।	॥२१४३॥
७१५	प्रताम्-ग्लानौ ।	॥१८४७॥
७१६	प्रतिदानं-गृहीतस्य प्रत्यर्पणं-विशोधन- मिति यावत् ।	॥१९७१७॥
७१७	प्रतिनिधीयत इति-प्रतिनिधिः, मुख्यस्य सदृशोऽर्थः ।	॥१९७१७॥
७१८	प्रतिपत्तिः-ज्ञानम् ।	॥११२२५॥
७१९	प्रत्यर्पणं-निर्यातनम् ।	॥१९७१७॥
७२०	प्रत्यासत्तेः-प्रत्यासत्तिन्यायात् ।	॥३६१२९॥
७२१	प्रत्यासत्तेः-पूर्वप्रदर्शितप्रत्यासत्ति- न्यायात् ।	॥३५१२८॥
७२२	प्रत्युत-उक्तवैपरीत्ये ।	॥२०१२९॥
७२३	प्रवाहु-ऊर्ध्वार्थे ।	॥१८३५॥
७२४	प्रवाहुक्-अद्वयार्थे ।	॥१८३५॥
७२५	प्रवाहुकम्-अद्वयार्थे ।	॥१८३५॥
७२६	प्रवाहुकम्-समकालार्थे, सिद्धार्थे च ।	
७२७	प्रवाहिका-इति पाठान्तरमिति मनोरमा०	॥१८३५॥
७२८	प्रयत्नः-उत्साहः ।	॥८१२५॥
७२९	प्रवादाः-प्रकर्षेण स्वाभ्युपगतार्थप्रति- पादनशीलाः सिद्धान्ताः ।	॥४१२२॥
७२९	प्रवेयः-प्रवीयते प्राजतिक्रियया व्याप्यते यः स प्रवेयः ।	॥१६३३८॥
७३०	प्रवेशः-संगमम् ।	॥६३३३७॥
७३१	प्रशस्यते-लोके विश्रुतो भवति ।	॥८५१२८॥
७३२	प्रशान्-चिरन्तने, समानार्थे इति मनोरमायाम् ।	॥१८४०॥
७३३	प्रसरः-प्रकर्षः ।	॥१७३३३॥
७३४	प्रसिद्धतत्सम्बन्धस्य किमप्याख्यातुम- मिमुक्षीकरणं-आमन्त्रणम् ।	॥१७८५॥
७३५	प्रसिद्धं-लक्षणम् ।	॥२१११६॥
७३६	प्राक्-प्राची दिग्गमणीया, प्राग्देशः कालो वा रमणीयः, प्राग्गमणीयम् । प्राच्या दिशः प्राचो देशात् कालाद्वा प्रागागतः । प्राच्यां दिशि प्राचि देशे काले वा वसति ।	॥२११२०॥
७३७	प्रातस्-प्रत्यूषे ।	॥१८११॥
७३८	प्रादुस्-प्राकाश्ये, नाक्ष्यपि ।	॥१८४५॥
७३९	प्रामाणिकादेः-यथार्थप्रमाणपुरस्सरं वक्तुम्यः सकाशात् ।	॥५११६॥
७४०	प्रायस्-बाहुल्ये ।	॥१८३४॥
७४१	प्रार्थनायाऽध्ययनं-प्रच्ययनम् ।	॥३०११४॥
७४२	प्रावृद्धजाता-वर्षाकालः समनुप्रासः ।	॥१५५१२२॥
७४३	प्रावृद्धजाता-धृष्टिकालः सम्पद्यमानः ।	॥१५५१२८॥
७४४	सुतसंग्रहाय-सुतानां संग्रहाय ।	॥६१२६॥
७४५	फट्-निर्भर्त्तनसम्बोधनयोः ।	॥१९१३९॥
७४६	फलं-कार्यम् ।	॥१८५१४५॥
७४७	फलसाधनयोग्यः पदार्थः-हेतुः ।	॥१८५१५॥

क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
७४८	वत्-खेदानुकम्पासन्तोषविसया- ऽऽमन्त्रणेण ।	॥२०११४॥
७४९	वलवत्-निर्भरे । वलवदित्यतिशये इति मनो० ।	॥१८३८॥
७५०	वलेः-पशुवधरूपस्य राजग्राह्यभागस्य चा ।	॥२४३३॥
७५१	वहिस्र-वाह्ये वहिर्भावे, अनावृतप्रदेशे ।	॥१८२०॥
७५२	वहुगुडो-द्राक्षा ।	॥१६११८॥
७५३	वहुधा-वहव आसन्ना वारा अस्य ।	॥२१११९॥
७५४	वहुराजा-वहवो राजानो यस्या सा ।	॥१५३२८॥
७५५	वहुशः-वहवो बहुशो वा ददाति ।	॥२१३३३॥
७५६	वालकश्यः-मृगजातिः ।	॥२५१२८॥
७५७	वाह्या-निष्पत्तौ ।	॥२०२२९॥
७५८	विम्बोष्ठी-विम्बमिव ओष्ठौ यस्या सा ।	॥३०४२॥
७५९	वोधः-ज्ञानमार्गं, वद्विशेषश्च ।	॥१६११७॥
७६०	व्रीतीति-वचनः ।	॥१९३४०॥
७६१	ब्रह्मबन्धुः-ब्रह्मा बन्धुरस्याः ।	॥१५१४२॥
७६२	भगोस्-सम्बोधने ।	॥१९१४५॥
७६३	भजति तमिति-भागः ।	॥१८०२७॥
७६४	भयं-आकुलीभावः ।	॥१७३१७॥
७६५	भवः-संसारः ।	॥१९१३८॥
७६६	भवतु-परोक्षवचनः ।	॥७०४४५॥
७६७	भवनं-भावः ।	॥१९३३४०॥
७६८	भवन्तं-केवलज्ञानभास्वद्विभूषितदेहम् ।	॥४१३०॥
७६९	भावः-क्रिया ।	॥२१११६॥
७७०	भावः-क्रिया गोदोहादिः ।	॥१६११७॥
७७१	भावः-परस्परविरुद्धचर्मोपन्यासः ।	॥४१२१॥
७७२	भावात्-उत्पत्तेः ।	॥१९३३३॥
७७३	भित्-भिनचोति ।	॥१५४४॥
७७४	भुवस्-मनुष्यलोके ।	॥१८११८॥
७७५	भूपत्यः-चैरिराजानः ।	॥१०६१२४॥
७७६	भूयस्-पुनरर्थे, आधिक्ये च ।	॥१८३३४॥
७७७	भूस्-जागलोके ।	॥१८११८॥
७७८	भेदिनः-प्रकारवतोऽर्थस्य ।	॥१८७८॥
७७९	भेदैः-प्रकारविशेषैः ।	॥१८७८॥
७८०	भेदो-नानात्वं-पक्षव्यतिथिगोपी ।	॥२४३२॥
७८१	भोगोभयो इत्येते-आमन्त्रणार्थाः सकारान्ता अज्ययाः ।	॥४७८८॥
७८२	भोस्-सम्बोधने ।	॥१९१४५॥
७८३	मङ्गु-शीघ्रार्थे ।	॥१८१२७॥
७८४	मङ्गलं-उत्सवम् ।	॥१०६१२२॥
७८५	मत्सरिणः-अतिशयेनाऽक्षमावन्तः ।	॥४१२२॥
७८६	मनस्-नियमे ।	॥१८३३४॥
७८७	मनाक्-ईषदप्राप्तयोः । अल्पे इति मनो०	॥१८३३३॥
७८८	मन्दः-शनैः शनैः ।	॥१०१२४॥
७८९	मन्युः-क्रोधः ।	॥३८४२४॥

क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
७९०	मयस्-सुखे ।	॥१८१७॥
७९१	मर्या-सीमावन्धे ।	॥२०१२४॥
७९२	महत्त्वं-दीर्घत्वम् ।	॥१०१२४॥
७९३	मा-निषेधार्थः ।	॥१९१३५॥
७९४	माकिः, मार्कि, नकिः-इति त्रयोऽपि वर्जने, इति मनोरमायाम् ।	॥१९१३५॥
७९५	माकिस्-निषेधे वर्जने च ।	॥१९१३५॥
७९६	माङ्-निषेधार्थः ।	॥१९१३५॥
७९७	मात्रं-अवधारणे ।	॥३९१२६॥
७९८	मात्रा-कालविशेषः ।	॥५११०॥
७९९	मा स त्यजत-तत्पक्त्वा नगरं मा स गच्छत ।	॥१५५१२३॥
८००	” मा स त्यजत-वन् त्यक्त्वा तन्नगरं रोद्धुं मा स गच्छत ।	॥१५५१२३॥
८०१	मिथस्-विजनवियोगे तरेतरार्थे ।	॥१२१२५॥
८०२	मिथु-विजनवियोगे तरेतरार्थे ।	॥१८१२५॥
८०३	मिथु-स्वाङ्गे द्वावित्यर्थे इति मनोरमा०	॥१८१२६॥
८०४	मिथुनम्-स्त्रीपुंससंयोगे ।	॥१८१२६॥
८०५	मिथुस्-संगमे ।	॥१८१२६॥
८०६	मिथो-ओकारान्तो-रहः सहायार्थयोः ।	॥१८१२५॥
८०७	मिथो मिथस् (पतौ) रहः सहायार्थयोः इति मनोरमायाम् ।	॥१८१२५॥
८०८	मिथ्या-वितथे ।	॥१८१२४॥
८०९	मुधा-व्यर्थे ।	॥१८१२४॥
८१०	मुहुस्-पुनः पुनः ।	॥१८१२६॥
८११	मूलराजः-तन्नामा नृपतिः ।	॥२१८१३२॥
८१२	मूलार्कः-मूलनक्षत्रे स्थितो रविः ।	॥२१८१३१॥
८१३	मृषा-वितथे ।	॥१८१२४॥
<b>य.</b>		
८१४	यः-पूर्वाक्तस्तस्य नृपस्य यशोर्णवः ।	॥६३१३६॥
८१५	यच्च-वाक्यान्तरोपक्रमे ।	॥२०११५॥
८१६	यतस्ततः-हेतौ ।	॥२०१३२॥
८१७	यतो-यस्मात् कारणात् ।	॥४१२९॥
८१८	यत्तत्-हेतौ ।	॥२०१३२॥
८१९	यत्र-कालेऽधिकरणे, मनोरमायां तु यत्रेत्यनवकृत्यमर्षगर्हाऽऽश्चर्येषु ।	॥१९१३३॥
८२०	यत्र-यस्मिन् ।	॥८१२८॥
८२१	यत्र-वर्णसमुदाये ।	॥७१२९॥
८२२	यत्र पुद्गलस्कन्धस्य वर्णभावापत्तिस्तत्-स्थानं कण्ठादि ।	॥८१५॥
८२३	यथा-दृष्टान्ते येन प्रकारेण ।	॥४१२१॥
८२४	यथा-येन प्रकारेण ।	॥२१११२॥
८२५	यथा-योग्यतावीप्सार्थाऽनतिवृत्ति-सादृश्येषु ।	॥२०१२०॥
८२६	यथाकथाव-अनादरे ।	॥२०१२०॥
८२७	यथादर्शनं-दर्शनमनतिक्रम्य वर्तत इति	॥३५१३५॥
८२८	यथायथम्-यथास्वमित्यर्थे ।	॥२०१२०॥
८२९	यथायोगं-योगमनतिक्रम्य ।	॥६०१३१॥
८३०	यथासंख्यं-यथाक्रमं सिञ्जीञ्च इति प्रथमा ।	॥११११८॥

क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
८३१	यद्-हेत्वर्थवाक्योपन्यासयोः ।	॥२०१२२॥
८३२	यदा-देशाद्यधिकरणे ।	॥२०११९॥
८३३	यदा-यस्मिन् काले ।	॥१६१२४॥
८३४	यदा-यस्मिन् समये ।	॥१९१३८॥
८३५	” यदाधेयसन्निधिमात्रेण क्रियाहेतु-स्तत्-सामीप्यकम् ।	॥१७४११४॥
८३६	यदि-पक्षान्तरे ।	॥२०११९॥
८३७	यदिनाम-पक्षान्तरे ।	॥२०११८॥
८३८	” यदुत-पराशयप्रकाशनादौ ।	॥२०११९॥
८३९	यशोऽर्णवः-कीर्त्तिनदीपतिः ।	॥६३१३५॥
८४०	यस्याऽऽधेयेन समस्ताऽवयवसंयोग-स्तद्-अभिध्यापकम् ।	॥१७४१२२॥
८४१	यस्याऽर्थो गम्यते न च शब्दः प्रयु-ज्यते स-गम्यः ।	॥१९४१६॥
८४२	यावत्-साकल्याऽवधिमानाऽवधारणेषु । मर्यादाऽवधिपरिमाणेषु इति है० वृ० न्या० ।	॥२०१२२॥
८४३	युगपत्-क्रियासमभिहारे सहाय्ये च ।	॥१८१४३॥
८४४	युज्यते-सम्बध्यत इति योगः ।	॥२२१३७॥
८४५	युष्मद्-प्रत्यक्षवचनः ।	॥७०१४५॥
८४६	योगे-योगः-सम्बन्धस्तस्मिन् ।	॥६१११५॥
८४७	योग्यः-सामान्यतो दृष्टसामर्थ्यः ।	॥१८५१४५॥
८४८	योजनं-युक्तं सममविषयं संख्यास्थानं युग्ममिति यत्संख्यायते तेन परिच्छिन्नं वस्त्वपि युगित्युच्यते ।	॥११६११७॥
८४९	योस्-विषयसुखे ।	॥१८११७॥
<b>र.</b>		
८५०	रज्जवः-रज्जुसन्निभाः ।	॥११९१३९॥
८५१	रसेन-पारदेन ।	॥४१२७॥
८५२	राजपुरुषः-राज्ञः पुरुषः ।	॥१६११८॥
८५३	रुचिः-अन्यकर्तृकोऽभिलाषः ।	॥१९११२२॥
८५४	राजासन्दी-सोमासनम् ।	॥१४७१३९॥
८५५	रजा-पीडा ।	॥१६५११५॥
८५६	रूपं-आनुपूर्वी ।	॥१५१२७॥
८५७	रूपतर्कः-रजतकार्पाषणादिपरीक्षकः ।	॥१६२१२१॥
८५८	रै-अनुशयसम्बोधनयोः ।	॥१९१४६॥
८५९	रै-दाने अनादरे च ।	॥१९१३९॥
८६०	रै-दाने अनादरे चेति है० वृ० न्या०, रै करोति ददातीत्यर्थः, 'त्वं रै किं करिष्यसि ?' इति मनोरमायाम् ।	॥१९१३७॥
८६१	रोदसी-द्यावापृथिव्योः ।	॥१८११८॥
८६२	रौक्ष्यं-पारुष्यम् ।	॥१०१२३॥
<b>ल.</b>		
८६३	लक्षणं-स्वरूपम् ।	॥३६१३१॥
८६४	लक्ष्यते दृश्यते येन तल्लक्षणं-चिह्नम् ।	॥७७११३॥
८६५	लक्ष्यतेऽऽनेनेति लक्षणं-लिङ्गम् ।	॥४४१४२॥
८६६	लघुप्रयत्नतरौ-मन्दतरप्रयत्नौ ।	॥४८१३६॥
८६७	लब्धस्य रक्षणं-योगः ।	॥२१२५॥
८६८	लिङ्गं-पुंस्त्रीपुंसकरूपम् ।	॥१५१३४॥



क्र०	शब्दार्थः ।	पृ० प०
८६९	लिङ्ग-स्त्यानप्रसवः, तच्च पुंस्त्रीनपुंस- कादिरूपम् ।	॥४१४६॥
८७०	लुक्-मदर्शनम् ।	॥४१४८॥
८७१	लुग्-लोपोऽदर्शनम् ।	॥४१४८॥
		॥३०१७॥
८७२	लोकात्-वैयाकरणसमयविदः, ग्रामा- णिकादेश्च ।	॥५११॥
८७३	लोकेषु-जनेषु ।	॥२१८१३२॥
	व.	
८७४	व-पादपूरणे इचार्ये च ।	॥२०१३२॥
८७५	वः-युष्मान् ।	॥११९१३९॥
८७६	वक्त्रं-मुखम् ।	॥१०६१२३॥
८७७	वज्राकृतिः-वज्रस्येवाऽऽकृत्यस्य सः, कुलिशाऽवयवविन्याससमस्वरूपः ।	॥८११७॥
८७८	वट्-वियोगपादपूरणयोः ।	॥१९१३९॥
८७९	वदि-कृष्णपक्षे ।	॥१८१४८॥
८८०	वयं-एकव्यक्तितात्पर्येणोच्चरितादस- च्छब्दाद्बहुवचनं तु पूर्वोक्तविशेषण- विशिष्टस्य अहमित्यस्य ध्येयस्य ध्याने- नाऽऽत्मनि समुत्कृष्टत्वेन गुणबाहुल्यं, तैरभिमतयाऽऽत्मनो बहुत्ववाचकत्वा- द्बोध्यम् ।	॥२१४८॥
८८१	वरम्-मनागिष्टे, ईषदुत्कर्षे इति मनोरमा०	॥१८१३३॥
८८२	वर्गाणां-कवर्गचवर्गटवर्गतवर्गपवर्गा- णाम् ।	॥१०१३५॥
८८३	वर्ज्ये-वर्जनीये ।	॥१९७१३॥
८८४	वर्णत्वार्थ-वर्णत्वप्रयोजनाय ।	॥८१२२॥
८८५	वर्णध्वनी-अक्षरध्वनी ।	॥९१३८॥
८८६	वर्णनिष्पत्तिकालात्-अक्षरोत्पत्ति- समयात् ।	॥१०१२८॥
८८७	वर्णभावापत्तिः-अक्षररूपतापरिणामः ।	॥८१३०॥
८८८	वर्णेषु-लोकविश्रुतेषु ।	॥८१२२॥
८८९	वर्णोत्पत्तिकाले-अक्षराभिव्यक्तिसमये ।	॥१०१३०॥
८९०	वर्षाभूः-ओषधिविशेषो द्रुवरश्च ।	॥११३०८॥
८९१	वषट्-देवहविर्दानादौ ।	॥१९१३८॥
८९२	वसनानामृणं-वसनार्णम् ।	॥२८११॥
८९३	वा-अथवा ।	॥१४३२२॥
८९४	वा-अथवेति पक्षान्तरे ।	॥६७१२८॥
८९५	वाक्छूर-वाचा शूरः ।	॥४०१३८॥
८९६	वाक्छृक्षः-वाचा शृक्षः ।	॥४०१४०॥
८९७	वाग्धीनः-वाचा हीनः ।	॥४०१२८॥
८९८	वाचकं-बोधकम् ।	॥२११४॥
८९९	वाचंयमा-वशीकृतेन्द्रियाः-सत्पुरुषाः ।	॥३८१४४॥
९००	वाट्-वियोगपादपूरणयोः ।	॥१९१३९॥
९०१	वादात्-विविक्तशब्दप्रयोगात् ।	॥४१४॥
९०२	वायुवशेन-समीरणवलेन ।	॥१०१२८॥
९०३	वाव-सम्बोधने ।	॥१९१३६॥
९०४	वावत्-अनुमानप्रतिष्ठापैषसमाप्तिषु ।	॥१९१३६॥
९०५	वा-स्याद्विकल्पोपमयोरेवार्थे समुच्चये ।	॥१९१२९॥
९०६	विक्रयः-यो देयः ।	॥१६६१४४॥

क्र०	शब्दार्थः ।	पृ० प०
९०७	विघातः-विशेषेण घातो-हननम् ।	॥२१२६॥
९०८	विधमानता-सत्ता ।	॥१८६१४६॥
९०९	विधार्यते-विशेषेण धार्यते ।	॥९१३५॥
९१०	विधिः-प्रजापतिः ।	॥२४३३॥
९११	विना-योगप्रतिषेधे, वर्जने इति मनोर- मायाम् ।	॥१८१४२॥
९१२	विनिमयः-क्रेयविक्रेयोऽर्थः ।	॥१६६१८॥
९१३	विभक्तिः-विभज्यन्ते-विभागशः प्रका- श्यन्ते कर्तृकर्मादयोऽर्था अनया इति ।	॥१११२८॥
९१४	विरामश्च-अवसानम् ।	॥५९११९॥
९१५	विरामैकव्यञ्जने-विरामेऽसंयुक्तव्यञ्जने चा॥५९१२॥	
९१६	विरामो-विरतिः-वर्णानामुच्चारणाभावः॥५९१२०॥	
९१७	विलेसुः-विलासं चक्रे रेमिर इत्यर्थः ॥१०६१२५॥	
९१८	विवारः-तन्नामको बाह्यप्रयत्नः प्रथमः ।	॥९१४२॥
९१९	विवारादयः-विवारसंवारश्चासनाद्यो- पाऽधोषाऽल्पप्राणतामहाप्राणतोदात्ता- नुदात्तस्वरिताः ।	॥१०१२७॥
९२०	विविधं प्रष्टव्यो-विप्रष्टव्यः ।	॥१९३१९॥
९२१	विविधा विशेषानुपलम्भादेकस्मिन् वस्तुनि सादृश्यादिनिमित्तादनेक- पक्षालम्बनाऽनवधारणाऽऽत्मिका मतिः-विमतिः-सन्देहज्ञानमिति यावत् ।	॥१९२१३६॥
९२२	विवृतं-विकस्वरम् ।	॥९१४४॥
९२३	विवृतकण्ठा-येषामुच्चारणे कण्ठो विवृतो भवति ते विवृतकण्ठाः ।	॥१०१३६॥
९२४	विवृतत्वात्-विकासित्वात् ।	॥९१४२॥
९२५	विशिष्टः प्रश्नो-विप्रश्नोऽभिमानोन्मा- दादिप्रयुक्तः पूर्वपक्षः ।	॥१९२१३८॥
९२६	विशिष्यते विशेष्यं येन तद्-विशेषणम् ॥१४१५॥	
९२७	विशेषणं-व्यवच्छेदः ।	॥१११२२॥
९२८	विषयः-आश्रयोऽविज्ञाततत्त्व- सन्दिग्धोऽर्थः ।	॥१९२१३७॥
९२९	विषु-नानाऽर्थे ।	॥२०१७॥
९३०	विष्वक्-समन्तादित्यर्थे नानार्थे इत्यपि ॥१८१२८॥	
९३१	विसृज्यते-विरम्यत इति विसर्गः ।	॥६१३५॥
९३२	विहायसा-अन्तरिक्षे ।	॥१८१७॥
९३३	वीक्ष्यं-विमतिपूर्वकं निरूपणीयम्- विप्रश्नविषय इति यावत् ।	॥१९२१२२॥
९३४	वीप्सा-क्रियागुणद्रव्यैर्युगपत् प्रयोक्त- व्यामुत्सिच्छा ।	॥४१४८॥
९३५	वृत्तिः-वर्तनम् ।	॥१३१७॥
९३६	वृत्त्यन्तत्वाभावात्-समासचरमा- वयवाभावात् ।	॥१३३३४॥
९३७	वृथा-व्यर्थे ।	॥१८१२५॥
९३८	वेट्-वियोगपादपूरणयोः ।	॥१९१३९॥
९३९	वेत्तीति-जानातीति ।	॥५११५॥
९४०	वै-निश्चये । स्फुटार्थे इति ह्र० वृ० न्या० ।	॥१९१३८॥
९४१	वैयाकरणानां-शाब्दिकानाम् ।	॥५११५॥
९४२	वौषट्-देवहविर्दानादौ ।	॥१९१३८॥

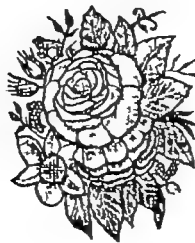
क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
९४३	व्यञ्जनं-व्यज्यते प्रकाशवान् क्रियतेऽ थोऽनेनेति व्यञ्जनमित्यन्वर्थसंज्ञा ।	॥७१२५॥
९४४	व्यपदेशः-कथनम् ।	॥८५१२९॥
९४५	व्यवस्था-मर्यादा ।	॥१२४३१॥
९४६	व्यवस्थितं-मर्यादानतिक्रान्तम् ।	॥७११४४॥
९४७	व्याप्त्यर्थ-व्याप्तिः-सम्बन्धस्तदर्थम् ।	॥२५१२४॥
<b>श.</b>		
९४८	शंवट्-अन्तःकरणे आभिमुख्ये च ।	॥२०१३२॥
९४९	शकानामन्धुः-शक्न्धुः ।	॥३०१३३॥
९५०	शक्तिः-कर्मत्वकरणत्वसम्प्रदानादिः ।	॥१५१२४॥
९५१	शनैस्-क्रियामाद्ये ।	॥१८१२७॥
९५२	शप्-प्रतिग्रहे ।	॥२०११७॥
९५३	शब्दानां लौकिकानां प्राकृतानां च अनु- शासनं-व्युत्पादनं-शब्दानुशासनं- व्याकरणम् ।	॥११२८॥
९५४	शब्दानुशासनस्य-शब्दव्युत्पत्ति- जनकशास्त्रस्य ।	॥४११५॥
९५५	शम्-सुखे ।	॥१८११७॥
९५६	शब्-प्रतिग्रहे ।	॥२०११७॥
९५७	शश्वत्-पौनःपुन्ये, नित्ये सहाय्ये च ।	॥१८१४४॥
९५८	शश्वत्-खरादावपि पठितः ।	॥१९१३१॥
९५९	शाङ्गरी-शं गृणाति शृङ्गस्त्वपिस्त- स्याऽपत्यं शाङ्गरी ।	॥८६१२८॥
९६०	शास्त्रप्रवृत्तये-शास्त्रस्य-शब्दानुशासनस्य प्रवृत्तये प्रयोगनिष्पत्तये ।	॥५११६॥
९६१	शास्त्रारम्भे-शब्दानुशासनादौ ।	॥२१५०॥
९६२	शास्त्रे-ज्योतिःशास्त्रे ।	॥२१८३१॥
९६३	शिक्षा-वर्णात्पत्तिपादकं शास्त्रम् ।	॥१३३३॥
९६४	शिटः-परोऽधोष इति-व्यत्ययः ।	॥६०५॥
९६५	शिवाः-जम्बूकाः ।	॥१०६१२४॥
९६६	शीतेन क्रतुः-शीतार्तः ।	॥२८५॥
९६७	शुः-पूजायाम् ।	॥१८१४२॥
९६८	शुकम्-प्रत्यास्थाने शैत्ये च । शुकम्- अतिशये इति मनोर० ।	॥१९१४७॥
९६९	शुक्लीकरोति-न शुक्लं-अशुक्लं शुक्लं करोतीति-शुक्ली करोति ।	॥२११३०॥
९७०	शुदि-शुक्लपक्षे ।	॥१८१४८॥
९७१	शुभाशुभं तत्कृतं फलं वा सुखदुःखा- त्मकं-दैवम् ।	॥१९२१४०॥
९७२	शेते-आलस्याभिरुच्यम् आस्ते ।	॥१५५१२४॥
९७३	श्रूयते-श्रवणजन्मना प्रत्यक्षेण विषयीक्रियते ।	॥२१८३३॥
९७४	श्रेयः-अतिशयेन प्रशस्यम् ।	॥११२८॥
९७५	श्रौषट्-देवहविर्दानादौ ।	॥१९१३८॥
९७६	श्लाघ्यया-श्लाघामर्हया ।	॥८५१२८॥
९७७	श्वस्-अनागतैऽङ्गि ।	॥१८११६॥
९७८	श्वासः-तन्नामको वायुः ।	॥११४४॥
९७९	श्वासानुप्रदानाः-श्वासलक्षणमनुप्रदानं येषां ते श्वासानुप्रदानाः ।	॥१०१३७॥

क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
<b>ष.</b>		
९८०	पट्टयामाः-पण्णां इयामाः ।	॥४०१४२॥
९८१	पट्रो-पण्णां पूरणी ।	॥१११२०॥
<b>स.</b>		
९८२	संवत्-वर्षे ।	॥१८१४८॥
९८३	संवृतकण्ठाः-येषामुच्चारणे कण्ठः संवृतो भवति ते-संवृतकण्ठाः ।	॥१०१३८॥
९८४	संवृतत्वात्-संकोचशालित्वात् ।	॥९१४३॥
९८५	संशयत्रैधानि-त्रयः प्रकारा येषाम्, संशयस्य त्रैधानि-संशयत्रैधानि ।	॥२११३६॥
९८६	सकलः-परिपूर्णः ।	॥२६११५॥
९८७	सकलागमेषु-पूर्वपश्चिमान्नायरूपेषु ।	॥२१२४॥
९८८	सकलानि-समग्राणि ।	॥४११६॥
९८९	सकृत्-एकवार भुङ्क्ते ।	॥२१११७॥
९९०	सङ्कल्पः-इच्छासम्पादनम् ।	॥२१३२॥
९९१	संख्या-एकत्वद्वित्वाद्यभिधानबुद्धिहेतुः ।	॥४१४७॥
९९२	संख्याः-एकाद्याः ।	॥१५१२४॥
९९३	संख्ये-युद्धे ।	॥१०६१२४॥
९९४	सततम्-सातत्ये ।	॥१८१४७॥
९९५	सत्यम्-अर्घाङ्गीकारे ।	॥१८१४८॥
९९६	सत्यं-प्रश्नप्रतिषेधयोः ।	॥१८१२४॥
९९७	सत्रा-सहाय्ये ।	॥२०१२५॥
९९८	सत्त्वं-द्रव्यम् ।	॥१९१२२॥
९९९	सत्त्वं-द्रव्यं, ततोऽन्यदसत्त्वम् ।	॥१९१२२॥
<b>॥</b>		
१०००	सदा-सातत्ये ।	॥१८१४७॥
१००१	सद्यः-समानेऽङ्गि ।	॥२०१४४॥
१००२	सन्-परित्राणे ।	॥१८१४०॥
१००३	सनत्-चेदर्थे ।	॥१८१४१॥
१००४	सना-नित्ये । सना, सनत्, सनात् ; एते त्रयोऽपि नित्ये इति मनोरमा०	॥१८१४१॥
१००५	सनात्-हिंसायाम् ।	॥१८१४१॥
१००६	सन्ध्यक्षर-सन्धौ सत्यक्षरं-अर्थमश्रुते- व्याप्नोति-सन्ध्यक्षरम् ।	॥६१३३॥
१००७	सन्निधिः-अदूरदेशावस्थितिः ।	॥१७४१४१॥
१००८	सन्निपातः-सम्मेलनं समाहार इति यावत् ।	॥१०१२६॥
१००९	सन्निपातलक्षणत्वात्-सन्निपतति कार्य- मसिन् सन्निपातो निमित्तं शिलक्षणं, स लक्षणं चिह्नं यस्य तस्य तस्य भाव- स्तत्त्वं तस्मात् ।	॥९१११७॥
१०१०	सनुत-कालवाचि ।	॥१८११४॥
१०११	सपदि-शैत्ये, हृते इति है० वृ० न्या०	॥१८१४०॥
१०१२	सप्तमी-सप्तानां पूरणी ।	॥१११२०॥
१०१३	समम्-सहाय्ये, समम्-समन्ततोऽर्थे इति है० वृ० न्या० ।	॥२०१२५॥
१०१४	समयः-सिद्धान्तः ।	॥४१२५॥
<b>॥</b>		
१०१५	समयः-स्यात्पदलाञ्छितः सिद्धान्तः ।	॥४१२५॥
१०१६	समया-समीपे मध्ये च ।	॥१८११९॥
१०१७	समसिम्भौ-सर्वार्थौ ।	॥६८१२॥

क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
१०१८	समाज्ञायः-पाठक्रमः ।	॥५॥१७॥
१०१९	समाय-अविपमाय ।	॥६८॥१८॥
१०२०	समाश्रयणं-अङ्गीकारः ।	॥४॥१७॥
१०२१	समासान्तविधेः-“ऋकूः पश्यपोऽत्” इत्यस्य ।	॥१०४॥२४॥
१०२२	समुच्चयपर्याय इति-तत्रैकमर्थं प्रति ह्यादीना क्रियाकारकद्रव्यगुणानां तुल्यबलानां अविरोधिनामनियत- क्रमयौगपद्यानां आत्मरूपभेदेन चीय- मानता समुच्चयस्तस्य पर्यायस्तद्वाचक इत्यर्थः ।	॥६८॥१९॥
१०२३	समूहः-संघातः ।	॥४॥१७॥
१०२४	समे देशे इति-अविपमे इत्यर्थः ।	॥७०॥२१॥
१०२५	सम्भावितोत्कर्षया-सम्भावित उत्कर्षो यस्याः सकाशात्तथैत्यर्थः ।	॥८५॥२७॥
१०२६	सम्भेदः-संश्लेषरूपः सम्बन्धरूपश्च भेदः ।	॥२॥४५॥
१०२७	सरूपे-समानं रूपं यस्य तस्मिन् ।	॥५७॥३२॥
१०२८	सर्वकल्याणकारणं-सकलमङ्गल- मूलम् ।	॥२१८॥३१॥
१०२९	सर्वतः-सर्वेभ्यः ।	॥२॥४५॥
१०३०	सर्वपार्षदत्वात्-सर्वसाधारण्यात् ।	॥४॥१४॥
१०३१	सर्वाङ्गानुसारी-सर्वाङ्ग-प्रत्यङ्ग अनुसर- तीत्येवंशीलः ।	॥१०॥२१॥
१०३२	सह-तुल्ययोगविद्यमानयोः ।	॥२०॥२५॥
१०३३	सहविशेषणेन वर्तते-सविशेषणम् ।	॥१४॥१५॥
१०३४	सहसा-अतर्किते, आकस्मिकाविम- र्शयोरिति मनोर० ।	॥१८॥४२॥
१०३५	सहस्य-सहस्रद्रव्यार्थो द्योत्यः- सहार्थः ।	॥१८६॥४५॥
१०३६	सहार्थः-तुल्ययोगो विद्यमानता च ”	॥१८६॥११॥
१०३७	साकम्-सहार्थे ।	॥२०॥२५॥
१०३८	साकल्ये-यावत्कार्यं तावत्कृतम् ।	॥२०॥२२॥
१०३९	साक्षात्-प्रत्यक्षतुल्ययोः ।	॥१८॥४०॥
१०४०	साचि-वक्रतिर्यगर्थयोः ।	॥१८॥२८॥
१०४१	साधनं-निष्पादनम्, करणमिति यावत् ।	॥१८५॥४५॥
१०४२	सामनि साधुः-सामन्यः ।	॥१२॥३३॥
१०४३	सामर्थ्यं-शक्तिः ।	॥१५६॥४॥
१०४४	सामर्थ्याभावादेव-परस्परव्यपेक्षा- लक्षणसम्बन्धाभावादेव ।	॥११६॥३७॥
१०४५	सामान्यस्य भेदकोधर्म-प्रकारः ।	॥१८६॥२७॥
१०४६	सामि-अर्धजुगुप्सितयोः ।	॥१८॥२८॥
१०४७	साम्प्रतम्-न्याये ।	॥१८॥४७॥
१०४८	सायं-निशामुखे ।	॥१८॥१५॥
१०४९	सार्धम्-सहार्थे ।	॥२०॥२५॥
१०५०	सावधिकं गमनं-अपायः ।	॥१७॥३७॥
१०५१	सिद्धं-गृहीतं शिक्षितमिति ।	॥१८५॥३९॥
१०५२	सिद्धं च तत्तत्तत् च-सिद्धचक्रम् ।	॥३॥१९॥

क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
१०५३	सिद्धचक्रस्य-देवगुरुधर्मबोधकस्य अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधुज्ञानद- र्शनचारित्रतर्प-समुदायरूपस्य-स्याद्वाद- सिद्धान्तप्रसिद्धस्य चक्रविशेषस्य ।	॥२॥२७॥ ॥५॥१७॥
१०५४	सिद्धिः-श्रुतिः ।	॥५॥१७॥
१०५५	सिद्धिः-निष्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा ।	॥३॥३॥ ॥५॥१७॥
१०५६	सिद्धिः-सम्यग्ज्ञानं तद्वारेण च निःश्रेयसम् ॥४॥४॥	
१०५७	सिद्धौ-क्रियाफलनिष्पत्तौ ।	॥१८५॥१०॥
१०५८	सीदतः-विशेषणभावेनाऽन्वितः ।	॥१९॥२१॥
१०५९	सीदतोऽसिद्धिर्लङ्घ्ये इति सत्त्वम्- लिङ्गसंख्यावद्भवम्, इदं तदित्यादि- सर्वनामव्यपदेश्यं विशेष्यमिति यावत् ॥१९॥४॥	
१०६०	सीम्-निर्देशनिवेदनवाक्यपादपूरणेषु । सीम्-अभिनवव्याहरणामर्षपादपूरणेषु इत्येके इति है०वृ०न्या० ।	॥२०॥२६॥ ॥१७॥३४॥
१०६१	सीमा-अवधिः ।	॥१७॥३४॥
१०६२	सीम्नोऽन्तःसीमन्तः-केशविन्यास एव ॥३०॥१४॥	
१०६३	सुः-शोभनः ।	॥१००॥३४॥
१०६४	सुकम्-प्रत्याख्याने ।	॥१९॥४७॥
१०६५	सुव-उब्रवत्, इति है०वृ०न्या० ।	॥२०॥११॥
१०६६	सुनुत-अन्तर्धाने ।	॥१८॥१४॥
१०६७	सुरक्षित-स्वर्गिब्रह्म ।	॥१०६॥२४॥
१०६८	सुष्ठु-प्रशंसायाम् ।	॥१८॥३९॥
१०६९	सूत-प्रश्रितिकप्रशंसासु, कचित्स- रादावपि पठितः ।	॥१९॥३१॥
१०७०	सूक्तस्थानः-ओष्ठपर्यन्तः स्थानं यस्य सः ।	॥८॥४१॥
१०७१	स्कन्धः-अनन्तप्रदेशात्मकः संघातः ।	॥८॥२९॥
१०७२	स्थानं-कण्ठादि ।	॥९॥३६॥
१०७३	स्थानित्वाश्चान्निरासार्थ-स्थानित्वस्या- ऽऽशङ्का प्राक् प्रदर्शिता तस्या निरास इत्येवमर्थम् ।	॥६१॥२०॥ ॥१८॥४८॥
१०७४	स्थाने-इति युक्ते ।	॥१८॥४८॥
१०७५	स्निग्धता-मसृणता ।	॥१०॥२४॥
१०७६	स्पर्शा-वर्ण्याः ।	॥९॥११॥
१०७७	स्पृष्टतादयः-स्पृष्टतेपत्स्पृष्टतासंवृतता- विवृतताः ।	॥१०॥२९॥ ॥२०॥२४॥
१०७८	स्व-अतीते पादपूरणे च ।	॥२०॥२४॥
१०७९	स्मृत्वा-सर्वजनहितकाम्यया उपदेश- द्वारा व्याकरणमिदं तदर्थोपेन कृत्वा ।	॥११॥३५॥
१०८०	स्यात्पदलाञ्छनाः-स्याद्रूप लाञ्छनं येषां ते स्यात्पदलाञ्छनाः-स्यात्पद- चिह्निताः ।	॥४॥२६॥ ॥३॥२॥ ॥४॥४॥
१०८१	स्याद्-इत्यव्ययं-अनेकान्तद्योतकम् ।	॥४॥४॥
१०८२	स्याद्-भवेद् ।	
१०८३	स्यादीना-प्रत्ययानां-सिमीजस इत्यादीना प्रत्ययानाम् ।	॥६१॥१७॥ ॥३॥२॥
१०८४	स्याद्वादः-अनेकान्तवादः ।	॥३॥२९॥
१०८५	स्याद्वादः-अनेकान्तवादः-नित्यानित्याद्य- नेकधर्मशब्दैकवस्त्वस्युपगम इति यावत् ॥३॥२॥	

क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०	क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
१०८६	स्याद्वादाश्रयणेन-अनेकान्तमताभ्युप- गमेन ।	॥१६२५॥	१११०	हन्त-प्रीतिविपादसम्प्रदानेषु, मनो- रमायां हन्तेति हर्षे, विपादे, अनु- कम्पायां, वाक्यारम्भे च ।	॥१९१३४॥
१०८७	संसर्ग-शिल्पिलीभवनम् ।	॥१०२४॥	११११	हम्-रोषानुपमादौ, हम्-रोषानुक- म्पादौ, इति है० वृ० न्या० ।	॥२०१११॥
१०८८	स्नाक्-शीघ्रायै, पचार्थे इत्यपि ।	॥१८२९॥	१११२	हये-अनुशयसम्बोधनयोः ।	॥१९१४६॥
१०८९	स्वः-स्वर्गस्य ।	॥१७३४॥	१११३	हरिः-वनराजः ।	॥१५५२४॥
१०९०	स्वतन्त्र-आत्मप्रधानः ।	॥१५७७॥	१११४	हलम्-प्रतिषेधे विपादे च । समस्तं (आर्यहलम्) इत्येके ।	॥१८३६॥
१०९१	स्वधा-पितृभ्यो हविर्दाने ।	॥१९१४०॥	१११५	हा-विपादविसर्ग्ये, हा-विपादशू(शो)- कार्त्तिकेषु, अनुशयसम्बोधनयोश्च, इति है० वृ० न्या० ।	॥१९१४५॥
१०९२	स्वयम्-आत्मने इत्यर्थे ।	॥१८३७॥	१११६	हि-यतः ।	॥२१५०॥
१०९३	स्वयमीरितुं शीलमस्येति-स्वैरी ।	॥३०३॥	१११७	हि-हेतावधारणे च ।	॥१९१४१॥
१०९४	स्वय-स्वर्गे च परलोके च ।	॥१८१३॥	१११८	हिकम्-प्रत्याख्याने ।	॥१९१४८॥
१०९५	स्वरजयो-“हवर्णादे०” इत्यादिना कृतयोः स्वरस्थानिकयोः ।	॥४८२१॥	१११९	हितैषिणः-आत्महितेच्छवः ।	॥४२२९॥
१०९६	स्वरप्रदेशाः-स्वरेण-स्वर इति शब्देन प्रदिश्यन्ते उच्चार्यन्तेऽत्रेति स्वरप्रदेशाः- स्वरप्रयोजनस्थानानि ।	॥५२९॥	११२०	हिम्-सम्भ्रमभर्त्सनयोः ।	॥२०११२॥
१०९७	स्वराश्चतुर्दशाऽपि-पूर्णभर्त्सनाऽऽमन्त्रण- निषेधेषु ।	॥२०३०॥	११२१	हिरक्-वियोगे । ‘हिरग्नानापृथग्निना’ इत्यभिधानचि० ।	॥१८३०॥
१०९८	स्वशब्दः-आत्मा च आत्मीयश्च ज्ञातिश्च- घनं च तान्येवार्थस्तत्र वृत्तिर्यस्येति विग्रहः ।	॥६८३०॥	११२२	ही-विपादविसर्ग्ये, ही-विसर्ग्ये, अनुशय- सम्बोधनयोश्च, इति है० वृ० न्या० ।	॥१९१४५॥
१०९९	स्वशब्दः-आत्माऽऽत्मीययोः ।	॥६८७॥	११२३	हुं-भर्त्सने ।	॥२०३३॥
११००	स्वस्ति-कल्याणं ।	॥१८१९॥	११२४	हुम्-भर्त्सने ।	॥१९१४८॥
११०१	स्वाङ्ग-अविकारोऽद्भवं मूर्तं, प्राणिस्यं स्वाङ्गमुच्यते । च्युतं च प्राणिनस्तत्तन्निर्भं च प्रतिमादिषु ॥ १ ॥	॥४१४७॥	११२५	हुम्फट्-निर्भर्त्सनसम्बोधनयोः ।	॥१९३९॥
११०२	स्वार्थः-विशेषणमिति ।	॥१५१८॥	११२६	हे-अनुशयसम्बोधनयोः ।	॥१९१४६॥
११०३	स्वाहा-देवताभ्यः (हविर्दाने) ।	॥१९१४०॥	११२७	हेतुः-कारणम् ।	॥१५६१४॥
११०४	स्विद्-विमर्शप्रश्नयोः ।	॥२०१३॥	११२८	हेतुः-जनकः ।	॥२०९१३॥
११०५	स्वीक्रियमाणोऽशो-भागस्तत्त्वामी- भागी ।	॥१८०५॥	११२९	हेतुः-निमित्तं-कारणम् ।	॥२०९१३॥
११०६	स्वेन सबन्धिना द्रव्यगुण-क्रियारूपेण कात्स्न्येन सम्बन्धो व्याप्तिः, अत्यन्त- संयोग इति यावत् ।	॥१८५२॥	११३०	हेत्वर्थयोगे-निमित्तकारणहेतुशब्द- योगे ।	॥६८१३॥
११०७	ह-अवधारणे पादपूरणे प्रसिद्धावपि ।	॥१९१२९॥	११३१	हे भूपाः-हे मूलराजमहीपतिविरोधि- राजानः (जाः) ।	॥१५५२३॥
११०८	हंहो-सम्बोधने ।	॥१९१४५॥	११३२	हेमचन्द्रः-स्वर्णचन्द्राभ्यां समो भगवान् हेमचन्द्रः ।	॥१३६॥
११०९	हताः-रणे विध्वस्ताः ।	॥१०६२४॥	११३३	हेशब्द-आमन्त्र्यद्योतनार्थः ।	॥१३७३०॥
			११३४	है-अनुशयसम्बोधनयोः ।	॥१९१४६॥
			११३५	हो-सम्बोधने ।	॥१९१४५॥
			११३६	ह्यस्-अतीतेऽङ्गि ।	॥१८१६॥



क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
१०१८	समाज्ञाय-पाठक्रमः ।	॥५१७॥
१०१९	समाय-अविषमाय ।	॥६८१८॥
१०२०	समाधायण-अङ्गीकारः ।	॥४११७॥
१०२१	समासान्तविधेः-“ऋकृपूःपथ्यपोऽत्” इत्यस्य ।	॥१०४१२४॥
१०२२	समुच्चयपर्याय इति-तत्रैकमर्थं प्रति ह्यादीनां क्रियाकारकद्रव्यगुणानां तुल्यबलानां अविरोधिनामनियत- क्रमयोगपद्यानां आत्मरूपभेदेन चीय- मानता समुच्चयस्तस्य पर्यायस्तद्वाचक इत्यर्थः ।	॥६८१९॥
१०२३	समूहः-संघातः ।	॥४११७॥
१०२४	समे देशे इति-अविषमे इत्यर्थः ।	॥७०१२१॥
१०२५	सम्भावितोत्कर्षया-सम्भावित उत्कर्षो यस्याः सकाशात्तथेत्यर्थः ।	॥८५१२७॥
१०२६	सम्भेदः-संश्लेषरूपः सम्बन्धरूपश्च भेदः ।	॥२१४५॥
१०२७	सरूपे-समानं रूपं यस्य तस्मिन् ।	॥५७॥३२॥
१०२८	सर्वकल्याणकारणं-सकलमङ्गल- मूलम् ।	॥२१८१३१॥
१०२९	सर्वतः-सर्वेभ्यः ।	॥२१४५॥
१०३०	सर्वपार्षदत्वात्-सर्वसाधारण्यात् ।	॥४११४॥
१०३१	सर्वाङ्गानुसारी-सर्वाङ्ग-प्रत्यङ्ग अनुसर- तीत्येवंशीलः ।	॥१०१२१॥
१०३२	सह-तुल्ययोगविद्यमानयोः ।	॥२०१२५॥
१०३३	सहविशेषणेन वर्तते-सविशेषणम् ।	॥१४११५॥
१०३४	सहसा-अतर्किते, आकस्मिकाविम- र्शयोरिति मनोर० ।	॥१८१४२॥
१०३५	सहस्य-सहशब्दस्यार्थो द्योत्यः- सहाय्यः ।	॥१८६१४५॥
१०३६	सहाय्यः-तुल्ययोगो विद्यमानता च ”	॥१८६११॥
१०३७	साकम्-सहाय्ये ।	॥२०१२५॥
१०३८	साकल्ये-यावत्कार्यं तावत्कृतम् ।	॥२०१२२॥
१०३९	साक्षात्-प्रत्यक्षतुल्ययोः ।	॥१८१४०॥
१०४०	साचि-वक्तृतिर्यगर्थयोः ।	॥१८१२८॥
१०४१	साधनं-निष्पादनम्, करणमिति यावत् ।	॥१८५१४५॥
१०४२	सामानि साधुः-सामान्यः ।	॥१२१३३॥
१०४३	सामर्थ्य-शक्तिः ।	॥१५६१४॥
१०४४	सामर्थ्याभावादेव-परस्परव्यपेक्षा- लक्षणसम्बन्धाभावादेव ।	॥११६१३७॥
१०४५	सामान्यस्य भेदकोधर्मः-प्रकारः ।	॥१८६१२७॥
१०४६	सामि-अर्धजुगुप्सितयोः ।	॥१८१२८॥
१०४७	साम्प्रतम्-न्याये ।	॥१८१४७॥
१०४८	सायं-निशामुखे ।	॥१८११५॥
१०४९	सार्धम्-सहाय्ये ।	॥२०१२५॥
१०५०	सावधिकं गमनं-अपायः ।	॥१७३१७॥
१०५१	सिद्धं-गृहीतं शिक्षितमिति ।	॥१८५१३९॥
१०५२	सिद्धं च तत्तत्तं च-सिद्धचक्रम् ।	॥३११९॥

क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
१०५३	सिद्धचक्रस्य-देवगुरुधर्मबोधकस्य अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधुज्ञानद- र्शनचारित्रतपःसमुदायरूपस्य-स्याद्वाद- सिद्धान्तप्रसिद्धस्य चक्रविशेषस्य ।	॥२१२७॥
१०५४	सिद्धिः-क्षतिः ।	॥५११७॥
१०५५	सिद्धिः-निष्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा ।	॥३३३॥
”	”	॥५११७॥
१०५६	सिद्धिः-सम्यग्ज्ञानं तद्वारेण च निःश्रेयसम् ॥४१॥	
१०५७	सिद्धौ-क्रियाफलनिष्पत्तौ ।	॥१८५१०॥
१०५८	सीदतः-विशेषणभावेनाऽन्वितः ।	॥१९१२१॥
१०५९	सीदतोऽसिद्धिंङ्गसंख्ये इतिसत्त्वम्- लिङ्गसंख्यावद्भव्यम्, इदं तदित्यादि- सर्वनामव्यपदेश्यं विशेष्यमिति यावत् ॥१९१४॥	
१०६०	सीम्-निर्देशनिवेदनवाक्यपादपूरणेषु । सीम्-अभिनवव्याहरणामर्षपादपूरणेषु इत्येके इति है०वृ०न्या० ।	॥२०१२६॥
१०६१	सीमा-अवधिः ।	॥१७३३॥
१०६२	सीम्नोऽन्तः सीमन्तः-केशविन्यास एव ॥३०१४॥	
१०६३	सु-शोभनः ।	॥१००१३॥
१०६४	सुकम्-प्रत्याख्यानं ।	॥१९१४७॥
१०६५	सुव-उव्वत्, इति है०वृ०न्या० ।	॥२०१११॥
१०६६	सुनुत-अन्तर्धानं ।	॥१८११४॥
१०६७	सुरक्षित-स्वर्गिन्निधेयः ।	॥१०६१२४॥
१०६८	सुष्ठु-प्रशंसायाम् ।	॥१८३२९॥
१०६९	सूपत्-प्रश्रवितकंप्रशंसासु, कचित्त्व- रादावपि पठितः ।	॥१९१३१॥
१०७०	सृक्स्थानः-ओष्ठपर्यन्तः स्थानं यस्य सः । ॥८४१॥	
१०७१	स्कन्धः-अनन्तप्रदेशात्मकः संघातः ।	॥८१२९॥
१०७२	स्थानं-कण्ठादि ।	॥९१३६॥
१०७३	स्थानित्वाशङ्कानिरासार्थं-स्थानित्वस्या- ऽऽशङ्का प्राक् प्रदर्शिता तस्या निरास इत्येवमर्थम् ।	॥६११२०॥
१०७४	स्थाने-इति युक्ते ।	॥१८१४८॥
१०७५	जिग्धता-मसृणता ।	॥१०१२४॥
१०७६	स्पर्शा-चर्याः ।	॥९११॥
१०७७	स्पृष्टतादयः-स्पृष्टतेष्वस्पृष्टतासंबन्धिता- विवृतताः ।	॥१०१२९॥
१०७८	स-अतीते पादपूरणे च ।	॥२०१२४॥
१०७९	स्मृत्वा-सर्वजनहितकाम्यया उपदेश- द्वारा व्याकरणमिदं तदधीनं कृत्वा ।	॥१३२५॥
१०८०	स्यात्पदलाञ्छना-स्याद्वप लाञ्छनं येषां ते स्यात्पदलाञ्छनाः-स्यात्पद- चिह्निताः ।	॥४१२६॥
१०८१	स्याद्-इत्यव्ययं-अनेकान्तद्योतकम् ।	॥३१२॥
१०८२	स्याद्-भवेद् ।	॥४१४॥
१०८३	स्यादीनां-प्रत्ययानां-सिञ्जस इत्यादीनां प्रत्ययानाम् ।	॥११११७॥
१०८४	स्याद्वादः-अनेकान्तवादः ।	॥३१२॥
”	”	॥३१२९॥
१०८५	स्याद्वादः-अनेकान्तवादः-नित्यानित्याद्य- नेकधर्मशयलैकवस्त्वस्युपगम इति यावत् ॥३१२॥	

क्र०	शब्दार्था ।	पृ० प०
१०८६	स्याद्वादाश्रयणेन-अनेकान्तमताभ्युप- गमेन ।	॥१६।२५॥
१०८७	संसर्ग-श्रितिलीभवनम् ।	॥१०।२४॥
१०८८	स्नाक्-शीघ्रायै, एवार्थे इत्यपि ।	॥१८।२९॥
१०८९	स्वः-स्वर्गस्य ।	॥१७।३४॥
१०९०	स्वतन्त्र-आत्मप्रधानः ।	॥१५७।७॥
१०९१	स्वधा-पितृभ्यो हविर्दाने ।	॥१९।४०॥
१०९२	स्वयम्-आत्मने इत्यर्थे ।	॥१८।३७॥
१०९३	स्वयमीरितुं शीलमस्येति-स्वैरी ।	॥३०।३॥
१०९४	स्वर्-स्वर्गे च परलोके च ।	॥१८।१३॥
१०९५	स्वरजयो-“हवर्णादे०” इत्यादिना कृतयोः स्वरस्थानिकयोः ।	॥४८।२१॥
१०९६	स्वरप्रदेशाः-स्वरेण-स्वर इति शब्देन प्रदिश्यन्ते उच्चार्यन्तेऽत्रेति स्वरप्रदेशाः- स्वरप्रयोजनस्थानानि ।	॥५।२९॥
१०९७	खराश्चतुर्दशाऽपि-पूरणमर्त्सनाऽऽमन्त्रण- निषेधेषु ।	॥२०।३०॥
१०९८	खशब्दः-आत्मा च आत्मीयश्च ज्ञातिश्च- यन्न च तान्येवार्थस्तत्र वृत्तिर्यस्येति विग्रहः ।	॥६८।३०॥
१०९९	खशब्दः-आत्माऽऽत्मीययोः ।	॥६८।७॥
११००	खस्ति-कल्याणं ।	॥१८।१९॥
११०१	खाङ्ग-अविकारोऽद्वयं मूर्तं, प्राणिस्थं खाङ्गमुच्यते । च्युतं च प्राणिनस्तत्तन्निर्म च प्रतिमादिषु ॥ १ ॥	॥४।४७॥
११०२	स्वार्थः-विशेषणमिति ।	॥१५।१८॥
११०३	स्वाहा-देवताभ्यः (हविर्दाने) ।	॥१९।४०॥
११०४	स्विद्-विमर्शप्रश्नयोः ।	॥२०।१३॥
११०५	स्वीक्रियमाणोऽशो-भागस्तत्स्वामी- भागी ।	॥१८०।५॥
११०६	स्वेन सबन्धिना द्रव्यशुण-क्रियारूपेण कात्स्न्येन सम्बन्धो व्याप्तिः, अत्यन्त- संयोग इति यावत् ।	॥१८५।२॥
	ह-	
११०७	ह-अवधारणे पादपूरणे प्रसिद्धावपि ।	॥१९।२९॥
११०८	हंहो-सम्बोधने ।	॥१९।४५॥
११०९	हताः-रणे विध्वस्ताः ।	॥१०६।२४॥

क्र०	शब्दार्था ।	पृ० प०
१११०	हन्त-प्रीतिविपादसम्प्रदानेषु, मनो- रमायां हन्तेति हर्षे, विपादे, अनु- कम्पायां, वाक्यारम्भे च ।	॥१९।३४॥
११११	हम्-रोपानुपमादौ, हम्-रोपानुक- म्पादौ, इति है० वृ० न्या० ।	॥२०।११॥
१११२	हये-अनुशयसम्बोधनयोः ।	॥१९।४६॥
१११३	हरिः-वनराजः ।	॥१५५।२४॥
१११४	हलम्-प्रतिषेधे विपादे च । समस्तं (आर्यहलम्) इत्येके ।	॥१८।३६॥
१११५	हा-विपादविसृष्टे, हा-विपादशू (शो)- कार्त्तिषु, अनुशयसम्बोधनयोश्च, इति है० वृ० न्या० ।	॥१९।४५॥
१११६	हि-यतः ।	॥२।५०॥
१११७	हि-हेतावधारणे च ।	॥१९।४१॥
१११८	हिकम्-प्रत्याख्याने ।	॥१९।४८॥
१११९	हितैषिण-आत्महितेच्छवः ।	॥४।२९॥
११२०	हिम्-सम्भ्रमभर्त्सनयोः ।	॥२०।१२॥
११२१	हिरक्-वियोगे । ‘हिरग्नानापृथग्विना’ इत्यभिधानच्चि० ।	॥१८।३०॥
११२२	ही-विपादविसृष्टे, ही-विसृष्टे, अनुशय- सम्बोधनयोश्च, इति है० वृ० न्या० ।	॥१९।४५॥
११२३	हुं-भर्त्सने ।	॥२०।३३॥
११२४	हुम्-भर्त्सने ।	॥१९।४८॥
	”	॥२०।३३॥
११२५	हुम्फट्-निर्मर्त्सनसम्बोधनयोः ।	॥१९।३९॥
११२६	है-अनुशयसम्बोधनयोः ।	॥१९।४६॥
११२७	हेतुः-कारणम् ।	॥१५६।४॥
	”	॥१५६।८॥
	”	॥२०९।१३॥
११२८	हेतुः-जनकः ।	॥१८०।१०॥
११२९	हेतुः-निमित्तं-कारणम् ।	॥२०९।१३॥
११३०	हेत्वर्थयोगे-निमित्तकारणहेतुशब्द- योगे ।	॥६८।१३॥
११३१	हे भूपाः-हे मूलराजमहीपतिविरोधि- राजानः (जाः) ।	॥१५५।२३॥
११३२	हेमचन्द्र-स्वर्णचन्द्राभ्यां समो भगवान् हेमचन्द्रः ।	॥१।३६॥
११३३	हेशब्द-आमन्त्र्यद्योतनार्थः ।	॥१३७।३०॥
११३४	है-अनुशयसम्बोधनयोः ।	॥१९।४६॥
११३५	हो-सम्बोधने ।	॥१९।४५॥
११३६	ह्यस्-अतीतेऽङ्गि ।	॥१८।१६॥





## १३ परिशिष्टम् ।

अस्मिन्नेव शब्दानुशासने नत्त्वप्रकाशिकाऽऽनन्दबोधिनीविभूषितसंज्ञा-सन्धि-नाम-कारक-  
सनाथीकृते प्रथमे विभागे सूत्रवृत्त्यनुवृत्तिस्थपदोदाहरणप्रत्युदाहरणादिस्पष्टीकरणार्थं  
खसिद्धान्तमतान्तरादिविशदीकरणार्थं च सूचितसूत्रानुक्रमेण ननु  
न चाऽथादिपदैरुत्थापितशङ्कानां संग्रहः ।

क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
१	“सिद्धिः०”—ननु चोक्तं ‘स्याद्वादमाश्रित्य संस्कृतानामार्षाणां च शब्दानां निष्पत्तिज्ञप्ती वेदितव्ये’ इति तु तदैव विबुध्येत यदि स्याद्वादपदपदार्थो बुद्धो भवेदिति, तद्विज्ञातस्वरूपं प्रति कः स्याद्वादपदार्थ इति चेत्?,—उच्यते—		॥३११॥
२	“अनवर्णा०”—ननु सन्ध्यक्षरेषु अवर्णसद्भावात्तेषामपि नामित्वाभावोऽस्त्विति चेत्?,—इष्टापत्तेः ।		॥३१२॥
३	“तुल्यस्थाना०”—के पुनस्ते?,—		॥३१३॥
४	“—कथं पुनरेते आस्याद्वाद्याः?, स्पृष्टतादयस्तु आन्तराः?,—उच्यते—		॥३१४॥
५	“स्त्यादि०”—नन्वत्र स इति, ति इति, कस्य ग्रहणम्?, इति जिज्ञासायामाह—		॥३१५॥
६	“नाम सिद्०”—नन्वेन नियमेन राजता इक्त्वमित्यादावपि सौष्ठवं, भागवतमित्यादिवत् पदत्वाभावे सति नलोपाद्यभाव इति चेत्?, श्रूयताम्—		॥३१६॥
७	“न स्तं०”—ननु मनुशब्दस्य मत्वर्थशब्देन कथमुपादानम्?, इत्यत आह—		॥३१७॥
८	“वृत्त्यन्तो०”—अथ वाक्त्वचमित्यत्र समासान्ते सति वृत्त्यन्तत्वाभावात् पदत्वं प्राप्नोति, तथा च कत्वं स्यात्?, उच्यते—		॥३१८॥
९	“सविशेष०”—नन्वप्रयुज्यमानमाख्यातं तद्विशेषणं चाऽतिप्रसङ्गापादकमविशेषादनियमश्च, अपि चा- ऽप्रयुज्यमानोऽपि शब्दः शाब्दधीहेतुः स्यात् तदा विफलः सर्वत्र तत्प्रयोगः?, इत्यत आह—		॥३१९॥
१०	“—नन्वेकस्मिन्नाख्याते सत्येकवाक्यत्वं, तद्भेदे वाक्यभेद इति सूत्रे विशेषोक्त्यभावेन विवेकोऽयं कुतः?, इत्यत आह—		॥३२०॥
११	“—ननु कुरु कुरु नः कटमित्यादौ त्याद्यन्तभेदे वाक्यत्वास्वीकृत्या कथमसदो नसादेशः?, इत्यत आह—		॥३२१॥
१२	“अघातु०”—नन्वत्र ‘किवन्ता घातुत्वं न जहति’ इत्यघातुरिति प्रतिषेधो भविष्यति चेत्?, उच्यते—		॥३२२॥
१३	“—ननु घातुविभक्त्यन्तमिन्नस्य पदेभ्यो व्यतिरिक्तस्य पदार्थसम्बन्धरूपविशिष्टार्थबोध- कस्य वाक्यस्याऽर्थवत्त्वात्तन्मात्रमवस्थाप्य तद्वर्जनमाह—वाक्यवर्जनं किम्?,		॥३२३॥
१४	“—ननु अघातुविभक्तीत्यत्र पर्युदासाऽऽश्रयणेन धात्वादिभिन्नधात्वादिसहसार्थवतामेव शब्दरूपाणां सम्भव इति किमर्थमर्थवद्?, इत्यभिप्रायेणाऽऽशङ्क्य समाधत्ते—		॥३२४॥
१५	“ननु यदा केनचिदशक्त्या गौः इति प्रयोक्तव्ये गो इति प्रयुक्तं तदा तत्समीपवर्त्ती च तदुक्तमपरेण पृष्टं सन्ननुकरोति तत्र तदनुकरणे नामसंज्ञा स्याद्वा नवा?, इत्याश- ङ्कयामाह—		॥३२५॥
१६	“पुंल्लियोः”—ननु लिङ्गमिति हेतुः, कारणं, निमित्तमित्याद्यर्थकं जगति प्रसिद्धं तदत्र ग्राह्यमित्य- भिप्रायवान् पृच्छति—किं पुनस्तत्?,—		॥३२६॥
१७	“स्वरादयो०”—ननु सूत्रे विशेषस्याऽश्रयमाणत्वाल्लिङ्गादिविशेषानुपादाने स्वरादयोऽव्ययसंज्ञा भव- न्तीति कुतोऽवगम्यते?, इत्याह—		॥३२७॥
१८	“—ननु संज्ञाविधौ तदन्तप्रतिषेधस्य स्थापितत्वाद् ‘नामग्रहणे न तदन्तविधिः’ इति प्रतिषेधाच्च परमोच्चैरिति तदन्तस्य कथमव्ययसंज्ञा?, इत्याह—		॥३२८॥
१९	“ननु परिसमाप्तावपीतिशब्दस्य वर्तमानत्वेनैतावन्त एवेत्यर्थो य इति कुतो न लभ्यते?, इत्याह—		॥३२९॥
२०	“चादयो०”—ननु चादयः कदा सत्यवृत्तयः, कदा चाऽसत्यवृत्तय इति?,—		॥३३०॥
२१	“वत्तस्याम्”—नन्वत्राऽविशेषात् पृथिवदुवचनस्याऽऽप्तोऽपि ग्रहणं प्राप्नोति, इष्यते च पराक्षास्यान- निष्पन्नस्य तद्वितस्य चाऽऽप्त इति शङ्काया ‘सहचरिताऽसहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणमिति’ न्यायमाश्रित्य समाधत्ते—		॥३३१॥
२२	“क्त्वालुमम्”—ननु अमिति सामान्यनिर्देशात् स्यादित्यादिसम्बन्धिनोरप्यमो, कथं न ग्रहणम्?, इत्यत आह—		॥३३२॥

- क्र० सूत्रम् । शङ्का । पृ० प०
- २३ “अप्रयोगीत्”—अथवा-प्रयुज्यते कार्यमनेनेति प्रयोगः शास्त्रं, ‘अल्पार्थे नञ्’ अल्पत्वं च शास्त्रे एव यः पठ्यते लौकिकप्रयोगे तु न सम्बध्यते, तत्कार्यं दृष्ट्वाऽनुमीयत एव केवलम् । ॥२२।३९॥
- २४ ” —नन्वेवं सति कुतस्तथाभाव इति चेत् ?,—उच्यते— ॥२२।४१॥
- २५ ” —ननु प्रमाणमन्तरेण वचनमात्रेणाऽपगमाभावादपगमे यतितव्यम् ? इत्यत आह— ॥२२।४२॥
- २६ “इत्यनु०”—ननु का नाम संख्या ? असति तज्ज्ञानेऽसम्भवः संख्यावद्भावस्य ? इत्याह— ॥२३।४२॥
- २७ “बहुगुण०”—ननु बहुगुणयोः संख्यावाचकत्वं लोकत एवेति सिद्धं किमर्थं संख्यावद्भावः ? इत्यत आह— ॥२४।१८॥
- २८ “समानानां०”—ननु सूत्रे दीर्घ इत्युक्त्या समेऽपि आ ई ऊ इत्यादयो दीर्घाः प्राप्नुवन्ति ? इत्यत आह— ॥२५।२१॥
- २९ “कल्लति०”—ननु कन्या लृकार इत्यादावनेन ह्रस्वत्वे सति कथं न “अवर्णस्येवर्णादि०” सूत्रैः अला-  
दिकं भवति ? इत्यत आह— ॥२५।२९॥
- ३० ” —ननु प्रार्च्छतीत्यत्र “कल्लति ह्रस्वो वा” इत्यनेन कथं न ह्रस्वः ? इत्यत आह— ॥२५।३३॥
- ३१ ” —नन्विदं कथमारभ्यते ? “ह्रस्वोऽपदे वा” इत्यनेन ह्रस्वत्वमिति चेत् ?,— ॥२५।३४॥
- ३२ “ऋस्तयोः”—नन्विदं किमर्थं ऋ ऋभ इत्यादौ लृकतोः स्वत्वेन द्विमात्र ऋकारः “समानाना तेन दीर्घः” इत्यनेन सेत्स्यतीति चेत् ? उच्यते— ॥२६।३४॥
- ३३ “अवर्णस्ये०”—ननु रमा इन्द्रः, खट्वा ईश इत्यादौ त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां कथं द्विमात्रा-  
वेदोती ? इत्यत आह— ॥२७।३७॥
- ३४ “ऋणे प्रद०”—ननु प्र ऋणमित्यादौ “अवर्णस्येवर्णादिना०” इति अइ कथं न भवति ? इत्याह— ॥२७।४१॥
- ३५ ” —यथेदं सूत्रमपवादत्वादरो बाधकं तथा ह्रस्वं प्रवादते न वा ? इत्यत आह— ॥२७।४२॥
- ३६ “ऋते तृती०”—कथं क्षुधार्तः सन् शालीन् कवलपति मास्पाकवलितान् क्षुधशब्दस्य हि व्यञ्जना-  
न्तत्वात् क्षुधत इति प्राप्नोति ? नैवम्,— ॥२८।८॥
- ३७ ” —असिन् पथे क्षुधार्त इत्यत्र ऋतशब्दाव्यवहितपूर्वस्याऽवर्णस्याऽभावादाह कथं भ-  
वति ? इत्याशङ्कते । ॥२८।२९॥
- ३८ “ऋत्यारूप०”—ननु “ऋत्यारूपसर्गस्य” इति सूत्रे पूर्वसादारित्यनुवृत्तौ किमर्थमाह इत्युपादानम् ? इत्यत  
आह— ॥२८।३८॥
- ३९ “प्रस्यैवै०”—कथं प्रेषः, प्रेष्यः ? ईपे, ईप्ये च भविष्यति । ॥२९।१५॥
- ४० ” —अथेह कस्मात् न भवति-प्रेषते, प्रेष्यते, प्रोढवानिति ? ‘अर्थवद् ग्रहणेऽनर्थकस्याऽग्रहणात्’ ॥२९।१८॥
- ४१ ” —कथं तर्हि ऊढिशब्दस्य ण्यन्तस्य सार्थकस्य प्रयोगे प्रोढयतीति ?,— ॥२९।१८॥
- ४२ ” —यदीदं सूत्रं तर्हि-प्रेषः, प्रेष्य इति कथम् ? इत्याशङ्कते; ॥२९।३४॥
- ४३ ” —ननु ‘पूर्वं घातृपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्’ इति न्यायेन आ ईप्य-एष्यस्ततः प्र इत्यनेन योगे  
प्रेष्य इत्यत्राऽनेन कथं नैत्वम् ? इत्यत आह— ॥२९।३४॥
- ४४ ” —प्र एष्य इत्यत्र “ओमाडि” इत्यस्य कथं नाऽनेन बाधः ? इत्यत आह— ॥२९।३५॥
- ४५ ” —ननु प्रेषते, प्रेष्यते, प्रोढवानिति प्रयोगेषु “प्रस्यैवै०” इत्यादिना ऐदौती कथं न भवतः ?,  
इत्याशङ्कते; ॥२९।३८॥
- ४६ ” —प्रोढयतीत्यत्र ण्यन्तस्य ऊढिशब्दस्याऽर्थवत्त्वात् कथं न औत्त्वम् ? इत्यत आशङ्कते, ॥२९।४०॥
- ४७ ” —ननु प्रोढयतीति प्रयोगदर्शनं कुतः ? इत्याह— ॥२९।४२॥
- ४८ “अनियोगे०”—कथं तुवै, त्वै, नु, वै, न्वै ? निपातान्तरमेतत् । ॥३०।१५॥
- ४९ “स्वैरस्वैर्य०”—ननु सूत्रे स्वैरिन् इत्युपादानात् स्वैरिणी इति कथम् ? इत्यत आह— ॥३०।२२॥
- ५० ” —ननु स्वैरशब्दान्मत्वर्थीयि इनि स्वैरिन् इति सिद्धे किमर्थं सूत्रे स्वैरिन् इत्युपादानम् ?,  
इत्याशङ्क्य समाधत्ते । ॥३०।२५॥
- ५१ “अनियोगे०”—ननु शकन्तुः, कुलटा इत्यादौ कथमवर्णादिलुग् ? इत्याशङ्कते । ॥३०।३९॥
- ५२ ” —ननु तुवै इत्यस्य त्वै, तुवै इत्यस्य न्वै कथम् ? इत्याशङ्कते । ॥३०।४०॥
- ५३ “ओमाडि”—ननु सूत्रे आडीत्युक्त्या वृत्तौ तस्याऽऽङादेश इत्यर्थः कथम् ? इत्यत आह— ॥३१।१९॥
- ५४ “इवर्णादि०”—ननु द्विसप्ततिः स्थानिन आदेशाश्च सप्त इति कथमादेशादेशिनोर्यथासंख्यं ? इति चेत्, न, ॥३१।३३॥
- ५५ “ह्रस्वोऽपदे वा”—नन्वेवं सति कार्यान्तरं कथं न भवति ? इत्याह— ॥३२।२२॥
- ५६ ” —ननु नद्या उदकं-नद्युदकं, गौरीमाराधोतीति “कर्मणोऽण्” ॥५।१।७२॥ गौर्याराध  
इत्यादौ समासेऽप्यन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य स्थानिनिमित्तयोर्भिन्नपदवृत्तेः  
कथं नाऽनेन ह्रस्वत्वम् ? इत्याह— ॥३२।२४॥
- ५७ “एदैतो०”—ननु यथा खरे इत्यनुवर्तते तथा ‘अखे’ इति कथं नाऽनुवर्तते ? इत्याह— ॥३२।३४॥
- ५८ “व्यक्त्ये”—कथं गव्यूति-क्रोशद्वयम् ? ॥३३।३॥
- ५९ ” —नन्वेवं क्रोशद्वयार्थके गव्यूतिशब्दे कथमव ? इत्याशङ्कते । ॥३३।२१॥
- ६० ” —नन्वेतदव्युत्पत्तिपक्षमिप्रायेण, यदि चेद् व्युत्पत्तिपक्षस्तदा का गतिः ? इत्याह— ॥३३।२२॥
- ६१ ” —शरशब्दाद्यप्रत्यये ओकाराभावादवादेशाभावे कथं शरव्यम् ? इत्याशङ्क्याऽह— ॥३३।२२॥

क्र० १ सूत्रम् ।

शङ्का ।

॥ १ ॥

पृ० प०

- ६२ “क्रतो रस्तं” — नन्विदं तद्धितग्रहणप्रयोजनमयुक्तं, कार्यमित्यत्र “ऋवर्ण०” ॥५१॥१७॥ इति व्यणि  
तस्य णोपदेशाद् वृद्धेरेव प्राप्तेः ? इति चेत्, उच्यते— ॥३३१२८॥
- ६३ “पदोतः०” — न च पदोत इति सूत्रवैयर्थ्यात् पदान्ते इत्यस्य अस्य इत्यनेनाऽसम्बन्ध इति वाच्यम् । ॥३३१३२॥
- ६४ “खरे वा” — ननु गोरतो विद्यमानत्वेन कथं नाऽव इत्यादेशः ? इत्याह— ॥३४१२४॥
- ६५ “इन्द्रे” — नन्वेव गवेन्द्रयश्च इति सिद्धावपि गवेन्द्र इति कथमिति चेत् ? ॥३४१२८॥
- ६६ “” — ननु पूर्वसूत्रेणैव सिद्धे किमर्थमिदम् ? इत्याह— ॥३४१३०॥
- ६७ “वाऽत्यसन्धिः” — ननु चित्रगो अग्रं, अत्र गोरतो विद्यमानत्वेन कथं नाऽसन्धिः ? इत्याह— ॥३४१३४॥
- ६८ “सुतोऽनितौ” — नन्वस्य चाक्यान्तत्वाभावात् कथं सुतः ? इति चेत्, ॥३४१३७॥
- ६९ “ईदूदे०” — ननु ईदूदेद्विवचनमित्यस्य कोऽर्थः ?,— ॥३५१११॥
- ७० “” — नन्वेवं मुनी, साधूः खद्वे इत्यादौ ईदूदेद्रूपद्विवचनसत्त्वेन तदन्तद्विवचनाभावात् कथमस-  
न्धिरिति चेत् ?,— ॥३५११६॥
- ७१ “” — ननु ‘तव ई आसाते’ इत्यत्र खराव्यवहितस्य ई इति द्विवचनस्याऽसन्धौ पूर्वेणाऽपि  
तव इत्यस्याऽकारेण सहाऽसन्धिः स्यात् ? इत्यत आह— ॥३५१२३॥
- ७२ “चादिः खरो०” — तितउशब्दे उकारस्य चादित्वाभावात् कथमसन्धिः ? इत्याशङ्कते । ॥३६११९॥
- ७३ “” — ननु जानु उ अस्य रुजति इत्यत्र खराव्यवहितपूर्वस्य चादेः खरस्याऽनेन सन्धि-  
प्रतिषेधे पूर्वेण सहाऽप्यसन्धिः ? इत्याह— ॥३६१२६॥
- ७४ “” — नन्वनाडिति पर्युदासः, स किमर्थः ? इति पृच्छति । ॥३६१३६॥
- ७५ “” — ननु सर्वत्र ‘आ’ इत्यस्यैव श्रवणं तथा च कथं बोध्यमयमाकार आडोऽयमनाड इति ? ॥३६१३७॥
- ७६ “ऊँ चोबू” — अथ ऊँ इत्येव चादिषु पठ्यता किमादेशेन ? नैवम् ; ॥३७११०॥
- ७७ “सौ नवेतो” — नन्वत्राऽनुकरणे विभक्तिः कथं न भवतीति विशङ्क्य स्याद्वादसमाश्रयणेन अनुकार्या-  
नुकरणयोर्भेदाभेदविवक्षापक्षद्वयेऽभेदविवक्षायामर्थवत्त्वाभावेन नामत्वाभावात् विभ-  
क्त्युत्पत्तिः ? इत्याह— ॥३७१२४॥
- ७८ “ऊँ चोबू” — नन्वत उमिति एतदर्थकं अञ्जवर्गादित्यत्राऽनुवर्तते, तथा सति जानू अस्य० इत्यादौ  
कथं “अञ्जवर्गात्०” इति वत्वमिति चेत् ? उच्यते— ॥३७१३५॥
- ७९ “” — ननु ऊँ इति चादिगणपाठे “चादिः खरोऽनाह” इत्यनेनाऽसन्धौ सति सिद्धं, उ इति  
उञ् इत्येतत्सूत्रेण सिद्धं, तदभावपक्षे “हवर्णादे०” इति वत्वे विति, इति रूपत्रयसिद्धौ  
ऊँ च इत्यादेशवचनं किमर्थम् ? इत्याशङ्कते । ॥३७१३६॥
- ८० “अञ्जवर्गात्०” — ननु कुङ्कुहास्ते इत्यत्र परत्वादित्वापेक्षया पूर्वं “ह्रस्वा०” इति द्वित्वे, ततोऽनेन वत्वे  
रूपसिद्धौ असन् इति किमर्थमिति चेत् ? उच्यते— ॥३८१२०॥
- ८१ “अइउव०” — ननु पदान्ते इत्यनुवृत्तौ सूत्रेऽन्तग्रहणं किमर्थम् ? इत्यत आह— ॥३८१२६॥
- ८२ “” — ननु नामे अत्र, नाम अत्र, इत्यादौ अनुनासिकादेशे वा तदभावे कथं न सन्धिः ? इत्याह— ॥३८१३०॥
- ८३ “” — ननु वृक्ष इत्यत्राऽकारस्य पदान्तत्वाभावेन सूत्राप्रवृत्तेः पदान्त इति अन्त इति च  
पदद्वयफलमिदं कथं भगवता वृत्तिकृता अन्त इत्यस्यैव फलतया प्रदर्शितमिति चेत् ?,— ॥३८१३३॥
- ८४ “” — ननु कथं अ !,— विष्णो !, इत्यत्र चादिरिति सूत्राऽविषयः ? इत्यत आह— ॥३८१३७॥
- ८५ “तृतीयस्य०” — ननु षण्णया इत्यादौ “अदीर्घाद्विरामैकव्यञ्जने” ॥१३१३२॥ इत्यनेन तृतीयस्य द्वित्वे  
कृतेऽन्तस्याऽनुनासिके च तृतीयस्याऽपि श्रुतिः प्राप्नोति ? नैवम्,  
॥३९१९॥
- ८६ “” — ननु वर्ग्य अनुनासिकाः पञ्च ङणनमा इति वर्गतृतीयस्यैकस्य स्थाने कथमादेश-  
पञ्चकम् ? इत्याह— ॥३९११५॥
- ८७ “” — ननु येषां मते व्यञ्जनस्य स्थानेऽनुनासिके परेऽनुनासिक इति तन्मते “ह्रस्वाद्  
ङणनो द्वे” ॥१३१२७॥ इति द्वित्वं भवति नचा ? इत्यत आह— ॥३९१३१॥
- ८८ “” — ननु षड्रया इत्यादौ अनुनासिकात् पूर्वं ङकारद्वित्वे षड् नया इति स्थितेऽन्यङस्याऽने-  
नाऽनुनासिके षड् नया इति मान्यम् ? इत्याशङ्कते । ॥३९१३५॥
- ८९ “प्रत्यये च” — ननु पूर्वसूत्रेणैव पदान्तस्थस्य वर्गतृतीयस्य पञ्चमादौ प्रत्ययेऽनुनासिके सिद्धे किमर्थ-  
मिदम् ? इत्याह— ॥४०११४॥
- ९० “ततो ह०” — ननु तत इति किमर्थम् ? यतोऽर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम इति न्यायात् पूर्वसाचतृतीयस्ये-  
त्यनुवृत्त्याऽत्र पञ्चम्यन्तत्वेन विपरिणामाचतृतीयादित्यर्थलाभादिति चेत् ? उच्यते— ॥४०१२४॥
- ९१ “” — न च पदान्ते हकारासम्भवः ? भूतपूर्वगत्या तत्सम्भवात् । ॥४०१२५॥
- ९२ “” — यद्यपि हकारस्य कण्ठ्यत्वेन तदासन्नघकारेणैव भाव्यं न शब्दघमैरिति पूर्वग्रहणकर्तव्यं  
तथापि सूत्रे चतुर्थे इत्युक्त्या निमित्तप्रत्यासत्तिराग्रीयते, अन्यथा हो च इति विदध्याद् ॥४०१२७॥
- ९३ “प्रथमा०” — नन्वेतेषु तृतीयस्य प्रथमे सत्यस्य प्रवृत्तेरिति पूर्वात्तत इत्यनुवृत्त्य सर्वेष्टसिद्धौ प्रथमा-  
दिति किमर्थम् ?,— ॥४०१२२॥

- क्र० सूत्रम् । शङ्का । । पृ० ५०
- ९४ “प्रथमा०”—न चैतत्सूत्राऽपेक्षया “अघोषे०” इति परत्वात् पूर्वमेव प्रथमो विधास्यति, यतस्तत्रा-  
ऽन्वित्यधिकारसत्त्वादिति चेत्?,—उच्यते— ॥४०१४३॥
- ९५ “रः कख०”—यद्यपि “निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धस्य” इति न्यायादत्र सानुबन्धस्याऽऽदेशो न,  
प्राप्नोति, तथापि “अरोः सुपि०” ॥१३१५७॥ इति सूत्रे “रः पदान्ते०” इत्यनेन र इत्यनुवृत्तौ  
स्वर्जितस्य रेफस्य सुपि परे रेफ एव सेत्स्यति किमर्थं “अरोः०” इति?, तद्वोधयति  
“निरनुबन्धग्रहणे सामान्यग्रहणं” तथा चाऽत्र सामान्यग्रहणं भवति । ॥४११२८॥
- ९६ “शपसे०”—ननु शपसमिति विहाय स इति न्यासेन “शपसे सो वा” इत्येव सूत्र्यताम्?, कश्चेते,  
कषण्डः, कस्साधुरिति, “सस्य शपौ” ॥१३१६१॥ इत्यनेनैतद्विहितसकारस्य शपौ, कस्साधु-  
रित्यत्राऽनेन स इति सकलामीष्टप्रयोगसिद्धेः । ॥४११२३॥
- ९७ “—न च “चटते सद्वितीये” इत्युत्तरार्थमिदं, तत्राऽपि स इत्यनुवृत्त्या तस्य “सस्य शपौ” इत्य-  
नेन “शपौ” सिध्यतः, कश्चरति, कथीकते इत्यादौ । ॥४११२४॥
- ९८ “—न च कश्चेते इत्यादौ “धुटस्तृतीयः” इति तृतीयवाचनाय शपयोर्विधानमिति वाच्यं,  
“असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे” इति न्यायेन कश्चेते इत्यादौ अन्तश्चेते इत्यादौ च स्वस्य  
शत्वस्य चाऽसिद्धत्वेन तृतीयाप्रवृत्तेरिति चेत्?,— ॥४११२५॥
- ९९ “—ननु गीर्धु, धूर्धु इत्यादौ “नाम सिद्धं” इति पदान्त रेफस्य पपरस्य कथं न पः?, इति शङ्कते— ॥४११२६॥
- १०० “—ननु वासर् क्षीमं, अद्धिर्प्सातं, अत्र पदान्तसस्य “सो रुः” इति स्वत्वे “रः कख०” इति कथं  
न भवति?, असेत्स्वरु—अत्र पदान्तसस्य रेफे सति “चटते सद्वितीये” इति कथं न सः?, इत्याह— ॥४११२६॥
- १०१ “—ननु नवा इत्यनुवृत्तिस्त्रीकारेण विकल्पबोधेऽत्र वा इति किमर्थम्?, इत्याह— ॥४११२८॥
- १०२ “चटते०”—नन्वत्र स्वरूपेण “चछटठतथे” इत्यसन्देहार्थं किं न निर्दिश्यते?, इति चेत्, सत्यम्,— ॥४११२३॥
- १०३ “—नन्वेवं सत्यपि चविशिष्टः छः, टविशिष्टः ठः, तविशिष्टः थः इति यत्र भवेत्तत्रैवेदं स्यादिति  
नाऽऽशङ्कनीयम् । ॥४११२५॥
- १०४ “नोऽप्रशा०”—ननु सूत्रेऽधुटीत्युक्त्याऽधुटि परतो यच्चटतं तस्मिन्नकारस्य शादयो भविष्यन्तीति कि-  
मर्थं परग्रहणमिति चेत्?, सत्यम्,— ॥४११२०॥
- १०५ “दिः कानः०”—ननु “कास्कात्” इत्यत्राऽनेन सकारे सति “सो रुः” इति स्वत्वं कुतो न भवति?,  
इत्याह— ॥४११२७॥
- १०६ “—ननु कस्यादिरिति तत्पुरुषपक्षेऽनुस्वारस्य व्यञ्जनत्वेनैतत्सूत्रविहितसस्य “पदस्य”  
इति लोपः कथं न भवतीति चेत्?, उच्यते— ॥४११२९॥
- १०७ “स्सटि समः”—न चाऽत्र सम् स्छ इत्यवस्थाया प्रत्ययात् पूर्वमेव सर्वस्य निमित्तस्य सङ्गावात् “स्सटि  
समः” इति साद्यादेशप्रसङ्ग इति वाच्यम्?,— ॥४११३९॥
- १०८ “लुक्”—ननु “सटि समो लुक् च” इत्येवं योगविन्यासे लक्ष्यसंसिद्धौ, कथं “लुक्” इति भिन्नयोगा-  
ऽऽरम्भः?,— ॥४११३३॥
- १०९ “—न चैकयोगे लुक्पक्षे अनुस्वारानुनासिकौ स्याताम्, सकारसन्नियोगशिष्टत्वादनुस्वारानु-  
नासिकयोः सकारनिवृत्तावनुस्वारानुनासिकयोरपि निवृत्तिरिति चेत्?, सत्यम्,— ॥४११३४॥
- ११० “तौ मुमो०”—ननु पूर्वस्मादनुवृत्तं पदान्त इति मुमोश्चैकविभक्तिनिर्दिष्टत्वात् कथं मकारस्यैव विशेषण-  
मुक्तं न स्वागमस्य?, इत्यत आह— ॥४११२३॥
- १११ “—चन्तरसीत्यादौ एतत्सूत्रविहितनकारस्य “नोऽप्रशानो०” इति कस्मान्न भवति?, इत्याह— ॥४११२३॥
- ११२ “मनयव०”—ननु “मनयवले” इति सप्तम्यन्तपाठे पराब्दाभावे च मकारादौ परे यो हकारस्तस्मिन्  
इत्यर्थेनाऽभिप्रेतलक्ष्यसंसिद्धौ, किमर्थं परग्रहणमिति चेत्?, उच्यते— ॥४११३६॥
- ११३ “ङ्णोः कटा०”—ननु अन्तग्रहणं निष्फलं “ङ्णोः कटौ” इत्यनुक्त्या “ङ्णः कटं” इति समाहारद्वन्द्वं कृत्वा  
पञ्चम्यन्तत्वेनाऽऽदेशत्वनिरासे लक्ष्यसिद्धेरिति चेत्?, मैवम्,— ॥४११२७॥
- ११४ “ङ्गः स००”—ननु पङ् इत्यत्र “अघोषे प्रथमोऽशिष्टः” इति टत्वं कथं न भवति?, इत्याह— ॥४११३१॥
- ११५ “—ननु मधुक इत्यत्र “गेरनिटि” इति जातस्य णिलोपरूपस्वरदेशस्य “स्वरस्य परे प्राग्विधौ”  
॥७३१११०॥ इति सूत्रेण स्थानिवत्त्वात् शलोपः “संयोगस्यादौ०” इति न प्राप्नोति,— ॥४११३७॥
- ११६ “—न सन्धिडीयकिद्धिदीर्घासद्विधावस्कुकि” ॥७३११११॥ इत्यत्राऽस्कुकीति वचनात्  
स्थानित्वप्रतिषेधाभावादिति चेत्?, न,— ॥४११३८॥
- ११७ “—ननु ङ्ग इति कथं?, ङ्ग इति “तवर्गस्य०” इत्यनेन भाव्यमिति चेत्, सत्यम्,— ॥४११२१॥
- ११८ “नः शिञ्”—ननु “ङ्गः स त्सोऽञ्जः” इति सूत्रे न इति पृथग्योगविधानेन “अर्थवशाद्विभक्तिपरि-  
णामः” इति न्यायेन पञ्चम्यन्तस्य तस्य पठ्या विपरिणामेन अत्राऽनुवृत्तौ स्थानित्वं  
भविष्यति किमर्थं सूत्रे न इत्युपादानम्?, ॥४११२३॥
- ११९ “—यदि चोच्येत तुल्ययुक्त्या सूत्रे शि इति पठ्या विपरिणामे शकारस्य स्थानित्वं  
कस्मान्न?, इति चेत्,— ॥४११२५॥

क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
१२०	“नः शिं झ्”—नन्वत्र “चजः कगम्” इत्यनेन कत्वं कथं न भवति ?, इत्याह—		॥४६।३१॥
१२१	“घोषवति”—ननु पूर्वसूत्र एव घोषवद्ग्रहणं कियतामर्थस्य समानत्वात् किं पृथग्योगेन ?,—सत्यम् ;		॥४७।१६॥
१२२	“अवर्णभो०”—ननु सन्धिरूपतायामसन्धिरिति प्रतिषेधो युक्तः, लुक् अभावरूपत्वात् सन्धिरूप एव न भवतीति कथं स प्रतिषेधः ?, इत्यत आह—		॥४७।२२॥
१२३	” —ननु को गच्छतीत्यादौ पूर्वणोत्वं अनेन च लोपः प्राप्त इत्युभयप्राप्तौ परत्वाल्लोप एव स्यादिति चेत् ?,—न,		॥४७।२५॥
१२४	” —न च “अवर्णभो०” इति सूत्रे ‘अवर्ण’ इत्यत्र वर्णग्रहणाज्जातिग्रहणेन सर्वविधा-कारग्रहणे ‘प्रतिलक्ष्यं लक्षणोपप्लव’ इति सिद्धान्तादरे ह्रस्वाकारविषयकस्याऽ-स्याऽपि निरवकाशत्वमिति वाच्यम् ।		॥४७।२६॥
१२५	” —ननु सति सद्भावे प्रतिषेध उपपद्यते, अवर्णादिभ्यस्तु घोषवति रोलुकि सन्धि-सम्भव एव नास्ति ?, इत्यत आह—		॥४७।३३॥
१२६	“ह्रस्वाद्०”—ननु कुर्वन्नास्ते, कृपन्नास्ते इत्यत्राऽनेन नस्य द्वित्वे सति द्वितीयनस्य पदान्तत्वेऽपि पूर्वस्य नस्याऽनन्त्यस्य “रपूर्वर्णाञ्चोण०” ॥२।३।६३॥ इत्यनेन णत्वं कथं न भवति ?,—इत्याह—		॥४९।२२॥
१२७	” —ननु चाऽत्र मा भूदनेन द्वित्वं “अदीर्घाद्विरामैकव्यञ्जने” इत्यनेन द्वित्वं भविष्यति तत्कि-मर्थमेतन्निवृत्तये स्वर इत्युच्यत इति चेत् ?, सत्यम् ;		॥४९।२७॥
१२८	” —ननु ह्रस्वात् परेषां पदान्ते वर्तमानानां ङ्णानां अनेन द्वित्वे सति कथं “उणादयः”, “अनतो०” इत्यादयो निर्देशाः ?, इत्यत आह—		॥४९।३१॥
१२९	“स्वरेभ्यः”—ननु स्वरादित्युक्तेऽपीष्टस्य सिद्धत्वाद्ग्रहवचनं व्यर्थं ?, इत्यत आह—		॥५०।३१॥
१३०	“ह्रद्दृढ०”—ननु द्वित्वं कृतमपि ‘निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याऽप्यपाय’ इति न्यायेन निवर्त्यति किमनुग्रहणेन ?, इति चेत्, न ;		॥५१।२१॥
१३१	“अदीर्घाद्०”—ननु त्वक् इत्यादौ “पदस्य” इति संयोगान्तलोपः कथं न भवति ?, इत्याह—		॥५१।३९॥
१३२	” —यद्यपि त्वक् इत्यत्र “पदस्य” इति संयोगान्तलोपस्याऽऽदेश्यलादभावेऽपि “संयोग-स्यादौ स्कोलुक्” इति लोपः पूर्वककारस्य प्राप्तस्तथापि ककारादन्यत्र द्वित्वश्रुतेश्चा-रितार्थेऽपि सूत्रे पूर्वसादृशस्वरस्येत्यनुवृत्त्या तत्र रेफहकाररूपव्यक्त्युपादानात् ‘व्यक्तिः पदार्थ आश्रीयते’ तत्र च ककारविषयस्य द्वित्वस्याऽऽनर्थक्यं मा भूदिति न भवति ।		॥५१।४२॥
१३३	“ततोऽस्याः”—नन्वसिन्नन्तरङ्गे द्वित्वे कर्तव्ये ‘असिद्धं बहिरङ्गम्’ इति न्यायेन बहिरङ्गो याद्यादेशः कथं नाऽसिद्धो भवति ?,—		॥५२।२३॥
१३४	” —न चाऽस्य योगस्य वैयर्थ्यं ?,—ध्यानमित्यादावनादेशरूपे यादौ तस्य सावकाशत्वा-दिति चेत् ?, सत्यम् ;		॥५२।२३॥
१३५	” —ननु दध्यत्र इत्यादौ तकारात् परस्य रस्य कस्मान्न द्वित्वमिति चेत् ?,		॥५२।२५॥
१३६	“ज्ञां धुह०”—ननु सूत्रे ज्ञामिति बहुवचनं किमर्थं ?, इत्यत आह—		॥५३।११॥
१३७	“रो रे लुग०”—नन्वप्राऽपदान्त इत्यनुवर्तते तदा अजर्घाः, अपास्पाः, अचोक्कुः, अचाखाः, अचाकाः, अपापाः इत्यादिष्वेव सूत्रं प्रवर्तते न सारान्यमित्यादौ इति चेत् ?, सत्यम् ;		॥५५।११॥
१३८	” —न हीकारात् परस्य रेफस्य रेफेऽपदान्ते सम्भवोऽस्ति यथा अग्नी रथेन, नीरक्तमित्यादौ		॥५५।१३॥
१३९	” —अकारोकाराभ्यां परस्य रेफस्य हि रेफेऽपदान्ते पदान्ते च सम्भवो यथा—अजर्घाः, अचोक्कुः, पुना रमते, दूरकमित्यादौ ।		॥५५।१३॥
१४०	” —अपि च सूत्रे भिन्नस्थानि—निमित्तकथनेनाऽपि तदननुवृत्तिरेव धोष्या ।		॥५५।१५॥
१४१	” —ननु सूत्रे रो इत्यनेन सानुवन्धो निरनुवन्धो वा ?, नाऽऽद्यः, तथा सति अग्नी रथे-नेत्यादि सिद्धावपि पुना रमते इत्यादि न सिध्येत्, न द्वितीयस्तथा सति पुना रमते इत्यादि सिद्धावपि अग्नी रथेनेत्यादि न सिध्येत् ।		॥५५।१६॥
१४२	” —न च लक्ष्यानुरोधेनोभयपरिग्रहः, तस्य सर्वत्र नियामकत्वेऽतिप्रसंगादिति चेत् ?,—		॥५५।१७॥
१४३	” —अथ अग्नी रथेनेत्यादौ व्यवहितस्याऽकारस्य दीर्घः कस्मान्न भवति ?, इत्याशङ्क्यामाह—		॥५५।२०॥
१४४	” —ननु सामान्यनिर्देशादनन्तराणामेवेति कुतो लभ्यत इति चेत् ?, उच्यते—		॥५५।२०॥
१४५	“उदः स्या०”—कथमुत्स्कन्दतीति उत्कन्दको रोग इति ?, णोदरादित्वात् ।		॥५६।८॥
१४६	” —उत्पूर्वात् ‘घा’ घातोर्धतन्या दिप्रत्यये सिज्जुवादौ उदस्यादत्र सकारलोपः कस्मान्न भवति ?,		॥५६।१३॥
१४७	” —ननूदस्यादित्यत्राऽङ्गागमात् पूर्व कथं न सलोपः ?, इति चेत् ;		॥५६।२६॥
१४८	” —ननु उत्स्थान इत्यत्र उदः परत्र स्थाधातोर्विद्यमानत्वात् कुतो न सलोपः ?, इत्यत आह—		॥५६।२७॥
१४९	” —ननु उत्स्थान इत्यत्र कुतो शायते उद इत्यविशेषणं स्थाधातोरिति ?,—		॥५६।२९॥
१५०	” —‘उदः स्कन्दे रोगे’ इति वक्तव्यं, उदः परस्य स्कन्दे. सकारस्य लोपो भवति; कथ-मन्यथा उत्कन्दको रोग इति सिध्यतीति पृच्छति ।		॥५६।३६॥

- क्र० सूत्रम् । शङ्का । पृ० प०
- १५१ “एतदश्च०”—अपि च ‘अनग्रहसमासे’ इत्यनेन तदन्तविधिः ‘तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते’ इति न्यायश्च ज्ञाप्यते । ॥५७।१७॥
- १५२ ” —ननु प्रसज्यप्रतिषेधार्थकनञो ग्रहणे वाक्यभेद इति चेत् ?,— ॥५७।२०॥
- १५३ ” —सेरिति सानुबन्धोपादानं कथम् ? इत्यत आह— ॥५७।२४॥
- १५४ ” —अथाऽत्र परत्वादेत्वे पत्वे च कृते सकारस्याऽभावाद्गोपो न भविष्यतीति चेत् ? उच्यते— ॥५७।२५॥
- १५५ “धुटो धुटि०”—नन्वत्र स्थानिनिमित्तयोः समसंख्यावचनत्वात् यथासंख्यप्रतिपत्तौ पकारस्य पकारे एव लोपो विज्ञायेत, इत्यत्र प्रसङ्ग एव नाऽस्तीति किमेतन्निवृत्त्यर्थेन स्वे इति ग्रहणेनेति चेत् ? उच्यते— ॥५८।२०॥
- १५६ “तृतीयस्तु०”—अथ पृथग्विहितत्वेनोपस्थानान्निमित्तानुवृत्तिः कथं नेष्यते ? इति चेत्,— ॥५८।२५॥
- १५७ ” —तथा च तत्र तत्र प्रकृतानुप्रकर्षणाय चकारस्य क्रियमाणत्वं यथा “मो नो भ्वोश्च” इत्यादौ, इह तु तदकरणात् प्रकृते तदननुवृत्तिरेव, इत्याह— ॥५८।२६॥
- १५८ “रः पदान्ते०”—कथं नृपतेरपत्यं नार्पत्य ? नृकुट्यां भवो नार्कुटः ? तवर्कारः ? प्राच्छति ? इत्यादि, ॥५९।१२॥
- १५९ ” —ननु गीरित्यादौ दीर्घात् पूर्वमेव विरामाधोपयोरनेन विसर्गे निमित्तरेफस्याऽभावात् कथं “पदान्ते” ॥२।१।६४॥ इति दीर्घः ? इत्यत आह— ॥५९।३९॥
- १६० “ख्यागि”—अथ किमर्थमिदं ख्यागि रेफस्य पदान्तत्वात् पूर्वणैव सिध्यतीति चेत् ? सत्यम् ; ॥५९।४६॥
- १६१ “शिष्यघो०” ननु “रः पदान्ते०” इत्यनेन विसर्गे सिद्धे किमर्थमिदम् ? इत्यत आह— ॥६०।१८॥
- १६२ “अरो. सुपि०”—ननु रेफस्य सिद्धत्वात् विधेश्चाऽप्राप्तप्राणरूपत्वाद्देफस्य रेफविधानमनर्थकं ? न त्वनर्थक, नियमार्थत्वेन कार्यान्तरवाधनार्थत्वात् ? इत्याह— ॥६०।२६॥
- १६३ “वाऽहर्पत्या०”—ननु वृत्तिप्रदर्शितेभ्योऽन्यान्यपि सन्तीति कुत एतत् ? उच्यते— ॥६०।३८॥
- १६४ “तवर्गस्य०”—ननु तवर्गस्य कार्यित्वात् तेन च विशिष्टवर्णसमुदायस्याऽभिधानात्तच्च शेते इत्यादिषु एकैकस्य तवर्गशब्दाप्रतीतौ कथं कार्यित्वम् ? इति चेत्, उच्यते— ॥६१।२२॥
- १६५ ” —ननु यथा पूर्वण चवर्गेण योगे तवर्गस्य चवर्ग इत्युदाहृते कथं नोदाहृतं पूर्वण शकारेण ? इत्यत आह— ॥६१।३६॥
- १६६ ” —ननु पूर्ववत् परत्र पकारेण योगेऽपि कथं नोदाहृतम् ? इत्यत आह— ॥६१।३८॥
- १६७ ” —अथ तच्च शेते, मज्जतीत्यादौ “चज. कगम्” ॥२।१।८६॥ इति आदेशभूतयोश्चजयोः कगौ कस्मान्न भवतः ? उच्यते— ॥६२।१७॥
- १६८ ” —ननु तच्च शेते इत्यादौ मा भूत् चस्य कत्वं, मज्जति इत्यादौ जकारस्य धुडाभ्रयं गत्वं कस्मान्न भवति ? इत्याह— ॥६२।२१॥
- १६९ “लि लौ”—अथ किमर्थं सूत्रे लौ इति द्विवचनम् ? ॥६३।२८॥
- १७० “अत आः०”—नन्वत्र “एद्वहुस्मोसि” ॥१।४।४॥ इत्येत्वं कथं नेति चेत् ? उच्यते— ॥६४।१८॥
- १७१ ” —अत्राऽऽकारोऽप्राप्तप्राणार्थः, ‘सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विधातस्य’ इति न्यायेनाऽकारसंनिपातेन विधीयमानो यकारस्तद्विधाताय कथं प्रभवतीति न वाच्यं, यत्रहणवैयर्थ्यप्रसंगात् । ॥६४।२०॥
- १७२ ” —यद्यप्यासन्न इति न्यायादाकारः कण्ठ्यादिधर्मत्वेन तत्सदृशस्यैव स्थानिनो भवन्नकारस्यैव भविष्यति, तथाप्यवर्णादिक्रमेण कार्याणामत्र कार्यविधानात्तन्मन्तरेण च सर्वमुखस्थानमवर्णादेरपि स्यादित्यत आह— ॥६४।२१॥
- १७३ ” —नन्वत्र ‘प्रत्ययाप्रत्यययो. प्रत्ययस्यैव ग्रहणम्’ इति न्यायेन स्यादाविति लब्धे किमर्थं तद् ? इति पृच्छति । ॥६४।२६॥
- १७४ ” —न चाऽऽशङ्क्यम् “त्रिचतुरः०” ॥२।१।१॥ इति स्यादावित्यस्य तत्र ग्रहणं, यतस्तत्र तद्ग्रहणस्य निष्फलत्वात् । ॥६४।२९॥
- १७५ ” —अपि चाऽत्र स्यादावित्यधिकारार्थं, अन्यथा तस्य “डित्यदिति” ॥१।४।२३॥ इत्यत्र विशेष्यतया सम्बन्धभावेन शुचिशब्दाद् डयां तेन प्रत्ययत्वादेत्वस्य प्राप्तेः— ॥६४।२९॥
- १७६ “मिस पेस्”—नन्वत्र “एद्वहुस्मोसि” इति परत्वादेत्वं कथं न भवतीति चेत् ? उच्यते— ॥६४।३५॥
- १७७ ” —न च ‘साम्प्रतिकाभावे भूतपूर्वगतिः’ इति न्यायेन कृतेऽप्येत्वे सावकाशत्वमैस्त्वस्येति वाच्यं, सम्भवति मुख्ये गुणकल्पनाया अयोगात् । ॥६४।३६॥
- १७८ ” —परत्वात् पूर्वमेत्त्वमित्यपि न वाच्यं, उभयोरन्यत्र सावकाशयोरेकत्र युगपत्प्रवृत्तौ स्पष्टसम्भवे परत्वसम्भवादिति । ॥६४।३७॥
- १७९ ” —न चाऽत्रैसोऽन्यत्र सावकाशत्वमस्ति, अतोऽपवादेनैवैत्वस्याऽयं बाधकः । ॥६४।३७॥
- १८० ” —इह कश्चिद्विमुद्ध्यकारी एत्वैस्त्वयोरुत्सर्गापवादभावमपहृत्य परत्वादेत्वप्रवृत्तिं कथयन् भूतपूर्वगत्या नित्यत्वमैस्त्वस्याऽऽचक्ष्ण एत्वस्यैवाऽयं बाधक इति प्रतिपादयति, यदाह— ॥६४।३८॥



क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
१२०	“नः शिञ्” —नन्वत्र “चजः कगम्” इत्यनेन कत्वं कथं न भवति ?, इत्याह—		॥४६॥३१॥
१२१	“घोषवति” —ननु पूर्वसूत्र एव घोषवद्ग्रहणं क्रियतामर्थस्य समानत्वात् किं पृथग्योगेन ?, —सत्यम्;		॥४७॥१६॥
१२२	“अवर्णभो०” —ननु सन्धिरूपतायामसन्धिरिति प्रतिषेधो युक्तः, लुक् अभावरूपत्वात् सन्धिरूप एव न भवतीति कथं स प्रतिषेधः ?, इत्यत आह—		॥४७॥२२॥
१२३	” —ननु को गच्छतीत्यादौ पूर्वणोत्वं अनेन च लोपः प्राप्त इत्युभयप्राप्तौ परत्वाल्लोप एव स्यादिति चेत् ?, —न,		॥४७॥२५॥
१२४	” —न च “अवर्णभो०” इति सूत्रे ‘अवर्ण’ इत्यत्र वर्णग्रहणाज्जातिग्रहणेन सर्वविधा-कारग्रहणे ‘प्रतिलक्ष्यं लक्षणोपप्लव’ इति सिद्धान्तादरे ह्रस्वाकारविषयकस्याऽ-स्याऽपि निरवकाशत्वमिति वाच्यम् ।		॥४७॥२६॥
१२५	” —ननु सति सद्भावे प्रतिषेध उपपद्यते, अवर्णादिभ्यस्तु घोषवति रोर्लुकि सन्धि-सम्भव एव नास्ति ?, इत्यत आह—		॥४७॥३३॥
१२६	“ह्रस्वाद्” —ननु कुर्वन्नास्ते, रूपन्नास्ते इत्यत्राऽनेन नस्य द्वित्वे सति द्वितीयनस्य पदान्तत्वेऽपि पूर्वस्य नस्याऽनन्त्यस्य “रूपवर्णात्रोण०” ॥२१॥६३॥ इत्यनेन णत्वं कथं न भवति ?, —इत्याह—		॥४९॥२२॥
१२७	” —ननु चाऽत्र मा भूदनेन द्वित्वं “अदीर्घाद्विरामैकव्यञ्जने” इत्यनेन द्वित्वं भविष्यति तत्कि-मर्थमेतन्निवृत्तये स्वर इत्युच्यत इति चेत् ?, सत्यम्;		॥४९॥२७॥
१२८	” —ननु ह्रस्वात् परेषां पदान्ते वर्तमानानां ङ्णां अनेन द्वित्वे सति कथं “उणादयः”, “अनतो०” इत्यादयो निर्देशाः ?, इत्यत आह—		॥४९॥३१॥
१२९	“स्वरेभ्यः” —ननु स्वरादित्युक्तेऽपीष्टस्य सिद्धत्वाद्बहुवचनं व्यर्थं ?, इत्यत आह—		॥५०॥३१॥
१३०	“हार्दत्” —ननु द्वित्वं कृतमपि ‘निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याऽप्यपाय’ इति न्यायेन निवर्त्यति किमनुग्रहणेन ?, इति चेत्, न;		॥५१॥२१॥
१३१	“अदीर्घाद्” —ननु त्वक् इत्यादौ “पदस्य” इति संयोगान्तलोपः कथं न भवति ?, इत्याह—		॥५१॥३९॥
१३२	” —यद्यपि त्वक् इत्यत्र “पदस्य” इति संयोगान्तलोपस्याऽऽदेशवलादभावेऽपि “संयोग-स्यादौ स्कोर्लुक्” इति लोपः पूर्वकारस्य प्राप्तस्तथापि ककारादयश्च द्वित्वश्रुतेश्चा-रितार्थेऽपि सूत्रे पूर्वसादृशस्वरस्येत्यनुवृत्त्या तत्र रेफद्वाररूपव्यक्त्युपादानात् ‘व्यक्तिः पदार्थ आधीयते’ तत्र च ककारविषयस्य द्वित्वस्याऽऽनर्थक्यं मा भूदिति न भवति ।		॥५१॥४२॥
१३३	“ततोऽस्याः” —नन्वस्मिन्नन्तरङ्गे द्वित्वे कर्तव्ये ‘असिद्धं बहिरङ्गम्’ इति न्यायेन बहिरङ्गो याद्यादेशः कथं नाऽसिद्धो भवति ?, —		॥५२॥२३॥
१३४	” —न चाऽस्य योगस्य वैयर्थ्यं ?, —ध्यानमित्यादावनादेशरूपे यादौ तस्य सावकाशत्वा-दिति चेत् ?, सत्यम्;		॥५२॥२३॥
१३५	” —ननु दध्यत्र इत्यादौ तकारात् परस्य रस्य कस्मान्न द्वित्वमिति चेत् ?,		॥५२॥२५॥
१३६	“ज्ञां धुङ्” —ननु सूत्रे ज्ञामिति बहुवचनं किमर्थं ?, इत्यत आह—		॥५४॥११॥
१३७	“रो रे लुङ्” —नन्वत्राऽपदान्त इत्यनुवर्तेत तदा अजर्घाः, अपास्याः, अचोक्कः, अचाक्षाः, अचाकाः, अपापाः इत्यादिष्वेव सूत्रं प्रवर्तेत न खाराज्यमित्यादौ इति चेत् ?, सत्यम्;		॥५५॥११॥
१३८	” —न हीकारात् परस्य रेफस्य रेफेऽपदान्ते सम्भवोऽस्ति यथा अश्री रथेन, नीरकमित्यादौ		॥५५॥१३॥
१३९	” —अकारोकाराभ्यां परस्य रेफस्य हि रेफेऽपदान्ते पदान्ते च सम्भवो यथा-अजर्घाः, अचोक्कः, पुना रमते; दूरकमित्यादौ ।		॥५५॥१३॥
१४०	” —अपि च सूत्रे भिन्नस्थानि-निमित्तकथनेनाऽपि तदननुवृत्तिरेव बोध्या ।		॥५५॥१५॥
१४१	” —ननु सूत्रे रो इत्यनेन सानुबन्धो निरनुबन्धो वा ?, नाऽऽद्यः, तथा सति अश्री रथे-नेत्यादि सिद्धावपि पुना रमते इत्यादि न सिध्येत्, न द्वितीयस्तथा सति पुना रमते इत्यादि सिद्धावपि अश्री रथेनेत्यादि न सिध्येत् ।		॥५५॥१६॥
१४२	” —न च लक्ष्यानुरोधेनोभयपरिग्रहः, तस्य सर्वत्र नियामकत्वेऽतिप्रसंगादिति चेत् ?, —		॥५५॥१७॥
१४३	” —अथ अश्री रथेनेत्यादौ व्यवहितस्याऽकारस्य दीर्घः कस्मान्न भवति ?, इत्याशङ्क्यामाह—		॥५५॥२०॥
१४४	” —ननु सामान्यनिर्देशादनन्तराणामेवेति कुतो लभ्यत इति चेत् ?, उच्यते—		॥५५॥२०॥
१४५	“उद्ः स्था०” —कथमुत्स्कन्दतीति उत्कन्दको रोग इति ?, पृषोदरादित्वात् ।		॥५६॥८॥
१४६	” —उत्पूर्वात् ‘घ्रा’ घातोर्द्यतन्या दिप्रत्यये सिज्जुवादौ उदस्थादत्र सकारलोपः कस्मान्न भवति ?,		॥५६॥२३॥
१४७	” —ननूदस्थादित्यत्राऽङ्गागमात् पूर्व कथं न सलोपः ?, इति चेत्;		॥५६॥२६॥
१४८	” —ननु उत्स्थान इत्यत्र उद्ः परत्र स्थाघातोर्विद्यमानत्वात् कुतो न सलोपः ?, इत्यत आह—		॥५६॥२७॥
१४९	” —ननु उत्स्थान इत्यत्र कुतो शायते उद् इत्यविशेषणं स्थाघातोऽिति ?, —		॥५६॥२९॥
१५०	” —‘उद्ः स्कन्दे रोगे’ इति वक्तव्यं, उद्ः परस्य स्कन्देः सकारस्य लोपो भवति; कथ-मन्यथा उत्कन्दको रोग इति सिध्यतीति पृच्छति ।		॥५६॥३१॥

- क्र० सूत्रम् । शङ्का । पृ० प०
- १५१ “एतदश्च०”—अपि च ‘अनग्रन्थसमासे’ इत्यनेन तदन्तविधिः ‘तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते’ इति न्यायश्च ज्ञाप्यते । ॥५७१७॥
- १५२ ” —ननु प्रसज्यप्रतिषेधार्थकनञो ग्रहणे वाच्यभेद इति चेत् ?,— ॥५७१२०॥
- १५३ ” —सेरिति सानुबन्धोपादानं कथम् ? इत्यत आह— ॥५७१२४॥
- १५४ ” —अथाऽत्र परत्वादेत्वे पत्वे च कृते सकारस्याऽभावाद्दोषो न भविष्यतीति चेत् ? उच्यते— ॥५७१२५॥
- १५५ “धुटो धुटि०”—नन्वत्र स्थानिनिमित्तयोः समसंख्यावचनत्वात् यथासंख्यप्रतिपत्तौ पकारस्य पकारे एव लोपो विज्ञायेत, इत्यत्र प्रसङ्ग एव नाऽस्तीति किमेतन्निवृत्त्यर्थेन खे इति ग्रहणे नेति चेत् ? उच्यते— ॥५८१२०॥
- १५६ “तृतीयस्त०”—अथ पृथग्विनिमित्तत्वेनोपस्थानान्निमित्तानुवृत्तिः कथं नेष्यते ? इति चेत्,— ॥५८१२५॥
- १५७ ” —तथा च तत्र तत्र प्रकृतानुप्रकर्षणाय चकारस्य क्रियमाणत्वं यथा “मो नो म्वोश्च” इत्यादौ, इह तु तदकरणात् प्रकृते तदननुवृत्तिरेव, इत्याह— ॥५८१२६॥
- १५८ “रः पदान्ते०”—कथं नृपतेरपत्यं नार्पत्यः ? नृकुट्यां भवो नार्कुटः ? तवकारः ? प्राच्छति ? इत्यादि, ॥५९१२२॥
- १५९ ” —ननु गीरित्यादौ दीर्घात् पूर्वमेव विरामाघोपयोरनेन विसर्गे निमित्तरेफस्याऽभावात् कथं “पदान्ते” ॥२११६४॥ इति दीर्घः ? इत्यत आह— ॥५९१३९॥
- १६० “ख्यागि”—अथ किमर्थमिदं ख्यागि रेफस्य पदान्तत्वात् पूर्वैरेव सिध्यतीति चेत् ? सत्यम् ; ॥५९१४६॥
- १६१ “शित्वघो०” ननु “रः पदान्ते०” इत्यनेन विसर्गे सिद्धे किमर्थमिदम् ? इत्यत आह— ॥६०११८॥
- १६२ “अरोः सुपि०”—ननु रेफस्य सिद्धत्वात् विधेश्चाऽप्राप्तप्रापणरूपत्वाद्देफस्य रेफविधानमनर्थकं ? न त्वनर्थक, नियमार्थत्वेन कार्यान्तरवाधनार्थत्वात् ? इत्याह— ॥६०१२६॥
- १६३ “वाऽहर्पत्या०”—ननु वृत्तिप्रदर्शितेभ्योऽन्यान्यपि सन्तीति कुत एतत् ? उच्यते— ॥६०१३८॥
- १६४ “तवर्गस्य०”—ननु तवर्गस्य कार्यत्वात् तेन च विशिष्टवर्णसमुदायस्याऽभिधानात्तच्च शेते इत्यादिषु एकैकस्य तवर्गशब्दाप्रतीतौ कथं कार्यित्वम् ? इति चेत्, उच्यते— ॥६११२२॥
- १६५ ” —ननु यथा पूर्वैर्ण चवर्गेण योगे तवर्गस्य चवर्ग इत्युदाहृते कथं नोदाहृतं पूर्वैर्ण शकारेण ? इत्यत आह— ॥६११३६॥
- १६६ ” —ननु पूर्ववत् परत्र पकारेण योगेऽपि कथं नोदाहृतम् ? इत्यत आह— ॥६११३८॥
- १६७ ” —अथ तच्च शेते, मज्जतीत्यादौ “चजः कगम्” ॥२११८६॥ इति आदेशभूतयोश्चजयोः कगौ कस्मान्न भवतः ? उच्यते— ॥६२११७॥
- १६८ ” —ननु तच्च शेते इत्यादौ मा भूत् चस्य कत्वं, मज्जति इत्यादौ जकारस्य धुडाभ्यं गत्वं कस्मान्न भवति ? इत्याह— ॥६२१२१॥
- १६९ “लि लौ”—अथ किमर्थं सूत्रे लौ इति द्विवचनम् ? ॥६३१२८॥
- १७० “अत आः०”—नन्वत्र “एद्दहुस्मोसि” ॥११४१॥ इत्येत्वं कथं नेति चेत् ? उच्यते— ॥६४११८॥
- १७१ ” —अत्राऽऽकारोऽप्राप्तप्रापणार्थः, ‘सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विधातस्य’ इति न्यायेनाऽकारसंनिपातेन विधीयमानो यकारस्तद्विधाताय कथं प्रभवतीति न वाच्यं, यद्ग्रहणवैयर्थ्यप्रसंगात् । ॥६४१२०॥
- १७२ ” —यद्यप्यासन्न इति न्यायादाकारः कण्ठ्यादिधर्मत्वेन तत्सदृशस्यैव स्थानिनो भवन्नकारस्यैव भविष्यति, तथाप्यवर्णादिक्रमेण कार्याणामत्र कार्यविधानात्तन्मन्तरेण च सर्वमुखस्थानमवर्णादेरपि स्यादित्यत आह— ॥६४१२१॥
- १७३ ” —नन्वत्र ‘प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणम्’ इति न्यायेन स्यादाविति लब्धे किमर्थं तद् ? इति पृच्छति । ॥६४१२६॥
- १७४ ” —न चाऽऽशङ्क्यम् “त्रिचतुर०” ॥२१११॥ इति स्यादावित्यस्य तत्र ग्रहणं, यतस्तत्र तद्ग्रहणस्य निष्फलत्वात् । ॥६४१२९॥
- १७५ ” —अपि चाऽत्र स्यादावित्यधिकारार्थं, अन्यथा तस्य “डिल्यदिति” ॥११४१२३॥ इत्यत्र विशेष्यतया सम्बन्धामावेन शुचिशब्दाद् ड्यां तेन प्रत्ययत्वादेत्वस्य प्राप्तेः— ॥६४१२९॥
- १७६ “मिस पेस्”—नन्वत्र “एद्दहुस्मोसि” इति परत्वादेत्वं कथं न भवतीति चेत् ? उच्यते— ॥६४१३५॥
- १७७ ” —न च ‘साम्प्रतिकामावे भूतपूर्वगतिः’ इति न्यायेन कृतेऽप्येत्वे सावकाशत्वमेस्त्वस्येति वाच्यं, सम्भवति मुख्ये गुणकल्पनाया अयोगात् । ॥६४१३६॥
- १७८ ” —परत्वात् पूर्वमेस्त्वमित्यपि न वाच्यं, उभयोरन्यत्र सावकाशयोरेकत्र युगपत्प्रवृत्तौ स्पष्टैस्सम्भवे परत्वसम्भवादिति । ॥६४१३७॥
- १७९ ” —न चाऽत्रैसोऽन्यत्र सावकाशत्वमस्ति, अतोऽपवादेनैवैत्वस्याऽयं बाधकः । ॥६४१३७॥
- १८० ” —इह कश्चिद्विमृश्यकारी एतवैस्त्वयोरुत्सर्गापवादभावमपहृत्य परत्वादेत्वप्रवृत्तिं कथयन् भूतपूर्वगत्या नित्यत्वमेस्त्वस्याऽऽचक्ष्णाय एतवस्यैवाऽयं बाधक इति प्रतिपादयति, यदाह— ॥६४१३८॥

- क० सूत्रम् । शब्दा । पृ० प०
- १८१ “मिस पेस्”—ननु मिस पेस् इत्यत्र एसादेश एवाऽस्तु किमैसादेशेन ?, “पेदौ०” इत्यैत्वे रूपस्य सिद्धत्वात्, उच्यते— ॥६४४२॥
- १८२ “—न च वाच्यमेसादेशे कृते “लुगस्यादेत्यपदे” ॥२११११३॥ इति अकारलोप इति, एस्वि- धानसामर्थ्यात् तस्याऽप्रवृत्तेः, अन्यथा यदि देवेरित्यमीष्टं स्यात्तदा इसिति कुर्यात् । ॥६४४५॥
- १८३ “—यदि सन्निपातन्यायस्य नित्यत्वं स्वीक्रियेत तर्हि कृतद्वयं जरशब्दान्तं नाम समाधित्य ऐस्भावः प्रवृत्तो जरसादेशद्वारा कथं तद्विघातस्य निमित्तं स्यात् ?,— ॥६४४७॥
- १८४ “—ननु विनाऽपि स्याद्यधिकार ‘अर्थवद्ग्रहणे नाऽनर्थकस्य’ इति न्यायाद् भिस्साभिस्स- टाशब्दयोरेकदेशस्य भिसोऽनर्थकत्वादैस् न भविष्यति ?, सत्यं, अविच्छेदार्थं स्याद्य- धिकारः स चेहाऽनुवर्तमानः ‘अर्थवद्ग्रहणे नाऽनर्थकस्य’ इत्येतन्न्यायानपेक्षं विशिष्ट- स्यैव मिस पेसादेशं नियमयतीत्येतदर्थं नाऽयमपेक्षणीय इति । ॥६५१७॥
- १८५ “इदमद०”—ननु तेन न्यायेनाऽवधारणस्य लब्धत्वात् तदर्थं एवकारोऽनर्थकः ?, इत्याह— ॥६५१८॥
- १८६ “टाडसो०”—ननु सत्यां सन्निपातपरिभाषाया कृते इनादेशे कथं जरस् ? इत्याह— ॥६६१२॥
- १८७ “डेडस्यो०”—न च अदिति करणे “लुगस्यादेत्यपदे” इत्यकारलोपे वृक्षादित्याद्यसिद्धौ कथमाद्वि- धानमतिजरसादित्यर्थमिति वाच्यम् । ॥६६१२०॥
- १८८ “सर्वादिः०”—ननु बहुव्रीहेरन्यपदार्थप्रधानत्वात् सर्वशब्दस्य च समासवर्तिपदार्थत्वादन्यपदार्थत्वा- भावाद्विधादिशब्दानामेव सर्वादिशब्देन बहुव्रीहिणाऽवगमात् सर्वादिकार्यं स्यान्न तु सर्वशब्दस्य, यथा—चित्रगुरानीयतामित्युक्ते स्वामिन एवाऽऽनयनं न तु गवां । ॥६६१२४॥
- १८९ “—न च वाच्यं यथा चित्रा गावो या अस्येति गवा विशेष्यत्वं तद्वत्तत्र विशेषणत्वमव- गम्यते तथेहाऽप्यवगम्यते इति । ॥६६१२६॥
- १९० “—अथवा—सर्वादिरित्यस्यावृत्त्या समीहितलाभ इति चेत्, सत्यं, संयोगसमवायलक्षण- सम्बन्धे यदा बहुव्रीहिस्तदा तद्वत्संविधानं भवति—शुक्लवासाः, लम्बकर्ण इति । ॥६६१३०॥
- १९१ “—नन्वेवं मध्यमस्यामवमस्यामिति न प्राप्नोति ?, गणे पाठाभावात्, तस्मादस्तु प्रकारार्थो- ऽयमादिशब्दः । ॥६६१३३॥
- १९२ “—वृत्तौ द्विवचनविषयत्वादित्यत्र द्विवचनशब्देन प्रत्ययो न गृह्यते, किं तर्हि ?, द्व्यर्था- भिधानसमर्थ इत्यर्थस्य विवक्षितत्वाद्विवचनशब्देन स्यादिप्रत्ययाग्रहणात् स्वार्थिक- त्वेन चोभार्थस्याहानात् आपुवद्वचनमन्तरेण द्विवचनपरतायाः सिद्धत्वात् । ॥६७११४॥
- १९३ “—ननु यथा स्वार्थिकत्वेन परार्थानभिधानात् कप्परस्य साधुत्वमेवं त्रतस्परस्यापि साधुत्व- प्रसङ्गः ?, नैवं, त्रतसादीना विभक्त्यर्थमात्रवचनत्वेन सर्वस्यैव भेदस्य परित्यक्तत्वाद्- साधुत्वमुभयशब्दस्य । ॥६७११५॥
- १९४ “—नन्वन्यतरशब्दस्य इतरप्रत्ययान्तत्वेन सर्वादिकार्यं गणपाठाभावेऽपि भविष्यति ?, तत्र इतरग्रहणादित्याह— ॥६७१२१॥
- १९५ “—ननु तर्हि स कथं साधुरित्याह— ॥६७१२७॥
- १९६ “—ननु इतरइतमशब्दयोः क्वापि प्रयोगादर्शनात् किमर्थस्तयोः पाठ इत्यत आह— ॥६७१३१॥
- १९७ “—ननु च सत्यस्मिन् प्रयोजने कथं स्वार्थिकप्रत्ययान्तानां सर्वादित्वाभावाद्यं स्याज्ज्ञापक- मिदम्, अन्यथा चाऽनुपपद्यमानं ज्ञापकं भवति । ॥६७१४०॥
- १९८ “—न च सत्यस्मिन् प्रयोजनेऽस्याऽन्यथानुपपत्तिरस्ति । ॥६७१४१॥
- १९९ “—न च दाढेशार्थमात्रत्वे दादेशविधौ इतरइतमग्रहणं कर्त्तव्यं, गणे तु करणात् स्वार्थिक- प्रत्ययान्तानां सर्वादित्वाभावार्थमपि भवतीति वाच्यं । ॥६७१४२॥
- २०० “—कथं पुनरयमर्थो यावता खे पुत्रा इति ज्ञात्यर्थो गम्यते, खे गाव इति धनार्थः ?, नैत- दस्ति; पुत्रमोशब्दयोरिह सन्निधानेनोभयं गम्यते, खशब्दात्वात्मीयत्वमात्रं प्रतीयते । ॥६८१३४॥
- २०१ “—ननु यदि शब्दान्तरनिरपेक्ष एव खशब्दो ज्ञातिधनयोर्वर्त्तते ?, कथं तर्हि ?— “धूमायन्त इवाऽऽश्लिष्टाः, प्रज्वलन्तीव संहताः । उल्मुकानीव मेऽमी स्वा, ज्ञातयो भरतर्षभ ! ॥” इत्यादौ ज्ञातिशब्दस्याऽनुप्रयोगः ?,— ॥६८१३५॥
- २०२ “—ननु कर्मार्थकरणार्थमेवाङ्गिन्नस्याऽप्युपसंव्यानशब्दस्य ग्रहणमनर्थकं, सर्वत्र बहि- योणेण सिद्धत्वादिति चेत् ?, उच्यते;— ॥६९१४१॥
- २०३ “—ननु तच्छब्दभवच्छब्दयोस्त्यदादित्वाविशेषात् कस्य शेष इत्यत आह— ॥६९१४२॥
- २०४ “—ननु सूत्रे विशेषस्याऽनिर्देशात् संज्ञायामपि सर्वादीनां सर्वादिकार्यप्रसङ्गः ?, नैव दोषः, तत्र गणपाठात् पर्युदासः शुद्धान्येव हि गणे सर्वादीनि सन्निविष्टानि न संज्ञाभूतानि । ॥६९१४०॥
- २०५ “—ननु संज्ञाया गौणत्वादेव न भविष्यति—सर्वाय वेदीति, प्रसिद्धिवशात् सम्भवत्येव ‘गौण- मुख्यन्याय’ इति किमसंज्ञायामिति विशेषणम् ?, नैवं, पदकार्येणैवाऽयं न्याय उप- तिष्ठते न नामकार्ये इति । ॥६९१४३॥
- २०६ “—न चैवं शब्दान्तरात् संज्ञाप्रतीतिरस्ति । ॥६९१४८॥

क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
२०७	“सर्वादिः०”—न च संज्ञाशब्दो गुणद्वारेण प्रवर्तते, येन प्रसिद्ध्यप्रसिद्धिवशाद्गौणत्वं तस्य सम्भवति ॥७०।८॥		
२०८	” —ननु मा भूत्सर्वो नाम कश्चित्सर्वायेत्यादौ असंज्ञायामिति विशेषणात् सर्वादिकार्यं, प्रियाः सर्वे यस्य सर्वानतिक्रान्तो य इत्युपसर्जनस्य प्राप्नोति ?, इत्याह— ॥७०।८॥		
२०९	” —न ह्यत्र गृह्यमाणात् सर्वादेर्विहिता विभक्तिरपि तु समासादिति चेत्, न; गृह्यमाणस्य सर्वादेरर्थद्वारेण सम्यन्धिनी या विभक्तिस्तदर्थगतसंख्याकर्मादिवाचिनी तस्याः सर्वादिकार्यमित्यर्थोऽत्र विवक्षितः । ॥७०।१०॥		
२१०	” —ननु प्रतिनियतभागाभिनिवेशिवाच्छब्दानां सर्वत्वमोदनशब्देन नाभिहितं, ओदनत्वमपि सर्वशब्देनेति कुतोऽयं प्रसङ्गः ?, तत्रेदं दर्शनं— ॥७०।१७॥		
२११	” —एवं तर्ह्यभयमनेन क्रियते, पाठश्चैव विशेष्यते विधिश्च, कथं पुनरेकेन यत्नेनोभयं लभ्यते ?,— ॥७०।२०॥		
२१२	” —अथाऽऽद्यो भूतपूर्वो मयूरव्यंसकादित्वात् समासे आढ्यपूर्वस्तस्यै आढ्यपूर्वाय देहीत्यत्र कथं सर्वादिकार्यं न भवति ?, न च व्यवस्थाया अभावः, पूर्वमाढ्यो न च सम्प्रतीति व्यवस्था प्रतीयते । ॥७०।२३॥		
२१३	” —ननु अहं पिता यस्य मकपितृकः, त्वकं पिता यस्य त्वकपितृकः, द्वौ पुत्रौ यस्य द्वकिपुत्र इति ?, अन्तरङ्गत्वात् सर्वाभिधाननिमित्तेनाऽका तावद्वाच्यम्— ॥७०।२५॥		
२१४	” —न चाऽन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो विधिर्याधते इति वक्तुं शक्यं, लुग्विषयत्वे एव तस्य ज्ञापितत्वात् । ॥७०।२९॥		
२१५	“जस इः”—अथ नपुंसके सर्वशब्दात् नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणात् जसः स्थाने इकारादेशः कस्मान्न भवति ?, उच्यते— ॥७१।२७॥		
२१६	“निमार्ध०”—नन्वसंज्ञायामित्यस्य सर्वादेर्विशेषणत्वेनाऽसर्वादीनामर्धादीना संज्ञायामनेन विकल्पेन जस इकारादेशः कथन्न भवतीत्याह— ॥७१।४३॥		
२१७	“द्वन्द्वे वा”—ननु चान्तरशब्दो बहुव्रीहौ वर्तते न द्वन्द्वे इति कथमदः प्रत्युदाहरणं ?, न, तदवयवको बहुव्रीहिर्द्वन्द्व इति सोऽपि द्वन्द्व इति प्रत्युदाह्रियते । ॥७२।१९॥		
२१८	“न सर्वादिः”—ननु सर्वस्य सर्वादिकार्यस्य निषेधात् कथमत्र “सर्वादयोऽस्यादौ” इति पुंवद्भावः?, उच्यते— ॥७२।२६॥		
२१९	” —ननु कतरे च कतमे चेति द्वन्द्वे सर्वादिकार्यस्य निषेधादज्ञाताद्यर्थेऽकप्रत्ययाभावेऽपि कप्रत्यये सति स्वार्थिकत्वेन प्रकृत्यर्थाविशिष्टत्वात् कतरकतमका इति “द्वन्द्वे वा” इति “जस इः” कस्मान्न भवति ?, अत आह— ॥७२।२८॥		
२२०	“तृतीयान्ता०”—अथवा बहुव्रीहिरेव, तृतीयाया अन्तो विनाशो यत्र, तृतीया अन्ते यस्येति वा । ॥७२।३९॥		
२२१	” —ननु लाघवार्थं ‘तृतीयासमासे’ इति सूत्रकरणेऽन्यस्यापि सर्वादेः सर्वादिकार्यप्रतिषेधप्रसङ्ग इति वाच्यम् । ॥७२।४३॥		
२२२	” —अथैवं सति वाक्यस्य परिग्रहाभाव इति चेत्, एकस्तृतीयासमासः प्राथमकल्पिको यस्मिन्नेकपदं एकविभक्तिकत्वं चोच्यत इति । ॥७२।४४॥		
२२३	” —ननु योगग्रहणेनैव व्यावर्तितमिदम् ?, नैवं, तृतीयान्तमाधिलेयति लभ्यत्वाद्विशिष्टयोगस्य । ॥७३।१५॥		
२२४	” —ननु यास्यति चैत्रो मासेन पूर्वस्यै इत्यत्र योगग्रहणं विनापि “समर्थः पदविधिः” इति न्यायेन भविष्यति निषेधः किं योगग्रहणेन ?, उच्यते— ॥७३।१८॥		
२२५	“तीयं ङित्०”—तथाहि-जातीयसमुदायेन वा तस्य लाक्षणिकत्वं बोध्यमित्यर्थः । ॥७३।३८॥		
२२६	“सर्वादेर्दे०”—यद्येवं, कथं दक्षिणपूर्वस्यै ?, दक्षिणा चासौ पूर्वा चेति कर्मधारये भविष्यति । ॥७५।५॥		
२२७	” —अथ च बहुव्रीह्यादेः सर्वादित्वाभावे कथं त्वकपितृकः ?, मकपितृकः ?, द्वकिपुत्रः ?, कक्सिन्नमचारी ?, इत्यादावकृम्यत्यः—उच्यते, अन्तरङ्गत्वात् पूर्वमेवाऽकृ भविष्यति । ॥७५।६॥		
२२८	“इदुतो०”—कथं शस्त्रीमतिक्रान्तौ अतिशस्त्रीपुरुषौ ?, ‘अर्थवद्ग्रहणे नाऽनर्थकस्य’ इति प्रतिषेधाभावात् ॥७६।८॥		
२२९	“औता”—नन्वेकेन सम्बन्धेन चरितार्थत्वात् स्थानसम्बन्धो न घटते ?, एकारस्यादेशत्वात्तस्य च स्थानमन्तरेणासम्भवात् प्रत्यासत्तेश्चैव स्थानित्वं परिकल्प्यत इत्यदोषः । ॥७६।१६॥		
२३०	“इदुतो०”—नन्वखेरिति प्रतिषेधोऽनर्थकः, परत्वादतिस्त्रियावित्यत्रेयादेशेनैव भाव्यमत आह— ॥७६।३५॥		
२३१	” —ननु ज्ञाप्यमस्तु ज्ञापकं माऽस्तु इति चेत्, उच्यते— ॥७६।३८॥		
२३२	“दित्यदिति”—नन्विकारोकारमात्रापेक्षत्वेनाऽन्तरङ्गत्वात् पूर्वमेवैदोतौ स्यातां न दायाद्यादेशाः, तेषां स्त्रीत्वविशिष्टेकारोकारापेक्षत्वेन बहिरङ्गत्वात्, कृतयोरण्येदोतोरिकारोकाराभावात् वर्णविधित्वाच्च स्थानिवत्त्वाभावात् दैदासाद्यादेशाभावात् प्रतिषेधो न युक्तः?, ॥७७।१७॥		
२३३	” —न च तदन्तादादेशविधानात् अवर्णविधित्वात् स्थानिवत्त्वं, अप्रधानेऽपि वर्णविधिप्रतिषेधात् । ॥७७।१९॥		

क० सूत्रम् ।

शब्दा ।

पृ० प०

- २३४ "डिडौ"—अथ कस्मात् "डिडौ" इत्ययमभेदनिर्देशो यावता स्थानिन एकवर्णत्वादन्त्याभावात् स्थान-  
पृथ्वा भेदनिर्देशोऽपि न किञ्चिद्विनक्ष्यति, नैवं, भेदनिर्देशो हि डेरिति रूपस्य साम्याच्च-  
तुर्थ्यैकवचनस्यापि प्रतिपत्तिः स्यादित्याह—
- २३५ " —ननु दाम्भकरणसामर्थ्यादेव डौर्न स्यात्किं व्यावृत्तावद्वितीति दर्शनेन ? ॥७७।३१॥
- २३६ " —किञ्च यथासंख्यार्थं "स्त्रिया डिता०" इत्यत्र दाम्ग्रहणं कार्यं, अन्यथा इदं सूत्रमन्यथा  
उत्तर चान्यथा कार्यं स्यात्, तथा च गरीयसी रचना स्यादिति । ॥७७।३६॥
- २३७ "केवल०"—ननु पतिशब्दात् केवलादपि डेडौरपि भवति, प्रयुज्यते व्यक्तावेव पठ्यते पताविति  
तत्कथमेतदित्याह— ॥७७।३८॥
- २३८ " —नन्वनयोरिकारान्तत्वेन व्यभिचाराभावाद्विदन्ताभ्यामिति विशेषणं न सार्थकं यत्रापि  
क्यन्तादौ दीर्घोऽस्ति तत्रापि स्वरूपान्यथात्वान्न भविष्यति ?, नैवं, ॥७८।१८॥
- २३९ " —नन्वत्र "स्थानीवाऽवर्णविधौ" इति न्यायात् क्तिप. स्थानित्वे सति "चोः व्ययवज्जन०"  
इति यलोप. कस्मान्न भवति ? ॥७८।२३॥
- २४० " —नन्वेव औकाराभावे किं स्यादत आह— ॥७८।२९॥
- २४१ "स्त्रिया डिता०"—कथं तत्सिध्यतीति चेत्, उच्यते—"स्त्रीदूतः" इति वक्ष्यमाणसूत्रात् स्त्रीविच्छेदात् । ॥७९।३३॥
- २४२ "स्त्रीदूतः"—अथैतत्पक्षोक्तदोषपरिजिहीर्षया स्त्रियावीदृतौ यस्य तत्स्त्रीदूदिति बहुव्रीहिः, अत्रापि  
स एव दोषः, समुदायस्यैव व्यर्थत्वाच्चावयवस्येति, ॥७९।४२॥
- २४३ " —ननु आधीप्रधीशब्दौ क्रियाशब्दत्वात् सर्वलिङ्गत्वात् ग्रामण्यादिशब्दवन्न नित्यस्त्रीवि-  
पयाविति चिन्त्यमेतत् । ॥८०।२५॥
- २४४ " —अथोच्यते—सत्यपि व्यर्थत्वे ईकारोकारान्तत्वाभाव इति चेत्, तत्र लुगद्वयस्थानिव-  
द्भावे सतीदूदन्तता भविष्यतीत्याह— ॥८०।३४॥
- २४५ "वैयुवो०"—ननु "वैयुवोऽस्त्रिया." इति माऽस्तु, परन्तु पूर्वशास्त्रस्य "स्त्रीदूतः" इत्यस्य प्रवृत्तौ किं  
बाधकम् ?, अत आह— ॥८०।४५॥
- २४६ " —न च वाच्यमाधीप्रधीशब्दयोः क्रियाशब्दत्वेन सर्वलिङ्गत्वात् नित्यस्त्रीविषयत्वाभावात्  
पूर्वेणाऽपि कथं दाययादेशा इति । ॥८१।१९॥
- २४७ " —ननु चाध्वे प्रध्वे इति यद्यपि यकारेण्यदेशो बाध्यते, तथापि घियौ, घिय इत्यादाविय-  
भावादियसम्बन्धी ईकार इति शक्यं व्यपदेश्यम् ? ॥८१।२०॥
- २४८ " —यदाऽस्य स्थाने इयादिर्भवति तदाऽसावियादेरीदादि, न चान्यस्मिन् भवत्यसाविया-  
देरीदादिस्तयोरभेदप्रसङ्गादिति विकल्पो न भवति । ॥८१।२२॥
- २४९ " —ननु स्त्रियै इत्यादौ असत्यप्यनेन विकल्पे कथं पूर्वेण नित्यमादेशो यतः परत्वादियुवा-  
दिभावादीदूदन्तत्वाभावादप्रवृत्तिरेवेत्याह— ॥८१।२६॥
- २५० "आमो नाम्वा"—ननु त्रियमतिक्रान्तानि कुलानि तेषामतिश्रीणामित्यादौ "स्त्रीवे" ॥२।४।९७॥ इति  
ह्रस्वत्वे सति कथमामो नामित्यत आह— ॥८१।३९॥
- २५१ "संख्यानां०"—ननु च त्रिंशदादयः शब्दाः सत्येयेष्वपि वर्तमानाः "विंशत्याद्याः शताङ्गन्वे" इति  
वचनादेकत्वं एव वर्तन्ते इत्यत्रैकवचनान्ता एव भवितुमर्हन्ति कथं बहुवचनम् ?  
सत्यं, एकशेषात् । ॥८२।२४॥
- २५२ " —अथाऽष्टनशब्दादामि परत्वात् "वाऽष्टन०" इत्याकारे नान्तत्वाभावात् कथं नाम्भावो ?  
अत आह— ॥८२।२५॥
- २५३ "पदोद्भ्या०"—"आतो नेन्द्रवरुणस्य" ॥७।४।२९॥ इति ज्ञापकात् पूर्वं पूर्वोत्तरपदयोः कार्यं, ततः  
सन्धिकार्यः अतः परमैरिति प्राप्नोति ?, नैवं, ॥८२।४३॥
- २५४ " —ननु वचनाभेदार्थमुभयत्र समाहारेतेरतयोर्गौ कस्मान्न कृतौ, न ह्यसति प्रयोजने  
वचनभेदो युक्त इत्याह— ॥८२।४४॥
- २५५ "खितिस्त्री०"—न च सखायं यातीत्यप्रयोगिणि प्रत्यये कृते "लुगातोऽनापः" ॥२।१।१०७॥ इत्याकार-  
लोपे सम्भवतीति वाच्यं, प्रयुक्तानामन्वाख्यानात्तेषां च प्रयोगासम्भवात्तदभावात् । ॥८३।१३॥
- २५६ " —स्त्रीतीम्या तु कल्पनानिर्मितस्याऽसम्भव एव । ॥८३।१४॥
- २५७ " —नन्वत्र नत्वे सति तीरुपत्वाभावात् कथमनेनोत्त्वमित्यत आह— ॥८३।२९॥
- २५८ "ह्रस्व०"—नन्वत्र सूत्रे शौ निमित्ते किं न दर्शितम् ? "स्वराच्छौ" ॥१।४।६५॥ इति नागमेन व्यवधा-  
नान्न प्राप्नोतीति चेत्, न, नागमः प्रकृतेरेवांश इति । ॥८४।३०॥
- २५९ " —ननु नपुत्रादयोऽपि व्युत्पाद्यन्त इति तत्कथमुच्यतेऽव्युत्पन्नानामिति ? ॥८४।३९॥
- २६० "अडौ च"—ननु नागमे सति कथमनं ?, व्यवधायकत्वाभावादागमस्येत्याह— ॥८५।१४॥
- २६१ "ह्रस्वस्य०"—ह्रस्वस्येत्यस्य ह्रस्वान्तस्येत्यर्थकत्वे कस्य गुणो ह्रस्वान्तस्य त्वसम्भवादिति चेत्, सत्यम्, ॥८५।३६॥
- २६२ " —अथ प्रमाणाऽसत्या इकारोकारयोरप्यरादेशः कस्मान्न भवति ?, मात्रिकस्य हि द्विमा-  
त्राद्व्यर्थमात्रिक आसन्नो भवति । ॥८५।३९॥

क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
२६३	“ह्रस्वस्य०”—न चैवं सति गुणग्रहणमनर्थकं स्थानाऽऽसत्या सोऽपि स्यात् ।		॥८५।४०॥
२६४	” —अथ हे कर्तृ कुलेत्यादौ ह्रस्वत्वादामन्यसिना सह गुणः कस्मान्न भवति ? इत्याह—		॥८५।४२॥
२६५	“पद्मापः”—अथ प्रिया खट्वा यसेति विग्रहे “गोश्चान्ते०” इति ह्रस्वत्वे ‘एकदेशविकृतस्याऽनन्यत्वात्’ आपः सद्भावात् आमन्यसिना एत्वं कस्मान्न भवति ?		॥८६।२१॥
२६६	“नित्यदि०”—नन्वेवं नित्यग्रहणात् कथं हे सुभ्रू ? हे भीरु ? इत्याह—		॥८६।३८॥
२६७	“अदेतः०”—नन्वमो लुग्वचनं किमर्थम् ? स्यादेशत्वात् सिग्रहणेनैव ग्रहणालुग्वभिष्यतीत्याह—		॥८७।१८॥
२६८	“दीर्घड्या०”—ननु व्यञ्जनादित्युक्त्या वृक्ष इत्यादावदोषे डघाग्रहणं किमर्थम् ?		॥८७।३१॥
२६९	” —ननु डघापोर्दोषयोरेव सत्त्वेन तयोर्दीर्घत्वविशेषणं नेतरव्यावर्तकम् ?		॥८७।३३॥
२७०	” —ननु यत्कुलमित्यादौ अन्यत्राऽन्यत्र लघ्यावकाशयोः “दीर्घड्याय०” इति, “अनतो लुप्” इति चानयोर्युगपत्प्राप्तौ व्यवस्थामाह—नपुंसकेषु परत्वादिति ।		॥८७।३६॥
२७१	” —अथ “पदस्य” इति संयोगान्तलोपेन सेलोपस्य सिद्धत्वात् व्यञ्जनग्रहणमतिरिच्यते ?		॥८७।३७॥
२७२	” —न च राजा तक्षेत्र नलोपे कर्तव्ये संयोगान्तलोपस्याऽसिद्धत्वेन नान्तत्वाभावे “नाम्नो नो०” प्राप्त्यभाव इति वाच्यम् ।		॥८७।३७॥
२७३	” —नन्वेवं ज्ञापिते सति पचन्, यजन् इत्यत्रापि नलोपप्रसङ्गः, ज्ञापनात् पूर्वं तु संयोगान्तलोपस्याऽसिद्धत्वात् नलोपाभावस्तान्तत्वादिति चेत्,		॥८७।३९॥
२७४	” —ननु चाऽत्र तकारलोप एव न प्राप्नोति सिलोपस्याऽसिद्धत्वात् ? नैप दोषः, पूर्वस्य परेऽसिद्धत्वमुच्यते ।		॥८७।४१॥
२७५	” —ननु तथापि “नामसिदयव्यञ्जने” इति सावपि पदत्वाद्भाजेति नलोपः सिध्यति, कृते तु नलोपे संयोगान्तत्वाभावात् “पदस्य” इति सेलोपो न सिध्यति ।		॥८७।४२॥
२७६	“दीर्घो नाम्य०”—ननु नाऽत्र समानस्य नाम्युच्यमानो दीर्घः प्राप्नोति, पकाररेफाम्नां तस्य व्यवधानात् तयोश्चाऽसमानत्वात्, सप्तम्या निर्दिष्टे चोपनिष्ठस्यैव कार्यभावात् ।		॥८८।३०॥
२७७	” —यद्येवमिह तर्हि प्राप्नोति—दण्डस्य नामो दण्डनामेति ।		॥८८।३६॥
२७८	“जुर्वी”—नन्वत्र वाग्रहणमन्तरेणाऽपि नित्यं दीर्घविधिः पूर्वेणैव सिद्धत्वात् पृथग्वचनाद्विकल्पोऽवसीयते ।		॥८८।४१॥
२७९	“शसोऽता०”—ननु पुंस्त्वविपयाभावे शसः किं भवति ? इत्याह—		॥८९।२२॥
२८०	” —नन्वस्तु वैयाकरणप्रसिद्धस्य पुंस्त्वस्य ग्रहणं, तथापि चञ्चाः, खरकुटीः, यष्टीः पुरुषान् पश्येत्यादौ प्राप्नोति ।		॥८९।२६॥
२८१	“संख्यासाय०”—ननु सायमित्यस्य मान्तत्वात् तलोपः केन ? इत्याह—		॥८९।३९॥
२८२	“निय आम्”—ननु ग्रामण्यामित्यत्र नी साक्षान्नास्ति किन्तु णी इत्यामो न प्राप्तिः ?—		॥८९।४५॥
२८३	” —ननु “एकदेशविकृत०” इति क्लीबेऽपि प्राप्तिरस्ति इति चेत्, न, निय ई नी इतीकार-प्रश्लेषात् निनि ग्रामणिनि कुले इत्येव भवति ।		॥९०।१५॥
२८४	“नपुंसक०”—अथेह कस्मान्न भवति, कुण्डं कुण्डं ददाति कुण्डश इति, “संख्यैकार्थात्०” ॥७।२।१५॥ इति शस् अत्राऽप्यस्ति ? इत्याह—		॥९१।२५॥
२८५	” —अर्थप्रकरणादिरहितश्च कुण्डादिशब्दो वृत्तावेकार्थो न भवतीति शसा न भवितव्यमेव ।		॥९१।२७॥
२८६	“अतः स्य०”—ननु अनत इत्यत्र पर्युदासः प्रसज्यो वा नञ् गृह्यते इति सन्देशः ।		॥९१।४३॥
२८७	” —न च वाच्यं पर्युदासे हि “नामिनो लुप्” इति सूत्रं कुर्यात्, तस्मात् प्रसज्य एवेति ।		॥९१।४३॥
२८८	” —ननु हे कुण्ड !, इत्यत्राऽनेन जातोऽम् क गतः ? इत्यत आह—		॥९२।१६॥
२८९	” —अथाऽकारग्रहणं किमर्थम् ? न चाऽमा सर्वादेशार्थमिति वाच्यं, “प्रत्ययस्य” इति सर्वादेशस्य सिद्धत्वात् ।		॥९२।१७॥
२९०	” —किञ्चाऽन्तादेशेऽपि “समानादमोऽतः” इत्यकारलोपे विशेषाभावात्, इत्यत आह—		॥९२।१७॥
२९१	” —ननु च “सन्निपातलक्षणविधिरिति चत्तम्” इति न्यायादकाराश्रितत्वादमादेशस्य कथं तद्विघातकृज्जरसादेशः ?—		॥९२।२०॥
२९२	“अनतो०”—ननु अनत इति किमर्थम् ? न च वाच्यं कुण्डमित्यत्रापि स्यात्, “अतः स्यमोऽम्” इति बाधकात् ।		॥९२।३६॥
२९३	” —न च वाच्यं अन्याद्यभीष्टौ हि एकमेव योगं कुर्यात्, पूर्वमेकतरवर्जितस्याऽन्यादेशग्रहणं, इह तु एकतरस्याऽपीति पृथग्योगस्य साफल्यत्वात् ।		॥९२।३७॥
२९४	” —अथ यत्कुलं तत्कुलमिति परत्वादत्वसत्त्वप्रसङ्गः तद्व्यावृत्तये ‘त्यदादिभ्यश्च’ इति लुग्वक्तव्या ।		॥९२।४०॥
२९५	” —न च नित्या लुप् अत्वसत्त्वे तु लुपि कृते “लुप्यवृद्धेनत्” इति स्थानिवत्त्वाभावात् प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधात् विभक्त्यभावाच्च प्राप्नुत इत्यनित्ये इति वाच्यम् ।		॥९२।४१॥
२९६	” —यदात्वेन न्याय आश्रीयते—‘लक्षणांतरप्रवृत्तिनिमित्तमुपसंहरलक्षणं बलवद्भवति’		॥९२।४६॥
२९७	“नामिनो०”—नन्वनेन लुचोऽभावपक्षे किं भवतीत्याह—पक्षे लुबेव ।		॥९३।३२॥



- क्र० सूत्रम् । शङ्का । पृ० प०
- २९८ “वाऽन्यतः०”—अथ विशेषणलक्षणपदोपक्षीणत्वात् कार्यं सन्निधानाभावात् स्त्रियामपि पुंभावः स्यादिति चेत्, न,— ॥९४।२२॥
- २९९ “दध्यस्थि०”—ननु सत्यपि तदन्तविधौ दध्याद्यन्तस्याऽनपुंसकस्य ग्रहणं नोपपद्यते नपुंसकस्येत्यनुवृत्तेः ?,— ॥९४।४७॥
- ३०० “—यदि तर्हि तदन्तस्य ग्रहणं केवलानां न सिध्यति ?, अयमप्यदोषः, व्यपदेशिवद्भावात् केवलानामपि भविष्यति । ॥९५।११॥
- ३०१ “—ननु दृढसक्थना शकटेन, स्थूलाक्षणा इक्षुणा इत्यत्र “सक्थ्यक्ष्णः०” इति समासान्तः टप्रत्ययः कथं न भवति ?, इत्याह— ॥९५।१३॥
- ३०२ “—नन्वत्राऽनेनाऽनादेशे सति ‘सन्निपात०’ इति न्यायसत्त्वे कथं “स्त्रिया नृतो०” इति डीः ?, इत्याह— ॥९५।१७॥
- ३०३ “—दध्यादीनां स्वभावेनैव नपुंसकत्वाद् व्यभिचाराभावात् तद्विशेषणमनर्थकम् ?,— ॥९५।१८॥
- ३०४ “—अतिदध्ना ब्राह्मणेन चारिणीत्यादौ अन्नागमयोः सावकाशत्वाद् दध्ना इत्यादावुभयप्राप्तौ “स्पर्धे” परमिति परत्वादसम्बाधितत्वान्नागम एव प्राप्नोति ?,— ॥९५।२०॥
- ३०५ “—यदाऽस्य योगस्योत्तरत्रानुवृत्तेः “अनाम्सखरे नोऽन्तः” “दध्यस्थिसक्थ्यक्ष्णोऽन्तस्याऽन्तु टादाविति” तत्र वाक्यभेदेन “अनाम्सखरे०” इति सामान्येन नोऽन्तो भवति, दध्यादीनां तु टादौ खरे अन् भवतीति । ॥९५।२२॥
- ३०६ “अनाम्सखरे०”—प्रियास्तिस्रो यस्य कुलस्येति प्रियत्रिशब्दात् पष्ठ्येकवचनेऽपि नित्यत्वान्नागमे कथं तिच्चादेश इति ?,— ॥९५।२८॥
- ३०७ “—अथ किमर्थमांस्वर्जनं नामि नागमे च रूपस्य समानत्वात् ?,— ॥९५।२९॥
- ३०८ “—अथ किमर्थं स्वरग्रहणं ?, न च वाच्यं त्रपुभ्या त्रपुभिरित्यादौ व्यञ्जनेऽपि नोऽन्तः स्यादिति तद्व्यावृत्त्यर्थमिति, कृतेऽपि नागमे “नासो नोऽनह्” इति नलोपभावात् । ॥९५।३०॥
- ३०९ “—अथ स्याद्याक्षिसायाः प्रकृते रैशब्देन विशेषणाद् रैशब्दान्तयोः प्रकृतेरात्वं विधीयत इति नाऽस्ति नागमेन प्रकृतेर्व्यवधानम् । ॥९५।३३॥
- ३१० “—इह तर्हि प्रियतिसृभ्यां, प्रियतिसृभिरिति नित्यत्वात् पूर्वं नागमे सति तिसृभावो न प्राप्नोति ?,— ॥९५।३५॥
- ३११ “—अथ तत्र विहितविशेषणात् कृतेऽपि नागमे नाम्भविष्यति ?,— ॥९५।४०॥
- ३१२ “—यद्वा “अनाम्” इत्याम्प्रतिपेधात् पूर्वं नामादेशे तस्य च स्थानिवद्भावाभावाग्नानाभावे न काचित् क्षतिरिति । ॥९५।४१॥
- ३१३ “—एवं तर्हि खराटौ यथा स्यादिह मा भूत्-त्रपु, जतु; प्रत्ययलोपलक्षणेन स्यादिसङ्गात्वात् । ॥९५।४१॥
- ३१४ “—अथ “लुप्यवृत्तेनत्” इति प्रतिपेधात् स्यादेरभावान्न भविष्यति । ॥९५।४२॥
- ३१५ “—द्विविधं हि विभक्तेरस्ति, मुख्यमौपचारिकं च; तत्र मुख्यं श्रूयमाणाया इतरजु लुप्तयास्तत्कार्यस्य हि अस्तित्वाद्विभक्तिरप्युपचारेणाऽस्तीति । ॥९५।४४॥
- ३१६ “—कथं ‘मर्यादाभिविधौ च यः’ इति समाहारत्वे नपुंसकत्वाद् खरे नागमो न भवतीति ?, ॥९६।१०॥
- ३१७ “खराच्छौ”—ननु इवर्णादेः “अनाम्सखरे नोऽन्तः” इति शौ नागमः सिद्ध एव, आकारान्तस्य तु अन्त्यस्य नपुंसके ह्रस्वविधानात् स्थितिरेव नाऽस्तीति अत इत्येव युज्यते किं स्वरग्रहणेन ?, ॥९६।२०॥
- ३१८ “धुटां प्राक्”—ननु श्रेयासि भूयासीति धुल्लक्षणे नागमे कृते ‘पुन प्रसङ्गविज्ञानात्’ कटुदिल्लक्षणः प्राप्नोतीति तस्य प्रतिपेधो वक्तव्यः ?, ॥९६।२६॥
- ३१९ “—न च कटुदिल्लक्षणमयं बाधित इति वाच्यं, व्यक्तौ पदार्थे ‘सकृन्नतौ विप्रतिपेधे यद्वाचितं तद्वाधितमेव’ इति न्यायः प्रवर्तते । ॥९६।२७॥
- ३२० “—अनागमस्य पूर्वो विधीयते सनागमस्य तु पर इति स्यादेतत्, अन्यस्याऽप्युच्यमानं कार्यमन्यस्य बाधकं भवति । ॥९६।३०॥
- ३२१ “—भवतु को दोषः ?, द्वयोर्नकारयोः श्रवणं प्रसज्येत । ॥९६।३२॥
- ३२२ “—ननु वैकल्यैको नकारः परस्य द्वावित्येकत्वप्रतिशब्दः ?, ॥९६।३२॥
- ३२३ “—श्रुतिभेदेऽसति किं प्रतिशब्दः करिष्यति ?, कथं पुनः श्रुतिभेदाभावो यावताऽनेकव्यञ्जनोच्चारणेनाऽधिककालो व्याप्यते, एकव्यञ्जनोच्चारणेन त्वल्पकाल इति । ॥९६।३३॥
- ३२४ “—तथा च श्रेयासीत्यादौ परस्य नकारस्याऽनुस्वारे पूर्वस्य नकारस्य श्रवणं प्राप्नोति । ॥९६।३६॥
- ३२५ “—ननु ‘वर्णग्रहणे जातिग्रहणं’ इति द्वयोर्नकारयोरेकोऽनुस्वार आदेशो विधास्यते, नैतदस्ति; जाते कार्यासम्भवात् तदाधाराया व्यक्तौ कार्यसम्भवात्, स्थानिभेदादनुस्वारादेशद्वयप्रसङ्गात् । ॥९६।३८॥
- ३२६ “—यदप्युक्तं ‘असति सम्भवे बाधनं’ इति, तदपि न; सत्यपि सम्भवे बाधनोपपत्तेः । ॥९६।४१॥
- ३२७ “—यदप्युक्तं-श्रुतिकृतोऽपि भेदोऽस्ति, तत्र पूर्वैककारस्य श्रवणम् । ॥९६।४४॥

क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
३२८	“धुटां प्राक्”—न च द्वयोर्नकारयोरेकस्वरापेक्षं परत्वं सम्भवति, पचतीत्यत्र तु शिति परतः । शब्धिधानात् विकरणव्यवधानमाश्रितमेव ।		॥९६।४६॥
३२९	” —अथापि स्यात्तथापि सकारात् परस्य नकारस्य श्रवणं स्यात्, तस्मात् परत्वात् पूर्वं जरसादेश एष्टव्यः ।		॥९७।१३॥
३३०	” —अथेह लुक्स्वात्र भवति ?, अतिजरसं पश्येति ।		॥९७।१४॥
३३१	” —ननु अतिजरशब्दस्याऽदन्तत्वात् “अतः स्योऽम्” इत्यम्भावेन लुब्धाधिता कथं प्राप्नोति ?,		॥९७।१५॥
३३२	” —ननु किमर्थमप्येव लुप् चोद्यते ?, न हि सेर्जरस्मावः प्राप्नोति स्वर इत्युक्तेरिति ।		॥९७।१७॥
३३३	” —तथाहि—स्वरादिसन्निपातेन जरस्मावो निष्पद्यो नोत्सहते स्वराद्यानन्तर्यं विहन्तुम् ।		॥९७।१८॥
३३४	” —यद्येवमतिजरसमतिजरसैरिति अप्राप्तिः, अतिजरमतिजरैरिति भाव्यम् ।		॥९७।१८॥
३३५	” —तथाहि—सेर्भिसश्चाकारान्तसन्निपातेन स्वरादिरादेशोऽकारान्तविधातिनं जरसादेशं प्रत्यनिमित्तं स्यात् सन्निपातपरिभाषावशात् ।		॥९७।१९॥
३३६	“घुटि”—नपुंसकस्य घुटि परतो नोऽन्तो भवतीति विधिरेव कस्मान्न भवति ?,		॥९७।२८॥
३३७	” —अथेदानीं यत्राऽल्पीयांसो वर्णा भूयांसश्च योगास्तत्र किं कर्तव्यम् ?,		॥९७।४०॥
३३८	” —यद्येवं नाऽर्थोऽनेन, केनेदानीमधिकारो भविष्यति ?,		॥९७।४२॥
३३९	” —ननु चोक्तं—अन्यनिर्देशो निवर्तक इति ।		॥९७।४३॥
३४०	” —किञ्चाऽऽचार्याचाराच्च शैलीयमाचार्यस्य यत्र पृथगधिकारस्तत्र तं करोति ।		॥९७।४४॥
३४१	“ऋदुदितः”—अथ उदितो धातोः “उदितः स्वरा०” इत्युपदेशावस्थायामेव नागमविधानात् कृते च नागमे “धुटां प्राक्” इत्यनुवर्तनादनेन नागमाभावः, ऋदितस्तु कस्मान्न भवति ?, इत्याह—		॥९८।२६॥
३४२	“अनङ्गु०”—नन्वनङ्गुही इत्यत्र “नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्याऽपि” इति न्यायेनाऽत्र स्त्रीत्वविशिष्टस्यापि तस्य ग्रहणान्नागमः कथं न भवति ?, इति चेत्, न,		॥९८।४१॥
३४३	“आ अम०”—नन्वत्र अता इत्यभावे “समानानां०” इति दीर्घेणैव गा इत्यादिसिद्धावपि तद्धिना पुलिङ्गे स्त्रीलिङ्गे च “शसोऽता०” इति “लुगातो०” इति च प्रवर्त्तयताम् ।		॥९९।३४॥
३४४	“पथिन्मथि०”—न च तस्य क्यप्रत्ययः सम्भवी, पथिन् इत्येतस्याऽतदर्थत्वात् ।		॥१००।१७॥
३४५	” —नन्वनेन आत्वरूपे स्यादिविधौ विधातव्ये नलोपस्याऽसिद्धत्वाद् नान्तत्वमस्ति ?, न च वाच्यं “अतः” इत्यल्लुक् “स्वरस्य परे०” इति स्थानिवद्भावेन नान्तत्वानुपपत्तिरिति ।		॥१००।२१॥
३४६	” —अत्र तु अस्य लुक् किपि, आत्वं तु सौ प्रत्यये प्राप्नोतीति कृत्वाऽत्र नान्तत्वमस्त्येवेति प्राप्नोत्यात्वम् ।		॥१००।२२॥
३४७	” —एवं तर्हि “दीर्घड्याव०” इति सूत्रेण सेर्लुक्स्वात्र भवति ?, यतोऽयमपि स्यादिविधिः, स्यादिविधौ च नलोपोऽसन् भवतीति ।		॥१००।२६॥
३४८	” —एवं तर्हि या सा इत्येवमादिषु च सेर्लुग्न प्राप्नोति ?,—		॥१००।२८॥
३४९	“सख्युरि०”—अथ शौ सति “आदेशादागमः” इति न्यायादैत्वात् प्रथममेव नागमेन भाव्यं, ततस्तेन व्यवधानादैकारो न भविष्यतीति ।		॥१०२।१८॥
३५०	” —न च द्वयोरप्यन्यत्र सावकाशत्वादैकार स्यादिति वाच्यं, कृतेऽप्यैकारे “क्लीबे” ॥२।४।९७॥ इति ह्रस्वत्वे ततो नागमे दीर्घत्वे न कश्चिद्दोषः ?,—		॥१०२।१९॥
३५१	” —ननु भवत्वेवं तथापि कृता-कृतप्रसङ्गित्वेन नित्यत्वात् पूर्वं नागम इति शुद्ध व्यवधायको भविष्यति ?,—		॥१०२।२१॥
३५२	“इन्हन्०”—ननु इन्नादीना नान्तत्वात् शिस्योर्धुत्वात् “नि दीर्घः” इत्यनेनैव दीर्घः सिध्यति किमनेनेति ?,—		॥१०३।२८॥
३५३	” —यद्येषा शिस्योरेव दीर्घ इति नियमसामर्थ्यादेव दीर्घो न भविष्यति, तर्हि किमर्थं “अहन्पञ्चमस्य०” ॥४।१।१०७॥ इत्यत्र इन्हन्जनम् ?,—		॥१०३।३२॥
३५४	” —न च घुट्प्रकरणत्वात् घुट्येव दीर्घस्य नियमेन निवृत्त्या नाऽन्यत्रेति घृत्रहणीति सप्तम्येकवचने “ईडौ वा” इत्यल्लोपाभावपक्षे “अहन्पञ्चमस्य कृति” इति दीर्घप्रसङ्ग इति वाच्यम्—		॥१०३।३३॥
३५५	” —यद्येवं घृत्रहेवाऽऽचरतीति घृत्रहायते दण्डीभूत इति “दीर्घञ्चिब्यह्यप्येषु च” इति दीर्घत्वं न प्राप्नोति ?, नैवम्,—		॥१०३।३७॥
३५६	” —किञ्चैकसिन्नपि योगे घुहनिवृत्तावपि दोषः, यतो द्विविधो घुह-शिः स्यमौजसश्च, तत्र शिर्नपुंसकस्य, अन्ये तु स्त्रीपुंसयोरिति ।		॥१०३।३८॥
३५७	” —ननु भवत्वत्र प्रकरणे तदन्तविधिस्तथापि इति प्रत्ययग्रहणं भवतीति दण्डीनी- त्यत्रैव दीर्घत्वेन भवितव्यं, न तु बहवो दण्डिनो येषामिति बहुदण्डीन्यत्र, नैतदस्ति,—		॥१०३।४७॥
३५८	“नि वा”—ननु नीति विषयसप्तम्येव घटते, कथमुक्तं नागमे सतीति ?,—		॥१०४।२४॥

- क्र० सूत्रम् । शङ्का । पृ० प०
- ३५९ " —अयं तु दीर्घः साक्षादपशब्दमुच्चार्य विधीयमानोऽल्पाश्रयत्वादन्तरङ्ग इति पूर्वं प्रवर्त्तते पश्चात्तु नागम इति । ॥१०४१२६॥
- ३६० "अभ्वादे०"—नन्वसोऽर्थवतो ग्रहणात् पिण्डग्र इत्यादौ धात्वेकदेशस्याऽनर्थकत्वादीर्घो न भविष्यति, किं भ्वादिचर्जनेन ? इत्याह— ॥१०४१३५॥
- ३६१ " —ननु अनिनसन्नित्यत्र अतोरनिर्दिष्टत्वादनर्थकेन तदन्तविधेरप्रयोगात् 'अर्थवद्ग्रहणे नाऽनर्थकस्य' इति न्यायात् कियानित्यत्रैव दीर्घः प्राप्नोति, न गोमानित्यादौ इति । ॥१०४१३९॥
- ३६२ " —ननु तथापि 'तदनुबन्धकग्रहणेऽतदनुबन्धकस्य ग्रहणं न' इति ( स एवाऽनुबन्धो यस्यासौ तदनुबन्धकः, स चाऽन्यश्चाऽनुबन्धो यस्य सोऽतदनुबन्धक इति ) न्यायात् 'यत्तदेतदो डायादेर्ग्रहणाप्रसङ्गः' क्वतोरपि ककारानुबन्धसद्भावात् ग्रहणाभावः । ॥१०४१४१॥
- ३६३ " —एवं तर्हि गोमन्तमिच्छतीति क्यनि, किपि, तदन्तस्य च धातुत्वाद्धानेः कथं दीर्घः ? इत्याह— ॥१०४१४४॥
- ३६४ " —न च कृतमतो भ्वादिपठितानामेव वर्जनमित्यर्थः । ॥१०४१४५॥
- ३६५ "क्रुशस्तु०"—अथाऽत्र बहुव्रीहौ वृजादेशो सति क्रदन्तत्वात् "क्रन्नित्यदितः" ॥७३१७१॥ इति क्रदिल्लक्षणः समासान्तः कच् कसाञ्च भवति ? इत्याह— ॥१०४१४९॥
- ३६६ " —अथ लाघवार्थं 'क्रोष्टोः क्रोष्टृ पुंसि' इति किमिति न कृतं ? एवमपि कृते न काचिल्लक्ष्यक्षतिरिति चेत्, न; कृशब्दस्य विधीयमान आरादेशः क्रोष्टृशब्दस्य न स्यात्, इत्याह— ॥१०४१५१॥
- ३६७ "टादौ०"—ननु क्रुशेस्तृप्त्ययेनैव सिद्धे किमर्थोऽयं तुनस्तृजादेशः ?— ॥१०४१५३॥
- ३६८ " —न च कृप्त्ययान्तः क्रियाशब्दो न मृगवचनः, तुनस्त्ययान्तः पुनर्मृगे रूढस्तत्र कृप्त्ययान्तेनाऽपि मृगाभिधानं यथा स्यादित्येवमर्थ आदेश इति वाच्यम्— ॥१०४१५३॥
- ३६९ " —नन्वेवं सत्यविशेषोपदेशादुभयोरविशेषेण प्रयोगः स्यात्तन्निवृत्त्यर्थ आदेश इत्यपि न वाच्यं, अविशेषोपदेशोऽपि हि विशेषेणैव प्रयोगदर्शनात् । ॥१०४१५३॥
- ३७० " —अथ च विशेषेणैव प्रयुज्यते-घृतं, घृणा, घर्म इति । ॥१०४१५३॥
- ३७१ "स्त्रियाम्"—ननु घृटीत्यस्याऽनुवृत्तावपि स्याद्यधिकारस्याऽनुवृत्तिरस्तु ? "टादौ खरे वा" इत्यत्राप्यादिशब्दस्य व्यवस्थावाचित्वाद्वादि. स्यादरेव गृह्यत इति चेत्, मैवम्, ॥१०४१५३॥
- ३७२ " —ननु स्त्रियामीकारस्याऽवश्यम्भावितादीकार एवाऽयमादेशो भविष्यति, कथमुक्तं निर्निमित्त इति ?— ॥१०४१५३॥
- ३७३ " —ननु प्रक्षिष्टनिर्देशान्निर्दिष्ट एव, स्त्री ई स्त्रीति-स्त्रिया ई स्त्रीत्वस्य द्योतक ईकार इत्यर्थः । ॥१०४१५३॥
- ३७४ " —नन्वेवं सत्यपि इकणि "जातिश्च णि०" ॥३१२५१॥ इति पुंवद्भावः प्राप्नोति, तस्मिन् सति स्त्रीत्वाभावात् वृजादेशो न स्यात् ? नैवम्,— ॥१०४१५३॥
- ३७५ " —ननु तथापि इकण. प्लुप. पितृत्वस्य पुंवद्भावफलत्वात् "क्यङ्मानि०" ॥३१२५०॥ इति पुंवद्भावेन स्त्रीत्वनिवृत्त्या तन्निमित्तस्य वृजादेशस्यापि निवृत्तिः प्राप्नोति ?— ॥१०४१५३॥
- ३७६ "त्रिचतुर०"—कथं तिस्रका नाम ग्रामः ? संज्ञाशब्दोऽयम् । ॥१०४१५३॥
- ३७७ " —ननु प्रियतिसृणीत्यादौ स्यादौ परे कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नित्यत्वात् "अनाम्बरे नोऽन्तः" इति पूर्वं नागमे कृते पश्चात्तेन व्यवधानात् कथं तिस्रादेश इति चेत्, न, ॥१०४१५३॥
- ३७८ " —किञ्च "क्रतो रः खरेऽनि" इत्यत्र अनीतिवचनमनर्थकं स्यात्, खरादौ पूर्वं नकारे तिस्राद्यादेशाभावाद्भवत्प्रसङ्ग एव नाऽस्तीत्यनीतिवचनाज्ञागमादेः पूर्वं तिस्राद्यादेश इति विज्ञायत इति । ॥१०४१५३॥
- ३७९ " —कथमिति प्रियतिसृ कुलमित्यादौ प्रियत्रिशब्दात् "अनतो लुप्" इत्यन्तरङ्गमपि तिस्रादेशं पूर्वोक्तन्यायेन बाधित्वा लुपि कृतायां "लुप्यवृत्तेन" इति स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् स्यादेरभावात् कथं तिस्रादेश इति प्रश्नार्थः । ॥१०४१५३॥
- ३८० " —कथमिति-त्रिशब्दात् संज्ञायां के अपि बहुवचने च स्यादेर्व्यवधानात् कथं तिसृभाव इति प्रष्टुमिष्टाय । ॥१०४१५३॥
- ३८१ "क्रतो रः०"—ननु खरादौ तिस्राद्यादेशो परत्वाज्ञागमाच्चाऽनेन रत्वप्रवृत्ते. क अनीत्युपयुज्यत इति चेत्, ॥१०८११९॥
- ३८२ " —ननु खरादौ स्यादौ तिस्राद्यादेशो "इवर्णादे०" इति रत्वं सिद्धमित्यत्र आह— ॥१०८१२०॥
- ३८३ " —ननु कृत इति किमर्थं ? यावता पूर्वसृष्टात्तिसृचतसृ इत्येतयोरनुवृत्तौ तयोश्च पृथग्यन्त-तया विपरिणामेन कार्यप्रतिपत्तौ "पृथ्वाऽन्त्यस्य" इति तदन्तस्य विधिर्मवन्न ककार-स्यैव भविष्यति ?— ॥१०८१२७॥
- ३८४ "जराया०"—ननु जरामतिक्रान्तावित्यादि विग्रहे "गोश्चान्ते०" इति ह्रस्वत्वे जराशब्दस्याऽभावात् कथं जरसादेशः ?— ॥१०८१३८॥

- क्र० सूत्रम् । शङ्का । पृ० प०
- ३८५ “जराया०”—ननु जरसा दन्ताः शीर्यन्ते, जरसे त्वा परिदधुरिति तृतीयाचतुर्थ्येकवचनयोरेव चाहुल्येन प्रयोगदर्शनात् कथं सर्वत्रोदाहृतम् ?— ॥१०८।४०॥
- ३८६ ” —ननु पूर्वमपि नागमे कृते सनागमस्याऽऽदेशे पुनर्धुडन्तलक्षणे नागमे रूपस्य सिद्धत्वात् किं परत्वचिन्तयेति चेत्, न;— ॥१०८।४४॥
- ३८७ ” —अथापि स्यात्तथापि सकारात् परस्य नागमस्य श्रवणं स्यात्, तस्मात् परत्वात् पूर्वं जरसादेश एवैष्टव्यः । ॥१०८।४७॥
- ३८८ “आ रायो०”—ननु सत्यपि तदन्तग्रहणे रैशब्दान्तस्य नपुंसकवृत्तौ “क्रीवे” इति ह्रस्वत्वे ततो भ्यामादौ रैशब्दस्योच्यमानमात्वं रैशब्दाभावात्तदन्तस्यादिश्यते चेत्याह— ॥१०९।३०॥
- ३८९ ” —ननु सकारभकारावन्तरेण रैशब्दात् स्यादेरन्यस्य व्यञ्जनस्याऽऽसम्भवाद्वाधवार्यं च स्मीत्येवोच्यता किं व्यञ्जनग्रहणेन ? इत्याह— ॥१०९।३१॥
- ३९० ” —यद्युत्तरार्थं व्यञ्जनग्रहणं तर्हि तत्रैव क्रियता किमत्रोपादानम् ? इति चेत्, उच्यते,— ॥१०९।३२॥
- ३९१ “टाड्योसि०”—नन्वोसि यत्ववचनं किमर्थम् ? विनाऽप्योस्यग्रहणं “शेषे लुक्” इत्यन्यस्य लोपे “पट्टहु-स्मोसि” इत्येत्वेऽयादेशे च युवयोरित्यादौ यत्वं सिध्यति ?— ॥११०।२४॥
- ३९२ “शेषे लुक्”—ननु त्वं ब्राह्मणीत्यादौ सामानाधिकरण्यात् सत्त्ववृत्तित्वात् सम्भाव्यमानलिङ्गयोगित्वात् शुष्मभ्यमित्यादौ “पठ्याऽन्यस्य” इति न्यायेन दकारमात्रलोपेऽकारान्तत्वात् स्त्रिया-माप् प्राप्नोति ?— ॥११०।३९॥
- ३९३ ” —ततश्चाऽनिष्टरूपतापत्तिरतस्तन्निवृत्त्यर्थमन्यस्वरादेरिति वक्तव्यम् ? न च वक्तव्य-मित्याह— ॥११०।४०॥
- ३९४ “मोर्वा”—अथ शब्दान्तरप्रवृत्त्या यत्वस्याऽनित्यत्वे द्वयोरन्यत्र सावकाशत्वात् परत्वात् त्वमाद्या-देशस्तदापि ‘पुनः प्रसङ्गविज्ञानात्’ अकारस्य यत्वं प्राप्नोति ? ॥१११।१९॥
- ३९५ ” अथ सामान्याश्रयत्वात् पुनः प्रसङ्गविज्ञानाभावात् ‘सकृद्वत्ते०’ इत्याश्रयणाद्यत्वाभाव एव ॥१११।२०॥
- ३९६ ” ननु त्वे मे इत्यत्राऽकारान्तत्वात् सिन्नादेशः कथं न भवति ? इत्याह— ॥१११।२१॥
- ३९७ “मन्तस्य०”—ननु “शेषे लुक्” इत्यादौ स्वयं कार्ययोगित्वेन विज्ञातयोर्युष्मदसदोः कथमिह मन्त-स्येतद्विशेषणत्वम् ? इति चेत्, सत्यम्, ॥१११।३०॥
- ३९८ ” —नन्वत्राऽन्तर्भूतान्तार्थपरिग्रहार्थं परिग्रहणं विधेयं, अन्यथा शुप्, अस् इत्येतयोरे-वाऽऽदेशाः स्युर्न युष्म अस् इत्येतयोः ? नैष दोषः । ॥१११।३४॥
- ३९९ ” —न च नद्यन्तं क्षेत्रमित्यत्राऽन्तशब्दसद्भावेऽपि नद्याः क्षेत्रेऽननुप्रवेशात् कथमेव-मुच्यते इति वाच्यम् । ॥१११।३५॥
- ४०० ” —अथापि तस्य प्रयोक्तुरायत्तत्वाद् वैयधिकरण्यमाश्रीयते—युष्मदसदोरवयवस्य मन्तस्येति । ॥१११।३९॥
- ४०१ ” —न च व्यपदेशिवद्भावोऽस्ति, ‘अनाम्ना’ इति प्रतिषेधात् । ॥१११।४०॥
- ४०२ ” —ननु सिजसङ्घेऽसोऽतिक्रम्य कथमुदाहृतं, किञ्चत्र युवावौ न भवतः ? ओमित्याह— ॥११२।१९॥
- ४०३ “त्वमौ प्रत्य०”—ननु त्वदयति, मदयतीत्यत्रोभयोरन्यत्राऽन्यत्र लघ्यावकाशत्वादन्यस्वरादिलोपः कस्मान्न भवति ? इत्याह— ॥११२।४३॥
- ४०४ ” —नन्वत्राऽन्यस्वरादिलोपात् प्रागेव नित्यत्वात्तमादेशे कृते पश्चादप्यन्यस्वरादिलोपः कस्मान्न भवतीति चेत्, ॥११२।४४॥
- ४०५ ” —ननु प्रत्ययोत्तरपदग्रहणं किमर्थम् ? स्यादावित्येव सिद्धत्वात् । ॥११२।४५॥
- ४०६ ” —ननु स्यादेरपि प्रत्ययत्वात् तत्रापि प्रत्ययग्रहणेनैव भविष्यति ? इत्यत आह— ॥११२।४६॥
- ४०७ “त्वमहं०”—ननु त्वं पुत्रोऽस्य त्वत्पुत्र इत्यादौ ‘अन्तरङ्गानपि विधीन् वाधित्वा बहिरङ्गा लुप् प्रवर्तते’ इति न्यायात् “पेकाथ्ये” इति सेर्लुपि प्रत्ययलोपलक्षणेन स्थानिवत्त्वात्त्व-महमादेशः कस्मान्न भवति ? इत्याह— ॥११२।४७॥
- ४०८ ” —ननु तन्मते त्वम्, अहम्, यूयम्, वयमित्यादयः कथं सिध्यन्ति ? इत्याह— ॥११२।४८॥
- ४०९ “तव मम”—ननु कथं तवता ? ममता ? तवायितं ? ममायितम् ? ॥११२।४९॥
- ४१० “शसो न.”—ननु युष्मानित्यादौ द्वयं प्राप्नोति “शेषे” इत्यन्तलोपोऽनेन नकारश्च, तत्र कृताकृत-प्रसङ्गित्वेन नकारस्य नित्यत्वालोपस्य च कृते नकारे शेषत्वाभावादप्रसङ्गित्वेना-ऽनित्यत्वात् पूर्वं नकार एव भवति ? ॥११२।५०॥
- ४११ ” —यद्येवं किमनेन ? “शसोऽता०” इत्यनेनैव सिद्धत्वात् ? उच्यते— ॥११२।५१॥
- ४१२ “अभ्यम्०”—ननु पारिशेष्यादप्यस्यार्थस्य सिद्धेः, तथाहि— ॥११२।५२॥
- ४१३ ” —नन्वेवमस्तु प्रक्रियागौरवं परिहृतं भविष्यति । ॥११२।५३॥
- ४१४ “डसेश्वाद्”—ननु भवत्वत्र डसिसाहचर्यात् पञ्चमीभ्यसो ग्रहणेन चतुर्थीभ्यस्य आदेशाभावः ? ॥११२।५४॥
- ४१५ ” —अभ्यमादेशस्तु पञ्चमीभ्यसः कस्मान्न भवति ? न चादेशोनाऽपोदितत्वादिति वाच्यम् ॥११२।५५॥

क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
४१६	“ङसेष्वाद्”—न हि गोधा सर्पणादहिर्भवति, एवं चतुर्थीभ्यसनुवर्तनात् पञ्चमीभ्यस् भवति ।		॥११५।३५॥
४१७	” —नन्वनुवर्तनादर्थेषु अन्यथात्वं मा भूत्, शब्देषु तु दर्शनाद्भवत्, तर्हि आवृत्त्या एवं व्याख्यायते—पञ्चमीभ्यसस्तत्र सूत्रे ग्रहणाभावाच्चतुर्थीभ्यसस्तु युष्मभ्यं, असभ्यं; पञ्चमीभ्यसोऽभ्यमादेशाभाव इति ।		॥११५।३७॥
४१८	“आम आकम्”—नन्वामः कमिति न्यासे “युष्मदस्मदोः” इत्यात्वे युष्माकमित्यादिसिद्धौ किमर्थमा-कारकरणम् ?, इत्याह—		॥११५।४२॥
४१९	“पदाद्युग्म्”—ननु च वाक्यान्तरस्थात् पदात् परयोर्युष्मदस्मदोः सामर्थ्याभावादेव वक्षसादयो न भविष्यन्ति, किमेकवाक्यग्रहणेन ?,		॥११६।१०॥
४२०	” —अत्राऽनेकमपि त्याद्यन्त सम्भवति, पश्य मृगो धावति, पचति, भवति, इत्यादि ह्येतदेकार्थे साफाह्वं च विभागे पश्य, किं मृगो धावतीत्येतदिति ।		॥११६।१९॥
४२१	” —ननु च प्रयोगे वक्षसादीनां विकल्पेन प्रयुज्यमानत्वात् सूत्रे च तदर्थस्य वाग्रहणा देर्नैवेत्यधिकारस्य चाऽभावात् कथं विकल्पो लभ्यते ?, इत्याह—		॥११६।२३॥
४२२	” —ननु वाक्ये व्यपेक्षालक्षणस्य सामर्थ्यस्याऽङ्गीकृतत्वाच्चस्याऽत्र सद्भावात् कथमत्र व्यपेक्षालक्षणसामर्थ्यासद्भाव इति चेत् ?, उच्यते,		॥११६।३८॥
४२३	” —अत्र तु प्रकारान्तरेण, तथाहि—		॥११६।४०॥
४२४	” —ननु द्विवचनैकवचनयोरदेशान्तरविधानाद्बहुत्व एव वक्षसौ विज्ञायेते ?, तथाहि—		॥११६।४५॥
४२५	” —न चैतद्विषयेऽप्यनयोः प्रवृत्तिः स्यादिति वाच्यं, यतोऽपवादविषयपरिहारेणोत्सर्गः प्रवर्तते ।		॥११६।४६॥
४२६	” —किञ्च यथा द्यग्विषये “कृवृपिमृजि०” ॥५।१।४२॥ इति प्रारभ्यमाणोऽपवादोऽपि क्यप् पक्षे द्यणः प्रवृत्तिं न विहन्ति ।		॥११६।४८॥
४२७	“डेङसा०”—‘कथं न मे श्रुता नाऽपि च दृष्टपूर्वा’?, न मे न मयेति ह्यर्थः, असाधुरेवाऽयं, स्यादिप्रतिरूपकमव्ययं वा ।		॥११७।१५॥
४२८	“पदाद्युग्म्”—तत्रापि द्वितीयैकवचनस्य त्वामादेशविधानात् डेङसावेव परिशिष्येते किं तदु-पादानेन ?,		॥११७।२४॥
४२९	“डेङसा०”—ननु डेङसोर्द्वित्वसंख्याविषयत्वात् किमर्थमेकवचनम् ?, उच्यते,		॥११७।३२॥
४३०	” —ननु साधुत्वं शिष्टप्रयुक्तेरिति चेत् ?, तदा स्यादिप्रतिरूपकमेवमर्थः, इत्याह—		॥११७।३४॥
४३१	“असदिवाम्”—ननु पूर्वस्याऽऽमन्यस्याऽविद्यमानवद्भावात् कथं ‘ग्रामाश्चैत्र ते स्वमथो’ इत्यादौ पदात् परयोर्युष्मदस्मदोरुच्यमानस्तेमयाद्यादेशः ?, इत्याह—		॥११८।१९॥
४३२	” —ननु च परार्थे प्रयुज्यमानाः शब्दा अतिदेशं गमयन्ति, यथा गौर्बाहीक इति ।		॥११८।२२॥
४३३	” —अतिदेशधर्मश्च स्वाध्याया निवृत्तिरिति नार्थ इव ग्रहणेन ।		॥११८।२३॥
४३४	” —ननु प्रत्यासत्तेरव्यवहितस्यैव पूर्वस्याऽविद्यमानवद्भावः, ततश्चैत्र । धर्मो वोऽथो रक्षित्वत्यादौ व्यवहितस्याऽऽमन्यस्य चैत्रादेरविद्यमानवद्भावाभावात् “सपूर्वार्त्तम्०” इति विकल्पप्रसङ्गः इति चेत्, मैवम्,		॥११८।२८॥
४३५	“नाऽन्यत्”—ननु विशेष्यस्याऽसत्त्वप्राप्तौ तद्विशेषणपदे परतः सत्त्वमनेन विधीयते, परपदस्य च “असदिवामन्य०” इत्यसत्त्वात् परत्वाभावः ?, सत्यम्;		॥११९।२२॥
४३६	” —ननु चामन्यपदमभिमुखीभव इति क्रियान्तरमाक्षिपद्वाक्यान्तरमेव, ततश्च वाक्य-भेदादेवादेशाभावः सिद्धः किमनेन ?, इति चेत्, मैवम्;		॥११९।२४॥
४३७	“पादाद्यो”—ननु किमर्थं पादाद्योरिति द्विवचननिर्देशः ?, पादादावित्युच्यमाने पादस्य प्रथमा-व्यवत्वे वर्तमानयोर्युष्मदस्मदोरिति विज्ञायमाने सिध्यत्येवेष्टं, सत्यम्,		॥११९।३३॥
४३८	“चाहह०”—ननु किमर्थं योगग्रहणम् ?, “चाहहवैवे०” इति तृतीयानिर्देशस्य सापेक्षत्वात् तृतीयैव युक्तमध्याहरिष्यति, यथा “गौणात्समया०” ॥२।२।३३॥ इत्यादौ, इत्याह—		॥१२०।१९॥
४३९	” —ननु सन्निकृष्टे साक्षाद्योगे प्रतिषेधस्य चरितार्थत्वात् न व्यवहिते विप्रकृष्टयोगे प्रव-र्तिष्यत इति किं योगग्रहणेन ?, इति चेत्,—		॥१२०।२३॥
४४०	“नित्यम्”—नन्विदं किमर्थम् ?, सामान्येन वक्षसादीनां विधानादन्वादेशोऽपि सिद्धत्वात्, नित्या-र्थमित्यपि न वाच्यं, तत्र विकल्पामावाप्तित्वस्यापि सिद्धत्वात् ।		॥१२०।३९॥
४४१	” —न चाऽनन्वादेशे विकल्पार्थमिति वाच्यं, “अन्वादेशो” इत्यारम्भसामर्थ्यादनन्वादेशो विकल्पस्य सिद्धत्वादिति चेत्, मैवम्,—		॥१२०।४०॥
४४२	” —न च “सपूर्वात्” इत्यन्वादेशे विकल्पविधानान्नित्यग्रहणमन्तरेणाऽप्यन्वादेश एव विकल्प इति वाच्यम्,—		॥१२०।४२॥
४४३	“त्यदाप्तेन०”—न हि पश्चादुच्चारणमात्रमन्वादेशः, किं तर्हि ?, एकस्यैवाभिधेयस्य पूर्व शब्देन प्रति-पादितस्य द्वितीयं प्रतिपादनमन्वादेशस्तेनैव न भवति ।		॥१२१।४३॥

सूत्रम् ।

शङ्का ।

पृ० प०

“त्यदामेन०”—अत्र तु वस्तुमात्रानुवादेन वेदनक्रियां प्रति आकारस्य कर्मभावो दण्डस्य तु हरण-  
क्रियां प्रति करणत्वं विधीयत इत्येकमेव विधानं न विधानान्तरमस्ति, इत्याह— ॥१२२।२२॥

“इदमः”—ननु ‘त्यदामेनदेतदिदमो द्वितीयादौस्यवृत्त्यन्ते’ इत्येकयोगेनैव सिद्धत्वाद्योगविभागः  
किमर्थः ?, इत्याह— ॥१२२।२९॥

“अद्वय०”—ननु पूर्वसूत्रे इदमः पष्ठयन्तत्वात् “पष्ठ्याऽन्त्यस्य” इति न्यायादन्तस्यैव प्राप्नोति कथं  
सर्वस्याऽयमादेश इति ?,— ॥१२२।३२॥

—न च अदित्यकारकरणात् सर्वस्याऽयमादेशोऽन्यथा “आ द्वेः” इत्यकारे, “लुगस्यादे-  
त्यपदे” इति पूर्वस्य लुकि अकारस्याकारकरणमनर्थकं स्यादिति वाच्यम् । ॥१२२।३२॥

—ननु सेरपि व्यञ्जनादित्वात्तस्मिन् कथं नाऽयमादेशः ?, इत्याह— ॥१२२।४१॥

—नन्विदं किमर्थम् ?, याद्यतोत्तरसूत्रेणान्वादेशोऽनन्वादेशोऽप्यदादेशः सिद्ध इत्याह— ॥१२२।४३॥

“अनक्”—नन्विदम् इत्यधिकारादिदमरूपस्य विधिस्तत्राऽकि कृते इदमरूपस्याऽभावादेव न  
भविष्यति किं प्रतिपेधेनेति चेत्, सत्यम्,— ॥१२३।२४॥

—ननु अनगिति इदमः पूर्वत्र पष्ठयन्तनिर्दिष्टस्य विशेषणत्वात् कथं कार्येणाऽभेद-  
निर्देशः ?, इत्याह— ॥१२३।३२॥

“अयमियं०”—नन्वत्रादेशो कृतेऽन्त्यमकारस्य “आ द्वेः” इत्यत्वं कथं न भवतीति चेत्, सत्यम्,— ॥१२३।४०॥

“दो म.०”—ननु मकारस्य मकारकरणवैयर्थ्यात् “आ द्वेः” इत्यत्वप्रवृत्तेश्च व्यञ्जनत्वेन स्वरस्या-  
ऽनासन्नत्वादेकवर्णत्वेनाऽन्तस्य भवन्नपि सामर्थ्यादुपात्तस्य दकारस्यैव भविष्यति  
किं द इति ग्रहणम् ?, इति चेत्, उच्यते,— ॥१२४।१७॥

—अथवा मकारस्याऽभेदनिर्देशेन “अद्व व्यञ्जने” इतिवत् सर्वस्याऽपि स्यादिति दग्रहणम् ॥१२४।१९॥

“किमः०”—ननु “किमः क.” इति गुरुकरणं किमर्थम् ?, ‘आ द्वेस्तसादौ च’ इति कृत्वा, ‘इम’  
इत्येव सूत्र्यताम् । ॥१२४।२६॥

—न चैकवर्णत्वादन्त्यस्य स्यादिति वाच्यं ‘नानर्थके तदन्तविधिः’ इत्याश्रयणादिति । ॥१२४।२९॥

—यद्वाऽभेदनिर्देशात् सर्वस्याऽपीमोऽकारादेशो न कश्चिद्दोष इति चेत्, नैवम्,— ॥१२४।३०॥

“आ द्वेः”—ननु आ द्वेरिति किमर्थम् ?, असदन्तानां भवदन्तानां वा मा भूदिति । ॥१२४।३६॥

—तत्र सत्यपि द्विशब्दात् परतः शब्दचतुष्टयस्य पाठे भवच्छब्दस्यैवात्वापत्तिर्दोषो न किं-  
युष्मदस्मदाम् । ॥१२४।३९॥

—नैषोऽस्ति दोषः—यदयं त्यदादीनामत्वे सिद्धे “शेषे लुक्” शास्ति तज्ज्ञापयति नेतः  
प्रागकार इति, नैवम्,— ॥१२४।४०॥

—किञ्चाऽत्वे सत्याप्प्रसङ्गात्तदभावार्थः “शेषे लुक्” इति अन्त्यस्वरादिलोपो बोद्धव्यः ॥१२४।४२॥

—नन्वेवं तर्हि—अन्त्यस्वरादिलोपो वक्तव्यः । ॥१२४।४३॥

—न चाऽत्वेन सिद्धत्वाद्द्वचनादेव अन्त्यस्वरादिलोपो भविष्यतीति वाच्यं, उपसर्जन-  
स्यात्वासिद्धेरुपसर्जनार्थत्वात् तस्येति चेत्, न वक्तव्यः । ॥१२४।४३॥

—तथाहि—लोपमुत्सर्गं विधाय व्यञ्जनादावात्वं टाडयोसि च यत्त्वमपवादो विधास्यत  
इति शेषग्रहणमनर्थकं तत्क्रियमाणं लोपस्य विषयार्थं स्यात्,— ॥१२४।४४॥

—यदि च द्विशब्दात् परेपापत्वं स्यात् किमः कं न विदध्यात्, किन्तु “आ द्वेः” इत्य-  
नन्तरं “किम” इत्येव ब्रूयात् । ॥१२५।१३॥

—ननु तथापि कुत एतज्ज्ञापकं ?, किम इत्येवोच्यमानेऽन्त्यस्य मकारस्य पूर्वेणाऽकारे  
तस्यैव पुनरनेनाऽपि स्यात् । ॥१२५।१६॥

—न चोक्तानुवाददोषादन्त्यस्य न भविष्यतीति वाच्यम् ?, काभ्यां, केभ्य इति विध्यन्तर-  
वाधनार्थत्वादिति कथं छिपर्यन्तानां भविष्यति न पुनरसदन्तानां भवदन्तानां वा ॥१२५।१६॥

—किं चाऽवश्यं कादेशः सागर्थोऽपि वक्तव्यः, तेनाऽज्ञातार्थविवक्षायां क इत्येव  
भवति, न तु कक इति भवति । ॥१२५।१८॥

—न च ‘निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति’ इति साकः कादेशो न प्राप्नोतीति वाच्यम्,  
“किम. क.” इति वचनसामर्थ्याद्भविष्यति । ॥१२५।१८॥

“अदसो०”—नन्वदस इति किमर्थम् ?, पारिशेष्याददस एव दकारस्य सकारो भविष्यति । ॥१२५।२६॥

—किं चाऽन्त्यदकारस्य सकारेऽपि “दित्यन्त्यस्वरादे.” इत्यन्त्यस्वरादिलोपे विशेषा-  
भावात् सकारकरणमनर्थकं स्यात् । ॥१२५।२८॥

—न चाऽनन्त्यस्य भवद्दिदमोऽपि स्यादिति वाच्यं “अयमियं पुंस्त्रियोः सौ” इत्य-  
शेषस्य विधानादयमियमोस्त्र वाधकत्वात् । ॥१२५।२९॥

—द्विशब्दस्य च द्वित्वार्थविषयत्वात् सेरभावादप्रसङ्ग इति चेत्, न, ॥१२५।२९॥



- क्र० सूत्रम् । शङ्का । पृ० प०
- ४७४ “अदसो” — तस्मात्प्रदत्तद्वयदेतदामन्त्यदकारस्य सकारः स्यात्, अदस एव यथा स्यादन्यस्य  
मा भूदित्येतदर्थमदसग्रहणम् । ॥१२५।३१॥
- ४७५ ” — नन्वेवं यद्यदस एव दस्य सत्त्वं विधीयते, ततो द्वाविच्छति द्वीयति, ततः क्पि,  
अकारयकारक्पिपो लोपे, ततः सावीकारस्य त्यदाद्यत्वे द्व इति प्राप्नोति स्व इति  
चेप्यत इति चेत्, सत्यम्; ॥१२५।३१॥
- ४७६ ” — एवं तर्हि—असकौ ब्राह्मणी, असौ ब्राह्मणीत्यत्र “एदापः०” इति, “दीर्घदयाव्” इति  
चैत्त्वलोपयोः प्रसङ्गः, ॥१२५।३२॥
- ४७७ “मोऽवर्णस्य” — नन्वसाविच दृश्यत इत्यदसः परतो दृशेः “त्यदाद्यन्यसमानादुपमानात्” ॥५।१।१५२॥  
इति क्पि, टकि, सकि च स्याद्यभावाद्वात्वाभावे कथं ‘अमूहम्’ इत्यादौ मत्वं?, इत्याह— ॥१२६।२५॥
- ४७८ ” — ननु अदः कुलमिच्छतीत्यस्मिन् वाम्येऽदस्शब्दात्पुंसकादमो लुपि “सो रु.” इति  
रुत्वे, “रोर्य.” इति यत्वे, “स्वरे वा” इति यलोपेऽवर्णान्तत्वान्मत्वप्रसङ्ग इति चेत्,  
उच्यते— ॥१२६।२७॥
- ४७९ “मादुवर्णो” — नन्वत्र “इवर्णादे०” इति वकारः कस्मान्न भवति? इत्याह— ॥१२६।४५॥
- ४८० ” — ननु मत्वे कृते पूर्वं पश्चाद्वा उवर्णादेशे अमुमित्यादीनां सिद्धत्वादनुग्रहणं किमर्थम्?,  
इति पृच्छति । ॥१२६।४५॥
- ४८१ “प्राणिनात्” — ननु परत्वाभित्यत्वादिनादेशात् पूर्वमुवर्णः सिद्ध एव किमनेन?, इति चेत्, ॥१२७।१६॥
- ४८२ “यहुव्वेरी” — नन्विकारस्य पष्ठ्यामेरूपस्य समानत्वात्तत्त्वाऽदसोऽव्यागमे कृते तद्वयवत्येका-  
रस्य यत्त्वं बाधित्वा इत्वं स्यादिति कथमेकारस्येत्युक्तं?, इति चेत्, मैवम्, ॥१२७।२१॥
- ४८३ ” — किञ्च “अदो मुमी” ॥१।२।३५॥ इत्यत्र मीति निर्देशात् हीकारपरिग्रहेऽदसो मीरूप-  
सम्भवोऽस्तीति तस्मात् सूक्तमेकारस्येति । ॥१२७।२४॥
- ४८४ “धातोरि०” — नन्विवर्णोवर्णस्येति धातोरित्यस्य विशेषणत्वात्तदन्तसम्प्रत्यये धातोरिवर्णोवर्णान्त-  
स्येति समानाधिकरणपष्ठ्या सम्भवन्त्यां व्यधिकरणपष्ठ्याः प्रतिपत्तिगौरवात् परि-  
ग्रहायोगात् कथमेवमुच्यत इति?, ॥१२७।३१॥
- ४८५ ” — न च समानाधिकरणपष्ठ्यामनेकवर्णत्वात् सर्वादेशप्रसङ्ग इति वाच्यं, यतो ‘निर्दिश्य-  
मानस्याऽऽदेशा भवन्ति’ इति इवर्णोवर्णयोरेवेयुवौ भविष्यत इति चेत्, सत्यम्; ॥१२७।३२॥
- ४८६ ” — ननु नयतेर्लुनातेश्च “करणाधारे” ॥५।३।१२९॥ इत्यनटि, “णकट्चौ” ॥५।१।४८॥ इति  
कर्तरि णके च इवर्णोवर्णान्तत्वादियुवौ कस्मान्न भवतः?, इत्याह— ॥१२७।४३॥
- ४८७ “इणः” — नन्विणो धातुत्वात् खरादौ प्रत्यये पूर्वणैवेयादेशो भविष्यतीति चेत्, उच्यते,— ॥१२८।१८॥
- ४८८ ” — इणधातोर्वर्तमानाया अन्तिप्रत्यये पञ्चम्या अन्तुप्रत्यये च खरादित्वात् “इण.”  
इतीयादेशः कस्मान्न भवति?, इति प्रश्नार्थः । ॥१२८।२१॥
- ४८९ ” — नन्वस्तु यन्ति, यन्तिवत्यत्र परत्वात् “ह्णिणो०” इति यत्त्वं, परन्तु इणधातोरनटि णके  
च खरादौ प्रत्ययेऽनेनेयादेशः कस्मान्न भवति?, इत्याह— ॥१२८।२२॥
- ४९० “संयोगात्” — ननु धातोरिति विशेषणं कार्यितया प्राधान्यादिवर्णोवर्णयोरेव युज्यते न संयोगस्य,  
तस्य तद्विशेषणत्वेनाऽप्राधान्यात्; प्रधानासम्भवे हि विशेषणं गौणे युज्यत इति । ॥१२८।२६॥
- ४९१ ” — न च तस्य प्रधानान्वये व्यावर्त्याभाव इति वाच्यं, धातोरेवाऽवयवो य इवर्णे उव-  
र्णश्च संयोगात् परस्तयोरियुवाविति विशेषणविशेष्यभावादत्र धात्ववयवस्य व्याव-  
र्त्यलाभात् । ॥१२८।२७॥
- ४९२ ” — न च तत्र “इवर्णादे०” इति यकारवकारयोः सम्भवादव्यावर्त्यत्वमिति शङ्क्यं, यत्र  
समानदीर्घत्वं बाधकमस्ति तत्र व्यभिचारादर्थवदिवर्णोवर्णयोर्धातोरिति विशेषण-  
मिति प्रधानगामिनि सम्भवति विशेषणे गुणस्य तेन सम्बन्धो न न्याय्य इति  
चेत्, उच्यते— ॥१२८।२८॥
- ४९३ “स्त्रियाः” — न च तदन्तग्रहणात् शस्त्रीशब्दस्याऽपि रुयन्त्यत्वादिनादेशप्रसङ्ग इति वाच्यं,  
तदेकदेशस्याऽन्त्यकत्वात्, इत्याह— ॥१२९।१९॥
- ४९४ ” — नन्वतिस्त्रिशब्दाज्जसि टाया डेडसिडसुडिषु चाऽनेनेयादेशः कस्मान्न भवतीति  
शङ्कते । ॥१२९।२०॥
- ४९५ ” — ननु स्त्रीशब्दादामि प्राप्त इयादेशः कस्मान्न भवति?, इत्याह— ॥१२९।२१॥
- ४९६ “वाऽमृशसि” — ननु धातुरूपस्यैव स्त्रीशब्दस्य विकल्पार्थमिदं कस्मान्न भवति?, कथमुक्तं “धातोर्-  
वर्णोवर्णो” इत्यादिना नित्यमियादेश इति?, उच्यते— ॥१२९।२८॥
- ४९७ ” — न चाऽनुवर्तमानस्याऽन्यथात्वं भवति, यदाह— श्रीशेषराजः— ॥१२९।३०॥
- ४९८ “क्विचूत्ते०” — नन्वेवमनेन न्यायेन परमन्याविति भाव्यमिष्यते च परमन्याविति तत्कथमिति  
चेत्, उच्यते— ॥१३०।१७॥

- क्र० सूत्रम् । शङ्का । पृ० प०
- ४९९ “किञ्चुत्ते०”—यदापि पृष्ठीसमासस्तदापि सम्बन्धविवक्षायां तिरोहिता भवति समासहेतुभूत-  
कारकत्वविवक्षा । ॥१३०।१९॥
- ५०० ” —यदापि परमं शास्त्रं नयतीति नयनक्रियाकर्मणः शास्त्रादेर्विशेषणं परमशब्दस्तदा  
सत्यपि कर्मत्वे शास्त्राद्यपेक्षत्वात् सामर्थ्याभावात् ऋद्धस्य राक्षः पुरुष इतिवत्  
वाऽन्तर्भावः, तस्मात् परमनियामित्वेव भवति, इत्याह— ॥१३०।२०॥
- ५०१ “द्वन्पुन०”—ननु भुवः किवन्तस्य दृष्टादिभिर्वृत्तौ पूर्वेण सिद्धत्वात् किमर्थमिदम् ? इत्याशङ्क्याऽऽह— ॥१३०।२५॥
- ५०२ “णषम०”—ननु णपशब्देन णत्वपत्वविधायकशास्त्राभिधानात् तत्र च पत्वशास्त्रस्य पूर्वभावि-  
त्वात् पूर्वनिर्देशे प्राप्ते परनिर्देशः किमर्थः ? इति चेत्,— ॥१३०।४४॥
- ५०३ ” —ननु सिद्धस्य णपशास्त्रस्य तत्कार्यस्य च कथमनेन वचनमात्रेणासत्त्वमारोपयितुं  
शक्यम् ? इति चेत्, उच्यते— ॥१३१।११॥
- ५०४ ” —नन्वेवं तर्हि “पदस्य”, “रात्सः” इत्यादौ पृष्ठीनिर्देशानां परस्यां “पृष्ठ्याऽन्त्यस्य” इति  
परिभाषायामसिद्धत्वात् सा तेषु व्यवस्थापिका न स्यात्, प्रत्युत तस्याः पृष्ठ्याः समीप-  
योगत्वकल्पने पदान्ते वर्तमानस्य संयोगस्य समीपे यस्तस्य लोपः स्यादित्यर्थापत्तेश्च ॥१३१।२३॥
- ५०५ ” —एवं “हो ध्रुवपदान्ते” इत्यादौ सप्तमीनिर्देशस्याऽसिद्धत्वात् “सप्तम्या पूर्वस्य” इति परि-  
भाषानुपस्थितौ पूर्वस्यैवाऽनन्तरे भवितव्यमित्यस्य नियमस्याऽभावात् सामान्येन  
पूर्वस्य परस्य वाऽनन्तरे ध्रुवि च कार्यं स्यात्, तथा “अधश्चतुर्थात्०” इत्यादौ “पञ्चम्या  
निर्दिष्टे परस्य” इत्यनुपस्थित्या परयोर्व्यवहितयोश्च तत्कार्यकारयोः कार्यं स्यादिति  
चेत्, उच्यते— ॥१३१।२५॥
- ५०६ ” —न चैवं तर्हि देशभेदेन निर्देशस्तासां कथमिति वाच्यम् ? ॥१३१।३१॥
- ५०७ ” —किञ्च प्रधानदेशे तासामुपदेशे यस्यैव प्रधानस्य समीपे उपदिष्टस्तदेव ता उपकुर्युर्न  
प्रधानान्तरम् । ॥१३१।३२॥
- ५०८ ” —ननु यदि कार्यकाले संज्ञापरिभाषे इति स्वीक्रियेत तदा विपूर्वस्य स्फुरेरवपूर्वस्य  
गुरेश्च “ऋवर्णव्यञ्जनात्०” ॥५।१।१७॥ इति ध्यणि धातोरनयोः कुटादिपाठे सत्यपि  
“कुटादेर्द्विद्वज्जिण्” ॥४।३।१७॥ इत्यज्जिण्प्रत्ययस्य द्वित्वेऽत्र नु णितो द्वित्वाभा-  
वात् “स्पधे” इति परिभाषायाश्च सत्त्वे “लघोरुपान्त्यस्य” ॥४।३।४॥ इत्युपान्त्यगुणा  
प्रवृत्तौ “भ्वादेर्नामिन०” ॥२।१।६३॥ इति दीर्घत्वेऽनिष्टरूपापत्तेः, इष्टस्य च गुणस्या-  
ऽभावेन विस्फोर्यमवगोर्यमिति रूपानापत्तेश्च । ॥१३१।३७॥
- ५०९ ” —ननु “स्पधे” इति परिभाषयोपान्त्यगुणो भवत्विति चेत्, तन्न,— ॥१३१।४०॥
- ५१० ” —एवं पूर्वस्याऽप्यपवादस्य परस्मिन्नुत्सर्गे कर्तव्ये नाऽसिद्धत्वं, अपवादवचनस्य निर्वि-  
षयत्वेन वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । ॥१३१।४३॥
- ५११ “भ्वादेर्ना०”—ननु प्रतिपूर्वादिभेः “लृपृयुवृषि०” उणा० १०१। इति कित्यनि तृतीयैकवचने चतुर्थ्यैक-  
वचने च “अनोऽस्य” इत्यकारलोपे तस्य “खरस्य परे प्राग्विधौ” इति स्थानिवद्भावे  
व्यञ्जनाभावात् प्रतिदीप्ता, प्रतिदीप्ते इति कथं दीर्घत्वम् ? इत्याह— ॥१३१।४४॥
- ५१२ ” —नन्वत्र पिति कृति “ह्रस्वस्य त०” ॥४।४।११३॥ इति तागमः कस्मात् ? इति चेत्,— ॥१३१।३५॥
- ५१३ ” —नन्वेवं ग्रामं नयतीति किपि “ग्रामाग्रा०” ॥२।३।७१॥ इति णत्वे “वेदूतोऽनव्ययवृद्धीच्-  
डीयुवः पदे” ॥२।४।९८॥ इति ह्रस्वत्वे ग्रामणिनो ब्रज्या, ग्रामणि ब्रज्या इत्यत्र घात्वि-  
कारसङ्गावादीर्घत्वप्रसङ्ग इति चेत्, उच्यते— ॥१३१।३९॥
- ५१४ “न यि त०”—नन्वत्र वीरित्यनुवर्तनाद्यकारादितद्विपरकरेफे नामिनो दीर्घ इत्यस्य धुर्य इत्याद्युदा-  
हरणदानात् तादृशकारे तददानान्न्यूनतेत्यत आह— ॥१३१।२१॥
- ५१५ ” —पुरिशब्दात् “स्त्रिया ङितां वा०” इति डेर्नामादेशे किरिगिरीभ्यामोसि यत्वे च व्यञ्जन-  
सङ्गावादीर्घत्वं कस्मात् भवति ? उच्यते— ॥१३१।३०॥
- ५१६ ” —नन्वेतत्पक्षाङ्गीकारे ‘प्रतिदीप्ता’ इत्यत्राऽपि दीर्घत्वं न सिध्यति, तस्याऽप्यौणादि-  
कत्वादिति ?,— ॥१३१।३३॥
- ५१७ ” —नन्वकारलोपस्य बहिरङ्गासिद्धत्वाद् व्यञ्जने परे धातोर्वकारान्तत्वाभावाच्चेदं प्रवर्तत  
इति चेत्, न,— ॥१३१।३८॥
- ५१८ “कुरुक्षुर”—ननु “रीश” गतिरेषणयोः, “रिं” गतौ, “वीक्” प्रजनकान्त्यसनखादनेषु, एभ्योऽनुसि  
उसि च द्वित्वे “योऽनेकस्वरस्य” इति यत्वे दीर्घत्वं कस्मात् सम्भवति ? उच्यते— ॥१३५।१४॥
- ५१९ “मो नो म्वोश्च”—ननु पूर्वत्राऽवयवपष्ठान्तं भ्वादेरिति विशेषणं कथमत्र मकारस्य विशेष्यं भवितु-  
मर्हति ? न हि “गोधा सर्पन्ती सर्पणादहिर्भवति” इति न्यायादिति चेत्, नैवम्,— ॥१३५।२१॥
- ५२० “सन्स्वन्स्०”—एवं तर्हि—अनङ्गान्, हे अनङ्गान् ! इत्यत्र नकारस्यापि प्राप्नोति तत्र विशेषणा-  
भावात् ? नैवम्,— ॥१३६।२॥

क० सूत्रम् ।

शङ्का ।

पृ० ५०

- ५२१ “सन्स्ध्वन्स्” — ननु वसतिवस्त्योः सकारान्तत्वाव्यभिचाराद् व्यभिचारे च विशेषणस्याऽर्थवत्त्वाद् व्यभिचारिणः कस एव ग्रहणं भविष्यति, वस्सिति सकारोपादानात्, इति किमर्थं कस्सेत्यत्र ककारकरणं?, इति चेत्, उच्यते— ॥१३६२२॥
- ५२२ ” — ननु अनडुहशब्दात् “अनडुहः सौ” ॥१३६७२॥ इति नागमे “पदस्य” इति हलोपे दत्वप्रसङ्ग इति चेत्, मैवम्,— ॥१३६२७॥
- ५२३ ” — ननु यदि नकारविधानसामर्थ्यात् प्राप्नुवन् विधिर्न भवति तर्हि अनङ्गास्तत्र इत्यादौ “नोऽप्रशानो” इति सकारोऽपि न प्राप्नोतीति चेत्, न,— ॥१३६२८॥
- ५२४ “ऋत्विज्” — ननु खजूधातोः क्विपि ऋकारस्य रुत्वं कथम्?, इत्याह— ॥१३६३७॥
- ५२५ ” — ननु दधृप् इत्यत्र द्विरुक्तिः कस्मात्?, इत्याह— ॥१३६३८॥
- ५२६ “युजञ्” — ननु “कुञ्” गतौ इत्यस्मात् क्विपि “नो व्यञ्जनस्याऽनुदितः” ॥१३६४५॥ इति नलोपे सति नकाराभावाद्नेन कथं नस्य ड इत्यत आह— ॥१३७१८॥
- ५२७ “अङ्गः” — नन्वत्र सिलोपे परत्वात् नकारस्य रुत्वं नकाराभावात् कथं दीर्घ इति चेत्, न,— ॥१३७३१॥
- ५२८ ” — ननु हनेर्ह्यस्तन्या दिवि सिवि वा “अङ्धातो” इत्यङ्गागमे, “व्यञ्जनाद्देः सञ्च दः” ॥१३७७८॥ इति, “सेः रुद्धा च रुर्वा” ॥१३७७९॥ इति च दिव्सिबोलोपे अहन् इत्येतस्य पदत्वात् नस्य रुत्वं कस्मात् भवति?,— ॥१३७३३॥
- ५२९ ” — न च प्रतिपदोक्तस्य सम्भवो नाम तथाहि—अङ्गश्च “श्वन्मातरिश्वन्” । उ० ९०२ । इत्यनि निपातने कथं प्रतिपदोक्तं स्यात्?,— ॥१३७३५॥
- ५३० “धुट्स्त्” — ननु कञ्चरतीत्यादौ रेफादेशस्य शकारादेशुद्भवादासन्नत्वानृतीयो जकारादिः कस्मात् भवति?,— ॥१३८२८॥
- ५३१ “गड्दबा०” — ननु धातोरवयवस्येत्युच्यते, अत्र त्ववयवातिरिक्तस्य तुण्डिप् इत्यादिवत् धातोर-भावात् कथं प्राप्तिः?, इति चेत्, उच्यते— ॥१३८३८॥
- ५३२ “धागस्त०” — नन्वत्राऽऽकारलोपस्य खरादेशत्वेन “खरस्य परे प्राग्विधौ” ॥७४११०॥ इति स्थानि-वद्भावात् चतुर्थान्तत्वाभावात् कथमादेशश्चतुर्थ इत्याह— ॥१३९३०॥
- ५३३ “नाम्यन्ता०” — ननु घकारस्य कार्यभाक्त्वात् परोक्षादिभिश्च विशिष्यमाणत्वात् प्राधान्यं परोक्षा-दीनां तु विपर्ययाद् गुणत्वं, गुणप्रधानसन्निधौ च प्रधानस्यैव घकारस्य नाम्यन्तेन धातुना सम्बन्धो न्याय्य इति चेत्, उच्यते— ॥१४०१७॥
- ५३४ “हो धुट्” — ननु गुडलिद् विद्यतेऽस्येति “तदस्याऽस्त्यसिन्निति मतुः” ॥७२११॥ इति मतौ ढत्वे ढतीयत्वे च “मावर्णान्तोपान्त०” इति वकारः कस्मात् भवति?, इत्याह— ॥१४११८॥
- ५३५ “भ्वादेर्दा०” — ननु लक्ष्ये घकारस्य खरूपेणावस्थानाभावात् “धुट्स्त्तीय.” इति गकारेण भाव्य-मिति स एव उच्यतामिति चेत्, मैवम्; ॥१४१३१॥
- ५३६ ” — ननु किमर्थं भ्वादेरित्युपादीयते?, “भ्वादेर्नामिनो” इत्यत एव तदनुवृत्तेस्तत एव तत्साध्यार्थसिद्धेः । ॥१४१३३॥
- ५३७ ” — एवं तर्हि “गड्दबादे०” इत्यत्र यथाऽनुवर्तनात् धातुमात्रार्थं तद्भवति न तु पठित-धात्वर्थः, अन्यथा तु तुण्डिप् गर्ध्ववित्याद्यसिद्धेः । ॥१४१३६॥
- ५३८ ” — न च कुण्डमुम्भतीति कुण्डोवित्यादिव्यावृत्त्यर्थः, लोके प्रयुज्यमानानां शब्दानाम-न्वाख्यायकं शास्त्रं तत्तद्व्युत्पादकं, न चैतत् किंवन्ताः प्रयुज्यन्त इति । ॥१४१३७॥
- ५३९ ” — नन्वेवं यदि विशिष्टसम्बन्धिप्रतिपत्त्यर्थं भ्वादेरित्युपादीयते तर्हि भ्वादेर्दादेरित्येत-त्समानाधिकरणं विशेषणं भवतु दकारादेर्धातोरिति, तथा च दामलिङिति भव-त्यर्थं दादिर्न तु भ्वादिः, समुदायस्य धातुष्वपाठात् । ॥१४१३९॥
- ५४० ” — अधोगित्यत्रापि दादिग्रहणेन तद्भक्तत्वाददो ग्रहणात् घत्वं भविष्यति पाठे ह्यस्य दादित्वादिति चेत्, सत्यम्, ॥१४१४१॥
- ५४१ “मुहद्गुह्” — ननु किमेते मुहादयः खरूपेणोपादीयन्ते?, मुहादेरित्येवोच्यता, न चाऽधिकानां प्रसङ्गः, तदनन्तरं वृत्करणात्, तच्च पुषादिपरिसमाप्त्यर्थमपि भविष्यतीति चेत्, उच्यते— ॥१४२१७॥
- ५४२ ” — ननु वोमवीतीत्यादय एव नियता यङ्गुलुवन्ता लोके प्रयुज्यन्त इत्येषा प्रयोगो न भविष्यति?, एवं तर्हि स्पष्टार्थं पाठ । ॥१४२१९॥
- ५४३ “नहाहो०” — नन्वाहोरपि घकारे “अघोपे प्रथमो” इति तकारे सति आत्येति सिध्यतीत्युभयोर्घ-कार एवोच्यता किं तकारकरणेनेति चेत्, मैवम्, ॥१४२२७॥
- ५४४ ” — न च सिचस्थविधानसामर्थ्यादेव घत्वं न भविष्यति, अन्यथा सिचो घत्वमेव विद-ध्यादिति वाच्यं, लाघवार्थं तत्स्यादन्यथा “मृगः पञ्चाना०” इत्यत्र सिचो घ इति सूत्रा-न्तरे कृते गौरवं स्यात्तस्मात् सूत्रम् । ॥१४२२९॥

- ५४५ “चजः क०”—“तेन विचे०” ॥७।१।१७५॥ इति तच्छब्दात् चञ्चणयोश्चरतौ च परत्वात् पूर्वं तृती-  
यत्वे “तवर्गस्य०” इति जत्वे गत्वं, “अघोपे प्रथमो०” इति चत्वे कत्वं कस्मान्न  
भवति ?, नैवम्; ॥१४२।३७॥
- ५४६ “—नन्वत्र सूत्रे किमर्थमादेशद्वयविधानम् ?, यावता कविधानं गविधानं वा क्रियतां,  
यथा लक्षणं कस्य गत्वे, गस्य कत्वे च सर्वसाध्यसिद्धेरिति चेत्, सत्यं, गाभावे  
लशादयः का भावे पक्षादयो न सिध्येयुरिति कगग्रहणम् । ॥१४२।४१॥
- ५४७ “यजसृज०”—ननु विपूर्वस्य आज्ञेः क्विचन्तस्य गत्वे विभ्रागिति प्रयोगदर्शनात् कथं तत्सिद्धिः ?,  
इत्याह— ॥१४३।३३॥
- ५४८ “—ननु श इति सामान्येनोपादानात् “मासनिशासनस्य०” ॥२।१।१००॥ इति निशा-  
शब्दस्याऽन्तलोपे शस्य पत्वं कस्मान्न प्राप्नोति ?, उच्यते— ॥१४३।३५॥
- ५४९ “—ननु परत्वात् प्रथमं बाधित्वा “चजः कगम्” इति जस्य गत्वं कस्मान्न भवति ? इत्याह— ॥१४३।३७॥
- ५५० “संयोग०”—ननु स्कौलिकः परस्मिन्नसत्त्वात् “पदस्य” ॥२।१।८९॥ इति संयोगान्तस्य स्यात् ?,  
नैवम्, ॥१४४।५॥
- ५५१ “—ननु स्कौलिकि तु लुग्विधेश्चरितार्थत्वात् कार्यासत्त्वपक्षमाश्रित्य “पदस्य” इति अत्र  
लोपप्रसङ्ग इति चेत्, न, ॥१४४।२७॥
- ५५२ “पदस्य”—ननु पुमानित्यादौ “पदस्य” इति संयोगान्तलोपे नकारलोपः कस्मान्न भवति ?, इत्याह— ॥१४५।२३॥
- ५५३ “—ननु भवाञ्चरोति इत्यत्र नकारस्य आदेशे संयोगान्तलोपः कस्मान्न भवति ?, इत्याह— ॥१४५।२८॥
- ५५४ “रात्सः”—नन्वत्र रेफात् परत्वात् पदान्तकृतस्य सस्य पत्वेन भवितव्यं कथं लोपः ?, इत्याह— ॥१४५।३३॥
- ५५५ “—नन्वेवं तर्हि कीर्तयतेरप्रत्यये कीरिति प्राप्नोति कीर्त्वं इति चेप्यते ?, अत्र भाष्यम्— ॥१४५।४३॥
- ५५६ “नासो नो०”—नन्वत्र “रो लुप्यति” इति, “अहः” इति च विशेषविहितत्वेनाऽपवादत्वान्नलोपमपोद्य  
रेफरुत्वे भविष्यतः, किमनङ्ग इति प्रतिषेधेन ?, उच्यते— ॥१४६।२६॥
- ५५७ “—न च रेफरुत्वयोरनवकाशत्वमिति वाच्यम्, हे अहः ?, हे दीर्घाहः ?, इत्यादौ सम्बो-  
धने तयोः सावकाशत्वात्, इत्याह— ॥१४६।२७॥
- ५५८ “—नन्वत्र परेऽसत् इत्यधिकृतस्य निवृत्तत्वात् “ह्रस्वस्य तः०” इति तोऽन्तो वृत्रहभ्या-  
मित्यादौ कथं न भवति ?, अत आह— ॥१४६।३३॥
- ५५९ “नाऽऽमन्थे”—ननु हे राजन्नित्यादौ सिलुकः स्थानिवद्भावेन “अधातुविभक्ति०” इति नामसंज्ञाप्रति-  
षेधे पूर्वैर्लोप एव न प्राप्नोति, कथमनेन प्रतिषिध्यते ?, इत्याह— ॥१४६।३६॥
- ५६० “—नन्वामन्थे नलोपप्रतिषेधात् राजन्, वृन्दारकेत्यनयोरामन्थार्थयोः “वृन्दारकनाग-  
कुञ्जरैः” ॥३।१।१०८॥ इति समासे राजन्, वृन्दारकेति भाव्यम् ?, नैष दोषः, ॥१४६।३८॥
- ५६१ “भावर्णा०”—ननु “नास्ति” इति प्रातिरूप्यादीनां वार्यत इति चेत्, न, ॥१४७।१६॥
- ५६२ “दन्तपाद०”—ननु द्वाद्यादेशवत् पूर्वसूत्रेऽपि मास इत्यादि समस्तदेशः कर्तुमुचितस्तथा च सति  
प्रकरणभेदेऽपि न स्यात्, अत एव पूर्वं. “पद्मोमासहृन्निशसन्पदोपन्यकजृच्छक-  
ब्रुदन्नासन्०” पा० ॥६।१।६३॥ इति कृतं, प्रकृतिस्तु तत्राऽनुमितेति चेत्, सत्यम्, ॥१४९।२८॥
- ५६३ “—ननु पूर्वैश्छन्दोविषयत्वमेषामुक्तं, न च छान्दसा भवद्भिर्व्युत्पाद्यन्ते इति “मास-  
निशा०” इत्यादि सूत्रद्वयमनर्थकम् ?, नैवम्, ॥१४९।३२॥
- ५६४ “यस्वरे०”—ननु द्विधा पाच्छब्दस्य सम्भवस्तथाहि—“पात्पादस्याऽहस्त्यादेः” ॥७।३।१४८॥ इत्या-  
दिभिः कृतपादादेशस्य तथा पादयतेः क्विचन्तस्य णिलुकि, तत्कस्येह ग्रहणम् ?,  
उच्यते— ॥१४९।४१॥
- ५६५ “—नन्वेवमनेकवर्णत्वात् सर्वस्य पादन्तस्य प्राप्नोति केवलस्य चेप्यते, तस्मात् पादः पदा-  
देशमपास्य पादो ह्रस्व इति कर्तव्यम् ?, इति यः शङ्कते तम्प्रत्याह— ॥१४९।४६॥
- ५६६ “उदच०”—ननु उदञ्चेत्यादौ अद्युदखरे आदेशः कस्मान्न भवति ?, इत्याह— ॥१५०।४०॥
- ५६७ “अच् प्रा०”—ननु दृषदमञ्चतीति किपि टादावनन्तरपूर्वखराभावे दीर्घत्वाभावादेकयोगनिर्दिष्ट-  
त्वादादेशस्याऽप्यभावात् कथं दृषचेत्यादि सिध्यति ?, इत्याह— ॥१५१।१७॥
- ५६८ “—नन्वत्र दकारस्य दन्त्यत्वात् लृकारो दीर्घ आसन्नत्वात् कस्मान्न भवति ?, इत्याह— ॥१५१।२०॥
- ५६९ “कसुप्म०”—ननु च पपुषः, निन्युप इत्यादौ यस्वरादाबुच्यमानस्योपादेशस्य बहिरङ्गत्वेनाऽसिद्ध-  
त्वात्तदपेक्षया अन्तरङ्गाण्याकारलोपादीनि न प्राप्नुवन्ति ?, नैष दोषः । ॥१५१।२६॥
- ५७० “—ननु चाऽत्राऽन्तरङ्गबहिरङ्गयोर्युगपदवस्थानमस्तीति । ॥१५१।३०॥
- ५७१ “—न चाऽत्राऽन्तरङ्गत्वादिटा भाव्यमिति वाच्यम् ?, नित्यत्वादिर्बाधित्वा उप भवति ॥१५१।३०॥
- ५७२ “—ननु वर्णविधित्वाभावात् स्थानिवत्त्वेन भवतीटः प्रसङ्ग इति चेत्, अस्तु वा पूर्वसिद्ध-  
वसवयवत्वात् सेट्रकस्य वसोरुपादेशो भविष्यति । ॥१५१।३१॥
- ५७३ “श्वन्युवन्०”—ननु श्वन्नित्यादौ नकारान्तनिर्देशः किमर्थः ?, इत्यत आह— ॥१५१।४१॥

क्र० सूत्रम् ।

शङ्का ।

पृ० प० ७

- ५७४ “लुगातो०”—ननु क्त्वायां टायामित्येवमपि वैयाकरणा व्यवहरन्ति तत्कथम्?, इति चेत्, उच्यते—॥१५२२०॥
- ५७५ “अवर्णा०”—ननु तुदन्ती, भान्तीत्यादिमूलोदाहरणे ईड्योरनपेक्षत्वेन वर्णमात्राश्रयत्वेन चान्तरङ्गत्वात् “लुगस्यादेत्यपदे” इति, “समानाना०” इति चाकारलोपदीर्घत्वयोः कृतयोरवर्णात् परत्वं शतृप्रत्ययस्य न संभवति तत्कथमकारावर्णशतृप्रत्ययङीभावापेक्षत्वेन बहिरङ्गोऽन्त इत्यादेशः?, इत्याह— ॥१५४२८॥
- ५७६ “—नन्वेवं तर्हि ददतीत्यादौ आकारलोपेऽपि भूतपूर्वतया शतुरन्तादेशे नकारश्रवणप्रसङ्गः?, इत्याह— ॥१५४३३॥
- ५७७ “इयश्चः”—ननु ईड्योः पूर्वणैव शतुरन्तादेशः सिद्धः किमर्थमिदम्?, नैष दोषः,— ॥१५४३९॥
- ५७८ “दिच औः सौ”—नन्वक्षपूर्वादीव्यते. किप्युटि कृते ‘एकदेशविकृतस्याऽनन्यत्वात् औत्वं कस्मान्न भवति?, न ह्यघातो रित्यस्ति?, इत्याह— ॥१५४४४॥
- ५७९ “—ननु दिवो वकारस्य अमृशसोः आकारो विभापया वक्तव्यः, अन्यथा दिवमित्याद्येव स्यान्न तु घामित्यादीनि?, इत्याह— ॥१५४४६॥
- ५८० “उः पदान्ते०”—ननु घुभ्यामित्यादौ दीर्घप्रसङ्ग एव नाऽस्ति कथमुच्यतेऽनूदिति?, इत्याह— ॥१५५१७॥
- ५८१ “—ननु दिवाश्रय इत्यादावन्तर्धर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदत्वेऽनेनोक्ते कथं दिवाश्रय इत्यादि?, इत्यत आह— ॥१५५१९॥
- ५८२ “—ननु गमने निपिद्धे तेषां कथं स्वाभिप्रेतार्थसिद्धिः?, इत्याह— ॥१५५२९॥
- ५८३ “—नन्वस्माकं मध्ये स्थितस्तु मूलराज इति कथं हरित्वेन बोधयसि?, इति चेत्, आह— ॥१५५३०॥
- ५८४ “क्रियाहेतुः०”—न चैवं सर्वदा क्रियोत्पत्तिप्रसङ्ग इति वाच्यं, अभिव्यक्ताया एव तस्याः क्रियाकारणात् । ॥१५६२१॥
- ५८५ “—न चैतावता तस्याऽसत्त्वं, उत्तरकालमभिव्यज्यमानत्वात् । ॥१५६२२॥
- ५८६ “—न च तदैव तस्योत्पत्तिरित्यपि वाच्यं, रविकरस्पर्शस्य गन्धोपलब्धौ सामर्थ्यानवधारणात्, सामर्थ्यं वा जलान्तरेऽपि तथा गन्धोपलब्धिः स्यात्, तस्मात् क्रियाकालाभिव्यक्ता शक्तिः कारकमिति स्थितम् । ॥१५६२२॥
- ५८७ “—ननु सज्ञा इति प्रकृत्य कारकादयः शब्दाः पठितव्याः, अन्यथा कारकादयः संज्ञा इत्येव सम्प्रत्ययो न स्यात्, अतः संज्ञाधिकार इति वक्तव्यम् । ॥१५६२४॥
- ५८८ “—यदपि सज्ञासंज्ञिनोरसन्देहो वक्तव्य इत्युक्तं, तदपि न; आचार्यव्यवहारादेव तस्य सिद्धत्वात् । ॥१५६२९॥
- ५८९ “—अथ संज्ञिनिर्देशः किमर्थः?, अकारस्य मा भूदित्यर्थः । ॥१५६३५॥
- ५९० “—एवं तर्हि वृक्षस्य पत्रं पततीत्यत्राप्यादानसंज्ञा प्राप्नोति?, ॥१५६४०॥
- ५९१ “—प्रत्यासत्त्या तु वृक्ष एव सम्बन्धित्वेन प्रतीयते, इति तस्मादवध्यादय एव संज्ञिनो लप्स्यन्ते?, सत्यम्; ॥१५६४४॥
- ५९२ “—ननु तथापि संज्ञिविशेषस्याऽनिर्देशात् क्रियानिमित्तमात्रस्याऽपि हेत्वादेः प्रसङ्गः?, इत्याह— ॥१५६४५॥
- ५९३ “—ननु च यथा करणाधिकरणयोः कर्तृत्वं निर्दिष्टं न तथाऽपादानादीनां निर्दिश्यते?, न ह्यपादाने ग्रामे ग्राम आगच्छतीति प्रयोगोऽस्ति?, उच्यते— ॥१५७१२॥
- ५९४ “—ननु सर्वत्राऽत्र स्वातन्त्र्यं पारतन्त्र्यं चाऽस्ति, तत्र प्रधानत्वात् कर्तृसंज्ञैव प्राप्नोति?, ॥१५७१९॥
- ५९५ “—ननु सम्भवनक्रिया धारणक्रिया च कुर्वती स्थाली स्वतन्त्रेत्युक्तं, केदानीं परतन्त्रा?, न च प्रक्षालने परिवर्तने च पारतन्त्र्यमिति वाच्यम्?, ॥१५७२३॥
- ५९६ “—ननु च भोः?, कर्तृस्थेऽपि यत्ने कथ्यमाने स्थाली सम्भवनधारणक्रिये करोति तत्र स्वतन्त्रा, केदानीं परतन्त्रेति?,— ॥१५७२५॥
- ५९७ “—ननु सामग्रीतः क्रियोत्पादात् सर्वेषां च तत्र सामान्यान्न कस्यचित्प्राधान्यं सम्भावयाम इति कथं ज्ञायते कर्ता प्रधानमिति?, उच्यते— ॥१५७२७॥
- ५९८ “स्वतन्त्रः०”—यथा कर्तृसन्निधौ करणादीनां स्वातन्त्र्याभावस्तथा प्रयोजकसन्निधौ प्रयोज्यस्याऽपीति पारतन्त्र्यादकर्तृकत्वाद्यद्भेदेनेति कर्तृवृत्तीया न प्राप्नोति?, नैष दोषः,— ॥१५८१४॥
- ५९९ “—यदि तु प्रयोज्यस्य स्वातन्त्र्यं न स्यादैवाऽसं साधनान्तरविनियोगादिना क्रियां कुर्यात्, तथा चाऽकुर्वत्यपि प्रयोज्ये प्रयोजक कारयतीति व्यपदिश्येत । ॥१५८१५॥
- ६०० “—न चाऽकुर्वत्यपि तस्मिन् कारयतीत्येतद्भवतीति प्राधान्यात् सिद्धमस्य कर्तृत्वम् । ॥१५८१६॥
- ६०१ “—ननु प्रैपादूर्ध्वं प्रयोज्यस्य स्वव्यापारे प्रवर्तनात् स्वातन्त्र्यमिति सिध्यति वृत्तीया, प्रैपादाले तु कथम्?, तत्र स्वव्यापाराप्रवर्तनात्, प्रवृत्तौ च प्रैपवैयर्थ्यात् स्वातन्त्र्यं नास्तीत्यस्वतन्त्रस्य च प्रयोजकः “प्रयोक्तृ०” ॥३१४२०॥ इति तद्व्यापारे णिम् न स्यात्?, नैष दोषः । ॥१५८२१॥

क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
६०२	“स्वतन्त्रः०”—नन्वेकस्य स्वातन्त्र्यं पारतन्त्र्यं च विप्रतिपिद्धं, प्रयोजकसंनिधौ पारतन्त्र्येण स्वातन्त्र्यस्य तिरस्कृतत्वात् यौगपद्यानुपपत्तिः ? उच्यते—		॥१५८।२३॥
६०३	” —यद्येवं नदीकूलं पततीत्यादौ स्वातन्त्र्याभावात् कर्तृत्वाभावः, तथाहि—स्वातन्त्र्यं नाम परिदृष्टसामर्थ्यकारकप्रयोक्तृत्वं चेतनव्यापारो नाऽचेतनस्य कूलादेः सम्भवति ? उच्यते—		॥१५८।२५॥
६०४	“कर्तृव्या०”—किमर्थं क्रियया तदामुमिष्यते ? निर्वर्तयितुं गुणान्तराण्यापादयितुं विपयीकर्तुं वा ? अत एव निर्वर्त्य विकार्यं प्राप्यं चेति त्रेधा तदुच्यते ।		॥१५८।३१॥
६०५	” —व्याप्यशब्दस्य सज्ञात्वेनाऽनुपात्तत्वात् कथं “व्याप्ये केनः” ॥२।१९९॥ इत्यादौ व्याप्य-शब्देन व्यवहारः ? उच्यते—		॥१५८।३३॥
६०६	” —न ह्यनिर्वर्तमानं शशविषाणमिव निर्वर्तयितुं शक्यं, तस्मान्निर्वर्त्यस्य निर्वृत्तियोग्यत्व-मवान्तरव्यापारः ।		॥१५८।४५॥
६०७	” —ननु शिक्षयाच्योरेकार्थत्वात् कथं द्वयोरुपादानम् ? इत्याह—		॥१५९।२१॥
६०८	” —नन्वेवमपि याचिरेवोपादातव्यस्तेनैव याञ्जानुनययोरभिधानात् ? अस्येतत्—		॥१५९।२२॥
६०९	” —यद्येवं गयादेः परार्थत्वात् क्रियायोगाभावादव्याप्यत्वात् कर्मसंज्ञा न सिध्यति ?—		॥१५९।२९॥
६१०	” —ननु गा दोग्धि पय इत्यस्याऽयमर्थो—गौः पयस्त्यजति, देवदत्तो गवा पयस्त्याजयति, तत्र प्रयोक्तृव्यापारेणाऽऽप्यमानत्वाद्गौः कर्मत्वं न तु दोहादिनेति ? नैतदस्ति,—		॥१५९।४०॥
६११	” —न चेत्थं लोकप्रतीतिरस्ति ? नैष दोषः,—		॥१५९।४३॥
६१२	” —अथ कथं भवितव्यं, तण्डुलानोदनं पचति ? आहोस्वित् तण्डुलानामोदनं पचतीति ? उभयथा प्रयोगदर्शनात् ।		॥१५९।४६॥
६१३	” —अथ द्विकर्मकेषु दुहादिधातुषु कर्मणि तिवादय उत्पद्यमानाः प्राधान्याऽप्राधान्याभ्या मिद्वकक्षमनेकं कर्म युगपदभिधानुमसमर्थं किं प्रधानकर्मण्युत्पद्यन्तेऽथ गुण-कर्मणीति ?—		॥१६०।१६॥
६१४	” —तन्नेवमपि कर्तृगुणत्वात् गुणे च संख्याया विवक्षणाद् द्वाभ्यां कर्तृभ्या बहुभिर्वा यद्विशेषेणाऽऽनुमिष्यते तस्य कर्मसंज्ञा न स्यात् ? नैष दोषः,—		॥१६०।४१॥
६१५	” —नन्वेवं तर्हि यदा कश्चित् कश्चिदामन्त्रयते—सिद्धं भुज्यतामिति, स आह—प्रभृतं भुक्-वानस्मि, आमन्त्रयमाण आह—दधि खलु भविष्यति ? आमन्त्रयमाण आह—दध्ना खलु भुञ्जीय, पयसा खलु भुञ्जीय ।		॥१६०।४७॥
६१६	” —अत्र चाऽन्वयव्यतिरेकाभ्या दधिपयसोरेव विशेषेणाऽऽप्यत्वात् कर्मसंज्ञा प्राप्नोति न त्वोदनस्येति चेत्, उच्यते—		॥१६०।४८॥
६१७	“वाऽकर्म०”—नन्वेवं तर्हि गत्यर्थादीनामप्यविवक्षितकर्मत्वेन विकल्पः प्राप्नोति, नित्यश्च विधि-रिष्यते ? इत्याह—		॥१६१।१७॥
६१८	” —नन्वोदनं पचतीत्यादिप्रयोगदर्शनात् कथं पचादीनामविवक्षितकर्मत्वम् ? इत्याह—		॥१६१।२९॥
६१९	“गतिवो०”—न चेपां बुद्ध्यर्थता, बोधशब्देन बोधसामान्याश्रयणपक्षे वेत्यादयो हि ज्ञानमात्रवचनाः		॥१६१।३६॥
६२०	” —न च वाक्यभेदः, श्वेतो घावतीतिवत् ।		॥१६१।३८॥
६२१	” —अथ नित्यग्रहणमन्तरेणाऽपि अकर्मकग्रहणेनैव कर्मसत्तामात्रप्रतिषेधेनैवेष्टार्थो लभ्यत इति किमर्थं नित्यग्रहणम् ? इत्याह—		॥१६२।२५॥
६२२	” —ननु च कालाऽध्वभावदेशा आधारा अकर्मणामपि कर्माणि भवन्ति, गोदोहमात्रे, मासमास्ते इत्यादौ, तत्र नित्याऽकर्मणामसम्भव एव ? इत्याह—		॥१६२।३५॥
६२३	” —अथैवं किं न ज्ञायते कालादिभ्योऽन्येन कर्मणा सकर्मका अपि येषां कालादिकर्म-नैवाऽस्ति ते नित्याऽकर्माणाः, यथा कालादिभिः सकर्मका अप्यन्यकर्माणि यथा यथा		



- क्र० सूत्रम् । शङ्का । पृ० प०
- ६२९ “गतिवो०”—न चैकेन लक्षणेन नियमद्वयस्य कर्तुमशक्यत्वादसिद्ध सति प्राकनस्याऽसत्त्वात् कथं नियमद्वयलाभ इति वाच्यं, अणिग्रहणात् । ॥१६३११॥
- ६३० “भक्षेहि०”—ननु हिंसा हि प्राणव्यपरोपलक्षणा, सा च प्राणिन्येव सचेतने सम्भवति, कथमचेतने सस्ये?,— ॥१६३१२॥
- ६३१ “—ननु पुत्रभक्षणस्य हिंसात्मकत्वाद्भक्षयति पुत्रान् गार्ग्येति कथं कर्मत्वाभावः?, इत्यत आह— ॥१६३१३॥
- ६३२ “—न ह्यत्र गार्गी स्वयं पुत्रान् भक्षयति, न च तामन्यस्तत्र प्रयुक्ते, अपि त्वेवमाक्रोशति भक्षय पुत्रानिति भक्षिर्न हिंसाविषयः । ॥१६३१३॥
- ६३३ “—ननु भक्षयति पिण्डं शिशुनेत्यादौ मा भूदनेन कर्मत्वं, भक्षयतेराहारार्थत्वात् पूर्वेण कस्मात् भवति?, इत्याह— ॥१६३१३॥
- ६३४ “वहेः प्र०”—नन्वेवं विधौ सति नियमो नोपपद्यते?, उच्यते— ॥१६३१४॥
- ६३५ “दृश्यमि०”—ननु विकल्पो हि प्राप्ते कार्ये पक्षे निवृत्तिफलः, अप्राप्ते च प्रवृत्तिफलस्तत्राऽयं प्राप्ते च स्यादप्राप्ते वेत्यत आह— ॥१६३१५॥
- ६३६ “स्मृत्यर्थ०”—ननु कर्माऽविवक्षाया पक्षे मापाणामश्रीयादित्यादिष्व “शेषे” षष्ठी सिद्धैव तत्किमनेन?, सत्यम्,— ॥१६५१५॥
- ६३७ “—ननु त्रिदं कर्म भवति कर्मभावजनितसंबन्धसम्बन्धि च, तत्र कर्माविवक्षायां “शेषे” इत्यनेनैव षष्ठी,— ॥१६५१२॥
- ६३८ “—न हि काष्ठसंश्लेषहेतोर्जतुनः संश्लेषे जत्वन्तरमपेक्ष्यमिति तत्राऽपि स्थित्यादिक्रियाऽस्तीत्यपरे । ॥१६५१२॥
- ६३९ “—न च कर्मभावनिवर्तनेन पृथ्वां प्रवर्तितायामपि तत्कर्मप्रतिपत्तिसम्बन्धिभावो हि ततः प्रतीयते, अतो विवक्षाभेदात् द्वितीयादेः पृथ्यादेश्च सिद्धेरयं विकल्पोऽनर्थकः?, इति पृच्छति— ॥१६५१२६॥
- ६४० “जासनाट०”—ननु च जसनटक्रयेति घातवः पठ्यन्ते, तत्र निर्देशे तथैव निर्देष्टव्यम्?, इत्यत आह— ॥१६६१२५॥
- ६४१ “—ननु चौरस्योत्क्राथयतीति कथमाकारो घटादित्वादटादिह्रस्वेनैव भवितव्यम्?,— ॥१६६१२९॥
- ६४२ “—न च णिग विनाऽस्य कर्माऽस्ति, अकर्मकत्वात्; स च यदि सर्वत्र स्यादस्य घटादित्वमनर्थकमिति कर्माभाव एव न भवति?, इत्याह— ॥१६६१३१॥
- ६४३ “—ननु हिंसाया रुजारूपत्वात् “रुजार्यस्या०” इत्यनेनैव कर्मविकल्पो भविष्यति किमर्थमिदम्?, यदि जासनाटक्रयेत्याकारार्थं यत्राऽऽकारस्तत्रैव यथा स्यादिति, तथापि पिप्पग्रहणमनर्थकम्?, इत्याह— ॥१६६१३३॥
- ६४४ “विनिमेय०”—ननु पणव्यवहोरित्यत्र विनिमेयद्यूतपणवत् समाहारद्वन्द्वदेकवचनं किमिति वचनभेदाभावाय नोपादीयते?, इत्याह— ॥१६७१२४॥
- ६४५ “करणं च”—ननु च करणं कथं कर्म भवति?, भिन्नौ हि तौ स्वभावौ प्रकृत्यमाणव्यापारस्तत्क्रियमाणता चेति?,— ॥१६७१३८॥
- ६४६ “—अथ करणत्वयुक्तं भवतीति विश्रयते, तदा सर्वद्रव्याणां सर्वकारकशक्तियुक्तत्वात् द्रव्यान्तरवदस्य कर्मत्वात् वचनमिदमनर्थकमिति चेत्?, उच्यते— ॥१६७१३९॥
- ६४७ “—ननु अक्षा दीव्यन्ते इत्यादौ द्वितीयादयः कथं न भवन्ति?, इत्याह— ॥१६७१४३॥
- ६४८ “—अथाऽक्षान् दीव्यतीत्यत्र सत्यपि संज्ञाद्वयसमावेशे परत्वात् करणत्वनिमित्तया तृतीययैव भवितव्यम्?, नैवम्,— ॥१६८१३॥
- ६४९ “—नन्वेवमक्षा दीव्यन्त इत्यत्राऽपि अकर्मकव्यपदेशव्यावृत्त्यर्थत्वात् कर्मसंज्ञा सावकाशा, अक्षा देवना इत्यत्र च अनर्ह्यत्वात् करणसंज्ञा; अक्षान् दीव्यतीत्यत्र तु कर्मकरणत्वस्वभावत्वादक्षादेर्द्वितीयातृतीयाप्राप्तौ स्पर्द्धत्वात् परत्वात्तृतीयैव प्राप्नोति?, इत्याक्षिपति । ॥१६८१२१॥
- ६५० “अधे. शी०”—अथ किमर्थमिदमारभ्यते?, यावताऽकर्मका अपि घातवः सोपसर्गाः सकर्मका भवन्ति ॥१६८१३१॥
- ६५१ “उपान्व०”—ननु स्थानार्थस्यैव वसेर्ग्रहणमिष्यते, तेन ग्रामे तिष्ठतीत्यत्राऽयं ग्राममुपवसतीति प्रयोगः, अस्थानार्थत्वे तु ग्रामे उपवसतीति तदेतत्कथम्?, उच्यते— ॥१६८१३८॥
- ६५२ “कालाऽध्व०”—नन्वेवमनेन व्यासौ कर्मसंज्ञाया “कर्मणि” इति द्वितीयायाः सिद्धौ “कालाऽध्वनोर्व्यासौ” इति सूत्रं किमर्थम्?, इत्याशङ्का तन्मतेनैव परिहरति— ॥१६९१४३॥
- ६५३ “साधक०”—ननु सामग्रीत क्रियासिद्धिस्तत्र कथं किञ्चित्सातिशयोपकारकं किञ्चिद्विपरीतम्?, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हि सर्वेषां सामान्यमवगम्यते तस्मात् क्रियासिद्धौ साधकतमस्य सम्भवो नाऽस्तीति सम्भवं कल्पनया दर्शयति । ॥१७०११९॥

क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
६५४	“साधक०”—यथा-अभिरूपाय कन्या देयेति लौकिके वाक्येऽभिरूपग्रहणं प्रकर्षपरिग्रहार्थं, तत्किमर्थं तमग्रहणम् ? इत्याह—		॥१७०॥२७॥
६५५	” —ननु तरतमयोगो नाऽस्तीति कथं केवलयोः प्रत्यययोः प्रयोगः ? उच्यते—		॥१७०॥३४॥
६५६	“कर्माभि०”—ननु कथं कर्मणः करणत्वम् ? उच्यते—		॥१७०॥४८॥
६५७	” —एवमपि ‘कृत्रिमाऽकृत्रिमयोः कृत्रिमे सम्प्रत्ययो भवति’ इति न प्राप्नोति ? नैवम्,		॥१७०॥४४॥
६५८	” —किञ्च “कर्तुर्व्याप्यं कर्म” इत्युच्यते, कथं च नाम क्रिया क्रियाया व्याप्या स्यादिति चेत् ? अत्रोच्यते—		॥१७०॥४६॥
६५९	” —यद्येवं ग्रामं गच्छतीत्यादौ ग्रामादेरपि क्रियाऽभिसम्बध्यमानस्य सम्प्रदानसंज्ञा-प्रसङ्गः ? नैष दोषः—		॥१७१॥१७॥
६६०	” —ननु घृतः पृष्ठं ददाति, रजकस्य वस्त्रं ददातीत्यादौ दीयमानपृष्ठवस्त्रलक्षणेन कर्मणा घृतो रजकस्य च व्याप्यमानत्वात् सम्प्रदानसंज्ञा कुतो न भवति ? इत्याह—		॥१७१॥२१॥
६६१	“कुट्टुहे०”—ननु कोपः-क्रोध एवेति भेदाभावात् कथं पौर्वापर्यम् ? उच्यते—		॥१७१॥४२॥
६६२	“नोपसर्गा०”—ननु केनाऽत्र द्वितीया ? यदि “लक्षणवीप्येत्यम्भूतेष्वभिना” ॥२१॥३६॥ इति सूत्रेण चेत्,		॥१७२॥१८॥
६६३	” —अथ यदा मैत्रादेर्लक्षणाद्यर्थेनाऽभिना योगस्तदा कुधादीनामुपसर्गपरत्वाभावात् प्रतिषेधाप्रवृत्तेः सम्प्रदानाच्च “लक्षणवीप्ये०” इति द्वितीया वा स्यात् सम्प्रदान-चतुर्थी वा ? इति चेत्, उच्यते—		॥१७२॥२३॥
६६४	“अपाये०”—अथाऽवधिग्रहणं किमर्थम् ? ‘न च ग्रामादागच्छति शकटेन’ इत्यपाये शकटस्याऽपि साधनत्वादपादानसंज्ञा प्राप्नोतीति वाच्यं, ‘धनुषा विध्यति’ इति वत्करणसंज्ञया बाधनात् ।		॥१७२॥२६॥
६६५	” —नन्वागमने कंसपात्री साधनमेव न भवति, भुजिक्रियायां तु साधनमवधिभूता आधारभूता च, तत्र च परत्वादधिकरणसंज्ञेति ? नैवम्,		॥१७२॥२८॥
६६६	” —नन्वत्राऽपि कारकत्वाभावात् संज्ञा न भविष्यति, अपायाभावाच्च, सत्येवाऽवधा-पायो भवतीति पूर्वमुक्तत्वादिति चेत्, उच्यते—		॥१७२॥३१॥
६६७	” —नन्वेवं तर्हि गतियुक्तेषु ‘धावतोऽश्वात् पतितः’ इत्यादिषु अपादानत्वं न स्यात्, ग्रामा-दागच्छति पर्वतादवरोहतीत्यादिष्वेव स्यात्; अत्र हि धावन्नश्वः पातस्य निमित्तं, धावनं च गमनमेवेति नाऽस्त्यश्वस्याऽपायेनाऽनधिष्ठितत्वम् ? नैष दोषः,		॥१७२॥३४॥
६६८	” —न हि गमनमात्रमपायः, किं तर्हि ? सावधिकं गमनं, तच्च देवदत्तकर्तृकं पातरूपं, तेन च धावतोऽप्यश्वस्याऽऽवेशाभावाच्च विरुध्यतेऽपादानसंज्ञेति ।		॥१७२॥३६॥
६६९	” —एवं तर्हि ‘ग्रामान्नागच्छति’ इत्यत्र कथमपादानसंज्ञा ? उक्तस्य गमनस्याऽभावात् ? यस्यां हि सत्यामपादानसंज्ञा स्यात् प्रतिषिध्यतेऽत्र साऽऽगमनक्रिया, नैष दोषः ।		॥१७२॥३७॥
६७०	” —ननु कुशलात् पचतीति कथं कुशूलस्याऽपादानसंज्ञा ? न हि पचनमपायो येनाऽपा-येऽवधिः स्यात् ? इत्याह—		॥१७२॥४१॥
६७१	” —ननु कायसंसर्गपूर्वको विभागो मुख्यो बुद्धिपरिकल्पितस्तु गौणः, ततश्च गौणमुख्य-योर्मुख्यस्यैव परिग्रहात् साकाश्यकेभ्य इत्यादौ कारकशेषत्वात् पट्टी प्राप्नोति ? नैवम्;		॥१७२॥४४॥
६७२	” —ननु यस्याऽऽत्मीया गावस्तस्य कथं यवा ईप्सिताः ? ईप्सितशब्दस्याऽभिप्रेतप-र्यायस्य लोके रूढत्वादिति चेत् ? उच्यते—		॥१७३॥२२॥
६७३	” —यद्येवं कृपादन्धं वारयतीत्यत्र न प्राप्नोति, न हि तस्य कृप एवेप्सितो वारणक्रि-याया आमुमिष्टत्वात् ?—		॥१७३॥२४॥
६७४	” —ननु सतो जन्माऽयोगादसतश्च कर्तृत्वासम्भवात् कथं शृङ्गाच्छरो जायत इत्यादि-प्रयोगः ? नैष दोषः—		॥१७३॥३५॥
६७५	” —नन्वेवं तर्हि विवक्षान्तरे विभक्त्यन्तरं प्राप्नोति यन्नान्तरमनारम्भमाणस्येति चेत् ? सत्यम्;		॥१७४॥२१॥
६७६	“क्रियाऽऽश्र०”—न च कर्तृकर्मणोः कर्तृकर्मसंज्ञाभ्यां वाधितत्वान्मुख्यासम्भवात् गौणस्वीकार इति वाच्यम् ?—		॥१७४॥२८॥
६७७	” —नन्वेवं क्रियाऽऽश्रयस्योपकारकत्वात् क्रियासिद्धौ व्यापाराभावादकारकत्वात् संज्ञाया अभाव इति चेत् ? उच्यते—		॥१७४॥३२॥
६७८	” —नन्वाश्रय आधारो भवति, आश्रयश्च संयोगसमवायाभ्यां, न चाऽवस्थितिक्रिया-श्रयेण घोषादिना गङ्गादेः संयोगसमवायौ स्तः ? नैष दोषः,		॥१७४॥४३॥
६७९	“नाम्नः प्र०”—ननु द्रव्येऽपि नामार्थे विशेषाभावादर्थशब्दस्य वस्तुपर्यायस्याऽपि सम्भवात् ‘वृक्षः’, ‘प्लक्षः’ इत्यत्राऽपि बहुवचनप्रसङ्गः, बहवस्तेऽर्था मूलं स्कन्धः पलाशमिति ?		॥१७५॥१८॥

- क्र० सूत्रम् । शङ्का । पृ० प०
- ६२९ “गतिबो०”—न चैकेन लक्षणेन नियमद्वयस्य कर्तुमशक्यत्वादसिद्धं सति प्राकनस्याऽसत्त्वात् कथं नियमद्वयलाभ इति चाच्यं, अणिग्रहणात् । ॥१६३११॥
- ६३० “भक्षोर्हि०”—ननु हिंसा हि प्राणव्यपरोपलक्षणा, सा च प्राणिन्येव सचेतने सम्भवति, कथमचेतने सस्ये?,— ॥१६३१२॥
- ६३१ ” —ननु पुत्रभक्षणस्य हिंसात्मकत्वादक्षयति पुत्रान् गार्ग्येति कथं कर्मत्वाभावः?, इत्यत आह— ॥१६३१३॥
- ६३२ ” —न ह्यत्र गार्गी स्वयं पुत्रान् भक्षयति, न च तामन्यस्तत्र प्रयुङ्क्ते, अपि त्वेवमाक्रोशति भक्षय पुत्रानिति भक्षिर्न हिंसाविषयः । ॥१६३१४॥
- ६३३ ” —ननु भक्षयति पिण्डी शिशुनेत्यादौ मा भूदनेन कर्मत्वं, भक्षयतेराहारार्थत्वात् पूर्वोक्तकसान्न भवति?, इत्याह— ॥१६३१५॥
- ६३४ “वहेः प्र०”—नन्वेवं विधौ सति नियमो नोपपद्यते?, उच्यते— ॥१६३१६॥
- ६३५ “दृश्यमि०”—ननु विकल्पो हि प्राप्ते कार्ये पक्षे निवृत्तिफलः, अप्राप्ते च प्रवृत्तिफलस्तत्राऽयं प्राप्ते च स्यादप्राप्ते वेत्यत आह— ॥१६३१७॥
- ६३६ “स्मृत्यर्थ०”—ननु कर्माऽविवक्षायां पक्षे मापाणामश्रीयादित्यादिचत् “शेषे” पृष्ठी सिद्धैव तत्किमनेन?, सत्यम्,— ॥१६५१५॥
- ६३७ ” —ननु ब्रह्म कर्म भवति कर्मभावजनितसंबन्धसम्बन्धि च, तत्र कर्माविवक्षायां “शेषे” इत्यनेनैव पृष्ठी,— ॥१६५१२॥
- ६३८ ” —न हि काष्ठसंश्लेषहेतोर्जतुनः संश्लेषे जत्वन्तरमपेक्ष्यमिति तत्राऽपि स्थित्यादिक्रियाऽस्तीत्यपरे । ॥१६५१२॥
- ६३९ ” —न च कर्मभावनिवर्तनेन पृष्ठां प्रवर्तितायामपि तत्कर्मप्रतिपत्तिसम्बन्धिभावो हि ततः प्रतीयते, अतो विवक्षाभेदात् द्वितीयादेः पृष्ठादेस्त्वसिद्धेरयं विकल्पोऽनर्थकः?, इति पृच्छति— ॥१६५१२६॥
- ६४० “जासनाट०”—ननु च जसनटक्रयेति धातवः पठ्यन्ते, तत्र निर्देशे तथैव निर्देष्टव्यम्?, इत्यत आह— ॥१६६१२५॥
- ६४१ ” —ननु चौरस्योक्ताथयतीति कथमाकारो घटादित्वाद्धटादिह्रस्वेनैव भवितव्यम्?,— ॥१६६१२९॥
- ६४२ ” —न च णिग विनाऽस्य कर्माऽस्ति, अकर्मकत्वात्, स च यदि सर्वत्र स्यादस्य घटादित्वमनर्थकमिति कर्माभाव एव न भवति?, इत्याह— ॥१६६१३१॥
- ६४३ ” —ननु हिंसाया रुजारूपत्वात् “रुजार्थस्या०” इत्यनेनैव कर्मविकल्पो भविष्यति किमर्थमिदम्?, यदि जासनाटक्राथेत्याकारार्थं यत्राऽऽकारस्तत्रैव यथा स्यादिति, तथापि पिप्पग्रहणमनर्थकम्?, इत्याह— ॥१६६१३३॥
- ६४४ “विनिमेय०”—ननु पणव्यवहोरित्यत्र विनिमेयधूतपणवत् समाहारद्वन्द्वादेकवचनं किमिति वचनभेदाभावाय नोपादीयते?, इत्याह— ॥१६७१२४॥
- ६४५ “करणं च”—ननु च करणं कथं कर्म भवति?, भिन्नौ हि तौ स्वभावौ प्रकृष्यमाणव्यापारस्तत्क्रियमाणता चेति?,— ॥१६७१३८॥
- ६४६ ” —अथ करणत्वयुक्तं भवतीति विज्ञायते, तदा सर्वद्रव्याणां सर्वकारकशक्तियुक्तत्वात् द्रव्यान्तरवदस्य कर्मत्वात् वचनमिदमनर्थकमिति चेत्?, उच्यते— ॥१६७१३९॥
- ६४७ ” —ननु अक्षा दीव्यन्ते इत्यादौ द्वितीयादयः कथं न भवन्ति?, इत्याह— ॥१६७१४३॥
- ६४८ ” —अथाऽक्षान् दीव्यतीत्यत्र सत्यपि संज्ञाद्वयसमावेशे परत्वात् करणत्वनिमित्त्या वृत्तीयैव भवितव्यम्?, नैवम्,— ॥१६८१३॥
- ६४९ ” —नन्वेवमक्षा दीव्यन्त इत्यत्राऽपि अकर्मकव्यपदेशव्यावृत्त्यर्थत्वात् कर्मसंज्ञा सावकाशा, अक्षा देवना इत्यत्र च अनङ्गत्वात् करणसंज्ञा, अक्षान् दीव्यतीत्यत्र तु कर्मकरणत्वस्वभावत्वादक्षादेर्द्वितीयावृत्तीयाप्राप्तौ स्पष्टत्वात् परत्वाच्चृत्तीयैव प्राप्नोति?, इत्याक्षिपति । ॥१६८१२॥
- ६५० “अधेः शी०”—अथ किमर्थमिदमारभ्यते?, यावताऽकर्मका अपि धातवः सोपसर्गाः सकर्मका भवन्ति ॥१६८१३॥
- ६५१ “उपान्व०”—ननु स्थानार्थस्यैव वसेर्ग्रहणमिष्यते, तेन ग्रामे तिष्ठतीत्यत्राऽर्थे ग्राममुपवसतीति प्रयोगः, अस्थानार्थत्वे तु ग्रामे उपवसतीति तदेतत्कथम्?, उच्यते— ॥१६८१३८॥
- ६५२ “कालाऽध्व०”—नन्वेवमनेन व्याप्तौ कर्मसंज्ञाया “कर्मणि” इति द्वितीयायाः सिद्धौ “कालाऽध्वनोर्व्याप्तौ” इति सूत्रं किमर्थम्?, इत्याशङ्कं तन्मतेनैव परिहरति— ॥१६९१४३॥
- ६५३ “साधक०”—ननु सामग्रीत क्रियासिद्धिस्तत्र कथं किञ्चित्सातिशयोपकारकं किञ्चिद्विपरीतम्?, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हि सर्वेषां सामान्यमवगम्यते तस्यात् क्रियासिद्धौ साधकतमस्य सम्भवो नाऽस्तीति सम्भवं कल्पनया दर्शयति । ॥१७०१२९॥

क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
६५४	“साधक०”—यथा-अभिरूपाय कन्या देयेति लौकिके वास्येऽभिरूपग्रहणं प्रकर्षपरिग्रहाय, तत्किमर्थं तमग्रहणम् ? इत्याह—		॥१७०।२७॥
६५५	” —ननु तरतमयोगो नाऽस्तीति कथं केवलयोः प्रत्यययोः प्रयोगः ? उच्यते—		॥१७०।३४॥
६५६	“कर्माभि०”—ननु कथं कर्मणः करणत्वम् ? उच्यते—		॥१७०।३८॥
६५७	” —एवमपि ‘कृत्रिमाऽकृत्रिमयोः कृत्रिमे सम्प्रत्ययो भवति’ इति न प्राप्नोति ? नैवम्,		॥१७०।४४॥
६५८	” —किञ्च “कर्तुर्व्याप्यं कर्म” इत्युच्यते, कथं च नाम क्रिया क्रियाया व्याप्या स्यादिति चेत् ? अत्रोच्यते—		॥१७०।४६॥
६५९	” —यद्येवं ग्रामं गच्छतीत्यादौ ग्रामादेरपि क्रियाऽभिसम्बध्यमानस्य सम्प्रदानसंज्ञा-प्रसङ्गः ? नैव दोषः—		॥१७१।१७॥
६६०	” —ननु घृतः पृष्ठं ददाति, रजकस्य वस्त्रं ददातीत्यादौ दीयमानपृष्ठवस्त्रलक्षणेन कर्मणा घृतो रजकस्य च व्याप्यमानत्वात् सम्प्रदानसंज्ञा कुतो न भवति ? इत्याह—		॥१७१।२१॥
६६१	“कुहुहे०”—ननु कोपः-क्रोध एवेति भेदाभावात् कथं पौर्वापर्यम् ? उच्यते—		॥१७१।४२॥
६६२	“नोपसर्गा०”—ननु केनाऽत्र द्वितीया ? यदि “लक्षणवीप्स्येत्यम्भूतेष्वभिना” ॥२।२।३६॥ इति सूत्रेण चेत्,		॥१७२।१८॥
६६३	” —अथ यदा मैत्रादेर्लक्षणाद्यर्थेनाऽभिना योगस्तदा कुधादीनामुपसर्गपरत्वाभावात् प्रतिषेधाप्रवृत्तेः सम्प्रदानाच्च “लक्षणवीप्स्ये०” इति द्वितीया वा स्यात् सम्प्रदान-चतुर्थी वा ? इति चेत्, उच्यते—		॥१७२।२३॥
६६४	“अपाये०”—अथाऽवधिग्रहणं किमर्थम् ? ‘न च ग्रामादागच्छति शकटेन’ इत्यपाये शकटस्याऽपि साधनत्वादपादानसंज्ञा प्राप्नोतीति वाच्यं, ‘धनुषा विध्यति’ इति वत्करणसंज्ञया वाधनात् ।		॥१७२।२६॥
६६५	” —नन्वागमने कंसपात्री साधनमेव न भवति, भुजिक्रियाया तु साधनमवधिभूता आधारभूता च, तत्र च परत्वादधिकरणसंज्ञेति ? नैवम्;		॥१७२।२८॥
६६६	” —नन्वत्राऽपि कारकत्वाभावात् संज्ञा न भविष्यति, अपायाभावाच्च, सत्येवाऽवधाव-पायो भवतीति पूर्वमुक्तत्वादिति चेत्, उच्यते—		॥१७२।३१॥
६६७	” —नन्वेवं तर्हि गतियुक्तेषु ‘धावतोऽश्वात् पतितः’ इत्यादिषु अपादानत्वं न स्यात्, ग्रामा-दागच्छति पर्वतादवरोहतीत्यादिष्वेव स्यात्, अत्र हि धावन्नश्वः पातस्य निमित्तं, धावनं च गमनमेवेति नाऽस्त्यश्वस्याऽपायेनाऽनधिष्ठितत्वम् ? नैव दोषः,		॥१७२।३४॥
६६८	” —न हि गमनमात्रमपायः, किं तर्हि ? सावधिकं गमनं, तच्च देवदत्तकर्तृकं पातरूपं, तेन च धावतोऽप्यश्वस्याऽऽवेशाभावाच्च विरुध्यतेऽपादानसंज्ञेति ।		॥१७२।३६॥
६६९	” —एवं तर्हि ‘ग्रामान्नागच्छति’ इत्यत्र कथमपादानसंज्ञा ? उक्तस्य गमनस्याऽभावात् ? यस्या हि सत्यामपादानसंज्ञा स्यात् प्रतिषिध्यतेऽत्र साऽऽगमनक्रिया, नैव दोषः ।		॥१७२।३७॥
६७०	” —ननु कुशलात् पचतीति कथं कुशूलस्याऽपादानसंज्ञा ? न हि पचनमपायो येनाऽपा-येऽवधिः स्यात् ? इत्याह—		॥१७२।४१॥
६७१	” —ननु कायसंसर्गपूर्वको विभागो मुख्यो बुद्धिपरिकल्पितस्तु गौणः, ततश्च गौणमुख्य-योर्मुख्यस्यैव परिग्रहात् साकार्यकस्य इत्यादौ कारकशेषत्वात् पृष्ठी प्राप्नोति ? नैवम्,		॥१७२।४४॥
६७२	” —ननु यस्याऽऽत्मीया गावस्तस्य कथं यवा ईप्सिताः ? ईप्सितशब्दस्याऽभिप्रेतप-र्यायस्य लोके रूढत्वादिति चेत् ? उच्यते—		॥१७३।२२॥
६७३	” —यद्येवं कृपादन्धं वारयतीत्यत्र न प्राप्नोति, न हि तस्य कृप एवेप्सितो वारणक्रि-यया आशुमिष्टत्वात् ?		॥१७३।२४॥
६७४	” —ननु सतो जन्माऽयोगादसतश्च कर्तृत्वासम्भवात् कथं शृङ्गाच्छरो जायत इत्यादि-प्रयोगः ? नैव दोषः—		॥१७३।२५॥
६७५	” —नन्वेवं तर्हि विवक्षान्तरे विभक्त्यन्तरं प्राप्नोति यत्नान्तरमनारम्भमाणस्येति चेत् ? सत्यम्;		॥१७३।२९॥
६७६	“क्रियाऽऽश्र०”—न च कर्तृकर्मणोः कर्तृकर्मसंज्ञाभ्यां बाधितत्वान्मुख्यासम्भवात् गौणस्वीकार इति वाच्यम् ?		॥१७३।२८॥
६७७	” —नन्वेवं क्रियाऽऽश्रयस्योपकारकत्वात् क्रियासिद्धौ व्यापाराभावादकारकत्वात् संज्ञाया अभाव इति चेत् ? उच्यते—		॥१७३।३२॥
६७८	” —नन्वाश्रय आधारो भवति, आश्रयश्च संयोगसमवायाभ्यां, न चाऽवस्थितिक्रिया-श्रयेण घोषादिना गङ्गादेः संयोगसमवायौ स्तः ? नैव दोषः,		॥१७३।३३॥
६७९	“नाम्नः प्र०”—ननु द्रव्येऽपि नामार्थं विशेषाभावादर्थशब्दस्य वस्तुपर्यायस्याऽपि सम्भवात् ‘वृक्षः’, ‘लक्ष्म’ इत्यत्राऽपि बहुवचनप्रसङ्गः, बहवस्तेऽर्थाः मूलं स्कन्धः पलाशमिति ?		॥१७५।१८॥

- क्र० सूत्रम् । शङ्का । पृ० प०
- ६८० “नास्त्र प्र०”—एवं तर्हि येष्वर्थेषु स्यादयो विधीयन्ते, तेषु केषु च स्यादयो विधीयन्ते ?, एकत्वादिषु । ॥१७५।१९॥
- ६८१ ” —न च स्कन्धशाखाफलपलाशादिरूपेणाऽनेकत्वेऽपि घृक्षादिशब्दरूपं तथाऽऽचष्ट इति न तस्य सा संख्या, इति बहुवचनं न भवतीति मनस्यनुसन्धयाऽऽह— ॥१७५।२०॥
- ६८२ ” —यद्येवं ‘एकद्विवहौ’ इति प्रकृत्यर्थविशेषणत्वात् कः प्रत्ययार्थः ?, त एवेति ब्रूमः; ‘अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थं भवन्ति’ इति । ॥१७५।२२॥
- ६८३ ” —यद्येवं बहुत्वस्यैकत्वात् सर्वदा वहाविति भाव्यं, कथं बहुषु बहुवचनमिति प्रयोगः ?, उच्यते— ॥१७५।३०॥
- ६८४ ” —ननु लौकिकादेव प्रयोगादेकत्वादिषु एकवचनादीनां व्यवस्था भविष्यति किमर्थमेकद्विवहाविति ?, उच्यते— ॥१७५।३६॥
- ६८५ ” —अथ शास्त्रेऽनुपाचोऽप्यर्थः प्रयोगादेव व्यवस्थाप्यते, यतः स्यादयस्तावत्स्वार्थं विधीयमानाः पञ्चको नामार्थ इति दर्शने संख्यायां सिद्धाः । ॥१७५।३८॥
- ६८६ ” —न चैवं ब्राह्मणाः सङ्ग इत्यत्र ब्राह्मणसङ्गरूपस्याऽर्थस्य ब्राह्मणरूपेण बहुत्वात् सङ्गरूपेण चैकत्वात् संख्याद्वययोगाद्वचनव्यतिकरप्रसङ्ग इति वाच्यम्, ॥१७५।४२॥
- ६८७ ” —ननु नामाऽर्थव्यतिरेकेण अन्येषामेकत्वादीनां विशेषणीभूतानामभावादेक इत्यादौ प्रथमाया अभावः ?, अत्रोच्यते— ॥१७५।४२॥
- ६८८ ” —एवं तर्हि षष्ठी प्राप्नोति, कर्माद्यभावो हि शेषः ?, ॥१७५।४३॥
- ६८९ ” —ननु चाऽव्ययेभ्य एकत्वाद्यभावाद्नेन प्रथमा न प्राप्नोति ?, सत्यम्; ॥१७५।४४॥
- ६९० ” —नन्वर्थमात्रे प्रथमेत्युक्तत्वान्मात्रग्रहणस्य चाऽधिकार्थव्यवच्छेदकत्वाद्दीरः पुरुष इत्यादौ सामानाधिकरण्यात् विशेषणविशेष्यभावस्याधिकस्य प्रतीतेः प्रथमा न प्राप्नोति ?,— ॥१७५।४५॥
- ६९१ ” —ननु वर्णस्य निरर्थकत्वाद्भानुवाक्यार्थयोश्चाऽसत्त्वरूपत्वात् संख्यायाः सत्त्वधर्मरूपत्वेन तद्व्यवभावात् सत्त्ववाचिनो नास्त्र एव प्रथमा भविष्यति, किं नास्त्र इत्यनेन ?, उच्यते— ॥१७५।४६॥
- ६९२ ” —न चाऽत्र काकदन्तपरीक्षायामादरः, किमत्र युक्तं दर्शनम् ?,— ॥१७५।४७॥
- ६९३ ” —यदा त्वयं न्यायोऽङ्गीक्रियते ‘संख्याकर्मादयो विभक्तिवाच्याः स्त्रियां वाऽभिधेयायां स्त्रीप्रत्ययः’ तदा विभक्तिमन्तरेण स्त्रीप्रत्ययेन च विना कथं संख्यादिप्रतिपत्तिः स्यात् ?,— ॥१७५।४८॥
- ६९४ ” —ननु च प्रत्ययमन्तरेणाऽपि वर्तन्ते—गर्गाः, वत्साः, विदाः, उर्वा इति; तत्र यदि संख्याकर्मादयो विनैव विभक्तेर्नास्त्रोऽपि प्रतीतेर्नामार्थ इति व्यवस्थाप्यते, अपत्यार्थोऽपि तर्हि कदाचित्प्रकृतिमात्रादेव प्रतीयत इति सोऽपि प्रकृत्यर्थ एव स्यात् । ॥१७५।४९॥
- ६९५ “आमन्त्र्ये”—नन्वामन्त्रणविषयस्य देवदत्तादेः सत्त्वभूतस्याऽऽमन्त्र्यस्यैकत्वादिसंख्यायोगाच्चत्वाच्चिनो नास्त्रः पूर्वैणैव प्रथमा भविष्यति किमर्थमिदमारभ्यते ?, इत्याह— ॥१७५।५०॥
- ६९६ “गौणात्स०”—नन्वन्तराशब्दः स्त्रियाभावन्तोऽप्यस्ति अव्ययं च, एवमन्तरेणेत्यपि अन्तराशब्दात् तृतीयस्या भवत्यव्ययं च; तत्र विशेषानुपादानात् सामान्येनोभयस्यापि ग्रहणं कुतो न भवति ?, इत्याह— ॥१७५।५१॥
- ६९७ ” —नन्वन्तराऽन्तरेणशब्दामिधेयस्य मध्यस्याऽवधिसव्यपेक्षत्वाद्गार्हपत्याहवनीययोर्मध्यस्य चाऽऽधारशक्तिप्राधान्यस्य मध्यस्य ताम्यामभिधेयत्वाच्चस्य च प्रधानभूताधेयाधीनत्वाच्च यथा मध्यावच्छेदकाभ्यां षष्ठीमपोद्य द्वितीया विधीयते, तथा मध्येनाऽवच्छिद्यमानादाधेयादपि कुतो न विधीयते ?, इत्याह— ॥१७५।५२॥
- ६९८ “लक्षण०”—नन्वभ्यादयः सम्बन्धद्योतका, तत्कसिन्नत्र सम्बन्धेऽभि. ?, इत्याह— ॥१८०।१९॥
- ६९९ ” —अथ कथं यदत्र मामभिप्राय इत्यत्र द्वितीयाप्रयोगः ?, अत्राऽभिरस्तिना युक्त उपसर्गोऽत एव “प्रादुरूपसर्गो” ॥२।३।५८॥ इत्यस्ते. पत्वम् ?, उच्यते— ॥१८०।२१॥
- ७०० ” —ननु “लक्षणवीप्स्येत्यम्भूतेषु” इति बहुवचनं किमर्थम् ?, लाघवार्थमेकवचनमेव निर्दिश्यताम् ?, इत्याह— ॥१८०।२४॥
- ७०१ “हेतुसहा०”—ननु तुल्ययोगाद्यर्थे सहादय एव शब्दा वर्तन्ते न पर्वतादिशब्दा इति कथं ततो द्वितीया ?, इत्याह— ॥१८०।३६॥
- ७०२ ” —ननु हेतोरपि लक्षणत्वात् तत्र पूर्वैणैव द्वितीया भविष्यति, किं हेतुग्रहणेन ?, नैवम्, ॥१८०।४१॥
- ७०३ ” —ननु लक्षणेन हेतुव्याप्तौ हेत्वहेतुविषयत्वाद्द्वितीयस्य नाऽवश्यं तदेव लक्षणं येन पुनः पुनर्लक्ष्यते, किं तर्हि ?, यत्सदृशं निमित्तत्वाय कल्पते, तदपि लक्षणं भवति । ॥१८०।४३॥

क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
७०४	"कर्मणि"—अथेह कस्मान्न भवति-क्रियते कटः ? , कृतः-कटः ? , शतेन कीतः-शत्यः पटः ? , आरूढो यानरो यं स आरूढवानरो वृक्ष इति ?,—		॥१८११६॥
७०५	"—यद्येवं कटं करोति भीष्ममुदार दर्शनीयमिति भीष्मादिविशेषणविशिष्टस्य कटस्य करोतिक्रियाया व्याप्यत्वात् कर्मत्वं तच्च कटशब्दादेवोत्पन्नया द्वितीययाऽभिहितमिति भीष्मादिभ्यो द्वितीया न प्राप्नोति ? , यथा कृतः कटो भीष्म उदारो दर्शनीय इति करोते. कप्रत्ययेनेति ? , नैवम्,—		॥१८११८॥
७०६	"उत्कृष्टे०"—ननु "लक्षणवीप्स्ये०" इत्यादिसूत्रचतुष्टयी किमर्थमारभ्यते ? , यतोऽप्रयुज्यमानां काश्चित्सकर्मिकां क्रियामाश्रित्य "कर्मणि" इत्यनेनैव द्वितीया भविष्यति ?,—		॥१८११९॥
७०७	"कर्मणि"—ननु दर्शितेषु नोक्तार्थत्वेन मत्वर्थीयाद्यभावः किन्त्वन्यथा, तथाहि—		॥१८११३६॥
७०८	"—न चाऽप्राऽप्यपवादत्वात् आदयः शवादीनां वाधका इत्यन्यथासिद्धत्वादुक्तत्वस्य दृष्टान्ताभावाददेतुत्वमिति वाच्यम् ।		॥१८११४३॥
७०९	"—अत्राऽनभिहिताधिकारवादी प्रत्यवतिष्ठते-किमिहाऽकर्तव्योऽनभिहिताधिकारः क्रियते ? , आहोस्विदपूपौ द्वावित्यभिहितेऽपि प्रत्ययेन द्वित्वे द्विशब्दप्रयोगदर्शनात् आदिभिरभिहिते शवादिनिवृत्त्यर्थोऽन्यत्र कर्तव्य. सन्न क्रियत इति ? , उच्यते—		॥१८११४५॥
७१०	"—न च "कर्मणि" इत्यादौ कर्मादीनां श्रुतत्वात्तेषामेव विभक्त्यर्थत्वेन भाव्यमिति वाच्यम् ?,—		॥१८२११०॥
७११	"—न च वृक्षः, वृक्ष इत्यादौ अनभिहिते सावकाशत्वात् कथं वचनसामर्थ्यमिति वाच्यम् ?,—		॥१८२११७॥
७१२	"—ननु च यदि कर्मादयो विभक्त्यर्थास्तदा यथोक्तं-कृतः कटो भीष्म इत्यादौ केन कर्मणोऽभिहितत्वाद्वितीया न भवति, एवं कटं करोति भीष्ममित्यादौ भीष्मादिविशेषणविशिष्टात् कटादुत्पन्नया द्वितीययोक्तत्वात् भीष्मादिभ्यः कर्मणि द्वितीयस्या अप्रसङ्गः, इत्येकं सन्धित्सतोऽन्यत्रच्यवत इति ।		॥१८२११८॥
७१३	"—ननु यद्यपि गुणद्रव्ययोः करोतिना सम्बन्धस्तथापि व्याप्यमित्यत्र विशदश्चुत्या प्रकर्षस्याऽऽश्रितत्वात् द्रव्यस्यैव क्रियान्तरे उपयोक्ष्यमाणत्वात् व्याप्यत्वात् कर्मत्वं न गुणस्येति कथं भीष्मादिभ्यो द्वितीया ? , उच्यते—		॥१८२१२५॥
७१४	"—ननु यस्याऽपि 'कर्मादयो विभक्त्यर्थाः' तस्याऽप्ययं दोषो यत्तस्तेनाऽपि "कर्मणि" इत्यादीनामेकद्विचहावित्यनेनैकवाक्यताऽभ्युपगमस्तस्या, गुणप्रधानभाव एव तस्य तु विपरीतः ।		॥१८२१३२॥
७१५	"—एवं चैकत्वादिविशिष्टस्य कर्मणो वाचिका द्वितीया, तच्च नास्त्रैवाऽभिहितं, नामार्थव्यतिरेकेणान्येषामेकत्वादीना विशेषणीभूतानामभावादेक इत्यादौ भवतोऽपि प्रथमाया अभाव इति ? , अत्रोच्यते—		॥१८२१३३॥
७१६	"—अन्या अपि कस्मान्न भवन्ति ? , कर्मादीनामभावात्, कर्मण्येव द्वितीयेत्येवं द्वितीयादीना नियतत्वात्, तर्हि षष्ठी प्राप्नोति कर्माद्यभावस्य शेषरूपत्वात् ? , नैवम्,—		॥१८२१४१॥
७१७	"—यदि वा द्रव्यस्य क्रियास्तु साक्षादुपयोगादस्तु कटस्यैव कर्मत्व, भीष्मादीनां तु 'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या' इति नियमात्,—		॥१८३११॥
७१८	"—कथं तर्हि कृतं पश्य ? , आहृतमाहर ? , कर्त्रा क्रियते ? , दात्रेण लुनाति ? , दानीयाय ददाति ? , भीमाद्विभेति ? , प्रासादे प्रसीदति ? , शयने शेते ? , इत्यादिषु कादिभिरभिहितेषु कर्मादिषु द्वितीयादयो भवन्ति ? , उच्यते—		॥१८३१५॥
७१९	"—ननु द्रव्यस्य कारकत्वात्तस्य चैकत्वात् युगपदुद्भूतत्वादिविरुद्धधर्मासम्भवस्योक्तत्वात् कथमेष परिहार इति ? , उच्यते—		॥१८३१३६॥
७२०	"—कथं पुनर्भाष्यते शक्तिः कारकं न द्रव्यमिति चेत् ? , उच्यते—		॥१८३१३७॥
७२१	"—नन्वेकस्याऽपि द्रव्यस्य स्वरूपादिभिन्नक्रियायां व्यापारवत्तयाऽनेककर्मादिशक्त्यधिष्ठानत्वात्तदभिधानाय च द्वितीयादिप्रवृत्तेः प्रतिपादितत्वादोदनः पक्त्वा भुज्यत इति भुजिप्रत्ययेन कर्मशक्तेरभिहितत्वेऽपि पचिप्रत्ययेनाऽनभिहितादोदनाद्वितीया कस्मान्न भवति ? , इत्याह—		॥१८३१४१॥
७२२	"—ननु गौणान्नामः कर्मणि द्वितीयेत्युक्तं, अज्ञां नयति ग्राममित्यादौ तु ग्रामाद्यपेक्षयाऽजादेः प्रधानत्वात् न ततो द्वितीया प्राप्नोति ? , इत्याह—		॥१८३१४५॥
७२३	"—ननु यदि त्यादिरुत्तद्धितसमासैरभिहितत्वात् कर्मादिषु द्वितीयादयो न भवन्तीत्युच्यते, तदा कृतपूर्वा कटमित्यादौ कृतादिशब्देनैककटादिकर्मणोऽभिहितत्वात् कथं द्वितीयेति ? , उच्यते—		॥१८३१४६॥
७२४	"—अपि च करोतेर्व्याकरणेनाऽभिसम्बन्ध इति द्वितीया भवति ।		॥१८४१२०॥



क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
७२५	“क्रियावि०”—ननु रूपाद्युपाधिवत् क्रिया द्रव्यस्यैवोपाधिः, न चोपाधेरुपाध्यन्तरसम्भवः; ‘निर्गुणा गुणाः क्रिया च’ इति वचनात् । तत्कथं क्रियाया विशेषणसम्भवः ? सत्यमेतत्किन्तु, ॥१८४।२६॥		
७२६	” —ननु चाऽसत्त्वभूता क्रिया, तदुपाधिस्तु सुतरामसत्त्वभूतः; तत्कथं सत्त्वाभिधायिना नाम्ना प्रतिपद्यत इति ? उच्यते— ॥१८४।३१॥		
७२७	” —कथं पुनरसत्त्वभूतोऽर्थः सत्त्वरूपेण प्रकाश्यत इति चेत् ?,— ॥१८४।३३॥		
७२८	” —ननु ‘क्रियाव्ययविशेषणे’ इति लिङ्गाङ्कारिकावचनान्वयपुंसकत्वमेकत्वं च क्रियाविशेषणानामभिहितं, तत्र “नाम्नः प्रथमै०” इति सूत्रेण यथा प्रथमा विहिता समेभ्योऽव्ययेभ्यस्तथा क्रियाविशेषणादपि प्रथमा । ॥१८४।३६॥		
७२९	” —ननु शोभनं पकेत्यादौ “कर्मणि कृतः” इत्यनेन कर्मणि पठ्युच्यते, शोभनमिति क्रियाविशेषणत्वेन कृदन्तस्य कर्म, तद्धि कृदन्तधातुवाच्यायाः क्रियाया विशेषणम् ?,— ॥१८४।४१॥		
७३०	” —न च सा क्रियाऽऽत्मन एव कर्माऽपि न करोतीति क्रियान्तरस्य, सा यस्या क्रियायाः कर्म तस्या एवेदमपि कर्म तत्सामानाधिकरण्याद्व्ययस्य कर्मत्वमिति क्रियाविशेषणे षष्ठी न भवति ? नैवम्, ॥१८४।४२॥		
७३१	” —नन्वस्तु प्रथमा, प्रथमा-द्वितीयैकवचनयो रूपं प्रत्यविशेष इत्युक्तत्वादोषाभावात् ? नैवम्; ॥१८४।४७॥		
७३२	“कालाऽध्व०”—न च कालाऽध्वनोः कर्मत्वेन द्वितीययैव भाव्यं किमर्थमेतदिति वाच्यं “कालाऽध्वभावदेशं चाऽकर्म चाऽकर्मणाम्” इत्यकर्मकधातुसम्बन्धित्वेनाऽऽधारस्य कर्मसंज्ञाविधानात् सकर्मकधातुसम्बन्धित्वेऽनयोरुक्तेन प्रकारेण षष्ठी सप्तमी वा स्यान्न कर्मत्वम् ? इत्याह— ॥१८५।२९॥		
७३३	“सिद्धौ०”—ननु यदि क्रिया सिद्धिं व्यभिचरेत्तदा युज्येत एतद्विशेषणं क्रियाव्याप्तेः, न च काचित् क्रियाऽपरिसमाप्ताऽस्ति ? सत्यमेतत्, ॥१८५।३५॥		
७३४	“हेतुकर्तृ०”—ननु योग्यस्य हेतुत्वे सर्वमेव कारकं हेतुरेव स्यात्, अयोग्यस्याऽकारकत्वात्, तत्र कर्तृकरणयोस्तृतीयाविधानमनर्थकम् “हेतु०” इत्येव गतत्वात् ?,— ॥१८६।१५॥		
७३५	” —कर्मादौ च यद्यपि विभक्त्यन्तरं विहितं तथापि यत्र कारकत्वमेव भवति न कर्मादिविशिष्टरूपता तत्राऽपवादाभावात् तृतीया प्राप्नोति-नटस्य शृणोति, ग्रन्थिकस्य शृणोतीति ? उच्यते— ॥१८६।१६॥		
७३६	” —ननु यूपाय दार्वित्यादौ तादर्थ्यलक्षणे सम्बन्धे हेतुहेतुमद्भावस्य प्रकारभूते प्रतिपाद्ये दारुणो हेतोस्तृतीया कस्माच्च भवति ? उच्यते— ॥१८६।२३॥		
७३७	” —ननु कमण्डलवादिलक्षणस्य हेतुत्वमप्यस्तीति तद्वारेणैवं भविष्यति ? उच्यते— ॥१८६।२९॥		
७३८	” —न चेह तत्प्रतीतिः केनचिदभिधीयते । ॥१८६।३०॥		
७३९	” —अत्र विद्योतनं नाम प्रकारस्तमापन्नस्य कस्यचिन्न वृक्षो लक्षणं, “लक्षणवीप्स्येत्यभूते०” इत्यादिना प्रत्यादियोगे लक्षणे द्वितीयस्या अपवादरूपाया विद्यमानत्वात् कथं प्रत्युदाहरणमिति चेत् ? सत्यमेवैतत्; ॥१८६।३१॥		
७४०	” —न च प्रत्ययलक्षणेन “अधातुविभक्ति०” इति नामसंज्ञाप्रतिषेधः, “नाऽऽमन्त्रये” इति नलोपप्रतिषेधश्चापकात् । ॥१८६।३६॥		
७४१	” —न च तृतीयस्या लुप् प्राप्नोति समासनामावयवत्वात्, कृते समासे तस्या उत्पादात् ? नैव दोषः— ॥१८६।३६॥		
७४२	” —न चाऽत्रेत्यभूतस्य लक्षणं पृथग्भूतं, तथा ह्ययं प्राधान्येन लक्षणं निर्दिशति । ॥१८६।३८॥		
७४३	” —ननु कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीदित्यादौ कमण्डलुना सह छात्रमद्राक्षीदिति सहाय्ययोगोपपत्तेः “सहार्थे” इति तृतीया सिध्यति, तदर्थमनर्थकमित्यभूतग्रहणम् ? इत्याह ॥१८६।४१॥		
७४४	” —ननु धान्येनाऽर्थो धान्येनाऽर्थीत्यादौ क्रियापदाश्रवणात् कर्तृकरणयोरभावात् षष्ठी प्राप्नोति ? इत्याह— ॥१८६।४३॥		
७४५	” —ननु च विद्यमानतायामपि तुल्ययोगोऽस्त्येव, सत्तया सहोभयोः सम्बन्धात्, तथाहि-सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभीति सहैव दशभिः पुत्रैः सद्भिरिति शक्यं प्रतिपत्तुं, तत्र विद्यमानता चेति तुल्ययोगात् किं पृथग्गुपादीयते ? उच्यते— ॥१८६।४६॥		
७४६	“सहार्थे”—ननु पुत्रेण सहाऽऽगत इत्यत्र प्रधानकर्तरि कस्य विधानाच्चत्रकेन शब्देन मिश्रकक्षत्वाहणप्रधानयोः कर्त्रोरभिधानासम्भवात् प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययात् प्रधानस्यैवाऽभिधानं न्याय्यमित्यप्रधानस्य प्रतीयमानगमिक्रियापेक्षकर्तृत्वाश्रयेण सिद्धा तृतीया । ॥१८७।१५॥		
७४७	” —ननु प्रधानयोरेव कर्तृकर्मणोः षष्ठीत्यप्रधाने कर्तरि तृतीयैव भविष्यति ? नैवम्; ॥१८७।१९॥		
७४८	” —ननु तिलैर्मिश्रीकृत्य माषा उच्यन्त इत्यन्तरङ्गत्वात् पूर्वं मिश्रणक्रियाया तिलानां करणत्वात् पश्चाद्वपनक्रियाया कर्मत्वाच्चत्र करण इत्यनेन सिद्धा तृतीया ? सत्यम् । ॥१८७।२१॥		

- ७४९ “सहाय्ये” — ननु ‘उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्वलीयसी’ इति यथा गाः स्वामी व्रजति-अत्र व्रजिक्रियायां गवां कर्मत्वात् तन्निवन्धना द्वितीया, “स्वामीश्वरा०” इति प्राप्ते उपपदविभक्ती पष्ठीसप्तम्यौ बाधित्वा प्रवर्तते । ॥१८७।३१॥
- ७५० ” — अथ शिष्येणोपाध्यायस्य गौरित्यत्र गवापेक्षया शिष्योपाध्यायौ द्वावपि गुणौ, उपाध्यायापेक्षया तु शिष्यो गुणः, उपाध्यायस्य शब्देन गवा सम्बन्धात् शिष्यस्य तु सहयोगान्यथानुपपत्त्या, तत्राऽसति गौणादित्यधिकारे उभाभ्यामपि शिष्योपाध्यायाभ्या पष्ठीं बाधित्वा तृतीया स्यादिति ?, नैवम्; ॥१८७।३३॥
- ७५१ “यद्भेदे०” — ननु च प्रकृत्या दर्शनीयः, प्रायेण वैयाकरण इति युक्तः प्रयोगः, दर्शनीयत्वं हि प्राकृतं वैकृतं चाऽस्ति वैयाकरणत्वं प्रायिकमन्यच, तत्रेतरव्युदासार्थं प्रकृत्या प्रायेणेति चाऽर्थवत् । ॥१८८।११॥
- ७५२ ” — काण इत्यादिप्रयोगे तु अक्षणेत्यादिरव्यभिचारेण प्रतीतेरयुक्तः प्रयोगोऽर्थस्य गतत्वात् ?, उच्यते— ॥१८८।१२॥
- ७५३ ” — यदि तद्वदिति नोपादीयते तदाऽत्राऽपि स्यात् ?, काणशब्देन हि अक्षिभेदेनाऽक्षि आप्यायते, तद्वद्ग्रहणे तु काणशब्देन नेहाऽक्षिमान् आप्ययत इति न भवति । ॥१८८।१८॥
- ७५४ ” — न च गौणादित्यधिकारादिह न भवतीत्याशङ्कनीयम् । ॥१८८।१९॥
- ७५५ ” — ननु किमर्थमिदमारभ्यते ?, यावता ‘अक्षणा काण’ इत्यादौ कृतभवत्यादिक्रियाध्याहारेणाऽक्षिशब्दादिभ्यः कर्तृकरणलक्षणैव तृतीया भविष्यति ?, इत्याह— ॥१८८।२१॥
- ७५६ ” — ननु मा भूत्कर्त्तादौ तृतीया, इत्थम्भूतलक्षणत्वादक्ष्यादेर्भविष्यति ?, यदाह— “इत्थम्भूतस्य काणस्य, लक्षणं ह्यक्षि बुध्यते । ततस्तृतीया तेनैव, तत्र सूत्रेण सिध्यति” ॥१॥ अत्रोच्यते— ॥१८८।२४॥
- ७५७ “कृताद्यैः” — कृताद्यो न गर्गादिगणवत् सन्निविष्टा एव केचन ?, किं तर्हि ?, कृतप्रकाराः शक्तितोऽवसेया इत्याह— ॥१८८।२८॥
- ७५८ ” — नाऽयं प्रश्ने किं शब्दः ?, किं तर्हि ?, निषेधे । यद्वा प्रश्नार्थवृत्तिरेवाऽयं, प्रक्रमानु निषेधप्रतीतिः सामर्थ्याक्षितलक्षणया न तु शब्दादिति युक्ततरः प्रश्नः । ॥१८८।३०॥
- ७५९ “काले भा०” — ननु यदि नक्षत्रवाचिन इति शब्दो लक्षणत्वान्न तदानीमसौ नक्षत्रं वक्ति, नक्षत्रोपाधिकं कालं, रूपसामान्याच्च तत्त्वाध्यवसायः । ॥१८८।३३॥
- ७६० “प्रसितो०” — ननु प्रसितशब्दस्य गुणवचनस्य कियार्थस्य च सम्भवादुभयार्थस्याऽपि ग्रहणप्रसङ्गो, न च गुणवचनस्य तृतीयेष्यते, न च नियामकमस्ति ?, इत्याह— ॥१८९।२६॥
- ७६१ ” — ननु समाहारद्वन्द्वमाश्रित्य ‘प्रसितोत्सुकाववद्धेन’ इति निर्देष्टव्ये किमर्थो बहुवचननिर्देशः ?, इत्याह— ॥१८९।२८॥
- ७६२ “व्याप्ये द्वि०” — ननु वीप्सायां तृतीयाविधानं, न च वीप्सा तृतीयान्तस्य दृश्यते, तत्कथमिदम् ?, इत्याह— ॥१८९।३३॥
- ७६३ “समो ह्यो०” — नन्वत्र मातरमिति व्याप्यमस्येव, तत्कथमिदं व्याप्य इत्यस्याऽनुवर्तमानस्य स्यात्प्रत्युदाहरणमिति ?, अथ स्वरेणेत्यत्र न भवतीति चेन्न-अत्र तृतीयायाः सिद्धत्वात् ?, इत्याह— ॥१८९।३२॥
- ७६४ “दामः सं०” — ननु सम इति परदिग्योगलक्षणा पञ्चमी, ततश्च “पञ्चम्या निर्दिष्टे परस्य” तच्चाऽनन्तरस्येति, “समो ह्योऽस्मृतौ” इत्यत्र व्यवधाने सति न भवति, तत्कथं सम्प्रयच्छत इति प्रशब्देन व्यवधाने विधिः ?, इत्याह— ॥१८९।२६॥
- ७६५ ” — नन्वनेन ब्राह्मणेन दानं प्रवृत्तमित्यादिवत् सम्प्रदानस्य करणत्वविवक्षायां ‘दास्या सम्प्रयच्छते’ इत्यादौ तृतीयोपपत्तेः किमर्थमिदमारभ्यते ?, — ॥१८९।३१॥
- ७६६ ” — यद्वा सहाय्ये इयं तृतीया, तथाहि-दास्यै स्वयं धनं ददाति साप्यात्मानं तस्यै ददातीति दानपूर्वके वा सम्मोगे दाम् वर्तते, दत्त्वा दास्या सह सम्भुक्ते इति । एवं चाऽत्र क्रियाव्यतिहारोपपत्तेस्तद्द्वारेणैव आत्मनेपदम् । अत्रोच्यते— ॥१८९।३२॥
- ७६७ “रुचिह्र०” — कथं रोचते मम घृतं सद मुद्गैः शालयो दधिशर कुकुराश्च ?, घृतमेव ममाऽपि रोचते घृतशीतं च सशर्करं पयः ?, — ॥१८९।३९॥
- ७६८ “तादर्थ्ये” — ननु तस्यै इदं तदर्थमिति सत्या चतुर्थ्यां समासः, सति च समासे तदनुवादेन चतुर्थ्याविधानमितीतरेतराभ्यादप्रसिद्धिर्निर्देशस्येति ?, उच्यते— ॥१८९।१८॥
- ७६९ “रुचिह्र०” — ननु भयत्रैकवचननिर्देशोऽपि साम्याद्यथासंख्यं भविष्यति किं बहुवचनेन ?, इत्याह— ॥१८९।२८॥
- ७७० ” — ननु भूत्रयवागूशब्दोर्द्ध्वोरपि सम्पद्यत इति क्रियया सह सम्बन्धाद्गौणत्वाभावात् कथं भूत्रशब्दाच्चतुर्थी ?, उच्यते— ॥१८९।४०॥

- क्र० सूत्रम् । शङ्का । पृ० प०
- ७७१ “प्रत्यनो०”—ननु ‘श्रुचाडोऽर्थिनि’, ‘गुणाऽनोश्चाऽऽख्यातरि’, इत्येव किं न विन्यस्यते ? एवं हि विन्यस्यमाने प्रतेरिति पूर्वणोत्तरेण वाऽनुवृत्त्याऽभिसम्बन्धाद्विः प्रतिग्रहणं न कर्तव्यं भवति, चर्णेन चैकेन लाघवमिति ? नैवम्,— ॥१९२।३२॥
- ७७२ “यद्दीक्ष्ये०”—ननु राधीक्ष्योर्द्विदशनयोर्वर्तमानत्वात् कथं देवादिनिरूपणे वृत्तिः ? उच्यते— ॥१९२।३१॥
- ७७३ “—ननु यद्गणान्मा भूत् शुभाशुभाच्चतुर्थी, यस्य तद्वैवं ततो मैत्रात् कस्मात् भवति ? भवति ह्यत्र मैत्रो दैववान्, उच्यते— ॥१९२।३५॥
- ७७४ “उत्पातेन०”—ननु कपिलादिविद्युद्भिः वातादीनां जन्यमानत्वाच्चेभ्यस्तादर्थ्य एव भविष्यतीति चेत् ? न,— ॥१९३।२३॥
- ७७५ “तुमोऽर्थे०”—यद्येवं पाकेनेत्यादौ क्रियायाः क्रियार्थाया उपपदभूताया विद्यमानत्वात् प्रत्ययस्य च भाववचनत्वात्ततः कुतो न चतुर्थी ? सत्यम्,— ॥१९४।१६॥
- ७७६ “—ननु च तुमर्थ इति समासनिर्देशो मात्रालाघवाय कुतो न कृतः ? इत्याह— ॥१९४।२०॥
- ७७७ “गतेर्नवा०”—कथं हि शब्दानां साधुत्वं युक्तिवलेन शक्य व्यवस्थापयितुम् ?,— ॥१९४।३३॥
- ७७८ “मन्यस्या०”—ननु नावन्नयोरत्यन्तोपकारकत्वात् कथमतिकृत्सनं गम्यते ? इत्याह— ॥१९५।२९॥
- ७७९ “—अथ ‘अनावादेः’ इत्येकवचनेऽपि सिध्यति बहुवचनं किमर्थम् ? इत्याह— ॥१९५।३७॥
- ७८० “तद्भद्रा०”—ननु हितसुखाभ्यां योगे पूर्वणैव चतुर्थीविकल्पः सिद्धः, किं पुनस्तदर्थेन तद्ग्रहणेन ? इत्याह— ॥१९६।२१॥
- ७८१ “शक्तार्थे०”—ननु कारकविभक्तिरपि क्रियापदापेक्षणीति कथमन्तरङ्गा स्यात् ? नैव दोषः,— ॥१९६।३१॥
- ७८२ “पर्यपा०”—अन्वयेन साहचर्यात् परेरपि वर्जनार्थस्य ग्रहणाद्वर्जनार्थाभ्यां पर्यपाभ्यां युक्तात् पञ्चमीत्यर्थवसायात् कर्तुर्यदर्थं क्रियारम्भस्तत्प्रधानमिति व्याप्यस्य वर्ज्यमानस्य प्राधान्यात्ताभ्यां युक्तत्वात् पाटलिपुत्रादेः क्रियाव्याप्ये द्वितीयायाः प्रसङ्गे सम्बन्धिरूपतया वाऽपेक्षिते पष्ठ्या प्राप्तायां वर्जनीयादेव पञ्चमी भविष्यति किं वर्ज्यग्रहणेन ? सत्यम्, ॥१९७।३५॥
- ७८३ “—किञ्च न हि साहचर्यं प्रमाणमस्ति, अर्थप्रकरणादिभिर्लोकैः सहचरितस्य ग्रहणात् सत्यभिचारत्वाच्चेत्यदोषः । ॥१९७।३७॥
- ७८४ “गम्ययपः०”—ननु यथा कुशूलादादाय पचति कुशूलात् पचतीत्यत्राऽऽदानाङ्गे पाके पचेर्वर्तमानाहुः पात्तविषयमेतदपादानमिति भवति, एवमिहाऽपि अपक्रमणाङ्गे दर्शने दशेर्वर्तनाद्भविष्यति, तथाहि—तत्ततोऽपक्रामति अनपक्रामद्वि न विषयं गृह्णीयात् ? सत्यम्, ॥१९८।१३॥
- ७८५ “यतः प्रति०”—ननु प्रतिनिधिप्रतिदानयोः स्वेन प्रतियोगिना प्रतिनिधिप्रतिदानवता सम्बन्धमभिव्यक्तुं प्रतिः प्रयुज्यते, तत्र द्विष्टत्वात् सम्बन्धस्य प्रतिनिधिप्रतिदानयोः प्रतिनिधिप्रतिदानवतोश्च तुल्येऽपि प्रतिनायोगे प्रतिनिधिप्रतिदानाभ्यां कारकविभक्तिविषयाभ्यां नोपपदविभक्तिः पञ्चमी भविष्यति, किं तदर्थेन यत इत्यनेन ?,— ॥१९८।१९॥
- ७८६ “आख्यात०”—ननु यदा नटादेर्भरतशास्त्रादिकमात्मसात् कर्तुकामः शृणोति तदा कथं पञ्चमी ? इत्याह— ॥१९८।३४॥
- ७८७ “—ननूपाध्यायादेरस्ति विद्यापरिग्रहेऽपायेऽवधिभूतत्वं, ततो हि विद्या श्रोतारमुपैति, सन्ततत्वात् नाऽत्यन्ताय ततोऽपक्रामतीति “पञ्चम्यपादाने” इति सिद्धा पञ्चमी किमनेनेति ? उच्यते— ॥१९८।३७॥
- ७८८ “गम्ययपः०”—ननु किमर्थमिदं सूत्रमारभ्यते ? प्रासादात् प्रेक्षते, आसनात् प्रेक्षत इति ततो दृष्टिरपैतीति प्रासादादेरपायेऽवधिभूतत्वादपादाने पञ्चमी सिद्धैव ? ॥१९८।४४॥
- ७८९ “—किञ्च न भवदुदीरितः प्रेक्षतेरर्थश्चक्षुरिन्द्रियकरणिकायामुपलब्धौ सम्भवति, प्रेक्षते देवदत्तश्चक्षुरिन्द्रियेण करणभूतेन पदार्थमुपलभत इति देवदत्तस्य कर्तृत्वमुपलभ्यते न चक्षुरिन्द्रियस्य । ॥१९९।२१॥
- ७९० “—न चाऽनुमानसमाधिगम्योऽर्थं शब्दार्थो भवितुमर्हतीति प्रेक्षत इति नायनरश्मयोऽस्य निःसृत्य विषयं गृह्णन्तीत्यशब्दार्थोऽयमिति कथं ग्रामादागच्छतीति शब्दोपात्तक्रियापेक्षे कारकभावे सत्यनुमितक्रियापेक्षया साक्षादशब्दोपात्तव्यापार कारकभावमुररीकृत्य पञ्चमी समर्थयामहे ?,— ॥१९९।२३॥
- ७९१ “—अपि चास्ता तावच्छब्दार्थताप्रयासः, नयनरश्मयोऽस्य निःसृत्य विषयं गृह्णन्तीत्ययमेव प्रेक्षतेर्भवत्वर्थः, प्रासादस्य तु तत्क्रियापेक्षयाऽपादानादन्यत्वं त्रमः । ॥१९९।२६॥
- ७९२ “—न तावत्प्रासादरश्मयः प्रसरन्ति किन्तु चक्षूरश्मय इति, प्रत्युत प्रासादो देवदत्तस्याऽऽधार इति । ॥१९९।२७॥
- ७९३ “प्रभृत्य०”—न च वर्तमाननिमित्तसम्भवे कालान्तरे वृत्तिपरिग्रहो युक्तः, तत्र दिश्येव प्रयोगे पञ्चमी स्यान्नाऽन्यत्र देशादौ ? इत्याह— ॥१९९।३६॥
- ७९४ “—अत्र कथमिदं विज्ञायते दिशि दृष्टा एव शब्दा दिक्शब्दा न दिशि वर्तमानाः ? इत्याह— ॥१९९।३८॥

क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
७९५	“प्रभृत्य०”—नन्वेतदेव कथं विज्ञायते ? एतदर्थमेव शब्दोपादानमिति, उच्यते—		॥१९९।४०॥
७९६	” —अथ जिनदत्तादन्योऽयं मैत्रस्य, जिनदत्तादितरोऽयं चैत्रस्य, छात्राणां पूर्वमामन्त्रयस्व, कायस्य पूर्वमित्यादौ मैत्रचैत्रच्छात्रकायशब्देभ्यः कथं न भवति ? उच्यते—		॥२००।३॥
७९७	” —अथ दूरान्तिकार्थमारादित्यव्ययं सूत्रेऽनुक्रियते, तद्योगे च “आरादर्थैः” इत्यनेनैव पञ्चमी सिद्धा किमिदोपादानेन ? सत्यम्,		॥२००।१५॥
७९८	“क्रणाद्धेतोः”—ननु वध्नातिर्वन्धवृत्तिर्न गत्यर्थादिष्वन्तर्भवति, इति कथं प्रयोज्यस्य यत्कर्म तस्मिन्नयमिति कर्तृत्वेन विवक्षितस्य न हेतुभावः ? इत्याह—		॥२००।३६॥
७९९	“आरादर्थैः”—अथ दूरं हितं ग्रामात्, दूरं हितं ग्रामस्य भूयादित्यादौ हितादियोगे पञ्चम्यभावपक्षे “हितसुखाभ्याम्” ॥२०१।६५॥ इति चतुर्थी कस्मान्न भवति ? उच्यते—		॥२०१।७॥
८००	“गुणाद०”—न चाऽयमपप्रयोगः, सर्वशिष्टैरभिमानेन प्रयुज्यमानत्वात् ? इत्यत आह—		॥२०१।१९॥
८०१	“आरादर्थैः”—ननु दूरं हितं ग्रामस्येत्यादौ पञ्चम्यभावपक्षे ग्रामस्य हितेन दूरेण च योगात् हितयोगे “हितसुखाभ्याम्” इति चतुर्थ्यपि प्राप्नोतीत्यारादर्थैर्योगे षष्ठीपञ्चम्यावेव यथा स्यातां न त्वन्या विभक्तिरिति तद्वाधनार्थं ‘आरादर्थैः षष्ठी च’ इति षष्ठीग्रहणं कर्तव्यमन्यथाऽत्र चतुर्थी स्यादिति पृच्छति ।		॥२०१।२८॥
८०२	“अज्ञाने०”—ननु ज्ञानमिति भावेऽनटि रूपं, ततश्च तदेव ज्ञानं नाम यो जानातेरर्थः; तत्र जानातिर्वर्तते तत्कथमिदमुच्यते—अज्ञानेऽर्थे वर्तमानस्य जानातेरिति ? उच्यते—		॥२०२।१३॥
८०३	“शेषे”—नन्वनेकार्थः शेषशब्दः, तत्र न तावदप्रधानवचनो गौणाधिकारेणैव तदर्थलाभात् शेषग्रहणानर्थक्यप्रसङ्गात् ।		॥२०२।२७॥
८०४	” —तथा सति सर्वेषां कारकाणां क्रियार्थत्वेनाऽप्राधान्यात् सर्वेभ्य एव कारकेभ्यः षष्ठी स्यात्, वचनप्रामाण्याच्च द्वितीयादिभिः समावेशो न बाध्यवाचकभाव इति ।		॥२०२।२८॥
८०५	” —अपि च—अप्रधाने षष्ठीत्येवमर्थं जाते नीलमुत्पलमित्यादौ नीलशब्दाद्विशेष्यसमानाधिकरणादपि विशेषणत्वादप्राधान्यादुत्पलमित्यत्र कृतावकाशां प्रथमां बाधित्वा षष्ठ्येव स्यात् ।		॥२०२।२९॥
८०६	” —अपि च शेषशब्दात्तृतीयादिविभक्तीनामनया षष्ठ्या बाधितत्वात् शेषेण ध्रियते भूमिरित्यादिप्रयोगराशिर्न स्यात्, तस्मात् केषुचिदर्थेषु सत्सु शेषशब्द उपाधीयमान उपयुक्तेतरवचन एव भवति ? इत्याह—		॥२०२।३१॥
८०७	” —यद्येवं राक्षः पुरुष इत्यत्राऽपि सम्बन्धस्य वाक्यार्थत्वात् षष्ठी न प्राप्नोति ? नैष दोषः ॥२०२।३५॥		॥२०२।३५॥
८०८	” —ननु क्रियामन्तरेण सम्बन्धाभावात् सर्वत्र तस्या अवश्यम्भावात् तन्निमित्तस्य च कर्मादिः सत्त्वात् कथं तस्याऽविवक्षा ? इत्याक्षिपति ।		॥२०३।१२॥
८०९	” —ननु शेषशब्देन स्वस्वामिभावादेः सम्बन्धस्याऽभिधानान्तस्य च द्विष्टत्वाद्वाहः पुरुष इत्यत्र तु पुरुषशब्दादपि षष्ठी प्राप्नोति, तत्र प्रथमा वक्तव्या, प्रतिषिद्धायामपि षष्ठ्यां नामार्थमात्रे विधीयमानायाः प्रथमायाः सम्बन्धस्याऽधिकस्य भावादप्रसङ्ग इति; नैष दोषः,		॥२०३।१२॥
८१०	” —यद्येवं पुरुषपदसन्निधान एव राक्षः सम्बन्धित्वावगमो नाऽन्यथेति राजशब्दादपि प्रथमाप्रसङ्गः ? नैष दोषः,		॥२०३।१७॥
८११	” —ननु नैतेनैवं भवितव्यं, न हि शब्दस्य भावाभावाभ्यामर्थस्य भावाभावौ क्रियेते, किं तर्हि ? अर्थस्य प्रतिपिपादयिषया विषयीकरणाकरणाभ्यां शब्दस्योच्चारणानुच्चारणलक्षणौ भावाभावौ ।		॥२०३।२०॥
८१२	” —किं पुनस्तत् ? स्वामित्वम्, ‘समासरुत्तद्धितेषु सम्बन्धाभिधानम्’ इति वचनात् स्वस्वामिसम्बन्ध इत्यर्थः ।		॥२०३।२४॥
८१३	” —यद्येवं तर्हि राजनि स्वकृतं स्वामित्वं तत्र षष्ठी भवत्येवं पुरुषेऽपि राजकृतं स्वत्वं ततः षष्ठी प्राप्नोति ? उच्यते—		॥२०३।३१॥
८१४	“रिरिष्टा०”—अथ पूर्वैणैवेदं सिध्यति किमर्थोऽयं योगः ? इत्याह—		॥२०३।४४॥
८१५	“कर्मणि०”—एवं मन्यते—कर्म कारकं, तच्च क्रियामन्तरेण न सम्भवति, क्रियाया हि कारकं भवति । सा च वाचकं धातुं प्रत्ययसहितमाक्षिपति, धातोश्च द्वये प्रत्यया विधीयन्ते त्यादयः कृतश्च । तत्र “तद्वैत्यधीते” इति ज्ञापकात्यादिप्रयोगे द्वितीयाविधानात् कृद् प्रयोग एव षष्ठी भविष्यतीति व्यावृत्त्या असम्भवादिहाऽनर्थकं कृद्ग्रहणम् ? नैवम्,		॥२०४।१९॥
८१६	” —कथमिति—त्यागादिभ्यस्त्यागोऽस्याऽस्तीतीनि तद्धितप्रयोगेऽर्थस्येत्यादिकर्मणि षष्ठी न प्राप्नोतीत्याशङ्कार्थः ।		॥२०४।२६॥
८१७	“वैकत्र०”—अथ कृत इत्यस्यैव षष्ठ्यन्तस्य द्वयोरिति विशेषणं कस्मान्न क्रियते ? तत्राऽपि हि द्वयोः कृदन्तयोरेकं यत्कर्म तत्र षष्ठी वा भवतीत्ययमर्थः सम्पद्यते । तथा च सति—		॥२०४।३४॥
८१	अपां स्रष्टा भेत्ता च मैत्र इत्यादावेव विकल्पः स्यादिति, नैवम्;		॥२०४।३४॥

- क० सूत्रम् । शङ्का । पृ० प०
- ८१८ “वेकत्र०”—ननु ‘कर्मणि’ इत्यधिकृतत्वादेकशब्दस्य च द्वितीयसव्यपेक्षत्वादेकस्मिन् कर्मणीत्यु-  
क्तेऽपि द्वयोः कर्मणोरेकतरस्मिन्निति गम्यत एव किं द्वयोरित्यनेन ?, उच्यते— ॥२०४।३९॥
- ८१९ “द्विहेतो०”—ननु कथमिवमुच्यते ?, घञ एकत्वादिति, नैवम्, ॥२०५।३०॥
- ८२० “—अथ कथं चैत्रस्य मैत्रस्येत्युभयत्र कर्तरि पठ्यते ?, यतोऽत्र प्रयोजककर्ता णिगर्थस्य  
प्राधान्यात् प्रधानं प्रयोज्यकर्ता तु प्रकृत्यर्थस्याऽप्राधान्यादप्रधानं, तत्र प्रधानाऽप्र-  
धानसन्निधौ प्रधानादेव पठ्यते नाऽप्रधानादिति चेत् ?, सत्यम्, ॥२०५।३२॥
- ८२१ “नोभयो०”—ननु द्विकर्मकेषु धातुष्वयं प्रतिषेधः, तत्र प्रधानकर्मणः कृत्येनैवाऽभिहितत्वात्  
कर्तर्येव प्रतिषेधो न्याय्य इत्युभयग्रहणमतिरिच्यते ?, नैवम्, ॥२०६।२०॥
- ८२२ “—न च ‘प्रधानकर्मण्याख्येये त्यादीनाहुर्द्विकर्मणाम्’ इत्यत्राऽऽदिशब्देन पठ्यपि  
गृह्यत इति वाच्यं, तस्य व्यवस्थावाचित्वात् कृत्यकखलार्थानामेव ग्राहकत्वादिति । ॥२०६।२१॥
- ८२३ “—किञ्च ‘द्विकर्मणां धातूनां प्रधानकर्मणि तिवादय उत्पद्यन्ते’ इति न्यायोऽयं, यतो  
ह्येकेन शब्देनाऽजाग्रामलक्षणयोर्द्वयोः कर्मणोः सन्निपातितयोरेकतरकर्मणाभिधा-  
नीयं, न तु द्वे अपि कर्मणी, अजाग्रामस्यानिनीपितत्वात्तथा प्रतीत्यभावाच्च । ॥२०६।२२॥
- ८२४ “—न ह्यजा ग्रामो नीयत इत्युक्ते अजा ग्रामं नीयत इति बहुणमुख्यभावेन प्रतीति-  
रस्ति, किन्तु तौ द्वावपि किमप्यन्यत्र नीयेते इत्यर्थान्तरं प्रतीयेत इति, तदत्र  
कतरत्कर्माऽनेनोच्यतामिति विरोधात् प्रधानकर्मणि त्यादय उत्पद्यन्त इत्युच्यते । ॥२०६।२४॥
- ८२५ “—यद्येवं कथमुक्तं—दुहादीनामप्रधाने कर्मणि तिवादय इति ?, ॥२०६।२७॥
- ८२६ “कयोर०”—ननु सन् धात्वर्थः, तत्र धातुरेव वर्तते, कृत्यप्रत्ययस्तु “कर्तरि” इत्यादिना कारके भावे  
च विधीयते । तत्र सति प्रत्ययविधिरेव नाऽस्ति कथं प्रतिषेधः ?, सतोऽन्यस्मिन्नर्थे  
इति ?, नैव दोषः, ॥२०६।४७॥
- ८२७ “—कथं शीलितो मैत्रेण ?, रक्षितश्चैत्रेण ?, भूतेऽयं कः, वर्तमानताप्रतीतिस्तु  
प्रकरणादिनेति । ॥२०७।३३॥
- ८२८ “—अथ केन सूत्रेण को भवति ?, इत्याह— ॥२०७।२१॥
- ८२९ “—कथमिति—शीलितो मैत्रेणेत्यादावपि “ज्ञानेच्छार्वा०” इत्यनेन कः, तथा च वर्तमा-  
नताप्रतीतिरत्र कस्मान्न भवतीति शङ्कार्थः—परिहरति— ॥२०७।२२॥
- ८३० “—यद्येवं कथमत्र वर्तमानताप्रतीतिः ?, अद्यापि शील्यते ?, इत्याह— ॥२०७।२४॥
- ८३१ “व्याप्ये केनः”—अथ यस्मात्कृत्य प्रत्ययादिन् विधीयते तस्य यत्कर्म तत्राऽधिकरणविवक्षया सप्तमी  
सिध्यति किमर्थमिदं ?, इत्याशङ्क्याऽऽह— ॥२०९।२२॥
- ८३२ “तद्युक्ते०”—न च “उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्वलीयसी” इति न भविष्यतीति वाच्यं, यतः  
कारकश्रुत्या कर्तृकरणयोस्तृतीयावत्कारकेण कर्मणा सम्बन्धे विधीयमानत्वादस्या  
अपि कारकविभक्तित्वम् । ॥२०९।३७॥
- ८३३ “अप्रत्या०”—ननु साधुशब्देन सदाचार उच्यते, आचरणं च क्रियाविषयमिति मातृशब्देन  
तत्स्या परिचर्यादिक्रिया उच्यत इति मातृपरिचरणादिक्रियाणां सम्यगाचरिता  
मातरि साधुरित्युच्यते; तद्वैपरीत्येनाऽसाधुर्मातरीति । ॥२१०।१८॥
- ८३४ “—यदि तु साधुशब्दो भक्तिप्रधाने सङ्कल्पविशेषे वर्तते तद्वैपरीत्ये चाऽसाधुशब्दस्तदा  
मातुरेव विषयभावसम्भवात् सिद्धैव सप्तमी, नैतदुपयुज्यत इति ?,— ॥२१०।२०॥
- ८३५ “—यद्येवमसाधुमैत्रो मातरीति मातृविषयस्य साधुत्वस्य निषेधात् प्रथमं मात्रा साधो-  
र्योगादन्तरङ्गत्वादुत्तरेणैव सिद्धा सप्तमी किमनेन ?, नैवम्, ॥२१०।२१॥
- ८३६ “—नन्वभियोगे “लक्षणवीप्ये०” इत्यनेन प्रत्यादियोगे तु “भागिनि०” इत्यनेन च द्विती-  
याया विशेषविधानात् सप्तमी न भविष्यति किमप्रत्यादावित्यनेन ?, सत्यम्, ॥२१०।२३॥
- ८३७ “स्वेषोऽघिता”—नन्वत्र क्रमेण परस्परमाधाराऽऽधेयभावविवक्षया पर्यायेणाऽप्रधानात् “सप्तम्यधि-  
करणे” इत्यधिकरणे एव सप्तमी भविष्यति किमनेनेति ?, उच्यते— ॥२१०।४१॥
- ८३८ “—ननु “विभक्तिसमीप०” ॥३१।३९॥ इत्यादिना विभक्त्यर्थे यद्व्ययं तद्विभक्त्यन्तेन  
सह समस्यते स चाऽव्ययीभावः, यथा—अधिलीति; एवमत्राऽपि कस्मान्न भवति ?, ॥२१०।४३॥
- ८३९ “—न च “सप्तम्या वा” ॥३१।४४॥ इत्यम्मावाभावपक्षे सप्तमीश्रवणं फलमिति वाच्यम् ?,  
वर्तिपदसप्तमीलोपात्; समाससप्तम्या हि स विकल्पः । ॥२११।१५॥
- ८४० “—न चाऽत्राऽधिर्विभक्त्यर्थेऽस्ति, क तर्हि ?, ॥२११।१६॥
- ८४१ “यद्भावो०”—अथ ऋद्धेषु भुजानेषु दरिद्रा आसत इत्यादौ यत्र क्रियार्हाणां कारकत्वं क्रियानर्हाणां  
मकारकत्वं तद्विपर्ययो वा गम्यते तत्र कथमयं सप्तमी ?,— ॥२११।३६॥
- ८४२ “गते गम्ये०”—नन्वन्तेन सहाऽध्वनोऽभेदोपचारात् सिद्धमेवैकार्थ्यं किमनेन ?, सत्यम्, ॥२११।३९॥

- क्र० सूत्रम् । शङ्का । पृ० प०
- ८४३ “पष्ठी वा०”—ननु “यद्भावो०” इति भावलक्षणे सामान्ये सप्तमी, तत्राऽनादरे इति विशेषे पष्ठी; सप्तम्यामनादरप्रतीतिरर्थप्रकरणादेरित्यर्थभेदान्न वाध्यवाधकभावोऽस्तीति किं पक्षे सप्तम्यर्थेन वाशब्देनेति ?, उच्यते— ॥२१२।३४॥
- ८४४ “सप्तमी०”—ननु निर्धार्यमाणस्याऽवयवस्य समुदायाभ्यन्तरत्वात् समुदायस्य चाऽधिकरणवि-  
वक्षायां वृक्षे शाखेतिवत् सप्तम्याः सिद्धत्वात् सम्बन्धविवक्षायां त्ववयवस्य वृक्षस्य  
शाखेतिवत् पष्ठ्या अपि सिद्धत्वात् किमनेनेति ?, नैवम्; ॥२१२।४३॥
- ८४५ “क्रियामध्ये०”—ननु च क्रोशे स्थितं लक्ष्यं विध्यति, व्यहे पूर्णे भुङ्क्ते इत्यधिकरण एव सप्तमी, क्रोशा-  
न्निःसृत्य स्थितं लक्ष्यं विध्यति, ह्यहमतिक्रम्याऽनु भुङ्क्ते इत्यपादाने “गम्ययपः  
कर्माधारे” ॥२१२।७४॥ इति पञ्चमी सिद्धैव ?, सत्यम्; ॥२१३।९॥
- ८४६ “सप्तमी०”—यद्येवं सर्वथा समुदायभावानापक्षे निर्धारणमेव न युज्यते, समुदायाद्धि एकदेशस्य  
पृथक्करणं निर्धारणमित्युक्तत्वात् ?, सत्यमेतत्;— ॥२१३।२४॥
- ८४७ “क्रियामध्ये०”—नन्विष्वास इति धनुरुच्यते, यथा—‘अङ्गराजो महेष्वासः’ इति, धनुश्च व्यधने करणं  
कर्ता तु मैत्रादिस्तत्कथमुक्तमिष्वासो विध्यतीति ?, उच्यते— ॥२१३।३०॥
- ८४८ “,” —ननु चेहस्योऽयमिष्वास इत्यादि क्रियाभेदाद्युक्तमुदाहरणं, इदं त्वयुक्तं अद्य भुक्त्वा  
मुनिर्ह्यहोदोकेति भुजिक्रियाया एकत्वात् ? सत्यम्,— ॥२१३।३२॥
- ८४९ “तुल्यार्थे०”—नन्वनन्तरात् पूर्वसूत्राचृतीयाऽनुवर्तते, ततः “तुल्यार्थेवा” इति तद्विकल्पे कृते “शेषे”  
इत्यनेन पक्षे शेषलक्षणा पष्ठी सिद्धैव किमर्थं तद्विधानम् ?, इत्याह— ॥२१४।४१॥
- ८५० “अस्तरत्वा०”—कथं चिरं ?, चिरेण ?, चिराय ?, चिरात् ?, चिरस्येति ?,—विभक्तिप्रतिरूपका निपाता  
पते । ॥२१५।२६॥
- ८५१ “हेत्वर्थे०”—ननु ततोऽप्युत्तरसूत्रेण सर्वा विभक्तय इति सर्वविभक्त्यन्तर्गतत्वाचृतीयाद्या अपि  
सिद्धाः किमर्थमिदं ?, इत्याह— ॥२१५।३३॥
- ८५२ “अविशे०”—कथं नाट्ये च दक्षा वयम् ?, त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुप्रज्ञाभिमानोन्नताः ?, सा  
बाला वयमप्रगल्भमनसः ?, इत्यादि— ॥२१६।१२॥
- ८५३ “जात्या०”—अथेह कस्मान्न भवति ?, एको व्रीहिः सम्पन्नः सुमिक्षं करोति, अस्ति ह्यत्रैको जाति-  
लक्षणोऽर्थः ?, इत्याह— ॥२१६।३४॥
- ८५४ “,” —नन्वेक इति संख्याशब्दः प्रयुज्यमानः स्वतः सदेकत्वमुद्भावयति, तेन चैकत्वेन विरुद्धं  
बहुत्वमिति बहुवदतिदेशो न भविष्यति किमसंख्य इति विशेषणेन ?, सत्यम्;— ॥२१६।३४॥
- ८५५ “अविशे०”—नन्वेकसंख्याकप्रत्यात्मवचनत्वादसदः कथं द्वावर्थौ स्यातामिति ?, नैष दोषः;— ॥२१६।३८॥
- ८५६ “फल्गुनी०”—ननु फल्गुनीप्रोष्ठपदाशब्दौ नक्षत्रवाचित्वाद्वित्वाऽव्यभिचारिणौ यतश्चन्द्रमसा योगे  
नक्षत्रता, तेन च द्वयोरेव नैकैकस्य; तद्धितारमेव तारकं नक्षत्रमुच्यत इति किमर्थं  
तस्य द्वाविति विशेषणमनुवर्त्यत इति ?, नैष दोषः;— ॥२१७।३१॥
- ८५७ “,” —अथ किमर्थमिदं ?, न हि बहुवचनाद्वित्वप्रतीतिरस्ति, बहुत्वस्य ततः प्रतीतेः ?,  
बहुत्वं च तत्र यथाकर्थाञ्चित् सम्पाद्यं, चन्द्रोपेते हि ज्योतिषी इति बहुत्वं सिद्धम् । ॥२१७।३४॥
- ८५८ “गुरावे०”—नन्वाप इत्येकस्यामपि जलकणिकायां बहुवचनान्तोऽप्यशब्दः प्रयुज्यते ?, ॥२१८।७॥





## १४ परिशिष्टम् ।

अस्मिन्नेव शब्दानुशासने प्रथमे विभागे सूत्रवृत्त्युदाहरणप्रत्युदाहरणाद्यनेकस्थले  
खमतानि अन्यथाप्रतिपादयतां खमतरक्षणैकवद्धकक्षाणां शेषकश्चिदन्या-  
परपरैकविरुदोपपदलाञ्छितशाब्दिकानामकाराद्यनुक्रमेण नामानि ।

क्र०	शाब्दिका ।	मतानि ।	पृ० प०
१	अन्यः ।	—अन्यस्तु तृतीयासमासार्थानि पदानि तृतीयासमास इति तादर्थ्यात् कट वीरणवत्ताच्छब्दं लभते तस्य ग्रहणे वाक्यस्यापि ग्रहणं भवतीति ।	॥७२।४५॥
२	क्षीरस्वामी	—अन्यस्तु पुरुषस्यैव समासार्थत्वे सतीच्छति न स्त्रियाः, तन्मते—अतिशक्त्यै प्रियधेनैव पुरुषायेत्यत्रैव भवति, न त्वतिशक्तये प्रियधेनवे स्त्रियै इत्यत्र ।	॥७९।६॥
३	"	—अन्यस्त्वद्भूतेः संयोगादेर्दकारस्यापि लोपमिच्छति, तन्मते अद्, अद्भ्याम् ।	॥१४४।९॥
४	"	—अन्यस्त्वप्रधानेऽपीच्छति गम्यते मैत्रं ग्रामश्चैत्रेण ।	॥१६०।६॥
५	रत्नमतिः	—नामधातोरभिवाद्यतेरपीच्छत्यन्यः ।	॥१६४।१६॥
६	"	—राधीक्ष्यर्थविपयाद्विप्रव्यादिच्छत्यन्यः ।	॥१९३।२॥
७	अन्येन	—तयाऽन्येनाऽप्युक्तं क्रीतप्रीतधीतपूतादीनां क्यन्नादिषु तीशब्दः श्रूयमाण एव सम्भवति, तस्मात्तु कृतयादेशादुत्वं कस्मादुदाहृतं, क्रीत्युरागच्छति क्रीत्युः स्वामिति ?,—	॥८३।२४॥
८	अन्ये	शेषभट्टारकाः—पेदौतौ चतुर्मात्रावपीत्यन्ये ।	॥५।१२॥
९	"	शाकटायनाः—सर्वमुखस्थानमवर्णं हविसर्गावुरस्यौ कवर्गौ जिह्वामूल इत्यन्ये ।	॥८।१०॥
१०	"	पा० शिक्षाकाराः—ए पे कण्ठतालव्यौ इत्यन्ये ।	॥८।१२॥
११	"	—ओ औ कण्ठोष्ठ्यौ इत्यन्ये ।	॥८।१२॥
१२	"	पाणिनीयादयः—वः सुकस्थान इत्यन्ये ।	॥८।१३॥
१३	"	पा० शिक्षाकाराः—जिह्वामूलीयः कण्ठ्य इत्यन्ये ।	॥८।१३॥
१४	"	पा० शिक्षाकारादयः—अनुस्वारः कण्ठ्यनासिक्य इत्यन्ये ।	॥८।१४॥
१५	"	पा० शिक्षाकृतः—अकारः संवृत इत्यन्ये ।	॥८।१५॥
१६	"	—विवृतं करणं खराणाम्, ऊष्मणां चेत्यन्ये ।	॥९।१॥
१७	"	—अकारः संवृत इत्यन्ये ।	॥९।२॥
१८	"	पा० शाकटायनः—लवर्णस्य दीर्घा न सन्तीति द्वादश इत्यन्ये ।	॥९।५॥
१९	"	औदञ्जिः—अन्ये तु हुवते—अनुप्रदानमनुस्वानो घण्टादिनिर्द्वादवत् ।	॥९।१८॥
२०	"	प्राञ्चः—शब्दधर्म इत्यन्ये ।	॥१७।२॥
२१	"	—संवृततर सकलरेफकारमर्धमात्रस्वरभक्तिकमित्यन्ये ।	॥२६।१॥
२२	"	उत्पलादयः—अन्ये तु यथादर्शनं सन्धिभसन्धि वेच्छन्ति ।	॥३५।७॥
२३	"	—अन्ये तु अवसानं अभावरूपमाहुः ।	॥५९।२०॥
२४	"	श्रीशेषराजः—अन्ये त्वतिजैरित्येवेच्छन्ति ।	॥६४।९॥
२५	"	पाणिनिस्त्वानुसारिणः—अन्ये तु प्रागेवेनादेशं सन्निपातलक्षणन्यायस्याऽनित्यत्वाभ्रयणात् पश्चाज्- रसादेशं वेच्छन्तोऽतिजरसिनेत्यपि मन्यन्ते ।	॥६५।११॥
२६	"	—अन्ये तु उत्तरद्वतमभिधावप्यन्यशब्दं न कथयन्ति तेषामयं उत्तरार्थ एव पाठः, अन्यतरमिति त्वन्य एवाऽयमव्युत्पन्न इति ।	॥६७।२३॥
२७	"	उत्पलादयः—अन्ये तु बहुव्रीह्यान्तरङ्गस्याऽप्यकः प्रतिषेधमिच्छन्ति, तन्मते कप्प्रत्यय एव, त्वत्कपितृको मत्कपितृकः ।	॥७५।७॥
२८	"	पाणिनिप्रभृतयः—अन्ये तु बहुप्रत्ययपूर्वादपि पतिशब्दादौकारमेवेच्छन्ति, तन्मते बहुप्रत्ययौ ।	॥७८।५॥
२९	"	प्राह—अन्ये तु सख्यन्तादपि प्रतिषेधं पूर्वेण डेरौत्वं वेच्छन्ति—वहवः सख्यौ यस्य तेन बहुसख्या, एवं बहुसख्ये, बहुसख्युरागतं खं वा, बहुसख्यौ निधेहि ।	॥७८।१०॥
३०	"	श्रीशेषभट्टारकाः—अन्ये तु पुरुषस्य समासार्थत्वे सति नेच्छन्ति, तन्मते—प्रियवृद्धये, प्रियधेनवे पुरुषायेत्येव भवति ।	॥७९।५॥
३१	"	—अन्ये तु—अस्तीवचन एवेच्छन्ति ।	॥७९।३५॥
३२	"	—अन्ये त्वाहुः—पूर्वाऽऽगमेषु तीशब्दस्य लृनीशब्दावयवस्य कृतयत्वादेशस्योदा- हरणं दर्शितम्, न च सामान्येन सूत्रनिर्देशे विशेषाभ्युपगमो युक्त इति सर्व- मुदाहरणम् ।	॥८३।२६॥

क्र०	शाब्दिकाः ।	मतानि ।	पृ० प०
३३	अन्ये—	—अन्ये तु त्वपृक्षचृहोतृपोतृन् ताच्छील्यादिषु निपातयन्ति ।	॥८४।२७॥
३४	उत्पलादयः—	अन्ये तु द्वितीयैकवचनस्यैवाऽमो योऽमादेशस्तस्यैव लुग्विकल्पमिच्छन्ति न स्यादेशस्य ।	॥९३।२॥
३५	—	चतुःशब्दस्याऽपि लुग्विकल्पमिच्छन्त्यन्ये ।	॥९३।८॥
३६	—	अन्ये तु व्यञ्जनानां कालभेदमिच्छन्त्येव ।	॥९६।३६॥
३७	—	बह्वर्जि एवेच्छन्त्यन्ये ।	॥९७।२६॥
३८	शाकटायनादयः—	अन्ये तूपसर्जनयोस्तिसृचतसृशब्दयोर्द्वौ घुटि चाऽपि खरादौ रत्वविकल्पमिच्छन्ति ।	॥१०८।४॥
३९	पाणिनिप्रभृतयः—	अन्ये त्वादेशे कृते पश्चादकमिच्छन्ति ।	॥१२३।१६॥
४०	—	करशब्देनाऽप्यन्ये ( इच्छन्ति ) ।	॥१३०।९॥
४१	वार्तिककाराः—	अन्ये तु रात्रिरूपरथन्तरेणैव रेफादिषु परेषु रेफप्रतिषेधमिच्छन्ति ।	॥१३८।२॥
४२	भीमसेनादयः—	अन्ये तु अर्द्धे तोपान्त्यं पठन्ति, तन्मते किपि अत्, अद्, ।	॥१४४।९॥
४३	प्राञ्चः—	अन्ये त्वाहुः—रुमन्निति प्रकृत्यन्तरमस्ति तस्यैतन्निपातनं नकारलोपाभावार्थं णत्वार्थं च ।	॥१४८।१॥
४४	—	अन्ये तु अभियुक्तस्मृतिमनभिनन्दयन्तः किवन्तस्य प्रयोगं प्रतिजानते ।	॥१५०।३०॥
४५	पाणिनितन्त्रानुसारिणः—	अन्ये तु बोधविशेषार्थस्य दृशेरेवेच्छन्ति नाऽन्येषाम् ।	॥१६२।४॥
४६	विश्रान्तविद्याधरादयः—	अन्ये तु सकर्मकाणामकर्मकाणां च प्रयोगे कालाऽवभावानामत्यन्तसंयोगे सति नित्यं कर्मत्वमिच्छन्ति ।	॥१६९।१९॥
४७	—	अन्ये त्वपकार एव द्रोहः इत्याहुः ।	॥१७१।३४॥
४८	—	अन्ये तु तृतीयार्थमात्रं इच्छन्ति ।	॥१८०।१२॥
४९	—	अन्ये त्वन्यथा वर्णयन्ति वीप्सावीप्स्यमानयोः सम्बन्धो द्विर्वचनेनैव द्योत्यते न त्वभिना, इति सम्बन्धमद्योतयताऽपि तेन योगे वचनाद्वितीयेति ।	॥१८०।१६॥
५०	—	अन्ये त्वाहुः—धात्वर्थः क्रिया, सा च कारकचक्रनिष्पाद्यत्वात् कर्मरूपतां नातिक्रामति, ततो यथा भीष्ममुदार इदं कटं करोतीत्यादौ कटादिकर्मविशेषणतया भीष्मादिशब्देभ्यो द्वितीया तथा मन्दं पचति, साधु गच्छतीत्यादौ कर्मत्वात् क्रियाविशेषणादपि स्यात् किन्नेन ? इत्याशङ्क्याऽऽह—	॥१८४।३७॥
५१	प्राञ्चः—	भावादपीच्छन्त्यन्ये—गोदोहं वक्रं, गोदोहं बुहुदः ।	॥१८५।७॥
५२	—	भावादपीच्छन्त्यन्ये—गोदोहेन कृतः कटः ।	॥१८५।१२॥
५३	—	अन्य आहुः—कारकशेषत्वे षष्ठी प्राप्ता नटस्य शृणोतीति यथा, सर्वथा तु कारकस्याऽविवक्षाया न भवति—	॥१९१।३३॥
५४	—	विमतिपूर्वकमिप्रायनिरूपणे स्वोक्तां चतुर्थीमन्ये मान्याः स्त्रीभ्य ईक्षते इत्यादौ न मन्यन्त इत्याह—	॥१९२।४२॥
५५	—	अन्ये तु राघीक्षी इत्यर्थनिर्देशमाहुः, यस्य साक्षाद्दीक्ष्य विषयता उपपद्यते सोऽर्थो राघीक्षी इति निर्दिष्टः, ततश्च तदर्थसर्वेषां चतुर्थी भवति इत्याह—	॥१९२।४३॥
५६	सारसंग्रहकारादयः—	द्वितीयैवेत्यन्ये ।	॥१९४।१४॥
५७	उत्पलः—	चतुर्थी चेत्यन्ये ।	॥१९४।१५॥
५८	ललितस्वभावः—	अन्ये त्वसत्त्ववचनैरेवाऽऽरादयैरिच्छन्ति ।	॥२०१।१०॥
५९	वार्तिककृतः—	अन्ये तु नीवह्यादीनां द्विकर्मकाणां गौणे कर्मणि दुहादीनां तु प्रधाने विकल्पमिच्छन्ति ।	॥२०४।१४॥
६०	पाणिनिः—	उभयत्राऽपि नित्यमेवेत्यन्ये ।	॥२०४।१५॥
६१	—	अन्ये सम्बन्धविवक्षायामेवेयं षष्ठीति प्रतियन्तः सूत्रं नाऽऽरमन्ते ।	॥२०४।३१॥
६२	ललितस्वभावः—	अन्ये तु घञलप्रत्यययोर्द्विहेत्वोः कर्मण्येव षष्ठीमिच्छन्ति न कर्तरि ।	॥२०५।१३॥
६३	पूर्व—	अन्ये तु ज्ञानेच्छार्चार्थञ्जीच्छील्यादिभ्योऽतीते कं नेच्छन्ति ।	॥२०७।३॥
६४	अभयनन्दाचार्याः—	अन्ये तु पञ्चमीमपीच्छन्ति, गोभ्यः कृष्णा सम्पन्नक्षीरतमा ।	॥२१३।४॥
६५	—	अन्ये तु द्वितीयामपीच्छन्ति ।	॥२१४।७॥
६६	—	द्वितीया नेच्छन्त्यन्ये ।	॥२१४।१३॥
६७	—	अन्ये तु हेत्वर्थशब्दयोगे नेच्छन्ति, हेतुशब्दप्रयोगे तु षष्ठीमेवेच्छन्ति ।	॥२१५।९॥
६८	शाकटायनाः—	एकवचनान्तं प्रयोग एव नाऽस्तीत्यन्ये ।	॥२१७।७॥
६९	अपरे—	शेषादिपादाः—द्विरेफश्रुतिकमध्यर्धस्वरमात्रमित्यपरे ।	॥२६।२॥

क्र०	शाब्दिका ।	मतानि ।	पृ० प०
७०	अपरे—शाकटायनादयः—	अपरे तु भोगोऽघोभ्यः खरे नित्यं लोपमेवेच्छन्ति ।	॥४८।१७॥
७१	"	—अपरे तु अभ्रवभ्रमभ्राणा त्रयाणां धातूनां धुष्टि रेफलोपं नित्यमिच्छन्ति ।	॥५७।१०॥
७२	"	—अपरे तु वृवन्ति—अयमन्यतरशब्दो डतरान्तो न भवति निर्धारणे हि सा, अनिर्धारणेऽयमव्युत्पन्नः ।	॥६७।२४॥
७३	"	—अपरैः सामान्येन तृतीयान्तेन योगे प्रतिषेधः कृतो न तृतीयान्तात्, तेषां मते पूर्वोय मासेनेत्यपि भवति, तन्मतसंग्रहार्थं तु पूर्वदिग्योगेऽपि पञ्चमी व्याख्येया ।	॥७३।१९॥
७४	ललितस्वभावः—	अपरे त्वनि खरे सर्वत्र विकल्पं जस्शसोस्तु नित्यं मन्यन्ते ।	॥१०८।८॥
७५	—शाकटायनादयः—	करशब्देनाऽपीच्छन्त्येके ।	॥१३०।८॥
७६	"	—अपरे तु आसन्दीशब्दोऽस्तीति मन्यन्ते ।	॥१३७।३८॥
७७	शाकटायनाः—	णिजन्तस्याऽपि वदेर्णिगीच्छन्त्येके ।	॥१६४।१३॥
७८	"	—दैवे एवेक्ष्ये इच्छन्त्येके ।	॥१९२।१६॥
७९	चान्द्राः—	राधीक्ष्यर्थधातुयोगेऽपीच्छन्त्येके ।	॥१९२।१६॥
८०	पा० सू० व्याख्यातारः—	कुत्सामात्रेऽपीच्छन्त्येके ।	॥१९५।१०॥
८१	पाणिन्यादयः—	द्वितीया नेच्छन्त्येके ।	॥२१४।१०॥
८२	वार्तिक-व्याख्यातारः—	प्रथमा नेच्छन्त्येके ।	॥२१५।१६॥
८३	"	—अपरे त्वकाकारयोर्भावाभिधायकयोः कृतोरुपयोगात्ताभ्यामन्यस्मिन्नपि भावाभिधायक एव पृष्टीमिच्छन्ति ।	॥२०५।३५॥
८४	वार्तिक-व्याख्यातारः—	द्वितीयामपरे ( नेच्छन्ति ) ।	॥२१५।१७॥
८५	उत्पलः—	उत्पलस्तु भौवादिकस्य दैवादिकस्य च ङीयो ङीनसिति प्रयोगमिच्छति—यदाह—	॥६१।४६॥
८६	"	—यदुत्पलः—एवं चाऽर्चाग्रहणं निपुणविशेषणार्थं सम्पद्यत इति ।	॥२१०।२८॥
८७	उद्घोतकरः—	उद्घोतकरोऽपि निपुणविशेषणार्थमेवाऽर्चाग्रहणस्य चरितार्थत्वादित्युवाच ।	॥२१०।२८॥
८८	"	उद्घोतकर आह—यथाऽत्र भवानसदुपाध्यायो व्याकरणरत्नाकरपूर्ण-चन्द्रमाः कैयटारयः शिष्यसार्थमिदमवोचत्—‘भृत्यापेक्षयाऽत्र पृष्टी कृता न साध्वपेक्षया’ ।	॥२१०।३०॥
८९	एके—शाकटायनादयः—	रेफो दन्तमूल इत्येके ।	॥८।११॥
९०	पा० म० मतानुयायिनः—	अर्थधर्म इत्येके ।	॥१७।२२॥
९१	नैपधीयकाराः—	तत्त्वातिशययोरित्येके ।	॥१८।२२॥
९२	प्राञ्चः—	तदपीपत्पृष्टकरणं द्विरेफतुरीयमध्यर्धस्वरमात्रमित्येके ।	॥२६।११॥
९३	"	—लवणस्य स्थानित्वमिच्छन्त्येके ।	॥२६।३॥
९४	"	—अत्रापि ऋवर्णस्य स्थानित्वमिच्छन्त्येके ।	॥२६।८॥
९५	पा० शा० देवनन्द्यादयः—	वत्सरशब्दस्याऽऽर नेच्छन्त्येके ।	॥२८।२२॥
९६	शाकटायनः—	अत्राऽपि पक्षे ह्रस्वत्वमिच्छन्त्येके ।	॥२९।३॥
९७	प्राञ्चः—	ऊट्टे नेच्छन्त्येके ।	॥२९।१४॥
९८	पाणिन्यादयः—	संयुक्तव्यञ्जनेऽपीच्छन्त्येके ।	॥५१।९॥
९९	"	—एके त्वाहुः—नाऽयं डतरप्रत्ययान्तोऽन्यतरशब्दः किन्त्वव्युत्पन्नस्तरोत्तरपद-स्तरवन्तो वा ।	॥६७।४॥
१००	पाणिनीयैकदेशिनः—	अतत्सम्बन्धिनोऽपि भवतीत्येके ।	॥८२।८॥
१०१	विश्रान्तविद्याधरादयः—	अन्यसम्बन्धिनोर्जस्शसोर्नेच्छन्त्येके ।	॥९०।४॥
१०२	काशिकाकारादयः—	अतत्सम्बन्धिनोरपीच्छन्त्येके ।	॥९०।१०॥
१०३	देवनन्द्यादयः—	अमो लुक् नेच्छन्त्येके ।	॥९३।७॥
१०४	"	—एके तु मन्तयोर्युष्मदसदोरादेशात् नेच्छन्ति ।	॥१११।९॥
१०५	चन्द्रादयः—	एके तु निमिचनिरपेक्षमेकत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानयोस्त्वमादेशाविच्छन्ति ।	॥११३।६॥
१०६	कश्चित्-दुर्गालिह्न्यासकृतौ—	कश्चित् पक्षे प्रकृतिभावमपीच्छति ।	॥३२।४॥
१०७	पाणिनिः—	कश्चित्संज्ञाया गवाक्षणीत्यपीच्छति ।	॥३३।३३॥
१०८	विश्रान्तविद्याधरः—	कश्चित् खरजयोरनादिस्थयोर्यकारवकारयोर्धोपवत्यवर्णादन्यतोऽपि लोप-मिच्छन्ति ।	॥४८।२२॥
१०९	क्षीरस्वामी—	कश्चित् पूर्वमतविपर्ययमेवेच्छति ।	॥८०।१२॥
११०	"	—क्रोष्टृनित्यपीति कश्चित् ।	॥१०५।९॥

क्र०	शाब्दिका ।	मतानि ।	पृ० प०
१११	कश्चित्-उत्पलः—	कश्चित् पूर्वमन्यस्वरादिलोपे त्वमादेशेऽकारस्य वृद्धौ ष्वागमे त्वापयति, मापयति, किपि तु त्वाप्, माप्, इत्याह—	॥११३॥१॥
११२	"	—प्रत्ययोत्तरपदस्यादिलक्षणनिमित्तनिरपेक्षत्वेऽप्येकत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानयो- र्युष्मदसदोर्मन्तावयवस्य 'अधित्वद्' इत्यादौ त्वमादेशाविति कश्चिन्मन्यते	॥११३३३॥
११३	"	—शासेरपि सौ विकल्पेन ककारमिच्छति कश्चित्, तन्मते शाक्षि, शास्सि, इति	॥११३२४॥
११४	"	दुर्गसिंहः—कश्चित् दीर्घत्वं नेच्छति ।	॥११३७१२॥
११५	"	—कश्चित् "अनुनासिके च च्छः शूद्र" ॥४१॥१०८॥ इति शत्वविधेरनित्यत्व- ज्ञापनार्थं लकारस्याऽपि षत्वमिच्छति ।	॥११३३१५॥
११६	"	—पादयतेः क्तिबन्तस्य प्रयोगो नाऽस्तीति कश्चित् ।	॥११५०७॥
११७	"	—णिगन्तस्याऽपीति कश्चित् ।	॥११६४१५॥
११८	"	—अत्र कश्चिदाह—स चेत्, सिद्धं यदा वसतिर्विवक्षितः, यदा तूपवसतिरेव तदा प्राप्नोति, न चोपवसेराधारभावं प्रति ग्रामादिरयोग्य एव यदन्यापेक्ष एवाऽस्याऽऽधारभावः कल्प्यते, तस्माद्यतितव्यमेवाऽत्र, अत्रोच्यते—	॥११६८४२॥
११९	"	अजितयशोवादी—चतुर्थ्यपीति कश्चित् ।	॥११९५११॥
१२०	"	—गम्यमानं विभक्तिनिमित्तं नेति कश्चिन्मन्यते ।	॥१२११३४॥
१२१	काशिकाकारस्तु—	काशिकाकारस्तु रुयधिकारविहितयोरणकयोः प्रतिषेधादन्यस्मिन्नपि स्त्रीप्रत्यय एव षष्ठीमिच्छति ।	॥२०५३५॥
१२२	केचन	—केचन मूले कृत इति विहाय ऋवर्णस्य स्थानितया निर्देशं कुर्वन्ति, तथा सति 'वर्णग्रहणे जातिग्रहणम्' इति सर्वविधक्रकारग्रहणं बोध्यम् ।	॥२६१२८॥
१२३	"	केचन त्वस्त्रीवचन एवेच्छन्ति, तन्मतस्य भाष्यरुद्रादिविरुद्धतयाऽपास्यत्वादेक- वचनेन निर्दिशति ।	॥८०१४७॥
१२४	"	केचन सन्निपातपरिभाषाया नित्यत्वमाश्रित्य स्यादेशस्याऽमो लुपं नेच्छन्ति ।	॥९३११७॥
१२५	केचित्तु—शाकटायनः—	केचित्तु पक्षे ह्रस्वत्वमपि मन्यन्ते ।	॥२८११८॥
१२६	"	देवनन्द्यादयः—केचित्त्विवर्णादिभ्यः परान् यवरलानिच्छन्ति ।	॥३१११६॥
१२७	"	पाणिनीयाः—केचित्तु इति शब्दे विकल्पमिच्छन्ति ।	॥३४११४॥
१२८	"	जयादित्यादयः—केचित्तु 'मणीवोष्टस्य लज्जेते, प्रियौ वत्सतरौ मम ।' इति प्रयोगदर्शना- न्मणी इव मणीवेत्यादावसन्धिप्रतिषेधं वर्णयन्ति, तदयुक्तम्—	॥३५१५॥
१२९	"	प्राञ्चः—केचित्तु चाद्यचादिस्थानस्याऽचादिरूपत्वात् स्वरनिमित्तकमपि सन्धि- मिच्छन्ति ।	॥३६१७॥
१३०	केचित्तु—पाणिन्यादयः—	केचित्तु व्यञ्जनस्य स्थानेऽनुनासिके वाऽनुनासिकमिच्छन्ति ।	॥३९१७॥
१३१	"	केचित्तु अत्राऽप्यनुनासिकमिच्छन्ति ।	॥४४१३॥
१३२	"	पा०शाकटायनाश्च—केचित्तु टत्वमपीच्छन्ति ।	॥४५११४॥
१३३	"	कात्यायनः—केचित्तु भवद्भगवदघवतां सम्बोधने सौ परतोऽवशब्दस्यौत्वं तकारस्य च कृत्वं कृत्वा एतानि रूपाणीच्छन्ति ।	॥४७१८॥
१३४	"	पाणिन्यादयः—केचित्तु रुस्थानस्य यकारस्योञि परे लोपमेवेच्छन्ति ।	॥४८११६॥
१३५	"	शाकटायनादयः—अनुनासिकादप्यादेशरूपात् केचिदिच्छन्ति ।	॥५२१११॥
१३६	"	चान्द्रप्रभृतयः—केचित्तु पञ्चमान्तस्थायाः पञ्चमान्तस्थामात्रे लोपमिच्छन्ति, न तु सरूप एव ।	॥५७१९॥
१३७	"	—केचित्तु यावद्भव्यभाविनी व्यवस्थेत्याहुः, तेषां पूर्वसौ पुह्वायेत्यादि न भवति ।	॥६८१२८॥
१३८	"	पाणिनिप्रभृतयः—बहुप्रत्ययपूर्वादिपि पतिशब्दात् प्रतिषेधं केचिदिच्छन्ति—बहुपत्या, बहु- पत्ये, बहुपत्युः आगतं स्वं वा ।	॥७८१९॥
१३९	"	—केचित्तु पूर्वं पश्चादपि स्त्रीवचन एवेच्छन्ति ।	॥७९१३१॥
१४०	"	पाणिनितन्त्रानुसारिणः—केचित्तु समासार्थस्य स्त्रीत्व एवेच्छन्ति न पुंस्त्वे ।	॥८०१११॥
१४१	"	सखिपतिशब्दयोरेव केचिदिच्छन्ति ।	॥८३१२३॥
१४२	"	केचिदाहुः—तत्र नेष्यते त्यादुत्तरस्य उत्तर्विमिति ।	॥८३१२५॥
१४३	"	भोजप्रभृतयः—केचित्तु प्रस्तोतृजज्ञेदृष्टादृष्टप्रतिवर्तृप्रतिस्थितृशब्दानामौणादिकानाम- प्यार मन्यन्ते ।	॥८४१०॥
१४४	"	—केचिन्मन्यन्ते—उणादयोऽव्युत्पन्नानि नामानीति, अपरे व्युत्पन्नानीति ।	॥८४१३९॥
१४५	"	विश्रान्तिविद्याधरादयः—केचित्तु सकारभकारादावेव स्यादाविच्छन्ति ।	॥९०१६॥
१४६	"	शाकटायनादयः—केचित्तु अष्टावाचक्षत इति णिचि किपि, अष्टौ तिष्ठन्ति, अष्टौ पश्येती- च्छन्ति, तदप्यष्ट इति तत्रेण संगृहीतम् ।	॥९०१११॥
१४७	"	वामनादयः—केचित्तु इत्यन्तात् कतिशब्दादेवेच्छन्ति ।	॥९११३॥

क्र०	शाब्दिकाः ।	मतानि ।	पृ० प०
१४८	केचित्तु—पाणिनीयाः—केचिज्जरसः स्यमोलोपं नेच्छन्ति ।		॥९३४॥
१४९	” पाणिन्यादयः—केचित्तु त्वां मा चाऽऽचष्टे इति णौ त्वमादेशे वृद्धौ किपि मन्तयोरेव त्वाहा- देशविधानात् सौ त्वाम्, माम् इति, धातोरेव वृद्धिरिति मते त्वं, मम् इत्येव च भवतीति मन्यन्ते ।		॥११३१६॥
१५०	” ” —केचित्तु तत्सम्बन्धिन एवाऽऽम आकमादेशमिच्छन्ति, तथाऽऽमप्रत्यये दकारस्य यत्वमपीच्छन्ति ।		॥११५१६॥
१५१	” ” —केचित्त्वित्त्वम आदेशमेनमिति मकारान्तं द्वितीयैकवचने आहुः, तन्मते— इदं कुण्डमानयाऽथो एनं परिवर्तयेत्येव भवति ।		॥१२२११०॥ ॥१२२११७॥
१५२	” चान्द्रभोजादयः—केचिदेतदोऽपीच्छन्ति ।		॥१२२११७॥
१५३	” ” —केचित्तु द्विशब्दात् पूर्वं किं शब्दमधीयते, तेन “किमद्व्यादिसर्वाद्यवैपुल्य- बहोः पित्तस्” ॥७१२८९॥ इति किंशब्दोपादानं न विधेयम् ।		॥१२३३३८॥
१५४	” ” —केचित्तु—अमुकसिति सान्तं सिना सह निपातयन्ति ।		॥१२३६११॥
१५५	” ” —तदाह—“परतः केचिदिच्छन्ति, केचिदिच्छन्ति पूर्वतः । उभयोः केचिदिच्छन्ति, केचिदिच्छन्ति नोभयोः” ॥११॥		॥१२३६१०॥
१५६	” ” —केचित्तु तासां यथोद्देशतामेव (यत्रैवोपदेशस्तद्देशतामेव) युक्तां मन्यन्ते ।		॥१२३१३३॥
१५७	” ” —केचित्तु क्यनृष्यङोरपि प्रतिपेधमिच्छन्ति ।		॥१२३६१७॥
१५८	” शाकटायनाः—केचिदस्याऽपि प्रतिपेधमिच्छन्ति ।		॥१२३५११॥
१५९	” ” —केचित्तु विसर्गजिह्वामूलीयोरप्यलाक्षणिकयोस्तृतीयत्वं गत्वमिच्छन्तीति ।		॥१२३८१५॥
१६०	” देवनद्याचार्याः—केचित्तु यङ्लुबन्तस्याऽपीच्छन्ति ।		॥१२३९१०॥
१६१	” देवनद्याचार्याः—केचित्तु यङ्लुबन्तधयतेरपीच्छन्ति ।		॥१२३९१५॥
१६२	” चन्द्रगोभ्यादयः—केचित्त्वन्त्यस्वरादिलोपस्य स्थानि(व)त्वमनिच्छन्तो ह्यतीति द्वित्वे ऊढमूर्ध्नि वाख्यत् औजिढदिति मन्यन्ते ।		॥१२४११६॥
१६३	” ” —केचित्तु किं नेच्छन्ति ।		॥१२४३१५॥
१६४	” ” —तत्र प्रधानाऽप्रधानसन्निधौ प्रधानाभिधानस्यैव न्याय्यत्वमिति केचित् ।		॥१२६०१७॥
१६५	” ” —केचिदाहुः—नाऽमी नयत्यादयो द्विकर्मका अन्यकर्मत्वात् ।		॥१२६०२५॥
१६६	” ” —केचिदिच्छन्ति—मासस्य आसनेति ।		॥१२७०१५॥
१६७	” ” —अत्र केचिदाहुः—अन्वादयो गम्यादिक्रियाजनिते नामार्थव्यतिरेके विषय- भावादौ वर्तन्ते ।		॥१२८११७॥
१६८	” ” —किं पुनरत्र प्राप्तम् ? केचिदाहुः—देवदत्तो रोचयति मोदकमिति प्राप्नोति, देवदत्तं हि प्राप्य मोदको रुचिबिषयो न सर्वमेव भिन्नेच्छत्वात् प्राणिनाम् ।		॥१२९१३१॥
१६९	” ” —केचिदाहुः—कर्मणि द्वितीयायां प्राप्तायां प्रीयमाणं देवदत्तं प्रीणयति मोदक इति ।		॥१२९१३२॥
१७०	” भोजशाकटायनाः—केचित्त्वप्रयोज्यो यो ज्ञाप्यो य आख्यायते तत्रैवेच्छन्ति ।		॥१२९३१२॥
१७१	” ” —केचिद्यस्यै आख्यायते तं ज्ञाप्यं सम्प्रदानत्वेन प्रतिपन्नाः ।		॥१२९३३७॥
१७२	” ” —केचिद्य आख्यायते तमिति, तन्मते मैत्रमात्मने श्लाघत इत्युदाहरणम् ।		॥१२९३३८॥
१७३	” ” —केचिदारादर्थैः पञ्चम्यन्तैर्युक्तात् पञ्चमीं नेच्छन्ति ।		॥२२५१२३॥
१७४	” कैश्चित्—कैश्चिदन्वर्थसंज्ञाविधानाददातिक्रियाविषयैव सम्प्रदानसंज्ञेत्यभ्युपगतम् ।		॥१२७१२५॥
१७५	” —यदुच्यते—कैश्चित्—मासेनाऽनुवाकोऽधीतः, क्रोशेनाऽनुवाकोऽधीत इति करण एव तृतीया, इतीदं नाऽऽरम्भणीयमिति तदसम्यक्—इत्याह—		॥१२८५१४१॥
१७६	” केपाञ्चित्—केपाञ्चिद्युष्मद्भवतु असदिति पाठः ।		॥१२८५३७॥
१७७	” —केपाञ्चिद्युष्मदसद्भवत्विति पाठः ।		॥१२८५३७॥
१७८	” क्षीरस्वामि०—क्षीरस्वामिन्यासकृन्मतम् ।		॥२५१३२॥
१७९	” गोनर्दीयानां—गोनर्दीयानां मते—अतिजरम् प्र० प०, अतिजरसम् अतिजरम् द्वि० प० इति ।		॥२५१३२॥
१८०	” गोनर्दीयस्य—इष्टमेवैतत् गोनर्दीयस्य ।		॥२५१३२॥
१८१	” दुर्गसिंहन्यासकृतो—दुर्गसिंहन्यासकृतोर्मतम्, कश्चित्तु ह्रस्वत्वाभावपक्षे प्रकृतिभावमपीच्छति ।		॥२५१३२॥
१८२	” पाणिनेः—पाणिनेरपि च तदेव सम्मतम् ।		॥२५१३२॥
१८३	” पूर्वैः—वार्तिककृद्भिः—“उभयोऽन्यत्र” । पा० वा० ॥७१५२॥		॥२५१३२॥
१८४	” प्राञ्चः—प्राञ्चो वैयाकरणाश्चादीना निपात इति संक्षामभिदधते, इत्याह—		॥२५१३२॥
१८५	” —प्राञ्चो हि कर्तृविशेषमपि हेतुशब्देनाऽऽचक्षते, यतश्च “हेतुकर्तृकरणे०” इत्यत्र हेतुग्रहणं कृत्वा कर्तृकरणग्रहणं कृत्वा हेतुकर्तृकरणग्रहणं कृतमतो विज्ञायते कर्त्रादिभ्यो विल- क्षणो हेतुरिति ।		॥२५१३२॥ ॥२००१३५॥

क्र० शाब्दिका ।

मतानि ।

दृ० प०

१८६ भट्टोजिदीक्षितेन—तथा चोक्तं—‘वस्तुतस्तु प्रियत्रयाणाम्’, इति सि० कौ० “ब्रह्मय.” । पा० ॥७॥१५३॥

सूत्रे भट्टोजिदीक्षितेन ।

॥८२॥३४॥

१८७ भर्तृहरिणा—यथोदाहृतं भर्तृहरिणा—यद्यपि पाणिनेरभिरुचिता नित्यताऽनित्यता चेति ।

॥१९१॥३४॥

१८८ भोजेन—भोजेन तु भूतपूर्वन्यायेन नपुंसकेऽपि नियामित्युक्तम् ।

॥९०॥१६॥

१८९ मनोरमायाः—सुनुतस्—अन्तर्धाने मनोरमाया मतेनेदम् ।

॥१८॥१४॥

१९० यश्च मन्यते—कर्मादयो विभक्त्यर्थास्तेष्वनभिहितेषु विभक्तीनामुत्पत्तिरिति, नाऽर्थोऽनभि-  
हिताधिकारेणेति ?—

॥१८२॥१२॥

१९१ यस्य=भागुरेः—यस्य तु व्यञ्जनान्तादप्याप्, तन्मते क्षुधया ऋत इति समस्तप्रयोग एवाऽयम् ।

॥२८॥१०॥

१९२ ये=शिवमुख्याः—ये त्वनियोगेऽव्यापारणे इच्छन्ति, तन्मते शास्त्रलोकप्रतीतप्रयोगविरोधः ।

॥३०॥८॥

१९३ वि० विद्याधरः—विश्रान्तविद्याधरस्त्वत्राऽपि मन्यते ।

॥१३०॥२४॥

१९४ व्याख्यातारः—व्याख्यातारस्तु नेदं परिगणनमित्याहुः ।

॥१३८॥१७॥

१९५ शब्दनित्यत्ववादी—शब्दनित्यत्ववादिमतेन च ज्ञप्तिः ।

॥३१॥९॥

१९६ शब्दानित्यत्ववादी—शब्दानित्यत्ववादिमतेन निष्पत्तिः ।

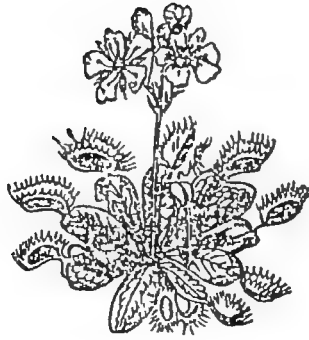
॥३१॥९॥

१९७ शाकटायन०—इदं समतं शाकटायनसम्मतमपि ।

॥२५॥३९॥

१९८ सुखाकरस्तु—सुखाकरस्तु अकारलोपस्य स्थानिवद्भावाद् व्यवधानादनर्थकत्वाच्च न भवतीति मन्यते ॥१००॥१५॥

॥ समाप्तमिदं चतुर्दशं परिशिष्टम् । तत्परिसमाप्तौ च समाप्तानि सर्वाणि परिशिष्टानि ॥





## ॥ अथ वृत्ति-रचना-प्रशस्तिः ॥

अथ सकलद्रव्यक्षेत्रकालभावाऽवस्थावर्त्यरिहन्तसिद्धाऽऽचार्योपाध्यायसाधुदर्शनादिधर्मसाधनधर्मसमुदायस्वरूपं, समग्रमनोवा-  
ञ्छितदानैकवद्धकक्षाऽचिन्त्यचिन्तामणिसमं, सुरासुरनरपत्यादिद्वादशपर्वत्सेवितसुप्रसिद्धमल्लिमन्नत्रयब्राधिराजराजेश्वरं, श्रीसिद्ध-  
चक्र-महायज्ञं हृद्यहृदयकमलकोशे धारयित्वा, जराजर्जरितयादवदुःखदौर्भाग्यदारिद्र्यरोगशोकनिवारक, सम्पूर्णजनसमुदायद्रव्य-  
भावसङ्क्रिष्टसङ्कटविचूरक, विश्वविश्वसमीहितपरिपूरकं, शङ्खेश्वरग्रामस्थ-शङ्खेश्वरतीर्थाधिप-श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथजिनेश्वरं बहु-  
मानपुरस्सरं वन्दित्वा च प्रशस्तिर्लिख्यते ।

विश्ववित्यातविद्वन्मुकुटमणिसकलशास्त्रपारावारपारीणशब्दावतारकलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरविरचिताक्षरदेहं  
ध्यात्वा, श्रीपातञ्जलमहाभाष्य-वाक्यपदीय-शाकटायनीयाऽमोघावृत्ति-सिद्धहेमसूत्र-वृत्ति-न्यासाधनेकविधग्रन्थपरिशीलनं कृत्वा च  
वी० सं० २४६८ वैकमीय १९९८ संवत्सरे भाद्रपदशुक्लपञ्चम्यामनेकाऽनेकप्रतोलीकराजनगरे (अहमदाबादनगरे) माडवीनाम-  
रथ्यास्थनागजीभूधरप्रतोलीवर्तिजैनश्वे० मू० पौषघशालाया चातुर्मासिकस्थितानां शासनहितवर्धकाऽनेकाऽनेकार्थकारितानां तपा-  
गच्छकल्पपादपसागरशाखीयाऽऽनन्दसागरसूरीश्वराज्ञावर्तिसुविनेयपत्न्यासप्रवरशिष्यप्रशिष्यमुनिपुङ्गवानां श्रीचन्द्रहीरहिमांशु-  
चन्द्रकान्तचन्द्रप्रमसागराणां प्रासुर्यवर्तिभिः श्रीसिद्धचक्राराधन-तीर्थोद्धारकैरखिलभारतवर्षीयमन्यभावभावोद्धोषसूर्येदय-  
श्रीसिद्धचक्र-नवपदाराधकसमाज-वर्द्धमानतपःसत्यादिशासनहितवर्धकविधिसंस्थासंस्थापकैर्वैद्याकरणकेसरिभिर्वर्धमानतपोनिष्ठातैः  
पण्डितप्रवरानुयोगाचार्यैरस्मदुत्सवैः श्रीचन्द्रसागरगणीन्द्रैरानन्दबोधिनीवृत्तौ प्रारम्भिकमङ्गल “ॐ नमः सिद्धचक्राय”  
इत्यादिनाऽऽरभ्य सज्ञाप्रकरणं सन्धिप्रकरणं च समाप्तीकृतम् ।

ततो गुर्जरदेशस्थोत्तरदिग्दर्शिनि ‘ऊष्मा’नामकग्रामे त्रैलोक्यनाथश्रीकुन्धुनाथस्वामिप्रासादसमीपे श्रीजैनश्वे० मू० पौषघ-  
शालाया श्रीनामप्रकरणं प्रारभ्याऽऽगमोद्धारकाचार्यवर्यश्रीसागरानन्दसूरीश्वरसदुपदेशमूर्तस्वरूपश्रीवर्द्धमानजेनाऽऽगममन्दिरस्था-  
ऽनिर्वचनीयाऽप्रतिमप्रतिमाञ्जनप्रतिष्ठाद्यनेकविधशासनहितवर्धककार्यसुप्रसिद्धसिद्धक्षेत्रस्थ (पालीताणानगरस्थ) श्रीजैनसाहित्य-  
मन्दिरान्तर्गतजैनपौषघशालाया तैश्च तत्परिसमाप्तीकृतम् ।

ततो जैनाऽऽगमनवाङ्मूक्तिकारभगवदभयदेवसूरीश्वराद्यश्वीनविनाशशरीरस्थराजरोगनिवारकश्रीस्तम्भनपार्श्वनाथप्रभुविभूषित-  
श्रीस्तम्भनपुरतीर्थे स्व०श्रेष्ठिवर्यनानचन्द्रात्मजबुलाखीदासात्मजमूलचन्द्रादिसंस्थापितजैनश्वे० मू० पौषघशालाया चातुर्मासिकस्थितानां  
गणपत्न्यासपदारोपणाद्यनेकाऽनेकशासनहितवर्धककार्यकारितानां वर्तमानकालीनगीतार्थसार्वभौमाद्यप्रावचनिकप्रभावकश्रीमदानन्द-  
सागरसूरीश्वराज्ञावर्त्यन्तेवासिपत्न्यासप्रवरश्रीचन्द्रसागरगणिसुविनेयपत्न्यासदेवेन्द्रहीरमुनिज्ञानसुबोधप्रवीणहिमांशुदोलतहेमेन्द्रचन्द्र-  
कान्तचन्द्रप्रमसागराणामग्रेसरवर्तिभिस्तैश्च वी० सं० २४७० वैकमीय २००० संवत्सरे पौषमासे परमपावनप्रभुश्रीपार्श्वनाथ-  
जन्मकल्याणकवासरे विद्यावारिधिनिमज्जनपवित्रितस्वान्तसाहित्यरसिकशिष्यप्रशिष्याद्यर्थं श्रीकारकप्रकरणं सुपरिपूर्णकृतम् ।

ततो मुम्बापुरी-घाटकोपर-त्रैलोक्यनाथश्रीजिरावलिपार्श्वनाथमन्दिरसमीपवर्तिश्रीजैनश्वे० मू० पौषघशालाया वी० सं० २००१  
कार्तिक-पूर्णिमाया कलिकालसर्वज्ञभगवच्छ्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरजन्मवासरे शास्त्रप्रस्तावना-परिशिष्ट-विषयानुक्रमभाषनेकसारभूतसामग्री  
सुशोभितोऽयं प्रथमविभागस्तैश्च सुसमाप्तीकृतः ॥ इति शुभम् ॥

पूज्यपादगीतार्थसार्वभौमाऽऽगमोद्धारकाचार्यदेवेश-श्रीआनन्दसागरसूरीश्वरागमाज्ञावर्ति-  
परमविनेयसिद्धचक्राराधन-तीर्थोद्धारकपत्न्यासप्रवरश्रीचन्द्रसागरगणीन्द्राणां  
चरणारविन्दचक्षरीक. चन्द्रप्रमसागरः ।



## ॥ साङ्केतिक-शब्दानां परिस्फुटता ॥

अ० चि० का०—अभिधानचिन्तामणिकाण्डः ।  
 अन्य यो० व्य०—अन्ययोगव्यवच्छेदिका ।  
 आ०—आत्मानन्द० ।  
 इ०—इन्स्टीट्यूट ।  
 इ०—इसु ।  
 उ० अथवा उणा०—उणादयः ।  
 ओ०—ओरिएण्टलः ।  
 क० स०—कलिकाल-सर्वेश्वर ।  
 क्र०—क्रमाङ्कः ।  
 क्रा०—क्राइष्ट ।  
 खं० ता०—खम्भात ताडपत्रीय ।  
 गुज०—गुजराती ।  
 ग्र०—ग्रन्थः ।  
 चि०—चिन्तामणिः ।  
 चि० प०—चित्रपरिचय ।  
 छ०—छगनीरामजी ।  
 ॥ छ ॥—समाप्तिचिह्नम् ।  
 जै०—जैन ।  
 डा०—डाबडो ।  
 डॉ०—डॉक्टर ।  
 द०—दलीचन्द ।  
 दि०—दिगम्बर ।  
 नं०—नम्बर ।  
 नैषधीये०—नैषधीय महाकाव्ये ।  
 पं०—पण्डितः ।  
 प०—पङ्क्त्यङ्कः ।  
 परि०—परिषद् ।  
 पा०—पादः ।  
 पा०—पाणिनीयव्याकरणम् ।  
 पा० शि० श्लो०—पाणिनीयशिक्षाश्लोकः ।  
 पा० सू०—पाणिनीयसूत्राणि ।  
 पु०—पुण्यविजयजी महाराज ।  
 पृ०—पृष्ठाङ्कः ।  
 प्र० अ०—प्रथमाऽध्यायः ।  
 प्रो०—प्रोफेसर ।  
 वना०—वनारस ।  
 वा०—वापुमाई ।  
 वृ०—वृहत् ।

वे० जी०—वेचरदास जीवराज ।  
 भा०—भागः ।  
 भा० ओ० इ०—भाण्डारकर ऑरीएन्टल रिसर्च  
 इन्स्टीट्यूट ।  
 मनोर०—मनोरमा ( सिद्धान्त कौ० टीका ) ।  
 म० भ०—मनसुखभाई भगुभाई ।  
 महार्णव वृ० न्यास०—सिद्धहेमचन्द्रबृहन्न्यासः ।  
 मो० गि०—मोतीचन्द गिरधरलाल कापडीया ।  
 यादव०—यादवकोषः ।  
 रा०—राजचन्द्र० ।  
 राज०—राजस्थानीय ।  
 री०—रीसर्च ।  
 ली०—लीम्वडी ।  
 ले०—लेखक ।  
 वर्ना०—वर्नाक्युलर ।  
 विश्व०—विश्वकोषः ।  
 वि० सं०—विक्रम संवत् ।  
 वृ० वृ०—बृहद्वृत्तिः ।  
 व्या०—व्याकरण ।  
 शा०—शाकटायन ।  
 शा० नाम०—शास्त्रकारनाम ।  
 शा० प्र०—शास्त्र-प्रस्तावना ।  
 शा० प्रा०—शान्तिनाथप्राचीन ।  
 शा० सू०—शाकटायन-सूत्राणि ।  
 शिशुपाल०—शिशुपालवधमहाकाव्यम् ।  
 श्रीहैम०—श्रीहैम ( अभिधानचिन्तामणिः ) ।  
 श्वे०—श्वेताम्बर ।  
 सयाजि०—सयाजिराव ।  
 सं०—संवत् ।  
 सि०—सिरीक्ष ।  
 सि० कौ०—सिद्धान्तकौमुदी ।  
 सिंघी० जै०—सिंघी-जैनग्रन्थमाला ।  
 सो०—सोसायटी ।  
 स्ना०—स्नारक ।  
 स्व० स्तो०—स्वयम्भूस्तोत्रम् ।  
 ह० लि०—हस्तलिखित ।  
 हे० जै०—हेमचन्द्राचार्य जैन ।  
 है० प्रका०—हैमप्रकाश ( स्व० क्षमाभद्र ) ।  
 है० वृ० न्या०—हैमबृहन्न्यास ।

# ॥ शुद्धिपत्रकम् ॥

अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।	पृष्ठ-पङ्क्ति ।	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।	पृष्ठ-पङ्क्ति ।
नन्द	नन्द	१-१	शू(शो)	शु(शो)	१९-४६
नन्द	नन्द	१-१८	किंकिल	किङ्किल	२०-२
रक्षणं योगः	रक्षणं क्षेमः	२-२५	"	"	२०-१५
प्राप्तिः क्षेमः	प्राप्तिः योगः	२-२५	यावद्वन्त	यावद्वन्त	२०-२२
यन्त्रतन्त्रमन्त्रा	यन्त्रतन्त्रमन्त्रा	२-२६	ऊर्णा०	ऊर्णा०	२१-४४
योगो	क्षेमो	२-२९	बन्ध	बन्ध	२२-४८
प्राप्तिः-क्षेम	प्राप्तिः-योगः	२-२९	नान्ताद्	नाद्	३३-९
पेघ-वि	पेघाऽधि	३-६	तयोरी	तयोरि	२३-१९
त्वादि	त्ववादि	३-९	टित्क	द्वित्क	२३-२०
तद्वा	तद्वा	४-४	मन्त्रो	मन्त्रो	२४-३३
तनु	तनू	५-३८	मन्दि	मन्दि	२४-३६
क्षस्य	क्षस्य	५-४५	आनन्द	आनन्द	२४-३७
व्यञ्ज	व्यञ्ज	६-३२	समामा	समाना	२५-१९
कण्ठ	कण्ठः	८-५	प्राच्छति	प्राच्छति	२५-३४
मारूप	मत्तारूप	८-४५	कृकारः	कृकारः	२६-३८
निहाद	निर्हाद	१०-१५ १६	स्त्रीणि	स्त्रीणि	२६-३९
सञ्ज्ञा	सञ्ज्ञा	११-३८	कारय	कारीय	२८-४२
स्त्यक्त	स्त्यक्तः	१२-२७	ऊहं	ऊहे	२९-३३
कारे	कारो	१२-२९	पेप्यो	पैप्यो	२९-४०
र इव	रा इव	१३-१३	मिचिना	मिचिना	३०-१७
शूनः	शूनः	१३-२१	त्र! ओ	त्रौ	३०-१८-१ ४३-४४
वृत्त्यन्त	वृत्त्यन्त	१३-३७	प्रसज्यत	प्रसज्येत	३१-३३
इति न	× × ×	१३-४१	नक्षेपा	नक्षेपा	३२-२०
सत्वे	पत्वे	१३-४४	अफ्ये	× ×	३२-३९
पदत्वं प्रति-	पदत्वप्रति-	१३-४४	गोरा	गोरो	३३-३८
वैय्य	पैय	१४-११	नितो	नितौ	३४-४०
त्वाद	त्वाद	१४-२३	थत्वेन	थेन	३५-३३
घिता	घिता	१४-३०	द्रढी	दृढी	३५-३५
वाभ्य	वाक्य	१५-१२	नादेः	दादेः	३८-४
वैय्य	वैय	१५-३०	मदि	मन्दि	३८-४८
णार्थ	नाऽर्थ	१६-८	नद	नन्द	३८-४९
अक्षेण	अक्षेण	१६-१३	हखा	हखा	३९-८
गौ	गौः	१६-२३	माह	माहुः	३९-१४
रोहाव	रोहावः	१७-४	वाच्	वाच् स	३९-१७
सत्त्व	सत्त्व	१७-४०	नहः	नहः	३९-२३
नीचस्	नीचैस्	१८-५	षड्	षड्	३९-३५
शु	शु	१८-९	षड्	षड्	३९-३५
मंछु	मंछु	१८-२७	शंकते	शङ्कते	३९-३५
त्वंत	त्वन्त	१८-३९	लभ्यते	लभ्यते,	३९-३८
हुंफद्	हुम्फद्	१९-९	वाह्	प्राह्	४०-११
दृष्टांत	दृष्टान्त	१९-२७	तुर्थः	तुर्थः नवा	४०-२३
शंका	शङ्का	१९-३२	अधुट	अधुट	४०-४०
हुंफद्	हुम्फद्	१९-३९	कखफ	कखपफ	४१-१
मंग	मङ्ग	१९-४१-४२	रेफे	सुपि	४१-१९
कुम्भी	कुम्भी	१९-४२	घुर्षु	घूर्षु	४१-३१
कुम्भ	कुम्भ	१९-४२	सनम्	सनम्	४२-१

સકલસદ્ગુણચૂરકેભ્યઃ શ્રીસિદ્ધચક્રેભ્યો નમો નમ ।

સકલમનોવાચ્છિતપૂરકઃ શ્રીશહેશ્વરપાર્શ્વનાથો વિજયતેતમામ્ ।

॥ શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસને સૂત્ર-વૃત્તિગ્રન્થપરિમાણપ્રદર્શક-ચન્દ્રમ્ ॥

શ્રીતિ० હે० શં પૃષ્ઠાક્ક	અં	પાદ	પ્રકરણમ્	સૂત્રાણિ	સૂત્રત્ત્વગ્રન્થાગ્રમ્ શ્લોકા અક્ષરાણિ	આનન્દવોધિની-ગ્રન્થાગ્રમ્ શ્લોકા અક્ષરાણિ
૧-૨૮	૧	૧	સજ્ઞાપ્રકરણમ્	૮૨	૨૬૬ ૯	૧૨૬૨ ૨૨
૨૫-૩૮	૧	૨	સન્ધિપ્રકરણમ્	૪૧	૨૦૩ ૧૭	૫૯૪ ૧૫
૩૯-૬૩	૧	૩	„	૬૫	૨૯૬ ૨૯	૧૨૧૨ ૧૯
૬૪-૧૦૬	૧	૪	નામપ્રકરણમ્	૯૩	૫૧૪ ૦	૨૨૩૭ ૨૭
૧૦૭-૧૫૫	૨	૧	„	૧૧૮	૭૬૪ ૧૦	૨૨૪૧ ૬
૧૫૬-૨૧૮	૨	૨	કારકપ્રકરણમ્	૧૨૪	૯૭૫ ૧	૩૧૪૪ ૭
				૪૮૩	૩૦૨૦ ૨	૧૦૬૯૩ ૦

નોંધ—

પ્રથમ કૉલમમા શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસનના પૃષ્ઠાક જણાવાય છે ।

બીજા „ „ „ „ „ નો અધ્યાય જણાવાય છે ।

ત્રીજા „ „ „ „ „ ના „ નો પાદ જણાવાય છે ।

ચોથા „ „ „ „ „ ના અધ્યાય-પાદમા આવેલ પ્રકરણ જણાવાય છે ।

પાંચમા „ „ „ „ „ ના દરેક પ્રકરણના કૂલસૂત્રો જણાવાય છે ।

છઠ્ઠા „ „ „ „ „ ની તત્ત્વપ્રકાશિકાનુ શ્લોકપ્રમાણ જણાવાય છે ।

સાતમા „ „ „ „ „ ની આનન્દવોધિનીનુ શ્લોકપ્રમાણ „ છે ।

દાખલા તરીકે એકથી ૨૪ પૃષ્ઠાક સુધી પ્રથમ અધ્યાયના પ્રથમપાદમા સજ્ઞાપ્રકરણ ચાલે છે તે પ્રકરણમા કુલસૂત્રો ૪૨ છે, સૂત્ર-તત્ત્વપ્રકાશિકાના શ્લોક સંખ્યા ૨૬૬ તથા અક્ષર ૯ છે, અને આનન્દવોધિનીમા શ્લોકસંખ્યા ૧૨૬૨ તથા અક્ષર ૨૨ છે ।

સારાશ—આ યત્રમા જણાવેલ વિગત મુજબ કુલ સૂત્રો ૪૮૩ ।

„ „ „ „ „ તં પ્રં કુલ શ્લોક સંખ્યા ૩૦૨૦-૨ ।

„ „ „ „ „ આં વોં કુલ શ્લોક સંખ્યા ૧૦૬૯૩ ।

સંયોજક } શ્રીસિદ્ધચક્રારાધન-તીર્થોદ્ધારકાઽઽનન્દવોધિનીવૃત્તિકાર-પૂ ૫ પ્રવરશ્રીચન્દ્રસાગરજી ગણિવરશિષ્ય—  
મુનિશ્રીચન્દ્રપ્રમસાગર ।

# ॥ शुद्धिपत्रकम् ॥

—८०५१०५०—

अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।	पृष्ठ-पङ्क्ति ।	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।	पृष्ठ-पङ्क्ति ।
नन्द	नन्द	१—१	शु(शो)	शु(शो)	१९-४६
नन्द	नन्द	१-१८	किंकिल	किंकिल	२०—२
रक्षणं योगः	रक्षणं क्षेमः	२-२५	”	”	२०-१५
प्राप्तिः क्षेमः	प्राप्तिः योगः	२-२५	यावद्गत	यावद्गन्त	२०-२२
यन्त्रतन्त्रमन्त्रा	यन्त्रतन्त्रमन्त्रा	२-२६	उर्णा०	ऊर्णा०	२१-४४
योगो	क्षेमो	२-२९	बन्ध	बन्ध	२२-४८
प्राप्तिः-क्षेम	प्राप्तिः-योगः	२-२९	नान्ताद्	नाद्	३३—९
षेध-वि	षेधाऽधि	३—६	तयोरी	तयोरि	२३-१९
त्वादि	त्ववादि	३—९	टित्क	द्वित्क	२३-२०
तद्वा	तद्वा	४—४	मन्त्रो	मन्त्रो	२४-३३
तनु	तनू	५-३८	मंदि	मन्दि	२४-३६
क्षस्य	क्षस्य	५-४५	आनन्द	आनन्द	२४-३७
व्यज	व्यञ्ज	६-३२	समामा	समाना	२५-१९
कण्ठ	कण्ठः	८—५	प्राच्छति	प्राच्छति	२५-३४
मारूप	मतारूप	८-४५	कूकारः	कूकारः	२६-३८
निर्हाद	निर्हाद	१०-१५-१६	खीणि	खीणि	२६-३९
सञ्ज्ञा	सञ्ज्ञा	११-३८	कारय	कारीय	२८-४२
स्त्यक्त	स्त्यक्तः	१२-२७	ऊह	ऊहे	२९-३३
कारे	कारो	१२-२९	षेण्यो	षेण्यो	२९-४०
र इव	रा इव	१३-१३	मिचिना	मिचिना	३०-१७
शूनः	शुनः	१३-२१	त्र। ओ	त्रौ	३०-१८-१४३-४४
वृत्यन्त	वृत्यन्त	१३-३७	प्रसज्यत	प्रसज्येत	३१-३३
इति न	× × ×	१३-४१	नह्येषा	नह्येषा	३२-२०
सत्वे	पत्वे	१३-४४	अष्ये	× ×	३२-३९
पदत्व प्रति-	पदत्वप्रति-	१३-४४	गोरा	गोरो	३३-३८
वैय	वैय	१४-११	नितो	नितो	३४-४०
त्वाद	त्वाद	१४-२३	र्थत्वेन	र्थेन	३५-३३
धिता	धिता	१४-३०	द्रढी	द्रढी	३५-३५
वाक्य	वाक्य	१५-१२	नादेः	दादेः	३८—४
वैय्य	वैय	१५-३०	मंदि	मन्दि	३८-४८
णार्थ	नार्थ	१६—८	नन्द	नन्द	३८-४९
अक्षेण	अक्षेण	१६-१३	हखा	हखा	३९—८
गौ	गौः	१६-२३	माह	माहुः	३९-१४
रोहाव	रोहावः	१७—४	वाच्	वाच् स	३९-१७
सत्त्व	सत्त्व	१७-४०	नहः	नहः	३९-२३
नीचस्	नीचैस्	१८—५	षड्	षड्	३९-३५
शु	शुः	१८—९	षह	षह्	३९-३५
मंहु	मंहु	१८-२७	शंकते	शङ्कते	३९-३५
त्वंत	त्वन्त	१८-३९	लभ्यते;	लभ्यते;	३९-३८
हुम्फद्	हुम्फद्	१९—९	वाह्	प्राह्	४०-११
दृष्टांत	दृष्टान्त	१९-२७	तुर्थः	तुर्थः नवा	४०-२३
शंका	शङ्का	१९-३२	अधुट	अधुट	४०-४०
हुम्फद्	हुम्फद्	१९-३९	कखफ	कखपफ	४१—१
मंग	मङ्ग	१९-४१-४२	रेफे	सुपि	४१-१९
कुंभी	कुम्भी	१९-४२	धुधु	धूर्धु	४१-३१
कुंम	कुम्भ	१९-४२	सनन्	सनम्	४२—१

अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।	पृष्ठ-पङ्क्ति ।	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।	पृष्ठ-पङ्क्ति ।
धुटप	धुट प	४२-२२	त्यद्	त्यद्	७०-४
क्षेपे	प्रक्षे	४३-२६	दाहः	दाह	७०-२९
मित्तक	मित्तिक	४३-४४	दीयः	दीयः	७०-२९
रति	रति	४४-८	अवेर्ध	अवेर्ध	७०-३८
दुवम्	दुवम्	४४-३७	असूच	असूच	७०-४६
शमूच	शमूच	४४-४६	वेः खः	वेः खः	७४-४२
णावे	णाभावे	४५-२८	अन्त	अन्त्य	७५-३६
गह	ग्रह	४५-३१	डिडौ	डिडौ	७६-३८
प्राङ्	प्राङ्	४५-३६	पटुः द्वौ	पटुद्वौ	७९-२१
लुक	लुक	४७-४३	सनन्	सनम्	८०-१
भोप्र	भोःप्र	४८-८	कटप्रू	कटप्रु	८१-९
लुकि अस्प	× × अस्प	४८-२७	सुधी	सुधि	८१-३६
भो प्र	भोः प्र	४८-३२	वन्ध	वन्धि	८२-३
सौ र	सो र	४९-१७	नमिति	नामिति	८२-४
माडो	माडः	४९-३६	श्चि०	श्चिव०	८३-२१
छोद्	छौच	५०-३५	क्षत्	क्षत्	८४-१४
छुपत्	छुपत्	५०-३७	हृका	हृका	८४-१५
शनि	शे	५०-३८	क्षत्	त्वष्टृक्षत्	८४-१५
सर्ध्य	सर्ध्य	५१-६	क्षत्	क्षत्	८४-२७
’क्षः	’क्षः	५१-७	गात	मात	८५-५
निर्वत्स्य	निर्वत्स्य	५१-२१	हृ	हृ	८५-२१
यती	यतीति	५३-३८	कलक्षण०	कन्नित्य०	८५-२९
‘समुद्’	‘समुद्’	५४-१६	सत्या	सत्या	८५-३९
वहे	वहेः	५६-१५	नाम	नामाम	८६-८
स्तमो	स्तमो	५६-२२	श्चान्त	श्चान्ते	८६-२१
स्तमभत्	स्तमभत्	५६-२६	स्याऽऽम	स्याऽम	८७-२
बल	बलः	५६-३९	क्षत्	क्षत्	८७-४३
बाध	बाध्य	५६-४१	ण	णं राजेत्यादौ	८७-४६
प्रादा	प्रादा	५८-१४	नात् पर	नादपर	८८-२३
स्वरादि	स्वराच्छ्रो	५८-१५	इडा	अडा	८८-२४
इत्त	ईत्त	५९-३५	धेनू	धेनूः	८९-४
सजुःपु	सजुःपु	५९-४२	भकुं	सुकुं	८९-२५
‘दान्तः’	‘दान्ते’	६०-३३	पष्ठ्या	षष्ठ्या	८९-४२
रत्वं	टत्वं	६१-३९	‘सनन्	‘सनम्	९२-१
सनन्	सनम्	६२-१	‘रसं	‘रसं कुलं	९३-४
७	१	६२-१	तक्षा	तक्षा	९३-३७
वंभ	बम्भ	६२-७-३१	न्यत्	न्यत	९४-८
औत्र	ओत्र	६२-२८	दध्ना,	दध्ना, दध्ने,	९४-१३
नाभ्य	नाभ्य	६३-२५	नपुं	नपुं	९४-४०
मंदि	मन्दि	६३-३९	प्राण्यौ	प्राण्यो	९६-१२
आनन्द	आनन्द	६३-४०	ति०	तौ०	९६-१५
पेसा	एसा	६४-४४	पत्ते;	पत्ते ;	९६-४२
मिस्सा	मिस्सटा	६५-१	दीष्टा	दीष्टा	९६-४३
ख्याका	ख्याक	६५-४६	उर्जो	ऊर्जो	९७-२५
वस्या	वमस्या	६६-४३	रेवे	एवे	९७-२६
इदु	इदु	६७-२०	मिच्छं	मिच्छ	१००-२
घायं	घायं	६७-३२-४७	श्चि०	श्चिव०	१००-२०
त्वक०	त्वत्स्त्वक०	६८-१६	सावे	सावे	१०१-३४
इदु	इदु	६९-२६	शेधु	शेधु	१०२-३७
स्त्व	रत्वं	६९-३९	कट	कट	१०२-४३
			वाग्मी	वाग्मी	१०३-६



अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।	पृष्ठ-पङ्क्ति ।	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।	पृष्ठ-पङ्क्ति ।
कर्तृ	कट्	१०३-१०	घुटि	घुटि	१३६-४५
हिंस	हिंस्र	१०३-१५	'अञ्च'	'अञ्च'	१३७-१७
सो	से	१०३-१५	रूप	रूप	१३८-१७-३५
वाग्मी	वाग्मी	१०३-२५	घुट्	घुट्	१३८-४०
श्चि	श्चि	१०३-३७	घञ्	घञ्	१३९-१८
दण्डीनी	दण्डीनी	१०३-४७	थ च	थश्च	१३९-२६
वाग्मी	वाग्मी	१०४-१६	घांक	घाङ्क	१३९-२८-३४
चक्रः	चक्रू	१०६-२५	क्रतां	क्रतां	१४०-२३
मंदि	मन्दि	१०६-२६	घोढ	घो ढ	१४०-३४
आनन्द	आनन्द	१०६-२७	लु	लू	१४०-३६
रांत	रान्त	१०६-३०	वाऽ	वाऽऽ	१४१-३५
स्यव	स्यैव	१०७-१६	नूयि	नूयी	१४२-३३
लुग्या	लुग्वा	१०७-२५	चञ्चुप्	चञ्चुः	१४२-३८
स्त्री	स्त्री	१०९-३२	जत्	जत्	१४३-१९
वाभिः	वाभिः,	१११-१५	उव	ओव	१४३-२०
सनन्	सनम्	११२-१	शत्	शत्	१४३-३०
। २ ।	। ४ ।	११३-१४	काष्ट	काष्ट	१४४-२३
लुग्म	लुग्म	११३-३०	न्सम	न्स	१४५-१८
दस्स	दस्सद्	११३-४५	स्पर्ध	स्पर्धि	१४५-३९
युष्य	युष्म	११५-११	हर्षे	घर्षे	१४५-३९
ञ्चैत	ञ्चैत	११५-४८	पुम्स	पुम्स	१४५-४०
यष्म	युष्म	११६-३	नादेः	नादेः	१४५-४३
त्तनो	त्तिनो	११६-९	ग्मी	ग्मी	१४६-३
महं	महं	११८-४	पेत्	पेत्	१४७-३४
ममा	माः	११८-६	क्रक्	क्रक्	१४८-३२
जनं	जन	१२०-६	रुच्चा	रुच्चा	१४८-३९
इति के	इत्यके	१२२-४०	उका	उका	१४८-४०
विधि	विधिः	१२४-२९	विस	विश	१४८-४५
आनत्	अनात्	१२५-९	बन्धश्	बन्धश्	१४९-१६
इत्वं	ईत्वं	१२७-२२	रुप्य	रूप्य	१४९-२६
स्येका	स्यैका	१२७-२३	रुच्च	रुच्च	१४९-३८
इङ्क्	इङ्क्	१२७-३७	अञ्	अञ्	१५०-१४
भव	भव	१२८-१२-४०	अञ्	अञ्	१५०-४२
रंभा	रम्भा	१२९-३०	ग्न्याम्	ग्न्याम्	१५१-३
नैवं	नैवं	१३०-३७	भौ	भौ	१५२-१२
ओल	ओल	१३२-२७	यि	यी	१५४-२३
स्टु	टु	१३२-२८	रुघः	रुघां	१५४-२४
यागा	योगा	१३२-२८	ई	ई	१५४-२५
क्लि	क्लि	१३३-१८	हिंन्	हिंन्	१५४-४२
दीवू	दिवू	१३३-२३	पा !	पा !	१५५-१०
जेति	जे इति	१३३-२५	एषः	एषः	१५५-२५
शासु	शासू	१३४-१४	मन्दि	मन्दि	१५५-३३
कुर्यात्	कुर्यात्	१३५-२	आनन्द	आनन्द	१५५-३४
घञ्	घञ्	१३५-१६	ण	ण	१५५-३६
न्सम	न्स	१३५-३३	मेव	मवे	१५६-४
"	"	१३६-२६	रम	रम	१५६-१३
दष्ट	दष्ट	१३६-३३	वृत्ति	वृत्ति	१५८-४६
'स्पृशत्'	'स्पृशत्'संस्पर्शः,	१३६-३५	ञ्जा	ञ्जा	१५९-१८
विसर्गः,	'सृजत्'विसर्गः,	१३६-३५	चिगृ	चिगृ	१५९-२०
घृपा	घृपा	१३६-३५	वृगृ	वृगृ	१५९-२०

अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।	पृष्ठ-पङ्क्ति ।	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।	पृष्ठ-पङ्क्ति ।
नयो	नययो	१५९-२२	वृत्य	वृत्य	२१९-३३
ञा	ञा	१५९-२३	ओत	ओत	२२२-२१
चि	चीं	१५९-२६	वञ्च	वञ्च	२२३-२५
त्यु	त्यु	१५९-४३	ड्या	ड्या	२२८-२६
सि	ति	१५९-४४	घुटि	घुटि	२२९-३८
गो	गो	१५९-४४	स्नुहस्त्रि	णुहस्त्रि	२३०-१६
त्या	त्या	१६०-१५	तीया	तीया च	२३०-२५
वृत्य	वृत्य	१६०-३८	साधा	साधा	२३०-२७
क्रिय	क्रिय(य.)	१६२-६	ध्याय	ध्याय	२३२-२१
व्याप्य	व्याप्य(प्यः)	१६२-७	दीप	दीयः	२३२-२५
भिप्	भिप्	१६२-१९	न्यास	न्यास	२३२-३७
कर्म	कर्माणि	१६२-३२	एका	एका	२३३-२२
हार्य	हारार्थ	१६३-३२	माल	मार	२३४-३
यः	य. स	१६३-३६	सिन्धी	सिन्धी	२३४-३४
स च	तच्च	१६६-३१	इग्ली	इग्ली	२३४-४६
धूप	धूप	१६७-२१	सिन्धी	सिन्धी	२३५-२७, ३२
७०४	२०७	१६९-२४	पः ,, १ २, ३, ४.	पः	२३६-६
कत	कत	१७०-१	गंगा	गङ्गा	२३६-१३
णसाम	णामा...	१७०-२३	मुम्बा	मुम्ब	२३६-१३
यी	पी	१७०-३२	इग्ली	इग्ली	२३६-१८
पत्यो	पत्यो	१७०-३७	सिन्धी	सिन्धी	२३६-१८
स	सा	१७१-३४	सिन्धी	सिन्धी	२३६-२५
इक्ष्य	इक्ष्य	१७१-४४	द्वांत	द्वांत	२३६-३२
हावऽधि	हाऽवधि	१७२-३२	चेन्द्र	चन्द्र	२३७-११
इति	इति न	१७३-२२	मज	मज्ज	२३७-१८
मिच्छ	मिच्छि	१७५-९	छह	हल	२३७-२८
ञां	ञा	१७५-३७	गुजराती	हिन्दी	२३७-३०
अधी	आधी	१७८-४२	हैमछ	हैमच्छ	२३७-३४
इते	इते	१७९-१७	नान्ताद्	नाद्	२४१-३३
जन्ति	जति	१८०-२७	रुज	रुज	२४७-२०
वृत्य	वृत्य	१८१-४६	सर्तेगो	सर्तेगो	२५२-२९
तीय	तीये	१८२-९	हन	हन्	२५३-२७
घते	घत्ते	१८२-२९	धउ	धद	२५३-३०
पुत्रे	पुत्रे	१८७-२	करा	कारा	२५६-४
पूर्वा	पूर्वा	१९७-४०-४३-४४	वैमः !	वैम !	२५७-३२
आऽऽ	आऽऽ	१९९-१	दाविघौ	दामिविघौ	२५८-२६
पोऽपे	पोऽपे	१९९-३२	शन्द	शब्द	२५९-१७
केन	केन	२०१-४०	राज	राजः	२६३-१८
थैवं	थैवं	२०३-३१	व्यय	व्यय	२६७-१४
णे"शा०॥१३॥६९॥२०४-४२	णे"शा०॥१३॥६९॥२०४-४२		घं	घं	२७३-४४
कर्ह	कर्ह	२०६-२-१९	णाम	णम	२७६-१२
णो.	णो.	२०६-२३	मितया	मिधायितया	२७८-३१
खोः	खोः	२०६-३६	प्यदि	प्यदि	२८०-२५
कर्ह	कर्ह	२०९-७	स्यायि	स्यापि	२८२-४३
डे अपि	डे अपि	२०९-१७	ण्यसां	ण्यस्या	२८३-३२
अनेन	अनेन	२०९-१७	दश	दशा	२८३-३४
ज्यु	ज्यु	२१२-८	पादद	पादः	२८५-४४
कय	कय	२१५-३५	परं	परं	२८७-२७
ह	ह	२१६-२७	ज्यते	ज्यते	२८८-३८